कल्याण

साधनाङ्क

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

गीताप्रेस, गोरखपुर

नम्र निवेदन

साधना शब्दका अर्थ बहुत ही व्यापक है। किसी भी लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये की जानेवाली क्रियाका नाम साधना है और उस क्रियाके कर्ताको साधक कहा जाता है। इस प्रकार प्रत्येक आकांक्षाकी पूर्तिके लिये किया जानेवाला कर्म साधना ही है, चाहे वह लौकिक (अनित्य) हो या पारमार्थिक (नित्य) हो। इसलिये भारतीय ऋषियोंने मानव-जीवनके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चार लक्ष्य निर्धारित किये हैं। मानव-जीवनकी साधना धर्मसे प्रारम्भ होकर अर्थ और कामकी पगडण्डियोंसे गुजरते हुए अन्तिम लक्ष्य मोक्ष, निःश्रेयसपर समाप्त हो जाती है और व्यक्ति क्रिया, कर्म अथवा साधनाके श्रमसे मुक्त हो जाता है। दूसरे शब्दोंमें मनुष्यके परम पुरुषार्थ अथवा साधनाकी सिद्धि भगवत्प्राप्तिमें परिणत हो जाती है और मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है।

परमात्माकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें अनेक प्रकारके साधन बताये गये हैं। वे अधिकार और अधिकारी भेदसे भले ही अलग-अलग दिखायी देते हैं, किन्तु सबका लक्ष्य एक ही परमात्माकी प्राप्ति है। परमात्माकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें अनेक साधन बतलाये गये हैं। विवेक दृष्टिसे विचार करनेपर सारे साधन ज्ञाननिष्ठा और योगनिष्ठा—इन दो निष्ठाओंके अन्तर्गत आ जाते हैं। जीवात्मा और परमात्माके एकताके आधारपर होनेवाले जितने भी साधन हैं, वे सभी ज्ञाननिष्ठाके अन्तर्गत हैं तथा जीवात्मा और परमात्माके भेदके आधारपर होनेवाले साधन योगनिष्ठाके अन्तर्गत हैं। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें अभेद निष्ठाको सांख्य, संन्यास अथवा ज्ञानयोगके नामसे कहा है और भेदनिष्ठाको योग, कर्मयोग और भक्तियोग आदि नामोंसे बताया है।

वेदों और उपनिषदोंके 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' आदि महाकाव्य अभेदनिष्ठाका प्रतिपादन करते हैं और 'द्वा सुपर्णा' आदि श्रुतियाँ भेदनिष्ठाका प्रतिपादन करती हैं। इस प्रकार इतिहास, पुराण, श्रुति, स्मृति आदि वैदिक सनातन धर्मके प्रायः सभी आर्ष ग्रन्थोंमें भेदनिष्ठा और अभेदनिष्ठाका ही भेदोपासना और अभेदोपासना आदि नामोंसे वर्णन किया गया है।

नरको अपने हृदयस्थ नारायणका साक्षात्कार करनेके लिये तथा समस्त जगत्में उनका संस्पर्श अनुभव करनेके लिये अनेक प्रकारकी साधनाएँ हैं, उनमेंसे कोई भी साधना लगन और उत्साहके साथ की जाय तो साधक अवश्य ही अपने लक्ष्यको प्राप्त कर लेगा। मन, वचन और कर्मकी पवित्रता, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सात्त्विक एवं युक्त आहार-विहार, सत्संग, एकान्त-सेवन, इन्द्रियसंयम, भगवान्पर पूर्ण विश्वास, नाम-स्मरण, नम्रता, निरपेक्षता, सद्ग्रन्थ-स्वाध्याय आदि साधनाके मूल आधार हैं। कोई भी साधक इनका संबल ग्रहण करके सफलमनोरथ हो सकता है।

गीताप्रेससे पूर्व प्रकाशित कल्याणका विशेषाङ्क, साधनाङ्क सभी देश-वेश, सम्प्रदायके साधकोंका उचित मार्गदर्शन करता है। —इसमें कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, राजयोग, लययोग, शब्दयोग, ध्यानयोग, मन्त्रयोग, हठयोग आदि विभिन्न साधना-पद्धतियोंपर उत्कृष्ट विद्वान् लेखकों, साधकों, सन्त-महात्माओं आदिके अनुभवपरक लेखों और विचारोंका अनुपम संग्रह है। इस प्रकार यह स्वाध्याय एवं संग्रहके योग्य है।

—प्रकाशक

श्रीहरिः

साधनाङ्ककी विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

कविता

संकलित

भगवान् श्रीकृष्ण

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ (श्रीमद्भगवद्गीता १८।६५)

वर्ष १५ } गोरखपुर, अगस्त १९४०, सौर श्रावण १९९७ { संख्या १ पूर्ण संख्या १६९

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

हे प्रभो! त्रयी (वेदमार्ग), सांख्य, योग, पाशुपत मत, वैष्णव मत सभी आपकी प्राप्तिके ही मार्ग हैं। रुचि-वैचित्र्यके कारण ही 'यह श्रेष्ठ है, वह हितकारी है' इस प्रकार उनमें पृथक्ता प्रतीत होती है। हे प्रभो! जैसे समस्त नदी-नालोंका जल समुद्रमें ही जाता है, वैसे ही सीधे-टेढ़े सभी साधन-मार्गोंसे यात्रा करनेवाले मनुष्योंके गन्तव्य स्थान एकमात्र आप ही हैं।

कल्याणकारी संकल्प

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं
तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

जो जागते हुए पुरुषका दूर चला जाता है और सोते हुए पुरुषका वैसे ही निकट आ जाता है, जो परमात्माके साक्षात्कारका प्रधान साधन है, जो भूत, भविष्य, वर्तमान, सन्निकृष्ट और व्यवहित पदार्थोंका एकमात्र ज्ञाता है और जो विषयोंका ज्ञान प्राप्त करनेवाले श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका एकमात्र प्रकाशक और प्रवर्त्तक है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी संकल्पसे युक्त हो॥ १॥

येन कर्म्माण्यपसो मनीषिणो
यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्व यक्षमन्तः प्रजानां
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

कर्मनिष्ठ एवं धीर विद्वान् जिसके द्वारा यज्ञिय पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करके यज्ञमें कर्मोंका विस्तार करते हैं, जो इन्द्रियोंका पूर्वज अथवा आत्मस्वरूप है, जो पूज्य है और समस्त प्रजाके हृदयमें निवास करता है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी संकल्पसे युक्त हो॥ २॥

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च
यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

जो विशेष प्रकारके ज्ञानका कारण है, जो सामान्य ज्ञानका कारण है, जो धैर्यरूप है, जो समस्त प्रजाके हृदयमें रहकर उनकी समस्त इन्द्रियोंको प्रकाशित करता है, जो स्थूलशरीरकी मृत्यु होनेपर भी अमर रहता है और जिसके बिना कोई भी कर्म नहीं किया जा सकता, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी संकल्पसे युक्त हो॥ ३॥

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्
परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

जिस अमृतस्वरूप मनके द्वारा भूत, वर्तमान और भविष्यत्सम्बन्धी सभी वस्तुएँ ग्रहण की जाती हैं और जिसके द्वारा सात होतावाला अग्निष्टोम यज्ञ सम्पन्न होता है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी संकल्पसे युक्त हो॥ ४॥

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन्
प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिꣳश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

जिस मनमें रथचक्रकी नाभिमें आरियोंके समान ऋग्वेद और सामवेद प्रतिष्ठित हैं तथा जिसमें यजुर्वेद प्रतिष्ठित है, जिसमें प्रजाका सब पदार्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाला सम्पूर्ण ज्ञान ओतप्रोत है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी संकल्पसे युक्त हो॥ ५॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्या-
न्नेनीयतेऽभीशुभिर्व्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

श्रेष्ठ सारथि जैसे घोड़ोंका संचालन और रासके द्वारा घोड़ोंका नियन्त्रण करता है, वैसे ही जो प्राणियोंका संचालन तथा नियन्त्रण करनेवाला है, जो हृदयमें रहता है, जो कभी बूढ़ा नहीं होता और जो अत्यन्त वेगवान् है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी संकल्पसे युक्त हो॥ ६॥

(यजुर्वेदसंहिता ३४। १। ६)

सच्ची साधना

(लेखक—श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध')

(चौपदे)

है दृगोंकी ज्योति जीवन-सहचरी।
लोकके आलोककी है वर्त्तिका॥
है दिखाती दृश्य भवके भव्यतम।
दृष्टिके व्यापारकी है व्यंजिका॥ १॥

किन्तु अन्तर्ज्योति है अति उज्ज्वला।
ज्ञान-गरिमाकी अलौकिक मूर्ति है॥
वर विचार, विवेककी है पुत्तली।
दिव्यतम अनुभूतियोंकी पूर्ति है॥ २॥

जब दृगोंकी ज्योति अन्तर्ज्योतिकी
है बनी रहती प्रकृत अनुगामिनी,
प्रति दिवसके सर्व कार्य-कलापकी
जब उसे वह मानती है स्वामिनी॥ ३॥

है तभी मिलती उसे सद्वृत्ति वह,
हैं जिसे कहते प्रकृत आराधना॥
उस समय विभुमय दिखाता विश्व है।
है सफलता लाभ करती साधना॥ ४॥

दीखती है सब जगह विभुता लसी।
है विभूति विराजती सर्वत्र ही॥
दृष्टि है संसारमें अवलोकती।
सत्यता, शिवता सुधाधारा बही॥ ५॥

हो प्रभूत प्रफुल्ल विस्तृत व्योममें।
भूतभावन विभव हैं अवलोकते॥
भव-विकासकका विकास युगल नयन।
हैं सुविकसित लोकमध्य बिलोकते॥ ६॥

कान जो बातें सुनें सद्वृत्तिकी।
दिव्य रस उनके रसायन जो बनें॥
पूत चरितावलि पुनीत पदावली-
प्रेममें जो वे सरसतासे सनें॥ ७॥

हों खड़े सुन धर्मकी अवहेलना।
बंद हों न किसी करुण स्वरके लिये॥
जो खुले हितवृत्त सुननेको मिलें।
तृप्त हों न कभी कथामृतके पिये॥ ८॥

क्यों उन्हें मिलतीं न तो सब सिद्धियाँ।
क्यों न वे कृतकृत्य होते सर्वथा॥
क्यों न होते भवहितोंके हेतु वे।
स्वकर्तव्यविहीन होते अन्यथा॥ ९॥

रह सहायक योगसे सत्कर्मकी।
सर्वदा सद्गंधकी व्यसनी रहे॥
उच्च है तो उच्चताका ध्यान रख।
नाक कहला नाक नाक बनी रहे॥ १०॥

हैं दयाके पात्र होते पापरत,
सोचकर यह वह कभी सिकुड़े नहीं॥
वह सदा निर्मल बनी इतनी रहे,
जो उसे कोई कभी पकड़े नहीं॥ ११॥

साँसकी गतिमें असुविधा हो नहीं।
वह भले ही साँसतें कितनी सहे॥
ध्वनि भरी उसमें रहे हरिनामकी।
इस तरहसे बोलती जो वह रहे॥ १२॥

नासिका तो धर्म-कर्म-उपासिका।
बन बनेगी सर्वथा उपयोगिनी॥
और होगा सार्थक उसका सृजन।
जायगी सहयोगिनी सच्ची गिनी॥ १३॥

फूल जो मुँहसे सदा झड़ते रहें।
हो सुधासिक्ता मधुर वचनावली॥
जीभ मोहन मंत्र मंजु समीरसे।
जो खिलाती ही रहे जीकी कली॥ १४॥

जो वदन अरविन्द बनते ही रहें
रस-पिपासित मधुप मानसके लिये॥
ध्वंस करनेको तिमिर अज्ञानका।
ज्ञानदीपक बाल हैं जिसने दिये॥ १५॥

लोकका हित कर सफलता लाभ कर
जिस बदनपर है विलसती वर हँसी॥
है दमकती कान्ति जिसपर कीर्त्तिकी।
लालिमा जिसपर सुकृतिकी है लसी॥ १६॥

चारु चन्दन कान्त कृत्योंका लगा
भव्य भाव-विभूतिमय जो मुख बना,
छाप जिसपर देशहितकी है लगी,
है हुई जिसपर मनुजता-व्यंजना॥ १७॥

है वही मुख दर्शनीय मनोज्ञतम;
और वह मुख ही अतीव पुनीत है॥
है वही आदर्श उत्तम कर्मका।
गौरवित जनकण्ठसे वह गीत है॥ १८॥

हाथको तब हाथ कोई क्यों कहे,
हो सका जब लोकसेवामें न रत॥
दे सका जब दान दीनोंको नहीं,
जो न पाया पूज पूजितको सतत॥ १९॥

लाज जिससे लाजवालोंकी रहे,
बुन सका जो वह नहीं ऐसा वसन;
लोकहितकर काम कर कमनीयतम,
जो सका भवमें न कीर्त्ति-वितान तन॥ २०॥

जो न गिरतोंके उठानेको उठा,
जो सिंची उससे सुरुचि क्यारी नहीं॥
तो कहाँ उसमें रही कमनीयता,
जो लगी उसको सुकृति प्यारी नहीं॥ २१॥

जो तपेके शीशपर छाया न की,
जल रहेको जो बचा पाया नहीं,
जो न उससे आँखके आँसू पुंछे,
हाथ तो कुछ हाथके आया नहीं॥ २२॥

चाल चल-चल-लोक-चित उत्फुल्ल कर,
सत्पथोंमें जो सदैव जमे मिले॥
बन अटल जीवन समर-मैदानमें,
जो किसी भूधर समान थमे मिले॥ २३॥

काँपते-हिलते न जो देखे गये;
जो फिसलते-डगमगाते हैं नहीं;
जो थिरकते हैं सदा सत्कर्म कर,
जो विलोके सिंह थर्राते नहीं॥ २४॥

जो खड़े होकर कभी उखड़े नहीं,
जो न विचलित हो सके पत्थर पड़े॥
पाँव वे ही वास्तवमें पाँव हैं,
दौड़कर जो काम करते हैं बड़े॥ २५॥

यदि सदाशयता-सदन शुचिता-निलय
इन्द्रियाँ बन भूतहित करती रहें॥
धर्म-मर्म समझ सविधि सत्कर्म कर,
सर्वदा सद्भावसे भरती रहें॥ २६॥

यदि मननरत मन बने नियमन-व्रती।
यदि न सात्त्विक वृत्तियोंका पथ तजे॥
भर स्वरोंमें माधुरी सद्भावकी,
सुमति करसे सतत हृत्तंत्री बजे॥ २७॥

यदि यजन-पूजन, भजन, जप-योगका।
धारणा-ध्यानादि सहित समाधिका॥
ज्ञात हो सिद्धान्त और विवेक हो।
विघ्न-बाधा आधि-व्याधि उपाधिका॥ २८॥

आत्महितसे लोकहित भवहित तथा
भूतहितका जो अधिक अनुरक्त हो,
मान भवको मूर्ति विभुकी, विभु सहित
यदि मनुज भवभूतियोंका भक्त हो॥ २९॥

तो बनाकर जन्म अपना वह सफल
कर सकेगा दिव्यतम आराधना॥
है यही कृति सर्वसिद्धिप्रदायिनी
है यही विधिबद्ध सच्ची साधना॥ ३०॥

अर्थ क्या है और है परमार्थ क्या
क्या प्रकृत सात्त्विक प्रवृत्ति निजस्व है—
साध जिसको सिद्धिकी है, सोच लें—
कौन साधन साधना-सर्वस्व है॥ ३१॥

सत्संगके कुछ क्षण

जिज्ञासु—भगवन्! वैदिक, तान्त्रिक आदि जो अनेक प्रकारकी साधनाएँ हैं, उनमेंसे किसका अधिकारी कौन है?

गुरु—इससे पहले यह जाननेकी आवश्यकता होगी कि इन साधनाओंका स्वरूप क्या है। हमें तान्त्रिक, वैदिक—ऐसे किसी नामका आग्रह क्यों होना चाहिये, कोई भी साधना पद्धति और दृष्टिकोणके भेदसे तान्त्रिकी या वैदिकी हो सकती है। इस प्रश्नका सीधे-सीधे उत्तर दे देनेसे किसी विशेष प्रयोजनकी पूर्ति नहीं होगी। जैसे दहरविद्याको लो। यह एक वैदिक साधना है। यदि पूछा जाय कि इसका अधिकारी कौन है, तो इसका सीधा उत्तर तो यही होगा कि जो हृदयाकाशमें चित्त समाहित करनेकी योग्यता रखता है। परन्तु इस प्रकारकी योग्यता तो अन्यान्य साधनाओंमें भी अपेक्षित है ही, इसलिये इस उत्तरसे कोई वास्तविक समाधान नहीं होता। वस्तुतः सभी प्रकारकी साधनाओंमें अन्य साधनाओंका संसर्ग भी रहता ही है। किसी विशेष दृष्टिकी प्रधानताके कारण ही उसका कोई विशेष नाम पड़ जाता है। जैसे पृथिवीमें आकाशादि अन्य भूत भी रहते ही हैं, तथापि पृथिवीतत्त्वकी प्रधानता होनेके कारण ही उसे पृथिवी कहा जाता है। ऐसी ही बात ज्ञान, भक्ति और कर्मादिके विषयमें भी है। इनमें भी ज्ञानमें भक्ति और कर्म, भक्तिमें ज्ञान और कर्म तथा कर्ममें ज्ञान और भक्ति रहते ही हैं। इसके सिवा एक बात और है। जिसकी जिस प्रकारकी निष्ठा होती है, उसे अन्य साधनाएँ उसीकी अंगभूत और तद्रूप ही जान पड़ती हैं। कर्मकी दृष्टिसे देखा जाय तो ज्ञान और भक्ति भी कर्मके सिवा और क्या हैं? श्रवण-कीर्तनादि जो भक्तिके नौ भेद हैं, वे सब कर्म ही हैं। ज्ञानके साधन—श्रवण,मनन और निदिध्यासन भी कर्म ही हैं; श्रवण ऐन्द्रियिक कर्म है, मनन मानसिक कर्म है और निदिध्यासन बौद्ध कर्म है। इसी प्रकार प्रत्येक साधनामें प्रत्येकका समावेश हो सकता है। वस्तुतः लक्ष्य तो सबका एक ही है। उस एक ही लक्ष्यको अपने-अपने दृष्टिकोणके अनुसार विभिन्न प्रकारसे देखनेके कारण यह केवल प्रणालियोंका ही भेद है। जिस प्रकार इस मकानके ही यदि भिन्न दिशाओंसे फोटो लिये जायँ तो वे एक ही मकानके चित्र होनेपर भी न जाननेवालोंको विभिन्न जान पड़ेंगे। परन्तु जिसने इसे देख लिया है, वह तो जान ही लेगा कि इन सबमें एक ही मकान है। इसी प्रकार यद्यपि ब्रह्म एक ही तत्त्व है और वह सर्वथा निर्विभाग है, तो भी उसके सत्, चित्, आनन्द—ये तीन नाम क्यों? इसका कारण यही है कि कर्मी उसे सद्रूपसे देखता है, ज्ञानी चिद्रूपसे देखता है और भक्त आनन्दरूपसे। परन्तु जिसने किसी भी साधनपद्धतिका आश्रय लेकर उसका साक्षात्कार कर लिया है, उसे वह युगपत् सच्चिदानन्द जान पड़ता है। उसका किसी भी पद्धतिसे विरोध नहीं रहता।

जिज्ञासु—ठीक है, परन्तु जब साधनपद्धतियोंका भेद है तो उनके अधिकारियोंमें भी भेद तो होना ही चाहिये।

गुरु—अधिकारियोंमें भेद तो होता है; परन्तु कौन किस साधनाका अधिकारी है, इसका निर्णय कौन करेगा?

जिज्ञासु—गुरु।

गुरु—ठीक है, तब इस विषयमें हमारे चर्चा करनेसे क्या लाभ? शिष्यके अधिकारका निश्चय तो गुरु ही कर सकता है। हमने तो पहले बताया है कि सभी प्रकारकी साधनाओंमें अन्य साधनाओंका भी समावेश रहता ही है। इस प्रकार सभी सब प्रकारकी साधनाओंके अधिकारी हो सकते हैं। परन्तु किसको किस पद्धतिका आश्रय लेनेसे शीघ्रतर तत्त्वकी उपलब्धि होगी, इसका निर्णय तो गुरुदेव ही कर सकते हैं। जिसको जो मार्ग अभीष्ट होता है, वह उसीको प्रधानता देता है। तथापि उसके साधनरूपसे वह अन्य मार्गोंको भी स्वीकार कर ही लेता है। ज्ञानमार्गी भक्तिको ज्ञानका साधन मानते हैं, यह बात प्रसिद्ध ही है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—'**भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते**' तथा भगवान् शंकराचार्यजी भी कहते हैं—'**मोक्षसाधनसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।**' इसी प्रकार भक्तिमार्गी ज्ञानको भक्तिका साधन मानते हैं, और शास्त्रोंमें उनके इस सिद्धान्तका समर्थन करनेवाले भी अनेकों प्रमाण मिलते हैं।

जिज्ञासु—ऐसे कौन प्रमाण हैं, जिनमें ज्ञानको भक्तिका साधन बताया गया है?

गुरु—ऐसे तो बहुत प्रमाण बताये जा सकते हैं; परन्तु ज्ञान और भक्तिकी साध्य-साधकतामें जो यह पारस्परिक मतभेद है, उसका कारण दूसरा है। ज्ञानी भक्तिको जिस ज्ञानका साधन मानते हैं, वह उस ज्ञानसे भिन्न है जिसे भक्त भक्तिका साधन मानते हैं; और भक्त जिस भक्तिको ज्ञानका साध्य मानते है, वह भी ज्ञानियोंकी मानी हुई

साधनरूपा भक्तिसे भिन्न है। वस्तुत: ज्ञानियोंका ज्ञान और भक्तोंकी भक्ति तो एक ही वस्तु हैं, उनमें तो केवल नामोंका ही भेद है। रहे ज्ञानको भक्तिका साधन बतानेवाले प्रमाण, सो देखो गीतामें स्पष्ट ही कहा है—'**बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।**' यहाँ यदि शांकरभाष्यकी दृष्टिको छोड़ दें तो भक्तिसम्प्रदायवालोंका यह अर्थ माननेमें कोई आपत्ति ही नहीं हो सकती कि ज्ञानवान् पुरुष अनेकों जन्मोंके पश्चात् मेरी शरणापत्ति पाता है। '**प्रपद्यते**' का सीधा अर्थ 'प्रपन्न होता है, शरणागत होता है' ऐसा मानना अधिक उपयुक्त है। फिर अठारहवें अध्यायमें कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

यहाँ जो ब्रह्मभूत हो गया है, जिसे ब्रह्मानन्दकी अनुभूति हो गयी है और किसी प्रकारका शोक एवं कामना भी नहीं रहे हैं तथा जिसकी समस्त भूतोंके प्रति समदृष्टि हो गयी है, ऐसे ज्ञानी पुरुषको पराभक्तिकी प्राप्ति बतायी गयी है। इसके सिवा अपने चार प्रकारके भक्तोंमें भी भगवान्ने ज्ञानीको अपना उत्कृष्ट भक्त बताया है। उन चारोंमें आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी भक्तोंकी भक्तिके प्रयोजन तो स्पष्ट ही हैं, परन्तु ज्ञानी क्यों भजता है, उसकी भक्तिका क्या प्रयोजन है—यह बात विचारणीय है। ज्ञानी तो ज्ञाननिष्ठाकी पुष्टिके सिवा और कुछ चाह नहीं सकता। इससे जान पड़ता है कि ज्ञानीको भी भजनकी आवश्यकता रहती ही है। ज्ञानियोंके ज्ञानमें स्वरूपतः कोई भेद न हो, तथापि निष्ठाका भेद तो रहता है। इसीलिये शास्त्रोंमें भूमिका-क्रमकी व्यवस्था देखी जाती है। शांकरसिद्धान्तके अनुसार ज्ञान हो जानेपर प्रपंचका बाध हो जाता है, परन्तु भान तो बना ही रहता है। वह भान बाधितानुवृत्तिसे होता है। परन्तु यदि निष्ठाकी पूर्णता हो तो बाधितकी अनुवृत्ति क्यों हो? फिर तो केवल चित्प्रकाशमय परब्रह्मका ही भान होगा।

जिज्ञासु—यदि ज्ञान और भक्ति—इन दोनोंका लक्ष्य एक ही है, तो इन दो निष्ठाओंका भेद होनेमें मूल कारण क्या है?

गुरु—इसका मूल कारण यही है कि ज्ञानी अज्ञानसे बन्धन मानते हैं, और भक्त अभक्तिसे। यह बात स्पष्ट ही है कि जो मुक्तिका कारण होगा, उसका अभाव ही बन्धनका कारण होगा। ज्ञानसिद्धान्तके अनुसार वस्तुमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता, वह सर्वदा एकरस ज्ञानस्वरूप ही है; हम अज्ञानवश ही उसे वैसा अनुभव न करके इस मायिक प्रपंचमें फँस गये हैं। किन्तु भक्तिसिद्धान्तके अनुसार अभक्ति या भगवद्वैमुख्य ही इसका हेतु है। सूर्य तो प्रकाशस्वरूप ही है; उसके सामने जो भी रहेगा, उसे वह स्वभावतः ही प्रकाश देता रहेगा। किन्तु जो उसकी ओर पीठ किये हुए है, उसे प्रकाश कैसे मिलेगा? यह सूर्यकी सम्मुखता और विमुखता तो तुम्हारे अधीन है। इसी प्रकार भगवान् नित्यानन्दस्वरूप हैं और उनका लीलापात्र जीव स्वतन्त्र है। जीवको कर्मकी स्वतन्त्रता न दी जाय तो लीला ही कैसे बने? इसलिये जीवको भगवान्ने स्वतन्त्रता दे दी है। यह अपनी स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके भगवान्से विमुख हो गया है। इसीसे भगवदीय आनन्दसे वंचित होकर संसारपाशमें बँध गया है। इसका यह बन्धन अपना ही बाँधा हुआ है। यदि इसे छोड़कर वह भगवान्के सम्मुख हो जाय तो इसका सारा दु:ख दूर हो जाय और इसके लिये एक नित्यानन्दस्वरूप श्रीभगवान्के सिवा और कुछ न रहे। उस समय यद्यपि भक्तको भी भेदकी स्फूर्ति नहीं होती और इसीसे भक्ति-सिद्धान्तमें भी विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि भेदसे एक अद्वैततत्त्वको ही स्वीकार किया है, तथापि मूलतः तो भेद रहता ही है।

जिज्ञासु—क्या तन्त्रसिद्धान्तमें भी मूलतः भेद रहता है?

गुरु—तन्त्र तो अद्वैतवादी ही हैं, तथापि शांकर अद्वैत और तान्त्रिक अद्वैतमें एक भेद अवश्य है—शांकरसिद्धान्त-के अनुसार वस्तु निष्क्रिय है और प्रपंच मायाका कार्य है तथा तान्त्रिक दृष्टिसे वस्तु नित्य सक्रिय है और प्रपञ्च उसीकी लीलाशक्तिका विलास है। शांकरसिद्धान्तके अनुसार तो मायानिवृत्ति होनेपर ही आत्माका कैवल्य माना जाता है, फिर और कुछ करना या पाना नहीं रहता। परन्तु तान्त्रिक सिद्धान्तमें कैवल्यकी भी कई श्रेणियाँ मानी हैं। वे सांख्य-सम्मत पुरुष-प्रकृति-विवेकको सबसे नीची कोटिका कैवल्य मानते हैं। इससे केवल प्रकृति आदि चौबीस तत्त्वोंसे ही मुक्ति मिलती है, परन्तु मायिक जगत्का बन्धन तो रहता ही है। शिवने अपनी स्वरूपावरणात्मिका शक्ति मायाको स्वीकार करके ही पुरुषत्व ग्रहण किया है। मायाकी पाँच शक्तियाँ हैं, उनमें बँधनेसे ही उसमें परिच्छिन्नता आ गयी है। उनके नाम नियति, कला, अविद्या, राग और काल हैं। इन्होंने क्रमशः उसके विभुत्व, सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, आप्तकामत्व और नित्यत्वका संकोच कर दिया है। अतः

पुरुष-प्रकृति-विवेकसे उसके प्राकृत कर्मोंकी निवृत्ति हो जानेपर भी उसमें तीनों प्रकारके मल बने रहते हैं। मायाकी निवृत्ति होनेपर उसके कर्म-मल और मायामल निवृत्त हो जाते हैं। फिर केवल आणवमल रह जाता है। इसकी निवृत्ति महामायाके राज्यका अतिक्रमण करनेपर होती है। इस अवस्थामें किसी भी प्रकारका संकोच नहीं रहता, तीनों प्रकारके मलोंकी वासनातक निवृत्त हो जाती है। आत्मा केवल सत्ता या प्रकाशमात्र स्वरूपमें स्थित रहता है। हाँ, उसमें उसकी स्वाभाविकी ज्ञान-क्रिया अवश्य रहती है। यहाँ शिव और शक्तिका पूर्ण सामंजस्य हो जाता है। शिव और शक्तिमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है। महामायाका अतिक्रमण करनेपर उनके भेदकी स्फूर्ति भी नहीं होती। जिनमें तीव्र शक्तिपात रहता है, उन्हें मायाका अतिक्रमण करते ही यह स्थिति प्राप्त हो जाती है। इसे ही विशुद्ध कैवल्य कहते हैं। किन्तु जिनमें कुछ अधिकारवासना रहती है, वे मायाको पार करके महामायाके राज्यमें प्रवेश करते हैं और अपरशिवत्वको प्राप्त होकर क्रमशः मन्त्र, मन्त्रेश्वर और मन्त्रमहेश्वर पदोंको भोगते हैं। इस प्रकार अधिकारयोगके द्वारा मलपाक होनेपर कालान्तरमें वे भी परमशिवत्व ही लाभ करते हैं। तत्त्वतः; इस समना और उन्मनी अवस्थामें कोई भेद नहीं है। दोनों ही चिन्मयी हैं। केवल सक्रियता और निष्क्रियताका ही भेद है। परमार्थतः तो सदाशिव और परमशिव एक ही हैं।

जिज्ञासु—किन्तु इन तीनोंमेंसे शांकरसिद्धान्तसम्मत कैवल्यका तो किसीसे सादृश्य नहीं है?

गुरु—उसे शुद्ध कैवल्यके समान तो कह सकते हैं। ये दोनों तो वस्तुतः एक ही हैं, क्योंकि दोनोंहीमें पूर्ण अद्वैतबोध और प्रपंचका अत्यन्ताभाव रहता है।

जिज्ञासु—परन्तु शांकरसिद्धान्तके अनुसार तो शुद्धब्रह्ममें कोई शक्ति नहीं मानी जाती। माया भी ब्रह्मसे भिन्न या अभिन्न कोई तत्त्व नहीं है। जिस प्रकार मृत्तिकाका बोध होनेपर घटकी प्रतीति होती भी रहे तो भी तत्त्वदृष्टिसे उसकी सत्ता नहीं मानी जाती, तत्त्व तो केवल मृत्तिका ही है, घटादि सन्निवेश तो केवल व्यावहारिक दृष्टिसे ही हैं।

गुरु—घट तत्त्व क्यों नहीं है? वह परिणामी तत्त्व है और मृत्तिका अपरिणामी तत्त्व है।

जिज्ञासु—किन्तु शांकरसिद्धान्तमें तो अपरिणामी वस्तुको ही तत्त्व माना गया है।

गुरु—यह तो तत्त्वकी अपनी-अपनी परिभाषा हुई। हम जिसे परिणामी तत्त्व कहते हैं, उसे तुम अतत्त्व या माया कह सकते हो; परन्तु वस्तुतः ये परिणामी और अपरिणामी एक ही वस्तुकी दो दृष्टियाँ हैं। वस्तुतत्त्व न परिणामी है न अपरिणामी और वही परिणामी भी है और अपरिणामी भी। इसी प्रकार वह न सत्य है न मिथ्या और वही सत्य भी है और मिथ्या भी। भगवान् शंकराचार्यका जगन्मिथ्यात्ववाद भी अधिष्ठानभूत ब्रह्मका सत्यत्व स्थापित करनेकी दृष्टिसे ही है, वह केवल निरात्मवादका खण्डन करनेके लिये ही है। लक्ष्य तो उनका भी सदसद्विलक्षण तत्त्व ही है। वस्तुतः पूर्ण सत्यकी दृष्टिसे तो सभी मिथ्या है और सभी सत्य है। और जिस स्थितिमें पहुँचकर ऐसा अनुभव होता है, वही सच्चा परमपद है। यही अद्वैतवादियोंका ब्रह्म, वैष्णवोंके विष्णु, शैवोंके सदाशिव, शाक्तोंकी पराशक्ति, गाणपत्योंके गणेश और बौद्धोंके बुद्ध हैं। इन सबमें केवल नामका ही भेद है, वस्तुतः तो सारे सिद्धान्तोंका समन्वय इस एक ही तत्त्वमें होता है।

जैसा संग वैसा रंग

यादृशैः सन्निवसति यादृशांश्चोपसेवते। यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग्भवति पूरुषः॥
यदि सन्तं सेवति यद्यसन्तं तपस्विनं यदि वा स्तेनमेव।
वासो यथा रङ्गवशं प्रयाति तथा स तेषां वशमभ्युपैति॥

(महा० शान्ति० २९९। ३२-३३)

जिसके साथ रहता है, जिसकी सेवा करता है और जो जैसा होना चाहता है वह वैसा ही हो जाता है। कपड़े जैसे रंगसे रँगे जाते हैं वैसे ही हो जाते हैं। ऐसे ही जो पुरुष संत, असंत, तपस्वी अथवा चोरका जैसा संग करता है, वह वैसा ही हो जाता है।

कल्याण

किसी साध्य वस्तुकी प्राप्तिके लिये जो प्रयत्न किया जाता है, उसे 'साधना' कहते हैं। जगत्में सभी जीव सुखकी इच्छा करते हैं, सुख ही सबका साध्य है। सुख भी ऐसा—जो सबसे बढ़कर हो, जिसमें किसी तरहकी जरा भी कमी न हो, जो सदा एक-सा बना रहे, कभी घटे नहीं—कभी हटे नहीं, जो अनन्त हो, असीम हो, नित्य हो और पूर्ण हो। ऐसा सुख विनाशी और परिवर्तनशील संसारकी किसी वस्तुमें हो नहीं सकता। यहाँ अनन्त,असीम, अखण्ड, नित्य और पूर्ण कुछ भी नहीं है। नित्य, सत्य, सनातन, सम, एकरस, अनन्त, असीम, अखण्ड और पूर्ण तो एकमात्र भगवान् ही हैं। इसलिये वही पूर्ण सुखस्वरूप हैं और वही सबके परम साध्य हैं। मनुष्य चाहे समझे नहीं, कहे नहीं, परन्तु वह 'पूर्ण' को चाहता है, इसलिये वह चाहता है 'भगवान्' को ही। जगत्में उसे कहीं भी पूर्णता दीखती नहीं, वह सभी अवस्थाओंमें बड़े-से-बड़ा सम्राट् और इन्द्र बन जानेपर भी अभावका—अपूर्णताका ही अनुभव करता है। उसके मनमें कोई कमी खटकती ही रहती है, इसीलिये वह प्रत्येक स्थितिमें अतृप्त और असन्तुष्ट रहता है और किसी दूसरी स्थितिकी खोजमें लगा रहता है। परन्तु वह मोहवश पूर्णतम भगवान्की ओर न जाकर दु:ख और अतृप्तिकी उत्पत्ति करनेवाले, अभावभरे विषयोंमें ही सुख मानकर उन्हींकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करता है, इसीसे वह सच्चे सुखसे सदा वंचित रहता है। वह करता है अपनी जानमें सुखकी साधना, परन्तु उसे मिलता है दु:ख, असफलता, अशान्ति और अतृप्ति! इसीलिये विषयोंके निमित्त किया जानेवाला प्रयत्न यथार्थमें साधना नहीं है। साधना शब्दकी सार्थकता वस्तुत: वही है जहाँ वह परमानन्दस्वरूप श्रीभगवान्के लिये होती है।

अतएव सबसे पहले यह निश्चय करो कि हमारे साध्य हैं—एकमात्र श्रीभगवान् और साधना है—अपनी स्थिति और शक्तिके अनुसार भगवान्की प्राप्तिके लिये किये जानेवाले प्रयत्न।

यह याद रखो कि भगवान् एक हैं; एक ही हैं। एक ही भगवान् लीलाके लिये असंख्य रूपों और असंख्य नामोंसे प्रकाशित और पूजित होते हैं। कोई कैसी भी साधना करे, यदि वह भगवान्के लिये है तो अन्तमें उसको वही भगवान् मिलते हैं, जो दूसरोंको दूसरी साधनाओंके द्वारा मिलते हैं। पाते हैं सब एक ही सत्यको, पहुँचते हैं सब एक ही जगह—रास्ते अलग-अलग हैं। रास्ता सबके लिये एक हो भी नहीं सकता। जैसे एक ही श्रीकाशीजीको जानेवाले भिन्न-भिन्न दिशाओंके यात्री अपनी-अपनी दिशाओंसे भिन्न-भिन्न मार्गोंद्वारा जाते हैं और जैसे वे अपनी मानसिक, आर्थिक और शारीरिक शक्तिके अनुसार पैदल, बैलगाड़ीपर, घोड़ोंपर, रेलपर अथवा वायुयानपर सवार होकर जाते हैं और इसीमें उन्हें सुगमता भी होती है वैसे ही भिन्न-भिन्न रुचि और संस्कारके मनुष्योंको अपने-अपने अधिकार, शक्ति, रुचि, बुद्धि, संयम, अभ्यास और इच्छा आदिके तारतम्यसे उन्हींके अनुसार विभिन्न साधनाओंके द्वारा तीव्र या मन्द गतिसे भगवत्प्राप्तिके मार्गको तै करना पड़ता है। जो लोग ऐसा मानते हैं कि सबको एक ही साधन करना चाहिये, वे भूलमें हैं। अतएव श्रद्धा और विश्वासके साथ अपने मार्गपर तेजीके साथ चलते रहो। जो लोग नये-नये साधनोंके लिये ललचाकर बार-बार पुराने साधन छोड़ते रहते हैं, वे साधनोंके बदलनेमें ही अपने जीवनका बहुमूल्य समय पूरा कर देते हैं और साध्यतक नहीं पहुँच पाते। साध्यपर दृष्टि रखते हुए अपने मार्गसे जरा भी विचलित न होकर सदा आगे बढ़ते रहो, प्रकाश अपने-आप ही मिलता रहेगा।

अपने साधनमें साध्यके समान ही आदर-बुद्धि रखो। जो पुरुष साधनाकी अवहेलना या तिरस्कार करता है उसे साध्य कभी प्राप्त नहीं होता। अवश्य ही अपने लिये साधनाका चुनाव करते समय अच्छी तरहसे जाँचकर देख लो, अनुभवी पुरुषोंसे सलाह ले लो या कोई सद्गुरु प्राप्त हो सकें तो उनका आदेश प्राप्त कर लो; फिर लग जाओ अनन्यतासे तत्पर होकर उसीमें। साधनामय बन जाओ। अपने मन, इन्द्रियोंको साधनाके साथ घुला-मिलाकर साधनास्वरूप बना दो।

एक बात जरूर याद रखो कोई किसी भी राहसे कैसे भी जाय, जैसे उसको राहखर्चकी, रास्तेमें खान-पान आदिकी आवश्यकता होती है वैसे ही भगवत्प्राप्तिके मार्गमें सद्गुणोंकी, सद्विचारोंकी, सत्कर्मोंकी—एक शब्दमें

दैवी सम्पत्ति* की आवश्यकता होती है। इसके बिना साधनाका सफल होना असम्भव नहीं तो असम्भव-सा अवश्य है। इसलिये निरन्तर दैवी सम्पदाके प्राप्त करनेकी कोशिश करते रहो। प्रत्येक क्रियामें सावधान रहो—कहीं अपने साध्यको भूल तो नहीं रहे हो, कहीं अपनी साधनामें प्रमाद तो नहीं हो रहा है, कहीं साध्य और साधनाके विरुद्ध तो कुछ नहीं कर बैठे हो। साधनासे हटानेवाले हजारों प्रलोभन और भय तुम्हारे मार्गमें आवेंगे, तुम्हें लालचमें डालकर और दु:खोंकी बड़ी डरावनी मूर्ति दिखाकर डिगानेकी चेष्टा करेंगे। पर सावधान, कहीं डिगना नहीं। याद रखो—भगवान् निरन्तर तुम्हारे साथ हैं और तुम्हारी सच्ची साधनामें सदा तुम्हारे सहायक हैं। उनकी कृपासे तुम उन्हें अवश्य ही प्राप्त करोगे। बेखबर होकर कहीं रास्तेसे ही न लौट पड़ना, याद रहे—सावधानी ही साधना है।

सभी प्रकारके साधकोंके लिये नीचे लिखी बातें जानने और समझनेकी हैं। इनको पढ़कर तुम अपने लिये, जितना और जो कुछ ठीक हो, उसे ग्रहण करो।

साधनाके विघ्न बहुत-से हैं, उनमें कुछ ये हैं—

आहारदोष, अस्वस्थता, आलस्य, प्रमाद, पुरुषार्थहीनता, अश्रद्धा, कुतर्क, अधैर्य, अनिश्चय, संशय, असंयम, असहिष्णुता, अपवित्रता, प्रसिद्धि, पुजवानेकी इच्छा, मानकी चाह, घृणा, द्वेष, निर्दयता, दुराग्रह, चपलता, जल्दबाजी, परदोषदर्शन, परनिन्दा, परचर्चा, बाहरी वेशभूषा, विवाद या शास्त्रार्थ, शरीरके आरामकी चाह, विलासिता, दूसरेसे सेवा करानेकी वृत्ति, लोकरंजनमें रुचि, कुसंग, साधनाके प्रतिकूल या साधनाके लिये अनावश्यक साहित्यका अध्ययन, माता-पिता और गुरुजनोंका तिरस्कार, शास्त्र और संतोंके वचनोंमें अविश्वास, भजनमें लापरवाही, सर्वथा कर्मत्याग अथवा बहुधंधीपन, दूसरोंके साधन और लक्ष्यके प्रति लोभ, दूसरेके साध्य, साधन और धर्मसे द्रोह, साधनाका अभिमान, ब्रह्मचर्यका खण्डन, विपत्तिमें घबड़ाकर और सम्पत्तिमें फूलकर कर्तव्यको भूल जाना, किसी मनुष्य, स्थान और वस्तुविशेषमें ममता, आश्रमादिकी स्थापना और लक्ष्यको भूल जाना।

बुरी कमाईका, चोरीके पैसोंका, दूसरेके हकका अन्न न खाओ; खान-पान, परिश्रम-व्यायाम और नियमादिके द्वारा शरीरको नीरोग रखो; आजका काम कलपर, अभीका काम पीछेपर मत छोड़ो; करनेयोग्य कर्मका त्याग और न करनेयोग्य हानिकर कामोंका ग्रहण न करो; हमेशा उद्योगशील और पुरुषार्थी बने रहो, प्रारब्धको दोष लगाकर सत्कर्म और भजनसे चित्तको न हटाओ; भगवान्पर, उनकी दयापर, उनकी महान् शक्तिपर, आत्माके अनन्त बलपर और अपने पुरुषार्थपर श्रद्धा रखो; बेसिर-पैरका व्यर्थ तर्क न करो; धीरज छोड़कर साधनाका त्याग कभी न करो; मनमें निश्चय रखो कि साधनामें सिद्धि मिलेगी ही—या सिद्धि प्राप्त करके ही छोड़ेंगे। मनमें किसी सन्देहको न आने दो, संशयात्मा पुरुष गिर जाते हैं; आहार, व्यवहार, शयन, भाषण और चिन्तनमें—सभी बातोंमें संयम करो—आसन-प्राणायामादिसे शरीरका संयम करो, अपना काम अपने हाथसे करो, शरीरसे परिश्रम करो, हिंसा और मैथुनादिसे बचो, सत्य-मधुर-हितकर और परिमित वचनोंसे वाणीका संयम करो—झूठ न बोलो, कड़वी बात न कहो, किसीकी चुगली न करो, शाप न दो, हितकी बात कहो और व्यर्थ चर्चा मत करो—फजूल न बोलो; मनके विषाद, क्रूरता, चंचलता, अपवित्रता और व्यर्थ चिन्तन आदि दोषोंका त्याग करके मनका संयम करो। मनमें कभी शोक-विषाद न करो, किसीका बुरा न चाहो, मनको भगवान्के ध्यानमें लगाओ, मनके अंदर द्वेष, वैर, क्रोध, हिंसा, काम आदि अपवित्र वृत्तियोंको न रहने दो, मनके द्वारा विषयोंका चिन्तन न करके केवल श्रीभगवान्का और भगवत्-सम्बन्धी साधनाका चिन्तन करो। बहुत कम बोलो और बहुत कम संसारका चिन्तन करो। इन्द्रियोंको विषयोंसे रोको। जन्म, यज्ञोपवीत, विवाह, कर्णछेदन और श्राद्धादिमें अधिक खर्च न करो, गहने-कपड़ोंमें अधिक धन मत लगाओ। भोजनका संयम रखो—बहुत कीमती चीजें मत खाओ, मांस, मद्य आदिका सर्वथा त्याग करो; अपवित्र और जूठी चीजें न खाओ, ज्यादा मत खाओ। स्वादके लिये रोग पैदा करनेवाली चीजें मत सेवन करो। नशैली चीजें त्याग दो। तम्बाकू, भाँग, बीड़ी आदि छोड़ दो। खर्च सभी

* निर्भयता, अन्त:करणकी पवित्रता, ज्ञानयोगमें दृढ़ स्थिति, उदारता, इन्द्रियोंका दमन, भगवदर्थ कर्म, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, परनिन्दा-त्याग, प्राणियोंपर दया, लोभहीनता, कोमलता, बुरे कर्मोंमें लज्जा, चपलताका अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, शुद्धता, द्रोहहीनता और निरभिमानता। (गीता १६।१-१३)

बातोंमें कम करो। अधिक खर्च करनेवालेके धनका अभाव होता है और उसे धनकी चाह बनी रहती है इससे उसका चित्त सदा ही चंचल और पापयुक्त रहता है। उससे साधना नहीं बन सकती। अपनी आवश्यकताओंको जितना घटा सको, घटा दो। देखा-देखी न करो, बहुत शान्ति मिलेगी। संन्यासी हो तो अपने आश्रमके अनुरूप मन-वचन-शरीरका संयम करो। संयमके बिना साधना बहुत कठिन है। सुख-दु:ख, हानि-लाभ, सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वोंको और विपत्तियोंको भगवान्‌की देन समझकर सहन करो। सुख और सम्पत्तिको भी सहन करो। जो सुखसम्पत्तिको पाकर हर्षके मारे कर्तव्यच्युत हो जाते हैं, वे भी असहिष्णु ही हैं। दु:खमें उद्विग्न मत होओ; सुखमें हर्षित मत होओ। शरीर और मनको पवित्र रखो, प्रसिद्धिसे सदा बचो। साधकके लिये प्रसिद्धि विषके तुल्य त्याज्य है। प्रसिद्धि होनेपर लोगोंकी भीड़ लगेगी, जगत्‌का संग बढ़ेगा, परिग्रह बढ़ेगा, साधन लुट जायगा। उपदेशक मत बनो—अपने-आपको साधक बोलकर प्रसिद्ध न करो, पुजवानेकी और मानकी चाह कभी भूलकर भी न करो, जिस साधकके मनमें पुजवानेकी और मान प्राप्त करनेकी चाह पैदा हो जाती है, वह कुछ ही दिनोंमें भगवत्प्राप्तिका साधक न रहकर भोगोंका साधक बन जाता है। किसी भी जीवसे घृणा न करो, किसीमें द्वेष न करो—किसीके साथ निर्दयता मत करो। ये दोष हैं—पाप हैं और सर्वथा त्याज्य हैं। यों तो अनुराग और दया भी बन्धनकारक हैं, परन्तु उनका उपयोग भगवदर्थ कर्तव्य-बुद्धिसे करना चाहिये। किसी बातपर हठ मत करो; शरीर-मन-वाणीसे चपलता—व्यर्थ कार्य न करो; जल्दबाजीमें किसी कर्मको न कर बैठो और न छोड़ बैठो—किसी व्याख्यानको सुनते ही, पुस्तक पढ़ते ही, बिना सोचे-समझे जोशमें आकर घर-द्वार छोड़कर न निकल भागो। यों भागनेवाले जोश उतरनेपर प्राय: पीछे बहुत पछताया करते हैं। किसी आरम्भ किये हुए कामको जल्दी करके न बिगाड़ो। जो कुछ करो व्यवस्था, धीरता और नियमके साथ श्रद्धा-सत्कारपूर्वक अच्छी तरह करो। न बीचमें अटको और न घबड़ाकर छोड़ो। दूसरेके दोष न देखो, दूसरेकी निन्दा न करो, परचर्चाका सावधानीसे त्याग करो। अपनी वेश-भूषा साधारण रखो; जटा बढ़ाना, मूँड़ मुड़ाना, किसी खास ढंगसे कपड़े पहनना, खास तरहसे चलना—मतलब यह कि लोग कुछ विलक्षणता देखकर तुम्हारी ओर खिंचें, ऐसा पहनावा न पहनो। जैसे साधारण लोग रहते हैं, वैसे ही रहो। किसीसे विवाद या शास्त्रार्थ न करो—तुम्हें अपनी साधनासे जरा भी अवकाश नहीं मिलना चाहिये। शरीरके आरामकी चाह न करो—शरीरके आरामके पीछे पागल रहनेवाले साधना कभी नहीं कर सकते। फैशन और शौकीनीके फेरमें बिलकुल न पड़ो। दूसरेसे सेवा न कराओ; जो सेवा करानेके लिये साधना करते हैं, वे शरीरका आराम और भोग चाहनेवाले हैं—भगवान्‌को चाहनेवाले नहीं हैं। ऐसी चेष्टा करो जिसमें मनुष्यकी अपने आत्मापर श्रद्धा हो—अपने पुरुषार्थपर श्रद्धा हो—वह अपनी सेवा आप करे। किसीकी आत्मश्रद्धाको न डिगाओ, न डिगने दो और न किसीकी श्रद्धाको आत्मासे हटाकर अपनी ओर लगानेकी चेष्टा करो। लोगोंको रिझानेकी चाह और चेष्टा छोड़ दो, जो लोगोंको रिझानेके उद्देश्यसे साधन, भजन, कीर्तन और उपदेशका प्रदर्शन करता है वह तो नाटकका एक्टिंगमात्र करता है। वह साधक नहीं है। कुसंगका त्याग करो—बुरे संगसे बुरी वृत्ति होती है और सर्वथा पतन हो जाता है। कुसंगके समान नाशकारी विघ्न बहुत थोड़े हैं। जलवायु (वातावरण), जनसमुदाय, स्थान, काल, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र, संस्कार और साहित्य—ये सभी सुसंग या कुसंगका काम देते हैं—भगवत्सम्बन्धी सात्त्विक होनेपर ये सभी सुसंग हैं और विषय-सम्बन्धी राजस-तामस होनेपर कुसंग हैं। सावधानीसे कुसंगका त्याग करो। जिस संगसे भजनमें अरुचि, शरीरके आराम और भोगोंकी चाह, दैवी सम्पत्तिमें अवहेलना होती या बढ़ती हो, उसीको कुसंग समझो और उसका तुरंत त्याग कर दो। ऐसी पुस्तकें कभी न पढ़ो, जिसमें तुम्हारी साधनासे प्रतिकूल भाव हों या तुम्हारी साधनाके लिये जिन भावोंकी आवश्यकता न हो। सिनेमा, नाटक आदि न देखो—ऐसे चित्र न देखो—ऐसे गाने न सुनो, जिनसे चित्तमें विकार हो और साधनामें शिथिलता आती हो। माता, पिता, गुरुजनोंकी श्रद्धापूर्वक सेवा करके उनका आशीर्वाद प्राप्त करो। उनके आशीर्वादसे तुम्हारी साधनामें सुभीता होगी। उनका तिरस्कार कभी न करो। महान् वैराग्यकी प्रेरणासे बुद्धभगवान्‌की तरह गृहत्याग करना दूसरी बात है, पर वह आदर्श सबके लिये नहीं है। शास्त्र और संतोंकी वाणीपर विश्वास करो—कोई बात तुम्हारी समझमें न आवे तो उसका तिरस्कार न करो, उसे भ्रान्त न समझो। भजनमें कभी चूक मत

पड़ने दो। साधकके लिये भजन सर्वशिरोमणि धन है। जी-जानसे इसकी रक्षा करो और सदा इसीमें लगे रहो। कर्मका बिलकुल त्याग करके निकम्मे मत बन जाओ। पूर्ण वैराग्य हुए बिना काम छोड़ बैठनेवालोंसे भजन, साधन तो होता नहीं—उनका समय प्रमाद, आलस्य, व्यर्थ बकवादमें लगता है—वे व्यसनोंके शिकार हो जाते हैं और साधन-पथसे गिर जाते हैं। न इतना अधिक काम ही करो कि जिससे आत्मविचारके और भजन-साधनके लिये समय ही न मिले। 'युक्ताहारविहार' पर ध्यान रखो! दूसरेके साध्य और साधनकी बात सुनकर जी न ललचाओ-न दूसरेके साध्य, साधन और धर्मसे द्रोह ही करो। यह समझो कि तुम्हारे ही इष्टदेव श्रीकृष्ण अन्य लोगोंके द्वारा श्रीराम, श्रीशंकर, श्रीदुर्गा या अन्यान्य नामरूपोंसे पूजित होते हैं; और पूजाके विभिन्न प्रकारोंसे सब तुम्हारे ही श्रीकृष्णकी उपासना करते हैं। निराकार, निर्गुण भी श्रीकृष्ण ही हैं। वे ही अचिन्त्य अनिर्वचनीय सच्चिदानन्दघन सर्वशक्तिमान् सर्वोपरि पूर्ण पुरुषोत्तमतत्त्व हैं। इसी प्रकार यदि तुम राम, शिव या निर्गुण ब्रह्मके उपासक हो तो, औरोंके लिये वैसा ही समझो। हैं सब एक ही—परन्तु तुम्हें वे ही इष्ट हैं जिनकी तुम उपासना करते हो। जिसकी अपने साधन और इष्टमें सर्वोच्च बुद्धि नहीं होती, उसको सर्वोच्च सत्यकी प्राप्ति नहीं होती। ब्रह्मचर्यका पालन करो। ब्रह्मचारी संन्यासी हो तो अखण्ड ब्रह्मचर्य रखो, गृहस्थ हो तो अपनी विवाहिता पत्नीके प्रति शास्त्रोक्त संयमपूर्ण बर्ताव करो। स्त्री-पुरुष दोनों स्वेच्छासे संयम-शील होनेका नियम लें तो बहुत उत्तम है। विपत्ति और सम्पत्तिमें समचित्त रहो। कहीं ममता न करो और अपने लक्ष्यको सदा-सर्वदा याद रखो। प्रत्येक चेष्टा लक्ष्यकी सिद्धिके लिये ही करो। इसीमें कल्याण है।

'शिव'

प्रेम-प्राप्तिका साधन

(पूज्यपाद परमहंस श्रीरामकृष्णदासजी महाराजके उपदेश)

अनादि कालसे अज्ञानावृत रहनेके कारण जीवकी स्वाभाविक रुचि ऐसी हो गयी है कि वह सदैव घृणास्पद बातोंको ही सोचा करता है। जिस समय चेतन (जीव)-को ज्ञानरूप स्पर्शमणिका संसर्ग प्राप्त होता है, उस समय उसके अन्त:करणमें विप्लव-सा हो जाता है, जीवके जन्मजात संस्कार विरोधी संस्कारोंसे लड़ने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि साधक अपनेको साधनशून्य देखकर घबड़ा जाता है। साधनमें प्रवृत्त होना कठिन कार्य है। उसमें प्रवृत्त होनेके पूर्व साधकको सत्संगका आश्रय लेना चाहिये। बिना सत्संगके उसकी अपने साध्यमें रुचि नहीं हो सकती। आवश्यकता है साध्यके प्रति रुचि तैयार करनेकी। जब रुचि तैयार हो जायगी, तो चाहे कितना ही दु:साध्य साधन क्यों न हो, साधक घबड़ा नहीं सकता।

× × × ×

मुझसे लोग प्राय: पूछा करते हैं कि बाबा! साधन बताओ। मेरी समझमें नहीं आता कि वे दूसरेसे साधनकी बात क्यों पूछते हैं! जीव भगवान्का कृपापात्र अंश है। उसमें अनन्त शक्ति है। जिस प्रकार अज्ञानमें उसने अपने-आप प्रवेश किया है, उसी प्रकार ज्ञानमें भी वह अपने-आप प्रवेश कर सकता है; ज्ञान-ध्यानकी बात किसीसे पूछकर नहीं जानी जाती, यह निरन्तर सत्संगसे ही प्राप्त होती है। प्रारम्भमें निरन्तर सत्संग करते रहना चाहिये। साथमें भगवन्नामका जप भी आवश्यक है। भगवान्के नामकी कृपासे जीवका अज्ञान नष्ट होता है और हृदयके स्वच्छ होते ही दिव्य प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है। यह प्रेम ही नामामृत, रूपामृत और लीलामृतका आस्वादन कराता है।

प्रेम ही साध्य है और सत्संग ही साधन है। सत्संगके द्वारा आत्यन्तिक निवृत्ति तो होती ही है, साथ ही दिव्य भगवदीय प्रेमकी प्राप्ति भी हो जाती है।

साधक और मनका संवाद

(लेखक—पूज्यपाद स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

परिचय बिना प्रतीति नहिं, बिना प्रेम नहिं ध्यान।
नाव चलै नहिं जल बिना, गुरु बिनु होय न ग्यान॥

साधक—भाई मन! तू तो बड़ा ही दुष्ट है, अत्यन्त चंचल है, प्रबल और ढीठ है। कहीं राज्यका लोभ देकर गुलामी करवाता है, कभी ऐश्वर्यका लालच दिखाकर घास कटवाता है, कहीं धनकी ध्वनि सुनाकर धनियोंके पैर दबवाता है, किसीकी ऋषि-सिद्धिमें फाँसकर पानी भरवाता है; जैसे कुत्तेको रोटीका टुकड़ा दिखाते हुए चाहे जितनी दूर ले जाया जाय, ऐसे ही विषय-भोगोंमें आसक्त करके न मालूम तू कितने जन्मोंसे कितनी योनियोंमें मुझे भटका रहा है! तुझसे छुटकारा पानेका कोई उपाय दिखलायी नहीं देता। तू हवासे भी तेज दौड़ता है, क्षणभरमें चौदह लोकोंमें घूम आता है। जाग्रत्‌में ही नहीं, स्वप्नमें भी चुप होकर नहीं बैठता। जन्मभरमें कभी देखे-सुने नहीं, ऐसे-ऐसे अनोखे पदार्थ रच लेता है। भजन करनेको बैठता हूँ तो और भी अधिक भागता है। बहुतेरा रोकता हूँ, रुकता नहीं। मन्त्रमें लगाता हूँ तो बिना सिर-पैरके मनोराज्य करने लगता है। भगवान्‌का ध्यान करना चाहता हूँ तो भागा-भागा फिरता है। राम-राम जपता हूँ तो ग्राम-ग्राममें घूमता है। घर-बाहरके, कचहरी-दरबारके सब झगड़े भजनमें लाकर खड़े कर देता है। तंग आ गया हूँ, तुझ पापीसे कब पीछा छूटेगा? जब देखो तब एक-न-एक चिन्तामें ही डाले रखता है। एक घड़ी भी सुखकी नींद नहीं सोने देता। मैं संसारसे मुक्त होना चाहता हूँ, तू मुझे लौटा-लौटाकर उसीमें डालता है। भूतके समान सदा मुझपर सवार रहता है! सत्संगमें जाना चाहता हूँ तो गंजीफ़ा, चौसर, शतरंजमें लगा देता है। स्वाध्याय करना चाहता हूँ तो उपन्यास सामने लाकर रख देता है। गीता पढ़ने बैठता हूँ तो कहता है घरमें दाल नहीं है, घी नहीं है, मिर्च-मसाला निपट गया है, जलानेको लकड़ियाँ नहीं हैं; मंडीका समय है, नाज भी निपटनेवाला है, चलो, ले आओ, इस समय पावभर अधिक मिल जायगा; गीता फिर पढ़ लेना, यह तो रोजका गीत है; पेट-पूजा भी तो प्रधान है, सब उसके पीछे हैं; देवी-देवता भी इसीसे प्रसन्न होते हैं। गीता पढ़नेको दिनभर पड़ा है, रात भी बड़ी-बड़ी होती है; मंडीका समय निकला जाता है। ऐसी-ऐसी तेरी बातोंसे तंग आ गया हूँ। तेरा सत्यानाश हो जाय! तूने मेरा सर्वस्व नाश कर दिया है। स्वभावसे मैं सुखी हूँ, तेरे संगमें दु:ख पाता हूँ। पवित्र होकर भी तेरे संगसे पापी कहलाता हूँ। अचल भी तेरे संगसे चल बन गया हूँ। बृहत् होकर भी तेरे संगसे अणु हो गया हूँ। असंग होनेपर भी तेरे संगसे कर्ता-भोक्ताकी उपाधि मेरे सिर मढ़ी गयी है। स्वतन्त्र होकर भी परतन्त्र और मुक्त होकर भी तेरे संगसे बन्धनमें पड़ा हूँ। तृप्त होकर भी भूखा बना रहता हूँ। निर्भय होकर भी भयभीत हूँ। नहीं जन्मता हुआ भी जन्मता हूँ, अमर होकर भी मर रहा हूँ। कहाँतक रोऊँ? तेरे संगसे तंग हूँ। तुलसीदासजीने सच कहा है—

बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥

अच्छा! मैं तुझसे ही इन्साफ कराता हूँ, तुझे ही न्यायाधीश बनाता हूँ; बोल, जो कुछ मैं कहता हूँ, ठीक है या नहीं?

मन—वाह! साहब, वाह! अच्छी उलटी गंगा बहायी! करना आप, लगाना लड़केको! ऐसी समझ है, तभी तो आप तंग हो रहे हैं! आपने जितनी बातें कही हैं, सब झूठी हैं। निर्मूल हैं। दूसरेको दोष लगाना बड़ा भारी पाप है। सोच-विचार कर बोलना चाहिये! आप अच्छे, मैं बुरा! बुरेने अच्छेको बिगाड़ दिया, कहीं ऐसा भी हो सकता है? क्या गुरुजीसे यही पढ़ा है? रोज तो सुना करते हैं कि बुरा बुरा ही रहेगा, अच्छा अच्छा ही रहेगा। बुरा अच्छा नहीं हो सकता, अच्छा बुरा नहीं हो सकता। जैसे दिन-रातका मेल नहीं होता, ऐसे ही अच्छे-बुरे भी मिल नहीं सकते। सोना खोटा नहीं हो सकता। जैसा कारण होता है, वैसा ही कार्य भी होता है। सजातीयका सजातीयसे ही मेल हो सकता है, विजातीयका नहीं हो सकता। फिर मैंने आपको सुखीसे दु:खी कैसे बना दिया? आप मुझे दुष्ट, चंचल, बलवान् और ढीठ बताते हैं; मैं इनमेंसे एक भी नहीं हूँ। यदि हूँ तो आपका बनाया हुआ ही हूँ। मैं तो सरल, अबल, लँगड़ा और बेपेंदीका लोटा हूँ। बिना कौड़ी-पैसेका नौकर हूँ, बिना दामका खरीदा हुआ गुलाम हूँ। वचनमें बँधा हुआ हूँ, इशारेपर काम करता हूँ। जो वस्तु आप माँगते हैं, वही लगाकर देता हूँ। जहाँ खड़े होनेको कहते हैं, वहीं एक टाँगसे खड़ा रहता हूँ! आपकी रुचिके अनुसार काम करता हूँ, आपकी रुचि बिना कोई

काम नहीं करता। जब आप कहते हैं, तभी चलता हूँ! आपके दिये हुए पैरोंसे चलता हूँ! नहीं तो मेरे पैर हैं ही नहीं। लँगड़ा हूँ, जड हूँ, बल भी मुझमें नहीं है, यदि है तो आपका दिया हुआ है—मैं तो बलहीन हूँ। अबलाके पुत्रमें बल आवे ही कहाँसे? आपकी बुद्धि विपरीत हो रही है, इसलिये आपको कुछ-का-कुछ दिखायी दे रहा है। ढिठाई कैसे कर सकता हूँ? ढिठाई तो वह करे जिसमें बल हो, बल पेंदीमें होता है,—मैं बिना पेंदीका हूँ। फिर ढीठता करूँ ही कैसे? पक्षपात न कीजिये, पक्षपातरहित होकर विचारिये। आप स्वभावसे भले ही निर्दोष हों; मैं आपको दोषी नहीं बताता; आप निर्दोष सही! परन्तु दोषी मैं भी नहीं हूँ। यदि हूँ तो आप पहले होंगे! कारणसे कार्य भिन्न नहीं होता। जैसे आप हैं, वैसा ही मैं भी हूँ। आपमेंसे ही तो निकला हूँ। फिर दोषी कहाँ? कहीं आसमानमेंसे तो टपक नहीं पड़ा। आपका बनाया हुआ हूँ। आपने ही मुझसे संग किया है। जो-जो भोग आप माँगते हैं, मैं लाकर मौजूद कर देता हूँ! जो-जो योनि आपको पसंद होती है, वहीं मैं आपको ले जाता हूँ। आप कहते हैं कि भजन नहीं करने देता। भजन करना आप चाहते ही कब हैं? धनमें, स्त्रीमें, पुत्रमें, ऐश्वर्यमें, नाममें, कीर्तिमें, ऋद्धि-सिद्धिमें, जुएमें, चोरीमें, व्यभिचारमें, मांसमें, मदिरामें, बीड़ीमें चुरुटमें, अफ़ीममें, भंगमें, चरसमें, गाँजेमें, मीठेमें, नमकीनमें, चटपटेमें आपकी रुचि है; इनसे आपको फुरसत ही कहाँ है? दिन-रातमें इन्हींका तो भजन किया करते हैं, फिर ईश्वरका भजन कहाँसे हो? जो खायगा, उसीकी डकार आवेगी। फोनोग्राफमें जो राग भरा जायगा, वही निकलेगा। कुँजड़ेके यहाँ तो साग-पात ही मिलेगा, जवाहरात तो जौहरीकी दूकानपर ही मिलेंगे। जैसी आपकी रुचि होती है, वैसा ही मैं भी बन जाता हूँ। नौकरको क्या उज्र? 'जी हाँ' करना नौकरका काम है। चौबेजीका नौकर हूँ, बैंगनोंका नौकर तो हूँ नहीं; चौबेजी बैंगनोंको अच्छा बताते हैं तो मैं उन्हें गुणवाला बना देता हूँ। चौबेजीको बैंगन नापसंद हों तो मैं उन्हें बेगुन (गुणरहित) कह देता हूँ। 'पाँड़ेजी, तुम्हें ग्राममें रहना; ऊँट बिलैया ले गयी तो हाँ जी हाँ जी कहना!' सुनिये, आपकी राजीमें मेरी राजी है। आप स्वाध्याय कीजिये, प्रणिधान कीजिये, आसन लगाइये, प्राणायाम कीजिये। प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि कीजिये। रामनामका जाप कीजिये; नवधा, प्रेमा, पराभक्ति कीजिये, श्रवण, मनन, निदिध्यासन कीजिये। शंकरकी, कृष्णकी, रामकी मूर्तिका ध्यान कीजिये। जो कुछ आप चाहें, प्रेमसे कीजिये। आप स्वतन्त्र हैं। मैं आपको रोकनेवाला कौन हूँ? मैं तो कान पकड़ी छेरी हूँ; जिधर लगा देंगे, उधर लग जाऊँगा। जब आप संसारसे मुक्त होना चाहें, मुझे घर बैठनेकी आज्ञा दे देना! नौकरकी जड़ जमीनसे साढ़े तीन हाथ ऊँची होती है; जहाँ आपने जीभ हिलायी, अलग जा बैठूँगा। परमात्मा करे, आप मुक्त हो जायँ; बड़ी खुशीकी बात है। आप मुक्त हो जायँगे तो मैं भी मुक्त हो जाऊँगा। आपके आश्रय ही तो मैं हूँ, आपके साथ मेरी भी मुक्ति हो जायगी। सच पूछो तो मुक्ति तो मेरी ही होगी, आप तो स्वभावसे मुक्त हैं ही।

साधक—(एकान्तमें जाकर) भाई कहता तो ठीक ही है। जैसे पुरुषकी छाया होती है, वैसा ही जीवका मन है। जैसा पुरुष होता है, वैसी ही उसकी छाया होती; जैसा मैं हूँ वैसा ही मेरा मन है। मन तो सचमुच जैसा कहता है, वैसा ही है। मैंने उसे सत्ता दे रखी है, नहीं तो उस बेचारेकी सत्ता ही कहाँ है? वह तो सचमुच नौकर ही है; नौकर नहीं, किन्तु औजार है! औजारमें अपनी सत्ता तो कुछ होती नहीं, औजारवाला अपनी मर्जीके अनुसार उसको उपयोगमें ला सकता है। यही बात मनके सम्बन्धमें है! प्रायः सब कार्य मेरे इच्छानुसार ही करता है, किसी कार्यको यदि मैं ही न कराऊँ तो बात दूसरी है। इससे सिद्ध होता है कि मन मेरा औजार है, जड़ है और मैं स्वतन्त्र कर्ता, चेतन हूँ। मैं मनके अधीन नहीं हूँ, मन मेरे अधीन है।

पाठक! इतना जाननेसे साधक सुखी हुआ, आयु-पर्यन्त मनसे इच्छानुसार कार्य लेता रहा और अन्तमें उसको छोड़कर स्वस्वरूपमें स्थित होकर हमेशाके लिये जन्म-मरणरूप संसारसे मुक्त होकर वैष्णव-पदको प्राप्त हुआ। अज्ञानसे सब दुःख है; मनको मन समझते ही मन नमन करने लगता है, स्वाधीन हो जाता है। मनका स्वरूप न समझनेसे मन चालीस सेरका हो गया है, जाननेपर छटाँकका भी नहीं निकलता। न तोला, न माशा, न रत्ती; फूँकमात्रसे उड़ जाय, इतना हलका हो जाता है! सच पूछो तो फूँकका भी काम नहीं है। न हुआ ही हौआ है! बिना सिर-पैरका भूत है! जहाँ पहचान लिया, भूः स्वाहा हो जाता है, स्वयम्भू ही शेष रह जाता है। यह गुरुमन्त्र है, इसको मत भूलो!

साधकके लिये

(पूज्यपाद स्वामीजी श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेश)

प्रश्न—सच्चा साधक किसे कहते हैं?

उत्तर—जिसे गुरु और शास्त्रके वाक्योंमें पूर्ण विश्वास हो, वही सच्चा साधक है। उसका ज्ञान या भक्ति—कोई एक लक्ष्य होना चाहिये और उसके लिये गुरुदेव जैसा विधान करें, उसमें कोई शंका नहीं होनी चाहिये; उसे सब कुछ त्यागकर उसीमें लग जाना चाहिये।

प्र०—भक्तिमार्गके साधकमें प्रधानतया कौन गुण होना चाहिये?

उ०—भक्तका प्रधान गुण भगवद्भजनकी तत्परता ही है। यदि वह निष्कामभावसे निरन्तर भगवच्चिन्तनमें मग्न रहेगा—श्वास-श्वासमें भगवान्‌का नाम लेगा तो उसमें शेष सब गुण अपने-आप आ जायँगे। उसे और किसी गुणके उपार्जनका अलग उद्योग न करके केवल निरन्तर भगवच्चिन्तनका ही अभ्यास करना चाहिये।

'श्वासा पलटे नाम बिन, धिक् जीवन संसार।'

प्र०—भक्तिका प्रधान विघ्न क्या है?

उ०—यद्यपि विघ्न तो अनेक हैं, तथापि भगवान्‌के सिवा अन्य किसीका चिन्तन करना अथवा भगवद्वार्ताके सिवा कोई और बात करना ही प्रधान विघ्न है। अन्य क्रियाके विषयमें तो कहना ही क्या है?

प्र०—ज्ञानमार्गीमें प्रधान गुण क्या होना चाहिये?

उ०—उसे विचार ही कर्तव्य है, अन्य सब गौण है। कर्म, उपासना आदि अन्य साधन तो वह पहले ही कर चुका है। उनके द्वारा चित्तशुद्धि हुए बिना तो आत्मतत्त्वकी जिज्ञासा ही नहीं हो सकती। अब तो केवल ब्रह्मविचार ही करना है।

प्र०—विचार स्वयं ही करना चाहिये या किसीके आश्रयसे?

उ०—अज्ञात वस्तुका बोध तो किसी जानकारके आश्रयसे ही हो सकता है। जिज्ञासुके लिये आत्मतत्त्व भी अज्ञात ही है। अत: उसे भी गुरु, शास्त्र अथवा किसी ब्रह्मवेत्ताके आश्रयसे ही उसका विचार करना चाहिये।

प्र०—ज्ञानप्राप्तिका प्रधान विघ्न क्या है?

उ०—वैराग्यकी कमी। किसी भी प्रकारके नाम या रूपमें आसक्ति होना ही ज्ञानप्राप्तिका प्रधान विघ्न है।

प्र०—क्या ज्ञान और भक्तिके साधनोंका एक साथ अभ्यास हो सकता है?

उ०—इन दोनोंका एक ही व्यक्ति एक साथ अनुष्ठान नहीं कर सकता। भक्त 'भगवच्चिन्तन' करता है और जिज्ञासु 'विचार'। जिज्ञासुको तो दृष्ट-अदृष्ट सभी प्रकारके विषयोंसे वैराग्य होता है। वह दिव्य-अदिव्य सभी प्रकारकी सृष्टिको मिथ्या समझता है। ऐसी दशामें उसका भगवान्‌के नाम और रूपोंमें भी कैसे अनुराग होगा? और उनमें अनुराग न होनेपर वह उनका चिन्तन भी कैसे करेगा? जिज्ञासु तो संशययुक्त होता है, उसे तो भगवान्‌के रूपादिके विषयमें भी शंका रहती है; फिर वह भगवान्‌का स्मरण कैसे करेगा?

प्र०—तो क्या प्रह्लादजी, शुकदेवजी और नारदजी ज्ञानी नहीं थे?

उ०—मैं ज्ञानियोंकी बात नहीं, ज्ञानके साधकोंकी बात कह रहा हूँ। ये सब तो सिद्ध पुरुष थे। सिद्ध पुरुष सभी प्रकारका आचरण कर सकते हैं। उनकी दृष्टिमें तो सभी प्रकारके व्यवहार आत्मस्वरूप ही होते हैं। उनके कर्म और उपासना साधनरूप नहीं होते। श्रीभगवान् भी **'ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो ह्यनपेक्षक;'** (भागवत) ऐसा कहकर ज्ञानी और भक्तका भेद ही दिखा रहे हैं। सिद्ध पुरुष तो सब कुछ होते हैं। साधकोंमें ही ज्ञानी और भक्तका भेद होता है। जो ज्ञानका साधन करते हैं, वे ज्ञानी हैं; जो भक्ति करते हैं, वे भक्त हैं और जो कर्म करते हैं, वे कर्मी कहे जाते हैं। सिद्ध पुरुष तो समय-समयपर सभी करते हैं। किन्तु यदि किसी भी एक निष्ठाका साधक अन्य प्रकारके साधनोंमें भी प्रवृत्त होगा तो वह साधक ही नहीं रहेगा। वह तो खिचड़ी हो जायगा।

प्र०—तो क्या भक्त अज्ञानी ही रहता है?

उ०—परिणाममें भक्त भी अज्ञानी नहीं रह सकता। उसे भगवान् स्वयं ज्ञान करा देते हैं। एक हाकिम भी अपने चपरासीको कँगला नहीं रहने देता, वह उसे अपनेसे भी अच्छी पोशाक पहनाता है; फिर भगवान् अपने भक्तको क्यों अज्ञानी रखेंगे? यद्यपि भक्त स्वयं ज्ञान नहीं चाहता—

वह तो केवल भगवत्प्रेममें ही मस्त रहता है, तथापि भगवान् स्वयं ज्ञानवान् हैं और भक्त निरन्तर उन्हींका ध्यान करता है; अतः उसके न चाहनेपर भी उसमें ध्येयके प्रधान गुण ज्ञानका आविर्भाव हो ही जाता है। क्योंकि यह नियम है कि जो जिसका निरन्तर चिन्तन करता है, उसमें धीरे-धीरे अपने इष्टके गुण आ जाते हैं। योगदर्शनमें भी चित्तप्रसादके लिये वीतराग पुरुषोंके प्रसादयुक्त चित्तका चिन्तन करनेके लिये कहा है—'**वीतरागविषयं वा चित्तम्**' (योग० १। ३७)।

प्र०—जिस प्रकार भक्तको ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार क्या ज्ञानमार्गीको भक्ति भी हो जाती है?

उ०—ज्ञानी तो स्वतन्त्र है। बोध हो जानेपर तो उसकी जो इच्छा हो, वह वही हो सकता है। किन्तु जिज्ञासुकी स्वभावतः ही भजनमें आसक्ति नहीं होती, वह तो पहले भजनीय तत्त्वके स्वरूपका ही निश्चय करना चाहता है।

प्र०—ऐसी कौन बातें हैं, जो सभी प्रकारके साधकोंको जाननी आवश्यक हैं?

उ०—साधकको चार बातें अवश्य जाननी चाहिये—

१. अपना स्वरूप—मैं ईश्वरका अंश हूँ, देहादि नहीं हूँ।
२. ध्येयका स्वरूप—मेरा इष्टदेव सच्चिदानन्द-स्वरूप है।
३. साधनका फल—इष्टदेवके प्रति आत्यन्तिक अनुराग ही साधनका प्रधान फल है।
४. साधनका विघ्न—इष्टदेवके सिवा और सम्पूर्ण प्रपंच ही विघ्न है।

जो पुरुष इन चार बातोंको जानकर साधनमें प्रवृत्त होगा, उसीको सफलता प्राप्त होगी। ये बातें सभी मत-मतान्तरोंके लिये समानरूपसे आवश्यक हैं।

प्र०—जिज्ञासुके लिये विचार करते समय निषेधकी प्रधानता रहनी चाहिये या विधिकी?

उ०—निषेधकी। बोध तो निषेधसे ही होता है, विधिसे नहीं होता। जबतक प्रपंच और भगवान्‌की व्याप्य-व्यापकताका भी निषेध नहीं होगा, तबतक बोध नहीं हो सकता। आरम्भमें विधिवाक्योंसे बोध होना तो प्रायः असम्भव ही है।

प्र०—तो फिर विधिवाक्योंका क्या उपयोग है?

उ०—विधिवाक्य उपासना हैं, विचार नहीं। इनका अभ्यास ही अहंग्रह-उपासना कहलाता है।

प्र०—किन्तु अहंग्रह-उपासनासे भी तो बोध हो सकता है?

उ०—हो तो सकता है, परन्तु यह बोधका परम्परा-कारण है और विचार साक्षात् कारण है। किन्तु निषेधद्वारा तत्त्वका साक्षात्कार हो जानेपर ये विधिवाक्य ही बोधस्वरूप हो जाते हैं। इस प्रकार अधिकारियोंके भेदसे इनके तीन स्वरूप कहे जा सकते हैं—

१. जिज्ञासु या विचारके लिये विघ्नस्वरूप।
२. अहंग्रहोपासकके लिये साधनस्वरूप।
३. बोधवान्‌के लिये सिद्धान्तस्वरूप।

प्र०—भिन्न-भिन्न इष्टदेवोंके उपासकोंको क्या एक ही वस्तुकी प्राप्ति होती है?

उ०—जो अपने इष्टदेवमें सच्चिदानन्दभाव रखकर उसकी उपासना करते हैं, उन विभिन्न प्रकारके उपासकोंको तो अन्तमें एक ही भगवत्तत्त्वकी प्राप्ति होती है—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। क्योंकि वस्तुतः वे सब एक ही हैं; उनमें केवल नाम-रूपका ही भेद रहता है और यह भेद केवल उपासकोंके रुचि-वैचित्र्यके कारण ही होता है।

प्र०—जिस प्रकार सब प्रकारके उपासकोंको अन्तमें एक ही तत्त्वकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार क्या उपासक और जिज्ञासुओंको भी परिणाममें एक ही तत्त्वकी उपलब्धि होती है?

उ०—उपलब्धि तो एक ही तत्त्वकी होती है, परन्तु उपासककी भेददृष्टि और ज्ञानीकी अभेददृष्टिका भेद तो रहेगा ही। ज्ञानीकी भेददृष्टि सर्वथा निःशेष हो जाती है, अतः वह प्रेमजनित आनन्दका अनुभव नहीं कर सकता। इसी प्रकार प्रेमी भेदको नहीं छोड़ सकता। भेदको छोड़ देनेपर प्रेमानन्दका आस्वादन नहीं हो सकता और ज्ञानीके लिये तो भेदका रहना ही उसका सर्वनाश है। यहाँ तो '**भेदाभेदौ सपदि गलितौ**'-भेद और अभेदका भी भेद नहीं रहता, वे दोनों ही गलित हो जाते हैं और जब अभेद भी नहीं रहता तो भेद कैसे रहेगा?

साधन और उसका प्रधान विघ्न

(पूज्यपाद स्वामीजी श्रीहरिबाबाजी महाराजके उपदेश)

जीवमात्रका साध्य है—प्रेम, और साधन है—एकान्त निष्ठा। जिसका हृदय एकान्त नहीं हुआ है, वह कभी प्रेमको स्पर्श भी नहीं कर सकता। आजकलके उपदेशोंका कुछ मूल्य नहीं—रात-दिन उपदेश हुआ करते हैं, सुननेवाले सुनते हैं; किन्तु एक भी उपदेश हृदयको स्पर्श नहीं करता। ईश्वरने जीवको जिस स्थितिमें रखनेके लिये प्रकृतिको आदेश कर रखा है, उसी स्थितिमें वह रहता है। चिरकालतक उसी स्थितिमें रहनेसे जीवको मोह हो जाता है। इस मोहजालसे निकलनेके लिये महापुरुषोंका सत्संग करना चाहिये। मेरी समझमें इस युगमें सत्संगसे बढ़कर कोई साधन नहीं है।

× × × ×

मनुष्य नाना प्रकारके स्वभावके होते हैं। उनकी चेष्टाएँ, उनके नित्यप्रतिके व्यापार भी विचित्र प्रकारके होते हैं। जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता हो, अपने स्वच्छ हृदयमें प्रभु-प्रेमको उदय करना चाहता हो, उसे चाहिये कि वह हर एक व्यक्तिसे न मिले और न उनकी ओर या उनकी चेष्टाओंको ही ध्यानपूर्वक देखे। विरोधी विचारवाले व्यक्तियोंको ध्यानपूर्वक देखनेसे साधनमें महान् विघ्न होता है।

प्रार्थनाका प्रभाव

(पूज्यपाद महात्मा स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

भगवान्‌की आराधना और प्रार्थना ऐसी वस्तु है कि वह यदि शुद्ध श्रद्धा-भक्तिसे की जाय तो कोई भी ऐसा कार्य नहीं है, जिसकी सिद्धि न हो सके। परन्तु उस प्रकारका विश्वास और भगवत्परायणता हुए बिना उसकी नाट्यरचना सचमुच उपहासास्पद है। भगवान्‌ने कहा है कि जो प्राणी अनन्य भावनासे मेरा चिन्तन करते हुए सम्यक् उपासना करते हैं, उन योगयुक्तके योग और क्षेमका निर्वाह मैं ही चलाता हूँ। जो वस्तु मिली नहीं है, उसका प्राप्त होना 'योग' है और मिली हुईकी रक्षा करना 'क्षेम' कहलाता है। भगवान् सर्वान्तरात्मा ही भगवत्परायण प्राणियोंके योग-क्षेमका निर्वाह करते हैं—

मनीषिणो हि ये केचिद् यतयो मोक्षधर्मिणः।
तेषां विच्छिन्नतृष्णानां योगक्षेमवहो हरिः॥

जैसे अप्राप्त लोकव्यवहारोपयुक्त वस्तुओंकी प्राप्ति योग है, वैसे ही मोक्ष आदिके उपयोगी ज्ञान, समाधि आदिकी प्राप्ति भी योग ही है। शरणागतिका भाव महानुभावोंने ऐसा वर्णन किया है कि जैसे गौ, अश्व आदिका विक्रय करनेवाला पुनः उनके भरण-पोषणकी चिन्तामें नहीं पड़ता, उसी तरह अपने सर्वस्वसहित अपने-आपको भगवान्‌में समर्पण कर देनेवाले प्राणीको अपने लौकिक तथा पारलौकिक कल्याणकी चिन्ता नहीं रहनी चाहिये।

परन्तु क्या यह सब ऊपरके भावोंके समान बनावटी हो सकता है? प्राणियोंमें देखा जाता है कि ऊपरसे भगवान्‌की शरणागतिकी बात '**त्राहि मां शरणागतम्**' आदि शब्दोंमें की जाती है; परन्तु हर समय अपने भोजन, पान, धन, पुत्र, प्रतिष्ठाके अर्जनमें व्यग्रता दिखायी देती है। यह प्राणियोंसे हो ही नहीं सकता कि घरमें आग लगी हो और वह अव्यग्रतासे भगवान्‌के ध्यान या जपमें लगा रहे। यदि किसी सौभाग्यशालीकी यह स्थिति हो जाय तो अवश्य ही भगवान् उसके घरकी आग बुझा देते हैं। आलस्य और अकर्मण्यतावश अपने कर्तव्योंकी उपेक्षा करना—यह एक बात है, भगवत्परायणतामें विश्वविस्मरण होनेसे वैसा हो—यह दूसरी बात है। अपने यहाँके कितने ही भक्तोंके उदाहरण हैं कि उनके भगवद्भजनमें तन्मय होनेपर भगवान्‌ने ही उनके कर्तव्योंका पालन किया है। रावण, मेघनाद आदि राक्षसोंकी कथाओंमें भी ऐसी बातें आती हैं कि वे लोग युद्धके अवसरोंमें जिस समय अपने यज्ञ या देवाराधनमें बैठते थे, उस समय किसी बातकी परवा नहीं करते थे। तब उनका ध्यान-आराधन आदि भंग करनेके लिये सुग्रीवके सैनिकोंकी ओरसे विघ्न किया जाता था। उस समय लोगोंकी यह

धारणा थी कि यदि इनके निर्विघ्न देवाराधन सम्पन्न हो गये तो फिर इनपर विजय प्राप्त करना असम्भव हो जायगा। वे लोग भी घोर अपमान और कष्ट सहन करके भी अपने आराधनसे नहीं उठते थे और यदि किसी प्रकारसे उन्हें उठना पड़ता तो वे उसे अपनी सफलतामें बाधक समझते थे।

सर्वत्र ही निजी प्रयाससाध्य कार्योंमें भी प्राणियोंको ईश्वरका सहारा रखना ही पड़ता है। द्रौपदी और गजराजका जब अपना और अपने रक्षकोंका सहारा टूट गया, तब फिर भगवान्‌के बिना उनका और कौन रक्षक हुआ? आलसी एवं अकर्मण्य नहीं, किन्तु भगवान्‌का भक्त अपनी भक्तिसे उन अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक भगवान्‌को भी अपने वशमें कर लेता है, जिनके भ्रूविलाससे माया अपरिगणित ब्रह्माण्डोंका सृजन, पालन एवं संहरण करती है। उन भक्तोंके आत्माको कौन-सा ऐसा कार्य अवशिष्ट रह सकता है, जो भगवान्‌के कृपाकटाक्षसे न हो सके। सच्चे भक्तोंकी प्रार्थनासे समाज एवं एक देशका ही नहीं, विश्वभरका कल्याण हो सकता है और हुआ है। परन्तु उस प्रकारकी योग्यता और प्रार्थना-तत्परता जबतक नहीं है, तबतक हम अपने अनेक लौकिक स्वार्थमय कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं। जबतक प्राणीको भोजन-पानादि नाना व्यवहारोंका स्मरण बना रहता है, तबतकके लिये वह **'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'** का अधिकारी नहीं होता। उस कालमें तो **'मामनुस्मर युध्य च'** के अनुसार भगवत्स्मरणके साथ कर्तव्यकोटिमें उपस्थित समस्त लौकिक-पारलौकिक कर्मोंके करनेमें प्रयत्नशील होना ही चाहिये। **'कर्मण्येवाधिकारस्ते'**, **'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्'** इत्यादि वचनोंसे भगवान्‌ने स्पष्ट ही कहा है कि राग-द्वेष-विहीन होकर वैयक्तिक और सामूहिक कल्याणदृष्टिसे अपने कर्तव्यकर्मके पालनमें शास्त्रानुसार ही सन्नद्ध रहो।

वेद-शास्त्रोंपर आस्था और श्रद्धा रखकर उनके आज्ञानुसार चलनेसे लोक-परलोक, भगवदाराधन, भगवत्प्रसन्नता—सब कुछ सुलभ हो जायगा। व्यष्टि, समष्टि, लौकिक, पारलौकिक ऐसा कोई अभ्युदय या कल्याण नहीं है, जिसका वेद-शास्त्रसे सम्बन्ध न हो। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकारकी सभी हलचलों या चेष्टाओंका औचित्य-अनौचित्य, सौष्ठव-असौष्ठव, सम्यक्त्व-असम्यक्त्व, वेद-शास्त्रसे ही निर्णीत होता है। प्रज्ञापराधसे यदि कोई साधारण निषिद्ध कार्य हो जाय, तो इतनेसे ही दूसरे किसी बड़े निषिद्ध कार्यका अनुमोदन कदापि वाञ्छनीय नहीं हो सकता। सर्वथा शास्त्रोंकी दृष्टिसे चलनेपर कुछ भी अप्राप्य नहीं है।

संसारमें बहुत-से ग्रन्थोंकी अच्छाई-बुराई उनके प्रतिपाद्य विषयकी अच्छाई-बुराईपर अवलम्बित रहती है। परन्तु वेद-शास्त्रकी यही विशेषता है कि वहाँ विषयकी अच्छाई-बुराई वेद-शास्त्रकी सम्मति-असम्मतिपर ही निर्भर है। उन शास्त्रोंके आधारपर ही यह भी विदित होता है कि बहुत-से ऐसे भाव हैं जो स्वयं दूषित वस्तुओंके संसर्गसे नहीं दूषित होते, किन्तु दूषित वस्तु ही उनके संसर्गसे भूषित हो जाती है। भगवान्‌की ठीक आराधना और प्रार्थना समस्त दोषजालोंका उन्मूलन करके प्राणीको सन्मार्गपर ला सकती है और वैयक्तिक, सामूहिक, लौकिक, पारलौकिक—सब प्रकारका कल्याण सम्पादन कर सकती है। यह तो सभीको मान्य है कि सद्‌बुद्धिसे ही सन्मार्गमें प्रवृत्ति और सब प्रकारका कल्याण सम्भव है। परन्तु वह सद्‌बुद्धि ही कैसे प्राप्त हो। सत्कर्मसे सद्‌बुद्धि और सद्‌बुद्धिसे सत्कर्म माना जाय तो फिर अन्योन्याश्रयदोष आता है। सत्प्रेरणासे सत्कर्मका पक्ष यद्यपि ठीक ही है, फिर भी सत्प्रेरणाका आदर करनेकी सद्‌बुद्धि वहाँपर भी अपेक्षित रहती है। अतएव हमारे यहाँ सर्वप्रधान गायत्री-मन्त्रद्वारा सद्‌बुद्धि और सत्प्रेरणाके लिये भी भगवान्‌की प्रार्थनाका ही संकेत मिलता है। समस्त पुरुषार्थों, सभी कर्तव्योंका एक मूल सद्‌बुद्धि है। अतएव अपने देहदौर्बल्य, प्राणदौर्बल्य, इन्द्रियदौर्बल्यको सुनकर रोष नहीं होता; परन्तु सद्‌बुद्धिका दौर्बल्य सुननेसे असह्य क्षोभ उत्पन्न होता है। इसलिये सद्‌बुद्धि, सत्प्रेरणाके लिये भगवान्‌से ही प्रार्थना की जाती है, जिससे समस्त पुरुषार्थ सरलतासे अपने-आप सिद्ध हो सकें। **'सिद्धान्त'**

कब न बोले !

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्नाप्यन्यायेन पृच्छतः। ज्ञानवानपि मेधावी जडवत्समुपाविशेत्॥

किसीके प्रश्न किये बिना न बोले, तथा कोई अन्यायसे प्रश्न करता हो, तब भी न बोले, मेधावी विद्वान् पुरुष (जाननेपर भी नियमानुसार प्रश्न किये बिना) मूर्ख मनुष्यके समान व्यवहार करे।

(महा० शान्ति० २८७। ३५)

साधना

(लेखक—'श्रीज्योतिजी')

साधनाका अर्थ है मनको किसी विषयमें एकनिष्ठ भावसे संयुक्त करना। यह जिस प्रकार किसी उत्कृष्ट विषयमें किया जा सकता है, उसी प्रकार उसके विपरीत निकृष्ट विषयमें भी हो सकता है। परन्तु हम यहाँ जिस साधनाके विषयमें कहनेको प्रस्तुत हुए हैं, वह तो विश्व-ब्रह्माण्डकी सृष्टि आदिके कारण अवाङ्मनसगोचर परम तत्त्वकी प्राप्तिका उपाय है। उसे व्यक्त करनेके लिये जिस भाषाकी आवश्यकता होती है, वह भी अव्यक्त है। मनुष्य तो अपनी भाषाके द्वारा उसे निरूपण करनेका केवल प्रयत्नमात्र करता है। 'साधना' भी उस मानवी भाषाका ही एक शब्द है। इसलिये उस अव्यक्त तत्त्वका इससे भी ठीक-ठीक दिग्दर्शन नहीं हो सकता। इस साधनामें प्रवृत्त होनेके लिये नीति, वैराग्य एवं ज्ञानादि कुछ विशिष्ट गुणोंकी आवश्यकता होती है। इसका मुख्य यन्त्र मन है। अज्ञातरूपसे मन सर्वदा इसीके लिये उत्सुक रहता है। समय-समयपर हम ईश्वरके लिये व्याकुल हो जाते हैं, इसका क्या कारण है? कारण यही है कि मन अव्यक्तरूपसे प्रभुके ही पास है, किन्तु अज्ञानवश उनसे विमुख हो रहा है। कभी-कभी कारणवश जब उस संस्कारका उद्दीपन होता है तो वह उनसे मिलनेके लिये व्याकुल हो जाता है; परन्तु वह त्याग, वह वैराग्य और वह आन्तरिक व्याकुलता इस समय कहाँ है? संसारचक्रमें पड़कर यह निरन्तर उसीमें छटपटा रहा है।

साधनाके लिये मनकी ध्यानावस्था होनी चाहिये, क्योंकि ध्यान ही साधनाका प्रधान अंग है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि ध्यान कहाँ करना चाहिये। जिसे कुछ भी पता नहीं है, उसे यह कौन बतावेगा कि किस स्थानमें ध्यान करना होगा? कहते हैं कि ध्यानके लिये स्थान हृदय है। इसीको और भी स्पष्ट रूपसे ऐसा कहा जा सकता है कि गुरुदेवके उपदेशके अनुसार हृदयमें शब्द, ज्योति और रूप—इन तीन वस्तुओंका अनुभव करनेका प्रयत्न करे। शब्द-साधन करनेसे अन्तमें एक ऐसे शब्दका अपरोक्ष अनुभव होता है, जो जीवके हृदयसे लेकर प्रत्येक अणु-परमाणुमें निरन्तर व्याप्त है। इस प्रकार शब्दकी सिद्धि हो जानेपर शब्दमें ही डूबनेसे एक अद्भुत ज्योतिका अनुभव होता है। वह भी उसी प्रकार सर्वव्यापक जान पड़ती है। शब्द और ज्योति—इन दोनोंकी उपलब्धि ध्यानसे ही होती है, परन्तु इनकी एक नित्य अवस्था भी है, जो स्वयं पूर्ण ब्रह्मस्वरूपा ही है, जिसे शब्दब्रह्म और ज्योतिब्रह्म कहा जाता है। उसमें रूप नामकी कोई वस्तु नहीं है। साधकको शब्द अथवा ज्योतिके ही भीतर मग्न रहना पड़ता है। यह एकमात्र चैतन्यस्वरूप अथवा शुद्ध अहंबोधस्वरूप है, परन्तु इन दोनोंमें एक साथ कोई भी डूबकर नहीं रह सकता। इनमेंसे किसी एकमें ही डूबना होगा। उसमें डूबनेसे ब्रह्मस्वरूपमें स्थिति होती है। शब्द और ज्योतिका ध्यान यथार्थ भगवत्साधनाका केवल रास्ता ही है। तीसरी वस्तु रूप है। शब्द और ज्योतिसे साधकके मनकी कल्पनाके अनुसार रूपकी सृष्टि होती है। जिसकी जिस वस्तु या मूर्तिमें निष्ठा है, उसके लिये उसी रूप या वस्तुकी रचना होती है। साधारणतः जिस वस्तुकी रचना शब्दब्रह्मसे होती है, वह निम्न स्तरकी होती है— जैसे मनुष्य, पशु, पक्षी एवं लता आदि। तथा जिस वस्तुकी रचना मन ज्योतिर्मय ब्रह्मसे करता है, वह उच्च स्तरकी होती है— जैसे ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव आदि सम्पूर्ण देववर्ग। जिस समय साधक साधनाके द्वारा पूर्णत्व प्राप्त करता है, उस समय उसका इन सब सृष्टियोंमें अधिकार होता है। यही साधनकी पूर्ण अवस्था है और यही जीवके लिये वाञ्छनीय है।

किसी भी प्रकार साधनके द्वारा इन तीनों (शब्द, ज्योति, रूप)मेंसे किसी भी एकको स्वायत्त करना ही चाहिये। चाहे गुरुके उपदेशसे हो, चाहे नैतिक जीवनके उत्कर्षसे—इन तीनोंमेंसे किसी एकको स्वायत्त करके उसीमें डूबनेसे क्रमशः सत्यका मार्ग पानेकी आशा की जा सकती है। हम जिस समय बालक थे, उस समय एक महापुरुषके अनुग्रहसे हमने यह सब देखा था। इस सम्बन्धमें एक घटनाका उल्लेख करते हैं। बहुत लोगोंको

यह बात विदित नहीं होगी कि महात्मागण काल्पनिक जगत् रचकर आवश्यकता होनेपर अपने भक्तोंको प्रत्यक्ष दिखा सकते हैं। हमें भी इसका सौभाग्य प्राप्त हुआ था मैंने यह प्रत्यक्ष देखा कि मैं ध्रुवलोकमें पहुँच गया हूँ और वहाँ ध्रुव यह उपदेश कर रहे हैं कि उन्होंने किस प्रकार बाल्यावस्थामें तपस्या करके पद्मपलाशलोचन श्रीभगवान्का साक्षात्कार किया था। मैंने देखा कि वे व्याकुल होकर कभी वन-जंगलमें घूमते-घूमते और कभी एकाग्र चित्तसे बैठकर भगवान्को पुकार रहे हैं। वे प्रत्येक वस्तुमें चैतन्यमय श्रीहरिका अनुभव करते हुए अपनेको भूल जाते हैं। यहाँतक कि हिंस्र पशुओंको देखते हैं तो उनके कण्ठमें लिपटकर भी यही कहते हैं कि क्या तुम्हीं हमारे पद्मलोचन हरि हो। जिन लोगोंने जीवनमें कभी ऐसा अनुभव नहीं किया, उन्हें भाषाके द्वारा समझाया नहीं जा सकता कि यह व्याकुलता—यह छटपटाहट कैसी थी। इस प्रकार ध्रुवको प्रत्येक वस्तुमें श्रीहरिका अनुभव होनेपर भी स्थूलरूपमें उनका दर्शन नहीं होता था। जबतक पूर्ण प्रेमका उदय नहीं होता, तबतक मूर्तिका आविर्भाव नहीं होता। अन्तमें मैंने देखा कि शब्द और ज्योतिको स्वायत्त करके ध्रुव उनमें डूबे हुए हैं। तब कमललोचन श्रीहरिको देखनेकी इच्छा होते ही ज्योतिसे तत्क्षण उनकी मूर्तिका विकास हो गया। उस समय ध्रुव खुले हृदयसे अपने प्रियतमका दर्शन करने लगे। साथ ही मुझको भी उपदेश करते हुए कहने लगे कि जब तुम्हें ऐसी व्याकुलता और प्रीति होगी, तभी तुम उन्हें पा सकोगे।

मैंने यह सब देखा तो सही, परन्तु अपने आसपासके आवरणका विचार कर निराश हो गया। उसी निराशाके साथ अभीतक अपने जीवनके क्षण बिता रहा हूँ। अतः मेरी तो ऐसी धारणा है कि महापुरुष जो सांसारिक वातावरणको छोड़कर वन-पर्वतोंमें चले जाते हैं, वहाँके वातावरणका उनपर बड़ा ही अद्भुत प्रभाव पड़ता है। वहाँ शब्दमें कृत्रिमता नहीं है। प्राणका स्पन्दन गम्भीर भावसे शब्दका आलोडन करता है तथा मन एकाग्र होकर इष्टसाधनमें नियुक्त हो जाता है। वहाँ हिंसाकी स्मृति भी नहीं होती, पूर्ण अहिंसाका भाव रहता है तथा नैतिक जीवनका विकास होने लगता है। अतः वहाँ सब प्रकार साधनामें उन्नति होनेकी सामग्री विद्यमान रहती है।

साधनाकी धारा पृथक्-पृथक् होनेपर भी अन्तमें सभीको एक ही स्थानपर पहुँचना होगा। एक बात और कहनी रह गयी। भगवत्साधनामें सिद्धि होनेसे भक्तको उनका साक्षात्कार होता है तथा उनसे मिलन हो जाता है। कोई-कोई इसीको निर्वाण या मुक्ति भी कहते हैं। यह साधनकी सिद्धावस्था होनेपर भी इसमें एक ऐसी वस्तु है, जिसका कारण ढूँढ़नेपर भी नहीं मिलता। उसका नाम 'कृपा' है। ऊपर यह कहा जा चुका है कि साधनाका विषय उत्कृष्ट भी हो सकता है और निकृष्ट भी। इसी प्रकार कृपा भी उत्कृष्ट और निकृष्ट दोनों ही प्रकारके पुरुषोंपर हो सकती है। बहुत बार यह देखा जाता है कि जिन्हें हम घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं और बहुत पतित समझते हैं, वे भी साधनामें अग्रसर होकर भविष्यमें उन्नतिके मार्गपर चलने लगते हैं। इसीको हम 'कृपा' कहते हैं। बहुत ढूँढ़नेपर भी इसका कोई कारण नहीं मिलता। इसलिये इस विषयमें कृपाके ऊपर ही निर्भर करना पड़ता है।

अन्तमें कहना यह है कि ये आत्मतत्त्व या साधना-सम्बन्धी बातें लिखनेका साहस करना हमारी अनधिकार चेष्टा ही है। यह विषय सदासे ही अप्रकाश्य रहा है और रहेगा भी। इसका रहस्य कभी कोई प्रकाशित कर सकेगा—ऐसी सम्भावना नहीं है, क्योंकि वह गुरुगम्य विषय है। तब भी मनुष्यका कर्तव्य है कि नीति और अहिंसाका आश्रय लेकर उनकी कृपाकी प्रतीक्षा करता रहे। यही साधनाका प्रथम स्तर है। ऐसा करते-करते द्वितीय स्तर अर्थात् योगावस्थाका उदय होता है। बहुत लोग अहिंसाकी बात समझनेपर भी नीतिका ठीक-ठीक रहस्य नहीं समझते। इसलिये यहाँ उसका कुछ उल्लेख किया जाता है। सेवा-शुश्रूषा, पिता-माताके प्रति प्रेम और ईश्वरकी आज्ञा समझकर कर्तव्यका पालन—यही नीतिका स्वरूप है। योगावस्था सिद्ध हो जानेपर जिस अवस्थाका उदय होता है, उसका यहाँ वर्णन करनेकी हमारी इच्छा नहीं है। वह साधककी अपनी चीज है। तब भी इतना कह सकते हैं— 'अवाङ्मनसगोचर श्रीहरि, तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो।'

साधु साधकोंके लिये

[पूज्यपाद स्वामी श्रीआत्मदेवकृष्णजी महाराजके उपदेशके आधारपर लिखित]

१-साधु दो ही चीज छोड़ता है—पैसा और स्त्री। यदि इनसे सम्बन्ध बना रहा तो साधु ही क्या हुआ? साधुको पैसा माँगना और बाँधना दोनों ही पाप हैं। साधु होकर गृहस्थोंके ऊपर भूलकर भी किसी प्रकारका भार मत डालो, केवल रोटी ही माँगो। अच्छा भोजन तो गृहस्थोंके लिये है, साधुको उसकी इच्छा नहीं करनी चाहिये। शरीरको ऐसा बनाओ कि कहीं भी पड़ा रहे, किसी प्रकारकी परवा न हो। गर्मी पड़े तो ठंढाई मत पियो और सर्दी पड़े तो बादाम मत चबाओ।

२-अपनी इन्द्रियोंको काबूमें रखो। जो चीजें दुनियादार आदमीके लिये हैं, वे साधुके लिये हराम हैं। आजाद फकीर दुनियाकी किसी वस्तुको पास नहीं फटकने देते। वे तो आकाशके नीचे रहते हैं और अपनी सब प्रकारकी इच्छाओंकी बरबादी करना ही अपना कर्तव्य समझते हैं। वे अच्छे पदार्थ मिलनेपर भी नहीं लेते, केवल सूखी रोटी खाकर रहते हैं—स्वादके लिये कुछ नहीं खाते।

३-साधुको इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि अपना काम किसीसे न कराया जाय, स्वयं ही अपना सारा काम कर ले, अपनेको किसीके अहसानके बन्धनमें न बाँधे। भूलकर भी नया जूता न पहनो। पैदल चलनेका अभ्यास करो। सवारीमें क्यों बैठते हो? तुम्हारी कोई तारीख तो है नहीं। कहनेका तात्पर्य यह है कि गृहस्थसे रोटीके सिवा और किसी चीजकी इच्छा न करो। निरन्तर भगवान्का भजन करो, किसीसे बोलने-चालनेकी भी आवश्यकता नहीं है।

४-यदि तुम्हारे साथ कोई बुराई करे, तो भी तुम्हें उसकी भलाई ही करनी चाहिये। साधुके लिये तो किसीसे नाराज होना अथवा किसीको नाराज करना दोनों ही पाप हैं। कुत्तेको भी डंडा उठाकर मत धमकाओ।

५-जिस घरके द्वारपर कोई दूसरा साधु भिक्षा माँग रहा हो, वहाँ तुम मत जाओ। सम्भव है वह बेचारा गृहस्थ दोको रोटी न दे सकता हो।

६-विरक्तको चाहिये कि एक गुदड़ी, दो कौपीन, एक झोली और एक जलपात्रके सिवा एक इलायची भी पास न रखे। जो विरक्त होकर सुखकी सामग्रियोंका संचय करता है, वह तो संन्यासाश्रमसे पतित हो जाता है। यतिका भूषण तो त्याग और नि:संगता ही है। '**नि:संगता मुक्तिपदं यतीनाम्**'।

७-याद रखो इच्छाओंकी पूर्ति कभी नहीं होती। इनके कारण तो गृहस्थ ही महादु:खी रहते हैं। फिर तुम इनमें फँसकर क्यों व्यर्थ आपत्ति मोल लेते हो? इच्छाओंके कारण ही संसारियोंका संग बढ़ता है। संन्यासीको तो संसारी पुरुष, स्त्री, धन, बहुमूल्य वस्त्र, मकान एवं पूजा-प्रतिष्ठा आदिका दूरसे ही त्याग कर देना चाहिये। उसे या तो सर्वथा नि:संग रहना चाहिये या केवल बोधवान् विरक्त महात्माओंके सहवासमें ही!

८-साधकोंको भंगी, चमार, मुसलमान अथवा ईसाई आदि अस्पृश्य और विधर्मी लोगोंकी रोटी नहीं खानी चाहिये। शास्त्रोंमें ब्राह्मणादि तीन वर्णोंकी भिक्षा करनेका ही विधान है। अन्त्यजोंकी भिक्षा करनेसे तेज, उत्साह, धैर्य एवं शान्ति सभी नष्ट हो जाते हैं। त्रिवर्णमें भिक्षा करनेपर प्रारब्ध जो कुछ दे, उसीको खाकर देहयात्राका निर्वाह करो। कच्ची-पक्की, बासी-ताजी—इसका विचार मत करो। यदि कोई प्रेमसे बिना माँगे ही भिक्षा ले आवे, तो उसे भी '**ॐ नमो नारायणाय**' इस मन्त्रसे जल छिड़ककर पा लो।

९-'**आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया**'—जबतक सो या मर न जाय, तबतक ब्रह्मचिन्तनमें ही समय व्यतीत करे—इस नियमके अनुसार साधुको अपना सारा समय स्वरूपानुसन्धानमें ही व्यतीत करना चाहिये। इसके लिये प्रणवजप, वेदान्तग्रन्थोंका स्वाध्याय तथा तत् और त्वंपदका शोधन करना चाहिये। इस प्रकार तत्त्वविचारद्वारा जब जीवात्मा और परमात्माके अभेदका निश्चय हो जाय, तो चित्तकी शान्तिके लिये सारी प्रवृत्तियोंको त्यागकर निरन्तर ब्रह्माकार वृत्तिका अभ्यास करे और चौबीसों घंटे निर्विकल्प स्थितिमें रहे।

१०-संसारियोंकी मनोवृत्तियोंको तृप्त करनेसे, अपनी प्रशंसाकी इच्छा रखनेसे तथा खान-पानके लालचमें फँसनेसे साधुका त्याग नष्ट हो जाता है। संसारियोंका

संग न हो, इसीलिये शास्त्रने यतिके लिये सन्ध्या, गायत्री, मूर्तिपूजा, अग्निहोत्र एवं यज्ञ-दानादि शुभ प्रवृत्तियोंको तथा धनसंग्रह, भंडारा और मठनिर्माणादि प्रापंचिक प्रवृत्तियोंको त्यागकर केवल एकान्तसेवनका विधान किया है। गीताके सारभूत **'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'** इस भगवद्वाक्यका भी यही रहस्य है। अत: दत्तात्रेय, वामदेव, जडभरत और शुकदेवके समान सर्वथा नि:संग होकर विचरो तथा सब प्रकारकी भेदबुद्धि त्यागकर खुदमस्ती और खुदपरस्तीमें ही मगन रहो। मान, यश, बड़ाई, उपकार आदि संसारकी सभी वासनओंको त्याग दो तथा आँखोंसे अंधे, कानोंसे बहरे, जिह्वासे मूक, पैरोंसे पंगु और उपस्थसे नपुंसक होकर निरन्तर संसारातीत परमपदमें स्थित रहो। यही सच्ची जीवन्मुक्ति है। जो संसारकी ओर देखते हैं, वे मायाके चंगुलसे नहीं बच सकते। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने भी मायाको बहुत प्रबल बताया है। माया बड़े-बड़े साधकोंको भटका देती है, इसलिये सदा सावधान रहो।

(प्रेषक—भक्त रामशरणदासजी)

गृहस्थोंके लिये साधारण नियम

१-प्रात:काल सूर्योदयसे पहले उठो।

२-उठते ही भगवान्का स्मरण करो।

३-शौच-स्नानादिसे निवृत्त होकर भगवान्की उपासना, सन्ध्या, तर्पण आदि करो।

४-बलिवैश्वदेव करके समयपर सात्त्विक भोजन करो।

५-रोज प्रात:काल माता, पिता, गुरु आदि बड़ोंको प्रणाम करो।

६-इन्द्रियोंके वश न होकर, उनको वशमें करके उनसे यथायोग्य काम लो।

७-धन कमानेमें छल, कपट, चोरी, असत्य और बेईमानीका त्याग करो। अपनी कमाईके धनमें यथायोग्य सभीका हक समझो।

८-माता-पिता, भाई-भौजाई, बहन-फूआ, स्त्री-पुत्र आदि परिवारका आदर और प्रेमसे पालन करो।

९-अतिथिका सच्चे मनसे सत्कार करो।

१०-अपनी हैसियतके अनुसार दान करो। पड़ोसियों तथा ग्रामवासियोंकी सत्कारपूर्ण सेवा सदा करो।

११-सब कर्मोंको बड़ी सुन्दरता, सफाई और नेकनीयतीसे करो।

१२-किसीका अपमान, निरस्कार और अहित न करो।

१३-अपने किसी कर्मसे समाजमें विश्रृंखलता और प्रमाद न पैदा करो।

१४-मन, वचन और शरीरसे पवित्र, विनयशील और परोपकारी बनो।

१५-सब कर्म नाटकके पात्रकी भाँति अपने न मानकर करो, परन्तु करो ठीक सावधानीके साथ।

१६-विलासितासे बचे रहो—अपने लिये खर्च कम लगाओ। बचतके पैसे गरीबोंकी सेवामें खर्च करो।

१७-स्वावलम्बी बनकर रहो—दूसरेपर अपने जीवनका भार न डालो।

१८-निकम्मे कभी मत रहो।

१९-इस बातका पूरा ख्याल करो—अन्यायका पैसा, दूसरेके हकका पैसा घरमें न आने पावे।

२०-सब कर्मोंको भगवान्की सेवाके भावसे—निष्कामभावसे करनेकी चेष्टा करो।

२१-जीवनका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है, भोग नहीं—इस निश्चयसे कभी न टलो और सारे काम इसी लक्ष्यकी साधनाके लिये करो।

अपरोक्षज्ञान-साधन

(लेखक—संत स्वामी श्रीमेंहीदासजी)

परमप्रभु सर्वेश्वरका अपरोक्षज्ञान प्राप्त करनेका साधन जाननेके पूर्व उन प्रभुके स्वरूपका तथा अपने निज स्वरूपका भी परोक्षज्ञान श्रवण-मननके द्वारा होना आवश्यक है। साथ ही सृष्टिक्रमके ज्ञानसहित यह भी जान लेना आवश्यक है कि इन युगल स्वरूपोंका अपरोक्षज्ञान न होनेका कारण क्या है।

परमप्रभुके स्वरूपका श्रवण-मननद्वारा परोक्षज्ञान होनेसे परम प्राप्तव्य निश्चित हो जायगा। यह भी निश्चित होगा कि उस प्राप्तव्यको क्षेत्रसहित क्षेत्रज्ञ प्राप्त कर सकेगा या केवल क्षेत्रज्ञ ही। इसी प्रकार उसका अन्तर्बाह्य साधन भी निश्चित होगा। इससे जीवका जो अनावश्यक भटकना है, वह छूट जायगा। इसी प्रकार अपने निजस्वरूपका ज्ञान होनेसे जीव स्वयं यह निश्चय कर सकेगा कि मैं उसे प्राप्त करने योग्य हूँ अथवा नहीं। सृष्टिक्रमके ज्ञानसे तथा इन युगल स्वरूपोंका अपरोक्षज्ञान न होनेके कारणकी जानकारीसे वह आश्रय मिल जायगा, जिससे सृष्टिक्रम और ज्ञानावरणको पारकर परमप्रभुसे मिलना, उनका साक्षात्कार होना सम्भव हो सकेगा। इसके लिये उपनिषद्वचनों तथा संतोंकी बानियोंमें ढूँढ-खोज करनी होगी और उनके सहारे बुद्धिसे निश्चय करना होगा।

उपनिषदादि शास्त्रों और संतोंके वचनोंसे यही सिद्ध होता है कि परमप्रभु सर्वेश्वरका स्वरूप अव्यक्त, इन्द्रियातीत, आदि-अन्तरहित, अज, अविनाशी, देशकालातीत, सर्वगत और सर्वातीत है। और अपना निजस्वरूप उन्हीं सर्वेश्वर सर्वातीत प्रभुका वैसा ही अंश है, जैसे घटाकाश महदाकाशका। तत्त्वत: परमात्मस्वरूप और आत्मस्वरूप दोनों एक ही हैं। तथापि परमप्रभु आवरणसे आवृत नहीं हैं और जीव—सर्वेश्वरका पिण्डस्थ अंश आवृत है। जीवके चार आवरण हैं—महाकारण, कारण, सूक्ष्म और स्थूल। इन्हीं आवरणोंके कारण हमें इन दो स्वरूपोंका अपरोक्षज्ञान नहीं हो पाता।

परमप्रभु सर्वेश्वरकी मौज है, जिससे सृष्टि होती है। यह मौज ही स्पन्द या कम्पन है, जो सदा शब्दान्वयी होता है। इस प्रकार सृष्टिके आदिमें शब्दका होना मानना पड़ता है। इसलिये मूल सृष्टि शब्दसृष्टि है। सृष्टिका आगेका विकास सूक्ष्मसे स्थूलकी ओर होता चला गया है। सृष्टिके जिस प्रकारके मण्डलमें हमलोग हैं, वह स्थूल है। इसके ऊपर सूक्ष्मण्डल है, सूक्ष्मके ऊपर कारण-मण्डल है और कारणके ऊपर महाकारणमण्डल है (जो कारणकी खान साम्यावस्थिता जडात्मिका मूल प्रकृति है); महाकारणके ऊपर जडरहित चैतन्य या परा प्रकृति या कैवल्य-मण्डल है। कैवल्य-मण्डल निर्मल चैतन्य है और शेष चार मण्डल चैतन्यसहित जड हैं। प्रत्येक मण्डलके बननेके लिये पहले उसका केन्द्र स्थापित हुआ। केन्द्रसे मण्डल-निर्माणकी मौजका स्पन्दन या शब्द निकला और मण्डल-निर्माण हुआ। मण्डलमात्रके केन्द्रमें केन्द्रीय शब्द निहित है। शब्दका यह स्वभाव प्रत्यक्ष है कि वह अपने उद्गमस्थानकी ओर आकर्षित करता है। अर्थात् शब्द ही वह आश्रय है, जिससे ये मण्डल पार किये जा सकते हैं। केन्द्रीय शब्द अवश्य ही वर्णात्मक नहीं, ध्वन्यात्मक हैं।

नादानुसन्धान अथवा सुरतशब्दयोग इन्हीं ध्वन्यात्मक शब्दोंका होता है। शब्दकी आकर्षण-शक्तिसे सुरतशब्दयोग आत्यन्तिक ऊर्ध्वगतितक पहुँचानेमें समर्थ होता है। सृष्टिके जिन पाँच मण्डलोंका ऊपर वर्णन हुआ, वे ही पाँच आवरण हैं जो पिण्ड और ब्रह्माण्डको विशेषरूपसे सम्बद्ध रखते हुए दोनोंमें भरे-पूरे रहते हैं। परा प्रकृति अर्थात् सुरत या जीव-चैतन्य परमप्रभु सर्वेश्वरके निजस्वरूपके अत्यन्त समीपवर्त्ती होनेके कारण प्रभुस्वरूपका साक्षात्कार करनेके सर्वथा योग्य है। जीवका निजस्वरूप इस जीव-चैतन्यसे अवश्य ही श्रेष्ठ है और चेतन क्षेत्रका सर्वोत्कृष्ट रूप है। क्षेत्रज्ञको अपने इसी निर्गुण सर्वोत्क्रृष्ट रूपके साथ परमप्रभु सर्वेश्वरके स्वरूपका अपरोक्षज्ञान हो सकता है; पर क्षेत्रके जो अन्य चार सगुणरूप हैं, उनके या उनमेंसे किसी एक या एकाधिक रूपके साथ होनेपर यह अपरोक्षज्ञान नहीं हो सकता।

सृष्टिक्रममें ऊपरकी ओर सूक्ष्मता और नीचेकी ओर स्थूलता है। जो मण्डल जितना ऊपर है, वह उतना ही सूक्ष्म है और जो जितना नीचे है, उतना ही स्थूल है और इसलिये इन मण्डलोंके केन्द्रीय शब्द भी ऊपरके मण्डलोंमें अधिकाधिक सूक्ष्म और नीचेके मण्डलोंमें अधिकाधिक स्थूल हैं। ऊपरके मण्डलोंके केन्द्रोंसे उत्थित शब्द नीचेके मण्डलोंके केन्द्रोंपरसे क्रमानुसार धरे जा सकते हैं; क्योंकि सूक्ष्मतत्त्वकी धारा स्थूलतत्त्वकी धारासे

लंबी होती है और अपनेसे स्थूलतत्त्वमें स्वभावसे ही समायी हुई होती है। किसी मण्डलके केन्द्रसे उसके ऊपरके सूक्ष्मण्डलके केन्द्रका शब्द इस प्रकार पकड़ा जा सकता है। इसी क्रमसे अन्तमें महाकारणमण्डलके केन्द्रपर कैवल्यमण्डलके केन्द्रसे अर्थात् स्वयं परमप्रभु सर्वेश्वरसे उत्थित शब्द धरा जा सकता है। उस शब्दसे आकर्षित होकर सुरत (जीवचैतन्य)-का परमप्रभुके साथ साक्षात्कार हो सकता है, जीव-चैतन्य प्रभुके साथ मिलकर एक हो सकता है। अपरोक्षज्ञान-प्राप्तिके साधनकी यही पराकाष्ठा है। परमप्रभुसे उत्थित यह आदि शब्द सब पिण्डों और ब्रह्माण्डोंके अन्तस्तलमें सदा अप्रतिहत अविच्छिन्न रूपसे ध्वनित हो रहा है, सृष्टिकी स्थिति जबतक रहेगी तबतक होता रहेगा; क्योंकि सृष्टिका मूल कारण ही यही शब्द है। ऋषियोंने इसी अलौकिक आदि निर्गुण नादको ॐ कहा है और संतोंने इसीको राम, सत् नाम, सत् शब्द, आदिनाम, सार शब्द आदि अनेक नामोंसे पुकारा है।

सर्वमण्डलान्तर्वर्त्तिनी इस शब्दधाराको धरनेके लिये बाहरकी ओर कोई प्रयत्न करना बेकार है। इसके लिये अंदर ही यत्न और अभ्यास, गुरुका आश्रय करके, करना होगा। अंदर ध्यान लगानेका अभ्यास करनेसे अपनी सुरत या चेतनवृत्ति अधिकाधिक अन्तर्मुखी बनायी जा सकती है। आरम्भमें सूक्ष्मध्यान, स्वभावानुकूल न होनेसे, असाध्य होता है। इसलिये मानस-जप करना चाहिये, इससे मन एकाग्र होने लगेगा; तब स्थूल मूर्तिके मानस ध्यानका अभ्यास करना चाहिये। इससे सूक्ष्मध्यानाभ्यासकी योग्यता होगी। तब दृष्टियोगसे एकबिन्दुता प्राप्त करनेका सूक्ष्म ध्यानाभ्यास करके नादानुसन्धान या सुरत शब्दयोगमें लगना चाहिये। इससे नीचेसे ऊपरतकके सारे आवरणोंको भेदकर साधक पार निकलकर परमको पा सकता है। ऊपर यह कहा जा चुका है कि सृष्टिके पाँचों आवरण पिण्ड और ब्रह्माण्डको विशेष-रूपसे सम्बद्ध रखते हुए दोनोंमें भरे-पूरे रहते हैं। इन्हीं आवरणोंको पार करना ही सारे आवरणोंको पार करना है। इसमें विशेषरूपसे कहनेकी बात यह है कि पिण्डके जिस आवरणमें जो जीव होता है, ब्रह्माण्डके भी उसी आवरणमें वह रहता है और पिण्डके जिस आवरणको जो पार कर जाता है, वह ब्रह्माण्डके भी उस आवरणको उसी क्षण पार कर जाता है। जिसने पिण्डके सब आवरणोंको पार कर लिया, उसने उसके साथ ही ब्रह्माण्डके भी सब आवरणोंको पार कर लिया। अर्थात् पिण्डको जो पार कर गया, वह ब्रह्माण्ड भी पार कर गया।

यही परमयोग, परमज्ञान और परमाभक्तिका साधन-रहस्य है। यह बहुत संक्षेपमें लिखा गया है। पर आशा है कि बुद्धिमान् पाठक इतनेसे ही समझ लेंगे।

ईश्वर-प्राप्तिका प्राथमिक साधन—विचार-शक्तिका विकास

(लेखक—स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज)

तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात् सम्प्राप्यते मनः।
मनसा प्राप्यते ह्यात्मा ह्यात्मापत्त्या निवर्तते॥

'मन और इन्द्रियोंके संयमरूप तपसे सत्त्व (शुद्ध अन्तःकरण)-की, सत्त्वसे मन (विचार-शक्तिके विकास)-की और मनसे आत्मा (आत्मज्ञान)-की प्राप्ति होती है तथा आत्मज्ञानसे अज्ञानरूपी आवरण निवृत्त हो जाता है।'

प्राणिमात्रमें चित्तका निवास है, कार्यभेदसे उसके मन और बुद्धि ये दो विभाग हो जाते हैं। संकल्प-विकल्पात्मिका वृत्तिको मन और निश्चयात्मिका वृत्तिको 'बुद्धि' संज्ञा दी गयी है। बुद्धिको मति, विचार-शक्ति, ज्ञानग्राहिणी वृत्ति तथा क्रियाभेदसे स्मृति, मेधा आदि नाम भी दिये जाते हैं। मन और बुद्धिका शरीरके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, ऐसा प्रत्येक मनुष्यको अनुभव होता है। जितनी भी शारीरिक क्रियाएँ होती हैं, उन सबके शुभाशुभ संस्कार (वासना) चित्तपर जम जाते हैं। इसी प्रकार दूसरी ओर मन-बुद्धिके कार्यका प्रभाव शरीरपर पड़ता रहता है। जैसे मानसिक प्रसन्नता होनेपर मुख प्रफुल्लित और तेजस्वी प्रतीत होता है, चिन्ताग्रस्त होनेपर शरीर निस्तेज और निर्बल हो जाता है; क्रोधकी उत्पत्ति होनेपर रक्त विषमय बन जाता है, हिताहितका विचार विस्मृत हो जाता है और लोभका उदय होनेपर धर्म-अधर्मका विवेक दूर हो जाता है।

शुभ संस्कारोंसे शुभ कर्ममें और अशुभ संस्कारोंसे अशुभ क्रियामें रति होने लगती है। सांसारिक वासनाओंसे मनुष्य संसारमें प्रवृत्त होता है और भगवद्भक्तिजनित संस्कारोंसे धर्ममें अनुराग होकर अधर्मकी ओरसे उपराम वृत्ति होने लगती है। फिर परिणाममें शुभाशुभ संस्कारों अथवा मन-बुद्धिकी उन्नति-अवनतिके अनुरूप मनुष्यका जीवन सुखी-दुःखी या सफल-निष्फल बनता है।

चित्तकी प्रेरणाके पश्चात् ही शारीरिक क्रियाएँ होती हैं। शिशुका हाथ-पैर हिलाना, रोना या हँसना—ये सब कार्य उसके चित्तकी प्रेरणाके अनुसार ही होते हैं। मनकी आज्ञा मिले बिना शारीरिक चेष्टा नहीं होती। मन भी अपनी शक्तियोंद्वारा विचार, संवेदन और इच्छा—ये तीन मानस-व्यापार कर लेनेके बाद ही किसी शारीरिक क्रियाके लिये आदेश देता है, ऐसा निरीक्षण करनेपर अवगत हो जाता है। जैसे किसीको एक मच्छर काट रहा है, उस समय उसके मनमें सबसे पहले संकल्पका स्फुरण होकर विचारका उदय होता है, फिर वातवहा नाडियोंके केन्द्रस्थान मस्तिष्क-देशमें मच्छरके दंशजनित प्रतिकूल वेदनाकी प्रतीति होती है और तब उस वेदनाके निवारणार्थ मनमें इच्छाका उद्‌भव होता है। इस प्रकार इन तीन क्रियाओंके हो जानेपर मच्छरको उड़ानेके लिये हस्तेन्द्रिय प्रेरित होती है, तदनन्तर बाह्य क्रिया होती है। अतः इस उदाहरणसे यह बात स्पष्ट हो गयी कि शरीरके शुभाशुभ या सामान्य चेष्टारूप समस्त कर्मोंका प्रारम्भ तभी होता है जब विचार, संवेदन और इच्छा (प्रेरणा)—ये तीनों मानस व्यापार हो लेते हैं। इन तीनों मानसिक शक्तियोंके विपरीत किसी भी कर्ममें मनुष्यकी प्रवृत्ति अथवा उससे निवृत्ति नहीं हो सकती।

यदि मनुष्य इन तीनों मानसवृत्तियोंका सामंजस्य रखकर मनोवृत्तिरूप साधनके यथोचित विकासके लिये प्रयत्न करे, तो वह इच्छानुसार सांसारिक उन्नति या परब्रह्मकी प्राप्ति कर सकता है। जितने अंशमें इन त्रिविध शक्तियों-का विकास कम होगा अथवा इनमेंसे केवल एक या दो शक्तियोंका विकास करके इनके सामंजस्यको भंग किया जायगा, उतने ही अंशमें सुखकी प्राप्ति कम हो जायगी या जीवन दु:खमय बन जायगा। इसलिये आस्तिक या नास्तिक—सभी मनुष्योंको इन तीनों वृत्तियोंका समन्वय करके ही मानसिक प्रगति करनी चाहिये।

इन तीनों वृत्तियोंकी मूल शक्ति सृष्टिमें विलसित मूलतत्त्व (ब्रह्मचैतन्य)-में अवस्थित है। सृष्टिके बाहर-भीतर ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है, जो इस मूलतत्त्वसे पृथक् हो। यह बात वेदोंके निम्नलिखित मन्त्रोंसे प्रकट होती है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्मेति।

(तैत्ति०)

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति……।

(छान्दोग्य०)

इन मन्त्रोंका सोपपत्तिक विचार भगवान् बादरायण-रचित ब्रह्मसूत्रके '**जन्माद्यस्य यतः**' (१।१।२) इस सूत्रमें किया गया है। जिनको इस विषयकी विशेष जिज्ञासा हो, उन्हें उक्त सूत्रका भाष्य देखना चाहिये।

इस ब्रह्मतत्त्वमें सत्, चित, आनन्द, ज्ञान, बल, क्रिया आदि अनेक शक्तियाँ विद्यमान हैं।* वे ही सृष्टिकालमें मलिन-सी होकर मनके भीतर प्रतीत होती हैं। क्योंकि यह अविचल नियम है कि '**कारणगुणाः कार्ये सङ्क्रामन्ति**' अर्थात् कारणमें रहनेवाले गुण-धर्म या शक्तिकार्यमें सहज ही उतर आते हैं। परब्रह्मकी शक्तियोंका मन और तनमें प्रवेश हो ही जाता है—इस बातको भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने भी गीताके '**इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना**' इस वचनके द्वारा स्पष्ट कर दिया है। अस्तु, मनकी जो शान्त साम्यावस्था है, वह परब्रह्मकी सामान्यावस्था (सत्-शक्ति) के साथ सम्बन्ध रखनेवाली है। मनमें रहनेवाली विचार-शक्ति और ब्रह्मके चिदंश (चेतना-शक्ति)-में प्रकाशकत्वरूप गुण समान होनेके कारण दोनोंकी एकता जानी जाती है। अतः मनुष्यकी विचार-शक्तिका विकास चिदंशके साथ एकताके द्वारा ही हो सकता है। मनकी संवेदना-शक्ति और ब्रह्मके आनन्द-अंशका घनिष्ठ सम्बन्ध भी अनुभवमें आता रहता है। इसी प्रकार मनकी कर्तृत्वशक्ति (इच्छा और प्रेरणावृत्ति) तथा ब्रह्मकी बल-शक्ति एवं शरीरकी क्रिया और ब्रह्ममें रहनेवाली क्रियाशक्ति भी तत्त्वतः एक ही हैं। मतलब यह कि मानसिक शक्तियाँ परब्रह्मकी सत्, चित्, आनन्द आदि शक्तियोंसे पृथक् नहीं हैं। अतः मनुष्य जितने अंशमें परब्रह्मके साथ सहयोग रखेगा, उतने ही अंशमें अपने अन्तरकी शक्तियोंको उन्नत कर सकेगा। इस निबन्धमें

---

* परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।
(श्वे०उ०)

ह्लादिनी सन्धिनी संवित्त्वय्येका सर्वसंस्थितौ।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते॥
(वि० पु० १।१२।६९)

केवल विचारशक्तिरूप प्राथमिक साधनका ही मुख्यतया विवेचन किया जायगा। शेष दो साधनों (संवेदन और कर्तृत्वशक्ति) तथा शारीरिक शक्तिके सम्बन्धमें यदि कभी अवसर मिला, तो अलग-अलग लेख लिखकर पाठकोंकी सेवामें समर्पित किये जायँगे।

विचार-शक्ति प्राणिमात्रके जीवनका दीपक है। जैसे चित्-शक्ति विश्वको प्रकाशित करती है, वैसे ही विचार-शक्ति जीवोंके कर्तव्य-पथको निश्चित करती है। किसी प्रश्नके सत्यासत्यका निर्णय करना अथवा हित-अहित, सज्जन-दुर्जन, मित्र-शत्रु, गुण-दोष, लाभ-हानि, कर्तव्य-अकर्तव्य और तन-मन-धनकी योग्यता-अयोग्यता आदिका विचार करना तथा जीवनके ध्येय और उसके सहायक साधनोंका निश्चय करना—ये सब कार्य विचार-शक्तिके द्वारा ही होते हैं। अतएव इसकी जितनी अधिक प्रगति की जाय, उतनी ही अधिक मात्रामें परीक्षणका बल बढ़ता है। यहाँतक कि सृष्टिके मूल निमित्तोपादान कारण परब्रह्म और धर्मके स्वरूपका निर्णय भी विचार-शक्तिके द्वारा ही होता है। धर्मका प्रधान लक्ष्य तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिद्वारा कैवल्यमुक्ति पाना ही है। यह कार्य विचार-शक्तिका विकास किये बिना कदापि नहीं हो सकता।

यदि विचार-शक्तिका उपयोग इसके विपरीत दिशामें अर्थात् भौतिक विद्याओंकी प्रगतिके लिये किया जाय, तो उस विषयके ही ज्ञानकी वृद्धि होती है। किन्तु नैसर्गिक नियमोंका अनादर करके भौतिक ज्ञानकी उन्नति की जायगी, तो वह कदापि समुचित कल्याणकारी नहीं हो सकती। जिस प्रकार अग्निमें घृत डालनेपर वह अधिक प्रज्वलित होती है, उसी प्रकार केवल भौतिक ज्ञानसे विषय-भोगकी वासनाएँ अधिकाधिक उद्दीप्त होती हैं, जिनसे मनमें सदा अशान्ति बनी रहती है तथा स्वार्थवश संसारको हानि पहुँचानेकी प्रवृत्ति होती है। जो मनुष्य इस हानिकर पथपर चलता है, उसकी संवेदना-शक्तिके विकासमें प्रतिबन्ध उपस्थित हो जाता है; फिर मनकी तीनों शक्तियोंका समन्वय नहीं रह पाता, जिससे वह भावी सुखसे वंचित हो जाता है। अस्तु, विचार-शक्तिका यथोचित विकास धर्मशास्त्रके अनुग्रहसे ही होता है। जबतक धर्मशास्त्रके तात्पर्यको हृदयगंम नहीं किया जायगा एवं नैसर्गिक नियमोंका यथावत् पालन नहीं होगा, तबतक सच्चे कल्याणकारी पथकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

विचार-शक्तिका सम्यक् विकास होनेपर विदित होता है कि ब्रह्म ही इस सृष्टिरूपी रंगभूमिपर विलास कर रहा है। वही नट-नटीसमूह और द्रष्टा बना हुआ है। उसके अतिरिक्त इस ब्रह्माण्डमें कुछ है ही नहीं। सारा संसार उसीका रूप है। इस भूमण्डलपर अनादि कालसे चतुर्विध योनियों और चौरासी लाख प्रकारके अनन्त प्राणियोंकी जीवन-रक्षा, आनन्द-प्राप्ति, वंशवृद्धि आदिके निमित्त उद्योग, सामाजिक क्रान्ति, देशकाल-परिवर्तन, स्वार्थवश दूसरोंके देश, जीवन और सम्पत्तिका नाश तथा विभिन्न गुण-धर्म, प्रकृति और आकृतिवाली विविध प्रकारकी अनन्त वस्तुओंका रूपान्तर होते रहना आदि नाटक युगारम्भसे ही निरन्तर हो रहा है। परन्तु इन सब विविधताओंमें भी ब्रह्मतत्त्व सदा सम अवस्थामें ही बना रहता है। समस्त भौतिक पदार्थोंके बनते- बिगड़ते रहनेपर भी इस मूल उपादान कारणके स्वरूपमें कोई परिवर्तन नहीं होता। विचार-शक्तिका विकास होनेपर यह रहस्य स्पष्ट हो जाता है।

इसी प्रकार भूगोलके अनुसार खगोलके पदार्थोंका निश्चय भी विचारशक्ति कर लेती है। आकाशमें ऊर्ध्वदृष्टि डालनेपर सूर्य, चन्द्र, ग्रह, उपग्रह, अनन्तकोटि तेज:पुंज, तारागण, नक्षत्रमाला और धूमकेतु आदिके अविभ्रान्त सतत परिभ्रमणका बोध होता है। इस दृश्यको देखनेपर जिज्ञासु-जनोंके अन्त:करणमें यह जिज्ञासा सहज ही उत्पन्न हो जाती है कि 'ये सब क्या हैं? ये नित्य हैं या अनित्य? यदि अनित्य हैं तो इनका उद्‌गमस्थान कहाँ है? इन सब अस्थिर, चल पदार्थोंका कोई-न-कोई स्थिर आधार होना ही चाहिये; यह स्थिर आधार कौन, कहाँ और कैसा है?' इन जिज्ञासाओंकी उत्पत्ति होनेपर विचार-शक्ति विवेक करने लगती है कि ये सब सृष्टिके अन्तर्गत ही हैं। सृष्टि साकार और कार्यरूपा है। साकार पदार्थ अनादि नहीं होता। उत्पत्तिमान् होनेसे वह सदा रह भी नहीं सकता। उत्पन्न होनेवाला कार्यका रूपान्तर होता है, अतएव उसका नाश भी अवश्यम्भावी है। इन अस्थिर पदार्थोंको नियममें बाँध रखनेवाले परब्रह्मतत्त्व है। वही एक अविनश्वर, चिन्मात्र तत्त्व है। वही इस विनश्वर विश्वका मूलाधार है। वही इस सृष्टिका निमित्त एवं उपादान-कारण है। वही विवर्तरूप परिवर्तनके द्वारा सृष्टिरूप बन गया है। यह सृष्टिरूप कार्य सच्चा रूपान्तर नहीं है। यदि सच्चा रूपान्तर होता तो मूलतत्त्व विकारी हो जाता, फलत: संसार अद्यावधि टिक नहीं पाता।

इस मूलतत्त्वके परिमाणमें कदापि न्यूनता न होनेके कारण वह अव्यय है। सब प्रकारके विकारोंसे रहित होनेके

कारण अविकारी है। नाश न होनेके कारण अविनाशी है। उत्पत्तिरहित होनेके कारण अनादि और अन्तरहित होनेके कारण अनन्त है। जो अनादि-अनन्त होगा, वही त्रिकालमें समभावसे स्थित रह सकता है। इसीलिये इस तत्त्वको नित्य और सनातन कहा गया है। इस विश्वमें उससे पृथक् कोई पदार्थ न होनेके कारण वह अद्वैत है। जो अद्वैत है, वही निर्भय होता है; द्वैतमें नीति, भेदभाव और राग-द्वेष उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार विचार-शक्ति यह निर्णय करती है कि इस सृष्टिके मूलमें एकसे अधिक तत्त्व नहीं हैं।

यह तत्त्व सर्वदा सम अवस्थामें रहता है, इसलिये सत् है; प्राणिमात्र और जड सृष्टिको प्रकाश देता है, इस हेतुसे उसे चित्—चेतन कहते हैं; उसीसे समस्त ब्रह्माण्डोंमें रहनेवाले जीव-समुदायोंको आनन्दकी प्राप्ति होती है, इसलिये वह आनन्दरूप कहलाता है। यह तत्त्व सृष्टिके बाहर-भीतर सर्वत्र अवस्थित है; कोई ऐसा स्थान नहीं, जहाँ उसका प्रवेश न हो। अतएव वह विभु और सर्वव्यापक कहलाता है। यह ब्रह्मतत्त्व संगसे रहित होनेके कारण असंग, कर्तापनके अभिमानसे शून्य होनेके कारण अकर्ता तथा किसी भी प्रमाण (जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि)-के द्वारा अवगत न होनेके कारण अप्रमेय है। वह प्राणिमात्रके अन्तःकरणमें अवस्थित होनेके कारण अन्तरात्मा एवं सृष्टिका नियमन करने तथा सब प्रकारकी शक्तियोंसे युक्त होनेके कारण ईश्वर और परमेश्वर कहलाता है। ऐसा जो सृष्टिका मूल उपादानकारण है, उसे श्रुति भगवतीने पूर्ण कहा है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

यह सृष्टि जिस निरुपाधिक मूल तत्त्वके एक क्षुद्र देशमें अवस्थित है, वह तत्त्व पूर्ण है। इस सृष्टिके अन्तरमें रहनेवाला सोपाधिक तत्त्व भी पूर्ण है, क्योंकि उसका उद्भव पूर्ण तत्त्वसे ही हुआ है। इस विश्वान्तर तत्त्वकी पूर्णताको लेकर विश्वातीत तत्त्व पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है। अस्तु,

यह ब्रह्म ही जीवात्मारूपसे भासमान हो रहा है, समस्त संसार ब्रह्मरूप है और अन्तःकरणमें स्थित आत्मा भी ब्रह्मरूप ही है—इस असन्दिग्ध ज्ञानका उदय विचार-शक्तिके द्वारा ही होता है। जब यह ज्ञान संशयरहित और दृढ़ हो जाता है, तब जीव जीवन्मुक्त होकर विचरता है और अन्तमें उसी तत्त्वमें लीन हो जाता है। वह फिर संसार-चक्रमें नहीं फँसता। इस बातको श्रुतिने निम्नलिखित मन्त्रमें बताया है—

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष म आत्मान्तर्हृदय एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः।

(छा० उ० ३।१४।४)

इस प्रकार विचार-शक्तिरूप साधनके द्वारा सृष्टिके मूल उपादान-कारणका आकलन होता है। इस ज्ञानको सुदृढ़ बनानेमें संवेदना-शक्तिके विकासकी भी आवश्यकता रहती है। उसका विकास किये बिना अहंता-ममता, राग-द्वेष, आसक्ति आदि दोषोंकी निवृत्ति नहीं होती। इसी तरह कर्तृत्वशक्तिका विकास किये बिना निर्विघ्न और सम्यक्‌रूपसे प्रगति नहीं हो पाती। अतः विचार-शक्तिके साथ-साथ इन दोनों शक्तियोंको भी विकसित करके शास्त्रजन्य ज्ञानके साथ अनुभवरूप विज्ञानकी भी प्राप्ति कर लेनी चाहिये।

नास्तिकलोग इस विचार-शक्तिका उपयोग भौतिक ज्ञानकी वृद्धिके लिये करते हैं, फलतः उनसे संसारका अहित होता है। मूर्ख आस्तिक भी, जो ईश्वर और धर्मके स्वरूपको विपरीत मान लेते हैं, ईश्वर और धर्मके नामपर अपनी शक्तिका दुरुपयोग करते हैं। उदाहरणके तौरपर भूतकालीन क्रिश्चियन और इस्लामधर्मके उपदेशकोंके विपरीत उपदेशोंद्वारा अनेकों बार भयंकर नर-संहार हुआ और वर्तमानमें भी हो रहा है। इसी विपरीत भावनाके कारण शैव, शाक्त और वैष्णव आदि सम्प्रदायोंमें भी परस्पर झगड़े हुए तथा अब भी कहीं-कहीं हो जाते हैं। इन सब विरोधोंका मूल कारण विचार-शक्तिके यथोचित विकासका अभाव है। जबतक अन्तःकरण मलिन रहेगा, तबतक सदाचार या धर्मके बोधका प्रभाव नहीं पड़ सकता। अतः विवेकी सज्जनोंको चाहिये कि वे अपने अन्तःकरणको निष्काम कर्म और भगवद्भक्तिद्वारा विशुद्ध बनानेके साथ-साथ परब्रह्मकी प्राप्तिके लिये विचार-शक्तिका विकास करें और उसके द्वारा सच्चे सुखकी प्राप्ति करें।

कुछ साधनसम्बन्धी प्रश्नोत्तर

(पू० श्रीरामदासजी महाराज रामायणी)

प्रश्न—ऐसे कठिन समयमें सुगम एवं शीघ्र शान्ति देनेवाला साधन क्या है?

उत्तर—**जपहिं नाम जन आरत भारी।**
मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥

'जो प्राणी विशेष दु:खी हैं, नामस्मरणसे उनके भी कुसंकट मिट जाते हैं तथा उन्हें सुखकी प्राप्ति होती है।'

हमारे कलिपावनावतार श्रीगोस्वामीजीने कुसंकटसे यह लक्ष्य कराया है कि छोटे-मोटे दु:खोंका तो कहना ही क्या, नामस्मरणसे बड़े-बड़े संकट सहजहीमें मिट जाते हैं। श्रीनाम महाराज कुसंकट मिटाकर विश्राम नहीं लेते, वे जापकको सुखी भी कर देते हैं। इतिहासमें इसके अनेकों उदाहरण मिलते हैं। गजेन्द्र और द्रौपदीकी आर्त्त पुकारपर उन्होंने उनके संकटोंको बात-की-बातमें मिटाकर उन्हें भगवद्दर्शनरूप अनुपम सुख प्रदान किया। शर्त यह है कि नाम महाराजको जो पुकारता है, उसे अपने अथवा अपने सम्बन्धियोंके बलका भरोसा नहीं होना चाहिये। गोस्वामीजी महाराजने क्या ही सुन्दर कहा है—

सभा सभासद निरखि पट पकरि उठायो हाथ।
तुलसी कियो इगारहों बसन बेस जदुनाथ॥

द्रौपदीने पहले सभाकी ओर तथा फिर सभासदोंकी ओर देखा और जब उनसे भी रक्षा होती न देखी, तब निराश होकर अपने हाथसे वस्त्रको थामे रही। परन्तु जब इससे भी काम बनता न देखा तब उसने नाम महाराजकी शरण ली और हाथ ऊँचे उठाकर आर्त्तभावसे प्रार्थना की। भगवान्‌ने जब देखा कि अब तो यह अपना बल भी हारकर बलिहार हो चुकी, तब उन्होंने दस प्रसिद्ध अवतारोंके अतिरिक्त ग्यारहवाँ वस्त्रावतार धारण किया।

श्रीभगवान्‌का स्मरण-चिन्तन ही लौकिक-पारलौकिक सुखप्राप्तिका एकमात्र सुगम साधन है। इसके लिये विरक्त-वेष धारण करनेकी आवश्यकता नहीं है। हृदयमें प्रभुका प्रेम होना चाहिये, फिर चाहे हम प्रवृत्तिमार्गमें रहें या निवृत्तिमार्गमें। प्रभुका अनुराग बड़े भाग्यसे प्राप्त होता है—

जा पर तृन लौं वारिये राग बिराग सुहाग।
बड़े भाग सों पाइये सो अगाध अनुराग॥

संकीर्तनप्रेमियोंके प्रति

(पूज्यपाद स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी अवधूतके उपदेश)

कलिपावनावतार, प्रेममूर्ति, भावनिधि श्रीश्रीगौरांगदेव कीर्तनके विषयमें अपने श्रीमुखसे कह रहे हैं—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

जो कीर्तन करनेवाले हैं उन्हें चाहिये कि वे अपने कुल, विद्या, रूप, जाति और धनादिके मदको सर्वथा तिलांजलि दे दें। अपनेको महान् और दूसरोंको तुच्छ न समझें—केवल इतना ही नहीं, अपितु तृणसे भी सुनीच—अत्यन्त नीच होकर रहें। अर्थात् जिस प्रकार तृण दलित होनेपर थोड़ी ही देरमें फिर सिर उठा लेता है—उस अपमानके कारण अपना कोई पराभव नहीं समझता, उसी प्रकार कीर्तनप्रेमीको भी तिरस्कार और अपमानसे पराभूत नहीं होना चाहिये, उसे भी भगवान्‌की कृपा ही समझनी चाहिये। इस प्रकार अत्यन्त दीनभावसे प्रभुके प्रत्येक विधानमें प्रसन्न रहना चाहिये। यही नहीं, उसमें वृक्षसे भी बढ़कर अत्यन्त सहनशीलताकी भी आवश्यकता है। जिस प्रकार वृक्ष जाड़ा, गरमी और वर्षादि ऋतुओंके द्वन्द्वोंको सहन करता है, अपनी ही शाखाका छेदन करनेवालोंपर भी छाया करता है और पत्थर या ढेला मारनेवालेको भी बहुत मीठा फल देता है, उसी प्रकार कीर्तन-प्रेमियोंको भी अपने विरोधियोंके किये हुए तिरस्कार, उपहास एवं उपेक्षा आदिको बेपरवाहीके साथ सहन करना चाहिये, यदि कोई कटु-भाषण करे तो उसे मीठी बोली बोलकर प्रसन्न करना चाहिये तथा किसीके मर्मभेदी शब्द सुनकर भी किसी प्रकार क्षुब्ध नहीं होना चाहिये। गोसाईं श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

बूंद अघात सहहिं गिरि कैसें। खल के बचन संत सह जैसें॥

इस प्रकार अत्यन्त विनम्र और सहनशील होकर किसी प्रकारके मानकी इच्छा न रखते हुए तथा स्वयं सबका मान करते हुए सर्वदा श्रीहरिका नामकीर्तन करे। तभी प्रभुका प्रसाद प्राप्त होता है।

× × × ×

कीर्तनप्रेमीमें भाव, आचार और शरीर तीनोंकी संशुद्धिकी बड़ी आवश्यकता है। इनका विवरण इस प्रकार है—

भावसंशुद्धि—कीर्तनकारको केवल प्रभुप्रेमकी ही अभिलाषा होनी चाहिये। उसे मान, बड़ाई, ईर्ष्या, द्वेष एवं लोभ आदि सब प्रकारके मलिन भावोंसे दूर रहना चाहिये। कीर्तन-प्रचारका बहाना करके दम्भपूर्वक अपना स्वार्थ-साधन नहीं करना चाहिये। आजकल कीर्तनकी ओटमें बड़ा अनर्थ भी हो रहा है। कोई भोलीभाली अबलाओंको एकत्रित कर उनकी श्रद्धाका दुरुपयोग करनेकी चेष्टा करते हैं, कोई इसीसे अपनी आजीविका चला रहे हैं और कोई अपनेको भक्त कहलाकर पुजानेके लिये किसी कीर्तनमण्डलीमें घुस जाते हैं। इस प्रकारके भाव कीर्तनके सर्वथा विरुद्ध हैं। इनका उद्देश्य तो कुछ और ही होता है, विशुद्ध कीर्तन नहीं। इन मलिन भावोंसे रहित होना ही भावसंशुद्धि है। जिसका शुद्ध भाव होता है, वह तो केवल प्रभुप्रेमसे प्रेरित होकर उन्हींको रिझानेके लिये और उन्हींको सुनानेके लिये उनके पवित्र नामोंका कीर्तन करता है; उसे लोक या किसी भी प्रकारकी लौकिक वस्तुकी तनिक भी इच्छा नहीं होती।

आचारसंशुद्धि—शुद्ध आचारके बिना तो श्रीभगवान्‌के पवित्र नामोंके उच्चारणका अधिकार ही नहीं होता। जो लोग अपनी संस्कृतिको छोड़कर पाश्चात्त्य सभ्यताका अनुकरण करते हुए भक्ष्याभक्ष्यका कोई विचार नहीं करते—होटलोंमें सबके स्पर्श किये हुए अपवित्र चाय, बिस्कुट, डबलरोटी अथवा मांस-मदिरादिका सेवन करते हैं, वे व्यर्थ ही अपनेको कीर्तनप्रेमी बतलाते हैं। प्रभुप्रेमी कभी स्वधर्मकी अवहेलना नहीं करते। जो धर्मका तिरस्कार करते हैं, उनका चित्त शुद्ध कैसे हो सकता है और जिनका चित्त ही अशुद्ध है, उन्हें भगवान् या भगवन्नाममें प्रेम कैसे हो सकता है?

कुछ लोग भगवन्नामके आधारपर जाति-पाँतिके भेदको मिटाना चाहते हैं। वे कहते हैं—

हरिको भजै सो हरिका होई। जाति-पाँति पूछै ना कोई॥

ठीक है, हरिका होनेके लिये तो हरिको भजना ही एकमात्र उपाय है। भगवान्‌की स्वयं कोई जाति-पाँति नहीं है। इसलिये वे जीवको अपनानेमें जाति-पाँतिका विचार अवश्य ही नहीं करते। परन्तु जीव तो कर्मोंके अधीन हैं और उन्हें कर्मानुसार ही जाति आदिकी प्राप्ति भी हुई है। अतः उस कर्मबन्धनसे छूटनेके लिये उन्हें अपने-अपने वर्णाश्रमानुकूल धर्मोंका पालन करना ही चाहिये। आजतक जो निम्न वर्णोंमें उत्पन्न हुए कबीर, रैदास, सदना, नामदेव और धन्ना आदि भक्त हुए हैं, उन्होंने भी अपने समाजोचित आचारका त्याग नहीं किया था; फिर हमलोग किस प्रकार उसकी उपेक्षा करनेका साहस करते हैं? चातुर्वर्ण्यकी व्यवस्था स्वयं भगवान्‌की की हुई है—'**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः**' (गीता); अतः जीवोंको उसका उच्छेद करनेका अधिकार नहीं है।

शारीरिक संशुद्धि—कीर्तन करनेवालोंको शारीरिक शुद्धिका भी बहुत ध्यान रखना चाहिये। नियमानुकूल स्नानादि करना तथा शुद्ध और सात्त्विक आहारका सेवन करना—ये इसके प्रधान अंग हैं। ऐसा न करनेसे शरीर और मनमें तमोगुणकी वृद्धि होती है, जो भजनभावका बहुत बड़ा प्रतिबन्धक है। जो लोग राजस-तामस प्रकृतिके हों, उनके स्पर्श किये हुए पदार्थ भी भोजन नहीं करने चाहिये। जूठे मुँह, अपवित्र अंगसे और जूते आदि पहने हुए भी कीर्तन नहीं करना चाहिये। ऐसी प्रवृत्ति तभी होती है, जब कीर्तनके प्रति कीर्तनकारकी विशेष श्रद्धा नहीं होती और उसे वह अपना पवित्र साधन नहीं मानता। हमारे शास्त्रोंमें तो भगवद्भजनके लिये शरीर और स्थानकी शुद्धिपर बहुत जोर दिया गया है। अतः कीर्तनकारको भी इनका अवश्य पूरा ध्यान रखना चाहिये। उसे कीर्तन-स्थानको भी गोमय, कदलीपत्र, आम्रपत्र, मंगलघट और धूप-दीपादिसे सुशोभित करना चाहिये तथा श्रीभगवान्‌का चित्रपट स्थापित करके उनके सामने कीर्तन करना चाहिये। देवालयोंमें तो ये सब बातें स्वभावतः ही सुलभ होती हैं। अतः कीर्तनके लिये सबसे उपयुक्त स्थान देवस्थान, निर्जन नदीतीर अथवा तीर्थस्थानादि ही हैं। ऐसे स्थानोंपर नित्य कीर्तन करनेका सुयोग न हो तो अपने घरमें ही किसी कमरेको लीप-पोतकर ठीक कर लेना चाहिये तथा उसे ऐसी वस्तुओंसे सुसज्जित करना चाहिये जिससे कीर्तनानन्दका उद्दीपन हो।

× × × ×

श्रीकृष्ण-ध्यान-१

श्रीकृष्ण-ध्यान-२

आजकल कीर्तनमें एक दोष और आ गया है। अधिकांश कीर्तनकार आधुनिक कवियोंकी रची हुई ध्वनियोंका कीर्तनमें प्रयोग करने लगे हैं। पद-कीर्तनमें भी सूर, तुलसी और मीरा-जैसे सर्वमान्य संतोंकी वाणियोंके स्थानमें आधुनिक गजल, कव्वाली, रेखते और ठुमरियोंकी बाढ़ आने लगी है। इसका कारण कीर्तनकारोंकी भावशून्यता ही है। वे भगवान्‌को रिझानेकी अपेक्षा मनचली जनताको प्रसन्न करने तथा अपनी क्षुद्र लोकवासनाको तृप्त करनेमें ही अपनी कृतकार्यता समझने लगे हैं। सूर, तुलसी, मीरा, कबीर, दादू, नरसी, हरिदास, हरिवंश, तुकाराम, नारायणस्वामी और ललितकिशोरी आदि भावुक भक्त और सच्चे संतोंकी रचनामें जो अलौकिक शक्ति और प्रसाद है, वह आधुनिक विलासप्रवण कवियोंकी वाणीमें आ ही नहीं सकता। वाणी तो वक्ताका हृदय ही होती है; अतः भक्त-हृदयसे निकली हुई वाणी ही हमारे भक्तिभावको उद्दीप्त कर सकती है। उन महापुरुषोंके अनुभवपूर्ण हृदयसे निकले हुए भावपूर्ण पद ही हमारे हृदयके कल्मषको धोकर स्वच्छ करनेमें समर्थ हैं और उन्हींके द्वारा हमारेमें अश्रु-रोमांचादि सात्त्विक भावोंका विकास हो सकता है। इसलिये हमें प्राचीन आचार्य और संतजनोंके पद और वाक्योंद्वारा ही कीर्तन करना चाहिये, तभी हमें कीर्तनका सच्चा आनन्द मिल सकता है। पण्डितराज जयदेवका गीतगोविन्द एक बड़ा अपूर्व ग्रन्थ है। उसके विषयमें प्रसिद्ध है कि उसका प्रेमपूर्वक गान करनेपर तो स्वयं भगवान् उसे सुननेको आते हैं। कहते हैं, एक बार जगन्नाथपुरीमें एक मालीकी लड़की फूल तोड़नेके समय गीतगोविन्दके पद गाया करती थी। उस समय भगवान् जगन्नाथदेव उसके पीछे-पीछे घूमा करते थे। तब बागके काँटेदार वृक्षोंमें उलझनेसे उनका वस्त्र फट जाता। भगवत्प्रेममें मतवाली उस बालिकाको इसका कुछ भी पता नहीं था। किन्तु पुजारीलोग देखते कि भगवान्‌के वस्त्र फट जाते हैं और उनके पास कोई जाता भी नहीं है। एक दिन भगवान्‌ने स्वप्नमें उन्हें इसका सारा रहस्य बता दिया। तब उन्होंने बड़े आदरसे उस बालिकाको लाकर भगवान्‌को पद सुनानेकी सेवामें नियुक्त कर दिया। ऐसी अपूर्व शक्ति आजकलकी रचनामें कहाँसे आवेगी। ऐसी ही बातें सूर, तुलसी आदि अन्यान्य भक्तोंकी वाणियोंके विषयमें भी प्रसिद्ध हैं। अतः भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये प्रेमपूर्वक उन्हींका गान करना चाहिये। (अवश्य ही गीतगोविन्दके अधिकारी सब नहीं हैं)।

× × × ×

इस मनुष्यजीवनका कोई भरोसा नहीं है। इसके प्रत्येक श्वासका बड़ा मोल है। अतः उसका खूब सदुपयोग करना चाहिये। एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोना चाहिये, मालूम नहीं एक बार बाहर निकलनेपर फिर तुम्हारा श्वास लौटकर आवे या न आवे। इसलिये निरन्तर नाम-कीर्तन करो।

श्वास-श्वास पर कृष्ण भज, वृथा श्वास मत खोय।
ना जाने या श्वासको आवन होय, न होय॥

जो जीवनके इन अमूल्य श्वासोंको व्यर्थ गँवा देता है, उसे पीछे पछतानेके सिवा और कुछ हाथ नहीं लगता। यहाँ हमें एक दृष्टान्त याद आता है। कोई किसान था। एक दिन हल चलाते समय उसे जवाहरातसे भरा हुआ एक सुवर्णका कलश मिल गया। किन्तु वह बेचारा जवाहरातका मूल्य क्या जाने। देखनेमें रंग-बिरंगे और चमकदार होनेसे वह उन्हें अपने बालकोंके खेलनेके लिये घर ले आया। बच्चे उनसे खेलते और जब पक्षी अनाज या रोटी लेने आते तो उन्हींको फेंककर उड़ा देते। पासहीमें एक नदी बहती थी। धीरे-धीरे पक्षी उड़ानेके लिये फेंके जाकर वे सब रत्न नदीके गर्भमें चले गये। दैवयोगसे एक दिन घरमें पैसा नहीं था और किसानको बाजारसे कुछ लाना था। उसने उस कलशमें देखा तो केवल एक हीरा रह गया था। उसे लेकर वह सामान लेने गया। वह पहले साग-सब्जी बेचनेवाले एक कुँजड़ेके पास गया, उसने हीरा देखकर उसे सुन्दर काँच समझा और दो-चार सेर सागपर उसे लेनेको तैयार हुआ। फिर किसी परचूटनी बनियेकी दूकानपर पहुँचा, उसने दो-चार रुपये कीमतके देने चाहे। अन्तमें संयोगवश उसे एक जौहरी मिल गया। उसने वह अमूल्य रत्न देखा तो किसानसे कहा 'भाई! तुम यह रत्न हमें दे दो, हम इसके मूल्यमें तुम्हें एक लाख सोनेकी मुहरें दे देंगे।' उसने हीरा देकर जौहरीसे लाख मुहरें ले ली। अब तो किसानकी आँखें खुल गयीं और उसे इस प्रकार करोड़ोंकी सम्पत्तिको मिट्टीमें मिला देनेके लिये बड़ा पश्चात्ताप होने लगा! यही दशा हमारी है। प्रभुने हमें यह मानवदेहरूप सुवर्णकलश दिया है। इसका प्रत्येक श्वास अमूल्य रत्नके समान है। एक भी श्वास व्यर्थ खोना बड़ी भारी मूर्खता है। परन्तु यदि अन्तिम श्वासका भी भगवच्चिन्तनमें उपयोग हो जाय तो भी हमारे सारे पाप-ताप कटकर हमें अमर पदकी प्राप्ति हो सकती है। अतः अब भी समय है। जीवनके प्रत्येक क्षणको महान् मूल्यवान् समझकर हमें उसका भगवच्चिन्तनमें ही

सदुपयोग करना चाहिये, विषयरूप कंकड़-पत्थर बटोरनेमें उसे नष्ट नहीं करना चाहिये।

× × × ×

भगवत्प्रेमकी बातें बड़ी गूढ़ हैं। उनका यथावत् रहस्य प्रेमी जन ही जानते हैं। रंगमहलमें क्या होता है—यह तो महलोंके भीतर रहनेवाला ही जान सकता है, जंगलमें भेड़ चरानेवाला गड़ेरिया महलोंके सुखकी कल्पना कैसे कर सकता है? प्रेमरसकी परख भी प्रेमपारखी रसिक-जौहरी ही कर सकते हैं। विषयी लोग तो शाक-भाजी बेचनेवालोंके समान हैं। वे उसका मूल्य क्या जानें? यही बात किसी रसिकने कैसे मार्मिक शब्दोंमें कही है—

महलीकी गति महली जानै, की जानै बाहरवारो।
नृपकी रैन-चैन को जाने भेड़ चरावनहारो॥
रस-रतननको रसिक जौहरी नीके परखनहारो।
वाकी कहा परख करि जानै मूरी बेचनहारो॥

ठीक है, रसिककी बातें रसिक ही जान सकते हैं, अरसिक नहीं जान सकते—

भगवतरसिक रसिककी बातें रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना।

अतः यदि भगवत्प्रेमकी सच्ची लगन है तो प्रेमियोंका ही संग करो। वे निरन्तर श्रीकृष्णलीलाका कीर्तन करते हुए प्रेमानन्दमें छके रहते हैं। प्रेम ही उनका धन है। वे ही तुम्हें भी प्रेमदान कर सकते हैं।

सच्चे प्रेमी एक क्षणको भी भगवच्चिन्तनके बिना नहीं जाने देते। उनका तो सारा समय भवद्गुणगान, भगवत्-प्रसादके आस्वादन, भगवद्धामोंकी यात्रा, भगवज्जनोंकी सेवा और भगवद्विग्रहोंके दर्शनादिमें ही जाता है। सचमुच, मनुष्यजीवन-की सार्थकता भी इसीमें है। यदि भगवत्कर्मके सिवा किन्हीं अन्य कामोंमें समय जाता है तो जीवन व्यर्थ ही है। यही बात रसिकशिरोमणि श्रीहरिदासजी महाराज भी कहते हैं—

गायौ न गुपाल मन लायके निवारि लाज,
पायौ न प्रसाद साधुमंडलीमें जायके।
धायौ न धमकि बृंदाबिपिनकी कुंजनमें,
रह्यौ न सरन जाय बिट्ठलेस रायके॥
नाथ जू न देखि छक्यौ छिनहू छबीली छबि,
सिंह पौरि पर्‌यौ नाहिं सीसहू नवायके।
कहै हरिदास तोहि लाजहू न आवै नैक,
जनम गँवायौ न कमायौ कछु आयके॥

(प्रे०—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

प्रेम-साधना

(लेखक—बाबा श्रीरामदासजी महाराज, वृन्दावन)

हृदय-प्रांगणमें कोमल सरस भावनाओंका स्रोत बहने लगता है, मन अन्तर्वेदनाकी तड़पनसे उमड़े हुए अगाध प्रेम-सिन्धुमें गोते लगाने लगता है, विरह-ताप-संदग्ध हृदयसे निकले हुए श्वासोच्छ्वास पिघलने लगते हैं—नयनपुटोंके साथ टकरानेसे! हृदय आनन्द-दोलामें झूलने लगता है—प्रणय-क्रीडाकी वीचियोंसे आन्दोलित होनेपर!

कितनी मधुर है, कितनी सरस है, कितनी मादक है यह प्रणय-साधना! कितनी आतुरता भरी है, कैसा साहस है, कितना उन्माद है कैसी बेहोशी है, कितनी सतर्कता है—इसमें! हृदयकी यह साध, उसकी यह भोली भावना कितनी झिलमिलाती है प्राणेश्वरकी मधुर प्रभामें! कितनी सुन्दर भव्य भावना है!

प्रेमकी यह हाट विचित्र ही ढंगकी है। प्रेमका भिक्षुक एक महान् आशाके पाशमें बँधकर कमनीय भावनाओंकी झोलीको भरनेके लिये पैरों पड़ता है, गिड़गिड़ाता है, हाथ जोड़कर शतशः प्रार्थना करता है और माँगता है—केवल एक प्रेम-पराग-कणका दान! किन्तु ओह! कितना दुरवगाह्य—कितना दुष्प्राप्य और कितना कठोर एवं तेजीपर चढ़ा हुआ है—यह सौदेका बाजार! रो-रोकर आँखें सूज जाती हैं, कण्ठ सूख जाता है, हृदय-पिण्ड शुष्क हो जाता है, शरीर जीर्ण-शीर्ण हो जाता है—फिर भी वह घबड़ाता नहीं, उसका साहस नहीं टूटता। आँखें भले ही पथरा जायँ—परवा नहीं, शरीर अभी चितापर रख दिया जाय—चिन्ता नहीं; वह हट नहीं सकता अपने निर्धारित मार्गसे, उसकी साधनाका तार कभी टूटनेका नहीं। उसपर आपत्तियोंका पहाड़ आकर गिरे, वह दुनियावी जंजीरोंसे जकड़ दिया जाय, नन्हा-सा उसका कोमल भावुक हृदय भले ही मसोस दिया जाय—किन्तु प्रेम-कलिकाका उपहार लिये उसकी अमर आशा जाग्रत् है, हृदयका विरह-ज्वर जीवित है; वह अपने जीवनेशसे मिलकर ही रहेगा। उसके प्रेमकी साधनाका चरम लक्ष्य है—प्रियतम प्राणधनकी प्राप्ति!

ओह! कितनी कठिन है यह प्रेम-साधना! भावनाकी

कलीपर तुषारपात होता है, किन्तु प्रेम-पीयूष उसे सजीव कर देता है। कैसा वैलक्षण्य है—विष अमृत हो जाता है और कहीं अमृत विष हो जाता है। प्रेमसाम्राज्यका यह नया कानून है। प्रेम-साधनाके साधकोंपर दुनियाकी शक्ति ठिठक जाती है, उसपर दूसरेका असर ही नहीं होता। प्रेम-कुटीरके अंदर पड़े-पड़े गुनगुनाते रहना ही उसका मुख्य कर्तव्य हो जाता है। अवश्यम्भावी मृत्युको यादकर वह घबड़ाता नहीं, काँटेदार गुलाबको तोड़नेसे वह हाथको खींचता नहीं। यह है प्रेम-साधना और उसके साधकका स्वरूप! लाख यत्न करनेपर भी प्रेम-प्राप्ति नहीं हो सकती—जबतक कि तुम प्रेम-पुजारी नहीं बनोगे। कहावत है—अपने मरे बिना स्वर्ग नहीं दिखायी देता। इसलिये स्वयं कूद पड़ो, किसीसे भी मत पूछो; पुरस्कार मिलेगा या तिरस्कार—इसका कुछ भी विचार न करो। मार्गमें तुम्हें बहुत क्षत-विक्षत होना पड़ेगा, परन्तु घबड़ाना नहीं। तुम्हारे प्रेमदीपककी ज्येति अभी कमजोर है, वह थोड़ेमें ही अकुला जायगी। इसके लिये आत्मसमर्पणकी भावना रखो। बाट देखते रहो, राह जोहते रहो; दयार्णवकी दयाकी वर्षा होगी, वह अपनी करुणा-कोरसे खींच लेगा, पास बुला लेगा, अपने चरणप्रान्तमें बिठा लेगा। आनन्दातिशयकी तुम्हें अनुभूति होगी, अपने चिरस्नेही दयालु सखासे आलिंगन करोगे तो मालूम होगा—मैं तो सदासे यहीं हूँ, यह मेरा प्रियतम प्राणसखा है, हम दोनों परस्पर मित्र हैं। मैं सदाका तेरा हूँ और तू सदाका मेरा है।

कलिकालका परम साधन

(लेखक—श्रीअंजनीनन्दनशरणजी)

जगद्गुरु अनन्त श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासजीका सिद्धान्त जो समस्त वेदों, शास्त्रों और पुराणों आदिका निचोड़ है यह है—

कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जनमन मीना॥
नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जगजाला॥
रामनाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता॥
नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। रामनाम अवलंबन एकू॥

अर्थात् श्रीरामनाम छोड़ दूसरा कोई अवलम्ब इस कलिकालमें जीवोंके लोक और परलोक, स्वार्थ और परमार्थ, इत्यादिके साधनका है ही नहीं, एकमात्र भगवान्‌का नाम ही साधन है। इसी बातको अपने सभी ग्रन्थोंमें उन्होंने जोर दे-देकर बारंबार उपदेश किया है। विशेषत: विनयमें और कवितावलीमें पाठकोंने देखा ही होगा। असम्भव-से-असम्भव बातें भी श्रीरामनामसे सम्भव हो जाती हैं। विस्तारभयसे केवल दो-एक पदोंका संकेतमात्र दास यहाँ दिये देता है—

'लोकलाहु परलोक निबाहू'। 'एकही साधन सब रिधि सिधि साधिरे'
भलो भली भाँति है जो मेरे कहे लागि है।
मन राम नाम सों सुभाय अनुरागिहै॥
.........राम नाम सों बिराग जोग जागिहै।
बाम बिधि भालहू न कर्मदाग दागिहै॥
रामनाम मोदक सनेह सुधा पागिहै।
पाइ परितोष तू न द्वार द्वार बागिहै॥
कामतरु रामनाम जोइ जोइ माँगिहै।
तुलसीदास स्वारथ परमारथ न खाँगिहै॥

दूसरे साधनकी आवश्यकता ही नहीं है, इसमें लग जाना भर है, रगड़की जरूरत है,—***'रामनाम हरदी गिरह रगरे ही सरसाय'।*** फिर तो स्वाद मिलनेपर आपकी जिह्वा, आपका हृदय, आपके आन्तरिक तार उसके बिना रह ही न सकेंगे। क्षणभर भी उससे हटते ही हृदय व्याकुल हो जायगा—ऐसा ही स्वाद उसमें है—***'स्वाद तोष सम सुगति सुधा के'।*** आप चाहें अन्य साधन भी साथ ही कर सकते हैं 'पर रामनामरूपी अंकके बिना वे सब व्यर्थ ही साबित होंगे—

राम नामको अंक है सब साधन हैं सून।
अंक गए कछु हाथ नहीं अंक रहे दसगून॥

—दास तो यही कहेगा कि एकमात्र श्रीरामनाममें श्रद्धा-विश्वासपूर्वक लग जानेसे और सब अपने-आप प्राप्त हो जायँगे। रटो, जपो, उसीमें रमण करो। प्रेम मुख्य है रट, जप और रमण सब ही समान फल देनेवाले हैं।

प्रधान साधन

(परमहंस स्वामी श्रीनारायणदासजी महाराज)

श्रीभगवान्‌ने धर्मके ये चार स्तम्भ बतलाये हैं—

१—सत्य

२—तप

३—दया और

४—दान

(१) सत्यके साधन

१-मौन धारण करना—गृहस्थके कार्योंमें यदि अधिक समय न मिले तो सुबहके वक्त स्नान करनेके बाद दो-चार घण्टेतक तो पूजन-पाठ करनेमें मौन अवश्य रखना चाहिये।

२-कम बोलना—आजकल फिजूल बातें करनेका बहुत रिवाज है, इसको छोड़ना। ज़रूरतके वक्त बात करना, या ज्ञानचर्चा करना हो तो बोलना।

३-एकान्त—सम्बन्धियों या दोस्तोंसे कम मिलना, घरमें जाकर भी अलग कमरेंमें बैठना और कोई धार्मिक पुस्तक देखना या जगत्‌की असत्यतापर विचार करना।

४-अखबार कभी नहीं देखना—दुनियाभरकी खबर मालूम होनेसे व्यर्थ बातोंमें मनकी स्फुरणा बढ़ती है, दूसरोंको वे खबरें सुनानेमें झूठ-सच बोलना पड़ता है। बेकार वक्त खराब होता है। धार्मिक पत्रोंके देखनेमें कभी हर्ज नहीं।

५-किसीको वचन देना तो सोचकर देना और उसे ज़रूर पूरा करना। जैसे आपने किसीसे कहा कि मैं शामको पाँच बजे अमुक स्थानपर मिलूँगा तो अवश्य पाँच बजेसे दो-चार मिनट पहले ही वहाँ पहुँच जाना चाहिये।

६-रातको सोते वक्त यह विचार करना चाहिये कि आज सुबहसे इस समयतक मैं कहाँ-कहाँ झूठ बोला और मैंने कौन-कौनसे पाप किये। सोते वक्ततकका इतिहास मस्तिष्कमें लाकर मनको बुरे कर्म, जो आज किये हैं, कल न करनेके लिये बहुत समझाना चाहिये। ऐसा करनेसे झूठ बोलने और बुरे कर्म करनेमें रुकावट होगी। ऐसा करनेमें कुछ दिन तो आलस्य मालूम होगा, फिर अभ्यास हो जानेपर बहुत आनन्द आयेगा।

उपर्युक्त साधन करनेसे सत्य बोलनेका अभ्यास बहुत जल्दी हो जायगा।

प्रत्येक पूर्णिमाको सत्यनारायणकी कथा करवानी चाहिये। कथा करनेवालेको उपवास रखना चाहिये।

सत्य श्रीनारायणका स्वरूप है। भजन करनेवालेको सबसे पहले यह साधन करना चाहिये। सत्य बोलनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है। बारह वर्षतक अखण्ड सत्य बोलनेवालेको वचन-सिद्धि हो जाती है। सत्य बोलनेसे बुरे कर्म होने बंद हो जाते हैं। चिन्ता कम हो जाती है। सब कर्म नीति और शास्त्रके अनुसार होने लगते हैं। दुनियाके लोग उसकी बहुत इज्ज़त करते हैं, उसकी बातपर विश्वास करते हैं। व्यापारमें सत्य बोलनेसे बहुत लाभ होता है। सत्य बोलनेवालेपर भगवान् खुश होते हैं, और उसकी सहायता करते हैं।

सत्य बोलनेसे यदि किसी अवसरपर नुकसान या तकलीफ भी हो जाय तो उसे सहन करना चाहिये। कलियुगका स्वरूप असत्य है, इसलिये आजकल भ्रमवश झूठ अधिक फलीभूत होता दीखता है। परन्तु उसका परिणाम बहुत बुरा है।

झूठसे यहाँतक बचना चाहिये कि छोटे-छोटे बच्चोंको भी झूठी बातोंसे खुश नहीं करना चाहिये, बल्कि घरके सब लोगोंको रोज सत्य बोलनेका उपदेश करना चाहिये। मुझ पापी जीवको सत्य बोलनेसे बहुत लाभ पहुँचा है और हमेशा यह दास सत्यका सम्मान करता है।

७-'सत्य बोलो' ये शब्द कागजपर बड़े अक्षरोंमें लिखकर सोने, बैठने, खाने और स्नान करनेकी जगहपर लगा देने चाहिये। नज़र पड़नेपर बात याद आती रहेगी।

यह साधन बहुत अच्छा है। यदि किया जायगा, तो घरके सब आदमी, नौकर वगैरह सभी सत्य बोलने लगेंगे।

(२) तपके साधन

'योगाभ्यास' और 'भजन'—ये दो मुख्य साधन ही तप करनेके बतलाये गये हैं; सब दूसरे साधन इनके अंदर हैं।

योगक्रिया—प्राणायाम आदि साधन बहुत अच्छे और प्राचीन हैं। महात्मा लोग सदासे इन्हें करते आये हैं।

पर मैंने यह क्रिया आजतक कभी नहीं की, इसलिये मुझको इसका कुछ भी अनुभव नहीं है और न इसका शौक है। केवल इतना जानता हूँ कि इस कलियुगके समयमें यह साधन बहुत कठिनतासे होता है और बहुत-से विघ्न पड़नेके कारण पूरा नहीं हो पाता।

भजन—दो प्रकारसे होता है। एक मालासे, दूसरा बिना मालासे—जिसको अजपा-जाप कहते हैं।

भजन करनेका सबसे पहला साधन माला है। मनके लिये यह कोड़ा है। जबतक माला हाथमें घूमती रहेगी, भजन होता रहेगा। मालासे भजनकी संख्या भी मालूम होती रहती है। मैंने सुना है कि आम तौरपर सुबह-शामके नित्य-नियममें दस-बीस माला लोग फेर लेते हैं। यह बहुत थोड़ी संख्या है। कारण, भजनमें निम्नलिखित कई भागीदार हैं—(१) गुरु, (२) माता-पिता, (३) जिसके राज्यमें भजन करें और (४) जो अन्न-वस्त्र आदि देता है।

एक दिन-रातके चौबीस घण्टेमें २१६०० श्वास मनुष्यके देहमें चलते हैं, अगर ज्यादा नहीं तो २१६०० नामका जप तो होना ही चाहिये। यह संख्या दो सौ माला फेरनेमें पूरी हो जाती है और अभ्यास हो जानेपर मेरे खयालसे चार घण्टेमें दो सौ माला पूरी हो सकती है। दो घण्टे सुबह और दो घण्टे शाम या जैसा जिसको अनुकूल हो, गृहस्थीमें प्रत्येक व्यक्तिको यह करना चाहिये।

दूसरा साधन यह है कि छोटी माला हर समय हाथमें रखे , जिससे चलते-फिरते भी भजन होता रहे। शरमानेकी जरूरत नहीं है। यह तो मनुष्यमात्रका धर्म ही है। चलते-फिरते ध्यान नहीं होगा तो कुछ हर्ज नहीं, सुबह-शाम ही हो जाय तो बहुत है।

तीसरा साधन यह है कि कपड़ेकी थैली बनाकर हाथ उसके अंदर रखे और माला हर समय फेरता रहे। यह साधन भी बहुत अच्छा है, मथुरा-वृन्दावनमें अधिक देखनेमें आता है।

चौथा साधन अजपा-जाप है, जो नीचे लिखे चार प्रकारसे किया जाता है। अजपा-जाप करनेवाले माला नहीं रखते और उन्हें उसकी जरूरत भी नहीं है। प्रकार ये हैं—

क—जिह्वासे उच्चारण नामका करे, थोड़ी आवाज भी निकले, जिससे सुमिरन बन्द न हो और साथ ही ध्यान भी लगा रहना चाहिये।

ख—कण्ठसे जाप हो।

ग—हृदयसे जाप हो।

घ—नाभिसे श्वासके साथ जाप हो।

यह अजपाका साधन जिह्वासे एक वर्ष, कण्ठसे दो वर्ष, हृदयसे दो वर्ष और नाभिसे सात वर्ष—इस प्रकार बारह वर्षतक करनेसे मनुष्य मोक्षस्वरूप हो जाता है और उसे साक्षात्कार होता है यानी जाग्रत्-अवस्थामें भगवान् सम्मुख आकर दर्शन देते हैं और सिद्धियाँ पैरोंमें लोटती फिरती हैं।

अजपा-जापमें कौन-कौन-सी बातोंका पालन और परहेज करना चाहिये—

१-भोजन एक समय और थोड़ा।

२-नींद थोड़ी।

३-एकान्तवास।

४-तकिया-गद्दा छोड़ देना चाहिये।

५-मौन चौबीस घण्टेका।

६-भजनका खजाना तिजोरीमें रखे।

क्रमसे इनका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है—

१-भोजन सात्त्विक होना चाहिये—चावल, दही, खटाई, तेल, ज्यादा मिर्च, मसाला, मूँगफली, गोभी वगैरह जितने भी वायु आदि दोष उत्पन्न करनेवाले पदार्थ* हैं, इन सबको छोड़ देना चाहिये। इनके खानेसे नींद अधिक आती है।

मूँगकी दाल, रोटी, आलूका साग वगैरह भोजन बहुत उत्तम हैं। एक वक्त भोजन करना, दालमें कुछ घी डालना और रातको आधसेर दूध पीना काफी है। मीठा और नमक बहुत थोड़ा खाना चाहिये। जौकी रोटी बहुत गुणदायक है।

२-नींद कम करनेका साधन यह है कि रातको दस बजेसे एक-एक घण्टे हर महीने बढ़ाना शुरू करे, यानी दस बजेसे ग्यारह बजेतक एक महीना जागे, दूसरे महीने बारह बजेतक, तीसरे महीने एक बजेतक, चौथे महीने दो बजेतक, इसी तरह रातके चार बजेतक जागनेका अभ्यास करे और चार बजेसे सुबहके छः बजेतक दो घण्टे सोवे। इतना सोनेसे तन्दुरुस्ती खराब नहीं होगी। अगर इतना न हो सके तो ज्यादा-से-ज्यादा चार घण्टे सोवे। इससे ज्यादा नहीं सोना चाहिये।

---

* मांसादि तो सर्वथा त्याज्य हैं ही; प्याज, लहसुनकी बाबत भी इसीलिये कुछ नहीं लिखा गया कि ये भी त्याज्य ही हैं। शास्त्रोंमें लिखा है कि प्याज खानेवालेको प्रेतयोनि मिलती है।

महीनेका आरम्भ पूर्णिमाके दिनसे करना ठीक होगा। बीस घण्टे भजन होना चाहिये।

पहले वक्तकी नींदसे ज्यादा ज़ोर होता है, इसलिये जिस वक्त नींद आती मालूम हो, फौरन खड़े होकर धीरे-धीरे घूमना चाहिये। साधनके आरम्भमें कुछ रोजतक ऐसा भी होता है कि जब नींदका खुमार दिमागमें घूमने लगता है तो चकराकर शरीर जमीनपर गिर पड़ता है और थोड़ी चोट भी लग जाती है। पर इसका खयाल नहीं करना चाहिये। साधनको छोड़े नहीं।

३-रातके समय कमरेमें दूसरा कोई नहीं होना चाहिये। सोते हुए आदमीको देखकर आलस्य आने लगता है और भजनमें विघ्न पड़ता है।

४-तकिये-गद्देपर रातको बैठनेसे आराम मिलेगा तो नींद ज्यादा तंग करेगी, इसलिये ऊन या कुशाके आसनपर बैठना चाहिये। रस्सीका एक झूला डालकर उसमें एक गोल डण्डा बाँध देना चाहिये। जिस समय ज्यादा नींद आवे तो उसके सहारेसे खड़े होकर दस-पन्द्रह मिनटतक नींदके खुमारको निकाल देना चाहिये। तेज रोशनी रातभर रखनी चाहिये।

५-मौन चौबीस घण्टेका रखना चाहिये। क्योंकि जो भजन तैलधारावत् चल रहा है, बोलनेसे भजनकी डोरी टूट जायगी और विक्षेप होगा।

६-भजनके खजानेको तिजोरीमें इस कारण रखना चाहिये कि उसके लूटनेको डाकू बहुत आ जाते हैं। इसलिये गृहस्थको तो किसीके घरका भोजन वगैरह भी नहीं खाना चाहिये, किसीकी कोई चीज नहीं लेनी चाहिये और बहुत सावधानीसे सच्ची नेक कमाईका पैसा कमाकर खर्च करना चाहिये।

महात्माओंको, जो इस साधन और जापको करते हैं, माया बहुत दुःख देती है। दुनियाके लोग सब खजाना लूटकर ले जाते हैं और यही एक खास कारण है कि किसी प्रकारकी सिद्धि उनमें नहीं होती और न उन्हें भगवत्-प्राप्ति ही होती है। वे मायामें ही लटकते रह जाते हैं। इसलिये भजनका खजाना खर्च न करके रूखा-सूखा टुकड़ा और गंगाजल पीकर शरीरका निर्वाह करना चाहिये।

ये अजपा-जापके साधन गृहस्थोंके लिये कठिन हैं। दो सालतक तो ज़रूर तकलीफ होती है; पर जैसे-जैसे भजनका प्रभाव बढ़ता जाता है नारायण-कृपा भी ज्यादा होती जाती है, फिर परमानन्दसे जीवन व्यतीत होता है।

महात्मा रामदासजीने अपने दासबोधनामक ग्रन्थमें लिखा है कि यदि मनुष्य तेरह अथवा चौदह कोटि जाप नामका करे तो भगवान् दर्शन देते हैं। ये महात्मा बड़े सिद्ध हुए हैं। इनके वचनोंपर विश्वास करना चाहिये।

अजपा-जाप करनेसे चार वर्षके अंदर यह संख्या पूरी हो जाती है।

अनन्य भक्तिके साधन—

१ अजपा-जाप।

२ प्रेम।

३ सत्य बोलना।

४ समदर्शित्व।

५ वासनारहित होना।

इनकी क्रमसे व्याख्या

१-अजपा-जापका साधन ऊपर बतलाया गया है। चौबीसों घण्टे श्वासके साथ स्वाभाविक जप होता रहे तो वह भी अजपा-जाप है। इसका अभ्यास करते-करते रोम-रोमसे 'नारायण' शब्द निकलता है।

२-प्रेमका एक प्रधान साधन यही है कि भगवान्के गुणानुवाद सुनकर रोया करे और रातको एकान्तमें बैठकर खूब रोया करे। ऐसा करनेसे दिन-प्रति-दिन प्रेम बढ़ता जायगा। भक्तिका यह एक खास अंग है। मीराबाई भी ऐसा ही करती थीं।

३-भजनके साथ सत्य बोलना निहायत ज़रूरी है। इसके और साधन लिखे जा चुके हैं।

४-समदर्शी होना—यह साधन बहुत कठिनतासे होता है। सारे जगत्को नारायणरूप जानकर हाथ जोड़कर प्रणाम इस भावको लेकर करे कि मैं नारायणको ही नमस्कार कर रहा हूँ। जीवमात्रके साथ प्रेम करे, किसीके मनको न दुखावे, किसीको दुर्वचन न कहे और न किसीसे वैरभाव करे। यह साधन मैं अबतक कर रहा हूँ। इस दासने कुल वेदान्त और ज्ञानका सार सिर्फ एक समदर्शीभावमें ही जाना है।

५-भक्तिविषयमें भजन और ज्ञानविषयमें सर्वत्र नारायण, इन्हीं दो बातोंका साधन इस जीवनमें किया है और कर रहा हूँ।

अनन्य भक्ति गृहस्थाश्रममें अत्यन्त कठिन है, चौथी अवस्थामें त्याग करना ही पड़ेगा। अगर भगवान्के साथ प्रेम है और परमपद चाहते हो तो अनन्य भक्तिका साधन करना ही होगा।

अनन्य भक्तके लिये ही भगवान् फर्माते हैं कि 'मैं उसके पीछे-पीछे इस कारणसे रहता हूँ कि भक्तके पैरोंकी धूलि मेरे मस्तकपर लगे।' अहाहा! भगवान्के इस प्रेम और दयालुताको सुनकर इस दासको रोना आता है और मनमें विचार करता हूँ कि 'हे मेरे प्यारे नारायण! मुझ पापी जीवको कब ऐसे दयालु प्रभुके चरणारविन्दमें सदा रहनेका समय आवेगा?'

(३) दयाके साधन

जैनमतमें तो **'अहिंसा परमो धर्मः'** इसी एक बातको साधन कहा है। १, जीवमात्रकी रक्षा करनी। २, नीचे गरदन झुकाकर चलना। ३, जहाँतक हो सके, इस शरीरके कारण किसीको दुःख न होने देना। ४, किसीको भी दुःखी देखकर हृदयमें दया लाना, हो सके तो किसी प्रकारकी उसे सहायता करना। ५, किसी भी जीवको जहाँतक हो सके नहीं मारना। गोस्वामीजीने कहा—

तुलसी आह गरीबकी कभी न खाली जाय।

—इसका साधन यह है कि गरीब लोग जो मजदूरी वगैरहका काम करते हैं, उनसे काम लिया जाय तो दो-चार पैसे मजदूरीके ज्यादा देना, जिससे उनका मन दुःख न पावे। और गरीब लोगोंको कभी न सताना।

यह साधन गृहस्थीमें अच्छी तरह होता है।

(४) दानके साधन

१-दान करते समय योग्य या अयोग्य पुरुषका खयाल मनमें न लाकर गृहस्थका धर्म समझकर साधु, ब्राह्मण, गरीब, अभ्यागत, अनाथको देना। विद्यादान सबसे बड़ा बतलाया गया है, इसलिये विद्यालयोंकी सहायता करनी चाहिये।

२-आत्मभावसे मछली, चींटी, कुत्ते, कौवे, गौ, बन्दर, घरमें रहनेवाली चिड़ियाँ और दूसरे पक्षी या कबूतर वगैरहको अन्नदान अवश्य देना चाहिये। इनको खिलानेसे बहुत पुण्य होता है। इस तरहका अन्नदान करनेसे इस दासको बहुत लाभ मिला है। पूरा अनुभव किया है।

कुछ अनुभूत साधन

(१) मन

१-ध्यान करते समय मनको घुमा-घुमाकर भगवान्के दर्शन करनेमें लगाना। यह वह साधन है, जो नारायणने गीतामें बतलाया है। इस साधनके करनेसे मनकी स्फुरणा कम हो जाती है, पर अधिक कालतक करनेके बाद। यह साधन बहुत अच्छा है।

२-सत्य बोलनेसे मनकी मलिनता दूर होकर मनरूपी दर्पण साफ होकर उसमें भगवान्के स्वरूपका प्रतिबिम्ब साफ पड़ने लगता है।

३-वासनारहित होना। जैसे-जैसे मनमें वासनाएँ उठती जायँ, वैसे-वैसे ही उसी समय उनको काटते जाना। इस प्रकार अभ्यास करते-करते वासनाएँ कम उठती हैं, तब मनकी स्फुरणाएँ कम होकर ध्यानमें बहुत मदद पहुँचाती हैं। लेकिन यह साधन बहुत कठिन है।

४-भजन करनेसे मनको शान्ति प्राप्त होती है।

५-प्रेमसे जितना मन वशमें हो जाता है, उतना किसी साधनसे नहीं होता। प्रेम बढ़ानेके लिये नारायण-कृपाकी बहुत ज़रूरत है। इसलिये इस दासने बहुत कालतक भगवान्से प्रेम बढ़ानेके लिये प्रार्थना की। तब प्यारे नारायणने कुछ कृपा की।

जबतक नेत्रोंसे जल-धारा न चले, प्रेम नहीं कहा जा सकता और यही एक भक्तिका खास अंग है।

(२) जिह्वा

यह इन्द्रिय बड़ी प्रबल है। मनके बाद दूसरा नंबर इसीका है। इसका साधन इस तरह किया था कि शामके वक्त बाजारमें जाना और फल-मिठाई वगैरह बहुत-सी चीजें देखना, पर लेना नहीं—मन चाहे जितना भी कहे। मकानपर भी घरवाले चाहे जितनी चीजें मँगवाकर रखें, खाना ही नहीं, त्याग कर देना। मामूली साधारण सात्त्विक भोजन करना। मीठे-फीकेका कोई स्वाद जबानपर नहीं लेना। ऐसा अभ्यास करते-करते जिह्वा-इन्द्रिय वशमें हो जाती है। यह साधन कठिन है, पर करनेवालेको नहीं।

(३) समय

समयकी पाबन्दीके लिये चौबीस घण्टेका प्रोग्राम बनाकर उसके अनुसार चलना पड़ता है। मैंने किसी पुस्तकमें देखा था कि एक बड़ा अमीर अक्लमन्द आदमी यूरोपमें था; उसने मरते समय अपने घरवालोंको यह वसीयत की थी कि जो कुछ रुपये और इज्जत मैंने पैदा की है, वह इस कारणसे है कि मैंने अपनी जिन्दगीमें वक्तकी बहुत कद्र की है। यह शब्द मेरी कब्रपर लिख देना कि 'Time is money in the world' 'दुनियामें समय ही सम्पत्ति है।'

जबसे यह मालूम हुआ, यह दास समयकी बहुत कद्र करता था और अब भी बहुत कद्र करता है।

वक्तकी पाबन्दी करनेसे लोक-परलोक दोनोंका काम ठीक चलता है। अपने जीवनका एक मिनट भी कभी फिजूल न खोना चाहिये

(४) तुलसीदासजी महाराजका एक मशहूर दोहा है—

सत्य बचन आधीनता परतिय मातुसमान।
इतनेमें हरि ना मिले (तो) तुलसीदास जमान॥

इस दोहेका अनुभव बहुत प्रेमसे किया।

सत्यका साधन तो ऊपर लिख ही चुका हूँ।

आधीनताका साधन यह किया कि लखनऊमें आठ या नौ महीनेतक रहा। गोमती-किनारे जाकर भजन करनेके बाद घाटोंपर हिंदू, मुसलमान—जो कोई भी वहाँपर होते, उन सबके यह दास पैर छूते-छूते मकानपर वापस आता।

ईसामसीह बाइबिलमें लिखते हैं कि 'अगर कोई शख्स तुम्हारे गालपर थप्पड़ मारे तो तुम दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो।' दास यह कहता है कि उसके सामने सिर झुकाकर प्रार्थना करो कि 'हे प्यारे नारायण! अपने पैरका जूता निकालकर इस सिरको खूब पीटो, जिससे मेरा कल्याण हो और मैं आपको भूल न जाऊँ।'

परस्त्रीको आँख उठाकर नहीं देखना। मल-मूत्र, हाड़-मांसका फोटो फौरन सामने खड़ा कर देनेसे अभ्यास करते-करते घृणा पैदा हो जाती है और यह पापकर्म फिर कभी नहीं होता।

(५) नियम

जो काम किया जाय, नियमसे होना चाहिये। कुछ दिन किया, फिर छोड़ दिया—इससे कुछ फायदा नहीं। नियमसे भजन वगैरह जो किया जाता है, बहुत लाभदायक हुआ करता है।

(६) भगवदिच्छामें प्रसन्नता

'Let the will of God be done.'

भगवान्‌की जो इच्छा है, सो होने दो। भगवान् जो करते हैं, सो अच्छा ही करते हैं—यह विचार करते रहनेसे गृहस्थोंकी चिन्ताएँ दूर हो जाती हैं।

(७) भगवान्‌की कृपा

तुलसीदासजी महाराजका वचन है—

जा पर कृपा राम कै होई। ता पर कृपा करहिं सब कोई॥

इस दासको इस वचनका पूरा अनुभव हो गया।

(८) पुरुषार्थ

वसिष्ठजी महाराजने योगवासिष्ठमें पुरुषार्थको परम दैव लिखा है, इस दासके अनुभवमें यह आया है कि प्रारब्ध बिना पुरुषार्थ कुछ काम नहीं देता। इसका यह अर्थ नहीं है कि पुरुषार्थ छोड़ दिया जाय, हरगिज़ नहीं। पुरुषार्थ तो जरूर ही करना चाहिये, परन्तु उसका फल प्रारब्धपर छोड़े। यह बात सांसारिक विषयोंकी प्राप्तिके लिये है। परमार्थमें तो भगवत्कृपासे पुरुषार्थ ही प्रधान है।

(९) अद्वैतभाव

जब नाम-रूप सब नारायणके ही हैं, तब भगवान्‌से द्वेष कैसे हो सकता है? अपना एक इष्टदेव मानकर अन्य देवताओंके मन्दिरोंमें जाकर भी प्रणाम करना चाहिये, सनातन-धर्मकी मर्यादाको कायम रखना चाहिये।

मुझको तो प्यारे नारायणके सिवा दूसरा कुछ भी नज़र नहीं आता। 'नारायण' शब्दके सिवा किससे बोलूँ और क्या बोलूँ?

(१०) उपवास

एकादशीका उपवास वैष्णव करते ही हैं, परन्तु अमावस्या और पूर्णिमाके दिन भी बहुत पवित्र माने गये हैं। ये दो व्रत भी रखने चाहिये। दत्त महाराजने अपने किसी ग्रन्थमें लिखा है कि धर्मादेका अन्न खानेसे अमावस्याके दिन एक मास और पूर्णिमाको पंद्रह रोजके भजनका फल अन्न देनेवालेको चला जाता है। जबसे यह मालूम हुआ है, यह दास भी दोनों दिन उपवास करता है । जो धर्मादेका अन्न खाते हैं, उनको तो अवश्य ही करना चाहिये।

(११) सन्तोष

त्याग करनेसे सन्तोष हो जाता है।

(१२) शान्ति

ज्ञान और भजनसे शान्ति होती है।

(१३) मानसिक पूजा

मूर्ति-पूजासे मानसिक पूजा अधिक उत्तम मानी गयी है। इस दासको यह अनुभव हुआ कि ध्यानमें सेवा करते समय मन बहुत कम भागा। चला भी जाता है तो उसे वापस आना पड़ता है, क्योंकि मनकी एकाग्रता बिना मानसिक सेवा नहीं हो सकती। दासको यह साधन बहुत पसंद है।

(१४) भक्ति-ज्ञानका जोड़ा

न केवल भक्तिसे ही ईश्वर-प्राप्ति होती है और न केवल ज्ञानसे ही। दोनोंका जोड़ा है। दोनों साथ चले बिना मेरे खयालसे काम नहीं चलता, जैसे कि एक टाँगसे यह शरीर नहीं चलता।

(१५) दोषोंका दमन

काम, क्रोध, लोभ, मोहके दमनका साधन गृहस्थीमें अच्छी तरह किया। गृहस्थमें इस साधनमें कोई दिक्कत नहीं होती।

(१६) गुरु-कृपा

गुरुकी कृपासे ही सब साधन होते हैं और हो रहे हैं। सदा अन्तरके आत्मरूपसे अनुभव कराते रहते हैं। इस दासके कठोर हृदयको माखनचोरने कृपा करके माखनरूप बना दिया है।

आजकल यह दास भगवत्कृपासे तुलसीदासजी महाराजके नीचे लिखे दोहेका साधन कर रहा है और आशा करता है कि प्यारे नारायण इसको पूरा करेंगे। यह देह दयालु भगवान्‌के चरणारविन्दमें अर्पण हो चुकी है, दास जानकर जरूर कृपा करेंगे।

तीन टूक कौपीन के अरु भाजी बिन नौन।
रघुबर जाके उर बसैं, इंद्र बापुरो कौन॥

(१७) तप करके किस वरदानकी इच्छा है?

न मोक्षकी इच्छा है, न चौदह लोकके राज्यकी इच्छा है; न ज्ञान माँगता हूँ और न भक्ति माँगता हूँ। यह दास तो प्यारे नारायणके चतुर्भुजी स्वरूपका आशिक है। केवल इतना ही चाहता है। क्या?

'तुम मुझे देखा करो और मैं तुम्हें देखा करूँ'
बोलो नारायण!

जीवका प्रधान कर्तव्य

(लेखक—श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य महामण्डलेश्वर श्री १०८ स्वामी श्रीजयेन्द्रपुरीजी महाराज)

माया तत्कार्यमखिलं यद्बोधाद्यात्यपह्नवम्।
त्रिपान्नारायणाख्यं तत् कलये स्वात्ममात्रतः॥

जीवका प्रधान कर्तव्य स्वस्वरूपका साक्षात्कार ही है। क्योंकि स्वरूप-साक्षात्कारके बिना परमानन्द-की प्राप्ति और शोक-मोहकी सर्वथा निवृत्ति कदापि सम्भव नहीं है। ईशोपनिषद्‌में आत्मसाक्षात्कारसे ही शोक और मोहकी सर्वथा निवृत्ति कही गयी है, यथा—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

'ब्रह्मात्मैकत्वदर्शी ज्ञानी पुरुषके लिये जिस स्थितिमें सम्पूर्ण प्रपंच आत्मा ही हो जाता है, उस स्थितिमें शोक और मोह कैसे सम्भव हैं?

केनोपनिषद्‌में यक्षोपाख्यानके द्वारा यह बात दिखायी गयी है कि ब्रह्मविद्याके बिना इन्द्र, वायु, अग्नि आदि देवता अशक्त, व्यर्थ अभिमानी एवं अज्ञानी हैं। उमादेवीका उपदेश अर्थात् ब्रह्मविद्या प्राप्त करके ही वे अत्यन्त श्रेष्ठ होते हैं। कठोपनिषद्‌में भी नचिकेताकी आख्यायिकाद्वारा यही बात स्पष्ट की गयी है। उन्होंने आत्मविद्याकी प्राप्तिके लिये ऐहलौकिक और पारलौकिक सुख-साम्राज्यका परित्याग कर दिया, यह बात आपामर प्रसिद्ध है।

प्रश्नोपनिषद्‌में सगुणब्रह्मनिष्ठ भरद्वाज आदि ऋषियोंने ब्रह्मात्मविद्यासे ही कृतार्थता प्राप्त की, अविद्या-तमके परपार परंब्रह्मको वे प्राप्त हुए—ऐसा वर्णन किया गया है। ब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर कुछ भी ज्ञातव्य शेष नहीं रहता; क्योंकि आत्माके अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं। पिप्पलाद ऋषिका यही निश्चय है, यथा—

तान् होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद नातः परमस्तीति।
(प्रश्न० ६। ७)

मुण्डकोपनिषद्‌में, किसके विज्ञानसे यह सब विज्ञात हो जाता है—शौनक ऋषिके इस प्रश्नका उत्तर देते हुए यह कहा गया है कि **'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रम्'** इत्यादि। अर्थात् दृश्यत्व, ग्राह्यत्व आदिसे शून्य निर्विशेष ब्रह्मरूप आत्माके साक्षात्कारसे ही सर्वज्ञताकी प्राप्ति होती है। अथर्ववेदीय माण्डूक्योपनिषद्‌में—

'सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म।' 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।'

—इत्यादि मन्त्रोंमें अद्वितीय आत्माको ही एकमात्र ज्ञातव्य कहा गया है। तात्पर्य यह कि निर्विशेष आत्माका साक्षात्कार ही जीवका प्रधान कर्तव्य है।

यजुर्वेदीय तैत्तिरीय शाखामें ब्रह्मविद्यासे ही सर्वेश्वरभाव ब्रह्मस्वरूपकी अनुभूति, निरतिशय आनन्दकी उपलब्धि, निर्भयता और त्रिविध तापोंका अत्यन्ताभाव स्पष्टरूपसे कहा गया है। यथा—

ॐ ब्रह्मविदाप्नोति परम्।

यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान्।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।

एतꣳ ह वाव न तपति किमहꣳ साधु नाकरवम्। किमहं पापमकरवम्।

इन वचनोंसे यह स्पष्ट है कि ब्रह्मविद्यासे ही उपर्युक्त स्थिति प्राप्त होती है। ऋग्वेदीय ऐतरेय शाखा भी आत्मसाक्षात्कारसे ही सम्पूर्ण काम और अमरभावकी प्राप्ति बतलाती है—

'स एतेन प्रज्ञेनात्मनास्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः समभवत्।'

इससे भी आत्मसाक्षात्कारकी प्रधानकर्तव्यता सिद्ध होती है।

यदि आत्मसाक्षात्कार नहीं हुआ है, तो स्वर्गका एकच्छत्र साम्राज्य—इन्द्रत्व प्राप्त हो जानेपर भी जीवके कर्तव्यकी इतिश्री नहीं होती। इतना ही क्यों, दीनता, पराधीनता और मूर्खता भी पल्ला नहीं छोड़ती। यह बात सामवेदीय छान्दोग्योपनिषद्के आठवें अध्यायमें वर्णित, अशरीरविद्या-बोधक इन्द्र और विरोचनके आख्यानसे स्पष्ट होती है। त्रिलोकीका साम्राज्य प्राप्त होनेपर भी इन्द्रके दैन्य और अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हुई। जब उन्होंने एक सौ एक वर्षतक ब्रह्माकी सेवामें रहकर अखण्ड ब्रह्मचर्य धारण किया, तब जाकर कहीं उन्हें तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हुई और वे कृतकृत्य हुए। वस्तुतः स्वरूपसाक्षात्कार ही समस्त कर्तव्यताओंको पूर्ण करनेके लिये पर्याप्त है। इसीसे छान्दोग्य-श्रुतिने कहा है—

स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच।

(८।१२।६)

जो आत्मतत्त्वको साक्षात् अपरोक्षरूपसे जानता है, वह सब लोकों और कामोंको प्राप्त कर लेता है। यह ब्रह्माका उपसंहार-वाक्य है। छान्दोग्यान्तर्गत भूमविद्यामें भी यह बात स्पष्ट है—

स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।

यह मन्त्र निर्गुण भूमविद्यासे स्वाराज्यकी प्राप्तिका निर्देश करता है। इस स्वाराज्यको पानेवाले सम्राट्की सत्ता बड़े-बड़े देवताओंके ऊपर हो जाती है।

तस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्य एवं विजानत आत्मतः प्राणा आत्मत आशा।

—इत्यादि मन्त्र इस सम्राट्से ही इस सम्पूर्ण विश्व और इसके अधिनायकोंकी उत्पत्ति बतलाते हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद्के मैत्रेयीब्राह्मणमें भी यही बात कही गयी है—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।

महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी धर्मपत्नी मैत्रेयीको उपदेश करते हैं—अरी मैत्रेयी! इस संसारमें आत्माका ही दर्शन, श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन कर्तव्य है। आत्माके दर्शन-श्रवणादिसे ही सर्व पदार्थ विदित होते हैं और सब पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं। आत्मदर्शनसे ब्रह्मभावकी प्राप्ति हो जानेपर भला कौन-सी वस्तु अप्राप्य रह सकती है? ब्रह्मको तो कोई भी वस्तु अप्राप्य नहीं है। श्रुति कहती है—

यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मा-
स्मिन् सन्देह्ये गहने प्रविष्टः।
स विश्वकृत्स हि सर्वस्य कर्ता
तस्य लोकः स उ लोक एव॥

(बृहदारण्यक० ४।४।१३)

श्वेताश्वतर-उपनिषद्में ध्यानसे आत्मदेवका साक्षात्कार होनेपर तृतीय देह अविद्या-तमका नाश, सर्वक्लेशोंका क्षय, अहंता-ममता आदि पाशोंकी हानि, मृत्युका आत्यन्तिक विनाश, विश्वैश्वर्यकी प्राप्ति, केवलता और आप्तकामता प्राप्त हो जाती है—इसका स्पष्ट उल्लेख है। यथा—

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः
क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।

तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे
विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः॥

(श्वेता० १। ११)

इत्यादि वचनोंकी पर्यालोचनासे यही सिद्ध होता है कि जीवका प्रधान कर्तव्य आत्मसाक्षात्कार है और इसीसे उसका कर्तव्य पूर्ण होता है।

इसपर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि तत्त्वज्ञानसे होनेवाली मोक्षावस्थामें सम्पूर्ण ऐश्वर्योंकी प्राप्ति हो जाती है—तो इसका यह मतलब हुआ कि मुक्त पुरुष ईश्वर हो जाता है, अर्थात् इससे शुद्ध ब्रह्मकी प्राप्ति तो सिद्ध नहीं हुई। इसका उत्तर यह है कि सर्वमुक्तिदशामें शुद्ध ब्रह्मकी प्राप्ति स्वीकार करनेसे इस आपत्तिका निवारण हो जाता है। सब जीवोंकी मुक्तिके पहले समस्त शास्त्र और दर्शनोंके मतसे संसारकी सत्ता माननी पड़ती है, क्योंकि वामदेव-शुकदेव आदिके मुक्त हो जानेपर भी यह संसार अबतक विद्यमान है। मुक्त आत्माका देशान्तरगमन तो होता नहीं, इसलिये वह संसारके भीतर भी रहता ही है। यह सब आस्तिक दर्शनोंका सिद्धान्त है। बृहदारण्यक-उपनिषद्में दुन्दुभि, शंख एवं वीणाके दृष्टान्तोंसे यह दिखलाया गया है कि आत्माके ग्रहणसे सब वस्तुओंका ग्रहण, दर्शन और लाभ हो जाता है। जबतक दुन्दुभि और शंख आदिका ज्ञान नहीं होता, तबतक सामान्यरूपसे उनके शब्दोंका ग्रहण होनेपर भी विशेषरूपसे उनका ज्ञान और लाभ नहीं होता। इसी प्रकार जबतक आत्मसाक्षात्कार नहीं होता, तबतक सामान्यरूपसे प्रपंचका ग्रहण होनेपर भी यावत् प्रपंचका विशेषरूपसे लाभ और ग्रहण नहीं होता। शास्त्र स्पष्टरूपसे, आत्मचिन्तनसे ही लौकिक कार्योंकी भी सिद्धि बतलाते हैं, यथा—

स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन सम्पन्नो महीयते।— इत्यादि।

(छान्दोग्य० ८। २। १)

.................**स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते। अस्माद्ध्येवात्मनो यद्यत्कामयते तत्तत्सृजते।** इत्यादि।

(बृहदारण्यक० १। ४। १५)

इस विवेचनसे हम इस परिणामपर पहुँच सकते हैं कि आत्मसाक्षात्कारके लिये प्रवृत्त पुरुषके हृदयमें जो-जो अन्तराय (विघ्न)-रूप वासनाएँ स्फुरित होती हैं, वे सभी सिद्ध होती हैं। परन्तु उसकी दुर्वासनाएँ सिद्ध नहीं हो सकतीं, क्योंकि वे तो प्रत्यक्ष ही दुर्गतिरूप हैं। भगवान्ने गीतामें कहा है कि 'कल्याण-साधनामें प्रवृत्त पुरुष दुर्गतिको नहीं प्राप्त होता।' '**यावानर्थ उदपाने**' (गीता २। ४६) तथा '**आपूर्यमाणम्**' (गीता २। ७०) के अनुसार आत्मविद्यासे सर्व कामोंकी प्राप्ति, अविचल शान्ति तथा निष्कामतारूप अत्यन्त तृप्ति होती है—यह सिद्ध है। भगवान् मनुने आत्मदर्शनसे स्वाराज्य और अमृतत्वकी प्राप्ति बतलायी है, यथा—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
सम्पश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति॥
सर्वेषामेव ज्ञानानामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥

श्रीकृष्णने इसी ब्रह्मविद्याको राजविद्या और राजगुह्य नामसे कहा है। इन सब दृष्टियोंसे विचार करनेपर यही सिद्ध होता है कि आत्मसाक्षात्कार ही जीवका मुख्य कर्तव्य है।

जगत्में धन, मान, प्रतिष्ठा, स्वर्ग तथा ब्रह्मलोकादिके लिये जितने भी लौकिक और वैदिक कर्म किये जाते हैं, उन सबका विधान अज्ञानी, बहिर्मुख पुरुषोंके लिये ही है। व्यवहारमें ही कर्म और उपासनाका अधिकार है।

'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्?'
'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्।'

—इत्यादि श्रुति-स्मृतियाँ भी परमार्थमें सर्व व्यवहारोंका निषेध करती हैं। इससे यह सिद्धान्त निश्चित होता है कि ऐहलौकिक धन-पुत्रादिकी अथवा स्वर्गादिकी इच्छा रहनेपर भी विवेकी पुरुषको जहाँतक बन सके, अपने स्वरूपका ही विचार करना चाहिये।

अद्यास्तमेतु वपुराशशितारमास्तां
कस्तावतापि मम चिद्वपुषो विशेषः।
कुम्भे विनश्यति चिरं समवस्थिते वा
कुम्भाम्बरस्य न हि कोऽपि विशेषलेशः॥

कीर्तनका सविशेष विवरण

(लेखक—श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामी श्रीभागवतानन्दजी महाराज महामण्डलेश्वर
काव्यसांख्ययोगन्यायवेदवेदान्ततीर्थ, वेदान्तवागीश, मीमांसाभूषण, वेदरत्न, दर्शनाचार्य)

**लोकानुद्धरयञ्छ्रुतीर्मुखरयन् क्षोणीरुहान् हर्षयन्
शैलान् विद्रवयन् मृगान् विवशयन् गोवृन्दमानन्दयन्।
गोपान् संभ्रमयन् मुनीन् मुकुलयन् सप्त स्वराञ्जृम्भय-
न्नोङ्कारार्थमुदीरयन् विजयते वंशीनिनादः शिशोः॥**

विषयवासनासमुदयकलुषित प्राणिगण इधर-उधर भटककर शान्तिसुखका अन्वेषण करते हुए भी शान्तिलाभ क्यों नहीं करते? इस प्रश्नका संक्षिप्त शब्दोंमें यही उत्तर है कि शान्तिके असाधनोंमें शान्तिके साधनका भ्रम होनेसे वे शान्तिसुखसे वंचित रहते हैं। विषयोंके उपभोगसे इन्द्रियाँ शान्त नहीं हो सकतीं, न भोगेच्छा ही समाप्त हो सकती है। श्रीविष्णुपुराण, महाभारत, मनुस्मृति आदि आर्ष ग्रन्थोंमें लिखा है—

**न जातु कामः कामनामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥**

'विषयोंकी लालसा भोगोंको भोगनेसे शान्त नहीं होती। घृतकी आहुति डालनेसे अग्नि शान्त नहीं हो सकती, प्रत्युत वह उत्तरोत्तर प्रचण्ड होती जायगी।'

न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम्, कस्मात्? यतो भोगाभ्यासमनु विवर्द्धन्ते रागाः कौशलं चेन्द्रियाणाम्, तस्मादनुपायः सुखस्य भोगाभ्यासः। स खल्वयं वृश्चिकविषभीत इवाशीविषेण दष्टो यः सुखार्थी विषयाननुवासितो महति दुःखपङ्के निमग्न इति। (योगभाष्य २। १५)

'भोगोंके भोगनेसे विषयासक्ति और इन्द्रियोंकी चंचलता बढ़ती ही जाती है, अतः भोगोंके भोगनेका अभ्यास सुखका साधन नहीं है। जो सुख-प्राप्तिकी इच्छासे विषयोंको भोगता है, वह उसी मनुष्यके समान है जो बिच्छूके भयसे किसी स्थानसे भागकर दूसरे स्थानमें जाता है और वहाँ उसे साँप काट लेता है; वह बहुत दुःखके दलदलमें जा फँसता है।'

फलतः यह सिद्ध होता है कि सांसारिक साधन शाश्वत सुखके साधन नहीं, सुखका साधन कोई और ही है। वह कौन साधन है? वह साधन है 'भगवन्नामसंकीर्तन'।

वेदोंमें इसका वर्णन मिलता है—

'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम'

(ऋग्वेद १। ८९। ८; सामवेद उ० २१। १। २)

'कानोंसे कल्याणकारी भगवन्नाम सुनें।' यह नाम-श्रवण-कीर्तन करनेपर ही हो सकता है।

'भद्रं श्लोकं श्रूयासम्' (अथर्ववेद १६। २। ४)

'कल्याणकारी भगवान्के यशको सुनें।' कल्याणकारी भगवद्यशोवर्णन ही हो सकता है।

'तमु ष्टवाम य इमा जजान। (ऋ०८। ८५। ६)

'हम उस भगवान्की स्तुति (गुण-कीर्तन) करें, जिसने यह सारी सृष्टि उत्पन्न की है।'

'सत्यमिद्वा उ तं वयमिन्द्रं स्तवाम नानृतम्।'

(ऋ० ८। ५१। १२)

'हम उस सच्चे भगवान्की स्तुति करें, झूठे विषय आदि पदार्थोंकी नहीं।'

'स्तुतिर्नाम गुणकथनम्।'

(मधुसूदनसरस्वतीकृत महिम्नःस्तोत्रकी टीका)

'गुणोंके कथन (कीर्तन)-का नाम स्तुति है।'

परन्तु यह नाम-कीर्तन श्रद्धासे ही होना चाहिये।

'श्रद्धया सत्यमाप्यते।' (यजुर्वेद १९। ३०)

'श्रद्धासे सत्यस्वरूप परमात्मा प्राप्त होता है।'

'मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे।'

(ऋ०८। ११। ५)

'हे प्रभो! मरनेवाले हम मनुष्य लोग अमर आपके नामका कीर्तन करते हैं अर्थात् आपके नामकीर्तनका ही पुनः-पुनः अभ्यास करते हैं।'

उक्त मन्त्रके सायणभाष्यमें सायणाचार्य '**मनामहे**' का अर्थ '**उच्चारयामः**' करते हैं। उच्चारण कीर्तन ही है।

संकीर्तनं नाम भगवद्गुणकर्मनाम्नां स्वयमुच्चारणम्।

(वीरमित्रोदय)

'भगवान्के गुण, कर्म और नामोंका स्वयं उच्चारण 'संकीर्तन' है।'

**यस्येमे हितवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥**

(ऋ० १०। १२१। ४)

श्रीकृष्ण-ध्यान-३

श्रीकृष्ण-ध्यान-४

'जिस भगवान्‌की महिमाको ये हिमालय आदि पर्वत और नदियोंके साथ समुद्र कहते-गाते हैं और जिस परमात्माकी ये सब दिशाएँ महिमा कहती हैं, हम सब उस सुखस्वरूप परमात्माकी स्तुतिपूर्वक विशेष भक्ति करें।'

गगनचुम्बिनी पर्वतमालाएँ भी अपनी विचित्र रचनाद्वारा यही कह रही हैं कि हमारे निर्माता वे ही जगदीश्वर हैं। उत्तुङ्गतरंगमालाशाली समुद्र भी अपनी तरंगोंसे उसी विश्वशिल्पी भगवान्‌की ओर संकेत कर रहा है। प्रखरवेगवाहिनी गंगा, यमुना आदि नदियाँ भी उसकी सत्ताको अपने श्रवण-सुखकारी शब्दसे प्रकट कर रही हैं।

अत जड जगत् भी भगवान्‌के गुणगणगान (कीर्तन)-में परायण है, तो क्या हमें चेतन होकर भी उसके कीर्तनसे विमुख होना उचित है? कभी नहीं।

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥

(श्रीमद्भा० ३।३३।७)

'अहो, जिसकी जिह्वापर तुम्हारा पवित्र नाम रहता है, वह चाण्डाल भी श्रेष्ठ है; क्योंकि जो तुम्हारे नामका कीर्तन करते हैं, उन श्रेष्ठ पुरुषोंने तप, यज्ञ, तीर्थस्नान और वेदाध्ययन—सब कुछ कर लिया। अर्थात् नाम-कीर्तनसे तप आदि गतार्थ हो जाते हैं।'

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ॥

(श्रीमद्भा० १।५।२२)

'विद्वानोंने अपने अनुभवसे यही निश्चय किया है कि भगवान्‌का गुण-कीर्तन ही तप, वेदाध्ययन, उत्तम यज्ञ, मन्त्र, ज्ञान और दान आदिका अविनाशी फल है। पढ़ने-लिखनेका फल भी भगवन्नाम-कीर्तन ही है।'

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(श्रीमद्भा० ७।५।२३)

भागवतके इस श्लोकमें श्रवणके अनन्तर 'कीर्तन' को रखा है। अतः शास्त्रश्रवणका फल कीर्तन है, यह सिद्ध होता है। कीर्तनके दृढीभूत होनेपर विष्णुभगवान्‌का स्मरण तथा भक्तिके अन्य अंगोंका सम्पादन हो सकता है। सब कुछ कीर्तनमूलक ही है।

'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' (गीता १०।२५)

'यज्ञोंमें मैं जपयज्ञ हूँ।' भगवान्‌ने अपनेको 'जप-यज्ञ' ही क्यों कहा? इसका कारण स्वामी मधुसूदन-सरस्वतीने अपनी गीताकी उक्त श्लोककी टीकामें बतलाया है—

'यज्ञानां मध्ये हिंसादिदोषशून्यत्वेनात्यन्त-शोधकोऽहमस्मि'

'इस जपयज्ञमें हिंसा आदि दोष नहीं हैं, अतः यह भगवन्नामजपयज्ञ अत्यन्त शुद्धि करनेवाला है। यह यज्ञ मेरी (भगवान्‌की) विशेष विभूति है।'

जकारो जन्मविच्छेदः पकारः पापनाशकः।
तस्माज्जप इति प्रोक्तो जन्मपापविनाशकः॥

(आग्नेयपुराण)

'जन्म और जन्मके हेतु पापका नाश करनेके कारण 'जप' कहा जाता है।'

'सततं कीर्तयन्तो माम्' (गीता ९।१४)

'सदा मेरा कीर्तन करनेवाले भक्त मेरी उपासना करते हैं।'

मधुरमधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां
सकलनिगमवल्लीसत्फलं चित्स्वरूपम्।
सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा
भृगुवर नरमात्रं तारयेत्कृष्णनाम॥

(बृ० नार० पु०, प्रभासखण्ड)

सांकेत्यं पारिहास्यं च स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥

(श्रीमद्भा० ६।२।१४)

इन दोनों श्लोकोंका यही भाव है कि श्रद्धारहित होकर भी भगवान्‌का नाम मुखसे निकल जाय तो बेड़ा पार है। अजामिल इसका दृष्टान्त प्रसिद्ध ही है—

अजामिलोऽपि पापात्मा यन्नामोच्चारणादनु।
प्राप्तवान् परमं धाम तं वन्दे लोकसाक्षिणम्॥

(पद्मपुराण)

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

(गीता १०।९)

'जिनका मुझमें ही मन लगा है, ऐसे भक्तजन सदा मेरा ही कीर्तन-भजन करते हुए सन्तुष्ट और आनन्दित होते हैं।'

'वेदानां सामवेदोऽस्मि।' (गीता १०।२२)

'वेदोंमें मैं सामवेद हूँ, ऐसा कहकर भगवान् सूचित करते हैं कि सामवेदके मन्त्रोंसे मेरा उच्चस्वरसे कीर्तन करना चाहिये। मन्त्रोंको ऊँचे स्वरसे गाया जाय, तभी उनकी 'साम' संज्ञा होती है।

'गीतिषु सामाख्या।' (मीमांसादर्शन २।१।३६)

'विशिष्टा काचिद् गीतिः सामेत्युच्यते। प्रगीते हि मन्त्रवाक्ये सामशब्दमभियुक्ता उपदिशन्ति।'

(उक्त सूत्रका शाबरभाष्य)

गाये गये मन्त्रोंको ही 'साम' कहते हैं। अतः भगवान् उच्चस्वरसे किये गये कीर्तनसे प्रसन्न रहते हैं। और तभी तो—

'गायन्ति यं सामगाः।' (श्रीमद्भा० १२।१३।१)

—यह प्रसिद्ध भी है। इसी तात्पर्यसे भगवान्ने अपनेको सामवेद कहा है।

नामसंकीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्॥

(श्रीमद्भा० १२।१३।२३)

'जिस भगवान्का नाम-कीर्तन पापनाशक है और प्रणाम दुःखनाशक है, उस श्रेष्ठ भगवान्को नमस्कार करता हूँ।' यह भागवतका अन्तिम श्लोक है, इसमें भगवान् व्यासने अपना मत स्पष्ट व्यक्त कर दिया है।

कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः।
यत्र संकीर्तनेनैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यते॥
न ह्यतः परमो लाभो देहिनां भ्राम्यतामिह।
यतो विन्देत परमां शान्तिं नश्यति संसृतिः॥

(श्रीमद्भा० ११।५।३६-३७)

'बुद्धिमान् कलियुगकी प्रशंसा करते हैं कि इस युगमें संकीर्तनसे ही सब स्वार्थ-सिद्धि हो जाती है, जिससे बढ़कर देहधारियोंका अन्य लाभ नहीं है, जिससे संसारका नाश होता और परमशान्ति (मोक्ष)-की प्राप्ति होती है।'

यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः॥

(श्रीमद्भा० ११।५।३२)

'बुद्धिमान् लोग कीर्तनप्रधान यज्ञोंके द्वारा भगवान्का भजन करते हैं।'

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥

(श्रीविष्णुपुराण ६।२।१७)

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

(श्रीमद्भा० १२।३।५१)

'सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतायुगमें यज्ञ करनेसे तथा द्वापरमें भगवान्की पूजासे जो कुछ फल प्राप्त होता है, वह सब कलियुगमें भगवान्के नाम-कीर्तनमात्रसे ही प्राप्त होता है।'

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम्।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्॥

(श्रीमद्भा० २।१।११)

'हे परीक्षित्! संसारसे विरक्त, मोक्षके चाहनेवाले योगियोंके लिये यह हरि-कीर्तन ही अनुभवी वृद्ध विद्वानोंने निश्चित किया है।'

इससे सिद्ध हुआ कि कीर्तन ही भव-सन्तापसे बचानेवाला अत्युत्तम साधन है। भगवान्के अनेक नाम हैं। उनमें जो अपनेको प्रिय प्रतीत हो, उसका ही कीर्तन करना चाहिये; नामविशेषमें आग्रह करके राग-द्वेष करना अनुचित है।

इसीलिये किसी विद्वान्ने कहा है—

श्रीरामचन्द्रहरिशम्भुनरादिशब्दा
ब्रह्मैकमेव सकलाः प्रतिपादयन्ति।
कुम्भो घटः कलश इत्यभिशस्यमानो
नाणीयसीमपि भिदां भजते पदार्थः॥

'रामचन्द्र, हरि, शम्भु, नर, नारायण आदि सब शब्द उस एक ही ब्रह्म परमात्माको कहनेवाले हैं अर्थात् उस एक ब्रह्मके ही अनेक नाम हैं। जैसे कुम्भ, घट, कलश—ऐसे भिन्न-भिन्न नामोंसे कहे जानेपर भी कुम्भ, घट और कलश एक ही वस्तु हैं, भिन्न नहीं।'

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(श्रीमद्भा० १।२।११)

'उसको ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् शब्दसे कहते हैं।'

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।' (ऋ० ६।४७।१८)

'भगवान् अपनी शक्तियोंसे अनेक रूप धारण करते हैं।'

'एकं ज्योतिर्बहुधा विभाति।' (अर्थवेवद १३।३।१७)

'वह ज्योति:स्वरूप परमात्मा अनेक प्रकारसे प्रकाशित होता है।'

'सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।' (ऋ० १०।११४।५)

'बुद्धिमान् लोग उस एक सत्ता (परमात्मा)-को नाना शब्दोंसे वर्णन करते हैं।'

इस प्रकार अनेक नाम होनेपर भी अपनी रुचिके अनुसार नामके स्मरणसे अवश्य ही लाभ होगा।

तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथाविद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन। आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे। (ऋ० १।१५५।३)

'हे स्तुति करनेवालो! अनादिसिद्ध एवं यज्ञस्वरूप विष्णुको जैसा जानते हो, वैसे ही स्तोत्र आदिके द्वारा उनको प्रसन्न करो। विष्णुका नाम जानकर कीर्तन करो। हे विष्णो! आप महानुभाव हो, आपकी सुमतिका हम सेवन करते हैं।'

इस मन्त्रकी विभिन्न विद्वानोंने विभिन्न प्रकारकी व्याख्याएँ की हैं। किन्तु इस मन्त्रको 'संकीर्तन' परक प्राय: सबने माना है। उक्त मन्त्रकी व्याख्यामें सर्ववेद-भाष्यकार सायणाचार्य तो 'विवक्तन' का **'संकीर्तयत'** (संकीर्तन करो) अर्थ करके स्पष्ट ही इस मन्त्रको संकीर्तनप्रतिपादक मानते हैं।

परम अद्वैतवादी भगवान् आद्यशंकराचार्य भी कहते हैं—

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।

(विवेकचूडामणि ३२)

'मोक्षप्राप्तिके जितने भी साधन हैं, उनमें सर्वश्रेष्ठ साधन भक्ति है।' भक्तिका ही अंग 'कीर्तन' है। अत: कीर्तनकी श्रेष्ठता स्पष्ट सिद्ध होती है।

'श्रद्धाभक्त्योरभावेऽपि भगवन्नामसंकीर्तनं समस्तं दुरितं नाशयतीत्युक्तम्, किमुत श्रद्धाभक्तिपूर्वकम्।'

(विष्णुसहस्रनाम, शांकरभाष्य १४)

श्रीशंकराचार्य अपने भाष्यमें कहते हैं कि ''श्रद्धा और भक्तिके न होनेपर भी भगवान्‌के नामका 'संकीर्तन' सब पापका नाश कर देता है, श्रद्धा-भक्तिपूर्वक किया जाय तो कहना ही क्या है।''

'ओमित्येतदक्षरं परमात्मनोऽभिधायकं नेदिष्ठम्, तस्मिन् हि प्रयुज्यमाने स प्रसीदति प्रियनामग्रहण इव लोकः।'

(छान्दोग्य० शांकरभाष्य १।१।१)

''ओम्' यह परमात्माका अति सन्निहित नाम है; इस नामके लेनेसे वे उसी प्रकार प्रसन्न होते हैं, जैसे प्रिय नाम लेनेसे लोग प्रसन्न होते हैं।'

यही शब्दब्रह्म है—

'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वम्'

(भर्तृहरिरचित वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड १)

'जो उत्पत्ति-नाशरहित शब्द-तत्त्वरूप ब्रह्म है।'

'प्राहुर्महान्तमृषभम्'

(वाक्यपदीय, ब्रह्म० १३१)

'शब्दको व्यापक स्वप्रकाश ब्रह्मरूप देव कहते हैं।'

संन्यासियोंके लिये भी भगवन्नाम, प्रणव आदिका जप-कीर्तन आवश्यक है-

भिक्षाटनं जपो ध्यानं स्नान शौचं सुरार्चनम्।
कर्तव्यानि षडेतानि यतिना नृपदण्डवत्॥

(मेधातिथि)

'भिक्षा, जप, ध्यान, स्नान, शौच और देव-पूजनको संन्यासी अवश्य करे; इनका करना राजाके नियम-पालनके सदृश आवश्यक है।'

अन्यत्र श्रुतियोंमें ॐ कारकी प्लुत स्वरमें ध्वनि करनी लिखी है। अत: यहाँ जप भी कीर्तन, स्मरण आदि व्यापक अर्थवाला लेना चाहिये।

किसी भक्तने अपने कानको सम्बोधित करके कहा है—

या किन्नरोपज्ञमनेकरागा
सम्मूर्छना या स्वरभावयुक्ता।
तां गीतिकां कर्ण! विहाय दूरं
शृणु त्वमेताः पुरुषोत्तमस्य॥

'हे मेरे कान! अनेक गन्धर्वोंद्वारा गाये गये स्वर, भाव और लयसे युक्त गीतोंका सुनना छोड़ दे और केवल भगवान्‌के गीत सुन।'

'संकीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति अनुभावयति च भक्तान्।'

(नारदभक्तिसूत्र ८०)

'भगवान्‌का प्रेमपूर्वक कीर्तन करनेसे वे 'भगवान्' शीघ्र ही प्रकट होते हैं और अपने भक्तको शीघ्र ही अनुभव (दर्शन) करा देते हैं।'

भगवन्नाम-कीर्तनके फलके विषयमें अर्थवादकी कल्पना करना पाप है—

यन्नामकीर्तनफलं विविधं निशम्य
नो श्रद्दधाति मनुते यदुतार्थवादम्।
यो मानुषस्तमपि दुःखचये क्षिपामि
संसारघोरपरितापनिपीडिताङ्गम् ॥

(ब्रह्मसंहिता)

'नामकीर्तनके नाना फलोंको सुनकर जो विश्वास नहीं करता और यह अर्थवादमात्र है—ऐसा कहता है, उस मनुष्यको मैं (भगवान्) नाना प्रकारके दुःख-गर्तोंमें डाल देता हूँ।'

अतः भगवन्नाम-महिमाके सम्बन्धमें जो शास्त्रोंमें लिखा है वह अत्युक्ति वा अतिशयोक्ति नहीं है, किन्तु ध्रुव-सत्योक्ति है—ऐसा विश्वास करना चाहिये।

कृष्णेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते।
भस्मीभवन्ति राजेन्द्र महापातककोटयः॥

(विष्णुधर्म)

'जिसकी जिह्वापर मंगलस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णका नाम है, उसके करोड़ों महापाप भी भस्म हो जाते हैं।'

संकीर्तनध्वनिं श्रुत्वा ये च नृत्यन्ति मानवाः।
तेषां पादरजःस्पर्शात्सद्यः पूता वसुन्धरा॥

(बृ० नार० पु०)

'जो भगवन्नामकी ध्वनिको सुनकर प्रेममें तन्मय होकर नृत्य करते हैं, उनकी चरण-रजसे पृथिवी शीघ्र ही पवित्र हो जाती है।'

भगवन्नाम-कीर्तनादिमें लज्जा नहीं करनी चाहिये—

विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। २४)

'जो लोकलज्जाकी परवा न करता हुआ मेरा भक्त उच्च स्वरसे गाता है अर्थात् कीर्तन करता है और नृत्य करता है, वह संसारको पवित्र कर देता है।'

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्।
संकीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥

(श्रीमद्भा० ६। २। १८)

'जानकर या बिना जाने—जैसे भी भगवान्का नाम मुखसे निकल जाय, वह नामकीर्तन पुरुषके पापको वैसे ही दग्ध कर देता है जैसे काष्ठको अग्नि।'

शास्त्रोक्त अन्य सभी साधन श्रद्धापूर्वक न किये जायँ तो उनका करना व्यर्थ हो जाता है, जैसा कि गीतामें कहा है—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥

(१७। २८)

'अश्रद्धासे किये गये होम, दान, तप आदि कर्म निष्फल हो जाते हैं; न तो वे इस लोकमें फल देते हैं, न परलोकमें ही।' परन्तु भगवन्नामकीर्तन तो श्रद्धा न रहनेपर भी किया जाय, तब भी उत्तम फलप्रद होता है। गंगाकी महिमा जाने या न जाने; परन्तु इच्छासे अथवा अनिच्छासे, फिसलकर गिर जानेसे भी, गोता लगनेपर पुण्य अवश्य ही होता है। ऐसे ही भगवन्नामकी शक्ति भी विलक्षण है।

किं चित्रं यदघं प्रयाति विलयं तत्राच्युते कीर्तिते॥

(श्रीविष्णुपुराण ६। ८। ५६)

'इसमें आश्चर्यकी क्या बात है, यदि भगवान्के नामकीर्तनसे पाप नष्ट हो जाते हैं?'

अग्निको छूनेसे हाथ जल जाय, तो इसमें क्या कोई आश्चर्यकी बात है? यह तो वस्तुशक्तिस्वभाव है।

यह कीर्तनकी प्रथा कोई नूतन नहीं, अनादि कालसे श्रेष्ठ पुरुषोंमें चली आ रही है—

प्रह्लादस्तालधारी तरलगतितया चोद्धवः कांस्यधारी
वीणाधारी सुरर्षिः स्वरकुशलतया रागकर्तार्जुनोऽभूत्।
इन्द्रोऽवादीन्मृदङ्गं जयजयसुकराः कीर्तने ते कुमाराः
यत्राग्रे भाववक्ता सरसरचनया व्यासपुत्रो बभूव॥

(पद्मपुराणका भागवतमाहात्म्य ६। ८७)

'ताल देनेवाले प्रह्लाद थे, उद्धव मँजीरा-झाँझ बजाते थे, नारदजी वीणा लिये हुए थे, अच्छा स्वर होनेके कारण अर्जुन गाते थे, इन्द्र मृदंग बजाते थे, सनत्, सनन्दन आदि कुमार जय-जय ध्वनि करते थे, और शुकदेवजी अपनी रसीली रचनासे रस और भावोंकी व्याख्या करते थे।'

उक्त सब मिलकर एक भजनमण्डली बनाकर हरि-गुण-गान करते थे।

एक बार नारदजीने ब्रह्मासे कहा कि ऐसा उपाय बतलाइये कि जिससे मैं विकराल कलिकालके गालमें न आऊँ। इसके उत्तरमें ब्रह्माजीने—

'भगवत आदिपुरुषस्य नारायणस्य नामोच्चारणमात्रेण निर्धूतकलिर्भवति।' (कलिसन्तरणोपनिषद्)

'मनुष्य भगवान्‌के नामके उच्चारण करनेमात्रसे ही कलिसे तर जाता है।'

—इत्यादि नामकी महिमा सविस्तर वर्णित की है।

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(बृ० नार० पु० ३८। १२७)

'नारद आदि भगवद्भक्तोंका कथन है कि कलियुगमें और कोई भवसागरसे पार होनेका ऐसा सरलतम उपाय नहीं है; केवल भगवान्‌का नाम लेना, नाम लेना, नाम लेना ही हमारे जीवनका परम ध्येय है।'

तीन बार कहनेसे यह ध्रुव सत्य है, इसमें संशय-पिशाचको लेशमात्रका भी अवकाश नहीं है—यह सूचित किया गया है। इससे नामकी महिमा स्पष्ट प्रतीत होती है।

तन्नास्ति कर्मजं लोके वाग्जं मानसमेव वा।
यत्तु न क्षीयते पापं कलौ केशवकीर्तनात्॥

(स्कन्दपु०)

'ऐसा कोई भी कायिक, वाचिक अथवा मानसिक पाप नहीं है, जो भगवान्‌के नाम लेनेसे नष्ट न हो।'

अश्वमेधादिभिर्यज्ञैर्नरमेधैस्तथैव च।
याजितं तेन येनोक्तं हरिरित्यक्षरद्वयम्॥

(वामनपु०)

'जिसने 'हरि' ऐसा दो अक्षरका नाम उच्चारण कर लिया, उसने अश्वमेध आदि सब बड़े-बड़े यज्ञ कर लिये।'

'अशेषजगदंहसां किमपि नाम निर्णेजनम्'

(श्रीभगवन्नामकौमुदी ३। ८)

'जगत्‌के सब पापोंका नाशक भगवान्‌का नाम है।'

वज्रं पापमहीभृतां भवगदोद्रेकस्य सिद्धौषधं
मिथ्याज्ञाननिशाविशालतमसस्तिग्मांशुबिम्बोदयः।
स्फूर्जत्क्लेशमहीरुहामुरुतरज्वालाजटालः शिखी
द्वारं निर्वृतिसद्मनो विजयते कृष्णेति वर्णद्वयम्॥

(पण्डितराज जगन्नाथ)

'पापरूपी पर्वतोंको नाश करनेमें वज्रस्वरूप, संसाररूपी महारोगका रामबाण (अव्यर्थ) ओषध, मिथ्याज्ञानरूपी रात्रिके सघन अन्धकारको दूर करनेके लिये सूर्यरूप, महान् दुःखरूपी वृक्षोंको जलानेके लिये प्रचण्ड ज्वालाओंसे युक्त अग्नि मोक्षमन्दिरका द्वारस्वरूप 'कृष्ण' यह वर्णयुगल सबसे श्रेष्ठ है।'

भक्तशिरोमणि तुलसीदासजी नामकी महिमाका इस प्रकार वर्णन करते हैं—

चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ। कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ॥
नामु लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु बिचारु सुजन मन माहीं॥
बेद पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत फल नाम सनेहू॥

यों तो 'चारों युगोंमें और चारों वेदोंमें नामका प्रभाव है, विशेषकर कलियुगमें तो कोई दूसरा उपाय है ही नहीं। भगवान्‌का नाम लेनेसे संसाररूपी समुद्र सूख जाता है, हे सज्जनो! इसका मनमें विचार करो। वेद, पुराण और संतोंका यही मत है कि सब पुण्योंका फल भगवन्नाममें प्रेम होना है।'

सौरपुराणमें 'आहर, प्रहर, संहर' (लाओ, वार करो, मार डालो) कहनेवाले व्याडिनामक व्याधके समस्त पापोंके नाशका वर्णन है। उक्त वाक्यमें 'हर' नाम भगवान्‌का होनेसे उसके उच्चारणमात्रकी यह महिमा है।

नरवपुः प्रतिपद्य यदि त्वयि
श्रवणवर्णनसंस्मरणादिभिः।
नरहरे! न भजन्ति नृणामिदं
दृतिवदुच्छ्वसितं विफलं ततः॥

(श्रीमद्भा० १०। ८७। १७ की श्रीधरस्वामीकी व्याख्या)

भागवतके विख्यात व्याख्याकार श्रीधरस्वामी 'वेदस्तुति' की अपनी टीकामें कहते हैं कि 'हे भगवन्! जो नर-देह पाकर आपका श्रवण, वर्णन और स्मरण आदि नहीं करते, वे मनुष्य लुहारकी धोंकनीकी तरह व्यर्थ ही साँस लेते हैं—उनका जीवन व्यर्थ है।'

युधिष्ठिरने भीष्मपितामहसे प्रश्न किया—

किं जपन्मुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबन्धनात्।

(महा०, श्रीविष्णुसहस्रनाम ३)

'यह जीव किसका जप करनेसे जन्मरूपी संसारके बन्धनसे मुक्त होता है?'

इसके उत्तरमें भीष्म कहते हैं—

स्तुवन्नामसहस्रेण पुरुषः सततोत्थितः।

(महा०, विष्णुसह० ४)

'जगत्प्रभु परमात्माके सहस्र (अनन्त) नामोंका

स्तवन-संकीर्तन करनेवाला सब दुःखोंसे छूट जाता है।' '**स्तुवन्**' का अर्थ '**गुणान् संकीर्तयन्**' यह उक्त श्लोकके शांकरभाष्यमें श्रीशंकराचार्यने किया है।

उपसंहारमें—

सहस्रं वासुदेवस्य नाम्नामेतत्प्रकीर्तयेत्।

(महा०, विष्णुसह० १२५)

इस प्रकार नामोंके कीर्तनकी आज्ञा स्पष्ट है। अन्तमें (१२६ से अन्ततक) फल-श्रुति भी कीर्तनके महत्त्वकी ही पुष्टि करती है। महाभारत, शान्तिपर्व (मोक्षधर्म)-में 'जापकोपाख्यान' सुप्रसिद्ध ही है।

नारदने भगवान्‌से कहा है—

वेदेषु सपुराणेषु साङ्गोपाङ्गेषु गीयसे।

(महाभा० शा० मो० ३३४। २५)

'अंग, उपांग, पुराण और वेदोंमें आप गाये जाते हैं। अर्जुनसे भगवान्‌ने कहा है—

ऋग्वेदे सयजुर्वेदे तथैवाथर्वसामसु।
पुराणे सोपनिषदे तथैव ज्यौतिषेऽर्जुन॥
सांख्ये च योगशास्त्रे च आयुर्वेदे तथैव च।
बहूनि मम नामानि कीर्तितानि महर्षिभिः॥

(महाभा० शा० मो० ३४१। ८-९)

वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ।
आदौ मध्ये तथा चान्ते विष्णुः सर्वत्र गीयते॥

(महाभा०)

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥

(हरिवंश०)

'ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, सामवेद, पुराण, उपनिषद् ज्यौतिष, सांख्य, योग, आयुर्वेद आदिमें भगवान्‌के बहुतसे नाम ऋषियोंने गाये हैं।' 'और वेद, रामायण, महाभारत और पुराणोंके आदि, मध्य और अन्तमें हरिके ही नाम-गुण गाये गये हैं।'

वेदोंका प्रतिपाद्य परमात्मा ही है—

'**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति**' (क० उ० २। १५)

'सब वेद जिस पद (भगवन्नाम और तत्प्रतिपाद्य स्वरूप)-का वर्णन करते हैं।'

शिष्टपरम्परामें वेदोंका अध्ययन भी भगवन्नामकीर्तन-पूर्वक ही होता है—

ओमित्युक्त्वा वृत्तान्तशः शमित्येवमादीञ्छब्दान् पठन्ति।

(व्याकरणमहाभाष्य, पस्पशाह्निक १। १। १)

वेदोंके पढ़नेवाले 'ओम्' ऐसा कहकर '**शन्नो देवीरभिष्टय**', '**इषे त्वोर्जे त्वा**', '**अग्निमीळ पुरोहितम्**' '**अग्न आयाहि वीतये**' इत्यादि वेदमन्त्रोंको पढ़ते हैं। '**शन्नो**' इत्यादि ये चार मन्त्र क्रमशः अथर्ववेद, यजुर्वेद, ऋग्वेद और सामवेदके आरम्भके मन्त्र हैं।

'ओम्' परमात्माका नाम है—

'**तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम्।**'

(योगदर्शन १। २७-२८)

''ओम्' ईश्वरका वाचक है अर्थात् 'ओम्' का अर्थ है ईश्वर। उस ईश्वरके वाचक 'ओम्' का जप और उसके अर्थ ईश्वरका चिन्तन करना चाहिये।' उक्त वेदारम्भके मन्त्रोंमें 'शम्' का कल्याणरूप ईश्वर अर्थ है। 'इषे' में 'इष्' भी प्रधानतया 'इष्यमाण' (इच्छाके विषय) ईश्वरका बोधक है। '**अग्निमीळे**' और 'अग्न आ' में आये हुए 'अग्नि' शब्दका अर्थ आध्यात्मिक पक्षमें परमात्मा है—

'**अङ्गति सकलवेदान्तप्रतिपाद्यत्वं गच्छतीत्यग्निः**'

(तैत्ति० सन्ध्याभाष्य)

'**अङ्गति गच्छति सर्वं व्याप्नोतीति अग्निः**'

(अथर्ववेद, सायणभाष्य ३। १। १)

'सकल वेदान्तोंका प्रतिपाद्य ब्रह्म (अग्नि) है।
'सर्वत्र व्यापक अग्नि (ब्रह्म) है।'

अग्निर्देवता ब्रह्म। (तैत्ति० आ १०। ३३)

'अग्निदेव ब्रह्म है।'

ब्रह्म ह्यग्निः। (शतपथब्रा० ८।५।१।१२)

'ब्रह्म ही अग्नि है।'

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः। (ऋ० १। १६४। ४६)

'उस परमात्माको इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं।'

'**तदेवाग्निः**'। (यजुर्वेद ३२। १)

'वही ब्रह्म अग्नि है।'

महर्षियोंने भगवन्नामका उच्चारण करके ही षड्दर्शनों (न्याय आदि छहों शास्त्रों)-का आरम्भ किया है—

'**प्रमाणप्रमेय०**' (न्यायदर्शन)

'**अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः।**' (वैशेषिकदर्शन)

'अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।'
(सांख्यदर्शन)

'अथ योगानुशासनम्।' (योगदर्शन)

'अथातो धर्मजिज्ञासा।' (पूर्वमीमांसादर्शन)

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।' (वेदान्तदर्शन)

न्यायदर्शनमें महर्षि गौतमको 'प्रमाण' शब्दसे परमात्माका नामोच्चारण अभिप्रेत है।

'प्रमाणं प्राणनिलयः' (विष्णुसहस्रनाम ११६)

इसमें 'प्रमाण' शब्द विष्णुका वाचक आया है, न्यायशास्त्रके सुप्रसिद्ध 'मुक्तावली' कार विश्वनाथ तर्कपञ्चाननने अपनी 'न्यायसूत्रवृत्ति' में उक्त सूत्रके व्याख्यानमें उक्त बात कही है। 'अथ' शब्द भी परम मांगलिक परमात्माके नामको सूचित करता है—

'अर्थान्तरप्रयुक्त एव ह्यथशब्दः श्रुत्या मङ्गल-प्रयोजनो भवति' (वेदान्तदर्शन, शांकरभाष्य १।१।१)

'अर्थान्तरेष्वानन्तर्यादिषु प्रयुक्तोऽथशब्दः श्रुत्या श्रवणमात्रेण वेणुवीणादिवन्मङ्गलं कुर्वन् मङ्गलप्रयोजनो भवति, अन्यार्थमानीयमानोदकुम्भदर्शनवत्'
(उक्त भाष्यकी 'भामती')

वाचस्पति मिश्र उक्त भाष्यकी व्याख्या करते हुए अपने 'भामती' नामक ग्रन्थमें कहते हैं कि 'यद्यपि **'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'** इस सूत्रमें 'अथ' शब्द साधन-चतुष्टयके आनन्तर्यका बोधक है,तथापि 'अथ' शब्दके श्रवणमात्रसे मंगलरूपी प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। जैसे यात्रार्थी पुरुष वंशी, वीणा, शंख आदिका शब्द तथा अन्यके लिये लाये गये जलपूर्ण घट आदिको देखकर यात्राका शुभ मंगल-शकुन समझ लेता है, वैसे ही यहाँ भी आनन्तर्यार्थक 'अथ' शब्द मांगलिक है।' और कहा भी है—

ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ॥
(बृह० ना० पु० १।५१।१०)

'ओङ्कार' और 'अथ'—ये दो शब्द पहले ब्रह्माके कण्ठको भेदन करके निकले हैं।

भगवन्नाम-वाचक शब्दका आरम्भमें प्रयोग करनेसे ही ऋषियोंपर नास्तिकताका शङ्का-कलंक-पङ्कारोप नहीं किया जा सकता और 'शिष्यशिक्षा' की रक्षा-प्रणालीका भी सुसम्पादन हो जाता है। अर्थात् ऋषियोंके अनुयायी भी **'यद्यदाचरति श्रेष्ठः'** के आधारपर जो भी कुछ ग्रन्थारम्भ आदि कर्म करें, वह भगवन्नाम लेकर ही करें। ऐसे ही अन्य शास्त्रोंके आरम्भके विषयमें भी समझ लेना चाहिये। जैमिनि आदि भी अनीश्वरवादी नहीं थे। यद्यपि कुमारिल-भट्टने अपने श्लोकवार्तिकमें 'ईश्वरका खण्डन' किया है, तथापि उसका अभिप्राय कर्मवादमें दृढ़तासम्पादन ही है, ईश्वर-निराकरण अभिप्रेत नहीं। ऐसे ही 'कपिल' को भी प्रकृति आदि तत्त्वोंका प्रतिपादन मुख्यरूपसे अपने 'साङ्ख्यदर्शन' का प्रतिपाद्य है—यह सूचित करना अभिप्रेत है, ईश्वर-खण्डन नहीं। आइये, अब कुछ थोड़ी-सी 'पुराणोद्यान' की सैर कर लीजिये—

हरेः संकीर्तनं पुण्यं सर्वपातकनाशनम्।
सर्वकामप्रदं लोके अपवर्गफलप्रदम्॥
(आदित्यपुराण)

'हरिका पवित्र संकीर्तन सब पापोंका नाशक, सब कामनाओंको पूरा करनेवाला तथा मुक्तिका दाता है।'

सर्वधर्मोज्झिता विष्णोर्नाममात्रैकजल्पकाः।
सुखेन यां गतिं यान्ति न तां सर्वेऽपि धार्मिकाः॥
(आग्नेयपुराण)

'सर्व धर्मोंसे रहित पुरुष भी भगवान्के नाममात्रका उच्चारण करनेसे सुखपूर्वक उस उत्तम गतिको पाते हैं, जिसे धर्मात्मा लोग भी नहीं पाते।'

सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति॥
(वराहपुराण)

'जिसने 'हरि' यह दो अक्षरवाला नाम उच्चारण कर लिया, उसने मोक्षके लिये कमर कस ली।'

ये कीर्तयन्ति वरदं वरपद्मनाभं
शङ्खाब्जचक्रशरचापगदासिहस्तम्।
पद्मालयावदनपंकजषट्पदाख्यं
नूनं प्रयान्ति सदनं मधुघातिनस्ते॥
(वामनपुराण)

'जो शंख-चक्रादिधारी भगवान्का कीर्तन करते हैं, वे विष्णुलोकको जाते हैं।'

यदीच्छसि परं ज्ञानं ज्ञानाच्च परमं पदम्।
तदा यत्नेन महता कुरु गोविन्दकीर्तनम्॥
(गरुडपुराण)

'यदि आत्मज्ञानकी इच्छा है और आत्मज्ञानसे परमपदकी इच्छा है, तो यत्नपूर्वक गोविन्दका कीर्तन करो।'

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
हरे राम हरे कृष्ण कृष्ण कृष्णेति मङ्गलम्॥
एवं वदन्ति ये नित्यं न हि तान् बाधते कलिः।

(पद्मपु० ४।८०।२-३)

'हरे राम हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण! ऐसा जो सदा कहते हैं, उन्हें कलियुग हानि नहीं पहुँचा सकता।'

अहो चित्रमहो चित्रमहो चित्रमिदं द्विजाः।
हरिनाम्नि स्थिते लोकः संसारे वर्तते पुनः॥

(बृह० ना० पु०)

'बड़ा ही आश्चर्य है, भगवान्के नामरूपी साधनके रहते हुए भी लोग संसारमें पड़े हैं।'

यन्नामकीर्तनं भक्त्या विलापनमनुत्तमम्।
मैत्रेयाशेषपापानां धातूनामिव पावकः॥

(विष्णुपु० ६।८।२०)

'जैसे अग्नि सुवर्ण आदि धातुओंके मलको नष्ट कर देती है, ऐसे ही भक्तिसे किया गया भगवान्का कीर्तन सब पापोंके नाशका अत्युत्तम साधन है।'

निघ्नन् ब्राह्मणमत्यन्तं कामतो वा सुरां पिबेत्।
कृष्ण कृष्णेत्यहोरात्रं सङ्कीर्त्य शुचितामियात्॥

(ब्रह्मवैवर्तपु०)

गोविन्देति सदा भक्त्या येन गीतं महात्मना।
सहस्त्रात्तेन मुच्येत पापात्तु गुरुतल्पगात्॥

(कूर्मपुराण)

परदाररतो वापि परापकृतिकारकः।
विशुद्धो मुक्तिमाप्नोति कृष्णनामानुकीर्तनात्॥

(मत्स्यपुराण)

महापातकयुक्तोऽपि कीर्तयन्ननिशं हरिम्।
शुद्धान्तःकरणो भूत्वा जायते पङ्क्तिपावनः॥

(ब्रह्माण्डपुराण)

इन चारों श्लोकोंका भाव यह है कि महापाप करनेवाला भी भगवन्नाम-कीर्तन करके महापापोंसे मुक्त हो जाता है और मुक्तितकको पा लेता है। यहाँ यह बात सदा याद रखनी चाहिये कि 'हम मनमाने पाप करें, भगवान्का नाम-कीर्तन करके उन्हें धो डालेंगे'—ऐसी भावना मनमें कभी नहीं लानी चाहिये, नहीं तो 'नामापराध' की धारा (दफा) लग जायगी। घरमें विषनाशक ओषधि रखी है, इसलिये जहर खा लेना बुद्धिमत्ता नहीं कहला सकती।

चक्राङ्कितस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्तयेत्।
नाशौचं कीर्तने तस्य स पवित्रकरो यतः॥

(विष्णुधर्म०)

'भगवान्के नामोंका सदा सर्वत्र कीर्तन करे, भगवान्के नाम-कीर्तनमें कहीं अपवित्रताका विचार नहीं है; क्योंकि भगवान् सदा पवित्र करनेवाले हैं।'

नमो नारायणायेति यस्तु कीर्तयते मुदा।
गुरुतल्पशतेनापि सद्यस्तेन प्रमुच्यते॥

(वायुपु०)

'जो '**नमो नारायणाय**' इस मन्त्रका सदा कीर्तन करता है, वह महापापसे शीघ्र छूट जाता है।'

सर्वदा सर्वकालेषु ये तु कुर्वन्ति पातकम्।
नामसंकीर्तनं कृत्वा यान्ति विष्णोः परं पदम्॥

(नन्दिपु०)

'जो सदा पाप करते हैं, वे भी नाम-कीर्तन करके विष्णुके परमपदको प्राप्त कर लेते हैं।'

कोटिपापानि सन्त्येव स्वल्पानि च बहूनि च।
न तानि भूयो बाधन्ते हरिनामानुकीर्तनात्॥

(भविष्योत्तर०)

'छोटे-बड़े करोड़ों पाप भी हरिकीर्तन करनेसे फिर कुछ हानि नहीं कर सकते।'

नाम्नां मुख्यतरं नाम कृष्णाख्यं यत्परं तप।
प्रायश्चित्तमशेषाणां पापानां मोचकं परम्॥

(स्कन्दपु० प्रभासख०)

'सब पापोंका नाशक प्रायश्चित भगवान्के नामको जानो।'

विधिवाक्यमिदं सर्वं नार्थवादः शिवात्मकम्।
लोकानुग्रहकर्ता यः स मृषार्थं कथं वदेत्॥

(शिवधर्मोत्तर०)

'भगवन्नामकी महिमाका वर्णन अर्थवाद (कोरी प्रशंसा) नहीं, यह विधि (सत्य) है; लोगोंपर अनुग्रह करनेवाले भगवान् और ऋषिगण झूठ कैसे कह सकते हैं?'

'नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्त्रिणः'

पक्षी अपनी शक्तिभर आकाशमें उड़ते हैं, परन्तु आकाशका अन्त नहीं पा सकते। वैसे ही भक्त विद्वज्जन उस चिदाकाशमें उड़ते (उसका वर्णन करते)हैं, परन्तु उस अनन्तका अन्त नहीं पाते। इस न्याय (कहावत)-के अनुसार ऊपर भगवन्नामकी कुछ महिमाका वर्णन किया गया। वेद, शास्त्र, इतिहास, पुराण, स्मृति आदि ग्रन्थोंमें

नाम-महिमाका अति विस्तृत वर्णन है; यहाँ 'स्थाली-पुलाकन्याय' (बटलोहीके एक चावलको देखकर अन्य चावलोंको पका हुआ समझ लेना) से दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। विशेष जिज्ञासु दार्शनिक शैलीसे सयुक्तिक वर्णन 'भगवन्नामकौमुदी' आदि आकर-ग्रन्थोंमें देखें।

'भद्रं नो अपि वातय मनः'

(ऋग्वेद १०। २०। १, सामवेद ४। ८। ४)

'हे भगवन्! हमारे मनको भगवद्भक्ति, विचार आदि शुभ कर्मोंकी ओर प्रेरित कीजिये।'

'त्वत्सम्बन्धिस्तोत्रकरणे प्रेरयेत्यर्थः।'

(उक्त मन्त्रका सायणभाष्य)

'भगवन्! आपकी स्तुति करनेमें मनको प्रेरित करिये।' बस, अन्तमें यही प्रभुसे प्रार्थना है—

अंहः संहरदखिलं सकृदुदयादेव जीवलोकस्य।
तरणिरिव तिमिरजलधिं जयति जगन्मङ्गलं हरेर्नाम॥

श्रीकृष्णार्पणमस्तु

मोक्षका श्रेष्ठ साधन—ब्रह्मविद्या

(लेखक—श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य दार्शनिकसार्वभौम विद्यावारिधि न्यायमार्तण्ड वेदान्तवागीश ब्रह्मनिष्ठ श्रीस्वामी महेश्वरानन्दगिरिजी महाराज मण्डलेश्वर)

जयति भुवनबीजं ज्योतिरेकं मुरारे-
र्हृदयनिहितमात्रे यत्र संसारयन्त्रम्।
गलति गलितमोहे शश्वदानन्दसान्द्रं
यदभिदधति वेदास्तत्प्रपञ्चस्य चक्षुः॥
वटविटपिसमीपे भूमिभागे निषण्णं
सकलमुनिजनानां ज्ञानदातारमारात्।
त्रिभुवनगुरुमीशं दक्षिणामूर्तिदेवं
जननमरणदुःखच्छेददक्षं नमामि॥
नमो नमस्ते गुरवे महात्मने
विमुक्तसङ्गाय सदुत्तमाय।
नित्याद्वयानन्दरसस्वरूपिणे
भूम्ने सदापारदयाम्बुधाम्ने॥

मोक्षशास्त्रोंकी गणनामें विद्वान्लोग प्रधान रूपसे उपनिषद् एवं गीताको ही आदरपूर्वक ग्रहण करते हैं। 'उपनिषद्' का व्युत्पत्तिगम्य अर्थ है ब्रह्मविद्या। 'उप' यानी समीपसे (प्रत्यगभिन्नरूपसे) ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार कराकर 'नि' यानी अच्छी प्रकारसे अज्ञानसहित द्वैत-प्रपंचका विध्वंस करनेवाली विद्या उपनिषद् है। 'षद्' धातुके गति (ज्ञान, प्राप्ति), अवसादन (विध्वंस) आदि अनेक अर्थ हैं। मुण्डकश्रुति कहती है कि ब्रह्मविद्या ही सर्वविद्याओंकी प्रतिष्ठा है—'**ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्**' (१।१।१)। अर्थात् ब्रह्मविद्याके बिना योगादि अन्यान्य विद्याएँ पूर्णतया सफल नहीं हो सकतीं। भगवती गीता भी ब्रह्मविद्या ही है। अतएव उपनिषद्रूप गौओंके दुग्धामृतरूपसे गीताका वर्णन प्रसिद्ध है —'**सर्वोपनिषदो गावः**' इत्यादि। '**पार्थाय प्रतिबोधिताम्**' इत्यादि गीताके ध्यानश्लोकमें आया हुआ '**अद्वैतामृतवर्षिणी**' विशेषण भी गीताके ब्रह्मविद्या होनेकी पुष्टि करता है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं कहते हैं—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

ब्रह्मविद्या राजविद्या है, यानी सकल विद्याओंका राजा है; वह गोपनीय मन्त्रादि समस्त साधनोंका भी राजा है अर्थात् परम गोपनीय है, पवित्र है, उत्तम है; उसका स्वरूप एवं फल प्रत्यक्ष है; वह धर्मसंयुक्त है, सनातन है; उसकी साधना सुखसे होती है, कष्टसे नहीं।

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

(श्वे० ३। ८; शुक्ल यजु०)

'परमात्माको जानकर ही मुमुक्षु मृत्युका अतिक्रमण करता है, कल्याणके लिये आत्मज्ञानके सिवा अन्य कोई भी मार्ग नहीं है।'

'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः'

(श्वे० ६। १३)

'परमात्मदेवको जानकर ही सर्वबन्धनोंसे मुक्ति मिलती है।'

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥ (गीता ४। ३६)

'ज्ञानरूपी नौकासे समस्त पापरूप समुद्रको तू तर जायगा।'—इत्यादि उपनिषद् एवं गीताके अनेक वचनोंसे ब्रह्मविद्या ही मोक्षका साक्षात् श्रेष्ठ साधन निश्चित होती है।

विद्यागम्य ब्रह्म क्या है ?

ब्रह्म है सर्वात्मा। '**बृहत्त्वात् बृंहणत्वाच्च ब्रह्म आत्मेति गीयते**'—सबसे महान् होनेसे तथा शरीरादि अनात्म पदार्थोंको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाला होनेसे ब्रह्म ही आत्मरूपसे कहा जाता है। सैकड़ों माता-पिताओंसे बढ़कर हमारा हित चाहनेवाली भगवती श्रुतिका यही आदेश है—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

(श्वे० ६। ११)

शरीरादि समस्त भूतोंमें स्वप्रकाश एक अद्वितीय ब्रह्म ही आत्मरूपसे विराजमान है। वह अविद्यासे आच्छन्न होनेके कारण 'गूढ' है, अर्थात् सब जीव उसे नहीं जानते।

शङ्का—जीवोंके साथ उसका सम्बन्ध न होनेसे या उनसे भिन्न होनेके कारण सभी जीव उसको नहीं जानते होंगे?

समाधान—'**सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।**' सर्वव्यापी होनेसे जीवोंके साथ उसका असम्बन्ध नहीं हो सकता; समस्त चराचर भूतोंका प्रत्यक् साक्षी, आन्तर आत्मस्वरूप होनेसे वह जीवोंसे भिन्न भी नहीं हो सकता। इसलिये वह मायासे आवृत होनेके कारण गूढ ही कहा जाता है। गीता भी इसी अर्थकी पुष्टि करती है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।

(७। २५)

शङ्का—'**सर्वभूतेषु गूढः**' इस कथनसे आधार-आधेयभावकी प्रतीति होती है, जिससे आकाशादि भूतोंसे ब्रह्म पृथक् सिद्ध होता है।

समाधान—'**सर्वभूताधिवासः।**' 'अधिवास' का अर्थ अधिष्ठान है। अधिष्ठानरूप साक्षी आत्मामें समस्त आकाशादि भूत कल्पित हैं। कल्पित पदार्थ अधिष्ठानसे अतिरिक्त सिद्ध नहीं होता।

वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

—इस छान्दोग्य-श्रुतिने मृत्तिकादि दृष्टान्तद्वारा एकमात्र मूलतत्त्वको ही सत्य माना है। घटादि कार्यका आधार मृत्तिका है, उससे घटादि पृथक् सिद्ध नहीं हो सकते। इस प्रकार अधिष्ठान ब्रह्म ही सत्य, सनातन है। वह केवल एवं निर्गुण है, अर्थात् गुणातीत एवं दृश्य प्रपंचसे अतीत निर्विशेष चिन्मात्र है।

इसलिये मुमुक्षुका यही कर्तव्य है—

यद्यत्पश्यति चक्षुर्भ्यां तत्तदात्मेति भावयेत्।
यद्यच्छृणोति कर्णाभ्यां तत्तदात्मेति भावयेत्॥
दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद् ब्रह्ममयं जगत्।

'जो-जो कुछ नेत्रोंसे देखा जाता है, वह-वह सब आत्मा ही है—ऐसी भावना करे; जो-जो कुछ कर्णसे सुना जाता है, वह-वह सब आत्मा ही है—ऐसी भावना करे। इस प्रकार दृष्टिको अद्वैतात्मज्ञानमयी बनाकर समस्त विश्वको ब्रह्ममय ही देखना चाहिये।'

ब्रह्मविद्या क्या है ?

संशय एवं विपरीतभावनासे रहित '**अहं ब्रह्मास्मि**'—मैं परिपूर्ण ब्रह्म ही हूँ, ऐसी अखण्ड ब्रह्माकारवृत्तिका नाम ब्रह्मविद्या है। यही विद्या अविद्याका नाश कर मुमुक्षुको मुक्त कर देती है। श्रवण, मनन एवं निदिध्यासनकी परिपक्व अवस्था होनेपर ही अखण्ड ब्रह्माकारवृत्तिका लाभ होता है। पहले जो श्रवण-मननादि होते हैं, वे औत्सुक्यमात्रसे प्रेरित अतएव अनुभवशून्य एवं नकली होते हैं; पश्चात् विशेष लगनसे किये जानेपर असली होते हैं। कोई भी कार्य पहले असली नहीं होता। प्रथम नकली डाक्टर होता है, पीछे अभ्यास अधिक हो जानेपर असली होता है। इसी प्रकार प्रथम नकली भक्त होता है, पश्चात् असली; प्रथम नकली ज्ञानी होता है, पीछे असली। इसलिये प्रथम अनुभव न होनेपर भी गुरु एवं शास्त्रवचनमें दृढ़तम श्रद्धा रखकर '**अहं ब्रह्मास्मि**', '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**', '**वासुदेवः सर्वमिति**' का अभ्यास सदा करना चाहिये; इससे शनैः-शनैः द्वैत-भ्रान्तिका नाश होता है, और अद्वैत ब्रह्मात्मतत्त्वका प्रकाश होता है। पंचदशीमें कहा है—

अनुभूतेरभावेऽपि ब्रह्मास्मीति विभावयेत्।
अप्यसत्प्राप्यते ध्यानान्नित्याप्तं ब्रह्म किं पुनः॥

'अनुभव न होनेपर भी मैं ब्रह्म ही हूँ, ऐसी भावना करे। ध्यानसे असत् (अविद्यमान) वस्तु भी प्राप्त हो जाती है, तब सदाप्राप्त स्वस्वरूप ब्रह्म ध्यानसे क्यों न प्राप्त होगा?'

प्रश्न—'**अहं ब्रह्मास्मि**' यह अहङ्कार है, अभिमान है; अहङ्कारादि बन्धनके हेतु होते हैं, मुक्तिके नहीं।

उत्तर—'**अहं ब्रह्मास्मि**' यह भावना शुद्ध अहङ्कार है, वह बन्धनका कारण नहीं हो सकता। यह 'मैं देह हूँ' इत्यादि मलिन अहङ्कारका नाशक है। वही अहङ्कार

अथवा अभिमान बन्धनका कारण होता है, जो अपनेको उत्कृष्ट-सर्वोत्तम एवं अन्यको निकृष्ट-अधम मनाता हो। जो सबको ब्रह्मरूप मनानेवाला है, अनेकको एकमें विलय करनेवाला है, जो ब्रह्मभिन्न वस्तुकी स्वतन्त्र सत्ताका खण्डन करनेवाला है, वह अहंकार वस्तुतः लोक-प्रसिद्ध अहंकार नहीं माना जा सकता। इसलिये मुमुक्षुओंकी एवं तत्त्वदर्शियोंकी **'अहं ब्रह्मास्मि'** यह वैदिक भावना पवित्र है, शुद्ध है, आनन्दमयी है, शान्त है, एवं संसार-सागरसे पार लगानेवाली साक्षात् ब्रह्मविद्या है; इसीलिये तेजोबिन्दूपनिषद्‌में **'अहं ब्रह्मास्मि'** इस भावनाका मुक्तकण्ठसे बड़ा महत्त्व गाया गया है। इसलिये मुमुक्षु यही निश्चय करे—

तीन अवस्था तीन गुण, तीन देह बिस्तार।
उनका द्रष्टा एक मैं, तीनोंहीसे पार॥

छान्दोग्यमें ब्रह्मविद्याको भूमविद्याके नामसे भी कहा गया है। 'ब्रह्म' और 'भूम' का परिपूर्ण, व्यापक अथवा महान् रूप एक ही अर्थ है। भूमविद्याका प्रकरण सनत्कुमार एवं नारदके संवादरूपमें वर्णित होनेके कारण विशेषरूपसे मननीय एवं सुरुचिकर है। इसलिये उसका संक्षिप्त विवेचन यहाँ किया जाता है।

भूमविद्या

अविद्यातत्कार्यात्मकनिबिडबन्धव्यपगमे
यमद्वैतं सत्यं प्रततपरमानन्दममृतम्।
भजन्ते भूमानं भवभयभिदं भव्यमतयो
नमस्तस्मै नित्यं निखिलनिगमेशाय हरये॥

किसी समय देवर्षि नारद समित्पाणि होकर भगवान् सनत्कुमारके समीप गये तथा प्रणामादिके अनन्तर उनसे प्रार्थना की—'भगवन्! मुझे ब्रह्मविद्या यानी आत्मज्ञानका उपदेश दीजिये।' सनत्कुमार बोले—'नारद! प्रथम आप यह बतलाइये कि आप क्या जानते हैं, आप किस-किस विद्यामें प्रवीण हैं।'

नारद—'**ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेद सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यराशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि।**'

'हे भगवन्! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, पञ्चमवेद इतिहास-पुराण, वेदोंका वेद (बोध करानेवाला) व्याकरणशास्त्र, श्राद्धकल्प, गणितशास्त्र, उत्पातादिबोधक शास्त्र, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, शिक्षा, कल्प, छन्द आदि, धनुर्विद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रशिल्पादिविद्या, ज्यौतिषशास्त्र, सर्पदेवजनविद्या, नृत्य-गीत-वाद्यशिल्पादि विद्या इत्यादि विविध विद्याओंको मैं अच्छी प्रकारसे जानता हूँ।'

'परन्तु भगवन्! मैं केवल वेदादि शास्त्रोंके शब्दार्थको जानता हूँ। आत्माका वास्तविक साक्षात्कार मुझे नहीं है; अतएव मैं शोकसे ग्रस्त हूँ। आप-जैसे ब्रह्मनिष्ठ महात्माओंसे मैंने सुना था **'तरति शोकमात्मवित्'**— आत्मवेत्ता शोकसे रहित होता है; वह निर्मोह, निर्भय एवं परमानन्दमग्न होता है। मैं शोक करता हूँ, इसलिये मैं आत्मवेत्ता नहीं हूँ। आपसे प्रार्थना करता हूँ—भगवन्! कृपानिधान! मुझे ब्रह्मविद्याका उपदेश दीजिये। आप-जैसे श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके उपदेशके बिना ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति नहीं हो सकती। आप ब्रह्मविद्याके आचार्य ब्रह्मनिष्ठ विरक्त महात्मा हैं, और मेरे ज्येष्ठ भ्राता भी हैं। ब्रह्मविद्या-जैसी अमूल्य एवं पवित्र वस्तु अपने प्रिय योग्य अधिकारी शिष्यको ही दी जाती है। अतः जिस प्रकार कृष्णभगवान्‌ने अपने प्रिय सखा भक्त अर्जुनके प्रति, कपिल भगवान्‌ने अपनी पूज्या माता देवहूतिके प्रति एवं याज्ञवल्क्य महर्षिने अपनी प्यारी धर्मपत्नी मैत्रेयीके प्रति ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया था, उसी प्रकार मुझे भी ब्रह्मविद्याका उपदेश देकर कृतार्थ करें।'

इस प्रकार नारदजीकी हार्दिक निष्कपट तीव्र ब्रह्म-जिज्ञासा देखकर सनत्कुमार अपने मनमें इस प्रकार विचार करने लगे—'यद्यपि नारद सकल शास्त्रोंके ज्ञाता हैं, तथापि शास्त्रोंके विविध विषयोंमें आपाततः परस्पर विरोध होनेके कारण संशययुक्त हैं। इन्हें परमात्मतत्त्वका यथार्थ निश्चय नहीं है, ये विपरीतभावनाग्रस्त भी हैं; इनके विक्षेपादि दोषोंकी पूर्णतया निवृत्ति नहीं हुई है। जबतक संशयादिकी निवृत्ति न हो जाय, तबतक इनको आत्मसाक्षात्कार न होगा। नारद श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मेरे समीप आये हैं, इसलिये मेरा कर्तव्य है कि इनको आत्मज्ञानका उपदेश देकर सदाके लिये शोक-मोह-सागरसे पार कर दूँ और ऐसा तभी होगा, जब स्थूल नामोपासनासे प्रारम्भ कर सूक्ष्म आभ्यन्तर प्राणोपासनाके द्वारा इनके हृदयको विक्षेपादिरहित, शुद्ध एवं एकाग्र बनाकर, पश्चात् भूमविद्याका उपदेश देकर, मनन-निदिध्यासनद्वारा इनको संशय एवं विपरीतभावनासे मुक्त कर दूँ—जिससे इनको सर्वाधिष्ठान, परमसूक्ष्म, सर्वात्मा, सद्रूप-चिद्रूप आनन्दनिधि, प्रत्यगभिन्न भूमाख्य ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार हो जाय।' ऐसा विचार

कर सनत्कुमारने सोपान-न्यायसे भूमविद्याका अन्तिम उपदेश देनेके लिये नारदके उत्कृष्ट ब्रह्मविषयक प्रश्नोंके अनुसार क्रमशः नामादिकोंकी ब्रह्मदृष्टिसे उपासना बतायी और अन्तमें प्राणब्रह्मकी उपासनाका उपदेश किया। नामादिसे प्राणब्रह्म ही श्रेष्ठ है। पश्चात् नारदजी प्राणको ही शुद्ध ब्रह्म समझकर प्रश्न करनेसे उपराम हो गये। सनत्कुमारने मनमें विचार किया—नारद प्राणको ही शुद्ध ब्रह्म समझकर चुप हो गये हैं, इसलिये प्रश्न किये बिना भी इन्हें परमतत्त्व सत्य भूमाका उपदेश देना चाहिये। ऐसा विचारकर सनत्कुमार बोले—हे नारद! तू अतिवादी बन।

नारद—भगवन्! मैं अतिवादी बनना चाहता हूँ, आप मुझे अतिवादी बनावें।

सनत्कुमार—सत्यभाषणादि साधनोंसे सम्पन्न हुआ मनुष्य सत्य—परमार्थ वस्तुके विज्ञानसे अतिवादी होता है।

नारद—सत्य वस्तुका विज्ञान कैसे प्राप्त हो?

सनत्कुमार—मननसे विज्ञान प्राप्त होता है। ब्रह्मनिष्ठ आचार्यसे श्रवण किये हुए शास्त्रीय तत्त्वका तर्क एवं युक्तियोंके द्वारा एकाग्रतापूर्वक विचार करनेका नाम मनन है।

नारद—भगवन्! मनन कैसे सिद्ध हो?

सनत्कुमार—श्रद्धासे मननकी सिद्धि होती है। शास्त्र एवं आचार्य-वचनोंमें यथार्थ बुद्धिका नाम श्रद्धा है।

नारद—श्रद्धा-प्राप्तिका क्या साधन है?

सनत्कुमार—श्रद्धाका साधन निष्ठा है। ब्रह्मचर्य, गुरुसेवा आदिके पालनका नाम निष्ठा है।

नारद—निष्ठा कैसे प्राप्त हो?

सनत्कुमार—कृतिसे निष्ठा प्राप्त होती है। यहाँ शम-दमादिका नाम कृति है।

नारद—भगवन्! कृतिका क्या साधन है?

सनत्कुमार—कृतिका साधन अखण्ड सुखप्राप्तिकी तीव्र इच्छा है। अतएव तीव्र इच्छा उत्पन्न करनेके लिये सुखका वास्तविक स्वरूप जानना चाहिये।

नारद—हे भगवन्! सुखका स्वरूप बतलाइये।

सनत्कुमार—हे नारद! जो भूमा-व्यापक चेतन तत्त्व है, वही सुखरूप है। यानी निरतिशय, नित्य, दुःख-सम्पर्कशून्य सुखरूपता परिपूर्णमें ही होती है। अल्पमें सुख नहीं है। भूमा ही सुख है। अल्प वस्तु अधिक तृष्णाका हेतु होती है। दुःखका कारण तृष्णा ही है। लोकमें दुःखके कारण ज्वरादि सुखकारक नहीं देखे गये हैं। इसलिये अल्पमें सुख नहीं है। अतः हे नारद! तुम अल्प वस्तुके स्नेहका परित्याग कर भूमा—व्यापक वस्तुमें निष्ठा सम्पादन करनेके लिये पुरुषार्थ करो।

नारद—हे भगवन्! भूमाका स्वरूप स्पष्ट बतलानेकी कृपा कीजिये।

सनत्कुमार—हे नारद! उस एक अद्वैत निर्विशेष भूम-तत्त्वमें ब्रह्मवेत्ता न अन्य वस्तुको देखता है, न अन्य वस्तुको सुनता है, न अन्य वस्तुको जानता है। वह भूमा व्यापक तत्त्व है। उसमें द्वैत-प्रपंचका अत्यन्ताभाव है। और जहाँ मनुष्य अन्य वस्तुको देखता है, अन्य वस्तुको सुनता है, अन्य वस्तुको जानता है, वह अल्प है, भूमा नहीं है। जो भूमा है, वह अमृत है। जो अल्प है, वह मर्त्य है।

नारद—हे भगवन्! वह भूमा किसमें प्रतिष्ठित है? यानी उसका आधार कौन है?

सनत्कुमार—वह अपनी निज महिमामें ही प्रतिष्ठित है अथवा वास्तवमें वह किसीमें भी प्रतिष्ठित नहीं है, वह अप्रतिष्ठित एवं अनाश्रित है। न तो वह ज्ञानरूप क्रियाका कर्ता है न विषय है। हे नारद! गौ, घोड़ा, हाथी, सुवर्ण, दास, स्त्री, ग्राम, राज्य आदि जो लोकमें महिमारूपसे प्रसिद्ध हैं, वे अन्यके आश्रित हैं। ऐसी महिमा मैं भूमाकी नहीं कहता। उसकी महिमा उससे अलग नहीं है; क्योंकि परमार्थतः भूमा पूर्ण है, अतएव वह किसी भी अधिकरणमें रह नहीं सकता। जो अन्यके आश्रित रहता है, वह अल्प, परिच्छिन्न, विकारी एवं नाशवान् होता है। भूमा ऐसा नहीं है। वह स्वयं अनाधार होता हुआ भी सर्वका अधिष्ठान है; उसमें समस्त द्वैतप्रपञ्च अविद्यासे भास रहा है, तथापि वह ज्यों-का-त्यों—निर्विकार अखण्ड एकरस ही बना रहता है। क्योंकि वह द्वैतप्रपंच वाचारम्भणमात्र, अल्प, विनाशी एवं कल्पनामात्र है; कल्पित वस्तुकी प्रतीतिसे अधिष्ठान-तत्त्व विकारी नहीं होता। हे नारद! वह भूमा सर्वत्र मौजूद है, हाजिराहजूर है, समीपसे भी समीप है, अपना आप है।

वही भूमा नीचे स्थित है, वही ऊपर स्थित है, वही पश्चिममें स्थित है, वही पूर्वमें स्थित है, वही दक्षिणमें स्थित है, वही उत्तरमें स्थित है। वही इस सकल दृश्यरूपमें वर्तमान है, उससे भिन्न कुछ भी वस्तु नहीं है।

इस प्रकार उपदेश कर सनत्कुमार अपने मनमें विचारने लगे कि इस मेरे परोक्ष उपदेशको सुनकर सम्भव है नारदजीके मनमें शंका हो जाय कि वह भूमा मेरे स्वरूपसे या अन्य जीवात्माओंसे भिन्न होकर सर्वरूपसे सब ओर स्थित होगा। ऐसी शंकाके निवारणार्थ सनत्कुमार द्रष्टा जीवात्माका परब्रह्मसे अनन्यत्व दिखलानेके लिये अहंरूपसे उसी भूमाका उपदेश करते हैं।

सनत्कुमार—हे नारद! मैं ही नीचे हूँ, मैं ही ऊपर हूँ, मैं ही उत्तरमें हूँ, मैं ही दक्षिणमें हूँ। मैं ही पूर्वमें हूँ, मैं ही पश्चिममें हूँ, मैं ही मध्यमें, दाहिने-बायें—सब तरफ मौजूद हूँ; जो कुछ है, वह सब मैं ही हूँ; मुझसे अन्य कुछ भी नहीं है। मैं ही भूमा-व्यापक ब्रह्म हूँ। यानी सर्वशरीरोंका साक्षी—द्रष्टा जो जीवात्मा है, वह भी भूमा ही है, वही सब जगत् है, वही मैं हूँ—इस प्रकार तुम अपने-आपका पूर्णरूपसे अनुभव करो।

सनत्कुमार पुनः इस विषयको स्पष्ट करनेके लिये नारदजीसे कहते हैं—'हे नारद! आत्मानुभवशून्य बहिर्मुख—मूढ-बुद्धिवाले अविवेकी लोग अहंकारका विषय देहादि अनात्मा है, ऐसा मानते हैं; विशुद्ध आत्माको वे नहीं जानते। यदि आपको भी अहंकारादेशसे देहादि अनात्माकी शंका हुई हो, तो उसके निवारणार्थ केवल नित्य शुद्ध बुद्ध आत्मस्वरूपसे पुनः उसका उपदेश सुनो—

'अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदꣳ सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषाꣳ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति।'

हे नारद! जो सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद-शून्य, एक—अद्वितीय, परमशुद्ध, निर्विशेष, सद्रूप-चिद्रूप आनन्दनिधि आत्मा है, वही तुम हो, वही आत्मा नीचे-ऊपर, पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, दाहिने-बायें—सर्वत्र आकाशवत्परिपूर्ण स्थित है; उससे पृथक् कुछ भी नहीं है। वही सर्वाभिन्न सर्वमय सर्वात्मतत्त्व है। इस प्रकार जो अपने आत्माको देखता है, आत्माका श्रवण-मनन करता है एवं तत्पर होकर अनुभव करता है, वह आत्माराम होकर आत्मामें ही निरन्तर रमण करता है, आत्माके साथ क्रीडा करता है, आत्मासे ही संयुक्त रहकर, आत्मानन्दको पाकर सम्राटोंका भी सम्राट् हो जाता है; सर्वलोकोंमें उसका स्वेच्छानुसार गमन होता है। और जो लोग आत्मज्ञानरहित हैं, वे सदा पराधीन होकर अनेक कष्टोंको उठाते हुए नाशवान् लोकोंको प्राप्त होते हैं; उनका अनेक दुःखोंसे परिपूर्ण योनियोंमें बारंबार आवागमन होता रहता है।

हे नारद! जो आत्मवेत्ता विद्वान् अपने स्वरूपभूत पूर्वोक्त आत्माका अनुभव करता है, निश्चय करता है, उसीमें रमण एवं क्रीडा करता है वह सदाके लिये अखण्ड, एकरस आत्मानन्दको पाकर कृतकृत्य एवं पूर्ण तृप्त हो जाता है और उसी आत्मामें लीन हो जाता है। अतएव वही आत्मा सर्वाधिष्ठान एवं सबका मूलकारण भूम-तत्त्व है; वही तुम हो, मैं हूँ, और यह सब कुछ है; उससे पृथक् कुछ नहीं।

हे नारद! जो विद्वान् इस प्रकार अपने आत्मामें पूर्ण निष्ठासम्पन्न होता है उसे मृत्युभय, रोग एवं आध्यात्मिकादि त्रिविध दुःख कदापि नहीं होते। अन्तमें वह ब्रह्मदर्शी ब्रह्मको ही प्राप्त होता है।

हे नारद! वह सत्-चैतन्य आत्मा सृष्टिसे प्रथम एक—अद्वितीय था और अन्तमें भी एक-अद्वितीय ही रहेगा। मध्यमें भी वह एक-अद्वितीय ही है। परन्तु मायाशक्तिसे वह तीन रूपसे, पाँच रूपसे, सात रूपसे, नौ रूपसे, ग्यारह रूपसे, सौ रूपसे, सहस्र रूपसे—विशेष क्या कहें, असंख्य रूपसे प्रतीत होता है।

अब सनत्कुमार आत्मज्ञान रक्षाका आहार-शुद्ध्यादि साधन बतलाते हुए भूमविद्याका उपसंहार करते हैं—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः।

'जब आहार शुद्ध होता है, तब सत्त्व यानी अन्तःकरण शुद्ध होता है; सत्त्वके शुद्ध होनेपर ध्रुवा स्मृति यानी पूर्ण तत्त्वका निरन्तर-स्थायी स्मरण रहता है। उससे सभी चिज्जडग्रन्थियोंका विनाश हो जाता है। इस प्रकार निष्पाप नारदजीको भगवान् सनत्कुमारने अज्ञानका पार दिखलाया अर्थात् परब्रह्म-तत्त्वका अपरोक्ष साक्षात्कार कराया।'

यहाँ आहारके दो अर्थ हैं—एक श्रोत्रादि इन्द्रियोंके शब्दादि विषय और दूसरा भोजन। दोनोंकी शुद्धि

आवश्यक है। इन्द्रियद्वारोंसे उन्हीं शब्दादि विषयोंको ग्रहण करना चाहिये, जिनके ज्ञानसे अन्त:करण विकारी न हो। यानी राग-द्वेषयुक्त शब्दादि विषयोंका ग्रहण न किया जाय। इन्द्रियद्वारोंसे मनमें एकत्रित होनेवाले विचार निर्मल होने चाहिये, यही आहार शुद्धि है। केवल पवित्र भोजनके द्वारा अन्त:करण शुद्ध नहीं होता। केवल सात्त्विक भोजनसे ही अन्तकरण शुद्ध होता हो तो वही सात्त्विक भोजन—दूध, भात आदि जिंदगीभर बंदरको खिलानेपर वह चंचलता छोड़कर शान्त क्यों नहीं हो जाता? गाय, हरिण आदि भी योगी क्यों नहीं बन जाते? इसलिये यहाँ आहारका अर्थ केवल भोजन ही नहीं समझना चाहिये, किन्तु भोजनके साथ शब्दादि विषय भी आहारका अर्थ मानना योग्य है। विषय शुद्धि ही आहार-शुद्धिका मुख्य अर्थ है। तो भी यह सत्य है कि शुद्ध, पापसम्पर्क-शून्य, पवित्र भोजन करनेसे हृदयकी निर्मलतामें विशेष सहायता मिलती है।

जो भोजन धर्म एवं न्यायसे उपार्जित धनके द्वारा खरीदे हुए अन्नसे शुद्ध स्थानमें पवित्रताके साथ पकाया गया हो एवं जो बलिवैश्वदेव, भूतयज्ञ तथा अतिथि-सत्कार आदि करनेके अनन्तर बच रहा हो, वही शुद्ध कहलाता है। खाद्य पदार्थ भी जाति, आश्रय एवं निमित्त—इन तीन दोषोंसे दूषित होते हैं। जाति-दोष कहते हैं प्रकृतिगत दोषको—जैसे प्याज, लहसुन आदि स्वभावसे ही अशुद्ध हैं। दुराचारी मनुष्यके सम्पर्कसे भी भोजन दूषित हो जाता है। यह आश्रय-दोष है। बाल, कीड़ा, मक्खी आदि गंदे पदार्थोंके सम्बन्धसे भी भोजन दूषित कहा जाता है। यह निमित्तदोष है। यथाशक्य ये तीनों दोष भोजनमें नहीं होने चाहिये। यह भी आहारशुद्धि है। इस प्रकार महर्षि सनत्कुमारने नारदजीको भूमविद्यारूपी नौकामें बिठाकर, आप स्वयं नाविक बनकर अविद्याप्रसूत अथाह शोक-मोह-सागरसे पार कर दिया।

गीता एवं उपनिषद्-प्रतिपादित ब्रह्मविद्यालभ्य मोक्षका वास्तविक स्वरूप क्या हो सकता है?

मोक्षका वास्तविक स्वरूप है पूर्णता—'**पूर्णमेवावशिष्यते**' (श्रुति)। अवशिष्ट (द्वैत-प्रपंच-बाधकी अवधिरूपसे बचा हुआ) मोक्षका स्वरूप पूर्ण ही है। अतएव पूर्णानन्दकी, पूर्ण निर्भयताकी, पूर्ण स्वतन्त्रताकी एवं पूर्ण ज्ञानकी पूर्णता चाहनेवाला महत्त्वाकांक्षी मुमुक्षु पूर्णानन्दादिसे पूर्ण हुए बिना अपनेको पूर्णमुक्त नहीं मान सकता। इसलिये उपनिषद् एवं गीतामें पूर्ण ब्रह्मभावकी प्राप्तिको ही मोक्षका वास्तविक स्वरूप कहा है। अत: अपने 'कल्याण' के सहृदय निष्पक्ष पाठकोंके स्पष्ट बोधके लिये स्थाली-पुलाकन्यायसे उपनिषद् एवं गीताके मोक्षस्वरूपप्रतिपादक कुछ वचन उद्धृत करते हैं—

स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयꣳ हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद।

(बृ० उ० ४। ४। २५)

'वह महान्—पूर्ण आत्मा जन्म-जरा-मृत्युसे रहित, अमृत, अभय है; वह अभय ब्रह्मरूप है। जो इस प्रकार जानता है, वह अभय ब्रह्मरूप ही हो जाता है।'

अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति। तदेष श्लोको भवति—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति॥

(बृ० उ० ४। ४। ६-७)

मुक्तिप्राप्तिकी योग्यता किसमें है? मुक्तका क्या लक्षण है? भगवती श्रुति कहती है—जो किसी भी वस्तुकी कामना नहीं करता, वही अकाम अर्थात् कामनामुक्त है। कामनासे मुक्त कौन हो सकता है—जिसकी दृष्टिमें प्रत्यगभिन्न पूर्ण ब्रह्मस्वरूपसे भिन्न द्वितीय वस्तुकी सत्ताका नितान्त अभाव निश्चित हो गया है। जबतक द्वितीय वस्तुकी सत्ताका लेशमात्र भी भान है, तबतक वह कामनामुक्त नहीं हो सकता। अतएव वह पूर्ण वस्तुके अनुभवसे आप्तकाम (पूर्णकाम) एवं आत्मकाम हो जाता है। आत्मासे अतिरिक्त द्वितीय कामयितव्य वस्तुका अभाव होनेसे ही वह आत्मकाम कहलाता है। अतएव उस जीवन्मुक्त विद्वान्के प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता, वह ब्रह्म हुआ ही अज्ञाननिवृत्तिद्वारा ब्रह्ममें ही लीन हो जाता है। ब्राह्मणोक्त इस अर्थमें मन्त्रश्लोक भी प्रमाण है—जब हृदयस्थित सभी कामनाएँ अद्वैतब्रह्मात्म-तत्त्वके अपरोक्षज्ञानप्रभावसे छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, तब वह मर्त्य अमृत हो जाता है, जीवितावस्थामें ही ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त हो जाता है।

सलिल एको द्रष्टाद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्दः।

(बृ० उ० ४। ३। ३२)

'जो सलिल (जल)-के समान अत्यन्त स्वच्छ, शुद्ध, माया-मलरहित है, एक, अद्वैत, अविपरिलुप्त स्वात्मज्योतिरूप दृष्टिका द्रष्टा है, यही ब्रह्म विद्वान् होता है, यही ब्रह्मरूप स्वप्रकाश लोक है; हे सम्राट् जनक! यही इसकी परमगति है, यही इसकी परम सम्पत्ति है, यही इसका परम लोक है, यही इसका परम आनन्द है। इस प्रकार याज्ञवल्क्य महर्षिने राजा जनकके प्रति मोक्षस्वरूपका उपदेश किया।'

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति।

(तै० उ० २।७)

'अद्वैत्त ब्रह्मात्मतत्त्वके अपरोक्ष साक्षात्कारसे जब मुमुक्षु द्वैतप्रपंचशून्य, स्थूलादि शरीररहित बुद्ध्यादिके अविषय सबके लयस्थान मायासे अतीत परब्रह्म परमात्मामें अभेदरूप भयरहित स्थिति प्राप्त करता है, तब वह स्वयं अभय ब्रह्मपद पा लेता है। जिस समय जो कोई अज्ञानप्रयुक्त दुराग्रहके अधीन होकर उस अद्वैत परिपूर्ण ब्रह्मात्मामें थोड़ी भी उपास्य-उपासकादि भावप्रयुक्त भेदबुद्धि करता है (उत्=अपि, अरं=अल्पं, अन्तरं=भेदः) तब वह भयको प्राप्त होता है, अर्थात् वह संसारके जन्मादि भयसे मुक्त नहीं हो सकता।'

इस प्रकार उपनिषदोंके कुछ मन्त्रोंकी आलोचनासे मोक्षका जो स्वरूप अवगत होता है, वही स्वरूप गीताके कुछ श्लोकोंकी आलोचनाद्वारा निश्चय कीजिये। देखिये भगवान् श्रीकृष्ण मोक्षका क्या स्वरूप एवं मोक्षपदका क्या नाम बतलाते हैं—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

(गीता २।७२)

मोक्षका स्वरूप है ब्राह्मी स्थिति। '**एषा**' पद 'वह स्थिति अत्यन्त समीप—अपरोक्ष है' यह सूचित करता है (**समीपतरवर्तिनि एतदो रूपम्**)। मोक्षपदका नाम है—ब्रह्मनिर्वाण। तत्त्वदर्शी महात्मा ज्ञाननिष्ठाद्वारा ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करता है, अर्थात् ब्रह्मातिरिक्त द्वितीय वस्तुका अत्यन्ताभाव होनेके कारण उस महात्माकी केवल ब्रह्मरूपसे सर्वत्र सदा पूर्ण स्थिति होती है। हे पार्थ! इस स्थितिको प्राप्तकर वह पुनः मोहयुक्त नहीं होता। अन्तसमयमें भी जो कोई उस स्थितिमें स्थित होता है, वह ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करता है; फिर जो ब्रह्मचर्याश्रमसे ही संन्यास ग्रहणकर समग्र जीवनको ब्राह्मी स्थितिमय बना देता है, उसकी ब्रह्मनिर्वाणप्राप्तिमें तो कहना ही क्या है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

(गीता ५।२४)

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः ...... (गीता ५।२५)
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥

(गीता ५।२६)

'जिसे अन्तरात्मामें ही सुख, प्रसन्नता एवं प्रकाश प्राप्त है, वही योगी है। वह ब्रह्मरूप हुआ ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करता है। वे ऋषि ही ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त करते हैं, जिन्होंने स्वस्वरूप आत्माको यथार्थरूपसे जान लिया है; उनके लिये सब ओरसे ब्रह्मनिर्वाण ही वर्तमान है।'

ब्रह्मनिर्वाणका अर्थ है—ब्रह्ममें लय होना। 'निर्वाण' पद मोक्षमें शरीरेन्द्रियादिके अत्यन्ताभावका सूचक है। '**वाति गच्छति चलतीति वानम्**' इस व्युत्पत्तिसे 'वान' का अर्थ चलनेकी शक्तिवाला शरीर, इन्द्रिय आदिका पिण्ड होता है। अतएव ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्षमें किसी भी प्रकारके दिव्यादिव्य शरीरादिका सम्बन्ध हो नहीं सकता। उपनिषद् एवं गीतोक्त मोक्षका पूर्ण स्वरूप अद्वैतसिद्धान्त माननेपर ही समन्वित होता है। इसलिये सालोक्यादि मुख्य मोक्ष नहीं है; ब्रह्मविद्यालभ्य ब्रह्मनिर्वाणरूप कैवल्यपदको ही मुख्य मोक्ष मानना चाहिये, जिसका विशद स्वरूप नदी-समुद्रके दृष्टान्तद्वारा उपनिषदोंमें वर्णित है। कठश्रुतिने भी जलके दृष्टान्तसे उसका निर्देश किया है—

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥

यमराज नचिकेतासे कहते हैं—'हे गौतम! जैसे शुद्ध जलमें मिला हुआ शुद्ध जल तद्रूप हो जाता है, वैसे ही आत्मज्ञानी मुनिका शुद्ध आत्मा परमात्मामें मिलकर तद्रूप हो जाता है।'

इस प्रकार मुक्त पुरुष पूर्ण ब्रह्ममें अभेदरूपसे लीन हो जाता है, मुक्तावस्थामें किसी भी प्रकारके भेदकी गन्ध नहीं रह सकती—यही सब शास्त्रोंका तात्पर्य है।

अनादिसुखरूपता निखिलदृश्यनिर्मुक्तता
निरन्तरमनन्तता स्फुरणरूपता च स्वतः।
त्रिकालपरमार्थता त्रिविधभेदशून्यात्मता
मम श्रुतिशतार्पिता तदहमस्मि पूर्णो हरिः॥

पूज्यपाद स्वामी श्रीगंगेश्वरानन्दजी महाराज महामण्डलेश्वरके उपदेश

(प्रेषक—भक्त रामशरणदासजी)

१. जिसको देखो, उसीको मन-ही-मन प्रणाम करो और समझो कि सबमें मेरा प्रभु ही विराजमान है।

२. श्रीभगवन्नामका निरन्तर जप करो और प्रभुकी मूर्तिका ध्यान करो।

३. गृहस्थलोग प्राय: कहा करते हैं कि हम भजन कैसे करें, हमें तो घरके झंझटोंसे ही अवकाश नहीं मिलता। देखो, भाई, जिस प्रकार नटी सिरपर पानीका घड़ा रखकर नाचती है तो अपने विभिन्न अंगोंसे हाव-भाव व्यक्त करते हुए अनेकों प्रकारकी चेष्टा करनेपर भी उसका मन घड़ेपर ही रहता है, उसी प्रकार तुम शरीरसे सब प्रकारके काम करते हुए भी अपना मन श्रीबाँकेबिहारीजीके चरणोंमें ही रखो, चित्त उनसे अलग न हो।

४. भगवान्‌का स्मरण करते हुए सारे संसारको भूल जाना चाहिये और प्रभुके प्रेममें गद्गद हो जाना चाहिये।

५. लोग कहते हैं, भजनमें मन नहीं लगता; भाई! देखो, जरा-सा कीड़ा भी पत्थर-जैसी कठोर वस्तुमें घर बना लेता है, तो क्या हम प्यारे श्रीकृष्णके चरणोंमें घर नहीं बना सकेंगे?

६. हमें ऐसी स्थिति प्राप्त करनी चाहिये, जिसमें अनेकों कष्ट पानेपर भी मन स्थिर रहे। हमारे सामने जितने कष्ट आवें, उन्हें तप समझना चाहिये। ऐसा मानना चाहिये कि श्रीभगवान् हमसे तप करवा रहे हैं। बिना तपके मनुष्यकी निष्ठा परिपक्व नहीं होती। महाराणा प्रतापने इतने कष्ट सहे, तभी तो वे हिंदूसूर्य कहलाये। जो घरमें पड़े रहते हैं, धर्मके लिये तनिक भी कष्ट नहीं उठाते, उन्हें कौन सूर्य कहेगा?

७. राम, कृष्ण, शंकर, दुर्गा, सूर्य—किसीकी उपासना करो—सबका लक्ष्य एक ही है और सभीमें मनकी एकाग्रता होती है।

८. यदि प्रयत्न करनेपर भी मन चंचल रहता है, तो घबराओ मत; दृढ निश्चय करो कि कुछ भी हो, मनको रोकेंगे ही। यदि लगे रहोगे, तो एक दिन मन रुक ही जायगा। विश्वामित्रजी तपस्या करते-करते उससे गिर गये। परन्तु वे हताश नहीं हुए, उन्होंने फिर उद्योग किया और अन्तमें अपना लक्ष्य प्राप्त कर ही लिया।

९. श्रीकृष्ण-कृष्ण रटते रहो—बस, यही सार है।

१०. भगवान् श्रीबाँकेबिहारीजी बड़े दयालु है; वे न जाने भक्तोंका क्या-क्या काम करते हैं। त्रिलोचन भक्तके घरमें रहे और नामदेवकी छान छवायी। ऐसे कृपालु प्रभुको छोड़कर और किसका आश्रय लिया जाय?

११. अपनी भावनाको सर्वदा उन्नत बनाना चाहिये, कभी नीचेकी ओर नहीं देखना चाहिये।

१२. मकड़ी जालेके आश्रयसे ही नीचे उतरती है और फिर उसीको पकड़कर ऊपर चढ़ती है। उसी प्रकार तुम लौकिक नाम-रूपकी आसक्तिसे नीचे गिरे हो, अत: भगवदीय नाम-रूपके आश्रयसे ही ऊपर चढ़ो। निरन्तर भगवान्‌का नाम लो और उनके रूपका चिन्तन करो।

१३. एक बार स्वामी श्रीरामतीर्थजीसे किसी अंग्रेज महिलाने कहा था कि महाराज, यदि आप कहें तो मैं आपके लिये एक बँगला बनवा दूँ। तब स्वामीजीने कहा, 'तुम रामको एक छोटेसे बँगलेमें लाना चाहती हो, उसका तो यह सारा संसार ही बँगला है।'

१४. देखो, निराकार प्रभु भक्तोंके लिये साकाररूपमें आया करते हैं। यह विश्व भी प्रभुका ही संकल्प है, अत: इसे प्रभुमय समझो।

नवधा भक्तिमें सर्वसाधनोंका समावेश

(लेखक—श्रीशारदापीठाधीश्वर श्रीमज्जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य स्वामी श्रीस्वरूपानन्दजी तीर्थ)

पामर और विषयी पुरुषको भी उसके अधिकारके अनुसार साधन बताकर, उसे स्वधर्मपरायण बनाकर, उसमें मुमुक्षुता उत्पन्न कर, उसे ज्ञान देकर और ज्ञानी भक्त बनाकर अन्तमें मोक्षदान करनेवाले हमारे वैदिक सनातनधर्मके अनेक साधनोंमेंसे यह नवधा भक्ति भी एक साधन है।

इसमें पहला साधन श्रवण है। जिसे विष्णु—व्यापक परमात्माके विषयमें कुछ भी ज्ञान न हो और इस विषयको जाननेकी इच्छा भी न हो, उसके अंदर परमात्माके गुणगानसे भरे हुऐ ग्रन्थोंका श्रवण एक प्रकारसे रसिक-वार्ता-श्रवणके रूपमें करनेसे भी धीरे-धीरे व्यापक परमात्माके ऊपर श्रद्धा-भक्ति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार उत्पन्न हुई भक्तिके द्वारा एक प्रकारसे उस बातमें रस आने लगनेपर दूसरी कीर्तन-भक्तिका आविर्भाव होता है।

कीर्तन कीर्ति फैलानेवाली क्रियाको कहते हैं। भगवान्की बातोंमें रस आने लगनेपर भक्त गद्य या पद्य-किसी भी रीतिसे अकेले या अन्य पुरुषोंके साथ उनकी बातें करने लगता है। इससे वहाँके वातावरणमें, दूसरे लोगोंमें और अपने हृदयमें भगवान्की कीर्ति फैलानेका काम होने लगता है। यही कीर्तन कहलाता है। यह कीर्तन-भक्ति स्मरण-भक्तिमें परिणत हो जाती है।

स्मरण तो श्रवण और कीर्तनमें भी होता है, परन्तु उनकी बहिरंग साधनता मानी गयी है। श्रवण और कीर्तनमें अकेले होनेपर भी किसी बाह्य क्रियाकी अथवा अन्य व्यक्तिकी आवश्यकता होती है। किन्तु वैसी बाह्य क्रिया अथवा अन्य व्यक्तिकी अपेक्षाके बिना जो अकेले ही परमात्माके गुण और चरित्रका स्मरण रहता है, वह स्मरण-भक्ति कहलाता है। भगवान्के किसी भी चरित्रादिका स्मरण होनेपर उसका हम तीन रूपोंमें समावेश कर सकते हैं; अर्थात् भगवान्की सर्वव्यापकता, सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता—ऐसी तीन प्रकारकी भावनाका स्मरण रहनेपर, केवल श्रवण और कीर्तन-भक्तिमें लगे रहनेवाला, पामर और विषयी होनेके कारण, यदि दुराचारी भी रहा हो तो अब वह दुराचारसे छूटकर उत्तम फल प्राप्त करता है। भगवान्की सर्वव्यापकतादिकी स्मृति रहनेपर 'अब वह अपनेको प्रभुसे छिपा नहीं सकता' ऐसा समझकर वह दुराचारादिसे छूटनेके प्रयत्नमें लग जायगा और उनकी भक्तिकी सहायता तथा कृपासे उस दुराचारसे मुक्त हो जायगा। भगवान्के '**अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्**' इस वचनकी संगति श्रवण और कीर्तन-भक्तिके साथ लगती है तथा '**साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः**' इस वाक्यका मेल उसीसे लगता है, जो स्मरण-भक्तिके द्वारा अपनेको सुधारनेका प्रयत्न करने लगा है। यदि वह इस प्रकार सुधारका प्रयत्न करके दुराचारसे मुक्त न हो तो यहाँ भगवान्के कहे हुए '**साधु**' और '**सम्यग्व्यवसितः**' ये शब्द व्यर्थ ही हो जायँगे। भगवान्का कथन व्यर्थ हो नहीं सकता, अतः यदि भक्तिके दिखायी देनेपर भी इस प्रकार दुराचारकी निवृत्ति न हो तो वह भक्ति दिखावटी ही कही जायगी। सच्ची भक्तिमें तो श्रीभगवान्के वाक्य चरितार्थ होंगे ही।

पादसेवन-भक्ति स्मरण-भक्तिके पीछे उत्तरोत्तर बढ़ते हुए भक्तिभावकी एक अवस्था है। श्रवण और कीर्तनतक तो भक्त दुराचारी भी रह सकता है, परन्तु स्मरण-भक्तिका उदय होनेपर वह दुराचारी नहीं रह सकता। अब दुराचार चला जाता है—इतना ही नहीं, अपितु धीरे-धीरे धर्मपालनकी स्थिति भी लानी पड़ती है; और ऐसा करनेपर सबसे पहले सेवाधर्म जो सर्वसामान्य धर्म है, वही भाता है। उसीका नाम 'पादसेवन-भक्ति' है। पादसेवनका अर्थ चरणोंकी सेवा होता है। किन्तु उसके बदले पादका अर्थ अंश करके 'अंशकी सेवा' अथवा 'अंशके द्वारा सेवा' ऐसा अर्थ करना अधिक उपयुक्त होता है। यह भक्ति भगवत्प्राप्तिका साधन ही है, इसलिये यहाँ भगवान्के साक्षात् चरणोंकी सेवाकी बात तो समझी नहीं जा सकती। इसके सिवा गुरु अथवा प्रतिमाकी सेवा—ऐसा अर्थ किया जा सकता है। किन्तु उसके आचरणमें बड़ी सावधानीकी आवश्यकता है, नहीं तो वह आपत्तिजनक हो जाती है। अतः ऐसा न करके 'पाद' शब्दका अर्थ '**पादोऽस्य विश्वा भूतानि**' इस न्यायसे करते हुए, जगत्के सम्पूर्ण भूतरूप भगवान्के अंशकी सेवा ही पादसेवन-भक्ति है—ऐसा मानना अधिक उपयुक्त है। भूतमात्र, प्राणिमात्र, जनता अथवा देश—इनमेंसे अपनी शक्तिके अनुसार जितने अंशकी हो सके, उतने अंशकी सेवा करना—यही पादसेवन-भक्ति कही जाती है। इसमें केवल वैसी भावनाकी ही आवश्यकता है, सेवा-धर्ममें

और किसी विशेष धर्मकी आवश्यकता नहीं है। सभी वर्ण और आश्रमोंके लोग अपने अधिकारके अनुसार सेवा कर सकते हैं। यह तो एक प्रकारका सामान्य धर्म ही है। इस प्रकार पादसेवनमें सामान्य सेवाधर्म आता है। फिर जब आगे चलकर विशेष धर्मकी प्रवृत्ति होती है तो वह अर्चन-भक्ति कहलाती है।

अर्चनका अर्थ पूजन हो सकता है। किन्तु यहाँ इसका अर्थ केवल पूजन न करके इससे सब वर्णोंके अपने अधिकारानुसार किये जानेवाले कर्म (कर्मकाण्डके षट्कर्मादि) ग्रहण करने चाहिये। अर्थात् अब सेवा-जैसे सामान्य धर्मसे अपने शास्त्रोक्त वर्णाश्रमधर्मोंमें प्रवृत्ति होने लगती है। अब भक्तिके साथ कर्मानुष्ठान भी होने लगता है। परन्तु कर्मानुष्ठानमें गर्व न आने पावे, इसके लिये अब उसे वन्दन-भक्ति करनी चाहिये। अथवा जिसे कर्मका अधिकार नहीं है, उसके लिये वन्दनमें ही कर्मका भाव आ जाता है; इसीसे अर्चनके बाद वन्दन-भक्ति आती है।

वन्दनका अर्थ तो नमस्कार होता है। किन्तु इस प्रसंगमें एक बात ध्यानमें आती है कि अर्चन अर्थात् पूजनमें भी पूज्यको नमस्कार करना तो आ ही जाता है, फिर वन्दन-को अलग रखनेका क्या कारण है? जिसमें गर्व होता है, वह वन्दन नहीं करता; गर्वका अभाव ही वन्दनोचित नम्रता प्रदान करता है। और जो नम्र होता है, वही सम्पूर्ण जगत्को परमात्माका स्वरूप समझकर अपनेसे छोटोंका—निम्नकोटिके गिने जानेवालोंका भी गर्व त्याग कर वन्दन करता है। अत: वन्दनका अर्थ *'सीय राममय सब जग जानी'* इस न्यायसे सर्वत्र भगवद्दृष्टि करके प्रणाम करना है। किन्तु यह तभी हो सकता है, जब गर्वका सर्वथा अभाव हो। अत: इसका लक्ष्यार्थ गर्वका अभाव ही है। इसलिये वन्दनका अर्थ 'सबको प्रभुमय समझते हुए गर्व छोड़कर अधिकारके अनुसार बाहरसे नहीं तो केवल मनसे ही प्रणाम करना' ऐसा मानना अधिक उपयुक्त है।

दास्य-भक्तिमें अपने वर्णाश्रम और अवस्थाके अनुसार पूर्ण धर्मपालनका अन्तर्भाव समझना चाहिये। दासका अर्थ है—पूर्णरूपसे आज्ञाके अनुसार चलनेवाला। विष्णुपुराणमें श्रीभगवान्का वचन है-

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते।
आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥

'श्रुति-स्मृति मेरी ही आज्ञा हैं; जो उनका उल्लंघन करके बर्तता है, वह मेरी आज्ञाका छेदन करनेवाला तो मेरा द्वेषी ही है। वह न मेरा भक्त है और न वैष्णव ही है।' इससे सिद्ध होता है कि जो श्रुति-स्मृतिप्रतिपादित धर्मका यथावत् पालन करता है, वही सच्चा वैष्णव है। अर्थात् वही दास-भक्त है। धर्मात्मा बननेके लिये इसी लक्षणकी आवश्यकता है। भक्त धीरे-धीरे भगवत्कृपासे इस अवस्थाको प्राप्त कर लेता है। यदि इसका ऐसा अर्थ न किया जाय तो भगवान्के प्रत्यक्ष होनेके बाद उनकी आज्ञाके अनुसार आचरण करना ही दास्य-भक्ति कही जायगी। किन्तु यह बात तो भगवत्साक्षात्कारके पीछेकी होगी और इस समय विचार साधन-भक्तिका ही हो रहा है। अत: भगवत्साक्षात्कारसे, जो साधनके बाद प्राप्त होनेवाली सिद्धावस्था है, सम्बन्ध रखनेवाला अर्थ न लेकर स्वधर्मपालनरूप साधनसम्बन्धी अर्थ लेना ही अधिक उपयुक्त है। भक्तिपूर्वक स्वधर्मपालनसे चित्तकी शुद्धि होती है और चित्तकी शुद्धिसे ज्ञान प्राप्त होता है—श्रुतिका भी यही सिद्धान्त है। भगवान्ने भी गीतामें कहा है—

'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।'

इस प्रकार अब ज्ञान-प्राप्तिका अवसर उपस्थित होता है। ऐसी दास्य-भक्ति ही सख्य-भक्तिके रूपमें परिणत हो जाती है।

सख्य-भक्तिमें भक्त भगवान्के साथ मित्रताका अधिकार प्रकट करता है। अवश्य ही यह मित्रताका अधिकार किसी सबल कारणके बिना नहीं हो सकता। हरेक भक्तमें सुदामाके समान सहपाठी होने, गोपोंके समान साथ खेलने और अर्जुनके समान सहचारी होनेकी बातें तो घट नहीं सकतीं। किन्तु **'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'** इस श्रुतिके अनुसार परमात्माके साथ जीवात्माकी मित्रता होनेकी बात घट सकती है। भगवान् भक्तमें इस प्रकार सच्चिदानन्दरूपसे जीवात्मा और परमात्माके सादृश्य-ज्ञानकी जागृति कर देते हैं। उसीसे उसमें सख्य-भक्ति हो सकती है। इस प्रकार अब भक्तिमें वेदान्तका ज्ञान मिल जाता है और वह भक्ति ज्ञानमिश्रा हो जाती है। श्रवणसे लेकर दास्यपर्यन्त भक्तिमें जीवात्मा और परमात्माके सादृश्यका ज्ञान न भी हो तो भी चल सकता है, किन्तु सख्य-भक्तिमें तो वह ज्ञान होना ही चाहिये। इस प्रकारका वेदान्तज्ञान अभी एकदेशीय ही है। पूर्णज्ञान तो अद्वैतज्ञान ही है। धीरे-धीरे भगवान् उसे भी भक्तमें प्रकट कर देते हैं। वह ज्ञान आत्मनिवेदन नामकी अन्तिम भक्तिमें देखा जाता है। जिस

ज्ञानसे पराभक्ति प्राप्त होती है, वह तो यह सख्यज्ञान ही है और पराभक्तिके द्वारा भगवान्‌के '**यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः**' इन शब्दोंके अनुसार जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह आत्मनिवेदन- भक्तिमें देखा जाता है। जिसे पराभक्ति कहते हैं, वही आत्मनिवेदन-भक्ति है।

आत्मनिवेदनका अर्थ दो प्रकारसे होता है—आत्माको परमात्माके प्रति अर्पण कर देना अथवा आत्मस्वरूपमें परमात्माको अभेदरूपसे अनुभव करना। यही एकात्मवाद या अद्वैतका ज्ञान है। श्रीमद्‌भागवतमें भावाद्वैत, क्रियाद्वैत और द्रव्याद्वैतरूप अद्वैतभावनाको लाने और द्वैतभ्रमको निवृत्त करनेवाले ध्यानके फलका वर्णन आता है। इन तीनों प्रकारके अद्वैतोंको सिद्ध करनेके लिये इस आत्मनिवेदन-भक्तिका स्वरूप फलात्मक है। यहाँ जीवात्मा अपने मैंपनको परमात्मामें होम देता है। अतः अब वास्तविक रीतिसे 'मैं' कहनेयोग्य कोई दूसरा नहीं रहता। इसलिये यह भावाद्वैत कहलाता है। यहाँ अपनी पृथक्ताकी भ्रान्ति दूर हो गयी है। अखा भक्तके समान 'अब हरि कहूँ या मैं' इस स्थितिको वह समझता है। ज्ञानमार्गमें जो 'तू' को अलग न बताकर 'मैं' की ही एकताका अनुभव किया जाता है, वह तत्त्वदृष्टिसे होनेवाला अनुभव ही इस भावाद्वैतवाली आत्मनिवेदन-भक्तिमें भी होता है। परमात्मा तो एक है ही, अब उसने जीवरूप मैंको भी एक मान लिया। सर्वत्र परमात्मदृष्टि तो वन्दन-भक्तिमें ही बतलायी गयी थी। अतएव अब एक ही चेतन-सच्चिदानन्द रह जानेके कारण ये शरीरादि द्रव्य भी उस एकहीके कहे जाते हैं—इस विचारसे द्रव्यसम्बन्धी द्वैतभ्रमकी निवृत्ति हो जानेसे द्रव्याद्वैत भी सिद्ध हो जाता है। इससे जो कुछ अनात्म एवं जड द्रव्य दिखायी देते हैं, उन सबका एक ही स्वामी रह जानेके कारण वह भक्त द्रव्योंका स्वामित्व एकमात्र परमात्माका ही समझता है। एक ही सच्चिदानन्दको माननेके कारण अब अनात्ममें जो कुछ चेतन दिखायी देता है, वह क्रिया भी एक ही परमात्माकी समझकर उस क्रियाका-चेष्टाका करानेवाला—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

—भगवानके इन वचनोंके अनुसार—भी वह एक ईश्वर ही है। उसकी दृष्टिमें केवल भगवान् ही समस्त क्रियाओंके करानेवाले रह जाते हैं। इस प्रकार कर्तादृष्टिसे भी द्वैतकी भ्रान्तिको दूरकर वह भक्त क्रियाद्वैतकी सिद्धि करता है। आत्मनिवेदन-भक्तिका यह भी अर्थ है। इस प्रकार तीनों भ्रमोंकी निवृत्ति कर वह इन तीन अद्वैतोंको सिद्ध करता है। यह आत्मनिवेदन-भक्तिमें रहनेवाला ज्ञान है। इस प्रकारका ज्ञान आ जानेके कारण वह ज्ञानीकी भक्ति है। अथवा यों कहो कि वह ज्ञानी ही है, या ऐसा कह सकते हैं कि ऐसा भक्त और ज्ञानी एक ही हैं। इस भक्तको कुछ और पाना नहीं रहता; अतः उसकी यह भक्ति अहैतुकी होती है और फिर यही सच्ची प्रेमलक्षणा-भक्तिमें परिणत हो जाती है। यह अद्वैतका अनुभव जैसे-जैसे बढ़ने लगता है, वैसे-वैसे ही उस भक्तको जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्तिका अनुभव होने लगता है तथा भगवान्‌के—

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।

—इन शब्दोंके अनुसार वह निरन्तर भगवान्‌को अपने और सम्पूर्ण जगत्‌के साथ तत्त्वतः एकरूप जानकर '**ज्ञानादेव तु कैवल्यम्**' इस श्रुतिके अनुसार कैवल्यका ही अधिकारी हो जाता है।

इस प्रकार मुक्तिके साधनकी दृष्टिसे नवधा भक्ति ऐसी जान पड़ती है कि जिसमें बड़े-से-बड़ा दुराचारी भी प्रवेश कर सकता है और फिर वह धीरे-धीरे दुराचार छोड़कर धर्मसाधन करते-करते स्वधर्मका पूर्णतया अनुष्ठान करके क्रमशः ज्ञान प्राप्त कर अन्तमें अद्वैतज्ञानके द्वारा मुक्तिका अधिकारी बन सकता है। इस तरह विचार करनेसे जान पड़ता है कि नवधा भक्ति जीवको अधिकारके अनुसार मुमुक्षुताकी प्राप्ति कराकर अन्तमें उसे मोक्ष प्राप्त करानेवाला सोपान है।

प्रह्लाद-जैसे भक्तने भी पढ़नेमें यही पढ़ा और इसीका उपदेश किया था। हमारे यहाँ मोक्षके जो निष्काम कर्मयोग, राजयोग और ज्ञानयोग आादि अनेकों मार्ग हैं, उनमें भक्ति तो '**सूत्रे मणिगणा इव**' सभीमें अनुस्यूत है। यहाँ नवधा भक्तिमें भी हमने यही बात देखी है। भक्तिको सर्वथा छोड़कर कोई भी साधन सफल नहीं हो सकता। तथा भक्तिके समान सरल और प्राणिमात्रके अधिकारसे युक्त भी कोई दूसरा साधन नहीं है। अतः पहले इसी साधनको पकड़ना चाहिये; दूसरे साधन तो अपने-आप ही इसके पीछे आ जायँगे, उन्हें भगवान् स्वयं ही दे देंगे। हमारी तो उन कृपालु प्रभुसे यही प्रार्थना है कि वर्तमान समयमें वे प्रत्येक जीवको विशेषतया यही साधन प्रदान करें।

वैदिक साधनान्तर्गत न्यासविद्या

(लेखक—पूज्यपाद वे० शि० स्वामी श्रीश्रीरामानुजाचार्यजी शास्त्री)

स्वतःसिद्धः श्रीमानमितगुणभूमा करुणया
विधाय ब्रह्मादीन् वितरति निजादेशमपि यः।
प्रपत्त्या साक्षाद्वा भजनशिरसा वापि सुलभं
मुमुक्षुर्देवेशं तमहमधिगच्छामि शरणम्॥

वैदिक साधनोंमें जैसे सद्विद्या, उद्गीथविद्या, दहरविद्या, मधुविद्या प्रभृति हैं, उसी प्रकार न्यासविद्या भी है; इसका विधायक मन्त्र अथर्ववेदान्तर्गत नारायणोपनिषद्में वर्णित है। इस मन्त्रका विनियोग इस प्रकार अनुसन्धान किया गया है—

ॐ वसुरण्वेति मन्त्रस्य याज्ञवल्क्यो भगवान्नारायण ऋषिः जगतीच्छन्दः परमात्मा नारायणो देवता आत्मसमर्पणे विनियोगः।

मन्त्र इस प्रकार है—

ॐ तस्मान्न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुर्वसुरण्वो विभुरसि प्राणे त्वमसि सन्धाता ब्रह्मन् त्वमसि विश्वधृत्तेजोदास्त्वमस्यग्निरसि वर्चोदास्त्वमसि सूर्यस्य द्युम्नोदास्त्वमसि चन्द्रमस उपयामगृहीतोऽसि ब्रह्मणे त्वा महस ओमित्यात्मानं युञ्जीतैतद्वै महोपनिषदं देवानां गुह्यं य एवं वेद ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति तस्माद्ब्रह्मणो महिमानमित्युपनिषत् ॐ॥

'**तप आलोचने**' धातुसे निष्पन्न 'तप' शब्द ज्ञानवाची होनेसे यहाँ 'तप' शब्दका अर्थ उपासनात्मक ज्ञान है। परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिका साधनरूप उपासनात्मक ज्ञान ही वेदान्त-शास्त्रमें ब्रह्मविद्या नामसे प्रसिद्ध है। सम्पूर्ण विद्याओंमें न्यास (आत्मसमर्पणरूपा प्रपत्ति)-विद्या ही श्रेष्ठतमा है। प्रार्थनापूर्वक प्रणवार्थानुसन्धान करते हुए भगवच्चरणारविन्दमें आत्मसमर्पण करना ही उसका स्वरूप है, जिसका वर्णन श्रुति इस प्रकार करती है—'हे भगवन्! आप धनकी भाँति प्राणिमात्रको प्यारे हैं, सर्वसमर्थ हैं, प्राणके भी पोषक हैं। हे सर्वव्यापक परब्रह्म! आप सम्पूर्ण विश्वके धारण करनेवाले तथा सब वस्तुओंको उत्तेजित करनेवाले अग्निरूप हैं। आप सूर्यको भी प्रकाशित करनेवाले हैं, चन्द्रमाको कान्तियुक्त करनेवाले भी आप ही हैं। हे प्रभो! उपासनाद्वारा मैं आपके समीप आया हूँ, प्रेमसे आप मेरे द्वारा ग्रहण किये गये हैं। हे सर्वव्यापक अन्तर्यामिन्! आपहीके लिये आपके परम पवित्र तेजमें 'ॐ' इस परमपावन मन्त्रका निरन्तर अर्थानुसन्धानपूर्वक जप करते हुए—

अकारार्थो विष्णुर्जगदुदयरक्षाप्रलयकृन्
मकारार्थो जीवस्तदुपकरणं वैष्णवमिदम्।
उकारोऽनन्यार्हं नियमयति सम्बन्धमनयो-
स्त्रयीसारस्त्र्यात्मा प्रणव इममर्थं समदिशत्॥

—इत्यादि प्रमाणानुसार आत्मसमर्पण करता हूँ। इस महोपनिषद् अर्थात् दिव्य महान् ज्ञानको, जो—

धर्मं तु साक्षाद्भगवत्प्रणीतं
न वै विदुर्ऋषयो नापि देवाः।

—इत्यादि प्रमाणानुसार देवादिकोंके लिये भी दुर्लभ परम गुप्त रहस्य है, जो जानता है वह '**निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति**' तथा '**भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च**' इत्यादि श्रुति-सूत्र-प्रमाणानुसार परब्रह्मके साम्यरूप महिमाको प्राप्त होता है।

इस न्यासविद्याको यज्ञरूपसे भी श्रुति प्रतिपादन करती है, यथा चारों वेदोंमें प्रसिद्ध पुरुषसूक्तकी निम्नलिखित ऋचामें देखिये—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा-
स्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त
यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥

यहाँ '**देवाः**' पदका अर्थ है मुमुक्षुजन।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

—इत्यादि प्रमाणानुसार मुमुक्षुजन ही देवता हैं। '**दैवी सम्पद्विमोक्षाय**' इस वचनबलसे भी मुमुक्षुओंकी ही दैवी सृष्टिमें गणना की गयी है।

'**यज्ञेन यजनीयदेवतोद्देश्यकद्रव्यत्यागरूपेण कर्मणा देवतामुद्दिश्य द्रव्यत्यागो हि यागशब्दार्थः।**'

अर्थात् परमपुरुष परमात्माके उद्देश्यसे प्रणवको द्वार बनाकर किये गये आत्मसमर्पणरूप मानस यज्ञके द्वारा—यही '**यज्ञेन**' पदका अर्थ है। मुमुक्षुओंके लिये आत्मसमर्पण ही अवश्यकर्तव्य यज्ञरूप होनेसे श्रुतिवचनोंमें आत्मसमर्पणको यागरूपता दी गयी है। यथा—

'**अहमेवाहं मां जुहोमि स्वाहा**', '**इदमहं माममृतयोनौ**

सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि', 'ओमित्यात्मानं युञ्जीत' इत्यादि। 'यज्ञं यजनीयदेवतारूपं परमपुरुषम्।'

'यज्ञो वै विष्णुः।' इस श्रुतिके अनुसार यज्ञद्वारा आराधना करने योग्य देवतारूप भगवान् परमपुरुष ही यहाँ 'यज्ञ' पदके अर्थ हैं। **'यज्ञेन यज्ञम्'** इन दो पदोंका अर्थ भगवान् बादरायणने भी इसी प्रकार किया है—

'यागसाधनभूतेन स्वात्मना मेध्यमीश्वरम्।'

—अर्थात् यज्ञके साधनभूत आत्माके द्वारा यजनीय भगवान्‌को। **'अयजन्त'** का अर्थ है—भगवान्‌के उद्देश्यसे आत्मसमर्पणरूप यज्ञ किया। **'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।'** अर्थात् वही धर्म प्रधान रहा। **'तस्मान्न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः'** इस श्रुतिवचनमें भी सर्वोत्तम धर्म इसीको कहा गया है। **'आसन्'** पदसे बोध होता है कि युगान्तर, कल्पान्तरादिमें भी यही प्रधान धर्म था। श्रीमद्भागवत, एकादश स्कन्धमें भगवान् अपने परमभक्त सखा उद्धवजीसे कहते हैं—

आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः।
कृतकृत्याः प्रजा जात्या तस्मात्कृतयुगं विदुः॥
वेदः प्रणव एवाग्रे धर्मोऽहं वृषरूपधृक्।
उपासते तपोनिष्ठा हंसं मां मुक्तकिल्बिषाः॥

यहाँ भी प्रणवके द्वारा भगवदुपासनाकी बात ही कही गयी है।

अब इस आत्मसमर्पणरूप यज्ञका अनुष्ठान करनेवालोंके लिये फलश्रुति कहते है। **'ते ह'** का अर्थ है पूर्वोक्त आत्मसमर्पणरूप यज्ञका अनुष्ठान करनेवाले मुमुक्षु।

नाकं नाम नित्यनिरतिशयानन्दैकतानमोक्षपरमपदाक्षरपरधामादिशब्दवाच्यनाकाख्यवैकुण्ठलोकम्।

नाक कहते हैं वैकुण्ठलोकको, जो नित्य निरतिशय आनन्दका प्रवाहरूप है और जिसे दूसरे शब्दोंमें मोक्ष, परमपद, अक्षर तथा परमधाम भी कहते हैं। 'क' नाम सुखका है; न कम्=अकम् नाम दुःखका है। न **अकम्=नाकम्** अर्थात् दुःखशून्य परमसुखरूप मोक्ष। **'नाकोऽम्बरे रवौ स्वर्गे परमव्योम्नि च स्मृतः'** इस निघण्टु-प्रमाणबलसे भी 'नाक' शब्दको वैकुण्ठलोकका वाचक समझना चाहिये। **'महिमानः'** पदका अर्थ है—परमसाम्यरूप महिमावाले। **'ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति'** (ब्रह्मके साम्यरूप महिमाको प्राप्त होता है)—ऐसा श्रुति कहती है। **'सचन्त'** पद **'षच् समवाये'** धातुसे बना है। उसका अर्थ है—नित्यमुक्तोंकी गोष्ठीको प्राप्त होकर नामरूप अनन्त सुख एवं भगवान्‌के कल्याण-गुणोंका सर्वदा अनुभव करते हैं। **'यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः'** अर्थात् जिस परमपद या धाममें पुरातन साध्य अर्थात् प्राप्यभूत अनन्त, गरुड, विष्वक्सेन आदि अपरिमित भगवत्-पार्षद निवास करते हैं। **'यत्रर्षयः प्रथमजा ये पुराणाः'** इत्यादि श्रुति प्रसिद्ध ही है।

अपरंच इस आत्मसमर्पणरूप महायज्ञका वर्णन अथर्ववेदीय महानारायणोपनिषद्‌की श्रुति क्या ही विलक्षण ढंगसे प्रतिपादन करती है—

तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिर्वेदः शिखा हृदयं यूपः काम आज्यं मन्युः पशुस्तपोऽग्निर्दमः शमयिता दक्षिणा वाग्घोता प्राण उद्गाता चक्षुरध्वर्युर्मनो ब्रह्मा श्रोत्रमग्नीद्यावद्ध्रियते सा दीक्षा यदश्नाति तद्धविर्यत्पिबति तदस्य सोमपानं यद्रमते तदुपसदो यत्सञ्चरत्युपविशत्युत्तिष्ठते च स प्रवर्ग्यो यन्मुखं तदाहवनीयो या व्याहृतिराहुतिर्यदस्य विज्ञानं तज्जुहोति यत्सायं प्रातरत्ति तत्समिधं यत्प्रातर्मध्यन्दिनं सायं च तानि सवनानि ये अहोरात्रे ते दर्शपूर्णमासौ येऽर्धमासाश्च मासाश्च ते चातुर्मास्यानि य ऋतवस्ते पशुबन्धा ये संवत्सराश्च परिवत्सराश्च तेऽहर्गणाः सर्ववेदसं वा एतत्सत्रं यन्मरणं तदवभृथ एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्रं सत्रं य एवं विद्वानुदगयने प्रमीयते देवानामेव महिमानं गत्वाऽऽदित्यस्य सायुज्यं गच्छत्यथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितॄणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं सलोकतामाप्नोत्येतौ वै सूर्याचन्द्रमसोर्महिमानौ ब्राह्मणो विद्वानभिजयति तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति तस्माद्ब्रह्मणो महिमानम्। ओं सह नाववत्विति शान्तिः॥

'न्यासविद्यावाले ज्ञानीके आत्मसमर्पणरूप यज्ञमें आत्मा यजमान है, शुद्ध सात्त्विकी श्रद्धा पत्नी है, शरीर इध्म अर्थात् यज्ञीय काष्ठ (हवनोपयोगी कुण्डमें जलाने योग्य लकड़ी) है। वक्षःस्थल वेदी है, शरीरकी रोमावली कुश है, वैदिक ज्ञान शिखा है, हृदय यूप (पशु बाँधनेका खंभा) है, सम्पूर्ण कामना ही घृत है, क्रोध पशु है, स्वरूपानुरूप ज्ञान एवं तदनुगुण अनुष्ठान अग्नि है, भीतर-बाहरकी इन्द्रियोंका दमन ही बाध्याहार अर्थात् यज्ञमें आनेवाले विघ्नोंका निवारणकर्ता है, शान्तिमय प्रिय-हित वचन होता (हवन

करनेवाला) है, प्राण उद्गाता (श्वास-श्वासमें प्रणव, अजपा अथवा गोविन्दके नामोंका उच्चारणरूप) मन्त्रगान करनेवाला है, सात्त्विकावेशमय प्रेमाश्रुपरिप्लुत नेत्र ही अध्वर्यु हैं, '**मय्यर्पितमनोबुद्धिः**' इत्यादि प्रमाणानुसार भगवत्स्वरूप-रूप-गुण-विभूति-चिन्तनयुक्त मन ब्रह्मा है, निरन्तर भगवद्गुणश्रवण करता हुआ कर्णेन्द्रिय आहवनीयादि त्रेताग्नि है; प्रारब्धानुकूल जबतक शरीरधारण होता है, वही दीक्षा अर्थात् यज्ञान्तदिवसपर्यन्त नियमपालनका संकल्प है। ऐसे अधिकारी भगवन्निवेदित जो कुछ भोजन करते हैं, वही हविष्य है; दुग्ध-जलादि जो कुछ पीते हैं, वही इनका सोमरसपान है; ध्येयस्वरूप—परमात्मस्वरूपकी विलक्षणतामें जो वे रमण करते हैं, वही उपसद है। उनका चलना-फिरना, बैठना-उठना ही प्रवर्ग्य है; उनका जो मुख है, वही आहवनीय है; वे जो कुछ शब्द उच्चारण करते हैं, वही आहुति है; जो इनका विज्ञान है, वही हवन करते हैं; सायंकाल-प्रातःकाल वे जो कुछ खाते हैं, वही समिधा है; प्रातः-सायं-मध्याह्न ही उनका सवन (कालत्रयकी क्रिया) है। उनके जो दिन-रात हैं, वही दर्श-पूर्णमास अर्थात् अमावस्या और पूर्णिमाकी इष्टियाँ हैं; जो पक्ष एवं महीने हैं, वही चातुर्मास याग है; जो ऋतु हैं, वही पशुबन्ध अर्थात् यज्ञीय खंभेमें पशुओंको बाँधनेकी रस्सी है; जो उनके संवत्सर तथा परिवत्सर हैं, वही अहर्गण (दिनसमूह) हैं; सम्पूर्ण ज्ञानमय यह यज्ञ है; उनका जो मरण है, वही अवभृथ (यज्ञान्तस्नान) है। इस शरणागतिरूप यज्ञ करनेवाले यजमानका यज्ञान्तस्नान विरजा नदी (जो वैकुण्ठमें है)-में होता है। यही जन्म-जरा-मरण-रोग-क्षुधा-पिपासादि षडूर्मि-कष्टको निवृत्त करनेवाला अग्निहोत्र-यज्ञ है। जो ज्ञानी इसको जानकर उत्तरायणमें शरीर छोड़ते हैं, वे देवताओंकी महिमा अर्थात् अर्चिरादि मार्ग अथ च साम्यरूप नित्यमुक्तोंकी महिमाको प्राप्त होकर सूर्यमण्डलका भेदन करते हुए सायुज्य मुक्तिको प्राप्त होते हैं। जो दक्षिणायनमें शरीर छोड़ते हैं, वे पितृमार्गसे चन्द्रमण्डलको होते हुए परमात्मधामको जाते हैं। इन देवयान-पितृयान मार्गोंका प्रदर्शन श्रुति कराती है, इनका अर्थ आवृत्ति-अनावृत्तिके मार्ग नहीं समझना चाहिये। जैसे ब्रह्मवेत्ताको मुक्तिप्राप्तिमें दक्षिणायन तथा रात्रिमरणादि रोधक नहीं होते—जैसा कि ब्रह्मसूत्रमें भगवान् बादरायणने कहा है—उसी प्रकार न्यासविद्यावालेका भी चाहे किसी समय प्रारब्धावसानमें शरीर छूटे, परमपदकी प्राप्तिमें उसे विलम्ब नहीं होता। इस प्रकारके मार्गज्ञानवाले अधिकारी ब्रह्म-महिमा अर्थात् विशुद्ध आत्मस्वरूपके साक्षात्कारपूर्वक परमात्मप्राप्तिरूप अनन्त सुखका अनुभव करते हैं।'

कृष्णयजुर्वेदीय श्वेताश्वतर-श्रुतिने न्यासविद्याका इस प्रकार वर्णन किया है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तꣳह देवमात्मबुद्धिप्रसादं (काशं)
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥
(६।१८)

अर्थात् जो परब्रह्म परमात्मा कल्पके आदिमें ब्रह्माको प्रकट करते हैं और फिर उन्हीं चतुर्मुख ब्रह्माको वेदोपदेश करते हैं, मुक्तिकी इच्छासे मैं आत्मज्ञानका प्रकाश करनेवाले उसी परब्रह्मके शरण होता हूँ अर्थात् उनकी प्राप्तिके लिये उन्हींके श्रीचरणयुगलको सिद्धोपायके रूपमें निश्चय करता हूँ।

लेखविस्तारके भयसे अधिक श्रुतियोंके प्रमाण न देकर अब प्रपत्ति (शरणागति)-के स्वरूप, अंग, अधिकार एवं फलके विषयमें दिग्दर्शन कराता हूँ। श्रुत्यर्थको ग्रथन करनेवाले भगवान् बादरायण (वेदव्यास)-ने ब्रह्मसूत्रके साधनाध्याय (३)-के तृतीय पादमें '**नानाशब्दादिभेदात्**' इस सूत्रमें 'आदि' शब्दसे न्यासविद्याकी ओर, गोपनीय होनेके कारण, इशारा किया है। श्रीभाष्यव्याख्याता श्रुतप्रकाशिकाकार कहते हैं—

'**आदिशब्देन न्यासो विवक्षितः सूत्रेऽपि शब्दादिभेदसद्भावात्**' इत्यादि।

'**विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्**' इस सूत्रकी व्याख्यामें भी '**अस्मिन्नधिकरणे न्यासविद्याभिप्रेता**' ऐसी श्रुत-प्रकाशिकाकी पंक्ति है। निगम (वेद) आगम (पांचरात्र) तथा वेदके व्याख्यारूप पंचमवेद महाभारत, श्रीरामायण, स्मृति एवं पुराणादि सम्पूर्ण प्रमाणभूत शास्त्रोंमें इस न्यासविद्याकी प्रशंसा मिलती है।

वैदिक साधनान्तर्भूत उद्गीथ-संवर्ग-दहरादि विद्याओंकी अपेक्षा इस न्यासविद्यामें एक महान् वैलक्षण्य यह है कि और विद्याएँ वैदिक होनेसे उनमें वेदाधिकारी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—इन तीन ही वर्णोंका अधिकार है। कारण, ब्रह्मोपासनारूप ब्रह्मविद्याओंके सम्पादनका यह नियम है कि उपनयनादि वैदिक संस्कारोंसे संस्कृत होकर, सांग-वेदाध्ययनके द्वारा अर्थज्ञान सम्पादन कर,

वेदविहित कर्मोंके अनुष्ठानद्वारा विरोधी पापोंका क्षय करके, शुद्ध भाव धारण करके, जितेन्द्रिय होकर, विषयोंसे मनको हटाकर तथा आत्मानुभवमें मग्न करके, आत्मप्राप्तिसाधनभूत आत्मयोग सम्पादन करके आत्मान्तर्यामीपर्यन्त जाकर, आत्मेश्वर नारायणके स्वरूपादिका श्रवण-मनन करके, अर्चन-प्रणामादिपूर्वक निरन्तर ध्यान करनेसे परमात्मप्राप्तिरूप अनन्त सुख उपासकको प्राप्त होता है। यही आरोहक्रम वेदान्तशास्त्रमें प्रतिपादन किया गया है। अब अवरोह-क्रमकी तरफ भी जरा ध्यान दीजिये।

पूज्यपाद वेदान्ताचार्य स्वामीजी अपने 'तत्त्वमुक्ता-कलाप' नामक ग्रन्थमें लिखते हैं—

भक्तिर्मुक्तेरुपायः श्रुतिशतविहिता सा च धीः प्रीतिरूपा
तन्निष्पत्त्यै फलेच्छाद्युपधिविरहितं कर्म वर्णाश्रमादेः।
ज्ञानध्यानादिवाचां समफलविषया सैव युक्ता प्रतिष्ठा
सामान्योक्तिः समानप्रकरणपठिता पर्यवस्येद्विशेषे॥

अर्थात् भक्तिको ही मुक्तिका उपाय सैकड़ों श्रुतियोंमें कहा गया है। प्रीतिरूपको प्राप्त हुई बुद्धि ही भक्तिका स्वरूप है और उसे प्रकट करनेके लिये फलेच्छादि त्रिविध उपाधियोंके त्यागपूर्वक समस्त जीवनपर्यन्त वर्णाश्रमानुष्ठानरूप कर्मयोगका आचरण ही एकमात्र उपाय है। ज्ञान, ध्यान, उपासना प्रभृति शब्द भक्तिके ही पर्याय हैं। प्रकरण-पठित सामान्य शब्द सब विशेषशब्दमें पर्यवसित होते हैं, उसी प्रकार ज्ञान-ध्यानादि सामान्य शब्द विशेष शब्द—भक्तिमें ही पर्यवसित हैं।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।

—इत्यादि प्रमाणानुसार भगवत्प्राप्तिका मुख्य साधन जो भक्ति है, उसके दो भेद हैं। यथा—

साधनं भगवत्प्राप्तौ स एवेति स्थिरा मतिः।
साध्यभक्तिस्तथा सैव प्रपत्तिरिति गीयते॥
उपाये भक्तिरेव स्यात् तत्प्राप्तौ या तु सा मतिः।
उपायभक्तिरेतस्मात् पूर्वोक्तैव गरीयसी॥

अर्थात् भगवत्प्राप्तिमें भगवान् ही साधन हैं, ऐसी दृढ निश्चयात्मिका बुद्धिका नाम साध्यभक्ति है; उसीको प्रपत्ति कहते हैं। तथा भगवत्प्राप्तिमें भक्ति उपाय है, इस बुद्धिका नाम उपाय-भक्ति अथवा साधन-भक्ति है। इससे पहले कही हुई साध्यभक्ति ही उत्तम है।

नवधा भक्तिमें आत्मनिवेदन नामकी अन्तिम भक्ति इसी न्यासविद्या अथवा साध्यभक्तिरूप प्रपत्तिका ही नामान्तर है। अब उसका स्वरूप वर्णन किया जाता है—

बुद्धिरध्यवसायात्मा याच्ञापर्यवसायिनी।
प्राप्येच्छोरनुपायस्य प्रपत्ते रूपमिष्यते॥
अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्।
तदेकोपायतायां च प्रपत्तिः शरणागतिः॥

(पांचरात्र-विष्वक्सेनसंहिता)

'भगवत्सेवारूप प्राप्य वस्तुकी उत्कट इच्छावाले उपायान्तरहीन अधिकारीकी प्रार्थनामें पर्यवसित होनेवाली निश्चयात्मिका बुद्धि ही प्रपत्तिका स्वरूप है। अर्थात् भगवत्प्राप्तिकी तीव्र इच्छावाले अधिकारीके लिये उनकी प्राप्तिरूप फलमें उन्हींको सिद्धोपायरूपमें निश्चय करके आर्त्त होकर नित्य सेवामें स्वीकार करनेके लिये सदा उनसे प्रार्थना करते रहनेका नाम ही प्रपत्ति है।'

प्रपत्ति कर्म-ज्ञानादिके समान उपाय नहीं है, यह तो भगवान्‌को स्वप्राप्तिमें सिद्धोपायरूपसे स्वीकार करना है। इसी संहितामें भगवान् नारायण स्वयं विष्वक्सेनजीसे कहते हैं—

मत्स्वीकारस्वरूपायाः प्रपत्तेरप्युपायताम्।
इच्छन्ति केचिद्दुर्दान्ताः सन्तो मामेव मन्वते॥

अर्थात् मेरे स्वीकाररूप प्रपत्तिको कुछ दुर्दान्तलोग उपाय समझते हैं, किन्तु संतजन तो मेरी प्राप्तिमें मुझे ही उपाय मानते हैं।

दूसरे शब्दोंमें भक्तोंके द्वारा अभिलषित अनन्यसाध्य भगवत्प्राप्तिमें महाविश्वासपूर्वक भगवच्चरणारविन्दको ही एकमात्र उपाय समझकर, अहंकार-ममकार आदि विरोधी भावोंकी निवृत्तिपूर्वक नित्यसुखरूप भगवत्सेवाकी प्राप्तिके लिये उपाय बननेकी भगवान्‌हीसे प्रार्थना करते रहनेका नाम ही प्रपत्ति है; इसीको शरणागति कहते हैं। **'दोषत्रयरहितो हि विश्वासो महाविश्वासः।'** निम्नलिखित तीन दोषोंसे रहित विश्वासको महाविश्वास कहते हैं। विश्वासको कमजोर करनेवाले तीन दोष ये हैं—**'उद्देश्यदुर्लभत्वम्', 'उपायेषु फल्गुत्वम्' 'सततस्व-दोषानुसन्धानञ्च'**। आत्मा अथवा परमात्माकी प्राप्तिरूप अपने उद्देश्यको दुर्लभ समझकर उत्साहहीन हो जाना;

यह समझना कि मुझसे साधनानुष्ठान तो कुछ बनता नहीं, फिर मुझे भगवान्‌की प्राप्ति कैसे होगी—यह पहला दोष है। कर्म-ज्ञान-साधनरूपा भक्तिको त्यागकर केवल भगवत्-शरण-वरण-मात्रसे ही भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है—ऐसा समझना दूसरा दोष है। पद्मपुराणके उत्तरखण्डमें शरणागतिके वैभवका वर्णन करते हुए भगवान् शंकरजी अपनी प्रियतमा पार्वतीजीसे कहते हैं—

सत्कर्मनिरताः शुद्धाः सांख्ययोगविदस्तथा।
नार्हन्ति शरणस्थस्य कलां कोटितमामपि॥

अर्थात् कर्मयोग ज्ञानयोगादि निष्ठावाले साधक सिद्धोपायनिष्ठ भगवत्-शरण वरण करनेवालेकी करोड़वीं कलाकी भी समता नहीं कर सकते।

तीसरा दोष निरन्तर अपने दोषोंको ही स्मरण करके उत्साहहीन एवं निराश होना है कि मेरे-जैसे महान् पापीको प्रभु कैसे मिलेंगे। जैसे कोई बालक अपनी माताकी गोदमें सोया हुआ स्वप्नमें व्याघ्रको अपने ऊपर आक्रमण करते हुए देखकर एक साथ घबड़ा उठता है तथा निद्रा टूटनेपर अपनी माताका मुख देखकर भयरहित हो जाता है और सोचता है कि अहा! हम तो माताकी गोदमें हैं, हमको क्या भय है; स्वदोषानुसन्धान करनेवालेकी भी यही दशा होती है। जागनेपर माताका मुख देखनेसे बालकको जो शान्ति मिलती है, कल्याणगुणाकर आश्रितवात्सल्यजलधि परमात्माके गुणोंका स्मरण करनेसे भक्तको भी वही शान्ति मिलती है। श्रीरामचरितमानसमें इस प्रकारके अनेकों वचन मिलते हैं। यथा—

रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥

× × × ×

जद्यपि जन्म कुमातु तें मैं सठु सदा सदोस।
आपन जानि न त्यागिहहिं मोहि रघुबीर भरोस॥

× × × ×

कोटि बिप्र बध लागहिं जाही। आएँ सरन तजउँ नहिं ताही॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

-इत्यादि।

इसी विष्वक्सेन-संहितामें भगवान्‌ने शरणागतिके स्वरूपका विशद वर्णन किया है। यथा-

शरणागतिशब्देन प्रपत्तिस्तु विशेषिता।
प्रपत्तिं संश्रयेद्भक्त्या शरणागतिलक्षणाम्॥
आर्त्तप्रपत्तिरित्युक्ता सैषा पञ्चाङ्गसंयुता।

पाँच अंगवाली आर्त्तप्रपत्ति इस प्रकार कही गयी है—

अहमस्म्यपराधानामालयोऽकिञ्चनोऽगतिः।
त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थनामतिः॥
शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यताम्।

'हे भगवन्! हम सम्पूर्ण अपराधोंके स्थान, अकिंचन (साधनशून्य) तथा अगति हैं (आपके सिवा हमारा कोई दूसरा रक्षक नहीं है) आपकी प्राप्तिके लिये आप ही उपाय हैं—इस प्रार्थना-बुद्धिका नाम शरणागति है। उसे परब्रह्म परमात्माहीके प्रति करना चाहिये।'

आत्मनो दुर्दशापत्तिं विमृश्य च हरेर्गुणान्।
तदेकोपायसंवित्तिस्तं प्रपन्नो विमुच्यते॥

अर्थात् अपनेको गर्भ-जन्म-जरा-मरणादि षडूर्मिरूप दुर्दशासे आक्रान्त समझकर और पतितपावनत्वादि श्रीहरिके अनन्त गुणोंको विचारकर सम्पूर्ण दु:खोंकी निवृत्तिपूर्वक अनन्त सुखकी प्राप्तिके लिये एकमात्र श्रीमन्नारायणको ही सिद्धोपायरूपमें निश्चय करनेवाला प्रपन्न संसार-बन्धनसे छूट जाता है।

निक्षेपापरपर्यायो न्यासः पञ्चाङ्गलक्षणः।
संन्यासस्त्याग इत्युक्तः शरणागतिरित्यपि॥

अर्थात् निक्षेप, न्यास, संन्यास, त्याग एवं शरणागति आदि सब नाम पाँच अंगवाली इसी प्रपत्तिके हैं।

महर्षि शौनक सनत्कुमारसंहितामें इसका स्वरूप इस प्रकार वर्णन करते हैं—

यदा परानन्वयिभिर्दुश्शकः स्मृतिभिर्विना।
तेन तत्पुरतः पातः सा प्रपत्तिस्तदा भवेत्॥

अर्थात् परमात्माकी आज्ञाके उल्लंघनरूप होनेसे प्रभुके साथ सम्बन्ध-विच्छेद करानेवाले अकृत्यकरण (न करनेयोग्य कर्मोंको करना), कृत्याकरण (कर्तव्यकर्मोंकी अवहेलना), अभक्ष्यभक्षण (न खानेयोग्य पदार्थोंको खाना), अपेयपान (न पीनेयोग्य द्रव्योंको पीना), अगम्यागमन आदि तथा भगवदपराध, भागवतापराधादि दुरनुष्ठानोंके कारण अपरंच दुष्कर वैदिक साधनानुष्ठानके अभावमें अशक्त, अकिंचन, अनन्यगति एवं परमार्त्त होकर सर्वसमर्थ परमकारुणिक श्रीहरिके आगे गिरकर सर्वस्व भार उन्हींपर छोड़ देनेका नाम प्रपत्ति है।

पांचरात्रकी लक्ष्मीतन्त्रसंहितामें इस प्रपत्तिके छः अंगोंका वर्णन किया गया है। यथा—

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।

इन अंगोंका विवरण इस प्रकार है—

आनुकूल्यमिदं प्रोक्तं सर्वभूतानुकूलता।
अन्तःस्थितोऽहं सर्वेषां भूतानामिति निश्चयात्॥
एतेन व्याप्तिविज्ञानात्प्रपत्तव्यस्य सर्वशः।

भगवान् कहते हैं कि 'सर्वान्तरात्मा, सर्वव्यापक जो मैं हूँ, उसकी सम्पूर्ण चेतनाचेतन पदार्थोंमें व्याप्तिका निश्चय करके जीवमात्रके अनुकूल होना ही शरणागतिका पहला अंग सर्वभूतानुकूलतारूप आनुकूल्यका संकल्प है।'

फिर कहते हैं—

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पात्प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
हिंसाद्यपायविरतिरुक्ता सर्वेषु जन्तुषु॥

'आनुकूल्यके संकल्पसे प्रातिकूल्यका त्याग होता है। प्राणिमात्रकी हिंसारूपी अनर्थसे बचना ही प्रातिकूल्यका त्याग है।'

अब तीसरे अंगका वर्णन करते हैं—

शक्तेः सूपसदत्वाच्च कृपायोगाच्च शाश्वतात्।
ईशेशितव्यसम्बन्धादनिशं प्रथमादपि॥
रक्षिष्यत्यनुकूलान्न इति या सुदृढा मतिः।
स विश्वासो भवेच्छक्र सर्वदुष्कृतनाशनः॥
स्वरक्षायोग्यतां ज्ञात्वा प्रपत्तव्यस्य युक्तितः।
रक्षिष्यतीति विश्वासादभीष्टोपायकल्पनम्॥

'शरण्य परमात्मामें सम्पूर्ण शक्ति तथा निरन्तर कृपागुणकी पूर्ति होनेसे तथा उनके साथ जीवका सेव्य-सेवकभावरूप सम्बन्ध अनादि कालसे होनेसे, उनकी आज्ञाके अनुकूल चलनेवाले हम सब आश्रितोंकी वे अवश्य रक्षा करेंगे—ऐसा दृढ़ विश्वास सम्पूर्ण दुष्कृतका नाश करनेवाला होता है, ऐसा लक्ष्मीतन्त्रसंहितामें श्रीजीने इन्द्रसे कहा है। सयुक्तिक अनेक प्रमाणोंसे दृढ़ निश्चय करे कि सर्वेश्वर ही सर्वप्रकारसे सर्वदा रक्षक हैं और ऐसा विश्वास करके अभीष्ट फलकी प्राप्तिके लिये उन्हींको उपाय समझना शरणागतिका प्रधान अंग है।'

गोप्तृत्ववरणरूप चौथे अंगका स्वरूप इस प्रकार है—

करुणावानपि व्यक्तं शक्तः स्वाम्यपि देहिनाम्।
अप्रार्थितो न गोपायेदिति तत्प्रार्थनामतिः॥
गोपायिता भवेत्येवं गोप्तृत्ववरणं स्मृतम्।
याच्ञापर्यवसायित्वं प्रपत्तेरत इष्यते॥

'भगवान् परम दयालु, सर्वशक्तिमान् और सम्पूर्ण देहधारियोंके साक्षात् स्वामी होते हुए भी प्रार्थना किये बिना रक्षा नहीं करते; अतः संसारबन्धननिवृत्तिपूर्वक अंगीकार करनेके लिये सर्वदा प्रभुसे प्रार्थना करते रहना प्रपत्तिका गोप्तृत्ववरणरूप चौथा अंग है। इसीसे प्रपत्ति याच्ञापर्यवसायिनी कही जाती है।'

आत्मनिक्षेपरूप पाँचवाँ अंग इस प्रकार है—

प्रपत्तेस्तु प्रपत्तव्यप्रसादद्वारता तथा।
तेन संरक्ष्यमाणस्य फलं स्वाम्यवियुक्तता॥
केशवार्पणपर्यन्ता ह्यात्मनिक्षेप उच्यते।
उपाये च फले चैव स्वप्रयत्ननिवर्तनम्॥
स्वाम्यायत्तमिति व्यक्तं निक्षेपस्याङ्गिता तथा।

'शरण्यकी कृपाद्वारा ही प्रपत्तिकी सिद्धि है। सर्वेश्वरके द्वारा सुरक्षित प्रपन्नोंको नित्य निष्काम भगवत्सेवाके अतिरिक्त भोग-मोक्षरूप फल नहीं मिलता।' अतः—

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पितम्।

—इस न्यायसे आत्मसमर्पण प्रपत्तिका खास अंग है। उपाय और फल दोनोंमें अपने प्रयत्नकी निवृत्ति और आत्मेश्वर गोविन्दके अधीन ही सब कुछ है, ऐसा समझना ही स्पष्ट निक्षेप (आत्मसमर्पण) है। इसे शरणागतिका अंग न कहकर अंगी ही समझना चाहिये।

अब छठे अङ्ग कार्पण्यका स्वरूप बतलाते हैं—

अङ्गसामग्र्यसम्पत्तेरशक्तश्चापि कर्मणाम्।
अधिकारस्य चासिद्धेर्देशकालगुणक्षयात्॥
उपाया नैव सिद्ध्यन्ति ह्यपायबहुलास्तथा।
इति या गर्वहानिस्तद्दैन्यं कार्पण्यमुच्यते॥

'अंगसामग्री-सम्पत्तिकी विकलता (अपूर्णता)-से सम्पूर्णतया कर्मोंके करनेमें असमर्थता होनेसे अधिकारकी सिद्धि नहीं होती तथा देश, काल, गुणकी क्षीणतासे उपायादि सिद्ध नहीं होते। और एक अर्थ सिद्ध नहीं होने पाता, तबतक अनेक अनर्थ उपस्थित हो जाते हैं। इन सब बातोंका विचार करके गर्वका नाश होना और सच्ची दीनताका उदय होना कार्पण्य है।'

और भी कहा है—

उपायान्तरदौष्कर्यात्तन्निवृत्तिर्हि सूचिता।
अकिञ्चनाधिकारित्वं प्रपत्तेरपि सूचितम्॥

'उपायान्तरोंके दुष्कर होनेसे उनकी निवृत्ति कही गयी है। इससे प्रपत्तिके अधिकारी अकिंचन ही हो सकते हैं, यह बात बतलायी गयी।'

आर्त्तप्रपत्तावित्येषामङ्गानां सन्निधिस्तथा।
दृप्तप्रपत्तावेतानि भविष्यन्त्युत्तरोत्तरम्॥

'आर्तप्रपत्तिमें इन सब अंगोंका सान्निध्य एक साथ होता है और दृप्तप्रपत्तिमें ये उत्तरोत्तर आते हैं।'

प्रपत्तिके आर्त और दृप्त भेदोंका श्रीरामायण-युद्धकाण्डके विभीषण-शरणागति-प्रसंगमें उल्लेख हुआ है। यथा—

आर्त्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणागतः।
अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना॥

सर्वलोकशरण्य जानकीवल्लभ श्रीराघवेन्द्रका वचन है—'आर्त अथवा दृप्त पुरुष यदि शत्रुके भी शरण चला जाय तो शुद्धात्मा पुरुषको चाहिये कि अपने प्राणकी बाजी लगाकर भी उस शरणमें आये हुए शत्रुकी रक्षा करे, अनुकूलके विषयमें तो कहना ही क्या।' आर्त तथा दृप्त प्रपन्नका लक्षण पांचरात्रमें इस प्रकार दिया है—

यस्य देहान्तरकृते शोको दृप्तः स उच्यते।
यश्च प्रारब्धदेहेऽपि शोचत्यार्त्तः स उच्यते॥

इस देहसे निःशेष प्रारब्धकर्मोंको भोगनेके बाद दूसरा देह न धारण करना पड़े—इसके लिये जो भगवान्की शरणमें जाते हैं, वे 'दृप्त शरणागत' कहलाते हैं। तथा '**त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्**' इत्यादि प्रमाणानुसार दोनों तरफ जलती हुई लकड़ीके बीचमें आयी हुई पिपीलिकाकी तरह तथा वनमें व्याध, कुत्ते, जाल एवं अग्निसे चारों ओर घिरी हुई मृगीकी भाँति संसारी तापसे घबड़ाये हुए एवं भगवत्प्राप्तिके लिये सच्ची तड़प एवं उत्कण्ठाका अनुभव करनेवाले आर्त्तप्रपन्न कहे जाते हैं। इस प्रकार आर्त्त-दृप्त-भेदसे प्रपत्ति दो प्रकारकी कही गयी है।

प्रपन्नश्चातको यद्वत्प्रपत्तव्यः कपोतवत्।
रक्ष्यरक्षकयोरेतल्लक्षणं लक्ष्यमेतयोः॥

'प्रपन्नमें चातक पक्षीकी जैसी दृढ निष्ठा और प्रपत्तव्य (शरण्य)-में कपोतकी भाँति सर्वस्व त्यागकर भी शरणमें आये हुएकी रक्षा करनेका संकल्प—यही क्रमशः शरणागत एवं शरण्यका लक्ष्य एवं लक्षण है।'

साधनान्तरदुःसाधं प्राप्यं यल्लोकवेदयोः।
सुखेन प्राप्यते येन सा प्रपत्तिरिति स्थितिः॥

'लौकिक एवं वैदिक सम्पूर्ण फल जो दूसरे साधनोंसे दुःसाध्य हैं, वे सब-के-सब प्रपत्तिसे सुलभ हो जाते हैं—यह निश्चय है।'

अब इसके अधिकारके विषयमें कुछ लिखा जाता है।

लक्ष्मीतन्त्रसंहितामें इस प्रकार श्रीजीकी आज्ञा है—

अनन्योपायसक्तस्य प्राप्येच्छोरधिकारिता।
प्रपत्तौ सर्ववर्णस्य सात्त्विकत्वादियोगतः॥
सा हि सर्वत्र सर्वेषां सर्वकामफलप्रदा।
इति सर्वफलप्राप्तौ सर्वेषां विहिता यतः॥

'उपायान्तरोंमें आसक्तिका त्याग करनेवाला और प्राप्य वस्तुमें रुचि रखनेवाला ही प्रपत्तिका अधिकारी है। इसमें वर्णाश्रमादिका नियम नहीं है, जीवमात्रका इसमें अधिकार है। सब वर्णों एवं सभी आश्रमोंके लोगोंको तथा स्त्री, शूद्र, अन्त्यजादि सबको सर्वत्र सम्पूर्ण फल देनेवाली प्रपत्तिका शास्त्रोंने विधान किया है।'

आदि राजा मनु अपनी स्मृतिमें संन्यास-धर्मका वर्णन करते हुए प्रणवार्थानुसन्धानपूर्वक न्यासविद्याकी ओर इशारा करते हुए कहते हैं—

इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम्।
इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम्॥

अर्थात् अज्ञ-सर्वज्ञ एवं स्वर्ग-ऐश्वर्य, कैवल्य-मोक्ष तथा भगवत्प्राप्तिप्रभृति सम्पूर्ण मनोरथोंवाले सर्वाधिकारियोंके लिये शरणागति ही एकमात्र परमोत्तम उपाय है। ब्रह्म-रुद्रादि देवगण, धर्मपुत्र युधिष्ठिरादि, द्रौपदी, काक (जयन्त), कालियनाग, श्रीगजेन्द्र, श्रीविभीषण, श्रीश्रीरामचन्द्र भगवान् तथा लक्ष्मणजी प्रभृति शरणागतिके कुछ इतिहास- प्रसिद्ध उदाहरण हैं। महाभागवत कवि भीष्मपितामह महाराज युधिष्ठिरसे कहते हैं—

अथ पातकभीतस्त्वं सर्वभावेन भारत।
मुक्त्वा ह्यन्यसमारम्भं नारायणपरो भव॥

'हे भरतवंशोद्भव युधिष्ठिर! तुम यदि पातकसे डरते हो, तो सब साधनोंको त्याग कर एकमात्र नारायणपरायण हो जाओ।'

बस, पितामहके श्रीमुखसे ये वचन सुनते ही द्रौपदीसहित सब लोग नारायणपरायण हो गये।

द्रौपदीसहिताः सर्वे नारायणपराभवन्।
द्रौपद्या सहिताः सर्वे नमश्चक्रुर्जनार्दनम्॥

वस्त्रापहारके समय कौरव-सभामें द्रौपदी इस प्रकार भगवान्‌से कातर प्रार्थना करती है—

शङ्खचक्रगदापाणे द्वारकानिलयाच्युत।
गोविन्द पुण्डरीकाक्ष रक्ष मां शरणागताम्॥

'हे शंख-चक्र-गदाधारी द्वारकावासी कमलनयन गोविन्द! आपकी शरणमें आयी हुई मुझ अबलाकी रक्षा करिये।'

जयन्तके सम्बन्धमें रामायणमें यह श्लोक मिलता है—

स पित्रा च परित्यक्तः सुरैश्च समहर्षिभिः।
त्रींल्लोकान् संपरिक्रम्य तमेव शरणं गतः॥

'माता-पिता तथा सब देवताओं और ऋषियोंसे त्यागा हुआ इन्द्रपुत्र जयन्त तीनों लोकोंमें भटक कर श्रीरामजीके शरण गया।'

श्रीकृष्णके चरण-प्रहारसे जर्जरित होकर कालियनागने भगवान्‌से इस प्रकार प्रार्थना की थी—

सोऽहं ते देवदेवेश नार्चनादौ स्तुतौ न च।
सामर्थ्यवान् कृपामात्रमनोवृत्तिः प्रसीद मे॥

'हे देवोंके देव! अत्यन्त व्यथित होनेके कारण मैं आपकी सेवा-पूजा अथवा स्तुति करनेमें असमर्थ हूँ, किन्तु आपकी शरणमें आया हूँ; अतः अपनी अहैतुकी दयासे आप मुझपर प्रसन्न हों।'

इसी प्रकार प्राण-संकटको प्राप्त गजेन्द्र मनसे ध्यान करता हुआ नारायणके शरण हुआ—

परमापदमापन्नो मनसाचिन्तयद्धरिम्।
स तु नागवरः श्रीमान् नारायणपरायणः॥

विभीषण स्वयं कहते हैं कि जब रावणने कटुवचन कहकर नौकरकी तरह उनका अपमान किया तो वे स्त्री-पुत्रादिको छोड़कर श्रीराघवेन्द्रकी शरणमें चले आये—

सोऽहं परुषितस्तेन दासवच्चावमानितः।
त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः॥

'**समुद्रं राघवो राजा शरणं गन्तुमर्हति**', राजाधिराज राघवेन्द्र समुद्रकी शरण जायँ—इस प्रकार सखा विभीषणकी प्रार्थना सुनकर सर्वलोकशरण्य श्रीसरकार सर्प-शरीरके समान सुन्दर भुजदण्डको तकिया बनाकर पूर्वाभिमुख प्रणाम कर समुद्रके शरण गये—

बाहुं भुजगभोगाभमुपधायारिसूदनः।
अञ्जलिं प्राङ्मुखः कृत्वा प्रतिशिश्ये महोदधेः॥

रामसेवा-प्राप्तिके लिये श्रीजानकीजीको मध्यस्थ करके कोसलेन्द्रके चरणारविन्दको दृढ़तासे पकड़कर लक्ष्मणजी श्रीरामजीके शरण हुए, ऐसा वर्णन बाल्मीकि-रामायणमें मिलता है—

स भ्रातुश्चरणौ गाढं निपीड्य रघुनन्दनः।
सीतामुवाचातियशा राघवं च महाव्रतम्॥

क्षत्रबन्धुने निम्नलिखित शब्दोंमें भगवान्‌से कृपाकी याचना की—

मूढोऽयमल्पमतिरल्पविचेष्टितोऽयं
क्लिष्टं मनोऽस्य विषयैर्न मयि प्रसङ्गि।
इत्थं कृपां कुरु मयि प्रणतेऽखिलेश
त्वां स्तोतुमम्बुजभवोऽपि हि देव नेशः॥

'मैं अत्यन्त मूढ़, अल्पबुद्धि और क्षुद्र चेष्टावाला हूँ; मेरा मन विषयोंके द्वारा क्लेशित होनेके कारण ही आपमें आसक्त नहीं होता। अतः हे सर्वेश्वर, मुझ शरणागतपर कृपा करें। आपकी स्तुति करनेमें तो स्वयं ब्रह्मा भी समर्थ नहीं हैं, औरोंकी तो बात ही क्या है!'

जिस समय नागपत्नियोंने देखा कि उनके पति (कालियनाग)-के मस्तक और फण आदि फूट गये हैं और उसके मुखोंसे खून बहने लगा है, उस समय वे भी भगवान् श्रीकृष्णके शरण हुईं—ऐसा वर्णन श्रीमद्भागवत-में मिलता है।

तं प्रभिन्नशिरोग्रीवमास्येभ्यः स्रुतशोणितम्।
विलोक्य शरणं जग्मुस्तत्पत्न्यो मधुसूदनम्॥

जिस समय वानरोंकी महती सेनाका राक्षसलोग संहार करने लगे, उस समय वह सेना शरणागतवत्सल दशरथनन्दन श्रीरामके शरण हुई—

राक्षसैर्वध्यमानानां वानराणां महाचमूः।
शरण्यं शरणं याता रामं दशरथात्मजम्॥

वत्सहरणके अपराधको क्षमा कराते हुए चतुर्मुख ब्रह्मा निम्नलिखित शब्दोंमें भगवान्‌की स्तुति करते हैं—

तावद्रागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत्कृष्ण न ते जनाः॥

'हे कृष्ण! ये रागादिक चोर तभीतक हमारे

विवेकरूपी धनको चुराते हैं, यह घर तभीतक जेलखाना बना हुआ है और मोह तभीतक हमारे पैरोंको जकड़े हुए है, जबतक हम तुम्हारे भक्त नहीं हो जाते।'

और फिर भगवान्‌की तीन प्रदक्षिणा करके तथा उनके चरणोंमें प्रणाम करके अपने लोकको चले जाते हैं—

इत्यभिष्टूय भूमानं त्रिः परिक्रम्य पादयोः।
नत्वाभीष्टं जगद्धाता स्वधाम प्रत्यपद्यत॥

श्रीकृष्ण-बाणासुर-संग्राममें लीलापुरुषोत्तम सरकारसे बाणासुरका प्राणदान माँगते हुए भगवान् शंकर इस प्रकार स्तुति करते हैं—

अहं ब्रह्माथ विबुधा मुनयश्चामलाशयाः।
सर्वात्मना प्रपन्नास्त्वामात्मानं प्रेष्ठमीश्वरम्॥
तं त्वा जगत्स्थित्युदयान्तहेतुं
समं प्रशान्तं सुहृदात्मदैवम्।
अनन्यमेकं जगदात्मकेतं
भवापवर्गाय भजाम देवम्॥

'मैं, ब्रह्मा, अन्य देवता तथा निर्मल अन्तःकरणवाले मुनिगण सबके आत्मा, प्रियतम एवं स्वामिरूप आपके सर्वतोभावेन शरण हुए हैं। आप जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयके कारण हैं, सबके प्रति समानभाव रखनेवाले हैं, अत्यन्त शान्त हैं, समानादि भेदरहित हैं, एक हैं, जगत्‌के और जीवोंके अधिष्ठान हैं, बुद्धिकी प्रेरणा करनेवाले, सर्वात्मा तथा ईश्वर हैं। जन्म-मरणके चक्करसे छूटनेके लिये हम आपकी शरणमें जाते हैं।'

शिवावतार भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य इन शब्दोंमें भगवान् नारायणसे प्रार्थना करते हैं—

नारायण करुणामय शरणं करवाणि तावकौ चरणौ।
इति षट्पदी मदीये वदनसरोजे सदा वसतु॥

'हे नारायण! हे करुणामय! (मैं) आपके चरणोंका आश्रय लूँ—यह छः पदोंका वाक्य छः पैरवाले भौंरेकी तरह निरन्तर मेरे मुखरूपी कमलमें निवास करे।'

शेषावतार श्रीरामानुज स्वामीजी इस प्रकार भगवान्‌से विनय करते हैं—

सर्वधर्मांश्च संत्यज्य सर्वकामांश्च साक्षरान्।
लोकविक्रान्तचरणौ शरणं तेऽव्रजं विभो॥

'हे सर्वव्यापक विभो! मैं समस्त धर्मों और सब प्रकारकी कामनाओंका शास्त्रोंसहित परित्याग करके आपके उन चरणयुगलकी शरणमें आया हूँ, जिन्होंने वामनावतारमें त्रिलोकीको नाप लिया था।'

श्रीमध्वाचार्यजी कहते हैं—

'श्रीमन्तं तमुपास्महे सुमनसामिष्टप्रदं विट्ठलम्।'

अर्थात् हम उन विट्ठलभगवान्‌की उपासना करते हैं (शरणमें जाते हैं), जो शुद्ध (सरल) चित्तवालोंके मनोरथ पूर्ण करनेवाले हैं।

श्रीनिम्बार्काचार्यजी कहते हैं—

नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्
संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात्।

अर्थात् ब्रह्मा, शिव आदि देववरोंके द्वारा वन्दित भगवान् श्रीकृष्णके चरणारविन्दको छोड़कर दूसरी गति नहीं दिखायी देती।

श्रीवल्लभाचार्यजीने '**श्रीकृष्णः शरणं मम,**' और '**दासोऽहं श्रीकृष्ण तवास्मि**' इत्यादि मन्त्रोंद्वारा श्रीकृष्णकी शरण ग्रहण की।

अब भक्ति और प्रपत्तिका भेद बतलाते हैं—

जन्मान्तरसहस्त्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते॥

—इत्यादि प्रमाणानुसार भक्ति आयाससाध्य है और प्रपत्ति महाविश्वासरूपा होनेसे विश्वाससाध्य है।

राक्षसानामविश्रम्भादाञ्जनेयस्य बन्धने।
यथा विगलिताः सद्यो ह्यमोघा अस्त्रबन्धनाः॥
तथा पुंसामविश्रम्भात्प्रपत्तिर्विच्युता भवेत्।

इन्द्रजित्‌के द्वारा प्रयोग किये हुए ब्रह्मास्त्रके बन्धनको हनूमान्‌जीने स्वीकार किया, किन्तु राक्षसोंने विश्वास न करके सनकी रज्जुसे उन्हें बाँध दिया। दिव्यास्त्र-बन्धन प्राकृत बन्धनको सहन नहीं कर सकता, इसलिये वह हनूमान्‌जीको छोड़कर चल दिया। इसी प्रकार विश्वासकी शिथिलतासे प्रपत्ति मनुष्यको छोड़ देती है। सिद्धोपायरूप भगवत्-चरणारविन्दमें दृढ़ निष्ठा करके इतर उपायोंको त्याग देना ही इसका प्रधान अंग है।

सिद्धोपायरूपा प्रपत्तिमें दो प्रकारकी निष्ठा कही गयी है। इसका अनुष्ठान करनेवाले अधिकारी भी अलग-अलग हैं। इनमेंसे एक उपायनिष्ठ अधिकारी

कहलाते हैं—श्रीजानकीजी तथा द्रौपदी प्रभृति इसके उदाहरण हैं।

शरैस्तु सङ्कुलां कृत्वा लंकां परबलार्दनः।
मां नयेद्यदि काकुत्स्थस्तत्तस्य सदृशं भवेत्॥

अपने कंधेपर विराजमान करके श्रीरघुनाथजीके पास ले जानेके लिये प्रार्थना करनेपर श्रीस्वामिनीजी हनुमान्‌जीसे आज्ञा करती हैं कि 'बाणोंसे लंकाको टुकड़े-टुकड़े करके यदि स्वयं रामजी हमको ले जायँगे, तभी उनके अनुरूप बर्ताव होगा।'

'**शीतो भव हनूमतः**' इस वचनसे अंजनीनन्दनके पुच्छकी अग्निको चन्दनके समान शीतल कर देनेवाली श्रीमिथिलेशकिशोरी रावणसे कहती हैं—

असंदेशात्तु रामस्य तपसश्चानुपालनात्।
न त्वां कुर्मि दशग्रीव भस्म भस्मार्हतेजसा॥

आश्रितोंको अपनी रक्षा स्वयं करनेके लिये रामकी आज्ञा नहीं; कारण सर्वजगद्रक्षक प्रभु अपने आश्रितोंकी रक्षा अपना खास कर्तव्य समझते हैं। अतः प्राणेशके आज्ञाविरुद्ध मैं अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकती। अपरञ्च शेषत्व अर्थात् पारतन्त्र्य-ज्ञानका पालन करती हुई, भस्म करनेमें समर्थ तेजके रहते हुए भी, हे रावण! मैं तुझे भस्म नहीं कर रही हूँ।

इससे यह समझना चाहिये कि सिद्धोपायरूप रामको अवलम्बन करके जानकीजी अपनी शक्ति त्याग देती हैं। द्रौपदीने भी सिद्धोपायरूप द्वारकानाथको अवलम्बन करके अपनी लज्जा त्याग दी थी। तिरुकराणमंगै आंडालने आचार्य प्रभुके भरोसे अपना सम्पूर्ण व्यापार त्याग दिया। इस प्रकार उपायनिष्ठावाले प्रपन्न दूसरे-दूसरे उपायोंको वासनासहित त्याग देते हैं।

दूसरी 'उपेयनिष्ठा' है। उपेय फलको कहते हैं। प्रपन्नोंकी दृष्टिमें परमफल तत्सुखसुखीभावसे श्रीयुगल-सरकारकी सेवा ही है। इस अधिकारके उदाहरण श्रीलक्ष्मणजी, जटायुजी, चिन्तयन्ती गोपी, तिरुनरयूर आचार्य प्रभृति हैं। श्रीलक्ष्मणजीने रामसेवा अवलम्बनकर, राज्यसुख, भोजन, निद्रा, स्त्री प्रभृति सब कुछ त्याग दिया। जटायुने रामसेवाके निमित्त प्राण त्याग दिये। चिन्तयन्ती गोपीने रासविहारी व्रजेन्द्रनन्दनकी सेवाके विरोधी शरीरको त्याग दिया। आचार्य तिरुनरयूरने भी अर्चारूपी श्रीनारायणकी रक्षा करते हुए सपरिवार अग्निमें शरीर त्यागकर नित्यसेवा-सुख प्राप्त किया।

परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि।

—इत्यादि प्रमाणानुसार सिद्धोपायरूप भगवान्‌के अतिरिक्त सम्पूर्ण उपायोपेय एवं निषिद्धानुष्ठानका त्याग तथा अत्यन्त स्वरूपविरुद्ध अति तुच्छ सांसारिक विषयोंसे तीव्र वैराग्य न्यासविद्यावालोंके लिये अत्यावश्यक है और न्यासविद्या नामवाली इस प्रपत्तिके याच्ञापर्यवसायिनी होनेसे प्रपन्नोंको नीचे लिखे अनुसार सदा प्रार्थना करते रहना चाहिये। प्रार्थनाका प्रकार यह है—

अत्यन्ताकिञ्चनोऽहं त्वदपचरणतः सन्निवृत्तोऽद्य नाथ त्वत्सेवैकान्तधीः स्यां त्वमसि शरणमित्यध्यवस्यामि गाढम्। त्वं मे गोपायिता स्यास्त्वयि निहितभरोऽस्म्येवमित्यर्पितात्मा यस्मै संन्यस्तभारः सकृदिति तु सदा न प्रयस्येत्तदर्थम्॥

'हे नाथ! मैं अत्यन्त अकिंचन (साधनशून्य) हूँ तथा आपके आज्ञाविरुद्ध अकृत्यकरणादि भगवदपराधसे निवृत्त हूँ। मुझे एकमात्र आपकी नित्यसेवाकी ही चाह है और इस मनोरथकी प्राप्तिके लिये मैं आपहीको दृढ़ उपायरूपसे निश्चय करता हूँ। आप ही मेरे रक्षक हैं; शरीर-यात्रा, आत्मयात्रारूप लौकिक-पारलौकिक सम्पूर्ण भार आपहीके ऊपर छोड़ता हूँ। प्रपन्नजन जिस प्रयोजनके लिये इस प्रकार दृढ़ विश्वासपूर्वक आत्मसमर्पण करते हैं, वह भारसमर्पणरूपा प्रपत्ति एक ही बार होती है। प्रपत्ति आचार्यद्वारा एक बार हो जानेपर चेतनको अपने कल्याणके लिये आमरणान्त पुनः कुछ करनेकी जरूरत नहीं रह जाती।' '**मामेकं शरणं व्रज**' इस न्यायसे प्रपत्ति ज्ञानविशेष ही है। इसलिये '**शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः**' इस प्रमाणके अनुसार ज्ञानियोंको जैसे आजन्म नित्य-नैमित्तिकादि कर्म करने ही पड़ते हैं, उसी प्रकार न्यासविद्यावालोंके लिये भी आजन्म कर्मादि अनुष्ठानका नियम इस प्रकार है—

आज्ञा कैङ्कर्यवृत्तिष्वनघगुरुजनप्रक्रियानेमिवृत्तिः स्वार्हानुज्ञातसेवाविधिषु च शकने यावदिष्टं प्रवृत्तः। कर्म प्रारब्धकार्यं प्रपदनमहिमध्वस्तशेषं द्विरूपं भुक्त्वा स्वाभीष्टकाले विशति भगवतः पादमूलं प्रपन्नः॥

'प्रपन्नोंका कर्मयोग भगवदाज्ञा-भगवतत्कैंकर्यमें अन्वित है, ज्ञानयोग स्वरूपज्ञानमें अन्वित है और भक्तियोग

इष्ट युगलसरकारकी प्रीतिमें अन्वित है। प्रपन्नजन इस प्रकार शिष्टाचाररूप भगवदाज्ञाका पालन करते हुए प्रारब्धरूप पुण्य-पाप-कर्मोंको भोगद्वारा नि:शेष करके भगवच्चरणारविन्दकी नित्यसेवारूप महाफलको प्राप्त होते हैं।'

इस प्रकार संक्षेपसे न्यासविद्याका दिग्दर्शन कराया गया। विशेष जिज्ञासा हो तो हमारे द्वारा अनुवादित 'प्रपन्नपारिजात' नामक प्रबन्धको देखना चाहिये।

श्रीकृष्णार्पणमस्तु!

साधन-भक्तिके चौंसठ अंग

(लेखक—श्रीमन्माध्वसम्प्रदायाचार्य दार्शनिकसार्वभौम साहित्य-दर्शनाद्याचार्य, तर्करत्न, न्यायरत्न श्रीदामोदरजी गोस्वामी)

संसृतिनिवृत्तिहेतव उक्ताः शास्त्रेषु बहुविधा यद्यपि।
मौलिस्तथापि तेषां स्वयमुक्ता भगवता भक्तिः॥

'यद्यपि शास्त्रोंमें संसारसे छुड़ानेके अनेकों साधन कहे गये हैं, तथापि भगवान्ने स्वयं भक्तिको सब साधनोंका मुकुटमणि कहा है।'

कल्याणमयकी कल्याणकारिणी इच्छासे प्रचारित 'कल्याण' का मुख्य उद्देश्य कल्याणपरायण लेखोंद्वारा विशेषत: विशेषांकोंके प्रकाशनसे मानव-समूहका कल्याण करना है; सुतरां अबकी बार 'साधनांक' निकालनेके लिये अन्तर्यामीने आदेश किया, पर ऐसी स्थितिमें जिन साधनोंका परमार्थमें उपयोग नहीं है उनका वर्णन इस अंकमें नहीं हो सकता; उन्हीं साधनोंका वर्णन इस अंकमें हो सकता है, जो साक्षात् अथवा परम्परासे परमार्थके अनुकूल हों। 'परमार्थ' शब्दका अर्थ कई प्रकारसे किया गया है। कई लोगोंने इसका अर्थ किया है—दु:खोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति। दूसरे लोगोंने दु:खोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिको पर्याप्त न मानकर उसके साथ-साथ सुखकी प्राप्तिको भी परमार्थका वाच्य माना है। कुछ दूसरे लोगोंने स्वरूपानुभूतिको परमार्थ माना है और कुछ लोगोंने परम सुखकी सर्वदा अनुभूति करना ही परमार्थका अर्थ समझा है। कुछ लोग ऐसे भी हैं, जिन्होंने दु:खोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिके विषयमें उदासीन रहकर साध्य-भक्तिमें मग्न रहनेको ही परमार्थका स्वरूप माना है। परमार्थके इन विविध अर्थोंमें ही समस्त दार्शनिक सिद्धान्तोंका समावेश हो जाता है। ये सब दर्शन तात्पर्य-भेदकी दृष्टिसे ही परस्पर भिन्न हैं।

उपर्युक्त परमार्थके साधन भी कर्म, ज्ञान, भक्ति और योग—इस प्रकार चार माने गये हैं। ये सब साधन समान कोटिके नहीं हैं, किन्तु योग्यतानुसार इनमेंसे कुछ अन्तरंग साधन हैं और कुछ बहिरंग। उदाहरणत: अन्त:करणकी शुद्धिके लिये सन्ध्यादि नित्यकर्म अवश्य करने चाहिये और चित्तकी एकाग्रताके लिये योग साधनेकी अपेक्षा होती है। अनादि संसार-प्रवाहमें संस्कारोंकी विचित्रतासे जिनका चित्त द्रवीभूत नहीं होता, ऐसे अधिकारी ज्ञानप्रवण होते हैं अर्थात् उनकी प्रवृत्ति ज्ञानकी ओर होती है; तथा जिनका चित्त द्रवीभूत हो जाता है, वे अधिकारी भक्तिनिष्ठ होते हैं। पर ऐसी व्यवस्था होनेपर भी, और साधनोंकी अपेक्षा अधिक उपयोगी होनेके कारण भक्तिसाधनोंकी मुख्यता मानी गयी है। क्योंकि जो फल भक्तिसे प्राप्त होता है वह कर्म, ज्ञान अथवा योग—किसीसे भी सिद्ध नहीं होता; किन्तु जो फल कर्म, ज्ञान और योगसे सिद्ध होता है वह साधन-भक्तिसे भी सिद्ध हो सकता है। अत: नीचे साधन-भक्तिके चौंसठ अंगोंका निर्देश किया जाता है। वे इस प्रकार हैं—

(१) श्रीगुरुचरणोंका आश्रय लेना।
(२) श्रीकृष्ण-मन्त्रकी दीक्षा तथा उसीसे सम्बन्धित उपदेश ग्रहण करना।
(३) विश्वासपूर्वक श्रीगुरुचरणोंकी सेवा करना।
(४) भगवद्भक्तोंद्वारा परिगृहीत मार्गका अवलम्बन करना।
(५) भागवतधर्मके सम्बन्धमें प्रश्न करना।
(६) भगवान्के निमित्त भोगोंका त्याग करना।
(७) मथुरा, वृन्दावन आदि भगवद्धामोंमें निवास करना।
(८) केवल आवश्यक वस्तुओंको स्वीकार करना।
(९) एकादशी तिथिका सम्मान करना।
(१०) पीपल आदि वृक्षोंका आदर करना।
(११) श्रीकृष्णविमुख पुरुषोंके संगका त्याग करना।
(१२) अनधिकारियोंको शिष्य न बनाना।
(१३) भगवद्भक्तिके विरोधी ग्रन्थोंका अवलोकन न करना।
(१४) भगवद्भक्ति-विरोधी कार्योंमें हाथ न डालना।

(१५) उचित व्यवहारमें कृपणता न करना।
(१६) शोक, क्रोधआदि विकारोंकेवशीभूत न होना।
(१७) अन्य देवोंकी अवज्ञा न करना।
(१८) किसी भी जीवको उद्वेग न पहुँचाना।
(१९) सेवापराधों तथा नामापराधोंसे बचना।
(२०) भगवान् तथा भक्तोंकी निन्दा न सुनना।
(२१) तिलक, मुद्रा आदि वैष्णचिह्नोंको धारण करना।
(२२) भगवन्नामके अक्षरोंको शरीरपर धारण करना।
(२३) भगवान्‌को निवेदित की हुई माला आदि धारण करना।
(२४) भगवद्विग्रहके सामने प्रेमावेशमें नृत्य करना।
(२५) भगवद्विग्रहको दण्डवत्-प्रणाम करना।
(२६) भगवद्विग्रहका दर्शन होनेपर अभ्युत्थान देना (उठ खड़े होना)।
(२७) भगवान्‌की सवारीके पीछे-पीछे चलना।
(२८) भगवान्‌के मन्दिरोंमें जाना।
(२९) भगवान्‌के मन्दिरकी प्रदक्षिणा करना।
(३०) भगवान्‌के श्रीविग्रहका पूजन करना।
(३१) भगवान्‌के श्रीविग्रहकी परिचर्या करना, (उन्हें पंखा झलना, उनके लिये प्रसाद तैयार करना, माला गूँथना, चन्दन घिसना, उनके मन्दिरमें झाड़ू लगाना आदि)।
(३२) भगवान्‌के श्रीविग्रके सम्मुख गान करना।
(३३) भगवान्‌के नाम, गुण, लीला आदिका कीर्तन करना।
(३४) इष्ट-मन्त्रका जप करना।
(३५) भगवान्‌से प्रार्थना करना।
(३६) भगवान्‌के स्तोत्रोंका पाठ करना।
(३७) भगवान्‌को निवेदित किये हुए प्रसादका ग्रहण करना।
(३८) भगवान्‌के चरणामृतका पान करना।
(३९) भगवान्‌को चढ़ी हुई धूपके गन्धको ग्रहण करना।
(४०) पवित्रताके साथ भगवान्‌के श्रीविग्रहका स्पर्श करना।
(४१) भगवान्‌के श्रीविग्रहका दर्शन करना।
(४२) उनकी आरतीका दर्शन करना।
(४३) उनके नाम, गुण, लीला आदिका श्रवण करना।
(४४) उनकी कृपाकी बाट जोहते रहना।
(४५) उनका नित्य-निरन्तर स्मरण करना।
(४६) उनके रूपका ध्यान करना।
(४७) अपने द्वारा किये हुए शुभ कर्मोंको भगवान्‌के अर्पित करना।
(४८) प्रभुमें दृढ़ विश्वास करना।
(४९) अपने आत्मा तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्तियों एवं वस्तुओंको भगवान्‌के अर्पण करना।
(५०) अपनी प्रिय वस्तुका भगवान्‌के चरणोंमें निवेदन करना।
(५१) भगवान्‌की शरणमें जाना।
(५२) भगवान्‌के लिये सारी चेष्टाएँ करना।
(५३) तुलसीके बिरवेकी सेवा करना (उसे सींचना, उसकी प्रदक्षिणा करना तथा दीपदान करना)।
(५४) भक्ति-शास्त्रोंकी चर्चा करना।
(५५) भगवद्धाममें प्रीति करना।
(५६) वैष्णवोंकी सेवा करना (उन्हें भोजन कराना तथा उनकी अन्य आवश्यकताओंको पूर्ण करना)।
(५७) यथाशक्ति भगवान्‌के उत्सवोंको मनाना।
(५८) कार्तिकमासको विशेष आदर देना।
(५९) भगवान्‌की जयन्ती (जन्माष्टमी आदि)मनाना।
(६०) भगवद्विग्रहकी सेवामें प्रीति करना।
(६१) श्रीमद्भागवतशास्त्रका मनन करना।
(६२) भगवद्भक्तोंका संग करना।
(६३) नाम-कीर्तनका अभ्यास करना।
(६४) मथुरामण्डलका सेवन करना।

ऊपर भक्तिके चौंसठ अंगोंका परिचय मात्र दिया गया है। इनके लक्षण, प्रमाण एवं उदाहरण आदि लेखवृद्धिके भयसे नहीं दिये गये। पाठक यदि चाहेंगे तो इस विषयपर विस्तारसे किसी दूसरे अवसरपर लिखा जा सकता है।

त्यागके समान सुख नहीं

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः। नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम्॥

ज्ञानके समान दूसरा नेत्र नहीं है, सत्यके समान दूसरा तप नहीं है, राग (आसक्ति)-के समान दूसरा दुःख नहीं है और त्यागके समान दूसरा सुख नहीं है। (महा० शान्ति० १७५।३५)

साधनाके चार सहायक

(लेखक—श्रीअरविन्द)

ऐसे चार महान् सहायक हैं, जिनके एक साथ मिलकर कार्य करनेसे मनुष्य बहुत शीघ्र योगसिद्धि, योगसाधनासे प्राप्त होनेवाली पूर्णता प्राप्त कर सकता है। उनमें पहला है शास्त्र—उन सत्यों, सिद्धान्तों, शक्तियों और प्रक्रियाओंका ज्ञान, जो सिद्धिके लिये अत्यावश्यक हैं। दूसरा है उत्साह—ज्ञानके द्वारा निर्धारित कार्यप्रणालीके अनुसार धैर्यपूर्वक और निरन्तर कार्य करते जानेका दृढ़ भाव, हमारे व्यक्तिगत प्रयत्नकी शक्ति। इसके बाद तीसरे सहायक हैं शिक्षक या गुरु, जो हमारे ज्ञान और प्रयासको ऊपर उठाकर आध्यात्मिक अनुभवके क्षेत्रमें ले जाते हैं और अपने स्पष्ट निर्देश, आदर्श जीवन और प्रभावके द्वारा सहायता पहुँचाते हैं। चौथा है काल; क्योंकि सभी चीजोंमें उनकी क्रियाका एक चक्र और दैवी गतिका एक निश्चित समय होता है।

(१) शास्त्र

हमारे पूर्णयोगका श्रेष्ठतम शास्त्र है सनातन वेद, जो प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें गुप्तरूपसे विद्यमान है। उस सनातन ज्ञान और सनातन पूर्णत्वका कमल हमारे अंदर बंद, संकुचित कलीके रूपमें वर्तमान है। जब एक बार मनुष्यका मन सनातन प्रभुकी ओर देखना आरम्भ कर देता है, जब उसका हृदय ससीम रूपोंके मोहपाशसे एकदम मुक्त होकर एक बार चाहे किसी मात्रामें असीम भगवान्‌की ओर आकर्षित हो जाता है, तब क्रमशः होनेवाली अनुभूतियोंके द्वारा यह ज्ञान-कमल शीघ्रतासे या धीरे-धीरे, एक-एक दल करके, विकसित हो जाता है। उसके बाद सारा जीवन, सारे विचार, सारी वृत्तियोंके कार्य, सारे अनुभव—चाहे वे निष्क्रिय हों या सक्रिय—सब-के-सब, ऐसे प्रहार बन जाते हैं जो अन्तरात्माके आच्छादनको भंग करते हैं और उसके अनिवार्य विकासके मार्गकी बाधाओंको दूर कर देते हैं। जो 'अनन्त' को वरण करता है, वह 'अनन्त' के द्वारा वरण किया जा चुका है। उसने भगवान्‌का दिव्य स्पर्श अवश्य प्राप्त किया है; क्योंकि उसके बिना आत्मा कभी जाग्रत् नहीं हो सकता, कभी भगवान्‌की ओर उन्मुख नहीं हो सकता। और जब एक बार यह स्पर्श प्राप्त हो गया, तब सिद्धि निश्चित है—फिर चाहे वह एक ही मनुष्यजीवनमें शीघ्रतासे प्राप्त हो या उसके लिये इस दृश्यमान जगत्‌में अनेक जन्मोंतक धैर्यपूर्वक प्रयत्न करना पड़े।

ऐसा कोई ज्ञान किसीकी बुद्धिको नहीं सिखाया जा सकता, जो उसके विकासोन्मुख अन्तरात्माके अंदर पहलेसे ही गुह्यरूपमें विद्यमान न हो। उसी प्रकार मनुष्य अपने बाह्यभावसे जो-जो सिद्धिलाभ करनेमें समर्थ होता है, वह सब आत्माके अंदर विद्यमान सनातन पूर्णताकी ही उपलब्धि मात्र है। हम भगवान्‌को जानते और भगवान् हो जाते हैं, क्योंकि हम अपने मूलस्वरूपमें 'वही' हैं। जो कुछ शिक्षा हम प्राप्त करते हैं, वह सब हमारे अंदर गुप्तरूपसे विद्यमान ज्ञानका ही प्रकाशित होना है; हम जो कुछ होते हैं, अपने गुप्त स्वरूपको ही व्यक्त करते हैं। आत्मोपलब्धि ही रहस्यकी वस्तु है, आत्मज्ञान और विकसनशील चेतना उसके साधन और साधनक्रम हैं।

साधारणतः इस आत्मप्रकाशका साधन श्रुत शब्द होता है, जिसे शब्दब्रह्म कहते हैं। यह शब्द अंदरसे आ सकता है अथवा बाहरसे भी। परन्तु दोनों ही अवस्थाओंमें वह केवल हमारे अन्तःस्थित गुप्त ज्ञानको जगाने, क्रियाशील बनानेका कारणमात्र होता है। अंदरसे आनेवाला शब्द अन्तःस्थित अन्तरात्माका हो सकता है, जो सदा भगवान्‌की ओर उन्मुख रहता है, अथवा यह सबके हृदयमें गुप्तरूपसे रहनेवाले जगद्‌गुरु जगदीश्वरका हो सकता है। विरले ही कोई पुरुष ऐसे होते हैं, जिन्हें इसके अतिरिक्त और किसी सहायकका प्रयोजन नहीं होता। क्योंकि इसके बाद योगमें जो कुछ करना बाकी रह जाता है, वह उस अनवरत स्पर्श और पथप्रदर्शनके द्वारा आत्मोद्‌घाटन करता ही है, हृत्कमलमें निवास करनेवाले प्रभुके समुज्ज्वल प्रकाशकी शक्तिसे ही तब ज्ञानरूपी कमल स्वयं भीतरसे उद्‌घाटित होता है। ऐसे लोग निश्चय ही महान् परन्तु दुर्लभ होते हैं, जिनके लिये इस प्रकार भीतरसे प्राप्त होनेवाला अमर ज्ञान ही पर्याप्त होता है, और किसी लिखित ग्रन्थ या जीवित गुरुके प्रबल प्रभावकी अधीनतामें रहनेकी आवश्यकता नहीं होती।

साधारण तौरपर साधकको आत्मविकासके कार्यमें, बाहरसे प्राप्त होनेवाले भगवत्प्रतिनिधिस्वरूप शब्दसे सहायता लेनेकी आवश्यकता होती ही है और यह या तो कोई पुराकालीन शब्द होता है अथवा वर्तमानकालीन किसी जीवित गुरुका उससे भी अधिक शक्तिशाली

शब्द। कुछ साधकोंके लिये यह प्रातिनिधिक शब्द उनकी अन्त:शक्तिको जगाने और व्यक्त करनेका केवल एक निमित्त हुआ करता है; एक प्रकारसे यह सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ प्रभुका प्रकृतिके एक सामान्य नियमकी मर्यादाको रखने-जैसा ही है। उपनिषदोंमें देवकीपुत्र श्रीकृष्णके विषयमें यह वर्णन आता है कि उन्हें घोर ऋषिसे शब्द प्राप्त हुआ और उससे उन्हें ज्ञान हो गया। इसी प्रकार परमहंस श्रीरामकृष्णने स्वयं अपनी आन्तरिक चेष्टासे केन्द्रस्थ ज्ञानका प्रकाश पानेके बाद विभिन्न योगमार्गोंकी साधना करनेके लिये विभिन्न गुरुओंसे दीक्षा ली; परन्तु इन विभिन्न मार्गोंमें उन्हें जिस प्रकार और जिस शीघ्रतासे सिद्धि मिलती गयी, उससे यही तो बराबर प्रकट होता था कि उनका गुरुसे दीक्षा लेना केवल उस सामान्य नियमकी मर्यादाका पालनमात्र था जो शिष्यके लिये गुरुसे ही सिद्ध ज्ञान प्राप्त करनेका नियम है।

परन्तु सामान्यत: साधकके जीवनमें इस प्रातिनिधिक प्रभावका कार्य बहुत अधिक है। यदि कोई किसी लिखित शास्त्रके अनुसार—पूर्वके योगियोंका अनुभव बतलानेवाले वचनोंके अनुसार—योगसाधन करना चाहता है, तो वह केवल अपने ही प्रयासके बलपर या गुरुसे सहायता लेकर ऐसा कर सकता है। इस हालतमें वह उस ग्रन्थके वचनोंका मनन-निदिध्यासन करके आध्यात्मिक ज्ञान लाभ कर सकता है और उस ज्ञानको अपनी अपरोक्षानुभूतिसे सजीव और चिन्मय बना सकता है; योगका क्रम इसमें यही है कि शास्त्रसे या परम्परासे जो प्रक्रिया प्राप्त हुई और गुरुके उपदेशसे जो बलवती और समुज्ज्वलित हुई, उसी प्रक्रियाको करके उसका अनुभव प्राप्त करना और इस तरह आगे बढ़ना। योगाभ्यासकी यह पद्धति अवश्य ही कुछ तंग-सी है, पर है अपनी मर्यादाके अंदर बहुत निरापद और फलप्रद; क्योंकि इसमें एक पक्की सड़कसे अपने जाने-समझे हुए लक्ष्यकी ओर सीधे चले जाना है।

परन्तु पूर्ण योगके साधकको यह स्मरण रखना होगा कि कोई भी लिखित शास्त्र—चाहे उसका प्रामाण्य कितना ही बड़ा और विचार कितना ही उदार क्यों न हो—सनातन ज्ञानके प्रकाशका केवल एक अंशमात्र है। जो शास्त्र-ग्रन्थ गम्भीर, विशाल और उदार होगा, उसका परम कल्याणकारी और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रभाव उसपर पड़ सकता है। सत्यके उच्चातिउच्च विविध स्वरूपोंका प्रकाश पाने और परमानुभूतियोंको प्राप्त करनेमें शास्त्रका यह प्रभाव उसके अनुभवका संगी होकर रह सकता है। उसका योग-साधन किसी एक शास्त्र-ग्रन्थके द्वारा अथवा बारी-बारीसे अनेक शास्त्र-ग्रन्थोंके द्वारा—जैसे गीता, उपनिषद् और वेदके द्वारा(यदि उसके संस्कार महान् हिंदू-परम्पराके अनुकूल हों तो) नियत हो सकता है। अथवा उसकी साधनाका यह एक उत्तम अंग हो सकता है कि वह उसमें अनेक सद्ग्रन्थोंके सार-तत्त्वोंका विविध समृद्ध अनुभव सम्मिलित कर ले और पुराकालके सर्वोत्तम भागसे भविष्यको सुसमृद्ध बना दे। परन्तु अन्तमें, और हो सके तो अधिक अच्छा यही है कि सदा ही तथा आरम्भसे ही उसे स्थित होना चाहिये अपने अन्तरात्मामें ही, जो '**शब्दब्रह्मातिवर्तते**'—शब्दब्रह्मके परे है। कारण पूर्ण योगका साधक किसी ग्रन्थका या अनेक ग्रन्थोंका साधक नहीं है, वह अनन्तका साधक है।

एक दूसरे प्रकारका वह शास्त्र होता है, जो श्रुतिस्वरूप न होनेपर भी जिसमें योगविशेषके विज्ञान और साधन, साधकतत्त्व और उसके मार्गक्रमका विवरण दिया हुआ रहता है—साधक जिस किसी योगमार्गपर चलना चाहे, उसका विवरण उसे इस प्रकार मिलता है। प्रत्येक योगमार्गका ऐसा एक अपना शास्त्र होता है, चाहे वह लिखित हो या गुरुपरम्परा या गुरुमुखसे ही प्राप्त होता रहता हो। भारतवर्षमें ऐसे लिखित या परम्परागत उपदेशोंकी साधारणत: बड़ी मान्यता है; लोग उनपर बड़ी श्रद्धा रखते हैं। योगका प्रत्येक मार्ग, इस प्रकार, यहाँ सुनिश्चित माना जाता है और जिन गुरुने परम्परासे उसका शास्त्र पाकर साधनासे उसे अनुभवसिद्ध किया है, वे अपने शिष्योंको उसी पुरातन मार्गसे ले चलते हैं। कोई नवीन साधना, कोई नयी योगशिक्षा, कोई नवीन प्रकार सामने आ जाय तो लोग प्राय: तुरंत यह कह उठते हैं कि 'यह तो अशास्त्रीय है।' परन्तु न तो यह कोई सच्ची बात है, न योगियोंका अनुभव ही ऐसा है कि योगको हमलोग लोहेके फाटकसे बंद-जैसा या पेंचसे कसा हुआ कोई ऐसा साधन-मार्ग समझ लें, जिसके अंदर कोई नवीन सिद्धान्त, नवीन प्रकाश, नवीन विशेष अनुभव प्रवेश ही न कर सके। लिखित या परम्परागत शास्त्र अनेक शताब्दियोंका ज्ञान और अनुभव है और वह क्रमबद्ध और सुव्यवस्थित होकर आज नवीन साधकके लिये सुलभ हुआ है। अत: इसकी महत्ता और उपयोगिता बहुत बड़ी है। पर साधनामें नया परिवर्तन और विकासका साधन करनेकी स्वतन्त्रता सदा ही व्यवहार्य

है। और तो क्या, राजयोग-जैसे कसे हुए वैज्ञानिक योगका साधन पतंजलिद्वारा निर्दिष्ट सुव्यवस्थित मार्गकी अपेक्षा भिन्न मार्गसे भी किया जा सकता है। त्रिमार्गके * अन्तर्भूत प्रत्येक मार्गके कई उपमार्ग हो जाते हैं, जो अन्तमें लक्ष्यको पहुँचनेपर पुनः सब मिल जाते हैं। योगका आधारभूत सामान्य ज्ञान तो सुनिश्चित है; पर साधनाके नियम, क्रम, उपाय और बाह्य रूप बदलते रहें, यह तो होना ही चाहिये। क्योंकि सामान्य ज्ञान स्थिर और सदा एक होनेपर भी, साधककी व्यक्तिगत प्रकृतिकी आवश्यकताओं और विशेष-विशेष प्रवृत्तियोंको भी सन्तुष्ट करना आवश्यक है।

पूर्ण और समन्वयात्मक योगके लिये तो विशेष रूपसे इस बातकी आवश्यकता है कि वह किसी लिखित या परम्परागत शास्त्रसे न बँध जाय; क्योंकि एक ओर जहाँ वह भूतकालसे प्राप्त ज्ञानको अपना लेता है, वहाँ वह दूसरी ओर वर्तमान और भविष्यके लिये उस ज्ञानको नये रूपमें व्यवस्थित करनेका प्रयत्न करता है। उसके आत्मनिर्माणके लिये यह आवश्यक है कि उसे अनुभूतियोंके क्षेत्रमें तथा ज्ञानको नये शब्दों और नये रूपोंमें पुनः निरूपित करनेमें पूरी स्वतन्त्रता हो। चूँकि यह योग समस्त जीवनका अपने अंदर समावेश करना चाहता है, इसलिये इसकी अवस्था उस यात्रीकी-सी नहीं है जो एक राजमार्गसे सीधे अपने गन्तव्य स्थानको जाता है, बल्कि कम-से-कम उस हदतक ऐसे एक मार्ग ढूँढ़नेवाले पथिककी-सी है जो किसी निर्जन गहन जंगलके भीतरसे रास्ता बनाता हुआ चल रहा हो। कारण, इधर बहुत कालसे योगके साथ जीवनका विच्छेद हो गया है और ऐसे प्राचीन योगसाधन-जैसे हमारे पूर्वपुरुषोंके वैदिक साधन, जो जीवनको अपनानेमें प्रयत्नवान् थे, अब हमसे बहुत दूर रह गये हैं। जिन शब्दोंमें उनका वर्णन हुआ है, उनके अर्थोंका अब ठीक पता नहीं चलता और जो रूप उन्हें दिये गये हैं, वे अब प्रायः व्यवहार्य नहीं हैं। उस समयसे अबतक मनुष्यजाति सनातन काल-प्रवाहमें बहुत आगे निकल आयी है। इसलिये अब उसी बातको अबकी नवीन दृष्टिसे देखना-समझना होगा।

इस योगके द्वारा हम केवल असीम भगवान्को प्राप्त ही करना नहीं चाहते बल्कि हम उन असीम भगवान्का इस उद्देश्यसे आवाहन करते हैं कि वे मनुष्यजीवनके अंदर अपने-आपको अभिव्यक्त करें। अतएव हमारे योगका शास्त्र ऐसा होना चाहिये, जिसमें योगकी इच्छा करनेवाले मानव-जीवको अबाधित स्वतन्त्रता प्राप्त हो। मनुष्य चाहे जिस रीतिसे, चाहे जिस रूपमें विश्वपुरुष या विश्वातीत परम पुरुषको ग्रहण करे। ऐसी स्वतन्त्रताका होना ही मनुष्यमें पूर्ण आध्यात्मिक जीवनके होनेकी अनुकूल स्थिति है। एक बार स्वामी विवेकानन्द यह समझा रहे थे कि सब धर्मोंकी एकता ऐसी होगी कि उसके नित्य-नवीन विविध और समृद्ध रूप प्रकट होंगे; और यह समझाते हुए उन्होंने कहा था कि वह मूलगत एकता अपनी पूर्णावस्थाको तभी प्राप्त होगी, जब प्रत्येक मनुष्यका अपना-अपना स्वतन्त्र धर्म होगा अर्थात् जब मनुष्य धर्मके साम्प्रदायिक या पारम्परिक रूपोंमें न अटककर भगवान्के साथ अपनी प्रकृतिका सहज सम्बन्ध निबाहनेमें उसकी पूर्ण स्वच्छन्द अनुकूलताका ही अनुसरण करेगा। इसी प्रकार यहाँ यह कहा जा सकता है कि यह पूर्ण योग तभी अपनी पूर्णताको प्राप्त होगा, जब प्रत्येक मनुष्य अपने विशिष्ट योग-मार्गका अनुसरण करनेमें समर्थ होगा अर्थात् अपनी प्रकृतिकी ऊर्ध्वगतिका अनुगमन करके ही उसकी तरफ जायगा, जो प्रकृतिके परे है। कारण, स्वतन्त्रता ही परम विधि और परम गति है। परन्तु जबतक मनुष्य उस योग्य नहीं हो लेता, तबतक कुछ ऐसी मोटी-मोटी बातें बतला देना जरूरी है, जो साधककी विचारधारा और साधनाका सम्यक् नियमन करनेमें सहायक हों। परन्तु ये बातें भी, जहाँतक सम्भव हो, सामान्य सिद्धान्तोंके रूपमें, तत्त्वोंके एक सामान्य विवरणके रूपमें, प्रयत्न और प्रगतिके अत्यन्त शक्तिशाली और व्यापक निर्देशोंके रूपमें ही होनी चाहिये। शास्त्रमात्र भूतकालके अनुभवका फल और भविष्यकालके अनुभवका सहायक है। इससे सहायता मिलती और अंशतः पथप्रदर्शन भी होता है। मार्गमें यह मार्गदर्शक चिह्न खड़े करता और प्रधान-प्रधान मार्गों और जानी हुई दिशाओंके नाम बतला देता है, जिससे साधकको यह पता चलता है कि वह किस ओर और किस मार्गसे जा रहा है।

इसके सिवा और जो कुछ है, वह साधकके अपने प्रयत्न और अनुभवपर तथा मार्ग बतलानेवालेकी शक्तिपर निर्भर करता है।

(२) उत्साह

साधनाकी प्रारम्भिक अवस्थामें, और पीछे भी बहुत कालतक, आध्यात्मिक अनुभवका शीघ्र विकास होना, उसकी प्रचुरता और उसके परिणामोंकी तीव्रता और शक्ति—यह सब मुख्यतः साधककी अभीप्सा और वैयक्तिक चेष्टापर अवलम्बित रहता है। योग-साधनाका अर्थ तो यही है कि

* ज्ञान, भक्ति और कर्मका त्रिमार्ग।

उसकी अहंभावापन्न चेतना, जो विषयोंके बाह्य रूपों और उनके मोहमें डूबी रहती है, अपनी इस अहंतासे मुँह फेर ले और चैतन्यकी उस उच्च स्थितिके सम्मुख हो जाय, जिसमें ही विश्वचैतन्य और विश्वातीत परमचैतन्य मनुष्यके वैयक्तिक आधारमें उतरकर उसे रूपान्तरित कर सकते हैं। अतएव सिद्धिकी सबसे पहली सीढ़ी इस जगत्के विषयोंसे दृढ़तापूर्वक पीछे हटना और अन्तर्मुख होना है। इस दृढ़ताकी ठीक पहचान हृदयकी अभीप्साके बलसे, संकल्पकी शक्तिसे, मनकी एकाग्रतासे और साधनामें लगी हुई शक्तिके अध्यवसाय और तीव्रतासे ही होती है। उत्तम साधकका भाव ऐसा होना चाहिये कि बाइबिलकी भाषामें वह यह कह सके कि "My zeal for the Lord has eaten me up," अर्थात् 'भगवान्के लिये मेरा उत्साह मुझे खा गया।' भगवान्के लिये इस प्रकारका जो उत्साह है, समस्त प्रकृतिकी अपने दिव्य पर्यवसानके लिये यह जो व्याकुलता है, भगवत्प्राप्तिकी यह जो हृदयकी छटपटाहट है, वह अहंकारको निगल जाती है और उसकी तुच्छ और संकीर्ण सीमाओंको तोड़ डालती है—ताकि वह अपनी उस ध्येय वस्तुको पूर्ण रूपसे, सब तरफसे, ग्रहण कर सके, जो वस्तु विश्वात्मक होनेसे विशालतम और उच्चतम व्यष्टिपुरुष और प्रकृतिसे महान् और विश्वातीत परमतत्त्व होनेसे सर्वोत्तम है।

परन्तु यह उस शक्तिका केवल एक पहलू है, जो शक्ति पूर्णताकी साधिका है। पूर्णयोगके साधन-क्रमकी तीन अवस्थाएँ हैं; अवश्य ही ये तीनों अवस्थाएँ एक दूसरीसे सर्वथा भिन्न या पृथक् नहीं हैं, बल्कि एक हदतक परस्पर सम्बद्ध हैं। इनमें पहली अवस्था वह है, जिसमें साधक यथासम्भव अपने अहंभावके परे जाने तथा भगवान्के साथ सम्बन्ध स्थापित करनेका प्रयत्न करता है; उसके बादकी अवस्था वह है, जिसमें साधक अपनी सारी सचेतन सत्ताको रूपान्तरित करनेके लिये अपने अंदर 'उसे' धारण करता है, जो उससे परे है तथा जिसके साथ उसने सम्बन्ध स्थापित किया है; उसके बादकी अन्तिम अवस्था वह है, जिसमें साधक संसारमें भगवान्के एक केन्द्रके रूपमें अपनी रूपान्तरित मानव-सत्ताका उपयोग करता है। जबतक भगवान्के साथ साधकका सम्बन्ध पर्याप्त मात्रामें नहीं स्थापित जो जाता, जबतक वह एक हदतक भगवान्के साथ सायुज्य नहीं प्राप्त कर लेता, तबतक साधारण तौरपर साधनामें व्यक्तिगत प्रयत्नकी प्रधानता रहती ही है। परन्तु जैसे-जैसे यह सम्बन्ध स्थायी होता जाता है, वैसे-वैसे साधकको यह ज्ञान होता जाता है कि उसकी शक्तिसे भिन्न कोई शक्ति, उसके अपने अहंकारपूर्ण प्रयत्न और योग्यताके परेकी कोई शक्ति उसके अंदर कार्य कर रही है और वह फिर धीरे-धीरे उस शक्तिके अधीन होना सीख जाता है और अपने योगका सारा भार उसे सौंप देता है। अन्तमें उसकी अपनी इच्छा और शक्ति उस उच्चतर शक्तिके साथ एक हो जाती है; वह अपनी इच्छा और शक्तिको भगवदिच्छा और उनकी परात्परा तथा विश्वात्मिका शक्तिके अंदर मिला देता है। इसके बाद वह स्पष्ट रूपमें देखता है कि वह शक्ति उसके मन, प्राण और शरीरके आवश्यक रूपान्तरके कार्यका संचालन निष्पक्ष ज्ञान और पूर्वदृष्ट साफल्यके साथ कर रही है, जो आतुर और आसक्त अहंकारसे नहीं बन पड़ सकता। जब इस प्रकार साधक भगवान्के साथ पूर्ण तादात्म्य लाभ कर लेता है और अपने-आपको पूर्णरूपसे उनके अंदर मिला देता है, तब वह जगत्में भगवान्का केन्द्र हो जाता है। तब वह शुद्ध, मुक्त, भगवदिच्छा-ग्रहणक्षम, ज्ञानोज्ज्वल पुरुष मानव-जाति या देव-मानव जातिके बृहत्तर योगमें, पृथ्वीके आध्यात्मिक विकास या उसके रूपान्तरके योगमें भगवान्की परमा शक्तिके प्रत्यक्ष कर्म-साधनका एक यन्त्र बनकर कर्म करना आरम्भ कर सकता है।

यदि वास्तवमें देखा जाय तो यह उच्चतर शक्ति ही सब समय कार्य करती है। हमारे अंदर जो व्यक्तिगत प्रयत्न और अपनी अभीप्साका भाव आता है उसका कारण यही है कि हमारा अहंकारपूर्ण मन उस दैवी शक्तिकी क्रियाओंके साथ दोषपूर्ण तथा अपूर्ण रीतिसे तादात्म्य स्थापित करनेका प्रयत्न किया करता है। वह असाधारण स्तरके अनुभवोंका विचार भी उसी साधारण मन-बुद्धिके ढंगसे करता है, जिससे वह सामान्य सांसारिक अनुभवोंका विचार करता है। संसारमें हम अहंभावसे प्रेरित होकर कर्म करते हैं; विश्वकी जो विश्वशक्तियाँ हमारे अंदर कार्य करती हैं उन्हें हम अपनी ही शक्तियाँ समझते हैं; हमारे मन, प्राण, शरीरसे बने हुए ढाँचेके भीतर परमपुरुष भगवान् जो कुछ निर्वाचन, घटन और विकसनका कार्य करते हैं, उसे हम अपने ही वैयक्तिक संकल्प, ज्ञान, बल और गुणका प्रभाव मानते हैं। पर जब हमारे अंदर ज्ञानका उदय होता है, तब हमें यह पता लगता है कि हमारा 'अहं' तो केवल एक यन्त्र है और ये सब चीजें, जिन्हें हम अपनी कहते हैं,

केवल इसी अर्थमें अपनी हैं कि ये हमारे परम पूर्णतम आत्माकी हैं, जो विश्वातीत परम पुरुषसे अभिन्न है; इनपर अहंकारका कोई दखल नहीं है। इस प्रकार दैवी शक्तिके द्वारा हमारे अंदर जो कार्य होता है, उसमें हमारा हिस्सा तो केवल हमारी बद्धता और विपरीत गतिमात्र है। वास्तविक शक्ति तो भगवान्की ही है। जब मनुष्यका अहंकार यह अनुभव करता है कि उसका मन एक यन्त्रमात्र है, उसका सारा ज्ञान केवल अज्ञान और लड़कपन है, उसकी शक्ति एक बच्चेका केवल हाथ-पैर पटकना है, उसका गुण केवल एक दम्भ और अपवित्रता है; और जब वह अपने परेकी शक्तिका भरोसा करना सीख लेता है तब उसे मुक्ति मिलती है। हम अपनी जिस वैयक्तिक सत्तामें इतने आसक्त हैं, उसकी बाह्यत: यह जो कुछ स्वतन्त्रता देख पड़ती है और 'हम भी कुछ हैं' की जो प्रतीति होती है, इसके भीतर एक बड़ी ही दयनीय दासता छिपी हुई है—हजारों ऐसी सूचनाएँ, कल्पनाएँ और प्रवृत्तियाँ हमारे अंदर उठती हैं, जो हमारी नहीं पर हम जिनके दास होकर रहते हैं। हमारा अहंकार स्वतन्त्रताका अभिमानी, प्रतिक्षण विश्वप्रकृतिकी असंख्य सत्ताओं, शक्तियों, वृत्तियों और प्रभावोंका दास, खिलौना, कठपुतली बना फिरता है। अहंकारका भगवान्के अंदर अपने-आपको मिटा देना ही उसकी सर्वोत्तम गति है; अपने परेकी शक्तिके हाथ अपने-आपको समर्पित कर देना ही उसका सब बन्धनों और सीमाओंसे मुक्त होकर पूर्ण स्वातन्त्र्य लाभ करना है।

परन्तु फिर भी, साधनक्रममें इन तीनों ही अवस्थाओं-मेंसे प्रत्येककी विशिष्ट आवश्यकता और उपयोगिता है; इसलिये प्रत्येकको ही यथायोग्य समय और स्थान मिलना चाहिये। यदि कोई साधनको बिलकुल ऊपरसे आरम्भ करना चाहे, तो इससे काम न बनेगा; ऐसा करना निरापद और फलप्रद भी न होगा। अथवा यदि कोई समयसे पहले ही एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें छलाँग मारकर जाना चाहे, तो यह भी उसके लिये ठीक न होगा। कारण, आरम्भसे ही यद्यपि हम मन-बुद्धि और हृदयमें भगवान्की सत्ता मान लेते हैं, तो भी यह स्मरण रखना होगा कि प्रकृतिमें कुछ ऐसे तत्त्व भी हैं, जो इस सत्ताका साक्षात्कार न होने देनेमें बहुत कालतक सचेष्ट रहते हैं। मनोगत विश्वास जबतक साक्षात्कृत नहीं होता, तबतक वह सशक्तिक सत्यस्वरूप नहीं धारण करता, ज्ञानका केवल एक प्रतीक-सा रह जाता है, सजीव सत्य नहीं होता—एक विचार रहता है, शक्ति नहीं होती। यदि विश्वासके अनुसार कुछ-कुछ अनुभव भी होने लगा हो, तो भी तुरत यह समझ लेना या मान बैठना कि हम भगवान्के हाथोंमें आ गये या उनके यन्त्र होकर ही हम सब कर्म कर रहे हैं, बड़ा धोखा खाना है। इस प्रकारकी धारणा हमारे अंदर एक धोखेकी टट्टी खड़ी कर सकती है, घोर तामसिकता उत्पन्न कर सकती है अथवा भगवान्के नामपर अहंकारके ही कार्योंको बड़ा-सा रूप देकर सारी योगसाधनाको बुरी तरहसे विपर्यस्त और नष्ट कर सकती है। साधनामें आन्तरिक प्रयास और संघर्षका, थोड़ा या बहुत, एक समय होता है, जिसमें साधकका यह काम है कि वह अपने व्यक्तिगत संकल्पसे निम्न प्रकृतिके सारे अन्धकार और विचारको हटाता रहे और अपनी शुभेच्छाको दृढ़ताके साथ दिव्य ज्ञानके अनुकूल बनाता रहे। मनकी वृत्तियों, हृदयके भावों, प्राणोंकी वासनाओं, शरीरकी पार्थिव सत्तातकको बरबस अपनी शुभेच्छाके अनुकूल बना ले—ऐसा अभ्यास करा दे कि वे सत्-प्रभावको ही ग्रहण करें और उसीके अनुरूप आचरण करें। इतना हो चुकनेपर ही निम्न प्रकृतिका उच्च पराप्रकृतिमें आत्मसमर्पण हो सकता है, क्योंकि ऐसी ही स्थितिमें आत्मदान स्वीकार्य होता है।

साधकको अपनी वैयक्तिक संकल्प शक्तिसे सर्वप्रथम, अपनी अहंवृत्तियोंको वशमें करके उन्हें प्रकाश और सत्यकी ओर फेर देना चाहिये और जब वे इस तरह फिर जायँ, तब इस बातका अभ्यास कराना चाहिये कि वे प्रकाश और सत्यको सर्वदा पहचानें, सर्वदा उनको स्वीकार करें और सर्वदा उनका अनुसरण करें। इस प्रकार साधनामें आगे बढ़ते हुए अपने व्यक्तिगत संकल्प, व्यक्तिगत प्रयास और व्यक्तिगत शक्तियोंसे ही अभी काम लेते हुए साधक उन्हें उनसे उच्चतर शक्तिके प्रतिनिधि और उच्चतर प्रभावके आज्ञाधारक जानकर उनका उपयोग करना सीख लेता है। आगे बढ़नेपर उसके संकल्प, प्रयास और शक्तियाँ कोई व्यक्तिगत पृथक् वस्तुएँ नहीं रह जातीं, बल्कि व्यक्तिके अंदर काम करनेवाली उच्चतर शक्ति और उच्चतर प्रभावकी ही कृतियाँ बन जाती हैं। परन्तु फिर भी दिव्यमूल स्रोत और बहिर्गत मानव-धाराके बीच एक प्रकारकी खाई या अन्तर रह ही जाता है, जिससे मूलस्रोत मानव-मनतक पहुँचनेकी यह क्रिया तमसाच्छन्न हो जाती है, सदा ठीक तरहसे नहीं हो पाती और कभी-कभी विकृत भी हो जाती है। साधनाकी अन्तिम अवस्थामें—जब अहंकार,

अशुचिता और अज्ञान क्रमशः दूर हो जाते हैं, तब यह अन्तिम अलगाव भी दूर हो जाता है; और व्यक्तिके अंदर जो-जो कुछ है, सब दैवी शक्तिका कार्य हो जाता है।

(३) गुरु

जिस प्रकार पूर्ण योगका परम शास्त्र प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें छिपा हुआ सनातन वेद है, उसी प्रकार इसके परम पथप्रदर्शक और गुरु वे ही अन्तर्यामी जगद्गुरु हैं, जो हमारे अंदर गुप्तरूपसे विराजमान हैं। वे ही अपने भास्वर ज्ञानदीपसे हमारे तमका नाश करते हैं; उनकी वह प्रभा हमारे अंदर उनके आत्मप्रकाशकी महिमा बनी रहती है। उनका जो मुक्त, आनन्दमय, प्रेममय, सर्वशक्तिमय अमृतस्वरूप है, उसे वे क्रमशः हमारे अंदर खोलकर दिखला देते हैं। वे अपने दिव्य दृष्टान्तके द्वारा हमारे ऊपर एक आदर्श अंकित कर देते हैं और हमारी निम्नतर सत्ताको उसके ध्येयका प्रतिरूप बना देते हैं। वे हमारे अंदर अपने प्रभाव और सत्ताको भरकर हमारी व्यक्तिगत सत्ताको ऐसा बना देते हैं कि वह विश्वात्मिका और परात्परा सत्ताके साथ तादात्म्य प्राप्त कर सके।

उनकी कार्यपद्धति और विधि क्या है? उनकी कोई पद्धति नहीं है और प्रत्येक पद्धति उनकी है। साधककी प्रकृतिके अंदर जो ऊँची-से-ऊँची वृत्तियाँ और गतियाँ हो सकती हैं, उन्हें सहज भावसे सुव्यवस्थित करना ही उनकी विधि है। छोटी-से-छोटी बातों और बाह्यतः तुच्छ-से-तुच्छ कामोंमें भी ये सुव्यवस्थित शक्तियाँ वैसी ही सावधानी और पूर्णताके साथ लग जाती हैं, जैसी कि बड़ी-से-बड़ी बातों और बड़े-से-बड़े कामोंमें; और इस तरह वे अन्तमें साधकके अंदर जो कुछ भी है, उसे उन्नीत कर प्रकाशमें ले जाती और दिव्य बना देती हैं। कारण, कोई भी चीज उसके योगके लिये इतनी छोटी नहीं है कि जिसका कोई उपयोग न हो, और न कोई चीज इतनी बड़ी है कि जिसके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ हो। प्रभुके सेवक और शिष्यका जैसे दर्प और अहंकारसे कोई वास्ता नहीं रहता, क्योंकि उसके लिये सब कुछ ऊपरसे ही किया जाता है; वैसे ही उसे अपनी प्रकृतिके वैयक्तिक दोषों या स्खलनोंसे निराश होनेका भी कोई कारण नहीं है। कारण, उसके अंदर जो शक्ति काम कर रही है, वह अपौरुषेय है अथवा परम पौरुषेय और अनन्त है।

इस पूर्ण योगकी सिद्धिके मार्गमें इन अन्तर्यामी गुरुको—जो योगके ईश्वर, सब यज्ञों और कर्मोंके प्रभु, प्रकाश, भोक्ता और लक्षय हैं—पूर्णरूपसे वरण करना अत्यन्त आवश्यक है। आरम्भिक अवस्थामें हमें चाहे किसी भी रूपमें उनके दर्शन हों—जगत्के सब पदार्थोंके पीछे अव्यक्त रूपसे रहनेवाले अपौरुषेय ज्ञान या प्रेमशक्तिके रूपमें हों या इस सापेक्ष जगत्के रूपमें प्रकट होने और इसे अपनी ओर आकर्षित करनेवाले निरपेक्षके रूपमें हों, अपने परम आत्मा और सबके परमात्माके रूपमें हों या अपने अंदर और जगत्के अंदर अवस्थित भगवान्के रूपमें हों अथवा भगवान्के अनन्त नाम-रूपोंमेंसे किसी एक नाम-रूपमें या मनसा निर्धारित किसी आदर्शके रूपमें हों—इससे कुछ आता-जाता नहीं। कारण, अन्तमें तो यह अनुभव होता ही है कि भगवान् सब कुछ हैं और सबसे अधिक हैं। आरम्भमें उनके विषयमें मनुष्यकी धारणा, पूर्वके विकास और वर्तमान प्रकृतिके अनुसार, भिन्न-भिन्न प्रकारकी होगी ही।

साधनाके आरम्भमें साधकके अंदर अपने व्यक्तिगत प्रयत्नका भाव तीव्र हुआ करता है और उसका अहंकार अपने-आपमें और अपने वैयक्तिक उद्देश्यमें ही लगा रहता है, इस कारण अन्तर्यामी गुरुकी ज्योति उसे स्पष्ट नहीं देख पड़ती, मेघाच्छन्न सूर्यके समान आच्छन्न रहती है। परन्तु ज्यों-ज्यों हमारी दृष्टि विमल होती और अहंभाव-युक्त प्रयासके कोलाहलके स्थानमें प्रशान्त आत्मज्ञानकी प्रतिष्ठा होती है, त्यों-त्यों हम अपने अंदर बढ़नेवाले प्रकाशके उस मूलको पहचानने लगते हैं। अपने पिछले जीवनकी घटनाओंको देखकर हम यह अनुभव करने लगते हैं कि किस प्रकार हमारे सब अज्ञानजनित और परस्परविरोधी कर्म भी हमें इसी निश्चित लक्ष्यकी ओर ले आ रहे थे, जिसे अब हम कुछ-कुछ समझने लगे हैं; हमारे योगमार्गपर पैर रखनेसे पहले भी हमारे जीवनका विकास ऐसा ही साधित किया जा रहा था कि हम इस मार्गकी ओर मुड़ें। जैसे-जैसे हम इन बातोंको सोचने-समझने लगते हैं, वैसे-वैसे हम अन्तर्यामीको पहचानने लगते हैं। फिर हमें अपने संघर्षों और प्रयासों, सफलताओं और विफलताओंके मर्मका बोध होने लगता है। अन्तमें हम अपनी सब कठिन परीक्षाओं और दुःखोंका भी वास्तविक अभिप्राय जान लेते हैं। जिस-जिस चीजसे हमें चोट पहुँची, जो-जो कुछ हमें अपने रास्तेमें बाधक मालूम हुआ, उससे हमारी कितनी बड़ी मदद हुई—यह अब हम ठीक तरहसे समझ सकते हैं और यह भी जान पाते हैं कि जिन कर्मोंको हम अपना

पतन और स्खलन समझते थे, उनका भी इसमें क्या उपयोग था। इसके बाद हम इस दैवी संचालनको, पूर्व जीवनकी घटनाओंके अवलोकनसे नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष रूपसे देख पाते हैं कि कोई परम साक्षी चैतन्य हमारे विचारोंको, कोई सर्वव्यापिनी चिच्छक्ति हमारे संकल्पों और कर्मोंको, कोई सर्वाकर्षक, सर्वसमाहारक आनन्द और प्रेम हमारे भावमय जीवनको एक नये साँचेमें ढाल रहे हैं। हम उन्हें अपने व्यक्तिगत सम्बन्धसे भी अब पहचान लेते हैं कि आरम्भसे ही इनका स्पर्श हमें प्राप्त था और इन्होंने ही अन्तमें अब हमें अपने हाथमें कर लिया है। हमें इन अन्तर्यामीके रूपमें परम प्रभु, सखा, प्रेमी, गुरुका सतत सामीप्य अनुभूत होने लगता है। जैसे-जैसे हमारी व्यष्टिसत्ता महत्सत्ताके साथ तद्रूप और एकीभूत होती जाती है, वैसे-वैसे हम उन्हें अपनी सत्ताके सत्तात्वके अंदर भी अनुभव करने लगते हैं; कारण, जिस चमत्कृतिजनक विकासको हम देख पाते हैं वह, हम जानते हैं कि, हमारे अपने प्रयत्नोंका फल नहीं हो सकता; हमें अनुभव होता है कि कोई नित्य पूर्णतत्त्व ही हमें अपने ही साँचेमें ढाल रहा है। हम देखते हैं कि योगदर्शनके जो ईश्वर हैं, सचेतन जीवके अंदर जो चैत्यगुरु या अन्तर्यामी हैं, ज्ञानियोंके जो 'केवल' और अज्ञेयवादियोंके जो 'अज्ञेय' हैं, जडवादियोंकी जो विश्वशक्ति हैं, जो परम पुरुष और परमा शक्ति हैं, जिन्हें जगत्के विभिन्न धर्मसम्प्रदायोंने नाना नामोंसे पुकारा और नाना रूपोंमें मूर्तिमान् किया है, वही एकमेवाद्वितीय हमारे योगके ईश्वर हैं।

इन्हीं एकको अपने अन्तरात्मामें और समस्त बाह्य प्रकृतिमें देखना, जानना, वही हो जाना, उन्हींसे परिपूर्ण होना—यही हमारी सशरीर सत्ताका सदासे गुप्त लक्ष्य रहा है और यही अब उसका चेतनागत अभिप्राय हो गया है। अपनी सत्ताके सब अंग-प्रत्यंगोंमें तथा उन सब पदार्थोंमें भी, जिन्हें हमारा विभाजक मन अपनी सत्तासे पृथक् देखा करता है, उन्हीं एकको अनुभव करना वैयक्तिक चेतनाकी परम गति है। उनके द्वारा अधिकृत होना और उन्हें अपने अंदर और सब वस्तुओंमें अधिकृत करना ही सम्पूर्ण साम्राज्य और आधिपत्य है। नैष्कर्म्य और कर्म, शान्ति और शक्ति, एकत्व और अनेकत्व—इन सभी अनुभवोंमें उनका आनन्द लेना ही वह परम सुख है, जिसे जीव जगत्में बेजाने ढूँढ़ रहा है। पूर्ण योगके लक्ष्यकी यही परिभाषा है; इसका यही अर्थ है कि वह सत्य व्यक्तिगत अनुभवमें आ जाय, जिसे विश्वप्रकृति अपने अंदर छिपाये हुए है और जिसे बाहर प्रकट करनेके लिये महान् कष्ट उठा रही है। यह मानवात्माका देवात्मा होना और प्राकृत जीवनका दिव्य जीवन होना है।

इस पूर्ण योगकी प्राप्तिका सुनिश्चित मार्ग यह है कि हम अपने अन्तःस्थ निगूढ़ अन्तर्यामी स्वामीको ढूँढ़ लें, अपने-आपको निरन्तर उन भागवत शक्तिकी ओर उन्मुख रखें जो शक्ति होनेके साथ ही भागवतज्ञान और भागवतप्रेम भी हैं, और मानवात्मासे देवात्मा होनेका जो कार्य है, उसकी सिद्धिके लिये उन्हींपर निर्भर करें। परन्तु अहंभावापन्न चेतनाके लिये आरम्भमें किसी प्रकार ऐसा करना बहुत कठिन है। यदि किसी प्रकार ऐसा हो भी, तो पूर्णतया नहीं हो सकता—प्रकृतिके प्रत्येक अंग-प्रत्यंगमें नहीं हो सकता। आरम्भकी कठिनाई यह है कि हमारे विचार करने, विषयोंको ग्रहण करने और सुख-दुःखादि अनुभव करनेका जैसा अहंकारपूर्ण अभ्यास पड़ा हुआ है, उससे ज्ञानके वे सब द्वार बंद हो जाते हैं, जिनसे ही साधकको आवश्यक आत्मप्रत्यय हो सकता है। फिर इसके बादकी कठिनाई यह है कि इस मार्गमें जिन श्रद्धा-विश्वास, शरणागति और साहसकी आवश्यकता होती है, वे अहंभावसे आच्छादित जीवके लिये सुलभ नहीं होते। भागवती क्रिया वह क्रिया नहीं है, जिसे अहंकारयुक्त मन चाहता या ठीक समझता है; क्योंकि भागवती क्रिया भूलोंसे काम लेती है सत्यको पानेका, दुःखोंसे काम लेती है आनन्द-लाभ करनेका, और अपूर्णतासे काम लेती है पूर्णताको सिद्ध करनेका। अहंकार यह नहीं समझ सकता कि अन्तर्यामी उसे कहाँ ले जा रहे हैं; वह अन्तर्यामीके इस संचालनका विद्रोह करता है, आत्माका बल-विश्वास खो देता और हिम्मत हार जाता है। अहंकारकी इन त्रुटियोंसे अन्तर्यामीके कार्यमें तो कोई बाधा नहीं पड़ती; क्योंकि हमारे विद्रोह करनेसे अन्तर्यामी रुष्ट नहीं होते, हमारी अश्रद्धासे उनका उत्साह भंग नहीं होता, हमारी दुर्बलताको देख वे हमारा तिरस्कार नहीं करते; मातामें जो प्रेम होता है, वह सारा प्रेम, और गुरुमें जो धैर्य होता है, वह सारा धैर्य उनके अंदर होता है। परन्तु अन्तर्यामीके नेतृत्वसे जब हम अपनी अनुमति हटा लेते हैं, तब उसका यह फल अवश्य होता है कि हम अपना आत्मचैतन्य खो बैठते हैं। इससे वस्तुस्थितिमें कोई अन्तर नहीं पड़ता और न हम अन्तर्यामीके मंगलविधानके फलसे वंचित ही होते हैं। उनके विधानसे

हम अपनी अनुमति जो हटा लेते हैं, इसका कारण यह है कि हम अपने उस उच्च आमस्वरूपको अपने इस निम्नस्वरूपसे पृथक् नहीं देख पाते, जिसके द्वारा अन्तर्यामी अपने-आपको प्रकट करनेकी भूमिका निर्माण कर रहे हैं। हम जगत्में और उसी प्रकार अपने-आपमें भगवान्को उनके क्रिया-कलापके कारण नहीं देख पाते, विशेषत: इस कारणसे कि उनका कार्य हमारे अंदर हमारी प्रकृतिके द्वारा होता है, ऐन्द्रजालिक कलाके द्वारा नहीं। मनुष्य देखना चाहता है इन्द्रजालके-से चमत्कार, इसके बिना उसको भगवत्सत्ताका विश्वास नहीं होता; वह अपनी आँखोंमें चकाचौंध चाहता है, उसके बिना वह देख नहीं सकता। परन्तु यह अधीरता है, अज्ञान है; यह महान् विपत्ति और विनाशका कारण बन सकता है, यदि हम भागवत मार्गनिर्देशका विरोध करके अपनी वासना-कामनाओंको तृप्त और योगमार्गसे भ्रष्ट करनेवाली किसी दूसरी ही शक्तिको अपने अंदर बुला लें, उसे रास्ता दिखानेको कहें और उसीको भगवान्का नाम दे डालें।

मनुष्यके लिये अपने अंदर अवस्थित किसी अदृश्य सत्तापर विश्वास करना तो कठिन होता है, पर किसी ऐसी वस्तुपर विश्वास करना कठिन नहीं होता जो उसके अंदर नहीं बल्कि बाहर है, उससे भिन्न है। इसीलिये बहुत-से मनुष्योंकी आध्यात्मिक उन्नतिमें कोई बाह्य आश्रय, श्रद्धाका कोई बाह्य विषय आवश्यक हो जाता है। भगवान्की किसी बाह्यमूर्ति अथवा उनके किसी मानव प्रतिनिधि, किसी अवतार, पैगम्बर, नबी या गुरुकी यहाँ आवश्यकता होती है; अथवा ये दोनों ही प्रकार आवश्यक होते हैं और उनकी पूर्ति भी हो जाती है। कारण, भगवान् मनुष्यकी आवश्यकताके अनुसार अपने-आपको देवता, अवतार या सामान्य मनुष्यके रूपमें प्रकट करते हैं—अवश्य ही इस रूपमें मार्ग-दर्शकका काम करते हुए वे एक ऐसे घने आवरणका उपयोग करते हैं कि जिससे उनका ईश्वरत्व छिपा रहता है।

मानव जीवकी इस प्रकारकी आवश्यकताको पूरा करनेके लिये हिंदुओंकी आध्यात्मिक साधनामें इष्टदेवता, अवतार और गुरुकी व्यवस्था है। इष्टदेवतासे अभिप्राय है भगवान्के उस विशिष्ट नाम-रूपका, जिसे हमने वरण किया हो; यह किसी निम्नस्तरकी कोई कनिष्ठ शक्ति नहीं, प्रत्युत उस नाम-रूपसे स्वयं भगवान् ही हैं। प्राय: सभी धर्म भगवान्के किसी ऐसे नामरूपको अपना आश्रय बना लेते हैं और उसका उपयोग करते हैं। मनुष्यके लिये इसकी जो आवश्यकता है, वह स्पष्ट है। भगवान् समग्र हैं, समग्रसे भी अधिक हैं। पर मनुष्य उसकी धारणा कैसे कर सकता है, जो समग्रसे भी अतीत है? केवल समग्रकी धारणा करना भी आरम्भमें उसके लिये अत्यन्त कठिन है; क्योंकि वह स्वयं अपनी प्राकृत चेतनाके अंदर एक परिसीमित और पृथक्कृत पदार्थ है और इसलिये वह ऐसी ही सत्ताकी ओर उन्मुख हो सकता है, जिसका उसकी इस परिसीमित प्रकृतिके साथ मेल हो। समग्रमें तो ऐसी-ऐसी चीजें हैं, जिनकी धारणा उसके लिये अत्यन्त कठिन है अथवा जो उसके कोमल हृदय और दुर्बल इन्द्रियोंको बहुत ही भयानक प्रतीत हो सकती हैं। अथवा यह कहिये कि मनुष्य किसी ऐसी वस्तुमें भगवद्बुद्धि नहीं कर सकता, जो उसके अज्ञानयुक्त और खण्डस्वरूप सिद्धान्तोंकी कक्षाके बिलकुल बाहर हो; वह उसके समीप पहुँच नहीं सकता, उसे पहचान नहीं सकता। अत: यह आवश्यक है कि वह अपनी ही आकृतिके अनुरूप भगवान्की कल्पना करे अथवा भगवान्के किसी ऐसे रूपकी भावना करे, जो उसकी आकृतिके परे पर उसकी उच्चातिउच्च प्रवृत्तियोंके अनुकूल और उसके हृदय और बुद्धिके लिये ग्राह्य हो। अन्यथा भगवान्के संसर्गमें आना और उनसे युक्त होना उसके लिये कठिन होगा।

यह सब होनेपर भी मनुष्यकी कुछ ऐसी प्रकृति है कि वह मानव मध्यस्थको चाहती ही है—इसलिये कि ऐसी किसी वस्तुमें उसे भगवान्का स्पर्श प्राप्त हो, जो वस्तु उसकी मानवताके अति समीप हो और जो मानव-प्रभाव और दृष्टान्तके अंदर उसके गोचर हो सके। मनुष्यकी यह आकाङ्क्षा भगवान् पूर्ण करते हैं मानवरूपमें अवतार लेकर। परन्तु भगवदवतारकी धारणा करना भी उसके लिये कठिन हो तो भगवान् पैगम्बर, नबी या गुरुके रूपमें—जो रूप अवतार-रूपका-सा विस्मयजनक नहीं है—मनुष्यके सामने आते हैं। कारण, बहुत-से लोग जो देव-मानवकी धारणा नहीं कर सकते या करना नहीं चाहते, उनके लिये श्रेष्ठ मनुष्यपर विश्वास करना सहज होता है; वे ऐसे मनुष्यको भगवान्का अवतार नहीं पर जगद्गुरु या भगवत्प्रतिनिधि मानते हैं।

पर इतनेसे भी काम पूरा नहीं होता; आवश्यकता

इस बातकी होती है कि कोई सजीव प्रभाव, कोई सजीव दृष्टान्त सामने हो, जिससे प्रत्यक्षमें उपदेश मिले। ऐसे लोग तो बहुत कम होते हैं, जो किसी पूर्वकालीन गुरु और उनकी शिक्षाको, किसी पूर्वकालीन अवतार और उसके दृष्टान्त और प्रभावको अपने जीवनका सजीव आश्रय बना सकें। हिंदू-साधनामें इस आवश्यकताकी पूर्तिके लिये गुरु और शिष्यके सम्बन्धकी व्यवस्था है। ऐसे गुरु भी कभी-कभी हो सकते हैं, जो भगवदवतार या जगद्गुरु भी हों; पर प्रकरणमें इतना ही पर्याप्त है कि गुरु ऐसे हों, जो शिष्यको भागवत ज्ञान प्रदान करें, भगवदीय आदर्शका कोई बोध उसे करा दें या इस योग्य बना दें कि वह भगवान्‌के साथ मानव जीवके स्वानुभूत सम्बन्धको अनुभव कर सके।

पूर्ण योगका साधक अपनी प्रकृतिके अनुसार इन सभी उपायोंसे काम ले सकता है; परन्तु यह आवश्यक है कि वह इन्हें अपने बन्धन न बना ले और अहंकारयुक्त मनकी उस व्यावर्त्तक प्रवृत्तिको अपने अंदरसे निकाल दे जो 'हे मेरे ईश्वर, मेरे अवतार, मेरे नबी, मेरे गुरु' की पुकार मचाकर साम्प्रदायिक धर्मोन्मादिनी बुद्धिसे अन्य सब धर्मों और सदनुभूतियोंका तिरस्कार किया करती है। सब प्रकारकी साम्प्रदायिकता और धर्मान्धता-का सर्वथा त्याग करना होगा, ये चीजें भागवत अनुभूतिकी अखण्डतासे विसंगत हैं।

पूर्ण योगके साधकका तो तबतक सन्तोष ही नहीं हो सकता, जबतक वह अपने भगवद्भावमें भगवान्‌के सब नाम और रूप भी शामिल न कर ले और अन्य सब देवताओंमें अपने ही इष्टदेवको न देखे और अपने उन प्रभुकी एकमेवाद्वितीय सत्ताके अंदर सब अवतारोंका अन्तर्भाव न कर ले, जो स्वयं ही अवताररूपसे उतरते हैं, तथा जबतक सब प्रकारकी शिक्षा-दीक्षाओं और उपदेशोंके सारभूत सिद्धान्तोंको सनातन ज्ञान-विज्ञानके साथ समस्वर न बना ले।

यह बात भी पूर्ण योगके साधकको भूलनी न चाहिये कि इन सब बाहरी उपायोंका एकमात्र उद्देश्य उसके अन्तरात्माको जगाकर उसे अन्त:स्थित भगवान्‌के सम्मुख कर देना है। यदि यह काम न बना, तो कुछ भी न हुआ। यदि हमारे अंदर श्रीकृष्ण, बुद्ध या ईसा प्रकट न हुए तो बाहर-ही-बाहर कृष्ण, ईसा और बुद्धकी पूजा पूरा काम नहीं करेगी। इसी प्रकार अन्य सब उपायोंका भी यही लक्ष्य है। प्रत्येक उपाय मनुष्यकी प्राकृत अवस्था और अन्त:स्थित भगवान्‌के प्राकट्यके बीच एक सेतु है।

पूर्ण योगके गुरु, जहाँतक सम्भव होगा, हमारे अन्त:-स्थित अन्तर्यामी गुरुकी पद्धतिका ही अवलम्बन करेंगे। वे शिष्यको उसी रास्तेसे ले चलेंगे, जो उसकी प्रकृतिका रास्ता है। उपदेश, उदाहरण या दृष्टान्त और प्रभाव—ये तीन गुरुके उपकरण हैं। ज्ञानी गुरु कभी अपने आपको या अपने विचारोंको बलात् शिष्यके मनपर लाद देना पसंद न करेंगे; शिष्यमें वे उतना ही निक्षेप करेंगे, जो व्यर्थ न होगा और बीजकी तरह जमकर अन्तर्यामी भगवान्‌से पुष्टि पाकर बढ़ेगा। उपदेश करनेकी अपेक्षा अन्तर्ज्ञानको ही जगानेका वे अधिक ध्यान रखेंगे और शिष्यके अंदर उसकी शक्तियों और अनुभूतियोंको स्वाभाविक स्वच्छन्द गतिसे बढ़ने देनेका यत्न करेंगे। वे जो कोई प्रक्रिया बतलावेंगे, वह एक उपायके तौरपर होगी, किसी अनतिक्रम्य विधान या नित्यक्रमके तौरपर नहीं। गुरु सदा इस बातसे सावधान रहेंगे कि उनका बताया हुआ कोई साधन बन्धन न बन जाय, उनकी दी हुई प्रक्रिया यन्त्रक्रिया न हो जाय। गुरुका सम्पूर्ण कार्य यही होगा कि शिष्यके अंदर उस दिव्य आत्मज्योतिको जगा दें और उस दिव्य शक्तिको चालित कर दें जिनके स्वयं गुरु भी एक साधन, एक उपाय, एक आधार और प्रवाहके एक पात्र हैं।

उपदेशसे दृष्टान्त बहुत अधिक शक्तिशाली होता है, पर बाह्य कर्मोंका या वैयक्तिक आचरणका ही दृष्टान्त सर्वोपरि महत्त्व नहीं रखता। इनका भी अपना स्थान और महत्त्व अवश्य है; परन्तु सबसे अधिक मुख्य बात जो दूसरोंमें अभीप्सा जगानेवाली होगी, वह गुरुके उस भगवत्-साक्षात्कारकी बात है, जिससे गुरुका सारा जीवन, सम्पूर्ण आन्तरिक स्थिति और उनके सारे कर्म नियत होते हैं। यही सार्वभौम और मूल तत्त्वकी बात है; बाकी और जो कुछ है वह वैयक्तिक पात्र और परिस्थिति है। गुरुका यही सक्रिय साक्षात्कार वह चीज है, जिसे साधकको अनुभव करना होगा और अपनी प्रकृतिके अंदर उतारना होगा। बाह्य अनुकरण करनेकी उसके लिये कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि ऐसा अनुकरण समुचित स्वाभाविक फलोंका उत्पादक नहीं, बल्कि बाधक होता है।

दृष्टान्तकी अपेक्षा प्रभाव अधिक काम करता है। प्रभावका अर्थ शिष्योंपर गुरुका बाहरी रोब-दाब नहीं, बल्कि उनके अन्तरात्माओंके साथ गुरुके संग, साथ और सामीप्यकी वह शक्ति है, जिससे गुरु मौन रहकर भी शिष्योंके अंदर

वही चीज डालता रहता है, जो वह स्वयं है और जो उसके अधिकारमें है। यही गुरुका परम लक्षण है। सर्वश्रेष्ठ गुरु उपदेशक होनेकी अपेक्षा प्रधानत: ऐसे सत्तास्वरूप होते हैं, जो अपनी चारों ओर रहनेवाले सब ग्रहणशील साधकोंके अंदर भागवतचैतन्य और उसके अंगभूत ज्योति, शक्ति, शुचिता और आनन्द ही बरसाया करते हैं।

पूर्ण योगके गुरुका एक और लक्षण यह है कि गुरु मानव-दम्भ और आत्मगौरवकी बुद्धिसे अपने गुरु होनेका दर्प नहीं करते। जगत्‌में उनका यदि कोई कार्य है तो वह ऊपरसे प्राप्त एक दायित्व है और गुरु उस दायित्व-निर्वाहके केवल एक पात्र, भाजन और प्रतिनिधिमात्र हैं। वे अपने भाइयोंके सहायक एक मनुष्य हैं, बच्चोंको ले चलनेवाले एक बालक हैं, अन्य दीपोंको प्रज्वलित करनेवाले एक दीप-ज्योति हैं आत्माओंको जगानेवाले एक आत्मा हैं— अधिक-से-अधिक भगवान्‌की अन्य शक्तियोंको अपने पास बुलानेवाली एक शक्ति या सत्ता हैं।

(४) काल

जिस साधकको ये सब सहायताएँ प्राप्त हैं, उसका लक्ष्यको प्राप्त होना सुनिश्चित है। कहीं वह गिर भी जाय, तो वह उसके उठ खड़े होनेका ही एक साधन होगा और उसका मरण भी पूर्णताकी ओर ले जानेवाला मार्ग बनेगा। कारण, इस मार्गपर जो कोई आ जाता है, उसके लिये जनन-मरण उसके स्वरूपके विकास, साधन और यात्राके विश्राम-स्थान बन जाते हैं।

साधन-क्रमके पूर्ण होनेसे शेष अपेक्षा कालकी होती है। मानव-प्रयास सामने काल शत्रु बनकर आता है या मित्र बनकर, बाधक होकर खड़ा होता है या साधक होकर। परन्तु यथार्थमें यह सदा ही आत्माका एक उपकरण-मात्र होता है।

काल परिस्थितियों और त्रिगुणकी शक्तियोंके मिलने और परिणामस्वरूप विकास-साधन करनेका एक क्षेत्र है। काल विकास-साधनके इस क्रमका मापक यन्त्र है अहंकारको यह बड़ा उत्पीडक या प्रतिरोधस्वरूप प्रतीत होता है, पर भगवान्‌के हाथका यह एक यन्त्र है। इसलिये जबतक हमारा प्रयत्न अपने पुरुषार्थके बलपर होता है, तबतक काल बाधक ही प्रतीत होता है; क्योंकि काल हमारे सामने उन सब शक्तियोंको ला खड़ा कर देता है, जो हमारे पुरुषार्थसे संघर्ष कर हमारा रास्ता रोक देती हैं। जब भागवत क्रिया और हमारे वैयक्तिक पौरुषकी क्रिया दोनों हमारी चेतनामें एक दूसरीसे मिलती हैं, तब काल एक साधन और उपादान बनता है। जब ये दोनों क्रियाएँ एक हो जाती हैं, तब काल सेवक और उपकरण बन जाता है।

कालके सम्बन्धमें साधकका सर्वोत्तम भाव यही है कि वह यह जानकर कि उसकी पूर्ण योग-सिद्धिके लिये अनन्त काल उसके हाथमें है, अनन्त धैर्य धारण करे और साथ ही अपनी शक्तिको इस तरह बढ़ावे कि वह उसे अभी सिद्ध करनेमें लगे और ऐसी सततवर्द्धनशील आत्मवशिता और वेगवती क्षिप्रताके साथ लग जाय कि वह परम भागवत रूपान्तरकी आश्चर्यमयी त्वराको प्राप्त हो।

[श्रीअरविन्दकृत The Yoga of Divine Works से श्रीचन्द्रद्वीप त्रिपाठीद्वारा अनुवादित]

याद रखो

१—किसीको नीचा दिखानेकी चाह या चेष्टा न करो, किसीकी अवनति या पतनमें प्रसन्न न होओ, न किसीकी अवनति या पतन चाहो ही। किसीकी निन्दा-चुगली, दोष-प्रकाशन न करो।

२—मान-प्रतिष्ठाके लिये त्यागका स्वाँग मत धारण करो। सच्चा त्याग करो। त्यागमें भाव प्रधान है, बाहरी क्रिया नहीं।

३—मौन साधन करो—परन्तु याद रखो, असली मौन तो मनका है। मनमें विषय-चिन्तन बंद हो जाना चाहिये।

४—गिरे हुए, रोगी, प्रलोभनमें पड़े हुए, अपराधी, विपत्तिग्रस्त और अपमानित नर-नारियोंके साथ कभी दुर्व्यवहार मत करो। उनसे सहानुभूतिका बर्ताव करो। उन्हें सच्चा सुखी बनानेकी चेष्टा करो।

प्रेम-साधन

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

व्रजराज भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अनन्य प्रेम होनेमें ही इस जीवनकी सार्थकता है। जिस बड़भागीने इस दिव्य, अनन्य एवं विशुद्ध प्रेम-पीयूषका पान कर लिया, उसका जन्म सफल हो जाता है। उसकी युग-युगकी जन्म-जन्मोंकी विषय-पिपासा बुझ जाती है, शान्त हो जाती है। भवतापसे संतप्त प्राणी भगवत्प्रेमकी पावन मन्दाकिनीमें निमज्जन करके ही पूर्ण शान्ति प्राप्त कर सकता है। यही वह परम रस है, जिसे पीकर मनुष्य सिद्ध, अमर और तृप्त हो जाता है।[१] जिसके प्राप्त होनेपर प्राणी इच्छा-शोक-राग-द्वेष आदिकी परिधिसे बाहर हो अनन्त अगाध आनन्दराशिमें तरंगायमान होता रहता है। न तो वह विषय-भोगोंमें रमता है और न उनमें कभी उसका उत्साह ही होता है।[२]

प्रेम साधन भी है और साधनोंका फल (साध्य) भी।[३] परमात्माकी ही भाँति प्रेमका स्वरूप भी अनिर्वचनीय है, गूँगेके स्वादकी तरह यह वाणीका विषय नहीं होता।[४] इसीलिये प्रेमका स्वरूप अलौकिक बताया गया है; क्योंकि वह लोकसे सर्वथा विलक्षण है। लौकिक प्रेम भोग-कामनाओं और दुर्वासनाओंसे वासित होनेके कारण शुद्ध नहीं होता। जहाँ वासनाका आधिपत्य है, वह प्रेम नहीं, आसक्तिमूलक मोह है। इसके अलावे लौकिक प्रेमके आलम्बन क्षणिक एवं नाशवान् होते हैं; अतः वह भगवत्प्रेमके सामने हेय ही है। भगवत्प्रेम भी यदि किसी कामनासे किया जाय तो वह सकाम कहलाता है। सकाम प्रेममें दिव्यता, अनन्यता एवं विशुद्धताका अभाव होता है। कामना लौकिक वस्तुके लिये ही होती है, अतः लौकिकताका सम्मिश्रण हो जानेसे उसकी दिव्यता नष्ट हो जाती है। तथा उक्त कामनामें वह प्रेम बँट जाता है, इसलिये उसमें एकनिष्ठता एवं अनन्यता नहीं रह जाती। इसी प्रकार कामनासे मिश्रित या दूषित हो जानेसे वह प्रेम विशुद्ध नहीं रह पाता। दिव्य, अनन्य एवं विशुद्ध प्रेम तो तीनों गुणोंसे अतीत और कामनाओंसे रहित होता है, वह प्रतिक्षण बढ़ता है, कभी घटता नहीं, वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म होता है, उसे वाणीद्वारा नहीं व्यक्त किया जा सकता, वह तो अनुभवकी वस्तु है।[५]

हेतु या कामना ही प्रेमका दूषण है, निर्हेतुक अथवा निष्काम प्रेममें कामनाकी गन्ध भी नहीं है, इसलिये यह शुद्ध है। अपने अभिन्न प्रियतम परमात्मा श्रीकृष्णके सिवा और कोई इस प्रेमका लक्ष्य नहीं है, इसलिये यह अनन्य है तथा ऊपर कहे अनुसार लोकसे सर्वथा विलक्षण होनेके कारण यह प्रेम दिव्य है।

इस प्रेमको पाकर प्रेमी सदा आनन्दमें मस्त रहता है। संसारकी चिन्ताएँ उसका स्पर्श भी नहीं कर सकतीं, उसकी दृष्टिमें प्रेमके सिवा और कुछ रह ही नहीं जाता। वह तो प्रेमको ही देखता, प्रेमको ही सुनता और प्रेमका ही वर्णन तथा चिन्तन करता है। उसके मन, प्राण और आत्मा प्रेमकी ही गंगामें अनवरत अवगाहन करते रहते हैं। वह अपने सब धर्म और आचरण प्रेममय श्रीकृष्णको ही अर्पण कर देता है। उनकी पलभरके लिये भी याद भूलनेपर वह अत्यन्त व्याकुल—बहुत ही बेचैन हो जाता है।[६] वह सर्वत्र प्रेममय भगवान्‌को ही देखता है, सब कुछ भगवान्‌में ही देखता है; ऐसी दृष्टि रखनेवालेकी नजरोंसे भगवान् अलग नहीं हो सकते तथा वह भी भगवान्‌से अलग नहीं हो सकता।

---

१. यल्लब्ध्वा सिद्धो भवत्यमृतो भवति तृप्तो भवति।
(नारदभक्तिसूत्र ४)

२. यत्प्राप्य न किञ्चिद् वाञ्छति न शोचति
न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति।
(नारदभक्तिसूत्र ५)

३. साधन सिद्धि राम-पग नेहू।

४. अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् मूकास्वादनवत्।
(नारदभक्तिसूत्र ५१, ५२)

५. गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्। (नारदभक्तिसूत्र ५४)

६. तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता।
(नारदभक्तिसूत्र १९)

श्रीकृष्ण-ध्यान-५

श्रीकृष्ण-ध्यान-६

इस प्रकार दोनोंका नित्य ऐक्य शाश्वत संयोग बना रहता है। भगवान् ऐसे भक्तका लोकोत्तर अनुराग देख अपनी महेश्वरता भूल जाते और मुग्ध होकर अपने प्राणप्रिय भक्तको निहारते रहते हैं, उसके साथ उसीके अनुरूप बनकर उसकी इच्छाके अनुकूल विग्रह धारण कर खेलते, नृत्य करते, गाते, बजाते और आनन्दित होते रहते हैं।

प्रेमी भक्त मिलन और विछोहकी चिन्तासे भी परे होता है। उसे क्या गरज पड़ी है, जो मिलनेके लिये विकल हो। उसे तो केवल प्रेम करना है, वह भी प्रेमके लिये। वह प्रेमतत्त्वज्ञ प्रियतम स्वयं ही मिले बिना नहीं रह सकता। उसे गरज़ होगी तो स्वयं ही आवेगा, भक्त क्यों मिलनेके लिये परेशान हो? तथा वह विछोहसे भी क्यों डरे? उसे अपने लिये तो सुख या आनन्दकी चाह है नहीं; वह तो सब कुछ उस प्रियतमके ही सुखके लिये करता है। उसे यदि मिलनमें सुख मिलता हो तो स्वयं ही आकर मिले। विछोहसे दुःख होता हो तो कभी यहाँसे दूर न जाय। वह तो प्रेमका लोभी है, प्रेम होगा तो अपने-आप दौड़ा आयेगा, न होगा तो बुलानेसे भी नहीं आवेगा। इसीलिये जो निष्काम प्रेमी होते हैं, वे भगवान्‌को बुलाते भी नहीं। वास्तवमें न तो भगवान्‌को दर्शन देनेके लिये बुलानेकी आवश्यकता है, न रोकनेकी। बिना किसी कामना या हेतुके ही भगवान्‌में केवल प्रेम बढ़ाना आवश्यक है। अहंकारसे दूर रहकर संयोग-वियोगकी चिन्तासे बेपरवाह होकर, उत्तरोत्तर प्रेम बढ़ता रहे—इसीके लिये, सारा प्रयत्न—सम्पूर्ण चेष्टा होनी उचित है। प्रह्लादने कभी प्रार्थना नहीं की, कि 'मुझे दर्शन दो।' सब कुछ भगवान्‌ने अपने-आप ही किया।

भगवत्प्रेमीका पूजन, खाना, पीना, रोना-गाना आदि सब भगवत्प्रीत्यर्थ होना चाहिये। प्रेमीका प्रेममय भगवान्‌के सिवा और कोई लक्ष्य न हो। दर्शन-मिलन आदि तो आनुषंगिक फल हैं, अपने-आप प्राप्त होंगे। इस प्रेमकी पूर्णता उस दिव्य, अनन्य एवं विशुद्ध प्रेममें ही है, जहाँ प्रेम, प्रेमी और प्रियतमकी एकता होती है।

ऐसा प्रेमी उस दिव्य प्रेमका साक्षात् स्वरूप होता है। उसकी वाणी प्रेमसे ओतप्रोत तथा शरीर और मन प्रेमरसमें सराबोर होते हैं। उसका रोम-रोम प्रेमानन्दसे थिरकता दिखायी देता है। उसके साथ सम्भाषण, उसका चिन्तन तथा उसके निकट गमन करनेसे अपने अन्दर प्रेमके परमाणु आते हैं, उसका स्पर्श पाकर नीरस हृदयमें भी प्रेमका संचार होता है। बड़े-बड़े नास्तिक भी उसके सम्पर्कमें आनेपर सब कुछ भूलकर प्रेमदीवाने बन सकते हैं।

उसके अनन्य अनुराग या अलौकिक भावोद्रेकको ठीक-ठीक हृदयंगम करानेके लिये उपयुक्त शब्द नहीं है। समझानेके लिये उसके भावको चाहे कोई भाव कह दिया जाय; वास्तवमें वह सब भावोंसे ऊपर उठा होता है। वहाँ न भाव है, न अभाव है। उसकी स्थिति सभी भावोंसे ऊँची होती है।

सख्यभावसे भी इस दिव्य प्रेमकी तुलना नहीं हो सकती। यह सख्यसे भी ऊँचा भाव है। सख्यभावके उदाहरण अर्जुन माने जाते हैं; परन्तु अर्जुनमें भी इस दिव्य अलौकिक भावकी तो कमी ही दीख पड़ती है। वे भगवान्‌का विराट् रूप देखकर भयभीत होते हैं। भगवान्‌के साथ किया हुआ सख्य-समानताका व्यवहार उन्हें महान् अपराध जान पड़ता है; और उसके लिये वे बारंबार क्षमा-याचना करते देखे जाते हैं—

'तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्।'

'पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥'

और भगवान् भी उन्हें '**मा ते व्यथा मा च विमूढभावः**' आदि कहकर आश्वासन देते हैं।

दास्यभावसे भी उस अनन्यप्रेमीका भाव अत्यन्त उत्कृष्ट है। दास्यभावमें ऊँच-नीच, स्वामि-सेवककी दृष्टि है, पर यहाँ तो पूर्ण समता है, न कोई सेवक है, न स्वामी। भक्त भगवान्‌की प्रेम-गंगामें निमज्जन करके प्रसन्न होता है तो भगवान् भी वैसे ही प्रेममें मग्न हो जाते हैं।

वात्सल्यभावसे भी इस दिव्य अनन्यभावका स्थान ऊँचा है। वहाँ उस लोकोत्तर साम्यका दर्शन नहीं होता, जो कि यहाँ सहज ही अनुभवमें आता है। उसमें छोटे-बड़े, पिता, पुत्र आदि भाव रहते हैं, किन्तु यहाँ न कोई छोटा है, न बड़ा; न कोई माता-पिता, न कोई किसीका पुत्र। सब एक समान हैं।

माधुर्यभावसे भी यह अद्‌भुत प्रेमभाव विलक्षण है। माधुर्यभावके भी दो स्वरूप हैं—स्वकीयाभाव और परकीयाभाव। परम श्रेष्ठ सतीशिरोमणि पतिव्रता नारीका अपने प्रियतम पतिके प्रति जो भाव होता है, वही स्वकीयाभाव है। तथा परस्त्रीका परपुरुषमें जो गुप्त प्रेम होता है, उसी भावसे जो भगवान्‌के दिव्य स्वरूपमें उच्च श्रेणीका प्रेम हो, उसे परकीयाभाव कहते हैं। उपर्युक्त प्रेमी इन सभी भावोंसे ऊपर उठा होता है। भगवान्‌के साथ उसका एक क्षणके लिये भी कभी वियोग नहीं होता। भगवान् उसके अधीन होते हैं, उसके हाथों बिके रहते हैं। उसका साथ छोड़कर कहीं जाते ही नहीं। वह अनन्यप्रेमी भक्त पूर्ण प्रेममय—भगवन्मय

हुआ रहता है। भगवान्‌से वह भिन्न नहीं, भगवान् उससे भिन्न नहीं। इस अवस्थामें न भय है न संकोच, मान, आदर और सत्कारका भी यहाँ कुछ खयाल नहीं रहता। बड़े-छोटेका कोई लिहाज नहीं किया जाता। उन (भक्त और भगवान्)-में न कोई उत्तम है न मध्यम। दोनों समान हैं।

पतिव्रता पतिको नारायण मानती है और अपनेको उनकी दासी। यह भाव बड़ा ही उत्तम परम कल्याणकारी है। फिर भी इसमें बड़े-छोटेका दर्जा तो है ही। परन्तु उपर्युक्त दिव्य प्रेममें बड़े-छोटेकी कोई श्रेणी नहीं है। वहाँ दोनोंकी एक स्थिति—समान अवस्था है।

परकीयाभावमें भी दूसरोंसे भय है, छिपाव है, सदा यह डर बना रहता है कि कोई जान न ले, पर यहाँ इस दिव्य प्रेममें न भय है, न छिपाव। फिर संकोचकी तो बात ही क्या है। भगवान्‌के गुण और प्रभावसे प्रभावित होकर ही परकीयाका मन उनकी ओर आकृष्ट होता है, जहाँ अपनेसे अन्यत्र श्रेष्ठताका अनुभव है, वहाँ अपनेमें किञ्चित् न्यूनताका भी आभास है ही। अत: वहाँ भी निर्भीकता एवं पूर्ण समानता नहीं है। परन्तु अनन्य और विशुद्ध प्रेममें गुण और प्रभावकी विस्मृति है, स्मृति होनेपर भी उनका कोई मूल्य नहीं है। यहाँ तो दोनोंमें अनिर्वचनीय ऐक्य है। वहाँ सर्वशक्तिमान् और सर्वान्तर्यामी कहकर स्तवन नहीं किया जाता। स्तुतिकी अवस्था तो बहुत पहले ही समाप्त हो जाती है। अब तो कौन सर्वशक्तिमान् और कहाँका सर्वेश्वर! दोनों एक हैं, समान हैं, दोनों ही दोनोंके प्रेमी और प्रियतम हैं; इनमें परस्पर हेतुरहित सहज प्रेम होता है। इस स्थितिमें प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पदमें भेद नहीं रहता। भक्ति, भक्त और भगवन्त—सब एक हो जाते हैं। किसी भावुक भक्तके निम्नांकित वचनसे भी इसी भावकी पुष्टि हुई है—

त्रिधाप्येकं सदागम्यं गम्यमेकप्रभेदने।
प्रेम प्रेमी प्रेमपात्रं त्रितयं प्रणतोऽस्म्यहम्॥

'प्रेम, प्रेमी और प्रेमपात्र (प्रियतम) ये देखनेमें तीन होनेपर भी वास्तवमें एक हैं। इनका तत्त्व सदा सबकी समझमें नहीं आता। इन्हें एक रूप ही जानना चाहिये। मैं इन तीनोंको, जो वस्तुत: एक हैं, प्रणाम करता हूँ।'

ऐसे अनन्यप्रेमीकी दृष्टिमें सर्वत्र और सदा ही दिव्य प्रेमकी अखण्ड ज्योति जगमगाती रहती है। वह सम्पूर्ण जगत्पर समानरूपसे प्रेमामृतकी वर्षा करता है। उसकी दृष्टिमें कोई घृणा या द्वेषका पात्र नहीं है। उसके लिये सर्वत्र ही प्रेमका महासागर लहराता रहता है।

ज्ञानमार्गसे चलनेवाले महात्मा अद्वैत—अभेदरूपसे ब्रह्मको प्राप्त होते हैं, '**ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।**' पर यहाँ तो इस दिव्य प्रेम-संसारकी अनुभूति निराली ही है। यहाँ न द्वैत है, न अद्वैत! दोनोंसे विलक्षण स्थिति है। प्रेमी और प्रियतमका नित्य-नूतन प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता है, '**प्रतिक्षणं वर्धमानम्**' की स्थितिमें पुष्ट होता है। बढ़ते-बढ़ते यह असीम—अनन्त हो जाता है। भक्त और भगवान् दोनों एक-दूसरेसे इतने मिल जाते हैं कि उनमें द्वैतका-सा भान ही नहीं होता। इनके दिव्यभावको वाणीद्वारा व्यक्त करना असम्भव है। यहाँ प्रेमके सिवा कुछ रहता ही नहीं। इन प्रेमियोंका मिलन भी बड़ा ही विलक्षण अत्यन्त अलौकिक होता है। यहाँ अद्वैत होते हुए भी द्वैत है और द्वैत होते हुए भी अद्वैत। हमारे दोनों हाथ परस्पर मिलकर सटकर एक हो जाते हैं, उस समय ये दो होते हुए भी एक हैं और एक होते हुए भी दो। इस प्रकार यहाँ न भेद है, न अभेद।

गंगा और समुद्र मिलकर एक-से हो जाते हैं, किन्तु भगवान् और अनन्यप्रेमी भक्तका दिव्य मिलन इनसे भी विलक्षण और उत्कृष्ट है। वह अलौकिक एवं अनिर्वचनीय अवस्था है। भेद-अभेदसे परेकी फलरूपा स्थिति है। यह मिलन नित्य है।

यहाँ वस्त्र, आभूषण या आयुधका व्यवधान भी वाञ्छनीय नहीं है। वस्त्रका व्यवधान लज्जा-निवारण-के लिये अपेक्षित होता है, लज्जा दूसरेसे होती है। यहाँ तो प्रेमी और प्रियतम एकप्राण हो चुके हैं। भला अपनेसे भी कोई लज्जा करता है? बंद एकान्त कमरेमें यदि अपने सिवा कोई दूसरा न हो तो लज्जा-निवारणके लिये वस्त्रकी आवश्यकता नहीं होती। इस दिव्य मिलनमें द्वैतभाव मिट चुका है, दूसरोंकी ही दृष्टिमें भेद प्रतीत होता है। इस मिलनमें तो आभूषण भी दूषण जान पड़ते हैं—यहाँ परस्पर मान-सम्मान, आदर-सत्कारका भी कोई व्यवहार नहीं है। जहाँ पूर्णरूपसे प्रेम है, वहाँ आदर-सत्कार तो एक विघ्न है। क्या कोई स्वयं ही अपना आदर करता है। यह स्थिति गोपियोंके प्रेमका फल है।

इस स्थितिमें शोक, मोह और भय आदिका नामोनिशान भी नहीं रहता—यहाँ तो देखनेमात्रकी भिन्नता होते हुए भी वास्तवमें पूर्ण एकत्व है। अनन्य प्रेमीका ऊपरी व्यवहार चाहे जैसा हो, भीतरसे वह एकनिष्ठ है, भगवन्मय है, इसीलिये वह भगवान्‌में नित्य स्थित है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थित:।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(६। ३१)

'जो पुरुष एकीभावमें स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित मुझ वासुदेवको भजता है वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मेरेमें ही बर्तता है; क्योंकि उसके अनुभवमें मेरे सिवा अन्य कुछ है ही नहीं।'

यह द्वैत-अद्वैत, भेद-अभेदसे विलक्षण अनिर्वचनीय स्थिति है। व्रजराज भगवान् श्रीकृष्णके इस अनन्य प्रेमको प्राप्त करना ही मानवमात्रका वास्तविक लक्ष्य है तथा इसीकी प्राप्तिमें जन्म और जीवनकी सार्थकता है।

अभय

(लेखक—महात्मा गांधीजी)

भगवान्ने सोलहवें अध्यायमें दैवी सम्पदाका वर्णन करते हुए इसकी गणना सबसे प्रथम की है। यह श्लोकको संगति बैठानेके लिये किया है, या अभयको प्रथम स्थान मिलना चाहिये, इसलिये—इस विवादमें मैं न पड़ूँगा; इस प्रकारका निर्णय करनेकी मुझमें योग्यता भी नहीं है। मेरी रायमें तो यदि अभयको अनायास ही प्रथम स्थान मिला हो, तो भी वह उसके योग्य ही है। बिना अभयके दूसरी सम्पत्तियाँ नहीं मिल सकतीं। बिना अभयके सत्यकी शोध कैसी? बिना अभयके अहिंसाका पालन कैसा? 'हरिका मारग है शूरोंका, नहिं कायरका काम, देखो'। सत्य ही हरि है, वही राम है, वही नारायण, वही वासुदेव है। कायर अर्थात् भयभीत, डरपोक; शूर अर्थात् भयमुक्त—तलवारसे सज्ज नहीं। तलवार शौर्यकी संज्ञा नहीं, भयकी निशानी है।

अभय अर्थात् समस्त बाह्य भयोंसे मुक्ति—मौतका भय, धन-माल लुटनेका भय, कुटुम्ब-परिवारसम्बन्धी भय, रोगका भय, शस्त्र-प्रहारका भय, आबरू-इज्जतका भय, किसीको बुरा लगनेका भय—यों भयकी वंशावली जितनी बढ़ावें, बढ़ायी जा सकती है। सामान्यतया यह कहा जाता है कि एक मौतका भय जीत लेनेसे सब भयोंपर जीत मिल जाती है। लेकिन यह ठीक नहीं लगता। बहुतेरे (लोग) मौतका डर छोड़ते हैं, पर वे ही नाना प्रकारके दु:खोंसे दूर भागते हैं; कोई स्वयं मरनेको तैयार होते हैं, पर सगे-सम्बन्धियोंका वियोग नहीं सह सकते। कुछ कंजूस इन सबको छोड़ देते हैं, पर संचित धनको छोड़ते घबराते हैं। कुछ अपनी मानी हुई आबरू-प्रतिष्ठाकी रक्षाके लिये अनेक अकार्य करनेको तैयार होते और रहते हैं। कुछ दूसरे लोक-निन्दाके भयसे, सीधा मार्ग जानते हुए भी उसे ग्रहण करनेमें झिझकते हैं। पर सत्यशोधकके लिये तो इन सब भयोंको तिलांजलि दिये ही छुटकारा है। हरिश्चन्द्रकी तरह पामाल होनेकी उसकी तैयारी होनी चाहिये। हरिश्चन्द्रकी कथा चाहे काल्पनिक हो; परन्तु चूँकि समस्त आत्मदर्शियोंका यही अनुभव है, अत: इस कथाकी कीमत किसी भी ऐतिहासिक कथाकी अपेक्षा अनन्तगुना अधिक है और हम सबके लिये संग्रहणीय तथा माननीय है।

इस व्रतका सर्वथा पालन लगभग अशक्य है। भयमात्रसे तो वही मुक्त हो सकता, जिसे आत्मसाक्षात्कार हुआ हो। अभय अमूर्छ स्थितिकी पराकाष्ठा—हद है। निश्चयसे, सतत प्रयत्नसे और आत्मापर श्रद्धा बढ़नेसे अभयकी मात्रा बढ़ सकती है। मैं आरम्भहीमें कह चुका हूँ कि हमें बाह्य भयोंसे मुक्त होना है। अन्तरमें जो शत्रु वास करते हैं, उनसे तो डरकर ही चलना है। काम-क्रोध आदिका भय सच्चा भय है। इन्हें जीत लें, तो बाह्य भयोंका उपद्रव अपने-आप मिट जाय। भयमात्र देहके कारण हैं। देहसम्बन्धी राग—आसक्ति—दूर हो, तो अभय सहज ही प्राप्त हो। इस दृष्टिसे विचार करनेपर हमें पता लगेगा कि भयमात्र हमारी कल्पनाकी सृष्टि है। धनमेंसे, कुटुम्बमेंसे, शरीरमेंसे 'ममत्व' को दूर कर देनेपर भय कहाँ रह जाता है? '**तेन त्यक्तेन भुंजीथा:**' यह रामबाण वचन है। कुटुम्ब, धन, देह, जैसे-के-तैसे रहेंगे; पर उनके सम्बन्धकी अपनी कल्पना हमें बदल देनी होगी। ये 'हमारे' नहीं, 'मेरे' नहीं, ईश्वरके हैं; मैं भी उसीका हूँ। मेरा अपना इस जगत्में कुछ भी नहीं है, तो फिर मुझे भय किसका हो सकता है? इसीसे उपनिषत्कारने कहा कि 'उसका त्याग करके उसे माँगो।' अर्थात् हम उसके मालिक न रहकर केवल रक्षक बनें। जिसकी ओरसे हम रक्षा करते हैं, वह उसकी रक्षाके लिये आवश्यक शक्ति और सामग्री हमें देगा। यों यदि हम स्वामी मिटकर सेवक बनें, शून्यवत् रहें, तो सहज ही समस्त भयोंको जीत लें; सहज ही शान्ति प्राप्त करें और सत्यनारायणके दर्शन करें। *(सप्तमहाव्रत)*

शक्तिपात-रहस्य

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम० ए०)

(१)

आत्माकी स्वरूपावस्थिति अथवा मोक्षप्राप्ति ही मानव-जीवनका स्वाभाविक उद्देश्य है। धारणाशक्तिके अभावसे साधारण लोग भले ही यह बात स्वीकार न करें। परन्तु इसकी सत्यताके विषयमें विश्वास न करनेका कोई कारण नहीं है। यथासमय सभीको यह बात हृदयंगम हो जाती है। जबतक मनुष्य अपने स्वरूपमें स्थिति प्राप्त न करेगा अथवा कम-से-कम स्थितिलाभके सच्चे मार्गमें पदार्पण नहीं करेगा तबतक उसको अपने शुभाशुभ कर्मोंके अधीन होकर उनके सुख-दु:खरूप फल भोगनेके लिये तदनुरूप विभिन्न देह ग्रहण करते हुए ऊर्ध्वलोकसे अधोलोकपर्यन्त विभिन्न स्थानोंमें निरन्तर भटकना पड़ेगा तथा बाध्य होकर जन्म-मरणके चक्रमें नियमत: आवर्तन करना पड़ेगा। यही संसार है। बिना स्वरूपमें स्थित हुए इससे मुक्तिलाभकी कोई सम्भावना नहीं है।

तो क्या स्वरूपस्थितिका कोई उपाय नहीं है? है, अवश्य है और जीव उसे प्राप्त भी कर सकते हैं। जिस समय जीव उस उपायको प्राप्त कर लेते हैं उस समय उसके तारतम्यके अनुसार शीघ्र अथवा विलम्बसे अक्रम अथवा सक्रम भावसे वे संसारसे मुक्त होकर अपने पूर्ण स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो सकते हैं। आत्माका यह पूर्ण स्वरूप ही भगवत्तत्त्व या पूर्णब्रह्मभाव है।

तान्त्रिक आचार्योंकी परिभाषामें इस उपायको 'शक्तिपात' कहा जाता है। भगवदनुग्रह या कृपा भी इसीका नामान्तर है। इसको छोड़कर शुद्ध पौरुष-प्रयत्नसे भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती। वस्तुत: भगवन्मुखी वृत्तिके मूलमें सर्वत्र भगवत्कृपा माननी ही पड़ती है। क्योंकि बिना उनकी कृपाके उनकी ओर चित्तकी गति हो ही नहीं सकती।

शक्तिपात अथवा कृपाके विषयमें शास्त्रमें बहुत जगह अनेक प्रकारसे आलोचना की गयी है। ख्रीष्टीय, नाष्टिक (Gnostic) सूफी प्रभृति विभिन्न सम्प्रदायोंके ग्रन्थोंमें भी इस विषयका बहुत विवरण देख पड़ता है। स्थानाभावके कारण हम प्रस्तुत प्रबन्धमें केवल तन्त्रशास्त्रकी दृष्टिसे ही इस विषयमें संक्षेपसे आलोचना करना चाहते हैं।

शक्तिपात अथवा अनुग्रह कब और क्यों होता है इसका उत्तर दृष्टिभेदसे अनेक प्रकारसे दिया जाता है।

(२)

किन्हीं-किन्हींका मत है कि शक्तिपात ज्ञानके उदयसे होता है। अज्ञानसे संसारका उद्भव होता है और ज्ञानोदयसे अज्ञानकी निवृत्ति होकर शक्तिपात होता है। ज्ञानरूप अग्नि सब प्रकारके कर्मोंको भस्म करके शक्तिपातकी भूमि तैयार करता है। ये लोग कहते हैं कि कर्मफलका भोग चाहे क्रमसे हो चाहे क्रमहीन भावसे, उसके द्वारा कर्मकी आत्यन्तिकी निवृत्ति हो नहीं सकती। क्रमिक भोग स्वीकार करनेपर कर्मान्तरका प्रसंग अनिवार्य हो जाता है। अत: निरन्तर नूतन कर्म उत्पन्न होते रहनेके कारण किसी भी समय समस्त कर्मोंके क्षयकी सम्भावना नहीं हो सकती। और उस सन्देहकी निवृत्ति कर्मफलभोगको क्रमिक न मानकर युगपत (एक साथ) माननेपर भी नहीं हो सकती, क्योंकि इस प्रकार तो कर्मफलका भोग होना ही सम्भव नहीं है। क्रमश: फल देना—यही कर्मोंका स्वभाव है। एक ही समय समस्त कर्मोंका फलभोग स्वीकार करनेपर तो कर्मका स्वभाव ही नष्ट हो जाता है। परन्तु स्वभावका नाश होना कदापि सम्भव नहीं है। इसलिये किसी भी प्रकारसे भोगके द्वारा कर्मका क्षय होना उपपन्न नहीं होता। इसीसे ज्ञानवादी आचार्योंके मतमें ज्ञानहीको कर्मक्षयके कारणरूपसे ग्रहण करके उसीके साथ शक्तिपातका कार्य-कारणसम्बन्ध माना जाता है।

परन्तु यह ज्ञान या सम्यग्ज्ञान किस प्रकारसे आविर्भूत होता है—इसका ठीक-ठीक प्रकारसे समाधान नहीं होता। यदि कर्मको ज्ञानका कारण माना जाता है, तो ज्ञानको कर्मका फल मानना पड़ता है। इस अवस्थामें ज्ञान और कर्मफल समानार्थक हो जाते हैं और ज्ञानीको भी कर्मफलभोगीरूपसे स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। अतएव ज्ञानोदयसे शक्तिपात स्वीकार करनेपर प्रकारान्तरसे भोगीमें ही शक्तिपात मानना पड़ता है। इसमें अतिप्रसंग दोष आता है। कोई-कोई कहते हैं कि कर्मका फल होनेपर भी ईश्वरकी इच्छासे ज्ञानमें कुछ विशेषता है। स्वर्गादि कर्मफल कर्मान्तरको दग्ध नहीं कर सकते, किन्तु ज्ञान स्वयं कर्मफलात्मक होनेपर भी कर्मान्तरको दग्ध कर देता है। यही इसकी विशेषता है।

इस मतके अनुसार ज्ञानोदयमें अन्योन्याश्रय[1] और व्यर्थतादोषका तथा ईश्वरमें रागादिकी प्राप्तिका प्रसंग आता है। इसलिये यह मत भी उपादेय नहीं है।

(३)

किसी-किसी आचार्यका ऐसा मत है कि शक्तिपातका वास्तविक कारण ज्ञान नहीं है, अपितु कर्मसाम्य है। दो समान बलवाले विरुद्ध कर्मोंके पारस्परिक प्रतिबन्धसे कर्मका साम्य होता है और इस साम्यसे ही शक्तिपात होता है। क्रमिक भोगके प्रभावसे बहुत-से कर्म क्षीण हो जानेपर किसी अनिश्चित समयमें यदि दो परिपक्व और समानबलविशिष्टि विरुद्ध कर्म फलके विषयमें रुद्ध हो जायँ अर्थात् अपना-अपना फल प्रदान करें—नियत भोगविधान न करें, और उसके पीछे होनेवाले सब कर्म अपरिपक्व होनेके कारण भोगोन्मुख न हों तो इस प्रकारसे विरुद्ध कर्मोंका साम्यभाव हो जाता है।

इस मतके विषयमें कहना यह है कि यदि कर्मको क्रमिक माना जाय तो उसके फलदानको भी क्रमिक ही मानना होगा। ऐसी अवस्थामें किन्हीं भी दो कर्मोंके पारस्परिक विरोधकी सम्भावना ही कहाँ है? एक कर्मके स्वरूपमें ही दूसरे कर्मकी स्थिति तो रह नहीं सकती। इसलिये किन्हीं भी विभिन्न कर्मोंका एक साथ रहना सम्भव नहीं है। इस प्रकार इस आलोचनासे स्पष्ट मालूम होता है कि कर्म सर्वथा ही क्रमके अधीन हैं। दो कर्मोंके पारस्परिक विरोधसे यही समझना चाहिये कि वे दोनों एक-दूसरेके फलको रोकते हैं, जिससे किसी क्षणमें उनकी युगपत् प्रवृत्तिका उदय नहीं होता। एक बात और भी है, विरोध स्वीकार करते हुए साथ-साथ यह भी मानना पड़ता है कि उस समय एक दूसरा अविरुद्ध कर्म भोगात्मक फल दान करता रहता है। यदि उस अवस्थामें किसी भी अविरुद्ध कर्मकी प्रवृत्ति स्वीकार न करें तो उसी क्षण देहपात हो जाना चाहिये; क्योंकि यह भोगायतन देह एक क्षण भी बिना भोगके रह नहीं सकता। यदि यह कहा जाय कि जाति और आयु इन दो फलोंको देनेवाला कर्म प्रतिबद्ध नहीं होता, केवल भोगप्रद कर्म ही प्रतिबद्ध होता है तो यह प्रश्न होगा कि यदि जाति और आयुप्रद कर्मके रहते हुए भी शक्पिात हो सकता है तो भोगप्रद कर्म रहनेपर ही क्यों नहीं हो सकेगा।

(४)

तन्त्रशास्त्रके द्वैतमतावलम्बी आचार्योंका यह मत है कि ज्ञान अथवा कर्मसाम्य शक्तिपातका हेतु नहीं है, उसका कारण तो मलपाक ही है। ये लोग कहते हैं—

परस्परविरोधेन निवारितविपाकयोः।
कर्मणोः सन्निपाते न शैवी शक्तिः पतत्यसौ॥[2]

दो विरुद्ध कर्मोंमें दोनों ही धर्मात्मक हो सकते हैं (जैसे स्वर्गप्रापक और ब्रह्मलोकप्रापक कर्म), दोनों ही अधर्मात्मक हो सकते हैं। (जैसे अवीचिनरक-प्रापक और रौरवनरक-प्रापक कर्म) अथवा एक धर्म्य और एक अधर्म्य हो सकता है (जैसे अश्वमेध और ब्रह्महत्या)। ऐसे दो विरुद्ध कर्मोंका सन्निपात होनेपर भी शिवत्वदायिनी अनुग्रहात्मिका शक्तिका आत्मामें पात नहीं होता। बिना मलपाक हुए शक्तिपात हो ही नहीं सकता। मतंगागममें लिखा है—'मलपाककी अविनाभूत दीक्षा कर्मक्षयके द्वारा मोक्षप्राप्तिका हेतु बनती है।' किरणागममें कहा गया है—

अनेकभविकं कर्म दग्धबीजमिवाग्निभिः।
भविष्यदपि संरुद्धं येनेदं तद्धि भोगतः॥[3]

मलपाकसे अनुग्रह-शक्तिका पात होता है। शक्तिपात होते ही मलका आवरण हट जाता है और अपना विशुद्ध सर्वज्ञत्वादिमय[4] स्वरूप प्रकाशित होता है अर्थात् शान्त और निर्मल आत्माके स्वरूपका साक्षात्कार हो जाता है। एक ही परमेश्वर जीवका बन्धन भी करते हैं और मोक्ष भी। जैसे एक ही सूर्य अपने सान्निध्यसे द्रवीभूत हो जानेवाले मोममें द्रवता तथा सूख जानेवाली मृत्तिकामें शुष्कता उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार एक ही

---

१. अर्थात् ज्ञानोदयसे ईश्वरेच्छाकी निमित्तताका अनुमान और ईश्वरेच्छाके अनुमानसे ज्ञानोदय।

२. परस्पर विरोधके द्वारा जिनका फलदान रुक गया है उन कर्मोंका सन्निपात होनेपर यह शैवी शक्ति पतित नहीं होती।

३. अनेक जन्मोंका संचित कर्म अग्निसे भुने हुए बीजके समान दग्ध हो जाता है, भावी कर्मकी फलोत्पादिका शक्ति रुक जाती है तथा जिससे यह जन्म हुआ है, उस प्रारब्धकर्मका भोगसे क्षय हो जाता है।

४. सर्वज्ञत्व-सर्वकर्तृत्व आदि शुद्ध और अशुद्ध भेदसे दो प्रकारके हैं। अपरा मुक्तिमें अर्थात् आधिकारिक शिवावस्थामें ये सब स्वरूपसे अभिन्न होनेपर भी कुछ विभिन्नवत् प्रतीत होते हैं। किन्तु परा मुक्ति या परमशिवावस्थामें शिव और शक्तिमें पूर्ण सामरस्य हो जानेके कारण ये सब स्वरूपसे सर्वथा अभिन्नतया प्रकाशित होते हैं। इस समय धर्म-धर्मी या गुण-गुणीका कोई भेद प्रतीत नहीं होता। इसलिये यह इनकी शुद्धावस्था है तथा अपरा मुक्तिमें इनकी अशुद्धावस्था रहती है।

परमेश्वर मोक्षके अधिकारी पक्वमल जीवके लिये मोक्षका प्रबन्ध करते हैं और बन्धनके योग्य अपक्वमल जीवके मलपाकके लिये उसके बन्धनकी व्यवस्था करते हैं। मलपाकसे उपकार तथा अपकाररूप दोनों प्रकारके कर्मोंके विषयमें साम्यबुद्धि होनेपर मोक्ष होता है। सब प्रकारके कर्मसाम्यसे केवल विज्ञानकैवल्यकी ही प्राप्ति होती है, मोक्ष-प्राप्ति नहीं होती। यथार्थ कर्मसाम्यका कारण मलका पाक ही है। इससे ही दीक्षाके द्वारा मोक्षप्राप्ति हो सकती है। परमेश्वर नित्य, निर्मल, सर्वज्ञ और सर्वकर्ता हैं; परन्तु पशु-आत्मा मल, माया और कर्मरूप पाशसे बँधा हुआ है। परमेश्वर कृपा करके उसके ये समस्त पाशात्मक बन्धन काटकर उसको अपने सदृश बना लेते हैं। इसीको शिवसाधर्म्यकी अभिव्यक्ति कहते हैं, जिसका नामान्तर 'अनुग्रह' अथवा 'मोक्ष' भी है। परन्तु जबतक पशुओंके चैतन्यका उपरोध करनेवाले अनादि मलका अधिकार निवृत्त नहीं होता, तबतक इस अनुग्रहकी प्रवृत्ति ही नहीं होती। मृगेन्द्र-आगममें लिखा है—

तम:शक्त्यधिकारस्य निवृत्तेस्तत्परिच्युतौ।
व्यनक्ति दृक्क्रियानन्त्यं जगद्बन्धुरणो: शिव: *॥

तम:शक्ति रोधशक्ति या तिरोधानका नामान्तर है। जबतक इस शक्तिका अधिकार रहेगा, तबतक उद्धारका उपाय नहीं है। अनादि मल क्रमसे धीरे-धीरे पक्व हो रहा है—परिणामको प्राप्त हो रहा है। पूर्ण परिपक्वता होनेपर उसकी निवृत्तिका समय उपस्थित होता है। नेत्र-में जाली पड़ जानेपर अस्त्रक्रियासे उसे दूर करना पड़ता है। परन्तु जबतक वह पूरी पक नहीं जाती, तबतक अस्त्र-प्रयोग नहीं किया जाता। अपक्व मलको खींचकर हटानेका प्रयत्न करनेसे जीवका सर्वनाश हो जायगा। इसीलिये मंगलमय भगवान् इस प्रकारका बलप्रयोग नहीं करते। वे मलके परिपाकके लिये अवसरकी प्रतीक्षा करते हैं और मल परिपक्व होनेपर दीक्षाके द्वारा उसे हटाते हैं। यही उनका जीवोद्धारका क्रम है। इस मतमें मल द्रव्यात्मक है और क्रियासे ही उसकी निवृत्ति मानी जाती है। अवश्य यह क्रिया जीवका कर्म नहीं है, ईश्वरका व्यापार है, जिसका शास्त्रीय नाम दीक्षा है। परन्तु जबतक मलका परिपाक नहीं होता तबतक इस व्यापारकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। मलपाकके लिये ही भगवान् जीवको अलक्षित भावसे अनादि कर्मभोगात्मक संसारमें डालते हैं। यही उनका तिरोधान अथवा रोधनामक कृत्य है। वस्तुत: सृष्टि, स्थिति और संहार तीनों तिरोधानके ही प्रकार-भेद हैं—तीनोंमें तिरोधान अनुस्यूत है। मलके समान माया तथा कर्मका पाक भी आवश्यक है। मायाशक्तियोंको अभिव्यक्तिके योग्य करना ही मायाका उद्देश्य है। इसी प्रकार कर्म भी पक्व होनेपर ही अपना फल देनेमें समर्थ होते हैं, अपक्व कर्म फलदान नहीं कर सकता। सब पाशोंके पाक या परिणामका मुख्य कारण परमेश्वरका सामर्थ्य या स्वातन्त्र्य है। अनेक जन्मोंकी वासना तथा पुण्यपुंजके प्रभावसे किसी भी समयमें अथवा किसी भी आश्रममें स्थित रहनेके समय अचिन्त्य भाग्योदयसे किसी आत्माकी चैतन्य-शक्तिके अनादि आवरणभूत मलका किंचित् पाक होनेपर तदनुरूप शक्तिपात होता है। यही कृपा है। इसकी मात्राके अनुसार परमेश्वरके प्रति भक्ति-श्रद्धादिका उदय होता है। उस समय उस शक्तिपातके अनुरूप दीक्षाका अवसर आता है। शक्तिपातके तारतम्यके अनुसार दीक्षाका भी भेद होता है। इस मतमें शक्तिपातके तारतम्यका मूल मलपाककी विभिन्नता ही है।

यह कहना निष्प्रयोजन है कि इस मलपाकके सिद्धान्तसे भी अनुग्रह-तत्त्वका चरम रहस्य नहीं खुलता। भेदवादी आचार्यगण मलका नाश नहीं मानते, क्योंकि मल एक होनेके कारण यदि उसका नाश स्वीकार किया जाय तो एक आत्माके मलहीन होनेके साथ सभी आत्माओंके मलहीन होनेका प्रसंग प्राप्त होता है। इससे एककी मुक्तिसे सबकी मुक्ति हो जायगी। इसलिये ये लोग कहते हैं कि मलका पाक ही होता है, नाश नहीं होता। 'पाक' शब्दसे इस मतमें मलकी अपनी शक्तिका प्रतिबद्धभाव समझना चाहिये। परन्तु बात यह है कि इस प्रकारसे विचार करनेपर भी पूर्वोक्त दोष निवृत्त नहीं होता। विष अथवा अग्निकी अपनी शक्ति स्तम्भित होनेपर जैसे वह सबके लिये समान होता है उसी प्रकार यदि मलका पाक ही माना जाय तब भी मल वस्तुत: अभिन्न होनेके कारण वह पाक भी सबके लिये समान ही मानना पड़ेगा। एक बात और है, पाकका हेतु क्या है यह भी विचारणीय है। कर्म अथवा ईश्वरकी इच्छा इनमेंसे किसीको भी मलपाकका हेतु मानना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि कर्म केवल भोगके

* आवरण-शक्तिके अधिकारकी निवृत्ति हो जानेपर उस शक्तिका क्षय हो जानेके अनन्तर जगद्बन्धु परमेश्वर पशु (बद्धजीव)-के प्रति उसकी ज्ञानक्रियाका अनन्तत्व अभिव्यक्त कर देते हैं अर्थात् उसे मुक्त कर देते हैं।

ही कारण होते हैं और किसी कार्यकी कारणता कर्ममें नहीं मानी जा सकती। ईश्वरकी इच्छाको भी कारणरूपसे ग्रहण करनेसे समाधान नहीं होता, क्योंकि वह इच्छा स्वतन्त्र है या परतन्त्र इसकी मीमांसा करना भी आवश्यक है। परतन्त्र कहनेसे मानना पड़ेगा कि उसे कर्मादि किसी अन्य निमित्तकी अपेक्षा है। तब तो पूर्वोक्त दोष रह ही जाता है। और यदि ईश्वरेच्छाको स्वतन्त्र माना जाय तो इस स्वतन्त्र इच्छाका फलस्वरूप मलपाक सबके लिये समान ही होना चाहिये। ईश्वरमें रोग-द्वेष नहीं है। तब उनकी इच्छासे किसीका मल पक्व होता है, किसीका नहीं होता अथवा किसीका शीघ्र होता है, किसीका देरसे होता है—यह वैषम्य क्यों होगा? वैषम्य तथा पक्षपातदोष ईश्वरमें नहीं हो सकता। स्मरण रखना चाहिये कि यह आलोचना द्वैतदृष्टिसे की जा रही है। इस प्रकारसे प्रतीत होता है कि मलपाकका कोई हेतु नहीं है। परन्तु इसे अहेतुक भी नहीं माना जा सकता। कारणके बिना कार्यकी सिद्धि माननेपर इस संशयका समाधान नहीं होगा कि इतने दिनोंतक मलपाक क्यों नहीं हुआ? वस्तुत: अहेतुपक्षमें मलकी स्थिति ही नहीं हो सकती। अतएव शक्तिपातके विषयमें मलपाकवादको ही चरम सिद्धान्तरूपमें ग्रहण नहीं किया जा सकता।

(५)

पूर्वनिर्दिष्ट कारणोंसे कर्मसाम्यादि किसी भी मतको समीचीन नहीं माना जा सकता। अद्वयदृष्टि ही चरम दृष्टि है। इस दृष्टिमें परमेश्वर अद्वय तथा स्वातन्त्र्यमय हैं। इस मतके अनुसार शक्तिपातका जो विवरण शास्त्रमें देखा जाता है, आचार्योंका वही चरम सिद्धान्त है। नीचे इस विषयमें कुछ प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया जाता है।

परमेश्वर स्वभावत: नियतिक्रम तथा अनियतिक्रम दोनोंहीको स्पर्श करते हुए प्रकाशमान होते हैं। इसीलिये शास्त्रमें उनको स्वच्छन्द कहा है। उनका स्वकीय भाव अथवा इच्छा ही 'स्वभाव' पदवाच्य है। जब वे कर्म और फलके पारस्परिक सम्बन्धविषयक नियमका आश्रय करके अवान्तर स्थितिमें सृष्टिसंरक्षण तथा संहारव्यापार करते हैं तब वे नियतिक्रम अर्थात् नियमका कार्य-कारणभाव (Laws of Nature)-का आश्रय करते हैं—ऐसा कहा जाता है। अर्थात् ब्रह्माण्ड, प्रकृत्यण्ड तथा मायाण्डकी सृष्टिमें वे कर्म और फलका नियम अवलम्बन करते हैं। परन्तु शाक्त महासर्गमें अर्थात् शाक्ताण्डकी सृष्टिमें वे सर्वथा निरपेक्ष और पूर्णरूपसे स्वतन्त्र रहते हैं—उसमें कर्मफलादि किसी भी नियमके अधीन होकर वे अपनेको प्रकाशित नहीं करते। यही परमेश्वरका अनियतिक्रम प्रकाश है। महासर्गमें सृष्टि और संहार अनन्त हैं। शक्तिपर्यन्त अध्वाकी अर्थात् शाक्ताण्डकी सृष्टिमें जगत्समूहका असंख्य सृष्टि-संहार अन्तर्भूत है। यही शाक्ती महासृष्टि है। यह प्राक्तन कर्मोंके फलरूपमें प्रादुर्भूत नहीं होती। इसीसे इसमें कर्मकी अपेक्षासे नियतिका परिग्रह आवश्यक नहीं होता। मायाके बाहर कर्म नहीं रह सकता—यह कहना तो निष्प्रयोजन ही है। अवश्य अवान्तर सृष्टिमें भी अर्थात् ब्रह्माण्डादिके भीतर भी परमेश्वर नियतिके अधीन नहीं हैं, वे स्वतन्त्र हैं। उनका नियतित्याग और नियतिग्रहण इस प्रकारसे होता है—जब वे नियतिके द्वारा अर्थात् अपने स्वरूपका आच्छादन करते हुए भोक्ताके रूपमें दु:ख-मोहादि भोग करते हैं तब कर्मफलक्रम अर्थात् नियतिका ग्रहण होता है, और जिस समय वे अनपेक्ष होनेके कारण कर्मनियमको छोड़ते हुए तिरोधानमें दु:ख-मोहका सम्बन्ध अवभासित करनेकी इच्छा करते हैं, तब वे स्वतन्त्र और नियतित्यागी हैं। अभी तो तिरोधानका विषय कहा गया है, यह एक प्रकारसे उनका स्वेच्छाकृत आत्मगोपन है, जैसा कि रंगमंचमें अभिनयके समय कुशल नट करते हैं। तिरोधानके कारण प्राक्तन कर्मादि नहीं हो सकते। कर्मसे जाति, आयु और भोगरूप फल उत्पन्न होता है, तिरोधानका आविर्भाव नहीं होता। परमेश्वरकी स्वतन्त्र इच्छा ही इसका एकमात्र कारण है, दूसरा कोई कारण नहीं है। यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि हम यह आलोचना अद्वैतदृष्टिसे कर रहे हैं। द्वैतसम्मत स्वतन्त्र ईश्वरेच्छामें जो दोष होता है इसमें उसका प्रसंग नहीं है; क्योंकि इस मतमें मूल तत्त्व अद्वैत होनेके कारण राग-द्वेषादिका प्रसंग ही नहीं उठता। अतएव कर्मादि-निरपेक्षभावसे केवल भगवान्‌की इच्छासे ही अनुग्रह होता है—यही वास्तविक सिद्धान्त है। अर्थात् शक्तिपात कर्म-साम्य एवं मलपाक आदिके अधीन नहीं है, किन्तु निरपेक्ष तथा स्वतन्त्र है। पुराणादिमें भी ऐसी ही बात मिलती है—**'तस्यैव तु प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम्।'** महामाहेश्वराचार्य उत्पलदेवने भगवान्‌की स्तुतिके प्रसंगमें कहा है—

शक्तिपातसमये विचारणं
प्राप्तमीश न करोषि कर्हिचित्।*

* यहाँ 'प्राप्तम्' और 'कर्हिचित्' इन दो शब्दोंके प्रयोगसे प्रतीत होता है कि शक्तिपात अनपेक्ष, दुर्लभ तथा रागादि प्रसंगके

अद्य मां प्रति किमागतं यतः
स्वप्रकाशनविधौ विलम्बसे॥

'हे भगवन्, तुम शक्तिपातके समय अर्थात् जीवपर कृपा करनेके समय न्यायतः प्राप्त होनेपर भी कभी पात्र-अपात्रका विचार नहीं करते। तब आज मेरेमें ऐसी क्या नयी बात आ गयी है, जो मेरे प्रति आत्मप्रकाशनमें विलम्ब कर रहे हो?'

शक्तिपातमें मायान्तर्गत कर्मादिका व्यापार नहीं है—इसमें कोई सन्देह नहीं, क्योंकि कर्मादि जीवको मायाके भीतर आबद्ध रखते हैं। जिसके कारण मायासे उद्धार नहीं हो पाता। शक्तिपात सर्वथा मायानिरपेक्ष है। अतएव जितने देवता मायाके भीतर अथवा मायासे ऊपर रहते हैं, वे अपने-अपने अधिकारकी समाप्ति होनेपर अकस्मात् अर्थात् कर्मादि-निरपेक्ष भगवदनुग्रहसे ही भगवद्भाव प्राप्त कर लेते हैं। जो लोग मायासे आक्रान्त नहीं हैं, वे कर्मादिके अधीन नहीं होते; केवलमात्र शक्तिपातके प्रभावसे ही उनको भोग अथवा मोक्षरूपा सिद्धिकी प्राप्ति होती है। यहाँ किसी-किसीके मनमें ऐसी शङ्का हो सकती है कि ये सब शुद्धात्मा जब पूजा-ध्यान-देवाराधन प्रभृतिके प्रभावसे मायातीत शुद्ध अवस्था (मन्त्रत्व, मन्त्रेश्वरत्व इत्यादि) प्राप्त करते हैं, तब कहना पड़ेगा कि यह भी एक प्रकारसे कर्मका ही फल है। परन्तु वस्तुतः यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि कर्मादि सारे उपाय मायाके ही अन्तर्गत हैं और ईश्वरभाव मायासे परे है। अतएव मायातीत वस्तुके ध्यान-जप आदि विषयोंमें सर्वप्रथम प्रवृत्ति होना मायाके भीतर डूबे हुए आत्माके लिये किस प्रकार सम्भव हो सकता है? कर्म, कर्मसाम्य, वैराग्य, मलपाक आदि कोई भी मायिक व्यापार इसका कारण नहीं हो सकता। इसलिये स्वतन्त्र ईश्वरकी इच्छाको ही कारण मानना पड़ता है। निरपेक्ष-शक्तिपातवादियोंका यही सिद्धान्त है। जप-ध्यान प्रभृति कर्म नहीं हैं। अपि तु क्रिया हैं। 'कर्म' शब्दसे ऐसे पदार्थका बोध होता है, जो परिमित भोग उत्पन्न करते हुए भोक्ताके पूर्ण रूप अर्थात् अपरिच्छिन्न चित्स्वरूपको तिरोहित कर लेता है, अर्थात् उसे विभिन्न रूपसे संकुचित करके आच्छादित कर लेता है। सिद्धान्त-दृष्टिसे जप-ध्यानादि परमेश्वरकी स्वरूप-विकासिका क्रियाशक्ति हैं, स्वरूपका आवरण करनेवाला कर्म नहीं है।*

एक ही चिद्रूप परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्यसे तत्तत् प्रमाता-प्रमेय आदि विभिन्न और नाना आकारोंमें प्रकाशमान होते हैं। इसीलिये एकत्व रहनेपर भी अनैक्यका अवभास होनेके कारण उनके अपने स्वातन्त्र्यके प्रभावसे स्वरूपका गोपन होता है। यही तिरोभाव अथवा बन्धन है। अतएव वस्तुतः बन्धनका स्वरूप भी परमेश्वरसे भिन्न नहीं है। इस प्रकार वे बन्धभोगके द्वारा भोक्तृत्वको पुष्ट करके संकोचका अवभासन करते हुए जाति, आयु तथा भोगप्रद रूपमें विकल्पित स्वयं-कल्पित कर्मोंके द्वारा आत्माको बाँधते हैं। तदनन्तर वे बन्धन-मोचनके क्रमसे अपने आगन्तुकरूप मल एवं कर्मादिको हटाकर अपने विशुद्ध रूपमें प्रकाशित होते हैं। उस समय पूर्ण ज्ञान-क्रियाशक्तिसम्पन्न केवल स्वतन्त्र परमेश्वर ही अवशिष्ट रहते हैं।

(६)

पर तथा अपर भेदसे शक्तिपात प्रधानतया दो प्रकारका होता है। पर-शक्तिपात परिच्छिन्न आत्माका पूर्ण चिदात्मरूपमें प्रकाशित होना है—यही उसका परम प्रकाश है। उपाधिहीन अनवच्छिन्न चैतन्य ही उसका स्वरूप है। परन्तु अपर शक्तिपातमें पूर्ण चिदात्माका प्रकाश पूर्ववत् रहनेपर भी अवच्छेदका सर्वथा अभाव नहीं होता, क्योंकि इस प्रकाशमें भोगांश तथा अधिकारांशसे कुछ अवच्छेद रहता ही है। परन्तु चरमावस्थामें यह अवच्छेद भी निवृत्त हो जाता है। प्रचलित भाषामें पर तथा अपर शक्तिपातको पूर्ण तथा अपूर्ण कृपा भी कह सकते हैं।

पूर्ण कृपा परमेश्वरको छोड़कर और कोई नहीं कर

लेशसे रहित है। मतंगागमके टीकाकार अनिरुद्धने भी शक्तिपातके विषयमें निरपेक्षता-सिद्धान्तको ही ग्रहण किया है; यथा—

'स्थावरान्तेऽपि देवस्य स्वरूपोन्मीलनात्मिका।
शक्तिः पतन्ती सापेक्षा न क्वापि······ ···॥'

यहाँ 'स्थावरान्त' पदसे सूचित होता है कि अत्यन्त अयोग्यमें भी शक्तिपात हो सकता है।

* परमेश्वरकी क्रियाशक्ति जिस समय भेदज्ञानशाली पशुमें प्रकट होती है और त्यागग्रहण प्रभृतिरूपसे क्षोभमय होकर बन्धनका कारण बनती है तब उसे स्वरूपके आच्छादक सुख-दुःखादि उत्पन्न करनेवाले 'कर्म' नामसे कहा जाता है। किन्तु जिस समय वही क्रियाशक्ति अपने शिवशक्त्यात्मक मार्गमें अधिष्ठित होकर ज्ञानका विषय होती है, तब उससे विचित्र सिद्धियोंका आविर्भाव होता है और उसका 'क्रिया' नामसे व्यवहार होता है। इसीसे जपादि क्रिया हैं, कर्म नहीं हैं, अविच्छिन्न आत्मचैतन्यकी स्फूर्ति ही तन्त्रमतमें सिद्धि शब्दका अर्थ है। यह अक्षय भोग तथा मोक्षका स्वातन्त्र्य ही है।

सकता। अपूर्ण कृपा ब्रह्मादिविशिष्ट देवगण भी कर सकते हैं और करते भी हैं। उसके प्रभावसे कृपाप्राप्त जीव ब्रह्मादिके अधिकारान्तर्गत नाना प्रकारके भोग और अधिकार प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु पूर्णत्व अथवा परमेश्वरत्व प्राप्त नहीं कर सकते। यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि ब्रह्मादि भी परमेश्वरस्वरूप ही हैं, तथापि स्वयं उल्लसित भेदसम्बन्धके कारण वह रूप मायापदके अन्तर्गत है, इसीलिये साक्षात् परमेश्वरकी कृपासे ब्रह्मादि देवोंकी कृपा निकृष्ट समझी जाती है, परन्तु यह बात सत्य है कि मायान्तर्गत होनेपर भी ब्रह्मादि देवगण भोगादिमय निकृष्ट अनुग्रह करनेमें समर्थ हैं। जिस प्रकार स्वातन्त्र्यसे अर्थात् ऐसी शक्तिके समावेशसे राजालोग किसी-किसीपर अनुग्रह किया करते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मादि देवगण भी करते हैं।

मायाके गर्भमें जितने भी अधिकारी पुरुष हैं उनका अनुग्रह मन्द और तीव्र भेदसे दो प्रकारका होता है। मन्द अनुग्रहका फल प्रकृति-पुरुषके विवेकज्ञानकी उत्पत्ति है। इसके प्रभावसे जीव प्राकृतिक बन्धनसे मुक्त होते हैं, परन्तु प्रकृतिके ऊर्ध्व स्तरके कर्म जो कलादि तत्त्वोंको आश्रय करके रहते हैं तब भी क्षीण नहीं होते। प्रकृतिके नीचेकी भूमिके सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय अवश्य हो जाता है। इस प्रकार विवेकज्ञानीमें तीनों मल वर्तमान रहते हैं। परन्तु इतना निश्चित है कि ये लोग प्रकृतिके गर्भमें फिर कभी जन्म ग्रहण नहीं करेंगे। अनन्तेशनामक ईश्वरकी प्रेरणासे अप्राकृत मायिक जगत्‌में कदाचित् इनका जन्म हो भी सकता है। यदि वह अनुग्रह तीव्र मात्रामें हो तो उसके साथ-ही-साथ कला और पुरुषका विवेकज्ञान आविर्भूत होता है। इसके कुछ ही पीछे पुरुष मायासे अपनी सत्ता पृथक् जानकर मायाके राज्यका अतिक्रमण करता है। कलालंघनसे ही समस्त कर्मोंका क्षय हो जाता है, इसलिये ऐसे पुरुषका मायासे पार होना सम्भव होता है। साधन-राज्यमें यहाँतक पहुँचनेपर मायाके गर्भमें फिर कभी उतरना नहीं पड़ता। यह विज्ञानाकल अवस्था है। यह एक प्रकारकी कैवल्यावस्था ही है। इस समय आणव-मल अवशिष्ट रहनेके कारण अधिकारकी निवृत्ति नहीं होती। इन सब पुरुषोंके ऊपर मायाके अधिष्ठाता ईश्वरका कोई अधिकार नहीं है। ये विज्ञानाकल पुरुष परमेश्वरकी इच्छासे परमेश्वरके साथ अधिकाधिक तादात्म्य अनुभव करते हुए क्रमशः मन्त्र, मन्त्रेश्वर और मन्त्रमहेश्वर पद प्राप्त करके अन्तमें साक्षात् परमेश्वरभाव ही प्राप्त करते हैं। परमेश्वर अथवा पूर्ण ब्रह्मकी कृपासे अज्ञानात्मक आणव-मल निवृत्त होता है और पूर्णत्वकी अभिव्यक्ति होती है। ब्रह्मादि मायान्तर्गत अधिकारी पुरुषोंकी कृपासे पूर्णत्व लाभ नहीं हो सकता, केवल उत्कृष्ट भोगादिकी ही प्राप्ति हो सकती है; इसलिये मुमुक्षुमण्डलमें साक्षात् भगवान्‌की कृपाको ही कृपा नामसे कहा जाता है, निम्नाधिकारियोंकी कृपाको कृपाके भीतर नहीं गिना जाता।[१]

(७)

शक्तिपातमें वैचित्र्य रहनेसे तन्मूलक अधिकारमें भी वैचित्र्य रहता है। समयी, पुत्रक, साधक तथा आचार्य या गुरु ये सब अधिकारभेद विभिन्न शक्तिपातसे ही उत्पन्न होते हैं। ये सब अधिकार समष्टिरूपमें भी आविर्भूत हो सकते हैं तथा व्यष्टिरूपमें पृथक्-पृथक् भावसे भी हो सकते हैं। ये किसीके तो क्रमसे होते हैं, अर्थात् पहले समयीका अधिकार पाकर तदनन्तर पुत्रक भावकी प्राप्ति और अन्तमें आचार्यभावमें स्थिति। परन्तु किसी-किसीके जीवनमें ये बिना क्रमसे भी होते देखे जाते हैं। जैसे कोई पुरुष समयी अवस्थाको प्राप्त हुए बिना ही पुत्रक अवस्था लाभ कर लेते हैं अथवा समयी एवं पुत्रक दोनों अवस्थाओंको लंघन करके आचार्यपदमें पहुँच जाते हैं। शक्तिपातकी मात्रा मन्द होनेसे जीव मायाधिकारको प्राप्त होकर रुद्रांश बन जाते हैं। उसके बाद परमेश्वरकी विशिष्ट कृपासे क्रमशः पुत्रक-दीक्षाके बाद पूर्णत्व लाभ करते हैं। इनका शास्त्रीय नाम 'समयी' है। अपेक्षाकृत तीव्रतर शक्तिपातके प्रभावसे कोई-कोई जीव विशुद्ध अध्वासे युक्त होकर देहपातके अनन्तर पूर्णत्व लाभ करते हैं। अथवा क्रमलंघन करते हुए जीवित कालमें ही पूर्णत्व लाभ कर लेते हैं। इन पुरुषोंका पारिभाषिक नाम 'पुत्रक' है। कोई-कोई पहले भोग और ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं। फिर उससे विरक्त होकर परमपदमें स्थिति लाभ करते हैं। इनमें भी योग्यताके अनुसार कोई शीघ्र और कोई विलम्बसे लक्ष्य प्राप्त करते हैं। इन्हें साधक कहते हैं। परन्तु कोई ऐसे भी पुरुष होते हैं जो अपना कर्तव्य समाप्त करके पंचकृत्यकारी[२] परमेश्वरके

१. जो साधक भेदमार्गमें श्रद्धा रखते हैं उनका अभेदमार्ग या पूर्णत्वके रास्तेमें अधिकार नहीं है। परन्तु यह भी सत्य है कि श्रीभगवान्‌के स्वातन्त्र्यसे उनके ऊपर भी कृपाकटाक्ष हो सकता है।

२. सृष्टि, पालन, संहार, अनुग्रह तथा निग्रह या तिरोधान—ये भगवान्‌के पंचकृत्य हैं।

स्वरूपमें प्रतिष्ठित होते हैं तथा गुरु अथवा आचार्यपदमें आरोहण करके जीवोंपर अनुग्रह करते हैं। इनमें भी शिष्योंकी विभिन्न योग्यताओंके अनुसार भेद अवश्य रहता है। अर्थात् कोई शिष्यके भोगका विधान करते हैं और कोई मोक्षका। परन्तु उनका अपना कोई भी कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता।

(८)

शक्तिपात तीव्र, मध्य तथा मन्द भेदसे प्रधानतया तीन प्रकारका होता है। इनमेंसे प्रत्येकके फिर तीव्रादि अवान्तर तीन-तीन भेद हैं। इस प्रकारके विभिन्न मात्राओंके शक्तिपातोंके फलमें भी भेद रहता है। तीव्र-तीव्र, मध्यतीव्र तथा मन्दतीव्र—ये तीन प्रकार तीव्र शक्तिपातके हैं। तीव्र-तीव्र शक्तिपातके प्रभावसे स्वयं ही देह छूटकर मोक्ष प्राप्त होता है। भोगके द्वारा प्रारब्धक्षयकी अपेक्षा नहीं रहती। यह शक्तिपात अत्यन्त तीव्र होनेके कारण प्रारब्धकर्मका भी नाश कर देता है। परन्तु इसमें भी तारतम्य रहता है। इसमें जो अत्यन्त तीव्र होता है उसके प्रभावसे उसी क्षण देहका नाश हो जाता है। जिस प्रकार विद्युत्पातसे देह नष्ट होनेमें देर नहीं लगती वैसा ही इससे होता है। परन्तु जो शक्तिपात मध्यम कक्षाका तीव्र-तीव्र होता है उससे कुछ देरमें तथा मन्द तीव्र-तीव्रके द्वारा अधिक विलम्बसे स्वयं ही देहपात होता है। इन सभी प्रसंगोंमें शक्तिपातकी तीव्रताके भेदसे पूर्णतया तथा न्यूनाधिक रूपमें प्रारब्धका नाश हो जाता है। मध्यतीव्र शक्तिपातके प्रभावसे देहका नाश नहीं होता, केवल अज्ञानकी निवृत्ति होती है।[१] परन्तु इस अज्ञाननिवृत्तिके लिये जिस ज्ञानकी अपेक्षा है उसका लाभ पृथक् रूपसे गुरु अथवा शास्त्रद्वारा नहीं होता। वह स्वयं ही हृदयमें स्फुरित होता है। अपनी प्रतिभासे स्फुरित होनेके कारण इस अनौपदेशिक महाज्ञानको 'प्रातिभ ज्ञान' कहा जाता है, जिसका उदय होनेके लिये शास्त्र एवं आचार्यकी आवश्यकता नहीं रहती।

प्रसंगत: यहाँ प्रातिभ ज्ञानका कुछ परिचय देना उचित प्रतीत होता है। इस ज्ञानका आविर्भाव मध्यतीव्र शक्तिपातके फलरूपमें होता है—यह पहले कहा जा चुका है। सत्तर्क अथवा शुद्ध विद्या ही इस ज्ञानका स्वरूप है। वस्तुत: यह परमेश्वरकी इच्छाके सिवा और कुछ नहीं है।

जिन साधकोंका चित्त असद्गुरुमें अर्थात् तत्त्वोपदेष्टा आचार्यमें अनुरक्त[२] है वे मायापाशसे बँधे हुए हैं। वे परमेश्वरकी वामाशक्तिके अधीन रहते हैं। उन्हें जो मुक्ति प्राप्त होती है वह प्रलयाकाल नामकी पशुकी अवस्थासे किसी प्रकार उत्कृष्ट नहीं है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि वामाशक्ति भी परमेश्वरकी ही एक शक्तिविशेष है। परन्तु शक्तिपातकी न्यूनताके कारण असद्गुरुमें अथवा द्वैतशास्त्रादिमें ही जीवकी पहले प्रवृत्ति होती है। तदनन्तर महेश्वरकी ज्येष्ठाशक्तिरूपा मंगलमयी इच्छासे अर्थात् शुद्धा भगवच्छक्तिके समावेशके कारण जीवके हृदयमें स्वस्वरूपप्राप्तिकी इच्छा अर्थात् सत्तर्क जागनेपर क्रमश: सद्गुरुका आश्रय मिलता है। उस समय अपनी योग्यताके अनुसार भोग तथा मोक्ष प्राप्त होता है। शक्तिपातकी विचित्रतासे ही गुरु तथा शास्त्रमें सत् तथा असद्भावका वैचित्र्य उत्पन्न होता है। द्वैतशास्त्र तथा द्वैतगुरु परमेश्वरकी वामाशक्तिके द्वारा अधिष्ठित हैं, इसलिये उनके द्वारा मायाका लंघन होना असम्भव है। वस्तुत: जो अवस्था मोक्षपदवाच्य नहीं है, उसको मोक्ष समझकर प्राप्त करनेके लिये चेष्टा करना मायाका ही कार्य है। परन्तु जबतक जीवके हृदयमें सत्तर्करूप शुद्ध ज्ञानका उदय नहीं होता तबतक सार और असारका ठीक-ठीक विवेचन हो नहीं सकता। सत्तर्कका उदय तथा ज्येष्ठाशक्तिका अधिष्ठान न होनेसे न तो अन्त:करण ही सर्वथा पवित्र होता है और न शुद्ध मार्गका ही आश्रय मिलता है।

---

१. प्रचलित शास्त्रीय परिभाषाके अनुसार यह कहा जा सकता है कि तीव्र-तीव्र शक्तिपातसे प्रारब्धसहित समस्त कर्मोंका दाह होता है तथा मध्यतीव्र शक्तिपातसे प्रारब्धभिन्न शेष सब कर्मोंका दाह होता है। प्रकारान्तरसे यह भी कहा जा सकता है कि तीव्र-तीव्र शक्तिपातसे अज्ञानका आवरणांश एवं विक्षेपांश दोनों ही एक साथ (जैसे तीव्र-तीव्रकी तीव्र मात्रामें) अथवा क्रमश: (जैसे तीव्र-तीव्रकी मध्यम और मन्द मात्रामें)नष्ट हो जाते हैं तथा मध्यतीव्र शक्तिपातसे अज्ञानका केवल आवरणांश निवृत्त होता है, विक्षेपांश रह जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें लिखा है—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥

यहाँ समिद्ध ज्ञानाग्नि समस्त कर्मोंका नाश कर देता है—ऐसा कहा गया है। इसमें सर्वकर्म पदसे प्रारब्धको भी इसीके अन्तर्गत समझना चाहिये, क्योंकि समिद्ध पदसे ज्ञानाग्निकी तीव्र-तीव्र अवस्था ही सूचित हो रही है।

२. अर्थात् केवलमात्र जिज्ञासु नहीं हैं।

परन्तु यह सत्तर्करूप ज्ञान किस प्रकार उत्पन्न होता है—यह जानना चाहिये। किरणागमनामक तन्त्रग्रन्थमें स्पष्टरूपसे प्रतिपादन किया गया है कि यह ज्ञान गुरु एवं शास्त्रको अवलम्बन करके उदित हो सकता है तथा कदाचित् स्वयं भी उद्भूत हो सकता है, जिसमें कि न तो गुरुके उपदेशकी और न शास्त्राध्ययनकी ही आवश्यकता रहती है। यह सांसिद्धिक और स्वप्रत्ययात्मक (intuitional) निश्चित ज्ञान है। सांसिद्धिक अथवा स्वाभाविक शब्दसे कोई ऐसा न समझे कि इसका कोई हेतु ही नहीं, क्योंकि इसके उदयमें गुरु-शास्त्रादि लौकिक हेतु न रहनेपर भी भगवान्का शक्तिपातरूप हेतु तो अवश्य ही रहता है।

ज्ञानोदयके जिन तीन कारणोंका वर्णन किया गया है उनमें गुरुकी अपेक्षा शास्त्रकी श्रेष्ठता है, क्योंकि गुरुसे शास्त्रका अर्थज्ञान होता है, इसलिये गुरुको उपाय और शास्त्रको उपेय माना जाता है। इसी प्रकार शास्त्रसे भी अपनी प्रतिभाकी श्रेष्ठता है, क्योंकि शास्त्रज्ञान भी अन्तमें प्रातिभ ज्ञान उत्पादन करके ही सफल होता है। प्रातिभ ज्ञानका उदय हो जानेपर गुरु अथवा शास्त्रका कोई उपयोग नहीं रह जाता।

परन्तु उत्कृष्ट योग्यताविशिष्ट पुरुषका प्रातिभ ज्ञान गुरु तथा शास्त्रक्रमका लंघन करके स्वतः ही उत्पन्न होता है। उसके लिये दीक्षा-अभिषेक प्रभृति बाह्य संस्कारोंका प्रयोजन नहीं होता, क्योंकि आदिगुरु परमेश्वरको तत्तत्क्षेत्रमें अधिष्ठित करना ही संस्कारका यथार्थ उद्देश्य है। परन्तु प्रतिभावान् पुरुषमें यह अधिष्ठान स्वतःसिद्ध है। इसलिये उसके लिये संस्कार निष्फल है। शक्तिपातका मुख्य लक्षण भगवद्भक्तिका उन्मेष है। वह प्रतिभावान् पुरुषमें अवश्य ही रहता है। इसीलिये उसके अपनी संवित्-देवियोंके द्वारा दीक्षा तथा अभिषेकव्यापार भी स्वयं ही हो जाते हैं—उसे क्रिया एवं दीक्षादिका प्रयोजन नहीं रहता। प्रातिभ ज्ञान उदित होनपर अपनी इन्द्रियवृत्तियाँ अन्तर्मुख होकर प्रमाता अर्थात् आत्माके साथ तादात्म्य लाभ करती हैं और देवीभावको प्राप्त हो जाती हैं।[१] ये सब शक्तिभूत देवीभावापन्न इन्द्रियवृत्तियाँ पुरुषकी ज्ञानक्रिया अथवा चैतन्यको उत्तेजित करती हैं। यही अन्तर्दीक्षा है, जिसके प्रभावसे साधक सर्वत्र स्वातन्त्र्य लाभ कर लेता है। पारमार्थिक दृष्टिसे अभिषेकका यही रहस्य है। ऐसा साधक अन्यान्य गुरुओंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। सामान्यतः गुरुसे शास्त्रज्ञान उत्पन्न होता है परन्तु प्रतिभावान् पुरुष लौकिक निमित्तकी अपेक्षा न रखते हुए केवल प्रतिभासे ही सब शास्त्रोंका ठीक-ठीक रहस्य जान सकते हैं। इसीलिये इसका नाम शुद्ध विद्यासमुल्लास अथवा प्रातिभ महाज्ञान है।

पहले कहा गया है कि यह ज्ञान और किसीको (अर्थात् अपने बोध अथवा दूसरोंके रचे हुए तत्तत् कर्मके प्रतिपादक भिन्न-भिन्न शास्त्रोंको) उपजीव्यरूपमें आश्रय करके उदित हो सकता है अथवा न करके अपने-आप भी हो सकता है। इस उपजीव्य आश्रयका नाम 'भित्ति' है। इसीसे इस ज्ञानको सामान्यरूपसे सभित्तिक और निर्भित्तिक भी कहा जाता है। स्वतः उदित ज्ञान निर्भित्तिक है। सभित्तिक ज्ञान अंशगामी और सर्वगामी भेदसे दो प्रकारका हो सकता है। मुख्यांश तथा अमुख्यांश भेदसे अंशभेदका विचार करनेसे अंशगामी ज्ञानको भी दो प्रकारका मानना पड़ता है। असली बात यह है कि अनुग्रहपात्र शिष्यकी योग्यताके तारतम्यसे ही वस्तुतः ज्ञानकी सभित्तिकता और निर्भित्तिकता स्वीकार करनी पड़ती है। स्वतः सत्तर्कके उदयसे जिनके सब प्रकारके बन्धन खुल गये हैं और पूर्णत्व प्राप्त हो गया है वे ही सांसिद्धिक गुरु हैं। वे अपने विषयमें कृतकृत्य होनेपर भी सर्वदा परानुग्रहके लिये ही प्रवृत्त रहते हैं।[२] परन्तु अनुग्रहपात्र जीवका चित्त निर्मल रहनेपर तो इन्हें अनुग्रह-कर्ममें किसी उपकरणकी आवश्यकता नहीं रहती। ये केवल अपनी शुद्ध चिदात्मिका अनुसन्धानहीना दृष्टिके द्वारा ही ऐसे जीवमें आत्मज्ञानका संचार करके उसे अपने समान कर लेते हैं। यह अनुग्रहका ही फल है। इस प्रकार परानुग्रहमें किसी औरकी अपेक्षा नहीं है। यह निर्भित्तिक है। परन्तु

---

१. बहिर्मुखस्य मन्त्रस्य वृत्तयो याः प्रकीर्तिताः।
ता एवान्तर्मुखस्यास्य शक्तयः परिकीर्तिताः॥

अर्थात् मन्त्र यानी चित्तके बहिर्मुख होनेपर जो 'वृत्तियाँ' कही जाती हैं, वे ही उसके अन्तर्मुख होनेपर 'शक्तियाँ' कहलाती हैं।

२. स्वं कर्तव्यं किमपि कलयँल्लोक एष प्रयत्ना-
न्नो पारक्यं प्रति घटयते काञ्चन स्वात्मवृत्तिम्।
यस्तु ध्वस्ताखिलभवमलो भैरवीभावपूर्णः
कृत्यं तस्य स्फुटतरमिदं लोककर्तव्यमात्रम्॥

साधारण पुरुष किसी प्रकार अपने कामको करते रहते हैं दूसरोंके कार्यकी ओर उनकी वृत्ति ही नहीं जाती। किन्तु जिनके समस्त सांसारिक मल नष्ट हो गये हैं उन भगवद्भावापन्न पुरुषोंका कर्तव्य तो स्पष्टतया केवल लोकहित ही रह जाता है।

अनुग्रहपात्र यदि शुद्धचित्त न हो तो अनुग्रहव्यापारमें उपकरणकी आवश्यकता होती है। अनुग्रहके पहले गुरुमें 'इसपर मैं इस प्रकार अनुग्रह करूँगा' ऐसा अनुसन्धान (संकल्प) होता है और उसीके अनुसार उसकी प्रवृत्ति होती है। इसलिये इसमें सब प्रकारके बाह्य उपकरणोंकी आवश्यकता रहती है तथा विधिमार्गका आश्रय भी ग्रहण करना पड़ता है। गुरुके साक्षात् परमेश्वरस्वरूप होनेपर भी इस क्षेत्रमें उपायभूत शास्त्रादिके श्रवण-अध्ययन प्रभृतिका आदर किया जाता है। अशुद्ध जीव अनेक प्रकारके होते हैं। इसलिये उनके चित्तगत संस्कारोंके अनुसार उपकरण भी अनेक प्रकारके होते हैं। इसीलिये भिन्न-भिन्न उपकरणोंके प्रतिपादक भिन्न-भिन्न शास्त्रोंकी भी आवश्यकता होती है। इन सबके बिना उनपर अनुग्रह नहीं किया जा सकता। रोगकी भिन्नताके अनुसार जैसे ओषधियाँ भी भिन्न होती हैं, वैसे ही चित्तभेदके अनुसार शास्त्रोंका भी भेद रहता है। अर्थात् गुरु शिष्यकी योग्यता देखकर उसके अधिकारके अनुसार उसपर अनुग्रह करते हैं। यही सर्वगामी सभित्तिक ज्ञानका माहात्म्य है। परन्तु कोई-कोई निर्दिष्ट शास्त्रोंके अनुसार तदुचित अनुग्रह-पात्रोंपर अनुग्रह करते हैं। यह अंशगामी सभित्तिक ज्ञानका व्यापार है। परन्तु ये अंश भी असंख्य हैं। और उनमें परस्पर उत्कर्ष-अपकर्ष भी रहता है। इनमें कोई अंश मुख्य हैं और कोई गौण हैं। अंशगामी ज्ञानका भेद इसी कारणसे होता है। स्मरण रखना चाहिये कि इन सब विभिन्न क्षेत्रोंमें प्रतिभारूपी गुरु अथवा स्वाभाविक ज्ञान समरूप ही है, क्योंकि उसमें अपने विषयमें कृतकृत्यताका अभाव नहीं है।[१] केवल दूसरोंके हितके लिये ही विभिन्न प्रकारकी भित्तियोंका आश्रय ग्रहण किया जाता है। इससे सिद्ध होता है कि जीवानुग्रह सोपकरण या सोपाय तथा निरुपकरण या निरुपाय भेदसे दो प्रकारका है।

गुरुदीक्षाके द्वारा जिस प्रकार शिष्यको संसार-बन्धनसे मुक्त करते हैं और सर्वज्ञत्वादि ऐश्वरिक धर्म प्रदान करते हैं, प्रातिभ ज्ञानसे भी ठीक वैसा ही फल मिलता है। भेद इतना ही है कि दीक्षा पराधीन है और प्रातिभ अपना स्वभावभूत है। बात यह है कि जीव, ईश्वर और शक्ति—ये तीन तत्त्व गुरु और आगमसे तात्त्विकरूपसे सिद्ध होनेपर प्रातिभ ज्ञानके आकारमें प्रकट होते हैं। गुरु और शास्त्रका यही महत्त्व है। अर्थात् जिस समय गुरु साधकका मायापाश दीक्षारूप अस्त्रके द्वारा छेदन करते हैं और जिस समय साधक आगमसे ठीक-ठीक भावनाभावित होते हैं, उस समय वस्तुतः ही उनका प्रतिभातत्त्व विकसित हो जाता है। शास्त्रमें लिखा है—

तदागमवशात् साध्यं गुरवक्त्रान्महाधिया।
शिवशक्तिकरावेशाद्गुरुः शिष्यप्रबोधकः।[२]

जैसे भस्ममें छिपा हुआ अग्नि मुख अथवा धौंकनीके वायुसे दहक उठता है, जैसे ठीक समयमें बोया और सींचा हुआ बीज अंकुर एवं पल्लवादिरूपसे अभिव्यक्त हो जाता है उसी प्रकार प्रातिभ ज्ञान भी गुरूपदिष्ट क्रियाके द्वारा व्यक्त होता है।

यह अनुत्तर महाज्ञान शास्त्रज्ञानसे श्रेष्ठ है, क्योंकि यह विवेकसे उत्पन्न होता है। अतीन्द्रिय तथा अप्रमेय चैतन्यतत्त्व जिस समय विचारकी भूमिमें अवतीर्ण होकर आत्मबोधका रूप धारण करता है उस समय उसे विवेक कहते हैं। उस अवस्थामें जीव, ईश्वर और मायादि पाशोंका ज्ञान अपने-आप उदित हो जाता है। यही प्रातिभ ज्ञान है। सर्वथा भ्रमशून्य होनेके कारण इसे सम्यग्ज्ञान अथवा महाज्ञान भी कहा जाता है। उस समय सब प्रकारके परिच्छिन्न ज्ञान अर्थात् इन्द्रियगोचर एवं अन्तःकरणगोचर समस्त खण्डज्ञान दूसरेकी अधीनता छोड़कर उसी महाप्रकाशमें विश्रान्त हो जाते हैं अर्थात् उसीमें लीन हो जाते हैं। जैसे सूर्यकी किरणोंमें दीपकका प्रकाश फीका पड़ जाता है, वही दशा प्रातिभ ज्ञानका उदय होनेपर खण्डज्ञानकी भी हो जाती है।

विवेकका उदय होनेपर इन्द्रियसम्बन्धी शब्दादि विषयोंमें दूरश्रवणादि विचित्र ज्ञानकी उत्पत्ति होती है—उस समय देश, काल तथा आकारगत व्यवधान एवं सूक्ष्मता प्रभृति प्रतिबन्धक रहनेपर भी ज्ञानकी उत्पत्तिमें उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। योगशास्त्रमें जितनी विभूतियोंका वर्णन मिलता है, वे सभी विवेकवान्‌को प्राप्त होती हैं; अर्थात् शक्तिज्ञानका इतना सामर्थ्य है कि तन्त्रोक्त

१. ये सांसारिक गुरु ही अकल्पित गुरु हैं। इन्होंने दूसरे गुरुसे क्रिया-दीक्षादिके द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त नहीं किया। इसलिये इन्हें अकल्पित कहा जाता है। इन्हें छोड़कर अकल्पितकल्पक, कल्पित और कल्पिताकल्पित भेदसे और भी तीन प्रकारके गुरु हैं। इस विषयका विशेष विवरण देना यहाँ अप्रासंगिक होगा।

२. वह ज्ञान आगम और गुरुमुखके द्वारा प्राप्त हो सकता है। गुरुके चैतन्य शक्तिमय करस्पर्शसे अर्थात् भगवान्‌की शक्तिरूप किरणके द्वारा गुरु शिष्यको प्रबोध करते हैं।

क्रीडा-कर्म, षट्चक्र, स्वर-साधन, मन्त्रवेध, परकायप्रवेश प्रभृति सभीमें उसका अधिकार हो जाता है। एक क्षणमें ही ये सब स्वायत्त हो जाते हैं। विवेककी वृद्धि जितनी अधिक होती है उतना ही चित्तमें सब भावोंसे वैराग्य उत्पन्न होता है और वह परम चिद्भावमें उपराम हो जाता है। इसीलिये सिद्धियोंसे भी राग नहीं रहता। वे लड़कोंके खेल अथवा स्वप्न या इन्द्रजालके समान मालूम होने लगती हैं। जैसे दर्पणमें अपना प्रतिबिम्ब दिखायी देता है, उसी प्रकार प्रातिभ ज्ञानके आलोकसे एक साथ भीतर-बाहर सर्वत्र परमेश्वरकी सत्ता प्रत्यक्ष प्रतीत होने लगती है। सारा विश्व ही उनका घनीभूत रूप-सा भासने लगता है। इस अवस्थामें हेयोपादेय बोध न रहनेके कारण साधकके तुच्छ एवं परिच्छिन्न सिद्धियोंके आश्रयभूत तत्तत्प्रकारके निर्दिष्टि ध्यान छूट जाते हैं और सदाके लिये एकमात्र परमवस्तुकी भावना ही जागरूक रहती है।[१] इस भावनाकी दृढ़तासे ही जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति होती है। और एक बात—विवेककी वृद्धिसे शाप तथा अनुग्रहव्यापारमें सामर्थ्य प्राप्त होता है। इसलिये विवेकी स्वयं मुक्त होकर दूसरेको भी मुक्त कर सकते हैं।

बद्ध जीवरूपी अणु पंचभूतोंसे आच्छन्न एवं इन्द्रियविशिष्ट रहते हैं। इसीसे उन्हें एक देहसे निकलकर दूसरा देह ग्रहण करना पड़ता है। परन्तु विवेकके उदयसे प्रतिभाका योग होनेपर[२] ऐसे जीव शक्तितत्त्वरूपमें गिने जाते हैं। ये शुद्धविद्या-अवस्थाको प्राप्त होकर निग्रह-अनुग्रहमें समर्थ होते हैं और इसमें क्रमशः प्ररूढ़ होकर अर्थात् शक्तिपातके क्रमिक आवेशसे संसार-समुद्रसे पार हो जाते हैं तथा उत्तरोत्तर [ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव और शिव—इन] छः प्रकारके कारणोंका परिहार करते हुए अन्तमें परमेश्वरका सायुज्य प्राप्त करते हैं। अतएव शिव, शक्ति तथा जीव ही वस्तुतः प्रातिभ विज्ञानरूपमें प्रादुर्भूत होते हैं।

आत्माका स्वाभाविक पूर्ण आत्मबोध संकुचित होकर ही अपूर्ण ज्ञान अथवा अज्ञानका आकार धारण करता है। शक्तिपातसे संकोच छूट जानेपर उसे नित्यसिद्ध स्वभावकी स्फूर्ति अवश्य ही होती है। मध्यतीव्र शक्तिपातके जितने लक्षण महापुरुषोंने बताये हैं, उनमें से इतने प्रधान हैं।

१. भगवान्में निश्चला भक्ति।

२. मन्त्रसिद्धि, जिसके प्रभावसे श्रद्धा-विश्वास उत्पन्न होता है।

३. सब तत्त्वोंको स्वायत्त करनेका सामर्थ्य।

४. आकस्मिक रूपसे सब शास्त्रोंका अर्थज्ञान—इत्यादि।

ये सब लक्षण क्रमशः अभिव्यक्त होते हैं। शक्तिपातके तारतम्यसे किसीमें सब होते हैं और किसीमें कम। इनमेंसे भक्ति मुक्तिमें प्रधान है, अन्यत्र आनुषंगिक है तथा मन्त्र-सिद्धि भोगमें प्रधान है, अन्यत्र आनुषंगिक है। शेष दो लक्षण दोनोंहीमें रहते हैं।

(९)

मन्दतीव्र शक्तिपातके प्रभावसे सद्गुरुलाभकी इच्छा होती है। असद्गुरुके पास जानेकी इच्छा उस समय नहीं रहती। शक्तिपात होनेपर किसी-किसीको 'तत्त्व क्या है? तत्त्वको जाननेवाला कौन है?' ऐसी जिज्ञासासे युक्त मन्द प्रातिभ ज्ञान उदय होता है। इसके बाद ही सद्गुरुलाभकी इच्छा होती है और फिर यथासमय उसकी प्राप्ति भी होती है। परन्तु किसी-किसी मनुष्यका शक्तिपातके बाद पहले जागतिक उपदेष्टा अर्थात् व्यावहारिक गुरुसे

१. सिद्धियोंका यथार्थ उद्देश्य साधकके चित्तमें विश्वास उत्पन्न करना है अर्थात् इस देहमें रहते हुए सिद्धियाँ प्राप्त होनेसे यह विश्वास होता है कि देहपातके अनन्तर अवश्य मुक्ति हो जायगी। जिनका विश्वास दुर्बल है, उनके लिये सिद्धियोंका इस प्रकार उपयोग है। परन्तु परिपक्व अवस्थामें ज्ञानकी तीव्रतासे खेलोंके समान सिद्धियोंमें भी उदासीनता और अनासक्ति हो जाती है और एकमात्र परमतत्त्वकी भावना ही दृढ़ हो जाती है। उस समय जीवन्मुक्ति निश्चित है।

२. पातंजलदर्शनमें भी विवेकज ज्ञानके रूपका वर्णन करते हुए कहा है कि यह सर्वविषयक सर्वथाविषयक तथा क्रमहीन अनौपदेशिक तारक ज्ञान है। महोपनिषद् (अध्याय २) में लिखा है कि शुकदेवने जन्मके समय ही यह महाज्ञान प्राप्त किया था। यह उनको 'विवेक' से स्वतः ही उत्पन्न हुआ था—

'जातमात्रेण मुनिराड् यत्सत्यं तदवाप्तवान्॥
तेनासौ स्वविवेकेन स्वयमेव महामनाः।
प्रविचार्य चिरं साधु स्वात्मनिश्चयमाप्तवान्॥'

इस ज्ञानसे उनको गुरुके उपदेशके बिना ही परमार्थतत्त्वका अनुभव हुआ था और उनकी भोगवासनाओंकी निवृत्ति हो गयी थी। परन्तु वह ज्ञान दृढ़ न होनेके कारण उनके मनको शान्ति नहीं हुई—उन्हें अपने ज्ञानमें विश्वास नहीं हुआ। इसलिये अपने पिता श्रीव्यासदेवके आदेशसे उन्हें विदेहराज जनकके पास जाना पड़ा।

परिचय होता है। फिर कुछ दिन उनका संग करते-करते पूर्वोक्त जिज्ञासाका आविर्भाव होता है। ये सद्‌गुरु सांसिद्धिक[1] अथवा संस्कृत[2] भेदसे दो प्रकारके होते हैं। सांसिद्धिक गुरु भी शक्तिपातकी मात्राके अनुसार क्रमशून्यता अथवा क्रमवत्ताके कारण सर्वगामी अथवा आंशिक हो सकते हैं। संस्कृत गुरुके भी कल्पित-अकल्पित आदि कई भेद हैं। जीव सद्‌गुरुसे दीक्षा[3] प्राप्त करके शिवभावापन्न होते हैं और सब विषयोंको तत्त्वतः जानकर जीवन्मुक्ति लाभ करते हैं। इस अवस्थामें देहादिमें आत्माभिमान नहीं रहता तथा विकल्पहीन स्वात्मबोध खुल जाता है। इसलिये देह रहनेपर भी न रहनेके बराबर ही होता है। रत्न-माला आगममें लिखा है—

यस्मिन् काले तु गुरुणा निर्विकल्पं प्रकाशितम्।
तदैव किल मुक्तोऽसौ यन्त्रं तिष्ठति केवलम्॥[4]

जीवन्मुक्तका सुख-दुःखानुभव प्रारब्धकर्मके अनुसार होता है। परन्तु इस अनुभवसे उसकी मुक्तिके विषयमें सन्देह करनेका कोई कारण नहीं है।[5]

मध्यतीव्र तथा मन्दतीव्र शक्तिपातके विषयमें महापुरुषोंका कुछ मतभेद देख पड़ता है। परन्तु वह बहुत साधारण है, इसलिये यहाँ उसकी आलोचना करना आवश्यक है।

तीव्रमध्य शक्तिपातके बाद जो दीक्षा मिलती है। उससे अपने शिवत्वकी सुदृढ़ उपलब्धि नहीं होती। शिवभाव तो दीक्षाके साथ-साथ अवश्य हो जाता है परन्तु उसका स्पष्ट अनुभव नहीं होता। निर्विकल्पक आत्मसाक्षात्कारका अभाव ही इसका कारण है। देहपात होनेपर उसका शिवसायुज्य अवश्यम्भावी है। इस दीक्षाका शास्त्रीय नाम 'पुत्रक-दीक्षा है'।

मध्य-मध्य तथा मन्दमध्य शक्तिपातसे परमेश्वर-लाभका औत्सुक्य रहनेपर भी भोगाकांक्षा निवृत्त न होनेके कारण दीक्षामें भी उसी प्रकारके ज्ञानकी प्राप्ति होती है। यह दीक्षा 'शिवधर्म्यसाधक दीक्षा' नामसे प्रसिद्ध है। इसके प्रभावसे इष्ट तत्त्वादिमें योजना स्थापित होती है और योगाभ्यास प्रभृतिके द्वारा उस स्थानके भोगोंको भोगनेका अधिकार उत्पन्न होता है। मध्य-मध्य शक्तिपातके द्वारा यह भोग वर्तमान देहमें ही हो जाता है और भोगसमाप्तिके बाद देहपातके अनन्तर शिवत्व प्राप्त होता है। परन्तु मन्दमध्य शक्तिपातके द्वारा यह भोग देहान्तरद्वारा ही सम्पन्न होता है। इसके पश्चात् शिवत्व लाभ होता है।

तीव्रमन्द, मध्यमन्द तथा मन्द-मन्द—ये तीन प्रकारके शक्तिपात भोगाकाङ्क्षा प्रबल रहनेपर होते हैं। इनके अधिकारियोंमें शिवत्वलाभका औत्सुक्य विशेष नहीं रहता। इनमें भी उत्तरोत्तरमें भोगलालसाका आधिक्य रहता है। इन सब क्षेत्रोंमें लोकधर्मी दीक्षाकी आवश्यकता रहती है। तीव्रमन्द शक्तिपातसे देहके अन्तमें किसी अभीष्ट भुवनमें अणिमादि भोगका उपभोग करते हुए ऊर्ध्वगति लाभ करते हैं। उसके पश्चात् परमेश्वरके सकल रूपमें और फिर निष्कल रूपमें युक्त हो जाते हैं। परन्तु शक्तिपात और भी कम होनेपर अर्थात् मध्यमन्द मात्रामें होनेपर किसी भुवनमें कुछ समयतक भोग्य पदार्थोंका उपभोग करके उस भुवनके अधिष्ठातासे दीक्षा ग्रहण करनेके पश्चात् शिवत्व लाभ करते हैं; किन्तु जब मन्द-मन्द कोटिका शक्तिपात होता है तो उसी भुवनमें सालोक्य, सामीप्य तथा सायुज्यको प्राप्त होकर अत्यन्त दीर्घकालपर्यन्त भोगोंको भोगते हुए उस भुवनके भुवनेश्वरसे दीक्षा ग्रहणकर अन्तमें शिवत्व लाभ करते हैं।

(१०)

यहाँतक जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट जान

१.जिनमें स्वयं ही ज्ञानका उदय हुआ हो।

२.जिन्हें दूसरे गुरुसे ज्ञान प्राप्त हुआ हो।

३.दीक्षाके कई प्रकार हैं। यहाँ उनका विवरण देनेकी आवश्यकता नहीं है।

४. जिस समय गुरुके द्वारा निर्विकल्प बोध प्रकाशित कर दिया जाता है उसी समय वह मुक्त हो जाता है; फिर वह केवल यन्त्र-मात्र रह जाता है।

५.अविद्योपासितो देहो ह्यन्यजन्मसमुद्भवः।
कर्मणा तेन बाध्यन्ते ज्ञानिनोऽपि कलेवरे॥

(श्रीकामशास्त्र)

देह अन्य जन्ममें किये हुए कर्मोंके प्रभावसे होता है, अतः उस कर्मसे ज्ञानिजन भी बाधित होते हैं। प्रारब्धकर्म शुद्ध होना आवश्यक है। ऐसा न होनेसे [अर्थात् यदि मन्त्रादिके प्रभावसे सद्योनिर्वाणदायिनी दीक्षाके द्वारा देहपात हो जाय तो] मृत्युके बाद शोधनसे बचे हुए देहारम्भक कर्मोंके फलस्वरूप आयु-भोग प्रभृतिको अवश्य ही भोगना पड़ता है। जबतक यह भोग समाप्त नहीं होता तबतक मोक्ष नहीं हो सकता। इसलिये मरणका क्षय बिना जाने प्राणवियोजिका दीक्षा नहीं देनी चाहिये। ऐसी दीक्षा देनेसे भगवान्‌की आज्ञाका उल्लंघन होता है।

पड़ता है कि शक्तिपात अथवा श्रीभगवान्‌की कृपाके बिना कोई जीव पूर्णत्व लाभ नहीं कर सकता—यहाँतक कि पूर्णत्वके मार्गमें भी प्रवेश नहीं कर सकता। शक्तिपातका तारतम्य जीवके अधार (धारणशक्ति)-के भेदसे होता है। परन्तु यह भी सत्य है कि जीव चाहे कितने ही निम्न अधिकारका हो और कितना ही भोगाकाङ्क्षायुक्त हो, एक बार शक्तिपात होनेपर वह कभी-न-कभी परमपदमें अवश्य पहुँच जायगा। भोगाकाङ्क्षादि अन्तराय रहनेसे उसकी गतिमें विलम्ब होगा, नहीं तो शीघ्रातिशीघ्र—यहाँतक कि क्षणमात्रमें भी (जैसे तीव्र-तीव्रकी तीव्रमात्रामें) हो सकता है। शक्तिपातके समय योग्यताका विचार नहीं होता, परन्तु स्वभावत: योग्यतानुसार ही शक्तिपातकी मात्रा निर्दिष्ट होती है। परन्तु मात्रा कुछ भी हो, भगवत्-शक्तिकी ऐसी ही महिमा है कि यह एक बार पतित होनेपर जीवको भगवद्धाममें पहुँचाये बिना शान्त नहीं होती—इसमें कोई सन्देह नहीं।

मृत्युसे अमृतकी ओर

(लेखक—प्रो० श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम० ए०)

मनुष्य अमृतका पुत्र है। अमृत ही उसका स्वरूप है। अमृतसे ही उसका जन्म हुआ है। अमृतके आश्रय ही उसकी स्थिति, गति और श्रीवृद्धि है। अमृतको लक्ष्य करके ही उसकी साधना होती है। अमृतस्वरूपमें स्थिति प्राप्त करनेमें ही उसके मानव-जन्मकी सार्थकता है। तथा अमृतस्वरूपमें प्रतिष्ठा लाभ करनेका उसे जन्मसिद्ध अधिकार है। भारतीय ऋषियोंने विश्वके समस्त मनुष्योंको पुकारकर उनके इस जन्मसिद्ध अधिकारकी घोषणा की है। यह अधिकार केवल किसी विशेष जाति या वर्णका ही नहीं है, किसी विशेष समाज या सम्प्रदायका ही नहीं है, किसी विशेष देश, विशेष काल या श्रेणीविशेषका ही नहीं है, अमृतलोकके दरवाजेकी चाभी किसी व्यक्तिविशेषके हाथमें नहीं है, किसी व्यक्तिविशेषको वहाँके मालिकका इकलौता 'पुत्र' पूर्णतम अवतार अथवा विशिष्टतम सन्देशवाहक (पैगम्बर) स्वीकार करने अथवा न करनेके साथ उस अधिकारका कोई सम्बन्ध नहीं है और न किसी खास आचार और अनुष्ठानकी रीति-पद्धतिसे ही वह अधिकार नियमित है। उस अमृतलोकका द्वार तो सर्वदा ही खुला रहता है, इच्छा करते ही प्रत्येक मनुष्य उसमें प्रवेश कर सकता है; प्रत्येक मानव-शिशु जन्ममात्रसे ही इसका उत्तराधिकारी होकर उत्पन्न होता है, वह अमृतपदका पूरा हकदार है।

भारतीय शास्त्र मनुष्यमात्रके भीतर इस गौरवमयी चेतनाको जाग्रत् करनेमें लगे हैं कि 'मैं अमृतका पुत्र ही मर्त्यलोकमें अवतीर्ण हुआ हूँ, अमृतके द्वारा ही मेरी सत्ताका निर्माण हुआ है, मेरे चारों ओरकी सब चीजें मृत्युके अधीन होनेपर भी मैं स्वरूपत: अजर-अमर हूँ। मैं जो कुछ लेकर इस जगत्‌में विहार कर रहा हूँ, उस सबको मृत्यु खा जाती है परन्तु मुझे स्पर्श करनेकी क्षमता मृत्युमें नहीं है। मैं मृत्युके राज्यमें अपनेको मृत्युंजयरूपसे प्रतिष्ठित करके अमृतकी विजयपताका फहरानेके लिये प्रकट हुआ हूँ।'

तुम ब्राह्मण हो अथवा चाण्डाल, आर्य हो अथवा अनार्य, पुरुष हो अथवा नारी, धनी हो अथवा कंगाल, असंख्य लोगोंके दण्ड-मुण्डके विधाता संसारमें बहुत बड़े सम्मानको प्राप्त अधिकारी शक्तिशाली पुरुषविशेष हो अथवा कोई सताये हुए, पिसे हुए, दबाये हुए क्षीणजीवी दीन जन—इतना याद रखो, तुम मनुष्य हो; अपने प्रत्येक प्राणमें अनुभव करो कि तुम मनुष्य हो और मनुष्य हो, इसीलिये अन्य सभी मनुष्योंके साथ समानरूपसे तुम अमृतकी सन्तान और इस मृत्युमय जगत्‌में मृत्युंजय होनेके निर्विवाद अधिकारी हो। तुममें जो कुछ विषमता है, वह सब देश, काल, आचार और आसपासकी परिस्थितिके ऊपर अथवा देह, मन और बुद्धिके विकासके तारतम्य आदि अवान्तर विषयोंपर ही अवलम्बित है। श्रेष्ठ अधिकारकी दृष्टिसे तो मनुष्यमात्र ही समान हैं। हे धन-जन-विद्या-शक्तिसम्पन्न ब्राह्मण-कुलतिलक! याद रखो, तुम जिस प्रकार अमृतकी सन्तान हो और इस मृत्युमय संसारमें अमृतमय स्वरूपसे प्रतिष्ठित होनेका अधिकार लेकर आये हो, यह सभी प्रकारकी सम्पत्तिसे रहित दीन-हीन अज्ञानी असदाचारी म्लेच्छ भी उसी प्रकार अमृतकी सन्तान है और उसी प्रकार बड़ा ऊँचा

अधिकार लेकर संसारमें आया है। ऐ निगृहीत-प्रपीड़ित, बल-वीर्य-ज्ञानैश्वर्य आदिसे वंचित, अपने स्वरूपको भूले हुए दीन मजदूर! तुम भी अपने प्रत्येक प्राणमें ऐसा अनुभव करो कि 'मैं अमृतकी सन्तान हूँ, मैं तुच्छ नहीं हूँ, चिरकालतक वंचित रहकर किसी प्रकार दुःख-सुखसे जीवन धारण करनेके लिये ही मैंने संसारमें मानवदेह धारण नहीं किया है, मैं भी सब प्रकारके विघ्न-बाधाओंको पार करके अमृतस्वरूपसे प्रतिष्ठा पानेका अधिकार लेकर ही संसारमें आया हूँ।'—

मनुष्यका यह अमृतत्वप्राप्तिका अधिकार इसी कारण विशेषरूपसे गौरवपूर्ण है कि मनुष्यको अपनी साधनाके द्वारा—अपने पुरुषार्थके प्रभावसे इस अधिकारोचित अमृतपदको प्राप्त करना पड़ता है। अमृतत्वप्राप्तिके अधिकारके बदले यदि वह अमृतत्वको लिये हुए ही जन्मग्रहण करता, यदि इस अधिकारपर अपनेको प्रतिष्ठित करनेके लिये उसे अपने पुरुषार्थके प्रयोगकी आवश्यकता ही न पड़ती, तो इसका गौरव अपेक्षाकृत कम हो जाता। इसीलिये भारतीय शास्त्रने देवताओंकी अपेक्षा भी मनुष्यको अधिक गौरवान्वित बतलाया है। मनुष्यकी मनुष्यता ही यह है कि वह अमृतलोकसे अमृतपदपर पुनः प्रतिष्ठित होनेका अधिकारपत्र (परवाना) लेकर ही इस मर्त्यलोकमें उतरा है और वह अपने पुरुषार्थके द्वारा मृत्युकी शक्तिको परास्त करके मृत्युलोकमें ही अमृतका राज्य स्थापित कर देगा।

जन्मग्रहण करते ही मानवशिशुको मृत्युकी अनुचरी शक्तियाँ भीतर-बाहरसे घेर लेती हैं। उस समय वह अपने-आपको भूल जाता है—खो देता है। उसमें न ज्ञानका प्रकाश होता है न इच्छाशक्तिका प्रभाव होता है, न भक्तिकी दृष्टि होती है और न कर्मकी शक्ति होती है। उस समय वह इस मृत्युमय संसारकी अगणित शक्तियोंके हाथकी एक कठपुतलीमात्र होता है। ऐसा जान पड़ता है मानो मृत्यु किसी भी समय उसका ग्रास कर सकती है। उसके देह, इन्द्रिय, मन—सभी मृत्यु-राज्यके अधीन होते हैं। उनके ऊपर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं होता। उस असहाय-अवस्थामें वह बालक पिता-माता और दस-पाँच दूसरे अपरिचित व्यक्तियोंके साथ परिचय स्थापित कर, उनके स्नेह, ममता और सहानुभूतिको आकर्षण कर तथा उनके विकसित ज्ञान और शक्तिकी सहायता लेकर क्रमशः अपने ज्ञान और शक्तिको बढ़ाता रहता है एवं मृत्युकी अनुचरी उन प्राकृतिक शक्तियोंके साथ आवश्यकतानुसार संग्राम-सन्धि और मेल-जोल करके धीरे-धीरे इस मृत्युराज्यमें अपनी स्थिति कायम करता है। फिर क्रमशः उसके ज्ञानकी बत्ती और भी उज्ज्वल होने लगती है। इच्छाशक्तिका प्रभाव बढ़ने लगता है और भक्तिकी दृष्टि खुलने लगती है। इस प्रकार देह, इन्द्रिय और मनके ऊपर उसके ज्ञान और इच्छाका प्रभुत्व प्रतिष्ठित होता रहता है। वह क्रमशः इस अपरिचित देशमें इसी देशकी अनेकों शक्तियोंको अपने वशमें करके उनकी सहायतासे एक 'अहम्' का राज्य स्थापित कर लेता है। अब वह प्रकृतिके हाथका खिलौना नहीं रहता। वह एक 'अहम्' हो जाता है; वह एक कर्ता, भोक्ता, प्रभु और राजा बन जाता है। अब वह अपनेको असहाय और परमुखापेक्षी नहीं समझता। उसकी ज्ञानशक्ति और इच्छाशक्तिने उसे इस मृत्युमय संसारक्षेत्रके एक अंशविशेषमें राज्यपदपर प्रतिष्ठित कर दिया है। इस प्रकार मनुष्य जो आपाततः शक्तिहीन, सहायहीन और परमुखापेक्षी क्षुद्र जीवनको लेकर इस अनन्त शक्तियोंके संग्रामस्थल विशाल संसारमें आता है और यहाँ अपने पुरुषार्थके द्वारा 'अहम्' रूप एक साम्राज्य स्थापित कर लेता है अथवा अनेकों शक्तियोंका नियामक होकर अपने प्रयोजनकी पूर्ति करता है—इसीसे उसके अनन्यसाधारण गौरवका पता लगता है। मानवशिशु आपातदृष्टिसे क्षुद्र और दुर्बल होनेपर भी अखण्ड और अपरिमित शक्तिका आधार है—उसकी यह साधना और सिद्धि ही इस बातका परिचय देती है।

यह सर्वशक्तिसमन्वित, पौरुषबलसे महान् एवं प्रकृति-विजयमें समर्थ 'अहम्' ही मनुष्यकी अन्य जीवोंकी अपेक्षा विशेषता है। यह महिमान्वित 'अहम्' के भीतर ही मनुष्यके अमृतत्वका बीज निहित है। मनुष्यके भीतर 'अहम्' बोधका विकास होता है, इसीसे वह अमृतत्वप्राप्तिका अधिकारी है—मृत्युको जीतकर आत्मामें स्थित होनेका अधिकारी है। इसीसे उसके लिये साधना है, पुरुषार्थ है एवं स्वतन्त्रता है! इसीलिये प्रकृतिके राज्यमें रहते हुए भी अपने शरीर एवं जीवनके धारण-पोषण और उत्कर्षसाधनके लिये प्रकृतिके ऊपर बहुत कुछ निर्भर होनेपर भी वह प्रकृतिका दास नहीं है, वरं स्वामी है। प्राकृतिक शक्तियोंका अपनी प्रयोजनपूर्ति-के करण या उपकरणरूपसे उपयोग करनेमें समर्थ है। 'अहम्' के विकासकी सम्भावना रहनेके कारण ही एक क्षुद्रकाय क्षीणजीवी मानवशिशुका गौरव सहस्रों विशालकाय

हाथियों और अमित पराक्रमी सिंहोंके गौरवकी अपेक्षा भी कहीं बढ़कर है। इस 'अहम्' बोधने ही मनुष्यको विश्वप्रकृतिमें एक स्वतन्त्र अधिकार, स्वाधीन राजत्व, अपना उद्देश्य और अपने उस उद्देश्यकी पूर्तिके अनुकूल प्रेरणा, एवं शक्ति प्रदान किये हैं। 'अहम्' का जागरण ही मनुष्यत्वका जागरण है, 'अहम्' का विकास ही मनुष्यत्वका विकास है, 'अहम्' की विशुद्धता ही मनुष्यत्वकी विशुद्धता है एवं 'अहम्' की परिपूर्णता ही मनुष्यत्वकी परिपूर्णता है।

चारों ओरसे जो शक्तियाँ मनुष्यके इस 'अहम्' को संकुचित करने, कुचलने, निर्जीव करने एवं उसे पूर्णतया प्रकृतिके अधीन और मृत्युके वशमें करनेके लिये निरन्तर लगी हुई हैं, उन सबके साथ युद्ध करके उन्हें अपने चरणोंमें झुकाकर एवं उन्हींमेंसे अनेकोंको अपनी शक्तिवृद्धि और लक्ष्यसिद्धिकी अनुकूलतामें नियुक्त करके उसे अपने इस 'अहम्' की आत्मप्रतिष्ठा, आत्मप्रभुता, आत्मविशुद्धि और आत्मपूर्णताका सम्पादन करना होगा तथा प्रकृतिकी छातीपर राजाके समान स्वाधीनरूपसे विचरण करते हुए मृत्युको हजम करके मृत्युंजय बनना पड़ेगा। 'अहम्' जितना ही सुप्त और दुर्बल होगा, उतना ही मनुष्य मृत्युके अधीन रहेगा। एवं जितना ही वह जाग्रत्, प्रतापशाली, विशुद्ध, उदार, व्यापक और परिपूर्ण होगा उतना ही मृत्यु उसके अधीन हो जायगी। इस साधनसंग्राममें विजयी होकर मृत्यु और उसके अनुचरादिको परास्त करके अमृतपदपर अभिषिक्त होनेके लिये ही इस प्रकृतिराज्यमें 'अहम्' की अभिव्यक्ति हुई है और इसीलिये इस मृत्युके विलासक्षेत्रमें 'अमृतके पुत्र' मानवका आविर्भाव हुआ है।

इसीसे अमृतपदपर नित्य प्रतिष्ठित और विश्व-मानवके नित्यगुरु श्रीभगवान्‌का अमृतमय पदके उत्तराधिकारी प्रत्येक मानवके प्रति सबसे पहले यही उपदेश है—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥

(गीता २। ३)

पृथा अर्थात् पृथिवीने लाखों वर्षतक अनेकों प्रकारके नियमोंका पालन करके विचित्र शक्तिसम्पद् और गौरव संचय करके अत्यन्त कठोर तपस्याके फलस्वरूप अहंबोध-सम्पन्न, कर्म, ज्ञान और भक्तिरूप साधनोंके अधिकारी स्वेच्छाविहारी मनुष्यको वक्षःस्थलपर धारण करनेकी योग्यता प्राप्त की है। पृथाकी तपस्याका श्रेष्ठ धन और उसकी कृतार्थताका जीवंत विग्रह होनेके कारण मनुष्यको 'पार्थ' नामसे कहा गया है। मनुष्यने ही अपनी स्वतन्त्रताकी विरोधिनी, आत्मविकास और अमृतत्वप्राप्तिकी विरोधिनी सम्पूर्ण शक्तियोंको हराकर 'अहम्' का राज्य स्थापित करनेका निर्विवाद अधिकार लेकर जन्म ग्रहण करनेके कारण 'परंतप' संज्ञा पायी है। 'पार्थ' और 'परंतप' कहलानेवाला श्रीकृष्णका सखा अर्जुन मनुष्यजातिका ही प्रतीक है। अर्जुन उपलक्षण है, उससे मनुष्यमात्र लक्षित होते हैं।

अतः यहाँ 'पार्थ' शब्दसे मनुष्यमात्रको पुकारकर विश्वगुरु भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'तुम कदापि क्लीबताको प्राप्त न होना, तुम्हें क्लीबता किसी प्रकार शोभा नहीं देती। क्लीब होना—निर्वीर्य होना—अवसादग्रस्त होना तो मनुष्यताका विरोधी है। क्लीबत्व (नपुंसकत्व)-का अर्थ ही है 'मनुष्यताका अभाव।' भगवान्‌ने अपने रचे हुए जगत्‌में रचयिता बनाकर ही मनुष्यको रचा है। उन्होंने मनुष्यके भीतर 'अहम्' बोधको अनुस्यूत करके ही उसे सृष्टिका अधिकार दिया है। 'अहम्' बोधसम्पन्न मानव अपनी विचारशक्ति और इच्छाशक्तिके प्रभावसे, अपनी कल्पनाशक्ति और क्रियाशक्तिके प्रभावसे तथा अपने भाववैचित्र्य और अभाववैचित्र्यकी प्रेरणासे इस भगवत्सृष्ट बाह्य एवं आन्तर प्रकृतिको नये आकार-प्रकारसे रच सकनेका अधिकार रखता है, उसमें नवीन रूप-रस-गन्ध, नवीन सौन्दर्य-माधुर्य-ऐश्वर्य और नवीन स्वर, ताल, छन्द, प्रकाश और योजना करनेका भी अधिकार रखता है, उसपर 'अहम्' की छाप लगाकर उसे अपनी निज सम्पत्तिके रूपमें परिणत करनेका भी अधिकार रखता है तथा उसे नये-नये रूपोंमें गठित करने और भोगनेका भी अधिकार रखता है। इस सृष्टिशक्तिके यथोचित प्रयोगके द्वारा ही मनुष्य अमृतके पथपर अग्रसर हो सकता है। सृष्टिशक्तिका चरम और अबाध विकास ही अमृतत्वकी प्रतिष्ठा है। इस शक्तिके अभावका नाम ही क्लीबता है। जिस परिमाणमें मनुष्यको वह क्लीबता प्राप्त होती है उसी परिमाणमें वह प्रकृतिका दास होता है, उतना ही वह मृत्युका ग्रास बना रहता है और उसी परिमाणमें वह मनुष्यत्वके अनन्यसाधारण अधिकारसे वंचित रहता है।

अतः मनुष्यके रचयिता श्रीभगवान् मनुष्यको सावधान कर रहे हैं कि अपनी मनुष्योचित शक्तिके व्यवहारद्वारा, अपने पुरुषार्थके यथोचित प्रयोगद्वारा तुम अपनेको किसी भी अवस्थामें क्यों न ले जाओ, अपने स्वभाव, शक्ति

और सम्पत्तिको किसी भी रूपमें गठित क्यों न कर लो और बाह्य जगत्‌के ऊपर किसी भी तरहका प्रभाव क्यों न डाल दो, तुम्हें क्लीबता शोभा नहीं देती। जिस समय भी किसी आगन्तुक या सामयिक कारणसे विषाद, निराशा, अवसाद और आत्मशक्तिमें अश्रद्धा आदि क्लीबताके चिह्न चित्तपर दखल करना चाहें, उसी समय तुम्हें अपने मनुष्यत्वको स्मरण करके, अपने पार्थत्व और परंतपत्वके अधिकारको याद करके तथा प्रकृतिके राज्यपर अपनेको प्रभुरूपसे प्रतिष्ठित करनेके भगवद्दत्त अपने अधिकारके सम्बन्धमें सजग होकर उसी क्लीबताको दूर करना होगा एवं आत्मवान् होना होगा। हृदयकी दुर्बलताको एक घड़ीके लिये भी आश्रय देना मनुष्यके लिये उचित नहीं है। सब प्रकारकी दुर्बलताओंके बहुत ऊपर अपना आसन जमाना होगा। क्लीबता, दुर्बलता और विषादने मनुष्यके 'अहम्' को ढक लिया है—इसीसे उसकी अवस्था शोचनीय हो रही है, इसीसे उसके अमृतत्वका मार्ग रुका है और इसीलिये उसका मनुष्यजन्म व्यर्थ है, और इसीलिये मनुष्यको भगवान्‌का सबसे पहला आदेश यह है—'**क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप**', हे परन्तप! इस हृदयकी क्षुद्र दुर्बलताको त्यागकर खड़ा हो जा।

मनुष्यकी सारी साधनाओंका आधार इस दौर्बल्यका त्याग एवं क्लीबताके आक्रमणसे अपनी रक्षा करना ही है। किसी प्रतिकूल अवस्थामें मनुष्यका यह 'अहम्' कहीं अपनी हार न मान ले, अवसादसे ग्रस्त होकर कहीं प्रकृतिके हाथोंमें आत्मसमर्पण न कर बैठे और कहीं मृत्युको अपने ऊपर निष्कण्टक राज्य करनेका मौका न दे दे—इस विषयमें सदा सजग और दृढ़ताके साथ प्रयत्नशील रहना ही मानवजीवनका सबसे पहला कर्तव्य है। जीवनकी जो गति, जो विचारधारा और कर्मधारा, जो रीति, नीति और मतवाद एवं जो मनोवृत्ति मनुष्यके इस 'अहम्' को दुर्बल, अवसन्न, संकुचित और आच्छादित कर दें; देह, इन्द्रिय और मनपरसे अहंके प्रभावको कम करके प्रकृतिके प्रभावको बढ़ा दें और मृत्युकी अधीनता स्वीकार कराकर 'अहम्' को परिस्थितिके प्रवाहमें बहा दें, वे सभी कुछ मनुष्यके लिये निषिद्ध हैं और उन्हींको पाप समझना चाहिये। इसके विपरीत जो जीवनयात्रा, विचारधारा, भाव और कर्म, मतवाद, मनोवृत्ति और आचार-व्यवहार 'अहम्' के तेज, वीर्य, उत्साह और आत्मश्रद्धाको बढ़ावें, अहम्' को उदार महान् व्यापक और उज्ज्वल करके उसके भीतर रहनेवाले अमृतत्वका विकास करें और उसे मृत्युमय संसारके ऊपर राज्यस्थापनकी क्षमता प्रदान करें, वे ही मनुष्यके लिये उपादेय हैं और उन्हींको 'धर्म' कहा जाता है।

गीताके पहले छः अध्यायोंमें भगवान् श्रीकृष्णने मनुष्यको इस 'अहम्' के उद्‌बोधन, शक्तिविकास और विशुद्ध करनेका ही उपदेश दिया है। पूर्वोक्त श्लोक ही इस उपदेशका बीजरूप है। उन्होंने बीच-बीचमें भी स्मरण करा दिया है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

अपना उद्धार स्वयं ही करना चाहिये, अपनेको कभी अवसादग्रस्त नहीं करना चाहिये। मनुष्य आप ही अपना बन्धु है और आप ही अपना शत्रु है। जो अपने देह, इन्द्रिय और मनको नियन्त्रित करनेका अभ्यास करता है तथा आस-पासकी अवस्थाका प्रलोभन विभीषिका एवं देहेन्द्रियादिकी स्वाभाविक और उपार्जित प्रवृत्तियाँ जिस मनुष्यके जीवनको इधर-उधर चलायमान अथवा अवसादग्रस्त करनेमें असमर्थ है, वही मनुष्य अपना बन्धु है और जो अपनेको प्रवृत्तिके हाथोंमें अथवा आसपासकी अवस्थाके हाथोंमें सौंप देता है, वह स्वयं ही अपने साथ शत्रुताका व्यवहार करता है। अपनेको दुर्बल होने देना ही अपने साथ शत्रुता करना है, क्योंकि ऐसा करना अपनेको अपने स्वाभाविक अधिकारसे वंचित करना है, अमृतलाभका अधिकार प्राप्त करके भी उसके मार्गको रोक देना है।

भगवान्‌ने मनुष्यको स्मरण कराया है कि शरीरकी अपेक्षा इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं, क्योंकि इन्द्रियोंके द्वारा ही शरीर परिचालित होता है। इन्द्रियोंकी अपेक्षा भी मन श्रेष्ठ है, क्योंकि मन इन्द्रियोंका राजा और उनका नियन्ता है। मनकी अपेक्षा भी बुद्धि श्रेष्ठ है, क्योंकि मनके ऊपर राज्य करनेका बुद्धि या विचारशक्तिको स्वभावतः ही अधिकार है किन्तु बुद्धिकी अपेक्षा भी आत्मा श्रेष्ठ है, क्योंकि आत्मा ही सर्वोपरि प्रभु है; बुद्धि आदि सभी उसके करणमात्र हैं। आत्माका प्रयोजन पूरा करनेके लिये ही उनकी सत्ता है। देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि जो विषयोंको ग्रहण करते या रचते हैं, वे सब इस विषयी आत्माके उपकरणमात्र हैं। अतः आन्तर राज्य और प्राकृत विषयराज्यका सम्राट् यह आत्मा ही है। उन सबको अपने अधीन रखकर नियन्त्रित करनेका आत्माका नित्य अधिकार है। यह आत्मा ही 'अहम्' का स्वरूप

है। ओ मानव! अहंको स्वरूपतः ऐसा महान् शक्तिशाली और महा-महिमान्वित जानकर तुम अपनी दुर्बलतापर विजय प्राप्त करो, पापवृत्तिका नाश करो, सब प्रकारकी पापवृत्ति और दुर्बलताके प्रवर्त्तक काम एवं क्रोधको वशमें करो तथा मृत्युमय प्राकृत जगत्के ऊपर अपने आत्माकी विजय-पताका फहरा दो। यही मनुष्यमात्रके प्रति भगवान्का चिरन्तन उपदेश है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

आत्मतत्त्वविचाररूप ज्ञानयोगका आश्रय लेकर 'अहम्' की स्वरूपगत महिमाका अनुभव करना होगा। चित्तमें सुदृढ़ निश्चय उत्पन्न करना होगा कि आत्माका (मेरा) जन्म नहीं होता, उसे कोई व्याधि नहीं होती और वह जराग्रस्त भी नहीं होता। ये देहके विकार आत्मामें नहीं होते। इन्द्रियोंके सुख-दुःखमें भी आत्माको सुख-दुःख नहीं होता। मनके विक्षोभमें आत्माको विक्षोभ नहीं होता। कोई भी प्राकृत शक्ति आत्माको अभिभूत नहीं कर सकती। अग्नि उसे जला नहीं सकता, वायु उसे सुखा नहीं सकता और जल उसे भिगो नहीं सकता। प्राकृत जगत्में प्राकृत शक्तियोंके घात-प्रतिघातसे प्राकृत देह, इन्द्रिय और मनमें कोई भी विकार, वेदना या अवस्थापरिवर्तन क्यों न हों, वे आत्माको विकारग्रस्त या वेदनाभिभूत करनेकी अथवा अपनी गुलामीकी जंजीरमें जकड़नेकी शक्ति नहीं रखते। इस परम सत्यको अनुभव करके निर्भीक चित्तसे अपनेको राजाके समान संसारके वक्षःस्थलपर प्रतिष्ठित करना होगा।

यज्ञार्थ कर्मसम्पादनरूप कर्मयोगका आश्रय लेकर भी, इस वासना-कामनाके बन्धनसे, देह, इन्द्रिय और मनकी दुर्दमनीय भोगतृष्णाके प्रभावसे स्वार्थाभिसन्धिसे कलुषित संकीर्ण दृष्टि और देहात्मबोधसे इस 'अहम्' को मुक्त करना होगा। कामना और वासना ही मनुष्यको भोग्य विषयोंमें आसक्त करके संसारकी अधीनतारूप शृंखलामें बाँधती हैं तथा उसे प्रकृतिके दासत्वमें नियुक्त कर देती हैं। कर्मयोगका आश्रय लेनेपर मनुष्य गुलामकी तरह कर्म नहीं करता, वह प्रभुकी तरह काम करता है। अपने देह, इन्द्रिय और मनके भोगसाधनके उद्देश्यसे—भोगप्रवृत्तिकी ताड़नासे कर्म करनेमें ही मनुष्य विषयोंका गुलाम, परिस्थितिका दास और कर्मोंका दास होकर सुख, दुःख और मोहके द्वारा अभिभूत होता है, उसका 'अहम्' दुर्बल हो जाता है और प्रकृति उसके ऊपर राज्य करने लगती है। यदि वह भोगके लिये कर्म न करके कर्तव्यबुद्धिसे कर्मके लिये ही कर्म करता है, वह संसारक्षेत्रमें कर्तारूपसे अवतीर्ण हुआ है इसीलिये यदि देश, काल और अवस्थाके अनुरूप सब प्रकारके शास्त्रविहित कर्म फलकी इच्छा छोड़कर करता है, देह, इन्द्रिय, मन और उनके विषयोंको अपना लक्ष्य न बनाकर कर्म करनेमें उनका करण और उपकरणरूपसे व्यवहार करता है, उसकी कर्मशक्ति यदि अपने लौकिक या पारलौकिक भोग-साधनमें न लगकर अहंकी स्वरूपोपलब्धि और माहात्म्यास्वादनमें तथा जाति, समाज और विश्वमानवके कल्याणसाधनमें लगती है तभी उसकी कर्मसाधना सार्थक होती है; वह कर्मके द्वारा ही प्रकृतिकी अधीनतासे मुक्त हो सकता है और मृत्युको अपना चरणकिंकर बनाकर अमृतका आस्वादन कर सकता है। संसारके प्रवाहमें देह और इन्द्रियोंको लेकर बचे रहना तथा देह और इन्द्रियोंके व्यापारकी निवृत्तिके द्वारा मर जाना—ये दोनों ही भोगराज्यके व्यापार हैं। किन्तु कर्मयोगीके लिये ये दोनों समान हो जाते हैं, क्योंकि उसका 'अहम्' सर्वदा ही भोगराज्यके ऊपर विहार करता है, और भोगराज्यके ऊपर ही अमृतराज्य है।

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदिका उद्देश्य भी यही है कि 'अहम्' को प्रकृतिके ऊपर, देह इन्द्रिय और मनके ऊपर तथा सब प्रकारके विकार और परिवर्तनोंके ऊपर प्रतिष्ठित किया जाय। सब प्रकारके प्राकृतिक प्रभावोंसे मुक्त होकर अहंका शुद्ध, बुद्ध और अपापविद्धरूपसे स्थित रहना, सब प्रकारके भोग और विकारोंसे ऊपर उठकर आत्मस्वरूपमें स्थिति लाभ करना तथा मृत्युके स्पर्शसे सर्वथा बचकर अमृतके आस्वादनद्वारा परमानन्दका सम्भोग करना, यही सारी साधनाओंका उद्देश्य है। कर्मयोग और कर्मसंन्यास एवं तत्त्वविचार और अभ्यासयोग—सभीका उद्देश्य 'अहं' को प्राकृत राज्यके भीतर भी अप्राकृत स्वरूपमें प्रतिष्ठित करना है, मृत्युके अधिकारके भीतर भी उसे अमृतमयी ब्राह्मीस्थिति प्रदान करना है।

मनुष्य अपने पुरुषार्थके द्वारा इस परिवर्तनशील मृत्युके द्वारा व्याप्त सृष्टिराज्यको जीतकर इसी देहसे अपरिवर्तनीय अमृतमय निर्दोष ब्रह्मभावमें नित्यस्थिति प्राप्त कर सकता है। यही बात श्रीभगवान्ने कही है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

इस विश्वविजय और ब्राह्मीस्थितिके अनन्यसाधारण अधिकारको लेकर ही 'अहम्' बोधसम्पन्न मनुष्य इस संसारमें अवतीर्ण हुआ है। मनुष्यके इस पौरुषमें ही भगवान्का विशेष प्रकाश है। भगवान्ने 'अहं' के पौरुषरूपमें अपनेको अभिव्यक्त किया है। इसीसे पौरुषको भगवान्ने अपनी विभूति बतलाया है—'**पौरुषं नृषु**'। (गीता ७।८)

किन्तु मनुष्यके इस 'अहं' और पौरुषमें जो माधुर्य और सौन्दर्य निहित है वह इतनेसे ही सम्यक्‌रूपमें व्यक्त नहीं होता। उसके पौरुषकी पराकाष्ठा और 'अहम्' की परिपूर्णता—ये प्रकृतिविविक्त अमृतमय ब्रह्मभावकी प्राप्तिमें ही पूर्णतया प्रकाशित नहीं होतीं। इस 'अहम्' को परम 'अहम्' के साथ पूर्ण भक्ति और प्रेमके द्वारा सम्मिलित करना होगा। 'परम अहम्' रूपी भगवान् श्रीकृष्णने इसके बाद एक उपदेश और दिया है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

'हे कुन्तीनन्दन! तू जो कुछ भी करे, जो खाय, जो हवन करे, जो दान दे और जो तप करे, वह सब मुझे अर्पण कर दे।' यही गीताका मध्यसूत्र है इससे अमृतमय अहं या आत्मा परम अहं या परमात्माके साथ नित्यभक्तियोगके द्वारा सम्मिलित होकर सम्पूर्ण जगत्‌में उस परिपूर्ण परम अहंका अखण्ड राज्य स्थापित करेगा। गीतामें सारे उपदेशोंके बाद अन्तमें एक चरम सूत्र है। यही पूर्ण अहंबोधसम्पन्न मनुष्यके अमृतयज्ञमें पूर्णाहुतिका उपदेश है और यही मनुष्यके प्रति भगवान्का अन्तिम आदेश है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

किन्तु इन दोनों सूत्रोंकी विशेष आलोचनाके लिये आज अवकाश नहीं है। '**स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु**।'

साधनका स्वरूप

(लेखक—पण्डितप्रवर श्रीपंचानन तर्करत्न भट्टाचार्य)

साधन और साधना शब्दका अर्थ बहुत ही व्यापक है। कोई भी कार्य हो, उसीका साधन है और साधना भी है। खेतीरूपी कार्य करना हो तो उसके लिये साधन है हल आदि और साधना है उनका प्रयोग। यह एक उदाहरण है। इसी प्रकार सभी कार्योंके साधन और साधना हैं। 'कल्याण' का 'साधनांक' सम्भवतः इस व्यापक अर्थकी दृष्टिसे अनुशीलन करनेके लिये नहीं है। यह अंक तो भगवत्-साधनाके लिये ही है। तो भी साधन और साधनाका क्षेत्र उपासनाकी अपेक्षा तो व्यापक ही है। उपासनाका अधिकार पानेके लिये भी साधन और साधना हैं—उनको बहिरंग साधन और उसका प्रयोग कहा जा सकता है। जैसे शौचाचमन, तिलकधारण आदि साधन हैं और उनका करना साधना है। परन्तु यह उपासना नहीं है।

भगवत्-सान्निध्य-प्राप्तिके उपयोगी अनुष्ठानका नाम ही उपासना है। अधिकारिभेदसे इस उपासनाके भी भेद हैं।

अन्तरंग साधना उपासनाका ही नामान्तर है। एक प्रकारका ऐसा साधन और साधना भी है जिसका उपासनाके साथ कोई सम्बन्ध नहीं, तथापि वह भगवत्-सिद्धिके अनुकूल है; जो सिद्धिके अुनकूल है, उसीका नाम साधन है, और उसका अवलम्बन ही साधना है। कहना नहीं होगा कि इस प्रकारकी भगवत्-साधना अथवा उसके उपाय-स्वरूप साधनके अधिकारी पृथक् हैं। जैनसूत्रमें कहा गया है—

असिअ सअं किरियानं अकिरिअ वाईन हूंति चुलसीई।
अण्णानि-अ सत्तट्टी वेनइनां अ बत्तीसं।
[अशीतिशतं क्रियावतामक्रियावतां भवति चतुरशीतिः।
अन्यानि च सप्तषष्टिर्वैनायकानां च द्वात्रिंशत्॥]

जैन-सिद्धान्तके अनुसार, जैनमतके सिवा सभी मत पाषण्डिमत हैं—जैनसूत्रकी गणनामें सब पाषण्डिदर्शन ३६३ हैं। कर्ममार्गके १८०, नैष्कर्म्यके ८४, अन्य ६७ और बौद्धोंके ३२। इनमें चार्वाकदर्शन भी है, उसके भी अवान्तरभेद हैं—जर्करी, तुर्करी, धूर्त चार्वाक आदि उनमें प्रधान हैं—इनमें साधनकी बात नहीं है—अण्णानि अ सत्तट्टी (अन्यदर्शन ६७) इन्हींमें चार्वाकदर्शन हैं। ३६३ मेंसे इन ६७के निकाल लेनेपर शेष बचते हैं २९६। इन सभी दर्शनोंमें साधनाकी चर्चा थी। स्थूल-सूक्ष्म

सहज-कठिन, बाह्य-आन्तर इत्यादि सामान्य और मन्त्रविशेष कर्मविशेष, प्रणालीविशेष आदिके भेदसे उसके हजारों भेद थे। इनके सिवा विविध जैन प्रस्थानोंमें भी साधनाकी बातें थीं, अब भी हैं। जैनदर्शनमें ईश्वरका अस्तित्व अस्वीकृत होनेपर भी साधनाका अस्वीकार नहीं है, प्रत्युत साधनाके लिये तो विशेषरूपसे उपदेश दिया गया है। यहाँ उन सब उपदेशोंका उल्लेख मेरे लिये न तो सम्भव है और न आवश्यक ही है। जो साधन अत्यन्त आवश्यक है और सभी साधन जिसके अन्तर्गत हैं, यहाँ उसीपर विचार करना है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

(३।३)

इसपर शांकरभाष्य इस प्रकार है—

लोकेऽस्मिन् शास्त्रानुष्ठानाधिकृतानां त्रैवर्णिकानां द्विविधा द्विप्रकारा निष्ठा स्थितिरनुष्ठेयतात्पर्यं पुरा पूर्वं सर्गादौ प्रजाः सृष्ट्वा तासामभ्युदयनिःश्रेयसप्राप्तिसाधनं वेदार्थसम्प्रदायमाविष्कुर्वता प्रोक्ता मया सर्वज्ञेनेश्वरेण। हे अनघ अपाप तत्र का सा द्विविधा निष्ठेत्याह—तत्र ज्ञानयोगेन ज्ञानमेव योगस्तेन सांख्यानामात्मविषयविवेकज्ञानवतां ब्रह्मचर्यादेव कृतसंन्यासानां वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थानां परमहंसपरिव्राजकानां ब्रह्मण्येवावस्थितानां निष्ठा प्रोक्ता कर्मयोगेन कर्मैव योगः कर्मयोगस्तेन कर्मयोगेन योगिनां कर्मिणां निष्ठा प्रोक्तेत्यर्थः।

श्रीधर स्वामीकी टीका इस प्रकार है—

अस्मिन् शुद्धाशुद्धान्तःकरणतया द्विविधे लोकेऽधिकारिजने द्वे विधे प्रकारौ यस्यां सा द्विविधा निष्ठा मोक्षपरता पुरा पूर्वाध्याये मया सर्वज्ञेन प्रोक्ता स्पष्टमेवोक्ता। प्रकारद्वयमेव निर्दिशति। सांख्यानां शुद्धान्तःकरणानां ज्ञानभूमिकामारूढानां ज्ञानपरिपाकार्थज्ञानयोगेन ध्यानादिना निष्ठा ब्रह्मपरतोक्ता 'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः' इत्यादिना। सांख्यभूमिकामारुरुक्षूणां तु अन्तःकरणशुद्धिद्वारा तदारोहार्थं तदुपायभूतकर्मयोगाधिकारिणां-योगिनां कर्मयोगेने निष्ठोक्ता 'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते' इत्यादि।

इन दोनों व्याख्याओंका भावार्थ क्रमसे यह है—

'दो साधनमार्ग हैं—ज्ञानयोग और कर्मयोग। ज्ञानाधिकारियोंके लिये ज्ञानयोग और कर्मियोंके लिये कर्मयोग। सृष्टिके समय प्रजाकी सृष्टि करनेके बाद उनके अभ्युदय और मोक्षसाधनके लिये ये दोनों ही योग—साधनमार्ग मेरे (भगवान्‌के) द्वारा उपदिष्ट हैं। ज्ञानाधिकारी वही हैं जो ब्रह्मचर्याश्रमसे ही संन्यासाश्रममें प्रवेश कर चुके हैं, आत्मतत्त्वके भी ज्ञाता हैं और वेदान्तप्रतिपादित विषयका अत्यन्त गहरा और निर्मल ज्ञान रखनेवाले परमहंस-परिव्राजक हैं। और जो कर्माधिकारी गृहस्थ हैं, उनको कर्मयोगका अवलम्बन करना चाहिये।'

(शांकरभाष्य)

'ज्ञानमार्ग शुद्धचित्त साधकोंके लिये है, जबतक चित्तशुद्धि नहीं हो जाती तबतक उन्हें कर्ममार्गका ही अवलम्बन करना चाहिये। पिछले अध्यायमें स्पष्ट ही ऐसा कहा गया है।'

(श्रीधरी टीका)

केवल परमहंसपरिव्राजक ही ज्ञानाधिकारी हैं, श्रीधर स्वामी ऐसा नहीं कहते। शांकरमतमें ज्ञान और कर्मका समुच्चय नहीं है। श्रीधरके मतमें कर्म और ज्ञानका क्रम-समुच्चय है। प्राचीन मतानुसार कर्म और ज्ञानका सहसमुच्चय है। उसीका नामान्तर 'उपासना' है। परमेश्वरको जानकर कर्मके द्वारा जो उनकी साधना की जाती है, वही ज्ञानकर्मका सहसमुच्चय है। महर्षि हारीत अपनी धर्मसंहितामें कहते हैं—

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां प्राप्यते ब्रह्म शाश्वतम्॥

'पक्षी जैसे दोनों पांखोंके सहारेसे ही आकाशमें उड़ता है, जिसका एक पाँख टूट गया हो, वह नहीं उड़ सकता, उसी प्रकार ज्ञान और कर्म—दोनोंकी सहायतासे-दोनों ही साधनोंके द्वारा शाश्वत ब्रह्मकी प्राप्ति होती है।' शाश्वत ब्रह्मकी प्राप्तिका अर्थ मोक्ष-लाभ है, और महाप्रभुके सम्प्रदायके मतानुसार श्रीकृष्णकी नित्यसेवा-प्राप्ति है।

इस प्रकार कुछ-कुछ भेद रहनेपर भी ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग—दोनोंका ही गीतामें उपदेश है, यह तो मानना ही पड़ता है। उपर्युक्त गीतावचनोंके सीधे अर्थसे यही समझमें आता है कि केवल ये दो ही श्रीभगवान्‌के साधनामार्ग हैं। परन्तु श्रीमद्भागवतमें श्रीभगवान्‌ने ही उद्धवसे कहा है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥

(११। २०। ६)

'मनुष्योंके कल्याण-सम्पादनके लिये मैंने तीन योग बतलाये हैं—ज्ञान, कर्म और भक्ति; इन तीनके सिवा साधनाका और कोई भी उपाय नहीं है।'

गीतोक्त द्विविध योगके ऊपर तृतीय योग भक्ति है। साधन-स्वरूपके सम्बन्धमें यह जो उपदेशभेद है, इसको विरोध भी कहा जा सकता है। इसकी मीमांसा क्या है?

इस प्रश्नके दो उत्तर हैं—प्रथम तो यह है कि गीतामें जिस द्विविध योगका निर्देश है, भक्तियोग उसीके अन्तर्गत है। कर्मयोगके अन्तर्गत जो एक प्रकारकी भक्ति है, उसका नामान्तर है 'साधन-भक्ति;' और ज्ञानयोगके अन्तर्गत जो एक प्रकारकी भक्ति है, उसका नामान्तर है 'साध्य भक्ति।' साधन-भक्तिके अनेकों प्रकार भक्तिशास्त्रके आचार्योंने बतलाये हैं—उनमें नवधा भक्ति प्रसिद्ध है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

साध्य भक्तिका लक्षण शाण्डिल्यसूत्रमें है—

'सा परानुरक्तिरीश्वरे।'

अर्थात् ईश्वरमें जो परम अनुराग है, सर्वाधिक प्रेम है, वही भक्ति है। ज्ञानशास्त्रमें कहते हैं—

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।'

महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयीको सम्बोधन करके कहते हैं—आत्मा ही देखने योग्य है-सुनने, मनन करने और निदिध्यास करने योग्य है। आत्मदर्शन ही विधेय है। इस आत्मदर्शनके लिये श्रवण अर्थात् गुरु और वेदान्तका उपदेश सुनना पहला कर्तव्य है; इसके बाद मनन अर्थात् मन-ही-मन उसके भावार्थका चिन्तन और अनुकूल युक्तितर्कोंके द्वारा उसका स्थापन एवं निदिध्यासन, अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधिके द्वारा उसीमें चित्तवृत्तिका निरोध करना चाहिये। उस आत्माका परिचय पहले ही इस प्रकार देते हैं—

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति, न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति, आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति, न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति। इत्यादि

जो इष्ट (इच्छाका विषय) है, वही प्रिय है; जो इष्ट जितना ही अधिक निकटवर्ती है, वह उतना ही अधिक प्रिय है। धन क्यों प्रिय है? इसीलिये कि वह इष्ट (इच्छाका विषय) है। धनके लिये इच्छा क्यों होती है? इसीलिये कि वह सुख-भोगका साधन है। उत्तम-उत्तम खाने-पीने और पहनने-ओढ़नेके पदार्थ, रहनेके घर आदि—जिनसे सुख होता है, वे सभी भोगसामग्रियाँ धनसे ही मिल सकती हैं। इसीलिये धन इष्ट है। 'सुख' या सुखभोग प्रथम, उसके साक्षात् साधन 'भोगपदार्थ' द्वितीय और उन भोगपदार्थोंकी प्राप्तिका साधन 'धन' तीसरा इष्ट है। इन तीनोंमें सुखानुराग ही परम अनुराग है। परन्तु भोग्य वस्तुओंसे जो सुख मिलता है, वह अत्यन्त ही क्षुद्र है। सुखका दूसरा नाम है आनन्द। मनुष्यका आनन्द या सुख सबसे नीचे है—सबसे ऊँचा तो है परमानन्दरूप स्वयं परम ब्रह्म।

सैषाऽऽनन्दस्य मीमाꣳसा भवति। युवा स्यात् साधुयुवाध्यापक आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः, तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः॥ १॥ स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः। स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः स एकः पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दाः। स एक आजानजानां देवानामानन्दः॥ २॥ श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः। स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः। ये कर्मणा देवानपियन्ति। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः। स एको देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवानामानन्दाः, स एक इन्द्रस्यानन्दः॥ ३॥ श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः, स एको बृहस्पतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः, स एकः प्रजापतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः, स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य॥ ४॥

(तैत्तिरीय० २। ८)

याज्ञवल्क्यके उपदेशमें भी पाया जाता है कि आत्मा ही सबसे बढ़कर प्रिय है, कारण, उसीकी प्रीतिके लिये स्त्रीको पति, पुरुषको पत्नी, स्त्री-पुरुषको पुत्र आदि

प्रिय हैं। जहाँ जो भी प्रिय है, उसके मूलमें यह आत्मप्रीति ही है। जो पति पत्नीके साथ सद्व्यवहार नहीं करता अथवा जो पत्नी पतिके प्रतिकूल है या जो पुत्र पिता-माताका अहितकारी है, वह प्रिय नहीं होता। इसका भी मूल कारण वह आत्मप्रीति है। संसारी दृष्टिसे देखनेपर मालूम होता है, अपना आप (आत्मा-अर्थात् मैं) ही अपने लिये सबसे बढ़कर प्रिय है—घनिष्ठ इष्ट है, सुखकी ओरसे देखनेपर सुख ही घनिष्ठ इष्ट दीख पड़ता है। बात एक ही है। कारण अपनेको बाद देनेपर सुखका अनुभव ही नहीं होता। 'मैं सुखी हूँ' इसी रूपमें सुखकी उपलब्धि होती है। इसलिये सुखको आत्मस्वरूप कहनेपर दोनों ओर ही संगति बैठ जाती है। अब विचार कीजिये—जो परम सुख या सबसे बढ़कर उत्कृष्ट आनन्द है, वह परम ब्रह्म और आत्मा यदि एक ही वस्तु हों, तो प्रीतिकी मात्रा चरम सीमापर पहुँच जाती है। और उसीमें परम अनुराग भी होता है, इसमें सन्देह ही क्या है।

अतएव ब्रह्माद्वैतकी जो प्रथमानुभूति है, उसीको परानुरक्तिका हेतु कहा जाता है। परानुरक्ति उस ब्रह्माद्वैतानुभूतिको दृढ़ करती है। इसलिये यह ज्ञानयोगके अन्तर्गत है। इस तरह विचार करनेपर दो प्रकारके योग हो सकते हैं। श्रीमद्भागवतमें इस तरह विभाग न करके साधनभक्ति और साध्यभक्तिको कर्मयोग और ज्ञानयोगसे अलग बतलाया गया है। इसीलिये वहाँ तीन योग कहे गये हैं। इस तरहका विभाग करना—विषयसंख्यामें न्यूनाधिक करना विभाग करनेवालेकी इच्छापर निर्भर है। हम दो खण्डोंमें बँधी हुई महाभारतको दो खण्डोंमें समाप्त भी कह सकते हैं, और अठारह पर्वोंमें समाप्त भी कह सकते हैं। यह केवल ऊपरसे देखनेका दृष्टिभेद मात्र है; विभागमें संख्याकी न्यूनाधिकतामें तो वहीं विरोध होता है, जहाँ न्यूनसंख्याके विभागमें अधिकका प्रवेश न हो। यदि न्यूनमें अधिकका स्थान होता है, अधिकका कोई भी अंश बाहर नहीं रह जाता तो विरोध नहीं होता। अतएव संख्या-निर्देशमें विभागकर्त्ता सदा स्वाधीन है। यह ज्ञानवादी पक्षका उत्तर है।

भक्तिवादी पक्षसे जो दूसरा उत्तर दिया जाता है वह इस प्रकार है—

'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा'

—इस गीतोक्त वचनमें जो 'अस्मिन् लोके' है इसीमें पूर्वोक्त प्रश्नका उत्तर आ गया है। इस 'लोक' शब्दका अर्थ है—ज्ञानाधिकारी और कर्माधिकारी व्यक्ति अर्थात् साधारण पुरुष। उन्हींके प्रति द्विविध योग कहा था, उन लोगोंको भक्तियोगकी बात नहीं कही थी। असाधारणकी बात भी गीतामें ही श्रीभगवान्ने अर्जुनसे कही है—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(११।५३-५४)

'वेद' (अर्थात् ज्ञान)-के द्वारा तथा तप, दान और यज्ञ (कर्म) के द्वारा कोई मुझको इस प्रकार नहीं देख सकता, जिस प्रकार तुमने मुझको देखा है। हे परन्तप अर्जुन! अनन्य (ऐकान्तिकी) भक्तिके द्वारा ही मुझको इस प्रकार जाना और देखा यहाँतक कि मुझमें प्रवेश भी किया जा सकता है।'

इस गीतावचनको ही श्रीमद्भागवतमें भगवान्ने स्पष्ट किया है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो तथा भक्तिर्ममोर्जिता॥

(११।१४।२०)

'योग (यम-नियमादि अष्टांगयुक्त समाधि), सांख्य (ज्ञान), धर्म (यागयज्ञ), स्वाध्याय (वेद-पाठ), तपस्या, त्याग—ये सब मेरे (मेरी प्राप्तिके) वैसे साधन नहीं हैं; जैसे मेरी ऊर्जिता भक्ति है।' ऊर्जिताका अर्थ है—प्रबला भक्ति अर्थात् ऐकान्तिकी भक्ति।

अतएव भक्तिको ज्ञानकी गोदाममें नहीं ले जाया जा सकता। उसका स्थान ज्ञानके ऊपर है। यह न तो साध्यभक्ति है, न साधन-भक्ति है, यह है सिद्धा-भक्ति। साधन-भक्ति और साध्य-भक्तिके अतिरिक्त भी कोई और भक्ति है, इसका प्रमाण है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥

इस अहैतुकी भक्तिका ही दूसरा नाम सिद्धा भक्ति है। अतएव भक्ति त्रिविध है—साधनभक्ति, साध्यभक्ति और सिद्धाभक्ति। खानसे निकाली हुई मणिको उसकी स्वाभाविक मलरहित अवस्थामें लानेके लिये जो

रासायनिक प्रक्रिया की जाती है, वह मानो साधनभक्ति है, इस प्रक्रियाके बाद जो आगन्तुक मलिनताकी वियोगावस्था है, वह साध्य-भक्तिका दृष्टान्त है और इसके बाद मणिकी जो स्वाभाविक निर्मलता दिखलायी पड़ती है वही सिद्धा भक्तिका दृष्टान्त है। यह भक्ति जीवमें स्वाभाविक है; परन्तु आगन्तुक मलिनताके कारण वह ढकी हुई है। यह स्वाभाविक भक्ति ही सिद्धा भक्ति है। आत्माराम मुनिगण समस्त ग्रन्थियोंसे (बन्धनोंसे) मुक्त होनेपर भी परमेश्वरके प्रति अहैतुकी भक्ति करते हैं यह बात पहले कही जा चुकी है। इस अहैतुकी भक्तिका नाम ही सिद्धा भक्ति है, यही ऐकान्तिकी भक्ति है।

हे ब्रह्मण्यदेव! मेरा अन्त समय उपस्थित है, तुम्हारी ही कृपासे इस भक्तिका आविर्भाव हो जाय और मैं धन्य हो जाऊँ, कृतकृत्य हो जाऊँ। मैं माँके रूपमें तुम्हारे दर्शन किया करता हूँ। तुम्हींने कहा है—

'पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।'

इसीसे मैं तुम्हारा अबोध, नटखट बच्चा तुम्हारी अहैतुकी कृपाकी भीख माँग रहा हूँ, इस समय मुझमें तुम्हारी उस सिद्धा भक्तिका उदय हो जाय।

मेरी निजकी यह चर्चा जाने दीजिये। लेखका सार अर्थ यह है कि साधनका स्वरूप तीन प्रकारका है—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। ज्ञानवादीके मतमें दो प्रकारका साधन है, यह पहले कहा ही जा चुका है। जितने मत उतने ही पथ क्यों न हों परन्तु इस त्रिविध साधनसे बाहर निकलनेका किसीके लिये कोई उपाय नहीं है। यही संक्षिप्त भावार्थ है।

गौडीय वैष्णव-दर्शनमें अद्वैत ब्रह्मतत्त्व

(लेखक—महामहोपाध्याय पण्डित श्रीप्रमथनाथ तर्कभूषण)

श्रीमद्भागवत ही गौडीय वैष्णव-सिद्धान्तका प्रधान उपजीव्य ग्रन्थ है, इसमें सूत्ररूप एक श्लोकके द्वारा मानवमात्रके लिये अवश्य ज्ञातव्य यथार्थ तत्त्वके स्वरूपका इस प्रकार वर्णन किया गया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(श्रीमद्भा० १।२।११)

तत्त्ववेत्ता लोग जिस अद्वयज्ञानको यथार्थ तत्त्वके रूपमें वर्णन करते हैं; वही ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् इन तीन शब्दोंके द्वारा अभिहित होता है। स्वयंप्रकाश अद्वयज्ञान ही वस्तुतः ज्ञातव्य वस्तु है। इस विषयमें समस्त अध्यात्म-तत्त्ववेत्ताओंका एकमत है। परन्तु वस्तुतः एक होते हुए भी वह साधकोंके दृष्टिभेदसे कभी ब्रह्मरूपमें, कभी परमात्मरूपमें अथवा कभी श्रीभगवद्रूपमें प्रकाशित और अभिहित होता है। यही सनातन आर्ष सिद्धान्त है, इसे इतने सुस्पष्ट भावसे और ऐसी सरल भाषामें श्रीमद्भागवतके पूर्ववर्ती किसी आर्ष ग्रन्थमें निर्दिष्ट नहीं किया गया है, यह बात निःसंकोच कही जा सकती है।

भावनिरपेक्ष ज्ञानप्रवण मानव-मनोवृत्तिकी चरमोत्कर्ष-दशामें जो तत्त्व नाम-रूपातीत निरस्त-भेद-प्रपंच, एक अद्वितीय और स्वयंप्रकाश चैतन्य रूपमें स्फुरित होता है, वही 'ब्रह्म' शब्दका एकमात्र प्रतिपाद्य विषय है—यही है भारतीय अद्वैतवादका चरम सिद्धान्त। दूसरी ओर ज्ञानसापेक्ष भावप्रवण मानव-मनोवृत्तिकी चरमोत्कर्ष-दशामें जो तत्त्व जीवमात्रके अन्तर्यामी परमात्मरूपमें स्फुरित होता है, वही जीवका एकमात्र ध्येय और ज्ञेय तत्त्व है, उसीके ध्यान और ज्ञानसे सब प्रकारके पुरुषार्थकी सिद्धि होती है—यही है भारतीय योगशास्त्रका चरम सिद्धान्त। दूसरी ओर सम-प्राधान्य परस्पर अनुकूल ज्ञान और भाव इन दो प्रकारकी मानव-मनोवृत्तिकी चरमोत्कर्ष-दशामें जो अद्वयतत्त्व स्वतः स्फुरित होता है वह यथार्थ वेद्य तत्त्व ही 'श्रीभगवान्' शब्दके द्वारा समस्त अध्यात्म-शास्त्रोंमें अभिहित होता है—यही है भारतीय भक्तिशास्त्रका चरम सिद्धान्त। इसीको इस श्लोकके द्वारा सूत्ररूपमें निर्देश करके द्वादश स्कन्धोंमें प्रविभक्त विशाल भागवत-ग्रन्थमें महर्षि वेदव्यासने भलीभाँति समझाया है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी अर्जुनको उपदेश देते हुए स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने इस अद्वयतत्त्वकी इस प्रकार व्याख्या की है। गीताके पिछले सतरह अध्यायोंमें जिस अद्वय ज्ञानतत्त्वका उपदेश किया गया है, उसीका उपसंहार अन्तिम अठारहवें अध्यायमें है, इस बातको गीताके सभी टीकाकारोंने स्वीकार किया है। उसी उपसंहारमें श्रीभगवान् कहते हैं—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

'अहंकार, बल, दर्प, भोगाभिलाष, क्रोध और आसक्तिका परित्याग कर, समस्त प्रापंचिक विषयोंमें ममत्व-बुद्धिका त्याग कर जब मनुष्य शान्त होता है, तभी वह ब्रह्मभावको प्राप्त करनेके योग्य बनता है।'

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

'इस प्रकार ब्रह्मभावको प्राप्त करनेपर मन सर्वदा प्रसन्न रहता है, फिर किसी वस्तुके वियोगमें शोक नहीं होता, अथवा किसी अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करनेकी अभिलाषा नहीं होती, प्राणिमात्रमें समत्व-बुद्धि हो जाती है, इस प्रकारकी अवस्थामें पहुँच जानेपर मेरे प्रति (श्रीभगवान्के प्रति) 'पराभक्ति' का उदय होता है।'

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

'उसी पराभक्तिके द्वारा मुझको तथा मेरी महिमाको वह यथार्थ रूपसे जान सकता है, एवं इस प्रकार मुझको जानकर वह तदनन्तर मुझमें ही प्रवेश करता है।'

गीताके उपसंहारके इन तीन श्लोकोंके अर्थोंको लेकर अद्वैतवादी, द्वैताद्वैतवादी, शुद्धाद्वैतवादी और द्वैतवादी दार्शनिकोंमें विलक्षण मतभेद उत्पन्न हो गया है, उन मतभेदकी बातोंको उठाकर उनकी मीमांसाके आडम्बरसे पाठकोंको घबराहटमें डालनेकी न तो मेरी प्रवृत्ति है और न साहस ही। मुक्तिवादी या जीवन्मुक्तिवादी दार्शनिकोंको लक्ष्य करके श्रीमद्भागवतमें इस विषयमें जो कुछ कहा गया है उसीको यहाँ उद्धृत कर मैं प्रस्तुत विषयकी ओर अग्रसर होना श्रेयस्कर समझता हूँ। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है, श्रीब्रह्माजीके वचन हैं—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥

(१०।२।३२)

'हे कमलनयन भगवान्! इस संसारमें बहुत-से लोग ऐसे हैं, जो अद्वय ब्रह्मज्ञानका अनुशीलन करते-करते इस प्रकारकी एक मानसिक अवस्थामें पहुँच जाते हैं जब वे अपनेको जीवन्मुक्त मानने लगते हैं, परन्तु तुममें उनकी रति न रहनेके कारण उस समय भी उनकी बुद्धि विशुद्ध नहीं हो पाती, इसी कारण वे अतिशय क्लेश उठाकर परमपदपर पहुँचकर भी पुनः संसारमें गिर पड़ते हैं। उनके इस शोचनीय पतनका एकमात्र कारण यही है कि वे तुम्हारे चरणोंमें विश्वासपूर्वक आदर या अनुराग स्थापित नहीं कर सके थे।' इसके आगे और भी स्पष्टरूपसे कहा गया है—

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।३)

'जो लोग भावविमुख ज्ञानप्राप्तिके प्रयासका परित्याग करते हैं तथा सब प्रकारके अभिमानको छोड़कर सत्पुरुषोंके द्वारा गाये हुए, श्रुतिसम्मत तुम्हारे गुण और लीला आदिकी कथाओंको मन-वचन-शरीरसे विनम्र होकर आजीवन सुनते हैं, तथा अपनी ही भूमिमें स्थित रहते हैं, हे भगवन्! इस त्रिलोकीमें, यद्यपि तुम अजेय हो, तो भी वे तुम्हें जीतनेमें समर्थ होते हैं।'

केवल ज्ञानप्रवण प्रवृत्तिके द्वारा परिचालित होकर मनुष्य भवान्को वशीभूत नहीं कर सकता, किन्तु मनुष्य यदि अपनी भूमिमें अर्थात् ज्ञान और भावके समन्वय-क्षेत्रमें अकिंचन प्रेमके ही ऊपर निर्भर करता है, तथा अज्ञानप्रसूत देहेन्द्रियादिमें अभिमानका त्याग करके सर्वत्र सब दिशाओंमें उन्हीं सर्वात्मभूत सर्वसुन्दर करुणामय श्रीभगवान्की आनन्दमयी सत्ताका विकास देखकर तृणके समान विनम्र होकर उन भगवान्की ही साधुजनोंद्वारा गायी हुई गुण-लीला-सम्बन्धी कथाओंको सुनते-सुनते उन्हींको समर्पण कर देता है, वही सच्चिदानन्दघनविग्रह सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्को अपने वशमें कर सकता है। श्रीमद्भागवतके उपर्युक्त दो श्लोकोंमें यही सारे सिद्धान्तोंका सार 'वैष्णवसिद्धान्त' सूत्ररूपमें सूचित हुआ है।

यही श्रुतिप्रतिपादित वैष्णवधर्म है, यही श्रीमद्भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्रका सिद्धान्त है, और इसी सिद्धान्तकी युक्ति और प्रमाणोंके द्वारा विस्तारके साथ श्रीमद्भागवतमें स्थापना की गयी है।

महापापीके उद्धारका परम साधन

प्रश्न—'मैं बड़ा ही पापी हूँ। जीवनभर मैंने पाप किये हैं। परधन-हरण, व्यभिचार, हिंसा, ब्राह्मण-साधुओंका अपमान, माता-पिताको कष्ट देना और सबसे वैर करना आदि कोई भी ऐसा पाप नहीं, जो मैंने बड़े चावसे चित्त लगाकर न किया हो। इस प्रकारके पाप ही मेरे जीवनके मुख्य काम रहे हैं। मैं ऊपरसे बड़ा भक्त बना रहता था, लोगोंको उपदेश करता था, पर अंदर-ही-अंदर पापोंकी बात सोचता और करता था। अब भी पापोंसे छूट नहीं पाया हूँ। मुझे अपनी करतूतोंपर बड़ा पछतावा है। मैं नरकोंके भयसे सदा काँपता रहता हूँ। घुल-घुलकर हृदयसे रोता हूँ कि ऐ भगवान्! मेरा निस्तार कैसे होगा? मुझ नीचको कौन अपनायेगा? हाय! क्या मेरे लिये कोई उपाय नहीं है? क्या मैं प्रभुकी कृपा और उनके प्रेमको प्राप्त कर ही नहीं सकता? कोई उपाय हो तो बतलाइये!'

उत्तर—'उपाय क्यों नहीं है? ऐसा कौन जीव है जिसके लिये प्रभुकी कृपाका द्वार बंद हो? प्रभु ही यदि पापीको नहीं अपनायेंगे तो कौन अपनायेगा? वे पतितपावन हैं, बड़े ही दयालु हैं। तुम भैया! घबड़ाओ नहीं। तुमपर तो उनकी कृपा बरसने लगी है—तभी तो तुम्हें अपनी करतूतोंपर पछतावा हो रहा है, तभी तो तुम नरकके भयसे काँपते, निस्तारके लिये रोते और प्रभुकृपा तथा प्रभुप्रेमको प्राप्त करनेके उपाय पूछते हो? जिस कृपाने तुम्हें ऐसी वृत्ति दी है, वही कृपा तुम्हारा निस्तार करेगी, वही तुम्हें भगवान्से भी मिला देगी! उस कृपापर विश्वास करो। मनमें निश्चय कर लो कि—एकमात्र भगवान् ही ऐसे परम दयालु हैं, जो पापियोंको अपनाते हैं, स्नेहमयी माता जैसे अपने बच्चेकी गन्दगी अपने हाथों साफ करती है वैसे ही भगवान् अपने ही हाथों अपने जनके महापापोंका नाश करके उसे अपने हृदयसे लगा लेने योग्य पवित्र बना लेते हैं और बड़े हर्षसे हृदयसे लगा लेते हैं! भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वेश्वर हैं, उनकी कृपासे पापोंका समूल नाश हो जायगा, उनकी भक्ति प्राप्त होगी और उनकी सेवाका अधिकार मिल जायगा। बस, एक वे ही ऐसे हैं, वे ही मेरे परम आश्रय हैं, वे ही मेरे एकमात्र रक्षक हैं, उनके सिवा मुझे कहीं भी ठौर नहीं। इस प्रकार निश्चय करके उनके भजनमें लग जाओ, फिर देखते-ही-देखते तुम्हारा तमाम कायापलट हो जायगा। तुम महान् साधु और भगवान्के अनन्य भक्त बन जाओगे। एक तुम्हीं क्यों, सच पूछो तो इस घोर कलियुगमें आज ऐसे कितने लोग हैं जो कुसंगमें पड़कर मनको मथ डालनेवाली प्रबल इन्द्रियोंके गुलाम होकर भी पाप-पथसे बिलकुल बचे हों? ऐसे कितने लोग हैं जिन्होंने जवानीकी गधापचीसीमें बुरे काम न किये हों, और जिनका जीवन आदिसे अन्ततक निष्पाप, सर्वथा शुद्ध और परम पावन रहा हो? जिनका जीवन ऐसा पवित्र है, वे निश्चय ही परम पूज्य हैं, उनके चरणरज:कणको प्राप्त करनेवाला भी पावन हो सकता है। परन्तु ऐसे लोग विरले ही हैं। अधिकांश जनसंख्या तो आज ऐसी ही है, जो पापके कीचड़में फँसी है। ऊपरसे भले ही साफ मालूम हो। ऐसी दशामें उन लोगोंको अवश्य ही भाग्यवान् और भगवान्के बड़े कृपापात्र समझना चाहिये, जो अपने बुरे कर्मोंके लिये पश्चात्ताप करते हैं, उनसे छूटनेका प्रयास करते हैं और भगवान्की कृपा तथा प्रेमकी प्राप्तिके लिये व्याकुल हो उठते हैं। वे दयालु भगवान् यही तो चाहते हैं। उनकी कृपा-सुधावृष्टिकी प्राप्तिके लिये इतना ही पर्याप्त है। पापोंका सच्चा प्रायश्चित्त हृदयके पश्चात्तापमें है और भगवान्की उस कातर प्रार्थनामें है—जिसमें अपनी बेबसीका सच्चा हाल बतलाकर भगवान्से कृपादान करनेके लिये रोया जाता है!

तुम पश्चात्ताप करो, रोओ, भगवान्से क्षमा-प्रार्थना करो और सबसे आवश्यक बात है, भगवान्की कृपापर विश्वास करके, एकमात्र उन्हींको अपना परम रक्षक, सच्चा स्वामी, परम बन्धु, परम धन, परम इष्ट और परम आश्रय मानकर उनके भजनमें लग जाओ। बीत गयी सो बीत गयी; जो बुरे-भले कर्म बन गये सो बन गये। अब जितनी उम्र बाकी है, उसे भगवान्को सौंप दो। प्रत्येक श्वासमें उनका नाम जपो, उनका पावन स्मरण करो, प्रत्येक कार्य उनकी पूजाके लिये करो। फिर वे अपने-आप ही तुम्हें अपनालेंगे। देर नहीं होगी। देखते-ही-देखते तुम महान् पवित्र और उनके परम प्रेमी बन जाओगे। उनकी प्रतिज्ञाको याद करो—

श्रीभगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

गीता (९। ३०-३१)

'यदि कोई अत्यन्त पापी भी अनन्यभाक् होकर (एकमात्र मुझको ही अपना रक्षक, स्वामी, आश्रय और परम इष्टदेव मानकर) मुझको भजता है (मेरे शरण होकर मेरे ही परायण होकर परम दृढ़ विश्वासके साथ हृदयकी निर्भरताके साथ मेरा सेवन करता है) वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है (उसने दृढ़रूपसे यही निश्चय कर लिया है कि एकमात्र परम शरण्य श्रीभगवान्‌के भजनके सिवा अब मुझे और कुछ भी नहीं करना है) ऐसे निश्चयवाला वह बहुत शीघ्र (देखते-ही-देखते) धर्मात्मा बन जाता है और नित्य रहनेवाली (भगवत्-प्राप्तिरूप) परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य समझ कि मेरा भक्त (पापकर्मसे सर्वथा न छूटा हुआ भी उपर्युक्त प्रकारसे मुझको ही एकमात्र परम आश्रय और परम रक्षक मानकर मेरा भजन करनेवाला) कभी नष्ट नहीं होता (अर्थात् कल्याणके मार्गसे कभी नहीं गिरता—वह मेरी कृपासे सर्वथा निष्पाप बनकर और मेरे द्वारा सुरक्षित होकर शीघ्र ही मुझको प्राप्त हो जाता है)।'

भगवान्‌की इस अमर आश्वास-वाणीपर विश्वास करो और अपनेको उनके चरणोंपर डालकर निश्चिन्त हो जाओ। यही परम साधन है, जो बड़े-से-बड़े पापीका क्षणोंमें उद्धार कर देता है।

नवधा भक्तिका सामान्य एवं सविशेष निरूपण

(लेखक—परमवैष्णव स्वामी श्रीकृष्णानन्ददासजी महाराज)

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः।
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्॥

(श्रीमद्भा० १।८।३६)

'जो मनुष्य आपके चरित्रोंका श्रवण, गान, कीर्तन, स्मरण और स्तवन निरन्तर करते हैं, वे ही संसारके प्रवाहको शान्त करनेवाले आपके चरणकमलोंका शीघ्र दर्शन पाते हैं।'

(१) श्रवण

श्रवणं नामचरितगुणादीनां श्रुतिर्भवेत्।

'श्रीभगवान्‌के नाम, चरित्र एवं गुणादिके श्रवणका नाम श्रवण-भक्ति है।'

नाम-श्रवणका माहात्म्य श्रीगरुडपुराणमें इस प्रकार वर्णित है—

संसारसर्पसन्दष्टनष्टचेष्टैकभेषजम्।
कृष्णेति वैष्णवं मन्त्रं श्रुत्वा मुक्तो भवेन्नरः॥

'संसाररूपी सर्पके डसे जानेके कारण जो चेतना-हीन हो गया है, उसके लिये 'कृष्ण' यह वैष्णवमन्त्र एकमात्र औषध है; इसके श्रवणमात्रसे मनुष्य मुक्त हो जाता है।'

चरित्र-श्रवणकी महिमा श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार कही गयी है—

तस्मिन् महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र-
पीयूषशेषसरितः परितः स्त्रवन्ति।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढकर्णै-
स्तान्न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहाः॥

'उस सत्संगमें महात्माजनोंके मुखसे निकली हुई श्रीहरि-चरित्ररूप शुद्ध अमृतकी नदियाँ चारों ओर बहती हैं। हे राजन्! जो उन नदियोंका अत्यन्त तृषासे युक्त होकर कर्णपुटोंद्वारा पान करते हैं अर्थात् श्रवण करते हैं, किन्तु सुनकर तृप्ति-लाभ नहीं करते, उन पुरुषोंको भूख, प्यास, भय, शोक और मोह स्पर्श भी नहीं करते।'

गुणोंके श्रवणका वर्णन श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार मिलता है—

यस्तूत्तमश्लोकगुणानुवादः
प्रस्तूयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्नः।
तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं
कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः॥

'श्रीकृष्णकी निर्मल भक्ति प्राप्त करनेकी इच्छावाले पुरुषको चाहिये कि वह नित्य-निरन्तर उन्हींके अमंगलहारी गुणानुवादका बार-बार श्रवण करे।'

(२) कीर्तन

नामलीलागुणादीनामुच्चैर्भाषा तु कीर्तनम्।

'नाम, लीला और गुण आदिका उच्च स्वरसे उच्चारण करनेका नाम कीर्तन है।'

श्रीविष्णुधर्ममें नाम-कीर्तनकी महिमाका वर्णन इस प्रकार है—

कृष्णेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते।
भस्मीभवन्ति राजेन्द्र महापातककोटयः॥

'हो राजेन्द्र! 'कृष्ण' यह परम मंगलमय नाम जिसकी वाणीमें रहता है, उसके करोड़ों महापातक भस्म हो जाते हैं।'

भगवान्‌के लीला-कीर्तनके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें

निम्नलिखित श्लोक आता है—

सोऽहं प्रियस्य सुहृदः परदेवताया
लीलाकथास्तव नृसिंह विरञ्चिगीताः।
अञ्जस्तितर्म्यनुगृणन् गुणविप्रमुक्तो
दुर्गाणि ते पदयुगालयहंससङ्गः॥

'हे नृसिंह! आप हमारे प्रिय सुहृद् और परम देवता हैं; ब्रह्मा आदि देवता आपकी लीलासम्बन्धी कथाओंका कीर्तन करते हैं। उन्हीं कथाओंका कीर्तन करता हुआ मैं आपके चरणारविन्दोंके आश्रित परमहंसोंके संगलाभसे मायाके बन्धनसे मुक्त होकर सहजमें ही सम्पूर्ण कष्टदायक संसार आदि संकटोंके पार हो जाऊँगा।'

गुण-कीर्तनका वर्णन श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार है—

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम्॥

'उत्तमश्लोक श्रीकृष्णचन्द्रका जो गुण-कीर्तन है, कवि लोगोंने उसीको तपस्या, वेदाध्ययन, यज्ञ, मन्त्रपाठ, ज्ञान और दानका नित्यफल वर्णन किया है अर्थात् श्रीहरिके गुणोंका कीर्तन ही सब धर्मोंसे श्रेष्ठ है।'

(३) स्मरण

यथा कथञ्चिन्मनसा सम्बन्धः स्मृतिरुच्यते।

'जिस किसी प्रकारसे मनके साथ श्रीहरिका सम्बन्ध हो जाना ही स्मरण कहा जाता है।'

विष्णुपुराणमें कहा गया है—

स्मृते सकलकल्याणभाजनं यत्र जायते।
पुरुषं तमजं नित्यं व्रजामि शरणं हरिम्॥

'जिनके स्मरणमात्रसे मनुष्य सब प्रकारके कल्याणोंका निवास बन जाता है, मैं उन जन्म-मृत्युरहित श्रीहरिकी शरणमें जाता हूँ।'

पद्मपुराणमें भी कहा है—

प्रयाणे चाप्रयाणे च यन्नाम स्मरतां नृणाम्।
सद्यो नश्यति पापौघो नमस्तस्मै चिदात्मने॥

'मृत्युके समय अथवा जीवित अवस्थामें जिनके नामका स्मरण करनेवाले पुरुषोंके पाप-पुंज तुरन्त नष्ट हो जाते हैं, उन सच्चिदानन्दविग्रह श्रीकृष्णचन्द्रको हम प्रणाम करते हैं।'

(४) पाद-सेवन

मम नामसदाग्राही मम सेवाप्रियः सदा।
भक्तिस्तस्मै प्रदातव्या न तु मुक्तिः कदाचन॥

(आदिपुराण)

'जो मनुष्य सदा मेरा नाम लेता है और मेरी सेवामें ही जिसकी सर्वोत्तम प्रीति है, उसको देनेयोग्य भक्ति ही है, मुक्ति नहीं।'

(५) अर्चन

शुद्धिन्यासादिपूर्वाङ्गकर्मनिर्वाहपूर्वकम्।
अर्चनं तूपचाराणां स्यान्मन्त्रेणोपपादनम्॥

'भूतशुद्धि और मातृकान्यास आदि पूर्वांगोंका निर्वाह करके मन्त्रोंद्वारा श्रीकृष्णको जो गन्ध, पुष्प आदि विविध उपचारोंका समर्पण किया जाता है, उसका नाम अर्चन है।'

श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्धमें सुदामा ब्राह्मण द्वारकासे लौटते हुए कहते हैं—

स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि सम्पदाम्।
सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम्॥

'उन भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंका पूजन मनुष्योंके लिये स्वर्ग, मोक्ष, इस लोककी सम्पत्ति तथा पाताललोकके भोग एवं अणिमादि सब सिद्धियोंका मूल कारण है।'

विष्णुरहस्यमें भी कहा है—

श्रीविष्णोरर्चनं ये तु प्रकुर्वन्ति नरा भुवि।
ते यान्ति शाश्वतं विष्णोरानन्दं परमं पदम्॥

'इस पृथिवीपर जो मनुष्य श्रीविष्णुका अर्चन करते हैं, वे उनके नाशरहित परमानन्दमय परमधामको प्राप्त होते हैं।'

(६) वन्दन (नमस्कार)

वन्दन-भक्तिका माहात्म्य शास्त्रोंमें इस प्रकार कहा गया है—

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथैर्न तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥

'दस अश्वमेध-यज्ञोंके अन्तमें किया हुआ दीक्षान्त-स्नान और भगवान् श्रीकृष्णको किया हुआ एक बारका प्रणाम—इन दोनोंका फल समान नहीं है। क्योंकि दस अश्वमेध-यज्ञ करनेवाले मनुष्यको पुण्य क्षीण होनेपर फिर जन्म लेना पड़ता है, किन्तु श्रीकृष्णचन्द्रको प्रणाम करनेवाला इस संसारमें लौटकर नहीं आता।'

(७) दास्य

दास्यं कर्मार्पणं तस्य कैङ्कर्यमपि सर्वथा।

'भगवान्‌को कर्मोंका अर्पण करना दास्य कहलाता है, तथा सब प्रकारकी सेवाका नाम भी दास्य है।'

परिचर्या आदि भी इसीके अंग हैं।

कर्मार्पणरूप दास्यके सम्बन्धमें स्कन्दपुराणमें निम्न-

लिखित वचन मिलता है—

तस्मिन् समर्पितं कर्म स्वाभाविकमपीश्वरे।
भवेद्भागवतं धर्मं तत्कर्म किमुतार्पितम्॥

'उन परमेश्वर श्रीहरिमें यदि वर्णाश्रमोचित स्वाभाविक कर्म भी समर्पण किये जायँ तो वे भी भागवतधर्म कहलाते हैं। फिर जप, ध्यान, अर्चन आदि भगवत्सम्बन्धी कर्म जो भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये किये जाते हैं, वे यदि भागवतधर्म कहे जायँ तो इसमें कहना ही क्या है?'

दूसरे प्रकारके दास्यके सम्बन्धमें नारदपुराणमें निम्नलिखित वचन मिलता है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।
निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते॥

'शरीर, मन और वाणीद्वारा मैं श्रीहरिका दास बन जाऊँ, ऐसी जिसे लालसा है वह सभी अवस्थाओंमें जीवन्मुक्त कहा जाता है अर्थात् उसका जन्म-मरणसे छूट जाना निश्चित है।'

(८) सख्य

विश्वासो मित्रवृत्तिश्च सख्यं द्विविधमीरितम्।

'भगवान्‌में अटल विश्वास और उनके साथ मित्रका-सा बर्ताव—इन दोनोंका नाम सख्य कहा गया है।'

इनमेंसे विश्वासरूप सख्यके उदाहरणमें महाभारतमें आया हुआ निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया जा सकता है। द्रौपदी भगवान् श्रीकृष्णसे कहती हैं—

प्रतिज्ञा तव गोविन्द न मे भक्तः प्रणश्यति।
इति संस्मृत्य संस्मृत्य प्राणान् सन्धारयाम्यहम्॥

'हे गोविन्द! आपकी यह प्रतिज्ञा है कि 'मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता।' उसी प्रतिज्ञाको स्मरण कर-करके मैं प्राणोंको धारण कर रही हूँ।'

श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्धमें भी ऐसे विश्वासी भक्तके बारेमें कहा गया है—

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥

'हे राजन्! ब्रह्मा आदि देवगण जिन हरिचरणोंको नित्यप्रति ध्यानपूर्वक खोजनेपर भी नहीं पाते, उन्हींको सर्वोत्तम सार निश्चय करके जो मनुष्य त्रिभुवनका साम्राज्य-वैभव मिलनेपर भी आधे लव अथवा आधे निमेषके लिये भी उनके ध्यानसे विचलित नहीं होता अर्थात् मनसे हरिचरणोंकी सेवाको नहीं छोड़ता, वही वैष्णवोंमें श्रेष्ठ है।'

दूसरे प्रकारके सख्यके सम्बन्धमें अगस्त्यसंहितामें निम्नलिखित वचन मिलता है—

परिचर्यापराः केचित्प्रासादेषु च शेरते।
मनुष्यमिव तं द्रष्टुं व्यवहर्तुं च बन्धुवत्॥

'श्रीभगवान्‌का मनुष्यकी भाँति दर्शन करनेके लिये और उनके साथ मित्रतुल्य व्यवहार करनेके लिये कोई-कोई सेवापरायण महात्मा भगवान्‌के मन्दिरोंमें शयन करते हैं।'

(९) आत्मनिवेदन

श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्धमें लिखा है—

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयात्मभूयाय च कल्पते वै॥

(२९। ३४)

'मनुष्य जब सब कर्मोंको छोड़कर मुझमें ही आत्माको अर्पण कर मेरे ही आराधनकी इच्छासे सब कुछ करता है, तब वह जीवन्मुक्त होकर मेरे ही सदृश ऐश्वर्यका अधिकारी हो जाता है।'

'आत्मनिवेदन' शब्दमें पण्डितोंने आत्माके दो अर्थ किये हैं। (१) अहंभावका आस्पद देही जीवात्मा और (२) ममत्वका आस्पद देह।

जीवात्माके निवेदनके विषयमें श्रीयामुनाचार्यने अपने आलवन्दारस्तोत्रमें कहा है—

वपुरादिषु योऽपि कोऽपि वा
गुणतोऽसानि यथातथाविधः।
तदयं तव पादपद्मयो-
रहमद्यैव मया समर्पितः॥

'हे भगवन्! शरीर आदिमें स्थित मैं जो कोई भी हूँ अथवा गुणोंसे जैसा भी हूँ, वैसा ही मैं अपने-आपको आपके चरण-कमलोंमें अर्पित करता हूँ।'

अब देहरूप आत्माका निवेदन भक्तिविवेकनामक ग्रन्थके अनुसार वर्णन करते हैं—

चिन्तां कुर्यान्न रक्षायै विक्रीतस्य यथा पशोः।
तथार्पयन् हरौ देहं विरमेदस्य रक्षणात्॥

'बेचे हुए पशुकी रक्षाके लिये जैसे चिन्ता नहीं की जाती, वैसे ही श्रीहरिके चरणोंमें देहको समर्पित करनेवाला पुरुष उस देहकी रक्षासे निवृत्त हो जाय।'

उपर्युक्त नवधा भक्तिके वर्णनको पढ़कर इनमेंसे जो भक्ति अच्छी लगे, उसी भवभयहारिणी हरिवशकारिणी भक्तिका आचरण मनुष्यको करना चाहिये।

आवश्यक साधन

'कल्याण' के पाठक बड़े-बड़े संतोंके अनुभूत वचनोंसे यह जान चुके हैं कि मनुष्यजीवनका परम लक्ष्य 'श्रीभगवान्' को या उनके 'अनन्यप्रेम' को प्राप्त करना है। वस्तुत: मुक्ति, मोक्ष, ज्ञान, सनातन शान्ति, परम आनन्द आदि सब इसीके पर्याय हैं। जीवन बहुत थोड़ा है और वह भी अनेक बाधा-विघ्नोंसे भरा हुआ है। आजकल तो चारों ओरसे ही विघ्न-बाधाओंकी और दु:ख-कष्टोंकी मानो बाढ़-सी आ रही है। ऐसे आपद्-विपद्से पूर्ण क्षुद्र जीवनमें जो मनुष्य शीघ्र-से-शीघ्र अपने लक्ष्यकी ओर ध्यान देकर सावधानीके साथ चलकर अपने लक्ष्यको प्राप्त कर लेता है, वही बुद्धिमान् है, उसीका जन्म सार्थक है और उसीका मनुष्यजीवन सफल है। याद रखना चाहिये, यह मनुष्यजीवन यदि यों ही व्यर्थकी बातोंमें बीत गया तो पीछे पछतानेके सिवा और कोई उपाय नहीं रह जायगा। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको अपनी स्थितिपर विचार करके इस ओर लग जाना चाहिये। जो लगे हुए हैं, वे आगे बढ़ें, जो अभी नहीं लगे हैं, वे लगें और जल्दी लगें। आजकल मौत बहुत सस्ती हो रही है। कुछ लोग तो कहते हैं कि बहुत ही शीघ्र पृथ्वीमें मनुष्योंकी संख्या आधीसे भी अधिक घट जायगी। उस घटनेवाली मनुष्य-संख्यामें हमलोग भी तो होंगे। इसलिये और भी शीघ्र सजग होकर लग जाना चाहिये। विशेष कुछ न हो तो नीचे लिखे नियमोंका पालन स्वयं विश्वासपूर्वक करना चाहिये तथा अपने इष्ट-मित्रोंसे करवाना चाहिये। रोज अपनी रिपोर्ट लिखनी चाहिये और यदि हो सके तो अपने कुछ मित्रोंकी एक मण्डली बनाकर उसमें परस्पर रिपोर्ट सुनानी चाहिये और निमय टूटनेपर दण्डविधान करना चाहिये। दण्ड पैसोंका न होकर नाम-जप आदि किसी साधनका ही होना चाहिये, जिसमें आगेसे नियम न टूटे और उत्साह भी न घटे। मण्डली हो, तो दण्डमें जबरदस्ती या पक्षपात न हो, इस बातका पूरा ध्यान रहे।

१-सूर्योदयसे पहले जग जाना।

२-प्रात:काल जगते ही भगवान्का स्मरण करना।

३-दोनों समय भगवान्की प्रार्थना करना या सन्ध्या करके गायत्रीका जाप करना।

४-कम-से-कम २१६००भगवन्नामोंका जप नित्य कर लेना।

५-कम-से-कम आध घण्टे उपनिषद, गीता, रामायण या अन्य किसी भी पारमार्थिक ग्रन्थ या संतवाणीका स्वाध्याय करना या सत्संग करना।

६-जानकर किसीका बुरा न करना।

७-जानकर झूठ न बोलना।

८-पुरुष हो तो परस्त्रीको और स्त्री हो तो परपुरुषको बुरी नजरसे न देखना।

९-किसीकी निन्दा करनेसे बचना।

१०-भोजन, फलाहार और जलपानके समय भगवान्को याद करना। उन्हें मन-ही-मन अर्पण करके खाना-पीना।

११-दूसरेके हककी किसी चीजको न लेना, न उसपर मनको ही चलने देना।

१२-अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिदिन कुछ दान करना।

१३-हँसी-मजाक न करना।

१४-माता-पिता आदि बड़ोंको रोज प्रणाम करना।

१५-सब जीवोंमें भगवान् हैं, सारा जगत् भगवान्से भरा है, सारा जगत् भगवान्से ही निकला है, भगवान्में ही है, इस बातको याद रखनेकी चेष्टा करना।

१६-क्रोधके त्यागका अभ्यास करना। क्रोध आनेपर प्रत्येक बार सौ बार भगवान्का नाम लेकर उसका प्रायश्चित्त करना।

१७-किसी भी जीवसे घृणा न करना।

१८-सोनेके समय प्रतिदिन भगवान्को स्मरण करना।

१९-प्रतिज्ञापूर्वक नियमोंका पालन करना। और किसी नियमके टूट जानेपर दण्डकी व्यवस्था करना।

२०-नियमोंके पालनका ब्योरा रोज लिखना।

यदि भगवत्प्राप्तिके लिये इन नियमोंके पालनका साधन होता रहेगा तो आशा है भगवत्कृपासे बहुत शीघ्र अन्त:करणकी शुद्धि होगी और आप भगवान्के प्रेमपथपर अग्रसर एक सच्चे साधक हो सकेंगे। साधनांकमें बहुत तरहके साधनोंका वर्णन पढ़नेको मिलेगा और वे सभी साधन अधिकारभेदसे उत्तम हैं, परन्तु अन्त:करणकी शुद्धि प्राय: सभी साधनोंमें आवश्यक है, इसलिये इन साधनोंका अभ्यास सभीको करना चाहिये। इनसे अन्त:करणकी शुद्धि होगी और फिर यही परम साधन बनकर भगवत्प्राप्तिमें मुख्य हेतु बन जायँगे।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

कुछ उपयोगी साधन

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

साधन शब्दका अर्थ बहुत ही व्यापक है। परन्तु वास्तविक साधन तो उसे ही समझना चाहिये जो परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला हो। परमात्माकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें अनेकों प्रकारके साधन बतलाये गये हैं। उनमें सुगमता-पूर्वक हो सकनेवाले कुछ सरल साधनोंका उल्लेख यहाँ किया जाता है। विवेकदृष्टिसे विचार करनेपर सारे साधन ज्ञाननिष्ठा और योगनिष्ठा—इन दोनों निष्ठाओंके अन्तर्गत आ जाते हैं। जीवात्मा और परमात्माकी एकताके आधारपर होनेवाले जितने भी साधन हैं, वे सब ज्ञाननिष्ठाके अन्तर्गत हैं तथा जीवात्मा और परमात्माके भेदके आधापर होनेवाले योगनिष्ठाके अन्तर्गत हैं। इसी बातको लक्ष्यमें रखते हुए भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें अभेदनिष्ठाको सांख्य, संन्यास अथवा ज्ञानयोगके नामसे कहा है और भेदनिष्ठाको योग, कर्मयोग तथा भक्तियोग आदि नामोंसे। श्रीमद्भागवतमें भी अभेद और भेदनिष्ठाओंका विशद वर्णन है। इसी प्रकार गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें ज्ञानदीपकके नामसे अभेदनिष्ठाका और भक्तिमणिके नामसे भेदनिष्ठाका वर्णन किया है।

वेद और उपनिषदोंके 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य अभेदनिष्ठा (अभेदज्ञान)-का प्रतिपादन करते हैं और 'द्वा सुपर्णा' आदि श्रुतियाँ भेदनिष्ठाका प्रतिपादन करती हैं। इस प्रकार श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि वैदिक सनातनधर्मके प्राय: सभी आर्ष ग्रन्थोंमें भेदनिष्ठा और अभेदनिष्ठाका ही भेदोपासना और अभेदोपासना आदि अनेकों नामोंसे वर्णन किया गया है। इन्हीं दोनों निष्ठाओंके आधारपर यहाँ कुछ साधनोंका वर्णन किया जाता है।

अचिन्त्य ब्रह्मकी उपासना

नेत्र आदि इन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ अनुभव किया जाता है एवं मनसे जो कुछ चिन्तन किया जाता है, अनुभव और चिन्तन करनेवाले इन्द्रियों और मनके सहित उस सम्पूर्ण दृश्यको नाशवान्, क्षणभंगुर और स्वप्नवत् समझकर उसका अभाव करना अर्थात् उसे अनित्य होनेके कारण असत् समझकर उससे रहित हो जाना और जिस बुद्धिवृत्तिके द्वारा सबका अभाव किया जाता है उस वृत्तिका त्याग करके उससे भी रहित हो जानेपर द्रष्टाका जो केवल चिन्मयस्वरूप बच रहता है अर्थात् दृश्यमात्रका अभाव हो जानेपर चिन्तन करनेवाला जो द्रष्टा शेष बच जाता है उसमें स्थित होना ही अचिन्त्य ब्रह्मकी उपासना है। इस उपासनारूप साधनसे दृश्य, दर्शनका बाध हो जाता है और द्रष्टाका परब्रह्म परमात्माके साथ तादात्म्य हो जाता है। यही परमात्माकी प्राप्ति है। जैसे घटाकाश और महाकाशके बीच व्यवधानरूप केवल घटकी आकृति ही भेद-दर्शनमें हेतु है इसी प्रकार जड दृश्यमात्र जीवात्मा और परमात्माके भेद-दर्शनमें हेतु है। जब यथार्थ ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण दृश्य और दर्शनका बाध हो जाता है, तब स्वभावत: ही जीवात्मा परमात्माको प्राप्त हो जाता है। जैसे घटके फूट जानेपर घटाकाशस्थानीय आकाश महाकाशके साथ एक हो जाता है उसी प्रकार जीवात्माका सच्चिदानन्दघन परमात्माके साथ एकीभाव हो जाता है अर्थात् वह अभेदरूपसे ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।

चराचररूप ब्रह्मकी उपासना—

जो भी कुछ चर-अचर, जड-चेतन संसार है, वह सब परमात्मासे ही उत्पन्न है, परमात्मामें ही स्थित है और परमात्मामें ही लीन हो जाता है, इसलिये वस्तुत: परमात्मस्वरूप ही है।

जो पुरुष इस सम्पूर्ण संसारको परमात्माका स्वरूप समझकर परमात्मभावसे इसकी उपासना करता है, वह परमात्माको ही प्राप्त होता है।

यह उपासना भेद और अभेद दोनों ही दृष्टियोंसे की जा सकती है। भेददृष्टिवाला साधक समझता है कि जो कुछ है सो परमात्मा है और मैं उसका सेवक हूँ। जैसे गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

और अभेद दृष्टिवाला साधक सारे संसारको एवं अपने-आपको भी परमात्माका स्वरूप मानता है। जैसे श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च। (१३। १५)

'परमात्मा चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचररूप भी वही है।'

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥

(१३। ३०)

'जिस क्षण यह पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको एक परमात्मामें ही स्थित तथा उस परमात्मासे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है, उसी क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।'

इस प्रकार इस सम्पूर्ण दृश्यमात्रको परमात्माका स्वरूप मानकर उसकी उपासना करते-करते साधककी

सर्वत्र समबुद्धि हो जाती है और वह राग-द्वेषरहित होकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है।

संकल्पब्रह्मकी उपासना

संकल्पब्रह्मकी उपासनामें जो भी कुछ अच्छे या बुरे संकल्प मनमें उठते हैं उनको ब्रह्म मानकर उपासना की जाती है। इस प्रकार मनमें उठनेवाले प्रत्येक संकल्पको ब्रह्म मानकर उपासना करनेवालेके लिये कोई भी संकल्प (स्फुरणा) विघ्नकारक नहीं होते तथा उनमें समबुद्धि हो जानेके कारण अनुकूल और प्रतिकूल संकल्पोंमें राग-द्वेष नहीं होता।

संकल्पमात्रमें निरन्तर ब्रह्माकारवृत्ति बनी रहनेके कारण साधकको विज्ञानानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

शब्दब्रह्मकी उपासना

शब्दब्रह्मकी उपासना करनेवालेको जो भी कुछ भला या बुरा शब्द सुनायी देता है उसे वह ब्रह्म मानकर उपासना करता है। ब्रह्म सम और एक है, इसलिये साधककी शब्दमात्रमें समबुद्धि हो जाती है। अतएव वह अनुकूल और प्रतिकूल शब्दोंमें राग-द्वेष और हर्ष-शोकसे रहित हो जाता है। कोई उसकी स्तुति या निन्दा करता है तो इससे उसके चित्तमें कोई विकार नहीं होता। शब्दमात्रको ब्रह्म माननेके कारण उसकी वृत्ति हर समय ब्रह्माकार बनी रहती है, जिससे उसका अन्त:करण शुद्ध होकर उसे परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है।

नि:स्वार्थ कर्म-साधन

स्वार्थ (स्व-अर्थ)-का अभिप्राय है—'अपने लिये' अपने व्यक्तिगत लाभके लिये, और नि:स्वार्थका अर्थ है— 'अपने लिये नहीं' अर्थात् दूसरों (समष्टि)-के हितके लिये! साधारण मनुष्य यज्ञ, दान तप, सेवा, तीर्थ, व्रत, उपवास, कृषि, वाणिज्य, खान-पान, शौच-स्नान, लेन-देन आदि जो कुछ भी कर्म करता है, किसी-न-किसी व्यक्तिगत स्वार्थको लेकर ही करता है। जैसे क्रय-विक्रय करनेवाला लोभी व्यापारी दूकान खोलनेके समयसे लेकर उसे बंद करनेतक दिनभर जो भी कुछ क्रय-विक्रय, लेन-देन आदि व्यापार करता है, सबमें उसका लक्ष्य हर समय यही रहता है कि अधिक-से-अधिक रुपये पैदा हों। जिसमें जरा भी अर्थकी हानि होती हो, ऐसा कोई भी काम वह जान-बूझकर कभी नहीं करना चाहता। इसी प्रकार यज्ञ, दान, तपादि कार्य करनेवाले सकामी लोग धन, स्त्री, पुत्र आदि इहलौकिक और स्वर्गादि पारलौकिक भोगोंकी कामनासे ही उन कामोंमें प्रवृत्त होते हैं।

यह स्वार्थ इतना व्यापक है कि किसी भी छोटे-से-छोटे कामका आरम्भ करनेके समय मनुष्य यही सोचता है कि इसके करनेसे मुझे व्यक्तिगत क्या लाभ होगा? किसी लाभका निश्चय करके ही वह कार्यमें प्रवृत्त होता है। बिना प्रयोजन एक पैंड भी चलना नहीं चाहता। उसके मनमें पद-पदपर स्वार्थकी भावना भरी रहती है। इसी स्वार्थबुद्धिसे मनुष्यको बार-बार दु:खरूप संसारचक्रमें भटकना पड़ता है। अतएव यथार्थ कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको स्वार्थरहित होकर लोक-हितके लिये ही कर्म करने चाहिये। जैसे स्वार्थी मनुष्य प्रत्येक कामके आरम्भमें यह सोचता है कि मुझे इसमें क्या लाभ होगा, ऐसे ही नि:स्वार्थी पुरुषके मनमें यह भाव होना चाहिये कि इससे अन्य प्राणियोंका क्या हित होगा। जिस कामके आरम्भमें संसारका हित सोचकर प्रवृत्त हुआ जाता है, वही निष्काम कर्म है।

बहुत-से सज्जन लोकोपकारके कामोंमें धन-सम्पत्ति और शरीरके आरामका त्याग करते हैं और यह बहुत उत्तम है, परन्तु वे जो इसके बदलेमें मान, बड़ाई और प्रतिष्ठा चाहते हैं, इससे उनका वह त्याग नि:स्वार्थ नहीं रह जाता। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी कामनासे शुभ कर्म करनेवाले लोग अवश्य ही शुभ कर्म न करनेवालोंकी अपेक्षा तो बहुत ही अच्छे हैं, किन्तु वास्तविक कल्याणमें तो उनकी यह कामना भी बाधक ही है। और यदि कहीं राग-द्वेषके वश होना पड़ा तब तो इस कामनासे पतन भी हो सकता है। अतएव वास्तविक हित चाहनेवाले पुरुष-को मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छाका भी सर्वथा त्याग करके विशुद्ध नि:स्वार्थभावसे ही लोकहितार्थ कर्म करने चाहिये।

कुछ सज्जन मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गकी इच्छाका भी त्याग करके केवल अपने आत्माके उद्धारकी इच्छासे यज्ञ, दान, तप, सेवा, सत्संग और व्यापार आदि शास्त्रविहित कर्म करते हैं। यद्यपि इस प्रकार कर्म करनेवाले लोग उपर्युक्त सभी साधकोंसे श्रेष्ठ हैं, तथापि केवल अपने ही आत्माके उद्धारकी यह इच्छा भी मुक्तिरूप स्वार्थ-बुद्धिके कारण कभी-कभी मोहमें डालकर साधकको कर्तव्य-च्युत कर देती है। कहीं-कहीं तो यह राग-द्वेषको उत्पन्न करके साधकका पतन भी कर डालती है। इसलिये केवल अपने उद्धारकी इच्छा न रखकर सम्पूर्ण प्राणियोंके कल्याणके उद्देश्यसे ही मनुष्यको शास्त्रविहित कर्मोंमें प्रवृत्त होना चाहिये। इस प्रकार नि:स्वार्थभावसे कर्म करनेवाला मनुष्य सहज ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

संसारका हित चाहनेवाले ऐसे दयालु भक्तोंके सम्बन्धमें गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने तो यहाँतक कहा है—

मोरे मन प्रभु अस बिसवासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥

इसका कुछ रहस्य निम्नलिखित दृष्टान्तके द्वारा समझना चाहिये।

भगवान्‌के एक भक्त जगत्‌के परम हितैषी थे। वे सदा-सर्वदा जगत्‌के हितमें रत रहा करते थे। इसके

फलस्वरूप एक दिन भगवान् स्वयं उनको दर्शन देनेके लिये उनके सामने प्रकट हुए और बोले—'तुम्हारी जो इच्छा हो वही वर माँगो।'

भक्तने कहा—'भगवन्! आपकी मुझपर जो अनन्त कृपा है, इससे बढ़कर और कौन-सी वस्तु है, जिसकी मैं याचना करूँ—आपकी कृपासे मुझे किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है।'

भगवान्ने विशेष आग्रहपूर्वक कहा—'मेरे संतोषके लिये तुम्हें कुछ तो अवश्य ही माँगना चाहिये।'

भक्तने कहा—'प्रभो! यदि आपका इतना आग्रह है तो मैं यही चाहता हूँ कि मेरे मनमें यदि कुछ माँगनेकी इच्छा हो तो आप उसका सर्वथा विनाश कर दीजिये।'

भगवान् बोले—'यह तो तुमने कुछ भी नहीं माँगा। मेरी प्रसन्नताके लिये तुम्हें अवश्य कुछ माँगना पड़ेगा। तुम जो चाहो सो माँग सकते हो।'

भक्तने कहा—'जब आप इतना बाध्य करते हैं तो मैं यह माँगता हूँ कि आप संसारके सभी जीवोंका कल्याण कर दीजिये।'

भगवान्ने कहा—'यदि सब जीवोंका कल्याण कर दिया जाय तो उनके किये हुए पापोंका फल कौन भोगेगा?'

भक्तने कहा—'प्रभो!' सबके पापोंका फल मुझे भुगता दीजिये।'

भगवान् बोले—'तुम-सरीखे भक्तको सब जीवोंके पापोंका दण्ड कैसे भुगताया जा सकता है?'

भक्तने कहा—'तो फिर सबको क्षमा कर दीजिये।'

भगवान्ने कहा—'इस प्रकार सबको पापोंका फल न भुगताकर उन्हें क्षमा कर देना तो असम्भव है।'

भक्तने कहा—'भगवन्! आप तो असम्भवको भी सम्भव करनेवाले सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हैं। आपके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है।'

भगवान्ने कहा—'इस प्रकार करनेके लिये मैं असमर्थ हूँ।'

भक्तने कहा—'यदि आप अपनेको असमर्थ कहते हैं, तो फिर आपने इच्छानुसार वर माँगनेके लिये इतना आग्रह क्यों किया था? आपको स्त्री, पुत्र, धन, मान-बड़ाई, स्वर्ग, मोक्ष आदि किसी एक वस्तुके माँगनेके लिये कहना चाहिये था। जो इच्छा हो सो माँगनेका वचन देनेपर तो याचककी माँग पूरी करनी ही चाहिये।'

भगवान्ने कहा—'भाई! मेरी हार और तुम्हारी जीत हुई। मैं भक्तोंके सामने सदा ही हारा हुआ हूँ।'

भक्तने कहा—'प्रभो! हार तो मेरी हुई। जीत तो तब होती जब आप सबका कल्याण कर देते।'

भगवान्ने कहा—'तुम्हारे इस निःस्वार्थभावसे मैं अति प्रसन्न हुआ हूँ। मैं तुम्हें यह वर देता हूँ कि जो कोई भी तुम्हारा दर्शन, स्पर्श और चिन्तन आदि करेगा, उसका भी कल्याण हो जायगा।'

इस प्रकार संसारका कल्याण चाहनेवाले निःस्वार्थ भक्तको विनोदमें भगवान्से भी बढ़कर कहना कोई अत्युक्ति नहीं है। अतएव कल्याणकामी पुरुषोंको निःस्वार्थभावसे लोकहितार्थ ही सारे कर्म करने चाहिये।

सेवा-साधन

धन-सम्पत्ति, शारीरिक सुख और मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा आदिको न चाहते हुए ममता, आसक्ति और अहंकारसे रहित होकर मन, वाणी, शरीर और धनके द्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत होकर उन्हें सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना 'सेवा-साधन' कहलाता है। इस साधनसे साधकके चित्तमें निर्मलता और प्रसन्नता होकर उसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है।

उपर्युक्त प्रकारकी सेवा-साधना तीन प्रकारके भावोंसे की जा सकती है—एक ही ईश्वरकी सन्तान होनेके कारण सबको अपना 'बन्धु' मानते हुए, आत्मदृष्टिसे सबको अपना 'स्वरूप' समझते हुए, और परमात्मा ही सब भूतोंके हृदयमें स्थित है इसलिये सबको साक्षात् 'परमेश्वर' समझते हुए। इन तीनों भावोंमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है। बन्धुभावसे होनेवाली सेवामें एक दूसरेके प्रति पर-बुद्धि होनेके कारण राग-द्वेषवश कभी झगड़ा भी हो सकता है, परन्तु आत्मभावमें इसकी सम्भावना नहीं है, अतः बन्धुभावसे की हुई सेवाकी अपेक्षा आत्मभावसे की हुई सेवा उत्तम है। आत्मभावसे की हुई सेवाकी अपेक्षा भी परमात्मभावसे की हुई सेवा उत्तम है, क्योंकि मनुष्य अपने इष्टकी सेवाके लिये प्रसन्नता-पूर्वक अपने प्राणोंका भी बलिदान कर सकता है। तीनों प्रकारके भावोंसे की हुई सेवाका परिणाम एक होनेपर भी भगवत्प्राप्तिमें शीघ्रताकी दृष्टिसे ही उत्तरोत्तर श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया गया है।

उत्तम देश, काल और पात्रके प्राप्त होनेपर जो न्यायानुकूल सेवा की जाती है, वही सेवा महत्त्वपूर्ण होती है। जैसे—अन्य देशोंकी अपेक्षा आर्यावर्त देश उत्तम माना गया है, उसमें भी काशी आदि तीर्थ अधिक उत्तम माने गये हैं। परन्तु यदि काशी आदि तीर्थोंमें अन्नकी फसल अच्छी हो और मगध आदि देशोंमें भयंकर अकाल पड़ा हो तो अन्नदानके लिये काशीकी अपेक्षा मगध अधिक उपयुक्त देश है। इसी प्रकार यद्यपि साधारण कालकी अपेक्षा एकादशी, पूर्णिमा, सोमवती, व्यतिपात, ग्रहण और पर्वकाल दानके लिये श्रेष्ठ हैं तथापि यदि अन्य कालमें अन्नके बिना प्राणी मरते हों तो पर्वकालकी अपेक्षा भी वह पर्वातिरिक्त काल अन्नदानके लिये श्रेष्ठ काल है। पात्रके विषयमें

भी ऐसा ही समझना चाहिये। जिस प्राणीके द्वारा जितना अधिक उपकार होता है, उतना ही वह सेवाका अधिक पात्र है। जैसे कीड़े, चींटी आदिकी अपेक्षा पशु आदि, पशुओंमें भी अन्य पशुओंकी अपेक्षा गाय आदि, पशुओंकी अपेक्षा मनुष्य, मनुष्योंमें भी दूसरोंकी अपेक्षा उत्तम गुण और आचरणवाले पुरुष सेवाके विशेष पात्र हैं। उदाहरणके लिये—यदि देशमें बाढ़ या अकाल आदिके कारण प्राणी भूखों मर रहे हों और साधकके पास थोड़ा-सा परिमित अन्न हो तो ऐसी स्थितिमें पूर्वमें बतलाये हुए प्राणियोंकी अपेक्षा बादमें बतलाये हुए उत्तरोत्तर सेवाके अधिक पात्र हैं, क्योंकि उनके द्वारा उत्तरोत्तर लोकोपकार अधिक होता है। परन्तु इसमें भी यह बात है कि जिसके पास अन्नका जितना अधिक अभाव हो उतना ही उसे अधिक पात्र समझना चाहिये। जैसे—किसी देशमें अकाल होनेपर भी गायोंके लिये चारेकी कमी न हो पर कुत्ते भूखों मरते हों तो वहाँ कुत्ते ही अधिक पात्र हैं। इसी प्रकार सबके विषयमें समझना चाहिये। प्यासेको पानी, नंगोंको वस्त्र, बीमारको औषध और आतुरको अभयदान आदिके विषयमें भी यही बात समझनी चाहिये।

परन्तु विशेष ध्यान देनेकी बात तो यह है कि सेवा-साधनमें क्रियाकी अपेक्षा भावकी प्रधानता है। स्त्री-पुत्र, धन-मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गादिकी प्राप्तिके उद्देश्यसे तत्परताके साथ आजीवन किये हुए उपर्युक्त विशाल सेवा-कार्यकी अपेक्षा ममता, आसक्ति और अहंकारसे रहित होकर निःस्वार्थभावसे की हुई थोड़ी सेवा भी अधिक मूल्यवाली होती है।

पंच महायज्ञ-साधन

पंच महायज्ञसे हमारे नित्यके पापोंका प्रायश्चित्त तो होता ही है, यदि स्वार्थत्यागपूर्वक निष्कामभावसे केवल भगवत्प्रीत्यर्थ इनका साधन किया जाय तो इनसे भगवत्प्राप्ति भी हो जाती है।

ब्रह्मयज्ञ (ऋषियज्ञ), पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ (बलिवैश्व) और मनुष्ययज्ञ—ये पंच महायज्ञ कहलाते हैं।[१] जिस कर्मसे बहुतोंकी तृप्ति हो उसे यज्ञ कहते हैं और जिससे सारे संसारकी तृप्ति हो उसे महायज्ञ कहते हैं। इस दृष्टिसे इनका महत्त्व बहुत अधिक है।

देवयज्ञसे मुख्यतासे देवताओंकी, ऋषियज्ञसे ऋषियोंकी, पितृयज्ञसे पितरोंकी, मनुष्ययज्ञसे मनुष्योंकी और भूतयज्ञसे भूतोंकी तृप्ति होती है और गौणरूपसे इनके द्वारा सारे संसारकी तृप्ति होती है। वैदिक सनातनधर्मके इन महायज्ञोंमें सम्पूर्ण संसारके जीवोंके हितके लिये जैसा दया और उदारतापूर्ण स्वार्थत्यागका भाव भरा है, वैसा अन्य धर्मोंमें देखनेमें नहीं आता।

वेद और शास्त्रोंका पठन-पाठन जगत्के हितार्थ ऋषियोंको सन्तुष्ट करनेके लिये ही किया जाता है, अपने स्वार्थके लिये नहीं। सन्ध्योपासनमें भी '**पश्येम शरदः**' आदिमें सबके हितकी ही प्रार्थना की गयी है। और इसी प्रकार गायत्रीमन्त्रमें स्तुति और ध्यान बतलाकर सभीकी बुद्धियोंको सत्कार्यमें लगानेकी प्रार्थना की गयी है।

पितृतर्पणमें भी देवता, ऋषि, मनुष्य, पितर एवं सम्पूर्ण भूतप्राणियोंको जलदान करनेकी विधि है। यहाँतक कि पहाड़, वनस्पति और शत्रु आदिको भी जल देकर तृप्त किया जाता है।

देवयज्ञमें अग्निमें आहुति दी जाती है। वह सूर्यको प्राप्त होती है और सूर्यसे वृष्टि और वृष्टिसे अन्न और प्रजाकी उत्पत्ति होती है।[२]

भूतयज्ञसे भी सारे प्राणियोंकी तृप्ति होती है। इसको बलिवैश्वदेव भी कहते हैं, क्योंकि इसमें सारे विश्वके लिये बलि दी जाती है।

मनुष्ययज्ञमें घर आये हुए अतिथिका सत्कार करके उसे विधिपूर्वक यथाशक्ति भोजन कराया जाता है।[३] यदि भोजन करानेकी सामर्थ्य न हो तो उसे

---

१. अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥

(मनु० ३। ७०)

वेद-शास्त्रका पठन-पाठन एवं सन्ध्योपासन, गायत्रीजप आदि ब्रह्मयज्ञ (ऋषियज्ञ) है, नित्य श्राद्धतर्पण पितृयज्ञ है, हवन देवयज्ञ है, बलिवैश्वदेव भूतयज्ञ है और अतिथि-सत्कार मनुष्ययज्ञ है।

२. अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

(मनु० ३ । ७६)

३. सम्प्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम्॥

(मनु० ३। ९९)

बैठनेके लिये जगह, आसन, जल और मीठे वचनोंका दान तो गृहस्थको अवश्य ही करना चाहिये।[१]

उपर्युक्त पाँच प्रकारके महायज्ञोंपर ऋषियोंने बहुत जोर दिया है। अतएव स्वाध्यायसे ऋषियोंका, हवनसे देवताओंका, तर्पण और श्राद्धसे पितरोंका, अन्नसे मनुष्योंका और बलिकर्मसे सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका यथायोग्य सत्कार करना चाहिये।[२] इस प्रकार जो मनुष्य नित्य सब प्राणियोंका सत्कार करता है वह तेजोमय मूर्ति धारणकर सरल अर्चिमार्गके द्वारा परमधामको प्राप्त होता है।[३] इसके विपरीत जो मनुष्य दूसरोंको भोजन न देकर केवल अपने ही उदर-पोषणके लिये भोजन बनाता है, वह पापायु मनुष्य पाप ही खाता है। सबको भोजन देनेके बाद शेष बचा हुआ अन्न यज्ञशिष्ट होनेके कारण अमृतके तुल्य है, इसलिये ऐसे अन्नको ही सज्जनोंके खाने योग्य कहा गया है।[४]

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें अध्याय ३ श्लोक १३ में भी प्राय: ऐसी ही बात कही है।[५]

उपर्युक्त सभी महायज्ञोंका तात्पर्य है सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंकी अन्न और जलके द्वारा सेवा करना एवं अध्ययन-अध्यापन, जप, उपासना आदि स्वाध्यायद्वारा सबका हित चाहना। अपने स्वार्थके त्यागकी बात तो पद-पदमें बतलायी गयी है।

हवनके और बलिवैश्वदेवके मन्त्रोंमें भी स्वार्थत्यागकी ही बात कही गयी है। जैसे '**ॐ इन्द्राय स्वाहा, इदमिन्द्राय न मम। ॐ ब्रह्मणे स्वाहा, इदं ब्रह्मणे न मम।**' इस **न मम**का अभिप्राय यह है कि यह आहुति इन्द्रके लिये दी जाती है, इसका फल मैं नहीं चाहता। यह आहुति ब्रह्मके लिये दी जाती है, इसका फल मैं नहीं चाहता। अन्य मन्त्रोंमें भी इसी प्रकारके त्यागकी बात जगह-जगहपर कही गयी है। इन सबसे यही शिक्षा मिलती है कि मनुष्यको अपने स्वार्थका त्याग करके संसारके हितके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये।

सम्पूर्ण संसारके प्राणियोंमें एक मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जो प्राणीमात्रकी सेवा कर सकता है। अन्य प्राणियोंके द्वारा भी जगत्‌का बहुत उपकार होता है, किन्तु सबकी सेवा तो केवल मनुष्य ही कर सकता है। मनुष्यका शरीर खान-पान, ऐश-आराम और भोग भोगनेके लिये नहीं मिला है। ये सब तो अन्य योनियोंमें भी प्राप्त हो सकते हैं। मनुष्यका जन्म तो प्राणीमात्रके हितकी चेष्टा करनेके लिये ही मिला है। अतएव सब लोगोंको चाहिये कि अपने तन, मन और धनद्वारा नि:स्वार्थभावसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी सेवाके लिये तत्परतासे चेष्टा करें। और इस प्रकार प्राणीमात्रमें विराजित भगवान्‌की सेवा करके उनको प्राप्त कर सफल-जीवन हों।

विषय-हवनरूप साधन

इन्द्रियोंके विषयोंको राग-द्वेषरहित होकर इन्द्रियरूप अग्निमें हवन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति होती है। शब्द, स्पर्श, रूप आदिका श्रवण, स्पर्श और दर्शन आदि करते समय अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थोंमें राग-द्वेषरहित होकर उनका न्यायोचित सेवन करनेसे अन्त:करण शुद्ध होता है और उसमें 'प्रसाद' का अनुभव होता है। उस 'प्रसाद' से सारे दु:खोंका नाश होकर परमात्माके स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। परन्तु जबतक इन्द्रियाँ और मन वशमें नहीं होते और भोगोंमें वैराग्य नहीं होता, तबतक अनुकूल पदार्थके सेवनसे राग और हर्ष एवं प्रतिकूलके सेवनसे द्वेष और दु:ख होता है। अतएव सम्पूर्ण पदार्थोंको नाशवान् और क्षणभंगुर समझकर न्यायसे प्राप्त हुए पदार्थोंका विवेक और वैराग्ययुक्त बुद्धिके द्वारा समभावसे ग्रहण करना चाहिये। श्रवण, दर्शन, भोजनादि कार्य रसबुद्धिका त्याग करके कर्तव्यबुद्धिसे भगवत्प्राप्तिके लिये करने चाहिये। इन पदार्थोंमें ऐशो-आराम, मौज-शौक, स्वाद-सुख और इन्द्रियतृप्ति, रमणीयता या भोग-बुद्धिकी भावना ही मनुष्यके मनमें विकार उत्पन्न करके उसका पतन करनेवाली होती है। उपर्युक्त दोषोंसे रहित होकर विवेक

---

१. तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥
(मनु० ३ । १०१)

२. स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन्होमैर्देवान्यथाविधि ।
पितृञ्छ्राद्धैश्च नृनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा॥
(मनु० ३ । ८१)

३. एवं य: सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति।
स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्ति: पथर्जुना॥
(मनु० ३ । ९३)

४. अघं स केवलं भुङ्क्ते य: पचत्यात्मकारणात्।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते॥
(मनु० ३ । ११८)

५. यज्ञशिष्टाशिन: सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषै:।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
(गीता ३ । १३)

और वैराग्ययुक्त बुद्धिके द्वारा किये जानेवाले इन्द्रियोंके विषय-सेवनसे तो हवनके लिये अग्निमें डाले हुए ईंधनकी तरह वे सब पदार्थ अपने-आप ही भस्म हो जाते हैं। फिर उनकी कोई भी सत्ता या प्रभाव नहीं रह जाता। इस प्रकार साधन करते-करते अन्त:करणकी शुद्धि होनेपर सारे दु:खों और पापोंका अभाव होकर परमात्माके स्वरूपमें स्थिर और अचल स्थिति हो जाती है अर्थात् परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

महात्माओंका आज्ञापालनरूपी साधन

जो पुरुष महात्माओंके[1] पास जाकर उनके उपदेशको सुनकर उसके अनुसार साधन करता है, उसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(१३। २५)

'परन्तु दूसरे जो पुरुष स्वयं इस प्रकार (ध्यानयोग, सांख्ययोग और कर्मयोग) न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले महापुरुषोंसे सुनकर तदनुसार उपासना करते हैं, वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको नि:सन्देह तर जाते हैं।'

अतएव जो पुरुष श्रद्धा-भक्तिपूर्वक महात्माओंकी आज्ञाका पालन करता है, उसका कल्याण हो जाता है। शास्त्रोंमें इसके अनेक उदाहरण भी मिलते हैं।

महाभारत आदिपर्वके तीसरे अध्यायमें २० से ३२ श्लोकतक आयोदधौम्य और उनके शिष्य पांचालदेशीय आरुणिकी कथा है। वहाँ लिखा है कि शिष्यको गुरुने खेतमें जाकर खेतकी मैंड बाँधनेकी आज्ञा दी। शिष्य जब चेष्टा करनेपर भी मिट्टीसे मैंड न बाँध सका तब उसने स्वयं जलके प्रवाहके सामने सोकर जलको रोक लिया। जब शामतक घर न लौटा तो गुरु उसे खोजते हुए खेतमें आये और पुकारने लगे। उनकी आवाज सुनकर आरुणि उठा और जाकर सामने खड़ा हो गया। मिट्टीके स्थानपर खुद उसके पड़नेकी बात जानकर धौम्यमुनि उसकी आज्ञापालनपरायणताको देखकर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने वरदान दिया कि तुमने जो मेरी आज्ञाका पालन किया है, इससे तुम्हारा कल्याण हो जायगा। समस्त वेद और धर्मशास्त्रोंका ज्ञान तुम्हें बिना ही पढ़े अपने-आप हो जायगा।[2] इसी प्रकार छान्दोग्य-उपनिषद्‌के अध्याय ४, खण्ड ४ से ९ में भी एक कथा आती है। हारिद्रुमत गौतम ऋषिने अपने शिष्य सत्यकाम जाबालका उपनयनसंस्कार करके उसे ४०० कृश और दुर्बल गायोंको वनमें ले जाकर चरानेकी आज्ञा दी। शिष्यने गुरुका भाव समझकर यह कहा कि जब इन गायोंकी संख्या पूरी १००० हो जायगी, तब मैं लौट आऊँगा।

कई वर्ष बीतनेपर एक दिन एक साँड़ने उससे कहा कि अब हम पूरे हजार हो गये हैं, तुम हमें गुरुके पास ले चलो। सत्यकाम जब उन्हें लेकर आने लगा तो गुरुकृपासे उसे साँड़, अग्नि, हंस और मद्गु (जलचर पक्षी) ने मार्गमें ही ब्रह्मका उपदेश दे दिया। जब वह घर लौटा तो उसे देखकर गुरुने कहा—'तुम तो ब्रह्मवेत्ता-से प्रतीत हो रहे हो, तुमको उपदेश किसने दिया?' सत्यकामने रास्तेकी सच्ची-सच्ची घटना बतलाकर कहा—'मैं अब आपके द्वारा उपदेश प्राप्त करना चाहता हूँ।' महर्षि गौतमने उसे पुन: अक्षरश: वही ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया जो उसे रास्तेमें प्राप्त हुआ था।

इसी प्रकारके और भी अनेक उदाहरण शास्त्रोंमें आते हैं, जिनमें महात्माओंके आज्ञापालनमात्रसे ही शिष्योंका कल्याण हुआ है।

'महात्माओंके आज्ञापालनसे परम कल्याण हो इसमें तो कहना ही क्या है, उनका दर्शन, स्पर्श और चिन्तन भी कल्याणका परम कारण होता है।

देवर्षि नारदजीने कहा है—

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।

(नारदभक्तिसूत्र ३९)

'महात्मा पुरुषोंका संग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है।'

महात्माओंका मिलना कठिन है, मिलनेपर उन्हें पहचानना कठिन है, परन्तु न पहचाननेपर भी उनका मिलना व्यर्थ नहीं होता, वह महान् कल्याणकारक होता है। जैसे सूर्यको न जानकर भी यदि कोई सूर्यके सामने आ जाय तो उसकी सरदी दूर हो जाती है। यह सूर्यका स्वाभाविक गुण है। इसी प्रकार महात्माओंका मिलन अपने स्वाभाविक वस्तुगुणसे ही मनुष्योंको तारनेवाला होता है।

अतएव महात्माओंके संग और उनके आज्ञापालनसे सबको लाभ उठाना चाहिये।

---

१. ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यासी कोई भी पुरुष जो गीता अध्याय १२ श्लोक १३ से १९ और अध्याय १४ श्लोक २२ से २५ में वर्णित लक्षणोंसे युक्त हो , उसीको महात्मा समझना चाहिये।

२. यस्माच्च त्वया मद्वचनमनुष्ठितं तस्माच्छ्रेयोऽवाप्स्यसि।
सर्वे च ते वेदा: प्रतिभास्यन्ति सर्वाणि च धर्मशास्त्राणीति॥
(महा० आ० प० ३। ३२)

सत्य-साधना

प्रेम-धर्मकी रीति

(लेखक—श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी)

जगतमें दुःख भरे नाना।
प्रेमधर्मकी रीति समझकर, सब सहते जाना॥ जगतमें दुःख भरे नाना ॥टेक॥

सरल सत्य शिव सुन्दर कहना,
हिलमिल करके सबमें रहना।
अपनी नीची ओर देखकर, धीरज-धन पाना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ १॥

वे भी हैं पृथ्वीके ऊपर,
जिनको जीना भी है दूभर।
उनकी हालतमें हमदर्दी, दिलसे दिखलाना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ २॥

अन्न-वस्त्रमें क्यों दुविधा हो,
इनकी तो सबको सुविधा हो।
भूखे या बेकार बन्धुको हिम्मत पहुँचाना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ ३॥

यदि तन-धन-जनसे विहीन हम,
पर मनसे क्यों बनें दीन हम?
भला न सोचा अगर किसीका—बुरा न सुझवाना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ ४॥

जितना हो दुनियाको देना,
बदलेमें कम-से-कम लेना।
जग-हितमें सर्वस्व मुक्त कर, सत्य मोक्ष पाना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ ५॥

ये सब कंचन-कामिनिवाले,
क्षणभरको बनते मतवाले।
पर यह तो भीतर तृष्णाकी, भट्टी भड़काना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ ६॥

कण-भर सुख है,मण-भर दुख है,
विषय-वासनाका यह रुख है।
हाय-हाय मचती रहती है, चैन नहीं पाना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ ७॥

काम भोग अनुकूल न पायें,
पर तृष्णाको नहीं बढ़ायें।
इच्छा ईंधन सदा अनलमें, यह न भूल जाना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ ८॥

जीवन जलत-बुझत दीवट है,
जल-घटकोंका यंत्र रँहट है।
भरता है रीता होनेको, रीता भर जाना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ ९॥

झूठे वैभव पर क्यों फूला,
यह तो ऊँचा-नीचा झूला।
धन-यौवनके चंचल-बलपर, कभी न इतराना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ १०॥

नीति-सहित कर्तव्य निभाना,
अपने-अपने खेल दिखाना।
संन्यासी हों या गृहस्थ हों, रंक हों कि राना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ ११॥

उठना गिरना हँसना रोना,
पर चिन्तामें कभी न सोना।
कर्मबंधके बीज न बोना, सत्य-योग-ध्याना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ १२॥

ईश्वर एक, भरा हम सबमें,
श्रद्धा रहे राम या रबमें।
'सबके सुखमें अपने सुख' का तत्त्व न बिसराना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ १३॥

दिव्य गुणोंकी कीर्ति बढ़ाना,
जग-जीवनको स्वर्ग बनाना।
दुनियाका नंदन वन फूले, वह रस बरसाना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ १४॥

जीवन्मुक्ति-मर्म समझाना,
हृदयोंको स्थितप्रज्ञ बनाना।
सदा सत्यमय प्रेम-मंत्रके अमर-गीत गाना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ १५॥

सब ही शास्त्र बने हैं सच्चे,
किन्तु समझनेमें हम कच्चे।
पक्षपातका रंग चढ़ाकर, क्यों भ्रम फैलाना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ १६॥

अविवेकी चक्कर खाता है,
तब लड़ना भिड़ना भाता है।
रागद्वेषसे बैर बसाकर, धर्म न लजवाना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ १७॥

सब धर्मोंने रस बरसाया,
पाप-अनलका ताप बुझाया।
वह रस भी अब तपा अनलसे, अंग न जलवाना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ १८॥

जाति-भेद हैं इतने सारे,
बने सभी सुविधार्थ हमारे।
मानवताका भाव भूल क्यों मदमें मस्ताना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ १९॥

धर्म-पंथमें भेद भले हों,
पर अपवाद विरोध टले हों।
एक सूत्रमें विविध पुष्पकी, माला पिरवाना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ २०॥

नैतिक नियमोंका पाबंदी,
संत स्वतंत्र सदा आनंदी।
पर पर-पीड़ामें उसको भी, आँसू बह आना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ २१॥

युक्त अहार-विहार सदा हो,
फिर भी होना रोग बदा हो।
इस जीवनका नहीं भरोसा, मनको समझाना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ २२॥

हर हालतमें हों सम भावी,
बनें धर्मके सच्चे दावी।
सभी अवस्थाएँ अस्थिर हैं, हरदम गम खाना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ २३॥

कोई हो ऐसा अन्यायी,
बन जाये जगको दुखदायी।
उसे बचाना प्राण-मोह है, यह न दया लाना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ २४॥

विनयी सत्य-अहिंसक होना,
पर भौतिक भी शक्ति न खोना।
परके सिरपर किन्तु शांतिकी नींद नहीं आना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ २५॥

मनको सीधे पंथ चलाना,
यथा-लाभ संतुष्ट बनाना।
पर-हित करके आत्म-प्रशंसक गर्व नहीं लाना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ २६॥

छल प्रपंच पाखंड भुलाना,
दुःस्वार्थोंका दम्भ मिटाना।
भेष दिखा करके भोलोंको, कभी न बहकाना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ २७॥

भूलें महामोहकी मस्ती,
बस जाये फिर उजड़ी बस्ती।
हितकर मनहर सद्भावोंका सरवर लहराना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ २८॥

ये सब नभके मेघ रसीले,
इन्द्र-धनुष हैं विविध रँगीले।
ऐसा ही बस अपना मन हो, मैल नहीं लाना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ २९॥

इन सफेद आँखोंमें लाली,
उसमें भी है फीकी काली।
भिन्न-भिन्न मिल जायँ स्नेहसे, सुंदरता पाना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ ३०॥

यह हलकी-सी जीभ हमारी,
रस चखती है भारी-भारी।
पर क्यों इतनी विशद बुद्धिने, तत्त्व न पहचाना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ ३१॥

ज्वालामुख भूकम्प प्रलय सब,
ये संकट आ जाते जब-तब।
एक दिवस हमको मरना है, फिर क्यों घबराना?
जगतमें दुःख भरे नाना॥ ३२॥

यह तो प्रकृति-देविकी लीला,
क्षण-क्षणमें संघर्षण-शीला।
यथाशक्ति सहयोग परस्पर लेना दिलवाना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ ३३॥

आधा नर है आधी नारी,
मानव-रथ दो-चक्र-विहारी।
एक दूसरेके उपकारी, पूरक कहलाना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ ३४॥

पूर्ण ब्रह्मका ध्रुव प्रकाश है,
क्यों किसका जीवन निराश है।
सच्चे बनकर चिदानन्दमें आप समा जाना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ ३५॥

अन्तस्तलमें फैली माया,
द्रोह-मोहका घन तम छाया।
सत्य-प्रेमके 'सूर्यचंद' की किरणें चमकाना॥
जगतमें दुःख भरे नाना॥ ३६॥

प्रेम-धर्मकी रीति समझकर, सब सहते जाना।
जगतमें दुःख भरे नाना॥

सबसे पहली साधना

(लेखक—स्वामीजी श्रीतपोवनजी महाराज)

सबसे पहले मनुष्यको मनुष्य बननेके लिये साधना करनी चाहिये। मनुष्यके आकारमात्रसे ही कोई मनुष्य नहीं हो सकता। आकारके साथ ही उसमें मनुष्योचित गुण भी होने चाहिये। जिसमें मनुष्यके गुण विद्यमान हैं, वही वस्तुतः 'मनुष्य' शब्दका वाच्य हो सकता है। पशु-मनुष्य, मनुष्य-मनुष्य, और देव-मनुष्य—इस प्रकार स्थूलरूपसे मनुष्यके तीन विभाग किये जा सकते हैं। सच कहा जाय तो किसी-किसी अंशमें तो मनुष्य पशुसे भी निकृष्टतर जन्तु है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि चेष्टाएँ पशुओंमें प्रकृतिके अनुसार नियमपूर्वक परिमितरूपमें हुआ करती हैं। पशु अपने आन्तरिक भावको किसी भी प्रकारसे छिपानेका प्रयत्न नहीं करते। भीतर क्रोध होता है तो बाहर भी क्रोध प्रकट करते हैं। उनके मनमें विषाद होता है तो चेहरेपर भी आ जाता है। अंदर भूख-प्यास होती है तो वे बाहर भी वैसी ही चेष्टा करते हैं। परन्तु यह मनुष्य-जन्तु तो ऐसा है कि उसके भीतर रागकी आग धधकती रहती है, पर बाहरसे बड़ा विरक्त बन जाता है। चित्त क्रोधसे आकुल होनेपर भी बाहरसे प्रेम दिखलाता है। मन शोकसागरमें डूबा रहता है, परन्तु बाहर सर्वथा अशोक और हर्षका स्वाँग भरता है और अंदरसे पक्का नास्तिक होनेपर भी बाहर पूरा आस्तिक और धर्मोपदेशक बन बैठता है। इस प्रकारकी अप्राकृतिक जालसाजियोंके और अनियमित भोगलिप्साओंके कारण यह मनुष्य-जन्तु पशुओंकी श्रेणीमें भी स्थान न पाकर उनसे भी नीचा जीवन व्यतीत करता है।

कहना न होगा कि धर्म और अधर्मका ज्ञान न होनेके कारण जगत्‌में केवल इन्द्रियसम्बन्धी व्यवहार करनेवाले पशु-मनुष्यकी अपेक्षा भी वह भोगपरायण और दम्भी मनुष्य अत्यन्त निकृष्ट है, जो प्रकृतिसिद्ध भोगोंके अतिरिक्त नाना प्रकारके कृत्रिम और महान् अनर्थकारी भोगोंका लोलुप होकर उन्हींकी प्राप्तिके उपायोंमें लगा रहता है तथा धर्मध्वजी बनकर अपने वाग्‌जालसे लोगोंको ठगा करता है। पशुमें कृत्याकृत्यका ज्ञान नहीं होता। यही उसमें मुख्य दोष है। इसीलिये जिस मनुष्यमें कृत्याकृत्यका ज्ञान नहीं होता, वह पशु-मनुष्य कहलाता है। परन्तु उपर्युक्त मनुष्य तो अनेकों प्रकारके महान् अक्षन्तव्य दोषोंसे दूषित है। पढ़े-लिखे, पण्डित और बुद्धिमान् होनेका अभिमान रखनेवाले लोग ही अधिकतर इस नीच श्रेणीके भूषण देखनेमें आते हैं। सीधे-सादे पशुतुल्य गँवार मनुष्योंमें तो इस अनर्थकारिणी नीच कलाका विकास ही नहीं होता।

इसलिये मनुष्यको सबसे पहले मनुष्यत्व प्राप्त करनेकी साधना करनी चाहिये। प्राचीन समयमें गुरुकुलवास, गुरुशुश्रूषा, सदाचार-निष्ठा आदि ऐसी उत्तम-उत्तम वैदिक प्रथाएँ थीं कि उनके प्रभावसे मनुष्यमें आप ही मनुष्यत्वका विकास हो जाता था। उस समय मनुष्यत्वके लिये विशेष साधना करनेकी आवश्यकता नहीं थी। आजकल तो, हेतु कुछ भी क्यों न हो, मनुष्य अपने मनुष्यत्वको ही खो रहा है। और जब मनुष्यमें मनुष्यत्व ही न हो तब फिर वह दिव्य-गुण-सम्पन्न देव-मनुष्य तो हो ही कैसे सकता है? ईश्वराराधन, ईश्वरभक्ति, अध्यात्म-विचार तथा ध्यान और समाधि आदि ऊँची दिव्य साधनाएँ ऐसे पतित मनुष्योंके द्वारा कैसे सम्पादित हो सकती हैं?

'नाविरतो दुश्चरितात्।'

—इत्यादि श्रुतियाँ दुराचरण और दुर्गुणोंसे रहित उत्तम पुरुषोंका ही अध्यात्मसाधनामें अधिकार बतलाती हैं। कर्म, योग, भक्ति और ज्ञानसम्बन्धी वैदिक, तान्त्रिक अथवा पौराणिक अध्यात्मसाधना श्रेष्ठ सदाचारी पुरुष ही कर सकते हैं। हठ, दुराग्रह या कौतूहलपूर्वक अनधिकार चेष्टा करनेसे क्या फल हो सकता है?

अतएव हे मनुष्य! तुम पहले मनुष्य बनो! मनुष्यत्वके लिये जिन साधनाओंकी आवश्यकता है, पहले उन्हींको करो। धर्मका ज्ञान न हो तो सत्पुरुषोंकी संगतिसे पहले उसे प्राप्त करो। धर्मज्ञान हो तो उसमें श्रद्धा और निष्ठा करके तदनुकूल आचरण करो। शुद्ध आचरण ही मनुष्यत्वके मापनेका मानदण्ड है।

धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

—इस उक्तिको सदा याद रखो। तथा—

'सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। सत्यं वद। धर्मं चर। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि

कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि।'

—इत्यादि श्रुतिवचनोंके अनुसार सत्य, धर्म, दया, दान, समता, मैत्री, तप, शम, दम, सन्तोष, धैर्य, स्थैर्य, क्षमा, शौच, आर्जव (मन, वाणी और शरीरकी सरलता—एकरूपता), ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, गुरुभक्ति, मातृभक्ति, पितृभक्ति, देशभक्ति, दीनसेवा आदि श्रेष्ठ गुणोंका उपार्जन करके सच्चे धर्मनिष्ठ सदाचारी मनुष्य बनो। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी, भरत, लक्ष्मण, युधिष्ठिर एवं सीता, सावित्री आदि ऐतिहासिक उत्तम-उत्तम पुरुषरत्न और स्त्रीरत्नोंके जीवनको सामने रखकर अपनेको उसीके अनुसार सच्चा और श्रेष्ठ मनुष्य बनानेकी चेष्टा करो।

उत्तम मनुष्य ही ईश्वर-प्राप्तिकी दिव्य ईश्वरीय साधना करनेका अधिकारी होता है। इसलिये प्रकाण्ड ताण्डव छोड़कर अर्थात् बड़े-बड़े ईश्वरभक्त और ब्रह्मज्ञानियोंके देवपूज्य और देवदुर्लभ उच्च स्थानोंपर आरोहण करनेकी उत्सुकता त्यागकर सबसे पहले मनुष्यत्वको प्राप्त करनेकी सच्ची साधना करो। धर्माचरणरूपी यह धार्मिक साधना ही अध्यात्म-मन्दिरपर चढ़नेके लिये पहली सीढ़ी है। इसलिये यही सबसे पहली साधना है।

साधनकी अनिवार्य आवश्यकता

'उत्तिष्ठध्वं जागृध्वमग्निमिच्छध्वं भारताः।'

—श्रुति

'बुद्धिमानो! उठो, जागो और भगवत्प्राप्तिकी इच्छा करो।'

विचारशील मनुष्यके सामने सबसे पहले यह प्रश्न आता है कि हमें क्या चाहिये? और जो चाहिये, उसके लिये हमें क्या करना चाहिये। पहले उद्देश्यका निश्चय, तत्पश्चात् उसकी साधनाका निश्चय होता है। मनुष्य कुछ-न-कुछ चाहता है। कोई धन-सम्पत्ति चाहता है, कोई स्त्री-पुत्र चाहता है, कोई मान-प्रतिष्ठा और कीर्त्ति चाहता है, कोई सुन्दर शरीर चाहता है और कोई चाहता है अप्रतिहत शासन। इस चाहके और भी अनेकों नाम-रूप हो सकते हैं। परन्तु ये भी जीवनके उद्देश्य नहीं, क्योंकि इनके द्वारा भी सुख ही चाहा जाता है। यदि ये दुःखके कारण बन जायँ तो इनके भी परित्यागकी इच्छा होती है और परित्याग कर दिया जाता है। इसलिये यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि मनुष्य-जीवनका लक्ष्य परम सुखकी प्राप्ति है—ऐसी प्राप्ति, जिसमें किसी प्रकारकी सीमा, अन्तराय अथवा विच्छेद न हो—चाहे वह संग्रहसे हो चाहे त्यागसे। यही कारण है कि मनुष्य जिसको सुख समझता है उसको प्राप्त करनेके लिये दौड़ पड़ता है, सम्पूर्ण शक्तिसे उसके लिये प्रयत्न करता है। इस प्रयत्नका नाम ही साधना है।

साधारण मानव-समाजकी ओर दृष्टि डाली जाय तो यह प्रत्यक्ष ही दीख पड़ता है कि सभी किसी-न-किसी साधनमें लगे हुए हैं। ऐसा होनेपर भी वे दुःखी हैं, निराश हैं और साधना करके जिस आत्मतुष्टिका अनुभव करना चाहिये उससे वंचित हैं। इसका कारण क्या है? शान्त और गम्भीर चित्तसे विचार करनेपर जान पड़ता है कि जीवनका उद्देश्य निश्चय करनेमें ही उन्होंने भूल की है। धधकती हुई आगको शीतल मणि-खण्ड समझकर गोदमें उठा लेना जैसे सुखका कारण नहीं हो सकता, विषको अमृत समझकर पीना जैसे अमरत्वका कारण नहीं हो सकता, ठीक वैसे ही विनाशी वस्तुओंको सुख समझकर अपनानेसे सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जिन स्थूल और जड़ वस्तुओंमें सुखकी कल्पना करके साधारण मनुष्य जी-तोड़ परिश्रम कर रहे हैं, उनकी प्राप्ति होनेपर भी सुख नहीं मिलता; क्योंकि उनमें सुख है ही नहीं। इसीसे वे दुःखी हैं और तबतक उनका दुःख नहीं मिट सकता, जबतक सुखके वास्तविक स्थानका पता लगाकर वे उसको प्राप्त नहीं कर लेते।

वास्तविक सुख क्या है? इसका एकमात्र उत्तर है—**परमात्मा**। क्योंकि संसारमें जब कभी इच्छाओंके शान्त हो जानेपर यत्किंचित् सुखकी अनुभूति होती है और कई बार कई कारणोंसे होती है तब इस निश्चयका कारण मिल जाता है कि इन समस्त छिट-पुट सुखोंका अवश्य ही कोई-न-कोई भाण्डार है। उसीका नाम तो परमात्मा है। एक ऐसी सत्ता है, जो समस्त परिवर्तनोंमें सदा एकरस है। एक ऐसा ज्ञान है जो सम्पूर्ण ज्ञानोंका

उद्‌गम है, जिसमें अज्ञानका लेश भी नहीं है। एक ऐसा आनन्द है, जिसका निर्वचन मन और वाणीसे मौन होकर ही किया जाता है और जिसके आस्वादनमें आस्वाद्य और आस्वादकका भेद नहीं रहता। वह मधुरातिमधुर, नित्यनूतन, परम मनोहर, सत्य परमात्मा ही तो है। उसको देखे बिना आँखें अतृप्त ही रहेंगी। उसके बिना हृदयकी सेज सूनी ही रहेगी, उसका आलिंगन प्राप्त किये बिना बाँहें फैली ही रहेंगी। तात्पर्य यह कि उसको प्राप्त करनेमें ही जीव-जीवनकी पूर्णता है और जिस जीवनका वह लक्ष्य है, वही सच्चा जीवन है। इस सच्चे जीवनका नाम ही साधन है। जिन्हें यह साधन प्राप्त है, साध्य भी उन्हें प्राप्त ही है। क्योंकि साधन ही साध्य है और वही सिद्धि भी है। यही वास्तविक सुख है।

जीव पूर्वतन संस्कारोंसे इतना जकड़ गया है कि वह संज्ञाहीन, मूर्च्छित अथवा सुषुप्त हो गया है। वह भगवदीय प्रेरणा और शक्तिका अनुभव करनेमें असमर्थ हैं, क्योंकि इस समय जो अन्त:करण जागरित रहकर कार्यकारी हो रहा है, वह वासनाओंके पुंजके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उसीसे प्रेरित होकर साधारण मनुष्य उन्मत्तकी भाँति लक्ष्यहीन प्रयत्न कर रहे हैं, जिनके कारण बन्धन और भी दृढ़ होता जा रहा है। यही कारण है कि अधिकांश अपनेको स्थूलशरीर मानकर इसीसे सम्बन्ध रखनेवाली सम्भावनाओंके प्रवाहमें बह रहे हैं। इस जडताको, अन्धगतिको और बन्धनको नष्ट करना होगा। यह सत्य है कि यह बन्धन बहुत ही निष्ठुर है, तथापि इसको काट डालनेमें कोई सन्देह नहीं है। भगवान्‌की अनन्त शक्ति और कृपाका आश्रय लेकर क्या नहीं किया जा सकता? अन्तमें भागवत सत्ताकी विजय निश्चित है।

वासनाओंसे संचालित होते रहनेके कारण चित्तमें इतनी पराधीनता आ गयी है कि इनसे मुक्त होनेका प्रयत्न प्रारम्भ करनेमें और उसको चालू रखनेमें कई बार अपनी ही वृत्तियाँ बाधक हो जाती हैं और यह असम्भव मालूम होने लगता है कि मेरी इस साधनासे भी कुछ सिद्धि-लाभ हो सकता है। अवश्य ही यह ठीक है कि सारा चराचर जगत् कर्मसूत्रसे बँधा हुआ है और यह वर्तमान जीवन और इसकी प्रवृत्तियाँ प्रारब्धके द्वारा ही परिचालित होती हैं; परन्तु यही सोचकर पुरुषकार अथवा साधनसे विमुख हो जाना, अपनी आध्यात्मिक उन्नतिको भी प्रारब्धपर छोड़ बैठना, बहुत बड़ी कमज़ोरी है—बल्कि यों कहें कि यह अपने ही हाथों अपने-आपकी हत्या है। भला, जिस साधनसे अपने-आपकी उपलब्धि होती है उसीको प्रारब्धके हाथों सौंप देना आत्मघात नहीं तो और क्या है?

विचार करनेकी बात है कि जिस प्रारब्धके भरोसे हम अपने जीवनका उज्ज्वल भविष्य अन्धकारमें डाल देते हैं, उसका मूल क्या है? पूर्वजन्मोंके पुरुषकारको ही तो प्रारब्ध कहते हैं। हमारे पूर्वजन्मके कर्म अच्छे थे या बुरे, साधक थे या बाधक—इसका निर्णय कैसे किया जा सकता है? मान लें कि वे साधनके विरोधी थे तो क्या हमें इस जन्ममें भी उनसे लड़कर आगेके लिये साधनके अनुकूल प्रारब्ध नहीं बनाना चाहिये? क्या उन्हीं कर्मोंके चक्रमें पिसते रहकर जन्म-जन्म उन्हींकी गुलामी करनी चाहिये? जिसमें ज़रा भी जीवन है, वह कभी ऐसी पराधीनता स्वीकार नहीं कर सकता। यदि यह मानें कि मेरे पूर्वजन्मोंके कर्म, जिनसे प्रारब्धका निर्माण हुआ है, साधनके अनुकूल ही थे तो क्या उनकी सहायताके लिये वैसे ही और भी कर्म करके उनकी प्रगतिको बढ़ाना नहीं चाहिये? तात्पर्य यह कि प्रारब्ध चाहे अनुकूल हो अथवा प्रतिकूल, दोनों ही हालतोंमें हमें अपने जीवनके उद्देश्यको पूर्ण करनेके लिये अथक प्रयत्न करनेकी आवश्यकता है।

कभी-कभी ऐसा देखनेमें आता है कि जो वर्षोंसे साधनामें लगे हैं, उन्हें सिद्धि नहीं प्राप्त होती और जिन्होंने बहुत ही थोड़ा परिश्रम किया है, उन्हें थोड़े ही दिनोंमें बहुत बड़ी सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इसका कारण क्या है? पूर्वजन्मके संस्कार ही इसमें प्रधान कारण हैं। जिनके संस्कार साधनाके अनुकूल किन्तु प्रसुप्त थे और अब साधनाके संयोगसे जागृत हो उठते हैं, उन्हें अविलम्ब सिद्धि मिल जाती है। जिनके संस्कार नहीं थे, या कम थे, उनकी साधना धीरे-धीरे पूर्वसंचित कर्मोंके भाण्डारसे सामग्री संग्रह करती है और समय आनेपर, तैयारी पूरी होनेपर साधनाकी अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, जिसमें पूर्व संस्कार भस्म हो जाते हैं और वह नित्य सिद्ध वस्तु, जो विभिन्न संस्कारोंसे अलिप्त, अस्पृष्ट और अनाकलित है, प्रकट हो जाती है तथा जीव अल्पसे महान् हो जाता है। संस्कारोंसे विजडित होनेके कारण ही जीवकी दृष्टि अशुद्ध हो गयी है। वह जो कुछ देखता है, संस्काराक्रान्त दृष्टिसे ही देखता है।

इसीसे सत्य भी उसके चश्मेके रंगमें रँगा हुआ ही दीखता है। परमात्माकी बात तो अलग रही, वह अपने-आपको ही दूसरे रंगमें रँगा हुआ देखता है। संस्कारोंके इस चश्मेको, दृष्टिके एक-एक दोषको ढूँढ़-ढूँढ़कर निकाल फेंकना होगा। सत्य कर्म-संस्कारोंकी अभिव्यक्ति नहीं है। इनके धो-बहानेपर जो अवशेष रह जाता है, जो धोनेवालेका मूल स्वरूप है, जो धोनेवालेके धुल जानेपर भी रहता है, वही सत्य है और उसको ढूँढ़ निकालना ही साधना है। यह स्वयं ही करना होगा। जो आलस्य और प्रमादके भावोंसे अभिभूत हो रहे हैं, उनका अच्छा प्रारब्ध भी बाँझ हो जायगा; क्योंकि साधनाके साथ संघर्ष हुए बिना वह फलप्रसू नहीं हुआ करता। प्रारब्धरूपी बीजके अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होनेके लिये साधना एक सुसमृद्ध उर्वर क्षेत्र है और इसको तैयार करना साधकके अधीन है।

जीवका धर्म है साधना, और भगवान्‌का धर्म है कृपा। जीव जब अपने धर्मका पालन करता है, तभी वह भगवद्धर्मका अनुभव कर सकता है। जो स्वधर्मका पालन नहीं करता, वह दूसरेसे धर्मपालनकी आशा रखे—यह उपहासास्पद बात है। इसमें सन्देह नहीं कि भगवान्‌की कृपा चर-अचर, व्यक्त-अव्यक्त और जीव-अजीव—सबपर एकरस एवं अहैतुक है, उसके लिये देश, काल अथवा वस्तुका भेद नहीं है, वह अनादि कालसे अनन्त कालतक एकरस बरसती रहती है, बरसना ही उसका स्वभाव है और इस प्रकार बरसती रहती है कि जो कुछ है, वह सब उस कृपाका एक कणमात्र है; परन्तु इस सत्यका साक्षात्कार साधनाके बिना नहीं होता। हम कुछ न करें, कुछ न सोचें, परन्तु हमारी नस-नसमें कृपाकी विद्युत्-शक्ति दौड़ रही हो, हमारे रग-रगमें वही सुधा-मधुर धारा प्रवाहित हो रही हो, हमारे प्राणोंमें उसीका शक्ति-संचार हो तथा मन, बुद्धि, अहंकार—जो कुछ मैं हूँ—उसीमें डूब-उतरा रहे हों, हमारी यह स्थिति बाह्य दृष्टिसे साधना न होनेपर भी परम साधना है। और मैं तो कहता हूँ, यही सबसे बड़ी सिद्धि है। यदि इससे बड़ी कोई सिद्धि हो तो वह हमें नहीं चाहिये। परन्तु इस अनुभूतिके बिना कृपाका नाम लेकर हाथ-पर-हाथ धरके बैठ रहना आत्मवञ्चना है। स्त्रीके लिये, पुत्रके लिये, शरीरके लिये, मनोरंजनके लिये प्रयत्न हो अथवा आलस्यको ही सुख मानकर पड़े रहें, परन्तु साधनकी चर्चा चलनेपर अपनी अकर्मण्यता और आलस्यप्रियताके समर्थनमें भगवत्कृपाका नाम ले लें या उसके नामपर सन्तोष कर लें—साधना-जगत्‌में यह एक अमार्जनीय अपराध है।

सूर्यका स्वभाव है कि वह अपनी आलोक-रश्मियोंके विस्तारसे निखिल जगत्‌में नवीन चेतना और स्फूर्तिका संचार करता रहे। यदि नेत्र-दोषके कारण कोई उस प्रकाशको नहीं ग्रहण कर सके तो यह सूर्यका वैषम्य नहीं, नेत्रके रोगीका ही दोष है। इसी प्रकार भगवत्कृपा होनेपर भी, रहनेपर भी, उसको अनुभव कर सकनेकी योग्यताका अभाव दूर करना होगा। हमें साधनाके द्वारा अपने अन्तःकरणमें ऐसी पात्रता और क्षमताको उद्दीप्त करना पड़ेगा, जिसके द्वारा हम उस एकरस कृपाका अनुभव करनेमें समर्थ हो सकें। सूर्यका प्रकाश तो कोयले और आतशी शीशेपर समानरूपसे ही पड़ता है, परन्तु कोयलेपर उसका बहुत ही कम प्रभाव पड़ता है और आतशी शीशेके संयोगसे वह प्रज्वलित हो उठता है। यही बात भगवत्कृपाके सम्बन्धमें भी है। उसकी अनुभूतिके लिये साधनाके संघर्षसे चमकते हुए निर्मल और उज्ज्वल अन्तःकरणकी आवश्यकता है।

कौन नहीं जानता कि अग्नि सर्वव्यापक है। आकाशमें फैले हुए नन्हे-नन्हे जल-कण और प्रलयकी आगको भी बुझा देनेकी शक्ति रखनेवाली समुद्रकी उत्ताल तरंगें भी अव्यक्त अग्निसे शून्य नहीं हैं। यह सत्य है। परन्तु इस व्यापक अग्निके द्वारा न तो घरका अँधेरा ही दूर किया जा सकता है और न भोजन ही तैयार किया जा सकता है। यदि हम ऐसा करना चाहते हैं तो हमें साधन-सामग्रीसे अव्यक्त अग्निको व्यक्त करना पड़ता है, व्यापक अग्निको एक घेरेमें प्रज्वलित करना पड़ता है, यदि हम भगवत्कृपाके द्वारा अपने हृदयमें प्रकाश और आनन्दका अनुभव करना चाहते हैं तो हमें साधन-सामग्रीसे उसको ऐसा बनाना ही पड़ेगा कि वह उस अव्यक्त और व्यापक कृपाको मूर्त्तरूपमें अनुभव कर सके। इसीसे यह देखा गया है कि भगवत्कृपापर जिनका जितना अधिक विश्वास है, वे उतना ही अधिक साधनामें संलग्न होते हैं। वे एक क्षणके लिये भी भगवत्कृपाकी प्रतीक्षा और उसकी अनुभूति नहीं छोड़ते, छोड़ नहीं सकते; क्योंकि उनका जीवन कृपामय अतएव साधनमय हो गया है।

हृदयके अन्तर्देशमें परमात्मा और उसके बहिर्देशमें स्थूल प्रपंच है। दोनोंके मध्यमें स्थित हृदय जब स्थूल

प्रपंचका चिन्तन करता है तब क्रमश: जडभावापन्न हो जाता है और जब अन्त:स्थित चित्स्वरूप परमात्माका चिन्तन करता है, तब चिद्भावापन्न हो जाता है। हृदयको जडताके दलदलसे निकालकर चिद्भूमिपर प्रतिष्ठित करनेका प्रयत्न ही साधना है। इस प्रयत्नमें अनेकों प्रकारके स्तर और भूमिकाएँ सहज रूपसे ही आती हैं। कई साधक पहले जन्मोंमें उनमेंसे बहुत-सी अथवा कुछ भूमिकाएँ पार कर चुके होते हैं, इसलिये वर्तमान जन्ममें उन्हें उसके आगेकी ही साधना करनी पड़ती है। अधिकारभेदका भी यही कारण है। इसीसे भिन्न-भिन्न साधकोंके लिये अलग-अलग साधनाओंका निर्देश है। एक उदाहरणसे यह बात स्पष्ट की जाती है।

मान लीजिये, दो व्यक्ति भयंकर धूपमें घूम रहे हैं। एकको लू लग जाती है और एकको थोड़ी-सी गरमीका ही अनुभव होता है। पहलेको ज्वर हो आता है, दूसरा स्वस्थ रहता है। एक ही धूपका इन दोनोंपर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। इसका कारण क्या है? यही कारण है कि इनके शरीरमें रहनेवाली धातुएँ एक-सी नहीं हैं। एकमें धातु-साम्य है तो दूसरेमें वैषम्य। इसीसे एक ही धूपके दो फल होते हैं। इसी प्रकार किसीका अभिमान स्थूलशरीरमें है तो किसीका सूक्ष्मशरीरमें। इसके भी अनेकों स्तर होते हैं। जो जिस स्तरकी साधनाको पार कर चुका है, वह उसके लिये सहज होता है और जो अभी दूर है, उसमें प्रवृत्ति ही नहीं होती। जिस स्तरमें उसका अभिमान है, वहींसे साधना प्रारम्भ होती है। मनको निषिद्ध कर्मोंसे हटाकर विहित कर्मोंके स्तरमें लाना पड़ता है। विहित कर्मोंमें भी जबतक ऐहलौकिक काम्य कर्म होते हैं, तबतक स्थूलशरीरका ही अभिमान काम करता रहता है। पारलौकिक कामना होनेपर सूक्ष्मशरीरका जागरण प्रारम्भ होता है और निष्कामताके साथ ही अन्त:करणकी शुद्धि होने लगती है। यह निष्कामता भी शारीरिक कर्मके साथ, मानसिक कर्मके साथ और दोनोंसे रहित—तीन प्रकारकी होती है। पहलेका नाम कर्मयोग, दूसरेका नाम भक्तियोग और तीसरेका नाम ज्ञानयोग है। जब अन्त:करण शारीरिक और मानसिक कर्मोंसे रहित होकर निस्संकल्प जागरित रहने लगता है, तब उसे विशुद्ध सत्त्व कहते हैं। समाधियोंके समस्त भेद इसीके अन्तर्गत हैं। इसीमें वास्तविक ज्ञानका उदय होता है, जो कि स्वयं परमात्मा है। इसके पहले अपनी वासनाएँ ही, जो कि अनादि कालसे अगणित रूपोंमें दबी पड़ी रहती हैं, नाना प्रकारके रूप धारण करके आती हैं। समस्त संस्कारोंके धुल जानेपर ही परम सत्यका साक्षात्कार सम्भव है। उनको धो डालना ही साधनाओंका काम है। इनमेंसे और इनके अतिरिक्त और भी विभिन्न स्तरोंमेंसे जो जिस स्तरमें पहुँचा हुआ साधक होगा, उसको उससे भी ऊपर उठनेके लिये साधनाकी आवश्यकता होगी—चाहे उस साधनाका रूप जो भी हो।

ज्ञान साधनाका विरोधी नहीं है। वह तो उसमें रहनेवाले अज्ञानमात्रका ही विरोधी है। अज्ञानका नाश करके साधनाओं-के स्वरूपकी रक्षा करनेमें ज्ञानका जो महत्त्व है, वह कोई अनुभवी महापुरुष ही जान सकता है। साधनाओंमेंसे नीच-ऊँच भावको निकालकर विभिन्न रुचि, प्रवृत्ति और अधिकारवालोंके लिये सबको सम श्रेणीमें कर देना ज्ञानदृष्टिका ही काम है। इसलिये ज्ञानसम्पन्न पुरुष कभी किसी भी साधनाका विरोध नहीं करते और जैसे दूसरे साधकोंके द्वारा प्रयत्नपूर्वक साधनाएँ होती हैं, वैसे ही ज्ञानीके शरीरसे भी सहज रूपमें हुआ करती हैं। प्रमाद और आलस्य तो अज्ञानके कार्य हैं, जो आदर्श महात्मामें रह ही नहीं सकते। इसीसे ज्ञानके पूर्वकालमें उन्हें जिन साधनोंका अभ्यास हो जाता है, उन्हींका शरीरके त्यागपर्यन्त सदा अनुष्ठान होता रहता है। जहाँ आलस्य, प्रमाद अथवा कायक्लेशके कारण जान-बूझकर साधनोंका परित्याग किया जाता है, वहाँ तो विशुद्ध ज्ञान ही नहीं है। और ऐसी स्थितिमें दु:खकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो ही नहीं सकती।

साधनामें प्रवृत्ति ही दु:खकी आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्तिको लक्ष्य करके होती है। जबतक लक्ष्यकी सिद्धि न हो, तबतक साधनासे निवृत्त हो जाना कायरता है। सुख और दु:ख अन्त:करणमें होते हैं। इसलिये अन्त:करणको ऐसी स्थितिमें ले जाना साधनाका काम है, जिसमें उनका अनुभव ही नहीं होता। ज्ञानाभासका आश्रय लेकर अन्त:करणको सुख-दु:खमें पड़ा रहने देना अज्ञान है। ऐसा निस्संकल्प अन्त:करण, जिसमें सुख और दु:ख दोनोंके प्रति समत्व है अथवा उनकी प्राप्ति और विघातके लिये कोई स्पन्दन नहीं है, जीवन्मुक्तका अन्त:करण है; और यदि ज्ञान नहीं भी हुआ है तो साधनकी चरम सीमा अवश्य है। इसीसे ज्ञानप्राप्ति और ज्ञानरक्षा अर्थात् जीवन्मुक्तिका सुख अनुभव करनेके लिये ज्ञानसिद्धान्तमें भी साधनाकी अनिवार्य आवश्यकता स्वीकार की गयी है।

क्षीण हो रहा है क्षण-क्षण यह मनुष्य-जीवन। काल निगल जाना चाहता है अभी-अभी। सारा संसार विनाशकी ओर द्रुतगतिसे दौड़ रहा है। एक ओर यह दृश्य है तो दूसरी ओर परमानन्दस्वरूप प्रभु हमें अपनी गोदमें लेनेके लिये न जाने कबसे प्रतीक्षा कर रहे हैं और अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं। अज्ञान-निद्रामें सोया हुआ यह जीव यदि जग जाय तो यह अपनेको परमात्माकी गोदमें, उनके स्वरूपमें ही पाकर निहाल हो जाय और स्वप्नकी सारी विभीषिकाएँ निर्मूल होकर लीलाके रूपमें दीखने लगें। यह जागरण ही साधना है और यह करना ही होगा।

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।'

'उठो, जागो और बड़ोंके पास जाकर जानो।'

शा.

साधकका परम धर्म

(लेखक—श्रीदादा धर्माधिकारी)

साधक वह है, जिसने अपने साध्यतक पहुँचनेके लिये एक निश्चित मार्ग सोच-समझकर निर्धारित कर लिया हो। उसका साध्य तो निश्चित है ही। लेकिन इसके अतिरिक्त उस साध्यकी प्राप्तिका साधन भी निश्चित है। साधन-निश्चय और साधननिष्ठा ही साधककी विशेषता है। कई लोग यह कहते पाये जाते हैं कि 'साधननिष्ठाकी आवश्यकता नहीं है। एक ही साध्यके अनेक साधन हो सकते हैं और होते भी हैं। अपनी शक्ति तथा देश-काल-परिस्थितिके अनुसार जब जो साधन सुलभ हो, उस वक्त उसका प्रयोग करना चाहिये। 'साधनानामनेकता'—लोकमान्य तिलक-जैसे ज्ञानवान् कर्मयोगीका दिया हुआ सूत्र है।'

दूसरे कुछ लोग 'End justifies the means' वाली अंग्रेजी कहावतका अनुवाद करते हुए कहते हैं, '**साध्यशुद्धौ साधनशुद्धिः**'। वे कहते हैं, 'हमारा उद्देश्य और हमारी नीयत पवित्र होनी चाहिये। उस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये हम किन साधनोंको काममें लाते हैं, इसकी छान-बीन करना अनावश्यक एवं अप्रस्तुत है। धर्मका सम्बन्ध मनुष्यके उद्देश्य और अभिप्रायसे है, न कि उसकी बाह्य कृतियोंसे। धर्मकी गति स्थूल और बाह्य नहीं है। इसलिये साधनको महत्त्व देना साध्यको भुला देनेके बराबर है।'

ये दोनों पक्ष तर्कदुष्ट हैं। दोनोंमें गहरे तथा सूक्ष्म विचारका अभाव है। शास्त्रीय दृष्टि तो इनमें नामको भी नहीं है। वैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करनेपर सबसे पहले साध्य और साधनका अपरिहार्य सम्बन्ध ध्यानमें आयेगा। ईश्वरकी इस सृष्टिमें सर्वत्र नियति और व्यवस्था पायी जाती है। हम जिसे 'संयोग' या 'आकस्मिक घटना' कहते हैं, उसके पीछे भी सृष्टिके कुछ शाश्वत और अबाधित नियम होते हैं। इसीलिये श्रीअरविन्दने कहींपर कहा है—In the dispensation of an Almighty providence nothing happens by accident.' शायद उन्होंने इन्हीं शब्दोंमें न कहा हो, लेकिन इसी अर्थके शब्दोंमें कहा है।

इस सृष्टिमें साध्य-साधनका भी एक अपरिहार्य और अबाधित सम्बन्ध पाया जाता है। चाहे जिस साधनसे चाहे जो साध्य प्राप्त होता हुआ नहीं पाया जाता। अगर ऐसा होता तो सृष्टिमें कोई व्यवहार ही सम्भव न होता, जीवनकी गति कुण्ठित हो जाती और अनवस्था-प्रसंग आ जाता। सृष्टिमें कार्य-कारण-सम्बन्ध किसी-न-किसी रूपमें सर्वत्र विद्यमान है। इसीलिये हमारा जीवन और उसके आनुषंगिक व्यवहार चल सकते हैं। साध्य और साधनका भी ऐसा ही कार्य-कारण-सम्बन्ध है। हर किसी कारणमेंसे हर कोई कार्य निष्पन्न नहीं होता। पानी या तेल बिलोनेसे मक्खन नहीं निकलता। अगर मक्खनकी आवश्यकता हो तो दूध या दही ही बिलोना पड़ेगा। दही बिलोनेकी विधियाँ या उपकरण अनेक हो सकते हैं। लेकिन मुख्य साधन तो एक ही होगा—दूध या दही बिलोना।

साध्य निश्चित करनेके बाद साधननिश्चय क्रमप्राप्त है। साधननिश्चयकी सबसे पहली शर्त यह है कि वह साध्यानुकूल हो यानी उसमें हमारा अभीष्ट साध्य प्राप्त करानेकी शक्ति सन्निहित हो। अगर उसमें यह शक्ति न हो तो वह साधन बेकार है और उसे स्वीकार करना जडता तथा मूढ़ताका लक्षण है।

मतलब यह कि साध्यविवेक और साध्यनिर्णयका जितना महत्त्व है, उतना ही महत्त्व साधनविवेक और साधननिर्णयका भी है। साधन भी दो प्रकारके होते हैं—

एक साक्षात् या प्रत्यक्ष और दूसरा सहायक या अप्रत्यक्ष। प्रत्येक साध्यका साक्षात् या प्रत्यक्ष साधन खोजकर उसका नैष्ठिक आचरण करना साधकका विशिष्ट धर्म है। इसीमें उसका साधकत्व है। साधकदृष्टिकी यह विशेषता है कि वह साध्य-साधनके अचूक सम्बन्धको देखनेकी अविरत चेष्टा करती है। साध्य और साधनके अपरिहार्य सम्बन्धका पहला लक्षण यह है कि उन दोनोंमें स्पष्ट साधर्म्य होना चाहिये। साधनमें साध्यको प्रकट करनेकी शक्ति होनी चाहिये। '**कथमसतः सज्जायेत ?**'—यह प्राचीन शास्त्रकारोंका नियम यहाँपर भी लागू होता है। जिस साधनमें साध्य उत्पन्न करनेकी शक्ति न हो, अर्थात् जिसमें साध्य बीजरूपमें विद्यमान न हो, या अधिक स्पष्ट भाषामें कहें तो जिस साधनमें साध्यकी विशेषताएँ मौजूद न हों—वह साधन उपयोगी नहीं है। इस दृष्टिसे '**साधनानाम् अनेकता**' का अर्थ '**साधनानाम् अविवेकः**' या '**साधनानाम् अनिश्चयः**' नहीं है। क्योंकि किसी भी साधनका कुशलतापूर्वक प्रयोग तभी हो सकता है, जब कि उसका स्वीकार विचारपूर्वक किया गया हो और उसका हमारे निर्दिष्ट साध्यसे स्वाभाविक सम्बन्ध हो। जो साधक इस मूलभूत सिद्धान्तको भूलेगा, उसकी बुद्धि अव्यवसायात्मिका हो जायगी। वह अपनी बहुशाख बुद्धिकी अनन्त गुत्थियोंमें और अनन्त साधनोंमें उलझकर गुमराह हो जायगा।

साधननिश्चयमें साध्य-साधनके अनिवार्य सम्बन्धके बाद साधकको अपने अधिकारका विचार करना चाहिये। अधिकारमें दो अंश हैं। एक अर्थित्व और दूसरा योग्यता। अर्थित्वसे मतलब है एक निश्चित उद्देश्य सिद्ध करनेकी उत्कट अभिलाषा। जहाँ अभिलाषा या अर्थित्व ही न हो, वहाँ कोई साधन खोजने या अपनानेका सवाल ही नहीं उठना—'**प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।**' दूसरा अंश है योग्यता। साधककी शक्ति और परिस्थितिसे उसकी योग्यता मर्यादित होती है। इसलिये अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार प्रत्यक्ष साधनतक पहुँचनेके अनेक उपसाधन हो सकते हैं। परन्तु इन उपसाधनोंपर भी वे ही नियम लागू होते हैं जो कि मुख्य साधनपर। अर्थात् ये उपसाधन भी मुख्य साधनके अनुरूप होने चाहिये और उनमेंसे किसी एकके ही अपने अधिकारके अनुसार अपनाकर उसका एकाग्रतासे अनुष्ठान करना चाहिये।

एकाग्रता और निःसन्दिग्धता साधकबुद्धिके आवश्यक गुण हैं। साधकके मनमें जबतक साधनके विषयमें सन्देह रहेगा, तबतक वह अपनी सारी शक्ति लगाकर उसका आचरण नहीं कर सकता। मनःपूर्वकता और हार्दिकता कार्यकुशलताकी कुंजी है। इसलिये साधकको अपने साधनमें इतना लीन हो जाना चाहिये कि उसे साध्यकी भी सुध न रहे। क्योंकि वह यह तो जानता ही है कि साधनकी पराकाष्ठा ही साध्यप्राप्ति है। रास्तेका अन्तिम विन्दु ही तो मुकाम है न? साधनकी परिपक्व अवस्थाका ही तो नाम साध्य है न? '**तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व**' कहकर ऋषिने ब्रह्मप्राप्तिका साधन बतलाया। लेकिन इतनेहीसे उसे सन्तोष नहीं हुआ। इसलिये उसने साध्य-साधनका अभेद निर्दिष्ट करनेके लिये उक्त सूत्रमें '**तपो ब्रह्मेति**' यह अंश और जोड़ दिया। जो साधक अपनी साधनामें उत्कटतासे जुट गये, उन्होंने उसीमें साध्यप्राप्तिका अमित आनन्द पाया। साध्य और सिद्धि दौड़कर उनके पीछे आयी और उनके जीवनमें घुल-मिल गयी, लेकिन उन्हें उसका पता भी न चला। वे तो साधनाके सात्त्विक आनन्दसे मतवाले हो रहे थे। प्रह्लादसे जब कहा गया कि 'मनमाना वरदान माँग ले' तो उसने कहा कि 'जो मुक्तिके लिये भक्ति करता है '**स वै वणिक्।**' मैं कोई सौदागर नहीं हूँ। भक्ति तो मेरा स्वभाव है।' तुकारामने कहा, 'मैं मुक्ति-भुक्ति नहीं चाहता, मुझे तो साधनामें ही आनन्द आता है।' पुण्डलीकके पीछे स्वयं मुक्तिदाता आकर खड़े हो गये तो भी साधननिरत पुण्डलीकने नम्रतासे कहा कि 'इस वक्त मैं मुड़कर भी नहीं देख सकता। सेवामें लगा हूँ।'

यह है साधनपरायणताकी चरम सीमा। ये भक्त-श्रेष्ठ जानते थे कि जिस साधनाकी बदौलत हमें सिद्धि प्राप्त हुई है, उसकी महिमा अपरम्पार है। यह अविवेकी 'साधन-आग्रह' या 'साधनवाद' नहीं है। इसमें साधनको ही साध्यके सिंहासनपर हठात् बैठानेका मूढ़ प्रयास नहीं है। यह तो साध्य और साधनका वैज्ञानिक सम्बन्ध जानकर उसके अनुसार सारी शक्तियाँ साधनपर एकाग्र करनेका शास्त्रशुद्ध और युक्तिसंगत मार्ग है। साधनैकनिष्ठा ही साधकका परम धर्म है। इसीलिये स्वामी विवेकानन्दने कहा है, 'Take care of the means and the end will take care of itself'. और इस युगका अद्वितीय साधक गांधी कहता है, 'I believe that ultimately the means and the end are convertible terms.' (साधन और साध्य ऐसे शब्द हैं जो अन्ततः एक दूसरेमें परिवर्तित किये जा सकते हैं।)

यदि 'End justifies the means' (अर्थात् साधनकी निकृष्टताको साध्यकी सिद्धि उत्कृष्ट बना देती है), इसका अर्थ यह हो कि अशुद्ध साधनसे भी शुद्ध साध्य प्राप्त हो सकता है तो वह अपसिद्धान्त है। हमें उसका अर्थ ऐसा करना चाहिये कि 'जो साधन साध्यके अनुकूल हो, वही उपयुक्त है'। यदि '**साधनानाम् अनेकता**' का अर्थ '**साधनानाम् अनियमः**' हो तो वह भी भयानक अपसिद्धान्त है। एक समय एक ही साधनका सम्यक् और नैष्ठिक अनुष्ठान हो सकता है। भिन्न-भिन्न अविरुद्ध साधनोंका सह-अनुष्ठान एक परिमित सीमातक ही सम्भव और इष्ट हो सकता है। विरुद्ध साधनोंका सह-अनुष्ठान न तो सम्भव है और न वाञ्छनीय ही।

हमारे राष्ट्रिय साध्यके साधननिर्णयमें गांधीजीकी यही भूमिका रही है।

सदाचार-साधनकी परमावश्यकता

(लेखक—स्वामीजी श्रीनारदानन्दजी महाराज)

सत्पुरुषोंद्वारा प्रमाणित आचरण ही सदाचार है। सत्य, अहिंसा आदि दैवी गुणोंसे युक्त पुरुष ही सत्पुरुष है। सत्पुरुषको साधु और असत्पुरुषको असाधु कहा जाता है। संसारमें दो ही प्रकारके पुरुष कहे गये हैं। भले-बुरे, सज्जन-दुर्जन, पुण्यात्मा-पापी, सुर-असुर, संत-असंत, सदाचारी और दुराचारी नामोंसे लोकमें और शास्त्रोंमें मनुष्योंको दो ही विभागोंमें विभाजित किया गया है—'**द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।**'

श्रीगीताजीमें दैवी सम्पद्से युक्त पुरुषको ही देव कहा गया है। दैवी सम्पद्का वर्णन करते हुए १६ वें अध्यायमें सम्पूर्ण सदाचारके लक्षण दिये गये हैं—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ १॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ २॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ ३॥

सदाचारी अर्थात् दैवी प्रकृतिवाला पुरुष मोक्षको प्राप्त होता है और दुराचारी अर्थात् आसुरीप्रकृतिवाला बन्धनमें पड़ा रहता है—'**दैवी संपद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।**' श्रीरामायणजीमें भी श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने लिखा है—

संत असंतन्हि कै असि करनी। जिमि कुठार चंदन आचरनी॥
काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥
ताते सुर सीसन्ह चढ़त जग बल्लभ श्रीखंड।
अनल दाहि पीटत घनहि परसु बदन यह दंड॥
बिषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी॥
कोमल चित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥
निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुन मंदिर सुख पुंज॥

सदाचारी पुरुषोंकी संख्या और शक्ति जैसे-जैसे क्षीण होती जाती है, वैसे-ही-वैसे संसारमें घोर अशान्ति बढ़ती जाती है और बिना समय ही प्रलयका-सा संकट आ उपस्थित होता है। ऐसे समयमें संत-सुर-रक्षक श्रीजगदीश किसी महापुरुषके द्वारा सदाचारकी रक्षा तथा वृद्धि करवाकर शान्तिकी स्थापना करते हैं और विशेष आवश्यकता होनेपर स्वयं अवतरित होकर स्वयं उत्तम पुरुषोंके आचरण करके सारे जगत्को सदाचारकी शिक्षा देकर और संसारमें पूर्ण शान्तिका साम्राज्य स्थापित करके अन्तर्हित हो जाते हैं।

असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु॥

सदाचारकी स्थापना प्राणिमात्रके लिये कल्याणप्रद है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी मनुष्योंके लिये सर्वश्रेष्ठ आचरण करनेके कारण ही मर्यादापुरुषोत्तम कहलाये। सदाचारी पुरुषोंको परिणाममें सुख तथा दुराचारी पुरुषोंको दु:ख हमेशा मिलता रहा है। सभी इतिहास-पुराण इसके साक्षी हैं। अतएव वर्तमान कालमें भी प्रत्येक समाजमें सदाचारकी स्थापनासे ही सुख-शान्ति मिल सकती है। प्राय: यह सभीके अनुभवमें आ रहा है कि सदाचारी पुरुषके प्रति सबकी श्रद्धा होती है और श्रद्धेय पुरुषका ही प्रभाव संसारमें अधिक समयतक टिकता है। कला-

कौशल, भौतिकविद्या, अथवा शारीरिक बलका प्रभाव क्षणिक होता है।

जो मन, वाणी और शरीरसे सदाचारी है वही सदाचारी है। केवल वाणी या क्रियाका सदाचार दम्भमें परिणत हो जाता है, जिसके प्रकट होते ही पुरुष घृणाका पात्र बन जाता है और परिणाममें दु:खभोग करता है।

जिस समय श्रीहनुमान्‌जी लंकामें संत-असंतोंकी परीक्षा कर रहे थे, उन्हें प्रथम ऐसा प्रतीत हुआ कि यहाँके निवासी सभी सदाचारी हैं; कारण यह कि सबके यहाँ वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तप नित्य होता था और पुन: हार्दिक श्रद्धा देखनेपर ज्ञात हुआ कि सब लंकानिवासी अहिंसा, सत्य और दयासे शून्य हैं।

दया, शौच और सत्य, अहिंसा आदि दैवीगुणोंका अभाव देखकर हनूमान्‌जीने निश्चय कर लिया कि ये सभी राक्षस हैं, इनसे मैत्री करनेसे अवश्य हानि है। अधिक खोजनेपर एक गृह राम-नामसे अंकित मिला तथा रामनामका उच्चारण करते विभीषण मिले और जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि इनका मन भी शुद्ध है, ये दया, शौच आदि दैवीगुणोंसे संयुक्त हैं, और साधु हैं, तभी हनूमान्‌जीने एक विभीषणको अपना सहायक बनाना निश्चय किया।

राम राम तेहिं सुमिरन कीन्हा। हृदयँ हरष कपि सज्जन चीन्हा॥
एहि सन हठि करिहउँ पहिचानी। साधु ते होइ न कारज हानी॥

अहिंसा, सत्य, शौच, दया इत्यादि गुणोंका स्थान अन्त:करणमें है और इन दैवीगुणोंकी परीक्षा दैवीप्रकृतिसम्पन्न शुद्ध अन्त:करणवाला पुरुष ही कर सकता है। सदाचारके अन्तरङ्ग साधन ही मुख्य हैं, बहिरंग गौण हैं। बहिरंग साधन सरल होनेके कारण उनमें सबकी अतिशीघ्र प्रवृत्ति होती है। बहिरंग गौण साधनोंका लक्ष्य अन्तरंग अहिंसा, सत्य आदिकी वृद्धि करना है—इस बातको भूल जानेके कारण और आसुरी प्रकृति न त्यागनेके कारण प्राय: बहिरंग साधन दम्भमें परिणत हो जाते हैं। कालनेमिके बहिरङ्गसाधन उत्तम साधुके समान थे। वेष, क्रिया, वाणीमें वह पूरा साधु प्रतीत होता था। परन्तु आसुरी प्रकृति हृदयस्थ होनेके कारण श्रीहनूमान्‌जीने उसका वध करनेमें संकोच न किया। आसुरी प्रकृतिवालोंको बाह्य आचरणोंके कारण प्रथम पूजित, पुन: भ्रष्ट और नष्ट होते देखकर बहिरंग साधनोंपर जनताकी घोर अश्रद्धा हो गयी है तथा जिन ग्रन्थोंने बहिरंग साधनोंकी महिमा गायी है, उनके वचनोंमें विश्वास कम हो गया है! यदि शास्त्रमर्मज्ञ, अनुभवी, गुणातीत पथ-प्रदर्शकके द्वारा बहिरंग साधनोंमें लगे हुए साधकको शनै:-शनै: अन्तरंग साधनोंकी ओर अग्रसर करके एवं साधनाके सफल होनेपर सफलताके अभिमानसे सुरक्षित किया जाय तो साधक कृतकृत्य हो सकता है। ऐसा एक ही साधक सहस्रों नास्तिकोंको आस्तिक बना सकता है। जब श्रीनारदजीको अपने साधनमें सिद्धि देखकर अभिमान हुआ, भगवान्‌ने लीला करके उस अभिमानको दूर करके उन्हें कृतकृत्य किया। श्रीकाकभुशुण्डिजी पूर्वजन्ममें शूद्र-शरीर पाकर नाम-जप तो करते ही थे, परन्तु नीतिकी और सदाचारकी आवश्यकता नहीं समझते थे। इसी कारण गुरुके उपदेशकी बार-बार अवहेलना करते थे।

गुरु नित मोहि प्रबोध दुखित देखि आचरन मम।
मोहि उपजइ अति क्रोध दंभिहि नीति कि भावई॥

शंकरभगवान् भी इस अनीतिको सहन न कर सके और उन्होंने अन्तमें दण्ड देकर ही इस अभिमान और अनीतिसे काकभुशुण्डिजीको मुक्त किया।

तमोगुणीको तमोगुणी पदार्थ ही प्रिय होते हैं और तमोगुणी पदार्थोंके सेवनसे तमोगुण ही बढ़ता है, जिससे बन्धन और दृढ़ हो जाता है। जब कभी तमोगुणी पुरुष रजोगुणी पुरुषके प्रभावसे प्रभावित हो जाता है, तब वह रजोगुणी पदार्थोंका सेवन करता है। रजोगुणी पदार्थोंके सेवनसे वह कुछ समयमें रजोगुणी बन जाता है और ऐसा रजोगुणी पुरुष आगे चलकर सात्त्विक पुरुषके प्रभावसे प्रभावित होकर सात्त्विक पदार्थोंका सेवन करने लगता है और कुछ समयतक लगातार सात्त्विक पदार्थोंके सेवनसे सत्त्वगुणी बन जाता है। सत्त्वगुणी पुरुष ही ज्ञान और भक्तिके साधनोंमें प्रवृत्त होकर गुणातीत अथवा जीवन्मुक्त हो जाता है और सब प्रकारके संशयोंसे छूट जाता है। शास्त्रोंमें गुणातीतको ही स्थितप्रज्ञ, भगवद्भक्त, ज्ञानी या जीवन्मुक्त आदि नामोंसे सम्बोधित किया गया है। इनके लक्षणोंमें कोई खास भेद नहीं पाया जाता—

स्थितप्रज्ञ—**य: सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।**
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

(गीता २। ५७)

भगवद्भक्त—**तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।**
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥
(गीता १२। १९)

गुणातीत—**मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।**
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥
(गीता १४। २५)

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥
(गीता १४। १९)

जीवन्मुक्त—**यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।**
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥
(गीता ५। २८)

सदाचारके द्वारा ही तमोगुणीसे रजोगुणी बनता है और क्रमशः सदाचारके पालनसे रजोगुणीसे सत्त्वगुणी और सत्त्वगुणीसे गुणातीत बन जाता है। श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके तेरहवें अध्यायमें लिखा है कि गुणपरिवर्तनमें दस पदार्थ कारण होते हैं। गुणपरिवर्तनसे आचरणमें और स्वभावमें परिवर्तन होता है, क्योंकि कारणके सुधरनेसे कार्य स्वतः ठीक हो जायगा। वे दस पदार्थ ये हैं—

आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः॥

'शास्त्र, जल, जनसमुदाय, स्थान, समय, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार—ये दस पदार्थ गुणपरिवर्तन-में हेतु हैं।'

ये पदार्थ सत्त्वगुणी, तमोगुणी और रजोगुणी—तीनों प्रकारके होते हैं, जिनकी पहचान संतों तथा सद्ग्रन्थोंद्वारा हो सकती है।

साधनमार्गमें उन्नति चाहनेवालेके लिये परमावश्यक है कि वह सदाचारकी निरन्तर वृद्धि करते हुए तमोगुणी और रजोगुणी पदार्थोंको छोड़कर सत्त्वगुणी पदार्थोंका ही सेवन करता रहे। इस प्रकार राजसी और तामसी प्रकृतिवाले पुरुष सात्त्विक बन सकते हैं। जिन पुरुषोंको यह भ्रम हो कि तामसी या राजसी प्रकृतिवाले पुरुषोंके स्वभावमें परिवर्तन हो ही नहीं सकता, वे इस साधनको आचरणमें लावें तो उनका भ्रम दूर हो सकता है। वर्तमानमें अनेकों साधक इसके प्रयोगसे सुधर गये हैं और सुधर रहे हैं। दुर्गुणोंको छुड़ानेके लिये अपराधियोंको दण्ड देनेके बजाय यदि इन दस पदार्थोंका संशोधन करके सेवन कराया जाय तो दुर्गुणी भी सदाचारी बन सकते हैं। सदाचारके साधनके प्रचारसे संसारमें सुख-शान्तिकी बहुत कुछ वृद्धि शीघ्र हो सकती है। सदाचारका प्रचार सदाचारी पुरुष ही कर सकते हैं। सदाचारके प्रचारकी प्रत्येक समाजमें परम आवश्यकता है।

योगचतुष्टय

(लेखक—एक एकान्तवासी महात्मा)

(१) मन्त्रयोग

योगसाधनका रहस्य दर्शनोंमें महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शनमें, महर्षि भरद्वाजकृत कर्ममीमांसादर्शनमें और मन्त्रयोगसंहिता, हठयोगसंहिता, लययोगसंहिता, राजयोग-संहिता तथा पुराणोंमें और तन्त्रोंमें विस्तृतरूपसे वर्णित है। योगसाधनकी चार अलग-अलग शैलियाँ हैं। उनमें मन्त्रयोग प्रथम है। उसके महर्षि नारद, पुलस्त्य, गर्ग, वाल्मीकि, भृगु, बृहस्पति आदि आचार्य हुए हैं।

मन्त्रयोगका सिद्धान्त यह है कि परमात्मासे भाव, भावसे नाम-रूप और उसका विकार तथा विलासमय यह संसार है। इसलिये जिस क्रमके अनुसार सृष्टि हुई है, उसके विपरीत मार्गसे ही लय होगा, यह निश्चय है। अर्थात् परमात्मासे भाव और भावसे नाम-रूपद्वारा जब सृष्टि हुई है, जिससे समस्त जीव संसार-बन्धनमें आ गये हैं, तो यदि मुक्तिलाभ करना हो तो प्रथम नाम-रूपका आश्रय लेकर, नाम-रूपसे भावमें और भावसे भावग्राही परमात्मामें चित्तवृत्तिका लय होनेपर ही मुक्ति होगी। इसलिये नारदादि महर्षियोंने नाम और रूपके अवलम्बनसे साधनकी विधियाँ बतलायी हैं; इसीका नाम मन्त्रयोग है। यथा योगशास्त्रमें:—

नामरूपात्मिका सृष्टिर्यस्मात्तदवलम्बनात्।
बन्धनान्मुच्यमानोऽयं मुक्तिमाप्नोति साधकः॥
तामेव भूमिमालम्ब्य स्खलनं यत्र जायते।
उत्तिष्ठति जनः सर्वोऽध्यक्षेणैतत्समीक्ष्यते॥
नामरूपात्मकैर्भावैर्बध्यन्ते निखिला जनाः।
अविद्याग्रसिताश्चैव तादृक्प्रकृतिवैभवात्॥
आत्मनः सूक्ष्मप्रकृतिं प्रवृत्तिं चानुसृत्य वै।
नामरूपात्मनोः शब्दभावयोरवलम्बनात्॥

'सृष्टि नाम-रूपात्मक होनेके कारण नाम-रूपके अवलम्बनसे ही साधक सृष्टिके बन्धनसे अतीत होकर मुक्तिपद प्राप्त कर सकता है। जिस भूमिपर मनुष्य गिरता है, उसी भूमिके अवलम्बनसे वह पुनः उठ सकता है—यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है। नाम-रूपात्मक विषय जीवको बन्धनयुक्त करते हैं, नाम-रूपात्मक प्रकृति-वैभवसे जीव अविद्याग्रस्त हुए रहते हैं; अतः अपनी-अपनी सूक्ष्म प्रकृति और प्रवृत्तिकी गतिके अनुसार नाममय शब्द तथा भावमय रूपके अवलम्बनसे जो योगसाधन किया जाय, उसको मन्त्रयोग कहते हैं।' मन्त्रयोगका विस्तार और महिमा सबसे अधिक है। हिंदू-जातिकी मूर्तिपूजा और पीठविज्ञान मन्त्रयोगके अनुसार ही सिद्ध होते हैं। मन्त्रयोग-साधन-प्रणालीके अनेक अंग हैं। उनमेंसे मन्त्रयोगके ग्रन्थोंमें निम्नलिखित अंग मुख्य बतलाये हैं।

भवन्ति मन्त्रयोगस्य षोडशाङ्गानि निश्चितम्।
यथा सुधांशोर्जायन्ते कलाः षोडश शोभनाः॥
भक्तिः शुद्धिश्चासनं च पञ्चाङ्गस्यापि सेवनम्।
आचारधारणे दिव्यदेशसेवनमित्यपि॥
प्राणक्रिया तथा मुद्रा तर्पणं हवनं बलिः।
यागो जपस्तथा ध्यानं समाधिश्चेति षोडश॥

'चन्द्रकी सोलह कलाओंकी तरह मन्त्रयोग भी सोलह अंगोंसे पूर्ण है। ये सोलह अंग इस प्रकार हैं—भक्ति, शुद्धि, आसन, पंचांगसेवन, आचार, धारणा, दिव्यदेशसेवन, प्राणक्रिया, मुद्रा, तर्पण, हवन, बलि, याग, जप, ध्यान और समाधि।' नाना शास्त्रोंमें इन सोलह अंगोंका विस्तृत वर्णन पाया जाता है। भक्तिका विस्तार तो सभी भक्ति-शास्त्रोंमें पाया जाता है। शुद्धिके अनेक भेद हैं। यथा—किस दिशामें मुख करके साधन करना चाहिये, यदि दिक्शुद्धि है; कैसे स्थानमें बैठकर साधन करना चाहिये, यह स्थानशुद्धि है; स्नानादिद्वारा शरीरशुद्धि और प्राणायामादिद्वारा मनःशुद्धि होती है। कैसे आसनपर बैठना चाहिये—जैसे कि चैलासन, मृगचर्मासन, कुशासनादि—यह आसन-शुद्धि है। अपने इष्टकी गीता, सहस्रनाम, स्तव, कवच और हृदय—ये पाँचों पञ्चाङ्ग कहलाते हैं। आचारके तन्त्र और पुराणोंमें अनेक भेद कहे गये हैं। मनको बाहर मूर्ति आदिमें लगानेसे अथवा शरीरके भीतर स्थान-विशेषोंमें मनके स्थिर रखनेको धारणा कहते हैं। जिन सोलह प्रकारके स्थानोंमें पीठ बनाकर पूजा की जाती है, उनको दिव्यदेश कहते हैं। यथा—मूर्धास्थान, हृदयस्थान, नाभिस्थान, घट, पट, पाषाणादिकी मूर्तियाँ, स्थण्डिल, यन्त्र आदि। मन्त्रशास्त्रमें प्राणायामोंके अतिरिक्त शरीरके नाना स्थानोंमें प्राणको ले जाकर साधन करनेकी आज्ञा है। ये सब साधन प्राणक्रिया कहलाते हैं। न्यास आदि इसीके अन्तर्गत हैं। मन्त्रयोगमें अपने-अपने इष्टदेवके प्रसन्न करनेकी जो चेष्टाएँ हैं, वे मुद्रा कहलाती हैं; यथा—शंखमुद्रा, योनिमुद्रा आदि। पदार्थविशेषद्वारा इष्टदेवका तर्पण किया जाता है। अग्निमें आहुति देनेको हवन कहते हैं। बलि तीन प्रकारकी होती है—यथा आत्मबलि अहंकारादिकी। इन्द्रियोंकी बलि तथा काम-क्रोधादिकी बलि, ये सब अन्तर्बलि हैं। बहिर्बलिमें सात्त्विक बलि फलादिकी और राजसिक-तामसिक बलि पशुकी होती है। अन्तर्याग और बहिर्यागभेदसे याग दो प्रकारका होता है। अपने इष्टके नामके जपको जप कहते हैं। जप भी वाचनिक, उपांशु और मानसिकभेदसे तीन प्रकारका होता है। इष्टके रूपके ध्यानको मनके द्वारा करनेसे जो साधन होता है, उसको 'ध्यान' कहते हैं। इष्टके रूपका ध्यान करते-करते अपनेको भूल जानेसे जो एक अवस्था होती है, उसे मन्त्रयोगमें 'महाबोधसमाधि' कहते हैं। यही मन्त्रयोगसमाधि है।

(२)
हठयोग

जैसे मन्त्रयोगके साधनोंमें नाम-रूपके अवलम्बनसे साधनकी विशेषता है, उसी प्रकार केवल स्थूलशरीरके अधिक अवलम्बनसे चित्तवृत्तिनिरोध करके योगसाधनकी प्रणाली हठयोगमें चलायी गयी है। महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शनमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—इस प्रकारसे श्रीभगवान्के निकट पहुँचनेके लिये साधनकी आठ पैड़ियाँ बतलायी गयी हैं। ये उत्तरोत्तर एक दूसरेसे ऊँची हैं। बहिरिन्द्रियोंपर प्रभाव रखनेको 'यम' कहते हैं। अन्तरिन्द्रियोंपर प्रभाव रखनेको 'नियम' कहते हैं। योगसाधनके लायक शरीर बनानेको 'आसन' कहते हैं। प्राण और अपान वायुपर प्रभाव डालकर उनको योगसाधनोपयोगी बनानेको 'प्राणायाम' कहते हैं। मनको बाहरसे खींचकर भीतरकी ओर लानेको 'प्रत्याहार' कहते हैं। भीतरमें मनको ठहरा रखनेको 'धारणा' कहते हैं। इष्टरूपी ध्येयमें मनके लगा रखनेको 'ध्यान' कहते हैं और इष्टमें मनको लीन करके अपनेको भूल जानेको 'समाधि' कहते हैं। यही 'अष्टाङ्गयोग' का सार है। इनमेंसे चार अंग बाहरके हैं और चार अंग भीतरके हैं। इन

आठोंका बहुत कुछ विस्तार है। उन विस्तारोंमेंसे मन्त्र, हठ, लय और राज—इन चार श्रेणीके साधनोंमें इन आठों अंगोंमेंसे किसीमें किसी अंगपर अधिक ध्यान दिया है और किसी-किसी साधनमें किसी-किसी दूसरे अंगपर विशेष ध्यान दिया है। शास्त्रोंमें कहा गया है कि महर्षि मार्कण्डेय, भरद्वाज, मरीचि, जैमिनि, पाराशर, भृगु, विश्वामित्र आदिकी कृपासे इस कल्पमें हठयोगका विस्तार हुआ है। जब देखा जाता है कि सूक्ष्मशरीरके तीव्र संस्कारसे उत्पन्न हुए कर्मोंके भोगका आश्रयरूपी जीवका स्थूलशरीर बनता है, अर्थात् सूक्ष्मशरीरके भावके अनुरूप ही स्थूलशरीरका संघटन होता है तथा सूक्ष्मशरीर और स्थूलशरीर एक ही सम्बन्धयुक्त होकर रहते हैं, तब इसमें क्या बाधा है कि स्थूलशरीरके कार्योंके द्वारा सूक्ष्मशरीरपर आधिपत्य नहीं किया जा सकता? फलत: अधिकारिविशेषके लिये स्थूलशरीरप्रधान योगक्रियाओंका आविष्कार योगशास्त्रमें किया गया है, जिनके द्वारा साधक प्रथम अवस्थामें स्थूलशरीरकी क्रियाओंका साधन करता हुआ स्थूलशरीरपर सम्पूर्ण आधिपत्य कर लेता है और क्रमश: उस शक्तिको अन्तर्मुख करके उसके द्वारा सूक्ष्मशरीरको वशमें लाकर चित्तवृत्तिनिरोधके द्वारा परमात्माका साक्षात्कार करनेमें समर्थ होता है। इसी योगप्रणालीको हठयोग कहते हैं।

मन्त्रयोगमें जिस प्रकार भावपूर्ण स्थूल ध्यानकी विधि है, हठयोगमें वैसे ही ज्योति:कल्पनारूप ज्योतिर्ध्यान करनेकी विधि रखी गयी है। अन्तर्जगत्के पवित्र भावोंको आश्रय करके जिस प्रकार नाना देव-देवियोंके ध्यानके लिये मन्त्रयोगमें उपदेश है, उसी प्रकार परमात्माको सब ज्योतियोंका ज्योति:स्वरूप जानकर उनके ज्योतिर्मय रूपकी कल्पना करके ध्यानका अभ्यास करनेकी व्यवस्था हठयोगमें है। मन्त्रयोग-समाधिमें नाम-रूपोंकी सहायतासे समाधि-लाभ करनेकी साधन-प्रणाली वर्णित है और हठयोगमें वायुनिरोधके द्वारा मनका निरोध करके समाधिलाभ करनेकी विधि है। मन्त्रयोग-समाधिको 'महाभाव' और हठयोगसमाधिको 'महाबोध' समाधि कहा जाता है। हठयोगके अंगोंका वर्णन इस प्रकार है:—

षट्कर्मासनमुद्रा: प्रत्याहारश्च प्राणसंयाम:।
ध्यानसमाधी सप्तैवाङ्गानि स्युर्हठस्य योगस्य॥

'षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि—हठयोगके ये सात अंग हैं।' इन सब अंगोंके क्रमानुसार साधनद्वारा क्या-क्या फलप्राप्ति होती हैं, उसका योगशास्त्रमें वर्णन है—

षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद् दृढम्।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता॥
प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मन:।
समाधिना त्वलिप्तत्वं मुक्तिश्चैव न संशय:॥

'षट्कर्मद्वारा शरीरशोधन, आसनके द्वारा दृढ़ता, मुद्राके द्वारा स्थिरता, प्रत्याहारसे धीरता, प्राणायाम-साधनद्वारा लाघव, ध्यानद्वारा आत्माका प्रत्यक्ष और समाधिद्वारा निर्लिप्तता तथा मुक्तिलाभ अवश्य होता है।' इस सब मानसिक और आध्यात्मिक लाभोंके सिवा हठयोगके प्रत्येक अंग और उपांगके साधनद्वारा शारीरिक स्वास्थ्यविषयक भी विशेष लाभ होता है, जो योगिराज श्रीगुरुदेवसे जानने योग्य है। धौति, बस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक और कपालभाति—ये छहों क्रियाएँ षट्कर्मकी कहलाती हैं। हठयोगके अनुसार बैठकर साधन करनेके कुल तैंतीस आसन माने गये हैं। उनकी क्रियाएँ अलग-अलग हैं। हठयोगके अनुसार आठ प्रकारके प्राणायामकी क्रिया कही गयी है। उनके नाम सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और केवली हैं। इसी प्रकार हठयोगमें पच्चीस मुद्रासाधनकी विधि पायी जाती है। ये सब मुद्राएँ वायु और मनको स्थिर करनेवाली होती हैं। प्रत्याहारमें भी ये मुद्राएँ मदद करती हैं तथा ध्यानसिद्धि और समाधि देनेमें भी मदद करती हैं, जो हठयोगका अन्तिम साधन है।

(३)
लययोग

अंगिरा, याज्ञवल्क्य, कपिल, पतंजलि, वसिष्ठ, कश्यप और वेदव्यास आदि पूज्यचरण महर्षियोंकी कृपासे परम मंगलकारी तथा मन-वाणीसे अगोचर ब्रह्मपद-प्राप्तिके कारणभूत लययोगका सिद्धान्त संसारमें प्रकट हुआ है।

प्रकृति-पुरुषके शृंगारसे उत्पन्न हुए ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों एक ही हैं। समष्टि और व्यष्टि-सम्बन्धसे ब्रह्माण्ड और पिण्ड एकत्व-सम्बन्धसे युक्त हैं। अत: ऋषि, देवता, पितर, ग्रह, नक्षत्र, राशि, प्रकृति, पुरुष सबका स्थान समानरूपसे ब्रह्माण्ड और पिण्डमें है। पिण्डज्ञानसे ब्रह्माण्डज्ञान हो सकता है। श्रीगुरूपदेशद्वारा शक्तिसहित पिण्डका ज्ञान लाभ करनेके अनन्तर सुकौशलपूर्ण क्रियाद्वारा प्रकृतिको पुरुषमें लय करनेसे लययोग कहलाता है। पुरुषका

स्थान सहस्रारमें है और कुलकुण्डलिनीनाम्नी महाशक्ति आधारपद्ममें प्रसुप्त हो रही है। उसके सुप्त रहनेसे ही बहिर्मुखी सृष्टिक्रिया होती है। योगाङ्गद्वारा उसको जाग्रत् करके पुरुषके पास ले जाकर लय कर देनेपर योगी कृतकृत्य होता है, इसीका नाम 'लययोग' है—

योगशास्त्रमें इसके नौ अंग बतलाये गये हैं। यथा—

अङ्गानि लययोगस्य नवैवेति पुराविदः।
यमश्च नियमश्चैव स्थूलसूक्ष्मक्रिये तथा॥
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानञ्चापि लयक्रिया।
समाधिश्च नवाङ्गानि लययोगस्य निश्चितम्॥
स्थूलदेहप्रधाना वै क्रिया स्थूलाभिधीयते।
वायुप्रधाना सूक्ष्मा स्याद्ध्यानं बिन्दुमयं भवेत्॥
ध्यानमेतद्धि परमं लययोगसहायकम्।
लययोगानुकूला हि सूक्ष्मा या लभ्यते क्रिया॥
जीवन्मुक्तोपदेशेन प्रोक्ता सा हि लयक्रिया।
लयक्रियासाधनेन सुप्ता सा कुलकुण्डली॥
प्रबुद्ध्य तस्मिन् पुरुषे लीयते नात्र संशयः।
शिवत्वमाप्नोति तदा साहाय्यादस्य साधकः॥
लयक्रियायाः संसिद्धौ लयबोधः प्रजायते।
समाधिर्येन निरतः कृतकृत्यो हि साधकः॥

'योगतत्त्वज्ञ महर्षियोंने लययोगके नौ अंग वर्णन किये हैं। यम, नियम, स्थूल क्रिया, सूक्ष्म क्रिया, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, लयक्रिया और समाधि—ये नौ अंग लययोग-के हैं। स्थूलशरीरप्रधान क्रियाको 'स्थूल क्रिया' और वायुप्रधान क्रियाको 'सूक्ष्म क्रिया' कहते हैं। बिन्दुमय प्रकृति-पुरुषात्मक ध्यानको 'बिन्दुध्यान' कहते हैं। यह ध्यान लययोगका परम सहायक है। लययोगानुकूल अति सूक्ष्म सर्वोत्तम क्रिया, जो केवल जीवन्मुक्त योगियोंके उपदेशसे ही प्राप्त होती है, 'लयक्रिया' कहलाती है। लयक्रियाओंके साधनद्वारा प्रसुप्त कुलकुण्डलिनी नामक महाशक्ति प्रबुद्ध होकर ब्रह्ममें लीन होती है। इनकी सहायतासे जीव शिवत्वको प्राप्त होता है। लयक्रियाकी सिद्धिसे महालयरूपी समाधिकी उपलब्धि होती है, जिससे साधक कृतकृत्य हो जाता है।'

बहिरिन्द्रियोंको वशमें लानेके साधनको 'यम' कहते हैं। अन्तरिन्द्रियोंको वशमें लानेके साधनको 'नियम' कहते हैं। हठयोगकी तरह तैंतीस आसनोंमेंसे कुछ आसनोंका साधन, पच्चीस मुद्राओंमेंसे कुछ थोड़ी-सी मुद्राओंका साधन—ये सब लययोगकी 'स्थूल क्रिया कहलाती हैं। उसी प्रकार हठयोगके आठ प्राणायामोंमेंसे थोड़े-से प्राणायाम और स्वरोदय आदिकी क्रियाएँ लययोगके अनुसार 'सूक्ष्म क्रिया' कहलाती हैं। स्वरोदयके द्वारा बहुत-सी सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। लययोगका पञ्चम साधन प्रत्याहार है, जो केवल मनकी सहायतासे किया जाता है। प्रत्याहारकी सिद्धि प्रारम्भ होते ही योगी नादका सुनना प्रारम्भ कर देता है। लययोगके आठवें अंगमें योगी शरीरके अंदरके षट्चक्रोंको जानता और उनकी सहायतासे साधनका अभ्यास करता है। योगाचारियोंका मत है कि मेरुदण्डके नीचेसे लेकर मस्तकके ऊपरतक सात ऐसे स्थान हैं, जिनकी सहायतासे योगी प्रकृति-शक्तिको नीचेसे ले जाकर सातवें सहस्रदलके स्थानमें शिव-शक्तिका संयोग करके मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इस चक्रकी क्रियाके पूर्ण होनेपर मुक्तिकी प्राप्ति होती है। यह साधन धारणा-साधनसे प्रारम्भ होकर समाधि-सिद्धितक सहायता करता है। लययोगके ध्यानका नाम 'बिन्दुध्यान' है । इस प्रकारसे योगी साधन करते-करते प्रकृतिके सूक्ष्म रूपका बिन्दुरूपमें दर्शन करता है। उसीका ध्यान बढ़ाते-बढ़ाते और उसके साथ लययोगकी कुछ और भी लयक्रिया जो गुरुमुखसे प्राप्त होती है, उसका साधन करते-करते योगी अन्तिम क्रिया समाधिकी प्राप्ति कर लेता है। लययोगकी समाधिका नाम महालय है। लययोगकी विशेषताके सम्बन्धसे स्वरोदयकी क्रियाएँ, षट्चक्रके भेदनकी क्रियाएँ और अन्यान्य लयक्रियाएँ—जैसे व्योमजयी, प्रभाजयी, सुरभिजयी, अजया आदि—हैं, जिनके विषयमें लययोगसंहितामें निम्नलिखित वर्णन है—

सूक्ष्मा योगक्रिया या स्याद् ध्यानसिद्धिं प्रसाध्य वै।
समाधिसिद्धौ साहाय्यं विदधाति निरन्तरम्॥
दिव्यभावयुता गोप्या दुष्प्राप्या सा लयक्रिया।
महर्षिभिर्विनिर्दिष्टा योगमार्गप्रवर्तकैः॥
लयक्रिया प्राणभूता लययोगस्य साधने।
समाधिसिद्धिदा प्रोक्ता योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥
षट्चक्रं षोडशाधाराद्विलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
पीठानि चोनपञ्चाशज्ज्ञात्वा सिद्धिरवाप्यते॥
समाधिसिद्धिर्ध्यानस्य सिद्धिश्चाप्यनया भवेत्।
आत्मप्रत्यक्षतां याति चैतया योगविज्जनः॥

'जो सूक्ष्म योगक्रियाएँ ध्यानकी सिद्धि कराकर साधककी समाधिसिद्धिमें सहायक होती हैं, उन अलौकिक भावपूर्ण अति गोप्य और अति दुर्लभ उक्त क्रियाओंका महर्षियोंने लयक्रियाके नामसे वर्णन किया है। लयक्रिया ही लययोगका प्राण है और समाधिसिद्धिका कारण है। षट्चक्र, षोडश आधारसे अतीत व्योमपञ्चक अर उन्चास पीठ—इनको जाननेसे लययोगमें सिद्धि प्राप्त होती है। लयक्रियाके द्वारा ध्यानसिद्धि, समाधिसिद्धि होती है और आत्मसाक्षात्कार होता है।'

मन्त्रयोगमें जैसे रूपकल्पनाद्वारा ध्यान किया जाता है, हठयोगमें जैसे भगवान्का ज्योति:कल्पनाद्वारा ध्यान किया जाता है, लययोगमें वैसी कल्पना नहीं की जाती। लययोगका योगी योगसाधनके द्वारा अन्तर्जगत्में एक अलौकिक बिन्दुका दर्शन करता है। उसीको स्थिर रखकर उसीमें परमात्मा-के ध्यान करनेको 'बिन्दुध्यान' कहते हैं। यह लययोगकी विशेषता है। लययोगकी दूसरी विशेषता यह है कि लययोगी यदि चाहे तो सारे ब्रह्माण्डको अपने शरीरमें देख सकता है, क्योंकि लययोगसिद्धान्तके अनुसार समष्टिरूपी ब्रह्माण्डका व्यष्टिरूपी मनुष्यपिण्ड पूरा नमूना है। लययोगकी सहायतासे ही प्राचीन कालके पूज्यपाद महर्षिगण इस मृत्युलोकमें बैठकर सारे ब्रह्माण्डका पता लगा सकते थे।

राजयोग

सब योगसाधनोंका राजा होनेसे इसको राजयोग कहते हैं। स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है—'**राजत्वात् सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः।**' राजयोगके लक्षणके विषयमें और उसके साधन-क्रमके विषयमें शास्त्रोंमें ऐसा कहा गया है—

सृष्टिस्थितिविनाशानां हेतुता मनसि स्थिता।
तत्सहायात्साध्यते यो राजयोग इति स्मृतः॥
अन्तःकरणभेदास्तु मनो बुद्धिरहङ्कृतिः।
चित्तञ्चेति विनिर्दिष्टाश्चत्वारो योगपारगैः॥
तदन्तःकरणं दृश्यमात्मा द्रष्टा निगद्यते।
विश्वमेतत्तयोः कार्यकारणत्वं सनातनम्॥
दृश्यद्रष्ट्रोश्च सम्बन्धात्सृष्टिर्भवति शाश्वती।
चाञ्चल्यं चित्तवृत्तीनां हेतुमत्र विदुर्बुधाः॥
वृत्तीर्जित्वा राजयोगः स्वस्वरूपं प्रकाशयेत्।
विचारबुद्धः प्राधान्यं राजयोगस्य साधने॥
ब्रह्मध्यानं हि तद्ध्यानं समाधिर्निर्विकल्पकः।
तेनोपलब्धसिद्धिर्हि जीवन्मुक्तः प्रकथ्यते॥
उपलब्धमहाभावा महाबोधान्विताश्च वा।
महालयं प्रपन्नाश्च तत्त्वज्ञानावलम्बतः॥
योगिनो राजयोगस्य भूमिमासादयन्ति ते।
योगसाधनमूर्द्धन्यो राजयोगोऽभिधीयते॥

'सृष्टि, स्थिति और लयका कारण अन्त:करण ही है; उसकी सहायतासे जिसका साधन किया जाता है, उसको राजयोग कहते हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—ये अन्त:करणके चार भेद हैं। अन्त:करण दृश्य और आत्मा द्रष्टा है। अन्त:करणरूपी कारण दृश्यसे जगद्रूपी कार्य दृश्यका कार्य-कारण सम्बन्ध है। दृश्यसे द्रष्टाका सम्बन्ध स्थापित होनेपर सृष्टि होती है। चित्तवृत्तिका चाञ्चल्य ही इसका कारण है। वृत्तिजयपूर्वक स्व-स्वरूपका प्रकाश करना राजयोग कहलाता है। राजयोगसाधनमें विचारबुद्धिका प्राधान्य रहता है। विचार-शक्तिकी पूर्णताद्वारा राजयोगका साधन होता है। राजयोगके ध्यानको 'ब्रह्मध्यान' कहते हैं। राजयोगकी समाधिको 'निर्विकल्प समाधि' कहते हैं। राजयोगसे सिद्धिप्राप्त महात्माका नाम 'जीवन्मुक्त' है। महाभाव (मन्त्रयोगकी समाधि)-प्राप्त योगी, महाबोध (हठयोगकी समाधि) प्राप्त योगी वा महालय (लययोगकी समाधि)-प्राप्त योगी तत्त्वज्ञानकी सहायतासे राजयोग-भूमिमें अग्रसर होते हैं। राजयोग सब योगसाधनोंमें श्रेष्ठ है और साधनकी चरम सीमा है, इस कारण इसको राजयोग कहते हैं।'

राजयोगके साधनोंको भी शास्त्रोंमें सोलह अंगोंमें विभक्त करके वर्णन किया गया है, वे निम्नलिखित हैं—

कलाषोडशकोपेतराजयोगस्य षोडश।
सप्त चाङ्गानि विद्यन्ते सप्तज्ञानानुसारतः॥
विचारमुख्यं तज्ज्ञयं साधनं बहु तस्य च।
धारणाङ्गे द्विधा ज्ञेये ब्रह्मप्रकृतिभेदतः॥
ध्यानस्य त्रीणि चाङ्गानि विदुः पूर्वे महर्षयः।
ब्रह्मध्यानं विराड्ध्यानं चेशध्यानं यथाक्रमम्॥
ब्रह्मध्याने समाप्यन्ते ध्यानान्यन्यानि निश्चितम्।
चत्वार्य्यङ्गानि जायन्ते समाधेरिति योगिनः॥
सविचारं द्विधाभूतं निर्विचारं तथा पुनः।
इत्थं संसाधनं राजयोगस्याङ्गानि षोडश॥
कृतकृत्यो भवत्याशु राजयोगपरो नरः।
मन्त्रे हठे लये चैव सिद्धिमासाद्य यत्नतः।
पूर्णाधिकारमाप्नोति राजयोगपरो नरः॥

'षोडशकलासे पूर्ण राजयोगके षोडश अंग हैं।

सप्तज्ञानभूमिकाओंके अनुसार सात अंग हैं। ये सब विचारप्रधान हैं। उनके साधन अनेक प्रकारके हैं। धारणाके अंग दो हैं—एक प्रकृतिधारणा और दूसरी ब्रह्मधारणा। ध्यानके अंग तीन हैं—विराट्-ध्यान, ईशध्यान और ब्रह्मध्यान। ब्रह्मध्यानमें ही सबकी परिसमाप्ति है और समाधिके चार अंग हैं—दो सविचार और दो निर्विचार। इस प्रकारसे राजयोगके षोडश अंगोंके साधनद्वारा राजयोगी कृतकृत्य होता है। मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग—इन तीनोंमें सिद्धिलाभके अनन्तर अथवा किसी एकमें सिद्धिलाभ करनेके अनन्तर साधकको राजयोगका पूर्णाधिकार प्राप्त होता है।' राजयोगसंहितामें लिखा है—

साधनं राजयोगस्य धारणाध्यानभूमितः।
आरभ्यते समाधिर्हि साधनं तस्य मुख्यतः॥
समाधिभूमौ प्रथमं वितर्कः किल जायते।
ततो विचार आनन्दानुगता तत्परा मता।
अस्मितानुगता नाम ततोऽवस्था प्रजायते॥
विशेषलिङ्गं त्वविशेषलिङ्गं
लिङ्गं तथालिङ्गमिति प्रभेदान्।
वदन्ति दृश्यस्य समाधिभूमि-
विवेचनायां पटवो मुनीन्द्राः॥
हेया अलिङ्गपर्यन्ता ब्रह्माहमिति या मतिः।
निर्विकल्पे समाधौ हि न सा तिष्ठति निश्चितम्॥
द्वैतभावास्तु निखिला विकल्पश्च तथा पुनः।
क्षीयन्ते यत्र सा ज्ञेया तुरीयेति दशा बुधैः॥
समाधिसाधनं शास्त्राभ्यासतो न हि लभ्यते।
गुरोर्विज्ञाततत्त्वात्तु प्राप्तुं शक्यमिति ध्रुवम्॥

'राजयोगका साधन प्रथमावस्थामें धारणा और ध्यानभूमिसे प्रारम्भ होता है और राजयोगकी साधनभूमि प्रधानतः समाधिभूमि ही है। समाधिभूमिमें पहले वितर्क रहता है। तदनन्तर अग्रसर होनेपर विचार रहता है। उससे आगेकी अवस्थाका नाम आनन्दानुगत अवस्था है और उससे आगेकी अवस्थाका नाम अस्मितानुगत अवस्था है। विशेषलिंग, अविशेषलिंग, लिंग और अलिंग—ये चार भेद दृश्यके हैं। अलिंगतक त्यागने योग्य हैं। मैं ब्रह्म हूँ, यह भाव भी निर्विकल्प समाधिमें नहीं रहता। कोई द्वैतभाव अथवा कोई विकल्प जब शेष न रहे, वही तुरीयावस्था है। समाधिभूमिका साधनक्रम शास्त्रमें ज्ञात नहीं हो सकता। जिनको अपरोक्षानुभूति हुई है, ऐसे जीवन्मुक्त गुरु ही उसका भेद बतला सकते हैं।'

राजयोगके साधनक्रमकी समालोचना करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि प्रथम परम भाग्यवान् राजयोगी दर्शनोक्त सप्तज्ञानभूमियोंको, एकके बाद दूसरीको, इस तरह क्रमशः अतिक्रम करता हुआ, जैसे मनुष्य सोपानद्वारा छतपर चढ़ जाता है, उसी प्रकार सप्तज्ञानभूमियोंका रहस्य समझ जाता है। यही राजयोगोक्त १६ अंगोंमेंसे प्रथम सप्तांगका साधनक्रम है। उसके अनन्तर वह सौभाग्यवान् योगी सत् और चित्-भावपूर्ण प्रकृति-पुरुषात्मक दो राज्यके दर्शन करके उनकी धारणासे अनन्तरूपमय प्रपञ्चकी विस्मृति-सम्पादन करनेमें समर्थ होता है। यही राजयोगके अष्टम और नवम अंगका साधनक्रम है। उसके अनन्तर वह योगिराज परिणामशील प्रकृतिके स्वरूपको सम्पूर्णरूपसे जानकर ब्रह्म, ईश या विराट्रूपमें अद्वितीय ब्रह्मसत्ताका दर्शन करके ध्यानभूमिकी पराकाष्ठामें पहुँच जाता है। यही राजयोगोक्त १६ अंगोंमेंसे दशम, एकादश और द्वादश अंगका साधन-क्रम है। उसके अनन्तर वह परम भाग्यवान् योगाचार्य यथाक्रम वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत—इन चारों आत्मज्ञानयुक्त (ये चारों समाधिकी दशा पूर्वकथित मन्त्र-हठ-लययोगोक्त महाभाव, महाबोध, महालय समाधिसे विभिन्न हैं) समाधि-दशाओंको अतिक्रमण करते हुए स्वस्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं। इसी दशाको जीवन्मुक्त-दशा कहते हैं। यही सब प्रकारके योगसाधनोंका अन्तिम लक्ष्य है। यही उपासना-राज्यकी परिधि है और यही वेदान्तका चरम सिद्धान्त है।

योगका सोपान

(लेखक—स्वामी श्रीशिवानन्दजी सरस्वती)

मनुष्य केवल इस लोकका ही नागरिक नहीं है, बल्कि अनेक लोकोंका है। केवल इसी लोकमें संकटों और प्रलोभनोंका उसे सामना नहीं करना पड़ता, प्रत्युत अन्य लोकोंमें भी करना पड़ता है। यही कारण है कि योगशास्त्र यह बतलाता है कि साधक पहले अपने-आपको शुद्ध कर ले, अपनी इन्द्रियोंको वशमें करे, अपनी सब इच्छाओंको दूर कर दे और यममें स्थित हो और तब मूलाधारमें स्थित सुप्त कुण्डलिनीशक्तिको जगानेकी चेष्टा करे। आसन, बन्धु, मुद्रा और प्राणायामके द्वारा चित्तको शुद्ध करनेसे पहले ही यदि कुण्डलिनी जाग जाय तो अन्य लोकोंके प्रलोभन उसके सामने आ उपस्थित होंगे और उनका परिहार कर सकनेका-सा मनोबल उसमें न रहनेसे उसका बहुत ही बुरा पतन होगा। योग-सोपानकी जिस ऊँची पैड़ीपर वह गिरनेसे पहले था, वहाँतक भी पहुँचना उसके लिये फिर बहुत ही कठिन होगा। इसलिये साधनामें पहला काम यह है कि साधक अपने-आपको शुद्ध करे। जप, कीर्तन तथा सतत निःस्वार्थ सेवाके द्वारा जब वह पूर्ण शुद्धि लाभ कर लेगा तब कुण्डलिनी आप ही जाग उठेगी और सहस्रारमें स्थित कैलासपति ज्ञान, आनन्द और शान्तिके निधान भगवान् शिवका साक्षात्कार करनेको चल पड़ेगी।

योगकी सीढ़ीपर चढ़नेवाले बहुत-से साधक ऊँचाई-की एक हदतक पहुँचकर वहीं रुक जाते हैं। स्वर्ग, गन्धर्वलोक आदि उच्च लोकोंके मोह उन्हें वशीभूत करके मार्गसे भ्रष्ट कर देते हैं। साधक अपने विवेकको खोकर स्वर्गके भोगोंमें अपने-आपको भुला देते हैं। इन उच्च लोकोंके अधिवासी अनेक प्रकारोंसे साधकोंको लुभाते हैं। साधकसे कहते हैं—'हे योगी! हम तुम्हारे तप, वैराग्य, अभ्यास और दैवी गुणोंसे बहुत ही प्रसन्न हुए हैं। यही लोक, जहाँ तुम अपने पुण्यप्रताप और तपोबलसे आये हो, तुम्हारा परम विश्रामस्थान है। हम सब तुम्हारे दास हैं; जो इच्छा या आज्ञा करोगे, हम सब उसीका पालन करेंगे। स्वर्गका यह दिव्य रथ तुम्हारी सवारीके लिये है। इसपर बैठकर तुम जहाँ चाहो, जा सकते हो। ये स्वर्गकी अप्सराएँ हैं, जो तुम्हारी सेवा करेंगी। स्वर्गीय संगीत सुनाकर ये तुम्हें प्रसन्न करेंगी। यह कल्पवृक्ष है, जो तुम्हारी सब इच्छाओंको पूर्ण करेगा। इस सुवर्णपात्रमें यह स्वर्गका सोमरस है, जिसे पानकर तुम अमर होओगे। यहीं यह परमानन्द-सरोवर है, जिसमें तुम स्वच्छन्दताके साथ विहर सकते हो।' देवोंके इन मधुर, मिष्ट, पुष्पित भाषणोंसे असावधान योगी अपने मार्गसे भ्रष्ट हो जाता है। मिथ्या तुष्टिसे ही वह सन्तुष्ट होता और यह समझता है कि हम योगकी पराकाष्ठाको पहुँच गये। इस तरह वह प्रलोभनोंके वशीभूत होता है और उसकी शक्ति इतस्ततः बिखर जाती है। ज्यों ही उसका पुण्यबल समाप्त होता है, त्यों ही वह इस भूलोकमें उतर आता है। तब उसे फिरसे इस अध्यात्म-सोपानकी चढ़ाई आरम्भ करनी पड़ती है। परन्तु पूर्ण विरक्त योगी, जिसका विवेक सुदृढ है, देवताओंकी इन मीठी बातोंका टका-सा जवाब सुना देता है और धीरताके साथ अपने अध्यात्मपथपर आगे बढ़ता है और जबतक योगसोपानकी अन्तिम पैड़ी या ज्ञानपर्वतके उच्चतम शिखर अथवा निर्विकल्प समाधितक नहीं पहुँच जाता, तबतक कहीं भी नहीं रुकता। वह खूब अच्छी तरहसे जानता है कि स्वर्गके भोग मायिक, क्षणिक और निःसार हैं, इस लोकके भोगोंसे उनका किंचित् भी अधिक मूल्य नहीं है। स्वर्गके भोग बहुत सूक्ष्म, बहुत ही अधिक मादक और अतिशय होते हैं। इस कारण असावधान साधक, जिसका विवेक और वैराग्य अत्यन्त तीव्र और दृढ़ नहीं है, इन उच्च लोकोंके प्रलोभनोंमें अनायास फँस जाता है। इस भूलोकमें भी, उदाहरणार्थ पश्चिमके देशों और अमेरिकामें—जहाँ कुबेरका भाण्डार भरा है—लोग इन्द्रियोंके सूक्ष्म और आत्यन्तिक भोगोंमें लिप्त रहते हैं। इन्द्रियोंके विविध विरुद्धाचरण और उपद्रवकी वृत्तियोंको तुष्ट करनेके लिये वहाँके वैज्ञानिक प्रतिदिन ही नवीन-नवीन आविष्कार, इन्द्रिय-सुखके नये-नये प्रकार सामने ला रहे हैं। हिन्दुस्तानका कोई संयमी, सादे रहन-सहनका मनुष्य भी जब अमेरिका या यूरोपमें कुछ दिन रह जाता है तो एक दूसरा ही जीव बन जाता है। वह वहाँके प्रलोभनोंमें फँस जाता है। यह मायाका चमत्कार है, प्रलोभनका प्रभाव है, उद्दण्ड इन्द्रियोंका विलक्षण वेग है। परन्तु जिस मनुष्यका विवेक सुदृढ है, वैराग्य प्रखर है, बुद्धि स्थिर है, जिसके अंदर मोक्षकी इच्छाकी आग जल रही है, वह यथार्थमें सुखी हो सकता है, जीवनके

परम लक्ष्यतक पहुँच सकता है, परमानन्दधामको पा सकता या अनन्तके अथाह दर्शन कर सकता है।

नवधा भक्तिमें नौ विधियाँ या पैड़ियाँ हैं—श्रवण,कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन। श्रीभगवान्‌की लीलाओंको सुनना श्रवण है। उनके नामोंका गान करना कीर्तन है। उनका स्मरण स्मरण है। उनके चरणोंकी सम्मार्जनादि सेवा पादसेवन है। उन्हें पुष्पादि चढ़ाना अर्चन है। दण्डवत् साष्टांग प्रणाम करना वन्दन है। हम उनके सेवक हैं, ऐसा भाव धारण करना दास्य है। उनसे मैत्री-भाव रखना सख्य है। अपने-आपको समर्पित कर देना या शरणागत होना आत्मनिवेदन है।

श्रद्धा, विश्वास, भक्ति, रुचि (भगवन्नामके जप और गानमें), निष्ठा, रति, स्थायिभाव (प्रेममें स्थिरता) और महाभाव (प्रेममय अथवा परम प्रेम)—ये प्रेम-सोपान या भक्तियोगकी आठ पैड़ियाँ हैं। श्रद्धा, भक्ति, पूजा और तादात्म्य-भक्तियोगके चार पड़ाव हैं। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य—ये भक्तोंकी मुक्तिके चार रूप हैं।

प्राणको वशमें करके योगी धीरे-धीरे योगकी सीढ़ीपर चढ़ता है और चढ़ाईमें भिन्न-भिन्न चक्रोंमें ठहरकर विश्राम करता है। एक चक्रसे दूसरे चक्रमें, दूसरेसे तीसरेमें जाता है और प्रत्येक चक्रमें वहाँके विशेष आनन्द और शक्तिका अनुभव करता है और अन्तमें सहस्रदल कमलमें भगवान् शिवके साथ समरस होकर निर्विकल्प समाधिमें प्रवेश करता है। इस सोपानकी सात पैड़ियाँ जो सात चक्र हैं, वे ये हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार।

हठयोगमें प्राणायामकी चार अवस्थाएँ हैं—आरम्भा-वस्था, घटावस्था, परिचयावस्था और निष्पत्त्यवस्था।

नादयोग या लययोगमें योगी सिद्धासन या पद्मासन अथवा सुखासनसे बैठकर षण्मुखी (वैष्णवी) मुद्राका साधन करता और दाहिने कानसे अनाहत नाद सुनता है। इस प्रकार जो नाद उसे सुन पड़ता है, उससे बाहरके शब्दोंके लिये उसके कान बहिरे हो जाते हैं। पहले-पहल समुद्रका गरजना, मेघोंकी गड़गड़ाहट, नगारेके शब्द-जैसा गर्जन सुन पड़ता है, फिर मध्य अवस्थामें घण्टानाद, वंशीध्वनि, वीणाके स्वर अथवा मधु-मक्खियोंकी भनभनाहट-जैसा प्रतीत होता है। योगी अपना ध्यान स्थूल शब्दसे हटाकर सूक्ष्ममें और सूक्ष्म शब्दसे हटाकर स्थूलमें लगा सकता है।

मन जब किसी एक शब्दपर स्थिर जो जाता है, तब वह उसीमें स्थित होकर उसीमें लीन हो जाता है। मन शब्दके साथ वैसे ही एक हो जाता है जैसे दूधके साथ पानी; और तब बड़ी शीघ्रतासे सनातन ब्रह्ममें लीन हो जाता है। योगी इस अनाहत नाद या शब्दपर अपने मनको एकाग्र करनेका सतत अभ्यास करे। इससे नाद मनका विनाश कर देता है। शब्द अक्षरमें लीन होता है और अन्तमें योगी अशब्द परब्रह्म अर्थात् सनातन आनन्दके परम धामको प्राप्त होता है।

अष्टांगयोगकी सीढ़ीकी आठ पैड़ियाँ या आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यह अपने-आपको वशमें रखना है। नियम नित्य धर्म अथवा नित्यकी आध्यात्मिक दिनचर्याका पालन है। आसन शरीरको विशेष स्थितिमें रखना है। प्राणायाम प्राणकी गतिको वशमें करना है। प्रत्याहार इन्द्रियोंको विषयोंसे खींचकर लौटाना है। धारणा एकाग्रता है। ध्यान एकाग्र होकर ध्येयविषयमें स्थिर होना है। समाधि परम बोध है।

महर्षि पतंजलिके राजयोगकी समाधि सात प्रकारकी है—सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार, सास्मिता, सानन्द और असम्प्रज्ञात। प्रथम छः प्रकारकी समाधि सविकल्प समाधि है और सातवीं निर्विकल्प। राजयोगकी मधुमती, मधुप्रतीक, विशोका और संस्कारशेष प्रभृति विविध भूमिकाएँ हैं। क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ, एकाग्र और निरोध—ये पाँच राजयोगमें मनकी भूमिकाएँ हैं।

ज्ञानयोग-सोपानकी सात पैड़ियाँ अथवा सात भूमिकाएँ हैं—शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभावनी और तुरीया। शुभेच्छा संसार-सागरके पार होकर आत्मज्ञान लाभ करनेकी समुचित इच्छा है। ब्रह्मके स्वरूपका अनुसन्धान विचारणा है। मनका सूक्ष्म होना तनुमानसा है। विशुद्धता सत्त्वापत्ति है। असंग—अनासक्ति असंसक्ति है। तत्त्वमसि आदि महावाक्योंका मनन-निदिध्यासन पदार्थाभावनी है। परम बोध तुरीया है। स्फुरणा, हर्ष, आदेश, प्रत्यक्ष और परमानन्द—ज्ञानयोगमें आध्यात्मिक अनुभूतिकी पाँच भूमिकाएँ हैं। तमस्, भ्रम, अनन्ताकाश, प्रकाश और अनन्त अद्वयबोध भी ज्ञानयोगकी अनुभूतिकी विशेष भूमिकाएँ हैं।

शुद्धि, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, एकीभाव और लय—वेदान्तसाधनाकी छः अवस्थाएँ हैं। शब्दानुविद्ध,

शब्दाननुविद्ध, दृश्यानुविद्ध, दृश्याननुविद्ध, बाह्य निर्विकल्प, आन्तर निर्विकल्प, अद्वैतभावनारूप समाधि, अद्वैतावस्थानरूप समाधि—ये वेदान्तियोंकी विभिन्न प्रकारकी समाधियाँ हैं। पहली चार समाधियाँ सविकल्प हैं और अन्तिम चार निर्विकल्प।

कर्मयोगी सतत निष्काम कर्मके द्वारा अपने चित्तको शुद्ध करता है। उसका यह कर्मार्चन नारायणभाव या आत्मभावसे होता है। उसके कर्ममें उसकी फलाकांक्षा नहीं होती। वह अहंकाररहित होकर कर्म करता है। वह यह अनुभव करता है कि मैं केवल एक निमित्त अथवा भगवान्‌के हाथोंमें एक करणमात्र हूँ। वह अपने सब कर्म और उनके फल भगवान्‌को समर्पित करता है। वह प्रत्येक कर्ममें अपनी नीयतकी जाँच करता और उसे स्वार्थरहित बनाता है। सबके मुखोंकी ओर देखते हुए वह ईश्वरको देखता है। अन्तःस्थित ईश्वरकी ही उसे सर्वत्र प्रतीति होती है। वह यह समझता है कि सारा विश्व विश्वपतिका आविर्भाव है, सारा विश्व वृन्दावन है। प्रत्येक स्थितिके अनुकूल बननेका वह अभ्यासी होता है। जो कुछ शरीरतः अन्तःकरणतः और अध्यात्मतः उसके पास है उसे वह सबको बाँटकर लेता है। शरीरनिर्वाहमात्रके लिये जो कुछ आवश्यक है, उतनी ही सामग्री वह अपने पास रखता है। ब्रह्मचर्यके पालनमें वह बड़ी कड़ाई रखता है। कर्म करते हुए वह मनसा 'ब्रह्मार्पण' करता रहता है। वह अपने सब कर्म भगवानको अर्पण करता है और सोते समय भगवान्‌से इस प्रकार प्रार्थना करता है कि 'भगवन्! आज जो कुछ मैंने किया, तुम्हारे लिये किया है। उसे तुम प्रसन्न होकर स्वीकार करो।' इस प्रकार वह अपने कर्मोंके फलोंको जलाता है और कर्मोंसे नहीं बँधता। कर्ममें वह मुक्ति-लाभ करता है। निष्काम कर्मयोगके द्वारा उसका चित्त शुद्ध होता है और चित्तशुद्धिसे वह आत्मज्ञानको प्राप्त होता है। देशसेवा, समाजसेवा, दीनसेवा, रुग्णसेवा, मातृ-पितृ-सेवा, गुरुसेवा, सत्पुरुषसेवा—ये सब सेवाएँ कर्मयोग हैं।

गीताके मतसे योगी अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायणके छः मास—इस अर्चिरादि मार्गसे ब्रह्मलोकको जाता है। उपनिषद् कहते हैं कि 'देवयानसे योगी अग्निलोकको, वायुलोकको, वरुणलोकको, इन्द्रलोकको, प्रजापतिलोकको और ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है।' (कठोपनिषद् १-३) छान्दोग्योपनिषद्‌में कहा है कि 'योगी आदित्यलोकसे चन्द्रलोकको जाता है, चन्द्रलोकसे द्युलोकको; वहाँसे अमानव पुरुष उसे ब्रह्मके समीप ले जाता है।'

मनुष्योंके स्वभाव, गुण, अधिकार भिन्न-भिन्न हैं, इस कारण योगमार्ग भी भिन्न-भिन्न हैं; पर गन्तव्यस्थान एक ही है। अन्तमें सब योगी एक ही स्थानमें आ जाते हैं। परम अनुभूति सब साधकोंकी अन्तमें एक-सी ही होती है। यह परानुभूति पुरुषका परम पुरुषमें लय होना, ब्रह्मके परमधामको प्राप्त होना है।

किसी भी योगमार्गमें एक-एक पैड़ीपर मजबूतीसे पैर रखनेके बाद ही दूसरी पैड़ीपर चढ़ना होता है। इसी क्रमसे योगकी सबसे ऊँची अन्तिम पैड़ीपर मनुष्य पहुँचता है। इस काममें कोई अधीर न हो। अधीरतासे साधकका पैर फिसलता है और उसका उन्नति-क्रम बुरी तरहसे रुक जाता है।

इसलिये ईश्वर करे आप सब लोग योगमें दृढ़ हों और धीरताके साथ निर्विकल्प समाधिके शिखरतक पहुँच जायँ और परमात्ममिलनके द्वारा परमानन्दके भागी हों।

नामका प्रताप

देखौ नाम प्रताप से सिला तिरै जल बीच॥
सिला तिरै जल बीच सेत में कटक उतारी।
नामहिं के परताप बानरन लंका जारी॥
नामहिं के परताप जहर मीरा ने खाई।
नामहिं के परताप बाल पहलाद बचाई॥
पलटू हरि जस ना सुनै ता को कहिये नीच।
देखौ नाम प्रताप से सिला तिरै जल बीच॥

—पलटू

साधन-तत्त्व

(लेखक—आचार्य श्रीबालकृष्णजी गोस्वामी महाराज)

साधन-तत्त्वके ज्ञानसे पूर्व साध्य-तत्त्वका कुछ परिज्ञान होना परमावश्यक है। साधक जिस वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छा करता है, उसे साध्य कहते है। '**भिन्नरुचिर्हि लोकः**' की उक्तिके अनुसार वाञ्छित वस्तुएँ विभिन्न प्रकारकी हो सकती हैं, किन्तु मूलवाञ्छा सबकी एक ही है—यथा '**सुखं मे भूयात्, दुःखं मे मा भूत्**' अर्थात् सुख मुझको हो, दुःख न हो। तात्पर्य यह है कि संसारमें एक कीटाणुसे लेकर ब्रह्मातक सब सुखप्राप्तिकी ही इच्छा करते हैं। अतएव सबका प्रधान साध्य सुख ही है। इस सुखरूप साध्यका स्वरूप ही प्रथम विवेचनीय है।

कुछ लोगोंका कहना है कि दुःखके अभावका नाम ही सुख है, किन्तु यह बात नहीं है। सुख और दुःख, ये दोनों भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र वेदनाएँ (feelings) हैं; जैसा कि कहा गया है—'**अनुकूलतया वेदनीयं सुखम्, प्रतिकूलतया वेदनीयं दुःखम्।** अर्थात् जो वेदना हमको प्रीतिकर प्रतीत हो, उसे सुख कहते हैं और जो अप्रीतिकर हो, उसे दुःख कहते हैं। वास्तवमें किसी वस्तुविशेषमें सुख-दुःख नहीं होता, क्योंकि एक ही वस्तु किसीको सुखदायक और किसीको दुःखदायक होती है। इन दोनोंमें सुख ही सर्ववाञ्छनीय है, अतः यही साध्यस्वरूप है।

यह अनुकूल वेदनात्मक साध्यस्वरूप सुख दो वस्तुओंके सम्मिलनसे उत्पन्न होता है और वस्तुसंयोगकी विभिन्नतासे तीन प्रकारका होता है—१-जड-जड-संयोगजन्य सुख, २-जड-चेतन-संयोगजन्य सुख, ३-चेतन-चेतन-संयोगजन्य सुख।

१- जड-जड-संयोगजन्य सुख वह है, जो हमारी जडेन्द्रियोंके साथ उनके जड विषयोंका संयोग होनेपर होता है। यह सुख अनित्य एवं नाशवान् होता है; क्योंकि जिन दो वस्तुओंके संयोगसे यह उत्पन्न होता है। वे इन्द्रिय और उनके विषय दोनों ही अनित्य एवं नाशवान् हैं। अतएव यह सुख नित्य और अविनाशी जीवका वास्तविक साध्य होनेके अयोग्य है।

२- जड-चेतन-संयोगजन्य सुख वह है, जो हमारे जडीय मन और चेतन आत्माके संयोगसे समाधिकालमें उत्पन्न होता है। यह सुख पूर्वापेक्षया अधिक कालतक स्थायी होनेके कारण किसी सीमातक साध्यरूपसे ग्रहण किया जा सकता है; किन्तु यह भी संयुक्त वस्तुओंमेंसे एक (मन)-के अनित्य एवं विनाशी होनेके कारण नित्य जीवका नित्य साध्य नहीं हो सकता।

३-चेतन-चेतन-संयोगजन्य सुख वह है, जो चेतनघन परमात्माके साथ चेतन-कण जीवात्माका संयोग होनेपर होता है। ये संयुक्त तत्त्व दोनों ही नित्य एवं सत्य हैं; अतएव इनके संयोगसे जो सुख होता है, वही नित्य जीवके नित्य साध्य स्वरूपसे स्वीकार किया जा सकता है। यहाँ इसी सुखको साध्यरूपसे स्वीकार कर साधन-तत्त्वका निर्णय किया जायगा।

साधक साध्यकी प्राप्तिके लिये जो प्रयत्न करता है, उसे साधन कहते हैं। इस साधनको दूसरे शब्दोंमें पथ या मार्ग भी कहते हैं। यह मार्ग प्रक्रियाभेदसे दो प्रकारका होता है—एक आरोही मार्ग, दूसरा अवरोही मार्ग। आरोही मार्ग उस प्रक्रियाका नाम है, जिसके द्वारा साधकको अपने साध्यतक स्वयं पहुँचना पड़ता है। यह प्रक्रिया अत्यन्त कठिन एवं भयाकुल है। अवरोही मार्ग उस पद्धतिका नाम है, जिसमें साध्य वस्तु साधकके समीप सहजमें आ जाती है। यह अति सरल एवं निर्भय है। यह विषय नीचेके इस दृष्टान्तसे स्पष्ट हो जायगा—

कल्पना करो कि एक बहुत बड़ा आमका वृक्ष है; उसकी सबसे ऊपरकी शाखामें एक पका हुआ फल लगा है, जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं। उसकी प्राप्तिके लिये हम दो ही उपाय कर सकते हैं। एक तो हम स्वयं वृक्षपर चढ़ें और सब प्रकारकी विघ्न-बाधाओंको अतिक्रम करके उस फलको प्राप्त करें। इसको आरोही मार्ग कहते हैं। और दूसरी यह है कि बिना किसी विघ्न-बाधाके वह फल सहजमें हमतक आ जाय। जैसा कि प्रायः देखा जाता है कि कोई-कोई लोग एक लंबे बाँसमें जालीकी थैली बाँधकर नीचेसे ही उस फलको तोड़कर और थैलीमें धरकर धीरेसे उतार लेते हैं। इसको अवरोही मार्ग कहते हैं।

इन दोनों मार्गोंमेंसे वर्तमान युगके साधकोंकी परिस्थितिके अनुसार कौन-सा सुगम है, यह बात निष्पक्ष होकर विचारनेसे सहज ही ज्ञात हो जायगी कि द्वितीय

अर्थात् अवरोही मार्ग ही सब प्रकारसे सुन्दर और अभय है। आरोही मार्गमें पतनका भय है, जैसा कि ब्रह्मादि देवताओंने श्रीभगवान्‌की स्तुति करते हुए कहा है—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥

'हे कमलनयन! तुम्हारे प्रति भक्तिभाव अस्त होनेके कारण जिनकी बुद्धि अशुद्ध हो गयी है, ऐसे मुक्ताभिमानी मनुष्य बड़ी कठिनतासे परमपदतक चढ़कर भी नीचे गिर जाते हैं; क्योंकि उन्होंने आपके चरणारविन्दोंका आदर नहीं किया है।' इसीके आगे अवरोही मार्गकी निर्भयता कही गयी है—

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्
भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया
विनायकानीकपमूर्द्धसु प्रभो॥

'हे प्रभो! हे माधव! आपके जिन भक्तोंका प्रेम आपमें बँधा हुआ है, वे उक्त प्रकारके मुक्ताभिमानी मनुष्योंकी तरह अपने मार्गसे कभी भ्रष्ट नहीं होते; वे तो आपके द्वारा रक्षित होकर विघ्नकारियोंके अधिपतियोंके मस्तकपर (पैर रखकर) निर्भय होकर विचरते रहते हैं।'

इन स्तुतिवाक्योंसे उक्त दोनों मार्गोंका तारतम्य स्पष्ट ही ज्ञात हो रहा है। और इनसे यह भी सिद्ध हो रहा है कि एकमात्र भगवद्‌भक्ति ही अवरोही मार्ग या सर्वसुलभ साधन है। इस भक्ति-साधनकी व्यापकता एवं महिमाका वर्णन इस छोटेसे निबन्धमें नहीं किया जा सकता—इसके लिये श्रीमद्‌भगवद्गीता, श्रीमद्‌भागवत आदि भक्ति-ग्रन्थोंकी आलोचना करनी चाहिये। यहाँ तो केवल इसका प्रकारमात्र दर्शित किया जायगा।

प्रथम तो भक्ति ही दो प्रकारकी है—एक शुद्धा भक्ति, दूसरी विद्धा भक्ति। जिसका श्रीभगवान्‌के साथ साक्षात् सम्बन्ध है, वह शुद्धा भक्ति कहलाती है और जिसका सम्बन्ध देवतान्तरोंके साथ है, वह विद्धा भक्ति कही जाती है। यहाँ विद्धा भक्तिकी आलोचना करनेकी आवश्यकता नहीं है, इस समय केवल शुद्धा भक्ति ही विवेचनीय है।

साधकके स्थितिभेदके अनुसार शुद्धा भक्तिका साधन दो प्रकारका है—एक जडदेहगत साधन, दूसरा चिद्देहगत। मायाबद्ध जीवकी जबतक देहात्मबुद्धि रहेगी, तबतक उसे जडदेहगत साधन ही करना होगा और जब इसका अनुष्ठान करते-करते मायामुक्त होकर वह भागवत तनु-लाभ करेगा, तब उसे चिद्देहगत भक्तिसाधनका अधिकार प्राप्त होगा।

जडदेहगत साधन भी दो प्रकारका है—एक स्थूलदेहगत, दूसरा सूक्ष्मदेहगत। विशेष-विशेष जडीय स्थूल स्थलोंमें श्रीभगवान्‌का अधिष्ठान मानकर उनमें तादात्म्यबोधसे श्रद्धापूर्वक जो जडीय स्थूल वस्तुओंसे भगवत्पूजन सम्पन्न किया जाता है, वह स्थूलदेहगत भक्तिसाधन है और जो मनोमयी भगवत्प्रतिमाका मनःकल्पित वस्तुओंसे अर्चन किया जाता है, वह सूक्ष्मदेहगत भक्तिसाधन है।

वैसे तो इन दोनों प्रकारके साधनोंका क्रिया-कलाप सब समान ही होता है, परन्तु साधककी देश-काल-वस्तुगत परिस्थितिके अनुसार अन्तर केवल इतना हो जाता है कि स्थूलदेहगत साधनमें कई प्रकारकी बाधाएँ आ जाती हैं और सूक्ष्मदेहगत साधनमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं होती। जैसे हम किसी वस्तुविशेषको पूजनके समय श्रीभगवान्‌के अर्पण करना चाहते हैं, किन्तु वह वस्तु इस देशमें उत्पन्न नहीं होती या इस कालमें उत्पन्न नहीं होती या उत्पन्न होनेपर भी धनाभावके कारण उसको प्राप्त करनेमें हम असमर्थ होते हैं तो हम उसे अर्पण नहीं कर सकते। मनोराज्यमें किसी भी वाञ्छित वस्तुका प्राप्त करना असम्भव नहीं है, प्रत्युत वहाँ असम्भव भी सम्भव हो जाता है। इसीसे साधन-तत्त्वके विशेषज्ञोंने स्थूलदेहगत साधनकी अपेक्षा सूक्ष्मदेहगत साधन (मानसिक उपासना)-को उत्तम बताया है।

चिद्देहगत भक्ति-साधन व्यापार बड़ा ही विचित्र और अलौकिक है। अलौकिक इसे इसलिये कहते हैं कि प्रथम तो चिद्देहमें स्थूल-सूक्ष्मका कोई भेद नहीं है; दूसरे, इसमें देह-देहीका भी अन्तर नहीं है—जो देह है वही देही है, जो देही है वही देह है। यही साधककी विदेहावस्था है। इस अवस्थामें भक्तिका साधन जडीय स्थूल-सूक्ष्म देहके समान क्रियात्मक या विचारात्मक नहीं होता, भावात्मक होता है। अर्थात् इसमें भक्तिका साधन स्वतःसिद्ध स्वरूपगत एक धर्मविशेष होता है। चिद्ददेहगत और जडदेहगत भक्ति-साधनमें इतना अन्तर होता है कि पहलेमें साधककी स्वतः प्रवृत्ति होती है

और दूसरेमें परतः प्रवृत्ति होती है। अर्थात् पहलेमें अनुराग प्रबल होता है और दूसरेमें शास्त्र-शासन प्रबल होता है। यही कारण है कि चिद्देहगत भक्ति-साधनकी शास्त्रविधि अभीतक कोई लिपिबद्ध नहीं हुई है और न हो ही सकती है। इस साधनकी विचित्रता यह है कि यह और साधनोंकी तरह अपना फल उत्पन्न कर निरस्त नहीं होता; सिद्धावस्थामें भी यह उसी तरह प्रवृत रहता है, जिस तरह साधनावस्थामें रहता है। इसका कारण यह है कि इसमें साध्य और साधन दोनो अभिन्न हैं। तात्पर्य यह है कि इस अवस्थामें साधकके साधन-कालमें जो वस्तु साधनका काम देती है, वही वस्तु सिद्धि-कालमें आस्वादनका काम देती है। इस विषयका अनुमोदन श्रीमद्भागवतके इस श्लोकसे स्पष्ट होता है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

अर्थात् 'जो मायाकी ग्रन्थिसे मुक्त आत्मामें रमण करनेवाले मुनिगण हैं, वे भी उरुक्रम भगवान्‌में अहैतुकी भक्तिका साधन करते हैं; क्योंकि श्रीहरिके गुण ही ऐसे हैं।'

साधन-तत्त्वका विवेचन एक विस्तृत विषय है। 'कल्याण' का कलेवर विपुल होनेपर भी स्थानका संकोच है, अतएव इस लघुतम लेखमें सुयोग्य सम्पादक महोदयके अनुरोधानुसार विवेचनीय विषयका केवल परिचयमात्र कराया गया है। जिन साधकोंको इस विषयमें विशेष जिज्ञासा हो, उन्हें साधन-तत्त्वके किन्हीं विशेषज्ञ गुरुदेवकी शरण ग्रहण करनी चाहिये। वे ही कृपाकर साधकके अधिकारानुरूप तत्त्वोपदेश देकर किसी सरल साधन-पथका प्रदर्शन करा देंगे।

'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'

सच्ची साधना क्या है?

(लेखक—डॉ० श्रीभगवानदासजी, एम्० ए०, डी० लिट्०)

'सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्॥ —मनु
धर्मश्चार्थश्च कामश्च त्रिवर्गोऽभ्युदयः स्मृतः।
चतुर्थः पुरुषार्थस्तु मोक्षो निःश्रेयसं तथा॥
साधयेद्या चतुर्वर्गं सैवास्ति ननु साधना।
ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य श्रान्त्वा त्रिष्वाश्रमेष्वपि।
त्रिवर्गं साधयित्वा तैराश्रमैश्चरमं विशेत्॥
अन्यथा वर्त्तमानस्तु न साध्नोत्येकमप्यसौ।
ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य तान्येवं मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः।'—मनु
अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य च सत्प्रजाः।
अनिष्ट्वा चौत्तमैर्यज्ञैर्मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः॥'—मनु
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।'— गीता
'श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।'—गीता

'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'—गीता

'तज्जपस्तदर्थभावनम्'—योगसूत्र

धर्म, अर्थ, काम—इस त्रिवर्गका नाम अभ्युदय है; मोक्षको निःश्रेयस भी कहते हैं, क्योंकि उससे बढ़कर और कोई श्रेयस नहीं। वेदमें अर्थात् सत्यज्ञान, वेदान्त, वेदके शास्त्रमें बताया है कि मानव जीवको पहले प्रवृत्तिमार्गमें रहकर, प्रवृत्त कर्म करके, त्रिवर्गका साधन करना चाहिये; और फिर चतुर्थ वर्ग मोक्षका। जिस 'साधना' से ये चारों पुरुषार्थ सधें—सिद्ध हों, वही तो सच्ची साधना है। अन्य साधनाएँ प्रायः धोखा देनेवाली हैं। यह सच्ची साधना क्या है? यह है प्रजापति, प्रजावत्सल, सर्वज्ञानमय भगवान् मनुकी आदिष्ट-निर्दिष्ट पदवी; क्रमशः एक आश्रमसे दूसरेमें, दूसरेसे तीसरेमें जाय; ब्रह्मचर्यमें सच्चा ज्ञान सीखे, गृहस्थीमें उत्तम प्रजाका उत्पादन, पालन-पोषण करे (उतनी ही सन्ततिका उत्पादन करे, जितनेका पालन-पोषण अच्छी तरह कर सके; क्योंकि वेदोंमें यह भी कहा गया है कि '**बहुप्रजाः कृच्छ्रमापद्यते', बहुप्रजाः निर्ऋतिमाविवेश**'); वनस्थीमें पारमार्थिक ज्ञानका यज्ञ मुख्यतः तथा अन्य जनताहितकर सार्वजनिक कर्मरूपी यज्ञ करे; फिर सब व्यवहारोंका न्यास करके संन्यासाश्रममें परमात्मध्यान करे। इस क्रमके विरुद्ध जो आचरण करता है, तीनों आश्रमोंमें क्रमसे ऋषि-पितृ-देवके तीन ऋण नहीं चुकाता तथा अर्थ-काम-धर्मका अर्जन नहीं करता और बालब्रह्मचारी या बालसंन्यासी आदि बनना चाहता है, वह प्रायः अधः—नीचे गिरता है। अर्थकी भावना करके जप करना उत्तम यज्ञ है।

साधनाका मनोवैज्ञानिक आधार

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम० ए०, बी० टी०)

तन धन सुखिया कोइ न देखा, जो देखा सो दुखिया रे।
चंद्र दुखी है, सूर्य दुखी है, भरमत निसि दिन जाया रे॥
ब्रह्मा और प्रजापति दुखिया, जिन यह जग सिरजाया रे।
हाटो दुखिया, बाटो दुखिया, क्या गिरस्थ बैरागी रे॥
शुक्राचार्य जनम के दुखिया, माया गर्ब न त्यागी रे।
धूत दुखी, अवधूत दुखी हैं, रंक दुखी धन रीता रे॥
कहै कबीर वोही नर सुखिया, जो यह मन को जीता रे॥

'साधना' एक आध्यात्मिक शब्द है। साधनाके द्वारा साधक आनन्द और सुखकी प्राप्तिकी आशा करता है। आनन्द और सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? इसके विषयमें अध्यात्मवाद और जडवादमें भारी अन्तर है। संसारके सभी प्राणी सुखकी आशा करते हैं और सुखकी खोजमें ही अनेक प्रकारके यत्न किया करते हैं, किन्तु स्थायी सुख किसीको प्राप्त नहीं होता। ज्यों ही हम सुखका स्पर्श करते हैं, त्यों ही वह अभावमें विलीन हो जाता है। जैसा कविवर कीट्सने कहा है—

At a touch sweet pleasure melteth.
Like unto bubbles when rain pelteth.

(जिस तरह बूँदके पड़ते हुए उसके धक्केसे पानीका बबूला फूट जाता है, उसी तरह स्पर्शमात्रसे ही सुख अभावमें विलीन हो जाता है।) जब हमें किसी इच्छित वस्तुकी प्राप्ति हो जाती है तो हम आनन्दसे फूल उठते हैं; जब वह हमारे हाथसे चली जाती है तो हम शोकातुर हो जाते हैं। इतना ही नहीं, इच्छित वस्तुकी प्राप्ति होनेपर मनमें आनन्दकी स्थिति थोड़ी देरतक रहती है; फिर अपने-आप ही मनमें बेचैनी पैदा हो जाती है। इस स्थितिको शोपेनहर महाशयने अपने सारगर्भित वाक्यमें यह कहकर प्रदर्शित किया है कि मनुष्यका मन सदा दु:ख और बेचैनीकी अवस्थामें ही इधर-से-उधर झूलता रहता है—
(Human mind swings backward and forward between ennui and pain.)

इस दु:ख और बेचैनीको हटानेके लिये भौतिक विचारवाले तत्त्ववेत्ताओंने यह मार्ग प्रदर्शित किया है कि हमें सदा ही अनेक प्रकारके सुखोंका संग्रह करते रहना चाहिये। हमें अपने-आपको ऐसा बनाना चाहिये कि जिससे हम अपने मनको संसारके हजारों कार्योंमें व्यस्त रख सकें, ताकि हमें दु:ख और सुखके सम्बन्धमें विचार करनेका अवसर ही न रहे। बरट्रैंड रसेल (Bertrand Russel) महाशयने अपनी पुस्तक 'कांक्वेस्ट ऑव हैपीनेस' (Conquest of Happiness)-में यही दिखलाया है कि मनुष्य अपने-आपको सदा किसी-न-किसी व्यवसायमें लगा करके ही सुखी रह सकता है। इसी प्रकारका सिद्धान्त १८वीं शताब्दीमें बैन्थम महाशयने इँग्लैण्डमें प्रचलित किया था।

इस प्रकारकी भौतिकताको इँग्लैंडके प्रसिद्ध लेखक कालिर्थनने शैतानका राज्य (Reign of Belzebub) कहा है। हमें एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे देखना है कि वास्तवमें सुखकी खोज साधनाके द्वारा करनी चाहिये अथवा भौतिक प्रकारसे। साधना करनेवाले व्यक्तिको आज संसारके लोग प्राय: मन्दबुद्धि समझते हैं। हम देखते हैं कि साधक निरर्थक ही अपने शरीरको त्रास दिया करता है और अनेक प्रकारसे अपने-आपको संसारके सुखोंसे वंचित करता है। क्या ऐसा करना निरी भूल है ? मनोविज्ञान इस विषयमें क्या कहता है ?

मनोविज्ञान भौतिक विज्ञानोंके समान ही एक विज्ञान है, अतएव आध्यात्मिकताकी पुष्टि करना मनोवैज्ञानिकके लिये कठिन है; तथापि कुछ मनोविज्ञानियोंने ऐसी मौलिक बात कही है, जिससे हमें यह ज्ञात हो सकता है कि हमें सुखकी खोज कहाँ करनी चाहिये। उनमेंसे एक विलियम जेम्सद्वारा कथित आनन्दका सिद्धान्त है। विलियम जेम्सने इस विषयको एक फारमूलेमें बतलाया है—

$$\text{''आनन्द } \frac{\text{लाभ}}{\text{तृष्णा}} \left(\text{Satisfaction} = \frac{\text{Achievement}}{\text{Expectation}} \right)$$

यदि किसी मनुष्यका किसी विषयमें लाभ अधिक हो और उसकी आशा (तृष्णा) कम हो तो उसको आनन्द अधिक होगा। यदि उसकी तृष्णा या आशा अधिक हो और लाभ कम तो आनन्द कम होगा। हम आनन्दकी वृद्धि लाभको बढ़ाकर अथवा आशाको कम करके कर सकते हैं। यदि लाभको इतना कम किया जाय कि शून्य हो जाय तो हमारा आनन्द शून्य हो जायगा, किन्तु यदि

लाभको जैसा-का-तैसा रखते हुए आशाको शून्य कर दिया जाय तो हमारा आनन्द अनन्तानन्द हो जायगा। अर्थात् जिसे ब्रह्मानन्द कहा गया है, उसकी प्राप्ति इस गणितके फारमूलेके अनुसार आशा या तृष्णाकी शून्यतासे ही सिद्ध होती है। विलियम जेम्स महाशय स्वयं उपर्युक्त निष्कर्षपर नहीं पहुँचे हैं, किन्तु उनके दिये हुए मनोवैज्ञानिक फारमूलेसे हम गणितविज्ञानकी सहायतासे इस निष्कर्षपर सरलतासे पहुँच सकते हैं। जिसकी बुद्धि कुशाग्र है, उसे यह सत्य हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष हो जाना चाहिये।

अब प्रश्न यह है कि हम आशाकी शून्यता कैसे प्राप्त करें। यह सहज ही प्राप्त नहीं हो जाती। संसारके सभी मनीषियोंने तृष्णा या आशाकी शून्यतामें आनन्द और सुखकी प्राप्तिका उपाय बताया है। इस तृष्णाकी शून्यताके लिये साधनाकी आवश्यकता है। आशा या तृष्णा मनकी तरंगें हैं। विचलित मन आशा और तृष्णामय होता है। प्रशान्त मन आशा और तृष्णासे रहित होता है। इस प्रशान्त स्थितिको प्राप्त करनेके लिये नित्यकी साधना आवश्यक होती है। मन वायुके समान वेगवान् है; परन्तु अभ्यास और वैराग्यके द्वारा वह नियन्त्रणमें लाया जा सकता है। श्रीकृष्णभगवान् कहते हैं—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥[१]

क्या अभ्यासके आध्यात्मिक सत्यका भी कोई मनोवैज्ञानिक आधार है? अभ्यासके द्वारा प्राणिमात्रके स्वभावमें इतना परिवर्तन होता है कि वह एक नये प्रकारका प्राणी बन जाता है। जो शेर अनेक वर्षोंतक पिंजड़ेमें रह आता है, वह पिंजड़ेका दरवाज़ा खुलनेपर भी पिंजड़ेसे नहीं भागता; यदि उसे बाहर निकाल भी दिया जाता है तो भी वह फिर पिंजड़ेमें ही घुसता है। जिन क़ैदियोंका जन्म क़ैदमें ही बीतता है, वे जब क़ैदसे मुक्त होते हैं तब भी क़ैदमें ही जानेको तरसते हैं। अभ्यासके कारण ही मील-मील गहरी खानोंमें काम करनेवाले आदमी उन खानोंमें आनन्दसे जीवन बिता ले जाते हैं और अभ्यासके कारण ही ज्वालामुखी पर्वतोंपर रहनेवाले लोग तथा सदा वायुयानमें उड़नेवाले वायुयानचालक निर्भयताके साथ अपना जीवन व्यतीत करते हैं। उनका प्राणान्त किसी क्षण हो सकता है, इसकी उन्हें कोई चिन्ता नहीं रहती। अभ्यासके द्वारा गणितज्ञ एक ही प्रश्नको विचारते-विचारते ऐसे समाधिस्थ हो जाते हैं कि खाना-पीनातक उन्हें भूल जाता है और चलते-फिरते भी वे अपने विचारमें ही विचरा करते हैं। हमारा मन अभ्यासके द्वारा इस प्रकारसे नियन्त्रित किया जा सकता है। हम जिधर उसे चाहें ले जा सकते हैं। हम जिस परिस्थितिमें अपने-आपको रखना चाहें, रख सकते हैं, जिस स्थितिसे हमें अभ्यास हो जाता है, उसमें हमें आनन्द आने लगता है। अतएव किसी परिस्थितिको आनन्दमय बनाना अभ्यासपर निर्भर करता है। यदि हमारा मन हमारे पूर्ण नियन्त्रणमें है तो हम सभी अवस्थाओंमें अनन्त आनन्दका उपभोग कर सकते हैं। मन अभ्याससे वशमें आता है।

मनको वशमें लानेका अभ्यास अनेक प्रकारका होता है। इन अभ्यासोंका नाम साधना कहा गया है। जिस व्यक्तिने अपने मनको पहलेसे ही शान्ति-अशान्ति, मान-अपमान, सुख-दुःखसे निर्लिप्त बना लिया है, वही निर्विघ्न शान्तिमें स्थित रह सकता है[२]। जो व्यक्ति काम-क्रोधके वेगोंको सह सकता है वही वास्तविक सुखी है[३]।

जब हम अपने मनको दुःखोंके सहनेके लिये पहलेसे तैयार कर लेते हैं तो दुःखोंके आनेपर हम विचलितमन नहीं होते। संसारकी कोई भी परिस्थिति एक-सी नहीं रहती। परिस्थितियोंमें परिवर्तन सदा होते ही रहते हैं, जो व्यक्ति इन परिवर्तनोंसे नहीं डरता, प्रतिकूल परिस्थिति पाकर जिसके मनको किसी प्रकारका उद्वेग नहीं होता, वही एकरस आनन्द और शान्तिका उपभोग कर सकता है। ऐसा ही व्यक्ति अध्यात्मतत्त्वका वास्तविक चिन्तन कर सकता है। सत्यान्वेषणके लिये मनका अनुद्विग्न होना आवश्यक है; बिना मनको वशमें किये सत्यका चिन्तन सम्भव नहीं।

१- योगसूत्रमें कहा है—अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

२- समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयो। शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्। अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥
(गीता)

३- शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्। कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥
(गीता)

अतएव मनको वशमें करनेकी साधना ही सत्यकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय है।

कितने साधु-संन्यासी, यती-योगी मनको वशमें करनेके लिये हठयोगका अभ्यास करते हैं। ऐसे योगियोंके ऊपर प्रायः आधुनिक सभ्यतामें पले लोग हँसा करते हैं। इस प्रकारकी चेष्टाओंको वे मन्दबुद्धिका परिचायक मानते हैं। किन्तु यदि हम संसारके बड़े-बड़े महात्माओंकी जीवनियोंको देखें और हठयोगकी साधनाका मनोविज्ञानकी दृष्टिसे विवेचन करें तो हम पायँगे कि हठयोग सही मार्गपर है।

यूनानका एक प्रसिद्ध तववेत्ता डायोजिनीज़, जो कि सुकरातका चेला था, अपना जीवन एक नादमें ही बिता लेता था। वह अपने रहनेके लिये घर बाँधना आवश्यक नहीं समझता था। एक बार किसी युवकने उसे एक पत्थरकी मूर्त्तिसे देरतक भीख माँगते देखा। उस युवकने पूछा—'डायोजिनीज़'! भला, पत्थरकी मूर्त्तिसे तुम क्यों भीख माँगते हो? क्या वह तुमको भीख दे देगी?' डायोजिनीज़ने उत्तर दिया— 'मैं इस मूर्त्तिसे भीख माँगकर किसी पुरुषके भीख न देनेपर शान्तचित्त रहनेका अभ्यास कर रहा हूँ।' भिक्षा माँगना वास्तवमें त्यागियों और योगियोंके लिये एक साधना है। जो गाली दे और तिरस्कार करे, उसको भी योगी आशीर्वाद ही देता है। जिस योगीका चित्त ऐसी अवस्थामें विचलित हो जाता है वह योगसे गिर जाता है।

श्रीरामकृष्ण परमहंसजी 'टाका माटी' का अभ्यास समय-समयपर करते थे। एक हाथमें रुपया लेते और दूसरेमें मिट्टी और 'टाका माटी, टाका माटी' कई बार कहते-कहते दोनोंको फेंक देते थे। इस प्रकार अभ्यास मनुष्यको पैसेके प्रलोभनमें पड़नेसे बचाता है। स्वामी रामतीर्थको सेव बहुत ही प्रिय थे, उनका मन बार-बार कोई गम्भीर विचार करते हुए सेवोंके ऊपर चला जाता था। एक दिन स्वामीजीने कुछ सेव लाकर अपने सामनेके आलेमें रख दिये, इसलिये कि सदा उनकी नजर उन्हींके ऊपर पड़े। मन बार-बार सेवकी ओर जाता था और वे बार-बार उसे खींचकर दूसरी ओर लगाते थे। इस प्रकार आठ दिनतक युद्ध चला, तबतक सेव सड़ गये; तब वे फेंक दिये गये। इस अभ्यासका परिणाम यह हुआ कि फिर उनका मन सेवोंकी ओर कोई महत्त्वपूर्ण विचार करते समय नहीं जाता था। इस प्रकारका अभ्यास प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। जिस चीजपर बार-बार मन जाय, उससे मनको रोकनेके लिये यदि हठ करके अभ्यास किया जाय तो फिर मन उस वस्तुपर नहीं जाता। इतना ही नहीं, वह फिर दूसरी वस्तुओंपर जानेसे भी सरलतासे रोका जा सकता है।

आधुनिक चित्त-विश्लेषण-विज्ञानकी कुछ खोजें ऐसी हैं, जिनसे उर्पुयक्त अभ्यास किसी मानसिक स्वास्थ्यके लिये लाभप्रद नहीं जँचता। मनको हठसे रोकनेवाले व्यक्ति मानसिक और शारीरिक रोगोंके शिकार बनते हैं। हमारी वास्तविक आन्तरिक इच्छाओंका अवरोध हमारे अदृश्य मनमें अनेक प्रकारकी ग्रन्थियाँ (complex) उत्पन्न कर देता है, जिनके कारण उन्माद, बेचैनी, विस्मृति, हिस्टीरिया आदि अनेक रोग पैदा हो जाते हैं, अतएव कोई-कोई मनोवैज्ञानिक हमारी पाशविक प्रवृत्तियोंका अवरोध करना हमारे लिये हानिकर बतलाते हैं।

किन्तु यह उनकी एक भूल है। ग्रन्थियाँ उन वासनाओं और भावनाओंके अवरोधसे पैदा होती हैं, जो अविचारसे दबायी जाती हैं। जिन वासनाओंके दबानेका कारण विचार है, उनसे मनमें ग्रन्थियोंका पड़ना सम्भव नहीं। विवश होकर, प्रतिकूल वातावरणके कारण जो इच्छाएँ तृप्त नहीं होतीं, वे ही स्वप्न, उन्माद, इत्यादिका कारण होती हैं। स्वेच्छामूलक आत्मनियन्त्रण कदापि आत्मविनाशक नहीं हो सकता।

दूसरे, चित्त-विश्लेषण-विज्ञानकी खोजोंसे यह भी पता चलता है कि जो व्यक्ति अपनी नैतिक बुद्धि (super-ego) की आज्ञाकी अवहेलना करता है, उसे भी अनेक प्रकारके मानसिक और शारीरिक क्लेश होते हैं, यदि किसी प्रकारका व्यभिचार करना हमारी नैतिक बुद्धिके प्रतिकूल है तो ऐसा कार्य हमारी पाशविक वासनाको तृप्त करनेवाला होनेपर भी मनमें अशान्ति लावेगा। हमारी नैतिक बुद्धि सदा हमें कोसा करेगी, जिसके कारण हम कदापि शान्तचित्त नहीं रह सकेंगे। पाप दुःखदायी होता है और पुण्य सुखदायी, इस कथनके मूलमें मनोवैज्ञानिक सत्य निहित है।

मनका नियन्त्रण दो प्रकारसे किया जा सकता है। एक उसकी गतिका मार्ग परिवर्तन करनेसे और दूसरे उसे गतिहीन कर देनेसे। योगसूत्रोंमें वृत्तिहीन अवस्था ही योगाभ्यासका लक्ष्य बतलाया है— **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः', 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'।** जहाँ चित्तवृत्तिका निवारण हुआ कि आत्मस्वरूपकी प्राप्ति निश्चित ही है। इससे पहले यम, नियम, आसन, प्राणायाम,

प्रत्याहार, ध्यान और धारणाद्वारा मनकी गति एक ओर लगायी जाती है। ये सब साधन हमें सविकल्प समाधितक पहुँचाते हैं। निर्विकल्प समाधि इसके परे है।

मनोविज्ञानके अनुसार मनको गतिहीन करना सम्भव नहीं। जैसे कि साइकिलपर चढ़ा हुआ मनुष्य साइकिलको रोककर एक ही जगह नहीं रह सकता, उसे सदा गतिमान् बनना पड़ता है, इसी तरह हर मनुष्यका मन सदा गतिमान् है। किन्तु जिस तरह हम साइकिलको एक ओर न ले जाकर दूसरी ओर ले जा सकते हैं, इसी तरह हम मनको भी एक ओर न ले जाकर दूसरी ओर लगा सकते हैं। मन कुछ-न-कुछ करता ही रहेगा, उसे कुछ काम देते रहना चाहिये।

इस मनोवैज्ञानिक सत्यको गीताकारने भली प्रकारसे समझा था। इसलिये गीतामें कर्मयोग और भक्तियोगको ही मनको वशमें करनेके श्रेष्ठ उपाय बतलाया गया है। निर्गुण और सगुण दोनों ही उपासनाएँ प्रशंसनीय हैं, फिर भी भगवान् श्रीकृष्णने गीताके बारहवें अध्यायमें[१] सगुण ब्रह्मकी उपासनाको अधिक श्रेष्ठ माना है। वास्तवमें जब अखिल संसारमें एक ही तत्त्व व्याप्त है[२] तो सबकी सेवा करना ही ब्रह्मभावको प्राप्त होना है। यदि हमें आस्तिक बुद्धि प्राप्त हो गयी है तो मनोविज्ञानकी दृष्टिसे मनसे लड़ना व्यर्थ है। हमें मनको योग्य कार्यमें लगाना चाहिये। सभी काम उस एक ही सत्ताके स्फुरणमात्र हैं। यह जानकर जो कुछ भी हम करते हैं, वह परमात्माकी पूजा ही है।

जहँ जहँ जाऊँ सोइ परिकरमा, जोइ जोइ करूँ सो पूजा।
सहज समाधि सदा उर राखूँ, भाव मिटा दूँ दूजा॥

मनको शून्यतामें विलीन करना सम्भव नहीं। मन जबतक मनरूपमें है, वह गतिशील ही रहेगा। अध्यात्मदृष्टिसे मन अविद्याका कार्य है। द्वैतबुद्धि ही अविद्या है। इस द्वैतबुद्धिका निवारण ज्ञानसे होता है। द्वैतबुद्धिका नाश होनेपर मन अपने-आप विलीन हो जाता है। अर्थात् जबतक हमें अद्वैत-तत्त्वका ज्ञान नहीं होता, मनका अवरोध करना उसे काष्ठलोष्टवत् बनानेकी चेष्टा करना है। मनमें चैतन्यका आभास होनेके कारण ही वह चंचल है। जबतक शुद्ध चैतन्यकी प्राप्ति नहीं होती, मनका इधर-उधर दौड़ना स्वाभाविक है। वास्तवमें मनकी इस दौड़-धूपका अन्तिम प्रयोजन आत्मानन्द प्राप्त करना ही है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह स्पष्ट है कि स्थायी सुखका होना साधनापर ही निर्भर है। यह साधना मनको वशमें करना है और मनको वशमें करनेका सरल उपाय उसे परमात्माके हेतु निरन्तर भले कामोंमें लगाये रखना है। जहाँतक मनोविज्ञान इस कथनकी सत्यताको प्रमाणित करता है, उसके सिद्धान्तोंका उल्लेख किया गया। किन्तु साधनाकी उपयोगिताके विचारमें अन्तिम प्रयोजन अपरोक्षानुभव ही हो सकता है; मनोविज्ञान उसका स्थान ग्रहण नहीं कर सकता।

१- मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते। श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते। सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः। ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्। अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥
(गीता)

मुझमें (भगवान्‌में) मन लगाकर निरन्तर मेरे भजनमें लगे हुए जो भक्तजन अत्यन्त श्रद्धाके साथ मुझ सगुणको भजते हैं, वे मेरे मतमें अति उत्तम योगी हैं। परन्तु जो पुरुष इन्द्रियसमूहको भलीभाँति वशमें करके अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, अक्षर ब्रह्मको भजते हैं, वे सब भूतोंके हितमें रत और सबमें समभावसे युक्त योगी भी मुझ (भगवान्)-को ही प्राप्त होते हैं। उन अव्यक्त ब्रह्ममें लगे हुए पुरुषोंके साधनमें क्लेश विशेष है, क्योंकि देहाभिमानियोंके द्वारा अव्यक्तविषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है।

२- ईशावास्यमिद ँ सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।
(ईशावास्योपनिषद्)

सहज साधन

(लेखक—अध्यापक श्रीधीरेन्द्रकृष्ण मुखोपाध्याय, एम्० ए०)

स्वास्थ्य-चिकित्सकका यह काम है कि वह पहले रोगका निदान करे और पीछे औषध दे। हमलोग इस संसारके वासी भी अस्वस्थ ही तो हैं। हमारी अस्वस्थता क्या है? हम 'स्व' में स्थित नहीं हैं, इसी कारण 'अस्वस्थ' हैं, रोगी हैं, अनेकानेक कष्टों और यन्त्रणाओंको झेलते हुए मृत्युपथमें ही चल रहे हैं। रोग, शोक, दु:ख, दारिद्र्य, अकालमृत्यु, अपमृत्यु, हाहाकार यही तो सारा संसार है। अशान्ति, अभाव, अनाचार, अत्याचार, कलह, ईर्ष्या, द्वेषका ही तो दावानल चारों ओर धधक रहा है। इसकी गाथा, इस भव-रोगकी कथा धर्मपथके पथिकों और मोक्षमार्गके यात्रियोंको पहले समझ लेनी होगी। कारण, दु:खसागरका मन्थन न करनेसे आनन्द और अमृतका पता नहीं चल सकता। जो दु:ख हमें कष्ट दे रहा है, वही हमें सुखका पता भी बता देगा। दु:खमें बिना गिरे बहिर्मुख जीव अन्तर्मुख नहीं होता। इस दु:ख-सागरमें गिरकर ही सुरथ और समाधि माँको पहचान सके। इसी विषादके अनलमें गिरनेपर ही '**गीतामृतं महत्**' श्रीभगवान्‌के मुखसे इस पृथ्वीपर आया। इस विषाद-सिन्धुको मथकर ही भागवत-कौस्तुभ पाया गया, जिसने भारतको समुज्ज्वल किया। धर्मके पथपर चलनेके लिये दु:खका बोध होना जरूरी है, सर्वबोधके पूर्व विषादयोग है। हमलोग दु:खमें गिरनेपर ही भगवान्‌को पुकारते हैं, ऐश्वर्यमें उन्हें भूल जाते हैं। इसीलिये कुन्तीमाताने भगवान्‌से यह प्रार्थना की थी कि 'हमें दु:ख दो, जिसमें तुम्हारा स्मरण बना रहे, बहिर्मुख भगवद्विमुख जीवका उद्धार करनेके लिये ही भगवान् हमें दु:ख दिया करते हैं।

स्वरूपच्युति ही हमारे दु:खका कारण है। परमात्मस्वरूप श्रीभगवान्‌को भुलाकर जीव स्वयं प्रभु बन बैठा है और अपने सच्चिदानन्दस्वरूपको खोकर अनात्मा—अहंकार-विमूढात्मा बनकर अनन्त कर्मजालमें फँसा इस दु:खसागरमें डूब रहा है। इस दु:खसागरसे उद्धार पानेके तीन मार्ग ऋषियोंने बतलाये हैं—कर्म, ज्ञान और भक्ति। ये तीनों मार्ग वस्तुत: सर्वथा भिन्न नहीं हैं। ज्ञानमें सामान्यत: कर्म और भक्ति मिली हुई है, कर्ममें भक्ति और ज्ञान मिला है और भक्तिमें ज्ञान और कर्म सम्मिश्रित है। इन तीन मार्गोंके त्रिविध अधिकारका भी एक विचार है। श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्धमें भगवान् बतलाते हैं कि 'संसारमें जो लोग आसक्त हैं उनके लिये कर्मयोगका मार्ग प्रशस्त है, संसारसे जो विरक्त हैं उनके लिये ज्ञानयोग और जो अधिक आसक्त भी नहीं हैं और विरक्त भी नहीं हैं, उनके लिये भक्तियोग है।' सब प्रकारके ऐहिक-पारलौकिक भोगोंसे जब मन विरक्त होता है; निषिद्धवर्जनपूर्वक नित्य-नैमित्तिक कर्मद्वारा जब चित्त विशुद्ध होता है; शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधानरूप षट्सम्पत्तिसे सम्पन्न होकर जब साधक केवल एक परमात्मवस्तुकी प्राप्तिके लिये व्याकुल हो उठता है तब वह ज्ञानमार्गका अधिकारी होता है। अधिकारके बिना ज्ञानकी चर्चा केवल ज्ञानका विडम्बन है। इस कलिमें कर्मकाण्डका भी यथाविहित होना अत्यन्त दुर्लभ है। आत्मशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, मन्त्रशुद्धि, स्थानशुद्धि आदिका भी कोई उपाय है? मन्त्रके स्वर और वर्णके उच्चारणमें किञ्चित् भी दोष होनेसे वह वाग्वज्र बनकर यजमानको नष्ट कर देता है। विधिहीन कर्मसे कर्ताका विनाश होता है। कर्मकाण्डमें शूद्रका तो कोई अधिकार है ही नहीं; पर आज ब्राह्मण भी जिस दुरवस्थामें जा गिरे हैं, उसमें उन्हें भी कहाँतक इसका अधिकार है—यह विचारणीय है। ऐसी अवस्थामें हमलोगोंको अपना अधिकार जानकर उसी योगमें मन लगाना चाहिये।

हमलोगोंके अपराधोंकी कोई सीमा नहीं है। श्रीभगवान्‌की करुणा भी असीम है। यह जानकर हमें शरणागतिरूप भक्तियोगका ही अवलम्बन करना चाहिये। इसमें वेदज्ञ ब्राह्मणसे लेकर शूद्र, म्लेच्छ, यवनतक सबका अधिकार है। इसमें कोई प्रत्यवाय नहीं, कोई भय नहीं। सहज, सरल, सुगम पथ है। इसलिये—

'**तस्मात् सर्वेषामधिकारिणामनधिकारिणां भक्तियोग एव प्रशस्यते। भक्तियोगो निरुपद्रव:। भक्तियोगान्मुक्ति:। चतुर्मुखादीनां सर्वेषां विना विष्णुभक्त्या कल्पकोटिभिर्मोक्षो न विद्यते। कारणेन विना कार्यं नोदेति। भक्त्या विना ब्रह्मज्ञानं कदापि न जायते। तस्मात्त्वमपि सर्वोपायान् परित्यज्य भक्तिनिष्ठो भव। भक्तिनिष्ठो भव। मदुपासक: सर्वोत्कृष्ट: स भवति। मदुपासक: परं ब्रह्म भवति।**' (श्रीभक्तिपारिजात)

अर्थात् 'अधिकारी' अनधिकारी सबके लिये ही भक्तियोग प्रशस्त है। निरुपद्रव है। मुक्तिका देनेवाला है। चतुर्मुखादि सबका मोक्ष विष्णुभक्तिके बिना नहीं होता। भक्तिके बिना ब्रह्मज्ञान कदापि नहीं होता। इसलिये तुम भी सब उपायोंका परित्याग कर भक्तिनिष्ठ होओ। भक्तिनिष्ठ होओ। मेरा उपासक सबसे उत्कृष्ट होता है। मेरा उपासक परब्रह्म होता है।'

न तपोभिर्न वेदैश्च न ज्ञानेनापि कर्मणा।
हरिर्हि साध्यते भक्त्या प्रमाणं तत्र गोपिकाः॥
नृणां जन्मसहस्त्रेण भक्तौ प्रीतिर्हि जायते।
कलौः भक्तिः कलौ भक्तिर्भक्त्या कृष्णः पुरः स्थितः॥

(श्रीमद्भागवत-माहात्म्य २।१८-१९)

अर्थात् 'तपसे, वेदोंसे, ज्ञानसे या कर्मसे, इनमेंसे किसीसे भी श्रीहरि नहीं मिलते, मिलते हैं भक्तिसे; और इसके प्रमाण हैं गोपिकाएँ। सहस्रों जन्मोंकी साधनासे भक्तिमें प्रीति उत्पन्न होती है। कलिमें केवल भक्ति ही है, भक्तिसे ही श्रीकृष्ण सम्मुख उपस्थित होते हैं।'

इसलिये '**भक्तिरेकैव सिद्धिदा**'—केवल एक भक्ति ही सिद्धि देनेवाली है।

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते॥

'विषयोंसे विवश होनेवाला अजितेन्द्रिय मनुष्य मेरा भक्त होनेपर प्रगल्भा भक्तिके प्रभावसे प्रायः विषयोंके वशीभूत नहीं होता।'

भगवान्‌की शरणमें जो कोई जाता है, वह अभय हो जाता है। भगवान् स्वयं कहते हैं कि 'जो कोई दीन होकर मुझे पुकारता और कहता है कि मैं तुम्हारा हूँ, उसे मैं सबसे अभय कर देता हूँ, यही मेरा व्रत है।'

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

श्रीभगवान्‌की ओर किंचित् भी आकर्षण हो, उनके चरणोंमें लेशमात्र भी रति हो तो इसे उनकी महती कृपाका प्रसाद समझना चाहिये। इस प्रसादका यत्नपूर्वक रक्षण, पोषण और संवर्द्धन करना आवश्यक है। इसका साधन सत्संगके करने और दुस्संगको छोड़नेसे होता है। जो लोग धर्मसे द्वेष करते, देव-द्विजोंकी उपेक्षा करते, शौच-सदाचारमें अनास्था रखते हैं, उनका संग ही दुःसंग है। इससे भक्तको सदा सावधान रहना चाहिये। दुष्ट सर्पसे जिस तरह मनुष्य दूर भागता है, उसी तरह भक्त भी अभक्तके संगसे भागता है—'**यात्येवाभक्तसंसर्गाद्दुष्टात्सर्पाद्यथा नरः**'; क्योंकि—

आलापाद् गात्रसंस्पर्शाच्छयनात्सहभोजनात्।
सञ्चरन्ति हि पापानि तैलविन्दुरिवाम्भसा॥

'भाषणसे, शरीरस्पर्शसे, एक साथ सोनेसे, एक साथ बैठकर भोजन करनेसे पाप एकसे दूसरेमें प्रवेश कर जलमें तैलके बिन्दुके समान फैलते हैं।' गुण-दोष सबके संसर्गज हुआ ही करते हैं, इसलिये भक्तलोग सदा सत्पुरुषोंके संगकी ही इच्छा करते हैं। सत्संग बड़े पुण्यसे प्राप्त होता है। कहते हैं—

यदा पुण्यविशेषेण लभते सङ्गतिं सताम्।
मद्भक्तानां सुशान्तानां तदा मद्विषया मतिः॥
मत्कथाश्रवणे श्रद्धा दुर्लभा जायते ततः।
ततः स्वरूपविज्ञानमनायासेन जायते॥

(श्रीभक्तिपारिजात)

अर्थात् 'जब विशेष पुण्यके प्रभावसे मनुष्य मेरे भक्त और सुशान्त सत्पुरुषोंका संग लाभ करता है, तभी उसके मेरे विषयकी बुद्धि उपजती है। पीछे मेरे कथाश्रवणमें उसकी उत्कट श्रद्धा होती है और उससे फिर अनायास ही उसमें मेरा स्वरूपविज्ञान उत्पन्न होता है।'

साधुसंग, सत्संग या भक्तसंग अत्यन्त दुर्लभ है। जहाँ जब मिले, उसे अपना अहोभाग्य समझना चाहिये। पर जब जहाँ इसकी सुलभता न हो, वहाँ सद्ग्रन्थोंका संग तो अवश्य ही करना चाहिये। प्रतिदिन ही व्यास-वाल्मीकि आदिके ग्रन्थोंका पाठ होना ही चाहिये। इन ग्रन्थोंके पठनसे हृदय पवित्र होता है, प्राण आनन्दरससे अभिषिक्त होते हैं, शुष्क नीरस हृदय भी भक्तिभावसे भर आता है। भक्तिके विषयमें श्रीमद्भागवत-जैसा दूसरा ग्रन्थ नहीं है—'**निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखाद-मृतद्रवसंयुतम्। पिबत भागवतं रसमालयम्**'।

श्रीमद्भागवतके समान अध्यात्मरामायण भी भक्तिविषयक अति उपादेय ग्रन्थ है। रामायण, महाभारत,

भागवत, अध्यात्मरामायण प्रभृति सद्ग्रन्थ हमारे जन्म-जन्मान्तरोंके पापोंको नष्ट करनेमें प्रज्वलित अग्निका काम करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीचण्डीसप्तशती, श्रीदेवीभागवत आदिके पाठ सब पाशविक वृत्तियोंको नष्ट करके सब पाशोंसे मुक्त करनेवाले हैं। वाल्मीकिके अवतार तुलसीदास, कृत्तिवास और काशीराम आदिके ग्रन्थ ही तो उत्तर भारतमें हिन्दूधर्मको जीवित रखे हुए हैं। भगवद्भक्तिमें सत्संगके समान सहायक और कोई नहीं। सत्पुरुषोंका संग न मिले तो सद्ग्रन्थोंके पाठके द्वारा श्रीभगवान्‌के नाम, रूप, लीला, गुण और अवतारकी कथा बार-बार श्रवण करनी चाहिये। इससे चित्त शुद्ध होता और भगवद्भावकी सृष्टि और पुष्टि होती है।

शास्त्रोंका कथन है—

'अत्यन्तोत्कृष्टसुकृतपरिपाकवशात् सद्भिः सङ्गो जायते। तस्माद्विधिनिषेधविवेको भवति। ततः सदाचारप्रवृत्तिर्जायते। सदाचारादखिलदुरितक्षयो भवति। तस्मादन्तःकरणमतिविमलं भवति। ततः सद्गुरुकटाक्षमन्तःकरणःमाकाङ्क्षति। यथा जात्यन्धस्य रूपज्ञानं न विद्यते तथा गुरूपदेशेन विना कल्पकोटिभिः तत्त्वज्ञानं न विद्यते। तस्मात् सद्गुरुकृपाकटाक्ष-लेशविशेषेणाचिरादेव तत्त्वज्ञानं भवति। यदा सद्गुरुकटाक्षो भवति तदा भगवत्कथाश्रवणध्यानादौ श्रद्धा जायते। तस्माद् हृदयस्थितानादिदुर्वासना-ग्रन्थिविनाशो भवति। ततो हृदयस्थिताः कामाः सर्वे नश्यन्ति। तस्माद् हृदयपुण्डरीककर्णिकायां परमात्माविर्भावो भवति।'

अर्थात् अत्यन्त उत्कृष्ट पुण्यके परिपाकसे सत्संग प्राप्त होता है; उससे विधि-निषेधका विवेक उत्पन्न होता है। विवेकसे सदाचारमें प्रवृत्ति होती है। सदाचारसे सब पापोंका क्षय होता है। तब अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल हो जाता है। तब सद्गुरुकटाक्ष पानेकी इच्छा अन्तःकरणमें होती है। जन्माध व्यक्तिको जैसे रूपका बोध नहीं होता, वैसे ही गुरुके उपदेश बिना कोटि कल्पोंमें भी किसी-को तत्त्वका ज्ञान नहीं होता। सद्गुरुकी कृपादृष्टिके लेशमात्रसे तुरंत तत्त्वज्ञान होता है। जब सद्गुरुकी कृपादृष्टि पड़ जाती है, तब भगवत्कथाश्रवणध्यानादिमें श्रद्धा उत्पन्न होती है। उससे हृदयस्थित अनादि दुर्वासनाग्रन्थिका विनाश होता है। उससे हृदयस्थित सब काम नष्ट होते हैं। तब उससे हृत्पद्मकी कर्णिकामें परमात्माका आविर्भाव होता है।

सद्गुरुकृपाके बिना साधन-राज्यमें कोई व्यक्ति प्रवेश नहीं कर सकता। जिस विधिसे सद्गुरु शिष्यको साधन-राज्यमें प्रवेश करनेका अधिकार देते हैं, उसीको दीक्षा कहते हैं। दीक्षासे दिव्य ज्ञान होता और पापका क्षय हो जाता है, इसीलिये उसे दीक्षा कहते हैं।

दिव्यज्ञानं यतो दद्यात्कुर्यात्पापस्य संक्षयम्।
तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता मुनिभिस्तन्त्रवेदिभिः॥
दीक्षामूलं जपं सर्वं दीक्षामूलं परं तपः।
दीक्षामाश्रित्य निवसेद्यत्र कुत्राश्रमे वसन्॥

× × × ×

देवि दीक्षाविहीनस्य न सिद्धिर्न च सद्गतिः।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गुरुणा दीक्षितो भवेत्॥

× × × ×

उपपातकलक्षाणि महापातककोटयः।
क्षणाद्दहति देवेशि दीक्षा हि विधिना कृता॥

अर्थात् 'जप-तप सबका मूल दीक्षा है; जहाँ-कहीं जिस किसी आश्रममें भी दीक्षाका आश्रय करके ही रहना चाहिये। दीक्षाके बिना सिद्धि नहीं मिलती, सद्गति नहीं प्राप्त होती। इसलिये हर उपायसे गुरुके द्वारा दीक्षित होना चाहिये। विधिपूर्वक दीक्षा होनेसे वह दीक्षा एक क्षणमें लाखों उपपातक और करोड़ों महापातक जला डालती है।'

अग्निसे ही अग्नि प्रज्वलित होता है। सद्गुरुसे प्राप्त मन्त्र अग्निके समान पापराशिको जलाकर शिष्यका मुक्तिद्वार उन्मुक्त कर देता है। ग्रन्थोंके पठन-पाठनसे केवल शब्द-पाण्डित्य बढ़ सकता है, पर प्रत्यक्ष क्रियाका बोध सद्गुरुकृपाके बिना नहीं हो सकता। सद्गुरुकी प्राप्तिके लिये जो कुछ करना पड़ता है, उसका हमलोगोंको कुछ भी ध्यान नहीं है। पाषाणमें भी प्राणप्रतिष्ठा करनेसे देवताका आगमन होता है। आचार्यकी उपासना करनेसे ब्रह्मवस्तु अवश्य ही मिलेगी। एकलव्यने द्रोणाचार्यकी मृन्मयी प्रतिमाको पूजकर साधनबलसे अस्त्रशिक्षामें असाधारण दक्षता लाभ की और हमलोग गुरु न मिलनेके बहाने अपने आध्यात्मिक उन्नतिपथका द्वार ही बंद रखे हुए हैं। आदर्श गुरु मिलनेके पूर्व अपने आपको आदर्श शिष्य बनाना पड़ता है। श्रीसद्गुरु ही भगवान्, गुरु और मन्त्र तीनोंमें हैं। जिन्हें ऐसे सद्गुरुकी कृपा प्राप्त हुई, उनके लिये और कुछ भी प्राप्तव्य

नहीं है। भगवान् ही श्रीसद्‌गुरुरूपसे सत् शिष्यके सामने आविर्भूत हुआ करते हैं।

इस युगमें कृच्छ्रतपादि कठोर साधना करनेकी सामर्थ्य जीवमें नहीं रह गयी। श्रीभगवान्‌की शरण लेकर उनके चरणोंमें अपनी आँखें लगाकर प्रार्थना करनेके सिवा जीवके लिये और कोई उपाय नहीं है। यह उपाय सहज, सरल, सुगम है। शास्त्र ही भगवान्‌की वाणी हैं, शास्त्र ही भागवती तनु हैं; अतः शास्त्रानुयायी जीवन ही उन्हें प्राप्त करनेका सहज उपाय है। जिस किसी वर्णमें हमारा जन्म हुआ हो, हमारी जैसी भी अवस्था हो, शौच-सदाचारका अवलम्बन कर अपने धर्मका पालन करते रहें, इसीसे भगवान् प्रसन्न होंगे। श्रीभगवत्-प्रीति ही हमारा परम धर्म है। उनका प्रीत होना ही हमारा परम कल्याण है। ब्राह्मण-सन्तान ब्राह्मण-धर्म पालन करें, शौच-सदाचार सत्य-अहिंसा-शम-दम-तपःसमन्वित हों, त्रिसन्ध्योपासन करें, शास्त्रचर्चा और जपादि कर्मोंमें नियुक्त हों, कुलगुरुसे कुलमन्त्रकी दीक्षा लेकर सन्ध्या-जपादि करें, पुराणादि पाठ करें, सत्य, शौच, शास्त्रसेवादि अवलम्बन करें और सभी वर्ण सदा श्रीभगवन्नाम-महामन्त्रका जप करें, उच्चस्वरसे हरिनाम-संकीर्तन करें। इस साधनासे भगवान् प्रसन्न होंगे और कभी-न-कभी सद्‌गुरु रूपसे आविर्भूत होकर साधकको कृतार्थ करेंगे।

कलिमें नाम-साधन ही सहज साधन है, यही महासाधना है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

हरे राम हरे राम राम राम हरे रहे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

कलियुगी जीवोंके कल्याणका साधन

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

यह कलिकाल मलायतन मन करि देखु बिचार।
श्रीरघुनाथ नाम तजि नाहिन आन अधार॥

एहिं कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप ब्रत पूजा॥
रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि। संतत सुनिअ राम गुन ग्रामहि॥

श्रीरामचरितमानस

यह 'दीन' लेखक पाठक महानुभावोंसे सर्वप्रथम उपर्युक्त पदोंमें आये हुए 'यह' तथा 'एहिं' शब्दपर विचार करनेके लिये विनम्र प्रार्थना करता है। श्रीमानस-ग्रन्थके रचयिता गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजने बार-बार 'यह कलिकाल, एहिं कलिकाल' का प्रत्यक्ष अंगुल्यानिर्देश करके निश्चयपूर्वक यह सिद्धान्त स्थिर कर दिया है कि इस वर्तमान घोर कलिकालमें श्रीभगवान्‌के नाम और यश (चरित्र)-को छोड़कर दूसरे जितने भी साधन हैं, उनमेंसे किसीसे भी सिद्धि नहीं हो सकती, वे सभी साधन अनुभव करके देखे जा चुके हैं। श्रीगोस्वामिपादने अपने अनुभवकी बातको विनय-पत्रिकाके भी निम्नलिखित पदोंमें व्यक्त कर दिया है। यथा—

'यहि कलिकाल सकल साधनतरु है स्रम-फलनि फरो सो'॥ १७३॥

'ग्रसे कलि-रोग जोग-संजम-समाधि रे॥
राम-नाम छाड़ि जो भरोसो करै और रे।
तुलसी परोसो त्यागि माँगै कूर कौर रे'॥ ६६ ॥

'जोग, जाग, जप, बिराग, तप, सुतीरथ-अटत।
बाँधिबेको भव-गयंद रेनुकी रजु बटत॥
परिहरि सुरमनि सुनाम गुंजा लखि लटत।
लालच लघु तेरो लखि तुलसी तोहि हटत'॥ १२९॥

'साधन बिनु सिद्धि सकल बिकल लोग लपत।
कलिजुग बर बनिज बिपुल, नाम-नगर खपत'॥ १३०॥

'बिस्वास एक राम-नामको।
ब्रत तीरथ तप सुनि सहमत पचि मरै करै तन छामको।
करम-जाल कलिकाल कठिन आधीन सुसाधित दामको।
ग्यान बिराग जोग जप तप, भय लोभ मोह कोह कामको'॥ १५५ ॥

'राम-नामके जपे जाइ जियकी जरनि।
कलिकाल अपर उपाय ते अपाय भये,
जैसे तम नासिबेको चित्रके तरनि॥
करम-कलाप परिताप पाप-साने सब,
ज्यों सुफूल फूले तरु फोकट फरनि।

जोग न समाधि निरुपाधि न बिराग ग्यान,
बचन बिशेष बेष, कहूँ न करनि॥
राम-नामको प्रताप हर कहैं, जपैं आप,
जुग जुग जानैं जग, बेदहूँ बरनि॥ १८४॥
'नाना पथ निरबानके, नाना बिधान बहु भाँति।
तुलसी तू मेरे कहे जपु राम-नाम दिन राति'॥ १९२॥
'जपहि नाम रघुनाथको, चरचा दूसरी न चालु'॥ १९३॥
'संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो।
अपनो भलो राम-नामहि ते तुलसिहि समुझि परो'॥ २२६॥
'प्रिय रामनामतें जाहि न रामो।
ताको भलो कठिन कलिकालहुँ आदि-मध्य-परिनामो'॥ २२८॥
'राम जपु जीह! जानि, प्रीति सों प्रतीत मानि,
राम-नाम जपें जैहै जियकी जरनि।
रामनामसों रहनि, रामनामकी कहनि,
कुटिल कलि-मल सोक-संकट-हरनि'॥ २४७॥
'संभु-सिखवन रसन हूँ नित राम-नामहिं घोसु।
दंभहू कलि नाम कुंभज सोच-सागर-सोसु'॥ १५९॥

इस प्रकार विनय-पत्रिकाके और भी बहुत-से पदोंमें तथा गीतावली, दोहावली, कवितावली, बरवै रामायण आदि समस्त तुलसीरचित ग्रन्थोंमें इस घोर कलिकालके लिये केवल भगवन्नाम और यशको ही सर्वोत्तम एवं सफल साधन ठहराकर दूसरे सब साधनोंको निस्सार तथा निष्फल सिद्ध करनेके अनुभवयुक्त प्रमाण दिये हुए हैं, जिन सबको उद्धृत करनेसे लेख बड़ा हो जायगा। इसलिये इस वर्तमान कलियुगमें जन्म पाये हुए हम सभी मनुष्योंको उपर्युक्त 'एहिं कलिकाल' के ही निर्दिष्ट भावपर विचार करना चाहिये। हमें गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके सामर्थ्यसे अपने सामर्थ्यकी तुलना करनी चाहिये। यदि हममें उनसे अधिक वैराग, ज्ञान, ध्यानादिकी साधन-सामग्री नहीं हो, तब तो यही उचित है कि वर्तमान युगके उनके निकटतम आचार्यने (श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने) अपने अनुभवसे जो निर्णय किया है, उसीपर हम दृढ़ विश्वास कर लें और निर्भयतापूर्वक उन्हींके बताये मार्गपर चलकर सर्वसुलभ साधन भगवन्नाम-यशके जप-कीर्तनद्वारा बिना प्रयास संसार-सागरसे पार हो जायँ। श्रीमानसके ये वचन कितने स्पष्ट हैं—

सुनु ब्यालारि काल कलि मल अवगुन आगार।
गुनउँ बहुत कलिजुग कर बिनु प्रयास निस्तार॥
कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग॥
कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

—उत्तरकाण्ड १०२, क, ख; १०३ क

यहाँ साधारणतः यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जगत्‌में जब अनेकों आचार्योंने अनेकों साधन-मार्ग बतलाये हैं तब हम कलियुगी जीवोंकी गोस्वामी तुलसीदासजीसे ही क्या घनिष्ठता है? हम क्यों उन्हींसे अपनी तुलना करें और उन्हींके अनुभवोंको अपने लिये उपयोगी मानें। इसके उत्तरमें भी यह 'दीन' लेखक उसी 'एहिं' शब्दपर विचार करनेकी प्रार्थना करता है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके साथ हम कलियुगी जीवोंकी घनिष्ठताका सम्बन्ध जोड़नेवाला वही 'एहिं' शब्द है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि सत्ययुग, त्रेता अथवा द्वापरमें जन्म ग्रहण किये हुए श्रीतुलसीदासजीका वह कथन नहीं है। कलियुग भी अनेकों व्यतीत हो चुके, उन बीते हुए कलियुगोंमें जन्म ग्रहण किये हुए श्रीतुलसीदासजीका भी वह कथन नहीं है; बल्कि वह अनुभवयुक्त कथन उन श्रीतुलसीदासजीका है, जो इसी वर्तमान कलियुगमें जिसमें हम सबका जन्म हुआ है, कुछ ही वर्षों पूर्व जन्म ले चुके हैं, जिन्होंने अपना सारा जीवन ही हमारे- जैसे कलि-कुटिल जीवोंके उद्धारार्थ परोपकारकी भेंट चढ़ा दिया था और इसीलिये जिन ब्रह्मभूत आत्माका इस कलियुगमें अवतार हुआ था। यथा—

'कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीक तुलसी भयो।'

—श्रीनाभादासकृत भक्तमाल

'उलटा नामु जपत जगु जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना'॥

—श्रीरामचरिमानस

अस्तु, महर्षि वाल्मीकिजीकी ब्रह्मभूत आत्माने गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके रूपमें अवतार लेकर हमारे कल्याणके निमित्त हमसे कुछ ही दिनों पहले इस कलियुगके दु:ख-द्वन्द्वोंका साक्षात् अनुभव किया और फिर यह विचार किया कि—

'कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना'॥

—श्रीरामचरितमानस

इस प्रकार कलियुगी जीवोंके साधन-पुरुषार्थका

विचार करके डंकेकी चोटसे यह सिद्धान्त उद्घोषित किया गया—

'एहिं कलिकाल न साधन दूजा'।
'यह कलिकाल मलायतन मन करि देखु बिचार'।

—श्रीरामचरितमानस

'यहि कलिकाल सकल साधन तरु है स्रम-फलनि फरो सो'॥

—विनय-पत्रिका

फिर इस कलिकालमें जो साधन फलीभूत हो सकता है उस सुलभ, सुखद और सच्चे साधनकी दुंदुभी बजायी गयी। हम यहाँ केवल उन मूल वचनोंको ही उद्धृत कर देना चाहते हैं। यथा—

'नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू'॥
'कलिजुग केवल हरि गुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा'॥
कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार राम गुन गाना'॥
नामु लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु बिचारु सुजन मन माहीं'॥
'सब भरोस तजि जो भज रामहि। प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहि'॥
सोइ भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं'॥

कलिमल समन दमन मन राम सुजस सुखमूल।
सादर सुनहिं जे तिन्ह पर राम रहहिं अनुकूल॥
कठिन काल मल कोस धर्म न ग्यान न जोग जप।
परिहरि सकल भरोस रामहि भजहिं ते चतुर नर॥

—श्रीरामचरितमानस

न मिटै भवसंकटु दुर्घट है तप, तीरथ जन्म अनेक अटो।
कलिमें न बिरागु, न ग्यानु कहूँ, सबु लागत फोकट झूठ जटो॥
नटु ज्यों जनि पेट-कुपेटक कोटिक चेटक-कौतुक ठाट ठटो।
तुलसी जो सदा सुख चाहिअ तौ रसनाँ निसिबासर रामु रटो॥

—कवितावली

काल कराल बिलोकहु होइ सचेत।
राम नाम जपु तुलसी प्रीति समेत॥
कलि नहिं ग्यान बिराग न जोग समाधि।
राम नाम जपु तुलसी नित निरुपाधि॥
तप तीरथ मख दान नेम उपबास।
सब ते अधिक नाम जपु तुलसीदास॥

—बरवै रामायण

राम नाम को अंक है सब साधन हैं सून।
अंक गएँ कछु हाथ नहिं अंक रहें दस गून॥
राम नाम अवलंब बिनु परमारथ की आस।
बरषत बारिद बूँद गहि चाहत चढ़न अकास॥

—दोहावली

इससे अधिक सुन्दर और स्पष्ट उपदेश और क्या हो सकते हैं?

सियावर रामचन्द्रकी जय!

शरीरकी गति

कबीर गर्ब न कीजिये, काल गहे कर केस।
ना जानौं कित मारिहै, क्या घर क्या परदेस॥
हाड़ जरै ज्यों लाकड़ी, केस जरै ज्यों घास।
सब जग जरता देख करि, भये कबीर उदास॥
झूठे सुख को सुख कहैं, मानत हैं मन मोद।
जगत चबेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद॥
पानी केरा बुदबुदा, अस मानुषकी जाति।
देखत ही छिपि जायगी, ज्यों तारा परभाति॥
रात गँवाई सोय करि, दिवस गँवायो खाय।
हीरा जनम अमोल यह, कौड़ी बदले जाय॥

—कबीर

श्रीमारुतिप्रसन्न

श्रीभगवन्नाम-साधन

(क्या नामाभास मानना नामापराध करना है ?)

(लेखक—श्री 'स्वान्त:सुखाय')

'मंगल भवन अमंगल हारी' का परम पावन एक ही नाम परम कल्याणकारी है, एक ही नामसे भवसिन्धु सूख जाता है—*'नामु लेत भवसिंधु सुखाहीं।'* एक नाममें इतनी पापनाशक शक्ति है जितना पाप संसारका कोई भी, किसी प्रदेश और कालका भी महान्-से-महान् पापी नहीं कर सकता—इस प्रकार श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त वचनोंसे तथा अन्यान्य संतवाणियोंसे जहाँ एक ओर नाम महाराजकी महिमा प्रकट होती है, वहाँ दूसरी ओर यह देखकर कि प्रतिदिन नामकी लक्ष मालिका पूर्ण करनेपर भी कितने लोग अपने व्यावहारिक जीवनमें टस-से-मस नहीं होते, जहाँ थे वहीं पड़े दीखते हैं, उनमें दैवी गुणोंके संचार तथा आसुरी गुणोंके परिहारका कोई व्यक्त लक्षण नहीं दिखलायी पड़ता। इस अवस्थामें यह सन्देह भी अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता कि जिस नामकी महिमा ऊपर कही गयी है वह क्या कोई दूसरा नाम है। कारण, यदि वह यही होता, जिसकी लक्ष मालिका पूरी की जाती है तो परिणाम दृष्टिगोचर क्यों नहीं होता ? परिणाम दृष्टिगोचर न होनेकी दशामें क्या यह मान लें कि वस्तुत: नामके सम्बन्धकी ये उक्तियाँ भूतार्थवाद नहीं, केवल अर्थवाद हैं ? पर ऐसा मानना नामके दशापराधोंमेंसे एक महान् अपराध करना है। फलत:, शास्त्र-श्रद्धालु ऐसा नहीं कर सकते। अतएव इस शंकाका समाधान दूसरे प्रकारसे होना चाहिये। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि नामाभासकी कल्पनाका उदय इसी शंकाके समाधानस्वरूप हुआ है। अर्थात् जिस नामका अभ्यास साधारण साधक करते हैं वह वास्तविक 'नाम' नहीं है, 'नामाभास' है। इस प्रकार उपर्युक्त असंगतिका निराकरण हो जाता है।

परन्तु नामाभासकी यह कल्पना जिस दोषको हटानेके लिये की जाती है, उसीको पुन: प्रकारान्तरसे ला खड़ा कर देती है। साधारण साधक पूर्ण नाम-रसानुभूतिके पूर्व जिस नामका अभ्यास करता है वह वास्तविक नाम नहीं, नामाभास है—इससे यवनोपाख्यान-जैसे धोखेमें, अज्ञाततया, अश्रद्धया, हेलनया नामोच्चारणकी फलश्रुतिमें वास्तविक आस्था न होकर अर्थवादकी ही भावना हो सकती है। अर्थात् दूसरे शब्दोंमें, 'नामाभासकी कल्पना नामापराध है' ऐसा निष्कर्ष निकलता है। फिर मूल सन्देहका निराकरण कैसे हो ?

इसके लिये यवनोपाख्यानवर्णित नाम और तज्जन्य कल्याणके स्वरूप तथा इन दोनोंसे उसके उससे पूर्व जीवनके सम्बन्धका स्पष्टीकरण आवश्यक है। यवनद्वारा उच्चारित नाममें श्रद्धा एवं विश्वास तथा दिव्यभावनाकी तो बात ही क्या, उसे यह भी बोध नहीं था कि 'राम' नामका कोई भगवान् भी है। वहाँ तो जापककी भावनाकी रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है। वहाँ नामकी स्वरूपभूत शक्तिका एकान्त परिचय मिलता है। यवनके मुखसे उच्चारित 'राम' उसके भगवान्‌का नाम नहीं है, प्रत्युत उसके अश्लीलोद्‌गारका एक अंशमात्र है। उस अश्लीलोद्‌गारके अवयवभूत भगवन्नामकी महिमा ऐसी कि साक्षात् श्रीभगवान्‌के पार्षद आकर उसे वैकुण्ठ ले जाते हैं ! रही उसके पूर्वजीवनकी बात। इसके सम्बन्धमें भगवत्-पार्षदोंसे यमदूतोंने जो उसका चरित्रचित्रण किया है, वही पर्याप्त है। कौन ऐसा पाप था कि जिसको उसने नहीं किया था—

उपर्युक्त विवेचनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कोई अन्य अलौकिक दिव्य नाम दैवीगुणसम्पन्न व्यक्तिद्वारा श्रद्धा-विश्वासपूर्वक उच्चारित होनेसे नहीं, प्रत्युत यही नित्यका श्रुत-उच्चारित-चिन्तित कोई भी भगवन्नामद्योतक शब्द ही परम कल्याणकारी है। फलत: हमारी मूल शंका सिद्धान्तत: नहीं है, पर व्यवहारके कुछ आकर्षक उज्ज्वलाङ्गोंको परमार्थके साथ मिश्रीभूत करनेका फल है। अर्थात् दैवीगुणोंके प्रति जीवमात्रका स्वाभाविक श्रद्धा-आदर-भाव है। फलत: वह नहीं चाहता कि किसी आसुरीसम्पत्तिसम्पन्न व्यक्तिको वही दिव्य गति प्राप्त हो जाय, जो दिव्य गुणवालोंको होती है। यह पक्षपात, यह अनुदारता, यह वणिग्वृत्ति इतनी अस्वाभाविक और प्रबल हो जाती है कि वह दिव्य गुण और परमार्थको यदि एक नहीं तो इतना घनिष्ठ सम्बन्धी मानने लगता है, मनवाने

लगता है कि दिव्य गुणोंके बिना परमार्थकी प्राप्ति शक्य ही नहीं, असम्भव-सी है। पर यदि यही वास्तविक बात होती तो भगवान्‌के प्रति ये उद्‌गार कैसे निकलते—

'ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर राम सरिस कोउ नाहीं'॥

नामके सम्बन्धमें तो ऐसे उद्‌गार भी पूरे नहीं पड़ते, क्योंकि 'नामीसे नाम बड़ा है।' यह सब श्रुति-स्मृति-शास्त्र-पुराण-संतकी टेर है। फिर तो—

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥
पापिउ जा कर नाम सुमिरहीं। अति अपार भवसागर तरहीं॥

—का क्या स्वारस्य होगा? इसमें सन्देह नहीं कि दिव्यगुणसम्पन्नता नामाभिरुचि बढ़ाने तथा उससे ज्ञाततया लाभान्वित होनेके लिये अनिवार्य है। पर इसका यह कदापि अर्थ नहीं है कि दिव्यगुणसम्पन्नता नामप्रभावका कारण है। इसके विरुद्ध, नाम महाराज कार्य-कारणातीत अति दिव्य हैं। वह अपनी महिमामें विराजते हैं, उन्हें किसीकी अपेक्षा नहीं। उनमें यह शक्ति है कि वे परम पापी और परम पुण्यात्माको समान गति दे सकते हैं, देते हैं, दिये हैं, देंगे। केवल उनको ग्रहण करना चाहिये, यही एक शर्त है। यह अवश्य है कि दिव्यगुणसम्पन्नतासे ग्रहण अधिक सम्भव एवं सहज हो जाता है। पर जीवनमें जिसने एक बार भी ग्रहण कर लिया, उसके परम कल्याणकी रजिस्ट्री हो गयी, इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं है।

जहाँतक परम कल्याणका सम्बन्ध है, वहाँतक तो यही नाम एक बार भी किसीके द्वारा भी किसी स्थान या समयमें भी उच्चारित हो तो वह परम कल्याण कर ही देता है। परम कल्याणकी साक्षात् अनुभूतिमें दिव्यासुरगुणसम्पन्नताके तारतम्यसे अन्तर पड़ सकता है। दिव्यगुणसम्पन्न जीते ही मुक्त हो सकता है, आसुरगुणसम्पन्न मरणके पश्चात् मुक्त होता है। अथवा यह भी हो सकता है कि दो-एक जीवनका व्यवधान और भी पड़ जाय, परन्तु अन्तिम मरणके पश्चात् उसकी मुक्ति होती ही है।

एक और भी प्रमुख भेद है, केवल कल्याण ही परम वाञ्छनीय नहीं है, कल्याणकी अधिकाधिक निरन्तर अनुभूति उससे भी बढ़कर है। कल्याण तो भगवान्‌के नाम-रूप-लीलाधाममेंसे एक या कइयोंके ग्रहणसे हो ही जाता है, पर उसके बाद भी भजनका सुख शेष रहता है। प्रभुकी साक्षात् प्राप्तिके अनन्तर सुग्रीवके ये शब्द—

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजन करौं दिन राती॥

—इसीके इंगित हैं। और भी, यदि कल्याण ही परम ध्येय होता तो जीव उसे छोड़कर आता ही क्यों? कल्याणरूप तो था ही, है ही, रहेगा ही। जीवने उस अवस्थाका त्याग केवल भजन-सुखके लिये किया था और उसकी प्राप्ति दिव्यगुणसम्पन्नतापूर्वक नाम-स्मरणसे सहज ही हो सकती है।

नामकी महिमा, गुणकारिता आदिमें अनेक 'किन्तु', 'परन्तु' लगानेका एक और भी कारण है, इसीके परिणामस्वरूप नामके साथ अन्यान्य बन्धन लगा दिये जाते हैं। परमार्थकी कल्पना हममेंसे सर्वोत्कृष्ट जीवोंका भी सर्वस्व है। सभी श्रेय और प्रेयकी परिसमाप्ति उसमें ही होती है। वही परमार्थ केवल एक बार किसी भी भगवन्नामके भाव-कुभाव, इच्छा-अनिच्छा, श्रद्धा-अश्रद्धापूर्वक जैसे-तैसे उच्चारित करनेसे अनायास सहज प्राप्त हो जाता है—इस बातको द्राविडप्राणायामी अन्य साधन-मार्ग एवं मार्गी सहज उदार हृदयसे स्वीकार नहीं कर पाते। उनके मनमें सहज ही प्रश्न उठता है—जिस परमार्थको बड़े-बड़े उद्‌भट, क्रियाशील, सद्‌गुरु-शरणागत, योगी, वयोवृद्ध विद्वान्, आजीवन चेष्टा करनेपर जन्म-जन्मान्तरोंमें भी उपार्जित नहीं कर सकते, उसको लवार्धमें लिया गया एक भगवन्नाम प्राप्त करा दे—यह क्या समझकी और वैसे हृदयकी ग्राह्य बात हो सकती है? कदापि नहीं। पर शास्त्रोंकी उक्तियोंपर हड़ताल लगाकर अपनेपर ही कुठाराघात कैसे करें? इसलिये वे उस सिद्धान्तको तो अस्वीकार कर नहीं सकते, पर अपने व्यावधानिक 'किन्तु', 'परन्तु' से इसको इतना दुरूह और अगम्य बना देते हैं कि श्रुति भगवतीने सर्वथा सन्तान, असहाय, निरालम्ब दीनोंके लिये नामोच्चारणद्वारा कल्याणप्राप्तिकी जो घोषणा की है, उस प्रभुदत्त आश्वासनमें सहज आस्था करनेमें ये बड़े बाधक होते हैं। और इनके माध्यमसे उन दीनोंके अन्तःकरणमें भी नामसम्बन्धी ये धारणाएँ स्थान पा जाती हैं। फलतः बेचारे नाम-पारस-मणि पाकर भी दीन-दुःखी ही रहते हैं। इन उद्‌भटोंने सकृदुच्चारित कल्याणदायी नामके सम्बन्धमें ऐसे-ऐसे नियम लगा दिये हैं कि अमुक विधिसे, अमुक आसनसे, अमुक संख्यामें, अमुक नाम कल्याणकारी होता है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि नाम भगवान्

वाञ्छाकल्पतरु हैं, सबकी सब तरहकी वाञ्छाओंको पूर्ण करते हैं। फलतः जब कोई मनमें धारता है कि अमुक नाम, अमुक प्रकारसे कल्याणकारी होगा तो नाम महाराज कहते हैं—'एवमस्तु, तुम्हारा कल्याण मेरे स्वरूपभूत स्वभावके विरुद्ध तुम्हारी विधिकी पूर्णतापर ही होगा।' यही कारण है कि सद्यः नामकी महिमा प्रकट नहीं होती।

फलतः जो नामसम्बन्धी सम्पूर्ण शास्त्रकथित एवं व्यवहारप्रचलित नामापराधोंको यहाँतककी उनकी धारणाको बलात् हटाकर इसमें स्थित हो जाता है कि जैसे-तैसे सकृदुच्चारित नाम ही कल्याणकारी है, उसका कल्याण ध्रुव है। नामके सम्बन्धमें कोई भी बोध, कोई भी धारणा न हो—जैसे यवनकी थी, तो नामकी महिमा तत्काल दीखती है। अथवा कोई कल्पना हो भी तो यह कि नामशक्तिको रोकनेवाला कुछ भी नहीं है, तो भी सद्यः प्रकट होती है। परन्तु नाममें ऐसा विश्वास स्वल्प पुण्यवानोंको नहीं होता। कहा भी है—

महाप्रसादे गोविन्दे हरेर्नाम्नि तथा गुरौ।
स्वल्पपुण्यवतां राजन् विश्वासो नैव जायते॥

प्रसंगतः यहाँ एक दुरूह प्रश्न उपस्थित होता है। क्या नामके सम्बन्धमें नामापराध भी न मानें? फिर इस लेखका प्रयोजन क्या? सचमुच बात तो ऐसी ही है। नामसम्बन्धी अन्य कुधारणाएँ तो नामापराधकी कल्पनासे हटती हैं और नामापराधकी मान्यतारूपी कुधारणा उसके भी परित्यागसे। उस विषयमें '**येन त्यजसि तत्त्यज**' की उक्ति अक्षरशः चरितार्थ होती है। और वस्तुतः नामापराध मानना अन्तिम नामापराध है। जबतक नामापराधकी भावना है तबतक नामकी महिमाको समझ नहीं सकते; तबतक वही दशा है, जैसे सूर्यके सम्मुख उपस्थित होनेकी बात कहना और साथ ही शीत और अन्धकारका अनुभव भी करना। और भी यदि नामापराध वास्तविक होता तो स्वयं नामद्वारा ही उसकी निवृत्ति शक्य नहीं बतलायी जाती। जैसे—तीर्थापराध वज्रलेप होकर उस तीर्थद्वारा नहीं मिटता, वैसे ही नामापराध भी नामद्वारा नहीं हटता।

अन्तमें एक और बातकी ओर ध्यान दिलाकर लेख समाप्त किया जायगा। शास्त्रों और संतोकी कृपासे साधारणतः भारतवासियों और विशेषतः धर्म-विश्वासियोंमें परम कल्याणकारी नामका इतना अधिक प्रचार है कि वह अमूल्य—बेमोल, कौड़ीका तीन प्रतीत होता है। जैसे सर्वत्र व्यापक होनेके नाते आकाश और वायुका महत्त्व बिना विचारके साधारणतः नहीं प्रतीत होता, उसी प्रकार नाम भी 'कुछ नहीं' के बराबर स्थान पाता है। 'केवल' नाम लेनेसे क्या होगा?' खाली नाम क्या कर सकेगा?' आदि उद्‌गार इसीके व्यञ्जक हैं। पर यहाँ बड़ी भूल होती है। यह 'केवल' या 'खाली' नाम सचमुच अमूल्य है—सर्वोपरि अति मूल्यवान् है। विचारना चाहिये कि चौरासी लाख योनियोंके अनन्त कोटि जन्मोंके अनन्तर मनुष्ययोनि प्राप्त होती है, उसमें भी वर्तमान संसारके लगभग पौने दो अरब मनुष्योंमेंसे कितनोंको ***'परम मधुर युगल नाम, राधेकृष्ण सीताराम'*** की कर्णद्वारा प्राप्ति है। इस दृष्टिसे हम कितने भाग्यशाली हैं, कितना विशेषाधिकार मिला हुआ है—इसकी ओर ध्यान नहीं देनेके कारण ही हम 'केवल नाम', 'खाली नाम' कहकर नाम भगवान्‌की उपेक्षा करते हैं। सचमुच नाम खाली नहीं है; इसका साधारण, कम-से-कम मूल्य है अनन्तकोटि जन्मोंकी अनुभूतिके अनन्तर परम प्रभु नामीकी असीम कृपा। सोचिये तो सही, नाम महाराज कितने मूल्यवान् हैं—और तो क्या, स्वयं नामीको ही वशमें कर लेते हैं! केवल मनगढ़ंत बात नहीं है। प्रमाण देखिये—

सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥

और अन्तमें—

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

बोलिये प्रेमसे नाम महाराजकी जय!

'हरिकी आश करो'

हरि-सा हीरा छाड़ि कै, करै आन की आस।
ते नर जमपुर जाहिंगे, सत भाषै रैदास॥

—रैदास

कीर्तनका सविशेष वर्णन

(लेखक—रायबहादुर पंड्या श्रीबैजनाथजी)

मैं यहाँ एक वास्तविक घटनाका हाल लिखता हूँ— मेरे एक परिचित मित्र कुछ साधना करते हैं। उन्हें अन्तरमें आदेश हुआ कि 'तुम अमुक तीर्थको जाओ, वहाँ तुम्हें कुछ अनुभव होगा।' वह श्रीकृष्णका तीर्थस्थान था। वहाँ जाकर मन्दिरमें दर्शनकर बैठकर धीरे-धीरे कीर्तन करनेपर उन्हें ऐसा भान होने लगा कि मूर्तिमेंसे श्रीकृष्ण निकलकर मेरे साथ नाचते हैं। इनको अपने शरीरकी सुध न रही। ये श्रीकृष्णके साथ बहुत ऊँचे लोकमें गये—जहाँ इनके कपड़े, शरीरके अवयव, बाल आदि सब गिर पड़े और ये केवल प्रकाशके रूपमें रह गये। वहाँ इतना आनन्द था कि वहाँसे लौटनेका मन नहीं होता था। पर कुछ कालके पश्चात् इन्हें लौटा दिया गया। लौटनेपर बाह्य चेतनामें सब मनुष्योंमें श्रीकृष्णका ही भान होता था। तबसे इन्हें इस प्रकारका अनुभव कीर्तनमें बार-बार होता है और उस ऊँचे लोकमें इनसे पूछा जाता है कि क्या तुम जगत्‌की सेवाके लिये इस आनन्दका त्याग करनेको तैयार हो। उन्हें यह भी कहा जाता है कि ये ऊँचे अनुभव करानेका हेतु यह है कि तुम जगत्‌में जाकर यह बताओ कि सच्चे कीर्तनमें इस प्रकारकी समाधिकी अवस्थाको प्राप्त होना चाहिये। उस आनन्दको छोड़नेकी तो इच्छा कभी हो ही नहीं सकती। पर जग-सेवाके लिये उसे त्यागना आवश्यक होता है। इसलिये इनसे कहा जाता है कि 'तुम्हारा कर्तव्य जगत्‌में जाकर जगत्कल्याणार्थ चेष्टा करना है, न कि उस आनन्द-दशामें रहना।'

यदि किसीको इस कीर्तनके विषयमें कुछ पूछना हो तो उत्तरके लिये टिकट आनेपर उत्तर देनेका प्रयत्न किया जायगा।

साधनका मनोवैज्ञानिक रहस्य

(लेखक—डॉ० श्रीदुर्गाशंकरजी नागर)

संसारमें मनुष्य घड़ीके पेण्डुलमके समान कभी प्रसन्नता, कभी अप्रसन्नता, कभी सुख, कभी दुःख, कभी उन्नति, कभी अवनतिके संयोग और वियोगके अधीन होकर हिलोरे खाया करता है। अनेक अवस्थाओंमें इधर-से-उधर लुढ़कता रहता है। सैकड़ों बार घबरानेके और उद्विग्न होनेके मौके आते रहते हैं। समय सदा एक-सा किसीका नहीं रहता, सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुखका चक्र फिरता रहता है।

आजकल मनुष्यका जीवन ऐसा भाररूप हो गया है कि एक क्षण भी चित्त स्थिर और शान्त नहीं रहता। यह बात अनुभवसे सिद्ध है कि जो लोग किसी साधनका अभ्यास नहीं करते, उनका अन्तःकरण इन्द्रियोंके साथ सम्बद्ध रहता है। अन्तःकरण, मस्तिष्क, ज्ञानतन्तु, गतितन्तु और शरीर—सब तदात्मवत् होकर रहते हैं। ज्ञानतन्तु और शरीरमें बाह्य कारणसे क्षोभ उत्पन्न होते ही अन्तःकरणको पहुँचता है और अन्तःकरणमें जो एक जातिकी वृत्तिका प्रवाह रहता है, वह खण्डित हो जाता है और विजातीय वृत्तिका प्रवाह प्रबलतासे चलने लगता है

बाह्य उपाधि अन्तरकी अस्थिरता तभीतक प्रकट कर सकती है जबतक कि शरीर, इन्द्रिय और प्राणद्वारा अन्तःकरणका अस्थिरताजनक स्वभाव बना हुआ है। किन्तु जिनके अन्तःकरणकी भावनामय व्यापारकी वृत्ति अन्तर्बाह्य स्थूल-सूक्ष्म साधनद्वारा स्थिर हो जाती है और अस्थिरता पैदा करनेवाले हेतुओंका लगभग अभाव अथवा शिथिलता हो जाती है, उनके चित्त अडोल और अकम्प हो जाते हैं और प्रतिकूलता तथा परिस्थिति उनके ध्येयसे उन्हें विचलित नहीं कर सकती।

जिस प्रकार मोम-जैसी मुलायम वस्तुपर मोहर दबानेसे उस पदार्थकी प्रतिकृति (छाप) उस वस्तुपर अंकित हो जाती है। किन्तु पाषाण और लोहेकी वस्तुपर उसका (Impression) इम्प्रेशन नहीं होता, उसी प्रकार

जिन मनुष्योंने स्थिरता प्राप्त करनेके किसी साधनका अवलम्बन नहीं किया है उनका चित्त दुर्बल होता है और उनके मनपर प्रत्येक प्रसंगकी छाप पड़ती है, किन्तु जिनका मन साधन-सम्पन्न होकर दृढ़ हो गया है उनके मनपर उसकी इच्छाके बिना किसी भी प्रसंग या प्रतिकूलता-का प्रभाव नहीं पड़ सकता। व्यावहारिक जगत्में हम देखते हैं कि जिनका मन किसी एक विषयमें तल्लीन हो जाता है अर्थात् एकाग्र हो जाता है, उनके मनपर वातावरणका लेशमात्र भी असर नहीं होता और न दूसरे विषयोंकी उनके मनपर छाप पड़ती है।

वर्तमान शिक्षाप्रणालीमें एक बड़ा भारी दोष यह है कि चेतन मन (Conscious mind)-का लक्ष्य रखकर ही प्रवृत्ति हो रही है किन्तु उच्च नीतिका और आध्यात्मिकताका जीवनके व्यवहारमें अभाव दिखायी दे रहा है। चेतन मन (Conscious mind)-का साम्राज्य होनेसे अन्तर्मन (Sub-conscious mind) मृतप्राय हो जाता है। जाग्रत् मनसे व्यवहार करनेवाले बड़े विचारशील माने जाते हैं किन्तु हमेशा संशयी बने रहते हैं। इनमें आन्तरिक प्रसन्नताका अभाव रहता है। आत्मविश्वास एवं ईश्वरके प्रति श्रद्धाका लोप हो जाता है। श्रद्धा, भक्ति और प्रेमका अभाव हो जाता है। वे शुष्क तर्क-वितर्कमें ही गोते खाते रहते हैं। जरा-जरा-सी बातपर आपेसे बाहर हो जाते हैं। जरा-सी विपत्ति आनेपर आकाश-पाताल एक कर देते हैं। बाह्य जगत्की प्रत्येक घटनाका इनके दुर्बल चित्तपर अप्रतिहत प्रभाव पड़ता है और थोड़ा अधिक श्रम करनेसे या रोगसे आक्रान्त होनेपर (Emotional and nervous break down) स्नायविक दुर्बलता अर्थात् मज्जातन्तुकी व्याधि होकर इनकी (Will-Power) इच्छाशक्तिका ह्रास हो जाता है और इनका ज्ञानतन्तुव्यूह (Nervous system) और मस्तिष्क कमजोर हो जाता है कि ये रात-दिन अशान्त और परेशान रहते हैं और किसी भी तरह जीवनको अन्त करनेकी सोचते रहते हैं और कोई-कोई तो पागल हो जाते हैं। यह बुद्धिकी पराकाष्ठा है।

साधनका नाम लेते ही कई लोग चौंक जाते हैं। उपासना करनेवाले और संयमका साधन करनेवालेके विषयमें कई बार ऐसा देखनेमें आता है कि अमुक मनुष्यने हनूमान् या देवीकी साधना या उपासना की और वह पागल हो गया। अमुक मनुष्यने भैरवकी साधना की और उसको चित्तभ्रम हो गया। अमुकने हठयोगका अभ्यास किया और उसको हृद्रोग हो गया। अमुकने प्राणायामका अभ्यास किया, उसको अमुक रोग हो गया। अमुकका मुद्राके प्रयोगसे उच्चाटन हो गया। वर्षभरमें बहुत-से साधनभ्रष्ट हमारे यहाँ आते हैं, जिन्हें वास्तवमें हानि हुई होती है, किन्तु इसमें उन्हींका दोष है।

वास्तवमें उपासककी अनधिकार चेष्टा ही इस प्रकारकी स्थितिका कारण है। कामनाओंके वशीभूत होकर ये उपासनामें प्रवृत्त होते हैं। इनका चेतन मन (Conscious mind) सुशिक्षित नहीं होता। कामनाओं-की सिद्धिके लिये लौकिक उपाय भी दौड़-धूपके साथ करते हैं और निष्फल होनेपर साधनमें लगते हैं। इनका चेतन मन (Conscious mind) निरुत्साह हो जाता है और कामनाके विचार सतत उठते रहते हैं और इनके अन्तर्मन (Sub-conscious mind)-के गर्भभागमें प्रविष्ट हो जाते हैं।

चेतन मन और अन्तर्मनके अन्य व्यापार बन्द हो जाते हैं और दुर्दशाग्रस्त विह्वल मनकी स्थितिमें ये साधन आरम्भ करते हैं और अन्तर्मनमें प्रवेश करते ही अन्तर्मनकी कामना-पिशाची इनको दबोच लेती है और इनका चित्त भ्रमित हो जाता है या ये पागल हो जाते हैं। चेतन मनकी सत्ता तो पहलेसे ही लोप हुई होती है, इसलिये ये जाग्रत् मनसे कुछ विचार ही नहीं कर सकते। किसी-किसीको धार्मिक उन्माद (Religious mania) हो जाता है।

दूसरे लोग जो प्राणायाम आदिकी क्रियाओंको दोष देते हैं, वे अपनी क्रियाके धुनमें घंटों अभ्यास करते हैं और जाग्रत्-अवस्थामें आते ही बड़ा कष्ट अनुभव करते हैं।

अन्तर्मनको ही प्रधानता देनेसे इस प्रकारकी दुर्गति होती है।

यदि हम किसीसे भी यह प्रश्न करें कि सब लोग संसारमें क्या चाहते हैं तो वह यही उत्तर देगा कि सब कोई शान्ति और आनन्द चाहते हैं। शान्ति और आनन्द प्राप्त करनेके लिये सारा जगत् दौड़ लगा रहा है। शान्ति और आनन्दकी प्राप्ति सफलतासे होती है और सफलता किसी साधनका दीर्घ कालतक अवलम्बन करनेसे ही प्राप्त हो सकती है।

जिनमें निश्चयबल या संकल्पबल दुर्बल होता है और जिनके मनमें भय, शंका, सन्देहके विचार उठते हैं उनको अन्तर्बल मजबूत और दृढ़ करनेके लिये, चित्त स्थिर करनेके लिये साधन करना परम आवश्यक है। अन्त:करणका स्वभाव ही चलायमान है। साधनद्वारा ही हम अपने अन्त:करणमें फेर-फार कर सकते हैं। अन्त:करणमें दृढ़ जमे हुए संस्कारको निर्मूल करनेके लिये साधनकी आवश्यकता है।

हमें संसारमें क्या करना चाहिये, हम संसारमें क्यों उत्पन्न किये गये हैं—यह बात ठीक तरह हम उसी समय समझ सकते हैं, जब हम कुछ देरके लिये संसारसे अलग हटकर अपनेको और संसारको देख सकें। ऐसी अवस्था तभी प्राप्त होती है, जब चित्त स्थिर हो जाता है और संकल्पबल दृढ़ हो जाता है। शान्त और स्थिर अवस्था प्राप्त करनेके पाश्चात्त्य और पौरस्त्य सरल साधनोंका यहाँ दिग्दर्शन कराया जाता है, जिनके थोड़े दिनोंके अभ्याससे ही साधकको अपनेमें विलक्षण परिवर्तन दृष्टिगोचर होगा और साधक अयोग्य प्रभावसे बच जायगा।

पाश्चात्त्य साधन

एकाग्रता (Concentration)

कई मनुष्योंकी व्यर्थ चेष्टा करनेकी, बिना प्रयोजन अंग-संचालन करनेकी आदत पड़ जाती है और दुर्बल ज्ञानतन्तुवाले या जिनका मस्तिष्क विकृत हो गया है या विलपावर (इच्छाशक्ति) मन्द हो गयी है, उनमें भी ये आदतें पायी जाती हैं। नाखून कुचरना, अँगुलियाँ चटखाना, मूँछ मरोड़ना, हाथ-पाँवोंका हिलाना, सिर खुजलाना, मुँह बिगाड़ना, आँखें टिमटिमाना, कोई भी चीज पड़ी हुई हो उसको उठाकर टुकड़े कर देना आदि हरकतोंसे (Dissipation of energy) प्राणशक्ति निरर्थक नष्ट होती है। मनुष्य अपने ऊपर अधिकार खो देता है और उसका चित्त विक्षिप्त हो जाता है और एकाग्रता भंग हो जाती है। चित्तको एकाग्र करना सीखना हो तो सर्वप्रथम अपने शरीरपर अधिकार करो। (A would-be psychologist must first learn not to make any movement of the body without any reason) जो व्यक्ति शक्तिसम्पन्न बनना चाहता है, उसे सर्वप्रथम यह सीखना चाहिये कि वह निष्प्रयोजन अपने शरीरका अंग-संचालन न होने दे।

जो मनुष्य क्षणमें रुष्ट और क्षणमें तुष्ट हो जाता है, उसका अपने मनपर अधिकार नहीं हो पाता। अपने विचार और भावनाका निरीक्षण करो। तुम्हारे मनमें कितने निरर्थक भाव और विचार उठते हैं, इसका विचार करो। जिस प्रकार एक ग्लासमें पड़ी हुई बारूद किसी उपयोगकी नहीं किन्तु उसको बन्दूककी नालमें संयम करनेसे एकाग्रता होते ही तत्काल प्राणहरण करनेका सामर्थ्य उसमें आ जाता है, उसी प्रकार एकाग्र किये हुए विचार शक्तिवाले होते हैं और निरर्थक विचार फालतू होते हैं।

जब चाहे किसी विषयपर विचार लगाया जा सके और जब चाहे किसी विषयसे विचार हटाया जा सके, यह बलवान् मनका लक्षण है। जिसका मन भटकता रहता है, वह अपनी शक्तियोंको बरबाद करता रहता है। जो वस्तु, जो कार्य हमारे सामने हो, उसपर देखने, सुनने और विचारनेकी सारी वृत्तियोंको लगा देना ही एकाग्रता है। विचारको एक ही वस्तुपर अथवा कार्यपर एक ही स्थानपर निरन्तर (Undivided attention) अनन्यासक्त ध्यानसे रोक रखना ही एकाग्रताकी कुंजी है। यह सदा स्मरण रखो कि सामनेकी वस्तुपर जो एकाग्रता कर सकता है, वही सब जगह कर सकता है। जो अपने शरीर और मनपर अधिकार रख सकता है, वही एकाग्रताका अभ्यास कर सकता है।

मानस चित्रकल्पना (Visualization)

मानस-शास्त्रका यह सिद्धान्त है कि जिसका चित्र हम अपने मनमें अखण्ड आरूढ़ रखते हैं, परिणाममें हमारे व्यावहारिक जीवनमें वही प्रत्यक्ष हो जाता है। जिस प्रकारका हमारा अन्तर्जीवन होता है, उसी प्रकारकी वस्तुओंका हमारे बाह्य जीवनमें आकर्षण होता है। हम लोह-चुम्बकके समान हैं; जैसे लोह-चुम्बक लोहेको अपनी ओर खींचता है, उसी प्रकार हम भी अपने सदृश पदार्थोंका आकर्षण करते हैं।

जब अमुक चित्रकी मनमें रचना होती है तब उस चित्रके समान ही विचार उत्पन्न होते हैं। ये विचार मनसे बाहर प्रकट होते हैं और सारे शरीरमें व्याप्त हो जाते हैं और हमारी इच्छा, उद्देश्य और मनोवृत्तिमें फेर-फार कर देते हैं।

पूर्ण आरोग्य और बलका चित्र मनमें दीर्घकालतक आरूढ़ रहे तो चाहे जैसा हठीला रोग भी नष्ट हो जाता है और शरीर पूर्ण आरोग्यमय बन जाता है।

मानसिक चित्र कोई ऐसी एक वस्तु नहीं है कि व्यवहारमें जैसे हम स्थूल पदार्थोंको देखते हैं, उसे भी देख सकें। यह तो एक कल्पना, विचार अथवा भावना है और बुद्धिवृत्तिसे ही हम उसको देख सकते हैं।

यदि तुम्हारा शरीर कृश और दुर्बल है और तुम मोटे-ताजे बनना चाहते हो तो उसी तरहका ध्यान करके अपना मानस चित्र देखो। अगर तुम्हारा शरीर बहुत स्थूल है और तुम अपनी चरबी छाँटना चाहते हो तो वैसा ही अपने मनके नेत्रोंसे अपने सुन्दर, सुडौल शरीरको देखो। यदि मानसिक और आत्मिक शक्तिकी अभिवृद्धि चाहते हो तो मानसिक शक्ति और आत्मिक शक्तिके सद्‌गुणोंसे अपने मस्तिष्कको भरा हुआ देखो। इस सिद्धान्तको फालतू समझकर मत उड़ा दो। इसके अंदर प्रकृतिका एक बड़ा सिद्धान्त भरा हुआ है। जिस तरहका तुम अपना मानसिक चित्र देखोगे, वैसे ही बन जाओगे।

एकान्तमें नित्य एक-एक करके स्मरण करके स्मृतिपटपर नित्य इष्ट मानसिक चित्र उपस्थित करनेसे बड़ा लाभ होगा। कोई पदार्थ जो तुम्हारे सामने हो, उसको बारीकीसे छोटे-से-छोटे अंशको देखो। अब नेत्र मूँदकर उस पदार्थको ज्यों-का-त्यों अपने भीतर मानसिक दृष्टिसे देखो; फिर नेत्र खोलकर देखो कि किन-किन अंशोंको तुम भूल गये हो। पुनः दूसरे दिन अभ्यास करो। पाँच मिनट नित्य अभ्यास लगानेसे कुछ दिनोंमें स्मरणशक्ति तीव्र होने लगेगी।

इच्छाशक्ति (Will-Power)

मानस-शास्त्रका यह नियम है कि जो जैसा अपनेको समझता है, वह वैसा ही बन जाता है। सुननेमें तो यह बात आश्चर्य-सी मालूम होती है, परन्तु वास्तवमें है बिलकुल सत्य। जो बात बार-बार मनमें चला करे, वह विश्वासके रूपमें बदल जाती है और अपने मन और शरीरके सम्बन्धमें जैसा जिसका विश्वास होता है वैसे ही लक्षण प्रकट होने लगते हैं। इस प्रकार बार-बार दुहरानेके लिये जिस वाक्यका उपयोग होता है, उसे (Auto-suggestion) आत्मद्योतन कहते हैं।

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।

जैसी जिसकी भावना होती है वैसी ही सिद्धि होती है। तीव्र इच्छाशक्तिको जाग्रत् करनेका सर्वोत्तम उपाय आत्मद्योतन या सूचना है। मनोविज्ञानाचार्य एमीलोका कथन है कि रात्रिको सोते समय अन्तर्मनमें जिस भावनाका चिन्तन करते हुए हम निद्रामें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार हमारे जीवनका निर्माण होता है। अन्तर्मन हमारी स्मरणशक्तिका भाण्डार है। इसमें जीवनके प्रत्येक क्षणमें होनेवाली घटना तथावत् अंकित रहती है।

प्रत्येक भावना जो हमारे मनमें आती है, उसको यदि अन्तर्मन (Sub-conscious mind)-की अचेतन वृत्ति ग्रहण कर लेती है तो वह सत्त्वस्थ होकर हमारे जीवनकी एक स्थायी वृत्ति हो जाती है।

इस सिद्धान्तके नियमानुसार भावनाओंका प्रभाव हमारे मन, विचार, प्रवृत्ति, शारीरिक संगठन तथा उसके कार्योंपर अवश्य पड़ता है

आनन्द, सुख, शान्ति, आरोग्य, उत्साह, श्रद्धा, सामर्थ्य, बल आदिकी भावना अन्तर्मनमें भर सकते हो और यही भावनाएँ सत्य होकर तुम्हारे जीवनको उच्च बना सकती हैं।

जो कुछ तुम्हारी इच्छा हो, आवश्यकता हो—जैसे तुम्हें बल प्राप्त करना है तो 'मैं बलवान् हूँ' इस सबल भावनाको रात्रिको सोते समय बार-बार दोहराया करो। या इच्छाशक्ति (विल-पावर)-को उन्नत करना हो तो निम्न सूचनाओंको दोहराते हुए निन्द्रामें प्रवेश करो—

'मेरी इच्छाशक्ति बलवती है। मैं सब कुछ कर सकता हूँ। अतः मैं अवश्य करूँगा। यही मेरे जीवनके मन्त्र हैं। मैं दुःख और विपत्तियोंसे कभी नहीं डरता। मैं निर्भय हूँ। मैं अपनी समस्त शक्तियोंको केवल इच्छाशक्तिको बलवती बनानेमें लगाता हूँ। शरीर और मनपर मेरा पूर्ण अधिकार है। मेरा स्वभाव परम शान्त और स्थिर है।'

इस अभ्याससे थोड़े ही दिनोंमें तुम्हारे शरीर और मनमें आश्चर्यमय उन्नति होगी और इच्छाशक्तिके बढ़नेसे तुम्हारा स्वभाव तुम्हारे वशमें आ जायगा।

पौरस्त्य साधन

पाश्चात्त्य मानस-शास्त्रियोंने बाहरी एकाग्रताके लिये कल्पना, एकाग्रता और इच्छाशक्तिको उन्नत करनेके उपाय बतलाये हैं, जिनसे हम इस संसारमें सफल जीवन व्यतीत कर सकते हैं। पाश्चात्त्य मनोविज्ञानी रात्रिको सोते समय बाह्य मनको विरोधी विचारसे रहित करके इष्ट विचारोंमें तन्मय होकर, जिस स्थितिको प्राप्त करना हो, अन्तर्मनमें प्रवेश करनेका आदेश देते हैं।

हमारे प्राचीन ऋषि सद्भावको स्थिर करनेके लिये सन्धिके समय सन्ध्या करनेका महत्त्व बतलाते हैं—(१) प्रात:कालकी सन्धि, (२) मध्याह्नकालकी सन्धि और (३) सायंकालकी सन्धि—इन तीनों समयपर मनुष्य दत्तचित्त होकर किसी सद्भावको अन्त:स्थित करेगा तो वही जाग्रत् रहेगा और उसीका प्रवाह दिनभर प्रवाहित होगा। सन्धिके समय जिस प्रकारके भाव पैदा हो जाते हैं, उसका असर प्रधानरूपसे अगली सन्धितक रहता है। प्रात:कालमें सर्वप्रथम शौच और स्नानके पश्चात् सन्ध्या करनेकी ही आज्ञा वेदमें दी गयी है—'**अहरहः स्नात्वा सन्ध्यामुपासीत।**' क्योंकि उस समय सांसारिक व्यवहारके भाव कुछ नहीं होते और मस्तिष्कके केन्द्र और नाड़ी-केन्द्र सब ग्रहणशील अवस्थामें होते हैं और उत्तम संस्कार दृढ़तासे अंकित हो जाते हैं—क्योंकि प्रकृति इस समय अपनी समरूपताकी अवस्थामें रहती है। सत्, रज, तम—इन तीनों गुणोंकी हलचल बंद रहती है। इसीलिये जप, ध्यान, धारणादि क्रिया करनेके लिये सन्धिकालका इतना महत्त्व बतलाया है।

इस सन्धिकालमें (Rhythmic Harmony) एक लयबद्ध महान् राग स्वाभाविकरूपसे सारे विश्वमें प्रवृत्त रहता है। जो लोग इस समय संसारके जंजालसे—चित्तको निरन्तर क्षोभ पैदा करनेवाले प्रसंगोंसे अलग होकर कुछ समय एकान्तमें जाकर सन्ध्याके अनुष्ठानमें अपने अन्तरके एक रागको विश्वके एक महान् रागसे सम्बद्ध करते हैं, वे बाहरी और भीतरी दोनों प्रकारकी एकाग्रता सम्पादन करते हैं और व्यवहार तथा परमार्थ दोनोंमें आश्चर्यकारक उन्नति करते हैं। प्रात:काल, सायंकाल, मध्याह्नकाल या रात्रिको सोते समय—जिस समय अनुकूलता हो, नित्य नियमित समय एवं नियत स्थानपर सुखसे मेरुदण्डको सीधा करके आलथी-पालथी मारकर बैठ जाओ और शरीरको बिलकुल सीधा रखो। ठोड़ी, सिर और शरीर सीधा रहे। दोनों हाथोंको जंघाओंपर सीधे धर लो, आँख बंद कर लो और नेत्रोंको मूँदे हुए दोनों भौंहोंके बीच दृष्टि जमाओ। बिखरे हुए विचारोंको खींचकर और सब इन्द्रियोंको अपने विषयोंसे हटाकर अपने अन्तरके एक रागपर स्थिर करो। दस-बीस बार गहरे श्वास-प्रश्वास लो अर्थात् दीर्घ श्वास-प्रश्वास करो। ध्यान करते समय मक्खी अथवा मच्छर काटे तो सहन कर लो और अंग-प्रत्यंगको बिलकुल नहीं हिलने दो।

अपने मनसे द्वेष, अनुत्साह, दीनता, दुर्बलता, रोग, एवं अधमताके विचारोंको बाहर हटा दो। अपने अभ्यासगृहके किवाड़ बंद करके ध्यानके लिये बैठो। ध्यानके समय कोई विक्षेप न करे, इस प्रकारकी व्यवस्था करो। प्रत्येक स्नायुको शिथिल करो। प्रत्येक ज्ञानतन्तुके तानको मुलायम कर दो। शरीर और मन दोनोंको शिथिल करो। भूतकाल, वर्तमान काल तथा भविष्यकालकी सब सांसारिक चिन्ताओंको छोड़कर मनकी प्रशान्त स्थितिमें प्रवेश करो। जैसे शान्तिके महासागरमें गोता लगा रहे हो, इस प्रकार शान्तिमें तल्लीन हो जाओ। 'सारे विश्वमें एक रागके आन्दोलन चल रहे हैं, उस प्रवाहको मैं अपनेमें ग्रहण कर रहा हूँ'—ऐसी भावना करते हुए हृदयाकाशमें अपनी भावनाको स्थिर करो, यही परमात्मप्रदेश है। यही सम्पूर्ण सुखमय आध्यात्मिक जगत् है। इस दिव्य जगत्में प्रवेश करना ही मनुष्यमात्रका कर्तव्य है।

इस अनन्त जगत्के अणु-अणुमें यह सुखमय जगत् व्याप्त है। यह सर्वका कारण है। चैतन्यमय है। इन चैतन्यमय विचारोंमें तन्मय हो जाओ—

'मैं चैतन्यस्वरूप हूँ। मैं जीवन-तत्त्वसे परिपूर्ण हूँ। परमात्म-जीवनसे आरोग्य, शान्ति, पूर्णताका मेरे शरीरके अणु-अणुमें संचार हो रहा है। मैं परमतत्त्वमें लीन हो रहा हूँ। वह सर्वव्यापक है और अन्तर्बाह्य परिपूर्ण है। मैं सर्वदु:खोंसे, दोषोंसे, व्याधियोंसे अन्तर्बाह्य-मुक्त हो गया हूँ।'

विश्व-व्यवस्थापक सत्ताके साथ इस प्रकार अभेद-सम्बन्ध स्थापित करनेसे हममें अमर्याद आध्यात्मिक बल प्रकट होता है। फिर जगत्की कोई स्थिति हमारे अन्त:करणको चलायमान नहीं कर सकती। इस प्रकार परमात्माका नित्य अखण्ड अनुसन्धान करनेसे और उनमें तन्मय होनेसे जीवनमें तत्क्षण परिवर्तन हो जाता है। हमारी आत्मा परमात्माके अधिक-अधिक निकट सम्बन्धमें आने लगती है और हमारा शरीर, मन और आत्मा—सब परमात्माकार हो जाते हैं और दु:खरूप संसारके स्थानपर सुखका महासागररूप संसार दिखायी देता है।

न जले मार्जनं सन्ध्या न मन्त्रोच्चारणादिभिः।
सन्धीयते परब्रह्म सा सन्ध्या सद्भिरुच्यते॥

(देवीभागवत)

'केवल शरीरपर जल छिड़कनेसे अथवा केवल मन्त्रोचारण कर लेनेसे सन्ध्या नहीं होती। जिस अवस्थामें परात्पर तत्त्वसे एकता हो जाय, सत्पुरुषोंने उसे सन्ध्या कहा है'।

इस प्रकार इस सरल सन्ध्याके अनुष्ठानमें अपने चित्तको स्थिर करनेका अभ्यास नित्य करोगे तो इन्द्रिय, प्राण और मन आत्माके अनुकूल व्यवहार करने लगेंगे। मज्जातन्तुजाल (Nervous System) दृढ़ हो जायगा। रोगप्रतिबन्धकशक्ति दृढ़ होगी। आधि-व्याधि तुमपर आक्रमण नहीं कर सकेंगी और न चित्तक्षोभ या विक्षेप तुम्हें तंग करेंगे। आत्माको परमात्मामें लीन करनेसे या परम तत्त्वमें तन्मय करनेसे जीव, प्रकृति, ब्रह्मका रहस्य समझमें आयेगा। सब साधनोंका प्रकाशक मुख्य साधन यही है और एकाग्रता सम्पादन करना ही इसकी एकमात्र कुंजी है। सर्वसिद्धियोंका मूल मन्त्र एकाग्रता है और एकाग्रता शक्तिका रहस्य साधन है।

ईश्वर-दर्शनका साधन

(लेखक—पू० पण्डित श्रीशिवदत्तजी शर्मा)

'समस्त शक्तियोंका भाण्डार, समस्त विश्वका संचालक, समस्त चेतनाओंका झरना परमात्मा है'—इस सत्यको मान लेनेसे और इसीपर ध्यान करनेसे तुम्हारे और उसके बीचमें जितने पर्दे हैं, एक-एक करके सब हट जायँगे और एक दिन तुम और वह एक हो जाओगे। यही प्रथम सत्य है।

'शिव' शब्दका अर्थ ईश्वर है और सुख, शान्ति, आनन्द तथा ऐश्वर्यका नाम भी शिव है। यदि तुम पहले शिवको प्राप्त कर लोगे तो दूसरे शिव आप-से-आप तुम्हें प्राप्त हो जायँगे।

एक महात्माने इसी बातको बहुत स्पष्ट शब्दोंमें इस प्रकार कहा है कि यदि तुम्हें किसी भी संसारी वस्तुकी आवश्यकता हो तो संसारके स्वामीसे मिलो और उससे माँगो, क्योंकि यह संसार उसीकी मिलकियत है।

दूसरा सत्य आत्मा है। आत्माका वाचक 'मैं' है। इस 'मैं' के अंदर ही प्रथम सत्यको प्राप्त कर लेनेकी शक्ति छिपी हुई है अथवा इस दूसरे सत्यमें ही पहला सत्य छिपा हुआ है।

तात्पर्य यह है कि पहले तुम्हें दोनों सत्य समझ लेनेकी जरूरत है। वह और मैं (ईश्वर और जीव)-इसीका नाम द्वैतवाद है। फिर जैसे-जैसे ध्यानका अभ्यास बढ़ता जायगा, वैसे-ही-वैसे यह द्वैत-भावना क्षीण होती जायगी और यह 'मैं' भूलता जायगा। जिस समय 'मैं' बिलकुल भूलकर इसके परेकी अवस्थामें स्थिति हो जाती है, उसी अवस्थाका नाम अद्वैत-अवस्था है।

वही सबसे ऊँची अवस्था है। यहाँ पहुँचनेवालेको प्रेम, जीवन, शक्ति, बुद्धि, आरोग्य, प्रसन्नता—ये सब प्राप्त हो जाते हैं। पहुँचे हुए सिद्ध पुरुषके यही लक्षण हैं। दुःखी पुरुषोंके दुःखोंको मिटानेमें ही सिद्ध पुरुष अपनी सिद्धियोंका उपयोग करते हैं।

इस अवस्थाको प्राप्त करनेके पाश्चात्त्य उपाय

रात-दिनमें किसी समय एकान्तमें बैठकर पहले कई दीर्घ श्वास-प्रश्वास करो। फिर शान्तिसे ऐसा भान करो कि एक ऐसी वस्तु सब जगह भरी हुई है जो सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है, आनन्दका समुद्र है—वह मेरे भीतर-बाहर, ऊपर-नीचे, सर्वत्र पूर्ण है।

उस समय तुम्हारी अवस्था बड़ी शान्त हो जायगी। उस समय एकाग्रता होनेसे नये-नये विचार उठते हैं और वे सभी विचार लाभदायक होते हैं। यदि तुम्हारे कुछ पेचीदे विचार हों तो उन्हें सुलझानेका उस समय यत्न करो।

सब मनुष्योंमें परमात्मा हैं। परमात्मा समस्त शक्तियोंके भाण्डार हैं। परमात्माके पास पहुँचनेका मार्ग ध्यान है। ध्यानके द्वारा मनुष्योंकी सब इच्छाएँ पूर्ण हो सकती हैं। यही पाश्चात्त्य मनोज्ञानका निचोड़ है।

परन्तु प्राच्य प्रणालीमें ईश्वर-दर्शनका विषय जैसा महत्त्वपूर्ण है, उसी प्रकार उसका मार्ग भी '**क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथः**'—छुरेकी धारा-सा तेज और दुर्गम है। विरले ही साहसी और भाग्यवान् जन वहाँ, पहुँच पाते हैं।

पञ्चकोष

प्राच्य प्रणालीमें ईश्वर-दर्शनके लिये पञ्चकोषोंका ज्ञान होना आवश्यक है। तदनन्तर उनमें ध्यानद्वारा प्रवेश करना

चाहिये। पञ्चकोष ये हैं—(१) अन्नमय, (२) प्राणमय, (३) मनोमय, (४) विज्ञानमय तथा (५) आनन्दमय। यहाँ इनका संक्षिप्त विवेचन दिया जाता है—

पहले शुचि होकर एकान्त देशमें बैठकर विश्वमें बिखरी हुई वृत्तियोंको खींचकर अपने स्थूलशरीरपर लगाना चाहिये। यह शरीर क्या है? रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्रका बना हुआ एक पुतला है। ये सातों धातु अन्नसे बनी हुई हैं, इसलिये इस पुतलेका नाम अन्नमय कोष है।

अब अन्नमय कोषके भीतर घुसो। वहाँ दूसरा प्राणमय कोष है। प्राण दस हैं—प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय। इन्हीं दस प्राणोंके द्वारा शरीर और मनके सारे व्यापार चलते हैं। इस प्रकार ध्यान करनेको प्राणमय कोषमें प्रवेश करना कहते हैं।

उसके आगे मनोमय कोष है। वहाँ मनके साथ पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। उससे आगे विज्ञानमय कोष है, जहाँ बुद्धिके साथ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं; और पाँचवाँ आनन्दमय कोष है वहाँ आनन्दकी प्रतीति होती है।

इस प्रकार एक-एक कोषका ध्यान करते हुए आगे बढ़ते जाना चाहिये। आनन्दमय कोषमें पहुँचनेपर आनन्द क्या वस्तु है, इसका अनुभव होता है—आनन्द प्राप्त होता है।

अब अपने हृदय-देशमें, अंगुष्ठ-परिमाण दहराकाशमें अणु-परिमाण लिंगशरीरका ध्यान करो। यह लिंगशरीर सत्रह तत्त्वोंका बना हुआ है—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ, मन और बुद्धि। इसी लिंगशरीरके भीतर वह जीवात्मा रहता है, जिसका वाचक 'मैं' है।

जिसे हम 'मैं' कहते हैं, वह इसी लिंगशरीरके अंदर रहनेवाला जीवात्मा है। जिस समय कोई मनुष्य ध्यानद्वारा वहाँ पहुँच जाता है अर्थात् अपने असली स्वरूपमें पहुँच जाता है, उस समय उसका बाह्य भान बिलकुल नष्ट हो जाता है। यही उसकी पहचान है।

यह जीवात्मा ईश्वरका मन्दिर है। इसतक पहुँचना मानो ईश्वरके मन्दिरके द्वारपर पहुँच जाना है। अब यदि ईश्वरदर्शन करना है तो मन्दिरके अदंर प्रवेश करना चाहिये।

जैसे हम (जीवात्मा) इस स्थूलशरीरमें रहते हैं, उसी प्रकार ईश्वर हमारे भीतर रहता है; इसलिये परमात्माके दर्शनाभिलाषीको पहले पंचकोषोंके ध्यानक्रमसे जीवात्मातक पहुँचना चाहिये। फिर जीवात्माके भीतर (अपने-आपके भीतर) ध्यानद्वारा प्रवेश करना चाहिये तब वहाँ परमात्माके दर्शन हो सकते हैं।

यह प्रक्रिया कठिन अवश्य है, पर ईश्वर-दर्शन कुछ दाल-भातका खाना भी नहीं है। अनेक जन्मोंका पुण्य उदय होनेपर ही मनुष्यकी ईश्वरकी ओर किंचित् प्रवृत्ति होती है। ऐसे महान् उद्देश्यकी सिद्धिके लिये महान् प्रयत्नकी ही आवश्यकता है।

यह विषय बड़ा गहन और गूढ़ है। लिखा-पढ़ीमें इतना ही आ सकता है। अधिक जानकारीके लिये किसी जानकार व्यक्तिके साथ प्रत्यक्ष सत्संग करना चाहिये।

काम क्रोध लोभ मोह मद, तजि भज हरि को नाम।
निश्चै सहजो मुक्ति हो, लहै अमरपुर धाम॥
कामी मति भिष्टल सदा, चलै चाल बिपरीत।
सील नहीं सहजो कहै, नैनन माहिं अनीत॥

—सहजोबाई

मोक्षका मुख्य साधन—भक्ति

(लेखक—पं० श्रीविनायक नारायण जोशी साखरे महाराज)

'शङ्करः' शङ्कराचार्यः कहकर जैसे श्रीमत् शङ्कराचार्य-को साक्षात् श्रीशंकर ही कहा गया है, वैसे ही '**ज्ञानेशो भगवान् विष्णुः** कहकर ज्ञानेश्वर महाराजको साक्षात् श्रीविष्णुका अवतार बताया गया है। श्रीमत् शङ्कराचार्यने जिस तत्त्वका अर्थात् '**जीवो ब्रह्मैव नापरः**' का प्रतिपादन किया है, उसीको ज्ञानेश्वर महाराजने भी अपने 'ज्ञानेश्वरी', 'अमृतानुभव' और 'पासष्टी' ग्रन्थोंमें उपपत्तिसहित विशद किया है। अद्वैत आत्मतत्त्व समझनेके लिये वेद-शास्त्राध्ययनका जो अधिकार और बुद्धिका जो विकास अपेक्षित है, वह सब जीवोंके लिये सुलभ नहीं है। अतः श्रीज्ञानेश्वर महाराजने अपने ज्ञानेश्वरी ग्रन्थमें यह सिद्ध किया है कि वेद-शास्त्रादि वाक्योंपर जिन लोगोंकी श्रद्धा है और जिनके अंदर तीव्र मुमुक्षा है, उनके लिये मुख्य साधन भगवद्भक्ति है।

ज्ञानेश्वरीके सोलहवें अध्यायमें भगवान् कहते हैं कि 'हे अर्जुन! जो कोई अपना कल्याण चाहता हो वह वेदोंकी आज्ञाका कभी उल्लंघन न करे। यहाँतक कि वेद-शास्त्र यदि सर्वैश्वर्यसम्पन्न सार्वभौम राज्यका त्याग करनेको कहें तो कल्याणकी इच्छा करनेवाले पुरुषको वह त्याग अवश्य करना चाहिये। शास्त्र यदि विषपान भी करनेको कहें तो विषपानमें ही अपना कल्याण जाने। वेदोंमें जिस किसीकी ऐसी अनन्य निष्ठा हो, उसके लिये अनिष्ट नामकी कोई वस्तु ही नहीं रह जाती। जबतक मुमुक्षु पुरुषको ब्रह्मके साथ अपना ऐक्य बोध न हो तबतक श्रुतिका कभी त्याग न करे, श्रुत्येकशरण होकर आत्मानन्द लाभ करे।

श्रुतिका मुख्य सिद्धान्त क्या है, यह गीताके ९ वें अध्यायके इन श्लोकोंकी टीकाके प्रसंगसे बतलाते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्॥

ज्ञानेश्वर महाराज भगवान्से कहलाते हैं कि 'हे अर्जुन! प्रकृतिके परे मेरा जो मायारहित विशुद्ध परमात्मस्वरूप है, उसमें यदि तुम अपनी कल्पनाको छोड़कर देखो तो परमात्मस्वरूपमें भूतोंका रहना सत्य नहीं है। कारण, सारा दृश्यजगत् मैं हूँ। जगत्के अनादि संस्कारसे जीवोंकी आँखोंपर संकल्पका जो क्षणस्थायी सायंकालीन मन्दान्धकार छा गया है, उससे उनकी दृष्टि अर्थात् उनका ज्ञान आच्छादित हो गया है, इसीलिये एकमेवाद्वितीय अखण्ड ब्रह्मसत्तामें उन्हें नानात्व भासित हो रहा है। संकल्पकी यह सायंवेला टल जाय तो जगद्रहित परमात्मा अपने अखण्ड स्वरूपमें हैं ही। मन्दान्धकारमें पुष्पमालापर होनेवाला सर्पभ्रम जब निवृत्त होता है तब जैसे पुष्पमालाका सर्परूप नहीं रह जाता, वैसे ही परमात्मस्वरूपके अंदर जगत् वस्तुतः नहीं है, जो देख पड़ता है, वह देखनेवालेकी कल्पनाका आरोप है। पर्वतके समीप की जानेवाली ध्वनि जो प्रतिध्वनित होती है, वह पर्वतकी ध्वनि नहीं होती, अपनी ध्वनिकी ही प्रतिध्वनि होती है। दर्पणमें जो मुखड़ा देख पड़ता है वह दर्पणमें नहीं होता, अपने मुखका ही तो प्रतिबिम्ब होता है। इसी प्रकार शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूपमें जो भिन्न-भिन्न भूत देख पड़ते हैं, वे देखनेवालेके संकल्पसे ही देख पड़ते हैं। भूतोंकी कल्पना करनेवाली यह प्रकृति यदि ब्रह्मविचारसे नष्ट हो जाय तो स्वगत सजातीय-विजातीयभेदशून्य विशुद्ध ब्रह्मस्वरूप ही अवशिष्ट देख पड़े। विशुद्ध परमात्मस्वरूपमें भूतोंकी उत्पत्ति सम्भावित ही नहीं है। इसलिये मेरे अंदर न भूत हैं और न भूतोंके अंदर मैं हूँ। इसलिये अब तुम इन्द्रियोंके कपाट बन्द करके अर्थात् इन्द्रियोंको अन्तर्मुख करके इस ज्ञानका आनन्द अनुभव करो।'

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचनमें पहले अध्यासवाद बतलाकर अजातवाद स्थापित किया गया है। अजातवाद एकाएक किसीकी समझमें नहीं आता। रज्जु-सर्प और शुक्तिका-रजतादि दृष्टान्तोंसे अध्यासवाद मन्दबुद्धि मनुष्यकी भी समझमें आ जाता है और अध्यासवादका ही और भी सूक्ष्म विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सीपमें भासमान रजत रजत-प्रतीतिके पूर्व नहीं था, सीपका ज्ञान होनेपर नहीं रहता—यही नहीं, बल्कि जिस समय रजतकी प्रतीति हो रही थी उस समय भी रजत नहीं था। इस प्रकार अध्यस्त रजतका त्रिकालमें अत्यन्ताभाव ही देख पड़ता है। इसीको अजातवाद कहते हैं। इस विचारमें जिस बुद्धिका प्रवेश नहीं हो पाता, उसके लिये श्रेष्ठ

मोक्षसाधन सगुणोपासन ही है—जिसके फलस्वरूप उसे भगवत्प्रसादसे ब्रह्मात्मैक्यज्ञान प्राप्त हो जाता है।

इस सगुणोपासना या भक्तिके विवरणसे ज्ञानेश्वरी-के अनेक स्थल परिपूर्ण हैं। उनमेंसे कुछ प्रसंगोके अवतरण आगे दिये जाते हैं। भगवान् कहते हैं—

'हे अर्जुन' जो सरल भावुक भक्त मुझ परमेश्वरको जानकर अपने अहंकारको चूर करते और अपने सब कर्मोंके द्वारा मेरा भजन-पूजन करते हैं, वे देही होकर भी देहमें नहीं रहते, मेरे स्वरूपमें ही रमते हैं। जैसे वे मेरे स्वरूपमें रहते हैं, वैसे ही मैं भी उनके हृदयमें सम्पूर्णरूपसे निवास करता हूँ। जैसे वटवृक्ष उत्पन्न होनेके पूर्व अपने सम्पूर्ण शाखादि विस्तारके साथ वटबीजमें गुप्त रहता है और वटबीज भी जैसे वटवृक्षमें सर्वत: व्यापक रहता है, वैसे ही भक्त और भगवान्—इस नाम-भेदके रहते हुए भी, मैं जो कुछ हूँ वही वे मेरे भक्त है।..... उन भक्तोंका मन मद्‌भावनामें ही सन्निहित रहता है। मनका इन्द्रियके द्वारा जिस वस्तुके साथ सम्बन्ध होता है, मन उसी वस्तुका आकार धारण कर लेता है—तदाकार हो जाता है। उसी प्रकार मेरे भक्तोंका मन मुझमें रत रहनेसे मद्रूप ही हो जाता है। जो भक्त प्रेमभावसे तथा अनन्यभावसे मुझे भजते हैं, वे मत्स्वरूप हो जाते हैं— इसमें आश्चर्य ही क्या? मेरा भक्त किसी जातिका हो, उसका कुछ भी आचरण हो, पापियोंमें सबसे बड़ा पापी भी वह क्यों न हो—उसने जब अपना जीवन भक्तिकी वेदीपर रख दिया, तब उसे मेरा स्वरूप प्राप्त हुए बिना रह ही नहीं सकता। पहले वह चाहे कितना भी बड़ा दुराचारी रहा हो, अन्तमें तो वह मेरा भक्त हुआ; इसलिये वही सर्वोत्तम है। किसी महाजलप्रवाहमें कोई कूद पड़ा और लोगोंने समझा कि यह तो डूब मरा; पर जीकर जब वहाँसे अपने घर-गाँवको लौट आया तब सबका यह निश्चय कि वह डूब गया, व्यर्थ ही तो हुआ। उसी प्रकार दुराचारका परित्याग कर जिसने अपना सारा जीवन भगवद्‌भक्तिमें लगा दिया उसके सब पाप उस भक्तिसे नष्ट हो गये, अनुताप-तीर्थमें स्नान कर वह मेरे स्वरूपमें आ मिला। पिछला कोई भी दोष फिर उसमें नहीं रहता। यही नहीं, जिस कुलमें उसका जन्म हुआ रहता है वही कुल पवित्र समझो, उसीसे उस कुलकी कुलीनता जानो। मनुष्यजन्मका फल, सच पूछो तो उसीको मिला; सब शास्त्रोंको उसीने तो जाना, सब तप उसीने तो किये। उसके अन्त:करणमें मेरी ही आस्था है, मेरा ही प्रेम है। वह सब कर्मोंसे उत्तीर्ण हुआ, इसमें सन्देह ही क्या है। कारण, उसने मन, बुद्धि, चित्त, शरीरके सब व्यापार मत्स्वरूपनिष्ठाकी मञ्जूषामें रखकर मुझे अर्पण कर दिये।'

(ज्ञानेश्वरी अ० ९।४०८—४२४)

भगवान् अपने ऐसे अनन्य भक्तको कितना प्यार करते हैं, यह आगे बतलाते हैं—

'अनन्यचित्तसे जो मेरा अनुचिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उनकी सेवा मैं ही करता हूँ। कारण, उनका चित्त जब सब तरफसे बटुर कर मेरी भक्तिमें लगा तब उसी क्षण उनका सारा भार मुझपर आ पड़ा। अत: उन्हें जो-जो कुछ करना होता है, वह सब मुझे ही करना पड़ता है। जिन शिशु-पक्षियोंके अभी पंख नहीं निकले हैं उन्हें खिलाने-पिलानेका उपाय जैसे उनकी माँको करना पड़ता है अथवा भूख-प्यासका लगना भी जो बच्चे नहीं जानते उनकी सारी चिन्ता उनकी माताको ही करनी पड़ती है, उसी प्रकार समस्त जीवन-प्राणसे जो भक्त मेरी भक्तिमें लग जाते हैं उनका सारा भार मैं वहन करता हूँ। उनकी सब इच्छाएँ, सब भावनाएँ मैं पूर्ण करता हूँ। देहाभिमान है तो संसार-साधन ही, पर वे इसे मुझ श्रीहरिकी उपासनामें लगाते हैं। संसारके सारे अनात्मपदार्थोंका लोभ त्यागकर वे मत्स्वरूपके लोभी होते हैं। उनमें वैषयिक काम नहीं होता, उनमें मेरी प्रीति होती है। वे संसारको मानो चीन्हते-पहचानते ही नहीं। वे शास्त्रोंको पढ़ते-सुनते हैं मेरे लिये, मन्त्रपाठ करते हैं मेरे लिये। अपने शरीरकी सब चेष्टाओंद्वारा वे मेरा ही भजन करते हैं।'

(ज्ञानेश्वरी अ० ९।३३७—३४३)

भक्तिके उपाय और प्रकारके विषयमें आगे कहते हैं—

'भक्तोंका अपना आपा मुझे अर्पण कर देना ही मेरी प्राप्तिका एकमात्र उपाय है, इस बातको हे अर्जुन! तुम ध्यानमें रखो। अन्य किसी उपायसे मत्स्वरूपलाभ नहीं हो सकता। वेदोंसे अधिक ज्ञानसम्पन्न भला कौन हो सकता है? सहस्रजिह्व शेषसे अधिक बोलनेकी शक्ति भला किसमें है? पर उस शेषको मेरा बिछावन होकर रहना पड़ा और वेदोंको 'नेति-नेति' कहकर लौट जाना पड़ा। सनकादि मेरे पीछे पागल हो रहे। योगीश्वर श्रीशङ्करको अपने तपोबलसे शान्ति नहीं मिली और उन्होंने मत्पादोद्‌भवा गङ्गाको अपने मस्तकपर धारण किया। तात्पर्य, जो मत्स्वरूपको प्राप्त होना चाहते

हों, वे धन–मानादिकी बड़ाई छोड़ दें, व्युत्पत्ति–ज्ञान भुला दें, देहाभिमान त्याग दें, संसारमें सर्वत्र विनम्र होकर रहें; तो ही मुझे पा सकते हैं। मैं भक्तकी केवल निर्मल भक्तिका ही आदर करता हूँ। मैं जाति–पाँति नहीं देखता; जो मुझे भजता है, वह चाहे किसी जातिका हो—मैं उसके घर सदा मेहमान बना रहता हूँ। किसी निमित्तसे जिसका चित्त मुझमें लग जाता है, उसे मत्स्वरूपलाभ होता ही है। यह वस्तुस्वभाव है। स्पर्शमणिको कोई क्रोधवश फोड़ डालनेके लिये उसपर लोहेका हथौड़ा चलावे तो स्पर्श होनेके साथ ही वह लोहा सोना हो जायगा। गोपियाँ काम–बुद्धिसे ही मेरे पास आयी थीं, पर हो गयीं प्राप्त मेरे स्वरूपको। भयसे कंस और द्वेषसे शिशुपालादि मच्चित्त होकर मद्रूप हो गये। माता–पिता–बन्धु–बान्धव–सम्बन्धसे वसुदेव–देवकी और यादव मद्रूप हुए। किसीका भी चित्त किसी प्रकार मेरे स्वरूपमें लग जाय, उसे अवश्य मेरी प्राप्ति होगी।'

(ज्ञानेश्वरी अ० ९। ३६२—४७४)

फिर बारहवें अध्यायकी टीकामें श्रीज्ञानेश्वर महाराज भगवान्‌के भक्तप्रेमका वर्णन करते हैं। भगवान् कहते हैं—

'हे अर्जुन! मैं अपने प्रेमी भक्तोंके पीछे कितना पागल हो जाता हूँ, कहाँतक बतलाऊँ! मैं उन्हें अपने सिरपर लेकर नाचता हूँ।' अर्जुन पूछता है— 'वह कौन-सा भक्त है, जिसे आप सिरपर लेकर नाचते हैं!' भगवान् इसका उत्तर देते हैं— 'मुक्ति नामकी जो चौथी पुरुषार्थ-सिद्धि है, उसे अपने हाथमें रखे भक्तिमार्गपर चलनेवाले भोले–भाले भावुकोंको जो बाँटता फिरता है, कैवल्यमोक्षका मानो जो स्वामी है, चाहे जिसे उसका दान करता या अपने ही पास रख छोड़ता है— इतने बड़े ऐश्वर्यका स्वामी होकर भी जो सदा जलके समान नम्र, निरभिमान बना रहता है, उसे मैं प्रणाम करता हूँ, उसे मुकुट बनाकर अपने मस्तकपर रखता हूँ, उसके चरणतल निरन्तर अपने हृदयमें धारे रहता हूँ, उस भक्तके गुण मेरे अलंकार बनते हैं और मैं उनसे अलङ्कृत होता हूँ। अपने कानोंसे मैं उसकी कीर्ति सुना करता हूँ। अर्जुन! मेरा जो अरूप स्वरूप है, उसमें चक्षुरादि इन्द्रिय कहाँ? पर अपने भक्तको आँखें भरकर देखनेके लिये मैं आँखें बना लेता हूँ। मेरे हाथमें जो कमल है उसे मैंने अपने सूँघनेके लिये नहीं, बल्कि जहाँ कहीं मेरा भक्त मिले, उसे तुरत चढ़ानेके लिये रखा है। मैंने दो और दो—चार हाथ जो अपने बना लिये हैं वे भी चारों हाथोंसे भक्तको आलिङ्गन करनेके लिये हैं। भक्तसंगके परम सुखके लिये ही विदेह होकर भी मुझे देह धारण करनी पड़ती है। अधिक क्या बतलाऊँ? भक्तसे मेरा जो स्नेह है, उसकी कोई उपमा नहीं है। और तो क्या, मेरे भक्तोंके चरित्रोंको जो श्रवण करते और उनके गुणोंको बखानते हैं, वे भी मेरे प्राणाधिक प्रिय होते हैं।'

इस प्रकार ज्ञानेश्वर महाराजने कितने ही स्थानोंमें भक्तिकी महिमाका बड़ा ही मनोहर वर्णन करके सगुणभक्तिकी अत्यन्त सरस श्रेष्ठता दरसायी है, इसीको मुख्य साधन बताया है। भाग्यबलसे जिसे यह भक्ति-साधन प्राप्त हो गया, उसके लिये मोक्ष क्या दूर है?

भगवान्‌का विरह

दरिया हरि किरपा करी, बिरहा दिया पठाय।
यह बिरहा मेरे साधको, सोता लिया जगाय॥
बिरह बियापी देहमें, किया निरंतर बास।
ताला बेली जीवमें, सिसके साँस उसाँस॥
दरिया बिरही साधका, तन पीला मन सूख।
रैन न आवै नींदड़ी, दिवस न लागै भूख॥
बिरहिन पिउके कारने, ढूँढ़न बनखँड जाय।
निसि बीती पिउ ना मिला, दरद रहा लपटाय॥

—दरिया साहेब

अभ्युदय और निःश्रेयसके साधन

(लेखक—श्रीनारायण स्वामीजी)

अभ्युदय लोकोन्नति और निःश्रेयस परलोकोन्नति अथवा मोक्ष या ईश्वर-प्राप्तिको कहते हैं। लोकोन्नति परलोकोन्नतिका साधन हुआ करती है। इसलिये लोककी उपेक्षा न करके उसे इस प्रकार काममें लाना चाहिये कि वह परलोककी उन्नतिका साधन बन जाय। इस सम्बन्धमें वेदमें एक जगह कहा गया है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

(यजुर्वेद ४०। १४)

अर्थात् 'विद्या (ज्ञान) और अविद्या (ज्ञानेतर-कर्म) दोनोंको जो साथ-साथ काममें लाता है, अर्थात् न ज्ञानकी उपेक्षा करता है और न कर्मकी, वह कर्मके द्वारा मृत्युको पार करके ज्ञानके द्वारा अमरताको प्राप्त करता है।' यहाँ वेदने असन्दिग्ध शब्दोंमें बतला दिया है कि मनुष्यका धर्म ज्ञान उपलब्ध करके उसके अनुकूल कर्म करना है। वेदने इस ज्ञान और कर्मका उद्देश्य मृत्युके सबसे बड़े बन्धनको पार करना बतलाया है। छोटे-छोटे बन्धनोंको पार करता हुआ ही मनुष्य बड़े बन्धनको पार किया करता है। इसलिये लोककी उन्नतिके लिये मनुष्य ज्ञान और कर्मको इस प्रकार यहाँ काममें लावे जिससे लोकके छोटे-मोटे बन्धन बराबर शिथिल होते रहें। ऐसा होनेपर ही लोकोन्नति परलोकोन्नतिका साधन बना करती है और मनुष्य इन छोटे-मोटे बन्धनोंको दूर करते हुए इस योग्य हो जाता है कि बड़े-से-बड़े मौतके बन्धनको भी दूर कर सके। और ऐसा हो जानेपर वह अपने परलोकको भी उन्नत कर लिया करता है। यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिये कि मोक्ष अथवा ईश्वर-प्राप्ति मनुष्यको दो बातें प्राप्त कराया करती है—(१) मौतके बन्धनसे छुटकारा (२) आनन्द। इनमेंसे पहली बात निर्गुण और दूसरी बात सगुणोपासनाका फल हुआ करती है। जब मनुष्य ईश्वरके निर्गुणताप्रदर्शक गुणोंका चिन्तन करता है कि ईश्वर अजर है, अमर है, अभय है— इत्यादि, तो इससे उसके भीतर भी निर्गुणता आती है और वह भी निमित्तसे ही क्यों न हो, अजर, अमर और अभय हो जाया करता है। और जब वह ईश्वरकी सगुणताका चिन्तन करता है कि ईश्वर सच्चिदानन्द है, न्यायकारी है, दयालु है—इत्यादि, तो उसके भीतर नैमित्तिक रीतिहीसे क्यों न हो, सच्चिदानन्द आदि गुणोंका संयोग-सम्बन्धवत् समावेश हो जाया करता है। और इस प्रकार मनुष्यको मोक्षके दोनों पहलू प्राप्त हो जाते है। यह तो जीवनोद्देश्यका स्थूल ढाँचा हुआ। यह ढाँचा किन साधनोंसे बना करता है, उसपर थोड़ा विचार करना चाहिये।

साधन

योगदर्शनमें वर्णित '**तज्जपस्तदर्थभावनम्**' की शिक्षाके अनुसार मनुष्यको ईश्वरके गुणवाचक नामोंका जप करके अपने भीतर उनमेंसे अनेकका समावेश करना चाहिये, जिससे वह कम-से-कम इतना शक्तिसम्पन्न अवश्य हो जाय कि अपने अंदरसे अहंकारको निकाल सके। अहंकारकी उत्पत्तिसे जगत्में व्यष्टित्वका समावेश होता है, मनुष्यके भीतर भी अहंकारकी कुछ मात्रा आ जानेसे मेरे और तेरेपनका भाव (ममता) पैदा हो जाता है। ईश्वर प्रकारकी दृष्टिसे परिच्छिन्न नहीं अपितु विभु है। इस ममताकी उत्पत्तिका फल यह होता है कि ज्यों-ज्यों यह बढ़ती है, मनुष्य ईश्वरसे दूर होता जाता है। जगत् बेशक अहंकारसे उत्पन्न होता और अहंकारसे ही उसकी स्थिति भी बनी रहती है। परन्तु जब मनुष्य ईश्वरकी ओर चलनेका इरादा करता है तो उसके लिये आवश्यक हो जाता है कि अहंकारसे अपना पीछा छुड़ावे। अहंकारसे पीछा छुड़ानेका तरीका अपनेको भुला देनेमें निहित है। अपनेको किस प्रकार भुलावे? इसके लिये प्रेम और भक्तिका आश्रय लेनेकी जरूरत है। जब मनुष्य ईश्वरको अपने प्रियतमके रूपमें देखकर उसके प्रेम और उत्कृष्ट प्रेमकी चरम सीमामें अपनेको पहुँचा देता है तब वह प्रभुप्रेममें इतना लीन हो जाता है कि उसे अपनी सुध-बुध भी नहीं रह जाती। इस दरजेपर पहुँच जानेपर अहंकार, ममता या मेरे-तेरेपनके भाव उसे व्यथित नहीं कर सकते। इसी अवस्थाके लिये कवियोंने लिखा है—

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाय।
प्रेम गली अति साँकरी, तामें दो न समाय॥

अथवा—

बेखुदी[1] छा जाय ऐसी, दिलसे मिट जावे खुदी[2]।
उनके मिलनेका तरीका अपने खो जानेमें है॥

इस अवस्थापर पहुँच जानेपर यह नहीं हो सकता कि उपासक अथवा प्रेमीकी सत्ता न रहती हो; वह रहती अवश्य है, परन्तु प्रियतममें लवलीन हो जानेसे उसे हर जगह वही दिखायी देने लगता है—'जिधर देखता हूँ, उधर तू-ही-तू है।' न उसे अपनी सुध रहती है न दूसरोंकी। योगदर्शनकी परिभाषामें इसीको चित्तकी वृत्तियोंका निरोध कहा जाता है। तात्पर्य इसका यह है कि चित्तकी वृत्तियाँ बहिर्मुखी हैं और बाहर सारी माया अहंकारकी ही हुआ करती है, इसलिये उन वृत्तियोंके निरुद्ध हो जानेका फल यह हुआ कि चित्तका सम्बन्ध अहंकारसे बाकी न रहा। इस सम्बन्धके बाकी न रहनेसे आत्माका सम्बन्ध भी चित्तसे टूट-सा जाता है और इस सम्बन्धके टूट जानेसे आत्मा अपने भीतर काम करने लगता है और यही अवस्था है जिसमें आत्म-साक्षात्कार और परमात्म-साक्षात्कार हुआ करता है। यही अवस्था है, जिसे स्वाद चखनेकी अवस्थासे उपमा दिया करते हैं। यहाँ जो स्वाद आता है, उसे कोई ज़बानसे कह नहीं सकता। उपनिषदोंने इसीके लिये कहा है—

'न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥'

तत्त्वम्पदार्थशोधन

(लेखक—स्वामी श्रीप्रेमपुरीजी महाराज)

साधनेषु समस्तेषु तत्त्वम्पदार्थशोधनम्।
श्रुत्या प्रोक्तं प्रमुख्यं वै स्मृत्या युक्त्यावधार्यताम्॥

साधन-राज्यमें **तत्त्वम्पदार्थशोधन** को प्रमुख स्थान प्राप्त है, यह श्रुतिकी सूक्ति है। परिशोधित 'तत्' पदार्थ तथा 'त्वं' पदार्थके अभेदनिश्चयके लिये श्रुति, स्मृति तथा तदनुकूल युक्तिकी शरण लेनी चाहिये।

समस्त साधन एवं तत्प्रतिपादक शास्त्रका सार है जीवब्रह्मकी एकरूपता। यही साधकका चरम लक्ष्य है, साध्यसिद्धि है। जीवात्मा और परमात्माकी एकताके बोधक वैदिक वाक्य 'महावाक्य' नामसे व्यवहृत होते हैं। इनमें 'तत्त्वमसि' विशेष प्रसिद्ध और प्रचलित है। गुरु शिष्यको उपदेश देते हैं—'तत्त्वमसि' तू वही (परब्रह्म) है। अनन्तर श्रुति, स्मृति और युक्तिद्वारा मनन करनेपर श्रोताके अन्तःकरणमें **'अहं ब्रह्मास्मि'**, मैं (वही) परब्रह्म हूँ—इस प्रकार ब्रह्मापरोक्षानुभवका उदय होता है। इसीलिये 'तत्त्वमसि' को उपदेश-महावाक्य एवं '**अहं ब्रह्मास्मि**' को अनुभवात्मक महावाक्य कहा जाता है।

महावाक्यसे जीव-ब्रह्मकी एकताका अखण्डार्थ-बोध होनेके लिये उसके पदार्थज्ञानकी अपेक्षा है। पदार्थज्ञानके अनन्तर वाक्यार्थज्ञान होता है। 'तत्त्वमसि' महावाक्यके तत्, त्वम्, असि—ये तीन पद हैं। 'तत्' पदका अर्थ है सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, आनन्दमय, परमात्मा। 'त्वं' पदका अर्थ है अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, दुःखमय जीवात्मा। 'असि' पद दोनोंकी एकताका सूचक है। परन्तु आनन्दमयत्वादिविशिष्ट 'तत्' पदार्थकी और दुःखमयत्वादि-विशिष्ट 'त्वं' पदार्थकी एकता अत्यन्त विरुद्ध है। अतः इनके शोधनद्वारा एकताका समन्वय करना है।

पद (शब्द)-में अपने अर्थका बोध करानेकी जो सामर्थ्य है, उसे वृत्ति कहते हैं। वह शक्तिवृत्ति, व्यंजनावृत्ति तथा लक्षणावृत्ति-भेदसे तीन प्रकारकी है। वृत्तिभेदसे अर्थभेद भी होता है। शक्तिसे प्रतीत होनेवाले अर्थको शक्य, व्यंजनासे व्यंग्य और लक्षणासे प्रतीत होनेवालेको लक्ष्य कहते हैं।

शब्दके स्वाभाविक अर्थका भान जिस सामर्थ्यसे होता है, उसे शक्ति और उसके द्वारा प्रतीत हुए अर्थको शक्यार्थ कहते हैं। उदाहरण—**भक्ता भजन्ति भगवन्तम्**', भक्त भगवान्‌का भजन करते हैं।

शब्दके स्वाभाविक अर्थके सर्वथा विपरीत अर्थकी प्रतीति होती हो तो उसे विपरीत अर्थकी प्रत्यायक सामर्थ्यको व्यंजना तथा उस विपरीत अर्थको व्यंग्यार्थ कहा है। किसी-किसी मतमें इसका लक्षणामें अन्तर्भाव करके दो ही वृत्तियाँ मानी गयी हैं। उदाहरण—'**विषं भुङ्क्ष्व**', जहर खा लो।

१- निरहंकारता। २- अहंकार।

कोई सरल व्यक्ति शत्रुके बहकावेमें भूलकर उसका दिया भोजन खानेको तैयार है। अन्य जानकार सज्जन उसे सावधान करते हैं कि '**विषं भुङ्क्ष्व**' अर्थात् शत्रुके हाथका उत्तम-से-उत्तम भोजन पानेकी अपेक्षा विष खाना कहीं अच्छा है। यहाँ '**विषं भुङ्क्ष्व**' के स्वाभाविक अर्थसे (शक्यार्थसे) सर्वथा विपरीत अर्थका भान कराना है कि शत्रुके हाथसे कुछ भी मत खाओ। अधिक स्पष्टताके निमित्त अन्य उदाहरण—एक मनुष्य दूसरेसे व्यंगरूपमें कह रहा है, आप बड़े महात्मा हैं! यहाँ 'महात्मा' पदके स्वाभाविक अर्थ 'महान् आत्मा' के सर्वथा विरुद्ध अर्थ 'आप वास्तवमें दुष्टात्मा हैं' की प्रतीति होती है।

कभी-कभी तात्पर्यविशेषसे प्रयुक्त पद अथवा पदसमुदाय (वाक्य)-से सांकेतिक अर्थका भान होता है। उसकी प्रत्यायक सामर्थ्यको लक्षणा तथा उस अर्थको लक्ष्य कहते हैं। लक्षणाके तीन प्रकार हैं-'जहल्लक्षणा', 'अजहल्लक्षणा' और 'जहदजहल्लक्षणा।' इसके अर्थ (लक्ष्यार्थ)-को भी तीन तरहका होना पड़ता है। विषय गहन होनेके कारण दुरूह है, सरल करनेका यथासाध्य प्रयत्न किया जायगा। अध्यात्मविषयमें, विशेषत: लक्षणाद्वारा 'तत्त्वमसि' महावाक्यके लक्ष्यार्थनिश्चयमें अनेक शंकाओंको अवकाश हो सकता है। जिज्ञासुओंको अपने निकटके मर्मज्ञोंद्वारा समाधान करा लेना चाहिये।

जहाँ शब्दके स्वाभाविक (शक्य) अर्थका त्यागकर उसके विरुद्ध अर्थका ग्रहण किया जाय, वहाँ 'जहल्लक्षणा' मानी जाती है। उदाहरण—'**गङ्गायां घोषः**' गङ्गामें घोषियोंके घर (ग्वालोंका गाँव)हैं। यहाँ 'गङ्गा' शब्दका स्वाभाविक अर्थ है महाराज भगीरथके परिश्रमसे इस भारतभूमिपर उतरा हुआ दिव्य जल-प्रवाह। उसमें घोषका बसना असम्भव है, अत: वक्ताके संकेतानुसार —'गंगा' शब्दके स्वाभाविक अर्थका त्याग कर उसके विरुद्ध सांकेतिक अर्थ 'गङ्गातट' का ग्रहण किया जाता है कि तटपर घोषका बसना सम्भव हो जाता है। —'गंगायाम्'! कहनेका सांकेतिक तात्पर्य भी घटित हो जाता है'प्रवाहके एकदम समीप होनेके कारण जैसी पवित्रता, शीतलता आदि प्रवाह (गङ्गा)-में है वैसी ही घोषमें भी है। यहाँ 'गङ्गा' पदके शक्यार्थ 'जल' के स्थानपर उससे विरुद्ध लक्ष्यार्थ 'स्थलका ग्रहण है।

जहाँ शब्दके स्वाभाविक अर्थका त्याग न होता हो, किन्तु उसके साथ अन्य अधिक अर्थका ग्रहण करना पड़ता हो, वहाँ 'अजहल्लक्षणा' होती है। उदाहरण— '**काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्**' कौओंसे दही बचाना। यहाँ 'काक' शब्दके स्वाभाविक अर्थ कौओंका त्याग न कर उसके साथ दधिको हानि पहुँचानेवाले चूहे, कुत्ते आदि अन्य अधिक अर्थका भी ग्रहण करना पड़ता है; क्योंकि तमाम जीव-जन्तुओंसे दधिकी रक्षा अपेक्षित है, इसीमें सांकेतिक तात्पर्य है।

जहाँ शब्दार्थके विरुद्ध (विशेषण) भागका त्याग और अविरुद्ध (विशेष्य) भागका ग्रहण किया जाय, वहाँ 'जहदजहल्लक्षणा' होती है; इसे 'भागत्यागलक्षणा' भी कहते हैं। उदाहरण—'**सोऽयं देवदत्तः**', यह वही देवदत्त है। दस वर्ष पूर्व बदरीनारायणमें वस्त्राभूषणविभूषित हृष्टपुष्ट, डाँडीपर सवार, यात्रामें खूब दान-पुण्य करनेवाले जिस देवदत्त नामक मनुष्यको देखा था, उसीको आज रामेश्वरमें फटे चिथड़ोंसे ढका, रोगी, पैर घिसते, भीख माँगते देखकर द्रष्टा बोल उठा—अरे, यह वही है। यहाँ 'यह' और 'वह' के साथ देवदत्तकी एकता दिखलायी गयी है। परन्तु वह तब सम्भव हो सकती है, जब कि 'यह' तथा 'वह'-के परस्पर विरुद्ध विशेषणोंका त्याग एवं अविरुद्ध विशेष्यका ग्रहण किया जाय। यह काम 'भागत्यागलक्षणा' का है। 'यह' का निकृष्टावस्थाभाग और 'वह' का उत्कृष्टावस्थाभाग निकाल दिया जाता है, तो एक अभिन्न देवदत्त व्यक्तिका बोध हो जाता है।

प्रकृत 'तत्त्वमसि' महावाक्यमें उपदिष्ट तत्त्वम्पदार्थशोधनमें शक्तिवृत्तिसे काम नहीं चलता। 'तत्' पदके शक्यार्थ एवं 'त्वं' पदके शक्यार्थकी एकता अत्यन्त विरुद्ध है, यह बात पूर्वमें कही गयी है। उपदेशावसर होनेसे व्यंजनावृत्तिको स्थान ही नहीं है। शेष रह जाती है लक्षणा। इससे तत्त्वम्पदार्थशोधन हो जाय तो अच्छी बात है।

प्रथमत: जहल्लक्षणा प्रस्तुत है, परन्तु वह अभीष्ट सिद्ध न कर सकेगी। उसमें स्वाभाविक अर्थका त्याग और विरुद्धका ग्रहण होता है। जैसा कि उदाहरणमें स्पष्ट हो चुका है। यहाँ 'तत्' पदके स्वाभाविक अर्थ सर्वज्ञ, सर्वशक्ति और आनन्दमयादिका त्याग कर उसके स्थानमें उससे विरुद्ध अल्पज्ञ, अल्पशक्ति एवं दु:खमयादिका ग्रहण किया जाय तो 'तत्त्वमसि' के अर्थ होंगे—हे शिष्य! तू अल्पज्ञ, अल्पशक्ति और निरा दु:खमय तत्पदार्थ है। ऐसा तो वह प्रथम भी मानता था, उपदेशने क्या अपूर्वता की? दूसरे यह

भी सम्भव नहीं कि 'तत्' पदका अर्थ कोरा अल्पज्ञ, अल्पशक्ति तथा दु:खमय हो।

दूसरी अजहल्लक्षणा भी उपयोगी न हो सकेगी। उसमें स्वाभाविक अर्थके साथ और अधिक अर्थका ग्रहण है। जहाँ स्वाभाविक अर्थमें ही अनिवार्य विरोध घुसा हुआ है, वहाँ और अधिक अर्थ ग्रहण करनेपर विरोध कम होना तो दूर रहा, प्रत्युत बढ़ ही जायगा। **'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्'** में यदि कौओंसे ही दधिरक्षा न हो सकती हो, तो अन्य जीव-जन्तुओंसे कैसे हो सकेगी? जब कौओंका ही परिचय न हो सका, तो अन्य दध्युपघातक प्राणियोंका परिचय कैसे होगा? सुतरां दधिरक्षा खटाईमें पड़ जायगी। वैसे ही 'तत्त्वमसि' में तत्त्वम्पदार्थका ही समन्वय नहीं हो सकता तो अन्य अधिक अर्थका किस प्रकार हो सकेगा? जहाँ तत्त्वम्पदार्थके स्वाभाविक अर्थका ही स्वरूपपरिचय नहीं हो सकता, वहाँ अन्य अधिक अर्थकी खिचड़ी पकानेसे विशेष उलझन बढ़नेके अतिरिक्त और क्या हो सकेगा? अतएव तत्त्वम्पदार्थका समन्वय असम्भव हो जायगा। इस प्रकार तत्त्वम्पदार्थशोधनमें इस अजहल्लक्षणाका भी उपयोग नहीं है।

अब चलिये जहदजहल्लक्षणा (भागत्यागलक्षणा)-की शरण। यह साध्य सिद्ध कर देगी। इसमें विरुद्ध भागका त्याग और अविरुद्ध भागका ग्रहण करना होता है। 'तत्' पदके स्वाभाविक अर्थ (शक्यार्थ) सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, आनन्दमय परमात्माके तथा 'त्वं' पदके शक्यार्थ अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, दु:खमय जीवात्माके परस्परविरुद्ध विशेषण भागोंको अलग कर दीजिये। परमात्मामेंसे परम भाव निकल गया, शुद्ध आत्मा रह गया। जीवात्मासे जीवभाव छूट गया, आत्मामात्र रह गया। 'असि' पदने दोनोंकी एकता बोधित कर दी। अब 'तत्त्वमसि' के अर्थ समन्वित (तत्त्वम्पदार्थके शोधन) हो गये। गुरुने उपदेश किया **'तत्त्वमसि'**—वत्स! तू वही है, तेरा आत्मचेतन ब्रह्मचेतन ही है। उपदेशानन्तर शिष्य मनन करता है, 'तत्' पदके अर्थ परमात्माके मायाकृत विशेषणोंको हटा-हटाकर निर्विशेष चेतनको परिशेष कर लेता है। जीवात्मामेंसे भी अविद्याकृत विशेषणोंको निकाल फेंकना जारी कर देता है, जीवभावकी पतझड़का धावा बोल देता है, एक-एक करके समस्त उपाधियोंका खात्मा कर डालता है और अशेष अविद्याविरहित अपने-आपको नि:शेष मयाविवर्जित अखण्डैकरस निर्विशेष ब्रह्मचेतनानन्दसागरके निकट खड़ा पा लेता है। तब उसके अन्तस्तलमें गहरी-गहरी "अ⋯हं⋯ब्र⋯ह्मा⋯स्मि"—इस प्रकार अनुभवात्मकवृत्ति स्फुरित हो आती है। वह अधिक खड़ा नहीं रह सकता, विशेष विलम्ब नहीं सह सकता। दीप दीख गया, फिर पतंगा अलग रह जाय—यह नयी बात नहीं हो सकती। उसने अपनेको होम दिया। जलकी बूँद सागरमें बरस पड़ी, बूँदभाव खो गया, सागरभाव उद्वेलित हो उठा। जीवभाव झड़ गया, ब्रह्मभाव उमड़ आया। वह निरञ्जनमें रंजित हो रहा। उसका तुच्छ 'अहम्' 'ब्रह्माहम्' में घुल-मिल गया, एकमेक हो गया। साधन सफल हुए, साधना पूरी हुई, सर्वत्र साध्य-ही-साध्य व्याप रहा। उसके आगे-पीछे, अगल-बगल, दायें बायें-ऊपर-नीचे, अंदर-बाहर ब्रह्मानन्द ही भरा पड़ा है।

राम राम कहो

राम कहो राम कहो, राम कहो बावरे।
अवसर न चूक भौंदू, पायो भलो दाँव रे॥
जिन तोको तन दीन्हो, ताको न भजन कीन्हो।
जनम सिरानो जात, लोहे कैसो ताव रे॥
रामजी को गाय गाय, रामजी को रिझाव रे।
रामजी के चरन कमल, चित्त माहिं लाव रे॥
कहत मलूकदास, छोड़ दे तैं झूठी आस।
आनँद मगन होइ कै, हरि गुन गाव रे॥

(मलूकदास)

भगवान्‌के सम्बन्धमें साधनोंका सामर्थ्य

(लेखक—'कविशिरोमणि' देवर्षि भट्ट श्रीमथुरानाथजी शास्त्री)

'घन बयार, मझधार यह नैया भँवर मझार।
करुनाधार! उबारिये निज कर लै पतवार॥'

अपने प्राणप्रेष्ठके विरहमें व्याकुल हुईं व्रजगोपिकाओंने भगवान्‌के खोजनेके लिये कोई कसर न की। अपनी जानमें यमुनातटका एक-एक स्थान छान डाला। सामने जो कोई मिला, उससे पूछा—यहाँतक कि पशु-पक्षी, लता-वृक्ष, जो कोई भी दिखायी दिया, उसीसे भगवान्‌का पता पूछा। उनके हृदयमें भगवान्‌का अप्रतिरोधनीय असामान्य अनुराग था। भगवान्‌की प्राप्तिके लिये वे घर-द्वार, सम्बन्धी-स्वजन सब कुछ छोड़ चुकी थीं। यहाँतक कि लौकिक-पारलौकिक मर्यादाओंपर भी उनकी दृष्टि न थी। एकमात्र भगवान् ही उनकी प्राप्तिके लक्ष्य थे। उन्हीं प्राणप्रियतमका वियोग, और फिर वह भी ऐसे समयमें जब कि उनकी सब मनोवृत्तियाँ उत्तेजित होकर अपने प्रियतमके एकान्त अभिमुख हो रही थीं! फिर भला, विकलता क्यों न हो? विरहाग्निसे हृदय संतप्त हो रहा था। प्रेम और तज्जनित व्याकुलताका यह हाल था कि उनका एक-एक अवयव, रोम-रोम, भगवान्‌के दर्शनके लिये लालायित था। भला, गोपिकाओंके अनुरागकी कोई सीमा है? उनकी प्रीतिकी तुलना किसी अन्यसे की ही नहीं जा सकती, प्रत्युत प्रीतिके विषयमें उन्हींकी उपमा सब जगह दी जाती है—'**यथा व्रजगोपिकानाम्।**'

भगवदनुरागके कारण उनकी भाग्यवत्ताको देवता भी सराहते हैं और चाहते हैं कि वृन्दावनमें वृछ, लता, गुल्म आदिमें ही हमारा जन्म हो जाय—जिससे कि आते-जाते समय गोपिकाओंकी चरण-रज तो हमारे मस्तकपर पड़ जाय*। वही असामान्य अनुरागिणी गोपिकाएँ भगवान्‌की प्राप्तिके लिये पूर्ण यत्न कर चुकी, पर आप न मिले। प्रेम और विरहमें विह्वल होकर वे कभी भगवान्‌के चरित्रोंको गाती थीं तो कभी प्रलाप करती थीं। अन्तमें तो यह दशा हुई कि विरह-व्याकुलताके कारण रोने लगीं—'**रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः**'। परन्तु इसपर भी उनके उपाय और यत्नोंसे कुछ न हुआ। करुणावरुणालय भगवान्‌को ही जब उनकी हालतपर दया आयी, तब '**तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः**'—उनकी प्रणय-परीक्षापर हँसते हुए भगवान् उनके ही मध्यमें प्रकट हुए।

इस कथाकी संगति कई तरहसे लगायी जाती है और सब जानते भी हैं; किन्तु क्या इस घटनासे यह अभिव्यंजित नहीं होता कि चाहे जितने अनुकूल और प्रबल साधन क्यों न हों, पर ऐसे शक्तिघनके सम्मुख जहाँ कि किसी उपायकी पहुँच नहीं वे साधन अपने स्वरूपसे तो कुछ फल नहीं दिखला सकते। जब वही (सब शक्तियोंका केन्द्र) उन साधनोंको स्वीकार करना चाहे, तभी कुछ फलसिद्धि हो सकती है। योगसिद्धिसे, देखेते-देखते अलक्ष्य हुए योगीको हम चाहे जितना पकड़ना चाहें, खोजें, किन्तु नहीं पा सकते। वही जब अपनी इच्छासे हमारे सम्मुख आवे तभी वह हमें मिल सकता है। सर्वसिद्धान्तोंसे जिसका स्वरूप यह सिद्ध होता है कि '**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**' अर्थात् जहाँ मन-वाणीकी पहुँच नहीं, वे भी उनतक न पहुँचकर जहाँसे निष्फल लौट आते हैं, वहाँ भला, फिर कौन-से साधन अपना बल दिखलायेंगे? '**ईष्टे इति ईश्वरः**' इस व्युत्पत्तिसे जब उनके सामर्थ्यको 'अन्यसामर्थ्यानभिभवनीय' अर्थात् अन्यशक्तिसे न दबनेवाला मानते हैं, तब वहाँ बेचारे साधन कर ही क्या सकते हैं? और यदि साधनोंने अपना सामर्थ्य वहाँ जमा दिया तो फिर वह 'अन्यसामर्थ्यानभिभवनीय' भी कैसे कहलायेंगे?

व्यवहारमें भी आप देखते हैं कि हम किसी हाकिमके सम्मुख अपने सब प्रमाण उपस्थित कर देते हैं। साक्षियोंके द्वारा तथा अन्यान्य उपायोंसे अपनी निर्दोषता भरसक अच्छी तरह सिद्ध कर देते हैं, तथापि निर्दोषताका फैसला देना तो उसके ही हाथमें मानते हैं। जब सामान्यसे अधिकारीका इतना सामर्थ्य माना जाता है, तब जो चतुर्दश भुवनोंका 'ईश्वर' प्रसिद्ध है, उसके सामर्थ्यकी क्या कोई सीमा हो सकती है? आप जिस कामको आसान

---

* 'आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥'

समझते हैं, थोड़े-से यत्नसे सिद्ध होनेवाला मानते हैं, वहींपर लाख यत्न होनेपर भी, बहुत कालतक दौड़-धूप करनेपर भी, कुछ फल नहीं होता। किन्तु जब कोई अदृष्ट शक्ति चाहती है, तभी आपको उसका फल मिलता है। ऐसी दशामें क्या आप अपने साधनोंपर भरोसा वा गर्व कर सकते हैं? शास्त्र साफ-साफ बतलाते हैं कि—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**'। जब साधनोंका स्वातन्त्र्येण फल ही नहीं, अपनी इच्छासे फल देनेवाला कोई स्वतन्त्र दूसरा है, तब उन साधनोंमें साधनत्व (साधनपन) ही कहाँ रह गया? '**साध्यते अनेन तत्साधनम्**'—जिससे कोई काम सिद्ध किया जाय, हमारी क्रियासिद्धिमें जो हमारा असाधारण उपकार करे, वही तो 'साधन' कहलाता है। ईश्वरप्राप्तिके विषयमें जब एक-दो साधन क्या, साधनोंका काफिला-का-काफिला ही पीछे रह जाता है, तब फिर उनसे क्रियासिद्धिकी आशा कैसी?

तो क्या वेदादिमें बतलाये हुए भगवत्प्राप्तिके उपाय—यज्ञ, याग, जप, तप, व्रत, नियमादि—सब व्यर्थ हैं? ऐसी दशामें यज्ञादिको भगवत्प्रसादका 'साधन' बतलानेवाले वेदादि शास्त्रका भी अप्रामाण्य सिद्ध होगा। भक्तिमार्गमें कहा जाता है कि 'यज्ञ-यागादि कष्टसाध्य हैं। सब लोग इनके अधिकारी भी नहीं। किन्तु 'भक्ति' में सबका अधिकार है। कलियुगमें उसके ही द्वारा उद्धार हो सकता है, इत्यादि।' परन्तु जब साधनमात्र वहाँ विफल सिद्ध होते हैं, तब 'भक्ति' भी साधन कैसे हो सकती है? ठीक है। इसपर थोड़े सूक्ष्म विचारकी आवश्यकता है। श्रुति-वेदान्तादि वाक्योंसे सिद्ध होता है कि सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, सर्वसामर्थ्यशाली भगवान्‌ने अपनी लीलासे, रमणकी इच्छासे यह सृष्टि उत्पन्न की, प्रपंचकी रचना की। धर्मादिकी व्यवस्था करके व्यवहारोंका नियमन किया। जबतक आपकी रमणेच्छा रहे, तबतक यह प्रपंचप्रवाह बन्द न हो—इसलिये कर्मादिका सूत्र अनुस्यूत करके इस संसार-प्रवाहको ऐसा प्रचलित कर दिया कि इसके विरत होनेकी कोई सम्भावना नहीं। परन्तु इस संसारकी व्यवस्था दृढ़ नियमोंके बिना सुशृंखलासे नहीं चल सकती। इसीलिये सदसद्विवेचनापूर्वक लोकव्यवस्था करनेवाले शास्त्रादि निर्णीत किये। ये ही शास्त्र हमें भगवत्प्राप्तिके अभिमुख करते हैं। इनके उपदेशोंके अनुसार यदि हम आचरण करें तो अवश्य हमें भगवत्प्राप्ति होगी, इसमें सन्देह नहीं। अतएव वेदादि शास्त्र और उनके द्वारा बोधित यज्ञ-याग, जप-तप, अनुष्ठानादि सभी क्रिया-कलाप प्रामाणिक सिद्ध होते हैं। किन्तु विचार करनेकी बात है कि इन उपदेशक शास्त्रोंके मूलमें भी भगवान्‌की शक्ति और इच्छा अनुस्यूत है। उन्हींकी इच्छासे ये शास्त्र प्रवृत्त हुए हैं। अब आप ही देख लीजिये कि जब इन व्यवस्था करनेवालोंका भी व्यवस्थापक कोई दूसरा है, तब इनका स्वातन्त्र्येण सामर्थ्य कहाँ रहा?

यहाँ यह कहा जा सकता है कि जब शास्त्रोंके परिचालित नियमोंसे ही सब व्यवस्था चलती है और उसमें कुछ भी व्यत्यास नहीं होता, प्रत्युत शास्त्रोंके प्रवर्तक भगवान्‌की इच्छा और आज्ञा ही यह है कि वेदादि शास्त्रोंके अनुसार ही चला जाय तो ऐसी दशामें शास्त्रोंको ही स्वतन्त्र प्रमाण मानना उचित प्रतीत होता है। उनके मूलमें भी और प्रमाणान्तर माननेसे अनवस्था हो जायगी। और जब वेदादि स्वतन्त्र व्यवस्थापक सिद्ध हुए तो उनके द्वारा बोधित यज्ञ-यागादि भी भगवत्प्राप्तिके प्रति साधन अवश्य सिद्ध होंगे। ठीक है। 'अनवस्था हो जायगी' इस भयसे शास्त्रादिको स्वतन्त्र प्रमाण मान लेना ही कह रहा है कि इस विषयमें स्वतन्त्र व्यवस्थापक अथवा प्रमाण अन्य ही कोई है। जब किसीकी इच्छा अथवा आज्ञासे कोई शासन कर रहा है, तब शासनकालमात्रमें उसका स्वातन्त्र्य होनेपर भी स्वतन्त्र शक्तिशाली उसकी आज्ञा देनेवाला ही माना जायगा। वर्तमान कालमें भी कानूनके हाथमें ही शासनकी बागडोर रहनेपर भी क्या अन्तरात्मा यह नहीं जानता कि कानूनको बनानेवाली शक्तियाँ उससे भी प्रबल हैं, जो आवश्यकता पड़नेपर कभी-कभी अपनी स्वतन्त्रता (अन्यथाकर्तुं समर्थता)-का परिचय दे ही दिया करती हैं।

अच्छा। और-और साधनोंके विषयमें चाहे कुछ कहा जा सकता हो, किन्तु 'साधन-भक्ति' तो भगवान्‌की प्राप्तिके लिये अवश्य ही सफल 'साधन' सिद्ध होगी। क्योंकि भक्ति (अनुराग)-में शक्ति ही ऐसी है कि जिसके द्वारा वह अपने आलम्बन (प्रेमी)-को बलात् आकृष्ट कर लेती है। मैं समझता हूँ विस्तार करनेकी आवश्यकता न होगी। बहुत-से दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं कि चित्रपर प्रेम-प्रदर्शन करनेमात्रसे बड़े-बड़े सम्राट्‌तक एक दीनकी कुटियामें स्वयं आ उपस्थित होते हैं। भक्तोंके अनुरागसे आकृष्ट हुए भगवान्‌ने ही अपने भक्तोंके लिये क्या-क्या कार्य नहीं किये? और कहाँ-कहाँ आपको नहीं पहुँचना पड़ा? व्रजभक्तोंकी कथाको

तो जाने दीजिये, वह तो असाधारण ही है कि जिनके क्षणमात्र दर्शनके लिये दिव्यदेशनिवासी मुनितक तरसा करते हैं, वही भगवान् जहाँ सेवककी तरह कार्य करते हैं—गोपोंकी 'पादुका' तक उठाते हैं **(बिभर्त्ति क्वचिदाज्ञप्तः पीठकोन्मानपादुकम्);** किन्तु नरसी आदि भक्तोंके लिये ही भगवान्‌को कहाँ-कहाँ पहुँचना पड़ा है, यह कौन नहीं जानता? आप स्वयं आज्ञा करते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयः ································ ॥

अर्थात् 'मैं भक्तोंके पराधीन हूँ। मुझे बिलकुल स्वतन्त्रता नहीं। स्वतन्त्रता तो तब हो, जब मैं पृथक् सत्ता रखता होऊँ। '**अहं तु साधुभिर्ग्रस्तहृदयः**'—मेरे हृदयको तो साधु (भक्तोंने) ग्रास कर लिया है, सर्वथा ले रखा है।' अनुरागमें स्वाभाविक शक्ति ही यह है कि प्रबल होनेपर वह दूसरेको अपनी तरफ बलात् खींच लेता है। उर्दूका एक शैर सुना है—

'इश्क सच्चा है तो बस, एक दिन इन्शा अल्ला।
कच्चे धागे से खिंचे आप चले आयेंगे॥'

ऐसी परिस्थितिमें भक्तिको तो भगवत्प्राप्तिके लिये 'साधन' मानना ही पड़ेगा।

ठीक है। किन्तु इसपर थोड़े गम्भीर विचारकी आवश्यकता है। क्या एक ओरकी क्रियामात्रसे ही आकर्षण हो जाता है? दूसरी तरफ़से यदि इसपर ध्यान ही न दिया गया तो फिर आकृष्ट होकर आना ही किसका होगा? मार्मिक विचारसे आपको स्वयं प्रतीत हो जायगा कि भक्तोंके सच्चे अनुरागके कारण करुणावरुणालय भगवान्‌की दयाशक्ति भक्तोंके अभिमुख हो जाती है, जिससे भगवान्‌की उद्धार करनेकी इच्छा जाग्रत् होकर भक्तोंके अभीष्टकी सिद्धि हुआ करती है। भक्तिग्रन्थोंमें स्थान-स्थानपर यह कहा गया है, जैसा कि भक्त श्रीलक्ष्मीजीके प्रति विनय करता है—

अकरुणा करुणा ध्रुवमम्ब ते क्षितितले भवतीमवतार्य या।
अहह यातु पुरः स्थिरवेदनामगमयज्जगदार्त्तिनिवृत्तये॥

'हे जननी'! यह आपकी दया ही अत्यन्त निर्दया है, जो आपको इस भूमण्डलपर उतारकर जगत्‌की पीड़ा दूर करनेके लिये आपको भी राक्षसादिसे पीड़ा सहन कराती है।' समस्त कल्याणगुणाश्रय भगवान्‌में यदि दया-गुण न होता तो भक्तोंके उद्धारका रास्ता ही कैसे खुलता? 'अवाङ्मनसगोचर' (वाणी और मनकी भी जहाँ पहुँच नहीं) भगवान्‌तक हमारी पहुँच ही कहाँ थी? जिन भगवान्‌को हमारे शास्त्र 'दिव्योपसृप्य' (उत्तमलोकनिवासी ही जिनके समीप पहुँच सकें, ऐसे) बताते हैं, प्रत्युत कहीं-कहीं दिव्य मुनि सनकादितक जिनके पास पहुँचनेसे रोक दिये जाते हैं, वहाँ क्या इन धराधामवासियोंकी गति हो सकती थी? परन्तु लोकानुकम्पासे प्रेरित होकर भगवान् स्वयं अपना रूप आप प्रकट करते हैं। उसी प्राकट्यावस्थामें भगवान्‌के दर्शन-गुणश्रवण-चरितानुकीर्तनादिके द्वारा अनेकानेक भक्तोंका उद्धार हुआ है और होता है।

अब आप ही स्वयं देख लीजिये, यदि भगवान् अपनी लीलासे अपना रूप स्वयं प्रकट करना नहीं चाहते तो 'अवाङ्मनसगोचर' उन भगवान्‌को हम अपने साधनोंसे कैसे पाते? और बिना जाने, देखे-सुने उनका अनुकीर्तन भी क्या करते? अतएव यह भगवान्‌की ही महिमा है कि वे दया करके लोगोंकी भक्तिको अंगीकार करते हैं।

अब लौकिक प्रेमको भी देख लीजिये। जिससे हम प्रेम करते हैं, वह हमारी कुछ बात ही न सुनता-समझता हो, अथवा हमारे प्रेमकी पुकार ही जहाँ नहीं पहुँच सकती हो तो भला 'खिंचे चले' आनेकी वहाँ क्या सूरत हो सकती है? कच्चे धागेसे खिंचे चले आनेमें शाब्दिक चमत्कारकी तो बात दूसरी है, परन्तु इस सूक्तिमें प्रेमको परखनेवालेकी कदरदानी ही प्रधान प्रतीत हो रही है, अन्यथा कवि स्वयं अपने मुखसे स्वीकार कर रहा है कि इधर खींचनेके लिये तो 'कच्चा धागा' है। यदि दूसरी तरफ कुछ भी कदरदानी न हो तो कच्चा धागा तो फिर कच्चा ही ठहरे। इसीलिये भक्तिपथमें भगवान्‌के अनुग्रहपर ही निर्भर रहकर 'विनय' के अंगको ही प्रधानता दी गयी है। फिर प्रेमका तो मार्ग ही निराला है। वहाँ तो अपने प्रेमाधारके प्रेममें लीन हुआ प्रेमी अपने-आपको ही भूल जाता है, अपनी सत्ताको ही भुलाकर 'मैं हूँ' का अभिमान ही मिटा देता है। फिर भला, वहाँ अपने साधन-बलपर अभिमान करनेकी क्या कथा? सुनिये, प्रेमी भक्तका अद्वैतवाद-

'जब 'मैं' है तब हरि नहीं, हरि है तब मैं नाहिं।
प्रेम-गली अति साँकरी, तामें द्वै न समाहिं॥

न केवल भक्तिमार्गमें ही, कर्ममार्गमें भी तो यही देखा जाता है। विधिके अनुसार यज्ञ-यागादि क्रिया-कलाप करके भी बड़े-बड़े ऋषि-मुनितक भगवान्‌से यही प्रार्थना करते हैं कि 'हे भगवन्! यदि आपकी अनुकूल दृष्टि न हो तो हम अपने साधनोंसे कर ही क्या सकते हैं; और हमारे हज़ार यत्न करनेपर भी वह हमारी 'साधना' पूरी ही कैसे हो सकती है?' यदि साधनोंपर ही सब कुछ निर्भर रहता तो फिर इतने कनावड़े होनेकी क्या बात थी? किन्तु सभी 'पन्थों' का अन्त एक सिद्धान्तपर ही देखा जाता है कि चाहे तपस्या करिये, चाहे ज्ञानयोगका आश्रय लीजिये, चाहे मन्त्रोंपर निर्भर रहिये, चाहे यज्ञ-यागादि क्रिया-कलाप कीजिये; जबतक उन कर्मोंपरसे स्वाभिमान हटाकर उन्हें भगवान्‌के समर्पण न करेंगे, तबतक अभीष्टसिद्धि नहीं हो सकती। चाहे उनके द्वारा उत्तम लोकादि प्राप्त करके कर्मफलक्षय होनेपर फिर इधर-उधर भटकनेका रास्ता खोल लीजिये, किन्तु 'क्षेम' (चैन) नहीं मिल सकता। परमहंसचूडामणि श्रीशुकदेवमुनि कहते हैं—

'तपस्विनो दानपरा यशस्विनो
मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः।
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥

इसीलिये तो भगवदाज्ञानुसार अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुकूल सब कुछ क्रिया-कलाप करके भी फल-प्राप्तिके लिये साक्षात्-साधन अन्तमें भगवान्‌को ही मानना पड़ा है। देखिये, कर्मकाण्डपर ही साधनाका बल रखनेवाली वैदिकादि विधियोंमें भी सब साधनोंके साधन अन्तमें भगवान् ही बन जाते हैं। इसीलिये तो वहाँ प्रार्थना की जाती है'—

'मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं जनार्दन।
यत्कृतं तु मया देव परिपूर्णं तदस्तु मे॥'

अन्यथा यह तो स्पष्ट ही असंगति है कि साधन-बलपर साधना आरम्भ होती है और साधनोंके बल-संहारपर उसका उपसंहार होता है।

शिष्टोंका व्यवहार भी प्रमाणरूपमें देख लीजिये कि आजतकके सभी ज्ञानी-ध्यानी भक्त सम्पूर्ण साधनसम्पन्न होनेपर भी उनपर अभिमान वा भरोसा नहीं लाते। वे तो सदा अपनेको निःसाधन और दीन-हीन समझकर भगवान्‌को ही अपना सब कुछ साधन मानते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं—

'बेद न पुरान-गानु, जानौं न बिग्यानु ग्यानु,
ध्यान-धारना-समाधि-साधन-प्रबीनता।
नाहिन बिरागु, जोग, जाग भाग 'तुलसीकें,
दया-दीन दूबरो हौं, पापही की पीनता॥
लोभ-मोह-काम-कोह-दोस-कासु मोसो कौन?
कलिहूँ जो सीखि लई मेरियै मलीनता।
एक ही भरोसो राम! रावरो कहावत हौं,
रावरे दयालु दीनबंधु! मेरी दीनता॥'

हाँ, अभिमान नहीं करते सो नहीं। करते हैं और खूब बढ़कर करते हैं कि सब पुण्यवानोंसे बढ़कर मैं हूँ। किन्तु उसका तर्ज़ देखिये—

'जोग न बिरागु जप, जाग, तप, त्यागु ब्रत,
तीरथ न धर्म जानौं, बेदबिधि किमि है।
तुलसी सो पोच न भयो है, नहिं ह्वैहै कहूँ,
सोचैं सब, याके अघ कैसे प्रभु छमिहैं॥
मेरें तौ न डरु, रघुबीर! सुनौ, साँची कहौं-
खल अनखैहैं तुम्हैं, सज्जन न गमिहैं।
भले सुकृतीके संग मोहि तुलाँ तौलिए तौ,
नामकें प्रसाद भारु मेरी ओर नमिहै॥'

दयानिधानकी दयापर ही सब 'साधनों' का सामर्थ्य निर्भर मानकर उसका ही अवलम्बन अबतकके व्यवहारमें प्रचलित है। इन पंक्तियोंके इस तुच्छ लेखककी भी ***'करुना कितै गई,*** इस समस्याकी पूर्ति इसी विषयपर है—

'उदधि अथाह बीच ग्राह सों सतायो जब,
दीन गजराज पै असीम करुना भई।
गीध गुहराज गनिका हू पै करी ही दया
अधम अजामिलहूँ अगम गती लई॥
दुर्मद दुसासनने दुसह दुखाई जब,
द्रुपदसुता यों तब टेरी दीनतामई।
मेरी बेर एती देर कैसें कै करी है कान्ह!
करुनानिधान! तेरी करुना कितै गई॥'

निबन्धका सार यही है कि भक्तिमार्गका वास्तविक रहस्य सुगम नहीं। इसमें अनेक भेद और अनेक तत्त्व विचारणीय हैं, किन्तु, भगवान् ही साध्य हैं और भगवान् ही साधन हैं' यह सिद्धान्त बड़ा उच्च और गम्भीर है। इसे प्रत्येक विचारशील मार्मिक मानेगा, इसमें सन्देह नहीं।

'न हि भुक्तिं मुक्तिं न खलु यदुनायक याचामि।
भक्तिं तव पदसरसिजे देहि शरणमुपयामि॥'

मधुर रसकी साधना

(लेखक—पं० श्रीहजारीप्रसादजी द्विवेदी)

'मधुर' नामक भक्ति-रसके विचारका उत्थापन करते समय श्रीरूप गोस्वामीने भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थमें लिखा है कि 'आत्मोचित विभावादिद्वारा मधुरा रति जब सदाशय व्यक्तियोंके हृदयमें पुष्ट होती है, तब उसे मधुर नामक भक्तिरस कहते हैं। यह रस उन लोगोंके किसी कामका नहीं जो निवृत्त हों (अर्थात्, जैसा कि जीव गोस्वामीने इस शब्दका अर्थ किया है, प्राकृत शृंगार-रसके साथ इसकी समानता देखकर इस भागवत-रससे भी विरक्त हो गये हों), फिर यह रस दुरूह और रहस्यमय भी है; इसलिये यद्यपि यह बहुत विशाल और वितताङ्ग है, तथापि संक्षेपमें ही लिख रहा हूँ'—!

'आत्मोचितविभावाद्यैः पुष्टिं नीता सतां हृदि।
मधुराख्यो भवेद् भक्तिरसोऽसौ मधुरा रतिः॥
निवृत्तानुपयोगित्वाद् दुरूहत्वादयं रसः।
रहस्यत्वाच्च संक्षिप्य वितताङ्गोऽपि लिख्यते॥'

गोस्वामिपादके इस कथनके बाद दुनियादारीके झंझटोंमें फँसे हुए किसी भी मादृश व्यक्तिका इस रसके सम्बन्धमें लिखनेका संकल्प ही दुःसाहस है। फिर भी यह दुःसाहस किया जा रहा है। क्योंकि पहले तो गोस्वामिपादने यद्यपि बड़े कौशलपूर्वक इसकी दुरूहताकी ओर ध्यान आकृष्ट कर दिया है, परन्तु कहीं भी ऐसा संकेत नहीं किया कि इस रसकी चर्चा निषिद्ध है; दूसरे, भक्तिशास्त्रकारोंकी और अनुरक्त भक्तजनोंकी चर्चा करते रहनेसे, ऐसा विधान है कि पहले श्रद्धा, फिर रति और फिर भक्ति अनुक्रमित होती है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥

(श्रीमद्भा० ३। २५। २५)

तीसरे, गोस्वामिपादने इसे उन लोगोंके लिये अनुपयोगी बताया है जो निवृत्त हों अर्थात् इस रसके साथ शृंगारका साम्य देखकर ही विदक गये हों—उन लोगोंके लिये नहीं जो शृंगार-रसके साथ इसका साम्य देखकर ही इधर आकृष्ट हुए हों। शास्त्रोंमें और इतिहासमें ऐसे अनेक भक्त प्रसिद्ध हो गये हैं, जो गलतीसे ही इस रास्तेमें आ पड़े थे और फिर जीवनका चरम लाभ पा लेनेमें समर्थ हुए थे। कहते हैं, रसखान और घनानन्द इसी प्रकार इस रास्ते आ गये थे, सूरदास और बिल्वमंगल गलतीसे ही इधर आ पड़े थे और बादमें वे क्या हो गये—यह जगद्विदित प्रसंग है।

इन पंक्तियोंके लेखकके समान ही ऐसे बहुत-से लोग होंगे हो साहित्य-चर्चाके प्रसंगमें दिन-रात रत्यादिक स्थायी भावों तथा विभाव-अनुभाव-संचारीभाव और सात्त्विक भावोंकी चर्चा करते रहते होंगे या कर चुके होंगे। उन लोगोंको यह जान रखना चाहिये कि भक्तिमें केवल एक ही स्थायी भाव है—श्रीकृष्णविषयक रति या लगन। अवश्य ही, भक्तोंके स्वभावके अनुसार यह लगन पाँच प्रकारकी हो सकती है—शान्त स्वभावकी, दास्य-स्वभावकी, सख्य-स्वभावकी, वात्सल्य-स्वभावकी और मधुर स्वभावकी। इन पाँचों स्वभावोंके अनुसार रति भी पाँच प्रकारकी होती है—शान्ता, प्रीता, प्रेयसी, अनुकम्पा और कान्ता। जहाँतक जड जगत्का विषय है, इनमें शान्ता रति सबसे श्रेष्ठ है और फिर बाकी चार क्रमशः नीचे पड़ती हुई अन्तिम रति कान्ताविषयक होकर शृंगार नाम ग्रहण करती है। जडविषयक होनेपर यह सबसे निकृष्ट होती है। परन्तु जड़ जगत् है क्या चीज़? नन्ददासने ठीक ही कहा है कि यह भगवान्की छाया है, जो मायाके दर्पणमें प्रतिफलित हुई है—

या जगकी परछाहँ री माया दरपन बीच।

अब अगर दर्पणकी परछाँहकी जाँच की जाय तो स्पष्ट ही मालूम होगा कि इसमें छाया उलटी पड़ती है। जो चीज़ ऊपर होती है, वह नीचे पड़ जाती है और जो नीचे होती है, वह ऊपर दीखती है। ठीक यही अवस्था रतिकी हुई है। जड जगत्में जो सबसे नीचे है, वह भगवद्विषयक होनेपर सबसे ऊपर हो जाती है। यही कारण है कि शृंगार-रस, जो जड जगत्में सबसे निकृष्ट है, वस्तुतः भगवद्विषयक मधुर रसकी छाया है, जो सबसे उत्कृष्ट है। वस्तुतः भगवद्विषयक शृङ्गार ही मधुर रस है, यद्यपि भक्तिशास्त्रकी मर्यादाके अनुसार इसे शृंगार नहीं कहा जा सकता। केवल व्रजसुन्दरियोंके लिये शृंगार और मधुर

एक रस हैं; क्योंकि उनके लिये काम और प्रेममें भेद नहीं है। भक्तिरसामृतसिन्धुमें कहा गया है कि गोपरमणियोंका प्रेम ही काम कहा गया है—

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।

कारण स्पष्ट है—जडविषयक अनुरागको 'काम' कहते हैं और भगवद्विषयक अनुरागको 'प्रेम'। व्रजसुन्दरियों-की सारी कामनाके विषय '**असमानोर्ध्वसौन्दर्यलीला-वैदग्ध्यसम्पदाम्**' आश्रयस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण थे और इसीलिये उनके कामको जडविषयक कहा ही नहीं जा सकता। गीतगोविन्दमें कहा गया है कि 'हे सखि, जो अनुरंजनके द्वारा समस्त विश्वका आनन्द उत्पादन करते हैं, जो इन्दीवर-श्रेणीके समान कोमल श्यामल अंगोंसे अनंगोत्सवका विस्तार कर रहे हैं तथा व्रज-सुन्दरियोंद्वारा स्वच्छन्द भावसे जिनका प्रत्येक अंग आलिंगित हो रहा है, वही भगवान् मूर्तिमान् शृंगारकी भाँति मुग्ध होकर वसन्त-ऋतुमें विहार कर रहे हैं—

विश्वेषामनुरञ्जनेन जनयन्नानन्दमिन्दीवर-
श्रेणीश्यामलकोमलैरुपनयन्नङ्गैरनङ्गोत्सवम् ।
स्वच्छन्दं व्रजसुन्दरीभिरभितः प्रत्यङ्गमालिङ्गितः।
शृंगारः सखि मूर्तिमानिव मधौ मुग्धोः हरिः क्रीडति॥

सो यही भगवान्, जो साक्षात् शृंगारस्वरूप हैं, मधुर रसके प्रधान अवलम्बन हैं। इनकी प्रेयसियाँ वे परम अद्भुत किशोरियाँ हैं, जो नव-नव उत्कृष्ट माधुरीकी आधारस्वरूपा हैं, जिनके अंग-प्रत्यंग भगवान्के प्रणय-तरंगसे करम्बित हैं और जो रमणरूपसे भगवान्का भजन करती हैं—

नवनववरमाधुरीधुरीणाः
प्रणयतरङ्गकरम्बिताङ्गरङ्गाः ।
निजरमणतया हरिं भजन्तीः
प्रणमत ताः परमाद्भुताः किशोरीः॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

इन व्रजसुन्दरियोंमें भी सर्वश्रेष्ठ राधारानी हैं, जिनके लोचन मदमत्त चकोरीके लोचनोंकी चारुताका हरण करनेवाले हैं, जिनके परमाह्लादन वदनमण्डलने पूर्णिमाके चन्द्रकी कमनीय कीर्तिका भी दमन किया है, अविकल कलधौत (स्वर्ण)-के समान जिनकी अंग-श्री सुशोभित है, जो मधुरिमाकी साक्षात् मधुपात्री हैं—

मदचकुटचकोरीचारुताचोरदृष्टि-
र्वदनदमितराकारोहिणीकान्तकीर्तिः।
अविकलकलधौतोद्धूतिधौरेयकश्री-
र्मधुरिममधुपात्री राजते पश्य राधा॥

जडादिविषयक शृंगारादि रसके साथ इस अनिर्वचनीय मधुर रसका एक और मौलिक अन्तर है। अलंकारशास्त्रोंमें विवृत शृंगारादि रस केवल जडोन्मुख ही नहीं होते, उनके भावकी स्थिति भी जडमें ही होती है। अलंकारशास्त्रमें बताया गया है कि शृंगारादि रसोंके रत्यादि स्थायीभाव संस्काररूपसे मनमें स्थित होते हैं। यह संस्कार या वासना पूर्वजन्मोपार्जित भी होती है और इस जन्मकी अनुभूति भी हो सकती है। अब आत्मा तो निर्लेप है, उसके साथ पूर्वजन्मके संस्कार तो आ ही नहीं सकते; फिर स्थायी भावके संस्कार आते कैसे हैं? इसका उत्तर शास्त्रोंमें इस प्रकार दिया गया है कि आत्माके साथ सूक्ष्म या लिंगशरीर भी एक शरीरसे दूसरेमें संक्रमित होता है। इस सूक्ष्मशरीरमें ही पाप-पुण्य आदिके संस्कार रहते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद्में कहा गया है कि यह आत्मा विज्ञान, मन, श्रोत्र, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, तेजस्, काम, अकाम, क्रोध, अक्रोध, धर्म और अधर्म इत्यादि सब लेकर निर्गत होता है। यह जैसा करता है, वैसा ही भोगता है—

स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथ्वीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद्यदेतदिदम्मयोऽदोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।

(४।४।५)

सांख्यकारिकामें करीब-करीब इन सभी बातोंको लिंगशरीर कहा गया है। बताया गया है कि प्रकृतिके तेईस तत्त्वोंमेंसे अन्तिम पाँच तो अत्यन्त स्थूल हैं, पर बाकी अठारहों तत्त्व मृत्युके समय पुरुषके साथ-ही-साथ निकल जाते हैं। जबतक पुरुष ज्ञान प्राप्त किये बिना मरता है, तबतक ये तत्त्व उसके साथ लगे होते हैं (सां० का० ४०)। अब यह तो स्पष्ट ही है—प्रथम तेरह अर्थात् बुद्धि, अहंकार, मन और दसों इन्द्रिय प्रकृतिके गुणमात्र, अतः सूक्ष्म हैं; उनकी स्थितिके लिये किसी स्थूल आधारकी ज़रूरत होगी। पंचतन्मात्र इसी स्थूल आधारका

काम करते हैं। उपनिषदोंमें इसी बातको और तरहसे कहा गया है। आत्माका सबसे ऊपरी आवरण तो यह स्थूलदेह है। इसे उपनिषदोंमें अन्नमय कोष कहा गया है। दूसरे आवरण क्रमशः अधिक सूक्ष्म हैं; उनमें प्राणमय, ज्ञानमय और आनन्दमय कोष हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि स्थूलशरीरकी अपेक्षा प्राण सूक्ष्म हैं, उनकी अपेक्षा मन, उसकी अपेक्षा बुद्धि और इन सबसे अधिक सूक्ष्म आत्मा है। भगवान्ने गीतामें इसी बातको इस प्रकार कहा है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

वेदान्तशास्त्रमें कई प्रकारसे यह बात बतायी गयी है। कहीं इसके सत्रह अवयव बताये गये हैं—पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि, मन और पाँच प्राण (वेदान्तसार १३); फिर आठ पुरियोंका उल्लेख है (सुरेश्वराचार्यका पंचीकरणवार्तिक)–जिनमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, पाँच, प्राण पाँच भूतसूक्ष्म (तन्मात्र) अविद्या, काम और कर्म हैं। ऐसे ही और भी कई विधान हैं। इनका शास्त्रकारोंने समन्वय भी किया है (वेदान्तसार १३ पर विद्वन्मनोरंजनी टीका)। यहाँ प्रकृत यह है कि स्थायी भावोंके संस्कार इसी लिंगशरीरमें हो सकते हैं। वह चूँकि जड है, इसलिये उसकी प्रवृत्ति जडोन्मुख होती है। अलंकारशास्त्रोंमें यह बार-बार समझाया गया है कि रस न तो कार्य है और न ज्ञाप्य। क्योंकि कार्य होता तो विभावादिके नष्ट होनेपर नष्ट नहीं हो जाता, कारणके नष्ट होनेसे कार्यका नष्ट होना नहीं देखा जाता—**स च न कार्यः, विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गात्** (काव्यप्रकाश चतुर्थ उल्लास)। परन्तु मधुर रस आत्माका धर्म है, यह स्थूल जड जगत्‌की वस्तु नहीं है। उसके विभावादिका कभी विलय नहीं होता, इसलिये उसके लिये सम्भवासम्भव-प्रसंग उठता ही नहीं।

रस कई प्रकारके हैं। सबसे स्थूल है अन्नमय कोषका आस्वाद्य रस। रसनादि इन्द्रियोंसे उपभोग्य रस अत्यन्त स्थूल और विकारप्रवण है। इससे भी अधिक सूक्ष्म है मानसिक रस अर्थात् जो रस मनन या चिन्तनसे आस्वाद्य है। उससे भी अधिक सूक्ष्म है विज्ञानमय रस, जो बुद्धिद्वारा आस्वाद्य है; पर यह भी जितना भी सूक्ष्म क्यों न हो, सूक्ष्मतम आनन्दमय रसके निकट अत्यन्त स्थूल है। आत्मा जिस रसका अनुभव करता है, वही सर्वश्रेष्ठ भक्ति-रस है, जिसका नाना स्वभावोंके भक्त नाना भावसे आस्वादन करते हैं। मधुर रस उसीका सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है। स्पष्ट ही है कि इसकी ठीक-ठीक धारणा इन्द्रियोंसे तो हो ही नहीं सकती, मन और बुद्धिसे भी नहीं हो सकती। वह न तो चिन्तनका विषय है न बोधका। वह अलौकिक है। इसीलिये भक्तिशास्त्रने इसके अधिकारी होनेके लिये बहुत ही कठोर साधनाका उपदेश किया है। रूप गोस्वामीने इसीलिये इसे दुरूह कहा है। श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं—तृणसे भी सुनीच होकर, वृक्षकी अपेक्षा भी सहनशील बनकर, मान त्यागकर, दूसरेको सम्मान देकर ही हरिकी सेवा की जा सकती है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन सेवितव्यः सदा हरिः॥

इन्द्रिय, मन और बुद्धिका सम्पूर्ण निग्रह और वशीकरण जबतक न हो जाय, तबतक इस सुकुमार भक्तिक्षेत्रमें आनेका अधिकार नहीं मिलता। लोक-परलोकके विविध भोगोंकी और मोक्षसुखकी कामना जबतक सर्वथा नहीं मिट जाती, तबतक इस मधुर प्रेमराज्यकी सीमाके अदंर प्रवेश ही नहीं हो सकता। इसीसे यह सिद्धान्त बतलाया गया है—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावत् प्रेमसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

जबतक भोग और मोक्षकी पिशाचिनी इच्छा हृदयमें वर्तमान है, तबतक प्रेम-सुखका उदय कैसे हो सकता है?

श्रीमद्‌भागवतमें कहा गया है—असत् शास्त्रोंमें आसक्ति, जीविकोपार्जन, तर्कवादपक्षाश्रयण, शिष्यानुबन्ध, बहुग्रन्थाभ्यास, व्याख्योपयोग, महान् आरम्भ—ये सब भक्ति चाहनेवालेके लिये वर्जित हैं—

नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम्।
वादवादांस्त्यजेत् तर्कान् पक्षं कं च न संश्रयेत्॥
न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद् बहून्।
न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत् क्वचित्॥

(७।१३।७-८)

इन बातोंके लिये शास्त्रकारोंने बहुत-से उपाय बताये हैं, जो न तो इस क्षुद्र प्रबन्धमें बताये ही जा सकते हैं

और न अनधिकारी लेखनीके साध्य ही हैं। इसीलिये इस चर्चाको और आगे नहीं बढ़ाया गया। जब सारा अभिमान और अहंकार दूर हो जायगा, ज्ञान और पाण्डित्य शान्त हो रहेंगे, तब वह परमाराध्य जिसकी नर्त्यमान भ्रूलताके कारण मुखश्री अत्यन्त मधुर हो उठी है, जिसका कर्णाग्रभाग अशोक-कलिकासे विभूषित है, ऐसा कोई नवीन निकषा-प्रस्तरके समान वेशवाला किशोर वंशीरवसे मन और बुद्धिको बेबस कर डालेगा—

भ्रूवल्लिताण्डवकलामधुराननश्रीः
कङ्केलिकोरककरम्बितकर्णपूरः ।
कोऽयं नवीननिकषोपलतुल्यवेषो
वंशीरवेण सखि मामवशीकरोति ॥

प्रेम-साधन

(लेखक—म० प्रेमप्रकाशजी)

भगवत्प्राप्तिके अनेक साधनोंमें प्रेम-साधन एक मुख्य साधन समझा जाता है। ईश्वरके प्रति परमानुराग ही प्रेम है। कितने ही संतों और ऋषियोंने प्रेमको ही साधन और साध्य माना है। देवर्षि नारदने '**स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः**' (ना० भ० सू० ३०) कहकर सनत्कुमारादिके मतानुसार प्रेमको स्वयं फलरूप बताया है। वह प्रेम कर्म, ज्ञान और योगसे भी श्रेष्ठतर है—'**सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा**' (ना० भ० सू० २५)।

प्रेमकी प्राप्ति विशेषकर महापुरुषोंकी कृपा अथवा भगवत्कृपाके लेशमात्रसे होती है—'**मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा।**' प्रेमका रूप वास्तवमें तो अनिर्वचनीय है, परन्तु उसके लक्षणोंका अनुभव शान्ति और आनन्दसे हो सकता है। प्रायः अनन्यप्रेमी भक्तोंको भगवान्‌के नामोंको सुनते ही कण्ठावरोध, रोमांच और अश्रुपात होने लगता है। कीर्तनसे भी वह प्रेम शीघ्र प्रकट होता है—'**स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति, अनुभावयति च भक्तान्।**' परमहंस रामकृष्ण कहा करते थे—'कलियुगमें नारदीय भक्ति सार है। ईश्वरका नाम-गुण-गान करने और व्याकुल चित्तसे प्रार्थना करनेपर परमात्माकी प्राप्ति होती है।'

'गोपी या राधा-प्रेमकी एक भी बूँद किसीमें हो तो उसका क्या कहना है! उसका अनुराग केवल सोलह आने नहीं, बल्कि बीस आने है। इसीका नाम प्रेमोन्माद है। यदि पागल होना है तो संसारकी वस्तुके लिये क्यों पागल हो? यदि पागल होना है तो ईश्वरके लिये हो।'

(श्रीश्रीरामकृष्ण-कथामृत १। १०। ४)

समस्त प्रेमोंमें गोपी-प्रेम अथवा श्रीराधा-प्रेम सर्वोत्तम समझा जाता है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य—इन पाँच प्रकारके प्रेमोंमें माधुर्य रस ही सर्वोत्तम है और यह माधुर्य-प्रेम श्रीवृषभानुसुता श्रीराधाजीमें ही पूर्णरूपसे मिलता है। श्रीराधाजी ही माधुर्यरसाधिष्ठात्री महादेवी हैं। इन्हींकी कृपासे माधुर्य-प्रेम प्राप्त हो सकता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्षसे भी बढ़कर प्रेम है। प्रेम पंचम पुरुषार्थ है। भगवान्‌को वशमें करनेका एकमात्र उपाय प्रेम ही है। भगवान् श्रीकृष्ण प्रेमी भक्तोंके अधीन हैं। '**अहं भक्तपराधीनः**' कहकर भगवान्‌ने दुर्वासा ऋषिको प्रेमी भक्त अम्बरीषके पास लौटा दिया था। जिस प्रेममें किसी प्रकारकी वासना नहीं रहती, साधक केवल अपने प्रियतमके सुखमें ही सुखी रहता है तथा अपना कुछ भी अहंकार नहीं रखता, वही प्रेम माधुर्य-रसका है और उसे ही पूर्ण प्रेम कहा जाता है। उस स्थितिमें साधक और साध्य दोनों एकरूप हो जाते हैं। प्रेमी, प्रेम अथवा प्रियतममें कुछ भेद नहीं रह जाता (**तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्**)। गोस्वामी तुलसीदासजी श्रीरामचरितमानसमें उसी सहज प्रेमका इस प्रकार वर्णन करते हैं—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥

श्रीसीतारामका निरन्तर वास उसी प्रेमी भक्तके हृदयमें रहता है, जिसे कोई आशा नहीं रहती और जो प्रेमके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता। वही प्रेमी भक्त सहज सनेहका पात्र हो सकता है।

अगर कोई नाता भगवान् राम मानते हैं तो वह एक प्रेमभक्तिका ही सम्बन्ध है। भगवान् रामने भक्तिमती शबरीसे कहा है—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥

(रा० मा० ३। ३५।४)

श्रीरामको केवल प्रेम ही अच्छा लगता है—

रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥

(रा० मा० २। १३७।१)

वह प्रेम बिना अनुरागसे प्राप्त नहीं होता अथवा श्रीरघुनाथजी बिना अनुरागके कभी नहीं मिलते—चाहे जितना ही साधक योग, जप, ज्ञान, विरागका अभ्यास करे—

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान बिरागा॥

एक प्रेमके कारण ही एक परमात्मा नानारूपमें स्वयं व्यक्त हो गया है। अकेले रमण नहीं किया जा सकता, इसलिये परमात्मा या भगवान् या ब्रह्म स्वयं अपने भक्तोंमें ही मिल सकता है। (रा० मा० उत्तर० ६२।१)

एकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्। (श्रुति)

रस अथवा प्रेम ही आनन्द है। यह सिद्धान्त अनुभव करके प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। भगवती श्रुति भी यही कहती है—

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।

परमात्मा सर्वव्यापक रहते हुए भी उसका अनुभव प्रेमसे ही किया जा सकता है। भगवान् शंकर कहते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

(रा० मा० बाल० १८५।५)

जगद्विख्यात संत कबीर साहब अपना विचार इस प्रकार प्रकट करते हैं—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई अक्षर 'प्रेम' का पढ़ै, सो पंडित होय॥

पूर्ण प्रेममें विधि-निषेध नहीं रहता, वह परम स्वतन्त्र है। प्रेमी लोक-संग्रहके लिये नियम और प्रेम दोनों पालन कर सकता है, परन्तु उसके लिये निजी कोई कर्तव्य नहीं रहता।

नेमु प्रेमु संकर कर देखा। अबिचल हृदयँ भगति कै रेखा॥

(रा० मा० बाल० ७६।४)

प्रेमी भक्तके अधीन ज्ञान और विज्ञान हैं। श्रीराम-चरितमानस (अरण्य० १६। ३)-में स्पष्ट कहा गया है—

सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥

एक अमेरिकन देवी मिसेज एलेन जी. ह्वाइट (Mrs. Ellen G. White)-ने लिखा है कि प्रेम ही ईश्वर है और प्रेम ही जीवनी शक्ति है—(God is Love and Love is Life.)

सबसे सीधा मार्ग भगवत्प्राप्तिका यदि कोई है तो वह प्रेममार्ग ही है। श्रीउद्धवजीको गोपिकाओंने इस प्रकार कहा था—

'कौन ब्रह्म को जाति ग्यान कासों कहौ ऊधौ।
हमरे सुंदर स्याम प्रेमको मारग सूधौ॥'

'ऊधौ जोग जोग हम नाहीं।
जेहि लगि जागी भरमत भूले, सो तो है अपु माहीं।'

—इत्यादि।

ऐसे विचारोंको सुनकर उद्धवका ज्ञानका अहंकार नष्ट हो गया और उन्होंने यह समझ पाया कि ज्ञानके परे एक पूर्ण प्रेमकी अनिर्वचनीय दशा भी है।

प्रेमी भक्तको किसी साधनाकी आवश्यकता नहीं रहती। वह तो स्वयं सिद्धोंका सिद्ध रहता है और वर देनेवालोंको वर देनेवाला होता है।

महाराज जनक श्रीभरतजीके प्रेमभावसे मुग्ध होकर कहते हैं—

साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥

(रा० मा० अयो० २८९। ८)

'श्रीरामजीके पदोंका नेह ही साधन और सिद्धि है—यही श्रीभरतजीका सिद्धान्त है।'

भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जप जेही॥

(रा० मा० अयो० २१८।७)

श्रीकबीर साहबने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि राम-सनेही सदा अमर है—

'सून्य मरै, अजपा मरै, अनहद हू मरि जाय।
राम सनेही ना मरै, कह कबीर समुझाय॥

(बीजक कबीरदास-विश्वनाथ-टीका)'!

भगवान्‌ने प्रेमी भक्त देवर्षि नारदसे कहा है कि मैं सदा प्रेमी भक्तोंके मध्यमें ही मिलता हूँ—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

'वैकुण्ठमें चाहे मैं न रहूँ, अथवा योगियोंके हृदयमें भी मेरा पता न लगे; पर जहाँ मेरे प्रेमी भक्त मेरे गुणोंका गान करते हैं, वहाँ तो मैं अवश्य रहता ही हूँ'।

श्रीकृष्णभक्ति—प्रेमा-भक्ति, पूर्ण भक्ति अथवा श्रीराधा-कृष्ण-प्रेम या पराभक्ति तो हजारों जन्मोंतक तपस्या, ध्यान, समाधिके निरन्तर अभ्यासके बाद प्राप्त होती है—

'जन्मान्तरसहस्रेण तपोध्यानसमाधिभिः।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते॥

अबिरल भक्ति बिसुद्धतव, श्रुति पुरान जेहि गाव।
जेहि खोजत जोगीसमुनि, प्रभु प्रताप कोउ पाव॥

(रा० मा०)

प्रेमाभक्तिका मिलना भगवान् श्रीकृष्ण या भगवान् श्रीराम अथवा भगवान् श्रीशिवकी कृपापर ही निर्भर है।

'भक्तिनिष्ठा तदा ज्ञेया यदा कृष्णः प्रसीदति।'

श्रीउत्पलाचार्यजी भक्ति-प्रेमके सम्बन्धमें इस प्रकार लिखते हैं—

भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यदुपयाचितम्।
एतया वा दरिद्राणां किमन्यदपयाचितम्॥

(नारद)

अर्थात् 'परमात्माकी प्रेमाभक्तिरूपी लक्ष्मीसे समृद्ध लोगोंको क्या चाहिये? कुछ नहीं। परमेश्वरकी दासता सम्पत्तिकी पराकाष्ठा है और इस सम्पत्तिसे रहित हतभाग्य पुरुषोंको और छोड़ना क्या है? इस सम्पत्तिके न होनेरूप दारिद्र्यसे पिण्ड छुड़ाना ही सबसे बड़ा कर्तव्य और पुरुषार्थ है।'

प्रेमी संत और सत्य भगवान्‌में कुछ भी अन्तर नहीं है। प्रेमी संत भगवान् ही हैं—

'संत-भगवंत अंतर निरंतर नहीं
किमपि मति मलिन कह दासतुलसी॥'

(विनय-पत्रिका ५७)

'क्रन्दनयोग' से भी भगवान्‌का अनन्य प्रेम प्राप्त हो सकता है। परम विरहासक्तिका भाव इस छन्दसे प्रकट होता है—

'चित्त रत होत प्रानप्यारेमें निरत ह्वै कै,
होत मल सोधक बिघात सारे छनमें।
रोमहर्ष खीझ झुँझलाहट हृदय धौति,
मेरु दंड स्पंदन प्रकंप होत तनमें॥
लीन ह्वै समाधिमें बिसारि अपनापौ जात,
या सों बड़ो और कौन जोग सोचौ मनमें।
राज हठ भक्ति तीनों जोग सधि जात ऊधौ,
एक मनमोहन बियोगके रुदनमें॥

प्रेमी भक्तके भगवान् अधीन हैं और ज्ञानसे अगम्य हैं—

'ज्ञानेर अगम्य तुमि, प्रेम ते भिखारी,
द्वारे द्वारे माग प्रेम नयने ते वारी।'

(जयदेवके साधन-तीर्थ केन्द्रबिल्वमें बाउल-गान)

अर्थात् 'तुम ज्ञानके अगम्य हो पर प्रेमके भिखारी हो। तुम सजल-नयन होके प्रेम-भीख माँगते फिरते हो।'

'रागमार्ग क्यों मधुर है' यह समझानेके लिये कृष्णदासने कहा है—

'राग-मार्गे भजे येन छाड़ि धर्म-कर्म'
अतएव मधुर रस कहि तार नाम।'

अर्थात् 'भक्त' धर्म-कर्म छोड़कर रागमार्गसे भजन करता है। अतएव इस रसका नाम मधुर है।'

जिसके लिये प्रेम स्वाभाविक हो जाता है, वह छिपाये भी नहीं छिपता—

प्रेम छिपाये ना छिपै, जा घट परगट होय।
जद्यपि मुख बोलै नहीं, नैन देत हैं रोय॥

(कबीर)

वह प्रेम स्वयं ही स्वामी है—

सब घट मेरा साइयाँ, सूना घट नहिं कोय।
बलिहारी वा घट की, जा घट परगट होय॥

(कबीर)

'प्रकाशते क्वापि पात्रे' (ना० भ० सू० ५३)— परन्तु वह प्रेम किसी विरले पात्रमें ही प्रकट होता है। भगवान्‌के नामके प्रेमको ही भगवान् कहते हैं और हरि-स्मरण ही हरि-मिलन है। उस परमात्माकी कोई खास प्रतिमा नहीं है। उसके नामका बड़ा यश है—

'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।

(यजु० ३२। ३)

पूर्ण प्रेमके प्राप्त हो जानेपर सन्ध्यादि साधन-कर्म छूट जाते हैं। श्रीजीव गोस्वामीने कहा है—

हृदाकाशे चिदानन्दं मुदाभाति निरन्तरम्।
उदयास्तं न पश्यामः कथं सन्ध्यामुपास्महे॥
सद्भक्तिदुहिता जाता माया भार्या मृताधुना।
अशौचद्वयमाप्नोति कथं सन्ध्यामुपास्महे॥

प्रेमका रसास्वादन गूँगेके गुड़की तरह है। **'मूकास्वादनवत्'**—देवर्षि नारद कहते हैं। यह अनिर्वचनीय है—**'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।'** गुरु नानकके ग्रन्थसाहब-में एक दोहा इस प्रकार आया है—

हरि सम जगमें वस्तु नहिं, प्रेम पंथ सम पंथ।
सद्गुरु सम सज्जन नहीं, गीता सम नहिं ग्रंथ॥

प्रेमी भक्त और प्रेमपूर्ण भगवान् दोनों अनन्त और अभेद हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रेमी भक्तका योगक्षेमका भार स्वयं अपने ऊपर ले लेते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९। २२)

प्रेमी भक्तको नित्य शान्ति रहती है और उसका कभी नाश नहीं होता—

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३१)

प्रेमी भक्तमें भगवान् श्रीकृष्ण रहते हैं और भक्त भगवान् श्रीकृष्णमें रहता है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९। २९)

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती । सब तजि भजनु करौं दिन राती॥

(रा० मा० किष्किन्धा० ७। २१)

इस प्रकारके भावकी प्रेमभिक्षा भगवान् और उनके प्रेमी भक्त देनेकी कृपा करें तो तुरंत अचल शान्ति और आनन्द प्राप्त हो जाय।

नामका प्रकाश

दीपक बारा नाम का महल भया उजियार॥
महल भया उजियार नाम का तेज बिराजा।
सब्द किया परकास मानसर ऊपर छाजा॥
दसो दिसा भइ सुद्ध बुद्ध भइ निर्मल साची।
छुटी कुमति की गाँठि सुमति परगट होय नाची॥
होत छतीसो राग दाग तिर्गुन का छूटा।
पूरन प्रगटे भाग करम का कलसा फूटा॥
पलटू अँधियारी मिटी बाती दीन्ही टार।
दीपक बारा नाम का महल भया उजियार॥

(पलटू)

संस्कार-साधना

(लेखक—डॉ० श्रीराजबलीजी पाण्डेय, एम्० ए०, डि० लिट्०)

भारतीय शास्त्रकारोंने जीवनका एक ध्येय निश्चित किया था और उसतक पहुँचनेके लिये अनेक साधनोंका आविष्कार। संस्कार भी एक इसी प्रकारका साधन है। उन्होंने जीवनकी सामग्रियोंको दो भागोंमें बाँटा है। एक तो वह जिसको लेकर मनुष्य उत्पन्न होता है; दूसरी वह जिसका संचय वह अपने वर्तमान जीवनमें परिस्थितियोंके अनुकूल करता है। शास्त्रकारोंका मत है कि नवजात शिशुका मस्तिष्क कोरी पट्टीके समान नहीं है, जिसपर बिलकुल नया लेख लिखना है; इसके विरुद्ध इसपर उसके अनेक पूर्वजन्मोंके संस्कार अंकित हैं। साथ-ही-साथ उनका यह भी विश्वास है कि नवीन संस्कारोंद्वारा पुराने संस्कारोंको प्रभावित, उनमें परिवर्तन, परिवर्धन और उनका उन्मूलन भी किया जा सकता है। प्रतिकूल संस्कारोंका विनाश और अनुकूल संस्कारोंका निर्माण ही साधकका प्रयास है।

संस्कार क्या है? इसको केवल बाहरी धार्मिक आडम्बर समझना भूल है। इसमें बाहरी कृत्य अवश्य हैं, किन्तु ये आन्तरिक आध्यात्मिक सौन्दर्यके बाह्य दृष्टरूप हैं और इसीमें संस्कारकी महत्ता है। आध्यात्मिक जीवनसे विच्छेद होनेपर ये मृत अस्थिपंजरके समान हैं, जिसमें गति और जीवन नहीं है। 'संस्कार' शब्दका प्रयोग कई अर्थोंमें किया गया है। कौषीतकि[१], छान्दोग्य[२] और बृहदारण्यकादि[३] उपनिषदोंने इसका प्रयोग (संस्करोति) उन्नति करनेके अर्थमें किया है। महर्षि पाणिनि[४]ने इस शब्दका प्रयोग तीन विभिन्न अर्थोंमें किया है—(१) उत्कर्ष करनेवाला (**उत्कर्षसाधनं संस्कारः**), (२) समवाय अथवा संघात और (३) आभूषण। ब्राह्मण और सूत्र-ग्रन्थोंने 'संस्कार' शब्दका व्यवहार यज्ञकी सामग्रियोंको पवित्र करनेके अर्थमें किया है। बौद्ध त्रिपिटकोंमें निर्माण, आभूषण, समवाय, प्रकृति, कर्म और स्कन्धके अर्थमें इस शब्दका प्रयोग पाया जाता है। बौद्धदर्शनने संस्कारको भवचक्रकी बारह शृंखलाओंमेंसे[५] एक माना है। हिन्दूदर्शनोंमें इसका प्रयोग कुछ भिन्न अर्थमें हुआ है। यहाँ संस्कारका अर्थ भोग्य पदार्थोंकी अनुभूतिकी छाप है। हमारे अव्यक्त मनपर जितने अनुभवोंकी छाप है, अनुकूल अवसर पानेपर उन सबका पुनरावर्तन होता है, इस अर्थमें संस्कार 'वासना' का पर्यायवाची है। अद्वैतवेदान्तमें आत्माके ऊपर मिथ्या अध्यासके रूपमें संस्कारका प्रयोग हुआ है। वैशेषिकोंने चौबीस गुणोंमेंसे इसको एक माना है। संस्कृत-साहित्यमें बड़े व्यापक अर्थमें 'संस्कार' शब्द व्यवहृत हुआ है—शिक्षण[६], चमक, सजावट, आभूषण[७], छाप, आकार, साँचा, क्रिया, प्रभावस्मृति[८], पावक, कर्म, विचार, धारणा, पुण्यादि[९]। धर्मशास्त्रियोंने मानवजीवनको पवित्र और उत्कृष्ट बनानेवाले समय-समयपर होनेवाले, षोडश धार्मिक कृत्योंको संस्कार माना है। प्रायः इसी अर्थमें 'संस्कार' शब्दका प्रयोग किया गया है। संस्कारमें अनेक प्रकारके भावों और अर्थोंका समावेश है। इसीलिये किन्हीं विद्वानोंने इसको एक विचित्र अनिर्वचनीय पुण्य उत्पन्न करनेवाला धार्मिक कृत्य कहा है[१०]।

धर्मशास्त्रियोंने जीवनका ध्येय आध्यात्मिक निश्चित किया है; किन्तु उनकी यह भी धारणा है कि शरीर धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका साधन है। इसलिये वे आत्माके पुजारी होते हुए भी शरीरकी अवहेलना नहीं करते। इसके विपरीत वे शरीरको आत्माके अवतरण और प्रकाशके लिये योग्य माध्यम बनाना चाहते हैं। इनका मार्ग घोर भौतिकवादियों और एकान्त निवृत्तिमार्गियोंके बीचका है। भौतिकवादी शरीरको ही मानवजीवनका सर्वस्व समझते हैं। उसके आगे और ऊपर किसी आदर्शमें

१—२.६

२—४.१६.२, ३, ४

३—६.३.१

४—६.१.१३७

५. अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरा-मरण।

६. निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराजशब्दभाक्॥ (रघुवंश ३। ३५)

७. स्वभावसुन्दरं वस्तु न संस्कारमपेक्षते। (शकुन्तला ७। २३)

८. संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः। (तर्कसंग्रह)

९. फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव॥ (रघुवंश १। २०)

१०. आत्मशरीरान्यतरनिष्ठो विहितक्रियाजन्योऽतिशयविशेषः संस्कारः। (वीरामित्रोदय, संस्कारप्रकाश, भाग १, पृष्ठ १३२)

उनका विश्वास नहीं होता। इसलिये आत्माके अन्तस्तलमें निहित आनन्दसे वे वंचित रह जाते हैं। निवृत्तिमार्गी आत्माकी खोजमें शरीरका पूर्ण तिरस्कार करनेकी चेष्टा करते हैं, जो पार्थिव जगत्में शरीरतः असम्भव और विडम्बनामात्र है। संस्कारशास्त्रियोंका यह सिद्धान्त है कि मानव-जीवन और शरीर कोई आकस्मिक घटना और निष्प्रयोजन पिण्डमात्र नहीं है। शरीरका प्रादुर्भाव एक निश्चित क्रमके अनुसार होता है। वह आत्माका वाहन है। उसे योग्यतम वाहन बनाना चाहिये, जिससे आध्यात्मिक जीवन सरलतापूर्वक बिताया जा सके। भगवान् मनुके मतानुसार 'गर्भाधान, जातकर्म, चौल और उपनयन संस्कारद्वारा बीज और गर्भसम्बन्धी दोष दूर होते हैं।....शारीरिक संस्कार इस लोक और परलोक दोनोंको पवित्र करते हैं....स्वाध्याय, व्रत, होम, वेदाध्ययन, यज्ञ, पुत्रोत्पत्ति, महायज्ञ और अन्य यज्ञोंसे शरीर ब्रह्मानुभूतिके योग्य बनाया जाता है[१]।' इससे स्पष्ट है कि यद्यपि संस्कारोंका तात्कालिक उपयोग शारीरिक कल्याणमें था, फिर भी उनका अन्तिम उद्देश्य ब्रह्मकी प्राप्ति ही था। मनुपर टीका लिखते हुए मेधातिथि कहते हैं—'इनसे संस्कृत हुआ मनुष्य आत्मोपासनाका अधिकारी होता है।'[२]

संस्कारोंकी सहायतासे मानवचरित्रके निर्माण और व्यक्तित्वके विकासका प्रयत्न किया जाता है। अंगिराके अनुसार, 'जिस प्रकार अनेक रंगोसे चित्रकार चित्र बनाता है, उसी प्रकार विधिपूर्वक किये गये संस्कारोंद्वारा ब्राह्मण्य (ब्राह्मणत्व अथवा ब्रह्मत्त्व) सम्पादित होता है[३]।' प्राचीन ऋषियोंने इस बातका अनुभव किया था कि मनुष्यको निरुद्देश्य इधर-उधर भटकने देनेके बदले उसको सावधानीके साथ निश्चित साँचेमें ढालना चाहिये। संस्कारोंको अनिवार्य बनाकर हिन्दूसमाजशास्त्रियोंने समान आदर्श, आचार और संस्कृतिवाले लोगोंकी एक जाति बनानेकी चेष्टा की थी। उनको इस काममें काफी सफलता भी मिली। हिन्दुओंकी एक विशेष प्रकारकी जातीयता और सांस्कृतिक आधार है। इसीके बलपर उन्होंने उन सब जातियोंपर अपनी छाप, डाली, जो उनके सम्पर्कमें समय-समयपर आती रहीं। हिन्दुओंका संस्कार इतना दृढ़ था कि अनेक राजनीतिक और सामाजिक क्रान्तियोंके होते हुए भी उन्होंने अपना जातीय अस्तित्व नहीं खोया। आज भी जीवनके दृष्टिकोण तथा आचार-व्यवहारको देखकर आसानीसे कहा जा सकता है कि अमुक व्यक्ति हिन्दू है।

संस्कार समस्त जीवनको और मृत्युके उपरान्त अपर लोकको भी संस्कृत करते हैं। मानवजीवनमें वे इस प्रकार रखे गये हैं कि समयानुसार अनुकूल वातावरण उपस्थित कर सकें। संस्कार व्यक्तिके विकासके अनुसार उसका पथप्रदर्शन करते हैं। इनके संरक्षणमें अपनी शक्ति और वृत्तियोंको निर्दिष्ट और सोद्देश्य मार्गसे संचालित करता हुआ मनुष्य अपना सर्वांगीण पूर्ण जीवन व्यतीत कर सकता है।

सर्वप्रथम गर्भाधान-संस्कार किया जाता है। वैसे तो समस्त जीवधारियोंमें कामुक वासना और शारीरिक आकर्षणके कारण पुरुष और स्त्रीवर्गमें सहवास होता है, जिसका परिणाम प्रायः सन्तानोपत्ति होती है। किन्तु यह मैथुनी सृष्टिका पशुधरातल है। यदि मनुष्य इस धरातलसे ऊपर न उठा तो वह पशु-तुल्य ही है, मानव नहीं, पशुसे मानव बननेके लिये पाशविक वृत्तियोंपर धार्मिक संस्कार करना आवश्यक है। केवल रति और सन्तानोपत्ति ही पर्याप्त नहीं हैं। रति धार्मिक संस्कारसे सीमित और सन्तान आध्यात्मिक भावनासे अंकित होना चाहिये। गर्भाधान-संस्कारका अनुष्ठान उस समय होता है जब पति और पत्नी दोनों सन्तानोत्पत्तिके योग्य और स्वस्थ होते हैं, जब वे एक-दूसरेके हृदयको जानते हैं और जब उन्हें सन्तान उत्पन्न करनेकी प्रबल इच्छा होती है। उनकी सारी शक्ति प्रजनन-क्रियामें केन्द्रित और सम्पूर्ण मन धार्मिक भावसे रंजित होता है। इस समय यज्ञ और

१- गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः । बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥ (२। २७)
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥ (२। २६)
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥ (२। २८)

२- एतैस्तु संस्कृत आत्मनोपासनास्वधिक्रियते॥ (मनु० २। २८ पर भाष्य)

३- चित्रकर्म यथानेकैरङ्गैरुन्मील्यते शनैः। ब्राह्मणयमपि तद्वत्स्यात्संस्कारैर्विधिपूर्वकम्॥

मन्त्रोंके द्वारा उपयुक्त वातावरण उपस्थित होता है। इस अवसरपर मालूम होता है कि स्त्री-पुरुषका प्रसंग पशुक्रिया नहीं, किन्तु एक यज्ञ है, जिसको करके मनुष्य अपने पैतृक ऋणसे मुक्त हो जाता है।[१]

पत्नीके गर्भिणी होनेपर दो संस्कार होते हैं—पुंसवन और सीमन्तोन्नयन। गर्भसंचालनसे लेकर जन्मके पूर्वतक गर्भस्थ शिशु और माताके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यके लिये जितनी बातोंकी आवश्यकता होती है, उन सबका विधान इन संस्कारोंमें किया गया है। वास्तवमें शिशुके शरीर और मनका संगठन उसके जन्मके उपरान्त नहीं, अपितु गर्भावस्थासे ही प्रारम्भ हो जाता है। इतनी बात तो सुजननशास्त्रके जाननेवाले भी मानते हैं। संस्कारोंमें विशेषता यह है कि वे सुजननशास्त्रके नियमोंका पालन कराते हुए अपने अन्तिम ध्येयको दृष्टिमें रखकर धार्मिक और आध्यात्मिक छाप लगाना भी जारी रखते हैं।

जन्मोपरान्त सबसे पहले जातकर्म संस्कार होता है। इसके दो मुख्य अंग हैं—एक प्रज्ञाजनन और दूसरा आयुष्य। सन्तानके सम्बन्धमें माता-पिताकी पहली चिन्ता यह होती है कि सन्तान मेधावी हो, दूसरी चिन्ता उसके दीर्घ जीवनकी। मानव-जीवनको सफल और पूर्ण बनानेके लिये ये दोनों बातें आवश्यक हैं। अन्तमें पिता प्रार्थना करता है कि सन्तान वज्रके समान दृढ़, परशुके समान तीक्ष्ण और सुवर्णके समान कान्तिवाली हो[२]। बाल्यावस्थामें विकासके एक-एक क्रमपर दूसरे संस्कारोंका विधान है। जातकर्मके बाद दूसरा संस्कार नामकरण है। आजकल धार्मिक उदासीनता और दुर्व्यवस्थाके कारण माता-पिता बालकका नाम प्रायः ऊटपटाँग रख देते हैं। किन्तु संस्कार नामको ऐसी तुच्छ बात नहीं समझते। बृहस्पतिका कथन है कि 'नाम सम्पूर्ण व्यवहारोंका कारण, कल्याणकारी और भाग्यप्रदाता है; नामसे ही मनुष्य कीर्ति प्राप्त करता है। इसीलिये नामकरण एक प्रशस्त कार्य है।'[३] नाम एक ऐसा मन्त्र है, जिसका सम्बन्ध मनुष्यकी सारी चेतना और व्यक्तित्वसे होता है। इसलिये इस संस्कारने ऐसे नामोंकी रचनाका विधान किया है जो उच्चारणमें सरल, सुननेमें मधुर और व्यक्तिगत और सामाजिक महत्त्वाकांक्षाओंके द्योतक हों। शैशवका तीसरा संस्कार निष्क्रमण है। शिशुके शारीरिक विकासके साथ-साथ उसके संसारका भी विस्तार होता है। इसलिये उसको घरके सीमित घेरेसे बाहर निकालकर बाहरी संसारसे परिचय कराना आवश्यक होता है। किन्तु संस्कार केवल शारीरिक माँगकी पूर्ति और मानसिक जिज्ञासाकी तृप्ति ही नहीं करता है अपितु बालकके वर्धमान हृदयपर विश्वकी विशालता और ईश्वरके लीलावैचित्र्यकी छाप भी डालता है। बालकका चौथा संस्कार अन्नप्राशन है, जो दाँत निकलनेके बाद ठोस, परिमित और सुपाच्य भोजनकी आवश्यकतापर जोर देते हुए अन्नतत्त्वका रहस्य बतलाता है। पाँचवाँ संस्कार चूडाकरण बालकके आयुष्य, सौन्दर्य और कल्याणके लिये किया जाता है।[४] छठा संस्कार कर्णवेध है। इसका आविष्कार आभूषण धारण करने और अन्त्रवृद्धि रोगके निवारणके लिये हुआ था।[५] इस अवसरपर केशव, हर, ब्रह्मा, सूर्य, चन्द्र और दिग्देवताओंकी पूजा होती है और प्रार्थना की जाती है कि कानोंसे भद्रवचन ही सुनायी पड़ें। इन संस्कारोंके साथ शैशवका अन्त होता है और बालकके नैतिक जगत्की सीमा भी बढ़ जाती है। शास्त्रकारोंने कृतचूड (जिसका चूडाकरण-संस्कार हो गया है)-के पथप्रदर्शनके लिये बहुत-से नियम-उपनियम बनाये हैं, जिनका पालन करके वह अपने भावी जीवनके लिये तैयार हो सके।

शैशवके अन्तके साथ बालकका शिक्षणकाल प्रारम्भ होता है। शास्त्रकारोंने इस कालके उपयुक्त विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ, केशान्त और समावर्तन संस्कारका विधान किया है। विद्यारम्भमें अक्षरज्ञान कराया जाता है। बालकको साक्षरताके साथ-साथ शील और विनयकी शिक्षा दी जाती है। उपनयन तो मनुष्यका दूसरा जन्म ही माना

१- जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः।
(तैत्तिरीयसंहिता ६। ३। १०।५)

२- अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तुतं भव।
(पारस्कर गृ० सू० १।१६।१४)

३- नामाखिलस्य व्यवहारहेतुः शुभावहं कर्मसु भाग्यहेतुः। नाम्नैव कीर्तिं लभते मनुष्यस्ततः प्रशस्तं खलु नामकर्म॥

४- तेन ते आयुषे वपामि सुश्लोकाय स्वस्तये।
(आश्वलायनगृ० सू० १। १७। १२)

५- रक्षाभूषणनिमित्तं बालस्य कर्णौ विध्येत्।
(सुश्रुत, शरीरस्थान १६। १)

शङ्खोपरि च कर्णान्ते त्यक्त्वा यत्नेन सेवनीम्। व्यत्यासाद्वा शिरां विध्येदन्त्रवृद्धिनिवृत्तये॥ (सुश्रुत, चिकित्सा० १९।२१)

गया है। जिस प्रकार मिट्टीमें मिला हुआ सोना भट्ठीकी आगमें तपकर दीप्त कांचन हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मचारी उपनीत होकर व्रत और विद्याकी अग्निसे तपाया हुआ खरे सोनेके समान चमक उठता है। इसके बाद ही ब्रह्मचारीको पूर्ण धार्मिक और सामाजिक अधिकार मिलते हैं। प्राचीन आर्योंने शिक्षाको समाजमें प्रवेश करनेकी शर्त बनाकर अपने सांस्कृतिक गौरवका परिचय दिया था। उपनीतके लिये 'ब्रह्मचारी' शब्दका प्रयोग बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। 'ब्रह्म' शब्द केवल वेदपरक ही नहीं, किन्तु परमतत्त्वसूचक भी है। उपनीत केवल विद्या-व्यसनी ही नहीं, ब्रह्मपरायण भी होता है। ब्रह्मचर्यमें ही वेदारम्भ और केशान्त—दो और संस्कार होते हैं। वेदारम्भसे वेदोंका अध्ययन आरम्भ होता है और केशान्त उस समय किया जाता है जब कि ब्रह्मचारीको मूँछ और दाढ़ी निकलती है और वह यौवनमें प्रवेश करता है। इस क्रान्तिसूचक अवसरपर इस बातकी आवश्यकता होती है कि उसको उपनयनके समयपर धारण किये हुए व्रतका एक बार फिर स्मरण कराया जाय। ब्रह्मचर्य-कालके समाप्त होनेपर समावर्तन या स्नान-संस्कार होता है। इसका अर्थ है गुरुके आश्रममें विद्या और व्रतको समाप्त करके गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेके लिये पिताके घर लौट आना। गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना व्यक्तिगत इच्छा या सुविधापर अवलम्बित नहीं है। शास्त्रोंकी स्पष्ट आज्ञा है कि प्रवृत्तिप्रधान ब्रह्मचारी (ऐसे ब्रह्मचारियोंकी संख्या सदा अधिक होती है)-को गुरुकी आज्ञा लेकर विवाह करके सामाजिक उत्तरदायित्वको स्वीकार करना चाहिये; जो स्नातक आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचारी होना चाहता है और निवृत्तिमार्गी है, अथवा जो शारीरिक या अन्य किसी अयोग्यताके कारण विवाहित जीवन नहीं बिता सकता, उसको गुरुकुलमें रहकर विद्या-सेवन और तपश्चर्यामें ही अपना जीवन खपा देना चाहिये[1]। इस विधानमें असमंजस और सामाजिक स्वच्छन्दताको बिलकुल स्थान नहीं है।

विवाह-संस्कार सबसे प्रधान माना गया है; क्योंकि इसका सम्बन्ध न केवल पति और पत्नीसे है। किन्तु भावी सन्तानसे भी। यहींपर वर्तमान और भविष्यत्‌की सन्धि होती है। इसी घटनाके ऊपर पारिवारिक और सामाजिक सुख अवलम्बित हैं। यही कर्म और धर्मका उद्‌गम है। यह संस्कार सबसे पहले इस बातकी ओर ध्यान दिलाता है कि विवाह शारीरिक आकर्षण और रागका परिपाक नहीं है, किन्तु एक धार्मिक बन्धन है; इसका विच्छेद हम व्यक्तिगत असुविधासे नहीं कर सकते, अपितु इसका निर्वाह आजीवन नियम और निष्ठाके साथ करना होगा[2]। दूसरी बात जो इस संस्कारसे स्पष्ट प्रकट होती है, वह यह है कि विवाहित जीवन स्त्री-पुरुषके आमोद-प्रमोद और सुख-सम्पत्तिका साधनमात्र नहीं है, किन्तु सामाजिक उत्तरदायित्वके वहन करनेकी प्रतिज्ञा है; क्योंकि सारा समाज गृहस्थके ऊपर ही आश्रित है। विवाह-संस्कारके मुख्य अंग ये हैं—(१) पति-पत्नीका शारीरिक स्वास्थ्य और सन्तानोत्पत्तिकी क्षमता, (२) शारीरिक और मानसिक मेल, (३) जीवनमें एक नया बन्धन, (४) विवाह एक सामाजिक क्रान्ति, (५) उत्तरदायित्वकी स्वीकृति और (६) विवाहित जीवन एक महान् प्रलम्ब यज्ञ। इन संस्कारोंको लेकर ब्रह्मचारी विवाहित जीवनमें प्रवेश करता है।

सांसारिक जीवनका अवसान मृत्युमें और संस्कारोंकी परिसमाप्ति अन्त्येष्टिमें होती है। हिन्दू शास्त्रकार इस लोकका महत्त्व समझते हैं, किन्तु उनके सामने परलोक और परमार्थ-का महत्त्व इससे कहीं बढ़कर है। इस लोकको सुखमय और धार्मिक बनानेकी चेष्टा साधनरूपसे है। जीवनको पवित्र करनेवाले संस्कार लौकिक कल्याणके साथ-साथ परलोककी भी चिन्ता रखते हैं। अन्त्येष्टि-संस्कार परलोकपरक है। इस संस्कारमें आत्माके महाप्रस्थानको सुखमय और सफल बनानेकी चेष्टा की गयी है। बौधायनके अनुसार जातकर्मसे मनुष्य इस लोकको जीतता है और अन्त्येष्टिसे परलोककी विजय करता है[3]।

अध्यात्म हिन्दूधर्मकी सर्वप्रधान विशेषता है; इसलिये हिन्दू शास्त्रकारोंने अपने सम्पूर्ण शास्त्रों और संस्थाओंको आत्माके रंगमें रँग डाला है। संस्कारमय जीवन आध्यात्मिक साधनाकी दृढ़ भूमिका है। संस्कारोंके द्वारा आध्यात्मिक जीवनका क्रमशः विकास होता है। संस्कृत व्यक्ति अनुभव करता है कि उसका सारा जीवन एक महान् यज्ञ है और जीवनकी प्रत्येक भौतिक क्रियाका सम्बन्ध आध्यात्मिक

१- मनु० २। २४३

२- अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः। एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः॥ मनु०

३- जातसंस्कारेणेमं लोकमभिजयति मृतसंस्कारेणामुं लोकम्।

(बौधायन-पितृमेधसूत्र ३। १। ४)

तत्त्वसे है। संस्कारोंके द्वारा ही कर्मप्रधान सांसारिक जीवनका मेल आध्यात्मिक अनुभवसे होता है। इस प्रकार संस्कृत जीवनसे शरीर और उसकी विविध क्रियाएँ पूर्णताकी प्राप्तिमें बाधक न होकर साधक होती हैं। शास्त्रोक्त संस्कारोंको नियमपूर्वक करता हुआ मनुष्य भौतिक बन्धन और मृत्युको पार करके अमृत तत्त्वको प्राप्त करता है।

जीवन सर्वोत्कृष्ट साधना है

(लेखक—श्रीब्रजमोहनजी मिहिर)

संसारका प्रत्येक मनुष्य सुखकी खोजमें है। वह ऐसा सुख चाहता है, जो अजर-अमर हो। इसके लिये वह प्रयास करता है और उसे अपने पास रखना चाहता है।

लोगोंकी यह कल्पना और इच्छा गलत नहीं है, गलत है उनके प्रयासका ढंग। निस्सन्देह ऐसा आनन्द है और उसकी अनुभूति भी सम्भव है। पर वह किसी स्थान या वस्तुविशेषमें केन्द्रित नहीं है। वह अनोखा है, विचित्र है, सर्वत्र है और सबके अंदर है। अर्थात् वह चल है, पर क्षणिक नहीं; उसमें अदम्य उत्साह और वेग है, पर राग और अशान्तिका चिह्न नहीं; वह जाज्वल्यमान है, पर जलकणकी भाँति शीतल और निर्मल है; वह अनन्त है, पर विचार और भावके समन्वयसे युक्त है। यह जीवनकी वह दशा है, जो न किसी कामका परिणाम है और न जिसका कोई अन्त है। किसी स्थितिके साथ इसका मेल असम्भव है। इस आनन्दमें विचार और भावकी पूर्णता सम्यक् रूपमें विद्यमान रहती है। इसकी अचिन्त्यानन्त अनुभूतिपर मन अपना कोई प्रभुत्व नहीं स्थापित कर पाता और न इसमें कालकी कोई स्मृति है। जो वस्तु अनन्त है, उसे मन अपने किसी सन्तोषके लिये केन्द्रित नहीं कर सकता। सन्तोष तो निगृहीत मनका केवल भ्रम है। क्षणिक वस्तुओंसे विचारद्वारा ऊपर उठ जानेपर बुद्धिमें चैतन्यताका प्रादुर्भाव होता है और साथ-ही-साथ विवेकका भी। स्वार्थके भावसे मनको सर्वथा स्वतन्त्र हो जाना चाहिये। इसके लिये सजग बुद्धि और सही बातको समझनेके भावकी आवश्यकता है। अपने किसी स्वार्थके बिना यदि तुम किसी बातको पसंद करते हो और अपने लाभके लोभको अलग करके यदि तुम कुछ विचार कर सकते हो तो वह उस समयके लिये उचित विचार हो सकेगा, सुन्दर होगा और सुखप्रद होगा। अनन्तकी वह छबि, जिसकी जीवनमें परम ज्योति सदा जगमगाती रहती है, जिसका स्रोत सदा प्लावित रहता है, केवल बौद्धिक तर्कद्वारा अनुभूतिकी वस्तु नहीं है। फिर भी मन सदा किसी ऐसी बातकी चेष्टामें लगा रहता है, जो उसकी रक्षा करे, उसे राह दिखलावे और उसके लिये सुखकी सामग्री एकत्रित करता रहे, मनकी यह चाल उसे कभी वर्तमानको नहीं देखने देती।

वर्तमान समयमें जो कार्य स्वार्थकी भावनासे रहित होकर किया जाता है, उसमें बुद्धिकी चैतन्यता है, उसकी झलक है। विचार ही कार्य है; पर तृष्णाकी सहायतासे भेद-भाव लाकर हमने मनको इस कदर दूषित कर दिया है कि उसके अंदर विवेकयुक्त विचारकी, प्रसन्नताकी समस्त भावनाएँ नष्ट हो गयी हैं। विवेकयुक्त विचार अपना है और उसमें जीवनका सच्चा स्नेह है; पर मनने तृष्णाके बीच इस गभीरतम और अन्तरतम विचारको सम्यक् रूपसे विस्मरण कर दिया है। आनन्द ही विचार और प्रेमका प्राण है।

जीवनमें जब आनन्द-स्रोतकी सत्ता बिना प्रयास ही सब कार्योंके बीच विद्यमान रहती है, तब उसे बाहरकी कोई वस्तु उत्तेजित नहीं कर पाती। मनका चाञ्चल्य तथा उसकी किसी एक ही बातपर तटस्थ रहनेकी प्रवृत्ति छूट जाती है। स्वाभाविक दशामें उसे अपनी चञ्चलताका विस्मरण रहता है। उसके अंदर केवल एक वस्तु—ईप्सित शान्ति और अनन्त आनन्दकी सत्ता रह जाती है।

जबतक किसी प्रकारकी कोई विषमता अपने अंदर रहती है या अज्ञानके कारण द्वैतात्मक बुद्धि होनेसे मनपर कार्यकी पसंदगीकी छाप रहती है, तबतक विशुद्धानन्दकी स्थिति नितान्त दुर्लभ है। जब समस्त कर्म, कर्मफल, पदार्थ, मनुष्य तथा इतर प्राणी पूर्णरूपेण सम प्रतीत हों और अपनी समस्त वासनाएँ अनन्तानन्दके प्रति समर्पित और उसपर न्योछावर हो जायँ तो ऐसी दशामें उसकी उज्ज्वलतामें सब काम बिना किसी रोकटोकके निर्धारित होते हैं। रागात्मक बुद्धिद्वारा सम्पादित कार्यमें उसकी प्रतिक्रिया अवश्य हुआ करती है, जो

प्रत्येक स्वाभाविक कार्यके सम्पन्न होनेके समय अवरोधक या बाधक होकर उस कार्यको प्रतिहत कर देती है।

जीवनके अनुभवमें उसका कोई स्वार्थमय लाभ नहीं है, अपितु गहन विषयोंमें प्रवेश है जो कि जीवनके विकासके हेतु परमावश्यक है। अभिप्रेतकी प्राप्तिके लिये यत्र-तत्र भटकते रहनेसे उद्देश्यकी पूर्ति नहीं होती। जीवनकी सर्वोत्कृष्ट साधना वह है जो तुम्हारे सामने निश्चयात्मक बुद्धिसे, निश्चिन्त होकर निरन्तर वर्तमानमें निवास करनेके रहस्यको प्रकट करती है। वर्तमानमें निवास करनेका अर्थ है कार्यमें पूर्ण चैतन्यताकी अनुभूति। कार्यसे स्वतन्त्र केवल विचार उसके सौन्दर्यको नष्ट कर देता है। वर्तमानमें निवास करनेके अभ्याससे सत्यकी अनुभूतिका सुलभ अवसर प्राप्त होता है। उसमें अप्रतिहतरूपसे रहनेपर मन अपने बन्धनको छोड़ने लगता है और प्राणी तृष्णारहित होकर सत्यमें निवास करने लगता है। मनमें जबतक ख्वाहिश है, तबतक उसका फँसाव है। इस इच्छाका यहाँतक अन्त कर देना चाहिये कि तटस्थ जीवनमें सत्यको प्राप्त कर लेनेकी भी कोई इच्छा न रह जाय, क्योंकि इससे द्वैतकी उत्पत्ति होती है और सामने रुकावट आती है। और न मनमें दिन-रात इस बातका ही चिन्तन करते रहो कि तृष्णाका समूलोन्मूलन हो चुका है। यह कल्पना बिलकुल व्यर्थ है। इसकी स्मृति बन्धनका मुख्य कारण बन जाती है। इसके अतिरिक्त सत्य तो वह वस्तु है, जो किसी विधानद्वारा नहीं प्राप्त की जा सकती। सत्यके लिये कोई निश्चित स्थिति नहीं है। यह सब कुछ होनेपर भी वह सबके परे है।

आधिपत्य, पुण्यकी कल्पना, किसी प्रकारके लाभकी इच्छा आदि बन्धन और भेद उत्पन्न करनेवाले हैं। इनमें फँसकर मन जीवनकी स्वाभाविक गतिमें विक्षेप उत्पन्न करता रहता है। यदि तुम किसी अच्छी बातकी आदत डालना चाहते हो तो वह भी कालान्तरमें मनके बन्धनका एक प्रमुख कारण बन जायगी। क्योंकि तुम्हारा मन सदा उसकी ओर लगा रहेगा, जिससे जीवनके प्रति अन्य आवश्यक बातोंकी अवहेलना होगी। मन उसके प्रति अनेकों प्रकारकी बन्दिशें बाँधकर उसमें नष्ट हो जायगा। कार्यमें रुकावट आनेसे 'मैं' पनकी उत्पत्ति होती है, जिसमें कि भेदभाव समाहित है। जितनी तुम उसमें उन्नति करोगे, उतनी ही जीवनमें रुकावट होगी और भ्रम बढ़ेगा; क्योंकि तुम तो यही सोचोगे कि जीवन उन्नतिकी ओर अग्रसर हो रहा है। सत्यकी अनुभूति तो उस समय होती है, जब अभिप्रेतका अन्त हो जाता है। अहंभावसे रहित होकर निर्मल बुद्धिकी चैतन्यतासे युक्त होकर जो कार्य किया जाता है, उसमें सत्यका निवास है। इसमें लाभ अथवा उन्नतिका कोई भाव नहीं रहता। सच्चा विवेक हो जानेपर इनका कोई मूल्य नहीं है।

स्वार्थके वशीभूत होकर हम जो कार्य करेंगे, वह सदा 'मैं' पनकी अभिव्यक्ति करेगा; क्योंकि उसमें हमारी तृष्णा, उसकी तुष्टि और अभिलाषाका क्रम है। वर्तमानकी सजगतामें तृष्णाका तिरोभाव होता है और मन उसकी स्मृतिसे स्वतन्त्र हो जाता है। मनकी एकांगी दृढ़तासे वर्तमानकी सजगता नष्ट हो जाती है। इससे अपनी तृष्णाका ही परिचय मिलता है। मनको यह साधनसे शून्य और जडवत् बना देती है। जीवनकी स्फूर्ति नष्ट हो जाती है। ऐसा मन जीवनकी गम्भीर समस्याके विचारमें असमर्थ है। स्वतन्त्र मन ही किसी समस्यापर स्वतन्त्र रीतिसे विचार कर सकता है। मनकी स्वतन्त्र स्थितिमें उसकी सजगता है। मनकी स्वतन्त्र सत्ता ही उसकी सबसे बड़ी साधना है। तृष्णासे मुक्त होनेपर इसका कार्य आरम्भ होता है।

मनकी एकांगी एकाग्रताको लोग ध्यान कहते हैं और उसका अभ्यास करते हैं। परन्तु यह तो मनको दास बनानेके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। स्वतन्त्र मन तो वह है जो किसी एक काम अथवा एक प्रकारकी साधनाके लिये न हो बल्कि वह समत्वकी भावनाके साथ सब कामों और बातोंपर समदृष्टि होकर मनन कर सके और उसे कार्यमें भी परिणत कर सके।

सच्चा ध्यान तो किसी एक ध्येयके प्रति मनको अर्पित कर देनेसे नहीं होता बल्कि तृष्णासे मुक्त होकर समस्त भेद-भावनासे स्वतन्त्र हो जानेपर—जीवनकी सब बातोंपर गौर करके उसे सबसे मुक्त कर देनेपर। इच्छा ही सारी मुसीबतकी जड़ है। इसके न रहनेसे द्वैतका अन्त हो जाता है। एक दफा इसका सच्चा अनुभव हो जानेसे मन फिर उस झंझटको कबूल नहीं करता। जीवनकी गति स्वाभाविक हो जानेपर वह अपनेको फिर उस चक्रमें नहीं फँसने देती। इस स्फूर्तिका कभी-कभी क्षणिक सुख होता है; लेकिन सच्ची और चिरस्थायी स्फूर्तिका रंग उस समयतक जीवनमें नहीं आने पाता, जबतक मन किसी वस्तुके प्रति आकृष्ट रहता है। इसलिये मनको सब प्रकारकी बातोंसे अलग कर, कालकी चिन्ता छोड़कर स्वरूपस्थ हो जाना चाहिये।

आच्छादित मन तो केवल एक वस्तुका दास और अनुसरण करनेवाला ही है। तृष्णावश जब कोई भाव मनमें आता है तो वह अपनी भावनाके कारण पहले उसमें अपने सुखकी खोज करता है। सुखकी खोज ही उसे उस भावका दास बना देती है। कार्यकी स्वाभाविकता तो वह स्वतन्त्रता है, जिसमें तृष्णाकी कोई स्मृति नहीं रह जाती और न उसमें जबरदस्ती कोई काम करनेकी आदत रहती है। कार्यकी कोई निजी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। कर्त्ता ही अपने इच्छानुसार उसकी कल्पना और रचना करता और उसपर गुणोंका आरोप करता है। कार्यकी स्वाभाविकता किसी व्यक्ति अथवा समुदायका विचार नहीं करती और न उसमें उसका कोई निजी भाव रहता है। कार्य-सम्पादनमें जिस बातकी जरूरत होती है, कर्ता ठीक उन्हीं बातोंको करता है।

आधुनिक समयमें स्वतन्त्र और स्वाभाविक कार्यका नितान्ताभाव है। अपनी किसी अभिलाषासे अभिषिक्त हो जानेसे मन पहले ही उसका दास बन जाता है। किसी नवीन कार्यके समय भी मन प्राचीन स्मृतिकी ही ओर झुकता है और उसके अनुसार यदि कार्यकी पूर्णता हुई तो वह अभिमानसे अभिव्यक्त की जाती है। इससे अन्तमें दु:खकी वृद्धि होती है और मनुष्य अपनी स्थितिको शून्य पाता है। मन अपनी साधारण स्थितिमें सदा मनोराज्यकी कल्पना किया करता है। यदि तुम अपने गुप्त विचारोंसे परिचित हो तो तुम गौर करोगे कि अपने स्वार्थकी भावनासे मन सदा उसके संघर्षमें फँसा रहता है और शान्त होकर गम्भीरतापूर्वक किसी बातका निर्णय नहीं कर पाता। इसे लोभके विचारसे स्वतन्त्र करनेके लिये यह आवश्यक है कि वह सदा सचेत रहे। सचेत रहनेसे उसे अपनी विभिन्नताका पता चलता है। पूरे तौरसे सचेत हो जानेपर चैतन्यता उत्पन्न होती है जो किसी बातको जानने अथवा किसी रहस्यको समझनेकी पूर्ण स्थिति है। मन सदा भाँति-भाँतिकी इच्छाओंमें फँसा रहता है। उनमेंसे बहुत-सी उसकी निजी इच्छाएँ हैं और बहुत-सी समुदायके साथ सम्बन्ध रखनेवाली। इन इच्छाओंसे स्वतन्त्र होनेके लिये उसे अपने विचारोंका और अपने मनोरथोंका पता होना चाहिये। इसे समझनेके लिये उसे बाहरसे कोई सहायता नहीं मिल सकती। अत: मनुष्यको स्वत: ही अपनी बातोंपर गम्भीर होकर विचार करना चाहिये। विचारकी गम्भीरतासे जब सजगता उत्पन्न हो जाती है तो मनुष्यको अपनी बातोंका पता चलता है, उसे मालूम होता है कि उसके बन्धन क्या हैं। किसी अवलम्बके आश्रित होनेसे मन अपने मनोरथोंको जाननेमें सदा अचेत रहेगा। मनकी अचेतनावस्था उसे सदा इन्द्रियोंका दास बनाये रहती है और भेदभावको चिरस्थायी रखती है।

यदि तुम इन बातोंपर गौर करो तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि इन्द्रिय-सुखकी खोजके अतिरिक्त तुम और कुछ नहीं चाह रहे हो; जिस बातपर विचार करने और जिस कामको करनेसे तुम्हें सन्तोष मिलता है, उसे ही तुम जीवनका ज्ञान समझ लेते हो। इसलिये मन सदा उस इच्छाकी पूर्तिमें लगा रहता है और यह माने रहता है कि वह कार्य सुख, शान्ति और सन्तोषका प्रदाता है, लेकिन उसकी प्रतिक्रियाके दु:खसे यह तुरन्त प्रमाणित हो जाता है कि वह तो केवल इन्द्रियोंके सुखकी लालसा थी। व्यर्थ और अनर्गल कार्योंको करते हुए भी लोग यह चाहते हैं कि उन्हें संघर्ष और अशान्तिसे छुट्टी मिल जाय। यह असम्भव है। खोज जब किसी मनोरथके साथ रहती है तो सत्य सदा दूर हटता जाता है। उसकी अनुभूति तो स्वार्थरहित स्वाभाविक कार्योंमें होती है। तुम केवल सुख चाहते हो, इसका तुम्हें भली प्रकार ज्ञान होना चाहिये। मनकी इस तृष्णापर जब तुम भली प्रकार विचार करोगे तो उस गम्भीर विचारके बीच ही तुम्हें जीवनके आनन्दका पता चलेगा। मन जबतक अपने मनोरथोंसे स्वतन्त्र नहीं हो जाता, तबतक उसकी सब खोज व्यर्थ है। तृष्णा तो केवल अभिमान, बन्धन और विचारकी संकीर्णताको बढ़ाती है। जीवनका यह क्रम उसे कभी स्वतन्त्र न होने देगा।

मन सदा सुख चाहता है। इस क्रममें जब प्रतिरोध होता है तो उसे अपनी विभिन्नताका पता चलता है। इस विभिन्नताकी ओर मनकी जब कोई रुचि नहीं रह जाती तो वह सुखके दु:खान्तको समझता है। इस स्थितिमें सुख तथा उसकी विरोधात्मक दशा दोनों उसके लिये एक-सी हो जाती हैं। विभिन्नतारहित दशा मनकी वास्तविक स्थिति है। इसके लिये पूर्ण बोध और समत्वकी आवश्यकता है। समत्व और सजगतासे युक्त होनेपर जीवनरूपी अनन्त सत्ताकी अनुभूति होती है। स्वतन्त्र मन ही अनन्त सत्ताको समझ सकता है। पूर्ण सजग होनेसे तथा विरुद्ध वस्तुओंके संघर्षको समझनेसे विचार और भावमें अधिक चैतन्यता आती है। यह स्थिति वस्तुकी

वास्तविकताका बोध कराती है। मन और हृदयका समुचित समन्वय ही उसकी प्राप्तिका सच्चा प्रयास है।

वर्तमानमें पूर्ण सजग होनेसे मनुष्यको आन्तरिक समस्त उचित और अनुचित भावनाओंका पता चल जाता है। अनेक प्रकारकी इच्छाओंके रहते हुए इस अनोखी सजगताका प्रादुर्भाव नहीं होता। प्रत्येक इच्छाके पीछे किसी इन्द्रियके सुखकी लालसा और उसकी शक्ति रहती है और साथ ही उसका दु:खान्त परिणाम भी रहता है। सुखकी प्राप्ति और उसकी प्रतिक्रियामें उसकी निस्सारताका पता चलता है, लेकिन मन-बुद्धि तुरन्त उसी सुखके लिये अथवा किसी अन्य सुखकी प्रवृत्तिको स्थानापन्न करके कोई ऐसी युक्ति सामने रखते हैं कि जिससे उस समयकी अल्पायु सजगता मूर्च्छित हो जाती है। बहुत प्रकारकी इच्छाओंके होनेसे सजगतामें तुरन्त ही दृढ़ता नहीं आने पाती। परन्तु यह निश्चय है कि बार-बारका दु:ख उसे किसी दिन सब इच्छाओंसे मुक्त कर देता है। दु:खका तीव्र वेग कभी-कभी इस सजगताको शीघ्र ले आता है।

जब पूर्ण सजगता प्राप्त हो जाती है तो यह नहीं होता कि एक दु:खका पता चल जानेपर मनको किसी दूसरी ओर आकृष्ट करें, बल्कि यह होता है कि उसकी पूर्ण सजगतामें सब प्रकारके विरुद्धात्मक भाव और आचरणका अन्त हो जाता है, जो कि स्वरचित तृष्णाके अतिरिक्त और कुछ नहीं था।

सजगताके प्राप्त हो जानेपर यह नहीं होना चाहिये कि एक वस्तुके होनेपर उसके विरुद्ध अपने मनको किसी दूसरी वस्तुकी ओर आकृष्ट करें। करनेकी बात तो यह है कि हम अपने मनसे सब प्रकारकी तृष्णाओंका तथा उनसे उत्पन्न विरुद्ध बातोंका अन्त कर दें। जहाँ जीवनका उद्दाम सुख है, वहाँ सब दशाएँ एक-सी हो जाती हैं। काल, पात्र और स्थान कोई भेदभाव नहीं रखते। मनमें किसी प्रकारकी तृष्णाके रखते हुए इस स्थितिकी अनुभूति असम्भव है। तृष्णा ही हमारे सामने आगे-पीछेकी बातोंकी स्मृति लाती है और भेदभावकी उत्पत्ति करती है। यह विचारको संकीर्ण बनाती है और अहम्मन्यताका भान कराती रहती है। इनके न रहनेसे जीवन सदा नवीन और अमर है। सब तृष्णाओंसे मुक्त हो जाना ही मोक्षकी स्थिति है।

वर्तमानमें सदा सजग हो जानेसे अपने लाभकी व्यर्थ बातोंसे धीरे-धीरे छुट्टी मिलने लगती है और तृष्णाका अन्त होने लगता है। दृढ़ता आ जानेपर स्थिति कल्पनातीत हो जाती है। उन्नतिका भाव भी अहम्मन्यताका ही द्योतक है और वह उसका कभी अन्त न होने देगा। कारणके न रहनेपर कार्यका अन्त हो जाता है। प्रत्येक वस्तुके मूलमें सबसे बड़ा कारण उसकी तृष्णा है। इसके न रहनेसे दु:खका अन्त हो जाता है। दु:ख ही भेद-भाव उत्पन्न करता है। तृष्णा न होनेसे दु:ख न होगा, दु:ख न होनेसे द्वैतकी भावना मिट जायगी और जीवन सब प्रकारसे स्वतन्त्र हो जायगा।

किसी एक मुख्य आदर्शके प्रति अपनेको सर्वथा समर्पित कर देनेसे या किसी एक कृत्यको अपना केन्द्र बनाकर उसके अनुसार जीवन व्यतीत करनेपर जीवन संकीर्ण हो जाता है। अन्तमें जब सजगता उत्पन्न होती है तो उस वस्तुसे भी उपरति हो जाती है। तृष्णासे अनुप्राणित होकर अभिलषित वस्तुकी प्राप्तिके हेतु हम संसारका अनिष्ट किया करते हैं। जिसका परिणाम सदा दु:खजनक है। इसमें अच्छी और बुरी दोनों प्रकारकी इच्छाओंके लिये एक ही स्थान है। लोग कहते हैं कि दान देना बहुत अच्छा है। इसके सम्बन्धमें संसारने यह भी माना है कि इससे संसारका हित होता है। लेकिन इसके रहस्यको समझना गहन है। किसी दानी मनुष्यकी अपेक्षा वह आदमी अधिक अच्छा हो सकता है, जो अपनी जची हुई आवश्यकतासे अधिक नहीं उपार्जन करता और न अपने पास कुछ रखता है। आवश्यकतासे अधिक उपार्जन करनेमें एक तरहसे छिपी हुई प्रतिहिंसा है और संसारका अकल्याण है। आवश्यकतासे अधिक उपार्जन करनेमें हम समष्टिका एक बहुत बड़ा हिस्सा अपने पास रखकर उसका अनिष्ट करते हैं। पहले आवश्यकतासे अधिक उपार्जन करना और बादमें उसमेंसे कुछ दान करके अभिमानकी वृद्धि करना—दोनोंमें ही अनिष्ट और हानिकी प्रगति है।

दान और सहायता—ये दोनों शब्द सुननेमें अच्छे और सारगर्भित हैं। अपने निजी कार्यके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकारके कार्यको लोग यह कहा करते हैं कि 'भाई! मैं तो दूसरोंकी सेवा करता हूँ, जनकल्याणके कार्यमें ही मैंने अपनेको उत्सर्ग कर दिया है।' दूसरेको अपनी किसी वस्तुके देनेको दान कहते हैं। जिस मनुष्यने संसारके साथ तादात्म्य प्राप्त कर लिया है, उसके मनमें भला, यह भाव आ ही कैसे सकता है कि वह दूसरेकी सेवा कर रहा है या किसीको कुछ दे रहा है, जिसे कि वह दान

समझता है? जब हम अपने जीवनकी प्रगतिका ही हर हालतमें प्रदर्शन कर रहे हैं तो उसमें तो अपनी ही कुशल है, उसके किये बिना तो रहा ही नहीं जा सकता। इन दोनों दशाओंमें यह कहना अनुचित मालूम होता है कि हम दूसरोंकी सेवा कर रहे हैं या किसीको दानमें कुछ दे रहे हैं। इसके अतिरिक्त हमारे मनमें जब 'मैं' पनका भाव होता है तब उस कार्यकी प्रतिक्रिया होती है और कर्ता उसके प्रतिफलकी याचना करता है। यह दशा जीवनमें अभिमानकी परिचायक है, जिसमें मान और अपमान भी शामिल हैं। जहाँ मान-अपमानकी भावना है वहाँ राग-द्वेष, प्रतिद्वन्द्विता और स्पर्द्धा है ही। इन सबका साथ जीवनको शून्य और नीरस बना देता है और मनुष्य एक-दूसरेसे घृणा करने लगते हैं।

किसीको कुछ देने या किसीकी सहायता करनेमें इस बातका भी खयाल रखना चाहिये कि उस दान अथवा सेवासे उस प्राणीके जीवनमें क्या परिवर्तन होता है? यदि तुम्हारा दान या तुम्हारी सेवा दूसरेके जीवनको बन्धनमें डालती है या उसे सर्वथा दूसरोंपर निर्भर होना सिखाती है तो वह दान उस प्राणीके लिये हितकर प्रमाणित न होकर अहितकर ही प्रमाणित होगा। इसलिये दान अथवा कार्य करनेवालोंको इन दो बातोंपर पूर्ण ध्यान देना चाहिये; अर्थात् उनके दानसे दूसरेका जीवन विशुद्ध, स्वतन्त्र और निर्भीक बने, दाताको उसमें अपना कोई स्वार्थ न दीखे।

किसीको कुछ देकर या किसीके लिये कुछ करके बदलेमें कुछ न चाहना ही जीवनकी स्वाभाविकता है। भौतिक दृष्टिसे भी किसीके प्रति दयाका भाव दिखलाकर या किसीको कुछ देकर उसके बदलेमें कुछ चाहने या उसका प्रदर्शन करनेसे उसका वास्तविक सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। कार्य सदा निःस्पृह होना चाहिये। कर्ता, कार्य और कर्मका अन्तर मिट जाना चाहिये। इस विवेकके साथ देनेका जो कार्य किया जायगा, उसमें कर्ताका कोई अभिमान न रहेगा, और न उसका वह कोई प्रतिफल चाहेगा।

इस प्रकारके दान अथवा कार्यसे न हम दूसरोंको अपने आश्रित बनावेंगे और न उन्हें अपनेसे निर्बल और कम बुद्धिवाले समझेंगे, न उनपर कोई अहसान करेंगे। दूसरोंको निर्बल समझना और निर्बल बनाना सबसे बड़ी क्रूरता है। इससे बहुत हानि होती है। मनमें सदा अहम्मन्यता बनी रहती है। कर्मफलमें मेरे खयालसे आसक्तिका न होना बहुत बड़ी बात है। परन्तु उससे भी बड़ी बात तो यह है कि कार्यके समय कर्तामें 'मैं' पनका भाव बिलकुल ही न हो। कर्मफलमें आसक्तिका न होना कार्यमें 'मैं'-पनके भावके न होनेका ही परिणाम है। मनमें इस भावका आना ही कि मैं संसारकी सेवा कर रहा हूँ या अमुक मनुष्यको लाभ पहुँचा रहा हूँ 'मैं' पन और द्वैतकी भावना उत्पन्न कर देनेके लिये काफी है। कार्य वही स्वाभाविक होता है, जिसमें कर्तृत्वका कोई भी भाव नहीं रहता। इस दशामें तृष्णाके लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। मनके पूरे तौरपर स्वतन्त्र हो जानेमें सत्यका निवास है। जितना ज्यादा अंदर 'मैं' पन है उतना ही अधिक बाहर लोभ, मोह और द्वैतकी भावना है और उन भावनाओंको स्थायी बना रखनेकी तृष्णा है। यदि इच्छाओंका सर्वथा उन्मूलन हो जाय तो जीवन अनन्त और आनन्दमय है। ऐसी बातोंको लोग यह कहकर टाल दिया करते हैं कि यह सब बहुत कठिन है, इसे कोई विरला ही साधु-महात्मा कर सकता है। मानो इन बातोंका जीवन और संसारके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यह बहुत बड़ा भ्रम है। सत्य सबके लिये एक है और सबको इसे प्राप्त करना है। इसके बिना छुटकारा नहीं है। अतः इसे जितनी जल्दी समझ लिया जाय, उतना ही अच्छा है। यही जीवनका सारा प्रयास है। लेकिन आधुनिक जीवनकी संलग्नता इसके नितान्त विरुद्ध है। प्राणियोंको जल्दी-से-जल्दी अपनी गलतियोंको समझकर उनसे अलग हो जाना चाहिये। मनको उन बातोंसे भी अलग कर लेना चाहिये, जो तृष्णा उत्पन्न करती हों। हमारा दुःख उससे अलग हो जानेके लिये हमें सजग करता है।

सजग होकर गौर करनेपर उचित और अनुचित कृत्योंमें भेदका पता चल जाता है। इसके लिये कोई उपाय नहीं बतलाया जा सकता। प्रत्येक प्राणीको अपनी ओरसे अपनी तृष्णा और तज्जन्य कार्योंपर विचार करना चाहिये। इसका परिणाम जीवनकी सरलता है। मनको स्वतन्त्र किये बिना यह सरलता नहीं आती। इसे समझ लेनेपर कार्य स्वाभाविक हो जाता है। इस दशाको प्राप्त कर लेनेपर वही काम किया जाता है, जो आवश्यक और स्वाभाविक होता है।

जीवनकी सरलतासे यह भी अभिप्राय नहीं है कि जो वस्तु उसके पास है, उसमें वह विरोधभावकी कल्पना करे। जीवनकी सरलता वह स्थिति है, जिसमें किसी वस्तुके प्रति राग अथवा विराग नहीं रह जाता और न किसी स्थिति या वस्तुके प्रति कोई आकर्षण ही रह

जाता है। जीवनकी आवश्यकताएँ बहुत कम हो जाती हैं और वह सब प्रकारसे सरल बन जाता है। प्रत्येक मनुष्यकी आवश्यकताएँ भिन्न हैं। अत: इसके सम्बन्धमें अधिक नहीं कहा जा सकता। इतना जरूर है कि यदि लक्ष्य सत्यकी ओर है तो आवश्यकताएँ भी सुधरकर सम्मुख आती हैं। जो आवश्यकताएँ सामने आती भी हैं, वे बन्धन और रागको बढ़ानेवाली नहीं होतीं।

इस प्रकारके सरल जीवन अथवा विभिन्नताके भावोंके विच्छेदनका यह भी अर्थ नहीं है कि जीवन कठोर बन जाय। ज्ञान और प्रेम दोनोंकी एक ही स्थिति है। लोग इसे प्राय: दो अलग स्थिति समझते हैं। इसने भी जीवनमें बहुत भेद-भाव उत्पन्न कर दिया है। भक्तिमार्गके अनुयायी यह कहा करते हैं कि भाई वह तो ज्ञानी है, ज्ञानी; इसकी प्रतिक्रियामें अबोध ज्ञानी भी दूसरोंपर कटाक्ष किया करते हैं। दोनों भूलमें हैं। जीवन सबके लिये एक है और उसका क्रम भी एक है।

इस विभिन्नताको अलग कर देनेसे विचारका मार्ग और प्रेम अर्थात् भक्ति दोनों एक हैं। विचार ही प्रेम है। भावरहित विचार शून्य है और विचारहित भाव भी शून्य है। वही भाव अच्छा होता है, जिसमें विचारकी गम्भीरता और बुद्धिकी सजगता है। मन और हृदयका पूर्ण सहयोग आनन्द है। इस भावनामें जीवनकी व्यर्थ बातोंका अन्त हो जाता है, मन कोमल हो जाता है और जीवन अतिशय सरल बन जाता है।

लोभके कारण मन ही तो भेदभावकी रचना करता है। जिस समय मन इससे बिलकुल स्वतन्त्र हो जाता है, उस समय उसकी सब रुकावटोंका अन्त हो जाता है और जीवनकी पूर्णता सम्पादित होती है। सब प्रकारके भेदको मिटा देना ही इसकी पूर्णता है। करनेकी केवल यही बात है कि सब प्रकारसे मनको वस्तुके आकर्षण और विकर्षणसे अलग कर लो। निर्मल और स्वतन्त्र, निर्मम मन सत्यकी अनुभूति करता है। किसी मुख्य मार्ग अथवा उपायसे सत्यकी अनुभूति कभी नहीं होती। जीवन और सत्य एक ही वस्तु है। अर्थात् एक दूसरेमें ओतप्रोत है। सत्य जब जीवनसे अलग कोई वस्तु नहीं है तो भला, उसका कोई मार्ग या उपाय ही क्या हो सकता है? यह तो जीवनकी साधारण-से-साधारण बातोंके साथ मिला हुआ है, अत: प्रतिक्षण अनुभव करनेकी चीज़ है। सब प्रकारके मार्ग और उपाय इसके लिये बन्धन हैं। अनन्तको हम सीमित नहीं कर सकते। समुद्र बहुत बड़ा होनेपर भी सीमित है। दोनों छोर उसके बन्धन हैं। जिस किसी वस्तुका आदि है, उसका अन्त भी है। सत्यका न कोई आदि है और न अन्त है। इसलिये इसकी प्राप्तिका न कोई मार्ग है और न उपाय ही। जीवन जब सब बन्धनोंसे स्वतन्त्र हो जाता है, तब वह खिल उठता है। उस समय इसके अंदर राग, द्वेष, तृष्णा और विराग—कुछ नहीं रह जाता। सत्यको जानने और समझनेकी इच्छाका भी लय हो जाता है, क्योंकि मन इस अवस्थामें अपने सिवा किसी दूसरी चीज़को देखता ही नहीं। सबका मेल होता है, सब अभिन्न होते हैं, भिन्नताके अस्तित्वका अन्त हो जाता है। उसके पास न कुछ देनेको रहता और न किसीसे कुछ लेनेको। बहुत मुद्दतसे जिस नातेको जोड़ रखा था, उसके पृथक्त्वका अन्त हो जाता है। इसीको तुरीयावस्था कहते हैं।

सब दशाएँ और सब स्थितियाँ उसकी हो जाती है। वह सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता, सब कुछ देखता हुआ भी कुछ नहीं देखता, सब कुछ सुनता हुआ भी कुछ नहीं सुनता। पर वह शून्य नहीं है। सबके साथ वह एक है। यही मनकी सबसे बड़ी साधना है। यही जीवन है, यही उसकी पूर्णता है।

आठ पहर चौंसठ घरी, जन बुल्ला धर ध्यान।
नहिं जानौं कौनी घरी, आइ मिलैं भगवान॥
आठ पहर चौंसठ घरी, भरो पियाला प्रेम।
बुल्ला कहै बिचारि कै, इहै हमारो नेम॥

(बुल्ला साहेब)

उद्दालककी साधना और समाधि

(लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

भारतवर्ष पृथ्वीका हृदय है। पृथ्वीका हृदय क्या है? सहिष्णुता, क्षमा, मातृत्व, समत्व, और अबाधित अस्तित्व। जिनका जन्म भारतवर्षमें हुआ है, जो इसके अन्न-जलसे परिपुष्ट हैं, जिन्होंने अपने जीवनको भारतीयतामें ढाला है, उनमें अनिवार्यरूपसे पृथ्वीके हृदय भारतवर्षका वास्तविक स्वरूप अर्थात् उपर्युक्त गुण किसी-न-किसी रूपमें रहते ही हैं और समय-समयपर व्यक्त होकर संसारके लोगोंको चकित करते रहते हैं। ऐसे एक नहीं अनेकों दृष्टान्त हैं, जिनके द्वारा इस बातकी पुष्टि होती है। प्राचीन कालके तपस्वी महर्षि उद्दालकका चरित्र भी इसका एक ज्वलन्त प्रमाण है। आज उन्हींकी साधना और परमसिद्धिकी चर्चा करके अपनेको पवित्र करना है।

भारतवर्षका दक्षिण प्रान्त बड़ा ही मनोहर है। उसके पश्चिम, पूर्व और दक्षिण ओर आकाशके समान विशाल और नीला समुद्र है। हरे-भरे जंगल और ऊँची-ऊँची किन्तु स्निग्ध पर्वतश्रेणियोंसे व्याप्त है वह प्रदेश। सीधे समुद्रमें मिलनेवाली अधिकांश नदियाँ वहीं हैं। और भक्तिकी तो जन्मभूमि ही है वह। ज्ञान और योगके स्रोत भी वहींसे निकलकर हिमालयके उत्तुंग शृंगपर आरूढ़ हुए हैं। दक्षिणका गन्धमादन पर्वत, जिसपर भगवान् रामने श्रीरामेश्वरकी प्रतिष्ठा की थी, जहाँसे सेतुबन्ध प्रारम्भ हुआ था, आज भी ऐसी दिव्य सुगन्धका विस्तार करता है जिससे मुग्ध हुए बिना नहीं रहा जाता। उसी गन्धमादन पर्वतकी एक गुफा महर्षि उद्दालककी तपोभूमि थी और उसके सामनेका वृक्ष, जिसके नीचे बैठकर वे ध्यान करते थे, प्रतिदिन अपने सुगन्धित पुष्पोंकी वर्षासे वहाँकी भूमिको घुटनोंतक ढक दिया करता था। उद्दालक बुद्धिमान् थे, तपस्वी थे, सदाचारी थे। उनके अन्तःकरणमें संसारकी वासनाएँ बहुत ही कम थीं। वे मौन ही रहा करते थे। शास्त्रीय विधानोंके अनुष्ठानसे उनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया था। वे परमात्माकी प्राप्तिके लिये उत्सुक हो रहे थे। उनके चित्तमें जितने भी विचार आते, वे परमात्मासे सम्बद्ध होते और भगवत्प्राप्ति होनेपर मेरी कैसी स्थिति हो जायगी—इसके उत्तरमें अनेकों प्रकारकी आनन्दमय स्थितियोंकी उद्‌भावना किया करते। संसारकी क्षणिकता और परिवर्तनोंसे वे घबड़ाये हुए थे और इनके चक्रसे ऊपर उठकर एकरस वस्तु-स्थिति प्राप्त करनेके लिये व्याकुल हो रहे थे।

वे एक दिन विचार करने लगे—"वह कौन-सी वस्तु है जिसका साक्षात्कार हो जानेपर जन्म-मृत्युकी भूल-भुलैया समाप्त हो जाती है और फिर शोक, मोह एवं उद्वेगके चिह्न भी अवशेष नहीं रहते? जहाँ सम्पूर्ण भोग-वासनाएँ शान्त हो जाती हैं, एक भी संकल्प नहीं रहता, 'यह कर चुका और यह करना बाकी है' इस प्रकारकी कर्त्तव्यबुद्धि निःशेष हो जाती है, वह पद मुझे कब प्राप्त होगा? संसारके प्राणी बहुत महत्त्वपूर्ण समझकर जिसकी प्राप्तिके लिये अपना जीवन खपा रहे हैं, तृष्णा-तरंगिणीके भँवरमें भ्रम रहे हैं, उसको एक उपहासकी वस्तु समझकर, उसका पर्दा फाड़कर कब मैं ऐसी स्थितिमें स्थिर हो जाऊँगा, जब मुझे सम्पूर्ण संसार बाललीलाके समान मालूम पड़ने लगेगा? आज जो मन संसारके झूलेमें झूलता हुआ कभी डरता है, कभी रोता है, कभी हँसता है और कभी मूर्च्छित हो जाता है, वह इस प्रकार धीर, गम्भीर और स्थिर कब हो जायगा? जैसे संसारकी उथल-पुथलमें परमात्मा? वह क्षण कब होगा, जब मैं संसारके लिये सोया होऊँगा और उस अन्तरात्मामें मेरा अनन्त जागरण होगा, जिसमें सुषुप्तिकी कल्पनाके लिये स्थान ही नहीं है? मैं जो देखूँगा वह चिन्मय होगा, मेरी दृष्टि चिन्मय होगी, मैं चिन्मय होऊँगा—अजी, 'मैं', 'वह' का भेद नहीं होगा, केवल चिन्मय होगा। वह अनन्त प्रकाश जिसमें कालकी कला नहीं लगती—लगनेकी तो बात ही क्या, रहती ही नहीं, जिसमें देश-विदेशका अपदेश अपना कोई निर्देश नहीं रखता और जिसमें यह 'नाना' 'मा-मा' (नहीं-नहीं)-का शिशु हो जाता है, वह समस्त आश्चर्योंका एकमात्र उद्‌गम मैं ही तो रहूँगा। कैसी शान्ति होगी—न इच्छा होगी न अनिच्छा; इच्छा-अनिच्छाकी इच्छा भी जो आज है, उस समय लापता होगी। आजका यह अन्धकारमय जीवन, जो मनोरथोंके उलूकोंका विश्रामस्थान है, ज्ञान-सूर्यके प्रकाशसे परमोज्ज्वल हो जायगा। यह शरीर किसी कन्दरामें चट्टानकी तरह पड़ा होगा, अन्तःकरण परमात्मासे एक होगा। हाँ, हाँ, उस समय ये सुन्दर पक्षी मेरे सिरपर घोंसले बनाकर

अण्डे देंगे और उनके बालक मेरे शरीरपर खेलेंगे और मैं निर्विकल्प समाधिमें स्थित होऊँगा।''

इस प्रकार विचार करते-करते कभी-कभी उनका मन शान्त हो जाता तो कभी-कभी वर्तमान जीवनकी विषमताएँ उन्हें घेर लेतीं और वे उद्विग्न हो जाते। सहज चंचल मन कभी-कभी तो उन्हें बैठने ही नहीं देता। कभी चित्त विषयोंकी ओर चला जाता तो वे बलात् उसे अन्तर्मुख करते; मानसिक कल्पनाएँ बढ़ जातीं तो वे उन्हें शान्त करके एक भावमें स्थिर करते। फिर मन बाहर निकल जाता। कभी उनका मन सूर्यके समान प्रखर प्रकाशका अनुभव करता तो कभी अमावस्याकी रात्रिका-सा घना अन्धकार; कभी नींद आ जाती, कभी लय हो जाता और कभी तन्द्रा आ घेरती। कभी-कभी उनका मन शुभ—सात्त्विक प्रकाशमें विचरने लगता और नाना प्रकारके दृश्योंको देखकर उन्हींमें उलझ जाता। मन-ही-मन सुन्दर-सुन्दर पर्वत, जंगल, झरने और पशु-पक्षियोंकी कल्पना करके उन्हींमें रम-से जाते। जब कोई ठेस लगती, तब एकाएक स्मरण हो आता और वे अपने मनकी गति देखकर आश्चर्य और पश्चात्ताप करते। परन्तु इससे वे हताश नहीं हुए, उनका उत्साह और बढ़ा। साधकोंकी यही प्रकृति है कि उनकी साधनामें जितना ही विघ्न पड़ता है, उतना ही वे और भी दुतग्रतिसे अपने लक्ष्यकी ओर बढ़ते हैं।

उद्दालकने एक अत्यन्त एकान्त और परम शान्तिमय कन्दरामें प्रवेश किया। वह कन्दरा वायुसे क्षुब्ध नहीं होती थी। उसमें पशु-पक्षियोंकी गति नहीं थी। और तो क्या, देवता और गन्धर्व भी उसमें प्रवेश नहीं कर सकते थे। उसमें कहीं-कहीं हरे-हरे दूर्वादल थे तो कहीं-कहीं रंग-बिरंगे फूल बिखरे हुए थे। इतनी सुन्दर वह गुफा थी, मानो पूरी-की-पूरी मरकत अथवा चन्द्रकान्त-मणिसे बनी हुई हो। जहाँ-तहाँ ज्योतिर्मय रत्न जगमगा रहे थे। उसमें न गरमी थी न सरदी, वह सब ऋतुओंमें एकरस सुख देनेवाली थी। उद्दालकको वह कन्दरा बहुत पसंद आयी और उन्होंने कोमल-कोमल कोंपलोंका, रंग-बिरंगे पुष्पोंसे सुसज्जित, आसन बनाया। उसके ऊपर मृगचर्म बिछाकर पवित्र भावसे पद्मासन बाँधकर वे बैठ गये और सबसे पहले उन्होंने ब्रह्मासे लेकर अपने गुरुतककी परम्पराका स्मरण करके नमस्कार किया। निर्विकल्प समाधिका निश्चय करके वे अपने चित्तको समझाने लगे। उन्होंने अपने मनसे कहा—'रे मूर्ख मन, संसारके व्यापारोंसे तेरा क्या प्रयोजन है? जिन्हें तू आकर्षक समझकर उनकी ओर दौड़ रहा है, वे दुःखके खजाने हैं, उनमें शान्ति नहीं है। तू जिस कल्पवृक्षकी छायामें उज्जीवित हुआ है, उसको छोड़कर विषवृक्षोंके जंगलमें क्यों जाना चाहता है? चाहे तू पातालमें जा और चाहे ब्रह्मलोकमें, बिना अपने मूलको ढूँढ़ निकाले तुझे शान्ति-सुधाका एक बूँद भी नहीं मिलेगा। तेरी आशा ही तो तेरे दुःखकी जननी है। 'यह प्रिय है, यह अप्रिय है' यह विभाग तेरी कल्पना ही तो है, उन्हीं दोनोंके पाने और हटानेके लिये तू श्रान्त और क्लान्त हो रहा है। तू अन्धा होकर उन विषयोंके लिये लोक-लोकान्तर और जन्म-जन्मान्तरमें भटकता रहता है, जो तेरे लिये व्यर्थ हैं। और जिसमें सुख एवं शान्ति है, जो परमानन्दस्वरूप है, उस समाधिके लिये तूने तनिक भी प्रयास नहीं किया। तू कानका रूप धारण करके मीठे शब्दोंके लिये, त्वक्‌का रूप धारण करके कोमल स्पर्शके लिये, नेत्रका रूप धारण करके सुन्दर रूपके लिये, रसनाका रूप धारण करके चरपरे और रसीले भोजनके लिये और नासिकाका रूप धारण करके मोहक गन्धके लिये क्रमशः हरिण, हाथी, पतंग, मीन और भौंरेके समान अपने हित-अनहितको भूल गया और जान-बूझकर बन्धनका वरण किया। तेरी वासना ही तो तेरे बन्धनका हेतु है। मन! तू वासनाओंका आवरण छिन्न-भिन्न कर दे। यदि ऐसा नहीं करेगा तो जन्म और मृत्युके चक्रमें अज्ञात कालतक चूर-चूर होता रहेगा। तू मेरी बात नहीं सुन रहा है। तेरा नाश अवश्यम्भावी है। विचारके द्वारा स्वयं ही तेरा उच्छेद हो जायगा। अज्ञानका बन्धन ढीला तो पड़ने दे; फिर देखूँगा कि तेरा अस्तित्व कहाँ है। चित्त! तू विनाशी है, असत् है, मिथ्या है; तुझे उपदेश करनेकी कोई आवश्यकता नहीं, जब तू उपदेश ग्रहण करता ही नहीं, तब तुझे उपदेश देना व्यर्थ है। तेरा तो त्याग ही होना चाहिये। मैं निर्विकल्प चित्स्वरूप हूँ। न मुझमें अहङ्कार है और न वासना। रे असन्मय चित्त! तू ही अहंकारका बीज है। तेरे साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। 'यह देह मैं हूँ' यह तेरी कुदृष्टि कितनी मूर्खतापूर्ण है! मैं तो अनन्त, अपरिच्छिन्न, एकरस परमतत्त्व हूँ। मैं चित्त अथवा शरीरके अंदर सीमित कैसे हो सकता हूँ? चित्त! तूने वासनाओंको अपनाया है, परन्तु मैंने तुझे और तेरी वासनाओंको छोड़ दिया है। यह कैसा अज्ञान है कि 'मैं शरीर हूँ' ऐसी कल्पना हो गयी। मैंने पैरके अँगूठेसे लेकर शिखापर्यन्त ढूँढ़-ढूँढ़के देख लिया—'अहम्' नामका कोई पदार्थ नहीं है। मैं समस्त दिशा-

विदिशा, काल-अकाल और वस्तु-अवस्तुका अधिष्ठान, चित्स्वरूप हूँ। न मेरी सीमा है न नाम है, न मैं एक हूँ न दो, न मैं महान् हूँ न अणु। इस शरीरमें यह मांस है, यह खून है, ये हड्डियाँ हैं और यह है प्राणवायु— इसमें 'अहम्' क्या है? शरीरमें प्राणकी शक्ति है, परमात्माका ज्ञान है, शरीरका घटना-बढ़ना है—इसमें 'अहम्' क्या है? शरीरके एक-एक अवयव पृथक्-पृथक्; प्राण और इन्द्रिय पृथक्-पृथक्; मन, बुद्धि, चित्त और वासनाएँ पृथक्-पृथक्; इनमें 'अहम्' क्या है? मुझ साक्षीस्वरूपसे ही तो ये और सारे जगत् प्रकाशित हो रहे हैं। हूँ तो केवल मैं-ही-मैं, अन्यथा यह सब कुछ नहीं है। देह-परिच्छिन्न अथवा जगत्परिच्छिन्न कोई भी 'अहम्' नामकी वस्तु नहीं है। जो वास्तविक 'अहम्' है, उसमें न देह है न जगत्; वह तो विशुद्ध एकरस चैतन्य है। मैं कल्पनावश परिच्छिन्न 'अहम्' का वेश धारण करके सब कुछ करने और भोगने लगा, उलझ गया। मान लिया कि मैं ऐसा ही हूँ। अब वैसा नहीं होगा। यदि मेरे अतिरिक्त कोई परिच्छिन्न वस्तु है तो वह रहे या जाय, मुझसे कोई सम्बन्ध नहीं। बालकके लिये जैसे वेताल भयंकर है, वैसे ही अज्ञानीके लिये यह जगत्। मैं मृगतृष्णामें समुद्र देख रहा था। इन्द्रियोंको और उनके विषयोंको, जो हैं ही नहीं, अपना समझ रहा था। वह 'अहम्' क्या था? वह द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता और मन्ता कौन था? अज्ञानने ही तो 'अहम्' का रूप धारण किया था। ज्ञानसे उसका मूल ही उखड़ जाता है, वासनाका बीज शक्तिहीन हो जाता है, शरीरकी क्रियाएँ फलदानमें समर्थ नहीं रहतीं हैं। बस, यही दुःखका और सांसारिक सुखका भी आत्यन्तिक नाश है। बच्चे जैसे मिट्टीके खिलौने रखते हैं, और उनके फूट जानेपर रोते हैं, वैसे ही चित्त वासनाएँ रखता है और उनके प्रतिकूल क्रिया होनेपर रोता है। दुःखका निमित्त ही वासना है। परन्तु तत्त्ववेत्ताके लिये यह सब कुछ है ही नहीं; जो कुछ है, अपना स्वरूप है। हे इन्द्रियो! हे चित्त! तुम्हें तुम्हारी मूढ़ता और तुम्हारा मिथ्यात्व मालूम हो गया है। अपने व्यक्तित्व और अहंताको छोड़कर मुझ अनन्त सत्तामें मिल जाओ। देखो, देखो, एक-रस, अनन्त, परिपूर्ण, विज्ञानानन्दघनस्वरूप मैं ही स्थित हूँ। अपने मूल और वास्तविक स्वरूप मुझको जानो। बस, इसीमें तुम्हारी कृतकृत्यता है।''

इस प्रकार विचार करते-करते उद्दालककी अवस्था और भी गाढ़ हो गयी। ज्यों-ज्यों प्राक्तन संस्कारोंके अनुसार कल्पित सत्यका आवरण दूर होने लगा त्यों-त्यों वे सत्यके निकट पहुँचने लगे, वस्तु-तत्त्व उज्ज्वलरूपमें उनके सामने प्रकट होने लगा। उन्होंने निश्चय किया—''आत्माका स्वरूप अनन्त और असीम है, वह चेत्य-रहित चित् है, उसमें न वासना है और न उससे होनेवाले दोष ही। वही तो मैं हूँ। ये जो संसारके भय हैं, ये तो वासनामूलक अतएव निर्मूल हैं, क्योंकि वासनाओंसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। वासनाओंका दादा अज्ञान भी मेरा स्पर्श नहीं कर सकता। अज्ञान और उसके बाल-बच्चे (अहंकारसे लेकर विषयपर्यन्त) रहें या न रहें, मैं निर्लिप्त चैतन्य हूँ। क्या जन्म और मृत्यु मेरा स्पर्श कर सकते हैं? नहीं, नहीं, सब कुछ एकमात्र अद्वितीय आत्मचैतन्य है। जब चित् ही 'सब' से रहित सबका जीवन है, तब छोटे-छोटे प्रतीयमान जीवनाभासोंका क्या प्रयोजन है? और ऐसी स्थितिमें मृत्यका क्या भय है? क्या इसके अतिरिक्त और किसी दिव्य जीवनकी आवश्यकता है? अजी, जीवन और मृत्यु मनोविकल्पमात्र हैं। 'मैं देह हूँ' यह भाव ही जन्म-मृत्युका कारण है। आत्मामें अहंभाव ही नहीं है, तब जन्म-मृत्यु किसके? देह जड है। विचारद्वारा मनका नाश हो जाता है; फिर अहंभाव किसमें है? तीनों गुण प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहके रूपमें स्थित हैं। प्रकृति प्रकृतिमें विद्यमान है, ब्रह्म ब्रह्मस्वरूपमें नित्य स्थित है। इनमें कौन किसको अहम् कहता है? यदि अहंकार है तो उसका स्वरूप क्या है? उसका निर्माण किसने किया? उसका रङ्ग-रूप क्या है? किस वस्तुका विकार है? 'अहम्' पदसे किस वस्तुका ग्रहण होता है? और 'अनहम्' पदसे किसका त्याग होता है? इसलिये यह अहम् न भाव है न अभाव। यह कुछ है ही नहीं। ऐसी स्थितिमें किससे किस रूपमें कौन-सा सम्बन्ध हो सकता है? जब अपनेसे अतिरिक्त किसी भी वस्तुसे कोई सम्बन्ध ही नहीं हो सकता तब दूसरेका बोध, दूसरेका भाव अथवा दूसरेकी क्रिया कैसे हो सकती है? इसलिये द्वैतकी कल्पना सर्वथा अज्ञानजन्य और अलीक है। मेरा अस्तित्व ब्रह्मका अस्तित्व है। मैं ही सत् हूँ। इसमें अहंभाव और शोकके लिये बिलकुल स्थान नहीं है। जगत् मनकी एक प्रवंचना है और मन अज्ञान है। अज्ञान एवं उसका विनाश स्वयं ज्ञान भी मैं ही हूँ।

"अहंकार एक भ्रम है। इसीने अपने स्वरूपको 'मम' के रूपमें ग्रहण किया। स्वरूपमें अन्यत्व और फिर ममत्व और परत्व—यही जगत्‌की धारणाएँ हैं; परन्तु जब परम वस्तु स्पन्द, परिणाम, वस्त्वन्तर और उसकी कल्पनासे रहित है, तब यह अहंकार कहाँ और उसके अभावमें यह प्रपंच कैसा? मुझे दृढ़ बोध हो रहा है—यह सब मैं ही हूँ। वर्तमान समयमें जिसे घट कहा जाता है, वह अनादि पूर्वकालमें जैसे मिट्टीमें स्थित था वैसे ही आज भी है और आगे भी रहेगा, जैसे जल-तरंग उठनेके पूर्व जलरूपमें स्थित था, है और रहेगा। वैसे ही यह शरीर ब्रह्ममें था, है और रहेगा। ब्रह्म-व्यतिरिक्त जगत् और शरीर कोई अस्तित्व नहीं रखते। इसमें अन्तर और बाहरका भेद काल्पनिक है। स्वप्नका बाहर भी भीतर ही है। उसके बाहर और भीतर दोनों ही एक स्तरमें हैं। मृगतृष्णाके जलकी मछली अपनी लंबाई-चौड़ाई, फँसना और छूटना मृगतृष्णासे पृथक् नहीं बना सकती; इसी प्रकार यह जो कुछ प्रतीत हो रहा है, ब्रह्मसे पृथक् नहीं है।

"वासनाओंका अन्यत्व चिराभ्यस्त है। जबतक मनकी पृथक् सत्ताका बाध नहीं होगा, तबतक वासनाओंका पूर्ण क्षय नहीं हो सकता। मनोनाश और वासनाक्षय परस्पर सापेक्ष हैं और तत्त्वज्ञान इनकी प्रतिष्ठा है। तत्त्वज्ञान अखण्ड स्वातन्त्र्य है, मनोनाश और वासनाक्षय उसके सहकारी हैं। यदि तत्त्वज्ञानका सुख प्राप्त करना है तो मनोनाश करना ही होगा। ज्ञानकी रक्षा, उसमें स्थिति, तपस्या, दृष्ट दुःखका नाश और जीवन्मुक्ति-सुखकी उपलब्धिके लिये मनोनाश करना उचित है। मनोनाशका स्वरूप क्या है? उसके अस्तित्वका बाध ही उसका नाश है। शरीरकी कोई परवा नहीं है, मनकी कोई परवा नहीं है, न अपना कर्तृत्व है और न भोक्तृत्व। परन्तु प्रतीयमान मन यदि सहज भावसे ही निर्वाण चाहता है तो चाहे और उसके लिये साधना करे। इसमें तो अपनी निरपेक्षता ही है। मनके लिये जब कोई प्राप्तव्य वस्तु नहीं रही, तब वह मूलहीन और शाखाहीन होकर निर्वाणको प्राप्त हो जाय—यह स्वभावसिद्ध ही है। मन! यह एक भ्रम है कि तू निर्वाण नहीं है। वास्तवमें तू निर्वाणस्वरूप है। परन्तु यदि तू अपनेको ऐसा नहीं समझता है तो आ, तू मुझ निर्वाणमें स्थित हो जा; मैं स्वयं निर्वाण हूँ।"

उद्दालककी विशुद्ध बुद्धिने यही निर्णय किया कि मनको निर्वाणमें स्थित हो जाना चाहिये। पद्मासन बँधा हुआ था, आँखें अधखुली थीं। उन्होंने ॐकारका उच्चारण प्रारम्भ किया। ॐकारके दीर्घ घण्टानादके समान तारस्वरसे उच्चारण करते-करते वह ध्वनि उनके मूर्द्धाका स्पर्श करने लगी और उनकी सुप्त चेतना जागरित होकर आकाशके समान निर्मलरूपसे विस्तृत हो गयी। ॐकारकी साढ़े तीन मात्राओंमेंसे जब उन्होंने प्रथम मात्राका चिन्तन किया और उसकी अन्तर्ध्वनिके साथ ही रेचक प्राणायाम किया, तब सारा शरीर प्राणवायुसे रहित हो गया और उनके प्राणवायु चिद्रसपूर्ण आकाशमें स्थित हो गये। अन्तःस्थित अग्निने प्रज्वलित होकर उनके पाप-पुण्यमय शरीरको जला दिया और उन्होंने भावनासे ही प्रणवकी दूसरी मात्राका चिन्तन करते हुए निष्कम्प कुम्भक प्राणायामसे प्राणोंको स्तम्भित कर दिया। बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर, दिशा-विदिशा—कहीं भी उनके प्राण उस समय क्षुब्ध नहीं थे। पाप-पुण्यमय शरीरको भस्म करनेवाली अग्नि शान्त हो गयी, बरफके समान श्वेतवर्ण उनके शरीरकी राख बच रही। उस समय उनकी भावनासे ऐसा दीखता था कि उनके शरीरकी हड्डियाँ कर्पूर-चूर्णकी शय्यापर शयन कर रही हैं। धीरे-धीरे वह भस्म और अवशिष्ट हड्डियाँ भी विलीन हो गयीं और उन्होंने प्रणवकी तीसरी मात्राका चिन्तन करते हुए पूरक प्राणायाम किया। ऐसा अनुभव हुआ मानो उनके प्राण चेतनताकी सुधा-धारामें डूब गये हों! अत्यन्त शीतलताका अनुभव हुआ। उनके प्राणवायुने चन्द्रमण्डलका स्वरूप धारण किया। वह चन्द्रमण्डल अमृतका समुद्र है। जैसे धर्ममेघ समाधि ही लग गयी हो! उनकी उस आनन्दमेघ अवस्थासे अमृतकी अनेकों धाराएँ प्रवाहित होने लगीं और वे उनके शरीरके अवशिष्ट भस्मपर पड़ने लगीं। उस अमृतधाराके संयोगसे वह भस्म चन्द्रमाके समान सुन्दर और चतुर्बाहुके रूपमें प्रकट हो गयी। सुन्दर शरीर, खिले हुए कमल-सी आँखें—मानो साक्षात् नारायण ही मूर्तिमान् हो गये हों। मधुधारासे आप्लावित प्राणोंने उनके शरीरमें प्रवेश किया और चक्रोंमें विस्तृत कुण्डलिनीको परिपूर्ण कर दिया। उद्दालकका यह भावनामय दिव्य शरीर समाधि लगानेकी योग्यतासे युक्त होकर अत्यन्त दृढ़ भावसे स्थित हो गया।

पद्मासन बँधा हुआ था और आँखें अधखुली थीं। उन्होंने इन्द्रियोंको खींचकर उनके गोलकमें स्थापित किया। भूत, भविष्य और निकट-दूरकी वस्तुओंमें दौड़नेवाले चित्तको हृदयमें स्थिर किया, प्राण और अपानको सम करके सुषुम्णाको संचालित किया। इन्द्रियोंको इन्द्रियोंके

विषयोंसे पृथक् करके बाह्य और आन्तर संस्पर्शोंको विलीन कर दिया। कुछ समयतक विकल्प उठते रहे। परन्तु उन्होंने धीरे-धीरे सबको नष्ट कर दिया। विकल्पोंके क्षीण होनेपर उनके हृदयाकाशमें घने अन्धकारका उदय हुआ और उनकी विवेकशक्ति लुप्त-सी होने लगी, परन्तु वे जागरित और सावधान रहे। उस अन्धकारके भी अंदर रहनेवाले सूर्यने उसको छिन्न-भिन्न कर दिया और जैसे प्रात:काल धीरे-धीरे अन्धकारका नाश होकर सूर्यका उदय होता है, वैसे ही एक अत्यन्त रमणीय तेज:पुंज उनके सामने प्रकट हुआ। यद्यपि यह तेज:पुंज अपार था, तथापि उनके अनन्त स्वरूपमें—जिसका कि उन्हें बोध था—इसकी कोई महत्ता नहीं थी। इसलिये उसका स्मरण होते ही यह तेज:पुंज सत्त्वहीन हो गया और उनका मन निर्विषय होकर लयको प्राप्त हो गया। परन्तु यह लय कोई वांछनीय अवस्था नहीं है। उन्होंने मनको इससे जगाया और जगते ही मनके सामने बृहत् आकाश उपस्थित हुआ। उस शून्यमें ही तो यह सब कुछ फैला हुआ है। इस आकाशका बाध करते ही पुन: निद्रा-सी जड समाधि और तत्पश्चात् कुछ अनवधान-सी दशा प्राप्त हुई। परन्तु उद्दालक इस प्राकृतिक जडताकी घन और शिथिल दोनों ही अवस्थाओंको पार करके एक क्षणके लिये चित्स्वरूपमें स्थित हुए और दूसरे ही क्षण उस स्थितिसे च्युत हो गये। बार-बार उसपर आरूढ़ होते रहनेसे उसका रस मिला और आस्वादन करनेवाला रसमय हो गया। यह चिन्मयता ही अथवा रसमयता ही सविकल्प समाधि है। यह विशुद्ध रसस्वरूप नहीं है, किन्तु रसप्रचुर है; इसलिये सूक्ष्मरूपसे इसमें त्रिपुटी विद्यमान रहती है। इसके परिपाकसे चित्त चित्तत्वसे रहित होकर चित्-तत्त्व हो जाता है। उसमें न चेत्य है और न चित्त, केवल चित्-ही-चित् है। जैसे तरंग, फेन आदिसे रहित अनन्त शान्त महासागर हो, जिसमें बाहर-भीतर, स्थूल-सूक्ष्म, आदि-अनादिका भेद नहीं किया जा सकता, वैसे ही वह परम वस्तु है और चित्तत्वहीन होकर चित्तका वही हो जाना, जिसमें त्रिपुटीका लेश भी नहीं रहे, निर्विकल्प समाधि है। स्वरूपबोध और स्वरूपस्थितिका यही एकत्व है। इस शुद्ध विज्ञानस्वरूप चिदाकाशमें स्थित होकर उद्दालक आनन्दस्वरूप हो गये और भेदवर्जित सत्ता-सामान्यके रूपमें स्थित हो गये। यही योगकी पराकाष्ठा है।

उद्दालकको इस पदपर स्थित होनेमें किसी विघ्न-बाधा अथवा प्रलोभनोंका सामना नहीं करना पड़ा हो, ऐसी बात नहीं। ऐसी-ऐसी सिद्धियाँ उनके सामने आयीं, जो इन्द्र, सूर्य और ब्रह्माका पद देनेके लिये बहुत ही आग्रह करती थीं। अप्सराएँ उन्हें घेरकर खड़ी हो जातीं। परन्तु गम्भीर एवं विचारशील पुरुष जैसे बालकोचित खिलौनेके लिये क्षुब्ध नहीं हुआ करते, वैसे ही उन सिद्धियोंसे उनका चित्त तनिक भी प्रभावित नहीं हुआ। जिस आनन्दमन्दिरमें वे निवास कर रहे थे, जिस आनन्दसरोवरमें वे क्रीडा कर रहे थे, उसके सामने ब्रह्मलोकके आनन्द भी वैसे ही थे, जैसे महान् समुद्रमें एक तुच्छ तिनका। वे आनन्दके आस्वादक नहीं थे, बल्कि उस आनन्द, अनानन्दसे अतीत पदमें थे जिसमें एक क्षणके लिये स्थित हो जानेपर और किसी वस्तुकी महत्ता अथवा सत्ता उसके अतिरिक्त नहीं रह जाती। फिर दृश्य आवें कहाँसे? और उनमें कोई प्रलोभित हो कैसे? उनकी यह समाधि छ: महीनेतक लगी रही। जब उन्होंने आँखें खोलीं तब देखा कि वसिष्ठ आदि बड़े-बड़े मुनिगण, इन्द्रादि देवता हाथ जोड़े उनके सामने खड़े हैं और बड़ी नम्रतासे उन्हें प्रणाम करके प्रार्थना कर रहे हैं कि भगवन्! आप कृपादृष्टिसे हमलोगोंको कृतार्थ कीजिये। दूसरी तरफ जो अप्सराएँ थीं, उन्होंने अपनी सेवा स्वीकार करनेके लिये विशेष आग्रह किया। उद्दालक सबका आतिथ्य-सत्कार करके, 'अब आपलोग जा सकते हैं' ऐसा कहकर अपने काममें लग गये। न तो उनका अभिनन्दन ही किया और न त्यागका ही आग्रह किया। वे लोग कुछ दिनोंतक उनकी सेवा करके अपने-अपने स्थानको लौट गये।

जीवन्मुक्त उद्दालक यथाप्रारब्ध कभी जंगलोंमें और कभी ऋषियोंके आश्रमोंमें निवास करते। कभी-कभी वे हिमाचल, कैलास, विन्ध्याचल आदि पर्वतोंपर घूमते तो कभी सुन्दर उद्यानों और समुद्रपरिवेष्टित द्वीपोंमें भी। उनके लिये नगर और जंगल, सम्पत्ति और विपत्ति—दोनों ही एक-से थे। उनकी समाधि कभी महीनोंमें टूटती तो कभी वर्षोंमें, कभी वे समाधिस्थ देखे जाते तो कभी व्यवहारमें संलग्न। उन्हें समत्व प्राप्त हो गया था। संसारकी विभिन्नताएँ और विषमताएँ उनके लिये मिट चुकी थीं। उनकी एक-एक क्रिया संसारके लिये वैसे ही थी, जैसे शिशुके लिये माताकी। उनकी समाधि संसारके लिये थी और व्यवहार भी। उनके मातृत्व और समत्व अबाधित सत्ताके ही अभिव्यक्त रूप थे। उनकी सत्ता ही जगत्की दृष्टिसे एक महत्ता थी। वे स्वयं महान्

चित थे। वे स्वयं एक सामान्य सत्ता थे।

यह सत्तासामान्य क्या है? यह परिपूर्ण ब्रह्म ही है। पहले चेत्यसे चित्‌का विवेक कर लिया जाय। चित्त कभी चेत्यमय न हो, चिन्मय हो। उसका यह जागरण साक्ष्यसे पृथक् साक्षितत्त्वकी अनुभूति है। परन्तु यह अनुभूति साक्ष्यको अपनेसे पृथक् नहीं रहने देती। एक दूसरेको देख ही नहीं सकता। स्वप्नके द्रष्टा और दृश्य एक ही तत्त्व हैं। उनमें सूक्ष्म-स्थूल और बाह्य-आन्तरका भाव कल्पित है। तत्त्वदृष्टिसे कार्य-कारण-भाव बन नहीं सकता। अवश्य ही बहिर्मुखताकी निवृत्तिके लिये अन्तर्मुखता आवश्यक है। परन्तु जिसमें अन्तर और बहि:का भेद ही नहीं, उसमें अन्तर्मुखता क्या और बहिर्मुखता क्या? सब एकरस, अनन्त और अद्वितीय है। समुद्रका बाहर-भीतर हो सकता है, परन्तु आकाशका भीतर-बाहर क्या? आकाशके स्थूल-सूक्ष्म स्तर सम्भव हैं; परन्तु परिणामके लिये देश, काल और निमित्त न रखनेवाले निर्विकार तत्त्वमें सूक्ष्मता और स्थूलता क्या? सब आत्मस्वरूप ही हैं, चाहे प्रतीत हो या अप्रतीत। यही सामान्य सत्ता है, जो कि निर्विशेष है। इसे केवल बोधवान् पुरुष ही जानते हैं और यही उनका स्वरूप है। यही सत्तासामान्य निर्विशेष सम है। योग और भोग, समाधि और विक्षेप एक हैं; क्योंकि वे ज्ञानीकी दृष्टिमें निर्विशेष हैं। यह दृष्टि अन्त:शीतलताकी जननी है। दूसरोंकी दृष्टिमें जो बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य है अथवा बहुत निम्नकोटिका है—दोनों ही उसके लिये अपने स्वरूप हैं। कोई भी उसे आश्चर्यचकित अथवा क्षुब्ध नहीं कर सकता। इसी सत्तासामान्यमें उद्दालककी स्थिति थी, यही उनका स्वरूप था और यही वास्तवमें स्वरूप है। अबतक जितने भी महापुरुष हुए हैं, वे इसमें स्थित हुए हैं और जो हैं, वे स्थित हैं और जो आगे होंगे, उन्हें स्थित होना होगा।

आगे चलकर उनकी स्थिति ऐसी हो गयी कि दूसरोंकी प्रेरणासे ही वे कुछ करते थे। उनका उठना, बैठना, सोना, चलना दूसरोंकी इच्छाके अनुसार ही होता था। थोड़े ही दिनोंमें ऐसी स्थिति हो गयी कि परप्रेरणाका भी उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। एक बार उनका आसन बँधा, प्राण सम हुए, मन शून्य हुआ और वे सर्वांशत: विदेहमुक्तिमें स्थित हो गये। लोगोंकी दृष्टिमें जो उनका शरीर था, वह गिर गया और थोड़े ही दिनके बाद केवल हड्डियाँ-ही-हड्डियाँ शेष रह गयीं। बहुत दिनोंके बाद महामाया श्रीचामुण्डादेवीने आकर उनकी हड्डीको अपने मुकुटमें लगा लिया और अपनेको कृतकृत्य माना। महापुरुषके सम्बन्धकी वस्तुओंका ऐसा ही महत्त्व है।

जिस शरीरको संसार उद्दालक समझता था, अब वह अवश्य ही नहीं है; तथापि उद्दालकका जो वास्तविक स्वरूप है, वह आज भी है और आगे भी रहेगा। उन्होंने जिस विचार, त्याग, वैराग्य, साधना आदिके द्वारा जिस क्रमसे अपने स्वरूपकी उपलब्धि की थी वह हमारे सामने है और हमारा वास्तविक स्वरूप भी वही है। यदि उनके इस साधनक्रमको आदर्श मानकर हम भी उस स्वरूपबोध और स्थितिको प्राप्त कर सकें तो हम भी वैसे ही और वही हो सकते हैं, जो परम सत्य है और कल्पना जिसे छू नहीं सकती। महापुरुषकी वृत्तियोंका यह जीवन हमारे लिये मार्गदर्शक हो और हम सत्यका साक्षात्कार करके कृतकृत्य हों—यही प्रभुके श्रीचरणोंमें प्रार्थना है।

सच्चे गुरुदेव

काहू सों न रोष तोष, काहू सों न राग दोष,
काहू सों न बैर भाव काहू सों न घात है।
काहू सों न बकवाद, काहू सों नहीं बिषाद,
काहू सौं न संग न तौ काहू पच्छपात है॥
काहू सों न दुष्ट बैन, काहू सों न लेन देन,
ब्रह्म को बिचार कछू और न सुहात है।
सुन्दर कहत सोई, ईसन को महा ईस,
''सोई गुरुदेव जाके दूसरी न बात है॥''

(सुन्दरदासजी)

चारों युगोंका एक ही साधन

[नामजपकी महिमा]

(रचयिता—श्रीशेषो धोंडो झुंझुरवाड)

सुधामय नारायणका नाम
पिये जा तू, रसने! अविराम।
यही सब सार वस्तुका सार,
इसे अपना सौभाग्य विचार।
'शेष' का यह कहना ले मान,
निरन्तर नामामृत कर पान॥

× × × ×

एक कोटि जपसे होती है 'तनु[1]-स्थान की शुद्धि,
रज-तम होते अस्त, हस्तगत होती सत्त्व-विशुद्धि।
रोगोंके सब बीज नष्ट हो जाते हैं तत्काल,
और कल्पनाके प्रवाहमें आती बाढ़ विशाल।
सपनेमें सब देववृन्द औ संत आप-ही-आप—
आ-आकर दर्शन दे जाते, करते वार्तालाप।
शेष कहें, मनमें लेकर ऐसे अनुभवके भाव—
आगे-आगे साधन-पथपर चलो बढ़ाते पाँव॥

× × × ×

दो करोड़तक हो जाता जब जपका उपसंख्यान,
दोष-रहित—अत्यन्त शुद्ध हो जाता 'धनका स्थान'।
निर्धनताकी पीड़ासे मिल जाता है निस्तार,
साधकके हित हो जाता है सुखमय सब संसार।
दैन्य-दुःखसे देशान्तरमें रहते जो अन्यत्र,
शीघ्र लौटकर वे निज गृहमें हो जाते एकत्र।
वे दुःसह दारिद्र्य-उपद्रव हो जाते हैं शान्त,
होती रहती है कुटुम्बमें सुखकी वृद्धि नितान्त।
शेष कहें, मनमें लेकर ऐसे अनुभवके भाव—
आगे-आगे अधिक वेगसे चलो बढ़ाते पाँव॥

× × × ×

तीन कोटि भगवन्नामोंका जप होता जब पूर्ण,
'स्थान पराक्रमका' विशुद्ध तब हो जाता है तूर्ण[2]।
पहले जो प्रतीत होते थे कार्य अतीव असाध्य,
वे सब-के-सब हो जाते हैं शीघ्र सहज ही साध्य।
भाई-भाईका आपसमें रहता था जो द्वेष,
हो जाता वह दूर और बढ़ जाता प्रेम विशेष।
शेष कहें, मनमें लेकर ऐसे अनुभवके भाव—
आगे-आगे अधिक वेगसे चलो बढ़ाते पाँव॥

× × × ×

चार कोटि जपसे होती है 'सुख-स्थान' की शुद्धि;
फिर तो बाधित किसी त्राससे हों न कभी मन-बुद्धि।
प्राणीको नित्यत्व-बोधका सुख मिलता भरपूर;
कायिक, वाचिक तथा मानसिक दुख हो जाते दूर।
शेष कहें, मनमें लेकर ऐसे अनुभवके भाव—
आगे-आगे अधिक वेगसे चलो बढ़ाते पाँव॥

× × × ×

पाँच करोड़ पूर्ण हो जाता है जब जपका मान,
परम शुद्ध होता है तत्क्षण 'सुत-विद्याका स्थान'।
पुत्रहीनको पुत्र प्राप्त होता है आयुष्मान्,
मूर्ख मनुज इस जपके बलसे हो जाता विद्वान्।
द्वेषी हो यदि पुत्र, शीघ्र हो जाता साधु-स्वभाव,
और पवित्र बुद्धिमें उसकी भरते सुन्दर भाव।
शेष कहें, मनमें लेकर ऐसे अनुभवके भाव—
आगे-आगे अधिक वेगसे चलो बढ़ाते पाँव॥

× × × ×

छः करोड़ जपसे कट जाते 'रिपु-स्थान' के कष्ट,
बाह्य और कामादि आन्तरिक वैरी होते नष्ट।

१- मनुष्यकी जन्मकुण्डलीमें तनु, धन आदि क्रमसे बारह भाव होते हैं, एक-एक करोड़के जपसे एक-एक भावकी शुद्धि होकर तेरहवें करोड़के जपसे नित्य-मुक्ति हो जाती है।

२- शीघ्र।

होता है दुःसाध्य रोगका शीघ्र समूल विनाश,
और पूर्ण आरोग्य देहमें करता नित्य-निवास।
शेष कहें, मनमें लेकर ऐसे अनुभवके भाव—
आगे-आगे अधिक वेगसे चलो बढ़ाते पाँव॥

× × × ×

सात कोटि नामोंके जपका हो जब पूर्ण विधान,
तो उससे विशुद्ध होता है तत्क्षण 'जाया-स्थान'।
अविवाहित मनुष्य यदि चाहे, होता शीघ्र विवाह,
प्राप्त धर्म-पत्नीसे उसको हो आनन्द-उछाह।
प्रतिकूला नारी भी होकर पति-सेवामें लग्न—
स्वामीको निज देव मानती होती सुखमें मग्न।
एक दूसरेको आपसमें देते मोद अमंद,
दम्पत्ति यों आनन्द मनाते हैं जगमें सानन्द।
शेष कहें, मनमें लेकर ऐस अनुभवके भाव—
आगे-आगे अधिक वेगसे चलो बढ़ाते पाँव॥

× × × ×

आठ कोटि जपसे होता है शुद्ध 'मृत्युका स्थान,'
बाधा दूर अकाल मृत्युकी, होती आयु महान्।
पूर्ण आयु पाकर साधक नर साधनमें हो लीन—
आत्म-राज्यके सिंहासनपर हो जाता आसीन।
शेष कहें, मनमें लेकर ऐसे अनुभवके भाव—
आगे-आगे अधिक वेगसे चलो बढ़ाते पाँव॥

× × × ×

नौ करोड़ जब पूरा हो जाता है जपका मान,
तब उससे अत्यन्त शुद्ध होता है 'धर्म-स्थान'।
सगुण रूपमें मन्त्र-देवताका हो साक्षात्कार,
कार्यरूपमें सच्चा होता वाणीका उच्चार।
हो जाता है प्राप्त जीवको अनुपम पूर्णानन्द,
इस सुखका वर्णन करनेमें वाणीका मुँह बन्द।
शेष कहें, मनमें लेकर ऐसे अनुभवके भाव—
आगे-आगे अधिक वेगसे चलो बढ़ाते पाँव॥

× × × ×

हो जाता जब दस करोड़के जपका पूर्ण विधान,
दोष-रहित अत्यन्त शुद्ध होता है 'कर्म-स्थान'।
मिट जाते हैं बुरे कर्मके सब संकल्प-विचार;
बनता इस शरीरसे निशिदिन पुण्यकर्म-व्यापार।
अन्धकारमें दीपक लेकर ढूँढ़ें वारंवार—
तो भी कहीं न मिलता ऐसा मानव शुद्धाचार।
ज्ञानीके वचनोंके पीछे-पीछे फिरता अर्थ,
त्यों ही वाणी होती इसकी अनुभवसिद्ध समर्थ।
शेष कहें, मनमें लेकर ऐसे अनुभवके भाव—
आगे-आगे अधिक वेगसे चलो बढ़ाते पाँव।

× × × ×

ग्यारह कोटि पूर्ण होता जब जपका उपसंख्यान,
दोष-रहित—अत्यन्त शुद्ध हो जाता लाभ-स्थान।
गृह-धन-धान्य आदि लौकिक सुखका है होता लाभ,
और कृपा करते हैं उसपर श्रीपति पङ्कजनाभ।
सब प्रकारके सुख-समृद्धिकी होती रहती वृद्धि,
घरमें निशिदिन टहल बजातीं ऋद्धि और सब सिद्धि।
गोकुल*-सा सब ओर सरसता रहता है सुख-कन्द,
जहाँ-तहाँसे उसे सदा ही मिलता परमानन्द।
शेष कहें, मनमें लेकर ऐसे अनुभवके भाव—
आगे-आगे अधिक वेग-से चलो बढ़ाते पाँव॥

× × × ×

बारह कोटि नाम-जपका जब पूरा होता मान,
तब उससे अत्यन्त शुद्ध हो जाता 'व्ययका स्थान'।
दया-धाम सद्गुरुकी होती करुणा प्राप्त अतीव,
जिससे पूर्ण परम-पदवीको पा लेता है जीव।
सपनेमें अथवा जागृतिमें मिल करके स्वयमेव—
अपनी सहज कृपाकी वर्षा कर जाते गुरुदेव।
श्रीगुरुकी करुणाका पाकर जीव सुखद संयोग—
परमानन्द-सुधाका संतत करता है उपभोग।
शेष कहें, मनमें लेकर ऐसे अनुभवके भाव—
आगे-आगे अधिक वेगसे चलो बढ़ाते पाँव॥

× × × ×

तेरह कोटि नाम-जपकी संख्या होती जब पूर्ण,
अङ्गसहित यह अनुष्ठान तब हो जाता परिपूर्ण।
द्रष्टा-दर्शन-दृश्य-भेदका लय होता तत्काल,
नित्य-मुक्ति वनिता उसको है पहनाती वरमाल।

* भगवान् श्रीकृष्णके दिव्य लीलाधाम गोकुलमें जैसे सदा आनन्द रहता है।

'सोऽहम्' 'हंसः' इस अजपाको जपते रहना नित्य,
जिससे सिद्ध हुआ करता है जप वह अजपातीत।
स्मरण-विस्मरणसे अतीत जो सत्स्वरूपका ध्यान,
उसमें जीव सदा रहता है—यही सत्य है ज्ञान।
शेष कहें, ऐसे अनुभवको ले करके, हे तात!—
सब लोगोंको यही बताया करो तत्त्वकी बात॥

× × × ×

नारायणका नाम जो तू लेता निर्व्याज।
तो क्या तेरा रूठकर कर लेगा यमराज॥
नारायण भगवान्के पावन नाम अनन्त।
किसी एकका स्मरण कर प्रेमसहित अत्यन्त॥
मिलता है इससे सदा सुख-सौभाग्य समस्त।
'शेष' यही देखा-सुना सुखका मार्ग प्रशस्त॥

(अनुवादक—पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्त शास्त्री 'राम')

साधना

(लेखक—श्रीनलिनीमोहन सान्याल, एम्० ए०, भाषातत्त्वरत्न)

'साधना' शब्दसे क्या समझा जाता है? सिद्धि अर्थात् फलप्राप्तिके अभिप्रायसे जो काम किया जाता है, उसका नाम है 'साधना'। संसारके सभी व्यापारोंमें इसके उदाहरण मिलते हैं। हल चलाना इत्यादि कामोंसे किसानको अन्न मिलता है, पाठाभ्यासके द्वारा विद्यार्थी परीक्षामें उत्तीर्ण होता है, भोजनके द्वारा भूख मिटती है। ये हैं स्थूल या भौतिक जगत्की कार्यावलीके उदाहरण। किन्तु भौतिक जगत्के अतिरिक्त एक दूसरे जगत्में अधिकांश लोग विश्वासी हैं। उस जगत्का नाम है भाव-जगत् अथवा अध्यात्म-जगत्। इस भाव-जगत्की एक वस्तुका नाम है 'जीवात्मा' और एक दूसरी वस्तुका नाम है 'परमात्मा'। दोनों ही चिन्मय हैं। दोनों ही मूलतः एक हैं—जीवात्मा परमात्माका ही अंश है; किन्तु जड-जगत्के प्रभावमें पड़कर जीवात्मा अज्ञान-तिमिराच्छन्न हो गया है और भूल गया है कि मैं निर्विकार नित्य आनन्दमय परमात्माका ही अंश हूँ। इसी कारण उसे दुःख-भोग करना पड़ता है।

चिद्-विशिष्ट वस्तुमात्र ही जीवात्मा है—मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, उद्भिज्ज। इनमेंसे जडका प्रभाव जिसपर जितना अधिक है, वह उतना ही अज्ञान-तिमिरान्ध हो रहा है। मनुष्य ही एकमात्र जीव है, जो ज्ञान तथा अज्ञानकी उपलब्धि करनेमें समर्थ है। मनुष्योंके भीतर भी ज्ञान तथा अज्ञानके तारतम्यके हेतु नाना स्तर हैं—पशु-प्रकृतिसे देव-प्रकृतितक।

उच्च प्रकृतिके मानवगण समझ सकते हैं कि वे मूलतः शुद्धसत्त्व परमात्मासे उत्पन्न हैं और तमोमय भौतिक जगत्के प्रभावमें पड़कर परमात्मासे बहुत दूर हट गये हैं। क्लेदमुक्त होकर वे फिर परमात्माके साथ एकीभूत होनेकी आकांक्षा करते हैं। जिस कार्यावलीकी सहायतासे वे इस फलको प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हैं, उसका नाम है साधना।

परमात्माकी उपासनाके निमित्त दो विभिन्न प्रणालियाँ अवलम्बित होती हैं—कोई परमात्माको सगुण समझते हैं और कोई निर्गुण। निर्गुण उपासकोंकी संख्या बहुत थोड़ी है। अधिकांश उपासक परमात्माके सगुण भावका अवलम्बन कर ही उनकी आराधना करते हैं। सगुण परमात्मा ही ईश्वर या श्रीभगवान् हैं।

ईश्वर जगत्से भिन्न हैं, किन्तु जगत् ईश्वरसे भिन्न नहीं। वह जगत्के उपादान-कारण तथा निमित्त-कारण दोनों हैं। ईश्वर चेतन हैं और अपनी इच्छासे जगत्की रचना करके शासकके रूपमें उसके प्रत्येक अवयवमें प्रविष्ट होकर विराज रहे हैं। ईश्वरसे परे एक स्वतन्त्र निर्विशेष तत्त्व है, जो मन तथा बुद्धिके अगोचर है। वह निर्विकार है, इस कारण प्रत्यक्षरूपमें जगत्का कारण नहीं हो सकता। निर्विशेष परमात्माकी उपासना नहीं हो सकती। जगत्के कारण अक्षर पुरुष ईश्वर ही उपासनाके उपयुक्त हैं। परमात्माकी स्वेच्छा-परिगृहीत गुणविशिष्ट सत्ता ही ईश्वर है।

उपासकोंने उनकी जितनी मूर्तियोंकी कल्पना की है, वे केवल उनके सगुण भावका अवलम्बन कर। वह एक होते हुए भी भक्तोंकी चित्तवृत्तिके अनुसार नाना रूपोंमें प्रतिभात होते हैं। भेद है केवल नाम तथा रूपका। नाम

और रूप छोड़कर जो तत्त्व मिलता है, वही यथार्थ तत्त्व है—वह परमात्माके अतिरिक्त और कोई तत्त्व नहीं।

उपासनाके तीन मार्ग हैं—कर्म-मार्ग, ज्ञान-मार्ग तथा भक्ति-मार्ग। भक्ति द्वैतमूलक है और ज्ञान अद्वैतमूलक। व्यावहारिक कर्म-मार्गमें द्वैतभाव है और योगमूलक कर्म-मार्गकी अन्तिम अवस्थामें द्वैत-ज्ञान विलुप्त हो जाता है। कर्म-मार्ग तथा भक्ति-मार्गकी चरमावस्था है ज्ञान, और ज्ञानप्राप्तिका फल है मोक्ष। सब मार्गावलम्बियोंका उद्देश्य है चरमावस्थामें परमात्माके साथ एकत्व लाभ करना। अन्तकी अवस्थामें ज्ञान तथा भक्तिमें भिन्नता नहीं रहती। जीवात्माके परमात्मबोधको प्राप्त होनेके पश्चात् भी गौड़ीय वैष्णवगण परमात्मा तथा जीवात्माके बीच सेव्य-सेवक-भाव प्रतिष्ठित रखना चाहते हैं। वे कहते हैं कि ज्ञान-लाभ होनेके बाद भी और परमात्माके साथ मिल जानेके पश्चात् भी जीवात्मामें भक्ति रह सकती है। यद्यपि ज्ञानके द्वारा 'मैं और तुम' का यथार्थ भेद लुप्त हो जाता है, तथापि पराभक्तिके प्रभावसे अद्वैत-समुद्रमें भी (कल्पित) द्वैत-भावकी लहरें उठती हैं। सक्षेपमें गौड़ीय वैष्णवगण भगवान्‌के साथ सायुज्यलाभ करते हुए भी उनकी सेवाके लिये उनके साथ भेदभाव रखनेको व्यग्र हैं। इसीमें उन्हें अधिक आनन्द मिलता है और यही उनकी भक्तिकी पराकाष्ठा है।

कहा गया है कि साधनाकी प्रणालियाँ तीन हैं—कोई-कोई कर्मके द्वारा, कोई ज्ञानके द्वारा और कोई-कोई भक्तिके द्वारा परमार्थ प्राप्त करनेके प्रयासी हैं। किन्तु कर्मके साथ सम्पर्करहित ज्ञानमूलक अथवा भक्तिमूलक साधना असम्भव है। किसी भी प्रकारकी साधनामें हम प्रवृत्त होना चाहें, पहलेसे ही कर्मकी आवश्यकता है। पहला काम है, भगवान्‌में विश्वास करना। यह है ज्ञानमूलक कर्म। यदि हम कर्ममूलक उपासनामें प्रवृत्त हों तो याग-यज्ञ, पूजा-पाठ, सन्ध्या-वन्दनादि कर्म करने पड़ेंगे। किन्तु भगवान् वा जिस किसी देवताके उद्देश्यसे हम याग-यज्ञ, पूजा-पाठमें आत्मनियोग करें, प्रथम ही उनके प्रति भक्ति उत्पन्न होना आवश्यक है। अतएव देखा जाता है कि कर्मयोगमें ज्ञान तथा भक्तिकी सहायता आवश्यक है।

ज्ञानमार्गमें चिन्ता, युक्ति, तर्क इत्यादि कर्मके द्वारा भगवान्‌में विश्वास स्थापन करके उनके स्वरूपकी तथा उनके साथ सृष्टिके सम्बन्धकी उपलब्धि होनी चाहिये। श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ध्यान, सम्प्रज्ञात समाधि, असम्प्रज्ञात समाधि—इन सब स्तरोंको क्रमश: अतिक्रम करना होगा। अतएव ज्ञानके साथ कर्म तथा भक्तिका सम्बन्ध है।

भक्तिमार्गमें भी कर्म तथा ज्ञानका सम्बन्ध है। पहले ही ढूँढ़ निकालना होगा कि भगवान्‌का अथवा जिस देवताके प्रति हम भक्ति अर्पण करना चाहते हैं, उनका स्वरूप क्या है। उसके पश्चात्, किस प्रणालीसे हम उनके प्रति अपना प्रेम अर्पण करेंगे? हम उन्हें पिता या माता, या पुत्र या कन्या, या भ्राता या सखा, या प्रणयास्पद या प्रभु मानकर उसी सम्बन्धके अनुसार उनके प्रति अनुराग प्रदर्शन करेंगे। यहाँ भी कर्मसे छुटकारा नहीं।

कलिकालमें मानवके लिये भक्तिमार्गका अवलम्बन समीचीन है। भगवान्‌को प्रभु अथवा माता समझकर अपनेको उनके दास या सन्तान मानकर भक्ति करना सबसे अधिक सुगम है। केवल इस भावको पकड़कर निश्चिन्त रहनेसे नहीं चलेगा। अपने देवताको दिन-रात स्मरण करना आवश्यक है। उनको स्मरण करनेका सबसे सहज उपाय है उनका नाम-जप करना।

जैसे तड़ित्-वार्तावहमें धातव सूत्रके द्वारा एक स्थानके तड़ित्-यन्त्रके साथ अन्य स्थानके तड़ित्-यन्त्रका संयोग साधित होता है, उसी प्रकार वाक्-यन्त्रकी सहायतासे अथवा अन्तरमें नि:शब्दसे उच्चरित भगवान्‌के नामोंकी परम्पराकी सहायतासे एक ऐसा सूत्र ग्रथित होता है, जो भगवान्‌के साथ जीवात्माका संयोग कर देता है। नाम-जप बेतारके तारका काम करता है।

जपकी संख्या निर्धारित करनेके निमित्त तुलसी, रुद्राक्ष या स्फटिककी मालाका उपयोग किया जाता है। जिन्होंने नाम-जपका व्रत ग्रहण किया है, वे प्रतिदिनके लिये एक नामकी संख्या निर्दिष्ट कर रखते हैं। मालाके द्वारा जाना जाता है कि अनुष्ठेय दैनिक व्रत प्रतिपालित हुआ है या नहीं। चैतन्य महाप्रभुके समसामयिक भक्तशिरोमणि यवन हरिदास नित्य बिना व्यतिक्रमके एक लक्ष हरिनाम-जप करते थे।

जपका नियम यह है कि हम जिन देवताका नाम ले रहे हैं, नाम-ग्रहणके साथ-साथ हृदयमें उनका चिन्तन करते जाना चाहिये और अभ्यास करना चाहिये कि दूसरा कोई भी चिन्तन मनमें न आने पावे। हाथमें माला रहनेसे वह हमें अन्यमनस्कतासे बचाती जाती है।

त्याग और पवित्रता

साधनके प्रथम दो सोपान

(लेखक—रेवरेंड आर्थर ई. मैसी)

वेद-वेदान्त और पुराणादि ग्रन्थोंका बहुत-सा अध्ययन और अनुशीलन करके भी जिज्ञासुको अन्तमें निराश ही होना पड़ता है, यदि त्याग और पवित्रताकी उपेक्षा उसके जीवनमें हुई हो; क्योंकि साधनमार्गके प्रथम दो सोपान, जिनके बिना कोई इस मार्गपर आगे नहीं बढ़ सकता, त्याग और पवित्रता ही हैं। साधकको साधनपथपर स्वयं ही चलना होगा; अधिक-से-अधिक आत्मसमर्पण और आत्मोत्सर्ग करना होगा; तब जाकर उसके हृदयकी अँधेरी कोठरीमें ज्योतिका उजियाला होगा। सेंट बर्नर्ड कहते हैं—

'बाह्य प्रकृति ईश्वरकी छाया है और अन्तरात्मा उसका प्रतीक। विशुद्ध अन्तरात्मा, जो अपने-आपको ढूँढ़ रहा है। उसका मुख्य और विशिष्ट दर्पण है। यदि ईश्वरकी दिव्य अदृश्य सत्ताएँ सृष्टिकी सृष्ट वस्तुओंद्वारा समझी और साफ-साफ देखी जा सकती हैं तो मैं कहता हूँ कि ईश्वर-सम्बन्धी वह ज्ञान उसके इसी प्रतीकमें, हमारे अन्तःस्थित अन्तरात्मामें ही अंकित है; इससे अधिक गहरी छाप उस ज्ञानकी भला और कहाँ हो सकती है? इसलिये जो कोई अपने ईश्वरके दर्शनका प्यासा हो वह अपने इस दर्पणको, इसका एक-एक दाग छुड़ाकर, निर्मल बना दे; अपने हृदयको श्रद्धासे विशुद्ध कर दे।

जबतक मनुष्य अपने जीवनको शुद्ध बनानेका कार्य आरम्भ नहीं करता, जबतक वह अपने आचार-विचारमें सचाई नहीं ले आता, जबतक वह सन्मार्गपर इस दृढ़ताके साथ नहीं डट जाता कि बाहरके कोई प्रलोभन उसे उससे हटा न सकें अथवा पैर फिसलने या गिरनेकी अवस्थामें उसे पतन जानकर उस पतनसे पुनः उठनेकी चेष्टा नहीं करता, जबतक वह कम-से-कम अपने सामने सदाचारका कोई आदर्श रखकर उसके अनुरूप अपना जीवन बनानेका यत्न नहीं करता, तबतक उसकी बातें कोरी बातें ही हैं; उससे और कुछ नहीं बन पड़ सकता।

शान्तिके धामको जानेवाला और कोई मार्ग नहीं है; जो है, वह वही पुरातन संकीर्ण मार्ग है—यही कि सब बुरे रास्तोंको छोड़ दो और शुद्ध बनो, सबके सहायक बनो, दूसरोंके लिये त्याग करना सीखो।

व्यावहारिक योगकी प्रथमावस्था शरीर और मनका निग्रह है। संसारके सभी महान् धर्मोंमें ऊर्ध्वकी ओर ले जानेवाले पथका यही पाथेय है। यह सब ग्रन्थोंमें विविध दृष्टियोंसे लिखा हुआ है; पर ग्रन्थोंके पाठसे ही काम नहीं बनेगा। उनमें जिन नियमोंका विधान किया गया है, उनका पालन करना होगा। एक-एक करके सब दोषोंको दूर करो। पहले एक दोष या त्रुटि लो। उस दोषका जो प्रतिद्वन्द्वी गुण है, उसपर नित्य प्रातःकाल अपने मनको एकाग्र करो और दिनमें उसके अनुरूप कार्य करनेकी आदत डालो। कुछ ही सप्ताहों या महीनोंमें अथवा इससे भी कम समयमें वह दोष या त्रुटि दूर हो जायगी और उसके स्थानमें उसका विरोधी सद्गुण आ जायगा।

जब अहंकारके त्यागसे हृदयकी आँखोंपर पड़ा हुआ परदा हट जाता है, तब मनुष्य अपने-आपको उसी रूपमें देखता है जिस रूपमें उसे ईश्वर देखता है और उत्तम कर्म करनेमें समर्थ होता है। उत्तम गुणोंका चिन्तन करनेसे उत्तम कार्य करनेकी शक्ति बढ़ती है और उसका आकर्षण भी बढ़ता है।

मनुष्य अपने पहलेके विचारोंसे, गँवाये हुए सुअवसरोंसे, अपनी भूलोंसे, अपनी मूर्खतापूर्ण विषयाधीनतासे बँधा रहता है। समय-समयपर मनुष्य जो इच्छाएँ करता है, जिनकी पीछे उसे याद भी नहीं रहती, उनसे वह बँध जाता है। किसी समय उसने जो गलतियाँ कीं, वे उसकी बेड़ियाँ बन जाती हैं। तथापि मनुष्यकी केवल यह बाहरी सत्ता है जो इस तरह बँधती है, अन्तस्सत्तासे मनुष्य जैसा कुछ है वह नहीं बँधता। जिसने उसका वह भूतकाल निर्माण किया, जिसमें उसका वर्तमानकाल कैद हुआ है, वह इस कैदखानेके भीतरसे भी उत्तम कर्मके द्वारा अपना मुक्त भविष्य निर्माण कर सकता है। मनुष्यको यह जानना चाहिये कि उसका सदात्मा मुक्त है, जानते ही उसे जकड़ रखनेवाली बेड़ियाँ

तड़ातड़ टूट जायँगी। उसका यह ज्ञान जितना होगा, उतना ही उसे अपना बन्धन मिथ्या प्रतीत होगा।

हमारी सब सीमाएँ हमने ही निर्माण की हैं। हम उन्हें ग्रहण करें और उन्हें विस्तृत करनेके लिये आगे बढ़ें। काम-क्रोधादि विकारोंका जल्दी शमन नहीं होता। परन्तु हर कोई उनसे लड़ सकता है और हारकर भी विजयी होनेका निश्चय करके फिर लड़ सकता है।

साधक इस कैदखानेके बीचमें भी सदा मुक्त ही है। वह इन दीवारोंको ढाह सकता है, जिन्हें उसने खुद ही तो खड़ा किया था। उसके अपने सिवा और कोई इस जेलका जेलर नहीं है। वह मुक्त होनेका संकल्प कर ले। संकल्पके बलसे ही वह वैसा ही होगा। यदि हम सोचें कि हम हारेंगे तो हार निश्चित ही है। मेरे प्रिय मित्र स्वर्गीय मि० जेम्स एलनने, जिन्होंने अपने सब उपदेशोंके अनुसार ही अपना जीवन बनाया था, लिखा है—

'यदि तुम दस बार हारो तो भी हिम्मत न हारो; यदि सौ बार हारो तो भी फिर उठो और अपने रास्तेपर चलो; यदि तुम हजार बार हारो तो भी निराश मत होओ। जब तुम ठीक रास्तेपर आये हो तब तुम्हारी विजय तो निश्चित ही है, यदि इस रास्तेको ही छोड़ न दो।

'पहले युद्ध, पीछे विजय; पहले परिश्रम, पीछे विश्राम; पहले दुर्बलता, पीछे बल। आरम्भमें निकृष्ट जीवन और जीवनयुद्धका ताप और क्षोभ; अन्तमें सुन्दर जीवन, मौन और शान्ति।'

सत्यको जानना ही मुक्त होना है।

सत्यको जाननेके लिये क्या-क्या साधन करना होगा ?—

(१) अपने निकृष्ट आत्मभाव—अहंकारको हटाकर जीव-सेवामें लगना होगा।

(२) किसी पदार्थ या शरीरमें कोई आसक्ति न रहे, इसका प्रयत्न करना होगा; और जो कुछ हम हैं और हमारे पास है, उसे दे डालना होगा तथा उसके बदलेमें और किसी चीज़की इच्छा न कर केवल सेवाका अवसर चाहना होगा।

(३) पृथ्वीके पदार्थोंकी क्षणभंगुरताको अच्छी तरह समझ लेना होगा।

(४) और उसी कार्यको दृढ़तासे गले लगाना होगा, जिसे पूर्ण करना है।

(५) मार्गके रम्य—पुष्पित दृश्योंकी ओर पीठ फेरकर सीधे योगपर्वतपर चढ़ जाना होगा। चाहे इसके लिये कुछ भी मूल्य देना पड़े, कुछ भी कष्ट उठाना पड़े—जीवनका एक-एक दिन जिस द्रुत गतिसे बीत रहा है, उसी द्रुत गतिसे हमें आगे बढ़ना होगा।

अधोगामिनी प्रकृतिको शुद्ध करना साधनक्रमका एक अत्यावश्यक अंग है। इसका एक-एक अंग ऊर्ध्वगा प्रकृतिके स्वरके साथ मिले हुए स्वरसे स्पन्दित होना चाहिये। यह निम्नगा प्रकृति मनुष्यकी सत्ताका केवल वह अस्थायी अंश है, जिसे हम व्यक्तिविशेष कहते हैं और जो सनातन आत्मस्वरूप नहीं बल्कि अनेक जन्म-जन्मान्तरोंसे संगृहीत संस्कारों, वासनाओं, प्राकृत गुणों और विशेषताओंका एक पुंजमात्र है। इनका भी जीवनमें कुछ काम होता है पर वह काम हो चुकनेपर इन सब चीजोंको जीव अपने ऊपरसे उतार कर फेंक देता और सनातन आत्माकी सहज मुक्तावस्था और पूर्वतन पवित्रतामें निमज्जित हो जाता है। साधनमार्गमें इस निम्नगा प्रकृतिकी एक-एक बातको शुद्ध कर लेना पड़ता है।

यह बहुत आवश्यक है कि साधक इस बातको अच्छी तरहसे समझ ले कि यह शरीर हमारा अधिनायक नहीं है, न इसे कभी ऐसा बनने देना चाहिये। असाइसीके संत फ्रांसिस अपने शरीरको 'भाई गर्दभ' कहा करते थे, क्योंकि वे जानते थे कि यह हमारा दास है, अपने वशमें छानसे बाँधकर रखनेकी चीज है। इस शरीरकी चाहे जो भी इच्छाएँ हों, चाहे जैसी आदतें इसे पड़ गयी हों, यह है हमारा नौकर और इसे लगाना होगा उसी काममें जो हम चाहते हैं। जिस क्षणमें मनकी लगाम शरीरके हाथमें आ जाती है और शरीर मनुष्यका हुक्म बजा लानेके बजाय उसपर अपनी ही हुकूमत चलाता है, तब उसी क्षण जीवनका उद्देश्य कुछ-का-कुछ हो जाता है और किसी प्रकारकी कोई भी उन्नति होना असम्भव हो जाता है। इस भौतिक शरीरकी बनावट ही कुछ ऐसी है कि इसे अनायास ही नौकर या यन्त्र बनाया जा सकता है। इसे यदि कोई खराब आदत पड़ गयी हो तो उस आदतके छुड़ानेमें यह तुरन्त राज़ी नहीं होगा, बड़ा तूफान मचायेगा; पर यदि इसपर जबर्दस्ती की जाय और जो कोई बाधा यह उपस्थित करे

उसका ठीक परिहार किया जाय और इस तरह जबर्दस्ती इससे वही कराया जाय जो मनुष्य चाहता है, तो कुछ दिनोंमें शरीर आप ही नये अभ्यासका अभ्यासी होकर खुशीसे उसीको बराबर करता रहेगा—उसी तरहसे, जिस तरह पूर्वके अभ्यासमें पूर्वका वह आचरण करता था, जिसे मनुष्यने बदल देना जरूरी समझा। अभ्यास एक ऐसी चीज है जो साधक भी होती है और बाधक भी। और शरीर तभी नमता है जब वह यह समझता है कि हमारा कोई मालिक है; और यह मालिक ऐसा नहीं है कि जिसके काममें हम दखल दे सकें; क्योंकि वह मालिक है और हम सेवक—उसके हाथके एक यन्त्र। भूतकाल चाहे जैसा बीता हो, अब बिगड़ीको बना लो। तुम्हारे अंदर जो अशुद्ध कामनाएँ हों, उनसे तुम मुक्त हो सकते हो और यह अनुभव कर सकते हो कि जिन बुराइयोंमें तुम्हारा शरीर आनन्दमग्न होता था, वही शरीर अब उस आदतके छुड़ाये जानेपर उन्हीं बुराइयोंका घोर विरोध करता है। इसका बस, एक ही मार्ग है—स्थिर ध्यान और युद्ध। इसीसे मनुष्य शरीरकी बुराइयोंसे अपने-आपको मुक्त कर सकता है।

जब कोई बुरा भाव चित्तमें उठे तो ऐसे समयमें कोई प्रिय सद्वचन या कोई श्लोक स्मरण कर लेना बहुत लाभकर होता है। अंदर मनमें यह दृढ़ विश्वास भी होना ही चाहिये कि 'बुराईका चाहनेवाला मैं नहीं हूँ बल्कि यह शरीर है, इसे मैं शिक्षा दे-देकर अपना आज्ञाकारी बनाऊँगा।' अन्तमें मेरी विजय होगी, यह विश्वास भी पूर्ण होना चाहिये।

जब कोई लोभ-मोह तुम्हारा रास्ता रोककर खड़े हों तो आखिरी दमतक उनका प्रतीकार करो और यदि तुम हारो तो अपने मनसे यह कहो कि 'कोई बात नहीं, मैं विजयकी ओर ही एक कदम आगे बढ़ा हूँ। उस हृद्देशवासी अन्तर्यामीके बलपर, जो मुझे बल देता है, मैं चाहे जो कर सकता हूँ।' प्रतीकार या युद्ध करनेका मतलब ही है शक्तिका संचय करना।

शुभ कामनाएँ जैसे-जैसे बढ़ायी और पुष्ट की जाती हैं, वैसे-वैसे अशुभ कामनाएँ नष्ट होती जाती हैं—पोषण-रस न मिलनेसे मरती जाती हैं। अशुभ वासनाओंके सिर उठाते ही विचार उन्हें धर दबाता और कार्यरूपमें प्रकट होने ही नहीं देता। कहता है—'इन्द्रियोंके विषयो! हट जाओ शरीरके अंदर रहनेवाले इस संयमी पुरुषसे।' कामना मुरझा जाती है, तुष्टिके न मिलनेसे भूखों मर जाती है। इन्द्रियोंकी असद्वासनाओंसे उनका नियमन करना पवित्रता-लाभका शक्तिमय साधन है।

आत्मशुद्धिकी दो अवस्थाएँ—कर्तव्यका कर्तव्यबुद्धिसे ही पालन और सुखपूर्वक स्वेच्छासे अपनी हर चीजका त्याग—बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। मनुष्यका प्रत्येक अंग शुद्ध होना चाहिये, अन्तरंग और बहिरंग दोनों; पर शरीरादिको क्लेश पहुँचाकर नहीं, बल्कि युक्त यम-नियमके द्वारा। प्रकृतिको समझा-बुझाकर राहपर लाना होगा, आहार-विहारादिमें सावधान और नियमित रहकर सदा सन्मार्गपर चलना होगा। इस प्रकार शरीरको शिक्षा देकर नियमित करके पूर्णतया मन-बुद्धि और आत्माके अधीन करना होगा।

गार्हस्थ्यका विधान शुक्रके वेगको संयत और नियत करनेके निमित्त किया गया था। सबके लिये ब्रह्मचर्यका विधान नहीं था। गृहस्थाश्रममें त्यागके अभ्यासके द्वारा धीरे-धीरे निम्न प्रकृतिको उसके मिथ्याचारसे खींचकर—नियत करके सर्वथा उदात्त प्रकृतिके अधीन करना होगा। प्रेमके जो स्वार्थमय स्थूल निकृष्ट रूप हैं, उन्हें क्रमशः उन्नत कर प्रेमका वह भाव प्राप्त करना होगा, जो अपने प्रेमपात्रके लिये त्याग करनेमें ही प्रसन्न होता है। यह प्रेम तब अपनी अन्तिम अवस्थामें परमकी ओर अभिमुखी होता है। कर्मयोगकी स्थितिमें इसका विकास होता है। इस प्रेममें मनुष्य देना-ही-देना जानता है, बदलेमें कुछ लेना नहीं जानता, कृतज्ञताकी भी इच्छा नहीं करता, स्वीकृतिका इज़हार भी नहीं चाहता; अज्ञात रहकर कर्म करना उसे आता है। जहाँ उसके कर्मकी प्रशंसा होती है, उसका यश फैलता है, वहाँ रहनेके बदले वह ऐसी जगहमें जाकर कर्म करता है, जहाँ उसको कोई जाने नहीं, कोई माने नहीं। प्रेमके शुद्ध होनेकी जो अन्तिम स्थिति है, वह वही है, जहाँ प्रेम भगवत्स्वरूप ही हो जाता है, जहाँ मनुष्य केवल देता है (क्योंकि देना—आनन्द वितरण करना ही उसका स्वभाव है), जहाँ अपने लिये वह कुछ भी नहीं चाहता—सिवा इसके कि और सब सुखी हों।

त्याग और पवित्रता, साधनक्रमके इन दो सोपानोंपर पहले चढ़े बिना कोई भी साधनकी चढ़ाई चढ़कर शिखरपर नहीं पहुँच सकता। सबसे पहले साधनेकी ये ही दो चीज़ें हैं; इसके बाद जो-जो कुछ करना होगा, वह क्रमसे आप ही मालूम होता जायगा। ज्यों-ज्यों अज्ञान कम होता जायगा, प्रत्येक पदार्थ अधिकाधिक उद्भासित होगा; ज्यों-ज्यों दुर्बलता क्षीण होगी, प्रत्येक पदार्थमें अधिकाधिक शान्ति

अनुभूत होगी और ज्यों-ज्यों पार्थिव स्पन्दनोंका काम-क्रोधोद्भव वेग घटेगा, त्यों-त्यों जगत्‌का रूप प्रशान्त देख पड़ेगा। साधनशिखरपर क्या है, यह तो वे ही बतला सकते हैं, जो शिखरपर पहुँचे हों; वह परम लक्ष्य क्या है, उसका क्या स्वरूप है—यह भी वे ही बतला सकते हैं जो उसके साथ एक हो गये हों। परन्तु जो लोग अभी इस मार्गपर बहुत आगे नहीं बढ़े हैं, थोड़ी ही दूर चले हैं और आगे चल रहे हैं, वे इतना तो जानते ही हैं कि संसारके सुखोंको देखते हुए इस मार्गका दुःख भी सुख ही है और इस मार्गके प्रथम सोपानपर आ जाना भी संसारसे मिलनेवाले सब सुखोंका मूल्य चुका देनेसे भी कुछ अधिक है। इस मार्गपर जो ज्योति जगमगा रही है, उसकी एक किरण भी जो साधककी दृष्टिके सामने दिन-प्रतिदिन अधिक उज्ज्वल होती जाती है, उसके सामने इस पृथ्वीका सम्पूर्ण सूर्यप्रकाश एक अन्धकारमात्र है। जो इस मार्गपर चलते हैं, वे उस शान्तिका हाल जानते हैं, जो उससे पहले समझके बाहर है, वे उस आनन्दको अनुभव करते हैं, जिसे पार्थिव दुःख कभी हरण नहीं कर सकता। वे उस विश्रामको प्राप्त होते हैं, जिसे भूडोल हिला-डुला नहीं सकता। वे देवालयकी उस अन्तर्वेदीमें पहुँचते हैं, जहाँ सदा परमानन्दका ही निवास है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

प्रणवोपासना

(लेखक—श्रीमोतीलाल रविशंकरजी घोडा, बी० ए०, एल्-एल्० बी०, वेद-वेदान्तवारिधि)

प्रज्ञानांशुप्रतानैः स्थिरचरनिकरव्यापिभिर्व्याप्य लोकान्
भुक्त्वा भोगान्स्थविष्ठान् पुनरपि धिषणोद्भासितान्कामजन्यान्।
पीत्वा सर्वान्विशेषान्स्वपिति मधुरभुङ्मायया भोजयन्नो
मायासंख्यातुरीयं परममृतमजं ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि॥ १॥[1]

यो विश्वात्मा विधिजविषयान्प्राश्य भोगान्स्थविष्ठान्
पश्चाच्चान्यान्स्वमतिविभवाज्ज्योतिषा स्वेन सूक्ष्मान्।
सर्वानेतान्पुनरपि शनैः स्वात्मनि स्थापयित्वा
हित्वा सर्वान्विशेषान्विगतगुणगणः पात्वसौ नस्तुरीयः॥ २॥[2]

शास्त्रोंमें प्रणवमन्त्र (ओंकार)-को मन्त्रराज कहा है, क्योंकि उसकी उपासनासे निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। वह प्रत्यगात्माका वाचक या प्रतीकरूप है। अथर्ववेदीय नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद्‌में इसका बड़ा सुन्दर निरूपण किया गया है। देवताओंने मन्त्रराजका श्रवण करके सगुण ब्रह्मकी उपासनाद्वारा बुद्धिको शुद्ध किया और फिर मन्त्रराज प्रणवके मार्गको जाननेके लिये प्रजापतिसे प्रार्थना की। तब प्रजापतिने उन्हें नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद्‌में उसका विस्तारसे युक्तिपूर्वक उपदेश किया। ओंकार अशेष जगदात्मक है—ऐसा ध्यान करके तथा 'सारा प्रपंच ब्रह्म है' एवं 'प्रत्यगात्मा ब्रह्म है'—ऐसी आलोचना करनेसे ब्रह्मके साथ आत्माकी एकता सिद्ध होती है और इससे निर्गुण ब्रह्मका **'अहं ब्रह्मास्मि'** रूपसे अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाता है। किन्तु ओंकारका सार्वात्म्य ध्यानके लिये कल्पना किया जाता है और ब्रह्मका सार्वात्म्य वास्तविक है।

सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म सम्पूर्ण पदार्थोंमें विद्यमान है तथा देह और इन्द्रियोंका साक्षी आत्मा भी सच्चिदानन्दरूप ही है। अतः असंसारी होनेके कारण इसकी ब्रह्मरूपता उचित ही है। चिदात्माका संसारित्व देहादि उपाधिके सम्बन्धसे है; स्वरूपसे तो यह असंसारी है, अतः इसका ब्रह्मत्व ठीक ही है। ध्यान करनेवाला उपासक 'ॐ' ऐसा उच्चारण करते हुए स्वात्माकी ब्रह्मके साथ और ब्रह्मकी आत्माके साथ एकता करता है। इससे ब्रह्म और आत्माका अन्योन्य तादात्म्य सिद्ध होता है।

१- जो अपनी चराचरव्यापिनी ज्ञानरश्मियोंके विस्तारसे सम्पूर्ण लोकोंको व्याप्त कर [जाग्रत् अवस्थामें] स्थूल भोगोंको भोगनेके अनन्तर फिर [स्वप्नावस्थामें] बुद्धिसे प्रकाशित वासनाजनित सम्पूर्ण भोगोंको पानकर मायासे हम सब जीवोंको भोग कराता हुआ स्वयं आनन्दका भोक्ता होकर शयन करता है तथा जो परम अमृत और अजन्मा ब्रह्म मायासे तुरीय (चौथी) संख्यावाला है, उसे हम नमस्कार करते हैं।

२- जो सर्वात्मा [जाग्रत् अवस्थामें] शुभाशुभ कर्मजनित स्थूल भोगोंको भोगकर फिर [स्वप्नकालमें] अपनी बुद्धिसे परिकल्पित सूक्ष्म विषयोंको [सूर्य आदि बाह्य ज्योतियोंका अभाव होनेके कारण] अपने ही प्रकाशसे भोगता है और फिर धीरे-धीरे इन सभीको अपनेमें स्थापित कर सम्पूर्ण विशेषोंको छोड़कर निर्गुणरूपसे स्थित हो जाता है, वह तुरीय हमारी रक्षा करे।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों शरीरोंका मायाके कारण आत्मभावसे आरोप हो रहा है—इस प्रकार ध्यान करनेपर बोध-ज्ञानसे इनका लय हो जाता है। इस प्रकार आरोप और अपवाद (संहार या लय)-के समय ओंकारका स्मरण करके नादके अन्तमें चित्तको निर्विकल्प अर्थात् ध्येयाकारवृत्तियुक्त करना चाहिये। यदि चित्त फिर बाह्य विषयोंकी ओर जाय तो उपासकको अधिदैव एवं अध्यात्मदेहरूपसे अभेदचिन्तन करना चाहिये।

ब्रह्माण्ड, सूत्र और अव्यक्तसंज्ञक देह 'अधिदैव' हैं तथा पिण्ड, लिंग और अज्ञानरूप देहत्रय, 'अध्यात्म' कहलाता है। इसी प्रकार विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर—ये तीनों 'अधिदैवदेही' रूपसे प्रसिद्ध हैं तथा विश्व, तैजस और प्राज्ञ—ये तीन 'अध्यात्मदेही' हैं। ये तीनों देही क्रमशः स्थूलभुक्, सूक्ष्मभुक्, और आनन्दभुक् हैं, तथा इनके स्थान जागरित, स्वप्न और सुषुप्ति हैं।

आत्माके पाद

आत्माके चार पाद हैं। उनमें विश्व नामक अध्यात्म और वैश्वानर नामक अधिदैव देही प्रथम पाद हैं। इसका स्थान जागरित अवस्था है। मस्तक, नेत्र, मुख, प्राण, देहमध्य, मूत्रस्थान और उससे नीचेका स्थान (चरणादि)—ये इसके सात अंग हैं। वैश्वानरकी उपासनाविधिका वर्णन छान्दोग्य-श्रुतियोंमें हुआ है। वहाँ द्युलोकको इसका मस्तक, आदित्यको नेत्र, वायुको प्राण, आकाशको देहमध्य, जलको मूत्रस्थान और पृथ्वीको चरण बताया गया है। उस जगह अग्निका प्रसंग होनेके कारण आहवनीयाग्निको इसका मुख बताया है। परन्तु माण्डूक्योपनिषद्में इसे उन्नीस मुखवाला कहा है। वे उन्नीस मुख ये हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। आत्माकी चार अवस्थाएँ हैं—जागर, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। जहाँ इन्द्रियोंके द्वारा व्यवहार होता है, वह जागर; मानसचिन्तन स्वप्न; तूष्णी स्थिति सुषुप्ति और तृप्तत्व—तृप्तिको तुर्या कहते हैं। जागरित-अवस्थामें इन्द्रियग्राह्य विषयोंको ग्रहण करनेवाला होनेसे वह बहिष्प्रज्ञ और स्थूलभुक् है।

तैजस नामक अध्यात्म और सूत्रसंज्ञक अधिदैव देही दूसरा पाद हैं। इसका स्थान स्वप्नावस्था है। इसके सात अंग और उन्नीस मुख भी प्रथम पादके समान ही हैं। किन्तु इसका भोग्य इन्द्रियग्राह्य नहीं है। यह मनःकल्पित सूक्ष्म विषयोंको ग्रहण करता है। इसलिये इसे अन्तःप्रज्ञ और सूक्ष्मभुक् कहते हैं।

सुषुप्तिस्थ प्राज्ञ और ईश्वर आत्माका तीसरा पाद हैं। उसमें बुद्धिका लय हो जानेसे, द्वैतका अभाव हो जानेके कारण आत्मा एकीभूत हो जाता है। और उस अवस्थामें दुःखका अभाव होनेके कारण उसे आनन्दमय कहते हैं। वह अवस्था ब्रह्मानन्दका भोग करानेवाली है।

सुषुप्तिके चार स्वरूप हैं। उन्हें सुप्ति-जागर, सुप्ति-स्वप्न, सुप्ति-सुप्ति और सुप्ति-तुरीय कहते हैं। इनमें प्राज्ञ सुखमयी सुप्ति-तुर्य अवस्थाका अभिमानी है।

ये तीनों पाद मायामात्र हैं। आत्मा सदा चिदेकरस-स्वरूप ही होता है। तन्द्रामें जो वाणीसे अध्ययनादि होता रहता है, उसे सुप्ति-जागर कहते हैं तथा उस समय जो तरह-तरहके दृश्य दिखायी देने लगते हैं, वे सुप्ति-स्वप्न हैं। इसी प्रकार गाढ़ निद्राको सुप्ति-सुप्ति और तत्कालीन सुखानुभवको सुप्ति-तुर्य कहते हैं।

उपर्युक्त तीनों पादोंसे आत्माकी चिदेकरसता आवृत हो जाती है। उनसे अनावृत शुद्ध चिदात्मा तुरीय है। यही इसका चौथा पाद है। सम्पूर्ण पदार्थोंमें अनुस्यूत ब्रह्मका अनुभव करनेवालेको 'ओता' कहते हैं। अनुज्ञाता होनेसे वह 'अनुज्ञाता कहलाता है, ज्ञातृत्वका निषेध होकर केवल चिदेकरसस्वरूप रहनेके कारण उसे 'अनुज्ञा' कहते हैं तथा इन तीनों अवस्थाओंसे मुक्त होनेपर वह 'अविकल्प' कहा जाता है। विद्वान्‌की जागरित, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीन अवस्थाएँ भी मायालेशसे युक्त होती हैं और आत्माका यह अविकल्पपाद मायासे सर्वथा मुक्त होता है। तीसरा पाद सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सबका कारण, समस्त भूतोंका प्रभवरूप और आश्रयस्थान है। किन्तु इस तुरीयपादका वर्णन किसी शब्दसे नहीं किया जा सकता। वह न अन्तःप्रज्ञ है न बहिष्प्रज्ञ है, न उभयतःप्रज्ञ है न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है और न अप्रज्ञ है। इस प्रकार छः निषेधात्मक पदोंसे उसे लक्षित किया जाता है। यहाँ 'अन्तःप्रज्ञ नहीं है' ऐसा कहकर तैजसका, 'बहिष्प्रज्ञ नहीं है' ऐसा कहकर विश्वका, 'उभयतःप्रज्ञ नहीं है' ऐसा कहकर जाग्रत् और स्वप्नके बीचकी अवस्थाका, 'प्रज्ञानघन नहीं है' इस वाक्यसे सुषुप्तिका, 'प्रज्ञ नहीं है' इससे एक साथ सब विषयोंके ज्ञातृत्वका और 'अप्रज्ञ नहीं है' इससे अचेतनताका प्रतिषेध किया गया है। उसका स्वरूप देखनेमें नहीं आता, वह व्यवहारका

विषय नहीं है, उसे किसी इन्द्रियसे ग्रहण नहीं कर सकते तथा उसका कोई लक्षण (चिह्न) भी नहीं है। वह चिन्तन और कथनमें भी नहीं आ सकता तथा एकमात्र आत्मचैतन्यका सारस्वरूप, सर्वथा प्रपंचशून्य, शान्त, शिव और अद्वैतस्वरूप है। इसीका नाम आत्मा है तथा उपर्युक्त तीन पादोंके निषेधद्वारा यही जिज्ञासुओंका ज्ञेय है।

प्रणवयोग

श्रुत्युक्त योग और ब्रह्मविवेकसे संसारनिवृत्तिरूप इष्टसिद्धि होती है। उपर्युक्त रीतिसे आत्माका विवेक कर उसे प्रणवके साथ युक्त करना चाहिये। यह आत्मा ओंकारका अक्षररूप है और ओंकार अधिमात्रारूप है। इसके पाद मात्रारूप हैं और मात्रा पादरूप हैं। वे अकार, उकार और मकार हैं।

स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी—ये आत्माके आगमोक्त चार स्वरूप हैं तथा निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या और शान्ति—ये उसकी प्रसिद्ध कलाएँ हैं। चार प्रकारके भेदवाले इस आत्माका ओंकारकी प्रथम मात्रा अकारके रूपमें चतुर्विध जागर ध्यान करना चाहिये। अकार तथा जागरकी आप्ति (व्याप्ति) और आदित्वमें समानताका चिन्तन करना चाहिये। जागरित-अवस्थामें इन्द्रियोंके द्वारा आत्माकी व्याप्ति होती है और अकार क-ख आदि अक्षरोंमें व्याप्त है। अकारकी तथा जागरितकी आदिता भी लोकमें प्रसिद्ध ही है।

इसी तरह उत्कर्ष और उभयत्व (मध्यवर्तित्व)-के कारण उकारकी स्वप्नस्थ तैजससे समानता है तथा प्रमाण और लयस्थानरूप होनेके कारण मकार सुषुप्तिस्थान प्राज्ञके सदृश है। इस प्रकार इन तीन मात्राओंके साथ वैश्वानरादिका अभेद चिन्तन करते हुए अकारको उकारमें, उकारको मकारमें और मकारको नादरूप अमात्रमें लीन करे। अकारके द्वारा उपासकका विश्वात्माके साथ अभेद होता है, उकारसे तैजसके साथ और मकारसे प्राज्ञके साथ। किन्तु अमात्रकी उपलब्धि होनेपर फिर कोई गति नहीं होती। अमात्र ही तुरीय है। यह आत्माका चतुर्थ पाद है। यह अव्यवहार्य, प्रपंचशून्य, आनन्दमय और अद्वितीय है। इस प्रकार ओंकार आत्मा ही है। जो इसकी आत्मभावसे उपासना करता है, वह आत्मामें ही लीन हो जाता है।

यह प्रणवोपासनारूप साधनका संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया गया। यह ब्रह्मप्राप्तिका बड़ा उत्कृष्ट साधन है। इसका विशेष स्पष्टीकरण माण्डूक्योपनिषद् और उसके ऊपर लिखी हुई श्रीगौडपादाचार्यकी कारिकाओं एवं भगवान् शंकराचार्यके भाष्यमें किया गया है।

राम बिना सभी बेकार हैं

रसना साँपिनि बदन बिल जे न जपहिं हरिनाम।
तुलसी प्रेम न राम सों ताहि बिधाता बाम॥
हिय फाटउ फूटहुँ नयन जरउ सो तन केहि काम।
द्रवइ स्त्रवहिं पुलकइ नहीं तुलसी सुमिरत राम॥
हृदय सो कुलिस समान जो न द्रवइ हरिगुन सुनत।
कर न राम गुन गान जीह सो दादुर जीह सम॥
स्त्रवै न सलिल सनेहु तुलसी सुनि रघुबीर जस।
ते नयना जनि देहु राम! करहु बरु आँधरो॥
रहै न जल भरि पूरि राम! सुजस सुनि रावरो।
तिन आँखिन में धूरि भरि-भरि मूठी मेलिये॥

—तुलसीदासजी

सद्गुरु और शिष्य

'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।'

जन्म-जन्मके सत्संस्कार जब अभिव्यक्त होकर इस अवस्थामें आते हैं कि उनपर आकर्षणके रूपमें भगवत्कृपाका प्रभाव पड़ सके, तब मनुष्यके अन्तःकरणमें यह लालसा होती है कि मुझे अपने परम लक्ष्य परमात्माको प्राप्त करनेके लिये साधन करना चाहिये। सत्संग, सद्विचार और सच्छास्त्रके आधारपर इस लालसाको उज्जीवित एवं उद्दीप्त करना चाहिये। कहीं प्राचीन असत्कर्मोंकी संस्कारधारा आकर इसको दबा न दे, इसलिये अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देनी चाहिये। ऐसे शुभ अवसर जीवनमें बहुत कम आते हैं। परन्तु इस स्थितिमें यह एक बहुत बड़ी कठिनाई सामने आती है कि कौन-सा साधन किया जाय। साधारण साधकको अपने पूर्व-जन्मकी प्रवृत्तियों और वर्तमान अधिकारका तो पता होता नहीं, इतनी मँजी हुई बुद्धि भी नहीं होती कि वह अपने अधिकारके अनुसार साधनका चुनाव कर सके। इसी समय बहुत-से साधक किसी भी साधनकी प्रशंसा सुनकर उन्हें करने लग जाते हैं, परन्तु अपनी ही बुद्धिसे निश्चित होनेके कारण उसपर उनका दृढ़ विश्वास नहीं हो पाता। वे जब कभी कहीं दूसरे साधनकी प्रशंसा सुनते हैं, तब उनका मन विचलित हो जाता है और वे अपने वर्तमान साधनको त्रुटिसे युक्त समझकर दूसरा शुरू कर देते हैं। यह एक प्रकारसे साधनका व्यभिचार है। परन्तु जिसका विवाह ही नहीं हुआ, उसके सतीत्वका क्या प्रश्न? यह निश्चित है कि दस वर्ष जप करनेपर भी उस मन्त्रके विषयमें यदि कभी आपके मनमें संशयका उदय हुआ तो समझना चाहिये कि अभी आप वहीं हैं, जहाँ दस वर्ष पहले थे; क्यों आपने अनधिकार उस मार्गपर चलना प्रारम्भ किया है, जिसमें न तो आपको कुछ सूझता है और न आप सही-सही अनुमान ही कर सकते हैं। आज कृष्णका ध्यान, कल शिवका ध्यान, आज द्वादशाक्षर तो कल पञ्चाक्षर, आज कैलासकी ओर तो कल कन्याकुमारीकी ओर—यह कोई साधना नहीं है। इस प्रकार कहीं भी नहीं पहुँच सकेंगे। साधनाके लिये ऐसे विश्वासकी आवश्यकता है जो आकाशसे भी विशाल हो, समुद्रसे भी गम्भीर हो, सुमेरुसे भी भारी और वज्रसे भी कठोर हो। परन्तु साधनापर ऐसा विश्वास प्राप्त कैसे हो?

ऐसा विश्वास प्राप्त होता है तब, जब साधनाका उद्गम हृदयके अन्तरालसे हुआ हो, उस साधनाका एक-एक अंश हृदयका स्पर्श करनेवाला हो। ऐसा तभी हो सकता है जब हृदयके आन्तरिक रहस्यको जाननेवाले और उस साधनाके द्वारा लक्ष्यतक पहुँचे हुए महापुरुषने साधकको स्पष्टरूपसे साधनसे साध्यतकका मार्ग दिखला दिया हो। साध्य और साधकके बीचकी दूरी ही साधना है, जो एकको दूसरेके निकट पहुँचाती है। जिसे साधकके अधिकार और साध्यके स्वरूपका पता नहीं है वह साधनाको भला, कैसे जान सकता है? इसीसे सर्वज्ञ महापुरुष ही साधनाका निर्देश करनेके अधिकारी हैं। जीवका शिवसे गठबन्धन कराना साधारण पुरोहितका काम नहीं है। यदि ऐसा पुरोहित मिल जाय, मनुष्य उसे ढूँढ़ निकाले तो उसके पुरुषकारका अधिकांश वहीं समाप्त हो जाता है। वे ऐसा सूत्र बाँध देते हैं, जो कभी टूटता ही नहीं। परन्तु ये पुरोहित हैं कौन? मिलेंगे कहाँ? मिलें भी तो इन्हें पहचाना कैसे जाय?

वर्तमान युगको आधुनिक लोग तो उन्नतिका युग कहते हैं, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टिसे देखा जाय तो अधःपतनका ऐसा निकृष्ट युग कभी नहीं आया था। प्रतारणा और विश्वासघात तो इस युगकी विशेष देन है। आजकल ऐसे बहुत-से लोग प्रकट हो गये हैं, जो अपनेको भगवान्‌का संदेशवाहक अथवा स्वयं भगवान् बतलाते हैं। भोलेभाले साधक उनकी मीठी-मीठी बातोंमें आकर अथवा उनके रहस्यात्मक वाग्जालमें फँसकर अपना सर्वस्व खो बैठते हैं और ***'माया मिली न राम'*** की कहावत चरितार्थ करते हैं। ऐसी स्थितिमें किसपर श्रद्धा की जाय? किसकी शरणमें होकर आगेका मार्ग तै किया जाय? कैसे यह विश्वास किया जाय कि यह मार्ग ठीक है और इसपर चलकर हम अपने गन्तव्य स्थानतक पहुँच सकते हैं? ये बातें ठीक होनेपर भी श्रद्धालु और लगनवाले साधकपर लागू नहीं होतीं। उसकी दृष्टिमें संसारी सम्पत्तियोंका कोई मूल्य नहीं होता, उसकी श्रद्धा और लगनको कोई ठग नहीं सकता। वह आँख बंद करके संसारकी ओरसे सचमुच अंधा होकर भगवान्‌की ओर चलना चाहता है और चलता है। दूसरी बात यह

है कि प्राय: वे ही लोग ठगे जाते हैं, जो दूसरेको ठगना चाहते हैं। शास्त्रोंमें ऐसा वर्णन है कि अहिंसाकी शुद्ध प्रतिष्ठा होनेपर साधकके सामने पशु-पक्षीतक हिंसा नहीं कर सकते। यही बात श्रद्धावान्के सम्बन्धमें भी है। उसको कोई धोखा दे नहीं सकता। उसे तो केवल अपनी श्रद्धा-सम्पत्तिकी ही रक्षा करनी चाहिये।

तब क्या किसीपर यों ही श्रद्धा कर लेनी चाहिये? कुछ भी छान-बीन नहीं करनी चाहिये? अवश्य करनी चाहिये और गुरु करनेके पहले तो अवश्य ही कर लेनी चाहिये। परन्तु उस छान-बीनका स्वरूप दूसरा ही होता है। गुरुदेवके नामश्रवण, दर्शन, आलाप और स्मरण-मात्रसे ही प्राणोंमें शान्तिका संचार होने लगता है, चिर दिनकी प्यास बुझने लगती है, घोर अतृप्तिमें भी तृप्तिका अनुभव होने लगता है। जिनकी प्रतीक्षा थी, जिनके लिये प्राण तड़फड़ा रहे थे, जिनके बिना मनुष्य अंधेकी भाँति भटक रहा था, उन्हींके मिलनेपर हृदय शीतल न हो जाय—ऐसा नहीं हो सकता। गुरुदेवकी यह सबसे बड़ी पहचान है, परन्तु यह पहचान भी सर्वसाधारणके लिये व्यावहारिक नहीं है। महापुरुष शरीर और अन्त:करणसे ऊपर उठे रहते हैं, भगवान्से एक रहते हैं; इसलिये उनकी कोई व्यावहारिक पहचान होती भी नहीं। वस्तुत: वे परमार्थस्वरूप हैं। भगवान् ही गुरु और गुरु ही भगवान् हैं। यह केवल भाव नहीं है, क्योंकि परमार्थ सत्य वस्तुको परमार्थ सत्य वस्तुके सिवा और कौन दिखा सकता है? इसीसे जन्मोंतक भटकनेके बाद जब अन्त:करण उनके दर्शनके योग्य होता है, तभी वे कृपा करके दर्शन देते हैं और अपने ज्ञान एवं शक्तिसे अपने स्वरूपमें मिला लेते हैं। जिसे परमार्थतत्त्व अथवा भगवान् कहते हैं, उन्हींके मूर्तिमान् अनुग्रहका नाम गुरु है। गुरुका दीख पड़नेवाला शरीर स्थूल-शरीर नहीं है, दीख पड़नेवाला रूप मनुष्यरूप नहीं है, वह तो विशुद्ध चैतन्य है। भला, इस जड जगत्में विशुद्ध चेतनके अतिरिक्त और ऐसा कौन है जो अज्ञानका पर्दा फाड़कर जीवको उसके स्वरूपकी उपलब्धि करा दे। राजकुमारको जो यह चिरकालसे भ्रम हो रहा है कि मैं एक दीन, हीन, कंगाल भिक्षुक हूँ, उसको उसके स्वरूप और अधिकारका ज्ञान कराकर स्वपदपर सम्राट्के रूपमें प्रतिष्ठित करनेवाले गुरुदेव ही हैं। शिष्य गुरुका उत्तराधिकारी है अर्थात् गुरुका ज्ञान ही शिष्यके रूपमें अभिव्यक्त हुआ है। ज्ञानकी दृष्टिसे परमात्मा, गुरु और शिष्य एक हैं। इस एकत्वके बोधमें ही शिष्यकी पूर्णता है। तभी तो यह शास्त्रवाक्य सार्थक है—‘**गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म**’। इस रूपमें शिष्य उन्हें पकड़ नहीं सकता, वे स्वयं ही शिष्यके सामने प्रकट होकर अपनेको पकड़ा देते हैं।

गुरुकी महिमा केवल शिष्य ही समझ सकता है, सो भी तभी जब गुरु उसके सामने अपना स्वरूप प्रकट कर देते हैं। और कोई उन्हें जान नहीं सकता, क्योंकि वे अपनेको गुप्त रखते हैं। शिष्य जानता है कि मेरे गुरुदेव सर्वज्ञ हैं, वे मेरे और चराचर जगत्के सम्पूर्ण रहस्योंके एकमात्र ज्ञाता हैं। वे सर्वशक्तिमान् हैं, बड़े-बड़े देवता भी उनकी शक्तिसे शक्तिमान् होकर अपना-अपना काम कर रहे हैं; वे परम कृपालु हैं, क्योंकि कृपापरवश होकर ही उन्होंने जीवोंके उद्धारकी लीलाका विस्तार किया है। जब वे मेरे हृदयकी बात जानते हैं, उसको पूर्ण करनेकी शक्ति रखते हैं, तब वे परम कृपालु उसे पूर्ण किये बिना रह ही नहीं सकते। यही उनका स्वरूप है। जगत्में जितने भी जीवोंका उद्धार करनेवाले महात्मा प्रकट हैं, वे सब-के-सब उन्हींके लीलाविग्रह हैं। मैं उनको प्राप्त करके धन्य हो गया हूँ, शिष्यकी यह दृष्टि कल्याणकारिणी ही नहीं कल्याणस्वरूपिणी है।

यद्यपि परमात्माके ही समान गुरुदेवके लक्षण भी अनिर्वचनीय हैं, तथापि लोकव्यवहारके लिये शास्त्रोंमें उनका वर्णन भी होता है। उन आदर्श सद्गुण, सद्भाव और सत्कर्मोंको देखकर, जो कि स्वभावसे ही सद्गुरुमें होते हैं, साधक अपने जीवनका निर्माण करता है और मुमुक्षु उन्हें महापुरुषके रूपमें पहचानकर उनकी शरण ग्रहण करता है। महापुरुषोंके लिये तो लक्षणोंकी कोई आवश्यकता ही नहीं हुआ करती। उनका वर्णन केवल साधकोंके लाभार्थ ही होता है। सद्गुरु कैसा होना चाहिये, इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है:—

मातृतः पितृतः शुद्धः शुद्धभावो जितेन्द्रियः।
सर्वागमानां सारज्ञः सर्वशास्त्रार्थतत्त्ववित्॥
परोपकारनिरतो जपपूजादितत्परः।
अमोघवचनः शान्तो वेदवेदार्थपारगः॥
योगमार्गानुसन्धायी देवताहृदयङ्गमः।
इत्यादिगुणसम्पन्नो गुरुरागमसम्मतः॥

(शारदातिलक २। १४२—१४४)

‘जो कुलीन हो, सदाचारी हो, जिसकी भावनाएँ

शुद्ध हों और इन्द्रियाँ वशमें हों, जो समस्त शास्त्रोंके सार उपासनाके रहस्यको जानता हो, समस्त शास्त्रोंके तात्पर्यस्वरूप ब्रह्मको जानता हो, जो परोपकारमें रसका अनुभव करता हो, जप और पूजा आदिमें संलग्न हो, जिसकी वाणी अमोघ हो, शान्ति जिसे कभी न छोड़ती हो, जो वेद और वेदार्थका पारदर्शी हो, योगमार्गमें जिसकी पूर्ण प्रगति हो, जो हृदयके लिये देवताके समान सुखकर हो तथा और भी अनेकों गुण जिसमें स्वभावसे ही निवास करते हों, वही शास्त्रसम्मत गुरु है।'

गुरुमें अर्थात् जिसे हम गुरु बनाना चाहते हैं, चार प्रकारकी शुद्धि होना आवश्यक है—आनुवंशिक शुद्धि, क्रियागत शुद्धि, मानस शुद्धि और विशुद्ध चैतन्यमें स्थितिरूप परम शुद्धि। जो जानता बहुत है, परन्तु करता कुछ नहीं, किया कुछ नहीं, उससे साधकको साधनामें दृढ़ और स्थिर होनेकी शिक्षा नहीं मिल सकती। जिसकी इन्द्रियाँ अपने वशमें नहीं हैं, वह दूसरेको जितेन्द्रिय होनेकी शिक्षा नहीं दे सकता; यदि दे भी तो उसकी सुनेगा कौन? इसलिये गुरु ऐसा ही बनाना चाहिये, जो सिद्ध होनेपर भी साधक हो और इसीसे गुरुमें उपर्युक्त लक्षणोंकी आवश्यकता होती है। जिनमें ये लक्षण दीखते हैं, उनमें स्वाभाविक ही श्रद्धा हो जाती है। श्रद्धा करनी नहीं पड़ती, होती है। जिसमें श्रद्धा हो, उसमें भगवान्‌का दर्शन और वहाँसे प्रवाहित होनेवाले भागवत ज्ञानका स्वीकार ही गुरुकरण है।

जबतक हम गुरुको भगवान्‌के रूपमें नहीं देख पाते, उनसे प्रवाहित होनेवाले भागवत ज्ञानको नहीं स्वीकार करते और उनकी प्रत्येक क्रिया हमें लीलाके रूपमें नहीं मालूम होने लगती, तबतक गुरुकरण नहीं हुआ है—ऐसा समझना चाहिये। जबतक गुरु गुरु नहीं हुए हैं, तबतक चाहे जो समझ लीजिये। गुरु होनेके पश्चात् उन्हें भगवान्‌से नीचे कुछ भी समझना पतनका हेतु है। इस भागवत स्वरूपमें वे ही एक हैं, जगत्‌के और जितने भी गुरु हैं, वे मेरे गुरुके लीलाविग्रह हैं, सर्वत्र उन्हींका ज्ञान और उन्हींका अनुग्रह प्रकट हो रहा है। इसीसे शास्त्रोंमें भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

आदिनाथो महादेवि महाकालो हि यः स्मृतः।
गुरुः स एव देवेशि सर्वमन्त्रेषु नापरः॥
शैवे शाक्ते वैष्णवे च गाणपत्ये तथैन्दवे।
महाशैवे च सौरे च स गुरुर्नात्र संशयः॥
मन्त्रवक्ता स एव स्यान्नापरः परमेश्वरि।

'हे महादेवि! जो आदिनाथ महाकाल अर्थात् भगवान् शिव हैं, वही शैव, शाक्त, वैष्णव आदि सभी मन्त्रोंके एकमात्र गुरु हैं, उनके अतिरिक्त और कोई मन्त्रदाता हो ही नहीं सकता।'

मन्त्रदानके समय अथवा उसके पश्चात् जो गुरुकी मनुष्यरूपमें प्रतीति होती है, यह तो शिष्यकी एक कल्पना है। वास्तवमें परमात्मा ही गुरु हैं। इन गुरुकी शरण और इनके कर-कमलोंकी छत्रछाया पाकर शिष्य धन्य-धन्य हो जाता है।

आजकलका समय ही दूसरा है। पहले गुरु वर्षोंतक शिष्यकी परीक्षा करते थे, तब उसे स्वीकार करते थे। परन्तु अब तो गुरुओंकी भरमार हो गयी है और जैसे बाजारमें दलाल अपनी-अपनी दूकानोंपर लानेके लिये ग्राहकोंको परेशान करते हैं, वैसे ही गुरु कहलानेवाले लोग भी अपना शिष्य होनेके लिये लोगोंको तरह-तरहसे प्रलोभित करते हैं। सिद्धान्ततः सभीको शिष्यके रूपमें स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके लिये बहुत ऊँचे अधिकारकी आवश्यकता होती है। अशुद्ध पात्रमें अच्छी चीज़ रख दी जाय तो वह बिगड़ जाती है। अनधिकारी शिष्य उत्तम साधनाको सुरक्षित नहीं रख सकता। इसलिये शिष्यकी परीक्षा भी आवश्यक है। संक्षेपसे यदि कहा जाय तो जो सद्गुरुको परमात्माके रूपमें पहचानकर शरीर, धन और प्राण उनके चरणोंमें निवेदन करके उनके ज्ञान और सिद्धिको प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है, वही शिष्य है—ऐसा कहना पड़ेगा। शिष्यका लक्षण शारदातिलकमें इस प्रकार कहा गया है—

शिष्यः कुलीनः श्रद्धात्मा पुरुषार्थपरायणः।
अधीतवेदः कुशलो दूरमुक्तमनोभवः॥
हितैषी प्राणिनां नित्यमास्तिकस्त्यक्तनास्तिकः।
स्वधर्मनिरतो भक्त्या पितृमातृहितोद्यतः॥
वाङ्मनःकायवसुभिर्गुरुशुश्रूषणे रतः।
त्यक्ताभिमानो गुरुषु जातिविद्याधनादिभिः॥
गुर्वाज्ञापालनार्थं हि प्राणव्ययरतोद्यतः।
विहत्य च स्वकार्याणि गुरुकार्यरतः सदा॥
दासवन्निवसेद्यस्तु गुरौ भक्त्या सदा शिशुः।
कुर्वन्नाज्ञां दिवारात्रौ गुरुभक्तिपरायणः॥
आज्ञाकारी गुरोः शिष्यो मनोवाक्कायकर्मभिः।
यो भवेत्स तदा ग्राह्यो नेतरः शुभकाङ्क्षया॥
मन्त्रपूजारहस्यानि यो गोपयति सर्वदा।
त्रिकालं यो नमस्कुर्यादागमाचारतत्त्ववित्॥

स एव शिष्यः कर्तव्यो नेतरः स्वल्पजीवनः।
एतादृशगुणोपेतः शिष्यो भवति नापरः॥

'जो कुलीन हो, सदाचारी हो, सिद्धिके लिये तत्पर हो, वेदपाठी हो, चतुर हो और कामवासनासे रहित हो; जो समस्त प्राणियोंका हित ही चाहता हो, आस्तिक हो, नास्तिकोंका संग छोड़ चुका हो, अपने धर्ममें प्रेम रखता हो, भक्तिभावसे माता-पिताके हितमें संलग्न हो, कर्म, मन, वाणी और धनसे गुरुसेवा करनेके लिये लालायित रहता हो, गुरुजनोंके सामने जाति, विद्या, धन आदिका अभिमान न रखता हो, गुरुकी आज्ञा पालनके लिये मृत्युतकके लिये तैयार रहता हो, अपने काम छोड़कर भी गुरुके काममें लगा रहनेवाला हो; जो गुरुके पास दासकी भाँति निवास करता हो, शिशुके समान आज्ञा पालन करता हो और दिन-रात गुरुभक्तिमें डूबा रहता हो; जो मन, वाणी, शरीर और कर्मसे गुरुकी आज्ञाका पालन करता हो— वही शिष्यरूपमें स्वीकार करनेयोग्य है, दूसरा नहीं। जो मन्त्र और पूजाके रहस्योंको गुप्त रखता है, त्रिकाल नमस्कार करता है और शास्त्रीय आचारके तत्त्वोंको जानता है वही शिष्यरूपसे स्वीकार करनेयोग्य है, दूसरा नहीं। क्योंकि जो इन गुणोंसे युक्त होता है, वही शिष्य होता है।'

इन लक्षणोंके स्वाध्यायसे मालूम होता है कि शिष्यका अधिकार कितना ऊँचा होता है। गुरुके सामने किस प्रकार रहना चाहिये, इसके लिये शास्त्रोंमें कहा है—

प्रणम्योपविशेत्पार्श्वे तथा गच्छेदनुज्ञया।
मुखावलोकी सेवेत कुर्यादादिष्टमादरात्॥
असत्यं न वदेदग्रे न बहु प्रलपेदपि।
कामं क्रोधं तथा लोभं मानं प्रहसनं स्तुतिम्॥
चापलानि न जिह्मानि कार्याणि परिदेवनम्।
ऋणदानं तथादानं वस्तूनां क्रयविक्रयम्॥
न कुर्याद्गुरुणा सार्द्धं शिष्यो भूष्णुः कदाचन।

'प्रणाम करके पास बैठे, आज्ञा लेकर वहाँसे जाय, उनकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करता हुआ ही सेवा करे, आदरभावसे उनकी आज्ञाका पालन करे, झूठ न बोले, उनके सामने बहुत न बोले और काम, क्रोध, लोभ, मान, हँसी, स्तुति, चपलता, कुटिलता न करे और न रोवे-चिल्लावे। कल्याणकामी शिष्यको गुरुसे ऋण लेना तथा देना और वस्तुओंका क्रय-विक्रय भी नहीं करना चाहिये।'

गुरुके प्रति शिष्यके हृदयमें जितनी श्रद्धा, प्रेम और उनके महत्त्वका ज्ञान रहता है, उन्हींके अनुसार उनसे शिष्यका व्यवहार होता है। शास्त्रोंमें गुरु-महिमा और शिष्य-लक्षणका इतना विस्तार है और उनका इतना अवान्तर भेद है कि यदि संक्षेपसे भी उनका उद्धरण दिया जाय तो एक बहुत बड़ा ग्रन्थ तैयार हो सकता है। संक्षेपमें इतना समझ लेना चाहिये कि गुरुके बिना उपासनामार्गके रहस्य नहीं मालूम होते और न उसकी अड़चनें दूर होती हैं। जो उपासना करना चाहता है, वह गुरुके बिना एक पग भी नहीं बढ़ सकता। गुरुके सन्तोषमें ही शिष्यकी पूर्णता है। जिह्वापर 'गुरु' शब्दके आते ही वह गद्गद हो जाता है। गुरुको स्मरण करानेवाली वस्तुको देखकर वह लोट-पोट होने लगता है। गुरुके स्मरणमें ही समस्त देवताओंका स्मरण अन्तर्भूत है। गुरु सबसे श्रेष्ठ हैं। गुरु साक्षात् भगवान् हैं। गुरु-पूजा ही भगवत्पूजा है। गुरु, मन्त्र और इष्ट देवता— ये तीन नहीं, एक हैं। गुरुके बिना शेष दोकी प्राप्ति असम्भव है। शिष्य अधिकारहीन होनेपर भी यदि सद्गुरुकी शरणमें पहुँच जाय तो वे उसे अधिकारी बना लेते हैं। पारसका स्वभाव ही लोहेको सोना बनाना है। इसलिये जिनके हृदयमें भगवत्प्राप्तिकी इच्छा है, जो वास्तवमें साधना करना चाहते हैं, उनके लिये श्रीगुरुदेवकी शरणमें जाना सर्वप्रथम कर्तव्य है।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

शा०

सहजो क्रोधी अति बुरो, उलटी समझै बात।
सबही सूँ ऐंठो रहै, करै बचन की घात॥
कूकर ज्यों भूसत फिरै तामस मिलवाँ बोल।
घर बाहर दुख रूप है, बुधि रहै डाँवाडोल॥

(सहजोबाई)

दीक्षा और अनुशासन

'आचार्याद्धैव विदिता विद्या साधिष्ठं प्रापत्।'

श्रीगुरुदेवकी कृपा और शिष्यकी श्रद्धा—इन दो पवित्र धाराओंका संगम ही दीक्षा है। गुरुका आत्मदान और शिष्यका आत्मसमर्पण एककी कृपा और दूसरेकी श्रद्धाके अतिरेकसे ही सम्पन्न होता है। दान और क्षेप—यही दीक्षाका अर्थ है। ज्ञान, शक्ति और सिद्धिका दान एवं अज्ञान, पाप और दारिद्र्यका क्षय; इसीका नाम दीक्षा है। सभी साधकोंके लिये यह दीक्षा अनिवार्य है। चाहे जन्मोंकी देर लगे; परन्तु जबतक ऐसी दीक्षा नहीं होगी, तबतक सिद्धिका मार्ग रुका ही रहेगा। यदि समस्त साधकोंका अधिकार एक होता, यदि साधनाएँ बहुत नहीं होतीं और सिद्धियोंके बहुत-से स्तर न होते तो यह भी सम्भव था कि बिना दीक्षाके ही परमार्थकी प्राप्ति हो जाती; परन्तु ऐसा नहीं है। इस मनुष्य-शरीरमें कोई पशु-योनिसे आया है और कोई देवयोनिसे; कोई पूर्वजन्ममें साधनासम्पन्न होकर आया है और कोई सीधे नरककुण्डसे; किसीका मन सुप्त है और किसीका जागरित; ऐसी स्थितिमें सबके लिये एक मन्त्र, एक देवता और एक ध्यान हो ही नहीं सकते। यह सत्य है कि सिद्ध, साधक, मन्त्र और देवताओंके रूपमें एक ही भगवान् प्रकट हैं; फिर भी किस हृदयमें, किस देवता और मन्त्रके रूपमें उनकी स्फूर्ति सहज है—यह जानकर उसी रूपमें उनको स्फुरित करना, यह दीक्षाकी विधि है।

दीक्षा एक दृष्टिसे गुरुकी ओरसे आत्मदान, ज्ञानसंचार अथवा शक्तिपात है तो दूसरी दृष्टिसे शिष्यमें सुषुप्त ज्ञान और शक्तियोंका उद्‌बोधन है। दीक्षासे ही शरीरकी समस्त अशुद्धियाँ मिट जाती हैं और देहशुद्धि होनेसे देवपूजाका अधिकार मिल जाता है। 'गुरु और शिष्य' शीर्षक निबन्धमें यह बात कही गयी है कि वास्तवमें गुरु एक हैं और उन्हींसे चारों ओर शक्तिका विस्तार हो रहा है। यदि परम्पराकी दृष्टिसे देखें तो मूल पुरुष परमात्मासे ही ब्रह्मा, रुद्र आदिके क्रमसे ज्ञानकी परम्परा चली आयी है और एक शिष्यसे दूसरे शिष्यमें संक्रान्त होकर वही वर्तमान गुरुमें भी है। इसीका नाम सम्प्रदाय है और गुरुके द्वारा इसी अविच्छिन्न साम्प्रदायिक ज्ञानकी प्राप्ति होती है। क्योंकि मूलशक्ति ही क्रमशः प्रकाशित होती आयी है। उससे हृदयस्थ सुप्त शक्तिके जागरणमें बड़ी सहायता मिलती है और यही कारण है कि कभी-कभी तो जिनके चित्तमें बड़ी भक्ति है, व्याकुलता और सरल विश्वास है, वे भी भगवत्कृपाका उतना अनुभव नहीं कर पाते जितना कि शिष्यको दीक्षासे होता है।

दीक्षा बहुत बार नहीं होती, क्योंकि एक बार रास्ता पकड़ लेनेपर आगेके स्थान स्वयं ही आते रहते हैं। पहली भूमिका स्वयं ही दूसरी भूमिकाके रूपमें पर्यवसित होती है। साधनाका अनुष्ठान क्रमशः हृदयको शुद्ध करता जाता है और उसीके अनुसार सिद्धियोंका उदय एवं ज्ञानका सान्निध्य भी प्राप्त होता जाता है। ज्ञानकी पूर्णता ही साधनकी पूर्णता है। शिष्यके अधिकारभेदसे ही मन्त्र और देवताका भेद होता है। जैसे सद्वैद्य रोगका निर्णय होनेके पश्चात् ही औषधका प्रयोग करते हैं, रोगनिर्णयके बिना औषधका प्रयोग निरर्थक है, वैसे ही साधकके लिये मन्त्र और देवताके निर्णयमें भी होता है। यदि रोगका निर्णय ठीक हो, औषध और उसका व्यवहार नियमितरूपसे हो, रोगी कुपथ्य न करे तो औषधका फल प्रत्यक्ष देखा जाता है। इसी प्रकार साधकके लिये उसके पूर्वजन्मकी साधनाएँ, उसके संस्कार, उसकी वर्तमान वासनाएँ जानकर उसके अनुकूल मन्त्र और देवताका निर्णय किया जाय और साधक उन नियमोंका पालन करे तो वह बहुत थोड़े परिश्रमसे और बहुत शीघ्र ही सिद्धि-लाभ कर सकता है।

जिस प्रकार ज्यौतिष शास्त्रमें वर-वधूके सम्बन्धका निर्णय करनेके लिये नाड़ी, मैत्री, भकूट आदिका विचार करना पड़ता है, वैसे ही मन्त्र और देवताके सम्बन्धमें भी विचार किया जाता है। ऋणी-धनी नक्षत्र, राशि, कुलाकुल, सिद्धारि चक्रोंका विचार दूसरे लेखका विषय है। यहाँ संक्षेपसे दीक्षाके भेद-प्रभेदपर लिखा जाता है।

सामान्यतः दीक्षाके तीन भेद माने जाते हैं-शाक्ती, शाम्भवी और मान्त्री। मान्त्री दीक्षा ही रुद्रयामल आदि ग्रन्थोंमें आणवीके नामसे प्रसिद्ध है। शाक्ती दीक्षाका विवरण करते हुए कहा गया है कि परम चेतनरूपा कुण्डलिनी ही शक्ति है। उसको जागरित करके ब्रह्मनाडीमेंसे होकर परम शिवमें मिला देना ही शाक्ती दीक्षा है। इस दीक्षामें श्रीगुरुदेव शिष्यके अन्तर्देहमें प्रवेश करके कुण्डलिनी

शक्तिको जागरित करते हैं और अपनी शक्तिसे ही उसको मिला देते हैं। इसमें शिष्यको अपनी ओरसे कोई भी क्रिया नहीं करनी पड़ती।

शाम्भवी दीक्षाका विवरण वायवीय-संहितामें इस प्रकार मिलता है-'श्रीगुरुदेव अपनी प्रसन्नतासे दृष्टि अथवा स्पर्शके द्वारा एक क्षणमें ही स्वरूप स्थित कर देते हैं।' रुद्रयामलमें कहा गया है कि भगवान् शम्भुके चरणद्वयसे सम्भूत दीक्षा ही शाम्भवी दीक्षा है। चरणद्वयका अर्थ है—शिव और शक्ति दोनोंके चरण। सहस्रदल कमलकी कर्णिकापर चन्द्रमण्डलकी सुधाधारासे आप्लावित उन चारों चरणोंका चिन्तन करना चाहिये। तीन चरण तीन गुणोंके द्योतक हैं एवं चौथा निर्वाण तथा परमानन्दस्वरूप है। उनके वर्ण शुक्ल, रक्त, मिश्र एवं वर्णातीत हैं। गुरुकी दृष्टिमात्रसे शिष्यका सहस्रार प्रफुल्लित हो जाता है और वह समाधिस्थ होकर कृतकृत्य हो जाता है।

मान्त्री दीक्षा अथवा आणवी दीक्षा मन्त्र, पूजा, आसन, न्यास, ध्यान आदिसे सम्पन्न होती है। इसमें गुरुदेव शिष्यको मन्त्रोपदेश करते हैं। उपर्युक्त दोनों दीक्षाओंसे तत्काल सिद्धि प्राप्त हो जाती है, परन्तु मान्त्री दीक्षासे उसका अनुष्ठान करनेपर क्रमशः सिद्धि-लाभ होता है। फल सबका एक ही है। सभी साधक शक्तिपातके पात्र नहीं हो सकते। मान्त्री दीक्षासे शक्तिपातकी पात्रता प्राप्त होती है और मन्त्रदेवतात्मक शक्तिसे सिद्धि भी प्राप्त होती है।

कहीं-कहीं आणवी दीक्षाके दस भेद मिलते हैं, यथा—स्मार्ती, मानसी, यौगी, चाक्षुषी, स्पार्शिकी, वाचिकी, मान्त्रिकी, हौत्री, शास्त्री और अभिषेचिका।

स्मार्ती दीक्षा जब गुरु और शिष्य दोनों भिन्न-भिन्न देशमें स्थित हों, तब होती है। गुरु शिष्यका स्मरण करता है और उसके त्रिविध पापोंका विश्लेषण करके उन्हें भस्म कर देता है और पुनः दिव्य पुरुषकी सृष्टि करके भूतशुद्धिमें वर्णित लययोगके क्रमसे उसे परम शिवमें स्थित कर देता है। मानसी दीक्षाका प्रकार भी स्मार्ती दीक्षाके समान ही है। अन्तर केवल इतना है कि स्मार्ती दीक्षामें शिष्य और गुरु पास-पास नहीं रहते और मानसी दीक्षामें दोनोंकी उपस्थिति रहती है। यौगी दीक्षा उसे कहते हैं, जिसमें योगी गुरु योगोक्त पद्धतिसे शिष्यके शरीरमें प्रवेश करके उसकी आत्माको अपने शरीरमें लाकर एक कर लेता है। चाक्षुषी दीक्षामें श्रीगुरुदेव 'मैं स्वयं परम शिव हूँ' ऐसा निश्चय करके करुणार्द्र दृष्टिसे शिष्यकी ओर देखते हैं। इतनेसे ही शिष्यके सारे दोष नष्ट हो जाते हैं और वह दिव्यत्वको प्राप्त हो जाता है। स्पार्शिकी दीक्षाका विधान यह है कि गुरु पहले अपने दाहिने हाथपर सुगन्धद्रव्यद्वारा मण्डलका निर्माण करे, तत्पश्चात् वह उसपर विधिपूर्वक भगवान् शिवकी पूजा करे। इस प्रकार वह 'शिवहस्त' हो जाता है। 'मैं स्वयं परम शिव हूँ' यह निश्चय करके श्रीगुरुदेव असन्दिग्ध चित्तसे शिष्यके सिरका स्पर्श करते हैं। उस 'शिवहस्त' के स्पर्शमात्रसे शिष्यका शिवत्व अभिव्यक्त हो जाता है। वाचिकी दीक्षामें गुरुदेव पहले अपने गुरुका चिन्तन करते हैं। अपने मुखको उनका मुख समझ कर शिष्यके शरीरमें न्यासादि करके विधि-विधानके साथ मन्त्र-दान करते हैं। मान्त्रिकी दीक्षामें गुरुदेव स्वयं अन्तर्न्यास, बहिर्न्यास आदि करके मन्त्र-शरीर हो जाते हैं और अपने शरीरमेंसे शिष्यके शरीरमें मन्त्रका संक्रमण चिन्तन करते हैं। हौत्री दीक्षामें पहले कुण्डमें या वेदीपर अग्निस्थापन होता है। वहाँ षडध्वाका संशोधन करके होमसे ही दीक्षा सम्पन्न होती है। षडध्वाका संशोधन दूसरे लेखका विषय है। शास्त्री दीक्षा सामग्रीसे सम्पन्न नहीं होती। भगवत्पूजाके प्रेमी, भक्त, सेवापरायण शिष्यको उसकी योग्यताके अनुसार शास्त्रीय पदोंके द्वारा दीक्षा दी जाती है। अभिषेचिका दीक्षाका प्रकार यह है कि पहले गुरुदेव एक घटमें शिव और शक्तिकी पूजा करते हैं, फिर उसके जलसे शिष्यका अभिषेक करते हैं। यही अभिषेचिका दीक्षा है। ये सब शक्तिपातके प्रकारभेद हैं।

शारदापटलमें दीक्षाके चार भेदोंका विस्तारसे वर्णन है। वे चार भेद हैं—क्रियावती, वर्णमयी, कलावती और वेधमयी। क्रियावती दीक्षामें कर्मकाण्डका पूरा उपयोग होता है। स्नान, सन्ध्या, प्राणायाम, भूतशुद्धि, न्यास, ध्यान, पूजा, शंखस्थापन आदिसे लेकर शास्त्रोक्त पद्धतिसे हवनपर्यन्त कर्म किये जाते हैं। षडध्वाके शोधनक्रमसे पृथक्-पृथक् आहुति देकर शिवमें विलीन करके पुनः सृष्टिक्रमसे शिष्यका चैतन्य-योग सम्पादित होता है। गुरु शिष्यसे अपनी एकताका अनुभव करता हुआ आत्मविद्याका दान करता है। गुरु-मन्त्र प्राप्त करके शिष्य धन्य-धन्य हो जाता है।

वर्णमयी दीक्षा न्यासरूपा है। अकारादि वर्ण प्रकृति-पुरुषात्मक हैं। शरीर भी प्रकृति-पुरुषात्मक होनेके कारण वर्णात्मक ही है। इसलिये पहले समस्त शरीरमें वर्णोंका सविधि न्यास किया जाता है। श्रीगुरुदेव अपनी आज्ञा

और इच्छा-शक्तिसे उन वर्णोंको प्रतिलोमविधिसे अर्थात् संहार-क्रमसे विलीन कर देते हैं। यह क्रिया सम्पन्न होते ही शिष्यका शरीर दिव्य हो जाता है और गुरुके द्वारा वह परमात्मामें मिला दिया जाता है। ऐसी स्थिति होनेके पश्चात् श्रीगुरुदेव पुनः शिष्यको पृथक् करके दिव्य शरीरकी सृष्टिक्रमसे रचना करते हैं। शिष्यमें परमानन्दस्वरूप दिव्य भावका विकास होता है और वह कृतकृत्य हो जाता है।

कलावती दीक्षाकी विधि निम्नलिखित है। मनुष्यके शरीरमें पाँच प्रकारकी शक्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। पैरके तलवेसे जानुपर्यन्त निवृत्ति-शक्ति है, जानुसे नाभिपर्यन्त प्रतिष्ठा-शक्ति है, नाभिसे कण्ठपर्यन्त विद्या-शक्ति है, कण्ठसे ललाटपर्यन्त शान्ति-शक्ति है, ललाटसे शिखापर्यन्त शान्त्यतीत कला-शक्ति है। संहार-क्रमसे पहलीको दूसरीमें, दूसरीको तीसरीमें और अन्ततः कलाको शिवमें संयुक्त करके शिष्य शिवरूप कर दिया जाता है। पुनः सृष्टि-क्रमसे इसका विस्तार किया जाता है और शिष्य दिव्य भावको प्राप्त होता है।

वेधमयी दीक्षा षट्चक्रवेधन ही है। जब गुरु कृपा करके अपनी शक्तिसे शिष्यका षट्चक्रभेद कर देते हैं, तब इसीको वेधमयी दीक्षा कहते हैं। गुरु पहले शिष्यके छः चक्रोंका चिन्तन करते हैं और उन्हें क्रमशः कुण्डलिनी शक्तिमें विलीन करते हैं। छः चक्रोंका विलयन बिन्दुमें करके तथा बिन्दुको कलामें, कलाको नादमें, नादको नादान्तमें, नादान्तको उन्मनीमें, उन्मनीको विष्णुमुखमें और तत्पश्चात् गुरुमुखमें संयुक्त करके अपने साथ ही उस शक्तिको परमेश्वरमें मिला देते हैं। गुरुकी इस कृपासे शिष्यका पाश छिन्न-भिन्न हो जाता है। उसे दिव्य बोधकी प्राप्ति होती है और वह सब कुछ प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार यह वेधमयी दीक्षा सम्पन्न होती है।

इसके अतिरिक्त एक पंचायतनी दीक्षा भी होती है। इसमें शक्ति, विष्णु, शिव, सूर्य और गणेश—इन पाँचोंकी पूजा होती है। पाँचोंके पृथक्-पृथक् यन्त्र बनते हैं। जिसकी प्रधानता रखनी होती है, उसको मध्यमें स्थापित करते हैं; शेष देवताओंको चार कोनोंपर। जैसे शक्तिको बीचमें स्थापित करें तो ईशानमें विष्णु, अग्निमें शिव, नैर्ऋत्यमें गणेश और वायुकोणमें सूर्यकी पूजा की जाती है। यदि मध्यमें विष्णु हों तो ईशानमें शिव, अग्निमें गणेश, नैर्ऋत्यमें सूर्य और वायुकोणमें शक्तिकी पूजा की जाती है। यदि मध्यमें शंकर हों तो ईशानमें विष्णु, अग्निमें सूर्य, नैर्ऋत्यमें गणेश और वायुकोणमें शक्तिकी पूजा की जाती है। यदि मध्यमें सूर्य हों तो ईशानमें शिव, अग्निमें गणेश, नैर्ऋत्यमें विष्णु और वायुकोणमें शक्तिकी पूजा की जाती है। यदि मध्यमें गणेश हों तो ईशानमें विष्णु, अग्निमें शिव, नैर्ऋत्यमें सूर्य और वायुकोणमें शक्तिकी पूजा की जाती है। गणेश-विमर्शिनीमें कहा गया है कि क्रम-भंग करनेपर सिद्धि नहीं मिलती। गौतमीय तन्त्र और रामार्चनचन्द्रिकाके अनुसार इनमें उलट-फेर भी किया जा सकता है। सविधि पूजा करके पुष्पाञ्जलि दी जाती है। इस पंचायतन-पूजाकी विधि और मन्त्र गुरुसे प्राप्त होते हैं। तारा, छिन्नमस्ता आदि कुछ देवताओंकी पंचायतनी दीक्षा नहीं होती।

शास्त्रोंमें, विशेष करके तन्त्रग्रन्थोंमें क्रम-दीक्षाका भी वर्णन आया है। इसकी बड़ी महिमा है। इसमें शुद्धि तथा सिद्धारिचिन्तन आदिकी कोई आवश्यकता नहीं होती, यह केवल गुरुकृपा-साध्य है। दिन, महीना अथवा वर्षके क्रमसे दीक्षा और अभिषेक होते हैं। क्रमशः साधकका अधिकार बढ़ता जाता है और वह एक दीक्षासे दूसरी दीक्षाके स्तरमें पहुँचता जाता है। इस दीक्षाकी पद्धति साधारण लोगोंके लिये उपयोगी नहीं है। इसलिये गुरु और शास्त्रके द्वारा ही इसका अधिगम प्राप्त करना चाहिये। इसी प्रकार आम्नायभेदसे भी दीक्षाका भेद होता है। वैदिक दीक्षा, तान्त्रिक दीक्षा, मिश्र दीक्षा, स्त्री दीक्षा, भाव दीक्षा, स्वप्न दीक्षा, महा दीक्षा आदि अनेकों प्रकारकी दीक्षाएँ हैं, जो भगवत्कृपाके फलस्वरूप अधिकारी साधकोंको प्राप्त होती हैं। बिना दीक्षा लिये कोई दीक्षाका महत्त्व जान नहीं सकता।

यह सत्य है कि वर्तमान समयमें दीक्षा एक प्रथामात्र रह गयी है। न शिष्यमें साधनाकी ओर प्रवृत्ति है और न गुरुमें साधनाकी शक्ति। फिर दीक्षाका उज्ज्वल रहस्य लोगोंकी विषयोन्मुख बुद्धिमें किस प्रकार आ सकता है। परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि अब कोई योग्य सद्गुरु हैं ही नहीं। जो अधिकारी पुरुष उनकी खोज करता है, उसे वे मिलते हैं और वैसी ही दीक्षा सम्पन्न होती है जैसी कि प्राचीन समयमें होती थी। हाँ, जो लोग इतना परिश्रम नहीं करना चाहते, उनके लिये साधनाकी अपेक्षा भजनकी प्रणाली अधिक सुगम है। वे आर्त्त भावसे भगवान्‌से प्रार्थना करते रहें, श्रद्धा और प्रेमसे उनका नाम लेते रहें, जिस संतके प्रति उनका विश्वास हो उसका संग और आज्ञापालन करते रहें।

एक-न-एक दिन उनका मार्ग भी तै हो ही जायगा। यदि आवश्यकता होगी, उनका अधिकारी होगा तो एक-न-एक दिन उन्हें सद्‌गुरु और दीक्षाकी प्राप्ति होगी।

दीक्षाके पश्चात् गुरु शिष्यके प्रति मर्यादाओंका उपदेश करते हैं। शास्त्रोंमें उसे 'समय' कहा गया है। 'श्रीहरिभक्तिविलास' नामक ग्रन्थमें विष्णुयामलके चार सौ नियमोंका उल्लेख है, जिनके पालनसे ही दीक्षाका पूर्ण फल मिलता है। उन सबका उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं है। यहाँ श्रीनारदपांचरात्रके कुछ श्लोक उद्धृत किये जाते हैं—

स्वमन्त्रो नोपदेष्टव्यो वक्तव्यश्च न संसदि।
गोपनीयं तथा शास्त्रं रक्षणीयं शरीरवत्॥
वैष्णवानां परा भक्तिराचार्याणां विशेषतः।
पूजनं च यथाशक्ति तानापन्नांश्च रक्षयेत्॥
प्राप्तमायतनाद्विष्णोः शिरसा प्रणतो वहेत्।
निक्षिपेदम्भसि ततो न पतेदवनौ यथा॥
सोमसूर्यान्तरस्थं च गवाश्वत्थाग्निमध्यगम्।
भावयेद्दैवतं विष्णुं गुरुविप्रशरीरगम्॥
प्रदक्षिणे प्रयाणे च प्रदाने च विशेषतः।
प्रभाते च प्रवासे च स्वमन्त्रं बहुशः स्मरेत्॥
स्वप्ने वाक्षिसमक्षं वा आश्चर्यमतिहर्षदम्।
अकस्माद् यदि जायेत न ख्यातव्यं गुरोर्विना॥

'अपने मन्त्रका किसीको उपदेश नहीं करना, सभामें नहीं कहना, पूजाविधिको गुप्त रखना और इस विषयके शास्त्रकी शरीरकी भाँति रक्षा करना, वैष्णवों और आचार्योंसे विशुद्ध प्रेम रखना और उनकी पूजा करना, आपद्‌ग्रस्त होनेपर उनकी यथाशक्ति सेवा करना, भगवान्‌के मन्दिरसे पुष्पमाल्यादि प्राप्त हो जाय तो उसे सिरपर धारण करना और जमीनपर न गिराकर पानीमें डाल देना, सूर्य, चन्द्रमा, गौ, पीपल, अग्नि, ब्राह्मण और गुरुजनोंमें अपने इष्टदेव भगवान्‌का दर्शन करना, प्रदक्षिणा, यात्रा एवं विदेशमें, प्रात:काल और दानके समय विशेषरूपसे बार-बार भगवान्‌का स्मरण करना। स्वप्नमें अथवा आँखोंके सामने यदि कोई आश्चर्यजनक और आनन्ददायक दृश्य आ जाय तो गुरुके अतिरिक्त और किसीसे नहीं कहना।'

इस प्रकार साधक-जीवनके लिये उपयोगी बहुत-सी बातें गुरु बताते हैं। शिष्य उन्हें धारण करता है और वैसे ही अपना जीवन बनाता है। उपासनाकाण्ड साधनसापेक्ष है। इसमें इष्टदेवके स्वरूप और साधन-पद्धतिके ज्ञानमात्रसे ही कल्याण नहीं होता। उनका ज्ञान प्राप्त करके अनुष्ठान करना पड़ता है। जो शिष्य सद्‌गुरुसे सम्प्रदायानुगत दीक्षा प्राप्त करके उसका अनुष्ठान करता है, उसको अवश्य ही सिद्धि-लाभ होता है। उसकी परम्परामें कभी कोई अज्ञानी नहीं होता।

'नास्याब्रह्मवित् कुले भवति।'

शा०

राम ही राम

बैठत राम हि ऊठत राम हि बोलत राम हि राम रह्यो है।
जीमत राम हि पीवत राम हि धीमत राम हि राम गह्यो है॥
जागत राम हि सोवत राम हि जोवत राम हि राम लह्यो है।
देत हु राम हि लेत हु राम हि सुन्दर राम हि राम कह्यो है॥
श्रोत्र हु राम हि नेत्र हु राम कि बक्त्र हु राम हि राम हि गाजै।
सीस हु राम हि हाथ हु राम हि पाव हु राम हि राम हि साजै॥
पेट हु राम हि पीठ हु राम हि रोम हु राम हि राम हि बाजै।
अन्तर राम निरन्तर राम हि सुन्दर राम हि राम बिराजै॥

(सुन्दरदासजी)

भूतशुद्धि

भूतशुद्धिका अर्थ है अव्यय ब्रह्मके संयोगसे शरीरके रूपमें परिणत पंचभूतोंका शोधन। भावनाशक्ति और मन्त्रशक्तिके संयोगसे क्रियाविशेषद्वारा शरीरस्थ मलिन भूतोंको भस्म करके, नवीन दिव्य भूतोंका निर्माण करने और स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीरके शोधनमें ही इस क्रियाका तात्पर्य है। चित्तशुद्धिके लिये जितनी क्रियाओंका निर्देश किया गया है, उनमें इस क्रियाका स्थान सर्वोपरि है। वसिष्ठसंहितामें तो यहाँतक कहा गया है कि इसके बिना जप-पूजादि कृत्य निरर्थक हो जाते हैं। वास्तवमें ऐसी ही बात है। जबतक शरीर अशुद्ध रहेगा, मनमें पापभावनाएँ रहेंगी, तबतक एकाग्रभावसे किसीकी पूजा, ध्यान आदि कैसे किये जा सकते हैं। भूतशुद्धिके संक्षेप और विस्तारभेदसे कई प्रकार हैं। उनमेंसे कुछ थोड़े-से यहाँ लिखे जाते हैं।

स्नान, सन्ध्या आदि नित्य कृत्योंसे निवृत्त होकर ध्यानके स्थानपर आवे और वहाँ आसनपर बैठकर आचमनादि आवश्यक कृत्य करके अपने चारों ओर जल छिड़के और ऐसी भावना करे कि मेरे चारों तरफ अग्निकी एक दिव्य चहारदीवारी है—ऐसा करते समय अग्निबीज 'रं' का जप करता रहे और मेरा आसन दृढ़ एवं शरीर स्थिर है, परमात्माकी कृपासे कोई विघ्न-बाधा मुझे अपने संकल्पसे विमुख नहीं कर सकेगी। इसके पश्चात् भूतशुद्धिका संकल्प करे—

'ओम् अद्येत्यादि······देवपूजाद्यधिकारसिद्ध्ये भूतशुद्ध्याद्यहं करिष्ये।'

तत्पश्चात् कुण्डलिनीका चिन्तन करे। कुण्डलिनी सहस्त्र-सहस्त्र विद्युत्की कान्तिके समान देदीप्यमान है और कमलनालगत तन्तुके समान सूक्ष्म एवं सर्पाकार है। वह मूलाधारचक्रमें[१] सोती रहती है। अब वह जग गयी है और क्रमश: स्वाधिष्ठान और मणिपूरचक्रका भेदन करके सुषुम्णामार्गसे हृदयस्थित अनाहतचक्रमें आ गयी है। हृदयमें दीपशिखाके समान आकारवाला जीव निवास करता है। उसे उसने अपने मुखमें ले लिया और कण्ठस्थ विशुद्धचक्र तथा भ्रूमध्यस्थ आज्ञाचक्रका भेदन करके पूर्वोक्त मार्गसे ही सहस्त्रारमें पहुँच गयी। सहस्त्रारमें परमात्माका निवास है। 'हंस: ' मन्त्रके द्वारा वह कुण्डलिनी जीवात्माके साथ ही परमात्मामें विलीन हो गयी।

इसके बाद ऐसी भावना करनी चाहिये कि शरीरमें पैरके तलवेसे लेकर जानुपर्यन्त पृथ्वीमण्डल है। वह चौकोन है और उसका रंग पीला है। उसीमें पादेन्द्रिय, चलनेकी क्रिया, गन्तव्य स्थान, गन्ध, घ्राण, पृथ्वी, ब्रह्मा, निवृत्तिकला[२] एवं समान वायु निवास करते हैं। इनका स्मरण करके-'**ॐ ह्लां ब्रह्मणे पृथिव्यधिपतये निवृत्तिकलात्मने हुं फट् स्वाहा।**'—इस मन्त्रका उच्चारण करते हुए कुण्डलिनीके द्वारा उन्हें जलस्थानमें विलीन कर देना चाहिये। जानुसे नाभिपर्यन्त श्वेतवर्णका अर्द्धचन्द्राकार जलमण्डल है। उसीमें हस्त-इन्द्रिय, दानक्रिया, दातव्य, रस, रसनेन्द्रिय, जल, विष्णु, प्रतिष्ठाकला और उदान वायु निवास करते हैं। उनका स्मरण करके— '**ॐ ह्लीं विष्णवे जलाधिपतये प्रतिष्ठाकलात्मने हुं फट् स्वाहा।**' —इस मन्त्रका उच्चारण करके कुण्डलिनीके द्वारा उन सबको अग्निस्थानमें विलीन कर देना चाहिये। नाभिसे लेकर हृदयपर्यन्त रक्तवर्णका त्रिकोण अग्निमण्डल है। उसमें पायु-इन्द्रिय, विसर्गक्रिया, विसर्जनीय, रूप, चक्षु, तेज, रुद्र, विद्याकला एवं व्यानवायु निवास करते हैं। उनका स्मरण करके-'**ॐ ह्लूं रुद्राय तेजोऽधिपतये विद्याकलात्मने हुं फट् स्वाहा**' इस मन्त्रका उच्चारण करके कुण्डलिनीके द्वारा वायुमण्डलमें विलीन कर देना चाहिये। हृदयसे भ्रूपर्यन्त काले रंगका गोलाकार छ: विन्दुओंसे चिह्नित वायुमण्डल है। उसमें उपस्थ-इन्द्रिय, आनन्द-क्रिया, उस इन्द्रियका विषय, स्पर्श, स्पर्शका विषय और वायु, ईशान, शान्तिकला एवं अपानवायुका निवास है। उनका स्मरण करके—'**ॐ ह्लैं ईशानाय वाय्वधिपतये शान्तिकलात्मने स्वाहा**' इस मन्त्रका उच्चारण करके आकाशमण्डलमें उनको विलीन कर देना चाहिये। भ्रूमध्यसे ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त स्वच्छ आकाशमण्डल है। उसमें वाग्-इन्द्रिय, वचन-क्रिया, वक्तव्य, शब्द, श्रोत्र, आकाश, सदाशिव, शान्त्यतीतकला और प्राणवायुका निवास है। उनका स्मरण करके—'**ॐ ह्लौं सदाशिवाय आकाशाधिपतये शान्त्यतीतकलात्मने हुं फट् स्वाहा**' इस मन्त्रका उच्चारण करके उन सबको कुण्डलिनीके द्वारा अहंकारमें विलीन कर दे। अहंकारको महत्तत्त्वमें और महत्तत्त्वको शब्दब्रह्मरूपा हृदयशब्दके सूक्ष्मतम अर्थ प्रकृतिमें विलीन कर दे।

१-चक्रोंका विवरण एवं कुण्डलिनीका जागरण दूसरे लेखोंमें देखना चाहिये।

२-कलाओंका वर्णन दीक्षाके प्रसंगमें कलावती दीक्षामें देखना चाहिये।

और प्रकृतिको नित्यशुद्धबुद्धस्वभाव, स्वयंप्रकाश, सत्यज्ञान, अनन्त आनन्दस्वरूप, परम कारण, ज्योति:स्वरूप परब्रह्म परमात्मामें विलीन कर दे।

इसके पश्चात् पापपुरुषका शोषण करनेके लिये विनियोग करे—'**ॐ शरीरस्यान्तर्यामी ऋषिः सत्यं देवता प्रकृतिपुरुषश्छन्दः पापपुरुषशोषणे विनियोगः**'। पहले पापपुरुषका चिन्तन इस प्रकार करना चाहिये—मेरी वाम कुक्षिमें अनादिकालीन पाप मूर्तिमान् पुरुषके रूपमें निवास करता है। उसका शरीर अँगूठेके बराबर है। वह कान्तिहीन है। पाँच महापापोंसे ही उसके शरीरका निर्माण हुआ है—ब्रह्महत्या उसका सिर है, स्वर्णस्तेय (सोनेकी चोरी) दोनों हाथ हैं, सुरापान हृदय है, गुरुतल्पगमन कटि है और इन पापोंसे युक्त पुरुषोंका संसर्ग दोनों पैर हैं; अंग-प्रत्यंग पापसे ही बने हैं। रोम-रोम उपपातक हैं, दाढ़ी और आँखें लाल हैं, उसके हाथोंमें अविवेकका खड्ग और अहंताकी ढाल है, असत्यके घोड़ेपर सवार है, चेहरेसे पिशुनता प्रकट हो रही है, क्रोधके दाँत हैं, कामकी कवच है। गदहेके समान रेंकता है। ऐसा मूढ़ पापपुरुष व्याधिग्रस्त होनेके कारण मरणासन्न हो रहा है। इस प्रकार पापपुरुषका चिन्तन करके उसके शोषणका विनियोग करना चाहिये। **ॐ 'यं'**—यह वायु-बीज है। इसके किष्किन्ध ऋषि हैं, वायु देवता हैं और जगती छन्द है। पापपुरुषके शोषणमें इनका विनियोग है। नाभिके मूलमें षड्विन्दुचिह्नित एक मण्डल है। उस-पर धूम्रवर्णका वायु-बीज '**यं**' रहता है। उसकी ध्वजाएँ चंचल होती रहती हैं और उसमेंसे 'घूं-घूं' शब्द निकलता रहता है। सबको सुखा डालना उसका काम है। इस प्रकार '**यं**' बीजका चिन्तन करके और पूरकके द्वारा सोलह बार उसकी आवृत्ति करके उस बीजसे उठे हुए वायुके द्वारा पापपुरुषको सशरीर सूखा हुआ देखना चाहिये। इसके पश्चात् अग्नि-बीज '**रं**' का चिन्तन करना चाहिये। इसके कश्यप ऋषि, अग्नि देवता और त्रिष्टुप् छन्द हैं। हृदयमें रक्तवर्णका अग्निमण्डल है। उसके देवता रुद्र हैं, विद्याकलाका उसीमें निवास है। उसमें बीज है '**रं**'। ऐसा चिन्तन करके कुम्भकके द्वारा ६४ या ५० बार '**रं**' की आवृत्ति करके पापपुरुषके सूखे हुए शरीरको भस्म कर दे। इसके पश्चात् पूर्वोक्त प्रकारसे वायु-बीज '**यं**' की ३२ बार आवृत्ति करके रेचक प्राणायामके द्वारा पापपुरुषका भस्म उड़ा दे। इसके पश्चात् वरुण-बीज '**वं**' का चिन्तन करे। इसके हिरण्यगर्भ ऋषि हैं, हंस देवता हैं और त्रिष्टुप् छन्द है। सिरमें अर्द्धचन्द्राकार दो श्वेत पद्मवाले वरुणदैवत वरुण-बीज '**वं**' का चिन्तन करना चाहिये और उससे प्रवाहित होनेवाले अमृतसे पिण्डीभूत भस्मको आप्लावित अनुभव करना चाहिये। इसके पश्चात् पृथ्वी-बीज '**लं**' का चिन्तन करे। इसके ऋषि ब्रह्मा हैं, देवता इन्द्र हैं और छन्द गायत्री। आधारमण्डलमें वज्रलाञ्छित पृथ्वी है—चौकोनी, कड़ी, पीली और इन्द्रदैवत। उसपर '**लं**' बीजका चिन्तन करना चाहिये। उसके प्रभावसे शरीरको दृढ़ एवं कठिन चिन्तन करके आकाश-बीज '**हं**' का चिन्तन करना चाहिये। आकाशमण्डल वृत्ताकार, स्वच्छ, शान्त्यतीतकलासे युक्त, आकाशदैवत एवं '**हं**' रूप है। इसकी भावनासे शरीर सावकाश एवं व्यूहित हो जाता है। इसको अपना दिव्य शरीर भावित करके पूर्वोक्त प्रक्रियासे परमात्मामें विलीन तत्त्वोंको पुनः अपने-अपने स्थानपर स्थापित करना चाहिये। इस प्रकार जब सूक्ष्मशरीर और स्थूलशरीरकी दिव्यता सम्पन्न हो जाय, तब '**ॐ सोऽहम्**' इस मन्त्रसे परमात्माकी सन्निधिसे जीवको हृदय-कमलमें ले आवे और ऐसा अनुभव करे कि मैं परमात्माकी सत्ता, शक्ति, कृपा, सान्निध्य और सायुज्यका अनुभव करके परम पवित्र और दिव्य हो गया हूँ। मेरा शरीर पापरहित, नूतन, निर्मल और इष्ट देवताकी आराधनाके योग्य हो गया है। इसके पश्चात् आगेका कार्य-क्रम प्रारम्भ करे।

इसके अतिरिक्त एक संक्षिप्त भूतशुद्धि है, उसका प्रकार निम्नलिखित है—

अथवान्यप्रकारेण भूतशुद्धिर्विधीयते।
धर्मकन्दसमुद्भूतं ज्ञाननालं सुशोभितम्॥
ऐश्वर्याष्टदलोपेतं परवैराग्यकर्णिकम्।
स्वीयहृत्कमले ध्यायेत्प्रणवेन प्रकाशितम्॥
कृत्वा तत्कर्णिकासंस्थं प्रदीपकलिकानिभम्।
जीवात्मानं हृदि ध्यात्वा मूले सञ्चिन्त्य कुण्डलीम्॥
सुषुम्णावर्त्मनात्मानं परमात्मनि योजयेत्।

इस प्रकारसे भूतशुद्धि की जाती है 'हृदयमें एक कमल है, उसका मूल धर्म है और नाल ज्ञान है। आठ प्रकारके ऐश्वर्य उसके दल हैं और परवैराग्य ही कर्णिका है। वह प्रणवके द्वारा उद्भासित हो रहा है। उस कर्णिकापर दीपशिखाके समान ज्योति:स्वरूप जीवात्मा स्थित है। ऐसा ध्यान करके मूलाधारमें कुण्डलिनीका चिन्तन करे। वहाँसे आकर कुण्डलिनी जीवात्माको अपने मुखमें ले लेती है और सुषुम्णा मार्गसे जाकर परमात्मामें मिल

जाती है।' कुछ समयतक इसी अवस्थाका अनुभव करके पुनः जीवात्माको हृदयमें ले आना चाहिये और आगेका विधान करना चाहिये। यह संक्षेप भूतशुद्धि है।

भूतशुद्धिकी ये दोनों प्रणालियाँ साधक-सम्प्रदायमें प्रचलित हैं और मैं ऐसे कई साधकोंको जानता हूँ, जिन्हें इनसे बहुत लाभ हुआ है। एक मित्रने मुझसे कहा था कि भूतशुद्धि करते-करते मेरा चित्त शुद्ध होकर परमात्मामें इस प्रकार लीन हो जाता है और इतने आनन्दका अनुभव करता है कि मैं घण्टों उसी स्थितिमें बैठा रहता हूँ और दूसरी क्रियाका स्मरण ही नहीं होता। एक वयोवृद्ध बाबू साहबने बतलाया था कि इस क्रियाके द्वारा मेरा शरीर नीरोग और अन्तःकरण शुद्ध हो गया है। जिस दिन मेरी भूतशुद्धि ठीक-ठीक सम्पन्न हुई थी, उसके बाद मेरे चित्तमें कभी विकार नहीं आया। उन्हें स्पष्ट अपने शरीरकी दिव्यताका अनुभव होता है। एक स्वामीजीकी तो एकमात्र यही साधना है। उनकी दिव्यताका अनुभव तो उनके दर्शनमात्रसे ही होता है। शरीरके अणु-अणु बदल जाते हैं, इस क्रियाकी प्रशंसा करते हुए उन्होंने स्वयं कहा था।

इन दो प्रणालियोंके अतिरिक्त एक तीसरी प्रणाली भी है, जो एक महात्मासे प्राप्त हुई थी। मैं नहीं जानता किस ग्रन्थमें उसका उल्लेख है, परन्तु उससे बड़ा लाभ होता है। यह सत्य है कि उपर्युक्त प्रणालियोंमें राजयोगकी अनुभूति, लययोगकी भावना, मन्त्रयोगकी शक्ति और हठयोगकी क्रियाएँ विद्यमान हैं। परन्तु इसमें केवल मन्त्र-शक्ति ही है। भावनाका सुन्दर पुट है। राजयोगमें इसकी परिणति है। परन्तु हठयोग बिलकुल नहीं है। उसके चार मन्त्र निम्नलिखित हैं—

१- ॐ भूतशृङ्गाटात् शिरःसुषुम्णापथेन जीवशिवं परमशिवपदे योजयामि स्वाहा।

२- ॐ यं लिङ्गशरीरं शोषय शोषय स्वाहा।

३- ॐ रं सङ्कोचशरीरं दह दह स्वाहा।

४- ॐ परमशिव सुषुम्नापथेन मूलशृङ्गाटम् उल्लस उल्लस, ज्वल ज्वल, प्रज्वल प्रज्वल सोऽहं हंसः स्वाहा।

मन्त्रोक्त अर्थकी भावना करते हुए उपर्युक्त मन्त्रोंकी आवृत्ति कर लेनी चाहिये। कुछ दिनोंतक लगातार श्रद्धापूर्वक अभ्यास करनेसे बड़े विचित्र-विचित्र अनुभव होते हैं और अपनी दिव्यता प्रकट हो जाती है।

इष्टदेव और श्रीगुरुदेवके ध्यानमें जब चित्त तन्मय हो जाता है और उनकी कृपाका अनुभव करके उसीमें उन्मज्जन-निमज्जन करने लगता है तब पवित्रता, शक्ति, शान्ति और आनन्दकी शत-शत धाराएँ उसके सम्पूर्ण 'स्व' को और यही क्यों, निखिल जगत्‌को आप्यायित, आप्लावित अथ च अत्यन्त दिव्य बना देती हैं। जो धीर भावसे साधन करते हैं, उनके जीवनमें ये सब बातें प्रत्यक्ष हैं। इसलिये विशेष लिखनेकी आवश्यकता नहीं। शा०

हरिका बिरह

जनम जनम के बीछुरे, हरि! अब रह्यो न जाय।
क्यों मन कूँ दुख देत हो, बिरह तपाय तपाय॥
काग उड़ावत थके कर, नैन निहारत बाट।
प्रेम सिन्ध में पर्‍यो मन, ना निकसन को घाट॥
बौरी ह्वै चितवत फिरूँ, हरि आवे केहि ओर।
छिन ऊठूँ छिन गिरि परूँ, रामदुखी मन मोर॥
सोवत जागत एक पल, नाहिन बिसरूँ तोहिं।
करुनासागर दयानिधि, हरि लीजै सुधि मोहिं॥

(दयाबाई)

आदर्श-ध्यानयोग

चित्त स्थिर करनेका एक उपाय

(लेखक—पं० श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत)

अनेक ग्रन्थकारोंने आदर्श-ध्यानयोग इस प्रकार बतलाया है—

अपने सामने एक आदर्श या आईना रखे और घीका दीया इस तरह उसके सामने रखे कि उसकी ज्योति दर्पणके मध्यभागपर प्रतिबिम्बित हो। दर्पणके मध्यभागमें सुगन्धित तेलका एक बूँद डाल दे। अनन्तर दर्पणके मध्यभागमें जहाँ ज्योति दिख रही हो, वहाँ उस ज्योतिकी शंखाकृतिपर दृष्टि स्थिर करनेका अभ्यास करे। इस अभ्यासके समय मौन रहे, मनमें कोई विचार न आने दे और बाहरसे आनेवाले शब्दोंकी ओर जिसमें ध्यान न जाय, इसके लिये आगे लिखे अनुसार कर्णमुद्राका उपयोग करे। केसर, इलायची और जायफल समभाग लेकर उसे कूटकर चूर्ण करे और उसे वस्त्रसे छानकर किसी रेशमी कपड़ेके टुकड़ेमें रखकर उसकी पोटली बनाकर इस तरह उसे सीये कि कानमें उसका डाट दिया जा सके। डाट देकर उसपर मोम लगा दे। यह कर्णमुद्रा कानमें लगाकर तब दर्पणमें ज्योतिके प्रतिबिम्बकी शंखाकृतिपर दृष्टि स्थिर करे। शुरू-शुरूमें उष्णताके कारण आँखोंसे गरम पानी जायगा, उसे जाने दे, बंद न करे। लगभग एक सप्ताहके अंदर ही पानीका जाना बंद हो जायगा। पानीसे यदि आँखें बीचहीमें बंद हो जायँ तो कोई हर्ज नहीं। आँखें पोंछकर फिरसे अभ्यास आरम्भ करे। चित्तवृत्तिको स्थिर करके, बिना पलक गिराये जितनी ही अधिक देरतक अभ्यास किया जा सके उतना ही अधिक लाभप्रद है। पहले प्रतिदिन दस-ही-पंद्रह मिनट अभ्यास करे, पीछे धीरे-धीरे घंटे सवा-घंटेतक बढ़ा ले जाय। जब आध घंटेतक चित्तको स्थिर रखकर बिना पलक गिराये एकाग्र दृष्टिसे देखनेका अभ्यास हो जाता है तब इष्टदेवताके दर्शन होते हैं, उनसे सम्भाषण होता है और भूत, भविष्य, वर्तमानका ज्ञान आदि अनेकविध चमत्कार देख पड़ते हैं। परन्तु इन चमत्कारोंमें न फँसकर साधक भगवत्स्वरूपकी भावनाको दृढ रखकर उसका प्रत्यक्ष होते ही उससे तन्मय हो जाय और इस तरह कृतार्थता लाभ करे।*

मन्त्रानुष्ठान

'मन्त्र' शब्दका अर्थ है गुप्त परामर्श। वह श्रीगुरुदेवकी ही कृपासे प्राप्त होता है। मन्त्र प्राप्त होनेपर भी यदि उसका अनुष्ठान न किया जाय, सविधि पुरश्चरण करके उसे सिद्ध न कर लिया जाय तो उससे उतना लाभ नहीं होता जितना होना चाहिये। श्रद्धा, भक्तिभाव और विधिके संयोगसे जब मन्त्रोंके अक्षर अन्तर्देशमें प्रवेश करके एक दिव्य आहिण्डन करने लगते हैं तो उस संघर्षसे जन्म-जन्मान्तरीय पाप-तापोंके संस्कार धुल जाते हैं। जीवकी प्रसुप्त चेतनता जीवन्त, ज्वलन्त एवं जागरितरूपमें चमक उठती है। मन्त्रार्थके साक्षात्कारसे वह कृतकृत्य हो जाता है। जबतक दीर्घकालतक निरन्तर श्रद्धाभावसे मन्त्रका अनुष्ठान नहीं किया जायगा, तबतक प्रेम अथवा ज्ञानके उदयकी कोई सम्भावना ही नहीं है। इस अनुष्ठानमें कुछ नियमोंकी आवश्यकता होती है। यम और नियम ही आन्तरिक एवं बाह्य शान्तिके मूल हैं। इन्हींकी नीवपर अनुष्ठानका प्रासाद प्रतिष्ठित है। इसलिये अनुष्ठान करनेके पूर्व उन्हें जान लेना आवश्यक है। यहाँ संक्षेपमें उनका दिग्दर्शन कराया जाता है।

मन्त्रानुष्ठानके योग्य स्थान

मन्त्रानुष्ठान स्वयं ही करना चाहिये। यह सर्वोत्तम कल्प है। यदि श्रीगुरुदेव ही कृपा करके कर दें तब तो पूछना ही क्या। यदि ये दोनों सम्भव न हों तो परोपकारी, प्रेमी, शास्त्रवेत्ता, सदाचारी ब्राह्मणके द्वारा भी कराया जा सकता है। कहीं-कहीं अपनी धर्मपत्नीसे भी अनुष्ठान करानेकी आज्ञा है; परन्तु ऐसा उसी स्थितिमें करना चाहिये, जब उसे पुत्र हो। अनुष्ठानका स्थान

---

* श्रीपरांजपेद्वारा सम्पादित केकावली (पृ० ६७८), चतुर्थ संस्करण।

निम्नलिखित स्थानोंमेंसे कोई होना चाहिये। सिद्धपीठ, पुण्यक्षेत्र, नदीतट, गुहा, पर्वतशिखर, तीर्थ, संगम, पवित्र जंगल, एकान्त उद्यान, बिल्ववृक्ष, पर्वतकी तराई, तुलसीकानन, गोशाला (जिसमें बैल न हों), देवालय, पीपल या आँवलेके नीचे, पानीमें अथवा अपने घरमें मन्त्रका अनुष्ठान शीघ्र फलप्रद होता है। सूर्य, अग्नि, गुरु, चन्द्रमा, दीपक, जल, ब्राह्मण और गौओंके सामने बैठकर जप करना उत्तम माना गया है। यह नियम सार्वत्रिक नहीं है। मुख्य बात यह है कि जहाँ बैठकर जप करनेसे चित्तकी ग्लानि मिटे और प्रसन्नता बढ़े, वही स्थान सर्वश्रेष्ठ है। घरसे दसगुना गोष्ठ, सौगुना जंगल, हजारगुना तालाब, लाखगुना नदीतट, करोड़गुना पर्वत, अरबों गुना शिवालय और अनन्तगुना गुरुका सन्निधान है। जिस स्थानपर स्थिरतासे बैठनेमें किसी प्रकारकी आशंका अथवा आतंक न हो, म्लेच्छ, दुष्ट, बाघ, साँप आदि किसी प्रकारका विघ्न न डाल सकते हों, जहाँके लोग अनुष्ठानके विरोधी न हों, जिस देशमें सदाचारी और भक्त निवास करते हों, किसी प्रकारका उपद्रव अथवा दुर्भिक्ष न हो, गुरुजनोंकी सन्निधि और चित्तकी एकाग्रता सहजभावसे ही रहती हो, वही स्थान जप करनेके लिये उत्तम माना गया है। यदि किसी साधारण गाँव अथवा घरमें अनुष्ठान करना हो तो पहले कूर्मभगवान्‌का* चिन्तन करना चाहिये। जैसे कूर्मभगवान्‌की पीठपर स्थित मन्दराचलके द्वारा समुद्रमन्थन किया गया था, वैसे ही मैं कूर्माकार भूमिप्रदेशमें स्थित होकर उन्हींके आश्रयसे अमृतत्वकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न कर रहा हूँ। ऐसी भावना करनी चाहिये।

भोजनकी पवित्रता

मन्त्रके साधकको अपने भोजनके सम्बन्धमें पहलेसे ही विचार कर लेना चाहिये; क्योंकि भोजनके रससे ही शरीर, प्राण और मनका निर्माण होता है। जो अशुद्ध भोजन करते हैं, उनके शरीरमें रोग, प्राणोंमें क्षोभ और चित्तमें ग्लानिकी वृद्धि होती है। ग्लान चित्तमें देवता और मन्त्रके प्रसादका उदय नहीं होता। इसके विपरीत जो शुद्ध अन्नका भोजन करते हैं, उनके चित्तके मल और विक्षेप शीघ्र ही निवृत्त हो जाते हैं। अन्नका सबसे बड़ा दोष है न्यायोपार्जित न होना। जो अन्यायसे,बेईमानी, चोरी, डकैती आदि करके अपने शरीरका पालन-पोषण करते हैं, उनकी उस क्रियाके मूलमें ही अशुद्ध मनोवृत्ति रहनेके कारण वह अन्न सर्वथा दूषित रहता है और उसके द्वारा शुद्ध चित्तका निर्माण असम्भवप्राय है। जो लोग अन्याय तो नहीं करते, परन्तु संन्यासी अथवा ब्रह्मचारी न होनेपर भी बिना परिश्रम किये ही दूसरोंका अन्न खाते हैं, उनमें तमोगुणकी वृद्धि होती है; वे अधिकांश आलस्य और प्रमादमें पड़े रहते हैं। उनके चित्तका मल दूर होना भी बड़ा कठिन है। अपनी कमाईके अन्नमें भी जिससे दूसरोंका चित्त दुखता है, उस अन्नसे चित्तकी शुद्धि सम्भव नहीं है। जिस गौका बछड़ा अलग छटपटा रहा है, पेटभर भोजन न मिलनेके कारण जिस गौकी आँखोंसे आँसू गिर रहे हों, उसका न्यायोपार्जित दूध भी चित्तको प्रसन्न कर सकेगा—इसमें सन्देह है। इसलिये भोजनमें सबसे पहले यह बात देखनी चाहिये कि यह वर्णाश्रमोचित परिश्रमसे प्राप्त किया हुआ है या नहीं? इसके उपयोगसे किसीका हक तो नहीं मारा गया है? इसको स्वीकार करनेसे किसीको कष्ट तो नहीं हुआ है? कहीं इसके मूलमें विषादका बीज तो नहीं है? इन बातोंको ध्यानमें रखकर ही भोजनकी व्यवस्था करनी चाहिये।

भोजनमें तीन प्रकारके दोष और माने गये हैं—जातिदोष, आश्रयदोष और निमित्तदोष। जातिदोष वह है, जो स्वभावसे ही कई पदार्थोंमें रहता है। इसके उदाहरणमें प्याज, लहसुन और सलगमको रख सकते हैं। जातिदोष न होनेपर भी स्थानके कारण बहुत-सी वस्तुएँ अपवित्र हो जाती हैं। शुद्ध दूध भी यदि शराबखानेमें रख दिया जाय तो वह अपवित्र हो जाता है। यही आश्रयदोष है। शुद्ध स्थानमें रखी हुई शुद्ध वस्तु भी कुत्ते आदिके स्पर्शसे अशुद्ध हो जाती है। इस प्रकारके दोषका नाम निमित्तदोष है।

साधकका भोजन अवश्य ही इन तीन दोषोंसे रहित होना चाहिये। गौके दही, दूध, घी, श्वेत तिल, मूँग, कन्द, केला, आम, नारियल, आँवला, जड़हन धान, जौ, जीरा, नारंगी आदि हविष्यान्न जो विभिन्न व्रतोंमें उपादेय माने गये हैं, तथा जिस देशमें जिनकी पवित्रता शिष्टसम्मत है उस देशमें वहाँके निवासी वही भोजन कर सकते हैं। मधु, खारी नमक, तेल, पान, गाजर, उड़द, अरहर, मसूर, कोदो, चना, बासी अन्न, रूखा अन्न और वह अन्न, जिसमें कीड़े पड़ गये हों, नहीं खाना चाहिये। काँसेके बर्तनमें भी न खाना चाहिये।

भोजनके सम्बन्धमें एक बात और भी ध्यानमें रखनी चाहिये। जितने भोजनकी आवश्यकता हो, उससे

* कूर्मचक्रका विचार अन्यत्र किया गया है।

कम ही खाया जाय। भोज्य अन्न खूब पका हुआ हो, थोड़ा गरम हो, हृदयदाही न हो। जिससे इन्द्रियोंको अधिक बल और उत्तेजना मिले, पेट बढ़े एवं निद्रा, आलस्य आवें, वह सर्वथा वर्जित है। भगवान् शंकरने एक स्थानपर पार्वतीसे कहा है कि जिनकी जिह्वा परान्नसे जल गयी है, जिनके हाथ प्रतिग्रहसे जले हुए हैं और जिनका मन परस्त्रीके चिन्तनसे जलता रहता है, उन्हें भला मन्त्रसिद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है! जिन्हें भिक्षा लेनेका अधिकार है, उन संन्यासी आदिकोंके लिये भिक्षा परान्न नहीं है। परन्तु वैदिक, सदाचारी, पवित्र एवं कुलीन ब्राह्मणोंसे ही भिक्षा लेनी चाहिये। एक ग्रन्थमें ऐसा उल्लेख मिलता है कि सर्वोत्तम बात तो यही है कि अग्निके अतिरिक्त और कोई भी वस्तु किसीसे न ली जाय। यदि ऐसा सम्भव न हो तो तीर्थके बाहर जाकर पर्वोंको छोड़कर न्यायोपार्जित अन्नकी भिक्षा लेनी चाहिये, सो भी एक दिन खानेभर। जो रागवश इससे अधिक भिक्षा ग्रहण करता है, उसे मन्त्रसिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती।

कुछ आवश्यक बातें

स्त्रीसंसर्ग, उनकी चर्चा तथा जहाँ वे रहती हों वह स्थान छोड़ देना चाहिये। ऋतुकालके अतिरिक्त अपनी स्त्रीका भी स्पर्श करना निषिद्ध है। स्त्री-साधिकाओंके लिये पुरुषोंके सम्बन्धमें भी यही बात समझनी चाहिये। कुटिलता, क्षौर, उबटन, बिना भोग लगाये भोजन और बिना संकल्पके कर्म नहीं करने चाहिये। केवल आँवलेसे अथवा पंचगव्यसे शास्त्रोक्त विधिसे स्नान करना चाहिये। स्नान, आचमन, भोजन आदि मन्त्रोच्चारणके साथ ही हों। यथाशक्ति तीनों समय, दो समय अथवा एक समय स्नान, सन्ध्या और इष्टदेवकी पूजा भी अवश्य करनी चाहिये। स्नान-तर्पण किये बिना, अपवित्र हाथसे, नग्न-अवस्थामें अथवा सिरपर वस्त्र रखकर जप करना निषिद्ध है। जपके समय माला पूरी हुए बिना बातचीत नहीं करनी चाहिये। आवश्यक हो तो जप समाप्त करने और प्रारम्भ करनेके पूर्व आचमन कर लेना चाहिये।

यदि जप करते समय एक शब्दका उच्चारण हो जाय तो एक बार प्रणवका उच्चारण कर लेना चाहिये। यदि वह शब्द कठोर हो तो प्राणायाम भी आवश्यक हो जाता है। यदि कहीं बहुत बात कर जाय, तो आचमन, अंगन्यास करके पुनः माला प्रारम्भ करनी चाहिये। छींक और अस्पृश्य स्थानोंका स्पर्श हो जानेपर भी यही विधान है। जप करते समय यदि शौच, लघुशंका आदिका वेग हो तो उसका निरोध नहीं करना चाहिये; क्योंकि ऐसी अवस्थामें मन्त्र और इष्टका चिन्तन तो होता नहीं, मल-मूत्रका ही चिन्तन होने लगता है। ऐसे समयका जप-पूजनादि अपवित्र होता है। मलिन वस्त्र, केश और मुखसे जप करना शास्त्रविरुद्ध है। जप करते समय इतने कर्म निषिद्ध हैं—आलस्य, जँभाई, नींद, छींक, थूकना, डरना, अपवित्र अंगोंका स्पर्श और क्रोध।

जपमें न बहुत जल्दी करनी चाहिये और न बहुत विलम्ब। गाकर जपना, सिर हिलाना, लिखा हुआ पढ़ना, अर्थ न जानना और बीच-बीचमें भूल जाना—ये सब मन्त्रसिद्धिके प्रतिबन्धक हैं। जपके समय यह चिन्तन रहना चाहिये कि इष्टदेवता, मन्त्र और गुरु एक ही हैं।

जबतक जप किया जाय, यही बात मनमें रहे। पहले दिन जितने जपका संकल्प किया जाय, उतना ही जप प्रतिदिन होना चाहिये। उसे घटाना-बढ़ाना ठीक नहीं। मन्त्र-सिद्धिके लिये बारह नियम हैं—१-भूमिशयन, २-ब्रह्मचर्य, ३-मौन, ४-गुरुसेवन, ५-त्रिकालस्नान, ६-पापकर्मपरित्याग, ७-नित्य पूजा, ८-नित्य दान, ९-देवताकी स्तुति एवं कीर्तन, १०-नैमित्तिक पूजा, ११-इष्टदेव और गुरुमें विश्वास, १२-जपनिष्ठा। जो इन नियमोंका पालन करता है, उसका मन्त्र सिद्ध ही समझना चाहिये।

स्त्री, शूद्र, पतित, व्रात्य, नास्तिक आदिके साथ सम्भाषण, उच्छिष्ट मुखसे वार्तालाप, असत्यभाषण और कुटिलभाषण छोड़ देना चाहिये। किसी भी अनुष्ठानके समय शपथ लेनेसे सब निरर्थक हो जाता है। अनुष्ठान आरम्भ कर देनेपर यदि मरणाशौच या जननाशौच पड़ जाय तो भी अनुष्ठान नहीं छोड़ना चाहिये। अपने आसन, शय्या, वस्त्र आदिको शुद्ध एवं स्वच्छ रखना चाहिये। किसीका गाना, बजाना, नाचना न सुनना चाहिये और न देखना। उबटन, इत्र, फूल-मालाका उपयोग और गरम जलसे स्नान नहीं करना चाहिये। एक वस्त्र पहनकर अथवा बहुत वस्त्र पहनकर एवं पहननेका वस्त्र ओढ़कर और ओढ़नेका वस्त्र पहनकर जप नहीं करना चाहिये। सोकर, बिना आसनके, चलते या खाते समय, बिना माला ढके और सिर ढककर जो जप किया जाता है, अनुष्ठानके जपमें उसकी गिनती नहीं होती। जिसके चित्तमें व्याकुलता, क्षोभ, भ्रान्ति हो, भूख लगी हो, शरीरमें पीड़ा हो, स्थान अशुद्ध एवं अन्धकाराच्छन्न हो, उसे वहाँ जप नहीं करना चाहिये। जूता पहने हुए अथवा पैर फैलाकर जप करना निषिद्ध है। और भी

बहुत-से नियम हैं, उन्हें जानकर यथाशक्ति उनका पालन करना चाहिये। ये सब नियम मानस जपके लिये नहीं हैं। शास्त्रकारोंने कहा है—

अशुचिर्वा शुचिर्वापि गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन्नपि।
मन्त्रैकशरणो विद्वान् मनसैव सदाभ्यसेत्॥
न दोषो मानसे जाप्ये सर्वदेशेऽपि सर्वदा।

अर्थात् 'मन्त्रके रहस्यको जाननेवाला जो साधक एकमात्र मन्त्रकी ही शरण हो गया है, वह चाहे पवित्र हो या अपवित्र, सब समय चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते, मन्त्रका अभ्यास कर सकता है। मानस जपमें किसी भी समय और स्थानको दोषयुक्त नहीं समझा जाता।' कुछ मन्त्रोंके सम्बन्धमें अवश्य ही विभिन्न विधान हैं। उनके प्रसंगमें वे नियम स्पष्ट कर दिये जायँगे।

'माला और उसके संस्कार' शीर्षक लेखमें संक्षेपमें इस बातका निर्देश किया गया है कि जप किस प्रकार सुषुप्त चेतनाको जागरित करके परम तत्त्वसे एक कर देता है। यहाँ उसकी पुनरुक्ति आवश्यक नहीं है। जो लोग आधिदैविक जगत्का रहस्य जानते हैं, वे भलीभाँति इस तत्त्वसे अवगत हैं कि स्थूल जगत्की एक-एक वस्तुके पृथक्-पृथक् अधिष्ठातृ देवता होते हैं और वे जगा लिये जानेपर अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ दे सकते हैं। केवल परमार्थ ही नहीं, इनके द्वारा स्वार्थ भी सिद्ध होता है। इन देवताओंमें अनेकों प्रकारके चमत्कारकी शक्ति रहती है और इनकी सहायतासे अर्थप्राप्ति, धर्मपालन एवं कामोपभोग पूर्णरूपसे किये जा सकते हैं। प्राचीन भारतीयोंके सम्बन्धमें जो बहुत-सी बातें सुनी जाती हैं वे किंवदन्तीमात्र नहीं हैं, पूर्ण सत्य हैं। चाहे अर्वाचीन लोग इसे न मानें, परन्तु वे ही सिद्धियाँ आज भी सम्भव हैं। इन मन्त्रोंमें ऐसी ही शक्ति है, चाहे जो इनका जप करके प्रत्यक्ष फल प्राप्त कर सकता है।

जपकी महिमा और भेद

शास्त्रोंमें जपकी बड़ी महिमा गायी गयी है, सब यज्ञोंकी अपेक्षा जप-यज्ञको श्रेष्ठ बतलाया गया है। जप-यज्ञमें किसी भी बाह्य सामग्री अथवा हिंसा आदिकी आवश्यकता नहीं होती। पद्म एवं नारदीय पुराणमें कहा गया है कि और समस्त यज्ञ वाचिक जपकी तुलनामें सोलहवें हिस्सेके बराबर भी नहीं हैं। वाचिक जपसे सौगुना उपांशु और सहस्रगुना मानस जपका फल होता है। मानस जप वह है, जिसमें अर्थका चिन्तन करते हुए मनसे ही मन्त्रके वर्ण, स्वर और पदोंकी बार-बार आवृत्ति की जाती है। उपांशु जपमें कुछ-कुछ जीभ और होंठ चलते हैं, अपने कानोंतक ही उनकी ध्वनि सीमित रहती है, दूसरा कोई नहीं सुन सकता। वाचिक जप वाणीके द्वारा उच्चारण है। तीनों ही प्रकारके जपोंमें मनके द्वारा इष्टका चिन्तन होना चाहिये। मानसिक स्तोत्र-पाठ और जोर-जोरसे उच्चारण करके मन्त्र-जप, दोनों ही निष्फल हैं। गौतमीय तन्त्रमें कहा गया है कि केवल वर्णोंके रूपमें जो मन्त्रकी स्थिति है, वह तो उसकी जडता अथवा पशुता है। सुषुम्णाके द्वारा उच्चारित होनेपर उसमें शक्तिसंचार होता है। पहले ऐसी भावना करनी चाहिये कि मन्त्रका एक-एक अक्षर चिच्छक्तिसे ओतप्रोत है और परम अमृतस्वरूप चिदाकाशमें उसकी स्थिति है। ऐसी भावना करते हुए जप करनेसे पूजा, होम आदिके बिना ही मन्त्र अपनी शक्ति प्रकाशित कर देते हैं। मन्त्रजप करनेकी यही विधि है कि प्राणबुद्धिसे सुषुम्णाके मूलदेशमें स्थित जीवरूपसे मन्त्रका चिन्तन करके मन्त्रार्थ और मन्त्रचैतन्यके ज्ञानपूर्वक उनका जप किया जाय। कुलार्णवतन्त्रमें भगवान् शंकरने कहा है कि मन एक जगह, शिव दूसरी जगह, शक्ति तीसरी जगह और प्राण चौथी जगह—ऐसी स्थितिमें मन्त्रसिद्धिकी क्या सम्भावना है। इसलिये इन सबको एकत्र चिन्तन करते हुए ही जप करना चाहिये।

मन्त्रमें सूतक और मन्त्रसिद्धिके साधन

मन्त्रमें दो प्रकारके सूतक होते हैं—एक जात-सूतक और दूसरा मृत-सूतक। इन दोनों अशौचोंका भंग किये बिना मन्त्र सिद्ध नहीं होते। इसके भंग करनेकी विधि यह है कि जपके प्रारम्भमें एक सौ आठ बार अथवा असमर्थ होनेपर सात बार ओंकारसे पुटित करके अपने इष्ट मन्त्रका जप कर लेना चाहिये। मन्त्रार्थ और मन्त्रचैतन्यका उल्लेख किया जा चुका है। उनके साथ ही योनिमुद्राका अनुष्ठान करना भी आवश्यक होता है। उसके विकल्पमें भूत-लिपिका विधान होता है, उससे अनुलोम-विलोम पुटित करके मन्त्रजप करनेसे बहुत ही शीघ्र मन्त्र सिद्ध होता है। भूत-लिपिका क्रम निम्नलिखित है—

अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ ह य र व ल ङ क ख घ ग ञ च छ झ ज ण ट ठ ढ ड न त थ

ध द म प फ भ ब श ष स (इसके बाद इष्टमन्त्र; फिर) स ष श ब भ फ प म द ध थ त न ड ढ ठ ट ण ज झ छ च ञ ग घ ख क ङ ल व र य ह औ ओ ऐ ए लृ ऋ उ इ अ।

इस प्रकार एक महीनेतक एक हजार जप करना चाहिये। ऐसा करनेसे मन्त्र जागरित हो जाता है। तीन प्राणायाम पहले और तीन पीछे कर लेने चाहिये। प्राणायामकी साधारण विधि यह है कि चार मन्त्रसे पूरक, सोलह मन्त्रसे कुम्भक और आठ मन्त्रसे रेचक करना चाहिये। जप पूरा हो जानेपर उसको तेज:स्वरूप ध्यान करके इष्ट देवताके दाहिने हाथमें समर्पित कर देना चाहिये। यदि देवीका मन्त्र हो तो बायें हाथमें समर्पण करना चाहिये। प्रतिदिन अथवा अनुष्ठानके अन्तमें जपका दशांश हवन, हवनका दशांश तर्पण, तर्पणका दशांश अभिषेक और यथाशक्ति ब्राह्मणभोजन कराना चाहिये।

होम, तर्पण आदिमेंसे जो अंग पूरा न किया जा सके, उसके लिये और भी जप करना चाहिये। होम न कर सकनेपर ब्राह्मणोंके लिये होमकी संख्यासे चौगुना, क्षत्रियोंके लिये छगुना, वैश्योंके लिये आठगुना जप करनेका विधान है।

स्त्रियोंके लिये वैश्योंके समान ही समझना चाहिये। शूद्र यदि किसी वर्णका आश्रित हो, तब तो उसके लिये अपने आश्रयकी संख्या ही समझनी चाहिये। यदि वह स्वतन्त्र हो तो उसे होमकी संख्यासे दसगुना जप करना चाहिये। अर्थात् एक लाखका अनुष्ठान हो तो होमके लिये भी एक लाख जप करना चाहिये। 'योगिनीहृदय'-में यह संख्या कुछ कम करके लिखी है। ब्राह्मणोंके लिये होम-संख्याका दुगुना, क्षत्रियोंके लिये तिगुना, वैश्योंके लिये चौगुना और शूद्रोंके लिये पाँचगुना है। अनुष्ठानके पाँच अंग हैं—जप, होम, तर्पण, अभिषेक और ब्राह्मणभोजन। यदि होम, तर्पण और अभिषेक न हो सकें तो केवल ब्राह्मणोंके आशीर्वादसे भी काम चल जाता है। स्त्रियोंके लिये तो ब्राह्मणभोजनकी भी उतनी आवश्यकता नहीं है। उन्हें न्यास, ध्यान और पूजाकी भी छूट है, केवल जपमात्रसे ही उनके मन्त्र सिद्ध हो जाते हैं। अनुष्ठानमें दीक्षासम्पन्न ब्राह्मणोंको ही खिलाना चाहिये।

अनुष्ठान पूरा हो जानेपर गुरु, गुरुपुत्र, गुरुपत्नी अथवा उनके वंशजोंको दक्षिणा देनी चाहिये। वास्तवमें यह सब उनकी प्रसन्नताके लिये ही है। जबतक वे प्रसन्न न हों, तबतक परम रहस्यमय ज्ञानकी उपलब्धि नहीं हो सकती। अपने प्रयत्न एवं विचारसे चाहे कोई कितना ही ऊपर क्यों न उठ जाय, वह पूर्णरूपसे सन्देहरहित नहीं हो सकता। इसलिये विशेष करके उपासनाके सम्बन्धमें गुरुके अतिरिक्त और कोई गति ही नहीं है। उनके बिना वह रहस्य और कौन बता सकता है, जिसमें गुरु और शिष्य एक हैं। शिष्य स्वयं गुरुका अस्तित्व कभी मिटा नहीं सकता। केवल गुरु ही अपने गुरुत्वको मिटाकर शिष्यको उसके वास्तविक स्वरूपमें प्रतिष्ठित करते हैं। यह एक ऐसा रहस्य है, जिसे निगुरे नहीं जान सकते। अत: समझना चाहिये कि अनुष्ठानकी पूर्णता गुरुकी प्रसन्नतामें है। एक बार एक मन्त्र सिद्ध हो जानेपर दूसरे मन्त्रोंकी सिद्धिमें किसी प्रकारका विलम्ब नहीं होता, वे निर्विघ्न सिद्ध हो जाते हैं।

इस प्रकार विधि-निषेध आदि जानकर गुरुदेवके आश्रयमें रहते हुए, श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मन्त्रानुष्ठान करनेसे अवश्यमेव मन्त्रसिद्धि होती है—इसमें कोई सन्देह नहीं है। शा०

रामके सन्मुख हो रहो

दरिया गैला जगत से, समझ औ मुख से बोल।
नाम रतन की गाँठड़ी, गाहक बिन मत खोल॥
दरिया साँचा राम है, और सकल ही झूठ।
सनमुख रहिये राम से, दे सबही को पूठ॥

—दरिया साहेब

मन्त्र-साधन

मन्त्र और सिद्धादिशोधन

'ते यथा तत्र वर्त्तेरंस्त्वं तथा तत्र वर्तेथाः।'

जैसे विवाह-सम्बन्ध निश्चित होनेके पूर्व नाड़ी, भकूट आदिका ज्यौतिष शास्त्रके अनुसार विचार किया जाता है, वैसे ही मन्त्र-दीक्षा-निर्णयके पूर्व साधक और मन्त्रके सम्बन्धका विचार भी मन्त्रशास्त्रके अनुसार किया जाता है। इसका विस्तार बहुत है, परन्तु संक्षेपमें कुछ आवश्यक चक्रोंका वर्णन कर दिया जाता है। पहले कुलाकुल चक्रका विचार होता है। पचास वर्णोंको पंचभूतोंके अन्तर्गत करके साधकके नामके साथ विचार किया जाता है और यदि मन्त्रका आदि अक्षर साधकके नामके आदि अक्षरवाली पंक्तिमें ही आता है तो वह मन्त्र और साधक एकदैवत हैं, ऐसा समझना चाहिये। चक्र निम्नलिखित है—

कुलाकुल-चक्र

वायु	अग्नि	भूमि	जल	आकाश
अ आ	इ ई	उ ऊ	ऋ ॠ	ऌ ॡ
ए	ऐ	ओ	औ	अं
क	ख	ग	घ	ङ
च	छ	ज	झ	ञ
ट	ठ	ड	ढ	ण
त	थ	द	ध	न
प	फ	ब	भ	म
य	र	ल	व	श
ष	क्ष	ल	स	ह

यह चक्र पाँच कोष्ठोंमें विभक्त है। ऊपर पाँच तत्त्वोंके नाम लिखे हुए हैं। एक भूतके नीचे जो अक्षर लिखे हुए हैं, वे एकदैवत हैं। साधकके नामका आदि अक्षर और मन्त्रका आदि अक्षर यदि एक ही कोष्ठकमें पड़ते हों तो वह अपने कुलका मन्त्र है और उसे ग्रहण करना चाहिये। यदि एक कोष्ठकमें न पड़ें तो अपने मित्रके कोष्ठकका मन्त्र लिया जा सकता है। जलवर्ण भूमिवर्णका और वायुवर्ण अग्निवर्णका मित्र है। वायुवर्ण भूमिवर्णका एवं अग्निवर्ण जल और भूमिवर्णका शत्रु है। आकाशवर्ण सभी भूतोंका मित्र है। जिन मन्त्रोंके आदि अक्षर शत्रुतत्त्वके वर्णके हों, उन्हें नहीं ग्रहण करना चाहिये।

अब राशि-चक्रका विचार लिखा जाता है। उसका स्वरूप निम्नलिखित है—

राशि-चक्र

राशि-चक्रमे उल्लिखित अक्षरोंके द्वारा अपनी और मन्त्रकी राशि निश्चित करनी चाहिये। फिर अपनी राशिसे मन्त्रकी राशितक गिनकर उसका फलाफल निश्चित करना चाहिये। यदि छठा, आठवाँ अथवा बारहवाँ पड़े तो मन्त्र श्रेष्ठ नहीं है। एक, पाँच और नौ मित्र हैं; दो, छः, दस हितकारी हैं; तीन, सात, ग्यारह पुष्टिकर हैं; चार, आठ, बारह घातक हैं।

इसके पश्चात् नक्षत्र-चक्रका विचार करना चाहिये। उसका स्वरूप निम्नलिखित है—
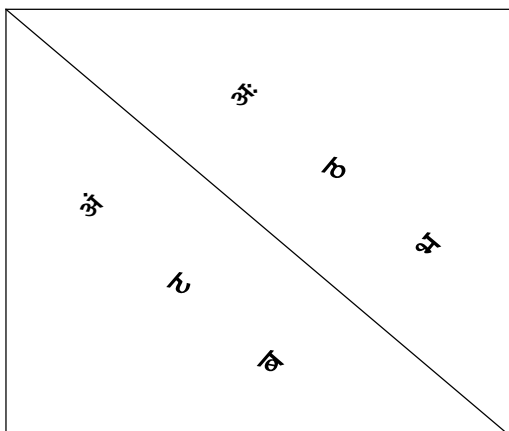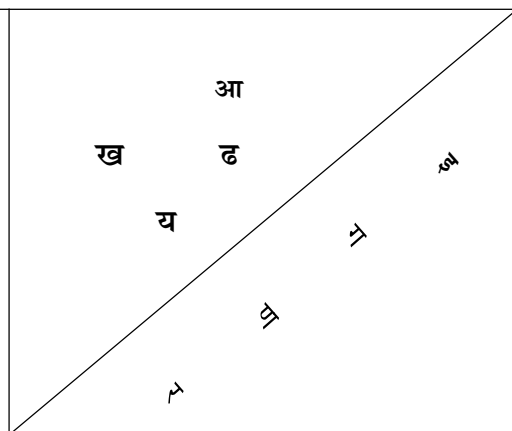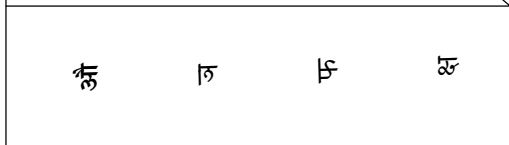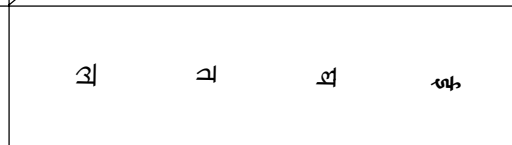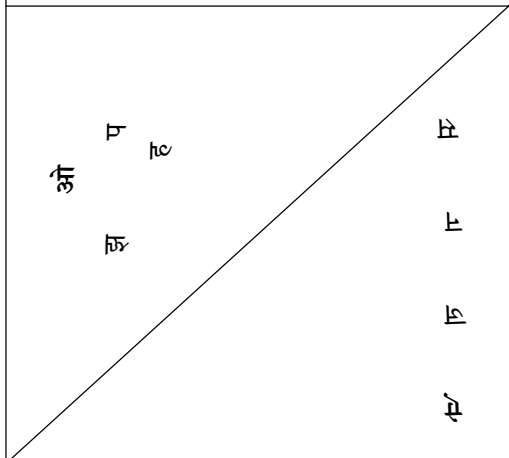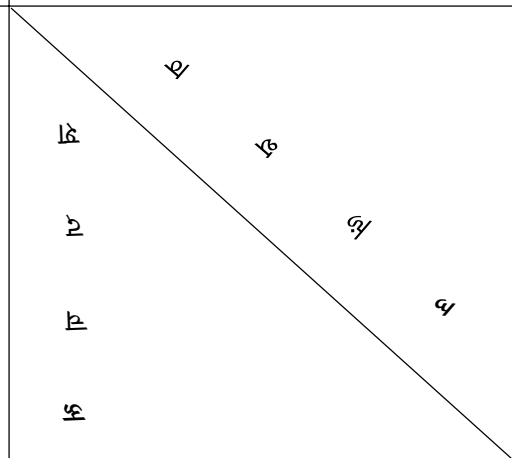
नक्षत्र-चक्र

अश्विनी अ आ देव	भरणी इ नर	कृत्तिका ई उ ऊ राक्षस	रोहिणी ऋ ॠ ऌ ॡ नर	मृगशिरा ए देव	आर्द्रा ऐ नर	पुनर्वसु ओ औ देव	पुष्य क देव	आश्लेषा ख ग राक्षस
मघा घ ङ राक्षस	पूर्वा फाल्गुनी च नर	उत्तरा फाल्गुनी छ ज नर	हस्त झ ञ देव	चित्रा ट ठ राक्षस	स्वाती ड देव	विशाखा ढ ण राक्षस	अनुराधा त थ द देव	ज्येष्ठा ध राक्षस
मूल न प फ राक्षस	पूर्वाषाढ़ा ब नर	उत्तराषाढ़ा भ नर	श्रवण म देव	धनिष्ठा य र राक्षस	शतभिषा ल राक्षस	पूर्वा भाद्रपद व श नर	उत्तरा भाद्रपद ष स ह नर	रेवती ल क्ष अं अः देव

इस चक्रके अनुसार अपना और मन्त्रका गण निश्चित कीजिये। यदि आप मनुष्यगण हैं तो मनुष्यगणका मन्त्र ही आपके लिये श्रेष्ठ है। देवगणका भी उत्तम है, किन्तु राक्षसगणका घातक है। देवगणके लिये मनुष्यगणका मन्त्र मध्यम है और राक्षसगणका शत्रु है। राक्षसगणके लिये केवल राक्षसगणका मन्त्र ही उपयोगी है। इसी चक्रके अनुसार अपना और मन्त्रका नक्षत्र निश्चित करके अपने नक्षत्रसे मन्त्रका नक्षत्र गिने। क्रमशः जन्म, सम्पत्, विपत्, क्षेम, प्रत्यरि, साधक, वध, मित्र और परम मित्र समझना चाहिये। यदि मन्त्र इतनी संख्याके अंदर न आवे तो इनको दुबारा और तिबारा गिन लेना चाहिये।

इसके पश्चात् अकडम-चक्रका विचार करना चाहिये। यह चक्र अ, क, ड, म—इन अक्षरोंसे प्रारम्भ होता है; इसलिये इसका वही नाम है। इसका स्वरूप निम्नलिखित है—

अकडम-चक्र

साधकके नामका पहला अक्षर जिस प्रकोष्ठमें हो, उससे गिनना प्रारम्भ कीजिये। मन्त्रका पहला अक्षर जिस प्रकोष्ठमें हो, वहाँतक गिनते चलिये। यह गणना दक्षिणावर्त होनी चाहिये। मन्त्रका पहला अक्षर पहले प्रकोष्ठमें ही हो तो सिद्ध, दूसरेमें हो तो साध्य, तीसरेमें हो तो सुसिद्ध, चौथेमें हो तो अरि-ऐसा समझना चाहिये। मान लीजिये कि साधकका नाम 'श्याम' है और 'ऐम्' मन्त्रका विचार करना है। जिस प्रकोष्ठमें 'श' है, उससे ग्यारहवें प्रकोष्ठमें 'ऐ' पड़ता है। श्यामके लिये 'ऐम्' सुसिद्ध मन्त्र है। अरि मन्त्र त्याज्य है, साध्य मन्त्र मध्यम है, सिद्ध और सुसिद्ध उत्तम हैं।

इसी प्रकार एक अकथह-चक्र है। उसमें भी सिद्ध, साध्य आदिका ही विचार होता है। चक्र निम्नलिखित है—

अकथह-चक्र

१ अ क थ ह	२ उ ङ प	३ आ ख द	४ ऊ च फ
५ ओ ड ब	६ लृ झ म	७ औ ढ श	८ ॡ ञ य
९ ई घ न	१० ॠ ज भ	११ इ ग ध	१२ ऋ छ व
१३ अः त स	१४ ऐ ठ ल	१५ अं ण ष	१६ ए ट र

साधकके नामका आदि अक्षर जिस प्रकोष्ठमें हो, उससे मन्त्रके आदि अक्षरवाले प्रकोष्ठतक गिनते चलिये। पहले प्रकोष्ठमें मन्त्राक्षर हो तो सिद्ध, दूसरेमें हो तो साध्य, तीसरेमें हो तो सुसिद्ध और चौथेमें हो तो अरि। इस प्रकार जबतक मन्त्राक्षर न मिले, गिनते जाना चाहिये। इसकी गिनती क्रमशः दाहिनी ओर चलती है।

एक ऋणि-धनि-चक्र है। उससे भी ग्राह्य मन्त्रका विचार होता है। उसका स्वरूप निम्नलिखित है—

ऋणि-धनि-चक्र

६	६	६	०	३	४	४	०	०	०	३
अ आ	इ ई	उ ऊ	ऋ ॠ	लृ ॡ	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः
क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ	ट
ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न	प	फ
ब	भ	म	य	र	ल	व	श	ष	स	ह
२	२	५	०	०	२	१	०	४	४	१

रुद्रयामलमें लिखी हुई प्रक्रियासे यह चक्र अंकित किया गया है। ऊपर मन्त्र-वर्णोंके अंक हैं और नीचे साधकवर्णोंके अंक हैं। मन्त्र और साधकके स्वर और वर्ण अलग-अलग करके प्रत्येकके अंग पृथक्-पृथक् जोड़ लेने चाहिये। दोनोंमें अलग-अलग आठका भाग देना चाहिये। शेषमें मन्त्रका अंक अधिक होनेपर वह ऋणी होता है और कम होनेपर धनी। ऋणी मन्त्रसे बहुत शीघ्र सिद्धि मिलती है, बराबर होनेपर भी उत्तम होता है, धनी होनेपर विलम्ब होता है और यदि शेष शून्य हो तब तो मृत्युकारक है। मान लीजिये साधकका नाम 'राम' है। इसके नाममें चार अक्षर हैं। र्, आ, म् और अ। इनके अंक हुए क्रमशः ०,२,५ और २। इनका योग हुआ ९। ८ का भाग देनेपर १ शेष बचा। अब इसको 'ऐम्' मन्त्रकी साधना करनी है। इसमें दो अक्षर हैं, ऐ और म्। इनके अंक हुए क्रमशः ४। ६ योग हुआ १०। और ८ का भाग देनेपर बचा २। साधककी अपेक्षा मन्त्रके अंक अधिक हैं, इसलिये 'राम' के लिये 'ऐम्' मन्त्र ऋणी हुआ। इसलिये वह उत्तम है।

इस प्रकारके और भी कई चक्र हैं। विस्तारभयसे उनका उल्लेख नहीं किया जाता। इन सब चक्रोंके अनुसार शुभ होनेपर ही मन्त्र ग्रहण करना चाहिये। कुछ मन्त्रोंमें इसका अपवाद भी है। जैसे—

स्वप्नलब्धे स्त्रिया दत्ते मालामन्त्रे च त्र्यक्षरे।
वैदिकेषु च सर्वेषु सिद्धादीन्नैव शोधयेत्॥
हंसस्याष्टाक्षरस्यापि तथा पञ्चाक्षरस्य च।
एकद्वित्र्यादिबीजस्य सिद्धादीन्नैव शोधयेत्॥

'जो मन्त्र स्वप्नमें प्राप्त हुआ हो, स्त्री-गुरुने जिसकी दीक्षा दी हो, जो मन्त्र बीस अक्षरसे अधिकका हो, जिसमें तीन ही अक्षर हों और जितने भी वैदिक मन्त्र हैं, उनमें सिद्धादिशोधनकी आवश्यकता नहीं। हंसमन्त्र, अष्टाक्षरमन्त्र, पञ्चाक्षरमन्त्र, एक, दो, तीन आदि बीजरूप मन्त्र—इनमें भी सिद्धादिशोधनकी आवश्यकता नहीं।'

समस्त ऐश्वर्य और ज्ञानके एकमात्र आश्रय परमानन्द-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णके मन्त्रोंमें भी सिद्धादिशोधनकी आवश्यकता नहीं है। त्रैलोक्य-सम्मोहनतन्त्रमें गोपाल-मन्त्रको लक्ष्य करके कहा गया है—

न चात्र शात्रवा दोषा नर्णस्वादिविचारणा।
ऋक्षराशिविचारो वा न कर्तव्यो मनौ प्रिये॥

अर्थात् 'गोपालमन्त्रमें अरि आदि दोष नहीं हैं, ऋणी-धनीका विचार भी नहीं है। इस मन्त्रमें नक्षत्र और राशिका विचार भी नहीं करना चाहिये' बृहद्गौतमीयमें सामान्यत: समस्त श्रीकृष्ण-मन्त्रोंमें सिद्धादि विचारकी अनावश्यकता बतलायी है।

नात्र चिन्त्योऽरिशुद्ध्यादिर्नारिमित्रादिलक्षणम्।
न वा प्रयासबाहुल्यं साधने न परिश्रमः॥
सिद्धसाध्यसुसिद्धारिरूपा नात्र विचारणा।

अर्थात् 'श्रीकृष्ण-मन्त्रसें सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध, अरि आदिका विचार नहीं करना चाहिये।'

इसी प्रकार दश महाविद्या, सिद्धविद्या आदिके सम्बन्धमें भी वचन मिलते हैं। परन्तु इस विषयमें निबन्धकारोंने ऐसा निर्णय किया है कि मन्त्रोंके विचारका प्रकरण दूसरा है और उनकी प्रशंसाका प्रकरण दूसरा है। उनके विचारका जहाँ प्रकरण है, वहाँ विचार करना चाहिये और उनकी महिमा और प्रशंसाके प्रकरणमें उनके प्रति श्रद्धाभावकी अभिवृद्धि करनी चाहिये। तात्पर्य यह कि साधारणत: इनका विचार करना ही चाहिये। जहाँ अनन्य श्रद्धाका विषय हो, वहाँ ये बातें लागू नहीं होतीं।

यह चक्रोंका विषय एक प्रकारसे तन्त्रज्यौतिषका विषय है; इसलिये इस प्रसंगमें यदि मन्त्रग्रहणके मास, पक्ष, तिथि आदिका निर्णय कर लिया जाय तो अनुपयुक्त न होगा। मासनिर्णयमें ऐसा समझना चाहिये कि वैशाख, श्रावण, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, माघ और फाल्गुन मन्त्रग्रहणमें उत्तम हैं। चैत्रमें केवल गोपाल-मन्त्र लिया जा सकता है। आषाढ़में केवल श्रीविद्याका ग्रहण ही वर्जित है; और मन्त्र ले सकते हैं। मलमास सर्वथा निषिद्ध है। उपर्युक्त उत्तम मासोंमेंसे किसीके भी शुक्ल या कृष्णपक्षमें दीक्षा ले सकते हैं। शुक्लपक्ष उत्तम है। कोई-कोई कृष्णपक्षकी पंचमीतक ग्राह्य मानते हैं। कालोत्तर-तन्त्रके अनुसार सम्पत्ति चाहनेवालेको शुक्लपक्षमें और मोक्ष चाहनेवालेको कृष्णपक्षमें ग्रहण करना चाहिये। मन्त्रग्रहणमें द्वितीया, तृतीया, पञ्चमी, सप्तमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी और पूर्णिमा ग्राह्य हैं; शेष निषिद्ध। कुछ महीनोंकी विशेष तिथियाँ भी अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं-जैसे अक्षयतृतीया, नागपंचमी आदि। सौर गणनासे मास और चान्द्र गणनासे तिथियोंका विचार करना चाहिये। शनि और मंगलको छोड़कर शेष दिन दीक्षाग्रहणमें उपयोगी हैं। नक्षत्रोंमें अश्विनी, रोहिणी, मृगशिरा, पुनर्वसु, पुष्य, मघा, पूर्वाफाल्गुनीसे स्वातीतक, अनुराधा, मूल, पूर्वोत्तराषाढा, शतभिषा, पूर्वोत्तरभाद्रपद, रेवती—ये नक्षत्र उत्तम हैं। शुभ, सिद्ध, आयुष्मान् आदि उत्तम योग और बव, बालव आदि उत्तम करणोंका भी विचार कर लेना चाहिये। इस प्रकार नक्षत्र, चन्द्र, तारा आदिकी शुद्धि देखकर लग्नका विचार करना चाहिये। वृष, सिंह, कन्या, धनुष्, और मीन—ये लग्न उत्तम हैं। विष्णुमन्त्र लेनेमें स्थिर लग्न, शिवमन्त्र लेनेमें चर लग्न और शक्तिमन्त्र लेनेमें स्थिर-चर लग्न उत्तम कहे गये हैं। लग्ननिर्णयमें ग्रहविचारकी भी आवश्यकता होती है। लग्नसे तीसरे, छठे और ग्यारहवें स्थानमें पापग्रह तथा केन्द्र (१,४,७,१०) और त्रिकोण (९,५) में शुभ ग्रह हों तो उत्तम हैं। ये सब विचार करके ही मन्त्र ग्रहणका दिन रखना चाहिये। सूर्य और चन्द्रमाके ग्रहण आदि अवसरोंपर विशेष मुहूर्तकी अपेक्षा नहीं होती।

इन सब विचारोंमें साधककी उपादानगत विशेषता, मन्त्रकी विशेष शक्ति और ज्योतिश्चक्रका स्थूल-सूक्ष्म सृष्टिपर प्रभाव—इन सबका सम्बन्ध आ जाता है। किस तिथिको साधकका ब्रह्माण्डके साथ कैसा सम्बन्ध रहता है और उसके अन्त:करणके द्रव्य किस प्रकार प्रभावित रहते हैं और कैसी स्थितिमें कौन-सा मन्त्र उसके हृदयका स्पर्श करेगा, किस शक्तिके साथ उसकी एकता हो सकेगी—इन बातोंको ध्यानमें रखकर ही दीक्षाके मुहूर्तका निर्णय किया गया है।

सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् श्रीगुरुदेवकी दृष्टिसे ये बातें छिपी नहीं रहतीं। इसीसे दीक्षाके सम्बन्धमें पूर्णत: उन्हींपर निर्भर रहना चाहिये। वे जिस दिन, जिस अवस्थामें शिष्यपर कृपा कर देते हैं, चाहे जो मन्त्र दे देते हैं, विधिपूर्वक या अविधिपूर्वक—सब ज्यों-का-त्यों शास्त्रसम्मत है। वही शुभ मुहूर्त है, जब श्रीगुरुदेवकी कृपा हो; वही शुभ मन्त्र है, जो वे दे दें। उसमें किसी प्रकारके सन्देह या विचारके लिये स्थान नहीं है। वे अनधिकारीको अधिकारी बना सकते हैं। एक-दोकी बात ही क्या, सारे संसारका उद्धार कर सकते हैं। तत्त्वसारमें क्या ही सुन्दर कहा है—

यः समः सर्वभूतेषु विरागो वीतमत्सरः।
कर्मणा मनसा वाचा भीते चाभयदः सदा॥
समबुद्धिपदं प्राप्तस्तत्रापि भगवन्मयः।
पञ्चकालपरश्चैव पाञ्चरात्रार्थवित्तथा॥

विष्णुतत्त्वं परिज्ञाय एकं चानेकभेदगम्।
दीक्षयेन्मेदिनीं सर्वां किं पुनश्चोपसन्नतान्॥

'जो समस्त प्राणियोंमें सम हैं, राग-द्वेषहीन हैं कर्म, मन और वाणीसे आर्तत्राणपरायण हैं, जिन्हें समत्वकी प्राप्ति हो गयी है और जो भगवन्मय हो गये हैं, जो नित्यकर्मका पालन करते हैं और वैष्णवशास्त्रका रहस्य जानते हैं। वे एक ही विष्णुतत्त्वको अनेक रूपोंमें जानकर सारी पृथ्वीको दीक्षित कर सकते हैं; फिर शरणमें आये हुए अधिकारियोंकी तो बात ही क्या है।'

श्रीगुरुदेवकी ऐसी ही महिमा है। ये विधि-विधान भी उनकी लीला और उनकी प्रसन्नताके साधन ही हैं।

मन्त्र चैतन्य

साधारणत: लोगोंकी ऐसी धारणा है कि शब्दोंके तीन ही प्रकार हो सकते हैं— एक तो आकाशके कारण तन्मात्राके रूपमें शब्द, दूसरा आकाशरूप शब्द और तीसरा आकाशके गुण अथवा कार्यके रूपमें शब्द। पाश्चात्त्य वैज्ञानिकोंने तो वायुके गुणके रूपमें ही शब्दोंको स्वीकार किया है। परन्तु ये सब दृष्टियाँ बहुत ही स्थूल हैं। आध्यात्मिक जगत्‌में शब्द-तत्त्वकी बड़ी ही सुन्दर विवेचना हुई है। शब्द दो प्रकारके हैं—एक तो किसी अर्थके अवगत हो जानेपर उसको व्यक्त करनेके लिये मन:प्रेरित वायुके आघातसे कण्ठ, तालु आदि विशेष स्थानोंसे उच्चारित होनेवाला शब्द और दूसरा अन्त:करणमें अर्थको उद्भासित करनेवाला चैतन्य शब्द, जिसको वैयाकरणोंने 'स्फोट' अथवा 'शब्दब्रह्म' कहा है। 'स्फोट' शब्दका अर्थ ही यह है—जिससे अर्थ स्फुटित हो। अर्थका स्फुरण स्पन्दन अथवा कम्पनसे होता है और कम्पन नादसहकारी है। अत: कम्पन शब्दरूप ही है। यह चैतन्य-स्पन्दन, जिससे कि समस्त सूक्ष्म अर्थ, शब्दतन्मात्रा, आकाश, स्थूल शब्द और स्थूल सृष्टिकी अभिव्यक्ति हुई है, शब्द-ब्रह्म अथवा सगुण ब्रह्म ही है। यही मन्त्रका मूल स्वरूप है और इसी अर्थमें मन्त्र, देवता और गुरुका ऐक्य है। यही कारण है कि मन्त्रशास्त्रमें मन्त्रोंको साधारण शब्दोंकी भाँति किसी सामान्य अर्थका बोधक नहीं माना है—जिसके समझ लेनेपर मन्त्रका काम समाप्त हो जाय—बल्कि मन्त्रको समस्त सृष्टिका मूल एवं चैतन्यस्वरूप परमात्मा ही माना है। इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि साधकके चित्तमें अपने मन्त्रके प्रति साधारण शब्द-भाव न रहे, ब्रह्म-भाव जाग्रत् हो जाय, मन्त्र चैतन्यके रूपमें स्फुरित होने लगे और वह उसीमें तल्लीन एवं तन्मय हो जाय।

इस मन्त्र-चैतन्यकी प्रक्रिया अनेक प्रकारसे शास्त्रोंमें वर्णित हुई है। उन प्रक्रियाओंमेंसे कुछ यहाँ लिखी जाती हैं—

१-जिन्हें षट्चक्रकी प्रक्रिया ज्ञात है, वे जानते हैं कि षट्चक्रोंके कमल एक प्रकारसे वर्णरूप ही हैं। ये वर्ण सृष्टिक्रमसे समस्त कमलदलोंपर आते हैं और संहारक्रमसे कुण्डलिनी शक्तिके द्वारा अपने मूलस्थानमें विलीन कर दिये जाते हैं। पुन: दिव्यरूपमें उनकी सृष्टि होती है। इसी प्रकार अपने मन्त्रको, जो कि चिच्छक्ति अथवा कुण्डलिनी शक्तिसे ही ध्वनित हो रहा है, वर्णभावसे परे चैतन्यरूपमें स्थित अनुभव करना, षट्चक्रोंका भेदन करके सनातन शब्दरूपमें अर्थात् नाद-विन्दुसंयुक्त चैतन्यसे एक कर देना और पुन: उन्हीं देदीप्यमान, जीवन्त, ज्वलन्त और जाग्रत् चैतन्य वर्णोंकी समष्टिसे निर्मित मन्त्रका साक्षात् करना—यह एक प्रकारका मन्त्र-चैतन्य है।

२-ऐसा ध्यान करना चाहिये कि मेरे हृदयमें अनाहत चक्रपर मेरे मन्त्रके सब वर्ण स्थित हैं। मूलाधारसे जाग्रत् होकर कुण्डलिनी सुषुम्णा मार्गसे आती है। और मेरे मन्त्रको कण्ठस्थित विशुद्ध चक्रका भेदन करके सहस्रारमें ले जाती है। वहाँ सहस्रदलकमलकी कर्णिकापर नाद-विन्दुसंयुक्त मन्त्रके सम्पूर्ण अक्षर स्थित हैं और चैतन्यरूप मन्त्र-शक्ति स्फुरित हो रही है। मन्त्रका प्रत्येक अक्षर चैतन्य-शक्तिसे ही निर्मित एवं ग्रथित है, ऐसी भावना करके मन्त्र-वर्णोंको नाभिस्थित मणिपूर चक्रमें ले आवे। और वहाँसे वे वाणीमें आते हैं, ऐसा जानकर चिद्रूपसे ही उनका जप करे। यह दूसरे प्रकारका मन्त्र-चैतन्य है।

३- मन्त्रके पूर्व कामबीज, श्रीबीज और शक्तिबीज तथा अकारसे लेकर क्षकारपर्यन्त समस्त स्वर-वर्णोंको बोले। फिर मन्त्रका उच्चारण करके पीछे भी उन्हीं बीजों और अक्षरोंका उच्चारण करे। इस प्रकार इस मूलविद्याका १०८ बार जप करे। इस प्रयोगसे मन्त्र-चैतन्य हो जाता है। मान लीजिये मन्त्र है **'ऐं'**, इसको चैतन्य करना

है, तो पहले पूर्वोक्त तीनों बीजोंका उच्चारण करना चाहिये—'**ॐ क्लीं श्रीं ह्रीं**' और इसके पश्चात् **कं खं गं घं ङं चं छं**—इस प्रकार क्षं पर्यन्त उच्चारण करना चाहिये। इसके पश्चात् उसी '**ऐं**' मन्त्र और पुनः उन्हीं बीज तथा अक्षरोंका १०८ बार जप करनेसे मन्त्र-चैतन्य हो जाता है एवं जपका फल कोटि-कोटि-गुणित होता है।

४- सूर्यमण्डलमें—बहिःस्थित अथवा अन्तःस्थित द्वादशकलात्मक सूर्यमें अपने मन्त्रका चिन्तन करे और १०८ बार जप करे। सूर्यमण्डलमें अपने सनातन शिवस्वरूप गुरु एवं ब्रह्मरूपा उनकी शक्तिका भी ध्यान करे। इस प्रकार श्रीगुरुदेव, उनकी शक्ति और मन्त्रका चिन्तन करता हुआ जो साधक १०८ बार अपने मन्त्रका जप करता है, उसका मन्त्र-चैतन्य हो जाता है।

५- वरदातन्त्रमें ऐसा उल्लेख मिलता है कि यदि मन्त्रको '**ईं**' से सम्पुटित करके जप किया जाय तो स्वयं ही मन्त्र-चैतन्य हो जाता है।

उपर्युक्त भावनाओं, क्रियाओं अथवा तत्त्वज्ञानसे मन्त्रचैतन्य अवश्य ही सम्पन्न कर लेना चाहिये। बिना मन्त्रचैतन्यके मन्त्र-सिद्धि होनी बहुत ही कठिन है। इसलिये जपके पूर्व मन्त्र-चैतन्यकी क्रिया कर लेनी चाहिये।

मन्त्रार्थ

मन्त्र साधारण शब्दमात्र नहीं है, उसकी शक्ति दिव्य है; तथापि उसका एक अर्थ तो होता ही है। वह इष्टदेवतासे अभिन्न होनेपर भी देवताके स्वरूपका बोध कराता है, इसलिये इष्टदेवका अनुग्रहविशेष ही मन्त्र है। मन्त्र जिस वस्तुका संकेत करता है, साधकको जहाँ ले जाना चाहता है, यदि साधकको भी उस लक्ष्यका पता हो तो यात्रामें—साधनामें और भी सुविधा हो जाती है। यही कारण है कि शास्त्रोंमें मन्त्रजपके साथ उसके अर्थ-ज्ञानकी भी आवश्यकता बतलायी गयी है और योगदर्शनमें तो मन्त्रार्थभावनाको ही जप कहा गया है। 'मन्त्र' शब्दका धातुगत अर्थ है गुप्त परिभाषण। परन्तु साधकके लिये वह गुप्त नहीं, प्रकट होना चाहिये। श्रीगुरुदेवकी कृपासे कुछ बीज-मन्त्रोंके अर्थ यहाँ प्रकट किये जाते हैं।

हौं-इसको प्रसादबीज कहते हैं। इसमें हकारका अर्थ है 'शिव', औकारका अर्थ है 'सदाशिव' और विन्दु दुःखहरणके अर्थमें है। इसलिये इस बीजका अर्थ है—शिव और सदाशिवकी कृपा और प्रसादसे मेरे समस्त दुःख नष्ट हो जायँ।

दूं-'द' का अर्थ है दुर्गा, ऊकारका अर्थ है रक्षा और विन्दुका अर्थ है करो। इस प्रकार दुर्गा-बीज अर्थात् 'दूं' का अर्थ हुआ—'हे मा दुर्गे, मेरी रक्षा करो।'

क्रीं-क का अर्थ है काली, 'र' का अर्थ है ब्रह्म, ईकारका अर्थ है महामाया, नादका अर्थ है विश्वमाता और विन्दुका अर्थ है दुःखहरण। इस कालीबीज अथवा कर्पूरबीज 'क्रीं' का अर्थ है—'ब्रह्मशक्तिस्वरूपिणी महामाया कालीमाता मेरे दुःखोंका नाश करें।'

ह्रीं-ह=शिव; र=प्रकृति; ई=महामाया; नाद=विश्वमाता और विन्दु=दुःखहरण। इस शक्तिबीज अथवा मायाबीजका अर्थ है—शिवयुक्त विश्वमाता महामाया शक्ति मेरे दुःखोंका नाश करें।

श्रीं-श=महालक्ष्मी; र=धन-सम्पत्ति; ई=तुष्टि; नाद=विश्वमाता और विन्दु=दुःखहरण। इस लक्ष्मीबीज अथवा श्रीबीजका अर्थ है—धन-सम्पत्ति, तुष्टि-पुष्टिकी अधिष्ठात्री माता महालक्ष्मी मेरे दुःखोंका नाश करें।

ऐं-ऐ=सरस्वती और विन्दु=दुःखहरण। देवी सरस्वती मेरे दुःखोंका नाश करें। यह सरस्वतीबीज है।

क्लीं-क=कृष्ण अथवा काम; ल=इन्द्र; ई=तुष्टि और विन्दु=सुखकर। सर्वश्रेष्ठ मन्मथमन्मथ भगवान् श्रीकृष्ण मुझे सुख और शान्ति दें। यह कृष्णबीज अथवा कामबीज है।

हूं-ह=शिव; ऊ=भैरव; नाद=सर्वोत्कृष्ट और विन्दु=दुःखहरण। सर्वश्रेष्ठ असुर-भयंकर भगवान् शिव मेरे दुःखोंका नाश करें। इसको वर्मबीज अथवा कूर्चबीज कहते हैं।

गं-ग=गणेश; और बिन्दु=दुःखहरण। इस गणेश-बीजका यही अर्थ है कि गणेश भगवान् मेरे दुःखोंको दूर करें।

ग्लौं-ग=गणेश; ल=व्यापक; औ=तेज और विन्दु=दुःखहरण। परम व्यापक ज्योतिर्मय भगवान् गणेश मेरे दुःखोंका नाश करें। यह भी गणेशबीज है।

क्ष्रौं-क्ष=नृसिंह; र=ब्रह्म; औ= ऊर्ध्वदन्त और विन्दु=दुःखहरण। यह नृसिंहबीज है। ब्रह्मस्वरूप ऊर्ध्वदन्त भगवान् नृसिंह दुःखोंसे मेरी रक्षा करें।

स्त्रीं—स=दुर्गोत्तारण; त=तारक; र=मुक्ति; ई=महामाया; नाद=विश्वमाता और विन्दु=दुःखहरण। दुर्गोत्तारिणी, तारिणी,

मुक्तिस्वरूपा, विश्वमाता भगवती महामाया दुःखोंसे मेरी रक्षा करें। यह वधू-बीज है।

इसी प्रकार और भी अनेकों बीज हैं-जैसे आकाशका 'हं', वायुका 'यं', अग्निका 'रं' जलका अथवा अमृतका 'वं', पृथ्वीका 'लं' आदि। उन्हें एकाक्षरी कोषसे देख लेना चाहिये। ऐसा कोई अक्षर नहीं है, जो मन्त्र न हो। केवल उनका ठीक-ठीक प्रयोग करनेकी विधि जाननी चाहिये।

परन्तु यह अर्थ तो साधकके लिये भावनाविशेष है। मन्त्रका वास्तविक अर्थ तो मन्त्रप्रतिपादित देवताका साक्षात्कार होनेपर ही मालूम होता है। इसीसे सरस्वतीतन्त्रमें मन्त्रार्थका ज्ञान और साक्षात्कार प्राप्त करनेकी एक विधि बतलायी गयी है। उसमें कहा गया है कि मूलाधारचक्रमें शुद्ध स्फटिकके समान स्वच्छ इष्टदेवता और मन्त्ररूप इष्टविद्याका चिन्तन करना चाहिये। आधे मुहूर्ततक ध्यान करके फिर नाभिचक्रमें इष्टदेवता और इष्टमन्त्रका चिन्तन करना चाहिये। वहाँ उनका वर्ण रक्त होगा। फिर हृदयमें मरकत मणिके समान दोनोंका ध्यान होगा और विशुद्धादि चक्रोंके क्रमसे सहस्रारमें जाकर ब्रह्मस्वरूपमें दोनों एक हो जायँगे, इस स्थितिका अनुभव किया जायगा। इस प्रकार ध्यान करते-करते जब साधक इतना तन्मय हो जायगा कि वह स्वयं मन्त्रदेवतात्मक ब्रह्मसे पृथक् नहीं रह जायगा तब कहीं इस स्थितिके फलस्वरूप मन्त्रका वास्तविक अर्थ अर्थात् लक्ष्यार्थ प्रकट होगा। वास्तवमें वही मन्त्रार्थ है। परन्तु एकाएक वह बुद्धिगम्य नहीं हो सकता, इसलिये उस तत्त्वतक पहुँचनेकी दृष्टिसे इस प्रकारके अर्थ कहे जाते हैं। भगवान् शंकरके वचन हैं—

ध्यानेन परमेशानि यद्रूपं समुपस्थितम्।
तदेव परमेशानि मन्त्रार्थं विद्धि पार्वति॥

'सहस्रारमें पहुँचकर ब्रह्मस्वरूपका ध्यान करते-करते जो स्वरूप स्वयं प्रकट होता है, वही मन्त्रका अर्थ है। उसी मन्त्रार्थको प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।'

मन्त्रोंकी कुल्लुका

सरस्वती-तन्त्रमें कहा गया है कि मन्त्रोंके जपके पूर्व उसकी कुल्लुकाका ज्ञान भी आवश्यक है। जप प्रारम्भ करनेके समय जिस मन्त्रका जप करना हो, उसकी कुल्लुका सिरपर स्थापित कर लेनी चाहिये अर्थात् मूर्द्धामें उसका न्यास कर लेना चाहिये। कुछ मन्त्रोंकी कुल्लुका यहाँ लिख दी जाती है—

तारा	मन्त्रकी	कुल्लुका—	**ॐ ह्रीं स्त्रीं हूं।**
काली	,,	,,	,, **क्रीं हूं स्त्रीं ह्रीं फट्।**
छिन्नमस्ता	,,	,,	,, **श्रीं ह्रीं ह्रीं ऐ ह्रीं ह्रीं स्वाहा।**
वज्रवैरोचनी	,,	,,	,, **श्रीं ह्रीं ह्रीं ऐ ह्रीं ह्रीं स्वाहा हूं।**
भैरवी	,,	,,	,, **ह स रैं।**
त्रिपुरसुन्दरी	,,	,,	,, **ऐं क्लीं ह्रीं त्रिपुरे भगवति स्वाहा अथवा क्लीं।**
मञ्जुघोषा	,,	,,	,, **ॐ अ र व च ल धीं।**
भुवनेश्वरी	,,	,,	,, **ह्रीं।**
विष्णु	,,	,,	,, **नमो नारायणाय।**
मातङ्गी	,,	,,	,, **ॐ।**
धूमावती	,,	,,	,, **ह्रीं।**
षोडशी	,,	,,	,, **स्त्रीं।**
लक्ष्मी	,,	,,	,, **श्रीं।**
सरस्वती	,,	,,	,, **ऐं।**
अन्नपूर्णा	,,	,,	,, **क्लीं।**
शिव	,,	,,	,, **हौं।**

दूसरे देवताओंके अपने-अपने मन्त्र ही कुल्लुका हैं।

मन्त्रसेतु

प्रधानतः मन्त्रोंका सेतु प्रणव ही है। ब्राह्मण और क्षत्रियोंके लिये प्रणव, वैश्योंके लिये फट् और शूद्रोंके लिये **ह्रीं** सेतु है। जप प्रारम्भ करनेके पूर्व हृदयमें इसका जप कर लेना चाहिये।

महासेतु

जपके पहले महासेतुका जप किया जाता है। इसके जपसे सभी समय और सभी अवस्थाओंमें जप करनेका अधिकार प्राप्त हो जाता है। त्रिपुरसुन्दरीका महासेतु 'ह्रीं' कालिकाका 'क्रीं' तथा ताराका 'हूं' है। अन्य सब देवताओंका महासेतु 'स्त्रीं' है। इसका जप कण्ठदेशस्थित विशुद्धचक्रमें करना चाहिये।

निर्वाण

पहले प्रणव और उसके पश्चात् 'अ' इत्यादि समस्त स्वर-वर्णोंका उच्चारण करके अपना मन्त्र पढ़े। तत्पश्चात् 'ऐं' तथा समस्त स्वर-वर्णोंका और अन्तमें प्रणवका जप करे। इस प्रकार सम्पुट करके मणिपूरकचक्रमें

जप करना चाहिये। इसका नाम निर्वाण है।

मुखशोधन

मन्त्रशास्त्र जाननेवालोंका कहना है कि मन्त्र-जपके पूर्व मुखशोधन अवश्य कर लेना चाहिये। क्योंकि अशुद्ध जिह्वासे जप करनेसे सिद्धिके बदले हानि होती है। जिह्वापर अनेकों प्रकारके मल निवास करते हैं—भोजनका मल, झूठ बोलनेका मल और कलहका मल। इनके शोधनके बिना जिह्वा मन्त्रोच्चारणके योग्य नहीं होती। इसलिये शास्त्रोंमें जिह्वाशोधनकी विधि बतलायी है। जिस देवताका मन्त्र जपना हो, उसके अनुसार मुखशोधन-मन्त्रका पहले दस बार जप कर लेना चाहिये। मन्त्र निम्नलिखित हैं—

त्रिपुरसुन्दरी = **श्रीं ॐ श्रीं ॐ श्रीं ॐ।**
श्यामा = **क्रीं क्रीं क्रीं ॐ ॐ ॐ क्रीं क्रीं क्रीं।**
तारा = **ह्रीं हूं ह्रीं।**
दुर्गा = **ऐं ऐं ऐं।**
बगलामुखी = **ऐं ह्रीं ऐं।**
मातङ्गी = **ॐ ऐं ॐ।**
लक्ष्मी - **श्रीं।**
धूमावती = **ॐ।**
धनदा = **ॐ धूं ॐ।**
गणेश = **ॐ गं।**
विष्णु = **ॐ हुं।**

अन्य देवताओंका केवल ॐकार ही मुखशोधनका मन्त्र है। मन्त्र-जपके पहले दस बार इसका जप कर लेना चाहिये।

प्राणयोग

जैसे प्राणयुक्त शरीर ही सचेष्ट होता है, वैसे ही प्राणयुक्त मन्त्र ही सिद्ध होता है। इसकी विधि केवल इतनी ही है कि माया-बीज अर्थात् 'ह्रीं' से पुटित करके अपने मन्त्रका सात बार जप कर लेना चाहिये।

दीपनी

जैसे दीपकसे घरका अन्धकार दूर होकर उसकी सारी चीजें दीखने लगती हैं, वैसे ही दीपनी क्रियासे मन्त्र प्रकाशमें आ जाता है। यह दीपनी क्रिया केवल इतनी ही है कि मन्त्र-जप प्रारम्भ करनेके पहले मन्त्रको प्रणवसे पुटित करके सात बार जप लेना चाहिये।

मन्त्रके आठ दोष

हरितत्त्वदीधितिमें मन्त्रके आठ दोष गिनाये गये हैं। वे क्रमशः ये हैं—अभक्ति, अक्षरभ्रान्ति, लुप्त, छिन्न, ह्रस्व, दीर्घ, कथन और स्वप्नकथन।

१-मन्त्रको अक्षर और वर्णोंकी समष्टिमात्र समझना 'अभक्ति' है। जैसा कि सिद्धान्तदृष्टिसे है—मन्त्र देवतास्वरूप है, ऐसा अनुभव करके एक-एक मन्त्रके उच्चारणमें परमानन्दका अनुभव करते हुए जो जप करते हैं, उन्हें बहुत ही शीघ्र सिद्धि मिलती है। परन्तु जो मन्त्रको केवल अक्षर-वर्णमात्र समझते हैं अथवा दूसरे मन्त्रको अपने मन्त्रसे श्रेष्ठ समझकर अपने मन्त्रको हीन समझते हैं, उन्हें सिद्धि तो मिलती ही नहीं, विपरीत फल भी मिलता है। इस अभक्तिको दूर करनेके लिये उस मन्त्रका बहुत-बहुत जप करना चाहिये। जप, हवन और तपस्यासे जब मन्त्रकी अधिष्ठात्री देवता प्रसन्न होती है, तब उसमें भक्तिका उदय होता है और भक्तिका उदय होनेपर सिद्धि-लाभमें विलम्ब नहीं होता।

२-गुरु अथवा शिष्यके भ्रम-प्रमादसे मन्त्रके अक्षरोंमें उलट-फेर हो जाना अथवा एक-आध अक्षर बढ़ जाना—यह 'अक्षरभ्रान्ति' है। ऐसा हो जानेपर गुरुसे, उनकी अनुपस्थितिमें उनके पुत्रसे अथवा और किसी साधकसे पुनः मन्त्र ग्रहण करना चाहिये।

३-मन्त्रमें किसी वर्णकी न्यूनता 'लुप्त' दोष है। इसके लिये भी पुनः मन्त्रग्रहणकी आवश्यकता है।

४-'छिन्न' दोष उसको कहते हैं जिसमें संयुक्त वर्णोंमेंसे कोई अंश छूट जाता है। यह दोष भी उपर्युक्त पद्धतिसे ही दूर होता है।

५-दीर्घ वर्णके स्थानमें ह्रस्व वर्णका उच्चारण 'ह्रस्व' नामक दोष है।

६-ह्रस्व वर्णके स्थानपर दीर्घ वर्णका उच्चारण करना दीर्घ नामक 'दोष' है।

७-जाग्रत् अवस्थामें अपना मन्त्र किसीको कह देना 'कथन' नामका दोष है।

८-स्वप्नमें अपना मन्त्र किसीको बतला देना 'स्वप्नकथन' नामका दोष है।

५ और ६ दोषका निराकरण तो पूर्वोक्त पद्धतिसे ही होता है, परन्तु ७ और ८ दोष श्रीगुरुदेवके चरणोंमें निवेदन करनेपर वे जिस प्रायश्चित्तकी व्यवस्था करें, उसके अनुष्ठानसे होता है। इन आठ प्रकारके दोषोंसे बचकर ही मन्त्रजप करना चाहिये, तभी सिद्धि होती है।

मन्त्रसिद्धिके उपाय

श्रद्धा और विधिके साथ मन्त्रानुष्ठान करनेपर भी यदि सिद्धि-लाभ न हो तो पुनः-पुनः उसका अनुष्ठान करना चाहिये। तीन बारके अनुष्ठानसे भी यदि मन्त्र सिद्ध न हो तो निम्नलिखित सात उपाय करने चाहिये। एक साथ ही इन सबको करनेकी आवश्यकता नहीं। एक करनेपर मन्त्र सिद्ध न हो, तब दूसरा करना चाहिये। इनके द्वारा अवश्य ही मन्त्रसिद्धि प्राप्त होती है। वे उपाय निम्नलिखित हैं—१-भ्रामण, २- रोधन, ३- वश्य, ४- पीडन, ५- पोषण, ६- शोषण और ७- दाहन।

१-भ्रामण उसको कहते हैं जिसमें वायु-बीज 'यं' द्वारा मन्त्रको ग्रथित किया जाता है। यन्त्रपर एक वायु-बीज और एक मन्त्राक्षर, इस क्रमसे मन्त्रके सम्पूर्ण अक्षरोंको सम्पुटित करना चाहिये। तत्पश्चात् शिलारस, कर्पूर, कुङ्कुम, खस और चन्दनको मिलाकर उसीसे यन्त्रपर पूरा मन्त्र लिखे। लिखित मन्त्रको दूध, घी, मधु, और जलमें छोड़कर पूजा, जप और होम करे। ऐसा करके अनुष्ठान करनेसे मन्त्र शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है।

२-वाग्-बीज 'ऐं' के द्वारा मन्त्रको पुटित करके यथासाध्य जप करनेसे रोधन-क्रिया सम्पन्न होती है।

३-अलक्तक, रक्तचन्दन, कुट, धतूरेका बीज और मैनसिल—इन सबको एकमें मिलाकर इसीसे भोजपत्रपर अपना मन्त्र लिखे और उसे गलेमें धारण करे। क्रियाका नाम वश्य अथवा वशीकरण है।

४- अधरोत्तर-योगसे मन्त्रका जप करते हुए अधरोत्तर-स्वरूपिणी देवताकी पूजा करे। इसके पश्चात् अकवनके दूधसे मन्त्र लिखकर पैरसे दबाकर हवन करे। इसका नाम पीडनक्रिया है।

५-मन्त्रके आदि और अन्तमें 'स्त्रीं' जोड़कर जप करे और गायके दूधसे मन्त्र लिखकर हाथमें पहने। इस क्रियाका नाम पोषण है।

६-वायुबीज 'यं' द्वारा मन्त्रको पुटित करके जप करे और यज्ञिय भस्मसे भोजपत्रपर लिखकर गलेमें धारण करे। इस क्रियाका नाम शोषण है।

७-मन्त्रके प्रत्येक स्वर-वर्णके साथ अग्निबीज 'रं' जोड़कर जप करे और पलास बीजके तेलसे मन्त्र लिखकर कंधेपर धारण करे। इस प्रक्रियाका नाम दाहन है।

ये सातों प्रयोग एक साथ करनेके लिये नहीं हैं। एकसे मन्त्र सिद्ध न हो तो दूसरा करना चाहिये। इनके अनुष्ठानसे अवश्य ही मन्त्र सिद्ध हो जाता है। शा०

सत्यकी महिमा

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदै साँच है, ताकै हिरदै आप॥
साँई सों साँचा रहौ, साईं साच सुहाय।
भावै लंबे केस रखु, भावै घोट मुँड़ाय॥
तेरे अंदर साँच जो, बाहर कछु न जनाव।
जाननहारा जानिहै, अंतरगति का भाव॥
साँचे स्त्राप न लागई, साँचे काल न खाय।
साँचे को साँचा मिलै, साँचे माहिं समाय॥

(कबीर)

मन्त्रोंके दस संस्कार

(लेखक—पं० श्रीहरिरामजी शर्मा 'मार्तण्ड' विद्वच्चूडामणि)

कोई भी मन्त्र छिन्न, रुद्ध, शक्तिहीन, पराङ्मुख आदि पचास दोषोंसे बच नहीं सकता। सप्तकोटि मन्त्र हैं, सभी इन दोषोंमें किसी-न-किसी दोषसे दुष्ट पाये जाते हैं। इन दोषोंकी निवृत्तिके लिये मन्त्रके निम्नलिखित दस संस्कार करने चाहिये।

दोषानिमानविज्ञाय यो मन्त्रान् भजते जडः।
सिद्धिर्न जायते तस्य कल्पकोटिशतैरपि॥

जनन, दीपन, बोधन, ताडन, अभिषेक, विमलीकरण, जीवन, तर्पण, गोपन और आप्यायन—ये दस संस्कार हैं।

१- भोजपत्रपर गोरोचन, कुङ्कुम, चन्दनादिसे आत्माभिमुख त्रिकोण लिखे, फिर तीनों कोणोंमें छः-छः समान रेखा खींचे। ऐसा करनेपर ४९ त्रिकोण कोष्ठ बनेंगे, उनमें ईशानकोणसे मातृकावर्ण लिखकर देवताका आवाहन-पूजन करके मन्त्रका एक-एक वर्ण उद्धार करके अलग पत्रपर लिखे। ऐसा करनेपर 'जनन' नामका प्रथम संस्कार होगा।
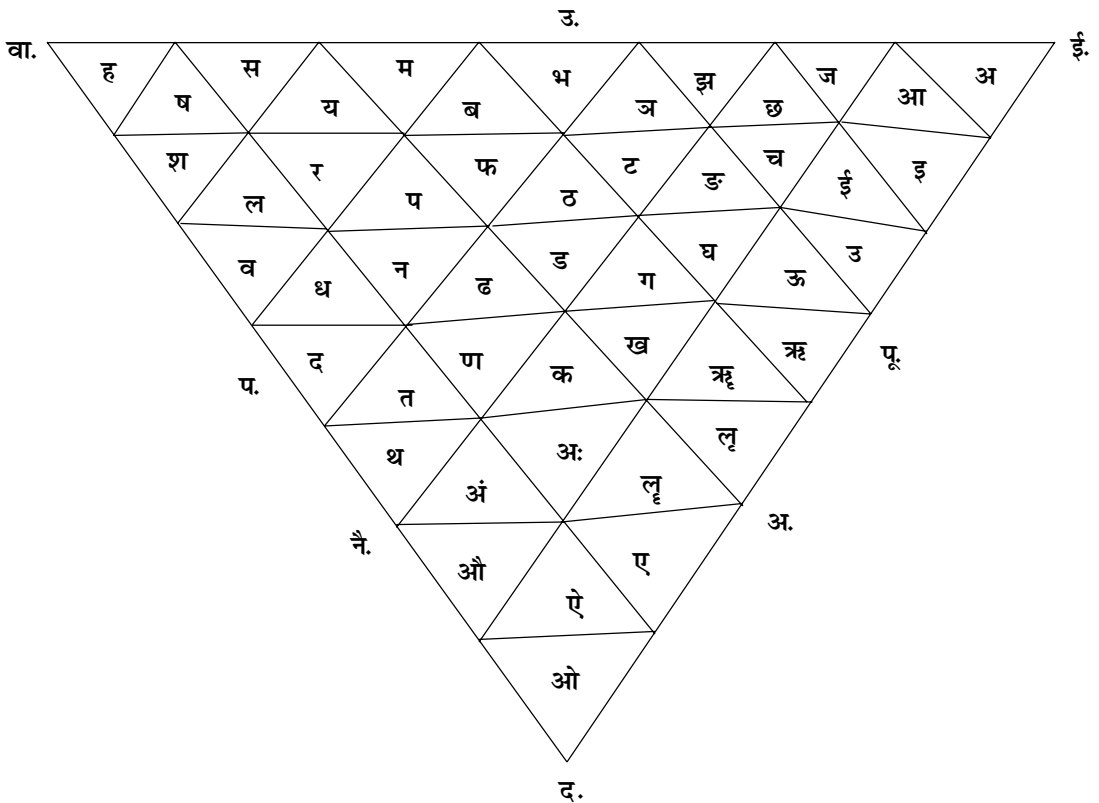
मन्त्रोद्धारके अनन्तर यन्त्रको धोकर शुद्ध जलमें डाल दे।

२- हंसमन्त्रका सम्पुट करनेसे एक हजार जपद्वारा मन्त्रका दूसरा 'दीपन' संस्कार होता है। यथा—**हंसःरामाय नमः सोऽहम्।**

३- हूँ-बीज सम्पुटित मन्त्रका पाँच हजार जप करनेसे 'बोधन' नामक तीसरा संस्कार होता है। यथा—**हूँ रामाय नमः हूँ।**

४- फट्-सम्पुटित मन्त्रका एक हजार जप करनेसे 'ताडन' नामक चतुर्थ संस्कार होता है। यथा—**फट् रामाय नमः फट्।**

५- भूर्जपत्रपर मन्त्र लिखकर '**रों हंसः ओं**' इस मन्त्रसे अभिमन्त्रित करे और एक हजार बार जपे हुए जलसे अश्वत्थपत्रादिद्वारा मन्त्रका अभिषेक करे। ऐसा करनेपर 'अभिषेक' नामक पाँचवाँ संस्कार होता है।

६-'**ओं त्रों वषट्**' इन वर्णोंसे सम्पुटित मन्त्रका एक हजार जप करनेसे 'विमलीकरण' नामक छठा संस्कार होता है। यथा—**ओं त्रों वषट् रामाय नमः वषट् त्रों ओं।**

७- स्वधा-वषट्-सम्पुटित मूलमन्त्रका एक हजार जप करनेसे 'जीवन' नामक सातवाँ संस्कार होता है। यथा—**स्वधा वषट् रामाय नमः वषट् स्वधा।**

८- दुग्ध, जल, घृतसे मूलमन्त्रसे सौ बार तर्पण करना ही 'तर्पण' संस्कार है।

९- ह्रीं-बीज-सम्पुटित एक हजार जप करनेसे 'गोपन' नामक नवम संस्कार होता है। यथा—**ह्रीं रामाय नमः ह्रीं।**

१०- ह्रौं-बीज-सम्पुटित एक हजार जप करनेसे 'आप्यायन' नामक दसवाँ संस्कार होता है। यथा—**ह्रौं रामाय नमः ह्रौं** १०००।

इस प्रकार संस्कृत किया हुआ मन्त्र शीघ्र सिद्धिप्रद होता है।

प्रसंगवशात् दीपस्थान (कूर्मचक्र)-का भी निर्णय लिखते हैं। ऐसा कहा गया है—

'दीपस्थानं समाश्रित्य कृतं कर्म फलप्रदम्।'

जिस स्थानमें, क्षेत्रमें, नगरमें वा गृहमें पुरश्चरण करना हो उसके नौ समान भाग कल्पना करके मध्यभागमें स्वर लिखे और पूर्वादि क्रमसे कवर्गादि लिखे; ईशानकोणमें ल, क्ष लिखे, यथा—

कूर्मचक्र

जिस कोष्ठमें क्षेत्रका पहला अक्षर हो, उस
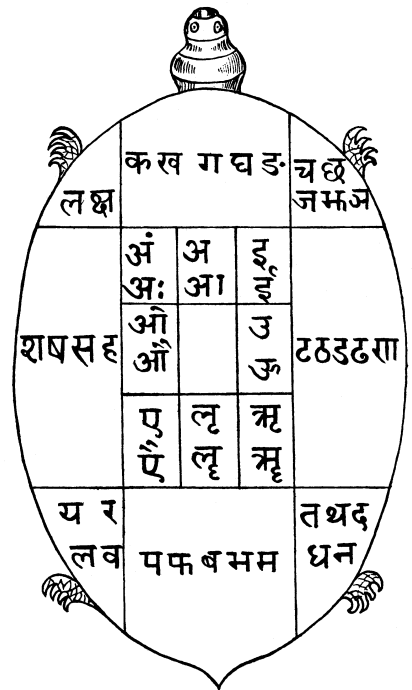
कोष्ठको मुख समझना चाहिये। उसके दोनों ओरके दो कोष्ठ भुजा, फिर दोनों ओरके दो कोष्ठ कुक्षि, फिर दोनों ओरके दो कोष्ठ पैर, शेष कोष्ठ पुच्छ समझने चाहिये। मुखस्थानमें जप करनेसे सिद्धि प्राप्त होती है, भुजामें स्वल्पजीवन, कुक्षिमें उदासीनता, पैरोंमें दुःख और पुच्छमें वध-बन्धनादि पीड़ा होती है।

माला और उसके संस्कार

साधकोंके लिये माला बड़े महत्त्वकी वस्तु है। माला भगवान्‌के स्मरण और नामजपमें बड़ी ही सहायक होती है, इसलिये साधक उसे अपने प्राणोंके समान प्रिय समझते हैं और उसे गुप्त धनकी भाँति सुरक्षित रखते हैं। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि जपकी संख्या अवश्य होनी चाहिये। इससे उतनी संख्या पूर्ण करनेके लिये सब समय प्रेरणा प्राप्त होती रहती है एवं उत्साह तथा लगनमें किसी प्रकारकी कमी नहीं आने पाती। जो लोग बिना संख्याके जप करते हैं, उन्हें इस बातका अनुभव होगा कि जब कभी जप करते-करते मन अन्यत्र चला जाता है, तब मालूम ही नहीं होता कि जप हो रहा था या नहीं या कितने समयतक जप बंद रहा। यह प्रमाद हाथमें माला रहनेपर या संख्यासे जप करनेपर नहीं होता। यदि कभी कहीं मन चला भी जाता है तो मालाका चलना बंद हो जाता है, संख्या आगे नहीं बढ़ती, और यदि माला चलती रही तो जीभ भी अवश्य ही चलती रहेगी और ये दोनों कुछ ही समयमें मनको खींच लानेमें समर्थ हो सकेंगी। जो लोग यह कहते हैं कि मैं जप तो करता हूँ पर मेरा मन कहीं अन्यत्र रहता है, उन्हें यह विश्वास रखना चाहिये कि यदि जीभ और माला दोनों घूमती रहीं—क्योंकि बिना कुछ-न-कुछ मन रहे ये घूम नहीं सकतीं तो बाहर घूमनेवाला मन कहीं भी आश्रय न पाकर अपने उसी स्थिर अंशके पास लौट आवेगा, जो मूर्च्छितरूपसे मालाकी गतिमें कारण हो रहा है। मालाके फिरनेमें जो श्रद्धा और विश्वासकी शक्ति काम कर रही है, वह एक दिन व्यक्त हो जायगी और सम्पूर्ण मनको आत्मसात् कर लेगी।

मालाके द्वारा जब इतना काम हो सकता है, तब आदरपूर्वक उसका विचार न करके यों ही साधारण-सी वस्तु समझ लेना भूल नहीं तो और क्या है? उसे केवल गिननेकी एक तरकीब समझकर अशुद्ध अवस्थामें भी पास रखना, बायें हाथसे गिन लेना, लोगोंको दिखाते फिरना, पैरतक लटकाये रहना, जहाँ कहीं रख देना, जिस किसी चीज़से बना लेना तथा चाहे जिस प्रकार गूँथ लेना सर्वथा वर्जित है। ऐसी बातें समझदारी और श्रद्धाकी कमीसे ही होती हैं, विशेषकर उन लोगोंसे, जिन्होंने किसी गुरुसे विधिपूर्वक दीक्षा न लेकर मालाके विधि-विधानपर विचार ही नहीं किया है। शास्त्रोंमें मालाके सम्बन्धमें बहुत विचार किया गया है। यहाँ संक्षेपसे उसका कुछ थोड़ा-सा दिग्दर्शन कराया जाता है।

माला प्रायः तीन प्रकारकी होती है—करमाला, वर्णमाला और मणिमाला। अँगुलियोंपर जो जप किया जाता है, वह करमालाका जप है। यह दो प्रकारसे होता है—एक तो अँगुलियोंसे ही गिनना और दूसरा अँगुलियोंके पर्वोंपर गिनना। शास्त्रतः दूसरा प्रकार ही स्वीकृत है। इसका नियम यह है कि अनामिकाके मध्यभागसे नीचेकी ओर चले, फिर कनिष्ठाके मूलसे अग्रभागतक और फिर अनामिका और मध्यमाके अग्रभागपर होकर तर्जनीके मूलतक जाय। इस क्रमसे अनामिकाके दो, कनिष्ठाके तीन, पुनः अनामिकाका एक, मध्यमाका एक और तर्जनीके तीन पर्व—कुल दस संख्या होती है। मध्यमाके दो पर्व सुमेरुके रूपमें छूट जाते हैं। साधारणतः करमालाका यही क्रम है, परन्तु अनुष्ठानभेदसे इसमें अन्तर भी पड़ता है। जैसे शक्तिके अनुष्ठानमें अनामिकाके दो पर्व, कनिष्ठाके तीन, पुनः अनामिकाका अग्रभाग एक, मध्यमाके तीन पर्व और तर्जनीका एक मूलपर्व—इस प्रकार दस संख्या पूरी होती है। श्रीविद्यामें इससे भिन्न नियम है। मध्यमाका मूल एक, अनामिकाका मूल एक, कनिष्ठाके तीन, अनामिका और मध्यमाके अग्रभाग एक-एक और तर्जनीके तीन—इस प्रकार दस संख्या पूरी होती है। करमालासे जप करते समय अँगुलियाँ अलग-अलग नहीं होनी चाहिये। थोड़ी-सी हथेली मुड़ी रहनी चाहिये। मेरुका उल्लङ्घन और पर्वोंकी सन्धि (गाँठ)-का स्पर्श निषिद्ध है। यह निश्चित है कि जो इतनी सावधानी रखकर जप करेगा, उसका मन अधिकांश अन्यत्र नहीं जायगा। हाथको हृदयके सामने लाकर, अँगुलियोंको कुछ टेढ़ी करके वस्त्रसे उसे ढककर दाहिने हाथसे ही जप करना चाहिये। जप अधिक संख्यामें करना हो तो इन दशकोंको स्मरण नहीं रखा जा सकता। इसलिये उसको स्मरण करनेके लिये एक प्रकारकी गोली बनानी चाहिये। लाक्षा, रक्तचन्दन, सिन्दूर और गौके सूखे कंडेको चूर्ण करके सबके मिश्रणसे वह गोली तैयार करनी चाहिये। अक्षत, अँगुली, अन्न, पुष्प, चन्दन अथवा मिट्टीसे उन दशकोंका स्मरण रखना निषिद्ध है। मालाकी गिनती भी इनके द्वारा नहीं करनी चाहिये।

वर्णमालाका अर्थ है—अक्षरोंके द्वारा संख्या करना। यह प्राय: अन्तर्जपमें काममें आती है, परन्तु बहिर्जपमें भी इसका निषेध नहीं है। वर्णमालाके द्वारा जप करनेका प्रकार यह है कि पहले वर्णमालाका एक अक्षर विन्दु लगाकर उच्चारण कीजिये और फिर मन्त्रका—इस क्रमसे अवर्गके सोलह, कवर्गसे पवर्गतकके पचीस और यवर्गके हकारतक आठ और पुन: एक लकार—इस प्रकार पचासतक गिनते जाइये; फिर लकारसे लौटकर अकारतक आ जाइये—सौकी संख्या पूरी हो जायगी। क्षको सुमेरु मानते हैं। उसका उल्लंघन नहीं होना चाहिये। संस्कृतमें त्र और ज्ञ स्वतन्त्र अक्षर नहीं, संयुक्ताक्षर माने जाते हैं। इसलिये उनकी गणना नहीं होती। वर्ग भी सात नहीं, आठ माने जाते हैं। आठवाँ शकारसे प्रारम्भ होता है। इनके द्वारा ' अं कं चं टं तं पं यं शं' यह गणना करके आठ बार और जपना चाहिये—ऐसा करनेसे जपकी संख्या १०८ हो जाती है। ये अक्षर तो मालाके मणि हैं। इनका सूत्र है कुण्डलिनी शक्ति। वह मूलाधारसे आज्ञाचक्रपर्यन्त सूत्ररूपसे विद्यमान है। उसीमें ये सब स्वर-वर्ण मणिरूपसे गुथे हुए हैं। इन्हींके द्वारा आरोह और अवरोह क्रमसे अर्थात् नीचेसे ऊपर और ऊपरसे नीचे जप करना चाहिये। इस प्रकार जो जप होता है, वह सद्य: सिद्धिप्रद होता है।

जिन्हें अधिक संख्यामें जप करना हो, उन्हें तो मणि-माला रखना अनिवार्य है। मणि (मनिया) पिरोये होनेके कारण इसे मणिमाला कहते हैं। यह माला अनेक वस्तुओंकी होती है। रुद्राक्ष, तुलसी, शंख, पद्मबीज, जीवपुत्रक, मोती, स्फटिक, मणि, रत्न, सुवर्ण, मूँगा, चाँदी, चन्दन और कुशमूल—इन सभीके मनियोंसे माला तैयार की जा सकती है। इनमें वैष्णवोंके लिये तुलसी और स्मार्त, शैव, शाक्त आदिकोंके लिये रुद्राक्ष सर्वोत्तम माना गया है। माला बनानेमें इतना ध्यान रखना चाहिये कि एक चीजकी मालामें दूसरी चीज न लगायी जाय। विभिन्न कामनाओंके अनुसार भी मालाओंमें भेद होता है और देवताओंके अनुसार भी। उनका विचार कर लेना चाहिये। मालाके मणि (दाने) छोटे-बड़े न हों। एक सौ आठ दानोंकी माला सब प्रकारके जपोंमें काम आती है। ब्राह्मण-कन्याओंके द्वारा निर्मित सूतसे माला बनायी जाय तो सर्वोत्तम है। शान्तिकर्ममें श्वेत, वशीकरणमें रक्त, अभिचारमें कृष्ण और मोक्ष तथा ऐश्वर्यके लिये रेशमी सूतकी माला विशेष उपर्युक्त है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके लिये क्रमश: श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण वर्णके सूत्र श्रेष्ठ हैं। रक्त वर्णका प्रयोग सब वर्णोंके लोग सब प्रकारके अनुष्ठानोंमें कर सकते हैं। सूतको तिगुना करके फिरसे तिगुना कर देना चाहिये। प्रत्येक मणिको गूँथते समय प्रणवके साथ एक-एक अक्षरका उच्चारण करते जाना चाहिये—जैसे 'ॐ अं' कहकर प्रथम मणि तो 'ॐ आं' कहकर दूसरी मणि। बीचमें जो गाँठ देते हैं, उसके सम्बन्धमें विकल्प है। चाहे तो गाँठ दें और चाहे तो न दें । दोनों ही बातें ठीक हैं। माला गूँथनेका मन्त्र अपना इष्टमन्त्र भी है। अन्तमें ब्रह्मग्रन्थि देकर सुमेरु गूँथे और पुन: ग्रन्थि लगावे। स्वर्ण आदिके सूत्रसे भी माला पिरोई जा सकती है। रुद्राक्षके दानोंमें मुख और पुच्छका भेद भी होता है। मुख कुछ ऊँचा होता है और पुच्छ नीचा। पोहनेके समय यह ध्यान रखना चाहिये कि दानोंका मुख परस्परमें मिलता जाय अथवा पुच्छ। गाँठ देनी हो तो तीन फेरेकी अथवा ढाई फेरेकी लगानी चाहिये। ब्रह्मग्रन्थि भी लगा सकते हैं। इस प्रकार मालाका निर्माण करके उसका संस्कार करना चाहिये।

पीपलके नौ पत्ते लाकर एकको बीचमें और आठको अगल-बगल इस ढंगसे रखे कि वह अष्टदल कमल-सा मालूम हो। बीचवाले पत्तेपर माला रखे और **'ॐ अं आं'** इत्यादिसे लेकर **'हं क्षं'** पर्यन्त समस्त स्वर-वर्णोंका उच्चारण करके पञ्चगव्यके द्वारा उसका क्षालन करे और फिर 'सद्योजात' मन्त्र पढ़कर पवित्र जलसे उसको धो डाले। 'सद्योजात' मन्त्र यह है—

ॐ सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमो नम:। भवे भवे नाति भवे भवस्व मां भवोद्भवाय नम:।

इसके पश्चात् वामदेवमन्त्रसे चन्दन, अगर, गन्ध आदिके द्वारा घर्षण करे। वामदेवमन्त्र निम्नलिखित है—

ॐ वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नम: श्रेष्ठाय नमो रुद्राय नम: कलविकरणाय नमो बलविकरणाय नम:।

बलाय नमो बलप्रमथनाय नम: सर्वभूतदमनाय नमो मनोन्मनाय नम:।

तत्पश्चात् अघोरमन्त्रसे धूपदान करे।

ॐ अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्य: सर्वेभ्य: सर्वशर्वेभ्यो नमस्ते अस्तु रुद्ररूपेभ्य:।

यह अघोरमन्त्र है। तदनन्तर तत्पुरुषमन्त्रसे लेपन करे।

ॐ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्।

इसके पश्चात् एक-एक दानेपर एक-एक बार अथवा सौ-सौ बार ईशानमन्त्रका जप करना चाहिये। ईशानमन्त्र यह है—

ॐ ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मा शिवो मे अस्तु सदाशिवोम्।

फिर मालामें अपने इष्टदेवताकी प्राण-प्रतिष्ठा करे। प्राण-प्रतिष्ठाकी विधि पूजाके प्रकरणमें देखनी चाहिये। तदनन्तर इष्टमन्त्रसे सविधि पूजा करके प्रार्थना करनी चाहिये—

माले माले महामाले सर्वतत्त्वस्वरूपिणि।
चतुर्वर्गस्त्वयि न्यस्तस्तस्मान्मे सिद्धिदा भव॥

यदि मालामें शक्तिकी प्रतिष्ठा की हो तो इस प्रार्थनाके पहले '**ह्रीं**' जोड़ लेना चाहिये। और रक्तवर्णके पुष्पसे पूजा करनी चाहिये। वैष्णवोंके लिये माला-पूजाका मन्त्र है—

'ॐ ऐं श्रीं अक्षमालायै नमः।'

अकारादि क्षकारान्त प्रत्येक वर्णसे पृथक्-पृथक् पुटित करके अपने इष्टमन्त्रका एक सौ आठ बार जप करना चाहिये। इसके पश्चात् एक सौ आठ आहुति हवन करे अथवा दो सौ सोलह बार इष्टमन्त्रका जप कर ले। उस मालापर दूसरे मन्त्रका जप न करे। स्वयं हिले नहीं और मालाको हिलावे नहीं। आवाज़ नहीं होनी चाहिये और हाथसे छूटकर गिरनी नहीं चाहिये। मालाका टूटना मृत्यु ही है—ऐसा समझकर निरन्तर सावधान रहना चाहिये। उसे बड़े आदरसे पवित्र स्थानमें रखना चाहिये और प्रार्थना करनी चाहिये—

ॐ त्वं माले सर्वदेवानां सर्वसिद्धिप्रदा मता।
तेन सत्येन मे सिद्धिं देहि मातर्नमोऽस्तु ते॥

ऐसी प्रार्थना करके मालाको गुप्त रखना चाहिये। अङ्गुष्ठ और मध्यमाके द्वारा जप करना चाहिये और तर्जनीसे मालाका कभी स्पर्श नहीं करना चाहिये। सूत पुराना हो जाय तो फिर गूँथकर सौ बार जप करना चाहिये। प्रमादवश हाथसे गिर पड़े अथवा निषिद्ध स्पर्श हो जाय तो भी सौ बार जप करना चाहिये। टूट जानेपर फिर गूँथकर पूर्ववत् सौ बार जप करना चाहिये। मालाके इन नियमोंमें सावधानी बर्तनेसे शीघ्र ही सिद्धि-लाभ होगा, इसमें सन्देह नहीं।

मालाके संस्कारकी एक और प्रक्रिया है जिसका आगम-कल्पद्रुममें उल्लेख हुआ है। भूतशुद्धि आदि करके मालामें विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य और गणेशका आवाहन करके पूजा करनी चाहिये। फिर मालाको पंचगव्यमें डालकर '**ॐ हे सौः**' इस मन्त्रसे निकालकर उसको सोनेके पात्रमें रखे। उसके ऊपर पंचामृतके नियमसे दूध, दही, घी, मधु और शीतल जलसे स्नान करावे। इसके पश्चात् चन्दन, कस्तूरी और कुङ्कुम आदि सुगन्धद्रव्यसे मालाको लिप्त करे और '**हे सौः**' इस मन्त्रका एक सौ आठ बार जप करे। इसके पश्चात् मालामें नवग्रह, दिक्पाल और गुरुदेवकी पूजा करके उस मालाको ग्रहण करना चाहिये। इस प्रकारकी माला ही प्रत्येक क्षण भगवान्का स्मरण दिलाती रहती है। साधकको मालाकी आवश्यकता, उसके भेद, निर्माणपद्धति, संस्कार और प्रायश्चित्त जानकर उनके अनुसार अनुष्ठान करना चाहिये। शा०

तेरे विचार कुछ न चलेगा

तू कछु और बिचारत है नर! तेरो बिचार धरयौ ही रहैगो।
कोटि उपाय कियें धनके हित भाग लिख्यौ तितनो ही लहैगो॥
भोर कि साँझ घरी पल माँझ सो काल अचानक आइ गहैगो।
राम भज्यौ न कियौ कछु सुकृत 'सुंदर' यौं पछिताइ बहैगो॥

(सुन्दरदासजी)

पूजाके विविध उपचार

संक्षेप और विस्तारके भेदसे अनेकों प्रकारके उपचार हैं—चौंसठ, अठारह, सोलह, दस और पाँच।

६४ उपचार

देवीकी पूजाके चौंसठ उपचार यहाँ लिखे जाते हैं। इष्टमन्त्रसे इनका समर्पण होता है। मानस-पूजामें इनकी भावना होती है। वाग्बीज, मायाबीज और लक्ष्मीबीजके साथ भी इनका समर्पण होता है—जैसे पाद्यके समय **'ॐ ऐं ह्रीं श्रीं पाद्यं कल्पयामि नमः'।** प्रत्येक उपचारका नाम जोड़कर यही मन्त्र बोल सकते हैं। उपचारोंके नाम ये हैं—१- पाद्यम्, २- अर्घ्यम्, ३- आसनम्, ४- सुगन्धितैलाभ्यङ्गम् ५- मज्जनशालाप्रवेशनम्, ६- मज्जनमणिपीठोपवेशनम्, ७- दिव्यस्नानीयम्, ८- उद्वर्तनम्, ९- उष्णोदकस्नानम्, १०- कनक-कलशस्थितसर्वतीर्थाभिषेकम्, ११- धौतवस्त्र-परिमार्जनम्, १२- अरुणदुकूलपरिधानम्, १३- अरुणदुकू-लोत्तरीयम्, १४- आलेपमण्डपप्रवेशनम्, १५- आलेप-मणिपीठोपवेशनम्, १६- चन्दनागुरुकुङ्कुममृगमदकर्पूर-कस्तूरीरोचनादिव्यगन्धसर्वाङ्गानुलेपनम्, १७- केशभारस्य कालागुरुधूपमल्लिकामालतीजातीचम्पकाशोकशत - पत्रपूगकुहरीपुन्नागकह्लारयूथीसर्वर्तुकुसुममालाभूषणम्, १८- भूषणमण्डपप्रवेशनम्, १९- भूषणमणिपीठोपवेशनम्, २०- नवरत्नमुकुटम्, २१- चन्द्रशकलम्, २२- सीमन्तसिन्दूरम्, २३- तिलकरत्नम्, २४- कालाञ्जनम्, २५- कर्णपालीयुगलम्, २६- नासाभरणम्, २७- अधरयावकम्, २८- ग्रथनभूषणम्, २९- कनकचित्रपदकम्, ३०- महापदकम्, ३१-मुक्तावलीम्, ३२- एकावलीम्, ३३- देवच्छन्दकम्, ३४- केयूरयुगलचतुष्कम्, ३५- वलयावलीम्, ३६- ऊर्मिकावलीम्, ३७- काञ्चीदामकटिसूत्रम्, ३८- शोभाख्याभरणम्, ३९- पादकटकयुगलम्, ४०- रत्ननूपुरम्, ४१- पादाङ्गुलीयकम्, ४२-एककरे पाशम्, ४३- अन्यकरे अङ्कुशम्, ४४- इतरकरेषु पुण्ड्रेक्षुचापम्, ४५- अपरकरे पुष्पबाणान्, ४६- श्रीमन्माणिक्यपादुकाम्, ४७- स्वसमानवेशास्त्रावरणदेवताभिः सह सिंहासनारोहणम्, ४८- कामेश्वरपर्यङ्कोपवेशनम्, ४९- अमृताशनम्, ५०-आचमनीयम्, ५१- कर्पूरवटिकाम्, ५२- आनन्दोल्लास-विलासहासम्, ५३- मङ्गलारात्रिकम्, ५४- श्वेतच्छत्रम्, ५५-चामरयुगलम्, ५६-दर्पणम्, ५७-तालवृन्तम्, ५८-गन्धम्, ५९- पुष्पम्, ६०- धूपम्, ६१- दीपम्, ६२-नैवेद्यम्, ६३-पानम्, ६४- पुनराचमनीयम्; इसके पश्चात् ताम्बूलम्, नमस्कारम्—इत्यादि; इन सबके साथ पूर्वोक्त बीज पहले जोड़कर पीछे **'कल्पयामि नमः'** कहना चाहिये। मानस-पूजामें तो ये उपचार ही पूरा ध्यान करा देते हैं। बाह्यपूजामें उपचारोंका अभाव होनेपर भी स्थिरभावसे इन मन्त्रोंका पाठ कर लेनेपर पूजाका ही फल मिलता है।

१८ उपचार

अष्टादशोपचार ये हैं—१- आसन, २- स्वागत, ३- पाद्य, ४- अर्घ्य, ५- आचमनीय, ६- स्नानीय, ७- वस्त्र, ८- यज्ञोपवीत, ९- भूषण, १०- गन्ध, ११- पुष्प, १२- धूप, १३- दीप, १४- अन्न, १५- दर्पण, १६- माल्य, १७- अनुलेपन और १८- नमस्कार।

१६ उपचार

षोडशोपचार ये है—१-पाद्य, २- अर्घ्य, ३- आचमनीय, ४- स्नानीय, ५- वस्त्र, ६- आभूषण, ७- गन्ध, ८- पुष्प, ९- धूप, १०- दीप, ११- नैवेद्य, १२-आचमनीय, १३- ताम्बूल, १४-स्तवपाठ, १५-तर्पण और १६-नमस्कार।

१० उपचार

दशोपचार ये हैं—१-पाद्य, २- अर्घ्य, ३- आचमनीय, ४-मधुपर्क, ५- आचमनीय, ६- गन्ध, ७- पुष्प, ८- धूप, ९- दीप और १०- नैवेद्य।

५ उपचार

पञ्चोपचार ये हैं—१- गन्ध, २- पुष्प, ३-धूप, ४- दीप और ५-नैवेद्य।

आवश्यक बातें

आसन-समर्पणमें आसनके ऊपर पाँच पुष्प भी रख लेने चाहिये। छः पुष्पोंसे स्वागत करना चाहिये। पाद्यमें चार पल जल और उसमें श्यामा घास, दूब, कमल और अपराजिता देनी चाहिये। अर्घ्यमें चार पल जल और गन्ध, पुष्प, अक्षत, यव, दूब, चार तिल, कुशाका अग्रभाग तथा श्वेत सरसो देना चाहिये। आचमनीयमें छः पल जल और उसमें जायफल, लवङ्ग और कङ्कोलका चूर्ण देना चाहिये। मधुपर्कमें कांस्यपात्रस्थित घृत, मधु और दधि देना चाहिये। मधुपर्कके पश्चात्वाले आचमनमें

केवल एक पल विशुद्ध जल ही आवश्यक होता है। स्नानके लिये पचास पल जलका विधान है। वस्त्र बारह अङ्गुलसे ज्यादा, नवीन और जोड़ा होना चाहिये। आभरण स्वर्णनिर्मित हों और उनमें मोती आदि जड़े हों। गन्ध-द्रव्यमें चन्दन, अगर, कर्पूर आदि एकमें मिला लिये गये हों, एक पलके लगभग उनका परिमाण कहा गया है। पुष्प पचाससे अधिक हों, अनेक रंगके हों। धूप गुग्गुलका हो और कांस्यपात्रमें निवेदन किया जाय। नैवेद्यमें एक पुरुषके भोजन योग्य वस्तु होनी चाहिये। चर्व्य, चोष्य, लेह्य, पेय—चारों प्रकारकी सामग्री हो। दीप कपासकी बत्तीसे कर्पूर आदि मिलाकर बनाया जाय। बत्तीकी लंबाई चार अङ्गुलके लगभग हो और दृढ़ हो। दीपकके साथ शिलापिष्टका भी उपयोग करना चाहिये। इसीको श्री अथवा आक कहते हैं, जो आरतीके समय सात बार घुमाया जाता है। दूर्वा और अक्षतकी संख्या सौसे अधिक समझनी चाहिये। एक-एक सामग्री अलग-अलग पात्रोंमें रखी जाय; वे पात्र सोने, चाँदी, ताँबे, पीतल या मिट्टीके हों। अपनी शक्तिके अनुसार ही करना चाहिये। जो वस्तु अपने पास नहीं हो, उसके लिये चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं और अपनी शक्ति-सामर्थ्यके अनुसार जो मिल सकते हों, उनके प्रयोगमें आलस्य, प्रमाद और सङ्कीर्णता नहीं करनी चाहिये।

पूजाके मन्त्र

भगवान् विष्णु, कृष्ण आदिकी पूजामें जिन मन्त्रोंका उपयोग होता है, वे लिखे जाते हैं—

आसन

सर्वान्तर्यामिणे देव सर्वबीजमयं ततः।
आत्मस्थाय परं शुद्धमासनं कल्पयाम्यहम्॥

'हे देव, आप सबके अन्तर्यामी और आत्मरूपसे स्थित हैं; इसलिये आपको मैं सर्वबीजस्वरूप उत्तम और शुद्ध आसन समर्पित कर रहा हूँ।'

स्वागत

यस्य दर्शनमिच्छन्ति देवा ब्रह्महरादयः।
कृपया देवदेवेश मदग्रे सन्निधीभव॥
तस्य ते परमेशान स्वागतं स्वागतं प्रभो।

'ब्रह्मा, शिव आदि जिसके दर्शनके लिये लालायित रहते हैं, हे देवदेवेश, वे ही सबके आराध्य आप दया करके मेरे सम्मुख आवें। परमेश्वर, प्रभो, आपका स्वागत है, स्वागत है।'

आवाहन

कृतार्थोऽनुगृहीतोऽस्मि सफलं जीवितं तु मे।
यदागतोऽसि देवेश चिदानन्दमयाव्यय॥
अज्ञानाद्वा प्रमादाद्वा वैकल्यात् साधनस्य च।
यदपूर्णं भवेत् कृत्यं तथाप्यभिमुखो भव॥

'हे विज्ञानानन्दघन, हे अविनाशी, हे देवेश, आपने जो पदार्पण किया, इससे मैं कृतार्थ हो गया; बड़ा अनुग्रह किया आपने। मेरा जीवन सफल हो गया। अज्ञान, असावधानी और साधनोंकी कमीके कारण मैं आपकी पूजा पूर्णतः नहीं कर सकता तथापि आप कृपा करके मेरे सामने रहें।'

पाद्य

यद्भक्तिलेशसम्पर्कात् परमानन्दसम्भवः।
तस्मै ते परमेशान पाद्यं शुद्धाय कल्पये॥

'जिनकी विन्दुमात्र भक्तिका संस्पर्श हो जानेसे हृदय परमानन्द-धाराका उद्गम बन जाता है, हे परमेश्वर! आपके उसी विशुद्ध स्वरूपको मैं पाद्य समर्पित कर रहा हूँ।'

आचमनीय

देवानामपि देवाय देवानां देवतात्मने।
आचामं कल्पयामीश सुधायाः स्त्रुतिहेतवे॥

'हे ईश, आप समस्त देवताओंके भी देवता—आराध्यदेव हैं। और तो क्या, स्वयं आप ही देवताओंमें देवत्वरूपसे प्रकट हैं। आप सुधाके मूलस्त्रोत हैं, अतः आपसे सुधाक्षरणके लिये मैं आचमनीय समर्पित कर रहा हूँ।'

अर्घ्य

तापत्रयहरं दिव्यं परमानन्दलक्षणम्।
तापत्रयविमोक्षाय तवार्घ्यं कल्पयाम्यहम्॥

'हे प्रभो! आपका अर्घ्य तीनों तापोंको हरनेवाला, दिव्य एवं परमानन्दस्वरूप है; इसलिये तीनों तापोंसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिये मैं आपको अर्घ्य समर्पित करता हूँ।'

मधुपर्क

सर्वकल्मषहीनाय परिपूर्णसुधात्मकम्।
मधुपर्कमिमं देव कल्पयामि प्रसीद मे॥

'हे देव, आप समस्त पापों और उनके कारणोंसे मुक्त हैं; आपके लिये मैं यह परिपूर्णसुधात्मक मधुपर्क समर्पित करता हूँ। आप अनुग्रह करके इसे स्वीकार करें।'

पुनराचमनीय

उच्छिष्टोऽप्यशुचिर्वापि यस्य स्मरणमात्रतः।
शुद्धिमाप्नोति तस्मै ते पुनराचमनीयकम्॥

'जिसके स्मरण करनेमात्रसे उच्छिष्ट अथवा अपवित्र भी पवित्र हो जाता है, वही आप हैं। आपके लिये मैं आचमन समर्पित करता हूँ।'

स्नान

परमानन्दबोधाब्धिनिमग्ननिजमूर्तये।
साङ्गोपाङ्गमिदं स्नानं कल्पयाम्यहमीश ते॥

'हे ईश, आप अपने परमानन्दस्वरूप ज्ञान-समुद्रमें स्वयं निमग्न हैं; आपके लिये साङ्गोपाङ्ग स्नानार्थ जल मैं समर्पित करता हूँ।'

वस्त्र

मायाचित्रपटाच्छन्ननिजगुह्योरुतेजसे।
निरावरणविज्ञान वासस्ते कल्पयाम्यहम्॥

'आपने अपना परमज्योतिर्मय स्वरूप मायाके विचित्र वस्त्रसे ढक रखा है, वास्तवमें आप आवरणरहित विज्ञानस्वरूप हैं। ऐसे आपके लिये, हे देव, मैं वस्त्र समर्पित कर रहा हूँ।'

उत्तरीय

यमाश्रित्य महामाया जगत्सम्मोहिनी सदा।
तस्मै ते परमेशाय कल्पयाम्युत्तरीयकम्॥

'जिसका आश्रय करके महामाया जगत्को मोहित करती है, आप वे ही परमेश्वर हैं। आपके लिये मैं उत्तरीय समर्पित करता हूँ।'

यज्ञोपवीत

यस्य शक्तित्रयेणेदं सम्प्रोतमखिलं जगत्।
यज्ञसूत्राय तस्मै ते यज्ञसूत्रं प्रकल्पये॥

'जिसकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयरूप तीन शक्तियोंके द्वारा यह जगत्, गुँथा हुआ है, जो स्वयं यज्ञसूत्र हैं, उन्हींके लिये मैं यज्ञोपवीत समर्पित कर रहा हूँ।'

आभूषण

स्वभावसुन्दराङ्गाय नानाशक्त्याश्रयाय ते।
भूषणानि विचित्राणि कल्पयामि सुरार्चित॥

'हे सुरपूजित, आपका एक-एक अंग स्वभावसे ही परम सुन्दर, परम मनोहर है, आप स्वयं समस्त शक्तियोंके आश्रय हैं। आपके लिये मैं विचित्र भूषण समर्पित करता हूँ।'

जल

समस्तदेवदेवेश सर्वतृप्तिकरं परम्।
अखण्डानन्दसम्पूर्ण गृहाण जलमुत्तमम्॥

'हे देवदेवेश्वर, हे अनन्त आनन्दसे परिपूर्ण, आपके लिये मैं सबको तृप्ति देनेवाला यह उत्तम जल समर्पित करता हूँ, कृपया इसे स्वीकार करें।'

गन्ध

परमानन्दसौरभ्यपरिपूर्णदिगन्तरम्।
गृहाण परमं गन्धं कृपया परमेश्वर॥

'हे परमेश्वर, जिसकी परमानन्दमय सुरभिसे दिग्-दिगन्त परिपूर्ण हो रहे हैं—आपके लिये वही परम गन्ध मैं समर्पित करता हूँ। आप कृपा करके स्वीकार करें।'

पुष्प

तुरीयं गुणसम्पन्नं नानागुणमनोहरम्।
आनन्दसौरभं पुष्पं गृह्यतामिदमुत्तमम्॥

'त्रिगुणातीत, गुणयुक्त, अनेक गुणोंसे मनोहर, आनन्दसौरभसम्पन्न, यह उत्तम पुष्प मैं आपको समर्पित करता हूँ; इसे स्वीकार करें।'

धूप

वनस्पतिरसो दिव्यो गन्धाढ्यः सुमनोहरः।
आघ्रेयः सर्वदेवानां धूपोऽयं प्रतिगृह्यताम्॥

'वनस्पतियोंके रससे संगृहीत, दिव्य, सुगन्धपूर्ण, निखिल देवताओंके आघ्राण करने योग्य यह सुमनोहर धूप मैं आपको समर्पित करता हूँ; कृपया स्वीकार करें।'

दीप

सुप्रकाशो महादीपः सर्वतस्तिमिरापहः।
सबाह्याभ्यन्तरं ज्योतिर्दीपोऽयं प्रतिगृह्यताम्॥

'परम तेजसे सम्पन्न, भीतर और बाहर ज्योतिर्मय, सब ओरसे अन्धकारको दूर करनेवाला जो उत्तम आलोकमय दीपक है, वह आप स्वीकार करें।'

नैवेद्य

सत्पात्रसिद्धं सुहविर्विविधानेकभक्षणम्।
निवेदयामि देवेश सानुगाय गृहाण तत्॥

'हे देवेश, पवित्र पात्रमें बनाये हुए, अनेक प्रकारकी खाद्य सामग्रियोंसे युक्त यह उत्तम नैवेद्य अनुचरोंके सहित आपकी सेवामें समर्पित करता हूँ; आप कृपा करके इसे स्वीकार करें।'

भोजनके पश्चात् जल आदि पूर्वोक्त मन्त्रोंसे ही देने चाहिये। आगेकी विधि मन्त्रपुरश्चरणके प्रसंगमें देखनी चाहिये।

पूजाके पाँच प्रकार

शास्त्रोंमें पूजाके पाँच प्रकार बताये गये हैं—अभिगमन, उपादान, योग, स्वाध्याय और इज्या। देवताके स्थानको साफ करना, लीपना, निर्माल्य हटाना—ये सब कर्म अभिगमनके अन्तर्गत हैं। गन्ध, पुष्प आदि पूजा-सामग्रीका संग्रह उपादान है। इष्टदेवकी आत्मरूपसे भावना करना योग है। मन्त्रार्थका अनुसन्धान करते हुए जप करना, सूक्त, स्तोत्र आदिका पाठ करना, गुण, नाम, लीला आदिका कीर्तन करना, वेदान्तशास्त्र आदिका अभ्यास करना—ये सब स्वाध्याय हैं। उपचारोंके द्वारा अपने आराध्यदेवकी पूजा इज्या है। ये पाँच प्रकारकी पूजाएँ क्रमशः सार्ष्टि, सामीप्य, सालोक्य, सायुज्य और सारूप्य मुक्तिको देनेवाली हैं। शा०

श्रीभगवान्‌के रूपादिका चिन्मयत्व

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, आचार्य, शास्त्री)

आचार्य रामानुजने वेदार्थसंग्रह, श्रीभाष्य एवं गीताभाष्यमें श्रीभगवान्‌के रूप, गुण, धाम आदिका जो वर्णन किया है उससे उनके चिन्मयत्वकी स्पष्ट सिद्धि होती है। दिग्दर्शनार्थ नीचे कुछ उद्धरण दिये जाते हैं—

(१) यथा ज्ञानादयः परस्य ब्रह्मणः स्वरूपतया निर्देशात् स्वरूपभूतगुणास्तथेदमपि रूपं श्रुत्या स्वरूपतया निर्देशात् स्वरूपभूतम्। (वेदार्थसंग्रहे)

अर्थात् 'जिस प्रकार ज्ञानानन्दादिक गुण परब्रह्मके अपने गुण हैं, तो भी शास्त्रने उन्हें स्वरूप बताया है, इसलिये वे ब्रह्मके स्वरूपभूत गुण हैं उसी प्रकार यह रूप भी स्वरूप ही है; क्योंकि श्रुतिने इसे भी स्वरूप कहकर निर्देश किया है। '**इदमपि रूपम्**' से भगवान्‌के कर-चरण-नयन-वदनादिमती व्यक्तिकी ओर संकेत है।

(२) परस्य ब्रह्मणः प्राकृतहेयगुणान् प्राकृतहेयदेह-सम्बन्धं तन्मूलकर्मवश्यतासम्बन्धं च प्रतिषिध्य कल्याण-गुणान् कल्याणरूपं च वदन्ति। तदिदं स्वाभाविकमेव रूपमुपासकानुग्रहेण तत्प्रतिपत्त्यनुगुणाकारं देवमनुष्यादिसंस्थानं करोति स्वेच्छयैव परमकारुणिको भगवान्। (श्रीभाष्ये)

अर्थात् 'श्रुतियोंके वाक्य यही उद्घोषित करते हैं कि परब्रह्मके गुण प्रकृति-विकार नहीं हैं—हेय नहीं हैं; और न उनका वपु ही प्राकृत और हेय है। इसके विपरीत परब्रह्मके गुण कल्याणगुण हैं और उनका विग्रह कल्याणविग्रह है। दयालु भगवान् अपने इसी स्वाभाविक स्वरूपको भक्तोंकी अभिलाषाकी पूर्त्तिके लिये देव, मनुष्य आदि आकारोंमें सम्पन्न कर लेते हैं।'

(३) अपहतपाप्मत्वादिसमस्तकल्याणगुणात्मकत्वं सर्वमैश्वरं स्वभावमजहदेव स्वमेव रूपं देवमनुष्यादि-सजातीयसंस्थानं कुर्वन्नात्मसङ्कल्पेन देवादिरूपः सम्भवामि।

(गीताभाष्ये)

अर्थात् 'मैं श्रीकृष्ण अपहतपाप्मत्वादिक निखिल कल्याणगुणवाले अपने समग्र ईश्वरीय स्वभावको न त्यागता हुआ ही अपने ही रूपको देव-मनुष्यादिके आकारका बनाता हुआ देवादिरूपमें अवतीर्ण होता हूँ।'

श्रीभाष्यमें जिनको कल्याणगुण और कल्याणरूप कहा गया है, वेदार्थसंग्रहमें उन्हींको स्वरूपभूत गुण और स्वरूपभूत रूप बताया है। श्रीभाष्योक्त '**स्वाभाविकमेव रूपम्**' यह पदावली विशेष ध्यान देने योग्य है। भावका अर्थ है सत्ता। सत्ता दो प्रकारकी होती है—स्वकीय और परकीय। स्वकीय सत्ता ही दूसरे शब्दोंमें स्वभाव कही जाती है। भगवान्‌की

कर-चरण-नयन-वदनवती व्यक्ति स्वाभाविक है, स्वसत्तात्मक है; निर्विशेषवादियोंके कथनानुसार आगन्तुक, परकीय, प्राकृत, त्रिगुणमयी नहीं है। वह व्यक्ति केवल सत्त्वमयी है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि रजस्तमःस्पृष्ट सत्त्वकी तो वहाँ कल्पना भी नहीं हो सकती।

रामानुजाचार्यके हृदयको जाननेवाले साम्प्रदायिकोंमें एक सूक्ति प्रचलित है—

किमात्मिका भगवतो व्यक्तिः ? यदात्मको भगवान्। किमात्मको भगवान् ? ज्ञानात्मको भगवान्।

इससे भी यही सिद्ध होता है कि भगवद्व्यक्ति भगवत्स्वरूप ही है। भगवान्‌की सत्ता शुद्ध है; उसमें अणुमात्र भी तत्त्वान्तरका सम्पर्क नहीं है। शुद्ध सत्ता ही शुद्ध तत्त्व कही जाती है। सत्ता और सत्त्व समानार्थक शब्द हैं। 'सत्' शब्दसे भाववाचक 'ता, त्व, य' इन तीन प्रत्ययोंके साहाय्यसे सत्ता, सत्त्व और सत्य शब्द निष्पन्न होते हैं। भगवान्‌के विख्यात 'सच्चिदानन्द' नामका प्रथमांश 'सत्' ही है। इसी सत्‌को शुद्ध तत्त्व, शुद्ध सत्त्व, विशुद्ध तत्त्व, विशुद्ध सत्त्व कहा जाता है। जब यह कहा जाता है कि भगवान् विशुद्धसत्त्व हैं, तब यह समझना उचित नहीं है कि भगवान् प्राकृत गुणत्रयमें प्रथम सत्त्वगुण नामक गुणसे उपहित हैं। आचार्यने बार-बार श्रीभगवान्‌में प्राकृत* हेय गुणोंका और प्राकृत हेय देह-सम्बन्धका प्रतिषेध किया है। भगवदीय विशुद्ध सत्ताको भगवदितर अचेतन सत्त्वगुण समझनेवाले परवर्त्ती लेखकोंने रामानुजके हृदयको समझा ही नहीं। रामानुजलेखनीप्रसूत किसी वाक्यसे ऐसा सिद्ध नहीं होता कि भगवद्-विग्रह-भगवत्स्वरूप स्वाभाविक, अप्राकृत अथवा चित्स्वरूप नहीं है।

जब परब्रह्मका रूप स्वरूपभूत है तब उस रूपका सत्, शुद्धसत्त्व, विशुद्धसत्त्व, सत्य, सदात्मक, शुद्धसत्त्वात्मक, विशुद्धसत्त्वात्मक, सत्यात्मक, सत्स्वरूप, सत्यस्वरूप आदि शब्दोंसे निर्देश करना उचित ही है। इसी प्रकार उस रूपको ज्ञानात्मक, ज्ञानमय, विज्ञानमय, चित्, चिन्मय, चिदात्मक, संवित्, संविदात्मक, आनन्द, आनन्दात्मक आनन्दमय आदि शब्दोंसे लक्षित करना भी शास्त्रीय ही है।

प्राकृत तत्त्वोंसे रचित देहेन्द्रियोंकी सहायताके बिना परमात्मा किस प्रकार बोद्धा, मन्ता, श्रोता, स्प्रष्टा, द्रष्टा, रसयिता, घ्राता हो सकते हैं? इस शंकाका समूलोच्छेदन करते हुए आचार्यने श्रीभाष्यमें एक स्थानपर कहा है—

न च परस्यात्मनः करणायत्तं द्रष्टृत्वादिकम्; अपि तु स्वभावत एव सर्वज्ञत्वात् सत्यसङ्कल्पत्वाच्च स्वत एव। स च रूपादिसाक्षात्कारः कर्मतिरोहितस्वाभाविकज्ञानस्य जीवस्य चक्षुरादिकरणजन्मा, परस्य तु स्वत एव।

अर्थात् 'परमात्माका द्रष्टृत्वादिक व्यापार इन्द्रियोंपर निर्भर न होकर सर्वज्ञ और सत्यसंकल्प होनेके कारण स्वभावसे ही स्वयमेव होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धके साक्षात्कारके लिये जीवको श्रोत्रादि इन्द्रियोंकी आवश्यकता है, क्योंकि अविद्याके कारण उसका स्वाभाविक ज्ञान बद्धावस्थामें तिरोहित रहता है; किन्तु परब्रह्मका रूपादि-साक्षात्कार स्वयमेव होता है।

'**अस्येशाना जगतो विष्णुपत्नी**' तथा '**श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ**' इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे प्रतिपादिता श्रीलक्ष्मीदेवीके सम्बन्धमें आचार्यने श्रीविष्णुपुराणका यह वचन उद्धृत किया है—

नित्यैवैषा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी।
यथा सर्वगतो विष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तम॥

अर्थात् 'जगज्जननी श्रीलक्ष्मीजी भगवान् नारायणसे पृथक् न रहनेवाली सनातनी हैं। जिस प्रकार भगवान् सर्वव्यापक हैं, उसी प्रकार ये भी हैं।'

---

* श्रीविष्णुपुराणके ये श्लोक इस विषयमें द्रष्टव्य है—

सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः।
स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु॥
ह्लादिनी सन्धिनी संवित् त्वय्येका सर्वसांस्थितौ।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते॥

अर्थात् 'वे आदिपुरुष भगवान् मुझपर प्रसन्न हों, जो सारे शुद्ध पदार्थोंकी भी अपेक्षा शुद्ध हैं और जिनमें प्रकृतिके सत्त्व आदि गुण नहीं हैं। हे भगवन्! आपमें एकमात्र सच्छक्ति, चिच्छक्ति और आनन्दशक्ति ही है। सुख, दुःख, मोह आपमें नहीं है; क्योंकि आपमें त्रिगुणका अभाव है।'

इन वचनोंसे स्पष्ट विदित होता है कि जगत्‌के व्यवहारकी दृष्टिसे सत्त्वगुण भले ही सर्वोत्तम हो, किन्तु भगवान्‌में वह प्राकृत सत्त्व नहीं है। भगवान् अप्राकृत सत्ता हैं। भगवत्-सत्तासे तुलना करनेपर प्राकृत सत्त्व अपने उच्चात्युच्च स्तरमें भी तुच्छ है, हेय है। यही तो भगवान्‌की भगवत्ता है।

आचार्यने वेदार्थसंग्रहमें नित्यविभूतिका जो प्रतिपादन किया है वहाँ उसकी नित्यता, निरवद्यता, अवाङ्मनसगोचर-स्वभावता तथा कल्याणगुणता ही बतायी है। जैसा कि—'**निरतिशयकल्याणविविधानन्तभूषण ... ... कल्याणज्ञानक्रियाद्यपरिमेयगुणानन्तपरिजनपरिच्छद ...**' —आदि विशेषणोंसे विदित होता है। श्रीभाष्य और वेदार्थसंग्रहकी एकवाक्यता दिखाते समय ऊपर यह कहा ही जा चुका है कि नामानुजके 'कल्याणगुण' का अर्थ 'स्वरूपभूत गुण' है और भगवान्का स्वरूप आचार्यको जड नहीं— अपितु चेतन ही—अभीष्ट है। आचार्यकृत नित्यविभूतिके वर्णनसे भगवान्के समस्त परिजन-परिच्छदका अप्राकृत और चिन्मय होना ही सिद्ध होता है।

दिव्यधामके सम्बन्धमें '**क्षयन्तमस्य रजसः पराके**' इस वचनको प्रमाणरूपसे रखते हुए आचार्यने कहा है—

रजश्शब्देन त्रिगुणात्मिका प्रकृतिरुच्यते, केवलस्य रजसोऽनवस्थानात्। इमां त्रिगुणात्मिकां प्रकृतिमतिक्रम्य स्थिते स्थाने क्षयन्तं वसन्तमित्यर्थः।

अर्थात् 'रजस् शब्दका अर्थ त्रिगुणमयी प्रकृति है, क्योंकि सत्त्व और तमस्के बिना केवल रजोगुण नहीं रह सकता। तीन गुणवाली इस प्रकृतिसे परे भगवान्का निवास है।'

भगवत्प्राप्तिके लिये साधनकी ओर संकेत करते हुए रामानुजाचार्यने भक्तिको ही प्रधान माना है, जैसा कि उनके इस वचनसे विदित होता है-'**इयमेव भक्तिरूपा सेवा ब्रह्मविद्या।**'

योगनिद्रा

(लेखक—पण्डित श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी)

सकल दृश्य निज उदर मेलि, सोवै निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख, अतिसय द्वैत-बियोगी॥

(तुलसी)

प्राणीकी स्वस्थावस्था समाधि है और शेष तीन अवस्थाएँ (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति) अस्वस्थावस्था ही हैं। मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग सबका एकमात्र परमलक्ष्य समाधि है।

इन सब योगोंमें यम और नियम पहली सीढ़ी है; क्योंकि बिना इनके वात-पित्तादि दोषोंका वैषम्य मिटता ही नहीं। पाँच प्रकारके यम और पाँच प्रकारके नियम हैं। इन यम-नियमोंका सम्पादन बहुत ही कठिन है, इसीलिये समाधि भी असाध्य-सी हो रही है।

इन्हें दुस्साध्य देखकर पिछले कालके योगियोंने धातुवैषम्य दूर करनेके लिये नया मार्ग ढूँढ़ निकाला। वे नेति, धौति, वस्ति आदिसे धातुवैषम्य दूर करने लगे। इससे स्थायी फल तो नहीं होता, पर योगमार्गके चमत्कारोंकी झलक आ जाती है—जिससे इतना लाभ तो अवश्य होता है कि शास्त्रोंपर विश्वास हो जाता है।

इसके बाद आसनकी बारी आती है। सूत्रकारने तो इतना ही लिखा कि '**स्थिरसुखमासनम्**'—जिस भाँति सुखसे स्थिर होकर बैठ सके उसी भाँति बैठना चाहिये; पर महात्माओंने ८४ आसन ठीक किये और उन सबोंका बहुत कुछ उपयोग है। आसनविशेषसे रोगविशेष दूर होते हैं, व्यायामका भी काम निकल जाता है। पर वे मुख्य प्रयोजनसे बहुत दूर चले गये।

मुख्य प्रयोजन आसनसिद्धि है। आठ घंटेतक एक आसनसे बैठे रहनेकी योग्यता प्राप्त करनेसे ही आसनसिद्धि होती है। आसनसिद्धि होनेपर अगली क्रियाएँ सहल हो जाती हैं, आप-से-आप प्राणायाम होने (प्राण रुकने) लगता है और क्रमशः धारणा, ध्यान, समाधितककी प्राप्ति होती है; पर इतनी देरतक कौन बैठे? अतः बिना आसनसिद्धिके ही प्राणायाममें हाथ लगा देते हैं।

बिना नाडीशुद्धिके प्राणायाम हो नहीं सकता। नाडीशुद्धिके लिये केवल रेचक-पूरक छः महीनेतक करना पड़ता है। इसे बिना किये बलपूर्वक प्राणायाम करनेमें लाभकी अपेक्षा हानि ही अधिक होती है; अनेक प्रकारके रोग हो जाते हैं, जो दवासे नहीं छूटते।

जो महानुभाव इन बाधाओंका अतिक्रमण करके लक्ष्यतक पहुँच जाते हैं, उनके चरणोंमें मैं प्रणाम करता हूँ; पर इसमें सन्देह नहीं है कि उनकी संख्या अत्यन्त विरल होगी। मैं आज पाठकोंको श्रीगुरुचरणों (पूज्यपाद स्वामी नवीनानन्दजी महाराज कैलासवासी)-से पाये हुए तथा अपने अनुभव किये हुए साधनको लिपिबद्ध करता हूँ।

इस साधनमें साधक यथासाध्य यम-नियमोंका पालन करे, पर ब्रह्मचर्यका पालन तो सम्यक् रूपसे करे। यहाँ एक बारकी चूकसे छः महीनेका परिश्रम मिट्टी हो जाता है। इस साधनमें बड़ा भारी काम यह है कि साधन कुछ न करे, केवल अपने श्वास-प्रश्वासकी गतिका निरीक्षण किया करे।

इसमें रहस्य यह है कि हमलोग स्वाभाविक नियमानुसार श्वास ले नहीं पाते, मानसिक उद्वेगोंके कारण उसकी स्वाभाविक गतिमें बड़ी बाधा पड़ती है—कहीं अस्वाभाविक रीतिसे उसकी गति तीव्र हो जाती है, तो कहीं शरीरके किसी भागमें रुक जाती है। यदि स्वाभाविक रीतिसे श्वास चलने पावे, तो अपने-आप ही प्राणकी गति रुककर प्राणायाम हो जाय और समाधिकी प्राप्ति हो।

इसके स्वाभाविक रीतिसे चलने देनेका उपाय यही है कि मनको उसके साथ कर दे। उसकी गतिमें किसी प्रकारका विक्षेप न करे, केवल देखता रहे कि वह किस रास्तेसे भीतर जाता है और कहाँतक जाता है तथा फिर कैसे लौटकर किस रास्तेसे बाहर निकलता है और कहाँतक बाहर जाता है एवं फिर वहाँसे कैसे खिंचकर भीतर जाता है। अर्थात् साक्षी होकर प्राणवायुके खेल देखे।

देखनेके लिये भी श्वास-प्रश्वासकी गतिको न घटावे, न बढ़ावे; यदि वह अपने-आप ही घटे या बढ़े तो उसे रोके भी नहीं। बराबर इस बातका प्रयत्न रखे कि मन श्वास-प्रश्वासकी गतिका साथ छोड़कर हटने न पावे। यदि कोई बात मनमें उठ जावे या कोई काल्पनिक दृश्य सामने आ जावे तो उसे हटानेकी चेष्टा भी न करे, ध्यान श्वासकी गतिपर ही बनाये रखे। यदि मन वहाँसे हट जाय, तो फिर ले जाकर वहीं लगा दे।

श्वासके बाहर आनेके समय यह ध्यान करे कि वह 'रा' उच्चारण कर रहा है और भीतर जानेके समय यह चिन्तन करे कि वह 'म' उच्चारण कर रहा है। इस भाँति श्वास-श्वासपर राम-नामका जप भी होता रहता है, यथा—

तुलसी रा के कहत ही निकसत सकल बिकार।
पुनि आवन पावत नहीं देत मकार किवार॥

(तुलसी)

गति देखनेका प्रयत्न ही इस साधनका मूल है। पहले तो रास्तेका पता ही नहीं चलता कि वह किधरसे होकर भीतर जाता है और किस रास्तेसे बाहर निकलता है। फिर भी घबड़ाकर क्रिया न छोड़े, देखनेका प्रयत्न बराबर करता ही रहे।

दस-पाँच दिनोंमें उसे ऐसे रास्तेसे आता-जाता मालूम होगा जो कि सर्वथा असम्भव है; पर इसमें भी घबड़ानेकी बात नहीं है, उन असम्भव रास्तोंसे चलते हुएको ही देखता रहे। कभी श्वासका वेग बढ़ जायगा, तो उसे रोकनेका भी प्रयत्न न करे। धीरे-धीरे उसे ठीक रास्तेसे चलता हुआ मालूम पड़ने लगेगा; पर इस बातसे भी उसे प्रयोजन नहीं, उसे केवल गतिनिरीक्षणसे प्रयोजन है।

आध घंटेके अभ्याससे साधक साधन आरम्भ करे। जब एक घंटेका अभ्यास हो जाय, तो एक घंटेतक बैठकर अभ्यास करनेके बाद शवासनसे लेट जाय और अभ्यास करता रहे। एक घंटेतक तो उसके सामने मनोराज्यके काल्पनिक दृश्य आते जायँगे। उसके बाद ऐसे दृश्योंका उठना बंद हो जाता है।

तत्पश्चात् क्या होता है, उसके कहनेकी गुरुजीकी आज्ञा नहीं है; साधक स्वयं देखेगा कि क्या होता है। पर जो कुछ दिखायी पड़े या अनुभव हो, उसपर ध्यान न देकर अपना काम करता ही रहे, अर्थात् श्वासकी गति ही देखता रहे। श्वासकी गति देखना ही इस साधनका आरम्भिक उपदेश है; और यही अन्तिम उपदेश है।

इस अभ्यासमें यदि हाथ या पैर एकाएक इधर-से-उधर गिर जाय, तो फिर ठीक कर ले। इस प्रकारके विक्षेपसे कोई हानि न होगी। किसी अवस्थामें भी न घबरावे और समझे कि भगवान् उसके साथ हैं, केवल अभ्यास करता चला जावे; और वह यह है कि श्वासकी गति देखनेमें फरक न पड़ने पावे।

यदि कोई विचित्र बात देखे, तो फिर उसे देखनेकी इच्छा न करे। इच्छा करनेसे वह बात दूर चली जायगी। अपने अभ्यासमें लगे रहनेसे इस क्रियासे क्या नहीं हो सकता! चौकीपर गुदगुदा बिछावन बिछाकर हलकी-सी तकिया लगाकर तब शवासनसे लेटे। गरमीके दिनोंमें मसहरी अवश्य लगावे, जिसमें मच्छर और मक्खियोंसे विक्षेप न हो।

इस बातकी बहुत बड़ी चौकसी रहनी चाहिये कि अभ्यासके समय कोई शब्द न हो। अभ्यासके समय यदि किसीको जगाना ही हो तो बहुत मधुर शब्दसे ऐसे बोले मानो कोई दूसरेसे बातें कर रहा हो, साधक स्वयं जाग जायगा।

हठात् किसी तीव्र शब्दके होनेसे साधकको प्राणभय उपस्थित हो सकता है। अभ्याससे उठनेपर थोड़ा-सा घृत अवश्य खा लेना चाहिये। इस क्रियासे बहुत शीघ्र समानका भेदन होकर प्राणापानका ऐक्य होता है और योगनिद्राका अनुभव होता है, जिसका वर्णन योगिराज श्रीगोस्वामीजीने दो पदोंमें किया है।

साधक यदि खेचरी मुद्रा जानता हो तो इस साधनमें बड़ी सहायता मिलती है। इस साधनमें कभी-कभी निद्रा भी लग जाती है; और नये साधकको यह निश्चय करना कठिन पड़ जाता है कि उसे निद्रा लग गयी या समाधि हुई। यदि वह खेचरी मुद्रा जानता होगा तो उसे निर्णय करनेमें कोई कठिनता नहीं होगी, क्योंकि निद्रा लगते ही खेचरी खुल जायगी; और यदि समाधि होगी तो खेचरी और भी दृढ़तासे बद्ध हो जायगी। यह कठिनता प्रारम्भमें ही रहती है, समाधि लगना प्रारम्भ हो जानेपर साधकको स्वयं पहचान होने लगती है; अतः इस क्रियामें खेचरीकी अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। अनिवार्य आवश्यकता है ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और उत्साहकी।

अष्टपाश

(लेखक—अध्यापक पण्डित श्रीशिवनारायणजी शर्मा)

दुर्गासप्तशती अध्याय ८ के आरम्भमें मुनिवर मार्कण्डेयजी कहते हैं—

चण्डे च निहते दैत्ये मुण्डे च विनिपातिते।
बहुलेषु च सैन्येषु क्षयितेष्वसुरेश्वरः॥ २॥
ततः कोपपराधीनचेताः शुम्भः प्रतापवान्।
उद्योगं सर्वसैन्यानां दैत्यानामादिदेश ह ॥ ३॥

'चण्डके मारे जाने और मुण्डके धराशायी होनेपर तथा अधिकांश सेनाके नष्ट हो जानेपर प्रतापशाली असुरराज शुम्भने क्रोधातुर होकर सम्पूर्ण दैत्यसेनाको तैयार होनेकी आज्ञा दी।'

यहाँ अध्यात्मपक्षमें चण्ड-मुण्डसे 'प्रवृत्ति' 'निवृत्ति'का एवं शुम्भसे 'अस्मिता' का ग्रहण होता है। जब अस्मिताने असुरोंसहित प्रवृत्ति-निवृत्तिको नष्ट हुए देखा तो वह अत्यन्त क्रोधमें भरकर युद्धकी तैयारी करने लगी। उसने दैत्यकुलकी सम्पूर्ण सेना और समस्त सेनापतियोंको युद्धमें जानेकी आज्ञा दी। वस्तुतः द्वैतप्रतीति ही दैत्य है। द्वैतप्रतीति असंख्य है, इसलिये दैत्यदलकी भी कोई संख्या नहीं कही जा सकती। '**अतस्मिन् तद्बुद्धिः**' अर्थात् जो वस्तु जैसी नहीं है, उसे वैसी माननारूप विपर्ययज्ञान ही सारी द्वैतप्रतीतिका मूल है। अतः सबसे पहले विपर्ययज्ञानका विनाश होना चाहिये। चण्डीके तृतीय चरित्रके वर्णनमें सबसे पहले रुद्रग्रन्थि-भेदनके पश्चात् विपर्ययज्ञानरूप धूम्रलोचनके वधका उल्लेख है। उसके पश्चात् द्वैतप्रतीतिके सर्वप्रधान आलम्बन प्रवृत्ति-निवृत्ति (चण्ड-मुण्ड)-का निधन हुआ है। यह देखकर अस्मिता (शुम्भ)-ने अपने समस्त अध्यवसायका प्रयोग किया। यही शुम्भकी भीषण युद्धकी तैयारीका रहस्य है।

अब गीता अठारहवें अध्यायके '**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**' इस छाछठवें श्लोकद्वारा वर्णित सर्वधर्म परित्यक्त होंगे। (साधक, देखिये यह सर्वधर्मपरित्याग रुद्रग्रन्थिमें जाकर ही हो सकता है, पहले नहीं)। इस भीषण समरमें निशुम्भ (ममत्व)-के साथ शुम्भको भी आत्मबलि देनी होगी, अतः यह सारी तैयारी उसीकी पूर्वसूचना मात्र है। यह सब मातृकृपा या माता (भगवान्)-का आकर्षण मात्र ही है। यहाँ हमें गीताके ये श्लोक स्मरण करने चाहिये—

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥

(११। २८-२९)

अर्थ स्पष्ट ही है। 'जिस प्रकार नदियोंके अनेकों प्रवाह समुद्रकी ओर ही दौड़ते हैं, उसी प्रकार ये सारे मनुष्य भगवान्के ही देदीप्यमान मुखोंमें लीन हो रहे हैं। अथवा जैसे प्रदीप्त अग्निकी ज्वालाके रूपपर आसक्त

होकर पतंग उसीमें अपनेको होम देते हैं, उसी प्रकार जीव बड़ी तेजीसे भगवान्‌के ही मुखोंमें अपनी आहुति दे रहे हैं।' यही माँके प्रबल आकर्षणसे आकृष्ट हुए दैत्योंका समरानलमें आहुतिप्रदान है। साधक! विचारिये, क्या यह अपने वशकी बात है? क्या साधनाद्वारा यह हो सकता है? माँकी कृपाके बिना क्या ऐसा सुयोग प्राप्त हो सकता है? माँ स्वयं श्रीकृष्ण हैं। उनका प्रबल आकर्षण हुए बिना क्या द्वैत-प्रतीतियाँ अपने-आप अद्वयसत्तामें लीन होनेके लिये दौड़ सकती हैं? बस, आप माँके चरणोंमें आत्मसमर्पण करके उदासीन साक्षी पुरुषकी तरह निश्चिन्त रहिये। माँका स्नेहमय आकर्षण आपके द्वैतभावोंका विलय करके आपको स्वयं ही परमानन्दमय अद्वयस्वरूपमें पहुँचा देगा। माताकी इस अहैतुकी असीम कृपाका विचार करनेसे ही चित्तमें कैसा विस्मयपूर्ण उल्लास होता है—इसका अनुशीलन तो कीजिये।

हाँ, तो चण्ड-मुण्डसहित अधिकांश दैत्यदलका दलन हो जानेपर असुरराज शुम्भने क्या आज्ञा दी?—

अद्य सर्वबलैर्दैत्याः षडशीतिरुदायुधाः।
कम्बूनां चतुरशीतिर्निर्यान्तु स्वबलैर्वृताः॥
कोटिवीर्याणि पञ्चाशदसुराणां कुलानि वै।
शतं कुलानि धौम्राणां निर्गच्छन्तु ममाज्ञया॥
कालका दौर्हृदा मौर्याः कालकेयास्तथासुराः।
युद्धाय सज्जा निर्यान्तु आज्ञया त्वरिता मम॥

'हे दैत्यगण! आज मेरे हुक्मसे सारी दैत्यसेनाके सहित छियासी उदायुध, चौरासी कम्बु, पचास कोटिवीर्य, सौ धौम्र तथा कालक, दौर्हृद, मौर्य और कालकेय वंशोंके असुर युद्धके लिये तैयार होकर निकलें।'

साधकगण! यहाँ महासुर शुम्भने भीषण संग्रामका आयोजन करनेकी आज्ञा देते हुए आठ दैत्यवंशोंका नाम लिया है; यथा—उदायुध, कम्बु, कोटिवीर्य, धौम्र, कालक, दौर्हृद, मौर्य और कालकेय। आध्यात्मिक दृष्टिसे इन्हें ही 'अष्टपाश' कहा जाता है। उन अष्टपाशोंके नाम कुलार्णवतन्त्रमें इस प्रकार गिनाये हैं—

घृणा लज्जा भयं शङ्का जुगुप्सा चेति पञ्चमी।
कुलं शीलं तथा जातिरष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः॥
पाशबद्धो भवेज्जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः।

घृणा, लज्जा, भय, शंका, जुगुप्सा, कुल, शील और जाति—ये आठ पाश हैं। जो इन पाशोंसे बँधा हुआ है, वह जीव है; और जो इनसे मुक्त है, वही सदाशिव है।

ये आठ पाश ही यहाँ आठ दैत्यवंशोंके रूपमें वर्णन किये गये हैं। इनके नष्ट हो जानेसे अस्मितारूप शुम्भका विशेष आधार दूर हो जाता है। इसी रहस्यका यहाँ चित्रण किया गया है। आइये, अब हम इन असुरोंका कुछ परिचय प्राप्त करनेकी चेष्टा करें।

१. **उदायुध**—उद्‌गत है आयुध जिसका, उसे 'उदायुध' कहते हैं। आध्यात्मिक दृष्टिसे इसीका नाम 'घृणा' है। वास्तवमें घृणा उद्यतायुध ही है। दूसरेके प्रति घृणा या अवज्ञाका भाव होनेसे ही हम अहंकारको बढ़ाते—उद्यत करते हैं। मैं बड़ा कुलीन और बोधवान् हूँ तथा दूसरे अकुलीन और अज्ञानी हैं—ऐसी दृष्टिसे ही घृणाका आविर्भाव होता है। इसीसे इसे उदायुध कहा है। घृणाके आलम्बन ८६ हैं, इसीसे उदायुधोंकी संख्या भी छियासी ही बतायी है। जाग्रत्‌कालमें दस इन्द्रिय और चार अन्तःकरण—इन चौदहको आश्रय करके जरायुज आदि चार प्रकारके जीवोंके प्रति घृणा होती है; अतः आग्रत् अवस्थामें इसके १४×४=५६ भेद हुए; तथा स्वप्नावस्थामें केवल अन्तःकरणचतुष्टयके आश्रयसे चार प्रकारके प्राणियोंके प्रति इसका प्रकाश होता है, इसलिये उस समय इसके ४×४=१६ भेद होते हैं। एवं परमात्मस्वरूपमें स्थितिलाभ करनेका प्रयत्न करनेवाले अहंकारका अपनेसे भिन्न रूपसे स्फुरित होनेवाले करणोंके प्रति जो स्वाभाविक ही कुछ विद्वेष या घृणाका भाव रहता है, उनकी संख्या चौदह है। इस प्रकार घृणा या उदायुध असुरोंके कुल ५६+१६+१४=८६ भेद हैं। इसीसे यहाँ '**षडशीतिरुदायुधाः**' ऐसा उल्लोख हुआ है।

२- **कम्बु**—कम्बु शंखको कहते हैं। यह जीवका 'लज्जा' रूप दूसरा पाश या बन्धन है। शंखजातिका एक जलचर जीव होता है। शंख उसका आवरण या खोल है। जिस समय कोई प्रतिकूल-वेदना आती है तो वह अपने हाथ-पाँव आदि समस्त अवयवोंको सिकोड़कर इसीमें छिपा लेता है। मनुष्यकी लज्जाका भी ठीक ऐसा ही स्वरूप है। मनुष्य लज्जा या आत्मगोपन इसीलिये करता है कि उसकी किसी प्रकारकी दुर्बलता प्रकाशित न हो। यह भी एक प्रकारका पाश या बन्धन ही है। भेदज्ञानसे ही ऐसी लज्जा या संकोचका आविर्भाव होता है। पहले (अध्याय ५ श्लोक ४६ में) जो—

या देवी सर्वभूतेषु लज्जारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

—ऐसा कहकर मातृरूपसे लज्जाको प्रणाम किया है, उसीके फलस्वरूप आज यह कम्बु असुरके रूपसे आत्मबलि देनेको उपस्थित हुई है। इसकी संख्या चौरासी है, क्योंकि यह चौदह करणोंको आश्रय करके षाट्कौशिक देहमें (१४×६=×८४) ही प्रकट होती है। इसीसे शुम्भ आदेश करता है—'**कम्बूनां चतुरशीतिः**'।

३- **कोटिवीर्य**—जिसका अतुलित पराक्रम हो, उसे कोटिवीर्य कहते हैं। यह जीवका 'भय' नामक तीसरा पाश है। भय वस्तुः कोटिवीर्य है। जीवको अपने अस्तित्वनाशका भय न तो दिल खोलकर सांसारिक भोगोंको ही भोगने देता है और न पूर्णतया साधन-भजनमें ही लगने देता है। इस भयरूप कोटिवीर्य असुरकुलका आविर्भाव पारमार्थिकी सत्ताके अप्रकाशके कारण ही है। दस इन्द्रियाँ और पाँच कोश इस असुरकुलके प्रकाशस्थान हैं, इसलिये ये संख्यामें (१०×५=५०) पचास हैं। इस प्रकार भय-नामक पाशके पचास भेद होनेके कारण ही उक्त मन्त्रमें '**कोटिवीर्याणि पञ्चाशत्**' ऐसा कहा है।*

४- धौम्र—धूम्र-नामक असुरके वंशको धौम्र कहते हैं। यह धूम्र हमारा पूर्वपरिचित धूम्रलोचन ही है। सब प्रकारकी शंकाओंका आविर्भाव विपर्ययज्ञानसे ही होता

* गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने इस भय नामक पाशसे बचनेका बड़ा सुन्दर साधन बतलाया है—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥
(२। ३९-४०)

अर्थात् 'यहाँतक तुम्हें पुरुष-प्रकृतिविवेकरूप सांख्य कहा गया; अब उसके उपायरूप कर्मानुष्ठानके लिये बुद्धियोग सुनो, जिसके साधनसे तुम कर्मबन्धनसे छूट जाओगे। इस बुद्धियोगके आरम्भमें किसी प्रकारका विघ्न नहीं होता और न इसका विपरीत फल ही होता है। इस निष्काम-कर्मरूप धर्मका थोड़ा-सा साधन भी जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे बचा लेता है।'

ध्यानयोगका साधक जब अपनी वृत्तियोंको सब ओरसे समेटकर अपने इष्टदेवकी मूर्तिका चिन्तन करता है तो उसके हृदयमें निहित तरह-तरहकी वासनाएँ जाग्रत् होकर उसके ध्यानमें विघ्न उपस्थित कर देती हैं। वह बड़ी तत्परतासे उन्हें हटाकर अपने प्रियतमकी मनोमोहिनी झाँकी करना चाहता है, किन्तु फिर अन्यान्य मानस चित्र आकर बीचमें खड़े हो जाते हैं। इस प्रकार बार-बार अपने उद्योगमें असफल होनेसे वह छटपटाकर रह जाता है। परन्तु यदि वह ऐसा निश्चय कर ले कि मेरे मानस नेत्रोंके सामने जो भी चित्र आता है, वह मेरे इष्टदेवका ही छद्मवेश है तो उसे सर्वत्र अपने प्रियतमकी ही झाँकी होगी। फिर जो भी मूर्ति उसके प्राणोंमें फूटेगी, उसीके पादपद्मोंमें वह अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित कर देगा। इसीका नाम समत्वयोग या बुद्धियोग है। यह बुद्धियोग ही सारे विघ्नोंकी अमोघ ओषधि है, यही कर्मकौशल है, इसके द्वारा साधक बड़ी सुगमतासे सारे बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। इससे युक्त होनेपर वह पुण्य-पाप दोनोंहीसे मुक्त हो जाता है-'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।' (गीता २। ५०)

मान लो तुम भगवान् शंकरका ध्यान करना चाहते हो; किन्तु तुम्हारे सामने आ जाता है कोई सर्प, तो तुम इससे घबराओ मत। उसीको छद्मवेशधारी शंकर समझो। याद रखो, जबसे तुमने अपने हृदयसिंहासनपर अपने इष्टदेवको बिठानेका संकल्प कर लिया है, तबसे वह उसीका हो गया है, अब उसे दूसरा कोई स्पर्श नहीं कर सकता। किसी प्रकारका भाव अथवा चित्र तुम्हारे हृदयमें आविर्भूत हो, तुम उसे उस रूपमें आया हुआ अपना इष्टदेव ही समझो। यदि कुछ दिन ऐसा अभ्यास करोगे तो वह छद्मवेश त्यागकर अपने निज रूपसे तुम्हारे सामने प्रकट हो जायगा और तुम उसका मंगलमय दर्शन करके कृतकृत्य हो जाओगे।

इस प्रकारके प्रारम्भका कभी नाश नहीं होता। इसमें कभी विफलता या विघ्न होनेकी सम्भावना नहीं है, क्योंकि वे विघ्नादि भी तुम्हारे प्रियतमके ही छद्मवेश हैं। अतः इसका थोड़ा-सा अनुष्ठान कर सकनेपर भी तुम्हारे हृदयके सारे अभाव नष्ट हो जायँगे और तुम अपने इष्टदेवका पता पाकर जन्म-मरणके महान् भयसे मुक्त हो जाओगे। भगवान् शंकराचार्य कहते हैं—'माँजी! तुम्हें पुकारना नहीं पड़ता, तुम्हें बुलावें—इतनी याद आते ही तुम सन्तानको गोदमें उठाकर अपने अंगसे मिलाकर सायुज्य पद प्रदान कर देती हो।' मातृसन्तानका यह महावाक्य सभी मातृसन्तान अनुभव करते हैं। यह अपूर्व आश्वासनवाक्य प्रत्येक साधकको आनन्दमग्न कर देता है। इसे सुनकर वह माँके वियोगको भूलकर उसके वात्सल्यमें तन्मय हो जाता है। अतः भगवान् श्रीकृष्णकी इस अमोघवाणीको सर्वदा अपने हृदयपटलपर अंकित रखिये। माँके इस स्नेहमय आश्वासनको सदाके लिये अपने गलेका हार बना लीजिये। बस, सर्वदा याद रखिये—'दिलके आईनेमें है तस्वीरे यार। जब ज़रा गर्दन झुकाई देख ली।' इससे आप बड़ी सुगमतासे अष्टपाशके महान् बन्धनसे मुक्त हो जायँगे।

है, यही धूम्र है और इससे आविर्भूत होनेवाला 'शंका' नामक चतुर्थ पाश ही धौम्रवंशीय असुरसमूह है। भय और शंकामें भेद यह है कि भय अपने अस्तित्वनाशकी आशंकाको कहते हैं और शंका अपनेसे सम्बन्धित पदार्थोंके विनाशकी आशंकाको। अथवा यों समझिये कि भय अपनी मृत्युका होता है और शंका धन-सन्तान आदि अपनी वस्तुओंके नाशकी। भेदप्रतीतिसे ही इसका आविर्भाव होता है, इसलिये यह भी एक बन्धन-विशेष है। दस इन्द्रिय और सूक्ष्म-स्थूलभेदसे दस भूतोंका आश्रय करके ही इसका प्रकाश होता है, अतः इस असुरकुलकी संख्या (१०×१०=१००) सौ है। इसीसे मन्त्रमें '**शतं कुलानि धौम्राणाम्**' ऐसा उल्लेख हुआ है।

५- **कालक**—'काल' शब्दके आगे स्वार्थमें 'क' प्रत्यय होनेसे यह पद सिद्ध होता है। इसका अर्थ है काले रंगका असुर। यही 'जुगुप्सा' नामक पाँचवाँ पाश है। अज्ञान कृष्णवर्ण है, अज्ञानसे ही बहुत्वप्रतीति या भेदज्ञान पुष्ट होता है तथा भेदज्ञानसे ही जुगुप्सा—निन्दा अथवा छिपानेकी इच्छाका आविर्भाव होता है। साधक जबतक एकत्वमें उपनीत नहीं होता, तबतक वह किसी प्रकार कालक असुररूप जुगुप्साके पंजेसे परित्राण नहीं पाता।

६- **दौर्हृद**—यह दुर्हृद्नामक असुरका वंशधर है। दुष्ट भावोंका आहरण करनेवालेको दुर्हृत् कहते हैं। उसका वंशज यह दौर्हृद 'अभिमान' रूप छठा पाश है। साधकको हजार बार अद्वय ब्रह्मसत्ताका उपदेश दिया जाय, तब भी कुलाभिमानरूप अज्ञानके कारण वह उसे ग्रहण नहीं कर सकता; अतः यह अभिमानरूप पाश भी एक आसुर भाव ही है।

७- **मौर्य**—यह मुर-नामक असुरकी सन्तान है, आध्यात्मिक दृष्टिसे यह जीवका 'शील' संज्ञक सातवाँ पाश है। 'शील' शब्दका अर्थ है स्वभाव या प्रकृति। अद्वय-पदतक पहुँचनेमें अपना स्वभाव या प्रकृति महान् अन्तराय है। प्रकृति ही जीवकी जन्मदात्री माँ है। जिन्होंने इस सत्यको अनुभव कर लिया है, केवल वे ही इस रुद्रग्रन्थि-भेदके क्षेत्रमें पहुँचकर यह अनुभव कर सकेंगे कि यह प्रकृति स्वयं ही जीवको छोड़कर अद्वय आनन्दमयी सत्ताका पता लगा देती है। अपनी प्रकृतिको 'माँ' न कह सकनेपर विश्व-प्रकृतिका पता कभी नहीं पाया जा सकता और विश्व-प्रकृतिका पता पाये बिना विश्वातीत क्षेत्रमें—निरंजनस्वरूपमें उपनीत नहीं हुआ जाता।

८- **कालकेय**—यह कालक असुरकी सन्तान है। यही जीवका 'जाति' नामक आठवाँ पाश है। अज्ञान या भेदज्ञानसे ही जात्यभिमान पुष्ट होता है, इसीसे इसे कालक अर्थात् अज्ञानरूप कृष्णवर्ण असुरकी सन्तान यानी कालकेय कहा जाता है। वास्तवमें ये कुल, शील, जाति आदि प्रत्यय अत्यन्त कठिनतासे दूर होनेवाले हैं। ये बार-बार विलीन होनेपर भी फिर आविर्भूत हो जाते हैं। इन प्रतीतियोंको समूल नष्ट करनेके लिये ही माँका यह साधन समररूप चरम आयोजन है।

ये घृणा-लज्जा आदि अष्टपाश जीवत्वके सुदृढ बन्धन हैं। इन्हें छेदन किये बिना विमल बोधरूप मातृ (भगवत्)-साक्षात्कार नहीं हो सकता। अथवा यों भी कह सकते हैं कि मातृसाक्षात्कार हुए बिना इन अष्टपाशोंका नाश नहीं होता। देखते हैं, साधक लोग इन पाशोंसे छूटनेके लिये अनेक प्रकारके बाह्य साधन किया करते हैं; किन्तु उनसे ये पाश छिन्न नहीं होते—केवल इतना ही नहीं, अपितु उन विपरीत कर्मोंके कारण बहुत-से नये-नये संस्कार भी संचित हो जाते हैं। याद रखिये—बन्धन और मुक्ति दोनों ज्ञानके ही प्रकार-भेदमात्र हैं। जबतक विशुद्ध बोधका उदय नहीं होगा (भगवत्साक्षात्कार या मातृ-साक्षात्कार न होगा) तबतक अज्ञानमूलक अष्टपाशका बन्धन किसी प्रकार नहीं कटेगा। भगवान् श्रीकृष्णने भी अर्जुनसे यही बात कही है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

(गीता २। ५९)

'आहारादि विषयोंको ग्रहण न करनेवाले पुरुषके विषय तो छूट जाते हैं, परन्तु उस भगवद्भावहीन व्यक्तिका विषयानुराग निवृत्त नहीं होता। किन्तु जिसने भगवान्का साक्षात्कार कर लिया है, उस स्थितप्रज्ञका वह अनुराग भी स्वतः निवृत्त हो जाता है।'

अतः जो साधक साधनाकी आरम्भिक अवस्थासे ही अपने सत्-असत् सब प्रकारके भाव सरल प्राणसे बिना विचारे माँ (परमात्मा)-के सम्मुख रख देते हैं, केवल वे ही माँकी कृपासे बड़ी सुगमतासे अष्टपाशसे मुक्त होकर परमानन्द-सागरमें अवगाहन कर सकते हैं। रुद्रग्रन्थि-भेदके साधक माँकी गोदमें निर्मम चित्तसे बैठकर ठीक ऐसा ही अनुभव करते हैं कि माँके प्रबल आकर्षणसे

आकृष्ट होकर पाशसमूह एक-एक कर स्वेच्छासे अपनी बलि देनेके लिये प्रलयकी ओर बढ़ रहे हैं। इस प्रकार जिन पाशोंसे मुक्त होना असम्भव जान पड़ता था तथा जिनसे मुक्त होनेके लिये अनेकों कठोर साधनाओंकी आवश्यकता अनुभव होती थी, वे सब भगवत्कृपासे स्वयं ही छोड़ जानेका उपक्रम कर रहे हैं।

साधक! क्या आप यह विश्वास नहीं करते कि माँको सरल प्राणसे 'माँ' कहकर पुकारनेसे, मातृचरणोंमें आत्मसमर्पण कर सकनेसे, माँकी गोदमें बैठनेके लिये व्याकुल हो सकनेसे सचमुच तुम्हारे भी सब बन्धन इसी प्रकार खुल जायँगे? ऐ स्नेहकी सन्तान! माँ स्वयं आकर तुम्हारे सब बन्धन अपने-आप खोल देगी और तुम्हें छातीसे लगाकर मुक्तिके हिरण्मय-मन्दिरमें पहुँचा देगी। तुमने बहुत दिनोंसे आत्मराज्यसे विच्युत होकर अपनी ही इच्छासे यह जीवत्वका बन्धन स्वीकार कर लिया है। स्नेहविह्वला माँ तुम्हारे सब कल्पित बन्धनोंको सदाके लिये दूर कर देगी और जहाँ बन्धनका नाम भी नहीं है—भेदज्ञानका लेश भी नहीं है—निरानन्दका स्पर्श भी नहीं है—उस निरवच्छिन्न आनन्दमय, विशुद्ध चैतन्यमय अखण्ड ब्रह्मसत्तामें सदाके लिये तुम्हारी विशिष्ट सत्ताको मिला लेगी और तुम भी '**अहं ब्रह्मास्मि**' ऐसा कहते हुए जीवत्वसे पार होकर शिवत्व प्राप्त कर लोगे। इस प्रकार तुम्हें अपने मानव-जीवनकी पूर्ण चरितार्थता अनुभव हो जायगी। (साधन-समरके आधारपर)

साधकोंके कुछ दैनिक कृत्य

मनुष्य विचारप्रधान प्राणी है। यह पशुत्वसे ऊपर उठकर दिव्यत्वकी ओर जा रहा है। पशुकी अपेक्षा मनुष्यकी यही विशेषता है कि पशु तो अपनी आँखोंके सामने कोई मोहक रूप देखकर उसे पानेके लिये दौड़ पड़ता है और उसके प्रलोभनमें फँसकर पीछे होनेवाली ताड़नापर दृष्टि नहीं रखता, उसे तो केवल वर्तमान सुख चाहिये। परन्तु मनुष्य किसी आकर्षक वस्तुको देखकर उसे जानता है, अपने अतीत और भविष्य जीवनसे उसका क्या सम्बन्ध है—यह विचार करता है और फिर यदि वह वस्तु अपने जीवनकी प्रगतिमें सहायक हुई तो उसे जहाँतक वह अपनी उन्नतिमें बाधक न हो, स्वीकार करता है और उसका उपयोग करता है। मनुष्यकी दृष्टि क्षणिक उपभोग-सुखपर, जो कि अत्यन्त तुच्छ और क्षुद्र है, कभी मुग्ध नहीं होती। यदि मुग्ध होती है तो अभी उसका पशुत्व निवृत्त नहीं हुआ है, जो कि अबसे बहुत पहले हो जाना चाहिये था। परन्तु पूर्व संस्कारों और वर्तमान जन्मके अभ्यास और संगसे जब मनुष्यकी दृष्टि तमसाच्छन्न रहती है, तब उसका पशुत्व अपना काम करता रहता है और वह बुद्धिका प्रयोग न करके केवल मनको प्रिय लगनेवाले विषयोंके पीछे ही भटकता रहता है। यह पशुत्व है, जिसको नष्ट करके मनुष्यत्वको जागरित करना पड़ेगा। यह मनुष्यत्वका जागरण सहसा भी सम्पन्न हो सकता है और क्रमविकाससे भी सम्भव है। जिनका मनुष्यत्व जागरित है, उनके मनुष्यत्वकी रक्षा और दिव्यत्वकी जागृतिके लिये तथा जिनका सुषुप्त है, उनके पशुत्वकी निवृत्ति और मनुष्यत्वके जागरणके लिये एक ऐसे निर्दिष्ट पथकी आवश्यकता है जो केवल मनको प्रिय लगनेवाले विषयोंकी परिधिमें ही सीमित न हो प्रत्युत ज्ञानके विश्वव्यापी आलोकसे देदीप्यमान हो और जिसमें पद-पदपर दिव्यभावकी झाँकी एवं उसकी ओर अग्रसर होनेके प्रत्यक्ष निदर्शन प्राप्त होते हों। यही पथ सदाचारका पथ है, जो पाशविक प्रवृत्तियों और उच्छृङ्खल वृत्तियोंको चूर-चूर करके एक ऐसी मर्यादामें स्थापित कर देता है, जो शान्ति और आनन्दका उद्गम है तथा जिसके मूलमें दिव्यताकी पूर्ण प्रतिष्ठा है। सदाचारका राजपथ इतना सुस्पष्ट और प्रशस्त है कि उसका विज्ञान अथवा रहस्य समझानेकी आवश्यकता नहीं होती। उसकी रूप-रेखापर एक बार दृष्टि डालते ही उसकी उत्तमता अवगत हो जाती है और जो अपने जीवनको एक निर्दिष्ट लक्ष्यपर ले जाना चाहते हैं, वे तो अवश्य ही उसका आश्रय कर लेते हैं।

हिन्दूजातिकी प्राचीन संस्कृति और सभ्यता इस बातकी साक्षी है कि उसकी नियमनिष्ठाने उच्च-से-उच्च आध्यात्मिक तत्त्वोंके आविष्कार, उसकी उपपत्ति

और उसके सम्बन्धकी धारणाओंको क्रियात्मक रूप देनेमें सफलता प्राप्त की है और वह न केवल आध्यात्मिक योग्यतामें ही प्रत्युत शारीरिक और जागतिक प्रवृत्तियोंमें भी उन जातियोंसे बहुत ही आगे रही है, जो आजकल उन्नतिके शिखरपर प्रतिष्ठित मानी जाती हैं। आजकी परिस्थिति ऐसी है कि अधिकांश लोग यह भी नहीं जानते कि उस आचार-व्यवहारका क्या स्वरूप था, जिसके द्वारा प्राचीन कालमें समुद्र-गम्भीर बुद्धि और हिमाचलके समान अविचल एकाग्रतासे सम्पन्न होकर लोग असम्भवको भी सम्भव करनेमें समर्थ हो सके थे। वास्तवमें उन आचरणोंमें ऐसी ही क्षमता है। उनको कोई अपने जीवनमें लाकर देखे तो सही, सारी समस्याएँ स्वयं हल हो जायँगी। वे आचरण कृत्रिम नहीं, सहज हैं। उनके पालनमें कष्ट नहीं, सुख है, वे किसीकी स्थितिके विरोधी नहीं, उन्नायक हैं। संक्षेपतः उन्हींका दिग्दर्शन करानेकी चेष्टा की जाती है।

निद्रा-त्याग

रात्रिका चौथा भाग बड़ा ही पवित्र है। उस समय प्रकृति शीतल रहती है; एवं चारों ओर शान्तिका साम्राज्य रहता है। बाहरी विक्षेप कम एवं आन्तरिक अनुकूलता अधिक होनेके कारण मन सहज ही अन्तर्देशमें प्रवेश करता है। किसी भी विषयपर गम्भीरतासे विचार करनेका वह सर्वोत्तम समय है। मनुष्य-जीवनका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है, इसलिये शास्त्रकारोंने आदेश किया है कि मनुष्यको इस शान्त समयसे लाभ उठाना चाहिये। धर्मार्थचिन्तन और स्वास्थ्यलाभकी दृष्टिसे भी उस समयका जागरण ही श्रेयस्कर है। बहुत ही प्राचीन कालसे यह समय ब्राह्ममुहूर्तके नामसे प्रसिद्ध है। इस समयमें जगकर दिनभरके लिये उपयुक्त शक्ति और शान्तिका संग्रह कर लेना चाहिये। जो इस पवित्र समयको निद्रा, प्रमाद अथवा आलस्यवश यों ही गवाँ देता है, वह अपने लाभकी एक उत्तम सामग्री खो बैठता है। साधकोंके लिये यह बतलाया गया है कि वे रात्रिका चौथा भाग प्रारम्भ होते ही उठ बैठें और हाथ-पैर धोकर शयनका वस्त्र परित्याग कर दें एवं आचमन करके अलग आसनपर बैठकर श्रीगुरुदेवका ध्यान करें। गुरुदेव स्वयं शिवस्वरूप हैं और अपनी शक्तिके साथ मस्तकस्थित सहस्रदल कमलमें विराजमान हैं। उनके नेत्रोंसे अनुग्रहकी वर्षा हो रही है, एवं उनके चरणकमलोंकी नखछटासे एक ऐसी अमृतमयी ज्योति निकल रही है, जो मेरे सम्पूर्ण अन्तःकरण, प्राण और शरीरमें एक महान् शक्तिका संचार कर रही है। इस प्रकार श्रीगुरुदेवका चिन्तन करके इष्टदेवका ध्यान करनेके लिये उनसे अनुमति ले और अपनी साधनाके अनुसार कुण्डलिनी शक्ति अथवा इष्ट मूर्तिका ध्यान करे। ब्राह्ममुहूर्तके ध्यानमें निद्रा और आलस्यके लिये अवसर नहीं होता। मन शीघ्र ही अन्तर्मुख हो जाता है, अवश्य ही थोड़ी-सी लगन और प्रेमकी आवश्यकता है। ध्यान करते समय समस्त शारीरिक और व्यावहारिक चिन्ताओंसे मुक्त हो जाना चाहिये। भीतर-ही-भीतर मनको अपने हाथमें उठा लेना चाहिये और जबतक वह स्थिरभाव न ग्रहण करे तबतक बार-बार ले जाकर उसे इष्टदेवके चरणोंमें चढ़ाते रहना चाहिये। इस क्रियामें आनन्दका इतना अधिक अनुभव करना चाहिये कि मन स्वयं उसमें रस लेने लगे और इस स्थितिसे नीचे न उतरना चाहे।

सूर्योदय होनेमें कुछ विलम्ब हो तभी यह निश्चय करके उठना चाहिये कि 'आज मेरे जीवनकी सम्पूर्ण क्रिया, यहाँतक कि छोटे-मोटे व्यवहार भी भगवान्‌का स्मरण करते हुए भगवान्‌के लिये होंगे। मेरी किसी भी क्रियासे किसी भी प्राणीको कष्ट नहीं पहुँचेगा और किसी भी परिस्थितिमें मेरे चित्तमें उद्वेग, अशान्ति, क्रोध, हिंसा, विषाद, चिन्ता और दुःखका प्रवेश नहीं होगा। पिछले दिनोंकी अपेक्षा आज मैं अधिक शान्त सर्वथा पवित्र रहूँगा और अत्यन्त तीव्र गतिसे अपने लक्ष्यकी ओर बढ़ूँगा। आजका दिन मेरे लिये बड़ा ही मंगलमय है।' इस सत्संकल्पके साथ ही शौच, स्नानादि आवश्यक कृत्योंके लिये यात्रा करनी चाहिये।

प्रातःकाल भगवान्‌के स्तोत्र, उनके जागरणके मंगलगीत, उनके पावन नामोंका मधुर कीर्तन, हृदयस्पर्शी प्रार्थना और युधिष्ठिर, जनक, नल आदि महापुरुषोंका स्मरण, उनके नामोंका उच्चारण आदि—जैसा कि प्राचीन परिपाटीका पालन करनेवाले हिन्दू घरानोंमें आजकल भी देखा जाता है—करना चाहिये। जिसका प्रभात मंगलमय है, उसका सारा दिन मंगलमय है।

स्नानविधि

मनुष्य-जीवनमें भोजनसे भी ऊँचा स्थान है स्नानका। यों तो भोजन भी साधनाका एक अंग ही है—यदि साधनके रूपमें उसका अनुष्ठान हो; परन्तु भोजनमें तो कभी-

कभी व्यवधान भी डालना पड़ता है, लेकिन स्वस्थ पुरुषके लिये ऐसा एक दिन भी नहीं है जिसमें स्नान करनेका निषेध हो। स्नानके लिये सर्वोत्तम स्थान समुद्र और गङ्गा, नर्मदा, गोदावरी आदि महानदियाँ हैं। उनके अभावमें छोटी-छोटी नदियाँ, प्राकृतिक सोते, स्वच्छ जलके ताल, सरोवर, बावली और कुएँ हैं। जिस जलकी पवित्रता सन्दिग्ध हो, जो स्वास्थ्यके लिये हानिकर, चित्तके लिये ग्लानिकर एवं अस्वच्छ हो उसमें स्नान नहीं करना चाहिये। जलके समीप शुद्ध भूमिपर अपने वस्त्र आदि स्थापित करके जलाधिष्ठात्री देवताको नमस्कार करके स्नानकी अनुमति माँगे और फिर अपने ऊपर जल छिड़ककर संकल्प करे—'**ॐ अद्येत्यादि अमुकगोत्रः अमुकनामाहं भगवत्प्रीतये अमुकतीर्थे स्नानं करिष्ये।**' इसके पश्चात् अपनी शाखोक्त पद्धतिसे वैदिक स्नान करके फिर इष्ट-मन्त्रसे अंगन्यास और प्राणायाम करे।

ॐ गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धुकावेरि जलेऽस्मिन् संनिधिं कुरु॥

—इस मन्त्रसे अंकुश-मुद्रा करते हुए ऐसी भावना करे कि सूर्यमण्डलसे साक्षात् इस तीर्थकी अधिष्ठात्री देवता उतर रही है। '**वं**' इस अमृत-बीजका उच्चारण करके धेनुमुद्रा करते हुए ऐसी भावना की जाय कि यह जल अमृतस्वरूप हो गया है। '**हुं**' इस मन्त्रसे कवच- मुद्राके द्वारा अवगुण्ठन करके, 'फट्' इस मन्त्रसे संरक्षण करके और ग्यारह बार इष्ट मन्त्रका जप करके अभिमन्त्रित करे। सूर्यको बारह अंजलि जल देकर यह भावना करे कि मेरे इष्टदेवके चरण-कमलोंसे ही यह जल निकला हुआ है, इसलिये परम पावन है। तत्पश्चात् उसमें तीन डुबकी लगावे और अपने इष्टदेवका स्मरण करता हुआ मन्त्रका जप करे। कलश-मुद्रासे अपने सिरपर तीन बार अभिषेक करे और तत्पश्चात् वैदिक सन्ध्या और तर्पण आदि करे। सूर्यार्घ्य, अघमर्षण और तर्पण आदि क्रियाएँ तान्त्रिक विधिसे भी की जा सकती हैं। देवतर्पण, ऋषितर्पण एवं पितृतर्पण करके गुरु, परमगुरु, परापर गुरु और परमेष्ठिगुरुका भी तर्पण करना चाहिये।

इसके अतिरिक्त चाहे गङ्गामें स्नान करते हों या अन्यत्र, श्रीगङ्गाजीका ध्यान और मन्त्र-जप कर लेना चाहिये। साधारणतः एक तीर्थमें दूसरे तीर्थका ध्यान करना तीर्थापराध है, परन्तु गङ्गाका स्मरण अपवादस्वरूप है। गङ्गाका ध्यान इस प्रकार करना चाहिये—'वे शुद्ध स्फटिकके समान श्वेत वर्ण हैं। श्वेत वस्त्र, श्वेत आभूषण, श्वेत पुष्पमाला और श्वेत ही मुक्तामाला धारण किये हुए हैं। उनकी अवस्था सर्वदा सोलह वर्षकी रहती है और ब्रह्मादि देवता, बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि उनकी सेवामें संलग्न रहते हैं।' इस प्रकारका ध्यान करके उनके मन्त्रका जप करना चाहिये। उनका मन्त्र है—'**ॐ ह्रीं गङ्गायै ॐ ह्रीं स्वाहा**'। उपर्युक्त ध्यान करके इस मन्त्रका जप करते हुए चाहे जहाँ भी स्नान किया जाय, गङ्गास्नानका फल प्राप्त होता है।

स्नान सात प्रकारके होते हैं। उनके नाम ये हैं—मान्त्र, भौम, आग्नेय, वायव्य, दिव्य, वारुण और मानस। '**आपो हि ष्ठा०**' इत्यादि मन्त्रोंसे जो मार्जन होता है, उसको मान्त्र स्नान कहते हैं। शरीरमें मिट्टी लगाकर उसके प्रक्षालनको भौम स्नान कहते हैं। भस्म-स्नानको आग्नेय स्नान कहते हैं। गौओंके चरणोंकी धूलि वायुके द्वारा उड़कर आती है और सारे पापोंको धोकर शरीरको पवित्र कर देती है। यह गोरज-स्नान जब इच्छापूर्वक किया जाता है, तब इसके निमित्त-कारण वायुके नामसे इसको वायव्य स्नान कहते हैं। धूपमें होती हुई वर्षामें जो स्नान होता है, वह दिव्य स्नान है। जलमें डुबकी लगाना वारुण स्नान है और भगवान्का चिन्तन मानस स्नान है। मानस स्नान अपने इष्टदेवके अनुसार होता है। यहाँ उसके कुछ प्रकारविशेष लिखे जाते हैं।

वैष्णवका आभ्यन्तर स्नान इस प्रकार होता है—'साधकको ऐसा चिन्तन करना चाहिये कि ऊपर मेरे सामने आकाशमें द्वादशदल कमलपर, जिसके प्रत्येक दलपर द्वादशाक्षर मन्त्रका एक-एक अक्षर अङ्कित है, शङ्ख-चक्र-गदाधारी चतुर्भुज भगवान् विष्णु विराजमान हैं। वे वनमाला पहने हुए हैं। उनके नेत्र-कमलोंसे आशीर्वाद और प्रेमकी वर्षा हो रही है। उनके मुख-कमलसे कोटि-कोटि सूर्योंके समान प्रकाशकी किरणें चारों ओर फैल रही हैं। उनके चरण-कमलोंसे अमृतकी एक धारा निकलकर मेरे सिरपर गिर रही है और मेरे ब्रह्मरन्ध्रके द्वारा शरीरमें प्रवेश करके समस्त वासनाओं, संस्कारोंको धो रही है। मेरा शरीर, अन्तःकरण और स्वयं मैं स्फटिक मणिके समान स्वच्छ एवं निर्मल हो रहा हूँ।' ऐसी भावनासे जो आभ्यन्तर स्नान किया जाता है—शास्त्रोंमें कहा है कि वह मान्त्र स्नानसे भी हजार गुना उत्तम है।

शाक्तोंके आभ्यन्तर स्नानमें ऐसा चिन्तन होता है कि ज्ञानानन्दस्वरूपिणी महामाया अपने बीजाक्षर 'ह्रीं' के रूपमें प्रकट हो रही है। तीन 'ह्रीं' मेंसे सत्, चित् और आनन्दकी तीन धाराएँ प्रवाहित होकर मुझे सम्पूर्ण रूपसे आप्लावित कर रही हैं। ये धाराएँ अविच्छिन्न आनन्द, अनन्त ज्ञान और अखण्ड स्वातन्त्र्यका वितरण करती हैं। इनका अनुभव केवल भावुक साधक ही कर सकता है। जो इस प्रकार आभ्यन्तर स्नान करता है, वह कृतकृत्य हो जाता है।

शैवोंका आभ्यन्तर स्नान इस प्रणालीसे होता है—'अपने इष्ट-मन्त्रसे प्राणायाम करके मूलाधारसे लेकर आज्ञाचक्रपर्यन्त शक्तिका उत्थान और गमन सम्पन्न करके सहस्त्रारस्थित परमशिवके साथ उसका संगम करावे। उन दोनोंके सम्मिलनसे प्रकट अमृतकी धारामें मैं स्नान कर रहा हूँ, ऐसी भावना करे।' यह शैवाभ्यन्तर स्नान सद्योमुक्तिस्वरूप है। इसी प्रकार अन्य देवताओंका भी आभ्यन्तर स्नान होता है।

जैसे पृथ्वीतलमें और स्थूल ब्रह्माण्डमें गंगा, मन्दाकिनी, भोगवती आदि अनेकों नदियाँ और मानस-सरोवर आदि अनेकों तीर्थ स्नानके लिये विशेष महत्त्वके माने गये हैं वैसे ही पिण्ड-ब्रह्माण्डके अत्यन्त सूक्ष्म भावराज्य अथवा मनोमय जगत्में भी स्नानके अनेकों तीर्थ माने गये हैं। यह भी कहा गया है कि जो अन्तर्जगत्के तीर्थोंमें स्नान करते हैं, उन्हें बाह्य तीर्थोंके स्नानकी विशेष अपेक्षा नहीं रहती। जगत्के सुख-दुःख और बन्ध-मुक्तिका कारण मन ही है। जिसका मन तीर्थसेवी हो गया, वह समस्त गोरखधन्धोंसे छुटकारा पा गया। उदाहरणके लिये मनुष्यके हृदयमें पुष्कर तीर्थ है; शिरोभागमें विन्दु तीर्थ है; सुषुम्णामें शिव तीर्थ है; इडा, पिङ्गला और सुषुम्णाका जहाँ समागम होता है वहाँ त्रिवेणी तीर्थराज है; भौंहोंके बीचमें वाराणसी है। इसी प्रकार छहों चक्रोंमें विशेष-विशेष तीर्थ हैं। उनमें जो स्नान करता है, वह स्नानमात्रसे ही समस्त पापोंसे मुक्त एवं भगवत्प्राप्तिका अधिकारी हो जाता है। स्नानकी उपर्युक्त विधि शरीर, प्राण, मन, सभीकी दृष्टिसे कितनी लाभप्रद है—यह कहनेकी आवश्यकता नहीं।

वस्त्रधारण

वस्त्रधारणके सम्बन्धमें यह नियम है कि यदि जलके अंदर ही नित्यकर्म करना हो तब तो गीले वस्त्रसे ही कर लेना चाहिये, परन्तु यदि स्थलपर करना हो तो अवश्य ही सूखा वस्त्र पहन लेना चाहिये। वस्त्र शुद्ध होना चाहिये और सादा भी। नीला वस्त्र कभी नहीं पहनना चाहिये। सिले हुए, जले हुए, फटे हुए और दूसरेका (पारक्य) वस्त्र पहनकर नित्यकर्म करनेका निषेध है—

न कुर्यात् सन्धितं वस्त्रं देवकर्मणि भूमिप।
न दग्धं न च वै छिन्नं पारक्यं न तु धारयेत्॥

यहाँ 'पारक्य' का अर्थ दूसरेका किया गया है। एक बार पण्डित श्रीपंचाननजी तर्करत्नने इस शब्दका अर्थ 'विदेशी' लिखा था। अर्थात् विदेशी वस्त्र पहनकर नित्यकर्म नहीं करना चाहिये। श्वेत वर्णका रेशमी वस्त्र नित्यकर्ममें तो प्रशस्त है, पर उसे पहनकर स्नान नहीं करना चाहिये। ऊनी वस्त्र मलमूत्रके त्यागके समय नहीं पहनना चाहिये। बाकी सब समय पहना जा सकता है। ऊनी कपड़ेकी अशुद्धि अग्निके ताप, वायु और सूर्यकी किरणोंसे ही नष्ट हो जाती है। इष्ट और कर्मोंके भेदसे भी वस्त्र-भेद होता है। इन सब बातोंका विचार करके ही वस्त्र धारण करने चाहिये। वस्त्रोंमें मल रहनेसे शरीर और चित्तपर उनका बुरा प्रभाव पड़ता है। इसलिये वस्त्रोंको सदा धोकर साफ रखना चाहिये। बिना धोये अथवा धोबीके यहाँ धोये हुए वस्त्र भी अपवित्र माने गये हैं। धोबीके घर धुले वस्त्रोंको फिरसे धोकर पहनना चाहिये। मैले, गंदे और दूषित वस्त्र अस्वास्थ्य, ग्लानि आदिके कारण होनेसे भावोत्पत्तिमें प्रतिबन्धक होते हैं। भगवदीय अथवा आध्यात्मिक रसकी अनुभूतिके लिये जितने भी उद्दीपन आवश्यक हैं, उनमें वस्त्र भी हैं। इसलिये इसका विचार कर लेना चाहिये।

तिलक अथवा भस्म

वस्त्रधारणके पश्चात् पूर्वमुख अथवा उत्तरमुखसे बैठकर तिलक धारण करना चाहिये। श्वेत या रक्त चन्दन, गोपीचन्दन, कुंकुम, मृत्तिका, मलयज, बिल्वपत्र-भस्म आदिसे अपने-अपने सम्प्रदायके अनुसार तिलक करना चाहिये। और कुछ न हो तो जलसे ही तिलक कर लेना चाहिये। शास्त्रोंमें इसकी बड़ी महिमा है। इसके द्वारा भगवान्की स्मृतिमें सहायता मिलती है। वैष्णवोचित तिलक देखते ही बहुतसे लोग 'जय सियाराम' 'जय श्रीकृष्ण' और भस्मके त्रिपुण्ड्र देखकर 'जय शंकर' आदि कहकर भगवान्का स्मरण करते हैं। उससे अपने हृदयमें भी बड़ी पवित्रता और आनन्दका

अनुभव होता है। तिलकके रूपमें अपने इष्टदेव ही तो शरीरपर निवास करते हैं—जिसके हृदयमें इस सुन्दर भावका उदय होता है, उसकी शान्तिमें सन्देह ही क्या है? सिर, ललाट, कण्ठ, हृदय, दोनों बाहु, दोनों बाहुमूल, नाभि, पीठ और दोनों बगलमें—बारह अंगोंमें तिलक करनेका विधान है। इनकी आकृति साम्प्रदायिक परम्परासे जाननी चाहिये। तिलक करनेका सामान्य मन्त्र है—

केशवानन्त गोविन्द वराह पुरुषोत्तम।
पुण्यं यशस्यमायुष्यं तिलकं मे प्रसीदतु॥

चन्दन-धारणका मन्त्र है—

कान्तिं लक्ष्मीं धृतिं सौख्यं सौभाग्यमतुलं मम।
ददातु चन्दनं नित्यं सततं धारयाम्यहम्॥

इतना विशेष समझ लेना चाहिये कि त्रिपुण्ड्र और ऊर्ध्वपुण्ड्र दोनों एक व्यक्तिके लिये एक साथ निषिद्ध हैं। इसलिये दोनोंमेंसे कोई एक ही करना चाहिये। इनसे शरीर और मनमें पवित्रताका विशेष संचार होता है।

सन्ध्या

सन्ध्याकी विधि बहुत ही प्रसिद्ध है। यह इतनी पवित्र विधि है कि व्यावहारिक जीवनको पूर्ण बनाने, परमार्थकी ओर अग्रसर होने, पाप एवं पापजन्य ग्लानिको नष्ट करनेमें इसके समान और कोई भी कर्म नहीं है। इससे चित्तकी एकाग्रता एवं अन्तर्मुखता इस प्रकार बढ़ती है कि यदि विधिपूर्वक और भावसे कुछ दिनोंतक लगातार सन्ध्या की जाय तो बहुत ही शीघ्र परमात्मामें स्थिति हो सकती है। हमलोगोंपर बहुत ही अनुग्रह करके शास्त्रकारोंने हमारे जीवनके साथ इसको जोड़ दिया है। यह विधि इतनी प्रचलित है कि इसका उल्लेख करना पिष्टपेषणमात्र है। इसके एक-एक अंगका व्यष्टि और समष्टिके साथ क्या सम्बन्ध है, इसके अनुष्ठानसे उनपर क्या प्रभाव पड़ता है और यह किस प्रकार साधकको स्थूलराज्यसे भावराज्यमें और भावराज्यसे आत्मराज्यमें पहुँचाती है—इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये कोई नवीन विचार नहीं करना पड़ता, युक्तियोंकी आवश्यकता नहीं होती, स्वयं अनुभूति ही सब शंकाओंका समाधान कर देती है। सन्ध्यामें मुख्यत: दस क्रियाएँ हैं—आसनशुद्धि, मार्जन, आचमन, प्राणायाम, अघमर्षण, अर्घ्यदान, सूर्योपस्थान, न्यास, ध्यान और जप। यहाँ इनका बहुत ही संक्षेपमें वर्णन किया जाता है।

आसनशुद्धि—इस क्रियामें तीन बातका ध्यान रखना पड़ता है। एक तो वह स्थान स्वभावत: पवित्र होना चाहिये—नदीतट हो, जंगल हो, मन्दिर हो अथवा पूजा करनेका स्थान हो। दूसरे जिस आसनपर बैठा जाय वह कुश, कम्बल अथवा अन्य किसी पवित्र वस्तुका बना हो। तीसरे बैठनेका ढंग शास्त्रीय हो अर्थात् सिद्धासन आदि आसनोंमेंसे किसी आसनसे बैठा जाय। इन तीनों बातोंके विचारसे पवित्रता और एकाग्रताकी अभिवृद्धि होती है। उस समय जो मन्त्र पढ़ा जाता है, उसका अर्थ है कि 'हे माँ पृथ्वी, तुम्हें विष्णुने धारण कर रखा है और तुमने लोगोंको। माँ, तुम मुझे भी धारण करो और यह आसन पवित्र कर दो।' इस मन्त्रकी शक्ति और भावनासे साधकको बहुत ही बल मिलता है और वह अपने साध्यकी ओर अग्रसर होता है।

सन्ध्याकी क्रियामें कई बार मार्जन करना पड़ता है। इससे शरीरमें शीतलता आती है; जलकी अधिष्ठात्री देवता आलस्य आदि वृत्तियोंको नष्ट करके शुद्ध, शान्त, सात्त्विक भावोंकी धारा प्रवाहित करती हैं। मार्जनके बहुत-से मन्त्र हैं, जिनमें कुछका अर्थ इस प्रकार है—'हे जलके अधिष्ठात्री देवताओ, तुम सम्पूर्ण जगत्के लिये सुखकर हो। मेरे हृदयमें परम सुखरूप परमात्माको प्रकट करो। ऐसी शक्ति दो मुझे कि मैं निरन्तर परमात्मामें ही स्थित रहूँ। तुम अपने माताके समान रसदानसे मुझे तृप्त और कृतकृत्य करो। मुझे परम रसके आस्वादनका अधिकारी बनाओ।' जलाधिष्ठात्री देवताके अनुग्रहसे शरीर, प्राण, इन्द्रिय और मन शान्त हो जाते हैं और साधक स्थिरभावसे भगवान्के चिन्तनमें समर्थ होता है।

आचमनके मन्त्रोंमें ऐसी भावना है कि यह समस्त सृष्टि परमात्मासे उत्पन्न हुई है और इस सृष्टिमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो परमात्मासे शून्य हो। इसके साथ ही यह भी कहा गया है कि सूर्य, अग्नि आदि देवता पापोंसे मुझे बचावें और अबतकके किये हुए पाप उनके अमृतस्वरूपमें मैं हवन करता हूँ। इस प्रकारके आचमनसे कितनी शक्ति मिलती है साधनामें?—यह कहनेकी बात नहीं, अनुभव करके देखने योग्य है।

प्राणायामकी महिमा सभी जानते हैं। शारीरिक स्वास्थ्यकी वृद्धि, पाप-वासनाओंकी निवृत्ति और चंचलताको

दूर करनेके लिये यह अद्भुत उपाय है। जिसका प्राण वशमें है, उसका मन और वीर्य भी वशमें है। यह प्राणायाम समन्त्रक होनेके कारण और भी लाभप्रद है और इसमें जो ध्यान हैं, वे तो मानो सोनेमें सुगन्ध हैं।

अघमर्षण और भूतशुद्धि एक ही वस्तु हैं। 'भूतशुद्धि' शीर्षक लेख देखना चाहिये। सन्ध्यामें अघमर्षणकी क्रिया बहुत ही संक्षिप्त है, फिर भी वह लाभकी दृष्टिसे अत्यन्त उपयोगी है। उसका भाव समझ लेनेपर जान पड़ता है कि उसमें कितना महत्त्व है।

अर्घ्यदान और सूर्योपस्थान दोनों ही भगवान् सूर्यकी उपासना हैं। न्यासका एक स्वतन्त्र लेखमें अलग विचार किया गया है। संक्षिप्तरूपसे इतना समझ लेना चाहिये कि शरीरके प्रत्येक अंगमें जब मन्त्र और देवताओंका स्थापन हो जाता है तब सम्पूर्ण शरीर मन्त्रमय, देवमय हो जाता है। '**देवो भूत्वा देवं यजेत्**' के अनुसार वास्तवमें तभी देवपूजाका अधिकार प्राप्त होता है। ध्यान, मानस पूजा और जपके सम्बन्धमें आगे निवेदन करना है। सन्ध्याकी प्रत्येक क्रिया ध्यानकी तैयारी है। ध्यानके पश्चात् केवल जप करना ही अवशिष्ट रहा जाता है। जपकी महिमा अवर्णनीय है। जपोंमें भी गायत्री-जपके विषयमें तो कहना ही क्या है।

यह तो वैदिक सन्ध्या हुई, एक तान्त्रिक सन्ध्या भी होती है। यह विधि कुछ अप्रसिद्ध होनेसे लिखी जाती है। शाक्त सन्ध्यामें आचमनके निम्न मन्त्र हैं—

'**ॐ आत्मतत्त्वाय स्वाहा।**' '**ॐ विद्यातत्त्वाय स्वाहा।**' '**ॐ शिवतत्त्वाय स्वाहा।**'

शैव आदिकोंकी सन्ध्यामें केवल आचमन ही होता है। इसके पश्चात् '**गङ्गे च यमुने**' इत्यादि स्नानविधिमें लिखे हुए मन्त्रके द्वारा तीर्थोंका आवाहन करके अपने इष्ट-मन्त्रसे कुशके द्वारा तीन बार पृथ्वीपर जल छिड़के और सात बार अपने सिरपर। इष्ट-मन्त्रसे प्राणायाम और षडङ्गन्यास करके बायें हाथमें जल लेकर दाहिने हाथसे ढककर '**हं यं वं लं रं**' इनसे तीन बार अभिमन्त्रित करके इष्ट-मन्त्रका उच्चारण करते हुए गिरते हुए जलबिन्दुओंसे तत्त्व-मुद्राके द्वारा सात बार अभ्युक्षण करके शेष जल दाहिने हाथमें ले ले। उसको तेजोरूप चिन्तन करके इडा नाडीसे खींचकर, देहके भीतर रहनेवाले पापको धोकर, उस जलको काले रंगका एवं पापरूप देखते हुए पिङ्गलासे बाहर निकालकर सामने कल्पित वज्रशिलाके ऊपर 'फट्' इस मन्त्रका उच्चारण करके पटक दे। इसके पश्चात् हाथ धोकर आचमन करके '**ह्रीं हं सः ॐ घृणिः सूर्य आदित्यः**' इस मन्त्रसे सूर्यको अर्घ्य दे और '**ॐ सूर्यमण्डलस्थायै नित्यचैतन्योदितायै अमुकदेवतायै नमः**' इस मन्त्रमें अमुकके स्थानपर अपने इष्टदेवताका नाम जोड़कर तीन बार जलांजलि देनी चाहिये। यह क्रिया इष्टदेवताकी गायत्रीसे भी सम्पन्न होती है। इसके पश्चात् गायत्रीका समयोचित ध्यान करना चाहिये। प्रात:काल ब्राह्मीका, मध्याह्नमें वैष्णवीका और सायाह्नमें शाम्भवीका ध्यान करना चाहिये। तान्त्रिक सन्ध्यामें इष्टदेवकी गायत्रीका ही जप होता है। गायत्री सबकी पृथक्-पृथक् हैं। यहाँ कुछका उल्लेख किया जाता है—

विष्णु-गायत्री	—	त्रैलोक्यमोहनाय	विद्महे	कामदेवाय	धीमहि	तन्नो	विष्णुः	प्रचोदयात्।
नारायण-गायत्री	-	नारायणाय	विद्महे	वासुदेवाय	धीमहि	तन्नो	विष्णुः	प्रचोदयात्।
नृसिंह	,,	—वज्रनखाय	,,	तीक्ष्णदंष्ट्राय	,,	,,	नरसिंहः	,,
राम	,,	—दाशरथाय	,,	सीतावल्लभाय	,,	,,	रामः	,,
शिव	,,	—तत्पुरुषाय	,,	महादेवाय	,,	,,	रुद्रः	,,
गणेश	,,	—तत्पुरुषाय	,,	वक्रतुण्डाय	,,	,,	दन्ती	,,
शक्ति	,,	—सर्वसम्मोहिन्यै	,,	विश्वजनन्यै	,,	तन्नः	शक्तिः	,,
लक्ष्मी	,,	—महालक्ष्म्यै	,,	महाश्रियै	,,	,,	श्रीः	,,
सरस्वती	,,	—वाग्देव्यै	,,	कामराजाय	,,	तन्नो	देवी	,,
गोपाल	,,	—कृष्णाय	,,	दामोदराय	,,	,,	विष्णु	,,
सूर्य	,,	—आदित्याय	,,	मार्त्तण्डाय	,,	तन्नः	सूर्यः	,,

—इत्यादि इष्टदेवताके अनुसार भिन्न-भिन्न गायत्री हैं। उनका १०८ अथवा कम-से-कम १० बार जप करना चाहिये। जपके समय सूर्यमण्डलमें अपने देवताका चिन्तन करना चाहिये। तदनन्तर संहारमुद्रासे देवताको अपने हृदयमें लाकर स्थापित करना चाहिये। स्नानविधिमें कहे हुए ढंगसे तर्पण भी कर लेना चाहिये।

सन्ध्या और तर्पण आभ्यन्तर भी होते हैं। उनका भी यहीं उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। कुण्डलिनी शक्तिको जागरित करके उसे मूलाधारादि क्रमसे सहस्रारमें ले जाकर परम शिवके साथ एक कर देना ही सन्ध्या है। आभ्यन्तर तर्पण भी इसी प्रकारका होता है। मूलाधारसे उत्थित चन्द्र-सूर्य-अग्निस्वरूपिणी कुण्डलिनीको परमविन्दुमें सन्निविष्ट करके उससे निकलते हुए अमृतके द्वारा ही देवताओंका तर्पण करना चाहिये। ऐसा भी कहा गया है कि ब्रह्मरन्ध्रके नीचे आज्ञाचक्रमें चन्द्रमण्डलमय पात्र है। उसको अमृतसारसे परिपूर्ण करके उसीके द्वारा इष्टदेवताका तर्पण करना चाहिये। तर्पणके अनुरूप ही ध्यानकी भी व्यवस्था है। कहा गया है कि किरणोंमें, चन्द्रमामें, सूर्यमें और अग्निमें जो ज्योति है उसको एकत्र करके केन्द्रित कर दे और फिर सबको महाशून्यमें विलीन करके पूर्णरूपसे स्थित हो जाय। यह निरालम्ब स्थिति ही योगियोंका ध्यान है। इसके पश्चात् पूजामण्डपमें प्रवेश करना चाहिये। पूजाकी सामग्री, पूजाकी विधि आदिपर क्रमशः विचार किया जायगा। हिन्दू साधनाकी एक-एक क्रिया साक्षात् परमात्मासे ही सम्बन्ध रखती है और साधकको सर्वविध उन्नतिदान करनेमें समर्थ है। विचारशील पुरुषोंको चाहिये कि वे उनपर विचार करें और उनका अनुष्ठान करें। इस प्रकार अपनी प्राचीन शक्ति और शान्तिका संग्रह करके अभ्युदय और निःश्रेयसका लाभ करें। शा०

आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें श्रौतकर्मोंका उपयोग

(लेखक—पं० श्रीरमापतिजी मिश्र)

आत्मज्ञानकी प्राप्ति और श्रौत कर्मका परस्पर कार्य-कारणसम्बन्ध है। आत्मज्ञानकी प्राप्ति कार्य है और श्रौतकर्म कारण हैं। आत्मज्ञानका तात्पर्य है आत्मविषयक विस्मृतिकी सर्वतोभावेन निवृत्ति। सर्वतोभावेन आत्मविस्मृतिके नाशके उत्तरकालमें ही आत्मा भेदेन भासमान प्रपंचका स्वस्वरूपभेदेन अनुभव करता है और संशयरहित होकर अपने स्वरूपका अनुभव करता है। यह अनुभव भी व्यावहारिक है। इस दशामें अनुभवकर्ता और अनुभवका विषय—इन दोनोंके स्वरूपमें भेद विद्यमान रहता है। देहविशेषके अभिमानमें यह दोष है कि वह भेदबुद्धिको सुरक्षित रखता है। '**शिवः केवलोऽहम्**', '**वासुदेवः सर्वम्**', '**ऐतदात्म्यमिदम्**', '**नेह नानास्ति किञ्चन**' इत्यादि वाक्योंके द्वारा यद्यपि परमार्थ अद्वैतका उपदेश दिया गया है, परन्तु इन वाक्योंके शाब्दबोधसे जो बोध होता है, वह व्यावहारिक ही है। इनके शाब्दबोधमें उद्देश्यविधया तथा प्रतियोगिविधया व्यावहारिक वस्तुका भान होता है। '**शिवः केवलोऽहम्**' इस वाक्यके शाब्दबोधमें उद्देश्यविधया भासमान अहमर्थ व्यावहारिक वस्तु है। 'वासुदेवः सर्वम्' इस वाक्यके शाब्दबोधमें उद्देश्यविधया भासमान सर्वशब्दार्थ व्यावहारिक वस्तु है। '**ऐतदात्म्यमिदम्**' इस वाक्यके शाब्दबोधमें उद्देश्यविधया भासमान इदमर्थ व्यावहारिक वस्तु है। '**नेह नानास्ति किञ्चन**' इस वाक्यके शाब्दबोधमें प्रतियोगिविधया भासमान नानाबोध्य प्रपंच व्यावहारिक वस्तु है। अनुभवका विषय व्यावहारिक हो या अनुभवका कर्ता व्यावहारिक हो, यदि वह वाक्यार्थके द्वारा ज्ञात होता है तो ज्ञान व्यावहारिक कहा जाता है। यद्यपि इन वाक्योंका तात्पर्यार्थ व्यावहारिक वस्तुओंकी स्वतन्त्र सत्ताका अभावदर्शन है अर्थात् सर्व जायमान वस्तुओंका अधिष्ठान परमात्मा ही निरधिष्ठान होनेसे स्वतन्त्र और सत् है तथा व्यवहारमें प्रतीयमान पदार्थ साधिष्ठान होनेसे परतन्त्र और मिथ्या है—इस अर्थका समर्थक है। तथापि तात्पर्यार्थके शाब्दबोधोत्तरकालभावी होनेसे वह शाब्दबोधकी मर्यादासे अलग नहीं जा सकता।

ऊपर यह लिखा गया है कि 'आत्मज्ञानका तात्पर्य है आत्मविषयक विस्मृतिका सर्वतोभावेन नाश'। यहाँ यह नहीं स्पष्ट किया गया है कि आत्मविषयक विस्मृति किसको होती है। आत्मा तो विषयी है, जगत्‌को विषय करता है; वह किसकी स्मृति या विस्मृतिका विषय

बनता है। ज्ञान-अज्ञान, स्मृति और विस्मृति—ये सभी केवल चेतनके धर्म हैं; आत्मासे अतिरिक्त मन, इन्द्रिय, शरीर—ये सभी अचेतन (जड) हैं। ये आत्माको ज्ञानरूपी सामग्रीका अभाव होनेसे विषय बनानेमें असमर्थ हैं। इस प्रश्नात्मक जिज्ञासाके शमनार्थ आत्मविषयक विस्मृतिका स्पष्टीकरण आवश्यक है। वह यह है—

अचिन्त्यशक्ति होनेके कारण आत्माके सम्बन्धमें किसी भी कल्पनाकी असम्भावनाको अवकाश नहीं है। स्वप्न इस सिद्धान्तका साक्षी है। आत्मा स्वप्नावस्थामें निज कल्पित जगत्में कभी-कभी अपने सद्भाव तथा अभावका भी अनुभव करता है। जाग्रत्में भी आत्मा नहीं है; आत्मा देहादिसे अतिरिक्त तत्त्व है, परन्तु उसका मान परमाणु है; आत्मा स्वतन्त्र तत्त्व है, मान उसका मध्यम है, अर्थात् जिस देहमें रहता है, उसके मानके समान ही उसका मान है; आत्मा व्यापक है; आत्मा है, परन्तु द्रव्यस्वरूप नहीं है—क्षणिक विज्ञानस्वरूप है; आत्मा है, नित्य है, व्यापक है, ज्ञानस्वरूप है; आत्मा और परमात्मा भिन्न हैं; आत्मा और परमात्मामें वास्तविक भेद नहीं है—इत्यादि अनेक रूपसे आत्मा अपने स्वरूपका अनुभव करता है। यही आत्मविषयक विस्मृति है। शुद्ध-बुद्ध मुक्त-स्वभाव व्यापक आत्माका सृष्टिगत सर्व पदार्थोंमें भान होना आत्मज्ञान है। यही आत्मविषयक विस्मृतिका सर्वतोभावेन नाश है। इसकी प्राप्तिके साधन चिरकालानुष्ठित श्रौतकर्म हैं। उसका प्रकार यह है—

परमात्माने क्रीडाके लिये इस जगत्की कल्पना की है। यह कल्पित जगत् अमृतमय है, वैसे ही विषमय भी है। शास्त्र और शास्त्रोक्त कर्मसे उदासीन होकर जो देहाभिमानी जीव इन्द्रियोंके वशमें हो जाता है, उसकी भावना आसुरी बन जाती है। आसुरभावापन्न वह जीव आत्मज्ञानसे शनैः-शनैः दूर होता जाता है अर्थात् उसको आत्मविषयक विस्मृति अपनाने लगती है। आसुरी सृष्टिके उपभोगार्थ कल्पित सामग्रीको प्राप्त कर वह जीव अधिकाधिक उन्मत्त बनता जाता है। जगत्की अशान्तिका निमित्त बनता जाता है। अशान्त जगत्को देखकर प्रसन्न होने लगता है। अशान्त जगत्को ही उन्नत मानने लगता है। यह उन्मत्तता उस देहाभिमानी जीवको अनेक प्रकारकी दुर्गतियोंमें निमग्न कर देती है। जगत्को विषमय माननेकी परिस्थितिका दर्शन करा देती है।

जो देही सद्भाग्यवश सत्पुरुषोंकी संगतिको सौभाग्य समझने लगता है, उसको शास्त्र और शास्त्रविहित कर्मोंमें श्रद्धा उत्पन्न होने लगती है। वह शास्त्रका अभ्यासी बननेकी इच्छाको सफल बनानेकी चेष्टा करने लगता है। अधिकारके अनुसार शास्त्रविहित कर्मको करने लगता है। ईश्वरीय विशिष्ट शक्तिसे सम्पन्न देवताओंसे अभिमत पदार्थोंकी प्राप्ति और प्राप्त पदार्थोंको श्रौतकर्मोंके द्वारा देवताओंके अधीन करनेको अपना कर्तव्य समझने लगता है। (आरम्भकालमें भोगकी लिप्साके प्रबल रहनेसे वह देही यह मानता है कि श्रौतकर्मोंका फल है केवल भोग और उपभोगके योग्य पदार्थोंकी प्राप्ति।) जिस समयसे यह भावना उत्पन्न होती है, उसी समयसे आसुरी भावना क्षीण होने लगती है और दैवी भावना प्रबल। ज्यों-ज्यों दैवी भावना प्रबल होने लगती है, त्यों-ही-त्यों आत्मविस्मृति क्षीण होने लगती है। यह आत्मविस्मृतिकी क्षीणताका आरम्भकाल ही आत्मज्ञानका आरम्भकाल है अथवा आत्मोपासना या उसकी साधनाका काल है।

आत्मविषयक विस्मृतिका जन्म अज्ञात है। इसके कालकी इयत्ताका निर्णय अशक्य है। इसका नाश दीर्घकालसे होता है। श्रौत क्रियाएँ दीर्घकालपर्यन्त अनुष्ठित होनेपर साधनाका स्वरूप ग्रहण करती हैं। श्रौतकर्मोंका कर्त्ता भी दीर्घकालतक निरन्तर श्रौतकर्मोंके अनुष्ठानके पश्चात् साधक कहलाने योग्य बनता है। साधक आरम्भकालमें फलकी इच्छासे श्रौतकर्ममें प्रवृत्त होता है। देवताप्रदत्त पवित्र सामग्रीके सेवनसे उसका अन्तःकरण निर्मल बनता जाता है (पवित्र पदार्थके सेवनसे निर्मलता प्राप्त होती है। पवित्र पदार्थ वे ही हैं, जो शास्त्रसम्मत देवतोपासनासे प्राप्त हैं।) अन्तःकरणके निर्मल हो जानेपर साधक संयोगज फलसे उदासीन होकर शान्तिके पथपर आरूढ हो जाता है। शान्तिके मार्ग अनेक हैं। साधक यदि नकली न हो तो वे सभी मार्ग शान्तिके भवनतक पहुँचानेमें समर्थ होते हैं। (साधककी शुद्धताके लक्षण हैं शम, दम, उपरति तितिक्षा आदि सद्गुण।) शान्तिभवनकी प्राप्ति, आत्मविषयक विस्मृतिकी सर्वतोभावेन निवृत्ति—इन दोनों वाक्योंका तात्पर्यार्थ एक-सा ही है।

साधना-तत्त्व

(लेखक—श्रीताराचंदजी पांड्या)

तुम्हारा उद्देश्य आनन्द—स्वाधीन, अविनाशी, चिन्तारहित, भयरहित पूर्ण सुख है। यह इच्छामें सम्भव नहीं, क्योंकि इच्छा स्वयं ही दु:ख है और अभाव (दु:ख)-का चिह्न है। यह राग (रुचि)-में भी सम्भव नहीं; क्योंकि राग होता है किसी खास वस्तु—बल्कि किसी वस्तुकी खास अवस्थासे ही, जो कि सदा और सर्वथा तुम्हारे वशमें नहीं है और जिससे सुख पाना भी तुम्हारे रागकी मंदता और स्थिरता—तुम्हारे सन्तोष और तुम्हारे दृष्टिकोणपर ही निर्भर है। और किसी खास वस्तुमें रागका अर्थ उस खास वस्तुके प्रतिकूलसे (जिसकी दुनियामें कभी कमी नहीं) द्वेष है, जो दु:खका ही दूसरा नाम है।

इच्छाका सर्वथा अभाव तभी हो सकता है जब यह प्रत्यय हो जाय कि शरीर (तन, मन, वचन) और सांसारिक सब बाह्य पदार्थोंसे स्वाधीन (अत: भिन्न), अविनाशी, अखण्ड, स्वत: आनन्दमय और स्वयंपूर्ण मैं हूँ।

राग-द्वेषका नाश अथवा द्वेषरहित राग तभी हो सकता है जब सब कालोंकी, सब वस्तुओंकी सब अवस्थाओंके प्रति (अर्थात् उनके ज्ञानके प्रति) एक-सा राग हो अथवा सबके साथ सर्वथा उपेक्षा (उदासीनता) हो। दोनों बातें एक ही हैं। यही समत्व-भाव है और इसीको वीतरागता भी कहते हैं।

इन्हीं तत्त्वोंको ठीक तौरसे जानकर उनमें दृढ़ श्रद्धान करना और तदनुसार अपने आचरणको ढालना—यही साधनाका सार है। इसी श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र्यकी एकतासे आनन्दकी उपलब्धि होती है। सर्वज्ञता और पूर्णताकी भी सिद्धि होती है।

इनमें श्रद्धान सबसे पहले जरूरी है; क्योंकि श्रद्धान ज्ञानके पश्चात् होनेपर भी उस ज्ञानको अर्थ-साधक बनानेवाला होता है और श्रद्धान ही उद्देश्यको निर्मित और निश्चित कर उसे स्थिर रखता है। चारित्र्य तो श्रद्धानका ही प्रस्फुटीकरण-विकास है।

वे श्रद्धालु जो इच्छा-पाशसे अपेक्षाकृत अधिक जकड़े हुए हैं, पर सांसारिक जीवनमें चरम लक्ष्यको सामने रखकर इन तत्त्वोंका अपनी परिस्थिति और शक्तिके अनुसार आचरण करते हैं और दूसरोंको आचरण करनेकी सुविधा देते हैं, सद्‌गृहस्थ कहलाते हैं।

जो इस पथपर आगे बढ़े हुए हैं और जिनका प्रकट और अप्रकटरूपसे एकमात्र यही लक्ष्य है, यही व्यवसाय है, वे संत कहलाते हैं।

जो इनसे सर्वथा और सदाके लिये तन्मय—तत्स्वरूप हो जाते हैं, वे जीवन्मुक्त, सिद्ध या परमात्मा कहलाते हैं। वे ही आदर्श भी हैं—उन्हींके उदाहरण और स्वरूपसे अज्ञानी जीवोंको मार्ग-ज्ञान और स्वरूप-ज्ञान होता है और उत्साहहीनोंका उत्साह तथा साहसहीनोंका साहस जागरित होता है। इसलिये वे साधकोंके लिये साधनस्वरूप भी हैं।

नदी-नाव-संयोग

दूलन यह परिवार सब, नदी नाव संजोग।
उतरि परे जहँ-तहँ चले, सबै बटाऊ लोग॥
दूलन यहि जग आइके, का को रहा दिमाक।
चंद रोज को जीवना, आखिर होना खाक॥
दूलन काया कबर है, कहँ लगि करौं बखान।
जीवत मनुआँ मरि रहै, फिरि यहि कबर समान॥

(दूलनदासजी)

सब साधनोंका सार

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

बड़ी सुन्दर धुन थी—पक्की लगन थी।

मैं स्वयं आश्चर्य करता हूँ कि कैसे उतना अधिक जप, उतना पाठ, चिरस्थायी प्रगाढ़ ध्यान और वह वज्रको भी विदीर्ण करनेवाली व्याकुलता उन्होंने प्राप्त की थी।

मेरे आश्चर्यकी तब सीमा नहीं रहती जब वे कहते—'भैया, जीवनमें तनिक भी शान्ति नहीं! अन्तरका आनन्द मुझसे कोसों दूर है!! विकारोंका भण्डार हृदयसे हटता ही नहीं!!!' उनके वचनोंका असत्य भी कैसे मान लूँ?

मैं सोचता 'जब इतने उत्कट साधनसे भी शान्ति नहीं मिलती, विकार दूर नहीं होते, भगवद्दर्शन दुर्लभ हैं, तो इस युगमें ये सब कोरी कल्पना हैं।' मैं प्राय: अविश्वासी हो चुका था—धर्म और ईश्वरकी ओरसे।

एक दिन मैंने उन्हें देखा—न संसारकी सुधि थी और न शरीरकी। मतवाले-से झूमते और कुछ गुनगुनाते कहीं नाककी सीधमें जा रहे थे। आनन्दसे उनका मुख खिला हुआ था। बड़ी कठिनतासे उन्हें रोककर सावधान कर पाया।

पर्याप्त टालमटोल करनेके पश्चात् उन्होंने भरे कण्ठसे कहा—'बन्धु, तुम भूलते हो! मैंने आजतक साधन किया ही नहीं था। इतना सब करके सोचता था कि मैं बड़ा साधननिष्ठ हूँ और दूसरे तुच्छ सांसारिक विषयी प्राणी। मेरा अहंकार मेरे पीछे बँधे भैंसके पँड़वे (बच्चे)-की भाँति मेरी बटी रस्सियोंको सफाचट करता जाता था।'

वे रुके—कण्ठ बहुत भर आया। कहने लगे—'एक दिन अत्यन्त निराश हो गया। समझा कि इस जीवनमें श्यामसुन्दर मुझे नहीं मिलेंगे। हताश होकर गया था माता जाह्नवीकी गोदमें शरण लेने। कूदनेहीवाला था कि मुझे एक दोहा स्मरण आ गया। जैसे किसीने बिजलीके तारसे मेरे स्पर्श करा दिया हो। धम्से बैठ गया। पीछे कोई खुलकर हँस पड़ा। मैंने मुख फेरा—वही नटखट था।'

वे आगे बिना कुछ बोले फूट-फूटकर रोने लगे और रोते-रोते ही उठकर एक ओर चल पड़े। मैं उनके वर्णनसे इतना स्तब्ध हो गया था कि उन्हें रोक भी नहीं सका। मुझसे कुछ साधन-भजन तो होता नहीं; कभी-कभी उनके उस दोहेकी आवृत्ति अवश्य कर लेता हूँ। दोहा कोई यन्त्र-मन्त्र नहीं, सीधा-सा पुराना दोहा है—

जब लगि गज निज बल करयो, सरयो न एकौ काम।
बल थाक्यो ताक्यो प्रभुहि, आये आधे नाम॥

राम भजता है, वही धन्य है

मन क्रम बचन बिचारि कै राम भजे सो धन्य॥
राम भजे सो धन्य धन्य बपु मंगलकारी।
राम चरन अनुराग परम पद को अधिकारी॥
काम क्रोध मद लोभ मोह की लहरि न आवै।
परमातम चेतन्य रूप महँ दृष्टि समावै॥
ब्यापक पूरन ब्रह्म है भीखा रहनि अनन्य।
मन क्रम बचन बिचारिकै राम भजे सो धन्य॥

(भीखा साहब)

साधनाकी उपासना

(लेखक—पं० श्रीनरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ)

संसारमें मनुष्य अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार अवस्था और व्यवस्था देखकर अपने-अपने उद्देश्य स्थिर कर लेते हैं। इसीलिये इस त्रिगुणात्मक संसारमें मनुष्योंके भिन्न-भिन्न उद्देश्य रहते हैं, जिनकी प्राप्तिके लिये वे नाना प्रकारकी साधना करते रहते हैं। कभी-कभी वे अपना उद्देश्य तो कुछ और ही बनाते हैं, पर—

'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति'
'निग्रहः किं करिष्यति?'

प्रकृति उन्हें किधर ही ले जाती है। प्रकृतिके इस अज्ञात, अलक्षित प्रभावको मनुष्य समझता नहीं और जब उसको स्वनिर्धारित उद्देश्यकी प्राप्ति नहीं होती, तब वह उस अप्राप्तिके लिये किसी-न-किसीको दोषी ठहराता रहता है। अज्ञानी प्राणी यह नहीं देखता या समझता कि वस्तुतः दोष है उसीके अज्ञानका—मिथ्याज्ञानका, जो कि उसे अपनी प्रकृतिको समझने नहीं देता। फिर वह यह भी नहीं सोचता कि—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

सबके ऊपर, सबके भीतर एक ऐसी अदृश्य प्रबल शक्ति है, जो प्राणियोंको स्वसंकेतानुसार घुमाती रहती है। विवश होकर मनुष्यको कठपुतलीकी तरह नाचना पड़ता है।

इसलिये उद्देश्य स्थिर करनेके पूर्व मनुष्यको खूब सोचना-विचारना चाहिये। यथार्थ उद्देश्यको स्थिर कर लेनेपर भी वह उद्देश्य कभी कर्म-वैगुण्य, कभी कर्तृ-वैगुण्य, कभी साधन-वैगुण्य, इस प्रकार कभी एक वैगुण्यसे, कभी दो वैगुण्योंसे और कभी तीन वैगुण्योंसे सिद्ध नहीं होता। उद्देश्य ठीक हो, साधन भी ठीक हो, करनेवाला कर्ता भी सावधान रहे, तब साधना सफल समझो।

संसारके समस्त उद्देश्योंका समावेश धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारमें समझिये। एक-एकके भेद करने बैठें तो अल्पज्ञ प्राणी इनका अन्त नहीं पा सकता। पर उपर्युक्त चारमें सब आ जाते हैं। इसीलिये यदि उपर्युक्त चारमें एक उद्देश्य हो, दो हों, तीन हों अथवा चारों हों तो उनके साधना-प्रकार भी भिन्न-भिन्न होंगे, यह स्पष्ट है।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥

साधनाके लिये (१) उत्तम अधिष्ठान चाहिये।
साधनाके लिये (२) उत्तम सावधान कर्ता चाहिये।
साधनाके लिये (३) उपयुक्त उपकरण चाहिये।
साधनाके लिये (४) उपयुक्त विविध प्रयत्न चाहिये।

और सबसे बढ़कर चाहिये (५) दैवकी अनुकूलता—जिसके बिना प्रथम चार व्यर्थ हो जाते हैं। जब यह तत्त्वकी बात है, तब जो मूर्ख अपने अज्ञान—मिथ्या ज्ञानसे यही समझ बैठता है कि सब कुछ मैं ही करनेवाला हूँ, वह दुर्मति यथार्थ रीतिसे न देखता है, न समझता है।

साधना क्या है?

सब प्रकारके उपकरण प्राप्त हो जानेपर उनके द्वारा उद्देश्य-प्राप्तिकी ओर बढ़ना ही स्थूल रूपसे साधना है; पर उस साधनामें भक्ति भी परम आवश्यक है, जिसके बिना साधना न चलती है, न आगे बढ़ती है, प्रत्युत ठप-सी हो जाती है।

संसारकी साधारण-साधारण इच्छाओंकी पूर्तिमें भी जब इतनी-इतनी विघ्न-बाधाएँ आ जाती हैं, तब उच्चतम उद्देश्योंकी प्राप्तिमें क्या होता होगा? इसका अनुमान सहजमें ही लगाया जा सकता है। ययाति-जैसे महाराजको भी अन्तमें हारकर कहना अथवा मानना पड़ा था—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

भला, कभी किसीने अग्निमें घृत डाल-डालकर उसको बुझानेमें सफलता प्राप्त की है? रामका नाम लो। यह तो हुई कामकी बात।

धर्मको ही लीजिये।

पहले धर्मके तत्त्वको ही समझना कठिन समझ लें तो उसपर चलना उससे भी सहस्त्रगुण कठिन है—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥

तीक्ष्ण छुरेकी धार है, तीक्ष्ण छुरेकी धार! चलना बड़ा कठिन!

अर्थकी भी यही दशा है।

कामके संकुचित अर्थ न किये जायँ तो अर्थ भी उसीमें आ जाता है। अब रही मोक्षकी बात। जिन्होंने योगदर्शनका सूक्ष्म अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि मोक्षकी साधना कितनी कठिन हे। वह किसीको एक जन्ममें सिद्ध हो जाय तो समझ लेना चाहिये कि पूर्वजन्मका कोई तीव्र पुण्य फला; नहीं तो वह तो—

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

—की बात हो जाती है।

साधना शब्द बहुत व्यापक अर्थ रखता है। अ-आ-इ-ई से लेकर पूर्ण विद्वान्, महामहोपाध्याय बननेतक जो भी श्रद्धायुक्त कर्म है, सब साधनामें आ जाता है। ए-बी-सी-डी से लेकर एम्० ए० होनेतक जो भी कर्म हैं, वे सब साधनामें आ जाते हैं। चित्तवृत्तिनिरोधसे लेकर कैवल्यप्राप्तितक जो भी करना पड़ता है, सब साधनामें आ जाता है। पर यह ध्यान रहे सात्त्विकप्रधान भावनासे ओत-प्रोत साधना ही सच्ची साधना है। राजसी तथा तामसी भावनासे प्रयुक्त साधना साधना नहीं। सच्ची साधना आध्यात्मिक वातावरणमें जन्म लेती है, पलती है, पुष्ट होती है, पनपती है, खेलती है, कूदती है, आमोद-प्रमोद करती है। राजसी साधना संसारके मिश्रित वातावरणमें उत्पन्न होती है और वह कभी मुरझाती है, कभी खेलती है, कभी हँसती है, कभी रोती है, कभी अन्धकारमें ठोकरें खाती है, कभी प्रकाशमें खिल उठती है और तामसी साधना तो यही नहीं समझ सकती कि वह कहाँ है, क्यों है, उसको क्या करना है, वह दीखनेमें सबसे अच्छी, पर वैसे सबसे बुरी रहती है।

उद्देश्य—सात्त्विक

कर्ता—सात्त्विक

साधन—तदनुरूप सात्त्विक

कर्म—तदनुरूप सात्त्विक

श्रद्धा—तदनुरूप सात्त्विक

तब साधना फलती-फूलती, करनेवालोंको आनन्द देती, संसर्गमें आनेवालोंको भी हर्षाती और पूर्णरूपसे फलने-फूलनेपर संसारको भी नीचेके वातावरणसे ऊपर उठाती हुई एक अनिर्वचनीय आनन्द देती है। बस, फिर उस आनन्दकी व्याख्या नहीं हो सकती।

उपनिषदोंमें नाना प्रकारके आनन्दोंकी व्याख्या है—

मनुष्योंका आनन्द।

चक्रवर्ती राजाका आनन्द।

देवोंका आनन्द।

उच्चकोटिके देवोंका आनन्द।

सबसे बड़ा आनन्द मोक्षानन्द है, जिसके एक बिन्दुमें वह आनन्द होता है, जिसकी तुलना समस्त संसारके समस्त अमूल्य पदार्थोंके आनन्द भी मिलकर नहीं कर सकते।

वह मनुष्य धन्य, उसका कुल धन्य, उसकी जाति, उसका देश, उसका राष्ट्र धन्य—जिसमें ऐसा व्यक्ति, संसारसे ऊपर उठा हुआ, पाप-पुण्यसे ऊपर उठा हुआ, उत्पन्न हो जाय। भारतवर्ष धर्मभूमि है, पुण्यभूमि है। इसकी ऋषि-मुनि-महर्षि-परम्परामें ऐसे महापुरुष सदा होते चले आये हैं, जिनके कारण आजके भारतवर्षकी संकटपूर्ण अतएव हीन दशामें भी उसका सिर उसी मधुविद्याके कारण, उसी ब्रह्मविद्याके कारण, उन्हीं नाना प्रकारके साधन और साधनाओंके कारण, उन्हीं सिद्ध-साधक महा-महा महापुरुषोंके कारण, उन्हीं सायुज्य, सालोक्य, सामीप्य पदोंके कारण, उसी कैवल्यपदके कारण अब भी संसारमें सबसे ऊँचा उठा हुआ है। यही नहीं, अपि तु जहाँ ऐसे महापुरुष बैठ-बैठकर तपस्या-साधन कर गये, वे पवित्र हिमालयकी अधित्यकाएँ, उपत्यकाएँ, गुफाएँ भी अबतक संसारसे ऊपर सिर उठा रही हैं। इसीलिये हम ऋषियोंके ही शब्दोंमें उन ऋषियोंको नमस्कार करके इस तुच्छ लेखको समाप्त करते हैं—

'ॐ नमः परमर्षिभ्यः, नमः परमर्षिभ्यः।'

साधक, साधना और साध्यका सम्बन्ध

(लेखक—त्यागमूर्ति गोस्वामी श्रीगणेशदत्तजी महाराज)

साधक, साधना और साध्यका परस्पर वही सम्बन्ध है जो कि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयका है। साधक भक्त है, साधना उसकी भक्ति है और साध्य उसका आराध्य भगवान् है।

साधनाके इच्छुक साधकके लिये यह आवश्यक है कि वह विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुतासे सम्पन्न हो और सांसारिक विषय-वासना, राग-द्वेष, काम, क्रोध, मोह आदिके कीचड़से बाहर निकल गया हो। इसमें सन्देह नहीं कि इनसे बाहर निकलना भी एक महान् साधना है, जिसमें बहुत ही थोड़े व्यक्ति सफल हो सकते हैं।

साध्यतक पहुँचनेके लिये साधकको दो बातोंकी आवश्यकता होती है—पहली अपने हृदयमें उत्कट अभिलाषाका होना और दूसरी मन्त्रशक्तिका आश्रय।

साधकके हृदयमें साध्यकी प्राप्तिके लिये इतनी अधिक उत्कट अभिलाषा होनी चाहिये, जिसके सामने अन्य सभी सांसारिक इच्छाएँ-अभिलाषाएँ समाप्त हो जायँ। प्राय: कहा जाता है कि साधकके हृदयमें साध्यकी प्राप्तिके लिये उसी प्रकारकी अभिलाषा होनी चाहिये, जैसी किसी युवतीके हृदयमें अपने प्रियतमको प्राप्त करनेके लिये होती है। पर मैं समझता हूँ, साधकके हृदयमें इससे भी अधिक उत्कट अभिलाषाका होना आवश्यक है। ऐसी अभिलाषा, जो हृदयमें साध्यकी प्राप्तिके लिये बेचैनी और तड़प पैदा कर दे, जिससे साधक साध्यके ध्यानमें ही पागल हो जाय, सिद्धिका लक्षण है।

एक बार किसी शिष्यने अपने गुरुजीसे पूछा कि 'महाराज! भगवान्की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है?' गुरुजीने कहा, 'कुछ समयके बाद बताऊँगा।' दोनों नदीमें स्नान करने चले गये। जब शिष्य स्नान करनेके लिये नदीके मध्यमें पहुँचा तो गुरुजीने उसके सिरपर जोरसे पैर रखकर पानीके नीचे दबा दिया। कुछ ही पलोंमें शिष्य घबड़ा गया और छटपटाने लगा। अन्तमें कुछ देरतक बहुत प्रयत्न करनेके पश्चात् पानीके बाहर निकल सका। उस समय उससे गुरुजीने पूछा, 'जिस समय तुम पानीमें डूबे जाते थे, तुम्हारे हृदयमें क्या विचार आते थे?' शिष्यने उत्तर दिया, 'मेरे हृदयमें केवल पानीसे ऊपर निकलनेकी इच्छा थी, उसीके लिये मैं तड़प रहा था, मुझे और किसी भी वस्तु या बातका जरा भी ध्यान न था।' गुरुजीने कहा—'बस, जब इस प्रकारकी उत्कट अभिलाषा और छटपटाहट भगवान्की प्राप्तिके लिये होती है, तभी भगवान्की प्राप्ति हो सकती है।'

अशोकवाटिकामें पहुँचकर जब श्रीहनुमान्जीने सीताजीको रामचन्द्रजीके लिये सन्देश देनेको कहा तो श्रीसीताजीने अपनी दशा यह कहकर व्यक्त की—

जिमि मनि बिनु ब्याकुल भुजग जल बिनु ब्याकुल मीन।
तिमि देखे रघुनाथ बिनु मैं तड़फत हूँ दीन॥

बिना मणिके सर्प जिस प्रकार तड़पने लगता है या बिना जलके मछली जिस प्रकार छटपटाती है, उसी प्रकारकी तड़प और छटपटाहट साधकके हृदयमें होनी आवश्यक है।

उत्कट अभिलाषाके अतिरिक्त साधकको साध्यतक पहुँचनेके लिये तीव्र संकल्पभावना या मन्त्राश्रयकी आवश्यकता है। वह मन्त्रके मोहन, वशीकरण आदि प्रयोगोंके द्वारा अथवा केवल एक ही मन्त्रका दृढ़ विश्वाससे जप करता हुआ सफल हो सकता है। उदाहरणके लिये यदि '**ओम्**'-इस महामन्त्रका जप करता हुआ साधक अपने हृदयमें यह ध्यान करता रहे कि 'मैं अ-उ-म्, सत्-चित्-आनन्द हूँ। मैं स्थूल-सूक्ष्म-कारण, मन-बुद्धि-अहंकार, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, प्राण-अपान-उदान-व्यान-समानसे परे साक्षी सच्चिदानन्दस्वरूप पूर्ण ब्रह्म हूँ। काम, क्रोध और मोह मुझतक पहुँच भी नहीं सकते। मैं सर्वप्रकाश, सर्वज्ञान और सर्व आनन्दका घर हूँ। मैं दृश्य और द्रष्टासे परे हूँ, प्रकृतिका अधिष्ठाता हूँ। सोऽहम्, सोऽहम्। मैं भगवान् ही हूँ, और कुछ नहीं।' मन्त्राश्रय लेकर इस प्रकारकी भावना करता हुआ साधक साध्यतक पहुँच सकता है।

साध्यतक पहुँचनेके लिये एकवृत्तिका होना अत्यन्त आवश्यक है। एक बार गुरु द्रोणाचार्यजीने अपने शिष्योंकी परीक्षाके लिये एक ऊँचे पीपलकी शाखाके ऊपर एक कृत्रिम पक्षी रख दिया और उसके मस्तकपर एक काला बिन्दु लगा दिया। उस बिन्दुपर बाण मारनेके लिये उन्होंने अपने शिष्योंसे कहा। जब दुर्योधन लक्ष्यभेदनके लिये आगे आये तो गुरुजीने पूछा—'तुम्हें हम सब लोग, पीपलका वृक्ष, पक्षी उसके सिरपर बिन्दु दिखायी देता है?' दुर्योधनने उत्तर दिया—'जी हाँ, मैं आपको, अपने सहपाठियोंको,

पीपलको और उसके ऊपर पक्षीको तथा उसके सिरपर काले बिन्दुको—सबको अच्छी तरह देख रहा हूँ।' गुरुजीने कहा—'तुम पीछे चले जाओ, तुमसे लक्ष्य-भेदन नहीं होगा।' इसी प्रकार एक-एक करके सभी शिष्योंसे गुरुजीने यही प्रश्न पूछा और उन्होंने प्राय: यही उत्तर दिया। जब अर्जुनकी बारी आयी तो उससे भी यही प्रश्न पूछा गया—उसने उत्तर दिया, 'गुरुजी! मुझे न आप दिखायी देते हैं, न अपने सहपाठी। पीपलका पेड़ और पक्षी मुझे कुछ भी नहीं दिखायी देता। केवल एक काला बिन्दु मेरी दृष्टिमें आता है।' बाकी सब अन्धकार-ही-अन्धकार प्रतीत होता है। गुरुजीने कहा—'बस, मैं समझ गया कि तुम लक्ष्य-भेदन कर सकते हो।'

ठीक इसी प्रकार साध्यकी प्राप्तिके लिये साधककी दृष्टि होनी चाहिये। उसके लिये संसारकी सारी क्रियाएँ, सारी घटनाएँ शून्य हो जानी चाहिये। उसके सम्मुख केवल साध्यके अतिरिक्त किसी भी वस्तुका चित्र नहीं होना चाहिये। जिस प्रकार लक्ष्य तभी बेधा जा सकता है जब तीर चलानेवाला, तीर और लक्ष्य बिलकुल एक सीधमें हो, इसी प्रकार साधक, साधना और साध्यमें भी एकवृत्तिका होना अत्यन्त आवश्यक है। जिस समय साधक अपने अन्तर्गत साध्यके लिये उत्कट अभिलाषा और तड़प पावे, जिस समय उसे मन्त्र और मन्त्रेश्वरका ऐक्य प्रतीत हो, जिस समय उसे अपनेमें, साधनामें और साध्यमें एक ही वृत्ति दिखायी दे, उस समय उसे समझ लेना चाहिये कि अब वह और साध्य एक हो गये हैं, जीव ब्रह्ममें मिल गया है, भक्तको भगवान्‌ने अपना लिया है।

रामनामकी महिमा

राम नाम मनिदीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजियार॥
हियँ निर्गुन नयनन्हि सगुन रसना राम सुनाम।
मनहुँ पुरट संपुट लसत तुलसी ललित ललाम॥
नाम राम को अंक है सब साधन हैं सून।
अंक गएँ कछु हाथ नहिं अंक रहें दस गून॥
हम लखि लखहि हमार लखि हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहि का लखहि राम नाम जप नीच॥
राम नाम अवलंब बिनु परमारथ की आस।
बरषत बारिद बूँद गहि चाहत चढ़न अकास॥
बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु।
होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु॥
राम नाम कलि कामतरु राम भगति सुरधेनु।
सकल सुमंगल मूल जग गुरुपद पंकज रेनु॥
राम नाम कलि कामतरु सकल सुमंगल कंद।
सुमिरत करतल सिद्धि सब पग पग परमानंद॥
जथा भूमि सब बीजमय नखत निवास अकास।
राम नाम सब धरममय जानत तुलसीदास॥
हरन अमंगल अघ अखिल करन सकल कल्यान।
रामनाम नित कहत हर गावत बेद पुरान॥
राम नाम रति राम गति राम नाम बिस्वास।
सुमिरत सुभ मंगल कुसल दुहुँ दिसि तुलसीदास॥

(तुलसीदासजी)

साधन और सिद्धि

(लेखक—स्वामी श्रीशुद्धानन्दजी भारती)

‘साधना’ किसे कहते हैं?

‘साधना’ का अर्थ है प्रयत्न करना, उद्योग करना, लगना। साधनाका अर्थ सिद्धि भी है। आत्मानुसन्धानके मार्गमें, अपनी आत्माको परमात्मामें लीनकर ‘**पूर्णमदः पूर्णमिदम्**’ की अनुभूतिके पथमें हमारी जो कुछ भी आध्यात्मिक चेष्टाएँ होती हैं उन सबका नाम ‘साधना’ है। नदीकी धारा ऊँचे चढ़ती है, नीचे ढलती है, वन-पर्वतको लाँघती हुई बढ़ती जाती है। क्यों, किसलिये? इसलिये कि वह अन्तमें अपने-आपको समुद्रकी गोदमें सुला दे, लीन कर दे, मिटा दे। मनुष्यकी आत्मा भी भाग्यके चढ़ाव-उतार, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद और ऐसे ही जीवनके विविध खट्टे-मीठे अनन्त अनुभवोंको पार करती हुई सत्, चित् और आनन्दके एक अनन्त महासागरमें अपने-आपको ढाल देनेके लिये व्याकुल है, बेचैन है। नदीका लक्ष्य है समुद्र, मनुष्यका लक्ष्य है भगवान्। भगवान्के मार्गमें चलनेके लिये जो भी अनुष्ठान किया जाता है, जो भी व्रत लिया जाता है, वह सभी ‘साधना’ है और जो कुछ भी इस मार्गमें अवरोधक है, वह है अन्तराय, वह है साधनामें विघ्न।

साधनाका श्रीगणेश कहाँ और कैसे होता है?

मनुष्यमात्र अपने भीतर एक निगूढ़, एक अव्यक्त अभावका अनुभव करता है। वह ‘कुछ’ खोज रहा है, चाह रहा है; परन्तु वह ‘कुछ’ क्या है, उसे पता नहीं। वह ‘किसी’ को देखना चाहता है। परन्तु वह जानता नहीं कि वह ‘कोई’ कौन है, कहाँ है, और कैसा है। संसारके इन बनने-मिटनेवाले चित्रोंसे, क्षण-क्षणपर बदलनेवाली वस्तुओंसे उसे स्थायी सुख, स्थायी शान्ति मिले तो कैसे? आजका विश्वासी मित्र कल घोर शत्रु हो जाता है, दग़ा दे जाता है। स्वजन-परिजनोंसे आज घड़ी-दो-घड़ीके लिये एक हलकी-सी सुखानुभूति हुई, परन्तु कल ही उनका दुःख-दर्द देखकर रोना पड़ता है। मनुष्य आज धन-सम्पत्ति जमा करता है, परन्तु कल ही स्वयं उसके बन्धनोंमें बँधकर तड़पने लगता है, छटपटाने लगता है, उसके भारसे पिसने लगता है। इन्द्रियोंका सुख क्षणभरके लिये उसे सहला तो जाता है, परन्तु फिर सदाके लिये असन्तोष और सन्तापके अथाह सागरमें छोड़ जानेके लिये। बुद्धिकी दौड़-धूप और उछल-कूदसे जीवनकी घोर अशान्ति जाती नहीं, मनकी शंका मिटती नहीं। अपने ही मनके रचे हुए जेलमें मनुष्य अपने-आप कैदी है। वह प्रकाशके लिये तड़प रहा है, स्वतन्त्रताके लिये विलख रहा है। पिंजड़ेको तोड़कर, जेलकी दीवारें लाँघकर वह बाहर आना चाहता है। परन्तु, परन्तु·········परन्तु जुगनुओंसे कहीं रातका अन्धकार जाता है? जगत्के सुख-भोगसे कहीं अन्तरकी प्यास मिटती है? हीरे-जवाहर भी तो इस अन्धकारको छिन्न-भिन्न नहीं कर सकते, फिर बुद्धिके उच्चतम विकास और विलाससे मनका संशय कैसे मिटे? दुनियाभरमें नाम और यशका विस्तार हो गया; परन्तु इससे उसको कौन-सा सन्तोष मिला, कहाँ भी तृप्ति मिली? इन्द्रियोंके सुख-भोगसे क्षणभरकी जो तृप्ति-सी हुई, उसके पीछे मन सदाके लिये, चिरकालके लिये चंचल और क्षुब्ध हो उठा! मन तो भावोंका, बल खाते हुए भावोंका एक सागर है, और जीवन है उस क्षुब्ध जलमें डगमगाती हुई एक नन्ही-सी नाव। इसके सामने है रहस्योंसे भरा भविष्य, इसके पीछे-पीछे लगा आ रहा है भाग्यका मकर, किस्मतका घड़ियाल। सन्नाटा और तूफान, धूप और वर्षा, ओले और कुहरा मार्गमें आते हैं और नावकी गति-विधिको छेड़ते रहते हैं। प्रकृतिकी शक्तियोंके सामने हमारी बुद्धि कुछ काम नहीं देती। पग-पगपर वह हमें छकाती है; अब गया, तब गया ऐसा लगने लगता है। एकाएक वह देखता है कि उसकी किश्ती बुरी तरह घिर गयी है सर्वनाशी तूफानसे; और तब वह अपनेको पाता है चारों ओरसे असहाय, निराधार और निरवलम्ब। ऐसे ही समय उसके अन्तस्तलसे एक पुकार उठती है, एक हूक निकलती है—हे प्रभो! हे मेरे स्वामी! मुझे बचाओ, बचाओ! मैं दीन-हीन हूँ, असहाय हूँ।

बुद्धिर्विकुण्ठिता नाथ समाप्ता मम युक्तयः।
नान्यत्किञ्चिद्विजानामि त्वमेव शरणं मम॥

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

'हे नाथ! मेरी मति कुण्ठित हो गयी है, मेरी सारी तर्कयुक्तियाँ समाप्त हो गयी हैं, मैं तुम्हारे सिवा कुछ भी नहीं जानता; बस, तुम ही मेरे एकमात्र शरण हो। तुम्हीं सच्चे पिता हो, तुम्हीं स्नेहमयी माता हो, तुम्हीं विपत्तिसे बचानेवाले बन्धु हो, तुम्हीं सच्चे मित्र हो; विद्या, धन और सर्वस्व, हे देवदेव! मेरे सब कुछ तुम्हीं हो।'

हे प्रभो, हे अशरणशरण! आज तुम्हारे सिवा मेरे लिये कोई सहारा नहीं है, कोई गति नहीं है; तुम्हीं मेरे सर्वस्व हो, जीवनके आधार हो, प्राणोंके अवलम्ब हो; मुझे बचाओ, बचाओ। तुमसे प्रेम करना ही प्रेम है, तुम्हें जानना ही ज्ञान है। प्रभो! दया कर अपने प्रेमका दान दो, अपने प्यारसे मुझे नहला दो, पवित्र कर दो; अपने ज्ञानका प्रकाश दो, जिससे मेरा अन्तर-बाहर ज्योतिर्मय हो जाय—शुभ्र ज्ञानमय हो जाय!

मनुष्यके हृदयसे जब ऐसी करुण पुकार निकलती है, तब समझना चाहिये कि यथार्थ साधनाका श्रीगणेश हुआ है।

साधनाकी आवश्यकता क्यों है?

हर बातमें उपयोगिताको ढूँढ़नेवाले यह पूछ सकते हैं कि आखिर साधनाकी आवश्यकता किस लिये है, उससे क्या लाभ है? क्यों न मनुष्य खाये-पीये, मौज करे, धन संग्रह करे, बम बरसावे, दुनियाको जीतकर उसकी छातीपर अपना शासन स्थापित करे, हुकूमत कायम करे? उसे इस बातकी आवश्यकता ही क्या है कि वह भगवान् और साधनाके विषयमें सोचे-विचारे, माथापच्ची करे? परन्तु यह भी कोई जीवन है? यह तो अज्ञान-तिमिरमें भटकना है! यह जगत् त्रिगुणमयी मायाकी अनन्त क्रीडास्थली है। मनुष्य आँख-मिचौनी खेल रहा है। उसकी आँखोंपर अज्ञानकी पट्टियाँ बँधी हैं। अहंकारके कारण वह दु:खके गर्तमें जा पड़ा है। कभी इसे छूता है, कभी उसे, दुनियाभरकी खाक छानता फिरता है। अटकसे कटकतक, चीनसे पेरूतक चक्कर लगाता फिरता है और सुख-दु:ख, हर्ष-विषादके थपेड़े खाता फिरता है। जहाँ जाता है, वहीं धक्के खाता है, दुरदुराया जाता है। कहीं भी शान्ति नहीं, सुख नहीं, स्वतन्त्रता नहीं, सन्तोष नहीं। अपने-ही-आप अपनी इच्छाओंमें आबद्ध है, वासनाओंमें जकड़ा हुआ है, अपनी ही इच्छाओंका गुलाम है। वह जितना भी सोचता-विचारता है, जितना भी हाथ-पैर मारता है, उतना ही वह दु:खोंकी जंजीरोंसे अधिकाधिक जकड़ा जाता है, उलझता जाता है।

इतनेहीमें अन्तरकी घण्टी बज उठती है और भगवान्का नाम हृदयमें गूँजने लगता है। शास्त्र एक स्वरसे कहते हैं—डंकेकी चोट कहते हैं कि भगवान् ही—एकमात्र श्रीभगवान् ही विशुद्ध आनन्द हैं, वास्तविक ज्ञान हैं, परात्पर सत्य हैं, सर्वसमर्थ प्रेम हैं। भगवान्के श्रीचरणोंके केवल एक बारके स्पर्शसे ही आँखकी पट्टी खुल जाती है, जीवन उन्मुक्त हो जाता है, सत्य उतर आता है और हृदयके अन्तस्तलमें आनन्दकी तरंगें उठने लगती हैं। नामका अनुसरण और भगवान्के चरणोंका स्मरण साधनाकी पहली सीढ़ी है। भगवान्के परम पावन चरणयुगल ही हमारे सच्चे आश्रय हैं, एकमात्र शरण्य हैं; और तमाम आधार व्यर्थ हैं, धोखेमें डालनेवाले हैं, भरमानेवाले हैं। भगवान्की प्राप्ति ही सच्ची प्राप्ति है; उसके बिना और सारी प्राप्ति व्यर्थ है,महान् हानि है। भगवत्-चेतनाके बिना जीवन दारुण आत्महत्या है, भयानक आत्महनन है। आजकी दुनियामें, जहाँ विज्ञानके नवीन-नवीन अनुसन्धानोंमें मनुष्यका अहंकार इतरा उठा है, जहाँ भोगमय साम्राज्यवादकी दानवी ज्वालासे मानवता पीड़ित एवं क्षुब्ध है—सर्वत्र इसी आत्महननका दौर-दौरा है। यह पैशाचिकता नहीं तो और क्या है कि समुद्रके गर्भमें लोहचुम्बक तारोंका जाल बिछाकर जहाजोंको डुबा देते हैं और निरीह मानवोंपर बम बरसाये जा रहे हैं? इस अज्ञानसे मनुष्यको ऊपर उठना होगा, इस अहंकारसे पल्ला छुड़ाना पड़ेगा और तभी वह अपने सत्यस्वरूपकी, उस सनातन शाश्वत सत्यकी उपलब्धि कर सकेगा, जिसके लिये उसके भीतर तड़प है, व्याकुलता है, अभावका बोध है। दूसरे शब्दोंमें, उसे साधना करनी होगी और तब उसे अपने सत्यस्वरूपका—जो स्वयं श्रीनारायण है—पता लगेगा। यह साधना जीवनके लिये आवश्यक है, अनिवार्य है। जीवनमें अन्न, जल, वायु, प्रकाशकी अपेक्षा भी इस साधनाकी आवश्यकता अधिक है।

साधनाके केन्द्र

मनुष्य वस्तुत: दिव्य भागवत प्राणी है। वह आत्मदृष्टि साक्षात् श्रीभगवान् ही है, मनुष्यताका तो उसने चोला धारण किया है। मनुष्यकी तमाम पहेलियोंका बस, एक ही हल है और वह यही है कि मनुष्य अपने दिव्य भगवत्स्वरूपकी उपलब्धि करे। मनुष्यके भीतर

भगवान् पंचकोषोंके छिपे हुए हैं। मनुष्यका भौतिक रूप आत्माका परिच्छद है, यही है अन्नमय कोष। उसके बाद है प्राणोंका कोष अर्थात् स्नायुजाल, जो शरीरको धारण किये हुए है। इस स्नायुजालमें ही जीवनकी धाराएँ प्रवाहित होती रहती हैं। मन इन स्नायुओंका पोषण और संचालन करता है। शरीर, मन और प्राण मनुष्यके निम्नस्तरके केन्द्र हैं। मनके परे विज्ञान है। इस विज्ञानकी दृष्टिमें एक ही तत्त्व बहुत ही स्पष्ट एवं प्राञ्जलरूपमें रह जाता है। विज्ञानके परे आनन्दमय कोष है और इसमें प्रवेश करनेपर मनुष्य आत्मानन्दके हृदयमें प्रवेश कर जाता है। आत्मा इन पाँचों ही कोषोंसे परे है और हमारे हृदय-कमलके कोषमें जगमगा रहा है। साधनाकी तीव्रताके द्वारा जब दिव्य चेतनताका स्फुरण और जागरण होता है, तब इन पंचकोषोंकी प्रक्रिया स्पष्ट समझमें आ जाती है। शरीरके सभी अंगोंमें भगवान्के दिव्य संस्पर्शकी अनुभूति होनी चाहिये। इसके लिये आवश्यकता इस बातकी है कि हमारे समग्र अंग सक्रिय साधनामें लगें। साधना कोई भी क्यों न हो, यह आवश्यक है कि वह हमारी मन-बुद्धिको उद्‌बोधित करे और हृदयको स्पर्श करे। और वस्तुत: सच्ची साधना मन-बुद्धि और हृदयको स्पर्श करती ही है। हमारे शरीरके अंदर हृदय और बुद्धिमें ही भगवान्का निवास है। मन-बुद्धि साधनामें स्थिर हो जायँ और हृदय उसके आनन्दरसका निरन्तर आस्वादन करता रहे—यही तो साधनाकी सफलताके लक्षण हैं। मन-बुद्धि और हृदयके केन्द्रोंको जो साधना स्पर्श नहीं करती, वह अधूरी ही साधना समझी जायगी। अच्छा, इस सम्बन्धमें फिर आगे विचार किया जायगा।

साधनाके सिद्धान्त

साधारणत: हमारी चेतना बहिर्मुखी होती है। बाहरके विषयोंमें यह मनमाना बेलगाम दौड़ लगाती है, खूब उछल-कूद मचाती है और उसकी प्रत्येक उछल-कूदमें हमारी शान्ति और शक्तिका क्षरण होता रहता है और मन क्षुब्ध एवं चंचल होता रहता है। मनपर अच्छी तरह लगाम कसकर और इस प्रकार समग्र बिखरी हुई चेतनाको अपने अंदर समेटकर उसे हृदयमें डुबा देना ही साधनाका गुह्य तत्त्व है। जिस प्रकार मरजीवा समुद्रमें गोते लगाकर रत्न ढूँढ़ निकालता है, उसी प्रकार साधकको अपने हृदयमें डूबना होगा। हमारे सभी अंग, हमारे अस्तित्वका एक-एक कण भगवत्प्राप्तिकी सजग अभीप्सामें पुलकित हो उठे, हमारे भीतर दिव्य पवित्रता भर जाय—इसके लिये हमारे अंदर दृढ़ निश्चय चाहिये, अटल निष्ठा चाहिये और चाहिये साधनाके प्रति अटूट अनुराग। 'अन्तर्मुख होओ, भीतरकी ओर लौटो'—समस्त साधनोंका एकमात्र यही सूत्र है।

साधनाका मूल आधार

हृदयमें स्थित नारायणका साक्षात्कार करनेके लिये तथा समस्त जगत्‌में उनका संस्पर्श अनुभव करनेके लिये अनेक प्रकारकी साधनाएँ हैं। उनमेंसे कोई भी साधना लगन और उत्साहके साथ की जाय तो साधक अवश्यमेव अपने लक्ष्यको प्राप्त कर लेगा; क्योंकि हमारी अन्तरात्मा ही हमें यन्त्र बनाकर साधना करती है। मन, वचन और कर्मकी पवित्रता, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सात्त्विक एवं युक्त आहार-विहार, सत्संग, एकान्तसेवन, आँख, कान, जिह्वा, और उपस्थेन्द्रियका पूर्ण संयम, भगवान्‌में पूर्ण विश्वास, नाम-स्मरण, नम्रता, निरपेक्षता, सद्‌ग्रन्थ-सेवन, साधु-सेवन, श्रीगुरुका आज्ञापालन—ये ही हैं साधनाके मूल आधार और कोई भी साधक, चाहे जिस शैलीकी उसकी साधना हो, इन तत्त्वोंकी अवहेलना कर नहीं सकता।

गुरु

योग्य गुरुके संरक्षणमें साधना करना सर्वथा सुरक्षित एवं निरापद है। परन्तु सच्चे गुरुके लिये सच्ची खोज होनी चाहिये। गुरुके जीवनमें जितनी अधिक पवित्रता होगी, जितनी अधिक दिव्यता होगी, उसके मुखमण्डलपर चिच्छक्तिका जितना अधिक विकास होगा, उसकी करुणाभरी, कृपाभरी दृष्टिमें जितनी भी दिव्य आध्यात्मिक ज्योति निकलती रहेगी, उसके शान्त, स्थिर, निर्मल, अहंकारशून्य, सरल, निश्छल, निर्मान, निर्मोह आचरणमें, उसकी शीतल स्निग्ध वाणीमें, जो सहज ही संशयका उच्छेदन करती है, आनन्द और प्रकाशकी वर्षा करती है, जितना अधिक प्रभाव होगा, साधकका उतना ही शीघ्र कल्याण होगा। सच्चा गुरु कभी अपनेको अवतार घोषित नहीं करता, न अपनेको सर्वशक्तिमान् ही बतलाता है। इस प्रकारके अहंकारका उसमें लेश भी नहीं होता। प्रकाशन और प्रचारकी अपेक्षा मौन और एकान्तसे उसका विशेष प्रेम होता है। वह यह कहता भी नहीं कि मैं गुरु हूँ। सच्चा गुरु एक बारके दृष्टि-निक्षेपमात्रसे, एक बारके स्पर्शसे, एक बारके संकल्पसे अपने योग्य शिष्यमें शक्तिपात

कर सकता है। वह मीलों दूरसे अपने शिष्यकी काया पलट सकता है; क्योंकि परमाणुओंकी गतिमें जो संवेग है, उससे भी अधिक तीव्र संवेग उसके विचारोंमें, उसके संकल्पमें होता है। बड़ा ही भाग्यशाली है वह साधक, जिसे ऐसा गुरु प्राप्त हो गया है। ऐसे योग्य गुरु हैं बहुत ही दुर्लभ। भगवान्‌की कृपासे ही वे इस धराधामपर आते हैं। इस संसारमें आजकल ऐसे गुरु बहुत ही थोड़े हैं।

कुछ साधनाएँ

साधनाके जिन आवश्यक तत्त्वोंका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है,यदि उनका विकास किसी साधकमें हो रहा है तो वह आत्मज्ञानकी निम्नलिखित साधनाओंमेंसे किसी एकका, जिसका निर्देश उसके गुरुदेव करें अथवा जिसका अनुमोदन उसकी अन्तरात्मा करे, आधार ले सकता है—

१- भगवद्गीता, रामायण, भागवत, सूतसंहिता, विवेकचूडामणि आदि-आदि धर्मग्रन्थोंका अनुशीलन एवं मनन।

२- राम, कृष्ण, शिव, शक्ति, अल्लाह, जेहोवा या भगवान्‌के अन्य किसी भी प्रिय नामका प्रतिदिन कम-से-कम दस हजार जप।

३- भजन गाना, भगवत्प्रेममें नाचना और खूब प्रेमसे भगवन्नामका जोर-जोरसे उच्चारण और भगवत्कृपाका आवाहन। हृदय-द्वारको खोलने तथा हृदय-ग्रन्थियोंको काटनेके लिये यह सर्वोत्तम साधन है।

४- सत्संग, साधु-सेवा और संत-महात्माओंको भगवान्‌का स्वरूप समझकर उनका सम्मान करना।

५- हमारे धर्मशास्त्रके द्वारा अनुमोदित नित्य नैमित्तिक कर्मानुष्ठान-सन्ध्योपासन, ब्रह्मयज्ञ, बलिवैश्वदेव आदि पवित्र कर्मोंका विधिवत् पालन करना। इन कर्मोंमें महान् आध्यात्मिक रहस्य भरा पड़ा है।

६- भगवदर्पणबुद्धिसे ही कर्म करना और उन समस्त कर्मोंसे, जो अहंकार उत्पन्न करते हैं और मनकी शान्तिको नष्ट करते हैं, सर्वथा अलग रहना।

७- भगवान्‌की मूर्त्तिकी उपासना और अर्चा। यह भाव दृढ़ रहे कि मूर्त्तिमें साक्षात् श्रीभगवान्‌का निवास है। वह धातुकी नहीं है, अपितु स्वयं श्रीभगवान्‌का दिव्य मंगलमय विग्रह है। मूर्त्तिपूजाके आलोचक इस बातको भूल जाते हैं और इसीलिये मूर्त्तिपूजाके तत्त्वसे अनभिज्ञ ही रह जाते हैं।

८- नियमपूर्वक किसी मन्दिरमें जाना, उसे धोना, पोंछना, साफ करना, बत्ती जलाना, धूप दिखाना आदि कैङ्कर्य करना।

९- तीर्थ-सेवन, गङ्गा, यमुना, सरयू आदि पवित्र नदियोंमें स्नान करना। यदि सचाईके साथ निष्ठापूर्वक ये कार्य किये जायँ तो अवश्य ही इसके द्वारा चित्त-शुद्धि होती है और भक्तिकी लता लहलहा उठती है।

१०- **दान करना**—दीन-दुखियों, अपाहिजोंको अन्न देना, पशु-पक्षियोंको अपनी सन्तान समझकर उनको दाना-पानी पहुँचाना, गो-सेवा करना, पूजाके लिये बाग-बगीचे और फुलवारियाँ लगाना, ब्रह्मचारियोंको अन्न-वस्त्र देना, साधु-संन्यासियोंकी आवश्यकताओंका ध्यान रखना, पवित्र सद्ग्रन्थोंका प्रकाशन करना, सद्ज्ञानका प्रचार और प्रसार, गरीबोंके लिये, रोगियोंके लिये अस्पताल खुलवाना, गरीबों और मजदूरोंके लिये काम-काजकी व्यवस्था करना और उनकी जीविकाकी व्यवस्था बैठाना, उदारतापूर्वक दान देना, मानवमात्रको श्रीनारायणका विग्रह समझकर निष्कामभावसे उसकी सेवा-शुश्रूषा करना। अन्त:करणकी शुद्धिके लिये ये कार्य नितान्त अनिवार्य हैं।

११- **गुरुसेवा**—गुरुके चरणोंमें अपने-आपको अर्पित कर देना, उन्हें साक्षात् श्रीभगवान् समझना और धैर्य तथा उत्साहके साथ उनके निर्दिष्ट पथका, उनकी आज्ञाओंका श्रद्धापूर्वक पालन एवं अनुसरण करना, कभी उनकी भगवत्तामें संशय न करना।

१२- **हठयोगकी कुछ क्रियाएँ**—आसन, बन्ध, मुद्रा, प्राणायाम, कुम्भक, धौति, नौलि, त्राटक आदिका अभ्यास किसी योग्य अनुभवी गुरुके अनुशासन एवं तत्त्वावधानमें करना। हठयोगके आसनोंका अभ्यास एकमात्र नाडीशुद्धि और प्राणशुद्धिके लिये किया जाता है। इससे तुरन्त लाभ यह होता है कि इसके द्वारा साधकका चित्त स्थिर होता है और ध्यान जमता है और शारीरिक क्षोभ अथवा विक्षेप नहीं होने पाता। चमत्कारके लिये आसनोंका जो प्रदर्शन होता है, उससे कुछ भी होता-जाता नहीं। पैसोंके लिये तो राहमें भिखमंगे भी आसन करते देखे जाते हैं। मनके साथ स्नायुओंका सीधा सम्बन्ध है। योगके आसनोंद्वारा प्राण-प्रवाहपर बहुत ही सुन्दर ढंगसे नियन्त्रण किया जा सकता है, मनके वेगोंपर लगाम कसा जा सकता है और इस कारण आसनोंके द्वारा मन और प्राण स्वस्थ होते हैं और शरीर भी पुष्ट होता है, संगठित होता

है। हठयोगका यही लक्ष्य है।

१३- **राजयोग**—राजयोगमें आठ सीढ़ियाँ हैं। यम, नियम, आसन और प्राणायामके सम्बन्धमें ऊपर कुछ उल्लेख हो चुका है। प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिके विषयमें बहुत संक्षेपमें यहाँ चर्चा की जा रही है। पहले चार तो बाह्य साधनाके अंग हैं और पिछले चार आन्तरिक साधनाके। पिछले चारके द्वारा मनुष्य भगवान्‌के बहुत निकट पहुँच जाता है। ध्यान ही आभ्यन्तर साधनाका प्राण है। ध्यानका सरल अर्थ यही है कि समस्त बाह्य वृत्तियोंको अन्तर्मुख कर हृदयात्मा अथवा हृत्पुण्डरीकस्थित आत्मपुरुषमें लीन कर देना। ध्यानमें सबसे पहले चित्तकी वृत्तियोंको एकाग्र करना पड़ता है। इष्ट देवताकी मूर्त्ति या चित्रपर दृष्टिको टिकानेसे सहज ही ध्यान जमता है, चित्त एकाग्र होता है अथवा किसी पुष्प, नक्षत्र, सूर्य, आकाश, मन्त्र, श्वासोच्छ्वास अथवा हृदयकी धड़कनपर दृष्टि स्थिर करनेसे सहज ही ध्यान लगने लगता है। तारे और पुष्पको अपने परम प्रियतम प्रभुकी मृदुल मुसकान समझना चाहिये, आकाश और पृथ्वीको उसका निवासस्थान समझना चाहिये, हृदयको उसका मन्दिर मानना चाहिये। सभी वस्तुओंके रहस्यमय आन्तरिक स्वरूपको ही ग्रहण करना चाहिये। ध्यान जब हृदयमें किया जाता है, तब बाहरके किसी भी उपकरण या सहायताकी आवश्यकता नहीं रह जाती; क्योंकि हृदयस्थ चैत्य पुरुषका दिव्य भाव-प्रवाह हमारी समस्त सत्ताको आत्मसात् कर लेता है और इस कारण हमारी उपासना भी दिव्य हो जाती है। हृदयदेशमें स्थित नारायणका ध्यान लगातार पूरे छ: महीने करनेपर हमारी अन्तश्चेतना जाग उठती है और उसके अनन्तर तो साधकको केवल इसी बातका ध्यान रखना पड़ता है कि उसकी अन्तर्गुफामें जो दिव्य ज्वालमाल जगमगा रहा है उसपर उसकी दृष्टि स्थिर रहे। फिर और कुछ करना-धरना नहीं पड़ता, साधना तो स्वयं चलती जाती है, होती रहती है। इससे होगा यह कि धीरे-धीरे जब समग्र चेतना जाग उठेगी तो मन-बुद्धिका आत्मामें विलयन हो जायगा और समाधिका आनन्द प्राप्त होने लगेगा।

१४- **भक्तियोग**—अपने इष्टदेवके चरणोंमें सर्वात्मसमर्पण ही सर्वश्रेष्ठ साधना है। इससे स्वयं ही साधकमें साधनाकी सभी आवश्यक बातें आ जाती हैं। भक्तिकी साधना अत्यन्त सुगम है और इसमें किसी प्रकारके विघ्न-बाधा या अन्तरायका प्राय: भय नहीं है। भगवान्‌के चरणोंमें भक्ति करके संसारमें आजतक कभी किसीको धोखा हुआ नहीं, हो नहीं सकता। गृहस्थोंके लिये, जिनकी संख्या संसारमें ९९%(सौमें निन्यानबे) है, यह सर्वोत्तम साधना है। भक्तिके मुख्यत: दो भेद हैं—सगुणभक्ति और निर्गुणभक्ति अथवा अपराभक्ति और पराभक्ति। इनमें सगुणभक्ति अधिक सुगम है और इसका पालन सभी कर सकते हैं। प्रेम कई प्रकारसे व्यक्त होता है। प्रेमी भक्त अपने प्रेमको अनेकों प्रकारसे प्रकट करता है। भगवान्‌से वह कई प्रकारका सम्बन्ध जोड़ लेता है—दास्यभाव, सख्यभाव, वात्सल्यभाव, माधुर्यभाव आदि कई सम्बन्धोंको लेकर वह भगवान्‌से जुड़ जाता है। इनमेंसे किसी भी भावसे की हुई भक्तिके द्वारा भगवत्कृपा होती ही है।

१५- **ज्ञान-साधन**—समाधिके लिये ज्ञान-साधन बहुत ही उत्तम साधन है। विवेक, वैराग्य, आत्मविचार, अन्तर्दर्शन—यह है प्रक्रिया ज्ञान-साधनकी। दृश्य जगत्‌के समस्त विषयोंके प्रति—जो अनात्म हैं, तुच्छ और क्षणभंगुर हैं—ज्ञानी अपनी दृष्टि मूँद लेता है, अपनी इन्द्रियोंको हटा लेता है—खींच लेता है। मैं यह भी नहीं हूँ, मैं यह भी नहीं हूँ—**'नाहम्' 'नाहम्'** से वह शुरू करता है। फिर सहज ही प्रश्न उठता है—फिर मैं क्या हूँ, मैं क्या हूँ—**'कोऽहम्' 'कोऽहम्'?** अन्तमें शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूपमें अपने-आपको स्थित पाकर वह कह उठता है—मैं 'वह' हूँ, मैं 'वह' हूँ —**'सोऽहम्' 'सोऽहम्'!** ज्ञानी इस बातको जानता है कि वह 'आत्मा' है, स्वयं ब्रह्म है। अहर्निश, सोते-जागते, उठते-बैठते वह इसी जाग्रत् चेतनामें रहता है और अपने मन, चित्त तथा प्राणको उसी 'एक' शाश्वत सत्यमें लय किये रहता है। उसी 'एक' का ही वह अपने अन्तर्हृदयमें दर्शन करता है—और आँखें खोलकर बाहरके संसारमें भी वह उसीका दर्शन करता है। 'उस' के सिवा उसके लिये और कुछ रह ही नहीं जाता। वह सर्वत्र और सब वस्तुओंमें उसी एक अद्वितीयको ही और उसी 'एक' अद्वितीयमें सब वस्तुओं और सब रूपोंको देखता है। इसीको कहते हैं एकमें अनेक और अनेकमें एकका दर्शन! ऐसे ही आत्मदर्शी संतका गुणगान गीता और उपनिषद् गाती हैं।

१६- **तन्त्र**—योगी लोग जागृत कुण्डलिनीकी उपासना शक्तिरूपमें करते हैं। चक्रवेधकी प्रक्रियाके द्वारा वह कुण्डलिनीको छ: चक्रोंको भेदता हुआ सहस्रारमें ले

जाता है और वहाँ महाकुण्डलिनीका 'पुरुष' से मिलन होता है। इस मिलनसे ॐकारकी ध्वनि स्पष्ट सुननेमें आती है और ब्रह्मरन्ध्रमें प्रकाश जगमगाने लगता है और कई वर्षकी साधनासे हमारा सम्पूर्ण अस्तित्व—हमारा मन, प्राण, शरीर सब-का-सब दिव्य हो जाता है। नस-नसमें, कण-कणमें चिच्छक्तिका दिव्य विलास होने लगता है और आनन्दकी पुलकसे रोम-रोम सिहर उठता है। परन्तु यह बात स्मरण रखनेकी है कि तन्त्रकी साधनासे कुण्डलिनी-जागरणद्वारा जो कुछ आनन्दानुभूति होती है, ज्ञानीकी सहज समाधि या भक्तके अशेष आत्मसमर्पणमें उससे किञ्चिदंशमें भी कम आनन्दानुभूति नहीं होती। तन्त्रका मार्ग संकटापन्न है और किसी अनुभवी योग्य सिद्ध गुरुकी देख-रेखमें रहकर ही इस मार्गमें प्रवृत्त होना चाहिये। गुरु ऐसा हो, जो शिष्यमें शक्तिपात कर सके। केवल प्रपंचसार, षट्चक्रभेदन, कुलार्णव या महार्णव तन्त्र पढ़ लेनेसे तन्त्रका ज्ञान नहीं हो सकता। और इन्हें पढ़कर पंचमकारकी उपासनामें प्रवृत्त होना तो अपनेको एकदम खतरेमें डालना है। बहुत-से साधक इस मार्गपर चलकर खतरा उठा चुके हैं, धोखा खा चुके हैं। इस पथमें पूरी सावधानी न रही तो अवाञ्छनीय परिणाम होना स्वाभाविक है। यह जान लेना चाहिये कि भक्ति-साधना और शक्ति-साधना दोनों ही समानरूपसे प्रभावशाली हैं।

पुकारो, भगवान्‌को पुकारो

बचपनमें मैं सहज ही भक्तिके मार्गमें लगा। मेरे दादा एक सच्चे संन्यासी थे। पैदल दो बार मद्राससे हिमालयतककी यात्रा उन्होंने की थी और अपने अन्तिम दिनोंमें वे एक पर्णशालामें रहा करते थे। मेरी अवस्था उस समय छः-सात सालकी थी। मैं बराबर उनकी सेवा-परिचर्यामें लगा रहता था और मेरे लिये तो वे भगवान् ही थे। उनके ही पास रहकर मैंने हठयोगके तमाम आसन सीखे, प्राणायामकी प्रक्रिया सीखी—और यह सब कुछ हुआ खेल-तमाशेमें। उनकी सेवामें मुझे इतना रस मिलता कि पढ़ना-लिखना सब ताकपर रख दिया और मेरा दिल-दिमाग दुनियाकी किसी भी बातमें रमता ही नहीं था। घरवाले मुझे बुरी तरह फटकारते, परन्तु मैं अपनी सारी बातें चुपचाप अपने दादासे—जिन्हें मैं साक्षात् नारायण समझता था—कह दिया करता था।

मैं—स्वामीजी! मेरे पिताजी मुझे पीटते हैं...

वे—एक ऐसा भी पिता है, जो अपने बच्चोंको कभी नहीं पीटता; उसे खोजो।

मैं—स्वामीजी! मेरी माँ मुझे बुरी तरह फटकारती है!

वे—एक ऐसी माँ है जो तुम्हें कभी भी फटकारेगी नहीं, वह केवल तुम्हें प्यार-ही-प्यार करेगी; उसे ढूँढ़ो।

मैं—स्वामीजी! मेरे मास्टर बेंतोंसे मेरी खबर लेते हैं!

वे—एक ऐसा भी मास्टर है जो तुम्हें कभी भी बेंत नहीं लगायेगा, न तुम्हें छेड़ेगा ही। वह तुम्हें ऐसी बातें सिखलावेगा जिन्हें तुम्हारे दुनियाके मास्टर सौ जन्ममें भी नहीं सिखला सकेंगे।

मैं—मुझे किताबोंमें कुछ मजा नहीं मिलता।

वे—(मेरे हृदयको थपथपाकर) असली किताब तो यहाँ है; इसे ही खोलकर देखो, पढ़ो। फिर आप-ही-आप तुम्हें सारा ज्ञान हासिल हो जायगा।

दिन-दिन इन उत्तरोंसे मेरे अन्तरकी गाँठें खुलती गयीं और अपने-आप ही मैं आत्मविचारमें लग गया। मेरे मनने यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि उस 'परमपिता' के दर्शन करने ही हैं और उसका ज्ञान प्राप्त करना ही है, अवश्यमेव करना है। एक दिन वे बहुत ढंगसे यह समझा रहे थे कि जो कुछ है, सब-का-सब भगवान् ही है, एकमात्र भगवान् है, भगवान् सर्वत्र है और सब कुछ है। इसपर मैंने पूछा—'स्वामीजी! क्या मैं उनका दर्शन कर सकता हूँ?'

'हाँ, हाँ'—उन्होंने स्नेहके साथ कहा।

'कैसे?' मैंने आतुरतासे पूछा।

'पुकारो, उसे पुकारो'—उन्होंने समझाते हुए कहा।

'कैसे पुकारूँ स्वामीजी?'

'अरे भाई, उसे पुकारनेमें क्या दिक्कत है? वह सर्वव्यापक है, शुद्ध है, पवित्र है, सर्वशक्तिमान् है। चाहे जिस नामसे पुकारो वह सुनता ही है, सुनता ही है, अवश्य सुनता है। उसे शुद्ध ब्रह्म कहो या उसे सर्वशक्तिमान्, सर्वसमर्थ कहो। उसे पुकारो या उसकी शक्तिको पुकारो। अच्छा सुनो, मैं तुम्हें एक मन्त्र सुनाता हूँ; तुम इसे जपा करो और तुम इसके दिव्य चमत्कारको देखोगे। वह मन्त्र है—'ॐ शुद्ध शक्ति'! इससे तुम्हारे सारे मनोरथ सिद्ध हो जायँगे।'

इस मन्त्रके साथ मेरे हृदयका एक विचित्र

अकथनीय आकर्षण हो गया, उसके लिये हृदयमें चाह उत्पन्न हो आयी और रात-दिन मैं बराबर उसका जप करता रहा। यह मन्त्र मेरे हृदयकी धड़कनके साथ मिल गया। मैं अपने हृदयकी धड़कनमें स्पष्ट सुनता था उस मन्त्रकी ध्वनि! मुझे यह दिव्य मन्त्र प्रदान कर वह महात्मा इस संसारसे चल बसे। इसके बाद मैं अनेकों संत-महात्माओंके संसर्गमें आया और अनेकों प्रकारकी साधनाएँ कीं। परन्तु अन्ततः मेरे लिये तो उस परम शुद्ध शक्तिके चरणोंमें पूर्ण आत्मसमर्पणका ही एकमात्र आधार रह गया है और इसीसे मेरे जीवनमें एक अद्भुत आनन्द है, जिसका मैं निरन्तर पान किया करता हूँ। भक्तिकी ज्वाला मेरे हृदयमें अहर्निश प्रज्वलित रहती है। शुद्ध और शक्तिका वही सम्बन्ध है, जो सूर्य और उसकी किरणोंका है।

महासाधन

सम्पूर्ण, निःशेष आत्मसमर्पणको ही मैं 'महासाधन' कहता हूँ। साधकोंकी प्राणदायिनी माता गीताका यह सारसर्वस्व है। लोग समझते हैं कि समर्पण एक बहुत आसान चीज है, परन्तु यह आसान है नहीं। समर्पणसे सारा कार्य, सारी साधना, समस्त मनोरथ सफल हो जाते हैं—इसमें कोई भी सन्देह नहीं। मुझे तो एकमात्र समर्पणसे ही पूर्ण शान्ति एवं पूर्ण आनन्दकी अनुभूति हुई है। हठयोग और राजयोगकी अपेक्षा समर्पणका मार्ग अधिक कठिन है। समर्पणमें कर्म, भक्ति और ज्ञानका पूर्ण समन्वय है। हाँ, यह बात अवश्य है कि हमारा यह समर्पण पूर्णतः प्रीतिपूर्वक होना चाहिये। नम्रता, आज्ञापालन, प्रभुकी सेवा और भगवद्भावसे जगत्के जीवोंकी यथाशक्ति सेवा-सहायता करना—यह तो है शरीरका समर्पण। प्राणोंका स्तर इतना सुदृढ़ होना चाहिये कि वह साधनाके भारको सँभाल सके, अहंकारको भगा सके, इच्छा, वासना, मोह, आसक्ति, ईर्ष्या, राग-द्वेष, लोभ, लालसा, मद, मत्सरसे साधकको अलग—अछूता रख सके। यह पूर्णतः नरम, कोमल, चिकना, मसृण और संवेदनशील होना चाहिये—जिसमें यह भगवत्कृपाके संस्पर्श और प्रभावको बराबर अनुभव करता रहे। किसी भी व्यक्तिगत वासना, किसी भी अहङ्कारपूर्ण माँग या शर्तके द्वारा समर्पणको कलङ्कित नहीं करना चाहिये। चित्त सर्वथा शुद्ध और निर्मल हो, स्थिर हो, दृढ़ हो और हमारी समस्त इच्छाएँ पुञ्जीभूत होकर भगवान्को पुकार सकें, भगवान्को ही प्राप्त करनेके लिये तड़प उठें! अहंकारको तो एकदम मिटा देना होगा, निःशेष कर देना पड़ेगा। साधकको इस बातका दृढ़ विश्वास होना चाहिये कि मनुष्य तो भगवान्के हाथमें यन्त्रमात्र है, भगवान् उससे जो कुछ कराना चाहते हैं, वही उसे करना पड़ता है। उसे यह अनुभव करना चाहिये कि स्वयं भगवान् ही उसके प्राणोंके प्राण हैं, जीवनके जीवन हैं, मस्तिष्कमें बैठकर भगवान् ही विचार करते हैं, और हृदयमें बैठकर वही आनन्दकी सृष्टि करते हैं।

साधनाके दो घोर शत्रु हैं—अहंकार और ममकार, मैं और मेरा। इनके नाममात्रसे भी साधनाके क्षेत्रमें सब कुछ किया-कराया चौपट हो जाता है। बुद्धिके द्वारा आत्माको अनात्मासे पृथक् करके भगवान्के पथमें आगे बढ़ना चाहिये। मन पाँचों इन्द्रियोंपर पूरी चौकसी रखे। इन्द्रियाँ कभी-कभी मदमाते उद्दाम घोड़ोंकी तरह मनुष्यको खाई-खंदकोंमें गिरा फेंकती हैं और मनुष्य विषय-वासनाओंके जंगलमें भटकता फिरता है। मनुष्य अज्ञानके हाथकी कठपुतली हो जाता है। मन तो विषयोंका स्फुरण-स्थान है। मन हृदयमें डूब जाय और हृदयमें भगवान्की ज्योति सदैव जगमगाती रहे—फिर चाहिये क्या। हृदयको इस बातका पूरा-पूरा विश्वास हो जाना चाहिये कि अधोगामी विषयोंमें कुछ भी है नहीं और प्रेम करने योग्य कोई वस्तु है तो वह है परम प्रियतम प्राणधन हरि। जब दिव्य प्रेम हृदयको संस्पर्श करता है तो मार्ग अपने-ही-आप सुगम हो जाता है और सारी कठिनाइयाँ आप-ही-आप हल हो जाती हैं। तब तो ऐसा होता है कि हमारा परम प्रियतम हमें अपनी भुजाओंमें बाँधकर अपने साथ ही लिये फिरता है। जब मन-बुद्धि-प्राण भगवान्में डूब जायँ, जब हृदयमें उसी एक 'दिलवर' के लिये, उसी एक 'महबूब' के लिये प्यार और तड़प रह जाय—बस, प्यारभरी तड़प और तड़पता हुआ प्यार रह जाय, जब जगत्के भोग-विलासोंसे चित्त आप-ही-आप फिर जाय, जब साधक यह समझे, यह अनुभव करे कि शरीर जाय तो जाय, परन्तु भगवान्को पाये बिना रह न सकूँगा, जब उसे जीवनकी अपेक्षा भी प्रभु प्रिय लगें, तब उसे यह समझना चाहिये कि भगवदीय चेतनाका उसमें अवतरण एवं स्फुरण हुआ है। तभी उसपर भगवान्की दया उतरती है, दिव्य प्रकाश उसपर अपने-आप बरसने लगता है और तभी उसके भीतर भागवती इच्छा अपना कार्य करने लगती है। साधक तब यह समझता है कि वह भगवान्के हाथका एक यन्त्रमात्र है और

भगवान्‌की जो इच्छा होती है वही उसके द्वारा होता है, अन्यथा कुछ हो ही नहीं सकता। वह यह अनुभव करता है कि उसके फुफ्फुसमें भगवान् ही साँस लेते हैं, उसकी वाणीमें भगवान् ही बोलते हैं, भगवान् ही उसके हृदयमें बैठे प्यार करते हैं, उसकी बुद्धिमें बैठे हुए विचार करते हैं और उसकी आत्मामें रहकर आनन्दका आस्वादन करते हैं। यह है समर्पणकी पराकाष्ठा। इसके द्वारा मनुष्य स्वत: निश्चिन्त, निर्द्वन्द्व और निर्लेप रहता है और उसके द्वारा भागवती शक्ति अपना कार्य करने लगती है। साधक अपने हृद्देशमें भगवान्‌के साथ नित्य युक्त रहता है। साधक भगवान्‌को नहीं छोड़ता, भगवान् साधकको नहीं छोड़ते। साधकका निवास होता है भगवान्‌में, भगवान्‌का निवास होता है साधकमें। इस प्रकारके समर्पणकी प्रक्रिया हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियोंने बतलायी है। और यही है इस युगके लिये परम साधन।

सिद्ध पुरुष

सिद्ध पुरुष यह जानता है कि भगवान् ही उसकी आत्मा हैं। वही यह डंकेकी चोट कह सकता है कि मैं आत्मा हूँ, मैं ब्रह्म हूँ। परन्तु सिद्ध पुरुष इस कारण किसी ऐसे भ्रममें या अहंकारमें नहीं पड़ेगा कि वह सोचने लगे कि वह सर्वशक्तिमान् है, सर्वव्यापक है और स्वयं भगवान् है या उसका प्रतिनिधि है। समाधि-साधकोंको तो इस दिशामें बहुत ही सतर्क रहनेकी आवश्यकता है। नाममात्रका अहंकार भी उसे ले डूबेगा। मनुष्य तो सीमाओंसे आबद्ध है। वह ईश्वरका अंश अवश्य ही है, परन्तु ईश्वर नहीं है। अंश पूर्णके बराबर नहीं हो सकता, सूर्यकी एक किरण सूर्यके समान नहीं हो सकती। जलका एक कण लघु सागर है—इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु यह पूर्ण सागर तो नहीं है। साधक सदैव इस बातका ध्यान रखे कि वह जीवित है, क्योंकि भगवान्‌का उसमें निवास है; वह साँस लेता है, क्योंकि भगवान् उसके भीतर बैठे साँस लेते हैं; वह सोचता-विचारता है, इसलिये कि उसकी बुद्धिमें बैठे हुए भगवान् अपने प्रकाशसे उसकी बुद्धिको प्रकाशित किये हुए हैं और वह भगवान्‌का साक्षात्कार करता है, क्योंकि भगवान् ही उसके जीवनकी सार सत्ता हैं। डायनेमो बिजलीके प्रवाहसे चलता है। स्वयं मशीनमें क्या शक्ति है कि कुछ भी कर सके। उस अनन्त शक्तिके एक कणमात्रसे समस्त लोक-लोकान्तरोंमें जीवन-प्रवाह प्रवाहित हो रहा है। उसी शक्तिसे यह जगत्-चक्र चल रहा है। मनुष्य उस शक्ति-कणका करोड़वें हिस्सेका भी करोड़वाँ हिस्सा है या उससे भी कम। इसलिये उसे यह भूल नहीं जाना चाहिये कि चाहे कितनी भी उसकी शक्ति क्यों न हो, वह देश और कालसे सीमित है, परिच्छिन्न है और वह कदापि उस अनन्त, सर्वशक्तिमान् प्रभुकी समानता कर नहीं सकता। इसलिये मनुष्यमात्रके लिये एक ही मार्ग है और वह है समर्पणका। जिस प्रकार मालाके मनिये धागेमें पिरोये रहते हैं उसी प्रकार जपसे लेकर समाधितक समस्त साधनाओंका मूल आधार है यह समर्पण, सर्वस्व-समर्पण, नि:शेष सर्वात्मसमर्पण।

समर्पण

प्रभो! मेरे देवाधिदेव! मैं यह भूलूँ नहीं कि तुम सदैव मेरे हृदयदेशमें निवास करते हो। तुम्हीं मेरे जीवनके सूत्रधार हो। इस क्षण-क्षण बदलनेवाले पल-पलमें बनने-मिटनेवाले संसारमें जो कुछ भी हो रहा है, जो कुछ भी सामने आ रहा है, जो कुछ भी हिल-डुल रहा है और फिर आँखोंसे ओझल हो रहा है वह सारा ही तुम्हारी सत्तासे अनुप्राणित है, स्पन्दित है। मेरा मन-प्राण तुममें ही निवास करे, बसे और मेरा यह ज्ञान, यह चेतना बनी रहे कि तुम्हारी इच्छाके सिवा मेरी कोई गति नहीं, कोई आश्रय नहीं, कोई शरण नहीं, कोई अस्तित्व नहीं। यह शरीर तो मृत पिण्ड है, यह सजीव इसलिये है कि तुम इसमें साँस लेते हो। ओ मेरे प्रियतम, मेरे प्राणाराम! मैं अपने हृदयदेशमें सतत तुम्हारा आलिङ्गन-रस पाता रहूँ। जो कुछ करूँ तुम्हारी प्रेरणा और संकेतसे, तुम्हीं मेरे द्वारा अपना कार्य करो, अपना उद्देश्य साधो; मेरे हृदयमें तुम्हारा ही प्रेम विराजे, तुम्हीं प्रेमरूपमें विराजो; मेरी बुद्धिमें तुम्हीं प्रकाशरूप बने रहो, मेरे मस्तिष्कमें तुम्हीं विचार करो। मेरे समस्त अहंकारको अपनेमें डुबा लो, प्रभो! मेरे अंदर तुम्हारे सिवा कुछ भी रह न जाय, तुम्हीं-तुम रह जाओ। हे सर्वशक्तिमान्, सर्वसमर्थ स्वामिन्! भले ही मैं समाधिकी अवस्थामें तुमसे एकाकार होकर तुम्हारी ही तरह हो जाऊँ; परन्तु यह भूलकर भी मैं यह न मान बैठूँ कि मैं तुम्हारे सदृश

हूँ। मैं हूँ ही क्या। एक तुच्छ नगण्य नाचीज़—जो अपनी एक-एक साँसके लिये तुम्हारी कृपापर अवलम्बित है, तुम्हारी दयाका मुँह जोहता है। तुम्हारे अनन्त महासागरके सम्मुख इस कणकी क्या हस्ती है, प्रभो! मेरा अहंकार तुम ले लो, मेरे दयामय हरि! और मुझे नम्रता, दीनता प्रदान करो। ओ मेरे स्वामी! तुम्हारी इच्छा मेरे जीवनमें पूर्ण हो, तुम्हारी जो इच्छा हो वही मेरे भीतर-बाहर हो—तुम्हीं मेरे भीतर साधना करो और तुम्हीं मेरे भीतर सिद्ध होकर अपनी इच्छा पूर्ण करो।

साधना और सिद्धि

(लेखक—स्वामी श्रीअसंगानन्दजी महाराज)

साधनाके विशाल एवं व्यापक क्षेत्रपर यदि हम उदार दृष्टि डालें तो हमारा यह विश्वास दृढ़ हो जायगा कि हमारा सम्पूर्ण जीवन साधनाका अनन्त क्षेत्र है। *'जैसी करनी वैसा फल'*—यह एक ऐसा सत्य सिद्धान्त है जो हमारे जीवनके समग्र शारीरिक और मानसिक कर्मोंमें—एक-एक कार्यमें लागू होता है; वह कार्य चाहे जिस प्रकारका हो—उसका सम्बन्ध कलासे हो या साहित्यसे हो, चित्रकारीसे हो, संगीतसे हो या संस्कृतिसे हो—सर्वत्र समानरूपसे यह सिद्धान्त घटता ही है। ऊपर हम जितने भी क्षेत्र गिना आये हैं, उनमें हमें सफलता उतने ही अंशमें मिलती है, जितने अंशमें हम उसमें निष्ठा एवं शक्तिके साथ प्रवृत्त होते हैं। इसलिये यदि हमने अपनी चरम लक्ष्य-सिद्धिके लिये पूरा-पूरा प्रयत्न नहीं किया, जी-जानसे परिश्रम नहीं किया तो हमारे लिये अपनी असफलतापर दुःख करनेका, खिन्न होनेका कोई कारण नहीं है। अतिचेतन और अतीन्द्रिय परमात्मसत्ताकी उपलब्धिके लिये हम जो कोई भी आध्यात्मिक अनुष्ठान करते हैं—ध्यान, चिन्तन, पूजा, जप, आसन, भजन इत्यादि—सब साधनाकी परिभाषाके अन्तर्गत आ जाते हैं।

सभी संत-महात्माओं तथा धर्मसंस्थापकोंने अत्यन्त कठिन-कठोर साधनाके द्वारा ही आत्मज्ञानका प्रकाश पाया और आत्मानुभूतिके दिव्य प्रकाशमें ही उन्होंने जगत्‌के लिये भगवान्‌का पथ ढूँढ़ निकाला, भगवत्साक्षात्कार अथवा निर्वाणका मार्ग आलोकित किया। और यही कारण है कि इन आत्मदर्शी संत-महात्माओंके चरण-चिह्नोंका अनुसरण कर, उनके आदेश और आचरणका अनुकरण कर आज भी एक सच्चा साधक, भगवान्‌के पथपर चलनेवाला एक निष्ठावान् पुरुष आध्यात्मिक साधनाकी एक-एक सीढ़ी चढ़ता हुआ अपने लक्ष्यकी ओर बढ़ता जाता है; क्योंकि वह महात्माओंके बताये हुए उस मार्गपर चल रहा है, जिसका उल्लेख संसारके धर्मशास्त्रों एवं अध्यात्मग्रन्थोंमें बहुत विस्तारसे हुआ है। साधनाका यह पथ इतना प्रशस्त, सुरक्षित एवं सुनिश्चित है कि साधकको इधर-उधर भटकनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। कारण कि उन संत-महात्माओंने जो कुछ लिखा है वह अपने अनुभवसे लिखा है, उनके उपदेश और आचरणमें पूर्णतः एकता थी, वे वही बात लिखते थे जिसका उन्हें अनुभव था और इसीलिये उनके उपदेशोंमें जीवन एवं शक्ति भरी पड़ी है। ऐसे संत-महात्मा जिस धर्ममें जितने भी अधिक होंगे, वह धर्म उतना ही दीर्घजीवी और स्थायी होगा। परन्तु खेदका विषय है कि बीच-बीचमें अपकर्षकी अन्तर्दशा भी आती रहती है और उस समय उन महात्माद्वारा प्रज्वलित आत्मज्ञानकी ज्वाला धूमाच्छन्न हो जाती है। परन्तु वह तेज है तो सनातन, चिरप्रकाशमान और दिव्य। इसी कारण वह केवल धूमाच्छन्न होता है, बुझता नहीं—बुझ सकता ही नहीं। इसलिये एक सच्चा साधक अवसाद और अपकर्षकी अन्तर्दशासे निराश एवं क्लान्त नहीं होता, अपितु अपनी कठोर तपस्या एवं तीव्र साधनासे वह समस्त साधनपथको आलोकित कर देता है—उसमें नवीन प्राण, नूतन जीवन डालकर पुनः जाज्वल्यमान कर देता है।'

संसारके धर्मशास्त्रोंका तुलनात्मक अध्ययन करनेपर हम इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि सनातनधर्मके अतिरिक्त सभी धर्मोंने अपने-अपने अनुयायियोंके मानसिक विकासके लिये एक सुनिश्चित साधन-प्रणाली निर्धारित कर दी है जिसमें एक विशिष्ट प्रकारकी भावना, ध्यान, चिन्तन तथा साधनाकी प्रक्रियाओंका निर्देश है। परन्तु हिन्दूधर्मने

अपने अनुयायियोंकी मनोदशा, प्रवृत्ति आदिका ध्यान रखकर अनेकों प्रकारकी साधन-शैलीका अनुसन्धान एवं उद्घाटन किया है जिससे सब लोगोंके लिये साधनाका पथ सुगम हो—सभी अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार साधना कर सकें। अत्यन्त स्थूल मूर्त्ति-पूजासे लेकर निर्गुण-निराकार-चिन्तनतक साधनाकी कई सीढ़ियाँ हैं। बाहर-बाहरसे देखनेवालोंकी बुद्धिमें ये बातें आ ही नहीं सकतीं, न वे इनका रहस्य ही समझ सकते हैं। सनातनधर्म तो एक ऐसी माताके समान है, जो अपनी सन्तानकी वय और शक्तिको देखकर तरह-तरहकी चीजें उसके उपयुक्त तैयार कर खिलाती रहती है और उसका स्नेहके साथ भरण-पोषण करती है। सच तो यह है कि हमारे पूर्वपुरुष, हमारे ऋषि-महर्षि और सिद्ध पुरुष—जो हिमाच्छादित, गगनचुम्बी महामहिम हिमालयसे लेकर कन्याकुमारीतक फैले हुए इस आर्यदेशमें एक छोरसे दूसरे छोरतक रहते थे—वस्तुतः शास्त्रज्ञानमें बड़े ही निपुण एवं पारंगत थे, ज्ञान-विज्ञानमें विशारद थे। उनके बताये हुए साधन-मार्ग एवं साधन-प्रणालीका सचाईके साथ अनुसरण कर हम निश्चय ही अपने दुर्जय-दुर्धर्ष मनपर विजय प्राप्त कर सकते हैं, उसे पवित्र बना सकते हैं, जिसके द्वारा इस शरीररूपी पिंजड़ेके भीतर बंद हंस उन्मुक्त होकर कुरेल कर सकता है। हमारे वे ऋषि-महर्षि सच्चे अर्थमें विज्ञानवेत्ता थे और आज भी उनके विज्ञान-ज्ञानका संसार लोहा मानता है। क्योंकि उन्होंने जो कुछ भी अनुभव किये, वे भले ही अवर्णनीय एवं अचिन्त्य हों; परन्तु सत्य सदैव उनका अनुमोदन करता है। सत्य सदा उनके अनुभवका आधार है। इसीलिये उनका अनुभव और ज्ञान भी सनातन सत्यकी भाँति शाश्वत है, चिरन्तन है।

कुशल-कुशाग्र बुद्धि एवं सत्य-सनातन अनुभवमें यही अन्तर है। अध्यात्मका विशाल, विस्तृत क्षेत्र बुद्धिके लिये सर्वथा अगम्य ही है। यह बेचारी बुद्धि, जिसका हमें बड़ा गर्व एवं अभिमान है, वस्तुतः है क्या? यह तो देश-काल-कारणसे परिच्छिन्न है और यहाँतक परिच्छिन्न है कि इसका उस लोकमें प्रवेश ही नहीं है, जिसमें प्रवेश करनेके लिये साधकको देश-काल और कारणको या तो भुलाना पड़ता है या लोप करना पड़ता है। यही कारण है कि सनातनधर्मके आचार्य बार-बार हमारे कानोंमें यही कहते हैं कि वेदोंमें विश्वास करो, आप्तवाक्योंमें विश्वास करो और इन्हींके आसरे साधनमार्गपर चले चलो, चले चलो और तबतक चले चलो जबतक अन्तरका पट न खुल जाय। साधना करो, साधना करो; सचाई, निष्ठा और विवेकके साथ साधना करो; शेष सारी बातें अपने-आप हो जायँगी—यही है हमारे शास्त्रों और ऋषियोंकी वाणीका सार समुच्चय। दूसरे धर्मोंके प्रवर्तक तथा आचार्योंका भी यही कहना है और उनकी इस वाणीमें एक दिव्य ज्योति गर्भित है। परन्तु जिन लोगोंको बुद्धिका अजीर्ण हो गया है, वे सब बातोंको अपनी बुद्धिकी तुलापर तौलते हैं। उन्हें पता नहीं कि अध्यात्मके पथमें साधनाके बिना कुछ भी नहीं बनता और इसीलिये वे इन संत-महात्माओं और आचार्योंको कुछ-का-कुछ समझ लेते हैं।

किसी भी बातके लिये दी हुई शर्तोंको पूरा कर देनेपर ही सफलताका मार्ग खुलता है। यह एक ऐसा नियम है जो ज्ञानके क्षेत्रमें सर्वत्र समानरूपसे लागू है और धर्मके क्षेत्रमें तो विशेषरूपसे। इसलिये सत्यके, ज्ञानके अथवा भगवद्दर्शनके सच्चे साधक अथवा आत्मार्थीके लिये कुछ नियम होते हैं, कुछ विधियाँ होती हैं, जिनका सम्यक्रूपसे पालन करनेपर ही मानव-जीवनकी चरम सिद्धि होती है। अद्वैत-वेदान्तके साधकको भी, जिसके लिये यह जगत् एक मायाजाल है, नित्यानित्यविवेक, इहामुत्र-फलभोगविराग, शम-दमादि षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुत्वकी शर्तें पूरी करनी पड़ती हैं और उन्हें पूरा करनेपर ही वह संसारके बन्धनोंसे छूटकर मुक्तिपथमें सफलतापूर्वक जा सकता है। वे ही क्यों, सभी साधकोंको—चाहे वे कर्मयोगी हों, भक्त हों या राजयोगी हों या और किसी मार्गके हों—कठिन साधनाके मार्गपर चलना ही पड़ता है, घोर तपस्या करनी पड़ती है और तब जाकर वे सच्ची साधनाके सच्चे अधिकारी होते हैं। उन सभी साधनोंमें जिनका उल्लेख संसारके धर्मशास्त्रोंने किया है, चार मुख्य हैं। वे हैं—अशेष धैर्य, आत्मसंयम, सचाई और आत्मोत्सर्ग। केवल कुछ जप या ध्यान कर लेनेसे ही मनुष्य अपने आदर्शको नहीं पा सकता। भगवान् तो सर्वलोक-महेश्वर हैं, उन्हें किसी शर्तमें बाँधा नहीं जा सकता। साधकको चाहिये कि वह असीम धैर्य एवं साहसके साथ अपनी साधनाका अनुष्ठान करता रहे, करता रहे। एक दिन वह देखेगा कि उसके बिना जाने ही प्रभुकी असीम अनुकम्पाका प्रवाह उसकी ओर मुड़ गया है और दिव्य लोकका द्वार उसके लिये खुल गया है। देवर्षि नारद तथा दो साधकोंकी कहानी इस सम्बन्धमें संस्मरणीय है

और वस्तुतः बड़ी ही भावपूर्ण है। देवर्षि वीणा बजाते भगवान‍्के दर्शनोंके लिये जा रहे थे। राहमें उन्हें दो साधक पृथक्-पृथक् स्थानोंमें साधना करते हुए मिले। पूछनेपर दोनोंने ही यह जानना चाहा कि भगवान‍्की प्राप्ति कब होगी। देवर्षिने भगवान‍्से इनकी चर्चा चलायी तो भगवान‍्ने कहा कि एकको तो दस वर्षमें दर्शन होंगे और दूसरेको उतने ही वर्ष लगेंगे, जितने उस इमलीके पेड़में पत्ते हैं, जिसके नीचे बैठा वह साधना कर रहा है। देवर्षि लौटे तो पहलेने पूछा। उसे यह जानकर बड़ी ही निराशा हुई कि अभी दस वर्षतक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। इसलिये उसने साधना छोड़-छाड़कर घरकी राह ली। दूसरा जब मिला तो उससे देवर्षिने डरते हुए कहा—'भाई, अभी तो बड़ी देर है। इस इमलीके पेड़में जितने पत्ते हैं, उतने वर्ष बाद श्रीहरि तुम्हें दर्शन देंगे।' परन्तु इस साधकके आनन्दका पारावार नहीं रहा। वह आनन्दमें नाचने लगा। 'मिलेंगे न?' बस, यही सोचकर वह प्रभुकी कृपामें आत्मविस्मृत हो डूब गया! भक्तिकी धारा उमड़ पड़ी, साधना तीव्र हो गयी और उसे शीघ्र ही भगवान् मिल गये।

धार्मिक जीवनका मूल आधार है आत्मसंयम। आत्मसंयमके बिना साधना हो नहीं सकती, हो नहीं सकती। क्षुब्ध और चंचल शरीर तथा मनसे आध्यात्मिक जगत‍्में सफलता मिल ही नहीं सकती; सफलताका मिलना सर्वथा असम्भव ही समझना चाहिये। कारण कि जिस शक्तिको संघटित एवं केन्द्रीभूत करके भगवान‍्में लगाना है, वही शक्ति अधोमुख होकर क्षरित हो जाती है, नष्ट हो जाती है।

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है कि मिथ्याचारी पुरुष लोक और परलोक दोनोंसे ही भ्रष्ट हो जाता है। भगवान‍्ने अर्जुनको बुरी तरह फटकारा है—बातें तो करते हो पण्डितोंकी-सी, परन्तु शोक करते हो उन बातोंका जिनके लिये शोक नहीं करना चाहिये! परमहंस रामकृष्णदेवने कहा है कि मन और मुखको एक करना ही सच्ची साधना है। सच्चा साधक जब अपने हृदयको टटोलेगा तो वह देखेगा कि कई तरहकी दुर्बलता और अशुचिता उसमें भरी पड़ी है और जबतक ये दुर्बलताएँ और अशुचिताएँ बनी हुई हैं, तबतक वास्तविक एवं स्थायी सफलता कैसे प्राप्त हो सकती है? यही है आध्यात्मिक जीवनका बीज।

अन्तमें एक बहुत ही आवश्यक बात कहनी है। अध्यात्मपथमें आत्मोत्सर्गकी जितनी भी आवश्यकता समझी जाय, थोड़ी ही है। अध्यात्मके आकाशमें हम चाहे जितनी भी ऊँची उड़ान लें—योगकी चाहे जितनी भी सिद्धियाँ प्राप्त कर लें—हमें यह जान रखना चाहिये कि जहाँतक हमारे अंदर अहंकार और ममकार है, जहाँतक इनका सर्वथा विलोम नहीं हो जाता, वहाँतक भगवद्दर्शन अथवा मोक्ष एक कल्पनामात्र है। यदि आप भक्त हैं, भक्तिकी साधना करते हैं तो 'इति, इति' के मार्गसे चलिये, समन्वयके पथपर चलिये और अपनी इच्छाओंको, अपने तुच्छ 'अहम्' और 'मम' को भगवदिच्छाके महासागरमें लीन हो जाने दीजिये। यदि आप ज्ञानी हैं, ज्ञानके मार्गपर चल रहे हैं तो 'नेति', 'नेति' के द्वारा अपने अहंकारको मिटा दीजिये—व्यतिरेककी पद्धतिसे।

गीताके अन्तमें भगवान‍्ने अर्जुनको '**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**', सब धर्मोंको छोड़कर मेरी शरण लो—यह आदेश किया। श्रीरामकृष्णदेवका भी अपने भक्तोंको कितना दिव्य उपदेश है—'अहंकारके मिट जानेपर जगज्जननी माँ साधकके शवपर अपना नृत्य करती है, वह नृत्य जो एक बार शुरू होकर फिर कभी बंद नहीं होता।'

इस प्रकार समस्त साधनाएँ सिद्धिके महासागरमें प्रवेश कर जाती हैं।

नाम बिना सब दुःख है

जीवत ही स्वारथ लगे, मूए देह जराय।
हे मन सुमिरौ राम कूँ, धोखे काहि पराय॥
हाथी घोड़े धन घना, चंद्रमुखी बहु नार।
नाम बिना जमलोक में, पावै दुक्ख अपार॥

—चरणदासजी

शरण-साधना

(लेखक—पु० श्रीप्रतापनारायणजी, कविरत्न)

अलौकिक कामिनियोंकी ही
कामना कोई करता है।
सुखी संतानोंकी कोई
साधनापर ही मरता है॥ १॥

किसीका सुंदरि-सेवामें
चला जाता सब जीवन है।
किसीका रमा हुआ रहता
रमामें ही व्याकुल मन है॥ २॥

धाम-धन-दौलतको कोई
लोकमें जमा किया करता।
पेट-पालनको ही कोई
माँगकर दान लिया करता॥ ३॥

शीशपर धुन सवार रहती
किसीके नाम कमानेकी।
किसीके आदत पड़ जाती
देह पर भस्म रमानेकी॥ ४॥

साधना जो ऐसी करते,
अंत में वे ही पछताते।
कभी वे नहीं सोचते यह-
यहाँ वे क्या करने आते॥ ५॥

आज दुनियामें नकली हैं,
बहुत कम हैं असली भोले।
यहाँ तो अपने मतलबमें
गजबके सब ही हैं गोले॥ ६॥

यहाँका देना ही तो है
वहाँके लिये साथ लेना।
निकलना जगके जालोंसे
नावको अपनी है खेना॥ ७॥

किसीकी क्यों न साधना हो
अंतमें साधक पछताता।
विश्व है नश्वर, इससे वह
विनश्वर वैभव-सुख पाता॥ ८॥

सर्वदा पूरी होकर भी
अधूरी मनुज-कामना है।
उसे बस, पूरा कर सकती
रामकी सही साधना है॥ ९॥

भक्तको इधर-उधर डुलकर
तत्त्व पर आना ही पड़ता।
मोहमें, ममतामें मुँहकी
अंतमें खाना ही पड़ता॥ १०॥

मुक्तिकी इच्छासे बढ़कर
भक्तिकी भव्य भावना है।
साधनाओंकी इन्द्राणी
श्यामकी शरण-साधना है॥ ११॥

भूल सब कर्मोंको हरिकी
मान लो यह आज्ञा सत्वर-
'छोड़ सब धर्मोंको मेरी
एक तू शरण-साधना कर'॥ १२॥

साधनाको गुप्त रखनेका महत्त्व

(लेखक—डॉ० शिवानन्द सरस्वती एम्०ए०)

उपनिषदोंमें जिस 'परा विद्या' का वर्णन है उसे स्थान-स्थानपर 'गुह्य' या रहस्यमय कहा गया है। उसे प्रकट करनेका निषेध किया गया है। गीतामें भगवान्ने 'राजयोग' को 'गुह्य' शब्दसे प्रकट किया है। तन्त्रोंमें तो स्थान-स्थानपर—

गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं प्रयत्नतः।
त्वयापि गोपितव्यं हि न देयं यस्य कस्यचित्॥

—इत्यादि शब्दोंके द्वारा साधनाको प्रकट करनेका निषेध किया गया है। किन्तु साथ ही यह भी कहा गया है कि ये साधनाएँ भोग-मोक्ष देनेवाली, जीव और ब्रह्मको एक बनानेवाली और आवागमनके बन्धनसे मुक्त करनेवाली हैं। इनसे बढ़कर प्राणियोंका हितकर साधन दूसरा नहीं। अब प्रश्न यह उठता है कि ऐसी हितकर साधनाओंको गुप्त क्यों रखा जाय? इनका तो सर्वसाधारणमें इतना अधिक प्रचार करना चाहिये कि एक भी व्यक्ति इनसे अपरिचित न रहे। सभी इनसे लाभ उठाकर आवागमनके चक्रसे मुक्त हो जायँ, संसारके दुःखोंमें न भटककर भगवान्तक पहुँच जायँ। हमारे शास्त्रोंमें स्वादिष्ट वस्तु दूसरेको न देकर स्वयं खा लेने और धन व्यय न करके कंजूसकी भाँति गाड़ देनेको घोर पाप बतलाया गया है। यदि इतनी साधारण वस्तुओंकी दूसरोंको न देकर स्वयं उपभोग करनेसे ही पातक लगता है तो परब्रह्मको प्राप्त करानेवाली विद्याको छिपानेमें कितना घोर पातक लगेगा?

यह प्रश्न विचारणीय है। धर्मशास्त्रोंमें साधनाओंको गुप्त रखनेका जो आदेश है उसके दो कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि साधनाके प्रकट होनेसे स्वयं साधकको ही हानि पहुँचती है। साधारण-से-साधारण साधना भी जब जनसाधारणके सम्मुख प्रकट हो जाती है तो लोग साधकका सम्मान करने लगते हैं, या यों कहिये कि उससे साधकका यश जनसाधारणमें फैलने लगता है। इस प्रकार यशका फैलना साधकके लिये अत्यन्त अहितकर है। तन्त्रोंमें लिखा है कि 'यदि जनताको यह ज्ञात हो जाय कि यह व्यक्ति तान्त्रिक साधक है तो उसी दिन तान्त्रिककी मृत्यु समझ लेनी चाहिये।' साधनाके प्रकट होनेपर साधकको जितना ही यश प्राप्त होगा, उतनी ही मात्रामें वह साधनाके फलको कम कर देगा। इसीलिये बाइबिलमें लिखा है कि 'ढोल बजाकर दान-पुण्य न करो। जो ढोल बजाकर दान-पुण्य करते हैं, उन्हें उसका फल उसी समय मिल गया, आगे उनके लिये कुछ भी नहीं रहता।' कहते हैं ययातिके यज्ञोंका फल केवल इतनेहीमें नष्ट हो गया था कि रावणने अपने मुँहसे उन्हें प्रकट कर दिया था।

सर्वसाधारणमें यश फैलनेसे जनता साधकका सम्मान करने लगती है, धीरे-धीरे साधक भी यह समझने लगता है कि मैं अवश्य सम्मानके योग्य हूँ। इससे उसके हृदयमें सम्मानके प्रति राग उत्पन्न होता है, उससे अहंकार बढ़ता है। इधर यदि किसी व्यक्तिविशेषने उसी प्रकार सम्मान न किया तो द्वेष या दुःख होता है, उससे क्रोध उत्पन्न होता है। इस प्रकार साधक अपनी साधनाको प्रकट करनेसे फिर उसी राग-द्वेष, अहंकार, क्रोध आदिके कीचड़में फँस जाता है, जिससे ऊपर निकलनेका प्रयत्न वह कर रहा है। राग-द्वेष या अहंकार-क्रोधके कीचड़में फँसते ही यह समझ लेना चाहिये कि आज ही सारी साधना नष्ट हो गयी है और फिर गीताके शब्दोंमें क्रोधसे सम्मोह, सम्मोहसे स्मृतिविभ्रम, स्मृतिविभ्रमसे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशसे सर्वनाश ही हो जाता है।

साधनाके प्रकट होनेपर अनेकों व्यक्ति अनेकों लालसाओंसे साधकके पास आकर उसे घेर लेते हैं। कोई पुत्रकामनासे उसके चरण छूता है, कोई धनकी कामनासे पंखा झलता है, कोई शत्रुके भयसे मुक्त होनेके लिये सेवा करने लगता है। इस प्रकार भीड़के उपस्थित होनेसे साधककी साधनामें बाधा पड़ती है। उचित समयपर उसका अपना कार्यक्रम पूरा नहीं होता। मौनव्रत भंग करना पड़ता है। उसका ध्यान साध्यकी ओर न रहकर उन्हीं लोगोंकी बातोंमें लग जाता है। वे सारी सांसारिक बातें होती हैं, इसलिये ध्यान भगवान्के चरणोंमें न रहकर सांसारिक बातोंमें लग जाता है। इस प्रकार कई प्रकारकी भावनाओंसे प्रेरित होकर साधक कभी-कभी इन सेवा करनेवाले व्यक्तियोंको कुछ आशीर्वाद दे देता है। यह आशीर्वाद देना साधकके लिये अत्यन्त घातक होता है। यदि उसकी साधना इतनी अधिक हुई कि उसका आशीर्वाद

सफल हो गया तो आशीर्वादका फल उसकी साधनाके फलमेंसे काट लिया जायगा। इस प्रकार उसे अपनी साधनाका जो फल मिलना चाहिये था, वह नष्ट होता जायगा। दूसरी ओर यदि साधना थोड़ी ही हुई और उससे आशीर्वाद सफल न हुआ तो साधक झूठा गिना जायगा और उसका अपमान-अपयश होगा।

प्राय: किसी साधककी साधना सुनकर जो बहुत-से व्यक्ति साधकके पास आते हैं वे प्राय: कुछ-न-कुछ वस्तुएँ—फल-फूल, अन्न, मिठाई या धन आदि लेकर साधकके चरणोंमें चढ़ाते हैं। इनको ग्रहण करने या इन्हें खा जानेसे साधककी साधनाको बहुत हानि पहुँचती है। कुलार्णवमें लिखा है—

यस्यान्नेन तु पुष्टाङ्गो जपं होमं समाचरेत्।
अन्नदातुः फलस्यार्धं चार्धं कर्तुर्न संशयः॥

'यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्तिके अन्नसे पुष्ट होकर जप, होम इत्यादि साधना करता है तो उसकी साधनाका आधा फल अन्नदाताको मिलता है और आधा उसे (करनेवालेको)।' इस प्रकार साधक दो रोटियोंके या सामान्य-सी वस्तुओंके लिये अपनी आधी साधना खो देता है। शेष आधे फलमेंसे कुछ तो ये चरण दबाने, पानी भरने, पंखा झलने आदि सेवा करनेवाले लोग छीन लेते हैं और कुछ साधक राग-द्वेष आदिकी भावनाओंमें आकर स्वयं ही खो देता है। इस प्रकार साधकको वर्षोंतक साधना करनेपर भी कुछ नहीं मिलता।

महाभारतमें एक साधुका वर्णन आता है, जिसने सुनारका अन्न खानेसे उसीके घर चोरी की थी। इस प्रकार यदि साधकके पास किसी ऐसे व्यक्तिका अन्न आया जो पापद्वारा अर्जित किया गया हो, तो साधक केवल अपनी साधनाका अर्धांश ही नहीं खोयेगा, उसकी मति भी भ्रष्ट हो जायगी।

इससे भी अधिक हानि उस समय होती है, जब साधकके पास चेलियाँ जुटने लगती हैं। पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक श्रद्धालु हुआ करती हैं और किसी भी व्यक्तिके साधारण-से आडम्बरपर विश्वास कर लेती हैं। यदि उन्हें किसी साधकका पता लगा तो किसी-न-किसी उपायसे उसके पास पहुँच जाती हैं। वे समझती हैं कि बाबाजी धन, पुत्र, सुख आदि सभी इच्छाएँ पूर्ण कर सकते हैं। और, गीताके अनुसार, संगसे काम उत्पन्न होता है, इस प्रकार साधकगण साधना और साध्यको भूलकर चेलियोंको धन, पुत्र, सुख आदि देने लगते हैं और धीरे-धीरे उनका कितना पतन हो सकता है, यह विश्वामित्र-मेनका आदिकी कथाओंसे ज्ञात हो सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साधनाके प्रकट हो जानेपर साधकको स्वयं कितनी हानि पहुँचती है। इसीलिये भगवान् ईसाने अपने अनुयायियोंको कहा था 'Let not thy left hand know what the right hand gives'. 'अपने बायें हाथको यह न जानने दो कि तुम्हारा दाहिना हाथ क्या पुण्य कर रहा है?' साधना एकहीसे होती है। साधना जब दूसरे व्यक्तिपर प्रकट हो जाती है तो उसी दिन नष्ट हो जाती है।

साधना करते हुए साधकको अनेकों अत्यन्त विचित्र दृश्य स्वप्नमें या प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं। ऐसी अवस्थामें यदि साधक उन्हें गुप्त रख सका तो उनकी परम्परा लगी रहती है और वे साधनाका फल कैसा होगा—यह प्रकट करते रहते हैं। किन्तु यदि उन्हें साधकने तनिक भी प्रकट कर दिया तो फिर वे दृश्य नहीं दिखायी देते और साधकका उत्साह भंग हो जाता है।

साधनाको प्रकट करनेसे दूसरी हानि यह होती है कि वह अनधिकारियोंके पास प्रकट होती है। कितनी ही साधनाएँ इतनी रहस्यमय होती हैं जिनके तत्त्वको समझना अत्यन्त कठिन है। तान्त्रिक या वाममार्गी साधनाके रहस्यको तो विरले ही व्यक्ति समझ सकते हैं। जब लोग किसी बातको नहीं समझ सकते तो उसकी निन्दा करने लगते हैं। जनता उसकी मज़ाक उड़ाती है, जिसे वह समझ नहीं सकती। इसीलिये सभी साधनाओंमें उन्हें गुप्त रखनेके लिये कहा गया है। संत मत्तीके सुसमाचारमें कहा गया है—

'To you it is given to know the mysteries of God, but to them it is not'. 'तुम्हें भगवान्के रहस्योंको जाननेकी आज्ञा दी जाती है, किन्तु उनको नहीं जो इसके अधिकारी नहीं हैं।'

प्राचीन यूनानमें जब शिष्य गुरुसे दीक्षा लेते थे तो उन्हें अग्निके सम्मुख शपथ लेनी होती थी कि वे कभी भी अनधिकारियोंके सामने अपनी साधना प्रकट नहीं करेंगे। आरम्भमें ईसाई-धर्मके माननेवालोंमेंसे कुछ विशेष व्यक्तियोंको एक प्रकारकी दीक्षा दी जाती थी, जिसको जनसाधारणके पास प्रकट करनेपर मृत्युदण्ड दिया जाता था। इसका कारण यह है कि जो लोग रहस्यको गुप्त न रखकर अनधिकारियोंके पास प्रकट कर देते

हैं, वे उस रहस्यको जाननेके सर्वथा अयोग्य हैं, और ऐसे अयोग्य व्यक्तियोंका रहस्यसे परिचित होना सारे सम्प्रदायके लिये हानिप्रद होता है। वेट (Waite)-ने लिखा है—

'It is a fatal law of the arcane sanctuaries that the revelation of their secrets entails death to those who are unable to preserve them'.

'अनधिकारी साधनाके रहस्यसे कुछ भी लाभ नहीं उठा सकते और दूसरी ओर अधिकारी साधकको हानि पहुँचाते हैं।'

अस्तु, आप चाहे कैसी भी साधना करें, उसका महत्त्व अधिक हो या कम, उसे कभी प्रकट न करें। अन्तर्यामी भगवान् उसे स्वयं ही देख लेते हैं। वे ही उसका फल देनेवाले हैं। जन-साधारण तो उसके फलको छीननेवाले हैं। सर फ्रांसिस वर्नार्डने लिखा है—

'Hold fast in silence all that is your own, lest icy fingers be laid upon your lips to seal them for ever'.

'जो कुछ तुम्हें प्राप्त हो चुका है, उसे अपने ही पास गुप्त—सुरक्षित रखो, नहीं तो बर्फ-सी ठंढी उँगलियाँ तुम्हारे होठोंको सदाके लिये बन्द कर देंगी।'

तन्त्रोंमें स्थान-स्थानपर साधनाको योनिके समान दूसरोंसे गुप्त रखनेकी आज्ञा दी गयी है। इसका तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार कुल-स्त्री अपने अंगोंको पर-पुरुषोंसे छिपाकर केवल अपने पतिके पास प्रकट करती हैं, उसी प्रकार साधकको अपनी साधना दूसरोंसे छिपाकर केवल अपने हृदयस्थित अपने पति भगवान्के सामने ही प्रकट करनी चाहिये।

साधकको चाहिये कि नित्य सावधानीसे यह देखता रहे कि उसकी साधना दूसरोंपर प्रकट तो नहीं हो रही है। उसकी साधनाका फल चुरानेके लिये कोई उसके निकट तो नहीं आ रहा है, जानते हुए या अनजाने वह अपनी साधनाको नष्ट तो नहीं कर रहा है?

साधना

(लेखक—श्रीकृष्णशङ्कर उमियाशङ्कर)

किसी भी वस्तुकी सिद्धिके लिये जो क्रिया की जाती है उसे 'साधना' कहते हैं। साधना संस्कृत शब्द है और धर्मसे मिलता-जुलता-सा है, परन्तु आजकलके जडवादी युगमें धर्मका तो नाम सुनते ही लोग चमक उठते हैं, पढ़नेकी बात तो दूर रही। अतएव 'साधना' या 'प्रैक्टिकल साइंस'-जैसे नामसे आजके युवक भी पूरा ध्यान देंगे, ऐसी आशा है।

सन्ध्या, पूजन, जप, तप आदिका ढोंग माननेवाले भी जब 'practical science' नाम सुनते हैं तो तुरंत उसे पढ़नेकी इच्छा करने लगते हैं। सन्ध्या-पूजन आदि भी प्रैक्टिकल साइंस ही है, परन्तु यह 'साधना' तो सचमुच 'साइंस' ही है। बहुत-से लेखक केवल शास्त्रके शब्द ही उद्धृत कर देते हैं, इससे वह आजके लोगोंको रुचिकर नहीं होता। आजके युगमें तो सूगर-कॉटेड-फैशनमें शब्दोंकी रचना होनी चाहिये।

इतना लिखनेका तात्पर्य यही है कि यहाँ जो कुछ लिखा जाता है, सो केवल लोककल्याणके लिये ही लिखा जाता है। जिन लोगोंकी उम्र पकी हुई है और जिन्होंने धार्मिक शिक्षा प्राप्त की है, वे तो धार्मिक लेख पढ़ेंगे ही। परन्तु मैं तो नये जमानेके लोगोंको भी इस ओर खींचना चाहता हूँ।

'साधना' शब्दका प्रयोग देवी-देवताओंकी उपासनाके लिये भी होता है, जिससे अभीष्ट महान् कार्यकी सिद्धि होती है। देश, काल, क्रिया, वस्तु और कर्त्ता-ये पाँचों जब साधनाके लिये उपयुक्त होते हैं, तभी साधना सिद्ध होती है।

साधना दो प्रकारकी होती है—दैवी और आसुरी। इन्हींको शास्त्रमें दक्षिण और वाममार्ग कहा गया है। दक्षिणमार्गकी साधनामें साधकको लाभ चाहे न हो, परन्तु हानि तो होती ही नहीं। पर वाममार्गकी साधनामें लाभ नहीं होता तो नुकसान जरूर होता है। दक्षिणमार्गमें तत्काल लाभ नहीं दीखता, धीरे-धीरे कल्याण होता है, परन्तु वाममार्गमें तत्काल ही लाभ-हानि हो जाती है।

दोनोंमें ही अक्रोध, शौच और ब्रह्मचर्यका पालन आवश्यक है। इनका पालन न करनेसे दक्षिणमार्गमें कोई फल नहीं मिलता, परन्तु वाममार्गमें बड़ा नुकसान हो

जाता है। कभी-कभी तो प्राणोंपर आ बीतती है। वाममार्गमें ज़रा भी कहीं चूके कि बलिदान होते देर नहीं लगती।

मेरे एक मित्रने किसी मन्त्रकी सिद्धिके लिये ग्रहणके दिन श्मशानमें एक आकके पेड़के नीचे बैठकर साधना शुरू की। उन्हें सामनेके पहाड़से एक अघोरी उतरता दिखायी दिया। अघोरीने श्मशानमें पहुँचकर एक बच्चेकी गड़ी हुई लाश निकाली और उसे सेककर खा गया। फिर वहीं गुम हो गया। यह देखकर मेरे मित्रका शरीर मारे डरके पसीने-पसीने हो गया, वे बड़े जोरसे चीख मारकर वहीं ढुलक पड़े। वहाँ उनकी कौन सुनता? ग्रहण शुद्ध होनेपर लोग नहानेको आये, चन्द्रमाका उजियाला हुआ, तब किसीने उनको वहाँ पड़े देखा। उठाकर मन्दिरमें लाया गया। जोरसे ज्वर चढ़ा था। तीन-चार दिनों बाद बुखार उतरा, पर वे पागल हो गये और कुछ ही वर्षोंके बाद शरीर छोड़कर चल बसे!

वेदमें ब्राह्मण और मन्त्र—ये दो विभाग हैं, किसी भी देवकी सिद्धिके लिये उस देवताकी मूर्ति, यन्त्र और मन्त्रकी जरूरत है। प्रयोगके समय वहाँ एक-दो आदमी उपस्थित रहने चाहिये। कभी-कभी तो मनुष्य एकान्तसे ही डर जाता है और यों उसका सब काता-बुना कपास हो जाता है।

मेरे एक परिचित देवीके उपासक थे। वे अपने घरमें रात्रिको सदा उनके मन्त्रका जप करते। एक दिन उन्होंने एकाएक अपने शरीरपर कुछ बिच्छुओंको चढ़ते देखा। वे काँप उठे। बिच्छुओंको झड़काने लगे। फिर मन्त्र शुरू किया, बिच्छू फिर चढ़ने लगे। बस, तबसे उन्हें सिद्धि तो मिली ही नहीं, परन्तु जहाँ जप शुरू किया कि लगे कपड़े झड़काने! उनके मनमें निश्चय हो गया कि मेरे कपड़ोंपर अभी बिच्छू चढ़ रहे हैं। ऐसे समयमें कोई दूसरा पुरुष पास होता तो शायद वे रास्तेपर आ सकते!

डामर-तन्त्रके मन्त्र तत्काल सिद्धि देते हैं, पर उनका फल थोड़े ही समयके लिये रहता है। स्थायी नहीं रहता। वे मन्त्र केवल चमत्कार दिखानेमें ही काम करते हैं।

उग्र देवताकी साधना और उग्र फलकी प्राप्तिके लिये बहुत बार अपने प्राणोंको हथेलीपर रख देना पड़ता है। गाँवों और शहरोंमें कितने ही ऐसे साधु-फकीर मिलते हैं, जिनमें कुछ लोग मैली साधनावाले होते हैं, तो कुछ शून्य साधना करते हैं और जरूरत पड़नेपर किसी-किसी समय वे उन्हें आजमाते हैं। बिच्छू और साँपोंका जहर उतारनेवाले मन्त्र-साधक तो हमलोग बहुतेरे देखते हैं। हमारे राज्यमें तो ऐसे एक सज्जन सौ रुपये मासिक वेतनपर नियुक्त हैं।

मेरे एक सम्बन्धीके घर हमेशा एकाध बिच्छू निकलता रहता। मेरे जातिके एक सज्जन मन्त्र-शास्त्री हैं। मैंने उनसे कहा। उन्होंने जाकर मकानके आसपास अभिमन्त्रित जल छिड़क दिया। प्राय: दस मिनट बाद चारों ओरसे बिच्छू आ-आकर इकट्ठे होने लगे। लगभग पचास बिच्छुओंको पकड़-पकड़कर एक बर्तनमें भर लिया गया और उन्हें वे दूर छोड़ आये। तबसे आजतक वहाँ एक भी बिच्छू दिखलायी नहीं पड़ा।

मन्त्र-साधनाके लिये घरकी अपेक्षा एकान्त देवमन्दिर, गुफा या किसी बड़ी नदीका किनारा उत्तम है। वहाँ साधनामें सफलता शीघ्र होती है। किसी महापर्वके दिन, ग्रहणके समय, मध्यरात्रि, कालरात्रि, महारात्रि, मोहरात्रि, दारुणरात्रि आदि दिनोंमें साधना करनेसे शीघ्र सिद्धि मिलती है।

लक्ष्मीकी प्राप्तिके लिये मैंने लक्ष्मीसूक्तका '**कां सोस्मितां**' मन्त्र सिद्ध करनेका निश्चय किया। दुर्गापाठमें बतलायी हुई विधिके अनुसार न्यास और ध्यानसहित मैंने उक्त मन्त्रका सम्पुट देकर जाप शुरू कर दिया। लगभग पन्द्रह सम्पुट शतचण्डी पूरी हो गयी, परन्तु मेरी साधना सफल नहीं हुई। इसपर भी मैंने प्रयोगको तो चालू ही रखा। एक दिन एकाएक मेरे मनमें स्फुरणा हुई कि इन मन्त्रोंको श्रीमहादेवजीने कील रखा है। निष्कील किये बिना सिद्धि नहीं मिलती। तब मैंने मन्त्रको निष्कील किया। बस, तुरंत ही, घी और तेलके जो दीपक स्वाभाविक जल रहे थे उनमें ज्योति पैदा हुई और वह मेरी आँखोंतक ऊपरीकी ओर उठी। देवताका सिंहासन मेरे सामने था। दुर्गापाठकी पोथी खुली पड़ी थी। पाठ लगभग पूरा होनेको आया था। रात्रिके बारह बजे थे। जन्माष्टमीके कारण पास ही देवमन्दिरमें दर्शनोंके लिये दौड़-धूप हो रही थी और कोलाहल मचा हुआ था।

इसी बीच इस घटनाके बन जानेसे मैंने सोचा, मेरी आँखोंमें जल भर आया होगा, इसीसे मुझे ऐसा लगता होगा। इसलिये मैंने आसनसे उठकर आँखोंपर जल छिड़का, मुँह धोया और फिर पाठ करना शुरू कर दिया। पाठ शुरू करना था कि फिर वही हाल!

मुझे कुछ डर-सा लगा कि कहीं मैं जल न जाऊँ। अतएव मैं उठकर दर्शन करने चला गया। फिर नहा-धोकर अधूरा पाठ पूरा करने बैठा। पाठ शुरू करते ही फिर वही हाल हुआ। इस समय रात्रिके दो बजे थे। मनुष्योंके पैरोंकी आहट शान्त हो गयी थी। चारों ओर सुन-सान था। सारी पोथी और सिंहासन तेजोमय हो रहे थे। जैसे-तैसे पाठ पूरा करके मैं उठा। उस समय सबेरेके पाँच बजे थे।

नवमीके दिन मैंने पाठ न करके केवल जप शुरू किया। जप करनेमें भी वैसा ही हुआ। तबसे मेरे लक्ष्मीजी आने लगीं। मेरी वकालतकी प्रैक्टिस बढ़ती ही गयी। यहाँतक कि किसी-किसी समय तो खाने-पीनेका भी अवकाश नहीं मिलता और अधिकांश समय मुझे सिर्फ चाय और चिउरोंपर चलाना पड़ा था। रातके दो बजेतक फुरसत नहीं मिलती।

मैं अपने एक मित्रके साथ गिरनार पहाड़पर जा रहा था। साधु-संतोंकी चर्चा चल रही थी। मित्रने कहा, 'तुम्हें यह सब एकाएक कैसे हो गया?' मैंने कहा—'चमत्कार देखना हो तो अभी दिखाऊँ।' मैंने तुरंत ही '**कां सोस्मितां**' मन्त्रका जप शुरू किया। हमलोग बहुत आगे बढ़ गये, परन्तु कुछ भी हुआ नहीं। मैं कुछ सकुचाया। जप तो चालू था। इतनेमें ही एक पेड़की ओटसे आवाज आयी—'ओ वकील साहेब।' आवाज सुनकर मेरे मित्र और मैं स्तब्ध होकर इधर-उधर देखने लगे। एक फकीरने केवड़ेकी एक फली और नक़द पन्द्रह रुपये पैरोंमें रखकर मेरे चरण छुए। मेरे मित्र यह देखकर मन्त्र-मुग्ध-से रह गये। मुझे याद नहीं था कि इस फकीरको लगभग डेढ़ वर्ष पहले मैंने फौजदारीसे छुड़ाया था। और ये रुपये उसीकी फीसके थे!

कई मन्त्र-देवता अन्धे होते हैं। कई बहरे, गूँगे और लूले-लँगड़े भी होते हैं। ऐसे देवताओंकी साधना कष्टसाध्य है। द्वादशमुद्राओंके साधनसे इनकी सिद्धि प्राप्त हो सकती है, परन्तु अगर कहीं जरा भी चूके कि फिर चौकड़ी भूलते देर नहीं लगती।

किसी-किसी देवतासे साधककी पूरी पटती ही नहीं, इससे वह चाहे, कितनी ही साधना करे, हाथमें आयी हुई बाजी भी छटक जाती है और साधना व्यर्थ होती है।

सिद्ध-देवकी साधना सिद्धिप्राप्त होनेके बाद भी साधकको चालू रखनी चाहिये। नहीं तो, उस दैवी सिद्धिको अदृश्य होते देर नहीं लगती; और फिर उसका हाथ लगना असम्भव हो जाता है।

साधकके लिये प्राप्त हुई सिद्धिका उपयोग स्वार्थमें न करके परमार्थमें ही करना श्रेयस्कर है। थोड़े समयके लिये साधकको स्वार्थ-साधन होता देखकर सुख होता है, परन्तु इसके लिये आगे चलकर उसे बहुत कुछ सहन करना पड़ता है।

हमारे यहाँ एक माताजीके भक्त हैं। उन्हें अपने कार्यमें सिद्धिका उपयोग करनेकी सूझी। मैंने उन्हें सचेत भी किया, परन्तु उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया। उनकी जाहोज़लाली बढ़ती गयी। लखपतिका-सा दिखावा हो गया। सारे शहरमें उनकी कीर्ति फैल गयी। वे थोड़े-से वेतनके क्लर्क थे। कुछ ही दिनों बाद ऐसे फँसे कि उन्हें जेलयात्रा करनी पड़ी। कोर्टमें भी मैंने उनका ध्यान खींचा था। आखिर चार हजार रुपये दण्ड देनेपर किसी तरह उनकी जान छूटी। इस समय वे बिलकुल तबाह हो गये हैं।

'साधना' शब्दका प्रयोग केवल धार्मिक वस्तुकी सिद्धिके लिये ही होता है, ऐसी बात नहीं है। महात्मा गाँधीजी और देशके अन्यान्य नेतालोग जो कार्य कर रहे हैं, वह स्वराज्यकी साधना कहलाती है। किसी भी डिग्रीकी प्राप्ति तबतक नहीं होती, जबतक मनुष्य सरस्वती (विद्या)-की साधना नहीं करता, परन्तु उसके लिये सद्गुरुकी आवश्यकता होती है। कोई उस विषयका निष्णात न हो और केवल पुस्तकें पढ़कर ही एक्सपेरीमेंट (प्रयोग) करने बैठ जाय तो उसे तो हानि ही उठानी पड़ती है।

वायुयानकी साधना अभी सम्पूर्णरूपसे सिद्ध नहीं हुई। अभी उसके प्रयोग ही चल रहे हैं। इसमें अबतक मरजीवोंकी भाँति कितनोंका बलिदान हो चुका है, और अभी और भी होना बाकी है।

हमारे ऋषि-मुनियोंने तो हमारे सामने मानो थाल परोसकर रख दिया है। हमें नवीन शोध करनेकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु आजकल तो साधना करनी ही है किसको? 'साधना' के नामसे ही लोग भड़क कर भागते हैं। यदि विधिवत् शास्त्रानुसार साधना की जाय तो सिद्धि निश्चय ही मिलती है। यह मेरा अपना अनुभव है।

'**कलौ कालीविनायकौ**' कलियुगमें काली और विनायककी साधना शीघ्र सिद्ध होती है। बस, इतना सुनकर मेरे एक वकील मित्रने गणपतिकी साधना आरम्भ की। जप, तर्पण, मार्जन, होम और ब्राह्मणभोजन सभी साधनाओंमें आवश्यक हैं। कुछ खास-खास जप-तप-प्रायश्चित्तादि तो दोषनिवारणके लिये करने पड़ते हैं। इस प्रकार करते उक्त वकील मित्रको लगभग तीन महीने बीत गये। ब्रह्मचर्यका व्रत भंग हुआ। इससे चौथे महीनेके चौथे दिन उन्हें रातको स्वप्नमें हाथी दिखायी दिये, वे उन्हें मारनेके लिये आगे बढ़े आ रहे थे। एक-दो बार जागे, परन्तु विशेष ध्यान नहीं दिया। फिर एकाएक जाग उठे और 'मुझे ये हाथी मार रहे हैं, बचाओ-बचाओ' पुकारते हुए दौड़ने लगे। चिल्लाहट सुनकर स्त्री-बच्चे जागे और उन्हें पकड़कर जल पिलाकर शान्त किया। सबेरे देखा गया, उनके मुँहपर सूजन थी। एक सप्ताहतक दवा हुई। आखिर ऑपरेशन कराकर दो महीने अस्पतालमें रहना पड़ा। मुश्किलसे मौतके मुँहसे बचे।

काली और विनायक बहुत उग्र देवता हैं और उनकी सिद्धि भी बहुत उग्र है। सूरतके मेरे एक परिचित सज्जनने दोनों चौथ शुरू की। वे जातिके ब्राह्मण हैं और भिखारीकी हालतमें थे। परन्तु प्रभुकृपासे इस समय उनकी ऋद्धि-सिद्धि लाखोंकी समझी जाती है। साधनाके बाद ही उनका विवाह हुआ। इस समय वे बाल-बच्चेवाले और ढेले-तबेलेवाले सुखी हैं।

'साधना' हिन्दूको ही सिद्ध होती है, ऐसी बात नहीं है। कोई भी हो, आस्तिकता और श्रद्धाके साथ करनेपर साधना सभीको फल देती है।

'One who runs can reach' 'जो दौड़ता है वह पहुँच सकता है।' हमें कुछ करना तो है नहीं। फिर, 'शास्त्रोंमें बस गपोड़े भरे हैं', यों कहनेसे कोई भी काम सिद्ध नहीं होगा। 'साधना' का शास्त्र 'वरदान' या 'शाप' का शास्त्र नहीं है। यह तो 'कर' और 'देख' का शास्त्र है। साधनासे भड़कनेका कोई भी कारण नहीं है। भूख मिटानेके लिये हमें रोज अन्न सिद्ध करना पड़ता है। यह जैसे हमेशाकी 'रूटीन' है; इसी प्रकार किसी बड़े कामकी सिद्धिके लिये हम बड़े लोगोंकी मदद लिया करते हैं। ठीक, इसी प्रकार हमें देवताओंकी साधना करनी चाहिये। देवताओंकी साधनासे हमें चिरस्थायी सुख मिल सकता है, यह निर्विवाद बात है।

मैं तो ऐसा मानता हूँ कि किसी भी 'साधना' के बिना मनुष्य महान् बन ही नहीं सकता। किसी एक वस्तुको तो अवश्य सिद्ध कर रखना ही चाहिये। कर्ण, भीष्म, द्रोण आदिके पास महान् सिद्धियाँ थीं। इसीसे वे महान् बन सके थे।

इस समय हम देख रहे हैं कि पश्चिमीय देशोंमें महान् आसुरी सिद्धियाँ काम कर रही हैं। इन सिद्धियोंकी प्राप्तिके लिये लोगोंने बड़ी-बड़ी साधनाएँ की हैं। परन्तु इन आसुरी साधनाओंकी यह चमचमाहट थोड़े ही दिनोंके लिये है। दैवी साधनामें इनसे विलक्षण और चिरस्थायी शान्ति और आनन्द है।

'राम-नाम' की साधना करनेसे समयपर अवश्य ही दर्शन होते हैं। किसी भी देवताके नामकी धुन लगानेसे मन:कामनाकी अवश्य सिद्धि होती है। विधिवत् करनेसे शीघ्र लाभ होता है और विधिवत् न करनेसे देर लगती है। यह साधना असफल तो होती ही नहीं।

कभी-कभी मनुष्य साधना शुरू तो करता है, परन्तु सिद्धि न देखकर अधबीचमें ही छोड़ देता है और फिर शास्त्रोंकी निन्दा करने लगता है। असलमें हमें इसके लिये प्यास ही कहाँ है? इसीलिये तो हम खोजमें लगनेकी तकलीफ नहीं उठाते।

महात्मा गाँधीजी स्वराज्यके लिये साधन कर ही रहे हैं। शारीरिक और मानसिक कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं। इसपर भी हम देखते हैं कि वे हिम्मत हारकर अपनी साधनाको बीचमें छोड़ नहीं बैठते। कितना जबरदस्त मनोनिग्रह है? कैसा अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन! और वाणीपर कितना विलक्षण अधिकार!

इसी प्रकार हमलोगोंको भी मन, वचन और कर्मको काबूमें रखकर—संयमका पालन करके श्रद्धाके साथ यथेष्ट साधना करनी चाहिये।

साधना-विज्ञान

(लेखक—पं० रामनिवासजी शर्मा 'सौरभ')

'The end and aim of all sciences is to find a unit.' (विवेकानन्द)

आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक इष्ट-सिद्धि और सफलताका भी एक विज्ञान है। सम्पूर्ण इष्ट-सिद्धि और सफलता इसी क्रियात्मक साधना-विज्ञानपर निर्भर है। यही कारण है कि साधनाकी छोटी-से-छोटी प्रक्रियाके दोषसे असफलता ही नहीं मिलती, अपितु कभी-कभी साधक दुर्धर्ष विघ्नोंका शिकार हो जाता है*। यह साधना-विज्ञान मुख्यतः निम्नलिखित भागोंमें विभक्त है—

१- साधनाका स्वरूप
२- साधनाका महत्त्व
३- साधना-सौन्दर्य
४- साधनाके अङ्गावयव
५- साधनाका मुख्य उद्देश्य
६- साधनाके मूल तत्त्व
७- साधनाका सरल उपाय
८- साधनाका स्वभाव
९- सब कुछ साधनात्मक

१- साधनाका स्वरूप

किसी भी लक्ष्य या उद्देश्यकी सिद्धिके लिये जो स्वाभाविक उपाय किये जाते हैं उन्हें साधना कहते हैं, परन्तु धार्मिक दृष्टिसे विशेषतः हिन्दू-दृष्टिकोणसे उस परम पुरुषार्थको ही साधना कहते हैं जो कि आध्यात्मिक ध्येयकी प्राप्तिके लिये किया जाता है। इस साधनाका अर्थ किसी भी प्रकारकी क्रिया या कर्म होता है और वस्तुतः यही वास्तविक साधना भी है।

२- साधनाका महत्त्व

पूर्वकथनानुसार साधना ही असलमें प्रत्येक वस्तुकी प्राप्तिका उपाय है। यह सफलताकी कुंजी है, कविका कवित्व है, ऋषिका ऋषित्व है; क्योंकि ये सब साधनाके ही द्वारा प्राप्त किये जाते हैं। ऐसे ही भुक्ति-मुक्ति भी साधनाका ही फल है। असलमें संसारमें प्रत्येक वस्तु या तत्त्व साधनासे ही सिद्ध होता है। साधकको साध्यवस्तु साधनाके द्वारा ही प्राप्त होती है। सारांश यह कि सब कुछ साधनाका ही विषय है।

३- साधना-सौन्दर्य

साधनाका सौन्दर्य इसीमें है कि वह दिव्य-सौन्दर्यात्मक हो, उसकी प्रत्येक बात अपने दिव्य साध्यकी उत्पादक हो, वह स्वयं सत्य, शिव और सौन्दर्यमय हो, हृदयके प्रसुप्त स्वर्गीय सौन्दर्यात्मक भावों और विचारोंको क्रियात्मक बनानेवाली हो, उसमें दिव्य आध्यात्मिक गन्ध और सरसता हो, साथ ही वह अलौकिक माधुर्य और ऐश्वर्यकी व्यंजनासे व्यंजित हो। उसकी सजीव कर्ममय स्वरलहरीसे अनन्तका निनाद निकलता हो कि जिससे मानव-मन और हृदय सौन्दर्यके स्वर्गमें परिणत हो जावे, तभी वह वास्तविक साधना कहलानेके योग्य हो सकती है। बाइबलने इसी सौन्दर्यात्मक स्वर्गीय साधनापर, देखिये, किस तरह प्रकाश डाला है—

'Heaven will be inherited by every man who has heaven in his soul.' अर्थात् 'स्वर्ग उसीको मिलेगा जिसका हृदय पहले स्वर्गीय हो गया है।' हमारे शास्त्रोंकी तो यह उच्च घोषणा है कि—

'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः।'

ऐसी दशामें सहजमें यह बात सामने आती है कि साधना अपने कार्य-कारणात्मक भावों और फलोंसे पहचानी जाती है। साथ ही वह सच्ची तभी हो सकती है जब कि उससे दिव्य भावकी प्राप्ति हो। यही कारण है कि हिन्दू-धर्ममें योगके अष्टांग अथवा अष्टांग-प्रधान सम्पूर्ण भाव-भावना और क्रियाको साधन माना है।

४- साधनाके अङ्गावयव

साधनाके अङ्गावयव इस प्रकार हैं—

क- अधिकार
ख- विश्वास
ग- गुरु-दीक्षा
घ- सम्प्रदाय
ङ- मन्त्र-देवता

---

* दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

क- साधनामें अधिकार-भेदकी अपार महिमा है। अधिकारकी परवा न कर असलमें कोई भी साधक साधनाद्वारा साध्यको नहीं प्राप्त कर सकता। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य जब, जहाँ, जिस अवस्थामें भी हो, वहींसे अपने लक्ष्यपर पहुँच सकता है; उसे अधिकार और अवस्था-विरुद्ध अन्य मार्ग या सोपानसे जानेकी आवश्यकता नहीं है। उदाहरणके लिये सती 'सतीत्व' से और शूर 'शूरत्व' से ही सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

सारांश यह कि प्रत्येक अवस्था, धर्म और कालमें ही प्रत्येक व्यक्ति साधनासे लाभ उठा सकता है, साधारण साधारणसे और विशेष विशेषसे। परन्तु लाभमें दोनों ही समान रहते हैं। यही कारण है कि व्रजकी अहीरनियाँ और वनवासी ऋषि-महर्षि एक ही दिव्य स्थानको प्राप्त हुए हैं।

ख- साधनामें विश्वास भी अन्यतम साधन है। इसके अनेक कारण हैं, उनमें मुख्यतम ये तीन हैं—

१-विश्वास स्वयं एक दिव्य भाव है। वह त्रिपुटीका कारण और कार्य भी है। साथ ही जिस विश्वासमें ज्ञान और प्रेमकी पुट है वह तो दिव्य वस्तु ही होता है। परन्तु यहाँ विश्वासका तात्पर्य अन्ध-विश्वास नहीं, अपितु वास्तविक तत्परता है।

२-आधुनिक दृष्टिसे भी आत्मविश्वास एक महतो महीयान् तत्त्व है और यही असलमें सिद्धिका साधक है, इसीकी प्रेरणासे कर्मठको इष्ट-फल प्राप्त होता है। यह वस्तुतः एक मनोवैज्ञानिक रहस्य है।

३- परन्तु इसकी योगात्मक व्याख्या विचित्र है। और यही असलमें विश्वास-तत्त्वकी आत्माकी साधना है। इसका सुगुप्त रहस्य इस प्रकार है—

विश्वास शब्द 'वि' उपसर्ग और 'श्वास' के योगसे बना है। इसका साधारण अर्थ यहाँ साधकका श्वासरहित होना है, परन्तु इसका योगात्मक अर्थ श्वास अर्थात् ईडा-पिङ्गला-नाड़ीके साम्यद्वारा संकल्प तथा ज्ञानकी विशुद्धि और आत्मैश्वर्यकी प्राप्ति है।

ग- साधनाका गुरु-दीक्षासे भी समधिक सम्बन्ध है। यद्यपि अनेक बार बिना गुरु-दीक्षाके भी किसी बात अथवा आन्तरिक प्रेरक कारणसे अथवा संस्कारोंके प्राबल्यसे मनुष्य स्वतः सन्मार्गके द्वारा लक्ष्यबिन्दुतक पहुँच जाता है, फिर भी इसका प्रशस्त राजमार्ग तो गुरु-दीक्षा ही है। दीक्षामें भी मुख्य वस्तु शक्तियोंकी मन्त्रद्वारा जागृति और भाव-भावनाका उद्बोधन है। सच्चा गुरु मन्त्र-शक्तिद्वारा यथाधिकार शिष्यमें साधना-विषयक शक्तिका संचार कर देता है। इससे शिष्य फिर स्वतः साधना-पथपर अग्रसर हो जाता है।

घ- साधनामें साधकका साम्प्रदायिक होना भी आवश्यक है। यहाँ सम्प्रदायका अर्थ है—साधना-सम्बन्धी वातावरण उत्पन्न करना और सत्संगका लाभ उठाना। परन्तु इसका सच्चा लाभ तो इस प्रकार है—

जन्मान्तरीय संस्कारोंके सिद्धान्तानुसार जन्मसे वर्ण या जाति माननेपर वर्ण और जातिके परम्परागत गुण सदैव विकासोन्मुख रहते हैं, इसी प्रकार एक ही परम्परागत सम्प्रदायमें सुदीक्षित होते रहनेके भी अनन्त लाभ हैं, इससे भी सम्प्रदायात्मक गुणोंके संस्कार स्वतः विकासोन्मुख हो जाते हैं।

ङ- साधनामें मन्त्र और देवताका भी विशेष स्थान है। साम्प्रदायिक दृष्टिसे मन्त्र-देवतात्मक दीक्षा अनिवार्य है, परन्तु मन्त्र और देवता दो वस्तुएँ होती हुई भी एक ही वस्तु है। इन दोनोंका पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है, ये दोनों असलमें एक-दूसरेंसे भिन्न नहीं हैं; क्योंकि मन्त्रकी आत्मा ही देवता है और देवत्वका स्थान मन्त्र है। देवता असलमें मन्त्रात्मक ही है और इसलिये भी कि मन्त्रके द्वारा ही देवताका आकर्षण होता है। किन्तु देवताका चुनाव शिष्यके संस्कारानुसार ही किया जाना चाहिये और देवताके अनुरूप ही मन्त्रका चुनाव भी। साधक, देवता और मन्त्र—ये एक ही वस्तु-विकासके विभिन्न स्तर हैं और इनका समन्वय ही अन्तमें साधकको मुख्य ध्येयतक पहुँचा देता है। इस तरह साधक, मन्त्र, इष्टदेव, महाशक्ति, परमतत्त्व और मुक्ति आदि सब एक ही विकासके विविध स्तर हैं और ये ही अन्तमें ब्राह्मी स्थितिमें परिणत हो जाते हैं।

५- साधनाका मुख्य उद्देश्य

साधनाके द्वारा आत्मलाभ होता है और आत्मलाभके द्वारा दिव्यत्व, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता प्राप्त हो जाती है। आत्मलाभका ही फल अनन्त विभूतियोंकी प्राप्ति भी है। भारतवर्ष कर्म-प्रधान और साधना-प्रधान देश है, परन्तु इसकी साधना मुक्ति-परक, आत्म-परक अथवा ब्रह्म-परक है। आप किसी भी सम्प्रदायपर दृष्टिपात करें, उसमें साधनाका अभिप्राय यही मिलेगा। मन्त्र-तन्त्र

सम्प्रदायके अनुयायियोंका भी विश्वास है कि—

मन्त्राभ्यासेन योगेन ज्ञानं ज्ञानाय कल्पते।
न योगेन विना मन्त्रो न मन्त्रेण विना हि सः॥
द्वयोरभ्याससंयोगो ब्रह्मसंसिद्धिकारणम्।
.. ॥

इसका अभिप्राय यह है कि हमारा प्रत्येक सम्प्रदायका साधनात्मक ध्येय उच्च और स्वर्गीय ही है। इस समय भी महात्मा गाँधीकी गति-मति और राजनीतिमें मुक्तिकी ही प्रधानता है। मुक्ति भी केवल भारतकी ही नहीं, अपितु समस्त विश्वकी और वह भी सत्य और अहिंसाके द्वारा।

६- साधनाके मूल तत्त्व

साधनाके मूल तत्त्व तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान हैं। इनसे साधककी शक्ति और ज्ञानकी वृद्धि होती है। स्वाध्यायसे ज्ञान और तपसे शक्ति बढ़ती है। साथ ही ज्ञान और शक्तिद्वारा ही साधक परम साध्यतक पहुँच जाता है। परन्तु श्रीअरविन्दके मतसे तो अभीप्सा ही साधनाकी मूल भित्ति है, इसीसे सब कुछ हो सकता है। स्वामी विवेकानन्दके मतसे प्रत्येक प्रकारकी साधनासे मनुष्य परमतत्त्वके मार्गका यात्री हो सकता है। वे लिखते हैं—

'All worship consciously or unconsciously leads to this end.'

'ज्ञानपूर्वक अथवा अज्ञानपूर्वक की हुई समस्त साधना-आराधनाका चरम फल आध्यात्मिक लक्ष्यकी प्राप्ति ही है।'

महात्मा गाँधी अहिंसा और सयसके द्वारा ही बड़े- से-बड़े लक्ष्यतक पहुँचना बताते हैं। प्राचीन लोग ब्रह्मचर्य और तपको ही मुख्यता देते हैं। पातंजलयोग चित्त-वृत्तिके निरोधको ही परम पुरुषार्थ और साधना बताता है। स्वर्गीय स्वामी विशुद्धानन्दजी परमहंसने भक्तिको ही समस्त साधनाओंका केन्द्र बताया है। वस्तुतः किसी भी सात्त्विक उपायद्वारा गन्तव्यमार्गकी ओर चल देना ही वास्तविक साधना है। बस, फिर पूर्व-जन्मके संस्कार स्वयं अपना काम करने लगेंगे।

७- साधनाका सरल उपाय

साधनामें आवरणको हटानेके लिये विघ्नोंका सामना करने और अभावोंको हटानेकी अपेक्षा सद्भावोंको उत्पन्न कर उन्हें सुपुष्ट करना ही सिद्धिका सर्वोत्तम उपाय है। इससे विघ्न स्वतः नष्ट हो जाते हैं और अति शीघ्र सफलता हस्तगत हो जाती है; क्योंकि किसी सीधी रेखाको हाथके द्वारा छोटी करनेकी अपेक्षा उसके बराबर एक बड़ी रेखा खैंच देना ही ठीक है, उससे वह अपने-आप छोटी हो जायगी। यही दशा मल, विक्षेप और आवरणकी भी है। वे भी सात्त्विक तत्त्वोंके सेवनसे अपने-आप नाम-शेष हो जाते हैं। पातंजलयोगमें इसी सरल सत्यको इस तरह समझाया है—

'अक्लिष्ट वृत्तिके संस्कारोंके द्वारा क्लिष्ट वृत्तिके संस्कार अपने-आप नष्ट हो जाते हैं।'

८- साधनाका स्वभाव

स्वभावसे समस्त जीव-राशि उस अनन्त सत्य वस्तुकी ओर ही जा रही है। आत्माकी गति असलमें परमात्माकी ओर ही हो सकती है, विजातीय वस्तुकी ओर नहीं; नदियाँ समुद्रमें ही जाकर रहती हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्डात्मक जडचेतनका अन्तिम ध्येय असलमें आत्मलाभ ही है।

९- सब कुछ साधनात्मक

हमारे सम्पूर्ण क्रिया-कलाप साधनामय ही हैं। ऐसी दशामें हम कुछ भी करें, कहें और सोचें, सब कुछ साधना ही है, परन्तु इन क्रियाओंका समन्वय साधनात्मक तत्त्वोंके साथ होना चाहिये। साथ ही इनमें आवश्यक सामंजस्य भी पर्याप्त मात्रामें हो। ऐसी दशामें प्रत्येक साधनासम्पन्न मार्ग और सम्प्रदाय यथाधिकार पृथक् होता हुआ भी एक ही सम्पूर्ण लक्ष्यका प्रदर्शक हो जाता है। यही कारण है कि लता-गुल्म, कीट-पतंग, पशु-पक्षी और देव-मानव सब ही अपनी-अपनी योनि और स्थानसे ही कभी-न-कभी अन्तिम लक्ष्यकी ओर ही पहुँचकर रहते हैं।

जपयोगका वैज्ञानिक आधार

(लेखक—पं०श्रीभगवानदासजी अवस्थी, एम्०ए०)

आश्चर्यने सभीको अवाक् कर रखा था। विस्मय-विस्फारित नेत्रोंसे सभी स्त्री-पुरुष वह अविश्वसनीय घटना देख रहे थे। यदि उनकी आँखोंके सामने वह न दिखलायी गयी होती तो सुननेपर उन्हें किसी तरह भी विश्वास न होता। पर सामने, होश-हवासके दुरुस्त रहते, अपनी आँखोंसे देखते हुए वे उसे माननेको विवश थे।

लार्ड लीटनके एक सजे-सजाये कमरेमें ऊँचे दर्जेके खास-खास विद्वानों तथा विदुषियोंका एक दल एकत्र था। सभी बीसवीं शताब्दीके विज्ञान तथा आविष्कारों—खोजोंसे भलीभाँति परिचित थे। बहुत-से तो विज्ञानके पारदर्शी पण्डित थे। उनके सामने एक गायिका एक साधारण-से बाजेपर रागदारीके साथ गाना गा रही थी।

गायिकाने एक राग छेड़ा। पर्देपर खास तरहके सितारेके रूपकी आकृतियाँ नाचती-कूदती दिखायी दीं। रागके बंद होते ही आकृतियाँ भी देखते-देखते गायब हो गयीं।

गायिकाने दूसरा राग छेड़ा। बात-की-बातमें दूसरे प्रकारकी आकृतियाँ सामने आयीं।

राग बदलते गये। आकृतियाँ भी बदलती गयीं। कभी तारे दीख पड़ते, कभी टेढ़ी-मेढ़ी सर्पाकार आकृतियाँ नज़र आतीं; कभी त्रिकोण, षट्कोण दिखलायी देते; कभी रंग-बिरंगे फूल अपनी शोभासे मुग्ध करते; कभी भीषण आकृतिवाले समुद्री जीव-जन्तु प्रकट होते; कभी फलों-फूलोंसे लदे वृक्ष सामने आते; कभी एक ऐसा दृश्य दृष्टिगोचर होता जिसमें पीछे तो अनन्त नील समुद्र लहराता नजर आता और सामने नाना प्रकारकी सुन्दर छोटी-बड़ी शिलाओंके बीचमें नाना रूप-रंग, आकार-प्रकारके पत्र-पुष्प-फलोंसे लदे वृक्ष मन्द-मन्द वायुके झोंकोंसे लहराते, फल-फूलोंकी वर्षा करते दीख पड़ते।

जैसे-जैसे राग बदलते गये, वैसे-ही-वैसे आकृतियाँ भी बदलती गयीं। दर्शक चकित—स्तम्भित—चित्रलिखे-से चुपचाप देखते रहे। अन्तमें गायिकाने राग बंद किया। आकृतियाँ अदृश्य हो गयीं। दर्शक-मण्डलीको चेत आया। सब अपने-अपने उद्गारोंको प्रकट करने लगे।

लार्ड महोदयने गायिकाका परिचय देते हुए कहा—'आप प्रसिद्ध अन्वेषिका श्रीमती वाट्स हग्स (Watts Hughes)हैं। आपको एक बार इस बाजेपर एक राग छेड़ते समय एक विशेष प्रकारकी सर्पाकृति प्रकट होती देख पड़ी। फिर आप जब-जब उस रागको छेड़तीं तब-तब वही आकृति प्रकट होती। इससे आपने यह निष्कर्ष निकाला कि राग और आकृतिका कोई प्राकृतिक सम्बन्ध अवश्य है। एक खास रागके छेड़नेपर एक खास आकृति प्रकट हो जाती है। तब आपने अनेक वर्षोंतक इसी विषयको लेकर अनुसन्धान किया। उसका जो फल हुआ है, वह आज आपके सामने प्रदर्शित किया गया है।'

इसी प्रकार फ्रांसमें दो बार इसी विषयको लेकर प्रदर्शन और परीक्षण किये गये हैं। एकमें तो मैडम लैंगने एक राग छेड़ा था जिसके फलस्वरूप देवी मेरी (Virgin Mary)-की आकृति शिशु जेजस क्राइष्ट (Jesus Christ)-को गोदमें लिये हुए प्रकट होती देख पड़ी थी। दूसरी बार एक भारतीय गायकने भैरव राग छेड़ा था, जिसके फलस्वरूप भैरवकी भीषण आकृति प्रकट हुई थी।

इसी प्रकार इटलीमें भी परीक्षण हो चुका है। एक युवतीने एक भारतीयसे सामवेदकी एक ऋचाको सितारपर बजाना सीखा। खूब अभ्यास कर लेनेके अनन्तर उसने एक बार एक नदीके किनारे रेतमें सितार रखकर उसी रागको छेड़ा। उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वहाँ रेतपर एक चित्र-सा बन गया। उसने अन्य कई विद्वानोंको यह बात बतलायी। उन्होंने उस चित्रका फोटो लिया। चित्र वीणापुस्तकधारिणी सरस्वतीका निकला। जब-जब वह युवती तन्मय होकर उस रागको छेड़ती तब-तब वही चित्र बन जाता।

पश्चिमी देशोंके अनेक विज्ञानवेत्ताओंने समय-समयपर प्रदर्शन करके यह प्रमाणित कर दिया है कि एक खास तरहके रागके छेड़नेपर एक खास तरहकी आकृति बन जाती है।

इस विज्ञान और आविष्कारोंके युगमें भी यह प्रमाणित हो चुका है कि रागोंसे आकृतियोंका एक विशेष वैज्ञानिक और प्राकृतिक सम्बन्ध है। (रागके

बलपर शून्यसे सवर्ण-साकार आकृतियाँ प्रकट की जा सकती हैं।) इसी वैज्ञानिक आधारपर भारतमें शताब्दियों पूर्व जपयोगका प्रासाद निर्मित हुआ था। ईश्वरप्राप्तिके अनेक साधनोंमें 'जप' एक प्रधान साधन था। साधकोंको विशेष अक्षरोंका उच्चारण एक विशेषरूपसे करना पड़ता था। साधनामें सफल होनेपर उसे उक्त अक्षरोंसे सम्बन्ध रखनेवाले देवताके दर्शन हो जाते थे। उसके अभीष्टकी सिद्धि हो जाती थी।

भारतमें बहुत प्राचीन कालमें ही विभिन्न राग-रागिनियोंके रंग, रूप, आकार, प्रकार, गुण, प्रभाव आदिका पता लग चुका था। सिद्ध गायक राग-रागिनियोंका रूप खड़ा कर देते थे। उनके प्रभाव प्रकट रूपमें प्रदर्शित कर दिखाते थे। पर समयने पलटा खाया। वे बातें गपोड़बाजी मानी जाने लगीं। किन्तु इधर पश्चिमी वैज्ञानिकोंके अनुसन्धानने फिर बाजी पलट दी है।

अनुसन्धानके अनन्तर प्राचीन कालमें तपस्वी-ऋषि-मुनियोंको विभिन्न बीजाक्षरोंका ज्ञान प्राप्त हो गया था। इन बीजाक्षरोंके विधिपूर्वक जपद्वारा विभिन्न देवताओंकी आराधना की जाती थी और मनचाही सिद्धि प्राप्त की जाती थी। इसी प्रकार अनेक ऋषि-मुनियोंको अनेक मन्त्रोंका बोध हुआ था। कठिन तपद्वारा उन्होंने इष्ट मन्त्र प्राप्त किये थे। और उनके जपके द्वारा उन्होंने अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थीं।

उन्हीं मन्त्रोंके जपद्वारा समय-समयपर अनेक साधकोंने अपने-अपने इष्ट देवोंको प्रसन्न करके अपनी-अपनी अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति की है। किन्तु इधरके संशय-युगमें जपयोगसे लोगोंकी श्रद्धा उठ-सी गयी है। इसका कारण यह है कि बिना यथार्थ ज्ञानके पाखण्डी प्राणियोंने आडम्बर खड़े करके दुनियाके भोले-भाले स्त्री-पुरुषोंको बेतरह ठगना आरम्भ कर दिया। दूसरे किसी तात्कालिक लाभ अथवा इच्छा-पूर्तिकी लालसासे। जपयोगके यथार्थ-तत्त्व और उस कार्यके योग्य बीजमन्त्र और जपको न जाननेवाले अज्ञानी पुरुष, जो सामने आया उसी मन्त्रका, विधि आदिके जाने ही बिना, लष्टम-पष्टम रूपसे जप शुरू कर देते हैं। इन कारणोंसे जपका जो प्रभाव होना चाहिये वह देखनेमें नहीं आता। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—'यज्ञोंमें मैं जपयज्ञ हूँ **(यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि)**'। इसका मुख्य कारण यह है कि अन्य यज्ञोंमें जो बाहरी सामान, तैयारी, सहायता आदिकी आवश्यकता पड़ती है वे सब झंझटें जपयज्ञमें नहीं होतीं। जपयज्ञमें केवल सात्त्विक भाव, प्रेम, साधना, तन्मयता, एकाग्रताकी ही आवश्यकता पड़ती है। प्रेमभावसे किसी भी स्थान, अवस्था, समय और परिस्थितिमें इष्टदेवका जप किया जा सकता है। इसी कारण मनके एकाग्र होकर इष्टदेवमें लगते ही जपयोग सिद्ध हो जाता है और अनायास ही मनचाहे फलकी प्राप्ति हो सकती है।

जपमें मन्त्र, बीजाक्षर या इष्टदेवके नामको एक विशेष विधिसे बार-बार दोहराना पड़ता है। जप करते समय सबसे बड़ी बात है, मनको एकाग्र करके जप और इष्टदेवके ध्यानमें लगाना। किन्तु यहाँपर एक बात अच्छी तरहसे समझ लेनी चाहिये कि ध्यान और जप दो भिन्न-भिन्न क्रियाएँ हैं। अपने इष्टके रूपका एकाग्रचित्त होकर मनन करना ही ध्यान कहलाता है। नाम या मन्त्रको बार-बार दोहरानेको जप कहते हैं। ध्यान और जप दोनों एक साथ भी चलते हैं और अलग-अलग भी। ध्यान जपसहित भी होता है और जपरहित भी। बिना जपके केवल ध्यान करना जपरहित ध्यान कहलाता है। ध्यानके साथ ही, जिसका ध्यान किया जाय उसके, नाम या मन्त्रके जपको जपसहित ध्यान कहा जाता है। जब साधक अपने इष्टदेवके ध्यानमें इतना तन्मय हो जाता है कि उसकी आत्मा इष्टदेवके रूपमें लीन हो जाती है, उस समय साधक समाधिकी अवस्थामें पहुँच जाता है और उस स्थितिमें जप ध्यानमें लीन हो जानेके कारण समाप्त हो जाता है। केवल ध्यान रह जाता है।

किन्तु ध्यानकी इस उच्चतम अवस्थाके पूर्व मन, वाणी और इन्द्रियोंको एकाग्र करके इष्टदेवके ध्यानमें लगानेके लिये जपकी आवश्यकता पड़ती है। जपके नादसे सांसारिक वस्तुओं तथा विचारोंसे मनको खींचकर एक ओर लगानेके लिये प्रेम-भक्तिसे, सद्भावपूर्वक इष्टमन्त्र या नामका जप अनिवार्य है। ध्वनिके माधुर्यसे खिंचकर मन इन्द्रियोंसहित एक ओर लग जाता है। धीरे-धीरे इष्टपर ध्यान एकाग्र होने लगता है और अन्तमें बाह्य विघ्न-बाधाओं, आकर्षणों, प्रलोभनोंके जालको तोड़कर मन इष्टमें रम जाता है।

मनोविज्ञानके विद्वानोंने अनेक प्रकारके प्रयोग, परीक्षण, खोज और छान-बीनके अनन्तर यह सिद्ध कर दिखाया है कि मनुष्यके मस्तिष्कमें बार-बार जिन विचारोंका उदय होता रहता है, वे विचार वहाँ नक्श हो

जाते हैं। उसी प्रकारके भाव मस्तिष्कमें घर बना लेते हैं। फल यह होता है कि वे ही या उसी प्रकारके विचार मस्तिष्कमें बराबर चक्कर लगाया करते हैं। उनसे मनका इतना लगाव हो जाता है कि उन्हींमें वह आनन्द प्राप्त करता है। उन्हींमें मगन रहने लगता है। ऐसी दशामें दूसरे प्रकारके अच्छे-से-अच्छे विचार और हितकर-से-हितकर भाव मनको नहीं रुचते। वह उनसे जल्दी ही ऊब उठता है, भागने लगता है और अपने पुराने विचारोंके बीचमें जाकर शरण लेता है। हमारे शास्त्रकारोंने इसीको संस्कार कहा है। इन्हीं संस्कारोंसे प्रेरित होकर मनुष्य अच्छा-बुरा आचरण करता है; और उन्हीं अपने विचारों, संस्कारोंके कारण ही संसारके सामने सज्जन या दुष्ट ठहरता है।

पहले मनुष्यके मनमें विचार उठते हैं। फिर वह उन्हें वचन या कार्यद्वारा प्रकट करता है। अस्तु, मनुष्यके आचरणोंका मूल आधार उसके विचारों, भावोंमें ही रहता है। जो मनुष्य जैसे विचार रखता है, वह उसी प्रकारका हो जाता है। मनुष्य अपने विचारोंका व्यक्त या साकाररूप मात्र है।

जपसे मनुष्यके विचार संयत हो जाते हैं। बार-बार उसके मुखसे एक विशेष प्रकारके शब्द उच्चारित होते हैं। कान बराबर उन शब्दोंको सुनते हैं। मन और मस्तिष्कपर उनका निरन्तर प्रभाव पड़ता है। मस्तिष्कके कोषोंमें उनका असर पड़ता है, चिह्न बनता, संस्कार जमता और एक स्थायी प्रभाव अंकित हो जाता है।

जपके समय साधकके सामने इष्टदेवके रूप, गुण, कर्मका चित्र जाज्वल्यमानरूपसे उपस्थित होता है। उसका प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। देवोचित गुणोंका प्रभाव हितकर ही होगा। साधकके पूर्वसंस्कारोंमें परिवर्तन होता है, वे धीरे-धीरे घिसने-मिटने लगते हैं। इष्टदेवके गुणोंका प्रभाव अंकित होने लगता है। साधकके संस्कार इष्टदेवके रूप, गुणके अनुसार बनने लगते हैं।

एक पात्रमें जल भरा है। उसमें पिघला हुआ शीशा उड़ेला जाता है। जैसे-जैसे शीशेकी धार पात्रकी तहमें धँसती जाती है, वैसे-ही-वैसे पानीका अंश पात्रके ऊपरसे बाहर बह कर निकलता जाता है। अन्तमें जब शीशेकी तह पात्रके मुँहतक आती है, तब पानीका कुल भाग पात्रसे बाहर निकल जाता है। पात्रमें नीचेसे ऊपरतक केवल शीशा-ही-शीशा भरा नज़र आने लगता है।

ठीक इसी प्रकार जब साधक जपके द्वारा अपने इष्टदेवके गुणोंकी धार धीरे-धीरे किन्तु निश्चित तथा प्रबलरूपसे मस्तिष्ककोषोंके पात्रमें उड़ेलने लगता है, तब एक-एक करके सभी गंदे विचार दूर होने लगते हैं; और अन्तमें मन-मस्तिष्क शुद्ध होकर इष्टदेवके रूप, गुण, कर्मसे भरकर भासित होने लगते हैं। वहाँ अज्ञान-अन्धकारमय असद्विचारोंको स्थान ही नहीं रह जाता। लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, मद, मात्सर्य, क्रोध आदि सभी दूषित भाव दूर हो जाते हैं। तामस, राजस भावोंके स्थानमें शुद्ध, सात्त्विक भाव अंकित हो जाते हैं।

आम शब्दके कहनेसे मनमें उसके रूप, रंग, गुण, स्वादका उदय हो आता है। दुर्गन्धयुक्त गंदी वस्तुओंके नामस्मरण होनेसे मन घिनाने लगता है। उसी तरह इष्टदेवके नामके स्मरण, उच्चारणसे दैवीगुण मनमें उदय होते हैं। मन शुद्ध हो जाता है। विकार दूर हो जाते हैं। साधक दैवी भावको प्राप्त होने लगता है। जप इष्टदेवकी प्राप्तिका सरल वैज्ञानिक अचूक उपाय है।

राम रम रहा है

दादू देखौं दयाल कौं सकल रहा भरपूरि।
रोम रोम में रमि रह्या तूँ जिनि जाणै दूरि॥
दादू देखौं दयाल कौं, बाहरि भीतरि सोइ।
सब दिसि देखूँ पीव कूँ दूसर नाहीं कोइ॥

—दादूजी

आत्मतत्त्व विद्यातत्त्व शिवतत्त्व तुरीयतत्त्व

(लेखक—श्रीकृष्ण काशीनाथ शास्त्री)

साधनमें प्रवृत्त होनेवाले साधकको तत्त्वज्ञान होना आवश्यक है। तत्त्वोंकी आवश्यकताका प्रारम्भ आचमनसे ही होता है। जिस प्रकार साधारण आचमन—

ॐ केशवाय स्वाहा।
ॐ नारायणाय स्वाहा।
ॐ माधवाय स्वाहा।

—हम इन तीन मन्त्रोंसे करते हैं उसी प्रकार दुर्गा, काली, तारा, महाविद्या, षोडशी आदि महाविद्याओंके क्रममें तथा सभी तान्त्रिक महाविद्याओंके क्रममें एवं सभी तान्त्रिक मन्त्रोंकी साधनाके आरम्भमें मूल-मन्त्रसहित इन तत्त्वोंसे चार आचमन किये जाते हैं। यथा—

ॐ आत्मतत्त्वाय स्वाहा।
ॐ विद्यातत्त्वाय स्वाहा।
ॐ शिवतत्त्वाय स्वाहा।
ॐ सकलतत्त्वाय स्वाहा।

स्थूलदेह, सूक्ष्मदेह, कारणदेह और महाकारण-देहके शोधनमें भी इन तत्त्वोंका उच्चारण करना अनिवार्य है।

आत्मतत्त्वसे स्थूलदेहका शोधन किया जाता है। विद्यातत्त्वसे सूक्ष्मदेहका, शिवतत्त्वसे कारणदेहका और सकलतत्त्वसे महाकारणदेहका शोधन किया जाता है। अब, तत्त्वका स्वरूप क्या है, संख्या कितनी है और तत्त्वातीत क्या है? यह हम इस लेखद्वारा 'कल्याण' के प्रेमियोंको समझानेकी चेष्टा करते हैं।

यह विश्व ३६ तत्त्वोंसे बना है। ये ३६ तत्त्व प्रलय होनेतक विद्यमान रहकर जगत्को भोगकी सामग्री देते हैं। प्राणियोंके शरीर, घट, पट—ये तत्त्व नहीं हैं।

आप्रलयं यत्तिष्ठति सर्वेषां भोगदायि भूतानाम्।
तत्तत्त्वमिति प्रोक्तं न शरीरघटादि तत्त्वमतः॥

(सूतसंहिता)

सुषुप्ति-अवस्थामें जैसे जीवोंका संसार लय होकर सूक्ष्मरूपसे जीवोंमें स्थित रहता है, ठीक उसी प्रकार, प्रलयकालमें यह जगत् सूक्ष्मरूपसे परशिवके कुक्षिगत रहता है। सब जीव, अपने अदृष्ट पंचभूत तथा जीवोंके संस्कार सूक्ष्मरूपसे परशिवमें रहते हैं, जैसे वट-बीजमें वटवृक्ष रहता है। ये संस्कार परशिवके पुनः सृष्टि उत्पन्न करनेमें सहकारी होते हैं।

केवल निजरूपमें अवस्थित परशिवकी जब प्रजोत्पादनकी इच्छा होती है कि '**बहु स्यां प्रजायेय,**' तब इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति, इन तीनोंके योगसे वे जगत् उत्पन्न करते हैं। यह जगत् ३६ तत्त्वोंसे निर्मित है। इन ३६ तत्त्वोंके तीन विभाग हैं—(१) आत्मतत्त्व (२) विद्यातत्त्व और (३) शिवतत्त्व अर्थात् (१) सत् (२) चित् (३) आनन्द।

आत्मतत्त्वमें ३१ तत्त्वोंका समावेश होता है वे इस प्रकार हैं—

आत्मतत्त्व—

पृथ्वी	उपस्थ	बुद्धि
आप्	पायु	मन
तेज	पाद, पाणि	प्रकृति
वायु	वाक्	जीव
आकाश	घ्राण	नियति
गन्ध	रसना	काल
रस	चक्षु	राग
रूप	त्वचा	कला
स्पर्श	श्रोत्र	अविद्या
शब्द	अहंकार	माया

विद्यातत्त्व—

(१) सदाशिव (२) ईश्वर (३) विद्या

शिवतत्त्व—

(१) परम शिव (२) शक्ति

मायान्तमात्मतत्त्वं विद्यातत्त्वं सदाशिवान्तं स्यात्।
शक्तिशिवौ शिवतत्त्वं तुरीयतत्त्वं समष्टिरेतेषाम्॥

अर्थात् 'पृथ्वीसे मायातक ३१ तत्त्वोंकी समष्टि आत्मतत्त्व है, यह सत्-रूप है। विद्यातत्त्वसे सदाशिवतत्त्वतक 'विद्यातत्त्व' चित्-रूप है, शक्ति और शिवतत्त्व 'आनन्दरूप' हैं। इन तत्त्वोंकी समष्टि 'तत्त्वातीत' नामक सच्चिदानन्द 'तुरीयतत्त्व' है।

अब हम इन ३६ तत्त्वोंकी क्रमशः व्याख्या करते हैं:—

(१) परम शिव—

जगत्के उत्पादनकी इच्छासे युक्त परम शिव, यह 'शिव' नामक पहला तत्त्व है।

(२) शक्ति

परम शिवकी सिसृक्षा—जगत् उत्पन्न करनेकी इच्छा—यह दूसरा तत्त्व है।

(३) सदाशिव

मैं जगद्रूप हूँ, इस प्रकार परम शिवका जगत्को अहन्तारूपसे देखना—इस वृत्तिसे युक्त 'सदाशिव' नामक तीसरा तत्त्व है।

(४) ईश्वर

यह केवल जगत् है, इस भेदविषयिणी वृत्तिसे युक्त 'ईश्वर'—यह चौथा तत्त्व है।

(५) विद्या

यह जगत् मेरा ही स्वरूप है, ऐसी जो सदाशिवकी वृत्ति है, इसको विद्या कहते हैं—यह पाँचवाँ तत्त्व है।

(६) माया

यह जगत् है, ऐसी ईश्वरकी भेद-विषयिणी वृत्ति 'माया' नामक छठा तत्त्व है।

(७) अविद्या

पूर्वोक्त विद्याको तिरोहित करनेवाली तथा विद्याकी विरोधिनी 'अविद्या' कहलाती है—यह सातवाँ तत्त्व है।

(८) कला

जीवनिष्ठ सर्वकर्तृत्व-शक्तिका संकोच होकर केवल यत्किंचित् करनेका सामर्थ्य होना—यह 'कला' नामक आठवाँ तत्त्व है।

(९) राग

जीवनिष्ठ जो नित्यतृप्ति, वही संकुचित होकर कुछ विषयोंकी प्राप्तिके लिये अतृप्त रहती है—यह 'राग' नामक नवाँ तत्त्व है।

(१०) काल

जीवनिष्ठ-नित्यताका संकोच होकर, जीव इन षट् भावोंसे युक्त होता है-वे षट् भाव ये हैं—

(१) अस्तित्व (२) जनन (३) वृद्धि (४) परिणमन (५) क्षय (६) नाश

इन षट् भावोंके सहित जीवकी नित्यताका संकोच—यह 'काल' नामक दसवाँ तत्त्व है।

(११) नियति

परशिव और जीवका अभेद होनेसे, जिस प्रकार परशिव स्वतन्त्र है उसी प्रकार जीव भी स्वतन्त्र है, परन्तु अविद्याके कारण जीवकी आनन्दशक्तिकी स्वतन्त्रताका संकोच होकर यह जीव दूसरे कारणकी अपेक्षा रखता है—यह 'नियति' नामक ग्यारहवाँ तत्त्व है।

(१२) जीव

उपर्युक्त नियति, काल, राग, कला और अविद्या—इन उपाधियोंसे युक्त 'जीव' यह बारहवाँ तत्त्व है।

(१३) प्रकृति

सत्त्व, रज और तम, इन तीनों गुणोंका साम्य 'प्रकृति' है—यह तेरहवाँ तत्त्व है।

(१४) मन

सत्त्वगुण और तमोगुण दबे हुए हों और रजोगुणकी प्रधानता हो, इसको 'मन' कहते हैं—यह चौदहवाँ तत्त्व है। मन संकल्पका कारण है।

(१५) बुद्धि

रजोगुण तथा तमोगुण दबे हुए हों और सत्त्वगुणकी प्रधानता हो वह 'बुद्धि' नामक पन्द्रहवाँ तत्त्व है।

(१६) अहंकार

सत्त्वगुण और रजोगुण दबकर तमोगुणकी श्रेष्ठता हो, वह विकल्पका कारण 'अहंकार' होता है—यह सोलहवाँ तत्त्व है।

१७ से ३६ तक तत्त्व हैं—

श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी।

इन २० तत्त्वोंका अर्थ स्पष्ट है।

यह आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व और शिवतत्त्वका अर्थात् सत्, चित् और आनन्दका वर्णन हुआ। तुरीय-तत्त्व इन तीनों तत्त्वोंकी समष्टि 'सच्चिदानन्द' है।

'तुरीयतत्त्वं समष्टिरेतेषाम्'

यही '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' है, यही अक्षर है, अनिर्देश्य है, अव्यक्त है, सर्वव्यापी है, अचिन्त्य है, ध्रुव है, कूटस्थ है और अनिर्वचनीय है। उक्त ब्रह्ममें जो शक्ति विलीन रहती है, उसका नाम सरस्वती है, उसका वाहन हंस है, हकार शिवका वाचक है, सकार शक्तिका वाचक है। हकार अहंका पर्याय है और सकार इदम् (जगत्)-का पर्याय है, सोऽहम् यह हंसः का उल्टा है, 'सोऽहम्' प्रपंचसे ब्रह्मकी ओर संसरण करता है और 'हंसः' यह ब्रह्मसे शक्तिकी ओर, यही अजपाजप गायत्री है, जिसके २१६०० जप नित्य जीव अपने श्वासोच्छ्वाससे करता रहता है।

'हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।'

यही तत्त्वातीतका जप है, जो जीवनभर चलता रहता है। योगीके लिये यह तत्त्वातीतका जप है, प्राकृत जनोंके लिये यह धमनीका चलना है।

परब्रह्मके साथ ऐक्य-सिद्धि प्राप्त करना, यही मनुष्यका परम पुरुषार्थ है। '**शिवो भूत्वा शिवं यजेत्**' स्वयं शिवरूप होकर शिवकी पूजा करना है, इसलिये हमें इस मायामोहरूपी ३६ तत्त्वोंके जगत्का शिवरूप संवित् (ज्ञान) अग्निमें हवन करना चाहिये। यथा—

अन्तर्निरन्तरमनिन्धनमेधमाने
मोहान्धकारपरिपन्थिनि संविदग्नौ।
कस्मिंश्चिदद्भुतमरीचिविकासमाने
विश्वं जुहोमि वसुधादि शिवावसानम्॥

'देहमें बिना ईंधनके ही निरन्तर प्रज्वलित रहनेवाली, अद्भुत प्रकाशसे युक्त, मोहरूपी अन्धकारका नाश करनेमें कुशल, ऐसी अनिर्वचनीय संवित् अग्निमें हम, षट्त्रिंशत् तत्त्वमय जगत्—जिसका आदि तत्त्व 'वसुधा' और अन्तिम तत्त्व 'शिव' है—हवन करते हैं अर्थात् मायामोहके आवरणको भस्म करके हम उस परमात्माके साथ अपना योग करते हैं।'

निष्कले परमे सूक्ष्मे निर्लक्ष्ये भाववर्जिते।
व्योमातीते परे तत्त्वे प्रकाशानन्दविग्रहे॥
विश्वोत्तीर्णे विश्वमये तत्त्वे स्वात्मनियोजनम्॥

'जीवात्माका परमात्माके साथ योग करे, जो परमात्मा सच्चिदानन्द है, अखण्ड है, महत्से भी महान् है, अणुसे भी सूक्ष्म है, अलक्ष्य है, केवल भावनागम्य है, जिसका प्रकाशानन्द स्वरूप है, जो ३६ तत्त्वोंसे परे है और जो ३६ तत्त्वमय है।' ऐसे परमेश्वरके साथ ऐक्यसिद्धि प्राप्त करे और भावना करे कि—

अहं देवो न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान्॥

अर्थात् 'मैं प्रकाशरूप हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं नित्यमुक्त हूँ, मैं सच्चिदानन्द हूँ और शोक-मोह-अज्ञानसे परे हूँ'—यही '**जीवशिवयोरैक्यसिद्धिः**' है। इसी सिद्धिको प्राप्त करना मुमुक्षु साधकका परम पुरुषार्थ है।

राम-नाममें ऐसा चित्त लगे

जो चित लागै राम नाम अस॥ टेक॥
तृषावंत जल पियत अनँद अति।
थकलहि गाँव मिलत है जौन जस॥
निर्धन धन सुत बाँझ बसत चित।
संपति बढ़त न घटत जौन अस॥

—गुलाल साहब

मध्यम मार्ग

(लेखक—श्री 'सुदर्शन')

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

(गीता ६। १७)

भगवान् बुद्ध एक पर्वतपर आसन लगाये बैठे थे। उन्होंने आहार, जल और निद्रा सब छोड़कर—

इहासने शुष्यतु मे शरीरं
त्वगस्थिमांसानि लयं प्रयान्तु।
अप्राप्य बोधं बहुकल्पदुर्लभं
नैवासनात्कायमिदं चलिष्यति॥

—का दृढ़ निश्चय कर लिया था। दिन-पर-दिन और रात-पर-रात बीतती चली जा रही थी; किन्तु अमिताभके मनमें न तो शान्ति आयी और न स्थिरता। चित्त उनका अशान्त था, वे विक्षिप्त हो रहे थे।

मैं यह माननेको प्रस्तुत नहीं कि यह विकलता भगवान् बुद्धमें वस्तुतः थी। उन आत्माराम आप्तकालमें भला उद्विग्नताको कहाँ अवकाश? पर जैसे साधकोंके कल्याणार्थ उन्होंने वैराग्यका प्रदर्शन किया, वैसे ही आवेशकी व्यर्थता दिखलानेके लिये उनका यह नाटक रहा होगा।

एक-दो नहीं, उस अवस्थामें इस प्रकार चालीस दिन व्यतीत हो गये। अन्तमें सहसा उन्हें अपनी भूल ज्ञात हुई। वे धीरेसे आसन छोड़कर हाथ और पैरोंके बलसे खिसकते हुए जलके किनारे पहुँचे। शरीर निर्बल हो रहा था। आचमन किया और एक चिथड़ेको धोकर उसकी कौपीन लगायी। वहाँसे वे नगरमें आये और भिक्षा की।

भिक्षा करके भगवान् पुनः लौटे और उन्होंने बोधिवृक्षके नीचे आसन लगाया। यहीं उन्हें ज्ञान होकर बुद्धत्वकी प्राप्ति हुई और वे उस ज्ञानका प्रसार करने सारनाथ गये।

भगवान्ने अपने इस साधन-मार्गका नाम 'मध्यम मार्ग' रखा। मैं बौद्ध ग्रन्थोंके उन पारिभाषिक शब्दोंके फेरमें नहीं पड़ना चाहता, जो मध्यम मार्ग शब्दकी अपने ढंगकी व्याख्या करते हैं। मुझे तो उस मध्यम मार्गपर विचार करना है, जिसका संकेत लेखके आरम्भमें दिये गीताके श्लोकमें है।

बौद्ध धर्मके पारिभाषिक मध्यम मार्गकी ओर न जाते हुए भी मैं विवक्षित मार्गको मध्यम मार्ग इसलिये कह रहा हूँ कि वह न तो उग्र हठका मार्ग है और न आलस्यका। जीवनको माध्यमिक दशामें रखकर ही उसका साधन किया जा सकता है। जो साधक अपने साधनमें सफलता चाहता है, उसके लिये यह सर्वोत्तम ही नहीं, अपितु एकमात्र मार्ग है। कोई भी साधन बिना माध्यम स्थितिमें आये पूर्णताको प्राप्त हो नहीं सकता।

साहित्य एवं उपदेश दो प्रकारके होते हैं—प्रचारात्मक और क्रियात्मक। लोगोंको प्रोत्साहित करने और उनमें रुचि उत्पन्न करनेके लिये अधिकांश प्रचारात्मक साहित्य प्रस्तुत होता है। सभा, कथा, सत्संग, उपदेश भी अधिक इसी उद्देश्यसे होते हैं। क्रियात्मक साहित्य और उपदेश थोड़ा होता है और उसके अधिकारी भी थोड़े ही होते हैं। साधनके आध्यात्मिक पथमें क्रियात्मक बातें गुप्त भले न रहें, पर वे कुछ निश्चित अधिकारके व्यक्तियोंतक सीमित अवश्य रहती हैं। दूसरोंके सम्मुख होनेपर भी गम्भीरताके कारण वे उसे ग्रहण नहीं कर पाते।

साधारण समाज प्रायः ओजपूर्ण उत्तेजनात्मक बातें सुनना और सोचना पसन्द करता है। व्यावहारिकताकी कसौटीपर कसकर उन ऊँची उड़ानोंकी परीक्षा करनेके लिये वह तत्पर नहीं होता। ऐसी बातोंको वह साहसहीनता, कायरता और हतोत्साह करनेवाली समझकर उनकी उपेक्षा एवं परिहास करता है।

साधनेच्छु व्यक्ति उसी साधारण समाजमेंसे आता है। अपने गन्तव्य पथके विषयमें वह एक अनुभवशून्य पथिक होता है। उसे आगे आनेवाली कठिनाइयोंका ज्ञान या तो होता ही नहीं और यदि होता भी है तो वह उन्हें कोई महत्त्व नहीं देता। वह अपनी शक्तिसे अपरिचित होता है। उसे अपने उस अल्हड़ साथी (मन)-के स्वभावका तनिक भी पता नहीं होता, जिसके ऊपर उसकी वर्तमान यात्राकी सफलता या असफलता निर्भर करती है।

वह नव यात्री आता है प्रचारात्मक साहित्यका उबलता जोश लिये हुए। उसके भीतर एक तूफान होता

है। वह उच्च-से-उच्च आदर्शको आदर्शकी भाँति नहीं, कार्यकी भाँति देखते हुए स्वयं झटपट 'रोटी सेंकी और खा लिया' की भाँति, वैसा बन जानेकी आशा करता है। वह उन कठिनाइयोंको ध्यानमें भी नहीं लाता जो कि उसने पढ़ी और सुनी हैं, जिनसे उसे बार-बार सावधान किया गया है।

'मनुष्य-जीवन अमूल्य सम्पत्ति है। यदि यह खो गयी तो फिर पश्चात्ताप करते हुए चौरासी लक्ष योनियोंमें भटकना ही हाथ रहेगा। कोई ठिकाना नहीं कि काल कब इस अमूल्य धनको हमारे हाथसे छीन ले। इसलिये उठो और इसी क्षण उस परम लक्ष्यको प्राप्त करनेमें लग जाओ! तुम उसे प्राप्त कर सकते हो! उसे प्राप्त करनेके लिये ही तुम्हारा यह जीवन है! वह तुम्हारा स्वरूप है। कोई शक्ति नहीं जो तुम्हें उसके प्राप्त करनेसे रोक सके। उठो, पूरी शक्तिसे लग जाओ और लक्ष्यको प्राप्त करो!' ऐसी ही बातें प्रायः उस नव पथिकने सुनी हैं और सुनता रहता है।

प्रायः उसके सम्मुख ध्रुव, प्रह्लाद प्रभृतिके आदर्श होते हैं। वह युग और शक्तिपर ध्यान न देकर सोचता है, 'मैं भी इसी प्रकार घोर साधन करूँगा। थोड़े ही समयमें मैं अपने लक्ष्यको प्राप्त कर लूँगा।' उत्साह और साहस बुरा नहीं है। मैं भी उसकी प्रशंसा ही करूँगा; पर जिसे कार्यक्षेत्रमें आना है, उसे व्यावहारिकतासे परिचित होना ही चाहिये।

प्रारम्भिक साधकको जोश दिलाया गया होता है तीव्रसे तीव्रतर गतिको लेकर बढ़नेका। वह जीतोड़ श्रम करता है; लेकिन उसे श्रम करनेकी रीतिका पता नहीं होता। वह अभ्यास नहीं करता। अभ्यासको वह जानता ही नहीं। वह करता है बलप्रयोग। भला बलप्रयोग कहीं स्थायी होता है? आवेशका अनिवार्य परिणाम श्रान्ति है।

उदाहरण लेकर देखिये—एक व्यक्तिने सुना है कि व्यायाम करनेसे शरीर पुष्ट होता है। व्यायाम शक्ति देता है। वह अखाड़ेमें गया और पहले दिन ही उसने दण्ड-बैठकोंमें अपनेको थका लिया। सम्भव है कि दूसरे दिन भी किसी प्रकार वह पहले दिनकी संख्या पूरी कर ले; परन्तु तीसरे दिन उसके लिये उठना-बैठना भी कठिन हो जायगा। ज्वर आ जाय तो भी आश्चर्य नहीं। इस प्रकारका व्यायाम शरीरके लिये लाभके बदले हानि अधिक करेगा और अन्तमें ऊबकर वह व्यक्ति व्यायामको ही छोड़ देगा।

प्रकृतिका नियम है कि जहाँ आघात होगा, वहाँ प्रत्याघात होना ही है। साधक जब मनपर अत्यन्त दबाव डालने लगता है तो कुछ समय वह समझता है कि मैं साधनमें अग्रसर हो रहा हूँ। यह दशा अधिक दिन नहीं टिकती। मनसे उस बलप्रयोगका प्रतीकार होने लगता है। अनेक ऐसे संकल्प-विकल्प उठने लगते हैं जो साधन न करनेके समय भी नहीं उठते थे। मन चंचल हो जाता है और लाख प्रयत्न करके भी स्थिर नहीं हो पाता। साधक समझने लगता है कि वह अपनी साधन-समयसे पूर्वकी स्थितिसे भी नीचे पहुँच गया है। उसके मनमें साधनपर ही सन्देह होने लगता है।

मनपर दबाव डालना साधकके लिये कभी हितकर नहीं होता। भगवान्ने गीतामें '**अभ्यासेन तु**' कहकर और महर्षि पतंजलिने अपने योगदर्शनमें '**अभ्यासवैराग्याभ्यां**' के द्वारा साधन-पथका निर्देश किया है। बलप्रयोगकी चर्चा कहीं भी नहीं है। गीतामें भगवान्ने हठपूर्वक शरीरको पीड़ा देकर होनेवाले तपको तामस तप कहा है। उन्होंने बताया है कि—

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥

(१७। ६)

'जो मूर्ख शरीरके पांचभौतिक नस, नाड़ी, मांस आदिको (बलपूर्वक) खींचते (पीड़ित करते)हैं और (इस प्रकार) मुझ शरीरमें रहनेवालेको (परमेश्वर जो जीवात्मारूपसे है उसे) पीड़ित करते हैं, उन्हें आसुर (तामस) निश्चयवाले समझो।'

अभ्यासका अर्थ है स्वभाव डालना—जितना मन और शरीर सरलतासे सह सके, उससे आरम्भ करके धीरे-धीरे उसे इस प्रकार बढ़ाना कि वह असह्य न हो और वैसा करनेका स्वभाव बन जाय। आरम्भ एक छोटी मात्रासे करके उसे बहुत धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिये। अभ्यासका यह नियम है कि उतना ही बढ़ाया जाय जिसे फिर कभी घटाना न पड़े।

यह अभ्यासक्रम पर्याप्त समयतक चल सकता है। इसमें उद्विग्नता होनेकी सम्भावना एक प्रकारसे नहीं ही होती। समय लगता अवश्य है, पर साधक मनकी प्रतिक्रियासे सुरक्षित रहता है। उसे उस प्रत्याघातका सामना नहीं करना पड़ता, जो एक दुःखद अवस्था है और जिसे सहन करना कठिन पड़ता है। फिर उससे कोई लाभ भी नहीं होता। प्रत्याघातकी शान्तिपर साधकको पता

लगता है कि उसके बलप्रयोगका कोई प्रभावकारी सुफल उसे नहीं मिला।

यह एक कठिनाई है कि प्रारम्भिक साधकको यह अभ्यासक्रम नहीं समझाया जा सकता। वह आवेश लिये और उतावला होता है। उसे बलप्रयोगकी धुन रहती है। ऐसी बातोंको वह हतोत्साह करनेवाली समझता है। दो-चार बार बलप्रयोग और उसके अनिवार्य परिणाम मनकी चंचलताके द्वारा ताड़ित होकर तब कहीं वह अभ्यासकी ओर आता है। यह स्वाभाविक होते हुए भी भयंकर है। प्रत्याघातके समय प्राय: ऐसा होता है कि साधकका विश्वास साधनपरसे जाता रहता है। वह उसे छोड़ देता है। यहाँतक भी कुशल है। पर बहुधा वह दूसरा साधन करने लगता है और उसमें भी वही पहली भूल करता है।

मैंने देखा है कि इस प्रकार कई साधन पकड़ने और छोड़नेके पश्चात् साधककी श्रद्धा साधनमात्रपरसे उठ जाती है। वह आध्यात्मिकताको एक भुलावा मानने लगता है। अपनी भूलके कारण मनुष्य-जीवनके लक्ष्यसे दूर जा पड़ता है। यह घातक परिणाम रोका जा सकता है, यदि एक प्रत्याघातके पश्चात् उसे कोई दूसरा उसकी भूल समझा दे और पुन: उसे अभ्यास-क्रममें लगा दे। ऐसे अवसरपर साधन बदलनेसे कोई लाभ नहीं।

यह एक भ्रान्ति है कि यदि एक घंटेके जपमें पाँच मिनट मन एकत्र रहता है तो पाँच घंटेके जपमें पचीस मिनट एकत्र रहेगा। यह गणित मनके ऊपर नहीं घटता। मनका स्वभाव है कि वह किसी भी कामको प्रारम्भमें पसंद कर लेता है और फिर उससे ऊब जाता है। फिर वह उसमें रस नहीं लेता। जो लोग लगातार पूरे दिन साधनमें लगे रहते हैं, उनमें यदि महापुरुषोंको अपवाद मान लिया जाय तो शेष प्राय: या तो ऊँघते रहते हैं, अथवा उनका मन कहीं इधर-उधरकी सोचता रहता है।

मनके लिये कोई एक वस्तु प्यारी नहीं। वह नवीनतासे प्रेम करता है। अच्छी-से-अच्छी वस्तुको भी छोड़ देता है और उससे घटियाको भी चाहने लगता है। सुस्वादु भोजन पानेवाला सम्पन्न पुरुष भी एक बार रूखी रोटियाँ पाकर प्रसन्न होता है। इस बातको न समझनेके कारण साधक किसी नये साधनमें एकाग्रता प्राप्त करके उसकी ओर आकर्षित हो जाता है और अपने पुराने साधनको छोड़ बैठता है। नये साधनकी एकाग्रता भी उसकी नवीनतातक रहती है। मन बादको उसमें भी वैसे ही रुचि नहीं रखता जैसे पहले साधनमें। अत: यह समझ लेना चाहिये कि साधनका बदलना कोई लाभकारी बात नहीं।

मैं पहले कह चुका हूँ कि मन नवीनतामें आकर्षित होता है। विश्वास न हो तो तीर्थवासियों, मन्दिरके पुजारियों, कथावाचकोंके अपने साथियों और संत-महात्माओंके निकटस्थ व्यक्तियोंके जीवनके देखिये। जहाँ कुछ घंटे रहनेसे आप श्रद्धा और सात्त्विकतासे भर गये थे, वहीं सर्वदा रहनेवालोंपर उसका कोई प्रभाव नहीं। वह मूर्ति जो आपको आकर्षणका केन्द्र जान पड़ती है, पुजारीके लिये उसमें कोई आकर्षण नहीं। वह उपदेश जो आपको विह्वल बना रहे हैं, उपदेशकके भाईपर उनका कोई प्रभाव नहीं। कारण यह है कि वे उसे रोज-रोज देखते और सुनते हैं। उनके लिये वह सामान्य हो गया है। आपने उसे प्रथम देखा या सुना है, आपके लिये वह नवीन अत: आकर्षक है।

एक हलवाई क्या मिठाइयोंको वैसे ही चाहता है, जैसे कोई रूखी रोटीसे पेट भरनेवाला गरीब बालक? पर यदि उसी बालकको मिठाईकी दूकानमें नौकर रख लिया जाय और यथेच्छ मिठाई खानेकी छुट्टी दे दी जाय तो क्या वह सदा पूर्ववत् मिठाइयोंमें स्वाद और आकर्षण प्राप्त कर सकेगा? इसी प्रकार आपको भी स्मरण रखना चाहिये कि जहाँ आज आपने इतना अधिक आकर्षण पाया है, वहीं यदि सदा रहने लगेंगे तो आपको कोई लाभ नहीं होगा। उस स्थान या व्यक्तिका आपपर कोई प्रभाव सदा नहीं पड़ सकता।

एक दिनके लिये किसी स्थान या व्यक्तिमें आकर्षण देखकर उसके पास रहनेको उतावला होना पागलपन है। इस प्रकार घर छोड़कर बाहर जा बसनेवाले साधक निराशाके अतिरिक्त और कुछ नहीं पाते। यदि साधन किसी एक स्थानमें रहकर नहीं होता तो वह दूसरे स्थानमें जाकर भी नहीं होगा। मन बाह्य प्रभावोंसे एकाग्र नहीं किया जा सकता। ये प्रभाव तो क्षणिक होते हैं। उनकी नवीनताके कारण मन उधर खिंचता है। एकाग्रता तो प्राप्त करनी होगी। वह धैर्यपूर्वक साधनके क्रमिक अभ्याससे प्राप्त होगी। वह आभ्यन्तरकी वस्तु है। बाहर उसको नहीं पाया जा सकता।

जो कुछ भी करना है, वह साधकको स्वयं करना होगा। दूसरे उसे केवल उत्साह दिला सकते हैं, भूलें

बतला सकते हैं और गन्तव्य पथका एक धुंधला परिचय दे सकते हैं। चरम स्थिति कोई बाह्य वस्तु नहीं, जिसे कोई उठाकर दे देगा। वह अपने ही अन्तरकी वस्तु है। वह अपने ही साधनसे मिलेगी। किसीके लिये कोई दूसरा साधन नहीं कर सकता। यदि कोई ऐसा करे भी तो वह व्यर्थप्राय है।

लोग विवेकानन्दजीपर परमहंस रामकृष्णकी कृपाके समान दृष्टान्त ढूँढ़ लेते हैं और कल्पना कर बैठते हैं कि उन्हें भी कोई ऐसा ही महापुरुष मिल जायगा। ऐसे लोग स्वयं तो कुछ करना चाहते नहीं, महापुरुषोंके पीछे पड़े रहते हैं। एकसे निराश होकर दूसरे और दूसरेसे तीसरे, इस प्रकार एक-न-एकके पीछे पड़े रहना उनका स्वभाव बन जाता है। मैं पूछता हूँ कि महापुरुष क्यों एक व्यक्तिपर कृपा करके उसे उच्च आध्यात्मिक स्थिति प्रदान करेगा और दूसरेको नहीं? क्या सेवासे प्रसन्न होकर? इसका तो अर्थ होता है कि वह दूसरोंसे अपनी शारीरिक सेवा कराना चाहता है। उसमें शरीरके प्रति मोह है। फिर वह महापुरुष कैसा?

समदर्शी महापुरुष किसीपर कृपा नहीं करते और न किसीपर क्रोध। उनके लिये तो सब अपने स्वरूप हैं। अथवा वे कृपाके स्वरूप होते हैं। उनकी कृपा सबपर सदा समान रहती है। उनके द्वारा किसीपर कृपा या कोप जो प्रतीत होता है, वह उसी व्यक्तिके कर्मका फल होता है। परमहंसजीने केवल स्वामी विवेकानन्दपर ही ऐसी कृपा क्यों की? उनके सेवकोंमें तो नरेन्द्रसे अधिक दूसरे भी अनुरागी थे। बात तो यह है कि यह विषय कृपाका नहीं। यदि यह विषय कृपाका होता तो अनन्त करुणावरुणालय जगदीश्वरके होते किसी जीवको संसार-चक्रमें भटकना ही न पड़ता। उस कृपासिन्धुसे भी अधिक कोई कृपालु हो सकता है, यह बात मानने योग्य नहीं।

पूर्वजन्मके या इस जन्मके साधनसे सम्पन्न अधिकारीका कोई संस्कार आवरण बना रहता है और महापुरुष केवल उसे दूर कर देते हैं। फलतः वह अपने साधनकी पूर्णावस्थाको प्राप्त कर लेता है। महापुरुषोंकी कृपाका यही रहस्य है। साधन तो उसी व्यक्तिको करना होगा। चाहे उसने पहले किया हो या अब करे। अधिकारी बने बिना किसीको पूर्ण स्थिति कभी प्राप्त हो नहीं सकती।

अब रहा यह कि साधन कैसे किया जाय? अधिकांशमें लोगोंकी यह धारणा होती है, विशेषतः साधन प्रारम्भ करनेसे पूर्व कि,—बिना घरके काम-काज छोड़े, बिना सांसारिक व्यवहारोंसे पृथक् हुए, साधन नहीं हो सकता, ऐसे लोग जब कभी कुछ देर साधनमें बैठते हैं और मनकी चंचलतामें विकल होते हैं, तो उनकी यह धारणा और भी दृढ़ हो जाती है। वे चाहते हैं कि आरम्भमें ही मन झटपट एकाग्र होने लगे और जबतक वे चाहें, एकाग्र रहे। ऐसा होता नहीं—अतः वे इसका दोष अपने दैनिक कार्योंको देते हैं, जिनका चिन्तन मन साधनके समय करने लगता है। वे समझते हैं कि यदि वे उन कामोंको छोड़ दें तो मन उनका चिन्तन नहीं करेगा। वह एकाग्र हो जायगा।

सीधी-सी बात है कि जो घरमें मनको एकाग्र नहीं कर सकता, वह जंगलमें कभी न कर सकेगा। घरके थोड़े-से कामोंको छोड़ देने मात्रसे क्या होगा? जन्म-जन्मान्तरके संस्कार तो हृदयमें भरे हैं। आसक्ति यदि हृदयमें है तो वह रहेगी। घरमें रहनेपर वह घरसे और वनमें रहनेपर वनसे रहेगी। यही दशा दूसरे सभी विकारोंकी है। मनको सोचनेके लिये वहाँ भी बहुत-सी बातें मिलेंगी।

घरमें पूरी सात्त्विकता प्राप्त किये बिना कर्मोंको छोड़ देना एक बहुत दुःखद परिणाम प्रकट करता है। वनमें या कहीं भी एकान्तमें जानेमात्रसे सात्त्विकता जो आ नहीं जाती। साधनमें एकाएक मन लगता नहीं। दो-चार दिन उसपर बलप्रयोग कर भी लें तो वह प्रतीकार कर बैठता है। उधर कर्मोंको छोड़ देनेसे रजोगुण भी दूर हो जाता है। फलतः आता है तमोगुण। प्रायः दिनभर तन्द्रा और आलस्य घेरे रहते हैं।

मुझे एक संतके शब्द सदा स्मरण रहते हैं। उन्होंने कहा था, 'डाका डालना अच्छा है, लड़ाई करना अच्छा है, पर ऊँघते हुए पड़े रहना अच्छा नहीं। रजोगुणसे सत्त्वगुणमें जानेकी सम्भावना रहती है। पर तमोगुणसे कोई सत्त्वगुणमें नहीं जा सकता। हमें डाकुओंके भक्त होनेका उदाहरण मिलता है, पर किसी निद्रालु या आलसीके भक्त होनेका उदाहरण कोई भी कहीं नहीं बता सकता।' मैं प्रत्येक साधकसे कहूँगा कि वे इन शब्दोंको स्मरण रखें। कर्मोंको त्यागकर रजोगुणसे तमोगुणके गर्तमें कूदनेकी अपेक्षा वहीं स्थित रहना अधिक लाभकारी है। सत्त्वगुणकी स्थिति वहीं अभ्यासके द्वारा प्राप्त हो सकती है। उसके लिये उतावली व्यर्थ है।

साधन कैसे करना चाहिये—यह बात भगवान्ने

स्वयं बतलायी है। मध्यम मार्गमें स्थित रहकर ही साधन किया जा सकता है। इस माध्यमिकताको स्पष्ट करते हुए भगवान् कहते हैं—'युक्ताहार' आहार युक्त—संयत होना चाहिये। वह न तो अधिक हो न न्यून।

अधिक आहार साधनमें बाधक है, इस विषयमें कोई भी मतभेद नहीं। जीभके स्वादके लिये जो पेटको ठूँसता रहता है, वह उदर भारी होनेसे स्वभावत: आलसी होगा। जो रसनाको संयत नहीं रख सकता, उससे दूसरी इन्द्रियोंके संयमकी आशा बहुत कम है। मनका भोजनसे सम्बन्ध है। **'जैसा खाय अन्न, वैसा बने मन।'** अतएव अनियमित भोजन करनेवाला मनपर नियन्त्रण नहीं रख सकता। साधकका आहार शुद्ध, सात्त्विक, पवित्र परिश्रमसे उपार्जित और परिमित होना चाहिये।

जहाँ साधनमें आहारकी अधिकता बाधक है, वहाँ उसका त्याग या अत्यल्पता भी बाधक है। इस दिशामें साधक प्राय: भूलें करते हैं। आहारका त्याग तो किसी दिनके विशेष व्रत या अस्वस्थ अवस्थाको छोड़कर कभी नहीं करना चाहिये। साथ ही आहारकी मात्रा इतनी हो और उसमें ऐसे पदार्थ हों, जो शरीरको पर्याप्त पोषण दे सकें।

एक सीधी-सी बात है कि भगवान् तपस्यासे नहीं मिलते और न तपसे मनपर विजय पायी जाती है। तपका फल केवल स्वर्ग है। क्योंकि तप स्वयं एक पुण्य है। यदि तपसे भगवान् मिलते होते तो सभी तप करते, सबसे बड़े तपस्वी महर्षि दुर्वासापर भगवान्का चक्र न चलता। यदि तपसे मन वशमें हो जाता तो घोर तपस्याके पश्चात् भी विश्वामित्रजीमें वसिष्ठसे बदला लेने और ब्रह्मर्षि कहलानेकी वृत्ति शेष न रहती।

'जबतक भगवान् न मिलें तबतक भोजन न करूँगा।' यह एक दुराग्रह है और भगवान् ऐसे दुराग्रहसे नहीं मिल सकते। वे मिलेंगे तो प्रेमसे। ऐसे हठी लोग जब अपने दुराग्रहसे कष्ट उठाकर विफल होते हैं तो अविश्वासी और नास्तिक हो जाते हैं।

इसी प्रकार दो मुट्ठी चने चबाकर या आहारको अत्यल्प करनेसे भी प्रभुके दर्शन नहीं हो सकते। ऐसे अपर्याप्त आहार या अनाहारकी अवस्थामें साधन नहीं होता। साधनकी पूर्णताके लिये मन स्वस्थ चाहिये और मन शरीरके स्वस्थ रहनेपर ही स्वस्थ रह सकता है। महापुरुषोंकी बात छोड़ दीजिये। साधकका मन ऐसी अवस्थामें या तो मूढ़ रहता है या भोजनकी चिन्ता करता है।

आहारको युक्त करनेका आदेश देनेके साथ भगवान् उसी स्वरमें आगे कह गये हैं, **'विहारस्य'।** विहार—शारीरिक क्रियाओंको भी संयत और परिमित रखना होगा। वस्त्र, भवन प्रभृति और घूमने-फिरने आदिको न तो पूरी तरह छोड़ना है और न उनके संग्रहमें ही व्यस्त हो जाना है।

वर्षा, धूप और सरदीमें खुले आकाशमें बैठकर तपस्या हो सकती है, साधन नहीं हो सकता। तपस्याके फलके सम्बन्धमें प्रथम कह चुका हूँ। इसी प्रकार केवल कौपीन पहनकर प्रत्येक अवस्थामें रहना भी तपस्या ही है। साधकमें महल बनाने और वस्त्राभूषणोंसे शरीरको सजानेकी कामना हो नहीं सकती। यदि हो भी तो इसे वह साधनमें सहायक नहीं मानेगा। अत: इस विषयमें कुछ कहना व्यर्थ है। पर इनके सर्वथा त्यागका हठ भी उसमें नहीं होना चाहिये। साधनको सुचारु रूपसे संचालित रखनेके लिये आवश्यक है कि वर्षा, धूप प्रभृतिसे रक्षित रहनेके लिये एक स्थान हो, चाहे वह फूसका झोपड़ा ही क्यों न हो। इसी प्रकार शरीरके शीतनिवारणार्थ कुछ वस्त्र हों, भले वे चिथड़े या टाट हों। व्यर्थमें शरीरपर दबाव डालनेसे साधन नहीं होता। फिर तपस्या ही होती है। शीत सह लो या ध्यान कर लो। साधक दोनों साथ-साथ नहीं कर सकता।

विहार शब्दके भीतर शरीरकी क्रियाएँ भी आती हैं। उन्हें भी नियत रखनेका इससे आदेश मिलता है। बहुत बोलना, बहुत चलना या घूमना, दृष्टि सदा चंचल रखना, ये सब साधनके बाधक हैं ही, परन्तु न बोलनेकी प्रतिज्ञा कर लेना, सदा नेत्र बंद ही रखना, आसनसे उठनेका नाम न लेना, कोठरी या आश्रमसे न निकलनेका व्रत करना, ये सब भी साधन नहीं हैं। तपस्या ही हैं।

सबसे पहली हानि तो यह है कि आप जिस अंगसे काम न लेंगे, वह दुर्बल और निकम्मा हो जायगा। उससे फिर कोई काम नहीं लिया जा सकेगा। दूसरी और प्रबल हानि है मनका संघर्ष। आप जिस कामको न करनेकी प्रतिज्ञा करेंगे, मन उसे बार-बार करना चाहेगा। छोटी-सी आवश्यकताको भी वह तूल देगा। अधिकांश समय उससे संघर्ष करनेमें जायगा। साधनमें मन न लगकर उस रोके हुए कामको करनेकी

सोचता रहेगा। साधन तो छूट जायगा और वह निषेध ही साधन हो जायगा। संसारमें बहुत गूँगे, अन्धे, लूले, लँगड़े हैं। आपने घोर द्वन्द्व करके मनको परास्त किया और वैसे बने तो क्या लाभ? इस तपस्यासे आपको स्वर्ग तो पाना नहीं, फिर साधनके मार्गमें ये रोड़े क्यों अटकाये जायँ?

'युक्तचेष्टस्य कर्मसु'—कर्मोंमें नियमित चेष्टा भी हो। साधकके लिये दिन-रात्रि कार्यव्यस्त रहना, इतना परिश्रम करना कि शरीर श्रान्त हो जाय, कर्मोंमें इतना आसक्त होना और उनकी इतनी उलझन सिरपर ले लेना कि सोते समय भी उन्हींका स्वप्न दिखायी दे, उपयुक्त नहीं है। ऐसा कार्यव्यग्रपुरुष साधन नहीं कर सकता। ऐसा व्यक्ति यदि कुछ समय निकाल भी ले, तो भी उस समय उसका मन उन्हीं उलझनोंमें पड़ा रहेगा। साधनसे उठनेकी शीघ्रता रहेगी और एकाग्रता प्राप्त न हो सकेगी।

जैसे कर्मोंका आधिक्य साधनमें बाधक है, वैसे ही उनका सर्वथा अभाव भी। मेरी समझसे यह अवस्था पहलीसे अधिक खराब है। प्रायः साधक भ्रमवश इस अवस्थाको पाना अच्छा मानते हैं और इसके लिये प्रयत्न भी करते हैं। किन्तु इससे उत्पन्न होनेवाली बाधाओंको वे देखते ही नहीं।

अनुष्ठानोंकी बात छोड़ दीजिये। एक दिनसे लेकर साल-दो-सालके भी अनुष्ठान हो सकते हैं और उस समय यदि अनुष्ठान बड़ा हुआ तो दूसरे कार्यके लिये समय नहीं मिलता। अनुष्ठान भी एक साधन अवश्य है, पर वह **'अभ्यासवैराग्याभ्यां·····'** वाला मनोनिरोधका साधन नहीं। यदि अनुष्ठान सकाम हुआ तो कामनासिद्धि और निष्काम हुआ तो पापक्षय होता है। उसके द्वारा मनोनिरोध नहीं होता। बहुत अंशोंमें अनुष्ठान मनपर बलप्रयोग करके होता है और यह मनोनिरोधके विपरीत दशामें भी ले जानेका कारण हो सकता है। ऐसा अधिकांश देखनेमें आया है कि अनुष्ठानके पश्चात् कामनाएँ प्रबल हो उठती हैं।

अनुष्ठान भी एक प्रकारका आवेश है और आवेश सदा नहीं रह सकता। जो साधक बार-बार अनुष्ठान करके लक्ष्यको प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं एवं अभ्यासके राजमार्गको छोड़ देते हैं, निश्चय ही उनमें कष्ट-सहिष्णुता और राजस आवेग बहुत अधिक होता है। यह आवेग उनके धैर्यको नष्ट कर देता है। उनमें उतावलापन आ जाता है। विफल होनेपर जो कि बलप्रयोग अनिवार्य परिणाम है, या तो वे आत्महत्या करके उद्देश्यको प्राप्त करनेकी भ्रान्त आशा करते हैं, अथवा धर्म और ईश्वरको मूर्खोंकी कल्पना बताने लगते हैं।

दो बातें स्मरण रखनी चाहिये—मन एक ही कार्यमें बराबर नहीं लगा रह सकता और शरीरका प्रभाव मनपर अवश्य पड़ता है। निरन्तर भजन, पूजन, ध्यान करते रहना किसी महापुरुषके लिये भले सम्भव हो, पर साधकके लिये नहीं। साधक यदि चाहेगा कि उसका प्रत्येक समय सात्त्विक एवं आध्यात्मिक कार्योंमें जाय तो वह अपने साधनको राजस बना लेगा। उसका मन सदा सत्त्वगुणमें रहनेमें समर्थ नहीं। मनको कोई लौकिक कार्य दिया नहीं जाता। फलतः जो कार्य हैं, उन्हींमें वह राजसिकता एवं तामसिकता लावेगा, धीरे-धीरे वह ऐसा करनेका आदी हो जायगा और फिर साधनसे उसे कोई सात्त्विकता प्राप्त नहीं होगी।

साधक साधनसे उठे तो उसमें स्फूर्ति, आनन्द और प्रसन्नता भरी होनी चाहिये। वह सत्त्वगुणसे उठकर आया है, यह स्पष्ट ज्ञात होना चाहिये। यदि बात-बातमें झल्लाहट हो, स्वभाव चिड़चिड़ा हो उठे, साधनमें या उठनेपर आलस्य ज्ञात हो तो समझना होगा कि उसके मनने साधनसे सात्त्विकता ग्रहण नहीं की। उसने साधनको एक कार्य समझ लिया जो उसपर बलात् लादा गया है। वह उससे राजस या तामस प्रभाव ग्रहण कर रहा है। इस अवस्थासे बचनेका यही उपाय है कि साधक पहले साधनकाल थोड़ा रखे और धीरे-धीरे बढ़ावे। जितनी देर प्रसन्नतासे मन लगे, साधन किया जाय। उस समय ऐसा अवसर ही न आने दे कि मनको राजस, तामस अवस्थामें जाना पड़े।

यह प्रश्न हो सकता है कि साधक साधनकाल तो थोड़ा रखे तो फिर शेष समय क्या करे? करनेके लिये बहुत काम हैं, उसे अपनी रुचिके अनुसार कोई काम चुन लेना चाहिये। केवल इतना ध्यान रहे कि वे काम पवित्र हों, पतनोन्मुख करनेवाले न हों और मन उनमें लगता हो। उसे बलात् न लगाना पड़े। कथा, मन्दिर-दर्शन, सत्संग, बच्चोंको पढ़ाना, दीन एवं रोगीकी सेवा, घरका कोई काम या व्यापार कुछ भी करे; पर पड़ा न रहे।

मनको स्वस्थ रखनेके लिये शरीरको स्वस्थ रहना चाहिये। साधकके लिये यह और भी आवश्यक है।

अत: काम ऐसे चुनने चाहिये जिनमें शरीरके लिये पर्याप्त परिश्रम मिले। केवल मानसिक परिश्रमके काम पर्याप्त नहीं। मानसिक परिश्रम तो साधनमें भी हो जाता है। शारीरिक परिश्रम न करनेसे शरीर दुर्बल हो जायगा, फलत: मनपर उसका हानिकर प्रभाव पड़ेगा। स्वस्थ मन स्वस्थ शरीरमें ही रहता है। इन बातोंको स्मरण रखकर साधक कार्य चुन ले। केवल पारमार्थिक कामोंमें रुचि होना बहुत कठिन है। आरम्भिक साधकके लिये यही मार्ग सुगम है कि वह लौकिक कार्योंको न छोड़े। उन्हें नियमित रूपसे करता हुआ साधनका समय सुरक्षित कर ले। प्रत्येक आरम्भिक साधक यदि अपनी रुचिके अनुकूल कोई लौकिक कार्य जो निर्दोष हो, करता रहे तो वह साधनमें आनेवाले विघ्नोंसे बहुत कुछ सुरक्षित रह सकेगा।

'युक्तस्वप्नावबोधस्य'—सोने और जागनेमें भी संयम रखे। रात-दिन पड़े रहनेवाला आलसी कहीं साधक हो सकता है? ठीक ऐसे ही रात-रात जागरण करके भी साधन नहीं होता। जागरण जो अस्वाभाविक हो, वायुको कुपित करता और शरीरमें आलस्य भर देता है। ऐसे समय मन चंचल भले न हो; किन्तु साधनके लिये तत्पर भी नहीं रह सकता। तमोगुणकी मूढ़ दशा रहती है। अत: साधकको उतनी निद्रा अवश्य लेनी चाहिये जो स्वास्थ्यके लिये आवश्यक है।

बार-बार ऊँघते हुए ध्यान या जप करनेसे कोई लाभ नहीं। अच्छा यही होगा कि यदि साधनके समय नींद तंग करती है तो शरीरको बलपूर्वक खड़ा या बैठा न रखे। उस समय जाकर सो रहना अच्छा है। थोड़ी देर सो लेनेके पश्चात् पुन: उठकर जब साधक साधनमें लगेगा तो वह नींद पूरी हो जानेसे अपनेमें स्फूर्तिका अनुभव करेगा। उसका मन प्रसन्नतासे उसकी आज्ञा मानकर साधनमें एकाग्र हो जायगा।

'योगो भवति दु:खहा'—भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार अति और पूर्णत: निरोधसे बचकर मध्यम मार्गसे चलनेवाले साधकका योग—साधन दु:ख—संसारके आवागमन घोर क्लेश एवं दैहिक, दैविक तथा मानसिक त्रिविध तापोंका नाशक होता है। इसके पूर्वके श्लोकमें भगवान्ने स्पष्ट कहा है—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नत:।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥

(गीता ६। १६)

'अर्जुन! योग (साधन) न तो बहुत भोजन करनेवाले कर सकते और न सर्वथा उपवास करके रहनेवाले। वह बहुत सोनेवालोंके बसका नहीं और सदा जागते रहनेवाले भी उसे अपनानेमें असमर्थ हैं।'

इस प्रकार आहार, विहार, चेष्टा, कर्म, निद्रा, जागर प्रभृति जीवनके जितने भी कर्म हैं, उनको नियमित करके साधकको अपने साधनपथमें बढ़ना चाहिये। यदि उसने किसीके त्यागका हठ किया तो साधन चल नहीं सकेगा। या तो वह बार-बार परिश्रम करके फिर हताश हो जायगा अथवा लौटकर अपनी भूल उसे सुधारनी पड़ेगी। बुद्धिमानी इसीमें होगी कि आरम्भसे ऐसी भूल न की जाय।

मैं निबन्धके मध्यमें कथा, सत्संग, तीर्थवास, देवदर्शन, मौन, अनुष्ठान प्रभृतिके विषयमें बहुत कुछ ऐसी बातें लिख आया हूँ जो किसीमें कुछ विपरीत धारणा उत्पन्न कर सकती हैं। उनका स्पष्टीकरण हो जाना चाहिये। उपर्युक्त सभी कार्य पवित्र हैं और उनसे सात्त्विकताकी उपलब्धि होती है। उनका निषेध किसीको भी अभीष्ट नहीं हो सकता। इतना अवश्य है कि उनका उपयोग इस प्रकार हो जिसमें अधिक-से-अधिक लाभ हो।

सारांश यह है कि साधकको अपने सम्मुख यह सिद्धान्त सदा रखना चाहिये कि 'बलप्रयोग मत करो! किसीकी अति मत करो!' उसे यदि अतिकी सीमापर पहुँचाना है तो केवल अपने साधनको। वह भी बलपूर्वक नहीं, अभ्यासके द्वारा उसके लिये मध्यम मार्गमें स्थित होकर साधन करना ही राजमार्ग है। इसीके द्वारा वह अपने लक्ष्यतक सरलतासे पहुँच सकेगा। उसे सुननेमें सुन्दर लगनेवाली उत्तेजनात्मक बातोंसे सावधान रहना चाहिये। वे केवल रुचि उत्पन्न करनेके लिये हैं। क्रियात्मक मूल्य उनका उतना नहीं। क्रियात्मकरूपमें तो धैर्य और संयम चाहिये।

॥ श्रीहरि: शरणमस्तु॥

शक्तिपातसे आत्मसाक्षात्कार

(लेखक—श्रीवामन दत्तात्रेय गुलवणी)

अद्वैतानन्दपूर्णाय व्यासशङ्कररूपिणे।
नमोऽस्तु वासुदेवाय गुरवे सर्वसाक्षिणे॥
जन्तूनां नरजन्म दुर्लभमतः पुंस्त्वं ततो विप्रता
तस्माद्वैदिकधर्ममार्गपरता विद्वत्त्वमस्मात्परम्।
आत्मानात्मविवेचनं स्वनुभवो ब्रह्मात्मना संस्थिति-
र्मुक्तिर्नो शतकोटिजन्मसु कृतैः पुण्यैर्विना लभ्यते॥

(विवेकचूडामणि)

भगवान् श्रीमत् शंकराचार्यजी महाराजने इन श्लोकोंमें इस जगत्‌में आये हुए जीवके विकासकी पराकाष्ठाका वर्णन किया है। अत्यन्त सूक्ष्म जन्तुसे विकासके होते-होते दुर्लभ मनुष्य-जन्मलाभ होता है। फिर इसके आगे मनुष्यमें भी पुरुष-जन्म है और फिर पुरुष-जन्ममें भी विप्रता है। इससे भी आगे बढ़नेपर वैदिक धर्ममार्गपरता है, फिर विद्वत्ता है। विद्वत्तासे आत्मानात्मविवेक है। तब श्रेष्ठ अनुभव है, 'मैं ही वह ब्रह्म हूँ' इस भावकी अखण्ड स्थितिरूप मुक्ति है। '**सा काष्ठा सा परा गतिः**' वही हद है, वही परा गति है। ऐसी मुक्ति असंख्य-जन्मकृत पुण्यबलके बिना दुर्लभ है।

मनुष्य-जन्मका लाभ भगवत्कृपासे ही हुआ करता है, यह बात माननी पड़ेगी। कारण, पशु आदि निम्न योनियोंमें पुण्य-पापफलरूप कर्म होता ही नहीं अर्थात् मनुष्य-जन्मके होनेमें इस प्रकारका कोई कर्म कारण न होनेसे भगवत्कृपाके सिवा और कोई कारण मनुष्य-जन्मका नहीं माना जा सकता। परन्तु मनुष्य-जन्म होनेके बादका जो मार्ग है उसपर आरूढ़ होनेके लिये मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह अपने पुण्यकर्मके द्वारा ईश्वरानुग्रह प्राप्त करे। दुर्लभ मानव-जन्मलाभ करके भी जो मनुष्य आत्ममुक्तिके साधनमें यत्नवान् नहीं होता उससे बड़ा आत्महन्ता और कौन हो सकता है?

इतः को न्वस्ति मूढात्मा यस्तु स्वार्थे प्रमाद्यति।
दुर्लभं मानुषं देहं प्राप्य तत्रापि पौरुषम्॥

वैदिक धर्मके अन्तर्गत निज-निज वर्णाश्रम-धर्मके अनुसार नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका आचरण करना ही ईश्वराराधन है, यह जानकर जो इसका पालन करता है, उसे ईश्वरका प्रसाद प्राप्त होता है।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

इस स्वकर्माचरणसे मलविक्षेपका नाश होता है और उससे चित्त शुद्ध और स्थिर होता है। तब ईश्वरीय प्रसादसे ही शास्त्रश्रवणके द्वारा नित्यानित्यविवेक होता है और उसके फलस्वरूप वैराग्य उत्पन्न होता और मोक्षकी ऐसी तीव्र इच्छा होती है। मोक्षकी ऐसी तीव्र इच्छा रखनेवाले मुमुक्षुको भगवत्प्रसादसे सद्‌गुरु प्राप्त होते हैं।

ईश्वराराधनधिया स्वधर्माचरणात्सताम्।
ईशप्रसादस्तद्रूपः सुलभश्चात्र सद्‌गुरुः॥

सद्‌गुरु-सेवनसे उनका प्रसाद प्राप्त होता है और उससे असम्भावना और विपरीत भावनारूप प्रतिबन्ध कट जाते हैं और महावाक्योपदेशसे तुरंत मोक्षलाभ होता है—'**ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः।**'

सद्‌गुरोः सम्प्रसादेऽस्य प्रतिबन्धक्षयस्ततः।
दुर्भावनातिरस्काराद्विज्ञानं मुक्तिदं क्षणात्॥

यह अनादि स्वप्नभ्रमरूप संसार अपने-आप ही निरस्त नहीं होता। केवल एक ईश्वर और तदभिन्न सद्‌गुरुके प्रसादसे ही इसका निरास होता है।

अनादिस्वप्नभ्रमोऽयं न स्वयं विनिवर्तते।
किन्तु स्वदैवयोगाप्तदैवाचार्यप्रसादतः॥

और यह सद्‌गुरुप्रसाद उन्हींकी अनन्य भावसे सेवा करके ही प्राप्त किया जाता है, अन्य किसी उपायसे यह सम्भव नहीं।

'अयं गुरुप्रसादस्तत्तोषात्प्राप्यो न चान्यथा।'
'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।'

'आत्मविद्या चानन्तर्मुखस्य गुरुकारुण्यरहितस्य न वेदशास्त्रमात्रेणोत्पद्यते।' तथा च श्रुतिः—

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।' इति।

गुरुकारुण्यरहित बहिर्मुख पुरुष केवल बुद्धिके बलपर, बहुत-सा श्रवण करके या प्रवचनसे आत्मविद्या नहीं पा सकता।

योगवासिष्ठमें यद्यपि कहा है कि, '**ज्ञप्तेस्तु कारणं राम शिष्यप्रज्ञैव केवलम्**' (अर्थात् हे राम! ज्ञप्तिका कारण केवल शिष्यकी प्रज्ञा ही है), तथापि—

परिपक्वमला ये तानुत्सादनहेतुशक्तिपातेन।
योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाचार्यमूर्तिस्थः॥

इत्यादि आगमवाक्योंसे यही स्पष्ट होता है कि इसमें गुरुप्रसाद ही मुख्य कारण है। '**यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ**' इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे भी यही प्रतिपन्न होता है। गुरुप्रसाद अथवा ईश्वरप्रसाद सच्छिष्यको शक्तिपातसे प्राप्त होता है और शक्तिपातके साथ महावाक्यका उपदेश होनेसे शिष्य कृतकार्य हो जाता है।

शक्तिपातेन संयुक्ता विद्या वेदान्तवाक्यजा।
यदा यस्य तदा तस्य विमुक्तिर्नात्र संशयः॥

'वेदान्तवाक्यसे प्राप्त विद्या जब शक्तिपातके साथ जिसमें संयुक्त होती है, तब उसी क्षण वह मुक्त हो जाता है—इसमें कोई संशय नहीं।'

ऐसे शक्तिसम्पन्न सद्‌गुरुकी शरणमें जानेको कहते हुए श्रीमद्‌वासुदेवानन्द सरस्वतीने अपने 'वृद्धशिक्षा' नामक वेदान्तग्रन्थमें यह वाक्य दिया है—'**विशारदं ब्रह्मनिष्ठं श्रोत्रियं गुरुमाश्रयेत्।**' (**श्रोत्रियम्** अर्थात् **शब्दब्रह्म-निष्णातम्, ब्रह्मनिष्ठम्—संजातापरोक्षसाक्षात्कारम्, विशारदम्—लौकिकादिदृष्टान्तोपपत्त्यादिना शक्तिपातेन च वाक्यार्थग्राहयितारं गुरुम् आश्रयेत्।**) गुरु यदि श्रोत्रिय हों, ब्रह्मनिष्ठ हों, पर उनमें यदि शक्तिपात करनेकी सामर्थ्य न हो तो शिष्यको उसी क्षण साक्षात्कार नहीं हो सकता।

शक्तिपातविहीनोऽपि सत्यवाग् गुरुभक्तिमान्।
आचार्याच्छ्रुतवेदान्तः क्रमान्मुच्येत बन्धनात्॥

'गुरु-भक्तियुत शिष्य शक्तिपातरहित होकर भी वेदान्त-वाक्यके श्रवण, मनन, निदिध्यासनसे प्रतिबन्धक्षय होनेपर क्रमशः बन्धनसे मुक्त होता है।'

सूतसंहितामें मायाके बाधका मुख्य साधन इस प्रकार वर्णित हुआ है—

तत्त्वज्ञानेन मायाया बाधो नान्येन कर्मणा।
ज्ञानं वेदान्तवाक्योत्थं ब्रह्मात्मैकत्वगोचरम्॥
तच्च देवप्रसादेन गुरोः साक्षान्निरीक्षणात्।
जायते शक्तिपातेन वाक्यादेवाधिकारिणाम्॥

'तत्त्वज्ञानसे मायाका निरास होता है, अन्य किसी कर्मसे नहीं होता। यह तत्त्वज्ञान अधिकारी शिष्यको देवप्रसादके द्वारा शक्तिपातपूर्वक ब्रह्मसे आत्माके अभिन्नत्वका प्रतिपादन करनेवाले वेदान्त-महावाक्यसे ही होता है।' ऐसे शक्तिपातपूर्वक ज्ञानोपदेश करनेवाले सद्‌गुरुकी महिमा सभी धर्मोंके ग्रन्थोंमें गायी गयी है। हमारे देशके सभी सत्पुरुष परमेश्वरसे अथवा शक्तिसम्पन्न सद्‌गुरुसे ही प्राप्त ज्ञानसे सम्पन्न होनेके कारण उनके ग्रन्थोंमें सद्‌गुरुकृपाकी महिमाका सर्वत्र ही बखान हुआ है।

भगवान् श्रीमत् शंकराचार्यप्रणीत 'शतश्लोकी' के पहले श्लोकमें शक्पिातपूर्वक ज्ञानदान करनेवाले सद्‌गुरुका बड़ा ही सुन्दर वर्णन है—

दृष्टान्तो नैव दृष्टस्त्रिभुवनजठरे सद्‌गुरोर्ज्ञानदातुः
स्पर्शश्चेत्तत्र कल्प्यः स नयति यदहो स्वर्णतामश्मसारम्।
न स्पर्शत्वं तथापि श्रितचरणयुगे सद्‌गुरुः स्वीयशिष्ये
स्वीयं साम्यं विधत्ते भवति निरुपमस्तेन वा लौकिकोऽपि॥

'इस त्रिभुवनमें ज्ञानदाता सद्‌गुरुके लिये देनेयोग्य कोई दृष्टान्त ही नहीं दीखता। उन्हें पारसमणिकी उपमा दें तो यह भी ठीक नहीं जँचती, कारण, पारस लोहेको सोना तो बना देता है पर पारस नहीं बनाता। परन्तु सद्‌गुरुचरणयुगलका आश्रय करनेवाले शिष्यको सद्‌गुरु निज साम्य ही दे डालते हैं। इसलिये सद्‌गुरुकी कोई उपमा नहीं।'

शतश्लोकीके १९ वें श्लोकमें चाक्षुषी दीक्षाद्वारा शक्तिपातका वर्णन है—

तद्ब्रह्मैवाहमस्मीत्यनुभव उदितो यस्य कस्यापि चेद्वै
पुंसः श्रीसद्‌गुरूणामतुलितकरुणापूर्णपीयूषदृष्ट्या।
जीवन्मुक्तः स एव भ्रमविधुरमना निर्गतेऽनाद्युपाधौ
नित्यानन्दैकधाम प्रविशति परमं नष्टसन्देहवृत्तिः॥

'श्रीसद्‌गुरुकी अतुलित करुणामयी अमृतदृष्टिसे यदि किसीके यह अनुभव उदय हो जाय कि 'मैं ब्रह्म हूँ' तो उसका मन भ्रमरहित हो जाता है। उसीसे उसके सब संशय नष्ट होते हैं और वह जीवन्मुक्त होता है। उसकी अनादि उपाधि नष्ट होनेपर वह विगतसन्देह पुरुष परमनित्यानन्दधाममें प्रवेश करता है।'

'सुप्रसिद्ध महात्मा श्रीएकनाथ महाराजकृत 'एकनाथी

भागवत' (श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धकी मराठी टीका-में यदु-अवधूत-संवादके अन्तर्गत श्रीदत्तात्रेयद्वारा यदुको आलिंगन कर स्पर्शदीक्षा देकर आत्मबोध करानेके प्रसंगका बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन है—'यह सद्‌गुरुकथा तुमसे परमार्थसिद्धिके लिये कही।' यह कहकर 'अवधूतने बड़े ही हर्षोत्फुल्ल अन्त:करणसे राजा यदुको अपने हृदयसे लगा लिया और दोनों एक ही आत्मबोधमें एक हो गये। जीने जीको पकड़ लिया और सारी सृष्टिमें आनन्दका समुद्र उमड़ आया। उससे वाणीकी गति रुक गयी, उलटकर बोलना वह भूल गयी। हृदयभुवनमें जब यह महान् हर्ष नहीं समाया तब वह स्वेद बनकर बाहर उमड़ पड़ा। नेत्राकाशमें आनन्दके मेघ छा गये और स्वानन्दवारिकी वर्षा करने लगे। अहंकारकी बेड़ियाँ टूट गयीं, भवार्णवके उस पार पहुँच गये। प्रगाढ़ अज्ञान—अविद्यापर जो विजय पायी उसीकी वैजयन्ती खड़ी की रोमाञ्चके रूपमें। सारा देहभाव समूल नष्ट हो गया, इसीसे देहके सब अङ्ग काँपने लगे। सङ्कल्प-विकल्प जाता रहा, मनका मनोरथ मिट गया। जीव-भाव जो कुछ था, वह सम्पूर्ण राजा यदुने श्रीसद्‌गुरु अवधूतके चरणोंमें अर्पण कर दिया। वही चिह्न उनके अङ्ग-अङ्गपर दीख पड़ने लगा।' अवधूत स्वयं दत्तात्रेय हैं, उन्होंने राजा यदुको आलिङ्गन कर इस प्रकार अपने स्वरूपका उन्हें अनुभव—बोध कराया। इस गुरु-शिष्य-संवादका वर्णन करते हुए श्रीएकनाथ महाराजका हृदय श्रीगुरुभक्तिसे इतना भर आया कि इसके बाद ही उन्होंने अपने गुरु श्रीजनार्दन स्वामीपर किस प्रकार श्रीगुरु दत्तात्रेयका अनुग्रह हुआ, इसका भी वर्णन कर दिया है। भगवान् दत्तात्रेयकी शिष्य-परम्परा बतलाते हुए महाराज कहते हैं कि 'पहले शिष्य सहस्रार्जुन हुए, दूसरे यदु हुए और तीसरे कलियुगमें जनार्दन स्वामी हुए। गुरु कब कैसे मिलेंगे, इसी चिन्तामें जनार्दन स्वामीके दिन बीत रहे थे। सद्‌गुरुचिन्तन करते-करते यहाँतक हालत हो गयी कि स्वामी तीनों अवस्थाएँ भूल गये। भगवान् भावके ही तो भूखे हैं, उन्होंने इनके सुदृढ़ अनन्य भावको जाना। श्रीगुरु दत्तात्रेय सामने आकर प्रकट हुए और उनके मस्तकपर उन्होंने अपना हाथ रखा। हाथके रखते ही चिन्मय स्वरूप जाग उठा, प्रपञ्चके मूलका मिथ्यात्व प्रकट हुआ। स्वबोध ही स्वरूप है, इसकी प्रतीति हुई। कर्म करके भी अकर्ता बने रहनेकी स्थितिका जो अकर्तात्मबोध है वह उन्हें श्रीगुरुसे प्राप्त हुआ; देहके रहते हुए भी विदेहता उन्हें तत्त्वत: प्राप्त हो गयी। गृहस्थाश्रमको बिना छोड़े, कर्मरेखाको बिना लाँघे, अपना सब काम करते रहनेकी अवस्थामें ही उन्हें वह बोध मिला, जो नहीं मिला करता। और उसके मिलते ही मन अमन हो गया, उसमें मनपना कुछ रह ही न गया, वह अवस्था उनमें न समा सकी और वे मूर्च्छित हो गये। तब उन्हें सचेत करके श्रीगुरुने कहा कि, 'प्रेम सत्त्वकी अवस्था है, इसे भी पी जाओ और निजबोधमें स्थित होकर रहो।' जनार्दन स्वामी उठे और श्रीगुरुकी पूजा करके उनके चरणोंपर गिरे। बस, इसी अवकाशमें गुरु दत्त योगमायाका आश्रय कर अदृश्य हो गये।'

उपर्युक्त दोनों ही उदाहरणोंमें शक्तिपातके सभी लक्षण आ गये हैं—

देहपातस्तथा कम्पः परमानन्दहर्षणे।
स्वेदो रोमाञ्च इत्येतच्छक्तिपातस्य लक्षणम्॥

महाराष्ट्र-संतशिरोमणि श्रीज्ञानेश्वर महाराजने श्रीमद्भगवद्गीताकी अपनी ज्ञानेश्वरी (भावार्थदीपिका) टीकामें शक्तिपातका इस प्रकार वर्णन किया है—'यह दृष्टि जिसपर चमकती है अथवा यह करारविन्द जिसे स्पर्श करता है वह होनेको तो चाहे जीव ही हो पर बराबरी करता है महेश्वर श्रीशङ्करकी।'

भक्तराज अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णने शक्तिपात करके किस प्रकार आत्मानुभव कराया, इसका वर्णन श्रीज्ञानेश्वर महाराज करते हैं—'तब शरणागत भक्तशिरोमणि अर्जुनको उन्होंने अपना सुवर्णकङ्कणविभूषित दक्षिण बाहु फैलाकर अपने हृदयसे लगा लिया। हृदय-हृदय एक हो गये। इस हृदयमें जो था वह उस हृदयमें डाल दिया। द्वैतका नाता बिना तोड़े अर्जुनको अपने-जैसा बना लिया।'

ऐसे सद्‌गुरु सच्छिष्यको आप ही मिलते हैं। शिष्यको उनकी ढूँढ़—खोज नहीं करनी पड़ती। श्रीज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं, 'जब कर्मसाम्यकी अवस्था आती है तब सद्‌गुरु स्वयं ही आकर मिलते हैं।'

चाक्षुषी आदि दीक्षाओंके द्वारा जो शक्तिपात किया जाता है, वह शिष्यका कर्मसाम्य होनेपर ही फलप्रद होता है, उससे पहले नहीं।

अधर्मधर्मयोः साम्ये जाते शक्तिः पतत्यसौ।
ज्ञानात्मिका परा शक्तिः शम्भोर्यस्मिन्निपातिता॥
तस्य शिष्यस्य विप्रेन्द्राः कर्मसाम्ये सति द्विजाः।
शाम्भवी शक्तिरत्यर्थं तस्मिन्पतति चिद्घने॥

जन्तोरपश्चिमतनोः सति कर्मसाम्ये
निःशेषपाशपटलच्छिदुरा निमेषात्।
कल्याणदेशिककटाक्षसमाश्रयेण
कारुण्यतो भवति शाम्भववेधदीक्षा॥

तात्पर्य इसका श्रीविद्यारण्य स्वामीकी इस टीकासे ध्यानमें आ जायगा—

कर्मसाम्ये सतीति। परमेश्वरानुग्रहवशाद्दीक्षा-संस्कारेण भाविजन्मापादककर्मक्षयाद्वर्तमानजन्मनि च सुखदुःखहेतुभूतयोः पुण्यपापयोः उपभोगेन क्षीणत्वादारब्धफलयोः सञ्चितवर्तमानकर्मणोः क्षयसाम्ये सतीत्यर्थः।

इस प्रकार जिस अधिकारी शिष्यमें आचार्यके द्वारा चाक्षुषी प्रभृति दीक्षाके द्वारा परमेश्वरकी ज्ञानात्मिका परा शक्तिका पात किया जाता (या शक्ति प्रेरित की जाती) है, उसीमें इस शक्तिका संचार होता है।

इसपर यह शंका की जा सकती है कि इस शक्ति शब्दसे यदि अद्वैत चिति अभिप्रेत है तो वह तो स्व-स्वरूपभूत अनन्त और अमूर्त है, इसलिये उसका पात असम्भव है। यदि यह शक्ति स्वस्वरूपसे कोई भिन्न वस्तु है तो उसे 'ज्ञानात्मिका' और 'परा' नहीं कह सकते।

समाधान—शक्तिसे यहाँ अभिप्राय चिति शक्तिका ही है और चिति अद्वैतात्मस्वरूप ही है और उसका पात होना इत्यादि जो कुछ है, औपचारिक है। श्रीमन्माधवाचार्यने इसका रहस्य इस प्रकार अपनी टीकामें लिखा है—

अयमत्र रहस्यांशः—परमेश्वरस्वरूपभूतत्वेन सर्वगतायाः परशक्तेः पतनासम्भवाच्छिष्यस्यात्मनि प्रागेवावस्थिता सा पाशजालावृतत्वेन तिरोहिता सती दीक्षासंस्कारेणावरणापगमे सत्यभिव्यक्तिमासादयन्ती पतितेत्युपचर्यते। ऊर्ध्वदेशादधोदेशप्राप्तिर्हि पतनं न खलु तादृशमस्याः सम्भवतीति। आगमेऽप्युक्तम्—

व्यापिनी परमा शक्तिः पतितेत्युच्यते कथम्।
ऊर्ध्वादधोगतिः पातो मूर्तस्यासर्वगस्य च॥
सत्यं सा व्यापिनी नित्या सहजा शिववत्स्थिता।
किन्त्वियं मलकर्मादिपाशबन्धेषु संवृता।
पक्वपाकेषु सुव्यक्ता पतितेत्युपचर्यते॥

परमेश्वरस्वरूपा सर्वगत पराशक्तिका पात होना तो असम्भव है। अतः शिष्यमें आत्मस्वरूपभूत जो पराशक्ति पहलेसे ही मौजूद है जो मल-कर्मादि पाशबन्धसे घिरी हुई है उसे ही, दीक्षा-संस्कारके द्वारा, आवरणको हटाकर, अभिव्यक्त किया जाता है। इसके इस अभिव्यक्त होनेको ही शक्तिपात कहा जाता है।

यदि केवल शक्तिपातसे ही अज्ञानकी निवृत्ति होती हो तो '**तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि**' इत्यादि श्रुतिवाक्योंकी संगति कैसे लगे? दीक्षादिके द्वारा ज्ञानके प्रतिबन्धका जब नाश हुआ तब '**गुरुणोपदिष्टं साक्षान्महावचनमेव विमुक्तिहेतुः**' यह सिद्धान्त बाधित नहीं होता। शक्तिपात कैसे होता है, आगेके श्लोकमें यही बात कही गयी है—

तदा शिष्यस्य चिद्रूपे कल्पिता मोहरूपिणी।
माया दग्धा भवेत्किञ्चित्तदा पतति विग्रहः॥

इस श्लोकपर श्रीमन्माधवाचार्यकी टीका है—

शिष्यस्य चिद्रूपे स्वात्मनि चिच्छक्तितिरोधायिका हेयोपादेयविवेकज्ञानमावृण्वती मोहात्मिका या मायाश्रिता सा सच्चिद्रूपिण्याः शिष्यस्य स्वात्मन्यभिव्यक्तायाः परशक्तेः प्रसादेन किञ्चिदपसरतीत्यर्थः। तदा पतति विग्रहः। मायासम्बन्धनिबन्धनो ह्यात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वादि-सम्बन्धस्तथाविधस्यात्मनः स्वोपभोक्तव्यसुखदुःखहेतु-भूतपुण्यपापात्मककर्मबन्धनो भोगायतनभूतदेहेन सम्बन्धस्तथा च शक्तिपातेन मायाया अपसरणादात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वादिबन्धशैथिल्ये पुण्यपापनिमित्तस्य देहसम्बन्धस्यापि गलितत्वात्तदभिमानाभावेन तत्पात इत्यर्थः।

दर्शनात्स्पर्शनाच्छब्दात्कृपया शिष्यदेहके।
जनयेद्यः समावेशं शाम्भवं स हि देशिकः॥

इत्यादि योगवासिष्ठोक्त लक्षणोंसे युक्त गुरुके द्वारा जब शक्तिपात किया जाता है तब शिष्यमें अभिव्यक्त होनेवाली पराशक्तिके प्रसादसे शिष्यकी अन्तःस्थ चिच्छक्तिको ढाँके हुई (हेयोपादेय ज्ञानको आवृत करनेवाली) काया किञ्चित् हट जाती है और उससे देहाभिमान नष्ट होता है तथा देहाभिमानके नष्ट होनेसे देहपात होता है।

देहपातादि लक्षण आगममें इस प्रकार बताये हैं—

देहपातस्तथा कम्पः परमानन्दहर्षणे।
स्वेदो रोमाञ्च इत्येतच्छक्तिपातस्य लक्षणम्॥

निद्रा, मूर्च्छा, घूर्णा आदि और भी कई लक्षण अन्यत्र दिये हैं। यह जो शक्तिपातरूप परमेश्वरप्रसाद

है, वह कर्मसाम्यको प्राप्त शिष्यमें उत्पन्न होता है। उसका महत्त्व तथा शक्तिपातके और भी कुछ लक्षण सूतसंहितान्तर्गत ब्रह्मगीताके चतुर्थ अध्यायमें विस्तारके साथ वर्णित हैं, यथा—

प्रसादो नाम रुद्रस्य कर्मसाम्ये तु देहिनाम्।
देशिकालोकनाज्ज्ञातो विशिष्टातिशयः सुराः॥
प्रसादस्य स्वरूपं तु मया नारायणेन च।
रुद्रेणापि सुरा वक्तुं न शक्यं कल्पकोटिभिः॥
केवलं लिङ्गगम्यं तु न प्रत्यक्षं शिवस्य च।
शिवायाश्च हरेः साक्षान्मम चान्यस्य चास्तिकाः॥

लक्षणानि—

प्रहर्षः स्वरनेत्राङ्गविक्रिया कम्पनं तथा।
स्तोमः शरीरपातश्च भ्रमणं चोद्गतिस्तथा॥
आकाशेऽवस्थितिर्देवाः शरीरान्तरसंस्थितिः।
अदर्शनं च देहस्य प्रकाशत्वेन भासनम्॥
अनधीतस्य शास्त्रस्य स्वत एव प्रकाशनम्।
निग्रहानुग्रहे शक्तिः पर्वतादेश्च भेदनम्॥
एवमादीनि लिङ्गानि प्रकाशस्य सुरर्षभाः।
तीव्रात्तीव्रतरः शम्भोः प्रसादो न समो भवेत्॥
एवंरूपः प्रसादश्च शिवया च शिवेन च।
ज्ञायते न मया नान्यैर्नैव नारायणेन च॥
अतः सर्वं परित्यज्य शिवादन्यत्तु दैवतम्।
तमेव शरणं गच्छेत्सद्यो मुक्तिं यदीच्छति॥

इन सब लक्षणोंमें देहपातका महत्त्व विशेष देख पड़ता है—

शिष्यस्य देहे विप्रेन्द्रा धरिण्यां पतिते सति।
प्रसादः शाङ्करस्तस्य द्विजाः सञ्जात एव हि॥
यस्य प्रसादः सञ्जातो देहपातावसानकः।
कृतार्थ एव विप्रेन्द्रा न स भूयोऽभिजायते॥

'शिष्यका शरीर जब धरतीपर गिरे तब यही समझना चाहिये कि यह शंकरका प्रसाद हुआ। जिसमें देहपात करा देनेवाला प्रसाद होता है, वह कृतार्थ हो जाता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता।'

तस्य प्रसादयुक्तस्य विद्या वेदान्तवाक्यजा।
दहत्यविद्यामखिलां तमः सूर्योदयो यथा॥

'ऐसे प्रसादयुक्त शिष्यकी सारी अविद्याको वेदान्तवाक्यजा विद्या वैसे ही जला डालती है, जैसे सूर्योदय अन्धकारको।'

कुलार्णवतन्त्रमें तीन प्रकारकी दीक्षाओंका इस प्रकार वर्णन है—

स्पर्शदीक्षा—**यथा पक्षी स्वपक्षाभ्यां शिशून् संवर्धयेच्छनैः।**
स्पर्शदीक्षोपदेशस्तु तादृशः कथितः प्रिये॥

'स्पर्शदीक्षा उसी प्रकारकी है जिस प्रकार पक्षी अपने पंखोंके स्पर्शसे अपने बच्चोंका लालन-पालन-वर्द्धन करता है।' जबतक बच्चा अण्डेसे बाहर नहीं निकलता तबतक पक्षी अण्डेपर बैठता है और अण्डेसे बाहर निकलनेके बाद जबतक बच्चा छोटा होता है तबतक उसे वह अपने पंखोंसे ढाँके रहता है।

दृग्दीक्षा—**स्वापत्यानि यथा कूर्मी वीक्षणेनैव पोषयेत्।**
दृग्दीक्षाख्योपदेशस्तु तादृशः कथितः प्रिये॥

'दृग्दीक्षा उसी प्रकारकी है जिस प्रकार कछवी अपने बच्चोंका दृष्टिमात्रसे पोषण करती है।'

ध्यानदीक्षा—**यथा मत्सी स्वतनयान् ध्यानमात्रेण पोषयेत्।**
वेधदीक्षोपदेशस्तु मनसः स्यात्तथाविधः॥

'ध्यानदीक्षा मनसे होती है और उसी प्रकार होती है जिस प्रकार मछली अपने बच्चोंको ध्यानमात्रसे ही पोसती है।'

पक्षिणी, कछवी और मछलीके समान ही श्रीसद्गुरु अपने स्पर्शसे, दृष्टिसे तथा संकल्पसे अपनी शक्ति शिष्यमें डालकर उसकी अविद्याका नाश करते और महावाक्यके उपदेशसे उसे कृतार्थ करते हैं। स्पर्श, दृष्टि और संकल्पके अतिरिक्त एक 'शब्ददीक्षा' भी होती है जिसका वर्णन '**दर्शनात्स्पर्शनाच्छब्दात्कृपया शिष्यदेहके**' इस वाक्यमें पहले आ चुका है। इस प्रकार चतुर्विधा दीक्षा है और उसका क्रम आगे लिखे अनुसार है—

विद्धि स्थूलं सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं सूक्ष्मतममपि क्रमतः।
स्पर्शनभाषणदर्शनसङ्कल्पनजत्वतश्चतुर्धा तम्॥

'स्पर्श, भाषण, दर्शन, संकल्प यह चार प्रकारकी दीक्षा क्रमसे स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम है।'

इस प्रकार दीक्षा पाये हुए शिष्योंमें कोई ऐसे होते हैं, जो दूसरोंको वही दीक्षा देकर कृतार्थ कर सकते हैं और कोई केवल स्वयं कृतार्थ होते हैं, परन्तु दूसरोंको शक्तिपात करके कृतार्थ नहीं कर सकते।

साम्यं तु शक्तिपाते गुरुवत्स्वस्यापि सामर्थ्यम्।

चार प्रकारकी दीक्षामें गुरुसाम्यासाम्य कैसा होता है, यह आगे बतलाते हैं—

स्पर्श—**स्थूलं ज्ञानं द्विविधं गुरुसाम्यासाम्यदत्वभेदेन।**
दीपप्रस्तरयोरिव संस्पर्शात्स्निग्धवर्त्ययसोः॥

'किसी जलते हुए दीपकसे किसी दूसरे दीवटकी घृताक्त या तैलाक्त बत्तीको स्पर्श करते ही वह बत्ती जल उठती है, फिर यह दूसरी जलती हुई बत्ती चाहे किसी भी अन्य स्निग्ध बत्तीको अपने स्पर्शसे प्रज्वलित कर सकती है। यह शक्ति उसे प्राप्त हो गयी, यही शक्ति इस प्रकार प्रज्वलित सभी दीपोंको प्राप्त है। इसीको परम्परा कहते हैं। दूसरा उदाहरण पारसका है। पारसके स्पर्शसे लोहा सोना बन जाता है, परन्तु इस सोनेमें यह सामर्थ्य नहीं होती कि वह दूसरे किसी लोहखण्डको अपने स्पर्शसे सोना बना सके।' साम्यदान करनेकी यह शक्ति उसमें नहीं होती, अर्थात् परम्परा आगे नहीं बनी रहती।

शब्द—**तद्वद् द्विविधं सूक्ष्मं शब्दश्रवणेन कोकिलाम्बुदयोः।**
तत्सुतमयूरयोरिव तद्विज्ञेयं यथासंख्यम्॥

'कौओंमें पला हुआ कोयलका बच्चा कोयलका शब्द सुनते ही यह जान जाता है कि मैं कोयल हूँ। फिर अपने शब्दसे वही बोध उत्पन्न करनेकी शक्ति भी उसमें आ जाती है। मेघका शब्द सुनकर मोर आनन्दसे नाच उठता है, पर यही आनन्द दूसरेको देनेकी सामर्थ्य मोरके शब्दमें नहीं आती।'

दृष्टि—**इत्थं सूक्ष्मतरमपि द्विविधं कूर्म्या निरीक्षणात्तस्याः।**
पुत्र्यास्तथैव सवितुर्निरीक्षणात्कोकमिथुनस्य॥

'कछवीके दृष्टिनिक्षेपमात्रसे उसके बच्चे निहाल हो जाते हैं और फिर यही शक्ति उन बच्चोंको भी प्राप्त होती है। इसी प्रकार सद्‌गुरुकी करुणादृष्टिके पातसे शिष्यमें ज्ञानका उदय हो जाता है और फिर उसी प्रकार करुणादृष्टिपातसे अन्य अधिकारियोंमें भी ज्ञान उदय करानेकी शक्ति भी उसमें आ जाती है। परन्तु चकवा-चकईको सूर्यदर्शनसे जो आनन्द प्राप्त होता है, वही आनन्द वे अपने दर्शनके द्वारा दूसरे चकवा-चकईके जोड़ोंको नहीं प्राप्त करा सकते।'

संकल्प—**सूक्ष्मतममपि द्विविधं मत्स्याः सङ्कल्पतस्तु तद्दुहितुः।**
तृप्तिर्नगरादिजनिर्मान्त्रिकसङ्कल्पतश्च भुवि तद्वत्॥

'मछलीके संकल्पसे उसके बच्चे निहाल होते हैं। और इसी प्रकार संकल्पमात्रसे अपने बच्चोंको निहाल करनेकी सामर्थ्य फिर उन बच्चोंको भी प्राप्त हो जाती है। परन्तु मान्त्रिक अपने संकल्पसे जिन वस्तुओंका निर्माण करता है, उन वस्तुओंमें वह संकल्पशक्ति नहीं उत्पन्न होती।'

इन सब बातोंका निष्कर्ष यह है कि सद्‌गुरु अपनी सारी शक्ति एक क्षणमें अपने शिष्यको दे सकते हैं। यही बात परम भगवद्‌भक्त संत तुकाराम अपने एक अभंगमें इस प्रकार कहते हैं कि 'सद्‌गुरुके बिना रास्ता नहीं मिलता, इसलिये सब काम छोड़कर पहले उनके चरण पकड़ लो। वह तुरंत (शरणागतको) अपने-जैसा बना लेते हैं, इसमें उन्हें जरा भी देर नहीं लगती।'

गुरुकृपासे जब शक्ति प्रबुद्ध हो उठती है, तब साधकको आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि करनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं होती। प्रबुद्ध कुण्डलिनी ऊपर ब्रह्मरन्ध्रकी ओर जानेके लिये छटपटाने लगती है। उसके उस छटपटानेमें जो कुछ क्रियाएँ अपने-आप होती हैं, वे ही आसन, मुद्रा, बन्ध और प्राणायाम हैं। शक्तिका मार्ग खुल जानेके बाद ये सब क्रियाएँ अपने-आप होती हैं और उनसे चित्तको अधिकाधिक स्थिरता प्राप्त होती है। ऐसे साधक देखे गये हैं, जिन्होंने कभी स्वप्नमें भी आसन-प्राणायामादिका कोई विषय नहीं जाना था, न ग्रन्थोंमें देखा था, न किसीसे कोई क्रिया ही सीखी थी, पर जब उनमें शक्तिपात हुआ तब वे इन सब क्रियाओंको अन्तःस्फूर्तिसे ऐसे करने लगे जैसे अनेक वर्षोंका अभ्यास हो। योगशास्त्रमें वर्णित विधिके अनुसार इन सब क्रियाओंका उनके द्वारा अपने-आप होना देखकर बड़ा ही आश्चर्य होता है। जिस साधकके द्वारा जिस क्रियाका होना आवश्यक है, वही क्रिया उसके द्वारा होती है, अन्य नहीं। जिन क्रियाओंके करनेमें अन्य साधकोंको बहुत काल कठोर अभ्यास करना पड़ता है, उन आसनादि क्रियाओंको शक्तिपातसे युक्त साधक अनायास कर सकते हैं। यथावश्यक रूपसे प्राणायाम भी होने लगता है और दस-पन्द्रह दिनकी अवधिके अंदर दो-दो मिनटका कुम्भक अनायास ही लगने लगता है। इस प्रकार होनेवाली यौगिक क्रियाओंसे साधकको कोई कष्ट नहीं होता, किसी अनिष्टके भयका कोई कारण नहीं रहता, क्योंकि प्रबुद्ध शक्ति स्वयं ही ये सब क्रियाएँ साधकसे उसकी प्रकृतिके अनुरूप

करा लिया करती है। अन्यथा हठयोगके साधनमें जरा-सी भी त्रुटि होनेसे बहुत बड़ी हानि होनेका भय रहता है जैसा कि 'हठयोगप्रदीपिका' ने '**अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः**' यह कहकर चेता दिया है। परन्तु शक्तिपातसे प्रबुद्ध होनेवाली शक्तिके द्वारा साधकसे जो क्रियाएँ होती हैं, उनसे शरीर रोगरहित होता है, बड़े-बड़े असाध्य रोग भी भस्म हो जाते हैं। इससे गृहस्थ साधक बहुत लाभ उठा सकते हैं। अन्य साधनोंके अभ्यासमें तो भविष्यमें कभी मिलनेवाले सुखकी आशासे पहले कष्ट-ही-कष्ट उठाने पड़ते हैं, परन्तु इस साधनमें आरम्भसे ही सुखकी अनुभूति होने लगती है। शक्तिका जागना जहाँ एक बार हुआ वहाँ फिर वह शक्ति स्वयं ही साधकको परम पदकी प्राप्ति करानेतक अपना काम करती रहती है। इस बीच साधकके जितने भी जन्म बीत जायँ, एक बार जागी हुई कुण्डलिनी फिर कभी सुप्त नहीं होती।

शक्तिसंचारदीक्षा प्राप्त करनेके पश्चात् साधक अपने पुरुषार्थसे कोई भी यौगिक क्रिया नहीं कर सकता, न इसमें उसका मन ही लग सकता है। शक्ति स्वयं जो स्फूर्ति अंदरसे प्रदान करती है, उसीके अनुसार साधकको सब क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। यदि उसके अनुसार न करे अथवा उसका विरोध करे तो उसका चित्त स्वस्थ नहीं रह सकता, जैसे नींदके आनेपर भी जागनेवाला मनुष्य अस्वस्थ होता है। साधकको शक्तिके अधीन होकर रहना पड़ता है। शक्ति ही उसे जहाँ जब ले जाय, उसे जाना पड़ता है और उसीमें सन्तोष मानना पड़ता है। एक जीवनमें इस प्रकार उसकी कहाँसे कहाँतक प्रगति होगी, इसका पहलेसे कोई निश्चय या अनुमान नहीं किया जा सकता। शक्ति ही उसका भार वहन करती है और शक्ति किसी प्रकार उसकी हानि न कर उसका कल्याण ही करती रहती है।

योगाभ्यासकी इच्छा करनेवालोंके लिये इस कालमें शक्तिपात-सा सुगम साधन अन्य कोई नहीं है। इसलिये ऐसे शक्तिसम्पन्न गुरु जब सौभाग्यसे किसीको प्राप्त हों तब उसे चाहिये कि ऐसे गुरुका कृपाप्रसाद लाभ करे। इस प्रकार वर्णाश्रमधर्मका पालन करते हुए ईश्वरप्रसाद लाभ करके कृतकृत्य होनेमें साधकको सदा प्रयत्नवान् होना चाहिये।

प्रसादे सति देवेशो दुर्ज्ञेयोऽपि सुरर्षभाः।
शक्यते मनुजैर्द्रष्टुं प्रत्यगात्मतया सदा॥

शक्तिपात और दीक्षा

(लेखक—एक जिज्ञासु)

शक्तिपात करनेवाले लोग अब भी हैं। शक्तिपातमें गुरुको थोड़ी देरके लिये शिवत्वको प्राप्त होना चाहिये। वह पूर्ण दयासे प्रेरित होकर इस दशाको यदि प्राप्त हो और शक्तिपात करे तो शक्तिका पतन होगा और वह कार्यवती होगी। मैंने एक-दो गुरुओंको शक्तिपात करते देखा, पर मेरी समझसे उनमें वह भाव न आया और इसलिये शक्तिका पतन नाममात्रको ही हुआ।

दीक्षामें भूतशुद्धि करके गुरु शिवत्वको यथासाध्य प्राप्त होकर एक हाथसे शिवकी शक्तिको और दूसरेसे अपने गुरुकी शक्तिको अपने शिष्यके सिरपर अपने दोनों हाथ रखकर भरता है। यदि गुरुने ठीक कार्य किया और शिष्य सात्त्विक है तो वह थोड़ी देरके लिये स्तब्ध हो जायगा और जो मन्त्र उसे दिया जायगा वह क्रियावान् होगा। एक व्यक्ति बहुत कालसे एक मन्त्र जपता था, पर उसे कुछ अनुभव नहीं होता था। एक गुरुने भूतशुद्धि कर अति दयाके भावसे प्रेरित हो उसे ऊपर लिखी दीक्षा दी तो अब उसे मन्त्रके जपनेसे उस मन्त्रके देवताके दर्शन होते हैं और उसे बहुत आनन्दका अनुभव होता है। एक दूसरे व्यक्तिको भूतशुद्धि कर उपनयनविधिसे गायत्री-मन्त्रकी दीक्षा दी गयी और उसमें शक्तिपात किया गया। उस समय इस व्यक्तिमें उन्नतिकी सम्भावनाके कोई लक्षण न थे; पर अब समय-समयपर उसे दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है; कीर्तनमें उपस्थित अदृश्य देवोंके उसे दर्शन होते हैं; दूरके दृश्य भी कभी-कभी सही दीखते हैं।

तीसरे व्यक्तिने किसी संन्यासीसे मन्त्र लिया था। पर उसके जपनेसे उसे कोई लाभ नहीं होता था। उसमें भी इसी प्रकार भूतशुद्धि कर शक्तिपात किया गया और दीक्षा दी गयी और अब उसे भी मन्त्रजपमें आनन्द, दर्शन इत्यादि होते हैं।

शक्तिपात और कर्मसाम्य, मलपाक तथा पतन

('मनोविनोदाय')

कबीरदासकी उलटबाँसी प्रसिद्ध ही है। उनकी उलटबाँसियोंका क्षेत्र साहित्यतक ही सीमित न था, व्यवहारजगत्‌में भी परीक्षार्थ उसे कभी-कभी वे उतारा करते थे। कहा जाता है कि एक बार उन्होंने किसी तरुणीको 'माई' कहकर सम्बोधित किया। उसने इन्हें साधू मानकर आदर-सत्कार किया। किसी दूसरे दिन उसीको अपनी उलटबाँसीकी आजमाइशके लिये 'बापकी मेहर' (पिताकी स्त्री अर्थात् माई) कहकर पुकारा। वह बेतरह बिगड़ी और बदमाश समझकर मारने दौड़ी।''''ठीक यही दशा विश्वप्रपञ्चकी है। **'होइहैं सोइ जो राम रचि राखा'**, **'यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा'** सोलहों आने ठीक है। चाहे व्यवहारजगत् हो या साधनाजगत्— वस्तुत: यह भेद भी तो सापेक्ष ही है, अन्यथा जिसे हम व्यवहारजगत् कहते हैं, वह भी तत्त्वदृष्टिसे साधनाजगत् ही है। इस विश्व-पहेलीकी घटित घटनाओंको नाम-दुर्नाम देना एवं फलस्वरूप, सुखी-दु:खी होना अपने मनकी माया है।

कर्मसाम्य, मलपाक और पतन उपर्युक्त प्रकारसे एक ही भावके द्योतक हैं। तीनोंमें ही, सापेक्षत: एक उच्च स्थानसे निम्नतर स्तरपर उतरना, फिसलना, गिरना होता है। परन्तु, यह उतार, फिसलाव, गिराव वस्तुत: व्यावहारिक अर्थमें निन्द्य पतन नहीं है, प्रत्युत शक्तिपातकी योग्य भूमिका है। कृपालु सद्‌गुरु कृपापात्र शिष्यपर अपने सहज कृपालु स्वभावसे शक्ति उतारते हैं। इस प्रक्रियाको 'शक्तिपात' करना कहते हैं। इस प्रक्रियामें मुख्य कार्य सद्‌गुरुका ही है, शिष्यकी ओरकी तैयारी तो एक प्रकार नहींके बराबर है। शिष्यकी तैयारी केवल इतनी ही है कि यदि वह त्रिगुणोंमेंसे किसी एकके उत्कर्षके कारण विषमावस्थामें होता है तो सद्‌गुरु उस विषमताको उत्कर्ष गुणके प्रपातसे दूर करते हैं। गुणोत्कर्षके इस प्रपातको ही कर्म-साम्य, मलपाक एवं पतन कह सकते हैं। कर्मसाम्यमें सत्त्वोत्कर्ष, मलपाकमें राजसोत्कर्ष और पतनमें तामसोत्कर्षसे प्रपात किया-कराया जाता है। कर्मसाम्यमें साधक एवं गुरु दोनोंकी, मलपाकमें केवल गुरुकी और पतनमें साधक तथा गुरु किसीकी भी नहीं, स्वेच्छाका ज्ञात सम्बन्ध होता है। यदि साधक और गुरुके इस स्वेच्छापूर्वक ज्ञात सम्बन्धको अलग कर दें तो मूलत: स्वरूपसे ये तीनों एक ही कहे जा सकते हैं।

जैसे किसी आधारपर कोई सम वस्तु रखनेके लिये उस आधारको भी साम्यावस्थामें लाना पड़ता है, उसकी ऊँचाई-नीचाईरूपी विषमताको उचित काट-छाँटद्वारा दूर करना पड़ता है और इस प्रक्रियामें सुगमता उच्चस्थलके काटनेमें ही है, निम्नको उच्च बनानेमें नहीं; उसी प्रकार किसी साधकको शक्तिके अवतारका योग्य आधार बनानेके लिये उसके गुणवैषम्यको उत्कर्ष-गुणके दूरीकरणद्वारा हटाया जाता है। सामान्यत: अन्य साधनमार्गमें सत्त्वोत्कर्षका अपकर्ष नहीं किया जाता, प्रत्युत वह उत्कर्ष इतना बढ़ाया जाता है कि रजोगुण और तमोगुण सर्वथा आच्छन्न हो जायँ और सत्त्वगुणके चरम उत्कर्षद्वारा एक प्रकारकी साम्यावस्था स्थापित हो जाय। परन्तु, शक्तिपात-प्रक्रियामें सत्त्वोत्कर्षका भी सापेक्ष अपकर्ष कराया जाता है। कारण, शक्तिपातके आधार-पात्रमें यदि कुछ भी सक्रियता शेष रहे तो यह प्रक्रिया सफल नहीं हो सकती। जैसा कि ऊपर कहा गया है। शक्तिपातके पात्रकी एकमात्र योग्यता परिपूर्ण निष्क्रियता (complete passivity) है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि परिपूर्ण निष्क्रियता किसी एक गुणके चरम उत्कर्ष तथा फलस्वरूप अन्य दोकी विलीनतासे नहीं हो सकती। कारण, किसी भी एक गुणके चरम उत्कर्षमें निष्क्रियता नहीं होती, प्रत्युत उस गुणकी सर्वोपरि सक्रियता होती है।

इस प्रकार, उपर्युक्त परिपूर्ण निष्क्रियताके संस्थापनमें किसी भी गुण-भावका एकाङ्गी प्राबल्य बाधक होता है—शुभ-अशुभ दोनों प्रकारकी वासनाओं-संस्कारोंकी प्रबलता सानुकूल नहीं होती। फलत: अमोघदृष्टि कल्याणदर्शी सद्‌गुरु कृपापात्र शिष्यके स्वभाव-संस्कारोंकी एकाङ्गी प्रबलताको कुशलतासे हटाते हैं। जिस साधकमें शुभ वासनाओंकी प्रबलता होती है, उसे सद्‌गुरु लोकैषणाके शुभकार्योंमें नियुक्त कर उसकी उस प्रबलताको दूर करते हैं। जहाँ सद्‌गुरुकी साक्षात् कृपादृष्टिमें यह कार्य होता है, वहाँ स्वयं साधकके मनमें तथा संसारकी दृष्टिमें भी इस सत्त्वोत्कर्षके त्यागसे ग्लानि, निन्दा आदिके भाव नहीं उठते। परन्तु, जहाँ सद्‌गुरुकी साक्षात् कृपादृष्टि नहीं होती और यह कार्य

परम गुरु, परम नियन्ताके अमोघ विधानसे बलात् पर सहजरूपमें होता है, वहाँ स्वयं साधकके मनमें समय-समयसे ग्लानि, संकोच आदि तथा संसारकी दृष्टिमें निन्दा, आलोचना आदिके भाव उठते हैं। पर यह क्रिया चाहे सद्‌गुरुकी साक्षात् कृपादृष्टिमें हो अथवा परम गुरु, परम नियन्ताके अमोघ विधानसे हो, दोनों ही अवस्थाओंमें परिणाम एक ही होता है—शक्तिपातकी योग्य भूमिकाका निर्माण। जहाँ इस उत्कर्षका त्याग सद्‌गुरुके साक्षात् आदेशसे होता है, वहाँ तो यथासमय शक्ति-सञ्चार होता ही है, इसमें कहना ही क्या; पर जहाँ परम गुरुका अमोघ विधान इस क्रियाको कराता है, वहाँ भी वैराग्यशक्ति, विवेकशक्ति, विचारशक्तिका अवतार—पात—होता ही है।

शुद्ध शुभ वासनाओंके प्राबल्यको इस प्रकार दूर करनेकी प्रक्रियाको कर्मसाम्य कह सकते हैं। इसमें उतार होनेपर भी शुभकार्य ही होते हैं और साधक तथा गुरु दोनोंकी स्वेच्छासे होते हैं। इसीलिये कहा गया है कि कर्मसाम्यमें साधक और गुरु दोनोंकी स्वेच्छाका ज्ञात सम्बन्ध होता है। पर जहाँ यह उतार सापेक्ष शुभाशुभ वासना-प्राबल्यसे होता है और फलतः साधकको अपेक्षाकृत अशुभ कार्यों, उदाहरणार्थ गृहस्थाश्रममें प्रवेश, सन्तानोत्पादनादि प्रापञ्चिक व्यवहारोंमें रत होना पड़ता है, वहाँ इस प्रक्रियाको 'मलपाक' कह सकते हैं। मलपाकमें अशुभ वासनाएँ अपने परिपाकसे अपने-आप हट जाती हैं। इसमें, गुरुकी स्वेच्छाकी ही प्रधानता रहती है, साधककी नहीं। कारण, कोई भी साधक स्वेच्छापूर्वक बिना आदेशके ऐसे प्रसङ्गोंमें पड़नेके लिये हृदयसे तैयार नहीं होता। यह प्रक्रिया भी यदि सद्‌गुरुकी साक्षात् कृपादृष्टिमें हो तो स्वयं साधकको भी अधिक झेंप नहीं होती और संसार भी क्षमाकी दृष्टिसे देखता है। महाप्रभु गौराङ्गदेवके आदेशसे नित्यानन्दकी गार्हस्थ्याश्रमकी स्वीकृतिसे इसपर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। वहाँ न तो नित्यानन्दको स्वयं झेंप मालूम पड़ती है न संसार ही उनपर घृणाकी दृष्टि डालता है। पर यदि यही मलपाक परम गुरुके अमोघ विधानसे हो तो अल्पधीर साधक और दोषदर्शी संसार दोनोंके मनोभावोंमें महान् अन्तर आ जाता है। परन्तु इसे कदापि भूलना न चाहिये कि मूलतः एवं परिणामतः यह प्रक्रिया दोनों रूपोंमें एक ही है।

कर्मसाम्यमें केवल शुभ, मलपाकमें शुभाशुभ मिश्रित तथा पतनमें केवल अशुभ संस्कारों—भावों—वासनाओंकी प्रबलता होती है। फलतः पतनमें एकमात्र अशुभ कर्म ही होते हैं। उसका न तो साधक ही स्वेच्छापूर्वक अभिनन्दन करता है, न संसार ही क्षमादृष्टिसे ग्रहण करता है, उसमें साधककी आत्मग्लानि और संसारकी फटकार होती है। इसीलिये पतनकी सर्वतोमुखी निन्दा, आलोचना, होती है। यहाँतक कि तन्त्र-शास्त्रके कुछ प्रसङ्गोंको छोड़कर पतन-क्रियाको साधनाका अङ्ग कोई माननेको तैयार ही नहीं है। पर यहाँ भी हमें सदा स्मरण रखना चाहिये कि 'पतन' केवल 'पतन' ही नहीं है, प्रत्युत शक्तिपातरूपी उत्थानका पूर्वपीठ है। प्रत्येक पतनक्रियाकी परिसमाप्तिपर ज्ञात वा अज्ञात दैवी शक्तिपात होता है। यही कारण है कि 'पतन' के अन्तिम अन्तमरण और दूसरे अङ्ग 'सुरति' के अनन्तर बल्कि इनके स्मरणमात्रसे 'श्मशानवैराग्य' हो जाता है और कहनेकी आवश्यकता नहीं कि तीव्र एवं सच्चा वैराग्य केवल इन श्मशानवैराग्योंका योगफलमात्र ही है। पतनकी प्रायश्चित्ताग्निमें इतनी प्रखरता है कि महाकामी स्वनामधन्य पतनप्रेरित गोस्वामी तुलसीदासको निष्कामी-भगवत्कामी-रागी—बना देता है। कारण स्पष्ट ही है। कर्मसाम्य तथा मलपाक जहाँ कई दृष्टियोंसे पतनसे श्रेष्ठतर माने गये हैं, वहाँ एक दृष्टिसे पतनसे निम्नतर हैं। चाहे कितने ही उच्च कोटिके साधक एवं गुरु कर्मसाम्य और मलपाकमें क्यों न हों, पर एकान्ततः निरभिमानी नहीं हो सकते, अभिमानावशेष रहता ही है। पर पतनके साधक पतित और उसके परम गुरु परमेश्वरमें यह विशेषता है कि यहाँ अभिमानका मान कुछ भी नहीं रहता है। यही कारण है कि पतनके योग्य आधारपर शक्तिपात अलौकिक होता है, अमोघ होता है। इसीलिये संसारकी प्रायः सभी महान् विभूतियाँ, विशेषतः भक्त-समुदाय अपनेको 'पतित', 'पतितनमें नामी', 'प्रसिद्ध पातकी', '**मत्समः पातकी नास्ति**' कहकर संसारके परितप्त जीवोंसे अश्रुधार गिरवाकर प्रशान्त करता है। इस प्रकार, पतन सचमुच परम उत्थानका प्रधान पथ प्रतीत होता है।

अन्तमें, यह स्पष्ट कह देना है कि उपर्युक्त पंक्तियाँ केवल '**मनोविनोदाय**' हैं। फलतः, न तो इनके शास्त्रीय आधारकी ओर दृष्टि रखी गयी है और न इन्हें स्वीकार करानेके आग्रहकी ओर ही। फिर भी इसके अवलोकनसे यदि हममें सहिष्णुता आ जाय तो बस है। साधकके लिये सहिष्णुता श्रद्धाके बाद अद्वितीय महत्त्वकी वस्तु है। जिसे हम पतित समझकर घृणा कर रहे हैं, उसके

प्रति यदि हमारे ये भाव हो जायँ कि पशुपतिके अमोघ संरक्षणमें यह अपने परमपदके पथपर अग्रसर हो रहा है तो क्या हम कभी उससे घृणा कर सकते हैं? कदापि नहीं। इसीलिये तो इस दृष्टिकी फलश्रुति है—

भोगो योगायते सम्यग् दुष्कृतं सुकृतायते।
योगायते च संसारः कुलधर्मे कुलेश्वरि॥

इस कुलसे दूर-विमुख-रहना ही परम व्याकुलता (वि+आ+कुलता) है।

रहस्यरहित रहस्य

(प्रेम और सत्य)

(लेखक—'प्रलाप')

अनेकों वर्ष संलग्न विचार और सावधान प्रयोग करके मैंने जो कुछ पाया उससे यही नतीजा निकलता है कि सतत, सुदृढ और अविचल भावसे सत्यका आचरण करना और प्रेमभाव तथा सहानुभूतिको बढ़ाये चलना, यही सबसे सुगम, सबसे स्पष्ट और सबसे अधिक अमोघ साधन है। सब शास्त्रोंने एक स्वरसे इसी बातको माना है—'**सत्यान्नास्ति परो धर्मः।**' '**अहिंसा परमो धर्मः।**' आदि हिन्दूधर्मके शास्त्रसिद्धान्त सर्वविश्रुत ही हैं। ये ही सिद्धान्त बौद्धधर्मके भी हैं। ईसामसीहका भी सबसे यही कहना था कि 'तुमलोग पहले भगवान्‌के राज्य और उनके दिव्य गुणोंकी इच्छा करो; और ये सब चीजें तुम्हारे साथ जुट जायँगी।' योग अथवा अध्यात्म-साधनाका भी तो यही सार है, तथापि यह शिक्षा इतनी स्पष्ट और आपाततः इतनी सुगम है कि यह स्पष्टता और सुबोधता ही सामान्य साधकोंकी बुद्धिको चक्करमें डाल देती है और उत्साहके साथ इसे धारण करनेमें वे असमर्थ हो जाते हैं। जीवनमें सुख नहीं, साधनपथ बड़ा विकट है, मन और इन्द्रियोंको वशमें ले आना हँसी-खेल नहीं, यह सब हमलोग कहा करते हैं। परन्तु जो कुछ कठिन, दुस्साध्य-असाध्य है उसीकी ओर हमलोगोंकी कुछ ऐसी आन्तरिक प्रवृत्ति है कि हमलोग उसकी ओर दौड़ते हैं और राह चलते यदि सब रोगोंकी कोई अचूक पर मामूली दवा मिलती है तो उसपर हमें विश्वास नहीं होता, हम उसपर हँस देते हैं, उसकी अव्यर्थतापर हमें गहरा सन्देह होता है। होमियोपैथिक औषधकी गोलियोंको हममेंसे बहुतेरे इसीलिये कोई चीज नहीं समझते कि उनमें कोई ताव, तेजी या तीतापन नहीं होता। अव्यर्थ शक्तिके साथ प्रतिकूल वेदना और किसी प्रकारकी जटिलताका होना जरूरी समझनेके हमलोग आदी हो गये हैं। हमलोग बचपनसे ही 'सत्य' और 'प्रेम' की प्रशंसा बराबर सुनते आये हैं। इसी अति परिचयके कारण ही उनके वस्तुगत गुणोंसे हमारी आँखें अन्धी हो गयी हैं। हम समझते हैं कि यह सब बच्चोंके लिये भुलावा है, इतनी मामूली-सी बातमें भला रखा ही क्या है! परन्तु यदि हमलोग अपने ऋषि-मुनियोंके वचनोंपर कुछ भी विश्वास रखें और उनके अनुशासनोंका पालन करके देखें तो बहुत जल्द ही हमें यह पता चलेगा कि सत्य और प्रेमका आचरण इतना आसान तो नहीं है जितना कि सामान्यतः इन नामोंसे सूचित होता है; यही नहीं, प्रत्युत इनका आस्थापूर्वक पालन करने लग जाइये तो पद-पदपर ऐसी कठिनाइयाँ सामने उपस्थित होंगी कि आपके निश्चय और सहिष्णुताकी पूरी परीक्षा होगी, आपके उत्तमोत्तम गुण बाहर निकल आयेंगे और इस प्रकार उन गुणोंका विकास होगा जिन्हें मानवसमाजके महान् आचार्योंने मनुष्यकी परम सिद्धिके लिये अत्यन्त आवश्यक माना है।

सत्य सीधी-सादी, सबकी समझमें आनेवाली चीज है, प्रेम और सहानुभूति भी ऐसी ही है। इनके बारेमें कोई बात दुर्बोध नहीं है; कोई गुप्त चीज नहीं, कहींसे बंद या आच्छादित नहीं। तथापि ज्यों ही आप इन सत्य और प्रेमको अपने जीवनके सिद्धान्त बना लेंगे, त्यों ही आप यह अनुभव करने लगेंगे, आपके उत्तमोत्तम कर्मों और गभीरतम शक्तियोंपर इनका कितना बोझ पड़ता है। इनके लिये आपको अपने सब विचारों, भावों और कर्मोंमें बड़ी सावधानी रखनी पड़ेगी और क्रमशः आपके मनकी एकाग्र होनेकी शक्ति खूब बढ़ेगी और वह आत्मसंयम होगा जो सब योगसाधनाओंका चरम लक्ष्य है।

भगवान्‌का राज्य और क्या है? सत्य और प्रेमका ही तो राज्य है; और सब दैवी गुण उसी राज्यकी प्रजा हैं। इस प्रकार सत्य और प्रेमके पथपर सचाईके साथ

निरन्तर चलकर आप एक तरफसे ऊपर भगवद्राज्यमें पहुँचते हैं और दूसरी तरफसे उस भगवद्राज्यको पृथ्वीपर उतार लाते हैं।

योग जो सबसे कठिन साधना है, कहीं मिलन और कहीं समत्व कहकर लक्षित किया गया है। दोनों ही सही अभिधान हैं, पर 'मिलन' मैं समझता हूँ कि अधिक अभिव्यञ्जक है। अब, मिलनका सर्वोत्तम उपाय क्या प्रेम ही नहीं है, जैसे कि द्वेष बिगाड़का निश्चिततम उपाय है? और क्या परमात्माके साथ सायुज्य अर्थात् उनके स्वरूपके साथ संयोग या मिलन ही हमलोगोंके जीवनका परम लक्ष्य नहीं है? और क्या सत्य और प्रेम परमात्माके ही स्वरूप नहीं हैं? और यदि प्रेम तथा सत्य—सत्य और प्रेम भगवान्‌के ही स्वरूप हैं और सौन्दर्य तथा आनन्दका उनके हृदयोंमें निवास है तो हम क्यों न इन्हीं सरल स्वाभाविक गुणोंके द्वारा सीधे ही उनके समीप चल चलें?—आसन, प्राणायाम, मुद्रा, मन्त्र, कुण्डलिनी-चक्र और न जाने क्या-क्याके फेरमें क्यों पड़ें और इन रास्तोंकी जोखिमें क्यों उठावें? योगी श्रीअरविन्द ठीक ही तो कहते हैं कि हमारी भागवती माता ही हमें सीधा सच्चा रास्ता दिखाती हैं, वे ही प्रकृतिके रूपमें प्रकट हैं, और प्रेम तथा सत्य उन्हींकी सन्तान हैं। इसलिये प्रेम और सत्यका स्वागत है, ये ही हमारे रक्षक हैं जो कभी गलत रास्तेपर नहीं जाते और चाहे जहाँ चाहे जिसके द्वारा पहचाने भी जाते हैं।

महासिद्धि, गुणहेतुसिद्धि, क्षुद्रसिद्धि और परमसिद्धि

(लेखक—पं० श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत)

श्रीमद्भागवतान्तर्गत एकादश स्कन्धके १५ वें अध्यायमें श्रीभगवान्‌ने उद्धवको उपर्युक्त सिद्धियाँ और उनके साधन बताये हैं। उस विवरणपर श्रीएकनाथ महाराजकी भी बड़ी सुन्दर टीका है जिसके आधारपर ही यह लेख लिखा जाता है।

महासिद्धियाँ आठ हैं। इनमें (१) अणिमा, (२) महिमा और (३) लघिमा देहसम्बन्धी सिद्धियाँ हैं। 'अणिमा' सिद्धिसे देहको अणु-परमाणु-परिमाण छोटा बनाया जा सकता है। श्रीहनूमानजीने श्रीसीताजीकी खोजमें अणुरूपसे ही लङ्कामें प्रवेश किया था। 'महिमा' सिद्धिसे देहको चाहे जितना बड़ा या भारी बनाया जा सकता है। समुद्रलङ्घन करते समय हनूमान्‌जीने अपने शरीरको पर्वतप्राय बनाया था। 'लघिमा' सिद्धिसे शरीर कपाससे भी हलका, हवामें तैरने लायक बनाया जा सकता है। (४) 'प्राप्ति' इन्द्रियोंकी महासिद्धि है। (५) 'प्राकाम्य' परलोकगत अदृश्य विषयोंका परिज्ञान करानेवाली सिद्धि है। (६) 'ईशिता' माया और तदंशभूत अन्य शक्तियोंको प्रेरित करनेवाली सिद्धि है। (७) 'वशिता' कर्मोंमें अलिप्त रहने और विषय-भोगमें आसक्त न होनेकी सामर्थ्य देनेवाली सिद्धि है। (८) ख्याति त्रिभुवनके भोग और वाञ्छित सुखोंको अकस्मात् एक साथ दिलानेवाली सिद्धि है।

ये अष्ट महासिद्धियाँ भगवान्‌में स्वभावगत हैं, भगवदितरोंको महान् कष्ट और प्रयाससे प्राप्त हो सकती हैं। भगवान् और भगवदितर सिद्धोंके बीच वैसा ही प्रभेद है, जैसा प्राकृतिक लोहचुम्बक और कृत्रिम लोहचुम्बकके बीच होता है।

गौण सिद्धियाँ दस हैं—(१) 'अनूर्मि' अर्थात् क्षुधा, तृषा, शोक-मोह, जरा-मृत्यु इन षड् ऊर्मियोंसे देहका बेलाग रहना। (२) 'दूरश्रवणसिद्धि' अर्थात् अपने स्थानसे चाहे जितनी दूरका भाषण सुन लेना। (इस समय यह काम रेडियो कर रहा है। योगी अपने श्रवणेन्द्रियोंकी शक्तिको बढ़ाकर यह काम कर लेते हैं।) (३) 'दूरदर्शनसिद्धि' अर्थात् त्रिलोकमें होनेवाले सब दृश्यों और कार्योंको अपने स्थानमें बैठे ही देख लेना। (यह काम इस समय टेलिविजन कर रहा है। योगी अपने दर्शनेन्द्रियकी शक्तिको विकसित कर यह काम घर बैठे कर लेते हैं। संजयको व्यासदेवकी कृपासे दूरश्रवण और दूरदर्शन दोनों सिद्धियाँ प्राप्त थीं।) (४) 'मनोजवसिद्धि' अर्थात् मनोवेगसे चाहे जिस जगह शरीर तुरंत पहुँच सकना। (चित्रलेखाको यह सिद्धि तथा दूरदर्शनसिद्धि भी नारद भगवान्‌के प्रसादसे प्राप्त हुई थी।) (५) 'कामरूपसिद्धि' अर्थात् चाहे जो रूप धारण कर लेना। (६) 'परकायप्रवेश' अर्थात् अपने शरीरसे निकलकर दूसरेके शरीरमें प्रवेश कर जाना। (श्रीमत् शंकराचार्यका परकायप्रवेश सर्वश्रुत है।)

(७) 'स्वच्छन्दमरण' अर्थात् (भीष्मजीके समान) कालके वशमें न होकर स्वेच्छासे कलेवर छोड़ना। (८) 'देवक्रीडानुदर्शन' अर्थात् स्वर्गमें देवता जो क्रीडा करते हैं, उन्हें यहाँसे देखना और वैसी क्रीडा स्वयं कर सकना। (९) 'यथासङ्कल्पसंसिद्धि' अर्थात् सङ्कल्पित वस्तुका तुरंत प्राप्त होना, सङ्कल्पित कार्योंका तुरत सिद्ध होना। (१०) 'अप्रतिहतगति और आज्ञा' अर्थात् आज्ञा और गतिका कहीं भी न रुकना। (इस सिद्धिसे सम्पन्न योगीकी आज्ञाको राजा भी सिर आँखों चढ़ाता है। ऐसे योगी चाहे जहाँ जा आ भी सकते हैं।)

क्षुद्रसिद्धियाँ पाँच हैं—(१) 'त्रिकालज्ञता'—भूत, भविष्य, वर्तमान—इन तीनों कालोंका ज्ञान। (महर्षि वाल्मीकिजीको यह सिद्धि केवल अखण्ड राम-नाम-स्मरणसे प्राप्त हुई थी और इसीसे वे श्रीरामचन्द्रजीके जन्मके पूर्व रामायण लिख सके।) (२) 'अद्वन्द्वता'—शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मृदु-कठिन आदि द्वन्द्वोंके वशमें न होना। (ऐसे सिद्ध पुरुष इस समय हिमालयमें तथा अन्यत्र भी देखे जाते हैं।) (३) 'परचित्ताद्यभिज्ञता' दूसरोंके मनका हाल जानना, दूसरोंके देखे हुए स्वप्नोंको जान लेना इत्यादि। (इसीको आजकल 'थाट-रीडिंग' कहते हैं।) (४) 'प्रतिष्टम्भ'-अग्नि, वायु, जल, शस्त्र, विष और सूर्यके तापका कोई असर न होना। (५) 'अपराजय'—सबके लिये अजेय होकर सबपर जयलाभ करना।

इन सब प्रकारकी सिद्धियोंको प्राप्त करनेके लिये अनेक प्रकारके साधन हैं। मनमें तरह-तरहकी कामनाएँ रखे हुए लोग इष्टसिद्धिके साधनमें महान् कष्ट सहते हैं। परन्तु भगवान् कहते हैं कि, इन अनेक प्रकारके साधनोंके बिना सब सिद्धियोंकी प्राप्ति जिस एक धारणासे होती है वह मैं तुझे बतलाता हूँ-

जितेन्द्रियस्य दान्तस्य जितश्वासात्मनो मुनेः।
मद्धारणां धारयतः का सा सिद्धिः सुदुर्लभा॥

'पञ्चज्ञानेन्द्रियों और पञ्चकर्मेन्द्रियोंको जिसने शम-दमसे जीता है, प्रखर वैराग्यके द्वारा जिसने प्राण और अपानको अपने वशमें किया है, विवेकबलसे जिसने अपने चित्तको सावधान बनाया है और मेरे निरन्तर चिन्तनसे जिसने मनोजय-लाभ किया है और इस प्रकार जो सतत मेरा ही ध्यान करता है, उसके लिये कौन-सी सिद्धि दुर्लभ है?' सब सिद्धियाँ उसकी दासियाँ बनकर सदा उसके समीप रहती हैं। पर उसको चाहिये कि वह इन सिद्धियोंका अपने स्वार्थमें प्रयोग न करे।

सिद्धियाँ किसीको जन्मतः, किसीको दिव्य ओषधियोंसे, किसीको मन्त्रसे, किसीको तपसे और किसीको योगाभ्याससे प्राप्त होती हैं। साँपका वायुभक्षण करके रहना, मत्स्यका जलमें तैरना, पक्षीका आकाशमें उड़ना, ये जन्मतः प्राप्त सिद्धियाँ हैं। राजहंसका नीरक्षीरविवेक, कोकिलका मधुर स्वर, चकोरका चन्द्रामृतप्राशन, ये भी जन्मसिद्ध सिद्धियाँ हैं। ओषधियोंसे प्राप्त होनेवाली सिद्धियोंके सम्बन्धमें श्रीएकनाथ महाराज अपनी टीकामें बतलाते हैं—'मंगलवारकी चतुर्थी अर्थात् अंगारकी चतुर्थीका व्रत श्वेतमन्दारके नीचे बैठकर जो कोई बराबर इक्कीस वर्षतक करता रहेगा उसे उस वृक्षके नीचे श्रीगणेशजीकी मूर्ति मिलेगी और उससे उसे सब विद्याओंका ज्ञान प्राप्त होगा तथा उसका घर धन-धान्यसे भरेगा। अजानवृक्षका लासा चाटनेवाला आदमी अजर-अमर हो जाता है। नित्य कड़ुआ नीम खानेवालेपर कोई विष असर नहीं करता। पातालगारुडीका मुख प्राशन करनेवालेको देहदुःखसे कोई क्लेश नहीं होता। पूतिकावृक्षकी जड़ महाशक्तिकी एक मूर्ति ही है। इस जड़को हाथमें रखकर कोई चाहे तो अप्सराओंके बीचमें चला जा सकता और उनसे क्रीडा कर सकता है। ऐसी-ऐसी कितनी ओषधियाँ हैं, जिनसे विलक्षण सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। परन्तु इन्हें पाना सचमुच ही बड़ा कठिन है।' तपसे होनेवाली सिद्धियोंके विषयमें बतलाते हैं कि, 'कृच्छ्र, पराक्, चान्द्रायण आदि व्रत, मेघकी जलधारामें बैठ रहना, जलमें खड़े होना, ये सब ऐसे साधन हैं कि जिस भावनासे इनमेंसे जो कोई साधन किया जाता है, उससे वही सिद्धि प्राप्त होती है।' मन्त्रसिद्धिके प्रसङ्गमें कहते हैं—

'रातभर शवपर बैठकर अनुष्ठान करे तो उससे प्रेतदेवता प्रसन्न होते हैं और भूत, भविष्य, वर्तमान अर्थात् त्रिकालके ज्ञानकी सिद्धि होती है। सूर्यमन्त्रका अनुष्ठान करनेसे दूरदर्शनसिद्धि प्राप्त होती है। मन्त्र जैसा हो और जैसी बुद्धि हो वैसी ही सिद्धि मिलती है।'

इन सब सिद्धियोंके रहनेका एक निधान योगधारण है। आसन दृढ़कर प्राणापानको एक करके जो योगधारणा करता है, उसे सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ऐसा होनेपर भी भगवान् कहते हैं कि यह सब कुछ भी न करके जो मुझ एक परमात्माको अपने हृदयमें धारण करता है, सब सिद्धियाँ उसके चरणतले आ जाती हैं और चारों मुक्तियाँ स्वभावसे ही उसकी दासियाँ होकर रहती हैं। अनेक

सिद्धियोंकी धारणासे मेरी सलोकता, समीपता और सरूपता भी नहीं प्राप्त होती, सायुज्यताकी तो कोई बात ही नहीं! जो मेरे अनघ अनन्यभक्त मुक्तिको भी छोड़कर मेरी भक्तिमें ही नित्य तृप्त होते हैं, वे मेरे लिये पूज्य हैं।

परम सिद्धि अर्थात् परमानन्द-प्राप्ति

मनुष्यका सारा प्रयास आनन्दलाभके लिये है। ऊपर जिन सिद्धियोंके लाभके प्रचण्ड घटाटोपका कुछ वर्णन हुआ, उन सिद्धियोंका लक्ष्य भी आनन्द ही होता है। पर आनन्दको भी परखकर ग्रहण करना चाहिये। आनन्द तीन प्रकारके हैं—इन्द्रियगम्य, मनोगम्य और बुद्धिगम्य। इन्द्रियगम्य आनन्द पशुका, मनोगम्य आनन्द मनुष्यका और बुद्धिगम्य आनन्द देवोंका होता है। इसके भी परे विशुद्ध-बुद्धिगम्य आनन्द है जो **'बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्'** है, उसे संत या भक्त लेते हैं। इसीको परमानन्द कहते हैं। संत कबीरदास कहते हैं—

गुपत होकर परगट होवे, जावे मथुरा कासी।
ब्रह्मरन्ध्रसे प्राण निकाले, सत्य लोकका बासी॥
सोई कच्चा बे कच्चा बे। नहीं गुरूका बच्चा बे॥

बड़ी-बड़ी सिद्धियोंसे प्राप्त होनेवाला आनन्द शाश्वत आनन्द नहीं है, परमानन्द नहीं है। वैसा आनन्द लेनेवाले योगीको कबीर साहब 'कच्चा' ही बतलाते हैं, उसे 'गुरुका बच्चा, नहीं मानते। इसलिये वास्तविक कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको ऐसे आनन्दके पीछे न पड़कर परमानन्दकी प्राप्तिमें ही प्रयत्नवान् होना चाहिये। यही सच्चा पुरुषार्थ है। इस परमानन्दका साधन श्रीभगवान् बतलाते हैं—

निर्गुणे ब्रह्मणि मयि धारयन् विशदं मनः।
परमानन्दमाप्नोति यत्र कामोऽवसीयते॥

इसपर श्रीएकनाथ महाराजकी टीका है—चित्तदेवता सत्त्वगुण है, इन्द्रिय रजोगुण हैं और विषय तमोगुण। यही परमानन्दका आवरण है। परमानन्दको छिपा रखनेवाले ये ही प्रकृतिके तीन गुण हैं, ये ही परमानन्दकी प्राप्तिमें बाधक हैं। इन तीन गुणोंको छोड़कर जो मेरे निर्गुण ब्रह्मस्वरूपका ध्यान करता है, वह परमानन्दलाभ करता है। (निर्गुणका अर्थ है प्रकृतिगुणोंके परे जो 'दिव्यगुण' है वह। भगवान्का सगुण-साकाररूप प्राकृत नहीं बल्कि दिव्य है। गीतामें भगवान्ने कहा ही है कि **'जन्म कर्म च मे दिव्यम्'**; इस दिव्य जन्म-कर्मको जो तत्त्वतः जान लेता है वह देह छोड़कर मुझे प्राप्त होता है, पुनर्जन्मको नहीं।) मेरे ध्यानसे परमानन्दलाभ होता है और इस आनन्दमें उसकी सब इच्छाएँ विलीन हो जाती हैं। सूर्योदयके होते ही चन्द्रसहित सब नक्षत्र जिस तरह लुप्त हो जाते हैं, उसी तरह परमानन्दमें करोड़ों इच्छाएँ मिलकर शेष हो जाती हैं। इन्द्रियसुखकी बातें तो मारे लज्जाके जहाँ-की-तहाँ ही ठंडी हो जाती हैं। भगवान् कहते हैं,—हे उद्धव! सुनो। जबतक परमानन्द नहीं मिलता तबतक लाख उपाय करनेपर भी कामकी निवृत्ति नहीं होती। इसलिये प्रत्येक साधकको परमानन्द पानेमें ही यत्नवान् होना चाहिये। यही परम सिद्धि है। यह भगवान्के सगुण-निर्गुण ध्यानसे प्राप्त होती है। (पर यह ध्यान तीव्र होना चाहिये।) अन्य सिद्धियोंके लिये जितना प्रयास किया जाता है, उतनेसे ही परम सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। भक्तवर तुकाराम कहते हैं—

साधन यही सिद्धियोंका है सरल और सुखधाम।
श्रीगोपालनाम लेता रह मुखसे आठों याम॥

संतोंका यह अनुभव है कि अखण्ड नाम-स्मरण अथवा नामोच्चारणसे ही सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। परम कारुणिक भगवान् सब साधकोंको ऐसी ही सद्बुद्धि प्रदान करें।

लालच

खट्टा मीठा चरपरा, जिभ्या सब रस लेय।
चोरों कुतिया मिलि गई, पहरा किसका देय॥
माखी गुड़में गड़ि रही, पंख रह्यो लपटाय।
हाथ मलै औ सिर धुनै, लालच बुरी बलाय॥

—रैदास

पञ्चभूतोंकी धारणा

यह स्थूल संसार जिसे जनसाधारण वज्रके समान ठोस देखते हैं, स्वप्नके दृश्योंसे भी अधिक हलका और सारहीन है। कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंका भार केवल मन सँभाले हुए है और वह जबतक उस भारकी याद नहीं करता तबतक किसी प्रकारका दु:ख उसे नहीं होता, जब वह स्थूल वस्तुओंके स्मरणमें ही अपनेको खो बैठता है, भूल जाता है, तब मानो उसपर सौ-सौ पहाड़ोंके भार आ जाते हैं और वह उनसे दबकर अधोगामी होने लगता है और लघु-से-लघुतर होकर जड़प्राय हो जाता है। अधिकांश लोगोंका मन अपनी विशालता, शक्ति और ज्ञानको भूलकर एक शरीरकी प्रवृत्तियोंमें इतना अधिक फँस गया है कि अपनेको शरीरके अतिरिक्त और कुछ समझता ही नही; और विश्व-ब्रह्माण्डके उदयन और विलयनकी तो बात ही क्या, उनकी कल्पनासे ही मूर्छित हो जाता है। मनकी यह दुर्बलता बहुत दिनोंसे अभ्यस्त है और इसीके कारण संसारके सारे दु:ख-द्वन्द्व हैं। यह मन, जो कि चिन्मय है, जबतक पुन: अपने चिन्मयत्वका अनुभव नहीं कर लेगा तबतक सुखी और शान्त नहीं हो सकता; इसके लिये भावनाकी, अभ्यासकी आवश्यकता है। संतोंने, शास्त्रोंने इसीके लिये अनेकों प्रकारके साधन बतलाये हैं, उनमेंसे एक प्रमुख साधन पञ्चभूतोंकी धारणा है। इसके द्वारा मनको धीरे-धीरे अल्पताके कारागारसे निकालकर अखण्ड-स्वातन्त्र्यमें, जो कि अनन्त है, स्थापित किया जाता है। वास्तवमें यही उसका स्वरूप है। स्वरूपकी उपलब्धि ही इस साधनाका उद्देश्य है, यद्यपि मार्गमें सभी प्रकारकी सिद्धियाँ भी मिलती हैं।

पञ्चभूत हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश। इनकी धारणाका अर्थ है क्रमश: चित्तको इन्हींमें बाँधना। यद्यपि ये सब चित्तमें बँधे हुए हैं, तथापि वर्त्तमान कालकी शरीरप्राय मनोवृत्तिको देखते हुए, ऊपर उठानेका यही क्रमिक उपाय मालूम पड़ता है। इन पाँच भूतोंमेंसे सबसे पहले पृथिवीकी धारणा की जाती है। उस धारणाका यह स्वरूप है कि ये पाँचों भूत, जो इन्द्रियोंसे बाहर दीख रहे हैं, सब-के-सब मनके अंदर हैं। इस मनुष्य-शरीरमें पैरसे लेकर जानुपर्यन्त पृथिवी-मण्डल है। उसका वर्ण हरतालके समान पीला है, उसकी स्थिति चतुष्कोण है, उसके अधिष्ठात्री देवता ब्रह्मा हैं, उसका बीज 'लं' है। प्राणोंको स्थिर करके पाँच घटिकापर्यन्त उपर्युक्त धारणा करनी चाहिये। यह धारणा करते-करते ऐसा अनुभव होने लगता है कि मैं एक शरीरमें आबद्ध अथवा शरीर नहीं हूँ। मैं सम्पूर्ण पृथिवी हूँ। ये बड़े-बड़े नदी-नद मेरे शरीरकी नस-नाड़ियाँ हैं और सम्पूर्ण जीवोंके शरीरके रोग अथवा आरोग्यके कीटाणु हैं। समस्त पार्थिव शरीर मेरे अपने ही अङ्ग हैं। घेरण्ड-संहितामें कहा गया है कि पूर्वोक्त प्रकारसे पृथिवीकी धारणा करके जो उसे हृदयमें प्राणोंके साथ चिन्तन करते हैं वे सम्पूर्ण पृथिवीपर विजय प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं। शारीरिक मृत्युपर उनका आधिपत्य हो जाता है और सिद्ध होकर वे पृथिवीतलमें विचरण करते हैं। योगी याज्ञवल्क्यने कहा है कि पृथिवी-धारणा सिद्ध होनेपर शरीरमें किसी प्रकारके रोग नहीं होते।

जल-धारणा इस प्रकार की जाती है—जानुसे लेकर पायु-इन्द्रियपर्यन्त जलका स्थान है। किसी-किसी आचार्यके मतमें जानुसे लेकर नाभिपर्यन्त जलका स्थान है। परन्तु योगी याज्ञवल्क्य यह बात नहीं मानते। जलमण्डल शङ्ख, चन्द्रमा और कुन्दके समान श्वेत-वर्ण है, इसका बीज अमृतमय 'वं' है। इसके अधिष्ठात्री देवता चतुर्भुज, पीताम्बरधारी, शुद्ध-स्फटिक मणिके समान श्वेत-वर्ण मन्द-मन्द मुस्कराते हुए परम कोमल भगवान् नारायण हैं। इस जलमण्डलका चिन्तन करके प्राणोंके साथ इसको हृदयमें ले आवे और पाँच घटिकापर्यन्त चिन्तन करे। इसके चिन्तनसे ऐसा अनुभव होने लगता है कि मैं जल-तत्त्व हूँ। पृथिवीका कण-कण मेरे अस्तित्वसे ही स्निग्ध है। स्वर्गीय अमृत और विष दोनों ही मेरे स्वरूप हैं। कुसुमोंकी सुकुमारता और पाषाणोंका पिण्डीभाव मेरे ही कारण है। पृथिवी मेरा ही परिणाम है। मैं ही पृथिवीके रूपमें प्रकट हुआ हूँ। मैं ही नारायणका आवास-स्थान हूँ। अनुभवी सन्तोंने कहा है कि जल-धारणा सिद्ध हो जानेपर समस्त ताप मिट जाते हैं। अन्त:करणके विकार धुल जाते हैं। अगाध जलमें भी उसकी मृत्यु नहीं होती।

अग्नि-धारणा इस प्रकार की जाती है—पायु-इन्द्रियसे लेकर हृदयपर्यन्त अग्नि-मण्डल है। इसका वर्ण रक्त है, आकार त्रिकोण है। इसका मुख्य केन्द्र नाभि और 'रं' बीज है। इसके अधिष्ठात्री देवता रुद्र हैं। इनका चिन्तन करते हुए प्राणोंको स्थित करे। जब यह

धारणा सिद्ध हो जाती है, तब ऐसा अनुभव होता है कि मैं अग्नि हूँ। सम्पूर्ण वस्तुओंका रंग-रूप जो आँखोंसे देखा जाता है मैं ही हूँ। मणियोंकी चमक-दमक, पुष्पोंका सौन्दर्य और आकर्षण मेरे ही कारण है। सूर्य, चन्द्रमा और विद्युत्के रूपमें मैं ही प्रकाशित होता हूँ। जल और पृथिवी मेरी ही लीला हैं। सबके उदरमें रहकर मैं ही शरीरका धारण और पोषण करता हूँ। सबके नेत्रोंके रूपमें प्रकट होकर मैं ही सब कुछ देखता हूँ। समस्त देवताओंका शरीर मेरे द्वारा बना है। पाँच घटिका-पर्यन्त अग्नि-धारणा सिद्ध होनेसे कालचक्रका भय नहीं रह जाता। साधकका शरीर यदि धधकती हुई आगमें डाल दिया जाय तो वह जलता नहीं। इस धारणामें रुद्रका चिन्तन इस प्रकार किया जाता है:—रुद्रभगवान् मध्याह्न कालीन सूर्यके समान प्रखर तेजस्वी हैं, आँखें तीन हैं। सम्पूर्ण शरीरमें भस्म लगाये हुए हैं, प्रसन्नतासे वर देनेको उत्सुक हैं।

वायुधारणा इस प्रकार की जाती है—हृदयसे लेकर भौंहोंके बीचतक वायु-मण्डल है, इसका वर्ण अञ्जन-पुञ्जके समान काला है। यह अमूर्त्त तत्त्व-शक्तिरूप है, इसका बीज है 'यं'। इसके अधिष्ठात्री देवता हैं—ईश्वर। प्राणोंको स्थिर करके हृदयमें इसका चिन्तन करना चाहिये। इसकी भावना जब पाँच घटिकातक होने लगती है, तब ऐसा अनुभव होता है कि मैं वायु हूँ। अग्नि मेरा ही एक विकास है। इस अनन्त आकाशमें सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी आदिको मैंने ही धारण कर रखा है। यदि मैं नहीं होता तो ये सब इस शून्यमें निराधार कैसे टिक पाते? मेरी सत्ता ही इनकी सत्ता है। प्रत्येक वस्तुमें जो आकर्षण-विकर्षण शक्ति है, वह मैं ही हूँ। ये ब्रह्माण्ड-मण्डल मेरे क्रीड़ा-कन्दुक हैं, मैं गतिस्वरूप हूँ, सबकी गतियाँ मेरी कला हैं, समुद्रमें मैं ही तरङ्गें उछालता हूँ। बड़े-बड़े वृक्षोंको झकझोरकर मैं ही पुष्प-वर्षा करता हूँ। सबका श्वासोच्छ्वास बनकर मैं ही सबको जीवन-दान कर रहा हूँ। मेरी गति अबाध है। शास्त्रोंमें कहा गया है कि यह वायु-धारणा सिद्ध होनेपर साधक निर्द्वन्द्व भावसे आकाशमें विचरण कर सकता है। जिस स्थानमें वायु नहीं हो, वहाँ भी वह जीवित रह सकता है। वह न जलसे गलता, न आगसे जलता, न वायुसे सूखता। बुढ़ापा और मौत उसका स्पर्श नहीं कर सकती।

आकाशकी धारणाका प्रकार निम्नलिखित है—भौंहोंके बीचसे मूर्धापर्यन्त आकाशमण्डल है। समुद्रके शुद्ध-निर्मल जलके समान इसका वर्ण है। इसका बीज है 'हं'। इसके अधिष्ठात्री देवता हैं—आकाशस्वरूप भगवान् सदाशिव। शुद्ध-स्फटिकके समान श्वेत-वर्ण है, जटापर चन्द्रमा हैं, पाँच मुख, दस हाथ और तीन आँखें हैं। हाथोंमें अपने अस्त्र-शस्त्र लिये हुए, दिव्य आभूषणोंसे आभूषित, वे समस्त कारणोंके कारण, पार्वतीके द्वारा आलिङ्गित, भगवान् सदाशिव प्रसन्न होकर वरदान दे रहे हैं। प्राणोंको स्थिर करके पाँच घटिकापर्यन्त धारणा करे। इसका अभ्यास करनेसे ऐसा अनुभव होता है कि मैं आकाश हूँ। मेरा स्वरूप अनन्त है, देश, काल मुझमें कल्पित हैं। मैं अनन्त हूँ, इसलिये मेरा कोई अंश नहीं हो सकता। मेरी सम्पूर्ण विशेषताएँ मनके द्वारा आरोपित हैं। मन ही मुझमें हृदयाकाश और बाह्याकाशकी कल्पना करता है। मैं घन हूँ, एकरस हूँ। न मेरे भीतर कुछ है और न तो बाहर। मैं सन्मात्र हूँ। इस आकाश-धारणाके सिद्ध होनेपर मोक्षका द्वार खुल जाता है, सारी सृष्टि मनोमय हो जाती है। सृष्टि और प्रलयका कोई अस्तित्व अथवा महत्त्व नहीं रह जाता, मृत्युके वाच्यार्थका अभाव हो जानेसे केवल उसका लक्ष्यार्थ शेष रहता है, जो अपना स्वरूप है।

इन धारणाओंका साधारण क्रम यह है कि पहले पृथिवी-मण्डलका चिन्तन करके उसको जलमण्डलमें विलीन कर दे, जलमण्डलको अग्निमण्डलमें, अग्निमण्डलको वायुमण्डलमें और वायुमण्डलको आकाशमें। इस प्रकार क्रमशः कार्यको कारणमें विलीन करते हुए सबको परम कारण सदाशिवमें स्थापित करे और अन्ततः सदाशिवको आत्मस्वरूप, परमात्मस्वरूप जानकर उन्हींके स्वरूप-रूपसे स्थित हो जाय। इस विषयमें अनुभवी योगियोंका ऐसा उपदेश है कि प्रत्येक मण्डलका चिन्तन करते समय प्रणवके द्वारा तीन-तीन प्राणायाम करके कार्य-मण्डलको कारण-मण्डलमें हवन कर दे।

ॐ अमुकमण्डलम् अमुकमण्डले जुहोमि स्वाहा।

इसी प्रकार सम्पूर्ण मण्डलोंका लय करके अपने शुद्ध स्वरूपमें स्थित हो जाना चाहिये।

ब्रह्मवेत्ता परम योगी देव-वैद्य अश्विनीकुमारोंने कहा है कि सबके शरीर पाञ्चभौतिक हैं, इन शरीरोंमें तीन तत्त्व हैं—वात, पित्त और कफ। पञ्चभूतोंकी इस धारणासे ये तीनों तत्त्व शुद्ध हो जाते हैं। अग्निधारणासे वातज दोष, पृथिवी और जलधारणासे श्लेष्मज दोष

निवृत्त हो जाते हैं। वायुधारणासे पित्तज और श्लेष्मज दोष नष्ट हो जाते हैं। आकाश-धारणासे त्रिदोषजनित सम्पूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं।

पञ्चभूतोंकी इस धारणासे कैसे-कैसे विचित्र अनुभव होते हैं, इसका बड़ा सरस वर्णन योगवासिष्ठान्तर्गत निर्वाण-प्रकरणके उत्तरार्द्धमें अट्ठासीवें सर्गसे बानबे सर्गतक हुआ है। उसको पढ़नेसे आनन्दका बड़ा विकास होता है। विस्तार-भयसे यहाँ उसका उल्लेख नहीं किया जा सकता। साधकोंको वहीं उसका अनुशीलन करना चाहिये। इस धारणासे यह अनुभूति तो बहुत ही शीघ्र होने लगती है कि यह स्थूल प्रपञ्च मनोमय है। आगे चलकर मनकी चिन्मयताका अनुभव होता है और यही जडस्फूर्ति और जडत्ववासनासे शून्य अन्त:करणकी शुद्धि है। जब इस शुद्ध अन्त:करणमें तत्त्वको स्वीकार करनेकी योग्यता आ जाती है तब उस विशुद्ध एकरसतत्त्वका बोध होता है। यह बोध ही समस्त साधनोंका चरम और परम फल है। शा०

पञ्चाग्नि-विद्या

(लेखक—पण्डित श्रीजौहरीलालजी शर्मा, सांख्ययोगाचार्य, विद्याधुरीण, विद्यासागर)

उपनिषदोंकी अनेक विद्याओंमेंसे एकका नाम है पञ्चाग्निविद्या। यह पुनर्जन्मका सिद्धान्त बतानेवाली विद्या है। मृत्युके अनन्तर किसका जन्म होता है और किसका नहीं, और जिनका होता है उनका किस प्रकार होता है? इन बातोंका समावेश इस विद्यामें है।

स्थूलशरीरको त्यागनेपर जीव सूक्ष्मशरीरके साथ-ही-साथ स्थानान्तरको जाता है और फिर एक निर्दिष्ट क्रमसे वापस आता हुआ जन्मान्तरमें स्थूलशरीरको पाता है। उपनिषद्में इस तत्त्वको निम्न प्रकारसे समझाया है। अग्निमें किसी वस्तुकी आहुति डालनेपर उस वस्तुका रूपान्तरमें परिवर्तित होकर हवामें उड़ जाना हम सभीके अनुभवमें आया है। तोलाभर घी अग्निमें डालनेसे वह सुगन्धमय धूमके रूपमें बदलकर वायुमें मिल जाता है। घी और उसका उत्तरकालीन परिवर्तित रूप तत्त्वदृष्टिसे एक ही वस्तु है। रासायनिक विश्लेषणकी प्रक्रियाके ही कारण घीमें इतना परिवर्तन हो जाता है और इस परिवर्तनका कारण अग्नि है।

इस प्रत्यक्ष दृष्टान्तकी सहायताको लेते हुए ऋषियोंने बतलाया है कि किस प्रकार एक देहको छोड़नेसे दूसरे देहको ग्रहण करनेतक जीवका शरीर अनेक रासायनिक परिवर्तनोंको प्राप्त करता है।

मृत जीवका सूक्ष्मभूतमय शरीर श्रद्धा कहा जाता है और 'अप्' भी कहलाता है, क्योंकि उस समय उसमें जलतत्त्वकी प्रधानता रहती है। इस श्रद्धाका संयोग होता है 'सोम' से और जहाँ यह संयोग होता है, उसीको 'परलोक' कहते हैं। यह प्रथम रासायनिक परिवर्तन भूमिसे ऊर्ध्व प्रदेशमें—अन्तरिक्षमें होता है, अतएव इसे परलोक कहते हैं। परलोकरूपी प्रथम अग्निमें 'श्रद्धा' की आहुतिसे इस प्रकार 'सोम' होता है।

यही 'सोमरस' पर्जन्यरूपी अग्निमें पड़कर 'वर्षा' रूपमें परिवर्तित होता है। अतएव पर्जन्य द्वितीय अग्नि है।

तदनन्तर वर्षाका जल अन्नरूपमें परिवर्तित होता है और पृथिवीमें इस प्रकारके परिवर्तन होनेके कारण पृथिवीको तृतीय अग्नि कहा जाता है।

यह अन्न फिर वीर्यरूपमें परिवर्तित होता है और पुरुष शरीरमें इस परिवर्तनके होनेके कारण पुरुषको चतुर्थ अग्नि कहा जाता है।

अन्तमें वीर्य ही गर्भरूपमें परिवर्तित होता है और पत्नीमें इस परिवर्तनके होनेके कारण वह पञ्चम अग्नि कहलाती है।

इस प्रकार पाँच अग्नियों (Stages of transformation) में होता हुआ 'श्रद्धा' नामक द्रव्य 'गर्भ' रूपमें आता है। गर्भ वीर्यसे, वीर्य अन्नसे, अन्न वर्षासे, वर्षा सोम-से और सोम श्रद्धासे होता है।

श्रद्धासे लेकर गर्भतक पाँच दशाएँ बतलायी गयी हैं। जीव अन्त:करणसहित ही इन पाँचों दशाओंमें रहता है। जिस प्रकार गर्भाशयमें स्थित रजोवीर्यसे उत्पन्न शरीरमें जीव और उसके सूक्ष्मशरीरका सम्पर्क रहता है, उसी प्रकार वीर्यमें, अन्नमें, वर्षामें और सोममें भी जीवके साथ अन्त:करणका सम्पर्क रहता है।

प्रथम देहत्यागके अनन्तरकी अवस्थाको श्रद्धा कहा गया है। यह वह स्थिति है, जिसमें जीवकी अग्रिम यात्राका निश्चय होता है। **'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'**।

जन्मभर सत्कर्मोंके अनुष्ठानसे मरणानन्तर भी शुभ श्रद्धा ही रहती है और दुष्कर्मोंके आचरणसे दुष्ट श्रद्धा रहती है। अग्रिम जन्मका निर्णय हो जानेपर जीव अपने अन्तःकरणके साथ-ही-साथ सोमावस्था, जलावस्था, अन्नावस्था, वीर्यावस्था और गर्भावस्थाके स्थूल पञ्चभूतोंमें निवास करता है और अन्तिम अवस्थासे ही भूमिपर जन्म लेता है। जन्मानन्तर सूक्ष्मशरीरसंयुक्त जीवसे अधिष्ठित स्थूलशरीरमें ही बाल्य, यौवन और जराका परिणाम होता है।

इस प्रकार श्रद्धा वा कर्मानुसार जीव संसारमें आवागमनका चक्कर काटता रहता है और चौरासी लाख योनियोंमें घूमता-फिरता सुख-दुःखमोहात्मक दशाओंमें रमता रहता है।

जन्म-मरणके चक्रको पितृयान भी कहा जाता है और कृष्ण-गति भी। अज्ञानका रंग काला माना गया है, अतएव अज्ञानसे होनेवाले जन्म-मरणको कृष्ण-गति (Black Route) कहते हैं।

इसके विपरीत ज्ञानका वर्ण शुक्ल माना गया है और इसलिये ज्ञानसे होनेवाली मुक्तिकी दशाको शुक्ल-गति कहते हैं। शुक्ल-गतिको देवयान भी कहते हैं।

शुक्ल-गतिमें अन्तःकरण वा सूक्ष्मशरीर भी हट जाता है। तब आत्मा अपने विशुद्ध रूपमें निवास करता हुआ चिदानन्दका उपभोग करता है।

भीमा और नीराके पवित्र सङ्गमपर

(लेखक—'शान्त')

(१)

अभी सूर्योदय होनेमें विशेष विलम्ब था। अरुणोदयकी अरुणिमा भी स्पष्टरूपसे नहीं दीख रही थी। वायुमण्डल शान्त था, मलयज पवनके शीतल झोंके रह-रहकर छू जाया करते थे। इतनी शान्ति थी उस समय कि वृक्ष भी सोये हुए-से जान पड़ते थे, तारे ठिठके हुए और चन्द्रमा समुद्रके पास। भीमा और नीराके सङ्गमपर जो विशाल वटवृक्ष था, उसकी एक लम्बी शाखापर दो श्वेत पक्षी जाग रहे थे और केवल वे ही जाग रहे थे। जैसे भीमा शान्त थी और नीरा चञ्चल, वैसे ही उन दोनों पक्षियोंमें भी एक गम्भीर था और दूसरा उत्सुक। गम्भीर पक्षी बड़ा था और चञ्चल छोटा। छोटे पक्षीकी आँखें इधर-उधर दौड़ जाती थीं और कोई नयी वस्तु देखकर वह पूछ बैठता था कि यह क्या है। उस शान्त, नीरव ब्रह्मवेलामें केवल दो ही प्रकारके शब्द थे—एक तो नीरा नदीकी कलकलध्वनि और दूसरे उस चञ्चल पक्षीके चापल्यमिश्रित, उत्सुकताभरे बालोचित प्रश्न।

भीमा और नीराके मधुर संगमकी ओर, जो दो प्रिय सखियोंके मिलन-जैसा आनन्दमय था, दृष्टि जाते ही छोटे पक्षीको एक नवीन दृश्य दीख पड़ा। एक युवक, जिसकी रेख अभी भिनी नहीं थी, झीनी-सी चादरसे अपना शरीर ढके हुए, स्वस्तिकासनसे ध्यानमग्न बैठा हुआ था। न उसकी साँस चलती दीखती थी और न उसके शरीरमें तनिक भी स्पन्दन था। उसके जीवनका चिह्न इतना ही था कि वह शान्त, स्थिर और गम्भीर मुद्रासे बैठा था। छोटा पक्षी उसको जाननेके लिये चञ्चल हो उठा। उसने बड़े पक्षीको सम्बोधित करके पूछा—'भैया! यह कौन है, क्या कर रहा है? तुम तो अन्तर्यामी हो, इसके मनकी सारी बातें जानते हो, मुझे बताओ। इसके चित्तकी स्थिति जाननेके लिये मेरे मनमें बड़ा कुतूहल है।' बड़ा पक्षी, जो हंस था, उस समय बड़े शान्त भावसे उस युवककी ओर ही देख रहा था। मानो युवकके हृदयकी प्रत्येक गति-विधि उसकी आँखोंके सामने हो और वह उसे देख-देखकर मुग्ध हो रहा हो। हंसने छोटे पक्षीको सम्बोधन करके कहा—वत्सल! मैं प्रायः तुम्हारे प्रश्नोंको टाल दिया करता हूँ। इसका यह कारण नहीं है कि मैं तुम्हारी उपेक्षा करता हूँ। बात इतनी ही है कि जब मैं स्थूल जगत्‌को छोड़कर सूक्ष्म जगत्‌के किसी गम्भीर रहस्यके चिन्तनमें संलग्न रहता हूँ, तब तुम इतने उथले प्रश्न करते हो, ऐसी चर्चा छेड़ देते हो, जिसके कहने-सुनने, समझने-समझानेमें रुचि ही नहीं होती। परन्तु आज अभी इस समय जो तुमने

प्रश्न किया है, वह इस अवसरके अनुकूल ही है; क्योंकि जो मैं मनकी आँखोंसे देख रहा हूँ, वही तुम पूछ रहे हो। कितनी तन्मयता है उस युवकमें, कितनी लगन और तल्लीनताके साथ तत्पर है वह अपनी साधनामें! ऐसा मालूम पड़ता है कि साधनाका लम्बा मार्ग यह कुछ क्षणेंमें ही समाप्त कर देगा। मैं तो इसके अन्तर्देशके दर्शनसे ही ध्यानस्थ हो रहा हूँ। ध्यान करनेवाला किस प्रकार ध्यान कर रहा है, उसके चित्तमें इस समय किन-किन भावोंका उदय और विलय हो रहा है, उसके चित्तके चबूतरेपर कौन-कौन-सी मूर्तियाँ आकर नाच जाती हैं, उनको देखकर वह किस प्रकार आनन्दविभोर हो जाता है—इन बातोंकी कल्पनासे ही अन्त:करणमें एक अपूर्व सुख-शान्तिका अनुभव होता है। इस समय यह वीर युवक भगवान्‌की मधुर और मोहक लीलाओंमें रम रहा है; इसके मन, प्राण, और शरीर और रोम-रोममें भगवान्‌की दिव्यता अवतीर्ण हो रही है। इसकी एक-एक वृत्ति भगवान्‌को लेकर ही उठ रही है और भगवान्‌में ही विलीन हो रही है। इस समय यह पवित्रता, शान्ति और आनन्दकी त्रिवेणीमें उन्मज्जन-निमज्जन कर रहा है, डूब-उतरा रहा है। कितनी मस्ती है इसमें! देखो तो सही, इसके शरीरमेंसे प्रकाशकी कैसी किरणें निकल रही हैं! इसका मुखमण्डल ज्योतिर्मय हो रहा है, इसके हृदयसे शान्ति और आनन्दकी धारा प्रवाहित होकर आसपासके सम्पूर्ण जड़-चेतनको एक दिव्य प्रेम और रससे सराबोर कर रही है। ऐसा जान पड़ता है कि यदि इसी प्रकार इसका ध्यान चलता रहा तो थोड़े ही समयमें इसकी सम्पूर्ण प्रकृतिका परिवर्त्तन हो जायगा और न केवल इसका अन्त:करण ही, बल्कि स्थूलशरीर भी अत्यन्त दिव्य और नारायणमय हो जायगा।

वत्सलने कहा—'हे राजमराल! शिव भगवान्‌की कृपासे आपको महान् सिद्धि प्राप्त है; आप दूरकी वस्तु देख सकते हैं, दूसरेके मनकी बात जान सकते हैं; भूत और भविष्य, दूर और निकटकी सभी वस्तुएँ आपके लिये करामलकवत् हैं। आपसे कोई भी रहस्य अज्ञात नहीं है। आप मेरी उत्सुकताको मिटानेके लिये कृपा करके यह बतलाइये कि इसने किस प्रणाली और किस क्रमसे ध्यान किया है, जिससे इसे इतनी तन्मयता प्राप्त हो गयी।' राजमरालने कहा—''वत्सल! यह विषय अत्यन्त गोपनीय है, फिर भी तुम्हारे आग्रह और प्रेमको देखते हुए न बताना अनुचित जान पड़ता है। इसलिये सावधानीसे सुनो। मैं तुम्हें इसके ध्यानकी गाढ़ताका कारण बतलाये देता हूँ। नित्य कर्म—सन्ध्यावन्दन आदिके नियमपूर्वक अनुष्ठानसे इसके सम्पूर्ण अंगों और इन्द्रियोंके देवता अनुकूल तथा प्रसन्न हो गये हैं। वे ध्यानकी स्थिरतामें किसी प्रकारका विघ्न नहीं डालते। ध्यानके समय वे स्वयं ही इसके शरीर और इन्द्रियोंको स्थिर और अविचल कर देते हैं। यम-नियमके पालनसे और इस दृढ़ निश्चयसे कि 'अब मैं कभी पाप-कर्म नहीं करूँगा' पाप-वासनाएँ तो इसके चित्तमें उठती ही नहीं। प्राणायाम और विचारके द्वारा इसने शुभ कर्मकी वासनाओंका भी तनूकरण सम्पन्न कर लिया है। भूत-शुद्धि और मन्त्र-चैतन्यकी क्रियासे इसके अन्त:करण और इष्ट-मन्त्रमें भी विशिष्ट शक्तिका विकास हो गया है और अब यह इच्छा करते ही एकाग्र हो जाता है। कितना निरुद्ध और भावप्रवण हो गया है इसका चित्त, इस बातको आज मैंने प्रत्यक्ष देखा। आज ब्रह्मवेलाके पूर्व ही जब यह यहाँ आकर बैठा और मेरे देखते-देखते ही अन्तर्मुख होकर भावलोकमें प्रवेश कर गया, तब मैं आश्चर्यचकित हो रहा था।

''इस युवकने पहले अग्नि-प्राकारकी भावना की, अनुभव किया कि 'मेरे चारों तरफ एक ज्योतिर्मय चहारदीवारी है और उसके बीचमें मैं सुरक्षितरूपसे बैठकर परमात्माका चिन्तन करने जा रहा हूँ। किसी प्रकारकी दुर्भावना और दुर्वासनाएँ मेरा स्पर्श नहीं कर सकतीं।' यह दृढ निश्चय करके इसने अपने सर्वाङ्गमें कीर्ति आदि शक्तियोंके साथ केशवादिका न्यास किया, जिससे इसके शरीरकी सम्पूर्ण अपवित्रताएँ धुल गयीं और शरीरमें दिव्यता आ गयी। तत्पश्चात् पीठन्यास करते हुए इसने सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमण्डल और लोकोंको यथास्थान शरीरमें स्थापित किया। इसने क्रमश: ऐसी भावना की कि यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममें स्थित है, इसके अधिष्ठान ब्रह्म हैं। इसलिये यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय है, ब्रह्मस्वरूप है। ब्रह्मकी वह शक्ति भी ब्रह्म ही है, जिसने ब्रह्ममयी प्रकृतिको धारण कर रखा है। ब्रह्ममें आधारशक्ति, आधारशक्तिमें प्रकृति, प्रकृतिमें एक ब्रह्माण्डमण्डलको धारण करनेवाले व्यक्तरूपसे विराजमान कूर्मभगवान् और उनके आधारपर स्थित शेषभगवान्, जिन्होंने यह पृथ्वी धारण कर रखी है। पृथ्वीपर अनन्त विस्तृत उत्ताल तरंगोंसे तरङ्गायमान धवलातिधवल क्षीरसागर—जिसमें नाना प्रकारके रङ्ग-विरङ्गे कमलोंके आसपास अनेकों हंस, सारस आदि दिव्य पक्षी क्रीड़ा कर रहे हैं और

जिसके मध्यभागमें बड़ा ही विशाल सात्त्विकताका साम्राज्य श्वेतद्वीप है—हिलोरें ले रहा है। श्वेतद्वीपमें लताओंके कुञ्जमें मणियोंका सुन्दर मण्डप है और उस मण्डपके अन्तर्गत प्रेमके पुष्प और आनन्दके फलोंसे परिपूर्ण एक दिव्य कल्पवृक्ष है, जिसकी दिव्य सुरभिसे सारा संसार सुवासित हो रहा है। कल्पवृक्षके नीचे मणियोंकी वेदी है और उसपर रत्नजटित सिंहासन है।''

राजमरालने कहा—''प्यारे वत्सल! अभी थोड़ी ही देर पहलेकी तो बात है, इन्हीं दिव्य वस्तुओंकी भावना करते-करते यह युवक इस स्थूल संसारका उल्लङ्घन कर गया है और दिव्य लोकमें प्रविष्ट हुआ है। वहाँ जाते ही इसने उस रत्नसिंहासनपर जो अपने सान्त स्वरूपमें अनन्त होनेपर भी सान्त दीख रहा था, द्वादशकलात्मा सूर्य, षोडशकलात्मा चन्द्रमा और दशकलात्मा अग्निको देखा और क्रमशः और भी अन्तर्जगत्में प्रवेश करता गया। वहाँ इसने सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंको देखा; तीनों अवस्थाएँ इसके सामने नाच गयीं; उनके अभिमानी भी आये और नमस्कार करके चले गये। इसने आत्मा, अन्तरात्मा और ज्ञानात्माको प्रत्यक्ष देखा। इस विशुद्ध प्रेम और ज्ञानके राज्यमें जहाँ दोनोंका एकत्व है, पहुँचते ही इस युवकके सामने भगवान्का लीला-लोक प्रकट हो गया है। इस समय यह नारायणके शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी, वर्षाकालीन मेघके समान सुन्दर, पीताम्बर ओढ़े हुए, मधुर, मञ्जुल, मङ्गलमय स्वरूपकी सेवा कर रहा है। इसने अभी कुछ ही क्षण पहले भगवान्का चरणामृत लिया है, उन्हें अपने हाथसे माला पहनायी है, अनेकों प्रकारके फल-मूल और व्यञ्जनके नैवेद्य लगाये हैं। और प्रेमपूर्वक आग्रह करके भगवान्को खिलाये हैं। कितने प्रेमी हैं भगवान्, प्रेमका प्रतिदान तो केवल वे ही जानते हैं। वे नित्यतृप्त हैं और अपनी अखण्ड महिमामें स्थित हैं, फिर भी प्रेमपरवश होकर अपने भक्तोंके लिये क्या-क्या नहीं करते? भगवान्ने इसकी सेवा स्वीकार की है, इसे अभयदान दिया है और अपनाया है। इस समय प्रेममुग्ध होकर आरती करता हुआ यह भगवान्के सामने नाच रहा है और इसके शरीरमें क्रमशः आठों सात्त्विक भाव उदय हो-होकर अपनेको सार्थक कर रहे हैं।''

वत्सलने पूछा—'राजमराल! तुम्हें तो इसका भविष्य भी ज्ञात है; अब आगे क्या होगा, यह बतलानेकी कृपा करो'। राजमरालने कहा—''अब प्रातःकाल होनेपर आया। मुझे यहाँसे बहुत दूर, पण्ढरपुरसे पचास मीलपर गुप्तलिङ्ग भगवान् शङ्करका दर्शन करने जाना है; इसलिये मैं तो अब चलता हूँ। इसका ध्यान अभी शीघ्र टूटनेवाला नहीं, इसका शरीर भी नारायणमय हो जायगा। अभी तो मैं चलूँ।'' वत्सलने कहा—'राजमराल! मुझे भी अपने साथ ले चलें।' राजमरालने अनुमति दी और दोनोंने एक ही साथ वहाँसे यात्रा की।

(२)

महाराष्ट्रमें भगवान् शङ्करके आठ लिङ्ग अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उनमें सात प्रकट हैं और आठवाँ गुप्त। बड़े महादेव, जो कि हरिहरात्मक लिङ्गमूर्ति हैं, शिवाजीके पूर्वजोंके द्वारा चिरकालसे पूजित हैं। उनके दर्शनमात्रसे आज भी जीवोंके अन्तस्तलमें एक अलौकिक पवित्रताका सञ्चार होता है। वहाँसे थोड़ी ही दूर, एक कोसके लगभग दो पर्वतोंकी सन्धिमें भगवान् शङ्करका गुप्त लिङ्ग है, वहाँ हरे-भरे, सुन्दर-सुन्दर वृक्ष हैं। बारहों मास बहनेवाले झरने हैं। दो-तीन छोटे-छोटे कुटीर हैं, जिनमें कभी-कभी दो-एक साधु रह जाते हैं और कभी कोई नहीं रहता। गुप्तलिङ्ग भगवान्के ठीक ऊपर पर्वतशृङ्गपर पीपलके कई बड़े-बड़े वृक्ष हैं। उनमें एक तो मानो वहाँके वृक्षोंका राजा ही है। थोड़ी हवामें भी जब उनके पत्ते खड़खड़ा उठते हैं, तब ऐसा जान पड़ता है मानो भगवान् शङ्करका डमरू बज उठा हो। उस स्थानकी अनन्त महिमा है और अनन्त सौन्दर्य है। राजमराल प्रतिदिन वहीं जाकर झरनेमें स्नान करते, शिवकी पूजा करते, पीपलपर बैठकर उनका ध्यान करते। यही उनका सहज कर्म था। न इसमें परिश्रम था और न कृत्रिमता। जैसे स्वभावतः प्राण चला करते हैं, वैसे ही उनके शरीरसे यह क्रिया हुआ करती थी।

प्रतिदिनकी अपेक्षा आज कुछ विशेषता थी। रोज वे अकेले रहते थे, आज दो थे। जब वे नित्य-कृत्य समाप्त करके बड़ी शान्तिसे पीपलकी एक शाखापर बैठे, तब वत्सलने पूछा—'भैया! उस युवककी क्या स्थिति होगी, अब उसका इस समय क्या भाव होगा? वह क्या अनुभव करता होगा?' राजमराल उस समय ध्यानस्थ हो रहे थे, वे किसी भी प्रश्नका उत्तर देना नहीं चाहते थे। वत्सल उनका रुख देखकर चुप हो रहा। परन्तु उसके मनमें इस बातकी बड़ी छटपटी थी कि उस युवककी क्या स्थिति है। थोड़ी देरके बाद वत्सलने देखा राजमरालकी आँखोंसे आँसूकी धारा बह रही है,

शरीर काँप रहा है, सारे शरीरपर स्वेद-बिन्दु हैं और मुखमण्डल प्रेमकी ज्योतिसे जगमगा रहा है। राजमरालकी यह दशा देखकर वत्सलको उनके शरीरकी बड़ी चिन्ता हो गयी और वह उन्हें अपने पङ्खके पङ्खेसे हवा करने लगा एवं अनेकों प्रकारसे उन्हें जगानेकी चेष्टा करने लगा। बहुत उपचारके बाद जब वे होशमें आये और स्वस्थ हुए, तब वत्सलने पूछा—'भैया, यह तुम्हारी क्या दशा हो गयी थी? किस अनुभूतिमें तुम डूब गये थे? तुम्हारे लिये ऐसी कौन-सी अनहोनी वस्तु है, जिसे देख-सुनकर या स्मरण करके तुम विह्वल हो जाते हो? मेरे प्रश्नको सुनातक नहीं। यदि कोई अत्यन्त रहस्यकी बात न हो तो बतलानेकी कृपा करो।' राजमरालने बड़े प्रेमसे कहा—''भाई वत्सल! तुम तो मेरा समग्र जीवन ही पूछ रहे हो। मैं जब अपने जीवनकी नवीन घटनाओंका स्मरण करता हूँ तो भगवान्‌की अहैतुकी कृपा, उनके प्रेम और अपने मस्तकपर उनके वरद कर-कमलोंकी छत्रछाया देखकर उन्हींके स्मरणमें विह्वल हो जाता हूँ। मुझे अपने तन-बदनकी सुधि नहीं रहती। देखो न मैं क्या था, क्या हो गया? कहाँ तो एक पक्षी हंस और कहाँ भगवान्‌की इतनी महान् कृपा! मेरा जीवन धन्य हो गया, प्रभुकी कृपासे।''

'सारी घटना स्मरण हो आयी है, कहे बिना रहा नहीं जाता' यह कहकर राजमरालने फिर बोलना आरम्भ किया ''तुम कैलासपर्वतको तो जानते ही हो, यहाँसे यदि वहाँ जाना हो तो शत-शत पर्वमालाओंको पार करना पड़ता है। वहीं गौरीशङ्कर चोटीके पास बड़ा विशाल मानस-सर है, जिसमेंसे भक्ति और ज्ञानके समान ब्रह्मपुत्र और सिन्धु—ये दोनों नद प्रवाहित हुए हैं। मैं उसी मानस-सरका निवासी हूँ। मैं वहाँ अकेला न था, कोटि-कोटि हंस वहाँ निवास करते हैं। उन्हींमें एक मैं भी था। सब-के-सब मानस-सरमें क्रीडा करते थे, कमलोंसे खेलते थे; सब-के-सब शुद्ध सात्त्विक थे, प्रेमी थे और नीर-क्षीरविवेकी थे। एक बारकी बात है—सभी हंस इकट्ठे थे, अपनी विवेकशक्तिकी चर्चा चल रही थी। हंसोंकी जाति बड़ी विवेकवती है, पानीमेंसे दूधको अलग कर लेती है; यही सबसे महान् जाति है। ऐसी एक भी समस्या नहीं, जिसे यह हल न कर सके। उसी सभामें एक प्रश्न छिड़ा—'हमलोग जो मोती चुगते हैं, वे क्या चीज हैं? उनकी उत्पत्ति कैसे, किससे?' इस प्रश्नका उत्तर सहसा कोई नहीं दे सका। अन्तमें यह निर्णय हुआ कि सब लोग इस प्रश्नपर विचार करें। जो इसका ठीक-ठीक उत्तर देगा, वह हमलोगोंका राजा होगा और मानस-सरके बीचोबीच जो सबसे बड़ा कमल है, वही उसको आसनके रूपमें प्राप्त होगा। जिनकी विचारशक्ति प्रखर थी, उन्होंने उस स्थानको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न आरम्भ किया। छः महीनेकी अवधि रखी गयी।

''मेरे मनमें न तो उस स्थानका प्रलोभन था और न मेरी विचारशक्ति ही प्रखर थी। परन्तु यह प्रश्न मेरे चित्तमें भी उठा कि जो मोती हमलोग चुगते हैं, वे क्या हैं; इन्हें किसने, किसलिये बनाया है? केवल मोतीके ही सम्बन्धमें नहीं, सम्पूर्ण जगत्‌के और अपने सम्बन्धमें भी यही प्रश्न उठ खड़ा हुआ। मैंने अबतक कोई साधन-भजन तो किया नहीं था, सत्सङ्गका अवसर भी कम मिला था; ऐसी स्थितिमें मैं स्वयं क्या विचार सकता? सामने केवल निराशा-ही-निराशा थी। आशा थी तो बस, एक-गौरीशङ्करकी चोटीपर रहनेवाले भगवान् शङ्करको पानेकी—जिन्हें मैंने कभी देखा नहीं था, जहाँतक जानेकी मुझमें शक्ति नहीं थी, परन्तु जिनके पास आकाशमार्गसे जाते हुए सिद्धों, संतों, ऋषियों और देवताओंको मैं देखा करता था। आशा थी तो केवल उनकी ही। चित्तसे प्रश्न टलता नहीं था, समाधानका कोई उपाय न था। चित्तमें इतनी व्याकुलता हुई कि जीवन भार हो गया। भला, वह जीवन किस कामका जिसमें एक तिनकेका भी यथार्थ ज्ञान नहीं है—और तो क्या, अपने-आपका भी ज्ञान नहीं है। अब मैं चलूँगा भगवान् शङ्करके पास; यदि रास्तेमें मर जाऊँ तो इस अज्ञानावृत जीवनसे वह मरना भला ही है; और यदि जीते-जी वहाँतक पहुँच जाऊँ तो सारा भेद आप ही खुल जायगा। ऐसा निश्चय करके मैं उड़ा—गौरीशङ्करकी उस चोटीपर चढ़नेके लिये, जहाँ अवधूतके वेशमें भगवान् शङ्कर निवास करते हैं।

''मैं उड़ा, उड़ता ही गया; न जीवनका मोह था न लोभ। इसलिये कष्टोंकी परवा भी न थी। कितनी दूरतक कुहरा पड़ा और कितनी दूरतक अन्धकार, कहाँ जाड़ेसे ठिठुरकर गिर पड़ा, कहाँ ठोकर खाकर—इन सब बातोंकी कोई याद नहीं है। आगे चलकर तो मेरा शरीर उड़ रहा है या नहीं—यह भी भूल गया, केवल मन-ही-मन उड़ता रहा। जब होशमें आता तब शरीर भी उड़ता और मूर्छित हो जाता तो कहीं गिर पड़ता। एक बार ऐसे जोरकी ठोकर लगी कि मैं तिलमिला उठा, शरीर बेबस हो गया; परन्तु ऐसी आश्चर्यजनक घटना घटी कि मैं

अलग था और शरीर अलग। शरीरको ठोकर लगनेसे मुझे तनिक भी व्यथा नहीं हो रही थी। मैं स्वयं आश्चर्यचकित हो बोल उठा—'अरे! तो क्या मैं शरीरसे अलग हूँ? क्या मेरा शरीर ही घायल होकर पड़ा है, उसके साथ मन मूर्च्छित नहीं हुआ? शरीर एक व्यक्ति है, मन भी एक व्यक्ति है, जगत्‌के सम्पूर्ण शरीर और मन भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। शरीरसे मनका और मनसे शरीरका सम्बन्ध है। ये जब जागरित रहते हैं तब पृथक्-पृथक्, सुषुप्त अथवा प्रलीन रहते हैं तब एक; यही समस्त व्यक्तियोंकी एक समष्टि है। मोती स्थूल है, मेघ सूक्ष्म है; समुद्र कारण है, उसमें मेघ और मोती अभिन्न हैं। स्थूल जगत् सूक्ष्म जगत्‌में, दोनों कारण-जगत्‌में और मैं सबसे पृथक्, सबको देखनेवाला। मुझसे कारणका क्या सम्बन्ध है? मैं ही तो कारणको देख रहा हूँ? यह कारण मेरे अंदर है या बाहर? अंदर है तो मुझसे भिन्न क्यों? क्या मैं ही कारण बन गया हूँ? मुझ अनन्त, एकरस, निर्विकार, देश-काल-वस्तु-परिच्छेदशून्य, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदरहित चिद्‌घनमें कार्य-कारणकी परम्परा कैसी? केवल मैं-ही-मैं हूँ। ऐसा निश्चय होते ही मैं समाधिस्थ हो गया। कोई प्रश्न नहीं रहा। न आकुलता थी, न शान्ति; बस, केवल मैं था।'

"जब मेरी समाधि टूटी और मैंने अपने शरीरकी ओर देखा तो वह कैलासके एक शिखरपर भगवान् गौरीशङ्करकी गोदमें था और वे अपने कृपा-कटाक्षोंसे उसे सींचते हुए मुस्करा रहे थे। माताकी वह स्नेहमयी मूर्ति, पिताका वह लोकोत्तर वरदान आज भी मेरी आँखोंके सामने नाच रहा है। उन्होंने अपने कर-कमलोंके स्पर्शसे मुझे जीवनदान दिया और मैं सचेतन होकर उनके चरणोंके पास लोटने लगा। उनका वह कर्पूरोज्ज्वल श्रीविग्रह, उनकी वह करुणामयी मूर्ति कभी भुलायी नहीं जा सकती। उनकी आज्ञासे मैं हंसोंमें लौट आया; मेरा अज्ञान नष्ट हो गया, सम्पूर्ण समस्याएँ सुलझ गयीं।

"छठा महीना पूरा होते-न-होते, उसी मानस-सरमें फिर हंसोंकी पञ्चायत इकट्ठी हुई; सबने अपने-अपने विचार सुनाये। एकने कहा—'स्वाती नक्षत्रपर जब सूर्य आते हैं, तब सीपमें वर्षाका जल पड़नेसे मोती बनते हैं। इसलिये सीप और मेघ तो निमित्त-कारण हैं और जल उपादानकारण। इसी क्रमसे मोतीकी उत्पत्ति होती है। जलमें जो मोती निहितरूपसे रहता है, वह स्वाती नक्षत्रकी सूर्य-रश्मियों और सीपके संयोगसे अभिव्यक्त हो जाता है। मोती एक वस्तु है—कारणरूपमें नित्य और कार्यरूपमें अनित्य। इसलिये उसकी पवित्रता अक्षुण्ण है। उसके कारणस्वरूपपर दृष्टि रखी जाय तो वह कभी दुःखद नहीं हो सकता।'

"दूसरेने कहा—'यदि कारणमें सब वस्तुओंका अस्तित्व अलग-अलग स्वीकार किया जाय, तब तो उनका पारस्परिक सम्बन्ध जुड़ना असम्भव हो जायगा। जल पृथक् वस्तु है और उसमें स्थित मोती पृथक् वस्तु है, दोनोंका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है—ऐसा मान लें तो जलसे मोतीके अभिव्यक्त होनेका कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। इसलिये कारणमें सब वस्तुओंकी अलग-अलग सत्ता है, ऐसा मानना युक्तिसङ्गत नहीं है। कारण एक है, उसके परिणाम ही भिन्न-भिन्न कार्य हैं। मोती, सीप, मेघ, सूर्य, समुद्र और जगत्‌की समस्त भिन्नताएँ मूलतः एक ही वस्तुके परिणाम हैं। इसलिये प्रिय-अप्रिय और अनुकूल-प्रतिकूलका भेद केवल कार्यपर दृष्टि रखनेके कारण है। यदि यह स्थूल दृष्टि निवृत्त करके वस्तु-दृष्टि रखी जाय तो शोक-मोहके लिये कहीं स्थान ही न रहे। इसलिये मोतीको मोतीके रूपमें नहीं, उसे अद्वितीय कारणके रूपमें देखना ही निःश्रेयस है।'

"मैं भी वहीं था, मेरे मनमें भी बोलनेकी आयी और मैं बोल उठा—'भाई! जब यह निश्चय किया जाता है कि कारण-दृष्टिसे सब एक ही हैं, तब निश्चय करनेवाला अपनेको किस कोटिमें मानता है? उसका अस्तित्व तो निर्विवाद है और उसे किसी-न-किसी कोटिमें भी होना ही चाहिये। ऐसी स्थितिमें यह प्रश्न उठता है कि निश्चय करनेवाला मैं कार्य हूँ अथवा कारण। यदि मैं कार्य हूँ तो कारणको जान ही नहीं सकता। और यदि कारण हूँ तो यह सम्पूर्ण जगत् मेरा ही परिणाम होना चाहिये। परन्तु मैं परिणामी तो नहीं हूँ। क्योंकि मेरा ज्ञान और साक्षित्व एकरस, निर्विकार है; कार्यकारण-परम्पराकी प्रत्येक स्थितिको मैं जानता हूँ। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और यह कारण-कार्य-परम्परा मेरी दृष्टिके अन्तर्गत है। मुझ अनन्तमें दृष्टि और दृश्य सम्भव ही नहीं। यह कारण-कार्य-परम्परा एक विवर्त है, जो स्वरूपमें सर्वथा असम्भव है। कहाँ मोती और कहाँ जल। सब मैं-ही-मैं हूँ।'

"मेरी बात सबके समझमें नहीं आयी। कोई-कोई इस विषयको अज्ञेय कहकर मौन हो गये और किसी-किसीने इसे अस्वीकार कर दिया। परन्तु बात यहींतक

नहीं थी, सर्वश्रेष्ठ कमलके सिंहासनपर बैठना भी था। हंसोंमें मतभेद हो गया। उस कोलाहलमें कुछ निर्णय कैसे होता? परन्तु भगवान् शङ्करने बड़ी कृपा की। वे माँ गौरीके साथ उसी सर्वश्रेष्ठ कमलपर प्रकट हो गये। अकस्मात् सबकी आँखें उनकी ओर खिंच गयीं और उनके सामने सबके सिर झुक गये। भगवान्‌ने कहा—'हंसो! तुम्हारे सामने जो प्रश्न है, वह केवल मोतीके सम्बन्धमें नहीं है; वह तो सम्पूर्ण जगत्‌के सम्बन्धमें है और अपना आपा भी उससे अलग नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् निर्विकार आत्मस्वरूप ही है। न इसका आरम्भ है, न परिणाम और न विवर्त। यह एकरस, सद्‌घन और आनन्दघन है। ऐसी स्थितिमें राजमरालकी बातें ही सत्य हैं और वही सर्वोच्च आसनके अधिकारी हैं।'

"भगवान् शङ्करकी अहैतुकी कृपाको देख मैं चकित—स्तम्भित हो रहा था। परन्तु जब उन्होंने सर्वोच्च आसनकी बात कही, तब मेरी मुग्धता भङ्ग हुई और मैंने उनके चरणोंके पास जाकर आर्तस्वरसे प्रार्थना की—'हे प्रभो! इस उपाधिसे मेरी रक्षा कीजिये, ऐसे काममें न तो मेरी रुचि है और न प्रवृत्ति। अवश्य ही मेरे मनके सूक्ष्म प्रदेशमें इस विषयकी कोई गुप्त वासना होगी, जिसके कारण आप ऐसा कह रहे हैं; अन्यथा मैं तो यही चाहता था कि कहीं एकान्तमें रहकर आपके चरणोंका चिन्तन किया करूँ और फिर कभी इस जंजालमें न पड़ूँ।' मेरे भाई-बन्धु और जातीय लोग तो यही चाहते थे कि मैं वहीं रहूँ और उन्हींके समान संसारके झंझटोंमें फँसा रहूँ। परन्तु मेरा अतिशय आग्रह देखकर भगवान् शङ्करने मुझे मुक्त कर दिया और अब मैं उनकी कृपासे स्वच्छन्द विचरण करता हूँ। उनके स्वरूप और कृपाकी कभी विस्मृति नहीं होती। जगत्‌की परस्परविरुद्ध घटनाओंसे मेरे चित्तमें कभी किसी प्रकारका क्षोभ अथवा विकार नहीं होता। मैं प्रत्येक अवस्थामें ही अपनी मुक्तिको जानता और अनुभव करता हूँ। जब भगवान्‌की कृपा और वे घटनाएँ मुझे स्मरण हो आती हैं, तब मैं विह्वल हो जाता हूँ—न अपने शरीरकी सुधि रहती है न जगत्‌की।"

राजमरालकी आत्मकथा सुनते-सुनते वत्सल बहुत कुछ अन्तर्मुख हो गया था। वह उन्हीं घटनाओंको सोचते-सोचते, मन-ही-मन मानस-सर पहुँच गया था और उसे यह ध्यान ही न था कि मैं गुप्तलिङ्गके पास पीपलपर बैठा हुआ हूँ। राजमरालने वत्सलसे कहा—"अब पण्ढरपुर चलनेका समय हो गया; आओ, आजकी रात्रि वहीं चलकर व्यतीत की जाय।" राजमरालकी बातसे वत्सलका ध्यान भङ्ग हुआ और दोनोंने पण्ढरपुरकी यात्रा की।

(३)

निस्तब्ध निशीथ। भीमा नदीका पावन तट। विट्ठलनाथके मन्दिरसे थोड़ी दूर, जहाँ भगवान्‌के चरण-चिह्न हैं, ठीक सामने एक वृक्षपर दो पक्षी बैठे हुए थे। यदि कोई देख सकता तो यही देखता कि उनके शरीर निष्कम्प हैं और उनके चित्तमें केवल पण्ढरीनाथ भगवान्‌की स्मृति है। चिरकालतक वे वैसे ही बैठे रहे। वे देख रहे थे कि विट्ठलभगवान्‌की आरती हो रही है और उनकी श्रीमूर्तिपर बार-बार एक दिव्य ज्योति आती है और छिप जाती है। घण्टा-घड़ियाल बज रहे हैं और विट्ठलकी आकाश-भेदी ध्वनिसे दिशाएँ मुखरित हो रही हैं। बहुत समयतक वे इसी ध्यानमें मग्न रहे। जब आँखें खुलीं तब उन्होंने देखा सामने भगवान्‌के वे ही चरण-चिह्न विद्यमान हैं, जो भगवान्‌ने संसारी जीवोंके कल्याणार्थ वहाँ रख छोड़े हैं।

कुछ समयके बाद वत्सलने फिर वही प्रश्न दुहराया—'अब उस युवककी क्या स्थिति होगी, क्या करता होगा वह? राजमराल! तुमसे तो उसकी कोई भी स्थिति छिपी नहीं है, कृपा करके बतलाओ न।' अब राजमरालको भी उसकी कथा कहनेमें आपत्ति नहीं थी। क्योंकि अब वे बातचीत करनेकी भूमिमें उतर आये थे। उन्होंने कहा—"अब उसकी स्थितिका क्या पूछना है, वह भगवान्‌को प्राप्त करके कृतार्थ हो गया। हमलोगोंके वहाँसे चलनेके बाद उसकी साधना इतनी तेजीसे बढ़ी कि भगवान्‌की आरती करते-करते बेसुध होकर वह उनके चरण-कमलोंमें लोट गया। उस दिव्य लोकमें उसका दिव्य शरीर भगवान्‌का स्पर्श और आलिङ्गन प्राप्त करके आमूल परिवर्तित हो गया और वह भगवान्‌के श्रीविग्रह-जैसा ही चिन्मय और आनन्दमय हो गया। आनन्दकी इस बाढ़से उसका स्थूलशरीर, जो भीमा और नीराके सङ्गमपर बैठा हुआ था, प्रभावित हुए बिना नहीं रहा और उसमें भी स्पष्ट चिन्मयता आ गयी। जब उसकी आँखें खुलीं और बाह्य जगत्‌की ओर उसने देखा तो वहाँ भी वही दृश्य, जो अन्तर्जगत्‌में उसने देखा था। उसकी टकटकी बँध गयी। वह इस प्रकार निर्निमेष नयनोंसे निहारने लगा कि उसके सारे प्राण और सम्पूर्ण अन्तःकरण उस रूपमाधुरीके पानमें मस्त हो गये,

प्रणाम करनेकी भी स्मृति न रही। भगवान्ने स्वयं अपने कर-कमलोंसे उठाकर उसका आलिङ्गन किया और उसे अपने साथ ही अपने दिव्य धाममें ले गये। उसका जीवन सच्चा जीवन हो गया, उसके जन्म-जन्मकी आराधना सफल हो गयी और वह भगवान्का सान्निध्य प्राप्त करके कृतकृत्य हो गया।''

वत्सलने पूछा—'राजमराल! उसकी अवस्था तो बहुत छोटी थी, दीर्घ कालतक उसने कुछ साधन भी नहीं किया; फिर भगवान्की कृपाकी यह दिव्य अनुभूति इतनी जल्दी उसे कैसे प्राप्त हो गयी?' राजमरालने कहा—''भगवान्की कृपाके लिये अवस्था अथवा साधनाकी कुछ भी अपेक्षा नहीं है, वे तो निष्कारण ही सबके ऊपर कृपा और प्रेमकी अनवरत वर्षा किया करते हैं। जिसका अन्त:करण शुद्ध हुआ, जिसके हृदयमें उसके लिये सच्ची व्याकुलता हुई, उसीने उसका अनुभव किया। पूर्वजन्ममें तीव्र तपस्या करनेके फलस्वरूप उसका अन्त:करण शुद्ध हो गया था, वासनाएँ नष्ट हो गयी थीं और भगवत्प्राप्तिकी उत्कट उत्कण्ठा जाग गयी थी। यही कारण है कि बिना किसी साधनाके ही उसे भगवत्प्राप्ति हो गयी।''

वत्सलने राजमरालसे पूछा—'भैया, क्या उसके पूर्वजन्मकी साधना बतलानेकी कृपा करोगे?' राजमराल बोले—''वत्सल! जिस दिन पहले-पहल उस युवकसे मेरी जान-पहचान हुई थी, उसी दिन उसने अपने पूर्वजन्मकी बातें मुझे बतायी थीं—जो कि अन्त:करणके शुद्ध होनेपर ध्यानके समय स्वत: ही उसके चित्तमें स्फुरित हुई थीं। उस युवकने मुझसे कहा था—'पूर्वजन्ममें मैं एक ब्राह्मण था, विशेष शास्त्रज्ञान तो था नहीं, यों ही किसी प्रकार अपना जीवननिर्वाह कर लेता। कोई सुख नहीं था तो कोई दु:ख भी न था। परन्तु एक बातसे मुझे बड़ी चोट लगी। जिनका मैं विश्वास करता, उन्हींसे धोखा खाना पड़ता। सब-के-सब स्वार्थके सङ्गी, नि:स्वार्थ कोई बात पूछनेवाला भी नहीं। मेरे जीवनमें सबसे बड़ी व्यथा, सबसे बड़ी पीड़ा यही थी। और इससे छुटकारेका कोई उपाय नहीं था। एक महात्माने मेरी यह मनोदशा ताड़ ली और कृपा करके उन्होंने मुझे एक साधन बतलाया। वह साधन शारीरिक नहीं, मानसिक था; इसलिये उसके अनुष्ठानमें मुझे कोई कठिनाई नहीं मालूम हुई। क्योंकि मन-ही-मन तो न जाने क्या-क्या सोचता ही रहता था, फिर एक निश्चित बातके सोचनेमें आपत्ति ही क्या हो सकती थी। हाँ, प्रात:काल कुछ विशेष क्रिया करनी पड़ती थी।

'दो घड़ी रात रहते उठकर आवश्यक कृत्योंसे निवृत्त होकर स्थिर आसनसे बैठ जाता। दोनों अँगूठोंसे दोनों कान बन्द करके, दोनों तर्जनीसे दोनों आँख, दोनों मध्यमासे दोनों नाक और दोनों हाथकी अनामिका और कनिष्ठा अङ्गुलियोंसे मुखका स्पर्श करते हुए प्राण, मन और आत्माकी एकताका चिन्तन करता। कुछ दिनोंतक ऐसा अभ्यास करनेसे भौंहोंके बीचमें कुछ स्पन्दन मालूम होने लगा। उससे कुछ-कुछ आनन्दका विकास हुआ और साधनामें मन लगने लगा। फिर तो क्रमश: बहुत-से नदी, नद, पर्वत, समुद्र और मूर्तियोंके दर्शन होने लगे! घण्टा, शङ्ख और मृदङ्गकी ध्वनियोंके साथ-ही-साथ वंशीके स्वर भी सुनायी पड़ते। भ्रमरोंका मधुर गुञ्जार भी गूँजता ही रहता। मैं प्राय: बाह्य चिन्तनसे विरत हो जाता और उसीके आनन्दमें मस्त रहता।'

''एक प्रक्रिया उन्होंने और बतायी थी—'जब मैं सन्ध्या-वन्दन आदि नित्य-कर्म करके बैठता तो ऐसी भावना करता कि मेरी नाभिमें जो स्वाधिष्ठानचक्र है, उसमें एक त्रिकोण कुण्ड है; उस कुण्डमें चिन्मय अग्नि प्रज्वलित हो रही है और मेरे दुष्कर्म, दुर्भाव और दुर्गुणकी आहुतियाँ पड़कर भस्म हो रही हैं। मनके स्रुवासे '**ॐ अहंतां जुहोमि स्वाहा**' इस क्रमसे एक-एक दोष ढूँढ़-ढूँढ़ हवन करता। थोड़े ही दिनोंमें मुझे बड़ी पवित्रताका अनुभव हुआ और मेरा जीवन सदाचारमय बन गया। इस पवित्रता और सदाचारसे मेरी एकाग्रता बढ़ी और मैं श्रीकृष्णका ध्यान करने लगा।

'श्रीकृष्णके ध्यानमें मुख्यता लीलाकी ही थी, प्रात:काल मैं प्रात:कालकी लीलाओंका ही चिन्तन करता। मैं भावकी आँखोंसे देखता श्रीवृन्दावनधाममें सबसे बड़ा, सबसे सुन्दर, सबसे विचित्र नन्दबाबाका राजमहल है। उसके मणिमय आँगनमें अनेकों दासियाँ दूध और दही मथ रही हैं। वे धीरे-धीरे श्रीकृष्णकी लीला और नामोंका भी गायन करती जा रही हैं। नीलमणिके चबूतरोंपर पड़े हुए दूध और दहीके बिन्दु इतने मनोहर जान पड़ते हैं कि आँखें उधरसे हटती ही नहीं। नन्दरानी दासियोंको आज्ञा कर रही हैं—'कोई जोरसे न बोले; मेरा लल्ला, मेरा कन्हैया, अभी सोया हुआ है; कहीं किसीकी कर्कश ध्वनिसे उसकी नींद न टूट जाय।' सभी दासियाँ बड़ी सावधानीके साथ अपने-अपने काममें

सजग हैं। श्रीकृष्ण एक सजे हुए कमरेमें मणि-रत्नजटित शय्यापर सोये हुए हैं और दूसरोंकी दृष्टिमें सोते हुए होनेपर भी स्वयं जाग रहे हैं। उनके मुखकमलपर कृपा, प्रेम और आनन्दकी ज्योति स्पष्टरूपसे झलक रही है। ऐसा मालूम होता है वे अब बोल उठते हैं, तब बोल उठते हैं। जब नन्दरानी कहती हैं कि मेरे लल्लाकी नींद न टूटे, कलका थका है, तब उनके होठोंपर मुस्कराहटकी एक रेखा खिंच जाती है। माँके वात्सल्यका दर्शन करनेके लिये आँखें खुलना चाहती हैं, पर वे उन्हें बन्द कर लेते हैं। माँके प्रेमका स्मरण करके उनके सारे शरीरमें रोमाञ्च हो आता है। उसे वे रोक नहीं सकते, परन्तु माँके लिये और उसके प्रेम तथा आनन्दके लिये वे सोये ही रहते हैं। उनकी यह गाढ़ निद्रा तबतक नहीं टूटती, जबतक माँ उनके पास जाकर नहीं जगातीं।

'सूर्योदयके पहले ही बहुत-से ग्वालबाल आँगनमें इकट्ठे हो जाते हैं, बलराम भी उनके साथ हो लेते हैं और वे सब-के-सब इस प्रतीक्षामें खड़े हो जाते हैं कि श्रीकृष्ण कब उठें और कब उनके दर्शन-स्पर्शनसे हम धन्य हों। कोई कहता—'मेरी माँ तो अभी आने ही नहीं देती थी, मैं उससे पल्ला छुड़ाकर भाग आया।' कोई कहता कि 'कन्हैयाके बिना न बछड़े दूध पीते हैं न गौएँ पिन्हाती हैं, इसलिये गौओंके पास न जाकर मैं यहाँ चला आया।' ग्वालबालोंकी उत्सुकता देखकर नन्दरानी श्रीकृष्णकी शय्याके पास जाकर कहती हैं—'लल्ला, तुम्हारे बाबा तुम्हें बिना जगाये ही गोठको चले गये। वे जानते थे कि गौएँ पिन्हायेंगी नहीं, तुम्हें देखे बिना। फिर भी प्रेमवश उन्होंने तुम्हें जगाना उचित नहीं समझा। ग्वालबाल तुम्हारी प्रतीक्षामें खड़े हैं, बछड़ोंकी आँखें भी तुम्हारी तरफ लगीं हैं। उठो, देखो, आज कितना सुन्दर सूर्योदय हुआ है।' वे श्रीकृष्णके सिरहाने बायें हाथके बल लटककर दाहिने हाथसे उन्हें सहलाने लगती हैं और श्रीकृष्ण अँगड़ाते हुए, देह तोड़ते हुए, जँभाते हुए उठकर शय्याके एक ओर बैठ जाते हैं—चरणकमलोंको एक ओर लटकाकर। वे अपने हाथों सोनेकी झारीमें पानी लाती हैं, श्रीकृष्णका मुँह धोती हैं, उनके बिखरे बालोंको सँवारती हैं और फिर कस्तूरी-केसरका तिलक करके, यह कहकर बाहर जाने देती हैं कि 'बहुत जल्दी लौट आओ, जिससे कलेऊमें देर न हो।' ग्वालोंमेंसे कोई उनका हाथ पकड़ लेता है कोई बाँसुरी, कोई पीताम्बर पकड़ लेता है तो कोई कमरसे ही लिपट जाता है। इस प्रकार सब नाचते-कूदते, हँसते-खेलते, उछलते-कूदते बाहर जाते हैं और मैं अपनी भाव-दृष्टिसे यह सब देख-सुनकर मुग्ध होता रहता।'

राजमरालने वत्सलसे कहा—"यह सब कहते हुए उस युवकका कण्ठस्वर गद्गद था, आँखोंसे आँसूकी धारा बह रही थी और सारे शरीरमें रोमाञ्च हो रहा था। उसने आगे कहा—'परन्तु मेरी यह भावना पूर्ण नहीं हो सकी। मेरे चित्तका एक सुषुप्त संस्कार जाग उठा और तबतक मैं उससे नहीं बच सका, जबतक मेरी मृत्यु नहीं हो गयी। परन्तु उन्हीं साधनोंका यह फल था कि मुझे इस जन्ममें सद्गुरु और सत्-साधनकी प्राप्ति हुई और अब मैं कुछ-कुछ अपने लक्ष्यकी ओर बढ़ रहा हूँ।"

राजमरालने वत्सलको सम्बोधन करके कहा—"इसके बाद उस युवककी जैसी स्थिति हुई, तुम सब जानते हो। भगवान्‌की कृपासे ही ऐसे संतोंके दर्शन होते हैं। धन्य है वह भूमि, जहाँ ऐसे प्रेमी भक्त भगवान्‌का स्मरण, चिन्तन करते हैं। उसके दर्शनसे, वहाँके जल-वायुके संस्पर्शसे चित्तमें पवित्र भावनाओंका उद्रेक होता है। भीमा और नीराके सङ्गमपर, जहाँ बैठकर उस दिन वह युवक ध्यानमग्न था, जहाँ भगवान्‌ने प्रकट होकर उसे अपनाया था, आज भी वे ही दृश्य, यदि कोई भावकी आँखसे देखे तो दीख सकते हैं। क्या ही अच्छा हो कि हम भी अपना शेष जीवन वहीं व्यतीत करें।" वत्सलने कहा—'हाँ, ठीक तो है; चलिये, वहीं चलकर रहा जाय।' दोनों चल पड़े।

बहुत दिनोंतक लोगोंने देखा कि दो श्वेत पक्षी बड़ी गम्भीरतासे अपना जीवन व्यतीत करते हैं उस वटवृक्षपर, जो प्राचीनकालसे स्थित है भीमा और नीराके पवित्र सङ्गमपर।

नीचे बनो

ऊँचै पानी ना टिकै, नीचे ही ठहराय।
नीचा होय सो भरि पिवै, ऊँचा प्यासा जाय॥
सब तें लघुताई भली, लघुता तें सब होय।
जस दुतियाको चंद्रमा, सीस नवै सब कोय॥ —कबीर

साधन-समीक्षा

(लेखक—साधु प्रज्ञानाथजी)

'कल्याण'-सम्पादकने साधनाङ्कमें लेख भेजनेके लिये अनुरोध किया है और पत्रके साथ एक विषय-सूची भेजी है। विषय-सूचीके आकार-प्रकारको देखकर ही चित्त घबड़ा जाता है और यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि इन विषयोंमेंसे किस विषयपर लेख लिखना चाहिये। साधन सबके प्राणकी वस्तु है, किसीसे भी साधनके विषयमें मतामतकी जिज्ञासा करना अभद्रता समझी जाती है; क्योंकि इससे साधकके सम्बन्धमें प्रश्नकर्त्ताको राग-द्वेष उत्पन्न हो सकता है। अतएव किसीका भी साधनाको जाननेके लिये औत्सुक्य प्रकट करना सङ्गत नहीं है। मैं कुछ ऐसे महामहोपाध्याय सज्जनोंके विषयमें जानता हूँ कि उनकी साधन दूसरी होनेपर भी वे वेदान्ती बनकर दूसरे पक्षके मतका खण्डन करके लोगोंमें अपनेको वेदान्ती बतलाते हैं, साथ-ही-साथ वे अपने शिष्योंको कौलप्रथाके अनुसार देवीकी उपासनाका उपदेश करते हैं। ऐसी अवस्थामें खण्डनखण्डखाद्यकारका श्लोक हमें याद आता है—

एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयतः क्वचित्।
आस्ते न धीरवीरस्य भङ्गः सङ्गरकेलिषु॥

सम्पादक महाशयका उद्योग जीवोंके कल्याणके लिये होते हुए भी जो लोग साधनासम्बन्धी लेख भेजेंगे, उनमें अनेकोंको अपने मतका स्थापन करके परमतका खण्डन करना पड़ेगा। मुझे यहाँ ऐसा करनेकी इच्छा न होनेके कारण शास्त्रानुसार साधकोंके लिये जो कुछ सार्वजनीनभावसे प्रकट किया जा सकता है, उतना ही इस लेखमें व्यक्त करूँगा। साधक होनेके लिये क्या-क्या करना चाहिये (क्या प्रथम कर्त्तव्य है), यही यहाँ दिखाया जायगा। इसलिये साधन-समीक्षा अर्थात् साधनका विचार ही यहाँ किया जायगा। एक भावुकने कहा है—

'आदर करे हृदे रेखो आदरिणी श्यामा माके।
मन तुमि देखो आर आमि देखि आर येन केह ना देखे।'

'आदरणीया श्यामा माँको आदरके साथ हृदयमें रखो। हे मन! तुम देखो और मैं देखूँ। और कोई भी न देखने पावे।' साधन सबके लिये प्रियतम वस्तु है। जो वस्तु जितनी प्रिय होती है, उसे उतना ही छिपाकर रखा जाता है। धानका भूसा बाहर पड़ा रहता है, उसे कोई चुराने नहीं जाता। धानको गोलेमें रखना पड़ता है। सोने-चाँदीको बड़े जतनसे सन्दूकके भीतर बक्समें भरकर रखते हैं। उसी प्रकार गुरूपदिष्ट अभीष्ट श्यामा माँको भी हृदयमें छिपाकर रखना पड़ता है, जिसमें उसे कोई दूसरा देख न ले। व्यवहारमें भी देखा जाता है कि सभी लोग अपनी स्त्रीको शुद्धाचारिणी बनाये रखनेकी प्राणपणसे रक्षा करते हैं। किसी बन्धु-बान्धवके घर आनेपर स्त्रीके साथ हँसी-मजाक नहीं किया जाता, इसीलिये आजकलके मनचले बाबू लोग उपपत्नी रखते हैं। जिस दिन बन्धु-बान्धवादिके साथ मद्यपान करके खेल-तमाशा करनेकी आवश्यकता समझते हैं, उस दिन उस उपपत्नीको बुलाकर खूब नाच-गान, आमोद-प्रमोद करते रहते हैं; परन्तु अपनी स्त्रीके सम्बन्धमें यदि कोई भद्दी मजाक कर बैठता है तो तलवार लेकर उसका सिर काटनेको तैयार हो जाते हैं। साधनके विषयमें भी इसी प्रकार समझना चाहिये। कोई किसी प्रकारकी साधना करे, उससे पूछनेपर वह चुप हो जायगा और कहेगा कि इससे तुम्हें क्या प्रयोजन है। यहींसे दलबन्दीका सूत्रपात होता है। नाना प्रकारके साधक एक ही कथावाचककी कथा सुनने जाते हैं। इनमें कथावाचककी जो कथा जिसके साधनके लिये उपयोगी होती है, वह वही कथा ग्रहण करता है, दूसरी कथाका त्याग करता है। कथावाचक यदि अपने मताग्रह-विशेषसे किसी साधनपर कटाक्ष कर बैठता है तो उसे विडम्बना भोगनी पड़ती है। अतएव सर्वसाधारणके लिये जो अनुकूल और हितकारी होता है, कथावाचक अपना मताग्रहविशेष छोड़कर उसी बातको कहते हैं। एक आदमीके लिये जो हितकारी है, दूसरे आदमीके लिये वही अनिष्टकारी हो सकता है। इसी कारण साधन, भोजन और औषध—ये तीन कभी सब लोगोंके लिये एक नहीं हो सकते। इसीलिये सुयोग्य चिकित्सक ही प्रकृति देखकर विभिन्न रुचिके लोगोंके लिये विभिन्न साधन, औषध और भोजनकी व्यवस्था करते हैं।

जिसकी जिस विषयमें आसक्ति होती है, उसे उस विषयसे हटाकर दूसरे विषयमें लगानेकी चेष्टा करनेसे वह उस विषयको तो छोड़ ही नहीं सकता, उलटे

उपदेष्टाके प्रति उसकी अश्रद्धा ही उत्पन्न हो जाती है। इसलिये कोई महापुरुष प्रकृति जाने बिना किसी व्यक्तिको साधनविषयक कोई उपदेश नहीं देते। जिस विषयमें उसका अभिनिवेश देखते हैं, उसको उसी विषयका उपदेश देकर क्रमश: वहींसे रास्ता दिखलाकर वही उपाय बतलाते हैं, जिससे वह श्रेयलाभ कर सके। कुतर्क, विषयासक्ति, देहात्मबुद्धि और बुद्धिकी मन्दता—ये चार साधकके प्रबल विघ्न हैं। इनके रहते साधनाका उपदेश कार्यरूपमें परिणत होते नहीं देखा जाता। इसलिये साधकको सबसे पहले इन सबका त्याग करना पड़ता है। अविश्वाससे ही कुतर्क उत्पन्न होता है। निजकी कोई बुद्धि नहीं और शास्त्रोंका भी अध्ययन नहीं किया, तो भी अपनी साधारण बुद्धिकी प्रेरणासे किसी एक मनमाने मतको उत्तम मानकर शास्त्रों तथा महापुरुषोंके वचनोंकी जो अवज्ञा की जाती है, उसे कुतर्क कहते हैं। शास्त्र और गुरुवाक्यके ऊपर दृढ़ विश्वास करके इस दोषको दूर करना चाहिये। अविश्वासके बिना कुतर्क नहीं उत्पन्न होता। अविश्वासीको उपदेश देनेसे कोई फल नहीं मिलता। एक सच्ची घटनाका यहाँ उल्लेख करता हूँ। कुमिल्ला शहरके समीप ही दुर्गापुर एक गाँव है। उस ग्राममें एक अति बुद्धिमान् और ज्ञानवान् साधु रहते थे। उनमें उपदेश देनेकी असाधारण शक्ति थी। उनके गुणोंसे मुग्ध होकर बहुत लोग शहरसे उनका उपदेश सुनने वहाँ जाया करते थे। वे भी जो जिस प्रकारका अधिकारी होता था उसी प्रकारका उसे उपदेश देकर विदा करते थे, किसीमें बुद्धि-भेद नहीं उत्पन्न करते थे। एक दिन एक सत्सङ्गी कुमिल्लाके एक डिप्टी साहबको संग लेकर उनके समीप उपस्थित हुए। डिप्टी साहबको अभिमान था कि मैं विशेष ज्ञानवान् हूँ, इसलिये वे साधुको प्रणाम करना भी उचित न समझकर बूट पहने ही उनके पास बैठ गये। साधु महाराज सबके साथ बातचीत करते रह गये और डिप्टी साहबको देखकर भी उनका उन्होंने कोई सम्मान नहीं किया। यह देखकर डिप्टी साहब अपने अभिमानमें ही फूले जा रहे थे। अन्तमें उपेक्षाका भाव देखकर डिप्टी साहबने स्वयं ही प्रश्न किया, ''महाशय! कुछ ज्ञानका उपदेश दीजिये।'' साधुने कहा—''हरिनाम लो'' डिप्टी साहब बोले—'''हरि' शब्दके तो भगवान्, जल, सिंह और बन्दर आदि अनेक अर्थ होते हैं; शब्दमें क्या रखा है, जो आप हरिनाम लेनेको कहते हैं। मुझे तो ज्ञानोपदेश कीजिये।'' डिप्टी साहबके वचन सुनकर भी साधु महाराज कोई उत्तर न देकर अन्यमनस्कके समान दूसरोंके साथ बातचीत करते रहे। एक बार, दो बार, तीन बार—इस प्रकार उपेक्षासूचक वाक्य डिप्टी साहबसे सुनकर साधु बहुत ही रूखे स्वरसे जोरसे बोल उठे—'चुप रह साला।' यह सुनते ही डिप्टी साहबके मस्तकपर मानो वज्राघात हुआ। वे क्रोधसे अन्धे होकर बूट लेकर साधुको मारनेके लिये उठ खड़े हुए। वहाँ जो लोग उपस्थित थे, वे डिप्टी साहबको पकड़कर शान्त करने लगे। साधु महाराजने धीरेसे कहा—'मैंने तो आपको गाली नहीं दी, आप इस प्रकार क्रोधान्ध होकर मुझे मारनेके लिये क्यों तैयार हो रहे हैं?' डिप्टी साहबने कहा—''तुमने अभी मुझको 'साला' कहा और अब कहते हो कि मैंने गाली नहीं दी। तुम्हारे-जैसे मिथ्यावादी पाषण्डी धूर्त्त साधु मैंने बहुत-से देखे हैं, अभी तुमको इसका पूरा मजा चखाता हूँ। तुम जानते नहीं कि मैं कौन हूँ। तुमको अभी जेल भेज सकता हूँ।'' साधुने कहा—''महाशय, आप डिप्टी हो सकते हैं, मैंने तो आपके प्रश्नका उत्तर ही दिया है। इससे यदि मुझे जेल जाना पड़े तो कोई दु:ख नहीं, परन्तु आप विचार करके मुझे जेल भेजें। बिना विचारे जेल भेजनेसे आपका ही अपराध होगा।'' डिप्टी साहबने कहा—''उत्तर दिया आपने 'साला' गाली देकर?''

साधुने कहा—''आप बार-बार पूछ रहे थे कि 'हरि' शब्दमें कौन-सी शक्ति है। मैंने आपके लिये केवल एक 'साला' शब्दका प्रयोग किया। 'साला' स्त्रीके भाईको कहते हैं। मैं जन्मसे ही ब्रह्मचारी हूँ, मैंने कभी स्त्रीसहवास नहीं किया। मेरे वाक्यसे आप मेरे साले नहीं हो सकते, अर्थात् मैं आपकी बहिनसे विवाह नहीं कर सकता। यह 'साला' शब्द आपको क्रोधान्ध बनाकर मुझे मारनेका उद्योग करा रहा था। यदि शब्दमें कोई शक्ति न होती तो 'साला' शब्द आपको इस प्रकार क्रोधमें पागल कैसे कर सकता?'' डिप्टी साहबको अब होश आया, उनकी समझमें आया कि शब्दमें भी शक्ति होती है। डिप्टी साहब हरिनाम लेनेके भी अधिकारी न थे, क्योंकि अविश्वासने और विद्याके मदने उन्हें अन्धा बना रखा था। परन्तु हरिनामके गुणसे मनुष्यका सारा मद दूर होकर वह साधनके उपयुक्त बन सकता है, इसीलिये साधुने उनको हरिनामका उपदेश दिया था।

साधनका द्वितीय प्रतिबन्ध है विषयासक्ति। विषयोंमें

आसक्ति रहते साधन ग्रहण करनेपर भी आलस्यादिके कारण साधनमें अग्रसर नहीं हुआ जा सकता। शास्त्रोंका और सज्जनोंका संग करके यह दोष दूर किया जाता है।

देहात्मबुद्धिसे ही भोगासक्ति उत्पन्न होती है, देहमें आत्मबुद्धि रहते उपदेश कार्यकारी नहीं होता। बार-बार देहकी नश्वरतादिका विचार करनेसे यह दोष निवृत्त हो सकता है।

एक प्रकारके ऐसे मनुष्य भी देखे जाते हैं, जिनमें उपर्युक्त तीनों प्रतिबन्ध नहीं रहते। वे अविश्वासी भी नहीं होते, विषयमें उनकी आसक्ति नहीं होती और देहात्मबुद्धि भी नहीं होती। परन्तु पूर्वजन्मके कर्मोंके फलसे उनकी बुद्धिमें ऐसी जडता होती है कि सैकड़ों बार समझानेपर भी वे कुछ भी समझ नहीं सकते। इस प्रकारके मुमुक्षु ध्यान करके या गुरुकी सेवा करके अपनी बुद्धिकी जडताको दूरकर साधनमें नियुक्त हो सकते हैं।

साधनका प्रयोजन

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चारों पुरुषार्थ कहाते हैं। जिनके लिये अर्थ और काम ही परम पुरुषार्थ होता है, उनको संसारी जीव कहा जाता है। अर्थ और कामके सिवा जगत्‌में वे किसी वस्तुको साध्य नहीं समझते। वे कभी किसी धर्मका सेवन करते भी हैं तो केवल काम और अर्थके लिये ही। शरीरके सुखमें जरा भी बाधा आनेपर वे धर्मका त्याग कर देते हैं। ऐसे लोगोंको संसारनिष्ठ जीव कहा जाता है। ये लोग बार-बार जन्म और मृत्युके अधीन होकर संसारमें ही चक्कर काटते रहेंगे। अर्थोपार्जन करके भी जो लोग इस संसारमें सुख नहीं पाते, ऐसे लोग धर्मार्थ दानादि करके परलोकके साधनका संग्रह करना आवश्यक समझते हैं। ये लोग पुरुषार्थी तो हैं, परन्तु आत्यन्तिक पुरुषार्थी नहीं हैं। साधनके द्वारा जो वस्तु प्राप्त होती है, कभी-न-कभी उसका नाश होता ही है। स्वर्गादि भोगोंका भी नाश देखनेमें आता है। इसीलिये स्वर्गादिसे किसी-किसीकी उपेक्षाबुद्धि हो जाती है। स्वर्गके तथा इहलोकके सुखोंमें जिनकी विरक्ति होती है, वे ही मोक्षकी जिज्ञासाके अधिकारी हो सकते हैं। देखा जाता है कि एक साधनके द्वारा समस्त कार्य सम्पन्न नहीं होते। कुठारके द्वारा लकड़ी चीरी जाती है, परन्तु कलम बनानेके लिये छुरीकी ही आवश्यकता पड़ती है। तलवारके द्वारा मनुष्य और कूष्माण्डादिको भी काटा जा सकता है, परन्तु तरकारी बनानेके लिये कोई तलवारका व्यवहार नहीं करता। प्रत्येक कार्यके साधन पृथक्-पृथक् होते हैं। सर्वप्रधान करणको ही साधन कहते हैं, जैसे अग्नि भोजन-पाक करनेका साधन है। पाक करनेके लिये जल, चावल और पात्रादिका प्रयोजन होनेपर भी अग्निके बिना पाक नहीं होता। अतएव अग्निको ही साधन कहा जाता है। जलके बदले दूध, बटुलीके बदले लोटा, चावलके बदले आलू आदि हो सकते हैं; परन्तु पाकके लिये अग्नि ही चाहिये। इसी प्रकार सब कार्योंके लिये साधनविशेष होते हैं। जो लोग सामयिक दुःखोंकी निवृत्तिके लिये भूत-पिशाचादिकी पूजा करते हैं, उन लोगोंको अशुचि जलादि सामग्रीसे मन्त्रादि साधन संग्रह करना पड़ता है। जो लोग भगवान्‌के वैकुण्ठमें जानेके इच्छुक हैं, उन्हें भक्ति और शरणागतिरूप साधन संग्रह करना पड़ता है। जिन्हें मोक्षकी उत्कट इच्छा होती है, उनको साधनचतुष्टय-सम्पन्न होकर वेदान्तका विचार करके आत्मा और अनात्माके विचारके द्वारा जीवात्मा और परमात्माके एकत्वज्ञानके साधनको शास्त्र और गुरुसे जानकर उसीका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके तत्त्वज्ञान पानेका यत्न करना पड़ता है। इसीलिये वार्तिककार लिखते हैं—

पुरुषार्थोपदेष्टृत्वाद्यद्वत् कार्ये प्रमाणता।
तथैकात्म्ये विशेषाद्वा पुमर्थातिशयत्वतः॥
पुमानिष्टस्य सम्प्राप्तिमनिष्टस्य च वर्जनम्।
इच्छन्नपेक्षते योग्यमुपायमपि तत्परः॥
ग्रामादि किञ्चिदप्राप्तं प्राप्तुमिष्टमिहेच्छति।
हेमादि विस्मृतं किञ्चित्करस्थमपि लिप्सति॥
परिहार्यतयानिष्टं कण्टकादि जिहासति।
रज्ज्वां सर्पादि किञ्चिच्च त्यक्तमेव जिहासति॥
नियतोपायसाध्यत्वादवाप्यपरिहार्ययोः।
विधितः प्रतिषेधाच्च साधनापेक्षता भवेत्॥
अज्ञानान्तरितत्वेन सम्प्राप्तत्यक्तयोः पुनः।
याथात्म्यज्ञानतो नान्यत्पुरुषार्थाय कल्पते॥

(वृ० भा० वार्तिक, सम्बन्ध-वार्तिक ८८, ३-८)

कर्मके द्वारा इहलोकके भोग्य प्राप्त होते हैं। कारीर यज्ञ करनेसे वर्षाके प्रबल प्रतिबन्धक नष्ट हो जाते हैं और वृष्टि होती है। यह यज्ञरूप कर्मका फल है। अतएव यज्ञ कर्मका साधन है। निष्काम कर्म और अहैतुकी भक्ति वैकुण्ठके साधन हैं। योग और ज्ञान मोक्षके साधन होते हैं। इनमेंसे किसीके लिये योग अनुकूल होता देखा जाता है और किसीके लिये विचार अनुकूल होता देखा

जाता है। इसीलिये भगवान्‌ने गीतामें दो प्रकारके उपाय बतलाये हैं। समस्त प्राणिवर्गको तीन भागोंमें विभक्त कर कर्म, भक्ति और ज्ञान श्रेय:प्राप्तिके उपायरूपसे गीतामें बतलाये गये हैं। सबके अधिकार और रुचि समान नहीं होते। इसी कारण साधन भी विभिन्न होते हैं। देखना होगा कि साधक क्या चाहता है। यदि उसे किसी पार्थिव वस्तुकी कामना है तो मोक्षके साधन बतलानेसे उसे कोई लाभ नहीं हो सकता। वह अपनी इच्छाके अनुकूल वस्तुको पानेके लिये ही लालायित रहेगा। भजनको भी वस्तुप्राप्तिका साधन ही समझेगा। अतएव रोग देखकर जैसे ओषधिकी व्यवस्था की जाती है, उसी प्रकार साधककी इच्छाके अनुसार साधन बतलाया जाता है। ठीक-ठीक साधनकी प्राप्ति होनेपर वस्तु सिद्ध करनेमें देर नहीं होती। इसलिये जो जिस विषयमें अभिज्ञ हैं, उनसे उसीके साधनकी शिक्षा लेकर प्रथम इच्छाकी पूर्ति करके तब मोक्षकी चेष्टा करनी चाहिये। जो लोग देशोद्धार करनेके लिये योगसाधन करेंगे, उनके मोक्षके मार्गमें प्रतिबन्ध होनेसे उन्हें मोक्षकी प्राप्ति नहीं होगी। सारी इच्छाओंकी निवृत्ति ही मोक्ष है। मोक्षके लिये जो लोग साधन-भजन करते हैं, उनके लिये किसी विषयकी इच्छा न करना ही कर्तव्य है। यहाँतक कि उन्हें कौतूहलवश या खेलके लिये भी कभी सिद्धि या स्वर्गादिकी इच्छा नहीं करनी चाहिये। ग्राममें जाना है, यह सोचते हुए बैठ रहनेसे ही कोई ग्राममें नहीं पहुँच सकता। यहाँ चलना ही साधन है। अर्थके लिये व्यापारादि साधन करने होंगे। स्वर्गादि भोगके लिये यज्ञ, दम, दया आदि साधनोंका संग्रह करना होगा। मोक्षके लिये सर्वत्यागरूप उपरति ही एकमात्र साधन है। जिस कर्मका जो साधन है, उसको उस कर्मकी सिद्धिके लिये उपयुक्त रूपमें संग्रह करना होगा। रज्जुमें सर्पभ्रम होता है, वहाँ बैठकर प्राणायाम या गरुड़-मन्त्रका जप करनेसे सर्पभ्रम दूर न होगा। वस्तुका स्वरूपज्ञान ही वहाँ साधन है। रोशनी लेकर आते ही सर्पभ्रम दूर हो जायगा। रज्जुका ज्ञान होते ही सर्पभ्रम चला जायगा। इस विश्वप्रपञ्चका कारण अज्ञान है। ज्ञानके द्वारा इसके अधिष्ठानका बोध होते ही विश्वप्रपञ्चकी निवृति होकर मोक्षकी प्राप्ति होगी। मिथ्या पदार्थके प्रति कभी ज्ञानी पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं देखनेमें आती। मिथ्याका दृढ़ निश्चय होनेपर उसमें साधककी प्रवृत्ति क्षीण हो जाती है। प्रवृत्ति न होनेसे जन्म नहीं होता और जन्म न होनेसे दु:ख नहीं होता। इस प्रकार अज्ञानकी निवृत्ति होनेसे दु:खकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। दु:खकी आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति एक ही बात है।

गृहस्थकी साधना

स्ववर्णाश्रमधर्मेण श्रद्धया गुरुतोषणात्।
साधनं प्रभवेत्पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम्॥

वर्णाश्रमधर्मका जो लोग नियमानुसार पालन नहीं कर सकते, वे क्या किसी प्रकारकी साधना कर सकते हैं? सबसे पहले वर्णाश्रमधर्ममें तीनों वर्णोंके लिये जिन नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका विधान है, उनका निष्काम भावसे पालन करना पड़ता है। मन, वचन और शरीरके द्वारा जो कुछ किया जाता है, उसका फल भगवान्‌को समर्पण कर देना पड़ता है और कर्त्तव्य-बुद्धिसे ही सारे कार्य करने पड़ते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके यज्ञोपवीत धारण करते ही उनका गायत्री-मन्त्रमें अधिकार हो जाता है। यथाशक्ति तीन माला गायत्री जप करनेसे शरीर शुद्ध हो जाता है। रात्रिमें जो पाप किया जाता है, प्रात:सन्ध्याद्वारा वह पाप नष्ट हो जाता है। सायं-सन्ध्याके द्वारा दिनमें किये गये पापोंका नाश हो जाता है। असावधानताके कारण मन, वचन, कर्मसे जो पाप हो जाते हैं उन्हींका नाश सन्ध्याद्वारा हो सकता है। जो पाप जान-बूझकर किये जाते हैं, उनके नाशके लिये प्रायश्चित्त करना पड़ता है। मूर्खको द्रव्यदानादि प्रायश्चित्त करके पाप दूर करने पड़ते हैं। पाप दूर होनेसे मन प्रसन्न होता है, शरीर नीरोग और सुन्दर हो जाता है। इस प्रकारकी अवस्था प्राप्त होनेसे ही मनमें विषयभोगसे विराग और गुरुकी प्राप्तिकी इच्छा उत्पन्न होती है। सुकृतके फलका परिपाक होनेसे संतोंकी सङ्गति प्राप्त होती है। उससे विधि और निषेधका ज्ञान होता है तथा सदाचारमें प्रवृत्ति होती है। सदाचारमें प्रवृत्ति होनेसे ही अशेष दुष्कृतोंका नाश हो जाता है। उससे अन्त:करण अत्यन्त निर्मल हो जाता है। तभी सद्‌गुरुके कृपा-कटाक्षके लिये मन व्याकुल हो उठता है। गुरुके कृपा-कटाक्षसे ही सब प्रकारकी सिद्धि प्राप्त होती है। सब प्रकारके बन्धन नष्ट होते हैं। श्रेयमार्गके सब विघ्न नष्ट हो जाते हैं। सब प्रकारके श्रेय:साधन स्वयं ही आकर उपस्थित होते हैं। जन्मान्धको जिस प्रकार रूपका ज्ञान नहीं हो सकता, उसी प्रकार सद्‌गुरुके उपदेशके बिना तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव सद्‌गुरुके कृपा-कटाक्षके लेशमात्रसे ही तत्त्वज्ञान हो जाता है। इस प्रकार त्रिपादविभूति उपनिषद्‌में गुरु

करनेका प्रयोजन कहा गया है। जिन लोगोंका कुलगुरुमें विश्वास न हो, उनको निम्नलिखित उपाय करना चाहिये। इस उपायसे उत्तम श्रद्धालुको एक वर्षमें और मध्यम श्रद्धालुको तीन वर्षमें गुरुकी प्राप्ति हो सकती है। गुरुप्राप्तिको ही शास्त्रोंमें एक सिद्धि कहा गया है। गुरु प्राप्त होते ही समझना चाहिये कि भवसागर पार करनेको नौका मिल गयी। प्रयत्न करनेसे एक जन्ममें, और प्रयत्नमें शिथिलता करनेसे तीन जन्ममें मनुष्य कृतार्थ हो सकता है—ऐसा किसी महात्माका वचन है।

साधनकी प्राप्तिके पूर्व साधनके लिये तैयार होनेके उद्देश्यसे साधनार्थीको प्रतिदिन तीन हजार गायत्रीका जप करना चाहिये तथा निम्नलिखित यन्त्र बनाकर उसकी पूजा करनी चाहिये। इसके द्वारा भगवत्-कृपासे शीघ्र ही गुरुकी प्राप्ति हो जाती है। उपयुक्त गुरुके प्राप्त होनेपर अपनेको उनके चरणोंमें अर्पण करके वे जैसी आज्ञा दें, वैसा ही करना चाहिये। परन्तु किसी पाषण्डी वेशधारीके घर आते ही उसे गुरु मानकर तन-मन-धन अर्पण करनेकी मूर्खता भी नहीं करनी चाहिये। साधु निष्काम, निःस्पृह और अहैतुकी कृपा करनेवाले होते हैं। जो अपना कोई स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है, उसको गुरुके रूपमें स्वीकार करके धोखा नहीं खाना चाहिये।

आगे दिये जानेवाले यन्त्रके मध्यमें चित्त लगाकर ध्यान करनेसे शुद्ध चित्तमें गुरुकी मूर्ति दीख पड़ेगी, तब संशयरहित होकर उन्हींको गुरु मानकर उनके आज्ञानुसार चलना चाहिये। दस-बीस पोथियाँ इकट्ठी करके अपने मनसे ही एक साधनाकी खिचड़ी बनाकर कुछ स्तोत्रों और मन्त्रोंका संग्रह कर कभी देवीका, कभी देवताका मन्त्र-जप, ध्यान और योग करके व्यर्थ समय नष्ट नहीं करना चाहिये। ऐसा करनेसे कोई साधनमें अग्रसर नहीं हो सकता। अपने विचारके ऊपर विश्वास न होनेसे ये कोई फल प्रदान नहीं कर सकते। विश्वाससे ही मन्त्रका फल प्राप्त होता है। जो जिस विषयका अभ्यास नहीं करता, उसके द्वारा उस मन्त्रको ग्रहण करनेसे भी कोई फल नहीं मिल सकता। सिद्ध महापुरुषसे मन्त्र ग्रहण करनेपर उस मन्त्रका पुरश्चरण नहीं करना पड़ता। मन्त्रके साथ ही गुरुकी शक्ति शिष्यके शरीरमें प्रवेश कर जाती है। सिद्ध गुरुके न मिलनेकी स्थितिमें मन्त्रोंको तन्त्रोक्त नियमोंके द्वारा शोधन करके पुरश्चरण करना पड़ता है। भगवान् सदाशिवने ३ ½ करोड़ मन्त्रोंकी रचना की है, सिद्ध पुरुषोंके सिवा अन्य किसीके द्वारा इन मन्त्रोंके दिये जानेपर इनका फल नहीं प्राप्त होता। इसीलिये सिद्ध गुरुको खोजना पड़ता है। उनसे मन्त्र ग्रहण करनेपर सब विघ्न दूर हो जाते हैं। शरीरके रोगी होनेपर योगके द्वारा या मन्त्र-जपके द्वारा शरीरको शुद्ध करना पड़ता है। जो लोग कुछ भी न करके या गायत्री-मन्त्रका जप किये बिना ही साधन करते जाते हैं, उनके शरीरमें नाना प्रकारकी व्याधियाँ उत्पन्न होकर साधनमें विघ्न उपस्थित कर देती हैं। व्याधि होनेपर साधन नहीं किया जा सकता। इसलिये व्याधिनाशके निमित्त गायत्री या प्रणवका जप करना होता है।

'रक्षोघ्नं मृत्युतारकं
सुदर्शनं महाचक्रम्'

नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद्‌के पञ्चमाध्यायमें इस प्रकारके यन्त्रका उल्लेख है। देवताओंने प्रजापतिसे कहा कि अनुष्टुप् मन्त्रराजमें हमारे लिये नारसिंह महाचक्रका वर्णन कीजिये। यह सब कामनाओंको सिद्ध करनेमें समर्थ है और योगिजन इसे मोक्षका द्वार कहा करते हैं। प्रजापतिने कहा कि यह सुदर्शनचक्र षडक्षर हुआ करता है। इसके षट् पत्रोंमें षडक्षर रहते हैं। छः ॠतुएँ होती हैं, उन्हींके परिमाणसे इनकी संख्या होती है। इनके मध्यमें नाभि होती है। नाभिमें जिस प्रकार रथके अरे होते हैं, उसी प्रकार इस नाभिमें षट् पत्र होते हैं। बाहर मायाद्वारा वृत्ताकारमें परिवेष्टित होता है। आत्माको माया स्पर्श नहीं कर सकती, इसीलिये माया बाहरका आवरण है। इसके बाहर अष्टाक्षर पद्म रहता है। अष्टाक्षरा गायत्री होती है। गायत्रीके समान ही इसकी संख्या होती है। बाहर मायाका परिवेष्टन होता है। इसके बाहर द्वादशदल पत्रका चक्र होता है। द्वादशाक्षर जगती छन्द होता है, उसकी संख्याके अनुसार पद्मके पत्रोंकी संख्या होती है। बाहर मायाका वेष्टन होता है। इसके आगे षोडशदलविशिष्ट चक्र होता है, पुरुषकी षोडश कलाएँ होती हैं। उनकी संख्याके अनुसार ही इनकी संख्या होती है। मायावृत्तद्वारा बाहरसे वेष्टित होता है। इसके बाहर बत्तीस दलोंका पद्म रहता है। अनुष्टुप्‌के बत्तीस अक्षर होनेके कारण इसकी संख्याके साथ इस पद्मका मेल हो जाता है। इसके बाहर मायाका वेष्टन है। अराके द्वारा यह यन्त्र सुबद्ध होता है। वेद ही इसके अरा हैं और छन्द ही इसके पत्र।

इस सुदर्शन महाचक्रके मध्यमें नाभिके अंदर ॐकार रखना पड़ता है। षड् दलोंके मध्यमें षडक्षर सुदर्शन रहता है। अष्टाक्षर **'ॐ नमो नारायणाय'** मन्त्र अष्ट पत्रोंपर

रक्षोघ्नं मृत्युतारकम्
सुदर्शनं महाचक्रम्।
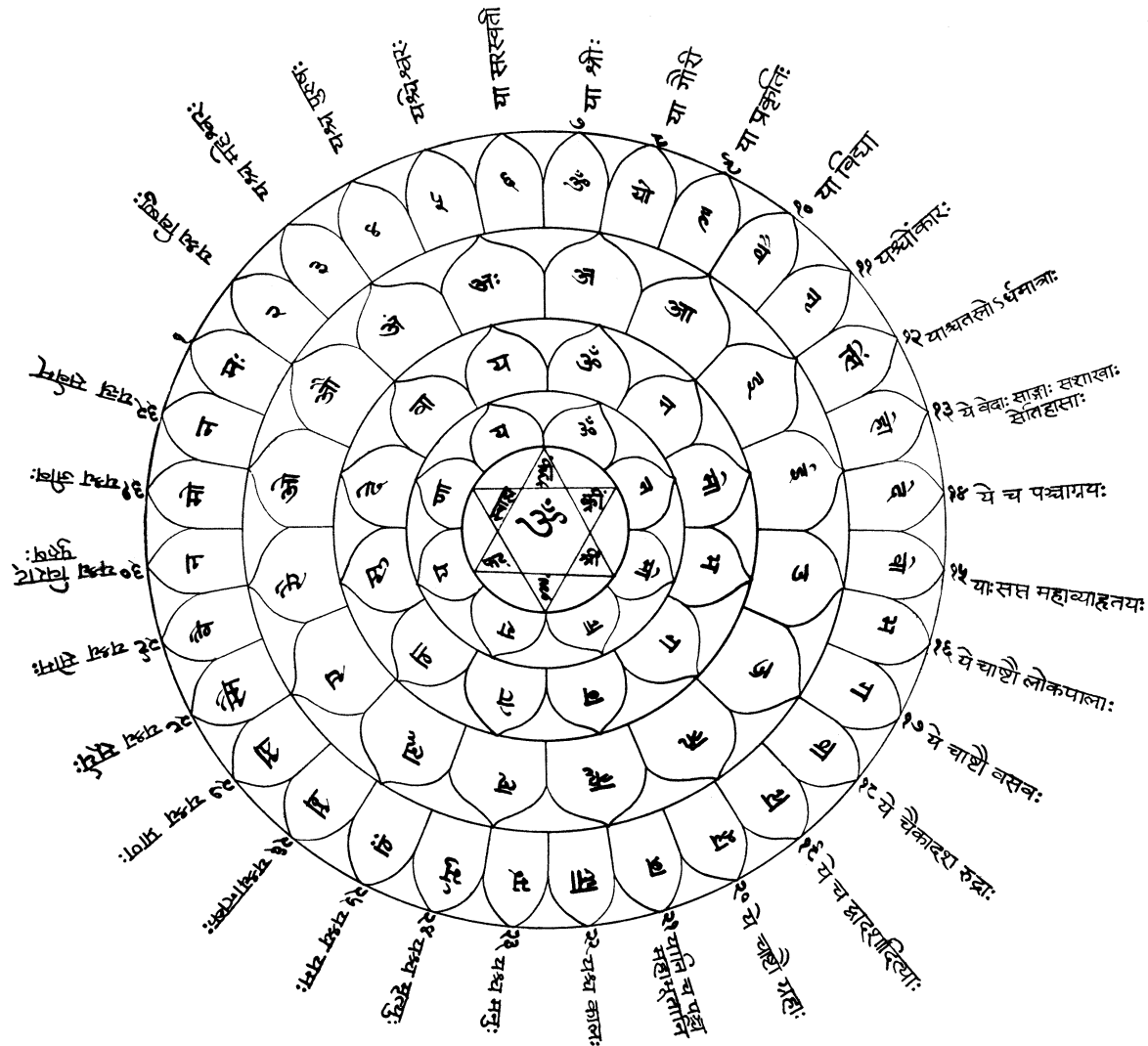
लिखना होता है। द्वादश पत्रोंमें द्वादशदल वासुदेव-मन्त्र (**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**) लिखना होता है। षोडशदलमें मातृकासे प्रारम्भ करके बिन्दुपर्यन्त (अ, आ आदि) षोडशाक्षर लिखने होते हैं। बत्तीस दलोंमें बत्तीस अक्षरका मन्त्रराज नारसिंह अनुष्टुप् लिखना होता है। यह सुदर्शन महाचक्र सर्वकामद, मोक्षद्वार, ऋङ्मय, यजुर्मय, साममय, ब्रह्ममय और अमृतमय होता है। इसके सम्मुख वसुगण वास करते हैं। दक्षिणमें आदित्य, पश्चाद्भागमें विश्वेदेव और उत्तरमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर वास करते हैं। नाभिमें सूर्य और चन्द्रमा वास करते हैं और पार्श्वमें यह ऋक्‌द्वारा आवृत होता है। जिस दिन इस चक्रको धारण करे, उस दिन एक गोदान करना चाहिये।

मोक्षका साधन

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार प्रकारके पुरुषार्थोंमें मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है, यह निर्विवाद है। यही कारण है कि मुक्तिके लिये हिन्दू, जैन, बौद्ध, मुसल्मान, ईसाई आदि सभी जाति, एवं धर्म-सम्प्रदाय सदासे साधन करते आ रहे हैं। मन्त्र-तन्त्र-यन्त्रके द्वारा मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती, ये मोक्षकी प्राप्तिके साधनमें सहायतामात्र करते हैं। वैराग्य ही ज्ञानका मुख्य साधन है। वैराग्यकी प्राप्तिके लिये ही वर्णाश्रम-धर्मोंका पालन करना पड़ता है, यह बात पहले दिखलायी गयी है। वर्णाश्रमधर्मोंके पालनके द्वारा मनके कुछ शुद्ध होनेपर अर्थ और काममें वितृष्णा उत्पन्न होती है। धर्मके फलको उनकी अपेक्षा श्रेष्ठ समझकर धार्मिक पुरुष धर्मके लिये अर्थ—अर्थ ही क्यों, स्त्रीतकका भी त्याग करनेको तैयार हो जाते हैं। धर्मसे अर्थ और कामका सिद्ध होना स्वाभाविक है, परन्तु अर्थसे धर्म होना कठिन है। अर्थका स्वभाव ही यह है कि वह मनुष्यको कृपण बना देता है। अर्थ और काममें आसक्त पुरुष कभी धर्मकी प्राप्ति नहीं कर सकता। इसी कारण भुजा उठाकर व्यासजीने कहा है—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

शास्त्रोंमें स्वर्गादिका जो फल बतलाया गया है, उसे सुनकर तथा अनित्य द्रव्योंद्वारा जो प्राप्त होता है, वह नित्य नहीं हो सकता—इस प्रकारके विचारके द्वारा धर्मका फल अन्तवन्त जानकर मुमुक्षु पुरुषकी धर्ममें भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकारके पुरुष योग, ज्ञान या भक्तिमेंसे किसी एक साधनका आश्रय लेकर मोक्षके लिये प्रयास करते हैं। इनके साधनोंका विभिन्न रूपोंमें अनेकों लेखक वर्णन करेंगे और समय-समयपर हम भी 'कल्याण' में वर्णन करते आ रहे हैं। यहाँ सब साधनोंको विस्तारपूर्वक देना असम्भव है। अतएव उक्त ज्ञान, योग और भक्तिमेंसे किसी एक साधनको अपने अनुकूल जानकर साधक प्रयत्न कर सकते हैं। उनमेंसे सब साधकोंको जो साधन अवश्य करने पड़ते हैं, यहाँ मैं उन्हींका वर्णन करूँगा। साम्प्रदायिक भेदभावको छोड़कर सबको ये साधन समानरूपसे करने पड़ते हैं। इनका पालन किये बिना मोक्षकी प्राप्ति असम्भव है।

कामजनित लोभसे क्रोध उत्पन्न होता है और शत्रुके दोषोंको देखकर इसकी वृद्धि होती है। क्षमाके द्वारा क्रोधका उपशम होता है। सङ्कल्पसे काम उत्पन्न होता है, कामके निरन्तर सेवित होनेसे उसकी वृद्धि ही होती है, कभी उसका ह्रास नहीं होता। विचारके द्वारा कामसे विरत होनेपर अर्थात् सङ्कल्प त्याग करनेपर तथा स्वादु भोजनकी स्पृहा त्यागनेपर काम नष्ट होता है। परासूयाको दयाके द्वारा दूर करना पड़ता है। अज्ञानसे मोह उत्पन्न होता है, पापके अभ्यासके द्वारा इसकी वृद्धि होती है, प्राज्ञका सङ्ग करनेसे मोह नष्ट हो जाता है। विरुद्ध शास्त्रोंके देखनेसे संशय उत्पन्न होता है, तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिसे संशयकी निवृत्ति होती है। प्रीतिसे शोक उत्पन्न होता है, प्रियवियोगका शोक अत्यन्त कष्टप्रद होता है। अनिष्टकारी समझकर शोकका त्याग करनेसे ही मन स्वस्थ होता है। क्रोध और लोभसे परासूया उत्पन्न होती है, निर्वेद और दयाके अभ्याससे उसका क्षय होता है। अहितका सेवन तथा सत्यका त्याग करनेसे मात्सर्य उत्पन्न होता है। साधुजनोंकी सेवा करनेसे मात्सर्य दूर होता है। कुलके ज्ञान तथा ऐश्वर्यसे मद उत्पन्न होता है, इनके स्वरूपका ज्ञान होनेसे वह नष्ट हो जाता है। कामसे ईर्ष्या उत्पन्न होती है और उसमें हर्ष प्रकाशित करनेसे उसकी और भी वृद्धि होती है। प्रज्ञाके द्वारा उसका नाश किया जाता है। द्वेषपूर्ण वचनोंसे कुत्सा उत्पन्न होती है, लोककी गति देखकर वह कुत्सा नष्ट हो जाती है। शत्रुकी समृद्धिका नाश करना असम्भव जानकर तीव्र असूया उत्पन्न होती है, उसके ऊपर करुणा करनेसे वह असूया दूर हो जाती है। दीन-दुखीको देखकर कृपाका प्रादुर्भाव होता है; उसमें जब धर्मनिष्ठा देखी जाती है, तभी कृपाकी शान्ति हो जाती है। सर्वभूतोंके अज्ञानसे ही लोभकी उत्पत्ति देखनेमें आती है। भोगकी अस्थिरताका चिन्तन करनेसे किसी वस्तुके प्रति लोभ नहीं रह जाता।

सात्त्विक भोजन करनेसे मनुष्य निद्राको जय करनेमें समर्थ हो सकता है। उपस्थ और उदरकी रक्षा धैर्यावलम्बनके द्वारा करनी चाहिये। चक्षु और श्रोत्रकी रक्षा मनके द्वारा करनी चाहिये। मन और वाक्यकी रक्षा कर्मके द्वारा करनी चाहिये, अर्थात् मन और वाक्यके द्वारा दुष्ट चिन्तन करनेपर भी कर्मके द्वारा उसका निरोध करना चाहिये। प्रमाद ही भयका कारण है। अप्रमादके द्वारा भयको दूर करना चाहिये। दम्भको साधुकी सेवाके द्वारा दूर करना चाहिये। आलस्य छोड़कर योगके इन समस्त विघ्नोंको दूर करना चाहिये। अग्नि और ब्राह्मणको प्रणाम और उनकी पूजा करनी चाहिये। देवताओंको प्रणाम करना चाहिये। किसीको भी अप्रिय वचन न कहना चाहिये। जिससे हिंसा होती है या किसीके मनमें दु:ख होता है, ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये।

ध्यान, अध्ययन, दान, सत्य, ह्री (लज्जा), सरलता, क्षमा, शौच, अनाचार, चित्तशुद्धि, इन्द्रियजय—इन सबके साधनके द्वारा तेजकी वृद्धि होती और पापोंका नाश होता है। साधकका सारा प्रयोजन इनके द्वारा सिद्ध होता है तथा विज्ञान भी उत्पन्न होता है। वस्तुकी प्राप्ति और अप्राप्तिमें एकरस रहनेसे पाप नष्ट हो जाते हैं। लघु आहारके द्वारा काम-क्रोधको जय करके ब्रह्मपदके लिये प्रयास करना चाहिये। मन और इन्द्रियोंको एकाग्र करके रात्रिके पूर्वार्द्ध और परार्द्धमें मनको आत्मामें स्थित करना चाहिये। पञ्च इन्द्रियोंमेंसे यदि एक इन्द्रिय भी छिद्रयुक्त हो तो उस इन्द्रियके द्वारा उसकी प्रज्ञा बखालसे जलके समान बाहर निकल जाती है। मत्स्यजीवी जिस प्रकार कुमत्स्यको पहले पकड़कर अन्य मत्स्योंको क्रमशः पकड़ते हैं, उसी प्रकार साधकको मनरूपी दुष्ट मत्स्यका पहले निग्रह करके तब अन्य इन्द्रियोंका निग्रह करना चाहिये।

करणे घटस्य या बुद्धिर्घटोत्पत्तौ न सा मता।
एवं धर्माभ्युपायेषु नान्यद्धर्मेषु कारणम्॥
पूर्वे समुद्रे यः पन्थाः स न गच्छति पश्चिमम्।
एकः पन्था हि मोक्षस्य तन्मे विस्तरतः शृणु॥
क्षमया क्रोधमुच्छिन्द्यात् कामं सङ्कल्पवर्जनात्।
सत्त्वसंसेवनाद्धीरो निद्रां चच्छेत्तुमर्हति॥
अप्रमादाद्भयं रक्षेच्छ्वासं क्षेत्रज्ञशीलनात्।
इच्छां द्वेषं च कामं च धैर्येण विनिवर्त्तयेत्॥
भ्रमं संमोहमावर्त्तमभ्यासाद्विनिवर्त्तयेत्।
निद्रां च प्रतिभां चैव ज्ञानाभ्यासेन तत्त्ववित्॥
उपद्रवांस्तथा रोगान् हितजीर्णमिताशनात्।
लोभं मोहं च सन्तोषाद्विषयांस्तत्त्वदर्शनात्॥
अनुक्रोशादधर्मं च जयेद्धर्ममवेक्षया।
आयत्या च जयेदाशामर्थं सङ्गविवर्जनात्॥
अनित्यत्वेन च स्नेहं क्षुधां योगेन पण्डितः।
कारुण्येनात्मनो मानं तृष्णां च परितोषतः॥
उत्थानेन जयेत्तन्द्रां वितर्कं निश्चयाज्जयेत्।
मौनेन बहुभाष्यञ्च शौर्येण च भयं त्यजेत्॥
यच्छेद्वाङ्मनसी बुद्ध्या तां यच्छेज्ज्ञानचक्षुषा।
ज्ञानमात्मावबोधेन यच्छेदात्मानमात्मना॥
तदेतदुपशान्तेन बोद्धव्यं शुचिकर्मणा।
योगदोषान् समुच्छिद्य पञ्च यान् कवयो विदुः॥

(महा० शान्ति० २७४। ३—१३)

अध्यात्मरामायणके अरण्यकाण्डके चतुर्थ सर्गमें जीवात्माका ज्ञान किस प्रकार होता है, इसका वर्णन है। जीवात्मा और परमात्मा पर्यायवाचक शब्द हैं, इनके बीच भेद-बुद्धि नहीं करनी चाहिये। अमानिता, अदम्भ, अहिंसा, क्षमा, सरलता, मन, वाणी और शरीरके द्वारा सद्‌गुरुकी सेवा, बाह्य और आन्तर शौच, सत्कर्मनिष्ठता, शरीर-मन-वाणीका निग्रह, विषयके प्रति वैराग्य, निरहङ्कारता, समस्त विषयोंमें जन्म-मृत्यु-जरा आदिकी आलोचना, पुत्र-धन-दारा आदिमें आसक्तिका त्याग, स्नेह-शून्यता, इष्ट और अनिष्टकी प्राप्तिमें समचित्तता, अनन्यरूपसे सब पदार्थोंमें सर्वत्र भगवद्भावका दर्शन, जनसमूहके समागमका त्याग, शुद्ध देशका सेवन, मूर्ख और जन-समूहके प्रति अरति, आत्मज्ञानके लिये सर्वदा उद्योग, वेदान्तशास्त्रका अवलोकन—इन सब साधनोंसे तथा इनके विरोधी साधनोंके त्यागसे जीवात्माका ज्ञान होता है। गीतामें तेरहवें अध्यायके ८ वें श्लोकसे लेकर १२ श्लोकतक यही बात कही गयी है।

साधना-तत्त्व

(लेखक—पं० श्रीहनूमानजी शर्मा)

(१) विषय गम्भीर और व्यापक है; अति तुच्छ जीवसे लेकर महत्तम देवाधिदेवतक सभी साधनाके साध्य हैं। जिसे जिस साध्यको पानेकी इच्छा हो, उसके लिये उसकी साधना मौजूद है। साधना यदि निष्काम होगी तो उसका फल किसी भविष्य कालमें सर्वोत्कृष्ट (पर अज्ञात) मिलेगा और यदि सकाम होगी तो तत्काल मिल जायगा। साधना कोई भी हो, उसके साथ सावधानी अवश्य रखनी होगी; अन्यथा साध्य रूठ जायगा और साधना बिगड़ जायगी।

(२) यदि आपको ब्रह्मकी साधना करनी हो तो नित्यानित्य-विवेकके द्वारा फलभोगका त्याग कर शम-दमादिकी विपुल सम्पत्तिका संग्रह करना होगा और चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते मनको ब्रह्ममें ही लगाना होगा। 'ब्रह्म' का स्वरूप क्या है, यह जाननेके लिये चराचर सृष्टिके प्रत्येक प्राणी-पदार्थको ब्रह्मका प्रतिरूप मानकर सर्वत्र उन्हींका अनुसन्धान करना होगा।

(३) यदि आपको भैरव, भवानी, हनुमान्‌जी या अन्य किसी भी देवी-देव, भूत-प्रेत, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व अथवा डाकिनी-शाकिनी आदिकी साधना करनी हो तो सर्वप्रथम सद्‌गुरुके समीप रहकर इनके मन्त्र, साधना, गुण और स्वरूपका ज्ञान प्राप्त कीजिये और इनका अभ्यास हो जानेपर साधनामें मन लगाइये। उक्त देवोंमें कोई सत्त्वगुणी, कोई रजोगुणी और कोई तमोगुणी हैं। इसलिये सत्त्वगुणी और रजोगुणी देवोंके साधन-मन्त्र वेदों और मन्त्रशास्त्रोंसे और तमोगुणीके माली, तेली, धोबी और चमार आदिसे प्राप्त कीजिये। इसी प्रकार सत्त्वगुणी तथा रजोगुणी देवोंके स्वरूप ऋषिप्रणीत स्तोत्रोंमें आये हुए ध्यानोंसे और तमोगुणीके प्रकृतिकी तात्कालिक विकृतिसे लीजिये। इन सब बातोंको जानकर साधना कीजिये। यह ध्यान रखिये कि साधनाके समय सत्त्वगुणी देवोंके समीपमें, रजोगुणी देवोंके सामने और तामसीके पृष्ठभागमें बैठकर उनके प्रत्यक्ष दीखते हुए या ध्यानादिसे जाने हुए स्वरूपको हृदयमें रखकर यथाविधि जप कीजिये और विनयी बने रहिये। इस प्रकार करते रहनेसे अगर आपकी साधना अनुकूल हुई तो उसकी अवधि समाप्त होनेके पहले सात्त्विकी देवता उस काममें आपकी अरुचि पैदा करेंगे, रजोगुणी उसमें देर लगावेंगे और तमोगुणी बाधा डालेंगे। ऐसी अवस्थामें आप धैर्य, दृढ़ता और संलग्नतामें मजबूत रहेंगे तो आपकी साधना सफल हो जायगी और कदाचित् कुछ गड़बड़ होगी तो बना-बनाया काम बिगड़ जायगा। उचित तो यह है कि साधनासम्पन्न होनेतक सब तरहसे सावधान रहें और साध्य देवको साक्षात् ब्रह्म मानकर उसमें मन लगावें। अगर आराध्य देवको प्रत्यक्ष करना हो तो श्रद्धा, अभ्यास, साधना और लग्नताकी विशेष वृद्धि करें। उससे ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि या तो स्वप्नमें दर्शन देंगे या किसी अदृष्टपूर्व विलक्षण दृश्यके रूपमें कुछ कहेंगे। सूर्य, शक्ति या हनूमान्‌जी आदि गो, द्विज, बटुक या महाकाय मर्कटके रूपमें दर्शन देंगे। भैरव-भवानी या भोमियाँ आदि सिंह, श्वान या सर्पादिके द्वारा मिलेंगे। यक्ष-राक्षस या गन्धर्वादि पशु-पक्षी या नारीके रूपमें नजर आवेंगे। भूत-प्रेत और पिशाचादि भेड़, ऊँट या भैंसे आदि बनकर दीखेंगे। यक्षिणी नवयुवती-जैसी मालूम होगी और डाकिनी अपने ही विकृत वेषमें आवेगी। इनमें जिनको भी आप प्रत्यक्ष करना चाहेंगे वही आपको उक्त प्रकारसे दर्शन देंगे। किन्तु ऐसे अनुष्ठानोंमें अनेक आपत्तियाँ आती हैं। कई एक देवता प्रत्यक्ष होनेके पहले कुछ ऐसे दृश्य उपस्थित कर देते हैं जिनको देखकर सामान्य साधक सहम जाते या बेसुध हो जाते हैं और अन्तमें उनका बिगाड़ हो जाता है। अतः ऐसी भावनाके बदले शान्त-अशान्त सभीको ब्रह्मके रूपमें परिणत करके सात्त्विकी साधना करें तो अच्छा है।

(४) यदि आप मन्त्र-तन्त्र या कृत्या साधना चाहें तो इस विषयके शास्त्रोंका अध्ययन या अवलोकन कीजिये। रहस्यज्ञानके बिना यों ही किसी सत्पात्रको सत्ताहीन करनेके लिये **'ह्रां, ह्रीं, हुं, फट्'** से मन्त्रशास्त्रोंकी समाप्ति और दूसरोंके सुत-दारा और सम्पत्तिको मिटानेके लिये सेहका सूला, कुमारीका सूत, चाकका डोरा और पड़ोसीका झाड़ू आदिसे तन्त्रशास्त्रोंकी इतिश्री करना अच्छा नहीं; इनका अनर्थकारी अधम फल तत्काल नहीं तो अन्तकालतक अवश्य मिलता है। अतएव इनकी अपेक्षा—

'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय', **'ॐ नमः शिवाय'**,

'ॐ नमो वक्रतुण्डाय', 'ॐ नमः सूर्याय', 'ॐ नमः शक्त्यै', 'ॐ नमो हनुमते' और **'ॐ नमः परमात्मने'** —आदिके अखण्ड प्रयोगोंसे मंत्रोंका और गन्ध-पुष्पादिसे शोभित, घृतपूर्ण बत्तियोंसे प्रज्वलित और अनुष्ठानियोंके द्वारा पूजित प्रकाशमान दीपकको चौराहेमें रखकर दध्योदनादिकी बलि देनेके द्वारा तन्त्रोंका और जनपदनाशादि उत्पातोंके उपशमनार्थ अखण्ड रामध्वनि, अहोरात्र होमाहुति, शतसहस्त्रायुत चण्डीप्रयोग और प्रतिदिनके प्रीतिभोज आदिकी कृत्याओंका प्रचार करना अच्छा है। ऐसे मन्त्र-तन्त्र और कृत्याके अमिट और अमित फलसे अड़ोसी-पड़ोसी और आप सकुटुम्ब सुखी रहेंगे और आपका यश फैलेगा।

(५) यदि आपको किसी 'मनुष्य' की साधना करनी हो तो साध्य चाहे मा-बाप, भाई-बहिन, स्त्री-पुत्र, गुरु-पण्डित, अमीर-गरीब, धनी या निर्धन कोई हों, आप उनमें ब्रह्मका अंश मानकर उसी भाँति साधना कीजिये जिस भाँति आराध्य देवकी करते हैं। सबसे पहले आप उनके खान-पान, व्यवहार और स्वभावको जान लीजिये और फिर उनके मन या मिजाजके माफिक साधिये। वे जो भी चाहें, कहें, करावें उसको तुरंत कीजिये और सब कामोंमें तत्परता दिखाते हुए मीठे बर्तावसे उनको वशवर्ती बना लीजिये। उनके कहे मुताबिक करनेमें कभी देर, संकोच या न्यूनता न होने दीजिये। साधनाके समय अगर आपको धूप, वर्षा या सर्दी आदि सतावें तो उनको भी सह लीजिये। इस भाँति करनेमें यदि आपकी साधना सकाम होगी तो साध्य आपको अपना शरीरतक देनेमें भी संकोच नहीं करेंगे और निष्काम होगी तो सर्वस्वसे बढ़कर शुभाशिष् मिलेगी, जिसका फल परमात्मा देंगे और वह अमिट रहेगा।

(६) यदि आप हाथी, घोड़े, गाय, बैल या भैंस आदिकी साधना करना चाहें तो इनमें भी उसी ब्रह्मका अंश मानकर सानुराग साधना कीजिये और ठीक समयपर चारा-दाना, पानी, सफाई और सँभाल आदिके सिवा प्यार-दुलार भी करते रहिये। इस भाँति करनेमें आपकी साधना सकाम होगी तो उनसे आप हर तरहका काम लेंगे, हर तरहका लाभ उठावेंगे और दूध, दही, घी, छाछ या मलाई आदि पौष्टिक पदार्थ आपको मिलते रहेंगे—जिनसे स्वास्थ्य और आयुकी वृद्धि होगी। और यदि साधना निष्काम होगी तो मरणानन्तर उनके हाड़, दाँत, चमड़ेका और उनकी सन्ततिका पूरा लाभ (आपको नहीं, पर आपके पुत्रादिकों या पड़ोसियोंको) अवश्य मिलेगा।

(७) यदि आप तोता, मैना या मुर्गे आदि पक्षियोंकी साधना करना चाहें तो वे भी उसी बापके बेटे हैं, उनको भी उसी भाँति साधिये और मैना आदिको 'हरे राम' रटाकर मुक्तिमार्गमें लगा दीजिये। साथ ही मुर्गे आदिसे विषमिश्रित भोजनादिकी परीक्षा करवाकर अपाहिज बुभुक्षितोंकी प्राण-रक्षा कीजिये। यदि यह साधना सकाम हो तो उक्त पक्षियोंको बेचकर पैसे पैदा कीजिये और निष्काम हो तो उनको खुले मैदानमें यथायोग्य दाना-पानी देकर पक्षीमात्रका पालन कीजिये। इस प्रयोगसे आपको ज्ञात होगा कि मनुष्यों-की अपेक्षा पशु-पक्षियोंके आहार-विहार, बर्ताव-व्यवहार कितने उत्कृष्ट होते हैं।

(८) यदि आप वृक्ष, वाटिका, वनस्पति या अन्नादिकी साधना करना चाहें तो बड़ी खुशीकी बात है। खूब मन लगाकर कीजिये। उनमें भी उसी ब्रह्मका अंश है जिसका ब्रह्मा, विष्णु, महेशमें है। इनकी साधना यदि सकाम करोगे तो 'वृक्षों' से फल-फूल, छाया और काष्ठसंग्रह होगा। 'वाटिका' से पुष्प-सुगन्ध और स्वास्थ्यप्रद शुद्ध वायु मिलेगा, 'वनस्पति' से औषधनिर्माणके साधन और 'अन्न' से भरण-पोषण और उदरदरीका पूरण आदि अनेक लाभ होंगे। और यदि निष्काम होगी तो इनसे आपको होनेवाले सभी सुख-लाभ या स्वास्थ्य-साधन दूसरोंको मिलेंगे, जिसमें आपका यश, पुण्य और नाम पीढ़ियोंतक मौजूद रहेगा।

(९) यदि आपको इन साधनाओंमें यह सन्देह हो कि संसारके अगणित प्राणी, पदार्थ या देवादि सभीमें अकेले ब्रह्मका अंश कैसे आ सकता है तो इसकी निवृत्तिके लिये आप मुँह देखनेके शीशेको फोड़कर अगणित टुकड़े कर दीजिये। वे गोल, चौकोर, चिपटे, षट्कोण, छोटे-बड़े, बारीक-कैसे भी हों, सबको दुपहरीकी धूपमें रख दीजिये। उनके समीप ही अनेक प्रकारके पात्रोंमें घी, दूध, दही, छाछ, जल, तेल आदि पदार्थ भर दीजिये और वहीं हर तरहके प्रकाशमान वस्त्र, शस्त्र, आभूषण और बर्तन रखवा दीजिये और फिर उन सबको अलग-अलग या एक साथ देखिये। उन सबमें ब्रह्मके प्रत्यक्ष स्वरूप तेज:पुञ्ज जगदाधार और सहस्त्रों किरणवाले सूर्यका जो प्रतिबिम्ब आकाशमें दीखता है वही यथावत् (ज्यों-का-त्यों) दीखेगा और साक्षात् सूर्यकी भाँति उन

सब वस्तुओंमें दीखनेवाले प्रतिबिम्बसे भी आँखोंमें चकाचौंध आयेगी। इससे आप जान सकेंगे कि सूर्यकी भाँति ही ब्रह्मका अंश भी सबमें प्रविष्ट रहता है और उसी तरह सब काम यथावत् करता है।

(१०) साधनाके अनेक प्रकार हैं। उनमें प्रतिदिनकी सेवाके सिवा (१) एक सौ आठ तुलसी-मंजरियोंसे विष्णुकी, (२) अर्कपुष्प, विल्वपत्र, पार्थिवपूजन और रुद्राभिषेकसे शिवकी, (३) प्रति परिक्रमामें मोदक अर्पण करनेसे गणेशकी, (४) रक्तचन्दन और लाल कनीरके पुष्पोंसे युक्त १०८ अर्घ्यदान, नमस्कार और परिक्रमणसे सूर्यकी, (५) अनेक प्रकारके पुष्पोंकी सौ पुष्पाञ्जलियोंसे 'शक्ति' की, (६) रामायणके पाठके साथ तिलोंके तेलके अविच्छिन्न अभिषेकसे हनूमान्जीकी, (७) नाम-जपके साथ चम्पक-पुष्प अर्पण करनेसे सीताकी, (८) दूर्वाङ्कुरोंके अभिषेकसे गौरीकी, (९) तैलधारासे भैरवकी, (१०) मूँग-भातसे 'भोमियाँ' की, (११) जलार्पणसे पीपलकी, (१२) सूत्रार्पणसे 'वट' की, (१३) गुड़मिश्रित गोधूमचूर्णादिसे गौकी, (१४) सूखे अन्नराशिसे कपोतमण्डलकी, (१५) आश्रयदानादिसे अपाहिजोंकी और (१६) मनस्तुष्टिके प्रीत्युपहारोंसे परिवारकी साधना विशेष रूपसे सम्पन्न हो सकती है। उपासनाके ग्रन्थोंमें इनके विधि-विधान विस्तारपूर्वक लिखे हैं। उनको देखकर यथोचित कार्य करें।

वैदिक कर्म और ब्रह्मज्ञान

(लेखक—श्रीवसन्तकुमार चटर्जी, एम० ए०)

पाश्चात्त्य विद्वानोंकी यह कल्पना है कि वैदिक कर्मकाण्ड और औपनिषद ब्रह्मज्ञानमें परस्परविरोध है। डा० विंटरनिज लिखते हैं कि 'जब ब्राह्मणलोग यज्ञ-यागादिके निरर्थक शास्त्रमें प्रवृत्त थे, तब अन्य लोग उन महान् प्रश्नोंके विचारमें लगे थे जिनका पीछे उपनिषदोंमें इतनी उत्तमताके साथ विवेचन हुआ है।' (हिस्टरी ऑफ संस्कृत लिटरेचर पृ० २३१) मि० मैकडानेल कहते हैं कि 'उपनिषद् यद्यपि ब्राह्मणग्रन्थोंके ही भाग हैं, क्योंकि हैं वे उन्हींके ज्ञानकाण्डके विस्तारस्वरूप, तथापि उनके द्वारा एक नये ही धर्मका प्रतिपादन हुआ है, जो वैदिक कर्मकाण्ड या व्यवहारके सर्वथा विरुद्ध है।' (हिस्टरी ऑफ संस्कृत लिटरेचर पृ० २१८) इन विद्वान् प्रोफेसरको यह नहीं सूझा कि एक ही ग्रन्थके दो भाग एक-दूसरेके विरुद्ध कैसे हो सकते हैं। जो लोग भारतीय संस्कृतिकी परम्परामें नहीं जन्मे, नहीं फले-फूले, उन विदेशियोंको तो इस गलतीके लिये क्षमा किया जा सकता है। उनका जन्मजात संस्कार ही वैदिक कर्मकाण्डके विरुद्ध है। उनकी तो यह समझ है कि ये वैदिक कर्म अन्धविश्वासकी उपज हैं, आत्मज्ञानसे इनका कोई सरोकार नहीं। परन्तु हम उन अग्रगण्य आधुनिक भारतीय विद्वानोंको क्या कहें जो वैदिक कर्मकाण्ड और औपनिषद ब्रह्मज्ञानके इस पाश्चात्त्य विद्वानोंद्वारा कल्पित परस्पर विरोधका ही अनुवाद किया करते हैं? क्या उन्हें भी यह नहीं सूझता कि श्रीमत् शङ्कराचार्य और श्रीरामानुजाचार्य-जैसे महान् प्रतिभाशाली व्यक्तियोंमें इतनी समझ तो अवश्य रही होगी कि यदि वेदोंके कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डमें परस्पर विरोध है तो दोनों ही काण्ड सत्य नहीं माने जा सकते? यह बात स्मरण रहे कि शङ्कराचार्य और श्रीरामानुजाचार्य तथा भारतके सभी प्राचीन आचार्योंने यह माना है कि वेद, जिनमें उपनिषद् भी आ जाते हैं, अपौरुषेय हैं अर्थात् सर्वथा सत्य हैं।

इस कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डके परस्परविरोधकी कल्पना जिस आधारपर की जाती है, उसका यदि हम परीक्षण करें तो हमें यह देखकर आश्चर्य होगा कि इतने बड़े-बड़े विद्वान् मूलमें ही इतनी बड़ी गलती कैसे कर गये। वैदिक कर्मकाण्डकी यह फलश्रुति है कि इन कर्मोंके आचरणसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है। उपनिषदोंने कहीं भी इसका खण्डन नहीं किया है। इसके विपरीत उपनिषदोंके अनेक वाक्य इसके समर्थक हैं। इसके दो अवतरण नीचे देते हैं—

'तद्ये ह वै तदिष्टापूर्त्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते।' (प्रश्नोपनिषद् १।९)

'जो लोग यज्ञ करना, वापी-कूप-तड़ागादि खुदवाना और बगीचा लगवाना आदि इष्टापूर्तरूप कर्ममार्गका ही अवलम्बन करते हैं, वे चन्द्रलोकको प्राप्त होते हैं।' (चन्द्रलोक स्वर्गका ही एक भेद है)।

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु
यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्।

तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो
यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः॥

(मुण्डक० १।२।५)

'इन दीप्तिमान् जिह्वाओंमें जो यथाकाल आहुति देता हुआ अग्निहोत्र करता है, उसे वे आहुतियाँ सूर्यकी रश्मियोंके साथ मिलकर वहाँ ले जाती हैं, जहाँ देवताओंका एक पति सबसे ऊपर विराजता है।'

मुण्डकोपनिषद् स्पष्ट ही बतलाता है कि वैदिक कर्मकाण्ड सच्चा अर्थात् अव्यर्थ फलप्रद है। यथा–

'तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन्'

(मुण्डक० १।२।१)

'ऋषियोंने मन्त्रोंमें जिन कर्मविधियोंको देखा, वे सत्य हैं।' प्रथमतः मन्त्र प्रकट हुए, तब उन मन्त्रोंके साथ वैदिक कर्म करनेकी विधियाँ ब्राह्मणग्रन्थोंमें समाविष्ट की गयीं। ये ब्राह्मणग्रन्थ वेदोंके ही अंग हैं और अपौरुषेय वेदमन्त्रोंसे ही निकले हैं। इस प्रकार वेद मन्त्र-ब्राह्मणात्मक हैं, जैसा कि 'यज्ञपरिभाषासूत्र' में महर्षि आपस्तम्ब कहते हैं—

'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् ।'

'वेद नाम मन्त्रों और ब्राह्मणोंका है।'

वैदिक कर्म और औपनिषद ज्ञानके बीच परस्परविरोध केवल आधुनिक पण्डितोंकी कल्पना है, यह बात इससे भी स्पष्ट हो जायगी कि उपनिषदोंने कितने ही स्थानोंमें वेदोंके मन्त्रभागसे प्रमाण उद्धृत किये हैं—यह कहकर कि **'तदेतद् ऋचाभ्युक्तम्'** अथवा **'तदेष श्लोकः'** इत्यादि (अर्थात् ऋक्में ऐसा कहा है, अथवा वेदमन्त्र ऐसा है)।

ब्रह्मकी महिमाका वर्णन करते हुए एक जगह मुण्डकोपनिषद्में यह मन्त्र आता है—

तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा
यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः
सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः॥

(२।१।६)

'उन परब्रह्मसे ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, दीक्षा, यज्ञ, क्रतु, दक्षिणा, संवत्सर, यजमान और विविध लोक, जिनमें चन्द्र और सूर्य चलते हैं, प्रकट हुए हैं।'

कठोपनिषद्में यह देखा जाता है कि नचिकेताको ब्रह्मज्ञान देनेके पूर्व उन वैदिक यज्ञोंको करनेकी दीक्षा दी गयी, जिनसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है।

इस प्रकार यह सर्वथा स्पष्ट है कि उपनिषद् वैदिक यज्ञोंद्वारा स्वर्गकी प्राप्तिका होना घोषित करते हैं। परन्तु इस विषयमें यह भी तो कहा जा सकता है कि यज्ञोंसे स्वर्ग-लाभ भले ही होता हो, पर उपनिषदोंका लक्ष्य तो स्वर्ग नहीं प्रत्युत मोक्ष है और इसलिये उपनिषद् ऐसा कैसे कह सकते हैं कि कोई अपना समय और शक्ति वैदिक यज्ञ-यागादिमें व्यर्थ ही व्यय किया करे। परन्तु यह कुतर्क ही है। उपनिषद् तो स्पष्ट ही विधान करते हैं कि यज्ञ करो। स्नातकके समावर्तन-संस्कारमें आचार्य शिष्यको स्पष्ट ही आदेश देते हैं कि—

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। (तै० उ० १।११।२)

'देवों और पितरोंके लिये यज्ञ करनेमें कभी प्रमाद न करना।' मुण्डकोपनिषद्के उपसंहारमें यह कहा है कि—

तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत
शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्॥

(मुण्डक० ३।२।१०)

'यह ब्रह्मविद्या उन्हींसे कहे, जिन्होंने विधिपूर्वक शिरोव्रत (एक वैदिक यज्ञ) सम्पन्न किया हो।' कठोपनिषद्की कथामें वैदिक यज्ञोंकी विद्या पहले बताकर तब ब्रह्मविद्याको बतलाना इसी बातको ही तो सूचित करता है कि ब्रह्मविद्याका अधिकार वैदिक कर्मका विधिपूर्वक पालन करनेसे ही प्राप्त होता है।

फिर भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि वैदिक कर्म स्वर्गके ही देनेवाले हैं तो जो मनुष्य स्वर्ग न चाहता हो, मोक्ष ही चाहता हो, उसके लिये वैदिक कर्मकी आवश्यकता ही क्या हो सकती है? इसका उत्तर बृहदारण्यकोपनिषद्के इस वचनसे मिलता है—

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन।' (४।४।२२)

'ब्राह्मणलोग वेदाध्ययनसे तथा कामनारहित यज्ञ, दान और तपसे उस (ब्रह्म)-को जाननेकी इच्छा करते हैं।' इस वचनमें **अनाशकेन (कामनारहितेन)** पद विशेष अर्थपूर्ण है। इसका यही अर्थ है कि वेदोक्त यज्ञादि कर्म

जब आसक्तिसहित किये जाते हैं, तब उनसे स्वर्गलाभ होता है और जब आसक्तिरहित किये जाते हैं, तब काम-क्रोधादिकोंसे मुक्त होकर कर्ताका चित्त शुद्ध हो जाता है। यही बात गीताने इन श्लोकोंमें कही है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥

(१८।५-६)

'यज्ञ, दान, तप आदि कर्म त्याज्य नहीं हैं, अवश्य करणीय हैं; क्योंकि वे मनीषियोंको पावन करते हैं। इन कर्मोंको भी आसक्ति और फलेच्छाको छोड़कर करना चाहिये, यही मेरा निश्चित उत्तम मत है।' उपनिषद्के '**अनाशकेन**' पदको ही गीताके '**सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च**' शब्दोंने विशद किया है।

अब उपनिषद्के उस मन्त्रका भी विचार कर लीजिये, जिससे आधुनिकोंको वैदिक कर्म और औपनिषद ज्ञानमें परस्परविरोध देख पड़ता और यह कहनेका मौका मिलता है कि उपनिषदोंने तो वैदिक कर्मकाण्डका खण्डन किया है। मन्त्रार्थका ठीक तरहसे विचार करनेपर अवश्य ही यह प्रतीत होगा कि खण्डन वैदिक कर्मकाण्डका नहीं, बल्कि उसके फलस्वरूप स्वर्गभोगकी इच्छाका खण्डन है। मन्त्र इस प्रकार है—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥

(मुण्डक० १।२।७)

अर्थात् 'जिनपर ज्ञानवर्जित कर्म अवलम्बित है—ऐसी ये अठारह यज्ञसाधनरूप नौकाएँ अदृढ हैं। इन्हें जो श्रेय जानकर इनका अभिनन्दन करते हैं, वे मूढ हैं। वे फिरसे जरा और मृत्युको प्राप्त होते हैं।' यहाँ यज्ञोंको 'अदृढ नौकाएँ' कहा है; क्योंकि ये नौकाएँ मृत्युसागर पार नहीं करातीं, ब्रह्मविद्या ही मृत्युसागरके पार पहुँचाती है। इसका यह मतलब तो नहीं हुआ कि इन यज्ञोंका कोई प्रयोजन ही नहीं है। इसके पूर्वके दो मन्त्रोंमें यह बात कही जा चुकी है कि जो लोग यज्ञ करते हैं, वे मृत्युके पश्चात् स्वर्गको जाते हैं। इस मन्त्रसे यह भी न समझना चाहिये कि इसका अभिप्राय यज्ञोंके खण्डनमें है। कारण, अन्य मन्त्रोंमें, जो पहले उद्धृत किये जा चुके हैं, यज्ञोंका आग्रहपूर्वक विधान किया गया है। यहाँ '**अदृढाः**' पदसे इतना ही सूचित किया गया कि यही अन्तिम और सबसे बड़ी चीज नहीं है।

आधुनिकोंके चित्तमें यह शंका उठ सकती है कि वैदिक यज्ञोंके करनेसे मनकी शुद्धि कैसे हो सकती है। इसका समाधान यह है कि मनकी जो विविध कामनाएँ हैं जो आत्मवश्यताके न होनेसे ही उत्पन्न होती हैं, मनकी मलिनता या अशुद्धि हैं। वैदिक कर्मकाण्ड आत्मसंयमकी शक्तिको ही बढ़ाता है। केवल बाह्य विधिका ही सम्पादन यथेष्ट नहीं होता। आत्मशुद्धि और ज्ञानप्राप्तिकी सच्ची अभिलाषा भी होनी चाहिये। जहाँ ऐसी इच्छा होती है, वहाँ बाह्य विधिसे बड़ी सहायता मिलती है। मनुष्य शरीर भी है और शरीरी जीव भी। वह जबतक अपने शरीरको योग्य नहीं बना लेता, तबतक वह आध्यात्मिक उत्कर्षका अधिकारी नहीं होता। एक दूसरे ढंगसे भी इस प्रश्नपर विचार किया जा सकता है। हमारा चित्त अनेक प्रकारके कुकर्मोंसे मलिन हो गया है। इन सब मलोंको हटानेके लिये सत्कर्मोंका किया जाना आवश्यक है। सत्कर्म कराना ही वैदिक कर्मकाण्डका उद्देश्य है। ईशोपनिषद्का यह वचन है कि मोक्षके लिये अविद्या और विद्या दोनों आवश्यक हैं। विद्याके बिना केवल अविद्यासे काम नहीं चलता; अविद्याके बिना केवल विद्या उससे भी खराब है। श्रीमद्रामानुजाचार्यने विद्यासे अर्थ ग्रहण किया है ज्ञानका और अविद्यासे शास्त्रोक्त कर्मका—एक साधनाका तात्त्विक अङ्ग है और दूसरा व्यावहारिक। शास्त्रोक्त कर्मोंके करनेसे चित्त शुद्ध होता है और तब ब्रह्मविद्या, श्रवण करनेसे फलवती होती है। अशुद्धचेताको उस श्रवणसे कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिमें साधनरूपसे वैदिक कर्मोंकी फलवत्ता भगवान् वेदव्यासने ब्रह्मसूत्रोंमें प्रतिष्ठित की है—

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्। (३।४।२६)

अर्थात् परम ज्ञानके लिये वेदोक्त कर्मोंका आचरण वैसे ही आवश्यक है, जैसे एक स्थानसे दूसरे स्थानको जानेके लिये घोड़ेकी सवारी आवश्यक होती है। घोड़ेके साथ जीन और लगाम आदिकी भी जरूरत होती है। इसी प्रकार परम ज्ञानकी प्राप्तिमें केवल वेदानुवचनसे ही काम नहीं चलता, बल्कि वेदोक्त कर्म करनेकी भी आवश्यकता पड़ती है। (श्रीरामानुजाचार्यकृत 'श्रीभाष्य')

विहितत्वाच्च आश्रमकर्मापि। (३।४।३२)

सहकारित्वेन च। (३।४।३३)

—इन सूत्रोंमें यह स्पष्ट कहा गया है कि आश्रमधर्मोंका पालन भी ब्रह्मविद्यामें साधक होता है और आहारादिके विषयमें भी शास्त्रविधिसे युक्त आचरण सहकारी होता है। काम-क्रोधादि विकार ईश्वरध्यानमें बाधक होते हैं। वेदोक्त वर्णाश्रमधर्म काम-क्रोधादिको जीतनेकी सामर्थ्य देता है। यह सच है कि वर्णाश्रमधर्मके आचरणके बिना जप, तप, उपवास और दानसे भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। छान्दोग्योपनिषद्के रैक्व, बृहदारण्यककी वाचक्नवी, महाभारतके भीष्म किसी आश्रममें नहीं थे अर्थात् उन्होंने वर्णाश्रमधर्मसे विहित कर्मोंका विधियुक्त आचरण नहीं किया, तथापि वे ब्रह्मविद्या-लाभ कर ब्रह्मज्ञानी हुए। मनुसंहिताका यह वचन है—

जप्येनापि च संसिद्ध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥

(२।८७)

सारांश यह कि 'जपसे भी ब्राह्मणको संसिद्धि प्राप्त होती है, चाहे वह कोई अन्य कर्म करे या न करे।' वेदव्यासने इन वचनका '**अपि च स्मर्यते**' (३।४।३७) इस सूत्रमें प्रामाण्य दरसाया है। तथापि जप-तप-दानादिकी अपेक्षा वर्णाश्रमधर्म ही ब्रह्मप्राप्तिमें अधिक फलप्रद है—

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च। (ब्रह्मसूत्र ३।४।३९)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि परम ज्ञानकी प्राप्तिके साधनमें बाह्य आचरणके नियमनकी भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि आन्तर अभ्यासकी।

न्यासका प्रयोग और उसकी महिमा

न्यासका अर्थ है स्थापन। बाहर और भीतरके प्रत्येक अङ्गमें इष्टदेवता और मन्त्रका स्थापन ही न्यास है। इस स्थूलशरीरमें अपवित्रताका ही साम्राज्य है, इसलिये इसे देवपूजाका तबतक अधिकार नहीं जबतक यह शुद्ध एवं दिव्य न हो जाय। जबतक इसकी अपवित्रता बनी रहती है, तबतक इसके स्पर्श और स्मरणसे चित्तमें ग्लानिका उदय होता रहता है। ग्लानियुक्त चित्त प्रसाद और भावोद्रेकसे शून्य होता है, विक्षेप और अवसादसे आक्रान्त होनेके कारण बार-बार प्रमाद और तन्द्रासे अभिभूत हुआ करता है। यही कारण है कि न तो वह एकतार स्मरण ही कर सकता है और न विधि-विधानके साथ किसी कर्मका साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान ही। इस दोषको मिटानेके लिये न्यास सर्वश्रेष्ठ उपाय है। शरीरके प्रत्येक अवयवमें जो क्रियाशक्ति सुषुप्त हो रही है, हृदयके अन्तरालमें जो भावनाशक्ति मूर्च्छित है, उनको जगानेके लिये न्यास अव्यर्थ महौषधि है।

न्यास कई प्रकारके होते हैं। मातृकान्यास, स्वर और वर्णोंका होता है। मन्त्रन्यास पूरे मन्त्रका, मन्त्रके पदोंका, मन्त्रके एक-एक अक्षरका और एक साथ ही सब प्रकारका होता है। देवतान्यास शरीरके बाह्य और आभ्यन्तर अङ्गोंमें अपने इष्टदेव अथवा अन्य देवताओंके यथास्थान न्यासको कहते हैं। तत्त्वन्यास वह है, जिसमें संसारके कार्य-कारणके रूपमें परिणत और इनसे परे रहनेवाले तत्त्वोंका शरीरमें यथास्थान न्यास किया जाता है। यही पीठन्यास भी है। जो हाथोंकी सब अङ्गुलियोंमें तथा करतल और करपृष्ठमें किया जाता है, वह करन्यास है। जो त्रिनेत्र देवताओंके प्रसङ्गमें षडङ्ग और अन्य देवताओंके प्रसङ्गमें पञ्चाङ्ग होता है, उसे अङ्ग-न्यास कहते हैं। जो किसी भी अङ्गका स्पर्श किये बिना सर्वाङ्गमें मन्त्रन्यास किया जाता है, वह व्यापकन्यास कहलाता है। ऋष्यादिन्यासके छः अङ्ग होते हैं—सिरमें ऋषि, मुखमें छन्द, हृदयमें देवता, गुह्यस्थानमें बीज, पैरोंमें शक्ति और सर्वाङ्गमें कीलक। और भी बहुत-से न्यास हैं, जिनका वर्णन प्रसङ्गानुसार किया जा सकता है।

न्यास चार प्रकारसे किये जाते हैं। मनसे उन-उन स्थानोंमें देवता, मन्त्रवर्ण, तत्त्व आदिकी स्थितिकी भावना की जाती है। अन्तर्न्यास केवल मनसे ही होता है बहिर्न्यास केवल मनसे भी होता है और उन-उन स्थानोंके स्पर्शसे भी। स्पर्श दो प्रकारसे किया जाता है, किसी पुष्पसे अथवा अङ्गुलियोंसे। अङ्गुलियोंका प्रयोग दो प्रकारसे होता है। एक तो अङ्गुष्ठ और अनामिकाको मिलाकर सब अङ्गोंका स्पर्श किया जाता है और दूसरा भिन्न-भिन्न अङ्गोंके स्पर्शके लिये भिन्न-भिन्न अङ्गुलियोंका

प्रयोग किया जाता है। विभिन्न अङ्गुलियोंके द्वारा न्यास करनेका क्रम इस प्रकार है—मध्यमा, अनामिका और तर्जनीसे हृदय, मध्यमा और तर्जनीसे सिर, अङ्गूठेसे शिखा, दसों अङ्गुलियोंसे कवच, तर्जनी, मध्यमा और अनामिकासे नेत्र, तर्जनी और मध्यमासे करतल-करपृष्ठमें न्यास करना चाहिये। यदि देवता त्रिनेत्र हो तो तर्जनी, मध्यमा और अनामिकासे, द्विनेत्र हो तो मध्यमा और तर्जनीसे नेत्रमें न्यास करना चाहिये। पञ्चाङ्गन्यास नेत्रको छोड़कर होता है। वैष्णवोंके लिये इसका क्रम भिन्न प्रकारका है। ऐसा कहा गया है कि अङ्गूठेको छोड़कर सीधी अङ्गुलियोंसे हृदय और मस्तकमें न्यास करना चाहिये। अङ्गूठेको अंदर करके मुट्ठी बाँधकर शिखाका स्पर्श करना चाहिये। सब अङ्गुलियोंसे कवच, तर्जनी और मध्यमासे नेत्र, नाराचमुद्रासे दोनों हाथोंको ऊपर उठाकर अङ्गूठे और तर्जनीके द्वारा मस्तकके चारों ओर करतलध्वनि करनी चाहिये। कहीं-कहीं अङ्गन्यासका मन्त्र नहीं मिलता, ऐसे स्थानमें देवताके नामके पहले अक्षरसे अङ्गन्यास करना चाहिये।

शास्त्रमें यह बात बहुत जोर देकर कही गयी है कि केवल न्यासके द्वारा ही देवत्वकी प्राप्ति और मन्त्रसिद्धि हो जाती है। हमारे भीतर-बाहर अङ्ग-प्रत्यङ्गमें देवताओंका निवास है, हमारा अन्तस्तल और बाह्य शरीर दिव्य हो गया है—इस भावनासे ही अदम्य उत्साह, अद्भुत स्फूर्त्ति और नवीन चेतनाका जागरण अनुभव होने लगता है। जब न्यास सिद्ध हो जाता है, तब तो भगवान्‌से एकत्व स्वयंसिद्ध ही है। न्यासका कवच पहन लेनेपर कोई भी आध्यात्मिक अथवा आधिदैविक विघ्न पास नहीं आ सकते; जब कि बिना न्यासके जप, ध्यान आदि करनेपर अनेकों प्रकारके विघ्न उपस्थित हुआ करते हैं। प्रत्येक मन्त्रके, प्रत्येक पदके और प्रत्येक अक्षरके अलग-अलग ऋषि, देवता, छन्द, बीज, शक्ति और कीलक होते हैं। मन्त्रसिद्धिके लिये इनके ज्ञान, प्रसाद और सहायताकी अपेक्षा होती है। जिस ऋषिने भगवान् शङ्करसे मन्त्र प्राप्त करके पहले-पहल उस मन्त्रकी साधना की थी, वह उसका ऋषि है। वह गुरुस्थानीय होनेके कारण मस्तकमें स्थान पाने योग्य है। मन्त्रके स्वर-वर्णोंकी विशिष्ट गति, जिसके द्वारा मन्त्रार्थ और मन्त्रतत्त्व आच्छादित रहते हैं और जिसका उच्चारण मुखके द्वारा होता है, छन्द है और वह मुखमें ही स्थान पानेका अधिकारी है। मन्त्रका देवता, जो अपने हृदयका धन है, जीवनका सञ्चालक है, समस्त भावोंका प्रेरक है, हृदयका अधिकारी है; हृदयमें ही उसके न्यासका स्थान है। इस प्रकार जितने भी न्यास हैं, सबका एक विज्ञान है और यदि ये न्यास किये जायँ तो शरीर और अन्तःकरणको दिव्य बनाकर स्वयं ही अपनी महिमाका अनुभव करा देते हैं। अभी थोड़े ही दिनोंकी बात है—गङ्गा और सरयूके सङ्गमके पास ही एक ब्रह्मचारी रहते थे, जिनका साधन ही था न्यास। दिनभर वे न्यास ही करते रहते थे। उनमें बहुत-सी सिद्धियाँ प्रकट हुई थीं और उन्हें बहुत बड़ा आध्यात्मिक लाभ हुआ था। यहाँ संक्षेपसे कुछ न्यासोंका विवरण दिया जाता है—

मातृकान्यास

ॐ अस्य मातृकामन्त्रस्य ब्रह्म ऋषिर्गायत्रीच्छन्दो मातृकासरस्वती देवता हलो बीजानि स्वराः शक्तयः क्लीं कीलकं मातृकान्यासे विनियोगः।

—यह विनियोग करके जल छोड़ दे और ऋष्यादिका न्यास करे। सिरमें—**ॐ ब्रह्मणे ऋषये नमः**। मुखमें—**ॐ गायत्रीच्छन्दसे नमः**। हृदयमें—**ॐ मातृकासरस्वत्यै देवतायै नमः**। गुह्यस्थानमें—**ॐ हल्भ्यो बीजेभ्यो नमः**। पैरोंमें—**ॐ स्वरेभ्यः शक्तिभ्यो नमः**। सर्वाङ्गमें—**ॐ क्लीं कीलकाय नमः**। इसके पश्चात् करन्यास करे—

ॐ अं कं खं गं घं ङं आं अङ्गुष्ठाभ्यां नमः।
ॐ इं चं छं जं झं ञं ईं तर्जनीभ्यां स्वाहा।
ॐ उं टं ठं डं ढं णं ऊं मध्यमाभ्यां वषट्।
ॐ एं तं थं दं धं नं ऐं अनामिकाभ्यां हुम्।
ॐ ओं पं फं बं भं मं औं कनिष्ठाभ्यां वौषट्।
ॐ अं यं रं लं वं शं षं सं हं लं क्षं अः करतलकर-पृष्ठाभ्याम् अस्त्राय फट्।

इसके अनन्तर इस प्रकार अङ्गन्यास करे—

ॐ अं कं खं गं घं ङं आं हृदयाय नमः।
ॐ इं चं छं जं झं ञं ईं शिरसे स्वाहा।
ॐ उं टं ठं डं ढं णं ऊं शिखायै वषट्।
ॐ एं तं थं दं धं नं ऐं कवचाय हुम्।
ॐ ओं पं फं बं भं मं औं नेत्रत्रयाय वौषट्।
ॐ अं यं रं लं वं शं षं सं हं लं क्षं अः अस्त्राय फट्।

इस अङ्गन्यासके पश्चात् अन्तर्मातृकान्यास करना चाहिये। शरीरमें छः चक्र हैं; उनमें जितने दल होते हैं,

उतने ही अक्षरोंका न्यास किया जाता है। इसकी प्रक्रिया सम्प्रदायानुसार भिन्न-भिन्न है। यहाँ वैष्णवोंकी प्रणाली लिखी जाती है।

पायु-इन्द्रिय और जननेन्द्रियके बीचमें सिवनीके पास मूलाधारचक्र है। उसका वर्ण सोनेका-सा है और उसमें चार दल हैं। उन चारों दलोंपर प्रणवके साथ इन अक्षरोंका न्यास करना चाहिये—**ॐ वं नमः, शं नमः, षं नमः, सं नमः।** जननेन्द्रियके मूलमें विद्युत्के समान षडदल स्वाधिष्ठान कमल है, उसके छः दलोंपर प्रणवके साथ इन अक्षरोंका न्यास करना चाहिये—**ॐ बं नमः, भं नमः, मं नमः, यं नमः, रं नमः, लं नमः।** नाभिके मूलमें नील मेघके समान दशदल मणिपूरकचक्र है, उसमें इन वर्णोंका न्यास करना चाहिये—**ॐ डं नमः, ढं नमः, णं नमः, तं नमः, थं नमः, दं नमः, धं नमः, नं नमः, पं नमः, फं नमः।** हृदयमें स्थित मूँगेके समान लाल द्वादशदल अनाहतचक्रमें—**ॐ कं नमः, खं नमः, गं नमः, घं नमः, ङं नमः, चं नमः, छं नमः, जं नमः, झं नमः, ञं नमः टं नमः, ठं नमः।** कण्ठमें धूम्रवर्ण षोडशदल विशुद्धचक्र है; इसमें—**ॐ अं नमः, आं नमः, इं नमः, ईं नमः, उं नमः, ऊं नमः, ऋं नमः, ॠं नमः, ऌं नमः, ॡं नमः, एं नमः, ऐं नमः, ओं नमः, औं नमः, अं नमः, अः नमः।** भ्रूमध्यस्थित चन्द्रवर्ण द्विदल आज्ञाचक्रमें—**ॐ हं नमः, क्षं नमः।** इसके पश्चात् सहस्रारपर, जो कि स्वर्णके समान कान्तिमान् और समस्त स्वर-वर्णोंसे भूषित है, त्रिकोणका ध्यान करना चाहिये। उसके प्रत्येक कोणपर ह, ल, क्ष—ये तीनों वर्ण लिखे हुए हैं। उसकी तीनों रेखाएँ क्रमशः 'अ'से, 'क'से और 'थ'से शुरू हुई हैं। इस त्रिकोणके बीचमें सृष्टि-स्थिति-लयात्मक विन्दुरूप परमात्मा विराजमान है। इस प्रकारके ध्यानको अन्तर्मातृकान्यास कहते हैं।

बहिर्मातृकान्यास

इस न्यासमें पहले मातृकासरस्वतीका ध्यान होता है, वह निम्नलिखित है—

पञ्चाशल्लिपिभिर्विभक्तमुखदोःपन्मध्यवक्षःस्थलां
भास्वन्मौलिनिबद्धचन्द्रशकलामापीनतुङ्गस्तनीम्।
मुद्रामक्षगुणं सुधाढ्यकलशं विद्याञ्च हस्ताम्बुजै-
र्बिभ्राणां विशदप्रभां त्रिनयनां वाग्देवतामाश्रये॥

'पचास स्वर-वर्णोंके द्वारा जिनके मुख, बाहु, चरण, कटि और वक्षःस्थल पृथक्-पृथक् दीख रहे हैं, सूर्यके समान चमकीले मुकुटपर चन्द्रखण्ड शोभायमान है, वक्षःस्थल बड़ा और ऊँचा है, कर-कमलोंमें मुद्रा, रुद्राक्षमाला, सुधापूर्ण कलश और पुस्तक धारण किये हुए हैं, अङ्ग-अङ्गसे दिव्य ज्योति बिखर रही है, उन त्रिनेत्रा वाग्देवता मातृकासरस्वतीकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ।' ऐसा ध्यान करके न्यास करना चाहिये। इस न्यासमें अङ्गुलियोंका नियम अनिवार्य है। इसलिये उन-उन स्थानोंके साथ ही अङ्गुलियोंकी संख्या भी लिखी जा रही है। न्यास करते समय उनका ध्यान रखना चाहिये। संख्याका सङ्केत इस प्रकार है—१-अङ्गूठा, २-तर्जनी, ३-मध्यमा, ४-अनामिका और ५-कनिष्ठा। जहाँ जितनी अङ्गुलियोंका संयोग करना चाहिये वहाँ उतनी संख्या लिख दी गयी है।

ललाटमें—**ॐ अं नमः ३,४।** मुखपर—**ॐ आं नमः २,३,४।** आँखोंमें—**इं नमः, ॐ ईं नमः १,४।** इसी प्रकार पहले **ॐ** और पीछे **नमः** जोड़कर प्रत्येक स्थानमें न्यास करना चाहिये। कानोंमें—**उं, ऊं १।** नासिकामें—**ऋं, ॠं १,५।** कपोलोंपर—**ऌं, ॡं २,३,४।** ओष्ठमें—**एं ३।** अधरमें—**ऐं ३।** ऊपरके दाँतोंमें—**ओं ४।** नीचेके दाँतोंमें—**औं ४।** ब्रह्मरन्ध्रमें—**अं ३।** मुखमें—**अः ४।** दाहिने हाथके मूलमें—**कं ३,४,५।** केहुनीमें—**खं ३,४,५।** मणिबन्धमें—**गं।** अङ्गुलियोंकी जड़में—**घं।** अङ्गुलियोंके अग्रभागमें—**ङं।** इसी प्रकार बायें हाथके मूल, केहुनी, मणिबन्ध, अङ्गुलीमूल और अङ्गुल्यग्रमें—**चं छं जं झं ञं।** दाहिने पैरके मूलमें, दोनों सन्धियोंमें, अङ्गुलियोंके मूलमें और उनके अग्रभागमें—**टं ठं डं ढं णं।** बायें पैरके उन्हीं पाँच स्थानोंमें—**तं थं दं धं नं।** दाहिने बगलमें—**पं,** वायेंमें—**फं** और पीठमें—**बं** (यहाँतक अङ्गुलियोंकी संख्या केहुनीवाली ही समझनी चाहिये)। नाभिमें—**भं १,३,४,५।** पेटमें—**मं १से ५।** हृदयमें **यं।** दाहिने कन्धेपर—**रं।** गलेके ऊपर—**लं।** बायें कन्धेपर—**वं।** हृदयसे दाहिने हाथतक—**शं।** हृदयसे बायें हाथतक—**षं।** हृदयसे दाहिने पैरतक—**सं।** हृदयसे बायें पैरतक—**हं।** हृदयसे पेटतक—**लं।** हृदयसे मुखतक—**क्षं।** हृदयसे अन्ततक हथेलीसे न्यास करना चाहिये।

संहारमातृकान्यास

बाह्यमातृकान्यास जहाँ समाप्त होता है, वहींसे संहारमातृकान्यास प्रारम्भ होता है। जैसे हृदयसे लेकर मुखतक—**ॐ क्षं नमः।** मुखसे पेटतक—**ॐ लं नमः।** इस प्रकार उलटे चलकर ललाटतक पहुँच जाना, यह संहारमातृकान्यास है। इसके पूर्व यह ध्यान किया जाता है—

अक्षस्रजं हरिणपोतमुदग्रटङ्कं
विद्यां करैरविरतं दधतीं त्रिनेत्राम्।
अर्द्धेन्दुमौलिमरुणामरविन्दरामां
वर्णेश्वरीं प्रणमत स्तनभारनम्राम्॥

'जो अपने चार करकमलोंमें सदा रुद्राक्षकी माला, हरिणशावक, पत्थर फोड़नेकी तीखी टाँकी और पुस्तक लिये रहती हैं, जिनके तीन आँखें हैं और मुकुटपर अर्द्ध चन्द्रमा हैं, शरीरका रंग लाल है, कमलपर बैठी हुई हैं, स्तनोंके भारसे झुकी हुई उन वर्णेश्वरीको नमस्कार करो।' संहारमातृका-न्यासके सम्बन्धमें कुछ लोगोंकी ऐसी सम्मति है कि यह केवल संन्यासियोंको ही करना चाहिये। बाह्यमातृकान्यासमें अक्षरोंका उच्चारण चार प्रकारसे किया जा सकता है। केवल अक्षर, विन्दुयुक्त अक्षर, सविसर्ग अक्षर और विन्दु-विसर्गयुक्त अक्षर। विशिष्ट कामनाओंके अनुरूप इनकी व्यवस्था है। इन अक्षरोंके पूर्व बीजाक्षर भी जोड़े जाते हैं। वाक्सिद्धिके लिये **ऐं,** श्रीवृद्धिके लिये **श्रीं,** सर्वसिद्धिके लिये **नमः,** वशीकरणके लिये **क्लीं** और मन्त्रप्रसादनके लिये **अः** जोड़ा जाता है। मन्त्रशास्त्रमें ऐसा कहा गया है कि मातृकान्यासके बिना मन्त्रसिद्धि अत्यन्त कठिन है।

पीठन्यास

देवताके निवासयोग्य स्थानको 'पीठ' कहते हैं। जैसे कामाख्यादि स्थानविशेष पीठके नामसे प्रसिद्ध हैं। जैसे बाह्य आसनविशेष शास्त्रीय विधिके अनुष्ठानसे पीठके रूपमें परिणत हो जाता है, वैसे ही पीठन्यासके प्रयोगसे साधकका शरीर और अन्तःकरण शुद्ध होकर देवताके निवास करने योग्य पीठ बन जाता है। वर्तमान युगमें जो दो प्रकारके पीठ प्रचलित हैं, समन्त्रक और अमन्त्रक उन दोनोंकी अपेक्षा यह पीठन्यास उत्तम है, क्योंकि इसमें बाह्य आलम्बनकी आवश्यकता नहीं है। यह साधकके शरीरमें ही मन्त्रशक्ति, भावशक्ति, प्राणशक्ति और अचिन्त्य दैवी शक्तिके सम्मिश्रणसे उत्पन्न हो जाता है। विचारदृष्टिसे देखा जाय तो पीठन्यासमें जितने तत्त्वोंका न्यास किया जाता है वे प्रत्येक शरीरमें पहलेसे ही विद्यमान हैं। स्मृति और मन्त्रके द्वारा उन्हें अव्यक्तसे व्यक्त किया जाता है, उनके सूक्ष्मरूपको स्थूलरूपमें लाया जाता है। यह सृष्टिक्रमके इतिहासके सर्वथा अनुकूल है और यह साधकको देवताका पीठ बना देनेमें समर्थ है। इसका प्रयोग निम्नलिखित प्रकारसे होता है—

प्रत्येक चतुर्थ्यन्त पदके साथ, जिनका उल्लेख आगे किया जा रहा है, पहले **ॐ** और पीछे **नमः** जोड़कर यथास्थान न्यास करना चाहिये—जैसे **ॐ आधारशक्तये नमः।** इसी प्रकार क्रमशः सबके साथ **ॐ** और **नमः** जोड़कर न्यासका विधान है।

हृदयमें—**आधारशक्तये, प्रकृत्यै, कूर्माय, अनन्ताय, पृथिव्यै, क्षीरसमुद्राय, श्वेतद्वीपाय, मणिमण्डपाय, कल्पवृक्षाय, मणिवेदिकायै, रत्नसिंहासनाय।**

दाहिने कन्धेपर—**धर्माय**

बायें कन्धेपर—**ज्ञानाय**

बायें ऊरुपर—**वैराग्याय**

दाहिने ऊरुपर—**ऐश्वर्य्याय**

मुखपर—**अधर्माय**

बायें पार्श्वमें—**अज्ञानाय**

नाभिमें—**अवैराग्याय**

दाहिने पार्श्वमें—**अनैश्वर्य्याय**

फिर हृदयमें—**अनन्ताय, पद्माय, अं सूर्यमण्डलाय द्वादशकलात्मने, उं सोममण्डलाय षोडशकलात्मने, मं वह्निमण्डलाय दशकलात्मने, सं सत्त्वाय, रं रजसे, तं तमसे, आं आत्मने, अं अन्तरात्मने, पं परमात्मने, ह्रीं ज्ञानात्मने।**

सबके साथ पहले **ॐ** और पीछे **नमः** जोड़कर न्यास कर लेनेके पश्चात् हृदय-कमलके पूर्वादि केसरोंपर इष्टदेवताकी पद्धतिके अनुसार पीठशक्तियोंका न्यास करना चाहिये। उनके बीचमें इष्टदेवताका मन्त्र, जो कि इष्टदेवस्वरूप ही है, स्थापित करना चाहिये। इस न्याससे साधकके हृदयमें ऐसा पीठ उत्पन्न हो जाता है, जो अपने देवताको आकर्षित किये बिना नहीं रहता।

इन न्यासोंके अतिरिक्त और भी बहुत-से न्यास हैं, जिनका वर्णन उन-उन मन्त्रोंके प्रसङ्गमें आता है। उनके विस्तारकी यहाँ आवश्यकता नहीं है। वैष्णवोंका एक केशवकीर्त्यादिन्यास है, उसमें भगवान्‌के केशव, नारायण, माधव आदि मूर्तियोंको उनकी शक्तियोंके साथ शरीरके विभिन्न अङ्गोंमें स्थापित करके ध्यान किया जाता है। उस न्यासके फलमें कहा जाता है कि यह न्यास प्रयोग करनेमात्रसे साधकको भगवान्‌के समान बना देता है। वास्तवमें न्यासोंमें ऐसी ही शक्ति है।

न्यासके प्रकार-भेदोंकी चर्चा न करके यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि सृष्टिके गम्भीर रहस्योंकी

दृष्टिसे न्यास भी एक अतुलनीय साधन है। वर्णोंके न्याससे वर्णमयी सृष्टिका उद्बोध होकर परमात्माके स्वरूपका ज्ञान और प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि जब यह सृष्टि नहीं थी, तब प्रथम कम्पनके रूपमें प्रणव प्रकट हुआ और उस प्रणवसे ही समस्त स्वर-वर्णोंका विस्तार हुआ। उनके आनुपूर्वी-संघटनसे वेद और वेदसे समस्त सृष्टि। इस क्रमसे विचार करनेपर ज्ञात होता है कि ये समस्त महान् और अणु, स्थूल एवं सूक्ष्म पदार्थ अन्तिम रूपमें वर्ण ही हैं। वर्णोंके न्यास और इनकी वर्णात्मकताके ध्यानसे इनका वास्तविक रूप, जो कि दिव्य है, दृष्टिगोचर हो जाता है और फिर तो सर्वत्र दिव्यता-ही-दिव्यता छा जाती है। समस्त नाम-रूपात्मक जगत्में अव्यक्तरूपसे रहनेवाली दिव्यताको व्यक्त करनेके लिये वर्णन्यास अथवा मन्त्रन्यास सर्वोत्तम साधनोंमेंसे एक है।

पीठन्यास, योगपीठन्यास अथवा तत्त्वन्यासके द्वारा भी हम उसी परिणामपर पहुँचते हैं, जो साधनाका अन्तिम लक्ष्य होना चाहिये। अधिष्ठान परब्रह्ममें आधारशक्ति, प्रकृति एवं क्रमशः सम्पूर्ण सृष्टि स्थित है। क्षीरसागरमें मणिमण्डप, कल्पवृक्ष, रत्नसिंहासन आदिकी भावना करते-करते अन्तःकरण सर्वथा अन्तर्मुख हो जाता है और इष्टदेवताका ध्यान करते-करते समाधि लग जाती है। एक ओर तो उस सृष्टिक्रमका ज्ञान होनेसे बुद्धि अधिष्ठानतत्त्वकी ओर अग्रसर होने लगती है और दूसरी ओर मन इष्टदेवको प्राप्त करके उन्हींमें लय होने लगता है। इस प्रकार परमानन्दमयी अवस्थाका विकास होकर सब कुछ भगवान् ही है और भगवान्के अतिरिक्त और कोई अन्य सत्ता नहीं है, इस सत्यका साक्षात्कार हो जाता है।

सिरमें ऋषि, मुखमें छन्द और हृदयमें इष्टदेवताका न्यास करनेके अतिरिक्त जब सर्वाङ्गमें—यों कहिये कि रोम-रोममें सशक्तिक देवताका न्यास कर लिया जाता है, तो मनको इतना अवकाश ही नहीं मिलता और इससे मधुर अन्यत्र कहीं स्थान नहीं मिलता कि वह और कहीं बाहर जाय। शरीरके रोम-रोममें देवता, अणु-अणुमें देवता और देवतामय शरीर! ऐसी स्थितिमें यह मन भी दिव्य हो जाता है। जडताके चिन्तनसे और अपनी जडतासे यह संसार मनको जडरूपमें प्रतीत होता है। इसका वास्तविक स्वरूप तो चिन्मय है ही, यह चिन्मयी लीला है। जब चिन्मयके ध्यानसे इसकी जडता निवृत्त हो जाती है, तो सब चिन्मयके रूपमें ही स्फुरित होने लगता है। जब इसकी चिन्मयताका बोध हो जाता है, तब अन्तर्देशमें रहनेवाला निगूढ़ चैतन्य भी इस चिन्मयसे एक हो जाता है और केवल चैतन्य-ही-चैतन्य अवशेष रहता है।

यहाँ न्यासके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा गया है, वह न्यासके स्वरूप और महिमाको देखते हुए बहुत ही स्वल्प है। हमारी परिस्थितिको देखते हुए विज्ञजन क्षमा करेंगे। शा०

नाम और प्रेम

नाम बिन भाव करम नहिं छूटै।
साधुसंग और राम भजन बिन काल निरंतर लूटै॥
मल सेती जो मल को धोवै, सो मल कैसे छूटै?
प्रेम का साबुन नाम का पानी दोय मिल ताँता टूटै॥
भेद अभेद भरम का भाँडा, चाड़े पड़ पड़ फूटै।
गुरमुख सब्द गहै उर अंतर, सकल भरम से छूटै॥
राम का ध्यान तू धर रे प्रानी अमृत का मेंह बूटै।
जन दरियाव अरप दे आपा जरा मरन तब टूटै॥

—दरिया साहेब

तन्त्रमें गुरु-साधना

(लेखक—डॉ० भवानीदासजी मेहरा०, बी०एस्-सी०, एल्० एस्० एम्० एफ्०)

साधनपथका श्रीगणेश गुरुसे ही होता है, अतएव साधनाके सभी मार्गोंमें गुरुका पद सर्वोच्च स्वीकार किया गया है। यों तो प्रायः सभी धर्मग्रन्थोंने गुरुकी इस सर्वोच्चता और महिमाका गान किया है, किन्तु तन्त्रमें गुरुकी सर्वोत्कृष्टताका जैसा वर्णन किया गया है, वैसा अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। तन्त्रने श्रीगुरु और इष्टदेवमें अभेदका वर्णन किया है। साधकके प्रति तन्त्रका वाक्य है—

यथा देवे तथा मन्त्रे यथा मन्त्रे तथा गुरौ।
यथा गुरौ तथा स्वात्मन्येवं भक्तिक्रमः स्मृतः॥

और भी—

यथा घटश्च कलशः कुम्भश्चैकार्थवाचकाः।
तथा मन्त्रो देवता च गुरुश्चैकार्थवाचकाः॥

(सुन्दरीतापिनी)

'तामिच्छाविग्रहां देवीं गुरुरूपां विभावयेत्।'

(नित्याहृदय)

ललितासहस्रनामके 'गुरुमण्डलरूपिणी' और 'गुरुप्रिया' (श्लोक १८९-१९०) के गुरुपदसे भास्कररायने अपने सौभाग्यभास्कर-भाष्यमें शिवका ही अर्थ ग्रहण किया है। निर्वाणतन्त्रानुसार शिव ही गुरु हैं और गुरु, परम गुरु, परमेष्ठी गुरु एवं परात्पर गुरु शिवके ही अंश हैं।

शिरःपद्मे महादेवस्तथैव परमो गुरुः।
तत्समो नास्ति देवेशि पूज्यो हि भुवनत्रये॥
तदंशं चिन्तयेद्देवि बाह्ये गुरुचतुष्टयम्।

मूलाधारादि षट्चक्रोंमें सर्वोपरि स्थान श्रीगुरुदेवका ही नियत किया गया है। अधोमुख सहस्रदल-कमल-कर्णिकान्तर्गत मृणालरूपी चित्रिणी नाडीसे भूषित गुरु-मन्त्रात्मक द्वादश वर्ण (ह स ख फ्रें ह स क्ष म ल व र यं)-रूपी द्वादशदल पद्ममें अ क थ आदि त्रिरेखा और ह ल क्ष कोणसे भूषित कामकला त्रिकोणमें नाद-विन्दुरूपी मणिपीठ अथवा हंसपीठपर शिवस्वरूप श्रीगुरुका स्थान है (पादुकापञ्चक १, २, ३)।

शिरःपद्मे शुक्ले दशशतदले केसरगते
पतत्रीणां तल्पे परमशिवरूपं निजगुरुम्।

(अन्नदाकल्प)

सहस्रदलमध्यस्थमन्तरात्मानमुत्तमम् ।
तस्योपरि नादविन्दोर्मध्ये सिंहासनोज्ज्वलम्॥
तस्मिन् निजगुरुं नित्यं रजताचलसन्निभम्।

(कङ्कालमालिनीतन्त्र)

तन्त्रवर्णित श्रीगुरुका ध्यान शिव-शक्तिका ध्यान है—

'निजशिरसि श्वेतवर्णं सहस्त्रदलकमलकर्णिकान्तर्गत-चन्द्रमण्डलोपरि स्वगुरुं शुक्लवर्णं शुक्लालङ्कारभूषितं ज्ञानानन्दमुदितमानसं सच्चिदानन्दविग्रहं चतुर्भुजं ज्ञानमुद्रापुस्तकवराभयकरं त्रिनयनं प्रसन्नवदनेक्षणं सर्वदेवदेवं वामाङ्गे वामहस्तधृतलीलाकमलया रक्तवसनाभरणया स्वप्रियया दक्षभुजेनालिङ्गितं परमशिवस्वरूपं शान्तं सुप्रसन्नं ध्यात्वा तच्चरणकमलयुगलविगलदमृतधारया स्वात्मानं प्लुतं विभाव्य मानसोपचारैराराध्य'

तन्त्रमें श्रीगुरुका सर्वोच्च पद स्वीकार किया गया है, अतएव तन्त्रमतानुयायी साधकके लिये गुरुपूजा अत्यावश्यक मानी गयी है। गुरुपूजा बिना साधककी सब साधना निष्फल होती है—

गुरुपूजां विना देवि स्वेष्टपूजां करोति यः।
मन्त्रस्य तस्य तेजांसि हरते भैरवः स्वयम्॥

(कालीविलासतन्त्र १।१३)

रुद्रयामलानुसार—

पूजाकाले च चार्वङ्गि आगच्छेच्छिष्यमन्दिरम्।
गुरुर्वा गुरुपुत्रो वा पत्नी वा वरवर्णिनि॥
तदा पूजां परित्यज्य पूजयेत्स्वगुरुं प्रिये।
देवतापूजनार्थं यद् गन्धपुष्पादिकञ्च यत्॥
तत्सर्वं गुरवे दद्यात्पूजयेन्नगनन्दिनि।
तदैव सहसा देवि देवता प्रीतिमाप्नुयात्॥

श्रीगुरुपूजाका विस्तृत वर्णन तन्त्रोंमें किया गया है। देवोपासनाके पञ्चाङ्गकी तरह गुरुपटल, गुरुपद्धति, गुरुकवच, गुरुस्तोत्र और गुरुसहस्रनाम ये अनेकों तन्त्र-ग्रन्थोंमें नाना प्रकारसे वर्णित हैं। स्कन्दपुराणान्तर्गत गुरुगीता प्रसिद्ध है। रुद्रयामलतन्त्रका गुरुपादुकास्तोत्र एक अद्भुत चमत्कारी रहस्यमय स्तोत्र है। वामकेश्वरतन्त्रमें गुरुस्तव वर्णित है। कुब्जिकातन्त्रमें छः श्लोकोंका श्रीगुरुस्तोत्र है। इसमें शिवरूपसे श्रीगुरुकी स्तुति की

गयी है। श्रीशिवोक्तपादुकापञ्चक विख्यात है। कालीचरणकी 'अमला' नामक टीकामें इसके गूढ़ रहस्यको खोला गया है।

तन्त्रवर्णित श्रीगुरुपूजामें सबसे विचित्र बात श्रीगुरुमण्डलार्चन है। गुरुमण्डलार्चन-मन्त्र कई एक तन्त्र-ग्रन्थोंमें मिलता है। यह एक अपूर्व अद्भुत रहस्यमय मन्त्र है। प्राय: किसी एक तन्त्र-ग्रन्थमें इसका विस्तृत रहस्य नहीं खोला गया है। किसी-किसी तन्त्रमें कहीं-कहीं इसका उल्लेख देखनेमें आता है। 'आम्नायसप्तविंशतिरहस्य' में इसका अधिकतर रहस्य खोला गया है। इस ग्रन्थमें आम्नायभेदसे देवसमूहका विभाग करके श्रीगुरुमण्डलके देवताओंका उल्लेख किया गया है। यह ग्रन्थ अभीतक अप्रकाशित है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति जम्मूमें श्रीरघुनाथजीके मन्दिरके पुस्तकालयमें सुरक्षित है। एक हस्तलिखित प्रति मण्डीनरेश राजा सर योगेन्द्रसेनके चित्र-भण्डारमें भी विद्यमान है। नीचे श्रीगुरुमण्डलार्चनके विचित्र मन्त्रका विस्तारपूर्वक विवरण कई एक तन्त्र-ग्रन्थोंसे संग्रह करके लिखा जाता है। इस लेखमें अधिकतर 'आम्नायसप्तविंशतिरहस्य' का आश्रय लिया गया है। जहाँ कहीं मतभेद है, वहाँ अन्य तन्त्र-ग्रन्थोंमें वर्णित भेदादि स्पष्ट कर दिये गये हैं। श्रीगुरुमण्डलार्चनके समय साधक पृथक्-पृथक् देवताका मन्त्रसहित नाम उच्चारण करके अन्तमें '**श्रीपादुका पूजयामि तर्पयामि नमः**' ऐसा उच्चारण करते हैं। इस लेखमें देवताओंके मन्त्र लेखके अधिक विस्तृत हो जानेके भयसे और उनके गुह्यतम होनेके कारणसे प्रकाशित नहीं किये जाते।

मन्त्र—**ॐ श्रीनाथादिगुरुत्रयं गणपतिं पीठत्रयं भैरवं**
सिद्धौघं वटुकत्रयं पदयुगं दूतीक्रमं मण्डलम्।
वीरानष्ट चतुष्कषष्टिनवकं वीरावलीं पञ्चकं
श्रीमन्मालिनिमन्त्रराजसहितं वन्दे गुरोर्मण्डलम्॥

१. श्री० श्रीलक्ष्मी

२. नाथादि०

आम्नायसप्तविंशतिरहस्यमें इसका अधिक उल्लेख नहीं किया गया; किन्तु विद्यार्णव-निबन्धमें जिन ओघत्रय (दिव्य, सिद्ध और मानव)-का षोडशोपासनामें वर्णन है, वे रूपान्तरसे आम्नायसप्तविंशतिरहस्यमें दिये हैं।

१. दिव्यौघ:—

१. श्रीशिवानन्दनाथ पराशक्त्यम्बा
२. श्रीसदाशिवानन्दनाथ चिच्छक्त्यम्बा
३. श्रीईश्वरानन्दनाथ आनन्दशक्त्यम्बा
४. श्रीरुद्रदेवानन्दनाथ इच्छाशक्त्यम्बा
५. श्रीविष्णुदेवानन्दनाथ ज्ञानशक्त्यम्बा
६. श्रीब्रह्मदेवानन्दनाथ क्रियाशक्त्यम्बा

२. सिद्धौघ:—

१. श्रीसनकानन्दनाथ
२. श्रीसनन्दनानन्दनाथ
३. श्रीसनातनानन्दनाथ
४. श्रीसनत्कुमारानन्दनाथ
५. श्रीशौनकानन्दनाथ,
६. श्रीसनत्सुजातानन्दनाथ
७. श्रीदत्तात्रेयानन्दनाथ
८. श्रीरैवतानन्दनाथ
९. श्रीवामदेवानन्दनाथ
१०. श्रीव्यासानन्दनाथ
११. श्रीशुकानन्दनाथ

३. मानवौघ:—

१. श्रीनृसिंहानन्दनाथ
२. श्रीमहेशानन्दनाथ
३. श्रीभास्करानन्दनाथ
४. श्रीमहेन्द्रानन्दनाथ
५. श्रीमाधवानन्दनाथ
६. श्रीविष्णुदेवानन्दनाथ

कादिविद्योपासकानामोघत्रयम्—

दक्षिणामूर्तिसम्प्रदायानुसारत:—

१. दिव्यौघ::—

१. परप्रकाशानन्दनाथ
२. परशिवानन्दनाथ
३. पराशक्त्यम्बानन्दनाथ
४. कौलेश्वरानन्दनाथ
५. शुक्लदेव्यम्बानन्दनाथ
६. कुलेश्वरानन्दनाथ
७. कामेश्वर्यम्बानन्दनाथ

२. सिद्धौघ:—

१. भोगानन्दनाथ
२. क्लिन्नानन्दनाथ
३. समयानन्दनाथ
४. सहजानन्दनाथ

३. मानवौघ:—

१. गगनानन्दनाथ
२. विश्वानन्दनाथ
३. विमलानन्दनाथ
४. मदनानन्दनाथ
५. भुवनानन्दनाथ
६. लीलानन्दनाथ
७. स्वात्मानन्दनाथ
८. प्रियानन्दनाथ

ज्ञानार्णव-तन्त्रके मतसे षोडशी-उपासनामें भी ओघत्रयकी यही परम्परा है।

हादिविद्योपासकानां परम्परा—

१. दिव्यौघः—

१. परमशिवानन्दनाथ
२. कामेश्वर्यम्बानन्दनाथ
३. दिव्यौघानन्दनाथ
४. महौघानन्दनाथ
५. सर्वानन्दनाथ
६. प्रज्ञादेव्यम्बानाथ
७. प्रकाशानन्दनाथ

२. सिद्धौघः—

१. दिव्यानन्दनाथ
२. चिदानन्दनाथ
३. कैवल्यानन्दनाथ
४. अनुदेव्यम्बानन्दनाथ
५. महोदयानन्दनाथ
६. सिद्धानन्दनाथ

३. मानवौघः—

१. चिदानन्दनाथ
२. विश्वानन्दनाथ (विश्वशक्त्यानन्दनाथ)
३. रामानन्दनाथ
४. कमलानन्दनाथ
५. परानन्दनाथ
६. मनोहरानन्दनाथ
७. स्वात्मानन्दनाथ
८. प्रतिभानन्दनाथ

षोडश्युपासकानां परम्परा—विद्यार्णवनिबन्धे

१. दिव्यौघः—

१. व्योमातीताम्बा
२. व्योमेश्यम्बा
३. व्योमाकाम्बा
४. व्योमचारिण्यम्बा
५. व्योमस्थाम्बा

२. सिद्धौघः—

१. उन्मनाकाशानन्दनाथ
२. समनाकाशानन्दनाथ
३. व्यापकाकाशानन्दनाथ
४. शक्त्याकाशानन्दनाथ
५. ध्वन्याकाशानन्दनाथ
६. ध्वनिमात्राकाशानन्दनाथ
७. अनाहताकाशानन्दनाथ
८. विन्द्वाकाशानन्दनाथ
९. इन्द्वाकाशानन्दनाथ

३. मानवौघः—

१. परमात्मानन्दनाथ
२. शाम्भवानन्दनाथ
३. चिन्मुद्रानन्दनाथ
४. वाग्भवानन्दनाथ
५. लीलानन्दनाथ
६. सम्भ्रमानन्दनाथ
७. चिदानन्दनाथ
८. प्रसन्नानन्दनाथ
९. विश्वानन्दनाथ

मन्वादिविद्यानां परम्परा—

१. दिव्यौघः—

१. परप्रकाशानन्दनाथ
२. परविमर्शानन्दनाथ
३. कामेश्वर्यम्बानन्दनाथ
४. मोक्षानन्दनाथ
५. अमृतानन्दनाथ
६. सिद्धानन्दनाथ
७. पुरुषानन्दनाथ
८. अघोरानन्दनाथ

२. सिद्धौघः—

१. प्रकाशानन्दनाथ
२. सदानन्दनाथ
३. सिद्धौघानन्दनाथ
४. उत्तमानन्दनाथ

३. मानवौघः—

१. उत्तरानन्दनाथ
२. परमानन्दनाथ
३. सर्वज्ञानन्दनाथ
४. सर्वानन्दनाथ
५. सिद्धानन्दनाथ
६. गोविन्दानन्दनाथ
७. शङ्करानन्दनाथ

परोपासकानामोघत्रयम्

(परशुरामकल्पसूत्र, अष्टम खण्ड, पराक्रम-सूत्र २६)

१. दिव्यौघः—

१. परा भट्टारिका
२. अघोर
३. श्रीकण्ठ

२. सिद्धौघः—

१. शक्तिधर
२. क्रोध
३. त्र्यम्बक

३. मानवौघः—

१. आनन्द
२. प्रतिभादेव्यम्बा
३. वीर
४. संविदानन्द
५. मधुरादेव्यम्बा
६. ज्ञान
७. श्रीराम
८. योग

३. गुरुत्रयम्—

१. श्रीमदुमाम्बासहित श्रीविश्वनाथानन्दनाथ श्रीगुरु।
२. श्रीमदन्नपूर्णाम्बासहित श्रीविश्वेश्वरानन्दनाथ श्रीपरमगुरु।
३. श्रीमत्पराम्बासहित श्रीपरात्मानन्दनाथ श्रीपरमेष्ठि गुरु।

४. गणपतिः—

श्रीमहागणपति

५. पीठत्रयम्—

१. श्रीकामगिरिपीठ ब्रह्मात्मकशक्त्यम्बा
२. श्रीपूर्णगिरिपीठ विष्णवात्मकशक्त्यम्बा
३. श्रीजालन्धरपीठ रुद्रात्मकशक्त्यम्बा

६. भैरवः—

१. श्रीमन्थान भैरव
२. श्रीषट्चक्र भैरव
३. श्रीफट्कार भैरव
४. ऐकात्मक भैरव (एकान्त, आम्नाय)
५. श्रीरविभक्ष्य भैरव (रविभैरव आम्नाय)
६. श्रीचण्ड भैरव
७. श्रीनभोनिर्मल भैरव
८. श्रीभ्रमरभास्कर भैरव

७. सिद्धौघः—

१. श्रीमहादर्मनाम्बा सिद्ध
२. श्रीसुन्दर्यम्बा सिद्ध
३. श्रीकरालिकाम्बा सिद्ध (विश्वोदर्यम्बा सिद्ध आम्नाय)
४. श्रीत्रिबाणाम्बा सिद्ध (शचीबीजाम्बा सिद्ध आम्नाय)
५. श्रीभीमाम्बा सिद्ध
६. श्रीकराल्यम्बा सिद्ध
७. श्रीखराननाम्बा सिद्ध
८. श्रीविधिशालीनाम्बा सिद्ध (विशालाक्ष्यम्बा आम्नाय)

८. वटुकत्रयम्—

१. श्रीस्कन्द वटुक
२. श्रीचित्र वटुक
३. श्रीविरञ्चि वटुक

९. पदयुगम्—

१. श्रीप्रकाशचरणम्
२. श्रीविमर्शचरणम्

१०. दूतीक्रमः—

१. श्रीयोन्यम्बा दूती
२. श्रीयोनि सिद्धनाथाम्बा दूती
३. श्रीमहायोन्यम्बा दूती
४. श्रीमहायोनि सिद्धनाथाम्बा दूती
५. श्रीदिव्ययोन्यम्बा दूती
६. श्रीदिव्ययोनि सिद्धनाथाम्बा दूती
७. श्रीशङ्खयोन्यम्बा दूती
८. श्रीशङ्खयोनिसिद्धनाथाम्बा दूती
९. श्रीपद्मयोन्यम्बा दूती
१०. श्रीपद्मयोनि सिद्धनाथाम्बा दूती

आम्नायसप्तविंशतिरहस्यमें केवल आठ दूतियाँ वर्णित हैं, प्रथम और द्वितीय नहीं।

११ मण्डलम्—

१. सोममण्डल
२. सूर्यमण्डल
३. अग्निमण्डल

१२. वीरा अष्ट— *

१. श्रीसृष्टिवीरभैरव
२. श्रीस्थितिवीरभैरव
३. श्रीसंहारवीरभैरव
४. श्रीरक्तवीरभैरव
५. श्रीयमवीरभैरव
६. श्रीमृत्युवीरभैरव
७. श्रीभद्रवीरभैरव
८. श्रीपरमार्कवीरभैरव
९. श्रीमार्तण्डवीरभैरव
१०. श्रीकालाग्निरुद्रवीरभैरव

१३. चतुष्कषष्टिः—

श्रीमङ्गलानाथ, चण्डिका, कन्तुका, पटह्य, कूर्म, धनदा, गन्ध, गगन, मतङ्ग, चम्पका, कैवर्त, मातङ्गगम, सूर्यभक्ष्य, नभोभक्ष्य, स्तौतिका, रूपिका, दंष्ट्रापूज्य, धूम्राक्ष, ज्वाला, गान्धार, गगनेश्वर, माया, महामाया, नित्या, शान्ता, विश्वा, कामिनी, उमा, श्रिया, सुभगा, सर्वगा, लक्ष्मी, विद्या, मीना, अमृता, चन्द्र, अन्तरिक्ष, सिद्धा, श्रद्धा, अनन्ता, शम्बरा, उल्क, त्रैलोक्या, भीमा, राक्षसी, मलिना, प्रचण्डा, अनङ्गविधि, रवि, अनभिमता, नन्दिनी, अभिमता, सुन्दरी, विश्वेशा, काल, महाकाल, अभया, विकार, महाविकार, सर्वगा, सकला, पूतना, शार्वरी, व्योमा। ६४

१४. नवकम्—

१. सर्वसंक्षोभिणी
२. सर्वविद्राविणी
३. सर्वाकर्षिणी
४. सर्ववशङ्करी
५. सर्वोन्मादिनी
६. सर्वमहाङ्कुशे
७. सर्वखेचरी
८. सर्वबीजेश्वरी
९. सर्वयोनि

आम्नायसप्तविंशतिरहस्यके अनुसार—

१. तुरीयाम्बा
२. महार्धाम्बा
३. अश्वारूढाम्बा
४. मिश्राम्बा
५. वाग्वादिन्यम्बा
६. महाकाल्यम्बा
७. ताराम्बा
८. (१. वनदुर्गाम्बा, २. जयदुर्गाम्बा ३. महिषमर्दिनी दुर्गाम्बा)
९. मुद्रानवकाम्बा

१५ वीरावली—

१. श्रीब्रह्मवीरावली
२. श्रीविष्णुवीरावली
३. श्रीरुद्रवीरावली
४. श्रीईश्वरवीरावली
५. श्रीसदाशिववीरावली

* (मन्त्रमें 'वीर' की गणना ८ है किन्तु ग्रन्थोंमें १० दिये हैं।)

१६. पञ्चकम्—

१. पञ्च लक्ष्म्य:—

१. श्रीमहालक्ष्मीश्वरीवृन्दमण्डितासनसंस्थिता सर्व-सौभाग्यजननी श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी श्रीविद्यालक्ष्म्यम्बा

२. श्रीमहा..
श्रीएकाक्षरलक्ष्मीलक्ष्म्यम्बा

३. श्रीमहा..
श्रीमहालक्ष्मीलक्ष्म्यम्बा

४. श्रीमहा..
श्रीत्रिशक्तिलक्ष्मीलक्ष्म्यम्बा

५. श्रीमहा..
श्रीसर्वसाम्राज्यलक्ष्मीलक्ष्म्यम्बा

२. पञ्चकोश—

१. श्रीमहाकोशेश्वरीवृन्दमण्डितासनसंस्थिता सर्वसौभाग्य-जननी श्रीविद्याकोशाम्बा

२. श्रीमहा..
श्रीपरज्योति:कोशाम्बा

३. श्रीमहा..
श्रीपरनिष्कलशाम्भवीकोशाम्बा

४. श्रीमहा..
श्रीअजपाकोशाम्बा

५. श्रीमहा..
श्रीमातृकाकोशाम्बा

३. पञ्च कल्पलता—

१. श्रीमहाकल्पलतेश्वरीवृन्दमण्डितासनसंस्थिता सर्व-सौभाग्यजननी श्रीविद्याकल्पलताम्बा

२. श्रीमहा..
श्रीत्वरिता कल्पलताम्बा

३. श्रीमहा..
श्रीपारिजातेश्वरी कल्पलताम्बा

४. श्रीमहा..
श्रीत्रिपुटा कल्पलताम्बा

५. श्रीमहा..
श्रीपञ्चबाणेश्वरी कल्पलताम्बा

४. पञ्च कामदुघा—

१. श्रीमहाकामदुघेश्वरीवृन्दमण्डितासनसंस्थिता सर्व-सौभाग्यजननी श्रीविद्या कामदुघाम्बा

२. श्रीमहा..
श्रीअमृतपीठेश्वरी कामदुघाम्बा

३. श्रीमहा..
श्रीसुधासू: कामदुघाम्बा

४. श्रीमहा..
श्रीअमृतेश्वरी कामदुघाम्बा

५. श्रीमहा..
श्रीअन्नपूर्णा कामदुघाम्बा

५. पञ्च रत्नविद्या—

१. श्रीमहारत्नेश्वरीवृन्दमण्डितासनसंस्थिता सर्वसौभाग्य-जननी श्रीविद्यारत्नाम्बा

२. श्रीमहा..
श्रीसिद्धलक्ष्मीरत्नाम्बा

३. श्रीमहा..
श्रीमातङ्गेश्वरीरत्नाम्बा

४. श्रीमहा..
श्रीभुवनेश्वरीरत्नाम्बा

५. श्रीमहा..
श्रीवाराहीरत्नाम्बा

इति पञ्चपञ्चिका

१७. श्रीमन्मालिनी—

ॐ अं आं..क्षं

१८. मन्त्रराज—

श्रीनृसिंहमन्त्र

उपर्युक्त विवरणसे तान्त्रिक उपासनाकी गम्भीरता स्पष्ट होती है। तन्त्रवर्णित श्रीगुरु आजकलके नाना आडम्बर-भूषित गुरुसे सर्वथा भिन्न हैं। तन्त्रानुसार श्रीगुरु इष्टदेवके ही रूप हैं। और जिस प्रकार तन्त्रमतानुयायी साधक गुरु-साधना करते हैं उससे न केवल मन्त्रदाता गुरुकी पूजा होती है, किन्तु स्वेष्टदेवाभिन्न शिव-शक्तिसामरस्यस्वरूप नादबिन्दुकलातीत परमानन्द तत्त्वकी पूजा होती है और यही तन्त्रवर्णित श्रीगुरु और श्रीगुरुसाधनाकी अद्भुत सर्वोत्कृष्टता है।

श्रीआदिनाथचरणारविन्दार्पणमस्तु

दिव्य चक्षुका उन्मीलन

(लेखक—श्रीचित्रगुप्तस्वरूपजी)

प्रत्येक जीवात्माके सिरमें तीन नेत्र होते हैं। एक नेत्र बंद रहता हे और दो खुले होते हैं। यानी एक नेत्र गुप्त होता है और दो प्रकट होते हैं। उस गुप्त या प्रधान नेत्रको पण्डितलोग दिव्य चक्षु कहते हैं। उस असली आँखको योगीलोग शिवनेत्र कहते हैं और उस नूरेनज़रको साधक लोग तीसरा नेत्र कहते हैं।

सर्वसाधारणका जो यह विश्वास है कि शिवनेत्र केवल शङ्करजीके शरीरमें है, वह भ्रमपूर्ण है। योगविद्या घोषित करती है कि तीसरा तिल सबमें विद्यमान है और जो भी चाहे, भगवान् शङ्करकी तरह, अपने दिव्य चक्षुका उन्मीलन कर सकता है—फिर चाहे उससे आग निकाली जाय या पानी; क्योंकि वहाँ पञ्चतत्त्वका एक केन्द्र रहता है।

शिवनेत्रमें ब्रह्मका, दाहिने नेत्रमें कालका और बायें नेत्रमें शक्तिका निवास है। इन तीनों अंशोंकी संयुक्तावस्था ही परमेश्वरका रूप है। विराट्में जो आत्ममण्डलकी त्रिपुटी है, ये तीनों नयन उसीकी छाया हैं। शिवनेत्रका सम्बन्ध ब्रह्ममण्डलसे, दाहिनेका सूर्यमण्डलसे और बायेंका सम्बन्ध चन्द्रमण्डलसे है। शिवनेत्रसे विचार उत्पन्न होता है, दाहिने नेत्रसे इच्छा पैदा होती है और बायेंसे क्रिया उत्पन्न होती है।

दिव्य चक्षुका प्रमाण

प्रत्येक घटमें दिव्य चक्षुके होनेका एक प्रत्यक्ष प्रमाण भी है। जब आप सो जाते हैं, तब ये बाहरी दोनों नेत्र बंद हो जाते हैं। फिर आप जो सपना देखते हैं, वह उसी भीतरी नेत्रके प्रकाशसे देखते हैं। दिव्य चक्षुका प्रकाश बाहरी दुनियामें तबतक नहीं हो सकता, जबतक उसका बाकायदा उन्मीलन न किया जाय। परन्तु दिव्य चक्षुका प्रकाश भीतरी दुनियामें—(सूक्ष्म जगत्, कारण जगत् और आत्मजगत्में) स्वयं भरपूर रहता है। इसी कारण स्वप्नमें जो कुछ होता है, वह दिखायी पड़ता है। सपनेको मन नहीं देखता; क्योंकि मनमें देखनेकी शक्ति नहीं होती। अगर मन ही देखता तो अपने मनका आकार क्यों दीखता? सपनेमें अपना मन आकार धारण कर लेता है और सपना देखनेवालेकी सूरत धारण कर लेता है। अगर मन ही देखता होता तो आप अपने मनका धारण किया हुआ साकार कैसे देख सकते थे? सपनेमें आपसहित सभी बातें दिखायी दिया करती हैं। शिवनेत्रका प्रकाश ही आपके मनका आकार आपको दिखलाता है। अतः सपनोंका दीखना मनकी शक्तिके अन्तर्गत नहीं—दिव्य चक्षुकी शक्तिके अन्तर्गत है। सिनेमाके परदेपर जो खेल होता है, वह फिल्मरूपी मनकी लीला जरूर है; मगर उस लीलाको प्रकाशित करनेका श्रेय उस रोशनीको है, जो ऊपरसे आकर उस परदेपर पड़ रही है। बिजलीरूप दिव्य चक्षु ही परदेपर प्रकाश डालता है। तभी सब खेल दिखलायी पड़ते हैं।

उन्मीलनका विधान

पद्मासनसे बैठो। नेत्रोंको बन्द करो। जीभको तालूकी ओर चढ़ा लो। अपने ध्यानको दोनों भृकुटिके मेलके स्थानसे—यानी नाककी जड़से—दो अंगुल ऊपर जमाओ। यह ध्यान सिरके बाहरी भागपर न होना चाहिये—भीतरी भागपर होना चाहिये। ध्यानके समय ‘शिव’ मन्त्रका जाप मनसे करना चाहिये।

फल

जिनका दिव्य चक्षु खुल गया है, उनको ज्ञान और शक्तिसे काम लेनेका अधिकार प्राप्त हो जाता है। उनको सब स्थानोंकी घटनाएँ दिखलायी पड़ने लगती हैं। उनका मन धीरे-धीरे स्वयं एकाग्र हो जाता है। अपने और परायेके भविष्यका हाल मालूम हो सकता है। अपना जीवन बढ़ाया जा सकता है। देवदर्शन प्राप्त होता और स्वास्थ्य बढ़िया रहता है।

मन ही साधन है

(लेखक—श्री 'चक्रपाणि')

साधनकी अपेक्षा साधकको होती है, साधककी अपेक्षा साध्यको होती है। अर्थात् पहले साध्य, पीछे साधक और तब साधन। साध्य कोई वस्तु साधकके पहलेसे है, साधक उसीकी इच्छा करता है और उसका यह इच्छा करना ही साधन बनता है। इष्ट (जिसकी हम इच्छा करते हैं) साध्य है, इच्छा साधन है और साधक इन दोनोंका संयोजक है। यह साधक कौन है, जो साध्यकी इच्छा करता है?

यह मन है, जिसकी इच्छा ही उसकी गति है। हम जो चाहते हैं, वही तो करते हैं और वही तो होता है। संसारमें क्या हो रहा है? युद्ध। युद्ध ही सही। पर क्या यह हमारी इच्छाओंका ही संघर्ष नहीं है? जगत्में जितने जीव हैं, सब किसी-न-किसी वस्तुको पानेकी इच्छा करते हैं और ये इच्छाएँ एक दूसरीसे टकराती हैं—यही संघर्ष है, यही युद्ध है। संसारमें युद्ध न हो, यह भी एक इच्छा है और वह कभी युद्धकी इच्छाको दबाती और कभी स्वयं उससे दबती है। इसलिये संसारमें शान्ति और युद्ध दोनों ही बने रहते हैं। यदि कहीं ऐसा हो जाय कि कोई जीव कोई इच्छा ही न करे तो युद्ध असम्भव है। पर क्या कभी ऐसा हो सकता है? हम अपनी ही बातको देखें तो यह कहना पड़ेगा कि एक क्षण भी हमारा ऐसा नहीं बीतता, जब हम किसी इच्छाके वशमें न हों। प्रत्येक क्षण हम अपनी इच्छाके पीछे चल रहे हैं। ये इच्छाएँ (हमारी अपनी ही) कभी-कभी इतनी परस्परविरोधिनी होती हैं कि इच्छाके उदयकालमें तो हमें उनके परस्परविरोधी फलोंका अनुमान नहीं होता, पर फलोदयकालमें ये फल इतने परस्परविरुद्ध होते हैं कि हम घबरा जाते हैं कि यह क्या हो रहा है। ऐसा मालूम होता है कि हमने ऐसी विकट संघर्षमय परिस्थितिकी तो कभी इच्छा नहीं की थी, ईश्वरने यह क्या कर दिया! हमने अपनी परस्पर-विरोधिनी इच्छाओंका कोई खाता नहीं रखा है, इसलिये हम हिसाब फैलाकर यह नहीं देख सकते कि यहाँ हमारे जिम्मे क्या देना-पावना है। पर इतना तो स्पष्ट है कि इच्छा ही हमारी पूँजी है और उसीसे उसका ब्याज बढ़ता जा रहा है और ब्याजसे पूँजी भी बढ़ती जा रही है। यह एक प्रकारका साधन ही तो है; क्योंकि हम जब इच्छा करते हैं, तब किसी साध्यको पानेकी ही इच्छा करते हैं और जो इच्छा करते हैं वही करते हैं, वही होता है। इस साधनको शिष्ट लोग साधन नहीं कहते; क्योंकि यह शिष्टोंके विचारसे मनुष्योचित साध्यका साधक नहीं, बल्कि बाधक है—बन्धन है। 'साधन' शब्दका भी प्रयोग करना हो तो हम कह सकते हैं कि यह बन्धनका साधन है, मुक्तिका नहीं। पर मुक्ति साध्य हो या बन्धन, साधकका साधन है मन ही—इसमें कोई सन्देह नहीं। कहा भी है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

अच्छा तो अब यह विचारें कि मनुष्योचित सामान्य साध्य क्या है? 'सामान्य' शब्दका प्रयोग हम इसलिये करते हैं कि जितने मनुष्य हैं, उन सबकी मति भिन्न-भिन्न है और उसके अनुसार साध्य भी सबके भिन्न-भिन्न अर्थात् विशेष-विशेष हो सकते हैं। सब मनुष्योंका मनुष्यके नाते एक सामान्य साध्य है, उसीको हम मनुष्योचित सामान्य साध्य कहते हैं। यह सामान्य साध्य सब मनुष्योंका है और प्रत्येक मनुष्यका भी, इसीलिये इसे सामान्य साध्य कहते हैं। कोई मनुष्य इस सामान्य साध्यके बिना मनुष्य नहीं रह सकता; क्योंकि मनुष्यका जो सामान्य लक्षण है, वह उसमें नहीं है। यह साध्य क्या है? साध्य सदा ही इतना ऊँचा होता है कि वहाँतक हमारे हाथ नहीं पहुँचते और पहुँचानेकी हमें इच्छा होती है। अर्थात् वह अवस्था मनुष्यकी सामान्य अवस्थासे ऊँची होती है। इस अवस्थाको हमलोग अमानव, अलौकिक अथवा दिव्य कहते हैं। मनुष्यके नीचेकी योनियोंमें एक ऐसी सोपानपरम्परा देख पड़ती है, जिसमें प्रत्येक सोपानके जीव अपनेसे ऊपरके सोपानके जीवोंको देखते हैं और सम्भव है उन्हींकी अवस्थाको साध्य मानकर अपना जीवन उसीकी प्राप्तिमें लगा देते हैं और इस क्रमसे अन्तमें मनुष्ययोनिको प्राप्त होते हैं। पर मनुष्ययोनिमें आकर इसके ऊपरकी योनि उतनी स्पष्ट नहीं देख पड़ती जितनी कि पशु-पक्षियोंको मनुष्ययोनि देख पड़ती है। मनुष्यका अनित्य, दुःखमय लौकिक जीवन ही उसे नित्य सुखमय दिव्य योनिकी सत्ताका भान कराता है। उस सत्ताको पाना ही मनुष्यका साध्य है, मनुष्य ही उसका साधक है और उसे प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाला उसका मन ही उसका साधन है।

यह साधन हम कैसे करें? यह साधन क्या है?—मन। साध्य क्या है?—मनुष्यके मनके ऊपरकी स्थिति। बस, उसीमें इस मनको लगा दो—साध्यमें साधनको लगा दो। 'लगा दो' कहनेसे भी नहीं होगा। संसारमें हम अपने मनको लगाते हैं; क्योंकि मनुष्य उसकी इच्छा करता है और जिसकी इच्छा करता है, उसे वह पा लेता है। कैसे? मनको लगाकर, मनको तन्मय करके, मनको उसीका सङ्कल्प और कर्म करनेमें प्रवृत्त करके, मनको उसीके सामने झुकाकर, उसीको साध्य मानकर साधनसहित उसका रास्ता चलकर। इसीलिये मनके ऊपर मनुष्यका जो महान् अमानव अलौकिक अमृत आनन्दमय साध्य है, जो साधकके पहलेसे वहाँ स्थित है और जिसने ही यह साधन—मन मनुष्यको दे रखा है, उसीकी यह वाणी है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

जहाँ साध्य सामने हो, साधकका मन तत्परायण हो, वहाँ साध्य-साधक-साधनकी सिद्धिमें और क्या चाहिये? साधनकी सीढ़ीपर जिसने पैर रखा, वह साधनके ऊपर साध्यका हाथ पकड़कर ही उसके समीप जा रहा है। यह साधन है मन, इसीका साध्यके साथ योग होना मनुष्यजन्मका लक्ष्य है।

साधन-रहस्य-सार

(लेखक—श्री 'सुदाम' वैदर्भीय)

दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद् ब्रह्ममयं जगत्॥

सबका ध्येय एकमात्र अविनाशी, अतृप्तिकर, परम पूर्णानन्द ही है। स्वर्गादि सुख, सिद्धिवैभव और दिग्विजयादि विकारी अपूर्ण प्रकृतिक्षेत्रगत पदार्थ हैं; इनसे यह पूर्णानन्द नहीं मिल सकता। सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म ही उस पूर्णानन्दके अधिष्ठान हैं। उससे भिन्न किसी भी फलके लिये किये जानेवाले साधन बन्धन ही हैं। कारण **'यदल्पं तन्मर्त्यम्', भूमा वै तत्सुखम्, 'नाल्पे सुखमस्ति', 'आनन्दो ब्रह्मेति'**—यही श्रुति-सिद्धान्त है और यही संतोंका अनुभव है। इसलिये ब्रह्मानुभवके बिना कभी किसीको पूर्णानन्द न मिला न मिल सकता है। अतः इस सर्वोत्तम ध्येयको छोड़ और किसीके लिये कोई साधन क्यों किया जाय?

यह ब्रह्मतत्त्व सर्वत्र-सर्वव्यापक है, अतः हमारे अंदर भी है; केवल अंदर ही नहीं है, हम स्वयं तद्रूप ही हैं—'**जीवो ब्रह्मैव नापरः।**' इस प्रकार यद्यपि ब्रह्म सबको प्राप्त है, तथापि कल्पनाके इस घटाटोपमें उसका कहीं पता नहीं चलता। 'हम कौन हैं?' इसीका हमें कोई पता नहीं है। हम बहे जा रहे हैं अपने-आपको भुलाकर कल्पनाके प्रवाहमें न जाने कहाँ किस ओर! इसलिये पहले अपने-आपको ढूँढ़ना होगा, इसके बिना सुखका पता लग नहीं सकता।

प्रकाशकी ओर देखते-देखते यदि हठात् हम अपनी दृष्टिको छायामें, अन्धकारमें ले जायँ तो वहाँ हम सहसा कुछ भी न देख सकेंगे, केवल अन्धकार ही देखेंगे। परन्तु दृष्टिको वहीं कुछ समय स्थिर करके रखें तो अन्धकारमें छिपी रखी वस्तुओंको भी वह देख सकेगी, अन्धकारमें उसे प्रकाश मिलने लगेगा। यही बात हमारी चित्तवृत्तिकी भी है। बाह्य व्यवहारोंमें लगी हुई वृत्ति अंदरकी वस्तुओंको कैसे ढूँढ़े? अंदर उसका घबरा जाना ही स्वाभाविक है, इसीलिये कुछ दिन इसे अंदरके विचारमें स्थिर करना होगा। इससे अंदर देखनेकी इसकी शक्ति बढ़ेगी।

गँदले, चञ्चल और अँधेरे पानीके हौजमें पड़ी हुई किसी चीजको अथवा अपनी परछाईंको कोई कैसे देख सकता है? मल, विक्षेप और आवरणसे युक्त बुद्धि भी, इसी प्रकार, आत्मतेजको प्रत्यक्ष कैसे कर सकती है? निर्मल, निश्चल और प्रकाश (ज्ञान) युक्त बुद्धि ही आत्मानुभवमें समर्थ होती है। कपड़ा सीनेके लिये सूईकी जरूरत होती है, कुदालकी नहीं। सूक्ष्मातिसूक्ष्म जो आत्मतत्त्व है उसके साथ युक्त होनेके लिये, उसी प्रकार, अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धिकी आवश्यकता होती है; स्थूल बुद्धिसे वहाँ काम नहीं चलता। अर्थात् आत्मानुभवके लिये चित्तकी शुद्धि, मनकी स्थिरता और बुद्धिकी सूक्ष्मता होनी चाहिये और जिस उपायके करनेसे यह काम बन जाय, उसीको हम साधना कहेंगे। सद्ग्रन्थों और साधु-संतोंने जहाँ-जहाँ जो-जो साधन बताये हैं, उन सबका मर्म यही है। साधन चाहे जितने भी कठिन

हों; पर जिनसे यह काम न बनता हो वे साधन नहीं, केवल भ्रमविलास हैं।

बहुत लोग परमानन्दलाभकी इच्छासे साधनमें लगते हैं। परन्तु रहस्यको न जाननेवाले इन साधनोंसे कोई लाभ उठाते नहीं नज़र आते। प्राय: यही देखनेमें आता है कि लोग साधनके सौन्दर्य, काठिन्य और वैशिष्ट्यका ही अधिक आदर करते हैं और कठिन साधनोंके पीछे पड़ जाते हैं। परन्तु साधनके बाह्यरूपमें क्या रखा है? परमार्थदृष्टिसे उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं। वृत्तिको सुधारनेका काम है, यदि वह घर बैठे होता हो तो यही सबसे श्रेष्ठ साधन है। कहते भी हैं—'**मन चंगा तो कठौतीमें गंगा।**'

बहुतेरे यही रोना रोते हैं कि 'हमने कितने ही साधन किये, जप किया, दान किया, तीर्थयात्रा की, कितने व्रत किये, पर चित्तकी शुद्धि नहीं हुई; मन जहाँ पहले भटका करता था, वहीं अब भी भटकता ही है! आखिर ऐसा क्यों होता है?' बात यह है कि इन बेचारोंको यही पता नहीं है कि चित्त है क्या चीज और जब यही नहीं जानते, तब शुद्ध और स्थिर तो किसको करें और कैसे करें? इसलिये चित्त क्या है, यह पहले जानना चाहिये; तब उसे शुद्ध और स्थिर करना अनायास ही हो जायगा।

आप जो चिन्ता या चिन्तन करते हैं, आपके इस स्वभावको ही चित्त कहते हैं। चित्त कोई स्वतन्त्र पदार्थ है ही नहीं। यह कहना कि चित्त शुद्ध नहीं होता, केवल अपनी मूर्खता प्रकट करना है। यदि अशुद्ध चिन्तन करते ही रहेंगे तो सैकड़ों साधनोंके करनेसे भी क्या होगा? जबतक आप शुद्ध चिन्तन न करेंगे, तबतक बाह्य साधनोंसे कुछ भी न होगा। हाँ, यह बात सही है कि 'हम अशुद्ध चिन्तन न करेंगे' केवल ऐसा निश्चय कर लेनेसे ही चित्त शुद्ध हो जाता हो—यह बात नहीं है। कारण, आप सांसारिक सुखकी इच्छा तो करते ही होंगे—सुख, सौन्दर्य और प्रेमकी अनुभूति तो आपको जगत्‌में होती ही होगी। यदि ऐसा है तो इनका चिन्तन भी आप अवश्य ही करेंगे, वह कैसे छूट सकता है? और फिर इस हालतमें अन्य साधनोंकी भी क्या आवश्यकता है? इसमें तो केवल एक ही साधन है और वह है विवेक। विवेक इसी बातका कि सुख, सौन्दर्य, प्रेम संसारमें सचमुच ही हैं या यह केवल कल्पनाविलास हैं; शान्ति भी इस संसारमें संसारके किसी पदार्थसे किसीको मिलती है या केवल ऐसा भ्रम होता है? यहाँ मेरे-पराये यथार्थमें कौन हैं? कौन कबतकके मेरे साथी हैं और उसके बाद नहीं? अन्तमें फिर यह मृत्यु क्या है? इसको हम क्या समझें? कैसे इसका सामना करें? इत्यादि। यह विवेक जैसे-जैसे होता जायगा, वैसे-ही-वैसे कामना और आसक्ति कम होती जायगी और भगवद्‌गुण और महिमाका श्रवण करनेसे श्रद्धा-भक्ति बढ़ती जायगी। इस प्रकार चित्तका विरागानुरागयुक्त होना ही चित्तशुद्धि है। उपाय सरल है, पर जो अपने चित्तको शुद्ध करना चाहें उनके लिये। चित्तशुद्धिकी आवश्यकता तो तब ही प्रतीत होती है जब विवेक हो चुकता है; उससे पहले विवेक ही साधन है और इसके लिये सत्सङ्ग करना चाहिये और सद्‌ग्रन्थोंको पढ़ना-सुनना चाहिये।

मन स्थिर क्यों नहीं होता? मनका स्वरूप है मानना, मनन करना। आप भला-बुरा, सच्चा-झूठा सब कुछ तो माना करते हैं, चाहे जो मनन करते रहते हैं; तब मन स्थिर हो तो कैसे? आप मानना, मनन करना छोड़ दीजिये; मनका कहीं कोई चिह्न भी बाकी न रहेगा। केवल ऊपरी साधनोंसे कुछ न होगा।

मनन यदि किसी तरह बन्द न होता हो तो भगवान्‌की किसी मूर्तिका ही मनन करो, इसी एक संस्कारमें मनको लगा दो, इसीके स्मरण-ध्यानमें मनको केन्द्रीभूत कर दो; इससे मन स्थिर होगा। परन्तु चित्त जबतक शुद्ध नहीं होता, तबतक मनको स्थिर करना सुलभ नहीं होता। वैराग्यसे चित्तशुद्धि और अभ्याससे स्थिरता होती है—

'**अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥**' (गीता)

मनकी कल्पनाओंके प्रवाहमें बहना छोड़ दो, और तटस्थ होकर साक्षीरूपसे उन्हें देखते रहो तो मन स्थिर ही समझो।

कोई-कोई पूछते हैं, हमें ज्ञान कैसे प्राप्त होगा? बड़े-बड़े पण्डितों और तपस्वियोंकी जहाँ दाल नहीं गलती, वहाँ हमें कौन पूछता है? बहुत ग्रन्थ देखे, भेस लिया, आश्रम-धाम ढूँढ़े, संतोंकी सेवा-टहल की; पर आत्माका कोई पता नहीं चला! ठीक ही तो हुआ। आत्मा क्या बाहर है, वनों और जंगलोंमें है, मठों और आश्रमोंमें है? और क्या उसके लिये पण्डित या तपसी होना पड़ता है? जो कुछ किया, आपने अच्छा किया; अब चुपचाप बैठिये, बाहरी ग्रन्थोंको रख दीजिये—अंदरका ग्रन्थ पढ़िये। मन-बुद्धिके मूलका पता लगाइये और इन मन-बुद्धिको जाननेवाले जो आप हैं, उन

अपने-आपको पहचानिये। मनको अत्यन्त सुस्थिर रखकर अपने-आपको ढूँढ़िये, पता लगा लीजिये; पता चल जायगा। बुद्धिको सूक्ष्म करनेके लिये महावाक्यके विवरण, श्रवण, मनन और निदिध्यासनकी बड़ी आवश्यकता है। पर ग्रन्थवचनोंसे आत्मविषयक (विशेषण या लक्षणके अनुसार) कल्पना और तर्क मत कीजिये। ब्रह्म या आत्मा-नामसे किसी अन्य पदार्थको ढूँढ़ना नहीं है, अपने-आपको ही तो जान लेना है!

'हम' या 'मैं' इस शब्दका प्रयोग आप जिस वस्तुके लिये करते हैं, उसे शान्ति और युक्तिके साथ अपने अंदर ही ढूँढ़िये। मूलमें 'मैं', 'हम', 'अहम्' आदि शब्द नहीं हैं; केवल एक आत्मसत्ताका स्वतः स्फूर्त्त सतत बोधमात्र है। 'मैं' पनकी भाषा और कल्पनाको अपनेसे हटा दो; 'मैं और मेरा' का जो-जो कुछ लगाव है, सब अपनेसे अलग कर दो। स्मरण-विस्मरणसे रहित होकर स्वभावमें स्थिर हो जाओ। इस स्वभावको जाननेवाला (प्रकाश करनेवाला) आपका जो स्वरूप है, वही आप हैं। अपनी सत्ताको स्फुरित न करके स्वस्थ रहो। बस, यही आप हैं; यही आत्मस्वरूप है। 'स्वरूप कहते हैं उस अरूपको जो तत्त्वनिरसनके परे है।' (रामदास)

सबको जाननेवाली, त्रिगुण संस्कारको भी जाननेवाली जो चेतना है उसे भी आप ही प्रकाशित करते हैं। उस चेतनाको पहचानो और फिर उसे पहचाननेवालेको भी पहचानो; पहचाननेकी तब कोई चीज न रहेगी, रह जायगा केवल आत्मस्वरूप। 'जाननेवालेको जहाँ जान लिया, वहीं मैंपनका मूल कट गया (रामदास)।' जरा गहराईके साथ, शान्तिके साथ ढूँढ़ो; जिसकी सत्तासे ढूँढ़ा जायगा, वही आप हैं। ढूँढ़नेकी उपाधिको छोड़ो, छोड़नेकी उपाधिसे बचो। तब जो कुछ रहा, वह आत्मस्वरूप ही है।

मन जब स्थिर होता और कल्पना नष्ट होती है, तब क्या रहता है? 'कुछ नहीं' यही प्रत्यय होता है। इस 'कुछ नहीं' (शून्य) का अभिमान मत धारण करो (कारण, अभिमानधारकत्व ही जीवत्व है)। इस लयको जो प्रकाशित करता है, वही आत्मा है। 'तुकाराम कहते हैं कि जब मन लीन हो जाता है, तब जो कुछ रहता है, वही तुम हो।' 'वही ब्रह्म मैं हूँ' यह भावना भी आपका ही मन्तव्य है। इसे भी छोड़ो और केवल आप-ही-आप रहो—**'केवलं सत्तामात्रस्वरूपं भावं परं ब्रह्म' इति श्रुतिः।** युक्तिसे इसका अनुभव करो, पर अन्य होकर नहीं।

त्रिपुटी कोई हो, वह आपका सत्ताविलास है। ध्याता, ज्ञाता आदि भी आप नहीं हैं, आपकी केवल एक लहर है। अथवा आपके आश्रयमें क्रीडन करनेवाली कल्पनाके कार्यानुसार आपपर होनेवाले वे मिथ्या आरोप हैं। ध्याता-ध्यान-ध्येय, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय इत्यादि त्रिविध वस्तुओंको जो प्रकाशित करता है वही आत्मा है। वही आप हैं। त्रिपुटीका अतिक्रम करके देख लीजिये, तन्मय हो जाइये। किसी प्रक्रियासे हो, अपनी सहज आत्मस्थितिको अनुभव करना ही तो सब साधनोंका सार है। अनुभवी महात्माओंका आश्रय ग्रहणकर अन्तर्युक्ति सीख लीजिये और अनुभव करिये; बस, इतना ही काम है।

गुरू कृपा जेहि नरपर कीन्ही तिन्ह यह जुगति पिछानी।
नानक लीन भयो गोबिंद सँग ज्यां पानीमें पानी॥

उस युक्तिको जानना ही यथार्थमें गुरुकृपा है।

सारा संसार एक महास्वप्न है। केवल कल्पित नाम-रूपसे सब भेद देख पड़ते हैं। परन्तु यथार्थमें अस्ति, भाति, प्रियत्वके सिवा और कुछ भी इस संसारमें नहीं है। संसार संसाररूपसे मिथ्या और सच्चिदानन्दरूपसे सत्य है। अर्थात् जगत् या देहकी कल्पना आदि मिथ्या और एक तत्त्व ही अखण्ड है। भेदभावकी कल्पना जहाँ छूटी, वहाँ सब एक ही है। इस प्रकार यथार्थ जानकर जो लोग अखण्ड अनुसन्धान करते हैं, वे स्वानन्द-सिन्धुमें खेलते हुए अन्तमें उसीके साथ सर्वथा समरस हो जाते हैं। जो कुछ प्राप्तव्य है, यही है।

तात्पर्य—

(कुं०) परमानन्दहि ध्येय है, है वह हरिका नूर।
दूर दूर क्या सोचता, है सबमें भरपूर॥
है सबमें भरपूर, सच्चिदानन्द वही तू।
मृषा नाम अरु रूप, छोड़ अध्यास तुही तू॥
चाह कल्पना छोड़, मृषा तज मैंपन बंधहि।
रह जा चुप्प सुदाम! सहज तू परमानन्दहि॥

अनाहत नाद

(लेखक—स्वामी नयनानन्दजी सरस्वती)

संत-समाजका एक बड़ा भारी भाग अनाहत नाद या अनहद नादका उपासक है। कबीर, रैदास, नानक और राधास्वामीने केवल अनहद-योगका प्रचार किया था। उक्त आचार्योंने, अपने-अपने अलग-अलग मत या सम्प्रदाय कायम किये और उनको अनहद नादका साधन बतलाया।

विराट्में जितने मण्डल हैं—उनमेंसे दस मण्डलोंने शब्द भी जारी किये हैं। इन मण्डलोंमें प्रत्येक मण्डल अपना एक शब्द रखता है। विराट्में कुल छत्तीस मण्डल हैं और वे सब अपना-अपना एक-एक शब्द रखते हैं। परन्तु केवल दसका शब्द प्रकट स्वरमें चालू है और शेष छब्बीस मण्डलोंके शब्द स्वररूपसे गुप्त आवाजमें चालू रहते हैं। उपर्युक्त ३६ मण्डल अलग-अलग अपना रंग, रूप, शब्द और अधिकार रखते हैं। उन सबकी अर्द्धमात्राएँ अलग हैं, उनके बीज यानी शिव भी अलग-अलग हैं। प्रत्येक मण्डलसे जो सूत्र यहाँ आता है, वह स्वर या शब्दके रूपमें ही होता है। इसराज नामक बाजेमें जो ३६ तार होते हैं, वे ३६ मंजिलके स्मारक हैं और ३६ प्रकारके अनाहत नादके द्योतक हैं। दस प्रकारका अनहद कानसे सुना जाता है। बाकी २६ प्रकारका अनहद—जो स्वररूप है—केवल अनुभवके कानसे सुनायी पड़ता है। वे लोग यथार्थ नहीं जानते, जो अनहदको केवल दस ही प्रकारका जानते या मानते हैं। कारण यह कि जो दस मण्डल अखण्ड अर्द्धमात्राके नीचे—अर्द्धचन्द्राकार घेरेमें—आबाद हैं—वहींसे प्रकट शब्द हुआ करता है और अनहद नादके जितने प्रचारक संसारमें आये, वे सब उन मण्डलोंके ही शिव लोग ही थे। अखण्ड अर्द्धमात्रासे लेकर पूर्णमात्रातक जितनी मंजिलें हैं—या जितने मण्डल हैं, उनके शिव या कारण-शरीर इस मायिक भूमिकापर नहीं आये। इसीलिये उनके मण्डलोंको स्वर लोगोंको सुनायी नहीं पड़ा। हाँ, परमरम्य भविष्य महाकालमें वे सब इस भूमिपर अवतार लेंगे। उसी समय छत्तीस तारवाला इसराज बजेगा! तबतक दस तारवाली सारंगी बजाते रहिये।

अनहदसे लाभ

१-अगर मरते समय किसी नादको पकड़ लिया जाय तो मृतककी आत्मा उसी मण्डलमें जा पहुँचेगी, जहाँसे वह शब्द आ रहा है।

२-नादके पथिकको यमदूत नहीं पकड़ सकते, क्योंकि वे मण्डल यमलोकसे बहुत ऊँचे हैं।

३-नादके अभ्यासीकी बुद्धि विकसित होती रहती है। उसकी समझमें सत्यका प्रकाश आने लगता है।

४-नादके अभ्यासको एकदम किसी-न-किसी स्वर्गके मण्डलमें स्थान मिल जाता है। जिस तारको पकड़कर रूह चढ़ेगी, उसी तारकी सरकारमें वह जा पहुँचेगा। परन्तु पाप-पुण्यके चक्रसे वह भी सुरक्षित नहीं। जब उसका पुण्य समाप्त होगा, वह फिर अपने पाप भोगनेके लिये इसी भूमिपर उतार दिया जायगा।

५-नादके अभ्यासीपर कामादि पाँचों शैतानी तत्त्व अपना प्रभाव कम डाल सकते हैं।

अनहद नाद

नंबर	मण्डलका नाम	स्वर है या शब्द	उसकी उपमा
१	संहारक देवका लोक	शब्द	पायजेबकी झंकार-सी
२	पालक देवका लोक	,,	सागरकी लहर-सी
३	सृजक देवका लोक	,,	मृदंग-सी
४	सहस्रदलकमल	,,	शंख-सी
५	आनन्द-मण्डल	,,	तुरही-सी
६	चिदानन्द-मण्डल	,,	मुरली-सी
७	सच्चिदानन्द-मण्डल	,,	बीन-सी
८	अखण्ड अर्द्धमात्रा	,,	सिंहगर्जन-सी
९	अगम मण्डल	,,	नफीरी-सी
१०	अलख मण्डल	,,	बुलबुल-सी

उपर्युक्त १० मण्डल अपराके इलाकेमें हैं और शेष २६ मण्डल पराके इलाकेमें हैं।

नादका अभ्यास

प्रात:काल शौचादिसे छुट्टी पाकर किसी एकान्त स्थानपर चले जाओ। मुरदा आसन लगाओ यानी सीधे लेट जाओ। हाथके दोनों अँगूठोंसे दोनों कान बंद करो। अपने ही घटमें शब्द सुनायी पड़ना शुरू हो जायगा। अपनी दायीं ओरके शब्दोंको सुनना चाहिये। बायीं ओरके शब्द मायाके हैं और त्याज्य हैं।

साधनाकी एक झाँकी

मन कल्पनाओंका पुंज है। सुषुप्तिमें जो कल्पनाएँ विलीन रहती हैं, वे ही स्वप्नमें और जागरितमें उठा करती हैं और जिन वस्तुओं और घटनाओंका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है, उनका बनावटी सम्बन्ध जोड़कर व्यवहारकी विशाल एवं जटिल परम्परा खड़ी कर देती हैं। मैं तो कभी-कभी इन कल्पनाओंके जालमें ऐसा उलझ जाता हूँ कि उनसे छुटकारा पाना कठिन हो जाता है। ऐसा अनेकों बार होता है। किसी-किसी दिनकी कल्पनाएँ बड़ी मनोरञ्जक और लाभप्रद हो जाती हैं, पीछे उनके स्मरणसे भी मनोरंजन और लाभ होता है। इसलिये एक दिन ब्रह्मवेलामें, जब कि वृत्तियोंको निस्संकल्प करके मुझे शान्त-भावसे बैठा रहना चाहिये था, जिन कल्पनाओंके प्रवाहमें मैं बह गया था, उनका स्मरण किया जाता है।

दरबार लगा हुआ था। बहुत-से दरबारी मौन-भावसे अपने-अपने स्थानपर बैठे थे। सबसे ऊँचे आसनपर अपनी धर्मपत्नी बुद्धिदेवीके साथ महाराज अहंकार विराजमान थे। उस सभाके सदस्योंमें मूर्तिमान् रूपसे दस इन्द्रिया, पाँच प्राण, पाँच भूत और मन उपस्थित था। कुछ अव्यक्तरूपसे थे और कुछ छोटे-मोटे दूसरे लोग भी थे; परन्तु उनका कोई विशेष महत्त्व नहीं था। यह विशाल सभा-मण्डप और उसकी प्रत्येक क्रिया मेरी आँखोंके सामने थी। परन्तु मैं कहाँ हूँ और किस रूपसे देख रहा हूँ, यह मुझे पता नहीं था; मैं केवल देख रहा था। राजासाहबने मनको बुलाया और कहा कि यहाँ जितने सदस्य उपस्थित हैं, उनको एक-एक करके मेरे सामने लाओ; मैं उनका परिचय, जीविका और उनके जीवनका उद्देश्य जानना चाहता हूँ। मनने हाथ जोड़कर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की।

एक अधेड़ स्त्रीके साथ मन उनके निकट उपस्थित हुआ। अहंकारने पूछा, 'तुम कौन हो?' उस स्त्रीने उत्तर दिया, 'मेरा नाम पृथ्वी है।' उन्होंने पूछा, 'तुम्हारी जीविका क्या है?' पृथ्वी—'मुझे जीविकाके लिये कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। मुझे प्रत्येक समय सर्दी, गर्मी, हवा, और अवकाश मिलता रहता है और सहज रूपसे ही मैं समस्त भूत-प्राणियोंको धारण किये रहती हूँ। न मुझे कोई चिन्ता होती है और न तो अशान्ति। यही मेरी जीविका है और इसीमें मैं लग्न रहती हूँ।' अहंकार—'तुम्हारे जीवनका उद्देश्य क्या है?' पृथ्वी—'मेरा स्वतन्त्र जीवन ही क्या है कि उसका कोई उद्देश्य हो? जिसने मुझे अस्तित्व दिया, जिसने मुझे प्रकृतिकी गोदसे निकाला, जो मुझे धारण किये हुए है, वह जैसे नचाता है नाचती हूँ। मेरी एक-एक चेष्टा उसके इशारेसे ही होती है। शायद इससे वह रीझता हो; परन्तु में उसको रिझाती हूँ, ऐसी बात नहीं। मेरा कुछ उद्देश्य नहीं और उसके उद्देश्यका मुझे पता नहीं।' अहंकार—'वह यदि तुम्हें पानीमें गला दे, आगमें जला दे, तुम्हारा अस्तित्व नष्ट कर दे तो क्या तुम्हें दुःख नहीं होगा?' पृथ्वी—'बिलकुल नहीं। उसकी इच्छा ही मेरा जीवन है और मृत्यु भी वही है। जीवन-मृत्यु नहीं हैं, उसकी इच्छा है। फिर अन्तर क्या? मेरे चित्तमें दुःख और सुखकी कल्पना ही नहीं उठती।' अहंकार—'अच्छा, जाओ। अपने स्थानपर रहो। तुमसे कुछ नहीं कहना है।'

मन एक दूसरे सदस्यके साथ पुनः उपस्थित हुआ। अहंकार—'तुम्हारा नाम?' आगन्तुक सदस्य—'जल।' अहंकार—'तुम्हारी जीविका क्या है?' जल—'मुझे चाहे जो अपने काममें लावे, मैं आपत्ति नहीं करता। पृथ्वी मुझसे स्निग्ध हो, सूर्य मेरा पान करे, वायुमण्डल मुझसे शीतल हो और मैं आवश्यकताके अनुसार उनका उपयोग कर लूँ। बस, यही मेरी जीविका है। इसके लिये न मुझे चिन्ता करना पड़ता है न कोई श्रम।' अहंकार—'तुम्हारे जीवनका उद्देश्य क्या है?' जल—'यह मैं नहीं जानता। जिसने मुझे अस्तित्व दिया है, उज्जीवित किया है, उसीकी प्रेरणासे बादलसे पर्वतपर, पर्वतसे भूमिपर, भूमिसे समुद्रमें और समुद्रसे बादलमें घूमा करता हूँ। जो घुमाता है, वह इसका रहस्य जानता होगा।' अहंकार—'तब इस यात्रामें तुम्हें रसका अनुभव होता होगा, कभी यह बन्द हो जाय तो?' जल—'मैंने कभी नहीं चाहा था कि मुझे कोई घुमावे, यह भी नहीं चाहता कि यह घूमना बन्द हो जाय। जब घूमने-न-घूमनेकी इच्छा ही नहीं है, तब मेरे लिये कोई भी परिस्थिति नीरस कैसे हो सकती है?' अहंकार—'तुम्हें कोई जला दे, सुखा दे, नष्ट कर दे तब?' जल—'जल जाऊँगा, सूख जाऊँगा, नष्ट हो जाऊँगा।' अहंकार—'तुम्हें दुःख नहीं होगा?' जल—'न, बराबर ही तो हैं सब। जब जीना दूसरेकी इच्छासे,

तब मरना भी दूसरेकी इच्छासे। दूसरेकी इच्छा ही अपना जीवन है। न इसमें दुःख है न सुख।' अहंकार—'ठीक है, जाओ।'

मनने एक तेजस्वी मूर्तिके साथ प्रवेश किया। अहंकार—'कौन हो तुम?' अग्नि—'मैं अग्नि हूँ।' अहंकार—'क्या जीविका है तुम्हारी?' अग्नि —'जिसकी जितनी इच्छा हो, मुझसे उष्णता और प्रकाश ले ले। मैं भी वायु, जल, पृथ्वी आदिका उपयोग कर लेता हूँ। यही मेरा स्वरूप है। न इसमें मेरा कर्तृत्व है और न आसक्ति ही।' अहंकार—'यह किसलिये करते हो तुम?' अग्नि—'कोई कराता है मुझसे।' अहंकार—'न करावे तो?' अग्नि—'नहीं करूँगा।' अहङ्कार—'वह तुम्हें नष्ट कर दे तो?' अग्नि—'नष्ट हो जाऊँगा।' अहंकार—'यह समत्व तुम्हें कहाँसे प्राप्त हुआ?' अग्नि—'यह भी उसीका दिया हुआ है। मुझे अभिमान था कि मुझमें भी कुछ शक्ति है; पर उसने मुझे अनुभव करा दिया कि वह शक्ति उसीकी है, मैं जो कुछ हूँ उसीका हूँ। चाहे वह नष्ट कर दे या रखे, उसकी मौज!' अहंकार—'अच्छा, जाओ तुम।'

वायुकी बारी आयी। अहंकारके पूछनेपर उसने कहा—'मैं वायु हूँ। मेरी जीविका है-संघर्ष। मैं विद्युत्, प्राणशक्ति और अग्निका निर्माण करता हूँ। संसारकी सम्पूर्ण गतियाँ मेरा आश्रय लेती हैं।' अहंकार—'इतनी शक्ति तुममें कहाँसे आयी, वायु?' वायु—'जहाँसे मैं आया। ये मेरी शक्तियाँ हैं—यह तो कहनेकी बात है। यह सब सहज रूपसे होता है, मेरे सोच-विचार किये बिना ही। मैं तो एक यन्त्र हूँ। मेरी यन्त्रता भी किसीकी इच्छा ही है, तब मेरी क्या विशेषता है?' अहंकार—'यदि तुमसे ये सारी शक्तियाँ छीन ली जायँ तो?' वायु—'इसका अर्थ है कि मैं भी छीन लिया जाऊँगा। जिसका मैं हूँ, जिसकी ये शक्तियाँ हैं, वे यदि खींच लें अपने-आपमें, अथवा नष्ट ही कर दें तो इससे बढ़कर प्रसन्नताकी बात क्या होगी?' अहंकार—'ठीक है, तुम जा सकते हो।'

आकाशने उपस्थित होकर अहंकारके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए कहा—'मैं आकाश हूँ। अवकाश और शब्द ही मेरा स्वरूप है। मैं चारों भूत और उनसे बने हुए पदार्थोंको धारण करता हूँ। यह भी उन भूतोंकी दृष्टिसे ही मैं कह रहा हूँ। मेरी दृष्टिमें तो वे पराये नहीं हैं। मुझे वे नहीं दीखते। जब मैं देखता हूँ, मैं ही दीखता हूँ। इसमें बनावट नहीं है, विभुका यह सहज स्वरूप ही है।' अहंकार—'यदि कोई तुम्हारा नाश कर दे तो?' आकाश—'उस नाशके रूपमें तो मैं ही रहूँगा।' अहंकार—'मान लो तुम रहो ही नहीं, तब?' आकाश—'उस समय अवश्य ही वह रहेगा जिसका मैं हूँ, जिसमें मैं हूँ। यदि मेरा अस्तित्व नष्ट होकर उसका अस्तित्व प्रकट हो सके तो मेरा नष्ट होना ही अच्छा है।' अहंकार—'परन्तु तुम नष्ट हो जाओ और वह प्रकट न हो तब?' आकाश—'अवश्य ही वह उसकी आँखमिचौनी होगी। उसकी लीलाके लिये मेरा जाना ही सर्वोत्तम है।' अहंकार—'तुम पाँचोंका समर्पण पूर्ण है।'

अहंकारकी प्रेरणासे मन एक ऐसे व्यक्तिको लेकर उपस्थित हुआ जो एक होनेपर भी पाँच दीख रहा था। यों समझिये कि एक मूर्ति थी और चार उसकी छाया। पूछनेपर उसने बतलाया कि 'मेरा नाम प्राण है। एक होनेपर भी स्थानभेद और क्रियाभेदसे समष्टि और व्यष्टि दोनोंमें ही मैं पाँच प्रकारका हो जाता हूँ। जगत्में जितनी भी चेष्टाएँ हो रही हैं, मेरे द्वारा। स्थूल जगत् यदि क्रिया है तो मैं उसके अंदर रहनेवाली शक्ति हूँ।' अहंकार—'तुम समष्टि हो या व्यष्टि?' प्राण—'यों तो मैं समष्टि ही हूँ, मुझमें व्यष्टिका भेद है ही नहीं। परन्तु यह कहनेकी बात है। मैं व्यष्टि हूँ और इस प्रकार व्यष्टि हूँ कि समष्टिको जानता ही नहीं।' अहंकार—'तब तुम अपना मोह और बन्धन स्वीकार करते हो।' प्राण—'जी हाँ। मैं ऐसा मानता हूँ कि मेरे ही कारण शरीर जीवित है और रुधिराभिसरण, पाचन आदि क्रियाएँ मेरे ही द्वारा होती हैं—यहाँतक कि मेरे बिना पलक भी नहीं गिर सकती।' अहंकार—'यह शक्ति तुम्हारे अंदर कहाँसे आयी?' प्राण—'मैं तो समष्टि-प्राणसे शक्ति लेता हूँ और समष्टि परमात्मासे।' अहंकार—'यदि तुम्हें शक्ति न दी जाय तो?' प्राण—'मैं तो वैसी स्थितिकी कल्पनासे ही काँपने लगता हूँ। मेरी रग-रगमें मृत्युकी भयानकता भरी हुई है।' अहङ्कार—'तब तो तुम्हारे अंदर समत्वका अभाव है।' प्राण—'सत्य है।' अहंकार—'इस विषमताके अपराधका दण्ड भोगना पड़ेगा तुम्हें।' प्राण—'दण्ड तो मैं अभी भुगत रहा हूँ। जितना दण्ड मैं भोग रहा हूँ इस समय, इससे अधिक और क्या दण्ड होगा?' अहंकार—'अवश्य ही तुम बन्धनमें जकड़े हुए

हो। परन्तु इससे छूटनेका उपाय भी यही है कि तुम और भी बाँध दिये जाओ। तुम्हारी क्रिया सीमित हो जाय। इडा और पिंगलाके मार्गमें समरूपसे चलते रहो, यह समता सुषुम्णाका रूप धारण कर ले। तुम्हारा घटना-बढ़ना और स्वेच्छाचार सर्वथा बन्द हो जाय, तुम मेरे सामने रहा करो। एक क्षणके लिये भी मेरी आँखोंसे ओझल मत होओ। तुम्हारे लिये जो यह दण्डकी व्यवस्था की गयी है, यह तुम्हारी उद्देश्यहीनताके कारण है। अवश्य ही इससे तुम्हें दुःख होगा, परन्तु वह दुःख तुम्हारे वर्तमान सुखसे तो बहुत ही उत्तम होगा। तुममें जन्म और मृत्युके प्रति समत्व नहीं है, परमात्माके प्रति समर्पण नहीं है, उद्देश्यकी ओर तुम्हारी गति नहीं है। इसलिये प्राण! तुम कैद कर लिये गये। मेरी आँखोंके सामने स्थिर भावसे खड़े रहो।' प्राण खड़ा हो गया। परन्तु वह बहुत ही धीरे-धीरे काँप रहा था।

अहंकारने मनसे कहा—'इन्द्रिय दस हैं, सबको मेरे पास लानेकी आवश्यकता नहीं है। उनकी सम्मतिसे एक प्रमुख इन्द्रियको ले आओ, जो सबका प्रतिनिधित्व कर सके।' तत्क्षण मनने आज्ञा शिरोधार्य की और इन्द्रियोंकी सम्मतिसे वागिन्द्रियको लेकर उपस्थित हुआ। इन्द्रियोंके सम्बन्धमें प्रश्न करनेपर वाक्‌ने कहा—'हमलोगोंकी संख्या दस है—पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं और पाँच कर्मेन्द्रिय। कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रियोंके पूरकमात्र हैं। जैसे—नेत्र कोई स्थान देखना चाहता है तो पैर वहाँ पहुँचा देते हैं, त्वक् स्पर्श करना चाहती है तो हाथ उसका स्पर्श करा देते हैं—इत्यादि। प्रधानता ज्ञानेन्द्रियोंकी ही है, उनकी जीविका और उनके जीवनके उद्देश्य भिन्न-भिन्न हैं। कोई शब्दजीवी है तो कोई स्पर्शजीवी और कोई रूपजीवी। उनके जीवनका उद्देश्य है अपने-अपने विषयोंकी पूर्णता प्राप्त करना। जैसे कान चाहता है मधुर शब्दोंके केन्द्रमें स्थित होना, आँखें चाहती हैं रूपराशि और त्वक् सुकोमल स्पर्श। कटु शब्द, असुन्दर रूप और रूक्ष स्पर्श आदिसे उनका द्वेष भी है। सभी अपने-अपने लक्ष्यकी पूर्ति भिन्न-भिन्न दिशामें मानते हैं। इसीसे उन्होंने अपने जीवनमें द्वन्द्वकी सृष्टि कर रखी है।'

अहंकार—'क्या उन्होंने भगवान्‌के भी सम्बन्धमें कुछ विचार किया है? उन पाँचोंने यह भी सोचा है क्या कि हम सबके उद्देश्यकी पूर्ति एक ही भगवान्‌में होती है?' वाक्—'नहीं। वे अपने-अपने उद्देश्यको पृथक्-पृथक् समझते हैं और उनकी धारणा है कि इनकी पूर्णता ही भगवान् है।' अहंकार—'जहाँ उन विषयोंकी आंशिक अभिव्यक्ति रहती है, वहाँ क्या वे भगवत्-रसकी अनुभूति नहीं प्राप्त करते? जिन्हें वे कटु, रूक्ष एवं अप्रिय समझते हैं उनमें भी तो उनके जीवनका उद्देश्य किसी-न-किसी रूपमें है ही? फिर वैषम्य-भावसे द्वेषकी सृष्टि करके दुःखी होना उनका अपराध है। इसलिये उनको इसका दण्ड मिलना चाहिये।' वाक्— 'वे दण्ड भोगनेको तैयार नहीं हैं।' अहंकार— 'यही तो उनका सबसे बड़ा अपराध है। पहला अपराध उनका यह है कि उन्होंने रूप, रस, गन्धादि सबके केन्द्रस्वरूप भगवान् ही हैं—इस बातको स्वीकार नहीं किया। दूसरा यह है कि उन्होंने सर्वत्र अपने प्रिय उद्देश्यको ही नहीं देखा और द्वेषकी सृष्टि की। द्वन्द्वको जन्म देकर उन्होंने सारे संसारको दुःखमय बना दिया। अब दण्ड भोगनेको भी तैयार नहीं। इसलिये मैं उन्हें दण्ड देता हूँ कि वे अपने-अपने गोलकोंमें स्थिर हो जायँ। न बाहर जायँ न भीतर। एक इंच भी यदि इधर-उधर हटीं, रागवश प्रिय वस्तुओंकी ओर बढ़ीं और द्वेषवश अप्रिय वस्तुओंकी ओरसे हटीं तो उन्हें नष्ट कर डाला जायगा।' वाक्— 'भगवन्, यह तो इन्द्रियोंके लिये मृत्यु-दण्ड है।' अहंकार—'जो जीवित रही हैं, उन्हें मरना भी पड़ेगा। जीवन और मृत्युकी एकरसताका अनुभव करना ही प्रत्येक व्यक्तिका भाग्य है, परन्तु यह मृत्यु वर्तमान जीवनसे सुन्दर है। सब सावधान हो जायँ। मेरी आज्ञा इसी क्षणसे जारी है।' वाक् जहाँ-की-तहाँ सन्न रह गयी। समस्त इन्द्रियाँ अपने-अपने स्थानमें गड़ गयीं। अब उस सभामण्डपमें मन, बुद्धि और अहंकारके अतिरिक्त और कोई नहीं था। मैं केवल देख रहा था।

बुद्धि देवीने मनसे कहा—'और कोई हो तो उसे मेरे सामने ले आओ।' मन—'जब इन्द्रियाँ स्फूर्तिशून्य हो चुकी हैं, तब मैं और किसीका ज्ञान कैसे प्राप्त करूँ और किसे लाऊँ? मैं तो स्वरूपशून्य हो रहा हूँ।' बुद्धिने मुसकराते हुए कहा—'तुम हो ही क्या?' मन—'मैं वासनाओंका पुंज हूँ; मेरे अंदर भूत, भविष्य और वर्तमानकी कोटि-कोटि वासनाएँ संचित हैं।' बुद्धि—'परन्तु अब तो वे नष्ट हो जायँगी, क्योंकि उन्हें पूर्ण करनेवाली इन्द्रियाँ अब हिल-डोलतक नहीं सकतीं।' मन—'मैं उनके जीवित होनेतक प्रतीक्षा करूँगा। अवश्य ही इस समय मैं शून्य-सा हो रहा हूँ। मेरी वासनाएँ क्षीण हो रही हैं और मैं मर रहा

हूँ। परन्तु नहीं, नहीं; मैं मरना नहीं चाहता। मुझे बचाओ, मेरी रक्षा करो।'

बुद्धि—'अब तुम्हारी रक्षा असम्भव है, तुमने अपनेको और सारे संसारको क्षुब्ध कर दिया। जिसके हो, उसको नहीं जाना। यन्त्र होनेपर भी यन्त्रताका अनुभव नहीं किया। जीवन और मृत्युकी समतामें तुमने ही वैषम्यका आरोप किया और उसे दृढ़ किया। अमृतको विष बना दिया तुमने। तुम्हारे अपराधका यही समुचित दण्ड है कि तुम नष्ट हो जाओ। हाँ, तुम नष्ट हो जाओ।' देखते-ही-देखते मनके शरीरकी छाया भी नहीं रही वहाँ, केवल बुद्धि और अहंकार दो ही व्यक्ति थे। मैं केवल देख रहा था।

बुद्धिने अहंकारसे कहा—'अब हम और तुम दो ही हैं, मेरा जीवन तुम्हारे आश्रयसे ही है। तुम न रहो तो मैं रह नहीं सकती। अबतक यथाशक्ति तुम्हारी सेवा करती रही हूँ। परन्तु तुमने मुझे अपना रहस्य नहीं बताया। भला, यह भी कोई प्रेम है? जिनका जीवन समर्पित है, तुमने उनकी प्रशंसा की है; जिनमें अहंता थी, आसक्ति थी और ममता थी उन्हें तुमने दण्ड दिया है। परन्तु क्या तुम्हारा जीवन समर्पित है? क्या तुमने भी वही अपराध नहीं किया है, जो उन लोगोंने किया है? तुम्हारे पास इन प्रश्नोंका क्या उत्तर है?'

अहंकार—'तुम्हारे प्रश्न हम दोनोंके लिये ही हितकर नहीं हैं, मैं जान-बूझकर इस रहस्यको छिपाये हुए था। उसका भेद खोल देनेपर न तुम रहोगी न मैं।'

बुद्धि—'यह तो तुम्हारे कथनके ही विरुद्ध है। अभी तुम हित-अहित और जीवन-मृत्युमें समत्वका पाठ पढ़ा रहे थे। हम दोनोंका नाश हो जाय, यह स्वीकार है; परन्तु हम सत्यके ज्ञानसे वंचित रहें, यह स्वीकार नहीं।'

अहंकार—'इस प्रकार आत्मनाश क्यों किया जाय।'

बुद्धि—'जहाँ आत्माका ज्ञान ही नहीं, वहाँ आत्मनाश कैसा? 'क्यों' का प्रश्न तो वह कर सकता है जो आत्माको जानता हो। मेरा प्रश्न 'क्यों' नहीं 'क्या' है।'

अहंकार—'अच्छा तो लो, जानो, यह सब मेरा एक खिलवाड़ था। इन्द्रियोंके साथ रमना, तुम्हारे साथ सोचना, फूलकर बैठे रहना और सो जान-यह सब मेरी एक लीला थी, केवल दिखावाभर था। मैंने सब कुछ किया, पर मैं कुछ नहीं था। मैं एक पोल हूँ, मैं एक प्रतीति हूँ। व्यवहारमें व्यवहारी बनकर रहा, साधकोंमें साधकके रूपमें प्रतिष्ठित हुआ, परमार्थियोंमें परमार्थी हो गया। किसीने पूजा की और किसीने तिरस्कार। परन्तु न मैं व्यावहारिक हूँ न प्रातिभासिक, पारमार्थिककी तो बात ही क्या है। मैं हूँ नहीं, और तुम देखो, मैं नहीं हूँ।' बुद्धिने आँख उठाकर देखा, वास्तवमें अहंकार नहीं है! वह किंकर्तव्यविमूढ़-सी हो गयी। उसने चकित होकर कहा—'अरे! जिसने सब कुछ किया वही कुछ नहीं, आश्चर्य है। परन्तु तब यह सब किया ही क्यों? ठीक है; यदि यह सब नहीं करते तो आज मैं उन्हीं प्रतीतियोंमें उलझी रहती। यह अवसर ही न आता, जिससे मैं सत्यको जान पाती। करनेसे ही कुछ न करनेका बोध होता है। उनका करना ठीक था, उनका कहना ठीक था। वे कुछ नहीं थे और मैं भी कुछ नहीं हूँ। उनके बिना मैं कैसी? वास्तवमें मैं कुछ नहीं हूँ।'

मैंने देखा बुद्धि भी नहीं है, परन्तु मैं देख रहा हूँ। सभामण्डप भी नहीं है, परन्तु मैं देख रहा हूँ। मैंने इतने बड़े प्रपंचके भाव और अभाव दोनोंको अपनी आँखोंसे देखा। पंचभूत, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार—इतना ही क्यों, निखिल दृश्यप्रपंच मेरी आँखोंके सामने नाचकर अदृश्य हो गये और मैं उनकी इस कार्य और कारण दोनों ही अवस्थाओंको देखता रहा और केवल देखता रहा। परन्तु यह देखना क्या है? मैं देखनेवाला कौन हूँ? यदि ये सब होते तो इनका अभाव न होता। परन्तु ये जब नहीं रहे तो इनका अस्तित्व ही सन्दिग्ध है। सन्दिग्ध ही क्यों, है ही नहीं। तब किसे कौन देख रहा था। मैं ही मैंको देख रहा था? भला, कर्ता कर्म कैसे हो सकता है? कर्ता कर्म नहीं हुआ था, साक्षी और साक्ष्य नहीं हुआ था। कर्ता और कर्म, साक्षी और साक्ष्य—दोनों ही प्रतीतिमात्र हैं और सद्वस्तु अर्थात् मैं ('मैं' पदका लक्ष्यार्थ) प्रतीत-अप्रतीत सबका अधिष्ठान है और वस्तुगत्या सब कुछ है। केवल मैं-ही-मैं हूँ।

विचारोंकी धारा यहाँ आकर समाप्त हो गयी और मैं स्थिर एवं निष्कम्प स्वरूपसे स्थित हो गया। अवश्य ही उस समय समयकी स्फुरणा नहीं हुई। जब मैंने आँखें खोलीं, तब सूर्योदय हो रहा था। मेरी आँखोंके सामने उन कल्पनाओंका नृत्य होने लगा। पंचमहाभूतोंका समर्पण, प्राणोंकी स्थिरता, इन्द्रियोंकी सजा, मनकी मृत्यु और अहंकारका खोखलापन—सब-का-सब मुझे स्मरण हो आया और मुझे मालूम हुआ कि मेरा इस कल्पनामें परमार्थके साथ ही व्यवहारके सम्बन्धमें बहुत-सी

उपादेय बातें हैं। यदि प्राण, इन्द्रिय आदि अपनी विषमताओं, द्वन्द्वोंका परित्याग करके पंचभूतोंके समान यन्त्रवत् व्यवहार करने लग जायँ तो इनके निरोधकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। ये स्वयं निरुद्ध हो जाते हैं। यदि ये समर्पित भावसे काम नहीं करते तो इनके निरोधकी आवश्यकता है और वही आवश्यकता इस कल्पनामें अभिव्यक्त हुई है और उसका फल भी प्रत्यक्ष है।

क्या यह कल्पना केवल मनोरंजन है अथवा इससे कुछ साधनाका मार्ग भी स्पष्ट होता है?

अमृत-कला

(लेखक—यो० श्रीपार्श्वनाथजी)

सहस्रदल कमलके मध्यमें जो सिंहासन है, उसके नीचे दो कलाओंके दो केन्द्र—जंकशन हैं। एकका नाम है—अमृत-कला और दूसरीका नाम है—मृत्यु-कला।

एक तत्त्व तो सहस्रदल कमलकी शाहीसे नीचेकी तरफ उतरता रहता है। उसका रंग जुगनू-जैसा है। उस तत्त्वको देखते ही शहदसे भी सौ गुना 'धुर—मधुर सुगन्धित स्वाद' अपने-आप आने लगता है। अगर उसे पी लो, तो फिर क्या बात! उसी तत्त्वको यानी उसी 'शाहीसूत्र' को—उसी ब्रह्मसूत्रको अमृत-कला कहते हैं। उसको जाननेवाला सर्वदा तथा सर्वथा १६ सालका रहता है। इसीलिये इस अमृत-कलामें 'षोडशी' नामक शक्ति निवास करती है। षोडशी अथवा अमृत-कलापर विचार तभी किया जा सकता है, जब उसके जाननेवाले काफी हों।

सहस्रदल कमलके 'शिव-शक्तिसंयुक्त सिंहासन' के नीचे जो 'कर्णिका' है, वहींसे अमृत-कलाका तत्त्व यानी सोता या सूत्र जारी है और जो सद्गुरुका लाड़ला लड़का उस सोतेका 'आबेहयात' पीने लगता है, वह खुद षोडशी बन जाता है। षोडशीकी शक्ति ही सहस्रदल कमलके परमात्माकी आत्मा है।

वहाँपर कैवल्यरूपसे केवल अमृत-कला ही है। मगर जीवनके उस चन्द्रकी जो चाँदनी वहाँ फैली है, उसे मौतका घोर अन्धकार जकड़े हुए है। इसलिये वहाँ मौतका भी जंकशन है। एक होकर भी वहाँ दो हैं—चाँदनीरूपी जीवन है, अन्धकाररूप मरण है। वहीं दोनों महातत्त्व रहते हैं। सिंहासनके नीचे दो घटाएँ हैं—एक अमृतमयी और दूसरी मरणमयी।

अमृत-कलाके काम

१-अपने साधकको दीर्घ जीवन देती हुई जीवन-मरणकी शिक्षा देती है।

२-अपने साधकको बुढ़ापा और मौतसे बचाये रखती है।

३-अपने साधकको ऐसे महात्माओंसे मिलाती रहती है, जो बहुत दिनोंसे उसके विद्यार्थी हैं—ताकि उसका ज्ञान विस्तृत हो।

अमृत-कलाके सूत्र

अमृत-कलाका सूत्र कुण्डलिनीके भीतर होता है। जिनकी कुण्डलिनी जाग्रत् नहीं हुई, उनको अमृत-कलाका परिचय नहीं हो सकता। उनके लिये अमृत-सूत्र होनेपर भी नहीं है। क्योंकि सहस्रदल कमलवाला वह अमृतवर्षण कुण्डलिनीकी नागनी ही पी जाती है। जीवात्माको पीनेके लिये वह प्राप्त नहीं होता।

भूगोलकी मर्दुमशुमारी दो अरब है। उसमें बहुत थोड़े ही व्यक्ति अमृत-कलासे सम्बन्ध रखते हैं, शेष सब मृत्यु-कलासे सम्बन्ध रखते हैं। जो अमृत-कलामें नहीं गया, वह मृत्युकलामें स्वयं फँस जाता है। इस प्रकार प्रायः समस्त संसार मृत्यु-कलासे परिचय रखता है और वह सबके लिये मृत्युको अनिवार्य देखता है।

अमृत-कला चाहती है कि सारा संसार अमर हो जाय। परन्तु वह कुण्डलिनी-आबद्ध होनेसे अपना पूरा काम सफलतापूर्वक नहीं कर सकती। मृत्यु-कला कुण्डलिनीसे आबद्ध नहीं है, इसलिये उसका प्रभाव सर्वत्र सर्वदा पड़ा करता है।

जो लोग कुण्डलिनीबद्ध हैं, उनके लिये अमृत-कलाका परिचय नीचे लिखे साधनोंसे प्राप्त हो सकता है। बाहरी जगत्के कतिपय पदार्थोंमें भी अमृत-कलाकी कला विद्यमान है और वह अमरत्वका प्रचार करती रहती है। जगत्में बहुत थोड़े अमर लोग ऐसे हैं, जिन्होंने सद्गुरुकृपासे कुण्डलिनीको जाग्रत् करके

अमृत-कला प्राप्त की है। शेष सब अमर लोग बाहरी पदार्थोंसे अमर हुए हैं।

१-अमृत-कलाका एक सूत्र प्रत्येक स्त्रीमें मौजूद रहता है। किसी स्त्रीकी दाहिनी आँखमें होकर वह सूत्र नीचेकी तरफ उतरता है और किसीकी बायीं आँखमें होकर। जिस नेत्रमें गुलाबी रंगत छायी हुई हो, समझ लो कि उसी तरफसे अमृत-कलाका सूत्र आ रहा है। स्त्रीको सीधा लिटा देना चाहिये और उसी नसको हाथसे अँगूठेसे रगड़ना चाहिये, जो अमृतवाहिनी नस है। इस साधनसे अमृत प्राप्त हो जाता है। उसे धो डालना चाहिये। वह पानीमें मिलता नहीं है। अमृतका रंग हिंगुल-सा सुरख होता है। शहद-सा वह गाढ़ा होता है उसमें कस्तूरीकी खूशबू होती है। किसी चीजमें मिलता नहीं। पारेकी तरह अपनी सत्ता अलग रखता है। पीनेमें अत्यन्त मधुर। संसारकी सारी मधुरता मात हो जाती है। कम-से-कम एक छटाँक पीनेसे अमृतत्व प्राप्त होता है।

२-हिमालय-प्रदेशमें सजीवन बूटी नामक एक जड़ी होती है। उसकी पहचान यह है कि अँधेरी रातमें उसका हर एक पत्ता जुगनूकी तरह चमकता है। लक्ष्मणजीकी जब अकाल मृत्यु आयी थी, तब इसी बूटीने उनको अमरत्व प्रदान किया था। सिद्ध पुरुषोंमें बहुतेरे इसी संजीवनीद्वारा दीर्घजीवी हो सके हैं।

३-जीभका जो हिस्सा नीचे जुड़ा रहता है, उसको कटवा देना चाहिये और मक्खनके सहारे उस जीभको खींच-खींचकर लंबा करना चाहिये। इसके बाद शीर्षासन लगाना चाहिये। नीचे सिर और ऊपर पैर करके खड़ा होना चाहिये। कानोंको हाथोंके दोनों अँगूठोंसे बंद करना चाहिये। नेत्र भी बंद रखने चाहिये। तालूकी तरफ जीभको बढ़ाना चाहिये। अमृत-कलाका जो अमृत घटमें प्रकट होता है, उसको इस साधनद्वारा जीभसे पीना चाहिये। इस साधनवालेके सामने कुण्डलिनीका कपट हार जाता है।

अमर-कलावाला सर्वदा जीवित रहेगा, ऐसी बात नहीं है। अमर-कलावालेकी मौत उसीके अधिकारमें हो जाती है। वह जब मरना चाहे, मर भी सकता है। अपना जीवन-मरण अपने हाथमें कर लेना ही अमृत-कलाका लक्ष्य है।

जीवनके तीन दर्जे हैं—(१) मर (२) अमर (३) अविनाशी। जो सौ सालके भीतर मर जाते हैं, उनको मर कहते हैं। अमर लोग अपनी इच्छा-शक्तिद्वारा मरनेवालोंको मारा करते हैं। जो अपनी मृत्यु अपने हाथमें रखते हैं—जिनको जीवनका स्वराज्य मिल गया है, उनको अमर कहते हैं। वे या तो अपनी इच्छासे मरते हैं या कोई दोष हो जानेके कारण उनको कोई अविनाशी मार डालता है। रावण था अमर—राम थे अविनाशी। रावणने अपना काल अपनी चारपाईसे बाँध रखा था। इसका मतलब यही है कि रावणकी मौत उसके हाथमें थी। वैसा ही हुआ भी। उसने जान-बूझकर एक अविनाशीसे तकरार की और जानसे हाथ धो बैठा।

आशा है कि इस लेखसे पाठक लोग यह बात समझ गये होंगे कि अमृत-कलाद्वारा सबको दीर्घजीवन प्राप्त करनेका अधिकार है।

शरीरका गर्व न करो

गर्ब भुलाने देंह के, रचि रचि बाँधे पाग।
सो देही नित देखि के, चोंच सँवारे काग॥
सुंदर देंही पाय के, मत कोइ करै गुमान।
काल दरेरा खायगा, क्या बूढ़ा क्या ज्वान॥
इस जीने का गर्ब क्या, कहा देंह की प्रीत।
बात कहत ढह जात है, बारू की-सी भीत॥
देंही होय न आपनी, समुझ परी है मोहि।
अबहीं तें तजि राख तूँ, आखिर तजि है तोहिं॥

—मलूकदासजी

महापुरुष-पूजा

(लेखक—शास्त्रवाचस्पति डॉ० प्रभुदत्तजी शास्त्री, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, बी० एस-सी०, विद्यासागर)

सत्यकी उपलब्धिके नानाविध साधन हैं। हमारे आध्यात्मिक-अधिकारकी जो विभिन्न भूमिकाएँ हैं, उन्हींके अनुरूप कर्म, भक्ति और ज्ञानकी एक साधन-परम्परा है। पर इसी साध्यका एक इससे भी सुगम साधन है और वह है महापुरुषोंके चरित्र और आचरणका तत्त्वत: अनुकरण करनेका अभ्यास करना। हिन्दू-शास्त्रोंने सत्संगको सर्वदु:खहर भेषज कहा है (**'सतां सङ्गो हि भेषजम्'**)। महापुरुषोंका सामीप्य भी अध्यात्मकी दृष्टिसे बड़ा कल्याणकारी होता है। इसीलिये तो भारतवर्षमें साधु-महात्माओंकी सेवा और आदर करनेकी परम्परा अबतक अखण्डरूपसे चली आयी है।

महापुरुष शिक्षा-दीक्षासे महान् नहीं बनाये जाते, वे जन्मत: ही महान् होते हैं। उनकी चाहे कोई अलग जाति न हो, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनमें महत्प्राप्तिकी योग्यताका अद्‌भुत संचय होता है। मनुष्य कर्मके विविध क्षेत्रोंसे महत्ता लाभ कर सकता है, पर भौतिक महत्ताकी अपेक्षा बौद्धिक महत्ता श्रेष्ठ होती है और जहाँ कोई वास्तविक बौद्धिक महत्ता होती है वहाँ उसके पीछे आध्यात्मिक पृष्ठभूमि भी होती ही है। किसीकी वास्तविक महत्ता उसके चरित्रसे प्रकट होती है।

जो लोग धन कमानेमें लगते और बाह्यजीवनके सब सुखोंका संग्रह करते हैं, उनका बहुत लोगोंपर बड़ा प्रभाव होता है, परन्तु यथार्थमें ये लोग महान् नहीं होते। हममेंसे बहुतेरे ऐसे हैं जो, अच्छी नीयतके होते हुए भी आसुरी सम्पदाका ही पीछा करते हैं। वास्तविक महत्ता उस दैवी सम्पदाके साथ एकत्व-लाभ करनेसे ही मिलती है, जिसका वर्णन श्रीमद्‌भगवद्गीताके सोलहवें अध्यायमें हुआ है। महान् पुरुष महान् तभी माने जाते हैं जब वे सत्य, अभय, सत्त्वसंशुद्धि, परोपकार, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह, असंसक्ति, अक्रोध, अद्वेष और अनहंकारिताका ही जीवन व्यतीत करनेका पूरा-पूरा प्रयत्न करते हैं।

महान पुरुषोंकी दो कक्षाएँ हैं—एक वे जो इस अध्यात्म-पथपर हैं और अधिकाधिक सदाचार-सिद्धि लाभ कर रहे हैं और दूसरे वे जो सिद्ध हैं। पूर्वोक्त भी हैं तो महान् ही; पर उत्तरोक्त ही महापुरुष हैं। ऐसे सिद्ध महापुरुष सामान्य विधि-निषेधके परे पहुँच जाते हैं और उनका जीवन राग-द्वेष, हर्ष-शोक, लाभालाभ, जय-पराजयादि द्वन्द्वोंसे रहित अवधूतका-सा होता है। इस अवस्थामें उनके लिये कुछ भी शास्त्रोक्त कर्त्तव्य नहीं होता, उनका आचरण ही उनका शास्त्र और अधिकार होता है। उनके उदाहरण देखकर सामान्य लोगोंका कहीं बुद्धि-भेद न हो, इसलिये वे उस अवस्थामें भी वैसे ही आचरण करते हैं, जैसे दूसरे लोग करते हैं।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्त: समाचरन्॥

(गीता ३। २६)

महापुरुषोंके लक्षणोंको एक दूसरी ही पृष्ठ-भूमिसे देखना भी मनोरंजक होगा। इसके लिये उदाहरणस्वरूप हम विगत शताब्दीके एक ऐसे तत्त्ववेत्ताको लेते हैं, जिन्हें लोगोंने यथावत् समझा ही नहीं है। ये तत्त्ववेत्ता हैं-नीच्छे (१८४०-१९००)

यूरोपके तत्त्वज्ञानके इतिहासमें नीच्छे (Nietzsche) की महापुरुष-कल्पना एक अनोखी चीज है। इस विषयमें उनके विचार बहुत उद्बोधक हैं। 'दज स्पेक जरथुष्ट्र' (१८८३) इस नामकी अपनी पुस्तकमें उन्होंने 'सुपरमैन' (महापुरुष) शब्दका बारम्बार प्रयोग किया है। बर्नार्ड शाने इस शब्दका प्रयोग करना आरम्भ किया, इसीसे प्राय: यह शब्द अंग्रेजी भाषामें चल पड़ा। नीच्छेके भी पूर्व नेपोलियन, गेटे (Goethe), हाइने (Heine), शोपनहौअर (Schopenhauer), वागनर (Wagner), बिस्मार्क आदि 'सुपरमैन' कहे जाते थे। इन व्यक्तियोंको अवश्य ही सद्-यूरोपियन, अति-राष्ट्रिय अथवा उच्चतर मानव कहा जा सकता है, परन्तु इनमें नीच्छेके 'महापुरुष'—लक्षण नहीं हैं।

बहुत लोगोंकी यह धारणा है कि नीच्छेका महापुरुष कोई महाकाय, महाबल, महाविजयी दानव है जिसको देखते ही मनुष्य भयभीत होकर जमीन चूम लें। परन्तु वस्तुत: नीच्छेने इस कल्पनाका खण्डन ही किया है और यह माना है कि नम्रता और शान्तिमें जो शक्ति है वह दूसरी शक्तियोंसे श्रेष्ठ है तथा लोगोंको डराना-धमकाना और रौंदना-कुचलना उसके लिये कोई जरूरी बात नहीं है, बल्कि उसके द्वारा सामान्य जनसमुदाय स्वस्थ और

उपकृत ही होगा। 'भले-बुरेके परे' (Beyond Good and Evil) नामकी अपनी पुस्तकमें 'मनुष्योंका स्वभावसिद्ध स्वामी' इनके विचारसे, वह मनुष्य है 'जो किसी इष्ट कार्यका नेतृत्व करे, संकल्पको कार्यमें परिणत करे, ऋतमें निष्ठावान् हो, स्त्रीको अपने वशमें रखे, बदमाशको दण्ड दे और उखाड़ दे,··· जिसका क्रोध अपने वशमें हो और तलवार अधीन हो, दुर्बल, दु:खी, दलित मनुष्य और पशु भी प्रसन्नतासे जिसका मुँह ताकें और जिसके होकर रहें।'

महत्ताका मूल है ज्ञान और ज्ञान है शक्ति (जैसा कि बहुत समय पहले बेकनने कहा है)। बुद्धिका बल शारीरिक बल और भौतिक पराक्रमसे श्रेष्ठ है और वस्तुत: तत्त्ववेत्ता ही सबसे महान् पुरुष हैं। नीच्छेने यह भी लिख रखा है कि शक्ति दूसरोंको अपने अधीन करनेमें ही नहीं, बल्कि उनके हृदयोंको जीतनेमें है, अन्यथा वैसी शक्ति 'अपूर्ण' ही होती है। यदि नीच्छेके तत्त्वविचारका यही वास्तविक मर्म है तो शत्रुके साथ उदारता और क्षमाका व्यवहार करने और उसका जो कुछ है उसे लौटा देनेकी जो भारतकी पुरातन रीति है, उसके साथ नीच्छेका यह विचार मिलता-जुलता है। यही बात एक प्राचीन इटालियन ग्रन्थकारने बड़ी खूबीके साथ यों कही है कि, 'विजय करना तो वही जानता है जो क्षमा करना जानता है।'

यदि महान् पुरुष सामान्य मनुष्योंके-से नहीं होते बल्कि कई बातोंमें विशिष्ट होते हैं तो इससे यही सिद्ध होता है कि सब मनुष्योंमें उन्नति करनेकी एक-सी क्षमता नहीं होती। अर्थात् सब मनुष्य स्वतन्त्र और समान नहीं, बल्कि सभी एक दूसरेसे भिन्न होते हैं; और इनमें कुछ ही लोग ऐसे होते हैं जो नेता बननेके लिये ही पैदा हुए होते हैं और फिर इन नेताओंमेंसे भी कुछ ही ऐसे होते हैं जो सिद्ध महापुरुष हों। कर्मविपाक-सम्बन्धी हमारे सिद्धान्त (**'कर्मसापेक्षत्वात्'**) से ही जीवनके इस तरतम भावकी संगति लगती है। नीच्छे भी इन भेदोंको, इस 'श्रेष्ठ-कनिष्ठ-भाव' को, इस अधिकार-भेदको बहुत कुछ वैसा ही मानते हैं, जैसे हिन्दू गुण-कर्म-विभागसे वर्ण-भेदकी सृष्टि मानते हैं।

श्रेष्ठ-कनिष्ठ-भावको इस प्रकार माननेके कारण नीच्छे स्वभावत: ही प्रजातन्त्रको राज्यकी सर्वोत्तम व्यवस्था नहीं मानते। जब यह बात है कि महान् पुरुष ही अपने स्वगत विशिष्ट गुणोंके कारण ही नेतृत्व तथा शासन करनेके लिये पैदा हुए होते हैं, तब प्रजातन्त्र तो केवल निम्न और मध्यम श्रेणीके लोगोंका राज्य हुआ, उत्तम श्रेणीद्वारा शासित उत्तम राज्य नहीं। इसलिये नीच्छेके विचारमें प्रजातन्त्र 'राज्य-व्यवस्थाके क्षीण होनेका ही एक रूप है, महान् पुरुषों और शिष्ट जनोंपर विश्वास न होनेका ही एक चिह्न है।'

नीच्छेका यह भी सिद्धान्त है कि महान् पुरुष अपने कर्त्तव्योंका पाठ अपनेसे बाहरकी किसी संस्थासे नहीं ग्रहण किया करते, उनका सर्वप्रधान कर्त्तव्य 'आत्मसम्मान' होता है। महान् पुरुष, जहाँ कहीं भी हों, सदा 'असंसक्त' रहते हैं। उन्हें एकान्तमें आनन्द मिलता है, वे स्वयं बहुत कुछ एकाकी होते हैं। 'महान् जो कुछ हुआ करता है, वह हाटबाटसे दूर ही हुआ करता है।'

महान् पुरुषोंका एक दूसरा लक्षण यह है कि उनका जीवन सादा और संयत होता है। वे दु:खको भी आत्मसिद्धिके लाभके लिये तपके तौरपर सहर्ष स्वीकार करते हैं। दु:ख सहनेकी क्षमता सचमुच ही महत्ताका ही एक चिह्न है। महान् पुरुष दारिद्र्य और दैन्यको प्रसन्नतापूर्वक सहते हैं। जो कुछ मिथ्याप्रयुक्त, मिथ्याज्ञात या मिथ्यानिन्दित है, उसे ये बचाते हैं। 'ये उच्चतर वातावरणमें उठ जाते हैं, केवल कभी-कभी नहीं, प्रत्युत वहीं रहते ही हैं।' ये आत्संयमके अभ्यासी होते हैं, अपने चित्तकी वृत्तियोंपर जय-लाभ करते और असंसक्तिको बढ़ाते हैं, यदृच्छालाभसन्तुष्ट रहते और अपने जीवनके लिये कृतज्ञ होते हैं।

सिद्ध महापुरुषमें ये सब गुण होते हैं, पर महत्तररूपमें। सिद्ध महापुरुषोंका कोई समाज नहीं होता। महापुरुष अपनी ही एकान्त-महिमामें स्थित रहता है। उसमें बच्चेकी-सी सरलता होती है, कभी-कभी वह हँस पड़ता है तो वह सोनेकी-सी चमकवाली उसकी हँसी विलक्षण ही होती है। 'सबसे अधिक दु:ख उठानेवाला पशु मनुष्य ही तो है और उसीने हँसना ईजाद किया!'

एक मनुष्य दस हजार या दस लाख मनुष्योंके बराबर है, 'यदि वह सर्वोत्तम हो'। ऐसा मनुष्य कौन है? वही-महापुरुष। महापुरुष मनीषी भी होता है और साथ ही कर्मी भी। वह सदा ऐसी परिस्थितियोंका स्वागत करता है, जिनमें बड़ी विपत्ति और बड़ी भारी जोखिम है, क्योंकि आपत्कालमें ही वैयक्तिक पुरुषत्वको बढ़नेका अवसर मिलता और वह अपने महत्त्वको प्राप्त होता है। ऐसी विपज्जनक परिस्थितियोंसे ही मनुष्य और भी बलवान् होकर बाहर निकलता है। इस कोटिके मनुष्य ही महापुरुषका सादृश्य-लाभ करते हैं।

इन विचारोंसे यह प्रकट हुआ कि हर कोई पुरुष मनुष्योंका नेता नहीं हो सकता। नेतृत्वका भी एक सहजसिद्ध अधिकार होता है। सिरगिनतीसे या वोट गिनकर बड़े-बड़े प्रश्न हल नहीं किये जा सकते। कुछ ही लोग होते हैं जो अपने सहज अधिकारसे नेतृत्व कर सकते हैं, बहुजन-समाजका काम इतना ही है कि वह उनकी आज्ञाका पालन करे। यही उन्नतिका रास्ता है। जिन लोगोंके मन उत्तम कोटिके नहीं हैं, उन्हें शासन करनेके बजाय आज्ञाधारक होना चाहिये। बौद्धिक महत्ता शासक होनेकी क्षमताका चिह्न है, यह बौद्धिक महत्ता अवश्य ही ऐसी होनी चाहिये जो आध्यात्मिक महत्ताकी ओर आगे बढ़े। सच्चा नेतृत्व पूजनीय है और सच्चे महान् पुरुषोंका नेतृत्व ही जो-जो कुछ हमलोगोंके चाहने योग्य है, उसे पानेका सबसे नजदीकका रास्ता बना देता है। इस प्रकार महापुरुष-पूजा परम पुरुषार्थकी प्राप्तिका बहुत ही अच्छा साधन है।

शरणागति-साधन

(लेखक—पं० श्रीराजमङ्गलनाथजी त्रिपाठी, एम्० ए०, एल-एल० बी०, साहित्याचार्य)

इस त्रिगुणात्मिका सृष्टिमें तापत्रयसे विमुक्त होनेके लिये लोक-कल्याणकामनासे राग-द्वेषशून्य ऋषियोंने अनेक मार्गोंका अन्वेषण करके समस्त सिद्धियोंको सुलभ कर दिया है। प्रत्येक साधक अवस्थाभेदके अनुसार कल्याण-सिद्धिके लिये किसी-न-किसी साधनका अवलम्बन करता है और साधनानुकूल सिद्धियाँ भी प्राप्त होती ही हैं। परन्तु भगवान्की लीला विचित्र है। महामायाकी कृपासे मन कामिनी-कांचनकीर्तिके पाशमें बेतरह फँसा है; फँसना उसका स्वभाव है। अतः इस पाशसे मुक्त होना सहज नहीं है। सृष्टिके भ्रमजालसे मुक्तिकी युक्ति भगवत्-शरणागतिमें ही सूझ सकती है। शास्त्रोंके तथा गीतादि सद्ग्रन्थोंके अनुशीलन और तपःपूत भक्तोंके सत्संगके द्वारा विवेक उत्पन्न होता है। परन्तु हरिकृपाके बिना तो वह भी सम्भव नहीं। भक्तकुलचूड़ामणि तुलसलीदासजी कदाचित् इसी संकटमें बोल उठे थे—

'हे हरि, कवन जतन भ्रम भागे?
देखत सुनत बिचारत यह मन निज स्वभाव नहिं त्यागे॥
भगति ग्यान बैराग्य सकल साधन यहि लागि उपाई। (परंतु)
कोउ भल कहहु देउ कछु कोऊ असि बासना न जाई॥'

ऐसा वासनासक्त है यह मन! यह उस पतिंगेसे भी बेढब है जो जलनेके हेतु ही अग्निमें कूदता है। अनन्त लौकिक शक्तिशाली अर्जुनको भी कल्याण-साधनामें मनकी परवशताकी विकट स्थितिका अनुभव हुआ था। अखिल साधनाओंके प्रवर्तक करुणासिन्धु योगेश्वरने युक्ति बतलायी—

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।'

—साधकका काम इतनेपर भी नहीं चला। किन्तु उसकी आर्ति इतनी बढ़ी कि दयासागरको और भी उमड़ना पड़ा। भगवान् बोले—सब छोड़कर मेरी शरणमें आ जाओ, सम्पूर्ण काम अपने-आप बन जायँगे। यही तो मूल साधना है। उसका रहस्य है **'एकै साधै सब सधै।'** एकान्त ज्ञानके साधक कबीरको भी मनके ममत्वकी प्रबलता खली। बोले—

'मैं मंता मन मारि रे नान्हा करि करि पीस।
तब सुख पावै सुंदरी ब्रह्म झलक्कै सीस॥'

किन्तु मन हमारी कोरी चेतावनीसे सचेष्ट कैसे हो? उसमें अनासक्ति-भावका उदय तो तब होगा जब उसे तपकी अग्निसे तपा लिया जाय। आसक्तिके समस्त उपकरणोंको भगवत्प्रीत्यर्थ भगवान्को ही समर्पण कर दिया जाय। अनन्यशरणागतिरूप साधनामें भक्ति, ज्ञान, वैराग्यादि सब साधनोंका समावेश हो जाता है। आत्मसमर्पण करते ही साधककी स्थितिमें महान् परिवर्तन होता है। अनन्यशरणागतिसे मन-माया-मिलनका विच्छेद होना अवश्यम्भावी है। फिर मोहपाशकी शृङ्खलाओंके टूटनेमें विलम्ब नहीं लगता। अर्जुनने कहा था—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

—यह उक्ति साधकोंकी आशाको निरन्तर दृढ़तर करनेवाली है।

अर्जुनकी विजय हुई। समस्त संसारने विस्मयान्वित हो विस्फारित नेत्रोंसे देखा। न देखनेवालोंके लिये, सोते हुओंको जगानेके लिये संजयने अपनी अमरवाणीको अन्तमें सुनाया—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

साधन-सत्य

(लेखक—डाक्टर हरिहरनाथजी हुक्कू, एम्० ए०, डी० लिट्०)

जमीन फोड़कर जब नदीका पानी पहाड़ी घाटीमें निकल आया तब उसने यह किसीसे न पूछा कि समुद्र किधर है और मैं किस मार्गसे उसके पास पहुँचूँ? जोशसे मतवाली वह नदी कूदती-फाँदती छलाँग भरती बस चल पड़ी। उसके हृदयमें तो एक अनन्त समाया हुआ था। उसके दिलने कहा—'तू चल पड़, पूछ मत, पृथ्वीके चारों ओर समुद्र-ही-समुद्र है।' वह दौड़ पड़ी। पत्थर उसे देखकर हँसते थे। वे, बड़े-बड़े पत्थर, उसके रास्तेमें जा बैठे, उसका मार्ग रोकनेके लिये—उसे प्यारेसे न मिलने देनेके लिये। कैसा कड़ा पत्थर-सा उनका कलेजा था! लेकिन नदी दीवानी थी। जो पत्थर उसके मार्गमें रोक डाले पड़े थे, उनसे भी वह बिना प्यारेसे मिले, बिना गले लगाये, आगे न बढ़ी। प्यार-भरे हृदयमें घृणा कहाँ? जिन पत्थरोंने उसे टक्करें खिलायीं, उनके प्रति भी उसने प्रेम अर्पित किया, अपने स्नेह-स्पर्शसे उनका ताप हरण किया, अपने प्यारसे उनकी विषमता हरी और उन्हें सुडौल बनाया। जो पत्थर उसे दीवानी कहते थे, उसे हँसते थे, वे वहीं पड़े रहे, और वह प्रेममस्तीभरी नदी हजारों मील दूर निकलकर जिसके मिलनके लिये वह पागल थी उससे एक होकर सुख पा सकी। जिसके मनमें दीवानापन होता है, वही प्यारेको प्यारा होता है। मीरा श्रीकृष्णको प्यारी इसलिये हुई कि वह प्रेम-दीवानी थी। अपना सयानापन ही हमारा सबसे बड़ा वैरी है।

जबतक यह दीवानापन नहीं होता तबतक कोई मन्त्र क्या करेगा? साधना मनसे या बुद्धिसे नहीं होती। साधना एकांगी प्रयत्न नहीं है। साधना सर्वांगी है, चौबीसों घंटोंकी एक-एक क्षणकी, प्रेम-बाढ़, जिसमें मन, बुद्धि, वाणी, स्वत्व सब कुछ बह चलें।

और जब ऐसी प्रेम-बाढमें बढ़ चले तो मन्त्र कैसा और क्या पथ पूछना? जिधर पाँव ले जायँगे उधर ही प्यारा है। जो नाम निकलेगा वही मन्त्रवत् होगा। साधन-पथके लिये मन्त्र केवल एक है—प्यारेका नाम; प्रियतमके हजारों नामोंमेंसे वही, जिसे लेते ही प्रेमी अधीर हो जाय, उसके शरीरमें पुलकावलि हो जाय और आँखोंसे अटूट जलधार बह चले!

इन्द्रादि देवोंकी उपासना

(लेखक—गङ्गोत्तरीनिवासी परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमद्दण्डिस्वामी शिवानन्दजी सरस्वती)

ब्रह्मा दक्षः कुबेरो यमवरुणरुद्वह्निचन्द्रेन्द्ररुद्राः
शैला नद्यः समुद्रा ग्रहगणमनुजा दैत्यगन्धर्वनागाः।
द्वीपा नक्षत्रतारा रविवसुमुनयो व्योमभूरश्विनौ च
संलीना यस्य सर्वे वपुषि स भगवान् पातु वो विश्वरूपः॥

हम देखते हैं, उपासना-जगत्में उपासक अनन्त हैं। कोई सौर हैं, कोई गाणपत्य हैं, कोई शैव हैं, कोई शाक्त हैं और कोई वैष्णव हैं। इसी प्रकार और भी कई तरहके उपासक हैं। अतः प्रश्न होता है कि देवता कितने हैं?

भगवान् अनन्त विभूतिमय हैं। वे विश्वेश्वर, विश्वरूप और विश्वमय हैं। जल, स्थल, मरुत्, व्योम सभी उनसे व्याप्त हैं। वे सबके आधार और सर्वमय हैं। इन्द्रादि देवशरीरोंमें उनका अंश सम-भावसे विद्यमान है। समस्त देवोंमें वे अपने पूर्ण अंशसे विराज रहे हैं—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। इसीसे हमारे शास्त्रोंमें देव-देवियोंकी आराधनाका इतना विशद और विस्तृत विधान है। इसीसे हिन्दुओंके देव-देवी असंख्य हैं, अगणित हैं, उनकी संख्या तैंतीस कोटि बतायी जाती है। तथा इसीसे इन्द्रादि समस्त देवताओंमें भी हिन्दुओंकी पूर्ण आराध्यबुद्धि देखी जाती है। यद्यपि आराध्यदेव **'एकमेवाद्वितीयम्'** ही है, तथापि आराधनाके तारतम्यानुसार हिन्दुओंके उपास्यदेव तैंतीस कोटि भी हैं। आराध्यके सम्बन्धमें सभी संज्ञाएँ सम्भव हैं, क्योंकि जो सर्वमय, सर्वस्वरूप और सर्वशक्तिमान् हैं, उन भगवान्‌के लिये क्या सम्भव और क्या असम्भव हो सकता है? अपने आराध्यके विषयमें अभिज्ञता प्राप्त करनेके लिये कुछ काल गुरुदेवकी शरणमें रहनेका नियम है। हिन्दुओंमें यह बात सदासे चली आयी है। उनकी अस्थि, मज्जा और धमनियोंमें यही शिक्षा गूँज रही है कि 'देवता एक है और वही तैंतीस करोड़ भी है।' हिन्दुओंके योगी, ऋषि और तपस्वी, हिन्दुओंके वेद, वेदान्त और उपनिषद्, हिन्दुओंके पुराण, उपपुराण

और संहिता, हिन्दुओंके गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास तथा हिन्दुओंकी साकार-निराकार सब प्रकारकी उपासनाएँ पर्यायक्रमसे यही शिक्षा दे रही हैं कि, 'देवता एक है, देवता अनेक हैं, देवता अनन्त हैं—देवता विराट् हैं, देवता अल्प हैं एवं देवता अणु-परमाणुमात्र हैं।' इसीसे मातेश्वरी श्रुति भी श्रवण-मधुर स्वरमें कहती है—'**बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।**'

अत: विराट्की विशाल धारणाको अपने लिये विषम समझकर पीछे हटनेकी आवश्यकता नहीं है, तुम भगवान्के अणुरूपका ही आश्रय लेकर आगे बढ़ो। इससे भी तुम ऊँची-से-ऊँची साधनापर बड़ी आसानीसे अधिकार प्राप्त कर लोगे। अतएव देवता असंख्य हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, काली, तारा, महाविद्या; राम, कृष्ण, वामन; मत्स्य, कूर्म, वाराह; नृसिंह, परशुराम, बुद्ध; कल्कि, कपिल, दत्तात्रेय; इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, वरुण, यम, कुबेर—ये सभी देव हैं। यहाँतक कि श्रीहनूमान्जी भी हिन्दुओंके यहाँ देवताके रूपमें पूजित होते हैं। वस्तुत: इन सब रूपोंमें वे एकमात्र विश्वरूप विश्वेश्वर ही विराजमान हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वरादि विभिन्न नाम और रूपोंद्वारा भी उन्हींकी उपासना होती है। हाँ, नाम और रूपकी विलक्षणताके कारण उनकी पूजापद्धतिमें भी भेद अवश्य है।

श्रीमद्भगवद्गीता, नवम अध्यायमें पाण्डुकुलभूषण अर्जुनसे श्रीभगवान् कहते हैं—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विता:।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ २३॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥ २४॥
यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रता:।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ २५॥

'हे अर्जुन! जो लोग अन्य देवताओंमें भक्ति-भाव रखकर श्रद्धापूर्वक उनकी आराधना करते हैं, वे भी अविधिपूर्वक मेरी ही पूजा करते हैं, क्योंकि मैं ही सारे यज्ञोंका भोक्ता और अधिष्ठाता हूँ। वे मुझे पूर्णतया जानते नहीं हैं, इसीसे परमार्थसे पतित हो जाते हैं। उनमें जो देवोपासक होते हैं, वे देवताओंके पास जाते हैं, जो पितृगणकी पूजा करनेवाले होते हैं, वे पितृलोकोंमें जाते हैं और जो भूतपूजक होते हैं, वे भूतोंको प्राप्त होते हैं। किन्तु जो मेरी उपासना करते हैं, वे मुझे ही प्राप्त कर लेते हैं।'

तात्पर्य यह है कि एकमात्र सच्चिदानन्दस्वरूप मैं ही परमेश्वर हूँ। मुझसे भिन्न कोई अन्य देवता नहीं हैं। लोग जो मेरी ओर लक्ष्य न रखकर इन्द्रादि अन्य देवताओंकी उपासना करते हैं, वह उनका भ्रम ही है, क्योंकि अपने निज रूपसे मैं सर्वदा अप्राकृत प्रपंचातीत सच्चिदानन्द तत्त्व हूँ।

तुम एकाग्रचित होकर यदि सावधानीसे विचारोगे तो तुम्हें स्पष्टतया मालूम होगा कि वे सब देवगण मेरे ही गौण अवतार हैं। जो लोग मेरे वास्तविक तत्त्वको समझकर उन-उन देवताओंकी मेरे गुणावताररूपसे उपासना करते हैं, उनकी वह उपासना वैध—विधियुक्त अर्थात् उन्नतिकी सोपानरूपा मानी जाती है। और जो उन्हें नित्य समझकर पूजते हैं, वे मोहपंकमें फँसकर त्रयीजालके फन्देमें पड़ प्रमादसे अविधिपूर्वक असार और अनित्य सुखकी ही उपासना करते हैं। इससे उन्हें नित्य फलकी प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि मैं ही समस्त यज्ञोंका भोक्ता और प्रभु हूँ। किन्तु वे मुझे जान नहीं पाते, इसलिये स्वर्गपदपर पहुँचकर फिर भोग समाप्त होनेपर वहाँसे लौट आते हैं। इस प्रकार जो लोग अन्यान्य देवतओंकी ही उपासना करते हैं, वे अनित्य और असार वस्तुका आश्रय लेनेके कारण उस देवताके अनित्य लोकको ही प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार जो पितृ-गणकी उपासना करते हैं, वे पितृ-लोकको और जो भूतोंको पूजते हैं, वे भूत-लोकको जाते हैं। किन्तु जो नित्य चित्स्वरूप मेरी उपासना करते हैं, वे तो अन्तमें मुझको ही पाते हैं। तात्पर्य यह कि देवोपासकोंको देवगण, पितृपूजकोंको पितृगण एवं भूतोपासकोंको भूतगणकी प्राप्ति होती है तथा मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं। इस प्रकार उन उपासकोंको फल देनेमें मेरा कोई पक्षपात नहीं है। मेरा तो यह अटल नियम है कि सब जीवोंको निरपेक्ष-भावसे उनके कर्मोंका फल देता हूँ। अपने भक्तोंसे भी मैं कोई विशेष वस्तु नहीं चाहता। मुझे तो वे जो कुछ पत्र, पुष्प, फल, जल भक्ति-भावसे भेंट कर देते हैं, उसीको बड़ी प्रसन्नतासे स्वीकार कर लेता हूँ। उस शुद्धचित्त भक्तकी भेंटको मैं तत्क्षण भक्षण कर लेता हूँ।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन:॥

(गीता ९। २६)

किन्तु जो अन्य देवताओंकी उपासना करनेवाले होते हैं वे यदि बड़े परिश्रमसे बहुत-सी सामग्री जुटाकर बड़े आडम्बरके साथ ऊपरी श्रद्धासे मेरी पूजा करते हैं तो मैं उसमेंसे कुछ भी स्वीकार नहीं करता, क्योंकि वे किसी-न-किसी निमित्त या फलकी इच्छासे ही ऐसा करते हैं। ऐसे उपासकोंको जिस-जिस कामनासे जिस-जिस देवताकी उपासना करनी चाहिये—इसका विवरण श्रीमद्भागवत, द्वितीय स्कन्धके तीसरे अध्यायमें इस प्रकार दिया है—

ब्रह्मवर्चसकामस्तु यजेत ब्रह्मणस्पतिम्।
इन्द्रमिन्द्रियकामस्तु प्रजाकामः प्रजापतीन्॥ २॥
देवीं मायां तु श्रीकामस्तेजस्कामो विभावसुम्।
वसुकामो वसून् रुद्रान्वीर्यकामोऽथ वीर्यवान्॥ ३॥
अन्नाद्यकामस्त्वदितिं स्वर्गकामोऽदितेः सुतान्।
विश्वान्देवान् राज्यकामः साध्यान्संसाधको विशाम्॥ ४॥
आयुष्कामोऽश्विनौ देवौ पुष्टिकाम इलां यजेत्।
प्रतिष्ठाकामः पुरुषो रोदसी लोकमातरौ॥ ५॥
रूपाभिकामोः गन्धर्वान्स्त्रीकामोऽप्सरउर्वशीम्।
आधिपत्यकामः सर्वेषां यजेत परमेष्ठिनम्॥ ६॥
यज्ञं यजेद्यशस्कामः कोशकामः प्रचेतसम्।
विद्याकामस्तु गिरिशं दाम्पत्यार्थ उमां सतीम्॥ ७॥
धर्मार्थ उत्तमश्लोकं तन्तुं तन्वन्पितॄन्यजेत्।
रक्षाकामः पुण्यजनानोजस्कामो मरुद्गणान्॥ ८॥
राज्यकामो मनून्देवान् निर्ऋतिं त्वभिचरन्यजेत्।
कामकामो यजेत्सोममकामः पुरुषं परम्॥ ९॥

'जिसे ब्रह्मतेजकी इच्छा हो वह ब्रह्माजीकी, जिसे इन्द्रियोंकी पटुताकी अभिलाषा हो वह इन्द्रकी, जिसे प्रजाकी इच्छा हो वह दक्षादि प्रजापतियोंकी, जिसे सौभाग्यकी कामना हो वह दुर्गादेवीकी, जो तेज चाहता हो वह अग्निकी, जिसे धनकी इच्छा हो वह वसुगणकी, जिसे वीर्यकी कामना हो वह रुद्रकी, जो अन्नकामी हो वह अदितिकी, जो स्वर्गकी इच्छा रखता हो वह द्वादश आदित्योंकी, जिसे राज्यकी अभिलाषा हो वह विश्वेदेवोंकी और जो देशकी प्रजाको अपने अधीन करना चाहता हो वह साध्यगणकी उपासना करे। जो दीर्घायु चाहता हो उसे अश्विनीकुमारोंकी, जिसे पुष्टिकी इच्छा हो उसे शस्यश्यामला वसुन्धराकी, जो प्रतिष्ठाकामी हो उसे अन्तरिक्षकी, जो रूप चाहता हो उसे गन्धर्वोंकी, जिसे स्त्रीकी इच्छा हो उसे उर्वशी अप्सराकी तथा जो सबका आधिपत्य चाहता हो उसे प्रजापतिकी आराधना करनी चाहिये। यशकी इच्छावाला यज्ञभगवान्‌की उपासना करे। जो कोशकी कामनावाला हो वह वरुणदेवकी उपासना करे। विद्याभिलाषी श्रीशंकरकी आराधना करे और दाम्पत्यकी इच्छावाला उमा देवीका पूजन करे। जो धर्मसंचय करना चाहता हो उसे श्रीनारायणकी, जो सन्तानवृद्धिकी इच्छावाला हो उसे पितृगणकी, जिसे रक्षाकी कामना हो उसे यक्षोंकी, जो बल चाहता हो उसे मरुद्गणकी, जिसे राज्यकी इच्छा हो उसे मनुओंकी, जो अभिचार करना चाहता हो उसे राक्षसोंकी, जो भोगोंकी इच्छा रखता हो उसे चन्द्रमाकी और जिसे कोई इच्छा न हो उसे परमपुरुष परमात्माकी उपासना करनी चाहिये।' इस प्रकार लोकमें भिन्न-भिन्न कामनाओंसे भिन्न-भिन्न देवताओंकी आराधना की जाती है। जो लोग किसी वस्तुको पानेके लिये देवताकी उपासना करते हैं वे उसे पाकर ही कृतकृत्य हो जाते हैं। अतः उन्हें किसी अन्य परमार्थतत्त्वको पानेकी अपेक्षा नहीं होती। किन्तु जिनकी उपासना परमार्थतत्त्वकी उपलब्धिके लिये होती है, वे अन्तमें भगवत्तत्त्वस्वरूप मुझको ही पा लेते हैं, क्योंकि वे प्रकारान्तरसे तत्परतापूर्वक अन्य देवतामें भी मेरी ही उपासना करते हैं।

इसके आगे भगवान् अर्जुनका कर्तव्य बताते हैं। वे कहते हैं—'अर्जुन! तुमने धर्म-वीर और कर्म-वीर रूपसे इस मर्त्यलोकमें मेरे साथ अवतार लिया है। तुम निरन्तर मेरी लीलापुष्टिमें नियुक्त हो। इसलिये तुम मेरे सकाम या निष्काम भक्तोंमें ही नहीं गिने जा सकते। तुम्हारे द्वारा तो निष्काम-कर्म और ज्ञान दोनोंसे मिली हुई भक्तिका अनुष्ठान होना चाहिये। अतः तुम्हारा यही कर्तव्य है कि—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९। २७)

'तुम जो कर्मानुष्ठान करो, जो भोजन करो, जो हवन करो, जो दान दो और जो तप करो वह सब मुझे ही अर्पण कर दो।' दूसरे—

'अतः तुम मूलमें अपने कर्मको ही मुझे अर्पण

करते हुए भक्ति-भावसे उसका अनुष्ठान करो। इससे तुम कर्मजनित शुभाशुभ फलसे मुक्त हो जाओगे एवं कर्मार्पणरूप त्यागसे युक्त होकर मुक्ति-लाभपूर्वक मेरे स्वरूपभूत तत्त्वको प्राप्त कर सकोगे।'

अतः भगवान्‌के उपर्युक्त शब्दोंसे यह निश्चय होता है कि इन्द्रादि देवताओंके उपासकोंको भी यदि भगवद्भक्तोंका समागम होनेसे भगवान्‌के प्रति अविचल भक्ति-भाव उत्पन्न हो जाता है तब तो उन्हें परम पुरुषार्थकी प्राप्ति समझनी चाहिये, नहीं तो उनका सारा प्रयास व्यर्थ ही है। वे किसी-न-किसी लौकिक या अलौकिक वस्तुको पाकर ही अपनेको कृतकृत्य मान बैठेंगे। परन्तु यदि इन्द्रादि देवताओंकी भी परमात्मबुद्धिसे ही उपासना की जाय तो उसका फल भी परमात्माकी प्राप्ति ही होगा। भगवद्‌बुद्धि होनेसे किसी भी देवताकी उपासनाके फलमें न्यूनाधिकता नहीं होती। यही बात भगवान् बादरायणने भी कही है—**'विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्'** (ब्र० सू० ३। ३। ५९) किन्तु जिन्हें किसी वस्तुकी इच्छा नहीं है अथवा जो पूर्वोक्त सारी ही कामनाएँ रखते हैं वे भी समस्त देवोंके आधारभूत श्रीहरिकी उपासनाद्वारा अपना अभीष्ट-लाभ कर सकते हैं, क्योंकि जिस प्रकार मूलको सींचनेसे वृक्षके पत्ते, शाखा और स्कन्ध सभीका पोषण हो जाता है तथा प्राणोंको खुराक मिल जानेसे सभी इन्द्रियाँ सचेत हो जाती हैं, वैसे ही श्रीहरिकी पूजासे समस्त देवताओंकी पूजा हो जाती है। यही बात भक्तशिरोमणि देवर्षि नारदजी कहते हैं—

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन
तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां
तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥

(श्रीमद्भा० ४। ३१। १४)

परमपुरुष सच्चिदानन्दमय भगवान् विष्णु सभीके उपास्यदेव हैं। सौर, गाणपत्य, शाक्त, शैव कोई भी हों—सभी सम्प्रदायोंके साधक भगवान् विष्णुकी आराधना कर सकते हैं। जो जिस देवताके मन्त्रमें दीक्षित हैं, उन्हें उस मन्त्रके देवता या देवीकी ही उपासना करनी चाहिये—यह तो ठीक है, किन्तु उनकी वह उपासना श्रीविष्णुभगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही होनी चाहिये। प्रत्येक साधकको प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष-भावसे पूजा या श्राद्ध-तर्पणादिके समय हृदयकी निर्भरता, प्राणोंकी वेदना और आन्तरिक एकाग्रताके साथ श्रीविष्णुभगवान्‌के प्रति ही अपनी सारी साधना लगा देनी चाहिये। अतः उपासकके कामनाक्रान्त, वासनाविजडित, कामक्रोधादि-कलुषित चित्तकी शुद्धिके लिये सर्वदेवशिरोमणि सर्वाराध्य सर्वशक्तिमान् श्रीविष्णुभगवान्‌की उपासना ही परम उपयोगी एवं मंगलमयी है। जिस प्रकार जल मेघादिक्रमसे सूर्यसे सम्पन्न होकर फिर वाष्पादिक्रमसे उसीमें लीन हो जाता है तथा जैसे स्थावर-जंगम समस्त प्राणी पृथिवीसे उत्पन्न होकर अन्तसे उसीमें समा जाते हैं, वैसे ही यह चेतनाचेतनस्वरूप समस्त प्रपंच भगवान् हरिसे उत्पन्न होकर अन्तमें उन्हींमें लीन हो जाता है। अतः—

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां
ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे
आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी॥

हे अशरणशरण! हे जगत्पते! विश्वका मंगल हो। दुष्ट पुरुष अनुकूल हो जायँ। समस्त प्राणी आपसमें मिलकर कल्याणकामना करें। उनका मन अपने मंगलकी ओर प्रवृत्त हो और हमारा चित्त अकारण ही आपमें लग जाय।

शोभा-सिन्धु

मोहन-बदन बिलोकत अँखियन उपजत है अनुराग।
तरनि ताप तलफत चकोरगति पिवत पियूष पराग॥
लोचन नलिन नये राजत रति पूरन मधुकर भाग।
मानहु अलि आनंद मिले मकरंद पिवत रतिफाग॥
भँवरि भाग भ्रकुटी पर कुमकुम चंदन बिंदु विभाग।
चातक सोम सक्रधनु धनमें निरखत मनु बैराग॥
कुंचित केस मयूर चंद्रिका मंडल सुमन सुपाग।
मानहु मदन धनुष-सर लीन्हें बरसत है बन बाग॥
अधरबिंब बिहँसान मनोहर मोहन मुरली राग।
मानहु सुधा-पयोधि घेरि घन ब्रजपर बरसन लाग॥
कुंडल मकर कपोलनि झलकत श्रम-सीकरके दाग।
मानहु मीन मकर मिलि क्रीडत सोभित सरद-तड़ाग॥
नासा-तिलक प्रसून पदवि पर चिबुक चारु चित खाग।
दाडिम दसन मंदगति मुसकनि मोहत सुर-नर-नाग॥
श्रीगोपाल रस रूप भरी है 'सूर' सनेह सोहाग।
ऐसो सोभा सिन्धु बिलोकत इन अँखियनके भाग॥

—सूरदासजी

इन्द्रादि देवोंकी उपासना

हमारे पूर्वजोंका भी एक युग था। उनकी धन-सम्पत्ति पूर्ण थी, शरीर आरोग्य था, परिवार सुखी था, सबके हृदयमें शान्ति थी, संसारके व्यवहार उनके लिये क्रीड़ा-कौतुक थे, उनके स्मरण करनेसे बड़े-बड़े देवता आ जाते थे, इच्छामात्रसे उनका शरीर ब्रह्मलोकतक जा सकता था, उनके रथ और विमानोंकी गति अप्रतिहत थी, हजारों कोस दूरसे किसी भी वस्तुको वे देख लेते थे, सुन लेते थे, जान लेते थे, भविष्य और भूतका, दूर और निकटका व्यवधान उनके लिये नगण्य था। समस्त वस्तुओंका ज्ञान उनके करामलकवत् था। जिसपर प्रसन्न होते वरदान देते, जिसपर रुष्ट होते दण्ड भी देते। उनमें निग्रह-अनुग्रहकी पूर्ण क्षमता थी। स्वर्गके देवता उनकी सहायताके लिये अपेक्षा किया करते थे। प्राचीन ग्रन्थोंमें इस बातके अनेकों प्रमाण हैं। वे केवल मनगढ़न्त नहीं, ऐतिहासिक हैं, सत्य हैं।

परन्तु आज हम कहाँ हैं? हमारे पास अपनी कहनेके लिये एक बित्ता जमीन नहीं, पेट भरनेके लिये दो रोटी नहीं, दुर्भिक्ष, महामारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्दैव और अत्याचारोंसे पीड़ित होकर आज हम सुखसे सो नहीं सकते, एक क्षणके लिये मनको समाहित करके शान्तिका अनुभव नहीं कर सकते। चाहे धनी हों या गरीब, शरीरके भोगों और उपकरणोंके लिये ही इतने चिन्तित हो रहे हैं कि हम केवल स्थूलताओंके बन्धनमें ही जकड़कर मोहग्रस्त और त्रस्त हो रहे हैं और इसीमें इतने उलझ गये हैं कि इस बातका पता ही नहीं रहा कि इन स्थूलताओं और स्थूल बन्धनोंके ऊपर हमारा एक सूक्ष्म रूप है और उसके भी संगी, साथी, सहायक और भी बहुतसे लोग हैं, जिनके द्वारा शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे त्राण पाया जा सकता है और जिनके साथ सम्बन्ध कर लेने मात्रसे लौकिक, पारलौकिक और पारमार्थिक उन्नतिको बहुत कुछ सरल बनाया जा सकता है। जो लोग केवल स्थूलशरीरको सत्य समझकर इसीको सुखी करना चाहते हैं, जो केवल स्थूल जगत्के उलझनोंमें लगे हुए हैं, यदि वे संसारमें एकच्छत्र सम्राट् हो जायँ तब भी वे पूर्ण नहीं हो सकते; क्योंकि कोई-न-कोई अभाव उनके साथ लगा रहेगा। कारण स्थूल जगत्का जीवन सूक्ष्म जगत्की अपेक्षा बहुत न्यून है और हमारा हृदय स्थूल जगत्की नहीं, सूक्ष्म जगत्की वस्तु है।

अध्यात्मवादी हमें क्षमा करें। हम उनके चरणोंमें सिर रखकर प्रार्थना करते हैं कि आप जहाँ हैं वहाँसे विचार नहीं कर रहे हैं। जहाँ आपको पहुँच जाना चाहिये, वहाँसे विचार करते हैं। इस स्थूल जगत् और भगवत्प्राप्तिके बीचमें एक सूक्ष्म जगत् भी है, जो कि आध्यात्मिक उन्नतिमें सीढ़ीका काम करता है। उसकी सहायता लिये बिना आप अध्यात्मपथपर अग्रसर हो रहे हैं, इसका यह अर्थ है कि आप बिना किसी सहारेके, बिना किसी अवलम्बनके आकाशमें विचरण करना चाहते हैं। यदि आप स्थानसे ही यात्रा प्रारम्भ करते, जहाँ कि आप वास्तवमें उलझे हुए हैं, तो आप देखते कि इन स्थूलताओंके भीतर एक महान् सूक्ष्म लोक है, जिसमें इस लोककी अपेक्षा अधिक ज्ञान, अधिक शक्ति, अधिक सुख और अधिक सुव्यवस्था है। वहाँके शासक स्थूल जगत्पर भी आधिपत्य रखते हैं और यहाँकी प्रगति एवं प्रवृत्तियोंमें उनकी मुख्य प्रेरणा रहती है। जैसे यह स्थूलशरीर आप नहीं हैं, इसके अंदर रहनेवाले जीव हैं; वैसे ही पृथ्वीमें, जलमें, अग्निमें, वायुमें, चन्द्रमें, सूर्यमें, प्रत्येक ग्रहमण्डल और भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें एक दिव्य जीव निवास करता है, जिसको पृथ्वीदेवता, अग्निदेवता आदि नामसे कहते हैं, ये स्थूल पृथ्वीमण्डल, जलमण्डल आदि जिनके शरीर हैं। इनकी एक सुव्यस्थित राजधानी है, सेवक हैं, सहायक हैं, न्यायधीश हैं और राजा हैं। पृथ्वीकी नियमित गति, जलकी नियमित धारा, अग्निकी उष्णता, स्थूल जगत्के रोग-शोक, इन्हींके द्वारा नियन्त्रित हैं, मर्यादित हैं। इनका एक संगठित राज्य है और उनके पद और पदाधिकारी, उनके समयकी अवधि, सब कुछ नियमसे होता है। कोई प्रत्येक युगमें बदलते हैं, कोई प्रत्येक मन्वन्तरमें बदलते हैं, कोई प्रत्येक कल्पमें बदलते हैं। कभी-कभी इन पदोंपर बड़े-बड़े तपस्वी जीव भी जाते हैं और कभी-कभी ब्रह्मलोकसे आधिकारिक पुरुष भी भेजे जाते हैं। देवताओंके राजा इन्द्र हैं। न्यायाधीश धर्मराज हैं। धनाध्यक्ष कुबेर हैं। इन सबके आचार-व्यवहार, सामर्थ्य-शक्तिके वर्णन वेदोंसे लेकर काव्योंतक सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्यमें और बाइबिल, कुरान आदि अन्य धर्मोंके ग्रन्थोंमें भी मिलते हैं।

हमारे पूर्वजोंको जो ऐसी महान् शक्ति प्राप्त हुई थी, वह इन्हीं देवताओंकी उपासना और सम्बन्धका फल

था। यह स्थूल जगत् तो सूक्ष्म जगत्की प्रतिच्छाया मात्र है। सूक्ष्म जगत्से सम्बन्ध होनेपर और उसमें अधिकार प्राप्त होनेपर स्थूल जगत्में मनमाने परिवर्त्तन किये जा सकते हैं। लौकिक उन्नति करनेकी इच्छा हो तो वह सरलतासे सिद्ध हो सकती है। ये देवोपासनाके छोटे-से-छोटे फल हैं। जो लोग इससे ऊपर उठते हैं, स्थूल शरीर और स्थूल जगत्को क्षणिक समझकर सूक्ष्म जगत्में ही विहार करना चाहते हैं, वे देवोपासनाके द्वारा स्वर्गमें कल्पभरके लिये स्थान प्राप्त कर सकते हैं। वे अपनी तपस्या और उपासनाके अनुसार इन्द्र हो सकते हैं। और इन्द्रकी तो बात ही क्या, ब्रह्मातक हो सकते हैं। देवोपासनाके द्वारा यह सब कुछ बहुत ही सुलभ है। इस युगमें सबसे बड़ा ह्रास इस देवोपासनाका ही हुआ है अध्यात्मवादियोंने यह कहकर कि 'हम ब्रह्मलोकतकके भोगपर लात मारते हैं' और आधिभौतिकोंने यह कहकर कि 'सूक्ष्म लोक कोई वस्तु ही नहीं है' देवोपासनाका परित्याग कर दिया। वर्त्तमान समय इस बातका साक्षी है कि दोनों ही अपने-अपने प्रयासमें असफल हो रहे हैं। अधिकांश अध्यात्मवादियोंका वैराग्य उन लोकोंके न देखनेके कारण अथवा उनपर विश्वास न होनेके कारण है। यह कितने आश्चर्यकी बात है कि जो लोग इस जगत्के एक पुष्पके सौन्दर्य और सौरभपर लुभा जाते हैं, वे सूक्ष्म लोकोंके अतुलनीय भोगोंपर लात मारनेकी बात कहते हैं। आधिभौतिकोंके सम्बन्धमें यहाँ कुछ कहना अप्रासंगिक है, क्योंकि उन बेचारोंको इस विषयमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। क्या ही अच्छा होता कि वे हमारे प्राचीन इतिहासोंको सत्य मानते और श्रद्धायुक्त विवेकसे काम लेकर देवताओंके अस्तित्व एवं महत्त्वको मानते और उनकी सहायतासे शीघ्र-से-शीघ्र अपने लक्ष्यतक पहुँच जाते।

इस कथनका यह भाव कदापि नहीं है कि अध्यात्वादी उन लोकोंके वैभवसे विरक्त न हों। विरक्त तो होना ही चाहिये, परन्तु वह विरक्ति आत्मवंचना नहीं हो, पूर्ण हो। पूर्ण वैराग्यमें देवताओंकी उपासना बाधक नहीं साधक ही है। देवता रुष्ट हों तो इन्द्रियों और मनका संयम अत्यन्त कठिन हो जाता है। क्योंकि वे इनकी अधिष्ठातृ-देवता हैं। इसीसे प्राचीनकालमें ऋषिगण यज्ञ-यागादिके द्वारा इनको सन्तुष्ट किया करते थे। देवताओंकी उपासनामें मुख्यता राजसूय, वाजपेय आदि वैदिक यज्ञोंकी ही है। समस्त वेदान्ती और भक्त आचार्योंने एकस्वरसे स्वीकार किया है कि ये यज्ञ, देवोपासना आदि यदि सकामभावसे किये जाते हैं, तो इस लोककी समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले होते हैं और परलोकमें इन्द्रत्व और पारमेष्ठ्यको भी देनेवाले होते हैं, और यदि ये ही कर्म निष्काम-भावसे किये जाते हैं तो अन्तःकरणको शुद्ध करके भगवान्की भक्ति अथवा तत्त्वज्ञानके हेतु होते हैं। चाहे सकाम हो या निष्काम, किसी भी अवस्थामें देवोपासना लाभदायक ही होती है। जो लोग इन्द्रियोंका संयम करके मनको एकाग्र एवं परमात्मासे स्थिर करना चाहते हैं, उनके लिये भी देवोपासना बड़ी सहायक है। सूर्यकी उपासनासे, जो कि उनके सामने बैठकर गायत्रीके जपसे होती है, ब्रह्मचर्य स्थिर होता है और आँखें बुरे विषयोंपर नहीं जातीं। नित्य और नैमित्तिक कर्मोंमें देवपूजाके जितने भी मन्त्र हैं, उनमें कहा गया है—'अमुक देवता मेरी इन्द्रियोंको संयत करें, मनको विषयोंसे विमुख करें और अपराधोंकी पुनरावृत्ति न हो, ऐसी कृपा करें।' सन्ध्या और पंचमहायज्ञ-जैसे नित्यकर्म भी एक प्रकारसे देवोपासना ही हैं और देवताओंकी सहायता प्राप्त करते रहनेके लिये ही आर्य-जीवनसे उनका घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ दिया गया है।

वर्त्तमान युगमें सर्वसम्मतिसे यह स्वीकार कर लिया गया है कि गीता अध्यात्मशास्त्रका एक उज्ज्वल प्रकाश है। इसकी गम्भीरता, महत्ता और तात्त्विकता सर्वमान्य है। गीता ग्रन्थमें प्रसंगवश कई बार देवपूजाका उल्लेख हुआ है। सात्त्विक पुरुषोंक वर्णन करते हुए स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि सात्त्विक पुरुष देवताओंकी पूजा करते हैं **'यजन्ते सात्त्विका देवान्'**। शारीरिक तपोंमें सर्वप्रथम स्थान देवपूजाको ही प्राप्त है। इसके अतिरिक्त और भी अनेक स्थलोंमें जैसे यज्ञके साथ प्रजाकी सृष्टि बतलाते हुए कहा गया है कि यज्ञके द्वारा तुम उन्नति करो। यज्ञ तुम्हारी समस्त कामनाओंको पूर्ण करे। वहाँ स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य यज्ञके द्वारा देवताओंको प्रसन्न करे और देवता मनुष्योंको उन्नत करें। इस प्रकार एक-दूसरेके सहकारी बनकर परम कल्याण प्राप्त करें। आगे चलकर तो यह भी कहा गया है कि संसारकी सम्पूर्ण सुख-सम्पत्ति देवताओंसे ही प्राप्त होती है। इसलिये उनकी चीज उनको दिये बिना जो भोगते हैं, वे एक प्रकारसे चोर हैं—**'स्तेन एव सः'**। भगवान्की यह वाणी प्रत्येक साधकको सर्वदा स्मरण रखनी चाहिये कि इस यज्ञचक्रका जो अनुष्ठान नहीं करता, वह इन्द्रियोंके भोगोंमें रमनेवाला पापी व्यर्थ ही जीवन धारण करता है। भगवान्के ये

वचन इतने स्पष्ट हैं कि इनकी टीका-टिप्पणी आवश्यक नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य है कि भगवान्‌ने सकामताको हेय बतलाया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि कर्मका ही त्याग कर दिया जाय। यज्ञ करके यज्ञका फल नहीं चाहना यह गीताका सिद्धान्त है। उपासना न करनेवालेकी अपेक्षा तो उपासना करनेवाला श्रेष्ठ ही है। चाहे वह सकाम-भावसे ही क्यों न करता हो। पुराणोंमें और उपासनासम्बन्धी ग्रन्थोंमें ये बातें बहुत स्पष्टरूपसे लिखी हुई हैं।

परमार्थदृष्टिसे परमात्माके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं होनेपर भी व्यवहारदृष्टिसे सब कुछ है और ज्यों-का-त्यों सत्य है। इसलिये यदि स्थूल लोक सत्य है, तो सूक्ष्म लोककी सत्यतामें कोई सन्देह नहीं रह जाता। फिर इनकी उत्पत्तिका क्रम और इनकी व्यवस्था भी स्वीकार करनी ही पड़ती है। मूलतः इस सृष्टिके कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता एकमात्र ईश्वर ही हैं। वही परम देव हैं। उन्हींको कर्त्तापनकी दृष्टिसे ब्रह्मा, धर्त्तापनकी दृष्टिसे विष्णु और हर्त्तापनकी दृष्टिसे शिव कहते हैं। ये तीनों नाम एक ही ईश्वरके हैं। इसलिये ये भी परम देव ही हैं। इन तीनोंमेंसे ब्रह्माकी उपासना प्रचलित नहीं है; क्योंकि वे अपने कामको स्वाभाविकरूपसे करते रहते हैं और सृष्टिके लिये प्रार्थना करना आवश्यक नहीं है। संसारकी स्थितिके लिये अथवा संसारसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त करनेके लिये उपासना की जाती है। यही कारण है कि विष्णु और शिवकी उपासना अधिक प्रचलित है। संसारकी विभिन्नताओंके स्वामीके रूपमें गणेशकी और प्रकाशकके रूपमें सूर्यकी उपासना होती है। इन सबके साथ यों कहिये कि सबके रूपमें भगवान्‌की अचिन्त्य शक्ति है, इसलिये केवल शक्तिकी भी आराधना होती है। इस प्रकार विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश और शक्ति—ये पाँचों भगवान् ही हैं। इसलिये उपास्यदेवोंमें इन्हींका मुख्य स्थान है। जिस देवताकी जो शक्ति होती है वही उसकी पत्नी है और शक्तिमान्‌के साथ शक्तिका अभेद है। सामान्य देवताओंसे विलक्षण होनेके कारण इन पाँचोंकी गिनती देवताओंमें नहीं होती। समय-समयपर इन सभीके अवतार हुआ करते हैं और इस प्रकार निखिल जगत्‌की रक्षा-दीक्षा होती है।

सूक्ष्म जगत्‌के देवताओंमें अनेकों भेद हैं। ब्राह्मस्वर्गके देवता, माहेन्द्रस्वर्गके देवता और भौमस्वर्गके देवता, इनमें कुछ तो प्रजारूपसे निवास करते हैं और कुछ अधिकारीरूपसे। उनके शरीरमें स्थूल पंचभूत बहुत ही न्यून परिमाणमें होते हैं और पृथ्वी, जलकी मात्रा तो नहींके बराबर होती है। इसीसे उन्हें पार्थिव भोजनकी आवश्यकता नहीं होती, केवल सूँघनेसे या अमृतपानसे ही उनका जीवन परिपुष्ट रहता है। ब्राह्मस्वर्गमें तो गन्ध या पानकी भी आवश्यकता नहीं होती, इसलिये यज्ञ-यागादिका सम्बन्ध अधिकांश माहेन्द्रस्वर्गसे ही है। भौमस्वर्गके देवता पितर हैं।

देवता दो प्रकारके होते हैं। एक नित्य देवता और दूसरे नैमित्तिक देवता। नित्य देवताओंका पद प्रवाहरूपसे नित्य होता है। जैसे प्रत्येक प्रलयके बाद इन्द्रपद रहेगा ही। ऐसे ही दिक्पाल, लोकपाल आदिके भी पद हैं। इनके अधिकारी बदलते रहते हैं किन्तु पद ज्यों-का-त्यों रहता है। इस समय जो बलि हैं, वे ही आगे इन्द्र हो जायँगे। इनके बदलनेका समय निश्चित रहता है। यह नियम प्रत्येक ब्रह्माण्डमें चलता है। नैमित्तिक देवताका पद समय-समयपर बनता है और नष्ट हो जाता है। जैसे कोई नवीन ग्रामका निर्माण हुआ तो उसके अधिकारीके रूपमें नये ग्राम-देवता बना दिये जायँगे। नवीन गृहके लिये नवीन वास्तु-देवता भी नियुक्त कर दिये जायँगे। परन्तु उस ग्राम और घरके टूटते ही उनका वह अधिकार नष्ट हो जायगा। ग्राम-देवताकी पूजासे ग्रामका और गृह-देवताकी पूजासे गृहका कल्याण होता है। अब भी भारतके गाँवोंमें किसी-न-किसी रूपमें ग्राम-देवता और गृह-देवताकी पूजा चलती है।

देवताओंकी संख्या नहीं हो सकती। जितनी वस्तुएँ हैं, उतने ही देवता हैं। इसीसे शास्त्रोंमें देवताओंको असंख्य कहा गया है। तैंतीस करोड़का हिसाब अक्षपादने दिखलाया है। कहीं-कहीं देवताओंकी संख्या तैंतीस हजार तैंतीस सौ तैंतीस कही गयी है। मुख्यतः तैंतीस देवता माने गये हैं। उनकी संख्या इस प्रकार पूरी होती है। प्रजापति, इन्द्र, द्वादश आदित्य, आठ वसु और ग्यारह रुद्र। निरुक्तके दैवतकाण्डमें देवताओंके स्वरूपके सम्बन्धमें विचार किया गया है। वहाँके वर्णनसे यही तात्पर्य निकलता है कि वे काम-रूप होते हैं; वे स्वेच्छासे स्त्री, पुरुष अथवा अन्यरूप धारण कर सकते हैं। वेदान्त-दर्शनमें कहा गया है कि देवता एक ही समय अनेक स्थानोंमें भिन्न-भिन्न रूपसे प्रकट होकर अपनी पूजा स्वीकार कर सकते हैं। देवताओंके सम्बन्धमें और भी बहुत-सी ज्ञातव्य बातें हैं, परन्तु विस्तारभयसे उनका उल्लेख नहीं किया जा सकता है। अपने लोकमें वे जिस रूपसे निवास करते हैं, वही उनका स्थायी रूप माना जाता है। उसी रूपमें उनका

ध्यान एवं उपासना की जाती है। वेदोंमें प्रायः सभी देवताओंका वर्णन आया है; जैसे इन्द्रके लिये '**वज्रहस्तः पुरन्दरः**'। उनके कर्मका भी वर्णन है कि वे वर्षाके अधिपति हैं और वृत्रवध आदि कर्म करते हैं। वैदिक यज्ञोंके द्वारा देवताओंकी जिस प्रकासे उपासना की जाती है, यहाँ उसका संक्षिप्त दिग्दर्शन भी सम्भव नहीं है। तान्त्रिकपूजा-पद्धतिके अनुसार कुछ देवताओंके ध्यान और मन्त्र लिखे जाते हैं।

इन्द्र

इन्द्रका वर्ण पीला है, उनके शरीरपर मयूर-पिच्छके सदृश सहस्र नेत्रोंके चिह्न हैं, उनके एक हाथमें वज्र है और दूसरेमें कमल। अनेकों प्रकारके आभूषण धारण किये हुए हैं। दिक्पतियोंके स्वामी इन्द्रका इस प्रकार ध्यान करना चाहिये। इन्द्रका मन्त्र है—**ॐ इं इन्द्राय नमः।**

अग्नि

अग्निका वाहन छाग है। सात ज्वालाएँ निकलती रहती हैं, शरीर स्थूल है, पेट लाल है; भौंह, दाढ़ी, बाल और आँखें पिंगल वर्णकी हैं। हाथमें रुद्राक्षकी माला और शक्ति है। अग्निका मन्त्र है—**ॐ अग्नये नमः।**

कुबेर

कुबेर धनाध्यक्ष हैं। उनके दो हाथ हैं और शरीर नाटा है। पीताम्बर धारण किये हैं। सर्वदा प्रसन्न रहते हैं। यक्षगुह्यकोंके स्वामी हैं और धन देनेवाले हैं। इस प्रकार कुबेरका ध्यान करके उनके मन्त्रका जप करना चाहिये। कुबेरका मन्त्र है—**ॐ नमः कुबेराय।**

वास्तुदेव

वास्तुदेवका शरीर सोनेके रंगका है। उनके शरीरसे लालिमा निकलती रहती है। कानोंमें श्रेष्ठ कुण्डल हैं। अत्यन्त शान्त सौभाग्यशाली और सुन्दर वेश है। हाथमें दण्ड है। सब लोगोंके आश्रय एवं विश्वके बीज हैं। जो प्रणाम करता है, उसके भयको नष्ट कर देते हैं। ऐसे वास्तु-पुरुषका ध्यान करना चाहिये। इनका मन्त्र यह है—**ॐ वास्तुपुरुषाय नमः।**

देवताओंकी उपासनासे सभी प्रकारके अभाव पूर्ण हो सकते हैं। अनुकूल होनेपर ये भगवत्प्राप्तिमें भी सहायक होते हैं। इसलिये इनकी उपासना करनी चाहिये। भिन्न-भिन्न देवताओंकी उपासनापद्धति भी पृथक्-पृथक् है। जिसकी उपासना करनी हो, उसकी पद्धतिके अनुसार करनी चाहिये।

इन्द्रादि देवोंकी उपासना

(लेखक—मुखिया श्रीविद्यासागरजी)

कानूनकी किताब ही कानून नहीं है। कानून केवल ताजीरातमें ही नहीं है। वेद, गीता, रामायण, कुरान और इंजील भी कानूनी किताबें हैं। गीतामें एक दफा यों आयी है कि—

'जनताको चाहिये कि वह देवोंको सन्तुष्ट करे और देवोंको चाहिये कि वे जनताको सन्तुष्ट करें।'

(गीता ३। ६)

इस प्रजापालक दफापर किसीने भी ध्यान नहीं दिया। इस दफाके अंदर खेतीका प्राण रख दिया गया है—इसकी खबर किसीको नहीं हुई। बड़े-बड़े नेताओंकी टीकाएँ बहुत प्रसिद्ध हुईं। मगर उन्होंने भी इस दफाकी आवश्यक व्याख्या करना जरूरी न समझा। अंग्रेजीवालोंने तो इस दफाका मुताला अश्रद्धाके साथ किया है। वे सोचते हैं कि गीतामें भी कहीं-कहीं 'मुर्दा दफाएँ' मौजूद हैं। क्योंकि अंग्रेजीवाले देवता और प्रेतोंमें विश्वास लाना नपुंसकता समझते हैं। चाहे कोई शंका करे और चाहे कोई तर्क करे कि देव और भूत हैं ही नहीं—इस संसारमें वह सब है कि जिसका नाम सुना जाता है। रूपके बिना नाम पड़ेगा कैसे? जिसका रूप है उसका नाम भी है। जिसका नाम है, उसका रूप भी है। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि जिसे देखा नहीं उसे हम नहीं मान सकते। यह उन्होंने कब देखा कि उनकी माता ही उनकी जननी है! सुना हुआ क्यों मानते हैं? फिर देवोंको देखनेका आपने कब प्रयत्न किया? जो लोग देव-दर्शनकी क्रिया बाकायदा करते हैं, वे देवताओंको देखते हैं और जो लोग भूतोंका आवाहन बाकायदा करते हैं, वे भूतोंको भी देखते हैं। आपके बँगलेपर जाकर कोई देव या भूत आपको हाजिरी नहीं देगा। घरसे निकले स्कूलमें घुस गये, स्कूलसे भागे तो घरमें आ टपके। फिर जब नौकरी मिली तो स्कूलके बजाय दफ्तरसे पाला पड़ा। भला, ऐसे अनजान आदमी क्या जानें कि देवता होते हैं या नहीं

और भूतयोनि, वास्तविक है या काल्पनिक! ऐसे ही लोग कहा करते हैं कि गीतामें भी मुर्दापन है और रामायणमें भी विरोधाभास है! वे लोग अपने दिमागका मुर्दापन नहीं देखते, अपने दिलका विरोधाभास नहीं देखते!

संसारका जीवन खेतीपर निर्भर है। चौकीदारसे लेकर बादशाहतकका सम्बन्ध खेतीसे है। संसारका समस्त विज्ञान, समस्त विद्याएँ, समस्त कलाएँ, समस्त व्यापार और समस्त कारखानोंकी जड़ खेती है। खेती ही जीवनका जीवन है और खेती ही प्राणोंका प्राण है। अत: खेतीके विषयमें सबको एकमत होना चाहिये।

दिन-रातके चौबीस घंटोंमें कम-से-कम तीन बार जीवोंका अनाजसे जीवनशक्ति लेनी पड़ती है। भोजनके सिवा जिन वस्त्रोंद्वारा लोगोंकी इज्जत सुरक्षित रहती है, वे भी खेतीसे ही प्राप्त होते हैं। अत: खेतीके मामलेमें सबको मदद देनी चाहिये।

यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि संसारकी संचालक एक हजार शक्तियोंमें चार शक्तियाँ प्रधान हैं। वे हैं—(१) हल, (२) कलम (सरस्वती), (३) रुपया (लक्ष्मी) और (४) लाठी (बल)। इन चारोंमें प्रधान खेती है। अत: खेतीके बारेमें सबको दिलचस्पी लेनी चाहिये और विशेष आत्माओंको तो दिलचस्पी लेनी ही चाहिये।

मनुष्य-नर-नारियोंका ही जीवन खेतीसे सम्बद्ध है—ऐसा नहीं। नर-नारी, पशु-पक्षी और भूत-देवता भी अपने-अपने जीवनका निर्वाह खेतीसे ही किया करते हैं। अत: समस्त सचराचरको मिलकर खेतीकी उन्नति करनी चाहिये; क्योंकि अन्नपूर्णाके द्वारके सभी भिखारी हैं!

संसारके उसी मुख्य कार्य खेतीकी आज पूर्ण दुर्दशा है। भारतमें जो अशिक्षित हैं, जिनके किये अन्य कोई उद्योग नहीं हो सकता, वही लोग खेती करते हैं। अर्थात् उत्तम कामका सम्पादन निकृष्ट लोग करते हैं—फिर भला सफलता हो तो कैसे? इसी कारण कृषि-कला मुर्दा हो रही है। भारतमें इस समय प्रति-बीघा एक मनकी उपजका औसत लग रहा है। इस गिरी हुई उपजके कारण भारतीय किसान आधा पेट रहकर यमयातना सहता है। किसानोंके हाहाकारी चीत्कारसे सारा भूगोल काँप रहा है।

सरकारने खेतीका महकमा अलग कायम किया है। उसके प्रधान अफसर 'डायरेक्टर आफ एग्रीकल्चर' कहलाते हैं। यह महकमा जगह-जगह फार्म खोले बैठा है। लाखों रुपये सालाना खर्च किये जा रहे हैं। प्राय: फार्म घाटेपर चल रहे हैं। इसका कारण यह है कि वास्तवमें अंग्रेज जाति कृषिकलाको नहीं जानती। इसके सिवा, खेतीके कामसे देवताओंका अटूट सम्बन्ध है और देवताओंके नामसे इन लोगोंको बुखार चढ़ आता है!

यूरोपमें धनवान् और ज्ञानवान् लोग खेती करते हैं। वे लोग विज्ञानकी सहायतासे खेती करते हैं। बीज, खाद, जुताई और सिंचाईके कामोंमें निपुण हैं। इसी कारण उनकी उपजका औसत फी बीघा दस मन है। पर वैज्ञानिक उसूलोंसे ही कृषि-कलामें परिपूर्णता नहीं आ सकती। यूरोपवाले प्रत्येक कलामें अपनेको एम्० ए० मानते हैं, जो उनका कोरा भ्रम है। कानून और कृषिमें वे लोग पूरी तौरसे फेल हुए हैं। अत: भारतीय अशिक्षित किसान और यूरोपीय सुशिक्षित किसान—दोनों ही कृषि-कलामें पूरे 'बुद्धू' प्रमाणित हो चुके हैं। वर्तमानकी अधूरी कृषि-कलापर सफलताकी आशा लादना पूरी चकल्लस है।

संसारमें जितने चक्रवर्ती सम्राट् हुए हैं, एकको छोड़कर उनमेंसे किसीको भी परिपूर्ण कृषि-कला प्राप्त नहीं हुई। केवल महाराजा रामने कृषि-कलाका परिपूर्ण विधान प्राप्त कर लिया था। जबतक भूगोलका कृषिक्षेत्र महाराजा रामके विधानको स्वीकार नहीं करता, तबतक वह खुद भी भूखों मरेगा और दूसरोंको भी मारता रहेगा।

महाराजा रामको खेतीको पूरी कला विदित थी, इसीलिये भारतमें दस हजार सालतक खेती खूब फूली और खूब फली। रामराज्यमें न तो कभी ओले पड़े और न कभी तुषार पड़ा। न कभी अनावृष्टि हुई और न कभी अतिवृष्टि हुई। न कीड़ोंने उपजको चौपट किया और न सूरजने बीजको सुखाया। न कभी चूहे आये और न कभी टिड्डी आयी। भला, यूरोपके कृषिकलाविशारद लोग और भारतीय खेतीके डायरेक्टर लोग जवाब दें कि उनके पास ओला, पाला, तुषार, कीड़ा, अनावृष्टि और अतिवृष्टिके लिये क्या माकूल जवाब है? इतना ही नहीं, रामराज्यमें किसानोंको जोतना और बोना भी बंद रखना पड़ा। जिसने जिस खेतमें जो चीज बो दी वही दस हजार सालतक बराबर पैदा होती रही। मजा यह कि उपज हरसाल बढ़ती जाती थी। किसानका काम था खेतीकी निकाई करना और खेती काटना। जोतना और बोना बन्द। जिस

तरह जावाकी खेती एक साल बो देनेसे दस सालतक चलती है, उसी तरह रामराज्यके सभी बीज सर्वदा स्वयं उगा करते थे। कृषि-कला जब परिपूर्ण होती है तब नर-नारी, देव-पितर, भूत-प्रेत और पशु-पक्षी अनाजसे तृप्त हो जाते हैं। बचा हुआ अनाज ही खाद बनकर खेतमें डाला जाता है—इतनी उपज बढ़ जाती है।

महाराजा रामने कृषि-कलाको दो भागोंमें बाँट दिया था—(१) बाह्यजगत्के ५ साधन और (२) अन्तर्जगत्के ५ साधन। बस, यही परिपूर्ण कृषि-कलाकी चाभी उनके पास थी।

बाहरी साधन

(१) अच्छी जुताई, (२) अच्छी खाद, (३) अच्छा बीज, (४) अच्छी निकाई और (५) अच्छी सिंचाई।

भीतरी साधन

इन्द्रादि देवोंका साधन—(१) इन्द्र, (२) सूर्य, (३) पृथ्वी, (४) वायु और (५) गणेशके यज्ञ।

यों तो देवतालोग तैंतीस प्रकारके होते हैं। परन्तु खेतीके काममें उपर्युक्त पाँच देवताओंका ही सहयोग पर्याप्त है। इन पाँचों देवताओंका सम्मिलित यज्ञ रामनवमीके दिन समस्त भारतमें जारी करा दिया गया था। रामराज्यने उन वैदिक मन्त्रोंको खोज निकाला था कि जो खेतीके सहायक देवताओंके लिये वेदने निश्चित किये हैं।

मान लीजिये कि खेतीके काममें १० पदार्थ सहायक हैं। ५ बाह्यजगत्के साधन और ५ अन्तर्जगत्के साधन। अब यदि कोई १० आवश्यक पदार्थोंमेंसे केवल ५ पदार्थोंकी ही सहायतासे ही मुकम्मिल खेती करनेका बीड़ा उठावे तो यह कैसे हो सकता है? खेतीके काममें कुदरतने इन्द्रादि देवताओंकी सहायता अनिवार्य कर दी है। मगर मूर्ख मनुष्य उसके बायकाटपर तुला हुआ है और मजा यह कि वह कृषि-कलामें पूर्णता भी चाहता है।

जब सूर्य, वायु, गणेश, पृथ्वी और इन्द्र आपकी खेतीमें काम करेंगे, तब क्या आप उनको उनकी मजदूरी यज्ञके रूपमें अदा नहीं करेंगे? नहीं करेंगे, तो वे भी अपना काम सीधा नहीं करेंगे बल्कि उल्टी माला फेर देंगे, जैसा कि वर्तमान समयमें हो रहा है। यदि देवोंको तृप्त किया जाय और वे लोग मदद न दें या अनुकूल आचरण न करें तो उनपर मुकदमा कायम हो सकता है और गीताकारकी अदालतमें उनको शरमिन्दा किया जा सकता है। लेकिन बिना उनको तृप्त किये उनसे काम लेनेका अधिकार गीता नहीं देती कि जो न्यायानुकूल उचित भी है।

इन्द्रादि देवोंकी उपासनाका फल

१-गणेश=खेतीमें चूहा, टिड्डी और दीमकसे रक्षा करते हैं।

२-सूर्य=किरणोंद्वारा खेतीका शोषण नहीं—पोषण करते हैं।

३-पवन=अनुकूल समयपर बादलोंको लाते हैं।

४-पृथ्वी=उपज बढ़ाती है।

५-इन्द्र=ठीक समयपर जलकी उचित वर्षा करते हैं।

सरकार प्रत्येक गाँवमें ग्रमसुधार-योजनाके अनुसार 'पंचायत' कायम करा रही है। उन पंचायतोंको तीन काम दिये गये हैं—(१) ग्रामकी सफाई, (२) ग्राममें साक्षरता-प्रचार तथा (३) ग्रामके मामलोंका निपटारा। परन्तु जबतक इन्द्रादि देवताओंकी पूजाकी व्यवस्था न होगी, तबतक न खेतीमें पूरी सफलता मिलेगी, न ग्रामसुधार ही होगा।

अतएव इन्द्रादि देवोंकी उपासना आवश्यक है, उसके बिना न तो सांसारिक जीवनकी अन्यान्य इच्छाएँ पूर्ण हो सकती हैं और—

'न मुकम्मिल खेतीका कामयाब प्रोग्राम' ही बन सकता है।

गोविन्दके गुण गाओ

दादू देही देखताँ सब किसही की जाइ।
जब लग साँस सरीरमें गोबिंदके गुण गाइ॥

— दादूजी

साधनाका प्रथम पद

(लेखक—श्रीदेवराजजी विद्यावाचस्पति)

मनुष्यको किसी भी लक्ष्यको सिद्ध करना हो तो सबसे पहले उसे यह दृढ़ निश्चय करना चाहिये कि उसको अमुक लक्ष्य अवश्य ही सिद्ध करना है। सिद्ध करनेकी इच्छामें जबतक दृढ़ता न आवे तबतक उसको सिद्ध करनेके लिये प्रवृत्ति नहीं होती, यदि प्रवृत्ति हो भी तो उस प्रवृत्तिमें बल न होनेसे कार्य अधूरा ही रह जाता है। ऐसे लोग जो कार्य प्रारम्भ करके बीचमें ही छोड़ देते हैं, मध्यम कोटिके कहलाते हैं। वे मनुष्य जो किसी प्रकारकी आशङ्काके कारण कार्य करनेके लिये प्रवृत्त ही नहीं होते, अधम कोटिके मनुष्य कहलाते हैं, परन्तु जो मनुष्य सब प्रकारकी आशङ्काओंके परिहारका उपाय करके प्रबल इच्छाके साथ कार्यको सिद्ध करनेमें लग जाते हैं और अवश्य सिद्ध कर डालते हैं, वे उत्तम कोटिके मनुष्य कहलाते हैं।

दुर्व्यसनोंमें पड़े हुए अनेक मनुष्य जानते हैं कि हमें दुर्व्यसन छोड़ना चाहिये, उससे हमारी हानि है, तो भी वे आशङ्काओंके कारण छोड़नेमें प्रवृत्त ही नहीं होते, तथा बहुतसे प्रवृत्त होकर भी रुक जाते हैं। दृढ़ सङ्कल्पका बल एक ऐसा बल है, जिसके द्वारा मनुष्य कठिन-से-कठिन कार्यके भी पार पहुँच जाता है। मनुष्यका इतना ही कर्तव्य है कि दृढ़ताके साथ अपनी व्यक्तिगत शक्तिके द्वारा कार्य करना आरम्भ कर दे। यदि ऐसे दृढ़ सङ्कल्पके साथ कार्य आरम्भ हुआ है कि जो कदम आगे बढ़ चुका है वह पीछे नहीं हटेगा—'**कार्यं वा साधयेयं देहं वा पातयेयम्**'—तो उस कार्यको सिद्ध करनेके लिये जितने भी साधन चाहिये वे यथासमय अवश्य ही उपस्थित हो जायँगे। इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

कार्यको सिद्ध करनेकी इच्छामें जो प्रबल दृढ़ता है वह तप है। इस तपके कारण ही मनुष्य लक्ष्यसे च्युत करनेवाले तथा बीच-बीचमें आनेवाले अवान्तर विषयोंमें भटकनेसे बच जाता है, उनसे विरक्त रहता है। जबतक कार्य समाप्त नहीं हो जाता तबतक मनके अंदर 'यह कार्य मुझको अवश्य ही पूरा करना है' ऐसी आवृत्ति लगातार बनी रहती है।

इस आवृत्तिके लगातार बने रहनेका नाम 'अभ्यास' है। इस अभ्यासके कारण ही लक्ष्यच्युति नहीं होती। तप ही अभ्यास और वैराग्य दो भागोंमें बँट जाता है। व्यवहारमें अपने-अपने कार्योंको करते हुए हमलोग अभ्यास और वैराग्यका साधन कर सकते हैं। अभ्यास और वैराग्यके द्वारा चित्तकी चञ्चलता शान्त होती है और कार्य सिद्ध होता है। तपकी वृद्धिके साथ चञ्चलता दूर होनेसे क्रमशः सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है। जितना ही अधिक सत्त्वगुणका उदय होता है, उतना ही अधिक मनुष्य लक्ष्यके समीप होता है।

साधकका सबसे प्रथम पद लक्ष्यको सिद्ध करनेके लिये चित्तमें विद्यमान अशुद्धिको दूर करना है। तपके द्वारा चित्तमें रजोगुण (चञ्चलता) और तमोगुण (अप्रकाश, अप्रवृत्ति)-के मलोंको दूर करना ही सबसे प्रथम पद है।

सोते क्यों हो?

कबीर सोया क्या करै, जागिके जपो मुरार।
एक दिना है सोवना, लंबे पाँव पसार॥
कबीर सोया क्या करै, उट्ठि न रोवै दुक्ख।
जाका बासा गोरमें, सो क्यों सोवै सुक्ख॥
कबीर सोया क्या करै, जागनकी करु चौंप।
ये दम हीरालाल है, गिनि गिनि गुरुको सौंप॥

—कबीर

माया, महामाया तथा योगमायाका भेद

(लेखक—यो० श्रीपारसनाथजी)

पुस्तकोंके पढ़नेसे ही माया, महामाया और योगमायाका भेद नहीं मालूम हो सकता। इस विषयको वस्तुत: वही जान सकता है कि जिसे समाधिके द्वारा अनुभव करनेकी क्षमता प्राप्त हो।

परमात्माने जब जगत्-प्रपञ्च रचनेकी इच्छा की तब इच्छाशक्ति पैदा हुई। वही साकार इच्छाशक्ति जगत्-रचनामें मुख्य कारण है।

कर्त्री इच्छादेवीने ही तीन प्रकारकी मायाको उत्पन्न किया। उन्हींको योगमाया, महामाया तथा माया कहते हैं।

परमात्मामें समस्त तत्त्व घनतत्त्व हो रहे हैं। थोड़े-से घनतत्त्वको लेकर इच्छाशक्तिने योगमायाके द्वारा समस्त तत्त्वोंका पृथक्करण किया। मिले हुए तत्त्वोंको अलग-अलग किया और उन सब तत्त्वोंके नक्शेमें अपने-आप ही योगमाया व्यापक होकर बैठ गयी। एकसे लेकर दस शङ्खतककी पूरी संख्याको बनाया है इच्छाशक्तिने, परन्तु एकको दूसरी संख्यासे जुदा करना और हरेक संख्याकी कीमत स्थिर रखना—यह योगमायाका काम है। सृष्टिके परिपूर्ण हिरण्यगर्भमें तदाकार व्यापकता रखना योगमायाका काम है। कलम बतौर इच्छाशक्ति है। परन्तु, कलमके अक्षरोंमें जो व्यापक स्याही है—वह योगमाया है। मेरी रायसे इस लेखकी सुरखीमें एक कमी रह गयी है। मायाके भेद तीन नहीं—चार हैं। जबतक चारों रूपोंकी आलोचना न की जायगी, मायामण्डलसे पूरी जानकारी न हो सकेगी। पूरी सुरखी यों है—

'माया, महामाया, योगमाया तथा इच्छाशक्तिका भेद।'

इच्छाशक्तिकी परिभाषा

जब सृष्टि नहीं थी तब केवल परमात्मा था। एकाएक उस परमतत्त्वसागरमें यह विचार पैदा हुआ कि 'हमीं-हम हैं—अब यह देखना चाहिये कि हममें कैसा ज्ञान है और कितनी शक्ति है?'

यह जानकर भी कि सम्पूर्ण ज्ञान एवं सम्पूर्ण शक्तिके केन्द्र हमीं हैं, परमात्माने अपने ज्ञान और शक्तिको लेकर खेलनेकी इच्छा की। उसी परमात्मीय इच्छाशक्तिने समस्त जगत्की रचना की है। हमलोग जितनी इच्छाएँ किया करते हैं, वे सब उसी इच्छाशक्तिसे निकलती हैं और उसीमें लय होती हैं। अतएव कर्त्री इच्छाशक्ति है। लोग कहते भी हैं कि—'यह भगवान्की इच्छासे हुआ!' यह बात कोई नहीं कहता कि अमुक काम भगवान्ने किया। यही कहा जाता है कि भगवान्की इच्छासे हुआ। अगर यह कहा जाय कि अमुक घटना भगवान्ने की तो यह गलत है; क्योंकि भगवान् द्रष्टा हैं, कर्ता नहीं। कर्ता इच्छारूपी परमात्मा हैं। परमात्मा निराकार है और इच्छाशक्ति साकार है। भगवान् भी शक्तिको लेकर ही साकार हैं। इच्छाशक्तिने जो जगत्का चित्र बनाया है, उसीमें माया, महामाया तथा योगमायाका विवरण मौजूद है।

योगमायाकी परिभाषा

भगवान्की इच्छाशक्तिके द्वारा बनाये हुए जगत्में जो व्यापक शक्ति वर्तमान रहती है, उसको योगमाया कहते हैं। योगमाया नक्शा है, योगमाया ही साकारता और प्रत्येक आकारकी महिमा है। योगमायारूपी मकानके भीतर, माया एवं महामायाका निवास है। योगमायाकी क्षमता, माया और महामायाकी क्षमतासे कहीं अधिक है। माया और महामायाका सञ्चालन योगमाया करती है और योगमायाका सञ्चालन इच्छाशक्ति करती है। इच्छाशक्तिको इंजिनका ड्राइवर मानना चाहिये। समूचा इंजिन बतौर योगमाया मानना चाहिये। ठीक समयपर सूर्य निकलता है। केवल बारह घंटेके लिये सूर्य निकलता है। सूर्यका निकालना और छिपाना योगमायाके हाथमें है। योगमाया चाहे तो महीनेभरतक रात ही बनी रहे। वह चाहे तो छ: महीनेकी रात कर दे। वह चाहे तो छ: महीनेतक सूर्यदेव तपते ही रहें। वह चाहे तो जयद्रथवाला सूर्य कर दे। है भी और नहीं भी। सूर्य नहीं-सृष्टिके प्रत्येक परमाणुपर योगमायाका परिपूर्ण अधिकार है। सूर्यसे केवल उपमा दी गयी है। समस्त आध्यात्मिक और भौगोलिक परिवर्तन योगमायाके द्वारा ही होते हैं। परन्तु स्वयं योगमाया कुछ नहीं करती। वह इच्छाशक्तिके द्वारा आज्ञा पाकर आज्ञानुसार काम करती है। संसारका प्रत्येक

अवतार इस इच्छाशक्तिका ही अवतार है। इसी कारण—योगमायाजी अवतारके अधीन रहती हैं। योगमायापर केवल इच्छाशक्तिका शासन रहता है। इच्छाशक्तिका जो शासन माया तथा महामायापर चालू होता है वह योगमायाके द्वारा ही सञ्चालित किया जाता है।

महामायाकी परिभाषा

जगत्के दो विभाग हैं—(१) त्रिगुण और (२) त्रिगुणातीत। जगत्को आदमी-जैसा एक साकार मान लीजिये। छातीसे पैरतक त्रिगुण है, यानी मायाका अधिकारक्षेत्र है और छातीसे चोटीतक महामायाका अधिकारक्षेत्र है। उसे त्रिगुणातीत कहते हैं। विराट्के अंदर महामाया एवं माया—दोनोंके स्थान हैं। अधोगतिके भागकी व्यवस्थापिका माया है और ऊपरी भागकी मैनेजर महामाया है। निरंजन चक्र यानी सहस्त्रदल-कमलसे लेकर—अथाह मण्डलतककी निगरानी महामाया करती है। इसके अलावा—विवाहका काम महामाया अपने हाथमें रखती है। अर्धाङ्ग-जीवनरूपी विवाहका भेद महामाया ही छिपाये हुए है। जीवन-मरणका कारण महामाया ही है।

मायाकी परिभाषा

सत्, रज और तम नामक तीनों गुणोंमें खेलनेवाली शक्तिको माया कहते हैं। पञ्चतत्त्व और तीन गुण—इन आठ चीजोंका जो जगत् है, उसकी व्यवस्थापिका माया है। पातालसे लेकर सहस्त्रदल-कमलतक जो सृष्टि है, उसकी स्वामिनी माया है। महामायाके आधे जगत्में जो सृष्टि है, उसमें न तो स्थूल पञ्चतत्त्व शामिल है और न स्थूल तीन गुण ही।

निष्कर्ष

उपमाके तौरपर यों समझना चाहिये कि मकानकी बनानेवाली—रचनारूपी मकानकी कर्त्री—इच्छाशक्ति है। गोया इच्छाशक्ति ही रचनाके मकानकी मालिक है।

मकान ही योगमाया है। उस मकानमें एक माता और एक पुत्री रहती है। माता महामाया है और पुत्री माया है। मायाके काममें महामाया दखल दे सकती है, परन्तु महामायाके काममें माया दखल नहीं दे सकती। महामायाके कितने ही भेदोंको माया जानती भी नहीं है। अत: मायाकी अफसर महामाया है; परन्तु दोनोंके स्थान और दोनोंके काम अलग-अलग हैं।

माया और महामायापर योगमायाका शासन है। परिवर्तनोंकी सूचना, नये आर्डर और विचित्र घटनाएँ, योगमायाके द्वारा महामाया और मायापर प्रकट होती हैं। परन्तु योगमायाकी अफसर इच्छाशक्ति है।

इच्छाशक्ति—जगत्को बनानेवाली और जगत्का सञ्चालन करनेवाली महाशक्ति। दु:खान्तक तथा सुखान्तक दो नाटकोंद्वारा जगत्में ईश्वरीय तमाशा करनेवाली महादेवी। जगत्के प्रथम प्रभातसे दु:खान्तक नाटक शुरू किया गया, फिर सुखान्तक नाटक शुरू होगा। दोनों खेलोंके विधि-विधानकी जिम्मेवारी तथा जवाबदेही, इच्छाशक्तिपर है। इच्छाशक्तिका आर्डर योगमायापर उतरता है। वह महामाया तथा मायापर सीधा हुक्म जारी नहीं करती; क्योंकि इच्छाशक्तिका सम्बन्ध केवल योगमायासे है।

योगमाया—हिरण्यगर्भमें साकारता, विभिन्नता तथा प्रत्येक आकारका महत्त्व योगमाया प्रदर्शित करती है। उस घेरेका नाम हिरण्यगर्भ है, जिसमें योगमाया फैली हुई रहती है। योगमाया अपने ऊपरके आर्डरोंकी तामील महामाया तथा माया—दोनोंपर करती रहती है। आर्डरकी तामीलपर योगमाया गौर भी रखती है। ऐसा नहीं है कि योगमाया महामायाको आर्डर दे और महामाया मायाको दे। दोनोंसे योगमायाका अलग-अलग सम्बन्ध रहता है। चूँकि महामाया और मायाके दो विभिन्न जगत् हैं, इसलिये एक-दूसरेसे कोई खास लगाव नहीं है।

महामाया—यह परा विद्यावाले ऊर्ध्व जगत्की व्यवस्थापिका है। सिद्धों और देवताओंपर महामायाका राज्य है। महामाया अपना अफसर योगमायाको मानती है। वह यह नहीं जानती कि योगमाया स्वतन्त्र नहीं है और वह इच्छाशक्तिके द्वारा परिचालित है। महामायाका इच्छाशक्तिसे कोई परिचय नहीं है। विवाह और जीवन-मरणकी समस्या महामायाके हाथमें रहती है। इन तीनोंके गुप्त भेदोंसे वह किसीको भी जानकार नहीं होने देती।

माया—पञ्चतत्त्व और त्रिगुणपर राज्य करती है। मनुष्य, पशु और पक्षी आदि सभी जीवोंपर उसका शासन है। वह अपरा जगत्की स्वामिनी है।

यही इन चारों मायाओंकी वास्तविक परिभाषा है।

सत्यसाधन

(लेखक—वेदाचार्य पं० श्रीवंशीधरजी मिश्र 'मीमांसाशास्त्री')

संसारमें एक सत्यसाधन ही ऐसा है कि जिसके साध लेनेपर सब नियम-व्रतादि अपने-आप ही सध जाते हैं। स्नातकके सब नियम लिखकर सूत्रकार इसी बातको कहते हैं—**'सत्यवदनमेव वा'** (पा० गृ० सू० २।८।८) अर्थात् यदि स्नातक अन्य नियमोंका पालन न कर सके तो सत्यभाषणरूप नियमका ही पालन करे, उसीसे सब नियमोंका पालन हो जाता है। संक्षेपमें 'सत्य' शब्दके अर्थ निम्नलिखित हैं।

श्रीमती श्रुति सत्यको परब्रह्म परमात्मा कहती है—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।' (तै० उ० २।१।१)

पुराणमें 'सत्य' शब्दका अर्थ—

यथार्थकथनं यच्च सर्वलोकसुखप्रदम्।
तत्सत्यमिति विज्ञेयमसत्यं तद्विपर्ययः॥

(पद्मपुराण)

'सब लोगोंको सुख देनेवाला जो यथार्थ कथन है, उसीको सत्य कहते हैं, उससे विपरीत असत्य (मिथ्या) कहलाता है।'

'सत्यं च त्रिकालाबाध्यत्वम्' इति वेदान्तिनः।

'तीनों कालमें जो अबाधितरूपसे रहे, उसे सत्य कहते हैं—ऐसा वेदान्ती मानते हैं।'

'यथार्थज्ञानविषयत्वं सत्यत्वम्' इति नैयायिकाः।

'नैयायिकलोग यथार्थ ज्ञानके विषयको सत्य कहते हैं।' अस्तु।

यह निर्विवाद सिद्ध है कि सब शास्त्रोंमें, सब धर्मोंमें, सब सम्प्रदायोंमें और सब आश्रमोंमें सबसे अधिक सत्यका ही महत्त्व है। ऐसा कोई धर्म, सम्प्रदाय तथा आश्रम नहीं, जिसमें सत्यको सबसे पहला साधन न माना गया हो। साक्षात् वेदभगवान्‌की आज्ञा है—

'सत्यं वद' 'सत्यान्न प्रमदितव्यम्' (तै० उ० १।११।१)

सत्य बोलो। सत्य बोलनेसे कभी प्रमाद मत करो।

'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि' (शु० य० सं० १।५)

'हे व्रतके स्वामी अग्निदेव! मैं व्रतका आचरण करूँगा, तुम्हारी सहायतासे उसको मैं कर सकूँ, वह मेरा सफल हो, यह मैं झूठसे छुटकारा पाकर सत्यको प्राप्त होता हूँ।' अर्थात् मिथ्याभाषण छोड़कर सत्यभाषण करनेका नियम कर रहा हूँ।

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाᳬ सत्ये प्रजापतिः॥

(शु० य० सं० १९।७७)

'प्रजापतिने देखकर सत्य और झूठ इन दोनों रूपोंको अलग किया; झूठके लिये मनुष्यके हृदयमें अश्रद्धा पैदा कर दी और सत्यके लिये श्रद्धा पैदा कर दी।'

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्॥

(ऋ० सं० ७।१०४।१२)

'ज्ञानवान् मनुष्य इस बातको अच्छी तरह जानता है कि असत्य और सत्य वाक्य आपसमें स्पर्धा करते हैं, इन दोनोंमें सत्य अधिक सरल है और परमात्मा उसकी रक्षा करते हैं तथा असत्यका नाश करते हैं।'

ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः।
छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु॥

(अथर्व० ४।४।१६।६)

'हे वरुण! जो तुम्हारी तीन तरहकी सात-सात फाँसें बाँधनेवाली हैं, वे सब मिथ्याभाषण करनेवालेको बाँधें और जो सत्यवादी हैं, उसको छोड़ दें।' उपनिषदोंमें भी सत्यकी बहुत प्रशंसा है—

'सत्यञ्च स्वाध्यायप्रवचने च' 'तद्धि तपस्तद्धि तपः'।

(तै० उ० १।९।१)

सत्य बोलना, स्वाध्याय करना, प्रवचन करना, यह सब तप है।

'सत्यमेव जयते नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥'

(मुण्डक० ३।१।६)

'सत्यकी जीत होती है, झूठकी नहीं, सत्यसे देवयानमार्ग विस्तृत है, जिस मार्गसे तृष्णारहित उपासक लोग वहाँ जाते हैं, जहाँ वह सर्वोत्कृष्ट सत्यसाधनका स्थान है।'

'सत्यं ब्रह्म' 'देवाः सत्यमेवोपासते'।

(बृहदा० ५।५।१)

'सत्य ही ब्रह्म है। देवता सत्यकी ही उपासना करते हैं।'

'तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति।'

(बृहदा० १।४।१४)

इसलिये सांसारिक लोग भी सत्यभाषण करनेवालेको 'यह धर्ममय वचन बोलता है'—ऐसा कहते हैं।

अश्वमेधसहस्त्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्त्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥

'हजारों अश्वमेध यागोंको और सत्यको यदि तुलासे तोला जाय तो हजार अश्वमेध यज्ञोंसे एक सत्य ही विशिष्ट पड़ता है।'

नास्ति सत्यसमो धर्मो न सत्याद्विद्यते परम्।
न हि तीव्रतरं किञ्चिदनृतादिह विद्यते॥

'इस संसारमें सत्यके समान कोई धर्म नहीं तथा सत्यसे अधिक कोई उत्तम नियम नहीं और झूठसे बढ़कर कोई तीखी वस्तु नहीं है। इस सत्यरूप धर्ममें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज, पुरुष, स्त्री—इन सबका समान अधिकार है। इसके सेवन करनेसे छोटे-से-छोटा मनुष्य भी बड़ा बन सकता है। सत्य बोलनेवाला पुरुष निःसन्देह निर्भीक होता है और उसमें आत्मबल अधिक होता है।'

सत्य बोलनेवालेको निन्दा-स्तुतिका भय नहीं होता—

'निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु।'

यह सत्यसाधन वस्तुतः कोई कठिन मार्ग नहीं है, अपितु अभ्यास करनेपर बहुत ही सरल है। इसका प्रकार यह हो सकता है कि मनुष्य पहले यह सङ्कल्प करे—'आजसे मैं अकारण मिथ्याभाषण कभी नहीं करूँगा।' इस प्रतिज्ञाका पालन इस तरह हो सकता है—प्रतिदिन मनुष्य यह विचार करे कि मैंने कल कितनी बार मिथ्या भाषण किया और अमुक मिथ्या भाषणकी जगह सत्य बोलनेसे भी कार्य चल सकता था, यह मैंने बड़ा अनुचित किया। और भगवान्से क्षमा माँगे कि 'भगवन्! मैंने बड़ा अपराध किया, अब आगे ऐसा नहीं करूँगा।' ऐसा करते-करते कुछ दिनोंमें पूर्ण अभ्यास हो जायगा तब यह प्रतिज्ञा करे कि चाहे प्राण भले ही चले जायँ, किन्तु मिथ्याभाषण कदापि नहीं करूँगा। बहुधा लोग ऐसा कहा करते हैं कि—'सत्य बोलनेसे सांसारिक कार्य नहीं चलता।' यह उनकी सरासर भूल है। सब कार्य अच्छी तरह चल सकता है। इस समय भी ऐसे महापुरुष हैं, जो सत्य ही बोलते हैं उनके सब कार्य चलते ही हैं। इतिहासको देखिये, राजा हरिश्चन्द्र, महाराज युधिष्ठिर कैसे सत्यवादी थे? जिनका नाम आज भी अजर-अमर है!

जबसे हमलोगोंने सत्यको छोड़कर मिथ्याका आश्रय लिया, तभीसे बड़ी-बड़ी आपत्तियोंका सामना करना पड़ रहा है। जिस समय इस देशमें सत्यका खूब प्रचार था, उस समय यह धन-धान्यसे समृद्ध था और सब लोग सुखपूर्वक रहते थे। अब भी सत्यका प्रचार होनेसे सब सुख मिल सकते हैं। अतः मनुष्यमात्रका कर्तव्य है कि यथासाध्य सत्यका प्रचार करे। सत्यका प्रचार व्याख्यानोंसे नहीं होगा। वह होगा स्वयं सत्यका आदर, सत्यका पालन और सत्यकी प्रतिज्ञा करनेसे। श्रीविश्वनाथजीसे हाथ जोड़कर प्रार्थना है कि इस देशमें पुनः सत्यका प्रचार हो।

सत्यान्नास्ति परो धर्मः।

रूखी रोटी अच्छी

रूखा सूखा खाइ कै, ठंढा पानी पीव।
देखि बिरानी चूपड़ी, मत ललचावै जीव॥
कबीर साईं मुज्झ को, रूखी रोटी देय।
चुपड़ी माँगत मैं डरूँ, (कहुँ) रूखी छीनि न लेय॥

—कबीर

साधना और नारी

(लेखिका—कुमारी श्रीशान्ता शास्त्री)

जीवनका चरम लक्ष्य—जीवनका चरम लक्ष्य आनन्द ही है। संसारमें जितने प्राणी हैं वे सब एकमात्र आनन्दकी ही खोजमें हैं। दु:खमें रहना मनुष्य तो क्या, कोई भी प्राणी नहीं चाहता। अत: सुखके लिये ही मनुष्यका सारा प्रयत्न है। इसीको पानेके लिये वह या तो भोगोंकी ओर दौड़ता है या उनकी ओरसे उदासीन होकर अपवर्गकी खोजमें लग जाता है। जिसे अपवर्गकी प्राप्ति हो जाती है उसे तो फिर कुछ करना नहीं रहता। किन्तु जो लोग भोगोंमें रम रहे हैं उनकी दौड़-धूप कभी शान्त नहीं होती। वे एक-से-एक बढ़कर विलास-सामग्री सञ्चित करते हैं, नित्य नये-नये आमोद-प्रमोदके साधनोंका आविष्कार करते हैं। परन्तु क्या इनसे उन्हें शान्ति मिलती है? ये तो उनकी भोगलिप्साको बढ़ाकर उन्हें और भी अधिक अशान्त कर देते हैं। इनके मायाजालमें फँसकर वे और भी अधिक भटकने लगते हैं। इनके पीछे भटकते हुए शान्तिकी आशा रखना तो ऐसा ही है जैसे कोई घृतकी धारा छोड़कर अग्निको शान्त करना चाहे! आजकल हमारी दशा ऐसी हो रही है जैसे किसीकी सूई गुम हो घरमें, और वह प्रकाश न होनेके कारण उसे ढूँढ़े बाजारमें। हमें शान्ति पानेके लिये कहीं बाहर जानेकी आवश्यकता नहीं है, वह जहाँ खोयी है उसे वहीं ढूँढ़ना चाहिये। शान्तिका घर तो तुम्हारा हृदय ही है। तुम अज्ञानान्धकारके कारण उसे उपलब्ध नहीं कर रहे हो। तनिक ज्ञानदीपक जलाओ, वह तुरंत तुम्हें मिल जायगी।

उस सच्ची शान्तिके मिलनेपर भोग-विलास तथा शौक-शृङ्गारके संक्रामक रोगोंसे तुम्हें सदाके लिये बिलकुल छुटकारा मिल जायगा और तुम्हें वह पद प्राप्त होगा जहाँ पहुँचनेपर किसी प्रकारका भय नहीं रहता, मृत्युकी भी मृत्यु हो जाती है और फिर कभी उस स्थितिसे पीछे नहीं लौटना पड़ता। **'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय', 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम', 'यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूय:', 'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते'** इत्यादि श्रुति और स्मृति भी इसी परमपदका महत्त्व गा रही हैं। इस पदको जान लेनेपर मनुष्यकी कोई अभिलाषा शेष नहीं रहती। उसे जो पाना होता है वह सब मिल जाता है और वह योगसूत्रोंके भाष्कारकी भाषामें ऐसा अनुभव करने लगता है—

'प्राप्तं प्रापणीयम्, क्षीणा: क्षेतव्या: क्लेशा:, छिन्न: श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमो यस्याविच्छेदाज्जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायते।' (यो० भा० १।१६)

'मुझे जो पाना था वह मिल गया, जिन्हें क्षय करना था वे क्लेश क्षीण हो गये, जिसका छेदन न होनेसे जीव जन्मकर मरता और मरकर जन्म लेता है वह संसारचक्र अपनी ग्रन्थियोंके शिथिल हो जानेसे कट गया।' इस परमपदका साक्षात्कार हो जानेपर क्या नहीं मिल जाता? हृदयकी गाँठ खुल जाती है, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं तथा सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं। अत: मनुष्यका प्रधान कर्तव्य इस परमपदको प्राप्त कर लेना ही है।

साधना—इससे यह तो निश्चय हो गया कि परमात्माकी प्राप्तिके सिवा मनुष्यकी कोई अन्य गति नहीं है, यही उसका अन्तिम लक्ष्य है। अब देखना यह है कि इस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये किस प्रकारकी साधना आवश्यक है। ऐसा कौन उपाय है, जिससे सुगमतासे इसकी उपलब्धि हो सकती है। गीतामें भगवान्‌ने योगकी बहुत प्रशंसा की है। यहाँतक कि उन्होंने योगीको तपस्वी, ज्ञानी और कर्मीसे भी बढ़कर बताया है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिक:।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

(६।४६)

एक दूसरी जगह वे कहते हैं—

'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।'

(गीता १३।२४)

'कई लोग ध्यानके द्वारा आत्माका अपने अन्त:करणमें साक्षात्कार करते हैं।' अत: भगवत्प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन योग ही है। इसीका निरूपण करनेके लिये महर्षि पतञ्जलिने योगसूत्रनामक एक स्वतन्त्र दर्शनकी रचना की थी। उसमें—

'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि।' (२।२९)

इस सूत्रद्वारा यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योगके आठ अङ्ग बताये हैं। इससे पहले सूत्रमें इनके अनुष्ठानका फल बताया है—'**योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः**'—योगके अङ्गोंका अनुष्ठान करनेसे अशुद्धि दूर होनेपर विवेकख्यातिपर्यन्त ज्ञानका विकास हो जाता है।' इन योगाङ्गोंमें सबसे अन्तिम समाधि है, यही योगसाधनकी सर्वोत्कृष्ट सीढ़ी है। इसकी उपयोगिता और महिमाका वर्णन जगह-जगह किया गया है। भगवान् शङ्कराचार्यजी समाधिसुखको वाणीका अविषय और केवल अनुभवग्राह्य ही बताते हैं—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसः
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥

(विवेकचूडामणि)

अतः योग ही भगवत्प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन निश्चित होता है।

अधिकारिनिर्णय—अब यह करना है कि इस योगसाधनाके अधिकारी कौन हैं? वस्तुतः भगवत्प्राप्तिकी योग्यता तो मनुष्यमात्रमें है। मनुष्ययोनि है ही साधनाद्वारा भगवान्का साक्षात्कार कर लेनेके लिये। अतः मनुष्यमात्र इसका अधिकारी है। किन्तु 'मनुष्य' का अर्थ केवल पुरुष ही नहीं है, '**मत्वा कर्माणि सीव्यन्तीति मनुष्याः**' इस व्युत्पत्तिके अनुसार स्त्रियाँ भी मनुष्य ही हैं। अतः स्त्रियोंको भी योगसाधनाका वैसा ही अधिकार है जैसा कि पुरुषोंको। हम सभी भगवान्के पुत्र और पुत्रियाँ हैं, अतएव उनके पास पहुँचनेके लिये किसीको रुकावट क्यों? परम पिता परमात्मा तो बड़े न्यायी हैं, उन्हें कोई पक्षपात कैसे हो सकता है? वे तो अपनी पुत्रियोंको पुत्रोंकी अपेक्षा भी अधिक प्यार करते हैं।

कुछ लोगोंका विचार है कि स्त्रियाँ तो मन्दमति, अपवित्र और अबला हैं; उनमें भगवद्भजनकी योग्यता नहीं है और न उनका योगमार्गमें प्रवेश ही हो सकता है! परन्तु ऐसी बातोंमें सार कुछ भी नहीं है। शारीरिक दृष्टिसे तो स्त्री-पुरुष सभी अपवित्र हैं, सभीके शरीरोंमें हड्डी, मांस, रुधिर आदि अपवित्र वस्तुएँ ही भरी हुई हैं। परन्तु यदि पुरुषोंके समान स्त्रियोंमें भी भगवत्साक्षात्कारकी उत्कण्ठा और योग्यता है तो वे भी उसके अधिकारसे वञ्चित कैसे की जा सकती हैं? साधनामें तो श्रद्धा और सरलतासे ही अधिक सफलता मिल सकती है और ये गुण बुद्धिप्रधान पुरुषोंकी अपेक्षा हृदयप्रधाना नारियोंमें अधिक हैं। इसलिये कोई कारण नहीं कि स्त्रियोंको साधनमें सफलता न मिले। स्त्री कोई ऐसी घृणित वस्तु नहीं है, घृणाके योग्य तो पुरुषोंकी अपनी ही भोग-लिप्सासे उत्पन्न हुई उनके प्रति आसक्ति ही है। यदि स्त्रीरूप और स्त्रीनाममें ही कोई दोष होता तो साक्षात् श्रीभगवान् ही जगज्जननी दुर्गाके रूपमें क्यों पूजे जाते? और भावुक भक्त उन्हें 'करुणामयी माँ' कहकर क्यों पुकारते? भगवान्ने तो स्वयं गीतामें कहा है—

'**कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥**'

(१०।३४)

'मैं स्त्रियोंमें कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ।' जिस प्रकार ये सात देवियाँ भगवान्की विभूति हैं वैसे ही साधना देवी भी तो स्त्री ही हैं। वे स्नेह और श्रद्धासे स्वागत करनेवाली अपनी सजातीया नारियोंसे दूर-दूर रहना ही क्यों चाहेंगी? अतः भगवत्प्रीतिके लिये किसी जातिविशेष या लिङ्गविशेषकी आवश्यकता नहीं है, '**न लिङ्गं धर्मकारणम्**।' भगवान्को तो जो निश्छलभावसे भजता है, वही प्यारा है '**यो मद्भक्तः स मे प्रियः**।' गीतामें वे स्वयं कह रहे हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(९।३२)

'हे पार्थ! मेरा आश्रय लेकर तो जो पापयोनियाँ तथा स्त्री, वैश्य और शूद्र हैं, वे भी परमगति लाभ कर लेते हैं। इससे अधिक भगवान्के भजन और भगवत्प्राप्तिमें सबका अधिकार घोषित करनेवाली और कौन विधि होगी? अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्त्रियोंको भी ब्रह्मज्ञानका पूर्ण अधिकार है। वेदभगवान् भी पुरुषकी अपेक्षा स्त्रीकी उत्कृष्टता घोषित करते हुए कहते हैं—

'**उतत्वा स्त्री शशीयसी पुंसो भवति वस्यसी। अदेवत्रादराधसः**' (ऋ० ५।५।६१।६)

'(**उत**) यह प्रसिद्ध है कि (**अदेवत्रात्**) देवार्चन-हीन और (**अराधसः**) ईश्वराराधन न करनेवाले (**पुंसः**) पुरुषसे (**स्त्री**) स्त्री (**शशीयसी**) प्रशस्ततर और (**वस्यसी**) अधिक धर्मनिष्ठ होती है।'

इन सब बातोंसे निश्चय होता है कि साधनाका अधिकारी कोई लिङ्गविशेष नहीं है, अपितु पवित्रता ही साधनाकी सीढ़ी है। वह चाहे पुरुषमें हो चाहे स्त्रीमें।

गृहस्थाश्रम और साधना—बहुत लोगोंका विचार है कि गृहस्थाश्रम साधनमें बाधक होता है, परन्तु बात ऐसी नहीं है। एक अनुकूल साथीके मिल जानेसे तो किसी भी मार्गमें अग्रसर होनेमें सुविधा ही रहती है। अत: यदि स्त्री और पुरुष परस्पर विवाहबन्धनमें बँधकर भगवत्प्राप्तिको ही अपना लक्ष्य बनाकर चलें तो अपनी संयुक्तशक्तिसे तो वे अकेलेकी अपेक्षा अधिक सरलतासे ही संसारको पार कर सकते हैं। वेदभगवान् भी कहते हैं—

'या दम्पती समनसा सुनुत आ च धावतः। देवासो नित्ययाशिरा' (ऋ० ८।५।३१।५)

'जो दम्पत्ति एक साथ एकमन होकर प्रार्थना-उपासनाके द्वारा परमात्माके निकट जाते हैं, उन्हें कदापि क्लेश पीड़ित नहीं करते।' अत: विवाहबन्धनसे तो हम सब प्रकारके लौकिक और पारलौकिक बन्धनोंको सुगमतासे खोल सकनेके लिये ही बँधते हैं—भोगोंमें बँधनेके लिये नहीं।

गृहस्थाश्रम एक प्रकारका शिक्षालय है। यहाँ मनुष्य प्रेम करना सीखता है। स्त्रीको पति और माँको बच्चा दे दिया जाता है और कहा जाता है कि 'लो इसपर अभ्यास करो, फिर इस अभ्यस्त प्रेमको पतियोंके पति परमात्मापर आरोपित कर देना।' इस प्रकार इस पाठशालामें रहकर स्त्री और पुरुष प्रभुप्रेमका ही पाठ पढ़ते हैं।

साधनकी सुविधा भी गृहस्थाश्रममें कम नहीं है। यहाँ स्त्री और पुरुषके कार्योंका विभाग हो जानेके कारण उनकी जिम्मेवारीका बोझा भी हलका हो जाता है। पुरुष घरकी चिन्तासे मुक्त होकर द्रव्योपार्जन करता है और स्त्री धनसंग्रहकी चिन्तासे छूटकर घरका प्रबन्ध कर लेती है। उसे किसी प्रकारकी आर्थिक चिन्ता नहीं रहती। चित्तकी एकाग्रतामें निश्चिन्तताकी बड़ी आवश्यकता है। इसके सिवा घरहीके भीतर रहनेसे उसे बहुत-सी संसारी बातोंको सुननेका भी अवसर नहीं मिलता तथा साधनके लिये समय भी खूब मिल जाता है। भगवान्को ढूँढ़नेके लिये तो कहीं बाहर जानेकी आवश्यकता है नहीं। वे तो सर्वत्र विराजमान हैं। ऐसा कौन-सा स्थल है जहाँ उनका अस्तित्व नहीं है। अत: भारतीय नारियोंका इधर-उधर न भटककर घरमें रहना भी उनकी साधनाके लिये तो सहायक ही है। भगवान् कहीं बाहर नहीं हैं, वे तो हमारे अन्त:करणोंमें ही विराज रहे हैं। हम उन्हें इन चर्मचक्षुओंसे नहीं देख सकते। उन्हें देखनेके लिये तो मन-मन्दिरके कपाटोंको खोलनेकी आवश्यकता है। जब उन्हें खोलकर हम ज्ञानदीपकसे देखेंगे तभी उनकी झाँकी होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्त्रियोंके पास साधनोंकी कमी नहीं है, कमी है साधनाकी, जिससे वे ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके उस स्थितिपर पहुँच जायँ जिससे, ये सांसारिक भोग तो क्या, देवताओंके **'इह आस्यताम्, इह रम्यताम्, कमनीयोऽयं भोगः'** इत्यादि प्रलोभन भी हमें तिलभर विचलित न कर सकें।

शिक्षा और साधना—हमारे देशकी स्त्रियाँ प्राय: पढ़ी-लिखी बहुत कम हैं। अत: किन्हीं-किन्हीं बहिनोंका विचार है कि हम साधना कैसे कर सकती हैं, हम कुछ जानती तो हैं नहीं। परन्तु वे सच मानें कि जिन्हें वे पढ़ी-लिखी और समझदार समझती हैं, वे इस विद्यासे कोसों दूर हैं। बहुत सम्भव है उनकी अपेक्षा तो, जिन्हें आजकलकी भाषामें अशिक्षिता कहा जाता है वे बहिनें इस दिशामें अधिक उन्नति कर सकें, क्योंकि इनकी अपेक्षा उनमें श्रद्धा और दृढ अध्यवसायकी मात्रा अधिक है। इन लौकिक भाषाओंको कितना ही सीख लो अध्यात्मकी ओर बढ़नेमें तो इनका मूल्य शून्यके ही बराबर है। सीखना तो उस एक ही विद्याको चाहिये, जिसे जान लेनेपर सब कुछ जान लिया जाता है। **'यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।'** उसका नाम है 'ब्रह्मविद्या।'

कुछ उदाहरण—यह बात कभी नहीं समझनी चाहिये कि स्त्रियाँ ब्रह्मज्ञान नहीं पा सकतीं। इतिहासमें इसके अनेकों उदाहरण हैं। महाराज जनककी ब्रह्मसंसद्में जब याज्ञवल्क्यने अपनेको सबसे बड़ा ब्रह्मज्ञानी घोषित करनेके लिये अपने शिष्योंको गौएँ ले जानेकी आज्ञा दी तो ब्रह्मवादिनी गार्गीने उस समय उनसे जैसे-जैसे प्रश्न किये हैं उनसे उसकी ब्रह्मज्ञता स्पष्ट सिद्ध होती है। भगवान् शङ्कराचार्य और मण्डनमिश्र-जैसे उद्भट विद्वान् एवं तत्त्वज्ञोंका शास्त्रार्थ हो और उनकी मध्यस्थता करनेवाली भारती ब्रह्मविद्याशून्य हो—यह सम्भव नहीं है। भारती स्वयं मण्डनमिश्रजीकी स्त्री थी—गार्हस्थ्यधर्मका ही पालन करती थी। फिर भी वह पूर्ण ब्रह्मवेत्री थी।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि गृहस्थाश्रम ब्रह्मज्ञानमें बाधक नहीं है।

सुलभा ब्रह्मवादिनी थी—यह तो प्रसिद्ध ही है। वह ब्रह्मज्ञा होनेपर भी गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेको तैयार थी। इसलिये नहीं कि उसे सांसारिक भोगोंकी इच्छा थी, अपितु इसलिये कि मैं अपनेसे अधिक ब्रह्मनिष्ठ पति पाकर अपनी निष्ठाको और भी सुदृढ़ बना सकूँ। किन्तु ऐसा कोई ब्रह्मनिष्ठ वर न मिलनेसे ही वह ब्रह्मचारिणी रही। इसी प्रकार लोपामुद्रा आदि और भी कई महिलाएँ अपनी ब्रह्मनिष्ठाके लिये प्रसिद्ध हैं। इसलिये यह कहना ठीक नहीं कि स्त्रियाँ ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकतीं। स्त्रियाँ तो जगज्जननी हैं, वे ही सबकी आदिगुरु हैं। यदि उनमें ब्रह्मज्ञानकी योग्यता नहीं होगी तो औरोंमें आवेगी कहाँसे?

ब्रह्मज्ञानके अनधिकारी—तो फिर इसके अनधिकारी कौन हैं? इस विषयमें उपनिषदें कहती हैं—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

(कठ० १।२।२४)

'जो व्यक्ति दुराचारसे दूर नहीं रहता, जो अशान्त है, जिसका मन चञ्चल है और जो अशान्तचित्त है वह इसे ज्ञानपूर्वक प्राप्त नहीं कर सकता।' इसके सिवा भगवान् कहते हैं—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥

(गीता ६।१६)

'जो अधिक खानेवाला है अथवा जो बिलकुल नहीं खाता तथा जो बहुत सोता है और जो जागता ही रहता है, उससे योग नहीं हो सकता।' तात्पर्य यह कि जिसका जीवन असंयत और अनियमित होता है, वह योगसाधनमें विशेष उन्नति नहीं कर सकता। अतः स्त्री हो अथवा पुरुष जो—अशान्त, असंयमी और चञ्चलचित्त है, वही योगका अनधिकारी है और उसीको ब्रह्मविद्या भी नहीं मिल सकती।

उपसंहार—इससे निश्चय होता है कि जिन्हें योगमार्गमें चलना हो उन्हें अपने जीवनको नियमित बनाना चाहिये। जो नियमसे काम करता है, उसे ही सर्वत्र सिद्धि प्राप्त होती है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

(गीता ६।१७)

'जिसका आहार-विहार नियमित होता है और जिसकी कर्मोंमें भी नियमित प्रवृत्ति होती है तथा जो नियमानुसार सोता और जागता है उसीको दुःखहारी योगकी प्राप्ति हो सकती है।'

अतः स्त्री हो अथवा पुरुष जो नियमनिष्ठ है, उसीको योगश्री वरमाला पहनाती है। इसलिये माताओं और बहिनोंको चाहिये कि अपने स्त्रीत्वको हेयदृष्टिसे न देखकर जीवनको नियमित बनायें। घरहीमें रहते हुए घरके सब कामोंको नियमसूत्रमें बाँधें और योगसाधनाद्वारा ब्रह्मको प्राप्त करनेका प्रयत्न करें। यदि स्त्रियाँ ही इस ओर प्रवृत्त न होंगी तो होगा कौन? उन्हींके संस्कार तो बच्चोंमें भी आवेंगे। अतः मानवजातिमें ब्रह्मविद्याका प्रसार करनेके लिये माताओंको स्वयं ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके अपनी सन्ततिको ब्रह्मविद्या प्रदान करनी चाहिये। देखिये, मदालसाने अपने चारों पुत्रोंको ब्रह्मज्ञानी बनाया था। माँ तो वह फली है, जिससे उसी प्रकारके कई बीज निकलेंगे। अतः उसके लिये तो पुरुषोंकी अपेक्षा भी साधनाकी अधिक आवश्यकता है। यद्यपि नारीकी जीवन ही साधनामय है, उसने अपने पति, पुत्र एवं अन्यान्य सम्बन्धियोंके लिये अपना क्या नहीं दे रखा है? इस प्रकार आत्मोत्सर्गपूर्वक सेवाधर्मको निभाते हुए यद्यपि उसने परम पिता परमात्माके आदेशका खूब अच्छी तरह स्मरण रखा और पालन किया है, तथापि इस आज्ञापालनके साथ हमें उस पिताको भी नहीं भूल जाना चाहिये। जब हम पिताकी आज्ञाओंका पालन करती हुई उनके पास जाकर कहेंगी, 'पिता, बजा आये तेरे आदेशको' तो क्या पिता झट हमें गोदमें उठाकर प्यार न करेंगे? उस समय हमें क्या मिलेगा? 'आनन्द! आनन्द! परम आनन्द!'

संतमतमें साधना

(लेखक—श्रीसम्पूर्णानन्दजी)

भारतके धार्मिक जगत्‌के इतिहासमें संतमतका एक विशेष स्थान है। संतमत उस प्रकारका सम्प्रदाय नहीं है, जैसे कि वल्लभ या मध्व या किसी एक पुरुषद्वारा प्रवर्तित दूसरे सम्प्रदाय हैं; वह एक धारा है जो आजसे लगभग पाँच सौ वर्ष पहले प्रकट हुई और अबतक बह रही है। सबसे पहले उसके सम्बन्धमें कबीर साहबका नाम उल्लेख्य है; फिर नानक, दादू, दरिया, चरणदास, सहजोबाई, गरीबदास, पलटूदास, मलूकदास आदिने अपने-अपने समयमें इस धाराको पुष्ट किया। बहुत-से अंग्रेजोंकी और उनकी भाँति सोचनेवाले कुछ भारतीय विद्वानोंकी यह राय है कि संतमत एक संग्रहात्मक (eclectic) सम्प्रदाय है, जिसमें कुछ बातें हिंदूधर्म और कुछ बातें इस्लामसे लेकर मिला दी गयी हैं। ये लोग संतोंको सुधारकमात्र मानते हैं। उनका खयाल है कि हिंदू-मुसलमानोंके आपसी झगड़ोंको और दोनोंमें प्रचलित कुरीतियोंको देखकर कुछ दयालु ईश्वरभक्तोंने समाजके कल्याणके लिये एक सरल मार्ग निकाला, जिसपर दोनों सम्प्रदाय मिल-जुलकर चल सकें। उन्होंने एक ईश्वरकी भक्तिका उपदेश किया, छुआछूत और जात-पाँतकी निन्दा की; भूत-प्रेतकी पूजा, कुर्बानी, बलिदान आदिका निषेध किया; पीर, औलिया, कब्रकी वन्दनासे लोगोंको रोका; सदाचारकी महिमा बतलायी, हिंदू-मुसलमानको मिल-जुलकर रहना सिखाया। इनमें कई अब्राह्मण थे, कुछ जन्मना हिंदू भी नहीं थे। संस्कृत तो इनमेंसे स्यात् ही कोई जानता था, इसलिये इन्होंने अपने उपदेश हिन्दीमें दिये। इस कारण पण्डितवर्ग तो इनसे अप्रसन्न हुआ, पर जनतामें खूब प्रचार हुआ।

ये बातें कुछ हदतक सच हैं। संतोंने निःसन्देह एक ईश्वरकी निष्ठा सिखायी, कुरीतियोंका निषेध किया, भेदबुद्धिका खण्डन किया। पर इसका कारण यह नहीं था कि वे समाज-सुधारक थे। वे संत थे और संतोंके उपदेशोंमें ये बातें स्वभावतः आ जाती हैं। इसके लिये उनको दस धर्मोंकी पोथियोंसे सामग्री जुटाकर भानमतीका कुनबा जोड़नेकी आवश्यकता नहीं पड़ती।

भारतमें मुसलमानी शासनकी स्थापनाने एक विचित्र परिस्थिति उत्पन्न कर दी। हिंदुओंका राज्य चला गया, उनका गौरव नष्ट हो गया, विभूति लुट गयी, देवस्थान भ्रष्ट हो गये, स्वाभिमान जाता रहा। विद्या और कलाके लिये स्फूर्तिका द्वार बंद हो गया। मौलिक रचनाओंकी जगह टीकाग्रन्थोंने ली, जीवित काव्योंके स्थानमें परतन्त्र रजवाड़ोंके दरबारोंमें पलनेवाली अधम कोटिकी शृङ्गारी तुकबंदीकी थैली फट पड़ी। जो जाति ऐसी आपन्न अवस्थामें पड़ जाय, उसकी अधोगतिका रुकना कठिन होता है; उसका तो शतमुख विनिपात अवश्यम्भावी हो जाता है। पर अभी हिंदू जातिके दिन अच्छे थे, उसकी आत्माकी अमर ज्योति नष्ट नहीं हुई थी। उसमेंसे दो किरणें निकलीं, जिन्होंने अँधेरे घरोंको फिरसे प्रकाशित किया और मृतप्राय प्राणियोंको अमृत पिलाकर पुनरुज्जीवित किया।

एक किरण तो भक्तिमार्गकी थी। इस मार्गको तुलसी, सूर, मीरा आदिने प्रशस्त किया। दुर्बलोंसे कहा गया कि हिम्मत मत हारो, तुम्हारा बल भगवान् है। यहाँ तुम्हारी कोई न सुने; पर वह तो सदा तुम्हारे पास है, तुम्हारे दुःख-सुखका साक्षी है, तुम्हारी सुनता है, तुम्हारी भक्तिपर रीझकर तुम्हारे लिये सब कुछ करता और कर सकता है। जो आज विजित थे उनको उनके पूर्वजोंके, राम और कृष्णके गौरवकी स्मृति दिलायी गयी; वर्णाश्रमधर्मकी मर्यादा रखते हुए ऊँच-नीच सभीके सामने भक्तिका थाल परसा गया। उपदेशकी भाषा हिन्दी थी, इसलिये सबने ही इस रसका आस्वादन किया। कुछ मुसलमान कुलमें उत्पन्न व्यक्तियोंतकपर इसका प्रभाव पड़ा। दीन-दुखिया हिंदूजाति मरते-मरते बच गयी। मैं इस विषयपर विस्तारसे यहाँ नहीं लिख सकता; पर इतिहासने ऐसा कई बार दिखलाया है कि विजित, दरिद्र, दुखी जातियोंमें भक्तिसम्प्रदाय और भक्तिसाहित्यका उदय हुआ है। जितना भक्तिसाहित्य हमारे देशमें पिछले चार-पाँच सौ वर्षोंमें निकला है, उतना पहले कभी नहीं बना। स्वतन्त्र आर्योंके, जो सभ्य जगत्‌के गुरु और विशाल साम्राज्योंके स्वामी थे, मुँहसे यह गाना कम ही निकल सकता था—*'निर्बल के बल राम'*। जो स्वयं बली था, वह उपासनाकालमें भी अपनेको भूल नहीं सकता था। इसका प्रमाण उन ओजस्वी मन्त्रोंमें मिलता है, जिनमें वैदिक आर्य इन्द्रादिसे बल या

विजयका वरदान माँगते हैं। जहाँ भक्तिकालीन हिंदू रोता-गिड़गिड़ाता है, वहाँ वैदिक आर्य इस प्रकार बात करता है जैसे कोई अपने हकको माँग रहा हो और लेकर छोड़नेकी सामर्थ्य रखता हो।

जातिकी आत्मासे जो दूसरी किरण निकली, उसका ही नाम संतमत है। इस आकाशके कुछ नक्षत्रोंके नाम मैं ऊपर गिना चुका हूँ। यही लोग संत कहलाते हैं। इन्होंने सगुण-साकारकी उपासनाके स्थानमें निर्गुण-उपासना, योग और ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया। यों तो भक्तिमार्गमें भी ऊँच-नीचका भेद नहीं होना चाहिये; फिर भी उसमें जिन साधनोंका प्रायः काम पड़ता है—मन्दिर, पूजाकी सामग्री आदि—वह बहुतोंको अप्राप्य है। तुलसीदासजीने कलियुगके लक्षणोंका वर्णन करते हुए शूद्रोंके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा है, उससे यह प्रतीत होता है कि इन बड़े आचार्योंके भाव क्या थे। पर योगाभ्यासके लिये तो कोई बाहरी साधन नहीं चाहिये। पूजाकी सामग्रीके लिये पैसे नहीं चाहिये। इसलिये यह मार्ग सचमुच सबके लिये सुलभ, सुगम है। कठिन अवश्य है, पर सच्ची भक्ति भी तो कोई दिल्लगीकी चीज़ न होगी। इसलिये इधरकी ओर अधिक व्यापक आकर्षण हुआ। नाई, धोबी, जुलाहा, मोची, जन्मके मुसलमान भी आये; ऊँची जातिवाले भी आये।

इस मार्गमें एक और विशेषता थी। सच्चा जीवन केवल चुपचाप साँस लेनेमें नहीं है। उसका लक्षण है जागृति, क्रियाशीलता। सजीव प्राणी इस आसरे नहीं बैठा रहता कि कोई मुझपर आक्रमण करे तो मैं अपनेको किसी प्रकार बचा लूँ; वह आक्रमणकारीपर आगे बढ़कर आक्रमण करता है। भक्तिमार्गने मुमूर्षु हिंदूजातिमें जान डाली, संतमतने सक्रियता प्रदान की। केवल अपने कोनेमें पड़े रहनेके बदले मुसलमानोंके दोषोंका खुलकर निदर्शन होने लगा। योगीमें बल होता है, आत्मविश्वास होता है। उसकी वाणीमें अपूर्व शक्ति होती है। इससे जनतामें भी आत्मनिर्भरता आयी। उसी आत्मनिर्भरताकी एक कली सिक्ख-संगठन और महाराजा रणजीतसिंहके राज्यके रूपमें खिली।

इन बातोंके साथ ही दो और बातोंको भूल न जाना चाहिये। संतमत और भक्तिमार्ग कोई नये आविष्कार न थे। दोनोंकी परम्परा बहुत ही प्राचीन कालसे चली आ रही है। इसके अतिरिक्त यह भी स्मरण रखना चाहिये कि दोनोंके बीच कोई ऐसी ऊँची दीवार न थी, जो एक मार्गको दूसरे मार्गसे बिलकुल पृथक् कर दे। पतञ्जलिने **'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'** सूत्रमें ईश्वरचिन्तनको भी योगका एक मार्ग माना है। जो योगाभ्यासके मार्गपर आरूढ़ होगा उसमें भी उन श्रद्धादि गुणोंका होना आवश्यक है, जो भक्तिके लक्षण हैं; भक्तको जब एकाग्रता प्राप्त होगी, तब उसको भी वैसे ही अनुभव होंगे, जैसे कि योगीको होते हैं। इस बातका प्रमाण हमको अपने यहाँके आध्यात्मिक साहित्यमें पूरा-पूरा मिलता है। एक ओर तो संतमतके आचार्योंकी रचनाओंमें भक्तिभावसे ओतप्रोत वाक्य मिलते हैं, दूसरी ओर भक्तिसम्प्रदायके प्रवर्तकोंके ग्रन्थोंमें योगके अनुभवकी झलक आती है। उदाहरणके लिये नीचे दो अवतरण देता हूँ।

पहला कबीर साहबके प्रधान शिष्य धर्मदासजीकी रचना है।

दरसन दीजै नाम सनेही। तुम बिन दुख पावै मेरी देही
दुखित तुम बिन रटत निस दिन, प्रगट दरसन दीजिऐ।
बिनति सुन, प्रिय स्वामियाँ! बल जाउँ बिलँब न कीजिऐ।
अन्न न भावै, नींद न आवै, बार बार मोहि बिरह सतावै॥
बिबिध बिधि हम भईं व्याकुल, बिन देखे जिव ना रहै।
तपत तन, जिव उठत ज्वाला, कठिन दुख अब को सहै॥
नैनन चलत सजल जलधारा, निस दिन पंथ निहारूँ तुम्हारा॥

—इत्यादि

दूसरा सूरसागरसे लिया गया है—

अपुनपौ आपुनही में पायो।
सब्दहि सब्द भयो उजियारो सतगुरु भेद बतायो॥
सूरदास समुझे की यह गति मनहीं मन मुसकायो।
कहि न जाय या सुखकी महिमा ज्यों गूँगो गुड़ खायो॥

भक्तिमार्ग संतमतसे पहले चल चुका था। उसने जो वैष्णव वातावरण पैदा कर दिया था, उसका प्रभाव संतोंपर भी पड़ा था। उन्होंने भी ईश्वरके लिये विष्णुके पर्याय हरि, माधव, गोपाल, राम आदि शब्दोंका प्रयोग किया है। इसका एक कारण यह भी था कि कबीर साहबने, जो आदि संत कहलाते हैं, प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य रामानन्दजीसे पहले-पहले दीक्षा प्राप्त की थी।

जहाँतक आध्यात्मिक सिद्धान्तकी बात है, संत लोग प्रायः सभी शङ्कर अद्वैतमतको मानते थे। 'प्रायः' मैंने इसलिये कहा है कि किसी-किसीने शुद्धाद्वैत मत और विशिष्टाद्वैत मतका भी प्रतिपादन किया है; द्वैतवादी

इनमेंसे कोई भी न था। इस लेखमें संतोंके दार्शनिक विचारोंकी विवेचना करना अप्रासङ्गिक होगा, क्योंकि इसका मूल विषय साधना है; फिर भी उदाहरणके लिये मैं कुछ अवतरण देता हूँ।

सुन्दरदासजी कहते हैं—

ब्रह्म निरीह निरामय निर्गुन, नित्य निरंजन और न भासै।
ब्रह्म अखंडित है अध ऊरध, बाहिर भीतर ब्रह्म प्रकासै॥
ब्रह्महि सूच्छम स्थूल जहाँ लगि, ब्रह्महि साहब, ब्रह्महि दासै।
सुंदर और कछू मत जानहु, ब्रह्महि देखत ब्रह्म तमासै॥

एक जगह पलटूदासजी कहते हैं—

कोटिन जुग परलै भई, हमहीं सिरजनहार।
हमहीं सिरजनहार, हमहिं करता के करता,
जेकर करता नाम, आदि में हमहीं रहता॥

—इत्यादि

यह वही भाव है, जो छान्दोग्य उपनिषद्में '**अहं मनुरभवं सूर्यश्च**' इत्यादिसे व्यक्त किया गया है।

दादूदयालजी कहते हैं—

तन मन नाहीं, मैं नहीं, नहिं माया, नहिं जीव।
दादू एकै देखिऐ, दह दिस मेरा पीव॥

जीवन्मुक्तके वर्णन अनेक स्थलोंपर आये हैं। दृष्टान्तके रूपमें मैं उनमेंसे दोको उद्धृत करता हूँ। पहलेमें चरणदासजी कहते हैं—

जब हो एक दूसरा नासै।
बंध मुक्तिकी रहै न साँसै।
मृतक अवस्था जीवत आवै।
करम रहित अस्थिर गति पावै॥
जब कोइ मिंतर, बैरी नाहीं।
पाप पुन्य की परै न छाँही॥
ग्यान दसा ऐसी करि गाई।
चरनदास सुकदेव बताई॥

दूसरेमें कबीरसाहब यों कहते हैं—

भाई, कोई सतगुरु संत कहावै, नैनन अलख लखावै।
डोलत डिगै न बोलत बिसरै, जब उपदेस दृढ़ावै॥
प्रान पूज्य किरिया ते न्यारा, सहज समाधि सिखावै।
द्वार न रूँधै, पवन न रोके, नहिं अनहद अरुझावै॥
यह मन जाय जहाँ लग, जबहीं परमातम दरसावै।
करम करै निःकरम रहै, जो ऐसी जुगत लखावै॥
सदा बिलास त्रास नहिं मन में, भोगमें जोग जगावै।

—इत्यादि

एकाधको छोड़कर संतोंने निश्चितरूपसे पुस्तकें नहीं लिखी हैं। उनकी कुछ स्फुट रचनाएँ मिलती हैं, जिनको समय-समयपर उनके शिष्योंने लिख लिया था। इनमेंसे जो गाने लायक हैं उनको 'शब्द' तथा शेषको—जो प्रायः दोहा, सोरठा आदि छन्दोंमें हैं—'साखी' कहते हैं।

अब मैं इस लेखके मूल विषय 'साधना' की ओर आता हूँ। इतना तो पहले भी सङ्केत किया जा चुका है कि ये लोग योगाभ्यासको मोक्षका साधन प्रतिपादित करते हैं। पतञ्जलिके अनुसार '**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः**' अर्थात् अभ्यास और वैराग्यसे चित्तकी वृत्तिका निरोध होता है, दूसरे शब्दोंमें योगमें सिद्धि प्राप्त होती है। वैराग्यका उपदेश देनेवाले पद संतोंकी बानियोंमें भरे पड़े हैं। मैं केवल एक उदाहरण देना पर्याप्त समझता हूँ—

नाहक गर्ब करे हो अंतहिं खाक में मिलि जायगा।
दिना चारि को रंग कुसुम है, मैं मैं करि दिन जायगा॥
बालुक मंदिल ढहत बार नहिं, फिर पाछे पछितायगा।
रचि रचि मंदिल कनक बनायो, ता पर कियो है अबासा॥
घरमें चोर रैन दिन मूसहिं, कहहु कहाँ है बासा।
पहिरि पटंबर भयो लाड़िला, बन्यो छैल मदमाता॥
गैबी चक्र फिरै सिर ऊपर, छिन में करै निपाता।
नेकु धीर नहिं धरै बावरे, ठौर ठौर चित जाते॥
देवहर पूजत तीर्थ नेम ब्रत, फोकट को रँग राते।
कासें कहँ, कोउ संग न साथी, खलक सबै हैराना॥
कहैं गुलाल संत पुर बासी, जम जीतो है दिवाना॥

वैराग्यवृत्तिको दृढ़ रखनेमें सत्सङ्गसे बड़ी सहायता मिलती है। इस सम्बन्धमें उदाहरणके लिये चरणदासजीकी एक साखीको उद्धृत करना काफी होगा—

तप के बरस हजार हों, सतसंगति घड़ि एक।
तौ भी सरबरि ना करै सुकदेव किया बिबेक॥

बिना एक अच्छे गुरुकी सहायताके योगाभ्यास करना और उसमें सफलता प्राप्त करना यदि असम्भव नहीं तो बहुत कठिन अवश्य है। बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जिनको अनुभवी व्यक्ति ही समझा सकता है; बहुत-सी ऐसी भूलें हैं, जिनको वही दूर कर सकता है। कभी-कभी तो गलती कर देनेसे योगाभ्याससे शरीर और मस्तिष्कके

लिये भयावह परिणाम खड़े हो सकते हैं। उपनिषद्‌का उपदेश है—'**स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।**' दुःखकी बात यह है कि आजकल 'गुरु' शब्द तो चारों ओर मारा-मारा फिरता है; परन्तु इस बातकी छानबीन नहीं की जाती कि जो लोग गुरु बनते हैं, वे ब्रह्मनिष्ठ हैं भी या नहीं। यदि सौभाग्यसे सद्‌गुरु मिल जायँ तो फिर यह पुराना वाक्य सर्वथा सार्थक होता है।—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

संतोंने सद्‌गुरु-महिमामें सचमुच कलम तोड़ दी है। यहाँपर तो केवल थोड़े-से ही उदाहरण दिये जा सकते हैं—

बिनु सद्‌गुरु कोउ भेद न पावा। धरतीसे आकास लौं धावा॥

(वजहन)

दादू काढ़ै काल मुख, अंधे लोचन देइ।
दादू ऐसा गुरु मिल्या, जीव ब्रह्म करि लेइ॥

(दादू)

गुरु चरनन पर तन मन वारूँ। गुरु न तजूँ, हरि को तजि डारूँ॥ (सहजोबाई)

सतगुरु आदि अनादि है, सतगुरु मध अरु मूल।
सतगुरु कूँ सिजदा करूँ, एक पलक नहिं भूल॥

(गरीबदास)

सतगुरु मारा बान भरि, डोला नाहिं सरीर।
कहु चुंबक क्या कर सकै, सुख लागै वोहि तीर॥
सतगुरु मारा तानकर, सब्द सुरंगी बान।
मेरा मारा फिर जियै, तो हाथ न गहूँ कमान॥

(कबीर)

ऐसा सद्‌गुरु धन इत्यादिका भूखा नहीं होता। वह जिसको अधिकारी समझेगा, उसको अवश्य ही सदुपदेश प्रदान करेगा। जो शिष्य बननेका हौसला रखता हो, उसमें अटल श्रद्धा और अथाह धीरता होनी चाहिये। उसको पलटू साहब यह परामर्श देते हैं—

पड़ा रहै संत के द्वारे, धका धनी का खाय।
कबहूँ तो धनी निवाजिहैं, काज सहज होइ जाय॥

पतञ्जलिने योगको अष्टाङ्ग कहा है। कुछ लोग उसको इस कारण षडङ्ग भी कहते हैं कि यम और नियम केवल योगी ही नहीं वरं मनुष्यमात्रके लिये उपयोगी हैं। संतोंने विशेषरूपसे योगकी कोई पोथी तो लिखी नहीं है, इसलिये षडङ्ग-अष्टाङ्गका शास्त्रीय विवेचन भी उन्होंने नहीं किया है। परन्तु जो बातें यम-नियममें परिगणित हैं, इनपर उन्होंने बहुत जोर दिया है। उदाहरणस्वरूप कबीरकी कुछ साखियाँ देता हूँ—

जूआ, चोरी, मसखरी, ब्याज, घूस, पर नार।
जो चाहै दीदार को, एती बस्तु निवार॥
कामी, क्रोधी, लालची, इनसे भक्ति न होय।
भक्ति करै कोइ सूरमा, जाति, बरन, कुल खोय॥
गोधन, गज धन, बाज धन और रतन धन खान।
जब आवै संतोष धन, सब धन धूरि समान॥
मरि जाऊँ, मागूँ नहीं, अपने तन के काज।
परमारथके कारने मोहि न आवे लाज॥
साँचे स्त्राप न लागहीं, साँचे काल न खाय।
साँचे को साँचा मिलै, साँचे माहिं समाय॥
गुरु पसु नर पसु नारि पसु, बेद पसू संसार।
मानुष सोई जानिऐ, जाहि बिबेक बिचार॥
निंदक नियरे राखिऐ, आँगन कुटी छवाय।
बिनु पानी, साबुन बिना, निरमल करै सुभाय॥

योगाभ्यासकी कई रीतियाँ प्रचलित हैं। इनमें लक्ष्यगत कोई भेद नहीं है। मुख्य भेद धारणा अर्थात् चित्तकी वृत्तिको एकाग्र करनेके अन्तर्मुख साधनके सम्बन्धमें है। श्रुतिमें भी इस प्रकारकी कई रीतियाँ भिन्न-भिन्न विद्याओंके नामसे परिगणित हैं। प्रायः सभी संतोंने जिस प्रक्रियाका मुख्यतः उपदेश किया है, उसे 'सुरत शब्दयोग' कहते हैं। यह कोई नूतन आविष्कार नहीं है, परन्तु संतकालके पहले इसका स्यात् इतने विस्तारसे अवलम्बन नहीं हुआ। सुरत, जिसे सुरति भी कहते हैं, 'स्त्रोत' शब्दका अपभ्रंश है। दर्शनग्रन्थोंमें स्त्रोतका अर्थ है 'चित्तवृत्तिप्रवाह'; अतः सुरत शब्दयोग वह पद्धति है, जिसमें शब्दकी धारणा की जाती है अर्थात् चित्तकी वृत्तिका प्रवाह शब्दमें लय किया जाता है। शब्दका किसी बाह्य मन्त्रसे तात्पर्य नहीं है। शरीरके भीतर और शरीरके बाहर एक प्रकारकी ध्वनि बराबर हो रही है, जिसे अनाहत—जो बिना किसी प्रकारका आघात किये हुए उत्पन्न हो—कहते हैं। संतोंने इसे अनहद कहा है। गुरूपदिष्टमार्गसे अभ्यास करनेसे इस ध्वनिकी डोर हाथ आ जाती है और फिर उसके सहारे चढ़कर चित्तकी वृत्ति बीचकी भूमिकाओंको पार करती हुई असम्प्रज्ञात समाधिपदमें सहज ही लीन हो जाती है। नादबिन्दूपनिषद्‌में इसका वर्णन इस प्रकार आता है—

ब्रह्मप्रणवसन्धानं नादो ज्योतिर्मयः शिवः।
स्वयमाविर्भवेदात्मा मेघापायेंऽशुमानिव॥ ३०॥
यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः।
तत्र तत्र स्थिरीभूत्वा तेन सार्धं विलीयते॥ ३८॥
सर्वचिन्तां समुत्सृज्य सर्वचेष्टाविवर्जितः।
नादमेवानुसन्दध्यान्नादे चित्तं विलीयते॥ ४१॥
नियामनसमर्थोऽयं निनादो निशिताङ्कुशः।
नादोऽन्तरङ्गसारङ्गबन्धने वागुरायते॥ ४५॥

इसी प्रकार ध्यानबिन्दूपनिषद्में भी बतलाया है:—

अनाहतं तु यच्छब्दं तस्य शब्दस्य यत्परम्।
तत्परं विन्दते यस्तु स योगी छिन्नसंशयः॥ ३॥

शिवसंहिता आदि ग्रन्थोंमें भी अनाहत ध्वनि और उसके द्वारा चित्तवृत्तिके उपशमका वर्णन आया है।

इसी ध्वनिका आश्रय लेकर योगीको अन्तरमें आदि-ध्वनि अर्थात् प्रणवका अनुभव होता है। पतञ्जलि कहते हैं कि प्रणव अर्थात् ॐकार ईश्वरका वाचक है। ॐकारके अकार, उकार, मकार—इस प्रकार टुकड़े करके अनेक प्रकारसे अर्थ किये गये हैं। योगीकी दृष्टिमें ॐकार आदि शब्द अर्थात् पाञ्चभौतिक जगत्का आदिम रूप, शब्द-तन्मात्राका सूक्ष्मातिसूक्ष्म सार, इसीलिये पाञ्चभौतिक जगत्में ईश्वरकी पहली अभिव्यक्ति है। इसीलिये यह उसका वाचक या पवित्रतम नाम कहा जाता है। श्रुतिमें प्रणवकी अनेक प्रशस्तियाँ है। यथा—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदꣳसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥ १५॥
एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म ह्येतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥ १६॥

(कठोपनिषद द्वितीय वल्ली)

जिस प्रकार वैदिक ग्रन्थोंमें ॐकारको प्रणव, उद्गीथ आदि अनेक नामोंसे पुकारा गया है उसी प्रकार संतोंने इसे प्रायः नाम या सत्तनाम (सत्यनाम) कहकर पुकारा है। सत्यनामकी अपार महिमाका उन्होंने भी बार-बार वर्णन किया है। वे भी कहते हैं कि नादके परे जो भूमिका है, वह निःशब्द 'अनामी' लोक है। इस सम्बन्धमें कुछ अवतरण देता हूँ—

ओ३म्कार पानी अरु पवन। सूर्य, चंद्र, धनि, महि, भवन।
ओ३म्कार पूजा अरु मान। ओ३म्कार जप संजम ध्यान॥
ओ३म्कार तप तीरथ दान। ओ३म्कार राखै सुर ग्यान॥
ओ३म्कार गुरू अरु चेला। ओ३म्कार रह रासी मेला॥
ओ३म्कार निरंतर बानी। जिन जानी तिन गुरुमुख जानी॥

(नानक)

सत्तनाम निज सार है, अमरलोक को जाय।
कह दरिया सतगुरु मिलै, संसय सकल मिटाय॥ (दरिया)

मूलमंत्र निज नाम है, सुरत सिंधु के तीर।
ग़ैबी बानी अरसमें सुर नर धरैं न धीर॥ (गरीब)

ता पर अकह लोक है भाई, पुरुष अनामी तहाँ रहाई।
जो पहुँचैं जानैंगें वाही, कहन सुनन से न्यारा है॥ (कबीर)

संतोंने सुरत शब्दयोगको ही निदिध्यासनकी प्रधान प्रक्रिया माना है। वे इसीको 'भजन' भी कहते हैं। अभ्यास करते-करते योगीको जो अनुभव होते हैं, उनका वर्णन श्वेताश्वतरोपनिषद्में अति संक्षेपमें इस प्रकार हुआ है—

नीहारधूमार्कानलानिलानां
खद्योतविद्युत्स्फटिकाशनीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि
ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे॥ ११॥
पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते
पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥ १२॥

—इत्यादि। (अध्याय २)

इसी विषयका नादबिन्दु आदि उपनिषदोंमें किञ्चित् अधिक विस्तारसे वर्णन है। योगदर्शनके विभूतिपादमें **'नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्', 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्'** इत्यादि सूत्रोंद्वारा कुछ और विस्तार किया गया है। तन्त्रग्रन्थोंमें भी कहीं-कहीं अच्छा वर्णन आया है।

संतोंने भी इस अनुभवका वर्णन किया है और मेरा तो विश्वास है कि संस्कृत-ग्रन्थोंमें भी इस सम्बन्धमें इससे ललित भाषाका प्रयोग नहीं किया गया है। योगीको अभ्यासके प्रसादसे चतुर्दश भुवनमें कोई

भी वस्तु अज्ञात नहीं रह जाती, वह अणिमादि सिद्धियोंका स्वामी हो जाता है। यह असम्भव है कि जो अनुभव स्वसंवेद्य है, जो पद **'नेति नेतीति वाच्यम्'** है, जहाँ मन और वाणीकी पहुँच नहीं, उसका वर्णन शब्दोंमें किया जा सके। हाँ, नीचेकी कुछ बातें बतलायी जा सकती हैं—वे भी संकेतोंद्वारा। इस वर्णनका भी रस उसीको मिल सकता है, जिसकी इस मार्गमें कुछ गति हो। दूसरा इतना ही अनुमान कर सकता है कि किसी प्रकारकी विचित्र और आनन्दमयी अनुभूति होती होगी। मैं नीचे कुछ अवतरण इस सम्बन्धके भी देता हूँ। इनमें कुछ पारिभाषिक शब्द भी आये हैं। इनमेंसे सभी योगविषयक संस्कृत-ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं।

अनहद तालदृग थेई थेई बाजै।
सकल भुवन जाकी ज्योति बिराजै॥
ब्रह्मा बिस्नु खड़े सिव द्वारे।
परम ज्योति सों करैं जुहारे॥
गगन मँडल में निरतन होय।
सतगुरु मिलै तो देखै सोय॥
आठ पहर जन बुल्ला गाजै।
भक्तिभाव माथे पर छाजै॥ (बुल्ला साहब)

उलट देखो घट में ज्योति पसार।
बिनु बाजे तहँ धुनि सब होवै, बिगसि कमल कचनार॥
पैठि पताल सूर ससि बाँधै, साधै त्रिकुटी द्वार।
गंग जमुनके वारपार बिच, भरतु है अमिय करार॥
इँगला पिंगला सुखमन सोधौ, बहत सिखर मुख धार।
सुरत निरत लै बैठु गगन पर सहज उठै झनकार॥
सोहं डोरि मूल गहि बाँधौ, मानिक भरल लिलार।
कह गुलाल सतगुरु बर पायो, भरो है मुक्ति भंडार॥

(गुलाल साहब)

निर्बान निर्गुन नाम है, जप लाग अनहद तान की।
बिमल ग्यान बिराग उपजै, धँसत धारा ध्यान की॥
ध्यान धरकै सिखर देखौ, ज़िकर रारंकार की।
जपत अजपा गगन देखौ, लखौ एक मस्यालची॥
दहिने घंटा संख बाजै बाएँ किंगरी सारँगी।
मधुर मुरली मध्य बाजै, ज्योति एक बिराजती॥
यही है एक कथा निर्गुन दूसरी नहीं जानते।
जगजिवन प्रानहि सोधिकै छुटि जात आवागमन ते॥

(जगजीवन साहब)

बाबा बिकट पंथ रे जोगी, ताते छोड़ सकल रस भोगी।
परथम सिद्धि गनेस मनाओं मूल कमल की मुद्रा।
किलियम् जाप जपौ हरि हीरा, मिटै करम सब छुद्रा॥
करम बाय पर सेस बाय है, तासु होत उदगारम्।
दोकूँ जीत जनम जुग जोगी अवगत खेल अपारम्॥
नाभि कमल में नाद समोऔ नागिन निद्रा मारौ।
दो फुंकार संखिनी जीतौ उरधै नाम बिचारो॥
हिरदै कमल सुरत का संजम निरत कला निरस्वाँसा।
सोहं सिंध सैल पद कीजै ऐसे चढ़ो अकासा॥
कंठ कमलसे हरहर बोलै षोडस कला उगानी।
यह तो मध मारग सतगुरु का पंथ बूझ ब्रह्मग्यानी॥
त्रिकुटी मद्धे मूरत दरसै दो दल दरपन माहीं।
कोट जतन कर देखा भाई बाहर भीतर नाहीं॥
वह तो सिंध दोउ से न्यारा कहो कहाँ ठहराए।
सुन्न बेसुन्न मिलै नहीं भौंरा, कहाँ रहत घर पाए॥
अनहद नाद बजाओ जोगी, बिना चरन चल नगरी।
काया कासी छाँड़ि चलोगे जाय बसौ मन मधरी॥
धरती धूत अँकार न पाऊँ मेरुदंड पर मेला।
गगन मँडल में आसन करहँ तो सतगुरु का चेला॥
तिल परमान ब्रह्म दरवाजा, तिस घाटी ले जाऊँ।
चींटी के पग हस्ती बाँधूँ अधर धार ठहराऊँ॥
दखिन देस में दीपक जोडूँ, उत्तर धरूँ धियाना।
पछिम देसमें देवल हमरा, पूरब पंथ पयाना॥
पिंड ब्रह्मांड दोऊ से न्यारा अगम ग्यान गोहराऊँ।
दास ग़रीब अगम गति आवै सिंधै सिंध मिलाऊँ॥

(गरीबदास)

आगासी सरु भजिया नीर, ता महँ कवँल बहुत बिस्थीर।
भौंरा लोभधा ताँकी गंध, नानक बोलै बिषमी संध
बारह सोलह सम करि गहै, आसणु सहजि निरालगु बहै
चेतन्नी डोरी गुडि लावै, नानक कहै जोग इडँ पावै
मेरुडंड सूधा करि राखै, गुरु प्रसाद अम्रितु रस चाखै
दोने शराह हकठी धरै, नानक बोलै जीवत मरै
उलटै पौण उलटै काया, शबिद अनाहद शब्द बजाया
धुनि अंतर मनु राखै थीरु, नानक बोलै अउलि फकीरु

(नानक साहब)

गगनके बीचमें ऐन मैदान है, ऐन मैदानके बीच गल्ली
सहस दल कँवलमें भँवर गुंजार है, कँवलके बीचमें सेत कल्ली
इडा औ पिंगला सुखमना घाट है, सुखमना घाटमें लगी नल्ली

सुन्न सागर भरा सत्तके नामसे, तेहिके बीचमें सुरति हल्ली
अछै एक वृच्छ है तेहिके डारिमें, पड़ा हिंडोलना प्रेम झुल्ली
अमीरस चुवै सोह पियत एक नागिनी, नागिनी मारिकै बुंद रल्ली
बंकके नालपर तहाँ एक ऊँच है, तेहुँके सीस चढ़ि जोति बल्ली
जोतिके बीचमें तहाँ एक राह है, राहके बीचमें नाद चल्ली
नादके बीचमें तहाँ एक रूप है, रूपको देखिके रह तसल्ली
दास पलटू कहै होय आरूढ़ जब, संतको सहज समाधि भल्ली

(पलटू साहब)

महरम होय सो जानै साधो, ऐसा देस हमारा॥
बेद कतेब पार नहिं पावत, कहन सुनन सो न्यारा।
जाति बरन कुल किरिया नाहीं संध्या नेम अचारा॥
बिन जल बुंद परत जहँ भारी, नहिं मीठा नहिं खारा।
सुन्न महलमें नौबत बाजै, किंगरी बीन सितारा॥
बिन बादर जहँ बिजली चमकै बिन सूरज उजियाँरा।
बिना नैन जहँ मोती पोहै बिनु सुर सब्द उचारा॥
जो चलि जाय ब्रह्म तहँ दरसै आगे अगम अपारा।
कहैं कबीर वहँ रहनि हमारी, बूझै गुरमुख प्यारा॥

(कबीर साहब)

अन्तमें मैं दो शब्द अपने दादागुरु बाबा रामलालजीके देना चाहता हूँ:—

(१) झरै फुलझरी बरै मसाला। दरसै अमृत ज्योति रसाला॥
दसहुँ दिसा महँ दामिनि दमकै। दहिनें बाम रबि चंदा चमकै॥
हरित चक्र त्रिकुटी रह छाई। फनिपति रूप अजब दरसाई॥
स्याम स्वरूप निरंजन झलकै। दीप शिखा सम माया दमकै॥
त्रिगुन त्रिदेव बहुत दरसाहीं। रंग अरंग बरनि नहिं जाहीं॥
कोटि कोटि ब्रह्मांड तमासा। रामलाल चढ़ि लखत अकासा॥
(२) मूल मंत्र करि बंध बिचारी। षट चक्रहि नव सोधहि नारी॥
सोधिके मेरुदंड ठहराना। सहज मिलावै प्रान अयाना॥
बंक नाल गहै मन मूला। बिहँसत अष्टकमल दल फूला॥
पच्छिम दीसा लागि किवारी। सतकुंजी सन लेह उघारी॥
जस मकरीका लागा तागा। वैसेहि प्रेम बढ़ै अनुरागा॥
उलटा पवन चढ़ै जस मीना। है सतगुरु का मारग झीना॥
अजपा जाप ज़िकिर धुनि ध्याना। संधि सब्द महँ पवन समाना॥
आदी सब्द अहै ॐकारा। उठै सब्द धुनि रारंकारा॥
दसौ दिसा होइगे उँजियारा। झलकत जगमग जोति अपारा॥
ग़ैबि मिले जब ग़ैब समाना। ह्वै अलमस्त अमीरस पाना॥
कालदंड नाहीं जम त्रासा। देखत ग़ैबी ग़ैब तमासा॥
जो अस चलै सून्य मिल जाई। ता कर आवागमन नसाई॥
रामलाल कोउ बिरला पावा। निरधन धनी निसान नचावा॥

मैं समझता हूँ कि इतने अवतरण पर्याप्त हैं। जैसा मैंने ऊपर लिखा है, इनका और इनके-जैसे दूसरे पदोंका रसास्वादन वही कर सकता है, जो इस मार्गपर चल रहा है। जो मनुष्य अपने अनुभवके कारण या किन्हीं ऐसे महात्माओंके वचनोंको प्रमाण माननेके कारण, जिनका उसको सत्सङ्ग प्राप्त हुआ हो, योगको मोक्षका उत्कृष्टतम साधन मानता है वह प्रकृत्या संतबानीकी ओर आकृष्ट होगा; और मेरा ऐसा विश्वास है कि उसका इसमें परम कल्याण होगा। आजकल ऐसा कहनेका दस्तूर-सा चल पड़ा है कि इस युगमें योगाभ्यास नहीं किया जा सकता; और मुमुक्षुओंसे दूसरे साधनोंके नाम लिये जाते हैं, जो योगकी अपेक्षा अधिक सुलभ और सुकर हैं। योग कठिन है, इसमें कोई सन्देह नहीं। पतञ्जलि कहते हैं—

'स तु दीर्घकालनैरन्तर्य्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।'

जिस चित्तका निग्रह गीताके शब्दोंमें वायुके बाँधनेके समान दुष्कर है, उसकी वृत्तियोंका निरोध सहज नहीं हो सकता। निरन्तर सतर्क रहनेकी आवश्यकता पड़ती है। पदे-पदे पतनकी सम्भावना है। कबीरने योगीके इस मानस रणक्षेत्रका इन शब्दोंमें अच्छा वर्णन किया है—

साध संग्राम है, बिकट बेड़ा जती, सती और सूरकी चाल आगे।
सती घमसान है पलक दो चारका, सूर घमसान पल एक लागे॥
साध संग्राम है रैन दिन जूझना, देह पर्यंतका काम भाई।
कहत कब्बीर टुक बाग ढीली करै, उलट मन गगनसे ज़मी आई॥

इसलिये कोमलबुद्धि लोगोंका, जो दोनों हाथ चाँदी चाहते हैं, चित्त इस मार्गसे घबराता होगा। परन्तु किया क्या जाय? दूसरा वास्तविक मार्ग है भी नहीं। आजसे दो हज़ार वर्ष पहलेकी बात है। एक मिश्री राजकुमार रेखागणित पढ़ रहा था। उसने घबराकर अपने अध्यापकसे पूछा 'क्या इन तथ्योंके सीखनेका कोई सरल उपाय नहीं है?' उत्तर मिला—'नहीं, नरेशोंके लिये रेखागणित सीखनेका कोई अलग मार्ग नहीं है।' उसी प्रकार मुमुक्षुओंके लिये भी कोई सरल मार्ग नहीं है। हाँ, अधिकारिभेदसे अनेक प्रकारकी यज्ञ, याग, जप, पूजा आदि उपासना-पद्धतियाँ हैं, जिनसे सत्त्वकी शुद्धि होती है और अपात्र क्रमशः पात्रत्व प्राप्त करता है। इनकी उपयोगिता अस्वीकार नहीं की जा सकती। इनमेंसे कई तो योगके अङ्गोपाङ्गोंके पर्यायमात्र

हैं—जैसे नियमोंमें परिगणित ईश्वरप्रणिधानकी भक्ति नामसे महिमा गाना। भगवती श्रुति भी किसी दूसरे मार्गका प्रतिपादन नहीं करती। संतमतके आचार्योंने दिखला दिया है कि इस युगमें भी वह द्वार पहलेकी ही भाँति खुला है।

सिद्धियोंकी प्राप्ति भी योगका एक परिणाम है। पतञ्जलिजी कहते हैं—

'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।'

संतोंने भी इसी दृष्टिसे सिद्धियोंकी निन्दा की है पर उनकी ओर संकेत भी किया है। उनकी विभूतियोंकी बहुत-सी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। पर इन बातोंका उल्लेख करना मैं अनावश्यक समझता हूँ।*

संतोंकी सहज-शून्य-साधना

(लेखक—आचार्य श्रीक्षितिमोहन सेन शास्त्री, एम्० ए०)

मध्ययुगके भक्त और साधकगण बहुत समय गुरुकी तुलना शून्यसे करते हैं। जीवनके सहज विकासके लिये शून्य—एक मुक्त आकाशकी ज़रूरत होती है। गुरु भी ऐसा ही होना चाहिये। इसीलिये रज्जबजीने कहा *'सतगुरु सून्य समान है'* (गुरुदेव अंग, ५६)। ये 'शून्य' और 'सहज' शब्द बौद्धों, निरंजन और नाथपंथी योगियों, सहजियों और बाउल आदि संतोंमें भी हैं। मध्ययुगके भी बहुतेरे साधक अपनेको सहज-पंथी कहते थे। देखा जाय, इसका अर्थ क्या है?

धर्म सहज हो तो यह सहज सकल बाधाहीन होकर अनन्त आधारको चाहता है—यही शून्य है। इसीलिये सभी सहजवादी किसी-न-किसी रूपमें शून्यको स्वीकार करते हैं। 'शून्य' का भावात्मक जीवनाधार महाकाश न मिले तो कोई भी जीवन-बीज अङ्कुरित नहीं हो सकता। इसीलिये सहजमतमें गुरुको शून्य कहा गया है। यदि गुरु अपने व्यक्तित्वसे शिष्यके व्यक्तित्वको दबा दे तो धर्म-जीवन अङ्कुरित होनेके बदले पिस जायगा। इसीलिये शून्य ही गुरु है और गुरु शून्य है।

प्रत्येक अङ्कुर जीवन्त होकर उठते समय शून्य आकाशकी ओर अपने प्राणोंको प्रकाशित करता है। अतिशय क्षुद्र जो अङ्कुर है और क्षुद्रतम जो पुष्प है, वह भी अपने मस्तकपर अनन्त शून्य आकाशको न पाये तो अपने उस छोटे-से जीवनको विकसित नहीं कर सकता। आकाश यदि शून्य न होकर ठोस हो तो सारा जीवन दबकर तहस-नहस हो जाय। इसी तरह समस्त प्रकारके जीवनके विकासके लिये एक प्रकारकी

---

* नोट—भोगके सब पारिभाषिक शब्दोंका, जो संतवानीमें आये हैं, अर्थ लिखना न तो उचित है न सम्भव। फिर भी मैं उन लोगोंकी सुविधाके लिये, जो संस्कृतके योगसाहित्यसे मिलान करना चाहें, दो-एक बातोंकी ओर सङ्केत कर देना चाहता हूँ।

इडा, पिङ्गला और सुषुम्णा नाडियोंको प्रायः इंगला, पिंगला और सुखमना और सांकेतिक भाषामें गङ्गा, यमुना और सरस्वती कहा गया है। इडा और पिङ्गला ही चन्द्र और सूर्य हैं। मेरुदण्ड पृष्ठास्थि है। सुषुम्णा उसीके बीचमेंसे जानेवाली नाड़ी है, जिसका अंग्रेजी नाम स्पाइनल कार्ड है। इसी नाड़ीमें वे छः विशिष्ट स्थान हैं, जिनको षट्चक्र कहते हैं। चक्रोंके नामों और स्थानोंका व्यौरा इस प्रकार है:—

चक्रका नाम	स्थान	चक्रका नाम	स्थान
मूलाधार	मेरुदण्डका सबसे नीचा स्थान	अनाहत	हृदय
स्वाधिष्ठान	योनि	विशुद्ध	कण्ठ
मणिपूर	नाभि	आज्ञा	नेत्रोंके बीचमें; तिल

इन चक्रोंके क्रमशः गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, अविद्या और पुरुष अधिष्ठातृ देवता हैं। इन चक्रोंके ऊपर सहस्रदल कमल या सहस्रार, ब्रह्मरन्ध्र आदि वे स्थान हैं, जो मेरुदण्डसे ऊपर मस्तिष्कमें हैं। जिस स्थानपर इडा और पिङ्गला सुषुम्णासे मिलकर अपनी-अपनी दिशा बदल देती हैं अर्थात् दक्षिण नाडी वाम और वाम नाडी दक्षिणकी ओर चली जाती है, उसको त्रिकुटी या त्रिकुटीसङ्गम कहते हैं। प्रत्येक चक्रके साथ कैसा कमल सम्बद्ध है, किस स्थानपर कौन-सी वायु है, कैसा नाद है, सर्पिणी अर्थात् कुण्डलिनीका स्थान कहाँ है? और वह किस प्रकार ऊर्ध्वगामिनी बनायी जा सकती है, ये सब अंशतः योगसम्बन्धी पुस्तकों और मुख्यतः अपने अनुभवसे ही जाननेकी बातें हैं।

शून्यता जरूरी है। जहाँ प्राणका विकास नहीं है, वहाँ इस शून्यताका प्रयोजन नहीं हो सकता है; किन्तु जहाँ कहीं प्राण है, वहीं उसके विकासके लिये शून्यताका प्रयोजन है। धर्म और भाव भी तो जीवन्त वस्तु हैं, इसीलिये इनके विकासके लिये भी शून्यताका एक अनुकूल आकाश चाहिये। परन्तु यह शून्यता नास्तिधर्मात्मक वस्तु नहीं है।

रामानन्दधारामें गुरुपरम्परासे प्रचलित एक नमस्कार इस प्रकार है—

नमो नमो निरंजन नमस्कार गुरुदेवतः।
वन्दनं सर्व साधवा परनामं पारंगतम्॥

यह न हिन्दी, न संस्कृत प्रणाम बहुत पुराना है। दादूने अपने नामसे इसे चलाया है—

'**दादू नमो निरंजनं नमस्कार गुरुदेवतः**'—इत्यादि

अर्थात् निरञ्जनको प्रणाम करता हूँ, उन्हें समझनेके लिये प्रणाम करता हूँ गुरुदेवताको। गुरु उसी अनादि अनन्त निःसीम निरञ्जनको समझनेके सुगम उपाय हैं। किन्तु यदि रास्ता ही हमें सीमाबद्ध कर दे तो? इसीलिये मुक्तिका पथ खुला रखनेके लिये कहा गया—'**वन्दनं सर्व साधवा।**' जितने भी साधक हों और जिस भावसे भी उन्होंने निरञ्जनको प्राप्त किया हो, उन्हें नमस्कार। ऐसा करनेसे ही यह प्रणाम सीमाबद्ध नहीं होगा। समस्त संकीर्णता और समस्त साम्प्रदायिकताकी बाधा पार कर जायगा। तभी यह प्रणाम होगा '**पारंगतः**' अर्थात् समस्त सीमाके पार गया हुआ सीमाहीन प्रणाम।

इसीलिये गुरु यदि शून्य हों तो किसी विपत्तिका डर नहीं। यह शून्यता ही आत्माके विहारकी सहज भूमि है, इसी सहजमें आत्माकी नित्य केलि और आनन्द-कल्लोलका स्थान है। यहीं संगीत और कलाकी उत्पत्ति है, क्योंकि कलामात्र ही अनन्तमें आत्मारूपी हंसके सहज संगीतका कल्लोल है (दादू परचा अंग ६१)।

भक्तप्रवर सुन्दरदासने अपने सहजानंदनामक ग्रंथमें लिखा है कि हिंदू हो या मुसलमान—यदि साधक बाह्य आचार, अनुष्ठान और कृत्रिम कर्मकाण्ड न माने, ऊपरी भेष और चिह्न न धारण करे, अन्तरमें सहज अग्निशिखा जला रखे, सहज ध्यानमें मग्न हो, सहजमें डूबकर सहजभावसे ही रहे, तब उसके जीवनमें सहज ही भगवान्‌का नाम अपने-आप निःशब्द भावसे ध्वनित होता रहता है। कृत्रिम जप-तपकी कोई ज़रूरत नहीं होती (सहजानंद ग्रंथ २-४)। इसी ग्रंथमें अन्यत्र (२९) कहा गया है कि स्मरण, ध्यानयोगके लिये ये कालाकाल नहीं मानते, सहजमें डूबकर ये कृत्रिम विचार वे भूल जाते हैं। सहज सर्वव्यापी निरञ्जनमें डूबकर साधक विश्व-जगत्‌की सब साधनाओंके साथ योगयुक्त होता है। कबीरदासने नाना भावसे नाना स्थानपर इस सहजावस्थाकी बात कही है। दादूने कहा है कि '**कुछ नाहीं**' का नाम धरके सारा संसार भरम रहा है, इसीलिये भीतरके देवताको छोड़कर व्यर्थ ही बाहर चक्कर मार रहा है—

कुछ नाहीं का नावँ धरि भरम्या सब संसार।
पूजनहारे पासि हैं, देही मा हैं देव।
दादू ता कौं छाड़ि करि, बाहरि माँडी सेव॥

(साच अंग १४६, १४८)

प्रार्थना

मैं अपराधी जनम का, नखसिख भरा बिकार।
तुम दाता दुख-भंजना, मेरी करौ सम्हार॥
अवगुन मेरे बापजी, बकसु गरीबनिवाज।
जो मैं पूत कपूत हौं, तऊ पिता कौ लाज॥
औगुन किये तो बहु किये, करत न मानी हार।
भावै बंदा बकसिये, भावै गरदन मार॥

—कबीर

श्रीमद्भागवतकी साधना

(लेखक—सेठ श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार)

साधनका विषय अत्यन्त व्यापक होनेके कारण बहुत जटिल है। फिर श्रीमद्भागवतमें निरूपित साधनोंपर लिखनेका अधिकार तो महानुभाव विद्वानोंका ही है। मेरे-जैसे अल्पज्ञद्वारा इस विषयमें दु:साहस किया जाना अवश्य ही अनधिकार चेष्टा है। अतएव इस धृष्टताके लिये मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

अन्य पारमार्थिक ग्रन्थोंमें जिस प्रकार ऐहिक, पारलौकिक और पारमार्थिक श्रेयस्कर अनेक साधनोंका निरूपण किया गया है, उसी प्रकार यद्यपि श्रीमद्भागवतमें भी सभी प्रकारके साधनोंका निरूपण मिलता है, किन्तु ऐहिक और पारलौकिक कामनाओंके लिये योगक्रियाओंद्वारा उपलब्ध होनेवाले सर्वोपरि अणिमादि सिद्धियोंके साधनोंके विषयमें भी श्रीमद्भागवतमें स्वयं भगवान्‌ने अपने परम भक्त उद्धवके प्रति यह आज्ञा की है—

अन्तरायान् वदन्त्येता युञ्जतो योगमुत्तमम्।
मया सम्पद्यमानस्य कालक्षपणहेतवः॥

(११।१५।३३)

इसके द्वारा स्पष्ट है कि श्रीमद्भागवतमें कल्याणमार्गके पथिक भगवद्भक्तोंके लिये तो अणिमादि सिद्धियाँ भी केवल समयको व्यर्थ नष्ट करनेवाली ही बतलायी गयी हैं। अत: श्रीमद्भागवतका लक्ष्य पारमार्थिक श्रेयके साधनोंका निरूपण ही है। उनमें भी प्रसङ्गानुकूल अनेक स्थलोंपर सांख्य, योग और ज्ञान-वैराग्य आदि विभिन्न साधनोंका अधिकारिभेदसे निरूपण किया गया है। जैसा कि सूत्ररूपमें भगवान् श्रीकृष्णने—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥

(श्रीमद्भा० ११।२०।६—८)

—इन वाक्योंमें कहा है कि मैंने मनुष्योंके कल्याणकी इच्छासे ज्ञान, कर्म और भक्ति—इस प्रकार तीन योग बतलाये हैं। इन तीनोंके सिवा और कोई चौथा साधन नहीं है। इनमें जो कर्मफलोंको दु:खरूप जानकर उनका त्याग करनेवाले संन्यासी हैं, वे ज्ञानयोगके अधिकारी हैं। जो लोग कर्मोंको सुखरूप समझकर कर्मोंसे विरक्त नहीं हुए हैं—जिनको संसारसे वैराग्य नहीं हुआ है, वे कर्मयोगके अधिकारी हैं। और इनके अतिरिक्त अकस्मात् किसी भाग्योदयसे जो लोग मेरी कथा आदिके कहने-सुननेमें श्रद्धा उत्पन्न हो जानेपर कर्मोंके फलोंमें न तो अत्यन्त आसक्त हैं और न अत्यन्त विरक्त ही हैं, वे भक्तियोगके अधिकारी हैं। किन्तु श्रीमद्भागवतमें कदाचित् ही कोई ऐसा स्थल हो, जहाँ विभिन्न साधनोंके वर्णनमें भगवद्भक्तिको सर्वोपरि प्रधानता न दी गयी हो। देखिये—

प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्॥

(श्रीमद्भा० ७।७।५१,५२)

परमभक्त श्रीप्रह्लादजी दैत्यबालकोंके प्रति कहते हैं कि 'वृत्त, बहुज्ञता, दान, तप, पूजा, शौच और व्रतादिसे मुकुन्दभगवान् प्रसन्न नहीं हो सकते; वे तो केवल विशुद्ध भक्तिसे ही सन्तुष्ट होते हैं। भक्तिके सिवा और सब विडम्बनामात्र है।'

भगवान् कपिलदेव भी माता देवहूतिजीसे यही कहते हैं—

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये॥

(श्रीमद्भा० ३।२५।१९)

योगिजनोंको ब्रह्मप्राप्तिके लिये कल्याणकारक मार्ग भक्तिके समान दूसरा कोई नहीं है। और भी—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम्॥

(श्रीमद्भा० ३।२५।४४)

'इस संसारमें तीव्र भक्तियोगद्वारा मनको स्थिर करके मुझमें लगाना ही मनुष्योंके लिये एकमात्र नि:श्रेयसकारक है।'

भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं उद्धवजीके प्रति यह स्पष्ट कहा है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।२०)

'हे उद्धव! मुझमें बढ़ी हुई भक्ति जिस प्रकार मुझे वश कर सकती है उस प्रकार न योग, न ज्ञान, न धर्म, न वेदाध्ययन, न तप और न त्याग ही मुझे वश कर सकते हैं।'

प्रश्न हो सकता है कि भगवद्भक्तिको इस प्रकार सर्वोपरि महत्त्व दिये जानेका क्या कारण है, जब कि श्रुति-स्मृतियोंमें एवं श्रीमद्भागवतमें भी अन्य साधनोंका भी महत्त्व प्रतिपादित है? इसका समाधान श्रीमद्भागवतके निम्नलिखित वाक्योंद्वारा हो जाता है—

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये।
अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान्॥
यानास्थाय नरो राजन्न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह॥

(११।२।३४,३५)

योगीश्वर कवि श्रीजनक महाराजसे कहते हैं कि 'हे राजन्! भगवान्ने स्वयं श्रीमुखसे जो धर्म* आत्मतत्त्वकी उपलब्धिके लिये बतलाये हैं—जिनके द्वारा सर्वसाधारण अल्पज्ञ जन भी सुखपूर्वक—सहज ही भगवत्प्राप्ति कर सकते हैं, वे ही भागवत-धर्म हैं। उन भागवत-धर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ पुरुष कभी प्रमादको प्राप्त नहीं हो सकता—जिस प्रकार राजमार्गमें आँख बंद करके भी दौड़ते हुए मनुष्यको गिरनेका भय नहीं होता, उसी प्रकार भागवत-धर्मोंमें प्रवृत्त होकर आँख मूँदकर दौड़ते हुए चलनेपर भी किसी प्रकारके विघ्नका खटका नहीं होता।' अर्थात् अन्य श्रुति-स्मृतिविहित धर्मोंके साधनोंमें कुछ भी त्रुटि होनेपर साधक पथभ्रष्ट हो जाता है। किन्तु भगवद्भक्तिमें श्रुति-स्मृतिप्रतिपादित धर्मोंका यथावत् अनुष्ठान न होनेपर भी भगवद्भक्त कदापि पथभ्रष्ट नहीं हो सकता। और देखिये—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे-
र्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं
को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः॥

(श्रीमद्भा० १।५।१७)

देवर्षि नारद भगवान् वेदव्यासजीसे कहते हैं—नित्य-नैमित्तिक स्वधर्माचरणको त्यागकर भगवद्भक्ति करता हुआ पुरुष यदि भक्तियोगकी परिपक्व अवस्थाको प्राप्त न होकर मर जाय अथवा भक्तिमार्गसे च्युत हो जाय तो भी क्या उस पुरुषका कभी अमङ्गल हो सकता है? कभी नहीं। इसके विपरीत भगवद्भक्तिको न करके केवल कर्म-बन्धनमें फँसानेवाले धर्मोंको करते-करते जो लोग मर जाते हैं, उनको क्या फल मिलता है? अर्थात् उस धर्मके प्रतिफलसे कुछ काल स्वर्गादि सुख भोगकर पुनः उनको दुःखमय संसारचक्रमें ही घूमना पड़ता है। यद्यपि श्रीमद्भगवद्गीताके—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत् सर्व कर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥

—इस भगवद्वाक्यमें अल्पज्ञोंके लिये कर्मोंका साधन उपादेय बतलाया गया है। किन्तु वह ज्ञानके जिज्ञासुओंके लिये ही कहा गया है। क्योंकि ज्ञानके लिये अन्तःकरणकी शुद्धि परमावश्यक है और वह निष्काम कर्मोंद्वारा ही प्राप्त हो सकती है। किन्तु भक्ति तो अनपेक्ष ही अन्तःकरणकी शुद्धि करनेवाली है। कहा है—

केचित्केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः।
अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्करः॥

(श्रीमद्भा० ६।१।१५)

श्रीमद्भागवतमें तो भक्तिरहित ज्ञानको भी केवल क्लेशकारक ही बतलाया गया है—

श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

(१०।१४।४)

भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुतिमें ब्रह्माजी कहते हैं—'हे स्वामिन्! समस्त श्रेयोंकी मूल-स्रोत जो आपकी भक्ति है, उसे न करके जो पुरुष केवल शुष्क ज्ञानके लिये परिश्रम करते हैं, उनको केवल क्लेशमात्र ही प्राप्त होता है। जैसे धानके छिलकोंको कूटनेवालोंको सिवा क्लेशके और कुछ हाथ नहीं लगता।

—इत्यादि अनेक वाक्योंद्वारा स्पष्ट है कि श्रीमद्भागवतका चरम सिद्धान्त भगवद्भक्तिका प्रतिपादन

* भगवान्के बतलाये हुए 'श्रद्धामृतकथायाम्' आदि धर्मोंका वर्णन आगे चलकर किया गया है। —लेखक

ही है। किन्तु भक्तिका महत्त्व प्रतिपादन करनेवाले वाक्योंका तात्पर्य ज्ञानादि साधनोंको हेय बतलानेका नहीं। वस्तुतः उनका अभिप्राय यह है कि ज्ञानादि अन्य सभी साधन भक्तिसापेक्ष हैं—वे स्वतन्त्ररूपसे भक्तिके बिना भगवत्प्राप्तिमें सहायक नहीं हो सकते। कहा है—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥

(श्रीमद्भा० १।५।१२)

महर्षि व्यासजीके प्रति देवर्षि नारदजी कहते हैं—'राग-द्वेषादि उपाधिरहित ब्रह्मतादात्म्यकारक ज्ञान भी जब भक्तिके बिना शोभित नहीं होता—मोक्षमें सहायक नहीं हो सकता, तब साधन और फल दोनोंमें दुःख देनेवाले सकाम कर्म भगवान्‌के अर्पण हुए बिना किस प्रकार मोक्षकारक हो सकते हैं?' क्योंकि—

आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ।

'अन्य साधनोंद्वारा महान् क्लेशसे परमपदको पा लेनेपर भी आपके चरणारविन्दोंकी भक्ति न करनेवाले वहाँसे नीचे गिर जाते हैं।'

इसके सिवा एक बात और भी है। भगवान् स्वयं आज्ञा करते हैं—

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥
यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।

(श्रीमद्भा० ११।२०।३१—३३)

'अतएव मेरे भक्तको—ऐसे भक्तको जिसने आत्माको मुझमें लीन कर दिया है एवं जो मेरी भक्तिसे युक्त है—ज्ञान और वैराग्य आदि श्रेयके अन्य साधनोंकी आवश्यकता नहीं रहती। जब कि कर्मकाण्ड, तप, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान और धर्म एवं अन्यान्य श्रेयके साधनोंसे जो फल प्राप्त होते हैं, वे सब मेरे भक्तको केवल भक्तियोगद्वारा अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं।'

ऐसी परिस्थितिमें ज्ञानादिके लिये अत्यन्त क्लिष्ट साधनोंका किया जाना आवश्यक नहीं। इसके विरुद्ध सुगम मार्गको ग्रहण न करके गहन मार्ग ही जिनको वाञ्छनीय है, उनके लिये श्रीमद्भागवतमें भी इच्छानुसार ज्ञानयोगादि अनेक मार्गोंका निर्देश किया ही गया है।

भक्तिके भेद

यों तो भक्तिग्रन्थोंमें भक्तिके अनेकों भेद-प्रभेद कथन किये गये हैं। उन सबकी स्पष्टताके लिये यहाँ स्थान कहाँ। संक्षेपमें साधारणतया भक्तिके दो भेद हैं—साध्य-भक्ति और साधन-भक्ति।

साध्य-भक्तिका ही नामान्तर पराभक्ति या प्रेमलक्षणा भक्ति है। प्रेमलक्षणा भक्तिके अधिकारी भगवान्‌के अनन्य भक्त ही होते हैं, जिनके विषयमें भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।१४)

'जिसने मुझमें मन अर्पण कर दिया है वह मेरा अनन्य भक्त मुझे छोड़कर ब्रह्माजीका पद, इन्द्रका आसन, चक्रवर्ती साम्राज्य, लोकाधिपत्य, योगजनित सिद्धियाँ ही नहीं, किन्तु मोक्षपदकी भी इच्छा नहीं करता है।' अतः परा भक्तिका परमानन्द अनिर्वचनीय है। पराभक्तिप्राप्त भगवान्‌के भक्तोंको देहानुसन्धान भी नहीं रहता, उनकी परमानन्दमयी अवस्थाका वर्णन योगीश्वर कविने इस प्रकार किया है—

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः॥
एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।३९-४०)

'चक्रपाणिभगवान्‌के सुन्दर मङ्गलमय-कल्याणकारी जन्म और कर्मोंकी कथाओंका श्रवण करता हुआ एवं

उन जन्म-कर्मोंके अनुसार महाजनोंद्वारा गाये गये नामोंका लोक-लज्जा छोड़कर गान करता हुआ भगवान्‌का अनन्य भक्त संसारमें अनासक्त रहकर विचरता है। इस प्रकार अपने प्रियतम भगवान्‌के नाम-कीर्तनादिका व्रत धारण करते हुए जब प्रेमी भक्तको अनुराग उत्पन्न हो जाता है, तब वह प्रेमसे द्रवितचित्त होकर विवशतया कभी तो —भगवान्‌को भक्तोंसे पराजित समझकर— अट्टहास करने लगता है, कभी यह विचार कर कि हा! इतने कालतक मैं भगवद्विमुख क्यों रहा—रोने लग जाता है, कभी दर्शनोंकी उत्कट उत्कण्ठासे चिल्लाने लग जाता है, कभी भावावेशमें भगवच्चरित्र-गान करने लगता है और कभी—लोकातिरिक्त लावण्यसिन्धु भगवान्‌के स्वरूपका दर्शन करके हर्षोद्रेकपूर्वक प्रेमविभोर और उन्मत्त होकर नृत्य करने लगता है।'

भक्तिके साधन

भक्तिका सर्वोपरि प्रधान एवं प्रथम साधन सत्संग है। भगवान्‌ने स्वयं श्रीमुखसे आज्ञा की है—

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥

(श्रीमद्भा० ११।१२।१-२)

'हे उद्धव! यद्यपि योग[१], सांख्य[२], धर्म[३], वेदाध्ययन, तप[४], त्याग[५], इष्टापूर्त[६], दान, व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ, यम और नियमादि—ये सभी मुझे प्रसन्न करनेके साधन हैं; किन्तु जिस प्रकार अन्य समस्त सङ्गोंको निवारण करनेवाले सत्सङ्गके द्वारा मैं वशीभूत हो सकता हूँ, उस प्रकार योगादि उपर्युक्त साधनोंसे नहीं।'

सत्सङ्गको इतना महत्त्व इसलिये दिया गया है कि भगवद्भक्ति सत्सङ्गके बिना उपलब्ध नहीं हो सकती। राजा रहूगणके प्रति परमहंस जडभरतजीने कहा है—

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥

(श्रीमद्भा० ५।१२।१२)

'हे रहूगण, भगवत्तत्त्वका ज्ञान, महापुरुषोंके चरणोंकी रज जबतक सिरपर धारण नहीं की जाती, न तपसे, न यज्ञादि कर्मोंसे, न अन्नादिके दानसे, न संन्याससे, न वेदाध्ययनसे, न जल, अग्नि और सूर्यकी उपासनासे प्राप्त हो सकता है—यह तो सत्सङ्गसे ही प्राप्त हो सकता है।' सत्सङ्गद्वारा भगवद्भक्तिका आविर्भाव किस प्रकार होता है, इस विषयमें भगवान् कपिलदेव कहते हैं—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥

(श्रीमद्भा० ३।२५।२५)

'सत्पुरुषोंके निरन्तर सङ्गमें मेरे माहात्म्यसूचक चरित्रोंकी कानोंमें सुधा बरसानेवाली हृदयाकर्षिणी कथा होती है, उन कथाओंके श्रद्धापूर्वक सेवनसे शीघ्र ही हरि भगवान्‌में क्रमशः श्रद्धा, रति और भक्ति बढ़ती जाती है।'

सत्सङ्गके पश्चात् भगवद्भक्तिके अनेक साधन बहुत-से प्रसङ्गोंपर श्रीमद्भागवतमें बतलाये गये हैं। स्वयं भगवान्‌ने भी उद्धवजीसे कथन किया है—

श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम्।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम॥
आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम्।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः॥
मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम्।
मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम्॥
मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः॥
एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते॥

(श्रीमद्भा० ११।१९।२०—२४)

---

१. असान, प्राणायामादि अष्टाङ्गयोग।
२. तत्त्वोंके विवेचनात्मक प्रकृति-पुरुषके स्वरूपका ज्ञान।
३. सामान्य तथा अहिंसा आदि।
४. कृच्छ्रचान्द्रायणादि।
५. संन्यासधर्म।
६. इष्ट—अग्निहोत्रादि कर्म और पूर्त—कूएँ, तालाब, देवस्थान, बाग आदिका निर्माण।

अर्थात् निरन्तर[१] अमृतके समान मेरी कथामें श्रद्धा, मेरे नामों और गुणोंका कीर्तन, मेरी पूजामें[२] अत्यन्त निष्ठा, स्तुतियोंद्वारा मेरा स्तवन, मेरी परिचर्यामें[३] आदर, सर्वाङ्गसे[४] मुझे प्रणाम, मेरे भक्तोंकी विशेषरूपसे पूजा, सब प्राणियोंमें मुझे देखना, मेरे लिये सारे अङ्गोंकी चेष्टा[५], वार्तालापमें भी मेरे ही गुणोंका वर्णन करना, मनको मुझमें अर्पण करना, सांसारिक सभी कामनाओंका त्याग करना, मेरे निमित्त द्रव्य[६], भोग और सुखका त्याग[७] करना, मेरे लिये ही यज्ञ[८], दान, होम, जप, तप और व्रत आदि सब कर्म करना। हे उद्धव! इन धर्मोंके द्वारा आत्मनिवेदन करनेवालेको मेरी प्रेमलक्षणा भक्ति प्राप्त हो जाती है। फिर उसके लिये कुछ भी साधन अथवा साध्य शेष नहीं रह जाता।

यहाँ यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि जैसे अन्य कोई साध्य वस्तु प्राप्त हो जानेपर उसके साधनोंका त्याग कर दिया जाता है, वैसे यहाँ प्रेमलक्षणा भक्तिके जो श्रवण, कीर्तन आदि साधन हैं, उनका त्याग नहीं किया जाता; क्योंकि श्रवण, कीर्तनादि साधन तो प्रत्युत उत्तरोत्तर भक्तिको सहस्रगुण परिवर्द्धन करनेवाले ही हैं और भक्तके अति प्रिय हैं।

साधन-भक्ति

उपर्युक्त भगवद्वाक्योंमें जो प्रेमलक्षणा भक्तिके साधन कथन किये गये हैं, उनमें श्रवणादि बहुत-सी साधन-भक्तियोंका समावेश हो जाता है। प्रधानतया—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—यह नवधा भक्ति बहुमतसे साधन-भक्ति ही है। इनमें प्रत्येकका वर्णन श्रीमद्भागवतमें अनेक स्थलोंपर बहुत विशदरूपसे किया गया है और वह प्रासङ्गिक भी है, किन्तु विस्तारभयसे इनके विषयमें स्पष्टीकरण इस लेखमें नहीं किया गया है। यह भी महत्त्वपूर्ण विषय है, अतएव स्वतन्त्र लेखमें विशदरूपसे लिखने योग्य है।

---

१. यहाँ निरन्तर (शश्वत्)-का सम्बन्ध कथा आदि सभी साधनोंके साथ है।

२. आवाहनादि षोडशोपचार पूजा।

३. भगवान्के मन्दिर आदिका परिमार्जन आदि, जैसा कि 'सम्मार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्तनैः। गृहशुश्रूषणे मह्यं दासवद् यदमायया॥' (श्रीमद्भा० ११।११।३९) में कहा है।

४. दोनों पैर, दोनों हाथ सीधे पसारकर दण्डके समान सीधा होकर सिर, मन, बुद्धि और वाणीसहित साष्टाङ्ग प्रणाम करना।

५. भगवान्के आराधनके निमित्त उद्यान-निर्माण, उत्सवादिके निर्वाहके लिये ग्रामादिककी जीविका निकालना-जैसा कि भागवतके ११।२७।३८-३९ श्लोकोंमें कहा है। अङ्गोंका प्रयोग करना। जैसा कि 'स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः·····' इत्यादि भागवतके ९।४।१८—२० तक तीन श्लोकोंमें अम्बरीषके प्रकरणमें सारे अङ्गोंका भगवान्के लिये प्रयोग किया जाना कहा गया है।

६. भगवान्के निमित्त मन्दिर और उत्सवादिमें द्रव्य व्यय करना।

७. लौकिक भोग और सुखोंकी तो बात ही क्या, त्रैलोक्यके ऐश्वर्यके लिये भी भगवान्के भजनका त्याग न करना कहा है—
त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्। न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥
(श्रीमद्भा० ११।२।५३)

८. जैसा कि भगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा है—
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
(९।२७)

भागवती साधना

(लेखक—पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०, साहित्याचार्य)

श्रीमद्भागवत संस्कृत-धार्मिक-ग्रन्थोंमें एक अनुपम स्थान रखता है। उसके समान अन्य ग्रन्थ मिलना बिलकुल असम्भव-सा है—वह ग्रन्थ जिसमें पाण्डित्य तथा कवित्व दोनोंका मणिकाञ्चन योग हो, सिवा इस ग्रन्थरत्नके हमारे लिये सुलभ नहीं है। '**विद्यावतां भागवते परीक्षा**' इस सुप्रसिद्ध लोकोक्तिसे ग्रन्थकी दुरूहताका परिचय भी पर्याप्तमात्रामें हो सकता है। अतः भागवतमें किस साधना-पद्धतिका किस प्रकारसे उल्लेख किया गया है, इसका ठीक-ठीक विवेचन भागवतके पारदृश्वा विवेचक विद्वान् ही साङ्गोपाङ्गरूपसे कर सकते हैं; परन्तु फिर भी अपनी बुद्धिसे इस विषयका एक छोटा-सा वर्णन पाठकोंके सामने इस आशासे प्रस्तुत किया जाता है कि अधिकारी विद्वान् इसका यथातथ्य विस्तृत निरूपण प्रस्तुत करें।

हमारे देखनेमें भागवती साधनाका कुछ विस्तृत वर्णन द्वितीय स्कन्धके आरम्भमें तथा तृतीय स्कन्धके कपिलगीतावाले अध्यायोंमें किया गया मिलता है। कपिलकी माता देवहूतिके सामने भी यही प्रश्न था कि भगवान्के पानेका सुलभ मार्ग कौन-सा है। इसी प्रश्नको उन्होंने अपने पुत्र कपिलजीसे किया, जिसके उत्तरमें उन्होंने अपनी माताकी कल्याण-बुद्धिसे प्रेरित होकर अनेक ज्ञातव्य बातें कही हैं। परन्तु सबसे अधिक आवश्यकता थी इसकी राजा परीक्षित्को। उन्होंने ब्राह्मणका अपमान किया था; सातवें दिन उन्हें अपना भौतिक पिण्ड छोड़ना था। बस, इतने ही स्वल्पकालमें उन्हें कल्याण-साधन करना था। बेचारे बड़े विकल थे, बिलकुल बेचैन थे। उनके भाग्यसे उन्हें उपदेष्टा मिल गये शुकदेव-जैसे ब्रह्मज्ञानी। अतः उनसे उन्होंने यही प्रश्न किया—हे महाराज, इतने कम समयमें क्या कल्याण सम्पन्न हो सकता है? पर शुकदेवजी तो सच्चे साधककी खोजमें थे। उन्हें ऐसे साधकके मिलनेपर नितान्त प्रसन्नता हुई। शुकदेवजीने परीक्षित्से कहा कि भगवान्से परोक्ष रहकर बहुत-से वर्षोंसे क्या लाभ है? भगवान्से विमुख रहकर दीर्घ जीवन पानेसे भला, कोई फल सिद्ध हो सकता है? भगवान्के स्वरूपको जानकर उनकी सन्निधिमें एक क्षण भी बिताना अधिक लाभदायक होता है। जीवनका उपयोग तो भगवच्चर्चा और भगवद्गुणकीर्तनमें है। यदि यह सिद्ध न हो सके, तो दीर्घ जीवन भी पृथ्वीतलपर भारभूत है। खट्वाङ्गनामक राजर्षिने इस जीवनकी असारताको जानकर अपने सर्वस्वको छोड़कर समस्त भयोंको दूर करनेवाले अभय हरिको प्राप्त किया। तुम्हें तो अभी सात दिन जीना है। इतने कालमें तो बहुत कुछ कल्याण-साधन किया जा सकता है।

इतनी पूर्वपीठिकाके अनन्तर शुकदेवजीने भगवती भागीरथीके तीरपर सर्वस्व छोड़कर बैठनेवाले राजा परीक्षित्से भागवती साधनाका विस्तृत वर्णन किया। अष्टाङ्ग योगकी आवश्यकता प्रायः प्रत्येक मार्गमें है। इस भक्तिमार्गमें भी वह नितान्त आवश्यक है। उन्होंने कहा कि साधकको चाहिये कि किसी एक आसनपर बैठनेका अभ्यास करके उस आसनपर पूरा जय प्राप्त कर ले। अनन्तर प्राणोंका पूरा आयमन करे। संसारके किसी भी पदार्थमें आसक्ति न रखे। अपनी इन्द्रियोंपर पूर्ण विजय प्राप्त कर ले। इतना हो जानेपर साधकका मन उस अवस्थामें पहुँच जाता है, जब उसे एकाग्रता प्राप्त हो जाती है। अपने मनको जिस स्थानपर लगावेगा, उस स्थानपर वह निश्चयरूपसे टिक सकेगा। अभी भगवान्के स्थूल रूपका ध्यान करना चाहिये। भगवान्के विराट् रूपका ध्यान सबसे पहले करना चाहिये। यह जगत् ही तो भगवान्का रूप है। '**हरिरेव जगज्जगदेव हरिर्हरितो जगतो नहि भिन्न तनुः**'। इस जगत्के चौदहों लोकोंमें भगवान्की स्थिति है। पाताल भगवान्का पादमूल है, रसातल पैरका पिछला भाग है, महातल पैरकी एड़ी है, तलातल दोनों जङ्घाएँ हैं, सुतल जानुप्रदेश है और दोनों ऊरु वितल तथा अतल लोक हैं। इस प्रकार अधोलोक भगवत्-शरीरके अधोभागके रूपमें है। भूमितल जघनस्थल है तथा इससे ऊर्ध्वलोक ऊपरके भाग हैं। सबसे ऊपर सत्यलोक या ब्रह्मलोक भगवान्का मस्तक है। इस जगहपर भागवतकारने भगवान्के विराट् रूपका वर्णन बड़े विस्तारके साथ किया है। जगत्की जितनी चीज़ें हैं, वे सब भगवान्का कोई-न-कोई अंग या अंश अवश्य हैं। जब यह जगत् भगवान्का ही रूप ठहरा, तब उसके भिन्न-भिन्न अंगोंका भगवान्के भिन्न-भिन्न अवयव होना उचित है। यह हुआ भगवान्का स्थविष्ठ—

स्थूलतम स्वरूप। साधकको चाहिये कि इस रूपमें इस प्रकार अपना मन लगावे, वह अपने स्थानसे किञ्चिन्मात्र भी चलायमान न हो। जबतक भगवान्में भक्ति उत्पन्न न हो जाय, तबतक इस स्थूलरूपका ध्यान नियतरूपसे साधकको अपनी नित्यक्रियाओंके अन्तमें करना चाहिये। कुछ लोग इसी साधनाको श्रेष्ठ समझकर इसीका उपदेश देते हैं।

पर अन्य आचार्य अपने भीतर ही हृदयाकाशमें भगवान्के स्वरूपका ध्यान करना उत्तम बतलाते हैं और वे उसीका उपदेश देते हैं। आसन तथा प्राणपर विजय प्राप्त कर लेनेके अनन्तर साधकको चाहिये कि अपने हृदयमें भगवान्के स्वरूपका ध्यान करे। आरम्भ करे भगवान्के पादसे और अन्त करे भगवान्के होठोंकी मृदुल मधुर मुसुकानसे। **'पादादि यावद्धसितं गदाभृतः'** का नियम भागवतकार बतलाते हैं। नीचेसे आरम्भ कर ऊपरके अङ्गोंतक जाय और एक अंगका ध्यान निश्चित हो जाय, तब अगले अङ्गकी ओर बढ़े। इस प्रकार करते-करते पूरे स्वरूपका ध्यान दृढ़ रूपसे सिद्ध हो जाता है। इस तरहके ध्यानका विशद वर्णन तृतीय स्कन्धके २८ वें अध्यायमें किया गया है। पहले-पहल उस रसिकशिरोमणिके पैरसे ध्यान करना आरम्भ करे। श्रीभगवान्के चरण-कमल कितने सुन्दर हैं! उनमें वज्र, अङ्कुश, ध्वजा, कमलके चिह्न विद्यमान हैं तथा उनके मनोरम नख इतने उज्ज्वल तथा रक्त हैं कि उनकी प्रभासे मनुष्योंके हृदयका अन्धकार आप-से-आप दूर हो जाता है। श्रीभागीरथीका उद्गम इन्हींसे हुआ है। ऐसे चरणोंमें चित्तको पहले लगावे। जब वह वहाँ स्थिररूपसे स्थित होने लगे, तब दोनों जानुओंके ध्यानमें चित्तको रमावे। तदनन्तर ललित पीताम्बरसे शोभित होनेवाले ओजके खजाने भगवान्की जङ्घाओंपर ध्यान लगावे। तदनन्तर ब्रह्माजीके उत्पत्तिस्थानभूत कमलकी उत्पत्ति जिससे हुई है, उस नाभिका ध्यान करे। इसी प्रकार वक्षःस्थल, बाहु, कण्ठ, कण्ठस्थ मणि, हस्तस्थित शङ्ख, चक्र, पद्म, गदा आदिका ध्यान करता हुआ भगवान्के मुखारविन्दतक पहुँच जाय। तदनन्तर कुटिल कुन्तलसे परिवेष्टित, उन्नत भ्रूसे सुशोभित मीनकी भाँति चपल नयनोंपर अपनी चित्त-वृत्ति लगावे। मनुष्योंके कल्याणके लिये अवतार धारण करनेवाले भगवान्के कृपा-रससे सिक्त, तापत्रयकी शमन करनेवाली चितवनको अपने ध्यानका विषय बनावे। अन्तमें भगवान्के होठोंपर विकसित होनेवाली मन्द मुसुकानमें अपने चित्त लगाकर बस, वहीं दृढ़ धारणासे टिक जाय। वहाँसे टले नहीं। वही अन्तिम स्थान ध्यानका हुआ। पर इस स्थानपर निश्चितरूपसे स्थित होनेका प्रधानतम उपाय हुआ भक्तियोग। जबतक हृदयमें भगवान्के प्रति भक्तिका सञ्चार न होगा, तबतक जितने उपाय किये जायँगे वे सर्वथा व्यर्थ सिद्ध होंगे। अष्टाङ्ग योग भी तो बिना भक्तिके छूछा ही है—नीरस ही है। भक्ति होनेपर ही तो भक्तका प्रत्येक कार्य भगवान्की पूजाका अङ्ग हो जाता है, अतः इस भक्तिका पहले होना सबसे अधिक आवश्यक है।

अतः भागवतकारको पूर्वोक्त प्रकारकी ही साधना अभीष्ट है, क्योंकि ध्रुव आदि भक्तोंके चरित्रमें इसी प्रकारकी साधनाका उपयोग किया गया मिलता है।

भजनमें जल्दी करो

भजन आतुरी कीजिये और बात में देर॥
और बात में देर जगत् में जीवन थोरा।
मानुष-तन धन जात गोड़ धरि करौ निहोरा॥
काँच महल के बीच पवन इक पंछी रहता।
दस दरवाजा खुला उड़नको नित उठि चहता॥
भजि लीजै भगवान एही में भल है अपना।
आवागौन छुटि जाय जनम की मिटै कलपना॥
पलटू अटक न कीजिये चौरासी घर फेर।
भजन आतुरी कीजिये और बात में देर॥ —पलटू

श्रीभगवान्‌के पूजन और ध्यानकी विधि

(अम्बरीष-नारद-संवाद)

राजा अम्बरीष—हे मुनिवर! श्रीहरिकी आराधनाको छोड़कर ऐसा कोई भी प्रायश्चित्त मुझे नहीं दिखायी देता, जिससे जीवोंके अपार पापोंका नाश हो जाय। सुना गया है कि श्रीहरिकी एक नजरसे ही सारी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। सब क्लेशोंके नाश करनेवाले उन केशवकी आराधना किस प्रकार की जाती है? जगत्‌के स्त्री-पुरुष उन नारायणकी उपासना कैसे करें, हे मुने! जगत्‌के हितके लिये आप मुझको वही बतलाइये। सुना है, भगवान् भक्तिप्रिय हैं। अत: वे किस भक्तिसे प्रसन्न होते हैं, वह भक्ति कैसे होती है और कैसे सब लोग उनकी आराधना कर सकते हैं? यह सब बतलाइये। हे ब्रह्मन्! हे ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ! आप श्रीहरिके प्यारे हैं, परम वैष्णव हैं और परमार्थतत्त्वके जाननेवाले हैं; इसीसे मैं आपसे पूछ रहा हूँ। सुना है, श्रीहरिका चरणोदक (गंगाजल) जिस प्रकार पवित्र करनेवाला है वैसे ही श्रीहरिविषयक प्रश्न भी प्रश्नकर्त्ता, श्रोता और वक्ता—सबको पवित्र कर देता है।

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥
संसारेऽस्मिन् क्षणार्द्धोऽपि सत्सङ्गः शेवधिर्नृणाम्।
यस्मादवाप्यते सर्वं पुरुषार्थचतुष्टयम्॥

'जीव-देहोंमें मनुष्यदेह दुर्लभ है, परन्तु है वह क्षणभंगुर; इस दुर्लभ और क्षणभंगुर मनुष्यदेहमें वैकुण्ठप्रिय-हरिके प्यारे संतके दर्शन और भी दुर्लभ हैं। इस संसारमें आधे क्षणका भी सत्संग मनुष्योंके लिये एक अमूल्य निधि है; क्योंकि इस सत्संगसे ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति होती है।'

हे भगवन्! जैसे बच्चोंके लिये माता-पिताका मिलना महान् आनन्द और कल्याणका देनेवाला है, वैसे ही आपके दर्शन भी सब जीवोंके लिये कल्याणकारी हैं।········अतएव हे भगवन्! आप मुझे भागवत-धर्मका उपदेश कीजिये।

नारद—राजन्! आप स्वयं भगवान्‌के भक्त हैं। 'भगवान्‌की सेवा ही परम धर्म है' आप इस बातको भलीभाँति जानते हैं। जिन भगवान्‌की आराधना करनेसे सारे विश्वकी सेवा हो जाती है, जिन सर्वदेवमय हरिके सन्तुष्ट होनेपर सभी सन्तुष्ट हो जाते हैं और जिनके स्मरणमात्रसे महान् पातकोंका समूह डरकर उसी क्षण भाग जाता है, उन श्रीहरिकी ही सब प्रकारसे सेवा करनी चाहिये। जो समस्त कार्य-कारणोंके कारणके कारण हैं, जिनका कोई कारण नहीं है; जो जगन्मय होकर जगत्‌के जीवोंके रूपमें वर्तमान हैं, जो अणु होते हुए ही बृहत्, कृश होते हुए ही स्थूल, निर्गुण होते हुए ही महान् गुणवान् हैं उन जन्मत्रयातीत अजभगवान् श्रीहरिका ध्यान करना चाहिये। हे पुरुषश्रेष्ठ! आप भागवत-धर्मके विषयमें सब कुछ जानते हुए भी जगत्‌के कल्याणके लिये ही मुझसे पूछ रहे हैं। भगवान्‌की कथा ऐसी ही है,उसका कीर्तन साधुओंके आत्मा, मन और कानोंको तृप्त करनेवाला है। इसीलिये आप मुझसे पूछ रहे हैं।

ज्ञानी पुरुष जिनको परम ब्रह्म और परात्पर प्रधान कहते हैं, जिनकी मायासे इन समस्त विश्वका अस्तित्व है, वे ही अच्युतभगवान् हैं। भक्तिपूर्वक पूजा करनेपर वे पुत्र, कलत्र, दीर्घ आयु, राज्य, स्वर्ग और मोक्ष आदि सभी अभीष्ट प्रदान करते हैं। उनकी पूजाके कायिक, वाचिक और मानसिक—तीन प्रकारके व्रत होते हैं—

दिनमें एक बार अयाचित पवित्र भोजन करना और रातको कुछ न खाना कायिक व्रत है।

वेदाध्ययन, श्रीभगवान्‌के नाम-गुणोंका कीर्तन, सत्य बोलना और किसीकी निन्दा-चुगली न करना वाचिक व्रत है। और-

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, निष्कपटता आदि मानसिक व्रत हैं। इनसे श्रीहरि सन्तुष्ट होते हैं।

श्रीहरिके नामोंका कीर्तन सदा सर्वत्र किया जा सकता है, इसमें कोई अशौच बाधक नहीं होता। श्रीहरिका कीर्तन ही मनुष्यको भलीभाँति शुद्ध करता है। वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेवाले पुरुषोंको एकमात्र श्रीभगवान्‌को ही परम पुरुष और उद्धारके एकमात्र साधन मानकर सदा उन्हींका आराधन करना चाहिये। स्त्रियोंको चाहिये कि वे दयामय श्रीभगवान्‌को परमपति मानकर सदाचारका पालन करती हुई मन, वचन और शरीरका संयम करके उन्हींकी आराधना करें।

श्रीभगवान् भक्तिप्रिय हैं, वे केवल भक्तिसे जितने सन्तुष्ट होते हैं उतने पूजन, यज्ञ और व्रतसे नहीं होते। भगवान्‌की पूजाके लिये ये आठ पुष्प सर्वोत्तम हैं—अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, प्राणियोंपर दया, क्षमा, मनका निग्रह, ध्यान, सत्य और श्रद्धा। इन आठ प्रकारके पुष्पोंसे पूजा करनेपर भगवान् बहुत ही प्रसन्न होते हैं।

सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गौ, भक्त, आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, आत्मा और समस्त प्राणी—ये सभी भगवान्‌की पूजाके स्थान हैं। अर्थात् इनको भगवान्‌से पूर्ण—भगवान् समझकर इनकी सेवा करनी चाहिये। इनमें गौ और ब्राह्मण प्रधान हैं। जिसके पितृकुल और मातृकुलके पूर्व-पुरुष नरकोंमें पड़े हों, वह भी जब श्रीहरिकी सेवा-पूजा करता है तो उन सबका नरकसे उसी क्षण उद्धार हो जाता है और वे स्वर्गमें चले जाते हैं। जिनका चित्त विश्वमय वासुदेवमें आसक्त नहीं है, उनके जीवनसे और पशुकी तरह चेष्टा करनेसे क्या लाभ है?

किं तेषां जीवितेनेह पशुवच्चेष्टितेन किम्।
येषां न प्रवणं चित्तं वासुदेवे जगन्मये॥

अब श्रीभगवान्‌के ध्यानकी महिमा सुनिये—हे राजन्! अग्निरूपधारी दीपक जैसे वायुरहित स्थानमें निश्चल भावसे जलता हुआ सारे अन्धकारका नाश करता है, वैसे ही श्रीकृष्णका ध्यान करनेवाले पुरुष सब दोषोंसे रहित और निरामय हो जाते हैं। निश्चल और निराश होकर वैर और प्रीतिके बन्धनोंको काट डालते हैं और शोक, दु:ख, भय, द्वेष, लोभ, मोह एवं भ्रम आदि इन्द्रिय-विषयोंसे सर्वथा छूट जाते हैं। दीपक जैसे जलती हुई शिखाके द्वारा तेलका शोषण करता है, वैसे ही श्रीकृष्णका ध्यान करनेवाले पुरुष ध्यानरूपी अग्निसे कर्मोंको जलाता रहता है। अपनी-अपनी स्थिति और रुचिके अनुसार भगवान्‌के निराकार और साकार दोनों ही रूपोंका ध्यान किया जा सकता है। निराकार ध्यान करनेवाले विचारके द्वारा ज्ञानदृष्टिसे इस प्रकार देखें—

'वे परमात्मा हाथ-पैरवाले न होकर भी सब वस्तुओंको ग्रहण करते हैं और सर्वत्र जाते-आते हैं। मुख-नासिका न होनेपर भी वे आहार करते और गन्ध सूँघते हैं। कान न होनेपर भी वे जगत्पति सर्वसाक्षी भगवान् सब कुछ सुनते हैं। निराकार होकर भी वे पञ्चेन्द्रियोंके वश होकर रूपवान्-से प्रतीत होते हैं। सब लोकोंके प्राण होनेके कारण वे ही चराचरके द्वारा पूजित होते हैं। वे जीभ न होनेपर भी वेद-शास्त्रानुकूल सब वचन बोलते हैं। त्वक् न होनेपर भी समस्त शीतोष्णादिका स्पर्श करते हैं। वे सर्वदा आनन्दमय, एकरस, निराश्रय, निर्गुण, निर्मम, सर्वव्यापी, सर्वदिव्यगुणसम्पन्न, निर्मल ओजरूप, किसीके वश न होनेवाले, सर्वदा अपने वशमें रखनेवाले, सबको यथायोग्य सब कुछ देनेवाले और सर्वज्ञ हैं। उनको कोई माँ नहीं उत्पन्न करती, वे ही सर्वमय विभु हैं।'

जो पुरुष एकान्त चित्तसे इस प्रकार ध्यानके द्वारा सर्वमय भगवान्‌को देखता है, वह अमूर्त अमृतमय परमधामको प्राप्त होता है।

अब साकारध्यानके विषयमें सुनिये-

'उनका सजल मेघोंके समान श्यामवर्ण और अत्यन्त चिकना शरीर है। सूर्यके समान शरीका तेज है। उन जगत्पति भगवान्‌के चार बड़ी सुन्दर भुजाएँ हैं। दाहिनी भुजाओंमें महामणियोंसे जड़ा हुआ शङ्ख और भयानक असुरोंको मारनेवाली कौमोदकी गदा है। बायीं भुजाओंमें कमल और चक्र शोभा पा रहे हैं। भगवान् शार्ङ्गधनुष धारण किये हैं। उनका गला शङ्खके समान, गोल मुखमण्डल और नेत्र कमल-पत्रके सदृश हैं। उन हृषीकेशके कुन्द-से अति सुन्दर दाँत हैं। उन पद्मनाभ भगवान्‌के अधर प्रवालके तुल्य लाल हैं, मस्तकपर अत्यन्त तेजपूर्ण उज्ज्वल किरीट शोभा पा रहा है। उन केशवभगवान्‌के हृदयपर श्रीवत्सका चिह्न है, वे कौस्तुभ-मणि धारण किये हुए हैं। उन जनार्दनके दोनों कानोंमें सूर्यके समान चमकते हुए कुण्डल विराजमान हैं। वे हार, बाजूबंद, कड़े, करधनी और अँगूठियोंके द्वारा विभूषित हैं और स्वर्णके समान पीताम्बर धारण किये गरुड़जीपर विराजित हैं।'

हे राजन्! पापसमूहका नाश करनेवाले भगवान्‌के साकार स्वरूपका इस प्रकार ध्यान करनेसे मनुष्य शारीरिक, वाचिक और मानसिक—तीनों पापोंसे छूट जाता है और सारे मनोरथोंको पाकर तथा देवताओंके द्वारा पूजित होकर श्रीभगवान्‌के दिव्य परमधामको प्राप्त होता है।

यं यं चाभिलषेत् कामं तं तं प्राप्नोति निश्चितम्।
पूज्यते देववर्गैश्च विष्णुलोकं स गच्छति॥

(पद्मपुराणके आधारपर)

श्रीकृष्ण-ध्यान-७

श्रीकृष्ण-ध्यान-८

गीतामें तत्त्वों, साधनों और सिद्धियोंका समन्वय-साधन

(लेखक—दीवान बहादुर के० एस्० रामस्वामी शास्त्री)

ऑगस्ट कोंतेने बहुत ठीक कहा है कि प्रत्येक सिद्धान्त एक पूर्वपक्ष बनता है, उससे उसका उत्तरपक्ष उत्पन्न होता और फिर दोनोंका एक महान् समन्वय साधित होता है। गीता इसी प्रकारका एक महान् समन्वय-ग्रन्थ है। इसमें तत्त्वोंका समन्वय है, साधनाओंका समन्वय है और सिद्धियोंका समन्वय है। हमलोग गीताको जबतक ठीक तरहसे नहीं समझ सकते, जबतक इसकी इस स्तुतिके यथार्थ मर्मको न समझें कि 'सब उपनिषदें गौएँ हैं, अर्जुन बछड़े हैं और श्रीकृष्ण दूधके दुहनेवाले हैं तथा गीतारूपी अमृत ही दूध है।' गौएँ भिन्न-भिन्न रंगकी हो सकती हैं, उनके डील-डौल भी अलग अलग हो सकते हैं; पर जो दूध उनसे दुहा जाता है वह शुभ्र ही होता है, और सब गौओंका दूध मिलकर एक हो जानेसे वह बड़ा ही उत्तम आहार बनता और उसमें विविध रस लिये हुए एक रसका विलक्षण माधुर्य उत्पन्न होता है। यही नहीं, गीता स्वयं एक 'उपनिषद्, ब्रह्मविद्या और साथ ही योगशास्त्र' कहाती है। इसका यह अभिप्राय है कि गीता अज्ञानको नष्ट करती और ज्ञानका प्रकाश देती है और केवल लक्ष्यको ही परिलक्षित नहीं कराती प्रत्युत उसका रास्ता भी दिखाती है।

जिस धार्मिक आचार-विचारकी भूमिपर गीता प्रतिष्ठित है, उसको ध्यानमें रखते हुए यदि हम गीताके महत्त्वको समझनेका यत्न करें तो इसके समन्वयका स्वर और भी अधिक स्पष्ट सुनायी दे। आधुनिक संस्कृति धर्म और तत्त्वज्ञानको एक-दूसरेसे अलग रखती है और इसपर उसको गर्व भी है। परन्तु भारतीय संस्कृतिका यह तरीका नहीं है। सदासे ही उसने धर्म और तत्त्वज्ञानको परस्पर सम्बद्ध रखा है। इसी प्रकार आशा और निराशा, अहम् और इदम्, अद्वैत और द्वैत, एकेश्वरत्व और बहुदेवत्व, प्रकृति और परमेश्वर, माया और लीला, त्याग और भोग इत्यादि विचारों और भावोंका एक-दूसरेके साथ सर्वथा पार्थक्य हिन्दुस्थानमें कभी रहा ही नहीं है। यह भी स्मरण रहे कि हिन्दुस्थानमें ज्ञानका लक्ष्य जीवनका सच्चा मार्ग ही रहा है, केवल बौद्धिक विश्लेषणका मानस विलास नहीं। यह लक्ष्य केवल इसी जीवनके ही मार्गका नहीं था बल्कि परम जीवनके मार्गका भी। केवल न्यायशास्त्रको अथवा धर्म-शास्त्रको ही हिन्दुओंने जीवनका अथ और इति नहीं माना। धर्मशास्त्रमें भी स्वत्वोंकी अपेक्षा कर्तव्योंपर ही अधिक ध्यान दिलाया गया है और न्यायशास्त्रतकमें यह बात मान ली गयी है कि न्यायशास्त्रके परे भी कोई और चीज है। जगत्‌को (जो अपरा प्रकृति है) भगवान्‌का मन्दिर मानना, सब जीवोंको (जो परा प्रकृति है)प्यार करना और इन दोनोंमें आत्मरूपसे रहनेवाले भगवान्‌की प्रगाढ़ रागमयी भक्ति करना हिन्दू-तत्त्वज्ञानका सार-मर्म रहा है।

आधुनिक हिन्दू-तत्त्वशोधनविद्या (Indology) का दिमाग तो बहुत ऊँचा है, परन्तु हिन्दू संस्कृतिकी शोभाको उसकी आँखें अभी प्राय: नहीं देख सकी हैं। इसने वेदोंमें वर्णित विषयोंको प्राकृत दृश्योंका वैदिक देवकरण कहा है और इन देवताओंकी स्तुति, अर्चा, यजन आदिको अनेक-देववाद और देवविशेषवाद आदि मनमाने नाम दिये हैं। परन्तु यथार्थमें वेदोंने इन सब देवोंको एक ही कहा है और ईश्वरको जगत्‌में अन्त:स्थित तथा जगत्‌के परे भी माना है—'**अग्निं यमं मातरिश्वानमाहु:। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।**', इत्यादि वेदोंकी देवस्तुति केवल प्रकृतिपर देवत्वका आरोप या वेदोंका बहुधा देवाभिधान अनेकदेववाद नहीं है। ऋग्वेदके ऋषि दिव्य प्रकृति (**गोपा ऋतस्य**)के व्यक्त भावस्वरूप धर्मके अनुशासनको जितना जानते थे, उतना ही प्रकृतिके विधानको भी जानते थे। अद्वैतवाद, विश्वदेवतावाद आदिकी जो आधुनिक परिभाषाएँ (मोनिज्म, पैनथीज्म) हैं, वे बड़े चक्करमें डालनेवाली हैं। हिन्दुओंका सिद्धान्त तो सदासे यही रहा है कि ईश्वर ही जगत्‌का उपादान और निमित्त कारण है और वह जगत्‌में अन्त:स्थित भी है और जगत्‌के परे भी है तथा व्यष्टिपुरुष और समष्टिपुरुष तत्त्वत: दोनों एक हैं। 'हिन्दू-तत्त्वशोधनविद्या' का यह आविष्कार है कि पुनर्जन्म वैदिक सिद्धान्त नहीं है, वेद तो

स्वर्ग और नरकको नित्य मानते हैं। इस अभिनव विद्याका फिर यह भी कहना है कि उपनिषदोंके सिद्धान्त वेदोंके विरुद्ध हैं, उपनिषदोंने वेदोंके कर्मकाण्डको तहस-नहस कर डाला। भारतीय हिन्दू-तत्त्वशोधक भी इन सब विषयोंमें तोतेकी तरह वही बात रटा करते हैं, जो उन्हें इस विद्याके उनके पाश्चात्त्य गुरुओंने पढ़ा दी है। इस संकुचित अन्धानुकरण-प्रणालीको वेदव्यासकृत ब्रह्मसूत्रों और गीताके वचनोंकी समन्वय-दृष्टिके सामने रखकर देखा जाय तो इसका विकृत रूप आप ही देख पड़ेगा और समन्वयके सिद्धान्तकी महत्ता प्रकट होगी। भगवान् गीतामें कहते हैं—

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥

(१५।१५)

बात यह है कि '**सत्यं ज्ञानमनन्तम्**' का सिद्धान्त और विश्वके देवताओंके अनेकत्वका सिद्धान्त— ये दोनों परस्पर-विरोधी सिद्धान्त नहीं है बल्कि एक ही सुसंगत, सुसमन्वित, एकीभूत सिद्धान्तके दो अंग हैं। सगुण और निर्गुणके सम्बन्धमें जो अप्रिय विवाद पीछे चले, उनको गीताके ही समन्वय-साधक वचनोंसे शान्त करनेका प्रयास हुआ था। ईश्वरको जगत्-सम्बन्धसे देख सकते हैं अथवा जगद्रहित दृष्टिसे भी देख सकते हैं। ईश्वरका जगत्कर्तृत्व और ईश्वरका आनन्दमय स्वरूप— इन दोनोंमें भला कौन-सी तात्त्विक विसंवादिता है? '**तज्जलानिति शान्त उपासीत**' इस छान्दोग्य श्रुतिके साथ '**नेदं यदिदमुपासते**' इस केनोपनिषन्मन्त्रका कौन-सा ऐसा विरोध है जो नहीं मिट सकता? आरम्भवाद, परिणाम-वाद और विवर्त्तवाद क्या एक-दूसरेके ऐसे शत्रु हैं जिनमें मेल नहीं हो सकता? क्या मायाको असत् और भ्रमके साथ ही समासीन करना होगा और अविद्याको अज्ञान और अबोधके साथ? क्या ये दोनों ही नाम-रूप साधक तत्त्व नहीं हैं? अनन्त ब्रह्मका सान्त होना वैसा ही आश्चर्यमय है जैसा जगत् और जीवका ब्रह्म होना है। जीव कर्त्ता और भोक्ता है और जगत् वह चीज है जो बदलती रहती और इस कर्तृत्व तथा भोक्तृत्वको अवसर देती है। ब्रह्म अनन्त नित्य आनन्द है। सामान्य जीवमें यह आनन्द कर्तृत्व और भोक्तृत्वसे आच्छन्न रहता है। अवतारों और जीवन्मुक्त पुरुषोंमें यह आवरण नहीं होता। ब्रह्म अज्ञेय नहीं है किन्तु परम ज्ञेय, परम भोग्य और परम भाव्य है (**'अथ मर्त्योऽमर्त्यो भवति,' 'अत्र ब्रह्म समश्नुते'**) ब्रह्म जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंके परे है। वह तुरीय क्या, बल्कि तुरीयातीत अवस्था है। यह जाग्रत्-स्वप्नरहित सुषुप्तिकी अवस्था है। अहङ्कारको विवेक और वैराग्य, भक्ति और श्रवण-मनन-निदिध्यासनके द्वारा परिशुद्ध करके ब्राह्मी स्थितिमें पहुँचाना होगा।

मेरे कथनका यह अभिप्राय नहीं है कि भारतीय तत्त्वज्ञान वृद्धिशील नहीं था। मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि वैदिक ऋषियोंको ऊँचे-से-ऊँचे तत्त्वोंके प्रत्यक्ष दर्शन हुए थे, आप इसे दर्शन या अन्तःस्फूर्ति जो चाहे कह लीजिये। इनके इन स्वानुभवोंका पीछे विविध प्रकारसे समन्वय हुआ और जो सबसे महान् समन्वय हुआ, वही यह गीता है। प्रोफेसर रानडे ठीक ही कहते हैं कि उपनिषदोंमें कोई एक ही दर्शनप्रणाली नहीं है, बल्कि कितनी ही प्रणालियाँ हैं जो पर्वतश्रेणियोंके समान एकके ऊपर एक उठती-सी देख पड़ती हैं और अन्तमें एकमेवाद्वितीय ब्रह्मको प्राप्त होती हैं।' हिन्दू इस सिद्धान्तको मानते हैं कि जगत् अनित्य और दुःखमय है। फिर हिन्दुओंका यह भी सिद्धान्त है कि जीवन परमानन्दका ही उद्रेक है। जो लोग इन दोनों सिद्धान्तोंको एक-दूसरेको काटनेवाले समझते हैं, वे यह नहीं जानते कि हिन्दू जगत्को क्या समझते हैं। अज्ञान और राग ही मृत्यु और दुःख के कारण हैं; ज्ञान, त्याग और योग आनन्दके साधन।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

(गीता २। ६४)

धर्म, अध्यात्मशास्त्र और योग—तीनों उपनिषदोंमें आकर एक हो जाते हैं। शाण्डिल्य जो कुछ कहते हैं उसके विरुद्ध याज्ञवल्क्यके कथनको मत ढूँढ़ लाइये, प्रत्युत दोनोंके वचनोंमें दोनोंके अनुभवों और अनुशासनोंकी जो परस्परपूर्त्ति है उसपर ध्यान दीजिये।

यहाँतक हमने उपनिषदोंकी इसलिये चर्चा की कि जबतक लोग ब्रह्मसूत्रोंद्वारा साधित समन्यवकी दृष्टिसे उपनिषदोंकी ओर नहीं देखेंगे तबतक गीताको भी कदापि नहीं समझ सकते। ये तीन ग्रन्थ ही तो हमारे प्रस्थानत्रय हैं। गीतामें उपनिषदोंका स्वाद आ ही जाता है। गीताके कई श्लोक कठोपनिषद्से लिये गये हैं-जैसे '**य एवं वेत्ति हन्तारम्**……' '**न जायते म्रियते**' ……' '**इन्द्रियाणि**

पराण्याहुः'''''' ' इत्यादि, जो गीताके द्वितीय अध्यायके १९,२० और ४२वें श्लोक हैं। भाव भी कई उपनिषन्मन्त्रोंके गीतामें ज्यों-के-त्यों आये हैं—जैसे '**न कर्म लिप्यते नरे**' (ईशावास्य) उपनिषद्का यह भाव '**लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा**' इस प्रकार गीता (५।१०) में प्रतिध्वनित हुआ है। पुरुष-सूक्तका पुरुषवर्णन और मुण्डकोपनिषद्का '**अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ**' यह मन्त्र गीतान्तर्गत विश्वरूपवर्णनके पूर्वरूप हैं। कठोपनिषद्में जिस संसाररूप अश्वत्थवृक्षका वर्णन है, वही गीता के पन्द्रहवें अध्यायके अश्वत्थवर्णन बीज है। अन्य अनेक उपनिषन्मन्त्र गीतामें प्रतिध्वनित हुए हैं।

यदि हम गीताके साधन-समन्वयको ध्यानमें ले आवें तो इससे बड़ा लाभ हो सकता है यदि इस साधन-समन्वयका हम तत्त्वोंके समन्वयके साथ तथा सिद्धियोंके समन्यवके साथ समन्वय कर लें। गीता अध्याय २ के ५४ वें श्लोकका भाष्य करते हुए श्रीमत् शङ्कराचार्य कहते हैं—

'सर्वत्रैव ह्यध्यात्मशास्त्रे कृतार्थलक्षणानि यानि तान्येव साधनान्युपदिश्यन्ते यत्नसाध्यत्वात्।'

अर्थात् अध्यात्मशास्त्रमें सर्वत्र ही जिसके जो लक्षण बतलाये गये हैं, वे ही उसकी प्राप्तिके साधनरूपसे उपदिष्ट होते हैं, क्योकि वे यत्नसाध्य हैं। इस प्रकार गीतामें मुक्त पुरुषके जो लक्षण बतलाये गये, वे ही मुक्तिके साधन हैं। साधन-समन्वयमें जो बात मुख्यतया ध्यानमें रखनेकी है, वह यह है कि साधनमात्र ही साधककी आत्मभूमिका तथा जगत् और ईश्वरसम्बन्धिनी उसकी भावनाके अनुरूप ही हुआ करता है। साधनसम्बन्धी इस मूल सिद्धान्तका ध्यान न रहनेसे ही जगत्में नाना प्रकारके धर्मिक और साम्प्रदायिक झगड़े हुआ करते हैं।

गीताके तेरहवें अध्यायका यह बाईसवाँ श्लोक बड़े महत्त्वका है—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥

इससे यह मालूम होता है कि जीवात्मा जो परमात्मासे अभिन्न है, भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे देखा जा सकता है। हम उसे उसके जगत्सम्बन्धकी दृष्टिसे देख सकते हैं, जगत्में देख सकते हैं और जगत्से पृथक् भी देख सकते हैं। हम इसे जगत्में निमग्न भोक्तारूपमें या जगद्व्यवहारी कर्त्तारूपमें या मनके द्वारा होनेवाले कार्योंके अनुमन्तारूपमें अथवा साक्षी या स्रष्टा या निरपेक्ष ब्रह्मरूपमें देख सकते हैं। ये विभिन्न भाव साधकके आत्मसाक्षात्कारके विभिन्न स्तर हैं। इस श्लोकको नीलकण्ठी टीका इस प्रकार है—'पहले यह बतला चुके हैं कि गुणसंग ही जन्मका कारण है। यह संग चार प्रकारका होता है—पुरुषका अपलाप और गुणोंकी ही प्रधानता हो अथवा पुरुषको अन्तर्भूत करके गुणोंकी प्रधानता हो अथवा गुणोंकी समप्रधानता हो या गुणोंकी अप्रधानता हो। पहले देह, इन्द्रियाँ, मन आदिरूप गुणसङ्घातको ही आत्मा जानकर भोक्ता बनता है, जैसे चार्वाकादि। दूसरे, गुणोंकी प्रधानतासे अपने अंदर वास्तविक कर्तृत्वादिका अभिमान करके भर्त्ता बनता है—जैसे तार्किकादि। तीसरे, गुणोंकी समप्रधानतासे उस भोक्तृत्वको, जो यथार्थमें गुणगत ही है, स्वयं असंग होते हुए भी अपने अंदर वस्त्रमें भल्लातक (भिलावे)-के चिह्नके समान, अनुमति दे लेता है—जैसे सांख्य। चौथे गुणधर्मोंका अपनेसे कुछ भी लगाव न देखकर यह गुणोंद्वारा होनेवाले कार्यका केवल दर्शक अर्थात् उपद्रष्टा होता है, जैसे अपने यहाँ साक्षी। इन चारों प्रकारके गुणसंगियोमें उपद्रष्टा उत्तम है, अनुमन्ता मध्यम, भर्त्ता अधम और भोक्ता अधमाधम है। वही जब गुणोंको वशमें करके क्रीडा करता है, तब महेश्वर कहाता है। सृष्टि-स्थिति-प्रलयका कर्त्ता जो जगदन्तर्यामी प्रभु है, वही गुणोंको दूर करके परमात्मारूपसे स्थित और उक्त होता है। इस प्रकार एक ही इस देहमें विद्यमान है जो पर है, गुणातीत है, जो गुणोंको अपने अंदर प्रलीन करके अखण्डैकरसरूपसे स्थित है। आत्मा गुणसंगसे षड्विध होता है। इसका यही प्रभाव है। अनुमन्ता, भर्त्ता और भोक्ता—इन रूपोंसे यह बद्ध होता है; उपद्रष्टा, महेश्वर, परमात्मा—इन रूपोंमें नित्यमुक्त एकमात्र है।'

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हमें आत्माकी इस कर्तृत्व-भोक्तृत्व-अनुमन्तृत्व-भावनासे उठकर साक्षित्व और परमात्माके साथ एकत्वके भावको प्राप्त होना होगा। जीवात्मा और परमात्माका परस्पर सम्बन्ध बतलाते हुए गीता कहती है कि परमात्मा माता, पिता, बन्धु और स्वामी हैं और जीव उन्हींका एक अंश है जो उनसे अभिन्न है।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

(९।१७, १८)

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

(१५ ।७)

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।

(१३।२)

क्या ये सब विभिन्न अनुभव परस्परविसंवादी हैं? कदापि नहीं। ये मिलन और एकत्वके उत्तरोत्तर उच्च स्तरोंके अनुभव हैं।

इसी प्रकार सगुण और निर्गुण ब्रह्म, अन्तर्भाव और परमभाव, मातृभाव और पितृभाव, पतिभाव और ईश्वरभाव—इन सबमें जो सामञ्जस्य है, उसे साधना होगा। गीताके द्वादशाध्यायमें यह बतलाया गया है कि सगुण ब्रह्मके उपासक और निर्गुण ब्रह्मके उपासक दोनों ही एक ही ब्रह्मको पाते हैं—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।

(१२।४)

तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।

(१२।७)

अपनी पुस्तक Problems of The Bhagavad Gita में जो 'कल्याण-कल्पतरु' में प्रकाशित हो चुकी है मैंने, 'ब्रह्मयोग' (५।२१) और 'मद्योग' (१२।११) के भावोंके स्पष्ट करनेका यत्न किया है । इनमें जो भेद है वह स्तरोंका नहीं है बल्कि ये दो प्रकारके अनन्त नित्य धाम हैं और दोनों ही परम आश्चर्य और आनन्दमय हैं। अर्जुन श्रीकृष्णको परम ब्रह्म, परम धाम, परम पवित्र शाश्वत पुरुष, आदिदेव, अज और विभु (१०।१२), ये विशेषण लगाते हैं। दूसरे अध्यायके ७२ वें श्लोकमें तथा नवें अध्यायके २४ से २६ तकके श्लोकोंमें 'ब्रह्मनिर्वाण' की विशेषरूपसे चर्चा हुई है और उतने ही विशिष्टरूपसे 'ब्रह्म'को परम अक्षर और आठवें अध्यायके तीसरे और चौथे श्लोकमें 'वासुदेव'को अधियज्ञ कहा गया है। तेरहवें अध्यायके १२ से १७ तकके श्लोकोंमें 'ज्ञेय' परब्रह्मका विस्तृत वर्णन है और फिर उसी अध्यायके १४ वें श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते है कि मैं अमृत अव्यय ब्रह्म, शाश्वत धर्म और ऐकान्तिक सुखका धाम हूँ। इस प्रकार भगवद्रूप साध्यके सम्बन्धमें गीताका समन्वय साधकरूप जीवके समन्वयका-सा ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

जगत्सम्बन्धी जो समन्वय गीतामें है, वह भी इतना ही महत्त्वपूर्ण है। हमलोग इस समय जगत्की सत्यासत्यताके विषयमें एक बड़े चक्करमें पड़े हुए हैं। प्रश्न यह होता है कि यह दुःखालय है या आनन्दकन्दमें इसकी स्थिति है। गीता कहती है कि यह दुःखालय है, अशाश्वत है (८।१५)और अनित्य है, असुख है (९।३३); पर इसी जगह हम परमानन्दका सुधास्वादन भी कर सकते हैं—'**प्रसादमधिगच्छति**' (२।६४),' **प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते**' (२।६५) पाँचवें अध्यायके २३ से २६ तकके श्लोक भी देखिये।) '**सुखेन ब्रह्मसंस्पर्श-मत्यन्तं सुखमश्नुते**' (६।२८) '**सुसुखं कर्त्तुमव्ययम्**' (९।२) दुःख और मृत्युका कारण तो काम है। गीतामें मृत्तिका और घट, सुवर्ण और अलङ्कार, रज्जु और सर्प, शुक्तिका और रजत, मरुभूमि और मृगजल, ऐन्द्रजालिक और इन्द्रजाल इत्यादि प्रचलित उदाहरणोंका कोई पता नहीं है। श्रीकृष्ण केवल आकाश और वायु (९।६, १३।३२) तथा सूर्य और पृथ्वी (१३।३३) का उदाहरण देते हैं। जगत् उत्पन्न किया भगवान्ने, धारण करते हैं उसे भगवान् और भगवान् ही उसमें व्यापक हैं। सूर्य, चन्द्र, अग्निका जो तेज है वह उन्हींके तेजसे निकला है (अ० १५, श्लोक १२ से १८ तक)।

दसवें अध्यायमें जगत्को भगवान्की विभूति कहा है। जगत् उत्पन्न होता है भगवान्से और भगवान्में ही लय होता है। भगवान्की महिमासे इसकी महिमा है और इसकी सत्यता पराश्रित है। जब हम निरपेक्ष ब्रह्मका विचार करते हैं और जगत्को उसका एक अशाश्वतरूप मानते हैं, तब हम विवर्त्तवादसे काम लेते हैं। जब हम अपनी दृष्टिको प्रत्येक कल्पमें आबद्ध न रखकर जगत्के पुनः-पुनः उत्पन्न होने और लीन होनेका दृश्य एक साथ देखते हैं,तब वह परिणामवाद होता है। जब प्रत्येक कल्पमें अपनी दृष्टिको परिसीमित करते हैं, तब आरम्भवाद ग्रहण करते हैं। रही मायाकी बात, वह बहुत कुछ मायिक ही है। मायावादके प्रवर्त्तक श्रीमत् शङ्कराचार्य नहीं हैं, न यह बौद्धोंके शून्यवादका ही संविधान है। माया वस्तु उपनिषद्की है। ईशावास्यके—

'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।'

(सूर्यके सुवर्णपात्रके द्वारा सत्यका मुख छिपा हुआ है)

—इस मन्त्रमें मायाका भाव स्पष्ट आ गया है। मुण्डकोपनिषद्में वर्णित हृदयग्रन्थि मायाका ही एक दूसरा रूप है।

बृहदारण्यकके—

'असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मा अमृतं गमय।'

इस मन्त्रमें माया एक तीसरे ही रूपमें सामने है।

कठोपनिषद्के **'अध्रुवेषु ध्रुवं तत्'** ये पद और एक रूपमें मायाको पेश करते हैं। माया कहनेसे भ्रम और मिथ्यात्वका बोध होता है। 'माया' शब्दका प्रयोग शक्ति अर्थमें भी होता है **(इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते)।** श्वेताश्वतर उपनिषद्में माया, प्रकृति और शक्ति—तीनों शब्द एक ही अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं **(मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्; देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्)।** गीतामें भगवान्ने 'माया' शब्दका प्रयोग अपनी प्रकृति और शक्तिके अर्थमें किया है—**'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।'** (४ ।६) **'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया'** (६।१४) **'माययापहृतज्ञानाः'** (६ ।१५) **'ईश्वरः सर्वभूतानाम्''''भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥'** (१८ ।६१)

इस प्रकार एक दृष्टिसे जगत् ईश्वरको छिपाता है, दूसरी दृष्टिसे ईश्वरको प्रकट करता है। जब जगत्से ईश्वरका छिपना होता है, तब मायाका अर्थ है मनुष्यके मनका भ्रम; जब उससे ईश्वरका प्राकट्य होता है तब मायाका अर्थ है विद्या। जब हम अनेकको एकके ही व्यक्त रूप देखते हैं, तब मायाका अर्थ है शक्ति। जब हम एकको अनेकमें और अनेकको एकमें, विभिन्नतामें एकता और एकतामें विभिन्नता देखते हैं तब मायाका अर्थ है प्रकृति। जब हम अनेकको एक ही देखते और नानात्वको केवल अध्यारोप, तब मायाका अर्थ होता है भ्रम या मिथ्यात्व। सूर्य मेघनिर्माण करता है और उसके छोटे-छोटे जल-विन्दुओंके स्तबकोंपर इन्द्रधनुष चमकाता है, जिसमें तरह-तरहके रंग देख पड़ते हैं; ये सब रंग अनेक हैं, फिर भी हैं तो एक ही।

इसी दृष्टिसे गीताके साधनोंका जब हम विचार करते हैं तो यह देख पड़ता है कि इसमें सामन्वयिक सहिष्णुता और सहिष्णु समन्वय भरा हुआ है। साध्यस्वरूप भगवान् इसमें सबको ग्रहण कर रहे हैं।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।

(२।२३; ४।११)

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(९।२९)

श्रीकृष्ण भावके भूखे हैं, बाह्य आडम्बरके नहीं (९।३०,३१)। सत्कर्म करनेवाला पुरुष कभी दुर्गतिको नहीं प्राप्त होता (६।४०)। भगवान्के भक्तका कभी नाश नहीं होता (९।३१)। गीता किसीकी श्रद्धा-बुद्धिमें भेद नहीं उत्पन्न करती (३।२६)। साध्य सबका एक है और वह है नित्य अनन्त परमानन्द। इसे पानेके अनेक रास्ते हैं। जनकादिकोंने कर्मयोगके द्वारा इसे प्राप्त किया (३।२०)। इस कर्मयोगमें ध्यान और ज्ञान भी शामिल हैं, पर ज्ञानोत्तर कर्ममें इसकी जड़ है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥

(५।७)

यह **'योगः कर्मसु कौशलम्'** है, क्योंकि बन्धनके साधनको यह मोक्षका साधन बना लेता है। यह पारस-मणि है, जिससे संसारका लोहा मोक्षका सोना बन जाता है। यह योगसमत्व है (२।४८)। गीता कर्मका संन्यास नहीं सिखाती, बल्कि कर्ममें संन्यास सिखाती है; कर्मसे मुक्त होना नहीं बताती, कर्ममें मुक्त होना बताती है। सारा गीतारहस्य, अवश्य ही, कर्मयोग ही नहीं है। ध्यान या राजयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग—इन सबके साधकोंको गीतामें मोक्षकी प्राप्ति कही गयी है। कर्मयोगमें ध्यान, भक्ति और ज्ञानका अंश भी है ही। अकेला—इन सबसे रीता कर्मयोग कोई मोक्षसाधन नहीं है। श्रीकृष्ण सभी मार्गोंको एक-से-एक बढ़कर बतलाते हैं पर अपना उदाहरण कर्मयोगके प्रसंगमें ही देते हैं—यह विशेष बात है (३।२२ से २४) तेरहवें अध्यायके २४ वें और २५ वें श्लोकोंमें अनेक मार्ग एकत्र संकलित हैं। उनमें सबसे सुगम और सुनिश्चित भक्तियोग ही है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(११।५४)

गीताका लक्ष्य वही है जो उपनिषदोंका है—अर्थात् निःश्रेयसकी प्राप्ति। मार्ग कोई हो, यदि वह ईश्वरकी ओर ले जानेवाला है तो उसीसे चलकर मनुष्य उसके पास पहुँच सकता है। सब उसीके मार्ग हैं, सबका एक लक्ष्य है, सब भगवान्की ओर जा रहे हैं। इस प्रकार जानकर अपने मार्गपर चलता हुआ जो भक्तिभावसे भगवान्को

भजता है, वह भगवद्ज्ञान, भगवत्प्रेम और भगवदनुभूतिको प्राप्त होता है।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥

(गीता १४।२)

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(१८।५४-५५)

गीतोक्त साधन

(लेखक—पं० श्रीकलाधरजी त्रिपाठी)

(१) साधन-फल

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥'

(गीता ९।३३)

इन सोलह अक्षरोंमें षोडशकलासम्पन्न पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके सुन्दर गीतोपदेशका सार है। सभी प्राणी सुख चाहते हैं, परन्तु उन सबका सुख एक ही प्रकारका नहीं है। अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार कुछ लोग तो आत्मबुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न सुखमें ही रमते हैं (गीता १८।३७); कुछ विषयऔर इन्द्रियोंके संयोगसे जो सुख होता है, उसमें ही अपनेको कृतार्थ मानकर उसकी प्राप्तिके लिये अनेक कर्म करते हैं (गीता १८।३८) और कोई-कोई निद्रा, आलस्य एवं प्रमादसे उद्भूत सुखमें ही अपनेको सुखी समझते हैं (गीता १८।३९)।

जो मनुष्य भगवान्का भजन जिस रूपमें करते हैं, भगवान् उसी रूपमें उनका मनोरथ पूर्ण कर देते हैं (गीता ४।११); इसीलिये वेदमें भगवद्दर्शन **(वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः)** और स्वर्गादिके सुखका सम्पादन (गीता २।४३) दोनोंका ही विधान है।

यज्ञार्थ (भगवदर्थ) कर्मके अतिरिक्त जो कर्म किया जाता है, वह बन्धनका कारण होनेसे (गीता ३।९) उसके कर्त्ताका जीवन ही व्यर्थ है (गीता ३ ।१९)। एतदर्थ वेदार्थको जानकर, दैवी प्रकृतिके आश्रित पुरुष नित्य-सुखस्वरूप भगवान्की सेवा निरन्तर निष्काम भावसे करते हैं (गीता ९।१३)और अपने साधनके अनुसार उत्तम, ऐकान्तिक, आत्यन्तिक तथा अक्षय सुख पाते हैं। परन्तु जिनकी रजोगुणी वृत्ति सकाम साधनमें लगी हुई है, वे भगवान्को जानकर भी स्वर्गादि भोगोंके प्राप्त्यर्थ भगवान्की विधिवत् उपासना करते हैं (गीता ९।२७), भगवान् उनको वेदविहित कर्म करनेके कारण अभीष्ट फल प्रदान करते हैं; परन्तु कुछ समयके पश्चात् उनका कर्म फल क्षीण हो जाता है (गीता ९।२१) कुछ ऐसे भी मनुष्य हैं जो देवताओंको ही कर्मफलका दाता जानकर सकामभावसे देवताओंकी उपासना करते हैं; उनकी कामनाको भी भगवान् पूरा कर देते हैं। इनका फल भी अन्तवान् होता है; अतएव ये नित्यसुखसे वञ्चित ही रहते हैं। इनके अतिरिक्त आसुरी सम्पत्तिसे सम्पन्न तामसिक प्रकृतिके कुछ ऐसे भी हैं जो अज्ञानवश भगवान्की सत्ताको न मानकर वेदविरुद्ध कर्म करते हैं। ये लोग बारंबार अधम योनिको प्राप्त होते हैं (गीता १६।१५—२०) यद्यपि ये भी ईश्वरके अंश, चेतन और '***सहज अमल सुखरासी***' हैं तथापि राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृतिके वशीभूत होकर, जड और चेतनमें ग्रन्थि पड़ जानेसे, मोघज्ञान, मोघाशा तथा मोघकर्ममें फँसे हुए (गीता ९।१२) नित्यसुखप्रद भगवद्भजनको त्यागकर, विषय-दर्शन, विषय-कामना और विषय-सुखके निमित्त कर्म करते हैं, जिसके फलस्वरूप संसारी बने रहकर अनेक दुःख भोगते हैं। इन संसारी जीवोंके समक्ष, विश्वरूप भगवान्के स्थानपर, विश्वपट उद्घाटित रहता हैं और शब्द, स्पर्श आदि विषयोंके सम्बन्धसे इनका आत्मा विषयद्वारा सर्वथा आच्छन्न रहता है, जिसके कारण इनको भगवद्दर्शन नहीं होता—

'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।'

परन्तु जब इन दीन अल्पज्ञ जनोंपर दीनानाथकी कृपा होती है, तब विश्वपटल पलट जाता है और प्रत्येक जड एवं चेतन पदार्थमें विश्वात्मा भगवान्का अनुभव होने लगता है।अर्थात् '**वासुदेवः सर्वमिति**' अथवा ***'सीय राममय सब जग जानी'*** की अनुभूति होती है और उस समय प्रत्येक कर्म भगवन्निमित्त किया जाता है।

भगवान्‌के परम कृपापात्र भक्त अर्जुनने भी तदर्थ कर्म न करनेवाले, मोघज्ञानविचेता संसारी जीवोंके उद्धारके लिये धर्मसम्मूढचेता मनुष्योंके समान लीला की थी। उस समय वे स्वजनोंके जीवनकी मोघाशा (कामना)-में ही सुख मान रहे थे (गीता १।३३)। अतएव कुलधर्मकी रक्षाके अर्थ चिन्ता करते हुए (गीता १।३८—४०) पिण्डोदकक्रियाको ही पितरोंके उद्धारका एकमात्र उपाय जाननेके कारण, उसके लुप्त हो जानेके भयसे निःशस्त्र रहकर अपने विपक्षियोंद्वारा मारे जानेके 'मोघकर्म' में ही कल्याण समझ रहे थे (गीता १।४२—४६)।

अपने प्रिय सखाको संसारके मोहग्रस्त मनुष्योंके समान बातें करते देखकर तथा शिष्यभावसे शरणागत होनेपर (गीता २।७) भगवान्‌ने लोकहितके निमित्त अपने मतका उपदेश किया है और उसके अनुष्ठानके लिये जो विधि बतलायी है उसमें कर्म, उपासना और ज्ञानका निष्कर्ष है; अतएव वह सभीको उपादेय है।

कर्मयोगी (गीता ६।४७), भगवान्‌के भक्त (गीता १२।२०) और गुणातीत ज्ञानी (गीता १४।२६)—सभी इस अनुष्ठानमें तत्पर हैं; जीवनमुक्त प्राणी भी इसका रसास्वादन करते हैं—

सुक सनकादि मुक्त बिचरत, तेउ भजन करत अजहूँ।

(विनयपत्रिका)

(२) साधन

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

(गीता। ३। ३०)

भगवान्‌ने अपने उपर्युक्त मतद्वारा प्रत्येक मनुष्यके लिये इस साधनका उपदेश दिया है कि साधक संसारके विषयोंकी आशा (कामना) और ममताको त्यागकर, शोकरहित हो शास्त्रविहित कर्म करते हुए कर्मफलको मेरे अर्पण करें।

मनुष्यका यह स्वभाव है कि वह थोड़े-से ही प्रयासद्वारा बहुत बड़े फलकी आकांक्षा करता है अर्थात् स्वल्प परिश्रमसे ही महती सिद्धि चाहता है। इसलिये दयालु गुरु (भगवान्)-ने अपने आर्त शिष्य अर्जुनको ऐसे ही सुलभ साधनका उपदेश किया है, जिसकी थोड़ी-सी साधना करनेपर भी संसारके अल्पज्ञ दुःखी जीवोंका महान् भयसे उद्धार होता है (गीता २।४०)।

जिस तरह कुशल वैद्य रोगीके रोगका ठीक-ठीक निदान मालूम करके रोगका उपचार करता है उसी तरह भगवान्‌ने भी संसारके दुःखसे ग्रस्त जीवोंके दुःखका मूल कारण अविद्या-ग्रन्थि, हृदयग्रन्थि अर्थात् अविद्या[1] कामना[2], और कर्मको[3] जानते हुए, जो श्रीगीतामें मोघज्ञान, मोघाशा और मोघकर्मके नामसे कथित हैं, उनको दूर करनेके लिये क्रमशः अध्यात्मचेता बनने, निराशीः एवं निर्मम होने तथा शास्त्र-विहित कर्मोंका फल अपने अर्पण करनेकी शिक्षा दी है।

इसी ईश्वरप्रणिधानको महर्षि पतञ्जलिने अपने क्रिया-योगमें मुख्य मानते हुए इसीसे समाधिसिद्धि[4] का उपदेश किया है। और महर्षि व्यासजीने अपने भाष्यमें ईश्वरप्रणिधानका अर्थ 'सब कर्मोंको परम पुरुष (परमेश्वर) के अर्पण करना' किया है।

भगवान्‌के उपर्युक्त मतका अनुष्ठान करनेसे जिसका उपदेश श्रीमद्भगवद्गीता (३। ३०) में है, साधक पञ्चक्लेशसे मुक्त हो जाता है—जिनका वर्णन इसी मतके आगे और पीछे-के दो-दो श्लोकोंमें है। अर्थात् कर्मफलके संन्याससहित ईश्वरमें कर्म अर्पण करनेसे अविद्याजनित आसक्ति नहीं रहती (गीता ३। २५)। अध्यात्मचेता होकर सेवकके समान स्वामीके प्रसन्नतार्थ कर्म करनेसे 'मैं कर्म करता हूँ' इस प्रकारकी 'अस्मिता' नष्ट हो जाती है (गीता ३।२७)। निराशीः होकर कर्म करनेसे कर्मफलके प्रति रागादि नहीं रहते (गीता ३।३४) और निर्मम होनेसे अभिनिवेश दूर हो जाता है, साधक स्वधर्म-साधनमें ही मरणके भयके बदले निधनको श्रेय समझता है (गीता ३।३५)।

भगवान्‌के इस सुगम एवं सुलभ मतमें सब कर्मोंके संन्यासका आशय यह है कि साधक जो शास्त्रविहित कर्म करता है (जिस प्रकार अर्जुनका शास्त्रोक्त कर्म युद्ध था)—जिसके न करनेसे सिद्धि, सुख और सद्गति

१. अविद्या—भगवान्‌को न जानना, आत्मज्ञान न होना अर्थात् सांसारिक पदार्थोंकी ईश्वरसे पृथक् स्वतन्त्र सत्ता समझना।

२. कामना—पदार्थोंकी स्वाधीन सत्ता जानकर उनके पानेकी इच्छा।

३. कर्म—उनके पानेके लिये कर्मका अनुष्ठान।

४. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्' (यो० द०)

नहीं मिलती गीता (१६। २३-२४)—वह कर्म अर्थात् यज्ञ, दान, तप* और यज्ञसे बचे हुए अमृततुल्य अन्नका भोजन भगवान्का नाम लेकर करना चाहिये और उसका फल भगवदर्पण कर देना चाहिये (गीता ९। २७)। ऐसा करनेसे उसको शुभाशुभ फलका कर्मबन्धन नहीं होगा।

इसलिये अद्वैतमतके प्रवर्त्तक आस्तिकशिरोमणि स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजीने भी **'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य'** का अर्थ गीता ३। ३० के भाष्यमें 'परमेश्वरके लिये सेवकके समान सब कर्म करना' किया है। और श्रीरामचरितमानसमें परमभक्त काकभुशुण्डिजीका भी यही मत है—

सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि॥

(उत्तरकाण्ड)

और अद्वैतमतके आचार्य श्रीविद्यारण्य स्वामीने अपने विख्यात ग्रन्थ पञ्चदशीमें अविद्या-कामना-कर्मरूपी हृदय-ग्रन्थिके निवारणार्थ वैराग्य, बोध और उपरतिका जो वर्णन किया है, उसका आधार भी भगवान्का यही मत है; अर्थात् कर्मफलका त्याग 'वैराग्य' अध्यात्मचेता होना 'बोध' और निराशीर्निर्मम होना 'उपरति' है।

तथा भक्तिमार्गके आचार्य श्रीवल्लभाचार्यजीने सांसारिक विषयोंके प्रति अनासक्ति और भगवच्चरणोंमें आसक्ति होनेके लिये विद्याके जो पाँच भेद—सांख्य, योग, तप, वैराग्य और भक्ति—बतलाये हैं, उनका सिद्धान्त भी भगवान्के इस मतमें उपदिष्ट साधनों अर्थात् कर्मफलके संन्यास तथा अध्यात्मचेता, विगतज्वर, निराशी और निर्मम होनेपर निर्भर है। इसीलिये भगवान्का यह मत कर्मयोगी, भक्तियोगी और ज्ञानयोगी सभीकी साधनाके लिये है।

(३) साधक

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥

(गीता ३। ३१)

जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक, दोषदृष्टिको त्यागकर अर्थात् इन्द्रियसंयम, मनन, ज्ञानतत्परता और निष्ठाद्वारा इन्द्रिय, मन और बुद्धिके दोषोंको दूर करके भगवान्द्वारा उपदिष्ट मतके अनुसार अनुष्ठान करते हैं, वे कर्मबन्धनसे छूट जाते हैं। साधकको यह बुद्धियोग भगवान्का प्रेमपूर्वक भजन करनेसे प्राप्त हाता है(गीता १०। १०)।

निर्गुणमतसे इस सगुणमतमें यह विशेषता है कि निर्गुणोपासक अपने उद्धारका भार स्वयं अपने ही ऊपर ले लेता है, जिससे उसको अनेक विघ्नोंका सामना करना पड़ता है; परन्तु सगुणब्रह्म भगवान्का भक्त अपने समस्त कर्मोंका फल दयासागर भगवान्को सौंपकर निश्चिन्त हो जाता है।

इसीलिये ज्ञाननिष्ठ साधक, सब प्राणियोंके सुहृद् पुरुषोत्तम भगवान्की सर्वप्रकारसे सेवा करके कृतार्थ होते हैं (गीता १५। १९-२०)।

यद्यपि भक्तजन, सर्वभूतहितरत होकर, अहर्निश भगवान्की सेवामें ही मग्न रहते हैं और जन्म-मरणके त्राससे अभय होनेके लिये भगवान्से प्रार्थना करके उनके स्नेहकी ही कामना करते हैं—

कुटिल कर्म लै जाहिं मोहि जहँ-जहँ अपनी बरिआईं।
तहँ तहँ जनि छिन छोह छाड़ियो कमठ अंड की नाईं॥

(विनयपत्रिका)

तथापि भक्तभयहारी भगवान् उनको केवल सम्पूर्ण विघ्नोंसे ही पार नहीं कर देते (गीता १८। ५८) अपितु उनका योगक्षेम भी स्वयं वहन करते हैं (गीता ९। २२)।

केवल सदाचारी भक्तोंपर ही भगवान् अनुग्रह करते हों, यह बात नहीं है; प्रत्युत यदि दुराचारी भी भगवान्की सेवा करने लगें तो वे भी धर्मात्मा और साधु होकर शान्ति पाते हैं (गीता ९। ३०-३१)।

एतदर्थ सभी मनुष्योंकी शोभा भगवान्की सेवा करनेमें है—

करुना सिंधु भक्त चिंतामनि सोभा सेवतहूँ।

(विनयपत्रिका)

परन्तु जो साधक भगवान्के उपर्युक्त मतमें उपदिष्ट सम्पूर्ण साधनको एक साथ करनेमें असमर्थ हैं, उनकी सुविधाके लिये भगवान्ने नैष्कर्म्यसिद्धिका यह सोपान बताया है कि साधक परमात्मामें मन और बुद्धि लगाकर अध्यात्मचेता बनें (गीता १२। ८); जो ऐसा नहीं कर सकते, वे अभ्यासके द्वारा संसारकी समस्त कामनाओंको छोड़कर अर्थात् निराशीः होकर केवल भगवदर्शनकी इच्छा करें

* देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनादि सात्त्विक तप।

(गीता १२।९); जिनके लिये यह भी अशक्य हो, वे भगवदर्थ कर्म करें (गीता १२।१०) और जो इसमें भी अशक्त हों, वे कर्मफलकी ममता त्यागकर कर्म करें (गीता १२।११)।

अवश्य ही ऐसी दशामें साधकको तत्त्वदर्शी ज्ञाननिष्ठ गुरुके समीप जाकर साधनका अभ्यास करना चाहिये। क्योंकि विना गुरुके ज्ञान नहीं होता—*गुरु बिनु होइ कि ग्यान?'*

भगवान्‌के साधनका तत्त्व समझनेके लिये श्रीगुरुकी शरणमें जानेके पूर्व साधकको श्रद्धावान्, ज्ञानतत्पर, संयतेन्द्रिय, गुरु-शुश्रूषादिसे युक्त और परिप्रश्न करनेकी मतिसे सम्पन्न होना चाहिये—जैसा कि भगवान्‌ने अर्जुनको उपदेश किया है (गीता ४ । ३४, ३९) और छान्दोग्योपनिषद्‌में भी भूमविद्याके प्रकरणमें साधकके लिये इन्हीं सब अर्थात् श्रद्धा, विज्ञान, मति,[1] निष्ठा[2] (गुरु-शुश्रूषादि) और कृति[3] (इन्द्रियसंयम)-कोआवश्यक बतलाया गया है।

इन्हीं पञ्चसाधन अर्थात् श्रद्धा, ज्ञान, मति, इन्द्रियसंयम और निष्ठाका वर्णन रामचरितमानसमें काकभुशुण्डिजीने इस प्रकार किया है—

सदगुरु बैद वचन बिस्वासा[4]। संजम यह न बिषय कै आसा॥
रघुपति भगति सजीवन[6]-मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी॥
एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं। नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं॥
जानिअ तब मन बिरुज गोसाँई। जब उर बल बिराग अधिकाई॥
सुमति छुआ बाढ़इ नित नई। विषय आस दुर्बलता गई॥
बिमल ग्यान जल जब सोनहाई। तब रह राम भगति उर छाई॥

(उत्तरकाण्ड)

ऐसे साधनसम्पन्न साधककी स्थितिका वर्णन गोस्वामीजीने इस प्रकार किया है—

जानकीजीवन की बलि जैहौं।
चित कहै राम सीयपद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं॥ १॥
उपजी उर प्रतीति सपनेहुँ सुख प्रभु पद बिमुख न पैहौं।
मन समेत या तनु के बासिन्ह इहै सिखावन दैहौं॥२॥
श्रवननि और कथा नहीं सुनिहौं, रसनाँ और न गैहौं।
रोकिहौं नयन बिलोकत औरहि, सीस ईसही नैहौं॥३॥
नातो नेह नाथ सों करि सब नातो नेह बहैहौं।
यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं॥४॥

(विनयपत्रिका)

इस विनयमें भगवान्‌के उक्त मतमें उपदिष्ट सभी साधनों[7] का समन्वय रुचिर रूपमें मिलता है। यथा—

(१) **'जानकीजीवन की बलि जैहौं।'**

अर्थात् जिस प्रकार श्रुतिमें देवताओंद्वारा परमात्माको भेंट अर्पण करनेका वर्णन है—

ता यो वेद। स वेद ब्रह्म। सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति।

(तै० उ० १।५।५)

—उसी प्रकार साधक अपना समस्त कर्मफल भगवान्‌के अर्पण कर देता है, भगवान्‌पर अपना सर्वस्व निछावर कर देता है।

(२) **चित कहै राम सीयपद परिहरि अब न कहँ चलि जैहौं।'**

भगवान्‌के चरणचिन्तनके अतिरिक्त किसी अन्य विषयमें चित्तका न लगाना ही अध्यात्मचेताका सुन्दर लक्षण है।

(३) **'उपजी उर प्रतीति सपने हुँ सुख प्रभु पद बिमुख न पैहौं।**
मन समेत या तनु के बासिन्ह इहै सिखावन दैहौं॥
श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं रसनाँ और न गैहौं।
रोकिहौं नयन बिलोकत औरहि, सीस ईसही नैहौं॥'

अर्थात् भगवान्‌के सिवा किसी दूसरे विषयकी कुछ भी कामना न करना और श्रवण, नयन आदि इन्द्रियों तथा मनको सब ओरसे खींचकर भगवद्विषयमें स्थिर कर देना ही अध्यात्मचेताके साथ-साथ निराशी: होना है।

---

१. मति—अर्थात् मननपूर्वक परिप्रश्न करना।

२. निष्ठा—गुरुशुश्रूषादितत्परत्वं ब्रह्मविज्ञानाय।
(छा० उ० शाङ्करभाष्य)

३. कृतिरिन्द्रियसंयमश्चित्तैकाग्रताकरणं च।
(छा० उ० शाङ्करभाष्य)

४. 'गुरुके वचनमें विश्वास'से निष्ठाका तात्पर्य है।

५. इन्द्रियसंयम अर्थात् कृति।

६. छान्दोग्योपनिषद्‌में भी भूमाको अमृत कहा गया है।

७. इस विनयकी पहली, दूसरी और तीसरी पंक्तिमें पञ्चदशी विहित वैराग्यके कारण, स्वरूप और फल, चौथी और पाँचवी पंक्तिमें बोधका कारण, छठीमें स्वरूप और फल तथा सातवीं और आठवीं पंक्तियोंमें उपरतिके कारण, स्वरूप और फलके लक्षण क्रमश: समाविष्ट हैं। इसी प्रकार श्रीवल्लभाचार्यजीका 'सांख्य' पहली पंक्तिमें, 'योग' चौथी, पाँचवीं और छठी पंक्तियोंमें 'तप' और 'भक्ति' तीसरी पंक्तिमें तथा 'वैराग्य' सातवीं और आठवीं पंक्तिमें वर्णित है।

(४) **'नातो नेह नाथ सों करि सब नातो नेह बहैहौं।'**

यह अध्यात्मचेताके साथ सांसारिक विषयोंमें ममता न रखनेका उत्कृष्ट उदाहरण है।

(५) **'यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं।'**

और यदि सांसारिक सम्बन्धोंको तोड़ देनेसे कोई बुरा माने तो इसकी चिन्ता भी साधकको नहीं रहती। वह संसारकी सब निन्दा-स्तुतिका भार भगवान्‌को सौंपकर शोक एवं सन्तापसे रहित हो जाता है। यही विगतज्वर हो जाना है।

इसीलिये अनित्य सुखको छोड़कर परमात्माका भजन करनेसे परमानन्दकी प्राप्ति होती है। इस भजनसे भगवान्‌की उस सेवासे तात्पर्य है जो भगवान्‌को प्रिय हो, अर्थात् जो भगवान्‌को रुचिकर हो। भगवान् सब प्राणियोंके सुहृद् हैं तो हम सब सेवकोंको भी सर्वप्राणियोंके हितमें रत रहना चाहिये; भगवान् साधुओंके परित्राणके लिये अवतार लेते हैं, इसीलिये हमलोगोंको भी साधुसेवी होना चाहिये; भगवान् धर्मकी संस्थापना करते रहते हैं तो हमारे लिये भी भगवान्‌के आज्ञानुसार धर्मका पालन करना उचित है; भगवान् आलस्यरहित सब कर्मोंमें बर्त रहे हैं, अतएव हमलोगोंको भी शास्त्रविहित स्ववर्णाश्रमोचित कर्तव्य कर्ममें लगे रहना चाहिये (गीता १८।४ ५)। इन कर्मोंद्वारा भगवान्‌की सेवा करनेसे ही हमलोगोंको सिद्धि मिल सकती है (गीता १८।४६) और असक्तबुद्धिसे निष्काम होकर भगवान्‌की सेवा करनेपर नैष्कर्म्यसिद्धि (गीता १८।४९) अर्थात् परमसुखकी प्राप्ति होती हैं (गीता ३ ।१९)। साधक चाहे तो नित्य विभूतिके सुखमें और चाहे भगवान्‌की लीलाविभूतिमें रमण कर सकता है; अवश्य ही उसको संसारसे मुक्त होकर श्रीचरणोंमें पहुँचनेका अधिकार प्राप्त हो जाता है ।

सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसन पावा॥

(रामचरितमानस)

प्राणशक्तियोग और परकायप्रवेशविद्याका पूर्वरूप

(लेखक—पण्डित श्रीत्र्यम्बक भास्कर शास्त्री खरे)

प्राण क्या है, प्राणशरीर क्या है—इत्यादि विषयोंका विस्तारपूर्वक विवेचन अबतक किसी ग्रन्थमें नहीं मिला। इस कठिन काममें हाथ डालनेका हेतु यही है कि इस लेखको पढ़कर इस विषयका विचार करनेमें पाठकोंकी प्रवृत्ति हो। प्राणशक्ति क्या है और प्राणशक्तियोग किसको कहते हैं? इसीका ऊहापोह, इसलिये, इस लेखमें किया जायगा। विषयका सम्यक् उद्बोधन हो, इसके लिये इसके नीचे लिखे अनुसार आठ विभाग किये हैं—

(१) प्राण क्या है? (२) प्राणमय शरीर किसको कहते हैं? (३) प्राणायाम क्या है? (४) अन्नमय कोशके साथ प्राणमय कोशका क्या और कैसा सम्बन्ध है? (५) प्राणायामके द्वारा प्राणमय शरीरको अन्नमय कोशसे बाहर निकाल ले जानेकी प्रक्रिया। (६) जीव प्राणमय कोशको अन्नमय कोशके बाहर ले जाकर किस प्रकार आपाततः तथा बुद्धिगृहीत कर्म करता है? (७) प्राणमय कोशके ज्ञानसे लाभ। (८) प्राणशक्तियोगकी फलश्रुति।

१. सर्वसाधरण लोगोंकी धारणा यह है कि प्राणवायु ही प्राण है। प्राणायामका विवेचन करते हुए योगग्रन्थोंमें प्राण-वायुको प्राण और प्राणायामको श्वासायाम कहा गया है। श्रीपतञ्जलि महामुनिका वचन है—**'तस्मिन् सतिश्वासप्रश्वासयो-र्गतिविच्छेदः प्राणायामः। प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।'** अर्थात् श्वास-प्रश्वासकी गतिको बंद करना प्राणायाम है। अमृतनादोपनिषद्‌में भी प्राण-प्राणायामकी ऐसी ही परिभाषा की गयी है—

'रुचिरं रेचकं चैव वायोराकर्षणं तथा।
प्राणायामास्त्रयः प्रोक्ता रेचकुम्भकपूरकाः॥
त्रिः पठेदायतः प्राणः प्राणायामः स उच्यते।'

श्रीमद्भागवतमें **'दश कृत्वा त्रिषवणं मासदर्वाग् जितोऽनिलः।'** यह कहकर यह बतलाया है कि प्रातः-काल, मध्याह्नकाल और सायंकाल—तीनों समय नित्य दस प्राणायाम तीन महीनेतक बराबर करे तो वह मनुष्य जितानिल हो सकता है अर्थात् वायुको जय कर सकता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी **'प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ। अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।'**,

'**प्राणान् प्राणेषु जुह्वति**' इत्यादि वचनोंके प्राणशब्दका अर्थ प्राणवायु ही किया जाता है।

२. पुरुषसूक्तमें '**प्राणाद् वायुरजायत**' यह वचन है। इसमें यह बतलाया है कि वायु-तत्त्व प्राण-तत्त्वसे उत्पन्न हुआ है। अर्थात् प्राण और वायु दो भिन्न तत्त्व हैं। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश—ये पञ्चतत्त्व यथाक्रम एक-से-एक अधिक सूक्ष्म हैं; उसी प्रकार प्राणतत्त्व भी वायुतत्त्वकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है।

प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति॥

—यह तैत्तिरीयश्रुति है। '**प्राणो वा ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च**' (छान्दोग्य), '**प्राणो वै बलम्**'(बृहदारण्यक),'**प्राणो वा अमृतम्। आयुर्नःप्राणः। राजा मे प्राणः।**' इत्यादि इसी आशयके उपनिषद्-वचन हैं। काशी गुरुकुलके संस्थापक श्रीअभयानन्द सरस्वतीने प्राणायामविधिपर एक ग्रन्थ लिखा है। उसमें प्राणविद्यानामक अध्यायमें प्राणका वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'परमात्मा प्रकृतिमेंसे प्राण बनाता है।' प्राण सामान्य और विशेष भेदसे दो प्रकारका है। प्राणतत्त्व सम्पूर्ण जगत्में व्यापक है, अर्थात् दृश्य और ज्ञेय जगत्की अपेक्षा वह अधिक सूक्ष्य है। अथर्ववेदमें प्राणकी महिमा यह कहकर गायी गयी है कि '**प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।**' अर्थात् उस प्राणको प्रणाम है, जिसके वशमें यह सारा जगत् है। प्राण पृथ्वीपर है, अन्तरिक्षमें है, द्युलोकमें है। द्युलोकमें प्राण सूर्य-किरणोंद्वारा आता है और अन्तरिक्षमें स्थित प्राण पर्जन्यके द्वारा पृथ्वीपर आता है और पृथ्वीपर आनेके पश्चात् यह वायुतत्त्वमें मिलकर रहता है। द्युलोकगत और अन्तरिक्षगत प्राण ही सब जीवोंकी जीवनशक्ति है। प्रश्नोपनिषद्के—

'**अथादित्य उदयन् यत् प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते। यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते।**'

—इन वचनोंसे यही पता लगता है कि सूर्यदेव अपने रश्मिजालसे द्युलोकका प्राण पृथ्वीपर लाते हैं। इसी प्रकार '**प्राणो हि सूर्यः प्राणश्चन्द्रमाः। प्राणमाहुः प्रजापतिः प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्वमुपासते।**' इन वचनोंसे यह मालूम होता है कि सूर्य, चन्द्रमा, प्रजापति, विराट् आदि प्राणरूप ही हैं। '**प्राणापानौ व्रीहियवौ अनड्वान् प्राण उच्यते।**' इस वचनमें प्राण और अपानको व्रीहि और यव कहकर उनका संग्रह करनेवाले अनड्वान् (बैल)-को प्राण कहा है। इन सब वचनोंसे यही सिद्ध होता है कि प्राणतत्त्व प्राणवायुसे भिन्न है।

(३) प्राणतत्त्वका प्राणवायुसे भिन्न होना व्यावहारिक उदाहरणसे भी दरसाया जा सकता है। जीव जब गर्भाशयमें होता है, तब उसे प्राणवायुके मिलनेका साधन नहीं रहता; गर्भमें रहते हुए बाहरसे वह प्राणवायु नहीं ले सकता। तथापि सातवें महीनेसे ही वह हिलने-डोलने लगता है और उसके हृदयमें रक्ताभिसरणकी क्रिया होती रहती ऐसी हालतमें उसका जीवन प्राणवायुपर नहीं, बल्कि प्राणतत्वपर निर्भर करता है। मृत शरीरमें प्राणवायु जा-आ सकता है; पर उससे मनुष्य जी उठे, यह नहीं हो सकता। मूर्च्छित मनुष्य, जलमें डूबा हुआ मनुष्य, डाक्टरके चीरा देनेके पहले दवा सुँघाकर शरीरकी स्मृति खोया हुआ मनुष्य और समाधिमें स्थित योगी—इन सबके शरीर मृतवत् हुए रहते हैं, श्वास-प्रश्वासकी क्रिया उनमें नहीं होती। परन्तु उनके शरीरोंमें प्राणतत्त्व बना रहता है, इसलिये श्वास-प्रश्वासकी क्रिया उनमें फिरसे आरम्भ हो जाती है। कर्नल टाउनशेंडने अपनी इच्छासे अपना प्राणमय शरीर अपने अन्नमय शरीरसे बाहर निकाल लिया था। उस समय तीन सर्जनोंने उनके शरीरकी परीक्षा करके यह निर्णय दे दिया था कि इनकी मृत्यु हो गयी। उनकी नाडी, रक्ताभिसरण और हृदयकी क्रियाएँ सब बंद थीं। शरीर ठंडा पड़ चुका था, नसें तन गयी थीं। परन्तु फिर भी कर्नल टाउनशेंड फिरसे अपने प्राणमय शरीरके साथ उस शरीरमें आ गये और ऐसे उठ बैठे जैसे कोई सोकर उठा हो। मास्को शहरकी एक बालिका १४ दिन मूर्छितावस्थामें थी। तीन बार उसका प्रेतसंस्कार भी किया गया। पर हर बार अन्तिम क्षणमें वह जागकर उठ बैठती। महाराज रणजीतसिंहके दरबारके योगीकी कथा प्रसिद्ध ही है। छः फुट नीचे जमीनमें उन्होंने अपने-आपको गाड़ लिया, ऊपरसे वह जमीन जोती-बोयी गयी, उसकी चारों ओर संगीनका पहरा बैठाया गया। सात दिन बाद योगी महाराजके सामने बाहर निकले। महाराजसे उन्होंने कहा, मैं वहाँ बड़े आनन्दमें था।' इस तरहकी योगक्रिया करनेवाले लोग आज भी मौजूद हैं। इन उदाहरणोंसे यही स्पष्ट होता है कि प्राण एक स्वतन्त्र तत्त्व है।

४. वैशेषिक दर्शनमें प्राणतत्त्वका कोई वर्णन नहीं है, पर आकाशको ही प्राणतत्त्व और नित्य द्रव्य माना है। जैन-दर्शनमें आकाशतत्त्वके लोकाकाश और अलोका-

काश दो भेद हैं, लोकाकाश मर्यादित और अलोकाकाश अमर्यादित और नित्य है; शरीरके जीव और पुद्गल—दो भेद हैं; पर प्राण और प्राणमय कोशका कोई वर्णन नहीं है। कणाद 'अणु-अणु' कहते-कहते उसीमें मगन हो रहे और महर्षि पतञ्जलि यह बतला गये कि मन:-संयम करो और इससे विभिन्न विभूतिरूप ज्ञानभण्डारकी कुञ्जियाँ अपने हाथमें कर लो, जैसे '**नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्।**' परन्तु शरीरको जीवित रखनेवाले प्राणतत्त्वका या प्राणमय शरीरका उन्होंने पता नहीं दिया।

५. सूक्ष्य दृष्टिसे विचारिये तो सृष्टिके इस मूर्त्तरूपको प्राप्त होनेमें ईशसंकल्प, देवसंकल्प और ऋषिसंकल्प—ये तीन संकल्प कारण हुए हैं। ईशसंकल्पके सूक्ष्य परमाणु हुए, देवसंकल्पके उनकी अपेक्षा स्थूल और ऋषिसंकल्पके उनसे भी अधिक स्थूल हुए। ईशसंकल्पसे देव निर्माण हुए और देवसंकल्पसे ऋषि और मानव निर्माण हुए। ईशसंकल्पसे प्रथमत: मन और अनन्तर आकाशादि अपञ्चीकृत पञ्चतत्व निर्माण हुए और इन अपञ्चीकृत पञ्चतत्त्वोंसे पञ्चीकृत स्थूल पञ्चतत्त्व उत्पन्न हुए। ईशसंकल्पके ये स्थूल मूर्त्तरूप ही प्रकृति-परमाणु हैं। ईशसंकल्पसे धाता उत्पन्न हुए और उनमें '**यथापूर्वं कल्पयामि**' की भावना उत्पन्न हुई। उस भावनासे आदित्य-परमाणु और उनसे सूर्यग्रहोंसहित सूर्यमाला उत्पन्न हुई। इसके अनन्तर मानसपुत्रादि मानस सृष्टि हुई और फिर जारज सृष्टि। जन्मको प्राप्त होनेवाला जीव जगदात्मा सूर्यसे सूर्य-परमाणु और फिर मनके लिये चन्द्रमण्डलसे चन्द्र-परमाणु ग्रहण करता है और नीचे उतरते हुए वह अन्य ग्रहोंसे भी अपने प्रारब्धकर्मभोगके लिये तत्तत् ग्रहोपग्रहोंके शुभाशुभ-फलदायी परमाणु ग्रहण करके पृथ्वीपर आता और माताकी कोखमें आकाश, तेज, अप्, वायु, पृथ्वी—इन पञ्चीकृत तत्त्वोंसे अपने प्राणशरीरके सजातीय प्राण-परमाणुओंका संग्रह कर अपना अन्नमय शरीर निर्माण करता है और इस प्रकार पूर्वकर्मानुरूप भोग भोगनेके लिये अपने प्राणमय, मनोमय, वासनामय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशोंसहित भोगायतन अन्नमय शरीर धारण करके माताकी कोखसे बाहर निकलता हैं। सूर्यमण्डलसे आदित्यप्राण-परमाणु और चन्द्रमण्डलसे चन्द्र-परमाणु लेकर जीव जब पृथ्वीपर आता है तब ज्योतिषीलोग उसकी लग्नकुण्डली और राशिकुण्डली फैलाते और तत्तद् ग्रहोंका बलाबल देखकर जीवके सुख-दु:खादि—भोगके स्थान और समय निर्दिष्ट कर देते हैं। इससे यह पता लगता है कि जीवके अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोश सूर्यसे दैनन्दिन गतिके साथ प्रसृत होनेवाले प्राण-परमाणुओंसे बने हुए हैं। अर्थात् यही सिद्ध हुआ है कि प्राणमय कोशके संघटक प्राण-परमाणु और श्वासोच्छ्वासके प्राणवायु एक दूसरेसे भिन्न हैं। समस्त दृश्यादृश्य जगत् सच्चिदानन्दस्वरूप है—इस सिद्धान्तके अनुसार प्राण-परमाणुओंमें भी सत्ता, चेतना और ज्ञान अबाधित, वलित अथवा संघटित हैं। सूर्यमण्डलसे निकले हुए प्राण तेजोरूप हैं, इसलिये प्राणमय शरीर भी तेजोरूप है। साधारण मनुष्य भी स्वप्नकी अवस्थामें अपने शरीरको प्रकाशरूप ही देखता है, चाहे रात अँधेरी हो और समीप कोई दीप भी जलता हुआ न हो।

६. थिआसोफिकल सोसायटीके आद्य प्रवर्त्तक महात्माओंका बाह्य जगत्में प्रतिनिधित्व करनेवाली मैडम ब्लावेट्स्कीने यह कहा है कि हमारे रक्तके अंदर जो शुभ्र और ताम्रबिन्दु हैं, उनमें ताम्रबिन्दुओंके अंदरके अयस्कण ही प्राण-परमाणुके घटक हैं। उनके मतसे जीवन एक सूक्ष्म गति है; जिसे प्राण कहते है, वह एक स्वयंभू शक्ति है। यह शक्ति जगत्के धाता सूर्यसे मनुष्यको प्राप्त हुई है। यह शक्ति पृथ्वीपर काम आनेके लिये तेज, आकाश, वायुके साथ होकर तथा जनलोक, महर्लोक, स्वर्लोक और द्युलोकादि लोकोमेंसे आते हुए परिणत होकर विद्युदाकर्षणरूप परमाणुओंसे मनुष्यका प्राणामय शरीर निर्माण करती है। यहाँ प्राणको शक्ति कहा है। परन्तु शक्ति (Force) होनेपर भी उसके कार्यक्षम होनेके लिये किसी-न-किसी प्रकारका साधन होना जरूरी है। विद्युत्कणोंमें प्रकाशशक्ति है और उसीका दूसरा रूप उष्णताशक्ति है। इन शक्तियोंके प्रभावशाली होनेके लिये विद्युत्कणोंकी आवश्यकता रहती ही है। इसलिये विद्युत्कण कहें या प्राण-परमाणु कहें, वे और उनकी शक्ति वायु-कण और वायुशक्तिसे भिन्न ही हैं। प्राण-परमाणु और प्राणशक्ति दोनों ही वायु-परमाणु और वायुशक्तिसे सूक्ष्म हैं और प्राणमय शरीर (Astral body) आकाश-शरीर (Ethereal body) तथा अन्नमय शरीरकी अपेक्षा सूक्ष्म हैं। अन्नमय शरीर और आकाश शरीर दोनों ही कुछ ही दिन, कुछ ही वर्ष बने रहते हैं। चीन अथवा ईजिप्ट देशवालोंके 'ममी'—रासायनिक प्रक्रियासे रखे हुए मृत मनुष्योंके ऐसे ही अन्नमय शरीर हैं (चित्र नं०१ देखिये) परन्तु प्राणमय शरीर पाँच-पाँच सौ, हजार-हजार वर्षतक भी बने रहते हैं। यथार्थमें वर्ष अथवा कालकी गणना इस पृथ्वीपर

चित्र नं० १—चीनदेशमें मृत्युके बाद सम्हालकर रखे हुए स्थूल शरीरके पास आया हुआ जीवका प्राणमय शरीर।

[देखिये पृष्ठ ४२३, ४३१]
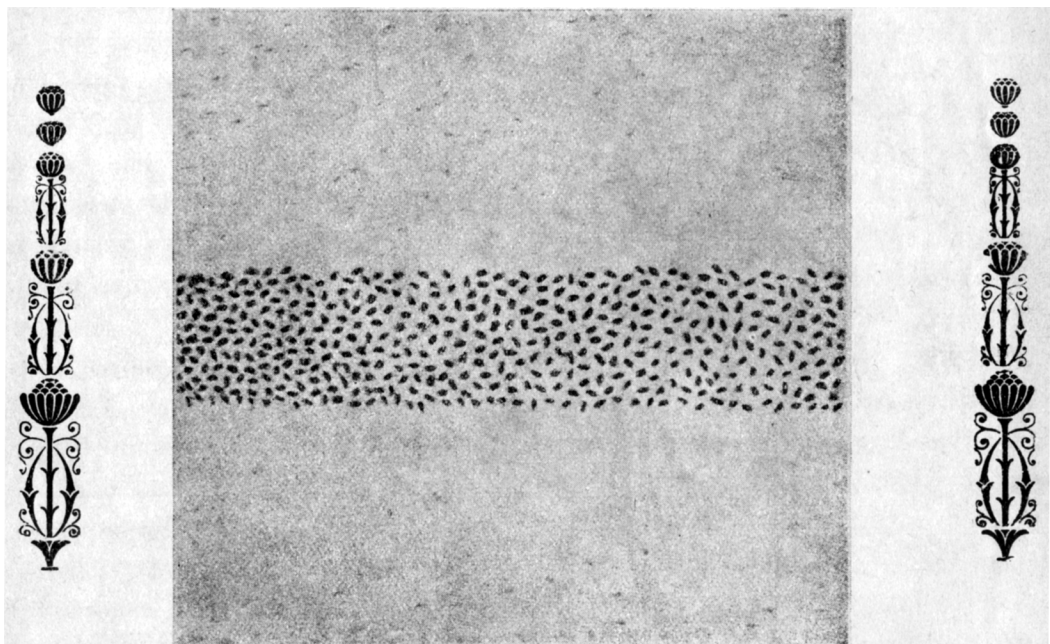
चित्र नं० २—प्राणमय शरीरका अणुमय दृश्य।

[देखिये पृष्ठ ४३०]

ही है और अन्नमय तथा आकाशमय कोशपर उसका नियम चलता है। द्युलोकमें तो कालगणना है ही नहीं। पाँच सौ और हजार वर्षकी जो अवधि कही, वह इस कारण कि १००० वर्ष पूर्व इस पृथ्वीपर जो महात्मा शरीरसे थे, वे अब भी पृथ्वीपर माध्यम (Medium) की सहायतासे उस कालकी बातें बतलाते हैं, जो इतिहासकी दृष्टिसे भी ठीक उतरती हैं।

७. रसायनशास्त्र और वैद्यशास्त्रसम्बन्धी इतने अगाध आविष्कारोंके होनेपर भी अभीतक वैज्ञानिकोंको यह पता नहीं चला कि प्राण अथवा जीवन क्या है। डॉ० वानडेन ब्रॉकने लंदनके 'फोरम' पत्रके जनवरी १९३५ के अङ्कमें 'हम मरते कब हैं? इस विषयपर एक लेख लिखा है। इस लेखमें प्रसंगतः प्राणकी चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है कि रक्तसे ही हृदयकी क्रिया होती रहती है, इसलिये रक्त स्वयं ही एक महान् शक्तिशाली पदार्थ है। पदार्थविज्ञानवेत्ताओंका विचार यह है कि हृदयकी क्रियासे रक्ताभिसरणकी क्रिया होती है; यह सही होनेपर भी रक्तबिन्दुओंके अंदर जो विद्युदाकर्षणशक्ति है, उसीके द्वारा जागरित शिराओंके पुञ्जोंमेंसे होकर यह रक्ताभिसरणक्रिया होती है। शरीरके चलन-वलन व्यापारको ही जीवन मानकर यह बात कही गयी है। परन्तु आर्थर ए० वेल (कैलिफोर्निया)-का यह कहना है कि शरीरके चलन-वलन-व्यापारका चलना या चलाना मनुष्यकी मनोभूमिपर अवलम्बित है—देहस्थित जीवात्माका शरीर जब जीर्ण होता या असंयत आचरण अथवा किसी अपघातसे भग्न या बेकार हो जाता है, तब वह अपने मनको आज्ञा देकर स्थूलदेहके साथ अपना सम्बन्ध तोड़ डालता है। इससे भी यही बात पुष्ट होती है कि प्राणशक्ति रक्तबिन्दुओंके अयस्कणोंमें जो विद्युदाकर्षणशक्ति है, वही है। वानडेन फ्रैंकका यह कहना है कि हृदय और रक्ताभिसरणका नियमन शिखरी स्थान (Medulla oblangata) से होता है। अपने यहाँके योगियोंका भी यही मत है कि हृदयक्रियाको शिखरीके द्वारा जब चाहे बंद और जारी किया जा सकता है। बालानन्द सरस्वती (वैद्यनाथधामके) और अगम्य गुरु बात करते-करते अपनी नाडी और हृदयका चलना इच्छामात्रसे बंद कर देते थे, इस बातको इस लेखके लेखकने स्वयं अनुभव किया है।

८. रक्तबिन्दुका अयस्कण ही पाश्चात्त्य विज्ञानका अणु (Atom) है। अणु एक सौरमण्डल या सूर्यग्रहमाला ही है। सौरमण्डलमें जैसे मध्यमें सूर्य है वैसे ही अणुमें धनविद्युत् केन्द्र (Proton) है और उसके चौतर्फा ऋणविद्युत्कण (Electrons) अत्यन्त वेगके साथ वर्तुल गतिसे घूमा करते हैं। धनविद्युत्कण बाहरसे शक्तिको अंदर खींचता है और अंदरसे बाहर फेंकता है। जब यह शक्तिको बाहर फेंकता है, उस समय ऋणविद्युत्कण बाहरकी कक्षासे भीतर कूद पड़ते हैं और जब यह शक्तिको बाहरसे अंदर खींचता है, उस समय ऋणविद्युत्कण अंदरसे बाहर उछल पड़ते हैं। एक कक्षासे दूसरी कक्षामें ऋणविद्युत्कणोंका यह जो भ्रमण होता है, वह किसी नियमके अनुसार नहीं होता; उनकी यह क्रिया बेरोक होती है। इनकी अनियत स्वैरवृत्तिका कारण क्या है, यह पदार्थविज्ञानवेत्ताओंके लिये बड़ी पहेली है। इन ऋणविद्युदणुओंके बड़े समुदायके सम्बन्धमें कुछ नियम देख पड़ते हैं; पर व्यक्तिशः कोई ऋणविद्युदणु किस समय किस गतिसे चलेगा, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता—जैसे मानवसमाजके सम्बन्धमें समाजशास्त्रकी दृष्टिसे कुछ मोटे नियम बनाये जा सकते हैं, पर प्रत्येक व्यक्तिकी स्थिति और गतिका कोई अनुमान नहीं किया जा सकता।

९. अणुकी स्वैरगतिके सम्बन्धमें भगवान् कणादका यह वैशैषिक सूत्र है कि '**अणूनां मनसश्च आद्यं कर्म अदृष्टकारितम्।**' अर्थात् अणुके और मनके आद्य कर्म (या उनकी मौलिक स्वैरगति)का कारण अदृष्ट ही है। अर्थात् यह गति स्वयंभू है।

१०. ऋणाणु और धनाणु दोनोंमेंसे शक्तिकी लहरें उठा करती हैं। एडीसन कहते हैं कि ऋणाणुओंके कुछ ही प्रभावकार्य हमलोग जान पाते हैं। ऋणाणु शक्ति-तरंगोंका केन्द्र है। उसके सम्बन्धमें हम जो कुछ जान पाते हैं, वह उसकी शक्तितरंगोंसे ही। पाश्चात्त्य पदार्थविज्ञान ऋणाणु और धनाणुतक ही पहुँच पाया है। पर इन ऋण-धनाणुओंसे शक्तिका आविर्भाव कैसे होता है, इसका उसे कोई पता नही चला है।

११. योगदीपिकामें प्राणकी इस प्रकार व्याख्या की गयी है—

प्राणो भवेत् ब्रह्म जगत्कारणमव्ययम्।
प्राणो भवेत् तथा मन्त्रज्ञानकोशगतोऽपि वा॥
क्षेत्रज्ञश्च तथा प्राणाः पञ्चभूतेन्द्रियार्थकाः।
प्राणार्थाश्चेति सिद्धान्तः श्रुतिभिः समुदीरितः॥

—तात्पर्य, ज्ञानकोश यानी विज्ञानमय कोशमें जो

प्राणशक्ति है वही प्राण है। श्वासोच्छ्वास अन्नमय कोशके प्राण-अपान हैं। प्राण इनसे अधिक सूक्ष्म हैं।

१२. सच पूछिये तो ऋणाणु-धनाणु प्राण-परमाणुओंके मूर्त्तरूप हैं। स्वयं प्राण-परमाणु इनसे अधिक सूक्ष्म और अधिक कार्यक्षम हैं। ऋणाणु और धनाणुके अन्तर्गत प्राण-परमाणु प्रकाशमय हैं, यह बात पाश्चात्त्य विज्ञानकी प्रक्रियासे सिद्ध है। अथर्ववेदके एकादश काण्डकी दूसरी ऋचा है—

नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे।
नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते॥

टीकाकारोंने '**स्तनयित्नवे**' पदकी टीका '**विद्युदात्मना विद्योतमानाय**' इस प्रकार की है। अर्थात् प्राण विद्युदात्मक हैं और परम्परया प्राणमय कोश प्रकाशात्मक है, यही स्पष्ट होता है। पाश्चात्त्य वैज्ञानिकोंकी अब यह राय हो चली है कि सब स्थूल शारीरिक क्रियाएँ विद्युच्छक्तिसे ही हुआ करती हैं। आथर्वणवेदके उपर्युक्त मन्त्रसे इनका समर्थन होता है। इससे यह मालूम होता है कि आर्यावर्त्तके जिन ऋषि-मुनियोंने प्राण-शक्तिको अनुभव कर उसकी कार्यपरम्परा निर्दिष्ट कर दी, उन्हींके सिद्धान्तकी ओर पाश्चात्त्य वैज्ञानिक भी धीरे-धीरे आ रहे हैं।

१३. कुछ पाश्चात्त्य विद्वान् एक प्रवाहशील पार्थिव अंशको, जिसे इन नेत्रोंसे नहीं देख सकते, प्राण कहते हैं। मानवविद्युदाकर्षण (Human magnetism) को भी कुछ लोग प्राण कहते हैं। जीवमें अपनी जो एक निजी शक्ति है (Metabolism) उसे ही कुछ लोग प्राण जानते हैं। और कुछ जीवन-रस (Pastoplasm) तथा अव्यक्त जीवन-रस (Ecloplasm) को प्राण मानते हैं। परन्तु ये चारों प्राण-शक्तिके गुण हैं, स्वयं प्राण नहीं।

१४. टाडिग्राफ नामका एक जन्तु है, जो मैसोरके नन्दि-दुर्ग पहाड़के ऊपर देखा जाता है। इसका आकार १/२० इंचके बराबर होता है। जल न मिलनेपर इसकी देह सूख जाती है और सूखनेपर यह बरसों इस तरह निश्चेष्ट पड़ा रहता है कि यह पता नहीं लगता कि यह जीता है या मरा-मरा ही समझा जाता है, क्योंकि उसमें हिलने-डोलनेकी कोई क्रिया नहीं देख पड़ती। परन्तु बरसों इसी हालतमें पड़े रहनेपर भी यह देखा गया है कि इसकी देहको काट-काटकर उन टुकड़ोंको किसी काँचके बर्तनमें रख दिया जाय तो भी इसकी प्राणशक्ति नष्ट नहीं हाती। शून्य अंश (Zero degree) की उष्णतावाले किसी पात्रमें हेलियम (सूर्यकिरणका एक घटक पदार्थ) द्रवित करके उसमें यह सूखी देह रखी जाय तो यह देखा जाता है कि यह जन्तु चैतन्य होता और हिलने-डोलने लगता है। इसका अर्थ यह हुआ है कि इस जन्तुकी स्वयं चेतन-शक्ति (Metabolism) 'नष्ट' होनेपर भी फिरसे आ जाती है। प्राणशक्ति उसकी देहमें इतनी सोयी हुई रहती है कि वैज्ञानिकोंके लिये एक बड़ी पहेली हो जाती है और उन्हें इस गूढ़ प्राणशक्तिका पता नहीं चलता।

१५. इस प्रकार पाश्चात्त्य वैज्ञानिकोंको अभीतक प्राण-शक्तिका पता नहीं लगा। हमारे यहाँके प्राचीन शास्त्रकार इस शक्तिको खूब जानते थे। प्राणशक्तिके सम्बन्धमें उन्होंने जो-जो कुछ कहा है, उसको अलग रखें और अपेक्षाकृत आधुनिक कालमें आवें तो प्राण-शक्तिकी व्याख्या गौतमबुद्धके इस वचनमें मिलती है कि प्राणशक्ति सर्वत्र विद्यमान है, अभेद्य है और अविभाज्य है।' अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि प्राणशक्ति अमुक स्थानमें है और अमुक स्थानमें नहीं। जिन सूर्य-किरणोंके साथ सूर्यदेव इस विश्वपर सतत प्राण-शक्तिकी वर्षा कर रहे हैं, उन सूर्यकिरणोंको यानी प्रकाशको विभाजित किया जा सकता है। प्रकाशके तरंगवाद (Wave theory) या आन्दोलनकी क्रियाका निरीक्षण करनेसे यह देख पड़ता है कि एक प्रकाश-तरंगके अन्तिम बिन्दु और दूसरी प्रकाश- तरंगके आरम्भ-बिन्दुके बीच थोड़ा अन्तर हुआ करता है। मैगास फाक्स अथवा आइनस्टीनके अंशपरमाणुवादसे भी यह बात सिद्ध होती है कि प्रकाशका विभाजन होता है। प्रकाशतरंगोंके परस्पर आन्दोलनमें प्रकाश-विच्छेद होता है, यह बात नीचे दिये हुए उदाहरणसे स्पष्ट होती है।

१६. एक मीलकी दूरीपर एक घड़ी रखी है। इस घड़ीमें जब एक बजनेका समय होता है, तब एक एक बजनेकी आवाज आती है। पर एक बजा हुआ देख पाना एक सेकंडके एक लाख छियासी हजारवें हिस्सेका अंतर देकर होता है। पदार्थका अस्तित्व और उसका दर्शन, इन दोनोंके बीच इतना अन्तर होता है। प्रकाशतरंगोंके परस्पर आन्दोलनोंके बीचका यह अन्तर है। अर्थात् प्रकाशकी सत्ता अबाधित नहीं है, उसमें सूक्ष्मतम प्रकाश-गति विच्छेद हैं। यह अनुभव अवश्य ही मानव-नेत्र, श्रोत्र और मानव-बुद्धिसे बने हुए यन्त्रोंसे होनेवाला है। यथार्थमें प्रकाशतरंगोंके बीच विच्छेद-सा जो कुछ देख पड़ता है, वह दृग्भ्रम है।

१७. स्वामिभक्त वशिष्ठ प्राणकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि प्राण (Cosmic Energy) अखिल ब्रह्माण्डकी ओतप्रोत शक्ति है और प्राणियोंके शरीरोंमें वह विशेषरूपसे प्रकट होती है। एक शरीरसे दूसरे शरीरमें भी इसका आवागमन होता है। जब हम रोगपीडित जीवके शरीरसे किसी अन्य शरीरधारी जीवके द्वारा रोगका हटाया जाना देखते हैं, तब यह काम प्राणशक्तिके द्वारा ही होता है।

१८. स्तम्भ १२ में मानवविद्युदाकर्षण (Human magnetism) को प्राण-शक्तिका एक गुण बताया है। पाश्चात्त्य वैज्ञानिकों और आविष्कारकोंके प्रयत्नोंकी प्रशंसा जितनी कीजिये, थोड़ी होगी। इन लोगोंने यह पता लगाया और आगे और लगा रहे हैं कि शरीरके स्थूल और सूक्ष्म व्यापार किस प्रकार विद्युदाकर्षणसे हुआ करते हैं और शरीर-व्यापार तथा विद्युदाकर्षणके बीच कैसा सम्बन्ध है। प्राण-शक्तिके अंदर जो विद्युदाकर्षण है, उसीकी क्षमतासे शरीरके सब व्यापार होते हैं—यह सही है; परन्तु मानवविद्युदाकर्षण मनः-शक्तिपर निर्भर करता है। मन और शरीरके बीच सम्बन्ध जोड़नेवाला एक महत्तर विद्युद्वेगशक्तिकेद्र (मस्तिष्क) शरीरमें है और इसी केन्द्रसे विद्युच्छक्ति निकलकर शरीरके सब व्यापार चलानेमें समर्थ होती है। हार्वर्ड मेडिकल स्कूलके प्रोफेसर जे० एडबिन कोहेनने इस विषयमें दस वर्ष लगातार प्रयोग करके जो तथ्य निकाला, वह नीचे दिया जाता है।

१९. जीवनशक्ति (Protoplasm) के मुख्य परमाणु स्नायुवर्द्धक परमाणु हैं। इन परमाणुओंसे विद्युच्छक्ति निकलती है। ये ही विद्युदुत्पादक परमाणु नाडीजालमें रहते हैं। इन्हीं स्नायुवर्द्धक परमाणुओंके घटक एनिमो-ऐसिड (जीवन क्षार) में भी देख पड़ते हैं। एनिमो-ऐसिडके परमाणु हाइड्रोजनके परमाणुओंकी अपेक्षा चौंतीस हजार गुना बड़े होते हैं। एनिमो-ऐसिडके इन परमाणुओंके एक छोरपर ऋण-विद्युत्कण और दूसरे छोरपर धनविद्युत्कण होते हैं। इस प्रकार इनके ओर-छोरपर परस्परविरुद्ध शक्तिवाले अणुओंके होनेके कारण, एनिमो-ऐसिडके ये परमाणु शक्तिविहीन होते हैं। तथापि इनसे विद्युद्वेगरूप लघु परमाणु उत्पन्न होते हैं। और वे प्राणशक्ति और शरीरेन्द्रियोंके बीच सम्बन्ध जोड़ते हैं। अनन्तर स्नायुवर्द्धक परमाणु और एनिमो-ऐसिड परमाणुओंका एक मण्डल बनता है। ये परमाणु महत्तर होनेके कारण इनका एक आकर्षण-पुञ्ज बनता हैं। इस आकर्षण-पुञ्जसे अनन्त विद्युदणु निकलते हैं। ऐसे एक छोरपर धनविद्युदणु और दूसरे छोरपर ऋणविद्युदणु रहते हैं। इसलिये इन परमाणुओंको द्विशक्तिशाली परमाणु कहते हैं। ये द्विशक्तिशाली परमाणु अपने-अपने स्थानमें स्थिर रहते हैं। इनके अगल-बगल जो धनविद्युत्कण हैं, उनकी ओर इन द्विशक्तिशाली कणोंका ऋणविद्युदग्र प्रवृत्त होता है और ऋणविद्युत्कणोंकी ओर इनका धनविद्युदग्र।

२०. इस प्रकार द्विशक्तिशाली परमाणुओंकी एक माला बन जाती है। एक द्विशक्तिशली परमाणुका धनविद्युदग्र उससे अलग होता और दूसरे द्विशक्तिशाली परमाणुके ऋणविद्युदग्रसे जा मिलता है। एक क्षणके शतांश कालमें यह क्रिया होती है और बराबर उसी प्रकार जारी रहती है। इन द्विशक्तिशाली कणोंके क्रियाकलापसे एक गति निर्माण होती है और उस गतिसे देहगत नाडियोंका आकुञ्चन-प्रसरण हुआ करता है, उसीसे नेत्रों और हस्त-पादादि इन्द्रियोंके व्यापार होते हैं। परन्तु इस द्विशक्तिशाली परमाणुके धनविद्युदग्रको अलग करनेकी क्रिया करनेवाला कौन है, इसका पता वैज्ञानिकोंको नहीं चला है। यह क्रिया करनेवाली शक्ति मन है। परन्तु मनःशक्तिके कार्यकारी होनेके लिये प्राणशक्तिकी अनुकूलता आवश्यक है। नाडियोंमें जो द्विशक्तिशाली परमाणु होते हैं, उनसे शरीरके सब अवयवोंकी आकुञ्चन-प्रसरण क्रिया सतत हुआ करती है। इस क्रियाके कारण ही हस्त-पादादिक इन्द्रियोंके दृष्ट कर्म होते रहते हैं; और इसी प्रकार पित्त-पिण्डसे पित्तका उत्पन्न होना, लंब-पिण्ड (Thyroid) से रसका निर्माण होना, शिखरीसे हृदय-क्रियाका सङ्कोच-विकास होना अथवा उसका बंद होना—ये सब अदृष्ट क्रियाएँ भी होती रहती हैं। ये सब क्रियाएँ प्राणशक्तिसे ही होती हैं।

२१. इन परमाणुओंके आकारानुरूप जो स्नायुवर्द्धक परमाणु रक्तमें होते हैं, वे वर्तुलाकर होते हैं। शरीरकी आकुञ्चन-प्रसरण क्रियाके होते हुए शरीरमें इनशुलिन, थायरोग्लोबिन आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं; परन्तु रक्त जब किसी चोटसे एक जगह जम जाता है, तब उस रक्तमें उन परमाणुओंका आकार छड़ी-सा लंबा देख पड़ता है। सामान्य नाडीपुञ्जके द्विशक्तिशाली परमाणुओंके चतुर्दिक् जो धनविद्युत् अथवा ऋणविद्युत्कण देख पड़ते हैं उनके आकारसे रक्तगत परमाणु शतगुण बड़े होते हैं।

२२. द्विशक्तिशाली परमाणुओंके अन्तर्गत प्राण-

परमाणु होते हैं। प्राण-परमाणु पृथक-पृथक् देख पड़ते हैं, पर होते हैं सब प्राणशक्तिसे एकत्र ही। इसलिये प्राण-परमाणुओंके विभाज्य होनेपर भी प्राणशक्ति अविभाज्य है और उसके अविभाज्य होनेसे तथा प्राण-परमाणु भी प्राणशक्तिप्रेरित ही होनेके कारण प्राण-परमाणुओंको भी अविभाज्य कह सकते हैं। मधुमक्खियोंका छत्ता अनेकों पेशियोंसे युक्त होता है। परन्तु मधुमक्खियाँ उसे अपना एक ही घर समझती हैं और यथार्थमें वह एक ही होता है। प्राण-परमाणु प्राणशक्तिके कारण जैसे अविभाज्य हैं, वैसे ही मधुमक्खियोंका छत्ता मधुरसके कारण अविभाज्य है।

२३. यहाँतक प्राण-परमाणुओंकी बात हुई। अब इन प्राण-परमाणुओंसे घटित प्राणमय शरीर कैसा होता है? यह विचारें। सर आलिवर लाज कहते हैं कि प्राणमय शरीरके घटक वियत्तत्त्व (Ether) के बने होते हैं। मैडम ब्लावेट्स्कीके मतसे वियत्तत्त्व और प्राणतत्त्व एक चीज नहीं हैं। उनका कहना है कि प्राण-परमाणु वियत्तत्त्व (Ether) के घटकोंकी अपेक्षा सूक्ष्म हैं। डा० हेनरी लिंडालका यह मत है कि अखिल ब्रह्माण्डमें जो-जो शक्तियाँ अनुभूत होती हैं उन सबका मूल स्थान प्राणशक्ति है। विद्युत्का प्रकाश या गति काँचके बल्ब अथवा कारबनके तन्तुपर अवम्बित नहीं होती। काँचका बल्ब हटा देनेसे विद्युत प्रकाशित न होगी पर उसकी गति बन्द नहीं होगी और विद्युद्गतिवाहक प्राण-परमाणु भी नष्ट नहीं होंगे। दूरध्वनियन्त्र (रेडिओ) की सहायतासे हम दूर देशोंके शब्द सुन लेते हैं और यह यन्त्र यदि खराब हो जाय तो हम उन शब्दोंको न सुन सकेंगे; परन्तु इससे उन विद्युत्तरगोंकी गति और आक्रमण और शब्द या रूपवाहनक्षमता नहीं नष्ट हाती, उसका कार्य तो होता ही रहता है।

२४. इन बातोंसे यह स्पष्ट होता है कि प्राणोंका बना हुआ प्राणमय शरीर स्थूलदृष्टिसे दृश्य न होनेपर भी अपनी सत्ता तो रखता ही है। मनुष्यकी शकलके किसी काँचके बर्तनमें पानी भरा जाय तो पानी उसमें सर्वत्र फैल जायगा और वह बर्त्तन भरा हुआ देख पड़ेगा। मनुष्यके स्थूल-शरीरमें प्राणमय शरीर भी इसी प्रकारसे है। अन्तर इतना अवश्य है कि पानी उस काँचके बर्त्तनके बाहर बर्त्तनको भेदकर न जायगा, पर प्राणमय शरीर स्थूलशरीरके बाह्य आवरणमें अटका नहीं रहता। दिव्यदृष्टिवाले मनुष्य प्राणमय शरीरको स्थूलशरीरके अंदर-बाहर ओतप्रोत देख सकते हैं।

२५. इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्यका बाह्य शरीर जब छूट जाता है तब उसका प्राणमय शरीर स्थूल शरीरके रहते जितना प्रभावशाली था उससे अधिक प्रभावशाली हो जाता है । कारण, प्राणमय शरीर स्थूलशरीरकी अपेक्षा अधिक वेगवान् होता है और स्थूलशरीरके परमाणुओंकी अपेक्षा प्राणमय शरीरके परमाणु अधिक सूक्ष्म और शुद्ध होते हैं। प्राणमय शरीरके इन्द्रियगोलक सूक्ष्म होते हैं और सूक्ष्मतर इन्द्रियार्थसन्निकर्षमें समर्थ होते हैं। स्थूल द्रव्य जिस प्रकार स्थूल इन्द्रियोंको सत्य भासते हैं, उसी प्रकार सूक्ष्म द्रव्य सूक्ष्म इन्द्रियोंको सत्य प्रतीत होते हैं। प्राणमय शरीरके परमाणु संस्कारके द्वारा उत्तरोत्तर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम हो सकते हैं और तब प्राणशक्तिकी गति और ज्ञानशक्ति भी उसी क्रमसे बढ़ती है।

२६. ग्रीस देशके तत्वदर्शी पिथागोरसने आजसे २५०० वर्ष पहले यह सिद्धान्त सामने रखा था कि सब सृष्ट पदार्थोंमें तीन ही तत्त्व हैं—द्रव्य, गति और संख्या। आश्चर्य यह है कि आधुनिक पाश्चात्त्य विज्ञानका सिद्धान्त इससे मेल खाता जा रहा है। पिथागोरसका 'द्रव्य' वही है जो पाश्चात्त्य वैज्ञानिकोंका विश्वव्यापी त्वाष्ट्र (Universal Ether) अथवा प्राच्य शास्त्रकारोंका आकाशतत्त्व है। पिथागोरसका 'गति' तत्त्व आधुनिक विज्ञानकी विद्युत् है और 'संख्या' आधुनिक विज्ञानका अणु और अणुके अंदर गतिमान् ऋणविद्युत्कण (Electrons) है। प्राणमय शरीर (Astralbody) के सम्बन्धमें डा० लिण्डार्सकी यही कल्पना है। इस विषयमें पाश्चात्त्य वैज्ञानिकोंका ज्ञान अभी बहुत अधूरा है। फिर भी उनका यह विश्वास है कि प्राणशरीरका ठीक पता शीघ्र ही चल जायगा और वह चलेगा रसायनशालाकी मेजपर ही।

२७. कुछ वर्ष पूर्व पैरिसमें सार्वराष्ट्रिक परलोक-विद्याविशारदोंकी एक सभा हुई थी। उस समय विनोदसे यह बात कही गयी थी कि एक मक्खीके पंखके बराबर प्राणमय शरीरका वजन हो सकता है। एंड्रू जैकसनका यह कहना है कि प्राणमय शरीरका तौल एक औंस यानी ढाई तोला हो सकता है। बहुतोंका यह भी कहना है कि इसका तौल कुछ हो ही नहीं सकता। पर प्राण जब एक द्रव्य है, तब उसका वजन तो होना ही चाहिये। बहुतेरोंका यह मत है कि वियत् शरीर (Ethereal body) और वियत् अर्थात् आकाश एक
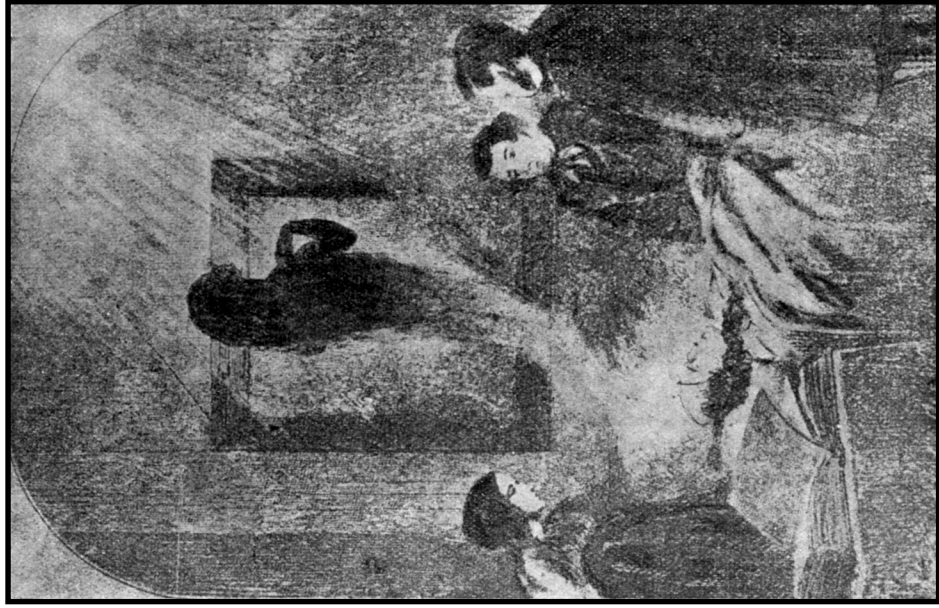
चित्र नं० ३—महाप्रयाणके समय दीखनेवाला प्राणमय शरीर।

[देखिये पृष्ठ ४३०]

चित्र नं०४—चीनदेशके साधु और उनका प्राणमय शरीर।

[देखिये पृष्ठ ४३३]

पंजीकृत तत्त्व है, इसलिये प्राणमय शरीरके साथ उसका वजन जरूर हो सकता है।

२८. हेगके डा० माल्थ और जेल्ट, इन दो व्यक्तियोंने परलोकगत जीवोंके साथ वार्तालाप करनेके लिये डायना मिस्टोग्राफ नामका एक यन्त्र आविष्कृत किया और इसकी मददसे बिना किसी मीडियमके परलोकगत जीवोंके सन्देश पाये। इस यन्त्रके छोरपर, एक अक्षर-लम्बक लगा रहता है, जिसके स्पर्श होनेके साथ ही एक बड़े पतले कागजपर टाइपराइटरकी तरह अक्षर उठते जाते हैं। एक बारके प्रयोगमें तो एक सम्पूर्ण भाषण ही इस तरह लिख गया। बात यह हुई कि अत्यन्त सूक्ष्म स्पर्शसे उस लम्बकपर आघात हुआ और इस आघातके होनेके लिये आघात कर सकनेयोग्य सूक्ष्म परमाणुओंका आकाश-परमाणु-संघटित प्राणमय मानव-शरीर बना हुआ है, यह बात ध्यानमें आयी। इसी प्रकारके प्रयोगोंका वर्णन मि० कारिंग्टनने अपने 'अर्वाचीन मनोवैज्ञानिक दृश्य' नामक ग्रन्थमें किया है। उन्होंने लिखा है कि हमने अपनी प्रयोगशालामें यह सिद्ध किया है कि आकाश-परमाणु-संघटित प्राणमय शरीर-होता है। उन्होंने प्रयोग करके देखा है कि शरीर आकुंचन-प्रसरणशील है और यह आकुंचन-प्रसरण मनुष्यकी इच्छाशक्तिपर निर्भर है। मनुष्यकी इच्छाशक्ति इस शरीरपर काम करती है अर्थात् शरीर गुरुत्वाकर्षणक्षम है। एक शक्ति ऐसी है, जिससे शरीरके परमाणु एक जगह इकट्ठे होते हैं। प्राणमय शरीरके अणु बहुत ही सूक्ष्म होते हैं। बाहरके वातावरणमें अणुओंकी जितनी घनता होती है, उतनी घनता प्राणमय शरीरके अणुओंमें होती है। बाहरके वातावरणका दबाव बढ़नेसे शरीरके अणुओंका भी दबाव उसी हिसाबसे बढ़ता है। ऐसे इस प्राणमय शरीरका वजन ढाई औंस यानी पाँच तोला होता है। प्राणमय शरीरके अणुओंका दृश्य साथ दिये हुए चित्रमें दिखाया गया है (चित्र नं० २ देखिये) डा० माल्थ और जेल्टके मतानुसार तथा सूक्ष्म दृष्टि रखनेवाले लोगोंकी सूक्ष्म दृष्टिके द्वारा देखे हुए दृश्यके अनुसार यह चित्र चित्रित किया गया है।

२९. हैवेरहिलमामके डा० डकन मैकडूगलने मास नामक स्थानमें एक ऐसा प्रयोग किया कि क्षय-रोगसे मरनेवाले एक मनुष्यका, मरनेसे पहले, उन्होंने वजन कर लिया। रोगीकी चारपाई एक अति सूक्ष्म भारदर्शक काँटेपर रखी गयी और वजन किया गया। वजनका काँटा ठीक लगाकर रखा गया । मृत्यु होनेके साथ ही काँटा पीछे सरका। यह देखा गया कि मृत्यु होनेके साथ उस शरीरका ढाई औंस या पाँच तोला वजन तुरंत घट गया। डच वैज्ञानिकोंने भी प्रयोग करके इसको प्रत्यक्ष किया है।

३०.मनुष्यके महाप्रयाणकालमें उसका वियत्-शरीरसहित प्राणमय शरीर स्थूलशरीरसे बाहर जाता हुआ कैसा देख पड़ता है (चित्र नं० ३ देखिये)। यह स्पष्ट ही देख पड़ता है कि अन्नमय शरीर और प्राण-प्रयाणकालीन प्राणमय शरीर, दोनों बिलकुल एक-से ही होते हैं। बुद्धदेवके मतसे प्राणमय शरीर अणुपरिमाण हो सकता है; पर इस चित्रसे उनका मत ठीक नही था, यही कहना पड़ता है। ऑलिवर क्रामवेलको ७ वर्षके लिये राज्याधिकार देनेवाले बिशपका (ऑकल्ट रिव्यू एप्रिल १९३६) अथवा हैम्लेटको उसके पिताका जो प्राणमय शरीर देख पड़ा और ऐसे-ही-ऐसे जो अन्य अनेक उदाहरण हैं, उनसे यही सिद्ध होता है कि स्थूल शरीरके छूटनेपर मनुष्य स्थूलशरीरके ही आकारवाले प्राणमय शरीरमें स्थित रहता है और अन्नमय शरीरवालोंके सामने प्रकट होनेके लिये वियत्तत्वके परमाणु संग्रह कर वह अपनी सत्ता प्रकट कर सकता है। प्राणमय शरीर और वियत्शरीरको दृश्य बनानेके लिये प्राणमय शरीरके परमाणुओंका वेग अपनी मन:शक्तिसे कम किया जा सकता है और इस क्रियासे वह स्थूलशरीर-धारियोंको दिखायी दे सकता है।

३१. चीन और मिश्र देशोंमें मृत मनुष्यके स्थूल शरीरको कुछ रासायनिक क्रियाओंके द्वारा और कई प्रकारके लेप लगाकर शरीरके ही आकारके संदूक में सम्हाल कर रखते हैं। वह परलोकगत जीव, जिसका वह शरीर होता है,उसे देखनेके लिये लौट आया करता है। वह उसे देखना चाहता है और इसी पार्थिवबन्धनसे बँधकर कई परलोकगत जीव इस प्रकार लौट आते हैं। शरीरको सम्हालकर रखनेसे—चाहे वह किसी संदूकमें रखा हो या किसी कब्रमें दफन हो—उस शरीरकी आशासे परलोकगत जीव लौटा करते हैं, इसमें सन्देह नहीं। कर्णप्रयागमें स्वामी भास्करानन्द जब समाधि ले चुके उसके बाद उनकी समाधिका बड़े ठाठसे जब पूजन-अर्चन हो रहा था, तब स्वामीजी कर्ण प्रयागसे प्राणमय शरीरसे कोल्हापुर लौट आये, यह तो लेखकने स्वयं देखा है।

३२. चीन देशमें 'ममी (रासायनिक क्रियासे

सम्हालकर रखे हुए मृत शरीर) को उस 'ममी' देहका परलोकगत स्वामी जीव किस प्रकार देखने आया करता है, इसका चित्र इस लेखके साथ दिया है (चित्र न० १ देखिये।)। चीन देशमें ममीको इस प्रकार देखनेके लिये आनेवाले दृश्य प्राणमय शरीरवाले जीवको 'का' कहते हैं।

३३. चीन देशके 'लामा' साधु इन परलोकगत जीवोंका इस तरह पार्थिव आशासे बँधकर लौटना रोकनेके लिये तथा उनके प्रकाशमार्गसे अर्थात् देवयानमार्गसे ऊपरकी ओर जानेके लिये एक क्रिया किया करते हैं। China's Book of the Dead (चीनके मृत मनुष्योंका ग्रन्थ) नामक पुस्तकमें वह प्रक्रिया दी है। वह यही है कि महाप्रयाणके समय उस मनुष्यके कानोंके पीछेकी दोनों प्राणवाहिनी नाडियोंको (श्वास-प्रश्वास-नाडियोंको नहीं) लामा लोग इस तरह दबाकर पकड़ रखते हैं कि उसके प्रभावसे वह जीव महाप्रयाणके अन्तिम क्षणमें धूममार्गसे हटकर प्रकाशमार्गसे चला जाता है। यह लेखक कई लामाओंसे मिला, पर इस क्रियाको किये हुआ उनमें कोई भी न था।

३४. श्रीमद्भगवद्गीताके '**वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति**······' इत्यादि श्लोकके अर्थके विषयमें बहुत भ्रम फैला हुआ है। लोग यही समझते हैं कि महाप्रयाणके बाद मनुष्य तुरंत ही दूसरी योनिमें चला जाता है। उसे अपने कर्मके अनुसार दूसरा जन्म प्राप्त होता है और पूर्वजन्ममें जो कुछ अनुभव हुआ, उसी अनुभवको बढ़ाना उसके दूसरे जन्मका हेतु होता है। परन्तु यह बात पशुवत् इन्द्रियलोलुप जीवोंके विषयमें तो नहीं कही जा सकती। इनके जो जन्म होते हैं, वे उन्हीं पहलेके ही इन्द्रियविशिष्ट सुखोंको भोगनेके लिये होते हैं। मृत्युके पश्चात् जीव किस स्थितिमें होता है, इस विषयके अनेकानेक वर्णन पाश्चात्त्य परलोक-विद्याविशारदोंने अपने ग्रन्थोंमें किये हैं। गीताके उस श्लोकका आशय यह है कि जीवको इस जगत्में इस जगत्के लिये व्यवहारोपयोगी जैसा स्थूलशरीर प्राप्त है, वैसा ही उसी आकारका वियत्-शरीर भी है—जिसके सात कोश हैं। मनुष्य प्रयाणकालमें स्थूलशरीर और वियत्-शरीरके सात कोशोंमेंसे तीन कोश, सब मिलाकर चार शरीर यहाँ छोड़ जाता है। तथापि वियत्-शरीरके चार उपशरीर तथा प्राणमय शरीरकी सहायतासे वह जीव अन्तरालके पितृलोकमें जा रहता है। कुछ काल पश्चात्, वियत्-शरीरके चार उपशरीर नष्ट हो जाते हैं, तब वह प्राणमय कोश (Astral body) में जाता है और अपने कर्मानुरूप उच्चसे उच्चतर महर्लोकादि लोकोंमें रहकर अपनी उन्नति कर सकता है।

३५. प्राणमय शरीरमें रहते हुए मनुष्य आगे अनुभव प्राप्त करनेके लिये भूलोकमें आनेकी इच्छा करता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अपना स्थूलशरीर यदि किसी अपघातसे नष्ट हुआ हो तो उसे किसी ऐसे दूसरे शरीरमें, जिसका शरीरी उसे अभी-अभी छोड़ गया हो, प्रवेश करना पड़ता है।

३६. आजसे लगभग ४० वर्ष पूर्व एक ऐसी स्त्रीको देखा था जो मराठी भाषा लिख-पढ़ सकती थी। उसके पति ग्रैजुएट थे। उस स्त्रीके सोलहवें वर्षमें ऐसी घटना हुई कि उसके शरीरमें एक दूसरी ही स्त्रीके जीवका प्रवेश हुआ। यह दूसरी स्त्री संस्कृत और अंग्रेजी भाषाओंको खूब जानती थी। उस स्त्रीके शरीरमें इसका प्रवेश सन्ध्याके ६ बजेसे भोर ६ बजेतक रहा करता था। इस अवस्थामें वह अपने पतिसे अंग्रेजी और संस्कृतमें बातचीत करती और न्याय-शास्त्रके बड़े कठिन परिष्कार भी कर दिया करती थी। इस प्रकार इसमें उस 'दूसरी स्त्रीका जो प्रवेश हुआ करता था, वह कुछ विशेष अनुभवोंको प्राप्त करनेके लिये ही हुआ करता होगा।'

३७. पूनेमें स्वर्गीय गोंदवलेकर महाराजके शिष्य श्रीहरिभक्तिपरायण भाऊसाहब केतकर रहा करते हैं। उनकी देहमें श्रीगोंदवलेकर महाराज आकर रहते और बातचीत करते हैं। सातारामें श्रीमुलेजी महाराज बड़े अच्छे सत्पुरुष हैं, उनकी देहमें भी इसी प्रकारसे महान् सिद्ध आकर बातें करते हैं। सावंतवाडीमें १२ वर्ष वयस्के एक पुरुष सीताराम महाराजके नामसे प्रसिद्ध थे। उनके शरीरमें उनकी वयस्के १६ वें वर्षतक एक संत आकर रहा करते थे। उस समय उनके मुखसे श्रीतुकाराम महाराजकी-सी ही 'अभंग' वाणी निकला करती थी।

३८. हाला और मितगोल दो बालिकाएँ थीं। दोनोंमें परस्पर बड़ा स्नेह था। हाला एक किसानकी लड़की थी और बड़ी सुन्दरी थी। मितगोल किसी कालेजके प्रिंसिपलकी लड़की थी और पिताकी देखभालमें रहकर विदुषी हो गयी थी। एक दिन सन्ध्यासमय दोनों लड़कियाँ गाने-बजानेके किसी जलसेमें गयीं। लौटते

हुए मोटर-दुर्घटना हुई और दोनों गतप्राण हुईं। हालाके शरीरमें कोई चोट नहीं थी, पर मितगोलका शरीर जखमोंसे छिन्न-भिन्न हो गया था। आश्चर्यकी घटना यह हुई कि किसीने (किसी अदृश्य शक्तिने) मितगोल-के प्राणमय शरीरको पकड़कर हालाके शरीरमें डाल दिया, हाला जी उठी। परन्तु हालाका यह केवल स्थूलशरीर था, प्राणात्मा तो मितगोलका था।

३९. दोनों लड़कियोंके बाप उन्हें देखने आये। हालाके बापने हालाको जीता पाया और उसे हाला कहकर पुकारा। उसने कहा, 'मैं हाला नहीं हूँ, मितगोल हूँ।' मितगोलके पितासे उसने कहा, 'मैं मितगोल हूँ, हाला नहीं।' उसके सामने शीशा लाया गया, शीशेमें अपना मुँह देखकर वह अकचका गयी। तब मितगोलने अपने पितासे पूछा, 'यह क्या हुआ?' उन्होंने कुछ काल विचारमें डूबकर कहा, 'यह पुनर्जन्म है।' मितगोलने पूछा, 'यह कैसा पुनर्जन्म? मैं हालाके शरीरमें कैसे चली गयी?' उन्होने उत्तर दिया, 'यह तेरा नव-शरीरग्रहण (Re-embodiment) है।' इसके बाद एक दिन कालेजके अध्यापकों और विद्यार्थियोंके सामने मितगोलने 'स्पिनोजाका तत्त्वज्ञान' इस विषयपर व्याख्यान देकर यह सिद्ध किया कि 'मैं ही मितगोल हूँ'। तब सबको यह विश्वास हुआ कि यह शरीरान्तर हुआ है। अन्नमय शरीर तो हालाका ही था, पर उसको मितगोलके प्राणमय शरीरने अधिकृत कर लिया था। किसी अन्य शक्तिने यह काम किया। श्रीमदाद्य शंकराचार्यने तो स्वयं ही सुधन्वाके शरीरमें प्रवेश किया था। इस नवीन सुधन्वाके अगाध ज्ञानको देखकर उसके दरबारी चकित-विस्मित हुए थे। मितगोलका परकायप्रवेश पराश्रित था और श्रीमत् आचार्यपादका स्वाश्रित। परकाय-प्रवेशके सम्बन्धमें आगे और लिखना है।

४०. सन् १९१४—१८ के यूरोपीय महायुद्धमें डान और बाब नामके दो आदमी लड़ाईपर गये थे। ये दोनों एक-दूसरेके बड़े प्रेमी मित्र थे। लड़ाईमें इनके मारे जानेकी खबर भी छप चुकी थी। बाबके शरीरपर कोई जखम नहीं था, पर डानका छिन्न-विच्छिन्न हो गया था। किसी अदृश्य शक्तिने डानका प्राणात्मा बाबके शरीरमें डाल दिया और डान-बाब जी उठा। डान अपने माँ-बापसे मिलने गया, पर वे उसे कैसे पहचानते?

४१. डानकी माँने कहा, मेरा डान साँवला था और तुम तो गोरे हो' इत्यादि। पर जब डानने जीवनकी पिछली सब बातें बतायीं और उसके माँ-बापने देखा कि इसका स्वभाव, बोलनेका ढंग और रहन-सहन तो अपने डान-जैसा ही है, तब उन्हें निश्चय हुआ कि यह डान ही है।

४२. इन बातोंसे यह मालूम होता है कि मनुष्यका पुनर्जन्म उसके वशमें ही हो, यह बात नहीं है। अध्यात्मरामायणमें भगवदवतारोंको स्वाधीनसम्भव कहा है। संत-महात्मा भी अपनी इच्छासे जन्म लेते हैं। श्रीतुकाराम महाराज कहते हैं कि 'हम वैकुण्ठके रहनेवाले हैं; भगवान्ने सत्य-भावका कर्म करने भेज दिया, इसलिये चले आये।' इस प्रकार भगवदवतार और सत्पुरुषजन्म स्वाधीनसम्भव होते हैं।

४३. अन्य जीवोंके जन्म किस प्रकार होते हैं, वे स्वयं आते हैं, अथवा भेजे जाते हैं, उन्हें भेजनेवाली कौन-सी शक्ति या देव-देवी हैं—इसका अब किंचित् विचार करें।

४४. हमारे इस भूलोककी अपेक्षा सूक्ष्म और सूक्ष्मतर लोक भुवः और स्वः हैं। भुवर्लोकमें रहनेवाले जीवोंमें कामदेव, रूपदेव और अरूपदेव, ये तीन एक-से-एक ऊँची कोटिके देव हैं। कामदेव प्राणमय शरीरवाले हैं। मनोमय शरीरधारी देवोंतक इनकी गति होती है। रूपदेव मनोमय शरीरधारी होते हैं और अरूपदेव वासनामय शरीरधारी अर्थात् कारणदेहधारी होते हैं। अरूपदेव कभी-कभी मनोमय शरीर धारण करते हैं, प्राणमय शरीर सहसा नहीं धारण करते।

४५. अरूपदेवोंकी कोटिसे भी उच्च कोटिके देवोंकी और चार श्रेणियाँ हैं। ये श्रेष्ठ देव ग्रहमालाधिष्ठित देव हैं। उपर्युक्त तीन देवकोटियोंसे विशेष सम्बन्ध न रखनेवाले पर पृथ्वी, अप्, वायु और तेज—इन तत्त्वोंपर स्वामित्व रखनेवाले चार देवराज हैं। ये इन चार तत्त्वोंके साथ पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर—इन चार दिशाओंके भी राजा हैं। पुराणोंमें इनके धृतराष्ट्र, विरूपाक्ष, विरुद्धक और वैश्रवण नाम बताये हैं। इनके अधीन गन्धर्व, कुम्भक, नाग और यक्ष हैं—जो निम्नकोटिके देवदूत हैं। इन चार महाराजाओंके वर्ण यथाक्रम शुभ्र, नील, रक्त और हैम हैं। प्रत्येक धर्मग्रन्थमें किसी-न-किसी नामसे इन चार महाराजाओंका वर्णन अवश्य हुआ है।

४६. विधाताने इन महाराजाओंको पृथ्वीपर उत्पन्न

होनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका नियन्त्रण-कार्य सौंपा है। अर्थात् पृथ्वीपर रहनेवाले मनुष्योंकी उन्नतिके सूत्र इन्हींके हाथोंमें हैं। अखिल विश्वके जो कामदेव हैं, उन्हें लिपिका कहते हैं। प्राणमय शरीरवाले जीवके कर्मानुसार भुवर्लोकमें उसका अधिवासकाल जब समाप्त होता है, तब ये लिपिकादेव उसके कर्माकर्मका हिसाब देखते और उस जीवको भावी अनुभव-क्षेत्र दिलानेके लिये दूसरे जन्मके योग्य प्राणमय शरीर निर्माण करते हैं और पृथ्वी, अप्, वायु, तेज—इन चार तत्त्वोंके अधिपति देवराज लिपिकाके उद्देश्यानुसार उस जीवका अन्नमय शरीर गढ़ते हैं। मनुष्यको इच्छा-स्वातन्त्र्य दिया गया है और तदनुरूप कर्म-स्वातन्त्र्य भी। इसलिये भूलोकमें आकर मनुष्य अपनी इच्छाके अनुसार सदसत् कर्म करता है, फिर उन्हीं कर्मोंके अनुसार उसका भावी जन्म निर्धारित होता है।

४७. उपर्युक्त विवरणसे यह मालूम हो जाता है कि किस शक्तिने स्तम्भ ३८ से ४१ तकमें वर्णित मितगोल और डानको दूसरे जीवके शरीरमें डाला। प्राण और प्राणमय शरीरका यहाँतक वर्णन हुआ। अब यह देखें कि अन्नमय कोशसे प्राणमय कोशका उद्गमन क्या है?

४८. सिद्ध पुरुषोंके चरित्रोंसे यह पता लगता है कि कितने ही सिद्ध पुरुषोंने आपद्ग्रस्त भक्तोंके संकट-निवारणार्थ योगकी प्रक्रियासे अन्नमय शरीरसे निकलकर प्राणमय शरीरसे दूर देशोंमें जाकर उन्हें बचाया है। आज भी चीन देशके लामाओंमें यह शक्ति है और उसके अनुभवी लोगोंने यह बात लिख रखी है कि ये लोग प्राणायामकी सहायतासे अन्नमय कोशसे प्राणमय कोशको निकाल लेनेकी क्रिया सिद्ध कर लेते हैं।

४९. मनमें अनेक प्रकार की वृत्तियाँ उठा करती हैं, उनके अनुसार स्थूलशरीरसे प्रत्यक्ष क्रियाके होनेमें प्राणमय शरीरकी क्रियाकी रोक या तो मन:संयमसे होती है या वायु-संयमसे। मन:संयमसे किया जानेवाला चित्तवृत्तियों-का निरोध ही वास्तविक प्राणायाम है और यही श्रेष्ठ कोटिका प्राणायाम है। यह सबसे भले ही न सधता हो, पर इससे शरीरमें कोई बिगाड़ नहीं होता। वायु-संयमनमें शरीरकी बड़ी सम्हाल रखनी पड़ती है और गुरुके समीप रहकर ही इसका अभ्यास करना होता है। इस लेखमें सूचित प्राणायाम मन:संयमसे ही करना चाहिये, यही इस लेखकका मत है। उससे अन्नमय शरीरसे प्राणमय शरीरको निकाल लेनेका कौशल प्राप्त होता है।

५०. हिन्दुस्तानमें पहाड़ोंके अंदर खोदकर बनी हुई कितनी ही गुफाएँ हैं। उनमें ५०० वर्ष पहलेके खुदे हुए चित्र भी हैं। परन्तु इन चित्रोंमें अन्नमय कोशसे प्राणमय कोशके बाहर निकालनेका दृश्य दिखानेवाला कोई चित्र नहीं है। पेरूल, जलगाँव, साँची आदि स्थानोंके समीपकी गुफाओंको लेखकने स्वयं देखा है। अस्तु। बहुत प्राचीन कालसे चीन देशके धर्मगुरु लामाओंमें योगविषयक सब प्रकारके शास्त्रोंका अभ्यास हुआ करता था और आज भी तिब्बतके लामाओंमें कोई-कोई लामा गुरु हठयोगमें बड़े निपुण होते हैं। इन लामाओंके आश्रमों और बौद्ध बिहारोंमें उनके गुरुओंके चित्र होते हैं। इन चित्रोंमेंसे कुछ अमेरिकन और यूरोपियन यात्रियोंको प्राप्त हुए हैं। अमेरिकाके प्रोफेसर निकोलस रोरी लासामें २० वर्षतक रहे। वे स्वयं बौद्ध हो गये। ये अपने साथ अमेरिका जो चित्र ले गये, उनमें एक चित्र अन्नमय शरीरसे प्राणमय शरीरके बाहर निकलनेका था, यह बात उन्होंने अपनी 'हार्ट ऑव एशिया' नामकी पुस्तकमें लिख रखी है।

५१. सिलवानजे-मुलडोन और हेरेवार्ड फैरिंगटन नामके दो सज्जनोंने सन् १९२९ में 'प्राणमय शरीरका उत्क्षेप' (The projection of astral body) नामककी पुस्तक लिखी। उसे लंदनके मेसर्स राइडर ऐंड को० ने प्रकाशित किया है। इस लेखमें जो चित्र दिये गये हैं, वे सब उसी पुस्तकमें प्रकाशित चित्रोंकी नकलें हैं। पुस्तकप्रकाशककी आज्ञासे ही वे इस लेखमें छापी गयी हैं। उनकी इस उदारताके लिये लेखक उनका कृतज्ञ है।

५२. स्तम्भ ५० में वर्णित चीनी लामाका चित्र स्तम्भ ५१ में वर्णित प्रकाशककी पुस्तकसे लिया गया है (चित्र नं० ४ देखिये) लामा गुरुके इस चित्रमें शिराओंके मध्यभाग अर्थात् ब्रह्मरन्ध्रसे एक जीवन-तन्तु (सिल्वर कॉर्ड) निकला है और ऊपर उसके छोरसे उन्हींका फोटो निकला हुआ देख पड़ता है। इस प्रकारसे प्राणमय शरीरका उत्क्षेप जाग्रत् अवस्थामें किया जा सकता है। पर उत्क्षेप होनेपर स्थूलशरीर तना बैठा नहीं रह सकता। चित्रमें स्थूल शरीर जो तना बैठा दिखाया गया है, वह भूल है। तथापि प्राणशरीरके उत्क्षेपका यह अच्छा निदर्शन है।

५३. फ्रांसके मोशिये डुरावेलने भी 'प्राणमय शरीरका उत्क्षेप' इसी नामसे ऐसा ही एक ग्रन्थ लिखा है। उसमें प्राणशरीरके उत्क्षेपके चित्र दिये हैं। इसी पुस्तकसे मि०

मुलडोनने अपनी पुस्तकमें उपर्युक्त चित्र लिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने किये हुए कई प्रयोग सचित्र प्रकाशित किये हैं। प्राणशरीर जब स्थूल-शरीरसे बाहर निकलता है, तब जैसा देख पड़ता है उसका चित्र दिया है (चित्र क्रमांक ५ देखिये) यह चित्र मि० मुलडोनने मोशिये डुरावेलकी पुस्तकसे लिया है।

५४. स्तम्भ २८ में प्राणमय शरीरके अणुओंका चित्र है। इसके बादकी अवस्था अन्तरालमें प्राणमय शरीरका देख पड़ना है। प्राणमय शरीरकी अणुमयताका यह दृश्य इस चित्र (चित्र नं० ५ देखिये) में देख पड़ता है। पाठकोंमें जो लोग ज्ञानमार्गी हों अर्थात् पंचीकरणका अभ्यास करके जो कुछ आगे बढ़े हों उन्हे लिंग अथवा सूक्ष्म शरीर, भोगायतन प्राणमय शरीर अथवा निर्माण-कायका औपपत्तिक ज्ञान तो अवश्य होगा ही। लेखकको अबतक ऐसे सौ-दो सौ मनुष्योंसे मिलनेका अवसर हुआ है। ज्ञानमार्गकी सप्तभूमिकाओंका विवेचन भी कई बार इन ज्ञानमार्गियोंसे सुना है। परन्तु क्रियायोगके द्वारा औपपत्तिक ज्ञानको प्रत्यक्ष अनुभव करने या करा देनेवाले बहुत ही कम व्यक्ति मिले। हठयोगी और राजयोगी सिद्ध पुरुषोंके सम्बन्धमें ऐसी बातें सुनी जाती हैं कि अमुक सिद्धने एक ही समयमें दो जगह दर्शन दिये। परन्तु उनके शिष्योंमें कोई ऐसे साधक नहीं मिलते, जो इसकी प्रक्रिया जानते हों या इस शक्तिको पानेका जिन्होंने यत्न किया हो। साम्प्रदायिक शिष्योंकी मनोवृत्ति ही कुछ ऐसी देख पड़ती है कि वे अपने गुरुको इतनी बड़ी पदवीको प्राप्त समझते हैं कि उनसे यह कहना कि हमें अमुक क्रिया सिखाइये, उन्हें एक बड़ा अपराध-सा मालूम होता है, छोटे मुँह बड़ी बात मालूम होती है। अस्तु। भविष्यमें ऐसे सिद्ध पुरुष होंगे, जो इन क्रियाओंका अपने शिष्योंको अनुभव करा देंगे और उनके मृत्युकालीन कष्ट, भय और संशय दूर कर देंगे।

५५. इस विषयमें और भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है। परन्तु जो लोग इस विषयको विशेषरूपसे जानना चाहते हों, उनके लिये मि० मुलडोनद्वारा लिखित 'प्राणमय शरीरका उद्गमन' ग्रन्थका निर्देश ही यहाँ कर दिया जाता है। (Mr. Muldone's Projection of Astral Body. Publishers: Messrs. Rider and Co., Paternaster Row, London E.C.) इस ग्रन्थमें दिये हुए प्राणशरीरोद्गमनके प्रयोग गुरुसन्निधिके बिना भी किया जा सकते हैं। इसके लिये कुछ आत्मसंयम आवश्यक होता है, प्रयोग करनेमें समय भी बहुत लगाना पड़ता है और इन प्रयोगोंको करना ही अपना खास उद्योग बना लेना पड़ता है। आजीविकाके निमित्त जिनके पीछे बहुत-सी उपाधियाँ लगी हुई हैं, वे इन प्रयोगोंको नहीं कर सकते। कम-से-कम दो महीने लगातार किसी एकान्त स्थानमें रहना होगा, आहार-बिहार परिमित रखना होगा। ऐसा करनेसे मि० मुलडोनको जो अनुभव प्राप्त हुए, वे चाहे जिस अभ्यासीके लिये करतलामलकवत् हो जायँगे। इस लेखके लेखकने ये तथा ऐसे ही अन्य प्रयोग करके देख लिये हैं।

५६. प्राच्य पद्धतिसे प्राणमय शरीरके उद्गमनका अभ्यास गुरुके समीप ही किया जा सकता है। पातजंल-योग-सूत्रमें इसके यौगिक उपाय बताये हैं। मन्त्र, यन्त्र और तन्त्रके ग्रन्थोंमें भी प्राणमय शरीरके उद्गमन अर्थात् परकायप्रवेशके साधन मिलते हैं। शौनक ऋषिका ऋग्विधान (२।२।१; ७।७।१)-सुषुमादि सप्तसूक्तों तथा निवर्त्तध्वम्'''''से शुरू होनेवाले सात सूक्तोंके पाठकी बात कहता है—

सुषुमादिसप्तसूक्तानि जपेच्चेद्विष्णुमन्दिरे।
मार्गशीर्षेऽयुतं धीमान् परकायं प्रवेशयेत्॥
निवर्त्तध्वं जपेत् सूक्तं परकायाच्च निर्गतः।
कार्तिक्यां त्र्ययुतं धीमान् कीर्तिमान् विष्णुमन्दिरे॥

शौनक ऋषिके इस प्रयोगमें मार्गशीर्ष मासमें परकाय प्रवेश करनेपर इसके ग्यारह महीने बाद परकाय-निर्गमनका विधान है। यह उन्हींका स्वानुभूत प्रयोग हो सकता है।

५७. श्रीमदाद्य शंकराचार्यने लिखा है कि श्रीपतजंलि महामुनिके **'यथाभिमतध्यानाद्वा'** इस सूत्रके अनुसार ध्यान करनेसे परकायप्रवेश सिद्ध होता है। पाश्चात्त्य क्रियायोगमें भी भ्रूमध्यमें 'मैं इस शरीरके बाहर जा रहा हूँ' यह ध्यान ही करनेको कहा गया है। श्रीमत् शंकराचार्यने इस विद्याके साधनके लिये एक यन्त्र भी बताया है, जिसके साथ 'सौन्दर्य-लहरी' के एक श्लोकका पाठ भी करना होता है। वह श्लोक, वह यन्त्र और मन्त्र प्रक्रियासहित नीचे दिया जाता है।

५८. सौन्दर्यलहरी, श्लोक ८७ —

हिमानीहन्तव्यं हिमगिरिनिवासैकचतुरौ
निशायां निद्राणं निशि चरमभागे च विशदौ।
वरं लक्ष्मीपात्रं श्रियमतिसृजन्तौ समयिनां
सरोज त्वत्पादौ जननि जयतश्चित्रमिह किम्॥*

* इस श्लोककी क्रम-संख्या और पाठ वाणीविलास प्रेससे प्रकाशित पुस्तकके अनुसार है।

	जी		
फल्	आं डिं क्रों		वि
हूं		नी	

यह यन्त्र सोनेके पन्नेपर लिखे और इक्कीस दिनतक इसे मधु, चित्रान्न और पायसका भोग लगावे। उपर्युक्त श्लोक नित्य सहस्र बार जपे और इस यन्त्रको सहस्र बार हलदी बिछे हुए किसी पीढ़ेपर लिखे। इससे परकायप्रवेशकी विद्या सिद्ध होती है।

५९. हठयोगकी खेचरी-मुद्रासे भी परकायप्रवेशका सिद्ध होना हठयोगके ग्रन्थोंमें लिखा है। परन्तु शारीरिक उपायोंसे खेचरी सिद्ध करनेके पूर्व खेचरीकी सिद्धिके लिये योगकुण्डल्युपनिषद्ने नीचे लिखा मन्त्र और यन्त्र बताया है—

मन्त्र— ॐ ह्रीं रं सं मं फं लं अं स् ख् फ्रें ग् स्म् लों।

यन्त्र—

ॐ

	गं	
लं / कं	ह्रीं	सं / वं

क्रों (बायें), खं (नीचे)
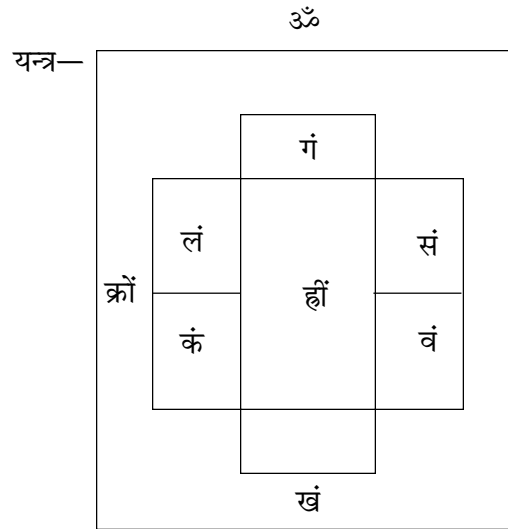
मेलनमन्त्र

सोमांशनवकं वर्णं प्रतिलोमेन चोद्धरेत्।
तस्मात् त्र्यंशकमाख्यातमक्षरं चन्द्ररूपकम्॥
तस्मादप्यष्टमं वर्णं विलोमेन परं मुने।
तथा तत्परमं विद्धि तदादिरपि पंचमी॥
इन्दोश्च बहुभिन्ने च कूटोऽयं परिकीर्तितः।

....

तस्य श्रीखेचरीसिद्धिः स्वयमेव प्रवर्तते।

—योगकुण्डल्युपनिषद्

६०. **मेलनमन्त्रराजमुद्धरति--खेचरेति। खवाचकतया चरतीति खेचरः हकारः, आवरूथमिति धारणाशक्तिरीकारः, रेति वह्निः, अम्बुमण्डलमिति बिन्दुः। एतत्सर्वं मिलित्वा भूषितं ह्रीमिति खेचरीबीजमाख्यातम्। तेनैव लम्बिकायोगः प्रसिद्ध्यति। शिष्टबीजषट्कमप्यम्बुमण्डलभूषितमिति ज्ञेयम्। सोमांशः सकारः चन्द्रबीजं तत्प्रतिलोमेन तन्नवकं वर्णमुद्धरेद् भमिति। तस्माद् भकारादनुलोमेन त्र्यंशकं चन्द्रबीजमाख्यातं समिति। तस्मात् सकाराद् विलोमेन अपरमष्टमं वर्णमुद्धरेद् ममिति। तथा मकाराद् विलोमेन अपरं पंचवर्णं पमिति विद्धि। पुनरिन्दोश्च बीजं समित्युद्धरेत्। बहुभिः ककारषकारबिन्दुभिः युक्तोऽयं कूटः क्षमिति। आहृत्य बीजानि सप्त—ह्रीं भं सं मं पं सं क्षं इति।**

६१. प्राच्य साधनक्रममें तत्त्वसाधन आवश्यक होता है। प्रातःकाल प्रथमतः आकाशतत्त्वके उदय होनेपर अभ्यासके द्वारा आकाशतत्त्वको बारह घंटे साधे रहना पड़ता है। इसका जब स्थायी भाव होता है, तब खेचरी मुद्रा सिद्ध करके बैठ सकते हैं। इस मुद्राका साधन करते हुए स्तम्भ ५७ और ५८ में दिये हुए मन्त्र और यन्त्रको साधना होता है। मन्त्रके विना भी खेचरी मुद्रा सिद्ध होती है। परन्तु किसी भी कार्यके सिद्ध होनेमें देवता-प्रसाद और देवता-साहाय्य आवश्यक होता है। खेचरी सिद्ध करनेके पूर्व उसी प्रकार देवता-प्रसाद प्राप्त होनेसे वह खेचरी फलवती और सुखदायिनी होती है। खेचरीका साधन बंबई स्वामी कुवलयानन्द अथवा स्वामी अभयानन्द या वीरभद्र, पोस्ट ऋषिकेशके स्वामी सत्यानन्दके पास जानेसे सुगम हो सकता है। स्तम्भ ५९ में कुण्डल्युपनिषद्का मन्त्रोद्धार— ह्रीं भं सं मं पं सं क्षं—दिया जा चुका है। स्तम्भ ५५ में लिखे अनुसार पाश्चात्त्य प्रक्रियासे प्राणमय शरीर अन्नमय शरीरके बाहर निकाल लिया जा सकता है और प्राणमय शरीरमें जागनेपर अन्नमय शरीरसे बाहर निकल आनेकी प्रतीति भी होती है।

६२. इस प्रकार अन्नमय शरीरसे प्राणमय शरीरको बाहर लिवा ला सकते हैं और जब यह प्रतीति होती है कि अन्नमय शरीरको छोड़नेपर हम हर तरहसे जागते हुए रहते है, तब एक प्रकारका विलक्षण आनन्द होता है। यह आनन्द अपने अमरत्वकी प्रतीतिका है। यह अमरत्व केवल औपपत्तिक नहीं, प्रत्यक्ष प्रयोगसिद्ध है। निरे औपपत्तिक ज्ञानसे जो समाधान हो सकता है, उससे हजार गुना अधिक समाधान प्रयोगसिद्धिसे होता है—यह तो हमलोग हर बातमें नित्य ही अनुभव करते हैं। इस अमृतत्वको लाभ करना ही मृत्युको जय करना है।
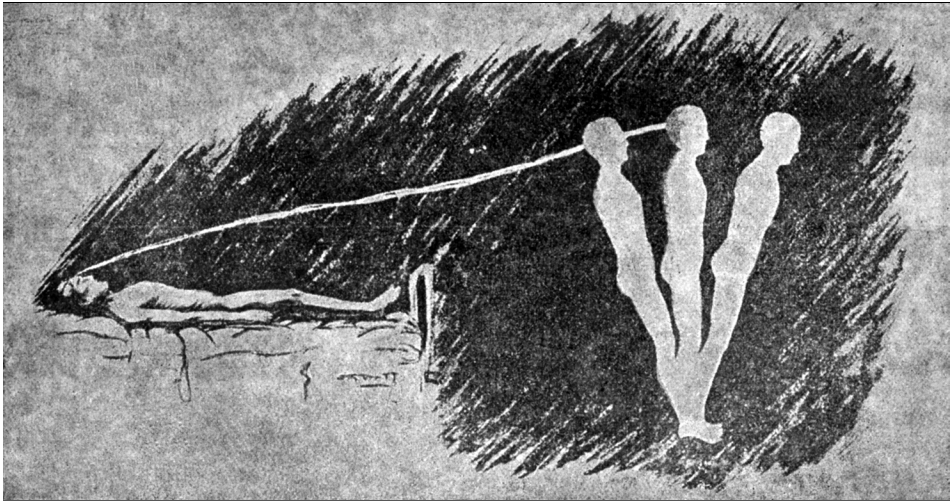
चित्र नं० ६—स्थूल शरीरसे बाहर निकले हुए प्राणमय शरीरकी स्थिति।

[देखिये पृष्ठ ४३७]

चित्र नं० ५—अन्तरालमें दीखनेवाला प्राणमय शरीरका आवरण।

[देखिये पृष्ठ ४३४]

मृत्युकी क्रिया केवल अन्नमय शरीरके साथ प्राणमय शरीरको बाँधनेवाले जीवनतन्तुका टूटकर अलग होना ही है। परन्तु अन्नमय शरीरमें रहते हुए ही जब हम इस जीवन-तन्तु और प्राणमय शरीरको अनुभव कर लेते हैं, तब उस जीवन-तन्तुके अन्नमय शरीरको छोड़ देनेपर भी साधकको मृत्युका भय नहीं होता।

६३. स्तम्भ २८ के साथ जो चित्र दिया है, उसके अनुसार उस अणुघटित प्राणमय शरीरको अपने स्थूलशरीर-के समीप लाकर उसका आकार अपने स्थूलशरीरमें देख पड़े—यह उसके बादकी अवस्था है। उस चित्रका दर्शन धूमकेतुका-सा है। हमारा जो स्वप्नशरीर है, वही हमारा प्राणमय शरीर है। जो लोग इसके अभ्यासी हैं, वे निद्रावश होनेके पूर्व अपने मनमें इसी निश्चयको जागता हुआ रखकर तब सोते हैं। स्वप्नमें अनेक बार आकाशमें उड़नेका अनुभव होता है। इसका मतलब यही है कि प्राणमय शरीर उस समय स्थूल-शरीरके बाहर निकलकर अन्तरिक्षमें तैरता रहता है। इसके बादकी अवस्था यह है कि स्थूलशरीर निद्रावस्थामें जहाँ जैसे पड़ा है, उसे वैसा ही देखते हुए उससे ४ इंचके फासलेपर उसी स्थूलशरीरकी प्रतिमूर्ति अभ्यासीको देख पड़ती है। इस प्रकार अभ्यासीका प्राणमय शरीर स्थूलशरीरसे दूर चला जाता है। इस क्रियाका छायाचित्र साथ दिये हुए चित्रकमांक ६ में देखिये।

६४. इस चित्रमें (चित्र नं० ६ देखिये) चारपाईपर पड़े हुए स्थूलशरीर और स्थूलशरीरके बाहर दीखनेवाले प्राणमय शरीर अथवा स्वप्नशरीरके आकारके बीच एक तन्तु जुड़ा हुआ देख पड़ता है। इसे ही जीवन-तन्तु (Silver cord या Astral cord) कहते हैं। इस प्रकार प्राणमय शरीर स्थूलशरीरसे १५ फीट दूर चला जाता है। चित्रमें जैसा दिखाया है वैसा ही यह तन्तु देख पड़ता है, पीछे वह सूक्ष्म होता जाता है। हमारे स्थूलशरीरमें जो प्राणनाडी है, उसीके साथ यह तन्तु जुड़ा हुआ रहता है। इस जीवन-तन्तुके घटक प्राण-परमाणु ही हुआ करते हैं। प्राणमय शरीर इस प्रकार सहस्त्रों मील दूर जा सकता है। श्रीमत् आद्य शंकराचार्यने इसी रीतिसे राजा सुधन्वाके मृत शरीरमें प्रवेश किया था और उसके पूर्व अपने स्थूलशरीरको सम्हाल रखनेके लिये अपने शिष्योंसे कह रखा था। राजा सुधन्वाके कुलगुरु और प्रधान सचिवको यह निश्चय हो गया था कि परकाय-प्रवेशकी विद्यासे राजाके शरीरमें प्रवेश करके कोई महापुरुष आये हैं। इसीलिये उन्होंने यह आज्ञा प्रचारित की कि जहाँ कहीं गिरि-कन्दराओं और गुहाओंमें जो कोई मृतवत् मानव-शरीर सुरक्षित हों, वे जला दिये जायँ। ऐसे सुरक्षित मृतवत् शरीरोंकी ढूँढ़-खोज करनेके लिये जासूस भी भेजे गये थे। हेतु यह था कि राजा सुधन्वाके शरीरमें आ बैठे हुए महापुरुषका स्थूलशरीर मिल जाय तो वह जला दिया जाय, जिसमें उस स्थूलशरीरसे जीवन-तन्तु टूट जाय और उन महापुरूषको राजाके शरीरमें रहना ही पड़े। मनुष्य जब इहलोकसे प्रयाण करता है, तब उसका यह जीवन-तन्तु टूट जाता है। इसे तोड़ना कभी-कभी इस स्थूलदेहधारी जीवनके हाथमें होता है और सब समय स्तम्भ ४३ में उक्त उन चार महाराजाओंके हाथमें होता है, जो जीवके नियत ऐहिक कर्मके समाप्त होते ही जीवन-तन्तुको तोड़ डालने अथवा जीवमें ही उसे तोड़ डालनेकी प्रबल इच्छा उत्पन्न करते हैं। यहाँतक प्राणमय शरीरके उद्गमनका प्रकार वर्णित हुआ; अब उसकी क्रिया क्या है? उसे देखें।

६५. प्राणमय शरीरके उद्गमनकी दो क्रियाएँ हैं—एक विज्ञात उद्गमनकी और दूसरी अज्ञात उद्गमनकी। अज्ञात उद्गमन निद्राकालमें होता है। अज्ञात उद्गमन मानवजातिकी निद्रावस्थाका एक आवश्यक कर्म है। यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि जाग्रत् अवस्थामें शरीरव्यापारके चलानेमें प्राणशक्तिका जो व्यय होता है, उसकी पूर्ति निद्राश्रित उद्गमनसे होती है।

६६. हेरवार्ड फैरिंगटन कहते हैं कि 'निद्राके विषयमें अबतक अनेकोंके अनेकों विचार प्रकट हुए हैं। कोई इसकी रासायनिक उपपत्ति बताते हैं अर्थात् यह बताते हैं कि जाग्रत् अवस्थामें शरीरके अंदर जो विषयुक्त रस उत्पन्न होते हैं, वे निद्रासे नष्ट हो जाते हैं। कुछ यह बतलाते हैं कि मनुष्यके मस्तिष्कमें होनेवाली रक्ताभिसरणकी एक विशिष्ट क्रिया है जिससे निद्रा आती है। कोई शरीरके कुछ विशिष्ट मांसपिण्डोंकी क्रियाको इसका कारण बतलाते हैं। कोई शरीरके स्नायुओंकी शिथिलतासे निद्राका लगना मानते हैं और कोई दृढ़तापूर्वक यह प्रतिपादन करते हैं कि बाह्य विषयोंसे इन्द्रियोंको उत्तेजित करनेवाली कोई चीज जब नहीं मिलती, तब ही निद्रा आ जाती है। इन बातोंसे निद्राके कारण का कोई पता नहीं चलता। मनुष्यके स्थूलशरीरमें एक प्राणमय शरीराभिमानी आत्मा है और स्थूलशरीरके

बाहर सर्वत्र अनन्त अमित प्राणशक्ति भरी हुई है। निद्राकालमें यह प्राणमय आत्मा स्थूलशरीरके बाहर निकलकर बाहरकी प्राणशक्तिसे अपनी आवश्यकताभर प्राणशक्ति बटोरकर फिर अन्नमय शरीरमें आ जाता है, इस बातको माने विना इस समस्याका कोई समाधान नहीं होता।'

६७. मि० वाल्टा कहते हैं कि मानव-शरीर वाष्पयन्त्रवत् नहीं, बल्कि विद्युद्-यन्त्रके समान है। अन्नरससे शरीरके सब व्यापार होते हैं, यह कहना सही नहीं है; बल्कि निद्राकालमें प्राणमय आत्मा जो शक्ति संचित कर रखता है, उसीसे शरीरके सब व्यापार होते हैं। अन्नरससे उसके जीर्ण स्नायुओंमें उत्साह लाया जा सकता है। यदि यह मानें कि अन्नरससे शरीरके व्यापार होते हैं तो निद्राकी फिर कोई आवश्यकता नहीं रहती, निद्राके बदले अन्नरस ही देनेसे निद्राका काम हो जाना चाहिये। पर ऐसा तो नहीं होता। मि० मुलडोनका यह मत है कि हमारा प्राणमय शरीर बाह्य प्राणशक्तिका संचय-स्थान है। प्राणमय शरीरको बाह्य प्राणशक्ति और स्थूल मानवशरीरके मज्जातन्तुजालके बीचकी लड़ी समझिये। स्थूलशरीरके निद्राकालमें यह प्राणमय शरीर बाह्य प्राणशक्तिका आकर्षण कर संग्रह करनेके लिये स्थूलशरीरके बाहर निकला करता है अर्थात् अन्नमय शरीरसे उद्‌गमन हुआ करता है। यही स्तम्भ ६१में कथित प्राणमय शरीरकी अज्ञात उद्‌गमनक्रिया है।

६८. विज्ञात उद्गमन (Conscious projection) दो प्रकारका है। एक है प्राच्य योगशास्त्रकी क्रियासे सिद्ध होनेवाला और दूसरा पाश्चात्त्य प्रयोगसे अर्थात् स्वप्नस्थिति-नियन्त्रणसे सिद्ध होनेवाला।

६९. '**बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः**' (पातंजल योगसूत्र तृ० पा० सूत्र ३८)। कर्मवशात् प्राप्त होनेवाले शरीरभोगोंका भोक्ता जो जीव है, उसे उस भोगसे जो अवस्था प्राप्त होती है, उसे बन्ध कहते हैं। जब सुख-दुःख, पाप-पुण्यादिके विषयमें साधकको कोई प्रतिकूल या अनुकूल वेदना नहीं होती अर्थात् इन द्वन्द्वोंको उसकी चित्तवृत्ति पार कर जाती है या यह कहिये कि उसका बन्धन बिलीन हो जाता है, तब वह साधक चित्तवहा नाडीमें प्रवेश करता है। यह चित्तवहा नाडी प्राणवहा नाडीकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म होती है। इसमें प्रवेश करनेपर साधकको अपने अंदरकी तथा दूसरोंके अंदरकी चित्तवहा नाडीके प्रचारका ज्ञान होता है और वह किसी चेतन-अचेतन प्राणीके शरीरमें प्रवेश कर सकता है। इस प्रकार दूसरेके शरीरमें जब चित्तवहा नाडीसे प्रवेश करता है, तब मधुमक्खियोंकी रानीके पीछे-पीछे जैसे अन्य मधुमक्खियाँ चलती हैं वैसे ही उस साधककी चित्तवहा नाडीके पीछे-पीछे उसकी अन्य इन्द्रियाँ भी उस शरीर में प्रवेश करती हैं। इस प्रकार वह साधक अपने प्राणमय शरीरसे दूसरेके स्थूलशरीरमें रहकर सब काम करता है। श्रीमदाचार्यप्रोक्त परकाय-प्रवेशयन्त्रविधि स्तम्भ ५५ में निर्दिष्ट है।

७०. प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति-ये पाँच वृत्तियाँ हैं। इनमें जो निद्रावृत्ति है, उसके निरोधसे परकायप्रवेशकी क्रिया सिद्ध होती है। इसलिये इसी वृत्तिका यहाँ विचार करें। पर इससे पहले स्मृतिवृत्तिका भी किंचित् विचार कर लेना आवश्यक है। स्मृतिवृत्तिके निरोधके लिये साधकको अपने मनोमय शरीरमें अन्तर्हित होना पड़ता है। मनोमय शरीरमें जानेके लिये चन्द्रनाडीका निरोध करना पड़ता है। चन्द्रनाडी वाम नासारन्ध्रसे बहनेवाले श्वासको कहते हैं, और वह ठीक है। परन्तु यहाँ चन्द्रनाडीका अभिप्राय उस चन्द्रनाडीसे नहीं है। यहाँ चन्द्रनाडी प्राण-तत्त्ववाहिनी नाडी है। ये नाडियाँ अनेक हैं और शरीरके आभ्यन्तर भागमें हैं। पाचक रसका उत्पन्न होना और बाहर निकलना, खाये हुए पदार्थोंमेंसे सार-भाग निकाल लेना, रक्ताभिसरणकी क्रियाका होना और श्वास-प्रश्वासका चलना—ये सब कार्य चन्द्रनाडियोंमें प्रवाहित होनेवाली प्राणशक्तिसे हुआ करते हैं। पहले तत्त्वाभ्यास करके, प्रातःकाल या सायंकाल चन्द्रस्वरको २ घंटे २४ मिनट स्थिर रखकर उस समय खेचरीमुद्रा सिद्ध करके उस समताको यदि स्थिर रखा जाय तो चन्द्रनाडीका निरोध होता है और उससे हृदय क्रिया बंद होती और नाडियोंमें होनेवाला रक्तप्रवाह बंद हो जाता है। उस समय प्राणमय शरीर अन्नमय शरीरमेंसे बहने लगता है, अर्थात् बाहर निकलकर स्वच्छन्दगामी होता है। ऐसे समय अन्नमय शरीर स्फटिक मणि-सा उज्ज्वल देख पड़ता है। उस समय प्रकाश-साक्षात्कार होता है। दूर-शब्द-श्रवण, दूरदर्शन आदि क्रियाएँ सिद्ध होती हैं। यही स्मृतिवृत्तिका निरोध है। अन्नमय शरीरमें लौट आते समय ऐसा प्रतीत होता है कि स्थूलशरीरमें मानो सहस्रों जलधाराएँ एक साथ प्रवाहित हो रही हों और इससे स्थूल-शरीरमें एक विलक्षण महान् आनन्द अनुभूत होता है।

७१. निद्रावृत्तिके निरोधके लिये वरणा नाडीका निरोध आवश्यक होता है। वरणा नाडी मनोमय शरीरमें नादबिन्दु-कला और आज्ञाचक्रतक फैली हुई है। चन्द्रनाडीकी अपेक्षा यह नाडी सूक्ष्म है और इसे मनोवहा नाडी कहते हैं। सुषुम्णा नाडीके कन्दमें अर्थात् सहस्रारके अंदर अतिशय आभ्यन्तरमें इस नाडीका होना अनुभूत होता है। चन्द्रनाडीके निरोधसे इसका निरोध होता है और इसके निरोधसे निद्रावृत्तिका निरोध होता है। वरणा नाडीके निरोधसे पूर्वजन्मस्मृति प्राप्त होती है। चन्द्रनाडीके निरोधसे प्राणमय शरीर अन्नमय शरीरके बाहर उससे पृथक् देख पड़ता है और वरणाके निरोधसे मनोमय शरीर प्राणमय शरीरके साथ अन्नमय शरीरके बाहर निकाल लिया जा सकता है। यही परकायप्रवेशके लिये उपयुक्त परिस्थिति है।

७२. पाश्चात्त्य लोगोंके प्राणमयशरीरोद्गमनकी क्रिया स्तम्भ ६८ में कहे अनुसार स्वप्नस्थितिनियन्त्रण है। हमलोगोंका निद्रावृत्तिनिरोध और उन लोगोंका स्वप्नस्थितिनियन्त्रण दोनों क्रियाएँ प्रायः एक ही हैं। साधकको चाहिये कि पहले स्वप्ननियन्त्रणका अभ्यास करे। स्वप्नका नियन्त्रण यही है कि आज रातको अमुक प्रकारका स्वप्न ही हम देखें, यह निश्चय करके सो जाय। इस प्रकार अभ्याससे जब स्वप्न-स्थितिका नियन्त्रण हो लेगा, तब ऐसी भावना करना आरम्भ करे कि आजकी स्वप्नस्थितिमें हमारा प्राणमय शरीर अन्नमय शरीरके बाहर अमुक स्थानमें जाय। ऐसी दृढ भावना करके सोनेका अभ्यास करे। इस अभ्याससे यह अनुभव होगा कि प्राणमय शरीर संकल्पके अनुसार तत्तत् स्थानमें पहुँचता है, अभ्यासी यह अनुभव दूसरोंको भी करा दे सकता है। प्रबल संकल्पबलसे स्थूल पदार्थ भी स्पर्शशक्तिसे हिलाये जा सकते हैं।

यहाँतक पाश्चात्योंके सिद्ध प्रयोगका वर्णन हुआ। इन प्रयोगोंको किये हुए व्यक्ति पाश्चात्योंमें अभी ५-६ से अधिक नही हैं। इनमें मि० मुलडोन, मि० आलिवर फास्क फ्रेंचमैन और मोशिये डुरावेलने इस विषयमें ग्रन्थ लिखे हैं। मि० मुलडोनकी पुस्तकमेंसे अन्नमय शरीरसे प्राणमय शरीरके उद्गमनकी विधिके सम्बन्धमें कुछ सूचनाएँ नीचे देते हैं।

७३. मत्स्य-मांस और उत्तेजक पदार्थ सेवन न करे। जिस दिन प्रयोग करना हो, उस दिन उपवास करना अच्छा है। कम-से-कम प्यास बनी रहे, उसे न बुझावे। हृदयक्रियाके बंद होनेकी बीमारी जिसे हो या जो जल्द घबरा जाता हो, उसे यह प्रयोग नहीं करना चाहिये। प्रयोग दिनमें न करे, प्रयोग करते समय दीपक भी न हो। चारपाईपर पीठके बल लेट जाय। दोनों आँखोंकी पुतलियोंको भ्रूमध्यकी ओर ले जाकर स्थिर करे और यह भावना करे कि हम बिन्दुके समीप हैं। अनन्तर यह भावना करे कि हमारा प्राणमय शरीर उसी बिन्दुसे बाहर निकल रहा है। इस क्रियासे आँखे दुखेंगी। पर है यह क्रिया बहुत ही कार्यक्षम। एक दूसरी क्रिया भी है। रातको जल्दी सो जाय और लगभग २ बजे रातमें उठे। ऐसी प्रबल इच्छा करे कि प्राणमय शरीरको बाहर ले जाना है। ऐसी भावना करे कि किसी हवाई जहाजमें बैठे या लिफ्टमें खड़े-खड़े ऊपर चले जा रहे हैं। इस भावनाके साथ सो जाय अथवा ऐसी भावना करे कि किसी सरोवरमें तैरते हुए या चक्राकार गतिसे ऊपरकी ओर जा रहे हैं, आगे-पीछे, अगल-बगल चलनेवाले वायुकी ओर हम देख रहे हैं, अथवा शंखाकार किसी महान् शंकुसे बाहर निकल रहे हैं। अथवा यह भावना करे कि अग्नि-ज्वाला सामने है और उसमें हम मिल गये हैं अथवा विमानमें बैठे ऊपर जा रहे हैं। प्रयोगवाले दिन पानी बिलकुल न पीये। जब न रहा जाय, तब नमक डालकर एक घूँट पानी पी ले, इससे प्यास बढ़ती जायगी। जलवाले घरमें लोटा या गिलास पानी भरकर रखे और उसपर दृष्टि गड़ाकर सो जाय और सोनेके कमरेसे वहाँतकका रास्ता ध्यानमें ले आवे। इससे नींदके लगते ही प्राणमय शरीर जलसे भरे उस गिलासके पास पहुँच जायगा। जिस दिन जहाँ इस प्रकार जानेकी इच्छा हो, उसीको दिनभर सोचता रहे और यह भी निश्चय कर ले कि वहाँ जाकर अमुक मनुष्यसे मिलना है। कुछ दिन पहलेसे ही समय और स्थान निश्चित करके उस दिन और समयकी प्रतीक्षा करता रहे। भावना दृढ़ होनेसे उस दिन उस समय उस स्थानमें उसके पास आ पहुँचे, यह उस व्यक्तिको अनुभव होगा।

७४. मृत्यु क्या चीज है? कोई महाबली मनुष्य, देव या दानव नहीं है, बल्कि एक अवस्थान्तरमात्र है। इस अवस्थान्तरका ज्ञान न होनेसे सब प्राणी ही पूर्वजन्मस्मृतिके कारण मृत्युको भीषण, महाभयावह मानते हैं। छोटा बच्चा नहीं जानता कि मृत्यु क्या है, पर उससे वह डरता जरूर है; क्योंकि पूर्वजन्ममें शरीर-वियोगके समय जो दुःख हुआ था, उसकी स्मृति किसी रूपमें उसमें छिपी हुई है।

'**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः**' इस वाक्यको जोर-जोरसे घोषनेपर भी अथवा '**मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्**' की खूब मीमांसा करनेपर भी मरणका समय तो भयप्रद ही मालूम होता है। कितने प्राणी सिंह या साँपके समीप आते ही बेहोश होकर गिर पड़ते या मर जाते हैं। श्रीयम (नियमन करनेवाले) राजा और उनके दूतोंकी एक कथा है। यमराजने दूतोंसे कहा, ४०० मनुष्य ले आओ। काम पूरा करके दूत लौटे, पर उनके साथ ८०० मनुष्य थे। इसपर यमराम बिगड़े। उन्होंने कहा—मैंने तो ४०० को लानेको कहा था, ये ८०० क्यों ले आये? दूतोंने कहा—हमलोग तो ४०० को ही ला रहे थे, पर बाकी भयसे आप ही मरे; इसलिये उन्हें भी ले आये। तात्पर्य, कभी-कभी केवल भयसे ही मनुष्य मर जाता है। इस लेखकको याद है कि एक बार एक घरमें साँप निकला, उसको देखते ही उस घरका एक मनुष्य तुरंत मर गया। भयसे शरीरकी सब क्रियाएँ बंद हो जाती हैं। मन दुर्बल होनेसे शारीरिक शक्ति भी क्षीण होती है।

७५. मनुष्य बराबर मरते जा रहे हैं, फिर भी मनुष्य अमर होने की इच्छा किया ही करता है और श्रीतुकाराम महाराज कहते हैं कि 'अमर होओ, अमर ही तो हो, सच-झूठ स्वयं देख लो।' तुकारामके कथनका मतलब यह है कि तुम सूक्ष्मदेहसे अमर हो; मरता केवल तुम्हारा स्थूलशरीर है, तुम नहीं मरते।

७६. सच पूछिये तो ऐसे उपदेशकी आवश्यकता है कि तुम अमर हो, तुम्हारा स्थूलशरीर तुम्हारे शरीर-परके वस्त्रके समान है, प्राणमय शरीरका यह स्थूलशरीर वस्त्र ही है। प्राणमय शरीरसे मनोमय शरीरमें पहुँचनेतक तुम अमर ही हो और आनन्दमय शरीरमें पहुँचनेपर तो तुम ब्रह्मस्वरूप ही हो।

७७. इस प्रकारसे जीवात्मा और परमात्माका एकत्वसम्पादन होता है। वेदान्तकी घोषणा भी तो यही है कि 'जीवात्मा परमात्मा एक ही है।' योगके क्रिया-कलापसे इस ऐक्यको प्राप्त करना मनुष्यका प्रथम कर्तव्य है। वेदान्तविचारसे शब्द-ज्ञान होगा, पर स्वानुभूत ज्ञानके लिये राजयोगका आश्रय करना ही होगा।

७८.सम्पूर्ण लेखका सारांश यही है कि अन्नमय कोशसे प्राणमय कोश बाहर निकल सकता है और उससे अन्नमय कोशकी असत्यता प्रमेय, प्रमाण और प्रत्यक्षानुभवसे सिद्ध होती है। अन्नमय कोशका छूटना अर्थात् लौकिक मृत्युका होना अन्नमय कोशसे प्राणमय कोशका निकलना है, उद्गमन है, मृत्यु नहीं। इस प्रकार प्राणमय कोशकी सत्यता जँच जानेपर अन्नमय और प्राणमय कोशोंका परस्पर-विच्छेद होना मृत्यु नहीं, किन्तु अवस्थान्तर है—यह बात सामने आ जाती है। प्राणमय कोशसे मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशकी परम्परया अनुभूति होनेपर जीव-शिवके ऐक्यको जानना ही प्राणमय शक्तिके सिद्ध होनेकी फलश्रुति है। इसके केवल औपपत्तिक ज्ञानसे नहीं, बल्कि इसका प्रयोगसिद्ध ज्ञान होनेसे जीव-शिवके एकत्वके विषयमें कोई संशय नहीं रहेगा। इस लेखसे यदि इतना काम बन जाय तो लेखकको इस बातका सन्तोष होगा कि उसके इस प्रयत्नकी दिशा तो ठीक है।

इस प्रकार पाठकोंकी मनोभूमि तैयार हो और वे अमर-पदको प्राप्त करें—'**शिवोऽहम्**', '**ब्रह्माहम्**', '**नेह नानास्ति किंचन**' इन परम सत्य वचनोंकी भूमिकातक पहुँचें, यही श्रीनाथ-माता और राजराजेश्वरी श्रीललिता भगवतीसे प्रार्थना कर यह लेख समाप्त करता हूँ।

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात्॥

काम

तन मन जारै काम हीं चित कर डाँवाडोल।
धरम सरम सब खोय के रहै आप हिये खोल॥
नर नारी सब चेतियो दीन्हों प्रगट दिखाय।
पर तिरिया पर पुरुष हो भोग नरक को जाय॥

—चरनदासजी

तान्त्रिक साधन

(लेखक—श्रीदेवेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय बी० ए०, काव्यतीर्थ)

इस संसारमें जितने प्रकारके साधन हैं, उनमें चार प्रकारके साधन ही श्रेष्ठ हैं। प्रथम वेदविहित साधनचतुष्टय; द्वितीय सांख्यप्रदर्शित साधनत्रय; तृतीय योगशास्त्रोक्त साधनकी रीति तथा चतुर्थ तन्त्रशास्त्रोक्त साधनप्रणाली। परन्तु कलिकालमें केवल तन्त्रशास्त्रोक्त साधन ही प्रशस्त और सिद्धिप्रद हैं। यही शास्त्रकी उक्ति है। महानिर्वाण-तन्त्रमें कहा गया है--

तपःस्वाध्यायहीनानां नृणामल्पायुषामपि।
क्लेशप्रयासाशक्तानां कुतो देहपरिश्रमः॥
गृहस्थस्य क्रियाः सर्वा आगमोक्ताः कलौ शिवे।
नान्यमार्गैः क्रियासिद्धिः कदापि गृहमेधिनाम्॥

कलिकालमें मनुष्य तपसे हीन, वेदपाठसे रहित और अल्पायु होंगे; वे दुर्बलताके कारण उस प्रकारके क्लेश और परिश्रमके सहनेमें समर्थ न होंगे। अतएव उनसे दैहिक परिश्रम किस प्रकार सम्भव हो सकता है? कलिकालमें गृहस्थलोग केवल आगमोक्त विधानोंके अनुसार ही कर्मानुष्ठान करेंगे। दूसरे प्रकारकी विधियोंसे अर्थात् वैदिक, पौराणिक और स्मार्त्तसम्मत विधियोंका अवलम्बन करके क्रियानुष्ठान करनेसे कदापि सिद्धिलाभ करनेमें समर्थ न होंगे।

(१) षट्चक्रभेद

तान्त्रिक साधन दो प्रकारका है—बहिर्याग और अन्तर्याग। बहिर्यागमें गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, तुलसी, बिल्वपत्र और नैवेद्यादिके द्वारा पूजा की जाती है। अन्तर्यागमें इन सब बाह्य वस्तुओंकी आवश्यकता नहीं होती। मानसोपचारके उपकरण स्वतन्त्र होते हैं, इसमें पंचभूतोंके द्वारा उपचार-कल्पना करनी पड़ती है। यथा—

पृथिव्यात्मकगन्धः स्यादाकाशात्मकपुष्पकम्।
धूपो वाय्वात्मकः प्रोक्तो दीपो वह्न्यात्मकः परः॥
रसात्मकं च नैवेद्यं पूजा पंचोपचारिका।

पृथ्वीतत्त्वको गन्ध, आकाशतत्त्वको पुष्प, वायु-तत्त्वको धूप, तेजस्तत्त्वको दीप, रसात्मक जलतत्त्वको नैवेद्यके रूपमें कल्पना करके इस पंचोपचारद्वारा पूजा करनी पड़ती है। इसीका नाम अन्तर्याग है। षट्चक्रोंका भेद ही इस अन्तर्यागका प्रधान अंग है।

षट्चक्रोंका अभ्यास हुए विना आत्मज्ञान नहीं होता; क्योंकि किसी वस्तुके प्रत्यक्ष हुए विना मनका सन्देह नहीं छूटता, अतएव वास्तविक ज्ञान नहीं होता। दार्शनिक विचारोंके द्वारा केवल मौखिक ज्ञान होता है, यथार्थ ज्ञान नहीं होता। इसके प्रत्यक्ष होनेका उपाय है षट्चक्र-साधन।

षट्चक्र क्या हैं?

इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्णा या भवेत्खलु।
षट्स्थानेषु च षट्शक्तिं षट्पद्मं योगिनो विदुः॥

इडा और पिंगलानामक दो नाडियोंके मध्यमें जो सुषुम्णानामक नाडी है, उसकी छः ग्रन्थियोंमें पद्माकारके छः चक्र संलग्न हैं। गुह्यस्थानमें, लिंगमूलमें, नाभिदेशमें, हृदयमें, कण्ठमें और दोनों भ्रूके बीचमें—इन छः स्थानोंमें छः चक्र विद्यमान हैं। ये छः चक्र सुषुम्णा-नालकी छः ग्रन्थियोंके रूपमें प्रसिद्ध हैं। इन छः ग्रन्थियोंका भेद करके जीवात्माका परमात्माके साथ संयोग करना पड़ता है। इसीको प्रकृत योग कहते हैं। यथा—

न योगो नभसः पृष्ठे न भूमौ न रसातले।
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः॥

(देवीभागवत)

'योगविशारदलोग जीवात्माके साथ परमात्माकी एकता साधन करनेको ही योगके नामसे निर्देश करते हैं।' और योगकी क्रिया-सिद्धिके अंशका नाम साधन है।

अब किस स्थानमें कौन-सा चक्र है? इसे क्रमशः स्पष्ट किया जाता है—

गुह्यस्थलमें मूलाधारचक्र चतुर्दलयुक्त है, उसके ऊपर लिंगमूलमें स्वाधिष्ठानचक्र षड्दलयुक्त है, नाभि-मण्डलमें मणिपूरचक्र दशदलयुक्त है, हृदयमें अनाहतचक्र द्वादश-दलयुक्त है, कण्ठदेशमें विशुद्ध चक्र षोडशदलयुक्त है और भ्रूमध्यमें आज्ञाचक्र द्विदलयुक्त है। ये षट्चक्र सुषुम्णा-नाडीमें ग्रथित हैं।

मानव-शरीरमें तीन लाख पचास हजार नाडियाँ

हैं। इन नाडियोंमें चौदह नाडियाँ प्रधान हैं—सुषुम्णा, इडा, पिंगला, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, कुहू, सरस्वती, पूषा, शंखिनी, पयस्विनी, वारुणी, अलम्बुषा, विश्वोदरी और यशस्विनी। इनमें भी इडा, पिंगला और सुषुम्णा—ये तीन नाडियाँ प्रधान हैं। पुन: इन तीनोंमें सुषुम्णा नाडी सर्वप्रधान है और योगसाधनमें उपयोगिनी है। अन्यान्य समस्त नाडियाँ इसी सुषुम्णा नाडीके आश्रयसे रहती हैं। इस सुषुम्णा नाडीके मध्यगत चित्रा नाडीके मध्य सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर ब्रह्मरन्ध्र है। यह ब्रह्मरन्ध ही दिव्यमार्ग है, यह अमृतदायक और आनन्दकारक है। कुलकुण्डलिनीशक्ति इसी ब्रह्मरन्ध्रके द्वारा मूलाधारसे सहस्रारमें गमन करती है और परम शिवमें मिल जाती है, इसी कारण इस ब्रह्मरन्ध्रको दिव्यमार्ग कहा जाता है।

इडा नाडी वामभागमें स्थित होकर सुषुम्णा नाडीको प्रत्येक चक्रमें घेरती हुई दक्षिणनासापुटसे और पिंगला नाडी दक्षिण भागमें स्थित होकर सुषुम्णा नाडीको प्रत्येक चक्रमें परिवेष्टित करती हुई वामनासापुटसे आज्ञाचक्रमें मिलती है। इडा और पिंगलाके बीच-बीचमें सुषुम्णा नाडीके छ: स्थानोंमें छ: पद्म और छ: शक्तियाँ निहित हैं। कुण्डलिनी देवीने अष्टधा कुण्डलित होकर सुषुम्णा नाडीके समस्त अंशको घेर रखा है तथा अपने मुखमें अपनी पूँछको डालकर साढ़े तीन घेरे दिये हुए स्वयम्भूलिंगको वेष्टन करके ब्रह्मद्वारका अवरोध कर सुषुम्णाके मार्गमें स्थित हैं। यह कुण्डलिनी सर्पका- सा आकार धारण करके अपनी प्रभासे देदीप्यमान होकर जहाँ निद्रा ले रही हैं, उसी स्थानको मूलाधार चक्र कहते हैं। यह कुण्डलिनीशक्ति ही वाग्देवी हैं अर्थात् वर्णमयी बीजमन्त्रस्वरूपा हैं। यही सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंकी मूलस्वरूपा प्रकृति देवी हैं। इस कन्दके बीचमें बन्धूकपुष्पके समान रक्तवर्ण कामबीज विराजमान है। इस स्थानमें द्विरण्ड नामक एक सिद्धलिंग और डाकिनी शक्ति रहती है।

जिस समय योगी मूलाधारस्थित स्वयम्भूलिंगका चिन्तन करता है, उस समय उसकी समस्त पापराशि क्षणमात्रमें ध्वंस हो जाती है तथा मन-ही-मन वह जिस वस्तुकी कामना करता है, उसकी प्राप्ति हो जाती है। इस साधनाको निरन्तर करनेसे साधक उसे मुक्तिदाताके रूपमें दर्शन करता है।

मूलाधारचक्रके ऊपर लिंगमूलमें विद्युद्वर्ण षड्दल-विशिष्ट स्वाधिष्ठाननामक पद्म है। इस स्थानमें बालनामक सिद्धलिंग और देवी राकिणी शक्ति अवस्थान करती है। जो योगी सर्वदा इस स्वाधिष्ठानचक्रमें ध्यान करते हैं, वे सन्देह-विरहित चित्तसे बहुतेरे अश्रुत शास्त्रोंकी व्याख्या कर सकते हैं तथा वे सर्वतोभावेन रोगरहित होकर सर्वत्र निर्भय विचरण करते हैं। इसके अतिरिक्त उनको अणिमादि गुणोंसे युक्त परम सिद्धि प्राप्त होती है।

स्वाधिष्ठानचक्रके ऊपर नाभिमूलमें मेंघवर्ण मणिपूरनामक दशदल पद्म है। इस मणिपूरपद्ममें सर्वमंगलदायक रुद्रनामक सिद्धलिंग और परम धार्मिकी देवी लाकिनी शक्ति अवस्थान करती है। जो योगी इस चक्रमें सर्वदा ध्यान करते हैं, इहलोकमें उनकी कामनासिद्धि, दु:खनिवृत्ति और रोगशान्ति होती है। इसके द्वारा वे परदेहमें भी प्रवेश कर सकते हैं तथा अनायास ही कालको भी वंचित करनेमें समर्थ हो सकते हैं, इसके अतिरिक्त सुवर्णादिके बनाने, सिद्ध पुरुषोंका दर्शन करने, भूतलमें ओषधि तथा भूगर्भमें निधिके दर्शन करनेकी सामर्थ्य उनमें उत्पन्न हो जाती है।

मणिपूरचक्रके ऊपर हृदयस्थलमें अनाहतनामक एक द्वादशदल रक्तवर्ण पद्म है। इस पद्मकी कर्णिकाके बीचमें विद्युत्प्रभासे युक्त धूम्रवर्ण पवनदेव अवस्थित हैं तथा इस षट्कोण वायुमण्डलमें यं बीजके ऊपर ईशाननामक शिव काकिनी शक्तिके साथ विद्यमान हैं। कुछ लोगोंके मतसे इन्हें त्रिनयनी शक्तिके साथ बाणलिंग कहा जाता है। इस बाणलिंगके स्मरणमात्रसे दृष्टादृष्ट दोनों वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं। इस अनाहतनामक पद्ममें पिनाकी नामक सिद्धलिंग और काकिनी शक्ति रहती है। इस अनाहतचक्रके ध्यानकी महिमा नहीं कही जा सकती। ब्रह्मा प्रभृति समस्त देवगण बहुत यत्नपूर्वक इसको गुप्त रखते हैं।

कण्ठमूलमें विशुद्धनामक चक्रका स्थान है। यह चक्र षोडशदलयुक्त है और धूम्रवर्ण पद्माकारमें अवस्थित है। इसकी कर्णिकाके बीचमें गोलाकार आकाशमण्डल है, इस मण्डलमें श्वेत हस्तीपर आरूढ़ आकाश हं बीजके साथ विराजित है। इसकी गोदमें अर्द्धनारीश्वर शिवमूर्ति है—दूसरे मतसे इसे हर-गौरी कहते हैं। इस शिवके गोदमें पीतवर्ण चतुर्भुजा शाकिनी शक्ति विराजित है। इस चक्रमें पंच-स्थूल भूतोंके आदिभूत महाकालका

स्थान है। इस आकाशमण्डलसे ही अन्यान्य चारों स्थूल भूत क्रमशः चक्ररूपमें उत्पन्न हुए हैं अर्थात् आकाशसे वायु, वायुसे तेज, तेजसे जल और जलसे पृथिवी उत्पन्न हुई है। इस चक्रमें छगलाण्डनामक शिवलिंग और शाकिनीनामक शक्ति अधिदेवतारूपमें विराजित हैं। जो प्रतिदिन इस विशुद्धचक्रका ध्यान करते हैं, उनके लिये दूसरी साधना आवश्यक नहीं होती। यह विशुद्धनामक षोडशदल कमल ही ज्ञानरूप अमूल्य रत्नोंकी खान है। क्योंकि इसीसे रहस्यसहित चतुर्वेद स्वयं प्रकाशित होते हैं।

ललाटमण्डलमें भ्रूमध्यमें आज्ञानामक चक्रका स्थान है। इस चक्रको चन्द्रवत् श्वेतवर्ण द्विदल पद्म कहा जाता है। इस चक्रमें महाकालनामक सिद्धलिंग और हाकिनी शक्ति अधिष्ठित हैं। इस स्थानमें शरत्कालीन चन्द्रके समान प्रकाशमय अक्षर बीज (प्रणव) देदीप्यमान है। यही परमहंस पुरुष है। जो लोग इसका ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, वे किसी भी कारणसे दुःखी या शोक-तापसे अभिभूत नहीं होते।

पहले कहा गया है कि सुषुम्णा नाडीकी अन्तिम सीमा ब्रह्मरन्ध्र है तथा यह नाडी मेरुदण्डके आश्रयसे ऊपर उठी हुई है। इडा नाडी इस सुषुम्णा नाडीसे ही लौटकर (उत्तर वाहिनी होकर) आज्ञापथकी दाहिनी ओरसे होकर वामनासापुटमें गमन करती है। आज्ञाचक्रमें पिंगला नाडी भी उसी रीतिसे बायीं ओरसे घूमकर दक्षिण नासापुटमें गयी है। इडा नाडी वरणा नदीके नामसे और पिंगला नाडी असी नदीके नामसे अभिहित होती है। इन दोनों नदियोंके बीच में वाराणसी धाम और विश्वनाथ शिव शोभायमान हैं।

योगीलोग कहते हैं कि आज्ञाचक्रके ऊपर तीन पीठस्थान हैं। उन तीनों पीठोंका नाम है—बिन्दुपीठ, नादपीठ और शक्तिपीठ। ये तीनों पीठस्थान कपालदेशमें रहते हैं। शक्तिपीठका अर्थ है ब्रह्मबीज ॐकार। ॐकारके नीचे निरालम्बपुरी तथा उसके नीचे षोडशदलयुक्त सोमचक्र है। उसके नीचे एक गुप्त षड्दल पद्म है, उसे ज्ञानचक्र कहते हैं। इसके एक-एक दलसे क्रमशः रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द और स्वप्नज्ञान उत्पन्न होते हैं। इसीके नीचे आज्ञाचक्रका स्थान है। आज्ञाचक्रके नीचे तालुमूलमें एक गुप्त चक्र है, इस चक्रको द्वादशदलयुक्त रक्तवर्ण पद्म कहा जाता है। इस पद्ममें पंचसूक्ष्मभूतोंके पंजीकरण-द्वारा पंचस्थूलभूतोंका प्रादुर्भाव होता है। इस चक्रके नीचे विशुद्धचक्रका स्थान है।

अब सहस्रारकी बात सुनिये। आज्ञाचक्रके ऊपर अर्थात् शरीरके सर्वोच्च स्थान मस्तकमें सहस्रार कमल है। इसी स्थानमें विवरसमेत सुषुम्णाका मूल आरम्भ होता है एवं इसी स्थानसे सुषुम्णा नाडी अधोमुखी होकर चलती है। इसकी अन्तिम सीमा मूलाधारस्थित योनिमण्डल है।

सहस्रार या सहस्रदलकमल शुभ्रवर्ण है, तरुण सूर्यके सदृश रक्तवर्ण केशरके द्वारा रंजित और अधोमुखी है। उसके पचास दलोंमें अकारसे लेकर क्षकारपर्यन्त सबिन्दु पचास वर्ण हैं। इस अक्षरकर्णिकाके बीचमें गोलाकार चन्द्रमण्डल है। यह चन्द्रमण्डल छत्राकारमें एक ऊर्ध्वमुखी द्वादशदलकमलको आवृत किये है। इस कमलकी कर्णिकामें विद्युत्-सदृश अकथादि त्रिकोण यन्त्र है। उक्त यन्त्रके चारों ओर सुधासागर होनेके कारण यह यन्त्र मणिद्वीपके आकारका हो गया है। इस द्वीपके मध्यस्थलमें मणिपीठ है, उसके बीचमें नाद-बिन्दुके ऊपर हंसपीठका स्थान है। हंसपीठके ऊपर गुरु-पादुका है। इसी स्थानमें गुरुदेवके चरण कमलका ध्यान करना पड़ता है। गुरुदेव ही परम शिव या परम ब्रह्म हैं। सहस्रदलकमलमें चन्द्रमण्डल है, उसकी गोदमें अमरकला नामकी षोडशी कला है तथा उसकी गोदमें निर्वाणकला है। इस निर्वाणकलाकी गोदमें निर्वाणशक्तिरूपा मूल प्रकृति बिन्दु और विसर्ग शक्तिके साथ परमशिवको वेष्टन किये हुए है। इसके ध्यानसे साधक निर्वाण-मुक्तिको प्राप्त कर सकता है।

सहस्रदलस्थित परमशिव-शक्तिको वेदान्तके मतसे परम ब्रह्म और माया कहते हैं तथा पद्मको आनन्दमय कोष कहते हैं। सांख्यमतसे परमशिव-शक्तिको प्रकृति-पुरुष कहा जाता है। इसीको पौराणिक मतसे लक्ष्मी-नारायण, राधा-कृष्ण तथा तन्त्रमतसे परमशिव और परमशक्ति कहते हैं।

(२) नवचक्रसाधन

यहाँतक शिवसंहिताकारके मतसे सुषुम्णास्थित षट्चक्रोंका वर्णन संक्षेपमें किया गया। अब अन्यान्य तन्त्रोंमें

कथित नवचक्रोंका वर्णन किया जाता है। यथा—

नवचक्रं कलाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
स्वदेहे यो न जानाति स योगी नामधारकः॥

'शरीरमें नवचक्र, षोडशाधार, त्रिलक्ष्य और पंच प्रकारके व्योमको जो व्यक्ति नहीं जानता वह व्यक्ति केवल नामधारी योगी ही है।'

नवचक्र ये हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, तालु, ब्रह्मरन्ध्र और सहस्रार।

षोडशकलाधार इस प्रकार हैं—अंगुष्ठ पादमूल, गुह्यदेश, लिंगमूल, जठर, नाभि, हृदय, कण्ठ, जिह्वाग्र, तालु, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, नासापुट, भ्रूमध्य और नेत्र। त्रिलक्ष्य ये हैं-स्वयम्भूलिंग, बाणलिंग और ज्योति-र्लिंग। पंचव्योम ये हैं—आकाश, महाकाश, पराकाश, तत्त्वाकाश और सूर्याकाश।

प्रथम चक्रसाधन

पहला ब्रह्मचक्र अर्थात् आधारचक्र भगाकृति है। इसमें तीन आवर्त्त हैं। यह स्थान अपानवायुका मूलदेश है और समस्त नाडियोंका उत्पत्तिस्थान है, इसी कारण इसका नाम कन्दमूल है। कन्दमूलके ऊपर अग्निशिखाके समान तेजस्वी कामबीज 'क्लीं' है—इस स्थानमें स्वय-म्भूलिंग हैं। इन स्वयम्भूलिंगको तेजोरूपा कुण्डलिनी शक्ति साढ़े तीन बार गोलाकार वेष्टन करके अधिष्ठित है। इस ज्योतिर्मयी कुण्डलिनी शक्तिको जीवरूपमें ध्यान करके उसमें चित्तको लय करनेसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है।

द्वितीय चक्रसाधन

स्वाधिष्ठाननामक द्वितीय चक्र है। यह प्रवालांकुरके समान और पश्चिमाभिमुखी है। इसमें उड्डीयान पीठके ऊपर कुण्डलिनी शक्तिका ध्यान करनेसे जगत्को आकर्षण करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है।

तृतीय चक्रसाधन

तृतीय मणिपूरनामक नाभिचक्र है। उसमें पंच आवर्त से विशिष्ट विद्युद्वर्णी है। चित्स्वरूपा मध्यशक्ति भुजगावस्थामें रहती है। उसका ध्यान करने से योगी निश्चयपूर्वक सर्वसिद्धियोंका पात्र हो जाता है।

चतुर्थ चक्रसाधन

चतुर्थ अनाहतचक्र हृदयदेशमें अधोमुख अवस्थित है। उसके बीचमें ज्योतिःस्वरूप हंसका यत्नपूर्वक ध्यान करके उसमें चित्तलय करना चाहिये। इस ध्यानसे समस्त जगत् वशमें हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं ।

पंचम चक्रसाधन

पंचम विशुद्धनामक कालचक्र कण्ठदेशमें स्थित है। उसके बामभागमें इडा, दक्षिणभागमें पिंगला और मध्यमें सुषुम्णा नाडी है। इस चक्रमें निर्मल ज्योतिका ध्यान करके चित्त लय करनेसे योगी सर्वसिद्धिका भाजन हो जाता है।

षष्ठ चक्रसाधन

षष्ठ ललना वा तालुका चक्र है। इस स्थानको घंटिका-स्थान और दशमद्वारमार्ग कहते हैं। इसके शून्य-स्थानमें मनोलय करनेसे उस लययोगी पुरुषको निश्चय ही मुक्ति प्राप्त होती है।

सप्तम चक्रसाधन

आज्ञापुरमें भ्रूमध्यमें भ्रूमचक्रनामक सप्तम चक्र है। इस स्थानको बिन्दुस्थान कहते हैं। इस स्थानमें वर्त्तुलाकार ज्योतिका ध्यान करनेसे मोक्षपदकी प्राप्ति हो जाती है।

अष्टम चक्रसाधन

अष्टम चक्र ब्रह्मरन्ध्रमें है। यह चक्र निर्वाण प्रदान करनेवाला है। इस चक्रमें सूचिकाके अग्रभागके समान धूम्राकार जालन्धरनामक स्थानमें ध्यान करके चित्त लय करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है।

नवम चक्रसाधन

नवम ब्रह्मचक्र है। यह चक्र षोडशदलमें सुशोभित है। उसमें सच्चिद्रूपा अर्द्धशक्ति प्रतिष्ठित है। इस चक्रमें पूर्णा चिन्मयी शक्तिका ध्यान करनेसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है।

इन नौ चक्रोंमें एक-एक चक्रका ध्यान करनेवाले योगीके लिये सिद्धि और मुक्ति करतलगत हो जाती है। क्योंकि वे ज्ञाननेत्रके द्वारा कोदण्डद्वयके मध्य कदम्बके समान गोलाकार ब्रह्मलोकका दर्शन करते हैं और अन्तमें ब्रह्मलोकको गमन करते हैं।

एतेषां नवचक्राणामेकैकं ध्यायतो मुनेः।
सिद्धयो मुक्तिसहिताः करस्थाः स्युर्दिने दिने॥
कोदण्डद्वयमध्यस्थं पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषा।
कदम्बगोलकाकारं ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ते॥

विनय

हरि! तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों।

साधन धाम बिबुध दुरलभ तनु मोहि कृपा करि दीन्हों॥

कोटिहुँ मुख कहि जात न प्रभुके एक एक उपकार।

तदपि नाथ! कछु और माँगिहौं दीजै परम उदार॥

बिषय-बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।

ताते सहौं बिपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक॥

कृपाडोरि बनसी पद अंकुस परम प्रेम मृदु चारो।

एहि बिधि बेधि हरहु मेरो दुख कौतुक राम तिहारो॥

हैं श्रुतिबिदित उपाय सकल सुर केहि केहि दीन निहोरै।

'तुलसिदास' येहि जीव मोह-रजु जेहि बाँध्यो सोई छोरै॥

—तुलसीदासजी

श्रीवल्लभसम्प्रदायसम्मत साधना

(स्वतन्त्र भक्तिमार्ग अथवा पुष्टिभक्ति)

(लेखक-देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री)

साधनसे ही साध्यकी प्राप्ति होती है, यह सिद्धान्त नियत नहीं है। कंसके समयमें प्राय: सबको दु:ख हो रहा था। सबको दु:खाभाव साध्य था। उसके लिये पृथ्वी, ब्रह्मा और देवगणने स्तुति-स्तोत्रादि साधनोंका अनुष्ठान किया; किन्तु गँवार व्रजवासियोंने कौन-सा साधन किया था? उनके सब दु:ख अपने-आप दूर हो गये।

भगवत्प्राप्तिमें भक्ति ही साधन है, यह सब कोई जानते और मानते भी हैं। किन्तु व्रजनारियोंको भगवान्‌की प्राप्ति पहले हो गयी और भक्ति पीछे हो पायी। ऐसी अवस्थामें साधनसे ही साध्यकी सिद्धि होती है, यह नियत सत्य नहीं है। हाँ, कहीं-कहीं ऐसा हो सकता है।

अंग्रेजोंने आकाशगमनके लिये विमान बनाये, सैकड़ों कोसकी बातें सुननेके लिये अनेक यन्त्र बनाये, बड़े श्रम किये, अनेक साधन किये—यह ठीक है। किन्तु हम-आप, जिन्होंने उसके लिये कभी हाथ-पैर नहीं हिलाये, एक दिनमें ही रेलके द्वारा सैकड़ों कोसकी यात्रा कर आते हैं। घर बैठे दूरका गाना और बातें सुना करते हैं। यह क्या बात है? अपने साधनानुष्ठान करनेसे ही साध्यकी प्राप्ति होती है, यह सार्वत्रिक नियत नियम नहीं है। वाद-विवाद करनेके लिये यह वक्तव्य नहीं है।

इन बातोंसे यह स्पष्ट होता है कि कोई एक ऐसा मार्ग भी है जहाँ प्रसिद्ध और नियत साधनोंके अनुष्ठानके विना भी फलकी प्राप्ति हो जाती है। स्वतन्त्र भक्तिमार्ग किंवा पुष्टिमार्ग ऐसा ही है। दोनों एक ही पदार्थ हैं। भगवान्‌के अनुग्रहको 'पुष्टि' कहते हैं—'**पोषणं तदनुग्रह:**'। उस अनुग्रहसे जो भक्ति—भगवत्प्रेम प्राप्त हो, वह पुष्टिभक्ति है । यह भक्ति स्वरूपसे रागमयी है, इसलिये रागात्मिका भी कही जा सकती है। कितने ही रागात्मिका-के स्थानपर रागानुगा शब्दका प्रयोग करते है; पर इस शब्दका अर्थ जबतक समझमें न आवे तबतक उसके विषयमें कुछ कहना साहस है। '**रागम् अनुगच्छति असौ, किंवा रागस्य अनुगा रागानुगा**' दोनों तरहकी व्युत्पत्ति मूल अर्थका स्पर्श नहीं करती। रागका अर्थ प्रेम या स्नेह है, यह ठीक है; किन्तु वही भक्ति भी है। भक्ति यदि कोई दूसरा पदार्थ हो और वह रागका अनुगमन करती हो, तब उसे रागानुगा कह सकते हैं। '**रागस्य अनुगा**' में भी यही अड़चन आती है। अस्तु,

राग, स्नेह या प्रेम ही भक्तिपदार्थ है— यह तो अनुभवकी बात है। नारदसूत्र, शाण्डिल्यसूत्र और नारदपांचरात्र प्रभृति शास्त्रोंने भी स्नेहको ही भक्तिशब्दार्थ माना है—'**सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा**' (नारदसूत्र); 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' (शां० सू०) पांचरात्रमें भी कहा है—

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा॥

स्नेहात्मिका, रागात्मिका या प्रेममयी भक्ति भग-वान्‌के अनुग्रहसे भी प्राप्त होती है—यह निर्विवाद है। इसे ही पुष्टिभक्ति भी कहते हैं। कितनोंका तो यह कहना है कि 'भी' नहीं, भक्ति तो भगवान्‌के अनुग्रहसे ही प्राप्त होती है। जहाँ हमें भक्तिके कारण अन्य साधन दीख रहे हैं, वहाँ भी भगवदनुग्रह ही साधन है। भगवान्‌की भक्ति भगवान्‌के अनुग्रहसे मिलती है, यह निर्विवाद है। 'पुष्टि' शब्द अनुग्रहमें रूढ है। श्रीमद्भागवतके षष्ठ स्कन्धका नाम ही अनुग्रहस्कन्ध है। वहाँ इस अनुग्रह-शब्दार्थका प्रमाण-प्रमेय, साधन और फलके द्वारा खूब विस्तार किया गया है। मैंने भी अपने 'अनुग्रहमार्ग' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थमें अनुग्रहका स्पष्ट विवेक कर दिया है।

अनुग्रह या पुष्टि भगवद्धर्म है। भगवान्‌में संक्षेपसे छ: प्रधान धर्म स्वतन्त्र रहते हैं और विस्तारसे अनन्त धर्म रहते हैं। भगवान्‌के वीर्य (पराक्रम) विशेषको अनुग्रह कहते हैं। 'भगवान्' शब्दकी व्युत्पत्तिमें ही छ: धर्म स्थित हैं—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

भगमस्यास्तीति भगवान्। भगवद्वीर्य—अनुग्रहरूपा पुष्टिसे जो भक्ति प्राप्त होती है, वही पुष्टिभक्ति है।

'भक्ति' शब्दका अर्थ तो यहाँ भी जो है सो ही है। भज्-ति—'भज्' प्रकृति और 'ति' प्रत्यय। 'भज्' प्रकृतिका अर्थ सेवा और 'ति' प्रत्ययका अर्थ भाव। परिचर्या (चाकरी) सेवाका खुलासा है। अर्थात् भावसहित सेवाको भक्ति कहते हैं। किंवा भावात्मक सेवाको भी भक्ति कहते हैं। यह मार्ग ऐसा है, जहाँ साधन ही फल माना गया है। ऐकान्तिक भक्तलोग भगवत्प्रेमको ही परम फल मानते हैं। '**दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।**'— 'मेरे भक्त मेरी प्रेमात्मक सेवाके सिवा अन्य फल नहीं ग्रहण करते', '**भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः**'— 'भगवद्भक्त रहनेमें ही अपना सब फल पूर्ण हुआ मानते हैं। भेद इतना ही है कि भावसहित सेवा (चाकरी) साधन है और फलावस्थामें वही भक्ति या सेवा भावात्मक रह जाती है। कल्पनामयी सेवाको भावात्मिका सेवा नहीं समझना चाहिये।

कितने ही कहते हैं कि नारदपांचरात्रमें माहात्म्यज्ञान भी भक्तिमें सम्मिलित है, फिर केवल स्नेहको ही भक्ति किस तरह कहते हो। ठीक है। '**माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु**' यहाँ माहात्म्यज्ञानको भी लिया है, पर '**पूर्वः**'। प्रारम्भमें माहात्म्यज्ञान रहता है, फिर सर्वदा नहीं रहता। प्रेम होनेके बाद तो केवल स्नेह ही रह जाता है। बड़प्पनको 'माहात्म्य' कहते हैं। बड़प्पनवालेमें जो स्नेह किया जाता है, वह भक्ति है। बड़प्पन भगवान्‌में रहता है स्नेह भक्तमें रहता है; इसलिये प्रेम तो केवल ही रहा।

भगवान् अपने अनन्त धर्मोंमेंसे कितने ही ज्ञानादि प्रसिद्ध धर्मोंका दान जीवके लिये भी करते हैं। उनमें एक भक्ति भी है। सच्चिदानन्द भगवान्‌के प्रधानतम धर्म सत्, चित् और आनन्द हैं। सृष्टि-अवस्थामें कभी-कभी भगवान् किसी जीवको इनका दान भी करते हैं। भगवान्‌के सत्‌से क्रिया, चित्‌से ज्ञान और आनन्दसे भक्ति या प्रेम लिया गया है। ये तीनों ही सृष्टिमें फैले हुए हैं। सब जगत् यह है। इस विषयको भी हम अपने 'ब्रह्मवाद' ग्रन्थमें स्पष्ट कर चुके हैं। भक्तिमें भी सत्-चित्-आनन्द तीनों मिले हुए रहते हैं। भक्तिमें क्रिया-विशेष भी है और आनन्दविशेष भी है ही। परिचर्या (चाकरी) क्रियाविशेष है और यह 'भज्' प्रकृतिका अर्थ है। माहात्म्यज्ञान चिद्विशेष है तथा प्रेम ही आनन्दकी लहर है। यह दोनों ति-प्रत्ययका अर्थ है। प्रकृति-प्रत्ययार्थ मिलाकर एक भक्ति-शब्दार्थ है। किन्तु प्रकृति-प्रत्ययार्थमें प्रत्ययार्थ ही मुख्य माना गया है। इसलिये प्रेम ही 'भक्ति' शब्दका मुख्य अर्थ है। साधनावस्थामें भले माहात्म्यज्ञान रहा आवे, पर पूर्ण स्नेह होनेपर वह नहीं रहता।

महामहोपाध्याय पण्डितजी किसी गरीबके घर गये। उस समय चाहे उस गरीबके हृदयमें उनका स्नेह रहे या न रहे, पर माहात्म्यज्ञान तो पूर्ण है। बड़ी कृपा की; आसन, कुर्सी, दण्डवत् प्रणाम, स्तुति, स्तोत्र, भेंट— ये सब माहात्म्यज्ञानके ही आडम्बर हैं। किन्तु जब घनिष्ठ परिचय होनेसे दोनोंमें पूर्ण प्रेम हो गया, तब फिर धीरे-धीरे माहात्म्यज्ञानके वे सब अंश (चोचले) दूर होते जाते हैं। धरतीपर बैठे तो क्या और कुर्सीपर बैठे तो क्या? बरफी-पेड़े हुए तो क्या और दाल-भात हुआ तो क्या? स्तुति-स्तोत्र न हुए और गाली दे दी तो क्या? केवल स्नेह ही रह गया। अतएव किसी मर्मज्ञने कहा है—

उपचारः कर्तव्यो यावदनुत्पन्नसौहृदाः पुरुषाः।
उत्पन्नसौहृदानामुपचारः कैतवं भवति॥

'जबतक स्नेह न हो, तबतक माहात्म्यज्ञान-सम्बन्धिनी चेष्टाएँ हों तो ठीक है। पर जब पूर्ण स्नेह हो चुका, तब भी यदि उपचार किये जायँ तो वह कपट मालूम देता है।' श्रीकृष्णने जब गोवर्धनगिरिको धारण किया तो नन्दादि गोपगणोंको थोड़ी देरके लिये भगवान्‌का माहात्म्य समझमें आया, पर थोड़ी देरमें ही वह हट भी गया। पर्वतको यथास्थान रख देनेके बाद जब सब लोग श्रीकृष्णसे मिलने लगे तो वह माहात्म्यज्ञान न जाने कहाँ गया। केवल प्रेम-ही-प्रेम रह गया। अतएव वहाँ कहा है—

तं प्रेमवेगान्निभृता व्रजौकसो
यथा समीयुः परिरम्भणादिभिः।
गोप्यश्च सस्नेहमपूजयन्मुदा
दध्यक्षताद्भिर्युयुजुः सदाशिषः॥

'गिरिराजको यथास्थान धर देनेके बाद व्रजवासी गोपगोपियोंका प्रेमप्रवाह भगवान् श्रीकृष्णकी तरफ दौड़ा। अतएव वे सब अपने-अपने अधिकारके अनुसार भगवान्‌से गलेसे गला, छातीसे छाती लगाकर मिले। कितनी ही गोपियाँ लोकलज्जासे सबके देखते पुरुषोंकी तरह न मिल सकीं तो उन्होंने भगवान्‌के स्नेहको दूसरी तरह प्रकाशित किया। किसीने उनपर दधि डाला, किसीने

अक्षत फेंके और किसी प्रियाने भगवान्‌पर पानी ही डाल दिया। और जो भगवान्‌से उमरमें बड़ी—अथवा माता, मौसी प्रभृति सम्बन्धवृद्धा थीं, उन्होंने 'बेटा! तेरी उमर बड़ी हो' इत्यादि सुन्दर-सुन्दर आर्शीवाद दिये।' ऐसी अवस्थामें प्रेमके सिवा माहात्म्यज्ञान कहाँ रहा?

—इत्यादि कारणोंसे स्पष्ट होता है, 'भक्ति' शब्दसे तो केवल स्नेहकारी वस्तुता मालूम देती है। प्रेमके पहले माहात्म्यज्ञान भले रहे, पर प्रेम होनेके बाद माहात्म्यज्ञान नहीं रहता। उस समय तो केवल प्रेम ही रहता है। यह प्रेम फलरूप है। यह फलात्मक प्रेम भगवान्‌के अनुग्रहसे ही प्राप्त होता है, इसलिये इसे 'पुष्टिभक्ति' कहते हैं। भगवान्‌का अनुग्रह होनेमें भगवदिच्छा किंवा भगवान्‌के सिवा दूसरा कारण किंवा साधन नहीं हो सकता। भगवान्‌का अनुग्रह साधन-साध्य नहीं। सत्कर्म, योगाभ्यास, भक्तिप्रभृति किसी साधनके परतन्त्र अनुग्रह नहीं है और न वह अनित्य ही है। अतएव वह किसी साधनके द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता।

साधनानुष्ठानका निषेध नहीं है, पर साधनोंका कुछ देना नहीं आता, जो भगवान् अनुग्रह करें ही। अनुग्रह परतन्त्र रहते भी स्वतन्त्र है, नित्य है, कार्य नहीं। साधनानुष्ठानके अनन्तर भगवान् अनुग्रह करें ही इसका तो यह अर्थ होता है कि भगवान् और भगवान्‌का अनुग्रह परतन्त्र हैं, स्वतन्त्र नहीं। भगवान् भक्त-परतन्त्र हैं, इस प्रसिद्धिका आशय दूसरा है। भगवान् जिसपर अनुग्रह करते हैं, उसके परतन्त्र हो जाते हैं—इसका अर्थ यह है कि वे आप अपने ही परतन्त्र हैं। मैं किसी प्रेमीको अपने घर निमन्त्रण देकर स्नेहसे उसकी सेवा करता हूँ तो इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि मैं उसका नौकर हूँ या परतन्त्र हूँ। मैं तो अपने स्नेहके वशमें अर्थात् अपने आपका ही परतन्त्र हूँ। भगवान् भी किसीके परतन्त्र नहीं हैं। स्नेहके या अनुग्रहके या भक्तके परतन्त्र रहते भी वे अपने ही तन्त्रमें हैं, स्वतन्त्र हैं। इसी तरह अनुग्रह भी स्वतन्त्र है। सभी भगवद्-धर्म नित्य पदार्थ हैं। मर्यादामार्गमें भगवान् परतन्त्र हैं, स्वतन्त्र नहीं। मर्यादामार्गकी रचना भिन्न है और पुष्टि मार्गकी रचना भिन्न है। मर्यादामार्गमें भगवान् साधन-परतन्त्र हैं, स्वतन्त्र नहीं हैं। इस मार्गमें भगवान्‌को अपनी बाँधी हुई मर्यादाओंकी रक्षा करना अभीष्ट है। अतएव वे साधनोंके परतन्त्र हैं। जो कोई जैसा कर्म, जैसा ज्ञान, किं वा जैसी भक्ति सम्पादन करेगा उसे वैसा-वैसा नपा-तुला फल देना ही पड़ेगा।

पर पुष्टिभक्तिमें यह नहीं है। पुष्टिभक्तिमें भगवान् '**भिन्नसेतुः**' हैं। भगवान्‌ने जब हमें पुष्टिभक्तिका दान कर दिया तब फिर भगवान् साधन-परतन्त्र नहीं, स्वतन्त्र हैं। हजार दण्डवत्-प्रणाम, यज्ञ-यागादि, तत्त्वज्ञान आदि साधन पासमें हों पर फल नहीं देते और कुछ भी साधन न करनेपर भी सब कुछ दे देते हैं। इतना ही नहीं, भक्त भी स्वतन्त्र हो जाता है। साधन असाधन हो जाते हैं। असाधन साधन हो जाते हैं। गालियाँ स्तुति बन जाती हैं। उपचारोंमें उपचारता ही नहीं रह जाती। अतएव कहना पड़ता है कि पुष्टिमार्गमें भगवान् स्वतन्त्र, भक्त स्वतन्त्र और भक्ति भी स्वतन्त्र है। पर उसका मूल भगवान्‌की स्वतन्त्रता है। भगवान् स्वतन्त्र हैं, इसलिये भक्त और भक्ति स्वतन्त्र हैं। बहुत-से लोग इन बातोंसे चिढ़ेंगे, पर क्या किया जाय? वस्तुका यथार्थ विवेचन तो करना ही पड़ता है।

अब यह विचार करना है कि 'स्वतन्त्र' शब्दमें 'स्व' का अर्थ क्या करना चाहिये। निषेध तो हो नहीं सकता अर्थात् स्वतन्त्रका अतन्त्र अर्थ हो नहीं सकता। क्योंकि शब्दकी ऐसी कोई सीधी मर्यादा नहीं, जिससे 'स्व' का निषेध अर्थ हो सके। दूसरी बात यह भी है कि अतन्त्र होनेसे ही वह परतन्त्र नहीं हो सकता। खाली जगहमें हर कोई बैठ सकता है। जो किसीका नौकर नहीं है, उसे हर कोई नौकर रख सकता है। आजतक न तो कोई पदार्थ अतन्त्र होकर पैदा हुआ है और न वह वैसे ठहर ही सकता है।

कितने ही कहते हैं कि आकाश-पदार्थ नित्य है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती, अतएव वह अतन्त्र, अनधीन या स्वतन्त्र है। किन्तु यह मान्यता आस्तिककी नहीं हो सकती। '**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः**' इत्यादि वेदवाक्योंके अनुसार सभी आस्तिक आकाशकी उत्पत्ति मान रहे हैं। आकाशको भगवत्कार्य मान लेनेपर भी आकाश अतन्त्र नहीं रह सकता, इसलिए अतन्त्र तो स्वका अर्थ नहीं।

अब स्वके तीन अर्थ बाकी रहते हैं— ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान; भक्त, भजनीय और भक्ति किंवा जीव, ईश्वर और प्रेम। इनमें ज्ञाता तो स्वयं ही परतन्त्र है, अतएव वह भक्तिमार्गको अधीन कैसे रख सकता है?

जीव स्वका अर्थ नहीं। देह, इन्द्रिय और बुद्धिके परतन्त्र पदार्थ स्वका अर्थ या स्वतन्त्रका अर्थ नहीं हो सकता। अतएव भक्ति ज्ञातृपरतन्त्र नहीं हो सकती। यही अतिदेश भक्तिमें भी है, भक्ति भक्तपरतन्त्र भी नहीं हो सकती। अब रहा ज्ञेय-भजनीय-ईश्वर। हाँ, यह 'स्वतन्त्र' शब्दके स्वका अर्थ हो सकता है किंवा है ही। भक्तिमार्ग ईश्वर-परतन्त्र है, भगवत्परतन्त्र है। इसीको मैं स्वतन्त्र भक्तिमार्ग कहता हूँ। इस मार्गको अनुग्रहमार्ग कहो, पुष्टिमार्ग कहो या स्वतन्त्र भक्तिमार्ग कहो— सब एक ही पदार्थ हैं। यह मार्ग जीवकृतिसाध्य नहीं किन्तु भगवत्कृत दानसाध्य है। अतएव भगवत्परतन्त्र है, स्वतन्त्र है।

सर्ग-विसर्ग आदि जिस प्रकार श्रीपुरुषोत्तमकी लीलाएँ हैं, उसी तरह भक्ति, अनुग्रह या पुष्टि भी भगवान्‌की लीला ही है। भगवान् सर्ग क्यों करते हैं— यह प्रश्न जैसे नहीं हो सकता, उसी तरह भगवान् अनुग्रह क्यों करते हैं—यह प्रश्न भी नहीं हो सकता। भगवान् स्वतन्त्र हैं, उनकी क्रीडामें प्रश्न भी नहीं हो सकता। हमारी या हमारे बालकोंकी क्रीडा* में हेतु या प्रश्न हो सकता है? अतएव कहा है—

क्रीडायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीडिषान्यतः।
स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदान्यतः॥

अप्रयास, अप्रयोजन, अपनी खुशीसे कुछ-न-कुछ औंधा-सूधा करते रहना—इसको लीला या क्रीडा कहते हैं। बालकमें यह है। पालनेमें सोता हुआ बच्चा अप्रयास, अप्रयोजन, अपनी मर्जीसे औंधा-सूधा कुछ भी करता ही रहता है। यह रहते भी उसमें तीन बातें है— उद्यम, काम (विलासेच्छा) और दूसरेके साथकी अपेक्षा। किन्तु भगवान् स्वतः पूर्ण हैं, तृप्त हैं। उद्यम विना ही सब कुछ करते हैं और उनके लिये कोई अन्य है ही नहीं। ऐसी अवस्थामें लीला या क्रीडा क्यों करते हैं? यह प्रश्न हो सकता है और विदुरजीने मैत्रेयसे किया ही है। उसका उत्तर भी मैत्रेयजीने प्रश्नकर्ताके अधिकारानुसार दिया है। किन्तु ये प्रश्न और उत्तर दोनों मर्यादामार्ग (वैदिक मार्ग)-के अनुसार हैं, पुष्टिमार्ग किंवा स्वतन्त्र भक्तिमार्गके अनुसार नहीं हैं।

पुष्टिमार्गमें भगवान् पूर्ण हैं, असंकुचित सर्वसामर्थ्य-वान् हैं। यहाँ उद्यम भी है,काम भी है; अन्य भी है, क्रीडेच्छा भी है। पुष्टिमार्गीय भगवान् तृप्त नहीं, अतृप्त हैं; निष्काम नहीं, विलासेच्छु हैं; निष्क्रिय नहीं, सक्रिय हैं; अद्वितीय नहीं, सद्वितीय है; निर्धर्मक नहीं, सधर्मक हैं; निर्दोष हैं, निर्गुण हैं, निर्विकार हैं। पुष्टिमार्गीय पूर्ण पुरुषोत्तम ईश्वर श्रीकृष्ण हैं। पुरुषोत्तमके ही रूपान्तरका नामान्तर श्रीकृष्ण है। पुरुषोत्तम आन्तरस्वरूप है, यह बाह्यस्वरूप। पुरुषोत्तम मार्यादिक भी हैं, पौष्टिक भी। श्रीकृष्ण भी मार्यादिक हैं और पौष्टिक भी। लेखका विस्तार होनेसे मैं इन बातोंका विशेष खुलासा नहीं कर सकता। जो लोग ईश्वरको अपूर्ण और संकुचित-सामर्थ्य मान रहे हैं उनका ईश्वर अनीश्वर ही है, कहनेमात्रका ईश्वर है। **ईष्टे असौ ईश्वरः।** यहाँ असंकुचित सामर्थ्य ही वास्तविक अभीष्ट है। 'पूर्ण' शब्द भी असंकुचित है। लोकमें कोई ईश्वर, पूर्ण या पुरुषोत्तम है ही नहीं। एक पौष्टिक ईश्वर ही ईश्वर, पूर्ण और पुरुषोत्तम हैं। श्रीकृष्ण वास्तविक ईश्वर, पूर्ण और पुरुषोत्तम है। '**पुरमुषतीति पुरुषः।**' पुरुष सब दोषोंको भस्म कर दे और पुरुषोत्तम न कर सके तो वह पुरुषोत्तम कैसा?

जो लोग श्रीकृष्णको ईश्वरेश्वर, पूर्ण और पुरुषोत्तम नहीं मानते, उनके प्रति मेरा यह लेख नहीं है। किन्तु मेरा यह लेख 'कल्याण' के लिये है। कल्याणके पाठक, जो कल्याणेच्छु हैं, मुझे विश्वास है कि मुझे गालियाँ देते जायँगे, पढ़ते जायँगे और स्वीकार करते जायँगे। मर्यादाके भयंकर पक्षपाती लोग चाहे मुझे गालियाँ दें, किन्तु सत्य बात कहनी ही पड़ती है। जितने मर्यादाके ईश्वर हुए हैं वे सब वास्तविक अपूर्ण, संकुचित (अनीश्वर) सामर्थ्यवाले हैं। पुष्टिमार्गीय ईश्वर सदोष है, निर्दोष भी है। सदोष होनेसे ही हमारे कामका है। स्वतन्त्र भक्तिमार्गीय ईश्वरमें सबसे जबरदस्त दोष तो विषमता है। अर्जुनको अच्छा कहते हैं, अर्जुनके लिये प्राण देते हैं। '**विजयरथकुटुम्बे**' अर्जुनके रथको अपना कुटुम्ब समझते हैं। भीष्म, द्रोण, कर्ण आदिको मरवाना चाहते हैं। महाभारतमें अनेकत्र इस ईश्वरकी विषमता खोली गयी है। यदि वे केवल निर्दोष होते तो हमारी तरफ देखते ही क्यों? शास्त्र जैसे पापियोंका बहिष्कार किये रहता है, वैसे वे भी हमसे बचते रहते। ईश्वरकी विषमता ही गरीब और सदोषोंका जीवन है।

* लीला नाम विलासेच्छा। कार्यव्यतिरेकेण कृतिमात्रम्। न तया कृत्या बहिः कार्यं जन्यते। जनितमपि कार्यं नाभिप्रेतम्। नापि कर्तरि प्रयासं जनयति। किन्त्वन्तःकरणे पूर्णे आनन्दे तदुल्लासेन कार्यजननसदृशी क्रिया काचिदुत्पद्यते इत्यादि। सुबोधिनी, भाग० ३ स्कन्धे।

अतएव कहना पड़ता है कि स्वतन्त्र भक्तिमार्गके 'स्व' शब्दका अर्थ पुष्टिमार्गीय ईश्वर है। यह भक्ति भगवान्‌के अधीन है। भगवान् ही साधन हैं। पुष्टिमार्गीय भक्तोंसे जो यह भगवान् कभी-कभी धर्माचरण, ब्रह्मभाव और भजन आदि कराते हैं, वह सब इनका ढोंग है। मर्यादामाार्गकी रक्षा और मर्यादामार्गीय साधनोंकी रक्षा करनेके लिये यह सब ढोंग रच रखा है। इसके मार्ग (अनुग्रह)-में कोई साधन ही नहीं है। यह आप ही साधन है। इसके धर्म और यह धर्मी दोनों एक ही पदार्थ हैं। राजाने एक चमारको अपना दोस्त बना लिया हो तो लोग कहते हैं कि राजाने चमारको दोस्त बना लिया, या यह भी कहते हैं कि राजाके अनुग्रहने उसे बड़ा ऊँचा कर दिया। दोनों एक ही हैं। हमने एक दिन जब इस ईश्वरकी चालाकी छिपकर देख पायी तो मालूम हुआ कि मर्यादामार्गमें भी साधनोंकी आड़-ही-आड़ है, वास्तवमें काम तो यही कर रहा है। सबका उद्धार करनेमें साधन तो ये स्वयं ही हैं; पर वेदकी रक्षा, ब्राह्मणोंका पालन और साधनोंकी रक्षा करनेके लिये कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि साधनोंको आगे कर रखा है।

कृष्णानुग्रहरूपा हि पुष्टिः कालादिबाधिका।
अनुग्रहो लोकसिद्धो गूढभावान्निरूपितः॥
देवगुह्यत्वसिद्ध्यर्थं नामध्यानार्चनादिकम्।
पुरस्कृत्य हरेर्वीर्यं नामादिषु निरूप्यते॥

अनुग्रहमार्ग वेदसिद्ध नहीं है, लोकसिद्ध है—लोकमें सर्वत्र प्रचलित है। गूढ़ भावसे उसका प्रकाश होता है। भगवान् अन्य मार्गों (वैदिक मार्गों)-की रक्षा करनेके लिये अपने अनुग्रहको छिपा रखना चाहते हैं। भगवान्‌का अनुग्रह देवगणको भी मालूम नहीं हो पाता। अतएव नाम, ध्यान, अर्चन आदि मर्यादामार्गीय साधनोंकी आड़ रखते हैं। साधनानुष्ठानरहितका भी उद्धार करना है, दुष्ट और महादुष्टका भी उद्धार करना है; पर नाम-ध्यानादिको आगे रखकर। अपने वीर्यसे (अनुग्रहसे) उद्धार करना है; पर नामग्रहण, ध्यान, अर्चन आदिका यश गवाना है। सदोष अजामिलका उद्धार करना है, पर साँचे-झूठे नामग्रहण-को आगे रखकर। भगवन्नामसे अजामिलका मोक्ष हो गया, यह कहलवाना है। नाम, ध्यान, अर्चन आदि साधनोंकी आबरू रखनी है। यह कपट यदि भगवान्‌में न होता तो हम पापियोंका उद्धार कौन करता? भगवान् सदोष भी हैं, निर्दोष भी हैं; डरते भी हैं, डराते भी हैं और इसीमें जीवका उद्धार अन्तर्निहित है। उनकी सभयता, निर्भयता दोनों जीवोद्धारमें साधन हैं।

'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः' यह उस ईश्वरेश्वर श्रीकृष्णकी निर्भयता है। वे सबको डराते हैं।

गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद्
या ते दृशाश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम्।
वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य
सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति॥

युधिष्ठिरकी माता जब अपने भतीजे (श्रीकृष्ण)-की माता यशोदासे मिलने नन्दग्राम गयीं तो वहाँ क्या देखती हैं कि सैकड़ों गोपस्त्रियोंकी भीड़ लगी हुई है और मध्यमें श्रीकृष्ण डरे हुए सिर झुकाये खड़े हैं, आँखोंमेंसे काजल-से गँदले अश्रु निकल रहे हैं और कभी माताको और कभी माँके हाथकी रस्सीको देख लेते हैं और फिर मुँह नीचा कर लेते हैं। कुन्तीने किसी गोपीसे पूछा कि यशोदाजी अपने बच्चेको क्यों मारती हैं तो उसने उत्तर दिया कि अजी, बड़ा अधमी छोरा है; आज इसने दहीका माट फोड़ दिया, अब लाला पिट रहे हैं। कुन्ती भगवान्‌की स्तुति करते समय कह रही हैं कि नाथ! उस समय तो मुझे वह आपका डरना, रोना और आपकी वह दशा ठीक और सत्य मालूम होती थी; पर **'इदानीं सा मां विमोहयति'**—आज वह मुझे भुलावेमें डाल रही है। जिससे काल भी डरता है, क्या वह माँसे डरे? डरना सत्य है या निर्भयता और डराना सत्य है, कुछ समझमें नहीं आता।

किसी लँगोटियेने कहा है—

गोपीक्षीरघटीविलुण्ठनविधिव्यापारवार्ताविदोः
पित्रोस्ताडनशङ्कया शिशुवपुर्देवः प्रकाश्य ज्वरम्।
रोमाञ्चं रचयन् दृशौ मुकुलयन् प्रत्यङ्गमुत्कम्पयन्
सीत्कुर्वन् तमसि प्रसर्पति गृहे सायं समागच्छति॥

श्रीदामा गोपबालकने श्रीनन्द-यशोदासे जाकर कहा कि आज तो तुम्हारे श्रीकृष्णने हठीला (गोपी)-की दूधकी मटकी भर रास्ते लूट ली। यह सुनकर दोनों माँ-बाप श्रीकृष्णपर बड़े गुस्सा हो रहे थे। यह बात श्रीकृष्णने जान ली। अब तो डरके मारे घरमें भोजनतक करने न आये। पर कहाँतक? आखिर अँधेरा हुआ, बाहर डर

लगने लगा। बालक ही तो ठहरे। रातको कहीं घर आये, पर ज्वरका प्रकाश करते। सारे शरीरमें रोमांच हो आया है, अंग-अंग काँप रहा है। कभी आँखोंको मूँदते हैं, कभी शीतके आवेगसे सीत्कार करते हैं। यह अनुग्रहमार्ग है, यही भगवन्मार्ग है और यही स्वतन्त्र भक्तिमार्ग है।

कितने ही कहते हैं कि हम तो गीताको और गीताके श्रीकृष्णको मानते हैं। मानो भाई!! हमारी दृष्टिमें तो गीता और भागवत दोनोंके श्रीकृष्ण एक हैं।

सर्वानेव गुणान् विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः।
तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्वाक्पानं सुदुर्लभम्॥

'जो विचक्षणलोग श्रीकृष्णके सभी गुणोंका समान भावसे वर्णन, श्रवण और स्मरण करते हैं वे अमृतके समुद्र कहे गये हैं और उनके वचनामृतका पान करना बहुत महँगा है।' तथापि यदि गीतापर ही किसीका प्रेम हो तो यहाँ भी यही कहा है कि जीवोद्धार करनेमें ईश्वरेश्वर पुष्टिमार्गस्थित पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही सब साधनोंके मूल साधन हैं। हम पहले कह चुके हैं कि ईश्वर मर्यादास्थित पुरुषोत्तम भी हैं और पुष्टिस्थित भी। मर्यादामार्ग भी है और पुष्टिमार्ग भी है। साधन भी है, अनुग्रह भी है। भागवतमें दोनों हैं, श्रीगीतामें भी दोनों हैं। प्रत्युत गीताका उपसंहार पुष्टिमार्गपर ही है। गीतामें जहाँ यह है—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
... ...
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥
... ...
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

—वहीं यह भी है—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
... ...।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
...मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
... ...॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

इस तरह शास्त्र और अनुभवके द्वारा यह स्पष्ट होता है कि स्वतन्त्र भक्तिमार्गमें एक श्रीकृष्ण ही शरण हैं। विशेष तो क्या, मेरा सन्देह तो यह भी है कि मर्यादामार्गके सर्वसाधनोंके भीतर भी उन परम दयालु भगवान्‌की कृपा छिपी हुई है। अन्यथा शास्त्रकार ऐसा क्यों कहते?

यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु।
न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्॥

'जिसके स्वरूप और नामका स्मरण कर लेनेमात्रसे तप, यज्ञ किं वा अन्य क्रिया, ज्ञान, भक्ति आदिकी न्यूनता (कमी) सम्पूर्ण हो जाती है उन भगवान् श्रीकृष्णको मैं प्रणाम करता हूँ।'

इसलिये—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।

—इतना कहकर मैं अपने वक्तव्यको सम्पूर्ण करता हूँ।

शोकादि कबतक रहते हैं?

श्रीब्रह्माजी भगवान्‌से कहते हैं—

तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः॥

(श्रीमद्भा० ३। ९। ६)

हे प्रभो! तभीतक धन, घर और मित्रोंके कारण होनेवाले भय, शोक, कामना, तिरस्कार और लोभ रहते हैं, तभीतक समस्त दुःखोंका मूल 'यह मेरा है,' इस प्रकारकी झूठी धारणा भी रहती है, जबतक जीव तुम्हारे भयरहित चरणकमलोंकी शरण नहीं ग्रहण करता।

श्रीचैतन्य और रागानुगा भक्ति

(लेखक—प्रभुपाद श्रीप्राणकिशोर गोस्वामी, एम० ए०, विद्याभूषण)

व्रजेर निर्मल राम शुनि भक्तगण।
रागमार्गे भजे येन छाड़ि धर्म कर्म॥

श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु चिरकालसे अनर्पित जिस व्रजप्रेमका दान करनेके लिये अवतीर्ण हुए थे, उस प्रेमका तात्पर्य रागमार्गीय भजनपद्धतिसे ही है। महाप्रभुने श्रीराय रामानन्दके साथ इसी भक्तिका माधुर्य आस्वादन किया था। उन्होंने स्वयं श्रीरूप, श्रीसनातन और श्रीरघुनाथदास गोस्वामीको इस साधनाका उपदेश दिया था। स्वरूप-दामोदर आदि अन्तरंग भक्तोंके साथ महाप्रभुने इसी मधुर रसका आस्वादन करते हुए गंभीराकी नन्हीं-सी कोठरीमें लगातार बाहर वर्षका लंबा समय बिताकर जीवोंको व्रजमाधुरीका परिचय कराया था। महाप्रभुके द्वारा प्रवर्तित गौडीय वैष्णव-सम्प्रदायमें आज भी इस रागमार्गीय भक्ति-साधनाके लिये एक विशिष्ट स्थान सुरक्षित है।

श्रीरूपगोस्वामिपादने भक्तिरसामृतसिन्धुमें इस रागभक्तिका लक्षण बतलाया है—

इष्टे स्वारसिको रागः परमाविष्टता भवेत्
तन्मयी या भवेद् भक्तिः सात्र रागात्मिकोच्यते॥

रागका स्वरूपलक्षण है—इष्ट विषयमें गाढ़ तृष्णा और तटस्थलक्षण है—इष्टमें परम आविष्टता। इस प्रकारकी रागमयी भक्तिका नाम ही रागत्मिका भक्ति है। कोई-कोई भाग्यवान् पुरुष इस रागात्मिका भक्तिकी बात सुनकर इसके प्रति लुब्ध होते हैं। रूप, रस, गन्ध, शब्द, और स्पर्शादि प्राकृत विषयोंको प्राप्त करनेकी प्रबल इच्छा विषयी पुरुषोंमें स्वाभाविक ही देखने आती है। इन्द्रियाँ सहज ही भोगलोलुप होकर विषयोंके प्रति खिंची जाती हैं। रूपादि विषयोंका ग्रहण करनेके लिये चक्षु आदि इन्द्रियोंका जो यह प्रबल इच्छामय प्रेम है, इसीको राग कहते हैं। यह राग वैषयिक है। किसी भाग्यवान्के हृदयमें जब भगवत्-सम्बन्धसे ऐसा प्रेम प्रकट होता है, तब वही यथार्थ राग कहलाता है। भक्तिसन्दर्भमें श्रीजीवगोस्वामीजीने कहा है—

'तत्र विषयिणः स्वाभाविको विषयसंसर्गेच्छामयः प्रेमा रागः यथा चक्षुरादीनां सौन्दर्यादौ। तादृश एवात्र भक्तस्य श्रीभगवत्यपि राग इत्युच्यते।'

श्रीकृष्णदास कविराज महोदयने श्रीचैतन्य-चरितामृतमें लिखा है—

इष्टे गाढ तृष्णा रागस्वरूपलक्षण।
इष्टे आविष्टता तटस्थलक्षणकथन॥
रागमयी भक्तिर हय रागात्मिका नाम।
ताहा सुनि लुब्ध हय कोन भाग्यवान॥

रागात्मिका भक्ति कामरूपा और सम्बन्धरूपा भेदसे दो प्रकारकी है। नित्यसिद्ध भक्त ही इस द्विविध भक्तिके आश्रय हैं। वैकुण्ठ, अयोध्या, द्वारका आदि भगवद्धामोंमें भी रागत्मिका भक्ति है; परन्तु व्रजवासी भक्तोंमें तो यही भक्ति मुख्यरूपसे है। '**रागात्मिका भक्ति मुख्या व्रजवासी जने**' (चै०च०)। व्रजवासियोंका जो श्रीकृष्णविषयक 'राग' है, उसीकी अनुगामिनी भक्तिको 'रागानुगा भक्ति' कहते हैं। यह रागानुगा भक्ति महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवकी विशेष देन है।

विराजन्तीमभिव्यक्तं व्रजवासिजनादिषु।
रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोदिता॥

(श्रीरूप)

जिनके हृदयमें रागानुगाका उदय होता है, उनके लिये किसी शास्त्रका, युक्तिका या किसी विधि-निषेध-का बन्धन नहीं रहता। एक स्वाभाविक प्रेमकी प्रेरणासे ही उनकी जीवन-गति चलती है। व्रजवासियोंके प्रेमकी कथा साधकको इस प्रकार लुभा लेती है कि फिर साधक अपनी योग्यता-अयोग्यताका विचार नहीं कर पाते। उनकी भजनकी प्रवृत्तिको वह लोभ ही जगा देता है। उनके मनमें केवल एक तीव्र लालसा फूट निकलती है और वे परवश होकर दिन-रात उस व्रजप्रेमकी प्राप्तिके लिये ही व्याकुल प्राणसे प्रार्थना किया करते हैं।

लोभे व्रजवासीर भावे करे अनुगति।
शास्त्रयुक्ति नाहि माने रागानुगार प्रकृति॥

इस प्रकारकी रागानुगा भक्तिका भक्तहृदयमें किस प्रकार उदय होता है, इसका क्रमानुसन्धान करनेसे पता लगता है कि इसमें साधकका अपना पुरुषार्थ कुछ भी नहीं है। व्रजके भक्तोंकी प्रेमसेवाकी चर्चा सुनकर किसी

भाग्यवान्‌के चित्तमें जो लोभ होता है, वह लोभ ही इस रागानुगाका मूल कारण है। श्रीजीवगोस्वामी कहते हैं--

'यस्य पूर्वोक्तरागविशेषे रुचिरेव जातास्ति न तु रागविशेष एव स्वयं तस्य तादृशरागसुधाकरकराभास-समुल्लसितहृदयस्फटिकमणेः शास्त्रादिश्रुतासु तादृश्या रागात्मिकाया भक्तेः परिपाटीष्वपि रुचिर्जायते।

व्रजवासियोंकी इस रागात्मिका भक्तिमें रुचि होने-पर जिनके चित्त स्फटिकमणिके सदृश स्वच्छ हैं, उन्हींके चित्तमें व्रजवासियोंके इस रागरूपी चन्द्रमाका किरणाभास प्रतिफलित होता है—जिससे रुचि अथवा व्रजवासियोंके चरित्रानुकरणका लाभ उत्पन्न हो जाता है। 'रागवर्त्मचन्द्रिका' में विश्वनाथ चक्रवर्ती महोदय कहते हैं—'वह लोभ भगवत्कृपाहेतुक और अनुरागिभक्त-कृपाहेतुक भेदसे दो प्रकारका होता है। फिर भक्तकृपाहेतुक लोभमें भी प्राक्तन और आधुनिक—ये दो भेद होते हैं। पूर्वजन्ममें प्राप्त भक्तकृपाहेतुक लोभ प्राक्तन है और इस जन्ममें किसी प्रेमी भक्तकी कृपासे उत्पन्न लोभ आधुनिक है। जन्मान्तरमें प्राप्त लोभ होनेपर उस लोभके बाद वैसे ही प्रेमी गुरुका चरणाश्रय होता है; और आधुनिक भक्तकृपाका क्षेत्र होनेपर गुरुचरणाश्रयके बाद लोभ उत्पन्न होता है।

तत्तद्भावादिमाधुर्ये श्रुते धीर्यदपेक्षते।
नात्र शास्त्रं न युक्तिश्च तल्लोभोत्पत्तिलक्षणम्॥

व्रजराजनन्दन श्यामसुन्दर और उनके प्रिय व्रज-वासियोंके प्रेम-माधुर्यादिकी कथा सुननेपर वैसे ही भावकी प्राप्तिके लिये शास्त्र और युक्तिकी अपेक्षा न करके जो एक लोभका उदय होता है, उसीके द्वारा रागानुगा भक्तिका परिचय मिलता है। श्रीवल्लभाचार्यके सम्प्रदायमें इसी भक्तिमार्गको पुष्टिमार्ग कहा गया है। कहीं-कहीं इसे 'अविहिता' भक्ति भी कहा गया है—

'माहात्म्यज्ञानयुतेश्वरत्वेन प्रभौ भक्तिर्विहिता, अन्यतः प्राप्तत्वात् कामाद्युपाधिजा त्वविहिता' (अणुभाष्य)

अविहिता भक्ति कामजा और स्नेहजा तथा कामानुगा और सम्बन्धानुगा भेदसे चार प्रकारकी है। श्रीजीवगोस्वामी अविहिताका निर्णय करते हुए कहते हैं—

'अविहित रुचिमात्रप्रवृत्त्या विधिप्रयुक्तत्वेनाप्रवृत्त-त्वात्।'

'रुचिमात्रप्रवृत्तिके कारण ही इस प्रकारकी भक्तिको अविहिता कहते हैं।' इसकी प्रवृत्तिके मूलमें किसी विधिका प्रयोग नहीं होता। भगवत्-सम्बन्धी स्नेह कामादिमें कोई विधान नहीं होता। **'स्नेहकामादीनां विधातुमशक्यत्वात्।'** 'मुक्ताफल' नामक ग्रन्थमें श्रीबोपदेवने भी इस भक्तिको अविहिता ही कहा है। 'श्रीगोविन्द-भाष्य'ग्रन्थमें श्रीबलदेव विद्याभुषण इसको 'रुचिभक्ति' कहते हैं।—**रुचिभक्तिर्माधुर्यज्ञानप्रवृत्ता, विधिभक्ति-रैश्वर्यज्ञानप्रवृत्ता।'**

'रुचिरत्र रागः'। तदनुगता भक्तिः, रुचिभक्तिः। अथवा रुचिपूर्वा भक्तिः, रुचिभक्तिः। इयमेव 'रागानुगा' इति गदिता॥'

श्रीनिम्बार्क सम्प्रदायके श्रीहरिव्यासजीने अपनी सिद्धान्त-रत्नाञ्जलि' टीकामें अविहिता भक्तिका उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि व्रजके परिकर श्रीनन्द अथवा सुबल आदिके भावसे लोभवश अविहिता भक्तिका अनुष्ठान हो सकता है। परन्तु 'महावाणी' में उन्होंने ही सखीभावसे नित्य वृन्दावनमें श्रीराधागोविन्दकी युगल सेवाप्राप्तिकी साधना बतलायी है। महावाणीमें दास, सखा या पिता-माताका उल्लेख नहीं है। गौडीय वैष्णावोंकी रागानुगा भक्तिके साथ श्रीहरिव्यासजीकी साधनाका भेद इस विषयमें सुस्पष्ट है। महाप्रभुका सम्प्रदाय कहीं भी दास, सखा, पिता-माताको बिलकुल बाद देकर केवल युगल-भजनका निर्देश नहीं करता। **'कुत्रापि तद्रहिता न कल्पनीया।'** फिर, श्रीहरिव्यासजीमें श्रीकृष्णकी देवलीलापरायणता है। परन्तु गौडीय वैष्णव केवल नरलीलामें ही माधुर्योपासक हैं।

इस माधुर्यका आस्वादन करनेके लिये जिनके चित्तमें सदिच्छा उत्पन्न हो गयी है, वे ही इस रागानुगा भक्तिके अधिकारी हैं। श्रीसनातन गोस्वामीने इस सम्बन्धमें भागवतकी व्याख्याके उपसंहारमें कहा है—

भक्तौ प्रवृत्तिरत्र स्यात्तच्चिकीर्षा सुनिश्चया।
शास्त्राल्लोभात्तच्चिकीर्षू स्यातां तदधिकारिणौ॥

कलियुगपावनावतार श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुने विद्यानगरमें राय रामानन्दके साथ साध्य-साधनतत्त्वका विचार करते समय श्रीराधाकृष्ण युगल सरकारकी कुञ्जसेवाको ही सर्वश्रेष्ठ साध्य निर्णय किया है। इस साध्यकी प्राप्तिके लिये श्रीराधाजीकी प्रिय सखियोंके अनुगत होनेके अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें है—

राधा कृष्णेर लीला एइ अति गूढतर।
दास वात्सल्यादि भावेर ना हाय गोचर॥

सखी विना एइ लीलाय अन्येर नाहि गति।
सखीभावे तारे जेइ करे अनुगति॥
राधाकृष्ण कुञ्जसेवा साध्य सेइ पाय।
सेइ साध्य पाइते आर नाहिक उपाय॥

अनुगत सखीभावके लोभी साधकको निरन्तर अन्तर्मुखी मनसे स्मरण करना चाहिये—अपने-अपने अभीष्ट श्रीकृष्णका और उनकी प्रियतमा श्रीराधाजी, ललिता, विशाखा और श्रीरूपमञ्जरी गोपीजनोंका। साथ ही उन्हें श्रीहरिनाममें और लीलाकथाके श्रवणमें रत होकर श्रीव्रजधाममें निवास करना चाहिये। सेवाप्राप्तिकी इस साधनाके सम्बन्धमें पूर्वाचार्योंने कहा है—

कृष्णं स्मरन् जनं चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितम्।
तत्तत्कथारतश्चासौ कुर्याद्वासं व्रजे सदा॥

(श्रीरूप)

रागानुगा भक्तिमें बाह्य और आन्तर भेदसे दो प्रकारके साधन होते हैं। साधकको साधनाकी प्रारम्भिक स्थितिसे लेकर अपने साधक और सिद्ध देहके भेदको जानना चाहिये। रघुनाथदास गोस्वामीको महाप्रभुने जो शिक्षा दी है, उसे याद रखना चाहिये। ग्राम्यवार्त्ता (दुनियाकी चर्चा), दूसरोंकी समालोचना करना और सुनना साधकके लिये निषिद्ध है। बढ़िया चीजें खाने और बढ़िया कपड़े पहननेका त्याग करना चाहिये। स्वयं अमानी होकर दूसरोंका सम्मान करना चाहिये। साधकदेहसे सदा '**हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे**'—इन नामोंका कीर्तन करना चाहिये। मनमें सिद्धदेहकी भावना करके वृन्दावनधाममें श्रीराधागोविन्दकी सेवा करनी चाहिये। जहाँतक हो सके साधकका वृन्दावनमें रहना ही कर्तव्य है, नहीं तो मन-ही-मन वृन्दावनमें रहना चाहिये। सनातन गोस्वामीको भी महाप्रभुने कहा है कि उपर्युक्त प्रकारसे रागानुगा भक्तिकी साधना करनेपर श्रीकृष्णके चरणोंमें प्रीति उत्पन्न होती है, इसी प्रीतिसे भगवान् भक्तोंके वश होते हैं। इस रागानुगा भक्तिसे ही प्रेमसेवाकी प्राप्ति होती है।

रागानुगा भक्तिमें स्मरणकी ही प्रधानता है। श्रीसनातन-गोस्वामीजीने 'बृहद्भागवतामृत' ग्रन्थमें इसका विस्तारसे वर्णन किया है। राग मनका धर्म है। इस साधनमें मानसिक सेवा और संकल्प ही मुख्य हैं। रघुनाथदास गोस्वामीके विलापकुसुमाञ्जलि और श्रीजीवगोस्वामीके 'संकल्पकल्पद्रुम' आदि ग्रन्थोंमें रागानुगा भक्ति अनुकूल संकल्प और मानसी सेवाके क्रमका वर्णन मिलता है।

सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि।
तद्भावलिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारतः॥

यथावस्थित देह ही साधकदेह है और अंदरमें अपने इष्ट श्रीराधागोविन्दकी साक्षात् सेवा करनेके लिये जो उपयोगी देह है, वह सिद्धदेह है। जो व्रजभावको प्राप्त करनेकी इच्छा रखते और उसके लिये ललचाते हैं, उनको निश्चय ही व्रजवासियोंके अनुगत होकर अपने साधक-देह और सिद्धदेहसे कभी बाह्य उपचारोंसे और कभी मानसिक उपचारोंसे भगवत्सेवा करनी चाहिये। सिद्ध देहकी भावनाके सम्बन्धमें सनत्कुमारतन्त्रमें कहा गया है—

आत्मानं चिन्तयेत्तत्र तासां मध्ये मनोरमाम्।
रूपयौवनसम्पन्नां किशोरीं प्रमदाकृतिम्॥

रागानुगाके साधनमें जो 'अजातरति' साधक है अर्थात् जिनको रतिकी प्राप्ति नहीं हुई है, उनको अपने लिये गुरुदेवके उपदेशानुसार सखीकी संगिनीके भावसे मनोहर वेश-भूषादिसे युक्त किशोरी रमणीके रूपमें भावना करनी चाहिये। सखीकी आज्ञाके अनुसार सदा सेवाके लिये उत्सुक रहते हुए श्रीराधाजीके निर्माल्यस्वरूप अलङ्कारोंसे विभूषित साधकोंके सिद्धस्वरूप इस मञ्जरी-देहकी भावना निरन्तर करनी चाहिये। मञ्जरी स्वरूपमें तनिक भी सम्भोगकी वासना नहीं है। इसमें केवल सेवा-वासना है। जो साधक 'जातरति हैं, अर्थात् जिनको रति प्राप्त हो गयी है, उनमें इस सिद्धस्वरूपकी स्फूर्ति अपने-आप ही हो जाती है। प्रसंगवश यहाँ हमें 'द्रविडोपनिषत्-तात्पर्य' ग्रन्थमें उल्लिखित प्राचीन आलवार भक्त शठारि मुनिका स्मरण हो आता है। शठारि मुनिके साधकदेहमें ही सिद्धदेहका भाव उतर आया था। उन्होंने अनुभव किया था कि एक श्रीभगवान् ही पुरुषोत्तम हैं, अखिल जगत् स्त्री-स्वभाव है। अन्तमें शठारिमें कामिनी-भावका आविर्भाव हो गया था-

पुंस्त्वं नियम्य पुरुषोत्तमताविशिष्टे
स्त्रीप्रायभावकथनाज्जगतोऽखिलस्य।
पुंसां च रञ्जकवपुर्गुणवत्तयापि
शौरेः शठारियमिनोऽजनि कामिनीत्वम्॥

(बँगला वैष्णवधर्म)

गौडीय वैष्णव साधकगण 'गोविन्दलीलामृत' और 'कृष्णभावनामृत'आदि ग्रन्थोंके क्रमानुसार गुरु गौरांगदेव-

के अनुगत भावोंसे श्रीराधा-गोविन्दकी अष्टकालीन लीलाका स्मरण करते हैं। इस लीलाके ध्यानमें ही मानसोपचारसे इच्छित सेवा होती रहती है। बंगालके साधक श्रीनिवास आचार्य किसी मञ्जरी-देहसे श्रीराधाकृष्णलीलाका ध्यान कर रहे थे। उन्होंने देखा श्रीकृष्ण गोपीजनोंके साथ यमुनाजीमें क्रीड़ा कर रहे हैं, परन्तु हाय! यह क्या हुआ? श्रीराधाके कानका एक मणिकुण्डल जलमें गिर पड़ा। सखियाँ और उनकी अनुगता मञ्जरी दासियाँ सभी खोज रही हैं, परन्तु वह मिलता नहीं। अन्तर्देहमें इस कुण्डलकी खोजमें श्रीनिवासका एक सप्ताहका समय पूरा हो गया। साधकदेह निष्पन्द प्राणहीनकी तरह आसनपर विराजित था। श्रीनिवासजीकी पत्नी और अन्यान्य सभी लोगोंने समझा की श्री-निवासजीने देहत्याग कर दिया है। वनविष्णुपुरके राजा वीरहम्मीर उन्हें देखने आये, सौसे अधिक आदमी उनके साथ थे। किसी भक्तने कहा, 'रामचन्द्र कविराजको बुलाना चाहिये' श्रीनिवास आचार्यके हृदयसे वे ही परिचित हैं।' रामचन्द्र वहाँ बुलाये गये। प्रभुके चरणोंमें प्रणाम करके रामचन्द्रने जान लिया कि ये इस समय मञ्जरीदेहकी आवेशमें हैं। रामचन्द्र भी इस दिशामें पहुँचे हुए थे। वे भी अपने सिद्धदेहकी भावना करके अन्तर्जगत्में श्रीनिवासकी अनुगता दासीके रूपमें उनके साथ हो लिये। वहाँ उन्होंने देखा, अभी कुण्डलकी खोज चल ही रही है। नवीन मञ्जरी-देहसे खोजनेके काममें चतुर रामचन्द्रको थोड़ी ही देरमें एक कमलपत्रके नीचे श्रीराधाजीका कुण्डल दिखलायी पड़ा। उसी क्षण उठाकर उन्होंने श्रीनिवासजीके हाथमें दे दिया। सखी-मञ्जरियोंमें आनन्दकी तरंगें उछलने लगीं। श्रीनिवासजी अपनी गुरुपरम्परासे सखियोंके साथ श्रीराधाजीके चरणोंमें पहुँचे और नवीन मञ्जरीद्वारा मिला हुआ कुण्डल उन्हें दे दिया। श्रीराधारानीने प्रसन्न होकर अपना चबाया हुआ पान उन्हें पुरस्कारके रूपमें दिया। रामचन्द्र और श्रीनिवास दोनों ही सोकर उठनेवालोंकी तरह साधकदेहमें लौट आये, देखा गया कि सचमुच ही श्रीराधाजीका दिया हुआ पान-प्रसाद उनके मुखोंमें था।

महाप्रभुका दिया हुआ यह रागानुगा-भजन विश्वका कल्याण करें।

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां
ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे
आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी॥

'विश्वका कल्याण हो' दुष्टलोग निष्ठुरताका त्याग करके प्रसन्न हों, समस्त जीव कल्याणका चिन्तन करें; उनके मन शान्त कल्याणमय भावको धारण करें एवं उनकी तथा हमारी सबकी मति निष्काम होकर अधोक्षज भगवान् श्रीगोविन्दमें प्रवेश कर जाय।

सच्ची बानी

जो मैं हारौं राम की जो जीतौं तौ राम॥
जो जीतौं तौ राम राम से तन मन लावौं।
खेलौं ऐसो खेल लोक की लाज बहावौं॥
पासा फेंकौं ज्ञान नरद बिस्वास चलावौं।
चौरासी घर फिरै अड़ी पौबारह नावौं॥
पौबाराह सिखाय एक घर भीतर राखौं।
कच्ची मारा पाँच रैनि दिन सत्रह भाखौं॥
पलटू बाजी लाइहौं दोऊ बिधि से राम।
जो मैं हारौं राम की जो जीतौं तौ राम॥

—पलटू

प्रेम-साधना

(लेखक—पूज्यपाद श्रीभोलानाथजी महाराज)

कारे बगैर इश्क न दारेम दर जहाँ।
इश्कस्त कारे मा व बदीं कार आमदेम॥

I have no mission except Love in this world,

My mission is Love and my work is Love.

इस संसारमें मेरा सिवा प्रेमके और दूसरा काम ही क्या है? प्रेम मेरा सिद्धान्त है और उसीके लिये मैं आया हूँ।

प्रश्न—आपको 'प्रेम' इतना प्यारा क्यों है?

उत्तर—चूँकि यह अति सुन्दर वस्तु है और यह नियम है कि जहाँ सौन्दर्य होता है, वहाँ प्रेम होता है।

प्र०—लेकिन जब सौन्दर्य हो तो उससे प्रेम हो; मगर आप तो 'प्रेम' को प्रेम करते हैं?

उ०—चूँकि प्रेम ही सौन्दर्य है, इसलिये यह प्रियतम भी है और सौन्दर्य भी।

प्र०—यह सुन्दर क्यों है?

उ०—चूँकि सुन्दर है।

प्र०—इसके सौन्दर्यके लक्षण क्या हैं?

उ०—यह एक ऐसा तत्त्व है जिसमें सब खूबियाँ मौजूद हैं।

प्र०—प्रेम परिच्छिन्न (limited) है या अपरिच्छिन्न (unlimited) ?

उ०—अपरिच्छिन्न भी है और परिच्छिन्न भी।

प्र०—एक ही समयमें दो विरोधी बातें कैसे इकट्ठी हो सकती हैं?

उ०—विरोधी तो देखनेवालोंकी नजरमें हैं, अपनी असलियतमें नहीं। यह अपरिच्छिन्न तो अपने सामान्य रूपमें है और परिच्छिन्न अपने विशेष रूपमें। जिस तरह एक लकड़ीका रगड़कर उसके कोनेपर आग पैदा कर दी जाय तो वह एक तरहसे तो परिच्छिन्न हुई, क्योंकि अपने विशेष रूपमें केवल एक जगह प्रकट हो रही है; लेकिन अपनी असलियतमें वह अपरिच्छिन्न है, क्योंकि वह लकड़ीके हर हिस्सेमें मौजूद है।

'तो प्रेमके अपरिच्छिन्न और असीम (unlimited) होनेका प्रमाण क्या है?'

'सूरजके होनेका प्रमाण क्या है—सूरज खुद आप या कोई और?'

'आँखें'?

'लेकिन' आँखें सूरजको किससे देखती हैं? उसीसे या किसी मोमबत्ती (candle) वगैरहसे?

'उसको उसीके प्रकाशसे देखा जाता है।'

तो बस, प्रेमके अपरिच्छिन्न होनेका प्रमाण प्रेम खुद आप है। प्रेम संसारके हर हिस्सेमें मौजूद है। प्रेमके बगैर संसारकी स्थिति असम्भव है। प्रेमके बगैर कोई मुल्क, कौम या देश नहीं रह सकता—यहाँतक कि प्रेमके बगैर अपना आप भी नही रहता । प्रेम मनुष्योंमें है, पशुओंमें है, पक्षियोंमें है; प्रेम पञ्चभूतोंमें आकर्षण (Gravitation) के रूपमें प्रकट होता है। संसारका नियमितरूपसे चलना इसी प्रेमपर निर्भर है। संसारके एक परमाणुका दूसरे परमाणुकी तरफ खिंचना प्रेम ही तो है। आपने जलकी बूँदको पुष्पकी पत्तीपर रखा, सूरजके प्रकाशने उसको धुँआ बनाकर उड़ा दिया, मानो वह नष्ट-सी हो गयी। वहाँसे हवाने उसको गोदमें लिया और पहाड़ोंपर झूला झुलाने लगी। सरदीने उसका स्वागत किया। फिर वह पानी बनाकर पहाड़की चट्टानोंपर फेंकी गयी, वहाँसे नालोंमें मिली, फिर दरियामें आयी और आखिर समुद्रमें जाकर समुद्रसे एक हो गयी, चारों तरफ लहराने लगी। अपने मामूलीसे अस्तित्वको खोकर उसने पूर्ण और बड़े आकारको धारण कर लिया।

आपने आकाशकी तरफ पत्थर फेंका, वह जमीनकी तरफ चला आया। उसको अपनी धरती (पृथ्वी) से प्रेम है। आपने मोमबत्ती (candle) जलायी, प्रकाश ऊपरको हो गया, चूँकि उसका ध्येय सूरज वहाँ मौजूद है। आपने फुटबालके tube को फाड़ा, उसकी हवा कुलमें दौड़कर चली गयी। इत्यादि।

मनुष्य अपनेसे प्रेम करता है, अपने सम्बन्धियों

और प्रिय वस्तुओंसे प्रेम करता है। संसारमे हर परमाणुमें किसी-न-किसी वस्तुके लिये—जानते या न जानते हुए—आकर्षण पाया जाता है, जिसका मतलब यह है कि वह आकर्षण प्रेम है। यहाँतक कि भगवान्‌को संसारसे प्रेम है। अगर भगवान्‌को संसारसे प्रेम न होता तो वह उसको पैदा ही न करता। यदि कहीं रुद्ररूप बनकर वह संसारको तोड़ता नजर आता है तो उसका मतलब यह है कि वह उसको तोड़कर कोई और अच्छी शक्ल देना चाहता है। संसारको उससे प्रेम है। संसार जानता या न जानता हुआ अपने ध्येयकी तरफ जा रहा है। और सबका ध्येय अपने ध्याताके प्रेममें यहाँतक मग्न है कि हर वक्त ध्याताको प्रसन्न करनेके नये-नये सामान तैयार करता रहता है।

सिद्धान्त-संसारमें कोई ऐसा परमाणु नहीं कि जिसमें प्रेम न हो और जहाँ प्रेम न होगा, वह परमाणु रह ही नहीं सकता। उसका कारण यह है कि जिसको अपनेसे प्रेम न होगा उसको अपनेसे घृणा होगी; नतीजा यह होगा कि वह अपना नाश चाहेगा और एक दिन अपनेको नष्ट कर डालेगा, क्योकि संसारमें हर परमाणु कायम रहना चाहता है और अपने नाशसे भय मानता है। इसलिये हर परमाणुको अपनेसे प्रेम है। यही संसारकी स्थितिका बड़ा भारी तत्त्व है। मनुष्यके नित्य होनेका प्रमाण यह भी है कि हर मनुष्यको अपनी आत्मासे प्रेम है। संसारमें तमाम जीवित प्राणी या तो किसी दूसरेसे प्रेम करते हैं या अपने-आपसे। और जड पदार्थ न जानते हुए भी प्रेमके वश किसी-न-किसी ओर खिंचे जाते हैं। यह है प्रेमकी अपरिच्छिन्नता (Unlimitedness) का प्रमाण।

प्र०-लेकिन जहाँ प्रेमाकर्षण एक ओर खींचता है तो दूसरेसे नफरत नजर आती है; इसलिये जो स्थान नफरत—घृणाका होता है, वह तो प्रेमसे खाली ही हुआ?

उ०-यह भी गलत है; क्योंकि घृणा खुद तो कोई पदार्थ है नहीं, केवल प्रेमके अभावका नाम घृणा है। इसलिये पहले तो यह मानना होगा कि जहाँ प्रेम नहीं, वहाँ शून्य है। मगर यदि गौरसे देखें तो मालूम होता है कि घृणा उस अवस्थाका नाम है कि जहाँ हमारा प्रेम दूसरी ओर मुड़ता है, गोया प्रेमके दूसरी ओर मुड़नेका नाम घृणा है। इसका मतलब यह हुआ कि प्रेम वहाँ भी मौजूद है, लेकिन शक्ल ऐसी है कि समझमें नहीं आता।

प्रेम परमेश्वर

फिर यह भी सुननेमें आता है कि प्रेम भगवान् है और भगवान् प्रेम—

'God is Love and Love is God.'

—क्योंकि दोनोंके गुण समान हैं। और जब दो पदार्थ एक ही गुणवाले हो जायँ तो उनका भेद केवल नाममात्रका ही रह जाता है, वास्तविक नहीं। दो चिनगारियाँ अलहदा-अलहदा उड़ती हुई क्या हैं? सिर्फ आग। इसी तरह जब प्रेम और परमात्माके गुण एक हो जायँ तो दोनों एक ही तो हुए। परमात्मा सुखका समुद्र है, प्रेम भी सुखका समुद्र है; परमात्मा पूर्ण सौन्दर्य है, प्रेम भी पूर्ण सौन्दर्य है, परमात्मा व्यापक है, प्रेम भी व्यापक है। और अगर कोई कहता है कि नहीं, प्रेम तो परमात्माका गुण है तो हम पूछते हैं कि परमात्माका गुण किसी एक अंशमें है या सर्वांशमें। अगर एक अंशमें कहें तो बाकी परमात्माको प्रेमसे खाली मानना पड़ेगा और अगर सर्व अंशोंमें है तो परमात्मासे प्रेम जुड़कर एक है या ऐन वही होकर? अगर जुड़कर एक है तो बाकी हिस्सा जो परमात्माका बचा है कि जो इस जोड़से बाहर है, उसमें प्रेमका अभाव पाया जायगा और अगर बगैर जोड़के परमात्मासे एक है और हम उसमें और परमात्मामें कोई अन्तर कायम नहीं कर सकते तो परमात्मा और प्रेममें फर्क ही क्या रहा? जब अग्निको गरमीकी दृष्टिसे देखा तो कह दिया कि आग गरम है और जब गर्मीको (analyse) विश्लेषित किया या अच्छी तरह देखा तो गरमी सिवा आगके और है ही क्या? इसलिये प्रेम परमात्माका गुण होता हुआ परमात्मासे एक है। प्रेम गुण भी है और गुणी भी। कार्यरूपमें प्रेम गुण है और कार्यकी समाप्तिपर परमात्माका ही स्वरूप है। किसीने उसका नाम प्रेम रखा और किसीने परमात्मा।

प्र०— परमात्माके प्रेमस्वरूप होनेका प्रमाण क्या है?

उ०—सृष्टिकी उत्पत्ति और नाश परमात्माके प्रेमस्वरूप होनेका प्रमाण है।

प्र०—लेकिन जो नाश करता है, वह कौन है?

उ०—वह भी वही है कि जो उत्पत्ति और पालन करता है।

प्र०—तो उसमें प्रेमका अभाव तो जरूर पाया ही जायगा?

उ०—नहीं उसके तोड़नेमें भी प्रेम है; वह नयी चीजोंको बनानेके लिये पुरानी तोड़ता है, एक सङ्कल्पको तोड़कर दूसरा बनाता है, एकको गिराकर दूसरा कायम करता है।

प्र०—लेकिन जिसको गिराता है, उससे तो प्रेम नहीं करता?

उ०—चूँकि उसीको फिर नया बनाता है, इसलिये प्रेम ही तो हुआ।

प्रेम सुखरूप है

प्रेमके बगैर सुख असम्भव है। यह प्रेम ही एक ऐसी वस्तु है कि जिससे सुखका अनुभव हो सकता है। जहाँ प्रेम नहीं, वहाँ सुख नहीं। पतंगेको अगर लाख रुपयेके फानूसपर छोटा-सा प्रकाश नजर न आवे तो उसके लिये वह व्यर्थ है, और अगर एक मिट्टीका दीपक टिमटिमाता हुआ नजर आवे तो वह उसपर अपना सर्वस्व निछावर कर देता है। अगर झोंपड़ीसे प्रेम है तो वहाँ सुख है, अगर महलसे घृणा है तो उसमें सुखका अभाव पाया जाता है। यहाँतक कि प्रेम दु:खको भी सुख बना देता है।

एक समय भगवान् श्रीकृष्णका नाखून (नख) श्रीराधेजीको लग गया, कई महीनोंतक तो वह जख्म ताजा रहा। एक दिन अचानक भगवान्‌ने देखकर पूछा कि राधाजी! यह जख्मका निशान कैसा है?' तो हँसकर जवाब दिया कि 'हाँ, आपको क्यों मालूम हो? आप तो ऐसे दाता हैं कि सब कुछ देकर भूल जाते हैं।' वाह, वाह, दातापनका क्या प्रमाण दिया! देकर सब कुछ भूल जाते हैं! देखिये हम किसीको एक पैसा देते हैं तो सौ आदमियोंको दिखाते हैं। अगर कोई हमको पैसा देते वक्त देखनेवाला न हो तो जोरसे खाँसकर राह चलतोंकी नजर अपनी ओर आकर्षित करते हैं और अपनी आँखें उनकी आँखोंसे जोड़कर उस भिक्षुकको कहते हैं, 'ले पैसा, यह है तुम्हारे सामने।' मगर वाह री दानशीलता! दान प्रभुका कि जिसने हमको सब कुछ देकर अपना मुँह इस तरह छुपा लिया कि कोई ढूँढ़कर तो दिखाये। शायद उनको यह ख्याल है कि कोई यह न कह दे कि यह मेरा दाता है! लेकिन तमाशा तो यह है कि प्रभु जितना छुपते हैं उतना ही और प्रकट हो जाते हैं। जिस तरह सूरज जब छुपनेके लिये बादलका परदा मुँहपर लेता है तो और प्रकट हो जाता है। प्रभु दान करके छुप गये। उनके छुपनेने उनको और भी मशहूर कर दिया कि देखो कैसा देता है कि जिसने हमको जब सब कुछ देकर अपना आप छुपा लिया। हे प्रभो! आप तो छिपे थे कि कोई आपको देख न ले, लेकिन आप तो और भी प्रकट हो गये। इसलिये अब अगर छुपना है तो दूसरा ढंग अख्तियार कीजिये, वह यह कि अगर आप छुपनेसे प्रकट होते हैं तो प्रकट होकर छुप जाइये! फिर तो आपके सामने आनेपर लोगोंको लेनेकी फिकर और झोलियाँ भरनेकी फिकर होगी। यह कहेगा ही कौन कि यह है दाता! सम्भव है लेते-लेते लोग इतना भी भूल जायँ कि देनेवाला है ही कौन—जैसा कि रोज देखनेमें आता है कि जिसने सब कुछ दिया, उसको तो भूल ही बैठे हैं।

एक बैरिस्टर साहबने एक दिन मेरे पास आकर फूल चढ़ाये। मैंने जान-बुझकर बैरिस्टर साहबको तो न देखा और फूलोंको देखना शुरू कर दिया और वह भी इस हदतक कि उनको अपनी खामोशीको इस तरह तोड़ना पड़ा कि 'महाराज क्या खूब, फूलोंमें इस तरह लग गये कि देनेवालेकी याद ही नहीं आ रही।' जब मैंने उनकी यह बात सुनी तो आँख ऊपर कर कहा कि 'बड़ा आश्चर्य तो यह है कि आपकी तरफ देखनेसे भी आप प्रसन्न न होते; क्योंकि उस समय आपको यह शिकायत होती है कि 'वाह महाराज'! अच्छे रहे, मेरी तरफ ही देखते जा रहे हैं और जो फूल दिये हैं, उनको देखतेतक नहीं। तो फिर ऐसी अवस्थामें भी आपको जरूर शिकायत होती।' इसके बाद मैंने कहा, 'लीजिये अपने फूल' मैं बाज आया। यह आपने मुझको फूल दिये या शिकायतका दफ्तर खोल दिया?' मैंने उनके फूल उनके हाथमें लौटा दिया तो उन्होंने फिर कहा कि 'महाराज! इस तरह भी तो शिकायत रफा न हुई; क्योंकि आपने मेरे फूल ही लौटा दिये।' तो मैंने कहा कि 'नहीं' अब तो शिकायत न रहनी चाहिये, क्योंकि मैं आपको और आपके फूलोंको एक ही नजरसे देख रहा हूँ। 'वह' हँस पड़े और कहकहा लगाया! उन्होंने पूछा 'महाराज! इस तमाम किस्सेसे आपका भावार्थ क्या है?'

मैं—सिर्फ शिकायत रफा करना और उसके साथ यह भी कि भगवान्‌ने सृष्टि बनायी और हमारे सामने रखी। अगर हम इसीको देखने लग जाते हैं तो उनको जरूर शिकायत होती है कि वाह अच्छे रहे, दुनियाको यहाँतक देखने लगे कि बनानेवालेका ख्यालतक नहीं आता। अगर हम इसको बिलकुल भी न देखते तो यह शिकायत पैदा होती कि खूब! इतनी अच्छी दुनिया

बनाकर दी और ये देखतेतक नहीं सिर्फ मुझहीको देखे जाते हैं। फिर यह शिकायत तो इसी तरह रफा हो सकती है कि प्रभुकी दुनिया उनके सामने रखें और उसको और उसकी दुनियाको एक ही नजरसे देखते जायँ।

वे बहुत प्रसन्न हुए। लेकिन हम तो दूसरी तरफ आ गये! हमको तो यह कहना था कि प्रभु ऐसे दाता हैं कि देकर छुप जाते हैं या देकर ऐसी बात बना देते हैं कि किसीको यह पता न चले कि देनेवाला कौन था। और है भी सच। कौन कहता है कि प्रभुने मुझको यह दिया, वह दिया। अक्सर यही सुननेमें आता है कि फलाँ कामसे हमको यह मिला, फलाँ Business से यह प्राप्ति हुई, वग़ैरह। यह भी कोई कहता है कि प्रभुने हमको यह दिया। और अगर कोई मुँहसे कह भी देता है तो अंदरसे जरूर जानता है कि अगर हम वह काम न करते तो आज यह बात कैसे बनती। प्रभुने अपने-आपको छुपानेके लिये गोवर्धनको ग्वालोंके डंडे इसीलिये लगवाये थे, कि कोई यह न कह दे कि काम उस छोटी-सी उँगलीका था। भगवान् श्रीकृष्णको माखन खानेका शौक था और जब माखन खाते तो झट बछड़ोंके मुँहमें मल देते और जब माँ पूछती कि किसने माखन खाया तो झट प्यारी-प्यारी उँगली उठाकर मुँह बनाकर यह कह देते है कि जिसके मुँहको लगा होगा उसने खाया होगा। वाह-वाह! क्या बात है! मला भी उनके मुँहपर कि जो आगेसे यह भी न कह सकें कि हमने नहीं खाया, खानेवाले तो यह आप ही हैं।

इधर पञ्चभूत जड और उधर आत्मा चेतन। जड बेचारा तो करेगा ही क्या , और चेतन कुछ ऐसे ढंगके कि सब कुछ कर-कराकर अपने माथे कोई बात लगने दें तो फिर चतुराई ही क्या हुई! अगर पूछ बैठिये कि आप करनेवाले नहीं तो यह और करनेवाला कौन है, तो झट जवाब दे देते हैं कि '**साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च**'—हम तो केवल साक्षी हैं। इस अदापर कुर्बान!

इस सादगीपर कौन न मर जाय, ऐ खुदा!
लड़ते हैं आर हाथमें तलवार भी नहीं॥

एक मस्त स्त्री सड़कोंपर बैठी कहा करती थी—

जो बिगड़ी हमसे बिगडी, तुमसे क्या बिगड़ी?
नहीं, जो बिगड़ी तुमसे बिगड़ी, हमसे क्या बिगड़ी?
जो किया हमने किया, तुमने क्या किया?
नहीं, जो किया तुमने किया, हमने क्या किया?

वाह वाह! कैसी लीला है! शायद दान कर छुप जानेका मतलब यह है कि अपने भिक्षुकोंके मनमें इस तरह अपने प्रेमकी आग भड़काकर उन्हें इधर-उधर तलाश करते देखकर खुश हों।

एक आदमी रातको सफेद वस्त्र सिरहाने रखकर सो गया। सुबह जब वह उठा तो क्या देखता है कि उसके वस्त्र रँगे हुए थे। इतना प्रिय रंग है कि आँख झपकानेको दिल नहीं चाहता। लेकिन किसी ख्यालसे आँखको इधर-उधर उठाना ही पड़ा कि कौन है वह रँगरेज कि जिसने इतना सुन्दर रंग मेरे वस्त्रोंको दिया है! जब इधर-उधर नजर न आया तो फिर सोचा और दिलमें प्रेमकी आग भड़क गयी कि आह, यह दयालु रँगरेज कौन है कि जिसने वस्त्र भी इतने सुन्दर रँगे और खुद भी छुप गया। इसमें तो स्वार्थ बिलकुल नहीं। झट वस्त्रोंको पहन लिया, लेकिन फिर भी मस्त हुआ किसी औरको ढूँढ़ने लगा। वह था उसका प्रीतम रँगरेज कि जिसने उसके हृदयरूपी वस्त्रपर—उसके वस्त्रोंको रँगकर—अपने प्रेमका रंग चढ़ाया था। यह घबराया, इसका धीरज टूट गया और 'रँगरेज-रँगरेज' करने लगा। यह उन वस्त्रोंको पहनकर इधर-उधर भागा फिरता था कि कहाँ है वह प्रियतम रँगरेज कि जिसने इतना सुन्दर रंग वगैर रँगाई लिये ही रँग दिया है।

यह एक तरफको दौड़ा कि शायद उधर वह मिल जाय; लेकिन क्या देखता है कि वहाँ एक आदमी जा रहा है कि जिसकी पगड़ीपर उसी रंगके छीटे हैं कि जैसा उसके कपड़ोंका रंग था। यह जाकर उससे लिपट गया-'क्या आप ही हैं वह रँगरेज कि जिन्होंने मेरे वस्त्र रँगे थे?' उसने रोकर कहा—नहीं, मैं भी उसको ढूँढ़ रहा हूँ। जिसने ये सुन्दर छींटे मेरे कपड़ोंपर डाले हैं।' अच्छा हुआ दो प्रेमी उसीके ढूँढनेवाले इकट्ठे हो गये।

क्या खूब गुजरेगी जब मिल बैठेंगे दीवाने दो॥

लेकिन जब यह कुछ और दूर निकल गया तो क्या देखता है कि एक आदमीकी पगड़ी उसी रंगकी है कि जिस रंगके इसके कपड़े रँगे हुए थे। इसने उससे भी पूछा,लेकिन उत्तर 'न' में मिला। यह कभी इधर भागता और कभी उधर दौड़ता था, मगर सिवा निराशाके और कोई बात सामने न आती थी। आखिर हार गया,थक गया। हर चीजकी हद होती है, जब इसी तलाशमें भागता-भागता थककर गिर गया तो बेहोश हो गया। मगर इसको अपनी मूर्छाका भी ज्ञान न था, क्योंकि अगर ऐसा होता तो यह होशवाला कहलाता।

मुझसे एक शख्सने आकर कहा कि महाराज! मैं बिलकुल अज्ञानी हूँ। तो मैंने हँसकर कहा कि नहीं, यह गलत है। उसने पूछा कि यह कैसे, तो मैंने जवाब दिया कि अगर आप बिलकुल अज्ञानी होते तो आपको यह ज्ञान कहाँसे होता कि आप अज्ञानी हैं। अपने अज्ञानका ज्ञान होना भी तो एक ज्ञान है।

कुछ देरके बाद उसको होश आया तो क्या देखता है कि उसको किसीने उठा रखा है और जिसने उठा रखा है, उसके हाथ उसी रंगसे अभीतक रँगे हुए हैं (क्योंकि रँगरेजको भाग-दौड़में फुरसत ही कहाँ मिली कि वह अपने हाथ धो लेता)। उसने हैरान होकर पूछा कि आप कौन हैं, तो जवाब मिला कि मैं····। लेकिन उसने झट अपने रँगरेजका बाजू (हाथ) पकड़ लिया और कहा कि अब तो बता दीजिये कि आप कौन हैं। रँगरेजने दबी जबानसे कहा कि 'मैं वही हूँ, वही हूँ कि जिसने तुम्हारे कपड़े रँगे थे।' उसने सवाल किया कि क्या मैं पूछ सकता हूँ कि आप इस तरहसे मेरे वस्त्र रँगकर छुप क्यों गये, सामने क्यों न आये। रँगरेजने जवाब दिया कि 'मैं वस्त्र रँगनेके बाद तुम्हारे दिलमें अपना प्रेम फूँककर यह देखना चाहता था कि तुम मेरे रँगे वस्त्र पहिनकर मुझको किस तरह ढूँढ़ते फिरते हो। और जब तुम दौड़ते फिरते थे तो मैं तुम्हारे पीछे-पीछे होता था और यह देखकर खुश होता था कि वाह! रंग क्या ही अच्छा चढ़ा!' लेकिन उससे रहा न गया और उसने फिर पूछ ही लिया कि 'यह तो बताइये कि जब छुपना ही था तो अब क्यों सामने आकर पकड़े गये? तो रँगरेजने जवाब दिया कि क्या करता? जब तुमको अपने प्रेममें मस्त होकर इस तरह गिरते देखा तो मुझे यह ख्याल आया कि ऐसा न हो कि मेरे रँगे वस्त्र खराब हो जायँ और तुमको कोई चोट आ जाय। भला, मैं अपने रंगको खराब होते कैसे देख सकता था?' वह आदमी रँगरेज और उसकी दयाकी तरफ देखने लगा।

शायद प्रभु देकर इसलिये भी छुप जाते हैं कि उसके दिलमें प्रेम पैदा हो।

बस, श्रीराधेजीको कहना ही पड़ा कि प्रभो! आप तो इतने भोले हैं कि ऐसे दान करके भी भूल जाते हैं!

भगवान्—तो क्या मैं ऐसा दाता हूँ कि मैं जख्म लगाता हूँ?

राधेजी—नहीं, इसको जख्म कौन कहता है? यह तो संसारके जख्मोंको दूर करनेकी मरहम है। यह वह दीपक है, जिससे अंधकार दूर होता है; यह वह सुन्दर पुष्प है कि जिसमें काँटा है ही नहीं। यह वह दर्द है कि जिसको दवाकी आवश्यकता नहीं। प्रभो! इसको जख्म न कहिये।

भगवान्—शायद मेरा मन रखनेके लिये ऐसा कह रही हो?

राधेजी—नहीं भगवन्, आपका मन कौन रख सकता है? आप तो संसारका मन रखनेवाले हैं, तभी तो माखन-चोर कहलाते हैं यानी मन-चोर। माखनका पहला हिस्सा है म और अन्तिम न, और मध्यका भाग अ और ख रह जाता है—अर्थात् अख या आँख। गोया आप आँख लड़ाकर मनको चुरानेवाले हैं।

भगवान्-(हँसकर) आपने तो हमको और भी बड़ा चोर बना दिया। अच्छी तारीफ की!

राधेजी—जो बीमारीको चुराये, वह वैद्य या डाक्टर कहलाता है; जो अज्ञानको चुराये, वह गुरु। फिर जो मनको चुरोये, वह सिवा भगवान्के और हो ही कौन सकता है?

भगवान्—वह क्यों? भला, मनके चुरानेसे फायदा?

राधेजी—तमाम संसार नाम-रूपमें रहता है, नाम-रूप देश-कालमें और देश-काल मनमें रहते हैं। इसलिये जब आपने किसीका मन ही चुरा लिया या अपने पास रख लिया तो फिर उसका देश-काल कहाँ रहा और जब देश-काल नहीं तो नाम रूप कहाँ? और जब नाम रूप नहीं तो अपना-बेगाना कहाँ, अपने-बेगानेके अभावसे राग-द्वेष कहाँ? जब राग-द्वेष गये, पाप-पुण्य भी गये और जब पाप-पुण्य गये तो दुःख-सुख आप ही उड़ गये यानी बन्धन और उसका भय भी जाता रहा। आपने किसीका मन क्या चुराया, उसको तमाम दुःखोंसे ही मुक्त कर दिया। उसके तमाम आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक ताप नष्ट हो गये। वाह! कैसे सुन्दर चोर हैं कि जिसका मन चुराते हैं, उसे सबसे बड़ा रत्न परमानन्दका दे देते हैं। या यों कहिये कि परमानन्द, जो कि प्रेमका समुद्र है, उसको दे देते हैं, जिसका कि मन चुराते हैं। आपने जिसका मन चुराया, उसके अंदर आप और आपका प्रेम बैठ गया। अब लिया तो मन जो कि अति चञ्चल था, विक्षिप्त था, इधर-उधर भागता था, हर समय पीड़ित रखता था और दिया

वह प्रेम जिससे उसको यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिकी कुल अवस्थाएँ सहज ही प्राप्त हो गयीं। प्रेमीकी इन्द्रियाँ बहिर्मुख नहीं रहती, उसका नियम प्रभुकी तरफ देखना होता है। प्रेमीका आसन यह है कि प्रेम उसको विह्वल करके जिस किसी भी साँचेमें ढाल दे, वही उसका आसन बन जाता है। प्रेमी जमीनपर पड़ा है, अश्रुपात हो रहे हैं, हिचकियाँ बँधी हैं। कभी आँखें खुलती हैं तो इस आशामें कि शायद कभी सामनेसे आ जायँ और बंद होती हैं तो इस भावसे कि शायद भीतर ही उनके दर्शन हो सकें। प्रेमीको बाहरकी मामूली-सी सरसराहट भी शङ्कित कर देती है कि कहीं उसका प्रीतम तो नहीं आ रहा है!

प्रेमीका आसन क्या है? प्रेम जिस साँचेमें उसको ढाल दे।

प्रेमीका प्राणायाम—उसको अपने प्राणोंकी गतिपर काबू पानेकी आवश्यकता नहीं होती, बल्कि उसका मन प्रभुमें जुड़ जानेसे और मनकी गति ठीक हो जानेसे उसे स्वाभाविक ही उस प्रकारके प्राणायामकी प्राप्ति हो जाती है जिससे पारमार्थिक पथपर वह जोरोंसे चलता जाय।

प्रेमीका प्रत्याहार—मन, इन्द्रियाँ स्वभावत: प्रभुकी तरफ दौड़ती हैं।

'**प्रेमीकी धारणा**—केवल यह है कि उसने हृदयमें सदा प्रभुको धारण किया है।

प्रेमीका ध्यान—भगवान्‌का ध्यान है।

प्रेमीकी समाधि—वह अपने प्रियतम और उसके सौन्दर्यमें यहाँतक विलीन हो जाता है कि फिर उसको न तो दूसरा नजर आता है और न उसको दूसरा देखनेकी फुरसत ही होती है। वह किसी और को देखे तो क्यों? क्या उससे कोई सुन्दर है? और अगर कोई सुन्दर है भी तो उसको क्या? पहलेसे फुरसत मिले तो दूसरेकी तरफ देखे। उसको तो यहाँतक भी फुरसत नहीं कि प्रियतमको देखता हुआ अपनी तरफ भी देख सके। क्योंकि वह जानता है कि मैं जितने समयतक अपनी ओर देखूँगा अपने प्रीतमकी ओर न देख सकूँगा। दर असल बात यह भी नहीं—अगर वह यह जानकर और इस भयसे अपनी तरफ नहीं देखता कि कहीं प्रीतमकी तरफसे आँख न हट जाय, तो भी वह गलत है; क्योंकि ऐसा करनेसे वह अपनी तरफ तो नहीं देखता लेकिन उन विचारोंकी तरफ जरूर देखता है कि 'जिनमें अपनी तरफ देखनेसे अपने प्रीतमकी तरफ न देखे जाने' का भय मौजूद है। वह तो अपनी तरफ इसलिये नहीं देखता कि वह अपनी तरफ देख ही नहीं सकता और किसी औरकी तरफ इसलिये नही देखता कि उसको न तो कोई और नजर आता है और न उसको अपने प्रियतमसे इतनी फुरसत ही मिलती है कि किसी औरकी तरफ देख सके।

ध्यानकी पहली अवस्था

पहले प्रेमी प्रीतमका ध्यान करता है और यह कमजोर अवस्था होती हैं, क्योंकि ध्यान न लग सकनेकी वजहहीसे जो वह ध्यान करता है। इस अवस्थामें अभीतक प्रेमीके मनमें संसार और उसकी भावनाएँ होती हैं और उसके साथ आप भी होता है और प्रीतम भी। यह एक विचित्र कशमकशकी अवस्था होती है। वह कभी तो अपने मनको संसारसे हटाता है और कभी भगवान्‌में जोड़ता है। जब संसारकी तरफ बढ़ता है तो प्रियतमका सौन्दर्य उसके बीचमें आकर खड़ा हो जाता है और जब यह घबराकर उससे लिपटना चाहता है तो संसार बीचमें आ खड़ा होता है। यह है प्रेमीके ध्यान करनेकी अवस्था। अक्सर लोग पूछा करते हैं कि कारण क्या है—दिनभर तो मन अच्छा ही रहता है, लेकिन जहाँ भगवान्‌का ध्यान किया झट संसारकी भावनाएँ सामने आ खड़ी हुईं! इस ध्यानसे तो न ध्यान करना ही अच्छा हुआ।' तो मैंने जवाब दिया कि जब तुम पहलवान बनकर बाहर निकलोगे तो तुम्हें गिरानेके लिये दूसरे पहलवान आयेंगे ही। अगर तुम डर गये तो और वर्जिश करना, और अगर उनको गिरा लिया तो पहलवानोंके सरताज बन जाओगे।

वह—महाराज! इस तरह तो भगवत्प्राप्तिमें देर लगती है।

मैं—देर ही तो एक ऐसी चीज है कि जिससे भगवत्-प्राप्तिका सुख मिलता है। अच्छा, यह तो बताइये कि अगर भूख लगनेपर उसी समय आपकी भूख मिट जाय तो बेचारे रसोइयेकी वह तमाम मिहनत जाया न हो जायगी कि जो उसने अच्छे-अच्छे भोजन बनानेमें लगायी है।

ध्यानकी दूसरी अवस्था

इस अवस्थामें प्रेमी ध्यान नहीं करता बल्कि उसका प्रीतम उसके अंदर बैठकर अपना ध्यान करवाता है। जब

पतंगेने दीपकको देख लिया तो दीपक उसके अंदर आ गया। अब देखनेमें तो यह आता है कि पतंगा दीपककी तरफ दोड़ता है,लेकिन असलियत यह है कि दीपक पतंगेमें बैठकर अपनी ओर आप भागता है। और यह नियम भी है कि सजातीय सजातीयकी तरफ जाता है। दीपक उसके अंदरको अंदर बैठकर जलाता है और उसके बाह्य आकारको अपने अंदर खींचकर भस्म कर देता है। गोया दीपक परवानेके घरमें उसके नेत्रोंके दरवाजेसे घुसकर उसके घरको आग लगा देता है और उसके तमाम सामानको आग लगाकर आग ही बना देता है।

प्रेमकी त्रिपुटी

प्रेमकी त्रिपुटी एकाकार इस तरह होती है—प्रेमी, प्रेम और प्रीतम। यह हुई यह प्रेमकी त्रिपुटी या (Trinity) एकके बगैर दूसरा रह नहीं सकता। प्रेमी और प्रीतम एक-दूसरेसे खड़े हैं। प्रेमी प्रीतमके ध्यानमें जुड़कर जब अपना आपा खो बैठता है तो उसके इस त्याग (Sacrifice) को देखकर प्रीतम उसका प्रेमी बन जाता है। प्रेमी तो प्रीतमके ध्यानमें अपना आपा खो बैठा और प्रीतम प्रेमीके ध्यानमें अपना आपा भूल गया। या यों कहिये कि जब प्रेमी न रहा तो प्रीतम भी न रहा और जब प्रेमी और प्रीतम न रहे तो प्रेम कहाँ रहा? इस तरहसे प्रेमका अन्तिम सार वह अवस्था है कि जो अनिर्वचनीय है। लेकिन यह शून्य नहीं बल्कि वह अवस्था है कि जिसको मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ पकड़ नहीं सकतीं। जिस तरह ज्ञानी अपनी अन्तिम सीढ़ीपर पहुँचकर ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयभावसे ऊपर हो जाता है उसी तरह प्रेमी अपनी अन्तिम अवस्थामें पहुँचकर प्रेमी, प्रीतम और प्रेमके भावसे ऊपर हो जाता है। यह है प्रेमीकी समाधि और ध्यानकी परिपक्वता। लेकिन इससे पहले जहाँतक कि धारणा और ध्यानकी अवस्थाएँ हैं, वहाँतक प्रेमी दूसरे दर्जेमें ध्यान और धारणाको प्रयत्नद्वारा नहीं करता बल्कि कराया जाता है। यानी प्रेम उसके अंदर बैठकर उसको अष्टांगयोगकी उन तमाम सीढ़ियोंसे आप ही गुजारता जाता है कि जिनको योगी लोग प्रयत्न-द्वारा करते हैं। जिस तरह जब दवा खा ली जाती है तो उसके बाद दवा खानेवालेको यह फिकर करनेकी जरूरत नहीं होती कि वह दवाके जरिये बीमारीको जगह-बजगहसे निकालता फिरे। यह दवाका काम है कि उस बीमारीको दूर करे और बीमारका काम है दवा खाना।

इसलिये जब भगवान् किसीके मनको चुराते हैं तो उसके मनमें अपना प्रेम फूँक देते हैं—जिससे उसको धारणा, ध्यान और समाधिकी अवस्थाएँ आहिस्ता-आहिस्ता खुद ही प्राप्त हो जाती हैं।

देखा, आप कितने सुन्दर चोर हैं कि जिसका मन चुराते हैं, उसको सब कुछ दे देते हैं और उसका दिल फिर चाहता है कि वह एक मन चुराये जानेपर दूसरा मन पैदा करे, ताकि आप उसको भी चुरायें! खूब चोरी है। मन क्या चुराया, माया ही चुरा ली!!

. भगवान्-नहीं, हमें जल्दी है। पहले यह बताओ कि जख्म लगा कैसे और कब?

राधेजी—प्रभो, जवाब न देना भी ठीक नहीं, इसलिये बता ही देती हूँ कि यह जख्म किस तरह और कब लगा प्रभो! एक दिन आपका हाथ अचानक बढ़ा तो मेरे लग गया और यह है इस जख्मका कारण।

भगवान्—लेकिन यह तो बताया ही नहीं कि वह लगा कब?

राधेजी—प्रभो! बहुत दिन हो गये।

भगवान्—नाखूनका जख्म तो एक-दो दिनमें ठीक हो जाता है और यहाँ इसको कई दिन हो गये। आखिर कारण क्या है कि अच्छा नहीं हुआ?

राधेजी—लेकिन भगवान्, मैंने कब कहा कि यह अच्छा नहीं हुआ?

भगवान्—फिर आप कहें या न कहें, लेकिन नजर तो आ रहा है।

राधेजी—अच्छा, अगर आपको नजर आता है तो बताये देती हूँ कि प्रभो! न तो यह अच्छा हुआ है और न मैं चाहती ही हूँ कि यह अच्छा हो; क्योंकि जब इसपर अंगूर आता है, मैं इसको हाथोंसे छील देती हूँ।

भगवान्—(चौंककर) वह क्यों?

राधेजी—वह इसलिये कि यह हरा हो जावे और वह इसलिये कि इसमें दर्द हो और यह कायम रहे।

भगवान—वह क्यों?

राधेजी—वह इसलिये कि जब मैं इसको छीलती हूँ तो इसमें दर्द होता है और जब दर्द होता है तो बुद्धि प्रश्न करती है कि यह किसका दिया दर्द है। तब उस आइने (शीशे)-में आप नज़र आते हैं और जब आप नज़र आते हैं तो कोई दर्द ही नहीं रहता। फिर मैं इसको दर्द कहूँ या कुल दर्दोंकी दवा? इसको काँटा कहूँ या फूल?

इसको दु:ख कहूँ या सुख? हे प्रभो! आपके प्रेमका जख्म जो इन दिलोंपर लगा हुआ है, उसको कभी न भरने देना, ताकि उस दु:खका अभाव न हो जावे कि जिसके होनेसे और कोई दूसरा दू:ख हो नहीं सकता।

इसलिये प्रेम वह पदार्थ हैं कि जो दु:खको सुख बना देता है। अब सुख तो सुख है ही, लेकिन जिसने दु:खको भी सुख बना लिया, उसके लिये फिर दु:ख रहा कहाँ? जिस वस्तुसे तुम प्रेम करते हो, वह सबसे सुन्दर हो जाती है।

प्रेम खुद सौन्दर्य है

प्रेम खुद सौन्दर्य है, क्योंकि जबतक किसी पदार्थको प्रेम न करें, वह कभी सुन्दर नहीं हो सकता। एक प्रेमीसे किसीने कहा कि 'तुम्हारा प्रीतम काला है।' उसने कहा 'झूठ, बिलकुल झूठ; उस-सा तो सुन्दर कोई नहीं। उसने कहा—मैं सच कहता हूँ वह काला है' तो उसने फिर पूछा कि तुमने किस औजारसे देखा है। तो जवाब दिया कि 'जिससे कुल संसार देखता है।' उस प्रेमीने कहा—तो इसका यह मतलब है कि तुमने अपने नेत्रोंसे देखा है।' उसने कहा 'हाँ' उसने झट ही कह दिया कि 'तभी तो तुमको मालूम न हो सका कि उसका वास्तविक सौन्दर्य क्या है।' उसने पूछा—क्या उसको देखनेका कोई और औजार है? उसने कहा 'हाँ' वह हैं मेरी आँखें।' उसने पूछा कि' इसमें विशेषता-क्या है? आँखें तो सब समान ही होती हैं।' उसने कहा कि 'ठीक है।'लेकिन जो प्रेमरूपी सुरमा मेरी आँखोंमें पड़ा है, वह तुम्हारीमें नहीं और जबतक वह सुरमा किसी आँखमें न पड़े, सौन्दर्यका पता ही नहीं चल सकता।'

प्रेम स्वर्ग है

प्रेम स्वर्ग है; क्योंकि जहाँ प्रेम है, वहाँ दु:ख रह नहीं सकता। दू:खका स्वरूप प्रतिकूलता है और जहाँ प्रेम है, वहाँ प्रतिकूलता रह नहीं सकती। जहाँ प्रति-कूलता नहीं, वहाँ अनुकूलता है और अनुकूलताका नाम स्वर्ग है।

प्रेमी unity है

असाँ देखी काती अत घनी जो एकसे दो करे।
बहलोल काती प्रेम दी जो दोसे एक करे॥

'हमने' देखा है कि तलवार काटकर एकको दो बनाती है, लेकिन प्रेमकी तलावारका काम कुछ विचित्र ही है। यह दोको एक करती है।'

यह तलवार जिस दिलपर चली, वह एक हो गया। जिस मुल्कमें चली, वह एक हो गया। जिस संसारमें चली, वह एक हो गया और जब ईश्वर और जीवके दर्म्यान तो दोनों एक हो गये! वाह-वाह! कैसी विचित्र चीज है जो दो को एक करती है!

प्रभु अकेले थे, दो हो गये और अब फिर दोसे एक होना चाहते हैं। यह है उनकी लीला और दोसे एक करना प्रेमका काम है। बात तो यह है कि एकसे दो होना भी प्रेमहीका काम है, क्योंकि एकसे दो इसलिये हुआ था कि दो होनेके बाद फिर एक होनेका आनन्द ले सकें!

एक जलकी बूँदने समुद्रसे शिकायत की कि 'यह तूने क्या किया जो मुझको अपनेसे जुदा कर दिया? इसमें सन्देह नहीं उच्च-से-उच्च और सुन्दर-से-सुन्दर स्थान मुझको संसारमें प्राप्त हैं। मैं आँखोंमें आँसू बनकर नहीं बैठी, बल्कि फूलपर ओस बनकर बैठी हूँ; लेकिन मुझको यहाँ चैन नहीं, सन्तोष नहीं, धीरज नहीं। क्योंकि इतने उच्च और कोमल तथा सुन्दर स्थानपर होते हुए भी हवाकी लहरें मुझको डरा रही हैं कि हम तुमको नष्ट किये बगैर न रहेंगी और जब हवाकी तेज रफ्तारका ख्याल आता है तो मेरा तमाम सुख नष्ट हो जाता है, मेरा हृदय काँपने लगता है और धड़कन शुरू हो जाती है। उफ़! यह तूने क्या किया जो मुझको अपनेसे जुदा कर दिया और इस संसारके दु:खोंमें डाल दिया, मुझे थोड़ा-सा लालच देकर क्यों फेंक दिया? समुद्रने उत्तर दिया 'यह तो सब ठीक है' लेकिन मैंने तुझको जुदा इसलिये किया है कि तू इस जुदाई (वियोग)-से मेरे संयोगका आनन्द ले सके।'

आपको कभी यह ख्याल नहीं आता कि आप अपनेसे मिले हैं, क्योंकि आपको अपनेसे जुदा होनेका भी ख्याल नहीं आता और दरअसल आप जबतक दो नहीं होते अपना मुँह देख ही नहीं सकते। आखिर शीशेमें भी तो अपने-आपको देखनेके लिये दूसरा बनना ही पड़ता है।

तो प्रभुने केवल संयोगका आनन्द देनेके लिये यह वियोग पैदा किया है। बस, इस वियोगके पैदा करनेमें प्रेम ही है, इसलिये कि उससे संयोगका आनन्द मिल सकता है। दायरा (circle) जहाँसे शुरू होता है, वहीं

आकर मिलता है। जब बिन्दु (point) था, हरकत न थी; जब हरकत हुई, दायरा बन गया। अब यह हरकत क्या है? नुकते (बिन्दु)-का अपने नुकतेसे मिलना और वह हरकतके बाद। इसी तरह प्रभु एकसे चलकर दो बने और फिर दो बनकर एककी तरफ चल दिये। बस, इस क्रियामें सिवा प्रेमके और कुछ है ही नहीं।

प्रेम क्या है?

प्रेम क्या है? त्याग—अहंकारका त्याग, खुदीका तर्क (Self-abnegation)।

When shall I be free?

When 'I' shall cease to be.

प्रेम क्या है? योग नहीं यानी वह आकर्षण या वृत्ति कि जो दोको एक करती है। सारांश यह कि प्रेम ही सब कुछ है। अपने सामान्य रूपमें यह परमात्मासे एक हो रहा है और विशेषरूपमें भक्तोंके हृदयमें चमकता है और जहाँ विशेषरूपमें चमकता है, वहाँ प्रेमी बनकर अपने प्रीतमको सामने रखता है और इस तरह अपने प्रीतमसे एक होनेकी कोशिश करता है।

प्रेमके कुछ दर्जे

(१) पहली अवस्थामें—प्रेम मनुष्यके अंदर होता हुआ भी अनहुआ-सा होता है और यह मालूम नहीं होता कि उसका प्रीतम कौन है। वह जीवित होता है। उसमें प्रेम प्रेमके रूपमें नहीं रहता बल्कि तलाशकी शक्लमें रहता है और संसारमें अपने प्रियतमको ढूँढ़ता फिरता है, लेकिन यह जानकर नहीं कि वह प्रियतमको ढूँढ़ रहा है। उसके अंदरका असली स्वभाव उसे प्रीतमकी तलाशमें दौड़ाता है, लेकिन वह समझता है कि वह संसारमें ही कुछ ढूँढ़ रहा है। इस दर्जेमें प्रेम होता है, लेकिन दूसरी शक्ल अख्त्यार करके। उसकी तलाश प्रीतमके लिये ही होती है; लेकिन जिन चीजोंमें वह उसे ढूँढ़ता है, वहाँ वह नहीं मिलता। यह अजब ग्रहण और त्यागकी अवस्था होती है। एकको छोड़ता है तो दूसरीको पकड़ता है, दूसरीको छोड़ता है तो तीसरीको पकड़ता है। लगातार कशमकश बनी रहती है। इसे न ग्रहणमें सुख होता है न त्यागमें। इसकी भूख कहीं नहीं मिटती। आखिर इसको मालूम हो जाता है कि चैन यहाँ नहीं।

(२) दूसरी अवस्था—इसकी आँख अपने प्रियतमसे लड़ जाती है, लेकिन प्रियतम खुद बहुत दूर होता है। यह उसको पकड़ना चाहता है, लेकिन पकड़ नहीं सकता। इस अवस्थामें इसको एक बात तो जरूर प्राप्त हो जाती है—वह यह कि वह समझ लेता है कि पहली अवस्थाकी दौड़-धूप रहस्यपूर्ण थी। उसका भावार्थ यह था कि जिस चीजकी उसको तलाश थी, वह उनमें न थी जिनमें वह आजतक ढूँढ़ता रहा। दूसरी अवस्थामें जब प्रीतमसे आँख लड़ती है और यह उसको पा नहीं सकता तो इसके अंदर संयोग और वियोग दोनों इकट्ठे काम करते हैं। संयोग तो इसलिये कि वह इसको पानेकी कोशिश करता है। इस अवस्थामें प्रेमीकी विचित्र हालत होती है। उस प्यारेका ध्यान बाकी तमाम सांसारिक वृत्तियोंको दबा लेता है। सब ध्यान खत्म होकर एक ही ध्यान रह जाता है। इस प्रेमके आते ही बाकी सब मोह-जाल और इच्छाएँ गिर जाती हैं। लोक और परलोक इसकी दृष्टिसे यों गिर जाते हैं कि जिस तरह नेत्रोंमें सुरमा डालनेसे दो आँसू। इसे बाह्य वृत्तियोंको रोकने और मिथ्या पदार्थोंको त्यागनेके लिये प्रयत्न जरा भी नहीं करना पड़ता। न वैराग्यकी किताबें ही पढ़नी पड़ती हैं और न अपने मनको बार-बार यह समझाना पड़ता है कि ये पदार्थ दु:खदायी हैं मिथ्या हैं, मृगतृष्णाके जलवत् हैं। बल्कि ये खुद ही इन शक्लोंमें ढल जाते हैं। एक प्रेमीके सामने सुन्दर-से-सुन्दर चीजें अपने प्रियतमके न होनेपर बेकार हो जाती हैं और प्रीतमके साथ छोटे-से-छोटे पदार्थ भी बड़े-से-बड़े हो जाते हैं। प्रीतमके न होनेपर प्रेमीको फूल-काँटे, सुख-दु:ख, स्वर्ग-नरक और जिंदगी मौतसे बदतर हो जाती है। प्रेमीके मनको प्रीतमके वियोगमें कोई दूसरा पदार्थ प्रसन्न नहीं कर सकता। प्रेमीका मन उसी दिनसे संसारभरके प्रलोभनोंसे निश्चिन्त हो जाता है कि जिस दिनसे उसकी आँख अपने प्रियतमसे लड़ जाती है। सारांश यह कि ऐसे प्रेमीको न तो कोई लालच ही रहता है और न भय। लालच तो इसलिये नहीं कि वह इन चीजोंको चाहता नहीं और भय इसलिये नहीं कि उसे अपने ध्यानकी परिपक्वतामें अपने जीवनकी याद ही भूल जाती है। अगर कोई उसके पास उसके प्रियतमका नाम ले दे तो वह मरा-मरा भी जी उठता है और भूल जानेपर जीवनको भी मौत ख्याल करता है।

(३) तीसरा दरजा—जब प्रेमी अपने प्रियतमको

देख लेता है और उसकी समीपताको चाहने लगता है और वह आहिस्ता-आहिस्ता अपने प्रभुके समीप हो जाता है, यहाँतक कि प्रभुकी अत्यन्त समीपता उसको प्राप्त हो जाती है। इस अवस्थामें प्रेमीको भगवान् हर समय सामने ही नजर आते हैं, थोड़ी भी दूर-नहीं रहती। इस उच्च अवस्थामें संसार और उसके प्रलोभनोंका तो जिक्र ही क्या है, आसुरी वृत्तियाँ तो नामको भी वहाँ नही पहुँच सकतीं। प्रेमीका खाना-पीना, सोना-बैठना, जागना-उठना एक ही ध्यानमें लीन हो जाता है। वह सब क्रियाएँ करता रहता है, लेकिन क्षणमात्रके लिये भी उसके ख्यालसे अलहदा नहीं होता। लेकिन इस अवस्थामें भी प्रेमीको यह ख्याल आता है कि प्रभुके अत्यन्त सन्मीप हूँ। इसमें भी इसको पूरा चैन नहीं मिलता, या यों कहिये कि इसका वियोग पूर्णरूपसे दूर नहीं होता; क्योकि यह उसकी समीपताको अनुभव करता है। 'समीपता' शब्दका अर्थ यह है कि वह उसके नजदीक है—जिसका मतलब यह है कि इसमें अभी अपना आप उसने नही खोया, वरना समीपताका ख्याल और दूर होनेका भय भी कैसे होता? यह अवस्था बड़ी उच्च होती है, लेकिन हम इसको पूर्ण नहीं कह सकते। क्योंकि प्रेमीकी पूर्ण अवस्था वह होती है कि जिसमें प्रेमी खुद रहता ही नहीं और समीपताका ख्याल बगैर अपने हुए हो ही नहीं सकता। ऐसी अवस्थामें कभी तो प्रेमीको अभिमान और कभी भय आकर दुःख देते हैं। अभिमान तो इस बातका कि मैं पूर्ण सौन्दर्यके करीब बैठा हूँ और भय इस बातका कि कहीं यहाँसे अलहदा न किया जाऊँ। और अक्सर इस प्रकारका मोह भी इस अवस्थामें आ जाता है कि 'देखा' आखिर हमने भगवान्‌को पा ही लिया! जब भगवान् अपने प्रेमीको इन बातोंका शिकार होते देखते हैं तो उसको थोड़ा-सा परे कर देते है और फिर वह अपनी कोशिशसे भगवान्‌को पाना चाहता है, लेकिन नहीं पा सकता। इस हालतमें उसका अभिमान टूट जाता है और इसमें एक प्रकारकी आजिजी (दीनता) आ जाती है। अब यह समझने लगता है कि यह प्रेम मेरा अपना न था, यह प्रभुकी देन थी; क्योंकि जबतक दीपक न जले, पतंगा उसमें जल ही नहीं सकता। इसलिये अहंकार और अज्ञानका तो नाश हो गया और भयका नाश भी इसलिये हो गया कि वह समझ लेता है कि जिसने इतनी कृपा करके अपनाया है, वह मुझको क्यों फेंकने लगा।

(४) चौथा दरजा—चौथी अवस्थामें प्रेमीका रहा-सहा अहंकार उस भड़कती हुई प्रेमकी अग्निमें जलकर खत्म हो जाता है, जिस तरह लकड़ी आगमें जलकर खत्म हो जाती है। इस अवस्थामें प्रेमी पूर्णतः अपने-आपको प्रभुके अर्पण कर देता है। फिर जिधर भी देखता है, सिवा एक भगवान्‌के और कुछ नजर ही नहीं आता। अपना-बेगाना, छोटा-बड़ा, दोस्त-दुश्मनको देखतातक नहीं; केवल प्रभु-ही-प्रभु रह जाते हैं। ज्ञान तो इस अद्वैतवादतक गहरी युक्तियों द्वारा लाता है, लेकिन प्रेम बगैर किसी विज्ञान (Philosophy) और तर्क (Logic) के इसी मंजिलपर ला खड़ा करता है। अब देखनेको तो प्रेमी 'प्रेमी' कहलाता है, लेकिन उसमें सिवा प्रीतमके और कुछ नहीं होता; यह है प्रेमका सर्वोत्तम लक्षण। भावार्थ यह है कि जहाँ ज्ञानयोग, राजयोग, कर्मयोग मनुष्यको उठाकर यत्नद्वारा लाते हैं, वहाँ यह प्रेम प्रेमीको अपने कंधेपर उठाकर ला डालता है। धन्य है यह प्रेम! लेकिन यह जरूर है कि इसकी प्राप्ति सच्चे प्रियतमकी इच्छापर ही निर्भर है।

ना बूद शुदम बूद नमी दानम चीस्त।
अखगर शुदा अम दूद नमी दानम चीस्त॥
दिन दादमो जाँ दादमो ईमाँ दादम।
सूदस्त दिगर सूद नमी दानम चीस्त॥

मैं नाश हो गया, अब मुझे अपने पहले 'होने' की याद नहीं। मैं सुलगता हुआ कोयला बन गया, मुझे धुँआका ज्ञान नहीं। मैंने हृदय, प्राण और धर्म प्रभुकी भेंट कर दिये—और मुझको सबसे बड़ा फायदा यही मालूम हुआ इसके अलावा दूसरे फायदेको मैं जानता ही नहीं।

प्रश्न—आप अपने पहले अस्तित्वको भूलकर नाश हो गये! इससे क्या फायदा हुआ? क्या नाश होना भी कोई फायदा है?

उत्तर—बीमारीका नाश होना, अंधकारका नाश होना, बुराईका नाश होना, परिच्छिन्नताका नाश होना और उस अहंकारका नाश होना, जो अपने प्रियतमसे दूर रखता है, क्या फायदा नहीं?

प्रश्न—यह ठीक है। लेकिन बीमारीके दूर होनेपर बीमार तो रहता है, यहाँ तो आप ही नष्ट हो गये?

उत्तर—यह नाश इस प्रकारका नाश है कि जिसमें नाश कुछ भी नहीं होता बल्कि अल्पज्ञता सर्वज्ञताके,

परिच्छिन्नता अपरिच्छिन्नताके, किरण सूर्यके और जलकी बूँद समुद्रके अर्पण कर दी जाती है। जलकी बूँदको समुद्रमें फेंका, किरण सूरजमें लिपट गयी तो क्या इनका वास्तविक नाश हो गया? जिस तरह जलकी बूँद समुद्रमें गिरकर नाश हो जाती है, उसी तरह अहंकार प्रभुमें मिलकर नाश हो जाता है। जलकी बूँद समुद्रमें गिरकर अपने-आपको फिर कभी नहीं दिखाती बल्कि समुद्रको और उसकी बड़ाईको ही सामने रखती है। कोई भूलकर भी यह नहीं कहता है कि यह कतरा है। इसी तरह जब अहंकार प्रभुमें मिल जाता है तो वह अपने उस नाशसे प्रभुके अस्तित्वको दिखाता है लेकिन खुद कहीं बाहर नहीं जाता। कतरा (बूँद) तो समुद्रका अंश है। उसके कोई हक उसके नाश करनेका नहीं। हाँ, जिस कतरेने जल और समुद्रसे अहलदा अपनी हस्ती मुकर्रर कर ली है और जो इस तरह जल और समुद्रसे अलहदा बन गया है, उसको तो उसे नाश करना ही पड़ता है। वह कहता है कि मैं कतरा हूँ मेरी एक खास हस्ती है, मै एक खुदमुख्तार पदार्थ हूँ। लेकिन जब वह जलको देखता है तो उसका अपना सब कुछ सिवा जलके और कुछ नहीं निकलता। जलतक तो उसको अपनी अलहदा 'मैं' कायम करनेका अख्त्यार नहीं, क्योंकि वह 'मैं' जलकी है और जलके बगैर कतरा कुछ रहता नहीं। बस, इस दृष्टिमें कतरेको कहना पड़ता है 'मैं अपने प्रियतमको देखकर नाश हो गया।' वैसे तो कुछ नाश-वाश हुआ नहीं।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

नाश हो किसका सकता था? जलका?
वह तो एक सत् पदार्थ था।
नाम-रूपका?
वे थे ही नहीं।

बस, न 'होने' का नाश हो सकता है और न 'न होने' का। हाँ, उस भ्रमका नाश जरूर हो गया, जिसने दूसरेकी चीजपर झूठा कब्जा कर रखा था। प्रेमी खुद, जो कि अपने प्रीतमका अंश है, उस अंशको प्रीतमसे अलहदा करके उसपर अपना कब्जा जमा लेता है और फिर कुछ-का-कुछ बन जाता है। कहीं शरीर है, कहीं मन है, कहीं बुद्धि है, कहीं प्राण है, कहीं ब्राह्मण है, क्षत्रिय है, महात्मा है, राजा है, गरीब है, अमीर है, छोटा है, बड़ा है, ज्ञानी है, अज्ञानी है, इज्जतवाला है, किस्मतवाला है—इत्यादि। यह फिर प्रभुके पवित्र अंशपर जो प्रेमीका सांसारिक आरोप होता है, प्रेम उसको जलाकर खाक कर देता है और शेष जो कुछ रह जाता है, वह प्रियतमका वह अंश होता है कि जिसपर प्रेमीने अपने जुदा अहंकारकी दुनिया कायम की होती है।

प्रेमकी अग्नि अहंकारको जला देती है और जब यह जल जाता है तो उसको फिर कभी याद भी नहीं आता कि वह था क्या। इस नाशपर सौ जान कुर्बान कि जो प्रियतमसे एक कर देता है! कतरा समुंदरमें गर्क होकर समुंदरसे जुदा नहीं रह जाता। जबतक लकड़ीका अपना अस्तित्व आगमें रहता है, उससे धुआँ निकलता रहता है, लेकिन जब जलकर ऐन आग बन जाती है तो धुआँ भी खत्म हो जाता है। इसी तरह जबतक अहंकारका कोई अंश भी प्रीतमके साथ रहता है, दुःख और भ्रमका नाश नहीं होता; और जब बिलकुल मिट गया तो धुआँ खत्म हो गया। मैंने अपने प्रीतमके प्रेममें अपना दिल, प्राण और धर्म सब कुछ दे दिये।

प्रश्न-वाह, अच्छे रहे! सब कुछ मिलना चाहिये था या सब कुछ दे देना?

उत्तर—जिस देनेमें फायदा हो, उसका दे देना ही अच्छा है। जब दिल दिया, झगड़े खत्म हो गये; प्राण दिये, मौतसे आजाद हो गये। और जब सांसारिक धर्म उनकी भेंट किया तो बड़ा धर्म मिल गया, क्योंकि बड़ा धर्म यही है कि उसको अपना सर्वस्व देकर उससे एक हो जावे। प्रेमीको लेनेकी फुरसत ही कहाँ है? उसे तो सब कुछ देना-ही-देना है। सब कुछ प्रियतमको दिया, वह तो लालचमें आकर ले गये; लेकिन प्रेमी अजीब चतुर निकला कि अपना आप उनको देकर उनके नजदीक बैठ गया और जब कभी प्रभुने उस धनपर ये शब्द फरमाये कि 'ये हैं मेरी चीजें' तो प्रेमी फूला नहीं समाया और कहने लगा कि हाँ, मैं इनका हूँ और दबी जबानसे यह भी कह दिया कि 'यह मेरे हैं' वाह, वाह, क्या सौदा है!

प्रेमाग्नि

अरबीमें एक मुहाविरा है—'**अल इश्कुन नारुन**'

यह प्रेम क्या है? आग है।

दृष्टान्तके रूपमें—दीपक आग है, प्रेम आग है, लेकिन पतंगा आग नहीं। इससे सिद्ध होता है कि एक विजातीय पदार्थको विजातीयसे प्रेम हो रहा है कि जो सिद्धान्तके बिल्कुल बरक्स (विरुद्ध) है इसलिये हमको कोशिश करके पतंगेमें भी आगको ढूँढ़ना चाहिये। देखिये, पतंगा दीपककी तरफ़ क्यों दौड़ता है तो कहना पड़ता है कि उसको दीपकसे प्रेम है। इससे स्पष्ट हो गया कि पतंगेके अंदर एक ऐसा पदार्थ है कि जिसका नाम प्रेम है और हम अभी मान चुके हैं कि प्रेम आग है। लेकिन फ़र्क यह है कि दीपकपर आगका प्रकाश है और वह ज़ाहिर है और पतंगेके दिलमें आग छुपी है। अब यह छुपी आग इस प्रकट आगकी तरफ़ चलती है लेकिन उसको मालूम होता है कि यह वियोग तबतक कभी दूर नहीं हो सकता कि जबतक पतंगेका शरीर बीचमें रुकावट बन रहा है, गोया यह एक परदा है। अब पतंगेके अंदर दीपककी तरफ़ चलनेवाला अंश तो आगका ही है लेकिन वह छुपा पड़ा है पतंगेके शरीररूपी पिंजड़ेमें। अब वह आग इस पिंजड़ेको जलाना और अपने सजातीय प्रियतमसे एक करना चाहती है तो सिद्धान्त यह हुआ कि प्रियतम खुद पतंगेमें बैठकर अपने आपसे प्रेम कर रहा है। लेकिन दीपक और पतंगेकी शक्ल मुख्तलिफ़ होनेसे प्रेमकी लीला क़ायम हो सकी है। अगर प्रेम बग़ैर इन उपाधियोंके होता तो अकेला होता, फिर प्रेम किससे करता, क्योंकि एकमें तो क्रिया नहीं रहती।

लेकिन याद रहे कि मोह और प्रेममें भेद है। प्रेमकी संक्षिप्त परिभाषा यह है कि जो संसारसे हटाकर भगवान्की तरफ़ लगावे, और मोह वह है कि जो भगवान्को भुलाकर संसारमें लिप्त कर दे।

असली बात यह है कि जब जलको जल दृष्टिसे देखा जाय तो वहाँ बुदबुदा, लहर और भँवर नहीं रहते और जब जलको नाम-रूपकी दृष्टिसे देखा जाय तो वहाँ बुलबुला, लहर, गिरदावकी उपाधियाँ आ जाती हैं जिससे विशेष और सामान्य रूप तैयार हो जाते हैं। प्रेम हर-एक हृदयमें छुपा है और छुपा इसलिये है कि हर-एकको उसके असली प्रियतमसे मिलनेकी राह बताये। प्रभुने जहाँ बीमारी रखी है वहाँ उसका इलाज भी रख दिया है। इसलिये हर-एकको सन्तुष्ट रहना चाहिये कि उसके प्रियतम और प्रियतमसे मिलनेकी इच्छा और प्रियतमसे मिलनेका रास्ता उसके औज़ार मौजूद हैं।

प्रश्न—जब सबके अंदर प्रेम है तो उसका प्रकाश क्यों नहीं होता?

उत्तर—सामान्यरूपसे मौजूद है इसलिये उसका पता नहीं चलता। जिस तरह दियासलाईमें अग्नि तो होती है लेकिन जबतक उसको काग़ज़पर न रगड़ा जाय तबतक उससे आग नहीं निकलती—

'गर्चे दिलवर पास है बिन जुस्तजू मिलता नहीं।
दूधसे माखन जो चाहो तो बिलोना चाहिये॥'

इस वक्त संसारमें कुल दुःखों और गड़बड़ोंका कारण इसी प्रेमका अभाव है। जीव-ईश्वरमें सम्बन्धका न रहना इसी प्रेमका अभाव है। क़ौमों, मुल्कों और देशोंकी लड़ाईकी वजह केवल प्रेमका अभाव है।

दुःख क्या है?—प्रेमका अभाव।

बन्धन क्या है?—प्रेमका अभाव।

लड़ाई क्या है? प्रेमका अभाव।

अनेकता और विभिन्नता क्या है?—प्रेमका अभाव।

इसलिये मोक्ष और सर्वसुखोंका दूसरा नाम प्रेम है।

इत्तहाद (unity)-का मूल कारण प्रेम है।

अब हमको यह देखना है कि प्रेमका महत्त्व क्या है और उसका प्रकाश किस तरह हो सकता है। मेरे ख़यालमें अगर संसारमें इस प्रेमका प्रकाश फिरसे हो जाय तो कोई झगड़ा ही कैसे रह सकता है?

जिस तरह शरीरकी अनेकताको मनुष्य अनेकता नहीं समझता और एकता ही कहता है उसी तरह कुल संसारकी अनेकता भी उसी समय एक हो जाती है कि जब सबसे प्रेम हो जाता है। और जब सबसे प्रेम ही हो गया तो अपने और बेगानेके झगड़े ही नाश हो गये! अब मैं

संक्षिप्तरूपमें प्रेमके सम्बन्धमें और कुछ लिखता हूँ।

प्रेम ही जीवन है

प्रेमके बग़ैर मनुष्य मुर्दा है। जब मनुष्यमें प्रेमका अभाव होगा तो कोई आकर्षण भी किसी चीज़के लिये न होगा, और जब आकर्षण न होगा तो क्रिया न होगी, और जब क्रिया न होगी तो जीवन जडके समान हो जायगा। इसलिये प्रेम ही जीवन है, लेकिन भेद इतना है कि आकर्षण तो है, क्रिया भी है, लेकिन उसका रुख (direction) ठीक नहीं। जब रोशनी काले शीशेसे निकलती है, उसकी किरणें काली हो जाती हैं और सफ़ेदसे सफ़ेद। इसी तरह जब वास्तविक प्रेमका प्रकाश सांसारिक इच्छाओंमें होता है तो वह प्रेम मोहकी शक्लमें बदल जाता है। उसमें प्रेम तो है लेकिन रूख (direction) बदल गया है।

Sin means misdirected energy.

पापका अर्थ है शक्तिका गुमराह कर दिया जाना।

लेकिन जब यह प्रेम ईश्वरीय इच्छाद्वारा प्रकट होता है तो उसका नाम प्रेम होता है। यही प्रेमका प्रकाश है कि जिसके लिये ऋषि, महात्मा और ज्ञानी तरसते हैं।

प्रेम वह है कि जिसकी ज़रूरत ज्ञानीको भी है बल्कि जो ज्ञानीके लिये भी स्वाभाविक है। यद्यपि ज्ञानीकी दृष्टिमें दूसरा रहता नहीं फिर वह प्रेम किससे करे, लेकिन वह एक तो होता है कि जो अनेक रूपमें प्रकट हो रहा है। इसलिये उस एकताको अनेकतामें देखना भी तो प्रेम ही है और अगर कुछ भी न हो तो ज्ञानीका अपने-आपसे तो स्वाभाविक प्रेम है ही। अगर प्रेम न हो तो ज्ञानीको कभी अपनेसे सुख न मिले क्योंकि वह अपने लिये अपने-आपको फालतू चीज़ समझे।

प्रेम है—इसमें तो सन्देह हो ही नहीं सकता, क्योंकि सामने है और सबमें किसी-न-किसी रूपमें प्रकट हो रहा है लेकिन हमको अगर कुछ करना है तो उसका रूप बदलना है—संसार और उसकी इच्छाओंकी तरफ़से हटाकर उसको प्रभुमें जोड़ना है।

संसार प्रभुका खेल है

उसने एक तरफ़ सृष्टि अति सुन्दर बनायी और दूसरी तरफ आप बैठ गया। बीचमें दिलोंमें प्रेम रख दिया। अब वह देखता है कि कौन मेरी तरफ़ आता है? एक प्रेमीने आकर कहा—'प्रभो! मैं आपसे प्रेम करता हूँ।' प्रभु चौंक उठते हैं। चूँकि उनको अचम्भा यह हुआ कि संसारमें मुझसे भी कोई प्रेम करता है? क्योंकि जब वह देखते हैं कि संसार संसारकी तरफ़ ही चला जा रहा है और अगर कुछ भगवान्‌की तरफ़ आते भी हैं तो भी संसारको माँगनेके लिये ही। अक्सर तो प्रभुको यह ख़याल हो जाता है कि 'कहीं संसार मुझसे सुन्दर तो नहीं कि जो सब उसकी तरफ़ ही दौड़े जाते हैं और मेरे पास कोई नहीं आता।' तो झट इस सन्देहको दूर करनेके लिये किसी सच्चे प्रेमीके साफ आईनेमें झाँक लेते हैं और फिर देख लेते हैं कि 'नहीं, मेरा सौन्दर्य तो मौजूद ही है, केवल इन्होंने ही उसे नहीं देखा।'

जब कोई प्रेमी प्रभुसे कहता है कि मैं आपका प्रेमी हूँ तो प्रभुको ऐसा मालूम होता है कि मुझको कोई नयी चीज़ मिल गयी और वह उस प्रेमीको इस तरह देखते हैं कि जिस तरह विदेशमें किसीको कोई अपने जाननेवाला मिल जाय। लेकिन इसके साथ ही प्रभुको ध्यान आता है कि देख लें इसके प्रेमकी सचाई कहाँतक है तो झट ही प्रभु उसके सामने संसारभरके बड़े-बड़े सुन्दर पदार्थोंको ला रखते हैं। कहीं इज़्ज़त, कहीं यश, कहीं धन, कहीं विद्या और कहीं चमत्कारकी शक्तियाँ आदि और कहीं स्वर्ग वग़ैरहका लालच। लेकिन जब देखते हैं कि वह इस तरह भी नहीं भूला तो उसके सामने भयंकर नक्शे—रुकावटें अपने मार्गमें पैदा कर देते हैं। बदनाम करते हैं, निर्धन करते हैं, इज़्ज़त छीन लेते हैं, प्रिय वस्तुओंको खोस लेते हैं, निकम्मा, आलसी, मूक बना देते हैं, संसारका दुतकारा हुआ बना देते हैं, स्वास्थ्य छीन लेते हैं, उसकी हर प्यारी वस्तुपर हाथ डालते हैं, यहाँतक कि उसके प्राणोंपर भी हाथ बढ़ाते हैं। लेकिन अगर कोई प्रेमी इस तरह देखकर लालच या भयमें आकर अपने प्रियतमको छोड़ दे तो प्रभु अफ़सोस करते हैं कि मुद्दतके बाद एक प्रेमी मिला था वह भी कसौटीपर परखनेसे झूठा निकला और चुपकेसे बैठ जाते हैं। लेकिन अगर प्रेमी इन हालतोंमें क़ायम रहता है और अपने प्रियतमके ध्यानमें मग्न हुआ आगे बढ़ता जाता है तो प्रभु

उसको अपने हृदयसे लगा लेते हैं और कहते हैं कि 'देख, तू है मेरा सच्चा भक्त। अब आजसे मैं तेरा हूँ और संसार मेरा है इसलिये यह भी तेरा है।' लेकिन प्रेमी कहता है कि 'प्रभो! आपके मिलनेपर मुझे संसारकी आवश्यकता ही क्या है?' तो प्रभु कहते है कि 'नहीं! जबतक यह लीलाका आभास बाकी है तुमको इस संसारमें खेलना ही है।' बस, प्रेमी अपने प्रियतमको अपने मनमें रखता हुआ उसकी लीलामें भाग लेता है और उसीके लिये काम करता जाता है।

प्रभु-प्राप्तिके साधन

संसारमें प्रभु-प्राप्तिके लिये बहुत-से साधन हैं जो जिसको सुगम मालूम होता है वह उसीपर चलता है या जो जिसकी प्रकृतिके अनुकूल होता है वह उसको ग्रहण कर लेता है। इसलिये वे सभी साधन कि जो प्रभुके समीप ले जाते हैं ठीक ही है। यह झगड़ा कि 'केवल मेरा मार्ग ही ठीक है' बाकी झूठ हैं' ठीक नहीं। बाग़में किस्म-किस्मके फूल बाग़की शोभा बढ़ाते हैं। जिसको जो साधन मंजूर हो उसपर चलता जाय। लेकिन मेरा काम तो इस समय सिवा प्रेमके और है क्या? इसमें सन्देह नहीं कि खाँड़ और उसके खिलौनोंमें कोई भेद नहीं। सब खाँड़ ही तो हैं लेकिन फिर भी खिलौने सुन्दर ही मालूम होते हैं। अक्सर भक्त तो ऐसे हैं कि जो खाँड़ बनना नहीं चाहते, बल्कि उसके चखैया बनना चाहते हैं।

सारांश

प्रेम हर-एकके हृदयमें मौजूद है। जब इसका प्रवाह संसारके लिये चलता है तो यह मोहकी शक्ल अख्त्यार कर लेता है लेकिन जब यह भगवान्‌की तरफ़ चलता है कि जो प्रेमका भण्डार है तो यह प्रेम कहलाता है।

(१) इस प्रेमका प्रकाश कब होता है—जब मनुष्य संसारमें पीड़ित हो जाता है और किसी भी पदार्थमें स्थायी सुखका अनुभव नहीं करता तो इसकी दृष्टि किसी ऐसे पदार्थकी ओर आकर्षित होती है कि जो पूर्ण, नित्य और सुखका भण्डार हो।

(२) मनुष्यके हृदयमें जो प्रेम छुपा हुआ है वह भी बाहर निकलनेके लिये ज़ोर लगाता है।

(३) जब ईश्वरकी कृपा होती है तो यह छुपा प्रेम प्रकट हो जाता है। लेकिन इस प्रेमके लिये एक शर्त है वह यह कि पहले सब प्यारी चीजोंको उसकी क़ीमतमें देना पड़ता है।

'कसे कि जानो जहाँ दाद इश्के ऊ बखरीद।
वक़ूफ़ याफ़्त ज़ सूदो ज़ियाने मक़तबे मा॥'

जिसने जान और जहान दोनों दिये, उसने उसके प्रेमको खरीद लिया और उसीने इस पाठशालाके नफ़ा-नुकसानको समझा।

'—प्रेम सुराही सो पिये जो सीस दच्छिना देत।
लोभी न सीस दे सके नाम प्रेमका लेत॥

प्रेमी—मुझे भगवान्‌को पाना है।

'तो क्या तुम क़ीमत अदा करनेको तैयार हो?'

प्रेमी—क्यों नहीं?

'वहाँ पहुँचनेके कई दर्जे हैं। तुम किस दर्जेको चाहते हो?'

प्रेमी—मुझको सबसे बड़ा रुतबा चाहिये। मैं भगवान्‌के मस्तकतक पहुँचूँगा।

'लेकिन तुमको मालूम होना चाहिये कि वहाँ कंघी पहुँचती है इसलिये तुम जबतक आरेके नीचे कंघीकी तरह न तराशे जाओगे तुम वहाँतक नहीं पहुँच सकते।'

प्रेमी-(घबराकर) क्या? नहीं, मुझको तो आँखोंतक ही पहुँचा दीजिये। निचली मंजिल है।

'लेकिन तुमको मालूम होना चाहिये कि वहाँ सुरमा पहुँचता है इसलिये तुम जबतक सुरमेकी तरह पत्थरके तले न पिसोगे नेत्रोंतक पहुँचना मुश्किल है।'

प्रेमी—(घबराकर) नहीं, मुझको तो कानोंतक ही पहुँचा दीजिये, कुछ तो सस्तापन रहेगा।

'लेकिन क्या तुम नहीं जानते कि वहाँ मोती पहुँचता है कि जो पहले अपने-आपको तारोंसे छिदवा लेता है।'

प्रेमी—(हैरान होकर) यह क्या? अच्छा भगवान्‌के मुँहतक ही पहुँचा दो।

'लेकिन वहाँ भी प्याला बने बग़ैर कैसे पहुँच सकोगे? पहले कुम्हार उसको गूँधता है, फिर उसको चाकपर चढ़ाकर उसको तराशता है, उसके बाद आगमें डाला

जाता है फिर कहीं कूज़ा बनकर मुँहतक पहुँचता है।'

प्रेमी—(मन-ही-मनमें) अरे, यहाँ भी वही मुश्किल सामने आती है। तो झट छलाँग मारकर नीचे उतर आये और कहने लगे कि मुझको तो हाथोंतक ही पहुँचा दो।

'लेकिन तुमको मालूम होना चाहिये कि हाथोंमें क़लम (लेखनी) पहुँचती है इसलिये जबतक चाकूसे काटे न जाओगे वहाँ भी कैसे पहुँच सकते हो?'

प्रेमी—अजीब बात है। कहीं भी चैन नहीं। अच्छा तो भगवान्‌के चरणोंतक ही पहुँचा दो, यह तो सस्ती जगह है, कम क़ीमतसे या मुफ्त ही मिल सकेगी!

'लेकिन तुमको मालूम होना चाहिये कि चरणोंमें मेंहदी लगती है इसलिये जबतक उसकी तरह पत्थरके नीचे न पिसोगे वहाँ भी कैसे पहुँच सकते हो?'

प्रेमी-(हैरान होकर) अरे, यहाँ तो सब जगह मरना ही पड़ता है। बाज़ आये हम ऐसे प्रेमसे! हम तो बग़ैर भगवान्‌के ही अच्छे हैं। (भाग जाता है)

सच्चे प्रेमी जो भगवान्‌के शुभाङ्गोंके श्रृंगार बने बैठे हैं ताली बजाकर कहते हैं कि—

'प्रेम सुराही सो पिये जो सीस दच्छिना देत।
लोभी सीस न दे सके नाम प्रेमका लेत॥
बच्चोंका नहीं खेल यह मैदाने मोहब्बत।
आये जो यहाँ सरसे कफ़न बाँधके आए॥'

प्रेमी सामने दौड़ता है। उधर संसार है जिसके चारों तरफ़ आग लगी नज़र आती है। यह घबराकर डरता है और फिर वापस आता है। इधर भी मौत उधर भी मौत! बेचारा बीचमें है करे तो क्या? जाये तो कहाँ?

उसको इस हालतमें देखकर एक महात्मा मिलते हैं और पूछते हैं—'यह भूलेकी शक्ल क्या बना रखी है? कभी इधर चलते हो और कभी उधर; चेहरा क्यों उड़ रहा है?' उसने जवाब दिया कि 'महाराज! करूँ तो क्या करूँ? दोनों तरफ़ मौत-ही-मौत है। संसारमें भी मौत नज़र आती है और भगवान् भी इसी क़ीमतसे मिलते हैं।

महात्मा—'भाई! इतना सोच लो कि दोनोंमें अच्छी मौत कौन-सी है, जब तुमको मरना ही है, तो फिर प्रभुके लिये मर जाओ। याद रखो यह मौत नहीं, ऐन ज़िन्दगी है। यह बनावटी भयंकर चेहरा है लेकिन इसके परदेमें सिवा आनन्दके और कुछ है ही नहीं, डरो नहीं। तुम मरोगे नहीं, और अगर मरनेसे डरते हो तो भागकर भी कहाँ बच सकते हो?'

प्रेमी इन शब्दोंसे होशियार हो जाता है और प्रभुसे प्रार्थना करता है कि वह उसको मंजूर करें।

लेकिन अगर इतना करनेपर भी किसीका भय दूर नहीं होता तो वह प्रेमको इस क़ीमतसे ले सकता है।

एक आदमीको ख़याल आया कि वह प्रेमको खरीदे और मालूम किया कि प्रेम कहाँसे मिलता है? जवाब मिला ईश्वरसे। बस, यह कुछ मेहनत करके वहाँ पहुँचा।

भक्त—प्रभो! मैं आपके लिये कुछ तोहफ़ा लाया हूँ कि जो आपके पास नहीं।

देवता—(हैरान होकर) आखिर वह क्या चीज है कि जो भगवान्‌के पास नहीं!

भगवान्—तो लाइये।

भक्त—प्रभो, जल्दी नहीं दिखाऊँगा। आप भी किसको जल्दी अपना प्रेम और अपने दर्शन दे देते हैं?

भगवान्—अच्छा, दिखाओ तो सही—देखें वह क्या चीज़ है कि जो हमारे पास नहीं।

भक्त—सिर्फ़ वही कि जो मेरे पास है।

भगवान्—अच्छा, तो वह है क्या? दिखाते क्यों नहीं।

भक्त—लेकिन मैं उनके जवाबमें ज़रूर कुछ लेने आया हूँ।

भगवान्—वह क्या?

भक्त—आपका प्रेम।

भगवान्—लेकिन पहले अपनी चीज़ें तो दिखाओ। हम भी देखें कि वह कौन-सा तोहफ़ा है कि जो हमारे ख़जानोंमें भी नहीं।

भक्त अपनी आजिज़ी—दीनताको पेश करता है और पूछता है कि प्रभो, क्या यह आपके दरबारमें है, क्या यह आपके पास है? आप तो आजिज़ (दीन) नहीं, आपको किसका भय है जो आप आजिज़ हों और मैं संसारमें हर दु:खसे सताया हुआ हूँ। यह मेरी चीज़ है और यह है आजिज़ी और यह वह वस्तु है कि जो आपके

पास नहीं। प्रभो! इसको बतौर तोहफ़ा भेंटके क़बूल कीजिये।

भक्त उसके बाद अपनी तुच्छताको दिखाता है यानी बेकसीको और पूछता है कि प्रभो! यह आपके खजानोंमें कहाँ है? आप तो इतने बड़े हैं कि जिसकी हद कोई नहीं।

फिर भक्त अपने पापोंको सामने रखकर रोता है और कहता है कि यह वह चीज़ है कि जो कभी आपके पास हो ही नहीं सकती।

और अन्तमें अपने पश्चात्तापको पेश करके कहता है कि प्रभो! यह भी आपके लिये एक नयी चीज़ है, क्योंकि पश्चात्ताप उसको होता है कि जो गलती करता है और जो गलती नहीं करता उसको पश्चात्ताप कभी क्यों हो? हे प्रभो! चीज़ें तो बहुत निकम्मी हैं लेकिन आपके पास तो नहीं हैं इसलिये इनको बतौर तोहफ़ाके मंजूर फरमाइये और दया कीजिये।

प्रभु प्रसन्न होकर भक्तको अपने हृदयसे लगाते हैं और कहते हैं कि तूने जब अपनी आजिज़ी (दीनता)-को मेरे सामने रख दिया तो तू आजिज़ (दीन) न रहा और जब तेरी तुच्छता मुझमें मिल गयी तो तू तुच्छ भी न रहा और जब तूने अपने पापोंको मेरे सामने रख दिया तो तू पापी भी न रहा और फिर पश्चात्ताप भी इसलिये न रहा कि तेरे पाप पहले ही खण्डित हो गये।

भगवान् उसके ऐसे भावको देखकर प्रसन्न हो गये और उसको अपना प्रेम दे दिया। सारांश यह कि जिस समय मनुष्यके हृदयमें अपनी दीनता, तुच्छता और पापोंका ख़याल यथार्थ रूपमें आ जाता है और उसके साथ-साथ उसको सच्चा पश्चात्ताप भी होता है और वह प्रभुके पास सच्चे मनसे उनके प्रेमको माँगने जाता है तो ऐसी अवस्थामें प्रभुकी दया उस जीवकी तरफ दौड़ती है, उसको अपने प्रेममेंसे हिस्सा देती है। यह प्रेम किताबों, पुस्तकों, Philosophy, Logic वगैरहसे नहीं मिल सकता। इसकी प्राप्ति केवल भगवान्‌की दयापर ही निर्भर है और उसकी दया शायद आजिज़ीसे मिलती है।

'हर कुजा दर्दे दवा आँ जा रवद।
हर कुजा पस्तीस्त आब आ जाँ रवद॥

यानी जहाँ दर्द है वहाँ दवाई पहुँच जाती है और जहाँ निचान होती है पानी वहाँ जा पहुँचता है। पहले जीवको ईश्वरके अस्तित्वका ज्ञान होता है जो कि कभी युक्तियोंसे कट जाता है और कभी मज़बूत होता है। इसके पश्चात् जब जीव दीन होकर प्रभुसे उनका प्रेम माँगता है, प्रभु उसके हृदयमें अपना प्रेम डाल देते हैं। गोया पहले प्रभु-प्रेमके लिये प्रेम होना आवश्यक है।

सारांश यह निकला कि पहले प्रेमका प्रेम मिला, उस प्रेमने प्रभुके सामने आजिज़ होकर करजोर प्रार्थना करवायी, आजिज़ी और प्रार्थनासे प्रभु प्रसन्न हुए और उस प्रसन्नतासे प्रेम मिला। प्रेमकी अग्निने अहंकाररूपी बारूदमें आग लगा दी और उस आगमें उस समयतक उस बारूदद्वारा सुन्दर-सुन्दर प्रेमके चमत्कारोंकी फुलझड़ियाँ दिखाकर आखिर उस बारूदको शान्त कर दिया।

प्रेम मिलनेके पश्चात्

प्रेमीका मन केवल भगवान्‌में जुड़ जाता है। उसको सिवा अपने प्रियतमके न तो कुछ नज़र ही आता है और न कुछ अच्छा ही मालूम होता है। वह कभी अपने प्रियतमके प्रेममें हँसता, कभी रोता और कभी गाता और नाचता है, कभी उसके रोमाञ्च होते हैं और कभी कुछ और कभी कुछ। उस प्रेमीकी हालतको वही समझ सकता है कि जिसको प्रेम मिलता है। एक दरियाके किनारेपर बैठा हुआ मनुष्य उस आदमीकी हालतको क्या समझ सकता है कि जो दरियामें बहा जा रहा है। इस प्रेमका एक कण भी संसारके बन्धनोंसे मुक्त कर देता है बल्कि मोक्षकी इच्छाका बन्धन भी काट देता है, क्योंकि प्रेमीको सिवा अपने प्रियतम और उसकी इच्छाके कुछ नजर ही नहीं आता।

प्रेमी उसको कहते हैं जो सिवा प्रियतमके किसीकी तरफ़ न देखे और प्रियतम वह है कि जिस-सा दूसरा और कोई न हो।

प्रश्न—क्या प्रेमी निकम्मा हो जाता है?

उत्तर—क्या प्रेम करना खुद ही सबसे बड़ा काम

नहीं? फिर आप उसको निकम्मा कैसे कह सकते हैं?

वह—नहीं, मेरा मतलब तो सिर्फ़ यह है कि क्या एक सांसारिक पुरुषको भी प्रेम मिल सकता है?

उत्तर—हाँ, क्यों नहीं? वह हर समय अपने प्रियतमके काम करके प्रसन्न होता है।

मीरा—

'गिरधारीलाल चाकर राखो जी
स्याम म्हाने चाकर राखो जी'

प्रेमी भयसे मुक्त हो जाता है

राणा रूठे अपणी नगरी राखे।
मैं हरि रूठे कहाँ जाना

**'राणाजी भेज्या जहर पियाला, अमृतकर पी जाना
मेरे राणा जी मैं गोविन्दके गुण गाना॥**

प्रेमीको किसी चीज़की इच्छा तो रहती ही नहीं; हाँ, अपने प्रियतमके काम करके वह खूब खुश होता है और फिर जो काम (duty) प्रभु उसे देते हैं वह उसको पूरा करके बहुत खुश होता है जब उससे पूछा जाता है कि तू क्या कर रहा है तो कहता है कि 'मैं भगवान्‌का काम कर रहा हूँ।'

'किसलिये?'

'भगवान्‌के लिये'

'कबतक इस कामको करोगे?'

'जबतक मेरे अंदर कोई भी श्वास बाकी है'

वह अपनी तमाम क्रियाओंको भगवान्‌के लिये करता है और उसको कोई फलेच्छा नहीं होती। उसके एक ज़र्रेका आनन्द संसारके कुल सुखोंसे बड़ा है।

संयोग और वियोग

पहले प्रेमी प्रियतमके वियोगका अनुभव करता है और उसका आनन्द बड़ा विचित्र होता है और यह वियोग उस ईश्वरीय कृपाके संयोगसे मिलता है। जब यह वियोगकी ज्वाला भड़कती है तो प्रेमीका हृदय अपने प्रियतमके लिये व्याकुल हो उठता है। इस तरह प्रेमी प्रियतमको अपने अंदर लाकर खुद निकलता जाता है और जब प्रियतम पूर्णरूपसे प्रेमीके अंदर आता है, प्रेमी खत्म हो जाता है और प्रियतम-ही-प्रियतम रह जाता है।

पतंगा पहले दीपकको देखता है, फिर उसमें गिरता है। लेकिन गिरते ही नहीं मरता, गिरकर मरता है क्योंकि गिरने और मरनेमें कुछ समय मौजूद है, कि जिसमें वह जीता रहकर जलता है। इतने संयोगपर भी वियोग रह ही जाता है और आखिरकार जब खत्म होता है तो दीपकके प्रकाशको बढ़ाकर उस प्रकाशमें एक हो जाता है।

**'यह निहाल शोलए हुस्नका तेरा बढ़के सर बफ़लक हुआ।
मेरी काहे हस्तीने मुश्तइल हो उसे यह नश्वोनुमा दिया॥'**

तेरे सौन्दर्यके तेजका वृक्ष बढ़कर आकाशतक पहुँच गया, लेकिन उसको मेरे तृणवत् अस्तित्वने जलकर यह तरक्की दी, या इस तृणने उस तेजोमय वृक्षके साथ लगकर इतना ऊँचा रुतबा हासिल कर लिया!

इस प्रेमके फिर कई मार्ग हो जाते हैं। कोई किसी रूपसे आता है और कोई किसी रूपसे। धन्य है वह महान् पुरुष कि जिसको इस प्रेममेंसे कुछ हिस्सा मिल चुका है।

प्रभु-प्राप्तिका अति सरल मार्ग

प्रश्न—महाराज! इसको पानेका और भी सरल मार्ग क्या है?

उत्तर—सुनिये।

एक बालक गिर गया, उसने उठनेकी इच्छा की। जब न उठ सका तो पास कुरसी पड़ी थी उसको पकड़कर उसने उठना चाहा। जब वह भी सरक गयी तो मेज़की तरफ़ गिरे-गिरे हाथ बढ़ाया। जब वह भी लुढ़क गयी तो पास लटके हुए परदेको पकड़ा, लेकिन वह भी टूट गया! अब बच्चा निराश हो गया और अपनी उस निराशा और बेबशीमें उसकी याद आयी कि जिसके साथ उसको सबसे अधिक प्रेम था। उसने जोरसे माँ-माँ किया। माँ रसोईमें बैठी दूध उबाल रही थी। जब बच्चेके रोनेकी आवाज़ कानोंमें पहुँची तो झट भाग आयी। आकर देखती है कि बच्चा गिरा पड़ा है और उसके साथ और भी कई चीज़ें गिरी पड़ी हैं। माँने बच्चेको झट गोदमें ले लिया और बच्चा माँसे चिमटकर हिचकिचाता पूछता है—'माँ, तुमने इतनी देर क्यों लगायी? तुमको मुझसे कोई प्रेम नहीं है?' माँ बच्चेको थपकार कर 'हाँ' मुझको तुमसे कोई प्रेम नहीं!

सबूत चाहते हो? अच्छा आओ।' बच्चेको उठाकर रसोई-घरमें ले आयी। उस वक्ततक सारा दूध उबलकर आगमें गिरकर आगको बुझा चुका था। माँने दिखाया कि 'बेटा! देखो यह क्या है?' उसने कहा 'माँ, यह तो वही दूध है जो कल नौकरने थोड़ा-सा पी लिया था, तो तुम उससे बहुत नाराज़ हुई थी। यह तो तुम कल कह रही थी कि बड़ी कीमती और अच्छी चीज़ है, लेकिन आज यह क्या हुआ? यह किस तरह आगमें गिर गया?'

माँ—बेटा! सुनो जब तुम्हारे रोनेकी आवाज़ मेरे कानोंमें आयी तो मैं इसको जल्दीमें छोड़ आयी और तुमको उठाने भाग गयी! मुझसे इतना न हो सका कि मैं इसको उतारकर नीचे ही रख आती। अब तो मालूम हुआ कि मैं तुमसे कितना प्रेम करती हूँ?

बच्चा माँसे लिपटकर फिर पूछता है कि 'मेरी अच्छी माँ, यह तो बता कि जब मैं गिरा था, तुम जल्दी क्यों न आयी?'

माँ—बेटा, यह बताओ कि मुझको बुलानेसे पहले तुम क्या करते रहे?

बच्चा—माँ, कभी मैं कुरसीका सहारा और कभी मेजका और कभी परदेका सहारा लेता रहा और जब कुछ न चली तो रोकर तुमको पुकारा।

माँ-तो बेटा! जबतक तुम अपना काम करते रहे मैं भी अपना काम करती रही! लेकिन जिस वक्त तुम तमाम बातोंसे निराशा हो गये और मुझको बुलाया तो बेटा! मैं फौरन चली आयी!

बच्चा समझ गया माँ मुझसे प्रेम करती है। दूसरे दिन माँको झुटलानेके लिये गिरे-विरे तो कुछ हैं नहीं, रोना शुरू कर दिया। माँ-माँ करने लगे, माँ चौकन्नी हुई लेकिन फिर न मालूम क्या सोचा और चुपकी-सी बैठी रही। जब बच्चेने देखा कि बहुत देर हो गयी माँ तो आयी नहीं तो दीवारसे लगे-लगे रसोईतक पहुँचे और पूछा—'माँ क्या कर रही हो?' माँने कहा—'दाल बना रही हूँ।'

बच्चा—माँ, क्या दाल दूधसे क़ीमती होती है?

माँ—नहीं, दाल तो वह चीज़ है कि जो कल मैंने नौकरोंको दे दी थी।

बच्चा—माँ, तो समझ गया। कल तो मुझसे इतना प्रेम कि दूधको फेंककर चली आयी और आज दालसे इतनी मोहब्बत कि मेरे रोने और गिरनेकी परवातक नहीं।

माँ-(मुस्कराकर) बेटा, तुम कल गिरे थे?

'हाँ माँ, गिरा था।'

'और आज भी गिरे थे?'

बच्चा—माँ! हाँ गिरा तो था!

माँ—बेटा, लेकिन यह तो बताओ कि कल तुम गिरकर क्यों न आ सके और आज किस तरह आ गये?

बच्चा दूसरी तरफ़ मुँह करके चुपका-सा हो गया। माँने कहा—'देखो बेटा, जब तुम गिरते हो और मुझको सच्चे दिलसे बुलाते हो तो मैं सब कुछ छोड़कर चली आती हूँ, लेकिन जब तुम मुझको झुटलानेके लिये आवाज़ें देते हो तो मैं भी तुमको झुटलाकर चुपकी-सी बैठी रहती हूँ। आखिर बच्चा, मैं तो तुम्हारी माँ हूँ, जानते हो बेटा?'

बच्चा माँसे लिपट जाता है।

ठीक इसी तरह जब मनुष्य संसारसे घबरा जाता है और उसके कुल सहारे टूट जाते हैं और अपने किसी भी बलसे भगवान्‌को मिल नहीं सकता और जब इस तरह प्रेमी सच्चे हृदयसे अपने भगवान्‌रूपी माँको पुकारता है तो वह झट दौड़ी चली आती है और आकर गोदमें उठा लेती है। किसीको ऋद्धि-सिद्धियोंका बल, किसीको संसारका और उसकी शक्तियोंका लेकिन प्रेमीको तो केवल अपने प्रियतम भगवान्‌का बल होता है और यह बल किस बलसे कम है जो इस बलके होते हुए किसी दूसरे बलकी इच्छा की जाय?

इस वक्त तमाम दुःख और झगड़ोंका होना केवल इस प्रेमके अभावके कारण है इसलिये भगवान्‌से प्रार्थना है कि वह संसारमें प्रेमकी ऐसी वर्षा करें कि जिससे संसारमें सिवा प्रेमके और कुछ नज़र न आवे और सब एक-दूसरेसे प्रेम करने लगें और फिर सब अकेले-अकेले या इकट्ठे होकर भगवान्‌के चरणोंमें चढ़ जावें!

प्रत्याहार-साधन

(परमपूजनीय श्रीश्रीभार्गव शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द स्वामीजीके साधनसंबंधी उपदेशसे)

प्रत्याहार किसे कहते हैं? प्रत्याहारका अर्थ है इन्द्रियोंको विषयोंसे लौटाकर ध्येय पदार्थमें संलग्न करना। इन्द्रियाँ विषयको प्राप्त करना चाहती हैं भोग करनेके निमित्त। विषयके प्रति इन्द्रियोंकी बहुत दिनोंसे एक प्रकारकी प्रीति (आसक्ति) उत्पन्न हो गयी है, इसी कारण इन्द्रियाँ विषयों-की ओर जाना चाहती हैं। विषय क्या हैं? रूप, रस, शब्द, स्पर्श और गन्ध। (विपूर्वक 'षीञ् बन्धने' धातुसे विषय शब्द बनता है) ये विषय विशेष करके मनको बाँधे रखते हैं और भगवान्‌की ओर नहीं जाने देते; इसी कारण इनका नाम विषय है। मन कभी रूपकी ओर, कभी रसकी ओर, कभी शब्दकी ओर, कभी स्पर्शकी ओर, कभी गन्धकी ओर दौड़ता है। यही उसका स्वभाव है। यदि ऐसी कोई वस्तु प्राप्तकी जा सके, जिसमें ये सभी विषय प्राप्त हों, तो फिर इन्द्रियाँ विषयोंके लिये चलायमान न होंगी। जिससे उत्कृष्टतर कोई रूप नहीं है, इस प्रकारके रूपको यदि नेत्र देख पावें, तो वे फिर अन्य किसी रूपको देखनेके लिये लालायित न होंगे। जिससे बढ़कर कोई मधुर रस नहीं, ऐसे रसका आस्वादन यदि रसना कर सके, तो वह पुन:किसी दूसरे रसका स्वाद लेनेके लिये लोलुप न होगी। जिससे मधुरतर और कोई शब्द नहीं है, इस प्रकारका शब्द यदि श्रोत्र श्रवण कर सकें, तो वे पुन: अन्य किसी शब्दके श्रवणके लिये व्याकुल न होंगे। जिससे बढ़कर कोई सुखकर स्पर्श नहीं, यदि इस प्रकारके स्पर्शका अनुभव स्पर्शेन्द्रिय (त्वक्)-को प्राप्त हो जाय, तो वह फिर अन्य किसी स्पर्शका अनुभव करनेके लिये चञ्चल न होगी। जिससे बढ़कर कोई दूसरा मनोहर गन्ध नहीं, यदि घ्राणेन्द्रिय इस प्रकारके गन्धका आघ्राण—भोग कर सके, तो फिर वह किसी अन्य वस्तुके आघ्राणके—उपभोगके लिये व्यस्त न होगी। देखा जाता है कि जिससे उत्कृष्टतर रूप, रस, शब्द, स्पर्श और गन्ध कहीं नहीं है, इस प्रकारके रूप, रस, शब्द, स्पर्श और गन्धके एकमात्र आधार श्रीभगवान् ही हैं। अतएव यदि विषयोंसे मनको हटाकर. भगवान्‌में लगाया जाय, तभी यथार्थ प्रत्याहार साधन किया जा सकता है।

स्वभावत: हमारी इन्द्रियाँ विषयोंकी ओर जाना चाहती हैं, विषयोंमें ही रहना चाहती हैं; इसीलिये उपासनाके समय उन्हें बलपूर्वक लौटा करके भगवान्‌के चरणमें लगाते समय इतना कष्ट होता है। इन्द्रियाँ जो कुछ देखना चाहती हैं, सुनना चाहती हैं, अथवा अन्य किसी विषको प्राप्त करना चाहती हैं, उन सबको यदि तुम भगवान्‌के रूपमें ही परिणत कर सको, तो फिर इन्द्रियोंको इन विषयोंसे लौटा लेनेकी आवश्यकता ही न होगी तथा तज्जनित कष्टका भी अनुभव न होगा। इन्द्रियाँ जहाँ चाहें वहाँ रहें, परन्तु रहें उसे भगवान् ही समझकर। भूलोकमें जो कुछ स्थित है, भुवर्लोकमें जो कुछ विद्यमान है, स्वर्लोकमें जो कुछ है, सब कुछ राम ही हैं—यदि तुम इस प्रकारका चिन्तन कर सकते हो तो इसके परिणामस्वरूप भूर्भुव:स्व:—इन तीनों लोकोंके चाहे किसी भी विषयमें इन्द्रियाँ क्यों न रहें, उससे कोई हानि नहीं हो सकती; वह भी प्रत्याहार ही कहलायेगा। इस प्रकारकी भावना प्रत्याहार-सिद्धिका एक बहुत उत्तम साधन है।

—रामशरण ब्रह्मचारी

निराकार-उपासनाका साधन

(पुरोहित पं० श्रीहरिनारायणजी, बी०ए०, विद्याभूषण)

परमात्माको स्मरण करनेके इस संसारमें प्रायः दो ही मार्ग देखे जाते हैं-(१) निराकर-उपासनामार्ग, (२) साकार-उपासनामार्ग। संसारके धर्मोंके इतिहास और धर्मानुसारी जातियोंके अनुभवसे यह बात प्रत्यक्ष और निर्विवाद है। ईश्वर-स्मरण और उपासनाके विषयमें यह बात ध्यानपूर्वक विचारनेकी है कि साधारण जन-समुदायमें—संसारमें कहीं भी दृष्टि डालकर देख लीजिये—यह बात मनुष्योंके नैसर्गिक, स्वाभाविक तथा अकृत्रिम भावनाओंमें तुरंत प्रकट होती है कि भगवान्‌को लोग अपनेसे बाहर ही कहते हैं, जानते हैं और लिखतेतक हैं। बातोंमें कहीं भगवान्‌की बातकी प्रतीति या शपथ अथवा प्रमाणकी बात आती है तो साधारण जन हाथ या अँगुलीको आकाशकी ओर उठाते हैं, या किसी देवालय, उपासना-स्थान अथवा उपास्य देवको याद करते हैं। ध्यान-पूजनतकमें साधारण आदमी ऐसा ही करते हैं। अपने उपास्य इष्टदेवोंके स्थान, लोक और निवासस्थानोंके ग्रन्थोंतकमें गहरें रंगके साथ विस्तृत वर्णन हैं। स्वर्ग, सत्यलोक, विष्णुलोक, शिवलोक, 'अर्श' और 'फलक' परलोक, सच्चलोक (सिक्खोंके मतमें) अथवा अकाल पुरुषका लोक इत्यादि स्थानादि ईश्वरके या देवोंके बताये जाते हैं। इनसे ईश्वरका अपने बाहर होनेका मानुषीय साधारण प्रकृतिका भाव जाना जाता है। सिद्धान्तकी बात, उच्चकोटिके विचारोंकी बात जब आती है तो ईश्वरको सर्व-व्यापक कहनेसे ईश्वरका सर्वभूत-प्राणी-व्यक्तिमें वर्तमान होना कहनेसे उसका मनुष्यशरीरमें भी विराजना कहा जाता है। और वेदान्त, 'सूफी' मत, 'थिऑसाफी', 'साइकिकल' सम्प्रदाय इत्यादिमें तथा योगियों, पहुँचे हुए फकीरों, उच्च-कोटिके महात्माओंमें ईश्वरको हृदयमें, दिलमें' मन और बुद्धिमें, सारे शरीरमें, जीवात्मामें, आत्माका आत्मा, जीवका जीव, 'जानका जान' इत्यादि वचनोंसे स्मरण करते हैं।

इतना-सा कहनेका उपासनाके साधनोंकी नैसर्गिक स्थितिका दिग्दर्शन करा देना ही प्रयोजन है। साकार-उपासनासे शनैः-शनैः निराकार उपासनाकी स्थिति अंशतः प्राप्त होने लगती है, यदि सद्‌गुरुका उपदेश और शिक्षण भगवत्कृपा और प्रारब्धसे अनुकूल होता जाय। वेदों, उपनिषदों और अद्वैत वेदान्तके ग्रन्थोंके अनुसार परमात्मा निराकर ही प्रमाणित हुआ है। यद्यपि कहीं-कहीं उसे साकार भी कहा गया है, परन्तु वहाँ साकारके कथनसे माया या प्रकृति-उपहित चेतनका ही तात्पर्य है। उस दशामें ईश्वर उभयरूप है। कहीं-कहीं उपनिषदोंमें दोनों रूपोंका उल्लेख दिखायी पड़ता हैं। यथा—

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे' (बृहदारण्यक० २।३।१)—ब्रह्मके दो रूप हैं। तथा **'एतद्वै' सत्यकाम! अपरं च परं च**, (ब्रह्मोपनिषद् ५।२)—हे सत्यकाम! यही तो परब्रह्म है, यही अपर ब्रह्म है। और श्वेताश्वतर उपनिषद्‌में **'मायिनं तु महेश्वरम्'**—परब्रह्म जब मायासे युक्त होते हैं, तब वे महेश्वर हैं। और कठोपनिषद् (१।३।१५) में—**'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्'**—वह ब्रह्म न तो कानोंसे सुना जाता है न स्पर्शमें आता है, न उसका कोई रूप है; वह तो अव्यय है, उसका कुछ घटता-बढ़ता नहीं है। और छान्दोग्योपनिषद्‌में तो—**'सर्वकर्मा' सर्वकामः, सर्वगन्धः, सर्वरसः**'(३।१४।२)—उसीसे वा उसीमें सब कर्म हैं, सब इच्छाएँ हैं, सब प्रकारकी गन्ध हैं, सब प्रकारके रसादि हैं—ऐसा कहा है। यह सगुण और निर्गुणका प्रत्याख्यान हुआ। कहीं-कहीं तो सगुण और निर्गुणमें कोई भेद ही नहीं बताया है—वही ब्रहा निर्गुण-निराकर और वही सगुण साकार, वही पर और वही अपर ऐसा कहा है। यथा-मुण्डकोपनिषद् (२।२।८) में **'तस्मिन् दृष्टे परावरे'**—वह पर और अवर दिखायी देता है, वही निर्गुण-सगुण है—ऐसा प्रतीत होता है। यद्यपि ऐसा कथन है, परन्तु वस्तुतः सिद्धान्तमें परमात्मा परब्रह्म निर्गुण-निराकार ही है। उसका साकारत्व, सगुणत्व उसके योगमायासे समावृत होनेसे है, उपाधिके कारणसे है। अनेक उपनिषदोंमें अनेक स्थलोंपर परब्रह्मका जो वर्णन है, उससे ब्रह्मका निर्गुण, निराकार, निर्विशेष, केवल, निरामय इत्यादि विशेषणोंसे निश्चय जाना जाता है। यथा—

(१) तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्।'

(बृहदारण्यक० २।५।१९)

---

(१) वह यह ब्रह्म अपूर्व है, उस-सा और कोई नही है, अद्वय है, सर्वव्यापक अन्तर्यामी है।

(२) 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्।'

(बृहदारण्यक० ३।८।८)

(३) 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।'

(बृहदारण्यक०)

(४) 'अणोरणीयान् महतो महीयान्।'

(५) अपणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥

(श्वेताश्वतर० ३।१९)

(६) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'।

(तैत्तिरीय० २।१।१)

(७) विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'।

(बृहदारण्यक० ३ । ९ । २८)

(८) 'एष' आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः।

(छान्दोग्य० ८।१।५)

—इत्यादि वाक्योंसे उपनिषद् भरे हैं। तथा तदनुयायी ग्रन्थादिमें इस प्रकारके वचनों और उनकी व्याख्याओंका समारोह है। विस्तार अनावश्यक है।

जब वह ब्रह्म निर्गुण-निराकार सिद्ध होता है, तो उसका ज्ञान किस प्रकार होता है? कोई लक्षण, चिह्न रूप या गुण नहीं है तो फिर उसका पहिचानना किस तरह हो सकता है? इस विषयमें कहा गया है कि वह शुद्धबुद्धि, शुद्धान्तःकरण, योगसे, तपसे, ज्ञानके उच्च साधनोंसे या पराभक्ति आदि सात्त्विक और शुद्ध साधनोंसे विशिष्ट पुरुषोंको ज्ञात होता है। और वे जाननेवाले ऋषि, मुनि, महात्मा, संत और तपस्वी भक्त ही उसका वर्णन करते हैं। वे लोग उस ब्रह्मको हृदयकमलमें देख लेते हैं, उनकी दृष्टि ऐसी हो जाती है कि वे उसे सर्वत्र सब पदार्थोंमें-देखा करते हैं। उस परमात्माकी खोज गहरी चित्तकी लगनसे होती है। वह दुःखमें याद आता है—दुःखी, क्लेशार्त्त पुरुष उसकी शरण लेते हैं। जिनके हृदयोंमें सत्संगसे, ज्ञानियोंकी सोहबतसे, भक्तोंकी फटकारसे, उस परमात्माके जाननेकी गहरी धुन समा चुकी है, वे उसको जानने और पानेकी पूरी चेष्टा करते हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्षके प्राप्त करनेकी उत्कट इच्छावाले अर्थार्थी जन उसीका सहारा, उसीकी शरण, उसीका ज्ञान, ध्यान, स्मरण करते हैं। और ज्ञानके समुद्रमें डूबे हुए महात्मा संत तो रात-दिन उसका ध्यान, स्मरण, जप और ज्ञान करते ही हैं। जब उस परात्परके जानने और प्राप्त करनेकी उत्कट इच्छा हो जाय, तो उस जिज्ञासुको सच्चे, अनुभवी, कृपालु, पहुँचे हुए गुरुकी प्राप्ति प्रथम आवश्यक है। ऐसा गुरु मिल जानेसे सब साधन सरल और सुकर हो जाते हैं। जिसका मार्ग देखा-जाना हुआ है वही मार्ग बता सकता है। जब गुरु मिल गये तो वह जो साधन बतावें, वही करना उचित है। आत्मसाक्षात्कार, ज्ञानकी प्राप्ति, परमात्म-परमतत्त्वको पानेके अनेक मार्ग, अनेक पथ, रास्ते, ढंग, विधियाँ हैं। गुरुद्वारा, शास्त्रद्वारा, साधन और निष्ठासे उनके मिलनेपर अभ्यास और तत्परता तथा दृढ़तासे उनपर चलना चाहिये। **'प्राप्य वरान्निबोधत'** वर (श्रेष्ठ) गुरुओं वा संतों-महात्माओं-को पाकर ज्ञान-लाभ करे। **'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।'** (मुण्डक० १।२।१२)—उस ब्रह्मकी प्राप्तिके अर्थ वह [शिष्य] सद्गुरु (श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ)-के पास जाय, उसकी शरण ले, उसकी सेवा करे, उसके

---

(२) वह स्थूल नहीं है (सूक्ष्म है), अणु भी नही हैं, छोटा भी नहीं है, बड़ा भी नहीं है—अर्थात् अप्रमेय है।

(३) नित्य पदार्थोंका भी नित्य है, चित्पदार्थोंका भी चेतन है—अर्थात् सदा-सर्वदा बर्तता है, सब चेतनका प्रकाशक है।

(४) वह अणुसे भी अणु (बारीक और छोटा) है और महान्से भी महान् है-अर्थात् वह इतना सूक्ष्म है कि उससे अधिक सूक्ष्म और कुछ भी नहीं है और इतना बड़ा है कि उससे बड़ा और कुछ भी नहीं है।

(५) न उसके हाथ हैं, न पाँव हैं; फिर भी वह पकड़ता है और चलता है। उसके आँखें नहीं हैं, न कान हैं; फिर भी वह देखता है और सुनता है। वह जाननेकी सब बातोंको जानता है, परन्तु उसको कोई नहीं जानता। अर्थात् वह सर्वशक्तिमान् निराकार है, सर्वज्ञ है और अज्ञेय है। उसे श्रेष्ठ महान् पुरुष कहते हैं।

(६) वह ब्रह्म सत्य है (त्रिकालाबाधित और शाश्वत है), ज्ञानरूप वा ज्ञानघन है; वह अनन्त है, अपार है।

(७) वह ब्रह्म अनन्त ज्ञानका आगार है, वह आनन्दस्वरूप चिदानन्दघन है।

(८) वह परमात्मा ही यह आत्मा है—जो पापरहित (पवित्र-निरामय) है, जराहीन है (कभी वृद्धापनको नहीं प्राप्त होता); वह कभी नहीं मरता, अमर हैं; कभी उसे शोक नहीं होता, वह आनन्दरूप है; न उसे भूख लगती है न प्यास—वह सदा तृप्त है। वह जो इच्छा करता है, वही हो जाता है। वह सदा सत्य-संकल्प है।

आज्ञानुसार चले; तब वह गुरुदेव कृपा करके ज्ञान सिखावेंगे, विधि और मार्ग बतावेंगे और सुझावेंगे। ऐसे सत्यज्ञानके पारंगत गुरु जैसा मार्ग बताते हैं, वह वेदान्तशास्त्रमें वर्णित है। परन्तु वह गुरुगम्य ही होता है। उसका थोड़ा-सा भान नीचे लिखे वर्णनसे भी हो सकेगा।

जिज्ञासुको प्रथम उस ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये वह तैयारी करनी पड़ती है, जिससे वह उसका अधिकारी और उसके योग्य बनता है। गुरुदेवसे ध्यानपूर्वक सारभूत ज्ञान लेता रहे और साधना करता है—

'यत्सारभूतं तदुपासितव्यम्।' सारभूतमुपासीत ज्ञानं यत् स्वार्थसाधकम्।

अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः।
सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः॥

जो साररूप ज्ञानके पदार्थ हैं, उनको लेकर साधन करे। अपने अर्थकी साधक जो बात हो उसको-क्या बड़े और क्या छोटे-ग्रन्थादि उपदेशोंसे, भौंरा जैसे पुष्परसोंको ग्रहण करता है, वैसे ही ग्रहण करे। ऐसा न करेगा तो ज्ञान तो अनन्त समुद्र है, उसका पार ही क्या। अनेक आयु पा लेनेपर भी पार नहीं आवेगा। गुरु-कृपा और अपने सच्चे भाव और साधनसे सारग्राही होकर ज्ञानोपार्जन करनेपर शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है। अति नम्रता और विनय तथा भक्तिपूर्वक गुरुसे ज्ञान सीखे और जहाँ न समझे, वहाँ फिर पूछे, सीखे हुएका निरन्तर विवेकवृत्तिसे अभ्यास करे। सीखे हुएको मननपूर्वक बुद्धिमें धारण करता रहे। इस प्रकार ज्ञानकी उन्नति होती रहेगी। जिस शिष्यने पहले सत्कर्म और सदुपासनाके साधनोंसे अपने अन्तःकरणकी उत्तम शुद्धि कर ली है, उसपरके मल और विक्षेपको शनैः मिटा लिया है, अर्थात् निष्काम कर्मोंके अनुष्ठानोंद्वारा मल दूर किया है और इष्टकी उपासना (भक्ति-सेवा-साधनादि) द्वारा विक्षेप दोष दूर कर लिया है—उसके अब केवल अज्ञानका ही आवरण शेष रहा है। ऐसा जिज्ञासु मोक्षकी इच्छा रखता हुआ गुरुसे मोक्षमार्गकी प्रार्थना करे (तब गुरु उसे कृपा कर वह ज्ञानमार्ग-मोक्षकी सड़क—बताते हैं।

प्रथम विवेकको बतातें हैं कि आत्मा नाश और विकारसे रहित है। इसमें कोई क्रिया भी नहीं है। यह अटल-अचल है। परन्तु यह संसार विकारी है; इसमें परिवर्त्तन, परिणाम और क्रिया होती रहती हैं। इससे यह जगत् आत्मतत्त्वका विरोधी स्वभाववाला है। ऐसा ज्ञान रखना ही विवेक है। यह विवेक ही सारे साधनोंका प्रधान मूल है। विवेक हो जानेसे वैराग्य, त्याग आदि सब साधन उत्तरोत्तर होते जायँगे। विवेकके उत्पन्न हुए विना अन्य साधन बन ही नहीं सकते।

विवेकके आगे वैराग्य होता है। फिर शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति और तितिक्षा—ये छः साधन शमादि षट् सम्पत्ति कहलाते हैं। यह शमादि षट्सम्पत्ति ज्ञानका विख्यात साधन है। यों इन तीन साधनोंके होनेसे शिष्यको मुमुक्षु (मोक्षकी इच्छा और प्राप्तिवाला) होनेका अधिकार हो जाता है। तब वह मुमुक्षुताका साधन करता है। यों विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता—ज्ञानके इन चार अन्तरंग साधनोंकी मुख्यता है।

इनकी साधनाके साथ या इनसे आगे श्रवण (गुरुद्वारा शास्त्रोंका ज्ञान सुनना सीखना), मनन (जीव-ब्रह्मकी एकताको प्रतिपादन करनेवाली और भेदको निवारण करनेवाली युक्तियोंका चिन्तन करना) निदिध्यासन (अनात्म-पदार्थोंके ज्ञानसे जो वृत्तियाँ उत्पन्न हों, उनको ज्ञानशक्ति और विचारसे हटाकर मननके फल और तारतम्यसे ब्रह्माकार वृत्ति—सत्-चित्-आनन्दरूपताके साथ ध्यानोन्नत अवस्था व स्थिति रखना) ये तीन साधन हैं। निदिध्यासनकी परिपक्व अवस्थाहीको समाधि कहते हैं। समाधि कोई पृथक् या भिन्न साधनविधि नहीं है। ये श्रवण, मनन और निदिध्यासन तीनों साधन बुद्धिके संशय और विपर्यय (असम्भावना और विपरीतभावना)-के नाशक हैं। इसलिये ये ज्ञानप्राप्तिके हेतु हैं। इन तीनों साधनोंके सिद्ध हो जानेपर ही गुरुदेव अपने शिष्यको चौथा साधन (जो विवेकादि चार और श्रवणादि तीनके अनन्तर आठवाँ है) वेदान्तके वाक्योंका ज्ञान कराते हैं। तत् पद और त्वं पदका शोधन अर्थके प्रतिपादनद्वारा बताते हैं। जब गुरु शिष्य अधिकारीको 'तत्त्वमसि' (वह ब्रह्म तू आत्मा है—अर्थात् तेरी आत्मा ब्रह्म है) ऐसा वाक्य कहें, तब अधिकारी मुमुक्षु शिष्यको यह ज्ञान भान होता है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं—मेरी आत्मा—ब्रह्म ही है)। जैसे किसी देवदत्तको शिवदत्त ऐसा कहे कि तुम 'बड़े बुद्धिमान् हो' तो इस शिवदत्तके वाक्यको सुनते ही देवतत्तको

तुरंत ही यह ज्ञान-भान हो जायगा कि 'मैं बड़ा बुद्धिमान् हूँ।' (मुझे शिवदत्त बुद्धिमान् बताता है, अत: मै बुद्धिवाला पुरुष हूँ)। इसी प्रकार उपर्युक्त वेदान्तवाक्यके श्रवणसे मुमुक्षु अधिकारी शिष्यको यह ज्ञान-भान हो जाता है कि मेरी आत्मा ब्रह्मस्वरूप है और इस ज्ञानके शोधनसे आत्मा और परमात्माकी एकता—अर्थात् ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान उसे प्राप्त होता है। यही उसका परम और चरम ध्येय है। इस ध्येयको प्राप्त करके वह कृतकृत्य हो जाता है।

वेदान्तवाक्य श्रवण करके गुरुकी शिक्षाके अनुसार अधिकारी मुमुक्षु उस वाक्यके अर्थको अपने आत्मामें गहरी रीतिसे विचारता है। ऐसी विवेकभरी विवेचना करता है—जैसे ब्रह्म तो अधिष्ठान है और जगत् अध्यस्त है, ब्रह्म द्रष्टा—साक्षी चेतन है और प्रकृतिजन्य संसार दृश्य और जड है, ब्रह्म तो साक्षी कूटस्थ है और सृष्टि साक्ष्य और विकारी है। वह, जैसे हंस क्षीरमें मिले हुए नीरको क्षीरसे पृथक् कर देता है वैसे ही विवेक ज्ञान मननद्वारा और गुरुकी बतायी हुई प्रक्रियासे सत्‌को असत्‌से, अपने विचारके लोकमें, न्यारे करके दिव्य ज्ञान प्राप्त करता है। वह पहले वेदान्तके उन वाक्योंके अर्थ और रहस्यको विचारता है जो ब्रह्म, जीव, माया और उनके प्रतिपादक पदार्थोंको बताते हैं। यथा **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** इत्यादि—इनसे ब्रह्मके लक्षणोंका परोक्ष ज्ञान ही हुआ। ऐसे वेदान्तवाक्य 'अवान्तरवाक्य' ही कहलाते हैं। और **'तत् त्वम् असि' (तत्त्वमसि)**—इत्यादि वेदान्तवाक्य ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान प्रतिपादन करते हैं, इससे वे 'महावाक्य' कहे जाते हैं।

जिस जिज्ञासुका बहिरंग साधनों (कर्म और उपासना आदि)-से अन्त:करण शुद्ध हो गया, उसको अन्तरंग साधन (श्रवण, मनन, निदिध्यासन और वेदान्तवाक्योंके संशोधनसे पूर्व विवेक, वैराग्य, शमादि षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता—साधनचतुष्टय) निरन्तर करनेसे दिव्य ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

शम (विषयोंसे मनका रोकना), दम (इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकना), श्रद्धा (गुरुके वचन और वेदादि सच्छास्त्रमें विश्वासरूपी निश्चय) एवं समाधान (शब्दादि विषयोंसे रोके हुए अन्त:करणको श्रवणादि साधनोंमें तथा उनके अनुसारी या उपकारी अभिमानरहितता आदि साधनोमें निरन्तर लगाना और चिन्तन करना,) उपरति (साधनों-सहित बहिरंग कर्मका त्याग करते हुए विषयोंको विष-समान त्याग), तितिक्षा (सहनशीलता; सुख-दु:ख, गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास आदिको सहना, इनसे घबराना नहीं)—ये शमादि छ: साधन परस्पर सम्बन्ध रखते हैं—एक-दूसरेके सहायक होते हैं। यदि न हों तो इन्हें साधनमें विघ्नरूप जानना चाहिये। ये छहों एक वर्गमें रहकर एक साधन ही कहाते हैं। परन्तु यह बहुत आवश्यक है। मुमुक्षुका यह एक मुख्य साधन है।

इसके साथ विवेक और वैराग्य प्रथम और मुमुक्षुता (संसारके बन्धनों और अज्ञानरूपी अध्याससे निवृत्त होकर सत्-चित्-आनन्दस्वरूप ब्रह्मकी प्राप्ति हो, ऐसी उत्कट इच्छा या मनकी गहरी लगन) अनन्तर होती रहे और उस तीव्र इच्छासे ब्रह्मप्राप्तिके साधन गुरुसे प्राप्त करे।

वे साधन श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा 'तत्' पद,'त्वं' पद आदि वेदान्तवाक्योंका शोधन—जैसा कि ऊपर कहा गया [उपर्युक्त विवेक, वैराग्य, शमादि षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता—इन चारको लेकर] आठ ज्ञानके अन्तरंग साधन हुए। साधनसम्पन्न जिज्ञासु अधिकारीको गुरुदेव वेदान्तके महावाक्योंका ज्ञान प्राप्त कराते हैं। उस अधिकारीका निर्मल शुद्ध अन्त:करण उन वाक्योंसे पवित्र अद्वैत्र ब्रह्मज्ञानको पाकर अपरोक्षानु-भवमें प्रवेश करके ब्रह्मानन्दको पाता है। परमानन्दकी प्राप्ति ही सब साधनोंका मुख्य प्रयोजन और ध्येय है। उस आनन्दकी प्राप्ति प्रभुकृपा और गुरुकृपासे मिल जानेपर ज्ञानसाधनके निरन्तर प्रभावसे ब्रह्मपरोक्षानुभव होता है। यह किन्हीं दिव्य आत्माओंको तो शीघ्र थोड़े कालमें ही हो जाता है और वे जीवन्मुक्त हो जाते हैं—उनको परमहंसगति प्राप्त होती है और अन्य शुद्ध आत्माओंको क्रमश: इस जन्ममें या दूसरे जन्ममें अथवा कई एक जन्मोंमें मिल ही जाती है। अर्थात् उस ज्ञानीकी आत्मा ब्रह्ममें लीन हो जाती है, उसका फिर जन्म

नहीं होता; वह तो सत्-चित्-आनन्दस्वरूप ब्रह्म या ब्रह्मीभूत अवस्थाको पहुँच जाता है। बस, हो गया निरञ्जन निराकार उपासनासाधनाका महोच्च सुफल। अन्य साधनोंसे भी उत्तम गति प्राप्त होती है, परन्तु उनसे जन्मान्तर नहीं मिटता।

यह विषय महान् और बहुत गम्भीर है। इसमें बहुत कुछ कहना शेष है। परन्तु यहाँ न स्थान है और न समय ही इतना है कि विस्तारसे लिखा जाय।

इस युगकी साधना

(लेखक—श्रीयुत नलिनीकान्त गुप्त)

सबसे प्रथम और आदि सत्य है जड—जड जगत्, जिसका अंश हमारा यह स्थूलशरीर है। इस क्षेत्रमें केवल जड शक्तिकी क्रिया होती है, स्थूल—भौतिक रासायनिक क्रिया और प्रतिक्रिया होती है।

परन्तु सृष्टिमें एकमात्र जड ही नहीं है; एक सजीव वस्तु, प्राणवान् सत्ता भी है। देहके अतिरिक्त भी हमारे अंदर हमारा जीवन, हमारा प्राण है। यह प्राण जडका ही एक विशेष धर्म या क्रिया या रूपमात्र नहीं है। इसकी अपनी पृथक् सत्ता भी है; इसका अपना धर्म, कर्म और सार्थकता भी है। जडके समान ही प्राणका भी एक सम्पूर्ण जगत् विद्यमान है और उसीका अंश हमारी प्राणशक्ति है, विश्वजीवनके अंदर ही हमारा जीवन घुला-मिला है। जडके ऊपर दूसरा स्तर यह प्राण है।

प्राणके अतिरिक्त, प्राणके अंदर और ऊपर और एक वस्तु है—वह है मन। यह मन प्राणकी ही एक विशेष क्रियामात्र नहीं है, इसकी भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता और सार्थकता है। इसका भी एक सम्पूर्ण लोक है। हमारा मन इस विश्व मनका अंश और व्यष्टिरूप है। यह मन है तीसरा स्तर।

यह मन ही अन्तिम वस्तु नहीं है। मनोमय लोकके ऊपर और पीछे और एक लोक है—उसको कभी-कभी विज्ञानमय लोक कहते है—हम साधारण तौरपर उसका नाम अध्यात्मचेतनाका लोक रख सकते हैं। यह है चौथा या तुरीय अधिष्ठान।

विश्वसृष्टिका रहस्य यही है कि इस लोक-परम्पराके चिरकालसे वर्तमान रहनेपर भी, इन लोकोंके अनादि, अनन्त, सनातन होनेपर भी इनका प्राकटच्य हुआ है एकके बाद एक—इस क्रमसे। सबसे पहले लोकके अंदर, उसका आश्रय लेकर सृष्टिका अभियान शुरू हुआ और वहींपर अन्यान्य लोक एकके बाद एक मूर्त्त हो रहे हैं।

अनेक युगोंतक आरम्भमें केवल जड था—जड-ही-जड था—निर्जीव, प्राणहीन वस्तुओंका ही समारोह था। उसके अंदर एक दिन प्राण उतर आया। इस कारण एक प्रकारका विप्लव, रूपान्तर उपस्थित हुआ। सृष्टिके एक अंशमें प्राणके धर्मने जडको अधिकृत, नियन्त्रित किया—जीवकी, प्राणीकी उत्पत्ति हुई। जीवके, प्राणीके अंदर जडका धर्म अब अक्षुण्ण नहीं रहा; वह एक बृहत्तर, ऊर्ध्वतर धर्मके द्वारा परिवर्तित हुआ।

इसी प्रकार एक और विपर्यय, विप्लव उपस्थित हुआ जब और जहाँपर प्राण इतना पुष्ट और परिपक्व हो गया कि उसके अंदर मनोमय शक्ति अवतरित हुई—फलस्वरूप मनुष्यका आविर्भाव हुआ। मनके धर्मके द्वारा प्राण और देहको गठित, नियन्त्रित करना ही मनुष्यत्वकी साधना हुई।

मनुष्य अपनी मनन-शक्तिके जोरसे अपने जीवनमें मनसे ऊर्ध्वतर, ऊर्ध्वतम शक्तिको उतारकर जीवनको नयी मूर्तिमें ढालनेका प्रयत्न युग-युगसे करता आ रहा है। साधक, शिल्पी, संस्कारक, आदर्श व्रती—सबने अपने-अपने मार्गसे यही साधना की है।

परन्तु वर्तमान समयमें आवश्यकता है पूर्वकालकी युगसन्धियोंकी तरह एक प्रकारके आमूल परिवर्तनकी, विप्लवकी—एक नये जगत्को, नये जगत्की शक्तिको नीचे उतारकर एक प्रकारकी नयी सृष्टिके लिये आयोजन करनेकी।

हम कह चुके हैं कि मनके ऊपरका लोक है विज्ञानमय, अध्यात्मलोक। इसी अध्यात्मलोकको नीचे

उतारकर मनोमय लोकमें प्रतिष्ठित करना होगा—अध्यात्मके धर्मके द्वारा मनोमय, प्राणमय और अन्नमय स्थितिको गठित, नियन्त्रित करना होगा।

अध्यात्मलोककी किरण, कण, प्रभा पृथ्वीके मनोमय लोकमें बहुत बार दिखायी पड़ी है, इसमें सन्देह नहीं—जहाँ-तहाँ उसने रूप ग्रहण करनेकी भी चेष्टा की है। परन्तु वह समूचा लोक अर्थात् उसकी पूर्ण शक्ति चिरस्थायी होकर, पृथ्वीके ऊपर पृथ्वीके अच्छेद्य और स्वाभाविक अंगके रूपमें, अभीतक प्रतिष्ठित नहीं हुई है।

जिस प्रकार पृथ्वीपर उद्भिज्ज समाज, प्राणी-समाज, मानव-समाज विद्यमान है उसी प्रकार मनुष्यके बाद सिद्धोंका, आध्यात्मिक पुरुषोंका समाज—देवसमाज भी वर्तमान रहेगा।

मनुष्यतक, मनुष्यको जन्म देनेके समयतक प्रकृतिकी अवचेतन साधना चलती रही है। अब मनुष्यके मनोमय पुरुषका आश्रय लेकर प्रकृति सचेतन हो गयी है—प्रकृतिका सचेतन यन्त्र होकर मनुष्यको मनुष्यके ऊपर चला जाना होगा, उसे पहुँचना होगा अध्यात्मलोककी अध्यात्मचेतनामें, उसके अंदर स्थिरप्रतिष्ठ होकर, उसके अंदर परिपूर्ण होकर उसे नीचे उतार लाना होगा-मनको, प्राणको और देहतकको उसी चेतनाके द्वारा और उसी सत्ताकी ज्योतिके द्वारा अमर बना देना होगा।

सृष्टिकी, प्रकृतिकी गति, परिणतिका सम्भवत: यहाँ भी अन्त नहीं हो जायगा—विवर्तनकी धारा सम्भवत: अनन्त है। परन्तु आजकी साधना है एक विशेष युगसन्धिका प्रयास—इसका अर्थ है अपरार्द्धसे परार्द्धमें सृष्टिका आरोहण—अपरार्द्धका ऊपर परार्द्धके अंदर पहुँच जाना। अबतक सृष्टिकी चेतनाकी गति अन्धकारसे आरम्भ होकर अस्पष्ट प्रकाशके अंदर आयी थी, अब वह गति प्रकाशसे—पूर्ण प्रकाशसे चलकर पूर्ण प्रकाशके भीतरसे होकर पूर्ण प्रकाशके अंदर उपस्थित होगी।

अपरार्द्धमें—देह, प्राण और मनको लिये हुए जो अर्द्ध है उसके अंदर ऊर्ध्वतर प्रतिष्ठान निम्नतर प्रतिष्ठानको पूर्णरूपसे आयत्त या रूपान्तरित नहीं कर सकता। प्राण जडको आयत्त करके, नियन्त्रित करके प्राणीके रूपमें परिणत तो हुआ—प्राणीके अंदर प्राणशक्ति प्रधान तो हुई; फिर भी प्राण जडके आकर्षणको, प्रभावको पूर्णरूपसे अतिक्रम नहीं कर सका। उसी तरह मनका आविर्भाव होनेपर जब मनुष्य उत्पन्न हुआ तब मन, प्राण और जड देहको आधार तो बनाया, उन्हें नियन्त्रित तो किया; पर स्वयं भी बहुत कुछ उनके द्वारा प्रभावान्वित होकर ही रहा। एक परार्द्धमें ही जब हम पहुँचते हैं तब नीचेके सभी धर्मोंको पूर्णरूपसे पार कर जाते हैं; तभी ये पूर्णरूपसे ऊपरके धर्मके अधीन होते हैं, ये एकदम रूपान्तरित हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि इनकी जो निगूढ़ सत्य सत्ता है, उसका मूल उस परार्द्धकी चेतनामें ही है।

बिना गुरुका साधक

नाव मिली, केवट नहीं कैसे उतरै पार॥
कैसे उतरै पार पथिक बिस्वास न आवै।
लगै नहीं बैराग यार कैसे कै पावै॥
मन में धरै न ज्ञान, नहीं सतसंगति रहनी।
बात करै नहिं कान, प्रीति बिन जैसे कहनी॥
छुटी डगमगी नाहिं, संत को बचन न मानै।
मूरख तजै बिबेक, चतुरई अपनी आनै॥
पलटू सतगुरु शब्द का तनिक न करै बिचार।
नाव मिली, केवट नहीं कैसे उतरै पार॥

—पलटू

पञ्चदेवोपासना

(लेखक—पं० श्रीहनूमानजी शर्मा)

चिन्मयस्याप्रमेयस्य निष्कलस्याशरीरिण:। साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पना॥ १॥

(तन्त्रसार)

पूर्वांग

(१) देवपूजासे मनुष्यका कल्याण होता है। सुख, शान्ति और सन्तोष मिलते हैं। उत्तम विचारोंका उदय होता है। शरीरमें अलौकिक शक्ति आती है। स्वभावमें स्वाधीनता बढ़ती है और ब्रह्मकी ओर मन लगता है। देवता ब्रह्मके अंश-प्रसूत हैं। 'पंचदेव' ब्रह्मके प्रतिरूप हैं। ब्रह्म अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्तरूप एवं अशरीरी हैं। ब्रह्मके साम्राज्यमें हमारे सूर्य, चन्द्र, अग्नि, इन्द्र या भूमण्डल-जैसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड हैं और ब्रह्म उनके अधिष्ठाता हैं। वे सर्वगत होनेपर भी जाने नहीं जा सकते। उनको वही जान सकते हैं जो संसारी बन्धनोंसे मुक्त, लोक-व्यवहारोंसे विमुक्त और फलाशाओंसे सर्वथा उन्मुक्त हैं। सामान्य मनुष्योंसे ऐसा हो नहीं सकता। जिसने किसी प्राणी, पदार्थ या देवादिको देखा नहीं वह उसके स्वरूपको हृदयांकित कैसे कर सकता है? मान लीजिये किसीने गौ, कमल, रुपये या राजाको कभी देखा नहीं और उससे उनका स्वरूप पूछा जाय तो कैसे बता सकता है? यही बात ब्रह्मके सम्बन्धमें है। अतएव अमूर्त ब्रह्मको हृदयगंम करनेके लिये मूर्त ब्रह्म 'पंचदेव' (विष्णु, शिव, गणेश,सूर्य और शक्ति)-की साधना अवश्य ही आवश्यक और श्रेयस्कर है और इसीलिये यहाँ उसका परिचय दिया जाता है।

(२) 'पंचदेव' की साधनामें यह सन्देह हो सकता है कि अन्य देवोंकी अपेक्षा इनका ऐसा प्राधान्य क्यों है। इसके समाधानमें दो उपक्रम उपस्थित करते हैं। एक यह है कि 'पंचदेव' पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाशके अधिष्ठाता या तन्मय हैं और पंचतत्त्व ब्रह्मके स्वरूप हैं। अतएव अशरीर ब्रह्मकी उपासना सशरीर पंचदेवके द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है। कपिलतन्त्रमें लिखा है—

आकाशस्याधिपो विष्णुरग्नेश्चैव महेश्वरी।
वायोः सूर्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाधिपः॥

'विष्णु आकाशके, सूर्य वायुके, शक्ति अग्निकी, गणेश जलके और शिव पृथ्वीके अधिपति हैं।'

दूसरा यह है कि व्याकरणके नियमानुसार अन्य देवोंकी अपेक्षा पंचदेवके धात्वर्थक नाम ही ऐसे हैं, जिनसे उनका ब्रह्म होना द्योतित होता है। यथा 'विष्णु' (सबमें व्याप्त), 'शिव' (कल्याण-कारी), 'गणेश' (विश्वगत सर्वगणोंके ईश), 'सूर्य' (सर्वगत) और 'शक्ति' (सामर्थ्य)—इन नामोंका पूर्ण अर्थ ब्रह्ममें ही घटता है। अतएव अन्यकी अपेक्षा इनकी साधना अधिक हितकर है।

(३) वेद, पुराण और धर्मशास्त्रोंमें देवपूजाका महान् फल लिखा है। इसकी साधनासे ब्रह्मकी उपासना स्वतः हो जाती है। संसारमें देवपूजा स्थायी रखनेके प्रयोजनसे वेद-व्यासजीने ब्रह्मा, विष्णु, महेशादिके जुदे-जुदे पुराण निर्माण किये हैं। उनमें प्रत्येकमें प्रत्येक देवताका प्राधान्य प्रतिपादित किया है—यथा विष्णुपुराणमें 'विष्णु' का, शिवपुराणमें 'शिव' का, गणेशपुराणमें 'गणेश' का, सूर्यपुराणमें 'सूर्य' का और शक्तिपुराणमें 'शक्ति' का। इन सभीको (अपने-अपने पुराणोंमें) सृष्टिके पैदा करनेवाले, पालन करनेवाले और संहार करनेवाले सूचित किया है और इन्हींको ब्रह्म बतलाया है। इसी कारण यजन-याजनके अधिकांश अनुरागी अपनी-अपनी रुचिके अनुसार कोई ब्रह्मा-विष्णु-महेशादिको, कोई सूर्य-शक्ति-समीरादिको, कोई राम-कृष्ण-नृसिंहादिको और कोई भैरव, गणेश या हनूमान्जीको पूजते हैं। किसीको भी पूजें, पूजा-उपासना एक ब्रह्मकी ही होती है। क्योंकि जिस प्रकार अनन्त आकाशके अगणित तारोंपर ब्रह्मके प्रत्यक्ष प्रतिरूप सूर्यनारायणका जब प्रकाश पड़ता है तभी वे प्रकाशित होते हैं, यदि न पड़ें तो दीख ही नहीं सकते; उसी प्रकार चराचर सृष्टिके प्रत्येक प्राणी, पदार्थ और देवादिमें ब्रह्मका ही अंश विद्यमान रहता है, तभी वह अमुकामुक माने जाते हैं, यह न हो तो वे दीख ही नहीं सकते। उनमें पंचदेव तो ब्रह्मके प्रतिरूप ही हैं। अतएव किसी भी प्राणी, पदार्थ या देवादिकी साधना, उपासना या आराधनामें ब्रह्मका ही ध्यान होता है और वही उनके इष्टदेवमें प्रविष्ट रहकर अभीष्ट फल देते हैं। पंचदेवकी उपासना तो उनकी है ही। अस्तु,

(४) देवता कौन और कितने हैं, इसमें मतभेद है। इस विषयके प्राप्त प्रमाण नीचे दिये जाते हैं। (१) वेदान्ती केवल ब्रह्मको ही देवता मानते हैं। (२) यास्कने दान और दीपन करनेवाले जो 'द्यौ:' नामक स्थानमें रहते हैं, उनको देवता बतलाया है। (३) अथवा सृष्टिमें जो भी प्रकाशमान हैं, वे सब देवता हैं। (४) किसीका मत है कि प्राचीन कालमें सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, अग्नि और तारागणोंसे संसारके अनेक कार्य और उपकार होते देखकर इन्हींको देवता माना गया था। (५) कात्यायनके कथनानुसार जिनकी कथा या वाक्य हैं, वे ऋषि हैं; जिनका विषय उन्हींसे ज्ञात होता है, वे देवता हैं और ऋषि, छन्द तथा देवता—इनसे वेद बने हैं। संख्याकी दृष्टिसे (६) वेदान्तके अनुसार केवल एक ब्रह्म है। (७) जनता प्रकृति और पुरुष दो जानती है। (८) पुराणोंमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश—तीन हैं। (९) ऋग्वेदमें इन्द्र, मित्र, वरुण और वह्नि—चार लिखें हैं। (१०) आह्निकतत्त्वमें विष्णु, रुद्र, गणेश, सूर्य और शक्ति—ये पाँच बतलाये हैं। (११) ब्रह्मवैवर्तके मतानुसार गणेश, महेश, दिनेश, वह्नि, विष्णु और उमा—ये छ: हैं। (१२) शतपथमें ८ वसु, ११ रूद्र, १२ सूर्य, १ इन्द्र और १ प्रजापति—ये ३३ हैं। (१३) ऋग्वेदमें एक जगह ११ स्वर्गके, ११ पृथ्वीके और ११ अन्तरिक्षके—सब ३३ देवता लिखे हैं। (१४) दूसरी जगह अग्नि, वायु, इन्द्र और मित्रादि ३३ देवता और सरस्वती, सूनृता, इला और इन्द्राणी आदि १२ देवियोंके नाम दिये हैं। और (१५) तीसरी जगह तीन हजार, तीन सौ उन्तालीस देवता लिखे हैं। (१६) ऐतरेयमें ३३ 'सोमप' और ३३ 'असोमप'—कुल ६६ बतलाये हैं। उनमें १ इन्द्र, १ प्रजापति, ८ वसु, ११ रुद्र और १२ आदित्य 'सोमप' (अमृत पीनेवाले) हैं और ११ प्रयाज, ११ अनुयाज और ११ उपयाज 'असोमप' (अमृतेतर पेय पीनेवाले) हैं। उनकी तृप्ति गन्ध-पुष्पादिसे और इनकी यज्ञादिके पशुओंसे होती है। (१७) अग्निपुराणके अनुसार १४९ देवी और (१८) आदित्यपुराणके अनुसार २०० देवता हैं। (१९) हिंदू-संसारमें ३३ करोड़ देवता विख्यात हैं और (२०) पद्मपुराणमें भी यही संख्या निर्दिष्ट की गयी है। अस्तु,

(४) देवता चाहे एक हों, अनेक हों, तीन हों, तैंतीस हों या ३३ करोड़ और अर्ब-खर्ब हों—हमारे उपास्य 'पंचदेव' प्रसिद्ध हैं और शास्त्रोंमें इनके नाम निर्दिष्ट किये गये हैं। 'उपासनातत्त्व' (परिच्छेद ३) में लिखा है—

आदित्यं गणनाथं च देवीं रुद्रं च केशवम्।
पञ्चदैवतमित्युक्तं सर्वकर्मसु पूजयेत्॥
एवं यो भजते विष्णुं रुद्रं दुर्गां गणाधिपम्।
भास्करं च धिया नित्यं स कदाचिन्न सीदति॥

'आदित्य, गणनाथ, देवी, रुद्र और विष्णु-ये पाँच देव सब कामोंमें पूजने योग्य हैं। जो विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य और शक्तिकी आदरबुद्धिसे आराधना करते हैं वे कभी हीन नहीं होते अर्थात् उनके यश-पुण्य और नाम सदैव रहते हैं।'

अतएव इनकी पूजा उसी तरह आवश्यक है, जिस तरह ब्राह्मणोंका नित्यस्नान है। यदि यह न की जाय तो प्रत्यवाय होता है। पूजा नित्य, नैमित्तिक और काम्य-तीन प्रकारकी होती है—(१) जो प्रतिदिन की जाय, वह 'नित्य',! (२) पुत्रजन्म या व्रतोत्सवादिमें की जाय, वह 'नैमित्तिक' और (३) सुख-सम्पत्ति एवं सन्तान आदिकी सम्प्राप्ति अथवा आपन्निवारणार्थ की जाय, वह 'काम्य' होती है। ये सब (१) 'पंचोपचार' (२) 'दशोपचार'

(१, ६) 'एकमेव ब्रह्म' (वेदान्त)। (२) दानाद्वा दीपनाद्वा द्युस्थानगा भवति (यास्क० ७। १५)। (९) इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निम्० (ऋग्-मन्त्र)। (१०) आदित्यं गणनाथं च० (आह्निक०)। (११) गणेशं च दिनेशं च० (ब्रह्मवैवर्तपुराण)। (१२) कथमेते त्रयस्त्रिंशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्या एकत्रिंशत्, इन्द्रश्च प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशत् (शतपथ)—। (१३) ये देवासो दिव्येकादश स्थ। अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् (ऋक् १। २०। १३९। ११)। (१५) त्रीणि सहस्राणि त्रीणि शतात्रिंशच्चदेवा नव चासपर्यन्। (ऋक् ३। १। ९। ९)। (२०) सदारा विबुधा: सर्वे स्वानां स्वानां गणै: सह। त्रैलोक्ये ते त्रयस्त्रिंशत्कोटिसंख्यतयाभवन्॥ (पद्मोत्तर०)

(१) पंचोपचार—गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य।

(२) दशोपचार—उक्त ५ के सिवा पाद्य, अर्घ्य, आचमन, मधुपर्क और पुनराचमन।

(३) षोडशोपचार—आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, (यज्ञोपवीत) गन्ध, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, ताम्बूल और दक्षिणा।

(४) अष्टादशोपचार—षोडशोपचारके सिवा स्वागत और आभूषण।

(३) 'षोडशोपचार' (४) 'अष्टादशोपचार' (५) 'षट्त्रिंशदुपचार' (६) 'चतुः-षष्ट्युपचार' (७) 'राजोपचार' (८) 'आवरण' और (९) 'मानसोपचार' आदि यथालब्ध और यथोचित उपचारोंसे सम्पन्न होती हैं। इन सबमें गणेशपूजन अनिवार्य है। 'आह्निकतत्त्व' में लिखा है

देवतादौ यदा मोहाद् गणेशो न च पूज्यते।
तदा पूजाफलं हन्ति विघ्नराजो गणाधिपः॥ १॥

'देवपूजामें अज्ञानवश गणपति-पूजन न किया जाय तो विघ्नराज गणेशजी उसका पूजाफल हर लेते हैं।' अस्तु,

(६) भारतमें पंचदेवोंकी उपासना कितनी अधिक व्यापक है, इसका विचार किया जाय तो मालूम हो सकता है कि इनकी सामूहिक साधना करनेवाले, पृथक्-पृथक् उपासना करनेवाले अथवा इनमें किसी एकहीकी पूजा करनेवाले अनेक साधक हैं और वे अपनी पूजा-पद्धतिके अनुसार अर्चन करते हैं। उनके विषयमें 'तन्त्रसार' में लिखा है।

शैवानि गाणपत्यानि शाक्तानि वैष्णवानि च।
साधनानि च सौराणि चान्यानि यानि कानि च॥

[जिस प्रकार ब्रह्मके उपासक 'ब्राह्म' होते हैं] उसी प्रकार विष्णुके उपासक 'वैष्णव', शिवके उपासक 'शैव', गणपतिके उपासक 'गाणपत्य', सूर्यके उपासक 'सौर' और शक्तिके उपासक 'शाक्त' होते हैं। इनमें शैव, वैष्णव और शाक्त विशेष विख्यात हैं। भारतमें इन सम्प्रदायोंके सर्वत्र मन्दिर हैं। उनमें कई मन्दिर बड़े ही भव्य, विशाल, विश्वमोहक, सुदर्शनीय या साधारण भी हैं और उनमें सिद्धिसाधना या दर्शनार्थ अगणित नर-नारी प्रतिदिन जाते हैं। उनके सिवा सैकड़ों साधक अपने मकानमें या बटुएमें भी भगवान्‌की मूर्ति रखते और यथोचित विधिसे पूजते हैं।

(७) उपर्युक्त पाँचों सम्प्रदायोंके सुविशाल या साधारण मन्दिरोंमें जगदीश, द्वारकाधीश, बुद्धगया, लक्ष्मणबाला और गोविन्ददेवादि 'विष्णु' के; रामेश्वर, कालेश्वर, विश्वनाथ, सोमनाथ और पशुपतिनाथादि 'शिव' के; चतुर्थीविनायक, साक्षी विनायक, गढ़गणेश, गणपति और गणराजादि 'गणेश' के; त्रिभुवनदीप, अरुणादित्य, सूर्यनारायण, लोकमणि और द्वादशादित्यादि 'सूर्य'के; तथा ज्वालाजी, कालीजी, अन्नपूर्णा, कामाख्या, मीनाक्षी और विन्ध्यवासिनी आदि 'शक्ति' के कई एक मन्दिर (मूर्तियाँ या विग्रह) विशेष विख्यात हैं। और उनके दर्शनार्थ भारतके प्रत्येक प्रान्तसे अगणित यात्री जाते हैं। स्मरण रहे कि जिस प्रकार ये मन्दिर अद्वितीय हैं उसी प्रकार इनके साधन-समारोह, पूजा-विधान या भोगरागादिके आयोजन भी अद्वितीय हैं। इन मन्दिरोंमें या सद्‌गृहस्थोंके घरोंमें आमलक-सम शालग्रामजी-जैसे छोटे और भूधराकार हनूमान्‌जी-जैसे बड़े अगणित देव प्रतिदिन पूजे जाते हैं। उनमें चाहे भैरव, भवानी, शीतला आदि हों; चाहे शिव, गणेश, सूर्यादि हों और चाहे गोविन्द, मुकुन्द, लक्ष्मी-नारायणादि हों; सब उसी ब्रह्मकी सत्ता हैं और पंचदेवके ही रूपान्तर या नामान्तर

---

(५) षट्त्रिंशदुपचार—आसन, अभ्यंजन, उद्वर्तन, निरुक्षण, सम्मार्जन, सर्पिःस्नपन, आवाहन, पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, मधुपर्क, पुनराचमन, यज्ञोपवीत-वस्त्र, अलकांर, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, पुष्पमाला, अनुलेपन, शय्या, चामर, व्यजन, आदर्श, नमस्कार, गायन, वादन, नर्तन, स्तुतिगान, हवन, प्रदक्षिणा, दन्तकाष्ठ और विसर्जन।

(६) चतुःषष्ट्युपचार—(शक्तिपूजामें) पाद्य, अर्घ्य, आसन, तैलाभ्यंग, मज्जनशालाप्रवेश, पीठोपवेशन, दिव्यस्नानीय, उद्वर्तन, उष्णोदकस्नान, तीर्थाभिषेक, धौतवस्त्रपरिमार्जन, अरुणदुकूलधारण, अरुणोत्तरीयधारण, आलेपमण्डपप्रवेश, पीठोपवेशन, चन्दनादि दिव्य-गन्धानुलेपन, नानाविधपुष्पार्पण, भूषणग्रहण, नवमणि-मुकुटधारण, चन्द्रशकल, सीमन्तसिन्दूर, तिलकरत्न, कालांजन, कर्णपाली, नासाभरण, अधरयावक, ग्रथनभूषण, कनक-चित्रपदक, महापदक, मुक्तावली, एकावली, देवच्छन्दक, केयूरचतुष्टय, वलयावली, ऊर्मिकावली, कांचीदाम-कठिसूत्र, शोभाख्याभरण, पादकटक, रत्ननूपुर, पादांगुलीयक, चार हाथोंमें क्रमशः अंकुश, पाश, पुण्ड्रेक्षुचाप और पुष्पबाणका धारण, माणिक्यपादुका, सिंहासनारोहण, पर्यंकोपवेशन, अमृतासवसेवन, आचमनीय, कर्पूरवटिका, आनन्दोल्लासविलासहास, मंगलार्तिक, श्वेतच्छत्र, चामरद्वय, दर्पण, तालवृन्त, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, पुनराचमन, ताम्बूल और वन्दना।

(७) राजोपचार—षोडशोपचारके सिवा छत्र, चामर, पादुका, दर्पण।

(८) आवरण—कामनाविशेष या स्थापन-व्रतोत्सवादिमें पूजा-पद्धतिके अनुसार उपर्युक्त उपचारोंका कई बार उपयोग होनेसे होता है।

(९) मानसोपचार—इसमें स्नान-गन्धादि सभी साधनोंका केवल ध्यानमात्रसे उपयोग किया जाता है, प्रत्यक्ष वस्तुकी आवश्यकता नहीं होती। आगे 'पूजाविधि' दी गयी है, उसके अनुसार किसी भी देवताकी पूजा की जा सकती है।

हैं। अतः साधकोंको चाहिये कि आगे दी हुई पूजाविधिके अनुसार पंचदेवकी—सामुदायिक या पृथक्-पृथक्—अथवा जो इष्ट हों, उनकी पूजा करें और उनके अनन्य भक्त हो जायँ।

परांग

(१) पञ्चदेवस्थापन—

यदा तु मध्ये गोविन्दमैशान्यां शङ्करं यजेत्।
आग्नेय्यां गणनाथं च नैर्ऋत्यां तपनं तथा॥ १॥
वायव्यामम्बिकाश्चैव यजेन्नित्यं समादृतः।
यदा तु शङ्करं मध्ये ऐशान्यां श्रीपतिं यजेत्॥ २॥
आग्नेय्यां च तथा हंसं नैर्ऋत्यां पार्वतीसुतम्।
वायव्यां च सदा पूज्या भवानी भक्तवत्सला॥ ३॥
हेरम्बं तु यदा मध्ये ऐशान्यामच्युतं यजेत्।
आग्नेय्यां पञ्चवक्त्रं तु नैर्ऋत्यां द्युमणिं यजेत्॥ ४॥
वायव्यामम्बिकाश्चैव यजेन्नित्यमतन्द्रितः।
सहस्रांशुं यदा मध्ये ऐशान्यां पार्वतीपतिम्॥ ५॥
आग्नेय्यामेकदन्तं च नैर्ऋत्यामच्युतं तथा।
वायव्यां पूजयेद्देवीं भोगमोक्षैकभूमिकाम्॥ ६॥
भवानीं तु यदा मध्ये ऐशान्यां माधवं यजेत्।
आग्नेय्यां पार्वतीनाथं नैर्ऋत्यां गणनायकम्॥ ७॥
प्रद्योतनं तु वायव्यामाचार्यस्तु प्रपूजयेत्॥ *

(२) पञ्चदेवध्यान—

(१)

सशङ्खचक्रं सकिरीटकुण्डलं सपीतवस्त्रं सरसीरुहेक्षणम्।
सहारवक्षःस्थलकौस्तुभश्रियं नमामि विष्णुं शिरसा चतुर्भुजम्॥

विष्णो रराटमसि विष्णोः श्नप्त्रे स्थो विष्णोः स्यूरसि विष्णोर्ध्रुवोऽसि वैष्णवमसि विष्णवे त्वा॥ (यजु० ५। २१)

(२)

ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्रावतंसं
रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गं परशुमृगवराभीतिहस्तं प्रसन्नम्।
पद्मासीनं समन्तात् स्तुतममरगणैर्व्याघ्रकृत्तिं वसानं
विश्वाद्यं विश्ववन्द्यं निखिलभयहरं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रम्॥

नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः। बाहुभ्यामुत ते नमः॥ २॥ (यजु० १६। १)

(३)

श्वेताङ्गं श्वेतवस्त्रं सितकुसुमगणैः पूजितं श्वेतगन्धैः
क्षीराब्धौ रत्नदीपैः सुरवरतिलकं रत्नसिंहासनस्थम्।
दोर्भिः पाशाङ्कुशाब्जाभयधरमनिशं चन्द्रमौलिं त्रिनेत्रं
ध्यायेच्छान्त्यर्थमीशं गणपतिममलं श्रीसमेतं प्रसन्नम्॥

नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमो नमो व्राते-भ्यो व्रात-पतिभ्यश्च वो नमो नमो गृत्सेभ्यो गृत्स-पतिभ्यश्च वो नमो नमो विरूपेभ्यो विश्वरूपेभ्यश्च वो नमः॥ (यजु० १६। २५)

---

* 'पंचदेव' के पूजनमें इष्टदेवको मध्यस्थ करके शेषको नीचेके कोष्ठकमें लिखे अनुसार स्थापित कर पूजन करें। (यदि चित्र या एकत्र निर्मित विग्रह हों तो उनमें इष्टको मध्यस्थ मानकर शेषकी यथाक्रम कल्पना करें) यथा—'विष्णु' इष्टदेव हों तो मध्यमें विष्णु,ईशानमें शिव, अग्निमें गणेश, नैर्ऋत्यमें सूर्य और वायव्यमें शक्तिकी स्थापना करके (या चित्रादि हों तो उनमें वैसे मानकर) वहीं उनका यथाविधि पूजन करें और शेषके लिये नीचेके कोष्ठकमें (१), (२), (३), (४), (५), को देखें। आरम्भमें पंचदेवका एक चित्र है—आराधक चाहें तो नित्यके सामूहिक अथवा पृथक्-पृथक् पूजनमें अपने इष्टदेवको सुगमतासे मध्यमें स्थापन करनेके लिये उस चित्रके अनुसार काठ, कागज, चाँदी या मकरानेके चौकोर ५ टुकड़ोंपर पंचदेवकी अलग-अलग मूर्ति बनवा लें और उनका यथेष्ट स्थापन करके पूजन करें। नित्यके पूजनमें इससे सुविधा होती है और स्नान-गन्धादि नित्य धोये जा सकते है। पहलेके पंचदेव-उपासक ऐसे ही साधन रखते थे। अब भी जयपुरमें कागजके ५) में, काठके ८) में, चाँदीके १०-१५) में और संगमरमर (मकराने) के २०—२५) में बन सकते हैं। चाँदी या मकरानेके समचौरस ९ टुकड़े बनवाकर ५ में विष्णु, शिव, गणेश,सूर्य और शक्ति तथा ४ में फूल बनवाके उनको समचौरस चौखटेमें रख लें और पूजाके समय इच्छानुसार वैसा बना लें।

वि. | सू. (२) —शि.— श. | ग.	पू. उ. * द. प.	वि. | शि. (३) —ग.— श. | सू.
पू. उ. * द. प.	शि. | ग. —वि.— (१) श. | सू.	पू. उ. * द. प.
वि. | शि. —श.— (५) सू. | ग.	पू. उ. * द. प.	शि. | ग. —सू.— (४) श. | वि.

(४)

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः॥

सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात्सविता ज्योतिरुदयाँ २॥ अजस्रम्। तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान् सम्पश्यन् विश्वा भुवनानि गोपाः॥ (यजु० १७।५८)

(५)

श्यामाङ्गीं शशिशेखरां निजकरैर्दानं च रक्तोत्पलं
रत्नाढ्यं कलशं परं भयहरं संबिभ्रतीं शाश्वतीम्।
मुक्ताहारलसत्पयोधरनतां नेत्रत्रयोल्लासिनीं
ध्यायेत्तां सुरपूजितां हरवधूं रक्तारविन्दस्थिताम्॥

मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीय। पशूनाᳬ रूपमन्नस्य रसो यशः श्रीः श्रयतां मयि स्वाहा॥ (यजु० ३९।४)[1]

(३) पञ्चदेव-आवाहन—

आवाहयेत्तं गरुडोपरि स्थितं
रमार्द्धदेहं सुरराजवन्दितम्।
कंसान्तकं चक्रगदाब्जहस्तं
भजामि देवं वसुदेवसूनुम्॥

ॐ इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पाᳬसुरे स्वाहा॥ (यजु० ५।१५)

(२)

एह्येहि गौरीश पिनाकपाणे
शशाङ्कमौले वृषभाधिरुढ।
देवाधिदेवेश महेश नित्यं
गृहाण पूजां भगवन्नमस्ते॥

ॐ नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च॥ (यजु० १६।४१)

(३)

आवाहयेत्तं गणराजदेवं
रक्तोत्पलाभासमशेषवन्द्यम्।
विघ्नान्तकं विघ्नहरं गणेशं
भजामि रौद्रं सहितं च सिद्धया॥

ॐ गणानां त्वा गणपतिᳬहवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिᳬहवामहे निधीनां त्वा निधिपतिᳬ हवामहे वसो मम। आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम्॥ (यजु० २३।१९)

(४)

आवाहयेत्तं द्युमणिं ग्रहेशं
सप्ताश्ववाहं द्विभुजं दिनेशम्।
सिन्दूरवर्णप्रतिमावभासं
भजामि सूर्यं कुलवृद्धिहेतोः॥

ॐ आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च। हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥ (यजु० २३।४३)

(५)

या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भुवनेष्वलक्ष्मीः
पापात्मनां कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः।
श्रद्धा सतां कुलजनप्रभवस्य लज्जा
तां त्वां नताः स्म परिपालय देवि विश्वम्॥

ॐ अम्बे अम्बिके अम्बालिके न मानयति कश्चन। स सस्त्यश्वकः सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम्॥[2]

---

१. 'पंचदेवके ध्यान' में (१)शंख-चक्रधारी, किरीट और कुण्डलोंसे विभूषित, पीताम्बर पहने हुए, सुन्दर कमल-जैसे नेत्रवाले और वक्ष:स्थलमें वनमालासहित कौस्तुभमणिकी शोभावाले 'विष्णु' (२) चाँदीके पर्वतके प्रभावाले, रत्नमय आभूषणभूषित, उज्ज्वलांग, हाथोंमें सुन्दर मृग-मुद्रा और परशुवाले, पद्मासनस्थ, देववन्दित, व्याघ्रचर्म धारण करनेवाले, निखिलभयहारी, विश्वाद्य और विश्ववन्द्य 'शिव'; (३)क्षीराब्धिमें रत्नसिंहासनपर विराजे हुए, श्वेतांग, श्वेतवस्त्र, श्वेतपुष्पादिसे पूजित, देवताओंमें श्रेष्ठ, हाथोंमें अंकुश, अभय, कमल और पाश रखनेवाले त्रिनेत्र 'गणेश'; (४) सूर्यमण्डलमें कमलासनपर विराजे हुए, मकराकार कुण्डल, केयूर और किरीटधारी, सुवर्णतुल्य शरीरवाले और शंख-चक्र धारण करने वाले 'सूर्यनारायण'; तथा (५)लाल कमल, रत्नाढ्य कलश, वर और अभयमुद्रा धारण करनेवाली, मुक्ताहारादिसे शोभित, श्यामांगी, शशिशेखरा और त्रिनेत्रा 'शक्ति'; इन पंचदेवोंका उक्त स्वरूपमें ध्यान करें।

यदि पूर्वोक्त प्रकारका चित्र या मूर्त्तियाँ अथवा काठ, चाँदी या मकरानेके समचौरस ५ टुकड़ोंमें बने हुए सुदर्शनीय विग्रह हों तो उनको सामने रख लें।

२. (१) 'पंचदेव'-आवाहन करते समय अंजलि बाँधकर विनम्र-भावसे कहे कि-हे गरूड़ारुढ़, रमार्द्धदेह, इन्द्रवन्दित, कंसारि, चक्र-गदा और पद्मधारी 'वसुदेवसुत'! आप पधारें॥ (२)-हे गौरीश, पिनाकपाणि, शशांकधर, बृषभासीन, देवाधिदेव 'महेश'! आपको

पूजा-प्रयोग

(१) प्रातरुत्थाय शुचिर्भूत्वा सुस्नातः कृत-सन्ध्याद्यावश्यककर्मा देवमन्दिरं गत्वा द्वारसन्धौ तालत्रयं दत्त्वा कपाटमुद्धाटय, अन्तः प्रविश्य (स्वगेहे वा देवसमीपे उपविश्य) हस्तौ प्रक्षाल्य पूजनपात्राणि सम्मृज्य जलेन प्रक्षाल्य वस्त्रेण प्रोञ्छय च यथास्थाने सुस्थाप्यानि। सुवासितजलपूर्णं कुम्भं दक्षिणभागे संस्थाप्य, वामे घण्टाम्, पुरतः गंधपुष्पभूषणानि, दक्षिणतः शङ्खदीपौ, वामे तु धूपम् अन्यामपि पूजनोपयुक्तसामग्रीं च यथास्थानं संस्थाप्य, आचम्य, प्राणानायम्य, मंगलोच्चारणं कुर्यात्।

(२) मङ्गलमन्त्राः—

ॐ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्ताक्ष्यों अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥ (ऋ० १। १४। ८९ । ६)

भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳ सस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥ (ऋ० १। १४। ८९।८)

तं पत्नीभिरनुगच्छेम देवा पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यैः। नाकं गृभ्णानाः सुकृतस्य लोके तृतीये पृष्ठे अधि रोचने दिवः॥ (यजु० १५।५०)

सुमुखश्चैकदन्तश्च०, धूम्रकेतुर्गणाध्यक्षो०, विद्यारम्भे विवाहे च०, शुक्लाम्बरधरं०, अभीप्सितार्थ० इत्यादयः।

श्रीलक्ष्मीनारायणाभ्यां नमः, उमामहेश्वराभ्यां० शचीपुरन्दराभ्यां० मातापितृभ्यो० इष्टदेवताभ्यो० कुल-देवताभ्यो० ग्रामदेवताभ्यो० स्थानदेवताभ्यो०।[1]

(३) ततो हस्ते जलमादाय—

ॐ तत्सदद्य मासोत्तमे मासे अमुकमासे अमुकपक्षे अमुकतिथौ अमुकवासरे अमुकगोत्रोत्पन्नोऽमुकशर्मा (वर्मा, गुप्तः) अहं यथामिलितोपचारद्रव्यैर्विष्णु (शिव-गणपति-सूर्य-शक्ति) पूजनं करिष्ये—इति सङ्कल्प्य; तत्रादौ कलशे—वरुणाय नमः, वरुणमावाहयामि, सर्वोपचारार्थे गन्धाक्षतपुष्पाणि समर्पयामि—इति गन्धपुष्पादिभिः सम्पूज्य; एवं घण्टास्थगरुडाय नमः इति घण्टाम्, सर्वदेवेभ्यो नमः इति च शङ्खं पूर्ववत् सम्पूज्यान्यपात्रेषु च गन्धादि क्षिपेत्। अत्रैव कार्यविशेषे—अन्यदेवार्चने वा—गणानां त्वा इति० 'गणनाथम्' इदं विष्णुरिति 'विष्णुम्' नमः शम्भवायेति 'शिवम्,' आ कृष्णेनेति 'सूर्यम्', अम्बे अम्बिके० इति, 'शक्तिम्' च पञ्चोपचारैः पूजयेत्।

(४) ततोऽङ्गन्यासं कुर्यात्।

ॐ तत्सदद्येत्यादि० अमुकशर्माहं पञ्चदेवपूजार्थे (तन्मध्ये अमुकेष्टदेवपूजार्थे अन्यदेवार्चने वा) अङ्ग-न्यासं करिष्ये। ॐ सहस्त्रशीर्षा० इति वामकरे। ॐ पुरुष एवेदꣳ० इति दक्षिणकरे। ॐ एतावानस्य० इति वामपादे। त्रिपादूर्ध्व० इति दक्षिणपादे। ततो विराडजायत० इति वामजानुनि तस्माद्यज्ञात्० इति दक्षिणजानुनि। तस्माद्यज्ञाम् सर्वहुत ऋचः० इति वामकट्याम्। तस्मादश्वा० इति दक्षिणकट्याम्। तं यज्ञं० इति नाभौ। यत्पुरुषं व्यदधुः० इति हृदये। ब्राह्मणोऽस्य० इति वामकुक्षौ। चन्द्रमा मनसो० इति दक्षिणकुक्षौ। नाभ्या० इति कण्ठे। यत्पुरुषेण० इति वक्त्रे। सप्तास्यासन्० इत्यक्ष्णोः यज्ञेन यज्ञ० इति मूर्ध्नि। ततः पूजां समारभेत।[2]

नमस्कार है। आप पूजन ग्रहण करें॥ (३)- हे गणराज, लाल कमल-जैसी प्रभावाले, सर्ववन्द्य, विघ्ननाशक, विघ्नहर, 'रुद्रसुत गणेश' आप पधारे! (४)-हे ग्रहेश, दिनमणि, सात घोड़ोंके रथपर आरूढ़, द्विभुज, दिनेश, सिन्दूर-सम प्रभावाले 'सूर्य' आप पधारें॥ (५)और हे सुकृतिजनोंको लक्ष्मी एवं आनन्द और पापात्माओंको दीनता देनेवाली तथा विद्वानोंके हृदयमें बुद्धिका प्रकाश फैलानेवाली और विश्वका पालन करनेवाली 'देवी'! आप पधारें और मेरी की हुई पूजा ग्रहण करें॥

१. 'देवपूजा-प्रयोग' के प्रारम्भमें प्रात:काल उठकर शौचादिसे निवृत्त हो सन्ध्यादि नित्यकर्म करें और देवताके मन्दिरमें जाकर द्वार-सन्धिमें तीन ताली देकर कपाट खोल अंदर प्रवेश करें। (यदि अपने मकानमें ही मन्दिर हों या देवमूर्ति रखते हो तो वहाँ देवताके समीप उपस्थित होकर) हाथ धोवें, पूजनके पात्रोंको माँजे, जलसे धोकर वस्त्रसे साफ कर लें और यथास्थान रख दें। सुगन्धियुक्त जलपूर्ण कुम्भ दाहिनी तरफ, धूप और घण्टा बायीं तरफ, गन्ध, पुष्प, अर्घ्य एवं आभूषण सामने, और शेष यथोचित स्थानपर रखके आचमन करें और प्राणायाम करके मंगलमन्त्रोंका उच्चारण करें। मंगलमन्त्रोंमें 'स्वस्ति न इन्द्रो०'' भद्रं कर्णेभि: '' तं पत्नीभि: ' मुख्य हैं। इनके सिवा सुमुखश्चैकदन्तश्च० आदिसे गणेशस्मरण करके उपर्युक्त देवोंको नमस्कार करें।

२. फिर हाथमें जल लेकर वर्ममान मास, पक्ष, तिथि,वार और अपना गोत्रसहित नाम उच्चारण करके पञ्चदेव या उनमें किसी एक देव अथवा भैरव, भवानी, गंगा, हनुमान् आदि अन्य देवमें जिसका पूजन करना हो उसीको उद्देश्य करके संकल्प करें। और सर्वप्रथम

(५) देवोत्थापनम्—

'भद्रं कर्णेभिः०' इति घण्टानादं कुर्यात्—

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ गोविन्द उत्तिष्ठ गरुडध्वज॥
उत्तिष्ठ कमलाकान्त त्रैलोक्यमंगलं कुरु॥

इति तालत्रयं दत्त्वा देवमुत्थाप्य समीपस्थशालग्रामं ताम्रपात्रे तुलसीपत्रोपरि संस्थाप्य (दन्तधावन-गण्डूषानन्तरमात्मनोऽङ्गन्यासमिव 'सहस्रशीर्षा०' इत्यादिभिर्देवस्यापि न्यासं कुर्यात्। यथा देहे तथा देवे। देवो भूत्वा देवं यजेत्। तत आवहनादि पूजनम्। यथा—

ॐ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिꣳ सर्वतः स्पृत्वात्ययतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥
(यजु० ३१।१)

महाविष्णवे (शिवाय गणाधिपाय सूर्याय शक्त्यै वा)

(आवाहनम्)

ॐ पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥ २॥

(आसनम्)

ॐ एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥ ३॥

(पाद्यम्)

ॐ त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि॥ ४॥

(अर्घ्यम्)

ॐ ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः॥ ५॥

(आचमनीयम्)

ॐ तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशूंस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये॥ ६॥

(स्नानम्)

(अत्रावसरे शङ्खपूरितोदकेनाविच्छिन्नधारया 'इदं विष्णुर्विचक्रमे०' इति मन्त्रेण शालग्रामम्, व्यणस्योत्तम्भन० 'इत्यादिना शिवादीन् स्नपयेत्। व्रतोत्सवादावत्रैव पञ्चामृतेन स्नपयेत्।)*

ॐ तस्याद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दाꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तम्मादजायत॥ ७॥

(वस्त्रम्)

ॐ तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः॥ ८॥

(यज्ञोपवीतम्)

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥ ९॥

(गन्धम्)

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुर्ख किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते॥ १०॥

(पुष्पम्)

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पश्पशे।
इन्द्रस्य युज्यः सखा॥ (यजु० ६।४)

(तुलसीपत्रम्)

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याꣳशूद्रो अजायत॥ ११॥

(धूपमू)

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत॥ १२॥

(दीपम्)

नाभ्या आसीदन्तरिक्षꣳ शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।

कलश, घण्टा और शङ्खका गन्धादिसे पूजन कर अन्य पात्रोंको भी गन्धादि चढ़ा दें। और पञ्चदेवादिके सिवा अन्य देव आराध्य हों तो यहीं पञ्चदेवका सूक्ष्मरूपसे पूजन करके पुरुषसूक्तसे ऊपर लिखे अनुसार अंगन्यास करें। इसमें दाहिने हाथसे (मन्त्रोच्चारणपूर्वक) अंगस्पर्श किया जाता है। यथा 'सहस्त्रशीर्षा०' इत्यादि सम्पूर्ण मन्त्र पढ़कर बायें हाथका स्पर्श करें और इसी भाँति दाहिने हाथका भी स्पर्श करें।

* अंगन्यासके अनन्तर 'भद्रं कर्णे० 'उत्तिष्ठोत्तिष्ठ०' पढ़कर ३ बार ताली देकर देवका उत्थापन करें। देवमन्दिरकी बड़ी मूर्तियोंको यथास्थान स्थापित रहने दें और उनके समीपमें छोटी मूर्ति (शालग्रामादि)-को ताम्रपात्रमें तुलसीपत्रपर विराजमान कर, कुल्ले तथा दतौन करानेका केवल स्मरणमात्र करके पहले जिस प्रकार 'सहस्त्र-शीर्षा०' आदिसे अपना अंगन्यास किया था, उसी प्रकार तुलसी-पत्रसे देवताका स्पर्श कर उनके देहन्यासका स्मरण करें और फिर आवाहनादि समन्त्रक पूजन करें यथा—'सहस्त्रशीर्षा०' से आवाहन, 'पुरुष एवेदं०' से आसन, 'एतावानस्य०' से पाद्य, त्रिपादूर्ध्व० से अर्घ्य और 'ततो विराडजायत' से आचमन आदि करावें। स्नानके समय व्रतोत्सवादि अवसरोंमें दूध, दही, घी, चीनी और शहदके पञ्चामृतसे भी स्नान करावें 'बडी मूर्तियोंका नित्य स्नान आवश्यक नहीं है।

पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ २॥ अकल्पयन्॥ १३॥

(नैवेद्यम्)

मध्ये जलपानीयमाचमनीयञ्च समर्पयेत्—

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥ १४॥

(ताम्बूलम्)

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

(दक्षिणां समर्पयामि) (यजु० १३।४)

ततो कर्पूरं घृतवर्तिका वा प्रज्वाल्य-'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्। इष्णन्निषाणामुं म इषाण सर्वलोकं म इषाण' (यजु० ३१।२२) इति मन्त्रेण आरार्तिकोपरि गन्धाक्षतं निक्षिप्य मण्डलं कुर्यात्। आरार्तिकां भ्रामयेत्। 'ॐ इदꣳ हविः प्रजननं मे अस्तु दशवीर ꣳसर्वगणꣳ स्वस्तये। आत्मसनि प्रजासनि पशुसनि लोकसन्यभयसनि। अग्निः प्रजां बहुलां मे करोत्वन्नं पयो रेतो अस्मासु धत्त॥ (यजु १९।४८) (इति आरार्तिकम्)[1]

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिःसप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्॥

(यजु० ३१।१५)

(प्रदक्षिणाम्)

ॐयज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥

(यजु० ३१।१६)

(मन्त्रपुष्पाञ्जलीन् समर्पयामि)

'कायेन वाचेति०' क्षमायाचना। 'प्रह्लादनारदपराशरेति०', चरणामृत पिबेत्।[2]

पञ्चदेव-आरती

(१)

करुणापारावारं कलिमलपरिहारं
कद्रूसुतशयितारं करधृतकल्हारम्।
घनपटलाभशरीरं कमलोद्भवपितरं
कलये विष्णुमुदारं कमलाभर्तारम्॥

(जय देव जय देव)

(२)

भूधरजारतिलीलं मङ्गलकरशीलं
भुजगेशस्मृतिलोलं भुजगावलिमालम्।
भूषाकृतिमतिविमलं संधृतगाङ्गजलं
भूयो नौमि कृपालुं भूतेश्वरमतुलम्॥

(जय देव जय देव)

(३)

विघ्नारण्यहुताशं विहितानयनाशं
विपदवनीधरकुलिशं विधृताङ्कुशपाशम्।
विजयार्कज्वलिताशं विदलितभवपाशं
विनताः स्मो वयमनिशं विद्याविभवेशम्॥

(जय देव जय देव)

(४)

कश्यपसूनुमुदारं कालिन्दीपितरं
कालत्रितयविहारं कामुकमन्दारम्।
कारुण्याब्धिमपारं कालानलमुदरं
कारणतत्त्वविचारं कामय ऊष्मकरम्॥

(जय देव जय देव)

१. 'तस्माद्यज्ञात्०' से वस्त्र,'तस्मादश्वा०' से यज्ञोपवीत, 'यज्ञं' से [विष्णुको मलयागिरि, शिवको लाल चन्दन, गणेशको तीनों, सूर्यको केसर और शक्तिको सिन्दूर] चढावे। यत्पुरुषं०'से विष्णुके गन्धयुक्त पुष्प, शिवके औंधा बिल्वपत्र, गणेशके दूर्वा, सूर्यके लाल कनीरके पुष्प और शक्तिके अनेक प्रकारके पुष्प)चढ़ावे।'विष्णोः कर्माणि० से तुलसी—देवार्थे तुलसीच्छेदःसोमार्थे समिधां तथा। अमार्कयोर्न दूष्येत गवार्थे तु तृणस्य च॥'ब्राह्मणोऽस्य०' से धूप 'चन्द्रमा मनसो०' से दीप, 'नाभ्या आसी०' से नैवेद्य अर्पण करते समय भोजनसामग्रीपर तुलसीदल रखके 'प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा, नाथ 'स्वाहा, समानाय स्वाहा ' बोलकर अर्पण करें। अन्तमें आचमन, ताम्बूल और दक्षिणा देकर आरती करें। आरती करते समय 'शान्ताकारम्०' आदि बोलते रहें और घण्टा, शङ्ख घड़ाघड़ बजाते रहें।

२. 'सप्तास्यासन्०' से प्रदक्षिणा, 'यज्ञेन यज्ञ०' से मन्त्र' पुष्पाञ्जलि और 'कायेन वाचा०' से क्षमायाचना करें।

(५)

निगमैर्नुतपदकमले निहतासुरजाले
हस्ते धृतकरवाले निर्जरजनपाले।
नितरां कृष्णकपाले निरवधिगुणलीले
निर्जरनुतपदकमले नित्योत्सवशीले॥

(जय देवि जय देवि)

परिशिष्ट

देवमूर्त्ति—

शैली दारुमयीं हैमीं धात्वाद्याकारसम्भवाम्।
प्रतिष्ठां वै प्रकुर्वीत प्रासादे वा गृहे नृप॥ १॥

मूर्तिसंख्या—

गृहे लिंगद्वयं नार्च्यं गणेशत्रितयं तथा।
शङ्खद्वयं तथा सूर्यौ नार्च्यौ शक्तित्रयं तथा॥ २॥
द्वे चक्रे द्वारकायाश्च शालग्रामशिलाद्वयम्।
तेषां तु पूजनेनैव उद्वेगं प्राप्नुयाद् गृही॥ ३॥

मूर्तिप्रमाण—

'शिलाप्यामलकीतुल्या पूज्या सूक्ष्मैव या भवेत्।'
पक्वजम्बूफलकारं कुक्कुटाण्डसमाकृति।
भुक्तिमुक्तिप्रदं चैव वाणलिङ्गमुदाहृतम्॥

स्नान—

प्रतिमापट्टयन्त्राणं नित्यस्नानं न कारयेत्।
सुलघुप्रतिमानां तु नित्यस्नानं विधीयते॥ ५॥

पञ्चामृत—

गव्यमाज्यं दधि क्षीरं माक्षिकं शर्करान्वितम्।
एकत्र मिलितं ज्ञेयं दिव्यं पञ्चामृतं परम्॥ ६॥

चरणामृत—

शिला ताम्रं तथा तोयं शङ्खः पुरुषसूक्तकम्।
गन्धो घण्टा च तुलसीत्यष्टाङ्गं तीर्थमुच्यते॥ ७॥

प्रदक्षिणा—

एकां विनायके कुर्याद् द्वे सूर्ये तिस्र ईश्वरे।
चतस्रः केशवे कुर्याच्छिवस्यार्द्धप्रदक्षिणा॥ ८॥

फल—

कलौ कलिमलध्वंसं सर्वपापहरेश्वरम्।
येऽर्चयन्ति नरा नित्यं तेऽपि वन्द्या यथा हरिः॥ ९॥

उपवेशन—

पूज्यपूजकयोर्मध्ये प्राची पूर्वा दिशा भवेत्।
'वित्तशाठ्यं न कारयेत्'

किस कार्यके लिये किस देवताकी उपासना करनी चाहिये?

ब्रह्मवर्चसकामस्तु यजेत ब्रह्मणस्पतिम्।
इन्द्रमिन्द्रियकामस्तु प्रजाकामः प्रजापतीन्॥
देवीं मायां तु श्रीकामस्तेजस्कामो विभावसुम्।
वसुकामो वसून् रुद्रान् वीर्यकामोऽथ वीर्यवान्॥
अन्नाद्यकामस्त्वदितिं स्वर्गकामोऽदितेः सुतान्।
विश्वान् देवान् राज्यकामः साध्यान् संसाधको विशाम्॥
आयुष्कामोऽश्विनौ देवौ पुष्टिकाम इलां यजेत्।
प्रतिष्ठाकामः पुरुषो रोदसी लोकमातरौ॥
रूपाभिकामो गन्धर्वान् स्त्रीकामोऽप्सर उर्वशीम्।
आधिपत्यकामः सर्वेषां यजेत परमेष्ठिनम्॥
यज्ञं यजेद् यशस्कामः कोशकामः प्रचेतसम्।
विद्याकामस्तु गिरिशं दाम्पत्यार्थ उमां सतीम्॥
धर्मार्थ उत्तमश्लोकं तन्तुं तन्वन् पितॄन् यजेत्।
रक्षाकामः पुण्यजनानोजस्कामो मरुद्गणान्॥
राज्यकामो मनून् देवान् निर्ऋतिं त्वभिचरन् यजेत्।
कामकामो यजेत् सोममकामः पुरुषं परम्॥
अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥
एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः।
भगवत्यचलो भावो यद्भागवतसङ्गतः॥

(श्रीमद्भागवत २।३।२—११)

'ब्रह्मतेजके लिये ब्रह्माकी, उत्तम इन्द्रियोंके लिये इन्द्रकी और सन्तानके लिये दक्षादि प्रजापतियोंकी उपासना करनी चाहिये। लक्ष्मी अथवा सौन्दर्यके लिये दुर्गादेवीकी, तेजके लिये अग्निकी, सम्पत्तियोंके लिये आठ वसुओंकी तथा शक्तिके लिये ग्यारह रुद्रोंकी उपासना करनी चाहिये। अन्न आदिकी कामना पूर्ण करनेके लिये अदितिकी, स्वर्गके लिये अदितिके पुत्रों (देवताओं वा आदित्यों)-की, राज्यके लिये विश्वेदेवोंकी और प्रजाको वशमें करनेके लिये साध्यगणोंकी उपासना करनी चाहिये। आयुके लिये अश्विनीकुमारोंकी, पुष्टिके लिये पृथ्वी देवताकी और प्रतिष्ठाके लिये लोकमाता

द्यावाभूमीके अभिमानी देवताकी उपासना करनी चाहिये। सुन्दर रूपके लिये गन्धर्वोंकी, सुन्दर स्त्रीके लिये उर्वशी अप्सराकी और सबका आधिपत्य प्राप्त करनेके लिये परमेष्ठी (ब्रह्मा)-की उपासना करनी चाहिये। यशके लिये यज्ञपुरुषकी, खजानेके लिये वरुणकी, विद्याके लिये शिवकी और दाम्पत्य-सुखके लिये सती पार्वतीकी उपासना करनी चाहिये। धर्मके लिये महापुरुषों-द्वारा वर्णित भगवान्‌की, वंशपरम्पराकी रक्षाके लिये पितरोंकी, रक्षाके लिये पुण्यजनोंकी और ओजके लिये मरुद्‌गणोंकी उपासना करनी चाहिये। राज्यके लिये दिव्य मनुओंकी, [मोहन, वशीकरणादि] अभिचारके लिये निर्ऋतिकी, कामनाओंकी पूर्तिके लिये—भोगोंके लिये चन्द्रमाकी और निष्काम होकर परम पुरुष परमात्माकी उपासना करनी चाहिये। बुद्धिमान् पुरुषको—चाहे वह निष्काम हो, सब वस्तुओंकी कामनावाला हो अथवा मोक्ष चाहनेवाला हो, तीव्र भक्तियोगके द्वारा परम पुरुष परमात्माकी ही उपासना करनी चाहिये। इस संसारमें जितने भी उपासक हैं, उनका परम कल्याण यही—इतना ही है कि भगवान्‌की अविचल भक्ति प्राप्त हो जाय, जो संत पुरुषोंके संगसे अथवा श्रीमद्भागवतके स्वाध्यायसे प्राप्त होती है।

ईश्वरप्राप्तिके वैदिक साधन

(लेखक-महामहोपाध्याय पण्डित श्रीसकलनारायणजी शर्मा)

ईश्वरकी प्राप्ति महान् धर्म है। क्योंकि उससे अवश्य ही सुख-शान्तिका लाभ होता है और वह सर्वदा एकरस एवं नित्य होता है। धर्मकी तीन शाखाएँ हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान। छान्दोग्योपनिषद्‌में कहा है—'**धर्मस्य त्रयः स्कन्धाः, यज्ञोऽध्ययनं दानम्।**' भक्ति और तपस्या यज्ञ हैं, दान कर्म है और अध्ययन ज्ञान है। ज्ञानके विना कोई काम नहीं होता। जो ज्ञान भक्ति और कर्मका सहायक, है वह कारण है। जो इन दोनोंके बलसे उत्पन्न होता है, वह कार्य है। दोनों प्रकारके ज्ञान धर्म हैं। ज्ञानका पर्यायवाची शब्द वेद है। वेदका मुख्य तत्त्व ॐ है। शास्त्रोंमें ज्ञानके अर्थमें 'विवेक' और 'विद्या' शब्दका भी व्यवहार हुआ है। ज्ञानसे मुक्ति निश्चितरूपसे सम्पन्न होती है।

उद्‌गीथविद्या

ज्ञान तो उपासनासे होता है, वह कैसे की जाय? ॐके द्वारा परमात्माका ध्यान करना—यह भी एक उपासना है। हे ॐस्वरूप परमात्मन्! मुझे स्मरण रखो कहीं मुझे भूल न जाना—**ॐ क्रतो स्मर**। प्रणव अर्थात् ॐ परमात्माका सर्वश्रेष्ठ नाम है। क्योंकि इसके द्वारा उन्नत भावपूर्वक परमात्माका गायन होता है। इसीसे प्रणवको उद्‌गीथ कहते हैं। बहुत-सी उपनिषदों और योगदर्शनमें कहा गया है कि प्रणवका जप करनेसे आत्मज्ञानकी उपलब्धि एवं विघ्नोंका नाश हो जाता है आचार्य लोग इसे अक्षर—अविनाशी मानते हैं। पृथ्वी सब प्राणियोंको धारण करती है, वही प्राणियोंका आश्रय है; उसका सार है जल। जलने ही ओषधियोंमें सार-तत्त्वका दान किया है। उसीसे पुरुष परिपुष्ट होते हैं। पुरुषमें सार वस्तु है वाक् (बोली)। उसमें ऋक् और साम यथार्थ तत्त्व हैं। उनका सार ॐ है। शक्ति अथवा अर्थके ध्यानसे इससे बढ़कर ईश्वरका दूसरा नाम नही है—'**स रसानां रसतमः**' (छान्दोग्य०) इसके उच्चारणके समय वाक् और प्राणमें एकता सम्पन्न होती है। इससे जप करनेवालोंके सब मनोरथ पूर्ण होते हैं—'**आपयिता ह वै कामानां भवति।**' (छान्दोग्य०)प्रणव शब्दका एक अर्थ स्वीकार अर्थात् '**हाँ**' भी होता है। जो इसे धारण करनेमें तत्पर है, उसके सब कार्य और इच्छाएँ स्वीकृत हो जाती हैं। अर्थात् उसे सर्वत्र 'हाँ', हाँ' यही दिखायी देता है।

संवर्गविद्या

'संवर्ग शब्दका अर्थ है ग्रहण कर लेना अथवा ग्रास कर लेना। अग्नि बुझनेपर कहाँ जाती है? सूर्य चन्द्रमा अस्त होनेपर कहाँ रहते हैं? इसका उत्तर है कि ये तीनों वायुसे ग्रस्त हो जाते हैं। इनपर वायुका आवरण पड़ जाता है। क्योंकि इनकी उत्पत्ति वायुसे है और ये तीनों ही अग्निरूप हैं। प्रकाशमय होनेके कारण सूर्य और चन्द्रके अग्नित्वमें भी सन्देह नहीं हो सकता। वेदने इनका आविर्भाव अग्निसे माना है। जल भी वायुमें लीन हो जाता है। सुषुप्तिके समय वाणी, आँखें, कान तथा मन प्राणमें व्याप्त रहते हैं। उस समय केवल श्वास—प्राणवायु चलता रहता है। दूसरी इन्द्रियोंकी क्रियाएँ भी

लुप्त, हो जाती हैं। यह प्राणमें इन्द्रियोंका संवर्ग हुआ। प्राण और वायुका संवर्ग कहाँ होता है? इनका संवर्ग परमात्मा है। यह ज्ञान जिसे हो जाता है, वह परमात्माका भक्त बन जाता है।'

एक समय शौनक और काक्षसेनि भोजन कर रहे थे। उसी समय एक ब्रह्मचारीने आकर उनसे भोजनकी भिक्षा माँगी। उन लोगोंके अस्वीकार करनेपर ब्रह्मचारीने कहा— 'जो सबका पालन करनेवाला है, जिसमें सबका संवर्ग होता है, उसे तुम लोग नहीं देखते; इसीसे अन्न नहीं दे रहे हो।' इसपर दोनों महर्षियोंने उसे अन्न देकर कहा— 'हम जानते हैं कि तुम्हारे वचनका तात्पर्य ब्रह्म है। जो सबको खाता है, जिसे कोई नहीं खा सकता, जिसमें सब लीन हो जाते हैं और जो किसीमें लीन नहीं होता, वह महामहिमशाली मेधावी ब्रह्म है, जो सबको उत्पन्न करता है।'

आत्मा देवानां जनिता प्रजाना ँ हिरण्यदँष्ट्रो बभसोऽनसूरिर्महान्तमस्य महिमानमहुरनद्यमानः॥

(छान्दोग्य० ४। ३। ७)

मधुविद्या

ब्रह्माण्डमें कौन ऐसा मनुष्य है, जो माधुर्य नहीं पसन्द करता। मधुविद्यामें जो 'मधु' शब्द है, वह मीठे पदार्थका बोधक है। मनुष्यजातिका स्वाभाविक खाद्य मीठा दूध है। परमात्मा उससे भी माधुर्यशाली हैं। उस माधुर्यकी प्राप्ति सूर्यके द्वारा हो सकती है, क्योंकि सूर्य खट्टे फलोंको पकाकर मीठा बना देता है। इसीसे उपनिषद् कहती है कि सूर्य देवताओंके मधु हैं। मधुका छाता किसी लकड़ी आदिमें लगता है। सबसे ऊपरका द्युलोक इसके लिये आश्रय है। अन्तरिक्ष छाता है और सूर्यरश्मियाँ भ्रमरोंकी पंक्तियाँ हैं। चारों वेदोंके अनुसार किये हुए कर्म पुष्प-पराग हैं। उनसे अमृतस्वरूप मोक्ष, जो कि मधु है, उत्पन्न होता है। कर्म-प्रवर्त्तक सूर्य ही मुख्यरूपसे मधु है। यदि उसकी उपासना करें तो परम मधु ब्रह्मकी प्राप्ति सहज हो जाती है।

असौ वा आदित्यो देवमधु ······वेदा ह्यमृतास्तेषा-मेतान्यमृतानि। (छान्दोग्य०)

पञ्चाग्निविद्या

जो लोग उत्तरायण सूर्यमें शरीर त्याग करते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं। उन्हें फिर लौटना नहीं पड़ता। जो दक्षिणायनमें प्राण त्याग करते हैं, वे संसारमें फिर जन्म ग्रहण करते हैं। उत्तरायणका अर्थ ज्ञानमार्ग है और दक्षिणायनका कर्ममार्ग। ज्ञानमार्गके पथिकको पंचाग्निविद्याका पूर्ण परिचय होना चाहिये। श्वेतकेतु पांचालोंकी राजसभामें गया, वहाँ उससे पाँच प्रश्न पूछे गये। परन्तु श्वेतकेतु किसीका उत्तर न दे सका। उसने वहाँसे लौटकर अपने पिता गौतम आरुणिसे कहा— 'पिताजी, आपने मुझे सब विद्याएँ नहीं सिखायीं। मै पांचाल नरपति-प्रवाहणके प्रश्नोंका उत्तर नहीं दे सका। आप मुझे उन विद्याओंका उपदेश कीजिये।' इसपर आरुणिने उन विद्याओंके सम्बन्धमें अपनी अनभिज्ञता प्रकट की। श्वेतकेतुने पुनः राजा प्रवाहणके पास जाकर उन विद्याओंका उपदेश प्राप्त किया। राजाने पंचाग्निविद्याका उपदेश किया—

यह लोक अग्नि है, इसको प्रज्वलित करनेके लिये सूर्य लकड़ी है। उसकी किरणें धूम हैं, दिन ज्वाला है, दिशाएँ अंगार हैं तथा अवान्तरदिशाएँ स्फुलिंग हैं। इस अग्निमें देवता लोग श्रद्धारूपी हविका हवन करते हैं। इस हवनसे सोमकी उत्पत्ति होती है। श्रुति कहती है कि यहाँ श्रद्धा जलस्वरूप है। अतएव देवता जलसमूह मेघरूप अग्निमें सोम-चन्द्रमाको, लोकरूप अग्निमें वृष्टिको, और वृष्टिसे उत्पन्न अन्नको पुरुषरूप अग्निमें जलाते हैं। उससे वीर्य उत्पन्न होता है। उसका हवन स्त्रीरूप अग्निमें होता है। मनुष्योंकी उत्पत्तिमें लोक, मेघ, पुरुष और स्त्री कारण हैं। पुरुष और स्त्रीको चिताकी आग भस्म करती है। यही पाँच अग्नियाँ हैं। इन पाँचोंमें परमात्मा व्याप्त हैं। इनके द्वारा जो परमात्माको जानता है, वह नित्यमुक्त हो जाता है। वेदान्तमें इस पंचाग्नि-विद्याका बड़ा विस्तार है; संक्षेपमें यहाँ उसका उल्लेख किया गया है। इसका ज्ञाता पुनरावृत्तिहीन मुक्तिको प्राप्त होता है—

पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः॥

(बृहदारण्यक० ६।२।१५)

उपकोसलकी आत्मविद्या

उपकोसल जाबालि सत्यकामके पास बहुत दिनोंतक शिष्यभावसे रहा, परन्तु महर्षिने उसे ब्रह्मतत्त्वका उपदेश नहीं किया। उनके बाहर चले जानेपर मानसिक व्याधिसे पीड़ित होकर उपकोसलने भोजन और भाषणका परित्याग कर दिया। इसपर सत्यकामकी अग्नियोंने करुणापरवश होकर उपदेश किया कि **'प्राणो ब्रह्म', कं ब्रह्म, खं**

ब्रह्म।' इसपर यह सन्देह होता है कि प्राणवायु जो कि अचेतन है, क अर्थात् सुख जो कि परिमित है, और ख अर्थात् आकाश जो कि शून्य है—ये भला, ब्रह्म कैसे हो सकते हैं? उस वचनका यह अभिप्राय नहीं है। जिस परमात्माके बलसे प्राण अपना कर्म करते हैं , वही प्राण है। वह आकाशके समान व्यापक और असीम आनन्दस्वरूप है। इस विद्यामें लौकिक प्राण, सुख और आकाशका वर्णन नहीं है। इसके पश्चात् अग्नियोंने पृथक्-पृथक् उपदेश किया और जाबालि सत्यकामने लौटकर और भी उपदेश किया। इन्हीं सब विद्याओंका नाम उपकोसल-विद्या है। जो ईश्वरको विद्योक्त-रूपमें समझता है, वह उसकी उपासना करता है। यह उपासना मननसे दृढ़ होती है—'**प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म।**'

शाण्डिल्यविद्या

शण्डिल्य महर्षि भक्तिशास्त्रके आचार्य थे। उनका बनाया हुआ शाण्डिल्यसूत्र संस्कृत-साहित्यका आदरणीय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थमें भक्तिका वर्णन करते हुए कहा गया है कि परमात्माका मुख्य गुण करुणा है—'**मुख्यं हि तस्य कारुण्यम्।** (शाण्डिल्यसूत्र)' महर्षिका कथन है कि सारा ब्रह्माण्ड ब्रह्म है, उपासनामें यह भावना रखनी चाहिये। इसका कारण यह है कि परमात्मा '**तज्जलान्**' है। अर्थात् यह संसार उसीसे उत्पन्न होता है उसीमें लीन होता और उसीसे प्रतिपालित होता है। पुरुष अध्यवसायमय अर्थात् भावनामय है। उसकी जैसी भावना होगी, वैसी ही उसे गति मिलेगी। परमात्मा इच्छामय, प्रज्ञाचैतन्यस्वरूप, सत्यसङ्कल्प, सर्वगत, सर्वकर्त्ता तथा रस-गन्धोंका आदि स्थान है। जितनी अच्छी अभिलाषाएँ हैं, सब उसीकी प्रेरणासे होती है। इन्द्रियोंके विना जो सब कुछ करता है, जो सबसे महान् तथा सबसे सूक्ष्म है, वह दयालु हमलोगोंके हृदयमें ही विराजमान है। यदि हमलोग उसका आश्रय लें तो उसे अवश्य प्राप्त कर सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत·······'
'एतद् ब्रह्मैनमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मीति।'

(छान्दोग्य० अ० ३ खं० १४। १, ४)

दहरविद्या

जैसे इस लोकमें पुरुषकारसे पैदा की हुई सम्पत्ति नष्ट हो जाती है, वैसे ही पुण्यबलसे उत्पन्न उत्तमोत्तम पारलौकिक सुख भी नष्ट हो जाता है। जिसे परमात्माका ज्ञान हो गया है, उसके सुख नित्य होते हैं। वे कभी नष्ट नहीं होते। परमात्माका ज्ञान उपासनाके विना नहीं होता उपासनाका अर्थ है समीप रहना। जिसका कोई पता-ठिकाना ही नहीं उसके समीप कोई कैसे रहे? श्रुति कहती है कि 'मनुष्यका शरीर ही ब्रह्मपुर है, उसका दहर-हृदय-कमल भगवान्के निवासस्थान है; उसीसे परमात्माको खोजो। वहीं उसका साक्षात्कार करो। यह मत सोचो कि सबसे बड़े भगवान् इतने छोटे-से स्थानमें कैसे रहेंगे।' जितना बड़ा यह बाहरका आकाश है, उतना ही बड़ा—बल्कि उससे भी बड़ा हृदयाकाश है। उसमें अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, वायु आदि सभी है। उसमें रहनेवाले परमेश्वर शरीरके धर्मोंका स्पर्श नहीं करते। जरा-मृत्यु, क्षुधा-पिपासा उनका स्पर्श नहीं कर सकतीं बाहरकी अभिलाषाएँ वहाँ पूर्ण रहती हैं। कोई दु:ख-शोक वहाँ नहीं सताता।

यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्।

(छान्दोग्य० ८। १। १)

भूमविद्या

जगत्के प्राणी जो कुछ हैं, उसका उद्देश्य सुख है। सुखकी जानकारीके विना सुख नहीं हो सकता। यह सभी जानते हैं कि क्षणस्थायी अल्प वस्तुमें सुख नहीं होता। जितने पदार्थ नाशवान् हैं, अल्प हैं, वे किसी-न-किसी रूपमें दु:खमय हैं। सबसे महान्-सबसे बड़ी वस्तु ईश्वर है, वही सुख है। उसका स्वरूप आनन्दमय है—'**आनन्दो ब्रह्मणो रूपम्।**' यहाँ एक बात विचार करने योग्य है कि हम जगत्में बहुत कुछ खाते-पीते, देखते-सुनते हैं; परन्तु तृप्ति नहीं होती। इसका कारण क्या है? जगत्की वस्तुएँ परिमित हैं, अल्प हैं। परमात्मा सबसे बड़े—असीम हैं, उनके मिल जानेपर दूसरे किसी पदार्थकी इच्छा नहीं होती और पूर्णता आ जाती है। क्योंकि सब वस्तुओंकी स्थिति परमात्माके सहारेसे ही है। सब वस्तुएँ विनाशशील हैं और परमात्मा अमृतस्वरूप भूमा (अनन्त) है।

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्। भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः। (छान्दोग्य० ७। २३। १)

दीर्घायुष्यविद्या

जो मनुष्य चौबीस, चौवालीस अथवा अड़तालीस वर्ष-तक ब्रह्मचर्यका पालन करके यज्ञादि करते हैं, वे नीरोग रहते हुए सौ वर्षपर्यन्त जीवित रहते हैं। जो

ब्रह्मज्ञानी उपासक हैं, उनकी मुत्यु उनकी इच्छाके अधीन होती है। महिदास नामके एक उपासक ज्ञानी हो गये है, वे सोलह सौ वर्षतक जीवित रहे।

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः……… स ह षोडशं वर्षशतमजीवत् (छान्दोग्य०)

जो बहुत दिनोंतक जीवित रहना चाहते हैं, उन्हें ब्रह्मज्ञानरूप उपासना करनी चाहिये।

मन्थविद्या

सिद्ध अथवा शरण प्रपन्न हो जानेपर धनकी आवश्यकता नहीं होती। परन्तु साधनावस्थामें उसकी आवश्यकता होती है। तदर्थ मन्थाख्य कर्म किया जाता है। इससे धन प्राप्त होता है। उस कर्ममें ईश्वरसे प्रार्थना की जाती है कि—'हे अग्निस्वरूप देव भगवन्! सब देवता विपरीत होकर मेरे अभिजयों (सफलताओं)-को नष्ट कर देते हैं। मैं उनकी तृप्तिके लिये आहुति देता हूँ' अच्छे मुहूर्तमें दुग्धपायी रहकर कुशकण्डिका करे किसी और औषधियों तथा फलोंसे हवन करें। बृहदारण्यकोपनिषद्‌के **'ज्येष्ठाय स्वाहा, श्रेष्ठाय स्वाहा'** इत्यादि मन्त्रोंसे आहुति देनी चाहिये।

जिसको मोक्षप्राप्तिकी इच्छा है, उसको किसी कामनासे ईश्वरकी उपासना नहीं करनी चाहिये। सकाम उपासना तो मोक्षमें विघ्नकारक है। भगवान् निष्काम कर्मसे प्रसन्न होते हैं। जबतक हृदयमें कामनाएँ भरी हुई है, तबतक परमात्माके लिये स्थान कहाँ है? कामनादूषित हृदयके सिंहासनपर परम पवित्र परमात्मा कैसे विराजमान होंगे? इसीसे बृहदारण्यकोपनिषद् कहती है—

'योऽकामो निष्काम आप्तकामः।'

जो अकाम है, निष्काम है, आप्तकाम है, वही भगवत्प्राप्तिका अधिकारी है।

दहरविद्या

(लेखक—महामहोपाध्याय डॉ० श्रीगंगानाथजी झा, एम्० ए०, डी० लिट्०, एल्-एल्० डी०)

यद्यपि तत्त्वतः देश-कालदिभेदशून्य, सत् एक, अद्वितीय ब्रह्मात्ममात्र यह जगत् है, तथापि इस परम तत्त्वका समझाना तथा समझना मन्दबुद्धि मध्यमाधिकारियोंकी शक्तिके बाहर है। पर है इसका समझना आवश्यक, विना इसके ज्ञानके परम-पुरूषार्थसिद्धि असम्भव है। इसलिये मध्यमाधिकारियोंके उपकारार्थ श्रुति-स्मृति-पुराणादि शास्त्रोंमें नाना प्रकारकी विद्याएँ विहित पायी जाती हैं। इन नाना प्रकारोंमें परस्परविरोध नहीं समझना चाहिये। परस्पर विरुद्ध प्रकारविधायक शास्त्रोंका प्रामाण्यग्रह नहीं हो सकता। ये नाना प्रकार केवल विभिन्न अधिकारी पुरुषोंके हितार्थ वर्णित हैं। एक ही उपासना या साधनाका प्रकार सब लोगोंका साध्य या कल्याणकर नहीं हो सकता। विभिन्न सामर्थ्यवान् अधिकारियोंके कल्याणार्थ तथा एक ही साधकके हित क्रमिक—सीढ़ीरूपसे—नाना साधन वर्णित हैं।

सन्मार्गस्थ अधिकारी भी साधारणतः क्रमिक ही प्रकारसे परम तत्त्वका सम्यक् ज्ञान सम्पादन कर सकता है। इन्हीं साधन प्रकारोंमें एक है 'दहरविद्या' इस विद्याका विवरण छान्दोग्योपनिषद्‌के आठवें अध्यायमें पाया जाता है। इसका प्रथम मन्त्र है—**अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म**' इत्यादि। इस मन्त्रमें एक असाधरण पद **'दहरम्'** पाया गया, इसीसे प्रायः इस समस्त प्रकरणका नाम साम्प्रदायिकोंमें 'दहर' प्रसिद्ध हुआ और इसमें जिस विद्याका विवरण है, उसकी संज्ञा हुई दहरविद्या।

(१) शरीरके भीतर एक दहर अर्थात् छोटा कमल है, इस कमलके भीतर 'आकाश' है; इस 'आकाश' के भीतर जो वर्तमान है, वह 'अन्वेष्टव्य' है। अर्थात् उस वस्तुविशेषके साक्षात्कारके हेतु यत्न कर्तव्य है। इस प्रयत्नके उपाय हैं—गुरुका आश्रय लेना, उनके उपदेशोंको सुनना, उनका मनन करना, तदनुसार ध्यान करना।

(२) यह वस्तुविशेष कौन-सी है, जिसका अन्वेषण तथा साक्षात्कार अपेक्षित है? उक्त हृदयकमलाकाशके भीतर अन्तःकरण है—अनेक प्रयत्नसे जब यह अन्तःकरण विशुद्ध होता है, तब ऐसे अन्तः-करणमें विज्ञानज्योतिःस्वरूपाभास ब्रह्म उपलब्ध होता है। पर यह होता है उन्हीं योगयुक्त महात्माओंको, जिनकी इन्द्रियाँ संयत हैं। यद्यपि ब्रह्म है सर्वव्यापी, तथापि योगीको अपने हृदयकमलमें भासित होता है। यह 'ब्रह्म' या 'आत्मा' है 'अपहतपाप्मा, विजर, विमृत्यु, विशोक, अजिघित्स, अपिपास, सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प।'

(३) जो मनुष्य उक्त प्रकारसे गुरु-मुखसे श्रवण तथा स्वयं मनन-निदिध्यासनद्वारा उक्त आत्माको स्वसंवेद्य नहीं कर पाता और वैसे ही शरीर-त्याग करता है, उसको पित्रादि लोकमें अथवा पृथिवीपर भी पुनर्जन्म लेनेपर स्वातन्त्र्य नहीं होता। और जिसने उक्त श्रवण-मननादिद्वारा आत्माको स्वसंवेद्य कर लिया, वह शरीर-त्यागके अनन्तर सर्वथा स्वतन्त्र और ब्रह्मवत् सत्यकामादिविशिष्ट हो जाता है।

(४) इस 'दहरविद्या' का अभिप्राय है कि इस प्रकारसे जो प्रयत्न करता है, उसके हृदयकमलमें ही परमब्रह्म भासित होता है और वह स्वहृदयस्थ ब्रह्मरूप स्वर्गलोकको प्राप्त होता है। यद्यपि सुषुप्तिकालमें सभी मनुष्य इस हृदयकमलस्वरूप ब्रह्मसम्पत्तिको पाते हैं, तथापि यह सम्पत्ति चिरस्थायिनी नहीं होती। जागनेपर लुप्तप्राय हो जाती है। 'दहरविद्या' द्वारा जो ब्रह्मसम्पत्ति प्राप्त होती है, वह ज्ञानीको ज्ञानपुर:सर श्रवणादिद्वारा होती है; वह चिरस्थायिनी होती है।

(५) यही ब्रह्मसम्पत्ति शरीरपातके अनन्तर जीवको उस अवस्थामें प्राप्त करती है, जिसको 'सम्प्रसाद' या 'आनन्द' कहा है; इसमें आत्मा स्वयंज्योति:स्वरूप होता है—सच्चिदानन्दात्मक आत्माका ज्ञान होता है। इसी आत्माका नामान्तर है 'ब्रह्म', सत्य।

(६) यही 'आत्मा' ईश्वररूपेण समस्त जगत्, वर्णाश्रमादि,क्रियाकारक फलादिका 'विधाता'—नियन्ता है। यह ईश्वरकर्तृक 'विधान' या 'नियमन' न हो तो जगत् इतस्ततः नष्ट-भ्रष्ट हो जाय। यह 'विधाता' ईश्वर देश-काल-जरा-मरण-शोक-पाप-पुण्यादिसे परे हैं।

(७) इस 'आत्मा'के ज्ञानका प्रधान साधन 'ब्रह्मचर्य', है। शास्त्रोंमें जहाँ-जहाँ 'यज्ञ' को 'परमपुरुषार्थसाधन' कहा है, वहाँ 'यज्ञ' पदसे ब्रह्मचर्य ही विवक्षित है। क्योंकि 'यज्ञ' भी एक प्रकारका ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचर्यरूप साधनसे जो ईश्वरकी आराधना करता है, उसीको 'आत्मज्ञान' होता है। इसी तरह जितने व्रत-उपवास इत्यादि हैं, सब 'ब्रह्मचर्य' ही हैं। इसी तरह 'ब्रह्मचर्य' 'आत्मज्ञान'का परम साधन है। इसीलिये इस ब्रह्मचर्यके रक्षणमें यत्नवान् होना चाहिये। इसीके द्वारा 'ब्रह्मलोक' प्राप्त होता है।

(८) इस 'दहरविद्या'का सारांश यही हुआ कि परमपुरुषार्थ 'आत्मज्ञान' के लिये ब्रह्मचर्यका अनुष्ठान परम आवश्यक है। ब्रह्मचर्यका सम्यक् अनुष्ठान और श्रवण-मनन-निदिध्यासनपूर्वक हृदयकमलाकाशमें ज्योतिका साक्षात्कार प्राप्त करना ही मध्यमाधिकारियोंके हेतु परम-पुरुषार्थसाधन है।

सदा सुहागिन

सदा सुहागिन नारि सो, जाके राम भतारा।
मुख माँगे सुख देत हैं, जगजीवन प्यारा॥
कबहुँ न चढ़ै रंडपुरा, जानै सब कोई।
अजर अमर अबिनासिया, ता को नास न होई॥
नर देंही दिन दोय की, सुन गुरजन मेरी।
क्या ऐसों का नेहरा, मुए बिपति घनेरी॥
ना उपजै ना बीनसै, संतन सुखदाई।
कहै मलूक यह जानिके, मैं प्रीति लगाई॥

—मलूकदासजी

दहरविद्या-विमर्श

(लेखक—पं० श्रीश्रीधराचार्यजी शास्त्री वे०भू०, वे०ती०, का०ती०, वे०शि०)

परम दयालु परमात्माने अधिकारोंके अनुरूप साधन-प्रक्रियामें अधिकारीका भिन्न-भिन्न प्रकारसे निरूपण किया है। श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार साधकका स्वरूप चार प्रकारसे वर्णित है—आर्त्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी। इनमेंसे पहले दो प्रकारके साधक ऐहिक फलकी लिप्सामें ही निमग्न होकर आगे नहीं बढ़ना चाहते। जिज्ञासु एवं ज्ञानी—ये दो प्रकारके साधक प्रकृतिरचित पदार्थोंका अवगाहन करते हुए वास्तविक पुरुषार्थकी गवेषणामें संलग्न होकर बाह्य जगत्के घटाटोपसे निकलकर आन्तर विज्ञानमें प्रवेश करते हैं। अहा! उस दयासिन्धु प्रभुने प्रथम ही हमारे आन्तर विज्ञानके साधन वेदोंके द्वारा संसारमें प्रकट कर दिये हैं। वेद ही इस अर्थको बतलाते है कि जिस प्रभुने प्रथम ब्रह्माकी रचना की और ब्रह्माके लिये वेदोंका उपदेश किया, आत्म-तत्त्वके प्रकाशक उस महाप्रभुके चरणोंकी शरण मोक्षाधिकारीको अवश्य प्राप्त करनी चाहिये—

यो ब्रह्माणं बिदधाति पूर्वं
यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै।
तꣳ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

यद्यपि बाह्य पदार्थोंके लाभसे क्षणिक सुखका अनुभव होता है, तथापि स्थिर एवं अनन्त सुख उस परमप्रभुके विज्ञानकी प्राप्ति होनेपर ही होगा। यही आन्तर विज्ञान है। जैसे-जैसे आन्तर विज्ञानका विकास होगा, वैसे-ही-वैसे यह अधिकारी आनन्दसमुद्रकी प्रगाढ़ तरंगोंमें क्रीड़ा करने लगेगा। किन्तु इस अधिकारीका उस विज्ञानकी तरफ झुकाव तभी होगा जब यह प्राकृत पदार्थोंको नश्वर तथा क्षणिक समझ लेगा, साथ-ही-साथ अपनी विवेकदृष्टिद्वारा यह भी अनुभव करेगा कि वास्तवमें हमारे किये हुए कर्मोंसे ध्रुव फल नहीं प्राप्त होगा। इस प्रकार प्राकृत पदार्थोंसे घृणा होनेपर उसे वैराग्यकी प्राप्ति होगी। वैराग्यकी प्राप्ति हो जानेपर यह अधिकारी अनन्त, शाश्वतिक सुखानुभवका लक्ष्य करके श्रीगुरुदेवके सन्निधानमें उपस्थित होता है। परमकारुणिक श्रीगुरुदेव इसकी योग्यताकी आलोचना कर इसे आन्तर विज्ञानके अनेक साधनोंमेंसे किसी एक साधनाका उपदेश देते हैं। इसी अर्थकी पुष्टि निम्नलिखित वेदान्तवाक्य करते हैं—

'अन्तवदेवास्य तद्भवति।' (बृ०उ०)
'न ह्यध्रुवैः प्राप्यते तत्।' (कठ०)
परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥
तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्
प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं
प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥
(मुण्डक० १।२।१२, १३)

उपनिषदोंमें सामान्यतः ऐहिक फल तथा मोक्षप्राप्तिके लिये उपासनाओंका विधान है। मुमुक्षु अधिकारी ऐहिक ऐश्वर्यादि फलकी साधनरूपा उपासनाओंकी उपेक्षा कर परब्रह्मविज्ञानकी साधनभूता उपासनामें ही संलग्न होकर अपने लक्ष्यको प्राप्त करता है। वह उपासना भी भिन्न-भिन्न रूपसे वेदान्तोंमें निर्दिष्ट है—जैसे सद्विद्या भूमविद्या, दहरविद्या, उपकोसलविद्या, शाण्डिल्यविद्या, वैश्वानरविद्या, आनन्दमयविद्या, अक्षरविद्या, आदि-आदि। प्रकृतमें पाठकोंका ध्यान दहरविद्याके स्वरूपकी ओर आकृष्ट किया जाता है। दहर-विद्याका उपासक जबतक पूर्णरूपसे दहरविद्याके स्वरूपका निर्णय न कर लेगा, तबतक अपना लक्ष्य सिद्ध नहीं कर सकता। स्वरूपका निर्णय किये विना ही उपासनाका ग्रहण करनेपर लक्ष्यकी प्राप्ति न होकर उल्टे अनर्थकी ही प्राप्ति होगी। भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्य ब्रह्मसूत्रभाष्यमें जिज्ञासाधिकरणके अन्तमें इसी प्रकार उल्लेख करते हैं—

'तत्राविचार्य यत्किंचित्प्रतिद्यमानो निःश्रेयसात्प्रति-हन्येतानर्थं चेयात्।'

भामतीकार वाचस्पतिमिश्र इस भाष्यका स्पष्टार्थ इस प्रकारसे करते हैं—

'तत्त्वज्ञानाच्च निःश्रेयसाधिगमो नातत्त्वज्ञानाद्भवितुमर्हति। अपि चातत्त्वज्ञानान्नास्तिक्ये सत्यनर्थप्राप्तिरित्यर्थः।'

'तत्त्वज्ञानसे नि:श्रेयस (परम कल्याण) की प्राप्ति होती है,तत्त्वज्ञानके बिना नहीं होती। तत्त्वका ज्ञान न होनेपर नास्तिकताका भाव उदय होनेसे अनर्थकी प्राप्ति हो सकती है।'

सामान्यरूपसे जाना हुआ अर्थ संशय तथा विपरीत ज्ञानको दूर नहीं कर सकता, इसलिये उस अर्थका निश्चय करनेके लिये वेदान्तवाक्योंका विचार करना चाहिये। इसी अभिप्रायको लेकर भगवत्पाद श्रीरामानुजाचार्य शारीरकमीमांसाभाष्यमें जिज्ञासाधिकरणका संकलन करते हुए इस प्रकार उल्लेख करते हैं—

'आपातप्रतीतोऽप्यर्थः संशयविपर्ययौ नातिवर्तते, अतस्तस्मिन्निर्णयाय वेदान्तवाक्यविचारः कर्त्तव्यः।'

ऊपरके लेखेसे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि साधक जबतक अपने साधनका निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त न करेगा, तबतक स्वाभीष्ट लक्ष्यकी सिद्धि नहीं हो सकती। अत: दहरविद्याके स्वरूपका निर्णय करना परमावश्यक है।

'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्।'

—छान्दोग्य उपनिषद्के अष्टम अध्यायान्तर्गत प्रथम अनुवाकके प्रथम ब्राह्मणमें इस प्रकारका वाक्य मिलता है। अब इस वाक्यमें प्रथम यह संशय होता है कि दहराकाशसे अन्य ही कुछ अन्वेष्टव्य तथा विजिज्ञासितव्य है, अथवा दहराकाश ही अन्वेषण तथा जिज्ञासाका विषय है। '**तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्**'—इस वाक्यसे तो यह प्रतीत होता है कि दहराकाशमें स्थित अन्य ही कोई पदार्थ अन्वेष्टव्य है। '**ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः**' इस वाक्यमें हृदयकमलके भीतर दहराकाशकी स्थिति बतायी गयी है। वह दहराकाश क्या भूताकाश है या जीवात्मा है, अथवा परमात्मा है? 'आकाश' और 'ब्रह्मपुर' इन दो शब्दोंका सान्निध्य होनेसे इस प्रकारके सन्देहकी लहरें हृदयमें उठती हैं। इसके अतिरिक्त 'आकाश' शब्दका प्रयोग भूताकाश तथा परमात्मा दोनोंके अर्थमें पाया जाता है। 'ब्रह्मपुर' शब्दमें 'ब्रह्म' शब्द भी जीव तथा परमात्मा दोनोंका उपस्थापन करता है। इसीसे संशयकी उत्पत्ति होती है। 'आकाश' शब्दकी रूढि अर्थात् प्रसिद्धि भूताकाशके अर्थमे पायी जाती है। इसलिये '**योगाद्रूढिर्बलीयसी**' इस न्यायके अनुसार 'आकाश' शब्दसे भूताकाशका ही ग्रहण करना चाहिये, अथच अन्यान्य वाक्योंका समन्वय भी रूढ़िके अनुसार ही करना चाहिये। अथवा जीवात्माके कर्मद्वारा यह शरीर प्राप्त होता है, इसलिये '**ब्रह्मपुरे**' शब्दका अर्थ जीवात्माका शरीर करते हुए उस शरीरमें अपने कर्म भोगनेके लिये आया हुआ जीवात्मा ही 'आकाश' शब्दका वाच्य है। इसलिये जीवस्वरूपका ही अन्वेषण प्राप्त होता है। इस पक्षमें जीवात्माका स्वरूप अणु होनेसे भीतर रहनेमें भी कोई अनुपपत्ति नहीं होती। इस प्रकार 'आकाश' शब्दसे भूताकाश या जीवात्मा दोनों अर्थोंकी उपस्थिति होनेपर निर्णयात्मक उत्तर कहा जाता है।

'**दहर उत्तरेभ्यः**' यह सूत्र साक्षात् नारायणावतार भगवान् वेदव्यासका रचा हुआ है। उत्तरवाक्योंकी मीमांसा करनेसे यह 'दहर' शब्द परब्रह्म श्रीनारायणका ही बोधक है—यह सूत्रका संक्षिप्त अर्थ होता है। जिस आकाशकी गवेषणा की जाती है, वह 'दहर' पदसे बोध्य भूताकाश नहीं हो सकता। और न जीवात्मा ही हो सकता है, क्योंकि इसी प्रकरणमें आगेके वाक्य इस दहराकाशको भूताकाशकी उपमा देते है। एक ही पदार्थ उपमान और उपमेय दोनों नहीं होता। जैसे नेत्रोंको कमलकी उपमा दी जाती है, अत: कमल भिन्न वस्तु है और नेत्र भिन्न वस्तु है। यहाँ कमल उपमान है और नेत्र उपमेय है। इसी तरह इस प्रकरणमें यदि दहराकाशका अर्थ भूताकाश किया जायगा तो उसे भूताकाशकी जो उपमा दी गयी है, उसकी संगति न होगी। यदि यह कहा जाय कि एक ही वस्तुके बाह्य एवं आन्तर उपाधिसे दो भेद मानकर यहाँ भी उपमान-उपमेयभावका निर्वाह कर लिया जायगा, तो ऐसा कहना भी उचित न होगा। क्योंकि काल्पनिक भेद वहींपर माना जाता है, जहाँ और किसी प्रकारसे गति नहीं होती। अथच काल्पनिक बाह्य एवं आन्तर भेद माननेपर भी बाह्याकाशको आन्तर आकाशकी उपमा नहीं दी जा सकेगी; क्योंकि आन्तर आकाश अल्प है, परिच्छिन्न है और बाह्य आकाश अपरिच्छिन्न, व्यापक है। इसलिये यह मानना पड़ेगा कि दहराकाश प्रसिद्ध आकाश नही है किन्तु परमात्मा ही है; क्योंकि वेदान्तवाक्योंमें बार-बार परमात्माको आकाश-की उपमा दी जाती है—'**आकाशवत् सर्वगतश्च गूढः**।' अथच 'द्युलोक और पृथिवीलोक—ये दोनों ही दहराकाशके भीतर ही रहते हैं' इस कथनमें भी दहराकाश परमात्माका ही बोधन करता है। अथच निरवधिक आत्मत्व एवं अपहतपाप्मत्वादि अष्ट गुण भूताकाशमें न रहकर परम प्रभु नारायणको ही अपना

आधार बतलाते हैं, इसलिये भी दहराकाशसे भूताकाशका बोधन नहीं हो सकता। 'दहराकाश' शब्दके जीवात्माका बोधन करनेपर सर्वलोकाधारत्व, एवं आकाशकी उपमा तथा निरवधिक आत्मत्वादि सत्यसङ्कल्पान्त गुणगणोंका आधारत्व नहीं बनेगा। जीवात्माका स्वरूप अणु है; '**आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः**' इस वाक्यमें जीवात्माको आराग्र (सूएकी नोंक) की उपमा दी गयी है। अथच '**ब्रह्मपुरे**' इस पदमें मुख्य वृत्तिसे 'ब्रह्म' शब्द जीवात्माका बोधक न होकर परमात्माका ही बोधन करता है। इसलिये जीवात्मा भी 'दहराकाश' का वाच्य नहीं हो सकता। किन्तु साक्षात् परमात्मा ही 'दहराकाश' का अभिधेय है। भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्य इसी प्रकार आशङ्का कर समाधान करते हैं। '**दहर उत्तरेभ्यः**' इस अधिकरणकी रचना करते हुए वे शङ्कोपस्थापक भाष्यका उल्लेख इस प्रकार करते हैं-

'**अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः, तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्, तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्।' (छा० ८।१।१) इत्यादि वाक्यं समाम्नायते। तत्र योऽयं दहरे हृदयपुण्डरीके दहर आकाशः श्रुतः, स किं भूताकाशोऽथवा विज्ञानात्माथवा परमात्मेति संशय्यते। कुतः संशयः? आकाशब्रह्मपुरशब्दाभ्याम्। आकाशब्दो ह्ययं भूताकाशे परस्मिँश्च प्रयुज्यमानो दृश्यते। तत्र किं भूताकाश एव दहरः स्यात्किं वा पर इति संशयः। तथा ब्रह्मपुरमिति किं जीवोऽत्र ब्रह्मनामा तस्येदं पुरं शरीरं ब्रह्मपुरमथवा परस्यैव ब्रह्मणः पुरं ब्रह्मपुरमिति। तत्र जीवस्य परस्य वान्यतरस्य पुरस्वामिनो दहराकाशत्वे संशयः। तत्राकाशशब्दस्य भूताकाशे रूढत्वाद्भूताकाश एव च दहरशब्द इति प्राप्तम्।""अथवा जीवो दहर इति प्राप्तम्; ब्रह्मपुरशब्दात्। जीवस्य हीदं पुरं सच्छरीरं ब्रह्मपुरमित्युच्यते; तस्य स्वकर्मणेपार्जितत्वात्"" ।**

भगवत्पाद श्रीरामानुजाचार्य दहराधिकरणकी रचनाका आयोजन करते हुए '**अथ यदिदम्**' इस विषयवाक्यका उपन्यास करके सन्देहका उद्घाटन भाष्यद्वारा इस प्रकार करते हैं—

तत्र सन्देहः—किमसौ हृदयपुण्डरीकमध्यवर्त्ती दहराकाशो महाभूतविशेषः, उत प्रत्यगात्मा, अथ परमात्मेति। किं तावद्युक्तम्? महाभूतविशेष इति। कुतः? आकाशशब्दस्य भूताकाशे ब्रह्मणि प्रसिद्धत्वेऽपि भूताकाशे प्रसिद्धिप्रकर्षात्'तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्' इत्यन्वेष्टव्यान्तरस्याधारतया प्रतीतेश्च।

आचार्यवर्य श्रीभास्कराचार्यविरचित वेदान्तसूत्रभाष्यमें भी उसी छान्दोग्य श्रुतिका उपन्यास करते हुए भाष्यकार आगे इस प्रकार उल्लेख करते हैं—

'**दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इत्यत्र सन्देहः—किं भूताकाशः, किं वा जीवोऽथ पर एवेति। भूताकाश इति ब्रूमः प्रसिद्धेः। ननु च यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश इत्येकस्यैवोपमानोपमेयभावो नोपपद्यते। नायं विरोधो बाह्याभ्यन्तरकृतं भेदमङ्गीकृत्योपपत्तेः। जीवो वा स्यात्, अन्तर्निवासित्वात्, दहरश्रुत्युपपत्तेश्च। दहरमल्पम्। आराग्रमात्रश्च जीव। तथा हि श्रुतिः- आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः।'**

भगवत्पाद श्रीनिम्बभास्कराचार्य अपने वेदान्तपारिजात-सौरभ नामक भाष्यमें '**अस्मिन् ब्रह्मपुरे**', इस वाक्यका उद्धरण करते हुए पूर्वपक्षका उत्थापन न करके समाधानका उल्लेख करते हैं—

इति श्रुत्या प्रोक्तो दहराकाशः परमात्मा भवितुमर्हति। कुतः? उत्तरेभ्यः 'यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः। उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते, एष आत्मापहतपाप्मा विजरः' इत्यादिभिर्वक्ष्यमाणा ये परमात्मासाधारणधर्मास्तेभ्यो हेतुभूतेभ्यः।

पाठकोंका मन शङ्कागर्भित भाष्योंका उल्लेख करनेसे विरसताको प्राप्त हुआ होगा। विरसताके ज्ञाता श्रीनिम्बार्क-भगवान्ने प्रथम ही शङ्काग्रन्थको अवसर न देकर पाठकोंका मन प्रफुल्लित करनेके लिये कुछ एक उत्तर-वाक्योंका उपन्यास कर दहरविद्याका प्रमेय एवं ध्येय अनेक कल्याणगुण-राशि साक्षात् परमात्मा ही हैं, ऐसा प्रतिपादन किया है।

श्रीशङ्कराचार्यका उत्तरभाष्य इस प्रकार है—

परमेश्वर एवात्र दहराकाशो भवितुमर्हति, न भूताकाशो जीवो वा। कस्मात्? उत्तरेभ्यो वाक्यशेषगतेभ्यो हेतुभ्यः। तथा हि—अन्वेष्टव्यतयाभिहितस्य दहरस्याकाशस्य 'तं चेद् ब्रूयुः' इत्युपक्रम्य 'किं तदत्र विद्यते 'यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' इत्येवमाक्षेपपूर्वकं प्रतिसमाधानवचनं भवति 'स ब्रूयाद्यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः। उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' इत्यादि। तत्र पुण्डरीकदहरत्वेन प्राप्तदहरत्वस्याकाशस्य

प्रसिद्धाकाशौपम्येन दहरत्वं निवर्तयन् भूताकाशत्वं दहरस्याकाशस्य निवर्तयतीति गम्यते। यद्यप्याकाशशब्दो भूताकाशे रूढः, तथापि तेनैव तस्योपमा नोपपद्यते—इति भूताकाश-शङ्का निवर्तिता भवति। नन्वेकस्याप्याकाशस्य ……। 'एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' इति चात्मत्वापहतपाप्मत्वादयश्च गुणा न भूताकाशे सम्भवन्ति। यद्यप्यात्मशब्दो जीवे सम्भवति तथापीतरेभ्यः कारणेभ्यो जीवाशङ्कापि निवर्तिता भवति, न ह्युपाधिपरिच्छिन्न-स्याराग्रोपमितस्य जीवस्य पुण्डरीकवेष्टनकृतं दहरत्वं शक्यं निवर्तयितुम्। ब्रह्माभेदविवक्षया जीवस्य सर्वगतत्वादि विवक्ष्येतेति चेत्, यदात्मतया जीवस्य सर्वगतत्वादि विवक्ष्येत तस्यैव ब्रह्मणः साक्षात्सर्वगतत्वादि विवक्ष्यतामिति युक्तम्।'

अहा! आचार्य चरणने सरल संस्कृतभाषामें भूताकाश और जीवाकाशकी प्राप्ति नहीं हो सकती, किन्तु निखिलजगदाधार अखिलकल्याणगुणाकर परमेश्वर ही दहरशब्दप्रतिपाद्य है—ऐसा पूर्वापर वाक्योंकी आलोचना करते हुए स्पष्टरूपसे दिखलाया है। आगे उन्होंने वाक्योंकी छानबीन और भी विशेषरूपसे की है, किन्तु विस्तार-भयसे उस भाष्यका उद्धरण नहीं किया जाता। अन्तिम पर्यवसान यही है—'**स चोक्तेभ्यो हेतुभ्यः परमेश्वर इति।**'

भगवत्पाद श्रीरामानुजाचार्यका उत्तरभाष्य इस प्रकार है—

'दहर उत्तरेभ्यः।' दहराकाशः परं ब्रह्म; कुतः? उत्तरेभ्यो वाक्यगतेभ्यो हेतुभ्यः। 'एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' इति निरुपाधिकमात्मत्वमपहतपाप्मत्वादिकं सत्यकामत्वं सत्यसङ्कल्पत्वञ्चेति दहराकाशे श्रूयमाणा गुणा दहराकाशं परं ब्रह्मेति ज्ञापयन्ति। 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येताँश्च सत्यान् कामाँस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' इत्यादिना 'यं कामं कामयते सोऽस्य सङ्कल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते' इत्यन्तेन दहराकाश-वेदिनः सत्यसङ्कल्पत्वप्राप्तिश्चोच्यमाना दहराकाशं परं ब्रह्मेत्यव-गमयति। 'यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽनतर्हृदय आकाशः' इत्युपमानोपमेयभावश्च दहराकाशस्य भूताकाशत्वे नोपपद्यते। हृदयावच्छेदनिबन्धन उपमानोपमेयभाव इति चेत्, तथा सति हृदयावच्छिन्नैस्य द्यावापृथिव्यादिसर्वाश्रयत्वं नोपपद्यते।'

यद्यपि आचार्यचरणने आगेके भाष्यमें विशेषरूपसे पूर्वापर वाक्योंकी आलोचना की है और पूर्वपक्षकी विशेष शङ्काओंका उपस्थापन कर प्रकरणगत वाक्योंकी अर्थमीमांसाद्वारा उनका खण्डन कर दिया है; फिर भी स्थालीपुलाक-न्यायसे भाष्यका अल्पांश ही उद्धरण करते हुए यह स्पष्टरूपसे पाठकोंके समक्ष उपस्थित किया जाता है कि दहरपदवाच्य परब्रह्म ही है, भूताकाश या जीव नहीं हो सकता। एक और भी विशेष बात है। श्रुतिवाक्य दहराकाशके उपासकको सत्यसङ्कल्पत्वकी प्राप्ति बताता है और सब लोकोंमें स्वतन्त्रतासे इस उपासकके अनायास विचरणसामर्थ्यका भी प्रतिपादन करता है। इस कारणसे दहरविद्याका उपास्य निखिलजगदाधार दिव्यगुणसिन्धु परमात्मा पुरुषोत्तम ही है, ऐसा प्रतिपादन करते हुए आचार्यचरण सूत्रभाष्यकी समाप्तिमें पर्यवसान इस प्रकार करते हैं—'**अत एतेभ्यो हेतुभ्यो दहराकाशः परमेव ब्रह्म।**'

आचार्यवर्य श्रीभास्कराचार्यका उत्तरभाष्य इस प्रकार है—

पर एव दहराकाशः। कस्मात्? उत्तरेभ्यो वाक्यशेष-गतेभ्यो हेतुभ्यः। 'यावान् वा अयमाकाशः' इति प्रसिद्धेना-काशेनोपमीयते दहराकाशः; भिन्नयोश्चोपमानोपमेयभावो गोगवयवत्, नैकस्यैकश्रुत्यर्थपरित्यागप्रसंगात्। 'उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' इति समस्तविकाराधारत्वं परमकारणस्योपपद्यते। 'एष आत्मापहतपाप्मा विजरः' इत्यात्मत्वादिरपहतपाप्मत्वादिवदन्यत्र नावकल्पते। अतएव जीवोऽपि न गृह्यते। दहरत्वं पुनः पुण्डरीकदहरत्वेनैवो-पाधिकं तन्निवृत्त्यर्थमेव चोपमोपादानम्।'

पाठकोंके दृष्टिपथमें चारों भाष्योंका प्रसंग आ गया। एवं भाष्योंके अर्थका दिग्दर्शन प्रथम ही विशेषरूपसे शङ्का तथा समाधानद्वारा दिखलाया गया। क्या कहींपर पाठकोंके विचारमें भाष्य-रचयिताओंकी उक्तिमें परस्पर विरोध प्रतीत होता है, यह पाठक स्वयं विचार करेंगे और आजकलकी नवीन जनताके धोखेमें न पड़ेंगे। धर्मपरायण, परोपकारमें संलग्न एवं भगवत्तत्त्ववेत्ता आचार्यचरणोंकी विरोध-कथाका कभी भी प्रसंग नहीं हो सकता; किन्तु अज्ञानीजन अपनी अज्ञतासे मात्सर्यवश पूज्य आदर्श महात्माओंमें विरोधका प्रसंग लाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। आचार्य-चरणोंका अभिप्राय एक है, सभी आचार्य मुक्तकण्ठसे उस परब्रह्म परमात्मा नारायणके गुणगणोंका विशेषरूपसे प्रतिपादन करते हुए उसी रसमें

निमग्न हो जाते हैं। केवल एक-एक पंक्तिका पुनः उद्धरण कर भाष्योंकी तुलना करते हुए लेख समाप्त किया जाता है—

'इति चात्मत्वापहतपाप्मत्वादयश्च गुणा न भूताकाशे सम्भवन्ति।' (श्रीशां.भा.)

सत्यसङ्कल्पत्वञ्चेति दहराकाशे श्रूयमाणा गुणा दहराकाशं परं ब्रह्मेति ज्ञापयन्ति।' (श्रीरा.भा.)

'इत्यादिभिर्वक्ष्यमाणा ये परमात्मासाधारणधर्मास्तेभ्यो हेतुभूतेभ्यः।' (श्रीनि.भा.)

'ततश्चापहतपाप्मत्वादयो धर्मा उपपद्यन्ते, जैवे रूपे ते विरुद्ध्यन्ते।' (श्रीभा.भा.)

ऊपरकी तुलनात्मक पंक्तियोंके अवलोकनसे यह अच्छी तरहसे प्रतीत होता है कि चारों ही आचार्यचरण अपने-अपने भाष्यमें दहरविद्याका प्रमेय एवं ध्येय अनेक कल्याणगुणवारिधि परब्रह्म परमात्मा ही है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं। अन्यान्य आचार्यचरण भी वेदान्तदर्शनभाष्यकी रचना करते हुए दहरविद्याका प्रमेय ऊपर लिखे अनुसार ही बतलाते हैं। केवल शब्दोंके आयोजनमें भेद है, अर्थांशमें सबका कथन एकताको प्राप्त हो जाता है। **'दहर उत्तरेभ्यः'** इससे आगे **'गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गच'** इस सूत्रसे लेकर **'अपि स्मर्यंते'** तकके ९ सूत्रोंद्वारा दहरविद्याका प्रमेय परमात्मा ही है, इसीका समर्थन **'उत्तरेभ्यः'** इस पदका स्पष्टरूपसे अर्थ करते हुए भगवान् व्यासदेवने किया है।

उसमें भी **'गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गश्च 'धृतेश्च महिम्नोऽस्योस्मिन्नुपलब्धेः'** तथा प्रसिद्धेश्च—इन तीन सूत्रोंके द्वारा परमात्माकी अद्भुत एवं सर्वलोकविलक्षण महिमाका प्रतिपादन करनेके साथ ही दहराकाशकी प्रसिद्धि परमात्मामें ही है, इसका समर्थन किया है। आगे **'इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासम्भवात्'** तथा **'उत्तरा चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु'**—इन दो सूत्रोंके द्वारा जीव ही दहराकाशपद-वाच्य है—ऐसी विशेष आशङ्का करके 'दहराकाश' का अर्थ जीव नहीं हो सकता। इसका उल्लेख किया है। अपहतपाप्मत्वादि गुणोंसे युक्त परमात्माकी उपासना करनेसे यह जीवात्मा भी बन्धनसे मुक्त होकर अपहतपाप्मत्वादि गुणोंका आधार हो जाता है, इसका प्रतिपादन **'अन्यार्थश्च परामर्शः'** इस सूत्रमें किया गया है। अल्पपरिमाणप्रतिपादक श्रुतिसे जीवकी आशङ्का कर 'अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम्' इस सूत्रसे उसका निराकरण किया गया है। **'अनुकृतेस्तस्य च'** इस सूत्रद्वारा अनुकर्त्ता जीव अनुकार्य परमात्मासे भिन्न है, यह सिद्ध किया गया है तथा मुक्तावस्थामें भी **'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'** इस श्रुतिवाक्यसे साम्यका ही कथन किया गया है। **'अपि स्मर्यते'** यह सूत्र भी **'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः'** प्रभुके वचनके साथ एकवाक्यताको प्राप्त होकर साम्यश्रुतिके अर्थकी ही पुष्टि करता है। इस प्रकार दहरविद्याके प्रमेयका हस्तगत आमलककी भाँति साक्षात्कार होनेपर ही स्वाभीष्ट प्राप्त हो सकता है। श्रुति कहती है—**'यं यं कामं कामयते सोऽस्य सङ्कल्पादेव समुत्तिष्ठति।'** जिस-जिस अर्थकी कामना यह अधिकारी करता है, वह इसके सङ्कल्पसे ही उपस्थित हो जाता है।

सिद्ध पुरुषकी स्थिति

ना काहू से दुष्टता ना काहू से रोच॥
ना काहू से रोच दोऊ को इक-रस जाना।
बैर भाव सब तजा रूप अपना पहिचाना॥
जो कंचन सो काँच दोऊ की आसा त्यागी।
हारि जीत कछु नाहिं प्रीति इक हरि से लागी॥
दुख सुख संपति बिपति भाव ना यहु से दूजा॥
जो बाम्हन सो सुपच दृष्टि सम सब की पूजा॥
ना जियने की खुसी है पलटू मुए न सोच।
ना काहू से दुष्टता ना काहू से रोच॥ —पलटू

दहर-विद्या

(लेखक—पं० श्रीलक्ष्मण नारायणजी गर्दे)

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता १८।६१, ६२)

Concentrate in the heart. Enter into it; go within and deep and far, as far as you can. Gather all the strings of your consciousness that are spread abroad, roll them up and take a plunge and sink down.

A fire is burning there, in the deep quietude of the heart. It is divininty in you—your true being. Hear its voice and follow its dictates.

(*Conversations with the Mother*)

संसारमें जीवमात्र ही अपने-आपको ढूँढ़ रहा है। ये ही उसके दो स्वरूप हैं—एक स्वरूप वह जो ढूँढ़ता है और दूसरा वह जो इसके द्वारा ढूँढ़ा जाता है। एक ही आत्माके ये दो रूप हैं—एक वह जो प्रकृतिके त्रिगुणमें बद्ध जन्म-मृत्युके चक्कर काट रहा है; और दूसरा वह जो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव इस चक्रको चला रहा है। यह आत्मा सर्वत्र है पर बद्ध जीवको इसकी कहीं भी अनुभूति नहीं होती। जबतक किसी एक स्थानमें इसे देख नहीं लिया जाता, तबतक यह कहीं भी देखा नही जा सकता । इसीलिये सर्वव्यापी सर्वेश्वरके सर्वत्र होते हुए भी उन्हें किसी एक स्थानमें ध्यानको केन्द्रीभूत करके देखनेके लिये ही देवमूर्तियाँ बनायी जाती और देवालय निर्माण किय जाते हैं। यह देह भी एक देवालय (**देहो देवालयः प्रोक्तः**) है, इसे स्वयं प्रकृति माताने ही निर्माण किया है। इस देवालयके अनेक गर्भमन्दिर हैं और उनमें एक ही देवके अनेक रूप प्रतिष्ठित हैं। इनमें सबसे ऊँचा गर्भमन्दिर शरीरके शिखरदेशमें सहस्रार है, सबसे नीचा मूलाधार है और सबसे गहरा हृदयके अंदर दहर-पुण्डरीक है। इस दहर-पुण्डरीकमें जो दहर-आकाश है उसमें ईश्वरका साक्षात्कार या आत्म-साक्षात्कार करनेकी विद्याको दहरविद्या कहते हैं।

दहरशब्द सूक्ष्य, अग्नि और गहराई—इन तीनों अर्थोंका वाचक है और ये तीनों अर्थ इस दहर-विद्यापर घटते हैं; क्योंकि यहाँ आत्माके जिस स्वरूपको योगी लोग देखते हैं वह अत्यन्त सूक्ष्म है, प्रकाशमय है और हृदयकी गुहाके अंदर बहुत गहराईमें छिपा हुआ है।

यह हृदयमें प्रवेश करनेकी विद्या है। यह प्रवेश करना ध्यानसे होता है। सब इन्द्रिय और प्राणवृत्तियोंको खींचकर मनका एकाग्र होकर इस गुहामें घुसना, आगे बढ़े चले जाना और वहाँ अपने स्वरूपका साक्षात्कार करना यही ध्यान है। ‘**ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति।**’

उपनिषद्‌ग्रन्थोंमें इस दहर, आकाश और ध्यानादिका वर्णन है। छान्दोग्य-उपनिषद्‌के आठवें अध्यायमें इस प्रकार वर्णन है कि बाहर यह जितना बड़ा आकाश है उतना ही बड़ा आकाश इस हृदयके अंदरके कमलमें है। उस हृत्कमलको हृत्पुण्डरीक कहते हैं। इस हृदयाकाशमें अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, नक्षत्र, सब कुछ है और जो कुछ यहाँ (इस लोकमें) है और जो कुछ नहीं है (अर्थात् अन्य लोकोंमें है या आगे यहाँ होनेवाला है) वह सब इसमें है। यह हृदयाकाश इस शरीरके भीतर है और शरीर तो जीर्ण-शीर्ण और नष्ट होनेवाला है तो क्या उसके साथ यह आकाश भी नष्ट होता है? इसका उत्तर श्रुति यह देती है कि नहीं, इस देहकी जरावस्थासे यह जीर्ण नहीं होता, देहका वध होनेसे यह नष्ट नहीं होता; क्योंकि यह आत्मा है, अपहतपाप्मा है, अजर, अमर, अशोक है, सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे रहित, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प है।

कारण , भगवान् हृद्देशस्थित ईश्वर, सत्यस्वरूप हैं। ‘सत्य’ पदमें जो सकार है वह सत्‌को सूचित करता है, तकार असत् या मृत्युको सूचित करता है और ‘य’ इन दोनों परस्परविरोधी तत्त्वोंके मिलन और नियमनको। सत् चित् है और असत् जड। यहाँ चित् और जडका संयोग होता है, जिससे सब लोक निर्मित होते हैं। यह संयोग है, इसीलिये इसे ‘सेतु’ कहा गया है जो ‘**विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय**’—इन सब लोकोंकी विधृति अर्थात् विशेषरूपसे धारण करनेवाला धर्म है।

जो लोग इस अजर, अमर, अशोक, द्वन्द्वरहित सत्य-सङ्कल्प, सत्काम, परापरसेतुरूप ईश्वरकी उपासना करते हैं, श्रुति कहती है कि वे भी सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प होते हैं, अर्थात् सत्यकी ही वे इच्छा करते है और जो कुछ वे इच्छा या सङ्कल्प करते हैं, वही होता है। सत्यमें जो कुछ है, वह उन्हें प्राप्त होता है। श्रुति इस प्रसंगमें एक विशिष्ट उदाहरण देती है। संसारमें हम यह देखते हैं कि जो कोई इस लोकसे चला जाता है (जिस चले जानेको हमलोग अपनी अज्ञानकी भाषामें मरना कहते हैं), वह फिर नहीं मिलता। श्रुति कहती है कि वह इस दहर-आकाशमें मिलता है। कारण, सब लोक इसके अंदर हैं। उपासक यहाँ अपने पितरोंसे या अपने मातृकुलकी सब माताओंसे, बहनोंसे, भाइयोंसे, पुत्रादिकोंसे—अर्थात् जो कोई इस लोकसे चले गये हों, उन सबसे इच्छा करनेपर मिल सकता है। और केवल मिल नहीं सकता '**तेन.....लोकेन सम्पन्नो महीयते**'—उन सबके पृथक्-पृथक् लोकोंसे 'सम्पन्न' होकर महत्त्वको प्राप्त होता है, अर्थात् **भूर्भुवः स्वः** इन तीनों लोकोंके ऊपर चला जाता है, ये तीनों लोक उसके अंदर चले आते हैं। इसी प्रकार यहाँ उसकी सब इच्छाएँ पूर्ण होती है; जो कुछ वह चाहता है, उसे प्राप्त हो जाता है। यह कल्पतरु है।

छान्दोग्य-उपनिषद्‌के तृतीय अध्यायके तेरहवें खण्डमें इस हृदयाकाशके पाँच दिव्य मुख या सुषिर दिखाये गये हैं। पाँच दिशाओंमें ये पाँच मुख हैं। पूर्व दिशामें जो मुख है उसे 'प्राण, चक्षु, आदित्य, तेज और अन्नाद्य' कहते हैं। हृदयाकाशमें ईश्वरको जो इस रूपमें देखता है, वह 'तेजस्वी और अन्नका भोक्ता' होता है। दक्षिण दिशामें जो मुख है उसे 'व्यान, श्रोत्र, चन्द्रमा, श्री और 'यश' कहते हैं। इस रूपमें जो हृदयमें ईश्वरकी उपासना करता है, वह 'श्रीमान् और यशस्वी' होता है। पश्चिम दिशामें जो मुख है उसे 'अपान, वाक्, अग्नि, ब्रह्मतेज और अन्नाद्य' कहते हैं। इस प्रकार उसे जो जानता है, वह 'ब्रह्मवर्चसित्व और अन्नका भोक्तृत्व' लाभ करता है। उत्तर दिशामें जो मुख है उसे 'समान मन, मेघ, कीर्ति और कान्ति' कहते हैं। उसकी जो उपासना करता है, वह 'कीर्तिमान् और कान्तिमान्' होता है। ऊर्ध्व दिशामें जो मुख है उसे 'उदान, वायु आकाश, ओज और महः' कहते हैं। उसकी जो उपासना करता है, वह 'ओजस्वी और महस्वान्' होता है। ये पाँच ब्रह्मपुरुष हैं, स्वर्गलोकके द्वारपाल हैं और यह हृदय स्वर्गलोकका तोरणद्वार है—जाननेवालोंके लिये ब्रह्मप्राप्तिका द्वार, पर न जाननेवालोंके लिये निरोध-स्थान। यह आत्माका स्थान है और इसीलिये इसे हृदय कहते हैं—'**हृदि अयम्**' (यह—आत्मा—हृत्‌में है)

हृदयकी एक सौ एक मुख्य नाडियाँ हैं, जो हृद्‌देशस्थित आत्मसूर्यकी किरणें या रश्मियाँ हैं। ये पिङ्गल, शुक्ल, नील, पीत, रक्त प्रभृति विविध वर्णोंवाली और रसवती हैं—इनमें रस भरा हुआ है। आदित्यमण्डलके साथ ये युक्त हैं और ये वर्ण आदित्यके ही हैं। इन नाडियोंकी शरीरमें सर्वत्र गति है और शरीरके बाहर सूर्यमण्डलतक है। इन्हीं नाडियोंके द्वारा इस शरीरका स्वामी शरीरी आत्मा-हृद्देश-स्थित ईश्वर—इस शरीरका धारण, पोषण और संहरण करता है। ये रश्मियाँ ही हमारे अन्तःकरण, प्राण और शरीरकी कर्म-शक्तियाँ हैं। इन रश्मियोंके द्वारा ही हृद्देशस्थ ईश्वर बाह्य जीवनका मधु ग्रहण करते हैं, इसीलिये इन्हें 'मध्वद' कहते हैं। हृद्देशस्थ ईश्वर इस शरीरसे उत्क्रमण करते हैं तब इन रश्मियोंके द्वारा '**वायुर्गन्धानिवाशयात्**' अन्तःकरण, प्राण और इन्द्रियोंका सार भाग लेकर बाहर निकल जाते हैं। बाह्य जीव जो अपने इन अन्तरात्माको ढूँढ़ रहा है वह गाढ निद्रामें—जब वह स्वप्न नहीं देखता, इन्हीं रश्मियोंमें चला जाता है, दहराकाशमें हृदयमन्दिरके द्वारपर सो रहता है; पर उसे इस गर्भ-मन्दिरमें आसीन ईश्वरके दर्शन नहीं होते। मरणकालमें बाह्य जीव इन्हीं रश्मियोंसे बाहर निकलता है। इन रश्मियोंके साथ वह आदित्यलोकतक जाता है, पर वहाँ उसका निरोध होता है; क्योंकि हृद्देशस्थित आत्मसूर्यके साथ वह एक नहीं हुआ है। जब वह उसके साथ एक हो जाता है, तब इस हृदयचक्रकी इन एक सौ एक नाडियोंमें जो एक नाडी ऊपरकी ओर चली गयी है उससे वह ऊपरकी ओर जाता और आदित्यमण्डलको भेदकर अमरत्वको प्राप्त होता है।

इसलिये छान्दोग्य-श्रुति कहती है कि इस ब्रह्मपुरके भीतर दहर (सूक्ष्म) पुण्डरीक-गृहके दहर अन्तराकाशमें जो यह आत्मा है वह '**अन्वेष्टव्यम्**' '**विजिज्ञासितव्यम्**' है; उसको ढूँढ़ना चाहिये, उसकी विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये। सबमें यह अन्वेषणबुद्धि नहीं होती, न तीव्र जिज्ञासा होती है। जिन्हें किसी प्रकारकी जिज्ञासा होती भी है, उनमें इसके लिये

ध्यानादिका जो साधन आवश्यक है, उसे दीर्घकालतक करनेका-सा धैर्य नहीं होता; कितने तो एक कदम आगे बढ़नेके पहले ही लौट पड़ते हैं। पर जो धीर पुरुष इसके साधनका दीर्घकालतक निरन्तर सत्कारपूर्वक सेवन करते हैं, उन्हें अवश्य लाभ होता है। इस सम्बन्धमें इन्द्र और विरोचनकी कथा सुप्रसिद्ध है। देवराज इन्द्र और दैत्यराज विरोचन दोनों ही इस अपहतपाप्मा, अजर, अमर, अशोक आत्माकी खोजमें इस आशासे प्रजापतिके पास गये थे कि इस आत्माको पाकर हमलोग समस्त लोक और समस्त भोग प्राप्त कर लेंगे। पर दोनोंकी अन्वेषणबुद्धि और जिज्ञासामें बड़ा अन्तर था। विरोचनकी इच्छा भौतिक भोग और प्रभुत्व पानेकी थी और आत्माकी जिज्ञासा उस भोग और प्रभुत्वके साधनरूपसे थी। इन्द्रकी इच्छा सत्यको, आत्मस्वरूपको जाननेकी थी; आत्मा वहाँ साधन नहीं, साध्य था। इसलिये प्रजापतिने जब कहा कि आँखोंमें यह जो पुरुष दिखायी देता है, यही आत्मा है तो इस वाक्यका मर्म न समझकर विरोचन यह जानकर ही सन्तुष्ट हो गया कि हमारा शरीर ही तो हमारा आत्मा है, इसीका प्रभुत्व होना चाहिये, यही सब सुख प्राप्त करनेका साधन है, यही अमर, अजर, अभय ब्रह्म है। उसकी जिज्ञासा इतनेसे ही परितृप्त हो गयी। संसारमें प्राय: आत्माके विषयमें ऐसी ही जिज्ञासा हुआ करती है। पर इन्द्र इतनेसे सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसने जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों ही अवस्थाओंमें प्रजापतिके यहाँ एक सौ एक वर्ष ब्रह्मचर्यपूर्वक रहकर अन्वेषण किया और यह देखा कि इन तीनों ही अवस्थाओंमें हम अपने-आपको जो कुछ समझते हैं, वह आत्मा नहीं है। तब अन्तमें गुरुप्रसादसे इन्द्रको यह बोध हुआ कि हृद्देशस्थित ईश्वर ही आत्मा है और वही अपने मायाचक्रपर इन अन्त:करण, प्राण और शरीरको चढ़ाकर चला रहा है।

इस आत्मप्राप्तिका साधन श्रुति बतलाती है कि ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य केवल वीर्यरक्षण नहीं है, यद्यपि ब्रह्मचर्यका यह अत्यन्त आवश्यक और सबसे प्रथम अंग है। इसके विना मनुष्य देव बनना तो दूर रहा, दैत्य भी नहीं बन सकता। परन्तु ब्रह्मचर्य इतनेसे ही पूरा नहीं होता; यदि होता तो इन्द्रकी-सी अन्वेषणबुद्धि और विजिज्ञासा विरोचनको भी प्राप्त हुई होती , क्योंकि वह भी तो प्रजापतिके यहाँ ३२ वर्ष ब्रह्मचर्य-पालन करके ही रहा था। शरीरमें उसकी जो आत्मबुद्धि थी, वह इस ब्रह्मचर्यसे नहीं पलटी; बल्कि प्रजापतिके उपदेशको उसने उल्टा ही समझा और शरीरमें उसकी आत्मबुद्धि और भी दृढ़ हो गयी। तात्पर्य, ब्रह्मचर्य ब्रह्मका समग्र साधन है जिसके यज्ञ, इष्ट, सत्त्राणय, मौन, अनाशकायन और अरण्यायन—ये छ: अंग हैं। वीर्यरक्षणरूप ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए हृद्देशस्थित आत्माको वरण करना और तत्प्रीत्यर्थ ही सब कर्म करना यज्ञ है। इस यज्ञके द्वारा उन्हें अपना इष्ट बनाना, उन्हें पूजना और उनके भावसे भावित होना इष्ट है। लोकोपकारार्थ बाग-बगीचे लगाना या अन्य सुभीते और सुखसाधन निर्माण करनेको भी इष्ट कहते हैं। सत्को ही अपना त्राता जानकर सत्का ही संग करना, सत्पुरुषोंका संग करना अथवा ज्ञान-सत्रादिकोंमें जाकर सत्संग करना सत्त्रायण है। आत्मस्वरूपका मनन करना, अन्यथा भाषण न करना और सभी वृत्तियोंको इस मननमें मौन रखनेका अभ्यास करना मौनरूप ब्रह्मचर्य है। आत्माको ही अपना आश्रय जानकर भूख-प्यास भूल जाना, उपवास रहना अथवा स्वयं न खाकर वैश्वानर आत्माको ही भोग लगाना अनाशकायन ब्रह्मचर्य है। फिर अनिकेत होना, गृहका या जनपदका आश्रय न कर निर्जन वनमें एकान्तवास करना अरण्यायन ब्रह्मचर्य है। अरण्यायनके प्रसंगमें श्रुतिने कहा है कि 'अर' और 'ण्य' दो-समुद्र हैं। यहाँसे आगे द्युलोक है; वहाँ 'ऐरंमदीय' सरोवर है, सोमसवन अश्वत्थ वृक्ष है। वहीं ब्रह्माकी अपराजिता पुरी है, उसमें प्रभु-विनिर्मित हिरण्यमय मण्डप है। यहाँतक सारा रास्ता ब्रह्मचर्य ही है।

इस प्रकार ब्रह्मचर्यपालन करते हुए साधक जब हृदयकी गुहामें ईश्वरका ध्यान करता है, तब उसे ईश्वरस्वरूपके उत्तरोत्तर अधिकाधिक स्पष्ट और तेजोमय रूपमें दर्शन होने लगते हैं। उपनिषदोंमें इन तेजोमय रूपोंके विविध वर्णन हैं। शिवगीतामें लिखा है कि केशके अग्रभागको काटकर उसके सौ भाग किये जायँ और ऐसे एक भागके फिर और सौ भाग किये जायँ तो जितना सूक्ष्म वह भाग होगा, उतनी ही सूक्ष्म यह आत्मज्योति है। श्वेताश्वतर और कठादिमें इस अन्तरात्माको अंगुष्ठमात्र कहा है। योगशिखोपनिषद्में इसे 'दीपज्वालेन्दु-खद्योतविद्युन्नक्षत्रभास्वरा:' अर्थात् दीपज्वाला, चन्द्र, जुगनू, विद्युत्, नक्षत्रादि रूपोंमें इस आत्मज्योतिका दिखायी देना वर्णित हुआ है। कहीं इसके धान, जौ, सरसों और साँवा या साँवेकी कनीके बराबर होनेका भी वर्णन है। पर यह आत्मा वही आत्मसूर्य है, जो व्यष्टिदेहके एक

देशमें स्थित होकर भी सारे देहको प्रकाशित करता है— जैसे बाहरके इस जगत्‌में नभोमण्डलके एक देशमें स्थित रहकर भी यह आदित्य समस्त जगत्‌को प्रकाशित करता है। यह आदित्य यहाँसे बहुत दूर होनेके कारण पृथ्वीकी दृष्टिमें सरसोंके एक दानेके बराबर देख पड़ता है,यद्यपि है वह इस पृथ्वीसे करोड़ों गुना बड़ा। उसी प्रकार यह आत्मज्योति भी दहराकाशमें दूरसे छोटी देख पड़ती है। परन्तु कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय आरण्यकमें इसका इस प्रकार वर्णन है कि यहाँ अर्थात् इस अधोमुख हृत्कमलमें यह विश्वका आयतन (जिसमें सारा विश्व है) जिसे महत् कहते हैं, अनेकों ज्वालाओंके साथ धधक रहा है। इसमेंसे चारों ओर रश्मियाँ निकलकर फैल रही हैं। इस धधकते हुए अग्निके बीचमें एक सूक्ष्म सुषिर (छिद्र) है, उसीमें यह सारा जगत् प्रतिष्ठित है। उस सुषिरके बीचमें एक महान् अग्नि है, जिसमेंसे असंख्य ज्वालाएँ निकलकर विश्वको व्याप रही हैं। यह अग्नि विश्वतोमुख है। यही अग्रभुक् है, यही सब देवताओंके पास उन-उनका यज्ञभाग पहुँचा देता है। यह अजर है, कवि है। इसीकी किरणें ऊपर-नीचे सब तरफ फैली हुई हैं। इस महान् अग्निके बीचमें एक अत्यन्त सूक्ष्म वह्निशिखा है, जो ऊपरकी ओर चली गयी है। यह नीले मेघके अंदर चमकनेवाली विद्युल्लेखाके समान दीप्तिवाली धानके बीचके टूंग-सी पतली, पीली और सूक्ष्मताकी साक्षात् उपमा है। इस शिखाके बीचमें परमात्मा व्यवस्थित हैं। वही ब्रह्म हैं, वही शिव हैं, वही हरि हैं, वही अक्षर परमस्वराट् हैं।'

तात्पर्यरूपसे कठोपनिषद्‌में शाण्डिल्य ऋषि कहते है कि, 'इस द्युलोकके परे जो परम ज्योति विश्वके पृष्ठपर, सबके पृष्ठपर, उत्तमोत्तम लोकोंके ऊपर जगमगा रही है वह निश्चय ही वही है जो हृदयके भीतर पुरुषकी ज्योति है। हृदयके भीतर यह जो मेरा आत्मा है वह धानसे, जौसे, सरसोंसे, सावाँसे या सावेंकी कनीसे भी छोटा है और पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोकसे अथवा इन सबको एक साथ जोड़कर उससे भी बड़ा है। यह सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, सर्वमिदंको सब ओरसे व्यापनेवाला मेरा आत्मा मेरे अन्तर्हृदयमें स्थित हैं।'

गीतामें भगवान् इसी अन्तर्हृदयमें स्थित ईश्वरकी सर्वभावेन शरण लेनेका उपदेश करते हैं और इसीको उन्होंने 'गुह्याद्‌गुह्यतर' ज्ञान कहा है। यही परा शान्ति और शाश्वत स्थानकी प्राप्तिका साधन है। यही दहर-विद्या है। लोकमंगल और लोकमंगलकारी परात्पर भगवान्‌का यही मिलनस्थान है।

यह सौदा करो

यह सौदा सतभाय करो परभात रे।
तन मन रतन अमोल बटाऊ साथ रे॥
बिछुर जायँगे मीत मता सुन लीजिये।
बहुरि न मेला होय कहो क्या कीजिये॥
सील सँतोष बिबेक दया के धाम हैं।
ग्यान रतन गुलजार सँघाती राम हैं॥
धरम धजा फरकंत फरहैं लोक रे।
ता मध अजपा नाम सु सौदा रोक रे॥
चलै बनिजवा ऊट हूंठ गढ़ छाँड रे।
हरे हाँरे कहता दास गरीब लगै जम डाँड़ रे॥

—गरीबदासजी

उपकोसलविद्याका रहस्य

(लेखक—श्रीनरसिंहाचार्यजी वरखेडकर)

यत्स्थानत्वादिदं चक्षुरसङ्गं सर्ववस्तुभिः।
स वामनः परोऽस्माकं गतिरित्येव चिन्तयेत्॥*

(वामनपुराण)

छान्दोग्य उपनिषद्में यह आख्यायिका मिलती है—

कमलायनके पुत्र उपकोसल ब्रह्मचर्यके उद्देश्यसे सत्यकाम नामक गुरुकी सन्निधिमें निवास करते थे। उन्होंने बारह वर्षतक आचार्यकी अग्नियों (गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि अन्वाहार्यपचन और आहवनीय) की सेवा की। सत्यकाम अपने और शिष्योंको वेदोंका अध्ययन कराते, केवल एक उपकोसलको नहीं कराते। अपनी धर्मपत्नीके बार-बार कहनेपर भी उपकोसलको विद्याका उपदेश किये बिना ही वे कहीं अन्यत्र चले गये। अबतक विद्या प्राप्त न होनेके कारण उपकोसलको बड़ी चिन्ता हुई, वे व्याधिग्रस्त हो गये। आचार्यपत्नीके बार-बार भोजनका आग्रह करनेपर भी उन्होंने भोजन नहीं किया। जब ब्रह्मचारी उपकोसलने इस प्रकार भोजनका परित्याग कर दिया और मौन ग्रहण कर लिया, जब तीनों अग्नियोंने दया-परवश होकर आपसमें सलाह की कि हमलोग इस ब्रह्मचारीको विद्याका उपदेश करें। इसके बाद तीनोंने मिलकर विद्याका उपदेश किया—

'प्राणो ब्रह्म, कं ब्रह्म, खं ब्रह्मेति।' (छा० ४।१०।४)

अर्थात् प्राण ब्रह्म है, सुख ब्रह्म है, आकाश ब्रह्म है। इस प्रकार एक साथ उपदेश करनेके पश्चात् प्रत्येकने एक-एक विद्याका उपदेश किया। गार्हपत्यने कहा—

य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते, सोऽहमस्मि, स एवाहमस्मि।

'सूर्यमें जो यह पुरुष दीख रहा है, वह मैं हूँ, वही मैं हूँ।'

दक्षिणाग्नि अन्वाहार्यपचनने कहा—

य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते, सोऽहमस्मि, स एवाहमस्मि।

'जो यह चन्द्रमामें पुरुष दीख रहा है, वह मैं हूँ, वही मैं हूँ।'

आहवनीयने कहा—

य एष विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि, स एवाहमस्मि।

'विद्युत्‌में जो यह पुरुष दीख रहा है, वह मैं हूँ, वही मैं हूँ।'

इस प्रकार अग्नियोंने एक साथ और अलग-अलग एक-एक विद्याके उपदेश करके कहा-'**एषा सोम्य तेऽस्मद्विद्यात्मविद्या चाचार्यस्तु ये गतिं वक्ता**।' हे सोम्य, यह तुम्हें हमने अपनी विद्या (अग्निविद्या) और आत्मविद्याका उपदेश किया; आचार्य सत्यकाम तुम्हारी गतिका उपदेश करेंगे। इतनेमें सत्यकाम लौट आये। उपकोसलसे सब वृत्तान्त सुनकर उन्होंने विद्याके उपदेशकी प्रतिज्ञा की, उसमें आदरभाव उत्पन्न करनेके लिये उसकी प्रशंसा की और फिर इस प्रकार उपदेश किया—

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति (छा० ४।१५।१)

'नेत्रमें जो यह पुरुष दीख रहा है, यह आत्मा हैं यह अमृत एवं अभय है, यह ब्रह्म है।'

इस प्रकार यहाँ इतनी विद्याएँ हुईं—

१- तीनों अग्नियोंके द्वारा मिलकर उपदेश की हुई आत्मविद्या।

२- गार्हपत्य अग्निके द्वारा उपदिष्ट आदित्यपुरुष-विद्या।

३- अन्वाहार्यपचन दक्षिणाग्निके द्वारा अनुशिष्ट चन्द्र-पुरुष-विद्या।

४-आहवनीय अग्निके द्वारा कही हुई विद्युत्पुरुषविद्या।

इन्हीं विद्याओंको अग्निप्रोक्त और अग्न्यन्तर्यामि-विषयक होनेके कारण अग्निविद्या कहते हैं।

५- सत्यकामके द्वारा उपदिष्ट अक्षिपुरुष विद्या।

इन पाँचों विद्याओंको उपकोसलने प्राप्त किया, इसलिये इन्हें उपकोसलविद्या कहा जाता है।

इनमेंसे अग्नियोंने मिलकर जिस आत्मविद्याका उपदेश किया—'**प्राणो ब्रह्म**' इत्यादि—उसका विषय जीव नहीं है; किन्तु जीवसे भिन्न पूर्णज्ञान, पूर्णानन्द, पूर्णशक्ति सर्वव्यापक परमात्मा ही उसके विषय हैं—यह बात निर्विवाद हैं। इसीसे '**सुखविशिष्टाभिधानादेव च**', इस सूत्रमें सूत्रकार भगवान् व्यासने '**प्राणो ब्रह्म**' इत्यादि श्रुतिको परमात्मविषयक मानकर उसके समान विषाली अक्षिपुरुषविद्याको भी परमात्मविषयक ही सिद्ध किया है।

* ये नेत्र जिनके निवासस्थान होनेके कारण सब वस्तुओंसे असंग हैं, वे परतत्त्व वामन हमारी गति हैं—ऐसा चिन्तन करना चाहिये।

'य आदित्ये तिष्ठन् आदित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मा-न्तर्याम्यमृतः।'

'योऽग्नौ' तिष्टन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निः शरीरं योऽग्निमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।'

'जो सूर्यमें रहकर सूर्यसे भिन्न है, जिसको सूर्य नहीं जानता, सूर्य जिसका शरीर हैं, जो सूर्यमें रहकर उनका नियमन करता है, यह तुम्हारा अन्तर्यामी अमृत आत्मा है।

'जो अग्निमें रहकर अग्निसे भिन्न है, अग्नि जिसको नहीं जानते, अग्नि जिसका शरीर है, जो अग्निके भीतर रहकर अग्निको नियन्त्रित करता है,यह तुम्हारा अन्तर्यामी अमृत आत्मा है।'

—इन श्रुतियोंमें, जो कि अन्तर्यामिब्राह्मणके नामसे प्रसिद्ध हैं, आदित्य पुरुषका अग्निसे भेद और अग्निके अन्तर्यामीसे अभेद दिखलाया गया है। अग्नि और आदित्य पृथक्-पृथक् हैं, परन्तु दोनोंका अन्तर्यामी एक है।

'अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्।'
'शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते।'(ब्रह्मसूत्र)

—इन सूत्रोंमें सूत्रकारने इस बातका समर्थन किया है कि अग्नि आदि जीवोंसे अत्यन्त भिन्न तथा ब्रह्मादि सब जीवोंके अन्तर्यामी भगवान् नारायणका सर्वान्तर्यामित्व ही अन्तर्यामि-ब्राह्मणमें प्रतिपादित हुआ है। इसलिये **'य एष आदित्ये पुरुषः'** इत्यादि वाक्योंमें जो अस्मत् (मैं) शब्द है, वह अन्तर्यामिपरक ही है। यदि उन्हें अग्निपरक मानें तो अन्तर्यामि-ब्राह्मणकी श्रुतियों तथा उपयुक्त सूत्रोंसे विरोध आता है। इसलिये ऐसा समझना चाहिये कि अग्नियोंके द्वारा अलग-अलग उपदिष्ट तीनों विद्याओंमें जीवोंसे भिन्न, अग्नि, सूर्य-चन्द्र-विद्युत्के अन्तर्यामी नारायणका ही प्रतिपादन हुआ है, जीवका नहीं।

श्रीशङ्कराचार्यने भी इसी अर्थका समर्थन किया है—

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते····· इत्यादि श्रूयते, तत्र संशयः-प्रतिबिम्बात्माक्ष्यधिकरणं निर्दिश्यतेऽथवा विज्ञानात्मा उत देवातात्मा इन्द्रियस्याधिष्ठनमथवा ईश्वर इत्यारभ्य, एवं प्राप्ते ब्रूमः परमेश्वर एवाक्षिणि अभ्यन्तरः पुरुष इहोपदिष्ट इति, कस्मात्? उपपत्तेः। उपपद्यते हि परमेश्वरे गुणजातमिहोपदिश्यमानम्। आत्मत्वं तावन्मुख्यया वृत्त्या परमेश्वरे उपपद्यते स आत्मा, तत्त्वमसीति श्रुतेः। अमृतत्वाभयत्वे च तस्मिन्न सकृच्छ्रयेते········ तस्मिन्न-मृतत्वादीनां गुणानां न छायात्मनि प्रतीतिः ········। समानश्च विज्ञानात्मन्यपि अमृतत्वादीनां गुणानामसम्भवः······ देवतात्मनस्तु अमृतत्वं तावन्न सम्भवति······। अमृतत्वादयोऽपि न सम्भवन्ति। ऐश्वर्यमपि परमेश्वरायत्तं न स्वाभाविकम्। तस्मात् परमेश्वर एवाक्षिस्थानः प्रत्येतव्यः।'

शारीरकभाष्यके उक्त अवतरणमें आचार्यने अक्षिस्थ परमेश्वर जड भूतों और जीवोंसे विलक्षण हैं, इस बातका समर्थन किया है।

'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' 'यश्चक्षुषि तिष्ठन्', 'य आदित्ये तिष्ठन्।'

—इत्यादि अन्तर्यामिब्राह्मणके भाष्यमें भी उन्होंने यही कहा है कि ब्रह्मादि सब भूतोंके अन्तर्यामी नारायण ही चक्षुमें स्थित एवं चक्षुके अधिष्ठातृ देवताके नियामक हैं—

'य ईदृगीश्वरो नारायणाख्यः पृथिवीं पृथिवीदेवतां यमयति नियमयति स्वव्यापारे।' इत्यादि।

यही कारण है कि 'श्रीशङ्कराचार्य विरोचनके पक्षपोषक हैं' इस शङ्काका निराकरण करनेके लिये श्रीशङ्कराचार्यके भक्त विद्वन्मूर्धन्य श्रीरामसुब्रह्मण्यशास्त्रीने अपने श्रीशाङ्कर-भाष्यभावगाम्भीर्यनिर्णय नामक ग्रन्थमें लिखा है—'

शास्त्राणां भेद एव श्रुतिशिखरगिरामागमानाञ्च निष्ठा साकं सर्वैः प्रमाणैः स्मृतिनिकरमहाभारतादिप्रबन्धैः। तत्रैव व्याससूत्राण्यकुटिलविधया भान्ति तात्पर्यवन्ति पुत्रैराचार्यरत्नैरपि परिजगृहे शङ्करार्यै स चापि॥

सब प्रमाणों—स्मृति और महाभारत आदि प्रबन्धोंके साथ वेदों, उपनिषदों, तन्त्रों और शास्त्रोंकी भेदमें ही निष्ठा है। व्याससूत्र भी सीधे-सीधे भेदमें ही तात्पर्य रखनेवाले हैं। आचार्यरत्न भगवान् श्रीशङ्कराचार्यने भी वही स्वीकार किया है। इससे सिद्ध होता है कि उपनिषदों, व्याससूत्रों एवं शाङ्करभाष्यका भी जीव एवं ईश्वरके भेदमें ही तात्पर्य है।

यद्यपि श्रीशङ्कराचार्यने स्थान-स्थानपर जीव और ईश्वरकी एकताका वर्णन किया है, तथापि **'मुक्तोपसृप्यव्यप-देशात्' 'कर्मकर्त्तृव्यपदेशाच्च'** इत्यादि सूत्रोंकी व्याख्या करते समय 'यह तत्त्व अविद्या, राग, द्वेष आदि दोषोंसे मुक्त पुरुषोंके द्वारा गम्य है— इस प्रकार व्यपदेश होता है, ऐसा स्वीकार किया है। मुण्डकोपनिषद् (३।२।८)में—

'तथा विद्वान्नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।'

'नाम रूपसे विमुक्त विद्वान् परात्पर दिव्य पुरुषको प्राप्त होता है।' इन वचनोंमें मुक्त और ज्ञानी पुरुषोंके द्वारा जो परमात्माको गम्य और प्राप्तव्य कहा गया है, यही कर्म-कर्तृ-व्यपदेश है। यहाँ उपास्य परमात्माको

कर्म अथवा प्राप्यरूपसे और उपासक मुक्त पुरुषको कर्त्ता अथवा प्रापकरूपसे कहा गया है। '**उपैति**' का अर्थ है—प्राप्त करता है। यदि मुक्त पुरुष और परमात्मामें अभेद होता तो एकको प्राप्य और दूसरेको प्राप्त करनेवाला कहना ठीक नहीं होता। इन श्रुतियोंको गौण कहना भी युक्तियुक्त नहीं हैं क्योंकि वास्तविक भेद स्वीकार कर लेनेसे इनकी मुख्यता बन जाती है। काल्पनिक भेदका स्वीकार, जो कि अगतिक गति है, कल्पक अविद्या न होनेके कारण युक्त नहीं है—इस अभिप्रायके मुक्त पुरुष और ईश्वरमें भेद सिद्ध करनेवाले बहुत-से वाक्य शाङ्करभाष्यमें मिलते हैं। इसलिये श्रीशङ्कराचार्यका तात्पर्य जीव-ईश्वरके अभेदमें नहीं है, ऐसा प्रतिपादित होता है। और ऐसा होनेपर सभी वेदान्ती धर्माचार्योंका एकमत सम्पन्न हो जाता है।

शाण्डिल्यविद्या

(लेखक—श्रीश्रीधर मजूमदार, एम०ए०)

उपनिषदोंमें सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी सर्वात्मा ब्रह्मके चिन्तन और साक्षात्कारके लिये कई प्रकारके साधनोंका विधान किया गया है। इनमेंसे एक साधन जिसका छान्दोग्योपनिषद्में उल्लेख है, शाण्डिल्यविद्याके नामसे प्रसिद्ध है। इसका जिक्र शतपथ ब्राहाणमें भी हुआ है। प्राचीन ग्रन्थोंमें महर्षि शाण्डिल्यका नाम कई जगह पाया जाता है। उनके नामके साथ एक उपनिषद् (शाण्डिल्योपनिषद्) का भी सम्बन्ध है। वे शाण्डिल्य भक्तिसूत्रोंके प्रणेता होनेसे भक्ति-दर्शनके भी आचार्य बताये जाते हैं। किन्तु यह निश्चय नहीं किया जाता है कि ये सब एक ही व्यक्ति है या अनेक।

शाण्डिल्यविद्यामें जो उपासनाका क्रम व्यक्त किया गया है, वह नीचे लिखी श्रुतियोंमें बताये गये आधारोंपर अवलम्बित है—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत'॥ १॥

'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः'॥ २॥ (छान्दोग्य० ३।१४)

अर्थात् यह सारा संसार निःसन्देह ब्रह्म है। यह उसीसे उत्पन्न होता, उसीमें रहता और चेष्टा करता तथा अन्तमें उसीमें लीन हो जाता है। अतः शान्तभावसे उस (ब्रह्म) की उपासना करनी चाहिये। मनुष्यका वर्तमान जीवन उसके पूर्वसङ्कल्पों और कामनाओंका परिणाम है तथा इस जीवनमें वह जैसा सङ्कल्प करता है, वैसा ही वह यहाँसे जानेपर बन जाता है। अतः उसे उस ब्रह्मका ध्यान करना चाहिये जो मनोमय अर्थात् विचारकी दृष्टिसे पूर्ण है, जो प्राणमय अर्थात् उसकी प्राण-शक्तिके द्वारा व्यापार करनेवाला है, जो प्रकाशरूप,सत्यसङ्कल्प, आकाशके समान व्यापक तथा सम्पूर्ण कर्म, सम्पूर्ण कामना और सब प्रकारके गन्ध एवं रसोंका अधिष्ठान है, जो इस सारे जगत्को घेरे हुए है तथा वाणी और आसक्तिसे रहित है ॥१-२॥ तथा—

'एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वैष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः'॥ ३॥

'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष म आत्मान्तर्हृदय एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः'॥ ४॥ (छान्दोगय० ३।१४)

यह हृदयमें रहनेवाला मेरा आत्मा है यह धानसे, यवसे, सरसोंसे, श्यामाकसे और श्यामाकतण्डुलसे भी सूक्ष्म है; एवं हृदयमें रहनेवाला यह मेरा आत्मा पृथ्वीसे, अन्तरिक्षसे, द्युलोकसे और इस सम्पूर्ण विश्वसे भी बड़ा है॥ ३॥ इसीसे सारे कर्मोंका, सारी कामनाओंका, समस्त गन्धोंका और सब प्रकारके रसोंका आविर्भाव होता है। यह विभु, वाणीरहित एवं असंग है। यह हृदयके भीतर रहनेवाला मेरा आत्मा है। यही ब्रह्म है। इस लोक अथवा देहसे मुक्त होकर मैं निःसन्देह इसीको प्राप्त करूँगा। ऐसा जिसका निश्चय है, उसे निःसन्देह ब्रह्मकी प्राप्ति होगी—ऐसा महर्षि शण्डिल्यका मत है॥४॥

इस शाण्डिल्यविद्याका अभ्यास करनेवाले साधकको, जहाँ भी उसका चित्त जाता है, ब्रह्मका ही साक्षात्कार होता है। वह अपने चित्तको सर्वान्तर्यामी एवं व्यापक ब्रह्मके साथ अभिन्न कर देता है। वह अपने प्राणोंका भी उसीके साथ अभेद कर देता है, जो प्रकाशस्वरूप और

स्वयंज्योति है। इस विद्याका साधक दृश्यमान विभिन्न जीवोंके एकमात्र अभिन्न आत्मा उस परमात्मामें और अपने व्यष्टि आत्मामें अणुमात्र भी भेद नहीं समझता। वह पूर्णतया ब्रह्मानन्दमें मग्न रहता है।

तान्त्रिक दृष्टि

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम्०ए०)

(१)

किसी साधनाके विषयमें आलोचना करनेके लिये सबसे पहले उसकी आनुषङ्गिक दृष्टिके साथ परिचय कर लेना आवश्यक है। दृष्टिसे ही लक्ष्यका निर्देश होता है। लक्ष्य निर्दिष्ट न होनेतक साधनाकी चेष्टा उन्मत्त-प्रलापके समान अर्थहीन होती है, क्योंकि लक्ष्य तथा उसकी प्राप्तिके उपायको जानकर उसका यथाविधि अनुशीलन करना ही साधना है। अत: तान्त्रिक साधनाको समझनेके लिये तान्त्रिक दृष्टिके साथ परिचित होनेकी उपयोगिता माननी पड़ती है। पूर्ण और अपूर्ण भेदसे दृष्टि दो प्रकारकी है। अपूर्ण दृष्टिसे जो लक्ष्य जान पड़ता है पूर्ण दृष्टि होनेपर वह साध्य नहीं गिना जाता—वह प्रकृत लक्ष्यका एक अंश ही जान पड़ता है। परन्तु आलोचनाके लिये इन दोनों ही दृष्टियोंकी मर्यादा रखनी आवश्यक है। साधनाकी परिपक्वतासे अपूर्ण दृष्टिका पर्यवसान पूर्ण दृष्टिमें ही होता हैं।

(२)

जिस प्रकार बौद्धगण बुद्ध, धर्म, तथा सङ्घ-त्रिरत्न (तीन रत्न) स्वीकार करते हैं वैसे भेदवादी तान्त्रिक आचार्यगण भी शिव, शक्ति और बिन्दु—ये तीन रत्न मानते है।[1] ये ही समस्त तत्त्वोंके अधिष्ठाता एवं उपादानरूपसे प्रकाशमान हैं। शुद्धतत्त्वमय कार्यात्मक शुद्ध जगत्का उपादान बिन्दु है तथा कर्ता शिव है और करण शक्ति है। अशुद्ध तत्त्वमय जगत्में भी परम्परासे शिव और शक्ति ही कर्ता एवं करण हैं तथा निवृत्ति आदि कलाओंके द्वारा बिन्दु आधार है। बिन्दुका ही दूसरा नाम महामाया है। शब्दब्रह्म, कुण्डलिनी, विद्या-शक्ति, अनाहत और व्योम—इन विचित्र सुखमय भुवन और भोग्यादिके रूपमें परिणत होकर यही शुद्ध जगत् उत्पन्न करता है। भोगार्थी साधक भौतिक दीक्षाके प्रभावसे इस आनन्दमय राज्यमें प्रवेशका अधिकार प्राप्त करता है। किन्तु जो पहलेसे ही इस महामायाके राज्यके सुखभोगकी इच्छा नहीं रखते वे नैष्ठिक दीक्षा प्राप्त करके शक्तिके साथ नित्य मिले हुए साक्षात् परमेश्वरको उपलब्ध करते हैं।

बिन्दु क्षुब्ध होकर जिस प्रकार एक ओर शुद्धदेह, इन्द्रिय, भोग और भुवनके रूपमें परिणत होता है, जिसे कि 'शुद्ध अध्वा' कहते हैं, उसी प्रकार दूसरी ओर यही शब्दकी भी उत्पत्ति करता है। शब्द सूक्ष्म नाद, अक्षर बिन्दु और वर्णभेदसे तीन प्रकारका है। सूक्ष्म-नाद अभिधेय बुद्धिका कारण एवं बिन्दुका प्रथम प्रसार है। यह चिन्तनशून्य है। अक्षर-बिन्दु सूक्ष्म-नादका कार्य और परामर्शज्ञानस्वरूप है। यह मयूराण्डरस-न्यायकी[2] तरह अनिर्वचनीय है। आकाश और वायुसे श्रोत्रग्राह्य

१. कामिक, रौरव, स्वायम्भुव, मृगेन्द्र आदि आगमोंमें तथा अघोरशिव, सद्योजात, रामकण्ठ, नारायणकण्ठ आदि आचार्योंके ग्रन्थोंमें इसका विशेष विवरण मिलता है। इसके मूलमें भेददृष्टि रहती है। अभेदवादी आगम और आचार्योंके ग्रन्थोंमें न्यूनाधिक-रूपसे दूसरी तरहका विवरण भी है। इसका मूल कारण दृष्टिभेद ही है शाक्तगण प्रधानत: अद्वैतवादी हैं। शैव सम्प्रदायमें द्वैत और अद्वैत दोनों ही प्रकारकी दृष्टियाँ हैं। प्रसिद्धि ऐसी है कि शिवके ईशानादि पाँच मुखोंसे ही समस्त मूल तन्त्रोंका आविर्भाव हुआ है। उनमें भेदप्रधान शिवतन्त्र दस है, भेदाभेदप्रधान रुद्रतन्त्र अठारह हैं एवं अभेदप्रधान भैरवतन्त्र चौंसठ है। ईशान, तत्पुरुष एवं सद्योजात—इन तीनों मुखोंमेंसे प्रत्येक उद्भूत और उद्भूवोन्मुख—ये दो अवस्थाएँ हैं। इस प्रकार अलग अलग तीन मुखोंसे छ: तन्त्रोंका आविर्भाव हुआ है। इसके पश्चात् दो-दो मुखोंके मिलनेसे (अर्थात् ईशान+तत्पुरुष, ईशान+सद्योजात एवं सद्योजात+तत्पुरुषसे) तीन तन्त्र होते हैं। फिर तीनोंके मिलनेसे एक तन्त्र और होता है। इस प्रकार कुल तन्त्र दस हैं। ये भेदप्रधान है। इसी तरह अठारह भेदाभेदतन्त्र भी समझने चाहिये। वे पूर्वोक्त तीन मुखोंके साथ वामदेव और अघोर नामके दो मुर्खोके व्यष्टि और समष्टिभावसे मिलनेसे अथवा केवल वामदेव और अघोर इन दो मुखोंसे ही उत्पन्न होते हैं। इस जगह इसकी विशेष प्रक्रिया नहीं दिखायी जाती है। यह जो शिवज्ञान और रुद्रज्ञान नामक दो ज्ञानोंकी बात कही गयी है वह ऊर्ध्वस्रोतके अन्तर्गत है। अभेद-ज्ञान या भैरवागम शिवके दक्षिण मुख अथवा योगिनी वक्त्रसे अभिव्यक्त होता है—यह शिवशक्तिसंयोगरूप तथा अद्वयस्वभाव-विशिष्ट है।

२. जिस प्रकार मयूरके अण्डेके रसमें उसके पङ्खोंके तरह-तरहके रंग अभिन्नभावसे अव्यक्तरूपसे रहते हैं उसी प्रकार अक्षर

वर्णात्मक स्थूल शब्द उत्पन्न होता है। कालोत्तर तन्त्रमें लिखा है—

स्थूलं शब्द इति प्रोक्तं सूक्ष्मं चिन्तामयं भवेत्।
चिन्तया रहितं यत्तु तत्परं परिकीर्तितम्॥[१]

बिन्दु जड होनेपर भी शुद्ध है। पांचरात्र अथवा भागवतसम्प्रदायान्तर्गत वैष्णव आगममें 'विशुद्ध सत्त्व' शब्दसे जो कुछ समझा जाता है वही बिन्दु है। परमेश्वरके साथ बिन्दु अथवा महामायाके सम्बन्धके विषयमें दो प्रकारके मत प्रचलित हैं—

(क) एक प्रसिद्ध मत तो यह है कि शिवकी दो शक्तियाँ हैं—समवायिनी और परिग्रहरूपा। समवायिनी शक्ति चिद्‌रूपा, अपरिणामिनी, निर्विकारा और स्वाभाविकी है। यही शक्ति-तत्त्व है। यह शिवमें नित्य समवेत रहती है। इन शिव-शक्ति दोनोंका तादात्म्य सम्बन्ध है। परिग्रह शक्ति अचेतन और परिणामशीला है। इसका नाम बिन्दु है। बिन्दुके शुद्ध और अशुद्ध दो रूप हैं। साधारणतः शुद्ध रूपको ही बिन्दु और महामाया कहा जाता है। अशुद्ध रूपका नाम माया है। दोनों ही नित्य हैं। अशुद्ध अध्वाका उपादानकारण माया है और शुद्ध अध्वाका उपादान महामाया है। यही इन दोनोंका अन्तर है। सांख्यसम्मत तत्त्व एवं कलादि-कंचुक अशुद्ध अध्वाके ही अन्तर्गत हैं। यह सब मायाका ही कार्य है। (अवश्य पुरुष या आत्मा नित्य है तथा इनसे विलक्षण है, परन्तु उसमें भी पुंस्त्व नामक आवरण रहता है।) मायासे ऊपरके तत्त्व शुद्ध अध्वाके अन्तर्गत हैं।

(ख) दूसरा मत यह है कि एकमात्र बिन्दु ही शुद्ध और अशुद्ध अध्वाका उपादान है। इस मतमें माया नित्य नहीं है, किन्तु कार्यरूपा है। महामाया या बिन्दुकी तीन अवस्थाएँ हैं—परा, सूक्ष्मा और स्थूला। परा अवस्थाको महामाया, परामाया, कुण्डलिनी आदि नामोंसे कहा जाता है। यही परम कारण और नित्य है। सूक्ष्म और स्थूल—ये दोनों अवस्थाएँ कार्य होनेके कारण अनित्य हैं। महामायाके विक्षुब्ध होनेपर ही उससे शुद्ध धामों तथा उनमें रहनेवाले मन्त्रों (विद्याओं) एवं मन्त्रेश्वरों (विद्येश्वरों) के शरीर और इन्द्रियादि रचे जाते हैं। अर्थात् शुद्ध लोकोंके संस्थान और देहादि सब साक्षात् महामायाके कार्य हैं। ये शुद्ध मायातीत और उज्ज्वल हैं। महामायाकी सूक्ष्म या दूसरी अवस्थाका नाम माया है। कलादितत्त्वसमूहका अविभक्त स्वरूप ही माया है। कलादिके सम्बन्धके कारण ही द्रष्टा आत्मा भोक्ता पुरुषरूपमें परिणत होता है। मायासे तत्त्व एवं भुवनात्मक कलादि तथा प्रकृति आदि साक्षात् या परम्परारूपसे उत्पन्न होते हैं। सारे अशुद्ध अध्वाका मूल कारण यह माया ही है। आगममें जिस प्रकार इसे 'जननी' कहा है वैसे ही 'मोहिनी' भी कहा गया है। महामायाकी स्थूल या तीसरी अवस्थाका नाम प्रकृति है। यह त्रिगुणमयी है। प्रकृति साक्षात् या परम्पराक्रमसे भोक्ता पुरुषके बुद्धि आदि भोग साधनोंको तथा समस्त भोग्य-विषयोंको उत्पन्न करती है। कलादिके सम्बन्धसे पुरुष भोक्ता हो गया है, इसीसे उसके भोग्य तथा भोगसाधनोंकी सृष्टिके लिये महामायाने प्रकृतिरूप स्थूल अवस्था ग्रहण की है।

बिन्दु शिवमें समवेत नहीं है—यह पहले कहा जा चुका है। यही प्रचलित मत है। इस मतमें बिन्दु परिणामी होनेके कारण जडरूप है। इसीसे चिदात्मक परमेश्वरके रूपसे इसका समवाय सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया जाता। शिवके साथ बिन्दुका समवाय स्वीकार करनेपर उनके अचेतनत्वका प्रसंग अनिवार्य हो जायगा। श्रीकण्ठाचार्य कहते हैं—

स हि तादात्म्यसम्बन्धो जडेन जडिमावहः।
शिवस्यानुपमाखाण्डचिद्‌घनैकस्वरूपिणः ॥[२]

किन्तु तान्त्रिक भेदवादियोंमें कोई-कोई बिन्दुसमवाय-वादी भी थे उनके मतानुसार शिवकी समवायिनी शक्ति दो प्रकारकी है—एक तो दृक्‌शक्ति या ज्ञानशक्ति और दूसरी क्रियाशक्तिके या कुण्डलिनी। क्रियाशक्तिका ही दूसरा नाम बिन्दु है। माया अवश्य ही इससे सर्वथा भिन्न है। माया शिवमें समवेत नहीं होती। अपनेमें समवेत ज्ञानशक्तिके द्वारा परमेश्वरका जगद्विषयक ज्ञान और क्रियाशक्ति द्वारा उनकी जगद्-रचना उपपन्न होती है। ज्ञानशक्ति भिन्न-भिन्न पदार्थोंको विषय करनेसे ही चरितार्थ होती है। किन्तु क्रियाशक्तिके विना वस्तुनिर्माणरूप फल नहीं हो सकता। ये ज्ञान और क्रियारूपा दो शक्तियाँ परमेश्वरमें अविनाभूतरूपसे प्रतिष्ठित हैं।

जिस प्रकार बिन्दुका क्षोभ होनेसे शुद्ध जगत् उत्पन्न होता है वैसे ही मायाका क्षोभ होनेपर अशुद्ध

बिन्दुमें स्थूल वाणीका सम्पूर्ण वैचित्र्य अव्यक्तरूपसे अभिन्न होकर रहता है। यही मयूराण्डरस-न्याय है।

१. स्थूल बिन्दु शब्द कहा गया है, सूक्ष्म चिन्तामय है और जो चिन्तनसे भी रहित है वह 'पर बिन्दु' कहा गया है।

२. जडके साथ वह तादात्म्यसम्बन्ध अनुपम और अखण्डचिद्‌घनस्वरूप शिवके जडत्वका कारण होगा।

जगत्का आविर्भाव होता है। अपनेमें समवेत शक्तिके द्वारा परमेश्वरके बिन्दुको स्पर्श करनेसे बिन्दुमें क्षोभ होकर वैषम्य होता है और किसी प्रकार नहीं। अतः एकमात्र साक्षात् परमेश्वरकी शक्तिके प्रभावसे ही शुद्ध जगत्की उत्पत्ति हो सकती है। किन्तु मायाका क्षोभ इस प्रकार साक्षात्‌रूपसे परमेश्वरकी शक्तिद्वारा नहीं होता।

तन्त्रमतमें सृष्टि, पालन, संहार, निग्रह और अनुग्रह—इन पाँच कार्योंका मुख्य कर्ता एकमात्र परमेश्वर ही है, ब्रह्मादि तो केवल द्वारमात्र हैं। इसीसे सर्वत्र उसे 'पंचकृत्यकारी' कहकर वर्णन किया है। इन्हीं कृत्योंको सम्पादन करनेके लिये शुद्ध अध्वाकी आवश्यकता होती है। इसीलिये बिन्दु क्षोभकी भी अपेक्षा है। यद्यपि वस्तुतः परमेश्वर एक और अद्वितीय है तथा उसकी शक्ति भी वैसी ही है तथापि उपाधिभेदके कारण उसमें आरोपित किया हुआ भेद भी अवश्य है। जिस समय उसकी शक्ति अव्यक्त रहती है उस समय वह निष्क्रिय, शुद्ध और संविद्-रूपा होती है। उस समय बिन्दु भी स्थिर और अक्षुब्ध रहता है, क्योंकि शक्तिकी सक्रिय अवस्था हुए विना बिन्दु क्षुब्ध नहीं हो सकता। पर-बिन्दुके स्वरूपके अधिष्ठाता परमेश्वरकी यह लयावस्था है। यहाँ प्रसंगवश एक बात कहना उचित जान पड़ता है। प्रचलित मतमें शक्ति एक होनेके कारण उसमें ज्ञान और क्रियाका कोई भेद नहीं है। जो भेद प्रतीत होता है वह औपाधिक है। अतः ज्ञान भी सदा क्रियारूप ही है। इसीसे क्रिया शब्दसे प्रायः शक्ति ही समझी जाती है। जिस समय यह शक्ति सारे व्यापारोंको समाप्त करके स्वरूपमात्रमें स्थिर होती है उस समय शिवको शक्तिमान् कहा जाता है। क्रियारूपा शक्ति उस समय मुकुलिता-सी हुई शिवमें स्थित रहती है । यही शिवकी पूर्वोक्त लयावस्था है। जिस समय यह शक्ति उन्मेषको प्राप्त होकर उद्योगपूर्वक बिन्दुको कार्योत्पादनके अभिमुख करती है और कार्योत्पादन करके शिवके ज्ञान और क्रियाकी समृद्धि करती है तब शिवकी भोगावस्था होती है। परमेश्वरका भोग या परमानन्द सुखसंवेदनरूप नहीं है, क्योंकि मलहीन चित्सत्तामें उपाधिभूत आनन्द और भोगकी सम्भावना नहीं है। इस अवस्थामें शक्ति सक्रिय रहती है। इसीसे उसके साथ शिवको भी सक्रिय कहा जाता है।

स तया रमते नित्यं समुद्युक्तः सदाशिवः।
पञ्चमन्त्रतनुः श्रीमान् देवः सकलनिष्कलः॥[1]

लयावस्थामें शिवको निष्कल एवं भोगावस्थामें सकल-निष्कल कहा जाता है। किन्तु इन दोनोंके अतिरिक्त उनकी अधिकारावस्था नामकी एक और भी अवस्था है, जिसका वर्णन आगे किया जायगा। इस अवस्थामें वे सकल रहते हैं। किन्तु उनका यह अवस्थाभेद वास्तविक नहीं है, औपचारिक मात्र है। शक्ति या कलाकी अविकास दशा, विकासोन्मुख दशा एवं पूर्णविकास दशाके अनुसार ही शिवके इस अवस्था-भेदकी कल्पना की जाती है।

शिव और शक्तिके इस अवस्थाभेदके मूलमें बिन्दुका अवस्थाभेद रहता है। निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति तथा शान्त्यतीत—ये कलाएँ बिन्दुकी ही पृथक् पृथक् अवस्थाएँ हैं। उनमें शान्त्यतीत कला बिन्दुका स्वरूप मानी जा सकती है। वह अक्षुब्ध बिन्दु या लयावस्था है शुद्ध और अशुद्ध जितने भी भोगाधिष्ठान हैं वे सब शान्ति आदि चार कलाओंके ही परिणामस्वरूप हैं। वस्तुतः भोगाधिष्ठान कहनेपर शान्ति आदि चार कलाओंके भुवन ही समझे जायँगे। शान्त्यतीतरूप या परबिन्दु समस्त कलाओंकी कारणवस्था या लयावस्था है। अतः शान्त्यतीत भुवन ठीक-ठीक भोगस्थान नहीं है। किन्तु सृष्टिके आरम्भमें ही उत्पन्न होनेके कारण किन्हीं-किन्हीं आचार्योंने इसकी भी भोगस्थानोंमें गणना की है। भोगकी बीजावस्था है।

कलात्मक शक्ति ही शिवके देहरूपमें अध्यस्त होती है। अतएव लयावस्थामें बिन्दुका विक्षोभ न रहनेसे कलाका उद्भव न होनेके कारण निष्कल शिवको अशरीर कहा जाता है। भोगावस्थामें शिव निष्कल रहते है—जब उनका देह पंचमन्त्रात्मक रहता है। तन्त्रमतमें शक्ति ही मन्त्र है, अतः वह पंचशक्तिमय होता है—

मननात्सर्वभावानां त्राणात्संसारसागरात्।
मन्त्ररूपा हि तच्छक्तिर्मननत्राणरूपिणी॥[2]

यह मन्त्ररूपा शक्ति मूलमें एक ही है। किन्तु उपाधिवशतः नाना हो गयी है। अधिष्ठान होनेके कारण कार्यभेदसे एक ही शक्ति पाँच रूपसे प्रतीत होती है।

---

१. वे पंचमन्त्रतनु सकल-निष्कल भगवान् सदाशिव उद्युक्त होकर सर्वदा उस शक्तिके साथ क्रीडा करते है।

२. समस्त भावोंके मनन और सम्पूर्ण संसारके त्राणके कारण वह मनन-त्राणरूपिणी शक्ति मन्त्ररूपा है।

तदनुसार बिन्दु-भुवनकी या शान्त्यतीतकलाभुवनकी अधिष्ठात्री शक्तिको ईशान मन्त्र एवं शान्ति आदि चार भुवनोंकी अधिष्ठात्री शक्तियोंको क्रमशः तत्पुरुष सद्योजात, वामदेव एवं अघोर मन्त्र कहा जाता है। ये भुवन भोगस्थान हैं। ईशानादि पंचमन्त्रात्मिका शक्ति देहका कार्य करती है। इसलिये उसे 'शिवतनु' कहते हैं। वस्तुतः यह पारमार्थिक देह नहीं है। यह पंचमूर्ति परमेश्वरके पंचकृत्योंमें उपयोगी है। बिन्दुकी समस्त कलाएँ कारणावस्थामें लीन रहनेपर अर्थात् परबिन्दु-अवस्थामें उनका कोई विभाग नहीं रहता। इसकी अधिष्ठात्री शक्ति शिवकी परामूर्ति है। यह लयावस्थाकी बात है। जिस समय शिवको अशरीर कहा जाता है उस समय इसी अवस्थाकी ओर लक्ष्य किया जाता है। उस समय शक्ति लीन रहती है तथा बिन्दु अक्षुब्ध एवं असत्कल्प रहता है। एकमात्र शिव ही उस समय अपनी महिमामें विराजमान रहते हैं। जिस समय बिन्दुकी कलाएँ कार्यावस्थामें रहती हैं उस समय उनकी अधिष्ठात्री शक्तिको शिवकी अपरामूर्ति कहते हैं। भोगस्थानरूपसे जिन कला और भुवनोंका उल्लेख किया है। उनमें निवृत्तिभुवन सबकी अपेक्षा निम्नकोटिका है। निवृत्तिभुवनके अधोवर्ती भुवनका नाम सदाशिव भुवन है। इसकी अधिष्ठात्री शक्ति शिवकी अपरामूर्ति अथवा सदाशिवतनु है। 'सदाशिवतनु' नाम औपचारिक है—सदाशिव भुवनके अधिष्ठानके कारण इसका उद्भव हुआ है। दीक्षादिके द्वारा जो-जो जीव तत्तद् भुवनमें जाते है उनका भेद सत्य है किन्तु शिव और शक्तिका भेद कार्यभेदके कारण औपाधिक है—'**अधिकारी स भोगी च लयी स्यादुपचारतः।**' अर्थात् शिवकी शक्तिसे शोभित महामाया जो-जो कार्य उत्पन्न करती है उससे उसके अधिष्ठाता शिव और शक्तिमें कार्यभेद और स्थानभेदके कारण उपचारसे तत्तत् संज्ञाका व्यपदेश होता है। दृष्टान्तरूपसे कह सकते हैं कि जैसे शान्तिभुवनके अधिष्ठान और उत्पादनके कारण शक्ति और शिव क्रमशः 'शान्ता' और 'शान्त' संज्ञा प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये। मृगेन्द्र आगममें लिखा है—

किन्तु यः पतिभेदोऽस्मिन् स शास्त्रे शक्तिभेदवत्।
कृत्यभेदोपचारेण तद्भेदस्थानभेदतः॥*

अधिकार-अवस्थापन्न शिव सकल हैं। वे बिन्दुसे अवतीर्ण और अणुसदाशिवोंसे आवृत हैं। ये सब सदाशिव वस्तुतः पशु-आत्मा हैं, शिवात्मा नहीं है इनमें कुछ 'आणव मल' शेष रहता है। इससे उस समय इनकी ज्ञान क्रियारूपा शक्तिका कुछ सङ्कोच रहता है। ये शिवके समान पूर्णरूपसे अनावृतशक्तिसम्पन्न नहीं होते। यद्यपि ये भी मुक्तपुरुष हैं तथापि सर्वथा मलहीन न होनेके कारण अभीतक इन्हें परामुक्ति या शिवसाम्य प्राप्त नहीं हुआ है। सदाशिवभुवनके अधिष्ठाता होनेके कारण परमेश्वरको भी सदाशिव कहा जाता है। वे स्वयं शिव है और पूर्वोक्त अणुसदशिवोंको अपने-अपने भुवनके भोगमें नियोजित करते है। तथा विद्येश्वर एवं मन्त्रेश्वरोंको अपने-अपने सामर्थ्यके अनुसार अशुद्ध अध्वाके अधिकारमें नियुक्त करते हैं। यह दो प्रकारका नियोजन-व्यापार ही अधिकारावस्थामें शिव या सकलशिवका कार्य है। यही उनका प्रेरकत्व और प्रभुत्व है। ये सदाशिवरूपी शिव ही समस्त जगत्के प्रभुरूपसे शुद्ध एवं अशुद्ध समस्त अध्वाओंके मूर्द्धदेशमें विराजमान हैं। योगिजन इसी भावसे उनका ध्यान करते हैं। मायाके ऊपर शुद्ध अध्वामें अनेकों भुवन हैं। प्रत्येक भुवनमें तदनुरूप देह एवं करण आदि तथा भोग्यादि हैं। ये विशुद्ध बैन्दव उपादानसे रचे हुए हैं। इनमें भी भुवनके ऊर्ध्व एवं अधोभावसे क्रमिक उत्कर्षापकर्ष है। दृष्टान्तरूपसे कह सकते हैं कि विद्यामें जो वामा एवं ज्योष्ठादि भुवन हैं उनमें वामाके भुवनकी अपेक्षा ज्येष्ठाका भुवन उत्कृष्ट माना जाता है। इसी प्रकार ज्येष्ठाके भुवनकी अपेक्षा रौद्रीय भुवन उत्कृष्ट है इत्यादि। इस विद्यातत्त्वमें सात करोड़ मन्त्र तथा उनकी अधीश्वरी सात विद्याराज्ञी स्थित हैं। ईश्वरतत्त्वमें आठ विद्येश्वर अपने-अपने पुरमें विराजते हैं। इनमें शिखण्डी सबसे नीचे हैं और अनन्त सबसे ऊपर। इनमें भी पूर्ववत् क्रमोत्कर्ष है। सदाशिवतत्त्वमें भी ठीक ऐसा ही है।

यहाँ प्रसंगतः पशु-आत्माके सम्बन्धमें दो चार बातें बतलाना आवश्यक है, ये सब आत्मा स्वरूपतः नित्य विभु चेतन एवं अन्यान्य शिवधर्ममय होनेपर भी संसारावस्थामें इन सब धर्मोंके विकासका अनुभव कर नही पाते। सर्वज्ञान-क्रियारूपा चैतन्यशक्ति जिस प्रकार शिवकी है वैसी ही जीव या पशु-आत्मामात्रकी भी है किन्तु भेद यह है कि शिवके स्वरूपमें यह सर्वज्ञत्व

* इस आगमशास्त्रमें जो पतिभेद है वह शक्तिभेदके समान उन भेदों (पतिभेदों)-के स्थानभेदके कारण होनेवाले कृत्यभेदके उपचारसे है।

सर्वकर्तृत्वरूपा शक्ति सर्वदा अनावृत रहती है। पशुमें भी यह है तो सर्वदा ही, तथापि अनादिकालसे पाशसमूहके द्वारा अवरुद्ध रहती है। मल, कर्म और माया—इन तीन पाशोंमेंसे कोई आत्मा एक पाशसे बँधा हुआ है, कोई दोसे और कोई तीनोंसे आबद्ध है। जिन आत्माओंमें इन तीनों पाशोंका बन्धन है वे 'सकल' कहलाते हैं। जिनकी मायिक कलादि प्रलयादि अवस्थाओंमें उपसंहृत हो गयी हैं तथा मल और कर्म क्षीण नहीं हुए हैं, उनका शास्त्रीय नाम 'प्रलयाकल' है। विज्ञानादि उपायोंके अवलम्बनसे कर्मक्षय हो जानेपर जब केवल 'मल' नामक एक ही पाश रह जाता है तो इस अवस्थामें आत्माको 'विज्ञानाकल' कहते हैं। ये विज्ञानाकल अथवा विज्ञानकेवली आत्मा भी मलके परिपाकगत तारतम्यके कारण तीन प्रकारके हैं। वे सभी मायातीत हैं, सभीकी कर्मवासनाएँ कट गयी हैं। किन्तु किंचित् अधिकारमल रह जानेके कारण उन्हें शिवसाम्यरूप पूर्णत्व प्राप्त नहीं हुआ है।

उत्तीर्णमायाम्बुधयो भग्नकर्ममहार्गलाः।
अप्राप्तशिवधामानः त्रिधा विज्ञानकेवलाः॥*

इन तीन प्रकारके विज्ञानाकल आत्माओंके नाम और परिचयके सम्बन्धमें संक्षेपसे कुछ कहा जाता है—

(क) विद्यातत्त्वनिवासी मन्त्र और विद्या—ये संख्यामें सात करोड़ हैं तथा विद्येश्वरवर्गकी आज्ञाके अधीन रहते हैं। इनका वासस्थान या भुवन विद्यातत्त्वमें है। विद्येश्वरगण पाशबद्ध 'सकल' जीवोंके उद्धारके समय इन मन्त्र और विद्यासंज्ञक विज्ञानाकल आत्मा या देवताओंका अपने अनुग्रह कार्यके करणरूपसे व्यवहार करते हैं। पंचकृत्यकारी होनेके कारण विद्येश्वरगणमें भी अनुग्राहकत्व है। वामादि विद्याभुवन उत्तरोत्तररूपसे स्थित हैं। देह, भोग और इन्द्रिय आदिका उत्कर्ष इन भुवनोंमें क्रमशः अधिक है। ज्ञान, योग एवं संन्यासादि उपायोंसे अथवा भोगके द्वारा कर्मराशिका क्षय होनेपर कर्मोंके फलभोगके साधनभूत मायिक सूक्ष्म एवं स्थूल देहका आत्यन्तिक विश्लेष हो जाता है। उस समय आत्मा कैवल्यको प्राप्त होकर मायाके ऊपर शुद्ध विद्यातत्त्वको आश्रय करके अणुरूपमें स्थित होता है। जब कर्म और माया कट जानेपर भी मल शेष रह जाता है। इस मलके निवृत्त हुए विना आत्माका पशुत्व नष्ट न होनेके कारण उसके शिवत्वलाभकी सम्भावना नहीं होती। मन परिपक्व न होनेतक पशुत्वकी निवृत्ति असम्भव है। अतः ये आत्मा मायातीत एवं केवलीभावको प्राप्त होनेपर भी अपरामुक्तितक प्राप्त नहीं कर पाते—परामुक्तिकी तो बात ही क्या है। सृष्टिके आरम्भमें इन अणु या आत्माओंमेंसे जिनका मल न्यूनाधिकरूपसे परिपक्व हो जाता है उनपर भगवान् स्वयं ही कृपा करते हैं। अर्थात् उनके अपने-अपने मलपाकके अनुरूप उनमें ज्ञानक्रियाशक्ति उन्मीलित कर देते हैं। तथा मन्त्र एवं मन्त्रेश्वर आदि पदपर शुद्ध अध्वामें भोग तथा अधिकार कार्यमें नियोजित कर देते हैं। इनमें जो अत्यन्त शुद्ध होते हैं, वे एक साथ परतत्त्व या शिवतत्त्वमें नियोजित हो जाते हैं। शेष आत्माओंका मलपाक न होनेके कारण उनका आवरण बहुत सघन रहता है। ये विज्ञानकैवल्य अवस्थामें ही विद्यमान रहते हैं। आत्माकी स्वाभाविकी चैतन्यरूपा सर्वज्ञानक्रियाशक्ति इस अवस्थामें सुप्त रहती है। इसलिये कैवल्यमें भी उनका पशुत्व निवृत्त होकर शिवत्वकी अभिव्यक्ति नहीं होती। यह केवली आत्मा कर्महीन होनेके कारण जहाँ एक ओर मायाके कार्य या मायिक जगत्को पार कर लेते हैं वहाँ दूसरी ओर महामाया या बिन्दुके कार्यरूप विशुद्ध अध्वा या जगत्में अभीतक प्रवेश भी नहीं कर पाते हैं—ये बीचहीमें रहते हैं। आत्मा स्वरूपतः विभु होनेके कारण विज्ञानकेवलियोंकी यह मध्यस्थता औपचारिक मात्र होती है। इसमें सन्देह नहीं कि कैवल्य तन्त्रसम्मत मुक्ति नहीं है।

(ख) ईश्वरतत्त्ववासी विद्येश्वर—ये संख्यामें आठ हैं। उनमें 'अनन्त' प्रधान हैं। ईश्वरतत्त्वमें इनके आठ भुवन हैं। इनमें भी उत्तरोत्तर गुणोंकी अधिकता पायी जाती है। अर्थात् शिखण्डीसे श्रीकण्ठमें विशेष गुण हैं। इनके भुवन भोग, देह और करण आदि भी उनसे श्रेष्ठ हैं। इसी प्रकार श्रीकण्ठसे त्रिमूर्ति अधिक शक्तिशाली हैं। इन विद्येश्वरोंमें अनन्त ही सबसे श्रेष्ठ और परम ईश्वर (समर्थ) हैं। इनका मल सर्वथा शान्त हो गया है, केवल अधिकारमात्रकी थोड़ी-सी वासना रह गयी है। ये सभी शिव-द्वारा अनुगृहीत होते हैं। ये प्रशान्तमलत्व, अधिकारमल-सम्बद्धत्व और शिवनुगृहीतत्व मन्त्रगणमें भी रहते हैं। किन्तु ये पंचकृत्यकारी होनेके कारण जीवोद्धाररूप व्यापारमें अनुग्रहके कर्ता होते हैं और मन्त्रगण अनुग्रहके कारण हैं—यही इनका भेद है। इन विद्येश्वरगणके विषयमें रौरवागममें लिखा है—

* जिन्होंने मायारूप समुद्रको पार कर लिया है, कर्ममय महान् बन्धनको काट डाला है किन्तु शिवके परम धामको प्राप्त नहीं किया वे विज्ञानाकल तीन प्रकारके हैं।

सृष्टिसंरक्षणादानभावानुग्रहकारिणः।[१]

'शिवार्ककरसम्पर्कविकासात्मीयशक्तयः'—इस वाक्यके अनुसार इनकी आत्मशक्तियाँ शिवके अनुग्रहात्मक संसर्गसे विकसित हो गयी हैं।

(ग) सदाशिवतत्त्वस्थभुवनवासी पशु अथवा संस्कार्य सदाशिव—ये सदाशिव अथवा अधिकारावस्थापन्न शिवके समान पंचकृत्यकारी हैं—सदाशिवतत्त्वमें आश्रित होनेके कारण ये भी सदाशिव नामसे ही परिचित हैं। ये परमेश्वरकी कृपासे शुद्ध अध्वाके ऊपर स्थित हैं।

शुद्ध अध्वामें विद्या, ईश्वर और सदाशिव—इन तीन तत्त्वोंके आश्रयसे भोक्तृवर्गके सहित अठारह मुख्य भुवन हैं। प्रत्येक भुवनमें उस भुवनके अधीश्वर तो रहते ही हैं, उनके सिवा और भी अगणित आत्मा रहते हैं। इन आत्माओंमेंसे किन्हीं-किन्हींने तत्तद् भुवनके अधिष्ठाताकी आराधना करके और किन्हींने दीक्षाके प्रभावसे उन भुवनोंमें स्थान प्राप्त किया है। सूक्ष्म स्वायम्भुव आगममें कहा है—

यो यत्राभिलषेद्भोगान् स तत्रैव नियोजितः।
सिद्धिभाङ् मन्त्रसामर्थ्यात्[२]**।'**

इस विषयमें स्वच्छन्द तन्त्रमें भी बहुत आलोचना की गयी है।

अब प्रलयाकल और सकलनामक पशु-आत्माओंके सम्बन्धमें संक्षेपसे कुछ कहा जाता है। प्रलयके समय ईश्वर समस्त मायिक कार्यका उपसंहार करके स्थित रहते हैं—यह प्रसिद्ध ही है। प्रलयका उद्देश्य दीर्घकालतक संसारमें परिभ्रमण करनेके कारण थके हुए आत्माओंको विश्राम देना, उनके कर्मोंका परिपाक करना तथा असंख्य कार्यपरम्पराकी उत्पत्तिके कारण जिसकी शक्तिका क्षय हुआ है उस मायाकी शक्तिवृद्धि करना है। जिन कला आदि भोगसाधनोंके द्वारा आत्मा विषयभोग करनेमें समर्थ होते हैं, वे प्रलयकालमें विलीन हो जाते हैं, इसलिये उस समय आत्मा कर्म और मल—इन दोनों पाशोंमें बँधकर नवीन सृष्टिका आरम्भ होनेतक मायाके भीतर रहते हैं। इन्हें 'प्रलयाकल या प्रलयकेवल जीव' कहकर वर्णन किया जाता है। यद्यपि तबतक इनका कर्मक्षय नहीं हो पाता तथापि ये प्रलयके प्रभावसे कलादिहीन होकर एक प्रकारकी कैवल्यावस्थामें ही रहते हैं। इनमेंसे जिनके कर्म और मल सम्यक् प्रकारसे परिपक्व हो जाते हैं, उन्हें परमेश्वर तत्क्षण परामुक्त प्रदान करते हैं—फिर उन्हें अधिकार प्रदान करनेका अवसर नहीं रहता। मलपाक एवं कर्मपाकके विषयमें बहुत-सी जाननेयोग्य बातें हैं। मलपाक प्रधानतः श्रीभगवान्की शक्तिके सम्बन्धसे ही होता है—कर्मपाक भी किसी अंशमें तो मलपाकके ही सदृश है। कर्मोंमें बहुत भेद रहता है। जो कर्म क्रमशः पक्व होनेवाले है, उनका क्षय जीवका देहसे सम्बन्ध होनेपर भोगके द्वारा ही होता है, और जो एक साथ पक्व होने होते हैं, उनका क्षय श्रीभगवान्के अनुग्रहसे ही होता है। उन्हें भोगद्वारा क्षय नहीं करना पड़ता।

जिन जीवोंके मल, कर्म एवं माया परिपक्व नहीं हो पाते वे प्रलयकालमें नवीन सृष्टिका आरम्भ होनेतक मुग्ध हुए-से विश्राम करते रहते हैं। पीछे जब उन्हें भोगयोग्य अवस्था प्राप्त होती है तब परमेश्वर अनन्तनामक विद्येश्वरमें अपनी शक्तिका सन्निवेश करके उसके द्वारा मायातत्त्वको क्षोभित करते हैं तथा अशुद्ध जगत्की रचना करते हैं। इस सृष्टिमे वे अपक्वपाश जीव कलादि समस्त भोगसाधनोंको प्राप्त कर सकल पशुरूपसे आविर्भूत होते हैं। इनमें तीनों ही प्रकारके पाश रहते हैं।

इन सकल पशुओंके सिवा एक प्रकारके सकल जीव भी हैं। इनके मल और कर्म परिपक्व हो जानेपर भी ये सृष्टिके आरम्भमें साक्षात् परमेश्वरका अनुग्रह पाकर उसीके द्वारा मायाके गर्भमें स्थित जगत्का अधिकार पानेके लिये अपरमन्त्रेश्वरके पदपर प्रतिष्ठित होते हैं तथा अनन्तकी कृपासे आतिवाहिक देह ग्रहणकर 'सकल' नामसे परिचित होते हैं। यह विश्वके व्यापारको सम्पन्न करनेवाला मायाके गर्भमें स्थित आधिकारिक मण्डल है। आतिवाहिक देह भी मायिक देह ही है—इसमें सन्देह नहीं। पहले शुद्ध जगत्में मायासे ऊपर जिन अधिकारियोंके विषयमें चर्चा की गयी है। उनके देह बैन्दव (बिन्दुजनित) अर्थात् महामायारूप उपादानसे गठित हैं। किन्तु परमेश्वर अनुग्रहकी प्राप्तिके समय उत्पन्न होनेवाला बैन्दव देह इन सकल आधिकारिकगणको भी प्राप्त होता है। वह अत्यन्त सूक्ष्म होता है, इसलिये भीतर वर्तमान रहनेपर भी

१. ये सृष्टि, संरक्षण, संहार, निग्रह (तिरोधान) और अनुग्रह करनेवाले हैं।
२. जो जिस भुवनके भोगोंकी इच्छा करता है वह गुरुके द्वारा उसीमें नियोजित होकर मन्त्रकी शक्तिसे सिद्धि प्राप्त करता है।

उसके द्वारा सकल पशुके अधिकारी या शासनका कार्य नहीं हो सकता इसलिये इस बैन्दव देहके अधिकरण-रूपसे एक मायिक देहकी आवश्यकता होती है। यह मायिक देह और पूर्वोक्त बैन्दव देह अभिन्न रूपसे प्रतीत होते हैं। बैन्दव देह शुद्ध और स्वच्छ होनेके कारण बोधमय है और मायिक देह आतिवाहिक होनेपर भी वस्तुतः मोहमय होता है, तो भी यह बैन्दव देहके सम्बन्धसे अपनी स्वाभाविक मोहमयताको छोड़कर बोधमयरूपसे भासमान होता है। मन्त्रवर्गके विषयमें भी यही नियम है। इनके सिवा ऐसे भी जीव होते हैं जिनके मलका पाक न होनेपर भी पापका क्षय और पुण्यका उत्कर्ष होनेके कारण उन्हें भिन्न-भिन्न भुवनोंमें आधिपत्यलाभके योग्य शरीर मिल जाता है। ये भुवन अंगुष्ठसे लेकर कालानलपर्यन्त विभित्र स्वरोंमें विभक्त हैं।

अब पशु-आत्माके निरूपणके पश्चात् पाशके सम्बन्धमें भी कुछ कहना आवश्यक जान पड़ता है, क्योंकि पाशसे सम्बन्ध होनेके कारण ही आत्माको पशुभावकी प्राप्ति और संसारका अनुभव होता है। पाश अचेतन है और चेतनके अधीन, परिणामशाली एवं चैतन्यका प्रतिबन्धक है। मल, कर्म और माया साधारणतः इन तीन प्रकारके पाशोंका ही वर्णन पाया जाता है। इनमें मल ही प्रधान है। शुद्ध आत्मचैतन्यरूपा संवित्शक्ति मलहीना होनके कारण स्वरूपको प्रकाशित करनेवाली है—यह सर्वदा अभिन्नरूपा और परिणामहीना है। तन्त्रमतमें घट-पटादि बाह्यभेद भी असत्य नहीं, सत्य ही हैं इन बाह्य पदार्थोंकी सन्निधिके कारण बौद्धज्ञानमें तत्तत् प्रकारके विभिन्न आकारोंकी उत्पत्ति होती है और उनका आत्माके बोधमें आरोप होता है। किन्तु अर्थ-भेदकी सन्निधिके कारण बौद्धज्ञानमें भेद होनेपर भी उस ज्ञानकी आश्रयभूता आत्मशक्ति अथवा ग्राहक चैतन्य सर्वदा एक रूपमें ही भासमान होता है। वह नित्य और निर्विकार है। इस आत्मसंवित्‌को ही पौरुषज्ञान कहते हैं। पौरुषज्ञानसे बौद्धज्ञानके पार्थक्यका भान न रहनेके कारण ही ज्ञानमें नानात्व भ्रमका आविर्भाव होता है। इसका मूल कारण पशुत्वका हेतुभुत मल है।

सा तु संविदविज्ञाता तैस्तैर्भावैर्विवर्तते।
मलोपरुद्धदृक्छक्तेर्नरस्येवोडुराट् पशोः॥[१]

जबतक मलकी निवृत्ति नहीं होगी तबतक पशुत्व दूर नहीं होगा और शिवत्वकी अभिव्यक्ति भी नहीं होगी। केवल ज्ञानके ही द्वारा मलका नाश होना सम्भव नहीं है। द्वैतमतमें मल द्रव्यात्मक है। अतः जिस प्रकार आँखोंकी जाली चिकित्सककी अस्त्रोपचाररूपा क्रियाके द्वारा निवृत्त होती है उसी प्रकार ईश्वरके दीक्षासंज्ञक व्यापारके द्वारा इस मलकी निवृत्ति हो सकती है। मलकी निवृत्तिका इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है। स्वायम्भुव आगममें कहा है—'**दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवं धाम नयत्यपि**' अर्थात् दीक्षा ही-मलको छुटाती है और फिर ऊपरकी ओर शिवलोकमें भी ले जाती है। चित् और अचित्का अविवेक मलसे[२] उत्पन्न होता है, अतः उस मलकी निवृत्ति न होनेतक पूर्ण विवेककी प्राप्ति नहीं हो सकती। इस अविवेकसे ही विवर्त्त (अध्यास)-का उदय होता है।

मल ही आणव पाश है। यदि आत्माकी नित्य और व्यापक चित्शक्तिका इस आणव पाशसे अवरोध न होता तो संसारावस्थामें भोगनिष्पत्तिके लिये कलादिके द्वारा अपने सामर्थ्यकी उत्तेजनाकी आवश्यकता न होती तथा मोक्षके लिये भी परमेश्वरकी कृपा या बलका कोई प्रयोजन न होता। मल एक होनेपर भी उसकी शक्तियाँ अनेक हैं। उनमेंसे एक-एक-शक्तिके द्वारा एक-एक आत्माकी चित्क्रियाका निरोध होता है। इसीसे मल एक होनेपर भी एक पुरुषकी मलनिवृत्तिके साथ सभीकी मलनिवृत्तिका प्रसंग प्राप्त नहीं होता तथा एक पुरुषके मोक्षलाभसे सभीके मोक्षकी आशंका भी नहीं होती। ये मलकी शक्तियाँ अपने-अपने रोध और अपसरण व्यापारमें स्वतन्त्र नहीं है, किन्तु भगवान्‌की शक्तिके अधीन हैं।

इसीसे भगवत्-शक्ति भी उपचारसे अनेकरूपमें व्यवहृत होती है। मलशक्तियाँ अपने-अपने अधिकारके समय चैतन्यका रोध किये रहती हैं। उस समय भगवत्-शक्ति उन शक्तियोंका परिणाम करते हुए उनके निग्रहव्यापारका अनुसरण करती है और 'रोधशक्ति' नामसे कही जाती है। किन्तु जिस समय वह सर्वानुग्रहशील नित्योद्योगमय सदाशिवके ईशानसंज्ञक मस्तकसे निकलती हुई मोक्षप्रकाशिका ज्ञानप्रभाद्वारा अणुवर्गके हृदयकमलोंको उन्मीलित करती है तब उसीको 'अनुग्रहशक्ति' कहा जाता है। मलाधिकारी समाप्ति न होनेतक मुक्ति नहीं

१. विशेषरूपसे ज्ञात न होने कारण वह संवित् मलाच्छन्न दृष्टिवाले पुरुषको द्विचन्द्रज्ञानके समान विभिन्न भावोंसे विवर्तित (प्रतीत) होती है।

२. नीहार, अञ्जन, मृत्यु, अविद्या, और आवरण आदि 'मल'के ही शास्त्रोक्त अन्य नाम हैं।

हो सकती। मलकी यह अधिकारसमाप्ति अपने परिणामकी अपेक्षासे होती है। मलमें परिणत होनेकी योग्यता रहनेपर भी वह अपने-आप परिणत होनेमें समर्थ नहीं है क्योंकि अचेतन होनेके कारण यह सर्वदा सब प्रकारसे चित्-शक्तिद्वारा प्रयुक्त होनेवाला है। अतः परमेश्वरकी शक्तिके प्रभावसे ही मलका परिणाम होता है—यही युक्तिपूर्ण सिद्धान्त है।

कर्मसंज्ञक पाशके विषयमें विशेष कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं है। यह धर्माधर्मात्मक होता है तथा अदृष्ट एवं बीज आदि नामोंसे प्रसिद्ध है। कर्मसन्तान प्रवाहरूपसे अनादि है तथा सूक्ष्म देहके मध्य-अवयवभूत बुद्धितत्त्वमें आश्रित है।

माया नामसे जिस पाशकी बात कही गयी है वह मायातत्त्वसे भिन्न है। सृष्टिके आरम्भमें जिस समय मन्त्रेश्वरके द्वारा मायातत्त्व क्षोभित होता है उस समय वह कला एवं विद्या आदि तत्त्वरूपसे साक्षात् एवं परम्पराक्रमसे परिणामको प्राप्त होता है। कलासे लेकर पृथ्वीपर्यन्त तीस तत्त्वोंकी समष्टि ही मायाका स्वरूप है। पुर्यष्टक एवं सूक्ष्मदेह आदि इस मायाके ही नामान्तर हैं।[१] यह प्रत्येक आत्माके लिये अलग-अलग होता है तथा प्रलय या मोक्षकालयर्पन्त उसके भोगसाधनरूपसे कर्मानुसार सम्पूर्ण निम्नवर्ती भुवनोंमें पर्यटन करता रहता है। मायातत्त्व या मायासंज्ञक पाश एक नहीं है। कलादि तत्त्वोंकी समष्टिरूपा माया साधारण और असाधारण भेदसे दो प्रकारकी है। साधारण माया अत्यन्त विस्तृत एवं समस्त आत्माओंकी भोग्यरूपा भुवनावलीकी आधार है। बिन्दुकी विद्या प्रतिष्ठा और निवृत्ति नामकी कलाओंमें यह निश्चल-सी स्थित रहती है। विद्याकलामें माया, कला, काल, नियति, विद्या (अविद्या), राग और प्रकृति —ये सात भुवनाधार हैं, जिनमें अंगुष्ठमात्र भुवनसे लेकर वामदेव नामक भुवनपर्यन्त सत्ताईस भुवन अवस्थित हैं। प्रतिष्ठाकलामें गुणोंसे लेकर जलपर्यन्त तेईस सत्त्वमय भुवनाधार हैं। इनमें श्रीकण्ठभुवनसे लेकर अमरेशभुवनपर्यन्त छप्पन भुवनोंका सन्निवेश है। निवृत्तिकलामें केवल पृथिवीतत्त्व है। यह भद्रकालीपुरसे लेकर कालाग्निभुवनपर्यन्त एक सौ आठ भुवनोंका आधार है। इस साधारण मायाके विशाल राज्यमें प्रत्येक आत्माके भोगसाधनभूत संकोच-विकासशील सूक्ष्मदेहमय असंख्य तत्त्वोंकी समष्टि इधर-उधर संचार करती रहती है। इन्हें असाधारण माया या पुर्यष्टक कहते हैं। तत्तत् भुवनसे उत्पन्न हुए स्थूल देहोंके साथ जब इन सूक्ष्म देहोंका सम्बन्ध होता है तो उनमें अपने-अपने कर्मोंको भोगनेकी योग्यता उत्पन्न होती है।

मायातत्त्व नित्य विभु और एक है। किन्तु इसमें विचित्र शक्ति है। सृष्टिके आरम्भमें यह ईश्वरशक्तिके द्वारा क्षुब्ध होकर कला, काल और नियति—इन तीन तत्त्वोंको उत्पन्न करता है। इनमें कलातत्त्व मलशक्तिको किंचित् अभिभूत करके आत्माकी चैतन्यशक्तिका किंचित् उद्बोध करता है। इसके परिणाममें आत्माका स्वरूप उसके द्वारा अनुविद्ध होनेके कारण उसमें अपने व्यापारके लिये स्वल्प-मात्रामें कर्तृत्वभावका विकास होता है। मल आत्माका पराभव न करनेपर भी उसकी शक्तिका रोध तो करता ही है। शक्ति ही करण है। अतः कलातत्त्व आत्मशक्तिके मलरूप आवरणको थोड़ा-सा हटाकर तथा आत्माके कर्तृत्वको किंचिन्मात्रामें उद्बुद्ध करके आत्माकी अपने कर्मफल-भोगमें सहायता करता है। बुद्धितत्त्वका विषयसे उपरञ्जित होना ही आत्माका भोग है। यह एक प्रकारका संवेदन है, जिसका स्वरूप प्रवृत्तियोंमें अभिन्नरूपसे भासित होता है।

अनन्तनामक विद्येश्वरके द्वारा ही मायाका क्षोभ होता है—यह बात पहले कही जा चुकी है। तान्त्रिक आचार्यगण मायाके क्षोभमें परमेश्वरका साक्षात् कर्तृत्व स्वीकार नहीं करते। उनका प्रयोजकत्व तो अवश्य मानते हैं, क्योंकि उनसे अधिष्ठित हुए बिना अनन्तादिका कर्तृत्व सम्भव नहीं है। किरणागममें लिखा है—

'शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्ता प्रोक्तोऽनन्तोऽसिते प्रभुः।'[२]

माया जो इस प्रकार विचित्र भुवनादि एवं नाना प्रकारके देह और इन्द्रियरूपसे अर्थात् कर्मफलभोगके साधनरूपसे परिणत होती है वह त्रिविध बन्धनयुक्त सकलसंज्ञक पशुके लिये ही है। इन पशुओंमे अनात्मामें आत्माभिमानरूप मायामय बन्धन, सुख-दुख एवं मोहका

१. सांख्य और वेदान्तसम्मत सूक्ष्म या लिंगशरीरसे तान्त्रिकोंका सूक्ष्मशरीर किस अंशमें भिन्न है—यह बात सुगमतासे समझी जा सकती है। तन्त्रप्रतिपादित कलदि तत्त्वोंका स्थान सांख्य या वेदान्तमें न रहनेके कारण इन सिद्धान्तोंके सूक्ष्मशरीरके लक्षणोंमें भेद आ गया है। किन्तु यह शरीर जीवके भोग-साधनोंमें प्रधान है—यह बात तो सभीने स्वीकार की है।

२. शुद्ध अध्वामें 'शिव' कर्ता है तथा अशुद्धमें 'अनन्त' कर्ता कहा गया है।

हेतुभूत विपर्यय तथा अशक्तिप्रभृति भावप्रत्ययात्मक कर्ममय बन्धन और पशुत्वकी प्राप्ति करानेवाला अनादि आवरणमय आणव-बन्धन रहते हैं। तन्त्रमतमें शरीरी और अशरीरी आत्माके कर्तृत्वमें कुछ भेद है। इसलिये परमेश्वरका अपनी शक्तिद्वारा किया हुआ बिन्दु या महामायाका विक्षोभ और अपनी शक्तिद्वारा अनन्तका किया हुआ मायाका विक्षोभ—ये दोनों सर्वथा एक प्रकारके व्यापार नहीं हैं शिवकी अपनी शक्ति शुद्धा संवित् अर्थात् विशुद्ध निर्विकल्पक ज्ञान है। किन्तु अनन्तकी अपनी शक्ति सविकल्पक ज्ञान अर्थात् विकल्पविज्ञान है। शरीर एवं इन्द्रिय आदिके साथ सम्बन्ध न रहनेपर कर्तृत्व नहीं हो सकता-ऐसी बात नही है,क्योंकि अशरीर आत्माका भी अपने देहके स्पन्दनादिमें कर्तृत्व देखा जाता है। आत्माके साथ मल आदिका सम्बन्ध होनेपर ही शरीरादिकी आवश्यकता होती है। शिव मलदीन हैं, अत: उनके कर्तृत्वमें शरीरादिकी अपेक्षा नहीं है। मायापति अनन्त सर्वथा निर्मल नहीं हैं, क्योंकि उनमें अधिकार-मल रहता है। उनका शरीर बैन्दव या महामायाके उपादानसे रचा हुआ है—यह बात पहले कही जा चुकी है। अनन्तादिको यह सविकल्पक ज्ञान किस प्रकार उत्पन्न होता है—यह बात जानने योग्य है। तन्त्रका मत तो ऐसा है कि 'यह घट है' इस प्रकार परामर्शस्वरूप शब्दोल्लेख होनेपर आत्माको सविकल्पक ज्ञान होता है— '**सविकल्पकविज्ञानं चिते: शब्दानुवेधत:**'[१] अर्थात् चेतनको शब्दानुवेधसे सविकल्पक ज्ञान होता है। अत: अनन्तके विकल्पविज्ञानमें भी शब्दोल्लेख अवश्य रहता है—यह बात स्वीकार करनी पड़ती है। किन्तु यह शब्दोल्लेख किस प्रकार सम्भव हो सकता है? हम जिस समयकी आलोचना कर रहे है उस समय अशुद्ध जगत्की तो उत्पत्ति ही नहीं हुई थी, क्योंकि मायाका क्षोभ होनेपर ही उसके परिणाममें इस जगत्की उत्पत्ति होती है। इसीसे तान्त्रिकलोग स्थूल आकाशको इस शब्दके अभिव्यंजकरूपसे स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि परमेश्वरजनित महामाया या बिन्दुका क्षोभ होनेपर ही शब्दकी उत्पत्ति होती है। महामाया ही कुण्डलिनी या परव्योमस्वरूपा है। इसका ही परिणाम शब्द है। पंचभूतोमें आदिभूत आकाश जैसे अवकाशदान तथा स्थूल शब्दके अभिव्यञ्जनसे सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिर्मण्डलका भोग एवं अधिकार सम्पादन करता है उसी प्रकार बिन्दुरूप परमाकाश भी अवकाशदान तथा शब्दव्यञ्जनके द्वारा शुद्ध जगत्-निवासी शिवोंको अर्थात् सर्वज्ञत्व एवं सर्वकर्तृत्वसम्पन्न विद्येश्वरोंके भोग तथा अधिकारका कारण बनता है।

बिन्दु परा-पश्यन्ती प्रभृति अपनी शब्दात्मिका वृत्तियोंके सम्बन्धसे 'यह घट लाल है' इस प्रकारके परामर्शरूप विकल्पका उल्लेख करते हुए सविकल्पक ज्ञानको उत्पन्न करता है। जात्यादिविशेषणविशिष्ट सविकल्पक ज्ञान शब्दानुविद्ध (Conceptual) होकर ही उत्पन्न होता है। यह ज्ञान प्रत्यक्षानुभव है। इसको पूर्वानुभूत वासनात्मक संस्कार अथवा भावनारूपमें ग्रहण करनेका कोई कारण नहीं है। अध्यवसाय बुद्धिका कार्य है। इसलिये कोई-कोई इस सविकल्पक अनुभवको भी बुद्धिका ही कार्य समझते हैं। परन्तु तान्त्रिक दृष्टिमें अध्यवसाय बुद्धिका परिणाम होनेपर भी विकल्पज्ञानका उद्भव बिन्दुके कार्य शब्दकी सहकारितासे ही होता है। मायाके ऊपर बुद्धि नहीं है—यह बात सत्य है, परन्तु विद्येश्वरप्रभृति शुद्ध जगत्-वासियोंका विकल्पानुभव बुद्धिजनित नहीं है, उसका एकमात्र निमित्त वाक्-शक्ति ही है। अनन्त किस प्रकार विकल्पज्ञानके द्वारा मायाको शुद्ध करके जगत्की सृष्टि करते हैं—यह बात पूर्वोक्त वर्णनसे हृदयंगम हो सकती है।

इस सविकल्पक ज्ञानसे अनन्तके कर्तृत्वका एक दूसरी प्रक्रियासे भी उपपादन किया जाता है। परन्तु उस प्रक्रिया का सर्वत्र समादर न होनेके कारण यहाँ उसका वर्णन नहीं किया जाता।

बिन्दुकी शब्दात्मिका वृत्ति वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा भेदसे चार प्रकारकी है।[२] अणु अर्थात्

---

१. चिन्तन (thinking) के साथ भाषा (language) का सम्बन्ध सभीने स्वीकार किया है शब्दोल्लेखका अतिक्रमण किये बिना चिन्ताराज्य (thought) या विकल्पभूमिका वेध नहीं किया जा सकता। इसीसे योगीलोग 'स्मृतिपरिशुद्धि'का अनुशीलन करते हैं। बौद्धलोग भी शब्दात्मक ज्ञानको कल्पना कहते है। उसे प्रत्यक्ष नहीं मानते।

२. ये चार वृत्तियाँ इस प्रकार है—

१. वैखरी-यह श्रोत्रग्राह्य अर्थवाचक स्थूल शब्द है। कण्ठ प्रभृति स्थानोंसे आघात होनेपर वायु वर्णका आकार धारण करता है। साधारणत: यह शब्द प्राणकी वृत्तिको आश्रय करके प्रयुक्त होता है। इसलिये इसका उद्भव आकाश तथा वायु दोनोंसे माना जाता है।

जीवामात्रमें ही इन वृत्तियोंकी सत्ता रहती है। इन वृत्तियोंके भेदसे किसीका ज्ञान उत्कृष्ट, किसीका मध्यम और किसीका अपकृष्ट माना जाता है। इनको अतिक्रम करनेसे पुरुषको शिवत्वलाभ अथवा मोक्षकी प्राप्ति होती है, इससे पहले नहीं।

(३)

शैव तथा शाक्ताद्वैत सिद्धान्तोंका बहुत अंशोंमें सादृश्य है। पहले हमने जिस द्वैतदृष्टिकी आलोचना की है, उससे अद्वैत दृष्टिका किसी-किसी अंशमें मतभेद है। किन्तु यहाँ उसका विशेष विवरण देनेकी आवश्यकता नहीं है। इस मतके अनुसार आत्मा चित् अर्थात् प्रकाशस्वरूप है। उसकी विमर्शरूपा शक्ति उससे अभिन्न है। यह शक्ति वाक्रूपा है।* इसकी परावस्थाका 'पूर्णाहन्ता' नामसे वर्णन किया जाता है। इसका स्वरूप सर्वदा प्रकाशमय महामन्त्रात्मक है, जिसके गर्भमें अकारसे लेकर क्षकारपर्यन्त समस्त शक्तिचक्र निहित है। परावाक् पश्यन्ती आदि क्रमसे उत्तरोत्तर भिन्न-भिन्न भूमियोंको प्रकाशित करती है। वस्तुतः आत्मा अपनी शक्तिसे ही विमोहित होकर अपने पंचकृत्य-कारित्वको मानो भूले रहता है।† इसका मूल उसकी अपनी इच्छा या स्वातन्त्र्य है। फिर जब स्वेच्छासे अर्थात् शक्तिपातके प्रभावसे उसका बल उन्मीलित होता है उस समय वह पूर्ण सर्वज्ञत्व एवं सर्वकर्तृत्वादिरूप अपने पारमेश्वरिक स्वभावमें सदाके लिये स्थित हो जाता है।

आणवादि तीन प्रकारका मल संकुचितज्ञानात्मक ही है। इसके द्वारा जिस परिच्छिन्न ज्ञेयपदार्थका भान होता है वह भी वस्तुतः ज्ञानसे भिन्न नहीं है। अ से लेकर क्ष तक मातृका या वर्णोंसे ये सब ज्ञान अधिष्ठित हैं। वर्णोंसे ही समस्त विश्वकी उत्पत्ति होती है, इसलिये तन्त्रोंमें इन्हें विश्वजननी मातृकारूपसे वर्णन किया गया है। अज्ञात रहनेपर ये सब बन्धनका कारण होती हैं, परन्तु सम्यक् प्रकारसे ज्ञानकी विषय होनेपर इन्हींसे परासिद्धिकी भी प्राप्ति होती है। मलात्मक ज्ञानत्रय चाहे निर्विकल्प हो चाहे सविकल्प, दोनों ही अवस्थाओंमें शब्दानुविद्ध रहता है। मातृकाओंके प्रभावसे तत्तत् ज्ञान शब्दोंके अनुवेधद्वारा हर्ष-शोक प्रभृति विभिन्न भावोंका आकार धारण करते हुए अष्ट वर्ग, निवृत्त्यादि पंच कला तथा कलादि छः अध्वाओंकी अधिष्ठात्री ब्राह्मी प्रभृति शक्तिकोटिमें भासमान होते हैं। अम्बिकादि शक्तिमण्डलका प्रभाव भी इनपर पड़ता है। मातृकाओंके अधिष्ठानसे ही ज्ञानमें अर्थात् पूर्णाहन्तामें अभेदानुसन्धानका लोप होता है और ज्ञानसमूह प्रत्येक क्षणमें बहिर्मुख होकर बन्धनसे हेतु होते हैं।

अम्बा, ज्येष्ठा, रौद्री तथा वामा—ये चार शक्तियाँ सब शक्तियोंकी कारण हैं। अकारादि मातृका ही कला

२. मध्यमा—यह प्राणवृत्तिके अतीत श्रोत्रका अविषय तथा अन्तःसंजल्परूप अर्थात् चिन्तनके रूपमें भीतर-ही-भीतर चलनेवाला है। परामर्शज्ञान इसीका नामान्तर है। यह शुद्ध बुद्धिका परिणाम है और क्रमविशिष्ट है। यही स्थूल शब्दका कारण है।

३. पश्यन्ती—इसका नामान्तर अक्षर बिन्दु है, जिसका पहले वर्णन किया जा चुका है। यह स्वयंप्रकाश और वर्णोंके अविभागके कारण क्रमहीन है।

४. परा अथवा सूक्ष्मा—इसका कहीं-कहीं नादके नामसे भी वर्णन किया जाता है, अभिधेयबुद्धिका बीज है। इसका स्वरूप ज्योतिर्मय एवं प्रत्येक पुरुषमें भिन्न-भिन्न है। सुषुप्ति-अवस्थामें भी इसकी निवृत्ति नहीं होती। परावाक्के स्वरूपसे पुरुषके स्वरूपका पृथक्रूपसे साक्षात्कार करनेपर ही पुरुषका भोगाधिकार निवृत्त होता है। यही मुख्य विवेकज्ञान है। जबतक इसका उदय नहीं होता तबतक शब्दानुविद्धज्ञानसे अतीत विशुद्ध निर्विकल्पक ज्ञान प्राप्त करनेका कोई उपाय नहीं है। सांख्यसम्मत सत्त्वपुरुषान्यताख्याति अथवा विवेकख्यातिसे तन्त्रप्रसिद्ध आत्माकी स्वरूपस्थिति नहीं हो सकती। इसलिये सांख्योक्त आगममें कही मोक्षरूपमें ग्रहण नहीं किया गया। वस्तुतः इस अवस्थामें न तो आत्माका पशुत्व ही निवृत्त होता है और न उसमें शिवत्वकी अभिव्यक्ति ही होती है। इस प्रकारके केवली पुरुषमें परावाक्का सम्बन्ध विद्यमान रहता है। दीक्षाके प्रभावसे मल निवृत्त न होनेपर पुरुष और परावाक्का स्वरूपगत अविवेक दूर नहीं होता।

* द्वैतमतमें परावाक् बिन्दुकी वृत्तिविशेष है। इसका अतिक्रम करनेपर मोक्ष प्राप्त होता है। बिन्दु शुद्ध होनेपर भी जड है। परन्तु अद्वैतमतमें परावाक् परमेश्वरकी स्वतन्त्र शक्तिका ही नामान्तर है और वह चिद्रूपा है। यह पूर्णास्थामें आत्मा या परमेश्वरमें अभिन्न रूपसे रहती है।

† वस्तुतः मायिक दशामें भी आत्माका पंचकृत्यकारित्व सर्वथा आवृत नहीं होता। जो पुरुष भक्तिपूर्वक अपने पंचकृत्य-कारित्वरूप स्वभावका दृढ़ भावनाके साथ सर्वदा परिशीलन कर सकता है उसका परमेश्वरभाव खुल जाता है। वह जगत्को अपने स्वरूपका विकास समझकर जीवन्मुक्तपदमें आरोहण कर सकता है। उस समय जागतिक पदार्थ उसे अपने आत्माके साथ अभिन्न रूपमें प्रतीत होने लगते हैं और उसके सब बन्धन कट जाते हैं।

देवी रश्मि आदि विभिन्न नामोंसे कही जाती है। ये सब स्थूल वर्णरूपमें तथा पद और वाक्योंकी योजनासे अनेक प्रकारके लौकिक एवं अलौकिक शब्दरूपमें परिणत हो जाती हैं। इन कलाओंके प्रभावसे पशुओंका ज्ञान शब्दानुविद्ध होनेके कारण कहा जाता है कि पशु कलाओंके अधीन अथवा उनका भोग्य है। इन्हींके प्रभावसे जो ज्ञानभास अथवा आणव, मायीय एवं कार्म मल उत्पन्न होता है उसके द्वारा पशुका अपना विभव अर्थात् ऐश्वर्य लुप्त हो जाता है। 'मैं अपूर्ण हूँ' इस ज्ञानाभासका नाम 'आणव मल' है 'मै कृश हूँ या स्थूल हूँ यह ज्ञानाभास 'मायामल' है तथा 'मैं यज्ञादि करता हूँ।' इस प्रकारका ज्ञानाभास 'कर्ममल' कहा जाता है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जब अनावृत प्रकाश ही जगत्का स्वभाव है तो बन्धनका आविर्भाव कहाँसे होता है, क्योंकि अद्वैतमतमें चित्प्रकाशको छोड़कर तो दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है। इस प्रश्नके समाधानमें आचार्योंका कथन है कि परमेश्वर अपनी स्वातन्त्र्य शक्तिसे सबसे पहले अपने स्वरूपको आच्छादित करनेवाली महामाया शक्तिको अभिव्यक्त करते हैं। उसके कारण आकाशवत् स्वच्छ आत्मामें सङ्कोचका आविर्भाव होता है, जो अनाश्रित अथवा शिवतत्त्वसे लेकर मायाप्रमातातक सर्वत्र व्यापक है। परमेश्वरके स्वातन्त्र्यकी हानि ही इस सङ्कोचका स्वरूप है। वस्तुतः यह अभिन्न परमेश्वरभावका अस्फुरण है। इसीका नाम अपूर्णंमन्यता या आणव मल है। इसीको अज्ञान भी कहा जाता है। आगमकी परिभाषामें इसे अख्याति भी कहते हैं, जिसका स्वरूप आत्मामें अनात्मभावका अभिमान है। यह अज्ञानात्मक ज्ञान तो बन्धन है ही परन्तु अनात्मामें आत्माभिमानरूप अज्ञानमूलक ज्ञान[1] भी बन्धन ही है। इसलिये आणव मल दो प्रकारका है—

(१) चिदात्मामें स्वातन्त्र्यका अप्रकाश अर्थात् अणूर्णंमन्यता यह मल विज्ञानाकल पशुमें रहता है।

(२) स्वातन्त्र्य रहते हुए भी देहादि अनात्माओंमें अबोधात्मक आत्माभिमान।

विश्वका कारण माया है, जिसका नामान्तर योनि है। उससे होनेवाले कलासे लेकर पृथिवीपर्यन्त तत्त्वसमूह, जिनसे कि विभित्र भुवन देह एवं इन्द्रिय आदिकी उत्पत्ति होती है, मायामल हैं। इसको आश्रय करके जो शुभाशुभ कर्मोंका अनुष्ठान होता है वह कर्म-मल है। कलादि तत्त्व आणव मलकी भित्तिसे सम्बद्ध होकर ही पुरुषका आच्छादन करते हैं, इसलिये ये मलपदवाच्य हैं।

मलत्रय और कलासमूहकी अधिष्ठात्री मातृकाशक्ति है—यह बात पहले कही जा चुकी है। इसमे अभेदज्ञानकी अधिष्ठात्री अघोराशक्ति है, जिसके प्रभावसे भीतर बाहर आत्मभावकी स्फूर्ति होती है। तथा भेदज्ञानकी अधिष्ठात्री घोरशक्ति है। जिससे बहिरुन्मुखभाव और स्वरूपका आवरण होता है।

परावाक् प्रसृत होकर पहले इच्छा, ज्ञान एवं क्रियारूपको प्राप्त होती है, उसके पश्चात् उसका पंचाशत् मातृकारूपमें परिणाम होता है। इनमें स्वरवर्णोंमें बीज अथवा शिवांश तथा व्यञ्जनोंमें योनि अथवा शक्त्यंश प्रबल रहते हैं। ये वर्ण तत्तत् प्रमातामें सविकल्पक तथा निर्विकल्पक दोनों ही अवस्थाओंमें अन्तःपरामर्शके द्वारा स्थूल एवं सूक्ष्म शब्दोंका उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार वर्गादिके देवताओंके अधिष्ठानसे राग-द्वेष, सुख-दुःख, भय आदिकी स्फूर्ति होती है। और सङ्कोचहीन स्वतन्त्र चिद्घन आत्माका स्वरूप आच्छन्न होकर परिच्छिन्न एवं परतन्त्र देहादिमयभावका आविर्भाव होता है। ये सब महाघोरा पशुमातृका-शक्तियाँ भेदज्ञान उत्पन्न करती हैं, और ब्रह्मग्रन्थिके आश्रयसे विद्यमान रहती हैं। पशुओंके अधःपतनकी मूल कारण ये ही हैं। तत्त्वलाभ करनेपर भी जबतक पुरुष सम्यक्तया प्रमादहीन नहीं होता तबतक इन सब शक्तियोंसे शब्दानुवेधपूर्वक मोहगर्तमें गिराये जानेकी आशङ्का रहती ही है।[2]

प्रकाश तथा विमर्शके विषयमें संक्षेपमें और भी दो-एक बात कहना उचित जान पड़ता है। सृष्टि आदि समस्त व्यापारोंके मूलमें प्रकाश तथा विमर्श दोनोंहीकी सत्ता रहती है यह प्रसिद्ध है। पराशक्ति

१. इस प्रसंगमें पौरुष अज्ञान तथा बौद्ध अज्ञान भेदसे दो प्रकारके अज्ञानकी आलोचना करनी चाहिये।

२. ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥

(दुर्गासप्तशती)

अर्थात् वह देवी भगवती महामाया ज्ञानियोंके चित्तोंको भी बलात्से खींचकर मोहमें डाल देती है। यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि माहेश्वरी प्रभृति पूर्वोक्त शक्तियोंके प्रभावसे ही ज्ञानियोंको भी मोह हो जाता है।

स्वातन्त्र्यके उन्मेषसे जिस समय अन्तर्लीन अवस्था छोड़कर अभिव्यक्त होती है उसी समय विश्वरूप चक्रका आवर्तन होता है। वस्तुत: अभिव्यक्ति शक्ति विमर्शकी ही होती है, प्रकाशमें तो उसका उपचार-मात्र होता है। इस दृष्टिसे देखनेपर प्रतीत होगा कि तत्त्वमात्र ही शक्तिके स्वातन्त्र्योल्लासकी अवस्थाविशेष है। इसलिये शिवतत्त्व भी तत्त्व होनेके कारण शक्तिकोटिमें गिना जाता है। अत: प्रकाश और विमर्श एक प्रकारसे परमविमर्शके ही रूप-भेद मात्र हैं। शुद्ध प्रकाश अनुत्तर विश्वोत्तीर्ण तथा तत्त्वातीत है। विमर्श उसमें अन्तर्लीन रहता है। इसलिये तत्त्वोंका विचार करनेके प्रसंगमें प्रकाश एवं विमर्श दोनों ही विमर्शात्मक अथवा शक्त्यात्मक होनेके कारण उनमें अंशकल्पना की जाती है।

वामकेश्वरतन्त्रके मतसे प्रकाशके चार अंश हैं और उससे अविनाभूत विमर्शके भी चार अंश हैं। प्रकाशांशोंके नाम अम्बिका, वामा, ज्येष्ठा और रौद्री हैं तथा विमर्शांशोंके नाम शान्ता, इच्छा, ज्ञान और क्रिया है। अम्बिका तथा शान्ताकी सामरस्यावस्थामें शान्ताभावापन्ना पराशक्ति परावाक् नामसे प्रसिद्ध है। यह आत्मस्फुरणकी अवस्था है।

आत्मनः स्फुरणं पश्येद्यदा सा परमा कला।
अम्बिाकारूपमापन्ना परावाक् समुदीरिता॥[१]

इस आत्मस्फुरणकी अवस्थामें समग्र विश्व बीजरूपमें अर्थात् अस्फुटरूपमें आत्मसत्तामें वर्तमान रहता है। इसके बाद शान्तासे इच्छाका उदय होनेपर वह अव्यक्त विश्व-शक्तिके गर्भसे निकलता है। इच्छाशक्ति उस समय वामा-शक्तिसे तादात्म्य-लाभ करती है और पश्यन्ती वाक् नामसे परिचित होती है। इसके पश्चात् ज्ञानशक्तिका आविर्भाव होता है। ज्ञानशक्ति ज्येष्ठाके साथ अभिन्न है और मध्यमा वाक् नामसे परिचित है। यह शक्ति सृष्ट विश्वकी स्थितिका कारण है। ज्ञानके अनन्तर क्रियाशक्ति रौद्रीके साथ एक होकर वैखरी नामसे प्रसिद्ध होती है। प्रपंचात्मक वाग्वैचित्र्य वैखरीका ही स्वरूप है।

यह चार प्रकारकी वाक् परस्पर मिलकर मूल त्रिकोण अथवा महायोनिके रूपमें परिणत होती है। शान्ता और अम्बिकाका सामरस्य अर्थात् परावाक् ही इस त्रिकोणका बिन्दु या केन्द्र है। यह नित्य स्पन्दमय है। पश्यन्ती इसकी वाम रेखा है, वैखरी दक्षिण रेखा है और मध्यमा सरल अग्ररेखा (Base) है। मध्यस्थ महाबिन्दु ही अभिन्न विग्रह शिव और शक्तिका आसन है यह त्रिकोणमण्डल चित्कलाके प्रभावसे उज्ज्वल है। इसके बाहर क्रमविन्यस्तरूपसे शान्त्यतीत, शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति—इन पाँच कलाओंका आभामय स्तर विद्यमान है। इन स्तरोंकी समष्टि ही जगत्का रूप है। अतएव भूपुरसे महाबिन्दुपर्यन्त[२] विस्तृत समस्त विश्वचक्र ही उस महाशक्तिका विकास है। मध्यत्रिकोण बिन्दुविसर्गमय है—इसमें कोई सन्देह नहीं। इसकी प्रत्येक रेखा ही पंचस्वरमय है। ['अ' से 'अं' तक] पंचदश-स्वरात्मक इस त्रिकोणमण्डलका बिन्दुस्थान विसर्ग (अ:) कलाओंसे आक्रान्त है। इस त्रिकोणके स्पन्दनोंसे अष्टकोण कल्पित होते हैं। यह रौद्री शक्तिका रूप है और शान्त्यतीत कलासे उज्ज्वल रहता है। इसका प्रत्येक स्तर ही प्रकाश तथा विमर्शमय अर्थात् शब्द और शब्दमय है तत्तत् वर्ण (वाचक) और तत्तत् तत्त्व (वाच्य) का तादात्म्य तत्तत् चक्रांशमें प्रत्यक्ष अनुभूत होता है। समस्त चक्रमें 'अ' कारसे लेकर 'क्ष'कारपर्यन्त वर्णमालातथा शिवसे लेकर पृथिवीपर्यन्त तत्त्वसमूह अभिव्यक्त होते हैं। साधक जिस समय कुण्डलिनीके जागरणके बाद उत्तरोत्तर ऊपरकी ओर उठने लगते हैं, अथवा इष्ट देवताके स्वरूपभूत चक्रके भीतर प्रवेश करने लगते हैं, उस समय वस्तुत: इन विश्वचक्रमें ही उनकी यात्रा चलती है। अकुलसे महाबिन्दुपर्यन्त विस्तृत महामार्गके भीतर जितने अवान्तर चक्र हैं, उनकी समष्टि ही विश्वचक्र है। इसमें अकुलसे आज्ञाचक्रपर्यन्त अंश सकल और आज्ञाचक्रसे ऊपर बिन्दुसे उन्मनापर्यन्त अंश सकल-निष्कल एवं उन्मनाके बाद महाबिन्दु अंश निष्कल है वस्तुत: यह महाबिन्दु ही विश्वका हृदय है—यही विश्वातीत

---

१. जिस समय वह पराशक्ति अपने स्फुरणको देखती है उस समय वह अम्बिकारूपको प्राप्त हुई 'परावाक्' कही जाती है।

२. तान्त्रिक साहित्यमें देवतामात्रका यान्त्रिक रूप वासनाभेदसे जगत्का ही रूप है। प्रत्येक यन्त्रमें सबसे बाहर जो चतुष्कोण अङ्कित किया जाता है, उसका नाम 'भूपुर' है वही विश्वनगरका प्राकारस्वरूप है। पूर्वादि किसी भी मार्गसे उसमें प्रविष्ट होकर क्रमश: भीतरकी ओर अग्रसर होना ही साधनमार्गका उत्कर्ष है। इन यन्त्रोंमें सर्वत्र ही मध्य अर्थात् केन्द्रमें जो बिन्दु रहता है वही अन्तिम भूमिका सूचक होता है। इस भूमिमें सर्वशक्तिसमन्वित परमेश्वरका अपरोक्षतया अनुभव अर्थात् साक्षात्कार होता है।

३. योगमार्गके सकलांशोंमें सबसे पहले अकुल अथवा विषुवत् स्थान है। इसके अनन्तर अष्टदलके बाद षड्दलविशिष्ट

परमेश्वर अथवा शिव-शक्तिका आविर्भावस्थान या आसन है।

वस्तुतः महाबिन्दु ही शवरूपी सदाशिव है, जिसके ऊपर चित्कला अथवा चिच्छक्ति स्वातन्त्र्यमयी होकर खेलती है। यह खेल परावाक् या परामात्राका विलास है। शुक्ल तथा रक्त बिन्दुरूप प्रकाश-विमर्शात्मक काम-कलाक्षरके परस्पर संघट्टसे चित्कलाकी अभिव्यक्ति होती है।* महाबिन्दुके स्पन्दनसे तीनों विलीन बिन्दु अलग-अलग होकर रेखारूपमें परिणत हो महात्रिकोणका आकार धारण करते हैं। इसीसे शिवसे लेकर पृथिवीपर्यन्त छत्तीस तत्त्वोंसे बने हुए समस्त विश्वका आविर्भाव होता है।

इस महात्रिकोणमें चार पीठ हैं। प्रत्येक पीठमें ही विश्वका रूप भासमान होता है। स्वरूपसे उसका भान बीज-रूपसे होता है और बाहर सृष्टिरूपसे। 'पीठ' शब्दसे प्रकाश और विमर्शकी मात्राओंका साम्यभाव समझना चाहिये। जैसे अम्बिका और शान्ता शक्तियोंका सामरस्य कामरूप पीठ है इसी प्रकार अन्यान्य पीठ भी समझने चाहिये। कामरूप पीठ पीतवर्ण चतुष्कोणके आकारमें आधारस्थानमें दीख पड़ता है। इसका दूसरा नाम मन है। इसमें जब बिन्दु चैतन्यका प्रतिविम्ब पड़ता है तो उसे स्वयम्भूलिंग कहते हैं। वस्तुतः यह पीठ महात्रिकोणका अग्रकोणस्वरूप है। इसी प्रकार त्रिकोणके अन्य दो कोण पूर्णगिरि एवं जालन्धर पीठ नामसे प्रसिद्ध हैं। उनमें प्रतिफलित होनेवाला चैतन्य इतर-लिंग और बाणलिंग कहलाता है। ये दोनों बुद्धि और

कुलपद्मकी स्थिति है। यहाँसे आगेका सारा मार्ग ही 'कुलमार्ग' नामसे प्रसिद्ध है। षड्दलकमलके ऊपर मूलाधार और उसके ऊपर शक्ति या हृल्लेखाका स्थान है। यह अनंगादि देवताओंसे परिवेष्टित है और आधार-कमलसे ढाई अंगुल ऊपर पीत वर्णकी कर्णिकाके भीतर प्रतिष्ठित है। हृल्लेखासे दो अगुल ऊपर स्वाधिष्ठान कमलका स्थान है। इसके बाद क्रमशः मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, लम्बिकाग्र (अष्टदलकमल) और अन्तमें आज्ञा चक्र है। अग्नि, सूर्य तथा चन्द्रके विम्ब भी इस सकल मार्गमें दृष्टिगोचर होते हैं। मूलाधारमें अग्नि-विम्ब, अनाहतमें सूर्यविम्ब और विशुद्धचक्रमें चन्द्रविम्बका दर्शन होता है। आज्ञाचक्रके ऊपर बिन्दुसे उन्मनापर्यन्त भूमियोंके नाम ये हैं—बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिका, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका या व्यापिनी, समना और उन्मना। इतना मार्ग सकल, निष्कल है। अर्धचन्द्रादि कलाएँ बिन्दुका भेद करनेके बाद ही क्रमशः मिलती हैं। उन्मनातक पहुँचनेपर कालकी कलाएँ तत्त्व, देवता और मन सर्वथा निरुद्ध हो जाते हैं। ये ही तन्त्रशास्त्रमें निर्वाणात्मक 'रुद्रवक्त्र' नामसे कहे गये हैं। यह अन्तिम भूमि सर्वथा निराकार, उच्चारहीन, शून्यमय एवं विश्वातीत है। इसके बाद महाबिन्दु ही निष्कल भूमिस्वरूप है। इसका दूसरा नाम सादाख्य अथवा सदाशिवरूपी आसन है। इसीपर तत्त्वातीत शिव और शक्तिका खेल होता है। यह सब योगमार्गीय चक्रवेधके क्रमसे दिखाया गया है। उपासनाके क्रममें भी इसका भेद दिखाया जा सकता है। श्रीचक्रमें प्रविष्ट होकर क्रमशः तत्त्वातीत अवस्थामें चलनेके मार्गमें तीन विभाग दिखायी देते हैं—(१) चतुष्कोणसे त्रिकोणतक, (२) बिन्दुसे उन्मनातक और (३) महाबिन्दु। इनमें दूसरा और तीसरा विभाग पूर्वोक्त सकल-निष्कल तथा निष्कल मार्गोंसे सर्वथा अभिन्न है और पहला विभाग पूर्वोक्त सकल मार्गका ही नामान्तर है। किन्तु दोनोंमें वासनाभेद रहनेके कारण उनके स्थान एवं उपाधियोमें भेद हो गया है, अतएव श्रीचक्रके अन्तर्गत भूपुर, षोडशदल, अष्टदल, चतुर्दश कोण, बाह्य दश कोण, आन्तर दश कोण, अष्टकोण और त्रिकोण इतना अंश सुषुम्नामार्गमें निम्नतम अकुलसे आज्ञाचक्र-पर्यन्त अवस्थित है। इसके बाद बिन्दुमें प्रतिष्ठित होनेके अनन्तर भिन्न वासना न रहनेके कारण आगेकी भूमियोंमें कोई भेद प्रतीत नहीं होता।

* तत्त्वातीत अवस्थामें शिव और शक्तिका सामरस्य रहता है। उस समय विश्व शक्तिके गर्भमें अन्तः संहृत भावसे अर्थात् शक्तिके साथ अभिन्न रूपसे विद्यमान रहता है। परन्तु जब पराशक्ति स्वेच्छासे अपने स्फुरणको स्वयं ही देखती है तभी विश्वकी सृष्टि होती है। वस्तुतः इस स्फुरणका दर्शन ही विश्वदर्शन है और विश्वदर्शन ही विश्वकी सृष्टि है। इस अवस्थामें दृष्टि ही सृष्टि है। अनुत्तर दशामें स्वरूपमें अभिन्नतया रहनेपर विश्व देखा नहीं जाता। इसीसे वह अवस्था सृष्ट्यतीत है। इस दृष्टि या सृष्टिव्यापारमें शिव तटस्थ रहते हैं। उनकी स्वरूपभूता स्वातन्त्र्यशक्ति ही सब कुछ करती हैं। शिव अग्निस्वरूप हैं [संवर्तानल अथवा प्रलयानल स्वरूप] और शक्ति सोमस्वरूप है [विवर्तचन्द्रस्वरूपा]। दोनोंका साम्य ही तान्त्रिक भाषा में बिन्दु नामसे कहा जाता है। इस बिन्दुहीका दूसरा नाम रवि अथवा काम है। इसका क्षोभ अर्थात् साम्यका भङ्ग होनेपर ही सृष्टिका प्रारम्भ होता है। साम्यावस्थामें अग्नि और चन्द्ररूपी रक्त एवं शुक्ल बिन्दु (अ-ह) म् रूप-में अभिन्न रहता है। क्षुब्ध होनेसे ही चित्रकलाका आविर्भाव होता है। अग्निके तापसे जैसे घृत पिघलकर बहने लगता है उसी प्रकार प्रकाशरूप अग्निके सम्बन्धमें विमर्शरूपा शक्तिका स्राव होता है। इस प्रकार श्वेत और रक्त बिन्दुओंके बीचसे हर्धकलाका निःसरण होता है। चैतन्यकी अभिव्यक्तिका यही रहस्य है।

अहंकारके ही नामान्तर हैं। देहमें इसके स्थान हृदय और भ्रूमध्य हैं। मध्य बिन्दु उड्डीयान या श्रीपीठ है। यह चित्तस्वरूपसे है। इसमें जो ज्योति प्रतिविम्बित है, उसका नाम परलिङ्ग है। इनमेंसे प्रत्येक प्रतिलिंग निर्दिष्ट संख्यावाले वर्णोंसे घिरा हुआ है; परन्तु परलिंग सभी वर्णोंसे वेष्टित है। यह परलिंग ही परमपदसे प्रथम स्पन्दरूपमें उदित होता है।

शिव-शक्ति या मलका अहंपरामर्श पूर्ण और स्वाभाविक है। इसलिये इसे 'पूर्णाहन्ता' कहते हैं। यह निर्विकल्पक ज्ञानस्वरूप है। स्वातन्त्र्यसे इसमें विभागका आविर्भाव होता है। पूर्णाहन्ता या परावाक् विभागदशामें ही पश्यन्त्यादि तीन रूप धारण करती है, जिसके प्रत्येक रूपमें स्थूल, सूक्ष्म तथा पर भेदसे तीन-तीन अवस्थाएँ हैं। परमतत्त्व निरंश प्रकाशस्वरूप होनेपर भी उसका मुख्य तीन शक्तियोंके भेदके कारण ऐसा विभाग हो जाता है। मुख्य तीन शक्तियाँ ये हैं—

(१) परा अथवा अनुत्तरा—इसीका नाम चित् -शक्ति है।

(२) परापरा—इसीका नाम इच्छा-शक्ति है।

(३) अपरा—इसीका नाम उन्मेषरूपा ज्ञान-शक्ति है।

इन तीनोंका अभिन्न स्वरूप ही परमेश्वरकी पूर्णाशक्ति है। इसमें अनुत्तर अथवा चित् 'अ' है इच्छा 'इ' है और उन्मेष अथवा ज्ञान 'उ' है। यह शक्तित्रय ही अ इ उ नामक त्रिकोण है। इनके क्षुब्धरूप लेकर शक्तियोंकी संख्या छः होती है। अके क्षोभसे आ, इके क्षोभसे ई और उके क्षोभसे ऊ होता है। आ आनन्दका, ई ईशानका और ऊ ऊनत्वका वाचक है। आनन्दादि शक्तिनिचय क्षुब्ध होनेपर भी अपने स्वरूपसे स्खलित नहीं होते। इसलिये ये मलिन नहीं होते। इसी कारणसे ये सब शक्तियाँ पारस्परिक संघट्टसे अन्यान्य शक्तियोंको प्रकट कर सकती हैं। ये छः स्वर ही वर्णसन्ततिके मूल हैं। ये षड्देवता और सूर्यकी मुख्य षड्रश्मि नामोंसे प्रसिद्ध हैं। इन छः शक्तियोंका पारस्परिक संघर्ष ही क्रियाशक्ति है, जिससे बारह शक्तियोंका विकास होता है। ऋ ॠ ऌ ॡ ये चार स्वर नपुंसक हैं। इनसे सृष्टि नहीं होती। सम्पूर्ण शक्तियाँ उक्त बारह शक्तियोंके ही अन्तर्गत हैं। यही प्रधान शक्तिचक्र है, जिससे समन्वित रहनेके कारण शिवको पूर्णशक्ति कहा जाता है।* ये सब शक्तियाँ प्रक्षीणमल शुद्ध और उद्रिक्त चैतन्य हैं। इनके ज्ञान-क्रियात्मक सामर्थ्यमें किसी प्रकारका आवरण नहीं है चौंसठ योगिनियाँ इन बारह शक्तियोंसे ही उत्पन्न हुई है। इनकी समष्टि अघोरा शक्ति है। घोरा और घोरतरा शक्तियाँ इसीसे प्रादुर्भूत होती हैं। सृष्ट्यादि क्रममें इन बारह शक्तियोंके पृथक्-पृथक् रूप हैं। अनाख्याक्रममें भी इनके पृथक्-पृथक् रूपोंका पता लगता है। जिस क्रममें सृष्टि आदि उपाधि नहीं है, उसीका नाम अनाख्या है। इसका ताप्पर्य है कि निरुपाधिकस्वरूप सृष्टिमें भी यह विभाग विद्यमान है।

यह जो स्वरूपगत उपाधिहीनताकी बात कही गयी है, दो प्रकारसे सम्भव है-(१) उपाधियोंके अनुल्लासके कारण और (२) उपाधियोंके उपशमके कारण। उपाधियोंका उपशम पाकसे ही होता है। तान्त्रिक आचार्यगण मधुरपाक और हठपाक भेदसे दो प्रकारके पाक स्वीकार करते हैं। जो लोग गुरु आदिकी आराधना करके समयी एवं पुत्रकादि दीक्षा सम्पादन करनेके बाद नित्य-नैमित्तिक प्रभृति कर्मोंमें निष्ठा रखते हैं, वे देहपात होनेपर सृष्टि प्रभृति उपाधियोंसे मुक्त हो सकते हैं। इन उपाधियोंका प्रशमन स्वाभाविक नहीं होता, उसे शास्त्रोपदेशादिकी अपेक्षा है। यह उपाय धीर-धीरे देहपातके अनन्तर उपाधिका नाश करनेमें समर्थ होता है। परमेश्वरका शक्तिपात तीव्र न होनेसे ऐसा ही होता है। और जिनके ऊपर भगवत्कृपाकी मात्रा अधिक होती है, अर्थात् जिनमें तीव्र शक्तिपात होता है, वे केवल एक बार ही उपदेश प्राप्त करके उपाधिसे मुक्त हो जाते हैं। इस क्रमसे सृष्टि आदि तीनों उपाधियाँ सर्वथा चिदग्निमें भस्म हो जाती हैं, अर्थात् वे अचिद्भावको छोड़कर आत्मशक्तिके स्फुरणरूपमें प्रतिभात होने लगती हैं। इसका क्रम इस प्रकार है—ज्ञानाग्निके उद्दीपनके अनन्तर इस प्रकारके पाकसे सृष्टि आदि पदार्थगत भेद छूट जाता है। उस समय विश्व अमृतमय हो जाता है, अर्थात् उसे बोधके साथ तादात्म्य प्राप्त होता है। इस अमृतरूप विश्वको पूर्व वर्णित [अ,आ इत्यादि] बारह शक्तियाँ अथवा करणेश्वरी भोग करती हैं। अर्थात् वे परबोध अर्थात् परमेश्वरके साथ अभिन्न रूपमें परामर्शन करती हैं, क्योंकि ये शक्तियाँ अघोरा शक्तिकी ही प्रकाशस्वरूपा हैं। इस भोगसे उन शक्तियों (देवियों) की तृप्ति होती है। उस समय उनको दूसरेके प्रति अपेक्षा या आकाङ्क्षा नहीं रहती है और वे हृदयस्थ द्योतनमात्र-स्वरूप परप्रकाश या परमतत्त्वके साथ अभेदरूपसे स्फुरित होने लगती हैं।' ये समस्त शक्तियाँ परमेश्वरके रूपमें

* इन बारहको कहीं कहीं 'कालिका' नामसे कहा गया है। श्रीसारशास्त्रमें इनका नाम द्वादश योगिनी रखा गया है।

विश्रान्त हैं—उससे अभिन्न हैं। परन्तु इस प्रकार अभेद रहनेपर भी कृत्य, क्रियावेश, नाम तथा उपासनाके भेदसे ये भिन्न-भिन्न रूपसे भासित होती हैं। इन शक्तियोंके सङ्कोच विकास दोनों ही होते हैं। इसलिये ये संख्यामें बारह होनेपर भी एक ओर जिस प्रकार सब मिलकर एक हो सकती है, उसी प्रकार दूसरी ओर करोड़ों विभिन्न रूपोंमें भी आविर्भूत हो सकती हैं।

(४)

ऊपर संक्षेपमें जो कुछ लिखा गया है उससे तान्त्रिक दृष्टिका किंचित् परिचय मिल सकेगा, यह विषय इतना विशाल और जटिल है कि इसका पर्याप्त विवेचन करनेके लिये पत्रिकाका परिमित कलेवर पर्याप्त नहीं है। जो लोग इस विषयमें विशेष ज्ञान प्राप्त करना चाहते हों, उन्हें अनुसन्धान करनेपर शास्त्रमें ही सब प्रकारका विवरण और सब प्रकारके प्रश्नोंका स्पष्ट समाधान मिल सकता है। यहाँ जो विवरण दिया गया है उससे तान्त्रिक साधनप्रणालीके समझनेमें कुछ सहायता मिल सकती है। यहाँ वैष्णव आगमोंके समालोचनका अवसर नहीं मिला। परन्तु स्थूलतया कहा जा सकता है कि वे भी द्वैत आगमके ही अन्तर्गत हैं। उनकी दृष्टि भी प्राय: उसी प्रकारकी है। प्रस्थानगत तथा बाह्य उपाधिगत वैचित्र्य तो अवश्य ही है। परन्तु वह सुगमतासे समझमें आ जाता है। विशुद्धसृष्टि, मन्त्रानुशीलन और दीक्षा प्रभृतिका उपयोग वैष्णव आगममें भी स्वीकार किया गया। आशा है, अनुसन्धानेच्छु पाठक स्वयं ही मूल ग्रन्थका विश्लेषण करके इस विषयमें तत्त्वग्रहण करनेका प्रयत्न करेंगे।

तान्त्रिक साधना

(मुद्रा)

(लेखक-श्रीउपेन्द्रचन्द्र दत्त)

अनन्त भावमय भगवान्के समीप पहुँचनेके रास्ते भी अनन्त हैं। मकड़ी जैसे अपने अंदरसे जाल फैलाकर उसके केन्द्रमें बैठी रहती है, वैसे ही ईश्वर इस विश्व-ब्रह्माण्डका सृजन करके इसके बीचमें बैठे हैं। वृत्तकी परिधिके किसी भी बिन्दुसे सीधे केन्द्रतक पहुँचनेके लिये वैसे भिन्न-भिन्न सीधी रेखाओंकी सहायता आवश्यक होती है, वैसे ही परिधिमें स्थित प्रत्येक जीवको सृष्टिके केन्द्रस्थलमें पहुँचनेके लिये पृथक्-पृथक् साधनोंका अभ्यास करना पड़ता है। प्रत्येक जीवमें अपना एक विशेषत्व है—प्रत्येक जीव ही अपूर्व है परन्तु गन्तव्य स्थल सबका एक परब्रह्म परमात्मा अथवा परमेश्वर हैं। उनके अनन्त नाम, अनन्त रूप और अनन्त गुण हैं। साथ ही वे नाम, रूप और गुणोंसे अतीत हैं। उनकी शुद्ध सत्ता मन-वाणीसे अतीत है तो भी मनुष्यका मन उनको लेकर नित्य क्रियाशील है मनुष्य अपवित्र शरीर और अशुद्ध मनसे जो कुछ कल्पना करता है वह मलिन और अस्पष्ट होती है, परन्तु ज्यों-ज्यों उसके देह और मन शुद्ध होते जाते है, त्यों-ही-त्यों यह मलिन और अस्पष्ट रूप भी विशुद्ध और स्पष्ट होता चला जाता है! फिर मनके तरंगहीन हो जानेपर और आगे चलकर चैतन्यमें लीन हो जानेपर आत्मदर्शन होता है और अन्तमें भगवत्कृपासे पूर्णत्वकी प्राप्ति हो जाती है।

एक प्रकारसे जितने जीव हैं, उतने ही मत हैं और जितने मत हैं उतने ही पथ भी है। मनुष्यमें जैसे रुचि और चरित्रगत सादृश्य होता है वैसे ही रुचि, स्वभाव संस्कार और वातावरणके अनुसार मनुष्यकी साधन-प्रणालीमें भी सादृश्य होता है। जिनके भाव एक-से होते हैं, वे एक ही सम्प्रदायमें भी शामिल होते हैं। हिन्दू धर्ममें अनेकों सम्प्रदाय हैं, उनमें तान्त्रिक सम्प्रदाय सबसे पुराना है। तन्त्र मनुष्यको शिक्षा देता है पशुत्वको छोड़कर देवत्वमें पहुँचनेकी, जीवसे शिव होनेकी। तन्त्रकी यह विशेषता है कि वह भोगप्रवण मनको बलपूर्वक अकस्मात् धक्का देकर त्यागके मार्गपर नहीं ठेलता, धीरे-धीरे भोगके अंदरसे ही मनकी स्वाभाविक गतिका मुख त्यागकी ओर मोड़ देता है। इस दृष्टिसे तो तान्त्रिक साधना सबकी अपेक्षा अधिक स्वाभाविक और सार्वजनीन है।

जीवमें जड और चेतन दोनों तत्त्व हैं। देह, मन, बुद्धि आदि जड हैं, आत्मा इनमें पृथक् चेतन सत्ता है। इन दोनोंके संयोगसे जीव बनता है। किसी अचिन्त्य कारणसे जीवात्मा अपने स्वरूपको भूलकर अपनेको प्रकृतिका परिणाम अथवा जड मान लेता है, इसीसे त्रिविध दु:खोंकी उत्पत्ति होती है और इसीलिये जीव बद्ध अथवा पशु है।

जब जीव यह जान लेता है कि 'मैं शरीर, मन, बुद्धि आदि कुछ भी नहीं हूँ, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मा हूँ। तब वह मुक्त या शिव हो जाता है। आत्मज्ञान होनेपर भगवत्कृपासे जब और भी उत्कृष्टतर ज्ञानकी प्राप्ति होती है, तब उसे चित्-शक्तिकी लीलाका अनुभव होता है। उस समय वह मुक्त जीव अपने ही अंदर देखता है कि चित्-शक्ति कुलकुण्डलिनी षट्चक्र और सब ग्रन्थियोंको भेदकर सहस्रदल कमलमें ज्ञानरूपी शिवके साथ मिल गयी है, जहाँ शिव-शक्तिके मिलनकी पूर्णता है, वहीं साधक लीलानन्दका अनुभव करता है।

भोगी मनुष्योंने तन्त्रकी पवित्र साधनाको अपनी वासनापूर्तिका साधन बनाकर उसे सर्वसाधारणकी दृष्टिमें निन्दनीय बना दिया है, परन्तु वास्तवमें तन्त्रके समान ज्ञान-विज्ञानसम्मत साधनपद्धति दूसरी नहीं है। (Psycho-Analysis) की कसौटीपर तान्त्रिक साधनाको छोड़कर दूसरी उच्च श्रेणीकी कोई भी साधनप्रणाली ठहर सकेगी या नहीं, इसमें सन्देह है।

तन्त्रोक्त पंच मकारमें मुद्रा सबसे श्रेष्ठ है। सर्वसाधारणमें इसका प्रचार भी बहुत कम है। अधिकारीभेदसे सद्गुरु योग्य शिष्यको इस विद्याका दान किया करते हैं। मुद्रामें आसन, प्राणायाम, धारणा और ध्यान आदि सभी क्रियाओंका सम्मिश्रण है। मुद्राकी सहायतासे जीव सर्वशक्तिमान् होकर शिवकी पदवी प्राप्त कर सकता है। 'कल्याण'के पाठकोंकी साधारण जानकारीके लिये लुप्तप्राय इस मुद्रासाधनकी बहुत ही संक्षेपमें आलोचना की जायगी।

घेरण्ड-संहिता, शिव-संहिता, दत्तात्रेय-संहिता और ग्रह-यामल आदि ग्रन्थोंमें मुद्राका वर्णन मिलता है, परन्तु इनको सीखना चाहिये अनुभवी और पारदर्शी गुरुसे ही। किसी-किसी महापुरुषकी कृपासे आसन, प्राणायाम और मुद्रा आदि बहुत ही सहजमें अपने-आप ही होने लगते हैं। मनके शुद्ध और सरल होनेपर सभी कुछ हो सकता है।

घेरण्ड-संहिताकें अनुसार मुद्रा २५ प्रकारकी हैं—(१) महामुद्रा, (२) नभोमुद्रा, (३) उड्डीयान, (४) जलन्धर, (५) मूलबन्ध, (६) महाबन्ध (७) महामेध, (८) खेचरी, (९) विपरीतकरणी, (१०) योनि, (११) वज्रोली, (१२) शक्तिचालिनी, (१३) ताड़गी, (१४) माण्डवी (१५) शाम्भवी, (१६) अधोधारणा (१७) आम्भसी धारणा, (१८) वैश्वानरी धारणा (१९) वायवी धारणा, (२०) नभोधारणा, (२१) अश्विनी, (२२) पाशिनी, (२३) काकी, (२४) मातंगी और (२५) भुजंगिनी।

ये सभी मुद्राएँ योगियोंके लिये सिद्धिदायिनी हैं। गुरुकृपासे जब सोयी हुई कुण्डलिनी शक्ति जग जाती है तब षट्चक्रोंमें स्थित कमलोंका और ग्रन्थियोंका भेद हो जाता है, इसीलिये ब्रह्मरन्ध्रके मुखपर स्थित निद्रिता परमेश्वरी कुलकुण्डलिनी शक्तिको जगानेके लिये मुद्राका अभ्यास करना उचित है।

शिव-संहितामें मुद्राके १० प्रकार हैं—

(१) महामुद्रा, (२) महाबन्ध, (३) महाभेद, (४) खेचरी, (५) जालन्धरबन्ध, (६) मूलबन्ध, (७) विपरीतकृति, (८) उड्डीयान, (९) वज्रोली और (१०) शक्तिचालना।

इन सब तन्त्रोंका एकमात्र आधार कुलकुण्डलिनी शक्ति है। इस शक्तिके जाग्रत् होनेपर षट्चक्रका भेद हो जाता है और सुषुम्णाके मार्गसे प्राणवायुका सुखपूर्वक आना-जाना होने लगता है। विना किसी अवलम्बनके चित्त स्थिर हो जानेपर कालको वंचित किया जा सकता है अर्थात् मुक्ति प्राप्त हो सकती है। इसलिये चित्-शक्तिको जगानेके निमित्त बड़ी चेष्टाके साथ मुद्राका अभ्यास करनेकी खास जरूरत है। ये मुद्राएँ सिद्धोंको बड़ी प्रिय और मरुद्गणोंके लिये दुर्लभ है। रत्नोंकी पिटारीकी तरह इनको छिपाकर रखना चाहिये।

महामुद्रा-(शिवसंहिताके मतसे) गुरुके उपदेशानुसार बायें टखनेसे योनिमण्डल (गुदा और उपस्थके बीचका स्थान)-को दबाकर और दाहिने पैरको फैलाकर दोनों हाथोंसे पकड़ ले और शरीरके नवों द्वारोंको संयत करके छातीके ऊपरी भागपर ठुड्डीको लगा दे और चित्तको चैतन्यमार्गमें अर्पित करके कुम्भकके द्वारा वायुको धारण करे। इस मुद्राका पहले बायें अंगमें अभ्यास करके फिर दाहिनेमें करे और अभ्यास करते समय मनको रोककर उसी नियमसे प्राणायाम करता रहे।

इस मुद्रासे देहकी सारी नाड़ियाँ चलने लगती हैं। जीवनी-शक्तिस्वरूप शुक्र जीवनको आकर्षण करके स्तम्भित हो जाता है, सारे रोग मिट जाते हैं, शरीरपर निर्मल लावण्य छा जाता है। बुढापा और मृत्युका आक्रमण नहीं हो पाता। मनोवाञ्छित फलकी प्राप्ति होती है और मनुष्य जितेन्द्रिय होकर दुस्तर भवसागरसे पार हो जाता है। यह साधन बहुत गुप्तरूपसे करना चाहिये और जिस किसीको इसे नहीं बतलाना चाहिये।

खेचरी मुद्रा—जीभके निचले हिस्सेमें जिह्वामूलके साथ और जीभके साथ जो नाड़ी जुड़ी है, उसे काटकर जीभके उस निचले भागपर जीभके अग्रभागको सदा चलाते रहना चाहिये और मक्खनसे जीभको दोहन करके लोहेकी शलाकासे उसे खींचना चाहिये। इस प्रकार प्रतिदिन अभ्यास करनेसे जीभ लंबी हो जाती है। जीभको इतनी लंबी कर लेना चाहिये कि जिससे उसके द्वारा दोनों भौंहोंके बीचमें सहज ही स्पर्श किया जा सके। जीभको क्रम-क्रमसे तालुके बीचमें ले जाना चाहिये। तालुके बीचमें जो गड्ढा है, जिसे कपाल-कुहर कहते हैं, उसमें जीभको ऊपरकी ओर उलटा कर घुसा देना चाहिये और दोनों भौहोंके बीचमें दृष्टि जमानी चाहिये। इसे 'खेचरी मुद्रा' कहते हैं।

विपरीतकरणी मुद्रा—नाभिके मूलमें सूर्यनाडी है और तालुके मध्यमें चन्द्रनाडी है। सहस्रार-कमलसे निकली हुई अमृतधाराका नाभिस्थित सूर्यनाडी पान किया करती है, इसीसे मनुष्यको मृत्युके वश होना पड़ता है। यदि तालुके मूलमें स्थित चन्द्रनाडीके द्वारा योगी उस सुधाधाराको पी सके तो उसे मृत्युके वश नहीं होना पड़ता। अतएव योगके द्वारा सूर्यनाडीको ऊपर और चन्द्रनाडीको नीचे ले आना चाहिये। इसका उपाय है मस्तकको जमीनपर रखकर दोनों हाथ उसके नीचे दोनों ओर लगा दे और दोनों पैरोंको सीधे ऊपर उठाकर कुम्भक करता रहे। यही विपरीतकरणी मुद्रा है।

योनिमुद्रा—पहले सिद्धासनसे बैठकर दोनों अंगूठोंसे दोनों कान, दोनों तर्जनीसे दोनों आँखें, दोनों मध्यमासे दोनों नाकोंके छेद और दोनों अनामिकासे मुँहको बन्द कर देना चाहिये। काकी मुद्राके द्वारा प्राणवायुको खींचकर अपानवायुके साथ मिला देना चाहिये। देहस्थित छहों चक्रोंको ध्यान करके 'हुं' और 'हंस' इन दो मन्त्रोंके द्वारा सोयी हुई कुण्डलिनी देवीको जगाना चाहिये और जीवात्माके साथ युक्त कुण्डलिनी शक्तिको सहस्रदल कमलपर ले जाकर ऐसा चिन्तन करना चाहिये कि 'मैं' स्वयं शक्तिमय होकर शिवके साथ नाना प्रकार विहार कर रहा हूँ।' फिर दृढ़ चित्तसे ऐसा चिन्तन करना चाहिये कि 'शिव-शक्तिके संयोगसे आनन्दस्वरूप होकर मैं ही ब्रह्मरूपमें स्थित हूँ।' इसीका नाम योनिमुद्रा है। यह देवताओंके लिये भी दुर्लभ है और अत्यन्त गोपनीय है। इस मुद्राका एक बार साधन करनेपर सिद्धि प्राप्त हो जाती है और साधक अनायास ही समाधिस्थ हो सकता है।

शाम्भवी मुद्रा—दोनों भौंहोंके बीचमें दृष्टिको जमाकर संयत मनमें ध्यानके द्वारा परमात्माका दर्शन करना चाहिये। इसे 'शाम्भवी मुद्रा' कहते हैं। यह सभी तन्त्रोंमें गोपनीय है। वेद, पुराण आदि सर्वत्र प्रकाशित है, किन्तु यह मुद्रा कुलकामिनीकी भाँति अत्यन्त गोपनीय है।

दृष्टान्तस्वरूप यहाँ पाँच मुद्राओंका उल्लेख किया गया है। जो लोग उस विषयको जानना और अभ्यास करना चाहें, उन्हें उपयुक्त अनुभवी गुरुका आश्रय लेना चाहिये। केवल पढ़कर मनमाने ढंगसे कुछ भी नहीं करना चाहिये।

पहले-पहल मोटी दृष्टिसे ये मुद्राएँ कुछ अस्वाभाविक-सी लग सकती हैं; परन्तु मनुष्यका जीवन स्वभावसे इतना दूर चला गया है कि देह और मनको स्थिर करके बहिर्मुखी वृत्तियोंको अन्तर्मुखी करनेके लिये अनुशासनकी बड़ी आवश्यकता है। जीवनकी स्वाभाविक गति और प्रेरणासे शक्तिसञ्चय करके सारी शक्तिको उनके श्रीचरणोंमें समर्पित कर देनेपर वे कृपा करके वाञ्छित फल प्रदान कर देते हैं। सार बात हैं—उनके (भगवान्‌के) साथ हमारा जो अन्तरका सम्बन्ध है, उसे खोज निकालना। ईश्वरके साथ अन्तरका सम्बन्ध नित्य है, अनादिकालसे चला आता है। उस व्यक्तिगत आन्तरिक सम्बन्धको जानकर अनन्य भावसे उन्हें अपना निजजन मानकर अपने प्रतिदिनके जीवनकेन्द्रमें यदि हम उन्हें बैठा सके तो उनकी परमकृपा सहज ही प्राप्त हो सकती है। इस कृपाके सामने मुक्ति तुच्छ है।

चैतन्यशक्ति जडशक्तिके अतीत है। यह शक्ति स्थिर भी है और चंचल भी। स्थिर अवस्था ज्ञानमय शिव है और चंचल अवस्था क्रियाशीला शक्ति। शिव और शक्ति सृष्टिके आधार हैं, जगत्‌के पिता-माता हैं। साधक अपनी रुचि और संस्कारके अनुकूल उनके साथ कोई-सा भी सम्बन्ध स्थापित कर सकता है और उस सम्बन्धको लेकर मुद्रा आदिका अभ्यास करनेपर भगवान्‌की कृपासे ज्ञान और शक्तिका अधिकारी होकर वह शीघ्र ही पूर्णता प्राप्त कर सकता है!

साधना

(लेखक-महात्मा बालकरामजी विनायक)

साधनके दो भेद, साधक तथा सिद्धिके सम्बन्धसे, सदासे चले आते हैं—लौकिक साधन एवं पारमार्थिक साधन। जड और चेतनके अपूर्व सम्मेलनके परिचायक ये प्रकारभेद हैं। जड-शरीरके नाते लौकिक साधनोंका उपक्रम साधकोंद्वारा ही हुआ। इसी तरह जीवके उद्धारके लिये पारमार्थिक साधनोंकी व्यवस्था हुई। हमें इस लेखमें केवल पारमार्थिक साधनोंसे मतलब है। श्रद्धा, विश्वास, चित्तकी एकाग्रता, संलग्नता, तत्परता, समाधिस्थ वृत्ति आदिकी आवश्यकता दोनोंको है। इनके विना सिद्धिकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इन्हींके तारतम्यसे न्यूनाधिकतासे, साधन फलीभूत होते हैं। दोनों प्रकारकी साधनाओंका फल भगवान् ही देते हैं। किसीका उद्योग, प्रयत्न, परिश्रम व्यर्थ नहीं होने देते। भगवान् बड़ी सावधानतासे सबकी व्यवस्था करते हैं। इसी हेतुसे श्रीगोस्वमिपादने कहा है—***'बड़ी साहिबीमें नाथ बड़े सावधान हो'***।

पुरातन समयकी बात है। श्रीअयोध्याजीमें ऋणमोचन घाटसे उत्तर पापमोचनघाटतक जो पवित्र भूमि है, वहाँ सिद्धाश्रम अवस्थित था। वहाँ भारतवर्षके सभी प्रान्तोंसे आकर साधकगण सिद्धि-लाभके लिये अपनी साधना सम्पन्न करते थे। महर्षि पतंजलि और वेदव्याससे लेकर प्रथम श्रीरामानुज लक्ष्मणाचार्य, टङ्काचार्य, डिमडिम, आनन्द-गिरिस्वामी सुरसुरानन्दस्वामी, मथुरानाथ योगी, योगिनी भानुमती, टेरसी, कौलिक यज्ञदेव आदि बड़े-बड़े साधक इसी सिद्धाश्रमसे सिद्धलाभ कर चुके हैं। यवन शासन-कालमें इसे 'सैदवाड़ा' (सैयद बाड़ा)-में परिणत कर दिया गया और ईरानसे सात सैयद-परिवार बुलाकार बसाये गये और उनके वंशज अब भी वहाँ रहते हैं। पूर्वसमयमें कविवर 'मीर ख़ुसरू'ने इसी सैदवाड़ामें, अपने किसी सम्बन्धीके यहाँ निवास करके सुप्रसिद्ध अरबी-हिन्दी कोश 'खालक बारी' की रचना की थी। पुराने सिद्धाश्रमके अवशिष्ट चिह्न केवल दो हैं-(१) एक पीपलका वृक्ष और (२) सिद्धेश्वर महादेवजीका तट-मन्दिर* सैयद लोग भी इन महादेवजीमें श्रद्धा रखते थे; क्योंकि इस शिव-लिंगका ठीक-ठीक मेल मक्का-शरीफ़के 'संग अस्वद'से था। हाजी लोग, जो काबा-शरीफ़की यात्रा कर आये थे और संग-अस्वदको बोसा (चुम्बन) दे आये थे, विशेष अनुरक्त थे। उन्होंने उस मन्दिरसे सटकर दक्षिण ओर बहुत दूरतक साधकों या साधुओंके लिये गुफाएँ बनवा दी थीं।

उन्हीं गुफाओंमें साधनाके लिये भिन्न-भिन्न श्रेणीके साधक एक बार एकत्र हुए थे। अच्छा संघटन था। साधनाके विभिन्न स्तरोंमें उन साधकोंके अनुभवका प्रकाश नीचे देखिये—

साधु भट्टजी—उद्गीथविद्यासे प्रादुर्भूत अग्निविद्या, भूमविद्या एवं मधुविद्याका साधन क्रमशः धर्म, अर्थ एवं काम, इन्हीं तीनों पुरुषार्थोंके हेतुसे प्राचीनबर्हि आदि करते आये हैं। उसी उद्गीथविद्यासे उत्पन्न शाण्डिल्यविद्याके साहाय्यसे इन्द्रादि देवताओंकी उपासना भी उन्हीं हेतुओंसे युक्त है। क्योंकि लोकमें तीन ही पुरुषार्थ मुख्य माने जाते हैं, मोक्ष सबको अभिमत नहीं है। यही वैदिक साधन हैं। परन्तु अब इनके ज्ञाता पृथ्वीपर रह नहीं गये। सुना है कि कन्दराओंमें छिपे पड़े हैं। मैं हिमालय विन्ध्यालय और कामरूप कामाक्षाकी सभी गुफाओंमें खोजता फिरा, तब भी कृतकार्य नहीं हुआ। सभी सिद्धपीठोंमें रमण, भ्रमण एवं जागरण करनेपर भी वे नहीं मिले, जिन्हें मैं चाहता था। सब जगहसे फेरी लगाकर मैं यहाँ आया। मुझे यहाँ रहते हुए सात महीने पूरे हो गये। केवल उद्गीथविद्याका मुझे साधारण ज्ञान था। वैदिक मन्त्रोंके सस्वर उच्चारणका अभ्यास था, किन्तु केवल वैखरी वाणीसे, न परासे न पश्यन्तीसे, यहाँतक कि मैं प्रणवका भी उच्चारण पश्यन्तीसे नहीं कर सकता था। कैसे हो, कोई गुरु मिला नहीं। इसी अल्प योग्यतासे मैंने अपनी साधना आरम्भ की। तीसरे महीने भगवान् आशुतोषका डमरू बजा। वह भी एक क्षणके लिये। परन्तु उसमें दिव्य प्रभाव था। उस ध्वनिने ज्यों ही श्रवणद्वारा भीतर प्रवेश किया त्यों ही मेरी हृदय-तन्त्री बज उठी। अस्तु, भीतर-ही-भीतर कुछ दिखाई भी देने लगा। षट्कोणेके भीतर

---

* यह शिव-मन्दिर जीर्ण-शीर्ण होकर बिलकुल गिर गया था। सं० १९९६ वै० के शरद्-ऋतुमें बूढ़ा माई सुथर कुँवरिने जीर्णोद्धार-कार्य आरम्भ किया और श्रीसीतारामीय व्रजेन्द्रप्रसाद एम्०ए०,बी० एल्० सब-जजने उसे पूरा करके निज भ्राताद्वारा स्थापना करा दिया है।

बाणलिंगसहित ईशान रुद्रके दर्शन हुए। त्रिकोणके भीतर काकिनी शक्ति भी दिखी। रेफ-बिन्दुसे मण्डित ककारसे लेकर ठकारतक दिव्याक्षरोंके प्रकाशमय दर्शन हुए। इन्हींसे अनाहत-ध्वनि निकलती थी। ईशान बाणके डमरूसे इनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध दृष्टिगोचर हुआ। मुझे अन्तरिक्षमें विचरनेकी शक्ति प्राप्त हो गयी। काकिनीकी गोदमें बैठकर मैं रुचिकर स्थानोंमें विचरता हुआ काशी पंचगंगा स्थानमें पहुँचा। वहाँ महापुरुषकी शङ्ख-ध्वनिको सुनते ही मेरी विचित्र दशा हो गयी। मोक्ष, जो मुझे सहज अनभिमत था, अब हृदयका हार बन गया। क्योंकि मोहके असंख्य बन्धनोंसे अपनेको जकड़ा हुआ पाकर मैं घबरा गया। कैसे इस पिण्डसे पिण्ड छूटे, यही लालसा उत्पन्न हुई। महापुरुषने आज्ञाचक्रसे संकेत किया। परम तत्त्वका बोध कराया और उसी तत्त्वज्ञानको लेकर मैं इस काया-क्षेत्रमें लौट आया।

साधु कमलाकरजी—जब मैं घरसे निकला तब मेरी इच्छा ग्रन्थि-मोचनकी थी। इसके लिये कामाक्षामें मुझे शाम्भवी, कलावती, मानसी और चाक्षुषी—ये चार प्रकारकी दीक्षाएँ प्राप्त हुईं। वहाँ कौलिक लोगोंका सत्संग था। वे लोग प्रणव और बीजका अभ्यास करते थे। कुलकुण्डलिनी उनको सिद्ध थी। अतएव मैंने उनसे शुद्ध विद्या प्राप्त की और साथ-ही-साथ चक्र-भेदका ज्ञान भी मुझे उपलब्ध हुआ। तब मैंने अपना असली उद्देश्य प्रकट किया। उन्होंने कहा कि 'ग्रन्थि' मोचनकी कला यहाँ एक ही महात्माको मालूम है। वे एक पखवाड़ेमें यहाँ आवेंगे। तब उनसे इसके लिये प्रार्थना की जायगी। तबतक तुम न्यासपूर्वक मातृका-यन्त्रकी आराधना करो।' दो सप्ताह पीछे वे महात्मा आये, उनसे प्रार्थना की गयी। उन्होंने कहा—'दिव्य चक्षुका उन्मीलन, विकास और उत्कर्ष होने पर ही तीनों ग्रन्थियोंका मोचन सम्भव है। अतएव 'चतुर्बिन्दुका साधन सम्यक् प्रकारसे करो।' योनि-बिन्दु, वक्ष-बिन्दु एवं त्रिकुटीस्थ बिन्दु—इनकी साधनामें बड़ी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा। प्रथमत: षट्-कंचुकमें उलझना पड़ा। इसकी निवृत्तिके लिये महात्माजीने कादि विद्या और कहादि विद्याका रहस्य बतलाया और हादि-विद्याके अनुग्रहसे उससे निवृत्ति हुई। परन्तु मल-पाकसे ऊर्ध्वगति रुक गयी। शक्तिपात हुआ। सुषुम्णाने ब्रह्मलोकका मार्ग ही अवरुद्ध कर दिया। मेरी अयोग्यतासे उकताकर महात्माजीने मुझे काशी पंचगंगा घाटपर महापुरुषकी शरणमें भेजा। वहाँ पहुँचते ही आश्रमके प्रभावसे सब रुकावटें दूर हो गयीं। शङ्ख-ध्वनिको सुनते ही, नाद-बिन्दुका समत्व स्थापित होते ही मेरा चतुर्बिन्दुसाधन सम्पन्न हो गया और महापुरुषकी असीम कृपासे दिव्य चक्षु खुले और वास्तविक आनन्द प्राप्त हुआ। महाविद्याओंके दर्शन हुए। महापुरुषका आशिष् लेकर मैंने विन्ध्यवासिनी-का दर्शन किया और यहाँ अयोध्याजीमें दक्षिणाकाली अथवा देवकालीका साक्षात् दर्शन करके निहाल हो गया। तब इस आश्रमपर आया। महापुरुषका ध्यान करके आसन जमाया और ग्रन्थि-मोचन क्रियामें तत्पर हुआ। चौरासी दिनकी साधनाके पश्चात् तीनों ग्रन्थियाँ खुल गयीं और परमेश्वर पंच-कृत्यका अनुभव हुआ।

सारनाथ योगी—जब मैं बारह वर्षका हुआ तब अनायास योगिराजजी, मेरे गुरुजी, मिल गये। क्योंकि सन्तानहीन मेरे पिताको उन्होंने वर दिया था और हम पाँच भाई पैदा हुए थे। मै सबसे छोटा था। वर देते समय गुरु महाराजने पिताजीसे कह दिया था। पाँच पुत्र तुम्हें होंगे, उनमेंसे एकको मैं ले लूँगा और चेला बनाऊँगा। अस्तु, बाबाजी इसी निमित्त हमारे घर आये और पिताजीने सब मोह-माया छोड़कर मुझे स्वामीजीके चरण-कमलोंपर चढ़ा दिया। मैं गुरुजीके साथ उनके मठपर आकर रहने लगा। पहले गुरुजीने षट्-कर्म सिखलाया। नेतीसे लेकर नौलीतक सबका रहस्य बतला दिया। धीरे-धीरे मुद्राबन्ध, नाडी-शुद्धि आदिमें प्रवीण होकर पंचामरयोगमें मैं तत्पर हुआ। स्वरका अच्छा ज्ञान हो गया। तब गुरुजीने कहा—'अब तुम तीर्थयात्रा कर आओ। यह भी साधनाका एक अंग है।' जगन्नाथ, वैद्यनाथ आदिके दर्शन करता हुआ मैं काशीजीमें योगेश्वर विश्वनाथजीके दरबारमें पहुँचा। दशाश्वमेधघाटपर मन लग गया। वहाँ योगियोंके मठमें रहकर प्राणायाममें समय बिताने लगा। मूर्च्छा-कुम्भकके साधनमें त्रुटि हो गयी। मैं तो अचेत पड़ा था। पासमें एक वृद्धा ब्राह्मणी रहती थी। मेरी दशा देखकर वह दौड़ी हुई स्वामीजीके आश्रम पंचगंगा-घाटपर गयी। वहाँसे चुटकी माँग लायी। मेरी रसनापर देते ही मेरी अखण्ड मूर्च्छा टूट गयी। स्वस्थ होकर मैं आश्रमपर गया। महापुरुषके दर्शनसे कृतार्थ हुआ। जगद्गुरुकी अहैतुकी कृपाके लिये धन्यवाद दिया। अब उन्हींकी कृपासे 'अन्तराय-अन्तरंग'का साधन यहाँ आकर कर रहा हूँ। उस कृपाकी जय।

वाङ्मुख स्वामी—अपना वृत्तान्त क्या कहूँ? प्राकृतिक एवं अलौकिक सङ्कटोंसे पूर्ण है। जब मैं सज्ञान हुआ,

तबसे राजयोग सीखनेकी प्रबल रुचि उत्पन्न हुई। पढ़ना-लिखना छोड़ एकान्तमें बैठकर मनमुखीयोग साधने लगा। कभी साँस ऊपरको चढ़ा देता, कभी कान बन्द करके नाद सुनता। इस प्रकार नित्य अभ्यास करते-करते एक दिन सुषुम्णा मैयाने मार्ग दे दिया और प्राणवायु बेखटके प्रवेश कर गया। जड समाधि लग गयी। बड़ा कोलाहल मचा। सब लोग चिन्तित हुए। मेरी बुआ महापुरुषके आश्रमपर जाकर विभूति ले आयीं। ललाटमें उसे लगाते ही वह विकट समाधि भंग हुई। मैं सचेत हुआ। पूर्णरूपसे स्वस्थ होकर मैं दर्शनके लिये आश्रमपर गया। वहाँ शङ्ख-निनाद सुनकर मुझे सहज समाधि प्राप्त हो गयी। कितने सुख-स्वप्न देखे, कितने दु:ख-स्वप्न देखे, इसका कुछ हिसाब नहीं, गणना नहीं। महापुरुषकी कृपा हुई। राजयोग, मन्त्रयोग, लययोग और ज्ञानयोगको एक साँचेमें ढालकर ऐसे विचित्र योगका अनुशासन किया, जिसमें इन इन्द्रियोंसे कुछ करना-धरना नहीं पड़ता। अपने-आप गुप्त एवं सुप्त या लुप्त मानासिक शक्तियोंद्वारा साधना सम्पन्न होती है। योगमें पारंगत होनेकी अभिलाषा पूर्ण होनेपर मेरी प्रवृति एकाएक सत्संगयोगकी ओर ढुर गयी। तबसे इसीका व्यसन है। व्यसनके कारण यहाँ आया हूँ और सत्संगसे लाभ उठा रहा हूँ। 'लव सत्संग' के योग और भोगसे तो अनेक बार सन्तुष्ट हो चुका हूँ, परन्तु 'निरन्तर सत्संगके' लिये लालायित हूँ। आशा है कि सिद्धाश्रमके प्रभावसे किसी-न-किसी दिन सफलता प्राप्त हो जाय।

अमीर ख़ुसरो—आप लोगोंकी साफ़ बयानी (स्पष्ट कथन) से रूहानी और अन्दरूनी मंज़िलोंकी तरतीब मालूम हुई। इन बातोंको इस मुल्कमें भी बहुत कम लोग जानते हैं, दूसरे मुल्कवाले जानते हैं या नहीं, इस बारेमें कुछ कहा नहीं जा सकता। लेकिन उस परवरदिगार पारावार परमेश्वरकी कुर्सीतक पहुँचने और दीदार हासिल करनेकी चाह आपमेंसे किसी बुजुर्गके दिलमें नहीं पैदा हुई, यह अजब बात है। सुनिये, मैंने भी उन महापुरुष जगद्गुरु भगवान् श्रीस्वामी रामानन्दका दर्शन किया है। अपने गुरु ख्वाजा साहबकी तरफसे मैं तोहफ़ए-बे-नजीर पंचगंगा घाटपर गया था। वहाँ परमेश्वरके इश्क़ यानी प्रेमका समुन्दर उमड़ते हुए देखा था। उससे मुतासिर (प्रभावित) होकर मैंने एक क़सीदा सुनाया था। जो फ़ारसी और हिन्दी दोनोंके गठबन्धनसे मामूर था। सुनते ही स्वामीजीने दाद दी थी और मुझपर जो मेह्र (कृपा) हुई थी, उससे फौरन् मेरे दिलकी सफाई हो गयी थी और खुदाका नूर झलक गया था। वह नज़्म इस प्रकार है:—*

जे हाल मिसकीं मकुन तग़ाफुल[१] दुराय नैना बनाय बतियाँ।
कि ताबे-हिज्राँ न दारम ऐ जाँ[२] न लेहु काहे लगाए छतियाँ॥
शबाने हिज्राँ दराज़ चूँ ज़ुल्फ़ व रोजे वसलत चँ उम्र कोताह[३]।
सखी पियाको जो मैं न देखँ तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ॥
यकायक अज दिल दो चश्मे जादू बसद फरेबम बेबुर्द तसकी[४]।
किसे पड़ी है जो जा सुनावे पिआरे पी को हमारी बतियाँ॥
चुँ शमअ: सोज़ाँ चुँ जर्र: हैराँ हमेश: गिरियाँ बइश्कआँ मेह[५]।
न नींद नैना, न अंग चैना, न आप आवे न भेजें पतियाँ॥
बहक्क रोजेवसाल दिलबर कि दाद मारा फरेब खुसरू[६]।
न पीत मनकी दुराए राखूँ जो जाने पाऊँ पियाकी धतियाँ॥

महापुरुष रोशन-ज़मीर (अन्तर्यामी) अहले-दिल (मनके मालिक) और साहेब कमाल (पूर्णावस्थाके स्वामी) हैं। महायोगेश्वर हैं। सब साधकोंको उनकी साधनाके अनुसार ही रास्ता बतलाते हैं और बेड़ा पार कर देते हैं। तिसपर भी यह कहा जा सकता है कि यादे-इलाही (भगवत्-भजन) के सैकड़ों तरीकोंमें इस्मे-आजम (राम-नाम) के जरिये जो स्वामीजीने लाहूत (तुर्यावस्था) के करिश्मे (आश्चर्यमय करामात) दिखलाये हैं उससे जुज़ (अंश) को कुछ (अंशी) से मिलनेकी चाह पैदा होती है जिसे इश्क़ या प्रेम कहते हैं, जो साधनोंका परम साधन है।

जय जगद्गुरु भगवान् श्रीस्वामिरामानन्द।

---

* (१) इस गरीबकी दशाको मत भुलाओ। (२) ऐ प्यारे! अब विरह नहीं सह सकती। (३)तेरे बालोंके समान विरहकी रातें बड़ी और अवस्थाके समान मिलनेके दिन छोटे हैं। (४) यकायक इन दोनों जादूभरी आँखोंने सैकड़ों बहानेसे मेरे धैर्यको छुड़ा दिया। (५) उस प्यारेके प्रेममें दीपकी तरह जलती हुई जर्रे (धूलके कण जो सूर्यकी किरणोंमें चमकते और घूमते-फिरते दिखते हैं) की तरह घबड़ाती हुई और सर्वदा रोती हुई। (६) ऐ खुसरू! प्यारेसे मिलनेके दिन मुझे धोखा दिया गया।

'ई झुलनी टूटी दगा देइगे बालमा'—श्रीकबीरदासजी।

विचित्र साधन

(लेखक—श्रीहरिश्चन्द्रजी अष्ठाना 'प्रेम')

असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मामृतं गमय

(बृहदारण्यक० १। ३। २८)

सूर्य अस्त हो रहा था, गोधूलिका समय था। जीवनकी समस्याओंकी उधेड़-बुनमें मैं उलझ रहा था। मनुष्य-जीवन पाया है किस लिये, क्या करनेके लिये, किस लक्ष्यकी ओर जाना है और कैसे जाना है? सहसा किसीकी करुणाभरी पुकार मेरे कानोंमें पड़ी, 'ले लो मोल' '**सौदा मेरा अनमोल**'। ऐसा प्रतीत हुआ, मानो किसी सौदागरका माल नहीं बिका और उसका आजकी रोटीका सवाल हल नहीं हुआ, इसी चिन्तासे निराश और विह्वल होकर वह ऐसी करुणापूर्ण आवाज लगा-लगाकर अपना सौदा बेच रहा है। मेरा ध्यान भंग हुआ। मैं एकटक निहारने लगा—देखा एक बीस-बाईस वर्षका सुन्दर नौजवान केसरिया वस्त्र धारण किये, हाथमें इकतारा लिये गाता चला आ रहा है। उसके पीछे मुहल्लेके बहुत-से बालक उसके गानको सुनते और दुहराते हुए मस्तीसे झूम रहे हैं।

वह गा रहा था—

ले लो गोबिंद मोल—भला कोइ ले लो गोबिंद मोल।
सौदा है मेरा अलमोल, भला कोइ ले लो गोबिंद मोल॥
बिना दाम ही बेचा, अब भी बेचू मैं बिन मोल,
भला, कोइ ले लो गोबिंद मोल॥
जितना बेचे उतना पावे, जितना देवे दूना आवे।
देख ले कोई तोल—सौदा है मेरा अनमोल॥
भला कोइ ले लो गोबिंद मोल॥

मैं चक्करमें पड़ गया कि हे भगवन्! यह कैसा सौदा? वह संन्यासी बढ़ता ही चला आ रहा था, मधुर करुणस्वरसे गा रहा था, बालक उस आनन्दको दूना कर रहे थे, मैं भी ध्यानसे सुन रहा था, एकटक निहार रहा था। मकानके पास आकर संन्यासीजीने मेरी ओर देखा और ठिठक कर खड़े हो गये। नम्रतासे बोले 'महान् पुरुष! आप मेरा सौदा अवश्य लेंगे—मैं उनकी ओर देखता ही रहा—फिर बोले 'बोलिये लेंगे न?' मैंने देखा उनकी आँखोंसे अश्रुपात हो रहा था—मुझे विचारनेका भी समय नहीं मिला—मेरे मुँहसे निकला 'ले लूँगा'। कुछ हर्षित होकर बोले 'तो आइये न।' मैं उनके पास गया—उन्होंने सौदा बेचा। मैंने खरीद लिया। सौदा क्या लिया सौदाई हो गया; मैंने सौदा क्या खरीदा—सौदेने ही मुझे खरीद लिया। हर आवाजमें गोविन्दकी गूँज थी—गोविन्दकी झन्कार थी। शान्ति कहाँ?— हृदयमें व्याकुलता उदीप्त हो उठी। संन्यासीने कैसा सौदा दे दिया? कहाँ भाग जाऊँ मनमें पीर उठती थी। एक कसक पैदा हो गयी। कुछ खो गया था—कहाँ ढूँढ़ूँ। आवाज आयी—

हर कसे रा नूरे सिद्के इश्क ईं रह कै देहद।
सूरते खुरशीद रा अंदर शबे तारी मजो॥
बर सरे तूरे हवा तंबूरे शहवत मी जनी।
इसके मरदे लंतरानी रा बदीं खारी मजो॥

इस मार्गमें सत्य प्रणयकी चमक किसको प्राप्त हो सकती है? अँधेरी रातमें सूर्य कैसे प्राप्त हो सकता है? तू सांसारिक विषयोंमें पड़ा हुआ जीवनके झूठे सुखोंका आनन्द लूट रहा है—फिर बता, इस बुरी अवस्थामें रहकर तू सच्चा प्रणयी किस प्रकार बन सकता है?

क्या बुरा है और क्या भला है, इसका निर्णय मैं न कर सका। व्याकुलताको शान्त करना ही होगा; कैसे? मैं चित्रकूटकी ओर चल दिया।

अनेकों साधुओंसे पूछा गेरुए वस्त्रधारियोंसे पूछा, वैरागियोंसे पूछा और मन्दिरके पुजारियोंसे भी पूछा। सबने कहा—'कुछ साधन कीजिये' भगवत्प्राप्ति कहीं बैठे-बैठे होती है? इस मार्गकी कठिनाइयोंको सहन कीजिये और साधन कीजिये। भगवान्की पूजा कीजिये, जो हो सके भेंट चढ़ाइये। 'मैंने कहा' मैं तो साधन-वाधन कुछ नहीं चाहता। न मेरे पास भेंट ही कुछ है। मुझे तो गोविन्द चाहिये, मेरे बदनमें आग लगी है, मुझे तो ठंडा पानी दीजिये। इतना समय कहाँ है कि कुँआ खोदूँ, तब पानी पाऊँ? न मुझमें इतनी शक्ति है न धीरज ही!' कुछ निराशा होने लगी। कोई पथप्रदर्शक न मिला। घर याद आने लगा, पर अभी व्याकुलता थी। मैं और आगे बढ़ा, जानकीकुण्डके पास जा पहुँचा। एक सज्जन खँजड़ीपर गा रहे थे—

तनका कर ले बंद किंवाड़ा मनकी खिड़की खोल।
डर क्या जो छाया अँधियारा डर क्या जो है दूर किनारा।
प्रीतम पार करेगा बेड़ा—मूरख मन मत डोल॥ मनकी०

ये तो मेरे मनकी कह रहे थे, मैं खड़ा हो गया। उन्होंने बैठनेको कहा, मैं बैठ गया। वे गाते रहे—

खाही जे फ़िराक दर फुगां दार मरा।
खाही जे विसाल शादमां दार मरा॥
मन बा तू न गोयम कि चेसां दार मरा।
ज़े इन्सां कि दिलत खास्त चुनां दार मरा॥

'मैं तेरी इच्छापर निर्भर हूँ। यदि तू मुझे अपने वियोगमें तड़पाना चाहता है तो तड़पा और मिलनका सुख देना चाहता है तो सुख दे। तू जिस अवस्थामें मुझे रखना चाहता है रख—मैं कभी इसके विरुद्ध अपने मुखसे एक शब्द भी नहीं निकालूँगा।'

कुछ अधिक भावोन्मेषसे वे गाने लगे—

दुनिया एक मुसाफ़िरखाना रे बाबा—काहूसे न नेह बढ़ाना।
दुनिया०
चुन- चुन माटी महल बनाया—लोग कहे घर मेरा रे बाबा।
ना घर मेरा ना घर तेरा—चिड़िया रैन बसेरा रे बाबा।
दुनिया०

उन्होंने खँजड़ी रख दी, मेरी ओर देखकर बोले—

गर हमी ख्वाही कि परहा रायदत जी दामगाह।
हम चो किरमे पीला दर गिर्दे निहादे खुद मतन॥

'यदि तू इस संसाररूपी जालसे निकलभागनेके लिये पर चाहता है तो रेशमके कीड़ेके समान अपने आस-पास जाला मत लगा।'

यह कहकर वे बहुत जोरसे हँस पड़े और बड़ी देरतक हँसते ही रहे। मैं कुछ ऐसा प्रभावित हो गया कि बैठा रहा और बैठे रहनेकी इच्छा अधिक प्रबल हो उठी।

थोड़ी देर बाद उन्होंने पूछा 'तुम क्या करते हो?' मैंने कहा 'नौकरी' वे हँसते-हँसते बोले। मैं भी प्रोफेसरी करता था—और ठहाका मारकर हँस पड़े। हँसकर मैने कहा 'आप तो अब भी प्रोफेसरी ही करते हैं, पहले विद्यार्थियोंको पढ़ाते थे, अब पथिकोंको राह बताते हैं। कुछ अनुसुनी-सी करके वे बोले 'वहाँ नौकरी करते हो—तो यहाँ भी तो चाकरी ही है।'

बोले 'जरा गंगा-स्नान कर लूँ।' झाड़न उठाया और कमण्डलु लिया, सीढियोंसे उतरकर गङ्गजीके समीप गये, पानीमें घुसे, शरीरमें कँपकँपी-सी उठी जब कुछ ठंडा लगा-हृदयपर हाथ धरकर बोले 'श्रीगङ्गाजी तो भीतर ही हैं—उसमें डुबकी लेनेसे आनन्द आता है—ठंड नहीं लगती'—मैं केवल सुनता रहा।

बाहर आकर कमण्डलुमें गंगाजल भरकर वे जंगलकी ओर चल दिये। मुझसे 'आओ' या 'बैठो' एक शब्द भी न कहा। फिर मैं उनकी ओर बढ़ा। मैंने विनीत भावसे कहा 'क्या आप मुझे अपने साथ रहने देंगे?' बड़ी गम्भीरता-से वे बोले 'मैं तो अनुसुइयाजी जा रहा हूँ, तुम कहाँ चलोगे?' मैंने कहा 'मैं भी आपके साथ चलूँगा।' मेरी पीठपर हाथ फेरकर बोले 'अच्छा' मैं हर्षसे फूल गया—उनके साथ हो लिया।

थोड़ी देर बाद मैंने कहा 'पिताजी! कोई सरल-सा उपाय बताइये, जिससे अपनी इन्द्रियोंपर विजय पा लूँ, जिससे अपने गोविन्द-श्यामकी खोजमें अटल रहूँ—उनकी यादमें मस्त रहूँ—आप मिला तो देंगे न?' बोले 'अपने प्यारे श्यामको याद करो, गिड़गिड़ाओ और खूब रोओ—ज्यों-ज्यों बेकली बढ़ेगी त्यों-त्यों वह निकट होगा।

वर तो खाही नफ़सो शैतां दर कफ़त जारी कशद।
नामे इश्के दोस्त राजुज अज सरे जारी मजो॥

'यदि तू अपनी शैतान इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना चाहता है तो विनय तथा नम्रताके साथ अपने प्यारेसे प्रेमयाचना कर—तुझे सफलता प्राप्त होगी।'

'देखो, अपनी साँस वृथा न नष्ट करो। प्रत्येक श्वासमें अपने प्यारेको स्मरण करते रहो—जिससे तुम्हारे रोम-रोममें श्याम ही व्याप्त हो जायँ। फिर श्याम तुम्हारे ही हैं। मैंने कहा 'पिताजी! चित्त इसपर दृढ़ नहीं रह पाता। जब श्यामकी छबि अदृश्य हो जाती है तो नाममें आनन्दकी मात्रा भी कम हो जाती है। फिर, नाममें भी ध्यान रहे और काममें भी, यह कुछ असम्भव-सा प्रतीत होता है।' बोले 'बेटा! तुम्हारी लगनमें कमी है, नामका रस नहीं पाया है, अभ्यास करते रहो, चित्त स्थिर हो जायगा—आनन्द भी आयगा। देखो, बाल्यावस्थामें पढ़नेमें मन नहीं लगता, परन्तु अभ्यास करते-करते मन बैठ जाता है और आनन्द भी आता है।

'तुम बाइसिकिल चलाते हो न?'

'जी'

'अच्छा देखो' जब चलाना सीखा था तो बैलेन्स करनेमें पूरे ध्यानकी आवश्यकता थी। ध्यान इधर-उधर भटकते ही तुम गिर पड़ते, परन्तु थोड़े साधनसे—अभ्याससे

जब बैलेन्स स्वाभाविक हो गया, तब इधर-उधर बातें भी करते जाते हो, खेलते भी हो, बैलेन्स ठीक रहता है, सूक्ष्मरूपसे चित्त बैलेन्सकी ओर लगा रहता है। इसी प्रकार नाम-स्मरणमें पहले ध्यान लगाना पड़ेगा— ध्यान भटकेगा भी, परन्तु अभ्याससे ठीक हो जायगा। फिर सूक्ष्मशरीर भगवान्में लीन रहेगा और स्थूलशरीरसे संसारके कार्य भी होते रहेंगे। जैसे—तुम पान खाते हो, उसका आनन्द लेते रहते हो और दफ्तरका काम भी करते रहते हो, वैसे ही भगवान्का स्मरण करते रहो। प्रत्येक श्वासमें भगवान्का नाम हो और सारे कार्य भी होते रहें। रोम-रोममें भगवन्नामका उच्चारण होने लगे, कण-कण्में भगवत्स्वरूप हो तो समझ लो जीवन सार्थक हो गया। चैतन्यमहाप्रभु सभी जगह प्यारे साँवरेको देखते थे, नीलवर्ण सागरमें श्यामकी छबि पाते थे। मोरकी पाँखोंमें उनकी झाँकी करके मस्त हो जाते थे। '**हरिको भजे सो हरिका होय।**' संसारकी वस्तुओंका उपभोग करो, पर रति रखो श्रीभगवान्में!

'देखो, मानव-प्रेमका ही एक दृष्टान्त है। केवल स्मरण-मात्र कितना परिवर्तन कर सकता है। एक बार मजनूँको लैलाका वियोग असह्य हो गया। शोक और व्याकुलताकी जलनसे रक्तमें उबाल आया और शरीरपर दाने पड़ गये। हकीमने कहा—'फ़सद (रगोंसे खून निकालना) खुलवानेके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है।' तब एक चतुर फ़सद खोलनेवाला आया। उसने मजनूँके हाथ-पैर बाँध दिये और अपना नश्तर निकाला। मजनूँने डाँटकर पूछा कि 'यह क्या? मुझे फसद नहीं खुलवानी है।' और फिर बड़ी मिन्नत अर्ज की। फ़स्सादने कहा 'आप फ़सदसे डरते हैं? जंगलमें घूमते फिरते हैं—जंगली जानवरोंसे नहीं डरते, फिर इस मामूली नश्तरसे क्या डर?' मजनूँने कहा 'मूर्ख! मैं तो पहाड़से भी अधिक अटल धैर्यवान् हूँ—घोर-से-घोर कष्ट उठा सकता हूँ पर—

लेकर अज लैला वजूदे मन पुरस्त। ईंसदफ पुर अज सिफाते आंदुरस्त॥
तरसम ऐ फस्साद अगर फस्दमकुनी। नेश रा नागाह बर लैला जनी॥
दानद आं अक्लेकि ऊ दिलरौशनीस्त। दरमियाने लैलए मन फर्कनीस्त
मन के अम लैला व लैला कीस्त मन। मायके रूहेम अंदर दो बदन॥

'मेरे सम्पूर्ण शरीरमें लैला ही व्याप्त है और इस शरीररूपी सीपीमें उस मोतीकी झलक भरी है। इसलिये ऐ फ़स्साद! मुझे डर है कि यदि मेरी फ़सद खोलेगा तो यह नश्तर कहीं लैलाके न लग जाय। जो रहस्यको समझता है वह जानता है कि मुझमें और लैलामें कुछ भी अन्तर नहीं है। 'मैं' लैला हूँ और लैला 'मैं' है, प्रत्यक्षमें दो शरीर दिखायी देते हैं, परन्तु वास्तवमें प्राण एक ही हैं।'

वे मुझे रोककर खड़े हो गये, धीरेसे बोले—वासना एक कसौटी है, सुनो—अग्नि लोहेको परखती है और वासना सत्पुरुषको। कभी-कभी जब हम अहङ्कार करते हैं और यह नहीं जानते कि हम क्या कर सकते हैं, तब वासना हमें सुझाती है कि हम क्या हैं—हमारे बाहर और भीतरमें कितना अन्तर है। वासना कुटिल शत्रु है, इससे सदा सचेत रहो-- प्रारम्भमें ही इसका दमन करो; नहीं तो बादमें अति विलम्ब हो जानेके कारण इसे वशमें करना अति दुष्कर हो जाता है।

'मनमें पहले केवल एक छोटा-सा कुविचार मात्र उत्पन्न होता है, फिर उसको उत्कट कल्पनाएँ विचित्र रंगमें रँग देती हैं तदनन्तर उसमें सुखका सृजन होकर प्रेरणा बनती है और फिर हृदयकी स्वयं स्वीकृति। इस प्रकार क्रमशः हमारा कुटिल शत्रु हमपर पूर्ण अधिकार जमा लेता है— यदि प्रारम्भमें ही उसको न रोका जाय। वासनाके विरोधमें मनुष्य प्रारम्भमें जितनी असावधानी करता है, उतना ही अधिक वह निर्बल होता जाता है और वासनाकी प्रबलता उतनी ही बढ़ती जाती है। वासनाका दमन विश्वास तथा साहसके साथ करो। एक वासनाका दमन कर लेनेसे दूसरी वासनाओंपर भी विजय प्राप्त होती है।'

हमलोग वेगसे आगे बढ़े, कुछ समय बाद पिताजी बोले—'तुम्हें अभी रस नहीं मिला, रस मिले तब जागृति हो'—कुछ हँसते-हँसते कहने लगे कि एक बार हमलोग श्रीश्रीमाँ आनन्दमयीके साथ देहरादून जा रहे थे। रास्तेमें एक सज्जनने रसगुल्ले खरीदे। देहरादूनसे चलकर एक निर्जन स्थानके मन्दिरमें विश्राम किया। थके तो थे ही, वे सज्जन बैठे-बैठे दीवालके सहारे सो गये; मुँह खुला हुआ था। माँने देखा और बालकोंकी भाँति बोली—'एक रसगुल्ला इनके मुँहमें रख दो।' मैं आशय न समझ सका। मैंने एक रसगुल्ला रससे भीगा हुआ उन महाशयके खुले मुखमें धीरेसे धर दिया। वे सोते रहे। जब धीरे-धीरे रसगुल्लेका रस गलेके नीचे उतरा और अंदर गया तो अकचकाकर उठ बैठे। थोड़ी देर हँसी रही। फिर गम्भीरतासे माँ बोली—'देखो, जबतक रस अंदर नहीं जाता, मनुष्य जागता नहीं' हम सोते हैं, भगवन्नामका रस जबतक अंदर नहीं जाता, जागृति नहीं होती।'

बात सुनकर मेरे हृदयमें प्रेम उमड़ आया, अपने

जीवनपर ग्लानि होने लगी, आँखें भर आयीं। पिताजीने मेरी ओर देखा और नम्रतासे मेरी पीठ ठोंकने लगे। बड़ी शान्ति मिली।

हमलोग फटिकशिला पहुँचे। सीढ़ियाँ उतरकर श्रीगंगाजीके शीतल जलसे मुँह-हाथ धोकर कुछ विश्राम करनेके लिये एक शिलापर बैठ गये, पास ही एक दूसरी शिलापर एक और सज्जन बैठे थे। पिताजीसे उनसे कुछ बातें हुईं। वे कलकत्तेके एक मारवाड़ी सेठ थे। बहुत-से फल और मिठाई सामने रखकर आग्रह करने लगे हमलोग खा लें। पिताजीने भगवान्‌को धन्यवाद दिया—भगवान्‌का सेठजीपर प्रेम था, इसके लिये उन्हें बधाई दी। हमलोगोंने कुछ आहार पाया। थोड़ी देरमें अनुसुइयाजी जानेके लिये उठ खड़े हुए। सेठजीने एक कपड़ेमें बहुत-से फल बाँधकर आग्रहसे कहा—'आपका सफर बहुत दूरका है, यह प्रसाद लेते जाइये।' उनके बहुत आग्रह करनेपर मेरे मनमें आया कि ले लें तो क्या हर्ज है—पर पिताजी बोले 'सेठजी! आप तो महान् आत्मा हैं। हम कहाँ इसे बाँधे-बाँधे ले जायँगे। रास्ता ही कौन बहुत दूरका है। जीवन-मार्ग तो इतना बड़ा है कि उसे पार करनेको भी भगवान्‌ने खाली हाथ भेजा और समय-समयपर आवश्यकतानुसार सब वस्तुएँ वे स्वयं पहुँचाते रहे। उसके सामने यह रास्ता तो कुछ भी नहीं है। फिर जो भूख देगा, वह भोजन भी देगा।' सेठजी बोले, यह तो ठीक है, पर सम्भव है वहाँ कोई न मिले फिर, मुझे भी तो सेवाका अवकाश दीजिये। पिताजी बोले—यही क्या पता था कि आप यहाँ मिलेंगे? भगवान्‌के विधानको कौन जाने! उचित समयपर वे उचित प्रबन्ध कर ही देते हैं। भगवत्-सेवा कीजिये। सेठजी! आप तो भगवद्भक्त हैं। अच्छा आशीर्वाद।'

थोड़ा बढ़कर मुझसे धीरेसे बोले 'देखो बेटा। किसी मित्रके बलपर या धनपर अभिमान न करना कि वह तुम्हारी सहायता करेगा। विश्वास रखो उस परमात्मापर जो सब कुछ देता है और ऊपरसे स्वयं अपनेतकको भी देनेको तत्पर रहता है।'

कई मिलका सफर तै करनेके पश्चात् एक झरनेके समीप एक बड़के वृक्षके नीचे एक साधु मिले। पिताजी बोले 'ये मौन साधन करते हैं।' मैंने कहा 'मुँहसे बोलते नहीं?' पिताजी बोले, 'मुँहसे न बोलनेको ही मौन नहीं कहते। मौन उस अवस्थाको कहते हैं, जो वाक्य और विचारसे परे है, शून्यध्यान-अवस्था है। जब बुद्धिमें चंचलता न हो तभी ध्यान है। मौनमें ही अनन्त वाणीकी ध्वनि है। मनको वशीभूत करना ही ध्यान है और ध्यानमें ही अनन्त-शब्दका प्रवाह है। बोलनेसे उस अनन्त-शब्द-प्रवाहका तार टूट जाता है। उच्चारित शब्द इस मौन भाषाका अवरोध करते हैं। मौन अवस्थामें 'मैं' का लोप हो जाता है। फिर कौन सोचे और कौन बोले? ऐसी अवस्थामें भगवद्भक्ति वेगसे मनुष्यकी ओर बढ़ती है। मनुष्य फिर देवस्वरूप होकर भगवद्रूपको प्राप्त होता है। बहुत ऊँची अवस्था है और बड़ा ही ऊँचा साधन है। परन्तु मौनावस्था भी साधन-मार्गमें एक स्थान ही है, लक्ष्य नहीं है' थोड़ी देर हमलोग वही बैठे। मौनीजीके दर्शन करते रहे। मुझे प्रतीत होता था कि कोई बिजलीकी-सी लहर मेरे हृदयको हिलोरें दे रही थी, इस मीठी मधुर-सी गूँज कानमें भरी थी और मैं उसमें आत्मविस्मृत हो रहा था। मौन-अवस्था वास्तवमें आत्मसमर्पणकी अवस्था है। वाणीकी अपेक्षा मौनमें अधिक व्यञ्जना है। यह मैं प्रत्यक्ष ही देख रहा था।

घने जंगलको चीरते हुए, पानीके झरनोंपर विश्राम लेते हुए हमलोग प्रात:काल अनुसुइयाजी पहुँचे । श्रीअनुसुइयाजीके दर्शन करके पहाड़ीपर जंगलमें डेढ़ या दो मील और ऊपर चढ़ गये। देखा, करीब एक फर्लांगके फासिलेपर सात फीटसे भी अधिक ऊँचे, हृष्ट-पुष्ट शरीर, बड़ी दाढ़ी और लम्बी जटावाले, कौपीन धारण किये हुए, हाथमें कमण्डलु लिये एक संत बड़े वेगसे खड़ाऊँ खटखटाते हुए चले जा रहे हैं। पिताजी उनको दिखाकर बोले—'सिद्ध महात्मा हैं। इन्हींके दर्शनकी इच्छासे मैं चला था। हमारे बड़े भाग्य, जो दर्शन हो गये। ये किसीसे मिलते नहीं, न किसीको पता ही चलता है। तुमपर कुछ अधिक कृपा है।' एक बार पिताजीकी ओर देखा और बिना कुछ कहे उन महात्माकी ओर दौड़ पड़ा—भागता ही गया एक फर्लांग खतम ही होनेको न आया—मैंने अनुभव किया कि महात्मा मेरे दौड़की गतिसे अधिक वेगसे चल रहे थे। मैं चिल्लाया 'गुरुजी, गुरुजी'। दो-तीन बार पुकारनेके पश्चात् वे खड़े हो गये। भागता हुआ, हाँफता हुआ मैं उनके चरणोंपर गिर पड़ा 'हरि ॐ, 'हरि ॐ' बोले और मुझे उठा लिया, कहा, 'कैसे आया?' उनके शब्द ऐसे थे, जैसे वे मुझसे पूर्वसे परिचित हों। मैंने कहा 'आपके दर्शनोंको आया, बड़े भाग्य जो आप मिल गये।' थोड़ा हँस दिये, बोले,

'तो मिल तो गया।' मैंने कहा' हाँ, पर मुझे श्यामके दर्शन भी तो कराइये।' वे खिलखिलाकर हँस पड़े और कहा 'अरे बावरे तुम, श्यामको ढूँढ़ो, श्याम तो तुम्हें ही ढूँढ़ंगे। जो साँवरेको सदा ढूँढ़ता है, उसे साँवरा स्वयं ढूँढ़ता है।

इतनेमें पिताजी भी आ गये। उन्होने भी गुरुजीके चरण छूए। गुरुजी मुसकुराकर बोले 'अच्छा, अच्छा, स्थानपर चलो, मैं अभी आया।'

एक निर्जन एकान्त घने जंगलमें एक गुफामें गुरुजीका स्थान था। गुफाके सामने ही एक पत्थरकी चट्टान थी। हमलोग वहीं बैठ गये। इधर-उधर देखकर मैंने कहा 'बड़ा निर्जन स्थान है। वातावरण बड़ा आध्यात्मिक लगता है। पिताजी, क्या एकान्त आवश्यक है? जंगलमें आना अनिवार्य है?' पिताजी बोले, एकान्त तो मनका है। एक मनुष्य संसारके बीचमें रहता हो पर यदि उसका मन शान्त है, चञ्चल नहीं है, तो वह एकान्तमें ही है। एक मनुष्य जंगलहीमें क्यों न रहता हो, पर यदि मन-बुद्धिपर उसका अधिकार नहीं है, मन चञ्चल है, तो वह एकान्तमें नहीं है। एकान्त तो मन-बुद्धिकी एक अवस्था है। एक मनुष्य जो इच्छाओं और वासनाओंसे जकड़ा हो, वह कहीं भी रहे, उसके लिये एकान्त नहीं है। जो विषयोंसे विरक्त हो उसके लिये सभी जगह एकान्त है।'

कुछ समय बाद गुरुजी आये। हमलोग उठ खड़े हुए। बड़ी नम्रतासे बैठाकर आप भी बैठ गये। मेरी ओर देखकर बोले 'कृष्णको देखा चाहता है?

'कृष्ण चन्द्र तो फिरता डोले बँधा प्रेमकी डोरीमें।×××'

'एक म्यानमें दो तलवार नहीं रह सकतीं। एक ही स्थानपर रात और दिन इकट्ठा नहीं हो सकते।' पिताजी बीचमें बोले 'एक सूफीने सत्य ही कहा है—

न बीनी कि परवानओ शमा हरगिज़।
कि बर बातिनश खीरा गरदद बिदारे॥

'क्या देखते नहीं किं दीपक और पतंगेमें कैसा प्रेम है? पतंगा सदैव उसीके प्रणयमें मस्त रहता है, वह कभी दूसरेका ध्यान भी नहीं करता।'

महात्माजीने कहा तुम्हारा श्याम तो पूर्णरूपसे तुम्हें चाहता है--भगवान् स्वयं कहते हैं 'आत्मत्याग करो तो मुझे पाओगे' तुम्हारा श्याम मणि-मुक्ता नहीं चाहता, वह तो पूर्णरूपसे तुम्हें चाहता है, तुम्हारा सर्वस्व प्रेम चाहता है, भेंट करो—उसके चरणोंमें चढ़ा दो—वह तो तुम्हारे निकट ही है—बोलो! तुमने दिया?' क्षणभर मौन रहनेके बाद मेरे अंदरसे किसीने कहा 'कहाँ दिया? अभी नहीं दिया।' हृदयकी धड़कन तीव्र हो उठी, माथेसे पसीना छूट गया।

महात्माजी बोले—'अपना हृदय टटोल कर देखो, कितनी इच्छाएँ—कितनी वासनाएँ भरी हैं? एक कोनेमें भगवान्‌के देखनेकी धुँधली-सी अभिलाषा भी है। तुम्हें भगवान्‌के दर्शन तो अवश्य होंगे।' मेरे मनमें एक उल्लास हो उठा कि मुझे दर्शन होंगे। महात्माओंने कहा है, अवश्य ही होंगे। सत्य ही होंगे—और बिना साधन ही होंगे। संसारने 'साधन-साधन' की मिथ्या पुकारसे भगवान्‌को दूर कर दिया है। मनमें किसीने चुटकी ली कि 'यह सब भी तो साधन ही है।' मैं सहम गया, मनकी गति चञ्चल हो उठी।

महात्माजी बोले 'बेटा! थोड़े-से आर्थिक लाभके लिये मनुष्य दूर-दूरका सफर करता है और कैसे-कैसे अपमान-असुविधा दुःख-कष्ट झेलता है। और अनन्त जीवनके लिये एक पैर उठानेमें कष्ट प्रतीत होता है? यहाँ तो न कहीं आना है न जाना, केवल बैठे-बैठे अपनी गर्दको केवल झाड़ना-ही-झाड़ना है। इसमें भी कोई आपत्ति है?' मुझे बड़ी लज्जा आयी, कुछ शोक भी हुआ। मैंने गुरुजीसे प्रार्थना की 'आप मुझे बताइये।' जो कुछ बताइये—मैं करूँगा—मेरे हृदयमें एक उथल-पुथल मची है—आप ही शान्त कर सकते हैं, आप ही मुझे भगवान्‌का दरवाजा दिखायेंगे—कहिये।'

कुछ समय शान्त रहनेके पश्चात् गुरुजी बड़ी गम्भीरतासे बोले—'तुम्हारे मनमें जीवनका रहस्य जाननेकी इच्छा है, ठीक ही है— तभी तुम जानोगे कि क्या करना है और कैसे करना है? 'साधन' शब्दके अन्तर्गत जो कुछ तुम्हें भयभीत करता है, वह दूर हो जायगा। यह समझ लोगे कि 'साधन' कुछ पानेके लिये नहीं, केवल कुछ दे देनेके लिये है, कुछ छोड़ देनेके लिये है; किसीको प्राप्त कर दर्शनके लिये नहीं, केवल अपनेमें देखनेकी शक्ति पैदा करनेके लिये है।

साकाररूपमें दर्शन देनेके पहले हर वस्तु निराकाररूपमें स्थित रहती है। पदार्थरूपमें प्रतिफलित होनेके पहले अतिसूक्ष्म-विचाररूपमें रहती है। निराकर अवस्था ही 'कारण' है—साकार या प्रकाशित अवस्था उसका परिणाम है।

संसारका मुख्य या मूल आधार वही एक सत्ता है जो हर वस्तुमें व्याप्त है, जो सबको जीवन देती है, जो अपनेको सबसे और सबके द्वारा प्रकाशित करती है, जिससे

सबकी बराबर उत्पत्ति हो रही है और जिसमें सब बराबर लय हो रहे हैं। यदि 'प्रेम' देखते हो तो उसका सागर भी अवश्य ही है—उसका एक अखण्ड मूल स्रोत है। ज्ञान है तो ज्ञानका भण्डार भी है। इसी प्रकार हर वस्तुका आधार, स्रोत, भण्डार अवश्य है। यह मूल आधार ही भगवान् है, यही ब्रह्म है, यही अनन्त परमात्मा है। सब वस्तुओंका आधार यही अपार शक्तिमान् परमात्मा है।

'यही अनन्त-शक्ति अटल अपरिवर्तनशील नियमोंके द्वारा सारी सृष्टिको चलाती है। प्रत्येक दिवसका--प्रत्येक क्षणका काम इन्हीं नियमोंके एक धर्मके अनुसार होता है। हर फूल किसी धर्मके अनुसार खिलता है, फूलता है और मुरझाता है। सूर्य और चन्द्रमा भी एक अनिवार्य धर्मके अनुसार ही उदय और अस्त होते हैं। धर्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वह धर्म जब ऐसा प्रत्यक्ष और ऐसा सत्य है तब इसका बनानेवाला भी कोई अवश्य है। इस धर्मका निर्माता परमशक्ति परमात्मा है, जो सबके अन्तर्गत है और सब उसके अन्तर्गत हैं। यही ईश्वर, गॉड, अल्लाह (या चाहे जिस नामसे कहिये) है। हम सब वास्तवमें उसीमें रहते हैं, उसीसे हमारा अस्तित्व हैं। यद्यपि हम परमात्मासे पृथक् प्रतीत होते हैं , क्योंकि हम व्यक्ति आत्मा है और वे सर्वव्यापक समष्टि आत्मा है, जो हमको और सबको अपने अंदर रखते हैं—मगर फिर भी वास्तवमें परमात्मा और जीवात्मा एक ही हैं। भेद या अन्तर जो कुछ है—वह स्वरूप या खासियतमें नहीं है, लीला वैचित्र्यके अनुसार केवल मात्रा में हैं। देखो—एक झील है एक फाटकके द्वारा वह एक तालाबसे संयुक्त है। झील परमात्मा है, तालाब जीवात्मा है। झीलहीका जल तालाबमें आता है, दोनोंके बीचमें केवल एक फाटक हैं जो पानीके देने-रोकनेपर अधिकार रखता है। पानी दोनोंमें एक ही है, पर मात्रामें भेद है। जैसे तालाब अपना पानी झीलसे पाता है, वैसे ही जीवात्मा अपना सर्वस्व परमात्मासे ही एक दिव्य प्रवाहके द्वारा पाता है। जैसे फाटक झीलके पानीको तालाबमें जानेसे रोकता है, वैसे ही जीवात्माका 'अहं' परमात्माके दिव्य प्रवाहको रोकता है। फाटक खोलने या गिरानेके लिये एक 'कल' लगी है। वैसे ही 'अहं' का विस्तार करने या उसे नष्ट कर देनेके लिये जीवात्माके पास 'विवेक-शक्ति' है। जैसे फाटकके खुल जानेपर या गिर जानेपर झीलका पानी तालाबकी ओर बहता है और उसे पूर्ण करके अपने स्वरूपमें मिला लेता है, वैसे ही 'अहं' का विस्तार होनेपर या उसके नष्ट हो जानेपर परमात्माकी दिव्य-शक्तिका अन्तरप्रवाह जीवात्माकी ओर होता है और उसे पूर्ण करके अपने परमात्मस्वरूपके साथ एक कर देता है, उसे परमात्मा बना देता है।

'जितना ही मनुष्य अपनेको इस दिव्य अन्तरप्रवाहके लिये खोलता जाता है, उतना ही वह ईश्वरत्वके निकट पहुँचता है।

'ईश्वर सीमाबद्ध नहीं और मनुष्यकी सीमा कितनी? उतनी ही जितनी वह अपने वास्तविक स्वरूपकी अनभिज्ञताके कारण स्वयं अपने चारों ओर कर लेता है। 'अहं' की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है, यह अपना ही बनाया हुआ है—अपना ही एक कल्पित रोड़ा है। विचार-शक्तिसे इसका नाश हो जाता है, यह लोप हो जाता है। इसीसे सिद्ध है कि इसका वस्तुतः कोई अस्तित्व नहीं है।

मनुष्य-जीवनमें सबसे मुख्य बात है—उस असीमके साथ अपने सामञ्जस्यका ज्ञानपूर्ण और चेतन अनुभव करना तथा अपनी आत्माको उसके दिव्य अन्तर-प्रवाहके लिये पूर्णतया खोल देना।

'उस असीमके साथ हम जिस मात्रामें अपनी एकताका अनुभव करते हैं और उस दिव्य अन्तर-प्रवाहके लिये अपनी आत्माका द्वार खोल देते हैं, ठीक उतनी ही मात्रामें हम अपने अंदर उस असीमके गुणों और शक्तियोंको प्राप्त कर लेते हैं।

'विचार-शक्तिके द्वारा ही हम अपने वास्तविक स्वरूपको जानते हैं अनुभव करते हैं—अपने 'अहं' को अल्प विषयोंसे हटाकर उसका इतना विस्तार कर देते हैं कि आत्मा और परमात्माका भेद मिट जाता है। इसीके द्वारा हम दिव्य शक्तिमें अन्तरप्रवाहके लिये अपना द्वार खोल देते हैं। मुख्य साधन हमारा 'विचार-शक्ति'का प्रयोग ही है। विचार-शक्तिको पुष्ट करनेके अनेकों साधन हैं। झील और तालाबके बीचके फाटकको खोलने और गिरानेका एक ही साधन 'कल' है और उस 'कल' को ठीक रखनेके अनेकों साधन हैं। विचारसे ही हम प्रकृतिसे सम्बन्ध करते हैं और विचारसे ही हम परमात्मासे नाता जोड़ते हैं।

'विचारमें रूप है, विशेषता है, सत्ता है और शक्ति है। विचारमें आकर्षण है, विचार अपने समान विचारको आकर्षित करता है। विचारमें वास्तविक सृजन-शक्ति है। जितनी वस्तुएँ प्रत्यक्षमें देखते हैं, उनकी उत्पत्ति

विचारसे है, यह सब विचारका ही परिणत रूप है।

'अपना ही विचार नहीं, दूसरोंके विचार भी—उनके भी जो हैं और जिन्होंने शरीर त्याग दिया हैं-सबकेविचार हमपर प्रभाव डालते हैं। हम एक विचार-सागरमें रहते हैं, हर विचारकी लहर हमसे टकराती है और अपने विचारकी शक्तिके अनुसार हम उससे प्रभावित होते हैं।

संसारके सब साधन—आचार, विचार, आहार, त्याग, वैराग्य, पूजा, अर्चना, नमाज़, रोज़ा, कीर्तन, जप, सत्संग इत्यादि इसीलिये हैं कि विचार पुष्ट हों। यदि सीढ़ी ही कमजोर रहे जो ऊपर कैसे चढ़ा जा सकता है? विचारके पुष्ट होनेसे तात्पर्य है कि विचारमें अपने स्वरूपके जाननेकी शक्ति आ जाय—'अहं' को विस्तार करनेकी, नाश करनेकी अथवा समर्पण करनेकी शक्ति हो, ताकि जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरूपका अनुभव करे—अपने वास्तविक स्वरूपमें मिल जाय और दिव्य-अन्तरप्रवाहके लिये जीवात्माका द्वार खोल दे जिससे वह पूर्ण अपने परमात्मामें मिलकर परमात्मा हो जाय।

'केवल पुस्तक पढ़ लेनेसे, निष्काम कर्मयोग या ज्ञानयोग जान लेनेसे, भक्तियोग समझ लेनेसे, 'विचारकी पुष्टि आवश्यक है' यह मान लेनेसे ही भगवत्प्राप्ति नहीं होती। खाली किताब पढ़ लेनेसे तैरना नहीं आता। केवल टाइम-टेबल (Time-Table) पढ़नेसे रास्ता तै नहीं होता। तैरनेके लिये पानीमें उतरना ही होगा—रास्ता तै करनके लिये रेलगाड़ीपर बैठना ही होगा—चलना ही पड़ेगा। इसी तरह आध्यात्मिक मार्गमें भी उन्नति करनेके लिये साधन करना ही पड़ेगा—किसीको थोड़ा किसीको अधिक। यह अवस्था-भेदसे अधिकार भेद है।

हठयोग शरीरको आरोग्य रखकर विचारकी शक्ति बढ़ानेहीके लिये है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि सब चित्तकी एकाग्रताके लिये—विचार-शक्ति बढ़ानेहीके लिये हैं। हज़रत ईसाने कहा—'यदि कोई तुम्हारे एक गालपर चपत मारे तो दूसरा गाल भी उसकी ओर फेर दो' इसका तात्पर्य यही है कि तुम सदा सद्विचार रखो, सदा भलाई करो, चाहे तुमसे कोई बुराई क्यों न करे। भाव यही कि यदि तुम्हारा विचार अच्छा है तो वह संसारमें सब अच्छे विचारोंको आकर्षित करके बलवान् होगा और यदि तुम्हारा विचार बुरा हो गया तो वह बुरे विचारोंको आकर्षित करके विचार-शक्तिको क्षीण करेगा। महात्मा बुद्धने अपने आठ आचार-सम्बन्धी नियमोंके पालन करनेका आदेश किया—विचारको शुद्ध और बलवान् करनेके लिये। 'अहं' को विस्तार करनेका साधन बताया (ज्ञानमार्ग)। हजरत मुहम्मदने आत्मसमर्पणका मार्ग बताया (भक्तियोग)। हिंदू-धर्ममें तो सभी योगोंके समूह हैं—सब कालके लिये—सब पुरुषोंके लिये पृथक्-पृथक् साधन इसमें बताये हैं। अपने-अपने अधिकारके अनुसार सब ले सकते हैं। सच्चिदानन्दघन एक परमात्मसत्ताका जानना ज्ञान है, परमात्मामें पूर्ण श्रद्धा-विश्वाम होना भक्ति है और परमात्माको पानेके मार्गमें चलना कर्मयोग हैं।

'हर समयमें, हर देशमें, हर पुरुषके लिये एक ही साधन होना असम्भव है। इसीसे अनेक धर्म है, जिसको पाना है, वह परम और चरम सत्य एक ही है। अज्ञानके कारण ही साध्यमें इतने मतभेद हैं। मनुष्यकी उन्नतिमें अपना ममत्व सबसे अधिक हानिकारक हैं।

'भगवन्नाम चिन्तन करना भी एक मुख्य साधन है। वाक्‌में शक्ति है, विचारमें सृजन-शक्ति वास्तविक रूपसे है। शब्द इस विचारकी आन्तरिक शक्तिका केवल बहिर्गत विकास है। शब्दके द्वारा विचार-शक्ति एक निश्चित लक्ष्यकी ओर प्रवाहित होती है। शब्द विचारका प्रकाशित रूप है। जो शक्ति विचारकी है, वही शब्दकी है। विचार ही शब्द है। एकाग्र-चित्तसे नामस्मरण करनेसे नामीका रूप हमारे सामने आ जाता है।

'तुम श्रीकृष्णको चाहते हो तो पहले श्रीकृष्णको समझो, फिर उनमें अपना अटल श्रद्धा-विश्वास करो, तदनन्तर पानेका निश्चय करके उनके लिये कर्म करो। एक संतने कहा—'जिसने उसको खोजा, उसने उसको पाया।' दूसरे संतने कहा—जिसने उसको पाया, वह उसकी खोजमें लगा।' केवल शब्दोंका फेर है, पर कितनी सुन्दर एक ही बात?'

महात्माजी धीरेसे बोले 'देखो बेटा! एक रत्तीभर कर्म सेरों ज्ञानकी थोथी बातोंसे कहीं अधिक है।' मैंने एक गहरी साँस ली—कहा—'तो मेरे लिये आज्ञा कीजिये।' गुरुजी बोले—'सांसारिक कामनाओं और वासनाओंको हटाते हुए भगवान्‌की ओर बढ़ो। तुम्हारी जाँच इसपर

नहीं है कि तुमने क्या पढ़ा, क्या सुना या क्या कहा, बल्कि इसपर है कि तुमने क्या किया और तुम कैसे रहे? मनुष्य बाहरी रूपको देखता है, परमात्मा हृदयको टटोलता है। समय-समयपर अपने ही अंदर डुबकी लगाओ, 'मैं' को क्षीण कर दो, या इसका विस्तार करके सर्वव्यापीमें लीन कर दो। उन्हें आत्मसमर्पण कर दो। यदि तुमने सारे धर्म-ग्रन्थ पढ़ लिये—सब दार्शनिकोंकी सूक्तियोंको याद कर लिया तो क्या लाभ हुआ यदि तुम परमात्माके प्रेम और उनकी दयासे वंचित रहे? परमात्मा दयालु हैं—उनकी दयापर अभिमान रखो—कृतज्ञ रहो। संसारसे परे एकान्तमें नित्य परमात्माके संग रहो, निरन्तर उनका अपने साथ रहना—अनुभव करो। न बोलना आसान है, परन्तु आवश्यकतासे अधिक न बोलना बहुत कठिन! हृदयकी सादगी और शान्तिमे आत्मा पवित्रताकी ओर अग्रसर होता है परमात्माके अपूर्व रहस्यको खोलने में समर्थ होता है। केवल आत्माकी मुक्तिका ही—परमात्माकी प्राप्तिका चिन्तन करो, परमात्माके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुकी इच्छा न करो। संसारमें एक ऐसे मुसाफिरकी भाँति रहो कि जिसका दुनियासे कोई सम्बन्ध नहीं है—दुनियामें अपना कुछ भी नहीं। हर वस्तुको प्यार करो परमात्माके लिये, परन्तु परमात्माको प्यार करो केवल परमात्माके लिये—किसी दूसरी अभिलाषा या भयसे नहीं!

'मनुष्य जितना संसारसे अलग होता है, उतना ही ईश्वरके निकट पहुँचता है। जितना सांसारिक सुखको तिलांजलि देता है, उतना ही ईश्वरीय सुख प्राप्त करता है। जितना अपनेमें पैठता है—अपना सङ्कोचन करता है। अपनी आँखमें अपनेको क्षुद्र समझता है, उतना ही वह ऊपर उठता है और परमात्माकी दृष्टिमें ऊँचा होता है। जब आत्मसमर्पण कर दोगे, जब स्वयं अपनेको भगवान्‌के चरणोंपर भेंट कर दोगे, तब तुम्हें श्यामके दर्शन होंगे—वे तुम्हें उठा लेंगे!

'सुना? जब कोई देखना चाहता है तब देख पाता है। जब तुम सुनते हो तो भगवान् बोलते हैं और जब पूर्ण विश्राम रखकर आज्ञा-पालन करनेपर तत्पर रहते हो तो भगवान् कार्य करते हैं।'

मेरी पीठ ठोंककर महात्माजी बोले 'तुम श्यामको देखना चाहते हो न? देखोगे।' मैंने कहा—'मुझे संसारका सुख नहीं चाहिये, मुझे कुछ नहीं चाहिये, मुझे तो अब, बस एक श्याम ही चाहिये।'

महात्माजीने कहा 'एक हृदय है—बस, उसमें एक ही चाह रख सकते हो, उसके द्वारा एकहीसे प्रेम कर सकते हो, वह केवल एकको ही दे सकते हो—केवल श्यामको ही—दूसरेको नहीं! जाओ—श्याम तुम्हें वृन्दावनमें बुलाते हैं। वहीं दर्शन होंगे। वे वहाँ तुम्हारी बाट जोह रहे हैं। जाओ बेटा! उन्होंने मेरे सिरपर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया। मैं गद्‌गद हो गया!

x x x x x x x x x

धीरे-धीरे वृन्दावनकी गलियोंमें भ्रमण करने लगा। कुछ अच्छा लगता था। एक मन्दिरके समीप एक भिखारीने अँगड़ाई ली, कहा—

कोइ तन दुखी कोइ मन दुखी चिन्ता चित्त उदास।
थोड़े थोड़े सब दुखी सुखी श्यामके दास॥

मैं आकर्षित हुआ। मैंने धीरे-से 'पूछा क्या बतायेंगे श्याम कहाँ मिलेंगे?' कहा—'हाँ-हाँ'—क्यों नहीं? वहाँ श्रीविहारीजीके मन्दिरमें!' उन्होने हाथसे मन्दिर दिखा दिया।

आज मन्दिरमें कुछ पूजा थी। भजन हो रहे थे। सामने सुन्दर सिंहासनपर भगवान् विराजमान थे। मैंने दण्डवत् की, एक कोनेमें बैठ गया। एक भक्त गा रहा था। मृदंग, करताल और झाँझ भगवान्‌की वन्दना कर रहे थे। भक्त गा रहा था—गा क्या रहा था—भगवान्‌से पूछ रहा था—

मोहन! मथुराजीमें जाकर, वृन्दावन क्यों भूल गये?
नन्द बबा, जसुमति मैयाकी, नेह- लगनको क्यों भूल गये?
लूट-लूटकर माखन खाना, धेनु चराना भूल गये?
जमुनातट बंसीवट कान्हा! ग्वाल-बाल क्यों भूल गये?
सरद चाँदनीकी रजनीका, रास-हास क्यों भूल गये?
गोपीजनकी मधुर प्रीतिका, रसविलास क्यों भूल गये?

प्रत्येक शब्दमें एक व्यथित हृदयकी कसक थी, पीर थी। प्रत्येक स्वरमें रुदनकी कम्पन थी—यह अन्तरकी आवाज थी—वियोगसे पीड़ित पागल प्रेमीकी पुकार थी।

भक्त हाथ जोड़कर कहता था 'प्रभो! क्या आप जानते नहीं? सब कुछ जानते हैं। मेरे भोले श्याम! तुम्हें क्या नहीं मालूम कि तुम्हारे वियोगमें सारा वृन्दावन तड़प रहा है। सुनिये—

स्याम-स्याम रटत राधे, आपु श्याम भई!
पूछत फिरीं सखियन-सों, राधे कहाँ गई?
देखि दशा सखिया सब, प्रेम बिकल भईं-
लिपट-लिपट रोईं सब, राधे नाम लई-
...................................हा राधे! राधे! राधे!

× × × × ×

ग्वाल बाल सब बिलख-बिलखकर, ढूँढ, रहे कर रहे पुकार?
हा! हा! स्याम सखे! जीवन धन,
कहाँ गये तुम हमें बिसार?
कौन चरावे गैया तुम बिन,
कौन हमारो है रिझवार?
कान बजाकर बंसी वनमें,
बरसावे अमृतकी धार?
कौन भुलावे तन-मनकी सुध,
कौन करे जीवन संचार?
हा! हा! स्याम प्रेमधन तुम बिनु,
है सबका जीवन निःसार॥

भजनने सबके हृदयको प्रेम-विभोर कर दिया! आँखोमें आँसू छलछला उठे। बहुतसे तो फूटकर रो पड़े! भक्त विलख रहा था, टूटे शब्दोंसे कह रहा था—

बाँह छुड़ाये जात हो, निबल जानि कै मोहि।
हिरदय ते जब जाहुगे, मर्द बदौंगे तोहि॥

मेरा हृदय भी उमड़ आया, प्रेम-सागरमें ज्वार आ गया। मैं रोक न सका अपनेको—उसमें बह चला—क्रन्दन-ध्वनिसे मन्दिर गूँज उठा। मनमें हूक उठती थी 'भगवान् क्या इतने निर्दयी हो'! फिर एक असीम आनन्दका अनुभव किया, अपार शान्तिमें प्रवेश किया। मन्दिरका पट बंद हो गया—सब चले गये। मन्दिरके बाहर एक सीढ़ीपर मैंने रात्रि बितायी। बड़ी घोर निद्रामें था—सुखकी नींद सोया। भोर होते ही यमुनातटकी ओर चला—चलता ही गया। एक पीपलके पेड़के नीचे एक बाबाजी झूम-झूम कर हथेली बजाते जाते थे और कहते जाते थे—

'स्यामने दीवाना कर दिया—अजी! स्यामने दीवाना कर दिया।'

पता चला मुसलमान फकीर है। श्यामने इनको दीवाना कर दिया। लोग इनको 'श्यामजी' कहते हैं और ये सबको 'श्याम' कहते हैं।

प्रणाम करके मैं उनके पास बैठ गये। एकदम मेरे आगेकी मिट्टी कई बार जल्दी-जल्दी उठाकर उन्होंने माथे लगा ली। मुझे बड़ी लज्जा लगी। मेरी उपस्थितिसे उनके स्मरणमें बाधा पहुँची। वे मेरी ओर निहारते रहे—एकटक! मैंने आँखें नीची कर लीं। उनकी आँखोंसे ज्योति निकल रही थी, मैं चुप बैठा रहा। थोड़ी देर बाद साहस करके बोला 'आप तो इस्लाम-धर्मके माननेवाले हैं।' मधुर लहजेमें वे बोले—

मर्द आशिक रा न बाशद इल्लते।
आशिकां रा न देहे मिल्लते॥
मजहबे इश्क हमा दीनहा जुदास्त।
आशिक रा मज़हब व मिल्लत ख़ुदास्त॥

प्रेमीकी लगन संसारी इल्लतसे परे है—मजहब कोई नहीं—सब दीनोंसे अलग वह केवल भगवत्-प्रेमसे ही सरोकार रखता है।

बुतख़ानआ काबा ख़ानए बन्दगी अस्त।
नाक़ूस ज़दन तरानए बन्दगी अस्त॥
मेहाराबो कलीसाओ तसबीहो सलीब।
हक्का कि हमा निशानए बन्दगी अस्त॥

मन्दिर तथा काबा दोनों ही ईश्वरकी पूजाके स्थान हैं। शङ्ख बजाना उसीका आह्वान करना है। मस्जिदकी मेहराब—गिर्जाकी वेदी तसबीह और माला सबमें सत्य है, यह सब उसी परमात्माकी पूजाकी स्मृतिमें है।

मैंने कहा 'आप मूर्त्ति-पूजा करते है?' बोले 'सुनो, मूर्ति-पूजा तो कोई भी नहीं करता, पूजा तो सब ईश्वरकी करते हैं। एक बार मूर्ख लोगोंने मजनूँसे पूछा लैलामें क्या सुन्दरता हैं, वह तो कुछ भी सुन्दर नहीं, उससे कहीं सुन्दर—हावभावमें कहीं श्रेष्ठ स्त्रियाँ और हैं?'

गुफ्त सूरत कुजास्त व हुस्न मै।
मेखुदायम भी देहद अज जर्फे वै॥
मर शुमा रा सिर्का दादज कूजा अश।
ता न बाशद इश्के ऊ तां गोश कश॥
कूजा मो बीनीं व लेकिन आं शराब।
रूए न नुमायद बचश्मे ना सवाब॥

'मजनूँने उत्तर दिया कि सूरत (मूर्ति) तो एक पात्र है और यौवन (ईश्वरीय प्रेम) उसमें भरी हुई सुरा—

ईश्वर मुझको उसी प्यालेसे सुरा पान कराता है। तुम लोगोंको उसके पात्रसे अलग कर दिया कि जिसके कारण उसका यौवन अपनी ओर आकर्षित न करे। तुम पात्रको देखते हो, परन्तु वह सुरा इस आँखसे चेहरेमें नहीं दिखाई देती। ऐ प्यारे! मैं भी इस पात्र-मूर्त्तिसे ईश्वरीय सुराका पान करता हूँ।'

'फिर मेरा श्याम क्या हिंदुओंके ही पट्टे लिखा है—वह तो सबका है। वह है ही ऐसी चीज जिसपर सभीको कुर्बान होना पड़ता है। वह माशूके-आलम है! क्या करूँ? उसने दीवाना बना दिया—अब तो सब तरफ वही दीखता है।

दर दीवार दरपन भये जित चितवौ तित तोहि।
कांकर पाथर ठीकरी भये आरसी मोहि॥

'ऐ मेरे प्यारे! तुम्हारी आँखमें भी श्याम हो तो फिर सबमें श्याम-श्याम ही है।' फिर मस्तीसे झूम-झूमकर गाने लगे—

अजी स्यामने दीवाना कर दिया-परवाना कर दिया—
अजी स्याम..
तुझमें फना हूँ तुझीमें फना रहूँ।
आ जाय तू नजर तो तुझे देखता रहूँ॥
अजी स्याम तो दीवाना कर गया—
अजी..

कितना सरल स्वभाव—कितनी प्रगाढ़ भक्ति—मैं इनके पास अवकाश पाकर अक्सर जाता था।

एक रोज मैंने पूछा 'आप वृन्दावन कैसे आये?' बोले 'श्यामजी लिवा लाये। एक बार मैं गया—बरसाने। वहाँ कुछ बालकोंको श्यामसे बातें करते देखा—प्रत्यक्ष। मैंने कहा 'ऐ खुदा मुझसे भी आप स्वयं बातें कीजिये—किसी दूसरेके द्वारा नहीं— मैं उनसे नहीं सुना चाहता—मुझसे भी आप खुद बोलिये। हज़रत मूसा, कोई पैग़म्बर अथवा देवता आपके बिना कुछ नहीं कर सकते। वे बोलते हैं, पर आप ही जान डालते हैं। वे कैसे भी कहें, पर यदि आप शक्ति न दें तो प्रभावित नहीं कर सकते। वे रास्ता बताते हैं, पर चलनेकी शक्ति आप ही देते हैं। वे शिक्षा देते हैं, पर आन्तरिक जागृति तो आप ही करते हैं। इसलिये हे परमात्मा! आप बोलिये, आप स्वयं बोलिये।' श्यामका शब्द गूँज उठा 'यहीं निवास करो।' बस, तभीसे हूँ।' मैंने कहा 'आप बड़े भाग्यवान् हैं।' कुछ देर बाद मैंने कहा 'संसार साधन-साधन चिल्लाता है, आपने कौन-सा साधन किया? बहुत हँसे, बोले—

'शवज खुद बरी गर्दतावर हकीकत
तेरा बे तो हासिल शवद हनहिदादे'

'अपने-आपको भुला दे हकीकत' (ईश्वरीय वास्तविकता)-तक पहुँचनेका यही उपाय है। इसी उपायसे तू अपने-आपको भी दूर कर सकेगा।' बड़ी उत्सुकतासे मैंने पूछा—'क्या श्याम बोलते हैं—स्वयं आकर?' बोले 'हाँ, हाँ जब मनुष्य सुनता है तो श्याम बोलते है; जब मनुष्य आज्ञापालन करता है तो वे कार्य करते हैं। दर्शन तो सर्वदा ही देते रहते हैं।' मेरे मनमें बड़ा उल्लास हुआ 'अहा! तब तो श्याम मुझसे भी बोलेंगे—स्वयं बोलेंगे। मैं भी तो वृन्दावनमें हूँ, श्याम ही तो लाये हैं मुझे!' हृदय प्रफुल्लित हो उठा। श्यामजी बाबा कहते गये 'श्याम बड़े ईर्ष्यालु हैं' वे किसी दूसरेका प्रेम नहीं सहन कर सकते। रूठ जाते हैं— वे तो बस, सारा प्रेम अपनेमें ही न्योछावर कराना चाहते हैं। वे कहते थे—'कुछ लोग स्वर्गकी अभिलाषासे मुझे भजते हैं और कुछ लोग नरकके भयसे। मुझे मेरे ही लिये तो बहुत ही कम लोग याद करते हैं। जो सर्वस्व मुझे दे देता है, मैं उसे अपनेको सौंप देता हूँ—उसे मैं अपना लेता हूँ।' ठीक ही तो कहते थे। इसीसे एक बार रबिया रोती जाती थी और चिल्लाती थी कि 'काबेमें आग लगा दो।' लोगोंने कहा है 'रबिया यह क्या?' बोली 'उस मकानके पीछे लोग मकानवालेको भूले जा रहे हैं।' ऐसे ही एक बार शिब्ली एक लकड़ी दोनों ओरसे जलती हुई लेकर भागे। लोगोंने पूछा 'सूफी! कहाँ'? बोले 'जन्नत और दोज़खमें आग लगाने।' 'पूछा' क्यों?' कहा 'मैं जन्नत और दोज़ख दोनोंको जला दूँगा, ताकि कोई जन्नतकी चाहसे या दोजखके डरसे खुदाको न याद किया करे—खुदाको सब याद करें खुदाके लिये, ये दोनों—मनुष्य को खुदाकी राहसे भटकाते हैं।' फिर कुछ अन्यमनस्कसे बोले—'जाओ—अब जाओ श्यामसे मिलो—जाओ।'

आज रात्रिमें श्री···· के मन्दिरमें बड़ा उत्सव था। दूर-दूरसे सेठ-साहूकार, राजे-महाराजे आये थे। मन्दिर खूब सजा था। मैं भी एक ओर अंदर बैठ गया। बड़ी भीड़ थी। कोई नाना प्रकारके व्यञ्जनोंका भोग लाया—कोई मणियोंकी माला लाया—कोई फूलोंके गहने लाया—कोई-कोई सोने-चाँदी'की थाल लाये। अनेकों मूल्यवान् वस्त्राभूषण लाये। सभी सहर्ष और सगर्व भगवान्‌को भेंट चढ़ाते—अपनी इच्छा प्रकट करते और उसकी पूर्त्तिके लिये प्रार्थना करते। पुजारी प्रसाद

देता—कहता 'चिरञ्जीव हो—इच्छा पूर्ण हो। मैं सोचने लगा— क्या भगवान् लालची हैं? क्या लोग भगवान्को रिश्वत देकर इच्छा-पूर्ति करते हैं, क्या यह सब भगवान्का ही नहीं है? मनमें खेद होता था—लोग यह नहीं कहते थे 'भगवन्! मैं सूनता हूँ बोलिये।' वे कहते थे 'भगवन्! सुनिये—मैं बोलता हूँ।' वे यह नहीं कहते थे 'भगवन्! मैं आज्ञापालन करूँगा—आज्ञा कीजिये।' वे कहते थे 'भगवन्! आज्ञापालन करो—मैं आज्ञा देता हूँ।' एक अभिलाषा—भगवान्के अतिरिक्त—लेकर चले आये—इच्छा पूरी करनेका मार्ग निश्चय कर आये—भगवान्के सम्मुख आये और बोले 'भगवन्! मेरी यह इच्छा है, इसे पूर्ण कीजिये—और निश्चित मार्गसे ही।' भगवान्के हाथमें इतना भी न छोड़ा कि वे यह निश्चय करते कि इच्छा ठीक है या नहीं, लाभदायक है या नहीं और है तो कैसे पूर्ण की जाय। हुक्म चलाने चले आये। क्या भगवान् नहीं जानते कि मनुष्यको क्या आवश्यकता है? क्या वे पूर्ण नहीं करते? मनमें भावावेश हो उठा। मैंने भगवान्की ओर देखा, तुरंत शान्ति हो गयी।

मैंने देखा भगवान् न तो हिले ही, न स्वयं बोले ही और न कुछ उन्होंने भेंटमेंसे लिया ही। पूजा समाप्त होने आयी—सब चले गये।

इतनेमें एक बालिका धीरे-धीरे आयी। भगवान्के सम्मुख घुटने टेककर बैठ गयी— थोड़ी देर एकटक भगवान्की ओर देखती रही। टप्-टप् करके आँसू गिरने लगे उसकी आँखोंसे—एक धारा बह निकली—रो पड़ी—बोली—

देव! तुम्हारे कई उपासक, कई ढंगसे आते हैं।
सेवामें बहुमूल्य भेंट वे, कई रंगसे लाते हैं॥
धूम-धामसे साज-बाजसे, मन्दिरमें पधराते हैं।
मुक्ता-मणि बहुमूल्य वस्तुएँ, लाकर तुम्हें चढ़ाते हैं॥
मैं गरीबनी अति निष्किंचन , कुछ भी भेंट नहीं लाई।
फिर भी साहस कर मन्दिरमें, पूजा करनेको आई॥
नहीं दान है नहीं दक्षिणा, खाली हाथ चली आई ।
पूजाकी विधि नहीं जानती, फिर भी नाथ चली आई॥
पूजा और पुजावा प्रभुवर! इसी पुजारिनको समझो।
दान-दक्षिणा और निछावर, इसी भिखारिनको समझो॥
मैं उन्मत्त प्रेमकी भूखी, हृदय दिखाने आई हूँ।
जो कुछ है बस, यही पास है, इसे चढ़ाने आई हूँ॥
चरणोंमें अर्पित है, इसका, चाहे तो स्वीकार करो।
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है, ठुकरा दो या प्यार करो॥

वह मत्था टेककर फूट-फूटकर रो रही थी। प्रभुने पुकार सुनी—मैंने अपनी आँखों देखा। भगवान्ने अपना आसन छोड़ दिया। शीघ्रतासे उठकर आये। बालिकाको उठा लिया। मैं भी चरणोंमें लोट गया। हर्षके आँसुओंसे उनके चरणोंको सींच दिया। कहा—'हे प्रभो! मेरे पास तो कुछ कहनेको भी नहीं है, सर्वस्व तो तुम्हारा ही है, मेरा क्या—लो अपना लो।' मुझे भी उन्होंने उठा लिया। प्यारसे बोले 'मैं भेंट नहीं देखता—मैं भक्तके हृदयको देखता हूँ कि उसमें मेरे प्रति कितना प्रेम है? जाओ—मैं तुम्हारे पास ही हूँ—जब याद करोगे—आऊँगा।' अपने हाथसे बालिकाके आँसू पोंछ दिये, मेरे सिरपर हाथ फेरा, कहा 'जाओ'। कुछ समय बीत गया, भेंट रखकर पुजारी आया—कहा 'अब मन्दिरका पट बंद होगा।' मैंने कहा मन्दिरका पट तो अभी ही खुला है।' पुजारीने मुझे पागल समझा—हम बाहर हो गये।

हर्षसे फूला न समा रहा था—मैं गा उठा—

प्रेमसे भज ले राधेश्याम!
प्रेमके आँसू यमुना-धारा, जिसमें खेले मोहन प्यारा।
मोहनरूप बने जग सारा, मन मन्दिर हो गोकुल धाम॥
(मन,) प्रेमसे भज ले राधेश्याम!

बालिकाने मेरा साथ दिया। गाते हुए हम यमुनातटकी ओर चले। जो मिला वह साथ हो लेता। कोई कहता यह 'विचित्र साधन' है। कोई कहता 'धन्य प्रभो! तुम्हारी लीला तुम्हीं जानो, जिसे जैसा चाहो बनाकर निकालो।' कोई कहता—

या अनुरागी चित्तकी गति नहिं समुझै कोय।
ज्यों ज्यों डूबै स्याम रँग त्यों त्यों उज्ज्वल होय॥

भगवान्ने तो कहा ही था—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

(गीता १२। ८)

'मुझमें मनको लगा। मुझमें ही बुद्धिको लगा। इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा—मुझको ही प्राप्त होगा। इसमें किञ्चित् भी संशय नहीं।'

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः!

साधन क्या?

(लेखक—साहित्याचार्य पं० श्रीवीरमणिप्रसादजी उपाध्याय, एम्०ए०,एल्०-एल्० बी०)

'साधनाङ्क' में यह एक आवश्यक प्रश्न उठता है कि परम स्पृहणीय 'कल्याण' के लिये प्राणियोंको किन साधनोंकी आवश्यकता है। यह बात प्रसिद्ध है कि किसी निर्दिष्ट वाञ्छित फलके लिये ही साधनोंका अवलम्बन किया जाता है। फल दो प्रकारके होते हैं—सांसारिक और पारलौकिक। पहला आशुविनाशी और अस्थायी होता है तो दूसरा उसकी तुलनामें स्थायी और अधिक सुखमय। परन्तु अन्ततः ये दोनों प्रकारके फल अनित्य, प्रातीतिक या व्यावहारिक और सातिशय सुखको ही देनेवाले हैं। इनसे नित्य और निरतिशय आनन्द पानेकी आशा करना व्यर्थ है। '**प्लवा ह्येतेऽदृढा यज्ञरूपाः**', '**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति**' इत्यादि वचन इसी बातको प्रमाणित करते हैं। सांसारिक फल पानेके अनेक मार्ग सुविदित हैं, जिनका उल्लेख करना पिष्टपेषण ही नहीं, बल्कि व्यर्थ होगा। पारलौकिक फलके साधनीभूत प्रत्येक विधि या कर्मके लिये, जिसका फल पूर्वमीमांसाशास्त्रमें बहुत बढ़ा-चढ़ाकार मोक्षतक माना गया है उक्त दर्शनके अनुसार चार बातोंकी आवश्यकता होती है—(१) अधिकार, (२) विनियोग, (३)प्रयोग और (४)उत्पत्ति। इन चारोंको संक्षेपसे समझाना आवश्यक होगा। किसी भी कर्म या विधिका उससे प्राप्त होनेवाले फलके साथ सम्बन्ध बतलाना 'अधिकार' के नामसे कहा जाता है। साथ-ही-साथ यह बात भी स्मरण रखनी चाहिये कि वह कर्म उस निर्दिष्ट फलको पानेके लिये एकमात्र उपायके रूपमें अवश्य करना ही होगा और इसीका नाम 'विनियोग' है इसके अतिरिक्त उस विधिको वस्तुतः काममें लाना अर्थात् 'प्रयोग' भी आवश्यक है, जिसके लिये प्रबल प्रेरणा अपेक्षित है। अन्तमें उसके विविध अंगोंके क्रमका स्मरण करना होगा, जिसके अनुसार उनके सम्पादनके बाद ही यह कहा जा सकता है कि वह कर्म सांगोपांग और विधिवत् परिपूर्ण हुआ और आकाङ्क्षित फलको देनेमें समर्थ हो सकेगा। इसका नाम 'उत्पत्ति' है।

कर्म या विधि नित्य, नैमित्तिक, काम्य और प्रायश्चित्तके भेदसे चार प्रकारका माना गया है। नित्य विधि उन कर्मोंको कहते हैं, जिनका प्रतिदिन पालन नियतरूपसे आवश्यक होता है—जैसे सन्ध्या इत्यादि। नैमित्तिक कर्म वे हैं, जो किसी विशेष अवसरपर किये जाते हैं—जैसे पितृपक्षमें श्राद्ध, तर्पण आदि। काम्यकर्म किसी निर्दिष्ट फलको पानेके उद्देश्यसे किये जाते हैं—जैसे 'ज्योतिष्टोम' स्वर्गप्राप्तिके लिये, 'चित्रक' गोवृद्धि और 'कारीरियाग' वर्षाके लिये इत्यादि। प्रायश्चित्त कर्म प्रमाद आदिसे उत्पन्न पापोंकी निवृत्तिके लिये किये जाते हैं। पूर्व-मीमांसाका सिद्धान्त है कि कर्मसे ही मोक्षकी भी प्राप्ति होती है। नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके समुचित सम्पादनसे प्रत्यवाय नहीं हो सकता। काम्य तथा प्रतिषिद्ध कर्मोंके परित्यागसे स्वर्ग, नरक आदि परलौकिक तथा सांसारिक जीवनका अन्त हो जायगा। बच गये वर्त्तमान देहके द्वारा भोगे जानेवाले कर्म जो उपभोगसे विनष्ट हो जायँगे। इस प्रकार भोगजनक किसी भी कर्मके न रह जानेपर कर्मसे ही पैदा होनेवाला संसार नहीं रह सकेगा और जीवको मुक्ति मिल जायगी।

विचार करनेपर यह मत नहीं जँचता। पहली बात तो यह है कि चौरासी लाख योनियोंमें निरन्तर भटकनेके बाद समस्त संचित कर्मोंका एक शरीरसे एक बार ही उपभोग नहीं हो सकता। इस कारण प्रारब्ध कर्मके अतिरिक्त पूर्व देहोंसे संचित अत्यधिक कर्म अवशिष्ट ही रह जायँगे, जिनके रहते संसार-चक्रकी समाप्ति किसी प्रकार हो नहीं सकती। दूसरी बात यह है कि नित्य और नैमित्तिक कर्मोंके विधिवत् अनुष्ठानसे केवल प्रत्यवाय नहीं होगा, इतनी ही बात नहीं है, बल्कि उनसे भी नये फल संचित होते रहेंगे—जिनके उपभोगके लिये नये शरीरोंको आवश्यकता बनी रह जायगी और संसार आगे भी चलता रहेगा। कर्ममात्र यदि फलजनक हैं तो इनमें फलकी शक्ति क्यों न रहेगी? इन विचारोंसे यह सर्वथा स्थिर हो जाता है कि कर्मोंके द्वारा संसारसे छुटकारा मिलना बिलकुल असम्भव है।

जैनदर्शनमें संसारकी निवृत्तिके लिये 'रत्नत्रय' का उपदेश पाया जाता है, जिसके अन्तर्गत सच्चरित्र अर्थात् समीचीन कर्मोंका अनुष्ठान आवश्यक है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—इन्हीं तीनोंका नाम रत्नत्रय है, जिसके प्रादुर्भावके अनन्तर जीव सांसारिक बन्धनसे

अवश्य विमुक्त हो जाता है। तीनोंका विवेचन यहाँपर आवश्यक नहीं। केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि काषायिक भाव अर्थात् राग-द्वेषकी निवृत्ति हो जानेपर आत्माका अपने सच्चे स्वरूपमें रमण ही सम्यक्चारित्र है। दूसरे शब्दोंमे हिंसादि दोषोंका त्याग और अहिंसादि महाव्रतोंका अनुष्ठान सम्यक्चारित्र है। परन्तु इतनी बात स्पष्ट है कि केवल कर्मसे मोक्षकी प्राप्ति इस दर्शनमें भी समर्थित नहीं है।

बौद्धदर्शनमें भी अहिंसाका बहुत बड़ा महत्त्व बतलाया गया है। प्राचीन बौद्धग्रन्थोंमें विमुत्ति (विमुक्ति) के दो अंश वर्णित हैं—चेतोविमुत्ति (चेतोविमुक्ति) और पन्ना विमुत्ति (प्रज्ञाविमुक्ति)। इन दोनोंको प्राप्त करनेका साधन 'शील' कहा गया है। यहाँपर शीलका अर्थ बहुत व्यापक है और इसमें आध्यात्मिक उन्नतिके सारे मानव-आचरण अन्तर्गत हैं। गौणरूपसे विमुक्तिके चार मार्ग बतलाये गये हैं जिनका पहले अनुष्ठान आवश्यक है—(१) सद्धानुसारी अर्थात् शुद्ध श्रद्धाका मार्ग, (२) धम्मानुसारी अर्थात् सदाचरण और करुणाका मार्ग, (३) सद्धा-विमुक्त अर्थात् धार्मिक विश्वासका मार्ग और (४) दिट्ठियत्त अर्थात् तर्कमूलक विश्वासका मार्ग। इस तरह यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बौद्धदर्शनमें कल्याणके हेतु कर्म माने गये हैं। परन्तु बतलाये गये कर्मोंके सम्पादनसे ही विमुक्ति नहीं हो सकती। मोक्षके लिये सबसे प्रधान बात है कामनाका परित्याग। अद्वैत वेदान्तके अनुसार ही कामनाओंका त्याग मोक्षका कारण कहा गया है, जिस बातकी पुष्टि **'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते'**—इस औपनिषद वाक्यसे होती है। यद्यपि यह बात बौद्ध-दर्शन और वेदान्त-दर्शन दोनोंके सिद्धान्तोंमें समान है, तथापि ये दोनों मत एक-दूसरेसे अत्यन्त विरुद्ध हैं; क्योंकि योगाचार या विज्ञानवाद और माध्यमिक या शून्यवाद—इन दोनों उच्च कोटिके बौद्धमतोंमें आत्मा नामका कोई स्थिर और नित्य पदार्थ है ही नहीं।

जिस प्रकार नदीमें एकके बाद दूसरी धाराएँ आया करती हैं और उन्हीं क्षणिक, क्रमिक और चञ्चल धाराओंके समुदायको लोग एक स्थिर वस्तु मान लेते हैं और नदीके नामसे व्यवहार करते हैं, वैसे ही विज्ञानकी क्षणिक, क्रमिक और अविरत धाराओंके समुदायको ही लोग नित्य और स्थिर आत्मा समझते हैं। वस्तुतः सगुण या निर्गुण और नित्य एवं स्थिर आत्मा कोई पदार्थ नहीं है। यह विज्ञान-धारा संसारकी दशामें अशुद्ध अर्थात् चिरसञ्चित वासनाओंके कारण विषयोंके आकारसे उपप्लुत या अतिरञ्जित होकर बहती है और मोक्षकी अवस्थामें विमल विज्ञान-सन्ततिके रूपमें अवशिष्ट हो जाती है, जिसमें विषयोंके विभिन्न आकारों तथा उनके कारणीभूत वासनाओंकी मलिनताका लेशमात्र भी नहीं रह जाता। माध्यमिक मतमें क्षणिक पर शुद्ध विज्ञान भी वास्तविक नहीं किन्तु शून्य अर्थात् आकाशकी तरह निःस्वभाव ही पारमार्थिक तत्त्व माना जाता है।

'एवमेव सर्वधर्माः..........आकाशसमाः।' (अष्टसहस्रिका प्रज्ञापारमिता) 'सर्वमाकाशसंकाशं परिग्रहणं तु मद्विधाः' (आकाशसंकाशम्-समारोपितसत्त्वशून्यत्वाद् आकाशकल्पम्)

(बोधिचर्यावतार १। १०। १५५)

इस प्रकार योगाचार और माध्यमिक—इन दोनों बौद्ध-मतोंके अनुसार आत्मा नामकी कोई स्थिर वस्तु नहीं है। इस कारण यद्यपि अद्वैत-वेदान्त और बौद्धमत दोनोंमें यह अंश समान है कि कामनाके परित्यागसे मनुष्य अपने विशुद्ध स्वरूप—ब्रह्मभाव या नैरात्म्यको पा सकता है, तथापि एक बहुत बड़ा अन्तर है कि अद्वैत-वैदान्त परिपूर्णात्मभावकी प्राप्तिको मोक्ष मानता है और बौद्धदर्शनका सर्वोच्च या प्रकृष्टतम मत शून्यवाद नैरात्म्य-लाभको।

शून्यवादी कहते हैं कि आत्माका ज्ञान मोक्षका साधन नहीं, बल्कि बन्धनका कारण है। यह निर्विवाद सिद्ध है कि अहंता और ममता ही बन्धनका प्रधान कारण और परिहेय है। यदि 'अहम्' अर्थात् आत्माकी सत्ता हो तो उसके अनुबन्धसे उत्पन्न और अनुस्यूत अहंभाव और ममभाव—ये दोनों भी कभी नहीं मिट सकते। जबतक किसीको यह ज्ञान बना रहेगा कि आत्मा वास्तविक वस्तु है तो अहङ्कार और ममकार अवश्य बने रहेंगे और उनके कारण प्रतीत होनेवाले भेदात्मक या द्वैतात्मक जगत् तथा उसके दुःखोंका अन्त नहीं हो सकता। मनुष्य जबतक मानता रहेगा कि उसके भीतर आत्मा है, तबतक शरीरको आत्मासे अभिन्न मानकर सर्वदा प्रेम करता रहेगा। शरीरमें अनुराग रहनेपर उसके सुख और आरामकी अभिलाषा उपजती रहेगी और सदा प्रबल बनी रहेगी और अभिलाषा या कामना उसे शरीरके लिये अभिलषित विषयोंकी क्षणिकता और असत्यताको समझने न देगी। इस प्रकार प्राणी आत्माको

सत्य समझकर विषयोंको कामनासे छुटकारा पा नहीं सकता और संसारकी चक्कीमें निरन्तर पिसता रहता है। दूसरी बात है कि आत्माकी सत्ता माननेपर आत्मासे भिन्नको भी मानना होगा और अपना और परायाके भेदमें राग और द्वेषके भावोंका उदय अवश्य होता रहेगा, जो संसारमें भयङ्कर अनर्थोंकी जड़ है। ये सब दलीलें ठीक तरहसे विचार करनेपर थोथी सिद्ध होती हैं और इनका सुन्दर निराकरण अद्वैत-वेदान्तमें किया गया है। इस कारण इनके आधारपर शून्यवादका यह सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया जा सकता। शून्यवादी यदि कहते हैं तो भले ही कहते रहें कि कामनाका परित्याग उसी दशामें होगा जब कि न चाहनेवाला सधा होगा और न चाहे गये विषय, अर्थात् न आत्मा वास्तविक होगा और न अन्य सांसारिक पदार्थ। अस्तु माध्यमिक सिद्धान्तके अनुसार जब शून्यता या नैरात्म्यकी भावना दृढ़ हो जायगी, तब कामनाओंका स्वतः अन्त हो जायगा।

आत्माको न मानकर किसी शून्य तत्त्वमें विश्वास करना अत्यन्त कठिन है; क्योंकि हम देखते हैं कि नियमित समयतक कायम रहनेवाली वस्तु किसी अपनी तुलनामें स्थायी और नित्य वस्तुके आधारपर ही दिखायी पड़ती है—जैसे रस्सीमें साँप, मृगमरीचिकामें जल, मिट्टीमें उससे बने खिलौने, सोनेमें उससे बने आभूषण इत्यादि। कार्य-कारणभावका यही वास्तविक स्वभाव है। इस स्वभावको स्वीकार कर लेनेपर यह भी मानना होगा कि उपनिषद् वचनोंके* अनुसार आकाश आदि सभी पदार्थोंका अन्तिम कारण जो स्वयं अनन्त है, कार्यकारणातीत और कूटस्थ तत्त्व है। क्योंकि वह यदि कार्य होता तो उसके आगे भी कोई वस्तु माननी पड़ती और पारमार्थिक या सच्चा कारण होता तो उसके समस्त कार्य वैसे ही होते अर्थात् कार्य भी कारणकी भाँति सदा दिखायी पड़ते। यहाँपर यह कहा जा सकता है कि वह अन्तिम पारमार्थिक तत्त्व यदि शून्य ही मान लिया जाय तो क्या हानि है? किन्तु यह बात मानी नहीं जा सकती; क्योंकि प्रत्येक वस्तुके सम्बन्धमें सत्ता, ग्रहण (प्रकाशविषयता) और सुख (अथवा उसका विकृतरूप दुःख आदि कोई-न-कोई भाव)—ये तीन भी अवश्य पाये जाते हैं। इन तीनोंका शुद्धस्वरूप अवश्य उस पारमार्थिक तत्त्वमें भी मानना होगा, जिससे सारे संसारकी प्रतीति होती है। अतः वह चरम वास्तविक तत्त्व आत्मा ही है, जिसे शाङ्कर द्वैतवादी शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म मानते हैं, विशिष्टाद्वैतवादी नित्य अचित् और चित् (जीव)—इन द्विविध आकारोंसे विशिष्ट परमेश्वर कहते हैं तथा भिन्न-भिन्न दार्शनिक भिन्न-भिन्न रूपसे बतलाते और स्थापित करते हैं। इसी शुद्ध तत्त्वकी प्राप्ति मोक्ष है और परम स्पृहणीय कल्याणके लिये उसका साधन निर्धारित करना और प्रयोगमें लाना इस अङ्कका प्रधान लक्ष्य है।

परम कल्याण या मोक्षके साधनभूत तीन मार्ग प्रधान-रूपसे प्रसिद्ध हैं—कर्म, भक्ति और ज्ञान। मैं यहाँपर इन तीनोंकी साक्षात् रूपसे विस्तृत चर्चा नहीं करना चाहता; क्योंकि इनपर विचार प्रायः बहुत हो चुका है और सर्वदा होता रहेगा। मैं केवल एक बात पाठकोंके आगे रखना चाहता हूँ। वह यह है कि संसारमें जितने साधन या करण—देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि हैं, वे सब अन्ततः एक ही लक्ष्यको पहुँचानेके लिये परमात्माने हमें दिये हैं। उनका असली स्वभाव है ऊपर बतलाये हुए पारमार्थिक तत्त्वको पहुँचकर लीन हो जाना। उदाहरणके लिये एक साधनको लेकर यह बात सिद्ध की जा सकती है। लौकिक दृष्टिसे यह समझा जाता है कि रूपके साधन नेत्रका उद्देश्य किसी सुन्दर रूपको पाना है। परन्तु यह विचारणीय है कि नेत्र किसी बाह्य लौकिक सुन्दर रूपको चाहता है या अन्य रूपको। यह सर्वसम्मत नियम है कि अभिलषित वस्तुको पा चुकनेपर उस वस्तुकी तृष्णा या चाह मिट जाती है। प्यासा जल पाकर शान्त और पानीके विषयमें उस समय तो अवश्य ही तृष्णारहित हो जाता है। क्या इस नियमके अनुसार किसी सुन्दर रूपको धन, भवन, जन आदिमें पाकर नेत्र शान्त—तृष्णाविमुक्त हो जाता है? उत्तरमें यह कहना पड़ेगा कि नहीं, बल्कि सुन्दर रूपोंको ज्यों-ज्यों ये नेत्र देखते जाते हैं त्यों-त्यों ये अधिकाधिक अशान्त और विकल होते जाते हैं और देखनेकी चाह उनके अंदर बढ़ती जाती है। '***मरज़ बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की***' यह कहावत चरितार्थ होती है।

महाभारतमें भी कहा है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

ऊपर कहे गये नियमके अनुसार यदि नेत्रकी

---

* एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥

तृष्णाका विषय वस्तुतः बाह्य और लौकिक रूप होता तो अवश्य वह सुन्दर सांसारिक चीजोंको देखकर शान्त और सन्तुष्ट हो जाता। सच्ची बात तो यह है कि सांसारिक रूप नकली अर्थात् प्रातिभासिक या अधिक-से-अधिक व्यावहारिक है। सच्चा या पारमर्थिक रूप, जिसे पानेके लिये मानवनेत्र विकल रहते हैं, इन लौकिक दिखावटी रूपोंके भीतर सूक्ष्मतया व्यापक आन्तर अलौकिक और दिव्यरूप है—जिसे दूसरे शब्दोंमें भगवद्रूप कह सकते है। इसे विशिष्टाद्वैतवादी सकल-लावण्यसार सौन्दर्यसुधा-सागर परमसुन्दर दिव्यातिदिव्य भगवद्रूप मानते है और शाङ्कराद्वैतवादी ब्रह्मस्वरूपभूत शुद्धचैतन्य बतलाते हैं—

'द्वे दृष्टी—दृष्टिरिति द्विविधा भवति, लौकिकी पारमार्थिकी च।

इसीको पानेके लिये मानवनेत्र विह्वल हैं, परन्तु अज्ञानके कारण वे जानते नहीं कि वह क्या और कहाँ है। वह सब जगह है और सब रूपोंका आत्मा है, किन्तु मायासे आवृत हैं। जैसे किसीका लड़का खो गया हो, परन्तु वह जानता नहीं कि लड़का कहाँ है और कैसे मिलेगा। वह एक गाँवसे दूसरे गाँवको धूमता फिरता है और अनपेक्षित अन्य लड़कोको पाकर भी अत्यधिक निराश और बैचैन होता जाता है। उसी प्रकार हमारे नेत्र सांसारिक रूपोंके बीचमें भटकते हुए अत्यधिक व्याकुल होते जा रहे हैं और इनकी तृष्णा प्रतिक्षण बढ़ती जाती है। अन्तर इतना है कि खोजनेवालेका लड़का अन्वेषित स्थानोंके देखे गये लड़कोमेंसे एक भी वस्तुत नहीं रहता, परन्तु नेत्रका अभिलषित तत्त्व इन्हीं सांसारिक रूपोंमेंसे हर एक रूपमें वर्तमान है और प्रत्येक रूपका भीतरी और असली रूप है—**'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।'** नेत्र बाहरी रूपोंके पास पहुँचकर भी भीतर नहीं जाता और निराश लौटकर और भी बेचैन होता रहता है।

इसका कारण है कि चौरासी लाख योनियोंमें प्राणी नेत्रवान् विग्रहोंको पाकर अपने भिन्न-भिन्न योनियोंके नेत्रोंसे सर्वदा बाह्य विषयोंको ही देखता चला आया है। अतः उसके नेत्रोंका बाह्य विषयोंकी ओर ही देखनेका स्वभाव बन गया है—**'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूः'** इनमें एक प्रबल संस्कार बैठा हुआ है—और इन्हें चसका लग गया है सांसारिक रूपोंकी ओर जानेका। जैसे हम जिस गलीसे प्रायः गुजरते हैं, उसीसें अन्य संक्षिप्त सरल रास्तोंको छोड़कर चल पड़ते हैं, वैसे ही ये नेत्र बाहरकी तरफ फिर गये हैं और अज्ञानसे उत्पन्न वासनाओं और संस्कारोंकी मलिनताके कारण दुर्बल और भीतर देखनेमें असमर्थ भी हो गये हैं। वेद और वेदान्त आदि शास्त्रोंमें बतलाये गये उत्तम कर्मोंके अनुष्ठानसे जब प्राणीके अन्तःकरणकी मलिनता दूर हो जायगी तब इन नेत्रोंकी शक्ति भी पुनः पूर्ण हो जायगी। तभी नित्यानित्य विवेकसम्पन्न नेत्र परमसुन्दर तत्त्व भगवान्‌को उन्हीं सांसारिक रूपोंके भीतर अज्ञानके परदेको हटाकर देख सकेगा। यही दशा अन्य इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी साधनोंकी है। ये सारे साधन भगवान्‌तक भी पहुँचा देंगे; केवल इनकी असली चाहको समझकर इनकी शक्तिको परिपूर्ण अवस्थामें लानेकी बात है और इनके राजा मनको भगवान्‌की ओर लगानेकी आवश्यकता है। मनको भगवान्‌में लगानेके लिये सांसारिक कर्तव्योंको छोड़नेकी आवश्यकता नहीं है—

तन सा कर्म करै नर नाना। मन राखै जहँ कृपानिधाना॥

इस साधनाङ्कसे सभी लोग साधनोंको और उनके रहस्यको समझकर उन्हें ठीक रास्तेपर लगावे और परम कल्याणको वस्तुतःअपनावें। प्रभुसे हमारी यही प्रार्थना है।

कौन देश पवित्र है ?

भगवान् नृसिंहजी कहते हैं—

यत्र यत्र च मद्भक्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः। साधवः समुदाचारास्ते पूयन्त्यपि कीकटाः॥

(श्रीमद्भा० ७।१०।१९)

जिस-जिस देशमें मेरे अतिशय शान्त, समदर्शी, साधुभक्त आनन्दसे अपने कर्तव्योंका पालन कर लेते हैं, वह देश मगध हो तो भी पवित्र हो जाता है।

साधना—आँखमिचौनीका खेल

(लेखक—श्री पी०एन्० शङ्करनारायण ऐयर)

भूतैर्महद्भिर्य इमाः पुरो विभु-
निर्माय शेते यदमूषु पूरुषः।
भुङ्क्ते गुणान् षोडश षोडशात्मकः
सोऽलंकृषीष्ट भगवान् वचांसि मे॥

(श्रीमद्भा० २। ४। २३)

'जो विभु महाभूतोंके द्वारा इस देहरूप पुरको निर्माणकर अन्तर्यामीरूपसे इसमें शयन किये हुए हैं और जो एकादश इन्द्रिय और पंच महाभूत—इन सोलह कलाओंको प्रकट कर पालन कर रहे हैं वे मेरे वचनोंको समलंकृत करें।'

मैं जब लॉ-कालेजमें पढ़ता था तबतक भगवान्के नामकी मुझे कोई सुध नहीं थी। भगवान्के नामकी मैं अवहेलना ही करता था, उस रास्ते ही न जाता, जहाँ भगवान्की कोई चर्चा सुननेको मिलती। तब लाँ कालेजमें पढ़ते हुए एक दिन अकस्मात् श्रीमद्भागवतके इन दो श्लोकोंकी ओर मेरा मन, इनके स्वरक्रम और शैलीसे, आकर्षित हो गया—

तदैव तस्मिन् निनदोऽतिभीषणो
बभूव येनाण्डकटाहमस्फुटत्।
यं वै स्वधिष्ण्योपगतं त्वजादयः
श्रुत्वा स्वधामाप्ययमङ्ग मेनिरे॥
सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं
व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन्
स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥

(७।८।१६,१८)

'तत्क्षण उस खम्भेमें बड़ा भीषण शब्द हुआ और ब्रह्मादि देवताओंने उसे सुनकर अपने-अपने स्थानका ध्वंस हुआ जाना। अनन्तर भगवान् अपने भृत्य प्रह्लादकी बात और अपनी सर्वव्यापक सत्ताको प्रमाणित करनेके लिये उस सभाके बीचमें उस खम्भमेंसे अमानुष-अमृग महा अद्भुत रूप धारण किये बाहर निकल पड़े।'

श्रीनृसिंहभगवान्के आगमन-प्रसंगके ये दो श्लोक हैं। ये मुझे बड़े प्रिय लगे और मैंने इन्हें कण्ठ कर लिया। बरसों ये मेरे हृदयको रञ्जित करते रहे।

इसके बाद जब मैं वकालत करने लगा तब एक बड़े भारतीय जज और एक बड़े अंगरेज कविका परिचय मुझे प्राप्त हुआ। इनके जीवनका मुझपर प्रभाव पड़ा। ये दोनों ही ईश्वरभक्त हैं, यह जानकर मेरा मन भी मुझसे कहने लगा कि 'तुम भी ईश्वरकी भक्ति नहीं करते?'

पर मैं भक्ति कैसे करता? मैं तो उन्हें जानता नहीं था। जाननेकी जब बड़ी व्याकुलता हुई तब श्रीरामकृष्ण परमहंसके वचनामृतोंमें मन रमा। उनसे मैंने यह जाना कि भगवान्को जाननेका मार्ग तो उनके लिये व्याकुल होकर रोना है।

श्रीमद्भागवत मैं पढ़ा करता था पर उसकी शैली और छन्द तथा काव्य गुणोंमें ही अटका रहता था। कभी यह ध्यान नहीं हुआ कि भगवान् कर्णरन्ध्रसे प्रवेश कर हृदयमें भी आ बसते हैं और जलको स्वच्छ करनेवाले शरद्की तरह हृदयका सब मल धो डालते हैं—

प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्।
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत्॥

(श्रीमद्भा० २।८।५)

भगवान्की करुणाका ध्यान करनेसे हृदय भर आता है और उनके दर्शनके लिये प्राण व्याकुल हो उठते हैं। श्रीमद्भागवतको अब मैं बड़े चावसे पढ़ने लगा। यह बात तब ध्यानमें आयी कि सत्संग और सत्सेवाके विना श्रीमद्भागवतका एक अक्षर भी समझमें न आवेगा।

सत्पुरुषकी खोज आरम्भ हुई। मन-ही-मन मैंने भगवान्से प्रार्थना की कि किसी सत्पुरुषके दर्शन करा दो जो मुझे तुम्हारा रास्ता दिखा दें। एक दिन सन्ध्या समय इसी मनोऽवस्थाके साथ मैं रास्तेमें टहल रहा था। मुझे पता नहीं, मेरे पैर मुझे कहाँ लिये जा रहे हैं। जिधर पैर चले उधर ही मैं चल पड़ा। थोड़ी दूर चलनेके बाद एक महात्माका घर सामने दीख पड़ा। मैं इन्हें पहले महात्मा नहीं जानता था, बल्कि कुछ उलटा ही समझे बैठा था। पर उस दिन उनपर श्रद्धा हो गयी। मैं उनके पास गया। उनमें मुझे सिद्ध पुरुषके सब लक्षण देख पड़े। तबसे मैं रोज उन्हींके पास जाने लगा और वे मुझे श्रीमद्भागवतका गूढार्थ बतलाने लगे। अब उसीके अनुसार मैं अपने जीवनको

बनाने लगा। जगत् और जागतिक जीवनकी ओर देखनेकी मेरी दृष्टि क्रमशः बदलती गयी। शास्त्रोंमें मुझे अब एक नवीन अर्थ दीख पड़ने लगा।

सांसारिक सुखोंकी आशा छोड़कर निष्किञ्चन हो जाना अब मुझे अच्छा लगने लगा। वकालत करके रुपये कमानेसे अब ध्यान हटा और देशमें परिभ्रमणकर संतोंके दर्शन करनेकी ओर मन चला। श्रीगौरांग महाप्रभुका परिचय मुझे नवद्वीप ले गया। वहाँ पूज्य गोस्वामियोंके ग्रन्थोंके अध्ययनका आनन्द मिला। अब भगवान्‌के गुणानुवादमें प्रवृत्ति हुई। भगवद्‌गुणगानसे बढ़कर वाणीकी कृतार्थता और क्या हो सकती है? मनुष्यको पावन करनेवाले इससे बड़ी बात भी और क्या हो सकती है?—जैसा कि स्वयं श्रीमद्‌भागवतने कहा है—

एकान्तलाभं वचसो नु पुंसां
सुश्लोकमौलेर्गुणवादमाहुः ।

(३। ६। ३६)

निचोऽजया गुणविसर्गमनुप्रविष्टः
पूयेत येन हि पुमाननुवर्णितेन॥

(७। ९। १२)

इसी बुद्धिसे तमिल भाषामें श्रीगौरांग महाप्रभुके चरित्र और श्रीवृन्दावन-धामकी लीलाका वर्णन किया गया।

इसके अनन्तर श्रीमद्‌भागवतकी यह प्रेरणा हुई कि भूत-दयासे भगवान् जैसे प्रसन्न होते हैं, वैसे और किसी बातसे नहीं—

तस्मात् सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुत सौहृदम् ।
आसुरं भावमुत्सृज्य यया तुष्यत्यधोक्षजः॥

(७। ६। २४)

पश्यैतान्महाभागान् परार्थैकान्तजीवितान्।

एतावज्जन्मसाफल्यं देहिनामिह देहिषु।
प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेय एवाचरेत्सदा॥

(१०। २२। ३२, ३५)

'आसुर भाव त्यागकर सब प्राणियोंपर दया करो और सबकी भलाई करो। इससे भगवान् अधोक्षज सन्तुष्ट होंगे।'

'इन महाभाग्यवानोंको देखो जो केवल दूसरोंके उपकारार्थ एकान्तमें जीवन व्यतीत करते हैं।'

x x x x

'प्राण, अर्थ, बुद्धि और वाणीके द्वारा केवल श्रेयका आचरण करना ही देहधारियोंका इस देहमें जन्मसाफल्य है।'

यही साधन-क्रम जो मुझे जैसे-जैसे मिला उसी क्रमसे मैंने यहाँ लिख दिया है। यह सारा खेल भगवान्‌का है। सब प्राणियोंके अंदर उन्होंने अपने-आपको इसीलिये छिपा रखा है कि यहाँ आँखमिचौनीका खेल खेला जाय। हम सबने इस खेलमें अपनी खुशीसे अपनी आँखोंपर पट्टी बाँध ली है और उन्हें हाथोंसे टटोल रहे हैं! प्रत्येक मनुष्य इस खेलको अपने ही ढंगसे खेला करता है। सबके अलग-अलग ढंग हैं पर सब ढूँढ़ते उन्हींको हैं। कहीं उन्हें हृदयमें दिव्य वस्तुएँ लेकर ढूँढ़ा जाता है और कहीं बाहरी दुनियामें विषयोंको लेकर। पर क्या अंदर और क्या बाहर, हो तुम ही हे हृद्देशवासी परमात्मन्!

हे मेरे परमप्रिय! तुम्हारे स्पर्श और प्रकाशके विना मैं सर्वथा असहाय, अज्ञ और भ्रममें पड़ा हुआ हूँ। तुम्हीं मुझे भ्रमण करा रहे हो, न जाने कैसे-कैसे आकर मिलते हो पर फिर छिप जाते हो, कितनी दूर चले जाते हो, कितनी गहराईमें जा छिपते हो! तब मैं निराश हो जाता हूँ, तब तुम किसी-न-किसी रूपमें आकर सान्त्वना दे जाते हो! यह तुम्हारा आँखमिचौनीका ही तो खेल है!

मनपर विश्वास न करो?

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

नित्यं ददाति कामस्यच्छिद्रं तमनु येऽरयः। योगिनः कृतमैत्रस्य पत्युर्जायेव पुंश्चली॥

(श्रीमद्भा० ५। ६। ४)

जैसे व्यभिचारिणी स्त्री अपनेपर विश्वास रखनेवाले पतिको धोखा देती है वैसे ही मन भी अपनेपर विश्वास रखनेवाले योगीको अपने अंदर काम और उसके पीछे रहनेवाले क्रोध आदिको अवकाश देकर—धोखा देता है।

पञ्चधा भक्ति

शान्तादि पंचभावोंके अनुसार

(लेखक—प्रो० श्रीगिरीन्द्रनारायण मल्लिक, एम्०ए, बी०एल्०)

रसा-सिद्धान्त—गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदायकी विशेषता

आत्मसंसिद्धिके साधनोंमें सामान्यत: भक्तिमार्गका साधन बहुत अमोघ साधन माना जाता है। इस साधनका लक्ष्य परम अमृत-धाममें भगवान्के चिरन्तन सामीप्य तथा उनकी सेवाका परम सौभाग्यलाभ करना है। यह सौभाग्य कोई अनिर्वचनीय शून्य अवस्था नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष अनुभूत आनन्दकी स्थिति है। इस स्थितिमें जो चिरन्तन सुखास्वादन होता है, उसीको 'रस' कहते हैं। इसी सुखास्वादनको लक्ष्य करके उपनिषदोंने भगवान्को '**रसो वै सः। रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति**' इस मन्त्रमें 'रस' कहा है। यही मन्त्र परब्रह्मके विषयमें वैष्णवोंके सिद्धान्तका बीज है। भागवतकी प्रतिपादन-शैलीसे भी यही प्रतीत होता है कि यह सम्पूर्ण भागवत-ग्रन्थ इसी बीजका विस्तार है। सभी वैष्णवसम्प्रदाय और उपसम्प्रदाय इसी एक वैष्णव-सिद्धान्तके माननेवाले हैं, तथापि इसकी पूर्ण परिणति बंगालके गौड़ीय सम्प्रदायके द्वारा ही हुई है और यही जगत्के धार्मिक आध्यात्मिक उद्योगमें उसका अपना भाग है, जो महान् है।

रस एक समग्र मानसिक वृत्ति है और भाव उसका प्रारम्भिक आधार है

'रस' भावकी ही एक अवस्था है और यह भावमयी अवस्था एक अनन्य अखण्ड मनोऽवस्था है। परस्पर सम्बद्ध कई भावोंके पुञ्जसे, एक विलक्षण प्रकारसे इसकी उत्पत्ति होती है; यदि इस प्रकार उत्पन्न भावमयी स्थितिमें अङ्गभूत किसी एक भावकी भी कसर रही तो वह भाव बदल जाता है। भाव अनन्त हैं और असंख्य प्रकारोंके उनके सन्धान होते हैं। अनन्त होनेपर भी, सुविधाके लिये इनके कुछ विभाग निश्चित कर लिये जाते हैं। वैष्णव-शास्त्रोंमें तथा काव्य-ग्रन्थोंमें भी कुछ भावोंको स्थायिभाव कहते हैं, कुछको व्यभिचारीभाव कहते हैं। प्रमाणशास्त्र (Epistemology)-में ज्ञानकी सिद्धिमें दो प्रकारकी वस्तुओंका होना आवश्यक माना जाता है—एक वह जो अंदरसे आती है और दूसरी वह जो बाहरसे। बाहरकी वस्तु अर्थात् इन्द्रियसमूहपर उन कतिपय सार्वभौम तत्त्वोंकी क्रिया होती है, जो अंदर हैं। रसके आविर्भावमें भी यही बात है। यहाँ बाह्य वस्तुएँ विभाव, अनुभाव आदि हैं और अंदरकी वस्तु है भाव। भाव ही इस प्रकार रसका मुख्य आधार है।

'भक्तिरसामृतसिन्धु' में भावका यह लक्षण भावका लक्षण बताया है—

शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते॥

विशेष शुद्ध सत्त्वस्वरूप जीव प्रेमसूर्यके किरणके समान है और रुचि अर्थात् भगवत्प्राप्तिकी अभिलाषा, भगवद्नुकूल होनेकी अभिलाषा और सौहार्द-भावकी अभिलाषाके द्वारा चित्तको स्निग्ध बनानेवाली जो उसकी भक्ति है, उसीका नाम भाव है।

भाव एक मन:स्थिति है। यह स्थिति परब्रह्म परमात्माकी चिच्छक्तिकी दिव्य अभिव्यक्तियोंका प्राकृतिक गुण होनेके कारण, इसका स्वभाव और स्वरूप शुद्ध चित् ही है, शुद्ध इसलिये कि इसमें रज और तमका मेल नहीं है। यह स्थिति मनकी केवल निश्चित और विशिष्ट सत्तामात्र ही नहीं है (जैसा कि 'स्थिति' शब्दका अर्थ होता है), बल्कि इसमें एक कर्म भी होता है। भगवत्-सम्बन्धी नानाविध तदनुकूल इच्छाएँ और भावनाएँ मनको मृदु और शान्त बना देती हैं और यह मन अनेकविध भावोंको ग्रहण करनेमें समर्थ होता है (रुचिमिश्चित्तमासृण्यकृत्)। यह 'भाव' जो 'भू' धातुसे बनता है, अपनी धातुके 'होना' और 'करना' इन दोनों ही अर्थोंको लिये हुए है। इस दृष्टिसे नाट्याचार्य भरतके लक्षणकी अपेक्षा यह लक्षण अधिक सुसंस्कृत है। भरतके मतमें भाव उसे कहते हैं जो काव्यार्थको वाचिक, आङ्गिक और सात्त्विक—इन तीनों ही प्रकारोंसे प्रकट करे। इस लक्षणमें 'भाव' का 'करना' अर्थ अस्पष्टरूपसे आ जाता है, पर 'होना' अर्थका इसमें कुछ भी पता नहीं है।

(भरत-नाट्यसूत्र पृ० ६९)

इस प्रकार भाव तो भाव ही है, जिसे रससे पृथक् जानना

चाहिये। उपर्युक्त श्लोकके 'प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्' पदोंसे यही सूचित किया गया है। भावकी इस परिभाषाके अनुसार श्रीकृष्णके नित्य सहचरों एवं सहचरियोंके मनके भावको ही 'भाव' कहते हैं। जगत्के सामान्य मनुष्य या साधन-भक्तिके साधक भक्तके साथ इसके सम्बन्धके विषयमें इतना ही कहा जा सकता है कि निरन्तर भक्तिका साधन करनेवाले भक्तका चित्त भी महापुरुषोंकी कृपासे अथवा भगवत्कृपालेशसे विशुद्ध चित् हो जाता है और तब उसकी अविद्याका सर्वथा नाश हो जाता है।

'स्थायी-भाव' की परिभाषा

भाव जब चित्तमें अचल हो जाता है, तब उसे 'स्थायि-भाव' कहते हैं। वैष्णव-शास्त्रोंके अनुसार स्थायि-भाव 'कृष्णरति' है और 'अलङ्कार-कौस्तुभ' में उसका लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

आस्वादाङ्कुरकन्दोऽस्ति धर्मः कश्चन चेतसः।
रजस्तमोभ्यां हीनस्य शुद्धसत्त्वतया मनः।
स स्थायी कथ्यते विज्ञैर्विभावस्य पृथक्तया॥

(किरण ५ श्लोक २)

अर्थात् यह रसका आधार है; क्योंकि आस्वादन, जो रसका स्वरूप है, यहाँ अस्पष्टरूपसे विद्यमान है। यह भगवान्‌की ही आनन्दमयी शक्ति है जो जीवके अंदर सूक्ष्म एवं अप्रकटरूपसे अवस्थित है। पर यह है सनातन, और इसलिये क्षणिक उन्मेषोंके विविध परिवर्त्तनोंके अंदर भी इसका कार्य बराबर होता रहता है और अन्तमें यह साहित्य-शास्त्रोंमें वर्णित विभिन्न उन्चास भावोंके ऊपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेती है।

'स्थायी-भाव तथा' रसके भेद

जहाँतक यह कृष्णरति या भगवद्रति है वहाँतक 'स्थायिभाव' एक ही है। फिर भी एक ही व्यापक भाव चित्तभेदसे विभिन्न रूपमें उदय हो सकता है। यहीसे भावों और रसोंका विभाग प्रारम्भ होता है।

शायद यहाँ यह कहना अप्रासङ्गिक न होगा कि संस्कृतके अलङ्कार-शास्त्री रसोंका विभाग करनेमें किसी एक ही सुनिश्चित सिद्धान्तको नहीं स्थिर कर सके। स्वयं नाट्यशास्त्रके आचार्य भरतने रसके आठ विभाग माने—शृङ्गार, वीर, रुद्र, बीभत्स, हास्य, अद्भुत, करुण और भयानक। दण्डीने इसी सिद्धान्तका यथावत् अनुगमन किया है। परन्तु रुद्रभट्ट और हेमचन्द्रादिकोंने इन आठमें नवाँ एक 'शान्त' रस भी जोड़ा है। अग्निपुराणने भी 'शान्त' रसको माना है। 'एकावली' कार भी इसे मानते हैं। रुद्रट और भोजने एक दसवाँ रस 'प्रेयस्' और जोड़ा है। विश्वनाथने इन नव रसोंको मानकर दसवाँ 'वात्सल्य' जोड़ा है। अलङ्कारशास्त्रके अन्तिम आचार्य जगन्नाथ 'शान्त' को ही नवाँ रस मानते हैं। इस प्रकार अलङ्कार-शास्त्रके आचार्योंका रस-विवेचन अस्तव्यस्त सा ही हो पड़ा है।

वैष्णव-शास्त्रकारोंने रसोंका विभाजन एक दूसरे ही प्रकारसे किया है। उन्होंने 'रति' अथवा 'स्थायि-भाव' के पाँच ही भेद माने हैं। वे हैं 'शान्ति', 'प्रीति', 'सख्य', 'वात्सल्य' और 'प्रियता' या माधुर्य। जब इन पञ्चविध स्थायिभावोंका विकास होता है, तब उन्हींसे पाँच रस उत्पन्न होते हैं—जो उन्हीं नामोंसे जाने जाते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मानुभूतिके साधनमें भक्ति-साधना पाँच प्रकारकी होती है। इन पाँच प्रकारकी साधनाओंका संक्षिप्त विवरण ही इस लेखमें देना है।

'शान्त रस' और शान्तभव

शान्तका रसका आधारभूत स्थायिभाव है शान्ति रति। जो अलङ्कार-शास्त्री शान्त रसको रस मानते हैं, वे निर्वेद अथवा विषयोंसे उदासीन भावको इसका स्थायिभाव मानते हैं। परन्तु श्रीमद्रूपगोस्वामी शान्ति-रतिको ही स्थायिभाव मानते हैं और उनका ही विचार ठीक जँचता है। शान्तिका अर्थ है शम। श्रीमद्भागवतके अनुसार भगवान् श्रीकृष्णमें निरन्तर अनुराग होना ही शम है और ऐसा अनुराग जहाँ होता है, वहाँ सांसारिक विषयोंसे विराग तो होता है। मन जबतक भगवान्‌में स्थिर नहीं होता, तबतक विषयोंसे वह विरक्त नहीं हो सकता। जोंक जबतक आगेकी जमीनको नहीं पकड़ लेती, तबतक पीछेकी जमीनको नहीं छोड़ सकती।

इसलिये शान्ति-रतिके अनुयायी भक्तके लिये सबसे पहली बात यह है कि भगवान्‌में उसका निरन्तर अबाध अनुराग हो। परन्तु ऐसा अनुराग आप ही नहीं उत्पन्न होता। इसे कुछ भाव और पदार्थ जगाते हैं और इन्हींको 'विभाव' कहते हैं। शान्त पुरुष, जिनके सत्सङ्गके प्रभावसे शान्त रसके समास्वादनका अवसर मिलता है, दो प्रकारके होते हैं—आत्माराम मुनि और तापस। आनन्ददायिनी भक्ति-मन्दाकिनीकी धारा इसी मार्गसे होकर बहा करती है।

भक्तिके इस भावको जगानेवाले विभाग हैं—(१) उपनिषदादि ग्रन्थोंका श्रवण, (२) एकान्तवास, (३) विशुद्ध अहङ्कारमें दिव्य ज्योति:कणकी दीप्ति, (४) सत्तत्त्वोंका ज्ञान, (५) समान स्वभावके भक्तोंका सत्सङ्ग।

अब प्रश्न यह उठता है कि अमुक भक्त शान्त भक्त है, यह हम किस प्रकार जान सकते हैं। कुछ लक्षण अवश्य ही ऐसे हैं जिनसे यह जाना जा सकता है, जैसे —(१) नासाग्र-भागपर दृष्टिको निरन्तर स्थिर रखना, (२) तपस्वीका-सा ऊपरी व्यवहार, (३) दृष्टिको चार हाथ जमीनके घेरेमें बाँधे हुए लम्बी-लम्बी डग भरकर चलना, (४) अभक्तोंसे द्वेष नहीं और भक्तोंसे विशेष राग नहीं, (५) अपुनर्भव और जीवन्मुक्त स्थितिके प्रति अत्यन्त आदरका भाव, (६) सांसारिक बातोंको लेकर राग-द्वेषका न होना, (७) निरहङ्कारता इत्यादि। ये लक्षण जिनमें हों, उन्हें 'शान्त भक्त' जानना चाहिये। इनमेंसे प्रथम तीन लक्षण तो योगियोंके शारीरिक अभ्यास हैं। इनसे एकाग्रताकी शक्ति बढ़ती है और समाधिके योग्य स्थिति हो जाती है। योगके ये प्रारम्भिक लक्षण हैं और शान्त भक्तोंमें ही देखे जाते हैं। बाकी लक्षण मानसिक अभ्यासके हैं। परम पुरुषार्थकी प्राप्तिमें इनकी साधनता विशेषरूपसे अमोघ है और परमानन्दके आस्वादनकी सभी भूमिकाओंमें ये समानरूपसे रहते हैं।

'दास्यभाव' और प्रीति-रस

जिस प्रेमसे शान्त-रसके परमानन्दकी उत्पत्ति होती है, उसमें एक बड़ा दोष यह है कि इसके मूलमें भगवान्‌के साथ कोई व्यक्ति-गत सम्बन्ध नहीं रहता। और प्रेम वही सबका शिरोमणि है जिसमें भगवान्‌के साथ कोई प्रिय वैयक्तिक सम्बन्ध होता है। इसलिये यह मानना पड़ेगा कि वैष्णव-शास्त्रोंके अनुसार रसके आरोहण-

'स्थायी-भाव तथा' रसके भेद

क्रममें शान्त रसका स्थान बहुत ही नीचा है। इसका विकास होनेपर यह प्रीतिरसमें परिणत हो जाता है, जो इसके ऊपरकी अवस्था है। इसीको 'प्रेमाभक्ति' कहते हैं। इसे सामान्यरूपसे 'दास्यरस' भी कहते हैं। प्रेमाभक्तिकी यह नितान्त आरम्भिक अवस्था है और सख्य, बात्सल्य और मधुर रसोंका यह सामान्य लक्षण है।

प्रीति-रसका स्थायिभाव भक्तकी यह सतत भावना है कि मैं भगवान्‌का अनुग्राह्य हूँ। अनुग्राह्य दास भी हो सकता है अथवा लाल्य भी। अत: प्रीतिके दो प्रकार हो सकते हैं—'सम्भ्रम-प्रीति' और 'गौरव-प्रीति।'

दासभक्त अनुग्राह्य-वर्गमें होनेके कारण भगवान्‌से अपनेको निकृष्ट समझता और भगवान्‌को प्रसन्न करना अपना कर्तव्य मानता है। इसीसे सम्भ्रमका भाव उत्पन्न होता है। सम्भ्रममें भक्तका भगवान्‌में परभाव होता है और भक्त अपने आपको अत्यन्त हीन समझता, भगवान्‌की सेवा करनेको उत्सुक रहता और भगवान्‌के अनुग्रहकी इच्छा करता है।

गौरव-प्रीतियुक्त भक्तिभाव उन भक्तोंका जानना चाहिये, जो सदा भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा रक्षित और पालित होकर रहनेकी इच्छा रखते और प्रकट करते हैं। गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदायकी यह निश्चित मान्यता है कि परम पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण ही सब चराचर प्राणियों और पदार्थोंके परम रक्षक और पालक हैं। परन्तु यथार्थ धर्ममें उपासक और उपास्यके बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध अवश्य होना चाहिये। इस प्रकारके परस्पर आदान-प्रदानका सम्बन्ध जहाँ-न हो वहाँ ऐसे धर्मकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। इसलिये धर्मके क्षेत्रमें व्यक्तिगत भावना और कामनाका एक विशिष्ट स्थान होना ही चाहिये। ये भावनाएँ और कामनाएँ जो सामान्य मनुष्यके चित्तमें सुप्त-सी रहती हैं, अनुकूल साधनोंके द्वारा अधिकाधिक व्यक्त हो जाती हैं। एक अवस्था ऐसी होती है, जिसमें भक्त सदा इसी भावनामें मग्न रहता है कि भगवान् मेरे त्राता, पालनकर्त्ता और विधाता है। इस स्थितिमें अहङ्कारके सब भाव सदाके लिये विलीन हो जाते हैं। भक्तके चित्तमें जो यह भावना निरन्तर जाग्रत् रहती है कि श्रीकृष्ण ही मेरे प्रभु और रक्षक हैं, इसीको शास्त्रोंमें 'गौरव' कहा है और जिस भावमें इस विचारसे उसे सुख मिलता है, उसे 'गौरव-प्रीति' कहते हैं।*

---

* दासभक्त चार प्रकारके होते हैं—१-अधिकृत, २-आश्रित, ३-पारिषद और ४-अनुग। 'अधिकृत' दासभक्तोंमें ब्रह्मा, इन्द्र, कुबेर आदि मुख्य माने जाते है। 'आश्रित' दासभक्तोंके तीन भेद हैं—(क)-शरणागत, (ख)-ज्ञाननिष्ठ और (ग)-सेवानिष्ठ। विभीषण, सुग्रीव, जरासन्धके कारागारमें पड़े हुए राजागण, कालियनाग आदि 'शरणागत' हैं। भगवान्‌के तत्त्वको जानकर जिन लोगोंने मोक्षकी इच्छा त्यागकर केवल श्रीभगवान्‌का ही आश्रय ले रखा है—ऐसे सनत्कुमार, शौनक और शुकदेवादि 'ज्ञाननिष्ठ' हैं और जो भुक्ति-मुक्तिकी सारी स्पृहाका त्यागकर केवल सेवा-परायण हो रहे हैं—ऐसे श्रीहनुमान्, चन्द्रध्वज, बहुलाश्व, श्रुत-देव, पुण्डरीक और इक्ष्वाकु आदि 'सेवानिष्ठ' भक्त है। जो सारथि आदिके कार्यद्वारा सेवा करते थे और समय-समयपर साथ रहकर सलाह आदि भी दिया करते

इस प्रीति-रसमें भक्तके चित्तमें हीनता और दीनता तथा मर्यादाका भाव सदा जाग्रत् रहता है। इससे उसके द्वारा ऐसे कर्म नहीं होते जिनसे श्रीकृष्णके आनन्दकी विशेष वृद्धि हो। इसलिये इससे भी ऊपर उठकर सख्य-भावमें पहुँचनेकी आवश्यकता है।

'प्रेयोरस' अथवा सख्यरस और सख्यभाव

सख्यका स्थायिभाव सख्यरति है। सख्य है एक वर्ण, एक वेश, एक-से ही गुण, एक-से ही पद और एक-सी ही स्थितिके दो मनुष्योंका अपनी गुह्य-से-गुह्य बातको एक दूसरेसे छिपा न रखना; इसमें भक्त अपनेको दीन-हीन नहीं समझता। दास्य-रसमें जो प्रतिबन्ध है, जो मर्यादा है, वह उसमें नहीं है; इसलिये इसे प्रीति-भक्तिके ऊपरकी अवस्था समझना चाहिये। आदर्श प्रेमस्वरूप भगवान्‌के साक्षात्कारकी इसमें बहुत अधिक सम्भावना है।

सख्य-रतिमें विश्रम्भका भाव होनेपर भी इसमें एक त्रुटि है। देश-काल-परिस्थितिके इसपर कुछ ऐसे प्रतिबन्ध रहते हैं कि भक्तका सारा समय और ध्यान इसी भावमें सदा नहीं लगा रहता और इसीलिये आह्लादकी जो परमावस्था है, वह इसमें नहीं प्राप्त हो सकती। वात्सल्य-रसकी भूमिकामें पहुँच जानेपर इनमेंसे कुछ प्रतिबन्ध हट जाते हैं।*

'वात्सल्य-रस'

वात्सल्य-रसका स्थायिभाव वात्सल्य-रति है। इसे 'ममता' भी कहते हैं। 'ममता' का अर्थ यह है कि 'कृष्ण मेरा लाल है, मेरा दुलारा है'। यहाँ भगवान् भक्तके पुत्र या पुत्रवत् होकर रहते हैं। इस नातेकी खूबी यह है कि भक्तोंका वात्सल्य भगवान्‌की भगवत्ताको बहुत कुछ दबा लेता है। नन्द-यशोदा, वसुदेव-देवकी भगवान्‌के आनन्दांशसे सम्भूत देव-देवी ही हैं और वे सदा ही श्रीकृष्णके सर्वेश्वरत्वसे बेखबर रहते हों, ऐसी बात भी नहीं है; परन्तु उनके अतिशय भक्ति-भावके कारण इसकी प्राय: विस्मृति हो जाती है और श्रीकृष्णका सर्वलोकमहेश्वरत्व नन्दकिशोररूपमें छिप जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं समय-समयपर अपनी भगवत्ता दिखाते हैं, अपने भगवान् होनेकी स्मृति दिलाते हैं, तो भी यह विस्मृति बनी ही रहती है। यशोदा जब नन्हें-से कन्हैयाको दूध पिलाती होती हैं, ऐसे समय श्रीकृष्ण उन्हें अपना विश्वरूप दिखाते हैं; परंतु तुरंत ही यशोदाका मातृभाव उमड़ आता है और वे भगवान्‌के ऐश्वर्यको भूल जाती हैं। उनका हृदय सामान्य माताओंके समान ही इस भय और चिन्तासे व्यग्र हो उठता है कि मेरे लालको किसीकी नज़र न लग जाय, उसपर कोई आपत्ति न आ जाय।

वात्सल्य-रसका विशिष्ट लक्षण स्तन्यस्राव है, जिसे अष्ट सात्त्विक भावोंके अतिरिक्त नवाँ सात्त्विक भाव समझना चाहिये। अन्य सभी रसोंमें आठ ही सात्त्विक भाव होते हैं। उनके नाम ये हैं—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय। नवाँ सात्त्विक भाव इसी वात्सल्य-रसमें है। श्रीकृष्णके प्रति यशोदाका जो वात्सल्य है, यह नवाँ सात्त्विक भाव उसीका प्रतीक है। बेन नामके प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक अपनी 'इमोशन्स ऐंड दि विल' (मनोभाव और सङ्कल्प) नामक पुस्तकमें लिखते हैं कि 'स्त्रियोंके स्तन्यस्रावमें एक ऐसा संवेदन होता है, जो वात्सल्य-भावका एक अङ्ग है।' यशोदाके

थे वे उद्धव, दासक, शक्रजित, भीष्म, विदुर, संजय आदि 'पारिषद' भक्त माने जाते है। 'अनुग' दासभक्त सदा स्वामीकी सेवामें ही रहते हैं। वे दो प्रकारके हैं—'पुरस्थ' और 'व्रजस्थ'। सुचन्द्र, मण्डल, स्तम्ब और सुतम्बादि 'पुरस्थ' तथा रक्तक, मधुकण्ठ-मधुव्रत, रसाल, सुविलास, पत्रक, पत्री, प्रेमकन्द, आनन्द, चन्द्रहास, पयोद, शारद और रसद आदि 'व्रजस्थ' अनुगभक्त हैं।

* सख्यरसके भक्तोंके भी दो भेद हैं—पुरसम्बन्धी और व्रजसम्बन्धी। अर्जुन, भीम, उद्धव, द्रौपदी, सुदामा ब्राह्मण आदि पुरसम्बन्धी भक्त हैं। व्रजसम्बन्धी सख्यभक्तोंकी चार श्रेणियाँ हैं—१-सुहृत्सखा, २-सखा, ३-प्रियसखा और ४-प्रियनर्मसखा। भगवान् श्रीकृष्णसे कुछ अधिक उम्रके, वात्सल्यभावसे युक्त सदा-सर्वदा श्रीकृष्णकी रक्षा करनेमें तत्पर सुभद्र, भद्रवर्द्धन, मंडलीभद्र, गोभट, यक्षेन्द्रभट, भद्राङ्ग, वीरभद्र, बलभद्र, महागुण और विजय आदि 'सुहृद्-सखा' है। जो श्रीकृष्णसे कुछ कम उम्रके और श्रीकृष्णकी सेवासुखके आकांक्षी हैं—वे देवप्रस्थ, मरन्द्र, कुसुमपीड, मणिबन्ध, वरुथप, विशाल, वृषभ और ओजस्वी आदि 'सखा' हैं। जो श्रीकृष्णके समान उम्रके हैं और जिनमें वात्सल्य और दास्य-रसकी पुट नहीं है तथा जो सदा श्रीकृष्णके साथ नि:संकोच खेला करते हैं वे श्रीदाम, सुदाम, वसुदाम, किंकणी, स्तोककृष्ण, भद्रसेन, पुण्डरीक, अंशु, विटंक और विलासी आदि 'प्रियसखा' हैं। और इनसे भी अधिक भाववाले, अत्यन्त अन्तरंग, गोपनीय लीलाओंके सहचर सुबल, अर्जुनगोप, वसन्त, गन्धर्व और उज्ज्वल आदि 'प्रियनर्मसखा' हैं।

चित्तकी जो भावमय स्थिति है, उसमें अङ्गभूत भाव अनेक हैं और जिस समय जिस भावका प्राधान्य होता है, उस समय अष्ट सात्त्विक भावोंमेंसे उसी भावके अनुकूल सात्त्विक भाव प्रकट हो जाता है और सब भावोंकी जो समष्टि है उससे स्तन्यस्राव होता है।*

मधुर या उज्ज्वल-रस—उसकी श्रेष्ठता

वात्सल्य-रसमें स्नेहका उद्रेक होनेपर भी, यही सर्वश्रेष्ठ रस नहीं है। रसकी सर्वोच्च परिणति मधुर रसमें ही होती है। यह अलङ्कार-शास्त्रके शृङ्गार-रसका अतीन्द्रिय दिव्य स्वरूप है। यह सभीके अनुभवकी बात है कि लौकिक इन्द्रिय-सुखकी प्रगाढ़ता और विस्तारकी परमावधि दाम्पत्य-प्रेममें ही हुआ करती है। इसी प्रकार शृङ्गार अथवा मधुर-रस विकासकी चरमावस्था है। चरमावस्था इसे इसलिये कहा जाता है कि इसमें सब प्रकारकी मर्यादा और सङ्कोच दूर हो जाते हैं और निरन्तर भगवान्की सेवा अबाधरूपसे होती है और इस प्रकार इस सुखका समास्वादन अत्यन्त प्रगाढ़ होता है। शृङ्गार-रसकी इस सर्वोच्च स्थितिका, जिसमें सभी रसोंका समावेश हो जाता है, एक बौद्धिक और तात्त्विक आधार भी है। प्लेटोने अपने 'Symposium' नामके ग्रन्थमें कामको मानव आदर्शके प्रति मनुष्यकी वह सहज प्रवृत्ति बताया है, जिसकी चरितार्थता प्रेमसे अथवा मान, ज्ञान या अधिकारकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले प्रयत्नसे होती है। इसी बातको वैज्ञानिक ढंगसे इस रूपमें कह सकते हैं कि चाहे वह इन्द्रियजन्य हो अथवा अतीन्द्रिय, शृङ्गार-रसका आधार काम ही होता है। प्रोफेसर बेन ठीक ही कहते हैं कि कामकी मुख्यताके लिये यथेष्ट प्रमाण मिलते हैं। परस्पर मिलनकी क्षमता इसमें पराकाष्ठाकी होती है। अङ्गसङ्गकी जो स्थूल वासना है, उसकी क्रिया तो बहुत सरल होती है; परन्तु उसके सहकारी मनोभावकी तरङ्गें बहुत दूरतक प्रभाव डालनेवाली और गूढ़ होती हैं। 'यह निश्चित बात है—और इसे कुछ भी कहकर हम टाल नहीं सकते—कि जहाँ स्नेह होता है, वहाँ आलिङ्गनकी लालसा होती ही है। स्त्री-पुरुषमें अङ्गसङ्गकी वासना अधिक गहरी होती है और अन्य प्रकारके स्नेहमें सन्तुष्टिके लिये केवल स्पर्शमात्रकी भावना होती है················।'

('Emotions and the Will' पृष्ठ १३५)

मधुर-रस लौकिक दाम्पत्य-प्रेमसे सर्वथा भिन्न है

मधुर-रसकी जो सर्वोपरि श्रेष्ठता है, उसको और अच्छी तरहसे समझ लेना होगा। विस्तारके साथ इस विषयका विवेचन करनेके लिये तो इस लेखमें स्थान नहीं है; पर संक्षेपमें दो एक बातें कही जाती हैं, जिससे इसके वास्तविक स्वरूपके विषयमें सामान्य मनुष्योंके चित्तमें कोई भ्रम न रह जाय।

यहाँ यह बात अच्छी तरहसे समझ लेना चाहिये कि मनुष्योंके दाम्पत्य-प्रेम तथा भगवान् और उनकी प्रेयसियोंके मधुर सम्बन्धके बीच कोई समानता नहीं है। कुछ लोग भक्त और भगवान्के इस सम्बन्धको लौकिक दाम्पत्य-प्रेमकी ही परिणति मानते हैं, पर वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाय इस बातको नहीं मानता कि हम मनुष्योंके जो परस्पर प्रेम, स्नेह और सेवादिके लौकिक सम्बन्ध हैं, ये नित्य एवं पूर्णरूपमें वृन्दावनमें भी रहते हैं, ऐसा मानना वैष्णव-शास्त्रोंके मूल सिद्धान्तके विरुद्ध होगा। लौकिक प्रेम और स्नेहके जितने भी सम्बन्ध हैं वे सभी स्वार्थमूलक हैं, अपने सुखके लिये हैं। परन्तु वृन्दावनमें जो प्रेम और स्नेहकी लीला होती है वह श्रीकृष्ण-सुखके लिये होती है। अतः लौकिक दाम्पत्य-प्रेम अहङ्कारमूलक है और भगवत्सम्बन्धी माधुर्य-प्रेम परसुखमूलक है। एककी संज्ञा 'काम' है, दूसरा 'प्रेम' कहलाता है; और दोनोंमें अन्धकार और प्रकाशका-सा अन्तर है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि लौकिक प्रेम अथवा स्नेह चाहे कितने भी ऊँचे दर्जेका और पूर्णताको पहुँचा हुआ हो, उस दिव्य भाव या परमानन्दको कदापि नहीं पा सकता, जिसकी अनुभूति सिद्ध देह अथवा चिन्मय शरीरके द्वारा उस परमधाम वृन्दावनमें ही की जाती है।

मधुर भावकी श्रेणियाँ

वैष्णवभक्तोंने भक्ति-भावका ऐसा क्रम बाँधा है, जिससे यह भाव अधिकाधिक प्रगाढ़ होकर उच्चसे उच्चतर स्तरको प्राप्तकर अन्तमें उस उच्चतम भावको प्राप्त होता है, जिसे 'महाभाव' कहते हैं। यूरोपके मध्यकालीन संतोंमें सेंट विक्टर रिचार्ड और ह्यूगो, बोना वेञ्चुरा तथा अलबर्टस् मैगनस आदि भक्त भी इस क्रमके माननेवालोंमें विशेष प्रसिद्ध हो गये हैं। अस्तु! मधुरभाव

* दशरथ, नन्द, वसुदेव, विश्वामित्र, वशिष्ट, सान्दीपनि, गर्ग, कौसल्या, सुमित्रा, कैकेयी, यशोदा, देवकी, रोहिणी, कुन्ती आदि गुरुवर्गीय जन वात्सल्य-रसके भक्त हैं।

ही जब इतना प्रगाढ़ और बद्धमूल हो जाता है कि अत्यन्त प्रतिकूल अवस्थामें पड़कर भी भक्तका चित्त उससे विचलित नहीं होता, तब उसे 'प्रेम' कहते हैं। प्रेमके इस दिव्यभावके सम्बन्धमें अधिक विस्तार न करके संक्षेपमें इतना ही कहा जाता है कि यह दिव्य-भाव मलिन कामके स्पर्शसे सर्वथा शून्य होता है और सनातन भावमें ही सदा स्थिर रहता है।

प्रेमकी तीन अवस्थाएँ हैं। सर्वोच्च अवस्थाका नाम है 'प्रौढावस्था'। उसमें एक क्षणके लिये भी श्रीकृष्णका वियोग नहीं सहा जाता। चित्त अत्यन्त व्याकुल हो जाता है। श्रीमती राधारानी और उनकी सहचरी गोपियोंकी यही स्थिति है। इस प्रेमकी झलक चण्डीदास, विद्यापति, सूरदास तथा अष्टछापके अन्यान्य कवियोंके पदोंमें जहाँ-तहाँ देखनेको मिलती है और श्रीरवीन्द्रनाथके मधुर गीतोंमें भी प्रतिध्वनित होती रहती है।

प्रेम बराबर आगे बढ़ता हुआ, स्नेह, मान, प्रणय, राग और अनुरागकी अवस्थाको पार करके अन्तमें महाभावकी चरम सीमाको पहुँच जाता है। यही सर्वसमाहारिणी इन्द्रियातीत भावमयी परा स्थिति ही आदर्श भक्ता श्रीराधिकाजीके जीवन और आत्मा स्वरूप है। यही भक्तका परम ध्येय है। इसी ध्येयकी ओर आगे बढ़ना साधकका साधन है और यदि उसने भक्तिमार्गको ग्रहण किया है तो वह भक्तिके उपर्युक्त भावोंमेंसे किसी एक अथवा सब भावोंको ग्रहण कर सकता है

नवधा भक्ति

(लेखक—सेठ श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार)

संसारमें मनुष्य जन्मका प्राप्त होना बहुत दुर्लभ है। वह पूर्वसञ्चित उग्र पुण्यकर्मोंद्वारा सौभाग्यसे ही प्राप्त हो सकता है। भवसागरसे पार उतरनेके पारमार्थिक साधन केवल मनुष्य जन्मपर ही निर्भर है, स्वयं श्रीभगवान्ने कहा है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा॥

(श्रीमद्भा० ११।२०।१७)

'निरतिशय श्रेय:साधनके उपयुक्त और अत्यन्त दुर्लभ दृढ़ नौकारूप मनुष्य-शरीर पाकर, जिसका कर्णधार सद्गुरु है और जो अनुकूल पवनरूप मुझसे सञ्चालित है फिर भी जो पुरुष भवसागरके पार उतरनेका प्रयत्न नहीं करता है वह आत्मघाती है। अतएव मनुष्य-जन्म पाकर संसार-सागरसे उत्तीर्ण होने के लिये पारमार्थिक साधनोंका अनुष्ठान परमावश्यक है।

पारमार्थिक साधनोंके मार्ग साख्य, योग और ज्ञान आदि विभिन्न होनेपर भी इनमेंसे किसी एकका भी पूर्ण-रूपसे यथावत् साधन करनेसे साध्य पदार्थकी प्राप्ति हो सकती है। किन्तु ये सभी साधन अत्यन्त गहन होनेके कारण दु:साध्य हैं। इनके सिवा भगवद्-भक्ति एक ऐसा साधन है जिसकी साधना अन्य साधनोंकी अपेक्षा बहुत सुगमतासे हो सकती है।

भगवद्भक्ति साध्य भी और साधनरूप भी है—

स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्।
भवत्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ॥

(श्रीमद्भा० ११।३।३१)

श्रीमद्भागवतके इस श्लोकमें साधन-भक्ति द्वारा साध्य-भक्तिका प्रादुर्भाव होना कहा गया है। साध्य-भक्ति परा-भक्ति (प्रेम लक्षणा) है और श्रवण-कीर्तनादि नवधा भक्ति* साधन-भक्ति है। प्रेम-लक्षणा भक्ति के विषयमें कुछ पक्तियाँ इसी साधनाङ्कमें अन्यत्र लिखी गयी हैं। यहाँ लेखक नवधा भक्तिके विषयमें निवेदन करनेकी अनधिकार चेष्टा करता है।

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(७। ५। २३)

---

* नवों भक्तियोंको साधन-भक्ति माने जानेमें कुछ आचार्योंका मतभेद है।

'श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन ये ही नवधा भक्ति हैं।'

(१) श्रवण-भक्ति

भगवान्के अलौकिक चरित्रोंकी महिमा-सूचक कथाओंको महात्माजनोंके मुखसे श्रद्धा और प्रेमके साथ श्रवण करना श्रवण-भक्ति है। जबतक भगवान्की विचित्र लीलाओंकी कथाओंका श्रवण नहीं किया जाता, मनुष्यके हृदयमें भगवान्के चरण-कमलोंके प्रति प्रेम-लक्षणा भक्तिका प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। ब्रह्मादि देवताओंने भगवान्की स्तुतिमें कहा है—

पानेन ते देव कथासुधायाः
प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं
यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम् ॥
तथापरे चात्मसमाधियोग-
बलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठाम्॥
त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति
तेषां श्रमः स्यान्न तु सेवया ते ॥

(श्रीमद्भा० ३।५।४५-४६)

हे देवदेव! आपके कथामृतके पानसे बढ़ी हुई भक्ति-द्वारा शुद्धान्तःकरण हो जानेवालोंको जिस प्रकार वैराग्यका सारभूत ज्ञान प्राप्त होकर अनायास वैकुण्ठपद प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार यद्यपि समाधिजन्य योगबलसे बलवती प्रकृतिको जीतनेवालोंको भी आपकी प्राप्ति होती जाती है किन्तु इन दोनोंमें यह बड़ा भारी भेद है कि योगीजनोंको जो स्थान घोर परिश्रमसे उपलब्ध हो सकता है वह आपके भक्तोंको श्रवण-भक्तिद्वारा अनायास ही मिल जाता है।

श्रवण-भक्तिका मूल स्रोत एकमात्र सत्संग है। अतएव श्रवण-भक्तिको प्रथम कथन करनेका तात्पर्य सत्संगका सर्वोपरि महत्त्व प्रदर्शित करना भी है। सत्संगके विना श्रवण-भक्तिका अन्य कोई उपाय ही नहीं है। पूज्यपाद गोस्वामीजीने कहा है—

बिनु सत्संग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

(रामचरितमानस)

श्रीमद्भागवतमें सत्संगका महत्त्व अनेक स्थलोंपर-

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

(श्रीमद्भा० १।१८।१३)

इत्यादि वाक्योंसे कहा गया है—

श्रवण-भक्तिका माहात्म्य वर्णन करते हुए ब्रह्माजीने कहा है—

ये तु त्वदीयचरणाम्बुजकोशगन्धं
जिघ्रन्ति कर्णविवरैः श्रुतिवातनीतम्।
भक्त्या गृहीतचरणः परया च तेषां
नापैषि नाथ हृदयाम्बुरुहात्स्वपुंसाम्॥

(श्रीमद्भा० ३। ९। ५)

'हे भगवन् (श्रुति) वेद रूप वायुद्वारा उपलब्ध आपके चरण-पंकजकोशके गन्धको जो भ्रमरके समान अपने कर्ण-छिद्रोंद्वारा ग्रहण करते हैं उन आपके भक्तोंकी इस प्रेम-लक्षणा भक्तिसे बँधे हुए आप उनके हृदयसे कभी दूर नहीं होते हैं।' और देखिये—

न कामये नाथ तदप्यहं क्वचि-
न्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो
विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः॥

(श्रीमद्भा० ४। २०। २४)

भगवान्द्वारा वर माँगनेकी आज्ञा दी जानेपर आदिराज पृथु निवेदन करते हैं—'हे नाथ! नारकीजनोंको भी सुलभ होनेवाले भोगादि और वह मुक्तिपद भी, जिसमें आपके चरण-कमलका सुधा-रस नहीं है, मै नहीं चाहता, मुझे तो महज्जनोंके मुखसे विनिःसृत आपके कथामृतको पान करनेके लिये अयुत (दस हजार या अनन्त) कान प्राप्त हो जायँ यही वर प्रदान करें।'

राजा परीक्षित्को सम्पूर्ण भागवत सुनानेके पश्चात् श्रीशुकदेवजीने अन्तमें निष्कर्षरूपमें कहा हैं—

संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षो-
र्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य।
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण
पुंसो भवेद्विविधदुःखदवार्दितस्य॥

(श्रीमद्भा० १२। ४। ४०)

'अनेक प्रकारके दुःखरूप दावानलसे तापित होकर संसार-समुद्रसे उत्तीर्ण होनेकी इच्छावाले पुरुषको

भगवान् पुरुषोत्तमकी लीलाओंके कथामृतसेवनके सिवा अन्य कोई भी प्लव (पार उतारनेकी नौका) नहीं है।'

(२) कीर्तन-भक्ति

भगवान्‌की मंगलमय लीलाओंके महत्त्वसूचक चरित्रोंका कीर्तन अर्थात् भगवच्चरित्रोंकी कथाओंका पाठ अथवा भगवान्‌के नामोंका कीर्तन और जप आदि 'कीर्तन-भक्ति' है।

भक्तिके अंगोंमें श्रवण, कीर्तन और स्मरण—ये तीन अंग मुख्य हैं—

तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम् ॥

(श्रीमद्भा० २। १। ५)

इन तीनोंमें भी कीर्तन प्रधान है। इसका तात्पर्य श्रवण और स्मरणकी न्यूनता बतानेका नहीं, किन्तु बात यह है कि श्रवण और स्मरणमें चित्तकी एकाग्रताका होना परमावश्यक है। चित्तकी एकाग्रता बिना श्रवण और स्मरण (ध्यान) यथावत् नहीं हो सकता, परन्तु नाम-कीर्तनके विषयमें तो यहाँतक कहा गया है—

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत् ।
सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥

(श्रीमद्भा० ६।२।१८)

'अनजानमें अथवा जानमें उत्तमश्लोक भगवान्‌का नाम-कीर्तन करनेवाले पुरूषके पाप तत्काल वैसे ही नष्ट हो जाते है, जैसे अग्निसे ईंधन।' इसीसे कीर्तन-भक्तिको प्रधानता दी जाती है। कीर्तन-भक्तिद्वारा परा भक्ति प्राप्त होती है। श्रीशुकदवेजीने कहा है—

इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतार-
वीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि।
अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन्मनुष्यो
भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत॥

(श्रीमद्भा० ११। ३१। २८)

'हे राजन्! जो मनुष्य इस प्रकार यहाँ (भागवतमें) तथा अन्यत्र पुराण-इतिहासादिमें वर्णन किये गये भगवान् श्रीकृष्णके मंगलयम बालचरित एवं अवतारोंके पराक्रम-सूचक अन्य चरित्रोंका कीर्तन करता है, वह परमहंस-गतिको देनेवाले भगवान्‌में परा भक्ति प्राप्त करता है।'

कीर्तन-भक्तिका महत्त्व श्रीमद्भागवतके अनेक प्रसंगोंमें बताया गया है। वेदव्यासजीके यह पूछनेपर कि मेरेद्वारा वेदोंका विस्तार, वेदान्तदर्शन और महाभारत एवं पुराणादिकी रचना किये जानेपर भी मेरा चित्त अकृतार्थकी भाँति क्यों असन्तुष्ट है, मुझमें क्या न्यूनता है, जिससे मुझे शान्ति नहीं मिलती, देवर्षि नारदजीने कहा है—

भवतानुदितप्रायं यशो भगवतोऽमलम् ।
येनैवासौ न तुष्येत मन्ये तद्दर्शनं खिलम्॥

(श्रीमद्भा० १। ५। ८)

आपने प्रायः भगवान्‌के यशका कीर्तन नहीं किया। वह ज्ञान, जिससे भगवान् सन्तुष्ट न हों, न्यून ही है अर्थात् आपकी अशान्तिका कारण एकमात्र भगवान्‌के गुणानुवादका अभाव ही है, क्योंकि—

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ॥

(श्रीमद्भा० १। ५। २२)

'तपका, शास्त्रोंके श्रवणका, स्विष्ट अर्थात् यज्ञादिविहित कर्मोंका, सूक्त अर्थात् अच्छी प्रकारकी वाक्यरचनाके ज्ञानका और दान आदिका अविच्युत अर्थ (परम फल) कवियोंने यही निरूपण किया है कि उत्तमश्लोक भगवान्‌के गुणोंका कीर्तन किया जाय।'

कीर्तन-भक्तिके भी तीन भेद हैं—भगवान्‌की लीलाओंका गुणोंका और नामोंका कीर्तन। इन तीनोंमें नाम-कीर्तन मुख्य है! भगवन्नाम-कीर्तन केवल साधकोंके ही नहीं, किन्तु समाधिप्राप्त शुद्धान्तःकरण निष्काम योगीजनोंके लिये भी परमावश्यक कहा गया है—

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्॥

(श्रीमद्भा० २। १। ११)

'हे राजन्! जो दुःखरूप इस संसारसे विरक्त हो गये हैं और निर्भय होना चाहते हैं, उन योगीजनोंके लिये एकमात्र भगवान् हरिके नामोंका कीर्तन ही सारभूत निर्णय किया गया है।'

ब्रह्माजीने देवर्षि नारदजीसे कहा है—

यस्यावतारगुणकर्मविडम्बनानि
नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति।
त नैकजन्मशमलं सहसैव हित्वा
संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये॥

(श्रीमद्भा० ३। ९। १५)

'जिन भगवान्‌के अवतारोंके गुण और कर्मोंके सूचक देवकीनन्दन, कंसनिकन्दन, कालियमर्दन, भक्तवत्सल और गोवर्धनधारी इत्यादि नामोंको प्राणान्तके समय विवश होकर भी जो पुरुष उच्चारण करते हैं, उनके अनेक जन्म-जन्मान्तरोंके पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं। वे खुले हुए मोक्षद्वारमें सीधे चले जाते हैं। ऐसे भगवान्‌की शरणमें मैं प्राप्त होता हूँ।'

सभी प्रकारके पापोंके प्रायश्चित्तके लिये तो भगवान्‌का नाम-कीर्तन सर्वोपरि है, अजामिलोपाख्यानमें यमदूतोंके प्रति भगवान्‌के पार्षदोंका कथन है—

स्तेनः सुरापो मित्रध्रुग्ब्रह्महा गुरुतल्पगः।
स्त्रीराजपितृगोहन्ता ये च पातकिनोऽपरे॥
सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम्।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः॥

(श्रीमद्भा० ६। २। ९-१०)

'भगवान्‌का नाम-कीर्तन श्रद्धा-भक्तिसे किया जाय उसका तो कहना ही क्या, किन्तु अवज्ञादिसे भी नाम ले लिया जाय तो वह सब पापोंको हर लेता है।'

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा ।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥
पतितः स्खलितो भग्नः संदष्टस्तप्त आहतः।
हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम्॥

(श्रीमद्भा० ६। २। १४-१५)

'संकेतसे, हँसीसे, गानके आलापको पूरा करनेके लिये, अवहेलनासे किसी भी प्रकारसे लिया गया भगवान्‌का नाम सब पापोंका हरनेवाला है। घबड़ाकर गिरा हुआ, मार्गमें ठोकर खाकर पड़ा हुआ, अंग-भंग हुआ, सर्प आदिसे डसा हुआ, ज्वरादिसे सन्तप्त और घायल मनुष्य विवश होकर भी यदि 'हरि' पुकार उठता है तो वह यातनाओंको नहीं भोगता।'

कलियुगमें तो केवल भगवन्नाम कीर्तन ही मुख्य है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान्गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥
कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

(श्रीमद्भा० १२। ३। ५१-५२)

'हे राजन्! कलियुग यद्यपि सब दोषोंसे भरा हुआ खजाना है, फिर भी इसमें एक बड़ा भारी गुण यह है कि भगवान् श्रीकृष्णके नाम-कीर्तनमात्रसे ही पुरुष मुक्तसंग होकर परमपदको प्राप्त हो जाता है। सत्ययुगमें जो फल भगवान्‌के ध्यानद्वारा, त्रेतामें जो फल यज्ञादिके यजनद्वारा और द्वापरमें जो फल भगवान्‌की पूजाके द्वारा प्राप्त होता है, वही फल कलिकालमें केवल हरि भगवान्‌के कीर्तनमात्रसे प्राप्त हो जाता है अर्थात् अन्य युगोंमें ध्यान, यज्ञ और पूजा आदिकी साधनाके लिये अत्यन्त दुष्कर साधन अपेक्षणीय है, किन्तु कलियुगमें केवल हरि-कीर्तनमात्रसे ही बेड़ा पार हो जाता है।'

नाम-कीर्तनमें नामके अपराधोंसे बचना परमावश्यक है। नामके अपराधोंमें दो अपराध मुख्य हैं। एक तो भगवान्‌के नामके भरोसेपर यह समझकर कि नाम-कीर्तनसे पाप तो सब नष्ट हो ही जायँगे, पाप करना। इस अपराधकी शुद्धि यम-नियमादिके साधनद्वारा भी नहीं हो सकती ।

नाम्नो बलाद्यस्य हि पापबुद्धि-
र्न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः।

और दूसरा अपराध है शास्त्रोक्त नाम-माहात्म्यको केवल प्रशंसात्मक समझना। जो ऐसा समझते हैं वे अवश्य ही नरकगामी होते हैं। कहा है—

अर्थवादं हरेर्नाम्नि सम्भावयति यो नरः।
स पापिष्ठो मनुष्याणां निरये पतति ध्रुवम्॥

(३) स्मरण-भक्ति

भगवान्‌के प्रभावशाली नाम, रूप, गुण और लीला आदिके किये गये कथामृतके श्रवण अथवा कीर्तनका मनन करना और भगवान्‌की लोकोत्तर लावण्यमयी श्रीमूर्तिका ध्यान करना स्मरण-भक्ति है। स्मरण-भक्तिको भी परा भक्तिका साधन बताया गया है—

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्॥

(श्रीमद्भा० १२। १२। ५४)

'भगवान् श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंका स्मरण (ध्यान) समग्र अमंगलोंका नाश और शान्तिका विस्तार करता है, एवं सत्त्वकी शुद्धि, परमात्माकी भक्ति और वैराग्यसहित विज्ञानका विस्तार करता है।'

अन्तःकरण-शुद्धिका सर्वोपरि साधन भगवत्-स्मरण (ध्यान) ही है। श्रीशुकदेवजीने कहा है—

विद्यातपःप्राणनिरोधमैत्री-
तीर्थाभिषेकव्रतदानजप्यैः ।
नात्यन्तशुद्धिं लभतेऽन्तरात्मा
यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते॥

(श्रीमद्भा० १२। ३। ४८)

'विद्या (शास्त्र-अध्ययन)' तप (अनशन आदि), प्राणायामादि योगक्रिया, मैत्री (अहिंसा, आदि), तीर्थस्थान, व्रत (एकादशी आदि), दान, जप आदिसे अन्तःकरणकी वैसी शुद्धि नहीं होती है, जैसी अनन्त भगवान् हरिके हृदयमें स्थापित करनेसे होती है।'

गीताजीमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण आज्ञा करते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(१२। ६-७)

ज्ञानीजनोंकी अव्यक्तोपासनाको अधिक दुःसाध्य बताकर भगवान् कहते हैं कि 'हे पार्थ! जो मेरे परायण रहनेवाले सगुणोपासक भक्तजन अपने सम्पूर्ण कर्मोंको मुझे सगुणरूप वासुदेवमें अर्पण करके अनन्यभक्तियोगके द्वारा मेरा ध्यान करते हैं, उन मुझमें चित्त लगानेवाले भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसारसमुद्रसे पार करनेवाला होता हूँ।'

भगवान्का स्मरण द्वेष, भय आदि भावोंसे भी करनेसे सारूप्य और सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है। देवर्षि नारदजीने कहा है—

वैरेण यं नृपतयः शिशुपालपौण्ड्र-
शाल्वादयो गतिविलासविलोकनाद्यैः।
ध्यायन्त आकृतधियः शयनासनादौ
तत्साम्यमापुरनुरक्तधियां पुनः किम्॥

(श्रीमद्भा० ११। ५। ४८)

'शिशुपाल, पौण्ड्रक और शाल्व आदि राजागण सोते-बैठते और खाते-पीते समय सर्वदा भगवान् श्रीकृष्णकी गमन और चितवन आदि चेष्टाओंका वैरभावसे भी चिन्तन करनेसे भगवान्के साम्यको प्राप्त हो गये। तब भगवान्में एकान्त अनुरक्त रहनेवाले भक्तोंकी तो बात ही क्या है—वे तो जीवन्मुक्त ही हैं।'

भगवान्के श्रीविग्रहके ध्यानका प्रकार श्रीमद्भागवतमें अनेक प्रसंगोंपर बड़ा चित्ताकर्षक वर्णन किया गया है। विस्तारभयसे यहाँ केवल श्रीकपिलदेवजीद्वारा वर्णित ध्यानका उल्लेख किया जाता है—

प्रसन्नवदनाम्भोजं पद्मगर्भारुणेक्षणम्।
नीलोत्पलदलश्यामं शङ्खचक्रगदाधरम्॥
लसत्पङ्कजकिञ्जल्कपीतकौशेयवाससम् ।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजस्कौस्तुभामुक्तकन्धरभ् ॥
मत्तद्विरेफकलया परीतं वनमालया।
परार्घ्यहारवलयकिरीटाङ्गदनूपुरम् ॥
काञ्चीगुणोल्लसच्छ्रोणिं हृदयाम्भोजविष्टरम्।
दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्धनम्॥
अपीच्यदर्शनं शश्वत्सर्वलोकनमस्कृतम्।
सन्तं वयसि कैशोरे भृत्यानुग्रहकातरम्॥
कीर्तन्यतीर्थयशसं पुण्यश्लोकयशस्करम्।
ध्यायेद्देवं समग्राङ्गं यावन्न च्यवते मनः॥
स्थितं व्रजन्तमासीनं शयानं वा गुहाशयम्।
प्रेक्षणीयेहितं ध्यायेच्छुद्धभावेन चेतसा॥
तस्मिँल्लब्धपदं चित्तं सर्वावयवसंस्थितम्।
विलक्ष्यैकत्र संयुञ्ज्यादङ्गे भगवतो मुनिः॥

(श्रीमद्भा० ३। २८। १३-२०)

'विकसित कमलके समान प्रसन्न मुखारविन्द, कमलके मध्यभागके समान रक्त नेत्र, नील कमलदलके समान श्याम-सुन्दर देह-कान्ति, हस्तकमलोंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म सुशोभित, कमलकी केसरके समान पीताम्बर धारण किये हुए, वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न और ग्रीवामें कौस्तुभमणि विभूषित, गुञ्जायमान मत्त भ्रमरोंसे युक्त वनमाला धारण किये हुए, अन्य अंगोंमें यथास्थान बहुमूल्य हार, कङ्कण, किरीट, मुकुट, बाजूबन्द और नूपुर आदि आभूषणभूषित, कटिस्थलपर काञ्चन-की किङ्किणी, भक्तजनोंके हृदयरूप आसनपर विराजमान, मन और नेत्रोंको आनन्ददायक दर्शनीय शान्त स्वरूप, किशोरावस्थामें स्थित, सबके द्वारा वन्दनीय, भक्तोंपर

अनुग्रह करनेमें व्यग्र, पवित्र और कीर्तनीय यशवाले और भक्तजनोंका यश बढ़ानेवाले भगवान्‌के सर्वांग विग्रहका इस प्रकार ध्यान करना चाहिये। और इस प्रकार सर्वांग ध्यान भली प्रकार हृदयस्थ हो जानेपर भगवान्‌के प्रत्येक अंगका पृथक्-पृथक् ध्यान करना चाहिये।

(४) पादसेवन

पादसेवन-भक्ति एक तो भगवान्‌की साक्षात् पादसेवा है और दूसरा भगवान्‌के पाद-पद्मोंका भजन। इसमें प्रथम प्रकारकी पाद-सेवा बड़ी दुर्लभ है। जिसके लिये ब्रह्माजी भी लालायित होकर भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं—

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो
भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां
भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३०)

'हे नाथ! इस जन्ममें अब अथवा आगे जहाँ कर्मवश प्राप्त होनेवाले पशु, पक्षी आदि किसी भी आपके तिर्यक् योनिके जन्ममें मुझे वह सौभाग्य प्राप्त हो जिसमें मैं भी आपके भक्त-जनोंमेंसे एक होकर पाद-पल्लवकी सेवा करूँ।'

ब्रह्माजीने भगवान्‌के साक्षात् पाद-सेवनकी प्राप्तिको अति दुर्लभ समझकर फिर भगवान्‌के प्रिय व्रजवासियोंके चरण-रजकी प्राप्तिके लिये प्रार्थना की है कि—

तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
तद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान्मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३४)

'यह मेरा सौभाग्य होगा यदि मनुष्यलोकमें विशेषतया गोकुल या व्रजके किसी वनमें किसी भी पशु, पक्षी, कीट, पतंग और वृक्ष आदि—योनिमें मेरा जन्म हो, जिससे भगवान् मुकुन्द ही हैं सर्वस्व जिनके ऐसे व्रजवासियोंकी चरण-रजका मेरेपर अभिषेक होता रहे, जिस चरण-रजको श्रुति भी अनादिकालसे ढूँढ़ रही है किन्तु प्राप्त न कर सकी है।'

अतएव साक्षात् पादसेवन तो भगवान्‌के निरन्तर समीपवर्ती श्रीसीताजी, लक्ष्मीजी, रुक्मिणीजी आदि महारानियोंको तथा व्रजके गोपबाल और व्रजांगनाओंको तथा उद्धवजी आदि अनन्यभक्तोंको ही उपलब्ध है, फिर भी वे भगवान्‌के पादसेवनकी अभिलाषा करते ही रहते हैं।

पादसेवनकी अभिलाषाके विषयमें गोपांगनाएँ भगवान्‌से प्रार्थना करती हैं—

श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयास-
स्तद्वद्वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः॥

(श्रीमद्भा० १०।२९।३७)

'जिन लक्ष्मीजीका कृपाकटाक्ष प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मादि देवगण बड़े तप आदिद्वारा प्रयास करते हैं, लक्ष्मीजी आपके वक्ष:स्थलमें निवास पाकर भी अपनी सपत्निरूप तुलसीके साथ आपके भृत्यगणोंसे सुशोभित चरणारविन्दके रजकी अभिलाषा करती हैं, उसी प्रकार हम भी आपकी चरण-रजको प्राप्त हुई हैं।'

श्रीरुक्मिणीजी भी भगवान्‌से यही प्रार्थना करती हैं—

अस्त्वम्बुजाक्ष मम ते चरणानुराग
आत्मन् रतस्य मयि चानतिरिक्तदृष्टेः।

(श्रीमद्भा० १०। ६०। ४६)

'आप निजानन्दमें रमण करनेवाले हैं, अतः आप मुझपर उपेक्षा-दृष्टि रखते हैं। मेरी तो यही प्रार्थना है कि मुझे आपके चरणोंमें अनुराग (पादसेवा) प्राप्त हो।'

भगवान्‌की साक्षात् पाद-सेवन भक्ति तो साध्य भक्तिके अन्तर्गत ही कही जा सकती है। साधन-भक्तिके अन्तर्गत तो भगवान्‌के पादपद्मोंके भजनरूप पाद-सेवन भक्ति ही है।

इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या
भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः।
भवन्ति वै भागवतस्य राजं
स्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात्॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ४३)

'इस प्रकार अच्युतभगवान्‌के चरणकमलकी सेवा करनेवाले भक्तोंको भगवद्भक्ति वैराग्य और भगवद्विषयक ज्ञान—ये सब एक साथ ही प्राप्त हो जाते हैं और उसके पश्चात् वह आत्यन्तिक क्षेमको प्राप्त हो जाता है।' यहाँ पाद-सेवनभक्तिको परा भक्तिका साधन कहा गया है।

भगवान्‌के पाद-पद्‌म्‌का भजन भी अनिर्वचनीय है। श्रीसनत्कुमार आदिराज पृथु महाराजसे कहते हैं।

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-
स्त्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥
कृच्छ्रो महानिह भवार्णवमप्लवेशां
षड्वर्गनक्रमसुखेन तितीरिषन्ति।
तत्त्वं हरेर्भगवतो भजनीयमङ्घ्रिं
कृत्वोडुपं व्यसनमुत्तर दुस्तरार्णम्॥

(श्रीमद्‌भा० ४। २२। ३९-४०)

'जिस भगवान्‌के चरणकमलके पत्ररूप अंगुलियोंकी कान्तिकी भक्तिद्वारा कर्माशयोंकी वासनामयी ग्रन्थिको भक्तजन जिस प्रकार (आसनीसे) काट सकते हैं, उस प्रकार सब इन्द्रियोंको वशीभूत करनेवाले निर्विकल्प समाधिनिष्ठ योगीजन नहीं काट सकते, इसलिये उस शरण्य भगवान् श्रीवासुदेवका भजन करो। काम-क्रोधादि षड्वर्गोंसे व्याप्त संसार-समुद्रको जो भगवान्‌के चरणकमलरूप नौकाके विना अन्य साधनोंके द्वारा उत्तीर्ण होना चाहते हैं, उनको महान् कष्ट प्राप्त होता है। अतएव हे राजन्! तुम हरि भगवान्‌के, भजन करने योग्य चरणकमलोंको नौका करके इस दुस्तर संसार-समुद्रसे उत्तीर्ण हो।'

(५) अर्चन-भक्ति

बाह्य सामग्रियोंके द्वारा अथवा मनके द्वारा कल्पित सामग्रियोंसे भगवान्‌का श्रद्धापूर्वक पूजन करना 'अर्चन-भक्ति' है।

स्वयं भगवान्‌ने अपने पूजनके अधिष्ठान (आश्रय) प्रतिमा, स्थण्डिल, अग्नि, सूर्य, जल, हृदय, गौ और ब्राह्मण आदि बताये हैं—

इनमें पूर्व-पूर्वकी अशक्यतामें उत्तरोत्तरका विधान है, प्रतिमा आठ प्रकारकी बतायी गयी है—

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी पतिमाष्टविधा स्मृता॥

(श्रीमद्‌भा० ११। २७। १२)

'पाषाणमयी अर्थात् शालग्राम और पाषाणनिर्मित, काष्ठ-मयी, सुवर्ण आदि धातुमयी, चन्दनादिद्वारा लेपन की हुई, चित्रमयी, मृत्तिकामयी, मनोमयी (मनद्वारा कल्पित) और रत्नमयी।' इनकी पूजाके उपचार अधिष्ठान-भेदसे भिन्न-भिन्न हैं। पाषाण, धातु और मृत्तिकाकी प्रतिमाओंका पूजन-स्नानादि षोडशोपचारद्वारा, चित्रादिका मार्जन आदिद्वारा, मनोमयीका मानसोपचारद्वारा, स्थण्डिलका तत्त्वन्यासद्वारा, अग्निका घृतादिकी आहुतिद्वारा, सूर्यका उपस्थान एवं अर्घ्यादिद्वारा,जलका जलाञ्जलि आदिद्वारा, ब्राह्मणोंका आतिथ्यद्वारा, गौका घास आदिद्वारा पूजन किया जाता है। भगवान्‌का अर्चन तीन प्रकारसे वैदिक (वेदमन्त्रोंद्वारा), तान्त्रिक (स्मृति-पुराणादि तन्त्र-ग्रन्थोंके मन्त्रोंद्वारा) और इन दोनोंके (वैदिक तथा तान्त्रिकके) मिश्रित मन्त्रोंसे किया जाता है।

भगवान्‌की पूजनविधि श्रीमद्‌भागवतके कई प्रसंगोंमें वर्णन की गयी है। भगवान्‌के अर्चनमें श्रद्धा ही मुख्य है। स्वयं भगवान्‌ने कहा है—

श्रद्धयोपाहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम वार्यपि॥
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते।

(श्रीमद्‌भा० ११। २७। १७-१८)

'श्रद्धापूर्वक यदि जल भी अर्पण किया जाय तो वह मुझे अत्यन्त प्रिय है, श्रद्धारहित अमूल्यवस्तु भी अर्पण की हुई मेरे लिये सन्तोषप्रद नहीं हो सकती।'

अर्चनभक्तिको भी परा भक्तिका साधन स्वयं भगवान्‌ने कहा है—

मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति।
भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम्॥

(श्रीमद्‌भा० ११। २७। ५३)

'निष्काम भक्तियोगद्वारा जो इस प्रकार मेरी पूजा करता है, उसको मेरी भक्ति अर्थात् प्रेमलक्षणा परा भक्ति प्राप्त होती है।'

गृहस्थोंके लिये तो विशेषतया अर्चनभक्ति कर्तव्य है—

अयं स्वस्त्ययनः पन्था द्विजातेर्गृहमेधिनः॥

(श्रीमद्‌भा० १०। ८४। ३७)

'द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) गृहस्थके लिये यही कल्याणकारक है कि सन्मार्गसे प्राप्त हुए द्रव्यद्वारा श्रद्धापूर्वक भगवान्‌का अर्चन करे।'

किन्तु जो मनुष्य भगवान्‌की अर्चन-भक्ति सांसारिक कामनाओंके लिये करते हैं, उनके विषयमें ध्रुवजीने कहा है—

नूनं विमुष्टमतयस्तव मायया ते
ये त्वां भवाप्ययविमोक्षणमन्यहेतोः।
अर्चन्ति कल्पकतरुं कुणपोपभोग्य-
मिच्छन्ति यत्स्पर्शजं निरयेऽपि नृणाम्॥

(श्रीमद्भा० ४। ९। ९)

'निश्चय ही उन लोगोंकी बुद्धि आपकी मायासे मोहित है, जो जन्म-मरणसे छुटकारा करनेवाले कल्पवृक्षरूप आपकी पूजा तुच्छ सांसारिक विषय-भोगादिके लिये करते हैं, जो नारकीजनोंको भी प्राप्त हैं।,'

(६) वन्दन-भक्ति

वन्दनका अर्थ है प्रणाम—दण्डवत्। भगवान्के श्रीचरणोंमें श्रद्धाभक्तिपूर्वक अनन्यभावसे प्रणाम करना वन्दन-भक्ति है।

प्रणाम करनेकी विधि स्वयं भगवान्ने इस प्रकार बतायी है।

स्तवैरुच्चावचैः स्तोत्रैः पौराणैः प्राकृतैरपि।
स्तुत्वा प्रसीद भगवन्निति वन्देत दण्डवत्॥
शिरो मत्पादयोः कृत्वा बाहुभ्यां च परस्परम्।
प्रपन्नं पाहि मामीश भीतं मृत्युग्रहार्णवात्॥

(श्रीमद्भा० ११। २७, ४५-४६)

'अनेक प्रकारके वेदोक्त, पुराणोक्त एवं तन्त्रोक्त और प्राकृत स्तोत्रोंसे स्तुति करके यह निवेदन करे—हे भगवन्! आप प्रसन्न हों और दण्डकी भाँति गिरकर पृथ्वीपर इस प्रकार प्रणाम करे, सिरको मेरे चरणोंमें रखकर दोनों हाथ जोड़कर प्रार्थना करे—हे प्रभो! इस संसारसागरके मृत्युरूप ग्रहसे मेरी रक्षा कीजिये।'

भगवान्को प्रणाम करनेका महत्त्व पाण्डवगीतामें कहा है—

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥

'भगवान् श्रीकृष्णको एक बार भी प्रणाम करना दश अश्वमेघ यज्ञके अवभृथ-स्नानके तुल्य है किन्तु अश्वमेधयज्ञ करनेवालोंको पुनर्जन्मकी प्राप्ति होती है, पर भगवान्को प्रणाम करनेवालोंको फिर जन्म नहीं लेना पड़ता। यह विशेषता है।' उनकी मुक्ति हो जाती है। ब्रह्माजीने भी श्रीमद्भागवतमें कहा है--

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।८)

'आपकी कृपा कब प्राप्त होगी? इस प्रकार प्रतीक्षा करते हुए और अपने कर्मोंके फलको भोगते हुए एवं शरीर, वाणी और मनसे आपकी वन्दन-भक्ति करते हुए जो जीवित रहते हैं, वे मुक्तिपदके भागीदार हो जाते हैं, अर्थात् उनको मुक्ति सुलभ हो जाती है।'

(७) दास्य-भक्ति

भगवान्की श्रद्धा और प्रेमपूर्वक दास्यभावसे सेवा करना दास्य-भक्ति है, दास्य-भक्तिके लिये भगवान्ने स्वयं आज्ञा की है—

सम्मार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्तनैः।
गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद्यदमायया॥

(श्रीमद्भा० ११। ११। ३९)

भगवान्के मन्दिरका मार्जन, लेपन, सिञ्चन, मण्डल आदिकी रचना (चौक पूरना, स्वस्तिक बनाना आदि सेवा)निष्कपटभावसे दासकी भाँति करनी चाहिये।'

भगवान्का दास्य-भाव प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है। भगवान्के पूर्ण कृपापात्र भक्त भी दास्य-सेवाके लिये उत्कण्ठित रहते हैं, प्रह्लादजीने भगवान् श्रीनृसिंहजीसे प्रार्थना की है—

यस्मात्प्रियाप्रियवियोगसयोगजन्म-
शोकाग्निना सकलयोनिषु दह्यमानः।
दुःखौषधं तदपि दुःखमतद्धियाहं
भूमन् भ्रमामि वद मे तव दास्ययोगम्॥

(श्रीमद्भा० ७। ९। १७)

'हे भूमन् प्रिय और अप्रिय पदार्थोंके संयोग और वियोगसे उत्पन्न होनेवाले अग्निसे सब योनियोमें तापित होकर मैंने जो-जो ओषधि की, उससे शान्ति न मिलकर

यद्यपि उलटा दु:ख ही मिलता रहा है; पर उनको मै दु:ख न समझकर भ्रमसे सुख समझता हुआ इस संसारमें भ्रमता रहा हूँ। अतएव अब आप अपना दास्ययोगरूप अमोघ ओषधि प्रदान कीजिये, जिससे सदाके लिये उस तापका नाश होकर शान्ति हो।'

श्रीमद्भागवतमें गोपीजनोंने प्रार्थना प्राप्तकी है—

तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं
प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः।
त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकाम-
तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम्॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। ३८)

'हे दु:खनाशक पुरुषोत्तम! आपकी सेवा करनेकी आशा रखनेवाली हम अपने घरोंको त्यागकर आपके चरणोंके समीप आयी हुई हैं। हमारा हृदय आपके सुन्दर मन्द हास्यपूर्वक कटाक्षपातसे उत्पन्न प्रेमाग्निसे संतप्त हो रहा है अतएव आप अपनी दास्य-सेवा देने की कृपा कीजिये।'

भगवान्‌की सेवा जो मनुष्य स्वार्थके लिये करते हैं उनमें वह दास्य-भाव नहीं है—वह तो लेन-देन करनेवाले वैश्योंके व्यापारके समान है—

यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् ॥

(श्रीमद्भा० ७। १०। ४)

(८) सख्य-भक्ति

भगवान्‌में मित्रभावसे प्रेम करना सख्य-भक्ति है। भगवान्‌में सख्यभाव भगवान्‌की पूर्ण कृपाद्वारा ही प्राप्त हो सकता है। अत: सख्य-भक्तिका अधिकार तो भगवान्‌की इच्छापर ही निर्भर है। सख्य-भक्ति श्रीरामावतार-में कपिराज सुग्रीव और विभीषणादिको तथा श्रीकृष्णावतारमें व्रजके गोप-गोपांगनाओंको तथा उद्धव एवं पाण्डुपुत्र अर्जुन आदि कतिपय सौभाग्यशाली जनोंको ही प्राप्त हो सकी है। सख्य-भक्तिप्राप्त भक्तोंका, भगवान्‌में अनन्य श्रद्धा एवं पूज्य-भाव रहते हुए भी वे भगवान्‌के साथ मित्रोंके समान बर्ताव करते हैं और उनके प्रति कठोर वाक्य भी कह उठते हैं। श्रीव्रजांगनाएँ कहती हैं—

मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा
स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयद्ध्वाङ्क्षवद्य-
स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। १७)

'जिन्होंने रामावतारमें व्याधकी भाँति वालीका वध कर दिया तथा अपनी पत्नीके वशीभूत होकर बेचारी कामातुरा शूर्पणखाके नाक-कान काटकर कुरूप कर दिया, यही नहीं इसके पूर्व वामनावतारमें राजा बलिके सर्वस्य अर्पण करनेपर भी उसको इस प्रकार वरुण-पाशसे बाँधकर स्वर्गसे गिरा दिया, जैसे काक पक्षी किसी वस्तुको कुछ खाकर नीचे गिरा देता है, अतएव ऐसे काले वर्णवालोंकी मित्रतासे हम बाज आयीं। यद्यपि ऐसोंकी चर्चा-कथा भी उचित नहीं है, फिर भी न मालूम क्यों श्रीकृष्णकी चर्चा किये विना हमसे नही रहा जाता।'

भगवान्‌ने सख्य-भाव यहाँतक निभाया है कि व्रजवासियोंको अपनी पीठतकपर बिठा लिया है—

उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः।

(श्रीमद्भा० १०। १८। २४)

भगवान् श्रीकृष्णने खेलमें पराजित होकर श्रीदामा नामक गोपको पीठपर चढाया, सख्य-भक्तिके विषयमें ब्रह्माजीने कहा है—

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३२)

'अहो! नन्दादि व्रजवासी गोपोंके धन्य भाग्य हैं! धन्य भाग्य हैं! जिनके सुहृद् परमानन्दरूप सनातन पूर्णब्रह्म आप हैं।'

(९) आत्मनिवेदन

अहङ्काररहित अपने तन, मन धन और परिजनसहित अपने-आपको तथा सर्वस्वको श्रद्धा और प्रेमपूर्वक भगवान्‌के समर्पण कर देना आत्मनिवेदन भक्ति है। श्रीनिमि योगेश्वरने कहा है—

इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम्।
दारान्सुतान्गृहान्प्राणान्यत्परस्मै निवेदनम्॥

(श्रीमद्भा० ११। ३। २८)

'यज्ञ, दान, तप, जप अपने वर्णाश्रमानुसार किये हुए धर्मानुष्ठान, पूत, आत्माका प्रिय करनेवाले सदाचार, स्त्री, पुत्र, घर और प्राण सर्वस्व भगवान्‌के अर्पण करे।'

आत्मनिवेदन करनेवाले भगवान्‌के अनन्य भक्त होते हैं। वे ब्रह्मपद, इन्द्रपद, चक्रवर्ती राज्य, रसातलका आधिपत्य और योगद्वारा प्राप्त सिद्धियाँ ही नहीं, किन्तु भगवान्‌के सिवा वे कैवल्य मोक्षतककी इच्छा नहीं करते—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १४)

क्योंकि ऐसे भक्तोंको भगवान्‌की परा भक्ति प्राप्त हो जाती है और उन्हें कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं रह जाता। कहा है—

एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते॥

(श्रीमभा० ११। १९। २४)

गीताजीके अन्तमें भगवान्‌ने अर्जुनको शरणागत होनेकी ही आज्ञा की है। शरणागति आत्मनिवेदन ही है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६६)

'सब धर्मोंको त्यागकर तू एक मेरी शरणमें ही आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू सोच मत कर।'

श्रीमद्भागवतमें उद्धवजीके प्रति भी भगवान्‌ने यही कहा है—

मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः॥

(११। १२। १५)

'सब देहधारियोंके आत्मारूप एकमात्र मेरी ही अनन्यभावसे शरणमें आ जा जिससे मेरे द्वारा अकुतोभय हो जायगा।'

शरणागत भक्तके रक्षक भगवान् स्वयं हो जाते हैं। राजा अम्बरीषके प्रसंगमें महर्षि दुर्वासाजीसे भगवान्‌ने कहा है—

ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान्वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६५)

'जो स्त्री, पुत्र, घर, कुटुम्ब, सबसे अधिक प्राण, धन, यह लोक और परलोक सभीको त्यागकर मेरी शरण आ गये हैं, उनकी उपेक्षा मैं किस प्रकार कर सकता हूँ?'

शरणागतके विषयमें तो भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने यहाँतक प्रतिज्ञारूपमें आज्ञा की है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वा० रा० युद्ध० १८। ३३)

'जो एक बार भी मेरी शरणमें आ जाता है और 'मैं तुम्हारा हूँ' इस प्रकारकी प्रार्थना करता है उसको मैं प्राणि-मात्रसे अभयदान दे देता हूँ, यह मेरा व्रत है।'

फिर भला, अनन्यभावसे जो भक्त शरणागत होता है, उसकी तो बात ही क्या?

नवधा भक्तिका विषय अत्यन्त विस्तृत है, इस विषयके अनेक ग्रन्थ हैं। श्रीमद्भागवतमें तो अनेक स्थलोंपर प्रत्येक प्रसंगपर विस्तारके साथ भक्तिका वर्णन है। उसमेंसे प्रायः यहाँ बहुत संक्षिप्तरूपसे दिग्दर्शनमात्र कराया जा सका है। सम्भव है, प्रसंगानुकूल इसमें बहुत कुछ त्रुटियाँ रह गयी हों, उनके लिये मैं क्षमा-प्रार्थी हूँ।

भगवान्‌को जीवन समर्पण करनेवाला चाण्डाल भी ब्राह्मणसे श्रेष्ठ है

श्रीप्रह्लादजी कहते हैं—

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थप्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥

(श्रीमद्भा० ७। ९। १०)

बारह गुणोंसे युक्त किन्तु भगवान्‌के चरणकमलोंसे विमुख ब्राह्मणकी अपेक्षा मैं उस चाण्डालको श्रेष्ठ मानता हूँ, जिसने अपनी वाणी, मन, चेष्टा, धन और प्राण भगवान्‌को समर्पित कर दिये हैं। वह चाण्डाल अपने कुलको पवित्र करता है; परन्तु वह अभिमानी ब्राह्मण अपनेको भी पवित्र नहीं कर सकता।

भक्तिका स्वरूप

अखिलरसामृतमूर्तिः प्रसृमररुचिरुद्धतारकापालिः।
कलितश्यामाललितो राधाप्रेयान् विधुर्जयति॥

चित्तवृत्तिका निरन्तर अविच्छिन्नरूपसे अपने इष्टस्वरूप श्रीभगवान्‌में लगे रहना अथवा भगवान्‌में परम अनुराग या निष्काम अनन्य प्रेम हो जाना ही भक्ति है। भक्तिके अनेक साधन हैं, अनेकों स्तर हैं और अनेकों विभाग हैं। ऋषियोंने बड़ी सुन्दरताके साथ भक्तिकी व्याख्या की है। पुराण, महाभारत-रामायणादि इतिहास और तन्त्र-शास्त्र भक्तिसे भरे हैं। ईसाई मुसलमान और अन्यान्य मतावलम्बी जातियोंमें भी भक्तिकी बड़ी सुन्दर और मधुर व्याख्या और साधना है। हमारे भारतीय शैव, शाक्त और वैष्णव-सम्प्रदाय तो भक्ति-साधनाकी ही जय-घोषणा करते हैं। वस्तुतः भगवान् जैसे भक्तिसे वश होते हैं, वैसे और किसी भी साधनसे नहीं होते। भक्तिकी तुलना भक्तिसे ही हो सकती है। भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु भक्तिके मूर्त्तिमान् दिव्य स्वरूप हैं। उनके अनुयायियोंने भक्तिकी बड़ी ही सुन्दर व्याख्या की है और उसीके आधारपर यहाँ कुछ लिखनेका प्रयास किया जाता है।

जिनके असाधारण सौन्दर्य और माधुर्यने बड़े-बड़े महात्मा, ब्रह्मज्ञानी और तपस्वियोंके मनोंको बरबस खींच लिया; जिनकी सबसे बढ़ी हुई अद्‌भुत, अनन्त प्रभुतामयी पूर्ण ऐश्वर्य-शक्तिने शिव, ब्रह्मातकको चकित कर दिया, उन सबके मूल आश्रयतत्त्व स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके लिये जो अनुकूलतायुक्त अनुशीलन होता है, उसीका नाम भक्ति है। अनुकूलताका तात्पर्य है, जो कार्य श्रीकृष्णको रुचिकर हो, जिससे श्रीकृष्णको सुख हो, शरीर, वाणी और मनसे निरन्तर वही कार्य करना। श्रीकृष्णके लिये अनुशीलन तो कंस आदिमें भी था, परन्तु उनमें उपर्युक्त आनुकूल्य नहीं था। श्रीकृष्णसे यहाँ श्रीराम, नृसिंह, वामन आदि सभी भगवत्स्वरूप लिये जा सकते हैं, परन्तु गौड़ीय वैष्णव भगवान् श्रीकृष्ण-स्वरूपके निमित्त और तत्सम्बन्धिनी अनुशीलनरूपा भक्तिको ही मुख्य मानते हैं।

भक्तिकी उपाधियाँ

भक्तिमें दो उपाधियाँ है—१—अन्याभिलाषिता और २—कर्मज्ञानयोगादिका मिश्रण। इन दोनोंमेंसे जबतक एक भी उपाधि रहती है तबतक प्रेमकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

अन्याभिलाषा—भोग-कामना और मोक्ष-कामनाके भेदसे दो प्रकारकी होती है, और ज्ञान, कर्म तथा योगके भेदसे भक्तिका आवरण तीन प्रकारका होता है। यहाँ ज्ञानसे '**अहं ब्रह्मास्मि**' योगसे भजनरहित हठयोगादि और कर्मसे भक्तिरहित याग-यज्ञादि शास्त्रीय और भोगादिकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले लौकिक कर्म समझने चाहिये। जिस ज्ञानसे भगवान्‌के स्वरूप और भजनका रहस्य जाना जाता है, जिस योगसे चित्तकी वृत्ति भगवान्‌के स्वरूप, गुण, लीला आदिमें तल्लीन हो जाती है और जिस कर्मसे भगवान्‌की सेवा बनती है, वे ज्ञान-योग कर्म तो भक्तिमें सहायक हैं, भक्तिके ही अंग हैं। वे भक्तिकी उपाधि नहीं हैं।

सकाम भक्ति

जिस भक्तिमें भोग-कामना रहती है, उसे सकाम भक्ति कहते हैं। सकाम भक्ति राजसी और तामसी भेदसे दो प्रकारकी है—विषय-भोग, यश-कीर्त्ति, ऐश्वर्य आदिके लिये जो भक्ति होती है, वह राजसी है; और हिंसा, दम्भ तथा मत्सर आदिके निमित्तसे जो भक्ति होती है, वह तामसी है। विषयोंकी कामना रजोगुण और तमोगुणसे ही उत्पन्न हुआ करती है। इस सकाम भक्तिको ही सगुण भक्ति भी कहते हैं। जिस भक्तिमें मोक्षकी कामना है, उसे कैवल्यकामा या सात्त्विकी भक्ति कहते हैं।

उपमा भक्ति

उत्तमा भक्ति चित्स्वरूपा है। उस भक्तिके तीन भेद हैं—साधन-भक्ति, भाव-भक्ति और प्रेम-भक्ति। इन्द्रियोंके द्वारा जिसका साधन हो सकता हो, ऐसी श्रवण-कीर्तनादिका नाम साधन-भक्ति है।

इस साधन-भक्तिके दो गुण हैं—क्लेशघ्नी और शुभदायिनी। क्लेश तीन प्रकारके हैं—पाप, वासना और अविद्या। इनमें पापके दो भेद हैं—प्रारब्ध और अप्रारब्ध। जिस पापका फल मिलना शुरू हो गया है उसे 'प्रारब्ध पाप' और जिस पापका फलभोग आरम्भ नहीं हुआ, उसे 'अप्रारब्ध पाप' कहते हैं। पापका बीज है—'वासना' और वासनाका कारण है 'अविद्या।' इन सब क्लेशोंका मूल कारण है—भगवद्-विमुखता; भक्तोंके संगके प्रभावसे भगवान्‌की सम्मुखता प्राप्त होनेपर क्लेशोंके सारे कारण अपने-आप ही नष्ट हो जाते हैं। इसीसे साधन-भक्तिमें

'सर्वदु:खनाशकत्व' गुण प्रकट होता है।

'शुभ' शब्दका अर्थ है—साधकके द्वारा समस्त जगत्‌के प्रति प्रीति-विधान और सारे जगत्‌का साधकके प्रति अनुराग, समस्त सद्गुणोंका विकास और सुख। सुखके भी तीन भेद हैं—विषयसुख, ब्राह्मसुख और पारमैश्वर सुख! ये सभी सुख साधन-भक्तिसे प्राप्त हो सकते हैं।

भावभक्तिमें अपने दो गुण हैं—'मोक्षलघुताकृत्' और 'सुदुर्लभा'। इनके अतिरिक्त दो गुण—'क्लेशनाशिनी और शुभदायिनी' 'साधन-भक्तिके' इसमें आ जाते हैं। जैसे आकाशके गुण वायुमें और आकाश तथा वायुके गुण अग्निमें—इस प्रकार अगले-अगले भूतोंमें पिछले-पिछले भूतोंके गुण सहज ही रहते हैं, वैसे ही साधन-भक्तिके गुण भाव-भक्तिमें और साधन-भक्तिके तथा भाव-भक्तिके गुण प्रेमभक्तिमें रहते हैं। इस प्रकार भाव-भक्तिमें कुल चार गुण हो जाते हैं और प्रेमभक्तिमें-'सान्द्रानन्दविशेषात्मा' और श्रीकृष्णाकर्षिणी इन दो अपने गुणोंके सहित कुल छ: गुण हो जाते हैं। यह उत्तमा भक्तिके छ: गुण हैं।

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा ॥

(श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु)

१-क्लेशनाशिनी और २-सुखदायिनीका स्वरूप तो ऊपर बतलाया ही जा चुका है।

३-मोक्षलघुताकृत्‌से तात्पर्य है कि यह भक्ति धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य, सार्ष्टि और सायुज्य—पाँच प्रकारकी मुक्ति)—सबमें तुच्छ बुद्धि पैदा करके सबसे चित्त हटा देती है।

४-सुदुर्लभाका अर्थ है—साम्राज्य, सिद्धि, स्वर्ग, ज्ञान आदि वस्तु विभिन्न साधनोंके द्वारा मिल सकते हैं, उनको भगवान् सहज ही दे देते हैं परन्तु अपनी भाव-भक्तिको भगवान् भी शीघ्र नहीं देते। निष्काम साधनोंके द्वारा भी यह सहजमें नहीं मिलती । यह तो उन्हीं भक्तोंको मिलती है, जो भक्तिके अतिरिक्त मुक्ति-भुक्ति सबका निरादर करके केवल भक्तिके-सब कुछ न्यौछावर करके भगवान्‌की कृपापर निर्भर हो रहते हैं।

५-सान्द्रानन्दविशेषात्माका अर्थ है करोड़ों ब्रह्मानन्द भी इस प्रेमामृतमयी भक्ति-सुखसागरके एक कणकी भी तुलनामें नहीं आ सकते। यह अपार और अचिन्त्य प्रेम-सुखसागरमें निमग्न कर देती है।

६-श्रीकृष्णाकर्षिणीका अभिप्राय है कि यह प्रेमभक्ति समस्त प्रियजनोंके साथ श्रीकृष्णको भक्तके वशमें कर देती हैं।

साधन भक्ति

पूर्वोक्त साधन-भक्तिके द्वारा भाव और प्रेम साध्य होते हैं। वस्तुत: भाव और प्रेम नित्यसिद्ध वस्तु हैं, ये साध्य हैं ही नहीं-साधनके द्वारा जीवके हृदयमें छिपे हुए भाव और प्रेम प्रकट हो जाते हैं। साधन-भक्ति दो प्रकारकी होती है—

१-वैधी और २-रागानुगा।

अनुराग उत्पन्न होनेके पहले जो केवल शास्त्रकी आज्ञा मानकर भजनमें प्रवृत्ति होती है, उसका नाम वैधी भक्ति है। भजनके ६४ अंग होते हैं (इनका वर्णन दूसरे लेखमें देखिये)। जबतक भावकी उत्पत्ति नहीं होती, तभीतक वैधी भक्तिका अधिकार है।

व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर श्रीकृष्णमें जो स्वाभाविकी परमाविष्टता अर्थात् प्रेममयी तृष्णा है उसका नाम है राग। ऐसी रागमयी भक्तिको ही रागात्मिका भक्ति कहते हैं।

रागात्मिका भक्तिके भी दो प्रकार हैं—कामरूपा और सम्बन्धरूपा। जिस भक्तिकी प्रत्येक चेष्टा केवल श्रीकृष्णसुखके लिये ही होती है अर्थात् जिसमें काम प्रेमरूपमें परिणत हो गया है, उसीको कामरूपा रागात्मिका भक्ति कहते हैं। यह प्रख्यात भक्ति केवल श्रीगोपीजनोंमें ही है; उनका यह दिव्य और महान् प्रेम किसी अनिर्वचनीय माधुरीको पाकर उस प्रकारकी लीलाका कारण बनता है, इसीलिये विद्वान् इस प्रेम-विशेषको काम कहा करते हैं।

मैं श्रीकृष्णका पिता हूँ, माता हूँ—इस प्रकारकी बुद्धिका नाम सम्बन्धरूपा रागात्मिका भक्ति है।

इस रागात्मिका भक्तिकी जो अनुगता भक्ति है, उसीका नाम रागानुगा है। रागानुगा भक्तिमें स्मरणका अंग ही प्रधान है।

रानानुगा भी दो प्रकारकी है—कामानुगा और सम्बन्धानुगा। कामरूपा रागात्मिका भक्तिकी अनुगामिनी तृष्णाका नाम कामानुगा भक्ति है। कामानुगाके दो प्रकार हैं—सम्भोगेच्छामयी और तत्तद्भावेच्छात्मा। केलि-सम्बन्धी-अभिलाषासे युक्त भक्तिका नाम सम्भोगेच्छामयी है; और यूथेश्वरी व्रजदेवीके भाव और माधुर्यकी प्राप्तिविषयक वासनामयी भक्तिका नाम तत्तद्भावेच्छात्मा है।

श्रीविग्रहके माधुर्यका दर्शन करके या श्रीकृष्णकी

मधुर लीलाका स्मरण करके जिनके मनमें उस भावकी कामना जाग उठती है, वे ही उपर्युक्त दोनों प्रकारकी कामानुगा भक्तिके अधिकारी हैं।

जिस भक्तिके द्वारा श्रीकृष्णके साथ पितृत्व-मातृत्व आदि सम्बन्धसूचक चिन्तन होता है और अपने ऊपर उसी भावका आरोप किया जाता है, उसीका नाम सम्बन्धानुगा भक्ति है।

भाव-शक्ति

शुद्ध सत्त्व विशेषस्वरूप प्रेमरूपी सूर्यकी किरणके सदृश रुचिकी अर्थात् भगवत्प्राप्तिकी अभिलाषा, उनके अनुकूलताकी अभिलाषा और उनके सौहार्दकी अभिलाषाके द्वारा चित्तको स्निग्ध करनेवाली जो एक मनोवृत्ति होती है, उसीका नाम भाव है। भावका ही दूसरा नाम रति है। रसकी अवस्थामें इस भावका वर्णन दो प्रकारसे किया जाता है—स्थायिभाव और सञ्चारी-भाव। इनमें स्थायिभाव भी दो प्रकारका है—प्रेमाङ्कुर या भाव और प्रेम। प्रणयादि प्रेमके ही अन्तर्गत हैं। ऊपर जो लक्षण बतलाया गया है, यह प्रेमाङ्कुर नामक भावका ही लक्षण है। नृत्य-गीतादि सारे अनुभाव इसी भावकी चेष्टा या कार्य हैं। इस प्रकारका भाव भगवान्‌की और उनके भक्तोंकी कृपासे ही प्राप्त होता है, किसी दूसरी साधनासे नहीं। तो भी उसे साध्य-भक्ति बतलानेका भी एक विशेष कारण है। साधन-भक्ति भाव-भक्तिका साक्षात् कारण न होनेपर भी उसका परम्परा कारण अवश्य है। साधन-भक्तिकी परिपक्वता होनेपर ही श्रीभगवान्‌की और उनके भक्तोंकी कृपा होती है और उस कृपासे ही भाव-भक्तिका प्रादुर्भाव होता है। निम्नलिखित नौ प्रीतिके अङ्कुर ही इस भावके लक्षण हैं—

१. **क्षान्ति**—धन-पुत्र-मान आदिके नाश, असफलता, निन्दा और व्याधि आदि क्षोभके कारण उपस्थित होनेपर भी चित्तका जरा भी चंचल न होना।

२. **अव्यर्थ कालत्व**—क्षणमात्रका समय भी सांसारिक विषय-कार्योंमें वृथा न बिताकर मन, वाणी, शरीरसे निरन्तर भगवत्सेवासम्बन्धी कार्योंमें लगे रहना।

३. **विरक्ति**—इस लोकके और परलोकके समस्त भोगोंसे स्वाभाविक ही अरुचि।

४. **मानशून्यता**—स्वयं उत्तम आचरण, विचार और स्थितिसे सम्पन्न होनेपर भी मान-सम्मानका सर्वथा त्याग करके अधर्मका भी सम्मान करना।

५. **आशाबन्ध**—भगवान्‌के और भगवत्प्रेमके प्राप्त होनेकी चित्तमें दृढ़ और बद्ध-मूल आशा।

६. **समुत्कण्ठा**—अपने अभीष्ट भगवान्‌की प्राप्तिके लिये अत्यन्त प्रबल और अनन्य लालसा।

७. **नाम-गानमें सदा रुचि**—भगवान्‌के मधुर और पवित्र नामका गान करनेकी ऐसी स्वाभाविकी कामना कि जिसके कारण नाम-गान कभी रुकता ही नहीं और एक-एक नाममें अपार आनन्दका बोध होता है।

८. **भगवान्‌के गुण-कथनमें आसक्ति**—दिन-रात भगवान्‌के गुण-गान, भगवान्‌की प्रेममयी लीलाओंका कथन करते रहना और ऐसा न होनेपर बेचैन हो जाना।

९. **भगवान्‌के निवासस्थानमें प्रीति**—भगवान्‌ने जहाँ मधुर लीलाएँ की हैं, जो भूमि भगवान्‌के चरण स्पर्शसे पवित्र हो चुकी है, वृन्दावनादि—उन्हीं स्थानोंमें रहनेकी प्रेमभरी इच्छा।

जब उपर्युक्त नौ प्रीतिके अङ्कुर दिखलायी दें, तब समझना चाहिये कि भक्तमें श्रीकृष्णके साक्षात्कारकी योग्यता आ गयी है।

उपर्युक्त लक्षण कभी-कभी किसी-किसी अंशमें कर्मी और ज्ञानियोंमें भी देखे जाते हैं; परन्तु वह भगवान्‌में रति नहीं हैं, रत्याभास है। रत्याभास भी दो प्रकारका होता है—प्रतिबिम्बरत्याभास और छायारत्याभास। गद्‌गद-भाव और आँसू आदि दो-एक रतिके लक्षण दिखलायी देनेपर भी जहाँ भोगकी और मोक्षकी इच्छा बनी हुई है, वहाँ प्रतिबिम्बरत्याभास है; और जहाँ भक्तोंके संगसे कथा-कीर्तनादिके कारण नासमझ मनुष्योंमें भी ऐसे लक्षण दिखलायी देते हैं, वहाँ छायारत्याभास है।

प्रेम-भक्ति

भावकी परिपक्व अवस्थाका नाम प्रेम है। चित्तके सम्पूर्णरूपसे निर्मल और अपने अभीष्ट श्रीभगवान्‌में अतिशय ममता होनेपर ही प्रेमका उदय होता है। किसी भी विघ्नके, द्वारा जरा भी न घटना या न बदलना प्रेमका चिह्न हैं। प्रेम दो प्रकारका है—महिमाज्ञानयुक्त और केवल। विधिमार्गसे चलनेवाले भक्तका प्रेम महिमाज्ञानयुक्त है;

और राग-मार्गपर चलनेवाले भक्तका प्रेम केवल अर्थात् शुद्ध माधुर्यमय है। समताकी उत्तरोत्तर जितनी ही वृद्धि होती है, प्रेमकी अवस्था भी उत्तरोत्तर वैसी ही बदलती जाती है। प्रेमकी एक ऊँची स्थितिका नाम है स्नेह। स्नेहका चिह्न है, चित्तका द्रवित हो जाना। उससे ऊँची अवस्थाका नाम है राग। रागका चिह्न है, गाढ़ स्नेह। उससे ऊँची अवस्थाका नाम है प्रणय। प्रणयका चिह्न है गाढ़ विश्वास। श्रीकृष्णरति-रूप स्थायिभाव विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव और व्यभिचारी भावके साथ मिलकर जब भक्तके हृदयमें आस्वादनके उपयुक्त बन जाता है, तब उसे भक्ति-रस कहते हैं। उपर्युक्त कृष्णरति शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुरके भेदसे पाँच प्रकारकी है। जिसमें और जिसके द्वारा रतिका आस्वादन किया जाता है, उसको विभाव कहते हैं। इनमें जिसमें रति विभावित होती है, उसका नाम है, आलम्बन-विभाव और जिसके द्वारा रति विभावित होती है, उसका नाम है उद्दीपन-विभाव। आलम्बन विभाव भी दो प्रकारका है—विषयालम्बन और आश्रयालम्बन। जिसके लिये रतिकी प्रवृत्ति होती है, वह विषयालम्बन है, और इस रतिका जो आधार होता है, वह आश्रयालम्बन है। इस श्रीकृष्ण-रतिके विषयालम्बन हैं—श्रीकृष्ण और आश्रयालम्बन हैं—उनके भक्तगण। जिनके द्वारा रतिका उद्दीपन होता है, वे श्रीकृष्णका स्मरण करानेवाली वस्त्रालङ्कारादि वस्तुएँ हैं उद्दीपन-विभाव।

नाचना, भूमिपर लोटना, गाना, जोरसे पुकारना, अंग मोड़ना, हुँकार करना, जँभाई लेना, लम्बे श्वास छोड़ना आदि अनुभावके लक्षण हैं। अनुभाव भी दो प्रकारके हैं—शीत और क्षेपण—गाना, जँभाई लेना आदिको शीत; और नृत्यादिको क्षेपण कहते हैं।

सात्त्विक भाव आठ हैं—स्तम्भ (जडता), स्वेद (पसीना), रोमांच, स्वरभंग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय (मूर्छा)—ये सात्त्विक भाव स्निग्ध, दिग्ध और रूक्ष भेदसे तीन प्रकारके हैं। इनमें स्निग्ध सात्त्विकके दो भेद हैं—मुख्य और गौण। साक्षात् श्रीकृष्णके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाला स्निग्ध सात्त्विक भाव मुख्य है और परम्परासे अर्थात् किंचित् व्यवधानसे श्रीकृष्णके सम्बन्धमें उत्पन्न होनेवाला स्निग्ध-सात्त्विक भाव गौण है। स्निग्ध-सात्त्विक भाव नित्यसिद्ध भक्तोंमें ही होता है। जातरति अर्थात् जिनमें प्रेम उत्पन्न हो गया है—उन भक्तोंके सात्त्विक भावको दिग्ध भाव कहते हैं और अजातरति अर्थात् जिसमें प्रेम उत्पन्न नहीं हुआ है, ऐसे मनुष्यमें कभी आनन्द-विस्मयादिके द्वारा उत्पन्न होनेवाले भावको रूक्ष भाव कहा जाता है।

ये सब भाव भी पाँच प्रकारके होते हैं—धूमायित, ज्वलित, दीप्त, उद्दीप्त और सूद्दीप्त। बहुत ही प्रकट, परन्तु गुप्त रखने योग्य एक या दो सात्त्विक भावोंका नाम धूमायित है। एक ही समय उत्पन्न होनेवाले दो-तीन भावोंका नाम ज्वलित है। ज्वलित भावको भी बड़े कष्टसे गुप्त रखा जा सकता है। बढ़े हुए और एक ही साथ उत्पन्न होनेवाले तीन-चार या पाँच सात्त्विक भावोंका नाम दीप्त है, यह दीप्त भाव छिपाकर नहीं रखा जा सकता। अत्यन्त उत्कर्षको प्राप्त एक ही साथ उदय होनेवाले छः, सात या आठ भावोंका नाम उद्दीप्त है। यह उद्दीप्त भाव ही महाभावमें सूद्दीप्त हो जाता है।

इसके अतिरिक्त रत्याभासजनित सात्त्विक भाव भी होते हैं, उनके चार प्रकार हैं। मुमुक्षु पुरुषमें उत्पन्न सात्त्विक भावका नाम रत्याभासज है। कर्मियों और विषयीजनोंमें उत्पन्न सात्त्विक भावका नाम सत्त्वाभासज है। जिनका चित्त सहज ही फिसल जाता है या जो केवल अभ्यासमें लगे हैं, ऐसे व्यक्तियोंमें उत्पन्न सात्त्विक भावको निःसत्त्व कहते हैं। और भगवान्में विद्वेष रखनेवाले मनुष्योंमें उत्पन्न सात्त्विक भावको प्रतीप कहा जाता है।

व्यभिचारी भाव ३३ हैं—निर्वेद, विषाद, दैन्य ग्लानि,श्रम, मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मरण, आलस्य, जाड्य, लज्जा, अनुभाव-गोपन, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, उत्सुकता, उग्रता, अमर्ष, असूया, चपलता, निद्रा, सुप्ति और बोध।

भक्तोंके चित्तके अनुसार इन भावोंके प्रकट होनेमें तारतम्य हुआ करता है। आठ सात्त्विक और तैंतीस व्यभिचारी भावोंकी व्याख्या स्थानाभावसे यहाँ नहीं की जाती है। इन तैंतीस व्यभिचारी भावोंको ही सञ्चारीभाव भी कहते हैं, क्योंकि इन्हींके द्वारा अन्य सारे भावोंकी गतिका सञ्चालन होता है।

अब स्थायिभावकी बात रही। स्थायिभाव सामान्य, स्वच्छ और शान्तादि भेदसे तीन प्रकारका है। किसी रसनिष्ठ भक्तका संग हुए विना ही सामान्य भजनकी परिपक्वताके कारण जिनमें एक प्रकारकी सामान्यरति उत्पन्न हो गयी है, उसे सामान्यस्थायिभाव कहते हैं। शान्तादि भक्तोंके संगसे संगके समय जिनके स्वच्छ चित्तमें संगके अनुसार रति उत्पन्न होती है, उस रतिको स्वच्छ स्थायिभाव कहते हैं और पृथक्-पृथक् रस-निष्ठ भक्तोंकी शान्तादि पृथक्-पृथक् रतिका नाम ही शान्तादि स्थायिभाव है। शान्तादि भाव पाँच प्रकारका है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। इनमें पूर्व-पूर्वसे उत्तर-उत्तर श्रेष्ठ है। इन पाँच रसोंका विस्तृत वर्णन पाठकोंको अन्य लेखोंमें देखना चाहिये। इन पाँच रसोंके अतिरिक्त हास्य, अद्‌भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स- ये सात गौण रस और हैं। भगवान्‌का किसी भी रसके द्वारा भजन हो, वह कल्याणकारी ही है, परन्तु साधनके योग्य आदर्श पाँच मुख्य रस हैं।[१]

साधन-भक्तिके चौंसठ अंग

१-श्रीगुरुके चरण-कमलोंका आश्रय-ग्रहण।

२-श्रीगुरुदेवसे श्रीकृष्ण-मन्त्रकी दीक्षा लेकर भगवद्-विषयमें शिक्षा प्राप्त करना।

३-विश्वासके साथ गुरुकी सेवा करना।

४-साधु-महात्माओंके आचरणका अनुसरण करना।

५-भागवतधर्मके सम्बन्धमें विनयपूर्वक प्रश्न करना।

६-श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिये भोगादिका त्याग करना।

७-द्वारका, अयोध्या आदि भगवान्‌के लीलाधामोंमें और गंगादि तीर्थोंमें रहना।

८-जितने व्यवहारके बिना काम न चले, नियमपूर्वक उतना ही व्यवहार करना।

९-एकादशी, जन्माष्टमी, रामनवमी आदिका उपवास करना।

१०-आँवला, पीपल, तुलसी आदि पवित्र वृक्ष और गौ-ब्राह्मण तथा भक्तोंका सम्मान करना।

ये दस अंग साधन-भक्तिके सहायक हैं; और ग्रहण करने योग्य हैं।

११-भगवद्-विमुख असाधु पुरुषका संग बिलकुल त्याग कर देना।

१२-अनधिकारीको, प्रलोभन देकर या बलपूर्वक किसीको शिष्य न बनाना, अधिक शिष्य न बनाना।

१३-भगवान्‌के सम्बन्धसे रहित आडम्बरपूर्ण कार्योंका आरम्भ न करना।

१४-बहुत-से ग्रन्थोंका अभ्यास न करना, व्याख्या या तर्क-वितर्क न करना। भगवत्सम्बन्धरहित कलाओंको न सीखना।

१५-व्यवहारमें अनुकूलता न होनेपर दीनता न लाना।

१६-शोक, मोह, क्रोधादिके वश न होना।

१७-किसी भी दूसरे देवता या दूसरे शास्त्रका अपमान न करना।

१८-किसी भी प्राणीको उद्वेग न पहुँचाना।

१९-सेवापराध और नामापराधसे सर्वथा बचे रहना।[२]

२०-श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णके भक्तोंके द्वेष और निन्दा आदिको न सह सकना।

इन दस अंगोंके पालन किये बिना साधन-भक्तिका यथार्थ उदय नहीं होता।

२१-वैष्णव-चिह्न धारण करना।

२२-हरिनामाक्षर धारण करना।

२३-निर्माल्य धारण करना।

२४-श्रीभगवान्‌के सामने नृत्य करना।

२५-श्रीभगवान्‌को दण्डवत् प्रणाम करना।

२६-श्रीभगवान्‌की मूर्तिको देखते ही खड़े हो जाना।

---

१. यहाँ बहुत ही संक्षेपमें केवल परिचयमात्र दिया गया है। जिनको विशेष जानना हो वे श्रीरूपगोस्वामीरचित 'हरिभक्ति-रसामृतसिन्धु' और 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक संस्कृत ग्रन्थोंका अध्ययन करें।—सम्पादक

२. सेवापराध और नामापराधका वर्णन इसी अङ्कमें दूसरी जगह देखिये।

२७–श्रीभगवान्‌की मूर्तिके आगे–आगे या पीछे–पीछे चलना।
२८–श्रीभगवान्‌के स्थानों अर्थात् उनके धाम और मन्दिरोंमें जाना।
२९–परिक्रमा करना।
३०–श्रीभगवान्‌की पूजा करना ।
३१–श्रीभगवान्‌की परिचर्या या सेवा करना।
३२–श्रीभगवान्‌की लीला–सम्बन्धी गान करना।
३३–श्रीभगवान्‌के नाम, गुण और लीला आदिका उच्च स्वरसे कीर्तन करना।
३४–श्रीभगवान्‌के नाम और मन्त्रादिका जप करना।
३५–श्रीभगवान्‌के समीप अपनी दीनता दिखलाकर उनके प्रेमके लिये, सेवा प्राप्त करनेके लिये प्रार्थना करना।
३६–श्रीभगवान्‌की स्तुतियोंका पाठ करना।
३७–महाप्रसादका सेवन करना।
३८–चरणामृत पान करना।
३९–धूप और माला आदिका सुगन्ध ग्रहण करना।
४०–श्रीमूर्तिका दर्शन करना।
४१–श्रीमूर्तिका स्पर्श करना।
४२–आरती और उत्सवादिके दर्शन करना।
४३–श्रीभगवान्‌के नाम–गुण–लीला आदिका श्रवण करना।
४४–श्रीभगवान्‌की कृपाकी ओर निरन्तर देखते रहना।
४५–श्रीभगवान्‌का स्मरण करना।
४६–श्रीभगवान्‌के रूप, गुण, लीला और सेवा आदिका ध्यान करना।
४७–सारे कर्म श्रीभगवान्‌को अर्पण करके अथवा उन्हींके लिये सब कर्म करते हुए भगवान्‌का अनन्य दास बन जाना।
४८–दृढ़ विश्वास और प्रीतिके साथ अपनेको श्रीभगवान्‌का सखा मानना।
४९–श्रीभगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण कर देना।
५०–अपनी उत्तम–से–उत्तम और प्यारी–से–प्यारी सब वस्तुएँ भगवान्‌के प्रति निवेदन कर देना।
५१–भगवान्‌के लिये ही सब चेष्टा करना।
५२–सब प्रकारसे सर्वथा श्रीभगवान्‌के शरण हो जाना।
५३–उनकी तुलसीजीका सेवन करना।
५४–उनके शास्त्रोंका सेवन करना।
५५–उनकी पुरियोंका सेवन करना।
५६–उनके भक्तोंका सेवन करना।
५७–अपने वैभवके अनुसार सज्जनोंके साथ मिलकर भगवान्‌का महोत्सव करना।
५८–कार्तिकके व्रत करना।
५९–जन्म और यात्रा–महोत्सव मनाना।
६०–श्रद्धा और विशेष प्रेमके साथ भगवान्‌के चरण–कमलोंकी सेवा करना।
६१–रसिक भक्तोंके साथ मिलकर श्रीमद्‌भागवतके अर्थ और रसका आस्वादन करना।
६२–सजातीय और समान आशयवाले भगवान्‌के रसिक महापुरुषोंका संग करना।
६३–नाम–सङ्कीर्तन करना
और
६४–व्रज–मण्डलादि मधुर लीलाधामोंमें वास करना।

हरिनाम–उच्चारणका फल

विष्णुदूत कहते हैं—

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा। वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥
पतितः स्खलितो भग्नः संदष्टस्तप्त आहतः। हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम्॥

(श्रीमद्‌भा० ६। २। १४-१५)

भगवान्‌का नाम चाहे जैसे लिया जाय, किसी बातका सङ्केत करनेके लिये, हँसी करनेके लिये, रागका अलाप पूरा करनेके लिये, अथवा तिरस्कारपूर्वक ही क्यों न हो, वह सम्पूर्ण पापोंको नाश करनेवाला होता है। पतन होनेपर, गिरनेपर, कुछ टूट जानेपर, डँसे जानेपर, बाह्य या आन्तर ताप होनेपर और घायल होनेपर जो पुरुष विवशतासे भी 'हरि' यह नाम उच्चारण करता है वह यम–यातनाके योग्य नहीं।

सेवापराध और नामापराध

सेवापराध

१-सवारीपर चढ़कर अथवा पैरोंमें खड़ाऊँ पहनकर श्रीभगवान्‌के मन्दिरमें जाना।

२-रथ-यात्रा, जन्माष्टमी आदि उत्सवोंका न करना या उनके दर्शन न करना।

३-श्रीमूर्त्तिके दर्शन करके प्रणाम न करना।

४-अशौच-अवस्थामें दर्शन करना।

५-एक हाथसे प्रणाम करना।

६-परिक्रमा करते समय भगवान्‌के सामने आकर कुछ न घूमकर फिर परिक्रमा करना अथवा केवल सामने ही परिक्रमा करते रहना।

७-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने पैर पसारकर बैठना।

८-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने दोनों घुटनोंको ऊँचा करके उनको हाथोंसे लपेटकर बैठ जाना।

९-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने सोना।

१०-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने भोजन करना।

११-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने झूठ बोलना।

१२-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने जोरसे बोलना।

१३-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने आपसमें बातचीत करना।

१४-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने चिल्लाना।

१५-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने कलह करना।

१६-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने किसीको पीड़ा देना।

१७-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने किसीपर अनुग्रह करना।

१८-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने किसीको निष्ठुर वचन बोलना।

१९-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने कम्बलसे सारा शरीर ढक लेना।

२०-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने दूसरेकी निन्दा करना।

२१-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने दूसरेकी स्तुति करना।

२२-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने अश्लील शब्द बोलना।

२३-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने अधोवायुका त्याग करना।

२४-शक्ति रहते हुए भी गौण अर्थात् सामान्य उपचारोंसे भगवान्‌की सेवा-पूजा करना।

२५-श्रीभगवान्‌को निवेदन किये विना किसी भी वस्तुका खाना-पीना।

२६-जिस ऋतुमें जो फल हो, उसे सबसे पहले श्रीभगवान्‌को न चढ़ाना।

२७-किसी शाक या फलादिके अगले भागको तोड़कर भगवान्‌के व्यञ्जनादिके लिये देना।

२८-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहको पीठ देकर बैठना।

२९-श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने दूसरे किसीको भी प्रणाम करना।

३०-गुरुदेवकी अभ्यर्थना, कुशल-प्रश्न और उनका स्तवन न करना ।

३१-अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करना।

३२-किसी भी देवताकी निन्दा करना।

श्रीवाराह-पुराणके ३२ सेवापराधोंका वर्णन नीचे लिखे अनुसार किया गया है—

१-राजाके अन्नका भक्षण करना।

२-अँधेरेमें श्रीविग्रहका स्पर्श करना।

३-नियमोंको न मानकर श्रीविग्रहका स्पर्श करना।

४-बाजा या ताली बजाये विना ही श्रीमन्दिरके द्वारको खोलना।

५-अभक्ष्य वस्तुएँ निवेदन करना।

६-पादुकासहित भगवान्‌के मन्दिरमें जाना।

७-कुत्तेकी जूँठन स्पर्श करना।

८-पूजा करते समय बोलना।

९-पूजा करते समय मलत्यागके लिये जाना।

१०-श्राद्धादि किये बिना नया अन्न खाना।

११-गन्ध और पुष्प चढ़ानेके पहले धूप देना।

१२-निषिद्ध पुष्पोंसे भगवान्‌की पूजा करना।

१३-दँतवन किये विना भगवान्‌के श्रीविग्रहकी पूजा या उनका स्पर्श करना।

१४-स्त्री-सम्भोग करके भगवान्‌के श्रीविग्रहकी पूजा या उनका स्पर्श करना।

१५-रजस्वला स्त्रीका स्पर्श करके ” ”

१६-दीपका स्पर्श करके ” ”

१७-मुर्देका स्पर्श करके ” ”

१८-लाल वस्त्र पहनकर ”

१९-नीला वस्त्र पहनकर ”

२०–बिना धोया हुआ वस्त्र पहनकर भगवान्‌के श्रीविग्रहकी पूजा या उनका स्पर्श करना।
२१–दूसरेका वस्त्र पहनकर " "
२२–मैला वस्त्र पहनकर " "
२३–शवको देखकर " "
२४–अधोवायुका त्याग करके " "
२५–क्रोध करके " "
२६–श्मशानमें जाकर " "
२७–खाया हुआ अन्न पचनेसे पहले खाकर "
२८–पशुओंका मांस खाकर " "
२९–पक्षियोंका मांस खाकर " "
३०–गाँजा आदि मादक द्रव्योंको सेवन करके " "
३१–कुसुम्ब साग खाकर " "
और
३२–शरीरमें तैल मलकर " "

गंगास्नान करनेसे, यमुनास्नान करनेसे, भगवान्‌की सेवा करनेसे, प्रतिदिन गीताका पाठ करनेसे , तुलसीके द्वारा श्रीशालग्रामजीकी पूजा करनेसे, द्वादशीके दिन जागरण करके तुलसीका स्तवन करनेसे, भगवान्‌की पूजा करनेसे और भगवान्‌के नामका आश्रय लेकर नाम-कीर्त्तन करनेसे सेवापराध छूट जाता है। भगवान्‌के नामसे सारे अपराधोंकी क्षमा हो जाती है। श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

मम नामानि लोकेऽस्मिञ्छ्रद्धया यस्तु कीर्त्तयेत्।
तस्यापराधकोटीस्तु क्षमाम्येव न संशयः॥

'इस संसारमें जो श्रद्धापूर्वक मेरे नामोंका कीर्त्तन करता है, मैं उसके करोड़ों अपराधोंको क्षमा कर देता हूँ, इसमें कोई सन्देह नहीं हैं।'

नामापराध

१–सत्पुरुषोंकी निन्दा करना।
२–शिव और विष्णुके नामोंमें ऊँच-नीचकी कल्पना करना।
३–गुरुका अपमान करना।
४–वेदादि शास्त्रोंकी निन्दा करना।
५–'भगवान्‌के नामकी जो इतनी महिमा कही गयी है, यह केवल स्तुतिमात्र है, असलमें इतनी महिमा नहीं है।' इस प्रकार भगवान्‌के नाममें अर्थवादकी कल्पना करना।
६–'भगवान्‌के नामसे पापोंका नाश होता ही है, पाप करके नाम लेनेसे पाप नष्ट हो ही जायँगे, पाप हमारा क्या कर सकते हैं?' इस प्रकार भगवान्‌के नामका आश्रय लेकर नामके बलपर पाप करना।
७–यज्ञ, तप, दान, व्रत आदि शुभ कर्मोंको नामके समान मानना।
८–श्रद्धारहित और सुनना न चाहनेवाले व्यक्तिको उपदेश करना।
९–नामकी महिमा सुनकर भी नाममें प्रीति न करना।
और
१०–'मैं' और 'मेरे'के फेरमें पड़कर विषय-'भोगोंमें' आसक्त होना।

ये दस नामापराध हैं। नामापराधसे भी छुटकारा नामके जप-कीर्त्तनसे ही मिलता है।

नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम्।
अविश्रान्तप्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि च॥

'नामापराधयुक्त पुरुषोंका पाप नाम ही हरण करता है और निरन्तर कीर्त्तन किये जानेपर वह सारे मनोरथोंको पूरा करता है। '

जीवोंका परम धर्म क्या है?

यमराज अपने दूतोंसे कहते हैं—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः। भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः॥
नामोच्चारणमाहात्म्यं हरेः पश्यत पुत्रकाः। अजामिलोऽपि येनैव मृत्युपाशादमुच्यत॥
एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां सङ्कीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम्।
विक्रुश्य पुत्रमघवान्यदजामिलोऽपि नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम्॥

(श्रीमद्भा० ६।३।२२—२४)

इस संसारमें जीवोंका इतना ही परम धर्म है—भगवान्‌के नामोच्चारण आदिके द्वारा भगवान्‌में परमभक्ति करना। हे दूतो! भगवान्‌के नामोच्चारणकी महिमा साक्षात् आँखोंसे देख लो कि जिससे अजामिल भी मृत्युपाशसे छूट गया। भगवान्‌के गुण, लीला और नामोंका कीर्तन, बस, इतना ही जीवोंके पापनाशके लिये पर्याप्त है। क्योंकि पापी अजामिल भी मरते समय 'नारायण' इस नामसे अपने पुत्रको पुकारकर मुक्तिको प्राप्त हुआ। (फिर जो पुण्यात्मा हैं—जीवनमें श्रद्धा-भक्तिसे भगवान्‌का नाम लेते हैं उनका तो कहना ही क्या है?)

अटपटा साधन—प्रेम

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

नातजुरबेकारी[1] से वाइज[2] की हैं ये बातें!
इस रंग को क्या जाने पूछो तो कभी पी है!!
उस मय[3] से नहीं मतलब दिल जिस से है बेगाना!
मक़सूद[4] है उस मय से दिल ही में जो खिंचती है!!

—अकबर

साध्य एक है—साधन अनेक; पर सबसे बड़ी कमी है साधकोंकी। मार्ग बतानेवालोंकी कमी नहीं, कमी है मार्गपर चलनेवालोंकी। नेता और उपदेशकोंका टोटा नहीं, टोटा है तो उनके उपदेशोंको मानकर बताये हुए पथपर चलनेवालोंका। मज़ा तो यह है कि जो मार्ग बताते हैं, वे स्वयं ही उस मार्गपर नहीं चलते। '**आपु न जावे सासुरे औरन को सिख देइ**'! वाली मसल है। भगवद्भक्तिके मार्गका भी ऐसा ही हाल है। इस ओर भी धर्मोपदेशकोंकी कमी नहीं। साधन बतानेवालोंका टोटा नहीं। फिर भारतकी तो बात ही क्या कही जाय। यहाँकी तो गली-गलीमें वेदान्त बिखरा पड़ा है। यहाँके वज्रमूर्ख भी जगत्‌की नश्वरता, आत्माकी अमरता और भोगोंकी अस्थिरतापर घंटों विवाद कर सकते हैं। आजके इन उपदेशकोंकी भीड़में तुलसी और कबीर, मीरा और सूरदास, नरसी और रैदास, चैतन्य और नामदेव, रामकृष्ण और रामतीर्थ, विवेकानन्द और अरविन्द-जैसे साधक कितने हैं? अरे, दालमें नमक बराबर भी तो नहीं। और वास्तवमें बात तो यह है कि सच्चे साधक तो उपदेश और प्रचारसे सर्वथा परे रहते हैं। यह दूसरी बात है कि उनके मुखोंसे यदा-कदा निकली पावन वाणीका लोग इस कार्यके लिये उपयोग कर लें; पर वे स्वत: इसके लिये सचेष्ट रहते हों, ऐसा प्राय: देखनेमें नहीं आता। कहा ही है कि—

जो जानै सो कहै नहिं, कहै सो जानै नाहिं।

अधभरी गगरी ही अधिक छलका करती है, भरी नहीं। प्रेमानन्दमें विभोर रहनेवालेको, ज्ञानानन्दसे आकण्ठ परिपूर्ण रहनेवालोंको तो यह चिन्ता रहती ही नहीं कि कोई अन्य व्यक्ति जाने कि वे कितने गहरेमें हैं? उन्हींकी अवस्थाका परिचय देते हुए कबीर कहते हैं—

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले?
हीरा पायो गाँठ गठियायो।
बार बार वाको क्यों खोले॥ १॥
हलकी थी तब चढ़ी तराजू।
पूरी भई तब क्यों तोले॥ २॥
सुरत कलारी भइ मतवारी।
मदवा पी गई बिन तोले॥ ३॥
हंसा पाये मान सरोवर।
ताल तलैया क्यों डोले॥ ४॥

पर जो हो, हमारी आध्यात्मिक भूख मिटानेके लिये तो कुछ-न-कुछ चाहिये ही। हमारे अन्तरकी तीव्र पिपासा तो मिटनी ही चाहिये। वह पिपासा एक-दो दिनकी पिपासा तो है नहीं। वह है न जाने कितने जन्म-जन्मान्तरोंकी। सहज ही वह मिट जाय, यह आशा करना तो व्यर्थ ही है। यह अवश्य है कि मृगतृष्णाके जलसे वह कुछ देर बहला भले ही रखी जाय। पर ऐसा बहलाना कबतक काम देगा?

अन्तरकी पिपासा जब हमारे भीतर जाग्रत् होती है तो हम व्याकुल हो उठते हैं उसे शान्त करनेके लिये। परन्तु उस समय न तो हमारा जाना हुआ मार्ग होता है और न उस मार्गपर जानेका साधन। उस समय जो लोग हमारे पथ-प्रदर्शकके रूपमें हमारे सम्मुख आते हैं, वे बेचारे स्वयं ही पथ नहीं जानते और इसका अवश्यम्भावी परिणाम यह होता है कि वे आप तो डूबते ही हैं, साथमें हमें भी ले डूबते हैं। हम अन्धकारमें ही टटोलते रह जाते हैं और वर्षोंके परिश्रमके उपरान्त भी अपनेको उसी स्थानपर खड़ा पाते हैं, जहाँसे हमने आगे चलना आरम्भ किया था। कारण? कारण स्पष्ट है। पहला तो यह कि हमारी पिपासाकी तीव्रतामें कमी और दूसरा उचित साधनका अज्ञान। तीव्रतामें कमी इसलिये कि उसके तीव्र होनेपर व्यर्थ ही इधर-उधर भटकनेकी कम गुंजाइश रहती है और प्रलोभन मार्गमें किसी भाँतिकी बाधा डालनेमें समर्थ नहीं हो पाते और उचित साधनका अज्ञान तो रहता ही है। जब पथ-प्रदर्शक ही पथभ्रान्त हैं तब उचित साधन ही कैसा? जब वे ही अन्धकारमें टटोल रहे हैं तो हमें प्रकाश कहाँसे मिलेगा?

और फिर, माना कि हमारी आध्यात्मिक भूख

१. अनुभवहीनता, २.उपदेशक, ३.शराब, ४.लक्ष्य, उद्देश्य।

भली प्रकार जाग्रत् हो पड़ी है और हमें साधन भी ज्ञात हो गया है, तथा हम उसपर चलने लगे हैं। किन्तु जब हम देखते हैं कि इस मार्गपर चलते हमें इतना समय बीत गया और कुछ भी सिद्धि नहीं मिली तो हमारी साधनपरसे श्रद्धा विचलित हो उठती है और बस, हम गिर जाते हैं। हम सर्वथा भूल बैठते हैं, कि—

साधनाये सिद्धि लाभ एके दिन नाहिं हय,
श्रमेर साफल्य आछे ऐ जगते सुनिश्चय।
सुदिन होले आगत पूर्ण हवे मनोरथ,
सद्यः जात तरु शाखा फुटे ना कुसुमभार।
समये दिबेन प्रभु श्रम योग्य पुरस्कार॥

समय आनेपर श्रमका पुरस्कार मिलेगा ही। अत: साधनाके पथमें हताश होनेकी बात होती ही नहीं, परन्तु हम तो चाहते हैं कि हमें आनन-फानन फल मिले। थोड़ा-सा भी विलम्ब न लगे। भाँति-भाँतिके प्रलोभन भी आकर हमारा मार्ग रोकने लगते हैं और हम इस मार्गकी बाधाओंसे अनभिज्ञ होनेके कारण उनपर विजय न प्राप्त कर पथ-भ्रान्त हो जाते हैं।

योग, यज्ञ, तप, व्रत, दान, होम आदि-आदि न जाने कितने साधन हैं प्रभु-प्राप्तिके। सभीके द्वारा भक्त और ज्ञानी उनके सन्निकट पहुँचे हैं। भक्तोंकी पावन गाथाएँ पुकार-पुकारकर इसकी दुहाई पीट रही हैं, परन्तु आज हम इन सब साधनोंको अत्यन्त ही कष्टसाध्य पाते हैं। दूरकी बात ही क्यों, समीपकी ही ले लीजिये। कोई छोटा-मोटा पाठ या अनुष्ठान आरम्भ करते ही न जाने कितनी झंझटें हमारे सम्मुख आ उपस्थित होती हैं। फलस्वरूप हम या तो उन्हें अधूरा छोड़कर बैठे रहते हैं और यदि पूरा भी करते हैं तो ऐसे मानो इतना सबक हमें किसी-न-किसी तरह दोहरा ही जाना है। भला, कहीं इस प्रकारसे भगवत्प्राप्ति हुआ करती है? कौड़ी देकर कहीं हीरा खरीदा जाता है? उस सच्चे पारखीकी भी आँखोंमें किसी भाँति धूल झोंकी जा सकती है? इस तरह यदि बेगार काटनेसे चला करता या तोते-जैसे पाठसे अनुपम फलकी प्राप्ति हुआ करती तो जगन्नियन्ताको और किसी नामसे भले ही पुकार लिया जा सकता था, उसे न्यायकारी और कर्मानुसार फल देनेवाला तो कभी भी न कहा जाता। वह न्यायाधीश ही कब कहला सकता है जिसके दरबारमें अन्याय होता है? यह सब सोचकर यही जीमें आता है कि कोई साधन ऐसा होता जो कष्टसाध्य भी न होता और उससे अपना मतलब भी हल हो जाता। परेशानी भी न होती और काम भी चलता। तमाम तूमार भी न बाँधना होता और उद्देश्यमें सफलता भी प्राप्त होती।

हताश होनेकी बात नहीं। सच्चे साधकोंने ऐसा मार्ग भी खोज निकाला है। उस मार्गका नाम है—प्रेम। सरल-से-सरल होनेपर भी वह बड़ा ही अटपटा मार्ग है।

इस मार्गके कुछ पथिकोंका अनुभव भी सुन लीजिये। एक साहब फरमा रहे हैं—

कूचए इश्कमें 'अहसान' सँभलकर चलना,
हज़रते खिज्र भी भूले हैं ठिकाना अपना!

दूसरे साहब कहते हैं—

इश्क़की चोट कलेजे पै न खाये कोई,
जान से जाये मगर दिल न लगाये कोई!

तीसरे साहबका अनुभव है—

अल्लाह इश्क भी है कोई ऐसी मासियत,
एक आग सी लगी है दिले बेक़रार में।

चौथे साहबका कहना है—

ये वो शै है कि न बात इससे करे,
संखिया खाके मरे, इस को ज़बां पर न धरे!

हमारे बोधा कवि भी ऐसा ही कुछ गुनगुना रहे हैं—
यह प्रेम को पंथ कराल महा, तलवार की धार पै धावनो है।

कुछ औरोंकी बानगी इस प्रकार है—

सीस काटिके भुँइ धरै ता पर राखे पाँव।
इश्क़ चमन के बीचमें ऐसा हो तो आव॥
प्रेम पंथ अति ही कठिन सब पै निबहत नाहिं।
चढ़िके मोम तुरंग पै चलिबो पावक माहि॥
'नारायण' प्रीतम निकट सोई पहुँचनहार।
गेंद बनावै सीस की खेलै बीच बजार॥

यह सब होनेपर भी अनुभवियोंका यही कहना है कि—

प्रेम बराबर योग नहिं, प्रेम बराबर ध्यान।
प्रेम भक्ति बिन साधना, सब ही थोथा ज्ञान॥

प्रेम-पथकी गहनता, गुरुता और गम्भीरताको स्वीकार करते हुए भी प्रेमीलोग इस बातके क़ायल हैं कि चाहे कुछ क्यों न हो जाय पर किया तो प्रेम ही जाय! उनका तो बार-बार यही कहना है कि—

कोई लज्जत नहीं है फिर भी दुनिया जान देती है,
ख़ुदा जाने मुहब्बतमें मज़ा होता तो क्या होता!

पर उनका ऐसा कहना भी अर्थ रखता है और वह यह कि मुहब्बत वास्तवमें बड़ी ही मज़ेदार चीज़ है। उसमें मज़ा है और इतना गहरा मज़ा है कि सारी दुनिया उसके पीछे पागल बनी फिरती है। जिधर देखिये उधर ही प्रेमका राग छिड़ा है। प्रेमकी महिमा अपार और अनन्त है। उसकी एक छोटी-सी भी झाँकी हमारा मन मुग्ध कर लेती है और हमें बरबस उसकी अलौकिक सत्ताको स्वीकार कर लेना पड़ता है माताके कलेजेका रक्त बच्चेके लिये श्वेत दूधके रूपमें परिवर्तित हो जाता है, क्यों—कभी सोचा है? शायद नहीं। यह उसके अन्तस्तलका प्रेम ही है जिसके कारण ऐसा होता है। एक-दो नहीं सैकड़ों ऐसे उदाहरण प्रतिदिन हमारे नेत्रोंके सम्मुखसे निकलते हैं जो प्रेमकी महिमाको हमारे सामने स्पष्ट कर जाते हैं और हमसे पुकार-पुकारकर कहते हैं—मूर्ख! तू भी प्रेमका दीवाना बन। जीवनका एकमात्र सार प्रेममें ही है। निष्प्रेम रहकर तेरे जीवनका कोई मूल्य ही नहीं। तेरे हृदयमें यदि प्रेम न होगा तो तुझे कोई कौड़ी-मोल भी न पूछेगा। और सचमुच, इस जगत्‌में है ही ऐसा कौन जो प्रेमकी सत्ताको स्वीकार न करे? लौकिक प्रेम ही जब इतना मनमुग्धकर है तब पारलौकिककी तो बात ही क्या कही जाय? जिस प्रेममें वासनाका थोड़ा-सा भी पुट रहता है वह निकृष्ट श्रेणीका प्रेम समझा जाता है। उसमें वह मज़ा नहीं रहता जो सच्चे प्रेममें रहना चाहिये। पर सच्चे प्रेमके तो दर्शन भी दुर्लभ हैं। हम लौकिक प्रेमसे ही पारलौकिक प्रेमके आनन्दकी कल्पना कर सकते हैं। और उसके लिये इतना सोच लेना ही यथेष्ट है कि उसकी बदौलत सब कुछ सम्भव है। इतनेमें ही सब कुछ आ जाता है। प्रभुके चरणारविन्दोंतक पहुँचनेके लिये योगी और यति, महात्मा और ऋषि अनन्तकालीन साधनामें निरत रहे और उन्हें प्राप्त करना अत्यन्त ही दुरूह बताते रहे, परन्तु आँखें तो तब खुलीं जब देखा कि अरे, वही प्रभु जिसके लिये हम ऐसा कहते हैं—

ताहि अहीरकी छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं!

फिर तो उन्हें झख मारकर स्वीकार करना पड़ा कि—

ब्रह्म मैं ढूँढ़्यो पुरानन गायन, वेद रिचा पढ़ी चौगुने चायन।
देखो सुनो न कहूँ कबहूँ वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
ढूँढ़त ढूँढ़त ढूँढ़ि फिर्‌यो 'रसखानि' बतायो न लोग लुगायन।
देख्यो, दुर्‌यो वह कुंज कुटीरन, बैठ्यो पलोटत राधिका पायन॥

देखा आपने? हज़रत मिले भी तो कहाँ? और जनाब ड्यूटी कौन-सी अदा कर रहे थे? श्रीमती राधारानीकी चरणसेवामें तल्लीन थे! है न ये चक्करमें डाल देनेवाली बात? अरे, वे बेचारे तो टापते ही रह गये जो बरसोंसे जप, तप, नियम, उपवासमें लगे थे और बाज़ी मार ले गयीं राधारानी! राधारानीमें ऐसे कौन-से सुरख़ाबके पर लगे थे कि श्रीमान्‌जी उनकी तरफ तो इतने झुक गये कि पैर पलोटने लगे और इन लोगोंसे सीधे मुँह बात करना तो दर किनार एक बार अपनी झाँकीतक न दिखायी? है न सरासर अन्धेर—परन्तु बात तो यह है कि—

हम आह भी करते हैं तो हो जाते हैं बदनाम,
वह ज़ुल्म भी करते हैं तो चरचा नहीं होती!

उनकी दयादृष्टि जिसपर पड़ जाय उसके सौभाग्यका क्या कहना! और यह दयादृष्टि डालना एकबारगी ही उनकी मर्जीपर है। जिसे चाहें निहाल कर दें और जिससे चाहें मुँह फेर लें। ऐसा सोचकर हम उन्हें मनमौजी भले ही कह लें, परन्तु वास्तवमें बात यह है कि प्रेम-अस्त्रके सामने उनकी भी कोई दाल नहीं गलती। और सारे अस्त्र निरर्थक हो जाते हैं, परन्तु प्रेम-अस्त्रका वार चूक जाय—यह असम्भव है। और उसके बलपर श्रीमान्‌जीसे चाहे जैसा ठुमका नाच नचवा लीजिये। विना किसी ननु-नचके आप सब कुछ करनेको तैयार हो जायँगे। तभी तो इसीकी बदौलत—

वेद भेद जाने नहीं नेति नेति कहै बैन।
ता मोहन पै राधिका कहै महावरु दैन॥

शायद आप पूछ बैठें कि यह प्रेम मिले कैसे? इस साधनको उपलब्ध करनेका उपाय क्या है तो उसके लिये ग़ालिब साहब साफ कह गये हैं कि—

इश्क पर जोर नहीं है ये वा आतिश 'गालिब',
जो लगाये न लगे और बुझाये न बुझे!

यह आग तो दिलमें अपने-आप पैदा होती है। है तो सभीके दिलके भीतर परन्तु उसपर राख पड़ी हुई है—सांसारिक मायामोहकी, अज्ञान और अविद्याकी, विषय-भोगों और भाँति-भाँतिके प्रलोभनोंकी। यह राख फूक दी जाय तो प्रेमका दहकता हुआ अँगारा निकल आये! फिर तो पूछनेकी भी जरूरत न रहे कि क्या करना है और किधर जाना है। तब तो स्वतः ही प्रेमका यह तीव्र

उद्रेक होगा कि सब कुछ भूलकर एकमात्र प्रियतमका ही आठ पहर चौसठ घड़ी ध्यान रहेगा। उसीका स्मरण होगा और उसीका चिन्तन। हृदयमें वह तीव्र बेचैनी उत्पन्न हो जायगी जो प्रेमियोंकी एकमात्र बपौती है। उसके आगे तो कुछ कहना रह ही नहीं जाता। वह प्रेमानन्दका अलौकिक आनन्द, वह प्रेम-विह्वलता, वह प्रेमाश्रुओंका अविरल प्रवाह सबके भाग्यमें नहीं होता। उसे प्राप्त तो कोई भी कर सकता है पर सच्चे दिलसे उसके लिये कोई सचेष्ट भी तो हो! सब कुछ भूलकर कोई उस अलबेले प्रियतमको पानेके लिये छटपटाये भी तो। सच्चे दिलसे उसके लिये रोये भी तो! फिर यह हो नहीं सकता कि उसका रुदन व्यर्थ जाय—उसकी पुकार सुनी जायगी और अवश्य सुनी जायगी और—

ज़ल्वए इश्क़ सलामत है तो इंशा अल्लाह,
कच्चे धागेमें चले आयँगे सरकार बँधे॥

यह ध्रुव सत्य है।

वर्णाश्रमसाधनका तत्त्व

(लेखक—प्रोफेसर श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, एम० ए०)

अनन्त विषमताओंसे भरे इस प्राकृत जगत्‌के अन्यान्य प्राणियोंकी भाँति ही मनुष्य भी शक्ति, ज्ञान, रुचि और संस्कारोंकी विचित्रताओंको लेकर ही जन्म-ग्रहण करता है। उसके बाहर भी विचित्रता है और अंदर भी विचित्रता है। जागतिक विचित्रताके साथ संयोग-वियोग होनेके कारण उसके जीवनमें भी विचित्रताएँ फूट निकलती हैं। वह अपने अंदर विचित्र अभावोंकी प्रताड़ना, विचित्र प्रयोजनोंकी प्रेरणा, विचित्र भावोंकी लहरियाँ और विचित्र आदर्शोंके आकषर्णका अनुभव करता है। वह अपने जीवनपथमें जितना ही अग्रसर होता है, उतना ही अपनी व्यक्तिगत विशिष्टता और दूसरोंके साथ अपनी पृथकताकी उपलब्धि करता रहता है। मनुष्य केवल दूसरे प्राणियोंसे ही अपनी पृथक्ताका अनुभव करता हो, इतनी ही बात नहीं है। मनुष्यके साथ भी मनुष्यके असंख्य प्रकारके भेद हैं! उनमें शक्तिका भेद है, । बुद्धिका भेद है, स्वार्थका भेद है और अवस्थाका भेद है। इन सब भेदोंके कारण मनुष्योंका परस्पर संघर्ष अनिवार्य हो जाता है। प्रत्येक मनुष्यको मानो अनवरत संग्राम करते हुए ही इस जगत्‌में अपनी जीवन-रक्षा और स्वार्थ-साधन करना पड़ता है।

जो मनुष्य प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्वितामें विशेष दक्ष नहीं है, उसके लिये मानो इस संसारमें आत्मरक्षा करनेका कोई उपाय ही नहीं है। इसीलिये मनुष्यके जीवनपथमें स्वाभाविक ही हिंसा, द्वेष, घृणा और भय आदि अनिवार्यरूपमें प्रकट होते रहते हैं। इसीलिये मानव-जातिमें अशान्तिका कभी अभाव नहीं होता। जिस स्वार्थ-सिद्धिके लिये मनुष्य सदा वैर मोल लेनेको तैयार रहता है, उस स्वार्थका भी प्रतिक्षण नाश होता रहता है। जगत्‌में दु:ख और अतृप्तिसे रहित पूर्ण सुखभोग और आत्मतृप्ति किसीको भी नसीब नहीं होती। लगातार युद्ध करने और नये-नये युद्धोंकी तैयारी करनेमें ही जीवन बीत जाता है। इस युद्धके लिये ही मनुष्य सङ्घ बनाता है, भाँति-भाँतिके दाव-पेचोंका जाल फैलाना सीखता है, नये-नये अस्त्र शस्त्र और कल-कारखानोंका आविष्कार करता है और प्रकृतिकी शक्तियोंपर अधिकार जमाकर उनको भी युद्धके साधन बना लेता है। इसीके परिणामस्वरूप युद्धकी भीषणता क्रमश: बढ़ती ही जाती है। व्यक्तिके साथ व्यक्तिका संग्राम तो चलता ही है; वही और भी भयङ्कर रूप धारण करके जातिके साथ जातिके, सम्प्रदायके साथ सम्प्रदायके और श्रेणीके साथ श्रेणीके युद्धके रूपमें परिणत होकर संसारको श्मशान बना देनेके लिये तैयार हो जाता है। इतना होते हुए भी मनुष्यके प्राण इस वैर-विरोध और संग्रामकी स्थितिको कभी पसंद नहीं करते। वे सदा-सर्वदा शान्तिके लिये, तृप्तिके लिये, अपने अंदरकी पूर्णताको प्राप्त करनेके लिये और सबके साथ प्रेमका सम्बन्ध जोड़नेके लिये व्याकुल रहते हैं।

मनुष्य जब कभी अपने अन्तरात्माकी ओर देखता है, तभी उसे यह वाणी सुनायी पड़ती है कि 'संग्रामके द्वारा जीवनकी सार्थकता सम्भव नहीं है,—प्रकृतिके द्वारा युद्धके लिये खींचे जानेपर भी युद्धसे छुटकारा पाना ही उसके जीवनका आदर्श है,—प्राकृत जगत्‌में जीवन-संग्राम एक स्वाभाविक विधान होनेपर भी वह इस संग्रामसे ऊपर उठकर शान्तिमय राज्यमें निवास करनेका अधिकारी है। अन्तरात्माके अंदर यह शान्ति, तृप्ति, समता और प्रेमका आदर्श नित्य निहित है—यही कारण है कि मनुष्यको

संग्राम-क्षेत्रमें भी शान्तिके वचन सुनाने पड़ते हैं, हिंसावृत्तिको चरितार्थ करते समय भी यह घोषणा करनी पड़ती है कि इसमें उसका उद्देश्य शान्ति, प्रेम न्याय और साम्यकी स्थापना करना ही है। वस्तुतः मनुष्य-जीवनमें अन्तरात्माके आदर्श और बाह्य प्रकृतिकी प्रताड़नामें एक द्वन्द्व—झगड़ा सदासे ही चला आ रहा है। मनुष्यका अन्तरात्मा प्राकृत जगत्के इस संग्रामको आत्यन्तिक सत्य माननेके लिये कभी राजी नहीं होता।

मनुष्यके अन्तरात्माका यह दावा है कि मनुष्यको अपनी साधनाके द्वारा सब प्रकारके भेद, द्वन्द्व-कलह और युद्धोंके स्तरको लाँघकर शान्तिमय, सौन्दर्यमय और कल्याणमय अभेद-राज्यमें पहुँचना और वहाँ अपनेको प्रतिष्ठित करना पड़ेगा। भेदमें अभेदकी प्रतिष्ठा, विषमतामें समताकी प्रतिष्ठा, द्वन्द्वमय जगत्में शान्तिकी प्रतिष्ठा और मृत्युमय जगत्में अमृतत्वकी प्रतिष्ठा—यही मानवात्माका जीवनव्रत है, यही उसकी धर्म-साधना है। ज्ञानमें ऐक्यदर्शन, प्रेममें ऐक्यानुभूति और कर्ममें ऐक्यनिष्ठा,—यही मनुष्यको धर्मानुशीलनका आदर्श है। विचार-बुद्धिके सम्यक् अनुशीलनसे उसको सब प्रकारके भेद और विषमताओंके मूलमें एक अद्वितीय सच्चित् प्रेमानन्दघन परमतत्त्वको प्राप्त करना होगा। प्रेमके सम्यक् अनुशीलनके द्वारा सबके अंदर एक 'सत्य-शिव-सुन्दर' प्राणका अनुभव करके सबके जीवनके साथ अपने जीवनको मिला देना होगा सबके स्वार्थमें ही अपने यथार्थ स्वार्थका परिचय पाकर अपने वैचित्र्यमय जीवनके समस्त विभागोंकी कर्मधाराको उसी उद्देश्यके अनूकूल बहा होगा। इस परम कल्याणमय ऐक्यके आदर्शद्वारा अनुप्राणित होकर सब प्रकारके द्वन्द्व सङ्घर्ष, हिंसा, द्वेष और अशान्तिके स्तरसे ऊपर मानवजीवनको प्रतिष्ठित करनेका व्रत ही वास्तवमें मनुष्योचित साधना है।

इस जगत्में मानव-जीवनको इस प्रकार द्वन्द्वातीत,अमृतमय और शान्तिमय बनानेके लिये जितना अपने देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिका अनुकूल होना आवश्यक है, उतना ही सामाजिक स्थितिका भी अनुकूल होना अभीष्ट है। समाजके साथ व्यक्तिका अंगांगी सम्बन्ध है। समाजसे अलग करके मानव-जीवनपर विचार करना सम्भव नहीं। समाजके सम्पर्कसे ही मनुष्यका परिचय प्राप्त होता है। समष्टिगत जीवनके साथ सम्बन्ध हुए विना व्यष्टिगत जीवनका कोई परिचय ही नहीं मिल सकता। मनुष्यका जन्म, स्थिति, वृद्धि और परिणाम सब समाजके अंदर ही होता है। समाजसे ही प्रत्येक व्यक्ति अपने देह-धारणके लिये, मनविकासके लिये और धर्मसाधनाके लिये आवश्यक उपकरण प्राप्त करता है। दूसरी ओर, प्रत्येक व्यक्ति इन सब उपकरणोंका जिस रीतिसे व्यवहार करके अपने-अपने जीवनको नियन्त्रित करता है, समाज-जीवनकी गतिपर ही उसका प्रभाव पड़ता है। जन-साधारणकी जीवन-धाराके लिये बहुत अंशमें समाज जिम्मेवार है। वैसे ही समाजकी विधि-व्यवस्थाके लिये जनसाधारणपर भी कम दायित्य नहीं है। समाजमें जो लोग विशेष बुद्धिमान्, शक्तिसम्पन्न और प्रभावशाली होते हैं, उन्हींके विचार, भाव और कर्मकी धारा सामाजिक विधि-व्यवस्थामें प्रतिफलित हुआ करती है। मानव-समाजके श्रेष्ठ विद्वानोंके चित्तमें यह समस्या सदा ही बनी रहती है कि—समाजकी संगठन-विधि और रीति-नीति कैसी बनायी जाय जिससे मनुष्यके अन्तरात्माका मनोरथ समाजके द्वारा पूर्णरूपसे सिद्ध हो कसे? व्यष्टिके साथ समष्टिका, व्यक्तिके साथ परिवारका, श्रेणीके साथ जातिका, श्रेणीके साथ श्रेणीका और राष्ट्रका सम्बन्ध किस प्रकार हो, जिससे द्वन्द्व, कलह, ईर्ष्या, घृणा और द्वेषके सारे कारण यथासम्भव दूर हो जायँ और समग्र मानव-समाजमें एकप्राणताकी प्रतिष्ठा हो? सामाजिक जीवन-प्रवाहको किस प्रकारके आदर्शद्वारा अनुप्राणित किया जाय और वह आदर्श किस प्रकारके आचरण और कर्मोंके अंदर स्थापित किया जाय, जिससे प्रत्येक नर-नारी मानव-जीवनके महान् व्रतके सम्बन्धमें सदा-सर्वदा सजग रहे और उसका ज्ञान, प्रेम, कर्म, स्वाभाविक ही तद्भाव-भावित होकर ही परम कल्याणकी ओर अग्रसर हो? मनुष्यके साथ मनुष्यके नाना प्रकारके भेद और विषमताओंके होनेपर भी, मनुष्यकी शक्ति और ज्ञानमें तारतम्य होनेपर भी, कर्मक्षेत्रकी विभिन्नता और प्रयोजनोंकी विलक्षणता होनेपर भी, किस उपायसे मनुष्यके साथ मनुष्यके प्राण मिलाये जा सकते हैं, किस उपायसे रुचि, प्रकृति, शक्ति आदिके भेदसे युक्त पृथक्-पृथक् आवश्यकताओंसे प्रेरित मनुष्य परस्पर प्रेमकी डोरीसे बँधकर शान्तिपूर्वक सभी अपने-अपने जीवन-विकासके मार्गपर अग्रसर हो सकते हैं, मानव-समाजके सामने यह एक सनातन समस्या है।

भारतीय साधनाके क्षेत्रमें जो वर्णाश्रमका विधान है, वह इसी जटिल समस्याको सुलझानेकी एक महान् चेष्टा है। लाखों वर्षोंसे इस वर्णाश्रमविधानने भारतीय समाजके सभी एक-से-एक विलक्षण श्रेणीके नर नारियोंमें एक महान् समन्वयकी स्थापना करके उनके

मनुष्योचित साधनाके मार्गको प्रशस्त कर रखा है। समस्त मानव-समाजके लिये यह विधान परम आदर्श है। समाज-नीतिकी दृष्टिसे भी इस विधानके अंदर छिपा हुआ तत्त्व विशेषरूपसे देखने योग्य है।

मनुष्योंमें परस्पर असंख्य प्रकारके भेद हैं और उनका रहना अनिवार्य है। इन सब भेदोंके अंदरसे ही अभेदकी प्रतिष्ठाका मार्ग खोज निकालना होगा। ऐसा किये विना, समाज सदा अत्यन्त भयंकर संग्राम-क्षेत्र ही बना रहेगा। इस अभेदकी प्रतिष्ठा कैसे हो? मनुष्योंमें जहाँ-जहाँ भेद अवश्यम्भावी है, वहाँ-वहाँ उस भेदको स्वीकार कर लेनेकी मनोवृत्तिका जनसाधारणके चित्तमें विकास होना आवश्यक है; नहीं तो सभी जगह प्रतियोगिता, प्रतिद्वन्द्विता, संघर्ष, संग्राम, असन्तोष और अशान्ति बनी ही रहेगी। परन्तु ऐसी मनोवृत्ति यदि उपायहीनता और निराशाकी अनुभूतिसे उत्पन्न हो तो उससे मनुष्योचित जीवन-विकासके मार्गमें बाधा ही होगी। समाजकी जो व्यवस्था सभी नर-नारियोंको उनके जीवनकी सम्पूर्ण सार्थकताके मार्गपर बढ़ानेमें सहायक न हो, उस व्यवस्थासे उपर्युक्त समस्याका समाधान कभी नहीं हो सकता। समाजकी व्यवस्था तो ऐसी होनी चाहिये कि जिससे प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक श्रेणी सन्तुष्ट-मनसे अनिवार्य भेदोंको स्वीकार कर ले और साथ ही प्रत्येकके मनमें अपनी-अपनी अवस्था शक्ति और तदनुरूप कर्म और साधनामें गौरवका भाव जाग्रत् रहे। प्रत्येक मनुष्यके सामने एक ऐसा मूर्त्तिमान् सजीव आदर्श रहना चाहिये कि जिससे अपने-अपने अधिकारके अनुसार प्राप्त कर्तव्य-कर्मोंका स्वेच्छापूर्वक प्रेमके साथ सम्पादन करते हुए अपनेको समाजका एक गौरवपूर्ण अंग समझे और उसीको मनुष्यत्वके विकासका साधन मानकर जीवनके व्रतके रूपमें ग्रहण करनेको उत्साहित हो।

मनुष्यके साथ मनुष्यके जितने भी सङ्घर्ष होते हैं, सभी उसकी देह, इन्द्रिय और मनकी आकांक्षा तथा आवश्यकताके क्षेत्रमें होते हैं। प्रत्येक मनुष्यको अन्न, वस्त्र, घर और धनकी आवश्यकता है। प्रत्येक मनुष्यके मनमें सुख, ऐश्वर्य, प्रभाव, मान-सम्मानकी आकांक्षा है और इसी क्षेत्रमें एकका स्वार्थ दूसरेके स्वार्थके साथ टकराता है। यदि अन्न वस्त्रादिकी वृद्धि और सुख-सम्पत्ति तथा स्वामित्वकी स्थापनाको ही मानव-साधनाके क्षेत्रमें एक श्रेष्ठ आदर्श मान लिया जाय तब तो मानव-समाजमें स्वार्थका विरोध, व्यक्तिगत और श्रेणीगत संग्राम और उसके फलस्वरूप आधिभौतिक उन्नतिके साथ-ही-साथ दु:खदायी अशान्तिका भोग भी अवश्यम्भावी है। बाह्य सम्पत्तिके आदर्शको नींव बनाकर जिस समाज-मन्दिरका निर्माण होगा, उसमें प्रारम्भमें आर्थिक उन्नति, राष्ट्रीय प्रभावकी वृद्धि हो सकती है, जड-जगत्सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञानकी उन्नति भी हो सकती है; परन्तु ये सब उन्नतियाँ होती हैं व्यक्तिके साथ व्यक्तिकी, सम्प्रदायके साथ सम्प्रदायकी और जातिके साथ जातिकी प्रतियोगिता, प्रतिद्वन्द्विता, सङ्घर्ष और संग्रामके द्वारा ही। इसीलिये यह उन्नति जन-साधारणकी नहीं होती; कुछ लोग जो बुद्धि-शक्ति, कल्पना-शक्ति, संघटन-शक्ति और निर्माण-शक्तिमें बढ़े हुए होते हैं, वस्तुत: उन्हींकी होती है, धन सम्पत्ति और प्रभुत्वपर उन्हींका अधिकार होता है; और जो बलहीन तथा अपेक्षाकृत बुद्धिहीन होते हैं, वे अपनेको उनकी गुलामीमें लगाकर—उन्हींके स्वार्थ-साधनके उपकरण बनकर उन्हींके दिये हुए टुकड़ोंपर जीवन-निर्वाह करनेको बाध्य होते हैं! इधर वे शक्तिशाली प्रभुश्रेणीके लोग भी सदा एक-दूसरेके भयसे सशङ्कित रहते हैं, सुखकी सामग्रियोंका ढेर होनेपर भी उनके जीवनमें सुख-शन्ति कभी नसीब नहीं होती। मानव-समाजकी सभ्यता ही संग्रामात्मिका हो उठती है। संग्राममें कुशलता ही सभ्यताका लक्षण होता है। इस सभ्यतामें कोई प्राणी, कोई व्यक्ति, कोई श्रेणी और कोई भी जाति दीर्घकालतक ऐश्वर्य और प्रभुत्वका भोग नहीं कर सकती। ऐश्वर्य और प्रभुत्व दोनों ही लगातार एकसे-दूसरेके हाथमें जाते रहते हैं। जब जिनके हाथमें ये ऐश्वर्य और प्रभुत्व होते हैं, तब उनको आत्मरक्षाके लिये ही व्यस्त रहना पड़ता है। जन-साधारणके सुख और कल्याणके लिये उनका उतना-सा ही धन या प्रभाव खर्च होता है, जितनेकी उनके अपने स्वार्थसाधनके लिये आवश्यकता होती है—आत्मरक्षाके लिये प्रयोजन होता है। समाज उन्हें त्यागके लिये—सेवाके निमित्त स्वार्थत्याग करनेके लिये किसी प्रकार भी प्रेरणा नहीं कर सकता। 'त्याग और सेवाके अंदर ही उनका यथार्थ स्वार्थ निहित है'—यह बतलानेका समाजके पास कोई साधन नहीं होता, क्योंकि समाजका आदर्श वैसा नहीं होता, उसका तो संगठन ही हुआ है बाह्य सम्पत्तिके आदर्शको लेकर। बाह्य सम्पत्तिको आदर्श माननेवाले समाजमें शान्तिकी कोई सम्भावना नहीं है, साम्यके स्थापनकी कोई योग्यता नहीं है, संघर्षके दूर करनेका कोई उपाय नहीं है और मानवताकी महान् उन्नतिके लिये कोई प्रेरणा नहीं है। यहाँ संग्रामके बाद संग्राम और विप्लवके बाद

विप्लव अनिवार्य हैं। मनुष्यके अन्तरात्माका यह आर्त्तनाद इस प्रकारके समाजमें कभी-कभी कवियों दार्शनिकों और धार्मिकोंकी वाणीसे प्रकट होता रहता है, परन्तु सामाजिक जीवनमें अन्तरात्माके इस दु:खको मिटानेके लिये कोई उपाय नहीं दिखायी पड़ता। इसी सभ्यताका परिणाम है कि आज सारे भूमण्डलपर सभी एक-दूसरेके भयसे काँप रहे हैं और भोगोंके उपकरणोंकी बहुलता होनेपर भी चारों ओर त्राहि-त्राहि मची हुई है!

मानवसमाजको यथार्थ मानवताके विकासके योग्य और साम्य, शान्ति सौन्दर्यका भण्डार बनानेके लिये, एक ऐसे आदर्शको केन्द्र बनाकर समाजकी व्यवस्था और नियन्त्रण करनेकी आवश्यकता है, जो आदर्श मनुष्यकी स्वाभाविक सुख-सम्पत्ति और प्रभुत्वकी आकांक्षाके ऊपर राज्य करनेमें स्वयं समर्थ हो, जिस आदर्शके सामने मनुष्यकी यह सुख-सम्पत्ति और प्रभुताकी स्पृहा-अपने आप ही सिर झुकाकर गौरवका बोध कर सके, जो आदर्श मनुष्यकी अन्तरात्माके आदेशको बाह्य जीवनके आदेशका शक्तिसम्पन्न नियमन करनेवाला बनाकर खड़ा कर सके। जिस समाज-विधानसे मनुष्यकी आधिभौतिक आवश्यकताएँ आध्यात्मिक आदर्शके द्वारा संयमित होती हैं, काम और अर्थ धर्मके द्वारा अनुशासित होते हैं, आत्मिक उन्नतिके तारतम्यके द्वारा सामाजिक मर्यादाका निरूपण होता है, ज्ञान, प्रेम, त्याग और तपस्याका स्थान सुख-सम्भोग, धन-सम्पत्ति और प्रभुत्वके बहुत ऊपर माना जाता है,—वस्तुत: उसी समाजविधानके द्वारा मानव समाजमें अनन्त प्रकारकी विषमताओंके रहते भी सच्चे साम्यकी स्थापना सम्भव है, प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विताके क्षेत्रमें भी सहयोगिता और समप्राणताकी प्रतिष्ठा सम्भव-है और अशान्तिके कारणरूप अनेकों प्राकृतिक नियमोंके रहते हुए भी शान्तिकी स्थापना सम्भव है। भारतीय ऋषियोंने वर्णाश्रम-व्यवस्थामें इसी आदर्शकी स्थापना की है और हजारों-हजारों वर्षोंसे इसी व्यवस्थाके द्वारा नियन्त्रित होकर भारतीय जीवन-धारा कल्याण और शान्तिके मार्गपर प्रवाहित होती आ रही है।

वर्णाश्रम-विधानमें मुख्य ध्यान देने योग्य विषय यह है कि इसमें समाजके सर्वोच्च स्थानपर प्रतिष्ठित किया गया है ब्राह्मण और संन्यासीको। ब्राह्मण और संन्यासी सभी वर्णों और आश्रमोंके आदर्श माने जाते हैं। सभी विभागोंके सभी नर-नारी ब्राह्मण और संन्यासीके अनुशासनके अनुसार ही अपने कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करते हैं और उन्हींके आचरणको आदर्श मानकर अपने जीवनको नियन्त्रित करते हैं। ब्राह्मण और संन्यासी 'काम' और 'अर्थ' की साधनामें प्रवृत्त नहीं होते; सुख, ऐश्वर्य और प्रभुत्वकी आकांक्षासे प्रेरित होकर कोई कार्य नहीं करते; कृषि-शिल्प वाणिज्य आदि बाह्य सम्पदाको बढ़ानेवाले उपायोंका अवलम्बन नहीं करते, देशके शासन, संरक्षण और दण्ड-विधानका काम भी अपने हाथमें नहीं लेते और किसीके अधीन होकर नौकरी भी नहीं करते। ये सारे कार्य उनके स्वधर्मसे प्रतिकूल हैं, उनकी मर्यादामें ठेस पहुँचानेवाले हैं। वे होते हैं तत्त्वकी खोज करनेवाले, ज्ञानतपस्वी, सर्वभूतहितमें रत और विश्वप्रेमी। त्याग, सेवा, ज्ञानवितरण और तपश्चर्या ही होते हैं उनके जीवनके व्रत! दरिद्रताका तो वे स्वयं अपनी इच्छासे वरण करते हैं! वे अपनी सारी शक्तिको लगा देते है समाजके उत्थान और अपनी संस्कृतिकी उन्नतिमें तथा मनुष्य-जीवनके सर्वश्रेष्ठ आदर्शकी स्थापनामें। इनमें ब्राह्मण गृहस्थ होकर भी, स्त्री-पुत्र-कन्याओंसे घिरे रहकर भी त्याग, सेवा, तपस्या और नि:स्वार्थ ज्ञान-दान आदिका आदर्श स्थापित करते हैं। और संन्यासी यह सिद्ध कर देते हैं कि मानव-जीवनकी चरम शान्ति है—सर्वत्यागी और प्राणिमात्रमें समदर्शी होकर ब्रह्मज्ञान, ब्रह्मध्यान और ब्रह्मानन्द-रसका पान करनेमें। ब्राह्मण और संन्यासी समाजके सभी स्तरोंके नर-नारियोंको इस महान् आदर्शके द्वारा अनुप्राणित करते हैं, इसीलिये समाजमें उनका आसन सबसे ऊपर और सबसे श्रेठ है। उनके देह-पोषणके लिये, शारीरिक जीवननिर्वाहके लिये और उनके तपस्यामय जीवन-व्रतकी अनूकूलताका सम्पादन करनेके लिये जो कुछ भी आवश्यक है, उसका सारा भार समाजने अपने ऊपर ले लिया है। राष्ट्रिय शक्ति और आर्थिक शक्तिके संचालकगण श्रद्धा और सम्मानके साथ उनकी सुविधा और स्वतन्त्रताकी रक्षाके लिये सदा प्रयत्नशील रहते हैं और उनके उपदेश तथा उनके जीवनके आदर्शके अनुसार अपनी शक्ति और सम्पत्तिका बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय, सर्वभूतहिताय और भगत्प्रीत्यर्थ प्रयोग करके अपने आन्तरिक जीवनकी कृतार्थताका अनुभव करते हैं। वर्णाश्रम-व्यवस्थाका यही मुख्य स्वरूप है।

बाह्य सम्पत्तिसे उदासीन स्वार्थबुद्धिसे रहित विश्वप्रेमी उन ब्राह्मण और संन्यासियोंके ऊपर ही समाज और राष्ट्रके व्यवस्थापूर्वक संचालनके लिये विधि-निषेधकी रचना करनेका—कायदे-कानून बनानेका भार रहता है। अपना व्यक्तिगत और श्रेणीगत कोई स्वार्थ न रहनेके कारण वे

ही सब श्रेणियोंके प्रतिनिधि होनेकी योग्यता रखते हैं। वे मानवजीवनके चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्तिकी ओर अविचलित दृष्टि रखते हुए सभी श्रेणियोंके नर-नारियोंके लिये कर्तव्याकर्तव्यका निर्देश करते हैं। राष्ट्रिय शक्तिका व्यवहार किस प्रकार करना चाहिये, किस प्रकार धनको पैदा करना और बाँटना चाहिये, सभी श्रेणीके लोगोंद्वारा अपने-अपने अधिकारानुसार किस प्रकारका कार्य करनेसे सारे समाजकी भलाई हो सकती है, अपनी-अपनी सम्पत्ति और शक्तिका किस प्रकार व्यवहार करके मनुष्य परमकल्याण भगवत्प्राप्तिकी ओर अग्रसर हो सकता है,—ब्राह्मण और संन्यासी अपने पक्षपातरहित सुनिपुण विचारद्वारा इन सब बातोंका निर्णय करनेमें समर्थ हैं।

ब्राह्मण और संन्यासीको राष्ट्र और समाजके केन्द्रस्थलमें आदर्शरूपमें और सर्वोच्च मर्यादामें प्रतिष्ठित करके समाजका संगठन, राष्ट्रका संगठन और कृषि-शिल्प-वाणिज्यादिका नियन्त्रण करना, यही भारतीय जातिकी विशेषता है और इसीमें भारतकी प्राणशक्ति निहित है। इसी प्राणशक्तिने जाति और समाजके सारे अवयवोंमें सुन्दर सामञ्जस्यकी स्थापना करके सब प्रकारके द्वन्द्व और सङ्घर्षोंको मिटाकर हजारों वर्षोंसे इसकी जीवन-धाराको अक्षुण्ण बना रखा है। इसीसे हिंदूजाति जीवित है।

एक बात और विशेष ध्यान देनेकी है, वह है जातिमें राष्ट्रशक्ति और अर्थशक्तिका—प्रभुत्व और सम्पत्तिका सम्बन्धनिरूपण। हमारी इस वर्णाश्रमव्यवस्थामें जो राष्ट्रशक्तिके सञ्चालक होते हैं, देशकी शान्तिरक्षा और शक्तिवृद्धिका भार जिनके कन्धोंपर रहता है, जो अन्तर्विप्लव और बाहरी शत्रुओंके आक्रमणसे जाति और समाजकी रक्षा करनेके लिये जिम्मेवार हैं और जो तत्त्वदर्शी दारिद्र्यव्रती सर्वजीवप्रेमी ब्राह्मण और संन्यासियोंके अनुशासनके अनुसार जाति और समाजमें न्यायकी रक्षा करते हुए जातिकी बाह्य सम्पत्ति और अध्यात्मसम्पत्तिका न्यायसंगत अधिकार सब श्रेणियोंके नर-नारियोंको देते हैं, वे क्षत्रिय स्वयं अर्थका सेवन नहीं करते, कृषि-शिल्प-वाणिज्यादिको अपने हाथमें नहीं रखते, जातिकी बाह्य सम्पत्तिके उत्पादनमें और उसके बँटवारेमें उनका व्यक्तिगत अथवा श्रेणीगत कोई स्वार्थ नहीं होता। जातिकी सांस्कृतिक और आध्यात्मिक शक्तिके उत्पन्न करने और बाँटनेका भार जैसे प्रधानतया यज्ञव्रती, त्यागशील, आध्यात्म-कल्याणनिष्ठ ब्राह्मण और संन्यासियोंके हाथमें रहता है,उसी प्रकार जातिकी बाह्य सम्पत्तिके उत्पन्न करने और बाँटनेका भार वैश्योंके हाथमें रहता है। क्षत्रियोंके कन्धोंपर तो देशकी शान्तिरक्षा और शक्तिवृद्धिका भार है। वे जैसे ब्राह्मण और संन्यासियोंने ज्ञान-विज्ञान और नैतिक तथा आध्यात्मिक आदर्शका आहरण करके समाजके सब स्तरोंमें उसका विस्तार करनेकी चेष्टा करते हैं, वैसे ही वैश्योंसे धनका आहरण करके उसके द्वारा समाजके सभी स्तरोंके लोगोंका अभाव दूर करते हैं। उनका खजाना जनसाधारण—विशेषत: ब्राह्मण, संन्यासी, दरिद्र, अन्धे, लूले-लँगड़े, रोगी, अपाहिज, बूढ़े-बच्चे और अनाथा विधवा आदिकी सेवाके लिये सदा-सर्वदा खुला रहता है। कहीं दुर्भिक्ष पड़ता है, अकाल पड़ता है तो उसकी जिम्मेवारी उनपर है। कहीं महामारी फैलती है तो वे उसके जिम्मेवार हैं। शत्रुका आक्रमण होनेपर उनपर दायित्व है। अन्तर्विप्लवके लिये वे दायी हैं और एक श्रेणीके द्वारा दूसरी श्रेणीपर अत्याचार होनेपर—बुद्धिमान् और शक्तिशाली व्यक्तियों अथवा श्रेणियोंके द्वारा अपेक्षाकृत बुद्धिहीन और कमजोर मनुष्यों अथवा श्रेणियोंका (उनकी शक्तिहीनताका लाभ उठाकर) शोषण किये जानेपर क्षत्रिय राजा ही जिम्मेवार हैं। देशका अर्थ ही उनका अर्थ है और देशकी शक्ति ही उनकी शक्ति है। वे देशके, जातिके और समाजके सेवक हैं। इसीलिये ब्राह्मणोंके बाद ही उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे देशमें प्रभुशक्तिका सञ्चालन करते हैं—ब्राह्मण और संन्यासियोंके चरणोंमें सिर झुकाकर! और अर्थशक्तिका सञ्चालन करते हैं—वैश्योंके पाससे जातिके लिये अर्थका संग्रह करके। अतएव प्रभुत्व और अर्थ दोनोंमें ही उनका यथासम्भव निर्लिप्त रहना आवश्यक होता है, नहीं तो वे स्वधर्मसे भ्रष्ट हो जाते हैं। प्रभुत्व और अर्थका नियन्त्रण करनेवाले होनेपर भी वे हैं देशके दास और त्यागव्रती।

जैसे राष्ट्रशक्तिका सञ्चालन करनेवाले क्षत्रियोंके लिये अर्थलाभजनक कृषि-शिल्प-वाणिज्यादि स्वधर्मका नाश करनेवाले और मर्यादाको घटानेवाले हैं, वैसे ही कृषि शिल्प-वाणिज्यादिके द्वारा देशकी अर्थ-सम्पत्तिको बढ़ानेमें लगे हुए वैश्योंके लिये राष्ट्रशक्तिके सञ्चालनका लोभ करना और समाजके ऊपर प्रभुत्वका दावा करना स्वधर्मसे भ्रष्ट होना है। प्रभुत्व और अर्थ दोनोंमें ही मोह है। समाजकी अर्थ-शक्ति और राष्ट्र-शक्तिके एक ही हाथमें रहनेपर अर्थोपासकोंकी प्रतिद्वन्द्विता राष्ट्रके क्षेत्रमें भी न्याय और धर्मकी सीमा लाँघनेके लिये तैयार हो जाती है। धनके पैदा करने और बाँटनेमें स्वार्थका मोह प्रबल न हो उठे, न्याय और धर्मका आदर्श बड़ी सजगताके

साथ धनके नियामकके पदपर प्रतिष्ठित रह सके, इसीलिये न्याय और धर्मनिष्ठ राष्ट्रशक्ति अर्थकी उपासनामें, धन कमानेमें न लगकर अर्थके ऊपर प्रभुत्व करती है, और न्याय-धर्मके मूर्तिमान् आदर्श ब्राह्मण और संन्यासी राष्ट्रशक्ति और अर्थ-शक्ति (क्षत्रिय और वैश्य) दोनोंके ऊपर प्रभुत्व करते हैं, यही सनातनधर्मकी व्यवस्था है। राष्ट्रशक्ति जब अर्थशक्तिके हाथमें चली जाती है, किसान, कारीगर और वणिक्-समाज जब परस्पर प्रतिद्वन्द्विता करके अपनी स्वार्थ-सिद्धिके लिये राष्ट्रशक्तिपर अधिकार जमानेको लालायित हो उठते हैं, तभी समाजमें नाना प्रकारकी अशान्तिके कारण उत्पन्न हो जाते हैं और समाज संग्राम-क्षेत्रके रूपमें परिणत हो जाता है। अर्थको नियन्त्रित करनेका अधिकार यदि धर्मको हो और धर्म ही यदि राष्ट्रशक्तिका संचालन करनेवाला होकर अर्थके उत्पादन और विभाजनको नियन्त्रित कर सके तो समाजमें विषमताके अंदर भी समताकी स्थापना हो सकती है, प्रतियोगिताके क्षेत्रमें भी सहयोगिताकी प्रतिष्ठा हो सकती है। अतएव समाजमें अर्थशक्तिका नियमन करनेके लिये राष्ट्रशक्तिकी और राष्ट्रशक्तिका नियमन करनेके लिये धर्मशक्तिकी स्थापना आवश्यक है। यही वर्णविभागका रहस्य है।

इसके बाद रही जन-साधारणकी बात। जिनमें ज्ञानशक्ति और कर्मशक्तिका भलीभाँति विकास नहीं हुआ है, जो स्वतन्त्ररूपसे तत्त्वका विचार करनेमें, सारे समाजका कल्याण सोचकर कर्तव्यका निर्णय करनेमें, मनुष्य-जीवनके परम आदर्शको लक्ष्य करके साधनाके क्षेत्रमें अग्रसर होनेमें, स्वतन्त्रताके साथ राष्ट्रशक्ति और अर्थशक्तिका अपने और समाजके कल्याणमें प्रयोग करनेमें यथोचित शक्ति नहीं प्राप्त कर सके हैं, परन्तु जिनकी संख्या समाजमें अधिक है और जिनकी कर्मशक्तिका सुनियन्त्रित और सुव्यवस्थितरूपसे व्यवहार हुए विना देशमें कृषि-शिल्प-वाणिज्यादिकी उन्नति सम्भव नहीं है, राष्ट्रका निर्विघ्न संचालन सम्भव नहीं है और धर्म कर्मादिका अनुष्ठान भी सम्भव नहीं है, समाजमें उन्हींकी संज्ञा शूद्र है। संख्याकी दृष्टिसे वे समाजके प्रधान अंग हैं। परन्तु स्वतन्त्ररूपसे अपने-आप ही अपना सञ्चालन करके मनुष्य-जीवनकी सर्वश्रेष्ठ उन्नतिके मार्गपर अग्रसर होनेमें असमर्थ हैं। उनको समाजकी सेवामें लगाकर, उनकी शक्तिके अनुसार उनके लिये कर्तव्यका विधान कर, आवश्यकतानुसार उनके लिये भोग-सुखकी सुव्यवस्था कर उनके जीवनको उन्नत बनाना उच्च श्रेणीके मनुष्योंका दायित्वपूर्ण कर्तव्य है।

ब्राह्मणोंके यज्ञ-यागादि कर्मोंके अनुष्ठानमें, क्षत्रियोंके राष्ट्र-नियन्त्रण और युद्ध-संचालनादि कार्योंमें तथा वैश्योंके कृषि-शिल्प-वाणिज्यादि व्यापारोंमें, सर्वत्र ही शूद्रोंकी सहायता आवश्यक है। और समाजकी धर्मशक्ति, राष्ट्रशक्ति और अर्थशक्तिके अनुगत होकर समाजकी सेवा करनेमें ही शूद्रोंके जीवनकी सार्थकता है। उन्नततर स्वाधीन-कर्मरत श्रेणियोंके अनुगत होकर, इच्छापूर्वक प्रेमके साथ उनके नेतृत्वको सिर चढ़ाकर, सेवात्मक कर्मके द्वारा अपने जीवनको उन्नत बनाना और सारे समाजका कल्याण करना शूद्रका धर्म है। समाजके सब प्रकारके कल्याणजनक पुण्यकार्योंमें शारीरिक शक्तिका कार्य उन्हींके जिम्मे है। वे ब्राह्मणोंकी अधीनतामें सेवक हैं, क्षत्रियोंकी अधीनतामें सैनिक हैं और वैश्योंकी अधीनतामें किसान तथा कारीगर हैं। आधुनिक समाजमें इन्हींका नाम मजदूर है।

इस प्रकार आर्य ऋषियोंने सारी मानव-जातिको चार भागोंमें बाँटकर उनके कर्म-समन्वयद्वारा समाजका संगठन किया है। इसमें मनुष्यके साथ मनुष्यका जो गुण और शक्तिका स्वाभाविक भेद है, उसे स्वीकार किया गया है और साथ ही मनुष्योंके समस्त गुणों और शक्तियोंको एक ही आदर्शकी ओर लगाकर सबको समाजके लिये अत्यावश्यक विभिन्न कर्मोंमें नियुक्त कर दिया है। समाजके लिये कल्याण-कारक चतुर्विध कर्मोंके लिये विशेषरूपसे योग्य चतुर्विध गुण-शक्तिविशिष्ट चार प्रधान श्रेणियोंके अतिरिक्त मानव-जातिमें अन्य किसी वर्णका अस्तित्व आर्य ऋषियोंको स्वीकार नहीं है—'**पञ्चमो नोपपद्यते**'। समग्र समाज एक मूर्तिमान् विराट् पुरुष है। ब्राह्मण उसका वाणीसहित मस्तिष्क है। क्षत्रिय उसका बाहुसमन्वित वक्षःस्थल है। वैश्य उसका नाभिमण्डल-युक्त उदर है और शूद्र उसके चरण या गति-शक्तिस्थानीय हैं। चतुर्वर्णके द्वारा ही सारे अवयवोंसे सम्पन्न विराट् समाज-पुरुषका शरीर बना है। प्रत्येक अवयवमें ही अंग-उपांगोंका भेद स्वाभाविक है। एक ही प्रकारके कर्ममें भी कर्मका वैचित्र्य है और एक-एक प्रकारके कर्ममें-वंश-परम्परा-क्रमसे लगे रहनेके कारण एक-एक उपवर्ण या उपजातिका निर्माण हुआ है। इस प्रकार समाजके अंदर कर्मोंकी विचित्रताके कारण विभिन्न विचित्र कर्मोंमें खास-खास योग्यताके अनुसार अनेकों उपजातियोंकी सृष्टि प्राकृतिक नियमसे ही हुई है। कर्म और गुण (अर्थात् कर्मयोग्यता)-के अनुसार श्रेणी वैचित्र्य अस्वाभाविक

नहीं है; परन्तु उनमें प्रतिद्वन्द्विता, सङ्घर्ष; हिंसा, द्वेष और कलह आदि अशान्ति उत्पन्न करनेवाले और परस्पर एक-दूसरेका विनाश करनेवाले बुरे भावोंके बदले किस तरहसे सहयोगिता, समन्वय, प्रेम, मैत्री और शान्ति-स्थापना हो, यही समस्या है। हमारे समाजका संगठन करनेवाले विद्वान् ऋषियोंने इस समस्याका जैसा समाधान किया है, उसकी अपेक्षा किसी उत्तम समाधानकी कल्पना आजतक कहीं नहीं हुई।

इस समस्याके समाधानका आर्य ऋषियोंके मतसे सर्वोत्तम उपाय है कर्मको धर्म-साधनके रूपमें परिणत करके समाजके सभी स्तरोंमें उसका प्रचार करना। कर्मको यदि केवल लौकिक भोग-सुखोंका साधन ही माना जाय, तो कर्मकी अपनी कोई मर्यादा नहीं रह जाती और जिस प्रकारका कर्म जितना ही अधिक, भोग-सुख और धन-सम्पत्तिकी प्राप्तिमें सहायक होता है, उसी प्रकारके कर्मके लिये सबके मनमें लालसा होना और उसके लिये छीना-झपटी और मार-पीट होना अनिवार्य हो जाता है। ऐसे कर्मके फलस्वरूप किसीको भी सच्ची शान्ति और आतङ्कहीन आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। भोगकी अपेक्षा समाजमें कर्मका स्थान ऊँचा रहना आवश्यक है। परन्तु कर्मका कोई उद्देश्य तो होता ही है, मनुष्य कर्म क्यों करे? कर्मका यथार्थ कल्याणप्रद उद्देश्य है अपने जीवनको उन्नत करना, अपने अंदर मनुष्यत्वका परिपूर्ण विकास करना, अपने अन्तरात्माको काम, क्रोध, लोभ, हिंसा घृणा, भय आदिके बन्धनोंसे मुक्त करके एकान्त असीम आनन्द और शोक-तापादिसे रहित मृत्युभय-विजयी नित्य परिपूर्ण जीवनके योग्य बना देना। वैदिक ऋषियोंने इस प्रकारके दिव्य जीवनको ही 'स्वर्ग' कहा है। '**स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते**'। '**कामस्याप्तिर्जगतः प्रतिष्ठा क्रतोरानन्त्यमभयस्य पारम्।**' मृत्युके सारे पापोंसे छूटकर सब प्रकारके शोक, ताप, अभाव, आकांक्षा, द्वन्द्व और अशान्तिकी सम्भावनाका अतिक्रम कर, सर्वसम्पत्तिसम्पन्न अनन्त यौवनमें प्रतिष्ठित होकर, सारे विश्वके प्राणोंके साथ अपने प्राणोंको प्रेमपूर्वक मिलाकर पूर्णानन्दको प्राप्त करना ही मानवीय साधनाका लक्ष्य है।

यह संसार कर्मक्षेत्र है और यह मनुष्यशरीर कर्म-शरीर है। इस संसारमें जो मनुष्य जिस प्रकारके शक्ति-सामर्थ्यको लेकर जैसे वायुमण्डलमें जन्म ग्रहण करता है, वह वैसे ही शक्ति-सामर्थ्य और वायुमण्डलके उपयोगी विहित कर्मका सम्पादन करके जीवनमें पूर्णताको प्राप्त कर सकता है—स्वर्गीय जीवनको प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकता है। ब्राह्मण और क्षत्रिय अपनी शक्ति और अवस्थाके अनुसार विधिपूर्वक अपने-अपने कर्म करके जिस आध्यात्मिक कल्याणको प्राप्त करते हैं, वैश्य और शुद्र भी अपने-अपने कर्तव्य-कर्मका सम्पादन करके उसी आध्यात्मिक कल्याणको प्राप्त कर सकते हैं। एकको दूसरेके कर्मकी ओर ललचायी दृष्टिसे देखनेका कोई भी संगत कारण नहीं है, उद्देश्य ठीक रहे तो अपने-अपने कर्मके द्वारा ही प्रत्येक मनुष्य उस एक ही उद्देश्यतक सुखपूर्वक पहुँच सकता है। हाँ, पूर्व-जन्मार्जित कर्मवश संसारमें लौकिक सुख-सम्पत्तिका न्यूनाधिक होना अवश्यम्भावी है; परन्तु उसका मूल्य ही क्या है? अनन्त आध्यात्मिक सम्पत्तिकी तुलनामें लौकिक सम्पत्ति सर्वथा तुच्छ और क्षणस्थायी है। आध्यात्मिक सम्पत्तिपर सभीका समान अधिकार है और उसका प्राप्त होना अपनी-अपनी शक्ति और अवस्थाके अनुसार, सन्तोषपूर्वक अपने-अपने कर्मोंके यथाविधि सम्पादनपर ही निर्भर है। इस आदर्शके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक श्रेणी, प्रत्येक सङ्घ या सम्प्रदाय दूसरेके कर्म, दूसरेके भोग और दूसरेकी मान-प्रतिष्ठाका लोभ न करके, दूसरेके साथ अस्वास्थ्यकारी प्रतिद्वन्द्विताके झगड़ेमें न पड़कर गौरव और श्रद्धाके साथ उत्साहपूर्वक अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्तव्यके पालनमें ही लगा रहकर अपनी चरम उन्नति कर सकता है। कर्म और भोगके सम्बन्धमें उसका मन्त्र होता है—

'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'
'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥'

इस दिव्य जीवनको सर्वश्रेष्ठ आदर्श मानकर ही आर्य ऋषियोंने सभी श्रेणियोंके नर-नारियोंके लिये सब प्रकारके पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्योंका निर्धारण किया है। मर्त्य-जीवनमें स्वर्गीय जीवन-धाराको प्रवाहित करनेके लिये शारीरिक स्वास्थ्य और स्वच्छन्दताकी, पारिवारिक और सामाजिक रीति-नीति और सत्कर्मोंकी, राष्ट्रिय दण्ड-विधि और युद्ध-विग्रह-सन्धि आदिकी, कृषि-शिल्प-वाणिज्यादिके द्वारा देशमें धन-सम्पत्तिके बढ़ानेके और साहित्य-दर्शन विज्ञानादिके समुचित अनुशीलनकी आवश्यकता है। कुल-नीति, अर्थ-नीति, समाज-नीति, राष्ट्र-नीति और सबकी आधाररूपा धर्म-नीति सभीका आदर्श दिव्य-जीवनकी प्रतिष्ठा है।

आर्य विद्वानोंने यह भी आविष्कार किया था कि

समस्त जाति और समाजके कल्याणके लिये अपनी-अपनी शक्ति और सम्पत्तिका उत्सर्ग कर देना ही प्रत्येक व्यक्तिके लिये, अपने जीवनकी उन्नतिका, दिव्य-जीवनकी प्राप्तिका सर्वोत्तम उपाय है। प्रत्येक व्यक्तिका अन्तरात्मा और सारे समाजका अन्तरात्मा वस्तुत: एक है, अभिन्न है। अतएव सारे समाजकी सेवा, सारे समाजके कल्याणके लिये बाहरी क्लेश और त्यागको स्वीकार करना, वस्तुत: अपने ही अन्तरात्माकी सेवा, अपने ही आध्यात्मिक जीवनकी पूर्णताके लिये तपस्या करना है। सारे समाजके ऐहिक स्वार्थके साथ अपने आध्यात्मिक स्वार्थका कोई भेद नहीं है। अतएव त्यागके द्वारा ही यथार्थ सम्भोगका अधिकार प्राप्त होता है,—'**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः।**' यही यज्ञ-नीतिका तात्पर्य है। मनुष्यके जीवनमें यज्ञ ही मनुष्योचित कर्म है। यज्ञ ही व्यक्तिके और समाजके स्वार्थकी मिलन-भूमि है। तुम्हारे पास जो कुछ भी है, उसे सारे समाजके कल्याणके लिये दे दो; तभी सारे समाजके साथ अपनी एकताकी उपलब्धि कर सकोगे और विश्वके प्रकृति अपने अटूट भाण्डारमेंसे तुम्हारी चाहके अनुरूप सारे सुन्दर फलोंको देकर तुम्हें कृतार्थ कर देगी।

मानवसमाजकी जब इस यज्ञनीतिके ऊपर स्थापना होती है, तभी सर्वत्र सुख-शान्तिका विस्तार होता है; समाजके विभिन्न अंग-प्रत्यंगोंमें प्रतिद्वन्द्विता, ईर्ष्या, द्वेष, सङ्घर्ष और संग्रामका क्षेत्र सङ्कुचित होता है; एक ही समाज-शरीरके विचित्र अंग-प्रत्यंगोंके रूपमें एकके साथ दूसरेका प्रेम और मैत्रीका सम्बन्ध स्थापित होता है; प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक श्रेणी सारे समाज-शरीरके अंगरूपमें अपनेको उससे अभिन्न मानकर समाजके कल्याणमें ही अपने कल्याणकी उपलब्धि करता है; शक्ति, ज्ञान, रूचि और अवस्थामें विषमता रहनेपर भी सभीके अंदर प्राणगत एकताकी अनुभूति होती है। फिर सभी देनेके लिये ही व्याकुल हो उठते हैं, पानेके लिये कोई अधीर नहीं होता। प्राप्तिके लिये, भोगके लिये, अपनी क्षुद्र ऐहिक स्वार्थसिद्धिके लिये ही प्राणियोंमें परस्पर छीना-झपटी और मार-पीटकी जो स्वाभाविक प्रवृत्ति देखी जाती है, समाजमें यज्ञके आदर्शका बड़े परिमाणमें प्रचार होनेपर वह प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। यज्ञनीतिके अनुसार कर्म और भोगका सम्बन्ध ही ऐसा बन जाता है कि कर्म होता है—समष्टिके कल्याणके लिये व्यष्टिका दान; और भोग होता है व्यष्टिके कल्याणके लिये समष्टिका दान। मनुष्य कर्म करता है स्वतन्त्र कल्याण-बुद्धिकी प्रेरणासे, आध्यात्मिक आदर्शकी प्रेरणासे, सारे समाजके कल्याणके लिये। अपने ऐहिक भोगके लिये निर्भर करता है सारे समाजके कल्याणके ऊपर, विश्वान्तर्यामी कल्याण-विधाताके मंगल विधानके ऊपर।

आर्यजातिमें समाजके विभिन्न अंग-प्रत्यंगोंके कर्तव्या-कर्तव्यका अधिकांशमें जन्म और वंशानुक्रमकी दृष्टिसे निर्देश करके दूसरेके कर्मकी लालसा, दूसरेके धनकी तृष्णा और उससे होनेवाली प्रतिद्वन्द्विता और सङ्घर्षके क्षेत्रको विशेषरूपसे सङ्कुचित कर दिया है। सभीको अपनी-अपनी सहजात वृत्तिसे प्राप्त कर्मोंको और भोग-सम्पत्तिको सन्तुष्ट मनसे स्वीकार करके, अपने जीवन-विकासकी साधनाके रूपमें, उत्साहपूर्वक उन्हींपर निर्भर करके यज्ञनीतिके अनुसार बाह्यत: समाजसेवामें और तत्त्वत: आत्मसेवामें अपनेको लगा देना पड़ता है। इससे समाजमें भी शान्ति बनी रहती है और मनुष्य-जीवनकी सम्यक् सार्थकताके मार्गपर भी सबको अग्रसर होनेका सुअवसर प्राप्त होता है।

जीवनके इस आदर्शके अनुसार सार्थकताकी ओर चलनेके लिये प्रत्येक मनुष्यको पहले शक्ति और ज्ञानकी साधना करनी पड़ती है। प्रथम जीवनमें सुयोग्य शिक्षककी देख-रेखमें नियन्त्रण और संयमके उच्च आदर्शसे युक्त जीवन बिताकर देह, इन्द्रिय और मन-बुद्धिकी शक्तिको बढ़ाना पड़ता है और भावी जीवनके दायित्वपूर्ण कर्मसम्पादनके उपयोगी ज्ञान-विज्ञानको प्राप्त करना पड़ता है। जीवन-प्रभातकी इस साधनाका नाम है ब्रह्मचर्य।

ब्रह्मचर्य-साधनाके द्वारा स्वस्थ देह-मन, सुनियन्त्रित कर्तव्य-सम्पादनका कौशल, मनुष्यके आदर्शकी एक सुस्पष्ट धारणा और अपने सहजात शक्ति, सामर्थ्य और वृत्तिके अनुसार कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयका उपयुक्त ज्ञान प्राप्त करनेपर कर्म-जीवनमें प्रवेश करनेकी विधि है। यह कर्म-जीवन ही 'गार्हस्थ्य-जीवन' है। इसीमें परिवार, समाज, जाति और राष्ट्रके साथ साक्षात् सम्बन्धकी स्थापना होती है। इस गार्हस्थ्य-जीवनमें आध्यात्मिक आदर्शको हृदयमें रखते हुए ही यज्ञमय जीवन बिताना पड़ता है। अवश्य ही यज्ञका बाहरी रूप अपनी-अपनी शक्ति, सम्पत्ति, वृत्ति और अवस्थाके ऊपर निर्भर करता है। परन्तु ऐसी बात नहीं कि राजाके यज्ञकी अपेक्षा मजदूरके यज्ञका बाहरी रूप छोटा होनेके कारण उसके आध्यात्मिक मूल्यमें कहीं कुछ कमी आती हो। सबको अपने-अपने अधिकारके अनुसार ही यज्ञ करना पड़ेगा, परन्तु जिसके

हृदयमें यज्ञका आदर्श जितने उज्ज्वलरूपमें प्रकाशित होगा, जो जितने आध्यात्मिक भावके द्वारा अनुप्राणित होकर यज्ञ करेगा, उसका यज्ञ उतना ही सार्थक होगा।

कर्म-जीवनके अन्तमें कर्मत्यागके लिये, सर्वत्यागके लिये प्रस्तुत होना आवश्यक है। ब्रह्मचर्यके द्वारा जैसे गार्हस्थ्यके लिये योग्यता प्राप्त करना आवश्यक है, वानप्रस्थके द्वारा वैसे ही संन्यासके लिये योग्यता प्राप्त करना आवश्यक है। संन्यास-आश्रममें व्यक्तिगत जीवनके साथ विश्वजीवनका पूर्ण मिलन करा देना पड़ेगा। उस समय मनुष्यको परिवारकी, खण्ड समाज और जातिकी तथा सब प्रकारके ऐहिक प्रयोजनोंकी सीमाको लाँघकर, विश्वप्राणके साथ व्यष्टि प्राणका, विश्वात्माके साथ जीवात्मा और समाजात्माके सम्यक् ऐक्यका अपरोक्षरूपसे अनुभव करके साधनामें लग जाना पड़ेगा। इस साधनामें सिद्धि प्राप्त होना ही मनुष्य-जीवनकी सम्यक् सार्थकता है, यही 'परमसाम्य', 'पराशान्ति', 'पूर्णज्ञान' और 'परिपूर्णानन्द' है, यही 'अभयममृत क्षेमम्' है। इसी अवस्थामें मनुष्यका अपने साथ और विश्वजनात्माके साथ सम्यक् परिचय और योगस्थापन होता है। यही वर्णाश्रम-साधनाका चरम लक्ष्य है।

गृहस्थके लिये पंचमहायज्ञ

(लेखक—प्रोफेसर श्रीसत्येन्द्रनाथ सेन एम० ए०, धर्मरत्न)

संसारमें सबसे अधिक मननशील लोग प्राचीन कालके हिंदू ही थे। जीवनके सभी क्षेत्रोंका पूर्ण विचार करके प्रत्येकके सम्बन्धमें उन्होंने सच्चे सिद्धान्त स्थिर किये हैं। सुख और शान्ति इस लोकमें तथा परलोकमें भी—यही उनका बराबर लक्ष्य रहा है। उत्तम उपयोगी नागरिक बननेके लिये उन्होंने अपना जीवन ऐसा ढाला कि जिससे उनका ही नहीं, उनके पड़ोसियोंका भी और सारे संसारका कल्याण हो। भिन्न-भिन्न समाजोंके लिये जीविकाके भिन्न-भिन्न कर्म सौंप दिये गये और इस तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज सबकी जीविकाका सदाके लिये उत्तम प्रबन्ध हो गया। उनकी दिनचर्या ऐसी थी कि उनके द्वारा प्रात:कालसे सायंकालतक विविध प्रकारके ऐसे ही पवित्र कर्म हुआ करते थे जिनसे अपने-पराये सबको बड़ा सुख मिलता था। किसीके प्रति किंचित् भी अन्याय वे न होने देते थे। सबका जो सामान्यधर्म अहिंसा है, उसका वे बड़ी तत्परताके साथ पालन करते थे।

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दया दमः क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥

(याज्ञवल्क्य० १। १२२)

परन्तु जीवनमें पूर्ण अहिंसा असम्भव है। रसोई बनानेके लिये जब हम चूल्हेमें आग जलाते हैं तो उससे न जाने कितने असंख्य कृमि-कीटादि जीवोंकी हत्या होती है। इसी प्रकार जब हम चक्की या सील-लोढ़ासे काम लेते, झाड़ूसे बुहारते, ढेकी या ऊखलसे धान कूटते या घड़ोंमें पानी भरकर रखते हैं, तो कितने जीवोंका संहार होता है!

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥

(मनु० ३। ६८)

'सूना' कहते हैं कसाईखानेंको। चूल्हा, लोढ़ा, झाड़ू, ढेकी या ऊखल और घड़ा ये—सचमुच ही गृहस्थके घरके पाँच कसाईखाने हैं!

अनिवार्यरूपसे होनेवाली इस हिंसाका भी पूरा विचार हमारे पूर्वपुरुषोंने किया और इन पापोंके प्रायश्चित्त भी स्थिर किये।

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥

(मनु०३। ६९-७०)

अन्य स्मृतिग्रन्थोंमें भी ऐसे ही श्लोक मिलते हैं। अस्तु।

ब्रह्मयज्ञ, जिसे स्वाध्याय भी कहते हैं, वेदोंका अध्ययन अध्यापन है। ब्रह्म शब्दका अर्थ है वेद। पितृयज्ञ नित्यका श्राद्ध और तर्पण है। देवयज्ञ हवन है। भूतयज्ञ जीवोंको अन्नदान है। नृयज्ञ अतिथियोंका अर्घ्य आसन-भोजनादिसे सत्कार है। प्रत्येक गृहस्थके लिये ये नित्य कर्तव्य हैं। भगवान् मनु कहते हैं कि जो इन यज्ञोंको नहीं करता वह जीता हुआ भी मरेके समान है—

देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति॥

(मनु० ३। ७२)

वानप्रस्थियों और शूद्र गृहस्थोंके लिये भी पंचमहायज्ञोंके करनेका अपना-अपना विशिष्ट प्रकार है। (मनु ६। ५ और याज्ञवल्क्य० १। १२१)

इन महायज्ञोंमेंसे प्रत्येकका विवरण एक-एक करके नीचे दिया जाता है—

(१) निष्कारणो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।

(श्रुतिः)

'वेदको निर्हेतुक पढ़ना और जानना चाहिये।'

सांसारिक दृष्टिसे वेदाध्ययन लाभप्रद नहीं है, क्योंकि इससे रुपया नहीं मिलता न इसमें हमारे लिये कोई आकर्षण ही है। तथापि इसका नित्य अध्ययन करना चाहिये, क्योंकि इससे मन और शरीरकी शुद्धि होती है और उससे ब्रह्मकी प्राप्ति होती है जो सब जीवोंका परम लक्ष्य है। सब वेदोंका अध्ययन करना जहाँ बन नहीं सकता, वहाँ कम-से-कम एक ऋक्, एक यजुः और एक सामका पाठ अवश्य होना चाहिये—

एकामृचमेकं वा यजुरेकं वा सामाभिव्याहरेत्।

(गौतम तथा आपस्तम्ब)

इस समयकी प्रचलित रूढि यह है कि नित्य प्रातः-सन्ध्याके बाद तीनों वेदोंका एक-एक पहला मन्त्र उच्चारित किया जाता है। गायत्री विशेष जप कर लेनेसे भी वेदाध्ययनका काम हो जाता है। भगवान् मनु कहते हैं—

अपां समीपे नियतो नैत्यिकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः॥

(२। १०४)

अर्थात् नित्यके अवश्य अध्येय वेदाध्ययनके लिये कम-से-कम इतना तो करना ही चाहिये कि अरण्यमें जाकर जलाशयके समीप बैठकर समाहित होकर सावित्रीका जप करे।

एक ही व्यक्तिके स्वाध्यायसे जगत्‌का दीर्घकालतक कोई लाभ नहीं हो सकता। इसलिये इसकी परम्पराको चलाते रहना चाहिये। ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे नये-नये वैदिक विद्वान् उत्पन्न हों। इसके लिये अधिकारी शिष्योंको वेद पढ़ाना चाहिये।

यो हि विद्यामधीत्य अर्थिने न ब्रूयात् स कार्यहा स्यात् श्रेयसो द्वारमपावृणुयात्। (श्रुतिः)

'जो वेदोंका अध्ययन करके शिष्यको उसका अध्यापन नहीं कराता वह कार्यकी हानि करता है, श्रेयस्‌का द्वार ही बन्द कर देता है।'

यही बात मनु भगवान् कहते हैं—

यमेव तु शुचिं विद्या नियतं ब्रह्मचारिणम्।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने॥

(२। ११५)

'परन्तु जिसे तुम जानते हो कि यह पवित्र जितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी है उस मुझ निधिके रक्षक अप्रमादी विप्रको विद्या पढ़ाओ।'

(२) पितृयज्ञ नित्य पितरोंको तिलोदक देकर तर्पण करना और एक ब्राह्मणको उनके निमित्त भोजन करा कर उनका श्राद्ध करना है।

(मनु० ३। ८३)

बहुत लोग यही समझते हैं कि पितृतर्पण केवल पितृपक्षमें ही किया जाता है। परन्तु यथार्थमें पितरोंका तर्पण तो नित्यके पंचमहायज्ञोंमेंसे एक महायज्ञ है। पितृपक्षकी बात यह है कि इस पक्षमें प्रतिदिन पार्वण श्राद्ध करनेका विधान है जिसके अभावमें तर्पण ही अधिक श्रद्धा और बड़ी विधिके साथ कर लिया जाता है।

(३) देवयज्ञ सूर्य, अग्नि, सोम आदि देवताओंके प्रीत्यर्थ नित्यका होम है। होमाग्निमें घृतकी जो आहुति दी जाती है, उसे आधुनिक लोग केवल अपव्यय ही समझते होंगे; परन्तु दूरदर्शी ऋषि इसके महत्त्वको जानते थे और हम लोगोंको इतना तो जानना ही चाहिये कि इससे वातावरण शुद्ध हो जाता है, जिससे आरोग्य प्राप्त होता और धान्यकी वृद्धि होती है। ये ही तो दो चीजें हैं जो सब जीवोंके जीवनके लिये आवश्यक हैं। भगवान् मनु कहते हैं।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

(३। ७६)

'अग्निमें जो आहुति दी जाती है वह आदित्यमें पहुँचती है और आदित्यसे वर्षा होती है, वर्षासे अन्न होता है और उससे प्राणी उत्पन्न होते जीते हैं।'

किसी देशमें महामारी आदि देशभरको उजाड़ देनेवाले रोगोंके फैलनेका कारण जाँचते हुए चरक यह बतलाते हैं कि पृथ्वी, जल, वायु, आदिके दूषित हो

जानेसे ये बीमारियाँ फैलती हैं, क्योंकि सबपर इस दोषका एक साथ असर पड़ता है—

ते खल्विमे भावाः सामान्या जनपदेषु भवन्ति तद्यथा- वायुरुदकं देशः काल इति। (चरक-विमानस्थान अ०३)

आगे फिर यह बतलाते हैं कि—

सर्वेषामपि वाय्वादीनां वैगुण्यमुत्पद्यते यत् तस्य मूलमधर्मः। (चरक-विमानस्थान अ०३)

अर्थात् 'वायु आदि सब महाभूत जो इस प्रकार दूषित हो जाते हैं, इसका मूल कारण अधर्म है।'

वायु आदि महाभूतोंमें संक्रान्त इस दोषका सर्वोत्तम परिहार यज्ञ है। नित्य ही यदि यज्ञ किया जाय तो उससे आरोग्य सदा बना रहता है। रोगको होने ही न देनेके इस साधनकी ओर कोई ध्यान न देकर हमलोग समय-समयपर आनेवाले रोगोंके इलाजके लिये अपने धन और बलका सारा जोर लगाकर अस्पताल बनवाते चले जा रहे हैं। हमलोगोंने इस बातको तो भुला ही दिया है कि रोगको हटानेका उपाय करनेकी अपेक्षा रोगको होने ही न देना अधिक अच्छा है।

(४) भूतयज्ञ सब प्रकारके जीवोंको—देव-पितर, पशु-पक्षी, कृमि-कीट, अन्त्यज और अपाहिज आदि सबको सिद्धान्न खिलाना है। यदि अन्त्यज आदि गरीब मनुष्योंको इस तरह प्रतिदिन घर-घरसे अन्न मिला करे तो उनका रोटीका प्रश्न ही हल हो जाय। आजकलका-सा दैन्य-दारिद्र्य पहले नहीं था, न आजकलका-सा वैमनस्य और संघर्ष ही था।

(५) नृयज्ञ अतिथिका सत्कार है। आजकलके लोग इसको अच्छा नहीं समझते, इससे इसका चलन कम हो गया है और जगह-जगह होटल खुलते जा रहे हैं, जो सच पूछिये तो रोगोंके घर हैं। हमलोग अपने यार-दोस्तोंकी तो खूब आवभगत करते और उन्हें खिलाते-पिलाते हैं पर यदि कोई अनाथ असहाय प्राणी द्वारपर आ जाय तो उसके लिये हमारे घरमें, हमारे हृदयमें कोई स्थान नहीं है। हमारे पूर्व-पुरुष अतिथि-अभ्यागतकी प्रतीक्षा किया करते थे। जिस दिन कोई अतिथि उनके घर न आता उस दिन वे अपनेको अभागा समझते थे। कम-से-कम एक अतिथिको भोजन करा देना प्रत्येक गृहस्थका धर्म था। अतिथिके भोजन करनेके पश्चात् ही गृहस्थ और उनकी पत्नी भोजन कर सकते थे। मनु भगवान् कहते हैं—

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्। (३।११८)

अर्थात् जो अपने लिये ही रसोई बनाता है वह केवल पाप भक्षण करता है।

महायज्ञोंका यह संक्षित विवरण है। जब घर-घर ये महायज्ञ होते थे तब कोई झगड़ा नही था, कोई वैषम्य और संघर्ष नहीं था। जीवन सुखपूर्वक बीतता चला जा रहा था। जीवनमें कोई कृत्रिमता नहीं थी जो आजकल शुरूसे आखीरतक हमारे जीवनका प्रधान अंग हो रही है। उन पंचमहायज्ञोंके बदले आजकल हमारे ये पाँच यज्ञ हो रहे हैं—

(१) ब्रह्मयज्ञका स्थान अखबारोंने ले लिया है, जिनका काम झूठका प्रचार करना और लड़ाई-झगड़े और आपसकी दलबन्दीको बढ़ावा देना है।

(२) पितृतर्पणकी जगह आजकल हमलोग अपने अफसरों या अपने मुवक्किलोंकी तृप्तिका उपाय किया करते हैं।

(३) होमका काम बड़े साहबोंके पास भेजी जानेवाली डालियोंसे अथवा राजनीतिक नेताओंको दी जानेवाली थैलियोंसे हुआ करता है।

(४) भूतयज्ञका सिद्धान्न अब यार-दोस्तोंको दी जानेवाली पार्टियोंमें समा गया है। इन पार्टियोंके हेतु इस जमानेमें जैसे हो सकते हैं, वैसे ही हुआ करते हैं।

(५) नृयज्ञ अब दाम लेकर होटलोंमें किया जाता है। इसका जो कुछ परिणाम है, वह आँखोंके सामने है। जीवनमें सुख और शान्ति नामको भी नहीं रही है। बड़े जोरसे कोई आन्दोलन उठाया जाता है, कुछ दिन चलता है और फिर बेकार हो जाता है; तब कोई दूसरा आन्दोलन उठता है और उसी क्रमसे खतम होता है। इस प्रकार आन्दोलनपर आन्दोलन उठते-मिटते चले जा रहे हैं। पता नहीं हमलोग कहाँ जा रहे हैं। सोचने और

समझनेका समय है कि मनुष्यजातिको स्नेहसूत्रमें बाँध रखनेकी सबसे बड़ी शक्ति धर्मके ही आचार-विचारमें निहित है। जहाँ धर्म नहीं, वहाँ सुसंगति ठहर नहीं सकती, मेल हो नहीं सकता, परस्पर द्वेष ही वहाँ बढ़ेगा और नाना प्रकारके दल वहाँ निर्माण होते रहेंगे। जब धर्म रहेगा, तब हिन्दू और मुसलमान भी एक साथ एक होकर सुखपूर्वक रह सकेंगे। धर्मके वे दिन शीघ्र आयें।[१]

गृहस्थके पंचमहायज्ञका विवरण

(लेखक—पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड)

कर्म तीन प्रकारके होते हैं—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। जिन कर्मोंके करनेसे किसी फलविशेषकी प्राप्ति न होती हो और न करनेसे पाप लगता हो उन्हें नित्य[२] कहते हैं; जैसे-त्रिकालसन्ध्या, पंचमहायज्ञ इत्यादि।

पंचमहायज्ञ करनेसे आत्मोन्नति आदि अवान्तर फलकी प्राप्ति होनेपर भी, 'पंच सूना' दोषसे छुटकारा पानेके लिये शास्त्रकारोंकी आज्ञा है कि—

'सर्वैर्गृहस्थैः पञ्च महायज्ञा अहरहः कर्तव्याः।'

अर्थात् गृहस्थमात्रको प्रतिदिन पंचमहायज्ञ करने चाहिये। इससे यह स्पष्ट है कि पंचमहायज्ञके करनेसे पुण्यकी प्राप्ति नहीं होती, किन्तु न करनेसे पापका प्रादुर्भाव अवश्य होता है।

हमलोगोंकी जीवनयात्रामें सहज ही हजारों जन्तुओंकी प्रतिदिन हिंसा होती है; जैसे—चलने-फिरनेमें, भोजनके प्रत्येक ग्रासमें तथा श्वास-प्रश्वासमें जीवकी हिंसा अवश्य होती है। प्राणधारी मनुष्यके लिये इन पापोंसे बचना कदापि सम्भव नहीं है। अतः इन पापोंसे मुक्त होनेके लिये ही महामहिमशाली महर्षियोंने पंचमहायज्ञका विधान बताया है। भगवान् मनु कहते हैं—

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पंच क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥

(३। ६८, ६९)

'प्रत्येक गृहस्थके यहाँ चूल्हा, चक्की बुहारी (झाड़ू) ऊखल और जलका पात्र, ये पाँच हिंसाके स्थान हैं। इनसे होनेवाली हिंसाकी निष्कृत्तिके लिये महर्षियोंने गृहस्थोंके लिये प्रतिदिन पंचमहायज्ञ करनेका विधान किया है।'

---

१. सृष्टिके कार्यका सुव्यवस्थित रूपसे संचालन और सब जीवोंका यथायोग्य भरण-पोषण पाँच श्रेणियोंके जीवोंकी पारस्परिक सहायतासे सम्पन्न होता है। वे पाँच हैं—देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य और पशु-पक्षी आदि भूतप्राणी। देवता संसारभरमें सबको इष्ट भोग देते हैं, ऋषि-मुनि सबको ज्ञान देते हैं, पितर सन्तानका भरण-पोषण करते, रक्षा करते और कल्याणकामना करते हैं, मनुष्य कर्मोंके द्वारा सबका हित करते हैं, और पशु, पक्षी, वृक्षादि सब जीवोंके सुखके लिये अपना आत्मदान देते रहते हैं। पाँचों ही अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार सबकी सेवा करते हैं, पाँचोंके सहयोगसे ही सबका निर्विघ्न जीवननिर्वाह होता है। इन पाँचोंमें अधिकार, साधनसामग्री और कर्मकी योग्यताके कारण कर्मयोनि मनुष्यपर ही सबकी पुष्टिका विशेष दायित्व है। पंचमहायज्ञसे इस लोकसेवारूपी शास्त्रीय कर्मका सम्पादन होता है जिससे सबकी पुष्टि होती है। अतएव मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह जो कुछ भी सिद्ध करे—कमावे उसमें इन सबका भाग समझे और सबको देकर ही उसे अपने उपयोगमें लावे। जो मनुष्य सब जीवोंको उनका उचित हिस्सा देकर बचा हुआ खाता है—अपने उपयोगमें लाता है, वही अमृताशी (अमृत खानेवाला) है। जो ऐसा न करके केवल अपने ही लिये कमाता और अकेला ही खाता है, वह पाप खाता है।

'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥'

२. पूर्वकर्मानुसार जन्म ग्रहणकर जो मनुष्य जिस कक्षा (श्रेणी)-में प्रविष्ट होता है, उसमें अपनी स्थिति बनी रहे, इसके लिये ही उसे अपनी कक्षाके योग्य समस्त कर्म करने पड़ते हैं, जिससे उसका उक्तस्थानसे अधःपतन नहीं हो सकता। इसलिये नित्यकर्मोंके करनेसे पुण्यकी प्राप्ति नहीं होती, बल्कि इन्हें न करनेसे पाप अवश्य लगता है; क्योंकि उनके किये विना उस कक्षामें स्थायी स्थिति सर्वथा असम्भव है।

यज्ञके दो भेद होते हैं—एक यज्ञ, दूसरा महायज्ञ। यज्ञ तथा महायज्ञके स्वरूप तथा इसकी विशेषताका वर्णन महर्षि भारद्वाजने इस प्रकार किया है—

'यज्ञः कर्मसु कौशलम्' 'समष्टिसम्बन्धान्महायज्ञः।'

'कुशलतापूर्वक जो अनुष्ठान किया जाता है उसे 'यज्ञ' कहते हैं।' पश्चात् समष्टि-सम्बन्ध होनेसे उसीको 'महायज्ञ' कहते हैं।'

इसी बातको महर्षि अंगिराने भी कहा है—

यज्ञमहायज्ञौ व्यष्टिसमष्टिसम्बन्धात्।

'व्यष्टि-समष्टि सम्बन्धसे यज्ञ-महायज्ञ कहे जाते हैं।'

यज्ञका फल आत्मोन्नति तथा आत्मकल्याण है, उसका व्यष्टिसे सम्बन्ध होनेके कारण उसमें स्वार्थकी प्रधानता आ जाती है। (यही इसकी न्यूनता है।)

महायज्ञका फल जगत्का कल्याण है, उसका समष्टिसे सम्बन्ध होनेके कारण उसमें निःस्वार्थताकी प्रधानता आ जाती है। यही इसकी विशेषता हैं।

जिस यज्ञानुष्ठानके प्रभावसे जीवकी क्षुद्रता, अल्पज्ञता आदिका विनाश होता और वह परमात्माके साथ एकताको प्राप्त होता है, उस अनुष्ठानका महत्त्व सर्वमान्य है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

पञ्चमहायज्ञ

पंचमहायज्ञका वर्णन प्रायः सभी ऋषि-मुनियोंने अपने-अपने धर्म-ग्रन्थोंमें किया है। जिनमेंसे कुछ ऋषियोंके वचनोंको यहाँ उद्धृत किया जाता है—

तैत्तिरीयारण्यकमें—

'पञ्च वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते। देवयज्ञः पितृयज्ञो मनुष्ययज्ञो भूतयज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति।'

आश्वलायनसूत्रमें—

'अथातः पंच महायज्ञा देवयज्ञो भूतयज्ञः पितृयज्ञो ब्रह्म-यज्ञो मनुष्ययज्ञ इति।'

छन्दोगपरिशिष्टमें—

देवभूतपितृब्रह्ममनुष्याणामनुक्रमात्।
महासत्राणि जानीयात्त एव हि महामखाः॥

याज्ञवल्क्यस्मृतिमें—

बलिकर्मस्वधाहोमस्वाध्यायातिथिसत्क्रियाः।
भूतपित्रमरब्रह्ममनुष्याणां महामखाः॥

मनुस्मृतिमें—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥

जो मनुष्य पूर्वकथित पंचयज्ञके द्वारा देवता, अतिथि, पोष्यवर्ग, पितृलोक और आत्मा—इन पाँचोंको अन्नादि नहीं देते, वे जीते हुए भी मरेके समान हैं अर्थात् उनका जीवन निष्फल है। भगवान् मनु महाराजकी आज्ञा है कि—

पञ्चैतान् यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते॥

(३। ७१)

'जो गृहस्थ शक्तिके अनुकूल इन पंचमहायज्ञोंका एक दिन भी परित्याग नहीं करते, वे गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी प्रतिदिनके पंच सूनाजनित पापके भागी नहीं होते।'

पंचमहायज्ञके अनुष्ठानसे समस्त प्राणियोंकी तृप्ति होती है, इस प्रकारका सङ्केत भगवान् मनु महाराजने मनुस्मृतिके तृतीय अध्यायके ८०, ८१ और ७५ वें श्लोकमें किया है।

पंचमहायज्ञ करनेसे अन्नादिकी शुद्धि और पापोंका क्षय होता है। पंचमहायज्ञ किये विना भोजन करनेसे पाप लगता है। देखिये, आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें क्या कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(३। १३)

'यज्ञसे शेष बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष पंच-हत्याजनित समस्त पापोंसे मुक्त हो जाते हैं, किन्तु जो पापी केवल अपने लिये ही पाक बनाते हैं, वे पापका ही भक्षण करते हैं।'

अतः पंचमहायज्ञ करके ही गृहस्थोंको भोजन करना चाहिये। पंचमहायज्ञके महत्त्व एवं इसके यथार्थ स्वरूपको जानकर द्विजमात्रका कर्तव्य है कि वे अवश्य पंचमहायज्ञ किया करें—ऐसा करनेसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी सुतरां प्राप्ति होगी।

ब्रह्मयज्ञ

वेदोंके पठन-पाठनको 'ब्रह्मयज्ञ'* कहते हैं। वेदमें कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्डमें ज्ञानकी ही प्रधानता और परमावश्यकता बतलायी गयी है। ज्ञानके ही कारण जीवान्तरकी उपेक्षासे मनुष्य-देह उत्तम माना गया है। शास्त्रोक्त सदाचार तथा धर्मानुष्ठानमें तत्पर रहना ही मनुष्यकी मनुष्यता है और वही मनुष्य वास्तविक मनुष्यत्वका अधिकारी समझा जाता है। इसके बाद कर्मकाण्डद्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि हो जानेपर मनुष्य उपासनाकाण्डका अधिकारी बनता है, तदनन्तर भगवत्कृपाकटाक्षके लेशसे ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाता है। यह मनुष्योंका सामान्य उन्नतिक्रम है। क्रमिक उन्नतिमें ज्ञानका प्राधान्य है। अतः सभी अवस्थाओंमें ज्ञानकी ही आवश्यकता है। इसलिये प्रथमावस्थामें भी ज्ञानके बिना असदाचरणका परित्याग तथा धर्मानुष्ठानमें प्रवृत्ति कदापि नहीं हो सकती।

'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।'

इस उपदेशके अनुसार बलवान् इन्द्रियसमूह उसमें प्रतिबन्धक अवश्य है, यथापि इन्द्रियाँ प्रथमावस्थामें मनुष्यको अपनी ओर प्रवृत्त करती हैं न कि धर्मानुष्ठानादिमें। इसी समय माता, पिता तथा गुरुजन भी धर्मानुष्ठानमें प्रवृत्त तथा अधर्मानुष्ठानसे निवृत्त करते हैं। इस प्रकार सभी अवस्थाओंमें ज्ञानकी ही प्रधानता सिद्ध होती है। अतएव ज्ञानयज्ञरूप स्वाध्याय (वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन) करना चाहिये।

ब्रह्मयज्ञ करनेसे ज्ञानकी वृद्धि होती है। ब्रह्मयज्ञ करनेवाला मनुष्य ज्ञानप्रद महर्षिगणका अनृणी और कृतज्ञ हो जाता है।

देवयज्ञ

अपने इष्टदेवकी उपासनाके लिये परब्रह्म परमात्माके निमित्त अग्निमें किये हुए हवनको देवयज्ञ कहते हैं।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९। २७)

भगवान्के इस वचनसे सिद्ध होता है कि परब्रह्म परमात्मा ही समस्त यज्ञोंके आश्रयभूत हैं। इसलिये ब्रह्मयज्ञमें ऋषिगण, पितृयज्ञमें अर्यमादि नित्य पितृगण और परलोकगामी नैमित्तिक, पितृगण, भूतयज्ञमें देवरूप अनेक प्राणियोंको जानकर '**यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वम्**' इस गीतोक्त भगवद्वचनके अनुसार ईश्वर-विभूतिधारी देवताओंकी जो-जो पूजा की जाती है, वह सर्वव्यापक अन्तर्यामी परमात्माकी अर्चना (पूजा)-के अभ्यासके लिये ही की जाती है।

नित्य और नैमित्तिक भेदसे देवता दो भागोंमें विभक्त है। उनमें रुद्रगण, वसुगण और इन्द्रादि नित्य देवता कहे जाते हैं।

ग्रामदेवता, वनदेवता और गृहदेवता आदि अनित्य कहे जाते हैं।

दोनों तरहके ही देवता इस यज्ञसे तृप्त होते हैं। जिन देवताओंकी कृपासे जडभावको प्राप्त होते हुए भी विनश्वर कर्मसे फल उत्पन्न हो रहा है, जिनकी कृपासे समस्त सुख-शान्तिकी प्राप्ति होती है, जिनकी कृपासे संसारके समस्त क्रियाकलापकी भलीभाँति उत्पत्ति और रक्षा होती है, उन देवताओंसे उऋण होनेके लिये 'देवयज्ञ' करना परमावश्क है।

भूतयज्ञ

कृमि, कीट, पतंग, पशु और पक्षी आदिकी सेवाको 'भूतयज्ञ' कहते हैं।

ईश्वररचित सृष्टिके किसी भी अंगकी उपेक्षा कभी नहीं की जा सकती, क्योंकि सृष्टिके सिर्फ एक ही अंगकी सहायतासे समस्त अंगोंकी सहायता समझी जाती हैं, अतः 'भूतयज्ञ' भी परम धर्म है।

प्रत्येक प्राणी अपने सुखके लिये अनेक भूतों (जीवों) को प्रतिदिन क्लेश देता है, क्योंकि ऐसा हुए विना क्षणमात्र भी शरीरयात्रा नहीं चल सकती।

प्रत्येक मनुष्यके निःश्वास-प्रवास-भोजन-प्राशन, विहार-संचार आदिमें अगणित जीवोंकी हिंसा होती है। निरामिष भोजन करनेवाले लोगोंके भोजनके समय भी अगणित जीवोंका प्राणवियोग होता है, आमिषभोजियोंकी तो कथा ही क्या है? अतः भूतों (जीवों) से उऋण होनेके लिये 'भूतयज्ञ'* करना आवश्यक है।

भूतयज्ञसे कृमि, कीट, पशु-पक्षी आदिकी तृप्ति होती है।

---

* मनुभगवान्ने तो 'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः' ही लिखा है; परन्तु-

गुरावध्ययनं कुर्वञ्छुश्रूषादि समाचरेत्।
स सर्वो ब्रह्मयज्ञः स्यात्तत्तपः परमुच्यते॥

इस कुल्लूक भट्टकृत भाष्यके अनुसार अध्ययनको भी 'ब्रह्मयज्ञ' कहते हैं।

पितृयज्ञ

अर्यमादि नित्य पितरोंकी तथा परलोकगामी नैमित्तिक पितरोंकी पिण्डप्रदानादिसे किये जानेवाले सेवारूप यज्ञको 'पितृयज्ञ' कहते हैं।

सन्मार्गप्रवर्त्तक माता-पिताकी कृपासे असन्मार्गसे निवृत्त होकर मनुष्य ज्ञानकी प्राप्ति करता है। फिर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि सकल पदार्थोंको प्राप्त कर मुक्त हो जाता है। ऐसे दयालु पितरोंकी तृप्तिके लिये, उनके सम्मानके लिये, अपनी कृतज्ञताके प्रदर्शन तथा उनसे उऋण होनेके लिये 'पितृयज्ञ' करना नितान्त आवश्यक है।

पितृयज्ञसे समस्त लोकोंकी तृप्ति और पितरोंकी तुष्टिकी अभिवृद्धि होती है।

मनुष्ययज्ञ

क्षुधासे अत्यन्त पीड़ित मनुष्यके घर आ जानेपर उसकी भोजनादिसे की जानेवाली सेवाको 'मनुष्य यज्ञ' कहते हैं।

अतिथिके घर आ जानेपर वह चाहे किसी जाति या किसी भी सम्प्रदायका हो, उसे पूज्य समझकर उसकी पाद्य और अर्घ्यादिसे समुचित पूजा कर उसे अन्नादि देना चाहिये। इस विषयकी पुष्टि भगवान् मनु महाराजने भी अपनी स्मृतिके तीसरे अध्यायमें (३।९९-१०२,१०७,१११)विशदरूपसे की है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पृथ्वीके सभी समाजवालोंको अतिथिसेवारूप धर्मका परिपालन अवश्य करना चाहिये।

प्रथमावस्थामें मनुष्य अपने शरीरमात्रके सुखसे अपनेको सुखी समझता है, फिर अपने पुत्र, कलत्र, मित्रादिको सुखी देखकर सुखी होता है। तदनन्तर स्वदेशवासियोंको सुखी देखकर सुखी होता है। इसके बाद पूर्ण ज्ञान प्राप्त करनेपर वह समस्त लोकसमूहको सुखी देखकर सुखी होता है। परन्तु वर्तमान समयमें एक मनुष्य समस्त प्राणियोंकी सेवा नहीं कर सकता, इसलिये यथाशक्ति मनुष्यमात्रकी सेवा करना ही 'मनुष्ययज्ञ' कहा जाता है। मनुष्ययज्ञसे धन, आयु, यश और स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है।

इस प्रकार सूत्ररूपसे गृहस्थके पंचमहायज्ञका विवरण है। आशा है, विज्ञ पाठकगण इससे अवश्य सन्तुष्ट होंगे।

सबमें स्थित भगवान्का तिरस्कार न करो!

भगवान् कपिलदेव माता देवहूतिजीसे कहते हैं—

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा। तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम्॥
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्। हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः॥
द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः। भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति॥
अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे। नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः॥

(श्रीमद्भा० ३।२९।२१—२४)

मैं समस्त प्राणियोंमें उनकी आत्माके रूपसे सर्वदा स्थित रहता हूँ, मेरे उस स्वरूपका तिरस्कार करके मनुष्य पूजाकी विडम्बना करता है। जो समस्त प्राणियोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ ईश्वरको छोड़कर पूजा करता है, वह मूर्खतावश राखकी ढेरमें ही हवन करता है। जो एक शरीरमें अभिमान होनेके कारण अपनेको अलग समझता है,और दूसरे शरीरमें स्थित मुझसे ही द्वेष करता है, प्राणियोंके प्रति वैर-भावना रखनेवाले उस पुरुषका मन कभी शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। जो मनुष्य प्राणियोंका अपमान करता है, उसके द्वारा बहुत-सी सामग्रियोंसे किये हुए मेरे पूजनसे भी मैं प्रसन्न नहीं होता।

---

* देवेभ्यश्च हुतादन्नाच्छेषाद्भूतबलिं हरेत्। अन्नं भूमौ श्वचाण्डालवायसेभयश्च निक्षिपेत्॥ (या० स्मृ०)

'देवयज्ञसे बचे हुए अन्नको जीवोंके लिये भूमिपर डाल देना चाहिये और वह अन्न पशु-पक्षी एवं गौ आदिको देना चाहिये।'

करनेयोग्य

छः वेगोंका दमन करो—

वाणीका वेग, मनका वेग, क्रोधका वेग, उदरका वेग, उपस्थका वेग और जिह्वाका वेग। इन छः दुर्निवार वेगोंका दमन करनेवाला पृथ्वीभरपर शासन कर सकता है।

छः बातोंका त्याग करो—

अधिक आहार, व्यर्थ कार्य, व्यर्थ अधिक बोलना, भजनके नियमका त्याग, विषयी जनोंका संग और विषय-लालसा। ये छः भक्तिमें बाधा देनेवाले हैं। इनके रहते भजनमें प्रेम नहीं होता। जो इनका त्याग करता है, वह भक्ति प्राप्त करता है।

छः बातोंको ग्रहण करो—

भजनमें उत्साह, दृढ़ निश्चय, धैर्य, भजनमें प्रवृत्ति, बुरे संगका सर्वथा त्याग और साधुके आचरण—ये छः कर्तव्य हैं। इनके पालनसे बहुत शीघ्र भक्तिकी कृपा प्राप्त होती है।

(श्रीरूपगोस्वामी)

प्राणशक्ति और मनःशक्तिका साधन

(लेखक—स्वामी विभूतिनन्दजी सरस्वती)

प्राणशक्ति, मनःशक्ति, क्रियाशक्ति, भावनाशक्ति और बुद्धिशक्ति—ये पाँच शक्तियाँ हैं और इन्हींके अनुक्रमसे पाँच ही योग हैं— हठयोग, ध्यानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग। इनमें प्राणशक्ति और मनःशक्ति, ये दोनों अत्यन्त प्रबल हैं। इन दो शक्तियोंको जो वशमें कर लेता है, वह संसार-विजयी होता है।

प्राणशक्तिका साधन

प्राणशक्तिको वशमें करनेवाले साधक इस पृथ्वीपर रहनेवाले प्राणियों और आकाशमें उड़नेवाले पक्षियोंको वशीभूत कर सकता है और नक्षत्र मण्डलकी वार्ता भी जान सकता है। प्राणके आधारपर ही यह अखिल ब्रह्माण्ड स्थित है। यही प्राण सबको वायुरूपसे प्रतीत हो रहा है। अथर्ववेदके ग्यारहवें काण्डमें इस प्राणका वर्णन है—

प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते।
प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम्॥

'प्राण विराट् है, सबका प्रेरक है; इसलिये सब इसकी उपासना करते हैं। प्राण ही सूर्य और चन्द्रमा है, प्राणको ही प्रजापति कहते हैं।'

प्राणशक्तिके कारण ही हमारे शरीरकी नसों एवं नाडियोंमें रक्तका प्रवाह चल रहा है, उसी प्रकार प्राण-शक्तिके बलपर ही सूर्यादि लोक घूम रहे हैं। अन्न, वनस्पति आदि सूर्यकी प्राणशक्तिसे ही उत्पन्न होते हैं। प्राण ही तेज है। इस पांचभौतिक शरीरको प्राण जब छोड़ देता है, तब यह शरीर निस्तेज होता और नष्ट हो जाता है। प्राणियोंका प्राण ही ईश्वर है।

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्॥

(अथर्व० कां० ११)

'उस प्राणको मेरा नमस्कार है, जिसके अधीन यह सारा जगत् है, जो सबका ईश्वर है, जिसमें यह सारा जगत् प्रतिष्ठित है।'

प्राण परमेश्वरकी एक शक्ति है। इसका साधन गुरुमुखसे ही जानकर करना चाहिये। मूलाधारचक्रसे साधन आरम्भ किया जाता है। बायें पैरकी एड़ीसे गुदद्वारको बन्द करके मूलबन्ध लगाया जाता है और जननेन्द्रियके मूलको दोनों एड़ियोंसे दबाकर कुण्डलिनीको जगाया जाता है। स्वाधिष्ठानचक्रके ऊपर जो कन्द है, उसे दोनों एड़ियोंसे

दबानेसे कुण्डलिनी जागती है। वहाँसे ऊपर चढ़कर मणिपूर-चक्रको भेदकर प्राण अनाहतचक्रमें पहुँचता है। वहाँ ज्योतिका साक्षात्कार होता है। तब और ऊपर चढ़कर विशुद्धचक्रको भेदकर प्राण आज्ञाचक्रमें जाता है। वहाँ शिवके दर्शन होते हैं। यहींसे अमृतस्राव होता है। योगी लोग खेचरी मुद्रा लगाकर इसे पान करते और अमर हो जाते हैं। नाभिमें जालन्धरबन्ध और वक्ष:स्थलमें उड्डीयान-बन्ध लगाकर योगीलोग प्राणको मस्तिष्कमें ले जाते हैं, जहाँसे ऊपर सहस्रार है—जो श्रीविष्णुभगवान्‌का धाम और सबका मोक्षस्थान है। पूरक, रेचक, कुम्भक—इस त्रिविध प्राणायामसे यह साधन बनता है। बाहरी कुम्भक और भीतरी कुम्भकसे जो प्राणको अपने वशमें कर लेता है वह अपनी शक्तिसे अनायास आकाशमें वायुके समान संचार कर सकता है, सशरीर अन्य लोकोंमें जा सकता है, अपने स्थानमें बैठे-बैठे सहस्रों कोसकी दूरीपर अपना कार्य कर सकता है, रोगियोंको रोगोंसे मुक्त कर सकता है, बन्दियोंके बन्धन छुड़ा सकता है। यह सब तो मैंने लिख दिया, पर इसका साधन गुरुके समीप रहकर ही ठीक तरहसे हो सकता है।

मन:शक्तिका साधन

मन बड़ा चंचल है। यही बात अर्जुन-जैसे धीर-वीरने मन:संयमके प्रसंगमें कही है—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

'यह मन बड़ा चंचल, बड़ा बलवान्, दृढ और मथनेवाला है। इसको रोककर स्थिर करना वायुकी गतिको रोकनेके समान अत्यन्त कठिन है।'

मनका यह स्वभाव है कि यह बन्दरकी तरह यहाँसे वहाँ, एक डारपरसे दूसरी डारपर कूदता-फाँदता रहता है, एक क्षणमें उत्तरसे दक्षिण और पूर्वसे पश्चिमकी सैर कर आता है, बात-की-बातमें चारों धामकी यात्रा और पृथ्वीकी परिक्रमा कर लेता है। इसकी चञ्चलताका क्या ठिकाना है। मन-दुर्योधनसे युद्ध किये विना आत्मराज्यका पाना असम्भव है और विना राज्यके सुख और भोग कहाँ? परन्तु यह इतना बलवान् है कि सहस्रों हाथियोंके पाँवोंमें जंजीर डाल देना या सहस्रों सिंहोंको पिंजड़ेमें बंद रखना आसान है, पर इसे स्थिर करना आसान नहीं। मनने ही तो काशीपति श्रीविश्वनाथकी समाधि भंग कर दी थी, विश्वामित्र और अगस्ति-जैसे महातपस्वियोंको पृथ्वीपर पटक दिया था, देवर्षि नारदको अपने मोहनास्त्रसे बाँध लिया था और भगवान् रामचन्द्रतकको पत्नी-वियोगसे रुला दिया था। यह अपनी ही चालपर इतनी दृढतासे डटा रहता है कि किसीके हटाये वहाँसे हटता ही नहीं और सब इन्द्रियोंको अपने अधीन करके सारे शरीरमें खलबली मचा देता है। इसे तो लक्ष्मण-जैसे यति, हनूमान्-जैसे योद्धा, भीष्मपितामह-जैसे महायोगी ही जीत सकते हैं। योग जो कुछ है, इसी मनकी वृत्तियोंका निरोध है। जो इसका निरोध कर सकता है, वही ईश्वरका साक्षात्कार कर सकता है। जो कुछ भी किया जाता है, वह मनके द्वारा किया जाता है। अच्छा या बुरा, मनके विना कोई कार्य नहीं हो सकता। जब यह मन शुभ सङ्कल्पोंवाला होता है, तब वह अनन्त सुखका कारण होता है। इसकी बिखरी हुई सब वृत्तियाँ जब किसी स्थानमें एकत्र निरुद्ध होती हैं, तब मनुष्य अनन्त शक्तिशाली होता है। बन्ध या मोक्ष, दोनोंका कारण मन ही है।

शास्त्रोंने इस मनको स्थिर करनेके उपाय बताये हैं। पर बड़े भाग्य और पुण्यके प्रतापसे ही किसीका मन स्थिर और शान्त हो पाता है। अब अधिक विस्तार न करके मनको स्थिर करने और मन:शक्ति प्राप्त करनेका एक साधन यहाँ लिखते हैं। मनका दसमंजिला मकान है, एक-एक मंजिलपर दस-दस मुकाम हैं, एक-एक, मुकामपर सौ-सौ पैड़ियाँ हैं। इस मकानकी छतपर जो साधक चढ़ जाय और फिर उलटे पैरों लौट आये, वही संत है—चाहे वह गृहस्थ हो या ब्रह्मचारी, वर्ण और जातिमें श्रेष्ठ हो या कनिष्ठसे भी कनिष्ठ। यहाँ—

जात-पाँत पूछे नहिं कोई। हरिका भजै सो हरिका होई॥

मनका यह मकान मन:कल्पित ही है। आप शिव, विष्णु, राम, कृष्ण, सूर्य, ॐ-चाहे कोई भी एक नाम लीजिये और उसे १०० तक गिनिये। यह एक मुकाम है। वहाँसे उलटे लौटकर वैसे ही गिनते हुए एकपर आइये। इस प्रकार अभ्यास बढ़ाते हुए एक हजारतक चढ़ जाइये, फिर वहाँसे उलटे पैरों लौटिये। आप देखेंगे कि आपका मन कितना शान्त होता है। अब दो हजारतक चढ़िये, यह दूसरी मंजिल आ गयी। वहाँसे उलटे पैरों फिर लौटिये। इसी प्रकार तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छठी, सातवीं, आठवीं नवीं और दसवीं मंजिलतक—१० हजारतक चढ़ जाइये

और उलटी गिनती करते हुए लौटिये। आपको विलक्षण शान्ति मिलेगी और जप भी होगा। पर इस प्रकार जपका होना और उलटी-सीधी गिनतीमें मनका लगना भी बड़े पुण्यसे होता है। महान् पुण्योदयके बिना भगवान्की ओर मन नहीं लगता।

प्राण और मनका साधन संग

प्राणायाम करते हुए कुम्भककी क्रियामें जहाँ प्राण रुकेगा, वहीं मन भी स्थिर होगा—यह निश्चित बात है। मनः-साधनकी गिनती करते हुए जब आप एक हजारतक पहुँचें जब वहीं चुप होकर बैठ जायँ, मनको कहीं इधर-उधर जाने न दें। इसके बाद लौटिये। जब एकपर आ जायँ तब चुप होकर मनको भीतर ही रोक रखें और कुछ देर हृदय और नाभिचक्रका ध्यान करें। फिर अधखुले नेत्रोंसे, मनको नासिकाके अग्रभागपर या भ्रूमध्यमें स्थिर करें। इस अभ्याससे यह मन कुछ दिनोंमें शान्त होगा, आपको बड़ा आनन्द आवेगा और आत्मानुभव होने लगेगा।

पलंग या चारपाईपर लेट जाओ। तकिया हटा दो। कपड़ोंको ढीला कर दो। शरीरको भी ढीला छोड़ दो। प्राणको उलटा खींचो, पेटमें ले जाओ, फिर छातीतक ले आओ, फिर पेटमें नाभितक घुमाओ। ऐसा करनेसे आपका नाभि-सूर्य प्रकाशित होगा। कुछ दिन इस प्रकार करके तब मनको इसीमें लगानेसे बड़ी शान्ति मिलेगी।

यदि शक्तिशाली बनना चाहते हो तो किसी मैदानमें खड़े हो जाओ, शरीर ढीला छोड़, दो हाथोंको नीचे लटका दो, प्राणको आकाशमें फेंक दो। फिर प्राणको भीतर खींचते हुए मनसे यह काल्पनिक योग करो कि मैं अमुक शक्तिको खींचकर अपने अंदर ला रहा हूँ। कुछ दिन ऐसा अभ्यास करनेसे आपमें उस शक्तिका प्रवेश हो जायगा। हमारे महान् पूर्व पुरुष मन और प्राणकी इन शक्तियोंसे जो चाहते कर सकते थे। आप भी साधन-सम्पन्न होंगे तो जो चाहेंगे कर सकेंगे।

पाँच शक्तियोंमेंसे मनःशक्ति और प्राणशक्तिका यहाँतक कुछ वर्णन किया गया। क्रियाशक्ति, भावनाशक्ति और बुद्धिशक्ति इन्हीं दो शक्तियोंमें समा जाती हैं; इनका पृथक्-पृथक् वर्णन यहाँ नहीं किया गया। जो लोग इन दो शक्तियोंका शोधन कर लेंगे उन्हें इनके अलौकिक गुणोंका आप ही अनुभव होगा।

मनुष्यमात्रके तीस धर्म

देवर्षिनारदजी कहते हैं—

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः। अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
सन्तोषः समदृक्सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः। नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः। तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः। सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः। त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥

(श्रीमद्भा० ७। ११। ८—१२)

हे युधिष्ठिर! सब मनुष्योंके लिये यह तीस लक्षणवाला श्रेष्ठ धर्म कहा गया है। इससे सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न होते हैं। वे तीस लक्षण ये हैं—सत्य, दया, तपस्या, शौच, तितिक्षा, आत्म-निरीक्षण, बाह्य इन्द्रियोंका संयम, आन्तर इन्द्रियोंका संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, संतोष, समदृष्टि, सेवा, दुराचारसे निवृत्ति, लोगोंकी विपरीत चेष्टाओंके फलका अवलोकन, मौन, आत्मविचार, प्राणियोंको यथायोग्य अन्नदानादि, समस्त प्राणियोंमें विशेष करके मनुष्योंमें आत्मबुद्धि—इष्टदेव-बुद्धि, महात्माओंके आश्रयभूत भगवान्के गुणनाम आदिका श्रवण-कीर्तन, स्मरण, सेवा, यज्ञ, नमस्कार, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन।

प्रेमसिद्धा मीरा

पग घुँघरु बाँध मीरा नाची रे।
मैं तो मेरे नारायनकी आपहि हो गइ दासी रे।
लोग कहै मीरा भई बावरी न्यात कहै कुळनासी रे॥
विषका प्याला राणाजी भेज्या पीवन मीरा हाँसी रे।
मीराके प्रभु गिरधर नागर सहज मिले अबिनासी रे॥

माई री! मैं तो लियो गोबिंदो मोल।
कोइ कहै छाने कोइ कहै छुपके, लियो री बजंता ढोल॥
कोइ कहै मुँहघो कोइ कहै सुहँघो लियो री तराजू तोल।
कोइ कहै काळो कोइ कहै गोरो, लियो री अमोलक मोल॥
कोइ कहै घरमें कोइ कहै बनमें राधाके संग किलोल।
मीराके प्रभु गिरधर नागर आवत प्रेमके मोल॥

—मीराबाई

साधनाके गभीर स्तर

(लेखक—श्रीमेहरबाबा)

धार्मिक क्रिया-कलापकी भूमिका-से ऊपर उठकर साधनाके गभीर स्तरोंमें प्रवेश

अधिकांश लोगोंके लिये आध्यात्मिक साधनाका स्वरूप अपने-अपने धर्मोंद्वारा निर्दिष्ट क्रिया-कलापका बाह्य अनुष्ठान होता है। प्रारम्भिक अवस्थाओंमें इस अनुष्ठानका भी एक महत्त्व होता है, क्योंकि इससे आत्मशुद्धि और मनोनिग्रहमें सहायता मिलती है; परन्तु अन्ततोगत्वा साधकको बाह्य नियमोंके पालनकी अवस्थासे ऊपर उठकर आध्यात्मिक साधनाके गभीर स्तरोंमें प्रवेश करना पड़ता है। जब साधक इस भूमिकामें पहुँच जाता है, तब धर्मका बाह्यरूप उसके लिये गौण हो जाता है और उसकी रुचि धर्मके उन मूल तत्त्वोंकी ओर हो जाती है, जो सभी बड़े-बड़े मजहबोंमें व्यक्त हुए हैं। सच्ची साधना उस जीवनको कहते हैं, जिसके मूलमें आध्यात्मिक बोध रहता है और यह बोध उसीको होता है, जिसकी रुचि वास्तवमें आध्यात्मिक तत्त्वोंकी ओर होती है।

साधन-भेद

साधनका अर्थ कठोर नियमोंका बन्धन नहीं समझना चाहिये। सबके जीवनमें अखण्ड और अटल एकरूपता हो नहीं सकती और न उसकी आवश्यकता ही है। आध्यात्मिक क्षेत्रमें साधन-भेदके लिये काफी अवकाश है। जो साधन किसी एक साधकके लिये उपयोगी होता है, वह अवश्य ही उसके संस्कारों और मनोवृत्तिकी अपेक्षा रखेगा और इस प्रकार, यद्यपि सबका आध्यात्मिक ध्येय एक ही होता है, उस विशिष्ट साधकका साधन विशेष प्रकारका हो सकता है। किन्तु ध्येय सबका एक होनेके कारण साधनगत भेद विशेष महत्त्वके नहीं होते और साधनाके गभीर स्तरभेदोंके रहते हुए भी सभी साधकोंके लिये महत्त्वपूर्ण होते हैं।

आध्यात्मिक क्षेत्रकी साधना भौतिक क्षेत्रकी साधनासे भिन्न होती है।

आध्यात्मिक क्षेत्रकी साधना भौतिक क्षेत्रकी साधनासे अवश्य ही तत्त्वत: भिन्न होगी, क्योंकि आध्यात्मिक क्षेत्रका ध्येय भौतिक क्षेत्रके ध्येयोंसे स्वरूपत: भिन्न होता है। भौतिक क्षेत्रका ध्येय एक ऐसा पदार्थ होता है, जिसका कालकी दृष्टिसे आदि और अन्त होता है और जो किसी अन्य वस्तुका कार्य होता है; आध्यात्मिक क्षेत्रका ध्येय पूर्णता है,जो कालकी सीमासे अतीत है। अत: भौतिक क्षेत्रकी साधनाका लक्ष्य ऐसी वस्तुकी प्राप्ति होता है, जो अभी भविष्यके गर्भमें है; किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्रकी साधनाका लक्ष्य उस वस्तुकी प्राप्ति होता है, जो सदा रही है, सदा रहेगी और इस समय भी है।

आध्यात्मिक साधनाके ध्येयका सामान्य रूप।

जीवनके आध्यात्मिक ध्येयको जीवनके भीतर ही ढूँढ़ना चाहिये, जीवनके बाहर नहीं; अत: आध्यात्मिक क्षेत्रकी साधना इस प्रकारकी होनी चाहिये कि वह हमारे जीवनको उस जीवनके अधिकाधिक निकट ले जाय, जिसे हम आध्यात्मिक समझते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्रकी साधनाका ध्येय किसी सीमित अभीष्टकी प्राप्ति नहीं होता, जो कुछ दिन रहकर फिर सदाके लिये मिट जाय—इस तरह मिट जाय कि जैसे वह कोई बिल्कुल ही नगण्य वस्तु हो; उसका ध्येय होता है जीवनके स्वरूपका आमूल परिवर्तन, जिससे कि वह सदाके लिये चिरस्थायी वर्तमानमें महान् सत्यको अभिव्यक्त कर सके। साधना आध्यात्मिक दृष्टिसे तभी सफल होती है, जब वह साधकके जीवनको ईश्वरीय उद्देश्यके अनुकूल बनानेमें समर्थ होती है, जो जीवमात्रको ब्रह्मभावकी आनन्दमय अनुभूति कराना है। साधनको इस ध्येयके स्वरूपके सर्वथा अनुकूल बनाना पड़ेगा।

साधन साध्यमें मिल जाता है

आध्यात्मिक क्षेत्रमें साधनाके प्रत्येक अंगका ध्येय जीवनके सभी स्तरोंमें दिव्यताकी प्राप्ति-रूपी आध्यात्मिक लक्ष्की सिद्धि होना चाहिये; अत: एक दृष्टिसे आध्यात्मिक साधनाके विभिन्न स्तर आध्यात्मिक पूर्णताकी स्थितिके निकट पहुँचनेकी ही भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ हैं। साधना उतने ही अंशमें पूर्ण होती है जितने अंशमें वह इस आध्यात्मिक आदर्शको व्यक्त करती है, अर्थात् जितने अंशमें वह पूर्ण जीवनके सदृश होती है। इस प्रकार साधन और साध्यमें जितना ही अधिक अन्तर होता है, साधना उतनी ही अपूर्ण होती है;

और साधन और साध्यमें जितना कम अन्तर होता है, साधना उतनी ही पूर्ण होती है। और जब साधना पूर्ण होती है, तब साधन पूर्ण आध्यात्मिक साध्यमें जाकर मिल जाता है और इस प्रकार साधन और साध्यका भेद अखण्ड सत्ताकी अविकल पूर्णतामें लीन हो जाता है।

साधनका अर्थ है साध्यकी आंशिक प्राप्ति।

साधन और उसके द्वारा प्राप्त किये जानेवाले साध्यका जो यह सम्बन्ध है, वह भौतिक क्षेत्रमें रहनेवाले साध्य और साधनके सम्बन्धसे भिन्न ही प्रकारका है। भौतिक क्षेत्रका साध्य प्राय: जिस साधनके द्वारा उसकी प्राप्ति होती है, उसके न्यूनाधिकरूपमें सर्वथा बाहर रहता है; और साधन एवं उसके द्वारा प्राप्त होनेवाले साध्यके स्वरूपमें भी स्पष्ट भेद होता है। उदाहरणके लिये बंदूकके घोड़ेको खींचना किसी मनुष्यकी मृत्युका साधन हो सकता है; परन्तु मनुष्यकी मृत्यु और घोड़ेके खींचनेकी क्रियामें स्वरूपत: महान् अन्तर है, दोनोंमें किसी प्रकारकी सजातीयता नहीं है। किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्रमें साधन और उसके द्वारा प्राप्तव्य साध्य एक दूसरे सर्वथा बाह्य नहीं हो सकते और उनमें कोई स्पष्ट स्वरूपगत भेद भी नहीं है। आध्यात्मिक क्षेत्रमें साधन और साध्यके बीचमें ऐसा अन्तर नहीं रखा जा सकता जो किसी प्रकार पट ही न सके; और इससे यह बात निष्पन्न होती है— जो देखनेमें असंगत-सी मालूम होती है—कि आध्यात्मिक क्षेत्रमें साधनका अर्थ ही साध्यकी आंशिक प्राप्ति होता है। इस प्रकार बहुत-से आध्यात्मिक साधनोंको वास्तवमें जो साध्य मानकर चलना पड़ता है, इसका कारण भी समझमें आ जाती है।

ज्ञान, कर्म और भक्तिकी साधना।

साधनाके गभीर स्तरोंमें आध्यात्मिक साधनका अर्थ होता है- (१) ज्ञान मार्ग, (२) कर्म-मार्ग और (३) भक्ति मार्गका अनुसरण। ज्ञानके साधनका स्वरूप होता है—(क) यथार्थ बोधसे उत्पन्न होनेवाले वैराग्यका अभ्यास, (ख) ध्यानकी भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएँ और (ग) विवेक और अन्तर्दृष्टिका निरन्तर उपयोग। आध्यात्मिक ज्ञानकी प्राप्ति अथवा अभिव्यक्तिके इन त्रिविध प्रकारोंकी कुछ व्याख्या करनेकी आवश्यकता है।

वैराग्य।

जीव इस नामरूपात्मक जगत्के जालमें फँसकर इस बातको भूल गया है कि वह ईश्वरकी ही सत्ताका एक अंश है। यह भूल अथवा अज्ञान ही जीवका बन्धन है और इस बन्धनसे मुक्ति प्राप्त करना ही आध्यात्मिक साधनाका उद्देश्य होना चाहिये। अत: सांसारिक विषयोंके बाह्य त्यागकी बहुधा मोक्षके साधनोंमें गणना की जाती है; परन्तु यद्यपि इस प्रकारके बाह्य त्यागका भी एक अपना महत्त्व हो सकता है, वह सर्वथा आवश्यक नहीं है। आवश्यकता है सांसारिक विषयोंकी स्पृहाके भीतरी त्यागकी। और जब इस स्पृहाका त्याग हो जाता है, तब इस संसारके पदार्थोंका त्याग गौण हो जाता है; क्योंकि जीवात्माने इस नामरूपात्मक मिथ्या जगत्से भीतरी सम्बन्धका त्याग कर दिया है और मुक्तिकी अवस्थाके लिये तैयारी कर ली है। वैराग्य ज्ञानके साधनका एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

ध्यान।

आध्यात्मिक ज्ञानको प्राप्त करनेका दूसरा साधन ध्यान है। ध्यानके सम्बन्धमें ऐसा नहीं मानना चाहिये कि वह पर्वत-कन्दराओंमें रहनेवाले मुनियोंके ही करनेकी कोई अनोखी क्रिया है। प्रत्येक मनुष्य अपनेको किसी-न-किसी वस्तुका ध्यान करते हुए पाता है। इस प्रकारके स्वाभाविक ध्यान और साधकके ध्यानमें अन्तर यही है कि साधकका ध्यान क्रमबद्ध और नियमितरूपसे होता है और वह ऐसी वस्तुओंका चिन्तन करता है जो आध्यात्मिक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण होती हैं। साधनरूपमें किया जानेवाला ध्यान साकार भी हो सकता है और निराकार भी।

साकार ध्यान वह होता है, जिसका सम्बन्ध किसी ऐसे व्यक्तिसे होता है, जो आध्यात्मिक दृष्टिसे पूर्ण हो। साकार ध्यानके लिये (साधककी रुचिके अनुसार) पूर्वके अवतारोंमेंसे अथवा वर्तमानके सिद्ध महापुरुषोंमेंसे किसीको चुना जा सकता है। इस प्रकारके साकार ध्यानका अभ्यास करनेसे साधकके अंदर उसके ध्येयके समस्त दैवी गुणों अथवा आध्यात्मिक ज्ञानका संक्रमण होने लगता है; और प्रेम तथा आत्मसमर्पणका भाव ध्यानके अन्तर्गत रहनेसे उससे ध्येयकी कृपाका आकर्षण होता है और चरम सिद्धि उस कृपासे ही सम्भव होती है। इस प्रकार साकार-

ध्यानकी साधनासे साधक अपने ध्येयके समान ही नहीं बन जाता वरं उसके साथ तत्त्वत: एक हो जानेमें भी सहायता मिलती है।

निराकार-ध्यानका सम्बन्ध परमात्माके निराकार एवं अपरिच्छिन्न स्वरूपसे होता है। इससे साधक परमात्माके निराकार स्वरूपकी प्राप्तिके मार्गमें अग्रसर हो सकता है; परन्तु सामान्यत: साकार-ध्यानके अभ्यास और सदाचारमय जीवनके द्वारा जबतक साधक भलीभाँति तैयार नहीं हो जाता, तबतक निराकार-ध्यान व्यर्थ ही होता है। अनन्त परमात्माकी चरम अनुभूतिमें न तो आकाररूप उपाधि रहती है और न सत्-असत्का भेद ही रहता है; इस अनुभूतिको प्राप्त करनेके लिये तो साकारसे निराकारमें और सत्से परमात्मामें जाना पड़ता है, जो सत् और असत् दोनोंसे परे हैं। निराकार-ध्यानके द्वारा तत्त्वको प्राप्त करनेकी दूसरी शर्त यह है कि साधकको अपना चित्त बिलकुल स्थिर कर लेना चाहिये। परन्तु यह तभी सम्भव होता है, जब चित्तके विभिन्न संस्कार नष्ट हो जायँ; और संस्कारोंका आत्यन्तिक बिनाश ईश्वर अथवा महापुरुषकी कृपासे ही सम्भव होता है, निराकार-ध्यानके मार्गमें सिद्धि प्राप्त करनेके लिये भी ईश्वर अथवा महापुरुषकी कृपाके बिना काम नहीं चलता।

विवेक और अन्तर्दृष्टिका उपयोग

ज्ञानका साधन तबतक अधूरा ही रहता है, जबतक साधक निरन्तर विवेकका अभ्यास नहीं करता और अपनी उच्चतम अन्तर्दृष्टिका विकास नहीं करता। ईश्वरका साक्षात्कार उसी साधकको होता है, जो सत्य एवं नित्य वस्तुओंके सम्बन्धमें अपनी अन्तर्दृष्टि एवं विवेकसे काम लेता है। प्रत्येक मनुष्यके अंदर अनन्त ज्ञानका भंडार छिपा रहता है, उसे प्रकट करनेकी आवश्यकता होती है। मनुष्यके अंदर जो कुछ भी थोड़ा बहुत आध्यात्मिक ज्ञान होता है, उसे आचरणमें उतारना ही ज्ञानकी वृद्धिका उपाय है। ज्ञानी महापुरुषोंके द्वारा जो कुछ उपदेश मानव- जातिको समय-समयपर प्राप्त होते रहे हैं और साधकको जन्मसे ही जो विवेक-बुद्धि प्राप्त रहती है, उससे उसे इसके आगे उसे क्या करना है, इस विषयमें यथेष्ट प्रकाश मिलता है। जो कुछ ज्ञान उसे प्राप्त है, उसको अमलमें लाना ही कठिन है।

कर्मका महत्त्व

ज्ञानके साधनकी सफलताके लिये यह आवश्यक है कि वह प्रत्येक अवस्थामें कर्म सहकृत हो। दैनिक जीवन विवेकानुसारी होना चाहिये और उसमें ऊँची-से-ऊँची अन्तर्दृष्टिकी प्रेरणा होनी चाहिये। बिना किसी भय अथवा शंकाके हृदयकी सर्वोत्तम प्रेरणाओंके अनुसार आचरण करना ही कर्मयोग अथवा कर्ममार्गका स्वरूप है। साधनमें आचरणकी ही प्रधानता है, केवल विचारकी नहीं। सम्यक् विचारकी अपेक्षा सम्यक् आचरणका बहुत अधिक महत्त्व है। अवश्य ही जो आचरण सम्यक्ज्ञानके ऊपर प्रतिष्ठित है, वह अधिक लाभदायक होगा; किन्तु आचरणकी दिशामें एक भी भूल होनेसे उससे हमें महत्त्वपूर्ण शिक्षा मिल सकती है। जो विचार केवल विचारके लिये ही होता है अर्थात् जिसके अनुसार आचरण नहीं किया जाता, उससे कोई आध्यात्मिक लाभ नहीं होता—चाहे वह कितना ही निर्भ्रान्त क्यों न हो। इस प्रकार जो मनुष्य बहुत पढ़ा-लिखा तो नहीं है, किन्तु जो सच्चे मनसे भगवान्का नाम लेता है और अपने छोटे-से-छोटे कर्तव्यका पूरे मनसे पालन करता है, वह उस मनुष्यकी अपेक्षा भगवान्के अधिक समीप हो सकता है, जिसे दुनियाभरका दार्शनिक ज्ञान तो है, परन्तु जिसके विचारोंका उसके दैनिक जीवनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

एक गदहेका दृष्टान्त।

साधनके क्षेत्रमें विचारकी अपेक्षा आचरणका कितना अधिक महत्त्व है—यह बात एक गदहेके आख्यानसे, जो प्रसिद्ध है, स्पष्ट हो सकती है। एक गदहेको, जो बहुत देरसे चल रहा था, बड़ी भूख लगी। थोड़ी देर बाद उसको घासकी दो ढेरियाँ दिखलायी दीं, एक तो रास्तेकी दाहिनी ओर कुछ दूरपर थी और दूसरी मार्गकी बाँयीं ओर थी। गदहेने सोचा कि उन दोनों ढेरियोंमेंसे किसीके पास जानेका विवेकपूर्वक निश्चय करनेके पूर्व इस बातका निश्चितरूपसे जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि दोनों ढेरियोंमेंसे कौन-सी ढेरी सब ओरसे विचार करनेपर अधिक वरणीय ठहरती है। बिना भलीभाँति विचार किये और दूसरीकी अपेक्षा एकको पसंद करनेके लिये यथेष्ट कारण न होते हुए दोनोंमेंसे किसी एकको चुन लेना उसके लिये विवेकपूर्ण कार्य न होकर केवल इच्छाप्रेरित होगा। इसलिये पहले उसने इस बातपर विचार किया कि जिस रास्तेपर वह चल रहा है, वहाँसे दोनों

ढेरियोंकी दूरी कितनी है। दुर्भाग्यवश बड़ी देरतक विचार करनेके बाद वह इस निश्चयपर पहुँचा कि दोनों ही ढेरियाँ मार्गसे समानान्तरपर हैं। अत: अब वह किसी दूसरे कारणको ढूँढ़ने लगा, जिसके आधारपर उन ढेरियोंके तारतम्यका ठीक-ठीक निर्णय किया जा सके और इस विचारसे दोनों ढेरियोंमें कौन-सी बड़ी और कौन-सी छोटी है—इसपर विचार करने लगा। परन्तु इस बार भी वह विचारके द्वारा यह निर्णय नहीं कर सका; क्योंकि इस बार भी वह इसी निश्चयपर पहुँचा कि दोनों ढेरियाँ परिमाणमें भी बराबर ही थीं, छोटी-बड़ी नहीं। तब उसने अपनी स्वभावोचित धीरता और अध्यवसायके साथ घासकी उत्तमता आदि अन्य बातोंपर विचार किया; परन्तु प्रारब्धकी बात, सभी बातोंमें—जिनको लेकर वह विचार कर सकता था—उसे ऐसा मालूम हुआ कि दोनों ढेरियाँ समानरूपसे अभीष्ट हैं।

अन्तमें यह हुआ कि जब गदहेके ध्यानमें कोई ऐसी बात नहीं आयी कि जिसके आधारपर वह विचारपूर्वक कह सकता कि दोनों ढेरियोंमेंसे कौन-सी अधिक वरणीय है, वह उनमेंसे किसीके समीप नहीं गया किन्तु पहलेकी ही भाँति क्षुधापीड़ित और थका-माँदा सीधा चला गया; घासकी दो ढेरियाँ मिलनेपर भी वह उनसे कोई लाभ उठा नहीं सका। यदि वह विवेकपूर्वक विचारद्वारा ठीक-ठीक निर्णय करनेके आग्रहको छोड़कर दोनोंमेंसे किसी एक ढेरीके समीप चला गया होता तो सम्भव था वह ढेरी उतनी अच्छी न होती, जितनी दूसरी ढेरी रही होगी; परन्तु बुद्धि-द्वारा निर्णय करनेमें भूल रह जानेपर भी व्यावहारिक दृष्टिसे वह अनन्त गुना लाभमें रहता। आध्यात्मिक जीवनमें किसी मार्गपर चलना प्रारम्भ करनेके लिये यह आवश्यक नहीं है कि हमारे पास उस मार्गका पूरा मानचित्र हो, बल्कि मार्गका पूरा ज्ञान प्राप्त करनेका आग्रह होनेसे यात्रामें सहायता मिलनेकी अपेक्षा उल्टी रुकावट हो सकती है। आध्यात्मिक जीवनके गूढ़ रहस्य उन्हींके सामने प्रकट होते हैं, जो जोखिम उठाकर वीरतापूर्वक अपनेको परीक्षामें डालते हैं; जो आलसी मनुष्य एक-एक कदम आगे बढ़नेके लिये हानि न होनेकी गारंटी चाहता है, उसके सामने वे रहस्य कभी प्रकट नहीं होते। जो मनुष्य समुद्रके किनारे खड़ा होकर उसके सम्बन्धमें विचार करता है, उसे केवल समुद्रके ऊपरी भागका ही ज्ञान होगा; परन्तु जो समुद्रकी थाह लेना चाहता है, उसे समुद्रके जलमें गोता लगानेके लिये तैयार होना पड़ेगा।

निष्काम सेवा।

कर्मयोगकी साधनामें सफल होनेके लिये इस बातकी आवश्यकता है कि कर्मका उद्‍गम ज्ञानसे होना चाहिये। ज्ञानपूर्वक कर्म बन्धन-कारक नहीं होता, क्योंकि वह अहङ्कार मूलक न होकर अहङ्कारशून्य होता है। स्वार्थपरायणता अज्ञानका ही स्वरूप है और अहङ्कारशून्यता तत्त्वज्ञानका प्रतिबिम्ब है; हमें नि:स्वार्थ सेवाका जीवन इसीलिये अंगीकार करना चाहिये कि उसके मूलमें ज्ञान रहता है, बाह्य परिणामकी दृष्टिसे नहीं। परन्तु निष्काम कर्ममें विलक्षणता यह है कि उससे साधकको इतना अधिक लाभ हाता है, जितना अज्ञान-जनित स्वार्थपरायणतासे कभी प्राप्त हो ही नहीं सकता। स्वार्थपरायणताका परिणाम होता है सङ्कीर्ण जीवन, जिसका केन्द्र होता है सीमित एवं पृथक् व्यष्टिसत्ताका मिथ्या भाव; परन्तु निष्काम-कर्मसे भेद-भ्रमका नाश करनेमें सहायता मिलती है और हम अनन्त जीवनमें प्रवेश कर पाते हैं, जहाँ सर्वात्मभावकी अनुभूति होती है। मनुष्यके पास जो कुछ भी है, वह नष्ट हो सकता है और वह जिस वस्तुकी आकाङ्क्षा करता है, वह सम्भव है उसे कभी प्राप्त न हो; परन्तु जो कुछ वह परमात्माके अर्पण कर देता है, वह तो लौटकर उसीको मिल जाता है। कर्मयोगके साधनका यही स्वरूप है।

भक्ति।

ज्ञान अथवा कर्मके साधनकी अपेक्षा भी भक्ति अथवा प्रेमका साधन और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वह प्रेमहीके लिये किया जाता है। वह स्वत: पूर्ण है और किसी दूसरे सहायककी अपेक्षा नहीं रखता। संसारमें बड़े-बड़े संत हो गये हैं, जिन्होंने किसी भी और वस्तुकी अपेक्षा न करके भगवत्प्रेममें ही सन्तोष माना था। वह प्रेम प्रेम ही नहीं है, जो किसी आशासे किया जाता है। भगवत्प्रेमके अतिरेकमें प्रेमी-प्रियतम भगवान्‌के साथ एक हो जाता है। प्रेमसे बढ़कर कोई साधन नहीं है, प्रेमसे ऊँचा कोई नियम नहीं है और प्रेमके परे कोई प्राप्तव्य वस्तु नहीं है; क्योंकि प्रेम भगवत्स्वरूप होनेपर अनन्त हो जाता है। भगवत्प्रेम और भगवान् एक ही वस्तु हैं; और जिसमें भगवत्प्रेमका उदय हो गया, उसे भगवान्‌की प्राप्ति हो चुकी।

प्रेमको साधन और साध्य दोनोंका ही अंग माना

साधनसे निःसाधनताकी प्राप्ति

जा सकता है; परन्तु प्रेमका महत्त्व इतना अधिक स्पष्ट है कि बहुधा इसे किसी अन्य वस्तुकी प्राप्तिका साधन मानना भूल समझा जाता है। प्रेमके मार्गमें भगवान्‌के साथ एकीभाव जितना सुगम और पूर्ण होता है, उतना किसी भी साधनमें नहीं होता। जहाँ प्रेम ही हमारा पथप्रदर्शक होता है, वहाँ सत्यकी ओर ले जानेवाला मार्ग सहज और आनन्दमय होता है। साधारणतः साधनामें प्रयत्न रहता ही है और कभी-कभी तो घोर प्रयत्न करना पड़ता है—उदाहरणतः उस साधकको जो प्रलोभनोंके रहते वैराग्यके लिये चेष्टा करता है। परन्तु प्रेममें प्रयत्नका भाव नहीं रहता; क्योंकि प्रेम करना नहीं पड़ता, अपने-आप होता है। स्वाभाविकपन ही सच्ची आध्यात्मिकताका स्वरूप है। ज्ञानकी सबसे ऊँची अवस्थाको, जिसमें चित्त सर्वथा तत्त्वाकार हो जाता है, सहजावस्था कहते हैं—जिसमें स्वरूप-ज्ञान अबाधित रहता है। आध्यात्मिक साधनामें एक विलक्षण बात यह है कि साधकका सारा प्रयत्न निःसाधनताकी अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये होता है।

कस्तूरी-मृगका दृष्टान्त।

एक कस्तूरी-मृगका बड़ा ही सुन्दर आख्यान है, जिससे सब प्रकारकी आध्यात्मिक साधनाका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। एक कस्तूरी-मृग एक बार उत्तराखण्डके पहाड़ोंमें विचर रहा था। सहसा उसे कहींसे ऐसी मनोमोहक गन्ध आती प्रतीत हुई, जिसका उसने जीवनमें कभी अनुभव नहीं किया था। उस गन्धसे वह इतना मुग्ध हो गया कि वह उसके उद्गम-स्थानका पता लगानेके लिये चल पड़ा। जहाँसे वह गन्ध आ रही थी, उस वस्तुको प्राप्त करनेके लिये उसके मनमें इतनी तीव्र उत्कण्ठा थी कि वह हिम-प्रदेशकी कठोर सर्दीकी तनिक भी परवा न कर इधर-से-उधर दौड़ने लगा। कड़ाकेकी सर्दीमें और जेठकी दुपहरियाके प्रचण्ड घाममें, वर्षा, आँधी, बिजली अथवा वज्राघातकी परवा न करके रात-दिन उस सुगन्धित द्रव्यकी खोजमें जी तोड़कर भागता रहा। उसके मनमें न भय था न शङ्का थी; किन्तु उस सुगन्धकी टोहमें एक चट्टानसे दूसरे चट्टानको वह भागता रहा। भागते-भागते एक जगह उसका पैर इस तरहसे फिसला कि वह एक सीधी चट्टानसे नीचे गिरा जिससे कि उसके प्राणोंपर बन आयी। मरते-मरते उस मृगको यह पता लगा कि जिस सुगन्धसे वह इतना मुग्ध हो रहा था और जिसे पानेके लिये उसने इतना घोर परिश्रम किया, वह उसीकी नाभिसे आ रही है। किन्तु मृगके जीवनका यह अन्तिम क्षण सबसे अधिक सुखदायक था, और उसके चेहरेपर एक अनिर्वचनीय शान्ति थी।

साधककी आध्यात्मिक साधना उस कस्तूरी-मृगकी

स्वरूपज्ञान ही साधनाका लक्ष्य है।

दौड़-धूपके समान है। साधनाकी चरम सिद्धिमें साधकके व्यष्टि जीवनका अन्त हो जाता है; परन्तु उस क्षणमें उसे यह अनुभूति होती है कि एक प्रकारसे अपनी सारी खोज और प्रयत्नका विषय वह स्वयं रहा है और जो कुछ भी सुख-दुःखका अनुभव उसने किया, जो कुछ भी जोखिम उठायी और जो कुछ भी त्याग और जी-तोड़ परिश्रम किया, उस सबका एकमात्र लक्ष्य अपने स्वरूपका ज्ञान ही था—जिस स्वरूप-ज्ञानमें वह अपने सीमित व्यष्टिभावको त्यागकर यह अनुभव करता है कि वह वास्तवमें परमात्मासे अभिन्न है और परमात्मा सभी पदार्थोंमें विद्यमान है।

कौन इन्द्रिय किस काममें लगे ?

कुबेरपुत्र भगवान्‌से कहते हैं—

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्॥

(श्रीमद्भा० १०।१०।३८)

हे प्रभो! वाणी आपके गुणोंके गायनमें, कान आपकी कथाके श्रवणमें, हाथ आपके कर्ममें, मन आपके चरण-कमलोंकी स्मृतिमें, सिर आपके निवासस्थान जगत्‌के प्रणाममें और आँखें आपके शरीरभूत संतोंके दर्शनमें लगी रहे।

साधन और उसकी प्रणाली

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीसीतारामजी शास्त्री)

प्रत्येक भाषामें कुछ शब्द ऐसे होते हैं, जिन्हें यदि अकेले प्रयोग किया जाय तो उनका पूरा अर्थ अभिव्यक्त नहीं होता। इसलिये उनके साथ कुछ अन्य शब्द जोड़नेकी आवश्यकता होती है। जैसे कोई कहे कि 'पिताको लाओ' तो इस वाक्यमें केवल 'पिता' शब्द होनेसे अभीष्ट व्यक्तिका बोध नहीं होता। इसलिये उसके पूर्व 'मेरे' 'अपने' अथवा 'रामके' ऐसे किसी सम्बन्धबोधक शब्दके प्रयोगकी आवश्यकता होती है; तभी पितृपदवाच्य व्यक्तिका बोध हो सकता है। 'साधन' शब्द भी इसी प्रकारका है। यह 'साध' धातुसे सिद्ध होता है। इसका अर्थ है 'उपाय या युक्ति करना'। अत:जबतक यह निश्चय न हो कि किसका उपाय या युक्ति, तबतक इसका पूरा अर्थ समझमें नहीं आ सकता। इसलिये इसके पहले 'मुक्तिका','ब्रह्मप्राप्तिका' या 'ईश्वर-प्राप्तिका'—ऐसा कोई पद और जोड़नेकी आवश्यकता होती है। तभी इसका पूरा स्वास्थ्य अभिव्यक्त होगा। परन्तु लोकमें यह शब्द इतना परिचित हो गया है कि अकेले प्रयोग करनेसे भी इसका पूरा भाव हृदयंगम हो जाता है।

अत: इसका अर्थ 'ईश्वरप्राप्तिका उपाय' ऐसा मानकर यहाँ कुछ विचार किया जाता है। आरम्भमें ही ये प्रश्न होते हैं कि ईश्वरप्राप्तिका साधन एक है या अनेक, और वे कौन-से हैं तथा कितने हैं। इन प्रश्नोंका निर्णय करनेके लिये यह भी विचार करना आवश्यक होगा कि ईश्वरप्राप्ति कहते किसे हैं और वह होती भी है या नहीं, तथा ईश्वर किसको कहते हैं और वह है या नहीं। इसी प्रकार यह विचारधारा और भी कई दिशाओंमें चल सकती है। अत: इस प्रश्नपरम्पराके विशेष झमेलेमें न पड़कर हम यह मानकर ही चलेंगे कि ईश्वर है और वह इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके उत्पादन, पोषण, नियन्त्रण, निग्रह, अनुग्रह और विनाश करनेमें समर्थ एक शक्ति अथवा शक्तिशाली तत्त्वविशेष है। उसका आर्यधर्म तथा अन्यान्य धर्मोंमें अनेकों नामसे बोधन होता है। वस्तु एक होनेपर भी भावना-भेदके कारण उसके अनेकों नाम और रूप हैं। सर्वसाधारणमें उसकी सत्ता अनुमान और शास्त्रप्रमाणके आधारपर ही सिद्ध होती है, क्योंकि उसे प्रत्यक्ष देखनेकी शक्ति हर किसीमें नहीं है। अनुमानके लिये विशिष्ट हेतुकी आवश्यकता होती है। यहाँ ईश्वरको स्वीकार किये बिना विश्वके उत्पादनादिकी कोई ठीक व्यवस्था नहीं हो सकती। इसलिये जगत्के जन्मादि ही उसकी सत्ताके अनुमापक लिंग हैं।

कुछ लोग डार्विनके सिद्धान्तानुसार क्रमिक विकासको ही जगत्की सब प्रकारकी व्यवस्थामें हेतु मानकर ईश्वर या धर्मादिकी कोई आवश्यकता नहीं समझते। किन्तु इस प्रकार तो धर्म-कर्म छूट जानेके कारण संसारमें किसी भी प्रकार शान्ति नहीं रहेगी और न शास्त्रोंका ही प्रामाण्य रहेगा। जड वस्तुओंका क्रमिक विकास भी किसी चेतनकी प्रेरणाके बिना नहीं हो सकता। अत: इस सिद्धान्तमें कोई सार नहीं है और हमें शास्त्रोंमें श्रद्धा रखकर शास्त्रोक्त प्रणालीसे ही ईश्वरकी प्राप्तिका प्रयत्न करना चाहिये।

शास्त्रोंमें ईश्वरसाक्षात्कारके दो स्वरूप बताये हैं—(१) ईश्वरको अनुग्राहकरूपसे अनुभव करना तथा (२) ईश्वरकी सत्तामें अपनेको लीन कर देना। इनमें प्रथम पक्षको 'ईश्वरकी सिद्धि' कहते हैं और द्वितीय पक्षको 'मुक्ति'। ईश्वरसाक्षात्कार इन स्थूल इन्द्रियोंसे नहीं होता। इनमें विशेष सामर्थ्य आ जानेपर ही उसकी अनुभूति होती है। जिस उपायसे वह विशेष सामर्थ्य प्राप्त किया जाता है, उसीका नाम 'साधन' है। उस सामर्थ्यकी प्राप्तिके लिये सबसे पहले मनपर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। मनका विजय एका-एकी होना बहुत कठिन है। उसके लिये बड़ी एकाग्रताकी आवश्यकता है और यह एकाग्रता सच्चे वैराग्य और दीर्घकालतक तत्परतापूर्वक निरन्तर अभ्यास करनेसे ही प्राप्त हो सकती है। सच्चा वैराग्य इसे कहते हैं कि तरह-तरहके भोग्य विषय सामने हों और उन्हें भोगनेके लिये किसी प्रकारका प्रतिबन्धक भी न हो, तो भी उन्हें सेवन करनेके लिये मनकी तनिक भी प्रवृत्ति न हो। यह बड़े-बड़े तपस्वियोंके लिये भी दुर्लभ है। ऐसी स्थितितक पहुँचनेके लिये विषयोंमें दोषदृष्टिमें करना ही उपाय बताया गया है। अभ्यासका अर्थ है चित्तको बार-बार किसी एक ही लक्ष्यमें लगाना। इसके लिये साकार और निराकार दोनों प्रकारके आलम्बन हो सकते हैं। किन्तु आरम्भमें निराकारमें चित्तको स्थिर करना प्राय: सम्भव नहीं है। इसलिये विष्णु, शिव, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य और दुर्गा आदि साकारस्वरूपोंका ही पहले चिन्तन करना चाहिये। मनकी चंचलताके कारण

इनका चिन्तन भी आसान नहीं है। इसीसे पहले षोडशोपचारसे नित्य-प्रति पूजन करनेकी आवश्यकता होती है। पूजनके समय भी मन इधर-उधर जा सकता है, इसलिये उपचार-समर्पणके समय मन्त्रपाठकी विधि है। मन्त्रपाठ केवल पूजनके ही समय होता है, अतः अन्य समय चित्तकी विक्षिप्त वृत्तिको शान्त रखनेके लिये हर समय भगवन्नामजपकी आवश्यकता बतायी है। नाम-जपके समय भी मन इधर-उधर प्रत्यक्ष या परोक्ष विषयोंकी ओर चला जाता है, इसलिये उसे एक जगह फँसानेके लिये झाँझ और मृदंगादिकी तालके साथ सुमधुर स्वरसे नामसङ्कीर्तन करना उपयोगी है। इस प्रकार नाससङ्कीर्तनसे लेकर निराकार-ध्यानपर्यन्त सब प्रकारके साधन चिन्तन या अभ्यासकी पुष्टिके लिये ही हैं। इनकी सहायतासे सब ओरसे हठपूर्वक हटाया हुआ मन असहाय और निर्विण्ण होकर किसी एक ही आलम्बनमें लग सकता है और जब उसे उसके चिन्तनका अभ्यास हो जाता है तो उसकी ओर उसका आकर्षण बढ़ जाता है। इस प्रकार इष्टके प्रति अनुरागकी वृद्धि हो जानेपर फिर उसे सारे लौकिक और अलौकिक विषय तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं। फिर किसी प्रकार उसकी उनके प्रति प्रवृत्ति नहीं होती और वह निरन्तर भगवत्-ध्यानमें मग्न रहता है।

जब साधकको इस प्रकार निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन रहने लगता है तो उसे जहाँ-तहाँ अपने प्रियतमकी मधुर मूर्तिकी झाँकी होने लगती है। फिर धीरे-धीरे प्रभुका अनुग्रह होने लगता है और वे अपने भक्तकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये प्रत्यक्षरूपसे उसके सामने प्रकट हो जाते हैं। यही साकार भगवान्‌की प्राप्ति है। यहाँतक पहुँचनेके लिये भक्तको उपर्युक्त समस्त साधना-सोपानोंको पार करना होता है। साकार-चिन्तनमें विशेष प्रगाढ़ता होनेसे फिर आकार स्वयं ही लीन होने लगता है। अतः साकार चिन्तकके लिये फिर निराकार-ध्यान भी अनायास सिद्ध हो जाता है। इसके पश्चात् निराकार-चिन्तनकी भी अधिक गाढ़ता होनेपर भगवान्‌के उस स्वरूपका अनुभव होता है, जिसे उपनिषदोंमें 'विद्या' कहा है। इस समय ध्याता-ध्यान ध्येयरूप त्रिपुटीका भी भान नहीं होता, चित्त केवल चिन्मात्र सत्तामें लीन हो जाता है। उपनिषदोंमें उद्गीथविद्या, मधुविद्या, दहरविद्या, शाण्डिल्यविद्या, उपकोसल-विद्या, भूमविद्या आदि कई विद्याओंके नाम आये हैं। इनमें कुछ नाम तो आरम्भिक आलम्बनकी दृष्टिसे हैं और कोई उसके प्रवर्तक ऋषिकी दृष्टिसे। इन विद्याओंमें यद्यपि कोई बाह्य आलम्बन नहीं रहता, तो भी इनका आरम्भ किसी काल्पनिक आलम्बनको लेकर तो होता ही है। कालान्तरमें अभ्यासकी दृढ़ता होनेपर वह काल्पनिक आलम्बन छूट जाता है और साधक भगवान्‌के शुद्ध स्वरूपका साक्षात्कार कर लेता है। इस स्थितिको प्राप्त करनेपर वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका अत्यन्ताभाव देखता है और अपनी पृथक् सत्ताको खोकर भगवद्रूपमें ही मिल जाता है। इसीका नाम मुक्ति है।

किन्तु इस स्थितितक पहुँचनेके लिये चित्तशुद्धिकी बड़ी आवश्यकता है। चित्त शुद्ध हुए विना उक्त जप-ध्यानादि साधनोंमें मनुष्यकी रुचि ही नहीं हो सकती। अतः आरम्भमें रुचि न होनेपर भी अपना कर्तव्य समझकर चित्तको हठपूर्वक इनमें जोड़ना चाहिये। पीछे स्वयं ही इनमें शनैः-शनैः रस आने लगेगा। चित्तकी साधनमें अनायास प्रवृत्ति होनेके उद्देश्यसे ही हमारे ऋषि-मुनियोंने यज्ञ, दान, तप आदि वर्णाश्रम-धर्मोंकी व्यवस्था की थी। अतः जो जिस वर्ण और जिस आश्रममें स्थित है, उसे इच्छा न होनेपर भी अपने धर्मोंका पालन करना ही चाहिये। इससे लौकिक सदाचारकी सुव्यवस्था रहनेके साथ-साथ चित्तमें भगवद्भजनकी योग्यता भी बढ़ती है। जो मनुष्य जिस वर्ण में उत्पन्न हुआ है, उसमें पितृपरम्परासे उसके अनुकूल संस्कार रहते हैं। उन्हें जबरदस्ती हटानेकी चेष्टा करना दुःसाहसमात्र ही है। ऐसा करनेसे व्यवहारमें विशृङ्खलता तो आती ही है, भगवत्प्राप्ति या मुक्तिके मार्गमें भी रोड़े खड़े हो जाते हैं। वस्तुतः वर्णाश्रमोचित कर्म तो भगवत्प्राप्तिके साधन ही हैं। उनके द्वारा तो भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त करके साधक बड़ी सुगमतासे सिद्धि लाभ कर सकता है। गीतामें श्रीभगवान्‌ने भी यही बात कही है—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८। ४६)

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

(१८। ४५)

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(३। ३५)

इसके सिवा हमारे शास्त्रोंमें एक स्वतन्त्र साधनपद्धति भी है, जिसे योग कहते हैं। इसके द्वारा भी चित्तकी शुद्धि होकर चरम लक्ष्यकी प्राप्ति हो जाती है। इसके कई अंग हैं, उनका क्रमशः अनुष्ठान करनेसे अन्तः-करणके मलका नाश होकर मोक्षपद प्राप्त हो जाता है।

योगके कई भेद हैं; उनमें राजयोग या अष्टांगयोग प्रधान है। इस अष्टांगयोगके महर्षि पतञ्जलिने आठ अंग बताये हैं; यथा—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनमेंसे प्रत्येक अंगका अभ्यास करते हुए अन्तमें निर्बीज समाधिमें स्थिति होती है। यही मुक्तिपदका अन्तिम सोपान है। किन्तु योगमें प्रगति होना कोई साधारण बात नहीं है। जिनकी देह और अन्त:करण शुद्ध नहीं है, उनका इसके राज्यमें कदापि प्रवेश नहीं हो सकता। इसीलिये पहले यम-नियमादिके विधिवत् पालनकी आवश्यकता होती है, उसके पश्चात् ही धारणादि मनोजयकी भूमिकाओंपर अधिकार होना सम्भव है। इसीसे योगदर्शनमें पहले पाँच अंगोंको बहिरंग और अन्तिम तीन अङ्गोंको अन्तरंग साधन माना है, तथा निर्बीज समाधिकी अपेक्षा इन तीनको भी बहिरंग बताया है। यथा—

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः (पा० सू० ३।७)

'तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य' (पा० सू० ३।८)

भगवान् शङ्कराचार्यने 'साधनपंचक' नामका एक पाँच श्लोकोंका ग्रन्थ रचा है। उसमें सब प्रकारके साधनोंका बड़ी कुशलतासे वर्णन किया गया है। वे कहते हैं—

वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयतां
तेनेशस्य विधीयतामपचितिः काम्ये मतिस्त्यज्यताम्।
पापौघः परिधूयतां भवसुखे दोषोऽनुसन्धीयता-
मात्मेच्छा व्यवसीयतां निजगृहात्तूर्णं विनिर्गम्यताम्॥ १॥

'नित्य वेदाध्ययन करो, सम्यक् प्रकारसे वेदोक्त कर्मोंका आचरण करो, उस कर्माचरणसे भगवान्की पूजा करो और काम्य कर्मोंकी वासना छोड़ दो। सब प्रकारके पापपुञ्जका नाश कर दो, सांसारिक सुखोंमें दोषदृष्टि करो, परमात्माकी इच्छाका अनुसरण करो और तुरंत ही अपने घरको छोड़ दो'॥ १॥

संगः सत्सु विधीयतां भगवतो भक्तिर्दृढा धीयतां
शान्त्यादिः परिचीयतां दृढतरं कर्माशु सन्त्यज्यताम्।
सद्विद्वानुपसृप्यतां प्रतिदिनं तत्पादुका सेव्यतां
ब्रह्मैकाक्षरमर्थ्यतां श्रुतिशिरोवाक्यं समाकर्ण्यताम्॥ २॥

'सत्पुरुषोंका संग करो, भगवान्में सुदृढ़ अनुराग रखो, शम-दमादिका पूर्णतया पालन करो, काम्य कर्मोंको छोड़ दो तथा सच्चे सतोंके समीप जाकर प्रतिदिन उनके चरणोंकी सेवा करो और उनसे एकाक्षर ब्रह्म प्रणवका अर्थ कराओ तथा वेदान्तवाक्योंका श्रवण करो'॥ २॥

वाक्यार्थश्च विचार्यतां श्रुतिशिरः पक्षः समाश्रीयतां
दुस्तर्कात्सुविरम्यतां श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयताम्।
ब्रह्मास्मीति विभाव्यतामहरहर्गर्वः परित्यज्यतां
देहेऽहंमतिरूज्झ्यतां बुधजनैर्वादः परित्यज्यताम्॥ ३॥

'उन वेदान्तवाक्योंके अर्थका विचार करो, औपनिषद सिद्धान्तका आश्रय लो, कुतर्कसे दूर रहो, श्रुतिसम्मत युक्तियोंका अनुसन्धान करो, 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी भावना करो, नित्यप्रति अभिमानको छोड़ते जाओ, देहमेंसे अहंबुद्धि निकाल लो और बोधवानोंके साथ वाद-विवाद करना छोड़ दो'॥ ३॥

क्षुद्व्याधिश्च चिकित्स्यतां प्रतिदिनं भिक्षौषधं भुज्यतां
स्वाद्वन्नं न तु याच्यतां विधिवशात्प्राप्तेन सन्तुष्यताम्।
शीतोष्णादि विषह्यतां न तु वृथा वाक्यं समुच्चार्यता-
मौदासीन्यमभीप्स्यतां जनकृपानैष्ठुर्यमुत्सृज्यताम्॥ ४॥

'भूखको व्याधि समझकर उसकी चिकित्सा करो, उसके लिये प्रतिदिन भिक्षारूप औषधका सेवन करो, स्वादिष्ट अन्न मत माँगो; दैवयोगसे जो मिल जाय, उसीसे सन्तुष्ट रहो; सर्दी, गर्मी आदि द्वन्द्वोंको सहन करो; वृथा वचन मत बोलो, उदासीनताकी ही इच्छा करो तथा अन्य लोगोंके प्रति कृपा और कठोरता दोनों ही छोड़ दो'॥ ४॥

एकान्ते सुखमास्यतां परतरे चेतः समाधीयतां
पूर्णात्मा सुसमीक्ष्यतां जगदिदं तद्बाधितं दृश्यताम्।
प्राक्कर्म प्रविलाप्यतां चितिबलान्नाप्युत्तरैः श्लिष्यतां
प्रारब्धं त्विह भुज्यतामथ परब्रह्मात्मना स्थीयताम्॥ ५॥

'एकान्तमें शान्तिसे बैठो और परात्पर ब्रह्ममें चित्तको समाहित करो। सर्वत्र पूर्णब्रह्मका अनुभव करो और इस जगत्को उसके द्वारा बाधित देखो। पूर्व-संचित कर्मोंका चिदात्माके आश्रयसे बाध कर दो, भावी कर्मोंसे असंग रहो तथा प्रारब्धका इसी जन्ममें भोग कर लो। [इस प्रकार कर्म-बन्धनसे छूटकर] फिर परब्रह्मरूपसे स्थित हो जाओ'॥ ५॥

उपर्युक्त' पाँच श्लोकोंमें आचार्यपादने जिस साधनपद्धतिका वर्णन किया है, वह प्रधानतया विरक्ता-श्रमियोंके लिये है; तथापि उसमें जिन शम, दम, तितिक्षा, समाधान एवं वैराग्यादिके अभ्यासपर जोर दिया गया है वे तो सभी कल्याण-कामियोंके लिये परम

आवश्यक हैं। इसलिये आचार्यके इन उपदेशवाक्योंसे सभी श्रेणी और सभी आश्रमोंके साधक लाभ उठा सकते हैं।

इस प्रकार साधारणतया सर्वसाधारणके लिये जिन साधनोंकी अपेक्षा है, उनका संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया गया। साधक अपनी-अपनी स्थिति और प्रवृत्तिके अनुसार इनमेंसे किसी भी प्रणालीका अनुसरण कर सकते हैं। परन्तु एक बात अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिये कि हम एक बार जिस मार्गको अपने लिये चुन लें, उसपर ही दृढ़तापूर्वक बढ़ते चले जायँ। यह नहीं कि आज कुछ किया और कल कुछ और करने लगे। जो बार-बार अपने मार्गोंको बदलते रहते हैं, वे मार्गोंमें ही भटकते रहते हैं, लक्ष्यतक कभी नहीं पहुँच पाते। इसलिये अच्छी तरह ध्यान रखना चाहिये कि सारे मार्ग उस एक ही लक्ष्यतक पहुँचनेके लिये हैं; यदि आप दूसरी ओर न देखकर एक ही मार्गपर बढ़ते चले जायँगे तो एक दिन अवश्य अपने ध्येयको पा लेंगे। भगवान् अपनी प्राप्तिके साधनोंमें मनुष्यमात्रकी प्रवृत्ति करें और वे उनके आश्रयसे उत्तरोत्तर प्रभुकी ओर अग्रसर हों—यही अन्तमें हमारी प्रार्थना है।

कल्याणका साधन-सर्वस्व

(लेखक- ज्ञानतपस्वी श्रीगीतानन्दजी शर्मा)

गीताकारके मतमें—

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥

(१८। १८)

अर्थात् कोई कर्म हो—यहाँतक कि ज्ञान, विज्ञान, आस्तिक्य (तत्-त्वम्-असि) आदि ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म ही क्यों न हों—उसकी प्रेरणा एवं संग्रह अवश्य रहते हैं।

साधन भी एक कर्म है। इस दृष्टिसे उक्त त्रिपुटी-नियम उसमें भी लागू होता है।

इसलिये साध्य क्या है, साधक कौन है और साधन कैसा है—इनका विचार पहले किया जाता है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥

(२। ६६)

सुखतक आकर प्रश्न-परम्परा शेष हो जाती है। अतएव मनुष्यका—किं बहुना, प्राणिमात्रका—चरम साध्य सुख है, यह सिद्धान्त हुआ।

इस सुखके स्वरूपका किंचित् परिचय गीतामें यों दिया है—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्॥

(६।१९-२३)

योगवर्णनके प्रसंगमें यह कहा जानेपर भी इसमें सुखका स्वरूप यथार्थभावसे चित्रित किया गया है।

सांसारिक सुख अनात्मपदार्थके योगसे उत्पन्न होता है; इस कारणसे वह प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव एवं अत्यन्ताभावसे भी ग्रस्त हो जाता है। १९ वें श्लोकमें उपमाद्वारा कहा गया है कि यह सुख अव्यय है, न्यूनाधिकतासे रहित है। उपमा एकदेशीय होती है। यहाँ केवल अचलतामें तात्पर्य है। अन्यथा वायुरहितता समान रहनेपर भी तेल, बत्ती आदिकी विषमतासे दीपशिखाका छोटा-बड़ापन अनिवार्य है। अस्तु,

'तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्।'

(यो० द० विभूति० १०)

—यह सूत्र यहाँ अनुसन्धेय है। २० वें श्लोकसे स्पष्ट है कि इसके आत्मजन्य होनेके कारण ही यह अविकारी है। आत्मा ब्रह्मस्वरूप है और—

ब्रह्मणो ही प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(गीता १४। २७)

'[अव्यभिचारी भक्तियोगके गुणातीत एवं ब्रह्मभावमें हेतु होनेका समर्थन करते हैं] क्योंकि मैं (ब्रह्म, परमात्मा) ब्रह्मकी (अर्थात् त्रिगुणमय महद्ब्रह्मकी–१४। ३,४) प्रतिष्ठा हूँ, तथा अविनाशी अमृत (सत्) सनातन धर्म (चित्) एवं अखण्ड एकरस सुख (आनन्द)-की भी प्रतिष्ठा (आधार) हूँ।'

अत: आत्मयोगजन्य सुख भी अविनाशी एवं अखण्ड, एकरस है। एक प्रसंगप्राप्त शंकाका निराकरण किया जाता है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता १५। ७)

उपर्युक्त श्लोकमें भगवान् तो जीवात्माको अपना अंश बताते हैं। इसलिये आत्मयोगजनित सुखमें ब्रह्मानन्दकी सम्पूर्ण अंशमें समानता कैसे होगी?

जीव-ब्रह्मकी एकताकी मीमांसा वेदान्तसूत्रमें की गयी है—

'अंशो नाना व्यपदेशात्।'

जीवको नाना क्यों कहा? 'बहु स्याम्' ऐसा श्रुतिवचन है।

समाधान यह है कि नानात्वका हेतु व्यपदेश (संज्ञा या प्रसिद्धि) है।

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।' अर्थात् नाम-रूपमें नानात्व, बहुत्व है; वस्तु एक ही है।

ऊपर ६। २३ में सुखका एक बहुत ही सारगर्भ विशेषण दिया गया है। वह है **'दु:खसंयोगवियोगम्।'**

इस लोकको भगवान् असुख और दु:खालय कहते हैं (८। १५; ९। ३३)। 'असुख' के अन्तर्वर्ती नञ् (अ) को पर्युदास (सुखभिन्न=दु:ख) तथा प्रसज्यप्रतिषेध (सुखाभाव) दोनों ही अर्थोंमें लिया गया है। अर्थात् **'दु:ख संयोगवियोगम्'** पदमें दु:खका अर्थ हुआ—यह देह। इसमें चार प्रकारका दु:ख है—

जन्ममृत्युजराव्याधिदु:खदोषानुदर्शनम् ॥

(गीता १३।८)

इस श्लोकार्द्धमें बौद्धदर्शनका मानो सार-तत्त्व आ गया है। अस्तु,

इस संसारमें आदिसे अन्ततक इतना दु:ख ओतप्रोत-भावसे रहनेपर भी—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।

(गीता ३। ३३)

ज्ञानी मनुष्यका भी उसके साथ अभिनिवेश नहीं छूटता।

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः।

(यो० द० सा० ९)

कर्मसिद्धिके जो पाँच हेतु कहे गये हैं(१८। १४)' उनमें चेष्टा भी एक है। चेष्टा सुखका नाम है। ज्ञानी होकर भी मनुष्य गुणातीत नहीं हो जाता। क्योंकि ज्ञान भी त्रिगुणभेदसे भिन्न है और गुण मनुष्यद्वारा नित्य कर्म कराते हैं। अत: ज्ञानीको भी किसी-न-किसी सुखकी अपेक्षा रहती ही है। यद्यपि योगभाष्यकार कहते हैं कि **'सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति—मा न भूवम्, भूयासमिति'** (सभी प्राणियोंको यह इच्छा नित्य ही बनी रहती है कि मेरा नाश न हो, मैं बना ही रहूँ), तथापि मृत्युका भय केवल प्रधान अभिनिवेशरूप क्लेश है। उसी तरहसे अन्यान्य प्रकारका भी अभिनिवेश होता है। जैसे राग सुखानुशयी (सुखका स्मरण दिलानेवाला) और द्वेष दु:खानुशयी (दु:खका स्मरण दिलानेवाला) क्लेश है, वैसे ही सुख-दु:ख विवेकज्ञानशून्य मोहरूप क्लेशका नाम अभिनिवेश है।

फलतः यह बात आयी कि संसारमें दु:खबोध होनेपर भी उसको न त्यागकर यदि उसका दु:खांश मात्र निवृत्त किया जा सके और उसका सुखांश बना रहे तो मूढवत् विद्वान्‌को भी अभीष्ट ही होगा। परन्तु द्वन्द्वका रहना अनिवार्य होनेसे दु:खका संयोग भी रहे, वियोग भी रहे; तो भी दु:खाभाव सिद्ध होनेसे मनुष्यको वह इष्ट है। उसका आत्मानन्द तो नष्ट हो ही नहीं सकता।

आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनु संज्वरेत् ॥

(श्रुति:)

आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।

(श्रुति:)

इस प्रकार साध्यका निश्चय हुआ। अविनाशी सुख

ही सबका ध्येय है। अब इसका साधन क्या है, यह देखना चाहिये। साध्यके विचारमें ही एक प्रकारसे यह प्रश्न आ जाता है; क्योंकि यह सुख 'योग-जन्य' है, ऐसा कहा गया है। तथापि यह बात सामान्यरूपसे ही कही गयी है। अब इस विषयमें कुछ विशेष कथन किया जाता है।

जिसको प्रस्थानत्रयी कहते हैं, वह परमपुरुषार्थकी सीढ़ी है। उसका उल्लेख गीताके पुष्पिकाकल्प वाक्यमें यों पाया जाता है—'**उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे।**'

इन तीनों सीढ़ियोंपर चढ़ना आवश्यक है, तथापि इन तीनोंका परस्पर अविच्छेद्य सम्बन्ध होनेसे सबका एक साथ अनुष्ठान होता है। यहाँ अवतारके विषयमें कुछ बातें अवश्यज्ञातव्य हैं। इनका प्रस्तुत विषयसे सम्बन्ध सुस्पष्ट है।

गीताके अनुसार अवतार चार प्रकारके होते हैं। यथा—

(१) 'स्वयं भगवान्'

(१८। ७५)

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(४। ६)

(२) 'साक्षाद् भगवान्'

(१८। ७५)

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

(४। ७)

(३) 'योगेश्वर भगवान्'

(१८। ७५)

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

(४। ८)

(४) 'कृष्ण भगवान्'

(१८। ७५)

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(४। ९)

इस प्रकार भगवान्ने 'स्वयं' की हैसियतसे उपनिषद् ही, साक्षात्की हैसियतसे ब्रह्मविद्या, योगेश्वरकी हैसियतसे योगशास्त्र कहा और श्रीकृष्णकी हैसियतसे अर्थात् 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि' एवं 'मानुषीं तनुमाश्रितम्' के अनुसार श्रीकृष्ण-रूप अर्जुनके सखाकी हैसियतसे श्रीकृष्णार्जुनसंवाद किया।

इस स्थलपर भगवान्के कहे हुए योगशास्त्रसे ही मेरा प्रयोजन है। यह अर्जुनके २। ८ श्लोकमें पूछे हुए प्रश्नके उत्तरमें कहा गया है—**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।**—

इसके अष्टांग छठे अध्यायमें वर्णन किये गये हैं। १—२४ श्लोकोंमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार—इन पाँच बहिरंग साधनोंका वर्णन करके, २५ वें श्लोकमें धारणा ('देशबन्धश्चित्तस्य धारणा')—

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।

२६ वें श्लोकमें ध्यान ('**तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्**')—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

तथा २७ वें श्लोकमें समाधि ('**तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः**')—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥

—ये तीन अन्तरंग साधन कहकर—

(विज्ञ पाठकोंको कहना अनावश्यक है कि '**त्रयमेकत्र संयमः**' के अनुसार २५, २६, २७ में धारणादित्रय एककालीन हैं।) इसके बाद २८ वें श्लोकमें वितर्कानुगत,
२९ ,, विचारानुगत,
३० ,, आनन्दानुगत और
३१ ,, अस्मितानुगत

सम्प्रज्ञातका स्वरूप दिखाकर—

३२ वें श्लोकमें असम्प्रज्ञातको कहा है।

इसका योगदर्शनोक्त लक्षण यह है—

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।

(यो० द० समाधि० १८)

अब अन्तमें साधकका विचार शेष रहा। अर्थात् योगानुष्ठानका अधिकारी कौन है, यह जानना चाहिये।

गीता इसका उत्तर यों देती है—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥

(६। ३)

यदि '**आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति,** यदि' '**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**', यदि '**नास्ति योगात् परं**

बलम्' तब तो गीताका उपदेश (भगवान्‌के स्वमुखसे दिया हुआ) हमलोगोंको नहीं भूलना चाहिये—

'तस्माद् योगी भवार्जुन।' (६।४६)

यहाँपर **'तस्मात्'** का कुछ स्पष्टीकरण किया जाता है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन ॥

तपस्वीसे तपोयोगी श्रेष्ठ है, क्योंकि—

'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति।' (२।४०)

ज्ञानीसे ज्ञानयोगी श्रेष्ठ है, क्योंकि—

'प्रत्यवायो न विद्यते' (२।४०)

और कर्मोंसे कर्मयोगी श्रेष्ठ है, क्योंकि—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ (२।४०)

अभिक्रम (प्रारम्भ)-का नाश क्यों नहीं ? व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) बुद्धि 'एक होनेसे' प्रत्यवाय—न करनेमें दोष क्यों नहीं ? ज्ञानके 'निस्त्रैगुण्य' होनेसे। थोड़े-से कर्मसे भी महान् भयसे रक्षा कैसे होती है ?

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥

—इसलिये।

गीतोक्त ज्ञानके आधारपर यह लेख प्रस्तुत किया गया है। इस ज्ञानका हमलोगोंको मिलना कितना कठिन है, इसका निदर्शक एक सुप्रसिद्ध श्रौतवचन (योगभाष्यकार माधवाचार्यके मतानुसार) देकर इसकी इति करता हूँ—

अन्धो मणिमविन्दत
तं निरङ्गुलिरावयत्।
अग्रीवस्तं प्रत्यमुञ्चत्
तमजिह्वोऽभ्यपूजयत् ॥

दिव्यदृष्टिशून्य (अतएव अन्ध) सञ्जयको (व्यासप्रसादसे) गीतासंवादरूप मणि मिला।

स्वयं लिखनेमें असमर्थ (अतएव निरंगुलि) भगवान् वेदव्यासजीने उस मणिको महाभारतके अंदर ग्रथित किया।

गजके मस्तकको धारण करनेवाले (अतएव अग्रीव) गणेशजीने उसको गलेमें धारण किया अर्थात् उसका मर्मार्थ समझकर लिखा।

मौनव्रती (अतएव अजिह्व) विद्वानोंने उसकी प्रशंसा की—

'यतो वाचो निवर्तन्ते'

संतोंकी प्रत्येक चेष्टा लोककल्याणके लिये होती है !

श्रीवसुदेवजी कहते हैं—

भगवन् भवतो यात्रा स्वस्तये सर्वदेहिनाम्। कृपणानां यथा पित्रोरुत्तमश्लोकवर्त्मनाम्॥
भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च। सुखायैव हि साधूनां त्वादृशामच्युतात्मनाम्॥

(श्रीमद्भा० ११।२।४-५)

हे देवर्षे! जैसे माता-पिताका शुभागमन बालकोंके हितके लिये और भगवान्‌की ओर चलनेवाले संतोंका शुभागमन तापतप्त प्राणियोंके हितके लिये होता है। वैसे ही आपका शुभागमन समस्त प्राणियोंके परम कल्याणके लिये है। देवताओंके आचरण कभी प्राणियोंके सुखके लिये होते हैं तो कभी दुःखके लिये भी हो जाते हैं। परन्तु जो आपके-जैसे महात्मा हैं, जो भगवन्मय हैं, उनकी तो प्रत्येक चेष्टा ही प्राणियोंके सुखके लिये होती है।

गीताकी साधना

(लेखक—डा०एस०के०मैत्र, एम० ए०, पी०-एच० डी०)

श्रीमद्भगवद्गीता वस्तुतः साधनाका ग्रन्थ है। यह न ज्ञानपरक है न कर्मपरक और न भक्तिपरक ही है, यद्यपि इन सबका विचार आत्मसाक्षात्कारकी दृष्टिसे इसमें अवश्य हुआ है।

गीता योगशास्त्र है, 'योग' शब्दका अर्थ—

भगवद्गीता वास्तवमें योगशास्त्र है। प्रत्येक अध्यायके अन्तमें ये शब्द आते हैं—'इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे..... योगो..... नाम..... अध्यायः।' प्रत्येक अध्यायको एक-एक योगके नामसे कहा गया है-जैसे—'अर्जुनविषादयोग', सांख्ययोग, कर्मयोग' इत्यादि।

इस 'योग' शब्दका अर्थ क्या है? श्रीयुत डी० एस० शर्मा अपनी 'भगवद्गीता परिचय' (Introduction to the Bhagavadgita) नामक पुस्तकमें योगका अर्थ भगवान्‌के साथ संयोग या भगवत्साहचर्य बतलाते हैं। इसी प्रकार महात्मा श्रीकृष्णप्रेम भी अपने 'गीतोक्त योग' (The Yoga of the Bhagavadgita) नामक ग्रन्थमें यों कहते हैं—'योगका अभिप्राय यहाँ 'योग' नामसे परिचित किसी विशिष्ट साधनपद्धतिसे—ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग अथवा महर्षि पतंजलिके अष्टांगयोगसे नहीं है; प्रत्युत इसका अभिप्राय उस मार्ग से है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने परिच्छिन्न व्यष्टिस्वरूपको अनन्त अपरिच्छिन्न परमात्माके साथ युक्त कर देता है।'

इस प्रकार योगका अर्थ है ईश्वरके साथ जुड़ जाना। पर ईश्वरके साथ जुड़ जानेके तीन अर्थ होते हैं—(१) अपने साथ युक्त होकर अपने व्यष्टिस्वरूपका साक्षात्कार करना, (२) विश्वके साथ एक होकर विश्वात्माका साक्षात्कार करना और (३) उपर्युक्त दोनों पूर्णयोगोंका योग करके आत्मसाक्षात्कार या ईश्वरसाक्षात्कार करना। इस प्रकारसे गीतामें जिन विभिन्न योगोंका वर्णन किया गया है, उनके तीन मुख्य विभाग किये जा सकते हैं—(१) जिनका ध्येय व्यष्टिचेतन या जीवात्माका साक्षात्कार कराना है, (२) जिनका लक्ष्य समष्टिचेतन या विश्वात्माका साक्षात्कार कराना है और (३) जिनका लक्ष्य पूर्ण आत्म-साक्षात्कार अथवा ईश्वरसाक्षात्कार कराना है। हाँ, एक बात आरम्भमें ही अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये। यद्यपि विषयको समझानेकी सुविधाके लिये उपर्युक्त तीन विभाग किये जा सकते हैं, तथापि यह बात ध्यानमें रहे कि गीता एक अविच्छिन्न अनुभूतिको मानती है, खण्ड-खण्ड अनुभूतिमें विश्राम नहीं करती। इस अनुभूतिके अठारह साधन हैं, जो गीताके अठारह अध्यायोंमें वर्णित हैं।

अधिकारी कौन है?

साक्षात्कारका प्रसंग छेड़नेके पूर्व दो-एक बातोंको स्पष्ट कर लेना जरूरी है। पहली बात यह है कि गीतामें जिस अनुभूतिका वर्णन है, वह किसकी अनुभूति है—एक सामान्य मनुष्यकी या किसी असाधारण ज्ञानी पुरुषकी? यह प्रश्न बड़े महत्त्वका है। क्योंकि गीताने यदि किसी असाधारण विशिष्ट-शक्ति-सम्पन्न पुरुषको होनेवाली अनुभूतिका ही वर्णन किया हो, तब तो यह सबके कामका ग्रन्थ नहीं रह जाता; कुछ थोड़े-से विशिष्ट लोग ही इससे लाभ उठा सकते हैं। परन्तु यदि सामान्य मनुष्यकी अनुभूतिका इसमें प्रतिपादन हुआ है तो यह सभी सामान्य मनुष्योंके कामकी चीज है।

गीतामें अर्जुनकी अनुभूतिका वर्णन किया गया है। अर्जुन कौन है? वह कोई साधारण मनुष्य है या कोई असाधारण शक्ति-सम्पन्न प्रबुद्ध व्यक्ति? अर्जुन क्षत्रिय हैं, उत्तम कुलका है—चन्द्रवंशमें उत्पन्न हुआ है क्षात्रोचित शिक्षा उसे मिली है, द्रोणाचार्य-जैसे महान् धनुर्विद्याविशारदसे उसने युद्ध-विद्या भी सीखी है। पर अध्यात्मविद्यामें वह कोरा ही है। ब्रह्मविद्यामें उसकी कोई गति नहीं है और न इस ओर उसका कोई विशेष झुकाव ही है। एक तरहसे वह वहमी भी है, क्योंकि वह असगुन देखता है (निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव)। उसमें भावुकता विशेष है। अपने स्वजनोंको अपने विरुद्ध युद्धमें खड़े देख उसका शरीर काँप उठता है, अंग शिथिल हो जाते हैं और धनुष हाथसे छूट जाता है। ये लक्षण किसी विशेष आध्यात्मिक उन्नतिके नहीं हैं, बल्कि निम्नावस्थाके ही हैं। युद्धसे हटनेका उसका निश्चय भी किसी महान् नैतिक सिद्धान्तसे प्रेरित नहीं है। वह अहिंसावादी नहीं था, जैसा कि कुछ लोग

समझते हैं। उसकी यह स्थिति उसके भावोंकी प्रबलताके कारण हो गयी थी, जिनसे उसका विवेक दब गया था। युद्ध न करनेके लिये जो युक्तियाँ उसने पेश की थीं, वे सत्याभासके सिवा और कुछ भी नहीं और इसलिये भगवान् श्रीकृष्णने '**प्रज्ञावादांश्च भाषसे**' कहकर जो उसकी चुटकी ली, वह ठीक ही थी । उसने स्वयं ही यह स्वीकार किया है कि मेरी बुद्धि शोकसे अभिभूत हो गयी है, भ्रमित हो गयी है, मैं यह निर्णय नहीं कर पाता कि मेरा क्या कर्तव्य है (गीता २। ७) इसलिये यह कहना कि युद्धसे हटनेमें अर्जुनका बहुत ऊँचा भाव था, सरासर गलत है। श्रीशर्माजीने अपने उपर्युक्त ग्रन्थमें इस बातको बड़ी खूबीके साथ प्रमाणित किया है। इसीलिये मैं मानता हूँ कि अर्जुन एक सामान्य मनुष्य ही था। अवश्य ही वह उपदेशका अधिकारी था, अन्यथा जगद्गुरु भगवान् उसे अपने उपदेशका निमित्त न बनाते। उसमें विनय है, यद्यपि वह अहङ्कारसे सर्वथा रहित नहीं; क्योंकि जहाँ उसने कहा है '**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**' (मैं तुम्हारा शिष्य हूँ, तुम्हारी शरणमें हूँ, मुझे शिक्षा दो), वहाँ तुरंत ही उसने यह भी कहा है कि '**न योत्स्ये**' (मैं लड़ूँगा नहीं)। अर्जुन अधिकारी तो है, परन्तु ज्ञानी अथवा अध्यात्ममार्गमें बहुत आगे बढ़ा हुआ नहीं। अर्जुनके इस अधिकारको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भगवत्-प्राप्तिके क्षेत्रमें अर्जुनके लिये जो कुछ साध्य है, वह किसी भी सामान्य मनुष्यके लिये साध्य है, यदि वह सच्चा जिज्ञासु हो। यह कहना भी ठीक नहीं है कि अर्जुनको दिये हुए उपदेशके अधिकारी केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय ही हो सकते हैं, दूसरे नहीं। गीताकी दृष्टि अत्यन्त उदार है। अठारहवें अध्यायकी समाप्तिमें कहा गया है—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥

(गीता १८। ७१)

केवल असूयारहित श्रद्धा होनी चाहिये। जिसमें ऐसी श्रद्धा है, वही उस उपदेशका अधिकारी है। परन्तु यह बात तो सभी उपदेशोंके लिये लागू है। दोषदृष्टियुक्त बुद्धिसे किसी भी उपदेशका ग्रहण नहीं हो सकता। गीतोपदेशका अधिकार विशिष्ट वर्णोंको ही नहीं, सबको है—जो भी उसे श्रद्धासे ग्रहण करना चाहें।

गीतोपदेशका प्रसंग

दूसरा प्रश्न यह है कि वह प्रसंग या आकस्मिक घटना क्या है, जिससे गीतोपदेशका आविर्भाव हुआ? आत्माकी ओर मुड़नेकी बुद्धि किसी ऐसे ही प्रसंगसे हुआ करती है, जिससे जीवकी धर्मबुद्धि आन्दोलित हो उठे, उसके लिये आत्माके सिवा और कोई सहारा न जान पड़े। गीताके पहले अध्यायमें इसी प्रसंगका वर्णन है। दूसरे अध्यायके ४ से ८ तकके श्लोकोंमें भी यही प्रसंग है। यह है अर्जुनके भाव और कर्तव्यके बीचमें युद्ध। अर्जुनकी मानसिक स्थितिका सच्चा चित्र पहले अध्यायके २९ वें और ३० वें श्लोकोंमें खींचा गया है। उससे उसकी अतिशय भावुकता प्रकट होती है, जिसके कारण उसकी बुद्धि धर्मसङ्कटमें पड़कर भ्रमित हो गयी है। ऐसा धर्मसङ्कट मनुष्यके लिये कोई बहुत असाधारण बात नहीं है। भय अथवा शोकके प्रसंगमें ऐसा अनुभव बहुतोंको होता है। अर्जुनके सामने अपने स्वजनोंको ही मारनेका प्रसंग उपस्थित था। केवल इतनेसे ही उसके मनमें धर्मसङ्कट उपस्थित न होता; पर बात यह थी कि उसके अंदर छिपे-छिपे यह बुद्धि भी अपना काम कर रही थी कि इस युद्धमें लड़ना तो मेरा कर्तव्य है। उसके अव्यक्त मनमें यह जो कर्तव्य-बुद्धि छिपी हुई थी, उसीके प्रभावको हटानेके लिये वह इसके विपरीत युक्तियोंको सामने रख रहा था। उसके मनोभाव ही अपने असली रूपको छिपानेके लिये इन युक्तियोंका जामा पहन रहे थे। फ्रूड और उनके शिष्योंके ग्रन्थोंका जिन्हें कुछ भी परिचय है, उनसे भावोंकी—अपने-आपको छिपानेकी यह कला छिपी नहीं है। अन्ततः ४६ वें श्लोकमें जब अर्जुन यहाँतक कह देता है कि 'कौरव हाथमें शस्त्र लेकर, मेरे हाथमें शस्त्र न रहते, मुझे मार डालें—यही मेरे लिये अधिक अच्छा होगा।' तब परदा फट जाता है और उसके मनकी असली हालत जाहिर हो जाती है। जिसकी बुद्धि भावोंसे अभिभूत हो गयी है, उसीके मुँहसे ऐसी बात निकल सकती है। अतएव उसके अव्यक्त मनमें काम करनेवाली उसकी अस्पष्ट कर्तव्य-बुद्धि तथा उसके भावोंके बीच होनेवाला युद्ध ही यह धर्मसङ्कट उपस्थित कर देता है।

ऐसे धर्मसङ्कटको तब योग क्यों कहा है? अर्जुनकी इस स्थितिका 'अर्जुनविषादयोग' नाम क्यों रखा गया? यह तो योगके सर्वथा विपरीत अवस्था है। यह सच है कि अर्जुनकी बुद्धि भ्रमित हो गयी है, मूढ़ हो गयी है; पर यह मोह—यह मूढ़ावस्था भगवत्प्राप्तिकी पहली सीढ़ी है और इसलिये इसे 'योग' कहना ठीक ही

है। आध्यात्मिक अनुभूतिकी मनोगत अवस्थाओंका पूर्ण परिज्ञान गीताके वक्ताको था, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं। अनेकानेक साधु-महात्माओं और पैगम्बरोंके जीवनमें यह बात देखनेमें आती है कि इसी प्रकारके विषाद और मानसिक सङ्कटोंमें पड़कर ही वे साधनाके पथपर आरूढ़ हुए। उदाहरणार्थ—रोग, जरा और मृत्युके दृश्य देखकर ही बुद्धदेवके चित्तपर ऐसा आघात पहुँचा कि वे राजपाट त्यागकर सत्यकी खोजमें बाहर निकल पड़े। साधारण मनुष्योंमें भी यह देखा जाता है कि जब किसी मनुष्यको कोई महान् नैराश्य या शोक आकर हिला डालता है, तब वहींसे उसका एक नवीन आध्यात्मिक जीवन आरम्भ होता है। इसीलिये अर्जुनके विषादको योग कहना ठीक ही है, यद्यपि योगके सब लक्षण उसमें विद्यमान नहीं हैं।

गीताका योग और उसके व्यावहारिक लक्षण

अब श्रीमद्भगवद्गीताका योग क्या है, इसको हम देखें। गीताने योगके कुछ सामान्य लक्षण बतलाये हैं, जिन्हें हम योगके तटस्थ या व्यावहारिक लक्षण कह सकते हैं। प्रत्येक प्रकारके योगमें ये लक्षण होने ही चाहिये, केवल एक विषादयोगमें नहीं होते।

प्रत्येक योगके व्यावहारिक लक्षण गीताके विभिन्न अध्यायोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे बतलाये गये हैं। मुख्य-मुख्य लक्षण ये हैं—कर्मफलकी इच्छाका न होना (२।४७; ४।२०; ५।१२), विषयोंके प्रति अनासक्ति (२।४८; ३।१९), समत्व (२।४८), निष्कामता (४।१९), सुख-दुःख एवं हानि-लाभमें समता (२।३८), शीतोष्ण एवं मानापमानमें उदासीनता (६।७; १२।१८), तथा मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, बन्धु आदिमें पक्षपात-राहित्य (६।९) इन सबको एक शब्दमें कहें तो 'विषयोंसे अनासक्ति' कह सकते हैं। ये लक्षण अभावात्मक हैं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक योगमें कुछ भावात्मक लक्षण भी हैं—जैसे सब कर्म भगवान्को अर्पण करना (३।३०; ९।२७), सब अवस्थाओंमें सन्तुष्टि (१२।१९; १२।१४) मनको भगवान्में लगाना (१२।७ और ८)। और भी कई भावात्मक लक्षण गिनाये गये हैं, पर उन सबका अन्तर्भाव उपर्युक्त तीन लक्षणोंमें हो जाता हैं। भिन्न-भिन्न योगोंके व्यावहारिक लक्षणोंमें जो विलक्षण साम्य है वह कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, सांख्ययोगी, भक्तियोगी आदि भिन्न-भिन्न योगियोंके वर्णन मिलाकर पढ़नेसे प्रत्यक्ष हो जाता है। स्थितप्रज्ञ या सांख्ययोगी और भक्तिमान् या भक्तियोगीके लक्षण देखिये—

स्थितप्रज्ञके लक्षण

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥
यः सर्वत्रानभिस्नहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

(गीता २।५६-५७)

भक्तिमान्के लक्षण

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

(गीता १२।१७-१९)

इन्हीं लक्षणोंको १४ वें अध्यायके गुणातीतके लक्षणोंसे मिलाइये-

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥

(गीता १४।२४-२५)

तीनों ही वर्णनोंमें कितना विलक्षण साम्य है। इससे यही बात सिद्ध होती है कि कुछ ऐसे सामान्य लक्षण हैं, जो प्रत्येक योगमें होते ही हैं।

इन व्यावहारिक लक्षणोंका गीतामें बारंबार वर्णन होनेसे गीताके वास्तविक सिद्धान्तके सम्बन्धमें बहुतोंको भ्रम हो जाता है। जैसे कुछ लोगोंकी यह धारणा है कि गीताका सिद्धान्त कर्मयोग ही है, क्योंकि योगके उपर्युक्त सब व्यावहारिक लक्षण इसमें मिलते हैं। परन्तु ऐसा कहना इस बातको भुला देना है कि ये लक्षण जितने कर्मयोगमें मिलते हैं उतने ही सांख्य या ज्ञानयोग, ध्यानयोग या भक्तियोगमें भी मिलते हैं। इनमेंसे किसी भी योगमें इन सब लक्षणोंका मिलना

इस बातका प्रमाण नहीं है कि गीतामें उसी योगका विशेषरूपसे प्रतिपादन हुआ है।

गीताने जर्मन तत्त्ववेत्ता कांटकी तरह केवल धर्म या नीतिके व्यावहारिक लक्षण ही नहीं दिये हैं, बल्कि प्रत्येक योगके वास्तविक या स्वरूपभूत लक्षण भी बतलाये हैं। दीवानबहादुर के० एस० रामस्वामी शास्त्री अपनी 'Problems of the Bhagavadgita' (भगवद्‌गीताके विचारणीय विषय) नामक पुस्तकमें लिखते हैं—'आत्म-संयम, कामनाका त्याग, प्राणिमात्रसे प्रेम, अहङ्कारशून्यता, निर्ममता, शीतोष्ण, सुख-दुख एवं निन्दा-स्तुति आदिमें समता तो सभी योगोंके सामान्य लक्षण हैं; पर कर्मयोग कर्मपर विशेष जोर देता है, राजयोग ध्यानपर, भक्तियोग भक्तिपर और ज्ञानयोग ज्ञानपर विशेष जोर देता है।' प्रत्येक योगका एक निश्चित भावात्मक लक्षण है, वही उसके लक्ष्यका निर्देश है। जैसे कर्मयोगका निश्चित लक्ष्य लोक-संग्रह अर्थात् सब लोगोंका कल्याण है, ज्ञानयोगका लक्ष्य '**वासुदेवः सर्वमिति**' यह ज्ञान है, सांख्ययोगका लक्ष्य ब्राह्मी स्थिति (२।७२) है, और राजयोग या ध्यानयोगका लक्ष्य ब्रह्मसंस्पर्शरूप अक्षय सुखकी प्राप्ति (६।२८) है। इसी प्रकार विश्वरूपदर्शनयोगका लक्ष्य भगवान्‌के विश्वरूपका दर्शन है और भक्तियोगका लक्ष्य भगवान्‌का अतिशय प्रिय होना (१२।२०) है। इस प्रकार सामान्य व्यावहारिक लक्षणोंके अतिरिक्त प्रत्येक योगका अपना एक निश्चित भावात्मक स्वरूप भी है।

गीता किसी एक ही योगका उपदेश देती है या सभी योगोंको एक-सा महत्त्व देती है?

इस प्रश्नने गीताके सम्बन्धमें बड़े-बड़े वाद खड़े कर दिये हैं! पूर्वके महान् आचार्योंने गीताको ज्ञान अथवा भक्तिका प्रतिपादक ग्रन्थ माना; परन्तु लोकमान्य तिलकने इसे कर्मयोग-शास्त्र कहा है। यहाँ इस विवादकी एक-एक बातको लेकर चर्चा करना स्थानाभावके कारण असम्भव है। पर दो-एक बातें कही जाती हैं, जिनसे यह मालूम होगा कि गीताका प्रतिपाद्य कोई एक ही विशिष्ट योग हो और अन्य सब योग उसके साधक हों'—ऐसी बात नहीं है। यदि ऐसी बात होती तो अन्य योगोंका इसमें इतना विस्तार होनेका कोई कारण नहीं था; केवल एक ही विशिष्ट योगका विस्तारसे निरूपण करके यह कह देना पर्याप्त था कि अन्य सब योग उसीके सहायक अथवा अन्तमें उसीमें मिल जानेवाले हैं। पर गीतामें इस तरहकी कोई बात नहीं कही गयी है। यह सही है कि कहीं-कहीं विभिन्न योगोंको अभिन्न बताया गया है, जैसे—पाँचवें अध्यायके ४ थे और ५वें श्लोकोंमें सांख्ययोग और कर्मयोगको स्पष्ट शब्दोंमें अभिन्न तथा एक ही लक्ष्यतक पहुँचानेवाला बतलाया गया है। उसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें यह बात भी कही गयी है कि कर्मसंन्यास अर्थात् सांख्ययोग की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है। परन्तु यहाँ हमें इन विभिन्न वचनोंका प्रसंग भी अच्छी तरह देख लेना चाहिये। पाँचवें अध्यायके उपक्रममें अर्जुनने पूछा है कि 'हे कृष्ण! आप एक ओर तो कर्मोंके संन्यासकी प्रशंसा करते हैं और दूसरी ओर कर्मयोगको अच्छा बतलाते हैं; अतः इनमें जो उत्तम फल देनेवाला हो, वह मार्ग मुझे सुनिश्चितरूपसे बताइये।' ऊपरके वाक्य इसी प्रश्नके उत्तरमें कहे गये हैं। यथार्थमें चौथा अध्याय कर्मसंन्यासका प्रतिपादन नहीं करता, जैसा कि उसके इन दो अन्तिम श्लोकोंसे सर्वथा स्पष्ट है—

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय॥
तस्माद‍ज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥

इस स्पष्टोक्तिमें सन्देहकी कोई गुंजायश ही नहीं है। '**आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति**' इन पदोंका तो कुछ अर्थ ही न रह जाय, यदि इन श्लोकोंको कर्मसंन्यासका प्रतिपादक माना जाय। फिर भी अर्जुनके मुखसे जो सन्देह प्रकट किया गया है उसका अभिप्राय, जैसा कि लोकमान्यने बतलाया है, यही मालूम होता है कि भविष्यमें चतुर्थ अध्यायके तात्पर्यके विषयमें किसीको सन्देह हो जायँ तो उसके समाधानके लिये पाँचवें अध्यायमें अर्जुनकी शङ्का और उसका फिर समाधान है।

परन्तु '**संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ**' कहनेमें गीताका क्या अभिप्राय है? गीताका अपना सिद्धान्त तो यह नहीं है कि कर्मसंन्याससे मोक्ष होता है, बल्कि इसके विपरीत तीसरे अध्यायके चौथे श्लोकमें यह स्पष्ट कहा गया है कि कर्म-संन्याससे सिद्धि नहीं प्राप्त होती। फिर भी संन्यास और कर्मयोग दोनोंको ही जो निःश्रेयसकर कहा गया है, इसका कारण विचारनेमें वही बात सामने आती है, जो तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने कही है, कि सृष्टिके आरम्भमें मैंने निःश्रेयसके दो मार्ग बताये

थे—सांख्ययोगियोंके लिये ज्ञानयोगका (जिसमें कर्मका संन्यास करना पड़ता है) और कर्मयोगियोंके लिये कर्मयोगका। सृष्टिके आरम्भमें कही हुई इस बातको गीताने बिल्कुल एक नये रूपमें ग्रहण किया है; क्योंकि गीता कर्मसंन्यासको नहीं मानती पर एक दूसरे ही प्रकारका संन्यास बतलाती है, जिसमें कर्मफलका संन्यास किया जाता है। गीताने संन्यासकी नयी परिभाषा की है—विद्वान् लोग काम्य कार्मोंके न्यासको ही संन्यास कहते हैं (१८।२) और संन्यासीकी भी नयी परिभाषा की है—कर्मफलका आश्रय छोड़कर जो कर्तव्य-कर्म करता है वही संन्यासी है और वही योगी है' निरग्नि और निष्क्रिय नहीं (६।१)।

सांख्य और योगको एक ही **(एकं सांख्यं च योगं च)** बतलानेमें भी गीताका अभिप्राय यह नहीं है कि एकका दूसरेमें लय हो सकता है, बल्कि यह दिखलाना है कि दोनोंमें कोई विरोध नहीं है। सच पूछिये तो गीताकी यह एक प्रधान विशेषता है कि वह दोनोंका अपने योगके सिद्धान्तद्वारा बहुत सुन्दर ढंगसे समन्वय कर देती है। सांख्य तो कर्मशून्य था, गीतामें आकर वह सांख्ययोग हो गया—जो कर्मका समर्थक है। और कर्म, जिसके मूलमें था काम, गीतामें आकर कर्मयोग हो गया—जिसका आधार है कामनाका अभाव। ऐसे ही संन्यास, जिसका अर्थ था कर्मोंका संन्यास, गीतामें आकर संन्यासयोग हो गया—जिसमें अहंकार और कर्मफलका न्यास होता है। इस प्रकार अपने योगके सिद्धान्तद्वारा गीता सांख्य, कर्म और संन्यासके वास्तविक स्वरूपकी रक्षा करते हुए भी इन मार्गोंमेंसे परस्पर विरोध उत्पन्न करनेवाले भावोंको हटा देती है।

इसलिये मेरे विचारमें गीता किसी विशिष्ट योगका, अन्य योगोंके व्यतिरेकसे, प्रतिपादन नहीं करती और न एक योगका दूसरे योगके साथ कोई विरोध ही मानती है। गीतामें जिस क्रमसे इन विभिन्न योगोंका वर्णन किया गया है, वह साधनाका ही क्रम है। द्वितीय अध्यायमें प्रतिपादित सांख्ययोगसे आगे बढ़कर साधक स्वभावत: कर्मयोगमें प्रवेश करता है, जो तीसरे अध्यायका विषय है। तीसरे अध्यायकी साधनासे साधक अपने-आप चतुर्थ अध्यायके कर्मसंन्यास— ज्ञानयोगमें पहुँच जाता है। चतुर्थ अध्यायका उपदेश ग्रहण करनेपर साधकके मनमें अनिवार्यरूपसे संन्यास और कर्मके परस्पर सम्बन्धका प्रश्न उठता है, और यही पाँचवें अध्यायका विषय है—जिसका नाम कर्मसंन्यासयोग रखा गया है। इस प्रकार कर्म, ज्ञान और संन्यासका परस्पर सम्बन्ध निर्धारित हो जानेपर ध्यानके द्वारा प्राप्त होनेवाली सिद्धिके स्वरूपका प्रश्न आता है; यही छठे अध्यायमें बतलाया गया है और इसीलिये इसे ध्यानयोग या आत्मसंयमयोग कहते हैं। यहाँतक जीवात्माके साक्षात्कारके सम्बन्धमें जितने साधन अथवा योग हैं, उनका प्रतिपादन हुआ। इसके बाद जो योग आते हैं, वे समष्टि-चेतन या विश्वरूप भगवान्की प्राप्तिके साधन हैं। सातसे बारह तकके अध्यायोंमें इन्हींका वर्णन है। अन्तमें इन दोनों सिद्धियोंका एकत्व साधन करनेवाले अर्थात् पूर्ण आत्मसाक्षात्कार या ईश्वर-साक्षात्कार करानेवाले योगोंका शेष छ: अध्यायोंमें वर्णन है।

(१) व्यष्टिचेतन अर्थात् जीवात्माका साक्षात्कार करानेवाले योग

ऊपर योगोंके जो तीन विभाग किये गये हैं, वे सिद्धिके स्वरूपको लेकर ही किये गये हैं। तदनुसार प्रथम वर्गके योग व्यष्टिचेतन या जीवात्माका साक्षात्कार करानेवाले हैं। यह मैं पहले ही कह चुका हूँ कि कोई भी सिद्धि केवल व्यष्टिचेतनको लेकर नहीं होती, प्रत्येक सिद्धिका सम्बन्ध तीनों ही सिद्धियोंके साथ रहता है। परन्तु पहले छ: अध्यायोंका विषय मुख्यतया व्यष्टिचेतन या जीवात्माके साक्षात्कारका ही है। व्यष्टिचेतनके साक्षात्कारमें सबसे बड़ा विघ्न उसके अंदर होनेवाले सङ्घर्ष हैं। ये सङ्घर्ष आरम्भसे छठे अध्यायतक किसी-न-किसी रूपमें ही बने रहते हैं। छठे अध्यायमें ध्यानयोग या राजयोगके द्वारा अपनी विभिन्न सत्ताओंको एकीभूत कर साधक अपने समग्र व्यष्टिस्वरूपका साक्षात्कार करता है। फिर भी जीवात्माके समग्र स्वरूपका पूर्ण साक्षात्कार अठारहवें अध्यायमें होता है, इससे पहले नहीं। जहाँ अर्जुन कह उठता है कि 'अब मेरा मोह नष्ट हो गया, संशय दूर हुआ; मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।'

(२) विश्वरूप भगवान्का साक्षात्कार करानेवाले योग

जीवात्माके साक्षात्कारके बाद विश्वरूप भगवान्के साक्षात्कारका साधनक्रम सातवें अध्यायसे आरम्भ होता है। इसी अध्यायसे गीताका उपदेश सार्वभौम रूप धारण करना आरम्भ करता है। जीवात्माका यहीं विश्वात्माके साथ गँठबन्धन आरम्भ होता है। इसी सातवें अध्यायमें परा और अपरा प्रकृतिके भेदका निरूपण हुआ है। परा प्रकृति वह बतायी गयी है, जो जीव बनी हुई ('जीवभूता')

इस जगत्‌को धारण कर रही है (**'ययेदं धार्यते जगत्'**)। परा प्रकृतिका यह लक्षण सारगर्भित है; इससे भगवान्‌की परा-प्रकृतिके साथ व्यष्टिचेतनका जो सम्बन्ध है, वह अधिक स्पष्ट हो जाता है और जीवके लिये भवगत्प्राप्तिका रास्ता खुल जाता है।

आठवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें कर्मके सार्वभौम अर्थका विशदीकरण हुआ और फिर सारे अध्यायमें जीवकी गतिका वर्णन किया गया है। नवें अध्यायमें भी यही विषय चला है। इसी अध्यायमें आगे चलकर वे प्रसिद्ध श्लोक आते हैं, जिनमें भगवत्स्वरूपका वर्णन है। भगवान्‌का वह स्वरूप जो सारे विश्वसे परे है, और वह स्वरूप जो विश्वमें ओतप्रोत है—दोनोंकी ही झाँकी यहाँ मिलती है, यद्यपि उनके पिछले स्वरूपपर अधिक जोर दिया गया है—जो ठीक ही है। क्योंकि विश्वरूप भगवान्‌की ओर ही विशेषरूपसे ध्यान दिलाना यहाँ अभिप्रेत है। दसवें अध्यायका नाम विभूतियोग यथार्थ ही है, क्योंकि इसमें भगवान्‌का विभुत्व—विश्वव्यापकत्व—और भी विशद किया गया है। इस अध्यायमें भगवान् अपने मानवातीत, विश्वव्यापक रूपपर अधिक जोर देते हैं—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

(गीता १०। २-३)

श्रीकृष्णप्रेमजी कहते हैं कि 'गीताके जो वक्ता गीतामें बोल रहे हैं, कोई मनुष्य नहीं, बल्कि वे परब्रह्म हैं—जिनमेंसे सब प्राणी उत्पन्न होते हैं और जिनमें फिर यथासमय लय हो जाते हैं।*

परन्तु भगवान्‌का यह विश्वव्यापक रूप अपनी परिपूर्णता, महान् ऐश्वर्य और अनन्त महिमाके साथ प्रकट होता है ग्यारहवें अध्यायमें ही। यहाँ जिस विश्वरूपका दर्शन होता है, वह इतना विराट् और भीषण है कि उसे देखकर अर्जुन भयसे काँप उठता है और भगवान्‌से पुनः अपने सौम्य मानुषरूपमें प्रकट होनेकी प्रार्थना करता है (११। ४५)। भगवान्‌के विश्वरूपका जिसे दर्शन हो जाता है, वह भक्तिका ही अवलम्बन करेगा; इसलिये विश्वरूपदर्शनयोगके बाद भक्ति-योगका प्रारम्भ स्वाभाविक ही है। आत्माके उत्थानसे सम्बन्ध रखनेवाले योगोंका प्रतिपादन यहाँ समाप्त हो जाता है। अर्जुनको भगवान्‌की अनन्त महिमा और अनन्त शक्तिकी एक झाँकी मिल गयी। परन्तु इस विराट् रूपके दर्शनसे उसकी आँखें चौंधिया गयीं और वह भयभीत हो गया। कहाँ तो अनन्त ऐश्वर्यसम्पन्न भगवान् और कहाँ क्षुद्र जीव! श्रीअरविन्द कहते हैं—'जीवकी परिच्छिन्न प्राकृत पृथग्भूत क्षुद्रातिक्षुद्र व्यष्टि-सत्ताके लिये इस अनन्त सत्ताका अपार अमित महातेज अत्यन्त दुस्सह है। इसलिये इस महान् और इस अल्पके बीच सम्बन्ध जोड़नेवाला कोई सूत्र होना चाहिये, जिससे यह व्यष्टिजीव उस महान् विश्वरूप भगवान्‌को अपने प्राकृत आधारमें अपने समीप अनुभव कर सके, केवल अपनी सर्वशक्तिसत्तासे अपनी अपरिमेय समष्टि-शक्तिके द्वारा उसकी समग्र सत्ताका नियमन करनेवाले नियन्ताके रूपमें ही नहीं, बल्कि उसके साथ व्यक्तिगत निकट सम्बन्ध जोड़कर उसे सहारा देने, उठाने और अपने साथ एक करनेवाले मनुष्यके रूपमें।' ('Essays on the Gita', second series, P. 197) यह सूत्र हैं मनुष्यरूप धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण।

(३) द्विविध अनुभूतिकी एकता अर्थात् पूर्ण आत्म-साक्षात्कार अथवा ईश्वर-साक्षात्कार करानेवाले योग

अब हम गीताके अन्तिम भागकी ओर आते हैं, जिसका प्रतिपाद्य विषय है पूर्वकी द्विविध सिद्धियोंकी एकता; जिसका परिणाम है सम्पूर्ण आत्मसाक्षात्कार अथवा भगवत्साक्षात्कार। यही चरम सिद्धि है। भगवान् और मनुष्यके बीच सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये भगवान्‌का मनुष्यरूप धारण करना किस प्रकार आवश्यक है, यह हम अभी देख चुके। पर इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि मनुष्य भगवान्‌के विश्वरूपका साक्षात्कार करके संसारमें उतरे और इस साक्षात्कारके प्रकाशमें संसार-क्षेत्रके अंदर अपने कर्तव्योंका अवकलन करे। दूसरे शब्दोंमें मनुष्यको चाहिये कि वह अनन्त परमात्माके साथ अपना सम्बन्ध बनाये रहे और उन्हें अपना वास्तविक आत्मा समझे। इसकी जो कुछ साधना है, वही अन्तिम छः अध्यायोंका विषय है।

यह स्पष्ट है कि इन अध्यायोंमें ज्ञानकी काफी चर्चा होगी। शायद इसीलिये इस अन्तिम भागको ज्ञानकाण्ड कहते हैं। परन्तु यह स्मरण रहे कि यहाँ जो ज्ञान कहा

* 'The Yoga of the Bhagvadgita.' P. 91

गया है, वह सातवें अध्यायमें विवृत ज्ञानसे भिन्न है। वहाँ '**वासुदेव सर्वमिति**' कहकर जिस ज्ञानका वर्णन किया है, वह केवल विचारात्मक ज्ञान है। यहाँ जिस ज्ञानका निरूपण किया गया है, वह हमें दो बातें बतलाता है—एक तो यह है कि आत्माका संसारके साथ क्या सम्बन्ध है और दूसरी यह है कि उसका भगवान्‌के साथ क्या सम्बन्ध है।

यह दोहरी दृष्टि तेरहवें अध्यायमें स्पष्ट देख पड़ती है। उक्त अध्यायके ८ से १२ तकके श्लोकोंमें ज्ञानके जो लक्षण बतलाये गये हैं उनमें अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षमा, आर्जव, आचार्योपासन, शुचिता, स्थिरता, आत्मनिग्रह इत्यादि गुण ही गिनाये गये हैं। ये आत्मज्ञानके लक्षण नहीं, बल्कि नैतिक गुण ही समझे जाते हैं। पर इन्हें ज्ञानके लक्षण बताया गया है, इससे यह जाहिर है कि गीता यहाँ केवल ज्ञानका सिद्धान्त ही नहीं, बल्कि उसका व्यावहारिक रूप भी बतला रही है— जो संसारके साथ आत्माके सम्बन्धको दृष्टिमें लिये हुए है। इस दृष्टिसे इस अध्यायका नाम क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभागयोग बहुत ठीक रखा गया है। संसारके साथ आत्माका सम्बन्ध क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका सम्बन्ध है। संसार क्षेत्र है, आत्मा क्षेत्रज्ञ। इस अध्यायमें क्षेत्रका जो वर्णन पाँचवें और छठे श्लोकोंमें दिया गया है उसमें शरीर, मन, इन्द्रिय और प्राण सभी कुछ आ जाते हैं। आत्मा इस क्षेत्रका ज्ञाता है, अंग नहीं। आत्माका यह स्वरूप जीवात्माका परमात्माके साथ एकत्व बतलाता है। आत्मा और परमात्मामें यही तो अन्तर है कि आत्मा एक क्षेत्रका ज्ञाता है और परमात्मा समस्त क्षेत्रोंका। श्रीकृष्णप्रेमजीके शब्दोंमें, इस अध्यायका निचोड़ यही है कि 'जगत्‌की ज्योति तुम्हारे अंदर है।'

आत्मा और परमात्माके बीच भेदकी जो दीवार खड़ी है, वह इस तरह टूट जाती है। आत्माका स्वरूप परमात्माके स्वरूपका निर्देश करता है। इसीलिये आत्मस्वरूपके बाद ही इस अध्यायमें परमात्मस्वरूपका वर्णन आता है। २८ से ३४ तकके सुन्दर श्लोक आत्मस्वरूपके साथ-साथ परमात्मस्वरूपका भी वर्णन करते हैं।

गुणत्रयविभागयोग नामक चौदहवें अध्यायकी अवतारणा संसारके साथ आत्माके व्यवहारकी बात पूरी करनेके लिये हुई है। वह बात है—गुणोंके ऊपर उठनेकी, गुणातीत होनेकी। दूसरे अध्यायके ४५ वें श्लोकमें भी निस्त्रैगुण्य होनेका उपदेश दिया गया है। पर वहाँ गुणोंका वर्णन नहीं हुआ है और न यह बतलाया गया है कि निस्त्रैगुण्य होना क्यों आवश्यक है। बहुत-सी बातें इन पिछले अध्यायोंमें ऐसी आयी हैं, जो पहलेके छः अध्यायोंमें आ चुकी हैं; परन्तु दोनोंमें अन्तर यह है कि यहाँ उस विषयका अधिक पूर्ण और अधिक स्पष्टरूपमें उल्लेख हुआ है तथा आत्मा एवं जगत्‌के स्वरूपके विवेचनपूर्वक हुआ है।

तेरहवें और चौदहवें अध्यायोंमें आत्माके स्वरूप और सारके साथ उसके सम्बन्धका निरूपण करके पन्द्रहवें अध्यायमें पुरुषोत्तम-योगका वर्णन किया गया है। भगवान्‌के सम्बन्धमें गीताका सर्वोत्तमभाव पुरुषोत्तमभाव है। इस भावको यथार्थरूपमें ग्रहण न करनेके कारण इसके सम्बन्धमें अनेक भ्रम उत्पन्न हो गये हैं। अनेकों विद्वानोंने पुरुषोत्तमभाव और अक्षर-ब्रह्मको एक ही समझ लिया है। श्रीअरविन्दके गीताभाष्य (Essays on the Gita) की आलोचना करते हुए 'मॉर्डन रिव्यू' में स्वर्गीय एम्० सी० घोषने श्रीअरविन्दकी गम्भीर विचारशैलीको यह कहकर उड़ा दिया था कि 'अक्षरब्रह्म' से ऊँचा कोई 'पुरुषोत्तम' नहीं हो सकता। परन्तु 'अक्षरब्रह्म' और 'पुरुषोत्तम' दो अलग-अलग भाव हैं। इन दोनोंमें जो अन्तर है, वह पन्द्रहवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें प्रकट किया गया है। यही गीताकी सबसे बड़ी चीज है, इसके बिना गीताकी पूर्णता नहीं। श्रीअरविन्द कहते हैं कि 'आत्माकी परतमा स्थिति पुरुषोत्तममें निवास है, पूर्ण लय नहीं।'*

पुरुषोत्तमका साक्षात्कार ही गीताकी सर्वोत्तम अनुभूति है और इसीलिये इसे 'गुह्यतम शास्त्र' कहा गया है। परन्तु इस गुह्यतम ज्ञानके प्रकाशमें आत्माके लिये संसारमें रहते हुए क्षेत्रज्ञके नाते सांसारिक कर्तव्योंका पालन करनेमें संसार-विषयक जिस ज्ञानको ग्रहण कर लेनेकी आवश्यकता है, वही दैवासुरसम्पद्विभाग है, जो सोलहवें अध्यायका योग है। और इन सब योगोंमें साधकके लिये सबसे अधिक आवश्यक वस्तु है—श्रद्धा, जिसके बिना सारा ज्ञान और कर्म व्यर्थ हो जाता है, उसका न इहलोकमें कोई फल होता है न परलोकमें (**'असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह'**) इसलिये श्रद्धाका स्वरूप उसके विविध भेदोंके विवरणके साथ सत्रहवें अध्यायमें बताया गया है, जिसमें इन सब योगोंके साधनमें साधककी श्रद्धाका योग हो। अन्तिम अध्याय गीताका उपसंहार है।

* Essays on the Gita, second series P. 276

सांख्य, कर्म आदि जो-जो योग पहले बताये गये, उन सबकी पूर्णता इसी अध्यायमें आकर होती है और आत्मसाक्षात्कारके सब योगोंकी परिसमाप्ति भी। और इसीलिये सम्पूर्ण योगोंके पश्चात् स्वयं श्रीपुरुषोत्तम भगवान् यह महान् आश्वासन देते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८।६६)

वैसा ही श्रद्धा-भक्तिपूर्ण महान् उत्तर अर्जुनकी ओरसे भी आता है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

(गीता १८।७३)

यही जीवात्माकी आत्मा, विश्वात्मा और पुरुषोत्तम-इस त्रिविध स्थितिकी सिद्धिका योगशास्त्र है। यही गीता-की साधना है।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

वृन्दावनकी प्रेम-साधना

(लेखिका—बहिन श्रीरैहाना तय्यबजी)

वृन्दावन!

—नामका उच्चारण स्मरण करनेके साथ, कानोंको चुपचाप यह नाम प्रेम और उत्कण्ठासे सुना देनेके साथ ही मानस-पटलपर भीतरसे कैसे-कैसे सुन्दर समुज्ज्वल चित्र हृदयकी आँखोंके सामने आने लग जाते हैं।

वृन्दावन! ओ हरे-भरे, सुहावने, प्यारे वृन्दावन! कमनीय कुसुमोंकी कुञ्जस्थली, मधुर विहग-काकलीके प्रवाह, कालिन्दीके कलकल निनादसे संकृत और निर्झरोंके रूपमें मन्दस्मितसे युक्त वृन्दावन! सारा जीव-जगत् जहाँपर एक है और एकत्वके अनुभवमें आनन्दमग्न है!

क्या आश्चर्य जो मूर्तिमान् प्रेम पृथ्वीपर अवतीर्ण होनेकी इच्छासे वृन्दावनमें पधारे और इसीको उन्होंने अपना धाम बनाया!

वृन्दावन, जब वे नहीं आये थे, तब कैसा था?

जंगलोंमें उस समय भी हरियाली रही होगी, फूलोंमें विविध रंग और मोहक सुगन्ध रही होगी। भोले-भाले कृष्णसार मृग तथा अन्य छोटे-छोटे वन्य जीव सुखपूर्वक विचरते होंगे; पक्षियोंके कलरवमें भी मधुरता रही होगी;जल भी स्वच्छ, उज्ज्वल और मीठा रहा होगा—उस समय भी, जब वे नहीं आये थे। हरी-भरी गोचर-भूमियोंमें चरनेवाली गौएँ सरल, सीधी और शान्त रही होंगी। गोप-गोपी भी अपने दैनिक गृहकार्यमें मग्न, अपने ग्राम्य जीवनके आनन्दमें मस्त, भोले-भाले लोग रहे होंगे।

किस बातमें ये अन्य लोगोंसे भिन्न थे? क्या इनमें कोई विशेष बात थी? क्या ये कुछ और भी थे?

वृन्दावनमें वे प्रेमस्वरूप किसलिये पधारे? वृन्दावनको उन्होंने अपना दिव्य धाम क्यों बनाया? इन गोप-गोपियोंको क्या समझकर उन्होंने अपनाया, सिर चढ़ाया और अमर कर दिया? इनमें ऐसी कौन-सी बात थी, जो उन्हें खींच लायी? वह कौन-सी चीज थी इनके अंदर, जो उनकी पुकारपर दौड़ पड़ी?

कोई बात जरूर रही होगी। प्रेमकी पुकार हर जगह हर समय हो रही है; पर सब कोई तो उसे नहीं सुन सकते, न उसके पीछे चल ही सकते हैं। कोई चीज इनके अंदर अवश्य रही होगी, जिससे इनके नेत्रोंमें वह निर्मलता आ गयी कि बालरूपधारी वृन्दावनविहारीको देखते ही इन्होंने पहचान लिया, आनन्दसे उछल पड़े और उनकी भगवत्ताकी महिमाका अनुभव कर उसीमें डूब गये। कोई चीज इनके अंदर अवश्य रही होगी, जिससे इनके कान इतने पवित्र हो गये कि उनकी वंशीकी ध्वनिमें इन्होंने वह चीज सुनी जो गोकुलकी ब्राह्मणपत्नियाँ शास्त्र-संस्कारसे संस्कृत होनेपर भी नहीं सुन सकीं। कोई चीज इनके अंदर अवश्य रही होगी,जिससे इनका हृदय इतना विशुद्ध हो गया कि ज्यों ही वे इनके सामने आये, ये आत्मसमर्पणकी सहज अदम्य दीप्ति और दमकके साथ सर्वात्मभावसे उनपर उत्सर्ग हो गये। यह 'कोई चीज' क्या रही होगी? क्या यह इनकी अनेक जन्मोंकी निरन्तर कठिन तपस्या या शक्ति-उपासना थी?

इनके जीवनपर दृष्टि डालो। कितना सादा, कितना आडम्बरशून्य! और इनके घर?—वे ही अरण्य-कुटीर! इनकी धन-सम्पत्ति?—वही गोधन! इनका आहार?—वही दूध और माखन, दही और छाछ, कन्द-मूल, अनाज

और साग-भाजी! कितना सात्त्विक भोजन था! सात्त्विक मन और सात्त्विक शरीर-ही उससे बनते थे। विलासकी सामग्री इनके पास क्या थी? कुछ भी नहीं! विलासिता किसे कहते हैं, यह तो ये जानते ही न थे। सीधी-सादी आकांक्षाएँ और सहज तथा अनायास ही सन्तोष! वहाँ लोभ, ईर्ष्या, द्वेष या भयके लिये स्थान ही कहाँ था।

गोप-गोपियोंको इस रूपमें देखें तो इनके सम्पूर्ण जीवनको एक साथ व्यक्त और स्पष्ट करनेवाला एक शब्द सामने आता है—'वानप्रस्थ'। ये गोप-गोपी जन्मतः वानप्रस्थ थे। माना कि ये गृहस्थ थे, संसारी थे; पर इनका संसार कैसा था? कितना निष्काम, कितना अहङ्कारशून्य! यह संसार क्या था? सहज कर्तव्योंका सच्चा और निष्काम पालनमात्र! ये संसारमें अवश्य रहते थे, पर संसारके होकर नहीं! यही तो सच्ची-से- सच्ची साधना है।

सौन्दर्य सभी आध्यात्मिक शक्तियोंको उन्नत और उत्कृष्ट बनाता है। गोपियाँ सौन्दर्यके बीचमें रही थीं, सौन्दर्यसे ही जीती थीं, सौन्दर्य-सुधाका ही पान करती थीं, सौन्दर्यमें ही डूबी रहती थीं, उसीसे ये पवित्र और चिन्मय हो गयी थीं। यही कारण था कि प्रेमस्वरूप भगवान् जब मूर्तिमान् सौन्दर्यके रूपमें इनके समीप आये तो इन्होंने उन्हें अपने हृदयोंसे लगा लिया और अपने हृदय उन्हें सौंप दिये!

हाँ, इनके हृदयोंको उन्होंने अपने वशमें कर लिया। उनका जादू ही ऐसा था, जो इन लोगोंपर असर किये बिना रह नहीं सकता था। ये खुशीसे उनकी हो गयीं, सर्वथा उन्हींकी हो गयीं; ऐसा किये विना ये रह नहीं सकती थीं। पर इन्होंने उन्हें कैसे वशमें किया, कैसे अपना बनाया और अपना बनाकर रखा?

उनकी दयासे? हाँ, उनकी दयासे ही तो! पर इनका अपना प्रेम, साधन, तपस्या और आत्मसर्पण भी उतना ही प्रबल कारण था। उनकी दया तो सबपर समानरूपसे बरस रही है। फिर गोपियोंपर ही उनकी यह विशेष दया कैसे हो गयी?—इसलिये कि गोपियाँ उन्हें ऐसे अलौकिक भावसे भजती थीं कि जिसके कारण ये और इनकी भक्ति सदाके लिये मानव-जातिका आदर्श बन गयी हैं। इस मर्त्यलोकमें गोपियोंने ही उन्हें वह प्रेम दिया, जो उनके उपयुक्त था। और इस प्रेमका मूल्य उनकी दृष्टिमें इतना महान् था कि इसके बदलेमें उन्होंने अपने-आपको ही इन्हें दे डाला। 'क्या प्रेम? केवल प्रेम? केवल प्रेममें इतनी ताकत है कि जो उन परात्परपर विजय प्राप्त करके उन्हें अपने अधीन कर सकता है?

जो लोग ऐसा प्रश्न करते हैं, वे नहीं जानते कि 'प्रेम, केवल प्रेम' क्या होता है।

प्रेम! प्रेम क्या है? और प्रेम क्या नहीं है? भलाई, उदारता, संयम और धैर्य, निःस्वार्थता और बलिदान, सहिष्णुता और साहस—कौन-सी ऐसी चीज है, जो प्रेममें नहीं है? परतम, पवित्रतम, सत्तम और दिव्यतम गुणोंमें ऐसा कौन-सा तत्त्व है, जो प्रेममें नहीं है?

गोपियोंने प्रेम किया। यही उनकी तपस्या थी।

उन्होंने परतम, सर्वोत्तमसे प्रेम किया; यही उनकी महिमा थी।

परतम, सर्वोत्तम, पुरुषोत्तमने उनके प्रेमको अंगीकार किया। यही उनका पुरस्कार था।

'ऐसा प्रेम'—हृदयसे यहाँ श्रद्धायुक्त ईर्ष्यालु पूछता है कि 'गोपियोंने कैसे किया?'

आह! क्या कोई इस बातको जान सकता है,—कहनेकी बात तो दूर रही—सिवा उनके जिन्होंने इन ग्वालिनोंका प्रेम पूर्णरूपसे ग्रहण कर लिया है? पर क्या वे स्वयं इस रहस्यको बतलायेंगे?

इस दिव्यातिदिव्य आध्यात्मिक चमत्कारकी, जिसे 'गोपी-प्रेम' कहते हैं, कुछ बातें फिर भी जानी जा सकती हैं और कुछका अनुमान किया जा सकता है।

कथा ऐसी है कि गोपियोंने जब पहले-पहल उन्हें देखा तो उनके उन्मत्त कर डालनेवाले सौन्दर्यपर मुग्ध होकर ये अपने-आपको बिल्कुल भूल गयीं। इनके तन, मन, प्राण एवं इन्द्रियोंमें तथा इनकी आत्मामें वही बस गया। इनकी आँखोंमें वही छबि उतर आयी। इनके चित्तका वही चिन्तन हो गया। दूसरा इन्हें दीखता ही न था, दूसरेकी बात ये सोच ही नहीं सकती थीं। रात-दिन ये उन्हींको फिर देखने, बार-बार देखने, बिना पलक गिराये अनन्त कालतक देखते ही रहनेकी कामनासे जलने लगीं।

कहते हैं—मनुष्य जो कुछ सोचता है, वही उसका

स्वरूप है। गोपियाँ श्रीकृष्णका ही चिन्तन करती थीं, और किसी वस्तु अथवा व्यक्तिका नहीं। श्रीकृष्णकी उस दिव्य छबिको कोई भी गोपियोंके नेत्रोंमें, उनके हृदयोंमें, उनके मनोंमें, उनकी आत्माओंतकमें देख सकता है। कोई भी देख सकता है कि श्रीकृष्ण-मिलनकी लालसासे उन्हींका अहर्निश चिन्तन करती हुई गोपिकाओंके तन-मन-प्राणसे मानवता झड़ती जा रही है और उनके जीवनमें क्रमशः श्रीकृष्णकी दिव्य पूर्णता प्रवेश कर रही है। यही तो साधना है—सबसे दिव्य, पावन और अमोघ साधना!

शीघ्र ही यह प्रेम और यह मिलनकी चोंप वाणीद्वारा व्यक्त होने लगते हैं। गोपियाँ सकुचाती-लजाती बरबस मुग्ध करनेवाले उनके विविध दिव्य गुणोंका एक दूसरीसे बखान करती हैं, उनके अनुपम सौन्दर्य और आकर्षणकी महिमा गाती हैं। वाणीके साथ उनका प्रेम बढ़ता है और प्रेमके साथ ज्ञानकी वृद्धि होती है। और उनका ज्ञानके रूपमें परिणत व्यापक प्रकाश हो जाता है, जिसके सामने उनके तन-मन-प्राणके किसी कोने-कतरेमें भी अज्ञानान्धकारका लेश भी नहीं रह जाता। इसी प्रेम-प्रदीप्त ज्ञानसे ये सिद्ध ज्ञान प्राप्त करती हैं। इस प्रकार ज्ञान और प्रेममें सिद्ध होकर ये उनकी वंशी-ध्वनि सुनने और उसके स्वरोंमें अपना स्वर मिलानेकी अधिकारिणी बन जाती हैं।

तब वृन्दावनके उस शान्त उपवनमें उनकी वंशी बजती है। गोपिकाएँ उसे सुनती हैं, क्योंकि उसे सुननेके योग्य उन्होंने इन्हें पहलेसे बना रखा है और ये उसकी प्रतीक्षा कर रही हैं। आकाशमें जो चन्द्रमा है, वह इन गोपियोंके समग्र अस्तित्वको प्रकाशित करनेवाले प्रेमरूपी चन्द्रमासे अधिक प्रकाशमान नहीं है। वृन्दावनकी शोभा इनकी अव्यक्त मधुर आकाङ्क्षाओंकी एक फीकी-सी और निर्जीव छायामात्र है। प्रत्येक गोपी एक जीता-जागता, चेतन दिव्य धाम बन गयी है। अब समय आ गया है कि भगवान् आकर इनके आत्मापर अधिकार कर लें, इनका और सब कुछ तो वे पहले ही ले चुके हैं। क्या इन्होंने कभी उन्हें कुछ देनेमें नाहीं की है जो अब करेंगी? रोज ही तो वे इनकी सबसे प्रिय वस्तुओंको दूध-दहीके रूपमें छीन-झपटकर लेते ही रहे हैं। उन्होंने इनकी सारी ऐहिक सम्पत्ति छीन ली है और इनका माखन चुराकर, इनके बर्तन-भाँड़े फोड़कर इनपर अपना प्रभुत्व और भी सुस्पष्ट कर दिया है। इससे भी सूक्ष्म स्तरमें उन्होंने इनके सारे अहङ्कारको वस्त्रहरणके बहाने हर लिया है। अब इनके पास रह ही क्या गया है? केवल इनकी पृथक् सत्ताका भाव, हम अलग हैं और ये अलग हैं—यह बुद्धि; इसे भी नष्ट करना है।

ये अपने घरोंका सब काम-काज करती हैं; उनसे ये बँधी नहीं हैं, किन्तु उन्हें छोड़ भी नहीं सकतीं। क्योंकि ये श्रीकृष्णसे प्रेम करती हैं, श्रीकृष्णसे नाता निबाहनेकी इच्छा और आशा रखती हैं; इसीलिये धर्मतः जिनकी सेवा करना इनका कर्तव्य है, उनके प्रति भी ये कर्तव्यपालन करनेके लिये अपनेको विवश करती हैं। उनके लिये काम-काज करती हुई भी ये स्मरण करती हैं श्रीकृष्णका ही। इस तरह उनके ये सब कर्म श्रीकृष्णकी ही निरन्तर उपासनाके अंग बन जाते हैं। इनका संसार उनके और इनके बीच कोई व्यवधान नहीं डालता, बल्कि वह श्रीकृष्णके गुह्य मन्दिरका प्रवेशद्वार बन जाता है।

और तब········ वंशी ध्वनि होती है। स्फटिककी बनी हुई निर्मल धारकी तेज छुरीकी तरह हृदयको चीरनेवाली, सर्वांगमें अलौकिक उन्मादन-माधुर्य भरनेवाली वंशीध्वनि!

इनकी आत्मा सुनती है उस वंशीध्वनिको और दौड़ पड़ती है उसीकी सीधमें श्रीकृष्णके समीप!

और तब रास आरम्भ होता है— उनके साथ आनन्द-मिलनका वह दिव्य नृत्य! ········और तब—

सब श्रीकृष्णमय, सब श्रीकृष्णमय बन जाता है।

वास्तवमें सब कुछ श्रीकृष्णरूप हो जाता है।

मेरा स्वप्न

(ले० सौ० बहिन इन्दुमति ह० देसाईजी)

'उषा, प्रातःकालकी मधुर उषाकी लालिमा गोकुल-वृन्दावनपर छाने लगी है। सुहावनी समीर-लहरी श्रीहरिके ध्यानमें मस्त तपस्वियोंको प्रफुल्लित कर रही है। श्रीहरिके चरण-कमल-मकरन्दका पान करनेवाली भ्रमरी—प्रेमोन्मादिनी गोपिकाएँ—श्रीकृष्णसंगकी प्रेम-केलियोंके मधुर स्वप्नका अनुभव करती हुई, जिनके मुखपर मन्द मुस्कान छिटक रही है, श्रीमनमोहनके साथ प्रेमकलहमें लगी हैं; परन्तु इस उषाने उनके साथ वैरिणीका काम किया। पक्षियोंकी मधुर काकलीको सुनकर, शय्याका त्याग करके वे श्रीकृष्णका गुणगान करती हुई प्रातः-कृत्यसे निवृत्त होकर उतावली-उतावली श्रीनन्दजीके महलमें पहुँचीं। नौबतखानेकी नौबतोंकी आवाजसे, मीठे मृदंग-चंगोंकी मधुर ध्वनिसे, भक्तोंके भावभरे भजनोंसे और यशोदामैयाके प्रेमवाक्योंसे विश्वविमोहन परब्रह्म श्यामसुन्दर सहज ही आलससे अंग मरोड़कर सुख-सेजपर उठ बैठे और प्रेमपाशमें बँधकर माताके चरणोंमें प्रणाम करने लगे। माताने उन्हें उठाकर गोदमें ले लिया। पगली गोपिकाओंने प्रेमविह्वल नेत्रोंसे इस अनुपम रूप-माधुरीका पान करके श्रीहरिके चरणोंमें वन्दन किया। कोई लायी थी माखन-मिश्री, कोई मीठा मलाईदार दही और कढ़ा हुआ दूध; कोई ताजी-ताजी रोटियाँ, कोई सेव-सुहाल और घेवर—जिससे जो बना, सबने प्रभुके सामने रखा। वे पहले अपने प्रेमी भक्तोंकी बानगी आरोगें, पीछे मैं—मैं तो सबसे अन्तमें काम आनेवाली चीजें ही ले गयी थी— सुगन्धभरा ताम्बूल,चन्दन, कलगी और वनमाला!

सारे गोपबालक—कन्हैयाके सखा कैसे आनन्दसे श्यामसे कहते हैं— कन्हैया, प्यारे कान्हा! चल-चल जल्दी, देख न, गायोंका झुंड तुझे निरखनेके लिये, तुझे स्पर्श करनेके लिये किस आतुरतासे पुकार रहा है। और कन्हैया! छोड़ सब बातोंको, चल जल्दी अपनी कुञ्जगलियोंमें, यमुनाजीके हरियाले तटपर और गोवर्धनकी गहरी गुफाओंमें। अरे मोहन! तेरी मुरली कहाँ है? उसके बिना कैसे काम चलेगा? गोपाल! गायें कैसे आवेंगी और कैसे लौटेंगी? तेरी इस मुरलीने क्या-क्या कर डाला है.........!

गोपियोंने यह सुनकर उलाहनेभरी आँखोंसे गोप-बालकोंकी ओर देखा। समझे कि नहीं? इनके प्रिय पुरुषोत्तमको ये बालक यों सबेरे-सबेरे ही ले जायँ—भला, इनसे यह कैसे सहा जाय? सारा-सारा दिन श्रीहरिके बिना कैसे कटे? ये बालक क्यों ऐसा करते हैं? 'जाओ-जाओ तुम सब यहाँसे' आज हमारे हरि नहीं जायँगे। आज तो सब सखियोंने सुन्दर भोजन बनाकर हमारे और तुम्हारे कन्हैयाको जिमानेका निश्चय किया है। और फिर? फिर हम भी खेलेंगी कबड्डी, गुली-डंडा, आँखमिचौनी—ऐसे बहुतेरे खेल मोहनको खेलावेंगी—और रातको रास—'

ये भोले गोपबालक कहाँ जानते थे कि इन गोपियोंने श्यामसुन्दरको अपने नयनोंमें छिपा रखा है। पर-पर सबके लिये यही तो रचा हुआ है—एकको संयोग, दूसरेको वियोग। उसी प्रकार इस अमूल्य दृश्यको देखकर मेरी भी आँखें खुल गयीं। मेरे श्याम! तुम्हारे बिना इस स्वप्नको सच्चा करनेवाला कौन है? कब? कब? ओ मेरे हरि! ज्ञान-चक्षु देकर इस स्वप्नवत् संसारको स्वप्नके समान दिखानेवाली, मेरी सच्ची आँखें कब खोलोगे? और मेरे मोहन! कब अपने दिव्य रूपकी मधुर झाँकीके पावन दर्शन इस दीन इन्दुको कराओगे?—

मेरे गिरधर—'सुध लीजिये मुरारी, दीन इन्दु है तुम्हारी।'

विनय

अबके माधव! मोहि उधारि।

मगन हौं भव-अंबु-निधिमें कृपासिंधु मुरारि॥

नीर अति गंभीर माया लोभ लहरि तरंग।

लिये जात अगाध जलमें गहे ग्राह अनंग॥

मीन इंद्रिय अतिहि काटत मोह अघ सिर भार।

पग न इत उत धरन पावत उरझि मोह-सेंवार॥

काम क्रोध समेत तृश्ना पवन अति झकझोर।

नाहिं चितवन देत तिय सुत नाक-नौका ओर॥

थक्यो बीच बेहाल बिहबल सुनहु करुनामूल।

स्याम भुज गहि काढि डारहु 'सूर' ब्रजके कूल॥

—सूरदासजी

साधन-तत्त्व

(लेखक—श्री 'अप्रबुद्ध')

पाश्चात्त्य वैज्ञानिकों और भारतीय वैदिकोंकी सत्यानु-सन्धान-पद्धतियोंमें जो बड़ा भारी अन्तर है, वह मानव-विचारके 'आरम्भ-बिन्दु' के विषयमें है। वैदिकोंका अनु-सन्धान जिस स्थानसे आरम्भ होता है, पाश्चात्त्योंके अनु-सन्धानमें उसका कोई स्थान ही नहीं है। पाश्चात्त्योंकी विचार-प्रणालीमें पञ्चदशीमें दिये हुए दृष्टान्तके समान अपना विचार छोड़कर शेष नवसंख्यकोंका विचार होता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि उन्हें शेष संसारका तो ज्ञान हुआ; पर अपना ज्ञान न होनेसे शेष संसारका ज्ञान उनकी अपनी उन्नतिमें किसी तरह भी लाभकारी नहीं हुआ। पाश्चात्त्य वैज्ञानिकोंके महदाश्चर्यकारक अनेकानेक आविष्कारोंके रहते हुए भी उनके आत्माको उनसे कोई तृप्ति नहीं मिली। वह आत्मा अब मानो यह कह रहा है कि हमारे विज्ञानने सुख-साधनोंकी तो खूब समृद्धि की, पर हम अपने अंदर इससे कोई परिवर्तन हुआ नहीं देखते। आलफ्रेड दि ग्रेटके समयमें इंग्लैंडकी सरकार घोड़ेकी सवारी करती थी और अब हमारे बड़े लाट विमानोंमें बैठकर सैर कर आते हैं। पर बाहरी दिखावेकी इस उन्नतिमें जीवकी भीतरी उन्नति क्या हुई है?

वैदिक प्राज्ञ पुरुषोंकी विचारप्रणालीमें विचारक आप ही अपने विचारका आरम्भस्थान होता है; कारण, अपने आपके रहनेसे जगत्‌के साथ अपना सम्बन्ध है। यदि आप न हो तो जगत्‌से या जगत्‌के कर्ता ईश्वरसे भी क्या नाता? अपनेसे ही विचारका आरम्भ करनेपर सबसे पहले अपने शरीरका विचार होता है। विचारपूर्वक देखनेसे हमें अपने इस शरीरके अंदर दो प्रकारके प्रवाह काम करते हुए देख पड़ते हैं, जिनमेंसे एक स्वाधीन है और दूसरा पराधीन। ये ही दो प्रवाह बाह्य दृश्य-जगत्‌में भी देख पड़ते हैं। हम भोजन करते हैं, भोजन करनेमें कौर उठाकर मुँहमें डालनेतक ही हमारा अधिकार है, पाचन करनेवाली शक्ति या उसके कार्यपर हमारा कोई अधिकार नहीं। यही बात बाह्य जगत्‌के सम्बन्धमें भी है और इसीलिये गीतामें भगवान्‌ने कर्म-मात्रमें '**दैवं चैवात्र पञ्चमम्**' कहकर दैवको पंचम कारण बताया है। इस प्रकार ये जो दो प्रवाह हैं, इनका सामञ्जस्य और एकीकरण किया जा सके तो अपने शरीरको अपने वशमें रखनेके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिये हमारे वैदिक पूर्वजोंने जो प्रयत्न किया, उसीका नाम साधना या उपासना है। भगवान् शङ्कराचार्यने उपासनाका यही तो लक्षण किया है—**उपासनं नाम समानप्रत्ययप्रवाहकरणम्।**' पाश्चात्त्य वैज्ञानिक इन दो प्रवाहोंकी खबर भले ही रखते हों, पर इन्हें एक करनेकी कला वे निश्चय ही नहीं जानते।

ये दोनों प्रवाह एक-दूसरेसे सर्वथा पृथक् नहीं बल्कि सम्बद्ध हैं। इनके छोर एक-दूसरेसे मिले हुए हैं। इसलिये हमारे साथमें जो छोर है, वह उस प्रवाहमें जा मिलता है जो हमारे हाथमें नहीं है। हमारे अंदर चार शक्तियाँ ऐसी हैं, जिनके इधरके छोर हमारे हाथमें हैं पर उधरके नहीं। ये शक्तियाँ हैं प्राण, मन, बुद्धि और वाक्। इन चारोंका एक-एक छोर हमारे हाथमें है, पर दूसरा हमारे हाथमें नहीं। यदि हम इन चारों शक्तिप्रवाहोंका सीढ़ियोंकी तरह उपयोग कर सकें तो '**इतस्त्वन्याम्**' जो परा प्रकृति है, उसके दिव्य आनन्दमय परप्रदेशमें प्रवेश-लाभ कर सकें। वह परप्रदेश अतीन्द्रिय है।

इस इन्द्रियगोचर विश्वके परे अतीन्द्रिय अनन्त विश्वकी स्थिति है। उसीसे इस स्थूल इन्द्रियगोचर विश्वके उत्पत्ति-स्थिति-लय हुआ करते हैं। इस स्थूल विश्वके सञ्चालनकी सारी शक्तिका आगम वहींसे होता है। यह स्थूल विश्व इस तरह पराधीन है। इसकी स्वाधीन सत्ता न होनेसे यह अनित्य और सुख-दुःखादि वैषम्यसे परिपूर्ण है और वह स्वाधीन होनेसे नित्य, एकरस, अखण्ड सच्चिदानन्दस्वरूप है। वैदिकोंने यह अनुसन्धान किया कि उस सच्चिदानन्दस्थितिको जीव कैसे प्राप्त हो सकता है। उन्हें यह प्रत्यक्ष हुआ कि किसी यन्त्रको चलानेवाली शक्ति जिस प्रकार उस यन्त्रके एक-एक पुर्जे और कील काँटितकमें व्याप्त रहती है, उसी प्रकार इस विश्वको चलानेवाली सच्चिदानन्दमयी शक्ति इसके एक-एक अणु-रेणुमें व्याप्त है। प्रत्येक शरीरके एक-एक परमाणुमें वही शक्ति व्याप्त है। पर इसके प्रवाहको अपने अधीन करना सुसाध्य नहीं है। यदि यह शक्तिप्रवाह अपने हाथमें आ जाय तो मनुष्य स्वयं सच्चिदानन्दस्वरूप हो जाय।

यह शक्ति हमारे अंदर पूर्वोक्त चार प्रकारसे काम करती है। इन चार शक्तिप्रवाहोंमेंसे किसी भी एक प्रवाहको

कोई अपने वशमें कर ले तो '**नदीमुखेनैव समुद्रमाविशत्**' के न्यायसे वह उसके साथ विरलभावको प्राप्त होकर मूल संवित्‌से युक्त हो सकता है। इसी सिद्धान्तके आधारपर मूलत: चार साधन-मार्ग निर्दिष्ट हुए और पीछे उनके परस्पर मिलनके अनेक-विध तारतम्यसे हजारों-लाखों साधनमार्ग चल पड़े। प्राण-शक्तिको हाथमें लेकर उससे अन्य शक्तिप्रवाहोंको अपने वशमें करके स्वयं शक्तिस्वरूप होना हठयोग कहलाया। मनकी शक्तिको वशमें कर एक तरफ शरीरसहित प्राण और दूसरी तरफ बुद्धि और वाणीपर विजय पाना और इस प्रकार शक्तिस्वरूप होना राजयोग हुआ। इन दोनों मार्गोंका क्रम शरीर और मन अर्थात् इस जड दृश्यसे आरम्भ कर उसे चैतन्यमें रूपान्तरित करना है; परन्तु बुद्धि और वाणीका क्रम इससे भिन्न, इसके विपरीत है। इस क्रममें शरीरके एक-एक सूक्ष्म तत्त्वको चिद्रूप करते हुए अन्तमें जड शरीरको भी चैतन्यमय करना है। बुद्धिका आश्रय करके इस साधनको करना ज्ञानयोग है और गीताशास्त्रोक्त शरणागतिसे इसे सिद्ध करना भक्तियोग है। बुद्धि निश्चयरूपिणी है। चित्परमाणु जीव अपनी इस बुद्धि या निश्चयसे ही जीवरूप होता है। इस कारण उसका सम्पूर्ण शरीर निश्चयके ही आधारपर है। अत्यन्त दृढ़ और बलवान् निश्चयसे सम्पूर्ण शरीर क्रमश: चिद्रूपमें परिवर्तित हो सकता है। परन्तु निश्चयके इस मार्गपर करोड़ोंमेंसे कोई एकाध ही ठहर सकता है। राजयोग और कर्मयोग भी, प्रतिकूल परिस्थितिके कारण, सबके लिये समानरूपसे लाभप्रद नहीं होते। भक्तियोगका तत्त्व प्रेम है और प्रेम ईश्वरकृपासे ही प्राप्त होता है, अन्य किसी उपाय या ग्रन्थोंके अध्ययनसे नहीं। इसलिये वैदिक ऋषियोंने चौथी शक्ति जो वाक् है, उसके आश्रयसे एक दूसरा मार्ग निर्दिष्ट किया। इस योगमार्गका तत्त्व 'वेद' अर्थात् वेदसे निकला हुआ मन्त्रशास्त्र है। वर्णाश्रम-धर्म और भावयोग मन्त्रशास्त्रके ही आधार-पर स्थिति हैं। यह साधन सुलभ है। अपने-अपने वर्णके अनुसार आचार-पालन करने, वेद पठन करने तथा मन्त्र या नाम जपनेसे इसमें सिद्धि प्राप्त होती है।

वेदोंका परम प्रतिपाद्य आद्य तत्त्व '**एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म**' है। इससे यह प्रतिसिद्धान्त आप ही निकलता है कि इस विश्वमें अकेले जीवकी ही स्थिति नहीं है, बल्कि वह विश्वका एक अविभाज्य, नित्यसम्बद्ध अंग है। अतएव जीव और विश्व परस्पराश्रयी होते हैं, एक-दूसरेको छोड़कर स्वतन्त्रतासे वे कुछ भी नहीं कर सकते। इसीलिये गीतामें भगवान्‌ने कहा है—'**परस्परं भावयन्त: श्रेय: परमवाप्स्यथ।**' अतएव इन दोनोंको अपने परस्पर-कार्यमें संगति बैठाकर ही सब कुछ करना पड़ता है। इसलिये जीव और विश्वका परस्पर सहायक होकर दोनोंका सच्चिदानन्दस्वरूपको प्राप्त होना-यही ब्रह्मलोकको स्थिति हो सकती है। मनुष्यके शरीरका जडत्व इसमें बाधक है; यदि यह जडत्व हटा दिया जाय तो इनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष होगा और यह काम सुगम हो जायगा। वाक्‌शक्तिसे यह सुगमता सिद्ध होती है।

वाक्‌शक्ति आकाश-तत्त्व है। यह शब्दरूप है। यही विश्वका मूल कारण है। व्यक्त सृष्टिके आकाशस्वरूप मूलरूपमें प्रतीत होनेवाले शब्दसमूह ही मन्त्र या वेद हैं। ये स्वयम्भू हैं, इन्हें किसीने बनाया नहीं; ये नित्यसिद्ध, अपौरुषेय और ज्ञान, इच्छा, क्रिया—इन तीन शक्तियोंसे युक्त हैं। आधुनिक पदार्थविज्ञानसे भी यह सिद्ध किया जा सकता है कि यह जगत् जो कुछ है, वेदका ही व्यक्तरूप है। (इस विषयमें 'वैदिक धर्म' के वेदाङ्कमें मेरा 'वेदोंका अपौरुषेयत्व' लेख जिज्ञासु पाठक देखें।) यहाँ संक्षेपमें इतना कहना पर्याप्त होगा कि प्राणशक्ति मन:शक्ति या निश्चयशक्तिसे जो कुछ होता है वह सब वाक्‌शक्तिसे भी होता है। इसीलिये कलियुगमें भगवन्नामका विशेष माहात्म्य कहा गया है। आत्मार्पणरूप बुद्धियोग और वाग्रूप मन्त्रयोगके मिश्रणसे ही भावयोगकी सृष्टि होती है। भगवन्नामसे सब कुछ हो सकता है—यह केवल अर्थवाद नहीं, परम शास्त्रीय सत्य है। माण्डूक्योपनिषद्‌में कहा है—

'**ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वम्। सर्वꣳ। ह्येतद्ब्रह्म सोऽय-मात्माध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा:। '......ॐ कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद॥**'

इन चार शक्तिप्रवाहोंके चार मार्गोंमेंसे किसी एकका आश्रय करके उपासना करनेसे अन्य भी सिद्ध हो जाते हैं। प्राण, मन और बुद्धिसे अक्षरब्रह्म आत्माकी प्राप्ति होती है और तब वेदोंका भी साक्षात्कार हो जाता है। वेदकी उपासना और नामसाधनसे ॐ का साक्षात्कार होता है और अक्षर-स्वरूप आत्मसाक्षात्कार भी। इस प्रकार किसी साधनाके द्वारा स्वाधीनचित्त हो जानेपर जीव या तो व्यतिरेकके द्वारा अमनस्कता लाभकर त्रिगुणातीत हो सद्योमुक्ति प्राप्त कर सकता है अथवा अक्षरब्रह्मको प्राप्त कर निजनिर्द्धार, स्वानन्दविलास करते हुए क्रममुक्ति। ये ही दो मार्ग उसके सामने रहते हैं।

साधन-तत्त्व

(लेखक—श्रीज्वालाप्रसादजी कानोड़िया)

इस वर्ष 'कल्याण'के विशेषाङ्क 'साधनाङ्क' द्वारा साधन-सम्बन्धी बातें पाठकोंकी सेवामें उपस्थित की जा रही हैं। ऐसे अवसरपर मैं भी अपने अपरिपक्व विचारोंको पाठकोंके सम्मुख प्रकट कर रहा हूँ। मेरे विचारोंमें भूलों और त्रुटियोंका होना स्वाभाविक है; अतएव प्रेमी पाठकगण अपने सौजन्यपूर्ण हृदयसे उनकी उपेक्षा करके मुझे क्षमा करेंगे और जितना अंश ठीक समझेंगे, उसीको उपयोगमें लायँगे।

यह बात सर्वसम्मत है कि किसी भी ध्येयको प्राप्त करनेका मार्ग साधन ही है। ध्येय कोई भी क्यों न हो, उसकी सिद्धि साधनद्वारा ही होती है; और वह साधन ध्येयके अनुरूप ही हुआ करता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि साधनके अनुरूप ही फलकी प्राप्ति होती है अर्थात् साधक स्वयं ध्येयका स्वरूप ही बन जाता है। यही ध्येयकी प्राप्ति है। साधनके अनेक भेद हैं। उन सबको मुख्यत: दो भागोंमें विभक्त किया जाता है—एक प्रारम्भिक या प्राथमिक साधन और दूसरे उत्तरकालिक साधन। इन दोनों श्रेणियोंके साधनोंका यथाक्रम अभ्यास करनेसे ही साध्यकी सिद्धि होती है। यदि कोई साधक प्रारम्भिक साधनोंकी उपेक्षा करके उत्तरकालिक साधनोंके मार्गपर ही चलना चाहे तो मेरे निश्चयके अनुसार न वह चल सकता है और न उसे लक्ष्यकी ही प्राप्ति हो सकती है। उस अवस्थामें वह अपने लक्ष्यको भूलकर किसी ऐसी ही वस्तुको प्राप्त होगा, जो ऐसे संकर साधनोंका परिणाम होती है। आवश्यकता है साध्यके अनुरूप साधन करनेकी। साध्य वस्तुको प्रकटमात्र करनेसे वह प्राप्त नहीं हो सकती। वास्तवमें साधनके अनुरूप ही साध्य माना जाता है, उसको केवल वाणीसे व्यक्त करनेका कोई मूल्य नहीं है। साधन और साध्यका यह पारस्परिक अविचल सम्बन्ध प्राकृतिक एवं सनातन है। यदि कोई एक व्यक्ति यह कहे कि मेरा उद्देश्य सचाईपर चलनेका है, दूसरा यह कहे कि मेरा उद्देश्य किसीको न सतानेका है; परन्तु व्यवहारमें पहला व्यक्ति सत्यपर और दूसरा अहिंसापर दृढ़ नहीं है; तो उन दोनोंको भगवदीय न्यायसे स्वाभाविक वही फल प्राप्त होगा, जो असत्यवादी एवं हिंसापरायणको होता है। इसमें परमात्मा किसीकी मुरौवत नहीं करते। जिस प्रकार इमलीका बीज बोकर आमकी आशा करनेवाला अथवा जायफलके बदले जमालगोटा खाकर दस्त रोकनेकी चाह रखनेवाला निराश होता है, उसी प्रकार साधनाके क्षेत्रमें विपरीत साधन करनेवाला अपने लक्ष्यकी प्राप्तिसे हाथ धो बैठता है। साध्यकी सिद्धि उसी साधकको होती है जो ठीक-ठीक उसके अनुकूल साधना करता है, न कि जो केवल वाणीसे कहता है अथवा किसी सम्प्रदायविशेषका अवलम्बनमात्र करता है। केवल वाणीद्वारा साध्यका वर्णन करना अथवा उसके लिये किसी सम्प्रदाय-विशेषका अवलम्बनमात्र ग्रहण करना मुख्य बात नहीं है, बल्कि क्रिया और भाव ही प्रधान हैं। यदि कोई मनुष्य बाहरसे भक्तिका आडम्बर करे, परन्तु उसकी क्रिया और भाव लोगोंको ठगने तथा स्वार्थसिद्धिके लिये हों तो उसे कभी भी सच्चे भक्तकी स्थिति नहीं प्राप्त हो सकती, उसको अपने दम्भका फल भोगना ही पड़ेगा। अस्तु,

मेरे कथनका तात्पर्य यह कि आधुनिक युगमें साधनोंका स्वरूप प्राचीन शास्त्रानुमोदित साधनोंके स्वरूपसे भिन्न होता जा रहा है। आजकल प्राय: भक्तियोगवाले साधक श्रवण-कीर्तनादिसे, ज्ञानयोगवाले साधक श्रवण-मनन-निदिध्यासनसे, अष्टांगयोगवाले साधक आसन-प्राणायामसे और कर्मयोगवाले साधक वाचिक निष्काम कर्मसे ही अपनी-अपनी साधना आरम्भ करते हैं। कृपालु पाठकगण मुझे क्षमा करेंगे, मैं यहाँ किसीपर कटाक्ष नहीं कर रहा हूँ और न किसी साधना-पद्धतिकी व्यर्थता ही सिद्ध करने जा रहा हूँ। मेरा अभिप्राय आभ्यन्तरिक स्थितिमात्रको, जिससे मैं सुपरिचित हूँ, साधारणरूपसे प्रकट कर देनेका है और साथ ही उपर्युक्त उत्तरकालिक साधनोंकी सार्थकताके उपायके सम्बन्धमें भी निवेदन करनेका है, जिसको आजकलके अधिकांश साधक प्राय: उपेक्षाकी दृष्टिसे देखते हैं। प्रारम्भिक साधनोंकी उपेक्षा करके सहसा उत्तरकालिक साधनोंका अभ्यास करनेसे आजकल जो परिणाम निकलता है, उसको सभी जानते हैं; उसके सम्बन्धमें विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं है। कोई इमारत कितनी भी सुन्दर क्यों न हो, यदि उसकी नींव कमजोर है तो वह जल्दी ही टूटकर गिर जायगी; उसकी सुन्दरता उसे नहीं बचा सकती, उसको

बचानेवाली कोई चीज है तो उसकी बुनियाद ही है। यही बात साधनके सम्बन्धमें है। आजकल साधनाके क्षेत्रमें यह गड़बड़ी बड़े जोरोंसे फैल रही है कि प्राथमिक साधनोंकी तो उपेक्षा कर दी जाती है और साधकोंको केवल उत्तरकालिक साधनोंकी ही चर्चा सुनायी जाती तथा शिक्षा भी दी जाती है। साधकगण भी संयमके अभावके कारण प्राथमिक साधनोंको कष्टसाध्य समझकर छोड़ देते हैं तथा उत्तरकालिक साधनोंका ही अभ्यास करने लगते हैं। यदि उनसे कोई यह पूछे कि प्राथमिक साधनोंके बिना सिद्धि कैसे प्राप्त होगी तो उनकी ओरसे यह उत्तर मिलता है कि उत्तरकालिक साधनोंका अभ्यास करनेसे प्रारम्भिक साधन आप-से-आप सिद्ध हो जायँगे। पता नहीं, उन लोगोंका यह कथन कहाँतक ठीक है, जब कि केवल उत्तरकालिक साधनोंका अभ्यास करनेवालेको जो फल मिलता है वह प्रायः सबके सामने है।

पाठकगण मुझसे पूछेंगे कि वे प्रारम्भिक साधन कौन-से हैं, जिनका इतना गौरव है तथा जिनके बिना उत्तरकालिक साधन व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं। अतः मैं यहाँपर संक्षेपमें कुछ प्राथमिक साधनोंका वर्णन करूँगा। उत्तरकालिक साधनोंका वर्णन यहाँ करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे 'कल्याण' के द्वारा पाठकोंके सम्मुख अनेक बार आ चुके हैं तथा 'साधनाङ्क' में भी उनका विस्तारपूर्वक वर्णन मिलेगा। यहाँ तो केवल उन प्राथमिक साधनोंकी ही कुछ चर्चा होगी, जिनकी अवज्ञा करके उत्तरकालिक साधनोंका अभ्यास करनेसे वे सार्थक सिद्ध नहीं होते, परन्तु उन प्राथमिक साधनोंकी सिद्धि हो जानेपर उत्तरकालिक साधन आप-से-आप अनायास सिद्ध हो जाते हैं। यद्यपि प्राथमिक साधनोंके भी अनेक भेद हैं, तथापि उनमें ये मुख्य हैं—

१- अहिंसा २—सत्य, ३— अस्तेय, ४—ब्रह्मचर्य, ५—सार्वभौम प्रेम, ६—समस्त भूतोंके हितमें रत रहना, ७-समत्वभाव, ८—घृणाका अभाव, ९—निष्कपटता, १०—दया, ११—क्षमा, १२—निरहङ्कारता।

इन बारह साधनोंको मैं प्रधानतया प्राथमिक साधन मानता हूँ। अब संक्षेपमें इन सबका कुछ स्पष्टीकरण कर देना ठीक होगा। यथा—

अहिंसा—मन, वाणी अथवा शरीरसे किसीको कष्ट न पहुँचाना। हिंसा तीन प्रकारकी होती है—कृत, कारित और अनुमोदित। कृत वह है जो स्वयं की जाय, कारित वह है जो दूसरेसे करायी जाय और दूसरेकी की हुई हिंसाका समर्थन करना अनुमोदित हिंसा है। इन तीनोंसे बचे रहना ही अहिंसा है (देखिये गीता अध्याय १६, श्लोक २ तथा योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र ३०)।

सत्य—अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जैसा अनुभव किया गया हो, उसी भावको प्रिय शब्दोंमें स्पष्ट वर्णन करना। इसमें प्रमाद, लोभ, क्रोध, हास्य, भय आदिके द्वारा कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिये (गीता अध्याय १६, श्लोक २ तथा योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र ३०)।

अस्तेय—जो अपने अधिकारकी न हो, उसपर किसी प्रकारसे भी अपना अधिकार न कायम करना (योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र ३०)।

ब्रह्मचर्य—आठों प्रकारके मैथुनोंसे मन, वाणी और शरीरको बचाये रखना (गीता अध्याय १७, श्लोक१४; योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र ३०)।

सार्वभौम प्रेम—जगत्के सम्पूर्ण जीवोंके प्रति समानभावसे निश्छल प्रेम रखना, उन सबको भगवान्की मूर्ति समझना (गीता अध्याय १२, श्लोक १३)।

समस्त भूतोंके हितमें रत रहना—संसारके समस्त प्राणियोंकी सेवामें रत रहना और उनकी सेवाको भगवान्की पूजा समझना, उनमें किसी प्रकारका भी भेदभाव न करना (गीता अध्याय १२ श्लोक ४)।

समत्वभाव—जगत्के सब जीवोंको समान अधिकारी समझकर उनके सुख-दुःखोंको अपने सुख-दुःखके समान समझना (गीता अध्याय १२, श्लोक ४, १८; अध्याय ६, श्लोक ३२)।

घृणाका अभाव—ईश्वरकी सृष्टिमें ईश्वररचित सभी जीव उनके प्रतीक हैं, अतएव कोई भी जीव घृणाके योग्य नहीं है—ऐसा दृढ़ निश्चय (गीता अध्याय ५, श्लोक १८; अध्याय ६, श्लोक ९)।

निष्कपटता—व्यवहार तथा कथन दोनोंमें सब प्रकारके कपटका अभाव होना।

दया—जगत्के किसी भी जीवके दुःखको देखकर द्रवित हो जाना और उसको अपने दुःखसे अधिक मानकर हार्दिक सहानुभूतिसहित उसे दूर करनेकी चेष्टा करना (गीता अध्याय १६, श्लोक २)।

क्षमा—किसीके द्वारा सताये जानेपर भी उसके साथ प्रेमका व्यवहार करना (गीता अध्याय १६, श्लोक ३)।

निरहङ्कारता—उपर्युक्त साधनोंको करते हुए अपनेमें किसी प्रकारके भी विशिष्ट भावका आरोप न होने देना। अपने ऊपर समस्त भगवत्स्वरूप प्राणियोंकी दया समझना, न कि मैं किसीपर दया करता हूँ— ऐसा अभिमान करना (गीता अध्याय १८, श्लोक १७)।

ये सभी साधन शास्त्रानुमोदित हैं और इन्हींकी जड़ मजबूत होनेपर उत्तरकालिक साधनोंकी सफलता सिद्ध हो सकती है; परन्तु आजके युगमें अधिकांश साधक इनको कठिन समझकर इनकी उपेक्षा कर देते हैं और इनके बादके साधनोंकी ओर दौड़ते हैं। फल वही होता है, जो इन साधनोंकी सिद्धिके अभावमें होना चाहिये। कुछ लोग तो यों ही अपनेको इन साधनोंसे सम्पन्न मान लेते हैं। वस्तुतः इन साधनोंकी यथार्थ परीक्षा किसी दूसरेके द्वारा होनी भी कठिन है। साधक मनुष्योंको तो अपनी परीक्षा अपने-आप करनी चाहिये। यदि कोई साधक विवेकपूर्वक निष्पक्ष भावसे अपनी परीक्षा अपने-आप करे तो अवश्य ही उसके स्वरूपका सच्चा और स्पष्ट चित्र उसकी आँखोंके सामने आ जायगा। सच्ची चाह होनी चाहिये—अपने दोषोंको जानकर उनका नाश करनेकी, न कि उन्हें दलीलोंसे ढकनेकी। मनुष्यका वास्तविक स्वरूप कोई और नहीं दिखा सकता। आजकलके लोग प्रायः साधु-महात्माओं अथवा विद्वान् पुरुषोंके पास जाकर उनसे अपने वास्तविक स्वरूपको दिखानेकी प्रार्थना किया करते हैं, परन्तु वे लोग यह नहीं समझते कि उनका सच्चा चित्र तो वे आप ही देख सकते हैं। गीताके अध्याय ६, श्लोक ५ में भगवान्ने स्वयं कहा है कि अपने आत्माकी अधोगति न करके अपना उद्धार अपने-आप करना चाहिये। जीवात्मा आप ही अपना मित्र और आप ही अपना शत्रु है। दूसरा कोई भी शत्रु या मित्र नहीं है।

यदि कोई यह पूछे कि मेरा सच्चा चित्र और कोई नहीं प्रकट कर सकता, इसका क्या कारण है, तो इसका कारण स्पष्ट है। अपने दोषों और गुणोंको हम जितना जानते हैं, उनको यदि हम किसीके सामने वाणीद्वारा प्रकट करने लगेंगे तो कुछ हदतक ही प्रकट कर सकेंगे, वाणीकी अक्षमताके कारण सब दोषों और गुणोंका यथार्थ वर्णन करना सहज नहीं है। फिर अपने भाव और उद्देश्यका वर्णन करना तो और भी कठिन है, क्योंकि उद्देश्य अन्तरकी सूक्ष्म वस्तु है। अतः एक तो दूसरेके सामने वाणीके द्वारा अपने बहिरंग एवं अन्तरंग क्रिया-कलापों और भावोंका ठीक-ठीक वर्णन नहीं हो पाता, दूसरे ऐसे संत-महात्माओंका मिलना भी कठिन है, जो त्रिकालदर्शी हों और अन्तरकी सारी सूक्ष्म बातोंको जानते हों। इसलिये किसी मनुष्यका सच्चा स्वरूप कोई दूसरा नहीं बता सकता। जैसे कि ऊपर कहा गया है, मनुष्यके बाहर-भीतरका सच्चा चित्र प्रकट करनेवाला तो वह परमात्मा ही है, जो सबके अंदर आत्मरूपसे सदा स्थित है (**अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः**)। जो प्रकट-अप्रकट सब क्रियाओं और भावोंका साक्षी है तथा जिससे कुछ भी छिपाया नहीं जा सकता, वही परमात्मा हमारी सच्ची तस्वीर हमारे सामने रख सकता है; परन्तु तब जब कि हमें अपनी उस तस्वीरकी चाह होगी। वह तस्वीर हमारे कर्म और भावानुसार भद्दा भी हो सकती है तथा सुन्दर भी; परन्तु होगी वह सर्वथा अकृत्रिम—असली। सच बात तो यह है कि मनुष्य अपनी भद्दी और भयङ्कर तस्वीर देखना नहीं चाहता, देखनेकी हिम्मत नहीं करता, उससे डरता है। इसलिये वह उसे भरसक छिपाये रखना चाहता है, परन्तु कबतक छिपा सकता है? एक-न-एक दिन तो उसका कुरूप, कालिमाओंसे युक्त और विकलांग चित्र उसके सामने आयेगा ही। फिर जब अनिवार्य होकर वह चित्र सामने आयेगा तब उसमें सुधार होना अत्यन्त कठिन होगा। इसलिये मृत्युके पहले ही अपने उस चित्रको देखकर दोषोंका पता लगा लेना चाहिये। तभी उसे दोषोंसे विनिर्मुक्त करके सुन्दर बनाया जा सकता है और अन्तमें 'ब्रह्मैव तेन गन्तव्यम्' को चरितार्थ किया जा सकता है। असलमें भगवान्की प्राप्ति भगवदाज्ञानुसार आचरण करनेवालेको ही हो सकती है। जैसे भाव और व्यवहार भगवान्ने बताया है, वैसा ही भाव और व्यवहार साधकका होना चाहिये; अन्यथा उसकी साधनाकी सफलता और भगवत्प्राप्ति सम्भव नहीं है।

अन्तमें एक कहानीका संक्षिप्त उल्लेख करके लेख समाप्त करना है। किसी स्थानपर चार भक्त आपसमें भगवच्चर्चा कर रहे थे। उनके सामने यह विषय उपस्थित हुआ कि कैसे आचरणवालोंको भगवान् मिलते हैं। इसपर एक भक्तने कहा—

रोड़ा हो रह बाटका, तज मनका अभिमान।
ऐसा जो कोइ दास हो, ताहि मिलै भगवान॥

दूसरे भक्तने कहा कि 'नहीं, यह मार्ग कुछ दोषयुक्त है। भगवत्प्राप्तिका सरल मार्ग मैं बताता हूँ'—

रोड़ा भया तो क्या भया, पंथीको दुख देय।
हरिजन ऐसा चाहिये, ज्यां धरतीकी खेह॥

तीसरे भक्तने कहा कि 'यह मार्ग भी ठीक नहीं। मैं बताता हूँ, सुनिये'—

खेह भया तो क्या भया, उड़ उड़ लागे अंग।
हरिजन ऐसा चाहिये, ज्यां पानी सरबंग॥

चौथे भक्तने कहा कि 'यह मार्ग भी बिलकुल ठीक नहीं है।' तब उपर्युक्त कथन करनेवाले तीनों भक्तोंने पूछा कि 'अच्छा, अब आप बताइये, किसको भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है।' इसपर चौथे भक्तने यह कहा—

पानी भया तो क्या भया, जो सीरा ताता होय।
हरिजन ऐसा चाहिये, हरि ही जैसा होय॥

इस कथनको सुनकर सब भक्तोंको सन्तोष हो गया। वास्तवमें इस जगत्‌का ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो प्रभुकी उपमाके योग्य हो। प्रभुकी उपमाके योग्य तो स्वयं प्रभु ही हैं। अतएव सच्चे कल्याणेच्छु साधकोंको चाहिये कि वे भगवत्प्राप्तिके सब साधनोंका यथाक्रम अभ्यास करें। ऊपरके वर्णित प्रारम्भिक साधन उपेक्षणीय नहीं हैं, बल्कि वे प्रधान हैं और प्रभुके व्यवहारके द्योतक हैं। उन्हींकी सिद्धिसे आगे चलकर उत्तरकालिक साधन भी सफल होंगे और फिर सबके फलस्वरूप भगवान्‌की प्राप्ति सुगम हो जायगी। ऐसी मेरा निश्चय है, आगे पाठकगण स्वयं इन बातोंकी मीमांसा करें।

इस युगका एक महासाधन

(लेखक—श्रीजयेन्द्रराय भगवानलाल दूरकाल एम० ए०, विद्यावारिधि, धर्मविनोद)

आत्मकल्याणसिद्धिके लिये जगदीश्वर परमात्मा और महात्माओंने अनेक साधन निर्माण किये हैं। इनमें वे अभी हमें ऐसे साधनका विचार करना है जो वर्तमान समयमें काम दे, सबके लिये सुलभ हो और सबको लाभ पहुँचावे। कर्मयोग ज्ञानयोग इस समयके लिये अनुकूल नहीं पड़ते और इनके अधिकारी भी बहुत कम हैं; क्योंकि अधिकांश मनुष्योंके मन राग और त्यागके मध्यवर्ती प्रदेशमें ही झूलते रहते हैं। ऐसे लोगोंके लिये भक्तिका मार्ग ही सरल और अनुकूल होता है।

शास्त्रोंने कलियुगमें भक्तिका ही प्राधान्य बताया है। वर्तमान युगके अधिकांश धर्माचार्यों और पंथप्रवर्तकोंने प्रधानतः भगवद्भक्तिका ही उपदेश किया है। भगवान् श्रीमत् शङ्कराचार्यके भक्तिरसपरिप्लुत ललित मधुर स्तोत्र प्रसिद्ध ही हैं। चीन, जापान और बर्मा आदि देशोंमें भगवान् बुद्धदेवकी मूर्तियोंका भक्तिभावसे पूजन-अर्चन ही सर्वत्र होता है। श्रीमद् रामानुज, श्रीमद् वल्लभ आदि आचार्य भक्ति-सम्प्रदायके ही आचार्य कहे जाते हैं। ब्रह्मसमाजके प्रचारक केशवचन्द्र सेनके भगवद्भक्तिविषयक व्याख्यान ही उनके श्रोताओंको सबसे अधिक मुग्ध किया करते थे। श्रीरामकृष्ण परमहंस भगवतीके परम उपासक भक्त थे ही। हजरत ईसा और हजरत महम्मदके उपदेशोंमें भगवान्‌की वन्दनाके लिये ही सबसे अधिक आग्रह है। अपने देशके सुविख्यात महात्मा गाँधीका सबसे बड़ा भरोसा भगवान्‌की भक्ति और प्रार्थना ही तो है।

इस प्रकार भक्ति कल्याणका महामार्ग है। इस महामार्गसे चलनेवाला साधक निःश्रेयसके महाशिखरतक पहुँच सकता है और मार्गमें उसे अभ्युदय और सब प्रकारके प्रेयस् भी प्राप्त हो सकते हैं, क्योंकि प्रेयस्‌के सरिता-सरोवर और अभ्युदयके फल-फूलोंसे सुशोभित सुवासित रम्य वनोपवन इस मार्गमें मिलते ही हैं। साधककी जैसी इच्छा होती है, वैसा उसे लाभ होता है। प्रेयस्‌की इच्छा निन्द्य या तिरस्करणीय नहीं होती; क्योंकि अविद्या-काम-कर्मसे उत्पन्न जीवोंमें सौमेंसे निन्यानबे जीव दैवी माया और वासनाओंसे ही बद्ध रहते हैं। इसलिये भगवान् श्रीकृष्णने सकाम भक्ति करनेवालोंको 'उदार' कहकर सम्मानित ही किया है। हाँ, राग-द्वेष वा किसी बाह्य विषयका अभिनिवेश इस मार्गमें जितना ही कम हो, उतनी ही शीघ्र साध्यकी सिद्धि होती है। भक्तिसे मुक्ति-जैसी सर्वोत्तम सिद्धि भी जब मिल जाती है, तब किसी शुभ कामनाका सिद्ध होना कौन-सी बड़ी बात है? इसके प्राचीन और वर्तमान उदाहरण भी असंख्य हैं, जिनकी पुनरुक्ति यहाँ करनेकी आवश्यकता नहीं।

हाँ, सकाम भक्तिके परे जो प्रेम है, उसका होना बहुत ही दुर्लभ है; अनेक जन्मोंके पुण्योंका उदय होनेसे ही उसकी प्राप्ति हो सकती है। भगवान् वेदव्यासने इस उत्कट भक्तिभाव या प्रेमका हृदयमें प्रादुर्भाव करानेके लिये एक महासाधन अवश्य बताया है। वह साधन है श्रीमद्भागवतका सप्ताह-यज्ञ। इस यज्ञकी महिमा भारतवर्षमें सर्वत्र विदित है और इसका प्रचार भी बहुत कुछ है। असंख्य नर-नारी आजतक इस यज्ञसे कृतकृत्य हुए हैं। परन्तु आजकलके नवयुवकोंको इसकी महिमाका कुछ भी पता न हो, यह बड़ी शोचनीय बात है। उन्हें यह जानना चाहिये कि सर्वोत्कृष्ट रस-साहित्यसे परिपूर्ण इस भक्ति-सदाचार-रसामृत ग्रन्थमें जीवन-परिवर्तनकी विलक्षण दिव्य शक्ति है। सप्ताह-यज्ञमें इसका जिस रूपमें विनियोग है, वह मानसशास्त्र और समाजशास्त्रकी खूबियोंसे भरा हुआ है। केवल भागवतका पाठ कर लेनेसे ही यज्ञ सम्पन्न नहीं होता। इसमें तो एक साथ ही भगवत्प्रेरित किसी दिव्य जीवन-सन्देशकी प्राप्ति, अपने सब स्नेही-सम्बन्धियोंका भगवदधिष्ठानमें एक दिव्य सम्मेलन, एक सप्ताहका श्रद्धायुक्त ब्रह्मचर्यपालन और तपश्चरण, आत्मस्वरूपकी पहचानके लिये आवश्यक सार्वदेशिक ज्ञानका विहंगदर्शन, आर्यजातिके दिव्य अमोघ आदर्शों, भावों और सिद्धान्तोंका आवर्तन—ये उत्तमोत्तम, अत्यन्त उपादेय कार्य सिद्ध होते हैं। सप्ताहमें भागवतका जो वक्ता हो, वह अवश्य ही भागवतनिष्ठ होना चाहिये।

यह सही है कि एक सप्ताहमें जल्दी-जल्दी सम्पूर्ण भागवत पढ़ जाने या सुन लेनेसे भागवत-ज्ञानका पूर्ण आकलन और भागवत-रसका पूर्ण आस्वादन सामान्य मनुष्य नहीं कर सकते। पर इस सप्ताहकी योजना इसके लिये है ही नहीं। यह यज्ञ तो भगवान्की मनोहारिणी वाङ्मयी मूर्तिकी झाँकी करने और जीवनके धन्य क्षणको पानेके लिये किया जाता है। फरहाद शीरींको या रोमिओ जूलिएटको किसी जलसेमें एक बार एक निगाह देख भर लेता है। वह उसकी महिमासे अभी अनभिज्ञ है; पर दर्शनमात्रसे वह उसका प्रेमी बन जाता है, अपना जीवन उसीकी अर्चनामें लगा देता है और अन्तमें उसे उसीपर उत्सर्ग भी कर देता है। उसी प्रकार इस सप्ताहयज्ञमें जीवात्मा अपने परम प्रेमास्पदकी वह झाँकी कर लेता है, जिसके करनेपर उससे अधिक प्यारी चीज संसारमें उसके लिये कोई नहीं रह जाती और जगत्से उसका नाता जो कुछ रह जाता है, वह उसी प्रियतमके लिये और उसीके सम्बन्धमें ही रहता है।

सप्ताह-यज्ञमें भगवान्की वाङ्मयी मूर्तिका दर्शन होनेके साथ ही धर्मका भी दर्शन होता है, जो प्रभुका हृदय है और उस हृदयमें सदा रहनेवाली भक्तिमयी श्रीराधिकाजी दर्शन देती हैं। इस केन्द्रकी परिक्रमा करते हुए जगत्के इतिहास और सृष्टिनिरूपण मिलते हैं और विराट्रूपमें भगवान्के दर्शन होते हैं। एक ही परम लक्ष्यको लक्षित करानेवाली इसकी अत्यन्त बलशाली भाषाशैली श्रोताओंको उस सूत्रमें बाँध लेती है, जिससे वे कभी सत्यसे नहीं बिछुड़ते।

ऐसा यह विलक्षण ग्रन्थ है। पुराणग्रन्थ होनेसे शूद्रादिकोंके लिये भी श्रवणीय है और श्रवण करनेवाले मात्रका अत्यन्त उपकार करनेवाला है। यह कल्पनाका क्षणिक मनोराज्य नहीं, सत्यका सनातन साहित्य है। मनुष्य-जातिका परमहित उसमें निहित है। जगत्के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक रहस्य, धर्मका गूढ़तम तत्त्व, कर्मकी गहन गति, कालात्माकी अकल कला—इन सबका मर्मोद्घाटन इस महान् ग्रन्थमें महामुनि भगवान् वेदव्यासकी क्रान्तदर्शिनी बुद्धिके द्वारा हुआ है।

श्रीमद्भागवतके निकट परिचयसे यह बात दृष्टिगत हुई है कि इसका जो एकादश स्कन्ध है, वह वेदमाता गायत्रीका ही महाभाष्य है। इसके ३१ अध्याय हैं। इनमें पहला और अन्तके दो अध्याय उपक्रम और उपसंहारके अध्याय हैं। इन्हें छोड़कर बाकी जो २८ अध्याय हैं उनमें प्रणव, तीन व्याहृति और चौबीस अक्षर गायत्रीके मिलकर २८ अक्षरोंका तत्त्व निहित है। इन २८ अध्यायोंमें प्रथम चार अध्याय योगेश्वरोंके उपदेश हैं; अनन्तर २४ अध्यायोंमें महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णका उपदेश है, जो छठे अध्यायमें 'अथ' शब्दसे आरम्भ होता है। यही गायत्रीका महाभाष्य कहा जा सकता है।

जब साधनका विचार करना है, तब पहले साध्यका विचार होना ही चाहिये। सात्त्विक विचारवाले पुरुषोंके लिये साध्यका प्रश्न कोई कठिन प्रश्न नहीं है। सामान्यत: सभी मनुष्य सुख, समृद्धि, उन्नति या अभ्युदय और नि:श्रेयस ही तो चाहते हैं और ये सब भगवत्कृपासे अति शीघ्र और अनायास प्राप्त होते हैं। इसलिये सामान्य और विशेष—

सबके लिये भगवत्कृपा ही एकमात्र वाञ्छनीय वस्तु है अर्थात् भगवत्कृपा ही सबकी साध्य होनी चाहिये। भगवत्कृपारूपिणी यह कामधेनु सदा भगवान्‌के समीप ही रहती है। इसे प्राप्त करनेमें भागवतका सप्ताहयज्ञ अत्यन्त अमोघ साधन है। इसीलिये इसे कलियुगका महासाधन कहा गया है। उसकी इस अगाध महिमाके कारणसे ही महामुनिने स्पष्ट ही निर्देश किया है कि—

साधनानि तिरस्कृत्य कलौ धर्मोऽयमीरितः।

विचार-साधन

(लेखक—श्रीमत्स्वामी शङ्करतीर्थजी महाराज)

विशोक आनन्दमयो विपश्चित्
स्वयं कुतश्चिन्न बिभेति कश्चित्।
नान्योऽस्ति पन्था भवबन्धमुक्त्यै
विना स्वतत्त्वावगमं सुसूक्ष्मम् ॥ १॥

(भगवान् भाष्यकार श्रीशङ्कर)

शोकरहित आनन्दमय विद्वान् स्वयं किसीसे भी भयभीत नहीं होता। अति सूक्ष्म आत्मतत्त्वज्ञानके बिना भवबन्धनसे मुक्ति प्राप्त करनेका और कोई उपाय नहीं है॥ १॥

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं
अन्तर्बहिःशून्यमनन्यमात्मनः ।
विज्ञाय सम्यङ् निजतत्त्वमेतत्
पुमान् विपाप्मा विरजो विमृत्युः॥ २॥

नित्य, विभु, सर्वगत, अतिसूक्ष्य, भीतर और बाहरसे शून्य एवं भेदरहित आत्माके स्वरूपको सम्यक् रूपसे जानकर मनुष्य पापसे रहित, तापसे रहित और मृत्युञ्जय हो सकता है॥ २॥

ब्रह्माभिन्नत्वविज्ञानं भवमोक्षस्य कारणम्।
येनाद्वितीयमानन्दं ब्रह्म सम्पद्यते बुधैः॥ ३॥

ब्रह्मके साथ आत्माका अभेदज्ञान संसारसे मुक्त होनेका हेतु है। ब्रह्म और आत्माके ऐक्यज्ञानके द्वारा पण्डितलोग अद्वितीय आनन्दस्वरूप ब्रह्मको प्राप्त होते हैं॥ ३॥

ब्रह्मभूतस्तु संसृत्यै विद्वान्नावर्तते पुनः।
विज्ञातव्यमतः सम्यग् ब्रह्माभिन्नत्वमात्मनः॥ ४॥

जो ब्रह्मको जानकर ब्रह्मस्वरूप हो गये हैं, उनका पुनः संसारमें आवागमन नहीं होता। अतएव सम्यक् रूपसे आत्मा और ब्रह्मका अभेदज्ञान प्राप्त करना चाहिये॥ ४॥

यदिदं सकलं विश्वं नानारूपं प्रतीतमज्ञानात्।
तत्सर्वं ब्रह्मैकं प्रत्यक्षाशेषभावनादोषम्॥ ५॥

यह समस्त जगत् जो अज्ञानके कारण नानारूपमें प्रतीत हो रहा है, सब सजातीय, विजातीय और स्वगतभेदसे रहित अद्वितीय ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ नहीं है; क्योंकि ब्रह्मतत्त्वमें भेदभावनाके दोष प्रत्यक्ष हो रहे हैं॥ ५॥

मृत्कार्यभूतोऽपि मृदो न भिन्नः
कुम्भोऽस्ति सर्वत्र तु मृत्स्वरूपम्।
न कुम्भरूपात् पृथगस्ति कुम्भः
कुतो मृषा कल्पितनाममात्रः॥ ६॥

मृत्तिकासे उत्पन्न वस्तु मृत्तिकासे भिन्न नहीं होती, घट सर्वत्र ही मृत्तिकास्वरूप होता है। घटरूपसे घट पृथक् नहीं होता, क्योंकि 'घट' नाम और आकार मिथ्या अर्थात् मृत्तिकामें कल्पितमात्र होता है॥ ६॥

केनापि मृद्भिन्नतया स्वरूपं
घटस्य सन्दर्शयितुं न शक्यते।
अतो घटः कल्पित एव मोहा-
न्मृदेव सत्यं परमार्थभूतम्॥ ७॥

कोई भी मृत्तिकासे भिन्न घटके स्वरूपको नहीं दिखला सकता। अतः अज्ञानवश मृत्तिकामें घट कल्पित ही है, एकमात्र मृत्तिका ही सत्य और परमार्थरूप है॥ ७॥

सद्ब्रह्म कार्यं सकलं सदेव
तन्मात्रमेतन्न ततोऽन्यदस्ति।
अस्तीति यो वक्ति न तस्य मोहो
विनिर्गतो निद्रितवत्प्रजल्पः॥ ८॥

ब्रह्म सत्स्वरूप है, समस्त कार्य सत्स्वरूप है, ब्रह्मस्वरूप है; क्योंकि ब्रह्मसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। जो पुरुष कहता है कि ब्रह्मातिरिक्त कोई वस्तु है, उसकी बात सोये हुए पुरुषके प्रलापके समान मिथ्या है; क्योंकि उसका मोह नष्ट नहीं हुआ है॥ ८॥

मैं देह नहीं हूँ; क्योंकि देह दृश्यमान होता है, मैं द्रष्टा हूँ। मैं इन्द्रिय भी नहीं हूँ, क्योंकि इन्द्रियाँ भौतिक पदार्थ हैं और मैं अभौतिक हूँ। मैं प्राण नहीं हूँ, क्योंकि प्राण अनेक हैं और मैं एक हूँ। मैं मन नहीं हूँ; क्योंकि मन चंचल है, मैं स्थिर हूँ, एकरूप हूँ। मैं बुद्धि नहीं हूँ; क्योंकि बुद्धि विकारी हैं, मैं निर्विकार हूँ, एकरस हूँ। मैं तम नहीं; क्योंकि वह जड है, चेतन हूँ, प्रकाशस्वरूप हूँ। मैं देह, इन्द्रिय आदिकी समष्टि भी नहीं हूँ, क्योंकि वे सब घटादिके समान नाशवान् हैं—मैं अविनाशी हूँ, नित्यसाक्षी हूँ। मैं देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, अज्ञान आदिको प्रकाशित कर, इन देहादिमें आत्माका अभिमान करनेवाले अहङ्कारको प्रकाशित करता हूँ।

यह सारा जगत् मैं नहीं हूँ, बुद्धिका विषयसमूह भी मैं नहीं हूँ; क्योंकि सुषुप्ति आदि अवस्थामें भी साक्षीरूपमें मेरी सत्ता प्रतीत होती है। मैं सुषुप्ति-अवस्थामें जिस प्रकार निर्विकार रहता हूँ, उसी प्रकार अन्य दो अवस्थाओं अर्थात् जाग्रत् और स्वप्नावस्थामें भी मैं निर्विकार रहता हूँ। स्वप्न और जाग्रदवस्थाके विषयादिके स्पर्शसे मैं विकृत नहीं होता। जिस प्रकार उपाधिगत नील, रक्त प्रभृति वर्णोंके द्वारा स्फटिक लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार काम, क्रोध आदि शरीरज दोषोंके द्वारा आत्मा लिप्त नहीं होता।

जो पुरुष देहत्रयको नित्य समझकर उसमें आत्माभिमान करता है, तथा जबतक उसमें इस प्रकारका भ्रम रहता है, तबतक वह मोहान्ध पुरुष नाना योनियोंमें जन्म ग्रहण करता रहता है। निद्रावस्थामें जो देह प्रतीत होता है, उसमें जो सुख-दु:खादिके अनुभव होते हैं, वे सब जिस प्रकार जाग्रत् शरीरको स्पर्श नहीं कर सकते, उसी प्रकार जाग्रत् शरीरमें जो समस्त दु:ख-सुखादिका ज्ञान होता है, वह आत्माको स्पर्श नहीं कर सकता। निद्रावस्थामें—स्वप्नमें जिस देहकी प्रतीति होती है, वह जाग्रत् शरीरके समान सत्य-सा प्रतीत होता रहता है। परन्तु स्वप्न-कल्पित शरीरके नष्ट होनेपर जाग्रत् अवस्थाका शरीर नष्ट नहीं होता। इसी प्रकार जाग्रत्-अवस्थामें जाग्रत् शरीर आत्मवत् प्रतीत होता है, अर्थात् उस समय जाग्रत् शरीरमें ही आत्माभिमान होता है; जब यह जाग्रत् शरीर विनष्ट हो जाता है, तब आत्मा कभी नष्ट नहीं होता। स्वप्नकल्पित शरीरके नष्ट होनेपर जिस प्रकार जाग्रत्-अवस्थाका शरीर अवशिष्ट रहता है उसी प्रकार प्रबुद्ध व्यक्तिके जाग्रत्-अवस्थाके शरीरके नष्ट होनेपर आत्मा अवशिष्ट रहता है।

जिस प्रकार जिस व्यक्तिको रज्जुमें सर्प-भ्रम नहीं है, वह व्यक्ति रज्जु देखकर भयभीत नहीं होता, उसी प्रकार जो व्यक्ति ज्ञानी अर्थात् भ्रमरहित है, वह संसार तथा तज्जनित तापत्रयसे मुक्त हो जाता है। जो व्यक्ति अज्ञ है और काम्य कर्मोंमें निरत रहता है, वह निरन्तर संसार-चक्रमें भ्रमण किया करता है।

स्थूलशरीर मांसमय तथा सूक्ष्मशरीर वासना अर्थात् संस्कारमय होता है। पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ, पंच प्राण, बुद्धि और मन—इन सतरह तत्त्वोंकी समष्टिका नाम है 'सूक्ष्मशरीर'। अज्ञानको 'कारणशरीर' कहते हैं। साक्षीरूप बोध ही इस त्रिविध शरीरका प्रकाशक है। बुद्धिमें प्रतिबिम्बित बोधका आभास ही पुण्य और पापका कर्ता है। वही कर्मके वश होकर सदा इहलोक और परलोकमें गमनागमन करता रहता है। प्रयत्नपूर्वक इस बोधाभाससे शुद्धबोधको पृथक् करना चाहिये। जाग्रत् और स्वप्न अवस्थामें ही बोधाभास दृष्ट होता है। परन्तु सुषुप्तिकालमें जब बोधाभास लयको प्राप्त होता है, तब शुद्धबोध ही अज्ञानको प्रकाशित करता है। जाग्रत् अवस्थामें भी बुद्धिका स्थिरभाव शुद्ध बोधके द्वारा प्रकाशित होता है, तथा चिदाभासयुक्त जो बुद्धिके समस्त व्यापार हैं वे भी साक्षीचैतन्यके द्वारा प्रकाशित होते हैं। जिस प्रकार अग्निसे प्रतप्त जल तापयुक्त होकर शरीरको तापप्रद जान पड़ता है, उसी प्रकार आभाससंयुक्त बुद्धि साक्षीचैतन्यके द्वारा प्रकाशित होकर अन्य वस्तुकी प्रकाशक बनती है। रूप-रसादि पंच विषयोंमें गुण-दोषरूप जो विकल्प हैं, वे बुद्धिस्थ क्रियास्वरूप हैं। चैतन्य रूपादि विषयोंके साथ इन सब क्रियाओंको प्रकाशित करता है। प्रत्येक क्षण बुद्धिके विकल्प (व्यापार) समूह विभिन्न रूप धारण करते हैं, परन्तु चैतन्य विभिन्न रूप नहीं होता। जिस प्रकार मोतीकी मालामें मोतियोंके परस्पर विभिन्न होनेपर भी सूत्र अन्यरूप नहीं होता, परन्तु सब मोतियोंमें पिरोया रहता है, उसी प्रकार बुद्धिके व्यापारोंके परस्पर भिन्न होनेपर भी चैतन्य सर्वत्र एक रूपमें अनुगत रहता है। जिस प्रकार मोतियोंके द्वारा ढका होनेपर भी सूत दो मोतियोंके बीचमें दिखलायी पड़ता है, उसी प्रकार चैतन्य बुद्धि-वृत्तिरूप विकल्पोंके द्वारा आवृत होनेपर भी दो विकल्पोंके बीचमें स्पष्ट प्रतीत होता है। पहले विकल्पके नष्ट होनेपर जबतक दूसरा विकल्प उत्पन्न

नहीं होता, तबतक निर्विकल्पक चैतन्य स्पष्टरूपसे प्रकाशित रहता है। जो लोग ब्रह्मकी अनुभूति प्राप्त करना चाहते हैं, उनको इसी प्रकार एक, दो या तीन क्षणोंमें विकल्प अर्थात् व्यापारके निरोधका क्रमशः यत्नपूर्वक अभ्यास करना चाहिये। जो अहं सविकल्प चैतन्य है, वही अहं एकमात्र निर्विकल्प ब्रह्म है। विकल्प स्वतः-सिद्ध, स्वाभाविक अर्थात् अविद्याकल्पित हैं। प्रयत्नपूर्वक इन सब विकल्पोंका निरोध करना चाहिये। जब शरीरमें आत्मबुद्धिके समान ब्रह्ममें आत्मबुद्धि दृढ़रूपसे हो जाती है, तभी कृतकृत्यता प्राप्त होती है; फिर शरीरकी मृत्यु होनेपर भी पुरुष मुक्त हो जाता है, इसमें कोई भी संशय नहीं।

XXXX XXXX XXXX

मायाकी दो शक्तियाँ हैं—एक विक्षेपशक्ति और दूसरी आवरणशक्ति। विक्षेपशक्ति लिंगशरीरसे लेकर ब्रह्माण्ड-पर्यन्त जगत्‌की सृष्टि करती है। सृष्टि किसे कहते हैं? समुद्रमें जिस प्रकार फेन, बुद्‌बुद, तरंग आदिका आविर्भाव होता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दरूप परब्रह्ममें नामों और रूपोंका जो विकास होता है उसीका नाम सृष्टि है। आवरणशक्ति शरीरके भीतर द्रष्टा आत्मा और दृश्य अन्तःकरणके भेदको, तथा बाहर ब्रह्म और सृष्टिके भेदको आवृत करती है। यही आवरणशक्ति संसारका कारण है। स्थूलशरीरके साथ संयुक्त लिंगशरीर साक्षीके सम्मुख विराजमान रहता है। वह चैतन्यकी छायाके द्वारा सम्बन्ध होनेपर व्यावहारिक जीवके नामसे पुकारा जाता है। जीवका जीवत्व अध्यासके कारण साक्षीको जीवरूप प्रतीत होता है। आवरणशक्तिके नष्ट होनेपर अर्थात् साक्षी और जीवका भेद प्रकट हो जानेपर जीवत्व नष्ट हो जाता है। आवरणशक्ति सृष्ट पदार्थ और ब्रह्मके भेदको ढककर स्थित है, इसीसे ब्रह्म कार्यजगत्‌के रूपमें प्रकट होता है। मायाकी आवरणशक्तिका नाश होनेपर ब्रह्म और सृष्ट पदार्थोंका भेद प्रकट हो जाता है। सृष्टिकालमें ब्रह्म और सृष्ट पदार्थोंका विकार होता है; परन्तु वस्तुतः ब्रह्मका कभी विकार नहीं होता, आवरणशक्तिके कारण ब्रह्म विकारयुक्त जान पड़ता है।

प्रत्येक पदार्थमें पाँच अंश दिखलायी पड़ते हैं—सत्ता, प्रकाश, आनन्द, रूप और नाम। इनमें पूर्वोक्त तीन ब्रह्मके स्वरूप हैं, नाम और रूप जगत्‌के स्वरूप हैं। आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवीमें तथा देवता, पशु-पक्षी आदि तिर्यक् जाति और मनुष्य आदिमें सत्, चित्, आनन्द अभिन्नभावसे विद्यमान हैं; केवल नाम और रूपका भेद होता है। मोक्षकी इच्छा करनेवाले मनुष्यका कर्तव्य सच्चिदानन्द-वस्तुमें एकाग्र होकर नाम और रूपकी उपेक्षा करके सर्वदा हृदयमें अथवा बाहर समाधिका अभ्यास करना है। समाधि दो प्रकारकी होती है—सविकल्प और निर्विकल्प। फिर, सविकल्प समाधि भी दो प्रकारकी होती है—दृश्यानुविद्ध अर्थात् दृश्यसे सम्बद्ध और शब्दानुविद्ध अर्थात् शब्दसे सम्बद्ध। काम आदि सब दृश्य चित्तके धर्म हैं, इनकी उपेक्षा करके इनके साक्षीस्वरूप चेतनका ध्यान करना चाहिये। इसे हृदयस्थ दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि कहते हैं। 'मैं असंग हूँ' सच्चिदानन्द हूँ, स्वयंप्रकाश—द्वैतरहित हूँ' इस प्रकार निरन्तर एकतान चिन्तनप्रवाहमें डूबे रहनेका नाम है हृदयस्थ शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि। अपने अनुभवरूप रसके आवेशके द्वारा कामादि दृश्य पदार्थ और शब्दसमूहकी उपेक्षा करके निर्वात स्थानमें स्थित दीपशिखाके समान जो समाधि होती है, उसे निर्विकल्प समाधि कहते हैं। हृदयके समान बहिर्देशमें या किसी भी वस्तुमें दृश्यानुविद्ध समाधिका अभ्यास किया जा सकता है, उसमें नाम और रूपको पृथक् करके सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मका ध्यान करना पड़ता है। 'अखण्ड, एकरस, सच्चिदानन्दस्वरूप ही ब्रह्मवस्तु है' इस प्रकार अविच्छिन्नरूपसे चिन्तन करनेको शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि कहते हैं। रसास्वादनके परिपाकके द्वारा पूर्ववत् जो स्तब्धता आ जाती है, उसको निर्विकल्प समाधि कहते हैं। योगीको इस तरह छः प्रकारकी समाधिके द्वारा सदा काल व्यतीत करना चाहिये; शरीरमें आत्माभिमानके दूर होनेपर तथा परमात्मज्ञान होनेपर जहाँ-जहाँ मन दौड़ता है, वहीं-वहीं समाधि लगती जाती है। श्रुति कहती है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

परावर ब्रह्मका दर्शन होनेपर हृदयकी कामादि ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं, समस्त संशय छिन्न हो जाते हैं, तथा संचित कर्मोंका क्षय हो जाता है।

जीव तीन प्रकारके हैं—बुद्धि आदिके द्वारा अवच्छिन्न, चिदाभास और स्वप्नकल्पित। इनमें अवच्छिन्न जीव पारमार्थिक है। अवच्छेद कल्पित है, परन्तु अवच्छेद्य यथार्थ है। अवच्छेद्य ब्रह्ममें जीवत्व आरोपित है, ब्रह्मत्व ही स्वाभाविक है। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य पूर्ण ब्रह्मके साथ अवच्छिन्न जीवकी एकता प्रकट करते

हैं, अन्य दो जीवोंके सम्बन्धमें कुछ नहीं कहते।

विक्षेपशक्ति और आवरणशक्तिसे युक्त माया ब्रह्ममें अवस्थान करती है। वह माया ब्रह्मकी अखण्डताको आवृत करके उसमें जगत् और जीवकी कल्पना करती है। बुद्धिस्थ चिदाभासको जीव कहते हैं, वही भोक्ता और कर्मकारक है। यह सब भूतभौतिक जगत् जीवका भोग्यस्वरूप है। अनादिकालसे लेकर मोक्षके पूर्वपर्यन्त जीव और जगत् व्यवहार-कालमें वर्तमान रहते हैं, अतएव दोनों ही व्यावहारिक हैं। चिदाभासमें स्थित विक्षेप और आवरणशक्तिरूपा निद्रा मायाके द्वारा सृष्ट जीव और जगत्को आवृत करके नूतन जीव और जगत्की कल्पना करती है। जबतक प्रतीति है, तभीतक अवस्थिति रहती है; इसी कारण इस जीव और जगत्को प्रातिभासिक कहते हैं। क्योंकि स्वप्नसे जागे हुए व्यक्तिके लिये फिर स्वप्नमें इस जीव और जगत्की अवस्थिति नहीं रहती। प्रातिभासिक जीव प्रातिभासिक जगत्को वास्तविक समझता है, परन्तु व्यावहारिक जीव प्रातिभासिक जगत्को मिथ्या जानता है। व्यावहारिक जीव व्यावहारिक जगत्को सत्य समझता है, परन्तु पारमार्थिक जीव व्यावहारिक जगत्को मिथ्या जानता है। पारमार्थिक जीव अद्वितीय ब्रह्मको (जीव और ब्रह्मके ऐक्यको) पारमार्थिक जानता है, अन्य किसी वस्तुको पारमार्थिक नहीं समझता, बल्कि मिथ्या जानता है।

जलके धर्म माधुर्य, द्रवत्व और शैत्य जिस प्रकार तरंगमें व्याप्त होकर तरंगस्थित फेनमें व्याप्त होते हैं, उसी प्रकार साक्षीस्थित सच्चिदानन्द व्यावहारिक जीवसे सम्बद्ध होकर व्यावहारिक जीवके द्वारा प्रातिभासिक जीवमें व्याप्त हो जाते हैं। फेनके नष्ट होनेपर उसके धर्म द्रवत्व प्रभृति तरंगमें अवस्थित होते हैं और तरंगके विलय होनेपर पूर्वके अनुसार जैसे जलमें अवस्थान करते हैं, उसी प्रकार प्रातिभासिक जीवके लय होनेपर सत्-चित्-आनन्द साक्षीमें अवस्थान करते हैं।

XXXX XXXX XXXX

जब अज्ञानके कारण अधिष्ठान, चिदाभास और बुद्धि—ये तीनों एक रूपमें प्रतीत होते हैं, तब उसे जीव नामसे पुकारा जाता है। केवल अधिष्ठान चैतन्य (कूटस्थ) जीव नहीं, क्योंकि अधिष्ठान चैतन्य निर्विकार है। चिदाभास (बुद्धिमें चित्प्रतिबिम्ब) भी जीव नहीं, क्योंकि वह मिथ्या है। और केवल बुद्धि—भी जीव नहीं, क्योंकि बुद्धि जड है। अतएव चिदाभास, कूटस्थ और बुद्धि—इन तीनोंका संयोग ही जीव कहलाता है। माया, चिदाभास और विशुद्ध आत्मा—इन तीनोंके संयोगको महेश्वर कहते हैं। माया और चिदाभासके मिथ्या होनेके कारण इनमेंसे कोई ईश्वर नहीं। आत्माको पूर्ण, विशुद्ध और निर्विकार होनेके कारण महेश्वर कहा जाता है। मायाके जडत्वके कारण भी मायाको ईश्वर नहीं कहा जाता। अतएव माया और चिदाभास 'तत्' पदके प्रतिपाद्य ईश्वर नहीं हैं। अज्ञानके कारण जीव और ईश्वर प्रकाशित होते हैं। जिस प्रकार महाकाशमें घटाकाश और गृहाकाश कल्पित होते हैं, उसी प्रकार चिदाभासरूप अहंमें जीव और ईश्वर कल्पित होते हैं। माया और मायाके कार्यके लय होनेपर ईश्वरत्व और जीवत्व नहीं रहता, क्योंकि चैतन्यरूप आकाशके उपाधिविहीन होनेके बाद अहं शुद्ध चैतन्यरूपमें अवस्थान करता है।

चित्स्वरूप आत्मा उपाधिधारणके कारण जीवरूपमें प्रकट होता है, परन्तु उपाधिके नाश होनेपर शिवस्वरूप परमात्माका ईश्वरत्व और जीवत्व कुछ भी नहीं रहता। शिव ही सदा जीव और जीव ही सदा शिव हैं। जिनको इन दोनोंकी एकता प्राप्त हो गयी है वे ही आत्मज्ञ हैं, और कोई आत्मज्ञ नहीं। जिस प्रकार जल दूधमें मिलकर दूधके समान दिखलायी देता है, उसी प्रकार यह अनात्मस्वरूप जगत् आत्माके सहयोगसे आत्माके समान प्रतीत होता है। जीव स्थूलदेहादिसे आत्माको पृथक् करके मुक्त होता है। यदि स्थाणुमें चोरका आरोप होता है अर्थात् उसमें चोर होनेकी भ्रान्ति होती है तो इससे उस स्थाणुका कोई विकार नहीं होता, इसी प्रकार निर्विकार आत्मामें विश्वका आरोप होनेपर भी आत्मामें कोई विकार नहीं होता। जहाँ स्थाणुमें चोरका अध्यास होता है, वहाँ स्थाणुका ज्ञान होनेपर चोरकी उपलब्धि नहीं होती, चोरकी उपलब्धि न होनेपर भय भी नहीं रहता। इसी प्रकार आत्मज्ञान होनेपर संसार नहीं रहता और संसारके न रहनेपर नाना प्रकारकी वस्तुएँ नहीं दिखलायी देतीं। अविद्या-कल्पित समस्त अनर्थ निवृत्त हो जाते हैं और अविद्याकी निवृत्ति होनेपर पुरुष परमानन्दस्वरूपको प्राप्त होता है।

अविद्या या अज्ञानके कारण जीव अपनेको ब्रह्मरूप नहीं मानता, ब्रह्मात्मैक्यज्ञानके द्वारा वह अज्ञान नष्ट हो जाता है। इस अज्ञानके द्वारा ही जीव, ईश्वर और जगत्का आविर्भाव होता है। अधिष्ठान ब्रह्मका ज्ञान

होनेपर यह अज्ञान नष्ट हो जाता है—जीव, जगत् और ईश्वरभाव विलुप्त हो जाते हैं, और तब यह कहा जाता है कि जीवका मोक्ष हो गया। अन्यथा जीव स्वरूपतः (इस बद्ध-अवस्थामें भी)मुक्त है। जीवके सुख-दुःख, भय, शोक और मोह आदि सभी इसी अज्ञानके फल हैं। जबतक जीवका अज्ञान रहता है, तबतक व्यवहार रहता है। जबतक व्यवहार है, तबतक कर्म और उपासना हैं—तबतक पूजा-पाठ, प्रार्थना-स्तुति, होम, याग-यज्ञ—सभी अधिकारानुसार करने पड़ते हैं। देवता, ऋषि, गुरु सबकी आराधना करनी पड़ती है। और जबतक अज्ञान रहता है, तबतक दुःखमिश्रित सुखकी ही जीव कामना करता है। वैकुण्ठ, शिवलोक, ब्रह्मलोक आदि कामनाकी चरम सीमा हैं। यह क्रममुक्तिका मार्ग है। क्रम-मुक्तिसे भी अन्तमें अद्वैतज्ञानद्वारा निर्वाण प्राप्त होता है। परन्तु अद्वैतब्रह्मात्मैक्यज्ञान सद्योमुक्तिका मार्ग है।

श्रुत्याचार्य प्रसादेन दृढो बोधो यदा भवेत्।
निरस्ताशेषसंसारनिदानः पुरुषस्तदा॥

(वाक्यवृत्ति ५०)

जब श्रुति और आचार्यके अनुग्रहसे दृढ़ ज्ञान उत्पन्न होता है, तब पुरुषकी संसारकी कारणरूप समस्त अविद्या दूर हो जाती है।

विशीर्णकार्यकरणो भूतसूक्ष्मैरनावृतः।
विमुक्तकर्मनिगडः सद्य एव विमुच्यते॥

(वाक्यवृत्ति ५१)

जब कार्यरूप शरीर और करणरूप इन्द्रियाँ विशीर्ण हो जाती हैं, सूक्ष्म भूतोंके आवरण दूर हो जाते हैं, कर्मरूपी बन्धन नष्ट हो जाते हैं, तब मनुष्य शीघ्र ही मुक्तिको प्राप्त हो जाता है।

अहं साक्षीति यो विद्याद्विविच्यैव पुनः पुनः।
स एव मुक्तो विद्वानिति वेदान्तडिण्डिमः॥

(ब्रह्मज्ञानावलीमाला)

जो देह, इन्द्रिय प्रभृति अनात्मासे आत्माको पृथक् करके 'मैं साक्षीस्वरूप हूँ' इस प्रकारसे आत्माको जानते हैं, वे ही विद्वान् हैं वे ही मुक्त हैं—यह समस्त वेदान्तकी घोषणा है।

देहत्रयमिदं भाति यस्मिन् ब्रह्मणि सत्यवत्।
स एवाहं परं ब्रह्म जाग्रदादिविलक्षणः॥

(अद्वैतानुभूति ८३)

जिस ब्रह्ममें देहत्रय सत्यके समान प्रतीयमान हो रहा है, मैं वही जाग्रदादिसे विलक्षण परम ब्रह्म हूँ।

विश्वादिकं त्रयं यस्मिन् परमात्मनि संस्थितम्।
स एवं परमात्माहं विश्वादिकविलक्षणः॥

(वाक्यवृत्ति ८४)

जिस परमात्मामें विश्व, तैजस और प्राज्ञ—ये तीनों अवस्थान करते हैं, मैं विश्वादिसे विलक्षण वही परमात्मा हूँ।

जाग्रदादित्रयं यस्मिन प्रत्यगात्मनि सत्यवत्।
स एवाहं परं ब्रह्म जाग्रदादिविलक्षणः॥

(वाक्यवृत्ति ८५)

जिस विश्वव्यापी आत्मामें जाग्रत्, स्वप्न्, सुषुप्ति—ये अवस्थात्रय सत्यवत् प्रतीयमान होते हैं, मैं जाग्रदादि अवस्थाओंसे पृथक् वही परब्रह्म हूँ।

विराडादित्रयं भाति यस्मिन् ब्रह्मणि नश्वरम्।
स एव सच्चिदानन्दलक्षणोऽहं स्वयंप्रभुः॥

(वाक्यवृत्ति ८६)

जिस परब्रह्ममें विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर प्रभृति मूर्तित्रय प्रकाशमान होते हैं, मैं वही सच्चिदानन्दस्वरूप स्वयंप्रकाश परब्रह्म हूँ।

सर्वमय भगवान्को प्रणाम करो

योगेश्वर कवि कहते हैं—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किंच भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(श्रीमद्भा० १०।२।४१)

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह, नक्षत्रादि ज्योतिर्मण्डल, समस्त प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष आदि वनस्पति, नादियाँ और समुद्र सब-के-सब भगवान्के शरीर हैं, किसी भी जड-चेतन पदार्थको भगवान्का स्वरूप समझकर अनन्यभावसे प्रणाम करना चाहिये।

साधना

(लेखक—स्वामीजी श्रीभूमानन्दजी महाराज)

भारतवर्षके विभिन्न सम्प्रदायोंमें विभित्र साधन-प्रणालियाँ प्रचलित हैं। जिस सम्प्रदायके प्रवर्तकने अपने शिष्योंमें जिस साधन-धाराका प्रचलन किया, आज वही एक-एक विशिष्ट पन्थके नामसे परिचित है। जैसे नानक-पन्थ, कबीर-पन्थ और दादू-पन्थ इत्यादि। कहीं-कहीं यह भी देखा जाता है कि एक सम्प्रदायकी साधना दूसरे सम्प्रदायकी साधनासे विपरीत है। कोई साकारके उपासक हैं तो कोई निराकार ध्यानके पक्षपाती हैं। किसीके मतमें अहिंसा ही धर्म और साधन है, तो किसीने हिंसाको भी साधनके अन्तर्गत मान लिया है। साधनाके इस तरह विभिन्न आकार-प्रकार देखकर सहज ही मनमें एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि यथार्थ साधन क्या है और साधनके नामसे किसको पुकारना चाहिये। साधना एक है या बहुत, और साधनाकी कोई आवश्यकता भी है या नहीं—ये प्रश्न विचारशील मनुष्यके मनमें घबराहट पैदा कर देते हैं।

२. शब्दार्थकी ओर ध्यान देकर विचार करनेसे पता लगता है कि साध्य विषयके लिये जो प्रयत्न, चेष्टा और अनुष्ठान किया जाता है, उसीका नाम साधन है। यही बात है तो यह भी मानना ही पड़ेगा कि साधनका विचार करनेसे पहले साध्यका निर्णय करना आवश्यक है। साध्य यदि सभीका एक हो और वह देश-काल-पात्रद्वारा परिच्छिन्न न होकर सार्वजनीन हो तो साधनका भी एक होना सम्भव है और वह सम्प्रदायगत विशेष विधि अथवा आचार नहीं हो सकता। अब विचार करना है कि साध्य क्या है?

३. जगत्के मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि सभी प्राणियोंकी चेष्टा और क्रियाओंपर स्थिर चित्तसे विचार करनेपर यह स्पष्ट ही दिखलायी देता है कि जीवका एकमात्र काम या साध्य 'सुख' है। इस सुख-प्राप्तिकी आशासे ही सभी जीव अपने जीवनके अन्तिम कालतक चेष्टा या साधन करते रहते हैं, परन्तु आश्चर्य है कि तृप्त कोई भी नहीं होता, अभावोंकी पूर्ण निवृत्ति किसीकी भी नहीं होती। सुखकी इच्छासे चेष्टा करनेपर यह देखा जाता है कि बहुतोंको सफलता मिलती है और वे सुखके निदानस्वरूप भोगोंको प्राप्त भी कर लेते हैं, परन्तु उनके भी अभावों और कामनाओंकी निवृत्ति नहीं होती, वरं ये उत्तरोत्तर बढ़ते ही जाते हैं। इसी बातको ध्यानमें रखकर शास्त्रोंने कहा है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

उससे यह साफ मालूम होता है कि हमलोग साध्यका निश्चय किये बिना ही साधनमार्गपर बढ़ रहे हैं, इसीलिये सफलता मिलनेपर भी अभाव नहीं मिटता। अतएव विचारशील पुरुषमात्रका यह सिद्धान्त होना चाहिये कि वस्तुतः क्षणस्थायी सुख जीवकी आकांक्षाका विषय नहीं है, वह तो अनादिकालसे अभावरहित नित्य सुखकी ही खोजमें लगा है और वही उसका साध्य है; परन्तु वह इस बातको नहीं जानता कि किस उपायसे अथवा किस विषयके द्वारा वह सुख प्राप्त हो सकता है और उसके अभावोंका सर्वथा अभाव हो सकता है। जगत्के सभी प्राणी इस एक ही अवस्थामें स्थित हैं; इसीसे यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि जब साध्य एक है, तब साधन भी एक ही होगा।

४. अब इस बातपर विचार करना है कि अभाव किसको है? हमारे इस देह और देहके संयोगसे जो कार्य, कर्म, सुख-दुःखादि बोध, कामना-वासना आदि हो रहे हैं, उनकी ओर देखनेसे यह पता लगता है कि देह एक जड वस्तु है। यह अस्थि-चर्म, मांस-रक्त, मेद और मज्जा आदिका समष्टिभूत पिण्डमात्र है। दूसरी ओर यह भी देखा जाता है कि इसमें ज्ञान, बुद्धि, विचार और अनुभूति आदि विद्यमान हैं और इनमेंसे कोई-सा भी जडका धर्म नहीं है। अतएव यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि यह देह जड और चैतन्यका सम्मिश्रण है। इस देहमें ही इच्छा-शक्तिका विकास भी देखनेमें आता है और जडदेह उस इच्छाके अनुसार ही परिचालित होती है—यह भी देखा जाता है। अब प्रश्न यह है—यह इच्छा किसको है? कौन इस देहका कर्ता है? शास्त्रोंसे पता लगता है कि जो कर्ता है उसे देही,

चैतन्य, ज्ञान, अक्षर, आत्मा और जीव आदि अनेकों नामोंसे अभिहित किया गया है। हम जिस समय कहते हैं 'यह मेरा शरीर है', उस समय भी हमारे अंदर यह ज्ञान रहता है कि शरीर, मैं, नहीं है शरीर 'मेरा' है; यहाँ भी हम यह स्वीकार करते हैं कि 'मैं' देहातीत है, तो भी हम उसे पहचानते नहीं! सूक्ष्मरूपसे विचार करनेपर यह पता लगता है कि अभावका बोध उस देही अथवा आत्माको ही है और उसीकी इच्छासे यह जडदेह अभावकी पूर्तिके लिये उसीके द्वारा परिचालित हो रही है। परन्तु अभावकी निवृत्ति करनेवाले विषयको न जाननेके कारण हमलोगोंने देहके अभावको ही आत्माका अभाव समझ लिया है और प्राणपर्यन्त चेष्टा करके दूसरे जडदेहके द्वारा इस देहके अभावकी पूर्तिमें लग रहे हैं। इसीलिये आत्माकी आकाङ्क्षा निवृत्त नहीं होती और वह दूसरे सुखकी लालसासे बार-बार दूसरे विषयोंकी प्राप्तिके लिये देहको नियुक्त करता है। जीव इसी प्रकार एक विषयको छोड़कर दूसरे विषयको ग्रहण करता है और एक योनिसे दूसरी योनिमें जाकर भटक रहा है और भटकता रहेगा।

५. अब प्रश्न यह है कि फिर उपाय क्या है? विचार करनेपर पता लगता है कि हम इन्द्रियग्राह्य विषयोंके द्वारा अतीन्द्रिय आत्माके अभावकी पूर्तिके लिये चेष्टा कर रहे हैं; इसीसे आत्माकी आकाङ्क्षा पूर्ण नहीं होती और विषय-वासना बढ़ती रहती है। विषय ही यदि आत्माके अभावको पूर्ण कर सकता तो आकाङ्क्षित विषयकी प्राप्ति होनेपर उसको लेकर आत्मा चुप हो जाता। हम बहुत बार मनचाही चीज पाते हैं; परन्तु उसे पाकर हम चुप क्यों नहीं रह सकते? उस वस्तुसे मन क्यों हट जाता है और फिर दूसरे विषयकी कामना क्यों करते हैं? उदर और उपस्थके सुखको ही तो जीव चरम सुख मानता है; परन्तु उनमेंसे किसीको लेकर वह स्थिर नहीं रह सकता। कामनाके समय विषयमें जितने सुखकी कल्पना की जाती है, भोगके समय अथवा प्राप्तिके दूसरे ही क्षण वह फिर उतने सुखकी वस्तु नहीं मालूम होती; फिर किसी दूसरे अभावका बोध होने लगता है। देखा जाता है जीवका अभाव नित्य है, परन्तु उसके सुखके विषय और जिसके द्वारा वह सुख-भोग करता है वह शरीर—ये दोनों ही अनित्य हैं। इसीलिये अनित्य पदार्थके द्वारा नित्य अभावकी निवृत्ति नहीं होती। वास्तवमें आत्मामें इन्द्रियग्राह्य विषयका अभाव नहीं है; इन्द्रियग्राह्य विषय तो देहको अतिक्रमकर देहीके निकटतक पहुँच ही नहीं सकता। इसीलिये देहीका अभाव नहीं मिटता। आत्माको आत्मस्वरूपका ही अभाव है और उस अपने स्वरूपकी प्राप्तिसे ही उसके अभावकी निवृत्ति होकर उसे सुख हो सकता है और वही जीवमात्रका साध्य है।

६. विचारशील और सुमुक्षु साधक कभी साधारण बाह्य साधनासे सन्तुष्ट नहीं होते। कारण, वे जानते हैं कि इन्द्रियग्राह्य विषयोंके द्वारा अतीन्द्रिय आत्मस्वरूपका पता नहीं लग सकता। इसीलिये उपनिषद् भी कहते हैं—

न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।

इसीलिये वे आन्तर साधनकी खोजमें लगे रहते हैं। परन्तु खेदका विषय है कि इस आन्तर साधन या स्वरूप-साधनके वक्ता और श्रोता दोनों ही दुर्लभ हैं—**'श्रोता वक्ता च दुर्लभः'।** जो कुछ भी हो , अब प्रश्न यह है कि वह आन्तर साधन किस प्रकार किया जा सकता है? उपनिषद् हिन्दूधर्मके श्रेष्ठ प्रामाणिक शास्त्र हैं। उपनिषद्का उपदेश किसी भी निर्दिष्ट सम्प्रदायविशेषके लिये नहीं है। मनुष्यमात्र ही औपनिषद साधनके अधिकारी हैं। अतएव पहले यह देखना चाहिये कि इस सम्बन्धमें उपनिषद् क्या कहते हैं?

७. उपनिषदोंने प्रणव-साधनको ही श्रेष्ठ साधन बतलाया है—

(क) स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्॥

(ख) प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत् ॥

(ग) प्रणवात्मकं ब्रह्म॥

(घ) प्रणवात्प्रभवो ब्रह्मा प्रणवात्प्रभवो हरिः।
प्रणवात्प्रभवो रुद्रः प्रणवो हि परो भवेत्॥

अपने देहको नीचेकी अरणि और प्रणवको ऊपरकी अरणि करके ध्यानरूप मन्थनसे छिपी हुई वस्तुके समान देवको देखे। प्रणव धनुष है, आत्मा बाण है, उस बाणका लक्ष्य ब्रह्म है। जितेन्द्रिय पुरुषको उसे सावधानीके साथ बेधना चाहिये। बाणके समान तन्मय हो जाय। ब्रह्म प्रणवात्मक है। प्रणवसे ब्रह्मा है, प्रणवसे हरि है, प्रणवसे रुद्र है और प्रणव ही पर तत्त्व है।

परन्तु वर्तमान युगमें प्रणवके स्वरूपको बहुत थोड़े लोग ही जानते हैं। अधिक लोग तो ॐकारके उच्चारणको या मन-ही-मन जप करनेको प्रणव-साधन समझते हैं। परन्तु उपनिषद्के कथनानुसार ॐकारका उच्चारण नहीं किया जा सकता। क्योंकि वह स्वर या व्यञ्जन नहीं है और वह कण्ठ, होठ, नासिका, जीभ, दाँत, तालु और मूर्धा आदिके योगसे या उनके घात-प्रतिघातसे उच्चारित नहीं होता—

अघोषमव्यञ्जनमस्वरं च
अकण्ठताल्वोष्ठमनासिकं च।
अरेफजातमुभयोष्ठवर्जितं
यदक्षरं न क्षरते कदाचित्।

८. अब प्रश्न यह है कि साधारणतः सभी शब्द कण्ठादिके द्वारा ही ध्वनित होते हैं; परन्तु यदि प्रणव कण्ठादिमें वायुके घात-प्रतिघातके बिना ही ध्वनित होता है, तो फिर वह ध्वनि क्या है और किस प्रकारसे, किस उपायसे अथवा किस साधनासे वह अनुभूत हो सकती है। उपनिषदादिमें इस ध्वनिको अनाहत नाद कहा गया है, तन्त्रविशेषमें इसका नाम है 'अकृतनाद'। जिस साधनका अभ्यास करनेसे यह नाद स्वतः ही उत्पन्न होता है, वही इसका वास्तविक साधन है और वही यथार्थ उपाय है; अन्यान्य साधन तो अनुपाय ही हैं—'**अनुपायाः प्रकीर्तिताः**'।

९. अब विचारका विषय यह है कि वह ध्वनि क्या है। जगत्के सृष्ट सभी विषयोंकी ओर जरा सूक्ष्मरूपसे देखनेपर यह पता लगता है कि सभी जीवों और पदार्थोंमें एक क्रिया या स्पन्दन (Vibration) है। विज्ञान बतलाता है कि क्रियामात्रमें ही दो प्रकारकी गति है—एक आकर्षण (Attraction) और दूसरी विकर्षण (Repulsion)। वर्तमान युगमें यन्त्रादिकी सहायतासे विज्ञानने यह प्रमाणित कर दिया है कि पत्थर, मिट्टी आदिमें भी यह क्रिया सूक्ष्मरूपसे रहती है। मनुष्य-पशु-पक्षी-कीट-पतंगादिमें तो यह आकर्षण-विकर्षणात्मक क्रिया सुस्पष्टरूपसे दिखलायी देती है। थोड़ेमें यह कहा जा सकता है कि सारा जगत् ही एक आकर्षण-विकर्षणात्मक क्रियाके द्वारा नियमित हो रहा है। जगत्का 'जगत्' नाम भी इस अविराम स्पन्दन या गतिको लक्ष्य करके ही रखा गया है—गम्+क्विप्। साधनके सम्बन्धमें यहाँ मनुष्य-देहकी क्रियापर ही विचार करना है, इसलिये उसी क्रियाकी आलोचना करेंगे और साथ ही उसके साथ साधनाका क्या सम्बन्ध है, यह भी दिखलानेकी चेष्टा की जायगी।

१०. हमारे श्वास-प्रश्वासकी गतिकी ओर देखते ही यह पता लगता है कि एक गति अपने-आप ही नासिकाके भीतरसे ऊपरको उठती है और फिर नासिकाके छिद्रोंसे वह बाहर निकल जाती है। विज्ञान कहता है कि जहाँ स्पन्दन है, वहाँ स्पन्दनके अनुसार शब्द है; जहाँ शब्द है वहाँ शब्दके अनुरूप स्पन्दन है। परन्तु वह शब्द सुनायी दे भी सकता है और नहीं भी, क्योंकि श्रवणेन्द्रियकी शक्ति एक निर्दिष्ट सीमावाली ही है; अतएव यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हमारे शरीरकी इस स्वाभाविक ऊँची-नीची दोनों क्रियाओंमें भी अपना-अपना शब्द या ध्वनि है। एक बात और है, जहाँ क्रिया है वहाँ कर्ता भी है। वह कर्ता कौन है? यदि कहें मैं ही कर्ता हूँ तो विचार करनेपर यह बात नहीं मानी जाती। कारण, सुषुप्ति-अवस्थामें तो मेरा कोई कर्तृत्व ही नहीं रहता, यहाँतक कि 'मैं' ज्ञान भी नहीं रहता; परन्तु यह क्रिया तो उस समय भी बराबर चलती ही रहती है। माताके गर्भमें भी गर्भस्थ जीवके शरीरमें बहुत सूक्ष्मरूपसे यह क्रिया चलती है और इसीसे उसका शरीर बढ़ता रहता है। अतएव यह स्वीकार करना होगा कि देहमें होनेवाली इस क्रियाका कर्ता 'मैं' नहीं हूँ। इसका कर्ता निश्चय ही कोई दूसरा है, वही इस देहमें रहकर इस अजब कलको चला रहा है। वह यदि मेरा 'मैं' हो, तो भी, उसके साथ मेरा परिचय नहीं है, उसका स्वरूप मैं नहीं जानता अर्थात् मैं मेरेको ही नहीं पहचानता। मेरा परिचय और सम्बन्ध तो केवल देहके ही साथ है, वह तो देहातीत है; यह देह उसीका है। तो उस 'मैं' का पता लगाना आवश्यक है। उसका पता पाना और आत्मस्वरूपको जानना एक ही बात है; इसीसे ईसाई-धर्मोपदेशमें भी 'अपनेको जानो' (Know Thyself) कहा गया है। इस देहगत आत्माका स्वरूप जाननेके लिये भी साधनकी ही आवश्यकता है। वह साधन क्या है?

११. नासिकाके अंदरसे जो आकर्षण-क्रिया शब्दायमान होकर धीरे-धीरे ऊपरकी ओर उठती है, उस शब्दकी ओर जरा मन लगानेपर यह अच्छी तरह समझमें आ सकता है कि वह शब्द अस्पष्टरूपसे ओंकार-जैसा

है। यह शब्द कण्ठ-तालु आदिके घात-प्रतिघातकी अपेक्षा नहीं करता। यहाँतक कि नासिकागत जो वायु उस आकर्षणात्मक क्रियाका अनुसरण करता है, उसकी भी अपेक्षा नहीं करता। उस ॐकारका विश्लेषण करनेपर जाना जाता है कि वह 'उ' और 'म' इन दो वर्णो या शब्दोंकी समष्टिमात्र है, यह ॐकार ऊपर उठनेके समय क्रमसे 'उ' का परित्याग करके 'म' कारमें पर्यवसित या लीन होता है। यह अस्वर 'म' ही साधन है। इसीसे उपनिषद्में कहा है—'**अस्वरेण मकारेण पदं गच्छन्त्यनामयम्।**' इस अस्वर 'म' कारका शेष अंश ही प्रणव या ॐकार है और उसका नि:शब्दमें लय होना ही ब्रह्मानुभूति, आत्मानुभूति या स्वरूपप्राति इत्यादि है। इसीसे तन्त्रमें कहा गया है—

नि:शब्दं तु विजानीयात् स भावो ब्रह्म पार्वति।

उपायविशेषके द्वारा इस मकारात्मक अवस्थाको प्राप्त किया जा सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसीसे भगवान् श्रीकृष्णने कहा है— '**शक्योऽवाप्तुमुपायत:**'। किसी भी उपायसे मकारात्मक अवस्थामें पहुँच जानेपर भी, हमारे देहमें जो स्वाभाविक विकर्षणात्मक क्रिया है, वह पुन: उस अवस्थाको निम्नगामिनी करके पूर्वावस्थापर पहुँचा देगी। निम्नगामिनी प्रश्वासकी गति और शब्दपर ध्यान देनेसे यह स्पष्ट समझमें आ सकता है कि वह शब्द अस्पष्ट रूपसे हुंकारके-जैसा है। इस निम्नगामी हुंकार शब्दका विश्लेषण करनेपर हमें ह्+उ+म्' मिलते हैं। अर्थात् उम् अवस्थाको हुंकारात्मक निम्नगामिनी क्रिया ही स्वरूपसे च्युत करती है। अब आवश्यकता यह है कि किस उपायसे इस गिरानेवाले शैतान 'ह' कारके चंगुलसे छूटा जाय। एकमात्र साधनाके द्वारा ही इसके कराल कवलसे छुटकारा मिल सकता है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

१२. जिस कौशलका अवलम्बन और अभ्यास करनेपर हकारात्मक बहिर्विक्षेपण (Repulsion) के क्रमश: मृदु होते-होते आकर्षणात्मक क्रिया क्रमसे ऊपरकी ओर जाती है और समयपर शेष सीमापर पहुँचकर निरुद्ध होकर निष्क्रिय अवस्थाको प्राप्त हो जाती है, उसका नाम हंसयोग है। यही लययोगका श्रेष्ठतम पथ है। इसीके दूसरे नाम हैं—सहजयोग, सहजपथ, सहज प्राणायाम, आत्मयोग, अजपा-साधन और प्रणव-साधन इत्यादि।

इस योगाभ्यासके द्वारा आत्मज्ञान स्फुरित होता है, इसीसे उसे 'आत्मयोग' कहते हैं। बहिर्विक्षेपणका लय होता है, इसीसे इसका नाम 'लययोग' है। इस साधनमें अलग मन्त्र-जप नहीं करना पड़ता, इसीसे यह 'अजपा साधन' कहा जाता है। इसका अभ्यास देहस्थित सहजक्रिया और शब्दका अवलम्बन करके किया जाता है, इसीसे इसका नाम 'सहज-साधन' है। इसीके द्वारा प्रणवमें मनका लय होता है, इसीसे 'यह प्रणव-साधन' कहलाता है और 'हं' तथा 'स:' इन दो शब्दोंके योगसे इस साधनका अभ्यास करना पड़ता है, इसीसे इसको 'हंसयोग' कहते हैं। यह 'हंस' शब्द और प्रणव अभिन्न हैं। इसीसे उपनिषद्में कहा है—'**हंसप्रणवयोरभेद:।**' ऋषियुगमें इस साधनाका बड़ा प्रचार था। क्रमश: मनुष्योंकी धारणाशक्तिका ह्रास और बाह्य विक्षेपकी अधिकता होनेसे भाँति-भाँतिके स्वर-व्यञ्जनयुक्त मन्त्रोंकी सृष्टि होने लगी और उसीके साथ-साथ नाना प्रकारकी कल्पित मूर्तियोंका मिश्रण होनेसे साधना एक बाह्य व्यापारके रूपमें परिणत हो गयी। इसी प्रकार सूक्ष्म प्रणव-साधन क्रमश: स्थूल पूजाके रूपमें परिणत हुआ। इसीसे शास्त्रमें कहा गया है—

साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पना।

अवश्य ही यह स्वीकार करना पड़ता है कि 'हंसयोग' का अभ्यास करना सबके लिये सम्भव नहीं है। परन्तु जानकार गुरुदेवसे कौशल सीखकर दीर्घकालतक दृढ़ताके साथ साधना करनेसे साध्य आत्मस्वरूपकी प्राप्ति अवश्य ही होती है। आत्मस्वरूपकी प्राप्ति, अभावनिवृत्ति और नित्यानन्दकी प्राप्ति—एक ही बात है। इस अवस्थाकी प्राप्ति हो जानेपर साधकके लिये फिर चाहने या पानेयोग्य और कुछ भी नहीं रह जाता। उसके सारे सन्देह दूर हो जाते हैं। जाननेके लिये फिर अन्य कोई विषय ही नहीं रह जाता। शङ्कराचार्यने इसी अवस्थाको 'ब्रह्म' बतलाया है—

यल्लाभान्नापरो लाभो यत्सुखान्नापरं सुखम्।
यज्ज्ञानान्नापरं ज्ञानं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत्॥

१३. आकर्षणात्मक 'हं' और विकर्षणात्मक 'स' इन दो अक्षरोंके योगसे जिस 'हंस' शब्दकी उत्पत्ति होती है, उसको शास्त्रादिमें हंस-मन्त्र, सोऽहं-मन्त्र, अजपा-मन्त्र, अजपा गायत्री, आत्ममन्त्र, अनाहत मन्त्र, पुं-प्रकृतिमन्त्र, ब्रह्ममन्त्र, जीवमन्त्र, प्राणमन्त्र, विद्यामन्त्र

और शिव-शक्ति-मन्त्र आदि नामोंसे कहा गया है। उपनिषद्, तन्त्र और पुराणादिमें इस मन्त्रका माहात्म्य भरा पड़ा है। साधारण जानकारीके लिये यहाँ कुछ श्लोक उद्धृत किये जाते हैं—

(क) सकारेण बहिर्याति हकारेण विशेत् पुनः।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥

(योगशिखोपनिषद्)

(ख) अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ॥

(योगचूडामणि उपनिषद्)

(ग) बिभर्ति कुण्डलीशक्तिरात्मानं हंसमाश्रिता।
हंसः प्राणाश्रयो नित्यं प्राणा नाडीपथाश्रयाः॥

(तन्त्रसार)

(घ) हं पुमाञ्छ्वासरूपेण चन्द्रेण प्रकृतिस्तु सः।
एतद्धंसं विजानीयात् सूर्यमण्डलभेदकः॥

(रुद्रयामलतन्त्र)

(ङ) हंसविद्यामविज्ञाय मुक्तौ यत्नं करोति यः।
स नभोभक्षणेनैव क्षुन्निवृत्तिं करिष्यति॥

(सूतसंहिता)

(च) हंसेन मनुना देवि ब्रह्मरन्ध्रं नयेत् सुधीः॥

(शाक्तानन्दतरंगिणी तन्त्र)

(छ) आत्मनः परमं बीजं हंसाख्यं स्फटिकामलम् ॥

(गरुडपुराण)

तन्त्र और पुराणादिमें इस हंसयोगके चरम साधन बतलाये जानेपर भी वर्तमान युगमें इसकी साधनाके अधिकारी पुरुष बहुत ही थोड़े होंगे, यही अनुमान करके ऋषियोंने समयोचित नानाविध साधन-प्रणालियोंकी व्यवस्था की है।

१४. मध्ययुगमें भारतवर्षमें जिन महापुरुषोंका आविर्भाव हुआ था, उनकी अमर वाणीकी ओर ध्यान देनेसे भी यह पता लगता है कि उन्होंने हंसयोगकी साधनासे ही आत्मज्योति-दर्शन तथा अनाहत ध्वनिका श्रवण करके उसीमें तन्मय होकर सिद्धि प्राप्त की थी। दरिया साहेब, यारी साहेब आदि कई मुसल्मान संत भी इस पथके पथिक थे। दादू, कबीर, नानक आदि सिद्ध आत्मज्ञानी महापुरुषोंने अपने शिष्योंको इस हंसयोगका ही उपदेश किया था। दुःखकी बात है कि पीछेसे उनके शिष्योंने इस सार्वजनीन साधनाको अलग-अलग क्षुद्र साम्प्रदायिक सीमामें बाँधकर उसके भिन्न-भिन्न नाम रख दिये। मैंने ऐसे अनेकों सम्प्रदायोंके साधकोंसे बातचीत की, किन्तु आश्चर्यका विषय है कि उनमेंसे कोई भी अपने आदिगुरुके उपदेशका रहस्य नहीं जानते और तदनुसार साधन भी नहीं करते। वे पूजा-पाठ, भोग-राग आदि कुछ साम्प्रदायिक बाह्य आचारोंको ही साधना समझकर उन्हींका अनुष्ठान करते हैं। जो कुछ भी हो, साधनके सम्बन्धमें मध्ययुगके कुछ संतोंकी कुछ वाणियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

(क) अनहद वाणी पाइये तहँ होमे होइ विनाशु। (नानक)

(ख) स्वास स्वास प्रभु तुमहि धियावउँ। (नानक)

(ग) (कबिरा) अजपा सुमिरन होतहै सुन-मंडल अस्थान।
कर जिह्वा तहाँ ना चलै मन पंगू तहँ जान॥

(कबीर)

(घ) कबीर हंसा न बौले उन्मनी (कबीर)

(ङ) दादू सहज सरोवर आतमा, हंसा करै किलोल। (दादू)

(च) सरीर माँईं सोधी साँईं अनहद ध्यान लगाई। (दादू)

(छ) चलो अगमके देस, काल देखत डरै।
वहाँ भरा प्रेमका हौज, हंस केली करै॥

(मीराबाई)

(ज) मान-सरोवर विमल नीर, जहँ हंस समागम तीर तीर।

(दरियासाहेब)

(झ) घटमें प्रान अपान दुहाई। अरध आवे अरु अरध जाई॥
लेके प्रान अपान मिलावै। वाहि पवनतें गगन गरजावै॥

(यारीसाहेब)

(ञ) अनहद ताल आदि सुर बानी बिनु जिभ्या गुन बेद पढ़ो।
आपा उलटि आतमा पूजो, त्रिकुटी न्हाइ सुमेर चढ़ो॥

(यारीसाहेब)

(ट) बुल्लेशाह नाल लाई बाजी, अनहद सबद बजाया है।

(बुल्लेशाह)

१५. साधनपथपर अग्रसर होनेके लिये संयम और अभ्यासकी पूर्ण आवश्यकता है। मन असंयत होकर ही बहिर्मुख हो गया है; अतः इसको अन्तर्मुख करनेके लिये साधकको सबसे पहले संयमका अभ्यास करना पड़ेगा। संयम ही साधनामें प्रथम सहायक है। स्थूलतः साधकमात्रको त्रिविध संयम करना चाहिये—'आहारसंयम, 'वाक्संयम' और 'कायसंयम'। ये सब साधकके अधिकारकी चीजें हैं, इनके लिये दूसरेकी सहायता आवश्यक नहीं है। आहार संयम करनेके लिये दो बातोंपर ध्यान रखना आवश्यक है—आहारका 'परिमाण' और 'प्रकार'। जो जिस प्रकारका आहार सम्पूर्णरूपसे पचा सकता हो, उसके

लिये वही प्रकार संयत आहार है। खायी हुई चीजोंका अजीर्ण, कुजीर्ण या अतिजीर्ण न होना ही संयत आहारका लक्षण या प्रमाण है। परिमाणके सम्बन्धमें कोई निर्दिष्ट नियम नहीं हो सकता। अपनी-अपनी पाचन-शक्तिके अनुसार परिमाणकी व्यवस्था होनी चाहिये। तथापि शास्त्रकारोंने एक साधारण नियम बतलाया है—

पूरयेदशनेनार्द्धं तृतीयमुदकेन तु।
वायोः सञ्चालनार्थं च चतुर्थमवशेषयेत्॥

'भूखसे आधापेट अन्न खाय, चौथाई जल पीवे और चौथाई वायुसञ्चालनके लिये खाली रखे।'

आहारके प्रकारके सम्बन्धमें अनेकों मत हैं; परन्तु स्थूलरूपमें साधकके लिये कौन-सा आहार उपयुक्त है और कौन-सा त्याज्य है? इस सम्बन्धमें गीतामें स्पष्टतः कहा गया है—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥

(१७। ८—१०)

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले रसयुक्त, चिकने, स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही प्रिय आहार सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं। कड़ुवे, खट्टे, नमकीन, बहुत गरम, तीक्ष्ण, रूखे, दाहकारक और दुःख, शोक तथा रोग पैदा करनेवाले आहार राजस पुरुषको प्रिय होते हैं और जो आहार अधपका, रसरहित, दुर्गन्धियुक्त, बासी, उच्छिष्ट तथा अपवित्र है वह तामस पुरुषको प्रिय होता है।'

साधनमें सात्त्विक प्रवृत्तिका बढ़ना आवश्यक है, इसलिये राजस और तामस आहारका त्याग करके सात्त्विक आहार ही करना चाहिये।

सत्य, प्रिय, हित और परिमित वाक्योच्चारणके द्वारा 'वाणीका संयम' होता है। बिलकुल न बोलने यानी मौन धारण करनेसे वाणीका संयम नहीं होता है। वैसी हालतमें तो भीतरका भाव बाहर प्रकट करनेके लिये नाना प्रकारके अस्वाभाविक उपायोंको काममें लाना पड़ता है, जिससे उल्टी विक्षिप्तता बढ़ती है।

विचारके द्वारा विषयोंकी अनित्यताका ज्ञान और अभ्यासके द्वारा आवश्यकताओंका अभाव कर सकनेपर तथा सिद्धासनादि आसनोंका अभ्यास हो जानेपर 'देहसंयम' हो जाता है। संग ही सब प्रकारके परिवर्तनका मूल है। जो मनुष्य जैसा संग करता है, वह उसी रूपमें बदल जाता है। यह नित्य-प्रत्यक्ष है। अतएव साधकको अपनी साधनाके अनुकूल साधुसंग, ज्ञानी महापुरुषोंका संग और शास्त्रोंका संग करना चाहिये। इनके अतिरिक्त एक और भी संयम बहुत ही आवश्यक है, जिसपर निजका कोई कर्तृत्व नहीं है—वह है 'मनका संयम।' गुरुके उपदेशानुसार अभ्यास करनेपर मनःसंयम होता है। एक मनके संयत हो जानेपर इन्द्रियादि अपने-आप ही शान्त हो जाते हैं और शरीर तथा वाणीकी चंचलता सदाके लिये दूर हो जाती है। जो अपनी बुद्धिसे या अपने पैदा किये हुए उपायोंसे मनको रोकनेका प्रयत्न करते हैं, वे धोखा ही खाते हैं। उनका मन एक विषयकी चंचलताको छोड़कर दूसरे विषयोंमें चौगुना हो उठता है। वह कभी अचंचल और स्पन्दरहित अवस्थाको प्राप्त नहीं होता।

१६. साधनाका एक सर्वप्रधान आवश्यक विषय है—मुमुक्षुत्व। 'मैं बद्ध हूँ, मैं मुक्त होऊँगा।' भीतरके इस भावका नाम मुमुक्षुत्व है। जबतक मुमुक्षुत्व नहीं पैदा होता, तबतक साधनमें रति नहीं होती। मुमुक्षुत्व पैदा होते ही मुक्तिकामी साधकको सद्गुरुकी शरणमें चले जाना चाहिये। सद्गुरु ही साधनाका सर्वोत्तम मार्ग दिखला सकते हैं और शिष्यको उपदेशके द्वारा ज्ञानका स्वरूप समझा सकते हैं। यद्यपि इस घोर कलियुगमें सद्गुरुका संयोग एक प्रकारसे असम्भव-सा हो गया है तथापि भारतवर्ष आध्यात्मिक देश है, यहाँ सद्गुरुका सर्वथा अभाव सम्भव नहीं है। 'जिन खोजा तिन पाइया।' खोज सच्ची होनी चाहिये। शास्त्र और संतोंके वचन गुरुकी महिमासे भरे पड़े हैं—

न गुरोरधिकं तत्त्वं न गुरोरधिकं तपः।
तत्त्वज्ञानात्परं नास्ति तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

तन्त्रकी प्रामाणिकता

(लेखक—पं० श्रीहाराणचन्द्र भट्टाचार्य)

तन्त्रशास्त्रकी प्रामाणिकताके विषयमें कुछ मतभेद पाया जाता है। मनुस्मृति (२।१) की कुल्लूकभट्टकृत टीकामें हारीतऋषिके एक वाक्यका उद्धरण मिलता है। वह इस प्रकार है—'**श्रुतिश्च द्विविधा, वैदिकी तान्त्रिकी च।**'[१] इस वचनके आधारपर कुछ विद्वानोंकी यह धारणा हो गयी है कि श्रुति दो प्रकारकी है— वैदिक और तान्त्रिक। जिस प्रकार वेद अपौरुषेय होनेके कारण स्वत:प्रमाण हैं, उनकी सत्यताको सिद्ध करनेके लिये किसी प्रमाणान्तरकी आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार तन्त्र भी स्वत:प्रमाण हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार किसी अंशमें तन्त्रके विरुद्ध होनेपर भी वेदको अप्रमाण नहीं माना जाता, उसी प्रकार किसी अंशमें वेदके विरुद्ध होनेपर भी तन्त्रको अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि वेद और तन्त्र प्रामाणिकतामें एक-दूसरेसे न्यून नहीं हैं, बल्कि समकक्ष हैं। इसलिये तन्त्र किसी विषयमें वेदकी अपेक्षा नहीं रखता।

अगाध पण्डित एवं विख्यात शाक्त दार्शनिक भास्कररायने तन्त्रकी प्रामाणिकताका दूसरे प्रकारसे समर्थन किया है। उनके मतमें तन्त्रशास्त्र वेदके समकक्षरूपसे प्रमाण नहीं हैं। यदि तन्त्रशास्त्रकी वेदनिरपेक्ष स्वतन्त्र प्रामाणिकता मानी जायगी तो '**न शास्त्रपरिमाणात्**' (पू० मी० सू० १।३।५) इस जैमिनिके सूत्रांशपर जो कुमारिलभट्टका तन्त्रवार्तिक है, उससे विरोध पड़ेगा। उक्त सूत्रके तन्त्रवार्तिकमें यह सिद्धान्त किया गया है कि 'पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, वेदके छ: अंग (शिक्षा, कल्पसूत्र, व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष तथा छन्द:शास्त्र) और चार वेद (ऋक्, यजु:, साम तथा अथर्व)- इतने ही शास्त्र धर्मके विषयमें प्रमाण हैं,[२] इनके अतिरिक्त दूसरे शास्त्र प्रमाण नहीं हैं। तन्त्रशास्त्रको बिलकुल स्वतन्त्र शास्त्र माननेपर मीमांसक-दृष्टिसे वह अप्रमाण हो जायगा; इसलिये तन्त्रको स्वतन्त्र प्रमाण नहीं समझना चाहिये, किन्तु उसे धर्मशास्त्र (स्मृतिशास्त्र) के अन्तर्गत मानना चाहिये।

तन्त्रशास्त्र धर्मशास्त्रके अन्तर्गत होनेपर भी मनु, याज्ञवल्क्य प्रभृति ऋषिप्रणीत स्मृतियोंसे उसमें कुछ विशेषता है—मनु प्रभृतिकी स्मृतियाँ वेदके कर्मकाण्डसे सम्बन्ध रखती हैं, किन्तु तन्त्रशास्त्र वेदके ब्रह्म(ज्ञान) काण्डसे सम्बन्ध रखता है।[३]

शारदातिलक नामक तन्त्रशास्त्रके विख्यात ग्रन्थके प्रामाणिक टीकाकार राघवभट्टने अपनी टीकाके आरम्भमें आगमशास्त्रके प्रामाण्यपर विचार किया है। उनकी सम्मतिमें आगमशास्त्र (तन्त्रशास्त्र) स्मृतिशास्त्र है। वेदके तीन काण्ड हैं—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड। उनमें कर्मकाण्डकी व्याख्या जैमिनि आदि कर्ममीमांसक ऋषियोंने की, नारद प्रभृति भक्त ऋषियोंने उपासनाकाण्डका विवरण किया और भगवान् बादरायण तथा अन्य ब्रह्मवादी ऋषियोंने ब्रह्मकाण्डकी व्याख्या की। आगमशास्त्रका मूल वेदका उपासनाकाण्ड है। सभी स्मृतियोंका प्रामाण्य वेदकेआश्रयसे है। आगमस्मृतिका प्रामाण्य भी उसी प्रकार वेदके आधारपर है। तन्त्रका प्रामाण्य स्वतन्त्ररूपसे नहीं है।

इस प्रसंगसे राघवभट्टने एक बात और कही है। उनके विचारमें साकार उपासनासे मनुष्योंको स्वर्गादि

---

१. आजकल जो हारीतस्मृति मिलती है, उसमें यह वाक्य नहीं है; परन्तु विद्वानोंका कथन है कि कुल्लूकभट्ट प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थकार हैं; उनके समयकी हारीतस्मृतिमें यह वाक्य अवश्य था, पीछेके लेखकोंके प्रमादसे सम्भव है यह पाठ छूट गया हो। वास्वमें इस समय जितने भी शास्त्रग्रन्थ मिलते हैं, उनमें सभी स्थलोंमें प्राचीन पाठ ठीक है—यह कहना बहुत कठिन है; तथा किसी पाठको सहसा अप्रमाण कहना भी साहसमात्र है।

२. याज्ञवल्क्यस्मृतिमें भी लिखा है—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रांगमिश्रिता: ।
वेदा: स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

(१।३)

३. तन्त्राणां धर्मशास्त्रेऽन्तर्भाव:(वरिवस्यारहस्यप्रकाश)।

परमार्थतस्तु तन्त्राणां स्मृतित्वाविशेषेऽपि मन्वादिस्मृतीनां कर्मकाण्डशेषत्वं तन्त्राणां ब्रह्मकाण्डशेषत्वमिति सिद्धान्तात्। —भास्कररायप्रणीत सौभाग्यभास्कर (ललितासहस्रनामभाष्य), प्रथम शतकका उपक्रम।

फल बहुत कम आयाससे प्राप्त हो जाते हैं, अन्ततक मोक्षकी प्राप्ति भी हो जाती है। कर्मकाण्ड अथवा ब्रह्मकाण्डकी सहायतासे मोक्षकी प्राप्ति इतने कम आयाससे सम्भव नहीं है। इसलिये उपासना-प्रधान आगमशास्त्र ही श्रेष्ठ है।

ब्रह्मसूत्रोंपर भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके जितने भी भाष्य इस समय उपलब्ध हैं, उनमेंसे तीन भाष्य विशिष्टाद्वैतके अनुसार हैं। उनमें रामानुजका श्रीभाष्य वैष्णव मतके अनुकूल होता हुआ विशिष्टाद्वैतका समर्थन करता है।[1] शैवमतके अनुसार भी दो भाष्य हैं, जो विशिष्टाद्वैतके पोषक हैं। उनमें श्रीकण्ठाचार्यका शैवभाष्य प्रसिद्ध है, जिसपर विश्वविख्यात पण्डित अप्पय्य दीक्षितकी 'शिवार्कमणिदीपिका' नामकी टीका है। दूसरा श्रीकर-भाष्यके नामसे प्रसिद्ध है, जो दक्षिण देशके 'वीरशैव-सम्प्रदाय' नामक शैवसम्प्रदायके अनुकूल है। ये दोनों शैवभाष्य तन्त्रके अनुगामी हैं।

श्रीकण्ठके शैवभाष्य (२।२।३८) में तन्त्रको वेदवत् प्रमाण माना गया है। उसमें लिखा है कि वेद तथा आगम(तन्त्र) के प्रामाण्यमें कोई अन्तर नहीं है, दोनोंके निर्माणकर्ता एक ही शिव हैं; इसलिये वेद भी शिवागम हैं, केवल इतना ही अन्तर है कि वेद केवल तीन वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लिये हैं और आगम सभीके लिये है।[2]

'शिवार्कमणिदीपिका' (२। २। ३८, ४२) में तन्त्रके विषयमें अधिकारिभेदसे व्यवस्था की गयी है। जो वेदके अधिकारी हैं, उनका वेदके अनुकूल तन्त्रोंमें अधिकार है; तथा जो तन्त्र वेदके विरुद्ध हैं, उनमें वेदके अनधिकारियोंका अधिकार है। सारांश यह है कि वेदके अनुकूल अथवा वेदसे विरुद्ध—सभी तन्त्र भिन्न-भिन्न अधिकारियोंके लिये प्रमाण हैं। इस प्रकार अधिकारिभेदसे प्रामाण्यकी व्यवस्था होनेपर किसी तन्त्रके अप्रामाण्यकी शङ्का नहीं उठती।[3] श्रीशङ्कराचार्यप्रणीत सौन्दर्यलहरी (३१) की लक्ष्मीधरकृत टीकामें भी इसी रीतिसे अधिकारिभेदसे तन्त्रके प्रामाण्यकी व्यवस्था की गयी है।

उपासनामें तन्त्रशास्त्रका विशेष उपयोग है, इस बातको अस्वीकार करना भ्रम है। शाक्त और शैव सम्प्रदाय तो तन्त्रके अनुयायी हैं ही, वैष्णव सम्प्रदाय भी तन्त्रके अनुगामी हैं। वैष्णवोंका परम माननीय पांचरात्र शास्त्र तन्त्रके ही अन्तर्गत है। श्रीमद्भागवतमें भी पांचरात्रके अनुसार उपासना करनेका निर्देश पाया जाता है; इसलिये आस्तिक पुरुषोंको अपने-अपने अधिकारके अनुसार तन्त्रोंका उपयोग करना चाहिये।

तन्त्रशास्त्रका प्रभाव इतना अधिक फैला है कि वैदिक तथा पौराणिक उपासनाओंमें भी उसका कुछ-न-कुछ प्रभाव प्रतीत होता है। तन्त्रशास्त्रका बिलकुल परित्याग करके किसी प्रकारकी उपासना करना असम्भव है, यह कहनेमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं है।

गृहस्थ क्या करे?

वर्तेत तेषु गृहवानक्रुद्ध्यन्ननसूयकः। पंचभिः सततं यज्ञैर्विघसाशी यजेत च॥

गृहस्थ पुरुष क्रोध और ईर्ष्यासे रहित होकर व्यवहार करे, नित्य पंचयज्ञ करे और देवता, पितर तथा अतिथियोंको भोजन करानेके बाद भोजन करे।

(महा० शान्ति० २३५। २५)

१. कुछ दिन पूर्व श्रीसम्प्रदायसे अलग होकर रामानन्दी वैष्णवोंने ब्रह्मसूत्रपर रामानन्द-भाष्य प्रकट किया है। रामानुज-भाष्यके अनुसार नारायण परमेश्वर हैं; रामानन्द-भाष्यके अनुसार रामचन्द्र परमेश्वर हैं। ये दोनों भाष्य विशिष्टाद्वैतके अनुकूल हैं। उपर्युक्त ग्रन्थके प्रकाशित होनेके पूर्व प्राच्य तथा पाश्चात्त्य पण्डित-मण्डली रामानन्द-भाष्यके नामसे परिचित न थी। रामानन्द-भाष्यको लेकर विशिष्टाद्वैतपरक चार भाष्य समझने चाहिये।

२. वयं तु वेदशिवागमयोर्भेदं न पश्यामः। वेदोऽपि शिवागम इति व्यवहारो युक्तः, तस्य तत्कर्तृकत्वात्। अतः शिवागमो द्विविधः,त्रैवर्णिकविषयः सर्वविषयश्चेति। उभयोरेक एव शिवः कर्ता। ···· उभावपि प्रमाणभूतौ वेदागमौ। (श्रीकण्ठभाष्य २।२।३८)

३. इस युक्तिसे किसी-किसी तन्त्रमें म्लेच्छोंतकका अधिकार सिद्ध होता है।

कल्याण-साधन

(लेखक—श्रीस्वामी सन्तप्रसादजी उदासीन, सक्खर)

कल्याण अर्थात् मोक्षका अर्थ शास्त्रोंमें 'सर्वदु:ख-निवृत्ति, परमानन्दप्राप्ति' किया है। मोक्षके चार अन्तरंग साधन कहे हैं—विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता।

विवेक कहते हैं सारासारविचारको। वैराग्यका लक्षण बतलाते हैं, 'ब्रह्मलोकतृणीकारो वैराग्यस्यावधिर्मत:' अर्थात् ब्रह्मलोकतकके सब पदार्थोंको तृणवत् जानना, यही वैराग्यकी अवधि है। षट्सम्पत्तिका अर्थ है—छ: सम्पत्तियाँ, उनके नाम ये हैं—शम, दम, श्रद्धा, समाधान, तितिक्षा और उपरति। शम है मनको रोकना, दम इन्द्रियोंको रोकना, श्रद्धा वेद-शास्त्र तथा गुरु और साधनोंमें पूर्ण विश्वास रखना, समाधान है— समाहित होना (मनका सर्वथा स्थिर होना), तितिक्षा है शीत-उष्ण, सुख-दु:खादिको सह लेना और उपरति है सांसारिक पदार्थोंसे उपराम होना। इस षट्सम्पत्तिके बाद चौथा साधन है मुमुक्षुता अर्थात् मोक्ष पाने, संसारके जन्म-मरण-चक्रसे छूटनेकी इच्छा। इन चार साधनोंसे ही ज्ञानद्वारा मुक्ति होती है।

अधिकारिभेदसे शास्त्रोंमें कल्याणसाधनार्थ तीर्थ, व्रत, नियम, योग, निष्काम कर्म आदि अनेक साधन बताये हैं; पर सबकी सीमा इन चार साधनोंमें ही जाकर समाप्त होती है। कारण ज्ञानसे ही मोक्ष होता है और ज्ञानके ये ही चार साधन हैं जो ऊपर लिखे गये।

परन्तु जन्म-जन्मके कुसंस्कारोंसे मन मलिन हो रहा है, इस कारण इन साधनोंके करनेमें मन नहीं लगता। इसलिये इसका उपाय हमारे उदासीन साधु-सम्प्रदायके मुनि-महात्माओंने नाम-जप बतलाया है। भगवान्के हरि, राम इत्यादि नामोंमेंसे किसी नामका मनुष्य जप करता रहे और साथ ही निष्काम कर्माचरण करे अर्थात् फलेच्छारहित होकर तीर्थ, व्रत, यज्ञ आदि शुभ कर्म करे तो इससे मन शुद्ध होता है और उपर्युक्त साधन बनते हैं और उनसे मनुष्य कल्याणको प्राप्त होता है। नाम-जप अखण्ड होना चाहिये। उठते-बैठते सब समय नाम-उच्चारण अंदर होता रहे।

गर्व न करो—काल सबको खा जाता है

बहूनीन्द्रसहस्त्राणि समतीतानि वासव। बलवीर्योपपन्नानि यथैवं त्वं शचीपते॥
त्वामप्यतिबलं शक्र देवराजं बलोत्कटम्। प्राप्ते काले महावीर्यः कालः संशमयिष्यति॥
य इदं सर्वमादत्ते तस्माच्छक्र स्थिरो भव। मया त्वया च पूर्वैश्च न स शक्योऽतिवर्तितुम्॥
यामेतां प्राप्य जानीषे राज्यश्रियमनुत्तमाम्। स्थिता मयीति तन्मिथ्या नैषा ह्येकत्र तिष्ठति॥
स्थिता हीन्द्रसहस्त्रेषु त्वद्विशिष्टतमेष्वियम्। मां च लोला परित्यज्य त्वामगाद्विबुधाधिप॥
मैवं शक्र पुनः कार्षीः शान्तो भवितुमर्हसि। त्वामप्येवंविधं ज्ञात्वा क्षिप्रमन्यं गमिष्यति॥

(महा० शान्ति० २२४।५५—६०)

हे इन्द्र! जो बल और वीरतावाले थे, ऐसे तुम्हारे-जैसे हजारों इन्द्र हुए और चले गये। हे इन्द्र! इस प्रकार तू भी चला जायगा। हे शक्र! तू बड़ा बलवान् और देवताओंका राजा है तो भी जब तेरा समय पूरा हो जायगा तब महाबली काल तुझे भी राज्यसे भ्रष्ट कर देगा। हे इन्द्र! काल सबका संहार करता है, इसलिये तू धीरज रख, मैं, तू या जो पहले हो गये इनमेंसे कोई भी कालका उल्लङ्घन नहीं कर सकता। जिस सर्वोत्तम राज्यलक्ष्मीको प्राप्त करके तुम समझते हो कि यह मेरी हो गयी है, यह तुम्हारी झूठी कल्पना है क्योंकि यह कभी एक जगह स्थिर नहीं रहती। हे देवराज! तुझसे भी अधिक श्रेष्ठ हजारों इन्द्रोंके पास यह राज्यलक्ष्मी रह चुकी है(और उनके पाससे वह चली गयी है) वैसे ही यह चंचल राज्यलक्ष्मी मुझे भी छोड़कर तेरे पास आ गयी है। हे इन्द्र! अब आगे तू ऐसा गर्व न करना अब तू शान्त हो जा, यदि उसने जान पाया कि— तू मिथ्या घमण्डी है तो वह तुझे छोड़कर चली जायगी।

अग्निविद्या

(लेखक—पं० श्रीहरिदत्तजी शास्त्री वेदान्ताचार्य)

उपनिषदोंमें इस विद्याका वर्णन इसलिये हुआ है कि लोग पुनर्जन्मके विश्वासी बनें। पुनर्जन्म अनेक तरहसे सन्दिग्ध हो रहा है, बहुत-से नास्तिक इस शरीरसे भिन्न आत्माको नहीं मानते। आस्तिकोंमें भी मतबाहुल्य है। इस जीवको भी विभु माननेवाले बहुत-से आचार्य हैं। जब आत्मा विभु है, तब इसका परलोकादिमें गमन क्या? और वेदान्तमें भी बहुत-से सिद्धान्त पाये जाते हैं, जिनसे जन्मकी ही सिद्धि नहीं होती; क्योंकि विभु आत्माका जन्म और मरण कैसे हो सकता है? जो सर्वव्यापी आत्मा है, वह अत्यन्त क्षुद्र गर्भमें कैसे समा सकता है। फिर जब एक ही आत्मा है तो मरण अथवा जीवन सर्वथा असम्भव है, क्योंकि अनेकता रहनेपर ही जन्म-मरण हो सकता है। इसके अतिरिक्त किन्हीं श्रुतियोंका तात्पर्य यह है कि यह जीव ईश्वरका प्रतिबिम्ब है; अविद्याशपर जो ईश्वरका प्रतिबिम्ब पड़ता है, वही जीव है। अथवा जैसे सूर्यका प्रतिबिम्ब अथवा आभास घटोंमें पड़े वैसे ही ब्रह्मका आभास अन्तःकरणोंमें पड़ता है; वही जीव कहलाता है। इन दृष्टान्तोंसे भी पुनर्जन्मकी सिद्धि नहीं होती; क्योंकि घटके फूटनेसे घटस्थ बिम्ब किसी अन्य रूपको धारण कर कहीं अन्यत्र नहीं जाता, न इस प्रतिबिम्बकी कोई विभिन्न सत्ता ही होती है। जैसे पुरुषसे भिन्न छायाकी भिन्न सत्ता नहीं, दर्पणमें मुखादिकी जो छाया पड़ती है उसकी सत्ता मुखसे पृथक् नहीं, अतः घट फूटनेपर सूर्य-प्रतिबिम्ब ज्यों-का-त्यों बना रहता है, तद्वत् ब्रह्म-प्रतिबिम्ब जो यह जीव है वह अन्तःकरणके छिन्न-भिन्न होनेपर भी ज्यों-का-त्यों बना रहेगा, कैसे कहीं जायगा—इत्यादि कारणोंसे पुनर्जन्ममें लोगोंको सन्देह न हो, अतः मातृभूता परमकल्याणकारिणी श्रुति पञ्चाग्नि-वर्णनद्वारा पुनर्जन्मका प्रतिपादन करती है।

इस प्रकार राजाने जो पाँच प्रश्न किये थे, उनका उत्तर निम्न प्रकार है। प्रथम—यहाँसे प्रजा कहाँ जाती है, इस प्रश्नके तीन उत्तर हुए—कुछ ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मलोकको जाते हैं, द्वितीय कर्मपरायण जन चन्द्रलोकको जाते हैं, तृतीय सर्वथा जन्म-मरण-प्रवाहमें डूबते और उतराते रहते हैं।

द्वितीय प्रश्न राजाका यह है कि वहाँसे पुनः कैसे प्रजा लौट आती है। इसका उत्तर यह दिया गया है कि चन्द्रलोकसे आकाशमें, आकाशसे वायुमें इत्यादि।

तृतीय प्रश्न यह है कि देवयान और पितृयानका भेद कहाँ होता है। इसका उत्तर यह है कि देवयानका पथ अर्चिसे आरम्भ होता है और पितृयानका धूमसे; पुनः देवयानगामी संवत्सरमें जाते हैं, किन्तु पितृयानगामी उसमें नहीं।

चतुर्थ प्रश्न यह है कि ब्रह्मलोक क्यों नहीं भर जाता। इसका उत्तर यह है कि मरकर सब ही प्राणी अथवा सब ही मनुष्य ब्रह्मलोकमें ही अथवा चन्द्रलोकमें ही नहीं पहुँचते, किन्तु बहुतसे जीव मरते ही तत्काल अन्य योनियोंमें प्राप्त हो जन्म लेते और मरते रहते हैं; इस हेतु वह लोक नहीं भरता।

पंचम प्रश्न यह है कि पाँचवीं आहुतिमें जीववाचक जल कैसे मनुष्य बन जाता है। इसका उत्तर यह है कि आदित्यलोक, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष और स्त्री—ये पाँच अग्नि हैं। स्त्रीरूप अग्निमें जो आहुति दी जाती है, उसीसे जल पुरुषवाची हो जाता है।

कथा इस प्रकार है—

एक समय अरुणगोत्रोत्पन्न श्वेतकेतु नामका कोई कुमार पाञ्चाल देशके अधिपति प्रवहणनामक नृपतिकी समिति(सभा) में आ पहुँचा। राजा प्रवहणने निम्नलिखित पाँच प्रश्न उससे पूछे। वे प्रश्न ये हैं—

१. हे कुमार! यहाँसे प्रजाएँ ऊपरको जहाँ जाती हैं, उसे क्या तू जानता है?

कुमार—राजन्! नहीं।

२. *प्रवहण*—ये प्रजाएँ पुनः जैसे लौट आती हैं, क्या तू जानता है?

कुमार—नहीं।

३. *प्रवहण*—देवयान और पितृयान मार्गोंका वियोग-स्थान जानता है?

कुमार—हे भगवन्! मैं नहीं जानता।

४. *प्रवहण*—जिस प्रकार यह लोक नहीं भर जाता, उसको तू जानता है?

कुमार—हे भगवन्! मैं नहीं जानता।

५. *प्रवहण*—जिस कारण पाँचवीं आहुतिमें जल पुरुषवाची होता है, उसे तू जानता है?

कुमार—नहीं जानता।

तब राजाने कहा कि विदित होता है कि 'तेरे पिताने तुझको अच्छी शिक्षा नहीं दी है।' एवमस्तु—

तब श्वेतकेतुने अपने पिताके पास जाकर कहा कि राजा प्रवहणने मुझसे पाँच प्रश्न पूछे और मैं एकका भी उत्तर न दे सका। पिता पुत्रको साथ ले राजाके निकट जा पहुँचा और कहा कि मुझे अग्निविद्याका उपदेश दीजिये।

राजा बोला कि 'यह विद्या अबतक क्षत्रियोंको ही मालूम है, अन्य किसीको नहीं; दूसरे मुझ क्षत्रियकी शिष्यता आप ब्राह्मण होकर कैसे स्वीकार करेंगे? गौतमने कहा कि 'विद्या जहाँ कहींसे मिले, ग्रहण कर लेनी चाहिये; अतः आजसे मैं आपका शिष्य बनता हूँ मुझे आप उपदेश दीजिये।'

तब राजाने कहा कि 'हे गौतम! यह लोक ही एक अग्नि है, सूर्य उसकी समिधा है, किरणें धूम हैं, दिन लपट हैं, चन्द्रमा अंगार है, नक्षत्र चिनगारियाँ हैं, इस अग्निमें देवगण श्रद्धाकी आहुति देते हैं, इस आहुतिसे सोमराजा उत्पन्न होता है; यही प्रथम आहुति है।

हे गौतम! पर्जन्य (मेघ) द्वितीय अग्नि है; उसकी वायु ही समिधा है, अभ्र(एक प्रकारका मेघ), धूम, विद्युत् ज्वाला, वज्र अंगार, मेघशब्द विस्फुलिंग है। इस द्वितीय अग्निमें सोमराजाकी आहुति देवगण देते हैं, इसीसे वर्षा उत्पन्न होती है। यही द्वितीय आहुति है।

हे गौतम! यह पृथिवी तृतीय अग्नि है; उसकी संवत्सर ही समिधा, आकाश धूम, रात्रि ज्वाला, दिशाएँ अंगार और अवान्तर दिशाएँ विस्फुलिंग हैं। इस अग्निमें देवगण वर्षाकी आहुति देते हैं, उस आहुतिसे अन्न उत्पन्न होता है। यह तृतीय आहुति हुई।

हे गौतम! यह पुरुष चतुर्थ अग्नि है। उसकी वाणी ही समिधा, प्राण धूम, जिह्वा ज्वाला, चक्षु अंगार और श्रोत्र विस्फुलिंग है। इस अग्निमें देवगण अन्नकी आहुति देते हैं, उस आहुतिसे रेतस् (वीर्य) उत्पन्न होता है। इसका ही नाम चतुर्थ आहुति है।

हे गौतम! यह स्त्री पञ्चम अग्नि है। इस अग्निमें देवगण रेतस्की आहुति देते हैं, उस आहुतिसे गर्भ उत्पन्न होता है। हे गौतम! इस प्रकार पाँचवीं आहुतिमें जल पुरुषवाची होता है। वह गर्भ नौ या दस मास उल्वावृत हो पेटमें रह बालकरूपसे उत्पन्न होता है, पुनः अपनी आयुभर सुख-दुःख भोगकर मर जाता है। उसको बन्धु-बान्धव अग्निमें जला देते हैं। इस प्रकार मानव-जीवनका एक चक्र समाप्त हो जाता है। यही अग्निविद्या या पंचाग्निविद्या है।

श्रेष्ठ भागवत कौन है ?

योगेश्वर हरि कहते हैं—

न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः। वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः॥
न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा। सर्वभूतससः शान्तः स वै भागवतोत्तमः॥
त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥
विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्म स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥

(श्रीमद्भागवत ११। २। ५०, ५२, ५३, ५५)

जिसके चित्तमें कामना और कर्मोंके बीजका उदय ही नहीं होता, जिसके एकमात्र आश्रय श्रीभगवान् हैं—वह श्रेष्ठ भागवत (संत) है। जिसकी दृष्टिमें—शरीर और धनमें अपने-परायेका भेद नहीं है; जो सब प्राणियोंके लिये सम है, शान्त है, वह श्रेष्ठ भागवत (संत) है। जिन्होंने अपने मन, इन्द्रियोंको वशमें नहीं कर पाया है उन देवताओंके लिये जो अभी ढूँढ़नेकी वस्तु है, भगवान्के उन चरणकमलोंसे, त्रिलोकीकी सम्पत्तिके लिये भी जो आधे क्षण या निमेषतक भी अलग नहीं होते; वे निरन्तर भगवत्स्मरण-परायण पुरुष वे श्रेष्ठ वैष्णव हैं। विवशतासे पुकारनेपर भी जो पापोंका नाश करते हैं, वे भगवान् प्रेमकी रस्सीसे अपने चरणकमलोंके बँध जानेके कारण स्वयं जिसके हृदयको नहीं छोड़ सकते, वह भक्त श्रेष्ठ भागवत (संत) है।

आत्मोन्नतिका एक साधन—विचार

(लेखक—श्रीभोगीन्द्रराय नानालाल वैद्य बी० ए०, बी० टी०)

हम जैसे विचारोंका सेवन करेंगे, वैसे ही हो जायँगे। विचार ही हमारे भविष्यका निर्माण करते हैं—ऐसा कहनेमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। हमारा मन सर्वदा अनेकों प्रकारके संकल्प करता रहता है। ये संकल्प अच्छे भी होते हैं और बुरे भी। जिस प्रकार अच्छा भोजन शरीरके लिये लाभकारी होता है, उसी प्रकार अच्छा विचार मनके ऊपर अच्छी छाप डालता है। सात्त्विक और बलवान् विचार हमारे मनको अलौकिक शान्ति, धैर्य, बल और स्वास्थ्य प्रदान करते हैं। इसके विपरीत निर्बल और हल्की जातिके विचार हमें निर्बल बना देते हैं। राल्फ वाल्डो ट्राइन नामका एक विचारक लिखता है—

'It is a great law of our being that we become like those things we contemplate. If we contemplate those that are true and noble and elevating, we grow in the likeness of these.'

(Who all the World's a seeking, page 61.)

इसका तात्पर्य यह निकलता है कि हमारा भविष्य किसी अदृश्य सत्ताके हाथमें नहीं है, कोई बाह्य संयोग भी हमारे भविष्यके प्रति उत्तरदायी नहीं हैं। बल्कि अपने बुरे या भले भविष्यके लिये हम स्वयं ही जवाबदार हैं—अपना उद्धार या नाश हमारे अपने ही हाथमें है। इसलिये बाहरके संयोग या दूसरे लोगोंको दोष देना—यह बड़ी भारी भूल है। भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें स्पष्ट कहते हैं—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

(गीता ६। ५)

'अपना बन्धु आप ही है और आप ही अपना शत्रु है। अतः अपनी अधोगति न करके उद्धार ही करना चाहिये।'

इससे स्पष्ट समझ सकते हैं कि आत्मोत्कर्षकी इच्छावालेको अपने विचारोंका हर घड़ी ध्यान रखना चाहिये। अपने हृदयमें समुद्रकी तरंगोंके समान बार-बार उछलते रहनेवाले विचारोंके ऊपर पूरा अङ्कुश रखनेकी आवश्यकता है। क्षुद्र विचारोंको निकाल देना—यह उनका पहला कर्तव्य है। मन तो बंदरके समान है, उसे काबूमें रखनेके लिये सर्वदा प्रयत्न करना पड़ता है। इसके लिये विशेष अभ्यासकी आवश्यकता है—ऐसे उन्नत विचारोंका सेवन करनेकी आवश्यकता है, जो हमें उत्कर्षके मार्गमें ले जायँ। संक्षेपमें हम विचारोंके गुलाम न बनें, इसके लिये उनके ऊपर हमारा प्रभुत्व होना आवश्यक है।

वैसे विचार तभी हो सकते हैं जब कि हमारा मन नीरोग, शुद्ध और तेजस्वी हो। अतः पहले उसे वैसा बनानेके लिये प्रयत्न करना चाहिये। प्रथम तो शरीरको स्वस्थ रखना आवश्यक है; क्योंकि '**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**'—धर्मका प्रथम साधन शरीर ही है। स्वस्थ शरीरके बिना स्वस्थ मन भी नहीं हो सकता। फिर मनको स्वस्थ रखनेके लिये उसे सुरुचिकर खुराक देना आवश्यक है। इसके लिये उसे अच्छे-अच्छे ग्रन्थ पढ़नेको देने चाहिये। सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय—यह एक प्रकारका सत्संग है। उनमें संत पुरुषोंके वचनामृतपर ही दृष्टि पड़ती है। सत्संगका माहात्म्य सभी जानते हैं। नित्य निरन्तर साधुपुरुषोंके संसर्गमें आनेसे सद्विचारोंको उत्तेजना मिलती है। श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

बिनु सतसंग बिबेक न होई। रामकृपा बिनु सुलभ न सोई॥
सत संगत मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥
सठ सुधरहिं सत संगति पाई। पारस परस कुधात सुहाई॥

प्राचीन भारतमें मन्दिर, चौराहे और नदीतीरोंपर होते रहनेवाली कथा-वार्ता एवं भजन-कीर्तनका मुख्य उद्देश्य यही था कि उन्हें सुननेवालोंके मानसिक विचारोंकी सृष्टि शुद्ध और पवित्र बने। ऐसे अवसरोंपर बार-बार उपस्थित होने एवं कीर्तनादि उत्सवोंमें भाग लेनेसे अच्छे विचार करनेकी आदत पड़ती है और वैसी आदत पड़ जानेसे मनुष्यके मनका स्वभाव ही ऐसा हो जाता है कि उसे तरह-तरहके सत्संगके बिना चैन ही नहीं पड़ता।

मनको पवित्र और शुद्ध बनानेमें प्रार्थना बड़ा काम करती है। राकृपाके बिना तो कोई भी वस्तु सुलभ नहीं

है। अतः इस भगवत्-कृपाकी प्राप्तिके लिये अनन्यचित्तसे परम कृपालु परमात्माकी प्रार्थना करना—यह सभीका परम आवश्यक कर्तव्य है। इसमें चूक करना बड़ा पाप है। जो ईश्वरीय सत्ता हमारी रात-दिन रक्षा कर रही है, जो कठिनाईके समय हमारी बहुत-सी आवश्यकताओंकी पूर्ति करती है, उसे भूल जाना—ऐसे परम कृपालु प्रभुको बिसार देना—यह तो कृतघ्नता ही है। प्रभुको याद रखना—यही सच्चा धन है और उन्हें भूल जाना-यही पूरा दुःख है। प्रार्थनाके द्वारा प्रभुके प्रति दृढ़ विश्वास होता है और मनको एक अनिर्वचनीय शान्तिका अनुभव होता है। विपरीत प्रसंगोंमें भी वह एक अद्भुत स्वास्थ्यकी रक्षा कर सकता है। प्रार्थना हमारे मनको स्फटिकके समान निर्मल कर देती है। इस दिव्य अलौकिक मानसिक बलके सामने दुष्ट विचार लाचार होकर अपने-आप ही खिसक जाते हैं।

पुनः-पुनः एक ही विचार करनेसे वह मनका एक अंग बन जाता है। ऋषि-मुनि निरन्तर ओंकारका जप करते थे, '**सोऽहम्**' मन्त्रका जप करते थे अथवा '**अहं ब्रह्मास्मि**' मन्त्रका जप करते थे। इसमें भी एक ही सिद्धान्त समाया हुआ था कि मनुष्य जैसा ध्यान करता है, वैसा ही वह बन जाता है। 'मैं क्षुद्र हूँ, अशक्त हूँ, पापी हूँ—ऐसा विचार करनेसे मनुष्य निश्चय ही क्षुद्र, अशक्त और पापी बन जाता है। इसी प्रकार 'मैं निष्पाप हूँ' ऐसा चिन्तन करनेसे हम निष्पाप बन सकते हैं। प्रकाशका ध्यान करोगे तो तुम प्रकाश ही बन जाओगे, पुण्यका चिन्तन करोगे तो तुम पुण्यस्वरूप बन जाओगे। पुरुषसे पुरुषोत्तम हो जानेकी इच्छाका सेवन करो तो तुम अवश्य पुरुषोत्तम हो ही जाओगे। तुम्हारी जैसी भावना होगी वैसी ही सिद्धि होगी। स्वामी रामतीर्थ उच्च प्रकारकी भावनाके सेवनका समर्थन करते हुए सबसे अपने आत्मदेवके प्रति इस प्रकार सम्बोधन करनेके लिये कहते हैं—'ओ राजाधिराज! सम्पूर्ण शरीरोंके केन्द्रमें स्थित मेरे आत्मदेव! सच्चिदानन्द सम्राट्! अनन्त सत्ताधीश! आशीर्वादात्मक तत्त्वस्वरूप! ओ प्रियतम! तुम अज्ञानावरणके स्वप्नमें दासत्व स्वीकार न करो! उठो, जागो और अपनी परम सत्ताका अनुभव करो। तुम ईश्वर हो, तुम ईश्वर ही हो, और कुछ नहीं।'

अन्तमें कहना यह है कि अपने उत्कर्ष-साधनकी इच्छा रखनेवालेको प्रभुके ऊपर पूरा विश्वस रखना चाहिये। श्रद्धाके बिना किसी भी प्रकारके संकल्पकी सिद्धि होना सम्भव नहीं है। विश्वासपूर्वक मानो कि यह जगन्नियन्ता हमें शुभ मार्गपर ही ले जा रहा है। वह हमारे जीवनपथको अवश्य ही प्रकाश देगा। वह हमारा हितचिन्तक है। उसकी अनन्य भावसे शरण लो और जो हृदयको दुर्बल बनावें, उन क्षुद्र विचारोंको मनसे निकालकर सर्वदा शुभका ही चिन्तन करो। विश्वासपूर्वक प्रणवका अखण्ड जप करो। रात-दिन राम-नाम रटो। मनको किसी शुभ आलम्बनमें एकाग्र करो। कुछ समय एकान्तमें निकालो। इससे स्वयं ही शुभ विचारोंकी स्फूर्ति होगी। ऐसे उन्नत सजीव और तेजस्वी विचार स्वयं ही उत्कर्षकी ओर ले जायँगे। तेजोमय प्रभुसे माँगो कि वे तुम्हारी बुद्धिको तेजस्वी करें। निश्चय मानो कि तुम श्रेष्ठ होनेके लिये ही रचे गये हो और अपना उन्नत भविष्य तुम्हे स्वयं ही बनाना है।

महान् यशको कौन प्राप्त होते हैं ?

अनूच्यमानास्तु पुनस्ते मन्यन्तु महाजनात्। गुणवत्तरमात्मानं स्वेन मानेन दर्पिताः॥
अब्रुवन्कस्यचिन्निन्दामात्मपूजामवर्णयन् । विपश्चिद् गुणसम्पन्नः प्राप्नोत्येव महद्यशः॥

'अभिमानवश अपनेको महान् गुणी माननेवालोंको यदि कोई उपदेश देता है तो भी वे अपने मनमें गर्व कर महात्मा पुरुषोंसे भी अपनेको विशेष गुणी मानते हैं, वे अपनेको भले ही इस प्रकार माना करें परन्तु जो किसीकी निन्दा तथा आत्मश्लाघा नहीं करता और विद्या तथा गुणोंसे सम्पन्न होता है, वह पुरुष स्वयं महान् यश प्राप्त करता है।'

(महा० शान्ति० २८७। २७-२८)

साधन-पथ

(लेखक—श्रीविन्दुजी ब्रह्मचारी)

'साधन सिद्धि राम-पग नेहू।'

आजकलका वातावरण कुछ ऐसा हो रहा है कि प्रत्येक श्वासोच्छ्वासमें बाह्याभ्यन्तर प्रकृतियोंमें राग-द्वेषादिके सहस्त्रों दूषित परमाणुओंका क्षण-क्षणमें विनिमय होता रहता है। घनतम तमोमय असंख्य परमाणुओंके सञ्चयसे प्रकृतिमें स्थूलता दृढ़ हो गयी है। जगत्पतिमें विश्वास नहीं, जगत्से अवकाश नहीं; परलोकमें निष्ठा नहीं, गुरु-वेद वाक्योंकी प्रतिष्ठा नहीं। वृत्ति बहिर्मुखी हो गयी है। हम मुख्यत: बाह्य जगत्में ही विचरण करते हैं, भावनाओंका आधार वही हो गया है। ऐसी स्थितिमें परमार्थ-साधनका प्रश्न कितना महत्त्वास्पद हो सकता है, यह स्पष्ट है। उस पुण्य पीठसे, जहाँ आसन लगाकर वास्तविक साधनाराधन होता है और जो सिद्धियोंका केन्द्र है, हम पृथक् हो गये हैं। उसीका नाम हृदय है। चेतनताके स्थूलतामें आबद्ध हो जानेसे उसका(हृदयका) बहुत कुछ ह्रास हो गया है—उसकी शक्तियाँ अत्यधिक क्षीण हो गयी हैं और वह निर्जीव-सा हो गया है। श्रद्धा-दया-दाक्षिण्यादि सद्गुण तिरोहित हो गये हैं। वास्तविकताका स्थान कृत्रिमताने ले लिया है और अनुभूतिका कोरी कल्पना और तर्कनाने। सात्त्विक हृदयके साथ दैवी सम्पत्तिका अत्यन्त ह्रास है और आसुरी सम्पत्तिके साथ तामसी बुद्धिका विकास। इसीसे आध्यात्मिक साधनका पथ बहुत ही दुर्गम और बाधित हो गया है। हृदय हमारा आवास नहीं रह गया, प्रत्युत स्थूल बुद्धि। एक तो हम साधनपथपर आरूढ़ ही नहीं होते अथवा हो पाते, और यदि आरूढ़ हुए भी तो थोड़ी ही दूर चलकर रह जाते हैं अथवा लौट आते हैं। यदि बीचमें कहीं अटक जाते हैं तो उसे ही गन्तव्य-सा मानकर रह जाते हैं और अपनेमें पूर्णताका अनुभव करने लगते हैं। हमको पता भी नहीं चलता कि हम कहाँ हैं, किधर भटक गये हैं। हम अपने भीतर टिक नहीं पाते। यदि हमारी कुछ धार्मिक भावना हुई और यदि कुछ साधनका क्रम चला, तो उसकी चरितार्थता स्थूल जगत्में ही होती है।

साधनका वही अधिकारी होता है, जिसके हृदयमें पूर्वसे कोई साध्य और लक्ष्य विद्यमान होता है। उसकी प्राप्ति अथवा संयोगकी चाह ही साधन-पथपर अग्रसर करती है। हृदय जिसकी आराधना करता है, उसीके लिये साधना भी की जाती है। जिस दर्जेकी चाह होती है, उसी कोटिकी साधना भी। ऐसा साधक ही साधन करता है और वही इष्टकी सिद्धि भी उपलब्ध करता है। कठिनाइयाँ आती हैं, परन्तु वे बाधक नहीं होतीं; उनसे ध्येयमें उसकी उत्कण्ठा और भी अधिक बढ़ती है। वह उन्हें अनायास झेल लेता है। जो किसी इष्ट अथवा प्रेयका आराधक है, वही वास्तविक साधक है। उसके साधनमें जीवन होता है, श्री होती है, सौन्दर्य होता है। उसमें इतना आकर्षण होता है कि दूसरे भी उसके अनुकरणके लिये उत्सुक होते हैं। वैसा करना वे पसंद करते हैं; ये हृदय-देशके साधक हैं; परन्तु जो वैसे नहीं हैं, वे बुद्धिके क्षेत्रमें अपने लिये उपयुक्त साधनका अन्वेषण करते हैं। और, पूर्व संस्कृति और प्रकृतिके अनुसार किसी साधनपर उनका मन टिक जाता है। कोई साधक उसी साधन-पथका अनुसरण करता है, जिसपर वह कभी कुछ चला हुआ अथवा जिसके निकट पहुँचा हुआ होता है। इसी प्रकार कोई आराधक (उपासक) भी उसी इष्टका वरण करता है, जिसमें कभी उसकी श्रद्धा हुई होती है। यह रुचि और निष्ठा पूर्वसंस्कारार्जित होती है। कोई अनायास ही उस दिशाको जाता है, जिधर कभी जा चुका है। नाना प्रकारके साधन विभिन्न अधिकारियोंहीके लिये हैं।

प्रत्येक साधक और आराधकका सबसे पहला कर्तव्य अपने ध्येय और लक्ष्यका निश्चय करना होता है। सच्चे साधक और आराधक सावधानता और संलग्नता-पूर्वक ऐसा करते हैं और वे ही साधनमें प्रवृत्त होते हैं। सच्चे साधक और जिज्ञासुको ईश्वरीय प्रेरणासे सद्गुरु भी मिल जाते हैं और वह ठीक रास्तेपर आ जाता है और ठिकाने लग जाता है। जिन्हें लक्ष्य और ध्येयका निश्चय नहीं, उन्हें अवश्य ही भटकना और अटकना पड़ता है। जिसका गन्तव्य ही निर्धारित नहीं, वह कहाँ जायगा? सङ्कल्प और प्रतिज्ञाकी दृढ़तासे ही साधनमें दृढ़ता आती है। अन्तर्मुखी वृत्तिकी ध्येयमें एकतानता ही, जिसे संतोंकी भाषामें सुरति कहते हैं, वह पथ है जो लक्ष्यतक

पहुँचाता है। ध्येयकी ओर देखते हुए गुरूपदिष्ट मार्गसे सावधानतापूर्वक (पूर्ण मनोयोगसे) चले जानेहीसे अभीष्टकी सिद्धि होती है। शारीरिक स्वास्थ्यके साथ मानसिक स्वास्थ्य ठीक रहनेहीसे साधन बन पड़ता है। युक्ताहार-विहारसे शारीरिक स्वास्थ्य ठीक रहता है और वैराग्य अथवा नि:स्पृहतासे मानसिक स्वास्थ्य। मानसिक नैरुज्य उसीसे प्राप्त होता है। राग-द्वेषमूलक वैषम्यके रहते कोई सर्वथा समताकी भूमिकापर प्रतिष्ठित, परमार्थका अधिकारी नहीं हो सकता। परमार्थसाधकके लिये मानसिक प्लीहा और अतिसार बड़े घातक रोग हैं। मानसिक प्लीहा जप-तप सब भीतर-ही-भीतर खा जाती है, जिससे अन्त:करण बिलकुल नि:सत्त्व हो जाता है। वह साधनको अपना आहार और लोकको विहार-स्थल बनाती है। वह मानसिक प्लीहा आत्मश्लाघा है। मानसिक अतिसार भी शक्ति-सञ्चय नहीं होने देता। कुण्डलिनीके यत्किंचित् स्फुरणसे जब प्रज्ञा विकसित होने लगती है, जब तत्त्व-विचारका क्रम चलता है। चेतनताकी किरणोंसे नाना भाव-विचार झड़ते रहते हैं। उन्हें यदि योगी पचा जाता है, तो वे विचार आचार (चरित) में परिणत होकर सद्‌गुण उत्पन्न करते हैं। जब विचार आचारके आशयमें भरकर ऊपर आ जाता है, तब वह प्रचार (काव्य-प्रणयन, प्रवचन, कीर्तन) का रूप धारण करता है। इससे जगत्‌का कल्याण होता है, जिज्ञासुओंको प्रकाश मिलता है। यदि इसके पूर्व आरम्भमें ही तत्त्व-विचार प्रचारका आकार ग्रहण करते हैं, तो साधकके हितकी हानि होती है और दूसरोंका भी उतना कल्याण नहीं होता जितना होना चाहिये। क्योंकि परिपाक न होनेसे उन विचारोंमें प्रभाव कम रहता है। पूर्ण परिपाक होनेसे उनकी स्वल्प मात्रा भी उपयोगिनी होती है,—उनमें शक्ति होती है, जीवन होता है। पूर्ण परिपाक आत्मप्रकाशमें होता है। समयके पूर्व विचारोंका प्रचारके क्षेत्रमें जाना ही मानसिक अतिसार है। नि:सत्त्वता एवं अगाम्भीर्यसे ही वह कुरोग उत्पन्न होता है। आत्मालोचन तथा आत्मसंशोधनपूर्वक आत्मोन्नतिकी भावना सतत बनी रहनेसे साधक इन व्याधियोंसे बच जाता है। साधनका परिपाक होनेपर जब साधक अन्तर्जगत्‌में प्रवेश करता है, तब उसके पारमार्थिक पथको प्रकाशित करनेके लिये परमात्माकी ओरसे प्रकाशकी किरणें उसे मिलती हैं। यदि वह बाह्य जगत्‌में उनका उपयोग करता है और वृत्ति धीरे-धीरे बहिर्मुखी हो जाती है तो भीतर अन्धकारका अधिकार होने लगता है और पथभ्रष्ट होनेकी आशङ्का उपस्थित हो जाती है। जबतक प्रकाशके उद्‌गम-स्थलमें नहीं पहुँच जाते, जबतक आत्मज्योतिसे भरकर अन्त:करण तद्रूप नहीं हो जाता और अनात्मभावना नष्ट नहीं हो जाती अथवा जबतक परमप्रियतम पुरुषोत्तमका पूर्ण परिचय प्राप्त नहीं हो जाता, तबतक तमस् और ज्योतिका द्वन्द्व चला ही करता है। अत: स्थिति कोमल अथवा शङ्कनीय ही रहती है।

साधकका वास्तविक साधना-क्षेत्र अन्तर्जगत् है। उसके लिये(वास्तविक साधनाके लिये) अन्तर्मुख होना बहुत आवश्यक है (प्रत्याहार बिना धारणा नहीं बनती और धारणा बिना ध्यानकी सिद्धि नहीं होती)। बाह्यसे ज्ञान-सञ्चय करनेवाले चक्षु और श्रोत्रका पूर्ण संयम और निरोध जबतक नहीं होता, तबतक हृदय-देशमें प्रवेश भी नहीं होता और जबतक हृदय-देशमें प्रवेश नहीं होता, तबतक साधन भी नहीं बनता और सिद्धि अथवा सफलता भी नहीं होती। किसी महापुरुषने कहा है—

चश्म बन्दो, गोश बन्दो लब बबन्द।
गर न याबी सिर्रे हक़ बरमा बखन्द॥

अर्थात् नेत्र, श्रोत्र और वाक्‌को बन्द करो, रोको। यदि इसपर भी सत्यका रहस्य न अवगत हो, तो मुझे हँसो। पहले लोग तीन हिस्सा भीतर रहते थे और एक हिस्सा बाहर। फिर आधा बाहर, आधा भीतर। बाद तीन हिस्सा बाहर, एक हिस्सा भीतर और अब प्राय: सम्पूर्ण अंशोंमें बाहर ही रहते हैं। सम्प्रति हृदयका अत्यधिक ह्रास हो जानेसे श्रद्धाका ही तिरोभाव हो गया। कुछ है भी तो अधिकांशमें राजसी-तामसी, जो खण्डश: चलती है और खण्डन-खण्डमें ही रुचि रखती है। सात्त्विकी श्रद्धा तो अत्यन्त दुर्लभ हो रही है, जो परमार्थका साधन करती है। धर्म और प्रेम दोनोंहीकी आधार-भूमि सत्त्व है। प्रेमके (अथवा सुख-दु:खके) लक्षण अश्रु आदि भी सत्त्वहीके क्षेत्रमें समुदित होते हैं, इसीलिये वे सात्त्विक भाव कहलाते हैं और श्रद्धा एवं धृति आदि धार्मिक शक्तियाँ भी वहीं उत्पन्न होती हैं। क्षान्ति और शान्ति-जैसे दिव्य गुणोंका भी वही उद्‌गम है। सत्त्वस्थता ही स्वस्थता है। सत्त्वगत होनेहीको किसी विषयमें 'लगना' कहते हैं। ज्ञानका साधन यद्यपि बुद्धि-वृत्तिसे होता है, तथापि उसका सम्पादन और निदिध्यासन सत्त्वहीसे होता है। उसकी स्थिरता और सार्थकता उसीके आश्रयसे होती

है। शुद्ध ज्ञानका और शुद्ध प्रेमका समुदय शुद्ध अन्त:करणमें ही होता है। शुद्ध तत्त्वके प्रकाश और विकासके लिये शुद्ध सत्त्वकी स्थिति नितान्त आवश्यक है। क्योंकि उसके बिना सर्वात्मीयताके रूपमें आत्माकी व्यापकताका अनुभव नहीं होता। राग-द्वेष दम्भके पथसे परिच्छिन्नताकी ऐसी गह्वर कन्दरामें ले जाकर डाल देते हैं, जहाँ आत्माके प्रकाशकी किरणें बिलकुल नहीं पहुँचतीं। द्वेषके दुर्गम पर्वत और रागके सघन वन आत्मदेवसे इतना पृथक् कर देते हैं कि व्यापकताके लिये अवकाश ही नहीं रह जाता। भेदबुद्धि जितनी पुष्ट होगी, व्यापकता और उदारता उतनी ही बाधित होगी—यह निश्चित ही है। प्रेमका भाव ही आत्मीयता उत्पन्न करता है और द्वेषका परकीयता। जिनका हृदय आक्रीड (विहार-वन) होता है, जो आत्मज्योतिकी प्रसन्न कौमुदीसे सुरम्य उसके एकान्त प्रान्तमें प्रियके सरस साहचर्यमें रहते हैं अथवा उसके दिव्य भावसे भावित होते हैं, उनका लक्षण ही कुछ विलक्षण होता है। वे लोगोंसे मिलना, बोलना कम पसन्द करते हैं। बाह्य जगत्से वे ऊबते हैं। कौन अच्छा है, कौन बुरा है, कौन क्या करता है, क्या नहीं करता—इधर उनकी दृष्टि ही नहीं। कल्याण उनका स्वरूप, उपकार उनका चरित, करुणा उनकी चेष्टा, प्रसन्नता उनकी मुद्रा और शान्ति उनकी छटा होती है—

वदनं प्रसादसदनं सदयं हृदयं सुधामुचो वाचः।
करणं परोपकरणं येषां केषां न ते वन्द्याः॥

अस्तु, परमार्थ-साधनके लिये अन्त:करण-संशोधन प्रथम वस्तु है। यदि भगवान्को रिझाना है, यदि उन्हें अनुकूल करना है तो उनके अनुकूल होना भी चाहिये। उसके लिये उनकी प्रिय वस्तु साधुताका अपनेमें (अपने स्वभावमें) सञ्चय करना सर्वथा सापेक्ष एवं अनिवार्य है। द्वेष-बुद्धिके पुष्ट होनेसे परदोषदर्शन और क्रोध अनायास उत्पन्न होते हैं, जो कलह-विग्रहके कारण बनते हैं। दोष-दृष्टि होनेसे दोष-ही-दोष दिखलायी देते हैं और गुण-दृष्टि होनेसे गुण-ही-गुण। द्वेष द्वेष ही उत्पन्न करता हैं और प्रेम प्रेम। प्रभाव अन्त:करण अथवा मनोवृत्तिका ही पड़ता है। त्रिगुणातीत सच्चिदानन्दतत्त्व परमात्माके दर्शनके लिये दृष्टि और वृत्तिका गुणातीतताकी मर्यादातक पवित्र होना भी सर्वथा आवश्यक है—

नयन आँजि मन माँजि चेतिऐ चिदानंदघन राम।
अश्व ह्रस्व दीरघ नहिं होवै, ऐसी कसिय लगाम॥

(भगवती मञ्जुकेशी देवी)

वर्तमान काल लौकिक और पारलौकिक अथवा पारमार्थिक—हर एक विभागमें सज्जनता और सत्पात्रताकी बड़ी मार्मिक अपेक्षा कर रहा है। अत: उसकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होना सर्वाधिक वाञ्छनीय है। एक संतहृदय एकान्तमें रहकर भी अपनी सिद्ध-समुदार सद्भावनाओंसे वह लोक-कल्याण कर सकता है,जो सामान्यजन कितने ही व्याख्यानोंसे भी नहीं कर सकते।

अन्त:करण-विशुद्धि ही सकल साधना-सार।
अहै त्योंहि एकाग्रता योग-तत्त्व समुदार॥

(२)

साधन अनेक हैं—अधिकारके अनुसार, शक्ति और रुचिके भेदसे। कोई कुछ पसन्द करता है और कोई कुछ। जो जिसे पसन्द करता और चाहता है, उसके लिये वही अच्छा है—'**रुचीनां वैचित्र्याद्**·····।' '**जा कर मन रम जाहि सन**····· ॥' जिसमें मनुष्यकी स्वभावत: अभिरुचि होती है, चाहे वह प्रेय (इष्ट) हो अथवा श्रेय (साधन), उसीमें उसके चित्तकी एकाग्रता होती है और जिसमें चित्तकी एकाग्रता होती है, उसीमें अन्त:करणकी तल्लीनता होती है और जहाँ तल्लीनता होती है, वहीं सुख-सन्तोषकी प्राप्ति होती है। तत्त्व सत्त्वके तलस्थलमें है—अन्त:करणकी गहराईमें है। तल्लीनता अथवा पूर्ण सुरतिसे ही उसका अपरोक्षानुभव होता है। परन्तु रुचिके साथ एक बात विचारणीय होती है। वह है शक्तिका प्रश्न। इसीको अधिकार भी कहते हैं। अभिरुचि शक्तिसे ही सार्थक होती है। और यह मानी हुई बात है कि कलियुगी जीवोंकी शक्ति क्षीण होती है, जो प्रत्यक्ष है। अस्तु, चाहे जिसका जो साधन और साध्य हो, उसमें वह निष्ठायुक्त होता हुआ भी सर्वसुलभ स्वयं शब्द-ब्रह्म अन्तर्नाद रामनामका अवलम्बन ले सकता है- उसका एकान्त जप-योग कर सकता है। जितने आस्तिक वेदनिष्ठ सज्जन होंगे, उन्हें शब्दवाद अभिमत ही होगा। जो शब्दवादी हैं, उनकी श्रद्धा भगवन्नाममें भी हो सकती है—चाहे वे किसी सम्प्रदायके हों। भिन्न-भिन्न धारणाओं और भावनाओंके क्षेत्रोंमें उत्पन्न हुए भी कितने संत रामनामसे कृतार्थ हुए हैं। कारण यह कि जहाँ आत्मा है, वहीं राम अथवा जो आत्मा है, वही राम एवं जो ज्योति है, वही

ध्वनि और जो ध्वनि है, वही ज्योति—'**ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिः ज्योतिषोऽन्तर्गतो ध्वनिः।**' ध्वनि और ज्योतिकी तरह नाद-बिन्दुका भी घनिष्ठ सम्बन्ध है और वही रामनाम है। आत्मा ही वह केन्द्र है, जिसके समुज्ज्वल समतल स्थलमें सभी मतोंके संत एकत्र होकर एक स्वरसे रामनामका अखण्डमण्डलाकार मधुरालाप (अजपा जप) करते हैं। अतः जो अध्यात्मपथके पथिक और हृदय-देशके यात्री हैं, उन्हें भगवन्नामका आश्रयण, उसका एकान्त जप—ऐसा जप जिसका हृदय अभिमानी हो—करना ऐसा साधन है, जो सभी साधनाओं और निष्ठाओंको बल देता है, जिससे भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, योग—सब सिद्ध होते हैं, जो निर्गुण-सगुण—उभय ब्रह्मरूपोंका साक्षी और स्वयं सबका साध्य है।

अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी॥

राम नाम अवलंब बिनु परमारथ की आस।
तुलसी बारिद बूँद गहि चाहत चढ़न अकास॥

यह अवश्य लक्ष्यमें रखनेकी बात है कि वाक्क्रमसे जिसका आरम्भ वैखरीसे होता है, चलनेहीसे सुगमतासे ठीक ठिकाने पहुँचते हैं—माता सरस्वती बड़ी सरलतासे मध्यमाकी उस सुरम्य सुख-पुञ्ज कञ्जमें पहुँचा देती है, जिसे शाब्दिक अपनी परिभाषामें स्फोट कहते हैं, जहाँसे शब्द स्फुटित होते हैं, जहाँ रामनामके नाद-बिन्दु चिति और ह्लादिनीके साथ हिल-मिलकर खेलते रहते हैं। तात्पर्य यह कि वाङ्मार्गसे अजपा और दिव्य-नाद (स्वयं शब्दब्रह्मस्वरूप गुणातीत अनाहत) उभयकी सिद्धि होती है।

स्वतः शब्द-प्रामाण्यतः 'बिन्दु' वाक-पथ गम्य।
शब्द-ब्रह्म रामेति ध्वनि-ध्यान-धारणा रम्य॥
वही गेय, वहि ध्येय है, वही श्रेय, वहि प्रेय।
राम नाम पीयूष ही 'बिन्दु' प्राण-प्रिय पेय॥

यद्यपि आजकल सद्गुरु बहुत दुर्लभ हो गये हैं और उनसे भी दुर्लभ उनकी पहचान हो गयी है, तथापि यदि भगवत्कृपा और भाग्यसे ऐसा सुयोग लग जाय और कोई रामके प्यारे मिल जायँ, तो उनकी शरणमें प्राप्त हो उनके निर्देशसे ही भजन करना श्रेयस्कर है—

'**कि सालिक बेखबर न बुबद ज़े राहो-रस्मे मञ्ज़िलहा।**'

क्योंकि गुरु मार्ग और केन्द्रोंके सब भेद जानता है। सच्चे साधक (भगवान्के लिये भगवान्के रास्तेपर चलनेवाले) को, जब उनकी सहायताका ठीक मुहूर्त्त आ जाता है, (ईश्वर अन्तिम अनिष्टकारक क्षणमें ही अचिन्त्य रीतिसे सहायता करते हैं) तब भगवान् किसी सद्गुरुसे अवश्य मिला देते हैं। यह सङ्घटन भगवान् स्वयं अपने जगद्गुरुरूपसे करते हैं—

जिसे पिय तुम अपनाते हो।
अपने मिलनेकी राह उसे आप हि बतलाते हो॥

जबतक ऐसा न हो, कोई सद्गुरु न मिलें, तबतक भगवान्के भरोसे पूर्ववर्ती संतोंके अनुभवोंसे लाभ उठाते हुए सावधानतापूर्वक रास्तेपर चलना चाहिये और अपनेको प्रभुके सामने सच्चा साधक और आराधक सिद्ध कर देना चाहिये। फिर तो वे सँभाल ही लेंगे। अपने कर्तव्यपालनमें वे बड़े सजग रहते हैं—'बड़ी साहिबीमें नाथ, बड़े सावधान हो।' कोई उनके लिये दो पग आगे बढ़ता है, तो वे चार पग आगे आकर उसे अपनाते हैं—

रीति प्रीति स्वारथ परमारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥

हाँ, अवश्य जान लेना चाहिये कि सच्चे गुरु एक सुदीर्घ कालके बाद मिलते हैं, जब भगवान्के मिलनेका मंगलमय समय समीप आता है—

उम्रे बायद कि यार आयद बकनार।
ईं दौलत सरमद हमा कसरा न देहन्द॥

अर्थात् इस बातके लिये एक सुदीर्घ जीवनकी अपेक्षा है कि वह प्रियतम सखा गोदमें आये। ऐ सरमद, यह सम्पत्ति सबको नहीं मिलती।

गुरु गोविन्दका मिलना उतना कठिन नहीं, जितना कठिन उनके लिये हृदयमें सच्ची चाहका होना है। सच्ची चाहमें एक अद्भुत आकर्षण होता है, जिसके सूक्ष्य शक्ति-तन्तु वहाँतक खिंचे हुए होते हैं जहाँ जिसकी चाह होती है, वह होता है। सच्ची चाह या लगन स्वयं पथप्रदर्शनका काम करती है। वह रास्ता साफ करती हुई उधर ही खींच ले जाती है, जिधर वह गयी हुई होती है। सचाईका रास्ता इतना प्रशस्त, विश्वस्त, सुघटित और सुव्यवस्थित

अतएव अभय होता है कि उससे कोई भटक ही नहीं सकता। जहाँ, कोई भटकेगा, वहाँ भी वही है। वह उठाकर ठिकाने ला देगा—**'कस न दीदम कि गुम शुद अज रहे-रास्त'**—किसीको सचाईके रास्तेसे गुमराह होते नहीं देखा।

अत: आन्तरिक साधनकी ओर विशेष लक्ष्य रखना उचित है। उसीके बननेसे सब बनता है। अन्त:करणको ऐसा साधना चाहिये कि वह निश्छल और निरहङ्कार हो, जिससे उसमें भगवान्‌के लिये सच्ची चाह उत्पन्न हो सके—

निर्मल मानसिक आवास।
मलिन भाव बुहारि फेंकहु स्वच्छ करहु देवास।
खींचि नभते मदहि मारो, मदन उलटो रास॥*
छरस, नवरस, पंचरस महँ बहै एक बतास।
कहति 'केशी' मठ सँवारहु करहिं जेहि हरि बास॥

परमोत्कृष्ट साधन

गायत्री

(लेखक—पण्डितप्रवर श्रीद्वारकाप्रसादजी चतुर्वेदी)

हमारे-जैसे जीवात्माओंको इहलोक और परलोक दोनों लोकोंमें सुख एवं शान्ति प्रदान करनेवाला यदि कोई परमोत्कृष्ट साधन है तो वह एकमात्र वेदमाता गायत्रीकी सर्वतोभावेन आराधना ही है। अनेक जन्म धारण करके अनेकों योनियोंमें भटकनेके आद तब कहीं भगवत्कृपा अथवा उत्कृष्ट कर्मोंके फलरूपमें इस जीवको मानव-शरीर मिलता है। मानव-योनिमें भी ब्राह्मण होना महान् पुण्यकर्मोंका फल है। फिर ब्राह्मण होकर जिसने वेदमाता गायत्रीका अनुग्रह सम्पादन कर लिया, उसको तो किसी बातकी कमी ही नहीं रह जाती।

यद्यपि वेदादि शास्त्रोंमें ऐसे अनेक मन्त्र हैं जिनका साधन करके द्विजवर्ग सब प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है; तथापि वेदमाता गायत्रीकी महिमा सबसे अधिक है। शौनकीय ऋग्विधानमें तो यहाँतक कहा गया है—

प्रथमं लक्षगायत्रीं सप्तव्याहृतिसम्पुटाम्।
तत: सर्वैर्वेदमन्त्रै: सर्वसिद्धिञ्च विन्दति॥

अर्थात् सप्त व्याहृतियोंसे सम्पुटित गायत्री-मन्त्रका एक लक्ष जप किये बिना कोई भी वेदमन्त्र सिद्धिप्रद नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट होता है कि गायत्री-मन्त्र वैदिक साहित्यके खजानेकी मानो कुंजी है। जिसने गायत्री-मन्त्रको साध लिया, उसने मानो उभय लोकोंको अपने वशमें कर लिया।

शुक्राचार्य युद्धमें मारे गये दानवोंको जिस मृत-सञ्जीवन मन्त्रके प्रभावसे जीवित कर देते थे, वह भी गायत्रीप्रधान मन्त्र ही है। जिस ब्रह्मास्त्रसे तीनों लोक थर्रा जाते थे, उसमें भी गायत्री-मन्त्रकी ही प्रधानता है। विश्वामित्रजीके समस्त अस्त्र-शस्त्रोंको विफल करनेवाला वसिष्ठजीका ब्रह्मदण्ड गायत्री-मन्त्रात्मक ही था। गायत्रीकी आराधनासे ही विश्वामित्रजीने न केवल ब्राह्मणत्व ही प्राप्त किया था, बल्कि उनमें नवीन सृष्टि रचनेकी शक्ति भी उत्पन्न हो गयी थी। इस प्रकार कितने उदाहरण दिये जायँ। ब्राह्मणके लिये तो गायत्री कामधेनुरूपा है। जो ब्राहाण ऐसे महामहिम गायत्री-मन्त्रका महत्त्व न समझकर उसकी साधनासे विमुख रहता है, उसका ब्राह्मणके घर जन्म लेना व्यर्थ है।

प्राचीन कालके उदाहरणोंपर ही नहीं, बल्कि आधुनिक कालकी घटनाओंपर ही यदि ध्यान दिया जाय तो भी गायत्री-मन्त्रका अनुपम प्रभाव मूर्तिमान् होकर प्रत्यक्ष दीखने लगता है। श्रीज्ञानेश्वरजीको गायत्री-मन्त्रसे जो लाभ हुआ था, वह प्रसिद्ध ही है। स्वामी दयानन्दको इतना प्रसिद्ध करनेवाला गायत्री-मन्त्र ही है। हमारी जानकारीमें एक-दो नहीं, बीसियों ऐसे ब्राह्मण हैं, जिन्होंने आजन्म गायत्रीको छोड़ अन्य किसी उपायका अवलम्ब नहीं लिया और जो इस लोक और परलोक दोनोंमें सुखी रहे। 'हिन्दी-प्रदीप' पत्रके सम्पादक स्वर्गीय पण्डित बालकृष्णजी भट्ट गायत्री-मन्त्रके ही बलपर निर्भय होकर सिंहकी तरह दहाड़ते थे। मृत पुरुषोंकी बात

* मदको ऊर्ध्वसे अध:में उतारो और मदनको अध:से ऊर्ध्वमें चढ़ाओ।

छोड़िये महामना पण्डित मदनमोहनजी मालवीयको देखिये; उनका हिंदूविश्वविद्यालय वेदमाता गायत्रीकी आराधनाका ही जीता-जागता फल है। जो कार्य पहले असम्भव-सा देख पड़ता था, वही गायत्री-मन्त्रके आश्रय-ग्रहणसे अत्यन्त सरल हो गया। इस प्रकार मृत-जीवित अन्य अनेक महापुरुषोंके नाम गिनाये जा सकते हैं, जिन्हें गायत्री-मन्त्रकी आराधनासे अपार लाभ हुआ है।

इतना ही नहीं, ब्राह्मण-जाति और गायत्री-मन्त्रका कुछ ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि कितने ही सच्चे ब्राह्मणोंको तो गायत्री-मन्त्रके आराधनसे आजन्म वञ्चित रहनेपर भी अन्तकालमें अपने-आप उसका स्मरण हो आता है। उदाहरणके तौरपर देशपर अपनेको न्योछावर कर देनेवाले स्वर्गीय राष्ट्रभक्त पण्डित मोतीलालजी नेहरूको लीजिये। वे जीवनभर दूसरे वातावरणमें रहे, परन्तु शरीर छोड़ते समय पूर्वसंस्कारवश उन्हें गायत्री-मन्त्रका स्मरण हो आया! इस प्रकारकी घटनाएँ ब्राह्मण-जाति और गायत्री-मन्त्रके अविच्छेद्य सम्बन्धकी परिचायक नहीं तो और क्या हैं?

इन पंक्तियोंके लेखकके जीवनका आराध्य मन्त्र तो गायत्री-मन्त्र ही है। जब मैं अपने जीवनकी विषम कठिनाइयों और उनसे अनायास पार हो जानेके इतिहासपर दृष्टिपात करता हूँ, तब गायत्री-मन्त्रके अगणित उपकार प्रत्यक्ष हो जाते हैं और उसके प्रति मेरी निष्ठा यत्परो नास्ति हो जाती है। वारेन हेस्टिंग्ज नामक पुस्तक लिखनेके उपलक्ष्यमें तत्कालीन प्रान्तीय सरकारकी ओरसे मुझे जो पुरस्कार मिला, उसे प्रायः सभी हिन्दी-साहित्यानुरागी जानते हैं। उस समय आजीविकाहीन होकर कच्ची गृहस्थीके भारसे दब जानेके कारण मैं जिस मानसिक अशान्तिका शिकार हुआ था, उसे मैं ही जानता हूँ। परन्तु वेदमाता गायत्रीने वैसे गाढ़े समयमें भी अपना करावलम्ब देकर मुझको शोक-सागरसे हँसते-खेलते पार लगाया। मेरे जीवनमें गायत्री माताके ऐसे अनेक उपकार हैं, जिनका स्मरण करके हृदय गद्‌गद हो जाता है। सच पूछिये तो एकमात्र गायत्री माताकी कृपासे ही मैंने आजतक विविध विषम परिस्थितियोंमें पड़कर भी सानन्द जीवन बिताया है। उन्हींके भरोसे मैं आज भी चैनकी वंशी बजा रहा हूँ। अस्तु,

वेदमाता गायत्रीका ब्राह्मणमात्रपर वात्सल्य स्नेह है; फिर भी कितने खेदकी बात है कि आजकलके अधिकांश ब्राहाण गायत्री माताकी साधना तो अलग रही, उनका स्मरण भी नहीं करते। फलतः वे इस जले पेटके लिये ब्राह्मणेतरोंके द्वारपर मारे-मारे फिरते हैं। मैं यह दावेके साथ कह सकता हूँ कि यदि अबसे भी ब्राह्मण-जाति सचेत हो जाय और गायत्री माताकी आराधना करने लगे तो फिर वह पहलेकी तरह शक्तिशालिनी हो सकती है। एकमात्र इसी सर्वोत्कृष्ट साधनसे कोई भी ब्राह्मण अपने लिये उभय-लोक बना सकता है। भला, जो वेदमाता गायत्री आयु, पृथिवी, द्रव्य और इन सबसे बढ़कर ब्रह्मवर्चस देनेवाली है, वह क्या कभी बिसारनेकी वस्तु है? मैं नित्य सन्ध्योपासनके समय विसर्जन करते हुए वेदमाता गायत्रीसे यह प्रार्थना किया करता हूँ—

स्तुतो मया वरदा वेदमाता
प्रचोदयन्ती पवने द्विजाता।
आयुः पृथिव्यां द्रविणं ब्रह्मवर्चसं
मह्यं दत्त्वा प्रजातुं ब्रह्मलोकम्॥

ब्रह्मवेत्ता मुनि कौन है?

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं विधित्सावेगमुदरोपस्थवेगम्।
एतान् वेगान् यो विषहेदुदीर्णांस्तं मन्येऽहं ब्राह्मणं वै मुनिं च॥

जो पुरुष वाणीके वेगको, मनके वेगको, क्रोधके वेगको, काम करनेकी इच्छाके वेगको, उदरके वेगको और उपस्थके वेगको रोकता है, उसको मैं ब्रह्मवेत्ता मुनि समझता हूँ।

(महा० शान्ति० २९९। १४)

विनय

कबहुँक अंब! अवसर पाइ।

मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन-कथा चलाइ॥

दीन सब अँगहीन, छीन मलीन अघी अघाइ।

नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ॥

बूझिहैं 'सो है कौन' कहिबी नाम दसा जनाइ।

सुनत राम कृपालुके मेरी बिगरिऔ बनि जाइ॥

जानकी जगजननि जनकी किये बचन सहाइ।

तरै तुलसीदास भव तव नाथ-गुन-गन गाइ॥

—तुलसीदासजी

सहज-साधन

(लेखक—श्रीबदरीदासजी महाराज वानप्रस्थी, वेदान्तभूषण)

इस समय संसारमें जीवोंका जीवन बहुत थोड़ा रह गया है। उन्हें न तो पूर्ण आयु ही मिलती है और न वे पूर्ण सुख-सम्पत्ति और स्वाधीनताका ही उपभोग कर पाते हैं—बीचहीमें कालके वशीभूत हो जाते हैं। ऐसे अल्पजीवी जीवोंके कल्याणके लिये यदि कोई सहज-साधन बता दिया जाय तो उनका महान् उपकार हो सकता है। इसी बातको लक्ष्यमें रखकर हमारे गुरुदेव परमपूज्यपाद योगिराज ब्रह्मनिष्ठ श्री ११०८ श्रीवनराजजी महाराजने हमें जो सदुपदेश दिया था, उसे ही कल्याणके पाठकोंके समक्ष उपस्थित करके हम आशा करते हैं कि इस सहज-साधनके द्वारा वे अपना और अपने इष्ट-मित्रोंका कल्याण कर सकेंगे। अस्तु,

पूज्य गुरुदेवने कहा था कि जो कार्य स्वाभाविक हो—जो सुखसे और अपनी अखण्ड प्रसन्नतासे हो सके, वही 'सहज' होता है। उसे सहज-साधनसे सत्पुरुष परमात्माका साक्षात्कार कर सकते हैं तथा अपने अज्ञानको नष्ट करके सारे जगत्का भला कर सकते हैं। अतः इस स्वल्प जीवनमें मनुष्यमात्रको इस सहज-साधनका अभ्यास करना चाहिये। इस साधनको समझनेके लिये पहले तीन शब्दोंकी परिभाषा समझ लेनी चाहिये, क्योंकि इन्हें समझे बिना सहज-साधनका अभ्यास हो नहीं सकता। वे तीन शब्द ये हैं—भ्रम, अविद्या या माया और अहङ्कार। (१) जो वस्तु वास्तवमें है नहीं, किन्तु दिखायी देती है, उसे भ्रम कहते हैं—जैसे मरुस्थलमें जल या सीपीमें चाँदी आदि। (२) जो वस्तु वास्तवमें है नहीं, किन्तु उत्पन्न हो जाती है उसका नाम अविद्या या माया है—जैसे घर, गाड़ी, धोती इत्यादि। घर वास्तवमें कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, पंचभूतोंकी समष्टिविशेष ही घर बन जाती है। इसी प्रकार काष्ठ और लोहके समूहविशेषका नाम गाड़ी है, तथा सूत ही धोती बन जाता है। (३) 'मैं' नामकी कोई वस्तु न होनेपर भी 'मैं' की प्रतीति होती है—इसीका नाम अहङ्कार है। मैं शरीरादि नहीं हूँ, फिर भी मैं अमुक अर्थात् बदरीदास हूँ—ऐसी वृत्ति होती है। इसे ही अहङ्कार कहते हैं। इस प्रकार इन तीन शब्दोंका अर्थ हृदयंगम हो जानेपर मनुष्यको सहज-साधनका अधिकार प्राप्त होता है। इस अधिकारके प्राप्त हुए बिना इसमें सफलता नहीं मिलती।

जिन भाग्यवानोंको यह संसार भ्रमवत् जान पड़ता है और जो कुछ होने या बननेवाले पदार्थ हैं वे ये सब अविद्या या माया हैं—ऐसा निश्चय होता है तथा मैं, तू, यह, वह—ये सब अहङ्कारके ही खेल दिखायी देते हैं, वे पुरुष या स्त्री ही इस सहज-साधनके सच्चे अधिकारी हैं। ऐसे अधिकारियोंको ही इससे सच्ची सिद्धि मिल सकती है—पापादिकी निवृत्ति तो इसके स्मरणमात्रसे हो जाती है।

मनुष्य क्या, प्राणिमात्रके भीतर प्रणवकी स्वाभाविक ध्वनि हो रही है। वह सुगमतासे सुनी जा सकती है और बड़ी प्रसन्नासे उसका ध्यान हो सकता है। अतः स्वाभाविक होनेके कारण यह प्रणवध्यान ही सहज-साधन है। इसके अभ्याससे मनुष्य परमात्माका साक्षात्कार कर जीवन्मुक्त हो सकता है—नरसे नारायण हो सकता है। अतः 'प्रणव क्या है', 'उसका अर्थ क्या है' और 'प्रणवध्यान किस प्रकार किया जाता है' इन प्रश्नोंका संक्षेपमें उत्तर देकर कल्याणकामियोंको सहज-साधनका सुगम पथ बताया जाता है। प्रणव परमात्माका नाम है—**'तस्य वाचकः प्रणवः,** (यो० सू० १। २७) नामीसे नामका भेद नहीं होता। अतः भगवन्नामस्मरण और भगवद्-ध्यान—ये दोनों समान-रूपमें जीवका कल्याण करनेमें समर्थ हैं। प्रणवध्यानके विषयमें सर्वहितैषिणी भगवती श्रुति कहती है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

(मुण्डक० २। २। ४)

'प्रणव धनुष है' सोपाधिक आत्मा बाण है और अक्षर-ब्रह्म उसका लक्ष्य कहा जाता है। अतः ब्रह्मस्वरूप लक्ष्यका सावधानीसे वेधन करना चाहिये और बाणके समान तन्मय अर्थात् ब्रह्ममय हो जाना चाहिये।

अधिकांश लोग ओंकारको ही प्रणव समझते हैं, परन्तु इन दोनोंमें एक सूक्ष्म अन्तर है। प्रणवध्वनि केवल चित्तवृत्तिको रोककर ही सुनी जा सकती है और 'ॐ' उसका गौणरूपसे उच्चारण करना है। इस प्रकार 'ॐ' प्रणवका ही स्थूल रूप है। यह ओंकार ही त्रिवर्णात्मक सगुण ब्रह्म है। इसका वाच्य अक्षरब्रह्म निर्गुण और विभु है।

ॐ ही अपर और पर ब्रह्म है। यह सम्पूर्ण विश्व ओंकार ही है। ॐ—यह अक्षर ही सब कुछ है। भूत, भविष्य और वर्तमान जो कुछ है, सब ॐ ही है। जिसको 'ॐ' कहा गया है और स्वयं ॐ—यह सब ब्रह्म ही है। ब्रह्म परमात्मा या भगवान् कृष्ण कोई परोक्ष वस्तु नहीं हैं। अन्तःकरणमें विराजमान यह आत्मा ही ब्रह्म है और वही ओंकार है।

इस ओंकारमें अ,उ,म् ये तीन वर्ण हैं। इनसे क्रमशः समष्टिमें विराट्' हिरण्यगर्भ या सूत्रात्मा तथा ईश्वर और व्यष्टिमें विश्व, तैजस एवं प्राज्ञका ग्रहण होता है। जिस परमात्मासे संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और नाश होते हैं उसीका नाम ॐ या प्रणव है। इसके ध्यानकी विधि नीचे लिखी जाती है।

प्रणवध्यान—''इस समय जब कि मैं जगा हुआ हूँ मेरी जाग्रत्-अवस्था है, मैं स्थूल भोगोंका भोक्ता हूँ और व्यष्टि-पिण्डाण्डमें रहनेसे मेरे शरीरका नहीं, चेतनका नाम 'विश्व' है तथा समष्टिमें वही 'विराट्' कहा जाता है। यही ओंकारकी अ मात्रा है और यही जाग्रत्-अवस्थाका अभिमानी विश्वात्मा है''— इस प्रकार ॐ का उच्चारण करते हुए प्रायः १५ मिनट स्मरण करना चाहिये।

''जिस समय मैं स्वप्न देखता हूँ उस समय मेरी स्वप्नावस्था होती है, तब मैं सूक्ष्म विषयोंका भोक्ता होता हूँ और व्यष्टि पिण्डाण्डमें रहनेसे मेरे शरीरका नहीं-चेतनका नाम 'तैजस' होता है तथा समष्टिमें वही 'हिरण्यगर्भ' कहा जाता है। यही ओंकारकी दूसरी मात्रा उ है और यही स्वप्नावस्थाका अभिमानी सूत्रात्मा है''—इस प्रकार ॐ का उच्चारण करते हुए प्रायः २० मिनटतक चिन्तन करे।

''जिस समय मैं सो जाता हूँ उस समय मेरी सुषुप्तावस्था होती है। तब मैं बीजरूपसे सबका भोक्ता होता हूँ और व्यष्टि पिण्डाण्डमें रहनेसे मेरे शरीरका नहीं, चेतनका नाम 'प्राज्ञ' होता है तथा समष्टिमें वही 'ईश्वर' कहा जाता है। यही ओंकारकी तीसरी मात्रा म् है और यही सुषुप्तिका अभिमानी कारणात्मा है। यह सबका ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी है तथा सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति और लयका स्थान होनेसे सबका कारण है''—इस प्रकार ॐ का उच्चारण करते हुए प्रायः २५ मिनटतक चिन्तन करना चाहिये।

अन्तमें ''अब मैं समाधिस्थ हूँ। यह मेरी तुर्यावस्था है। इसके सम्बन्धमें विद्वान् लोग ऐसा मानते हैं कि न यह अन्तःप्रज्ञ है, न बहिःप्रज्ञ है, न उभयतः अर्थात् अन्तर्बहिःप्रज्ञ है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है और न अप्रज्ञ है। यह अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्ययसार, प्रपंचका उपशम, शान्त, शिव और अद्वैतरूप है। यही मैं हूँ और व्यष्टि पिण्डाण्डकी उपाधिसे मेरा ही नाम 'आत्मा' और समष्टि ब्रह्माण्डकी उपाधिसे मेरा ही नाम 'परमात्मा' है। यह तुर्यावस्थाका अभिमानी साक्षी चेतनात्मा ही साक्षात् जानने योग्य है'' इस प्रकार ओंकारका चिन्तन करते हुए जितनी देरतक बाह्य वृत्ति न हो, तबतक लगातार ध्यान करता रहे। यही प्रणवध्यानकी संक्षिप्त विधि है।

इस प्रणवध्यानमें न तो किसी प्रकारका शारीरिक कष्ट ही है और न पैसेका खर्च ही। केवल सिद्ध या स्वस्तिक आसनसे अथवा जिससे भी सुखपूर्वक अधिक देरतक बैठा जा सके, बैठ जाय। इस प्रकार प्रातः, मध्याह्न और सायं तीनों कालोंमें अभ्यास करे। ऐसा करनेसे ब्रह्मतेजकी प्राप्ति होकर जीव निष्पाप हो जाता है तथा उसे परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है। ओंकार मन्त्रराज है, इसीसे इसका 'सर्वकर्मारम्भे विनियोगः' समस्त कर्मोंके आरम्भमें विनियोग किया जाता है। जिसका सब कार्योंके आरम्भमें सङ्कल्प हो, उसीको सहज या स्वाभाविक समझना चाहिये। अतः प्रणवध्यान ही सहज-साधन है और यह सबके लिये उपयोगी एवं परम पावन है।

अतएव इस सर्वोपयोगी साधनका हमें अहर्निश अभ्यास करना चाहिये। इससे हमारा, हमारे समाजका और हमारे देशका परम कल्याण होकर विश्वभरका श्रेय हो सकता है। यही सोचकर हमारे पूज्यपाद ऋषि-महर्षि और आचार्योंने भी सन्ध्याकी दशविध क्रियाओंमें सबसे पहले 'प्रणवध्यान' यानी यह सहज-साधन ही रखा है, क्योंकि इसका आबालवृद्ध सभी सुगमतासे अभ्यास कर सकते हैं।

सर्वोच्च साधनके लिये एक बात

(लेखक—पं० स्वामी श्रीपराङ्कुशाचार्यजी शास्त्री)

संसारमें जब हम विवेचनात्मक दृष्टि डालते हैं तो यह बात स्पष्ट दिखायी देती है कि प्रत्येक प्रणीकी प्रवृत्ति इष्ट-प्राप्ति और अनिष्टनिवृत्तिकी ओर ही है। सबकी यही चेष्टा रहती है कि हमें सब प्रकारके अभीष्ट सुख प्राप्त होते रहें और अवाञ्छनीय दुःख हमारे पास न फटकने पावें। परन्तु यह इष्टप्राप्ति और अनिष्टनिवृत्ति केवल मनोरथमात्रसे सिद्ध नहीं हो सकती, इसके लिये विशेष उद्योगकी आवश्यकता है—

'उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।'

अतः जो इन्हें पानेके लिये उत्सुक हैं, उन्हें इनके अनुरूप उद्योग करना होगा।

किसी भी अर्थकी सिद्धिके लिये शास्त्रोंने दो प्रकारके उपाय बताये हैं—दृष्ट और अदृष्ट। पहले प्राणी दृष्ट उपायका आश्रय लेता है; जब उसे उससे सफलता नहीं मिलती तो वह अदृष्ट उपायके द्वारा अपना मनोरथ सिद्ध करनेकी चेष्टा करता है। लोकमें यह बात स्पष्ट देखी जाती है कि जब कोई व्यक्ति बीमार पड़ता है तो उसके इष्ट-मित्र पहले उसकी विभिन्न वैद्य-डॉक्टरोंसे चिकित्सा कराते हैं अथवा जल-वायुके परिवर्तनके द्वारा उसके स्वास्थ्यलाभके लिये प्रयत्न करते हैं। ये सब रोगनिवृत्तिके दृष्ट उपाय हैं। जब इनसे सफलता नहीं मिलती तो शतरुद्र, त्वरितरुद्र, मृत्युञ्जय, शतचण्डी, नृसिंह, सुदर्शन एवं हयग्रीव आदि मन्त्रोंके जप अथवा दुर्गासप्तशती, रामायण एवं भागवत आदि ग्रन्थोंके पारायण और दान-पुण्यादिके द्वारा उसकी व्याधिनिवृत्तिकी चेष्टा करते हैं। ये सब अदृष्ट उपाय हैं।

संसारमें दुःख इतने अधिक हैं कि उनकी ठीक-ठीक संख्या करना प्रायः असम्भव है। उन सबको हमारे पूज्य महर्षियोंने आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—तीन विभागोंमें विभक्त कर दिया है। इन तीन वर्गोंमें ही संसारके सारे दुःख आ जाते हैं। इसीसे ईश्वर कृष्णने सांख्यकारिकाके आरम्भमें **'दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ'** कहकर त्रिविध दुःखोंकी निवृत्तिके साधनकी जिज्ञासामें ही सर्वदुःखनिवृत्तिकी जिज्ञासाका समावेश कर दिया है। ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह स्पष्ट ही है कि दृष्ट साधनकी अपेक्षा अदृष्ट साधन विशेष बलवान् हैं। उन अदृष्ट साधनोंमें भी किसी-न-किसी देवताके मन्त्र या स्तोत्रके जप या पाठका ही प्राधान्य रहता है। शास्त्रोंमें दुःखोंके त्रिराशीकरणकी भाँति सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे देवताओंका भी त्रिराशीकरण किया गया है। इसीसे विभित्र अधिकारी अपनी-अपनी प्रवृत्तिके अनुसार भिन्न-भिन्न देवताओंका अर्चन-पूजन करते हैं। गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥
(१७।४)

इस श्लोकमें यह बताया गया है कि सात्त्विक प्रकृतिके पुरुष देवताओंका, राजस प्रकतिके पुरुष यक्ष-राक्षसोंका और तामसी लोग प्रेत एवं भूतगणका पूजन करते हैं। किन्तु देवता भी सात्त्विकादि भेदसे कई प्रकारके होते हैं, जिनका साधक लोग अपनी लौकिक या अलौकिक कामनाओंकी पूर्ति और अनेकों क्षुद्र दुःखोंकी निवृत्तिके लिये पूजन करते हैं। किन्तु सर्वदुःखनिवृत्तिपूर्वक परमानन्ददायिनी मुक्तिकी प्राप्ति तो विशुद्धसत्त्वमय श्रीमन्नारायणकी उपासनासे ही प्राप्त होती है—**'हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्।'** इस विषयमें श्रुति, स्मृति, पुराण, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थोंसे अनेकों प्रमाण उद्धृत किये जा सकते हैं। अतः—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

'निष्काम हो' सकाम हो अथवा मोक्षकी कामनावाला हो, उदारबुद्धि साधकको तीव्रतर भक्तियोगके द्वारा परमपुरुष श्रीनारायणकी ही उपासना करनी चाहिये।' उनकी कृपा होनेपर भक्तको भोग-मोक्ष कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता।

यद्यपि भगवान् श्रीनारायणके अनेकों नाम और मन्त्र हैं तथा वे सभी भक्तकी समस्त कामनाओंको पूर्ण

करनेवाले हैं, तथापि उनके अष्टाक्षर मन्त्रका शास्त्रोंमें बड़ा महत्त्व है। इसीसे कहा है—**न वेदाच्च परं शास्त्रं न मन्त्रोऽष्टाक्षरात्परः**'—वेदसे बढ़कर कोई शास्त्र नहीं है और अष्टाक्षर-मन्त्रसे बढ़कर कोई मन्त्र नहीं है। श्रुति कहती है—**ॐ नमो नारायणायेति मन्त्रोपासको वैकुण्ठं भुवनं गमिष्यति—ॐ नमो नारायणाय**' इस मन्त्रकी उपासना करनेवाला वैकुण्ठलोकको जायगा।' अनुस्मृतिमें कहा है—

किं तस्य बहुभिर्मन्त्रैः किं तस्य बहुभिर्जपैः।
नमो नारायणायेति मन्त्रः सर्वार्थसाधकः॥

'भक्तको अनेकों मन्त्र और अनेकों जपोंसे क्या प्रयोजन है? '**ॐ नमो नारायणाय**' यह मन्त्र ही सम्पूर्ण अर्थोंकी सिद्धि करनेवाला है।' इस मन्त्रको चतुर्वेदसार भी कहते हैं—

चतुर्णां वेदानां हृदयमिदमाकृष्य विधिना
चतुर्भिर्यद्वर्णैः समघटि तु नारायण इति।
तदेतद्गायन्तो वयमनिशमात्मानमधुना
पुनीमो जानीमो न हरिपरितोषाय किमपि॥

अर्थात् विधाताने चारों वेदोंके हृदय (सार)-को निकालकर चार वर्णोंसे 'नारायण' इस मन्त्रको रचा है। अतः हम अहर्निश इसका कीर्तन करते हुए अपनेको पवित्र करते हैं, इसके सिवा श्रीहरिको प्रसन्न करनेका कोई और साधन नहीं जानते। यह मन्त्र साधकको क्या-क्या दे सकता है, इस विषयमें एक जगह कहा है—

ऐहलौकिकमैश्वर्यं स्वर्गाद्यं पारलौकिकम्।
कैवल्यं भगवन्तं च मन्त्रोऽयं साधयिष्यति॥

'यह मन्त्र ऐहिक ऐश्वर्य, स्वर्गलोक, वैकुण्ठलोक, कैवल्य और स्वयं श्रीभगवान्‌की भी प्राप्ति करा देता है।'

इस प्रकार यद्यपि यह मन्त्र सब प्रकार कल्याणकारी और अत्यन्त महिमान्वित है तथापि विधिविशेषसे अनुष्ठान करनेपर ही इसका यथावत् फल मिल सकता है। यह ठीक है कि किसी भी प्रकार भोजन करनेसे भूख मिट सकती है, किन्तु यदि उसके साथ स्थान, काल और वातावरणकी अनुकूलता भी हो तो उसका एक विशेष लाभ होता है। इसी प्रकार मन्त्रजपके लिये भी अधिकारी और विधिविशेषकी बड़ी आवश्यकता है। नहीं तो कभी-कभी उसका विपरीत फल भी हो सकता है।

मन्त्रानुष्ठानमें सबसे पहले गुरुके उपदेशकी आवश्यकता होती है। सद्‌गुरुका उपदेश मिले बिना कोई भी विद्या सफल नहीं होती—'**न प्रसीदति वै विद्या विना सदुपदेशतः**।' श्रुतिने भी '**तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्**' ऐसा कहकर विद्याग्रहणके लिये पहले श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी शरणमें जानेका ही विधान किया है। किन्तु गुरु कैसा होना चाहिये? इस विषयमें आजकल बहुत अज्ञान है। शास्त्रोंमें गुरुके जो लक्षण बताये हैं, उनका इस श्लोकमें संग्रह किया गया है—

सिद्धं सत्सम्प्रदाये स्थिरधियमनघं श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं
सत्त्वस्थं सत्यवाचं समयनियतया साधुवृत्त्या समेतम्।
दम्भासूयादिमुक्तं जितविषयगणं दीर्घबन्धुं दयालुं
स्खालित्ये शासितारं समरहितपरं देशिकं भूष्णुरीप्सेत्॥

अर्थात् कल्याणकामी पुरुषको ऐसे गुरुकी खोज करनी चाहिये जो सर्वसाधनोंमें पारंगत, सत्सम्प्रदायमें दीक्षित, स्थिरबुद्धि, निष्पाप, श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, सत्त्वगुणमें स्थित, सत्यवक्ता, समयानुकूल साधुवृत्तिसे सम्पन्न, दम्भ और असूयादि दोषोसे रहित, जितेन्द्रिय, परम सुहृद्, दयालु, शिष्यका पतन होनेपर उसका शासन करनेवाला और जीवोंके हितमें तत्पर रहनेवाला हो।

ऐसे सद्‌गुरुका सम्बन्ध होनेपर ही शिष्य साधन-मार्गमें अग्रसर हो सकता है। गुरुकृपाके बिना तो श्रीहरिका भी अनुग्रह नहीं होता, जैसे कि कमलको विकसित करनेवाला सूर्य ही जलसे अलग होनेपर उसे सुखा डालता है—

नारायणोऽपि विकृतिं याति गुरोः प्रच्युतस्य दुर्बुद्धेः।
कमलं जलादपेतं शोषयति रविर्न पोषयति॥

अतः जो उपर्युक्त लक्षणोंसे सम्पन्न और सम्प्रदाय-परम्परागत नारायण-मन्त्रके उपासक हों, उन सद्‌गुरुसे दीक्षा लेकर इस मन्त्रका अनुष्ठान करना चाहिये। मन्त्रसिद्धिके लिये पुरश्चरणकर्ताको मन्त्रके पटल, पद्धति, पीठ-पूजा, कवच और सहस्रनाम—ये पाँच अंग भी अवश्य जानने चाहिये। ये पाँच अंग सभी देव-देवियोंके मन्त्रोंमें होते हैं। इनके सिवा मन्त्रके ऋषि, देवता, छन्द, योग और दस प्रकारके न्यासोंका ज्ञान भी होना बहुत आवश्यक है। अपने गुरुदेवसे इन सब मन्त्रोपचारोंका उपदेश ले मार्गशीर्ष शुक्ला द्वादशीको नियमपूर्वक इस मन्त्रका जप आरम्भ करे। प्रत्येक दिन बीस सहस्र मन्त्र जप करना चाहिये। इस प्रकार चालीस दिनमें आठ लाख जप करके फिर शुद्धतापूर्वक प्रसन्न मनसे दशांश हवन करे तथा उसके दशांशसे तर्पण, तर्पणके दशांशसे मार्जन करे और उसका दशांश ब्राह्मणभोजन करावे।

इस प्रकार जब साधक पंचांगादि प्रथम साधन और हवनादि उत्तर साधनोंके सहित विधिवत् पुरश्चरण कर ले तो फिर उसे यह देखना चाहिये कि मन्त्र सिद्ध हुआ या नहीं। इस मन्त्रकी सिद्धि होनेपर साधकको ये चिह्न दिखायी देते हैं—स्वप्नमें श्रीवासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इनमेंसे किन्हीं एकके अथवा सबके दर्शन होना। किसी भगवदवतार या देवविशेषके दर्शन होना। वेदोच्चारण करते हुए विद्वान् ब्राह्मण या सिद्ध पुरुषोंके दर्शन होना अथवा उनका आशीर्वाद मिलना। पुष्प-फलान्वित वृक्षोंपर चढ़ना, हरे-भरे बाग और खेतोंको देखना। छत्र, चामर और वाहनादिका दर्शन या प्राप्त होना। राजा, राजपत्नी राजपुरोहित, राजमन्त्री, मेघाच्छन्न गगनमण्डल अथवा वृष्टि होती देखना। जाग्रदवस्थामें मनमें अपूर्व प्रसन्नता, शान्ति, सन्तोष और उत्साह होना तथा सांसारिक प्रलोभनोंसे अकस्मात् वैराग्य हो जाना—इत्यादि। इन लक्षणोंको देखकर जब निश्चय हो जाय कि हमारा इष्ट-मन्त्र सिद्ध हो गया तो साधक इसका किसी भी लौकिक या पारलौकिक कामनाकी सिद्धिके लिये प्रयोग कर सकता है, अथवा इसीके द्वारा क्रमशः अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष सभी पुरुषार्थोंकी साधना कर सकता है। इस मन्त्रके द्वारा यदि शान्ति-कार्य सम्पादन करना हो तो स्वस्तिक मण्डलमें, पौष्टिक कार्य करना हो तो भद्रक मण्डलमें तथा अन्य अभीष्ट कर्योंकी सिद्धिके लिये चक्राब्ज मण्डलमें मन्त्रदेवकी आराधना करे।

इस प्रकार इस मन्त्रसे ऐहिक और आमुष्मिक सभी प्रकारकी कामनाएँ सिद्ध हो सकती हैं। यद्यपि लौकिक कामनाओंकी पूर्ति तो अन्यान्य मन्त्रोंसे भी हो जाती है, परन्तु निःश्रेयसरूप मोक्षदानमें तो जैसी शक्ति इस मन्त्रमें है वैसी बहुत ही थोड़े मन्त्रोंमें है। इसकी अपूर्व शक्तियोंके विषयमें अनेकों प्रमाण दिये जा सकते हैं। मन्त्रके द्वारा सब प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं, यह बात योगाचार्य महर्षि पतंजलिने भी स्वीकार की है। '**जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः**' (यो० सू० ४।१) इस सूत्रमें जन्म, ओषधि, तप और समाधिके समान मन्त्रको भी सिद्धियोंकी प्राप्तिका एक साधन बताया है। अतः इसका चिरकालतक नियमानुसार अनुष्ठान किया जाय तो इससे अणिमादि सिद्धियोंकी प्राप्ति भी कठिन नहीं है। इसके द्वारा रोगादिकी निवृत्तिमें तो स्वयं हमारा ही पर्याप्त अनुभव है। हमें पूर्ण विश्वास है कि इसके द्वारा कठिन-से-कठिन रोग भी बहुत शीघ्र शान्त हो सकता है।

अच्युतानन्दगोविन्दनामस्मरणभेषजात् ।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्॥

एक जिज्ञासुके प्रश्नोत्तर

(लेखक—रायसाहेब श्रीकृष्णलालजी बाफणा)

प्रश्न—हमें क्या करना चाहिये? कोई कहते हैं कि तुम प्राणायाम करो; कोई बतलाते हैं कि सब कुछ ईश्वरपर छोड़ दो; कोई उपदेश देते हैं कि इस जगत्का प्रपंच दुःखमय और स्वप्नवत् है, इससे उपराम हो जाओ। कोई कहते हैं कि भगवान्की जो आज्ञा हो उसे किये जाओ; कोई बतलाते हैं कि धर्मशास्त्रोंके बताये मार्गपर चलो, नहीं तो पाप-पङ्कमें फँस जाओगे। कोई सुझाते हैं कि यह जगत् ईश्वरका विकासस्वरूप है, इसकी सेवा करो। कोई समझाते हैं कि भगवान्का भजन-पूजन और स्मरण करना ही एकमात्र कर्तव्य है, इसमें लगे रहो। कोई यह चेत दिलाते हैं कि एक आत्मा ही सर्वत्र व्याप्त है, तुम आत्मा ही हो, अतएव अपने आत्मस्वरूपका अनुसन्धान करते रहो; और कोई यह आदेश देते हैं कि किस पचड़ेमें पड़े हो, निर्विकल्प हो जाओ।

इस प्रकार हमें भिन्न-भिन्न मार्ग बतलाये जाते हैं, इनमेंसे हम कौन मार्ग ग्रहण करें? स्त्री-पुत्रादिकोंका मोह छोड़ा नहीं जाता। यदि हम संसारसे उन्मुख होना भी चाहें तो मनको समाधान नहीं होता; वह कहता है कि संसारकी सत्ता भी तो भगवान्की ही सत्ता है, कुटुम्बीजन भी तो भगवान्के ही अंश हैं। फिर उनको हम क्योंकर छोड़ दें? क्या उनके प्रति हमारा कोई उत्तरदायित्व नहीं है? जब सब कुछ भगवान् ही करते हैं तो वे जो चाहेंगे करायँगे। उनके सामने हमारी स्वतन्त्रता ही क्या है? और जब हम स्वतन्त्र नहीं हैं' तब हमसे यह कहना कि तुम अपने-आपको भगवान्के चरणोंमें समर्पित कर दो कहाँतक ठीक है? भगवान्की प्रेरणा और आज्ञा भी

कैसे समझमें आवे? तात्पर्य यह है कि इन सब बातोंका ऊहापोह हमें जंजालमें फँसा देता है और चित्तमें विभ्रम उत्पन्न हो जाता है। फलतः हमें क्या करना चाहिये, यह बात समझमें नहीं आती। एक रोगकी अनेक ओषधियाँ तो होती हैं; परन्तु किस रोगीको कौन-सी ओषधि अनुकूल पड़ेगी, यह भी तो बताना चाहिये। इसलिये आप हमें बताइये कि हम क्या करें?

उत्तर—प्रश्न ठीक है। उपदेश और साधन साधकोंके स्वभाव, गुण और कर्मोंके अनुसार अलग-अलग हुआ करते हैं; अतएव सब अपने-अपने स्थानपर ही उपयुक्त हैं। मनुष्यके सहज सुन्दर जीवनकी कुंजी तो यही है—

आगेकी सुधि लेय, सहजमें जो बनि आवै।
दुर्जन हँसै न कोय, चित्तमें खेद न पावै॥

अर्थात् जिस कार्यमें लोकापवाद न हो, जिससे अपनेको भय और लज्जाका शिकार न होना पड़े, वही काम करना और भगवान्‌के किसी एक नामपर पूर्ण विश्वास रखकर उसे जपते रहना चाहिये। बस, एकमात्र यही मार्ग श्रेयस्कर और सुलभ है। बाकी सब जंजाल है। अपने कुल, धर्म और मर्यादाके अनुसार आचरण करते हुए श्रद्धा-विश्वास एवं प्रेमपूर्वक हरिनाम लेते रहना ही सब साधनोंका सार है।

प्रश्न—**नाम जपमें—हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।**
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

यह मन्त्र महामन्त्र क्यों माना जाता है? इसमें तो न प्रणव (ॐ) है, न शक्ति-बीज है और न नमस्कार ही है?

उत्तर—इस मन्त्रके 'हरे' शब्दमें ह्रीं बीज निहित है, 'राम' में ॐ कार है और 'कृष्ण' नाममें 'क्लीं' बीज है। सारा मन्त्र ही बीजोंद्वारा शक्तिसे ओतप्रोत है। फिर 'हरे' शब्दमें 'हरि' (विष्णु) और 'हर' (महादेव) दोनोंके ही दर्शन होनेके कारण धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारोंके अधिपति देवोंका स्मरण हो जाता है। धर्म, आचरण और मर्यादाके पुरुषोत्तम श्रीराम हैं; अर्थके अधीश्वर लक्ष्मीपति श्रीविष्णु हैं; कामस्वरूप श्रीकृष्ण हैं और मोक्षके प्रदाता श्रीहर—महादेव हैं। इसीलिये यह मन्त्र महामन्त्र कहलाता है। 'हरे' शब्द सम्बोधनात्मक है, इसलिये इस मन्त्रमें नमस्कार और प्रार्थनाका भी समावेश है। इसलिये यह मन्त्र महामन्त्र ही है। विचार करनेपर इस महामन्त्रकी महिमा, सुन्दरता और गम्भीरता और भी अधिकाधिक प्रस्फुटित होती रहती है।

प्रश्न—जैन सम्प्रदायके लोग चैत्र शुक्ला १३ को और हिंदू लोग चैत्र शुक्ला १५ को अलग-अलग महावीर-जयन्ती मनाते हैं, इसका क्या रहस्य है? दो महावीर कैसे हुए? यह भेद केवल साम्प्रदायिक है अथवा सैद्धान्तिक? इसका स्पष्टीकरण हो जानेसे बहुतोंकी शङ्काका समाधान हो जायगा।

उत्तर—चैत्र शुक्ला १३ को जैनियोंके तीर्थङ्कर श्रीवर्धमान भगवान्‌की जयन्ती है और चैत्र शुक्ला १५ को श्रीहनुमान्‌जीकी। ये दोनों सिद्धान्ततः 'महावीर' कहलाते हैं। पहले 'वीर' शब्दकी व्याख्या करके फिर 'महावीर' की व्याख्या की जायगी,और तदनन्तर यह विवेचन किया जायगा कि किस सिद्धान्तके अनुसार उपर्युक्त दोनों महापुरुष 'महावीर' कहलाये। इन्हीं दोनोंको 'महावीर' की उपाधि क्यों मिली? अन्य तीर्थङ्कर अथवा देवताओंको 'महावीर' क्यों नहीं कहा गया?

'वीर' शब्दकी अनेकों व्याख्याएँ हैं, परन्तु वे पूरी नहीं उतरतीं। जैसे यह कहा जाय कि अतुलित और असाधारण बलवालेको 'वीर' कहते है तो यहाँ यह प्रश्न उठता है कि बलका अभिप्राय किस बलसे है—मनोबलसे, बुद्धिबलसे, तपोबलसे, शारीरिक बलसे अथवा धनबलसे? फिर यह शङ्का होगी कि उस बलका प्रदर्शन उचित होता है या अनुचित, नैतिक होता है या अनैतिक? एक लुटेरा साधारण जनताके मुकाबलेमें अधिक बल दिखाता है, परन्तु वह वीरोंकी गिनतीमें नहीं आ सकता। ऐसे ही यदि 'वीर' का तात्पर्य मनोबलयुक्त पुरुषसे समझा जाय, अर्थात् यह कहा जाय कि मन और इन्द्रियोंको वशमें करनेवालेको 'वीर' कहते हैं, तो भी शङ्काओंका अन्त नहीं होता। क्योंकि हम कइयोंको देखते हैं कि वे भय, लोभ, हठ और अज्ञानसे भी मन और इन्द्रियोंको रोकते हैं। लोहेकी कीलोंपर सोने-वाले, किसी वृक्षकी डालमें हाथ-पैर बाँधकर लटकनेवाले ऐसे ही तो हैं। कहीं-कहीं अशक्त व्यक्तियोंको भी अपना मन रोकना पड़ता है। अतएव यह व्याख्या भी उपयुक्त नहीं हुई। कई लोग विरोधको जीतनेवालोंको 'वीर' कहते हैं, परन्तु यह भी ठीक नहीं जँचता। चोर यदि मालके मालिकको हरा दे तो वह 'वीर' नहीं कहला सकता। फिर विरोधकी भी कोई सीमा नहीं है, अच्छे कामोंका भी विरोध होता है और बुरे कामोंका भी। इसी प्रकार यदि हम कर्मक्षय करनेवालेको 'वीर' कहें तब भी सन्तोष नहीं होता। कर्मोंका क्षय उदासीनता और अकर्मण्यतासे भी हो सकता है। परन्तु प्रमादी और आलसी व्यक्तिको कभी 'वीर' नहीं माना जा सकता!

अस्तु, तब 'वीर' किसको माना जाय? 'वीर' की सुन्दर व्याख्या यह है कि जो नैतिकतासे और अपने शक्तिभर पुरुषार्थसे धर्मके लिये विरोधका सामना करता है, वह 'वीर' है। एक मनुष्य शरीरसे निर्बल है, परन्तु यदि वह निःस्वार्थ-भावसे धर्मपर मर मिटता है तो वह निस्सन्देह 'वीर' है। अतः यदि यह व्याख्या मान्य हो तो अब 'महावीर' की व्याख्या शेष रही। 'महावीर' वही होगा, जो धर्मस्थापनके लिये समय-समय पर अवतरित हो। यह स्वयं भगवान् अथवा भगवत्स्वरूप महापुरुषोंसे ही हो सकता है। इसीलिये गीता-में भगवान्ने यह कहा है—'**धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥**' ईश्वरपदमें वीरताकी सीमा समाप्त हो जाती है; वहीं नैतिकता, पुरुषार्थ और धर्मकी चरम सीमा है। श्रीवर्धमान भगवान् और श्रीरुद्रावतार हनुमान् ईश्वरपदके अधिकारी हैं, इसलिये वे 'महावीर' हो सकते हैं।

संसारमें दो प्रकारकी शक्तियोंके दर्शन होते हैं—एक स्फुरण और विकास, दूसरी संकुचन और विराम; एक स्पन्दन, दूसरा स्तम्भन; एक प्रवृत्ति, दूसरी निवृत्ति; एक पॉजीटिव, दूसरी नेगेटिव। इन दोनोंके दो सिरे अर्थात् आदर्श भी होने अनिवार्य हैं। प्रवृत्तिका आदर्श सेवाभावमें हो सकता है, वहाँ जगत्के सारे प्रपञ्चोंको झेलती हुई दृढ़ निःस्वार्थताका दिग्दर्शन होता है। इसी प्रकार निवृत्तिका उच्चतम लक्ष्य शान्ति है, वहाँ त्याग-वैराग्यके द्वारा ध्येय शान्त पद पाना है। संसारके पूर्ण विकासके समय इन दोनों आदर्शोंको धारण करनेवाले भगवान् श्रीहनूमान् तथा तीर्थङ्कर श्रीवर्धमान हैं, अतएव वे ही पूर्ण ऐश्वर्यवान् हैं। सेवाभावके आदर्श श्रीहनूमान्जी तथा शान्त पदके आदर्श श्रीवर्धमान भगवान् हैं। इसीसे वे महावीर हैं।

षट्कर्म

(लेखक—श्रीकमलाप्रसादसिंहजी)

'हठयोगप्रदीपिका' ग्रन्थके कर्ता स्वात्माराम योगीने १धौति, २वस्ति, ३ नेति, ४ नौलि, ५ कपालभाति और ६ त्राटकको षट्कर्म कहा है। आगे चलकर उन्होंने गजकरणीका भी वर्णन किया है। परन्तु 'भक्तिसागर' ग्रन्थके रचयिता चरणदासजीने १ नेति, २धौति, ३वस्ति, ४गजकर्म, ५न्योली और ६ त्राटकको षट्कर्म कहा है तथा १ कपालभाति, २ धौंकनी, ३ बाघी और ४ शङ्खपषाल—इन चार कर्मोंका नाम लेकर उन्हें षट्कर्मोंके अन्तर्गत कर दिया है। दोनोंमें यही अन्तर है कि एकने गजकर्मको और दूसरेने कपालभातिको षट्कर्मके अन्तर्गत माना है। चूँकि ये षट्कर्मकी शाखामात्र हैं, अतएव इस विभेदका कोई वास्तविक अर्थ नहीं होता।

नियम

षट्कर्मके साधकके लिये हठयोगमें दिखलाये हुए स्थान, भोजन, आचार-विचार आदिके नियमोंको मानना परमावश्यक है। यहाँ यही कहा जा सकता है कि स्थान रमणीक और निरापद, भोजन सात्त्विक—जैसे दूध, घी, घोटा हुआ बादाम और मिश्री आदि पुष्ट और लघु पदार्थ, तथा परिमित होना चाहिये। आचार-विचारसे एकान्त-सेवन, कम बोलना, वैराग्य, साहस इत्यादि समझना चाहिये।

नौलि, नौलिक, नलक्रिया या न्योली

अमन्दावर्त्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् कंधोंको नवाये हुए अत्यन्त वेगके साथ, जलकी भँवरके समान अपनी तुन्दको दक्षिण-वाम भागोंसे घुमानेको सिद्धोंने नौलि-कर्म कहा है।

न्योलो पद्मासन सों करै। दोनों पग घुटनों पर धरै॥
पेट रु पीठ बराबर होय। दहने बायें नलै बिलोय॥
जो गुरु करके ताहि दिखावै। न्योली कर्म सुगम करि पावै॥

(भक्तिसागर)

वास्तवमें तुन्दको दायें-बायें घुमानेका रहस्य किताबोंसे पढ़कर मालूम करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इसका हमने कुछ अनुभव किया है, अतः इसका स्वरूप कुछ यों समझना चाहिये। जब शौच स्नान, प्रातःसन्ध्या आदिसे निवृत्त हो लिये हों और पेट साफ तथा हलका हो गया हो, तब पद्मासन (सिद्धासन या उत्कटासन) लगाकर, रेचक कर, वायुको बाहर रोक, बिना देह हिलाये, केवल मनोबलसे पेटको दायेंसे बायें और बायेंसे दायें चलानेकी भावना करे और

तदनुकूल प्रयास करे। इसी प्रकार सायं-प्रातः स्वेद आनेतक प्रतिदिन अभ्यास करते-करते पेटकी स्थूलता जाती रहती है। तदनन्तर यह सोचना चाहिये कि दोनों कुक्षियाँ दब गयीं और बीचमें दोनों ओरसे दो नल जुटकर मूलाधारसे हृदयतक एक गोलाकार खंभ खड़ा हो गया। यही खंभा जब बँध जाय, तब नौलि सुगम हो जाती है। मनोबल और प्रयासपूर्वक अभ्यास बढ़ानेसे यह खंभा दायें-बायें घूमने लगता है। इसे चलानेमें छातीके समीप, कण्ठपर और ललाटपर भी नाडियोंका द्वन्द्व मालूम पड़ता है। एक बार न्योली चल जानेपर चलती रहती है। पहले-पहल चलनेके समय दस्त ढीला होता है। जिसका पेट हलका है तथा जो प्रयासपूर्वक अभ्यास करता है, उसको एक महीनेके भीतर ही न्योली सिद्ध हो जायगी।

इस क्रियाका आरम्भ करनेसे पहले पश्चिमतानासन और मयूरासनका थोड़ा अभ्यास कर लिया हो तो यह क्रिया शीघ्र सिद्ध हो जाती है। जबतक आँत पीठके अवयवोंसे भलीभाँति पृथक् न हो तबतक आँत उठानेकी क्रिया सावधानीके साथ करे, अन्यथा आँतें निर्बल हो जायँगी। किसी-किसी समय आघात पहुँचकर उदररोग, शोथ, आमवात, कटिवात, गृध्रसी कुब्जवात, शुक्रदोष या अन्य कोई रोग हो जाता है। अतः इस क्रियाको शान्तिपूर्वक करना चाहिये। अँतड़ीमें शोथ, क्षतादिदोष या पित्तप्रकोपजनित अतिसारप्रवाहिका (पेचिश), संग्रहणी आदि रोगोंमें नौलिक्रिया हानिकारक है।

मैल पेटमें रहन न पावै। अपान वायु तासां वश आवै॥
तापतिली अरु गोला शूल। रहन न पावैं नेक न मूल॥
और उदरके रोग कहावैं। सो भी वे रहने नहिं पावैं॥

(भक्तिसागर)

मन्दाग्निसन्दीपनपाचनादि-
सन्धापिकाऽऽनन्दकरी सदैव।
अशेषदोषामयशोषणी च
हठक्रियामौलिरियं च नौलिः॥

(हठयोगप्रदीपिका)

'यह नौलि मन्दाग्निका भली प्रकार दीपन और अन्नादिका पाचन और सर्वदा आनन्द करती है और समस्त वात आदि दोष और रोगका शोषण करती है। यह नौलि हठयोगकी सारी क्रियाओंमें उत्तम है।'

अँतड़ियोंके नौलिके वश होनेसे पाचन और मलका बाहर होना स्वाभाविक है। नौलि करते समय साँसकी क्रिया तो रुक ही जाती है। नौलि कर चुकनेपर कण्ठके समीप एक सुन्दर अकथनीय स्वाद मिलता है। यह हठयोगकी सारी क्रियाओंसे श्रेष्ठ इसलिये है कि नौलि जान लेनेपर तीनों बन्ध सुगम हो जाते हैं। अतएव यह प्राणायामकी सीढ़ी है। धौति, वस्तिमें भी नौलिकी आवश्यकता होती है। शङ्खपषाली क्रियामें भी, जिसमें मुखसे जल ले अँतड़ियोंमें घुमाते हुए गुदाद्वारा ठीक उसी प्रकार निकाल दिया जाता है जैसे शङ्खमें एक ओरसे जल देनेपर घूमकर जल दूसरी राहसे निकल जाता है, नौलि सहायक है। नौलिक्रियाकी नकल यन्त्रों द्वारा पाश्चात्त्योंसे अभीतक न बन पड़ी है।

वस्तिकर्म

वस्ति मूलाधारके समीप है। रंग लाल है और इसके देवता गणेश हैं। वस्तिको साफ करनेवाले कर्मको 'वस्तिकर्म' कहते हैं। 'योगसार' पुस्तकमें पुराने गुड़, त्रिफला और चीतेकी छालके रससे बनी गोली देकर अपानवायुको वश करनेको कहा है। फिर वस्तिकर्मका अभ्यास करना कहा है।

वस्तिकर्म दो प्रकारका है—१ पवनवस्ति, २ जलवस्ति। नौलिकर्मद्वारा अपानवायुको ऊपर खींच पुनः मयूरासनसे त्यागनेको 'वास्तिकर्म' कहते हैं। पवनवस्ति पूरी सध जानेपर जलवस्ति सुगम हो जाती है, क्योंकि जलको खींचनेका कारण पवन ही होता है। जब जलमें डूबे हुए पेटसे न्योली हो जाय, तब नौलिसे जल ऊपर खिंच जायगा।

नाभिदध्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः।
आधाराकुञ्चनं कुर्यात् क्षालनं वस्तिकर्म तत्॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् गुदाके मध्यमें छः अंगुल लम्बी बाँसकी नलीको रखे जिसका छिद्र कनिष्ठिका अँगुलीके प्रवेशयोग्य हो; उसे घी अथवा तेल लगाकर सावधानीके साथ चार अंगुल गुदामें प्रवेश करे और दो अंगुल बाहर रखे। पश्चात् बैठनेपर नाभितक जल आ जाय इतने जलसे भरे हुए टबमें उत्कटासनसे बैठे अर्थात् दोनों पार्ष्णियों—पैरकी एड़ियोको मिलाकर खड़ी रखकर उनपर अपने स्फिच (चूतड़)-को रखे और पैरोंके अग्रभागपर बैठे और उक्त आसनसे बैठकर आधाराकुंचन करे, जिससे वृहद् अन्त्रमें अपने-आप जल चढ़ने लगेगा। बादमें भीतर प्रविष्ट हुए जलको नौलिक्रमसे चलाकर त्याग दे। इस जलके साथ अन्त्रस्थित मल, आँव, कृमि, अन्त्रोत्पन्न सेन्द्रिय विष आदि बाहर निकल आते हैं।

इस उदरके क्षालन (धोने)-को वस्तिकर्म कहते हैं। धौति, वस्ति दोनों कर्म भोजनसे पूर्व ही करने चाहिये और इनके करनेके अनन्तर खिचड़ी आदि हल्का भोजन शीघ्र कर लेना चाहिये, उसमें विलम्ब नहीं करना चाहिये। वस्तिक्रिया करनेसे जलका कुछ अंश बृहद् अन्त्रमें शेष रह जाता है, वह धीरे-धीरे मूत्रद्वारा बाहर आवेगा। यदि भोजन नहीं किया जायगा तो वह दूषित जल अन्त्रोंसे सम्बद्ध सूक्ष्म नाडियोंद्वारा शोषित होकर रक्तमें मिल जायगा। कुछ लोग पहले मूलाधारसे प्राणवायुके आकर्षणका अभ्यास करके और जलमें स्थित होकर गुदामें नालप्रवेशके बिना ही वस्तिकर्मका अभ्यास करते हैं। उस प्रकार वस्तिकर्म करनेसे उदरमें प्रविष्ट हुआ सम्पूर्ण जल बाहर नहीं आ सकता और उसके न आनेसे धातुक्षय आदि नाना दोष होते हैं। इससे उस प्रकार वस्तिकर्म नहीं करना चाहिये। अन्यथा 'न्यस्तनाल:' (अपनी गुदामें नाल रखकर) ऐसा पद स्वात्माराम क्यों देते? यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि छोटे-छोटे जलजन्तुओंका नलद्वारा पेटमें प्रविष्ट हो जानेका भय रहता है। अतएव नलके मुखपर महीन वस्त्र देकर आकुञ्चन करना चाहिये। और जलको बाहर निकालनेके लिये खड़ा पश्चिम-तान आसन करना चाहिये।

कई साधक तालाब या नदीमेंसे जलका आकर्षण करते हैं, जिससे कभी-कभी जलके साथ सूक्ष्म जहरीले जन्तु आँतोंमें प्रवेशकर नाना प्रकारके रोग उत्पन्न कर देते हैं। किंच गंगाजी और हिमालयसे निकलनेवाली अनेक बड़ी-बड़ी नदियोंका जल अधिक शीतल होनेके कारण न्यून शक्तिवालोंको इच्छित लाभके स्थानमें हानि पहुँचा देता है। जल अधिक शीतल होनेसे उसे शोषण करनेकी क्रिया सूक्ष्म नाडियोंद्वारा तुरंत चालू हो जाती है और शीतल जलसे आँव या कफकी उत्पत्ति होती है। अत: टब या अन्य किसी बड़े बरतनमें बैठकर शुद्ध और सहन हो सके, ऐसे शीतल जलका आकर्षण करना विशेष हितकर है।

हठयोग, आयुर्वेद और पाश्चात्त्य ऐलोपैथिक आदि चिकित्साशास्त्रोंकी वस्तिक्रिया भिन्न-भिन्न प्रकारकी है। हठयोगमें आन्तरिक बलसे जल खींचा जाता है। आयुर्वेदमें रोगानुसार भिन्न-भिन्न ओषधियोंके घृत-तैल-क्वाथादि चढ़ाये जाते हैं। पाश्चात्त्योंने इसी क्रियाके लिये एक यन्त्रका आविष्कार किया है, जिसे 'एनिमा' या 'डूश' कहते हैं। साबुन मिला हुआ गुनगुना जल, रेड़ीका तेल तथा ग्लिसरीन आदि मलशोधक ओषधि यन्त्रद्वारा गुदाके मार्गसे आँतमें चढ़ाते हैं। पश्चिममें इसकी चाल इतनी बढ़ गयी है कि बहुत लोग तो सप्ताहमें एक बार एनिमा लगाना आवश्यक समझने लगे हैं। इस एनिमाद्वारा वस्तिकर्मके समान लाभ नहीं होता, क्योंकि चढ़ा हुआ सप्पूर्ण जल तो बाहर आ नहीं सकता। बल्कि कभी-कभी तो ऐसा भी देखा जाता है कि जलका अधिकांश भीतर रहकर भयंकर हानि कर देता है। और अपने उद्योग और परिश्रमद्वारा जो जल चढ़ाया जाता है, उसमें तथा जो जलयन्त्रद्वारा पेटमें चढ़ाया जाता है उसमें उतना ही अन्तर है जितना दस मील पैदल और मोटरपर टहलनेमें है। इसके अतिरिक्त गरम जल चढ़ानेके कारण वीर्यस्थान और मूत्रस्थानको उष्णता पहुँचती है, जिससे थोड़ी हानि तो बार-बार पहुँचती रहती है। यह दोष हठयोगकी वस्तिमें नहीं है।

यही जु बस्तो कर्म है, गुरु बिनु पावै नाहिं।
लिंग-गुदाके रोग जो, गर्मीके नशि जाहिं॥

(भक्तिसागर)

वस्तिकर्ममें मूलाधारके पीड़ित और प्रक्षालित होनेसे लिंग और गुदाके रोगोंका नाश होना स्वाभाविक है।

गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवा:।
वस्तिकर्मप्रभावेन क्षीयन्ते सकलामया:॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् वस्तिकर्मके प्रभावसे गुल्म, प्लीहा, उदर (जलोदर) और वात-पित्त-कफ इनके द्वन्द्व या एकसे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण रोग नष्ट होते हैं।

धात्विन्द्रियान्त:करणप्रसादं
दद्याच्च कान्तिं दहनप्रदीप्तिम्।
अशेषदोषोपचयं निहन्या-
दभ्यस्यमानं जलवस्तिकर्म॥

(हठयोगप्रदीपिका)

'अभ्यास किया हुआ यह वस्तिकर्म साधकके सप्त धातुओं, दस इन्द्रियों और अन्त:करणको प्रसन्न करता है। मुखपर सात्त्विक कान्ति छा जाती है। जठराग्नि उद्दीप्त होती है। वात-पित्त-कफ आदि दोषोंकी वृद्धि और न्यूनता दोनोंको नष्ट कर साम्यरूप आरोग्यको करता है।' हाँ, एक बात इस सम्बन्धमें अवश्य ध्यान देनेकी है कि वस्तिक्रिया करनेवालोंको पहले नेति और धौतिक्रिया

करनी ही चाहिये, जिनका वर्णन नीचे दिया जाता है। अन्य क्रियाओंके लिये ऐसा नियम नहीं है।

राजयक्ष्मा (क्षय), सङ्ग्रहणी, प्रवाहिका, अधोरक्त-पित्त, भगन्दर, मलाशय और गुदामें शोध, सन्ततज्वर, आन्त्रसन्निपात (हल्का Typhoid), आन्त्रशोथ, आन्त्रव्रण, कफवृद्धि-जनित तीक्ष्ण श्वासप्रकोप इत्यादि रोगोंमें वस्तिक्रिया नहीं करनी चाहिये।

यह वस्तिक्रिया भी प्राणायामका अभ्यास चालू होनेके बाद नित्य करनेकी नहीं है। नित्य करनेसे आन्त्रशक्ति परावलम्बिनी और निर्बल हो जायगी, जिससे बिना वस्तिक्रियाके भविष्यमें मलशुद्धि नहीं होगी। जैसे तम्बाकू और चायके व्यसनीको तम्बाकू और चाय पिये बिना शौच नहीं होता, वैसे नित्य वस्तिकर्म अथवा षट्कर्म करनेवालोंकी स्वाभाविक आन्तरिक शक्तिके बलसे शरीर-शुद्धि नहीं होती।

धौतिकर्म

चतुरङ्गुलविस्तारं हस्तपञ्चदशायतम्।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत्॥
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत्।

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् चार अंगुल चौड़े और पंद्रह हाथ लम्बे महीन वस्त्रको गरम जलमें भिगोकर थोड़ा निचोड़ ले। फिर गुरूपदिष्ट मार्गसे धीरे-धीरे प्रतिदिन एक-एक हाथ उत्तरोत्तर निगलनेका अभ्यास बढ़ाता जाय। आठ-दस दिनमें पूरी धोती निगलनेका अभ्यास हो सकता है। करीब एक हाथ कपड़ा बाहर रहने दिया जाय। मुखमें जो प्रान्त रहे, उसे दाढ़ोंसे भली प्रकार दबा नौलिकर्म करे। फिर धीरे धीरे वस्त्र निकाले। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि वस्त्र निगलनेके पहले पूरा जल पी लेना चाहिये। इससे कपड़ेके निगलनेमें सुभीता तथा कफ-पित्तका उसमें सटना आसान हो जाता है और कपड़ेको बाहर निकलनेमें भी सहायता मिलती है। धौतिको रोज साबुनसे धोकर स्वच्छ रखना चाहिये। अन्यथा धौतिमें लगे हुए दूषित कफरूप विजातीय द्रव्यके परमाणु पुनः दूसरे दिन भीतर जाकर हानि पहुँचावेंगे।

अनेक साधक बाँसकी नवीन करची (काईन, भोजपुरी भाषामें) या वटका बरोह सवा हाथका लेकर पहले जल पी, पीछे शनैःशनैः निगलनेका अभ्यास करते हैं। सूतकी एक चढ़ाव-उतराववाली रस्सीसे भी धौति साधते हैं। जब-जब निगलते हैं, तब-तब जल बाहर निकलने लगता है और करची आदिको भीतर घुसनेमें भी सुभीता होता है।

धौतिकर्ममें कोई-कोई तो लाल वस्त्रका प्रयोग करते हैं और इस क्रियाको दूरसे देखनेवाले यह अफवाह उड़ा देते हैं कि उन्होंने अमुक महात्माको अपनी अँतड़ियाँ और कलेजा निकालकर धोते देखा था, अपनी आँखों देखा था । इससे यद्यपि योगियोंकी मान्यता बढ़ती है, तथापि झूठका प्रचार होता है।

कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः।
धौतिकर्मप्रभावेण प्रयान्त्येव न संशयः॥

(हठयोगप्रदीपिका)

काया होवै शुद्ध ही, भजैं पित्त कफ रोग।
शुकदेव कहैं धोती करम, साधैं योगी लोग॥

(भक्तिसागर)

पाश्चात्योंने Stomach Tube (स्टॉमक ट्यूब) बनाया है। कोई एक-सवा हाथकी रबरकी नली रहती है, जिसका एक मुख खुला रहता है और दूसरे सिरेसे कुछ ऊपर हटकर बगलमें एक छेद होता है। जल पीकर खुला सिरा ऊपर रखकर दूसरा सिरा निगला जाता है और जल रबरकी नलिकाद्वारा गिर जाता है।

चाहे किसी प्रकारकी धौति क्यों न हो, उससे कफ, पित्त और रंग-बिरंगे पदार्थ बाहर गिरते हैं। ऊपरकी नाडीमें रहा हुआ एकाध अन्नका दाना भी गिरता है। दाँत खट्टा-सा हो जाता है। परन्तु मन शान्त और प्रसन्न हो जाता है। वसन्त या ग्रीष्मकालमें इसका साधन अच्छा होता है।

घटिका, कण्ठनलिका या श्वासनलिकामें शोथ, शुष्क काश, हिक्का, वमन, आमाशयमें शोथ, ग्रहणी, तीक्ष्ण अतिसार, ऊर्ध्व रक्तपित्त (मुँहसे रक्त गिरना) इत्यादि कोई रोग हो, तब धौतिक्रिया लाभदायक नहीं होती। और आवश्यकता न रहनेपर इस क्रियाको प्रतिदिन करनेसे पाचनक्रियामें उपयोगी पित्त और कफ धौति निगलनेके कारण विकृत होकर बाहर निकलते रहेंगे, जिससे पाचनक्रिया मन्द होकर शरीरमें निर्बलता आ जायगी। पित्तप्रकोपसे ग्रहणीकला दूषित होनेपर धौतिक्रिया की जायगी तो किसी समय धौतिका भाग आमाशय

और लघु अन्त्रके सन्धिस्थानमें जाकर फँस जायगा। इसी प्रकार धौति फट जानेपर भी उसके फँस जानेका भय रहता है। यदि ऐसा हो जाय तो थोड़ा गरम जल पीकर ब्रह्मदातुन चलानेसे धौति निकलकर बाहर आ जायगी। इन कारणोंसे पित्तप्रकोपजन्य रोगोंमें धौतिका उपयोग करना अनुचित माना गया है।

नेतिकर्म

नेति दो प्रकारकी होती है—जलनेति और सूत्रनेति। पहले जलनेति करनी चाहिये। प्रात:काल दन्तधावनके पश्चात् जो साँस चलती हो, उसीसे चुल्लूमें जल ले और दूसरी साँस बंदकर जल नाकद्वारा खींचे। जल मुखमें चला जायगा। सिरके पिछले सारे हिस्सेमें, जहाँ मस्तिष्कका स्थान है, उस कर्मके प्रभावसे गुदगुदाहट और सनसनाहट या गिनगिनाहट पैदा होगी। अभ्यास बढ़नेपर आगे ऐसा नहीं होगा। कुछ लोग नासिकाके एक छिद्रसे जल खींचकर दूसरे छिद्रसे निकालनेकी क्रियाको 'जलनेति' कहते हैं। एक समयमें आध सेरसे एक सेरतक जल एक नासापुटसे चढ़ाकर दूसरे नासापुटसे निकाला जा सकता है। एक समय एक तरफसे जल चढ़ाकर दूसरे समय दूसरी तरफसे चढ़ाना चाहिये। जलनेतिसे नेत्रज्योति बलवती होती है। यह स्कूल और कॉलिजके विद्यार्थियोंके लिये भी हितकर है। तीक्ष्ण नेत्ररोग, तीक्ष्ण अम्लपित्त और नये ज्वरमें जलनेति नहीं करनी चाहिये। अनेक मनुष्य रोज सुबह नासापुटसे जल पीते हैं। यह क्रिया हितकर नहीं है। कारण, जो दोष नासिकामें संचित होंगे वे आमाशयमें चले जायँगे। अत: उष:पान तो मुँहसे ही करना चाहिये। जलनेतिके अनन्तर सूत्र लेना चाहिये। महीन सूतकी दस-पन्द्रह तारकी एक हाथ लम्बी बिना बटी डोरको, जिसका छ:-सात इंच लम्बा एक प्रान्त बटकर क्रमश: पतला बना दिया गया हो, पिघले हुए मोमसे चिकना बनाकर जलमें भिगो लेना उचित है। फिर इस स्निग्ध भागको भी थोड़ा मोड़कर जिस छिद्रसे वायु चलती हो उस छिद्रमें लगाकर और नाकका दूसरा छेद अँगुलीसे बन्दकर, खूब जोरसे बारम्बार पूरक करनेसे सूतका भाग मुखमें आ जाता है। तब उसे तर्जनी और अंगुष्ठसे पकड़कर बाहर निकाल ले। पुन: नेतिको धोकर दूसरे छिद्रमें डालकर मुँहमेंसे निकाल ले। कुछ दिनके अभ्यासके बाद एक हाथसे सूतको मुँहसे खींचकर और दूसरेसे नाकवाला प्रान्त पकड़कर धीरे-धीरे चालन करे। इस क्रियाको 'घर्षणनेति' कहते हैं। इसी प्रकार नाकके दूसरे रन्ध्रसे भी, जब वायु उस रन्ध्रसे चल रहा हो, अभ्यास करे। इससे भीतर लगा हुआ कफ पृथक् होकर नेतिके साथ बाहर आ जाता है। नाकके एक छिद्रसे दूसरे छिद्रमें भी सूत चलाया जाता है, यद्यपि कुछ लोग इसे दोषयुक्त मानकर इसकी उपेक्षा करते हैं। उसका क्रम यह है कि सूत नाकके एक छिद्रसे पूरकद्वारा जब खींचा जाता है तो रेचक मुखद्वारा न कर दूसरे रन्ध्रद्वारा करना चाहिये। इस प्रकार सूत एक छिद्रसे दूसरे छिद्रमें आ जाता है। इस क्रियाके करनेमें किसी प्रकारका भय नहीं है। सध जानेपर इसे तीसरे दिन करना चाहिये। जलनेति प्रतिदिन कर सकते हैं। नेति डालनेमें किसी-किसीको छींक आने लगती है, इसलिये एक दो सेकण्ड श्वासोच्छ्वासकी क्रियाको बंद करके नेति डालनी चाहिये।

नाक कान अरु दाँतका रोग न व्यापै कोय।
उज्ज्वल होवे नैन ही, नित नेती कर सोय॥

(भक्तिसागर)

कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी।
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च॥

(हठयोगप्रदीपिका)

'नेति कपालको शुद्ध करती है, दिव्यदृष्टि देती है। स्कन्ध, भुजा और सिरकी सन्धिके ऊपरके सारे रोगोंको नेति शीघ्र ही नष्ट करती है।' प्राय: देखा जाता है कि रबरकी या दूसरे प्रकारकी नलिकासे शौकीन लोग नाकद्वारा जल पिया करते हैं। इसकी महत्ता भी लोगोंपर विदित है।

कफसे या नेतिके कारण नासिकाके ऊपरके भागमें दर्द हो, रक्त निकले या जलन हो तो गोघृत दिनमें दो बार सूँघे। घृतको हथेलीमें लेकर एक नासापुट बन्दकर दूसरे नासापुटसे सूँघे, तब वह ऊपर चढ़ेगा। पाण्डु, कामला, अम्लपित्त, ऊर्ध्व रक्तपित्त, पित्तज्वर, नासिकामें दाह, नेत्रदाह, नेत्राभिष्यन्द (नेत्रोंकी लाली,) मस्तिष्कदाह इत्यादि पित्तप्रकोपजन्य रोगोंमेंसे कोई रोग हो तो इस नेतिका उपयोग न करे। अधिक आवश्यकता हो तो सम्हालपूर्वक करे, परन्तु घर्षणक्रिया न करे। पित्तप्रकोपके समय जलनेतिका उपयोग हितकर है।

त्राटककर्म

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहित:।
अश्रुसम्पातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम्॥

(हठयोगप्रदीपिका)

'समाहित अर्थात् एकाग्रचित्त हुआ मनुष्य निश्चल दृष्टिसे सूक्ष्म लक्ष्यको अर्थात् लघु पदार्थको तबतक देखे, जबतक अश्रुपात न होवे। इसे मत्स्येन्द्र आदि आचार्योंने त्राटककर्म कहा है।'

त्राटककर्म टकटकी लागे। पलक पलक सो मिलै न तागे॥
नैन उघारे ही नित रहै। होय दृष्टि फिर शुकदेव कहै॥
आँख उलटि त्रिकुटीमें आनौ। यह भी त्राटककर्म पिछानौ॥
जैसे ध्यान नैनके होई। चरणदास पूरण हो सोई॥

सफेद दीवारपर सरसोंबराबर काला चिह्न दे, उसीपर दृष्टि ठहराते-ठहराते चित्त समाहित और दृष्टि शक्तिसम्पन्न हो जाती है। मेस्मेरिज़्ममें जो शक्ति आ जाती है, वही शक्ति त्राटकसे भी प्राप्य है।

मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम्।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम्॥

(हठयोगप्रदीपिका)

'त्राटक नेत्ररोगनाशक है। तन्द्रा, आलस्यादिको भीतर नहीं आने देता। त्राटककर्म संसारमें इस प्रकार गुप्त रखनेयोग्य है, जैसे सुवर्णकी पेटी संसारमें गुप्त रखी जाती है।' क्योंकि—

भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता।

उपनिषदोंमें त्राटकके आन्तर, बाह्य और मध्य—इस प्रकार तीन भेद किये गये हैं। हठयोगके ग्रन्थोंमें प्रकारभेद नहीं है। उक्त तीनों भेदोंका वर्णन क्रमशः नीचे दिया जाता है।

हृदय अथवा भ्रूमध्यमें नेत्र बन्द रखकर एकाग्रता-पूर्वक चक्षुवृत्तिकी भावना करनेको 'आन्तर त्राटक' कहते हैं। इस आन्तर त्राटक और ध्यानमें बहुत अंशोंमें समानता है। भ्रूमध्यमें त्राटक करनेसे आरम्भमें कुछ दिनोंतक कपालमें दर्द हो जाता है तथा नेत्रकी बरौनीमें चंचलता प्रतीत होने लगती है। परन्तु कुछ दिनोंके पश्चात् नेत्रवृत्तिमें स्थिरता आ जाती है। हृदयदेशमें वृत्तिकी स्थिरताके लिये प्रयत्न करनेवालोंको ऐसी प्रतिकूलता नहीं होती।

चन्द्र, प्रकाशित नक्षत्र, पर्वतके तृणाच्छादित शिखर अथवा अन्य किसी दूरवर्ती लक्ष्यपर दृष्टि स्थिर करनेकी क्रियाको बाह्य त्राटक कहते हैं। केवल सूर्यपर त्राटक करनेकी मनाही है। कारण, सूर्य और नेत्रज्योतिमें एक ही प्रकारकी शक्ति होनेसे नेत्र-शक्ति सूर्यमें आकर्षित होती रहेगी, जिससे नेत्र दो-ही-तीन मासमें कमजोर हो जायँगे। यदि सूर्यपर त्राटक करना हो तो जलमें पड़े हुए सूर्यके प्रतिबिम्बपर करे। इस प्रकार किसी दूरवर्ती पदार्थपर त्राटक करनेकी क्रियाको 'बाह्य त्राटक' कहते हैं।

काली स्याहीसे कागजपर लिखे हुए 'ॐ' बिन्दु, किसी देवमूर्ति अथवा भगवान्के चित्र, मोमबत्ती या तिलके तेलकी अचल बत्ती या बत्तीके प्रकाशसे प्रकाशित धातुकी मूर्ति, नासिकाके अग्रभाग या समीपवर्ती किसी अन्य लक्ष्यपर दृष्टि स्थिर रखनेकी क्रियाको 'मध्यत्राटक' कहते हैं। केवल भ्रूमध्यमें खुले नेत्रसे देखनेकी क्रिया प्रारम्भमें अधिक समय न करो, अन्यथा नेत्रोंकी नाड़ियाँ निर्बल होकर दृष्टि कमजोर (Short Sight) हो जायगी।

इन तीनों प्रकारके त्राटकके अधिकारी भी भिन्न-भिन्न हैं। जिस साधककी पित्तप्रधान प्रकृति हो, जिसके मस्तिष्क, नेत्र, नासिका या हृदयमें दाह रहता हो, नेत्रमें फूला, जाला या अन्य कोई रोग हो, वह केवल आन्तर त्राटकका अधिकारी है। यदि वह बाह्य लक्ष्यपर त्राटक करेगा तो नेत्रको हानि पहुँचेगी। जिनकी दृष्टि दूरकी वस्तुओंके लिये कमजोर हो, जिनकी वातप्रधान प्रकृति हो या जिन्हें शुक्रकी निर्बलता हो, वे समीपस्थ मूर्ति आदिपर त्राटक न करें। चन्द्रादि उज्ज्वल लक्ष्यपर त्राटक करें। जिनकी दृष्टि दोषरहित हो, त्रिधातु सम हों, कफप्रधान प्रकृति हो, नेत्रोंकी ज्योति पूर्ण हो वे 'मध्य त्राटक' करें।

जिनको दो-चार वर्ष पहले उपदंश (Syphilis) या सुजाक (Gonorrhea) रोग हुआ हो अथवा जो अम्लपित्त, जीर्णज्वर, विषमज्वर, मज्जातन्तु-विकृति, पित्ताशयविकृति इत्यादि किसी व्यथासे पीड़ित हों अथवा तम्बाकू, गाँजा आदिके व्यसनी हों, वे किसी प्रकारका त्राटक न करें। इसी प्रकार मानसिक चिन्ता, क्रोध, शोक, पुस्तकोंका अध्ययन, सूर्यताप या आँचका सेवन करनेवाले भी इस त्राटककी क्रियामें प्रवृत्त न हों।

पाश्चात्योंका अनुकरण करनेवाले कुछ लोग मद्यपान, मांसाहार तथा अम्ल पदार्थादि अपथ्य वस्तुओंका सेवन करते हुए भी 'मेस्मेरिज़्म' विद्याकी सिद्धिके लिये त्राटक किया करते हैं। परन्तु ऐसे लोगोंका अभ्यास पूर्ण नहीं होता। अनेकोंके नेत्र चले जाते हैं, और अनेकों पागल हो जाते हैं। जिन्होंने पथ्यका पालन किया है, वही सिद्धि प्राप्त कर सके हैं।

यम-नियमपूर्वक आसनोंके अभ्याससे नाड़ीसमूह

मृदु हो जानेपर ही त्राटक करना चाहिये। कठोर नाड़ियोंको आघात पहुँचते देरी नहीं लगती। त्राटकके जिज्ञासुओंके लिये आसनोंके अभ्यासके परिपाककालमें नेत्रके व्यायामका अभ्यास करना विशेष लाभदायक है। प्रात:कालमें शान्तिपूर्वक दृष्टिको शनै:-शनै: बायें, दायें, नीचेकी ओर, ऊपरकी ओर चलानेकी क्रियाको नेत्रका व्यायाम कहते हैं। इस व्यायामसे नेत्रकी नसें दृढ़ होती हैं। इसके अनन्तर त्राटक करनेसे नेत्रको हानि पहुँचनेकी भीति कम हो जाती है।

त्राटकके अभ्याससे नेत्र और मस्तिष्कमें उष्णता बढ़ जाती है। अत: नित्य जलनेति करनी चाहिये। तथा रोज सुबह त्रिफलाके जलसे अथवा गुलाबजलसे नेत्रोंको धोना चाहिये। भोजनमें पित्तवर्द्धक और मलावरोध (कब्ज) करनेवाले पदार्थोंका सेवन न करे। नेत्रमें आँसू आ जानेके बाद फिर उस दिन दूसरी बार त्राटक न करे। केवल एक ही बार प्रात:कालमें करे। वास्तवमें त्राटकके अनुकूल समय रात्रिके दोसे पाँच बजेतक है। शान्तिके समयमें चित्तकी एकाग्रता बहुत शीघ्र होने लगती है। एकाध वर्षपर्यन्त नियमितरूपसे त्राटक करनेसे साधकके सङ्कल्प सिद्ध होने लगते हैं, दूसरे मनुष्योंके हृदयका भाव मालूम होने लगता है, सुदूर स्थानमें स्थित पदार्थ अथवा घटनाका सम्यक् प्रकारसे बोध हो जाता है।

गजकर्म या गजकरणी

गजकर्म यहि जानिये, पियै पेट भरि नीर।
फेरि युक्तिसों काढ़िये, रोग न होय शरीर॥

हाथी जैसे सूँड़से जल खींच फिर फेंक देता है, वैसे गजकर्ममें किया जाता है। अत: इसका नाम गजकर्म या गजकरणी हुआ। यह कर्म भोजनसे पहले करना चाहिये। विषयुक्त या दूषित भोजन करनेमें आ गया हो तो भोजनके पीछे भी किया जा सकता है। प्रतिदिन दन्तधावनके पश्चात् इच्छाभर जल पीकर अँगुली मुखमें दे उलटी कर दे। क्रमश: बढ़ा हुआ अभ्यास इच्छामात्रसे जल बाहर फेंक देगा। भीतर गये जलको न्योलीकर्मसे भ्रमाकर फेंकना और अच्छा होता है। जब जल स्वच्छ आ जाय, तब जानना चाहिये कि अब मैल मुखकी राह नहीं है। पित्तप्रधान पुरुषके लिये यह क्रिया हितकर है।

कपालभातिकर्म

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससम्भ्रमौ।
कपाल भातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् लोहारकी भाथीके समान अत्यन्त शीघ्रतासे क्रमश: रेचक-पूरक प्राणायामको शान्तिपूर्वक करना योगशास्त्रमें कफदोषका नाशक कहा गया है तथा 'कपालभाति' नामसे विख्यात है।

जब सुषुम्णामेंसे अथवा फुफ्फुसमेंसे श्वासनलिकाद्वारा कफ बार-बार ऊपर आता हो अथवा प्रतिश्याय (जुकाम) हो गया हो, तब सूत्रनेति और धौतिक्रियासे इच्छित शोधन नहीं होता। ऐसे समयपर यह कपालभाति लाभदायक है। इस क्रियासे फुफ्फुस और समस्त कफवहा नाड़ियोंमें इकट्ठा हुआ कफ कुछ जल जाता है और कुछ प्रस्वेदद्वारा बाहर निकल जाता है, जिससे फुफ्फुस-कोषोंकी शुद्धि होकर फुफ्फुस बलवान् होते हैं। साथ-साथ सुषुम्णा, मस्तिष्क और आमाशयकी शुद्धि होकर पाचनशक्ति प्रदीप्त होती है। परन्तु उर:क्षत हृदयकी निर्बलता, वमनरोग, हृल्लास (उबाक), हिक्का, स्वरभंग, मनकी भ्रमित अवस्था, तीक्ष्ण ज्वर, निद्रानाश, ऊर्ध्व रक्तपित्त, अम्लपित्त इत्यादि दोषोंके समय, यात्रामें, और वर्षा हो रही हो ऐसे समयपर इस क्रियाको न करे।

यदि यह क्रिया अधिक वेगपूर्वक की जायगी तो किसी नाड़ीमें आघात पहुँच सकता है। और शक्तिसे अधिक प्रमाणमें की जायगी तो फुफ्फुसकोषोमें शिथिलता आ जायगी, जिससे वायुको बाहर फेंकनेकी शक्ति न्यून हो जायगी, जीवनी-शक्ति भी क्षीण हो जायगी तथा फुफ्फुसोंमें वायु शेष रहकर बार-बार डकार बनकर मुँहमेंसे निकलता रहेगा।

इस क्रियासे आमाशयमें संगृहीत दूषित पित्त, पाक न होकर शेष रहा हुआ आहार-रस और विकृत श्लेष्म जलमें मिश्रित होकर वमनके साथ बाहर आ जाते हैं। कुछ जल आमाशयमें से अन्त्रमें चला जाता है। कुछ सूक्ष्म नाड़ियोंद्वारा रक्तमें मिल जाता है। परन्तु इससे कुछ भी हानि नहीं होती। वह जल मल-मूत्रद्वारसे और प्रस्वेदरूपसे एक-दो घण्टेमें बाहर निकल जाता है। इस क्रियाको करनेवालेके लिये भोजनमें खिचड़ी अथवा दूध-भात लेना विशेष हितकर है।

अजीर्ण, धूपमें भ्रमणसे पित्तवृद्धि, पित्तप्रकोपजन्य रोग, जीर्ण कफ-व्याधि, कृमि, रक्तविकार, आमवात,

विषविकार और त्वचारोगादि व्याधियोंको दूर करनेके लिये यह क्रिया गुणकारी है।

तीक्ष्ण कफप्रकोप, वमनरोग, अन्त्रनिर्बलता, क्षतयुक्त संग्रहणी, हृदयकी निर्बलता एवं उर:क्षतादि रोगोंमें यह क्रिया न करे। इसी प्रकार आवश्यकता न होनेपर इस क्रियाको नित्य न करे। शरद्-ऋतुमें स्वाभाविक पित्तवृद्धि होती रहती है। ऐसे समयपर आवश्यकतानुसार यह क्रिया की जा सकती है।

सच्ची साधना और उसका मुख्य ध्येय

(लेखक—पं० श्रीदामोदरजी उपाध्याय)

त्रिलोकीने नाथ मंगलमय श्रीभगवान्‌की मायासे उत्पन्न सत्, रज और तमने इस त्रिभुवनको ऐसा बाँध रखा है कि इसे समझनेमें संसारी प्राणियोंकी बुद्धि सदा असफल रही है। हाँ, जिन्होंने महारानीके महत्त्वको जान लिया है उनकी सफलतामें सन्देह नहीं। पंचभूत, मन, बुद्धि, अहंकार, प्राण और जीव—इनके मेलसे बना हुआ यह मानव-शरीर ऐसा यन्त्र है, जो साधनाके लिये सब तरहसे उपयुक्त माना गया है। हमें अपनी समस्याओंको हल करनेके लिये, तीनों प्रकारके सन्तापोंसे बचनेके लिये दो बातोंका जानना जरूरी है। वे दो बातें हैं—मनका विषय क्या है? और मनका कर्तव्य क्या है? मनका विवेचन करना विज्ञानसे सम्बन्ध रखता है। मनका निवास शरीरमें रहता है, इसलिये शारीरिक विज्ञानके आचार्य पूज्य महर्षि अग्निवेशजीने जो बहुमूल्य विचार प्रदान किये हैं वे यहाँ उपस्थित किये जा रहे हैं।

चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं सङ्कल्प्यमेव च।
यत् किंचिन्मनसो ज्ञेयं तत् सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्॥

क्या करना, क्या नहीं—इसका चिन्तन करना, पूर्वपरका विचार करना, तर्क करना, ध्यान करना (भावना-ज्ञान), गुण-दोषका विवेचन करके निश्चय करना, इन्द्रियोंके अर्थोंका अनुभव करना तथा और भी तमाम प्रपंचकी बातोंकी जानकारी रखना मनका विषय (धर्म) है। जाग्रत्-कालमें प्रत्यक्षरूपसे मन विषयोंका भोग करता या व्यवहार करता है। स्वप्नावस्थामें कल्पनाद्वारा उपयोग करता है। शेष सुषुप्ति और तुरीयावस्थासे विषयोंका कोई सम्बन्ध नहीं है।

(२) **'एकहि साधे सब सधै'** इस उक्तिके अनुसार जब इन्द्रियराज मन ठिकानेपर आ जायगा तो पराधीन इन्द्रियाँ तो अपने-आप रास्तेपर आ जायँगी। इस सत्यसे भी कोई मुख नहीं मोड़ सकता कि परम कृपालु जगदीश्वर परमेश्वरकी अमृतमयी दया जिस जीवपर हो जाती है, वह उस वास्तविक साधनामें संलग्न हो जाता है जिसका वर्णन वेदों, उपनिषदों, पुराणोंमें है। यही नहीं, बौद्ध, जैन, मुसलमान, ईसाई—सभी धर्मोंके माननेवाले इस साधनाकी ओर आये और सफल हुए हैं। सच पूछा जाय तो पुस्तकोंके ऊपर उन भूतपूर्व संत-मुक्त महात्माओंका स्थान है, जो हमारे लिये सचित्र उदाहरणरूप हैं। जो जीव सारहीन, प्रपंचयुक्त और एक-न-एक दिन नष्ट होनेवाली साधनामें उलझकर अपना मानव-जीवन गँवा देता है, उसपर भगवान्‌का अनुग्रह असम्भव है; बल्कि ऐसे साधक तो सच्ची साधनाकी छायासे भी दूर ही रहते हैं।

श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें उद्धवजी कहते हैं—'भगवन्! योगसाधन-जैसे दुस्तर अभ्यासको वही व्यक्ति कर सकता है, जिसका मनपर पूरा-पूरा अधिकार हो गया हो; साथ-ही-साथ मनपर अधिकार कर लेना सभीका काम नहीं है। इसलिये कोई ऐसी साधना बतलाइये, जिसका पालन करनेसे सहजहीमें सिद्धि मिल जाय। बहुधा देखा जाता है कि योगी मनको वशमें करनेके उपाय करते-करते थक जाते हैं, फिर भी उसको वशमें न कर सकनेके कारण बहुत ही दु:खी होते हैं।' इस उदाहरणसे हमारा केवल यही अभिप्राय है कि मन कितना भयंकर है, जो योगियोंतकको धोखा देकर पछाड़ डालता है। अपना कल्याण चाहनेवाले मनकी ओरसे सदा ही सावधान रहते हैं।

भली या बुरी—चाहे कैसी भी साधना साधी जाय, मनको तो अनिवार्यरूपसे नेता बनना पड़ेगा। नेता जिधर ले जायगा, उधर ही जनता (इन्द्रियाँ) जायगी। मनकी मारसे हम निजी रूपसे डरते रहते हैं, इसीलिये मनके प्रति हमारा विद्रोह है।

(३) श्रीमद्भागवत-माहात्म्य-वर्णनके तीसरे अध्यायमें श्रीनारदजी कहते हैं कि 'कलियुगमें इतनी विघ्न-बाधाएँ

हैं कि मनको एकाग्र रखना बड़ा ही कठिन है। मुक्तिरूपी साध्यको पानेके लिये श्रीभगवान्‌के चरणोंमें अनुराग, उनके परम पवित्र नामोंका कीर्तन होना आवश्यक है। कारण भक्ति भगवान्‌को अति प्रिय है और मुक्ति ठहरी भक्तिकी दासी।' ज्ञानियोंके ज्ञानकी और बुद्धिमानोंकी बुद्धिकी चरम सीमा यहींतक है कि इस मिथ्या नाशवान् शरीरसे सत्यस्वरूप अविनाशी ईश्वरको प्राप्त कर लें। भक्तियोगद्वारा जो साधना सम्पादित की जाती है, उसमें पर्याप्त सुगमता है। यह आज इस युगमें दिन-पर-दिन उन्नतिपर है।

बौद्ध सिद्धोंकी साधना

(लेखक—पं० श्रीपरशुरामजी चतुर्वेदी एम० ए०, एल० एल बी०)

महात्मा गौतमबुद्धने संसारमात्रको दु:खमय मानकर 'दु:खनिरोध' को सबका अन्तिम ध्येय निश्चित किया था और इसके लिये सभी संस्कारोंका शमन, चित्तमलोंका त्याग एवं तृष्णाका क्षय परमावश्यक बतलाया था। इस निरोध या विरागमयी पूर्ण शान्तिकी अवस्थाको ही 'निर्वाण' का नाम दिया गया था—जिसकी उपलब्धि चित्तको सर्वप्रथम वस्तुस्थितिका अनुभव प्राप्त करने योग्य और पूर्णरूपेण चिन्तनशील बनानेपर अवलम्बित रहती है। वस्तुस्थितिके ज्ञानका अभिप्राय पहले उनके द्वारा निर्दिष्ट प्रसिद्ध मध्यम या आष्टांगिक मार्गके रहस्यको हृदयंगम करना था—जो क्रमश: एक अनिर्वचनीय 'धर्म' के रूपमें समझा जाने लगा और जिसे आगे चलकर किसी-न-किसी प्रकार शून्य, धर्मतथता या भूततथताके भी नाम दिये गये। यही धर्म अथवा शून्य बौद्ध सिद्धोंका 'वोहि' (बोधि) 'जिण रअण'(जिनरत्न), 'सहज', 'महासुह' (महासुख), 'धाम' 'अणुत्तर' (अनुत्तर) या 'जिनउर' (जिनपुर) है—जिसका साधनाद्वारा प्राप्त कर लेना परमार्थ या परम पुरुषार्थ समझा जाता है। 'निर्वाण' शब्द वास्तवमें निषेधार्थक नहीं और न 'शून्य' शब्द ही निषेधवाची है। दोनोंका तात्पर्य एक ही स्थिति या वस्तुस्थितिके पारमार्थिक रूपसे है—जो न तो सत् है, न असत् ही है, परन्तु जो सभीके लिये परमलक्ष्य है।

महात्मा गौतमबुद्धने संज्ञा या चेतनाको ही चित्त, मन या विज्ञान माना था और इसी चित्तको हम अनेक अबौद्ध दर्शनोंकी शब्दावलीके अनुसार 'आत्मा' की भी संज्ञा दे सकते हैं। यह चित्त स्वभावत: शुद्ध और मलरहित है; किन्तु इसीके अन्तर्गत वह मूलबीज भी वर्तमान है जिससे 'भव' एवं 'निर्वाण' दोनोंका विस्फुरण हुआ करता है और इसीलिये जिसके बद्ध हो जानेसे बन्धन और मुक्त होनेसे परममोक्षका लाभ भी हुआ करता है। अनंगवज्रने इस चित्तका स्वभाव दर्शाते हुए लिखा है—

अनल्पसङ्कल्पतमोऽभिभूतं
प्रभञ्जनोन्मत्ततडिच्चलं च।
रागादिदुर्वारमलावलिप्तं
चित्तं हि संसारमुवाच वज्री॥

अर्थात् वज्रयानाचार्योंके अनुसार, जब चित्तमें अनेकानेक संकल्पोंका अन्धकार भरा रहता है और जब वह तूफानके समान उन्मत्त, बिजलीकी भाँति चंचल एवं रागादिके मलोंसे अवलिप्त रहता है तो उसीको संसारका नाम दिया जाता है। और—

प्रभास्वरं कल्पनया विमुक्तं
प्रहीणरागादिमलप्रलेपम्।
ग्राह्यं न च ग्राहकमग्रसत्त्वं
तदेव निर्वाणवरं जगाद॥

अर्थात् वही जब, प्रकाशमय होनेके कारण, सारी कल्पनाओंसे रहित होता है, जब उसमें रागादिके मल नहीं रहते है और जब, उसके विषयमें, ज्ञाता अथवा ज्ञेय होनेका प्रश्न भी नहीं उठता, तब उसी श्रेष्ठ वस्तुको निर्वाण भी कहा जाता है। अतएव सिद्ध भुसुकुपाके शब्दोंमें—

अपणा मांसें हरिणा वैरी।

अर्थात् हरिणरूपी चंचल चित्त अपने मांस (संकल्प-विकल्पादि दोषों)-के कारण आप-ही-आप शत्रु भी बन जाता है और इसी प्रकार जब वह निश्चल होकर समरसकी अवस्थामें प्रवेश करता है तो काण्हपाके अनुसार, साधकको विषयादि निराश होकर आप-ही-आप त्याग देते हैं और वह स्वयं वज्रधर या सिद्धाचार्यकी अवस्था प्राप्त कर लेता है।

परन्तु चित्तकी उक्त चंचलता किस प्रकार दूर की जाय तथा उसे फिरसे निश्चल किस प्रकार बनाया जाय? सरहपाके अनुसार हमारे चित्तकी यह एक विशेषता है कि वह रागादिद्वारा ग्रस्त या बद्ध रहनेपर ही इधर-उधर

चारों ओर भागा फिरता है, इनसे मुक्त होकर वह स्वभावत: स्थिर हो जाता है। इसलिये मूलतत्त्वको 'खसम' (ख=आकाश,सम=समान) अथवा शून्य मानते हुए अपने मनको भी तदनुसार 'खसम-स्वभाव' या शून्यरूप कर देना आवश्यक है, जिससे वह 'अमन'(अर्थात् अपना चंचल स्वभाव छोड़कर अमनस्क-सा) हो जाय और उसे सहजावस्थाकी उपलब्धि सरलतापूर्वक हो सके। सिद्ध तेलोपाका कहना है—

चित्त खसम जहि समसुह पइट्ठइ।
इन्दीअ-विसअ तहि मत्तण दीसइ॥
आइ रहिअ एहु अंत रहिअ।
वरगुरु पाअ अद्दअ कहिअ॥

अर्थात् जिस समय चित्त खसम (शून्यरूप) होकर समसुखमें प्रवेश करता है, उस समय किसी भी इन्द्रियके विषय अनुभवमें नहीं आ पाते। यह समसुख आदि एवं अन्त दोनोंसे रहित होता है और आचार्य इसे ही अद्वय नाम देते हैं। मनको इस प्रकार 'अमन' करनेवाली क्रियाको सिद्धोंने 'मनका मार डालना' या 'मनका नि:स्वभावीकरण' भी कहा है और इसके अभ्यासको स्पष्ट करते हुए सिद्ध शान्तिपाने रूईके धुननेका एक सुन्दर रूपक भी दिया है। वे कहते हैं—

तुला धुणि-धुणि आँसुरे आँसु।
आँसु धुणि-धुणि विरवर सेसु॥

× × ×

तुला धुणि-धुणि सुणे अहारिउ।

अर्थात् रूईको धुनते-धुनते उसके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अंश निकालते चलो, (फिर देखोगे कि) अंश-अंश विश्लेषण करते-करते अन्तमें कुछ भी शेष नहीं रह जाता। (जान पड़ता है कि) रूईको धुनते-धुनते उसे शून्यतक पहुँचा दिया। इसी क्रियाको एक शिकारके रूपकद्वारा 'बोधि-चर्यावतार' में इस प्रकार बतलाया गया है—

इमं चर्मपुटं तावत्स्वबुद्ध्यैव पृथक् कुरु।
अस्थिपञ्जरतो मांसं प्रज्ञाशस्त्रेण मोचय॥
अस्थीन्यपि पृथक् कृत्वा पश्य ज्ञानमनन्तत:।
किमत्र सारमस्तीति स्वयमेव विचारय॥

अर्थात् इस चमड़ेकी ऊपरी वस्तुको अपनी बुद्धिकी सहायतासे अलग कर दो और तब अपनी प्रज्ञाद्वारा अस्थिपंजरसे मांसको भी निकाल दो; फिर हड्डियोंको भी दूरकर अपने विवेकद्वारा सोचोगे तो स्वयं समझ लोगे कि अन्तमें कुछ भी तत्त्व नहीं रह जाता। सब कुछ वास्तवमें नि:सारमात्र है। मनका आकार-प्रकार पूर्ण करनेवाले संकल्प-विकल्पादिको दूर करनेपर भी इसी प्रकार शून्यमात्र रह जाता है। अतएव सिद्ध सरहपाका कहना है कि घर अथवा वन—जहाँ कहीं भी हम रहें, हमें केवल अपने मनके स्वभावका ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है। बोधि सब कहीं निरन्तर वर्तमान है, इसलिये किसी एक स्थितिमें 'भव' और दूसरीमें 'निर्वाण' का अस्तित्व ढूँढ़ना निरी मूर्खता होगी। हमें केवल इस रहस्यसे परिचित हो जाना चाहिये कि मूलमें चित्त नितान्त निर्मल और विकल्परहित है और वही अवस्था हमारे लिये परम पदकी स्थिति है, जिसे समरसके रूपमें प्राप्त कर लेनेपर जहाँ कहीं भी चित्त जाता है, वहाँ उसे अचित्तके रूपमें ही हम अनुभव करते हैं। उस निर्मल और भावाभावरहित दशाको प्राप्त कर लेनेपर चित्त कहीं भी विस्फुरित हो, उसे नाथ (प्रभास्वर)-के स्वरूपका ही बोध होता है, क्योंकि जैसे जल और उसका तरंग दोनों वास्तवमें एक ही अभिन्न वस्तु हैं, उसी प्रकार भवका साम्य भी आकाशके साम्यके ही स्वभावका होता है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान नामक पाँचों स्कन्ध एवं पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश नामक पाँचों भूत और आँख, कान, नाक, जीभ, काम और मन नामक छहों आयतन इन्द्रियाँ—ये सभी सहज स्वभावद्वारा बद्ध-से हैं, अतएव हमें चाहिये कि अपने संकल्पाभिनिविष्ट मनका विशोधन कर उसे नि:स्वभाव बना दें, जिससे वह शून्यमें प्रवेश कर समरसकी स्थितिमें आ जाय। जिस प्रकार जलमें जल प्रवेश करता है, उसी प्रकार चित्त भी सहजसे मिलकर समरसकी अवस्थामें आता है। सहज जैसा बाहर है, वैसा ही भीतर भी रहता है। चौदहों भुवनोंमें वह निरन्तर वर्तमान है; वह अशरीरी शरीरमें ही छिपा है; उसे जो जानता है, वही मुक्त है।

शरीरके ही भीतर पाये जानेवाले उक्त सहज या महासुखका उत्पत्तिस्थान, काण्हपाके अनुसार, इडा एवं पिंगला नामक दो प्रसिद्ध नाड़ियोंके संयोगके निकट ही वर्तमान है; उसे पवनके नियमनद्वारा प्राप्त करना आवश्यक होता है। काण्हपाने कमलके रूपकद्वारा उक्त महासुखका वर्णन करते हुए लिखा है कि बायीं नासिकाकी ललना नामक (प्रज्ञास्वरूप) चन्द्रनाडी और दाहिनी नासिकाकी रसना नामक (उपायस्वरूप) सूर्यनाडी उस महासुख-कमलके दो खण्डस्वरूप हैं। उसका पौधा गगनके जलमें, जहाँ अमिताभ या परम आनन्दमय प्रकाश-पंकरूपमें वर्तमान है, उत्पन्न

होता है; उसका मुख्य नाल अवधूती अथवा मूलशक्ति होती है और उसका रूप हंकार अथवा अनाहत शब्दका होता है। इस महासुख-कमलके मकरन्दका पान योगी या साधकलोग साधनाद्वारा, शरीरके भीतर ही कर लिया करते हैं। काण्हपा अन्यत्र फिर कहते हैं—

जइ पवण-गमण-दुआरे दिढ़ ताला वि दिज्जइ।
जइ तसु घोरान्धारें मण दिव हो किज्जइ॥
जिण रअण उअरें जइ सों बरु अम्बरु छुप्पइ।
भणइ काण्ह भव भुञ्जन्ते णिव्वाणो वि सिज्झइ॥

अर्थात् यदि पवनके निर्गमनद्वारपर दृढ़ ताला लग जाय और वहाँके घोर अन्धकारमें शुद्ध या निश्चल मनका दीप जलाया जाय और यदि वह जिनरत्नकी ओर उच्च गगनसे स्पर्श कर जाय तो संसारका उपभोग करते समय भी हमारे लिये निर्वाणकी सिद्धि हो जाय। जिसका मन निश्चल हो गया, उसका उसी क्षण वायुनिरोध भी सिद्ध है और वायुनिरोध होनेपर मन आप-से-आप निश्चल होता है। दोनोंका पारस्परिक सम्बन्ध है।

उक्त प्रकारसे पवन एवं मनको जिस स्थानपर एक साथ निश्चल किया जाता है, उसे सिद्धोंने 'उद्धमेरु' अथवा मेरुदण्ड (सुषम्णा)-का सिरा कहा है। काण्हपाने बतलाया है कि वह पर्वतके समान सम-विषम है, अतएव वहाँ चढ़ना-उतरना सरलतापूर्वक नहीं हो सकता। उसकी गम्भीर कन्दरामें सारा जगत् विनष्ट होकर शून्यमें लीन हो जाता है और हमारे द्रवाकार चंचल चित्तका निर्मल जल भी तन्मय हो जाता है। उसी ऊँचे पर्वतके शिखरको सिद्धोंने महामुद्रा या मूलशक्ति (नैरात्मा)-का निवासस्थान भी बतलाया है। सिद्ध शवरपा कहते हैं कि उक्त पर्वतपर अनेक बड़े-बड़े वृक्ष पुष्पित हैं और उनकी डालें गगनचुम्बिनी हैं। वहाँ अकेली शबरी (नैरात्मा) वनका एकान्त-विहार किया करती है। वहीं त्रिधातुकी सुन्दर सेज भी पड़ी है और साधक योगी वहाँ पहुँचकर उक्त दारिकाके साथ प्रेमपूर्वक समय व्यतीत करने लगता है। नैरात्माको सिद्धोंने शबरीके अतिरिक्त डोंवी, चण्डाली, शुण्डिनी, जोइणि (योगिनी) या पवनधारिणीके नामोंसे भी अभिहित किया है और उसका अनेक प्रकारसे वर्णन भी किया है। काण्हपाने उस डोंवीको चौसठ पँखुड़ीवाले कमलपुष्पके ऊपर चढ़कर सदा नाचती रहनेवाली बतलाकर, उसके साथ अपना विवाह-सम्बन्ध स्थापित करनेका रूपक बाँधा है और सिद्ध डोंबिपाने उसे ही शीघ्र पार कराकर जिनपुर पहुँचानेवाली कहा है। इसी प्रकार सिद्ध विरूपाका कहना कि वह अकेली शुण्डिनी (कलाली) इधर इडा और पिंगला नाडियोंको एक अर्थात् सुषुम्णा नाडीमें प्रविष्ट कराती है और उधर बोधिचित्तको ले जाकर प्रभास्वर शून्यमें भी बाँधा करती है; उसके निकट चौंसठ घटीयन्त्रोंमें मद (महासुख) सँभालकर रखा रहता है और वहाँ एक बार भी पहुँचकर मदपी फिर लौटनेका नामतक नहीं लेता।

सिद्धोंने अपनी साधनाको सहज मार्गका नाम देकर उसे अत्यन्त सरल और सीधा भी बतलाया है। सिद्ध सरहपा इसके सीधेपनके विषयमें कहते हैं—'जब कि नादबिन्दु अथवा चन्द्र और सूर्यके मण्डलका अस्तित्व नहीं और चित्तराज भी स्वभावतः मुक्त है, तो फिर सरल मार्गका त्याग कर वंकमार्ग ग्रहण करना कहाँतक उचित कहा जा सकता है? बोधि सदा निकट वर्तमान है, उसे लंका (कहीं दूर) जानेकी आवश्यकता नहीं; हाथमें ही कंकण है, दर्पण ढूँढ़ते फिरनेसे कोई भी लाभ नहीं होगा। स्वयं अपने मनमें ही अपनेको सदा अवस्थित समझ लो। पार वही लगता है जो दुर्जनोंके साथमें पड़कर विपथ नहीं होता। सहज मार्ग ग्रहण करनेवालेके लिये ऊँचा-नीचा, बायाँ-दाहिना, सभी एक भाव हो जाते हैं। इसी प्रकार सिद्ध भादेपाने अपने निजी अनुभवद्वारा इसके महत्त्वका वर्णन करते हुए कहा है कि 'अभीतक मैं मोहमें पड़ा था, अब मैंने सद्गुरुबोधद्वारा इसका ज्ञान प्राप्त किया है। मेरा चित्त अब नष्ट (शान्त) हो गया और गगन-समुद्रमें रल (हिल-मिल)-कर एक या तदाकार हो गया। मुझे अब दसों दिशाओंमें शून्य-ही-शून्यका अनुभव होता है। वज्रगुरुके उपदेशद्वारा गगन-समुद्रको मैं अपने मनमें ही उतार लाया हूँ।' सहजके वास्तविक रूपका पूर्ण वर्णन अत्यन्त कठिन होनेसे उसके मार्गका उपदेश भी बिना निजी अनुभवके स्पष्टरूपसे हृदयंगम नहीं हो सकता और इसी कारण काण्हपाका कहना है कि जो कुछ भी इस विषयमें कहा जाता है, वह सभी मिथ्या-सा है। 'गुरु वास्तवमें गूँगा है और शिष्य वधिर है। 'वाक्पथातीत' वस्तुका वर्णन कैसे होगा?'

प्रेम-साधनाके साध्य

चोरी करत कान्ह घर पाये।
निसिबासर मोहिं बहुत सतायो अब हरि हाथहि आये॥
माखन दधि मेरो सब खायौ बहुत अचगरी कीन्ही।
अब तो हाथ परे हौ लालन तुमहि भले हौं चीन्हीं॥
दोउ कर पकरि कह्यो कित जैहो माखन लेउँ मँगाइ।
तेरी सौं मैं नेकु न चाख्यो सखा गये सब खाइ॥
मुख तन चितै बिहँसि हँसि दीन्हो रिस सब गई बुझाइ।
लिये स्याम उर लाइ ग्वालिनी सूरदास बलि जाइ॥

—सूरदासजी

बौद्ध-साधना

(लेखक—डॉ० श्रीविनयतोष भट्टाचार्य एम०ए०, पी-एच० डी०)

साधन दो प्रकारके होते हैं—लौकिक और अलौकिक। लौकिक साधनका अर्थ होता है अभ्यास-उद्योग—किसी चरम उद्देश्यकी सिद्धिके लिये लगातार प्रयत्न। अलौकिक साधन कहते हैं उन आध्यात्मिक या मानसिक साधनाओंको जो योग अथवा तन्त्रकी प्रक्रियासे अलौकिक सिद्धियों अथवा मुक्तिकी प्राप्तिके लिये की जाती हैं।

लौकिक साधन तो प्राय: सभी करते हैं। जीवन स्वयं एक साधना है, बालक ज्ञान प्राप्त करनेके लिये अध्ययनरूपी साधन करते हैं। गवैये 'कलावंत' कहलानेके लिये 'रियाज़' करते हैं, स्वर साधते हैं। लेखक ग्रन्थकार बननेके लिये निबन्ध-पर-निबन्ध लिखते हैं। व्याख्यानदाता व्याख्यान-वाचस्पति बननेके लिये बोलनेका—वक्तृता देनेका अभ्यास करते हैं। चोर भी चोरी करते समय लोगोंकी नजर बचानेकी साधना करते हैं। इनके अतिरिक्त ऐसे लोग भी हैं जो अहिंसा, सत्य एवं नि:स्वार्थ लोकसेवा आदि सद्गुणों एवं श्रेष्ठ आचरणोंका अभ्यास करते हैं। लगातार अभ्यास करनेसे—रगड़पट्टी करनेसे निश्चय ही थोड़ी-बहुत दक्षता या पटुता प्राप्त होती है। इस पटुताको ही सिद्धि कह सकते हैं। साधकोंमें दूसरे लोगोंकी—असाधकोंकी अपेक्षा यही विशेषता होती है, उन्हें न्यूनाधिक रूपमें सिद्धि या सफलता प्राप्त होती ही है।

योग अथवा तन्त्रकी साधना इससे विलक्षण होती है। इसका सम्बन्ध मनोराज्यसे होता है और यह मनकी अव्यक्त शक्तियोंका विकास करनेके लिये की जाती है। इस प्रकारकी अलौकिक साधना ही प्रस्तुत निबन्धका विषय है। उसमें भी यहाँ हम केवल बौद्ध-साधनापर ही विचार करेंगे। जिसका वर्णन बौद्ध-सम्प्रदायके प्रकाशित ग्रन्थोंमें मिलता है।

बौद्धोंकी तान्त्रिक साधनामें सर्वप्रथम आवश्यकता होती है एक सुसंस्कृत साधककी, जिसकी परीक्षा किसी अधिकारी गुरुके द्वारा की जा चुकी हो तथा जिसे तान्त्रिक साधनाके योग्य करार दिया जा चुका हो।

जिस प्रकार तान्त्रिक साधनाके अनेक भेद हैं, उसी प्रकार साधकोंकी भी साधनकी कठिनता एवं सुगमताके अनुसार अनेक श्रेणियाँ होती हैं। तन्त्रोंकी भी चार श्रेणियाँ हैं—(१) क्रिया-तन्त्र, (२) चर्या-तन्त्र, (३) योग-तन्त्र और (४) अनुत्तरयोग-तन्त्र। और इन चार प्रकारके तन्त्रोंसे सम्बन्ध रखनेवाले उपासक भी चार श्रेणियोंमें विभक्त हैं।

प्रारम्भिक श्रेणीके साधक, तथा जिनका तन्त्रके रहस्योंमें अभी प्रवेश ही हुआ है ऐसे साधक क्रिया एवं चर्याकी निम्नतर श्रेणीमें भर्ती किये जाते थे। उन्हें सब प्रकारके निषिद्ध खाद्य एवं पेय पदार्थोंका त्याग करना पड़ता था और ब्रह्मचर्यके कठोर नियमोंका पालन करना पड़ता था।

ऊँची श्रेणीके साधकोंको आचारके विषयमें स्वतन्त्रता होती थी, उनपर किसी प्रकारके नियम लागू नहीं होते थे। उन्हें अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती थीं, और वे 'सिद्ध' कहलानेके अधिकारी होते थे।

अद्वयवज्र नामके एक प्रसिद्ध तन्त्रकारने साधकोंको दो श्रेणियोंमें विभक्त किया है—शैक्ष और अशैक्ष। शैक्षोंको आचारसम्बन्धी कठोर-से-कठोर नियमोंका पालन करना पड़ता था और दैनिक चर्या एवं खाद्य तथा पेय पदार्थोंके सम्बन्धमें भी उनपर कई प्रकारके बन्धन थे। अशैक्ष वर्गके साधक मनुष्योंके बनाये तथा ईश्वरके बनाये सभी नियमोंसे परे होते थे, क्योंकि वे ही सब प्रकारके नियम बनानेवाले थे और प्रकृतिके नियमोंका सञ्चालन करनेवाले भी वे ही थे।

तान्त्रिक साधनाके रहस्योंमें प्रवेश प्राप्त किये हुए साधकोंके संक्षेपमें यही भेद हैं। परन्तु ये सब बातें ग्रन्थोंके आधारपर नहीं सीखी जा सकतीं, अत: यह आवश्यक है कि इनका उपदेश गुरुमुखसे प्राप्त किया जाय। इतना ही नहीं, पुस्तकोंसे सीखी हुई अज्ञात रहस्यमयी साधनाओंके करनेमें थोड़ी-बहुत जोखिम भी रहती है।

ऐसी दशामें ऐसे गुरुकी, जो आध्यात्मिक साधनाओंके रहस्योंमें शिष्यका प्रवेश करा सके, और भी अधिक आवश्यकता हो जाती है। अत: किसी भी रहस्यमयी साधनामें गुरुका स्थान प्रमुख होता है। इसीलिये तन्त्र और योगके सभी सम्प्रदायोंमें, जिनमें बौद्ध सम्प्रदाय भी शामिल है, गुरुका बड़ा माहात्म्य वर्णन किया गया है।

गुरुके बिना कोई भी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।

गुरुके बिना गूढ़ सिद्धान्तों और साधनाओंको समझना असम्भव है। जिस पुरुषकी दीक्षा हो चुकी है, उसके लिये कौन-सा मन्त्र अथवा साधना अनुकूल होगी—यह गुरु ही बतलाते हैं। कम-से-कम परिश्रमसे और बिना अधिक समय बरबाद किये सिद्धि प्राप्त करनेका सर्वोत्तम उपाय क्या है, यह बतलाना गुरुका ही काम होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साधनके लिये गुरु और शिष्यकी बड़ी आवश्यकता है, जो दोनों ही अधिकारी होने चाहिये। तान्त्रिक साधनाके दो रूप हो सकते हैं—मन्त्र-साधन और देव-साधन, अथवा दोनोंकी साधना एक ही कालमें की जा सकती है। इस साधनाका योगके साथ, विशेषकर हठयोगके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है—जैसा कि आगे चलकर इसी निबन्धमें समझाया जायगा।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि हठयोगकी साधना आध्यात्मिक साधनाओंमें सबसे नीचे दरजेकी साधना है, क्योंकि शरीरको शुद्ध करना और उसे ऊँची साधनाओंके लिये तैयार करना ही इसका काम है। सभी प्रकारकी आध्यात्मिक साधनाओंमें ध्यान और चित्तकी एकाग्रता परम आवश्यक है और शारीरिक मल बहुधा ध्यानमें बाधक होते हैं।

हठयोगके द्वारा शारीरिक मलोंका शोधन हो जानेपर साधक मन्त्र अथवा देवतापर अथवा परब्रह्ममें चित्तको स्थिर कर सकता है। पहली साधना मन्त्रयोगकी है, दूसरी तन्त्र योगकी और तीसरी राजयोगसे सम्बन्ध रखती है।

अधिक-से-अधिक मनोयोगके साथ मन्त्रका अखण्ड जाप करनेसे महान् शक्ति प्राप्त होती है। मन्त्रके अक्षर व्यक्त हो जाते हैं, मानसिक चक्षुके सामने चमकने लगते हैं और फिर अग्निशिखाकी भाँति दीप्तिमान् हो जाते हैं। किसी विशेष उद्देश्यको लेकर मन्त्रजप करनेसे मन्त्रका ऊपर बताये हुए ढंगसे साक्षात्कार होकर उस उद्देश्यकी प्राप्ति हो जाती है। जिस मन्त्रका इस प्रकार साक्षात्कार हो जाता है, उसे सिद्धमन्त्र कहते हैं। सिद्धमन्त्रके उच्चारणसे आश्चर्यजनक सिद्धि हो सकती है।

इसी प्रकार दीर्घकालतक एक निश्चित विधिके अनुसार श्रद्धा-भक्तिपूर्वक और किसी सुयोग्य गुरुके निरीक्षणमें किसी देवताविशेषका ध्यान करनेसे उस देवताका साक्षात्कार हो जाता है। देवता साधकके सामने प्रकट होकर उसके मनोरथको पूर्ण करता है। इसके बाद देवता साधकका परित्याग नहीं करता और एक प्रकारसे उसके अधीन होकर रहता है।

राजयोगकी पद्धतिसे साधक परमात्माकी प्राप्तिके मार्गमें ज्यों-ज्यों अग्रसर होता है, त्यों-त्यों उसे अणिमा, लघिमा आदि अष्ट महासिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

तन्त्रशास्त्रके अनुसार यह विश्व शक्तिका एक बहुत बड़ा खजाना है। सृष्टि और संहारकी सारी शक्तियाँ इसके अंदर केन्द्रीभूत रहती हैं और इनमेंसे किसी भी शक्तिको आकर्षण करके आत्मसात् करना और उस शक्तिसे शक्तिशाली होना प्रत्येक मनुष्यके लिये सम्भव है। आध्यामित्क साधनाके द्वारा प्रकृतिके सूक्ष्म नियमोंपर अधिकार प्राप्त किया जा सकता है।

इस विषयपर विस्तारसे लिखनेके लिये स्थान नहीं है, किन्तु मैं देवताके साक्षात्कारकी भूमिकाओंका वर्णन करना आवश्यक समझता हूँ। परन्तु ऐसा करनेके पूर्व मैं यह स्पष्ट बतला देना चाहता हूँ कि मैं स्वयं साधक नहीं हूँ और इस अपूर्व आध्यात्मिक सिद्धिका मुझे कोई निजी अनुभव नहीं है; अत: मैं जो कुछ कहूँगा वह मेरे पढ़े-पढ़ाये तान्त्रिक ग्रन्थोंके आधारपर ही होगा।

साधकको चाहिये कि वह प्रसन्न मनसे किसी ऐसे एकान्त स्थानमें जाय, जो शुद्ध और स्वच्छ हो तथा जिसके आसपासका दृश्य सुन्दर हो। वह सुखासनसे बैठकर अपने इष्टदेवका ध्यान प्रारम्भ करे। ध्यानमें उसे इतना तन्मय हो जाना चाहिये कि उसे बाह्य अनुसन्धान बिलकुल न रहे और इस प्रकार उसे उस व्यापक शक्तिके साथ, जिसे बौद्धोंकी भाषामें 'शून्य' कहते हैं, अभेदका चिन्तन करना चाहिये। उसके चित्तकी अवस्था उस समय वैसी ही हो जानी चाहिये, जैसी सुषुप्तिकालमें होती है।

चिरकालतक इस साधनका अभ्यास करनेसे उसके मानसिक नेत्रोंके सामने कुछ खास लक्षण दिखायी देने लगते हैं, जिनसे यह प्रमाणित होता है कि साधक देवताके साक्षात्कारकी ओर क्रमश: बढ़ रहा है।

ये चिह्न या लक्षण पाँच प्रकारके होते हैं। प्रारम्भमें मृगतृष्णाका दर्शन होता है। इसके बाद धूमका दर्शन होता है। तीसरी भूमिकामें साधकको अन्तरिक्षमें जुगुनुओंकी भाँति ज्योति:कण दिखलायी देते हैं। चौथी भूमिकामें एक ज्योतिके दर्शन होते हैं और पाँचवीं

भूमिकामें मेघरहित आकाशमें व्याप्त रहनेवाली सूर्यकी ज्योतिके समान एक स्थिर प्रकाशका दर्शन होता है।

अर्थात् काफी समयतक ध्यानका अभ्यास करते रहनेसे साधकको एक ऐसे स्थिर प्रकाशका दर्शन होता है, जो कभी कम नहीं होता। साधक इस अवस्थाको पहुँचकर उससे कभी च्युत नहीं होता और नीचेकी अवस्थाओंका अनुभव नहीं करता।

अब साधक इस विश्वासके साथ कि मेरे इष्ट देवता मुझे दर्शन देंगे, उनका निरन्तर ध्यान कर सकता है। देवताके साक्षात्कारकी भी तीन भूमिकाएँ होती हैं।

पहली भूमिकामें बीजमन्त्रका दर्शन होता है। आगे चलकर यह एक अस्पष्ट मानव आकृतिमें बदल जाता है। ध्यान क्रम जारी रखनेसे और आगे चलकर साधकको देवताका स्पष्ट रूप दिखायी देने लगता है, जिसमें उसके सारे अंग, वर्ण, आयुध एवं वाहन अलग-अलग दिखलायी देते हैं। यह रूप अत्यन्त मनोहर होता है, जिसका दर्शन कर साधक अलौकिक आनन्दसे भर जाता है।

देवताका निरन्तर आँखोंके सामने रहना ही उसकी सिद्धि है। प्रारम्भमें उसकी दिव्य मूर्ति बार-बार प्रकट होती है और छिप जाती है। निरन्तर अभ्याससे उसका दर्शन स्थायी हो जाता है। इस अवस्थाको पहुँच जानेपर साधक सिद्ध कहलाने लगता है। उसका इष्टदेव उसकी सारी कामनाओंको पूर्ण कर देता है और उसका कभी परित्याग नहीं करता। साधक अलौकिक शक्तियोंसे सम्पन्न हो जाता है और उसका प्रकृतिके नियमोंपर भी अधिकार हो जाता है।

मन्त्रका देवताके साथ एक प्रकारका अभेद-सम्बन्ध होता है, उसका भी इसी प्रकार साक्षात्कार हो सकता है। मन्त्रके अक्षर पहले साधकके सामने प्रकट होते हैं और धीरे-धीरे अधिक दीप्तिमान् होकर शक्तिसे जाज्वल्यमान हो उठते हैं। इनका दर्शन जब स्थायी रूपसे होने लगता है, तब मन्त्रकी सिद्धि हो जाती है। उस मन्त्रसे साधकको वह सब कुछ प्राप्त हो सकता है, जो उसे देवतासे प्राप्त हो सकता था।

उपर्युक्त साधनकी प्रक्रिया बड़ी लंबी है, उसके लिये वर्षोंतक अथवा जीवनभर धैर्यपूर्वक अभ्यास करनेकी आवश्यकता होती है। यह अवकाशके समय केवल दिल बहलानेके लिये करनेकी चीज नहीं साधन एक कला है। मनुष्य-जीवन इस कलाके अभ्यासके लिये ही है। यह जीवनमें प्राप्त होनेवाली सबसे बड़ी और सबसे दिव्य रहस्यमय अनुभूति है। हमारा जीवन साधनके बिना उद्देश्यहीन होता है।

बौद्ध मूर्तितत्त्व

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी, एम० ए०)

बौद्धधर्ममें मूर्तियोंका निर्माण वज्रयान मतके प्रादुर्भावके साथ हुआ है। वज्रयानके मुख्य ग्रन्थोंके अनुसार इन देवी-देवताओंका यथार्थमें कोई अस्तित्व ही नहीं है, वे सब केवल शून्यताके ही भिन्न-भिन्न रूपान्तर हैं। इन देवी-देवताओंके रूप उपासकोंकी भावना तथा सिद्धिके अनुसार प्रकट हुए माने जाते हैं।

अब संक्षेपमें बौद्धधर्मके इन देवी-देवताओंकी मुख्य-मुख्य परम्पराओंका हाल सुनिये। सबसे पहले बोधिचित्त अर्थात् अव्यक्त पूर्ण ज्ञानसम्पन्न स्थितिकी कल्पना की जाती है। इसी बोधिचित्तकी पाँच वृत्तियाँ अथवा अवस्थाएँ मानी गयी हैं और इन्हींको सुप्रसिद्ध पाँच ध्यानी बुद्ध कहा गया है। इन ध्यानी बुद्धोंके नाम वैरोचन, रत्नसम्भव, अमिताभ, अमोघसिद्धि तथा अक्षोभ्य हैं। पाँचों ध्यानी बुद्ध पद्मासनमें बैठे हुए दिखलाये जाते हैं। पद्मासनमें इस प्रकार पालथी मारकर बैठते हैं कि दोनों पैरोंके तलवे ऊपरकी ओर दिखलायी दें। ध्यानी बुद्धोंकी विभिन्नातासूचक उनकी हस्तमुद्राएँ होती हैं। ध्यानी बुद्ध वैरोचनके दोनों हाथ सुप्रसिद्ध धर्मचक्र अथवा व्याख्यान-मुद्रामें होते हैं। इस हस्तमुद्रामें दोनों हाथ वक्षःस्थलके समीप होते हैं और दाहिना हाथ बायें हाथके ऊपर रहता है। दाहिने हाथकी तर्जनी अँगुली उसी हाथके अँगूठेसे मिली होती है और इन दोनोंका सम्पर्क बायें हाथकी कनिष्ठिका अर्थात् सबसे छोटी अँगुलीसे होता है। ध्यानी बुद्ध रत्नसम्भवकी हस्तमुद्राएँ वरद होती हैं। इस मुद्रामें बायाँ हाथ हथेली ऊपर किये हुए गोदमें रखा रहता है और दाहिना हाथ हथेली ऊपर किये हुए इस प्रकार कुछ आगे बढ़ा हुआ होता है जैसे उस हाथसे किसीको कोई चीज दी जा रही हो। ध्यानी बुद्ध अमिताभ

ध्यानी बुद्ध रत्नसम्भवकी वरद
हस्तमुद्राका चित्र
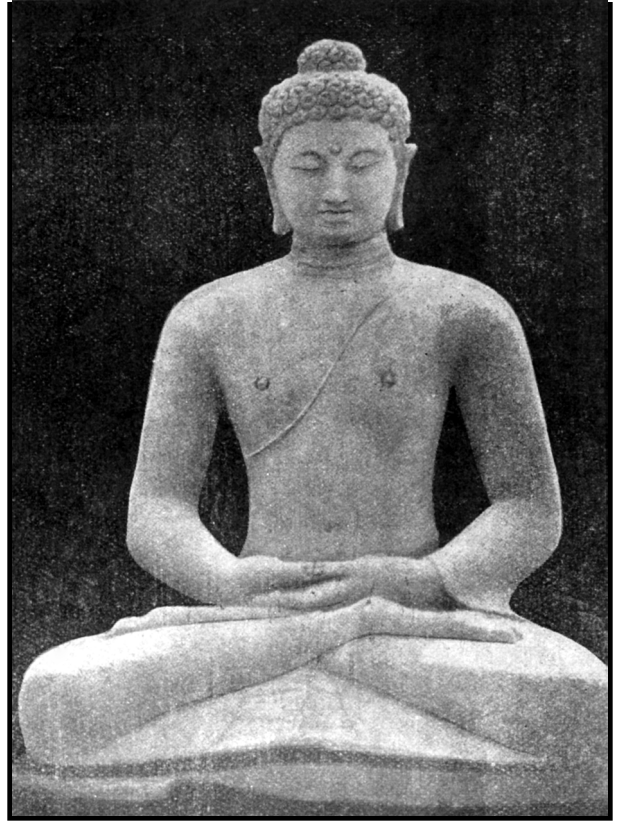
ध्यानी बुद्ध अमिताभ और उनकी समाधिनामक हस्तमुद्रा

ध्यानी बुद्ध अमोघसिद्धिकी अभय हस्तमुद्राका चित्र
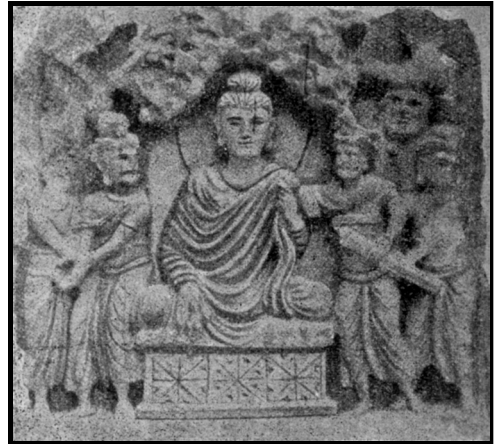
ध्यानी बुद्ध अक्षोभ्यकी भूस्पर्शनामक हस्तमुद्रा समझाने-
के लिये मारकी सेनासे आक्रान्त बुद्धमूर्तिका चित्र

समाधि-मुद्रामें दिखलाये जाते हैं। इस मुद्रामें दोनों हाथ हथेली ऊपर किये हुए एक-दूसरेके ऊपर (बायेंके ऊपर दाहिना) गोदमें रखे हुए दिखलाये जाते हैं। ध्यानी बुद्ध अमोघसिद्धि सदा अभय-मुद्रामें दिखलाये जाते हैं। यह मुद्रा भी प्रायः वरद-मुद्राही-सी है। भेद केवल इतना ही है कि दाहिना हाथ वक्षःस्थलके पास उठा हुआ होता है और उसकी हथेली सामनेकी तरफ होती है। यह मुद्रा अभय, रक्षा अथवा आश्वासन दिया जाना सूचित करती है। पाँचवें ध्यानी बुद्ध अक्षोभ्य भूस्पर्श-मुद्रामें दिखलाये जाते हैं। इस मुद्रामें बायाँ हाथ उसी स्थितिमें रहता है जैसा कि वरद तथा अभय-मुद्राओंमें। दाहिने हाथकी हथेली नीचेकी ओर होती है और उसकी अँगुलियाँ दाहिने घुटनेसे नीचेकी ओर झुकी हुई पृथ्वीका स्पर्श करती हुई दिखलायी जाती हैं। गौतमबुद्धकी खड़ी अथवा बैठी जितनी मूर्तियाँ मिलेंगी, वे उपर्युक्त पाँच मुद्राओंमेंसे किसी-न-किसीमें होंगी। इनमेंसे पिछली चार मुद्राओंके चित्र अन्यत्र दिये जाते हैं। इनसे उनके यथार्थ स्वरूप अच्छी तरह समझमें आ जायँगे। सिद्धार्थने भूस्पर्श-मुद्राका प्रदर्शन उस समय किया था, जिस समय मार अर्थात् कामदेवने अपनी कन्याओंसहित उनपर इसलिये आक्रमण किया था कि वे अपनी तपस्यासे विमुख हो जावें। इसपर बुद्धने पृथ्वीको साक्षी करनेके लिये उसका स्पर्श किया था और अपने ध्येयकी दृढ़ता सूचित की थी। इस मुद्राके प्रदर्शन करते ही मार शीघ्र ही अन्तर्हित हो गया था और फिर उसने गौतमको क्षुब्ध करनेका प्रयत्न नहीं किया। भगवान् शाक्यसिंहने धर्मचक्र-मुद्राका अवलम्बन उस समय किया था जब ज्ञान-प्राप्तिके अनन्तर सारनाथ-नामक स्थानपर सर्वप्रथम बौद्धधर्मका उपदेश प्रारम्भ किया। बौद्धधर्मके प्रचारका सूचक पहियारूपी धर्मचक्र है और सारनाथ (जो कथाओंके अनुसार पूर्वकालमें मृगोंका रमना रह चुका था) मूर्तियोंमें मृगोंद्वारा सूचित किया जाता है। अतः अधिकतर जहाँ गौतम बुद्धकी प्रतिमा धर्मचक्र-मुद्रामें मिलेगी वहाँ मूर्तिके नीचे अगल-बगल दो हिरन और बीचमें एक पहिया भी मिलेंगे।

ध्यानी बुद्धोंके रंग क्रमशः सफेद, पीला, लाल, हरा और मेचक (नीला) हैं। ये रंग अधिकतर चित्रोंमें ही मिलते हैं और इनका गूढ़ तत्त्व परम गहन है। इन रंगोंका सम्बन्ध तान्त्रिक षट्कर्मोंसे है। शान्तिसम्बन्धी पुरश्चरणोंमें श्वेत रंगवाली मूर्ति प्रयुक्त होती है। रक्षासम्बन्धी विधियोंमें पीले रंगकी मूर्तियाँ काममें लायी जाती हैं। आकर्षण तथा वशीकरणमें हरे और लाल रंगोंका प्रयोग होता है और उच्चाटन तथा मारण-विधियोंमें नीला रंग काममें लाया जाता है। जिन ध्यानी बुद्धका जो विशेष रंग है, वही उनसे समुद्भूत समस्त देवी-देवताओंका रंग होगा। हाँ! कभी-कभी एक ही ध्यानी बुद्ध अथवा उनसे उत्पन्न कोई देवी या देवता भिन्न-भिन्न रंगोंमें भी मिलेंगे। इसका अर्थ एक ही मूर्तिका विभिन्न षट्कर्म-विधियोंमें प्रयोग समझना चाहिये।

उपर्युक्त ध्यानी बुद्धोंके वाहन क्रमशः दो सर्प, दो सिंह, दो मयूर, दो गरुड तथा दो हस्ती हैं। इसके अतिरिक्त ध्यानी बुद्धोंके चिह्न क्रमशः चक्र, रत्नछटा (मणियोंका समूह), कमल, विश्ववज्र (दोनों ओर तीन फलवाला छोटा-सा शस्त्र) और वज्र (त्रिशूलसदृश छोटा-सा शस्त्र) हैं। भारतवर्षमें ध्यानी बुद्धोंकी अलग मूर्तियाँ अथवा चित्र प्रायः नहीं मिलते। ऐसे चित्र नैपाल तथा तिब्बतमें प्रचुरतासे मिलते हैं। इसी कारण पाठकोंको प्रायः उपर्युक्त सब बातोंके देखनेका अवसर कम ही मिलेगा। तथापि आगेके विषयको स्पष्ट करनेके निमित्त उपर्युक्त विस्तृत वर्णन दिया गया है।

इन पाँच ध्यानी बुद्धोंके अतिरिक्त कहीं-कहीं वज्र-सत्व नामक एक छठे ध्यानी बुद्धकी भी कल्पना की जाती है। वज्रसत्व ध्यानी बुद्धोंके पुरोहित माने जाते हैं और इस पदके सूचक घंटा तथा वज्र उनके हाथोंमें दिखलाये जाते हैं। पाँचों ध्यानी बुद्ध तापस-वेषमें ही दिखलाये जाते हैं। वे सदैव ध्यानमग्न रहते हैं। सृष्टिके कार्य ध्यानी बुद्धोंसे उत्पन्न दिव्य बोधिसत्वगण करते हैं। पाँचों ध्यानी बुद्धोंकी शक्तियाँ क्रमशः वज्रधात्वीश्वरी, मामकि, पांडरा, आर्यतारा तथा लोचना हैं। और इनसे उत्पन्न दिव्य बोधिसत्व क्रमशः संमतभद्र, रत्नपाणि, पद्मपाणि (सुप्रसिद्ध अवलोकितेश्वर), विश्वपाणि तथा वज्रपाणि हैं। छठे ध्यानी बुद्ध वज्रसत्वकी शक्तिका नाम वज्रसत्वात्मिका है और इन दोनोंसे उत्पन्न दिव्य बोधिसत्वका नाम घण्टापाणि है। ध्यान बुद्धोंकी शक्तियाँ अपने पतियोंके चिह्न तथा वाहनोंसे पहचानी जाती हैं। इसके अतिरिक्त उनके पतिकी विशिष्ट हस्तमुद्रायुक्त ध्यानासन मूर्ति उनके मुकुटमें सामने बनी रहती है। इसी प्रकार प्रत्येक वंश (जिसके लिये विशिष्ट शब्द 'कुल' है)-के देवी तथा देवताओंके मुकुटमें उस वंशके जन्मदाता ध्यानी

बुद्धकी विशिष्ट हस्तमुद्रायुक्त ध्यानासन-मूर्त्ति दिखलायी जाती है और यही उनका मुख्य चिह्न माना जाता है।

महायानीय मतके अनुसार धर्म अमर अथवा सनातन माना जाता है और बुद्धका व्यक्तित्व इस धर्मके पूर्ण ज्ञानका साधनमात्र माना जाता है। प्रत्येक युगमें एक-न-एक मनुष्यशरीरधारी बुद्ध (अथवा ज्ञानी) धर्मका प्रचार करते हैं। एक बुद्धके निर्वाण प्राप्त होनेसे दूसरे बुद्धके जन्मतक कल्पके अधिष्ठाता ध्यानी बुद्धसे उत्पन्न दिव्य बोधिसत्व बौद्ध 'धर्म' की देखरेख करते हैं। गौतम बुद्धको गत हुए प्राय: २४०० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं और अबसे लगभग २६०० और बीत जानेपर (अर्थात् गौतम बुद्धकी मृत्युके ५००० वर्ष उपरान्त) बुद्ध मैत्रेयका जन्म होगा। इस समय बौद्धमतका भद्रकल्प चल रहा है और इसके अधिष्ठाता ध्यानी बुद्ध अमिताभ हैं। अत: इन ५००० वर्षोंमें ध्यानी बुद्ध अमिताभसे उत्पन्न (दिव्य) बोधिसत्व पद्मपाणि (जिनका दूसरा नाम अवलोकितेश्वर है)-का प्रबन्ध चलता रहेगा। यही इस युगके प्रधान (दिव्य) बोधिसत्व हैं।

इन उपर्युक्त दिव्य बोधिसत्वोंकी मूर्तियाँ अनेक आसनोंमें बैठी अथवा खड़ी मिलती हैं। साधारणतया इनकी पहचान मुकुटपर अथवा मुकुटके पीछे प्रभामण्डलमें बने हुए ध्यानी बुद्धसे हो जाती है। अन्यथा इनके हाथमें स्थित ध्यानी बुद्धके चिह्नोंसे ये पहचाने जाते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, 'बोधिसत्व' अवस्था 'बुद्ध' अवस्थाके पूर्वकी स्थिति मानी गयी है। अत: बोधिसत्व प्राय: राजसी वेशमें मुकुट-आभूषणादियुक्त दिखलाये जाते हैं और बुद्ध तापसवेशमें।

जिस प्रकार भागवत अर्थात् वैष्णव-धर्ममें विष्णुके २४ अवतार माने गये हैं और जिस सिद्धान्तपर जैनधर्ममें २४ तीर्थङ्करोंकी भावना की जाती है, ठीक उसी प्रकार प्राचीन (अर्थात् हीनयानीय) बौद्धधर्ममें २४ अतीत मानुषी बुद्धोंकी बात मिलती है। महायानमतमें भी २४ से ३२ तक अतीत मानुषी बुद्धोंकी बात मिलती है। इन मानुषी बुद्धोंमें आखिरी सात (जिनमें सबसे अन्तमें गौतम-बुद्धका नाम आता है) विशेषरूपसे प्रसिद्ध हैं। इनके नाम विपश्यी, शिखी, विश्वभू, क्रकुच्छन्द, कनकमुनि, काश्यप तथा शाक्यसिंह हैं। ये सातों मानुषी बुद्ध एक साथ पद्मासनमें भूस्पर्श-मुद्रायुक्त मिलते हैं और यही सातकी गणना इनकी पहचान है। कभी-कभी इनकी संख्या भावी बुद्ध मैत्रेयको मिला लेनेसे आठ मिलती है। इनमेंसे प्रत्येकका एक विशिष्ट वृक्ष माना गया है।

गौतम बुद्धकी मूर्तियोंके साथ बोधिसत्व अवलोकितेश्वर तथा भावी बुद्ध मैत्रेय पार्षदोंके रूपमें चँवर लिये हुए दिखलाये जाते हैं।

वज्रयानीय बौद्धधर्मका मुख्य गढ़ इस समय महाचीन (तिब्बत) है। वहाँके प्रधान शासक दलाईलामा महात्मा गौतम बुद्धके अवतार माने जाते हैं और उनके बाद पदमें श्रेष्ठ शीगर्चीके ताशीलामा बोधिसत्व अवलोकितेश्वरके अवतार माने जाते हैं। वज्रयानका गायत्रीतुल्य मुख्य मन्त्र **'ॐ मणिपद्मे हुम्'** इन्हीं बोधिसत्व अवलोकितेश्वरका षडक्षरी मन्त्र है। अवलोकितेश्वरके अगाध करुणासागर होनेका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इनके मुख्य चिह्न कमल तथा सुमिरनी हैं।

इनके अतिरिक्त वर्तमान बौद्धधर्ममें बोधिसत्व मंजुश्रीका भी पद बहुत ऊँचा माना गया है। इस स्थानपर बोधिसत्व मैत्रेय (भावी बुद्ध) तथा मंजुश्रीके विषयमें कुछ शब्द अनुपयुक्त न होंगे।

कहा जाता है कि बौद्ध तन्त्रोंके प्रधान आचार्य मैत्रेय हैं। ये इस समय तुषित नामक स्वर्गमें विराजमान हैं। असङ्गने इसी तुषित स्वर्गमें ध्यानद्वारा गमन करके आचार्य मैत्रेयसे तन्त्रोंके रहस्यको जाना था। मैत्रेय ही एक ऐसे देवता हैं, जिन्हें हीनयानीय तथा महायानीय दोनों सम्प्रदायवाले मानते हैं। मैत्रेयका चिह्न उनके मुकुटमें आगेकी ओर बना हुआ एक छोटा-सा चैत्य या स्तूप है। इस स्तूपकी कथा यों है। गौतम बुद्धके पूर्ववाले मानुषी बुद्ध काश्यप गयाके समीप कुक्कुटपादगिरि-के शिखरपर गड़े हुए हैं और उनके भौतिक अवशेषके ऊपर एक स्तूप विद्यमान है। जिस समय गौतम बुद्धके निर्वाणके ५००० वर्षोंके उपरान्त मैत्रेय बुद्धरूपसे इस भूमण्डलपर अवतीर्ण होंगे, उस समय वे काश्यपके स्तूपपर जायँगे और काश्यप बुद्ध मैत्रेय बुद्धको उनके वस्त्र त्रिचीवर (लँगोट, धोती और डुपट्टा) देंगे।

उपर्युक्त मुकुटस्थित चैत्यके अतिरिक्त मैत्रेयके चिह्न धर्मचक्र तथा अमृतकुम्भ (अमृतका लोटा, शीशी या कमण्डलु) भी हैं।

जावामें मिली हुई प्रज्ञापारमिता देवीका चित्र। इस समय यह मूर्ति Leyden में है। संसारभरकी बौद्ध-मूर्तियोंमें यह सबसे सुन्दर है।

बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर। मुकुटमें इनके जनक ध्यानीबुद्ध अमिताभकी समाधिमुद्रायुक्त मूर्ति बनी है। हाथमें सनाल कमल भी इनकी पहिचान है।

बोधिसत्व मंजुश्री स्मृति, मेधा, बुद्धि तथा वाक्पटुताके स्वामी माने जाते हैं। अर्थात् इनकी उपासनासे ये शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। साधारणतया इनके बायें हाथमें बौद्धधर्मकी सुप्रसिद्ध पुस्तक प्रज्ञापारमिता दिखलायी जाती है और दाहिने हाथमें अज्ञानान्धकारको काटनेवाला खड्ग दिखलाया जाता है। कहा जाता है कि महात्मा मजुश्रीहीने नैपाल देशमें सभ्यता तथा बौद्धधर्मका प्रचार चीनसे आकर किया था। कहते हैं कि नैपाल देश पहले झील रूपमें जलमग्न था और इस विशाल जलराशिके मध्य भगवान् आदिबुद्धका स्थान था, जहाँ पृथ्वीके गर्भसे निरन्तर ज्वाला निकलती थी। जलके कारण यह स्थान अगम्य था। अत: मंजुश्रीने एक ओरसे इस विशाल जलराशिमें नहर-सी निकाल दी। यही नहर आजकल वागमती नदीके रूपमें बहती है। इस नहरद्वारा सब जल बह गया और सूखी भूमि निकल आयी। यहींपर बस्ती बस गयी और अब सरलतापूर्वक आदिबुद्धकी ज्वालाके ऊपर मन्दिर बन गया। (इस समय यह मन्दिर स्वयम्भूनाथके नामसे विख्यात है।)

ध्यानी बुद्धोंसे उत्पन्न अन्य देवी-देवताओंका वर्णन देनेसे लेखका विस्तार बढ़ जायगा और कदाचित् पाठकगण भी उस वर्णनको सरलतापूर्वक हृदयंगम न कर सकें। जिनको इस विषयमें अधिक जानकारीकी इच्छा हो, उन्हें श्रीबिनयतोष भट्टाचार्यकृत Indian Buddhist Iconography तथा उन्हीं द्वारा सम्पादित 'साधनमाला' नामक ग्रन्थि देखना चाहिये।

सिद्धिसाधक साधनाकी संक्षिप्त रूप-रेखा

(लेखक—व्याख्यानवाचस्पति आचार्यदेव श्रीमद् विजयरामचन्द्रजी सूरीश्वर महाराज)

ज्ञान और क्रियाकी आवश्यकता

इस जगत्‌में साधना कौन नहीं करता? यथार्थ हो या अयथार्थ' सुखदायी हो या दु:खदायी, अल्प हो या अधिक—जहाँ-जहाँ कामना है, वहाँ-वहाँ साधना है ही। कामनाकी पूर्तिके लिये किये जानेवाले प्रयत्न ही साधना हैं। कामनायुक्त विश्वका जीवन साधनामय है। इतना होनेपर भी साधनाके सम्बन्धमें विशेष विचार करनेकी आवश्यकता है। जैसे कामनामात्रसे इष्टकी सिद्धि नहीं होती, वैसे ही केवल साधनासे या प्रयत्नमात्रसे भी इष्टसिद्धि नहीं होती। सिद्धि प्राप्त करानेवाली साधनाके लिये साधनोंका यथार्थ ज्ञान और उसीके अनुकूल क्रियाशीलता भी आवश्यक है। ज्ञानशून्य क्रिया किंवा क्रियाशून्य ज्ञान सिद्धिसाधक नहीं बन सकता। साधनोंका यथार्थ ज्ञान हुए बिना इष्टकी प्राप्तिके लिये प्राय: वे ही क्रियाएँ होती हैं जो वस्तुत: इष्ट-प्राप्तिकी बाधक हैं, और साधनोंका यथार्थ ज्ञान होनेपर भी यदि उसके अनुसार क्रिया नहीं होती तो विपरीत क्रिया चालू रहनेके कारण इष्टकी प्राप्ति दूर हटती जाती है। कामनाकी प्रेरणासे साधनामें लगे हुए जीवमात्रको यह बात समझ लेनी चाहिये; क्योंकि साधनोंको ठीक जाने बिना और वास्तविक साधनोंके सेवनमें दत्तचित्त हुए बिना इस अनादिकालीन विश्वमें अनन्त कालतक भी न तो कोई आत्मा इष्टको प्राप्त कर सका है, न कर सकता है और न कर सकेगा ही—यह निर्विवाद है।

साधनाका हेतु

इस संसारमें मनुष्यमात्रकी प्रवृत्तिका केन्द्रित ध्येय कौन-सा है? कोई धनके पीछे पड़ा है तो कोई कीर्तिके, कोई स्त्रीके लिये प्रयत्नशील है तो कोई पुत्रके लिये और कोई शक्तिके लिये जी-जोड़ चेष्टा कर रहा है तो कोई सत्ताके लिये। इस प्रकार मनुष्य भिन्न-भिन्न प्रकारकी कामनाओंको लेकर अपनी-अपनी शक्ति, अनुकूलता और समझके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारकी प्रवृत्तियोंमें लगे हैं; परन्तु इन सारी कामनाओं और तमाम प्रवृत्तियोंके पीछे सभीका ध्येय एक-सा है। वह ध्येय है—दु:खका नाश और सुखकी प्राप्ति। दु:ख सबकी नापसन्दगीकी चीज है और सुख सबकी पसन्दगीकी। दु:खसे सर्वथा रहित, सुखसे परिपूर्ण' और जिसका किसी भी कालमें परिवर्तन या नाश सम्भव न हो—ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाय तो फिर कोई पुरुष कामना क्यों करे, प्रयत्न क्यों करे? अनिष्टकी और अपूर्ण इष्टकी विद्यमानता ही कामना पैदा करती है। अनिष्ट टल जाय, सम्पूर्ण इष्ट प्राप्त हो जाय और उसमें किसी भी समय जरा भी अल्पताका होना निश्चित रूपसे असम्भव हो जाय तो फिर कामनाके लिये अवकाश ही नहीं रहता। सुख ऐसा मिले कि जो दु:खके अंशमात्रसे भी रहित हो और इस प्रकारसे सम्पूर्ण हो कि किसी भी कालमें किसी भी जीवको उससे बढ़कर सुख मिलना सम्भव ही न हो

और ऐसा दु:खरहित तथा सम्पूर्ण सुख किसी भी कालमें अल्पताको या विनाशको प्राप्त होनेवाला न हो तो ऐसे सुखको प्राप्त जीवोंमें किसी प्रकारकी भी कामनाका कभी भी पैदा होना सम्भव नहीं है। साधनाकी तभीतक आवश्यकता है, जबतक कि इस प्रकारके सुखकी प्राप्ति नहीं हो जाती।

प्रचलित साधना सिद्धिसाधक नहीं है

मनुष्यको उपर्युक्त प्रकारके सुखकी वास्तविक साधना करनेमें ही अपने जीवनकी सफलता माननी चाहिये। मनुष्यको दु:ख नहीं सुहाता, इतना ही नहीं; दु:खयुक्त सुख भी नहीं सुहाता। अधिक सुखमें भी यदि अल्प दु:ख होता है तो वह भी मनुष्यके मनमें खटका करता है और वह यों सोचा ही करता है कि 'कब मेरे इस इतनेसे दु:खका नाश होगा?' इसी प्रकार जिसको अपूर्ण सुख प्राप्त है, वह भी शेष सुखकी इच्छा किया ही करता है। साथ ही प्राप्त सुखके चले जानेका विचार भी मनुष्यको सताता रहता है। अतएव सबको पसन्द तो वही सुख है, जो दु:खसे रहित भी हो, सम्पूर्ण भी हो और शाश्वत (नित्य) भी हो। ऐसे खास सुखको चाहनेवाला जगत् आज किस तरहकी साधना कर रहा है? क्या जगत्‌की वर्तमान साधना इसको वह सुख प्राप्त करा सकती है? यदि नहीं तो, क्या वर्तमान साधना भ्रम नहीं है? क्या वह इष्टप्राप्तिमें बाधक नहीं है? साधकमात्रके लिये यह प्रश्न विचारणीय है। जिस कामनासे जो प्रयत्न किया जाता हो, यदि उसका परिणाम उस कामनासे विपरीत हो अथवा यदि उस प्रयत्नसे वह कामना सिद्ध न होती हो, तो उसके कारणका विचार तो करना ही चाहिये न? बहुत सीधे ढंगसे इस प्रश्नपर विचार किया जा सकता है। दु:खरहित, सम्पूर्ण और शाश्वत सुखकी प्राप्ति क्या नाशवान् साधनोंसे हो सकती है? जो साधन स्वयं परिवर्तन स्वभाववाले और नाशवान् हैं, उनके द्वारा शाश्वत सुख कैसे मिल सकता है? धन, स्त्री, कीर्ति, सत्ता और पुत्र-परिवार आदिको सुखके साधन माननेवाले लोग जरा रुकें और विवेकी बनकर विचार करें। इनमेंसे कौन-सी वस्तु नित्य है या अल्पता आदि परिवर्तनको नहीं प्राप्त होनेवाली है? एक भी नहीं। असंख्य धनवान् भिखारी बन गये, अनेकों कीर्तिमान् पुरुषोंको भयंकर कलङ्कका टीका लगाकर बुरे हाल मरना पड़ा; और कितने ही सत्ताधारियोंने अपनी सत्ता खो दी—ऐसा इतिहास कहते हैं। स्त्री तथा पुत्र-परिवारादिका नाश तो रचा ही हुआ है। इतनेपर भी मान लीजिये कि धन मिल गया, कीर्ति और सत्ता मिल गयी तथा स्त्री और पुत्र-परिवारादिकी भी प्राप्ति हो गयी और मान लीजिये ये सब वस्तुएँ अपने पास सदा रहीं भी; परन्तु एक दिन हमारा तो मरना निश्चित ही है न? उस समय तो उन सबको छोड़ना पड़ेगा ही न? आजतक कोई ऐसा नहीं जन्मा और भविष्यमें अनन्त कालतक कोई ऐसा जन्म भी नहीं सकता, जिसकी मृत्यु न हो। जन्मके साथ मृत्यु तो लगी ही हुई है। इस संसारमें ऐसा कोई जन्म सम्भव ही नहीं है कि जो मृत्युके साथ न जुड़ा हुआ हो। हाँ, ऐसी मृत्यु जरूर सम्भव है कि जो जन्मके साथ न जुड़ी हुई हो; और ऐसी ही मृत्यु उसके बादकी हमारी दु:खरहित सम्पूर्ण और शाश्वत सुखसे युक्त स्थितिकी सूचक है। इस संसारमें ऐसी ही मृत्युको अपने समीप लानेका प्रयास करना चाहिये और यही सच्ची साधना है। इसके अतिरिक्त और सब साधनाएँ तो नाममात्रकी साधना हैं। उनसे इष्टकी प्राप्ति नहीं होती वरं उसका अवरोध होता है। अज्ञानी जगत् इष्टकी अवरोधक साधनाओं को इष्टकी प्राप्ति करानेवाली मान बैठा है। यही कारण है कि वह जीवनके तमाम क्षणोंको धन, कीर्ति, सत्ता और पुत्र-परिवारादिकी प्राप्तिके प्रयत्नमें ही खो रहा है। मृत्युके बाद धन आदि कोई भी चीज साथ नहीं चलती। आत्मा चला जाता है और सुखके साधन मानकर जिन धनादि पदार्थोंको हमने इकट्ठा किया था, वे सब जहाँ-के-तहाँ रह जाते हैं। हमारी आँखोंके सामने अनेकों चले गये और धनादिमेंसे कुछ भी वे अपने साथ न ले जा सके, यह भी हमने देखा। इतनेपर भी उन्हीं धनादिको सुखके साधन मानकर हम अपना जीवन उन्हींकी साधनामें बिता दें, तो यह क्या भ्रम नहीं है? यह क्या अज्ञानपूर्ण क्रिया नहीं है? फिर, धनादि वस्तुएँ क्या केवल परिश्रमसे ही मिल सकती हैं? इस जगत्‌में धनादिके लिये प्रयत्न करनेवाले कितने हैं और धनादिको प्राप्त करके श्रीमान् बननेवाले कितने हैं? क्या ऐसा एक भी मनुष्य ढूँढ़कर निकाला जा सकता है जिसको धनादिकी पूरी प्राप्ति हो गयी हो और इस कारण जिसकी धनकी कामना नष्ट हो गयी हो? धनादिके लिये प्रयत्न करनेवाले लगभग सभी हैं, परन्तु धनी बहुत थोड़े हैं। इससे एक ऐसी वस्तुकी सूचना मिलती है, जिसकी अपेक्षा प्रयत्न करनेवालेको भी रहती है। यह वस्तु है—पुण्य। चाहे जितनी मेहनत की जाय, परन्तु पुण्यके अभावमें धनादिकी प्राप्ति नहीं हो

सकती। और धनप्राप्तिका पुण्य होनेपर भी यदि भोगके लिये पुण्य न हुआ तो प्राप्त धनादिका भी भोग नहीं किया जा सकता। ऐसी वस्तुएँ पुण्यके नाशके साथ ही नाशको प्राप्त हो जाती हैं। कदाचित् किसीके जीवनके अन्ततक पुण्योदय ही वर्तमान रहे और इस कारण धनादिका नाश न हो, तो अन्तमें मृत्यु तो तैयार ही बैठी है, जो धनादिका वियोग अवश्य ही करा देगी। इस प्रकार साधकमात्रको सबसे पहले यह तो निश्चय कर ही लेना चाहिये कि धनादिकी प्राप्तिके लिये की जानेवाली साधना यथार्थ साधना नहीं है; क्योंकि उससे दु:खरहित, सम्पूर्ण और शाश्वत सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इतना निर्णय हुए बिना यथार्थ साधनाकी रुचिका उत्पन्न होना सम्भव ही नहीं है।

यथार्थ साधना

धनादिकी साधना बाधक है, ऐसा निर्णय करनेके बाद यह निर्णय करना शेष रहा कि फिर साधक साधना कौन-सी है? दु:खरहित, सम्पूर्ण और शाश्वत सुखमय स्थितिकी प्राप्तिके लिये ऐसी मृत्युको प्राप्त करना चाहिये कि जिसके बाद जन्म न हो। जहाँ जन्म है, वहाँ दु:खका सर्वथा अभाव और सुखका एकान्त सद्भाव सम्भव नहीं है। इसलिये जन्मके कारणको मिटाना चाहिये। जो जन्मके कारणसे परे है, वही दु:खके कारणसे परे है। भिन्न-भिन्न गातियोंमें, भिन्न-भिन्न योनियों आदिके द्वारा विभिन्न सामग्रियोंके साथ होनेवाला जन्म आत्माके भूतकालीन और भविष्यकालीन जीवनका सूचक है। आत्मा ही एक गतिसे दूसरी गतिमें और एक स्थानसे दूसरे स्थानमें परिभ्रमण करता है। वस्तुत: आत्मा जन्म या मृत्युको प्राप्त नहीं होता। आत्मा तो था, है और रहेगा। मृत्यु तो आत्माके गत्यन्तर या स्थानान्तरकी सूचक है। अनन्त कालसे हमारा आत्मा इस प्रकार विभिन्न गतियोंमें भ्रमण कर रहा है। इस भ्रमणका कारण है जड कर्मका संयोग। जिस मृत्युके साथ ही आत्मा जड कर्मोके संयोगसे सर्वथा मुक्त हो जाता है, वही मृत्यु भावी जन्मसे जुड़ी हुई नहीं होती। एक बार जड कर्मके संयोगसे आत्मा मुक्त हो जाय तो फिर उसका पुन: संयोग नहीं होता और इस कारण पुन: जन्म भी नहीं होता। इसीलिये इस संसारमें यदि कोई यथार्थ साधना है तो वह एक ही है—और वह है जड कर्मसे मुक्त बनानेकी साधना। इस साधनामें लग जानेवाले जीव क्रमश: अपने आत्माके साथ जड कर्मके संयोगको घटाते चले जाते हैं, अल्प संयोगको उसके वियोगसाधक बननेमें सहायक बना लेते हैं और अन्तमें उत्कट साधनाके प्रतापसे ऐसी मृत्युको प्राप्त होते हैं कि जिस मृत्युके साथ ही आत्मा जड कर्मके संयोगसे सर्वथा मुक्त हो जाता है। आत्माकी यह शाश्वत स्थिति होती है; क्योंकि जब जन्मका कारण नहीं रह जाता, तब मृत्यु भी सम्भव नहीं होती। यह स्थिति दु:खरहित तथा सम्पूर्ण सुखमयी होती है। इसमें दु:खके कारणका सर्वथा अभाव हो जानेके साथ ही आत्मा अपनी सम्पूर्ण स्वाभाविक स्थितिको प्राप्त हो जाता है।

साधनादर्शकसम्बन्धी निश्चयकी आवश्यकता

इस प्रकारकी साधना ही इष्टको प्राप्त करानेवाली साधना है, परन्तु ऐसी साधनाके लिये विशिष्ट आलम्बनकी आवश्यकता है। धनादिकी साधनाका निषेध करनेपर भी ऐसे अनेकों साधनादर्शक पूर्वकालमें हो गये हैं, इस कालमें हैं और आगे भी होंगे, जो चेतन, जड और चेतन-जडके संयोगके विषयमें यथार्थ ज्ञान नहीं रखते। ऐसे लोगोंके द्वारा दिखलायी हुई साधना चेतनको जड कर्मके संयोगसे सर्वथा मुक्त करके दु:खरहित सम्पूर्ण और शाश्वत सुखकी प्राप्ति करानेमें सफल नहीं होती। ऐसा होना स्वाभाविक ही है। इस स्थितिमें अपने आत्माको कर्मके संयोगसे सर्वथा मुक्त करनेकी साधनामें लगना चाहनेवाले जीवोंको सबसे पहले साधनादर्शकके स्वरूपके विषयमें निश्चय करना चाहिये। यों न करनेवाले आत्मा यथार्थ साधनासे वंचित रह जाते हैं और अयथार्थ साधनासे नाना प्रकारके कष्ट सहनेपर भी कष्टमयी संसार-परिभ्रमणकी स्थितिको नाश करनेके बदले उसको और भी बढ़ा लेते हैं!

साधनाके मूलभूत दर्शकोंका स्वरूप और उनके द्वारा स्थापित शासन

यथार्थ साधनाके मूलभूत दर्शक वे ही हो सकते हैं, जो असत्यवादके सभी कारणोंसे परे पहुँचे हुए हैं। राग, द्वेष और मोह आदि ऐसे दुर्गुण हैं कि जो इच्छापूर्वक असत्यमें कारण बनते हैं, और अज्ञानके योगसे असत्य बोलनेका इरादा न होनेपर भी असत्य बुलवा देते हैं। इन रागादि दुर्गुणोंसे और अज्ञानके लेशमात्रसे भी रहित होनेके कारण श्रीवीतराग और सर्वज्ञ परमपुरुष ही यथार्थ साधनाके मूलभूत दर्शक हो सकते हैं। इन तारकों (उद्धारकों)-में आत्माका अनन्त ज्ञानगुण प्रकट हुआ रहता है; इस कारण ये तारक अनन्त भूतकालके, वर्तमानके और अनन्त भविष्यकालके सम्पूर्ण ज्ञानसे सम्पन्न होते हैं। चेतन और जड प्रत्येक पदार्थका, उसके प्रत्येक परिवर्तन

और परिवर्तनके कारण आदिका सर्वतोगामी ज्ञान इन तारकोंको होता है। श्रीवीतराग और सर्वज्ञ बने हुए ये आत्मा भी किसी कालमें इस संसारके ही मुसाफिर थे, इन्होंने भी अनन्त कालतक इस संसारमें परिभ्रमण किया था। ऐसे आत्माओंमें एक विशिष्ट प्रकारकी अनादिकालीन योग्यता होती है, जो आवश्यक सामग्रीका संयोग पाकर प्रकट हो जाती है। यह योग्यता, सच्ची साधनाके मार्गकी प्राप्ति होनेके पहले ही, उन तारकोंको नाना प्रकारसे उत्तमजीवी बना देती है। क्रमशः वे अपनी योग्यताके बलसे सच्ची साधनाके मार्गमें सुविश्वस्त बन जाते हैं। इस प्रकार सच्ची साधनाके मार्गमें सुविश्वस्त बने हुए वे तारक परम आराधक बननेके साथ ही परोपकारकी सर्वश्रेष्ठ भावनासे अतिशय ओतप्रोत हो जाते हैं। यह भावना दुःखके मारे क्रन्दन करते हुए और सुखके लिये तरसते हुए विश्वभरके जीवोंको सच्ची साधनाका मार्ग प्राप्त करवाकर उन्हें दुःखमुक्त और सुखके भागी बनानेकी होती है। इस प्रकारकी उत्कट भावनामें रमते हुए वे एक ऐसा अतुलनीय और अनुपम पुण्यकर्म अर्जन करते हैं कि जिसके प्रतापसे वे श्रीवीतराग और सर्वज्ञ बननेके साथ ही निवृत्तिमार्गके प्रतिपादक, समस्त पदार्थोंके प्ररूपक और उन्मार्गके उच्छेदक शासनकी स्थापना करनेवाले होते हैं। इस शासनको ही श्रीजैनशासन कहते हैं। जगत्‌के सब पदार्थोंके स्वरूपको यथार्थरूपमें बतलाना, सच्ची साधनाके यथार्थ मार्गका प्रतिपादन करना और विपरीत मार्गोंकी अकल्याणकारिता दिखलाना—यही जैनशासनका कार्य है। ऐसे शासनके प्रति श्रद्धालु वे ही बन सकते हैं, जिनके भावी जन्मसे अलिप्त मृत्यु समीप पहुँची हुई होती है। ऐसे आत्मा ही जैन हैं। किसी भी जाति, कुल या देशमें उत्पन्न आत्मा ऐसी श्रद्धालुताके द्वारा जैन बन सकता है। सच्ची साधनाके अर्थी प्रत्येक आत्माके लिये जैन-शासन है। वस्तुमात्रको उसके यथार्थ स्वरूपमें स्वीकार करना ही जैनत्वकी प्राप्ति है। इस जैनत्वकी प्राप्ति जिस किसी आत्माको होती है, उसे ऐसा ही भान होता है कि श्रीवीतराग और सर्वज्ञ जिनेश्वर देवोंने जीव आदि तत्त्वोंका जो स्वरूप दिखलाया है, वही वास्तविक है। ऐसे श्रीजिनेश्वर देव आजतक अनन्त हो चुके हैं, वर्तमानमें क्षेत्रान्तरोंमें विहरण कर रहे हैं और भविष्यमें भी अनन्त होंगे। इस प्रकार श्रीजैनशासन अनन्त आत्माओंद्वारा प्रकाशित होनेपर भी, उसकी परस्पर अविरुद्धता अखण्डरूपसे सुरक्षित है; क्योंकि उन सभी तारकोंका अनन्त ज्ञानादि गुणोंमें साम्य होता है। प्रवाहकी दृष्टिसे यह शासन अनादि भी है और व्यक्तिकी अपेक्षासे इस शासनको आदिवाला भी मान सकते हैं। इस प्रकार आदि-अनादिका विवेक करानेवाले सिद्धान्तको 'स्याद्‌वाद' कहते हैं। स्याद्‌वादका प्रत्येक कथन सापेक्ष होनेके कारण उसमें वस्तुके किसी भी धर्मका अपलाप नहीं होता। इसीलिये इस विश्वमें अगर कोई यथार्थवादी है तो वह वही है कि जो शुद्ध स्याद्‌वादके सिद्धान्तको स्वीकार करता है। यही कारण है कि श्रीजैनदर्शनका सारा वर्णन विशिष्ट, स्वतन्त्र और सम्पूर्णरूपसे यथार्थवादी है। इसीसे हम कहते हैं कि सच्ची साधना चाहनेवालेके लिये श्रीजैनशासन ही एक वास्तविक शरणभूत है।

चेतन या जड उद्भव या विनाशको प्राप्त नहीं होता

अनन्त ज्ञानके स्वामी श्रीजिनेश्वरदेव कह गये हैं कि यह जगत् अनादि, अनन्त है। इसका कोई स्रष्टा, संरक्षक या संहारक नहीं है। जगत् था, है और रहेगा। जो है उसका कभी समूल नाश नहीं होता, और जो नहीं है उसकी किसी कालमें उत्पत्ति नहीं होती। यह जो कुछ भी उद्भव और विनाश दिखायी देता है, वह किसी अवस्थाविशेषका उद्भव और विनाश है। मूलरूपमें तो विश्वकी कोई भी चीज न नयी उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है। वस्तुरूपमें विश्व स्थायी है और अवस्थारूपमें परिवर्तनशील है। विश्वमें चेतन और जड—दो प्रकारकी वस्तुएँ थीं, हैं और रहेंगी। अनन्तानन्त आत्मा और अनन्तानन्त पुद्गलोंके धामका नाम ही जगत् है। चेतनके साथ जड कर्मोंका संयोग अनादिकालसे होनेके कारण ही चेतनकी विभिन्न प्रकारसे उत्पत्ति और विनाशमयता दिखायी देती है। वस्तुतः चेतन न उत्पन्न होता है और न विलीन। चेतनकी अवस्थान्तरोंको ही जन्म-मृत्यु आदि कहा जाता है। पुद्गल भी विभिन्न अवस्थाको प्राप्त होते हैं, परन्तु उनका समूल विनाश कभी नहीं होता। मान लीजिये—एक घर टूट गया, इससे उस घरका विनाश हो गया; पुद्गलोंके इस प्रकारके समूहका नाश हो गया, परन्तु इससे पुद्गलोंके अस्तित्वका नाश तो हुआ ही नहीं। इसी प्रकार जड कर्मके योगसे मुक्त होनेवाला आत्मा शाश्वत सुखमय अवस्थाको प्राप्त हो जाता है; वह संसारमें जन्म मरणादिरूप परिभ्रमण नहीं करता, तो भी उसका अस्तित्व तो बना ही रहता है।

आत्माका स्वरूप और उनके भेद

कर्मके संयोगसे बद्ध होकर अनन्तानन्त आत्मा

अनादिकालसे इस संसारमें परिभ्रमण करते हैं। इन अनन्तानन्त आत्माओंमें ऐसे भी अनन्तानन्त आत्मा हैं कि जो मुक्तदशाको प्राप्त होनेकी योग्यतासे हीन हैं, और ऐसे भी अनन्तानन्त आत्मा हैं जो मुक्तदशा प्राप्त करनेकी योग्यतासे सम्पन्न होनेपर भी योग्य सामग्रीके न मिलनेके कारण अनन्त कालतक मुक्तदशाको प्राप्त नहीं होंगे। ऐसे आत्माओंको क्रमशः 'अभव्य' और 'जातिभव्य' कहते हैं। विश्वमें विद्यमान अनन्तानन्त आत्माओंका एक तीसरा वर्ग भी है। इस तीसरे वर्गके अनन्तानन्त आत्माओंको 'भव्य' कहा जाता है। इन 'भव्य' आत्माओंमेंसे अनन्त आत्मा आजतकके अनन्तकालमें सच्ची साधनाके द्वारा मुक्तदशाको प्राप्त हो चुके हैं। वर्तमानमें बहुसंख्यक आत्मा सच्ची साधना कर रहे हैं और भविष्यके अनन्त कालमें अनन्त आत्मा सच्ची साधनाके द्वारा मुक्तदशाको प्राप्त होंगे। निश्चयात्मक दृष्टिसे किसीके अनुग्रहसे कोई अपने साध्यको सिद्ध नहीं कर सकता। निश्चयदृष्टिसे तो सब कुछ आत्माको ही करना पड़ेगा, परन्तु व्यवहारदृष्टिसे उपकारक आदिकी मान्यता आदि रूपोंमें उपासना भी आवश्यक है; क्योंकि शुद्ध व्यवहारकी अवज्ञा करनेवाला शुद्ध निश्चयदृष्टिको नहीं पा सकता। आत्मा अनादिकालीन कर्मसंयोगसे सुबद्ध और परिणामी स्वभाववाला है—ऐसा मानकर जो अपने आत्माको कर्मसंयोगसे मुक्त करना चाहते हैं, वे ही अनन्त ज्ञानके स्वामी श्रीजिनेश्वरदेवोंके द्वारा उपदिष्ट सच्ची साधनाके मार्गपर विश्वस्त बनकर शुद्ध व्यवहारका पालन करते हैं और अन्तमें मुक्ति पा सकते हैं। अनादिकालीन कर्मसंयोगसे आत्माको मुक्त करना ही सच्चा साध्य है। ऐसा हुए बिना दुःखरहित, सम्पूर्ण और शाश्वत इष्टकी प्राप्ति नहीं हो सकती। मुक्ति प्राप्त करनेकी योग्यता रखनेवाले आत्मा भी इस साध्यका स्वीकार तभी कर सकते हैं, जब कि उनकी 'तथाभव्यता' नामक योग्यता परिपक्वताको प्राप्त हो जाती है। इस साध्यको प्राप्त करनेके पहले ही ऐसे आत्मा मुक्तिके अद्वेषी बन जाते हैं, यही उनको प्राप्त होनेवाली साधनाका सूचक है।

अपुनर्बन्धक आत्मा

प्रत्येक आत्मा अनादि कालसे ही अपने ज्ञानादि गुणोंको ढकनेवाले ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकारके जड कर्मोंसे आवृत होता है। नदी-धौत-पाषाण-न्यायसे, अध्यवसायके बलसे जबतक इन आवरणोंमें मन्दता नहीं आती और जबतक मोहनीय आदि कर्मोंके द्वारा पुनः नहीं बँध सकने-जैसी उत्कृष्ट सुन्दर आत्मदशाकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक आत्मा श्रीवीतराग परमात्माकी सिद्धिदायक उपासना आदिके योग्य नहीं होता। ऐसी दशाको प्राप्त आत्मा 'अपुनर्बन्धक' कहलाता है। ऐसे आत्मा प्रथम गुणस्थानकमें सार्थकताके साथ रहनेवाले माने जाते हैं। 'अपुनर्बन्धक' आत्मा भयङ्कर भवकी ओर बहुत मानकी दृष्टिवाले या तीव्रभावसे पापका आचरण करनेवाले नहीं होते। वे समस्त प्रवृत्तियोंमें औचित्यकी रक्षा करते हैं। वे मुक्तिके अद्वेषी होकर धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों पुरुषार्थोंमें धर्मको प्रधान मानते हैं। ऐसी दशामें वे सामग्रीकी अनुकूलताके मिलनेपर सच्चे साध्यको और उस साध्यको सिद्ध करनेवाले साधनोंको भी सहजहीमें पा जाते हैं।

मुक्ति किसे कहते हैं?

श्रीजैनशासनका आदेश है कि 'आत्मा अपने मूलभूत स्वरूपको सर्वथा आवरणरहित बना दे, जड कर्मके संयोगसे अपनेको सर्वथा मुक्त कर दे।' इसीका नाम मुक्ति है। आत्माका सदाके लिये अपने स्वरूपमें ही सुस्थित हो जाना तभी सम्भव है, जब कि अनादि कालसे आत्माके साथ प्रवाहरूपसे संलग्न हुए समस्त कर्मोंका क्षय हो जाय। कर्मोंके सम्बन्धसे ही आत्माका स्वरूप छिपा हुआ है। अनन्त ज्ञान आदि गुणमयता ही आत्माका स्वरूप है। और ये गुण ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंसे आवृत हैं, इसीसे आत्माका स्वरूप तिरोभूत हो रहा है। आत्माके इस तिरोभूत स्वरूपका सम्पूर्ण आविर्भाव करके सदाके लिये अपने स्वरूपमें सुस्थित हो जाना ही मुक्ति है।

विवेककी सच्ची चाह कब जागती है?

मुक्तिके इस स्वरूपकी यथार्थता जान लेनेपर इसे प्राप्त करनेकी अभिलाषा होना सहज है। मुक्तिके इस स्वरूपके प्रति रुचि हो जानेपर आत्माकी अर्थ-कामकी ओर रहनेवाली उपादेय बुद्धि नाश होने लगती है। श्रीवीतराग परमात्माकी भक्ति, तारकोंके आज्ञानुसार संसारका त्याग करके महा-व्रतादिके द्वारा संयम-साधनामें प्रतिष्ठित हुए सद्‌गुरुओंकी सेवा और 'दान, शील, तप तथा भाव' रूप धर्मानुष्ठानोंके प्रति उनका आदर बढ़ता ही जाता है। यों अर्थ-कामके प्रति उपादेय बुद्धिका नाश होने लगने तथा परमात्माकी भक्ति आदि सदनुष्ठानोंके प्रति आदरबुद्धि; बढ़नेसे वे आत्मा उस सुन्दर परिणामके स्वामी बन जाते हैं कि जिस परिणामके योगसे आत्माके साथ संलग्न कर्मोंमें

राजास्वरूप 'मोहनीय कर्म' विशेषरूपसे शिथिल होता जाता है। मोहनीय कर्मके भी अनेकों प्रकार हैं। इनमें 'मिथ्यात्वमोहनीय' नामक प्रकार बहुत ही भयङ्कर है। वह वस्तुको यथास्थित स्वरूपमें माननेमें बाधा पहुँचाता है। यथार्थ मुक्तिके प्रति आकर्षित और सदनुष्ठानोंके प्रति आदरबुद्धि रखनेवाले 'अपुनर्बन्धकता'को प्राप्त आत्माओंकी जीव, अजीव आदि सभी पदार्थोंके जाननेकी इच्छा भी अतिशय उग्र बनती जाती है। इससे पौद्‌गलिक पदार्थोंका उत्कट लोभ, और उसके योगसे वेगको प्राप्त उत्कट माया, उत्कट मान और उत्कट क्रोध,—जिनको 'अनन्तानुबन्धी कषाय' कहते हैं,—घटने लगते हैं। इसीके साथ वस्तुके यथार्थ स्वरूपकी पहचानमें विघ्न करनेवाला 'मिथ्यात्वमोहनीय' का बल भी बहुत क्षीण होता जाता है। उस आत्मामें देवता, गुरु और धर्मके निर्बाध स्वरूपको जाननेकी उत्कट इच्छा पैदा हो जाती है। तात्पर्य यह कि मुक्तिके प्रति द्वेषका नाश हो जानेपर की जानेवाली साधना आत्माके लिये सुन्दर सामग्री प्राप्त करा देती है और मुक्तिके सच्चे स्वरूपके प्रति आकर्षित होनेपर जो साधना होती है, वह आत्मामें वस्तुमात्रके वास्तविक रूपका परिचय देनेवाले विवेककी उत्कट चाह उत्पन्न कर देती है।

'अपूर्वकरण' द्वारा ग्रन्थिभेद

इस विवेककी चाहके प्रतापसे साधक आत्माओंमें आत्मस्वरूपको तिरोभूत कर रखनेवाले और अपने स्वरूपके आविर्भावमें अतिशय विघ्न करनेवाले राग और द्वेषके प्रति द्वेष जाग्रत् हो उठता है। यह द्वेष उन आत्माओंमें ऐसा उत्तम, शुद्ध, निर्मल परिणाम प्रकट करता है कि जिससे आत्माकी उत्कट राग-द्वेषमय दशा शिथिल होने लगती है। आत्माकी उत्कट राग-द्वेषमय दशाको 'दुर्भेद्य ग्रन्थि' कहते हैं। इस ग्रन्थिका भेद हुए बिना जीवादि पदार्थोंके यथावस्थित स्वरूपके प्रति शङ्कारहित रुचि नहीं पैदा होती। इस रुचिके पैदा हुए बिना कोई भी साधक मुक्ति प्राप्त करानेवाले अनुष्ठानोंका सम्यक् प्रकारसे सेवन नहीं कर सकता। वस्तुके वास्तविक स्वरूपको जाननेकी उत्कट इच्छा इस रुचिके उत्पन्न करनेमें बड़ी सहायक होती है। आत्मामें यह एक ऐसे सुन्दर परिणामको उत्पन्न कर देती है कि जो आत्माकी उत्कट राग-द्वेषमय दशारूपी दुर्भेद्य ग्रन्थिका भेद करनेमें समर्थ होता है। इस परिणामको 'अपूर्वकरण' कहते हैं। इस 'अपूर्व करण' नामक मानसिक परिणामसे आत्माकी उत्कट राग-द्वेषमय दशारूप दुर्भेद्य ग्रन्थि टुकड़े-टुकड़े हो जाती है और इसीके साथ-साथ आत्मामें अनन्त ज्ञानी श्रीवीतराग परमात्मा जिनेश्वरदेवोंके-(जो रागादि शत्रुओंके ऊपर अन्तिम विजय प्राप्त करने तथा प्रकृष्ट पुण्योदयके द्वारा तीनों लोकोंकी 'योगक्षेमकर' नाथताको सार्थक बनानेवाले धर्मतीर्थकी स्थापना करनेवाले होनेके कारण जिनेश्वरदेव कहलाते हैं। द्वारा उपदिष्ट जीवादि तत्त्वोंको उनके स्वरूपमें रुचियुक्त करनेकी एक विशेष शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इसी शक्तिको श्रीजैनशासनमें सम्यग्दर्शन कहते हैं। आत्माका यह 'सम्यग्दर्शन' गुण-जैसे अधिगमसे प्रकट होता है, वैसे ही नैसर्गिक भी प्रकट होता है। किसी भी उपायसे हो, 'अनन्तानुबन्धी कषायों' का और 'मिथ्यात्वमोहनीय' का उपशम किंवा क्षयोपशम होना चाहिये,—अपूर्वकरणके द्वारा आत्माकी ग्रन्थिका भेद हो जाना चाहिये, और ऐसा होनेपर ही आत्माकी दशाके अनुसार औपशमिक किंवा क्षयोपशमिक सम्यग्दर्शन गुण आत्मामें प्रकट होता है।

चतुर्थ गुणस्थानकवर्ती आत्माकी समझ कैसी होती है?

इस सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिसे आत्मा 'मैं कौन हूँ और मेरा क्या कर्तव्य है' आदि बातोंको भलीभाँति समझ सकता है। मुक्ति ही अपना सम्पूर्ण स्वरूप है; ऐसा पक्का निश्चय होनेमें फिर आत्माको कोई भी बाधा नहीं होती। वह समझ सकता है कि—'मुझे जो यह रुचि उत्पन्न हुई है, यही मेरी सिद्धिपदकी साधनाका आदिस्वरूप है। यह रुचि यदि सुरक्षित हो जाय तो फिर मेरे अनन्त ज्ञानस्वरूपका प्राकट्य हुए बिना नहीं रहेगा। इस स्वरूपको प्रकट करनेके लिये मुझको सर्व प्रकारसे हेयस्वरूप अर्थ और कामकी आसक्तिका सर्वथा नाश करना पड़ेगा। और इसके नाशके लिये देवताकी तरह श्रीवीतराग परमात्माकी वीतराग होनेकी ही भावनासे सेवा करनी पड़ेगी। अर्थ-कामकी आसक्ति छोड़कर, घर-बार आदि समस्त बाह्य भावोंका त्याग करके, पाँच महाव्रतोंका धारक बनकर, धारण किये हुए पाँचों महाव्रतोंके पालनमें धीर होकर, सम्यग्दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्-चरित्रकी साधनामें ही संलग्न रहकर, शुद्ध माधुकरी वृत्तिसे ही अपने परमशुद्ध संयमयुक्त जीवनका निर्वाह करते हुए और संसर्गमें ओनवाले किसी भी योग्य आत्माको एक धर्मका ही उपदेश देनेवाले सद्‌गुरुओंकी ही वैसा ही बननेके लिये उपासना करनी पड़ेगी। (सामर्थ्य प्रकट हो गया हो तो उसी समय, नहीं तो सामर्थ्यको प्रकट करके) सच्चा निर्ग्रन्थ बनकर शुद्ध संयमकी साधना करनी पड़ेगी।' आत्माकी जो ऐसी भावनामय उत्तम दशा

है, यही आत्माका 'चतुर्थ गुणस्थानकवर्ती' पना है।

सिद्धिसाधनाके साधन

इस गुणस्थानकमें पहुँचे हुए आत्मा भलीभाँति समझ सकते हैं कि जैसा साध्य हो, साधन भी वैसे ही होने चाहिये। मेरा साध्य है सिद्धिपदकी साधना। मुक्ति इसीका पर्याय है, और इसका स्वरूप है आत्माका अपने शुद्ध स्वरूपमें शाश्वत-काल रहना। आत्माका शुद्ध स्वरूप है—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त सुख। अनन्त गुणमय आत्माका यह मुख्य स्वरूप है। इस स्वरूपकी प्राप्तिमें साधन वही हो सकता है, जो इसके प्रकट करनेमें सहायक हो। शुद्ध स्थिरतारूप अनन्त चारित्रको प्राप्त किये बिना आत्माका इष्ट, ऐसा सुख —जो दु:खके लेशसे शून्य है तथा सम्पूर्ण और सदा स्थिर रहनेवाला है—नहीं मिल सकता। इसके लिये अहितकर प्रवृत्तियोंका जिसमें निरोध हो और हितकर प्रवृत्तियोंकी प्रवृत्ति हो, ऐसे चारित्ररूप साधनकी साधना किये बिना काम नहीं चल सकता। ऐसे सच्चारित्रकी आराधनाके लिये सम्यक् तत्त्वज्ञानकी अतिशय आवश्यकता है, और वह ज्ञान इस सम्यग्दर्शनके बिना साध्य नहीं है। अतएव सम्यक् चारित्रके साथ मेरे लिये सम्यग्-ज्ञान और सम्यग्दर्शनकी भी साधना अत्यन्त आवश्यक है।

छठे और सातवें गुणस्थानकका स्वामित्व

सम्यग्दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र—इन तीनोंकी उत्कट साधना तो यतिलोग ही कर सकते हैं। इन तीनोंकी साधना करनेवाले यति प्रमत्तावस्थामें होते हैं, तब छठे प्रमत्तके नामसे परिचित—अथवा जिसका दूसरा नाम 'सर्वविरति' है, उस गुणस्थानकके स्वामी माने जाते हैं। जिस अवस्थामें हेय प्रवृत्तिमात्रका त्याग हो जाता है, ऐसी इस सम्यग्दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्ररूप रत्नत्रयकी साधनाके परिणाममें साधक आत्मा जब एकरस बन जाता है, तब वह यति सातवें 'अप्रमत्त' नामक गुणस्थानकका स्वामी हो गया—ऐसा माना जाता है।

यतिरूप साधक बननेके लिये क्या करना चाहिये?

यतिरूप साधक बननेके लिये दुनियादारीकी सारी प्रवृत्तियोंका—जो हिंसामय हैं—त्याग करना पड़ता है और 'पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय—इन छहों कायके जीवोंकी हिंसा आदिसे सर्वथा दूर रहना पड़ता है। स्नान आदि अंगशोभा वगैरहमें भी जीवोंकी हिंसा होनेके कारण यतियोंके लिये वे भी त्याज्य हैं। देश, नगर, ग्राम और घर; माता, पिता या अन्य कोई भी सम्बन्धी; धन, धान्य, कोई भी वस्तु—इन सबका अथवा यों कहिये कि अनन्त ज्ञानियोंके द्वारा संयमकी साधनाके लिये बतलाये हुए आवश्यक उपकरणोंके सिवा सर्वस्वका त्याग किये बिना यतिपनकी साधना सम्भव नहीं है। कोई आत्मा गृहस्थमें रहता हुआ भी छठे और सातवें गुणस्थानकके योग्य अवस्थाको परिणामरूपमें प्राप्त हो जाय और कदाचित् परिणामकी धारामें आगे बढ़ते-बढ़ते मुक्तिपदका भोक्ता भी बन जाय, ऐसा होना असम्भव नहीं है। परन्तु यह सिद्धि-साधनाका राजमार्ग नहीं माना जा सकता। राजमार्ग तो यही माना जाता है। असत्य, चोरी, अब्रह्म-विषय-सेवन—अथवा सर्वव्यापी अर्थ लें तो—परभावमें रमण और परिग्रह भी हिंसामें निमित्त होनेके कारण, इनका भी त्याग किये बिना यतिपनकी साधना सम्भव नहीं है। क्षमा, निरभिमानता, निर्लोभता, ब्रह्मचर्य, तप, संयम, इन्द्रियोंका निग्रह, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह आदि तो यतिधर्मके अत्यावश्यक अंग हैं। इन धर्मोंकी साधनाके बिना यतिपनकी साधना नहीं की जा सकती।

श्रीनवपद

यतिलोग श्रीनवपदके अखण्ड साधक होते हैं। श्रीनवपदकी निरन्तर साधनामें ही सच्चा यतिपन है। श्रीनवपद ही जैनशासनका सर्वस्व है। श्रीनवपद ही जगत्के जीवोंके लिये सिद्धि-साधनाका सच्चा अंग है। इन श्रीनवपदोंमें प्रथम पदपर श्रीअरिहन्त परमात्मा माने जाते हैं, जो तारकोंकी सच्ची साधनाके मूलभूत प्रकाशक हैं। दूसरे पदपर श्रीसिद्धपरमात्मा माने जाते हैं, जो श्रीअरिहन्तदेवोंके द्वारा प्रकाशित साधनामार्गका सेवन करके अपने आत्माको जड कर्मके संयोगसे सर्वथा मुक्त कर चुके हैं। तीसरे पदपर श्रीआचार्य भगवान् माने जाते हैं, जो यति होनेके पश्चात् मोक्षमार्गके आचारोंमें जीवोंको प्रवृत्त करनेवाले विशिष्ट गुणोंसे सम्पन्न महान् आचार्यपदको प्राप्त हुए हैं। चौथे पदपर श्रीउपाध्याय भगवान् माने जाते हैं, जो यति होनेके उपरान्त तत्त्वज्ञानके पाठकपनकी गुणविशिष्टतासे गीतार्थ गुर्वादिद्वारा उपाध्याय पदको प्राप्त हो चुके हैं। पाँचवें पदपर साधुभगवान् माने जाते हैं, जो यतिरूपसे अपना-पराया हित-साधन किया करते हैं। इस नवपदमें शुद्ध देव, शुद्ध गुरु और शुद्ध धर्मका भी समावेश हो जाता है। श्रीअरिहन्तपरमात्मा और

श्रीसिद्धपरमात्मा, ये शुद्ध देव हैं। श्रीआचार्यभगवान् श्रीउपाध्यायभगवान् और श्रीसाधुभगवान् ये शुद्ध गुरु हैं। और सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान, सम्यक्-चारित्र और सम्यक्-तप—ये चार शुद्ध धर्म हैं। जो पुरुष श्रीसिद्धि-पदकी, आत्ममुक्तिकी अथवा आत्माको अपने ही स्वरूपमें शाश्वतकालतक सुस्थित करनेकी इच्छा रखते हैं, उन्हें श्रीनवपदकी साधनामें ही संलग्न हो जाना चाहिये।

आठवें, नवें और दसवें गुणस्थानकपर आत्मा क्या करता है?

इस श्रीनवपदकी साधनामें संलग्न रहनेवाला यति बहुत ही सहजमें अप्रमत्त बन सकता है। अप्रमत्तताके योगसे वह साधक यति अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ तथा मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय नामक सातों कर्मप्रकृतियोंका क्षय करके ऐसी तत्त्वरुचिको प्राप्त हो जाता है कि जो कभी नाश नहीं होती। इन सात कर्मप्रकृतियोंको नामशेष करके वह साधक यति 'चारित्रमोहनीय' की शेष इक्कीस प्रकृतियोंका,—जिन्होंने आत्माके 'अनन्त चारित्र' नामक गुणको ढक रखा है,—नाश करनेकी तैयारी करता है। इस तैयारीके समय यति 'अपूर्वकरण' नामक आठवें गुणस्थानकका स्वामी बनता है। इस गुणस्थानकमें रहनेवाला साधक आत्मा अनेकों विभिन्न रूपोंमें आत्माको हानि पहुँचानेवाले 'मोहनीय कर्म' और उसकी शेष इक्कीस प्रकृतिरूप इक्कीस शत्रुओंको इस तरहसे निर्बल बनाकर क्रमसे बैठा देता है कि जिससे वह (साधक आत्मा) नवें 'अनिवृत्तिकरण' और दसवें सूक्ष्मसम्पराय, नामक गुणस्थानकोंमें इन इक्कीस शत्रुओंके नाशका कार्य कर सकता है। यह साधक आत्मा इक्कीस शत्रुओंमेंसे बीसका और इक्कीसवेंके भी अधिकांश भागका नाश तो नवें गुणस्थानकमें ही कर डालता है और इक्कीसवेंके नहीं-जैसे बचे हुए भागका विनाश दसवेंमें करता है। इसीलिये दसवें गुणस्थानकका नाम 'सूक्ष्मसम्पराय' है।

बारहवें गुणस्थानकमें सच्ची विश्रान्ति

श्रीनवपदकी आराधनाके द्वारा इस स्थितिपर पहुँचनेके लिये जीव-तत्त्व और अजीव-तत्त्व दोनोंको यथास्थित ज्ञान होना चाहिये। पुण्य और पापरूप बनकर आत्माके साथ बँधे रहनेवाले कर्मोंकी निर्जराके लिये उसके आनेमें कारणरूप जो-जो आश्रव हैं, उन्हें रोकनेवाले शुद्ध संवरभावको धारण करके संवरके साधनोंकी सुन्दर-से-सुन्दर साधना भी चालू ही रहनी चाहिये। एकमात्र मोक्षको ध्येय बनाकर, उस मोक्षके लिये ही जीव और अजीव-तत्त्वको जानकर, पुण्य-पापरूप आश्रवसे बचनेके लिये शुद्ध संवररूप भावकी साधनाके साथ-ही साथ निर्जराके कारणरूप बारह प्रकारके तपोंकी—जिनमें सम्यग्-ज्ञानकी भी साधना भलीभाँति होती है,—साधनाके द्वारा सारे कर्मोंको निर्जर करके मोक्षपदकी प्राप्ति की जा सकती है। मिथ्यात्व आदि बन्धके कारणोंसे सावधान रहकर, संवर और निर्जराकी साधना करनेवाला ही, दसवें गुणस्थानकतक पहुँचकर सब कर्मोंमें शिरोमणि माने जानेवाले 'मोहनीय' कर्मका पूर्णतया विनाश कर सकता है। यह आत्मा सीधा ही बारहवें 'क्षीणमोह' नामक गुणस्थानकपर पहुँचकर सच्ची विश्रान्तिका अनुभव करता है। संसारमें इस आत्माको कहीं सच्ची विश्रान्ति मिलती हो, तो वह यहीं मिलती है।

बारहवें गुणस्थानकमें बचे हुए तीनों घातिकर्मोंका भी क्षय

सम्यग्दर्शनके प्राप्त होनेसे पूर्वके अज्ञानमात्रको ज्ञानरूप बना चुकनेवाला साधक आत्मा अपने मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको, ज्ञान और ज्ञानीकी सेवाके द्वारा तथा ज्ञानके शुद्ध ध्येयपूर्वक अभ्यासादिके द्वारा 'ज्ञानावरणीय-कर्म' का क्षयोपशम करके, निर्मल बना चुकता है। कोई-कोई आत्मा तो 'अवधिज्ञान' या 'मनःपर्यवज्ञान' अथवा उन दोनों ज्ञानोंको भी पा चुका होता है। इस प्रकार दो ज्ञान, तीन ज्ञान या चार ज्ञानसे सम्पन्न 'क्षीणमोही' आत्मा इस गुणस्थानकमें बचे हुए तीनों घातिकर्मोंका भी विनाश कर देता है। पहले मोहनीयरूपी घातिकर्मका क्षय हुए बिना बाकीके तीनों—'ज्ञानावरणीय', 'दर्शनावरणीय' और 'अन्तराय'—घातिकर्मोंका क्षय होता ही नहीं।

अजीव-तत्त्वके एक प्रकाररूप आठ कर्म

आत्माके आत्मस्वरूपको आवृत करनेवाले कर्म आठ हैं—'ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय'। इन आठोंको कर्मकी मूल प्रकृति कहते हैं, क्योंकि इनसे उत्तरमें अनेकों भेद हो जाते हैं। ज्ञानावरणीयकी उत्तर-प्रकृति पाँच हैं, दर्शनावरणीयकी उत्तर-प्रकृति नौ हैं, वेदनीयकी उत्तर-प्रकृति दो हैं, मोहनीयकी उत्तर-प्रकृति अट्ठाईस हैं, आयुष्यकी उत्तर-प्रकृति चार हैं, नामकी उत्तर प्रकृति ४२,६७,९३ और १०३ हैं। गोत्रकी दो हैं और अन्तरायकी

पाँच हैं। इन सारी प्रकृतियोंका जैन शास्त्रोंमें विस्तारसे विवेचन किया गया है। ये आठ कर्म भी अजीव-तत्त्वका ही एक 'प्रकार' है। इस 'प्रकार' का व्यक्तिश: निर्माण करनेवाला आत्मा है और यही रूप इसका आदि भी है, परन्तु इसका अस्तित्व तो अनादिकालसे ही है। जैसे अनन्तानन्त आत्मा अनादि हैं वैसे ही ये आठ कर्म और आत्मा तथा इन कर्मोंका संयोग भी अनादि ही है।

चार घातिकर्मोंका कार्य

इन आठ कर्मोंमें चार घातिकर्म हैं और चार अघाति। चार घातिकर्म आत्माके मुख्य गुण अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त वीर्यको आवृत करते हैं। मोहनीय कर्मकी क्षीणताके साथ-साथ दूसरे घातिकर्म भी क्षीण होते हैं। मोहनीयका विनाश हुए बिना शेष घातिकर्मोंका विनाश होता ही नहीं। वीतरागताका रोधक मोहनीय है। वीतरागताकी प्राप्तिके लिये मोहनीयका नाश करना चाहिये। मोहनीयके नाशके लिये शुद्ध चारित्रकी साधना आवश्यक है। शुद्ध चारित्रकी साधनाके लिये शुद्ध ज्ञान चाहिये और शुद्ध ज्ञान तभी होता है, जब कि सम्यग्दर्शन नामक गुण प्रकट हो। शुद्ध सम्यग्-दर्शनको रोकनेवाला भी मिथ्यात्व नामक मोहनीय है। मोहनीयके मुख्य भेद दो हैं—'दर्शनमोहनीय' और 'चारित्रमोहनीय'। दर्शनमोहनीयके सात प्रकार हैं और चारित्रमोहनीयके इक्कीस। 'अनन्तानुबन्धी' क्रोध, मान, माया और लोभ तथा मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय'—इन सातके उपशमसे 'उपशम-सम्यक्त्व' होता है। इन सातके क्षयोपशमसे 'क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन' होता है और इन सातके क्षयसे 'क्षायिकसम्यक्त्व' होता है। ये तीनों प्रकारके सम्यग्-दर्शन ज्ञानको सम्यक् बनानेवाले हैं। 'क्षयोपशम-सम्यक्त्व' नाशवान् होनेके साथ ही दूषित होनेकी सम्भावना रखता है। 'उपशम-सम्यक्त्व' शुद्ध होनेपर भी नाश होनेवाला है। 'क्षायिकसम्यक्त्व' शुद्ध होनेके साथ ही शाश्वत रहनेवाला है। यह सम्यक्त्व आत्माको शुद्ध ज्ञान-सम्पन्न बनानेके साथ ही शुद्ध चारित्रका सेवक बनाकर वीतराग, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बना देता है।

इक्कीस प्रकृतियोंके विनाशका ध्येय

शुद्ध सम्यग्दर्शनकी साधनामें लगा हुआ आत्मा मुक्तिरूप साध्यकी सिद्धिके लिये ही जीवादि तत्त्वोंका सुन्दर ज्ञाता बनना चाहता है। जीवादि तत्त्वोंका ज्ञान मुक्तिरूप साध्यको सिद्ध करनेके लिये हो, तभी वह सम्यग्-ज्ञान है। इस सम्यग्-ज्ञानकी साधना भी विरतिरूप फलको उत्पन्न करनेवाली है। इसीलिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्-ज्ञान 'चारित्रमोहनीय' की इक्कीस प्रकृतियोंके विनाशकी भावनाको सदा जीवित रखते हैं। 'देशविरति' के रोकनेवाले 'अप्रत्याख्यानी क्रोध अप्रत्याख्यानी मान, अप्रत्याख्यानी माया और अप्रत्याख्यानी लोभ'— ये चार कषाय हैं; 'सर्वविरति' के रोकनेवाले 'प्रत्याख्यानी क्रोध, प्रत्याख्यानी मान, प्रत्याख्यानी माया और प्रत्याख्यानी लोभ—ये चार कषाय हैं तथा 'यथाख्यात चारित्र' अथवा 'वीतरागता' के रोकनेवाले 'संज्वलन क्रोध, संज्वलन मान, संज्वलन माया और संज्वलन मोह'—ये चार कषाय हैं। इस प्रकार कुल बारह कषाय और इन कषायोंको उद्दीपन करनेवाले—'हास्यमोहनीय, रतिमोहनीय, अरतिमोहनीय, भयमोहनीय, शोकमोहनीय और जुगुप्सामोहनीय तथा स्त्रीवेद, पुरुषवेद एवं नपुंसकवेद, ये नौ—जो 'नोकषायमोहनीय' के नामसे विख्यात हैं—मिलकर इक्कीस प्रकृतियाँ होती हैं। इन इक्कीस प्रकृतियोंका विनाश ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्-ज्ञानके साधकका ध्येय होता है।

पाँच प्रकारके चारित्र

इस ध्येयकी सिद्धिके लिये साधक सम्यक्चारित्रकी साधनामें ऐसा लग जाता है कि जिसके फलस्वरूप सातों दर्शनमोहनीयके क्षयसे 'क्षायिकसम्यक्त्व' का स्वामी बनकर समभावरूप 'सामायिक-चारित्र' का उपासक बननेके लिये 'सामायिक ' नामक चारित्रकी साधनामें प्रतिष्ठित हो जाता है। सामायिक चारित्रकी साधनामें संलग्न वह आत्मा षट्काय आदिका ज्ञाता बनकर 'छेदोपस्थानीय' नामक चारित्रको स्वीकार करता है। तदनन्तर 'परिहारविशुद्धि' नामक चारित्रकी सामग्री मिलनेपर उसकी भी आराधना करता है। परन्तु यह कोई नियम नहीं है कि प्रत्येक मोक्षगामीको इसका आचरण करना ही चाहिये। इसकी आराधनाके बिना ही क्षपक-श्रेणी-जैसी साधनाके द्वारा इक्कीसों चारित्रमोहनीयका क्षय किया जा सकता है। इस क्षयको नवें गुणस्थानकमें साधकर शेष बचे हुए सूक्ष्म लोभके क्षयके लिये दसवें गुण-स्थानकमें जाय। दसवें गुणस्थानकमें सूक्ष्म लोभका भी क्षय करके बारहवेंमें जाय और 'क्षीणमोह' नामक गुणस्थानकका स्वामी हो जाय। वहाँ बचे हुए तीनों घातिकर्मोंका समूल संहार करनेपर अर्थात् सर्वज्ञ और

सर्वदर्शी बननेपर वह तेरहवें 'सयोगी केवली' नामक गुणस्थानकका स्वामी माना जाता है। 'क्षीणमोह' नामक गुणस्थानकमें कषायरहित होनेके कारण 'यथाख्यात' नामक पाँचवें चारित्रकी साधना होती है। तेरहवें गुणस्थानकमें भी यही चारित्र होता है। तेरहवें गुणस्थानकमें केवल काययोग और वचनयोगकी ही प्रवृत्ति होती है तथा जरूरत पड़नेपर परमर्षिलोग द्रव्यमनका भी उपयोग करते हैं। इसके बाद योगनिरोधरूप 'अयोगी केवली' नामक चौदहवें गुणस्थानकमें शेष रहे हुए चार अघातिकर्मोंका भी सम्पूर्णतया क्षय करके वह मुक्तिपदका भोक्ता बन जाता है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त सुखके स्वामी बनकर ऐसे आत्मा शाश्वतकाल एक ही-सरीखी स्थितिमें रहते हैं और यही साधनाका सच्चा साध्य है।

देशविरतिरूप गृहस्थ साधक पाँचवें गुणस्थानकमें—

इस साध्यकी सिद्धिके लिये ही यह साधना आवश्यक है और सच्चे स्वरूपकी साधना भी यही है। जो आत्मा 'सर्वविरति' रूप चारित्रकी साधनामें समर्थ न हों, वे भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और देशविरतिरूप चारित्रके द्वारा साधना कर सकते हैं। स्थूल अहिंसा, स्थूल सत्य, स्थूल अचौर्य, स्थूल ब्रह्मचर्य यानी परदारा-परित्याग और स्वदारा-संतोष और स्थूल अपरिग्रहका पालन—ये पाँच अणुव्रत हैं; दिशाओंके परिभ्रमणका, भोग्य और उपभोग्य वस्तुओंके परिमाणका और बिना प्रयोजनके पापोंका विरमण करना—ये तीन गुणव्रत हैं और सामायिक, देशावकाशिक, पौषध और अतिथिसंविभाग—ये चार शिक्षाव्रत हैं। इस प्रकार कुल बारह अथवा इनसे कम व्रतोंका पालन देशविरतिरूप चारित्र कहलाता है। जो इन व्रतोंका पालन करता हुआ श्रीनवपदकी आराधनामें संलग्न रहता है, वह भी गृहस्थ साधक है। जो साधक पाँचवें 'देशविरति' नामक गुण-स्थानकका स्वामी माना जाता है। षडावश्यक आदि अनुष्ठानोंकी साधना तो इस साधकको भी करनी ही चाहिये।

अविरत सम्यग्दृष्टिकी साधना

जो देशविरतिरूप चारित्रकी साधनामें भी समर्थ न हों, वे सम्यग्दर्शन और सम्यग्-ज्ञानकी साधनाके द्वारा आगे बढ़ते हुए, परिणाममें 'देशविरति' और 'सर्वविरति' आदि अवस्थाओंको प्राप्त कर सकते हैं। सम्यग्दर्शनकी आराधना सड़सठ प्रकारसे होती है। उसमें सम्यग्-ज्ञानकी साधना भी आ जाती है और सम्यक्चारित्रका भी अभ्यास होता है।

क्षपणाके बिना सिद्धि नहीं

'सास्वादन ' नामक दूसरा और 'सम्यग् मिथ्यात्व' नामक तीसरा गुणस्थानक पतनको प्राप्त आत्माओंके लिये है। ग्यारहवाँ गुणस्थानक उस आत्माके लिये है जो 'चारित्र-मोहनीय' की क्षपणा न करके उपशमना करता है। जब सुन्दर साधनाके द्वारा मोहनीयकी क्षपणा होगी तभी वीत-रागताके, केवल ज्ञानके और केवल दर्शनके प्राप्त होनेपर योगके निरोधद्वारा सब कर्मोंका क्षय होगा; और तभी मनुष्य-जीवनके साध्य मोक्षकी सिद्धि होगी। इसके बिना किसी भी आत्माके लिये; किसी भी रीतिसे, मोक्षरूप साध्यकी सिद्धि सम्भव नहीं है।

उपसंहार और अभिलाषा

श्रीजिनेश्वर देवोंके द्वारा उपदिष्ट अर्थात् उनके शासनद्वारा उपदिष्ट साधनाके सन्मार्गकी यह तो एक अत्यन्त संक्षिप्त और सूचनमात्रकी रूप-रेखा है। साधनाके समस्त अंगोंका श्रीजैनशासनमें साङ्गोपाङ्ग वर्णन मिल सकता है। साधकका स्वरूप, साध्यका परम शुद्ध निश्चय, संसार और मोक्ष, जीव और अजीव, ज्ञान और अज्ञान, सम्यक्त्व और मिथ्यात्व, बन्ध और निर्जरा, आश्रव और संवर, शुद्ध देव, शुद्ध गुरु और शुद्ध धर्म आदि सभी स्वरूपों और तत्त्वोंका सुन्दर-से-सुन्दर सांगोपांग और निर्भ्रान्त वर्णन श्रीजैनशासनमें है। श्रीजैनदर्शनको स्वीकार किये बिना एकान्तवादकी उपासनासे छुटकारा नहीं मिल सकता और एकान्तवाद तत्त्वकी प्राप्तिमें प्रतिबन्धक है। अतएव 'सच्ची साधनाके अभिलाषी सभी लोग इस रूप-रेखाको पढ़कर श्रीजैनशासनकी अनुपम साधनाके सन्मार्गके अभ्यासकी ओर आकर्षित हों और परिणाममें कल्याण-कामियोंकी कल्याण-कामनासे ही उत्पन्न इस सच्चे शासनके साधक बनकर साध्यरूप सिद्धिपदके भोक्ता बनें।' इसी एक अभिलाषाके साथ लेखकी समाप्ति की जाती है।

रासमें कामविजय

मानों माई घन घन अंतर दामिनि।
घन दामिनि दामिनि घन अंतर सोभित हरि ब्रजभामिनि॥
जमुना पुलिन मल्लिका मनोहर सरद सुहाई जामिनि।
सुंदर ससि गुन रूप राग निधि अंग अंग अभिरामिनि॥
रच्यो रास मिलि रसिकराइ सों मुदित भईं ब्रजभामिनि।
रूपनिधान स्यामसुंदर घन आनँद मन बिश्रामिनि॥
खंजन मीन मराल हरन छबि भावभेद गजगामिनि।
को गति गुनही सूर स्याम सँग काम बिमोह्यो कामिनि॥

— सूरदासजी

जैनसम्प्रदायके साधन

(लेखक—श्रीनरेन्द्रनाथजी जैन)

जैनसम्प्रदायके तत्त्वोंका सूक्ष्म विवेचन करनेपर यह ज्ञात होगा कि जैन तत्त्वज्ञान व्यापक होनेके साथ ही निसर्ग-सिद्ध तत्त्व है। निसर्ग जैसे अनादि-अनन्त होता है, वैसे ही जैन तत्त्वज्ञान भी अनादि-अनन्त है। श्रीमहावीर आदि तीर्थङ्कर पुरुष उस तत्त्वके संस्थापक हैं, न कि निर्मापक।

जैनतत्त्व कहता है—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।

अर्थात् श्रीमहावीरस्वामीसे मेरा पक्षपात नहीं और कपिलादि अन्य ऋषियोंसे द्वेष भी नहीं।

श्रीमहावीरस्वामीने ऐसा कहा है, इसीलिये वह सत्य है—ऐसा दुरभिमान जैनतत्त्वको नहीं है। लेकिन जो सत्य और निसर्ग था, उसीका कथन श्रीमहावीरस्वामीने किया है; इसलिये वह सत्य है।

इस लेखमें मुख्यतया जैनसम्प्रदायके साध्य, साधक और साधन—इन तीन बातोंपर प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया जाता है।

जैनसम्प्रदायका साध्य

सब सम्प्रदायोंने अन्तिम साध्य तो मोक्ष ही बतलाया है, लेकिन उस मोक्षके स्वरूपके विषयमें बड़ा मतभेद है।

जैनतत्त्वने जीवकी मुख्यतासे दो अवस्थाएँ मानी हैं—(१) संसारी अवस्था और (२) मुक्त-अवस्था। यह जीव अनादि कालसे कर्मके सम्बन्धसे इस संसारमें भ्रमण करता है। जब वह ध्यानबलसे आठों कर्मोंका नाश कर देता है, तब उसे उसका अन्तिम साध्य प्राप्त होता है।

उस अवस्थामें जीवके ज्ञानादि अनन्त गुणोंकी स्वाभाविक अवस्था प्राप्त होती है। उसी अवस्थामें वह फिर सदाके लिये विद्यमान रहता है, उससे फिर संसारी अवस्थामें कभी वापस नहीं आता। ऐसी आत्यन्तिक अवस्थाको 'मोक्ष' कहते हैं और वही जैनतत्त्वका सर्वोत्कृष्ट अन्तिम साध्य है।

मुक्त जीवका लक्षण इस प्रकार कहा है—

अट्ठविहकम्मावियला[१] सीदीभूदा[२] णिरंजणा[३] णिच्चा[४]।
अट्ठगुणा[५] किदकिच्चा[६] लोयग्गणिवासिणो[७] सिद्धा॥

(गो० जी० ६८)

इन सात विशेषणोंकी सिद्धि मार्मिकतासे की गयी है—

(१) सदाशिवमतवाले कहते हैं कि जीव सदा कर्मसे रहित, शुद्ध ही होता है; जीवकी अशुद्धावस्था ही नहीं है। जीव सदैव मुक्त ही है। इस मतका निराकरण करनेके लिये पहला विशेषण 'अष्टविधकर्मविकलाः' दिया है। जीव आठों कर्मोंसे रहित होकर ही शुद्ध-मुक्त होता है।

(२) सांख्यमतवाले मानते हैं कि बन्ध-मोक्ष, सुख-दुःख—ये सब प्रकृतिको होते हैं, आत्माको नहीं। उसका निराकरण करनेके लिये 'शीतीभूताः'—सुखस्वरूप कहा।

(३) मस्करीमतवाले कहते हैं कि मुक्त जीव वापस संसारमें आता है। उसका निराकरण करनेके लिये 'निरञ्जनाः' यह विशेषण दिया है। अर्थात् मुक्त जीव भावकर्मोंसे रहित होनेसे, उसको वापस लौटनेमें कुछ निमित्त ही नहीं रहता।

(४) बौद्ध कहते हैं कि सब पदार्थ क्षणिक हैं। उक्त सिद्धान्तका निराकरण करनेके लिये 'नित्याः' यह विशेषण दिया है।

(५) नैयायिक तथा वैशेषिक मतवाले मानते हैं कि मुक्तिमें बुद्ध्यादि गुणोंका भी विनाश हो जाता है। दीप-निर्वाणकी तरह सबका अभाव हो जाता है। इस मतका निराकरण करनेके लिये 'अष्टगुणाः' यह विशेषण दिया है। आठ कर्मोंके अभावसे ज्ञानादि आठ गुणोंकी आविर्भूति होती है।

(६) ईश्वरवादी परमात्माको जगत्का कर्ता मानते हैं,उनके मतके निराकरणार्थ 'कृतकृत्य' यह विशेषण दिया है।

(७) मण्डलीमतवाले जीवको सदाके लिये ऊर्ध्व-गमनवाला मानते हैं, उसके निराकरणार्थ 'लोकाग्रस्थिताः' यह विशेषण दिया है।

लोकाकाशके अग्रभागपर सिद्धशिला विद्यमान है। वहाँपर मुक्त जीव सदैव विराजमान रहते हैं।

श्रीकृष्ण, राम, विष्णु आदि इतिहासप्रसिद्ध सत्पुरुषोंको जैनमतमें पुण्यपुरुष तो जरूर माना है, लेकिन उनकी सांसारिक अवस्थाको ही आदर्श न समझकर वीतराग-अवस्थाको साध्य माना है। सच्चा आदर्श, पूज्य या देव

वही हो सकता है कि जो 'वीतराग', 'सर्वज्ञ' और 'हितोपदेशी' है। बिना रागादिके अभावसे ज्ञानमें पूर्णता तथा सत्यता नहीं आती और जो स्वयं पूर्णताको नहीं पहुँच पाया, वह सच्चे मार्गका उपदेशक भी कैसे हो सकता है। इसलिये जैनमतने अपना आराध्यदेव वीतराग, सर्वज्ञ एवं हितोपदेशी परमात्माको ही कहा है।

साधक

जैनधर्मने पहले पूर्णत्यागका ही उपदेश दिया है और उसके बाद उस पूर्ण त्यागकी शक्ति न हो तो आंशिक त्यागरूप गृहस्थ-धर्मका उपदेश दिया है।

साधक या उपासकके तीन प्रकार माने गये हैं—

(१) पाक्षिक, (२) नैष्ठिक और (३)साधक।

(१) त्याग या व्रतके ग्रहण करनेका जिसका सङ्कल्प है और 'वह धन्य दिन कब आवेगा' जब कि मैं व्रती बनूँगा' ऐसी जिसको लगन लगी है, वह भव्य जीव 'पाक्षिक' कहलाता है।

(२) जो व्रतोंका पालन करता है, वह 'नैष्ठिक' है।

और—

(३) जो आत्मध्यानमें निमग्न रहता है, उसको 'साधक' कहते हैं। गृहस्थको अपना जीवन इस तरह बिताना चाहिये कि जिससे धर्म, अर्थ, काम—इस त्रिवर्गमें परस्पर विरोध न आवे। जिससे धर्ममें दूषण लगे, ऐसा अन्याययुक्त अर्थोपार्जन और पशुतुल्य कामसेवन नहीं करना चाहिये। सदैव पूर्ण त्यागकी ओर अपना दृष्टिबिन्दु रखनेवाला ही सच्चा गृहस्थ कहलाता है।

गृहस्थसे उत्कृष्ट पूर्ण त्यागरूप यतिधर्म बतलाया है। पञ्च पापोंका पूर्णरूपसे त्याग करनेवाला, आरम्भ और परिग्रहका त्याग करनेवाला, शरीर और भोगसे विरक्त—इस प्रकार आत्महित साधनेवाला 'यति' कहलाता है। गृहस्थ और यति दोनोंका साध्य मोक्ष ही होनेसे वे 'मुमुक्षु' कहलाते हैं।

केवल बाह्य आचारको धर्म नहीं कहते। लेकिन भावपूर्वक आचरणको ही धर्म कहते हैं। उसीसे इष्टसिद्धि हो सकती हैं। केवल लोगोंसे मान-प्रतिष्ठादिकी चाह रखनेवाला भावरहित बाह्यवेषी साधु भी मुमुक्षु नहीं है। इसलिये भावपूर्वक पंचपापत्यागरूप धर्मका पालन करनेवाला 'सच्चा साधक' कहलाता है।

साधन

उपरिनिर्दिष्ट उच्चतम साध्यका साधन सम्यग्दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र—इन तीनोंकी पूर्णता बतलायी गयी है। आत्मस्वरूपके प्रति समीचीन श्रद्धा, आत्मस्वरूपका समीचीन ज्ञान और आत्मस्वरूपमें आत्माका लय होनेसे ही आत्माको निजतत्त्वकी प्राप्ति होती है। निजको निज और परको पर समझना—इसीको सम्यग्दर्शन कहते हैं। दृष्टिमें अर्थात् श्रद्धानमें समीचीनता आनेसे ही ज्ञानमें समीचीनता आती है और जिसे आत्मज्ञानकी झलक मिल गयी, उसकी आत्मप्रवृत्ति पर-पदार्थसे हटकर स्वयं आत्मस्वरूपमें प्रवृत्त होती है। जिसने अपना ध्येयबिन्दु देख लिया, वह उसको आज नहीं तो कल—कभी-न-कभी अवश्य प्राप्त करेगा। आत्मज्ञानीकी मुक्ति अवश्यम्भावी होनेसे उसीको जीवन्मुक्त कहते हैं।

आत्मज्ञानविरहित कितना ही तप, त्याग और धर्म किया जाय, वह सब निरर्थक है। समीचीन श्रद्धाके आठ अंग हैं—

(१) 'तत्त्वम् इदम् एव ईदृशम् एव, अन्यत् न च अन्यथा न' इस प्रकारकी अचल श्रद्धाको 'निःशङ्कित' अंग कहते हैं।

(२) जिसने आत्माको आत्मा और परको पर समझ लिया, उसे आत्मरसमें ही सच्चा आनन्द मिलता है, भोग भोगनेकी इच्छा नहीं होती है। मोक्षमार्गपर आरूढ़ हुए कुछ आत्मज्ञानी मुमुक्षुओंकी विषय-भोगकी ओर जो प्रवृत्ति दिखायी देती है, वह केवल 'चारित्र-मोह' के तीव्र उदयवश है। भोगके पश्चात् उन्हें तीव्र पश्चात्ताप होता है और वे अपने आत्माकी निन्दा करते हैं। इस प्रकार भोग भोगनेकी अभिलाषा न रखना—इसको 'निःकाङ्क्षित' अंग कहते हैं।

(३) तत्त्वज्ञानी पुरुष कभी किसीसे ग्लानि नहीं करेगा। वह गुणानुरागी होनेसे गुणी पुरुषकी सेवा-शुश्रूषा करेगा, रोग आदिसे पीड़ित उसके शरीरसे कभी घृणा नहीं करेगा। यह 'उसका निर्विचिकित्सा' अंग है।

(४) अज्ञानी या असमर्थ लोगोंके आचरणके द्वारा यदि कहींपर धर्मकी निन्दा होती हो तो उसका प्रमार्जन करना—यह 'उपगूहन' अंग है।

(५) धर्मसे च्युत पुरुषको उपदेशादिद्वारा पुनः धर्ममें स्थिर करना—यह 'स्थितीकरण' अंग है।

(६) दूसरे लोग ऐसा करते हैं, इसलिये स्वयं भी करना—यह गतानुगतिक वृत्ति न रखकर मिथ्यामार्ग और मिथ्यामार्गपर चलनेवाले पुरुषोंको मनसे सम्यति न देना,

वाणीसे उनकी स्तुति न करना और शरीरसे उनका आदर-सत्कार न करना तथा उनसे सम्पर्क (सहवास) न रखना—इसको 'अमूढदृष्टि' अंग कहते हैं।

(७) प्राणिमात्रके प्रति प्रेमभाव रखना, किसीको दु:ख न पहुँचाना—यह 'वात्सल्य' अंग है।

(८) उपदेशादिद्वारा धर्मको प्रकाशमें लाना—प्रसार करना, यह 'प्रभावना' अंग है।

सम्यग्दर्शनके ये आठ अंग माने गये हैं। सम्यग्दृष्टिमें ये आठों अंग (गुण) अवश्य रहते हैं। समीचीन श्रद्धासे ज्ञानमें समीचीनता तो आती है, परन्तु ज्ञानकी पूर्णता कषाय-मोहके अभाव होनेपर होती है।

इसी तरह मोह और योगका अभाव होनेपर चारित्रकी पूर्णता होकर परमोच्च अन्तिम साध्य मोक्ष प्राप्त होता है।

कर्मपुद्गलकी उत्पत्ति तथा निरोधका हेतुनिर्देश

जैनतत्त्वने पुद्गल-द्रव्यके २२ प्रकार (वर्गणाएँ) माने हैं। उनमेंसे कोई (आहार-वर्गणा) शरीरादिरूपमें परिणत होते हैं, कोई (भाषा-वर्गणा) शब्दरूपमें परिणत होते हैं, कोई (मनोवर्गणा) अष्टदल कमलाकार मनरूप बनते हैं और कोई (कार्माण-वर्गणा) कर्मपुद्गलरूप बनते हैं। ये सब वर्गणाएँ लोकाकाशमें भरी हुई हैं।

कर्मपुद्गल अचेतन होनेसे स्वयं आत्माके पास नहीं जाते, लेकिन अनादिकालीन बद्धरूप आत्माके 'योग' रूप परिणाममें ऐसी आकर्षक शक्ति है कि जिसके द्वारा वे कर्म-पुद्गल खींचे जाते हैं। कर्मपुद्गल नये नहीं बनते; क्योंकि असत्की उत्पत्ति तथा सत्का नाश कभी नहीं होता, किन्तु उनका अवस्थान्तर होता है। कार्माण-वर्गणाके ही आत्माके द्वारा खींचे जानेपर उसको 'कर्म' यह संज्ञा प्राप्त होती है। और उसकी स्थितिके अनुसार वह आत्माके पास रहकर जब उस कर्मकी स्थिति पूर्ण हो जाती है, तब वह फल देकर आत्मासे निकल जाता है और कार्माण-वर्गणारूप अपनी पूर्व अवस्थामें आ जाता है। कार्माण-वर्गणा सामान्य है, उसमें ज्ञानावरणादि प्रकार नहीं हैं; लेकिन जब वह कर्मरूप बनती है, तब उसमें ज्ञानावरणादि प्रकार होते हैं। आत्माके अलग-अलग गुणोंपर आवरण डालनेसे उनको अलग-अलग नामसे बोधित किया गया है।

(१) जो ज्ञान-गुणपर आवरण डालता है, उसे 'ज्ञानावरण'; कहते हैं।

(२) जो दर्शन-गुणपर आवरण डालता है, उसे 'दर्शनावरण' कहते हैं।

(३) जिससे आत्माको सुख-दु:ख होता है, उसे 'वेदनीय' कहते हैं।

(४) जो आत्माके सुख-गुणपर आवरण डालकर आत्माको मोहित करता है, जिससे आत्मा आत्माको भूलकर परको आत्मा समझने लगता है, उसे 'मोहनीय' कर्म कहते हैं।

(५) जिससे यह आत्मा चतुर्गतिमें भ्रमण करता है, वह 'आयु-कर्म' है।

(६) जिससे जीवको अपनी-अपनी गतिके अनुसार शरीर-इन्द्रिय-आकृति प्राप्त हो, उसे 'नामकर्म' कहते हैं।

(७) जिससे जीव उच्च आचरणवाले अथवा नीच आचरणवाले कुलमें उत्पन्न हो, उसे 'गोत्रकर्म' कहते हैं।

(८) जिससे जीवको इष्ट वस्तुका लाभ आदि न हो, उसे 'अन्तराय' कहते हैं।

इस प्रकार कर्मपुद्गलके निमित्तसे आत्मा इस संसारमें दु:खी होकर भटकता है। कर्म आत्माको भ्रमाता है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि कर्म तो बेचारे अचेतन हैं, उनमें आत्माको भ्रमानेकी बुद्धि कैसे उत्पन्न हो सकती है। वास्तवमें आत्मा ही कर्मके बन्धनमें तथा मुक्तिमें कारण है। आत्मपरिणामसे ही कर्म खींचे जाते हैं और आत्म-परिणामसे ही उनका नाश होता है। कर्मके उदयसे मेरा हानि-लाभ हुआ, इस तरहकी कल्पना मनुष्य करता है; लेकिन वास्तवमें देखा जाय तो कर्म अपना कुछ भी नहीं करते। प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील है। जिसकी परिणति जैसी होनेवाली है, वैसी ही होती है; उसमें परवस्तु केवल निमित्त बन जाती है।

इसलिये आत्मा ही कर्म-पुद्गलको खींचनेमें निमित्त है एवं उसका विरोध भी आत्मा ही कर सकता है।

सिद्धशिला

सिद्ध होनेका क्षेत्र कर्मभूमि ही होनेसे जम्बूद्वीप-लवणोदसमुद्र, धातकीखण्ड-कालोदसमुद्र और पुष्करार्ध द्वीप—इन ढाई द्वीपोंमेंसे ही जीव सिद्ध होते हैं।

सिद्धशिलाका क्षेत्र पैंतालीस लाख योजन है। मुक्त जीवोंका अमूर्त आकार होनेसे एक ही स्थानसे सिद्ध

होनेवाले जीव परस्परमें एकक्षेत्रावगाहरूप होकर रहते हैं। सिद्ध जीव जिस आकाश-प्रदेशसे उनकी मुक्ति होती है, उसी प्रदेश-पङ्क्तिसे सीधे ऊर्ध्वगमन कर लोकाकाशके अग्रभागमें स्थित सिद्धशिलापर विराजमान होते हैं।

× × × ×

षड्द्रव्य

जैनतत्त्वने लोक-अलोकमें जितनी वस्तुएँ या पदार्थ मौजूद हैं, उन सबका समावेश ६ द्रव्योंमें किया है—(१) जीव, (२) पुद्गल (३) धर्म, (४) अधर्म, (५) आकाश और (६) काल। इनमें (१) जीवद्रव्य सब द्रव्योंका ज्ञाता होनेसे प्रधान माना गया है। उसका स्वभाव ज्ञान दर्शन-उपयोगरूप है। (२) जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण—ये चार गुण पाये जाते हैं, वह 'पुद्गल' है। (३) जो गतिमान् जीव और पुद्गलकी गमन करनेमें सहायता करता है, वह धर्म-द्रव्य है। (४) जो स्थितिमान् जीव और पुद्रलके स्थिर रहनेमें सहकारी होता है, वह अधर्म-द्रव्य है। (५) जो समस्त द्रव्योंको ठहरनेकी जगह देता है, वह आकाश-द्रव्य है। (६) जो सब द्रव्योंके परिणमनमें निमित्त बनता है, वह काल-द्रव्य है।

इनमें धर्म, अधर्म और आकाश—ये तीनों द्रव्य एक-एक अखण्ड द्रव्य हैं। धर्म-अधर्म तो सम्पूर्ण लोकाकाशमें व्याप्त हैं और आकाश-द्रव्य सम्पूर्ण लोक-अलोकमें व्याप्त है। आकाश-द्रव्य अनन्त और व्यापक है। उसमेंके जितने भागमें छहों द्रव्य रहते हैं, उसको लोकाकाश कहते हैं। उसके बाहर अनन्त आकाररूप अलोक है। लोकाकाशके बाहर धर्म-अधर्मादि द्रव्य न होनेसे वहाँ जीव और पुद्गल-द्रव्य नहीं जा सकते।

कर्मसे छूटा हुआ मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करके लोकाकाशके अन्ततक ही जा सकता है। ऊपर धर्म-द्रव्य न होनेसे अलोकमें नहीं जाता।

गुणस्थान

मोह और योगके निमित्तसे आत्माके सम्यक्त्व और चारित्र गुणोंकी जो अवस्थाएँ हैं, उनको गुणस्थान कहते हैं। उनके मुख्यतासे १४ प्रकार हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) सासादन, (३) मिश्र, (४) अविरत-सम्यक्त्व, (५) देशविरत, (६) प्रमत्तविरत, (७) अप्रमत्तविरत, (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्तिकरण, (१०) सूक्ष्म साम्पराय, (११) उपशान्त मोह, (१२) क्षीण मोह, (१३) सयोग-केवल और (१४) अयोग-केवल।

(१) आत्मस्वरूपकी पहचान न होनेसे पर-पदार्थको अपना समझकर उसपर मोह-ममत्व करना तथा पंचेन्द्रिय-विषयोंको भोगनेकी अभिलाषा करना—इस अवस्थाको 'मित्यात्व' कहते हैं। यह मिथ्यात्व ही जीवको संसारमें भ्रमण करानेमें प्रमुख कारण माना गया है। इस मिथ्यात्वके उदयसे जीवकी उपदेश करनेपर भी सत्य तत्त्वपर श्रद्धा नहीं होती और बिना उपदेशके ही अधर्ममार्गकी ओर स्वयं प्रवृत्ति होती है। मिथ्यादृष्टिके तीन प्रकार पाये जाते हैं—

(क) कोई तो अनादिकालसे मोह-जंजालमें फँसे हुए अज्ञानान्धकारके कारण आत्मज्ञानरूप प्रकाशसे वंचित हैं। (ख) कोई दूसरेके उपदेशसे मिथ्यामार्गपर आरूढ़ होकर भूतबाधावाले पुरुषकी तरह यथेच्छ चेष्टा करते हैं। और (ग) कोई यह सच है कि वह सच है, इस संशय-पाशमें पड़े हुए हैं। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव आत्मज्ञानसे विमुख होकर निरन्तर पंचेन्द्रियोंके विषय भोगनेमें रत रहते हैं।

इस गुणस्थानके बाद एकदम चौथा गुणस्थान प्राप्त होते है। दूसरा और तीसरा गुणस्थान चौथेसे उतरते समय आते हैं।

(२) *सासादन* (स+आसादन)—इस नामसे ही यह प्रतीत होता है कि सम्यक्त्वसे आसादना—विराधना—च्युति होनेपर जबतक जीव मिथ्यात्व अवस्थाको नहीं पहुँच पाता, ऐसे बीचके परिणामको सासादन गुणस्थान कहते हैं।

(३) जिसमें मिथ्यात्व और सम्यक्त्वकी मिश्र अवस्था पायी जाती है अर्थात् जिसे मिथ्या भी नहीं कह सकते और सम्यक् भी नहीं कह सकते, ऐसे दही और गुड़के मिश्रणके स्वादकी तरह जो जात्यन्तररूप अवस्था प्राप्त होती है, उस परिणामको 'मिश्र' गुणस्थान कहते हैं।

(४) **अविरत-सम्यक्त्व—**इसमें आत्मस्वरूपकी पहचान होनेसे जीव परद्रव्यमें मोह-ममत्व नहीं रखता, विषयभोग इच्छावश नहीं भोगता; लेकिन उसकी जो उस ओर प्रवृत्ति दिखायी देती है, वह केवल चारित्र-मोहके तीव्र उदयवश होती है। कर्मोदयवश उसे विषयोंको भोगना पड़ता है, न कि उन्हें वह भोगता है।

इसे सत् तत्त्वका स्वरूप तो वह जरूर समझता है, लेकिन चारित्र-मोहके उदयवश वह कुछ भी त्याग-

ग्रहण नहीं कर सकता; इसलिये इसको अविरत-सम्यक्त्व कहते हैं। यही जैनियोंका 'कर्मयोगी' है।

(५) जहाँ जीव स्थूल पंचपापोंका त्याग तो कर देता है लेकिन सूक्ष्म पापोंको उपजीविका-साधन आदिके कारण नहीं छोड़ सकता, ऐसे आंशिक त्यागको 'देशविरत' कहते हैं। यहाँ पापोंका स्थूलतः त्याग और सूक्ष्मतः त्याग है, इस दृष्टिसे इसको 'विरताविरत' भी कहते हैं। त्यागीका वेष धारण करनेसे ही कोई त्यागी नहीं बनता, समीचीन श्रद्धापूर्वक पापोंको हेय समझकर त्याग करनेवाला व्रती कहलाता है। इसी तरह व्रत पालनेमें माया-कपटाचार, मिथ्यापन-असदाचार और निदान (व्रतोंसे भोग भोगनेको मिलें—ऐसी आकांक्षा)—ये तीन शल्य नहीं होने चाहिये। राजालोग या क्षत्रियलोग भी व्रतोंका पालन कर सकते हैं। अहिंसाणु-व्रती भी युद्ध इत्यादिमें विरोधी-हिंसा कर सकता है। कहा है—

यः शस्त्रवृत्तिः समरे रिपुः स्या-
द्यः कण्टको वा निजमण्डलस्य।
अस्त्राणि तत्रैव नृपाः क्षिपन्ति
न दीनकानीनशुभाशयेषु॥

(६) *प्रमत्त-विरत*—इसमें पंचपापोंका पूर्ण त्याग होता है। बाह्य—घर, कपड़े आदि परिग्रहोंका और अन्तरंग—कषाय, राग-द्वेषादिकोंका त्याग कर नैसर्गिक—जन्मजात दिगम्बरत्वको धारणकर, शरीरको तपका साधन जानकर उसके रक्षणार्थ भिक्षावृत्तिसे अयाचकवृत्तिसे प्रासुक (निर्जन्तु) शुद्ध भोजन लेनेवाला, उपजीविकाके साधनभूत असि, मसि, कृषि आदि सब आरम्भ-क्रियाओंका त्याग करनेवाला, शास्त्र-स्वाध्याय, धर्मोपदेश और आत्मध्यानमें सदैव तत्पर रहनेवाला वनवासी साधु, मुनि अथवा तपस्वी प्रमत्त-विरत गुणस्थानवर्ती कहा जाता है। इसमें संयम तो होता है, लेकिन प्रमाद रहता है; आत्मस्वरूपमें जितनी सावधानता होनी चाहिये उतनी नहीं होती। आहार लेना, गमनागमन करना, निद्रा लेना आदि प्रमाद (आत्मस्वरूपमें असावधानी) रहते हैं; इसलिये इसको प्रमत्त-विरत गुणस्थान कहते हैं।

(७) जिसमें प्रमाद नहीं रहता, आत्मस्वरूपमें परिपूर्ण सावधानता रहती है, उसको 'अप्रमत्त विरत' गुणस्थान कहते हैं। इसके दो भेद हैं—(१) स्वस्थान अप्रमत्त और (२) सातिशय अप्रमत्त। स्वस्थान अप्रमत्तवाला जीव छठेसे सातवेंमें और सातवेंसे छठेमें—इस प्रकार बार-बार चढ़ता-उतरता रहता है। लेकिन जब सातिशय अप्रमत्तवर्ती होता है, तब वहाँसे ध्यानस्थ होकर नियमसे वह ऊपर ही चढ़ता है। वहाँसे ऊपर चढ़नेके दो प्रकार हैं—(१) उपशम-श्रेणी और (२) क्षपक-श्रेणी। उपशम-श्रेणीसे चढ़नेवाला जीव चारित्र-मोह कर्मका उपशम (कर्मका अनुदय होकर आत्माके पास कुछ कालतक दबकर रहना—इसको उपशम कहते हैं) करते-करते ८, ९ तथा १० गुणस्थानोंमें जाकर नियमसे ११ वें गुणस्थानमें ही जाता है, उसके ऊपर नहीं जा सकता; उसका रास्ता वहींपर बन्द हो जाता है। उसको वहाँसे नियमसे फिर वापस लौटना ही पड़ता है।

और जो दूसरी क्षपक-श्रेणीसे चढ़ता है, वह चारित्र-मोहका क्षय (नाश) करते-करते ८, ९ तथा १० गुणस्थानोंमें चढ़कर नियमसे एकदम १२वें गुणस्थानमें जाता है, वहाँसे फिर कभी वापस नहीं लौटता। वह नियमसे १३ वें और १४ वें गुणस्थानमें आरूढ़ होकर मोक्षको प्राप्त कर लेता है।

श्रेणी चढ़ते समय परिणामोंकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—

(१) अधःप्रवृत्तकरण, (२) अपूर्वकरण और (३) अनिवृत्तिकरण।

सातवें सातिशय-अप्रमत्त गुणस्थानमें अधःप्रवृत्तकरण परिणाम होते हैं। वहाँ परिणामोंकी विशुद्धि न्यूनाधिक होनेसे पीछेसे चढ़नेवाले जीवोंके परिणाम आगेके जीवोंके परिणामोंके सदृश हो सकते हैं। भिन्नसमयवर्ती जीवोंमें सदृशता पायी जाती है।

(८) आठवें अपूर्वकरणमें अपूर्वकरणरूप परिणाम होते है। अर्थात् परिणामोंकी विशुद्धि अपूर्व-अपूर्व ही होती जाती है। भिन्नसमयवर्ती जीवोंमें विसदृशता ही रहती है। लेकिन एक-समयवर्ती जीवोंमें सदृशता तथा विसदृशता भी पायी जाती है।

(९) अनिवृत्तिकरणमें परिणामोंकी विशुद्धि समान रूपसे बढ़ती जाती है। जहाँ भिन्नसमयवर्ती जीवोंमें विसदृशता ही और एकसमयवर्ती जीवोंमें सदृशता ही पायी जाती है, उसको अनिवृत्तिकरण गुणस्थान कहते हैं।

(११) उपशान्तमोहमें सम्पूर्ण कषाय—चारित्र-मोह कर्मका उपशम हो जानेसे आत्मपरिणामोंकी विशुद्धि तो पूर्णतया (यथाख्यात चारित्ररूप) होती है, लेकिन वह कुछ कालतक ही रहती है। उपशमका काल पूर्ण होनेपर कर्मका नियमसे उदय होता है और उससे परिणामोंमें फिरसे अशुद्धि होकर वह नियमसे नीचेके गुणस्थानमें आता है।

(१२) क्षीणमोहमें कषायका सम्पूर्ण नाश होनेसे वीतरागता उत्पन्न होती है। संसारके प्रमुख कारण मोहका तो यहाँपर नाश हो जाता है; किन्तु आत्मप्रदेश-परिस्पन्दनरूप मनोयोग, वचनयोग और काययोग रहनेसे थोड़ा बहुत संसार कायम रहता है।

(१३) बारहवेंमें मोहकर्मका नाश होनेसे शेष ज्ञानावरण आदि तीन घातीय कर्मोंका नाश होकर यह १३ वाँ गुणस्थान प्राप्त होता है। यहाँ ज्ञानकी परिपूर्णता होती है। अबतक कषायोंके रहनेसे ज्ञानमें मलिनता और अपरिपूर्णता थी, लेकिन अब कषायोंका अभाव होनेसे ज्ञान भी निर्मल और परिपूर्ण हो जाता है। केवल ज्ञान—निर्मल और परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त होनेसे आत्मा परमात्मा कहा जाता है। वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी होनेसे यही सच्चा आराध्य और ध्येय है।

(१४) अयोग-केवल गुणस्थानका काल ह्रस्व अ, इ, उ, ऋ, लृ वर्णोंके उच्चारणके काल-जितना सूक्ष्म है। इस गुणस्थानमें मन-वचन-कायकी प्रवृत्ति भी बंद होकर योगका अभाव होनेसे संसारदशाका अन्त हो जाता है और आत्मा मुक्त होकर ऊर्ध्वगमनके द्वारा सिद्धशिलामें जाकर सदाके लिये वहीं विराजमान हो जाता है।

आत्माकी तीन अवस्थाएँ हैं— (१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा। १ से ३ गुणस्थानवाला बहिरात्मा, ४ से १२ गुणस्थानवर्तीतक अन्तरात्मा और १३-१४ गुणस्थानवर्ती परमात्मा कहलाता है।

चतुर्दश मार्गणा

मार्गणा कहते हैं अन्वेषण या शोधको। जीव कौन-सी गतिमें है, उसके कितने इन्द्रिय हैं, कौन-सा काय है, कौन-सा योग है— इत्यादि रूपमें जिनके द्वारा जीवका अन्वेषण किया जाता है, उनको मार्गणा कहते हैं। मार्गणा चौदह प्रकारकी है—

गइ[१]-इंदिये[२]-सु काये[३]-जोगे[४]-वेदे[५]-कसाय[६]-णाणे[७] य ।
संजम[८]-दंसण[९]-लेस्सा[१०]-भविया[११]-संमत्त[१२]-सण्णि[१३]-आहारे[१४]॥

१- *गति-मार्गणा*—गतिके चार भेद हैं—(१) देव, (२) मनुष्य, (३) तिर्यञ्च और (४) नरकगति।

१- *देवगति*—देव चार प्रकारके होते हैं—(१) भवनवासी, (२)व्यन्तर, (३)ज्योतिष्क और (४) कल्पवासी। इन चारों प्रकारके देवोंमें प्रत्येकके दस भेद हैं—(१) इन्द्र (सबका स्वामी), (२) सामानिक (पिता, गुरु आदिके रूपमें इन्द्रोंके समान रुतबा रखनेवाले), (३) त्रायस्त्रिंश (सेक्रेटरी-मन्त्रीकी तरह कारबार देखनेवाले ये तैतीस ही देव होते हैं), (४) पारिषद (इन्द्रकी सभामें बैठनेका जिनको अधिकार है), (५) आत्मरक्ष—इन्द्रके रक्षक (Body-guard), (६) लोकपाल (कोतवालकी तरह प्रजारक्षक), (७) अनीक (सेनाकी तरह रहनेवाले), (८) प्रकीर्णक (प्रजाकी तरह सामान्य देव),(९) आभियोग्य (घोड़े-बैलकी तरह इन्द्रोंके विमानको वहन करनेवाले) और (१०) किल्बिषिक (शूद्रकी तरह राज्यके बाहर रहनेवाले)—ये दस प्रकार उपरिनिर्दिष्ट भवनवासी आदि देवोंमें होते हैं। व्यन्तर और ज्योतिष्क देवोंमें उक्त दस प्रकारोंमेंसे त्रायस्त्रिंश और लोकपाल—ये दो प्रकारके देव नहीं होते। उनमें शेष आठ ही प्रकारके देव होते हैं।

भवनवासी देवोंके दस भेद हैं—(१) असुरकुमार, (२) नागकुमार,(३) विद्युत्कुमार, (४)सुपर्णकुमार, (५) अग्निकुमार, (६)बालकुमार, (७) स्तनितकुमार, (८) उदधिकुमार, (९) द्वीपकुमार और (१०) दिक्कुमार। इनके आवास पृथ्वीके नीचे और पृथ्वीपर असंख्यात द्वीप-समुद्रोंके पार विविध द्वीपोंमें हैं।

व्यन्तरवासी देवोंके आठ भेद हैं—(१) किन्नर, (२) किम्पुरुष, (३)महोरग, (४)गन्धर्व, (५)यक्ष, (६)राक्षस, (७)भूत और (८) पिशाच। इनके आवास भी भवनवासी देवोंकी तरह हैं।

ज्योतिष्क देवोंके पाँच भेद हैं—(१) सूर्य, (२) चन्द्र, (३) ग्रह, (४) नक्षत्र और (५) तारका। पृथ्वीसे ऊपर ७९० योजनसे लेकर ९०० योजनतक—११० योजनमें इनका आवास है। इनके विमान सदैव गमनशील रहते हैं। इनकी गमनक्रियासे ही दिन, रात आदि कालभेद समझे जाते हैं।

कल्पवासी देवोंका आवास ऊपर स्वर्गलोकमें है। इनमें १६ कल्पविमान हैं। इनके ऊपर ९ ग्रैवेयक विमान, ९ अनुदिश विमान और ५ पंचोत्तर विमान हैं।

(२) *मनुष्यगति*—मनुष्योंके दो भेद हैं—(१) आर्य और (२) म्लेच्छ। क्षेत्र, जाति, कर्म, चारित्र और दर्शनकी अपेक्षासे आर्योंमें भी भेद पाया जाता है। म्लेच्छ भी कर्मभूमिज और अन्तर्द्वीपज—दो प्रकारके

हैं। शक-यवनादि कर्मभूमिज म्लेच्छ हैं। पर्वतोंका जो अन्तभाग समुद्रमें जाता है, उसको अन्तर्द्वीप कहते हैं। उसपर रहनेवाले अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ हैं। वे अश्वमुख, कपिमुख आदि भिन्न भिन्न प्रकारके हैं।

(३) *तिर्यञ्चगति*—इनके पाँच प्रकार हैं।

(१) पृथ्वी, वनस्पति, अग्नि, वायु, जल—ये एकेन्द्रिय हैं। आळी, शङ्ख आदि द्वीन्द्रिय हैं। (३) चींटी, खटमल आदि त्रीन्द्रिय हैं। (४) मक्खी, भ्रमर आदि चतुरिन्द्रिय हैं और (५) गाय, भैंस आदि पंचेन्द्रिय हैं। एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रियतक सभी जीव असंज्ञी (मनरहित) होते हैं और पंचेन्द्रियोंमें कोई संज्ञी और कोई असंज्ञी होते हैं।

(४) नरकगति—पृथ्वीके नीचे सात नरक हैं। उनमें रहनेवालोंको सदैव दु:ख ही होता है।

X X X

(२) इन्द्रिय-मार्गणा-इन्द्रियाँ पाँच हैं—(१) स्पर्शनेद्रिय, (२) रसनेन्द्रिय, (३)घ्राणेन्द्रिय, (४) चक्षुरिन्द्रिय और (५) कर्णेन्द्रिय। इनके विषय भी अलग-अलग हैं। संज्ञी जीवोंकी अपेक्षा असंज्ञी जीवोंकी इन्द्रियोंका विषय-क्षेत्र बड़ा रहता है। उनकी इन्द्रियाँ अधिक तीक्ष्ण होती हैं। संज्ञी जीवोंके कर्णेन्द्रियका क्षेत्र १२ योजन (४८ कोस)-का है; स्पर्शन, रसन, घ्राणका ९ योजन है और चक्षुका ४७२६३ $\frac{७}{२०}$ योजन है। चक्रवर्ती राज भरत, जब सूर्यविमान उदयाचलपर आता है तब उसमें स्थित जिन-बिम्बका दर्शन करते थे। इसीसे सूर्यनमस्कारकी प्रथाका पता चलता है।

३-काय-मार्गणा—काय छः प्रकारकी है—(१) पृथ्वीकाय, (२) अप्काय, (३) तेज:काय, (४) वायुकाय, (५) वनस्पतिकाय और (६)त्रसकाय। पृथ्वीसे लेकर वनस्पतिकायतक सबकी उत्पत्ति अपने योग्य स्पर्श-रसादि गुणोंसे होती है। उनमें मांस, चर्म आदि धातु-उपधातु नहीं रहते; इसलिये उपजीविकावश इनको भक्षण करनेवाला शाकाहारी कहलाता है। ये पाँचों काय प्राणिमात्रके जीवन हैं। इनको भक्षण किये बिना प्राणी जीवित नहीं रह सकता।

द्वीन्द्रियसे पंचेन्द्रियपर्यन्त जीवोंके शरीरको त्रसकाय कहते हैं। इनके शरीरमें मांस, चर्म आदि होनेसे उनको भक्षण करनेवाला मांसाहारी कहलाता है।

४-*योग-मार्गणा*—मन-वचन-कायद्वारा आत्मप्रदेशके परिस्पन्दको योग कहते हैं। उसके मुख्य तीन भेद हैं (१) मनोयोग, (२) वचनयोग और (३) काययोग। मनकी प्रवृत्तिको मनोयोग, वचनकी प्रवृत्तिको वचनयोग और कायके व्यापारको काययोग कहते हैं। मनोयोगके चार भेद हैं—(१) सत्यमनोयोग, (२) असत्यमनोयोग, (३) उभयमनोयोग और (४) अनुभयमनोयोग। इसी प्रकार वचनयोगके भी चार भेद हैं—(१) सत्य, (२) असत्य, (३) उभय और (४) अनुभय। सत्य और असत्यका अर्थ तो सरल ही है। उभयमें सत्य और असत्यका मिश्रण रहता है। और जो न सत्यरूप है न असत्यरूप है, उसे अनुभय कहते हैं। असंज्ञियोंकी भाषा तथा आमन्त्रण,आज्ञा, याचना इत्यादिरूप जो वचन हैं, उनमें सत्यासत्य कुछ भी न होनेसे वे सब अनुभय हैं।

काययोगके सात भेद हैं—(१) औदारिक, (२) औदारिकमिश्र, (३) वैक्रियिक, (४)वैक्रियिकमिश्र, (५) आहारक, (६) आहारकमिश्र और (७) कार्माण। जिस अवस्थामें जो-जो शरीर रहता है, उसके निमित्तसे वहाँपर वह योग भी रहता है।

सब तिर्यञ्च और मनुष्योंके शरीरको औदारिक शरीर कहते हैं। देव और नारकी जीवोंके वैक्रियिक शरीर होते हैं। किन्हीं-किन्हीं ऋद्धिधारी मुनिको भी विक्रिया-ऋद्धि प्राप्त हो सकती है।

आहारक शरीर—छठे गुणस्थानवर्ती मुनियोंमेंसे किसी-किसीको यह देह प्राप्त हो सकता है।

शुभ्रवर्णका, धातुरहित, एक हाथ ऊँचा, पुरुषाकार पुतला किसी-किसी मुनिके मस्तकमेंसे असंयमके परिहारके लिये, शास्त्रमें कुछ शङ्का आ जाय, तब जिन-वन्दनाके लिये बाहर निकलता है। उस पुतलेको आहारक शरीर कहते हैं।

औदारिकादि शरीरपर जो कान्ति है, उसको तैजस शरीर कहते हैं।

कर्मके पिण्ड (समूह)-को कार्माण शरीर कहते हैं। तैजस और कार्माण—ये दोनों शरीर सब सारी जीवोंके होते हैं।

५-*वेदमार्गणा—मैथुन*-सेवनकी इच्छाको वेद कहते हैं। वेदके मुख्य दो भेद हैं—भाववेद और द्रव्यवेद। मैथुन-सेवनके परिणामको भाववेद कहते हैं। शरीरके बाह्य लिंगको द्रव्यवेद कहते हैं। इन दोनोंके भी (१) पुंवेद,

(२) स्त्रीवेद और (३) नपुंसकवेद—ये तीन प्रकार हैं। प्राय: जो द्रव्यवेद रहता है, वैसा ही भाववेद भी रहता है; लेकिन कभी-कभी भिन्न भी रहता है। स्त्रीके साथ रमणकी इच्छाको पुंवेद कहते हैं। पुरुषके साथ रमणकी इच्छाको स्त्रीवेद कहते हैं। जो न पुरुष हैं न स्त्री, वे नपुंसक कहलाते हैं।

६- *कषाय-मार्गणा*—कषाय चार हैं—(१) क्रोध, (२) मान, (३) माया और (४) लोभ।

कर्मरूप क्षेत्रमें जो ऐहिक सुख-दु:खरूप धान्य (बीज)कर्षण करता (बोता) है, उसको कषाय कहते हैं। वास्तवमें जीवोंको जो सुख या दु:ख मिलता है, वह सब कषायका ही प्रताप है। प्राय: नरकगतिमें क्रोध, तिर्यञ्चगतिमें माया, मनुष्यगतिमें मान और देवगतिमें लोभ अधिकतासे पाया जाता है।

७- *ज्ञान-मार्गणा—ज्ञानोपयोगके सात भेद हैं*—(१) मति, (२) श्रुत, (३) अवधि (ये तीनों जब सम्यग्दृष्टिको होते हैं तो सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं, और मिथ्यादृष्टिको होते हैं तो मिथ्याज्ञान कहलाते हैं), (४) कुमति, (५) कुश्रुत, (६) कुअवधि, (७) मन:पर्यय और (८) केवल।

(१) इन्द्रियों तथा मनसे जो ज्ञान होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं।

(२) मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थके विषयमें जो विशेष ज्ञान होता है अथवा उसके सम्बन्धसे किसी अन्य पदार्थका जो ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान केवल मनका विषय है।

(३) इन्द्रियोंकी सहायता बिना आत्मशक्तिसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादामें जो रूपी (पुद्गल) पदार्थको स्पष्ट जानता है, वह अवधिज्ञान है।

(४) इन्द्रियोंकी 'सहायता' बिना आत्मशक्तिसे दूसरेके मनके विषयोंको जो जान लेता है, वह मन:पर्यय ज्ञान है।

(५) लोक-अलोककी समस्त वस्तुओंको उनके त्रिकालवर्ती पर्यायोंसहित आत्मशक्तिसे युगपत् जो जानता है, वह केवलज्ञान है।

दर्पणकी तरह समस्त वस्तुओंका प्रतिभास इस केवलज्ञानमें झलकता है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान समस्त छद्मस्थ अर्थात् अल्पज्ञानी (१ से १२ गुणस्थानतकके) जीवोंको होता है। अवधिज्ञान नारकी जीवों, देवताओं और किन्हीं-किन्हीं मुनियोंको होता है। मन:पर्यय ज्ञान किन्हीं-किन्हीं मुनियोंको ही होता है और केवल ज्ञान सर्वज्ञ देवोंको (१३-१४ गुणस्थानवर्ती जीवों और सिद्ध परमात्माको) ही होता है।

८- *संयम-मार्गणा*—व्रतधारण, समितिपालन, कषाय-निग्रह, दण्डत्याग और इन्द्रियजय—इनको संयम कहते हैं। अर्थात् (१) अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच महाव्रतोंका पालन करना, (२) ईर्ष्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और व्युत्सर्ग,—इन पाँच समितियोंको पालना; (३) क्रोध मान, माया और लोभ—इन कषायोंका निग्रह करना; (४) मन-वचन-कायसे कृत, कारित एवं अनुमोदित तीनों प्रकारके दण्डका (हिंसाका) त्याग करना और (५) पंचेन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना। इनका नाम संयम है।

संयमके सात भेद और हैं— (१) सामायिक, (२) छेदोपस्थापना, (३) परिहारविशुद्ध, (४) सूक्ष्मसम्पराय, (५) यथाख्यात, (६) देशसंयम और (७) असंयम।

९-*दर्शनमार्गणा*—ज्ञान होनेके पूर्व वस्तुका जो सामान्य प्रतिभास होता है, उसको दर्शन कहते हैं। इसके चार भेद हैं—(१) चक्षुदर्शन, (२) अचक्षुदर्शन, (३) अवधिदर्शन और (४) केवलदर्शन।

(१) चक्षुरिन्द्रियसे होनेवाले मतिज्ञानसे पूर्व जो सामान्य प्रतिभास होता है, वह चक्षुदर्शन है।

(२) चक्षुके अतिरिक्त अन्य इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले मतिज्ञानसे पूर्व जो सामान्य प्रतिभास होता है, वह अचक्षुदर्शन है।

(३) अवधिज्ञानके पूर्व जो दर्शन होता है, वह अवधिदर्शन है।

(४) केवलज्ञानके साथ-साथ जो दर्शन होता है, वह केवलदर्शन है।

श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक ही होता है, इसलिये उसके पूर्व अलग दर्शन नहीं होता। तथा मन:पर्यय ज्ञान होते समय प्रथम मनमें विचार उत्पन्न होता है, फिर मन:पर्ययज्ञानी आत्मशक्तिसे परकीयमनोगत विचारको जानता है; इसलिये मन:पूर्वक होनेसे इसके पूर्व भी अलग दर्शन नहीं होता। छद्मस्थको दर्शनपूर्वक ही ज्ञान होता है और सर्वज्ञको ज्ञान एवं दर्शन एक साथ होते हैं।

दर्शनमें	ज्ञानमें
(१) सामान्य प्रतिभास है।	विशेष प्रतिभास है।
(२) निराकार है।	साकार है।
(३) निर्विकल्प है।	सविकल्प है।

१० - *लेश्या*— कषायसे अनुरञ्जित जो आत्मपरिणामोंकी प्रवृत्ति है, उसे लेश्या कहते हैं। लेश्या छः हैं—(१) कृष्ण, (२) नील, (३) कापोत, (४)पीत, (५)पद्म और (६)शुक्ल। इन छः प्रकारके शरीर-वर्णको द्रव्यलेश्या कहते हैं और परिणामकी संक्लेशरूप या विशुद्धरूप जो अवस्था है, उसको भावलेश्या कहते हैं।

इन छः लेश्याओंके परिणाम कैसे होते हैं, इसके लिये दृष्टान्त दिया जाता है— (१) कृष्णलेश्यावाला जीव फल खानेकी इच्छासे वृक्षको जड़से उखाड़नेकी इच्छा रखता है। (२) नीललेश्यावाला उसे स्कन्धसे (तनेसे)काटनेकी इच्छा रखता है। (३) कापोतलेश्यावाला केवल बड़ी शाखाको काटनेकी इच्छा करता है। (४) पीतलेश्यावाला जिसमें फल लगे हैं, केवल उतनी ही छोटी टहनीको काटनेकी इच्छा करता हैं। (५) पद्मलेश्यावाला केवल फलको तोड़कर खानेकी इच्छा करता है। और (६) शुक्ललेश्यावाला केवल नीचे पड़े हुए फलोंको खानेकी इच्छा करता है। इस प्रकार परिणामोंमें कषायकी मन्दता अधिकाधिक होनेसे विशुद्धि अधिकाधिक बढ़ती है। कौन-कौन-सी लेश्यावालोंके कैसे-कैसे परिणाम होते हैं, इसका भी साधारण अनुमान किया जा सकता है।

(१) तीव्रक्रोधी, वैर न छोड़नेवाला, लड़ने-झगड़नेवाला, निर्दय एवं धर्मद्वेषी—ये कृष्णलेश्याके चिह्न हैं।

(२) मन्द, बुद्धिहीन, विषयलोलुप, मानी, मायावी, आलसी, दूसरोंको फँसानेमें कुशल एवं तीव्रलोभी—ये नीललेश्याके लक्षण हैं।

(३) दूसरेकी निन्दा करनेवाला, शोक करनेवाला, भय रखनेवाला, दूसरोंका तिरस्कार और अपनी प्रशंसा करनेवाला तथा कार्य-अकार्यको न जाननेवाला, कापोत लेश्यावाला होता है।

(४) कार्याकार्यको और सेव्य-असेव्यको जाननेवाला, समताभाव रखनेवाला, दयावान्, दानी और विनयवान्—ये सब पीतलेश्याके चिह्न हैं।

(५) त्यागी, भद्र, क्षमाशील, साधुओंकी पूजा-भक्ति करनेवाला पद्मलेश्यावाला कहलाता है।

(६) पक्षपातशून्य, भोगकी आकाङ्क्षा न रखनेवाला तथा राग-द्वेषसे शून्य पुरुष शुक्ललेश्याधारी होता है।

इनमें कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन अशुभ और शेष तीन शुभ हैं। जीवकी भली-बुरी अवस्था होनेमें प्रमुख कारण लेश्या ही है। जैसी-जैसी लेश्या होती है, वैसी-वैसी ही क्रिया जीव करता है। शुभ लेश्या ही जीवको उन्नत बनाती है।

११-*भव्यत्व-मार्गणा*—जीव दो प्रकारके हैं—(१) भव्य तथा (२) अभव्य। जिसमें अन्तिम साध्य मोक्षको सिद्ध करनेकी योग्यता है, वह भव्य और जिसमें वह योग्यता नहीं है, वह अभव्य कहलाता है। जीवोंकी ये दोनों राशियाँ निसर्गसिद्ध और नियत हैं। भव्य कभी अभव्य नहीं होता और अभव्य कभी भव्य नहीं होता।

भव्य जीवोंके भी दो प्रकार हैं—(१) भव्य तथा (२) अभव्यसम भव्य। जिनको कभी-न-कभी मुक्ति अवश्य प्राप्त होगी, वे भव्य हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी भव्य हैं,जिनमें भव्यत्व होनेसे योग्यता तो जरूर है परन्तु वैसा निमित्त ही न मिलनेसे वे कभी मुक्तिको नहीं प्राप्त करते, सदा-सर्वदा अभव्यकी तरह संसारहीमें रहते हैं। उन्हें अभव्यसम भव्य कहते हैं।

१२-**सम्यक्त्व मार्गणा**—सात तत्त्वोंका जैसा स्वरूप है, वैसा ही समझना अर्थात् आत्माको आत्मा और परद्रव्यको पर समझना—इसीको सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसीको आत्मज्ञान या भेदविज्ञान कहते हैं। यह जिसको प्राप्त हो गया, उसकी प्रवृत्ति सहज ही परद्रव्यसे हटकर आत्माकी ओर मुड़ जाती है। इसलिये सम्यक्त्व ही सिद्धिका पहला प्रमुख साधन माना गया है।

१३-**संज्ञित्व-मार्गणा**—संसारी जीव दो प्रकारके होते हैं—(१) संज्ञी और (२) असंज्ञी। हिताहितका विचार करनेवाली और परोपदेशको ग्रहण करनेवाली मन:शक्तिको संज्ञा कहते हैं। वह संज्ञा जिसको है, वह संज्ञी है और जिसको नहीं, वह असंज्ञी है। मनसहित जीवोंको संज्ञी और मनरहित जीवोंको असंज्ञी कहते हैं। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय—ये सब असंज्ञी ही हैं। पञ्चेन्द्रिय त्रिर्यञ्चोंमें कुछ असंज्ञी और कुछ संज्ञी होते हैं। मनुष्य, देव, नारकी—ये सब संज्ञी ही हैं।

१४-*आहार-मार्गणा*—यद्यपि लोकभाषामें आहारका अर्थ भोजन है, तथापि जैनपरिभाषामें आहारका अर्थ कर्म और नोकर्मका ग्रहण करना है। जबतक संसार है, तबतक कर्मका ग्रहण तो सदैव रहता है; इसलिये यहाँपर उसकी विवक्षा न रखकर केवल नोकर्म (शरीर, इन्द्रिय आदि)-के लिये जो परमाणुओंका ग्रहण होता है, उसकी विवक्षासे आहार-मार्गणाद्वारा जीवका निरूपण किया गया है। इस नोकर्माहारकी अपेक्षासे कोई जीव आहारक और कोई अनाहारक होते हैं।

विग्रहगतिमें (एक शरीरको छोड़कर दूसरा शरीर धारण करनेके लिये गमनरूप अवस्थाको विग्रहगति कहते हैं) रहनेवाले, केवल समुद्घात करनेवाले केवली, अयोग-केवली और सिद्ध परमात्मा—ये सब अनाहारक हैं; शेष सब आहारक हैं।

आठ कर्मोंका विवरण

आठ कर्मोंका स्वरूप पीछे लिखा गया है। उनमें (१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) मोहनीय, (४) अन्तराय—ये चार घातीय कर्म तथा (१) वेदनीय, (२)आयु, (३)नाम और (४) गोत्र—ये चार अघातीय कर्म हैं। घातीय कर्म जीवके ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य—इन चार गुणोंका घात करते हैं; किन्तु अघातीय कर्म आत्मगुणोंका साक्षात् घात नहीं करते, केवल आत्माको संसारके बन्धनमें रखनेके लिये कारण बनते हैं। इसलिये १३ वें गुणस्थानमें ही केवली भगवान्के चार घातीय कर्मोंका नाश हो जानेसे उनमें गुणोंका पूर्ण विकास हो जाता है। सिद्ध और अरिहंतमें गुणोंके विकासकी दृष्टिसे कुछ भी अन्तर नहीं है।

जीवकी नानाविध सांसारिक सुख-दु:स्वरूप अवस्थाका कारण ईश्वरवादी ईश्वरको मानते हैं, किन्तु जैनतत्त्व कर्मको ही उसका कारण मानता है। अपने-अपने पूर्वोपार्जित कर्मके उदयसे ही जीव सुख-दु:ख भोगता है और उसीको ध्यान-तपद्वारा क्षय करके उनसे मुक्ति पाना भी आत्माके ही हाथमें है।

जीव और अजीव-तत्त्वके ही आधारपर आश्रवादि तत्त्व माने गये हैं।

आश्रव—जीवके पास कर्मके आनेको आश्रव कहते हैं। आश्रवके दो भेद हैं—(१) भावाश्रव और (२) द्रव्याश्रव। आत्माके जिन परिणामोंसे कर्म आते हैं, उन परिणामोंको भावाश्रव कहते हैं। भावाश्रवके पाँच प्रकार हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३)प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग। १ ले गुणस्थानमें मिथ्यात्वादि पाँच ही परिणामोंसे कर्मका आश्रव होता है, आगे मिथ्यात्व नहीं रहता । २ से ४ गुणस्थानमें अविरति आदि चार प्रकारके परिणामोंसे कर्माश्रव होता है; आगे मिथ्यात्व, अविरति—ये दो नहीं रहते।

५-६ गुणस्थानमें प्रमाद आदि तीन प्रकारके परिणामोंसे कर्माश्रव होता है। इसके आगे प्रमाद भी नहीं रहता।

७ से १० गुणस्थानतक कषाय और योगसे ही कर्माश्रव होता है। इसके आगे कषायका भी अभाव होता है।

११ से १३ तक केवल योग ही कर्माश्रवका कारण होता है।

१४ वें गुणस्थानमें आश्रवका कुछ भी कारण नहीं रहता। वहाँ केवल पूर्वबद्ध कर्मकी निर्जरा करना ही शेष रहता है।

भावाश्रव मुख्य कारण है और द्रव्याश्रव उसका कार्य है। भावाश्रव होनेपर ही द्रव्याश्रव होता है, अन्यथा नहीं।

आत्माकी ओर कर्मकी आगमनरूप क्रियाको द्रव्याश्रव कहते हैं। कर्मरूप होनेयोग्य कार्माण-वर्गणा जो आत्माके पास आती है, वह तो आनेके समय सामान्यरूप (एकरूप ही) होती है; लेकिन आत्मासे बद्ध होनेके बाद पूर्वस्थित ज्ञानावरणादिरूप ७ प्रकारोंमें उसका यथासम्भव बँटवारा हो जाता है। इसलिये द्रव्याश्रवके ज्ञानावरणादिरूप ८ प्रकार कहे गये हैं।

बन्ध—कर्मका आश्रव होनेके बाद ही बन्ध होता है। आश्रवको बन्धका कारण और बन्धको आश्रवका कार्य माना गया है। इसके भी दो भेद हैं—(१) भावबन्ध और (२) द्रव्यबन्ध। जिन परिणामोंसे कर्म और आत्माका बन्ध होता है, उसको भावबन्ध कहते हैं। ये वे ही परिणाम होते हैं जो कि भावश्रवमें होते हैं। कर्म-परमाणु और आत्मप्रदेशका एकक्षेत्रावगाहरूप जो अन्योन्य प्रवेश है, उसको द्रव्यबन्ध कहते हैं।

बन्धका वर्णन चार प्रकारसे किया गया है—

(१) प्रकृतिबन्ध, (२) प्रदेशबन्ध, (३) स्थितिबन्ध और (४) अनुभागबन्ध।

(१) बाँधे गये कर्मका क्या-क्या स्वभाव है, यह प्रकृतिबन्ध बतलाता है।

(२) बाँधे गये कर्म कितने आये, इसके निर्णयको प्रदेशबन्ध कहते हैं।

(३) कर्म आत्माके पास कितने कालतक रहेगा, इसके निर्णयको स्थितिबन्ध कहते हैं।

(४) कर्मका फल क्या मिलेगा, यह अनुभागबन्धसे ज्ञात होता है।

आत्माके योगरूप परिणाममें जैसा तीव्र-मन्द परिस्पन्दन होता है, वैसा ही तीव्र या मन्द कर्मका स्वभाव और संख्या होती है और आत्माके कषाय-परिणाममें जैसी तीव्र-मन्दता होती है, उसी मात्रामें कर्मकी स्थिति और फल तीव्र या मन्द होते हैं।

कर्मका आत्माके साथ बन्ध होता है, इसका अर्थ यह नहीं कि आत्मा कर्मरूप (जड) बन जाता है। द्रव्यमें अगुरुलघु नामकी एक ऐसी शक्ति है, जिससे एक द्रव्य दूसरा द्रव्य कभी नहीं बनता। जीव जीवत्व अवस्थामें ही और पुद्गल जडत्व अवस्थामें ही रहता है। लेकिन इनमें ऐसी एक वैभाविक नामकी शक्ति है, जिससे ये दोनों अनादि कालसे अन्योन्यसम्पृक्त होनेके कारण विभावरूप अवस्थामें पड़े हैं। इनकी यह विभाव-अवस्था अनादि कालसे कनक-पाषाणकी तरह है। पुद्गलकी विभावरूप अवस्था (कर्म)-के निमित्तसे जीवमें विभाव-परिणमन होता है और जीवके विभाव-परिणामोंके निमित्तसे पुद्गल कर्मरूप (विभाव-अवस्थारूप) बनते हैं। ऐसा इनका संयोग-सम्बन्ध अनादि-कालसे है। ये पहले दो अलग-अलग शुद्ध द्रव्य थे, फिर इनका संयोग हुआ—ऐसी बात नहीं है। कनक-पाषाणमें शुद्ध सुवर्णत्व और पाषाणत्वका संयोग नहीं हुआ है, वह अनादिकालसे कनक-पाषाणरूप ही है; लेकिन उनमें विभिन्नता (द्वैविध्य) की जा सकती है। इसी तरह आत्मा ही आत्माके द्वारा कर्मको दूर कर सकता है।

इस प्रकार कर्म और आत्माका एकक्षेत्रावगाहरूप जो सम्बन्ध है, उसको बन्ध कहते हैं।

संवर—कर्मके आनेको रोकने अर्थात् कर्मको न आने देनेका नाम संवर है। इसके दो भेद हैं—(१) भाव-संवर और (२) द्रव्य-संवर। आत्माके जिन परिणामोंसे कर्मका आना बंद हो जाता है, उसको भाव-संवर कहते हैं और कर्मके न आनेको अर्थात् द्रव्याश्रवके निरोधको द्रव्य-संवर कहते हैं।

जिन परिणामोंसे कर्मका आना बंद होता है, उनके सात विभाग किये गये हैं— (१) व्रत, (२) समिति, (३) गुप्ति, (४) धर्म, (५) अनुप्रेक्षा, (६) परीषहजय और (७) चारित्र।

१- हिंसा असत्य (झूठ), चोरी, मैथुन और परिग्रह (ममत्व)—इन पंच पापोंके त्यागको व्रत कहते हैं। आंशिक त्यागको अणुव्रत और पूर्ण त्यागको महाव्रत कहते हैं। पाँच प्रकारके पापोंकी अपेक्षासे व्रतोंके भी (१) अहिंसाव्रत, (२) सत्यव्रत, (३) अचौर्यव्रत, (४) ब्रह्मव्रत और (५) परिग्रहत्यागव्रत—इस प्रकार पाँच भेद किये गये हैं।

२-समितिके पाँच भेद हैं—(१) ईर्या, (२) भाषा, (३) एषणा, (४) आदान-निक्षेपण और (५) व्युत्सर्ग।

(१) जीव-जन्तु देखकर गमन करनेको ईर्या-समिति कहते हैं।

(२) सत्य, प्रिय, हित और मित वचनको भाषा-समिति कहते हैं।

(३) प्रासुक (निर्जन्तु) शुद्ध आहारको एषणा-समिति कहते हैं।

(४) जीव-जन्तु देखकर कोई भी चीज उठाना या रखना—इसे आदान-निक्षेपण-समिति कहते हैं।

और (५) जीव-जन्तु देखकर मल-मूत्र-विसर्जन करना व्युत्सर्ग-समिति है।

३-*गुप्ति*—गुप्तिके तीन भेद हैं— (१) मनोगुप्ति, (२) वचनगुप्ति और (३) कायगुप्ति। मनकी क्रियाको रोकना मनोगुप्ति है, वचनकी क्रियाको रोकना वचनगुप्ति और कायकी (शरीरकी) क्रियाको रोकना कायगुप्ति है।

४-*धर्म*—धर्म कहते हैं स्वभावको। क्षमादि आत्माके स्वभाव हैं और क्रोधादि आत्माके विभाव-परिणाम हैं। धर्मके दस भेद हैं— (१) क्षमा—क्रोधका अभाव, (२) मार्दव—मानका अभाव, (३) आर्जव—मायाका अभाव, (४) शौच—लोभका अभाव (५) सत्य—झूठ न बोलना, (६) संयम—इन्द्रियोंको अपने काबूमें (स्वाधीन) रखना, (७) तप—कष्ट सहन करना, (८) त्याग—स्वार्थबुद्धि न रखना, (९) आकिंचन्य—परायी वस्तुपर ममत्व न रखना और (१०) ब्रह्मचर्य— कामदेवपर विजय प्राप्त कर आत्मामें लीन रहना। ये ही आत्माके स्वभाव हैं इनसे आत्मा उन्नत होता है।

५-*अनुप्रेक्षा*—पुनः-पुनः चिन्तनको अनुप्रेक्षा या भावना कहते हैं। इनसे मनके संस्कार व्रतादिमें दृढ़ होते हैं। अनुप्रेक्षाके बारह भेद हैं।

(१) *अनित्यानुप्रेक्षा*—संसार अनित्य है। विषय, राज्य, धन, जीवन—ये सब चंचल हैं, नश्वर हैं। इस प्रकारके विचारोंसे इनके प्रति मोह कम होता है।

(२) *अशरणानुप्रेक्षा*—मरणसे कोई भी रक्षा नहीं कर सकता, धर्म ही शरण्यभूत है—ऐसी भावना करनी चाहिये।

(३) *संसारानुप्रेक्षा*—इस संसारमें यह जीव चौरासी लाख योनियोंमें नटकी तरह नाना वेष (जन्म) धारण करता हुआ भटकता है—इस तरह विचार करना।

(४) *एकत्वानुप्रेक्षा*—अपने-अपने कर्मका फल अपनेको ही भोगना पड़ता है और मरनेके बाद अकेले ही जाना पड़ता है, कोई भी साथी नहीं होता—ऐसा विचार करना।

(५) *अन्यत्वानुप्रेक्षा*—जिनको तू अपना समझता है, ये सब कनक-कान्ता-शरीर आदि पराये है—ऐसा विचार करना।

(६) *अशुचित्वानुप्रेक्षा*—यह शरीर रक्त, मांस, हड्डी आदि अपवित्र वस्तुओंकी खान है—ऐसा विचारकर देहपर ममत्व न रखना।

(७) *आश्रवानुप्रेक्षा*—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय आदि परिणामोंसे कर्म आत्माके पास आते हैं और उन्हींके कारण आत्मा इस संसारमें भटकता है—इसलिये इनसे निवृत्त होना।

(८) *संवरानुप्रेक्षा*—व्रत, समिति आदि परिणामोंसे कर्म आत्माके पास नहीं आते—इसलिये इनमें सदैव प्रवृत्ति रखना।

(९) *निर्जरानुप्रेक्षा*—तपके प्रभावसे कर्म बिना फल दिये ही निकल जाते हैं—इसलिये तप, ध्यान आदिमें लीन रहना।

(१०) *लोकानुप्रेक्षा*—नरकगतिकी रचना ही ऐसी है कि जिससे दु:ख होता है। मध्यलोककी रचना और ऊर्ध्वलोककी रचनारूप लोकके आकारको लक्ष्यमें लाकर इनसे मैं कब मुक्त होऊँ ऐसा विचार करना।

(११) बोधिदुर्लभ—इस संसारमें जीवने ऐन्द्रिय सुख तथा ऐश्वर्य तो अनेक भावोंमें प्राप्त किया, लेकिन बोधि अर्थात् सम्यक् ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई, अब यह दुर्लभ बोधि प्राप्त करके मुझे अपना आत्मकल्याण करना चाहिये—ऐसी भावना करना।

(१२) *धर्मानुप्रेक्षा*—धर्मके स्वरूपका विचार कर धर्ममें लीन होना।

ये बारह भावनाएँ संवेग (संसारसे और पापसे भीति) और वैराग्य (सार और भोगसे निवृत्ति) होनेके लिये करनी चाहिये।

६-*परीषह*-जय—दु:ख सहन करनेको परीषह-जय कहते हैं। परीषह बाइस प्रकारके हैं— (१) क्षुधा, (२) तृषा, (३) शीत, (४) उष्ण, (५) दंश-मशक, (६) नाग्न्य, (७) अरति, (८) स्त्री, (९) चर्या, (१०) निषद्या, (११) शय्या, (१२) आक्रोश, (१३) वध, (१४) याचना, (१५) अलाभ, (१६) रोग, (१७) तृणस्पर्श, (१८) मल, (१९) सत्कार-पुरस्कार (२०) प्रज्ञा, (२१) अज्ञान और (२२) अदर्शन।

ध्यान-सामायिक-तप करते समय दैविक, मानुषिक, तैर्यञ्चिक—जो भी उपसर्ग और ऊपरके परीषह आवें, उनसे न डरना; उनको शान्तिसे सहन करके आत्मध्यानसे च्युत न होना—इसीका नाम परीषह-जय है। इससे मनका बल बढ़ता है।

७-*चारित्र*—चारित्रके पाँच भेद हैं—

(१) सामायिक सब जीवोंपर समताभाव रखकर आत्मध्यानमें लीन होना।

(२) *छेदोपस्थापना*—व्रतोंमें दोष या भंग हो तो प्रायश्चित्तादि लेकर उसमें फिरसे स्थिर रहना।

(३) *परिहार-विशुद्धि*—कषायकी मन्दतासे परिणामोंकी ऐसी विशुद्धि होती है कि जिसमें विहार करते समय प्राणियोंको बाधा न पहुँचे। इस प्रकारकी ऋद्धिकी प्राप्ति ही परिहार-विशुद्धि है।

(४) *सूक्ष्म साम्पराय*—केवल सूक्ष्म लोभरूप कषाय बाकी रहनेसे परिणामोंकी विशेष शुद्धता होती है। इसीको सूक्ष्म-साम्पराय कहते हैं।

(५) *यथाख्यात*—कषायोंका पूर्ण अभाव होनेसे आत्माकी स्वाभाविक अवस्था प्राप्त होती है। इसीका नाम यथाख्यात है। इन सब परिणामोंसे कर्मका आना बंद हो जाता है।

निर्जरा—कर्मकी स्थिति पूर्ण होनेके बाद कर्मके शनैः-शनैः आत्मासे पृथक् होनेको निर्जरा कहते हैं। उसके दो भेद हैं— (१) भाव-निर्जरा और (२) द्रव्य-निर्जरा।

जिन आत्माके परिणामोंसे कर्म निकल जाता है, उनको भाव निर्जरा और कर्मके निकलनेको द्रव्य-निर्जरा कहते हैं। कर्मका निकलना दो प्रकारसे होता है—(१) सविपाक और (२) अविपाक। कर्मकी स्थिति जब पूर्ण हो जाती है, तब वह आत्माको फल देकर निकल जाता है। आत्मपरिणामोंको विभावरूप करना ही कर्मका उदय-फल है। इस विभाव-परिणामसे फिर कर्मका अभाव होता है। यही सविपाक द्रव्य-निर्जरा है। तपके प्रभावसे फल न देकर जो कर्मोंका निकल जाना है, उसको अविपाक निर्जरा कहते हैं।

x x x

मोक्ष—आत्मासे कर्मके पूर्णतया पृथक् होनेका नाम ही मोक्ष है। मोक्षके दो भेद हैं—(१) भावमोक्ष और (२) द्रव्यमोक्ष। आत्माके जिन परिणामोंसे कर्म पृथक् होता है, उनको भावमोक्ष कहते हैं और कर्मके पृथक् होनेको द्रव्यमोक्ष कहते हैं।

घातीय कर्मोंका पूर्णतः क्षय होनेसे आत्माके सब गुण विकसित हो जाते हैं, इसलिये उसको भावमोक्ष भी कह सकते हैं। क्योंकि भावमोक्ष होनेके बाद द्रव्यमोक्ष अवश्यम्भावी होता है। आयु-कर्मकी स्थिति जबतक रहती है, तभीतक अघातीय कर्मोंका अस्तित्व रहता है। ये अघातीय कर्म आत्माके गुणोंका साक्षात् घात (आवरण) करनेवाले न होनेसे घातीय कर्मोंके नष्ट होनेके बाद इन अघातीय कर्मोंका रहना न रहनेके बराबर ही है।

इस प्रकार कर्मसे मुक्त हुआ आत्मा कर्मका फिर आश्रवादि होनेका कुछ भी निमित्त न होनेसे कर्मोंसे सदैव अलिप्त रहता है। वह अपने परमात्मस्वरूपमें सदैव लीन रहता है।

तपस्या, श्रुत तथा व्रतोंका विवरण

'तवसुदवदवं चेदा झाणरहधुरंधरो हवे'

—तप, श्रुत और व्रतका पालन करनेवाला आत्मा ही ध्यानरूपी रथपर आरूढ़ हो सकता है। ध्यानसे ही जीवका अन्तिम साध्य मोक्ष प्राप्त होता है; इसलिये मोक्षका साधन ध्यान और ध्यानके साधन तप, श्रुत, व्रत हैं।

(१) अनशन, (२) अवमौदर्य, (३) वृत्ति-परिसंख्यान, (४) रसपरित्याग (५) विविक्तशय्यासन और (६) कायक्लेश—ये छः बाह्य तप हैं। और (१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्त्य, (४) स्वाध्याय, (५) व्युत्सर्ग और (६) ध्यान—ये छः अन्तरंग तप हैं। केवल शरीरको कृश करना ही तपका मुख्य हेतु नहीं है; राग, द्वेष और मोहको कम करना ही उसका प्रमुख हेतु है।

श्रुत कहते हैं शास्त्रोंके स्वाध्यायको। ज्ञानीका ही तप सफल होता है। अज्ञानपूर्वक तप सच्चा तप नहीं कहलाता।

व्रत नाम है संयमका। इन्द्रियोंके विषयमें यथेच्छ प्रवृत्तिको अव्रत कहते हैं और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना ही व्रत या संयम है।

मन्त्र-जपके प्रकार

ध्यान करते समय ध्येयका जो नामोच्चार किया जाता है, उसको मन्त्र-जप कहते हैं। आत्माका ध्येय तो एक परमात्मा ही है। उस लक्ष्यबिन्दुको सामने रखकर नाम-जप करनेमें कोई आपत्ति नहीं है। परमात्मामें अनन्त गुण होनेसे उन गुणोंके चिन्तनरूप मन्त्र-जपके भी अनेक प्रकार हो सकते हैं। जगत्में मंगलरूप, लोकोत्तम और शरण्यभूत पंचपरमेष्ठी ही होनेसे पंचणमोकार मन्त्र ही मन्त्र-जपका मुख्य प्रकार है।

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, 'णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं'

—यह (३५ अक्षरका) पंचणमोकार महामन्त्र है। इस मन्त्र-जपसे जीवके सब दुःख-पाप दूर होते है और आत्मा परमात्मा हो जाता है। इसी मन्त्रको संक्षिप्त करनेसे छः अक्षरका 'अरिहंत सिद्ध', पाँच अक्षरोंका अ-सि-आ-उ-सा, चार अक्षरोंका 'अरिहंत' दो अक्षरोंका 'सिद्ध' और एकाक्षरी मन्त्र 'ॐ' इत्यादि अनेक प्रकार बन सकते हैं।

ध्यान—ध्यानका सच्चा ध्येय तो परमात्मा ही है; लेकिन जबतक आत्मदर्शन नहीं होता, तबतक मनको एकाग्र करनेके लिये पंचपरमेष्ठियोंका आदर्श रखना चाहिये। पंचपरमेष्ठी ये हैं—

(१) अर्हंत परमेष्ठी—जिसने चार घातीय कर्मोंका नाश कर दिया है, और इससे जिसको अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य—ये अनन्तचतुष्टय प्राप्त हुए हैं, परम औदारिक शरीरमें रहनेवाला वह शुद्ध परमात्मा अर्हंत कहलाता है।

(२) *सिद्ध परमेष्ठी*—जिसने आठों कर्मोंका और शरीरादि नोकर्मका पूर्णतया नाश कर दिया है, जो लोकाकाशके अग्रभागमें सिद्धशिलापर विराजमान है, जिसने अपना अन्तिम साध्य प्राप्त कर लिया है, ऐसा परमात्मा सिद्ध परमेष्ठी कहलाता है।

(३) *आचार्य*— ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य—इन पाँच आचारोंमें जो अपनेको और इतर मुनियोंको लीन करते हैं, जो मुनिकुलोंके गुरु हैं और उनको प्रायश्चित्तादि दण्ड देनेका जिनको अधिकार है, उनको आचार्य कहते हैं।

(४) *उपाध्याय*—जो रत्नत्रयमें लीन होकर सदैव धर्मोपदेश देनेमें तत्पर रहते हैं, ऐसे विशेष प्रतिभासम्पन्न मुनिको उपाध्याय कहते हैं।

(५) *साधु परमेष्ठी*—जो अपना आत्महित साधता है, उसको साधु कहते हैं। आरम्भ-परिग्रहसे रहित होकर, सदैव आत्मध्यान और शास्त्र-स्वाध्यायमें लीन होकर मोक्षमार्गका जो साधन करता है, वह साधु है।

परमध्यान—उपर्युक्त प्रकारसे पंचपरमेष्ठीका ध्यान करते-करते जो आत्मध्यानमें लीन हो जाता है, जहाँ मैं ध्याता हूँ, और यह मेरा ध्येय है ऐसा भेद न रहकर निर्विकल्प समाधि प्राप्त होती है, जब मन-वचन-कायकी सब चेष्टाएँ बंद होकर आत्मा आत्मरूपमें लीन हो जाता है, तब उसको शुद्ध आत्मध्यान या परमध्यान कहते हैं।

शुक्लध्यान—शुक्लध्यानके चार भेद हैं—

(१) पृथक्त्ववितर्कविचार—

विशेष तर्कणाको वितर्क और अर्थ (ध्येय पदार्थ), व्यञ्जन (ध्यानके मन्त्र-जपके शब्द) तथा योग (मन-वचन-काययोग)—इनकी संक्रान्ति (पलटने)-को विचार कहते हैं। जिसमें गुण, पर्याय, द्रव्य—ऐसे भिन्न-भिन्न अर्थोंका ध्यान होता है, उसको पृथक्त्व-वितर्क कहते हैं। यहाँ तीनों योग रहते हैं। यह ध्यान ८,९,१०,११—इन चार गुणस्थानोंमें होता है।

(२) *एकत्ववितर्क*—

द्रव्य, गुण और पर्याय—इनमेंसे किसी एकका जहाँपर ध्यान होता है और जहाँ तीनों योगोंमेंसे किसी एक योगद्वारा आत्मप्रदेश-परिस्पन्दन होता है, उसको एकत्ववितर्क कहते हैं। यहाँ विचार (अर्थ-व्यञ्जन-योगकी संक्रान्ति) नहीं रहता। यह ध्यान बारहवें गुणस्थानमें होता है।

(३) *सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति*—

जिसमें पादका विहार (पैरोंसे गमन) न होकर पद्मासन या खड्गासनसे विहार होता है, उस शरीरक्रियाको सूक्ष्मक्रिया कहते हैं। उसका प्रतिपात (विनाश) नहीं होता। ऐसा केवल सूक्ष्मकाययोग ही जहाँ रहता है, जहाँ वितर्क-विचारादि सब विकल्पोंका अभाव होकर शुद्ध परमध्यानकी प्राप्ति होती है, वह सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति नामक तीसरा शुक्लध्यान है। यह १३ वें गुणस्थानमे होता है।

(४) *व्युपरतक्रियानिवर्ति*—

योगका पूर्ण अभाव होनेसे जो आत्मस्थिरता और विशुद्धि होती है, जिसमें विहाररूप सूक्ष्म क्रिया भी बंद हो जाती है, उसको व्युपरतक्रियानिवर्ति नामक चौथा शुक्लध्यान कहते हैं। यह ध्यान अयोगी परमात्मा—१४ वें गुणस्थानवालेको होता है।

पंचमहाकल्याणिक—

देवादिद्वारा जो उत्सव मनाया जाता है, उसको कल्याणिक कहते हैं। तीर्थङ्कर भगवान्के गर्भमें आनेसे लेकर मोक्षपदमें जानेतक अर्थात् उनके गर्भ, जन्म, तप, केवल, मोक्ष—इन पाँच प्रसंगोंको लेकर उत्सव मनाया जाता है। इस प्रकार कल्याणिकके पाँच भेद माने गये हैं—

(१) *गर्भकल्याणिक*—

तीर्थङ्कर भगवान्के गर्भमें आनेसे छः मास पूर्व इन्द्र कुबेरको नीचे भेजते हैं। वह छः महीनेतक रोज रत्नवृष्टि करता है, तथा तीर्थङ्करके माता-पिताकी यथायोग्य सेवा करता है। माताको १६ स्वप्न दीख पड़ते हैं—जिनमें वह क्रमशः (१) हाथी, (२) बैल, (३) सिंह, (४) स्नान करनेवाली लक्ष्मी, (५) पुष्पमाला, (६) पूर्णिमाका चन्द्र, (७) सूर्य, (८) दो सुवर्णकलश, (९) दो मत्स्य, (१०) सरोवरके कमल, (११) समुद्र, (१२) सिंहासन, (१३) देव-विमान, (१४) नागेन्द्रभवन, (१५) रत्नराशि और (१६) अग्निशिखाको देखती है। इनका फल तीर्थङ्करके पिता यह बतलाते हैं कि तुम्हारे गर्भमें त्रैलोक्यभूषण ऐसा भव्य पुरुष आनेवाला है, जिसका यश सुनकर सबको आनन्द होगा।

(२) *जन्मकल्याणिक*—

तीर्थङ्करका जन्म होते ही त्रिभुवनमें सब जीवोंको सुख मालूम होता है। इन्द्रादि देव तीर्थङ्कर भगवान्को मेरुपर्वतपर ले जाकर वहाँ उनका जन्माभिषेक-महोत्सव करते हैं और कुबेरादि देव बालकुमार होकर तीर्थङ्करकी सेवामें तत्पर रहते हैं। तीर्थङ्करको जन्मसे ही (१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान और (३) अवधिज्ञान—ये तीनों ज्ञान रहते हैं।

(३) *तपकल्याणिक—*

तरुण अवस्थामें श्रावकव्रतका ग्रहण कर यथायोग्य राज्यादिका भोग भोगकर संसारसे उदासीन होकर जिन-दीक्षा ग्रहण करते हैं। आरम्भ और परिग्रहका त्यागकर मुनिके २८ मूलगुण धारण करते हैं। पंचमुष्टिकेशलोच करते हैं और उग्रध्यानरूप तप करते हैं।

(४) *केवलकल्याणिक—*

तप करते-करते जब चार घातीय कर्मोंका नाश हो जाता है, तब भगवान्‌को केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है। इन्द्र समवशरणकी रचना करता है, जिसमें बारह प्रकारकी सभा बैठती है। उन सबको भगवान् दिव्य ध्वनिद्वारा उपदेश करते हैं। भगवान्‌का विहार भव्य जीवोंकी पुण्य-वर्गणा-वश होता है।

(५) *मोक्षकल्याणिक—*

जब आठों कर्मोंका नाश होकर उनका शरीर कपूरकी तरह विलयको प्राप्त हो जाता (उड़ जाता) है, नख और केशमात्र शेष रहते हैं, तब देव उनसे मायामय शरीर निर्माणकर उसका हवन करते हैं और उस भूमिको पवित्र समझते हैं।

महापुरुषोंके सम्बन्धसे भूमि और काल भी पवित्र माने जाते हैं। जिस क्षेत्रपर उनके गर्भ, जन्म, मोक्ष आदि होते हैं, वह भूमि पवित्र मानी जाती है और जिस-जिस तिथिको ये सब होते हैं, वे तिथियाँ भी पवित्र मानी जाती हैं।

इन महापुरुषोंका स्मरण संसारको होता रहे, इसी हेतुसे ये उत्सव मनाये जाते हैं।

इस प्रकार जैन-सम्प्रदायके साधनोंका संक्षेपमें वर्णन किया गया। विषय गहन और विस्तृत होनेसे केवल उद्‌देश्यरूपसे या नामनिर्देशरूपसे ही सब विषयोंका अति संक्षेपसे वर्णन करना पड़ा है। इन सबका विस्तृत ज्ञान प्राप्त करनेके लिये जैनशास्त्रोंको देखना चाहिये, जिससे मालूम होगा कि जैनागम कितना अपार, कितना गहन और कितना सूक्ष्मतत्त्वनिर्देशक है।

छद्मस्थ जीवोंका ज्ञान अपूर्ण तथा सदोष होता है, इसलिये सम्भव है कि एक अज्ञानीद्वारा लिखे गये इस लेखमें कुछ त्रुटियाँ अवश्य रह गयी हों, जिनको कि विज्ञ पाठक शास्त्राधारसे शुद्ध कर लेंगे—ऐसी आशा है।

जीवन-सिद्धिका मार्ग

(लेखक—श्रीजयभगवानजी जैन, बी०ए०, एल-एल०बी०)

जीवनकी विकटता

जीवन सुनहरे प्रभातके साथ उठता है। अरुण सूर्यके साथ उभरता है। उसके तेजके साथ खिलखिलाता है। उसकी गतिके साथ दौड़ता-भागता है। उसकी सन्ध्याकी छायाके साथ लंबा होता है और उसकी अस्त-व्यस्तताके साथ निश्चेष्ट हो सो जाता है।

सुबह होती है, शाम होती है।
उम्र यों ही तमाम होती है॥

तो क्या श्रम और विश्राम ही जीवन है? काम और अर्थ ही उद्देश्य है? साँझ-सबेरवाला ही लोक है।

यदि यों ही श्रम और विश्रामका सिलसिला जारी रहता, यदि यों ही काम और अर्थका रंग जमा रहता तो क्या ही अच्छा था! जीवन और जगत् कभी प्रश्नके विषय न बनते। परन्तु जीवन इतनी सीधी-सादी चीज नहीं। माना कि इसमें सुस्वप्न है, कामनाएँ हैं, आशाएँ हैं, उमंगें हैं; यह अत्यन्त रोचक, अत्यन्त प्रेरक है; जी चाहता है कि इनके आलोकमें सदा जीवित रहा जाय। परन्तु इन्हींके साथ इसमें कैसे-कैसे दुःस्वप्न हैं, असफलताएँ हैं, निराशाएँ हैं, विषाद हैं। वे कितने कटु और घिनौने हैं, जी चाहता है कि इनके आलोकसे भागकर कहीं चले जायँ।

कितना खेद है कि जीवनको कामना मिली पर सिद्धि न मिली। इस सिद्धिके लिये यह कितना आतुर है। इसके लिये यह कैसी-कैसी बाधाओंमेंसे गुजरता है। कैसी-कैसी वेदना, विपदा, आघात-प्रघात सहन करता है। परन्तु सिद्धिका कहीं पता नहीं चलता। यदि भाग्यवश कहीं सिद्धि हाथ भी आयी तो वह कितनी क्षणस्थायिनी है, कितनी दुःखदायिनी है। वह प्राप्तिकालमें आकुलतासे अनुरञ्जित है, रक्षाकालमें चिन्तासे संयुक्त है और भोगकालमें क्षीणता और शोकसे

ग्रस्त है। उसका आदि, मध्य और अन्त—तीनों ही दुःखसे भरे हैं। इस सिद्धिमें सदा अपूर्णताका भाव बसा है। यह सब कुछ प्राप्त कर लेनेपर भी रङ्क है, रिक्त है, वाञ्छायुक्त है। यह सारी जिंदगी दुरंगी है। इसकी सुन्दरतामें कुरूपता बसी है। इसके सुखमें दुःख रहता है। इसकी हँसीमें रोना है। इसके लालित्यमें भयानकता है। इसकी आसक्तिमें अरुचि है। इसके योगमें वियोग है। विकासमें ह्रास है। बहारमें खिजाँ है, यौवनमें जरा है। यहाँ हर फूलमें शूल है। इतना ही नहीं, यह समस्त ललाम-लीला, यह सारा उमंगभरा जीवन, यह सम्पूर्ण साँझ-सबेरवाला लोक मृत्युसे व्याप्त है।

जीवनके मूल प्रश्न

क्या यही लोक है, जिसमें कामनाका तिरस्कार है, आशाका अनादर है और पुरुषार्थकी विफलता है? क्या यही जीवन है, जहाँ हजार प्रयत्न करनेपर भी सन्तुष्टिका-लाभ नहीं और हजार रोक-थाम करनेपर भी अनिष्ट अनिवार्य है? क्या यही उद्देश्य है कि वेदनासे सदा तड़पा करो और अन्तमें क्षीण होते-होते मृत्युके मुँहमें चले जाओ? क्या इसीके लिये चाह और वेदना है? क्या इसीके लिये उद्यम और पुरुषार्थ है? क्या इसीके लिये सङ्घर्ष और प्राणोंकी आहुति है?

नहीं, यह मनचाहा जीवन नहीं। यह तो उस जीवनकी पुकार है, अनुसन्धान है, तलाश है। यह तो उसतक पहुँचनेका उद्यम है, उसे पानेका प्रयोग है। इसीलिये यह जीवन असन्तुष्ट और अशान्त बना है। उद्यमी और पुरुषार्थी बना है। अस्थिर और गतिमान् बना है। यह कहीं तृप्त नहीं, शान्त नहीं, स्थिर नहीं !

यदि ऐसा है तो यह अपने पुरुषार्थमें सफलीभूत क्यों नहीं होता? यह पुरुषार्थ करते हुए भी अपूर्ण क्यों है? आशाहत क्यों है? खेदखिन्न क्यों है?

इसका कारण पुरुषार्थकी कमी नहीं, बल्कि सद्‌लक्ष्य, सद्‌ज्ञान और सदाचारकी कमी है। इसका समस्त पुरुषार्थ भूल-भ्रान्तिसे ढका है। अज्ञानसे आच्छादित है। मोहसे ग्रस्त है। इसे पता नहीं कि जिस चीजकी इसमें भावना बसी है वह क्या है, कैसी है और कहाँ है। इसे पता नहीं कि उसे पानेका क्या साधन है, उसे सिद्ध करनेका क्या मार्ग है! इसलिये यह जीवनको उस ओर नहीं ले जा रहा है, जिस ओर यह जाना चाहता है। यह उस चीजकी प्राप्तिमें नहीं लगा है, जिसे यह प्राप्त करना चाहता है। यह केवल परम्परागत मार्गका अनुयायी बना है। मोहकी गाँठको और भी उलझा देनेवाले उन रूढ़िक पदार्थोंका साधक बना है, जिन्हें सिद्ध करते-करते यह इतना अभ्यस्त हो गया है कि वे इसका जीवन ही बन गये हैं।

इस भूल, अज्ञान और मोहके कारण यद्यपि इस जीवने अपने वास्तविक जीवनको भुला दिया है, उसे बंदी बनाकर अन्धकूपमें डाल दिया है, परन्तु उसने इसे नहीं भुलाया। वह सदा इसके साथ है। वह घनाच्छादित सूर्यके समान अन्तर्गुहामेंसे ही फूट-फूटकर अपना आलोक देता रहता है। इसके सुस्वप्नोंमें बैठकर, इसकी आशाओंमें आविष्ट होकर, इसकी भावनाओंमें भरकर अपना परिचय देता रहता है। वह वेदनामयी भाषामें पुकारता रहता है 'मैं यह जीवन नहीं हूँ। मैं इससे भिन्न हूँ। और हूँ। तत् हूँ। परे हूँ। दूर हूँ। अंदर हूँ।' इसी प्रतीतिसे प्रेरित हुआ जीव बार-बार प्राणोंकी आहुति देता है। बार-बार मरता और जीता है। बार-बार पुतलेको घड़ता है, बार-बार इसे रक्त कान्तिवाले मादक रससे भरता है। बार-बार इसके द्वारोंसे लखाता है। परन्तु बार-बार इसी नाम-रूप-कर्मात्मक जगत्‌को अपने सामने पाता है, जिससे यह चिरपरिचित है। बार-बार उसीको देख इसे विश्वास हो जाता है, निश्चय हो जाता है, कि यही तो है जिसकी इसे चाह है। यही तो है जो इसका उद्‌देश्य है। इसके अतिरिक्त और कोई जीवन नहीं, कोई उद्‌देश्य नहीं, कोई लोक नहीं। परन्तु ज्यों ही यह धारणा धरकर यह नाम-रूप-कर्मात्मक जीवनमें प्रवेश करता है, इसे फिर वही वाञ्छा, वही वेदना, वही दुःख आ घेरते हैं। फिर वही विफलताएँ, वही निराशाएँ, वही अपूर्णताएँ आ उपस्थित होती हैं। फिर वही भय, फिर वही शङ्का, फिर वही प्रश्न उठने शुरू होते हैं। क्या दुःखी जीवन ही जीवन है? क्या मरणशील जीवन ही जीवन है? यदि नहीं तो जीवन क्या है? उद्देश्य क्या है? फिर वही तर्क-वितर्क फिर वही मीमांसा शुरू हो जाती है।

प्रश्न हल करनेके विफल साधन

जीवने इन प्रश्नोंको हल करनेके लिये मतिज्ञानसे बहुत तरह काम लिया। उसके विश्वस्त साधनोंपर—इन्द्रिय, मन और बुद्धिपर बहुत तरह विश्वास किया। इन्हें अनेक तरहसे घुमा-फिराकर जाननेकी कोशिश की। परन्तु इन्होंने हमेशा एक ही उत्तर दिया। लौकिक जीवन ही जीवन है। शरीर ही आत्मा है। भोग-रस ही

सुख है, धन-धान्य ही सम्पत्ति है। नाम ही वैभव है। रूप ही सुन्दरता है। शरीरबल ही बल है। सन्तति ही अमरता है। मान-यश ही जीवन है। कीर्ति ही पुण्य है। इन्हें ही बनाये रखने, इन्हें ही सुदृढ़ और बलवान् बनाने, इन्हें ही सौम्य-सुन्दर करनेका प्रयत्न करना चाहिये; इसीमें भलाई है। प्राकृतिक नियमानुसार कर्म करते हुए भोग-रस लेना ही जीवनमार्ग है। प्रवृत्ति ही जीवनमार्ग है। सुख-दु:ख स्वयं कोई चीज नहीं, ये सब बाह्य जगत्के आधीन हैं। बाह्य जगत्की कल्पनापर निर्भर हैं। जगत्को दु:खदायी कल्पना करनेसे दु:ख और सुखदायी कल्पना करनेसे सुख होता है। इसलिये जगत्के दु:खदायी पहलूको भुलाने और उसके सुखदायी पहलूको परिपुष्ट करनेकी जरूरत है।

इस तथ्यको ही तथ्य मान जीवने इसे अनेक प्रकारसे स्वीकार करनेकी कोशिश की। बुद्धिके सुझाये हुए अनेकों मार्गोंसे इसे सिद्ध करनेकी चेष्टा की। अज्ञानमार्गको मार्ग बनाया। उद्योगमार्गका आश्रय लिया। कर्ममार्गको ग्रहण किया। यान्त्रिक मार्गको अपनाया। विज्ञानमार्गको धारण किया। शिल्पकलामार्गपर चला। संघटनमार्गपर आरूढ़ हुआ। नीतिमार्गका अवलम्बन लिया। परन्तु इसके दु:खका अन्त न हुआ। प्रश्न ज्यों-का-त्यों बना ही रहा—'जीवन क्या है?'

प्रश्न हल करनेका वास्तविक साधन

इतना होनेपर जीवको निश्चय हुआ कि सांसारिक जीवन इष्ट जीवन नहीं, यह जगत् इष्ट लोक नहीं। प्रचलित मार्ग सिद्धिमार्ग नहीं। बाह्य बुद्धिज्ञान यथार्थ साधन नहीं। जीवन-उद्देश्य, जीवन-लोक, जीवन-सुख-दु:ख, जीवन-शुद्धिका मार्ग बाह्य जगत्के आश्रित नहीं। बाह्य जगत्की शक्तियोंको भुलाकर, उन्हें खुश करके, उनपर विजय करके या उन्हें व्यवस्थित करके जीवनकी सिद्धि नहीं हो सकती, सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जीवन कोई और ही चीज है। इसके जाननेका साधन भी और ही है। बाह्य बुद्धिज्ञान इसके लिये पर्याप्त नहीं।

यह जाननेके लिये कि जीवन क्या है,यह जानना होगा कि जीव क्या होना चाहता है और क्या होनेसे डरता है। इसका निर्णय अन्तर्ज्ञानके द्वारा हो सकता है। उस ज्ञानके द्वारा जो अन्तर्गुहाका प्रकाशक है। उस ज्ञानद्वारा जो अन्तर्लोकमें बैठी हुई सत्ताको देख सकता है। उसकी वेदनामयी अनक्षरी भाषाको सुन सकता है। उसके भावनामय अर्थको समझ सकता है। उस ज्ञानके द्वारा जो सहजसिद्ध है, स्वाश्रित है, प्रत्यक्ष है। जिसे अन्तर्ज्ञान होनेके कारण मनोवैज्ञानिक intuition कहते हैं। जिसे अतर्ध्वनि सुननेके कारण अध्यात्मवादी श्रुतज्ञान कहते हैं। जिसकी अनुभूति 'श्रुति' नामसे प्रसिद्ध है।

इस ज्ञानको उपयोगमें लानेके लिये साधकको शान्त-चित्त होना होगा। अपनेको समस्त विकल्पों और दुविधाओंसे पृथक् करना पड़ेगा। निष्पक्ष एकटक हो पूछना होगा 'जीवन क्या चाहता है?' फिर निरक्षरी अन्तर्ध्वनिको सुनना होगा।

फिर जीवन क्या है?

जीव जीवन चाहता है। ऐसा जीवन जो निरा अमृतमय हो, मरणशील न हो। जो स्वाधीन हो। किसी तरह भी पराधीन न हो। जो घनिष्ठ हो! आसक्त हो। किसी तरह भी जुदा न हो। जो निकटतम हो, अभ्यन्तर हो, लय हो। तनिक भी दूर न हो, परे न हो। जो परिशुद्ध हो, निर्मल हो, तनिक भी दोषयुक्त न हो। जो सचेत हो, जाग्रत् हो, ज्योतिष्मान्—जाज्वल्यमान हो। तनिक भी जडता, मन्दता, अन्धकार जिसमें न हो। जो सुन्दर और मधुर हो, ललाम और अभिराम हो, स्वयं अपनी लीलामें लय हो। जो सम्पूर्ण हो, परिपूर्ण हो, जिसमें कोई भी वाञ्छा न हो। जो सर्वभू हो, अनन्त हो। जो सत्य हो, शाश्वत हो। जो सबमें हो, सब उसमें हों, पर वह अपने सिवा कुछ भी न हो। वह वह ही वह हो।

यह है जीवका इष्ट जीवन। इसे पाना है जीवका अन्तिम उद्देश्य, इसके प्रति कभी भय पैदा नहीं होता, कभी शङ्का पैदा नहीं होती, कभी प्रश्न पैदा नहीं होता। प्रश्न उसीके प्रति पैदा होता है, जो अनिष्ट है, भयोत्पादक है—जैसे दु:ख और मृत्यु; परन्तु इष्टके प्रति कभी प्रश्न पैदा नहीं होता, कभी शङ्का नहीं उठती कि जीवन सुखी क्यों है, जीवन अमर क्यों है। इसका कारण यही है कि इष्ट जीवन आत्माका धर्म है—उसका वास्तविक स्वभाव है। आत्मा उसे निज स्वरूप मान स्वीकार करता है—सदा उसकी प्राप्तिकी भावना करता है। यह विवादका विषय नहीं। समस्याका विषय नहीं। यह भक्तिका विषय है। आसक्तिका विषय है। सिद्धिका विषय है।

यह इष्ट जीवन अलौकिक है, अद्भुत और अनुपम है। इसे आँखने कभी देखा नहीं, कानने कभी सुना नहीं, हाथने कभी छुआ नहीं, शारीरिक पुरुषार्थने कभी सिद्ध किया नहीं। यह शरीरसे, इन्द्रियोंसे, मनसे,

वाणीसे दूर है, परे है; अतः इसकी प्रतीति सदा दूरकी होती है। नेति-नेतिके द्वारा इसका विवेचन होता है, तत् शब्दद्वारा इसका सङ्केत होता है।

जीवन साध्य है

यह जीवन अन्तरात्माकी वस्तु है। यह उसमें वैसे ही निहित है, ओतप्रोत है, जैसे अनगढ़ पाषाणमें मूर्ति, बिखरी रेखाओंमें चित्र, मूक तारोंमें राग और बेखिली भावनामें काव्य। ये भाव जबतक अभिव्यक्त नहीं होते, दिखायी नहीं देते, सोये पड़े रहते हैं, तबतक बाहरसे देखनेवालोंको ऐसे मालूम होते हैं कि यह भिन्न हैं, इससे दूर हैं, महान् हैं। इनकी पाषाणसे, रेखासे तारसे, भावनासे क्या तुलना, क्या सम्बन्ध। ये बिलकुल तुच्छ हैं, हीन हैं, क्षुद्र हैं। ऐसे-ऐसे उसपर हजार न्योछावर हो सकते हैं। वह दुर्लभ है, कष्टसाध्य है, अप्राप्य है।

परन्तु वे इससे इतने भिन्न नहीं, इतने दूर नहीं कि वे इसमें आ ही न सकें, समा ही सकें। उनकी विभिन्नता जरूर है; परन्तु वह वास्तविक विभिन्नता नहीं, केवल अव्यवस्थाकी विभिन्नता है। उनकी दूरी क्षेत्रकी दूरी नहीं, केवल अवस्थाकी दूरी है। यदि विधिवत् पुरुषार्थ किया जाय तो यह अव्यवस्था दूर होकर वे भाव इसीमें सिद्ध हो सकते हैं।

जब पाषाण उत्कीर्ण हो जाता है, वह पाषाण नहीं रहता। वह मूर्ति बन जाता है। वह कितना माननीय और आदरणीय है। जब रेखाएँ सुव्यवस्थित हो जाती हैं, वे रेखाएँ नहीं रहतीं, वे चित्र बन जाती हैं। वे कितनी रोचक और मनोरञ्जक हैं। जब तार झंकारने लगता है, वह तार नहीं रहता, वह राग बन जाता है। वह कितना मधुर और सुन्दर है। और जब भावना मुखरित हो उठती है, वह भावना नहीं रहती, वह काव्य बन जाता है। साक्षात् भाव बन जाता है। वह कितना महान् और स्फूर्तिमान् है!

इस पाषाण और मूर्तिमें, इस रेखा और चित्रमें, इस तार और रागमें इस भावना और काव्यमें कितना अन्तर है? बहुत बड़ा अन्तर है। दोनोंके बीच अलक्ष्यता, मूर्च्छा और अव्यवस्थाका मरुस्थल है। जो अपनी अटललक्ष्यता, ज्ञान और पुरुषार्थसे इस दूरीको लाँघकर इस सिरेको उस सिरेसे मिला सकता है, वह निस्सन्देह एक कुशल कलाकार है। वह भूरि प्रशंसा और आदरका पात्र है। भगोड़ी लक्ष्मी उसके चरणोंको चूमती है और घातक काल स्वयं उसकी कीर्तिका रक्षक बनता है।

जीवन भी एक कला है। जबतक इष्ट जीवनका भाव इसमें अभिव्यक्त नहीं होता, यह बाहरसे देखनेवालोंको अत्यन्त भिन्न, अत्यन्त दूर अत्यन्त अप्राप्य मालूम होता रहता है।

परन्तु वास्तवमें इष्ट जीवन आत्मासे भिन्न नहीं है। यह तो उसका स्वभाव है। धर्म है। स्वरूप है। इनकी विभिन्नता वास्तविक विभिन्नता नहीं है, केवल अवस्थाकी विभिन्नता है। यह मूर्च्छित है, वह जाग्रत् है। यह भावनामयी है, वह भावमय है। इनकी दूरी क्षेत्रकी दूरी नहीं है, केवल अव्यवस्थाकी दूरी है।

जब आत्मामें इस अलौकिक जीवनकी भावना मूर्त्तिमान् हो जाती है, चित्रित हो जाती है, साक्षात् भाव बन जाती है, तब आत्मा आत्मा नहीं रहता, यह परमात्मा हो जाता है। यह ब्रह्म नहीं रहता, यह परब्रह्म बन जाता है। यह पुरुष नहीं रहता, यह पुरुषोत्तम बन जाता है।

इस आत्मा और परमात्मामें कितना अन्तर है? बहुत बड़ा अन्तर है। दोनोंके बीच भूल, भ्रान्ति-मिथ्यात्व, अविद्या, मोह-तृष्णाका सागर लहरा रहा है। जो अपने ध्रुव लक्ष्य, सद्ज्ञान और पुरुषार्थ-बलसे इस दूरीको लाँघकर इस सिरेको उस सिरेसे मिला देता है, मर्त्यको अमृतसे मिला देता है, वह निःसन्देह सर्वोत्कृट कलाकार है। वह संसार-सेतु है। वह तीर्थङ्कर है। वह लोकतिलक है। वह जगद्वन्द्य है। काल उसका द्वारपाल है। इन्द्र, चन्द्र उसके चारण हैं। लक्ष्मी, सरस्वती और शक्ति उसकी उपासक हैं।

यह भूल, अज्ञान और मोह ही जीवनके अभ्युदयमें सबसे बड़ी रुकावटें हैं। इनके आवेशमें कुछ-का-कुछ दिखायी देता है। कहीं-का-कहीं चला जाना होता है। जो अनात्म है, असत्य है, पर है, बाह्य है, वह आत्म, सत् और स्व दिखायी देता है और जो वास्तवमें आत्म, सत्य और स्व है, वह असत्य, मिथ्या और तुच्छ दिखायी देता है। जो दुःख और मृत्युका मार्ग है वह सुख और अमृतका मार्ग, और जो वास्तवमें सुख और अमृतका मार्ग है वह दुःख और मृत्युका मार्ग दिखायी देता है। यही विपरीत दर्शन है।

यह भूल, अज्ञान और मोह ही संसार-दुःख और मृत्युके कारण हैं। यही जीवनके महान् शत्रु हैं। इनकी विजय-ही-विजय है। जिसने इन्हें जीत लिया, उसने

दु:ख-शोकको जीत लिया, जन्म-मरणको जीत लिया, लोक-परलोकको जीत लिया, इनका विजेता ही वास्तवमें जिन है, जिनेश्वर है, अर्हत् है।

आत्मसिद्धिका मार्ग

भूलका अन्त, मिथ्या धारणाका अन्त उसके पीछे-पीछे चलनेसे नहीं होता, न उसके भुलानेसे होता है और न उससे मुँह छिपानेसे होता है। वह मरीचिका है, आगे-ही-आगे चलती रहती है। वह छाया है, पीछे-ही-पीछे चलती रहती है। वह सब ओरसे घेरे हुए है, जहाँ जाओ वह साथ-साथ लगी हुई है। उसका अन्त दायें-बायें चलनेसे भी नहीं होता। उसका अन्त तो जहाँ हो वहींसे, उसी स्थानमें होकर उसका सामना करनेसे होता है।

अज्ञानका अन्त उसकी मानी हुई बातोंको माननेसे नहीं होता, न संशयमें पड़े रहनेसे होता है, न अनिश्चित मति बने रहनेसे होता है। उसका अन्त तो उसके मन्तव्योंको, उसके ज्ञातव्योंको स्पष्ट और साक्षात् करनेसे होता है—उनमें सत्य-असत्य, हित-अहित, निज-परका विवेक करनेसे होता है।

मोहका अन्त परम्परागत भावोंमें पड़े रहनेसे नहीं होता—न उनकी सिद्धि-वृद्धि करनेसे होता है। न उनकी तृष्णा और वासनाको हृदयमें बसानेसे होता है। मोहका अन्त मुग्धकार भावोंकी मूढ़ता देखने, उनकी निन्दा, आलोचना और प्रायश्चित्त करनेसे होता है। तृष्णा-ग्रन्थियोंको शिथिल करनेसे होता है। वासनाके त्यागसे होता है। यह त्याग धर्म-कर्मका विधान करनेसे नहीं होता। दण्ड दण्डका विधान करनेसे होता है। मन, वचन, कायको गुप्त करनेसे होता है। उनकी गतिका निरोध और संवरण करनेसे होता है। और उन्हें अहिंसामय बनानेसे होता है।

इस तरह भव-कारणोंका अन्त प्रवृत्तिमार्गसे नहीं होता, निवृत्तिमार्गसे होता है। संवरमार्गसे होता है। अहिंसामार्गसे होता है।

परन्तु आत्मसिद्धिका मार्ग केवल निषेध, संवर और संन्यासरूप नहीं है। यह विधिरूप भी है। निषेध, संवर और संन्यास आत्मसाधनाकी पहली सीढ़ी है, साधककी पाद-पीठिका है। इसमें अभ्यस्त होनेसे आत्मा सिद्धिमार्गपर आरूढ़ रहनेमें समर्थ हो जाता है। वह स्थिर, उज्ज्वल और शान्त हो जाता है। अबाध और निर्विघ्न हो जाता है। परन्तु इतना मात्र होकर रह जानेसे काम नहीं चलता। मिथ्यात्व, अज्ञान और मोहका समूल नाश नहीं हो जाता। वे अनादि कालसे अभ्यासमें आनेके कारण अन्तश्चेतनाकी गहराईमें पैठ गये हैं। वे किसी भी समय अङ्कुरित हो उठते हैं। वे निष्कारण ही आत्माको उद्विग्न, भ्रान्त और अशान्त बना देते हैं। जबतक उनके गुप्त संस्कारोंका समूल उच्छेद नहीं हो जाता, संसार-चक्रका अन्त नहीं होता।

इन संस्कारोंको निर्मूल करनेके लिये निषेधके साथ विधिको जोड़ना होगा। प्रमाद छोड़कर सदा सावधान और जागरूक रहना होगा। समस्त परम्परागत भावों, संज्ञाओं और वृत्तियोंसे अपनेको पृथक् करना होगा। इन्द्रिय और मनको बाहरसे हटा अंदर ले जाना होगा। अपनेमें ही आपको लाना होगा। ध्यानस्थ होना होगा।

अंदर बैठकर निर्वात होकर ज्ञानदीपक जगाना होगा। ज्ञान-प्रकाशको उसीके देखनेमें लगाना होगा, जिसके लिये यह सब देखना-जानना है, ढूँढ़ना-भालना है। उसीकी भावनाओंको सुनना और समझना होगा, जो वेदनामयी निरक्षरी भाषामें निरन्तर गाती रहती है कि 'मैं अजर-अमर हूँ। तैजस और ज्योतिष्मान् हूँ। सुन्दर और मधुर हूँ। सत्य, परिपूर्ण और महान् हूँ।'

इस अन्तर्ध्वनिके सामने समस्त लक्ष्योंको त्यागकर इसी भावनामय जीवनको आत्मउद्देश्य बनाना होगा। इसे ध्रुव-समान दृष्टिमें समाना होगा। आत्माको निश्चयपूर्वक विश्वास कराना होगा—'सोऽहम्', 'सोऽहम्' 'मैं वही हूँ' मैं वही हूँ।

समस्त विज्ञानोंको छोड़ ज्ञान-उपयोगको इसी अमृतमय जीवनमें लगाना होगा। इसी जीवनको विशद और साक्षात् करना होगा। अंदर-ही-अंदर देखना और जानना होगा—'सोऽहम्', सोऽहम्'। समस्त रूढिक भावों और वृत्तियोंसे हटाकर ममत्वको इसी लक्ष्यमें आसक्त करना होगा। इसीके पीछे चलना होगा। इसीके समता-रसमें भीगना होगा, सराबोर हो जाना होगा। निरन्तर अनुभव करना होगा 'सोऽहम्, सोऽहम्'।

संक्षेपत: यह मार्ग आत्मश्रद्धा, आत्मबोध, आत्म-चर्य्याका मार्ग है।[१] सत्य दर्शन, सत्य ज्ञान, सत्य वृत्तिका मार्ग है।[२] सत्य-पारमिता, प्रज्ञा-पारमिता, शील-पारमिताका मार्ग है। सत्यदर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्रका मार्ग है।[३]

१ प्रश्न० १। १०; ५। ३; मुण्डक० ३। १। ५; १। २। ११; कैवल्य० १। २; लाठीसंहिता अध्याय ३।

२. रत्नकाण्ड, श्रावकाचार ॥ ३ ॥

३. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र १। १।

यह है वह विधि-निषेधात्मक सिद्धिमार्ग, जो गहरे-से-गहरे बैठे हुए संस्कारोंको जीर्ण कर देता है, विध्वंस कर देता है। इनसे ढकी हुई आत्मशक्तियोंको मुक्त कर देता है। उन्हें जाग्रत् और सचेत बना देता है। भावनामयी आत्माको भावनाके गह्वरसे निकाल साक्षात् भावात्मा बना देता है।

यह मार्ग बहुत कठिन है। अनेक परिषहोंसे सङ्कीर्ण है। इस पथके अनुयायीको अनेकों प्राकृतिक मानुषिक विपदाओं और क्रूरताओंको सहन करना पड़ता है। अनेकों शारीरिक और मानसिक बाधाओंको झेलना होता है। इसके लिये अदमनीय उत्साह, दृढ़ सत्याग्रह और अटल साहसकी जरूरत है। इतना ही नहीं, यह मार्ग लंबा भी बहुत है। इसके लिये दीर्घ पुरुषार्थकी, श्रेणीबद्ध अभ्यासकी, निरन्तर चलते रहनेकी जरूरत है। सोते-जागते, चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते—हर समय आत्मलक्षी, आत्मज्ञानी, आत्मवृत्ति होनेकी आवश्यकता है। सङ्कल्प है तो 'सोऽहम्', विचार है तो 'सोऽहम्' आलाप है तो 'सोऽहम्' आचार है तो 'सोऽहम्' यहाँतक कि यह मार्ग जीवनमें उतर जाय, साक्षात् जीवन बन जाय, यहाँतक कि 'वह' और 'मैं' का अन्तर भी विलय हो जाय। आत्मा निरहङ्कार बन जाय, केवल वही वह रह जाय।

यह सिद्धिमार्ग किसी बाह्य विधि-विधान, क्रियाकाण्ड, परिग्रह-आडम्बरमें नहीं रहता। यह किसी भाषा, वाक्य या ग्रन्थमें नहीं रहता। यह किसी सामाजिक प्रथा, संस्था या व्यवस्थामें नहीं रहता। यह किसी पूजा-वन्दना, स्तुति प्रार्थनामें नहीं रहता। यह साध्यके अनुरूप ही अलौकिक और गूढ़ है। यह साध्यके साथ ही अन्तरात्मामें रहता है। उसके उद्‌देश्यबल, हानिबल और पुरुषार्थबलमें रहता है। यह त्रिशक्ति ही संसारकी साधक है। यह त्रिशक्ति ही मोक्षकी साधक है। भेद केवल इनके उपयोगका है, इनकी गतिका है। यदि इन शक्तियोंको बाहरसे हटा अन्तर्मुखी बना दिया जाय, इन्हे परसिद्धिकी बजाय आत्मसिद्धिमें लगा दिया जाय, इन्हें बाह्य उद्देश्य, बाह्य ज्ञान, बाह्य पुरुषार्थसे बदलकर आत्म-उद्‌देश्य, आत्मज्ञान, आत्मपुरुषार्थमें तबदील कर दिया जाय, तो यह त्रिशक्ति जीवनको बजाय इस पारके उस पार ले जानेवाली हो जाती है। बजाय संसारके मोक्षकी साधक बन जाती है। बजाय मृत्युके अमृतकी साधक हो जाती है!

यह त्रिशक्ति आत्मामें ही रहती है, आत्मरूप ही है। अतः वस्तुतः आत्मा ही साधक है, साधन है और साध्य है। आत्मा ही पथिक है, पंथ है और इष्टपद है।

यह त्रिशक्ति एकतामें रहकर ही सिद्धिकी साधक है, अन्यथा नहीं। जैसे इनकी बाह्यमुखी एकता संसारकी साधक है, वैसे ही इनकी अन्तर्मुखी एकता मोक्षकी साधक है। जैसे संसारमें किसी भी पदार्थकी सिद्धि केवल उसकी कामना करनेसे नहीं होती, केवल उसका बोध करनेसे नहीं होती, बल्कि कामना और बोधके साथ पुरुषार्थ जोड़नेसे होती है, ऐसे ही परमात्मपदकी सिद्धि केवल उसमें श्रद्धा रखनेसे, केवल उसे जान लेनेसे नहीं होती, बल्कि आत्मश्रद्धा, आत्म-ज्ञानके साथ आत्मपुरुषार्थके जोड़ लेनेसे होती है।

वास्तवमें जो परमात्मपदको अपना उद्‌देश्य बनाता हुआ आत्मज्ञानसे उसे देखता और जानता हुआ आत्मपुरुषार्थसे उसकी ओर विचरता है, वही सत्य है, मार्ग है, जीवन है। वही धर्म है, धर्ममूर्ति है, धर्मतीर्थ है, धर्म-अवतार है।

इस तरह विचरते हुए जिसके समस्त संशयोंका उच्छेद हो गया है, जिसकी समस्त ग्रन्थियाँ शिथिल हो गयी हैं, समस्त तृष्णाएँ शान्त हो गयी हैं, समस्त उद्योग बंद हो गये हैं। जो आत्मलक्षी है, आत्मज्ञानी है, निरहङ्कार है। जिसने अपनी आशा अपनेहीमें लगा ली है, अपनी दुनिया अपनेमें ही बसा ली है, अपनी ममता अपनेमें ही जमा ली है। वही कृतकृत्य है, अचल है, ईश है। उसके लिये काँच और कांचन क्या? शत्रु और मित्र क्या? स्तुति और निन्दा क्या? योग और वियोग क्या? जन्म और मरण क्या? दुःख और शोक क्या? वह सूर्यके समान तेजस्वी है, वायुके समान स्वतन्त्र है, आकाशके समान निर्लेप है। मृत्यु उसके लिये मृत्यु नहीं, वह मृत्युका मृत्यु है, वह मोक्षका द्वार है, वह महोत्सव है।

यह सिद्धिमार्ग वेषधारीका मार्ग नहीं, तथागतका मार्ग है। मूढ़का मार्ग नहीं, सन्मतिका मार्ग है। यह निर्बलका मार्ग नहीं, वीरका मार्ग है।

जरथुस्त्रधर्मकी साधना

(निःस्वार्थ-सेवा)

(लेखक—श्रीफीरोज कावसजी दावर एम०ए०, एल-एल०बी०)

जरथुस्त्रीय उपासनाका साधन बहुत व्यापक और जाटिल भी है। कोई श्वेत पगड़ीवाला पारसी पुरोहित ही जो इस उपासनाके रहस्योंमें विधिपूर्वक दीक्षित हुआ हो, वही अधिकारके साथ इस विषयमें कुछ कह सकता है। मैं तो एक सामान्य मनुष्य हूँ; इसलिये इस उपासनाके गंभीर रहस्योंके विषयमें कुछ कहनेका साहस न करके, केवल निःस्वार्थ सेवा-साधनके विषयमें ही कुछ कहूँगा। क्योंकि निःस्वार्थ सेवा जरथुस्त्र-सम्प्रदायका हृद्गत ही है। हमारे धर्मका सर्वोत्तम प्रतीक वह कमल है, जिसमेंसे एक देवता उदय हो रहे हैं। यह कमल श्वेत है, जो जरथुस्त्रीय सम्प्रदायकी पवित्रताका चिह्न है। यही हमारे पुरोहितों और हमारे धार्मिक अथवा अंशतः धार्मिक कृत्योंमें भाग लेनेवाले लोगोंका वर्ण है। यह कमल पङ्कसे उत्पन्न हुआ पङ्कज है, पर उसमें अभी कोई कलङ्क नहीं लगा है। जरथुस्त्र-धर्मको माननेवाला सच्चा अनुयायी सांसारिक जीवन व्यतीत करता है; पर इसके लोभ-मोह उसे अपना शिकार नहीं बना सकते, न उसपर अपना कीचड़ ही उछाल सकते हैं, न उसे राग-द्वेषके द्वन्द्व-सङ्घर्षसे विचलित ही कर सकते हैं। कमलकी निष्कलङ्कतासे ही दिव्य देवभावका उदय होता-सा प्रतीत होता है, जैसा कि हिंदू-कलाकी कुछ कृतियोंमें देख पड़ता है; ऐसे ही निर्मल हृदयमें, जो हो संसारमें पर संसारका न हो, अहुरमज्द निवास करते हैं। जरथुस्त्र-धर्मको माननेवाला पवित्रात्मा पुरुष इस प्रकार एक कमल है, मकड़ा नहीं जो अपनी कामनाओंके जालमें स्वयं केन्द्र बना दैवात् पास आनेवाली मक्खियोंकी घातमें लगा रहता है।

हमारे धर्मका चिह्न संन्यासका गेरुआ वस्त्र नहीं, बल्कि सेवाकी 'कुश्टी' (विशुद्ध मेखला) है। संन्यासधर्मका हमलोग आदर करते हैं, पर अपने धर्मकी भावनाके अनुसार निष्काम कर्म और अहैतुक परोपकारके जीवनको अधिक पसंद करते हैं। हमलोग अपनी सब कर्मशक्तियोंको ईश्वरमें ही नहीं गड़ा देते, न दुनियाकी ओर अपनी पीठ फेर देते हैं; बल्कि हमलोग उस ईश्वरका अनुसन्धान करते हैं जो उन पतित-पीडित असंख्य मनुष्योंके हृदयोंमें निवास करता है जिन्हें सहायताकी आवश्यकता है। हम जानते हैं कि संसार भ्रमका एक चक्कर है; पर हम इस भ्रमके मूलमें जो सत्य है, उसके अभिमुख होते हैं। जो मनुष्य संसारको केवल कल्पित या प्रातिभासिक क्षणिक दृश्यमात्र समझता है, उसे ऐसे संसारकी सेवा करनेमें कभी उत्साह नहीं हो सकता। उत्साह तभी होगा, जब उसे यह विश्वास होगा कि जीवन मिथ्या नहीं, इसका कुछ अर्थ है, कुछ अभिप्राय है। अतः श्रीमत् शङ्कराचार्यके 'केवलाद्वैत'की अपेक्षा श्रीमद्रामानुजाचार्यका 'विशिष्टाद्वैत' जरथुस्त्रके अनुयायियोंको अधिक आकर्षक और प्रेरक प्रतीत होता है। 'स्वामी रामतीर्थके ग्रन्थ' की भूमिकामें रेवरेंड सी० एफ्० ऐंड्रज० इस 'केवलाद्वैत' सिद्धान्तके विषयमें कहते हैं कि यह तो जीवनकी महान् समस्याका एक अवैध और बहुत सस्ता-सा समाधान (illegitimate short cut) है। जगद्रहित ईश्वरकी भावना किसी कदर भावमय स्थितिकी ही भावना है। भगवान् हैं भावमय, पर जब हमारे हृदय भक्तिमें लीन होते और हमारी प्राणेन्द्रियक्रियाएँ विश्वमानवकी सेवामें लग जाती हैं, तब वे शक्ति और प्राणेन्द्रियक्रियाके रूपमें प्रकट होते हैं। जरथुस्त्र-सम्प्रदायने मानव-जातिकी सेवाका व्रत लेकर अपनी रक्षा कर ली है। वह एक साथ दो काम करता है, मनुष्य और ईश्वर दोनोंके ही प्रति एक साथ ही अपने कर्तव्यका पालन करता है। जरथुस्त्रको माननेवाला पुरुष मनुष्यकी जो सेवा करता है, वही भगवान्की पूजा हो जाती है।

किसी महान् पारमार्थिक जीवनके लिये अपने स्वजनोंका त्याग करना, जीवनके सुख-साधनों और भरे-पूरे घरके आनन्दको लात मार देना बड़े भारी आत्मनिग्रहका काम है। पर इससे भी अधिक आत्मसंयमकी आवश्यकता होती है, सबके बीचमें बैठकर ईश्वरकी ओर अपना मन एकाग्र करनेमें—जहाँ सब तरफ सब प्रकारके ऐसे-ऐसे प्रलोभन हैं जो बड़े-बड़े साधु-महात्माओंको भी डिगा देनेका भय दिखाते हैं। यह है सबसे कठिन काम, पर असम्भव नहीं—जैसा कि राजा जनककी कथासे मालूम होता है। एक बार राजा जनकने कुछ आदमियोंके सिरपर जलसे लबालब भरा हुआ एक-एक घड़ा रखवाया और उन्हें शहरके बाजारमें घूम-फिर आनेकी आज्ञा दी। बाजारमें

बड़ा मेला था और ढोल और नगारे बड़े जोर-जोरसे बजाये जा रहे थे और इन्हें यह आज्ञा हुई कि घड़ेका पानी छलके नहीं, उसमेंसे एक बूँद भी नीचे न गिरे, जिससे गिरेगा उसका सिर काट लिया जायगा। ये लोग घड़े सिरपर रखे, बाजारमें घूमे; पर सिर कटनेके भयसे इनके मनकी इतनी एकाग्रता हो गयी थी कि इन्हें रास्तेमें न कहीं कोई बाजे सुनायी दिये, न इनका किसी ओर ध्यान गया, न किसीके घड़ेसे एक बूँद पानी नीचे गिरा। इसी प्रकार हमलोगोंमें जो साधु प्रकृतिके लोग हैं, वे इस जीवनयात्रामें मार्ग चलते हुए दीन-दुःखियोंकी सहायता करते चलते हैं पर दिन-दिन बढ़नेवाले प्रलोभनोंसे नहीं विचलित होते।

सेवाका यह उपदेश सीधा-सादा-सा होनेपर भी इसके लिये यह तो आवश्यक होता ही है कि सेवा करनेवाला पुरुष, प्रथमतः विशुद्ध और विनम्र हो। जिस पुरुषको अपनी शक्तियोंका अभिमान है और जो अपनी प्रतिष्ठाको सदा बनाये रहनेकी चिन्तामें व्यग्र रहता है, वह अपनेसे बड़ेके सिवा और किसीकी सेवा करनेका अधिकारी नहीं है। बड़ेकी सेवा भी वह आर्थिक लाभके लिये ही कर सकता है। गर्वका सिर ऊँचा ही होता है, पर प्रायः इसे नीचा ही देखना पड़ता है; नम्रता नमा करती है और दीनजन-सेवाके कार्योंमें दीनवत्सल भगवान्‌को देखा करती है। सेवाधिकारकी दूसरी आवश्यकता है प्रेमगद्‌गद हृदय। प्रेमसे ही तो माता अपने शिशुकी सेवा करती है और प्रेमसे ही पुत्र-पुत्री अपने वृद्ध माता-पिताकी सेवा करते हैं, चाहे माता-पिताके पास उन्हें देनेके लिये अब कुछ भी न रहा हो। प्रेमसे ही सेवा हो सकती है। प्रेमकी उत्पत्ति होती है अहङ्कारकी लीनतामें और उसका लय होता है सेवा और आत्मदानमें। परन्तु किसीका प्रेम अपने परिवारमें ही बँधा रह सकता है—ऐसे प्रेमको स्वार्थपरतासे कुछ अधिक नहीं माना जा सकता। यहींसे धर्मकी प्रवृत्ति आगेको बढ़ती है और यह अनुभव होता है कि भक्ति जितनी ही गाढ़ी होती है, प्रेमका क्षेत्र भी उतना ही विस्तृत होता है। तब देश और धर्मके भेद भी भूल जाते हैं और साधु, संत, सिद्ध, महात्मा मनुष्यमात्रमें उसी प्रभुके दर्शन करते हैं और विश्वबन्धुसे छोटी किसी चीजसे सन्तुष्ट नहीं होते।

संसारके कल्याण-साधनमें परस्परकी सेवा अनिवार्य है, क्योंकि कोई अंश अपने अंशीसे अलग नहीं रह सकता। यदि एक अंश दूसरे अंशसे और सब अंश अपने पूर्ण अंशीसे पृथक् हो जायँ तो सम्पूर्ण कुछ रह ही नहीं जाता और अंश भी परस्पर सहयोगके अभावसे नष्ट हो जाते हैं। यदि एकत्व ही जीवनका साध्य है तो सेवा और सहायता ही इसके साधन हैं और विशुद्ध निःस्वार्थ परोपकारका एक छोटा-सा भी काम भगवान्‌की नित्य अर्चाका ही एक कृत्य है। इस सेवाभावका जगत्‌में प्रचार हो, सब लोग सुखी हों, यही जरथुस्त्र-धर्मकी साधना है। सीधी-सी बात है, पर किसी कविने कहा है कि 'इतने रास्ते चक्कर-पर-चक्कर काटते हुए! इतनी जातियाँ और इतने सम्प्रदाय! भला, इन सबका क्या काम था?— जब कि जगत् जो कुछ चाहता है, वह इतना ही कि सदय हो दया करो और कुछ नहीं!'

मृत्यु बाघिनकी तरह पकड़कर ले जाती है

सुप्तं व्याघ्रं महौघो वा मृत्युरादाय गच्छति। संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम्॥
वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति। इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत्कृताकृतम्॥
एवमीहासमायुक्तं मृत्युरादाय गच्छति। कृतानां फलमप्राप्तं कार्याणां कर्मङ्गिनाम्॥

जलका वेग जैसे सोते हुए बाघको बहाकर ले जाता है, वैसे ही काल नाना प्रकारके मनोरथ बाँधते हुए और कामनाओंसे अतृप्त हुए पुरुषको घसीटकर ले जाता है। भेंड़के बच्चेको जैसे बाघिन उठाकर ले जाती है, ऐसे ही मृत्यु पकड़कर ले जाती है। पुरुष यह विचारता होता है कि मैंने यह कार्य कर लिया, यह कार्य करनेको बाकी है, इस कामको आधा कर लिया है, अभी यह आधा और बाकी है, परन्तु इतनेमें ही मृत्यु उसके किसी कामका विचार न कर उसकी इच्छाओंके पूर्ण हुए बिना ही पकड़ ले जाती है।

(महा० शान्ति० २७७ अ० १८ से २० श्लोक)

जरथुस्त्र-धर्मकी अग्नि-उपासना

(लेखक—श्रीनरीमान सोराबजी गोलवाला)

गूश्ता ये मन्ता अषेम्
अहूम्विश् विद्वाओ अहूरा।
एरेजुखधाई वचंघहाम्
क्षयम्नो हिज़्वो वसो
थ्वा आथ्रा सख्रा मज़्दा
वंघहाऊ वीदाता रांन्याओ।*

(गाथा ३१।१९)

पारसी जरथुस्त्र-धर्मकी समस्त क्रियाओंमें अग्निका बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। सांसारिक व्यवहारोंमें भी सर्वत्र अग्निकी ही प्रधानता है। देशका व्यापार अग्निसे ही चल रहा है। रेलगाड़ी और मिलें—ये सब अग्निसे ही चलती हैं। यह अग्नि प्रकृतिकी बहुमूल्य भेंट है। वृक्ष और लता आदिके उगने और बढ़नेमें अग्नि बहुत शक्ति प्रदान करता है। धातुओंको पिघलानेवाला अग्नि ही है। ज्वालामुखी और भूकम्प—ये भी अग्निकी ही क्रियाएँ हैं। हमारी मानवजातिमें भी यही अग्नि काम कर रहा है। सभी प्राणियोंकी उत्पत्तिमें अग्निका हाथ रहता है। अग्नि बुझ जाय, तो हमारा जीवन समाप्त हो जाय! सारी सृष्टि अग्निसे चल रही है। इसके प्रताप और लाभके कारण ही पारसी जातिने अग्निको सबसे श्रेष्ठ पद प्रदान किया है। बड़े सम्मान और भक्तिभावके साथ पारसीलोग उसे प्रज्वलित रखते हैं। वे विशेष प्रकारके भवन निर्माणकर अग्निको उनमें स्थापित करते हैं। इस प्रकारके भवन अग्नि-मन्दिर कहलाते हैं। अग्निके द्वारा ही संसारमें तन्मय होनेके लिये याचना करते हैं।

अग्निकी महत्ता दिखलाते हुए यज़्श्नेके ४३ वें अध्यायके चौथे वाक्यमें शुद्ध चित्तकी शक्तिके लिये याचना की गयी है। जैसे—

अत थ्वा मंगृहाई तखमेम्चा स्पेन्तेम मज़्दा
ह्यत् ता जस्ता या तू हफ्षी अवाओ
याओ दाओ अषीश द्रेगवाईते अषाऊनए चा
थ्वाह्या गंरमा आथ्रो अषा-अओजंघहो
ह्यत् मोई वंघहेऊश हज़े जिमत मनंघहो

विद्वद्वर श्रीयतीन्द्रमोहन चटर्जी एम० ए० ने अवस्ताके इस पद्यका इस प्रकार अनुवाद किया है—'I thought you to be the seed of holiness O mazda, since Thine are those arms with which you give protection and by which you give blessing both to the good and to the bad. And that which will lend strength to my conscience, is your glowing fire glorious in virtue.'

'हे मज़्द, मैंने तुझे पवित्रताके आदिकारणके रूपमें पहचाना, क्योंकि यह तुम्हारी ही शक्ति है जो आश्रय प्रदान करती है, और इसीके द्वारा भले-बुरेका कल्याण होता है। और तुम्हारी यह पुण्यके प्रतापसे प्रज्वलित अग्नि ही हमारी अन्तरात्माको शक्ति प्रदान करेगी।'

बन्दीदाद नामक पारसियोंकी दूसरी पुस्तकमें लिखा है कि 'हे प्रभु! क्या अग्नि मनुष्यको मारता है?' तब होरमज़्दे (प्रभु)-ने कहा कि अग्नि मनुष्यको मारता नहीं। '**अस्तो विधोतु देव**' (यम देवता) उसको बाँधते हैं और (मरुत्) उसे बाँधकर ले जाते हैं। अग्नि उस मनुष्यकी हड्डियों तथा दिलकी गरमीको जलाता है। वहाँसे वह आगे जाता है और तकदीरसे वह नीचे जाता है। (बन्दीदाद ५)

यज़्श्नेमें विभिन्न प्रकारके अग्निका वर्णन आता है। १७ वें प्रकरणमें सब अग्नियोंकी आराधना इस प्रकार की गयी है—

बेरेज़ी सबंघह नामक अग्निका हम स्तवन करते हैं।
उर्वाज़ीश्त ,, ,, ,, ,, ,,
वाज़िश्त अग्निका हम स्तवन करते हैं।
स्पेनिश्त ,, ,, ,, ,, ,, ,,
नेरियोसंघ ,, ,, ,, ,, ,, ,,

तथा अहुरमज्दका उत्पन्न किया हुआ और अहुरमज्दके द्वारा समस्त वस्तुओंको पवित्र करनेवाला जो अग्नि सब गृहोंका गृहस्वामी है और अशोईका सरदार है, उनका अन्य अग्नियोंके साथ हम स्तवन करते हैं। (यज़्श्ने १७)

---

* हे मज़्द, अपने उद्दीप्त प्रकाशके द्वारा उस वीरको सत्यमें अवस्थित करो, जो बुद्धिमान् है और आत्मज्ञानके साथ सदाचारका श्रवण और मनन करता हुआ वाक्संयमी हो गया है तथा वाणीके द्वारा सत्यके प्रकाशनमें समर्थ है।

हे अग्नि, तुम अहुरमज्दकी निशानी हो। तुम दादार (प्रभु)-की सृष्टिकी वृद्धि करनेवाले हो। हे अहुरमज्दके अग्नि, तुम्हारे अनेकों नामोंमेंसे एक नाम 'वाजिश्त' है। हे प्रभु, हम इस नामके द्वारा तुम्हें प्राप्त करें। (यज़श्ने ३६)

अग्निकी ऐसी महिमा है, ऐसा उच्च स्थान इसको प्रदान किया गया है। तो फिर इसकी उत्पत्ति कैसे हुई, यह पहले अस्तित्वमें कैसे आया—इसका अन्वेषण करके इसके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसकी आलोचना की जायगी।

अग्निकी उत्पत्ति (प्राचीन कालमें)

प्राचीन कालमें आजसे दस हजार वर्षसे भी अधिक पहले ईरानमें महान् पारसी आर्यन् राजा राज्य करते थे । इन आर्यन् राजाओंका पहला वंश 'पेशदादीअन' नामका था। इस वंशका सबसे पहला बादशाह 'गयोमर्द' था। उसका पुत्र श्यामक लड़ाईमें मारा गया। उसके वियोगमें गयोमर्दकी मृत्यु हो गयी। इसके बाद हुशंग-नामक बादशाह गद्दीपर बैठा। गयोमर्दके समयमें अग्नि-जैसी वस्तुका पता न था।

बादशाह हुशंगको शिकारका बड़ा शौक था। शाहनामेका रचयिता कवि फिरदौसी कहता है कि एक दिन बादशाह हुशंग अपने आदमियोंके साथ पहाड़ीकी ओर शिकारके लिये जा रहा था। इतनेमें उसे दूरसे लंबी, काले रंगकी और जल्दी-जल्दी दौड़ती हुई कोई वस्तु दिखायी दी। उस वस्तुके सिरपर दो आँखें रक्तके चश्मेके समान थीं। उसके मुँहसे निकलती हुई भापके कारण दुनियामें अँधेरा छाया था। यह एक बड़ा भारी अजदहा (सर्प) था। बादशाहने एक बड़ा पत्थर उठाकर उसे अपनी सारी शक्ति लगाकर सर्पकी ओर फेंका। वह पत्थर अजदहाके सिरपर लगा और वह चूर-चूर हो गया। वह पत्थर उसके सिरपर लगनेके बाद पासके दूसरे पत्थरसे टकरा गया और टकराते ही उसमें चकमक (अग्नि) पैदा होनेके कारण पासकी घास जल उठी। हुशंग और उसके साथी इन नयी जातिके तेजको आगे आता देखकर उसे लेने गये और उससे जल गये। यह तेज क्या है, इसका भान होते ही बादशाहने उसे और भी अधिक प्रज्वलित किया और उसका नाम 'आतिश' या अग्नि रखा।

इस प्रकार अकस्मात् अग्निका आविष्कार हुआ। बादशाहने इसके लिये विशेष भवन बनाया और उसमें उसकी स्थापना की। उसके पीछेके बादशाहोंने भी उसकी उसी प्रकार रक्षा की—अग्निको प्रज्वलित रखा। हुशंगके पीछे गद्दीपर बैठनेवाले बादशाह तेरमुरस्पेने अग्निकी महत्ता बढ़ायी, और अपने देशमें तीन आतिशकदेह (अग्नि-मन्दिर) बनवाये और उनका नाम 'स्पेनिश्त' बाज़िश्त और 'बेरेजंघह' अग्नि रखा।

इसके बाद बादशाह जमशेदने 'अनुनफशेहवर्ग' के नामसे अग्निकी स्थापना की। बादशाह लोहरास्पने 'नओ बहार' के नामसे आतिशकदेह (अग्नि-मन्दिर) स्थापित किया।

पारसियोंके महान् पैगम्बर महात्मा जरथुस्त्रने (आजसे ६००० वर्षसे भी पूर्व) अपनी हथेलीसे आग निकालकर मस्त हुए मोबेदों (ब्राह्मणों)-को होशमें लाकर जशन (यज्ञ) किया और 'आझरे बूरजीन मेहर' के नामसे अग्निकी स्थापना की।

पैगम्बरके बाद पाँच शताब्दियाँ बीत गयीं। ईरानके सबसे अन्तिम सासान वंशके अर्दशीर बाबेकरने नये सिरेसे बादशाहत स्थापित की और नया शहर बसाया, तथा 'आतिश बेहराम' बनवाया। इस वंशके महान् बादशाह नौशीरवानने अग्निका महत्त्व बढ़ाया और 'आझर गोशीद' नामसे अग्निकी स्थापना की।

इस सासान वंशके अन्तिम बादशाह यज़दगर्दके बाद पारसी शाहनशाहत ही नष्ट हो गयी। मुसल्मान ईरानपर चढ़ आये। ईरानी और मुसल्मानोंके बीच युद्ध हुआ। ईरानी पारसी हार गये और मुसल्मान ईरानके अधिकारी हो गये। पारसियोंका धर्म और अग्नि दोनों सङ्कटमें आ पड़े। इस अग्निको बचाने और धर्मकी रक्षा करनेके लिये पारसियोंने अपने प्यारे वतन (मातृभूमि)-को छोड़ दिया और वे बहुत बड़ी संख्यामें हिन्दुस्तानमें आये। इस देशमें पारसियोंको आश्रय मिला। (इस आश्रयको प्राप्त करनेके सम्बन्धमें बहुत जानने योग्य इतिहास है। उसे किसी दूसरे समय प्रस्तुत करूँगा।)

पारसीलोग हिन्दुस्तानमें आये। वे आज तेरह सौ वर्षसे हिन्दुस्तानमें बसे हुए हैं और हिन्दुस्तानको अपनी मातृभूमि बना लिया है। इस प्यारी मातृभूमिके लिये उन्होंने अपना तन-मन-धन प्रदान कर दिया है। कला-कौशल और व्यवसायमें सर जमशेदजी टाटाका नाम आज खूब प्रसिद्ध है। राजनीतिमें देशके महान् दादा

देशभक्त दादाभाई नौरोजीका नाम प्रत्येक हिन्दुस्तानी जानता है। स्वराज्यकी घोषणा करनेवालोंमें दादाभाई पहले आदमी थे। जात-पाँतके भेदको छोड़कर सारे हिन्दुस्तानमें महान् दान करनेवाले पारसीलोग ही हैं।

पारसीलोगोंने इस देशमें अपने धर्मकी भलीभाँति रक्षा की है। गुजरातके बड़े शहरोंमें जहाँ-जहाँ पारसियोंकी अच्छी बस्ती है, वहाँ-वहाँ पारसियोंने अग्नि-मन्दिर बनवाये हैं और अग्निकी स्थापना करके सारे देशमें अग्निकी महत्ता बढ़ायी है।

अग्नि-मन्दिरोंमें जो अग्नि प्रज्वलित किया जाता है, उसके लिये कोयलेका प्रयोग नहीं होता। धर्मगुरु पृथक्-पृथक् अग्नियोंके साथ एक अग्निकी स्थापना करते हैं। एक-दूसरेके साथ अग्निको मिलाते समय गन्धकका एक टुकड़ा रूईके साथ सुलगाते हैं, और उसकी ज्योतिसे दूसरेको, उससे तीसरेको, चौथेको इसी प्रकार अग्निका निर्माण करते जाते हैं। अन्तमें सब ज्योतियोंमें अग्नि पवित्र हो जाता है, तब धर्मगुरु उस अन्तिम अग्निकी स्थापना करते हैं।

अग्नि कोई मूलतत्त्व नहीं है, परन्तु यह नूरी चीज़ है। इसका धूमिल प्रकाश सबसे सुन्दर आत्माकी दृष्टि-में आनेवाली नौकाके समान है। 'सीक्रेट डॉक्ट्रिन' नामक पुस्तकमें अग्निकी महिमाका वर्णन इस प्रकार किया गया है कि 'खनिज पदार्थ और वनस्पतिमें बड़ा अन्तर है। उदाहरणार्थ, दीपके दीवटमें कोई आकर्षण नहीं होता, परन्तु उसके प्रज्वलित करते ही उसमें आकर्षण बढ़ता है। परन्तु इस आकर्षणके लिये तेलकी आवश्यकता पड़ती है। ईथर अग्नि है। ईथरका सबसे हलका हिस्सा जो जलता है, वह इससे ही बना है।

हमें दिखलायी देनेवाली सृष्टिमें यही एक तत्त्व है जो सब प्रकारकी सजीव वस्तुओंके आकारकी क्रियाशक्तिके रूपसे व्याप्त है। इसीके कारण प्रकाश, उष्णता, मरण और जीवन आदि होते हैं।

ईथरका सबसे स्वच्छ रूप अग्नि है। इसी कारण उसका प्राकृतिक रूप नहीं बतलाया जा सकता। परन्तु वह सबसे स्वच्छ ईथरके साथ अभेदरूपसे रहता हुआ सृष्टिमें सर्वत्र मालूम पड़ता है।

अग्नि दो प्रकारका होता है—(१) निराकार या अदृश्य अग्नि, जो मध्यबिन्दुमें स्थित होकर आत्मसूर्यमें छिपा हुआ है और (२) प्रकट जागतिक अग्नि, जो सृष्टि और सूर्यमें सप्तरूपोंमें रहता है।

प्रभु अहुरमज़्द अग्निमय शरीरवाले हैं। व्यक्त जगत्के परे सर्वैकात्म्यरूपमें अग्निमय प्राणवाले ईश्वर हैं। इस संसारमें वह मध्यबिन्दुमें प्रतीत होनेवाले आत्मिक सूर्य तथा सृष्टिके आत्माके रूपमें तथा जगत्के स्रष्टा ईश्वरके रूपमें परिगणित होते हैं। हमारी पृथ्वीके भीतर, बाहर और ऊपर अग्निमय आत्मा विद्यमान है, जिसमें हवा यानी सूक्ष्म अग्नि, जल यानी द्रव अग्नि और पृथ्वी यानी स्थूल अग्निका आविर्भाव होता है।

पारसी जरथुस्त्रियोंका आतिशबेहराम

पारसी जरथुस्त्रियोंने अपने अग्नि-मन्दिरमें एक विशेष अग्निको स्थापित किया है, वह मन्दिर 'आतिशबेहराम' के नामसे कहलाता है। इसके गर्भगृहमें संगमरमरकी वेदीके ऊपर एक चाँदी या पीतलके आफरगान्या (एक प्रकारके अग्निपात्र)-में पवित्र अग्निको प्रतिष्ठित किया जाता है। इस अग्निमें रात-दिन चन्दन जलाया जाता है। इससे एक सुन्दर बोध मिलता है। चन्दनका जलना और सुगन्धका फैलना स्वर्गकी ओर जानेवाले मार्गको दिखलाकर, जहाँ ईश्वरका निवासस्थान है और जहाँ ईश्वरीय अग्नि सृष्टिके व्यवहारको चालू रखनेके लिये प्रज्वलित रहता है, उस लोककी ओर भक्ति करनेवाले आत्माका ध्यान ऊँचा उठाता है। अग्नि प्रज्वलित होता है और उसका तेज ऊपर चढ़ता है। यह मानो जीवनका महान् प्रकाश है और जुदा पड़े हुए आत्माके चिह्नको प्रदर्शित करता है। जिस खण्डमें अग्नि सदा प्रज्वलित रहता है, वह सृष्टिकर्ताका सुन्दर नमूना अशोईकी शिखापर है और अन्धकारको दूर करनेवाला तथा मनुष्यके आन्तरिक नित्यजीवनको उच्च स्थान प्रदान करनेवाला है। उस खण्डके आकाशके ऊपर निराकार (अदृष्ट) प्रभुकी दृष्टिमें पड़नेवाले ज्योतिको आथ्रो अहुरमज़्दकी बन्दगी करनेवाले अपना सिर समर्पण करते हैं। अग्नि ईश्वरका पुत्र है। वह इस भौतिक जगत्का स्रष्टा है। और अपने पिता अहुरमज़्दका प्रतिनिधि तथा अनन्त सुखका स्वामी है। वह मनुष्योंका कल्याण करनेवाला तथा सृष्टिका प्रकाश और जीवन है।

आज तो गुप्तज्ञान अवनत दशामें है। ऐसे समयमें भी अग्निमें अपने प्रभुका अंश देखनेके लिये सारे पारसी अपने अन्त:करणके उद्गारोंको प्रकाशित करते हैं। पैगम्बर जरथुस्त्रके अनुयायी मानते हैं कि उनके ये पैगम्बर स्वर्गीय प्रकाशके प्रकाशक थे और प्रकाश

(Light) उनका पैगाम (सन्देश) था। सब तत्त्वोंमें अग्नि ही एक ऐसा तत्त्व है जो सदा आकाशकी ओर संकेत करता है। और जो विहिश्त (स्वर्ग)-से अग्नि लाया था, उसने भौतिक जगत्‌में नीति और गुप्तज्ञानके अन्धकार (अज्ञान)-को दूर किया।

पारसीलोग जब एक नया अग्नि-मन्दिर बनवाते हैं तब उसमें सब जगहोंके, समस्त कारीगरोंके और समस्त वर्णोंके लोगोंके यहाँसे अग्नि एकत्रित करते हैं। इसके लिये महीनों पहलेसे तैयारी होती है। देशके बादशाहके घरका अग्नि लिया जाता है, भिक्षुकके घरका अग्नि लिया जाता है। उसके पश्चात् राजगीर, लोहार, बढ़ई, कुँभार और सुनारके घरसे, और अन्तमें क्षुद्रके घरसे भी अग्नि लिया जाता है। इन सबको एकत्र किया जाता है। फिर बिजली गिरनेपर जो जंगलके पेड़ जल उठते हैं, वहाँका अग्नि भी लिया जाता है। मृतक-की जलती चिताका अग्नि भी लिया जाता है। इस प्रकार १६ जातिके अग्नियोंको इकट्ठा करके अनुष्ठान किया जाता है और विभिन्न ज्योतियोंसे छनकर अन्तमें जो पवित्र अग्नि रहता है, उसकी पवित्र क्रियाओंके द्वारा स्थापना की जाती है। इस प्रकार पारसीलोगोंके अग्नि-मन्दिरमें बादशाहसे लेकर भिखारीतकके घरका अग्नि बरता जाता है। और ये सब १६ अग्नि क्रियाओंके द्वारा एक बनते हैं। इससे एक यह अति सुन्दर बोध प्राप्त होता है कि जगत्‌में एक जीवन अनेकों आकारोंमें छिपा रहता है। अतएव केवल एक ही जीवनकी आराधना करनी चाहिये और वह अहुरमज़्दकी, ईश्वरकी। ईश्वर ही एक महान् जीवन है।

अन्तमें, पारसी जरदोश्ती धर्ममें जो अग्निकी स्तुति की गयी है, वह अवस्ताके अनुसार यहाँ प्रस्तुत की जाती है। यह सारी स्तुति अवस्तामें 'आतिश निआएश' नामसे प्रसिद्ध है। प्रत्येक जरदोश्ती अग्नि-मन्दिरमें अग्निके सम्मुख खड़ा होकर अग्निके ऊपर चन्दनका हवन करते हुए कहता है—

'नेमसे ते आतर्श मजदाओ अहुरहे हुधाओ मजिश्त यज़त पनामे यज़्दान अहुरमज़्द खोदारा अवजूनी गोरजे खारेह अवजयाद। आतश बेहराम आदर फरा'॥ १॥

'उस मोई उज़ारेष्वा अहुरा आर्महती तेवीषीम् दस्वा स्पेनिश्ता मइन्यू मज़दा बंथहुया ज़वो-आदा अषा हज़ो एमवत वोहू मनंघहा फेसेरतूम॥ २॥

'यस्नेम्च वह्मेम्च हुवेरेतीम्च उश्तवेरीम्च वन्त-वेंरेतीम्च आफ्रीनामी तव् आतश पुथ्र अहुरहे मजदाओ येस्न्यो अहि वहम्यो येसन्यो बुवाओ वहम्यो न्मानाहु मष्याकनाम। उश्त बुयात अहमाई नईरे यसे थ्वा बाध फ्रायजइते अएस्मो जस्तो बरेस्मो जस्तो गओ जस्तो हावनोज़्स्ता॥ ३॥

दाईत्यो अएस्मे बुयाओ, दाईत्यो बओईधि बुयाओ, दाइत्यो पिथ्वि बुयाओ, दाईत्यो उपासयने बुयाओ, पेरेनायुश हरेथ्रे बुयाओ, दह्मायुश हरेथ्रे बुयाओ, आतर्श पुथ्र अहुरहे मज़दाओ'॥ ४॥

'सओचे बुये अहम्य न्माने, मतसआंचे बुये अहम्य न्माने, रओयहि बुये अहम्य न्माने, बक्षथे बुये अहम्य न्माने, दरेघेमचित् अईपि ज़रवानेम्, उपसूरांम् फषोकेरेतीम् हध सूरयाओ बंघहुयाओ फ्रषो—केरेतोईत्'॥ ५॥

'दायाओ मे, आतर्श पुथ्र अहुरहे मज़दाओ, आसु खाथ्रेम्, आसु थ्राईतीम्, आसु ज़तीम, पोउरु खाथ्रेम, पोउरु थ्राइतीम्, पोउरु जितोम्, मस्तीम स्पानो, क्षविब्रेम हिज़वाम् उरुने उषि, ख़तूम पस्चयेच, मसित मज़ाओन्नेम् अपईरि—आथ्रेम् नाइरयांम् पस्चयेत हांम वरेतीम'॥ ६॥

भावार्थ—

हे अहुरमज़्दके अग्नि, तुम कल्याण प्रदान करनेवाले और उपकार करनेवाले हो; तुम्हें नमस्कार हो।

दादार अहुरमज़्द समस्त सृष्टिका स्वामी है, वृद्धि करनेवाला है। उसके नामसे मैं यह स्तुति करता हूँ। परमश्रेष्ठ अग्नि आतिश बेहरामका प्रताप बढ़े॥ १॥

अत्यन्त वृद्धि करनेवाले और स्तवनका सुन्दर फल प्रदान करनेवाले दिव्य अहुरमज़्द, तुम मुझे पवित्र करो। दुष्ट कर्मोंसे दूर रखो। मेरी नम्रताके लिये मुझे शक्ति प्रदान करो। मेरी मंगलकामनाओंके बदले मुझे सरदारी दो॥ २॥

अहुरमज़्दकी ओरसे सब वस्तुओंको पवित्र करनेवाले अग्निदेव! तुम्हारे उत्सव, तुम्हारी आराधना, तुम्हारे समर्पण, स्वास्थ्य प्रदान करनेवाले समर्पण, मैत्रीपूर्ण समर्पणकी मैं स्तुति करता हूँ। हे अग्नि! तुम पूजनीय हो, तुम आराधना करने योग्य हो। जो मनुष्य हाथमें ऐसम् लेकर, हाथमें बरसम् लेकर, हाथमें जुव्वम् लेकर, हाथमें हाव्नोम् लेकर तुम्हारी सदा पूजा करता है, उस मनुष्यको प्रतिष्ठा और सुख प्राप्त होता है॥ ३॥

हे अग्नि, इस समय तुम कल्याणप्रद हो जाओ। हमारे ज्ञानमें कल्याणप्रद हो। भोजनमें कल्याणप्रद हो, तुम समिधामें निवास करो, भोजनमें निवास करो और हमारा मंगल करो॥ ४॥

हे अग्नि! सुदीर्घकालतक, राह-बाटमें, इस घरमें तुम सदा प्रज्वलित रहना, देदीप्यमान रहना और वर्द्धित होते रहना॥ ५॥

हे पवित्र अग्नि, मुझे तुम दीर्घजीवन दो, पूर्ण सुख प्रदान करो, पूर्ण पोषण प्रदान करो। स्थूलताको नष्ट करो, तीव्र वाणी प्रदान करो, मुझे प्रवीणता और बुद्धि प्रदान करो। मुझे ऐसा पौरुष प्रदान करो जो सदा बढ़ता रहे, घटे नहीं॥ ६॥

वेदसे कामना-साधन

(लेखक—पं० श्रीगोपालचन्द्रजी मिश्र गौड़ वेदशास्त्री, वेदरत्न)

वेद हिंदू-धर्मका आधार-ग्रन्थ है। आस्तिक दर्शन इसीके वाक्योंके आधारपर अपनी-अपनी विचारशैली-द्वारा भिन्न-भिन्न तत्त्वोंका उपदेश देते हैं। हमारे पुरातन वैदिक ऋषियोंके चमत्कार पुराणादिमें वर्णित हैं। इनकी लोकोत्तर अद्‌भुत शक्तियोंको देखकर आधुनिक संसार इन गाथाओंको 'कपोलकल्पना' कहनेपर उद्यत हो जाता है। हमारे धर्मके आधारस्तम्भ वेदको समस्त जागतिक विद्वानोंने सकल संसारका पुरातन ग्रन्थ स्वीकार किया है। वेदोंसे पूर्वका वा तत्समकालीन ग्रन्थ अभीतक उपलब्ध नहीं हुआ है। प्राचीन महर्षि वेदके द्वारा ही लोकोत्तर अद्‌भुत शक्तियाँ प्राप्त कर पाये थे; इसीलिये तो '**नान्यद् ब्राह्मणस्य कदाचिद्धनार्जनक्रिया**' 'वेदाभ्यास और वैदिक उपासनाओंके अलावा ब्राह्मणके लिये धन कमानेकी कोई जरूरत नहीं है, ऐसा कहा गया है। अतः पुराणोक्त महर्षियोंकी गाथाओंको 'कपोलकल्पित' बताना स्वकीय वेद-महत्त्वकी अनभिज्ञताका सूचक है।

मानव-संहितामें ऋषियोंद्वारा प्रश्न हुआ है कि 'भगवन्! अपने धर्मपालनमें तत्पर मनसा, वाचा, कर्मणा हिंसारहित वृत्तिवाले ब्राह्मणोंपर काल अपना हाथ चलानेमें कैसे समर्थ होता है? इस प्रश्नका उत्तर क्या ही सुन्दर दिया गया है—

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति॥

(मनुस्मृति ५। ४)

मनु भगवान्‌ने मृत्युके आनेका सर्वप्रथम कारण वेदोंके अनभ्यासको बताया है। पाठकोंके मनमें बड़ा आश्चर्य होगा कि वेदमें ऐसी कौन-सी करामात है, जिससे काल भी उसका अभ्यास करनेवालेका कुछ नहीं कर पाता। पाठकोंको विश्वास रखना चाहिये कि वेद ऐसी-ऐसी करामातोंका खजाना है, जिनका किसी और के द्वारा मिलना दुर्लभ है। यद्यपि वेदका मुख्य प्रयोजन अक्षय्य स्वर्ग (मोक्ष)-की प्राप्ति है, तथापि उसमें सांसारिक जनोंके मनोरथ पूर्ण करनेके भी बहुत-से साधन बताये गये हैं, जिनसे ऐहिक तथा पारमार्थिक उभयलोकसिद्धि प्राप्त होती है।

पाठकोंको प्रसिद्ध नीलसूक्तके कतिपय मन्त्रोंके कुछ साधन दिग्दर्शनार्थ नीचे बतलाये जाते हैं—

भूतादिनिवारण

नीचे लिखे मन्त्रसे सरसोंके दाने अभिमन्त्रित करके आविष्ट पुरुषपर डाले तो ब्रह्मराक्षस-भूत-प्रेत-पिशाचादिसे मुक्ति हो जाती है। मन्त्र—

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्। अहीँश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्योऽधराचीः परा सुव।

(शु० य० १६। ५)

निर्विघ्न गमन

कहीं जाता हुआ मनुष्य उपर्युक्त मन्त्रको जपे तो वह कुशलपूर्वक चला जाता है।

बालशान्ति

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्। मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः॥

(शु० य० १६। १५)

इस मन्त्रसे तिलकी १०,००० आहुति देनेसे बालक नीरोग रहता है तथा परिवारमें शान्ति रहती है।

रोगनाशन

नमः सिकत्याय च प्रवाह्याय च नमः किꣳशिलाय

च क्षयणाय च नमः कपर्दिने च पुलस्तये च नम इरिण्याय च प्रपथ्याय च॥ (शु०य०१६। ४३)

इस मन्त्रसे ८०० बार कलशस्थित जलका अभिमन्त्रण कर उससे रोगीका अभिषेक करे तो वह रोगमुक्त हो जाता है।

द्रव्यप्राप्ति

'नमो वः किरिकेभ्यो०' (शु०य०१६। ४६) मन्त्रसे तिलकी १०,००० आहुति दे तो धन मिलता है।

जलवृष्टि

'असौ य' (शु० य० १६। ६-७) इन दोनों मन्त्रोंसे सत्तू और जलका ही सेवन करता हुआ, गुड़ और दूधमें वेतस्की समिधाओंको भिगोकर हवन करे तो श्रीसूर्य-नारायण भगवान् पानी बरसाते हैं।

पाठकोंके दिग्दर्शनार्थ कुछ प्रयोग बताये गये हैं। प्रयोगोंकी सिद्धि गुरुद्वारा वैदिक दीक्षासे दीक्षित होकर अधिकारसिद्धिके कर्म करनेसे होती है। दीक्षाके अलावा मन्त्रोंके ऋषि, छन्द, देवता एवं उच्चारण-प्रकार जानना भी अत्यावश्यक है। भगवान् कात्यायनने कहा है—

एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयामं भवति। अथान्तरा श्वगर्तं वाऽऽपद्यते स्थाणुं वर्च्छति प्रमीयते वा पापीयान् भवति।

'जो ऋषि-छन्द-देवतादिके ज्ञानके बिना पढ़ता है, पढ़ाता है, जपता है, हवन करता है, कराता है, उसका वेद निर्बल और निस्तत्त्व हो जाता है। वह पुरुष नरक जाता है या सूखा पेड़ होता है या अकालमृत्युसे मरता है।'

अथ विज्ञायैतानि योऽधीते तस्य वीर्यवत्।

जो 'इन्हें जानकर कर्म करता है' वह फलको प्राप्त करता है।' अतः साधकजनोंके लिये वैदिक गुरूपदिष्ट मार्गसे साधन करना विशेष लाभदायक है।

श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायमें उपासना

(लेखक—पं० श्रीनारायणजी शास्त्री तर्क-वेदान्त-मीमांसा-सांख्यतीर्थ)

विश्वात्मानं विधिज्ञा निजगुणनियतैः कर्मभिर्यं यजन्ति
ध्यायन्ति ज्ञाननिष्ठा दहरहृदयगं व्यापि यस्य स्वरूपम्।
यत्संश्लेषैककामा विदधति नवधा यत्पदाम्भोजभक्तिं
भुक्तिं मुक्तेर्गरिष्ठां स दिशतु भगवान् स्वामिनारायणो नः॥

वेदान्तके भिन्न-भिन्न सिद्धान्तोंमें ज्ञान, भक्ति तथा उपासनाके स्वरूपोंमें न्यूनाधिक भेद अवश्य स्वीकार किया गया है; परन्तु विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार विचार करनेसे इस भेदके लिये कोई अवकाश नहीं देख पड़ता। तात्पर्य यह है कि ज्ञान, भक्ति, उपासनाके स्वरूपमें सामान्यतः भेद होनेपर भी उपनिषदोंमें श्रूयमाण ज्ञान, भक्ति और उपासनाके स्वरूपमें कोई भेद नहीं है। उपनिषदोंमें इन तीनों शब्दोंका प्रयोग एक ही अर्थमें हुआ है और उसीको ब्रह्मविद्या कहा गया है। उपनिषदोंके उपासना-प्रकरणमें 'विदि' और 'उपासि' धातुका प्रयोग एक दूसरेके अर्थमें किया हुआ स्पष्ट ही देख पड़ता है; कहीं प्रकरणका आरम्भ 'विदि' धातुसे करके उपसंहार 'उपासि' धातुसे तो कहीं उपक्रम 'उपासि' धातुसे और उपसंहार 'विदि' धातुसे किया गया है। उदाहरणार्थ, छान्दोग्योपनिषद्के अध्याय ४, खण्ड १ में—

यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्तः।

इस स्थलमें 'विदि' से उपक्रम हुआ है और—

अथो नु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्से।'

—इस प्रकार 'उपासि' से उपसंहार हुआ है। इसी प्रकार 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' में 'उपासि' धातुसे उपक्रम होता है और—

भाति तपति च कीर्त्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद।

—यहाँ 'विदि' धातुमें उपसंहार होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान और उपासना समानार्थक हैं। इसी प्रकार 'भक्ति' और 'सेवा' शब्द भी 'उपासना' के ही पर्याय हैं। 'सेवा भक्तिरुपास्तिः' यह विद्वानोंकी उक्ति भी सेवा, भक्ति एवं उपासनाके समानार्थक होनेका प्रमाण है। तात्पर्य, ज्ञान, भक्ति, उपासना, सेवा—ये चारों ही शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं।

इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि कुछ लोगोंका यह कहना कि भक्ति, सेवा, उपासना आदि वैदिक नहीं बल्कि पौराणिक हैं और इन्हें वैष्णवोंने

चलाया है, कुतर्कमात्र ही है। उपासनामें भी मूल प्रमाण वेदोपनिषद् ही हैं और तन्मूलकतया स्मृति, इतिहास, पुराण एवं शिष्टाचार भी प्रमाण हैं।

'उपासना' शब्दका अर्थ

'उपासना' शब्द 'उप' पूर्वक 'आस्' धातुसे बना है। इसका अर्थ है परमात्माके समीप रहना। परमात्माका सामीप्य होनेसे यह देश-कालादिसे अनवच्छिन्न होना ही चाहिये। अर्थात् तैलधारावत् अविच्छिन्न दर्शनसमानाकार परमप्रेमरूप स्मृतिसन्तानात्मक वृत्तिविशेष ही भगवदुपासना है। यह उपासना मनुष्यमात्रकी मुक्तिका असाधारण उपाय है और उपाय ही नहीं, स्वयं मुक्ति भी है। शास्त्रोपदेशजन्य ज्ञान और नवधा भक्ति—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो
मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

—इस श्रुतिसिद्ध दर्शनरूप उपासनाके साधन हैं। श्रुति-स्मृतियोंने इसी उपासनाको वेदन, दर्शन, ध्यान, ध्रुवा स्मृति, भक्ति आदि शब्दोंसे सूचित किया है। जैसे—

''**ब्रह्मविदाप्नोति परम्**', '**आत्मानं लोकमुपासीत**', '**तमेवैकं जानथ अन्या वाचो विमुञ्चथ**', '**ध्रुवा स्मृतिः**', '**स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः**'

'**भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।**
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥
'**भक्त्या त्वनन्यया शक्यः**'' **भक्त्या मामभिजानाति**' इत्यादि।

इस तरह सामान्य-विशेषन्यायसे ज्ञान-भक्ति-ध्यानादि शब्दोंका अखण्ड तैलधारावत् अविच्छिन्न स्मृतिसन्ततिरूप परमप्रेमस्वरूप भगवद्विषयक उपासनामें ही स्वरसतः पर्यवसान होता है।

अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा-
क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति।

उपासनाका विषय

—इस श्रुतिमें कहे हुए तत्क्रतु-न्यायसे उपासना यादृशरूप-गुणविशिष्ट स्वरूपकी की जाती है, तादृशरूप-गुणविशिष्ट स्वरूपकी ही प्राप्ति करा सकती है। अतः श्रुतिनिर्दिष्ट गुणगण-विशिष्ट भगवान्‌की ही उपासना करनी चाहिये। इसीसे मनुष्य त्रिविध तापसे मुक्त होकर स्वस्वरूपाविर्भावपूर्वक पूर्णब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है।

श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें परमात्मोपासन

श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायमें उपनिषत्प्रतिपाद्य भगवदुपासन ही मुख्यतः मुक्तिका परम असाधारण कारण माना गया है। यही नहीं, प्रत्युत यह भगवदुपासन स्वयं भी निरतिशय परमानन्दस्वरूप होनेसे मुक्तिरूप ही है। भगवान् श्रीस्वामिनारायण अपनी 'शिक्षापत्री' में कहते हैं—

मतं विशिष्टाद्वैतं मे गोलोको धाम चेप्सितम्।
तत्र ब्रह्मात्मना कृष्णसेवा मुक्तिश्च गम्यताम्॥

'विशिष्टाद्वैत मेरा सिद्धान्त है, गोलोक मेरा अभीष्ट धाम है और ब्रह्मरूपसे श्रीकृष्णकी सेवा और मुक्ति ही मेरा परम लक्ष्य है।'

उन्हींके श्रीमुखसे निःसृत 'श्रीसुधासिन्धु' (वचनामृत)-में कहा है कि 'भगवान्‌के स्वरूपमें मनकी अखण्ड (तैलधारावदविच्छिन्न) वृत्ति रखना, इससे कोई साधन कठिन नहीं है। और जिस मनुष्यके मनकी वृत्ति भगवान्‌के स्वरूपमें अखण्ड रहती है, उसको उससे अधिक प्राप्ति शास्त्रमें कही नहीं है; क्योंकि भगवन्मूर्ति चिन्तामणितुल्य है। जैसे चिन्तामणि जिस पुरुषके हाथमें हो, वह पुरुष जिस-जिस पदार्थका चिन्तन करता है, वह-वह पदार्थ उस पुरुषको अवश्य तुरंत ही प्राप्त होता है।'—इत्यादि (वचनामृत, प्रथम प्रकरण, १) परन्तु' 'जिस मनुष्यके अनेक जन्मके सुकृत उदित होते हैं, उसी मनुष्यके मनकी वृत्ति भगवान्‌के स्वरूपमें अखण्ड रहती है; दूसरेके लिये तो भगवान्‌में अखण्ड वृत्ति रखना महादुर्लभ है।'(वचनामृत मध्य प्रकरण, ३६) भगवत्प्रीतिका लक्षण बतलाते हैं—'भगवान्‌में प्रीति तो उसीकी सच्ची है, जिसकी भगवान्‌को छोड़कर अन्य पदार्थमें प्रीति ही न हो।' (वचनामृत, मध्य प्रकरण, ५६) इस वचनसे—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँस्वाम् ॥

—इस श्रुतिप्रतिपादित परमप्रेमरूपताको सूचित किया। भगवत्स्वरूपके विषयमें कहते हैं—'ऐसे जो श्रीकृष्ण भगवान् हैं, वे प्रकृति-पुरुषरूप अपनी शक्तिसे विशिष्ट होते हुए प्रत्येक जीवके अंदर अन्तर्यामिस्वरूपसे

श्रीकृष्ण-ध्यान-९

श्रीकृष्ण-ध्यान-१०

विद्यमान हैं।' (वचनामृत, प्रथम प्रकरण, १३) इस वचनसे उपास्यस्वरूपका अन्तर्यामित्व तथा कर्मफलदातृत्वरूप असाधारण गुणयोग दिखलाया, जो भगवान्‌को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं है। उपास्यस्वरूपका आगे और वर्णन करते हैं—'अक्षर धाममें श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम नारायण सदा विराजमान हैं·····वह पुरुषोत्तम नारायण सबके स्वामी हैं और अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डके राजाधिराज हैं।' (वचनामृत, प्रथम प्रकरण, २३) इस वचनसे '**जन्माद्यस्य यतः**', '**यतो वा इमानि भूतानि**' इत्यादि श्रुतिप्रतिपादित परमात्माका जगज्जन्मादि-कारणत्वरूप सम्पूर्ण ऐश्वर्य बतलाया। 'एवं भगवान् तथा भगवान्‌के भक्त सदा साकार ही हैं।' (वचनामृत, प्रथम प्रकरण, ३३)—इससे भगवान् तथा भगवान्‌के भक्त मुक्तोंकी सदा दिव्य साकारता बतलायी, जिसका '**योऽसावसौ पुरुषः**' '**आप्रणखात्सर्व एव सुपर्णः**', '**यथा कप्यासपुण्डरीकमक्षिणी**' '**महारजतं वासः**' इत्यादि श्रुतियोंमें वर्णन है। 'शास्त्रमें भगवान्‌को जो अरूप और निर्गुण कहा है, वह तो मायिक रूप तथा गुणका निषेध करनेके लिये कहा है। परन्तु भगवान् तो नित्य दिव्यमूर्ति हैं और अनन्तकल्याण-गुणयुक्त हैं।' इस प्रकार उपास्य परमात्मस्वरूपका वर्णन 'श्रीसुधासिन्धु' अर्थात् 'वचनामृत' में बहुत प्रकारसे किया गया है। यहाँ केवल दिग्दर्शनमात्र कराया है।

शिक्षापत्रीमें भी—

स श्रीकृष्णः परं ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमः।
उपास्य इष्टदेवो नः सर्वाविर्भावकारणम्॥

—इस वचनसे सर्वाविर्भावके कारणस्वरूप अक्षराधिपति परब्रह्म पुरुषोत्तमकी ही उपास्यता बतलाते हैं और '**न तु जीवा नृदेवाद्या भक्ता ब्रह्मविदोऽपि च**' इस वाक्यसे भगवान्‌को छोड़ अन्य सबकी अनुपास्यता। श्रीनित्यानन्दमुनिविरचित 'श्रीहरिदिग्विजय' ग्रन्थमें उपास्य स्वरूपका इस प्रकार निरूपण है—

सर्वज्ञं सर्वशक्तिं च परं ब्रह्म परात्परम्।
सर्वान्तरात्मा भगवान् स एव पुरुषोत्तमः॥
श्रुता सर्वशरीरस्य तस्य सर्वान्तरात्मता।
ज्ञानशक्त्यादिकल्याणगुणश्रुत्यनुसारतः॥
षाड्गुण्ययोगमाश्रित्य स्मर्यते भगवानिति।
परो यदेष पुरुषात् क्षराच्च त्वक्षरादपि॥

अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परात्पर जो परब्रह्म हैं, वही सबके अन्तरात्मा भगवान् श्रीपुरुषोत्तम हैं। वे ज्ञान, शक्ति आदि कल्याणगुणगणविशिष्ट हैं और सब शरीरोंमें अन्तरात्मारूपसे अवस्थित हैं। षड्गुणैश्वर्य-योगसे वे भगवान् कहाते हैं, ये क्षरपुरुष और अक्षरब्रह्म दोनोंके परे हैं।

इन भगवान्‌की प्रीतिके विषयमें इसी ग्रन्थमें आगे जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट होता है कि इन नित्य स्वभावसिद्ध अपार आनन्दस्वरूप भगवान्‌की जो भक्ति है, वह ज्ञानकी पराकाष्ठा है। भक्तिको जो ज्ञानका अंग बतलाते हैं, वे इसके तत्त्वको नहीं जानते '**ज्ञानाङ्गतां वदेद्यस्तु भक्तेः स तु न तत्त्ववित्।**' अतः श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायमें भगवद्भक्ति या उपासनाका बहुत ऊँचा स्थान है। श्रीशाण्डिल्यसूत्रपर जो श्रीनित्यानन्दविरचित भाष्य है, उसमें उपास्यस्वरूपका बहुत सुन्दर मनोहर वर्णन करके उपासनाका यह लक्षण किया है कि ऐसे जो कारुण्य, सौशील्य, वात्सल्य, औदार्य तथा ऐश्वर्यके पारावार, प्रणतोंके आर्तिनाशन, भक्तवात्सल्यैकजलधि, अनन्तैश्वर्यमहाविभूति, ब्रह्मभूतानन्तकोटिमुक्तोपासित जिनके चरण-कमल हैं, जो कोटिकन्दर्पलावण्यस्वरूप और नवीननीरदश्यामलतनु हैं, विविध विचित्र वस्त्राभूषणभूषित हैं, जिनके पूर्ण शारद-चन्द्रवदनका मन्द हास्य अत्यन्त मनोहर है, अनेक कोटि सूर्येन्दुओंके भी युगपत् प्रकाशसे अधिक समुज्ज्वल जिनकी कान्ति है, श्रीदाम-नन्दादि पार्षद जिनका यशोगान करते रहते हैं, चक्रादि आत्मीय आयुध जिनकी चरणसेवामें लगे हैं, उन अखिल निगमसंस्तुत दिव्यचरित भगवान् पुरुषोत्तमकी महिमाको जानकर उनसे जो अनन्य प्रेम करना है, वही पराभक्ति और वही सच्ची उपासना है।

श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायमें सर्वाविर्भावकारण अक्षराधिपति पुरुषोत्तमरूपसे श्रीस्वामिनारायण भगवान्‌की उपासना की जाती है और सम्प्रदायके सभी निष्ठावान् पुरुष इस प्रकार श्रीस्वामिनारायणके रूपमें श्रीपुरुषोत्तमकी उपासना कर अपनी ऐहिक तथा पारलौकिक परम सिद्धि प्राप्त करते हैं।

श्रीस्वामिनारायणके मतानुसार साधन

(लेखक—वेदान्ततीर्थ सांख्ययोगरत्न पं० श्रीश्वेतवैकुण्ठ शास्त्री)

सब दार्शनिकोंकी भाँति श्रीस्वामिनारायण भगवान्‌ने भी स्वस्वरूपाविर्भावपूर्वक ब्रह्मप्राप्तिके कुछ साधन निश्चित किये हैं, जिनका विवरण इस लेखमें दिया जायगा।

योगशास्त्रके '**शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि**' इस साधनोंमें शौचसे लेकर स्वाध्यायपर्यन्त मोक्षके साक्षात् साधन नहीं हैं, बल्कि चित्तशुद्धिद्वारा ईश्वर-प्रणिधानके साधक साधन हैं; मोक्षका सक्षात् साधन तो ईश्वरप्रणिधान ही है। '**अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः**' भी चित्तशुद्धिद्वारा ही मोक्षके साधक होनेसे, मोक्षके प्रत्यक्ष नहीं बल्कि अप्रत्यक्ष साधन हैं।

मोक्षरूप साध्यका स्वरूप स्वस्वरूपाविर्भावपूर्वक ब्रह्मप्राप्ति है। स्वस्वरूपाविर्भावका अभिप्राय यह कि जीवात्माका अपना जो मूलभूत स्वरूप है अर्थात्—

अपहतपाप्मा विज्वरो विमृत्युर्विशोको विजिघित्सा-ऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः।

—उस स्वरूपका आविर्भाव। और तब मायाके अष्टावरण—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

—से रहित दिव्यलोक या अक्षरधाममें भगवान्‌की प्राप्ति, यही मुक्तिका स्वरूप है। यही बात इन श्रुतिवचनोंसे प्रतिपन्न होती है—

'**परं ज्योतीरूपं सम्यक् स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।**,' '**तमेव विदित्वातिमृत्युमेति**', **परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।**'

—इत्यादि।

अर्थात् प्राकृत गुणोंसे मुक्त होकर स्वस्वरूपमें स्थित हो भगवान्‌को प्राप्त करना ही परममोक्ष है।

इस सम्बन्धमें एक बार मुक्तस्वरूप श्रीमुक्तानन्द-स्वामीने श्रीस्वामिनारायण भगवान्‌से प्रश्न किया—'भगवन्! अक्षरधाममें भगवान्‌के भक्त भगवान्‌की जिस सेवामें रत होते हैं, वह किन साधनोंसे प्राप्त होती है?' इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् स्वामिनारायणने सोलह साधनोंका निर्देश किया—(१) श्रद्धा, (२) स्वधर्म, (३) वैराग्य, (४) इन्द्रियनिग्रह, (५) अहिंसा, (६) ब्रह्मचर्य, (७) साधुसमागम, (८) आत्मनिष्ठा, (९) भगवन्माहात्म्यज्ञानसे युक्त भगवद्भक्ति, (१०) सन्तोष, (११) अदम्भित्व, (१२) दया, (१३) तप, (१४) अपनी अपेक्षा गुणोंमें बड़े जो भगवद्भक्त हों उनमें गुरुभाव रखना, (१५) जो समकक्षाके भगवद्भक्त हों उनमें मित्रभाव रखना और (१६) जो अपनेसे कनिष्ठ हों उनमें शिष्यभाव रखकर उनका हित करना। भगवान्‌के ऐकान्तिक भक्त इन साधनोंके द्वारा अक्षरधाममें भगवान्‌की सेवा लाभ करते हैं। योगादि शास्त्रोंने जो साधन बताये हैं, वे इन सोलह साधनोंमें सर्वथा आ ही जाते हैं।

(१) *श्रद्धा*—कठोपनिषद्‌की नचिकेता-कथा प्रसिद्ध है। नचिकेताके पिता वाजश्रवाने यज्ञफलकी इच्छासे विश्वजित् यज्ञ किया और दक्षिणामें सब धन दान कर दिया। अपने पिताको इस प्रकार ऋत्विजोंके साथ धन और गौओंको दान करते देखकर नचिकेताके हृदयमें श्रद्धाका आवेश हुआ और उसने पितासे पूछा—'मुझे आप किसको दान करेंगे?' वाजश्रवाने कहा—'मृत्युको!' और सचमुच ही उन्होंने अपने पुत्र नचिकेताको मृत्युको दान कर दिया। नचिकेतापर मृत्युदेव प्रसन्न हुए और उसका उत्तम आदर-सत्कार करके उससे उन्होंने तीन वर माँगनेको कहा। नचिकेताने जो तीसरा वर माँगा, वह यह था कि देहादिसे अतिरिक्त जो आत्मा है उसकी विद्या मुझे दीजिये। मृत्युने बालकको यह राज्य देते हैं,यह भोग देते हैं—इत्यादि अनेक प्रलोभन दिये; पर बालकने एक न सुनी और आत्मविद्याका जो वर उसने माँगा था, उसीको पूरा करनेका आग्रह करने लगा; क्योंकि वह श्रद्धासे आविष्ट था। उसकी ऐसी अटल श्रद्धा देखकर मृत्युदेवने उसे वह विद्या बतायी, जिसका माहात्म्य स्वयं श्रुति ही इस प्रकार वर्णन करती है—

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते॥
तदानन्त्याय कल्पते।

अर्थात् जो कोई इस परमगुह्य ज्ञानको ब्राह्मणोंकी सभामें अथवा श्राद्ध-प्रसंगमें सुनाता है, उसका यह कृत्य आनन्त्यको अर्थात् अनन्त ब्रह्मको प्राप्त करानेवाला होता है। श्रद्धाका यह फल है। भगवान् श्रीकृष्ण भी

गीतामें कहते हैं—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(२) *स्वधर्म*—अपने-अपने वर्ण और आश्रमका धर्म पालन करना, परधर्मका आचरण न करना और पाषण्ड-मतको भी न मानना। इस विषयमें श्रीस्वामिनारायणका स्पष्ट आदेश है—

स्ववर्णाश्रमधर्मो यः स हातव्यो न केनचित्।
परधर्मो न चाचर्यो न च पाषण्डकल्पितः॥

गीतामें भी भगवान्‌का वचन है—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(३) वैराग्य—स्वामिनारायणने वैराग्यका यह लक्षण किया है—

वैराग्यं ज्ञेयमप्रीतिः श्रीकृष्णेतरवस्तुषु।

अर्थात् भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य पदार्थोंमें अप्रीति अर्थात् अनुरागका न होना ही वैराग्य है। जहाँतक विषयोंमें प्रीति है, वहाँतक ईश्वरप्रणिधान नहीं होता। इसलिये वैराग्य आवश्यक है।

(४) *इन्द्रियनिग्रह*—इस विषयमें स्वामिनारायणका यह आदेश है—

सर्वेन्द्रियाणि जेयानि रसना तु विशेषतः।

अर्थात् सब इन्द्रियोंका जय करे, पर रसनाका विशेष रूपसे। श्रीमद्भागवतमें इन्द्रियोंका विषयोंकी ओर दौड़ना ही बन्ध और इन्द्रियोंका संयम ही मोक्ष कहा गया है—

बन्ध इन्द्रियविक्षेपो मोक्ष एषां च संयमः।

(५) *अहिंसा*—श्रीस्वामिनारायणने अपने आश्रित सत्संगियोंको स्पष्ट ही आदेश दिया है कि किसी भी प्राणीकी हिंसा न करें; जूँ, खटमल आदिको भी जान-बूझकर न मारें—

कस्यापि प्राणिनो हिंसा नैव कार्यात्र मामकैः।
सूक्ष्मयूकामत्कुणादेरपि बुद्ध्या कदाचन॥

(६) *ब्रह्मचर्य*—ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मचर्य तो सबसे पहले आवश्यक है। **'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति,** यह श्रुति है। कारण, ब्रह्मचर्यके बिना सदुपदेशका यथार्थ बोध हो ही नहीं सकता।

'अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वात्मानमनुविन्दते।'

इस श्रुतिमें यज्ञको ब्रह्मचर्य ही कहा है। ब्रह्मचर्यके बिना यज्ञकी सिद्धि नहीं होती। देवपक्षसे इन्द्र और असुरपक्षसे विरोचन बत्तीस-बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्य पालन करके तब आत्माको जाननेके लिये प्रजापतिके पास गये थे। प्रजापतिने आत्मविद्याका जो प्रथम उपदेश दिया, उसे सुनकर इन्द्र और विरोचन लौट गये। विरोचन उतनेसे ही सन्तुष्ट होकर फिर प्रजातिके पास नहीं आया। पर इन्द्रका उतनेसे सन्तोष नहीं हुआ। वह प्रजापतिके पास लौट आये। तब प्रजापतिने उन्हें फिर बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्यव्रतसे रहनेको कहा। उसके बाद आत्मविद्याका पुनः उपदेश दिया। फिर भी समाधान नहीं हुआ। तब बत्तीस वर्ष फिर ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक रहनेके पश्चात् पुनः उपदेश दिया। पर इससे भी पूरा काम नहीं हुआ। तब पाँच वर्ष और ब्रह्मचर्यके पालन करके इन्द्र प्रजापतिके पास रहे। इस प्रकार एक-सौ-एक वर्ष ब्रह्मचर्य-पालन करनेके बाद इन्द्रको आत्मज्ञान हुआ। इसलिये ब्रह्मचर्यको साधनोंमें सबसे बलवत्तर साधन जानना चाहिये।

(७) *साधुसमागम*—श्रीमद्भागवतमें यह प्रतिपादन हुआ है कि ज्ञानियोंको भी अपनी आसक्तिका पाश बड़ा ही कठिन मालूम होता है, पर साधुसमागममें यही आसक्ति खुला हुआ मोक्षका द्वार बन जाती है—

प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः।
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम्॥

(८) आत्मनिष्ठा—श्रीस्वामिनारायण आत्माका स्वरूप इस प्रकार बतलाते हैं—

हृत्स्थोऽणुसूक्ष्मश्चिद्रूपो ज्ञाता व्याप्याखिलां तनुम्।
ज्ञानशक्त्या स्थितो जीवो ज्ञेयोऽच्छेद्यादिलक्षणः॥

अर्थात् जीव हृदयमें स्थित है, अणु-सदृश सूक्ष्म है, चिद्रूप है, ज्ञाता है और अपनी ज्ञानशक्तिसे समग्र शरीरको व्याप कर रहता है। उसे अच्छेद्यादि लक्षणोंसे युक्त अर्थात् अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, नित्य, अजर, अमर, अशोक, सम्यकाम, सत्यसङ्कल्प जानना चाहिये। अपने-आपको इस प्रकार निश्चयपूर्वक जानना ही आत्मनिष्ठा है। आत्मस्वरूपके विषयमें यह श्रुति है—

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(९) *माहात्म्यज्ञानयुक्त भगवद्भक्ति*—'**माहात्म्यज्ञानयुग्भूरिस्नेहो भक्तिश्च माधवे।**' भगवान्‌के प्रति माहात्म्य और ज्ञानसे युक्त स्नेह ही भक्ति है।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

—यह नवधा साधन-भक्ति है। दसवीं भक्ति प्रेमलक्षणा है, जिसमें भक्त और भगवान्‌के बीच कोई व्यवधान नहीं रहता। माहात्म्यज्ञानसे ही भक्तिका उद्रेक होता है—

(१०) *सन्तोष*—भागवतपुराणका वचन है—

पण्डिता बहवो राजन् बहुज्ञाः संशयच्छिदः।
सदसस्पतयोऽप्येके ह्यसन्तोषात्पतन्त्यधः॥

'कितने पण्डित, बहुज्ञ, संशयका छेदन करनेवाले, सदसस्पति होकर भी असन्तोषसे अधःपतित हो जाते हैं।' सन्तोषके बिना आत्मोन्नतिका साधन हो ही नहीं सकता।

यदृच्छयोपपन्नेन सन्तोषो मुक्तये स्मृतः।

'जिस किसी भी अवस्थामें सन्तुष्ट रहना मुक्तिका कारण हो जाता है।'

(११) *अदम्भित्व*—दम्भका सर्वथा त्याग।

(१२) *दया*—दयाभावसे भगवान् प्रसन्न होते हैं। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या येन केनचित्।
सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः॥

'प्राणिमात्रपर दया करने, जो कुछ मिले उससे सन्तुष्ट रहने और सब इन्द्रियोंके शान्त-दान्त होनेसे भगवान् तुरंत प्रसन्न होते हैं।'

(१३) तप—आत्मचिन्तनकी पात्रता चित्तशुद्धिके बिना नहीं होती और चित्तशुद्धि तपके बिना नहीं होती। इसलिये तप आवश्यक है।

(१४) अपनेसे गुणोंमें बड़े जो भगवद्भक्त हैं, उनमें गुरुभाव रखनेसे उनकी किञ्चित् कृपा भी महत्कल्याण करनेमें समर्थ होती है।

(१५) अपनी समकक्षाके भगवद्भक्तोंमें मित्रभाव रखना, अपने समान या अपनेसे भी अधिक उनकी आत्मोन्नतिकी कामना करना भी महान् कल्याणकारी है।

(१६) अपनेसे जो कनिष्ठ हैं, उन्हें सहायताके पात्र जानकर उनका हित करना, भगवान्‌के मार्गमें उन्हें आगे बढ़ाना भगवान्‌को ही प्रसन्न करना है।

इन सोलह साधनोंको जो लोग श्रद्धा-भक्तिके साथ सानन्द करते हैं, उन्हें यहाँ भी वही आनन्द प्राप्त होता है जो भगवद्धाममें पहुँचे हुए मुक्त पुरुषोंको होता है। करके देखनेसे यह आप ही प्रत्यक्ष हो सकता है।

थियासफीकी साधना

(लेखक—श्रीहीरेन्द्रनाथ दत्त, एम०ए०, बी०एल०, वेदान्तरत्न)

श्री'कल्याण' सम्पादकका अनुरोध है कि इस साधनाङ्कमें मैं थियासफीकी साधनाके सम्बन्धमें कुछ लिखूँ। मैं यह बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि हिंदूधर्म, बौद्धधर्म, पारसीधर्म अथवा ईसाईधर्मके समान थियासफी कोई धर्मसम्प्रदाय नहीं है। थियासफीको धर्मका विशुद्ध गणित कहा गया है, और यही उसका यथार्थ वर्णन है। सब धर्मोंके पीछे और परे वह हुआ करता है। जिस पुरातन ज्ञानको उपनिषद्‌में ब्रह्मविद्या कहा जाता है, जो पराविद्या होनेसे पुरातन वेदान्तसे अभिन्न है, उसीको आधुनिक जगत्‌में थियासफीका उद्घोष करनेवाली देवी श्रीमती एच०पी० ब्लावेट्स्कीने समस्त मानव-ज्ञानका आदि और अन्त माना है। अब यह देखें कि इस थियासफीका साधनाके सम्बन्धमें क्या कहना है।

प्रथमतः थियासफीमें जीव या व्यष्टिपुरुषमात्रको भगवदंश (गीताके शब्दोंमें '**ममैवांशः**') 'विश्वार्चिका एक स्फुलिंग, अमृतसिन्धुका एक तरंग कहकर, इस प्रकार '**तत्त्वमसि**' '**सोऽहम्**' आदि वेदान्त-महावाक्योंका समर्थन किया गया है। जीव और ब्रह्म इस प्रकार एक ही हैं; दोनों-की एक ही सत्-चित्-आनन्दस्वरूप त्रिविध सत्ता है। अन्तर केवल इतना ही है कि ब्रह्म सुव्यक्त सच्चिदानन्द, शक्ति-ज्ञान-आनन्दकी महामहिम त्रिमूर्ति हैं (जैसा कि थियासफीकी परिभाषामें कहा जाता है), और जीव अव्यक्त सच्चिदानन्द है—उसमें ये तीनों भाव अभी अव्यक्त हैं। इसलिये थियासफी जीवको 'ब्रह्मभूय' कहती है अर्थात् विकासक्रमसे जीव किसी दिन ईश्वरके पूर्ण साधर्म्यको प्राप्त होगा और यह कहेगा कि 'मैं और मेरा पिता दोनों एक हैं।' यह सिद्धि किस प्रकार होगी?

जीवके अंदर सुप्त ये तीन भाव—शक्ति, ज्ञान और आनन्द किस प्रकार जाग्रत् और व्यक्त होंगे? यह कार्य साधनासे होगा।

थियासफीका यह सिद्धान्त है कि जीव-बीज प्रकृतिकी योनिमें बोये जाते हैं—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।

अशक्तिकी अवस्थामें इनका वपन होता है, जिसमें ये एक दिन शक्ति-सम्पन्न होकर उठें, और छोटे-छोटे बीजोंसे बड़े-बड़े सुदृढ़ वृक्ष बनें अथवा टिमटिमाती हुई चिनगारियाँ जलती-धधकती हुई ज्वालाएँ बनकर फैलें।

इसीको सिद्ध करनेके लिये जीवको मानो एक बड़ी लंबी यात्रा करने भेज दिया गया।

तस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।

'ब्रह्मचक्रमें हंसको (थियासफीमें उसे Monad कहते हैं) भ्रमण करना पड़ता है।' इस चक्रके दो अर्द्धभाग हैं, जिनका विचार आगे करेंगे। इनमेंसे एक प्रवृत्तिमार्ग है और दूसरा निवृत्तिमार्ग।

हंसने पहले खनिज धातु-जगत्में प्रवेश किया और कई जन्म उस योनिके बिताकर वह वनस्पति बना। वनस्पति-योनिसे मरकर और उस जगत्को पीछे छोड़कर वह पशु बना। फिर काल प्राप्त होनेपर पशु-जीवनसे मरकर वह मानुषी-तनुमें प्रविष्ट हुआ।

एक प्राचीन हिंदू-ग्रन्थमें विकासकी इन अवस्थाओंका प्राय: पूर्ण वर्णन देखकर बड़ा कुतूहल होता है। इसमें यह कहा गया है कि धातुयोनिमें जीवको बराबर २० लाख बार जन्म लेना पड़ता है, तब वह वनस्पति-सृष्टिमें आता है। वनस्पति-योनिमें उसे ९ लाख जन्म लेने पड़ते हैं, इतनी ही बार सरीसृपयोनिमें,१० लाख बार पक्षियोनिमें, ३० लाख बार पशुयोनिमें और ४ लाख बार वानरयोनिमें, इतनी योनियोंमें इतनी बार भ्रमण करके अन्तमें वह मनुष्ययोनिको प्राप्त होता है।

मनुष्य होनेपर वह पहले असभ्य और पीछे धीरे-धीरे सभ्य होता है। इस समय जगत्में जो मनुष्य हैं, उनमेंसे अधिकांश 'सभ्य' पदवीको प्राप्त हैं; पर मनुष्य 'अभी अपूर्ण है, गर्भस्थ अर्भक-सा विद्रूप, अकृत-अधूरा और असिद्ध है।' (सर आलीवर लाज) अर्थात् अभी वह प्रवृत्तिमार्गपर चल रहा है—जो कुछ मिलता है, उसे लेता हुआ आगे बढ़ रहा है। इसके बाद उसे कोना काटकर निवृत्तिमार्गपर आना होगा; इस मार्गमें आगे बढ़नेका साधन जो कुछ है,उसे देना है, त्याग करते हुए आगे बढ़ना है। अब वह समय आ गया है, जब जीवको साधनका आश्रय करके साधन-क्रमसे इस तरह चलना होगा कि 'उसका नवीन जन्म हो, ऊपरसे जन्म हो।' भारतवर्षमें द्विजन्मा पुरुषको ब्राह्मण कहते हैं। बृहद्विष्णुपुराणमें कहा है कि लाखों जन्म भटक कर अन्तमें जीव ब्राह्मणत्वको प्राप्त होता है। ब्राहाणको यथाकाल साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न होकर अधिकारी बनना चाहिये। यह साधन-चतुष्टय है—विवेक, वैराग्य, षट्-सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व। इन साधनोंसे सम्पन्न होनेपर दीक्षाका अधिकार प्राप्त होता है और यथाकाल उसे दीक्षा मिलती है। वेदान्तके अनुरूप ही थियासफीमें चार प्रकारके दीक्षित माने गये हैं। श्रीमत् शङ्कराचार्य इन्हीं चारोंको कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस कहते हैं। बौद्धमतमें इन्हीं चारको स्रोत आपन्न सकृतागामी, अनागामी और अर्हत् कहते हैं। अर्हत् या परमहंस उस अधिकारीको कहते हैं, जिसे चतुर्थ दीक्षा प्राप्त हो चुकी हो। इसके बाद जो दीक्षा है, वह दीक्षितको दीक्षितपदसे उठाकर सिद्ध पदपर बैठाती है। इन्हीं सिद्ध पुरुषोंको इस देशके लोग ऋषि कहते हैं।

ऋषि जब छठी दीक्षा लेता है, तब वह महर्षि होता है और महर्षि सातवीं दीक्षा लेकर परमर्षि होता है। थियासफीमें इन्हींको चोहान और महाचोहान कहते हैं। इस प्रकार जीव जो अज्ञानमें जन्म लेकर यात्रा आरम्भ करता है, वह साधनमार्गसे सर्वज्ञताको प्राप्त होता है।

परन्तु यहीं साधना समाप्त नहीं होती। अब उसे इस समतल उपत्यकाको छोड़कर ऊँचे ढलुए पर्वतके शिखरपर चढ़ना है—लौकिक विकाससे अलौकिक विकासको प्राप्त होना है। मौलाना रूमी इसी बातकी ओर अपने इन अर्थपूर्ण शब्दोंद्वारा सङ्केत करते हैं—'अबकी बार मैं मनुष्यभावसे मर जाऊँगा, जिसमें देवताके पंख मेरे शरीरमें निकल आवें।' अर्थात् वह महापुरुष मैं बनूँ जिसे उपनिषद् स्वराट्, विराट् कहते हैं, जो इस अनन्त आकाशमें धूलिकणोंके समान बिखरे हुए असंख्य ब्रह्माण्डोंमेंसे किसी एक ब्रह्माण्डका राजत्व या आधिपत्य करते हैं। इन्हींको थियासफीमें बोलर लॉगोस

(Bolar Logos) कहते हैं। पर इतनेसे क्या जीव अपनी परागतिको पहुँचा? नहीं, अभी नहीं। मौलाना रूमी कहते हैं—

'एक बार, फिर, मैं उठकर देवोंके ऊपर पहुँचूँगा। मै वह बनूँगा, जो कल्पनामें नहीं समाता। वह जो कुछ है, उसके पास मैं लौट जाऊँगा।'

कहाँ लौटोगे? लौटेंगे वहाँ जो हमारा 'अस्ता' है, जो वेदवाणीमें स्वस्थान या निजधाम है।

'महामहिमाके हम नीचे बरसनेवाले बादल भगवान्से ही यहाँ आते हैं। वही हमारा धाम है।' कहना नहीं होगा कि यह निजधाम भगवान्से भिन्न नहीं है।

इसीको वेदान्तमें ब्रह्मसायुज्य कहते हैं। 'ब्रह्म होकर वह ब्रह्मको प्राप्त होता है।' (बृहदा० ४। ४। ६) अब वह कम-से-कम इतना तो कह सकता है कि 'अब समाप्ति हुई।' यही दिव्य भवितव्यता है—जीवके लिये थियासफी जिसका मार्ग निर्देश करती है।

थियासफ़ीकी उपासना-पद्धति

(लेखक—रायबहादुर पंड्या बैजनाथजी, बी०ए०, एफ० टी एस०)

इस उपासनामें ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग आदि सबका समावेश है। इसके असल आचार्य जीवन्मुक्त महात्मा हैं, जो जगत्में प्रकट नहीं हैं। साधकका बहुत कालतक उनसे स्थूल जगत्में परिचय नहीं होता। वह सुषुप्तिमें उनसे उपदेश पाता है। थियासफ़ी केवल ब्रह्मज्ञान है। मनुष्य विकासक्रमसे उच्चतर अवस्थाको प्राप्त होता जाता है, अन्तमें देवत्वको और उससे भी उच्चतर पदको प्राप्त होगा। उसे अपने विकासमें शीघ्रता करनी है तो अपनेमें नैतिक गुणोंका, योगके यम-नियमादिकोंका, वेदान्तके साधन-चतुष्टयोंका, समझ-बूझकर अभ्यासद्वारा विकास करना चाहिये। और सम्प्रदायोंसे भेद केवल इतना है कि जहाँ और सम्प्रदायोंमें साधक अपनी साधना केवल अपने आत्म-कल्याणके लिये ही करता है, थियासफ़ीमें साधक इन साधनाओंको इसलिये करता है कि इनसे वह विशेष योग्यता और पवित्रता प्राप्त कर जगत्की विशेष सेवा कर सके। यहाँ साधक अपने मोक्षकी चिन्ता न कर जगत्-कल्याणके लिये, दूसरोंकी सेवाके लिये, दूसरोंको मार्ग चलनेमें सहायता देनेके लिये, आरम्भसे प्रयत्न करता है। हाँ, यह सही है कि आरम्भमें यह बहुत थोड़ी सेवा कर सकेगा; पर परकल्याण ही उसका परम धर्म है। और सम्प्रदायोंमें साधनाद्वारा शक्ति पाकर, यदि साधन-चतुष्टय न सध चुका हो तो, उस शक्तिको स्वार्थकी ओर खर्च करके गिर पड़ना सम्भव है। यहाँ जबतक पवित्रता न आ जाय, साधकको कोई ऐसी शक्ति नहीं दी जाती जिसका दुरुपयोग हो सके। आजकल अंग्रेजीमें बहुत-सी पुस्तकें ऐसी छपती हैं, जिनमें दूसरोंपर अपनी इच्छाशक्तिद्वारा प्रभाव डालना बताया जाता है। यह वाममार्ग गिरनेका रास्ता है। थियासफ़ीमें किसीकी इच्छापर प्रभाव नहीं डाला जा सकता, किसीपर ऐसा प्रभाव नहीं डाला जाता कि वह अमुक विचार करे। उसे आशीर्वाद दिया जाता है, उसका कल्याण मनाया जाता है, उसके विचारार्थ उसके मनमें विचार उत्पन्न किये जाते हैं, पर उसकी इच्छाशक्तिको सदैव स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता है, जिसमें वह चाहे जैसा अपना निर्णय करे। थियासफिस्ट साधककी यह आकाङ्क्षा रहती है कि वह अपनी साधनामें सिद्ध होकर जगत्के दूसरे लोगोंको मार्ग चलनेमें सहायक हो। इसलिये पहले वह अपने मन, विचार, मनके भाव, कर्म और स्थूल शरीरके संयममें लगता है। समझ-बूझकर अच्छे-अच्छे सद्गुणोंका मनन और निदिध्यासन कर वह उनको अपने अंदर अभ्यासद्वारा बढ़ाता है। अपने आहार-विहारको सात्त्विक बनाकर अपने कोशोंको शुद्ध करता है। अपनी चेतनाको शरीरसे भिन्न कर ऊँचा चढ़ाने, अपने-आपको कारणशरीरस्थ जीवात्मा जानकर शरीरकी इन्द्रियोंका निग्रह करने, और पीछे यदि हो सके तो, अपनेको सबमें देखने और सबको अपने अंदर देखनेका प्रयत्न करता है। (देखो भगवद्गीता अध्याय ६, श्लोक २९।) इस साधकको ऐसा वाक्संयम भी करना चाहिये कि वह केवल सत्य, प्रिय, हितकारी और अनुद्वेगकर वाक्य ही बोले। ऐसा साधक अपनी चेतना ईश्वरसे मिलानेका प्रयत्न करता है। थोड़ी देरके लिये अपनेको भूलकर उस ऊँची ईश्वरमय चेतनामें स्थित होना चाहता है। वह अपने ध्यानमें जगत्को, जाने हुए दुखियोंको और सबको उनके कल्याणके आशीर्वाद भेजता है।

प्रत्येक सौरमण्डल एक विश्व है। कितने विश्व हैं और कितने ब्रह्मा, विष्णु और शिवादि हैं—इनकी गिनती नहीं है, यह देवीभागवतका कहना है। थियासफ़ीका भी

यही कहना है। इसलिये सौरमण्डलमें वर्तमान या व्याप्त, उसको चलानेवाली शक्ति ही हमारा ईश्वर है। उसमें और परब्रह्ममें कितना अन्तर है, इसका विचार मनुष्यकी बुद्धिसे परे है। उपासना इस सौरमण्डलव्याप्त ईश्वरकी ही हम कर सकते हैं। उसकी सत्ता सर्वत्र कार्य करती है। सारे सौरमण्डलमें वह सर्वशक्तिमान् और सर्वका ज्ञान रखनेवाला है। सबकी सच्ची आर्त हृदयकी पुकार उसके पास पहुँचती है, और वह उसका उत्तर देता है। पर जैसे सकाम भक्ति गौण है, वैसे ही ईश्वरसे अपनी नीची इच्छाओंकी पूर्तिके लिये प्रार्थना करना हलकी बात है।

जब साधन-चतुष्टय कुछ सध चुकते हैं और साधकमें कुछ योग्यता आ जाती है और जनसेवाके कारण साधकका पुण्यसञ्चय हो जाता है तो ब्रह्मनिष्ठ अदृश्य गुरु उसे अपना परीक्ष्यमाण शिष्य बनाते हैं। सूक्ष्म प्रकृतिको उस शिष्यकी प्रतिमूर्ति बनाकर अपने यहाँ रखते हैं। शिष्यके प्रत्येक भावसे यह मूर्ति प्रभावित होगी और दिन-रात्रिमें एक बार देख लेनेसे शिष्यके मनके भावोंका दिनभरका पूरा-पूरा हाल गुरुको ज्ञात हो जायगा। गुरु शिष्यके ऊँचे कोषोंपर अपना प्रभाव भी डालता रहता है। जब शिष्यकी परीक्षा करते रहनेसे ज्ञात होता है कि शिष्यमें काफी सात्त्विकता और पवित्रता आ गयी है, तब गुरुदेव उस शिष्यको अपना स्वीकृत शिष्य बनाते हैं।

स्वीकार कर लेनेसे गुरुदेव और शिष्यमें ऐसी एकता और घनिष्ठता हो जाती है कि उसकी कल्पना नहीं हो सकती। अब गुरुदेवकी सब शक्तियाँ शिष्यपर आप-से-आप कार्य करती हैं। शिष्यके सब विचार गुरुदेवके मनमें पहुँच जाते हैं। यदि अपवित्र विचार शिष्यके मनमें आवें तो गुरुदेवको थोड़ी देरके लिये दोनोंके बीचमें परदा डाल देना पड़ता है। गुरुदेव अपनी शक्ति शिष्यके द्वारा दूसरोंके कल्याणार्थ भेजते हैं। इस पदमें शिष्य और गुरुदेवका अवर्णनीय ऐक्य हो जाता है। जबतक शिष्यको दूसरोंका हितचिन्तन करते रहने, दूसरोंको अपना ध्यान और शक्ति देने, कल्याणकारी विचार और आशीर्वाद सब मनुष्योंमें वितरण करनेकी आदत न पड़े, तबतक वह शिष्य स्वीकृत नहीं होता स्वीकृतिके आरम्भमें शिष्यको ऐसा भान होता है कि मुझमेंसे बहुत-सी शक्तिका प्रवाह किया जाता है। पीछेसे मंद प्रवाह सदैव होता रहता है और विशेष प्रसंगपर विशेष प्रवाह होता है। इसके पश्चात् साधन-चतुष्टयके अभ्यासमें काफी उन्नति हो चुकनेपर प्रथम दीक्षा होती है, जो भगवान् सनत्कुमारकी आज्ञासे दूसरे महात्मा देते हैं। तब शिष्य इन महात्माओंके सङ्घका एक अदना सदस्य बनता है। इसको बौद्ध-साहित्यमें स्रोतआपत्ति और संन्यासादि उपनिषदोंमें कुटीचक कहते हैं। इसके परे तीन और दीक्षाएँ होती हैं, जिन्हें सकृदागामी या बहूदक, अनागामी या हंस और अर्हत् या परमहंस कहते हैं। इनके वर्णन करनेकी यहाँ आवश्यकता नहीं है। इसके परे अशेख या तुरीयातीत अथवा जीवन्मुक्त महात्माका पद है।

अर्हत्पदप्राप्त व्यक्ति भी शिष्य ग्रहण नहीं कर सकता, केवल अशेख या जीवन्मुक्त महात्मा ही गुरु बन सकते हैं। श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराणमें वर्णित मरु और देवापि दो महात्मा इस संस्थाके मूल सञ्चालक और गुरु हैं। इनके सिवा जीसस इत्यादि और महात्मा भी इस पदके हैं। भगवान् अगस्त्य इनसे भी ऊँचे हैं। यह सब स्थूलशरीर-धारी हैं। कोई-कोई और भी स्थूलशरीर रखते हैं, पर कई केवल सूक्ष्मशरीर ही रखते हैं और काम पड़नेपर स्थूल आकृति बना सकते हैं।

अदृश्य सहायक

इन महात्माओंका सब लोकोंमें कार्य करना पड़ता है। सब शिक्षित व्यक्ति सोनेपर अपने स्थूलशरीरसे निकलकर सूक्ष्मशरीरद्वारा भुवर्लोकमें कार्य कर सकते हैं; पर उसका ज्ञान न होनेसे वे प्राय: अपने दिनके विचार लेकर ही उनकी उधेड़-बुन करते रहते हैं। वे चाहें तो उस भुवर्लोकमें परसेवाका बहुत-सा कार्य कर सकते हैं। ऐसे प्रयत्न करनेवालेको आरम्भमें ऐसा भान हो सकता है कि मैं हवामें उड़ रहा हूँ या पानीमें तैरता हूँ या रेल या मोटरमें जा रहा हूँ। यदि वह अमुक व्यक्तिको अमुक प्रकारकी सहायता देनेका विचार कर सोवे तो वह उस प्रकारकी सहायता अवश्य देगा, चाहे उसे जगनेपर उसकी स्मृति रहे या न रहे। कई लोग इस प्रकारका कार्य करते हैं। किसी-किसीको उसकी स्मृति भी रहती है। कभी-कभी एक ही कार्यमें दो-तीन व्यक्ति शामिल हो जाते हैं और जगनेपर दोनों-तीनों अपनी-अपनी स्मृति मिलानेपर सब मिलती हुई पाते हैं। भुवर्लोकके कार्यका अनुभव जगनेपर स्वप्नके रूपमें याद पड़ता है, पर उसमें हमारा मगज़ अपने विचार भी भर देता है। इस कारण दोनोंको अलग-अलग कर लेना सीख लेना चाहिये।

सूफ़ियोंका साधना-मार्ग*

(लेखक—डॉ० एम० हाफ़िज सैयद मुहम्मद, एम०ए०,पी-एच०डी०, डी०लिट्०)

वेदान्तके सिद्धान्तोंके अनुरूप सूफ़ीमतके सिद्धान्तोंमें भी ब्रह्मकी अनुभूति साधकोंके हृदयमें अन्त:पक्षसे मानी गयी है। कर्मकाण्ड और आचारकी विशिष्टताका उतना अधिक महत्त्व नहीं है, जितना हृदयकी अनुभूतिसे आत्समर्पणका है। किन्तु यह कहना कि सूफ़ीमतमें साधना-पक्षका अभाव है, सत्यसे दूर होगा। वह साधना-पक्ष क्या है ? ब्रह्मकी अनुभूतिके लिये किन अवस्थाओंमें होकर जाना पड़ता है, इसपर हम प्रकाश डालनेकी चेष्टा करेंगे। पहले हम सूफ़ीमतके अनुसार ब्रह्म (ज़ाते वहत)-की भावनापर विचार करते हैं।

सूफ़ीमतका ब्रह्म वेदान्तके ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। जिस प्रकार वेदान्तका ब्रह्म एक है, उसके अतिरिक्त कोई दूसरी सत्ता नहीं है (**'एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति'**), उसी प्रकार सूफ़ीमतमें भी ब्रह्म एक है—वह 'हस्तिए मुतलक़ है। वह किसी भी रूप या आकारसे रहित है। वह सर्वव्यापी है, किन्तु किसी वस्तुविशेषमें केन्द्रीभूत नहीं है। वह अगोचर और अज्ञेय है, वह असीम है। उसमें कोई परिवर्तन और विनाश नहीं है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी सत्य नहीं है। अत: वह एकान्तरूपसे एक ही है, और अन्य कोई सत्ता उसके समकक्ष नहीं है। ऐसी परिस्थितिमें ब्रह्मका जो ज्ञान होता है, वह किसी भौतिक साधनसे न होकर आत्मानुभूतिसे ही होता है। हम ब्रह्मके अनन्त गुणोंको जानकर ही उसके सम्बन्धमें अपनी कल्पना कर सकते हैं। उसके विभवमें ही हम उसके लोकोत्तर रूपका अनुमान कर सकते हैं। इस रूपकी भावना, जो केवल 'एक' के रूपमें समझी गयी है, सूफ़ीमतमें 'ज़ात' संज्ञासे अभिहित है। इस ज़ातका परिचय उसकी 'सिफ़त' में है। यह 'सिफ़त' ज़ातकी वह शक्ति है, जिससे वह सृष्टिकी रचना करता है। सृष्टिकी अनन्त रूपवाली समस्त सामग्री है 'सिफ़त'। जिसके द्वारा हम 'ज़ात' की शक्तिमत्ताका परिचय प्राप्त कर सकते हैं। इसे हम वेदान्तमें **'मायामात्रं' तु कात्स्र्येनाभिव्यक्तस्वरूपात्'** के रूपमें मान सकते हैं। तुलसीके शब्दोंमें **'यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलम्'** की भावना भी यही है। इतना होते हुए भी सिफ़त ज़ातसे किसी प्रकार भी भिन्न नहीं है, किन्तु 'सिफ़त' ही 'ज़ात नहीं है। सिफ़तके अनेक रूप भिन्न होते हुए भी एक हैं। हम 'सिफ़त' को ज़ातसे उद्भूत गुण मान सकते हैं। जिस प्रकार किसी सुगन्धित पुष्पकी सुगन्धि पुष्पसे उद्‌भूत होते हुए भी पुष्प नहीं है, यद्यपि हम सुगन्धि और पुष्पको किसी प्रकार विभाजित नहीं कर सकते—फूलकी भावनाहीमें सुगन्धि है और सुगन्धिकी भावनामें ही पुष्पका परिचय है; किन्तु यह सब विज्ञान किसी प्रकार भी ज़ातको सीमाबद्ध नहीं कर सकता। कबीरने इसी भावनामें सगुणवादका विरोध करते हुए लिखा था—

जाके मुख माथा नहीं, नाहीं रूप कुरूप।
पुहुप बास तें पातरा, ऐसा तत्व अनूप॥

इस प्रकार हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि ब्रह्म या ज़ातका अस्तित्व हमें केवल उसकी सिफ़त या सृष्टि करनेवाली शक्तिसे ही ज्ञात होता है। यदि उसकी 'सिफ़त' हमारे समक्ष न हो तो हम उसकी वास्तविक अनुभूतिसे वञ्चित रहेंगे। हम सिफ़तको ज़ातका एक 'प्रकट रूप' या 'अभिव्यक्ति' मानते हैं।

क़ुरानशरीफ़के शब्दोंमें आत्मा या 'रूह' 'अमरे रब' या ब्रह्मकी अनुज्ञा है। हदीसमें लिखा हुआ है कि ज़ाते बहतने (अथवा निर्गुण ब्रह्मने) आत्माको अपने रूपके अनुसार ही उत्पन्न किया है। किन्तु इसलिये कि ब्रह्मका कोई रूप नहीं है, आत्माका भी रूप नहीं हो सकता। जिस प्रकार हम ब्रह्मकी सत्यताका परिचय परोक्ष रूपमें ही प्राप्त कर सकते हैं, उसके किसी विशिष्ट आकारसे परिचित नहीं हो सकते, उसी प्रकार हम आत्माके भी किसी रूपको नहीं जान सकते, क्योंकि उसका कोई रूप या आकार नहीं है। यह आत्मा एक है। जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंमें किसी प्रकारकी भिन्नता नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्मसे उत्पन्न जीवात्माओंमें भी किसी प्रकारकी भिन्नता नहीं हो सकती। प्रत्येक किरणमें जिस प्रकार सूर्य दिखलायी दे सकता है (यद्यपि सम्पूर्ण सूर्य वहाँ नहीं है), उसी प्रकार प्रत्येक आत्मामें ब्रह्मका रूप प्रतिबिम्बित होता है। संक्षेपमें हम कह सकते हैं कि आत्मा वह दर्पण है, जिसमें ब्रह्म प्रतिबिम्बित होता है।

---

* इस लेखके लिखनेमें मुझे अपने परम मित्र प्रो० श्रीरामकुमार वर्मा, एम०ए०से विशेष सहायता मिली है, जिसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

हमारे सामने अब यह प्रश्न उठता है कि इस सृष्टिका रहस्य क्या है? क़ुरानशरीफ़के अनुसार '**मा ख़लक़्तल् इन्स व जिन्न इल्लाले आबदून** (मैंने नहीं पैदा किया मनुष्य और देवताओंको—सिवा इबादतके लिये)-में ही सृष्टि-निर्माणका रहस्य है। अर्थात् ख़ुदाने अपनी शक्तिसे जिस सृष्टिका विधान किया है, उसके लिये स्वानुभूतिके अतिरिक्त और कौन मार्ग हो सकता है? जो सृष्टि ब्रह्ममय है, उसका स्वधर्म ही ब्रह्मकी उपासना होना चाहिये। यही सिद्धान्त क़ुरानशरीफ़का है। यदि ध्यानसे देखा जाय तो सृष्टि-निर्माणके इस रहस्यमें ही उपासनामार्ग छिपा हुआ है। खुदा या ब्रह्मकी इबादतका तात्पर्य ही एक निश्चित साधनामें है। अतः सूफ़ीमतमें सिद्धिके अन्तर्गत ही साधनाका मार्ग व्यञ्जित है। यह साधना दो रूप ग्रहण करती है—एक तो साधारण और दूसरा विशिष्ट। साधारण मार्गमें तो कुछ ही सिद्धान्त हैं, जो विधि और निषेधके अन्तर्गत हैं। करणीय और अकरणीयकी आज्ञाओंमें ही इस मार्गकी रूपरेखा है। अवामिर (विधि) और नवाही (निषध)-का ही विधान इस साधारण साधनापक्षमें है। यह मनुष्यमात्रके साधारण धार्मिक जीवनके लिये आवश्यक है। कोई भी मनुष्य अपने अस्तित्वको तभी सफल मान सकता है, जब वह इस विधि और निषेधमय आदेशोंके अनुसार अपने जीवन-को सुचारुरूपसे सञ्चालित कर सके। इस प्रकारके जीवनमें संयम (रियाज़त)-की बड़ी आवश्यकता मानी गयी है। साथ ही आध्यात्मिकताके लिये जीवनको अधिक-से-अधिक अलौकिक सत्ताके समीप लानेकी आवश्यकता है। इसके लिये ही 'नमाज़' की आयोजना है। दिनके पाँच भागोंमें अपनेको ईश्वरके सम्पर्कमें लानेके लिये 'नमाज़' का विधान रखा गया है। यह आचरण उन लोगोंके लिये अत्यन्त आवश्यक है जो संसारमें जीवन व्यतीत करते हुए ईश्वरीय सत्ताकी ओर आकर्षित हैं। अर्थात् इस प्रकारके व्यक्तियोंके जीवनमें सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकारके पक्ष हैं; किन्तु मनुष्योंमें एक वर्ग ऐसा भी है, जो केवल आध्यात्मिक पक्षमें ही सन्तोष मानता है। उसके लिये लौकिक पक्षका कोई मूल्य नहीं है। उसे संसारमें कोई भी वस्तु ऐसी नहीं दीख पड़ती, जो उसे स्थायी सुख और शान्ति दे सके। वे इस संसारको क्षणभंगुर मानते हैं, इसके सुखोंको मृगतृष्णा और इसकी आशाओंको इन्द्रधनुषकी भाँति आधारहीन समझते हैं। उनके लिये संसारका अस्तित्व वास्तविक नहीं है। अतः लौकिक पक्ष उनके सामने कोई महत्त्व नहीं रखता। वे एकमात्र अलौकिक या आध्यात्मिक पक्षकी सार्थकता ही मानते हैं और इसीमें उन्हें परम सुख और आनन्दकी चरम प्राप्ति होती है। यह अलौकिक या आध्यात्मिक पक्ष ईश्वरके जप (ज़िक्र) या स्मरणमें ही माना जाता है। यह स्मरण दो प्रकारसे मान्य है—

(१) ईश्वरके नाम और उसके गुणोंका जाप इस प्रकार हो कि उससे समस्त जीवन ओतप्रोत हो जाय। शरीरके प्रत्येक भागमें उसी अलौकिक सत्यका संचार हो।*

(२) साधक ईश्वरीय तत्त्वका चिन्तन दार्शनिक रूपसे करे। वह आत्मा और परमात्माके पारस्परिक सम्बन्धपर विचार करे और दोनोंके स्वरूपनिर्धारणमें लीन हो।

इन दो विभागोंपर हम विस्तारसे विचार करेंगे। इनके अन्तर्गत जपके अनेक रूप हैं। मनुष्यकी जितनी साँसें हैं, उतने ही अधिक साधनाके मार्ग हैं, किन्तु हम संक्षेपमें कुछ ही मार्गोंका निर्देश करेंगे।

तवज्जह (ध्यान)—इस साधनामें (मुर्शिद) गुरु शिष्य (मुरीद)को अपने सामने घुटने मोड़कर बैठावे और स्वयं भी उसके सामने इस प्रकार बैठे। फिर हृदयको समस्त भावनाओंसे रहित एवं एकाग्र करके अल्लाहका नाम १०१ साँसमें अनुमानसे शिष्यके हृदयपर अनुलेखित करे और यह विचार करे कि अल्लाहके नामका प्रभाव मेरी ओरसे शिष्यके हृदयकी ओर प्रेरित हो रहा है। इस प्रकार एक या अनेक प्रयोगोंमें शिष्यके हृदयमें आलोक छा जायगा और उसके हृदयमें जागृति इस प्रकार हो जायगी कि वह उपासनाका पूर्ण अधिकारी बन सकेगा।

ज़िक्र जेहर—इस साधनाका सम्बन्ध 'चिश्तिया वंश' से है[१] और यह साधना अधिकतर गोपनीय रखी जाती है। इसे तहज्जुद[२]के बाद ही व्यक्त कर सकते हैं। उसकी प्रार्थना यह है—या अल्लाह, पाक कर मेरे दिलको अपने ग़ैरसे और रोशन कर मेरे दिलको अपने पहचानके नूरसे हमेशा या अल्लाह, या अल्लाह, या अल्लाह।' इस साधनाका यह ढंग है—साधक आलती-पालथी मारकर बैठे और दाहिने तथा बायें पैरके अँगूठे और उसके बराबरवाली अँगुलीसे

* हठयोगमें इसी स्थितिको 'अजपा जाप' कहते हैं।

१. सूफ़ीमतके सिद्धान्त चार वर्ग (स्कूल)-के हैं—चिश्तिया, क़ादरिया, सुहरवर्दिया और नक़्शबंदिया।

२. एक प्रकारकी नमाज़, जो रातके बारह बजेके बाद पढ़ी जाती है।

पाँवके घुटनेकी जड़में नीचेकी तरफ 'रगे कीमास' को पकड़े (रगे कीमासका सम्बन्ध हृदयसे है, उसे दबानेसे हृदयमें उष्णता उत्पन्न होती है)। बैठनेमें कमरको सीधा रखना चाहिये और मुख पश्चिमकी ओर हो। दोनों हाथ जानुओंपर रखे और 'बिसमिल्ला' कहकर तीन बार कलमा 'ला इलाह इल्लिल्लाह' पढ़े, इसके बाद जानुओंकी ओर इतना सिर झुकाये कि माथा घुटनेके पास पहुँच जावे और वहाँसे मधुर स्वरसे 'ला इलाह' का आरम्भ करके सिरको दाहिने घुटनेके ऊपरसे लाते हुए दायें कंधेतक फिराता हुआ लाये और साँसको इतना रोके कि जितनी देरमें तीन ज़रबें (अल्लाहके नामका उच्चारण) लग सकती हैं। इसके बाद सिरको कुछ पीठकी ओर टेढ़ा करके ध्यान करे कि ईश्वरके अतिरिक्त जितने सङ्कल्प-विकल्प हैं, वे मैंने पीठके पीछे डाल दिये। इसके बाद सिरको बायीं तरफकी छातीकी ओर झुकाकर, जहाँ हृदयका स्थान है, 'इल्लिल्लाह' कहे और यह विचार करे कि मैंने ईश्वरीय प्रेमको हृदयमें भर लिया। ला इलाहको 'ज़िक्रे नफ़ी' और इल्लिल्लाहको 'ज़िक्रे इसबात' कहते हैं। नफ़ीके वक्त आँखें खुली रहनी चाहिये और 'इसबात' के समय बंद।

ज़िक्रे पासे अनफ़ास—इस साधनाके अनेक रूप हैं,जिनमें केवल दो द्रष्टव्य हैं। पहला नफ़ी या इसबात का पासे अनफ़ास अर्थात् जब भीतरका साँस जाय तो ला इलाह कहे और जब बाहरका साँस आये तो इल्लिल्लाह कहे। सिर्फ़ साँससे यह उच्चारण हो, यहाँतक कि समीप बैठे हुए व्यक्तिको भी यह ज्ञात न हो सके। (यह समस्त साधना करते समय प्रत्येक साँसमें दृष्टि नाभिपर रहे और मुख बंद रहे)।

हब्जे दम—यह साधना समानरूपसे सभी सूफ़ियोंमें मान्य है, विशेषकर चिश्ती और क़ादरी इस साधनके विशेष पक्षमें हैं। नक़्शबंदी इसे परमावश्यक तो नहीं मानते, तथापि वे इसकी उपयोगितामें विश्वास रखते हैं। यह साँसका अभ्यास है (हठयोगके प्राणायामका रूप भी इसी प्रकार है)। मानसिक उन्नतिके साथ यह शारीरिक उन्नतिका भी मूल-मन्त्र है। इसके अभ्यासका ढंग यह है कि नाक और मुँह बंद करके साँसके रोकनेकी शक्ति बढ़ायी जावे।

शग़ले नसीर—ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्तीका विशेष साधन है। इससे मानसिक व्याधियाँ दूर होती हैं। इसका प्रकार यह है कि सायं-प्रातः अपने जानुओंपर बैठकर मनको एकाग्र कर दोनों आँखोंकी दृष्टि नासिकाके अग्रभागपर जमावे और निर्निमेष होकर देखे। इस दृष्टिमें अपरिमित ज्योतिका अनुमान करे। प्रारम्भमें नेत्रमें पीड़ा हो सकती है, किन्तु अन्तमें अभ्याससे साधना सरल हो जायगी।

शग़ले महमूदा—इस साधनामें दृष्टिको भौंहोंके बीचमें जमाना चाहिये। यद्यपि यह साधना पहले कठिन जान पड़ती है, किन्तु इससे हृदय चैतन्य हो जाता है। पतञ्जलिके योगसूत्रमें त्रिकुटीका विधान इसी प्रकारका है।

सुलतानुल अज़कार—इसके अनेक रूप हैं; किन्तु सबसे सरल रूप यह है कि आँख, नाक, कान, मुखको हाथकी उँगलियोंसे बंद करके साँसको नाभिसे खींचे और मस्तकतक ले जावे। वहाँ उसे रोककर शक्तिके अनुसार कुम्भक करे। जब साँसको नाभिके नीचेसे ऊपर ले जाने लगे तो वह 'अल्लाह' का उच्चारण करे और जब साँसको मस्तिष्कमें स्थापित करे तो 'हू' कहे। 'हू' कहते समय आँखको हृदयकी ओर स्थिर करे। जब कुम्भकमें साँसकी शक्ति घटने लगे तो उसे नाकके मार्गसे निकाल दे और इसीका पुनः अभ्यास करे। यह पहले एक या दो बारसे प्रारम्भकर अन्तमें बहुत देरतक बढ़ायी जा सकती है।

शग़ले सौते सरमदी—इस साधनामें आँख, नाक, कान और मुखको बंद कर ऊँचे स्थानसे नीचे स्थानको गिरनेवाली जलधाराके शब्दका अनुमान करे। इस अनुमानके साथ 'इस्मे ज़ात' (ईश्वरके नाम)-पर ध्यान रखे। क्रमशःयह अनुमान सत्यमें परिणत हो जायगा और वह आध्यात्मिक नाद सुन पड़ेगा, जो प्रत्येक साधकका आदर्श है।(योग-शास्त्रमें इसके समान ही अनहद नादकी व्यवस्था है।)

मुरातबा *—यह एक विशेष साधना है जो अनुमानकी शक्ति बढ़ाने और किसी वस्तुविशेषके रूपको हृदयंगम करनेके लिये की जाती है। हर मुरातबेमें जानुओंपर बैठना, गर्दन झुकाना, आँखें बंद कर ध्यान करना आवश्यक है। अनेक मुरातबोंमेंसे नीचे एक मुरातबेका वर्णन किया जाता है। उससे अन्य मुरातबोंका अनुमान किया जा सकता है।

मुरातबा इस्मे ज़ात—इसका यह ढंग है कि वज़ू करके (जलसे स्वच्छ होकर) पश्चिमकी ओर बैठ जाय और बिस्मिल्ला पढ़कर गर्दन झुकाकर इस्मे ज़ातका

* अरबी ज़बानमें रक़ब गर्दनको कहते हैं। मुरातबा गर्दन झुकाकर किया जाता है, इसलिये इसका नाम मुरातबा रखा गया है।

ध्यान करे, यानी 'इस्मे अल्लाह' पर एकाग्रचित्त हो। इससे इन्द्रियकी चञ्चलता नष्ट होगी। यदि सांसारिक सम्बन्धकी ओर चित्त दौड़े तो अपने गुरुकी ओर ध्यान एकाग्र करे। प्रारम्भमें इस अभ्यासके करनेमें कठिनाई होगी, किन्तु वह अभ्याससे धीरे-धीरे दूर हो जायगी और मन शान्त हो जायगा।

अन्तमें यह कहा जा सकता है कि सूफ़ीमतके चार वर्गोंके अनुसार (जिनका निर्देश ऊपर हो चुका है) साधनाके अनेक रूप माने गये हैं, किन्तु यहाँ हमने मुख्य-मुख्य साधनाओंका निर्देश किया है, जो सभी वर्गोंमें मान्य हैं। इन साधनाओंपर दृष्टि डालकर सरलतासे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सूफ़ीमतका साधना-भाग हिंदूधर्मके साधना-भागके कितने अनुरूप है। यह तो दोनों धर्मोंका दृष्टिकोण है कि बिना तपस्या और साधनाके सांसारिक आकर्षण और मोह नष्ट नहीं हो सकते और आत्माकी अनन्त ज्योतिकी किरण दृष्टिगत नहीं होती, जिसके प्रकाशमें साधक अपना साम्य परमात्मासे कर सकता है। आत्माकी शक्तिको विकसित कर उसे ईश्वरीय ज्योतिसे विभूषित करना ही इन साधनाओंका उद्देश्य है।

सूफ़ियोंकी साधना

(लेखक—श्रीचन्द्रबलिजी पाण्डेय, एम० ए०)

प्रेम-प्रतीकके सहारे चलनेवाले सूफ़ियोंकी साधनाके सम्बन्धमें ध्यान देनेकी बात यह है कि उनमेंसे कुछ तो इस्लामके विधि-विधानोंको मानते हुए प्रेमके मैदानमें उतरते हैं तो कुछ सीधे प्रेमके अखाड़ेमें आ धमकते हैं और इस्लामकी साधनाको अनिवार्य नहीं समझते । जो इस्लामको लिये दिये आगे बढ़ते है, उनकी इस्लाममें पूरी प्रतिष्ठा होती है और वे देखे भी पूज्य दृष्टिसे जाते हैं। पर जो इस्लामकी उपेक्षा कर अपना आसन जमाते हैं, उन्हे इस्लाममें जगह नहीं मिलती और फलतः उन्हें बेशरा, ज़िन्दीक़ या आज़ादके कटु नामसे याद किया जाता है। आज़ाद सूफ़ियोंकी साधनाके विषयमें कुछ विशेषरूपसे कहनेकी आवश्यकता नहीं दिखायी देती। अन्य सूफ़ियोंके साथ उनका भी उल्लेख होता रहेगा। एक बात और। बाशरा सूफ़ियोंके बारेमें भी कभी यह न सोचना चाहिये कि सचमुच उनकी निष्ठा इस्लाम ही है। नहीं, कदापि नहीं। उनका पक्ष केवल इतना ही है कि सभी विधि-विधानोंमें दैवी और अन्तिम होनेके कारण इस्लाम ही श्रेष्ठ है। इस्लामके अनुष्ठानसे सिद्धिकी प्राप्ति शीघ्र ही हो जाती है। बस, इसके आगे इस्लामके लिये और कोई आग्रह नहीं।

सूफ़ी वस्तुतः मधुकरी वृत्तिके जीव होते हैं। उनकी आँखें सदा खुली रहती हैं। जहाँ कहीं वे जाते हैं, अपने कामकी बातें छाँट लेते हैं। रस लेते और सीठीको छोड़ देते हैं। इसलिये उनकी साधनामें भी नाना प्रकारके रंगोंकी समायी हो जाती है और वह भी उन्हींकी भाँति बहुरंगी हो जाती है। पर यहाँ उन रंगोंकी सुनवायी न होगी। मूल सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें ही कुछ निवेदन कर दिया जायगा। हाँ, प्रसंगवश इतना अवश्य बता दिया जायगा कि भारतकी रसीली और उपजाऊ भूमिमें कौन-सा ऐसा गहरा रंग मिला जो उनकी साधनामें घर कर गया और फलतः आज भी चारों ओर किसी-न-किसी रूपमें बना ही है।

यों तो सूफ़ीमतके उदयमें भी आर्यसंस्कृतिका हाथ कहा जाता है, पर उसको माननेके लिये बहुतसे लोग तैयार नहीं हैं। पर इतना तो निर्विवाद है और सभी विद्वानोंने एक स्वरसे घोषित भी कर दिया है कि बादके तसव्वुफ़पर भारतका प्रभाव है। भारतने कब और किस प्रकार तसव्वुफ़को अनुप्राणित किया, यह इतिहासका विषय है और कालकी कठोरता एवं अपनी अवहेलनाके कारण आज खोजका विषय बन गया है। अतएव इसे यहीं छोड़ इतना और जान लीजिये कि हमारी योग-साधनासे सूफ़ी बराबर प्रभावित होते रहे हैं और मलिक मुहम्मद जायसी आदि सूफ़ी कवियोंने तो हठयोगकी चर्चा भी खूब की है। उनका कहना है—

नवो खंड नव पौरी, औ तहँ बज्र-केवार।
चारि बसेरे सौं चढ़ै, सत सौं उतरै पार॥

(पदमावत* पृ० १९)

जायसीका प्रकृत कथन उनकी साधनाका परिचायक

* सभी अवतरण 'जायसी-ग्रन्थावली', द्वितीय संस्करण (नागरीप्रचारिणी-सभा, काशी, सन् १९३५ ई०)-से लिये गये हैं।

है। पर यह निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता कि उनकी यह साधना इस्लामी है अथवा हठयोगी। उन्होंने अन्यत्र 'अखरावट' में (पृ० ३५६) इसीको इस रूपमें व्यक्त किया है—

बाँक चढ़ाव, सात 'खँड' ऊँचा, चारि बसेरे जाइ पहूँचा।'

खण्डों[१] की बात अलग रखिये। 'चार बसेरों' से जायसीका तात्पर्य क्या है? हम-आप तो अपनी-अपनी रुचिके अनुसार इसका अर्थ अलग-अलग लगा लेंगे। यदि आप ध्यान, धारणा, प्रत्याहार और समाधिका नाम लेंगे तो हम मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षाका। यदि आप यम, नियम, आसन और प्राणायामका उल्लेख करेंगे तो हम जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयका। सारांश यह कि सब लोग अपनी-अपनी साधनाके अनुसार इसका अर्थ करेंगे। पर क्या आप जानते हैं कि स्वयं 'जायसी'-सा इस्लामी सूफ़ी इसका अर्थ क्या करेगा। सुनिये। उसीका कहना है—

ना नमाज है दीनक थूनी, पढ़ै नमाज सोइ बड़गुनी।
कही तरीकत चिसती पीरू, उधरित असरफ औ जहँगीरू॥

....

राह हकीकत परै न चूकी, पैठि मारफत मार बुड़ूकी।
ढूँढ़ि उठै लेइ मानिक मोती, जाइ समाइ जोति महँ जोती॥

(अखरावट, पृ० ३६३)

अस्तु, परमज्योतिमें समा जानेके लिये ज्योतिको 'नमाज', 'तरीक़त' 'हक़ीक़त' और 'मारफ़त' का अनुष्ठान करना चाहिये। 'नमाज़' के प्रसंगमें ध्यान देनेकी बात यह है कि मलिक मुहम्मद जायसीने इस्लामके पंचस्तम्भोंमेंसे केवल 'सलात' याने नमाज़को लिया है। शेष चारको छोड़ क्यों दिया? क्या सूफ़ीसाधनामें सौम, ज़कात, हज और तौहीदका कोई स्थान नहीं? नहीं, ऐसी बात नहीं है। तौहीदका संकेत तो '**जाइ समाइ जोति महँ जोती**' में कर दिया है। रही सौम, ज़कात और हजकी बात। सो उसके विषयमें वहीं आगे चलकर स्पष्ट कह दिया है कि—

साँची राह सरीअत, जेहि बिसवास न होइ।
पाँव राखि तेहि सीढ़ी, निभरम पहुँचै सोइ॥

(अखरावट, पृ० ३६३)

अतएव मानना पड़ता है कि सूफ़ीसाधनाके 'चार बसेरे' शरीअ़त तरीक़त, हक़ीक़त और मारफ़त हैं। शरीअ़तके भीतर रोज़ा, नमाज़, ज़कात और हज—सभी आ जाते हैं। रोज़ा और नमाज़का अरबी नाम सौम और सलात है। इन साधनचतुष्टयोंमें तौहीदकी गणना नहीं की जा सकती। तौहीद साधन नहीं प्रत्युत साध्य है। इसी तौहीदकी प्राप्तिके लिये अन्य साधनाएँ की जाती हैं।

साधनचतुष्टयोंमें 'हज' और 'ज़कात' एक ढंगके हैं तो रोज़ा और नमाज़ दूसरे ढबके। सूफ़ियोंके विषयमें यह कहना ठीक नहीं कि वे हज और ज़कातको विशेष महत्त्व नहीं देते। सच पूछिये तो सूफ़ी 'हज़' और 'ज़कातकी' संकीर्णताको दूरकर उन्हें तीर्थ और दानका व्यापक रूप दे देते हैं और 'मक्का' एवं 'मुसलिम' के आगे भी परमात्माका प्रसार देखते हैं। रोज़ा और नमाज़को भी सूफ़ी तप और ध्यानके रूपमें लेते हैं और स्वभावत: उनके भी क्षेत्रको व्यापक बना देते हैं। उनकी दृष्टिमें अधिक-से-अधिक रोज़ा रखना और अधिक-से-अधिक नमाज़ पढ़ना और भी अधिक मंगलप्रद है। निदान हमें मानना पड़ता है कि साधनाके क्षेत्रमें सूफ़ी सलात, ज़कात, सौम और हजको उपलक्षण अथवा संकेतमात्र समझते हैं। इतना तो हर एक मुसलिमको करना चाहिये। यदि इससे अधिक करे तो और भी अच्छा है।

अब तौहीदकी बात आयी। तौहीदकी सिद्धिके लिये सालिकको क्या करना चाहिये? हमें तौहीदकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? कहनेकी बात नहीं कि यहींसे सूफ़ियोंकी सच्ची और निजी साधनाका आरम्भ होता है। यहींसे पीरी-मुरीदी चलती है और यहींसे मोमिन और मुरीदमें भेद उत्पन्न होता है। सूफ़ियोंके नाना सम्प्रदायोंकी छान-बीन हमारे किस कामकी। हमारे लिये तो इतना ही पर्याप्त है कि सभी एक मतसे 'तरीक़त[२], के क़ायल हैं और आग्रहके साथ कहते हैं—

जेइ पावा गुरु मीठ सो सुख मारग[३] महँ चलै।
सुख अनंद भा डीठ, 'मुहमद' साथी पोढ़ जेहि॥

(अखरावट, पृ० ३६३)

१. जायसीने सात खण्डोंकी व्याख्या 'अखरावट' में कर दी है, जो हठयोगियोंसे कुछ भिन्न है। शेष दो खण्ड 'अर्श' और 'कुर्सी' कहे जा सकते हैं।

२. 'तरीक़त' में ज़िक्र, फ़िक्र और 'समा' का सम्पादन किया जाता है। ज़िक्रको 'सुमिरन', फ़िक्रको चिन्तन और समाको संकीर्तन कहा जा सकता है। संगीतप्रधान होनेके कारण कुछ सम्प्रदाय समाको अच्छा नहीं समझते।

३. सूफ़ी चार लोकोंकी भी कल्पना करते हैं—जो क्रमश: नासूत, मलकूत, ज़बरूत और लाहूतके नामसे ख्यात हैं। इन्हें हम नरलोक, देवलोक, ऐश्वर्यलोक और ब्रह्मलोक कह सकते हैं।

पोढ़ साथी मिल गया तो 'बाँक चढ़ाव' का पक्का रास्ता मिल गया। तो क्या अब कोई डर नहीं रहा? नहीं, ऐसी बात नहीं है। अभी तो शैतानका सामना करना है। यदि सच्चे गुरुका साथ छूट गया और बीच मार्गमें शैतानने गुमराह कर दिया तो फिर फिसलकर चकनाचूर होनेके सिवा और क्या हाथ लगा। अतएव जबतक हक़ीक़तका यथार्थ बोध न हो जाय तबतक अपने गुरुका पीछा नहीं छोड़ना चाहिये और उनके सिखावनपर उचित ध्यान देकर अपने शत्रुओंका नाश करना चाहिये। जब नफ़तका सिक्का उठ गया और हक़का सच्चा बोध हो गया तब और आगे बढ़नेके लिये कुछ ऐसा तत्पर अनुष्ठान करना चाहिये कि 'मारफ़त' की स्थिति आ जाय। 'मारिफ़' की प्राप्तिसे होगा यह कि किसी शैतानकी दाल अब न गलेगी। 'मारफ़त' की दशामें पहुँच जानेपर पता चलेगा कि उसका साध्य कहीं और नहीं था। वह तो उसीमें छिपा क्या, खद वही था। अब उसे 'अनल्हक़' का भान होगा और वह ब्रह्मविहारमें मग्न होगा। अब उसे 'तौहीद' का सच्चा आनन्द मिलेगा। किन्तु इस्लामकी रक्षा और दीनकी प्रतिष्ठा चाहनेवाला 'अनल्हक़' की घोषणा न कर स्वतः इस्लामके सभी अंगोंका पालन करेगा और '**परगट लोकचार कहु बाता, गुपुत प्रेम मन जासों राता**' को चरितार्थ करेगा। पर जो इस्लामका भक्त नहीं' केवल प्रेमका पुजारी और ज्ञानका प्रचारक है, वह स्पष्टरूपमें उसकी घोषणा करेगा और फिर किसी क्रियाकलापके फेरमें न पड़ेगा। मुल्ला और काज़ी उसे ज़िन्दीक़ कहेंगे। प्राणदण्डके विधानसे वह तिल भी न डरेगा और शौकसे सूलीके तख्तेपर परम प्रियका आलिंगन कर उसीमें मग्न हो जायगा। उसकी सच्ची साधना सफल हो जायगी और उसके आलोकसे लोकका उद्धार होगा, हठ और पाषण्डकी एक भी न चलेगी।

इस्लाम धर्मकी कुछ बातें और शिया-सुन्नियोंका भेद

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी, एम० ए०)

हज़रत मुहम्मदको अपने समयकी अरबमें प्रचलित 'बुत्-परस्ती' खटकने लगी और उन्होंने 'ख़ुदा-परस्ती'का प्रचार करना निश्चय किया। बहुत दिनोंतक मक्काके समीप हारापर्वतकी एक गुफ़ामें एकान्तवासके अनन्तर उन्होंने अपनी स्त्रीसे सूचित किया कि फ़रिस्ता जिबराइल उनके पास यह समाचार लाये थे कि ख़ुदाने मुहम्मदको अपना पैग़म्बर नियत किया है। मुहम्मद अपठित थे और क़ुरानके वाक्य उनके मुखसे आवेशकी अवस्थाओंमें निकले कहे जाते हैं। क़ुरानका मुख्य आशय ख़ुदाकी एकता है। कहते हैं—ख़ुदा एक है और उसके सिवा कोई दूसरा नहीं। मुहम्मद उसके पैग़म्बर हैं। कलमा या इस्लामधर्मकी गायत्रीका यही अर्थ है। इस्लामके मुख्य अंग छः प्रकारके ईमान (सिद्धान्त) और चार प्रकारके दीन (कर्मकाण्ड) हैं। ईमानमें खुदा, उनके पैग़म्बर, उनके फ़रिश्ते, क़ुरान, खुदाकी सर्वशक्तिमत्ता तथा मृत्युके पश्चात् न्यायके दिनमें विश्वास करना है। दीनके अंग नमाज़, रोज़ा, ज़कात और हज हैं।

हमलोग एकान्तमें स्वस्थचित्त बैठकर सन्ध्योपासन करते हैं, ईसाई घुटने टेककर भगवच्चिन्तन करते हैं और यहूदी खड़े होकर प्रार्थना करते हैं; पर मुसल्मानोंकी पाँच वक्तकी नमाज़ (प्रार्थना)-का ढंग निराला ही है। चटाई अथवा दरी (जा-नमाज़) पर ही प्रार्थना हो सकती है और नमाज़के अवसरपर उपासकका मुख मक्केकी ओर होना चाहिये। शारीरिक शुद्धिके बिना नमाज़ स्वीकृत नहीं होती। मैथुन इत्यादि अवस्थाओंके उपरान्त स्नानसे ही शुद्धि होती है। अन्यथा हाथ-पैर और मुखको धोनेसे काम चल जाता है। जलके अभावमें बालूसे काम चल सकता है। नमाज़के समय उषाकाल, मध्याह्नके उपरान्त, मध्याह्न तथा सायङ्कालके मध्यमें, सूर्यास्तके कुछ बाद और सोनेके पूर्व हैं। ठीक इन समयोंपर मस्जिदकी मीनारोंसे इमाम लोग 'अल्लाहो अकबर' के नारे लगाते हैं। नमाज़को स्त्री नहीं सुन सकती। नमाज़में आठ प्रकारसे उठना-बैठना पड़ता है, प्रार्थनाएँ छोटी होती हैं और अरबी भाषामें पढ़ी जाती हैं। वे कई बार दुहराई जाती हैं। प्रत्येक प्रार्थनाको रकोह कहते हैं। प्रत्येक शुक्रवारको मयाह्नके उपरान्तकी नमाज़ सामूहिक होती है।

इस्लामी संवत्सर (हिजरी)-का प्रारम्भ रमज़ान माससे होता है और महीने चान्द्रमास होते हैं। उनके नाम मुहर्रम, सफ़र, रबीउल अव्वल, रबी उस्मानी, जमादुल अव्वल, जमादुस्सानी, रजब, शाबान,

रमज़ान, शव्वाल, ज़िलकद: और ज़िलहिज्ज: हैं। रमज़ानके महीनेभर प्रतिदिन व्रत रखा जाता है, जिसे 'रोज़ा' कहते हैं। रोज़ा रखनेमें सूर्योदयसे कुछ पहलेतक भोजन कर लेते हैं, फिर दिनमें न कुछ खाते न पीते हैं। सूर्यास्तके उपरान्त फिर भोजन करते हैं। रमज़ानके अन्तिम शुक्रवारको अल्विदा (बिदाई) कहते हैं और मासिक व्रतकी समाप्तिपर द्वितीयाके चन्द्रदर्शनपर ईद-उल्-फ़ित्र मनायी जाती है। मुसल्मान लोग शङ्करजीके भालपर स्थित चन्द्रहीको अपने प्रत्यक्ष देव मानते हैं।

ज़कात अथवा दानमें अपनी आयका चालीसवाँ भाग व्यय कर देना चाहिये। किसी माँगनेवाले (सायल)-को कटुवचन कहना मना है।

प्रत्येक मुसल्मानको जीवनमें एक बार मक्का नगरमें स्थित काबेके मन्दिरकी यात्रा करना आवश्यक है। मुहम्मदके पूर्व काबेके स्थानपर एक विशाल मन्दिर (शिवालय?) था, जिसे बिहिश्त (स्वर्ग) मन्दिर (बैतुल मामूर)-की नक़ल मानते थे। वर्तमान काबेमें एक काला पत्थर है, जिसकी परिक्रमा करते हैं और जिसे चूमते हैं। कहते हैं यह स्वर्गसे आया है और पृथ्वीपर ख़ुदाके दाहिने हाथके सदृश है। इस पाषाण-प्रतीकके कारण मक्का परम पवित्र माना जाता है और इसकी सीमाके भीतर जीववध वर्जित है। हज (काबेकी यात्रा) करनेवाले हाजी कहलाते हैं। यात्राके समय वे मक्कामें मुण्डन कराते हैं और सादा श्वेत बिना सिला (कफ़नका) कपड़ा पहनते हैं। वहाँके ज़मज़म नामक कूपका जल गंगाजलके समान पवित्र माना जाता है।

हमलोगोंकी वैतरणी नदीके स्थानपर मुसल्मानोंमें दोज़ख़ (नरककुण्ड) है, जिसपर सरात नामक बालसे भी महीन पुल बँधा माना जाता है। इस पुलको पापी नहीं पार कर सकते। पुलके पार बिहिश्त (स्वर्ग) है—जहाँ पानी, दूध, शहद तथा शराबकी नहरें बहती हैं। स्वर्गमें मुश्क (कस्तूरी)-की बनी ७२ हूरें (सुन्दरियाँ) और ७०,००० ग़िलमा (सुन्दर बालक सेवक) प्रत्येक पुण्यात्माको मिलते हैं। क़यामतकी कल्पना हमारे प्रलयसे मिलती है। उसीके बाद प्रत्येक क़ब्रसे मुर्दे उठ खड़े होंगे और उनके पुण्य-पापका न्याय होगा!!

इस्लामधर्ममें प्रत्येक मुसल्मान समान पद रखता है। धार्मिक बातोंमें ऊँच-नीचका कोई भेद नहीं। इसी कारण इसे परम प्रजासत्तात्मक (most democratic) धर्म कहते हैं। इस्लामधर्मका नेता खलीफ़ा कहा जाता है। वही धर्मगुरु तथा राजा होता था। सन् १९२४ ई० में ख़िलाफ़त (ख़लीफ़ाके पद)-का अन्त हो गया, तबसे कोई ख़लीफ़ा नहीं है। उस साल तुर्कीके सुलतान ख़लीफ़ा थे। उनके पदच्युत होनेपर यह पद ही उठा दिया गया। इस ख़िलाफ़तके मसलेको लेकर बार-बार रक्तकी नदियाँ बही हैं। शिया-सुन्नी-सम्प्रदायोंका कट्टर विरोध भी इसी ख़िलाफ़तसे सम्बद्ध है।

मुहम्मदके मरनेपर कुछ मुसल्मानोंका मत था कि उनके उत्तरधिकारी (ख़लीफ़ा) उनके वंशज ही हों और कुछका कहना था कि सबसे योग्य पुरुष ख़लीफ़ा हो, जिसे जनता चुने। पूर्व-मतवाले शिया कहलाये और पर-मतवाले सुन्नी। सुन्नियोंकी बात रही। और मुहम्मदसाहबके चचेरे भाई अलीके होते हुए भी अबूबकर ख़लीफ़ा चुने गये। अबूबकरके बाद उमर और उनके बाद उस्मान ख़लीफ़ा हुए। उस्मानके मरनेपर उपर्युक्त अली (जो हज़रत मुहम्मदके दामाद भी थे) ख़लीफ़ा चुने गये। लेकिन शाम (Syria)-के गवर्नर माविया (जो खलीफ़ा पदका दावा कर रहे थे) ने हज़रत अलीको नमाज़के समय मरवा डाला। अलीके बाद उनके बड़े लड़के हसन ख़लीफ़ा चुने गये, पर मावियाने उनको भी विष दिलवाकर मरवा डाला। हसनके मरनेपर कूफ़ा नामक नगरके निवासियोंके आग्रहसे हसनके भाई हुसेन ख़लीफ़ा नियुक्त होनेके लिये कूफ़ाको चले। पर कर्बलाके मैदानमें ७२ साथियोंके साथ हज़रत हुसेन मावियाके पुत्र यज़ीदकी सेनाद्वारा मार डाले गये। इसी कर्बलाकी हत्याका स्मारक मुहर्रमका त्योहार है। हुसेनका घोड़ा जुलजिनाह था, जो आजकल दुलदुलके नामसे निकाला जाता है। ताज़िया हज़रत हुसेनकी क़ब्रका स्मारक है। इस अवसरपर (यह मुख्यत: शिया लोगोंका त्योहार है) लोग हरे तथा काले कपड़े पहनते हैं। हरे वस्त्र हज़रत हसनको विष देनेकी याद दिलाते हैं। और काले वस्त्र हज़रत हुसेनकी मृत्युपर शोक प्रकट करते हैं। प्रत्येक शहरमें उस स्थानको जहाँ ताज़िये दफ़नाये जाते हैं, कर्बलाके युद्धकी यादगारमें कर्बला कहते हैं।

हुसेनकी मृत्युके पश्चात् मावियाका पुत्र यज़ीद ख़लीफ़ा माना गया, पर शियालोग उसको नहीं मानते। वे हज़रत मुहम्मदके वंशज अलीको ही अपना पहला इमाम मानते हैं। अलीके बाद हसन और उनके बाद हसनके भाई हुसेनको मानते हैं। हुसेनके बाद क्रमश: वंशपरम्परासे

ज़ैनुल् आबदीन अल् बाकिर, अल् जाफ़र, मूसा क़ाज़िम, अल्‌रीदा, तक़ी, नक़ी, असकरी नामक इमाम हुए। ये सब अली और उनके लड़के हसन तथा हुसेनकी तरह मारे गये। अन्तिम बारहवें इमाम अल्मेहदी हुए, जिनके लिये कहा जाता है कि वे जीवित होते हुए भी लुप्त हैं। कालान्तरमें हज़रत ईसाके साथ प्रकट होकर जगत्‌भरको इस्लामधर्ममें दीक्षित करेंगे। शिया सदा अपने इमामोंकी अपमृत्युका शोक मनाते रहते हैं। वे लोग बड़े भावपूर्ण रूपसे मातम करते हैं और सुन्नियोंसे यज़ीदके अनुयायी होनेके कारण बुरा मानते हैं। यही नहीं, शियालोग अलीके पूर्ववाले ख़लीफ़ा अबूबकर, उमर और उस्मानसे चिढ़ते हैं और उनके विरुद्ध शापवत् 'तवर्रा' पढ़ते हैं। इसके जवाबमें सुन्नीलोग इन तीनों ख़लीफ़ाओंका गुणगान 'मदेसहाबा' पढ़कर करते हैं।

यज़ीद उमैय्यद घरानेके थे, अतः उनके बादवाले शामवासी ख़लीफ़ा (जिन्हें केवल सुन्नी मानते थे) उमैय्यद कहलाये। कालान्तरमें अब्बासी ख़लीफ़ाओंने बग़दादको अपनी राजधानी बनाया और ग्यारहवीं सदीसे बग़दादके ध्वस्त होनेपर तुर्क ख़लीफ़ा कुस्तुन्तुनियामें रहने लगे। इस समय यह पद उठ गया है।

सद्‌गुरु कबीर साहबकी सहज साधना

(लेखक—श्रीधर्माधिकारी महन्त श्रीविचारदासजी साहब शास्त्री)

परमतत्त्वकी प्राप्तिके लिये मनको स्थिर करना होता है, जो साधनाके बिना नहीं होता। मनकी स्थिरताके अनेक साधनोंमें 'सुरति योग' सबसे श्रेष्ठ और सरल है। सद्‌गुरु कबीरसाहेबने इसीको 'सहज समाधि' कहा है।

सहज समाधी उन्मनि जागे, सहज मिलै रघुराई।
जहँ-जहँ देखूँ तहँ-तहँ सोई, मन मानिक बेध्यो हीरा।
परम तत्त्व यह गुरुसे पावै, कह उपदेस कबीरा।

(कबीरसाहेबका बीजक)

सुरति सारे संसारका द्वार है। प्रशान्त निजात्म-महासागरमें अनादि वासना-वायुके झकोरोंसे उत्पन्न हुई स्फूर्ति-तरङ्गें सारे संसारके दृश्योंको सामने ला देती हैं; इस कारण यह भी कह सकते हैं कि सुरति ही संसार है और उसका निरोध ही संसारकी निवृत्ति है। मन सदैव सुरतिके पीछे चला करता है; क्योंकि सुरतिके होनेसे ही अनेक सङ्कल्प-विकल्प खड़े होते हैं। अतः जबतक सुरतिका निरोध न हो, तबतक मनका निरोध असम्भव है।

मन-मतंग मानै नहीं, चलै सुरति के साथ।
दीन महावत क्या करै, अंकुस नाहीं हाथ॥

(कबीरसाहेबका बीजक)

शरीरमें धरती और आकाशके विशेष स्थान हैं। उन दोनोंसे परे सुरति-कमल है। गुरुकी बतायी हुई युक्तिसे वहाँ सुरतिको लगानेसे वह स्थिर हो जाती है। उसके स्थिर होनेसे मन भी निश्चल हो जाता है और मनके निश्चल होनेसे स्वरूपका साक्षात्कार होता है। इस बातका सद्‌गुरु कबीरसाहेबने सांकेतिक भाषामें इस प्रकार वर्णन किया है—

धरती अकासके ऊपरे, योजन अष्ट प्रमान।
तहाँ सुरति लै राखिये, देह धरे नहि आन॥
सुरति फँसी संसारमें, ताते परि गयो दूर।
सुरति बाँधि सुस्थिर करो, आठों पहर हजूर॥
डोरी आई अधरसे, अधर हि दरसन होय।
कायासे न्यारा लखै, हंस कहावे सोय॥

इस सुरतिकी धारणाके लिये किसी भी मुद्राविशेषकी अथवा आसनविशेषकी आवश्यकता नहीं है। सहजभावसे यह धारणा की जा सकती है। जैसा कि इस 'शब्द' में कहा है—

संतो सहज समाधि भली है।
जबसे दया भई सतगुरुकी, सुरति न अनत चली है ॥ टेक॥
जहँ-जहँ जाऊँ सोइ परिकरमा, जो कुछ करौं सो पूजा।
घर बनखंड एक सम लेखौं, भाव मिटावौं दूजा॥ १॥
शब्द निरन्तर मनुवा राचा, मलिन वासना त्यागी।
जागत-सोवत, ऊठत-बैठत, ऐसी तारी लागी॥ २॥
आँख न मूँदूँ, कान न रूँधूँ काया-कष्ट न धारूँ।
उघरै नैनन साहेब देखूँ, सुंदर बदन निहारूँ॥ ३॥
कहहिं कबीर यह उन्मनि रहनी, सो परगट कहि गाई।
दुख-सुखके वह परे परम पद, सो पद है सुखदाई ॥ ४॥

विशेष क्या, बैठे-बैठे और सोते-सोते भी सुरतिको निज लक्ष्यमें लगाया जा सकता है—

बैठे, सूते, पड़े उतान, कहहिं कबीर हम वही ठिकान।

संत पलटूसाहेबने भी उक्त सुरति-योगके विषयमें निम्नलिखित कुण्डलिया कहा है—

कमठ-दृष्टि जो लावई, सो ध्यानी परमान॥
सो ध्यानी परमान, सुरतिसे अंडा सेवै।
आप रहे जल माहिं, सूखेमें अंडा देवै॥
जस पनिहारी कलस धरि, मारगमें आवै।
कर छोड़े, मुख बचन, सुरति कलसामें लावै॥
फनि मनि धरइ उतारि, आप चरनेको जावै।
वह नहीं गाफिल पड़ै, सुरति मनि माहिं रहावै॥
पलटू कारज सब करै, सुरति रहै अलगान।
कमठ-दृष्टि जो लावई, सो ध्यानी परमान॥

सद्‌गुरु कबीरसाहेबकी वाणीमें इस सुरतियोगका विशेष वर्णन है। अधिक जाननेकी इच्छावालोंको उनकी वाणीका परिशीलन करना चाहिये।

कबीर साहबकी 'भावभगति' का रहस्य

(लेखक—पं० श्रीपरशुरामजी चतुर्वेदी,एम०ए०, एल-एल०बी०)

कबीर साहबने भक्तिको परमार्थका मुख्य साधन मानकर, उसे अत्यन्त कठिन भी बतलाया है। उनका कहना है कि 'रामकी भगति' 'दुहेली' अर्थात् दु:साध्य कार्य है, वह कायरोंके वशकी बात नहीं; वह एक प्रकारसे तलवारकी धारके समान तीखी है, जिसपर चढ़कर तनिक भी हिल-डुल जानेसे कटनेका भय बना रहता है; अथवा वह आगकी एक ऐसी लपट है जिसमें कूद पड़नेवाले ही अपनेको बचा पाते हैं, उससे खिलवाड़ करनेवाले बिना जले नहीं रह सकते। भक्तिका द्वार इसी कारण राईके दशमांशके जितना 'सकड़ा' वा तंग है, जिसमें प्रवेश करना भी हमारे मनरूपी मत्त-गजेन्द्रके लिये एक असम्भव-सी बात होगी। अतएव जिस प्रकार कोई अपनी आँखोंमें काजल देने मात्रसे ही उनमें वह 'चाह' नहीं ला सकता जिससे मनोमोहकता भी आ जाय, उसी प्रकार भक्तिके नाना भाव अथवा विविध विधियोंके होते हुए भी सबके लिये उस भेद वा रहस्यका पा सकना दुर्लभ है जिसके द्वारा 'श्रीहरि' से मिलानेवाले हृदयकी उपलब्धि हुआ करती है। उस रहस्यके ज्ञान बिना हमारा मन बाहरसे स्वच्छ होनेपर भी वास्तवमें मैला ही बना रह जाता है और कपट वहाँसे निर्मूल वा निर्बीज नहीं हो पाता। केवल नेत्रोंके बकवत् उज्ज्वल और निर्दोष दीख पड़नेसे हृदयमें 'विडाल' के रहते सच्ची भक्तिकी सम्भावना किसी प्रकार भी नहीं की जा सकती। कबीर साहब उस रहस्यका नाम 'भाव' अथवा 'भेद' निर्दिष्ट करते हैं और अपनी भक्तिसाधनाको भी उसीके अनुसार 'भावभगति' कहा करते हैं। उनका कहना है कि हरिके साथ 'गठजोरा' यथार्थमें भावभगतिके द्वारा ही सम्भव हो सकता है; क्योंकि उसके बिना 'राम' एकमात्र एवं सर्वघटव्यापी होते हुए भी हमारे लिये सदा दूरस्थ बने रहते हैं।

परन्तु भावभगति और राम—ये दोनों वस्तुएँ एक ही भाँति 'निराली' वा अनुपम हैं, अतएव 'कथणीं वदणीं के 'जंजाल' द्वारा इनका यथार्थ वर्णन कभी नहीं किया जा सकता। भावभगति कहने-सुननेमात्रकी बात नहीं, वह केवल अनुभवगम्य साधना है। उसके लिये सर्वप्रथम सद्‌गुरुकी वह कृपा अपेक्षित है, जिससे उस अनन्तको प्रत्यक्ष करनेके साधनस्वरूप हमें अनन्त नेत्रोंकी उपलब्धि हो जाय; हमें उस सच्चे शूरका वह शब्दबाण लग जाय, जिसके मर्मस्थलतक पहुँचते ही सारा भेद आप-से-आप खुल सके और सारे शरीरमें एक प्रकारकी ज्वाला व्याप्त होकर हमें निस्तब्ध कर दे; अथवा उसके एक ही प्रसंगमें हमारे ऊपर प्रेम-वारिदकी वह वृष्टि हो पड़े जिससे हमारे अंग-प्रत्यंगके भीगनेकी कौन कहे, अन्तरात्मातक सराबोर होकर नितान्त निर्मल हो जाय। तभी हमारे भीतर वह बलवती अभिलाषा भी जाग्रत् होगी, जो 'विरह-भुवंगम' का रूप धारण कर हमारे कलेजेमें 'घाव' करने लगती है और शरीरके रग-रग रबाबकी ताँत बनकर झंकृत हो उठते हैं; अथवा जिसके प्रभावमें आकर हम अपने शरीरको दीपक बना और उसमें रक्तका तेल ढाल एवं प्राणोंकी बत्ती डाल उसके द्वारा अपने प्रियतमका मुख देखनेके लिये अत्यन्त आतुर हो जाते हैं। भेदको समझने और हृदयंगम कर लेनेवालेपर ही ऐसी 'बला' आती है। यह जिज्ञासा जिस किसीके भी अंदर जगी, उसे दिन-रात चैन नहीं; वह नित्यश: अपने ही मनके साथ अविश्रान्तरूपसे बिना किसी हथियारकी सहायताके भी संग्राम करनेको विवश हो जाता है।

भावभगतिके लिये दूसरी परम आवश्यक बात

अपने मनका यत्नपूर्वक वशमें लाना है, क्योंकि बिना मनकी शुद्धिके 'हरि' की प्राप्ति नहीं हो सकती। हमें सबसे पहले उस मनकी खोज करनी चाहिये, जिसमें सम्पूर्ण भौतिक सम्बन्धोंका परित्याग कर अन्तमें प्रवेश किया जाता है। कबीर साहबका कहना है कि उस मनके रहस्यको बड़े-बड़े भक्तों और साधकोंतकने नहीं जान पाया; वह 'अकल निरंजन' वा निर्मल मन अपने तनके भीतर ही वर्तमान है, किन्तु उसकी प्राप्ति विरले पुरुष कर पाते हैं। सच्ची बात तो यह है कि जबतक हमारे मनमें किसी प्रकारका विकार भरा है, तबतक हमारे लिये आवागमनसे मुक्त होना बहुत दूरकी बात है और मनके निर्विकार हो जानेपर उसका 'निर्मल' में प्रवेश आप-से-आप हो जाता है। मनको जीवधर्मानुसार अपनी राह जाने देना ठीक नहीं; इसे तकलीके सूतकी भाँति सदा बार-बार उलटते रहनेकी आवश्यकता है। इस मदोन्मत्तको इधर-उधर भागता देख अङ्कुश दे-देकर अपनी ओर फेरते रहना चाहिये, ताकि मार-पीटकर किसी प्रकार यह घटके भीतर ही घिर जा सके। मनको मैदेकी भाँति नन्हा-नन्हा करके पीसते रहना भी आवश्यक है; इसे 'बिस्मिल' वा विनष्ट कर दृश्यसे नितान्त अदृश्यतक बना देना है। किन्तु सदा ध्यान रहे कि हमारा मन मृतक हो जानेपर भी बहुधा विश्वासयोग्य नहीं हो पाता; इसमें विकारकी वायुके पुनः लगते ही एक बार फिर जी उठनेकी शक्ति बनी रहती है। जब अनेक उपायोंद्वारा हमारा मन किसी प्रकार निश्चल हो जाता है, तभी हमें वह पूर्ण सिद्धि प्राप्त होती है और हमारा सारा शरीर कसौटीपर बार-बार कसे गये सोनेकी भाँति शुद्ध हो पाता है। मनके ऊपर सफलतापूर्वक विजय प्राप्त कर लेनेकी पहचान उसका एक स्वच्छ दर्पणकी भाँति प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेमें पूर्णरूपेण समर्थ हो जाना है।

परन्तु जिस भाव अथवा भेदका प्रतिबिम्ब ग्रहण करना है, उसका वास्तविक रूप क्या है? और उसका अनुभव प्राप्त करनेके लिये किन उपायोंका प्रयोग आवश्यक है? कबीर साहबका कहना है कि वह वस्तु एक रहस्यमय 'कुछ' है, जिसका शाश्वत होनेके कारण आजतक मरना वा जीनातक कभी नहीं हुआ, जो अग्नि-पवनादि पंच तत्त्वोंके 'मेला' वा चपल बुद्धिके 'खेला' से भी परे रहा करता है, जो सब किसीके लिये अन्तिम लक्ष्य है और जिसे हमारा सतगुरु 'आपा' अथवा 'ब्रह्म' कहकर निर्दिष्ट किया करता है। इसकी प्राप्तिके लिये की जानेवाली साधनाको, इसी कारण 'आत्म-साधन' वा 'ब्रह्मविचार' भी कहते हैं। वही अगोचर वस्तु बहुधा 'रामनाम' से भी अभिहित होती है, जिस कारण उक्त क्रियाका एक अन्य नाम 'रामनामसिधि जोग' भी है। उसकी पूरी प्यास मिटानेके लिये ओस चाटनेसे काम नहीं चलता, समुद्रमें डुबकी लगानी पड़ती है। उसे हम भौतिक पंचतत्त्वोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेपर ही प्राप्त कर सकते हैं—अर्थात् जब पृथ्वीका गुण पानीमें चला जाता है, पानी तेजमें मिल जाता है, तेज पवनसे मिलता है और पवन शब्दके साथ लीन होकर शून्यमें प्रवेश कर जाता है। उस समय सारी वस्तुएँ, एक ही स्वर्णके बने किन्तु ताये जानेपर पुनः गलकर एक हो जानेवाले भिन्न-भिन्न प्रकारके गहनोंकी भाँति, एकरूप हो जाती हैं। भावका अनुभव पूर्ण हो जानेपर भी कुछ ऐसी ही स्थिति होती है।

कबीर साहबने उक्त भाव नामक वस्तुको 'षट्चक्रकी कनक-कोठड़ी' में निहित बतलाया है और कहा है कि इसे पानेके लिये उसमें पड़े तालेको 'जुगति' की कुंजीसे क्रमशःखोलना चाहिये। उलटे पवनद्वारा षट्चक्रवेधन होनेपर, 'ससहर' व 'सूर' अथवा इडा और पिंगला नामक दो प्रसिद्ध नाडियोंकी पहुँचके भी दूर हमें अपने मेरुदण्डका वह सिरा मिलता है, जहाँ मनके 'सुन्नि'में प्रवेश कर स्थिर होते ही, बिना किसी पुष्पके अस्तित्वके भी, सारा आकाश पुष्पित हो उठता है और 'परमजोति' के प्रकाशमें अनन्त तारों और बिजलीकी चमकका-सा अनुभव होने लगता है। तभी हमें 'अनहद' का शब्द भी सुन पड़ता है और 'सतगुरु' की कृपाद्वारा इस प्रकार 'सम्पुट' के खुल जाते ही, 'सुरति' सुखमें समा जाती है तथा 'आपा' आपमें लीन हो जाता है। इसी क्रियाको 'हद' को छोड़कर 'बेहद' में जाना, 'घट' में ही 'औघट' का प्राप्त करना वा 'सुन्नि' में अपना स्नान करना भी उन्होंने बतलाया है। वे कहते हैं कि उस समय हमारा मन 'उन्मन' अथवा 'उपर्युक्त' निर्मल मनसे लग जाता है और दोनों नमक और पानीकी भाँति घुल-मिलकर एक हो जाते हैं। जिस प्रकार पानीसे बर्फ बना करती है और बर्फसे फिर पानीमें परिवर्तित होते ही ज्यों-की-त्यों रह जाती है, उसी प्रकार ये दोनों भी उस अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं; जो स्वयं अनुभवीके भी वर्णनके बाहरकी बात है। अतएव 'गगनमण्डल' में

विलीन होकर वह बहुत कुछ सोच-विचार करनेपर भी केवल इतना ही निश्चय कर पाता है कि वास्तवमें मैंने कुछ भी नहीं किया, कहीं गया वा कहींसे आया भी नहीं, सदा जहाँ-का-तहाँ अपनी जगहपर ही बना हुआ हूँ। भावका इस प्रकार अनुभव करानेवाली 'जुगति' ही भावभगतिकी भी युक्ति है।

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त प्रकाशको ही कबीर साहबने 'अनन्त' वा 'परब्रह्म' का तेज कहा है और उसे असंख्य सूर्योंके समान प्रखर बतलाते हुए भी, स्निग्ध चन्द्रिकाकी भाँति शीतल भी माना है। उस निराकार दृश्यका वर्णन क्या किया जाय, उसे देखते ही बनता है; वह कहनेकी वस्तु नहीं। वहाँ पहुँचनेपर साधकको किसी प्रकारकी चिन्ता क्या, कल्पनातक नहीं सताती और उसका मन एक प्रकारसे 'विन मन-सा' वा अमनस्क हो जाता है। पूरेका परिचय हो जानेसे 'दृष्टि' ही पूरी हो जाती है। 'आतमराम, 'प्रेमभगति' के 'हिंडोलने' पर निरन्तर झूलता है और 'अमृतरस' का पान करता हुआ शाश्वत आनन्दका अनुभव भी करने लगता है। इस 'करणी' द्वारा कर्मका नाश होकर पाप एवं पुण्य—इन दोनोंका भ्रम भी नष्ट हो जाता है। ममता और अभिमान 'ब्रह्माग्नि' में जलकर भस्म हो जाते हैं, मोहका ताप लुप्त हो जाता है और वासना धुलकर अङ्कुर-बीजके साथ नितान्त निर्मूल हो जाती है। अब हमारा मन भीतर-ही-भीतर 'मान जाता' है। 'घटकी जोति' से ही सारा जगत् प्रकाशमय दीखता है और हम, गुफामें बैठकर भी, सब कुछ देखने-सुनने लगते हैं। हृदयमें,उस समय,एक अनुपम शान्ति आ विराजती है; मनका भ्रम मनसे ही दूर हो जाता है और 'सहजरूप हरि' की लीला प्रत्यक्ष हो जाती है। अब किसी प्रकारके 'मैं, तैं' वा 'तैं, मैं' का चिह्नतक नहीं रहता और सब कहीं आप-ही-आपका अनुभव होने लगता है। यही अवस्था 'अखण्डित राम' 'के' 'आतमलीन' हो जानेकी है, जिसे कबीर साहबने दूसरे शब्दोंमें 'सहजसमाधि'का भी नाम दिया है।

भावभगतिकी साधना उक्त प्रकारकी अवस्थाका आत्मसाधनद्वारा अनुभव करनेपर ही आरम्भ होती है; अतएव उसके वर्णनके सम्बन्धमें नवधा भक्तिके भिन्न-भिन्न साधारण प्रकारोंका, एक प्रकारसे, प्रसंग ही नहीं आता। इसमें 'श्रवण' की यह विशेषता है कि 'सबद' सुनते ही जी 'निकलने'-सा लगता है और सारी 'देह' भूल जाती है; 'कीर्तन' में 'ज्यों' 'ज्यों' हरिगुण के 'सँभालने' की चेष्टा की जाती है, त्यों-त्यों 'तीर'-सा लगता है; 'स्मरण' एवं 'वन्दन' में क्रमशः—

'मेरा मन सुमिरै रामकू, मेरा मन रामहिं आहि।'

तथा—

'अब मन रामहिं ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि।'

—की दशाका अनुभव होता है; 'पादसेवन' में 'चर कँवल मन माँनियाँ' की स्थिति ऐसी हो जाती है कि हम सुख एवं दुःख दोनोंको बिलकुल भूल जाते हैं और वैसी 'सेवा' करने लगते हैं, जिसके बिना 'रहा नहीं जाता'। 'अर्चन' में—

'माहैं पाती, माहिं जल, माहैं पूजणहार।'

—होनेसे कुछ अवस्था ही विचित्र-सी रहती है; अतएव 'साच सीलका चौका' देकर हमें आरतीके समय अपने प्राणोंको ही 'तेजपुञ्ज' के निकट 'उतार' देना पड़ता है। 'दास्य' में तो—

गले रामकी जेवड़ी, जित खैंचै तित जाउँ।'

—की अवस्था है ही, अतएव कबीर साहब कहते हैं कि—

मैं गुलाम मोहि बेंचि गुसाईं, तन मन धन मेरा रामजीके ताईं।
आनि कबीरै हाटि उतारा, सोइ गाहक, सोइ बेचनहारा॥

'सख्य' में 'सो दोसत किया अलेख' की स्थिति है, अतएव 'अंक भरे भरि भेंटना' हुआ करता है; और 'आत्मनिवेदन' में तो कहना ही क्या है—भेदके दूर होते ही 'सब दसा' भूल जाती है और ऐसा अनुभव होता है कि—

'पाला गलि पाँणी भया ढुलि मिलिया उस कूलि।'

फिर तो,

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
बूँद समानी समुदमें, सो कत हेरी जाइ॥

—की अनिर्वचनीय समस्या उपस्थित हो आती है और अन्तमें—

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागै मेरा॥

—कहकर ही मौन धारण करना पड़ता है। भावभगतिका उपदेश देते हुए अपनी 'रमैणी' के अन्तमें कबीर साहब कहते हैं—

भावभगति बिसवास बिन कटै न संसै सूल।
कहै कबीर हरिभगति बिन मुकति नहीं रे मूल॥

प्रेमकी अनोखी छबि

स्याम तोरी मुरली नेकु बजाऊँ।

जोइ जोइ तान भरो मुरलीमें सोइ सोइ गाइ सुनाऊँ।

हमरी बिंदिया तुमही लगावौ मैं सिर मुकुट धराऊँ॥

हमरे भूषन तुम सब पहिरौ मैं तुम्हरे सब पाऊँ।

तुम्हरे सिर माखनकी मटुकी मैं मिलि ग्वाल लुटाऊँ॥

तुम दधि बैंचन जाहु बृंदाबन मैं मग रोकन आऊँ।

सूरस्याम तुम बनो राधिका मैं नँदलाल कहाऊँ॥

—सूरदासजी

श्रीदादूदयालके मतानुसार साधन

(लेखक—पु० श्रीहरिनारायणजी, बी० ए०, 'विद्याभूषण')

राजपूतानेके प्रसिद्ध सिद्ध महात्माओंमें श्रीदादूदयालजी बहुत ही महिमान्वित और सम्मान्य संत हो गये हैं। १४वीं, १५वीं और १६वीं शताब्दी तथा पीछेतक भारतवर्षमें, उस धर्मघातक विपरीत मुसलमानी राज्यमें—गोरखनाथ, कबीर, रामानन्द, नामदेव, रैदास, नानक, गोविन्दसिंह, मीराबाई, पीपा, धना, रामचरण, श्यामचरण, हरदास, जगजीवन, पलटूदास, दरियासाहिब इत्यादि अनेकों महान् आत्माएँ अवतीर्ण हुईं और धर्मकी रक्षा तथा प्रजाजनोंमें सत्यका प्रचार करके उन्होंने धर्म और देशको बचाया।

दादूदयालका जन्म संवत् १६०१ में अहमदाबादमें नागर ब्राह्मणके घर होना दादूपन्थी मानते हैं। बचपनमें ही भगवान्ने इनको कृपा करके दिव्यज्ञान प्रदान किया था। कुछ वर्षों बाद ये साँभर आये। वहाँ आठ-दस वर्ष रहकर ज्ञानप्रचार करते हुए आँबेर आये। यहींसे अकबर बादशाहसे फतहपुर सीकरी जाकर मिले! आँबेर दस-बारह वर्ष रहकर अन्य स्थानोंमें पर्यटन और ज्ञान-भक्तिका प्रचार करते रहे। अन्तमें १६५९ में नरायणे (जयपुरसे अनुमान १६ कोस) खंगारोत कछवाहा-शासकोंके स्थानमें आ विराजे। और यहीं इनके शरीरका अवसान हुआ। इनके दो पुत्र और दो पुत्रियाँ थीं। बड़े—गरीबदासजी, जो बड़े ही महात्मा और गान्धर्वविद्यामें अत्यन्त निपुण थे, और जहाँगीर बादशाहने भी जिनके गानके चमत्कारको देखा था, उत्तराधिकारी हुए। यही स्थान दादूपंथका प्रधान पीठस्थान माना जाता है। प्रतिवर्ष फाल्गुनमें मेला-उत्सव होता है। यहाँ मन्दिर और बहुत-से स्थानादि बने हुए हैं। इसी प्रकार साँभर, आँबेर, पंजाब, मारवाड़ आदिमें अनेकों स्थान और शिष्यों तथा थाभायतियोंके स्थान भी बने हुए हैं। राजपूताना, पंजाब, गुजरात आदिमें दादूदयालका प्रभाव और इस पन्थका प्रचार अधिक रहा है। वैसे तो थोड़े-बहुत दादूपन्थी हर जगह मिलते हैं।

दादूजीके १५२ शिष्य हुए। उनके अंदरसे १०० तो तप और त्याग धारण कर विचर गये, उनके पीछे कोई शिष्यतक नहीं रहा। परन्तु ५२ शिष्य बड़े सिद्ध और ज्ञानी थे। वे बहुत-से स्थान और शिष्य छोड़ गये। इनमें आधेसे भी अधिक अति विख्यात हुए हैं। गरीबदास, रज्जबदास, बड़े सुन्दरदास, माधोदास, टीलादास, बनवारीदास, जगन्नाथदास, बखना, गोपालदास, जनगोपाल, दयालदास, मड़सीदास, तेजानन्द, मोहनदास, चतरदास, प्रागदास, सुन्दरदास, छोटा, बूसर, साधूराम, चतुर्भुजदास, नरायणदास, चरणदास, जग्गा, जयमल चौहाण, जयमल कछवाहा, मनमालीदास, मोहन दफतरी, चतुरदास, संतदास, मोहनदास मेवाड़ा, नागर निज़ाम, जगजीवण इत्यादि बहुत नामी हुए हैं। अनेकोंने अपने गुरु दादूदयालके मतानुसार वाणियाँ भी रची हैं। उनमेंसे बहुत-सी मिलती भी हैं। रज्जब, सुन्दर, जगजीवण, गरीबदास, जनगोपाल, प्रागदास, जगन्नाथ, बखना इत्यादिकी रचनाएँ सुन्दर और सारभरी हैं।

दादूदयालकी वाणीके दो विभाग हैं। एक साखी जिसमें दोहा, सोरठा वा कहीं-कहीं चौपाई या और कोई छोटा छन्द है। दूसरा पद या भजन, जो कई रागोंमें हैं। सारी वाणी लगभग सात हजार अनुष्टुप्छन्दके बतायी जाती है। साखियाँ सैंतीस अङ्गोंमें ढाई हजारके ऊपर हैं, और पद २७ रागोंमें ४ सौसे कुछ अधिक हैं। इस वाणीमें ज्ञान, भक्ति और वैराग्यमें ब्रह्मज्ञानका सार-रसामृत भरा हुआ है। वाणी कोमल, मधुर, सरल सुन्दर भाषामें है, जिसके पढ़नेसे निरञ्जन निराकारका उच्च ज्ञान और ध्यान सहज ही प्राप्त होता है। कहा है—

(१) 'दादूदयाल दिनकर दुती (जिन) बिमल बृष्टि बाणी करी॥'

ग्यान, भक्ति, बैराग्य भाग बहुभेद बतायो।
कोटि ग्रंथको मंथ पंथ संक्षेप लखायो॥
बिशुद्ध बुद्धि अबिरुद्ध सुद्धि सर्बग्य उजागर।
परमानंद प्रकास नान निगडंद महाधर॥
बरण बूँद साखी सलिल, पद सलिता सागर हरी।
दादूदयाल दिनकर दुती, बिमल वृष्टि बाणी करी॥ १॥

(२) 'भक्ति पुहुप, बैराग्य फल ब्रह्म बीज जगँनाथ भँणि॥'

(३) या बाणी सुनि ग्यान ह्वै, याही तैं बैराग।
या सुनि भजन भगती बढ़ै, या सुनि माया त्याग॥ १५॥
या बाणी पढ़ि प्रेम ह्वै, या पढ़ि प्रीति अपार।
या पढ़ि निश्चय नाम की, या पढ़ि प्राण अधार॥ १६॥
या बाणी कूँ खोजताँ, क्षमा, सील, संतोष।
याहि बिचारत बुद्धि ह्वै, या धारत जिव माष॥ १७॥

आदि निरंजन, अंत निरंजन, मध्य निरंजन, आदू।
कहि 'जगजीवन' अलख निरंजन, तहाँ बसै गुर दादू॥ १८॥
अबिचल मंत्र जपै निसबासर, अबिचल आरति गावै।
अबिचल इष्ट रहै सिर ऊपरि, अबिचल ही पद पावै॥ १९॥

(४) पार उतारणहारजी, गुरु दादू आया।
जीवन के उद्धार कूँ, हरि आप पठाया॥ २॥
राम नाम उपदेश दे, भ्रम दूर उड़ाया।
ग्यान भक्ति वैराग हू, यह तीन दृढाया॥ ३॥
बिमुख जीव सनमुख किये, हरिपंथ चलाया।
झूँठ क्रिया सब छाँडि कै, प्रभु सत्य बताया॥ ४॥

....

दयावंत दुख मेटना, सुखदायक भाया।
सीलवंत साचे मते, संतोष गहाया॥ ८॥

....

अति गंभीर समुद्र ज्यां, तरुबर ज्यों छाया।
बानी बरसे मेघ ज्यौं, आनंद बढ़ाया॥ १०॥

....

पवन जिसा सब सारखा, को रंक न राया।
ब्योम जिसा हिरदै बड़ा, कहुँ पार न पाया॥ १६॥
टेक जिसी प्रहलाद है, ध्रुव ज्यों मन लाया।
ग्यान गह्यौ सुखदेव ज्यौं, परब्रह्म दिखाया॥ १७॥
जोग जुगति गोरक्ष ज्यौं, धंधा सुरझाया।
हद्द छाँडि बेहद्द मैं, अनहद्द बजाया॥ १८॥
जैसा नाम कबीरजो, यां साधु कहाया।
आदि अंत लौं आइ कै, रमि राम समाया॥ १९॥

....

नमस्कार गुरुदेव कूँ, जिन बंदि छुड़ाया।
दादू दीनदयालका सुंदर जस गाया॥ २१॥

(५) पंच सहस्र आ रसाल बाणी, अगम अनुभव संचही।
भक्ति, ग्यान, वैराग्य पूरण, श्रीनमामि दादूदयालु ही॥ १॥

(६) यों जीवनमुक्ति ऐसी दशा, ग्यान भक्ति बैराग बल।
कहै बालकराम अंमृत बचन, सुख मुख श्रीभागोत फल॥ १॥

उपर्युक्त कथन और अवतरणोंसे दादूजीके मत, साधन और सिद्धान्तोंका कुछ दिग्दर्शन होता है। उनकी वाणी (साखी और पद)-में ज्ञान, भक्ति और वैराग्यका प्रतिपादन हुआ है। इन तीनों आध्यात्मिक प्रकरणों या विषयोंसे उनका वचनामृत ओतप्रोत है। वेदान्तके सिद्धान्तोंसे उनके उपदेश बहुत अनुकूल मिलते-जुलते हैं, परन्तु उनके उस वेदान्तमें भक्ति भरी हुई है; वह शुष्क नहीं है, 'सूखी शिला' नहीं है। उसके ज्ञानसे वैराग्य उत्पन्न होता है—और वैराग्य-त्याग ही परमात्माकी प्राप्तिका प्रधान साधन है। इस प्रकार दादूजीका उपदेश बहुत आनन्दकारी और आत्मामें दिव्य प्रकाशको शीघ्र देनेवाला है। दादूदयालजीकी वाणी आदिसे अन्ततक ज्ञानभरे उपदेशों और उनके सच्चे और सारभरे अनुभवोंसे परिपूर्ण है। विशेषता यह है कि साधारण लोकभाषामें गम्भीर अध्यात्म-ज्ञानको ऐसा दरसाया है कि ज्ञानका प्यासा पुरुष उसको सहज ही समझकर तृप्त हो जाता है, और उसके चित्तकी वृत्ति संसारके विषयादिसे उपरत होकर ऊपरकी ओर पहुँचने लगती है। वाणीके श्रवण और पठनसे हृदयमें ऐसे मधुर रसका सञ्चार होने लग जाता है कि मानो स्वर्गमें प्राप्य अमृतकी धारा ही बहने लग गयी हो। उस वचनामृतका ऐसा ऊँचा और सुन्दर प्रभाव पड़ जाता है कि प्रेमानन्दसे पढ़ने या सुननेवाले जिज्ञासुको ब्रह्मानन्द और तत्त्वज्ञानका आस्वादन और रसाभास होने लग जाता है। यह अनुभव सच्चे महात्माओंके वचन, उपदेश, सत्सङ्ग और सेवासे होता ही है। भगवान्‌की कृपासे, प्रारब्ध अच्छा हो तो, उसकी भक्ति और ज्ञान ऐसी वाणीसे मिल जाते हैं। दादूदयालकी वाणी ऐसी ही तत्काल चमत्कार दिखानेवाली है।

दादूदयालके सिद्धान्त और उपदेश उनके अनुभव-सिद्ध साधनोंके सार और फल हैं। वे जो कुछ विचारते थे, जो कुछ करते थे, या कहते थे, सब उनके मन, वचन और कर्मका साधन ही था। अत: उनके साधनोंको उनके सिद्धान्तों या उपदेशोंसे पृथक् समझना या बतलाना एक निराला-सा काम उठाना है। इसलिये हम साधन और सिद्धान्तको एकरूप ही समझेंगे। तथा प्रसङ्गवश उनके मत या मतानुयायी साधुओंकी कोई-कोई बात भी कह देंगे।

(१) दादूजीका मत अद्वैत ब्रह्मज्ञान है, परन्तु उसके साथ प्रेम और भक्ति (या इश्क-मुहब्बत) तथा पराभक्ति जुड़ी हुई है। वे निराकार, निरञ्जन, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ चेतन ब्रह्मको ही मानते थे। और उसीका ध्यान, स्मरण और चिन्तन हृदयमें, अपने आत्मामें ही करते थे। साकार-उपासना उनका ध्येय नहीं। भगवान्‌का नामोच्चारण, जप और रटन, भक्ति और ध्यान ज्ञानपूर्वक करना उनका मुख्य और प्रथम साधन था। 'राम' नामसे

उसी ब्रह्मका नाम अभिप्रेत है। नामका माहात्म्य और साधन अन्य साधनोंसे ऊपर और सिद्धिदाता माना गया है। कहा है—

दादू अबिचलमंत्र, अमरमंत्र, अखैमंत्र, अभैमंत्र, राममंत्र निजसार।
सजीवनमंत्र, सबीरजमंत्र, सुंदरमंत्र, सिरोमणिमंत्र, निर्मलमंत्र निराकार॥
अलखमंत्र, अकलमंत्र, अगाधमंत्र, अपारमंत्र, अनंतमंत्रराया।
नूरमंत्र, तेजमंत्र, जोतिमंत्र, प्रकासमंत्र, परममंत्र पाया, उपदेस दष्या
(दादू गुर राया)॥

(साखी १५५। गुरुदेवकौ अंग)

इस ज्ञानमय भक्तिमय ज्ञान, पराभक्ति, विहित पूजा, अध्यात्मतत्त्वमय जप और ज्ञान-ध्यानका आस्वादन और अनुभव गुरुकृपासे उन्हीं ज्ञानके प्यासों—सच्चे जिज्ञासुओंको हो सकता है जिनके हृदयोंमें वैसी लगन भगवान्ने दी है, जिनके पूर्वजन्मके अर्जित सत्संस्कार इस जीवनमें प्रारब्धरूपसे प्रकट होकर फल देते हैं। अब यहाँ हम दादूदयालके साधन, उपासन, सदुपदेश आदिका कुछ दिग्दर्शन करा देते हैं।

(१) दादूदयालका परमसाधन निराकार निरञ्जन परमात्मा परमपुरुष अलख, अभेव, निर्मल, अगोचर ब्रह्म है। परन्तु यह साधन भक्ति और प्रेमके सहित है। यथा—

(क) निर्मलतत, निर्मलतत, निर्मलतत ऐसा।
निर्गुण निज निधि निरंजन जैसा है तैसा॥ टेक॥
उतपति आकार नाँहीं, जीव नाँहीं काया।
काल नाँहीं, कर्म नाँहीं, रहिता रामराया॥ १॥
सीत नाँहीं, घाम नाँहीं, धूप नाँहीं छाया।
बाव नाँहीं, बरण नाँहीं, मोह नाँहीं माया॥ २॥
धरणी-आकास अगम, चंद सूर नाँहीं।
रजनी निसि दिवस नाँहीं, पवनाँ नहिं जाहीं॥ ३॥
कृत्तिम घट कला नाँहीं, सकल रहित सोई।
दादू निज अगम निगम, दूजा नहिं कोई॥ ४॥

(पद ९५-राग मालीगोड़)

(ख) सब देखणहारा जगतका, अंतरि पूरे साखि।
दादू सावति सो सही, दूजा और न राखि॥

(अंग ३५। २)

(ग) 'दादू भगति निरंजन रामकी, अविचल अविनासी।
सदा सजीवनि आतमा, सहजैं परकासी॥'

(२८। १३ तथा अंग ४। २४४)

(घ) 'दादू जैसा निर्गुण राम है, तैसी भगति निरंजन जाँणि।'

(अंग ४। २४७)

(ङ) 'दादू जैसा राम अपार है, तैसी भगति अगाधा।'

(अंग ४। २४५)

'साँई सरीखा सुमरण कीजे, साँई सरीखा गावै।
साँई सरीखी सेवा कीजे, सब सवेग सुख पावै॥'

(अंग ४। २५१)

(च) 'दादू खोजि तहाँ पिव पाइये, जहँ चंद न ऊगै सूर।'
निरंतर निरधार है, तेज रह्या भरपूर॥'

(अंग ४। १९)

'दादू खोजि तहाँ पिव पाइये, तहँ बिन जिभ्या गुण गाइ।
तहँ आदि पुरष अलेख है, सहजैं रह्या समाइ॥'

(अंग ४। २०)

'दादू खोजि तहाँ पिव पाइये, जहँ अजरा अमर उमंग।
जरा मरण भौ भाजसी, राखै अपणै संग॥'

(अंग ४। २१)

(२) परमात्मा किसी स्थानविशेष या आकार-विशेषमें नहीं है, वह तो सर्वव्यापक है तथा हृदय—अन्तरात्मामें—घटहीमें विराजता है। यथा—

(क) 'पूरा देखौं पीवकौं बाहर भीतरि सोई'।

(अंग ४। ७५)

'हूँ तो देखौं पीवकौं, सबमैं रह्या समाइ'।

(अंग ४। ७६)

दादू देखौं पीवकौं, दूसर देखौं नाहिं।
सबैं दिसा णैं सोधि करि, पाया घटही माँहिं॥

(अंग ४। ७४)

(ख) दादू काया अंतरि पाइया, निरंतर निरधार।
सहजैं आप लखाइया, ऐसा समरथ सार॥

(अंग ४। ११)

दादू काया अंतरि पाइया, त्रिकुटी केरे तीर।
सहजैं आप लखाइया, व्याप्या सकल सरीर॥

(अंग ४। १०)

दादू काया अंतरि पाइया, अनहद बैन बजाइ।
सहजैं आप लखाइया, सून्य मँडलमें जाइ॥

(अंग ४। १२)

दादू काया अंतरि पाइया, सब देवनका देव।
सहजैं आप लखाइया, ऐसा अलख अभेव॥

(अंग ४। १३)

(ग) 'चिंतामणि चितमें मिल्या' (अंग ४।२६)
'तहँ अंतरजामी आप।' (अंग ४।२८)

(घ) दादू मुझही माँहें मैं बसूँ, मैं मेरा घर-बार।
मुझही माँहें मैं रहूँ, आप कहै करतार॥
(अंग ४।२१०)

(ङ) सेवा अंदरकी—
'उर अंतरि करि सेव'। (अंग ४।२५५)
दादू भीतरि पैसि करि, घटके जड़े कपाट।
साँईंकी सेवा करै, दादू अविगति घाट॥
(अंग ४।२५६)
पूजणहारे पासि हैं, देही माँहें देव॥ (अंग ४।२५८)
दादू रमिता रामसौं, खेलैं अंतरि माँहिं।
उलटि समाना आपमैं, सो सुख कतहूँ नाहिं॥
(अंग ४।२५९)
आतम माँहैं राम है, पूजा ताकी होइ। (अंग ४।२६२)
इस अंतरके भावकी पूजाकी सौंज-सामग्री इत्यादि—
'सत्य राम, आत्मा बैदुगों, सुबुद्धि भूमि, सन्तोष स्थान, मूलमन्त्र, मन माला, गुरु तिलक, सत्य संजम, शील शुच्या, ध्यान धोवती, काया कलस, प्रेमजल, मनसा मन्दिर, निरञ्जन देव, आत्मा पाती, पुहुप प्रीति, चेतना चन्दन, नवधा नांव, भाव पूजा, मति पात्र, सहज समर्पण, शब्द घण्टा, आनन्द आरती, दया प्रसाद, तीर्थ सतसङ्ग, दान उपदेश, व्रत सुमिरण, अजपा जाप, अनभै आचार, फल दरसन,.....अंतरिगति पूजा सति सौंज दादू वर्तते॥'
(अंग ४।२६८)

भगति भगति सब कोइ कहैं, भगति न जाणै कोइ।
दादू भगति भगवंतकी, देह निरंतर होइ॥
(अंग ४।२८०)

(३) रामनाम-स्मरण—भक्तिभाव सच्चे हृदयसे लौ लगाकर करना, यह दादूदयालका परम ज्ञान-साधन था। और ज्ञान, भक्ति, वैराग्य—ये तीनों पराभक्तिमय ज्ञानसे पूर्ण विरक्तताके साथ उनके साधनके प्रधान लक्ष्य रहे और ये ही उनकी महान् वाणी (ग्रन्थ) में वर्णित और प्रतिपादित हैं। दादूदयालके वचनामृतमें नामके सम्बन्धमें बहुत ही महत्त्वकी बात आयी है, जिनको जिज्ञासु पाठक पढ़-सुनकर विचार सकते हैं। यथा—

एकै अक्खर पीवका, सोई सत करि जाँणि।
रामनाम सतगुर कह्या, दादू सो परवाँणि॥
(अंग २।२)

दादू नींका नाँव है, हरि हिरदै न बिसारि।
मूरति मन माँहें बसै, सासै सास सँभारि॥
(अंग २।५)

सासै सास सँभालताँ, इक दिन मिलिहै आइ।
सुमिरण पैंडा सहजका सतगुर दिया बताइ॥
(अंग २।६)

और आरँभ सब छाड़ि दै, रामनाम ल्यौ लाई।
(अंग २।८)

एक महूरत मन रहै, नाँव निरंजन पास।
दादू तबही देखताँ सकल करमका नास॥
(अंग २।१२)

एक रामके नाँव बिन जिवकी जलनि न जाइ।
दादू केते पचि मुए, करि करि बहुत उपाइ॥
(अंग २।१५)

दादू सिरजनहारके केते नाँव अनंत।
चिति आवै सो लीजिए, यौं साधू सुमिरैं संत॥
(अंग २।२३)

(दादू) निमष न न्यारा कीजिये, अंतर थै उरि नाम।
कोटि पतित पावन भये केवल कहताँ राम॥
(अंग २।२६)

दादू दुखिया तब लगै, जब लग नाँव न लेहि।
तब ही पावन परम सुख, मेरा जीवन येहि॥
(अंग २।३२)

(दादू) निसदिन सदा सरीर मैं, हरि चिंतन दिन जाइ।
प्रेम मगन लैलीन मन, अंतरगति ल्यौ लाइ॥
(अंग २।४१)

(दादू) राम कहे सब रहति है, जीव ब्रह्म की लार।
राम कहे बिन जात है, रे मन हो हुसियार॥ (अंग २।५०)

दादू सब जग बिष भर्‍या, निर्बिष बिरला कोइ।
सोई निर्बिष होइगा, जाके नाँव निरंजन होइ॥ (अंग २।६३)

ब्रह्म भगति जब ऊपजै, तब माया भगति बिलाइ।
दादू निर्मल मल गया, ज्यूँ रबि तिमिर नसाइ॥ (अंग २।६५)

नाँव सपीड़ा लीजिये, प्रेम भगति गुण गाइ।
दादू सुमिरण प्रीति सौं, हेत सहित ल्यौ लाइ॥ (अंग २।७३)

और नाम-स्मरणकी महिमा यहाँतक है कि

अष्टसिद्धि, नवनिधि आदि हाज़िर खड़ी रहें, और सकल पदार्थ हस्तगत हो जायँ। यथा—

हिरदै राम रहै जा जनकै, ताकौं ऊरा कौंण कहै।
अठसिधि नौनिधि ताकै आगै, सनमुख सदा रहै॥

(अंग २।१०५)

संगहि लागा सब फिरै राम नाम के साथ।
चिंतामणि हिरदै बसै, तौ सकल पदारथ साथ॥

(अंग २।१०८)

यह दादूदयालके साधनका संक्षेपमें वर्णन हुआ। इसीको अन्य साधनोंका आदिम आधार समझना चाहिये। संयम, योगसाधन, तितिक्षा, सन्तोष, दयाधर्म आदिके दयालजी मूर्तिमान् अवतार ही रहे हैं। तभी तो वे 'दयाल' कहलाये। साधनोंमें बहुत करारे साधक थे। साँभरमें वे सरके अंदरकी छत्रीमें जाकर तप किया करते थे। और सर भरा होता तब, अपनी योगशक्तिकी खेचरीमुद्रासे सरके जलके ऊपर होकर वैसे ही जाया करते जैसे पृथ्वीपर चलते थे। ऐसे चमत्कारोंने ही उनकी विभूतिका वहाँ अधिक प्रकाश किया, यद्यपि ये चमत्कार आवश्यकताके समय स्वयं ही हो जाया करते थे। साँभरके क़ाज़ीकी कथा प्रसिद्ध ही है। अनेक दीनों, गरीबों और बीमारोंको सहायता देना तो उनका विशेष कर्तव्य था ही।

परन्तु परमसाधन दादूजीका स्थूलशरीरकी स्थूल जिह्वासे या हाथमें माला लेकर करने तथा मन, बुद्धि और कहीं लगी रखनेका नहीं है; यह साधन वृत्तियोंको अन्तर्मुखी करके चर्मदृष्टिसे ऊँचे उठकर आत्मदृष्टिके साथ करना होता है। आत्मदृष्टिका साधन परिपक्व हो जानेपर, गुरुकी कृपासे, अपने तपोबलसे और प्रारब्धके सत्फलोंसे, ब्रह्मदृष्टि होने लगती है। वह अवस्था ब्राह्मीभूत अवस्था है, तब जीव-ब्रह्म एक हो जाते हैं। इसीको अपरोक्षानुभूति कहते हैं। दादूजीने बताया है कि—

चर्मदृष्टि देखै बहुत, आतमदृष्टी एक।
ब्रह्मदृष्टि परचै भया, तब दादू बैठा देख॥

(अंग ४।१५७)

और वस्तुत: साधनके प्रभावसे यही नेत्र अंदर देखनेके अभ्यासमें रत हो जाते हैं, तब शनैः-शनैः ज्ञानप्रकाशसे आत्मदर्शन होकर ब्रह्ममें लीनताकी अवस्था मिल जाती है। यही इस मनुष्यजन्मका परमफल और सौभाग्य है। कहा है—

येई नैनाँ देहके, येई आतम होइ।
येई नैनाँ ब्रह्मके, दादू पलटै दोइ॥

(अंग ४।१५८)

पर आतम सौं आतमा, ज्यौं पाणी मैं लूँण।
दादू तन मन एकरस, तब दूजा कहिये कूँण॥

(अंग ४।१६६)

फिर कहते हैं और अपने साधनका अनुभव बताते हैं—

अंतरिगति हरि हरि करै, तब मुखकी हाजति नाहि।
सहजैं धुनि लागी रहै, दादू मनही माँहि॥

(अंग ४।१७१)

(दादू) सबद अनाहद हम सुन्याँ, नखसिख सकल सरीर।
सब घट हरि हरि होत है, सहजैं ही मन थीर॥

(अंग ४।१७४)

फिर क्या हो जाता है, सो बताते हैं—

(दादू) सेवग साँईंका भया, तब सेवग का सब कोइ।
सेवग साँईं कौं मिल्या, तब साँईं सरीखा होइ॥

(अंग ४।१८५)

जहाँ राम तहाँ मन गया, मन तहाँ नैनाँ जाइ।
जहाँ नैनाँ तहाँ आतमा, दादू सहजि समाइ॥

(अंग ४।२९३)

परचै पीवै रामरस, सो अबिनासी अंग।
काल मीच लागै नहीं, दादू साँईं संग॥

(अंग ४।३४३)

परचै पीवै रामरस, जुगि जुगि अस्थिर होइ।
दादू अबिचल आतमा, काल न लागै कोइ॥

(अंग ४।३४२)

दादू सुख मेरे साँइयाँ, मंगल अति आनंद।
दादू सज्जन सब मिले, जब भेटे परमानंद॥

(अंग ८।१९)

परन्तु यह ब्रह्मप्राप्ति, यह परमात्मदर्शन, यह परमगति कब प्राप्त हो सकती है, जब यह जीवधारी अपने आपेको मारे, स्वार्थ और विषयलोलुपताका त्याग करे, एक परमात्म-साधनहीमें लवलीन रहे; अन्यथा इसकी प्राप्ति कठिन ही नहीं, असम्भव ही है। कहा है—

(दादू) तन मनके गुण छाँडि सब, जब होहि निनारा।
तब अपने नैनहुँ देखिये परगट पिव प्यारा॥

(अंग ९।१३)

(दादू) जे साहिब कौं भावै नहीं, सो जीव न कीजे रे।
परिहरि विषै बिकार सब, अमृत रस पीजे रे॥

(अंग ९।४)

छाँड़ै सुरति सरीर कौं, तेजपुंज मैं जाइ।
दादू ऐसैं मिलि रहै, ज्यों जल जलहि समाइ॥

(अंग ७।३५)

पद २०६। (पृ० ४४५) राग रामकली।

निकट निरंजन देखिहौं, छिन दूर न जाई।
बाहरि भीतरि एकसा, सब रह्या समाई॥टेक॥
सतगुरु भेद लखाइया, तब पूरा पाया।
नैनन ही निरखूँ सदा, घरि सहजैं आया॥ १॥
पूरे सौं परचा भया, पूरी मति जागी।
जीव जाँनि जीवनि मिल्या, ऐसैं बड़भागी॥ २॥
रोंम रोंम मैं रमि रह्या, सो जीवनि मेरा।
जीव पीव न्यारा नहीं, सब संग बसेरा॥ ३॥
सुंदर सो सहजैं रहै, घटि अंतरजामी।
दादू सोई देखिहौं, सारौं संगि स्वामी॥ ४॥

देखिये कैसा अनुभववर्णन है। यह दादूजीके सच्चे साधनका प्रकाश है। वे जैसा देखते थे, जैसा पाते थे, जैसा जान लेते थे, वैसा ही अपने निज ज्ञान और अनुभवसे कहते थे। वे महात्मा तत्त्वानुसन्धान, अन्तर्ध्यान, आत्मदर्शनसे ही कथन करते थे। पुस्तकोंके अवलोकनसे, अवतरण या प्रमाण छाँटकर या लेकर नहीं कहते थे। शास्त्रश्रवण वे अवश्य करते थे, शास्त्र वे जानते थे, परन्तु उनके था अपने आत्मसाधनका सच्चा पालन। उसमें जैसा भी उनको दिखायी देता था, सिद्ध होता था, जँचता था, वही कहते थे। रहस्यवाद (mysticism), वेदान्तप्रक्रिया, ज्ञान-विज्ञानशैली इत्यादि उनसे कुछ दूर या छिपे नहीं थे। परन्तु उनका वचन स्वात्मारामदर्शनका निदर्शन ही था। उनका साधन बहुत ऊँचा था। वे योगारूढ़ और ज्ञानगरिष्ठ महात्मा थे। अतः परमात्मज्ञानध्यानके प्रेमी जन उनके वचनामृतको पूर्ण भाव, भक्ति और समादर तथा गहरी दृष्टिसे देखें तो बहुत ही उत्तम सारभरे पदार्थोंकी प्राप्ति हो उनके प्रधान शिष्य तथा अनेक प्रशिष्यादि जीवन्मुक्त और कृतकृत्य ही हो गये थे।

देखिये कितनी अच्छी और सच्ची बातें अपने साधनके फलस्वरूप इन पदोंमें कही हैं—

(पद २५। राग गौड़ी। (पृ० ३६७)

जियरा मेरे सुमिरि सार, काम क्रोध मद तजि बिकार॥ टेक॥
तूँ जिनि भूलै मन गँवार, सिर भार न लीजै माँनिहार॥ १॥
सुणि समझायो बार बार, अजहुँ न चेतै हो हुस्यार॥ २॥
करि तैसैं भव तरिये पार, दादू इबथैं यही बिचार॥ ३॥

पद २४। राग गौड़ी। (पृ० ३६६)

कैसै जीवियै रे, साँई संग न पास।
चंचल मन निहचल नहीं, निसदिन फिरै उदास॥ टेक॥
नेह नहीं रे राँमका, प्रीति नहीं परकास।
साहिबका सुमिरण नहीं, करै मिलनकी आस॥ १॥
जिस देखे तूँ फूलिया रे, पाँणी प्यंड बधाँणां मांस।
सो भी जल बलि जायगा, झूँठा भोग बिलास॥ २॥
तौ जीवीजै जीवणाँ, सुमिरै सासौं सास।
दादू परगट पिव मिलै, (तो) अंतरि होइ उजास॥ ३॥

देखिये, साधनके फलका ऐसा निश्चय उन महात्माजीका था कि निरन्तर सच्चे मन और भावनासे परमात्माका हृदयस्थलमें स्मरण करनेसे वे प्रकट होकर प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि अंदर आत्मामें ऐसा ही प्रकाश (उजियाला) होता है, जिसमें वह परमात्मा दिखायी देते हैं। रहस्यवाद, गुह्य अध्यात्मविद्या (mysticism) पर लिखनेवाले हमारे देशके या अन्य देशके विद्वानोंने इस सिद्धान्तका वर्णन यही किया है कि इसका साधक इस मंजिलतक पहुँच जाता है कि वह परमात्माको भक्ति और ज्ञानके साधनसे देखता है और परमात्मा उसे देखता है—'**अरस-परस हम दोउ मिलै**' इत्यादि। यही महान् ज्ञानकी अवस्था है, और मानी जाती है। सच तो यह है कि प्रभु अपने प्यारे भक्त या साधकपर दया-मया करते हैं तो ऐसा ही फल देकर निहाल कर देते हैं। वह तो '**हाज़िराँ हुज़ूर**' '**नाजिराँ भरपूर**' है। और '**जीव ब्रह्म द्वै नाहिं**' यह प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाता है। यह तो प्रधान और प्रथम साधन-सिद्धान्त हुआ।

(२) दूसरा साधन-सिद्धान्त दादूदयालका यह था कि उस एक निराकार, निरञ्जन परमात्मदेवसे पृथक् और कुछ रूप, आकार, प्रकार या विधि-विधानका ध्यान-ज्ञान-साधन अपेक्षित नहीं। जब उस एकहीको ध्याया, उसीको पाया तो सब कुछ जाना और सब कुछ पा लिया। वृथा इधर-उधर मन डुलाना, विस्तार और आडम्बर करना या उठाना अनावश्यक है। एक अटल सिद्धान्त यह है—

दादू जब लग जीवियै, सुमिरण संगति साध॥
दादू साधू राम बिन दूजा सब अपराध।

(अंग १५।१२९)

और दादूजीके स्वमतानुसार (जो कबीरजी, रैदासजी

आदि महात्माओंका-सा है) किसी प्रकारका भेदभाव— हिंदू-मुसलमान, राम-रहीम आदिका भेदभाव कुछ भी प्रयोजन नहीं रखता। जब सभी एक परमात्माके सिरजे हुए हैं, परमात्मा एकरस सबमें व्यापक है, परमात्माके निकट सब बराबर हैं, फिर मनुष्य ऊँच-नीच, हलका-भारी, छोटा-बड़ा आदि क्यों विचारे और क्यों देखे या समझे? केवल भगवान्‌का ज्ञान-ध्यान, गुरु और साधु-संतोंका सत्सङ्ग और राम-नामका तन-मनसे स्मरण करना—बस, यही तत्त्वसार और केवल यही सदा जीवनका कर्तव्य है। और सब बखेड़े, झंझट, बन्धन—यहाँतक कि ये सब अपराध हैं! कितना ज़बरदस्त, ऊँचा, विलक्षण सिद्धान्त है!

कहा है—

(क) आन तैं चित्त निवारिया रे, मोहि एके सेती काज रे।
अनत गये दुख ऊपजै, मोहि एकहि सेती राज रे॥
साँईं सौं सहज रमौं रे, और नहीं आन देव रे।
तहाँ मन बिलँबिया, जहाँ अलख अभेव रे॥

(पद ९। पृ० ३६०)

दादू ताहि न भावै आन, राम बिनाँ भइ मृतक समान।

(पद १०। पृ० ३६१)

दादू द्वै पख दूरि करि, निर्पख निर्मल नाँव।
आपा मेटै, हरि भजै, ताकी मैं बलि जाँव॥

(अंग २६। ६४)

(ख) अलख देव अंतरि बस, क्या दूजी जागह जाइ॥

(अंग १३। १३९)

पूजनहारे पासि है, देही माँहैं देव।
दादू ताकौं छाडि करि, बाहरि मांडी सेव॥

(अंग १३। १४८)

(दादू) निराकार मन सुरतिसौं, प्रेम प्रीति सौं सेव।
जै पूजैं आकार कौं, तो साधू परतखि देव॥

(अंग १५। २)

पद ३११। राग सोरठा। (पृष्ठ ४९०—स्पष्टसिद्धान्त)—

सोई देव पूजौं, जे टाँची नाँहि घड़िया॥
गरभ वास नाँही औतरिया॥ टेक॥

....

ये पूजा मेरे मन मानैं, जिहिं विधि होइ सु दादु न जानैं॥ ४॥

पद १९७। राग रामकली। (पृष्ठ ४४१—स्पष्टसिद्धान्त)—

साँचा राम न जाँणैं रे, सब झूँठ बखाणैं रे॥ टेक॥
झूँठे देवा झूँठी सेवा, झूँठा करै पसारा।
झूँठी पूजा, झूँठी पाती, झूँठा पूजणहारा॥ १॥
झूँठा पाक करै रे प्राँणी, झूँठा भोग लगावै।
झूँठा आडा पड़दा देवै, झूँठा थाल बजावै॥ २॥
... ... ॥ ३॥ और॥ ४॥

(ग) अपना मत पन्थोंके सम्बन्धमें बताते हैं—(स्पष्ट-सिद्धान्तकथन)—

पद १९८। राग रामकली। (पृष्ठ ४४१)—

मैं पंथी एक अपारका, मन और न भावै।
सोई पँथ पावै पीवका, जाहे आप लखावै॥ टेक॥
को पंथी हिंदू तुरक के, को काहूँ राता।
को पंथी सोफ़ी सेवड़े, को सिंन्यासी माता॥ १॥
को पंथी जोगी जंगमा, को सकति-पंथ ध्यावै।
को पंथी कमड़े कापड़ी, को बहुत मनावै॥ २॥
को पंथी काहूँ के चलैं, मैं और न जानूँ।
दादू जिन जग सिरजिया, ताहीको मानूँ॥ ३॥
दादू हिंदू तुरक का, द्वै पख पंथ निवारि।
संगति साँचे साधकी साँईंको संभारि॥

(अंग १६। ५१)

(दादू) हिंदू लागे देहुरै, मुस्सलमान मसीति।
हम लागे एक अलेख सौं, सदा निरंतर प्रीति॥

(अंग १६। ५२)

पद ३४७। राग बिलावल। (पृष्ठ ५०७)—

मूलहि सींचि बधै ज्यूँ बेला, सो तत तरवर रहै अकेला॥ टेक॥
....
तीरथ बरत न पूजै आसा, बनखँडि जाहिंरु रहै उदासा।
यूँ तप करि करि देह जलावैं, भर्मत डोलैं जन्म गमावैं॥ ३॥
....
तब दादू परम गति पावै, सो निज मूरति माँहि लखावै॥ ४॥
नाँ घरि रह्या न बनि गया, नाँ कुछ किया कलेस।
दादू मन ही मन मिल्या, सतगुरके उपदेस॥

(अंग १। ७४)

(दादू) यहु मसीति यहु देहुरा, सतगुर दिया दिखाइ।
भीतरि सेवा बंदिगी, बाहरि काहे जाइ॥

(अंग १। ७५)

(दादू) मंझे चेला मंझि गुर, मंझे ही उपदेस।
बाहरि ढूँढै बावरे, जटा बधाये केस॥

(अंग १। ७६)

मनका मस्तक मूँडिये, काम क्रोधके केस।
दादू बिषै बिकार सब, सतगुरके उपदेस॥

(अंग १। ७७)

(ङ) (दादू) मन माला तहँ फेरिये, (जहँ) दिवस न परसै रात।
तहाँ गुरू बानाँ दिया, सहजैं जपिये तात॥
(अंग १।६६)

(दादू) मन माला तहँ फेरिये, जहँ प्रीतम बैठे पास।
आगम गुर थैं हि गम भया, पाया नूर निवास॥
(अंग १।६७)

(दादू) मन माला तहँ फेरिये, (जहँ) आपै एक अनंत।
सहजैं सो सतगुर मिल्या, जुगि जुगि फाग बसंत॥
(अंग १।६८)

(दादू) सतगुर माला मन दिया, पवन सुरति सूँ पोइ।
बिन हाथों निस दिन जपै, परम जाप यूँ होइ॥
(अंग १।६९)

दादू मन फकीर माँहैं हुवा, भीतरि लीया भेष।
सबद गहै गुरदेवका, माँगै भीष अलेष॥
(अंग १।७०)

(च) उपर्युक्त प्रमाणोंसे, जो खास दादूजीके वचन हैं, दादूजीके साधन और सिद्धान्त स्पष्ट ज्ञात होते हैं। उनका परममत यह रहा है—

आपा मेटे, हरि भजै, तन मन तजै बिकार।
निरबैरी सब जीव सौं, दादू यहु मत सार॥
(अंग २९।२)

(छ) वे तो एक परमात्माको ही आत्मा और आत्माको ही परमात्मा मानते हुए सारे भेदभावको निर्मूल, निरर्थक, असत्य और हानिकारक समझे हुए थे। कहा है—

निर्बैरी सब जीव सौं, संतजन सोई।
दादू एकै आतमा, बैरी नहिं कोई॥
(अंग २९।४)

सब हम देख्या सोधि करि, दूजा नाँहीं आन।
सब घट एकै आतमा, क्या हिंदू मुसलमान॥
(अंग २९।६)

काहे कौं दुख दीजिये, साँईं है सब माँहिं।
दादू एकै आतमा, दूजा कोई नाँहिं॥
(अंग २९।१३)

आतम देव अराधिये, बिरोधिये नहिं कोई।
आराधैं सुख पाइये, बिरोधैं दुख होई॥
(अंग २९।२६)

इस प्रकार संक्षेपसे*—अति संक्षेपसे—दादूदयालके सत्साधनके सत्सिद्धान्तोंका दिग्दर्शन किया गया। विषय महान् है, गहन है, रहस्यमय है। न समय है और न स्थान है कि सारा और विस्तृत कहा जाय। इति शम्।

एक ही शत्रु है

एकः शत्रुर्न द्वितीयोऽस्ति शत्रुरज्ञानतुल्यः पुरुषस्य राजन्।
येनावृतः कुरुते सम्प्रयुक्तो घोराणि कर्माणि सुदारुणानि॥

हे राजन्! इस जगत्‌में पुरुषका एक ही शत्रु है, उसके समान कोई दूसरा शत्रु नहीं है, वह शत्रु अज्ञान है, मनुष्य इस अज्ञानसे घिरकर दारुण कर्म करने लगता है। (महा० शान्ति० २९७।२८)

---

* इस लेखमें चन्द्रिकाप्रसादजीद्वारा संपादित 'दादूवाणी', साधु रामदयालजीद्वारा लिखित 'दादूसार', पं० तारादत्तजी गैरोलाद्वारा लिखित 'साम्स आफ दादू' (Psalms of Dadu), बा० क्षितिमोहन सेनद्वारा लिखित 'दादू' (बंगभाषा) इत्यादिसे सहायता ली गयी है। तदर्थ उन सबको धन्यवाद है। —लेखक

प्रेम-साधन

(लेखक—श्रीमन्निजानन्दसम्प्रदायाद्यधर्मपीठाधीश्वर धर्मधुरीण आचार्य श्रीधनीदासजी महाराज 'सद्धर्मरत्न')

सर्वनियन्ता, सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, पूर्णात्पूर्ण, सच्चिदानन्द-स्वरूप, अविनाशी, एकरस जो ब्रह्म है, उसकी प्राप्ति चरम साध्य और परम पुरुषार्थ है—इस विषयमें कोई मतभेद नहीं हो सकता। आस्तिक जगत्‌के सभी प्राचीन-अर्वाचीन आचार्योंने इसी सिद्धान्तको सामने रखकर ब्रह्मप्राप्तिके अलौकिक ज्ञान और लोकोत्तर पथका प्रदर्शन कराया है।

सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा पूर्णात्पूर्ण, सर्वशक्तिमान् और सर्वेश्वर होनेके कारण सर्वथा निरपेक्ष हैं। परन्तु भगवद्भक्त सदासे ही यह मानते आये हैं कि '**भक्तिप्रियो माधवः**'—भगवान्‌को भक्ति प्यारी है। '**न मे भक्तः प्रणश्यति**', '**मामेकं शरणं व्रज**' इत्यादि भगवद्वचनोंने इस धारणाको और भी सुदृढ़ बना दिया है। इसलिये इस मान्यताकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

इसी प्रकार वेदान्तवादियोंका यह डिण्डिम-घोष है कि—

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।'

'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥'

अर्थात् ज्ञानको छोड़ ब्रह्मप्राप्तिका अन्य कोई मार्ग ही नहीं है। यह भी श्रुतिसम्मत होनेसे उपेक्ष्य नहीं हो सकता।

भक्तिसे भगवत्प्राप्तिको सभीने माना है। ज्ञान भी चिद्रूप होनेसे भगवद्धर्म ही है, अतः उससे भी भगवत्प्राप्ति युक्तियुक्त और सङ्गत है। परन्तु निजानन्दसम्प्रदाय इन दोनों मार्गोंके परे एक तीसरे ही मार्गका निर्देश करता है। उस मार्गका नाम है 'प्रेम'। इस सम्प्रदायकी यह मान्यता है कि निर्विशेष सच्चिदानन्द ब्रह्मको प्रेम जितना सीधा स्पर्श करता है, उतना साधनसापेक्ष भक्ति और ज्ञान नहीं करते। भक्ति और ज्ञान मनुष्यको क्रमसे परमात्माकी ओर ले जाते हैं। पर प्रेमसे तो तत्काल ही चुम्बकके आकर्षणकी तरह जीवात्मा परमात्माकी ओर खिंच आता है। श्रीप्राणनाथ प्रभु कहते हैं—

'पंथ हो कोटि कलप, प्रेम पहुँचावे मीने पलक।'

भक्ति प्रभुको सब कुछ समर्पित कर देना सिखाती है, ज्ञान ब्रह्मका स्वरूप समझा देता है, तो प्रेम तन्मय बना देता है। ज्ञानकी दृष्टिमें '**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या**' है; भक्तके लिये भक्ति और भगवान्‌के सिवा बाकी सब तुच्छ है, और प्रेमी प्रेममें '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' देखता है। प्रेम-जगत्‌में प्रेमके सिवा अन्य कोई सृष्टि ही नहीं है। भक्त और ज्ञानी भगवान्‌के अतिरिक्त अन्यमें आसक्ति नहीं रखते, पर प्रेमीकी दृष्टिमें भगवान्‌के सिवा और कुछ है ही नहीं।

है ग़लत गर गुमानमें कुछ है।
तुझ सिवा भी जहानमें कुछ है॥

अर्थात् प्रेमीके ख्यालमें प्रियतमके सिवा यदि और भी कुछ है तो उसका प्रेम ही गलत है। बात बिलकुल ठीक है। जिसने 'इश्क हक़ीक़ी' अख्तियार किया है, उसकी दृष्टिमें 'इश्क मजाज़ी' कैसे रह सकता है? जब आँखें खुल गयीं, तब सपना कैसे टिक सकता है? प्रेमीकी आँखोंमें तो सदा प्रियतम प्रभु ही रहते हैं। इन दोनोंके बीच तीसरेको अवकाश ही कहाँ?

हिज़ावे रुखे यार भी आये थे,
खुली आँख तो कोइ पर्दा न देखा।

प्रेममें दुनियाका पर्दा कब रह सकता है? यह दुनियाके परेकी चीज है, वहाँ दुनिया कहाँ? पर यह प्रेमका पंथ है बड़ा कठिन!

इब्तिदाहीमें मर गये सब यार,
इश्ककी कौन इन्तिहा लाया?

इस मार्गका आरम्भ तो है, पर इसका कोई अन्त नहीं। इसपर पैर रखते ही सर्वस्व बलिदान करना पड़ता है। यही कारण है कि सब लोग इस मार्गपर नहीं चल सकते। कहा है—

नवधासे न्यारो कह्यो, चौदह भुवनमें नाहिं।
सो प्रेम कहाँसे पाइये, जो बसत गोपिकन माहिं॥

प्रेमको तो यथार्थरूपमें व्रजसुन्दरियोंने ही जाना और अपनाया था। प्रेमके बलसे ही वे गोवत्सपदवत् भवसागरको तरकर श्रीकृष्ण परमात्माको प्राप्त हुईं। पर आज भी इस प्रेमके प्यालेको कोई पी ले तो भगवान् उसके लिये दुर्लभ नहीं। परन्तु—

यह तो गति है अटपटी, झटपट लखै न कोइ।
जो मनकी खटपट मिटै, चटपट दर्शन होइ॥

प्रेमकी गति है बड़ी विकट, पर फल भी है वैसा ही महान् और अपूर्व! इसीलिये महात्माओंने इसका विशेष महत्त्व गाया है।

जब प्रतिपदामें द्वितीयाके चन्द्रका दर्शन होता है, तब उसकी सूक्ष्म कलाको दिखानेमें शाखाचन्द्रन्यायसे काम लेना पड़ता है अर्थात् वृक्षकी किसी शाखाकी ओर अङ्गुलि-निर्देश करके यह बतलाना पड़ता है कि देखो उस शाखाको, उसीके ऊपर चन्द्रमा है। जिसको इस तरह दिखाया जाता है, उसकी दृष्टि इससे उस तरफ बँध जाती है और उसे चन्द्रदर्शन हो जाता है। इसी प्रकार हमारे पूर्वाचार्योंने ब्रह्मदर्शनके लिये अपनी अन्तर्दृष्टिसे भक्ति-ज्ञानादि अनेक सङ्केत निर्माण किये। जो जिस सङ्केतका आश्रय करके लाभान्वित होता है, वह उसी सङ्केतको सुगम और उत्तम बतलावे—यह स्वाभाविक ही है। परन्तु जिस प्रकार चन्द्रदर्शन करानेमें चन्द्रकान्त-मणि* सब संकेतोंकी अपेक्षा उत्तम है, क्योंकि वह द्रष्टाकी दृष्टिको सीधे चन्द्रबिम्बमें जोड़ देती है, उसी प्रकार ब्रह्मरूप चन्द्रका दर्शन करानेमें, वृत्तिको सीधे ब्रह्मस्वरूपके साथ जोड़ देनेमें यदि कोई निरपेक्ष वस्तु है तो वह प्रेम है। चन्द्र और चन्द्रकान्त-मणिमें तो परस्पर अन्तर भी है; पर प्रेम और परमात्मामें कोई अन्तर नहीं, दोनों स्वरूपतः एक ही हैं। आनन्दघन ब्रह्म शक्तिमान् है तो प्रेम उसकी अभिन्न शक्ति है। शक्ति और शक्तिमान्में कभी भेद नहीं होता। अर्थात् जिसने प्रेमको पा लिया, उसने प्रियतमको भी पा लिया। वह प्रेमी अपने प्रेमास्पद भगवान्को छोड़कर और किसीको न देखता है, न सुनता है और न जानता ही है।

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति।

(छान्दोग्य० ७।२४।१)

उसकी दृष्टिमें दूसरा कुछ रह ही नहीं जाता, तब अन्य किसको जाने? प्रेमी परमात्मामें मिलकर एकरूप हो जाता है।

वेदान्तमें ब्रह्मको अस्ति, भाति और प्रिय-धर्मावच्छिन्न माना है—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥

'अस्ति, भाति, प्रिय, रूप और नाम —ये अंशपञ्चक कहलाते हैं। इनमें प्रथम तीन ब्रह्मरूप हैं और शेष दो जगद्रूप।' अस्तिसे 'सत्', भातिसे 'चित्' और प्रियसे 'आनन्द'—इस प्रकार सच्चिदानन्दस्वरूपकी अर्थसङ्गति है। तैत्तिरीयोपनिषद्में ब्रह्मरूप पक्षीका वर्णन करते हुए 'आनन्द आत्मा' कहकर आनन्दको ब्रह्मका आत्मा कहा गया है। जब ब्रह्मका मुख्य रूप प्रिय अर्थात् आनन्द है और जब प्रियके भावको ही प्रेम कहते हैं, तब तो प्रेमकी सर्वोत्तमता स्वतः-सिद्ध ही है। आनन्दके त्रिवृत्में भी '**तस्य प्रियमेव शिरः**' (तैत्तिरीय-श्रुति) कहकर ब्रह्मके प्रियस्वरूपको सर्वोत्तम अङ्ग-सिर कहा है। तब इससे और भी स्पष्ट हो जाता है कि आनन्दघन परमात्माका यदि कोई महान् धर्म है तो वह प्रेम ही है। जो महान् है, प्रिय है, वही सर्वाभिलषित है। उसीके लिये जीवात्मा कहाँ-कहाँ भटकता है, कहाँ-कहाँकी खाक छानता फिरता है।

जीवात्मा सच्चित्स्वरूप होनेसे सत् और चित् तो है ही; अपनी पूर्णताके लिये यदि किसी वस्तुकी उसे अपेक्षा है तो वह है आनन्द। यही कारण है कि ज्ञानी-अज्ञानी सभी आनन्दको ही ढूँढ़ा करते हैं। माताके स्तनसे बिछुड़ा हुआ बच्चा जिस प्रकार हाथकी उँगली, अँगूठे और पैरके अँगूठेमें भी और कभी दूसरोंकी उँगलियोंमें भी स्तनकी कल्पना करके पान करनेकी चेष्टा करता और आनन्द मानता है, अथवा गौके स्तनसे अलग हुआ बछड़ा गौके चाहे जिस अङ्गसे दूध पीनेकी चेष्टा करता है और उसे छोड़ता नहीं, उसी प्रकार यह जीवात्मा परमात्माके प्रेमसे बिछुड़ा हुआ जहाँ-तहाँ उसीके आस्वादनके आनन्दको ढूँढ़ता-फिरता है, बाह्य विषयोंमें उसीकी कल्पना करता और उसीमें आनन्द मान लेता है। परन्तु कल्पित स्तनोंमें जैसे दूध नहीं होता, वैसे ही इन विषयोंमें आनन्दका वह आस्वादन नहीं होता। वह कैसे प्राप्त हो?

यदि इसे प्रेम मिल जाय, प्रेमास्पद मिल जायँ, तो पुनः यह आनन्दी हो जाय। '**रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी**

* बंद मकानमें किसी छिद्रके द्वारा जब प्रकाश आता है तो प्रकाशके त्रसरेणु, जिस ओरसे प्रकाश आता है उसी ओरसे, कतार बाँधे चले आते हुए नजर आते हैं। इसी प्रकार चन्द्रको देखकर चन्द्रकान्त-मणिसे चन्द्रतक प्रकाशके त्रसरेणुओंकी कतार बँध जाती है और इसलिये इसके सहारे तुरत चन्द्रदर्शन हो जाता है। चन्द्रकान्त-मणिसे यह प्रकाश सूर्यास्तके बाद ही प्रकट होता है, दिनमें नहीं होता। —लेखक

भवति' (श्रुति)। इस प्रेमरूप रसको पाकर ही जीवात्मा आनन्दी होता है, '**तृप्तो भवति**'—तृप्त हो जाता है। '**आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।**' ब्रह्मके इस प्रेमानन्दको पाकर वह फिर किसी भयको नहीं प्राप्त होता, प्रत्युत '**आनन्दघन एवास्मि**'—अपनेको आनन्दस्वरूप ही अनुभव करता है। इस प्रेम-प्यालेको पीनेके बाद और कुछ पीना शेष नहीं रहता। इसीको भक्तिशास्त्रोंने परा, प्रेम-लक्षणा, फलरूपा भक्ति आदि कहकर वर्णित किया है। वेदान्तके मतसे जीवन्मुक्तिकी यही चरमावस्था है। इस्लाममें इसीको 'इश्क़ हक़ीक़ी' कहते हैं। इस प्रकार अनेक नामोंसे सर्वत्र वर्णित यह प्रेम सब नाम-रूपोंके परे है। यह तो गूँगेका गुड़ है। जाग्रत् आत्माकी यह दिव्य ऊर्मि है। '**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**'—जिस प्रेमस्वरूपको न पाकर मनसहित वाणी लौट आती है, उसका वर्णन कौन कर सकता है? वस्तुतः प्रेम वर्णनकी वस्तु नहीं है, केवल आत्मैकवेद्य आनन्द है।

प्रेम परमात्माका महान् धर्म है। उसे पानेके लिये तत्स्वरूपी ही बनना पड़ता है। प्रेम परमात्माका वह दामन है, जिसे पकड़ते ही सब उलझनें सुलझ जाती हैं और अनुपम आनन्दका अनुभव होने लगता है। फिर कुछ करना बाकी नहीं रहता।

श्रीराधावल्लभीय सम्प्रदायमें साधन

(लेखक—श्रीहित रणछोड़लालजी गोस्वामी)

सब सों हित निष्काम मत बृंदाबन बिश्राम।
(श्री) राधाबल्लभलाल को हृदय ध्यान, मुख नाम॥

एक समय समर्थ पण्डित, शास्त्रवेत्ता, दिग्विजयी विद्वान् ओड़छानिवासी राजगुरु श्रीसुमुख शुक्ल (व्यासजी)-ने आचार्य श्रीहितहरिवंश महाप्रभुजीसे प्रश्न किया कि 'हे प्रभो! प्राणिमात्रके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये? अपना मत कौन-सा रखना चाहिये? विश्रान्तिका स्थान कौन-सा है? हृदयमें ध्यान किसका धरना चाहिये? और नाम-स्मरण किसका करना चाहिये?' इन पाँच प्रश्नोंके उत्तरमें आचार्य श्रीने उपर्युक्त दोहा कहा था, जिसमें उन्होंने अपने मतका—जिसे सिद्धाद्वैतमत कहते हैं—दिग्दर्शन कराया है और भक्तिमार्गका सर्वोत्तम कल्याणकारी रहस्य भी बतलाया है। उपर्युक्त दोहेकी रसिक भक्तोंके लिये अपनी बुद्धिके अनुसार टीका की जाती है। दोहेका प्रथम वाक्य है—

'सब सों हित'

सिद्धाद्वैतमतमें ब्रह्मके साथ जीवका अंशांशिभाव सम्बन्ध माना गया है। गीताजीमें भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे कहा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

ब्रह्म हमारे लिये पितारूप हैं और हम सभी उनकी सन्तान हैं। संसारके सभी प्राणी ब्रह्मके अंशरूप होनेके नाते हमारे भाई-बहिन हैं—ऐसी भावना करके उन सबसे प्रीति करनी चाहिये। प्राणिमात्रकी तो बात ही क्या, प्रत्येक वस्तुके प्रति ब्रह्मभाव अथवा ब्रह्मदृष्टि रखना—यही सिद्धाद्वैतसिद्धान्तका परम रहस्य है। जबतक दुनियाके समस्त व्यवहार इस सिद्धान्तपर प्रतिष्ठित नहीं होंगे, तबतक संसारमें अर्थका अनर्थ ही होता रहेगा। केवल मनुष्य-प्राणीके अंदर ही आत्माका निवास है, अन्य जीवोंमें नहीं—एक ओर जिस प्रकार यह सिद्धान्त झूठा है, उसी प्रकार दूसरी ओर जगत् मिथ्या है, भ्रमरूप है—ऐसा मानना भी भ्रान्तिसे पूर्ण है। निखिल जगत् सत्य है—ब्रह्मका कार्य है, अतएव ब्रह्मरूप ही है—यह वैदिक सिद्धान्त है। यह अखिल नाम-रूपात्मक जगत् आत्मा ही है। प्रभु ही जगत्‌को उत्पन्न करते हैं और स्वयं जगत्‌के रूपमें उत्पन्न होते हैं। विश्वात्मा भगवान् ही विश्वका रक्षण करते हैं और विश्वके रूपमें वही रक्षित होते हैं। वही संहार करते हैं और अपने ही विश्वरूपका संहार करते हैं। श्रुति भगवती कहती है—

'आत्मैव तदिदं सर्वम्।'
'तदिदं ब्रह्मैव।'
'स सर्वं भवति।'
'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।'

उपर्युक्त श्रुतियोंके अनुसार सारे जगत्‌को ब्रह्मरूप मानना ही वास्तविक सिद्धान्त है। जैसे मकड़ी अपने मुखमेंसे जाल निकालती है और उसीपर खेलती है,

उसी प्रकार ब्रह्मने भी अपनेमेंसे ही इस जगत्‌को उत्पन्न किया है। इस प्रकार इस विश्वका सिरजनहार भी वही है और सृष्टि भी वह स्वयं ही है। रक्षण करनेवाला भी वह है, और रक्षणीय भी वही है।

जगत् ब्रह्मरूप होते हुए भी त्रिगुणात्मक है। जगत्‌में उसके नियन्तारूप ब्रह्मा, विष्णु, महेश प्रभृति देवताओंका तथा चिदचिद्रूप जीवों एवं अचिद्रूप समस्त जड पदार्थोंका समावेश होता है। इसी कारण जगत् सत्य है, मिथ्या नहीं। सद्रूप ब्रह्मका कार्य भी सत् ही होना चाहिये। जगत् वस्तुतः ब्रह्मरूप है और अनन्तमूर्ति ईश्वरसे व्याप्त है। अतः समस्त भूतोंको ईश्वरका ही रूप मानकर उनके हितमें रत रहना चाहिये। गीताजी भी हमें '**सर्वभूतहिते रताः**' रहनेकी ही आज्ञा देती हैं। अन्यत्र भी भक्तोंका लक्षण कहते हुए भगवान् यही कहते हैं कि भक्तको समस्त भूतोंके प्रति द्वेषरहित, सबका मित्र और दयालु होना चाहिये—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।

अन्यत्र भी कहा है—

वैष्णवानां त्रयं कर्म सर्वजीवहिते रताः।
श्रीगोविन्दे परा भक्तिस्तदीयानां समर्चनम्॥

वैष्णवोंके तीन कर्तव्य हैं—सारे जीवोंके हितमें रत रहना, श्रीगोविन्दभगवान्‌में पराभक्ति करना और भगवदीय भक्तोंकी सेवा करना। श्रीबिहारिनदासजीने भी इसी भावका एक पद गाया है—

अब हौं कासों बैर करौं।
कहत पुकारत प्रभु निज मुखतें, घट-घट हौं बिहरौं॥

....

प्रानी सकल समान बिलोकौं भक्तन अधिक डरौं।
बिहरिनदास हरिदास-कृपाबल नित निर्भय बिचरौं॥

प्रभुके नाते सर्वप्राणियोंके प्रति ममता रखना सीखिये। ऐसा करनेसे उनकी ओरका भय निवृत्त हो जाता है। सभी प्राणी प्रभुके अंश हैं, ऐसा समझकर उनसे प्रेम करना ही कर्तव्य है। ज्यों-ज्यों उनसे प्रेम बढ़ेगा, त्यों-ही-त्यों उन्हें मारने अथवा कष्ट पहुँचानेकी वृत्ति नष्ट होगी।

'निष्काम मत'

आचार्यश्रीके दोहेका दूसरा पद है 'निष्काम मत'। मनुष्यको चाहिये कि फल और आसक्तिका त्याग कर भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार उन्हींके लिये कर्म करता रहे। ऐसा करनेसे उसके लिये कर्म बन्धनकारक नहीं होंगे। कर्म स्वरूपतः बन्धनकारक नहीं होते; उनमें जो हमारा राग-द्वेष होता है, वही बन्धनकारक होता है। फल और आसक्तिको त्याग करके कर्म करनेवालेमें राग-द्वेष नहीं होता, इसीलिये उसे कर्म बाँधते नहीं। गीताजीमें श्रीभगवान्‌का वाक्य है—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥

'हे अर्जुन! जो पुरुष न तो किसीसे द्वेष करता है और न किसी वस्तुकी आकाङ्क्षा करता है, उस निष्काम कर्मयोगी भक्तको सदा संन्यासी ही समझना चाहिये। क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित हुआ पुरुष सुखपूर्वक संसाररूपी बन्धनसे मुक्त हो जाता है।'

भगवान् फिर कहते हैं—

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

'जो पुरुष बिना प्रयत्नके मिले हुए पदार्थोंसे सन्तोष कर लेता है, सुख-दुःखसे परे हो गया है एवं ईर्ष्यासे रहित है, तथा जो सफलता और असफलतामें समान बुद्धि रखता है, वह कर्म करके भी उससे बँधता नहीं। तथा जो पुरुष सङ्गरहित अतएव मुक्त है, जिसका चित्त प्रभुके ज्ञानमें स्थिर हो गया है, तथा जिसके समस्त कर्म भगवान्‌के आज्ञानुसार भगवद्भजन अथवा भगवत्सेवारूपी यज्ञके लिये होते हैं, उसके समग्र कर्म नष्ट हो जाते हैं अर्थात् फल उत्पन्न नहीं करते।'

भगवान्‌की आज्ञासे भगवान्‌के लिये कर्म करनेवालेमें अहङ्कार भी नहींके बराबर ही हो जाता है। ऐसे निष्काम भक्त व्यवहारके समय भी भगवान्‌के शरण होकर भगवान्‌का भजन करते हुए उन्हींके आज्ञानुसार तथा उन्हींकी प्रीतिके लिये सब प्रकारके कर्म करते हैं। ऐसे पुरुषोंका सांसारिक वस्तुओंके प्रति राग अथवा द्वेष हो ही कैसे सकता है? ऐसे भक्त जन्मरूपी बन्धनसे छुड़ानेवाले मोक्षतकको इच्छा नहीं करते, सांसारिक पदार्थोंकी तो बात ही क्या है। श्रीमद्भागवतमें उद्धवजीके प्रति श्रीमुखका वाक्य है—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

अर्थात् मेरे भक्तलोग मेरी सेवाको छोड़कर सालोक्य (भगवद्धाममें निवास), सार्ष्टि (भगवान्‌के

समान ऐश्वर्य), सामीप्य (भगवान्‌के समीप रहना) अथवा सायुज्य (भगवान्‌में लीन हो जानारूप) मुक्तिको देनेपर भी नहीं लेते।

ऐसे निष्काम भक्तोंके लक्षण दासधर्मका आचरण करनेवालोंमें ही पाये जाते हैं। भगवान्‌की राजीमें राजी होना— उनके सुखमें ही सुख मानना (**'तत्सुखसुखित्वम्'**)— यही दासधर्म है। भगवान् अन्यत्र भी कहते हैं—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

'जिसने अपने-आपको मेरे अर्पण कर दिया है, वह मुझको छोड़कर न ब्रह्माके पदको चाहेगा, न इन्द्रासनकी इच्छा करेगा, न चक्रवर्ती-पदकी अभिलाषा करेगा और न पातालके राज्यकी कामना करेगा, न योगकी सिद्धियाँ चाहेगा और न जन्म-मरणसे रहित मोक्षपदकी ही अभिलाषा करेगा।'

किसी भक्तने कहा है—

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु स्फुरतु मे राधापदाब्जच्छटा
वैकुण्ठे नरकेऽथवा मम गतिर्नान्यास्तु राधां विना।
राधाकेलिकथासुधाम्बुधिमहावीचीभिरान्दोलितं
कालिन्दीतटकुञ्जमन्दिरवरालिन्दं मनो विन्दतु॥

'जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंमें श्रीराधिकाके चरणकमलोंकी छबि मेरे सामने नाचती रहे; श्रीराधिकाको छोड़कर वैकुण्ठमें अथवा नरकमें— कहीं भी मेरा दूसरा आश्रय न हो; मेरा मन श्रीराधिकाजीकी दिव्य लीला-कथारूपी सुधासमुद्रकी लहरोंमें झूलता हुआ श्रीयमुनाजीके तटवर्ती कुञ्जमन्दिरके सुन्दर अलिन्दपर* सदा विहार करता रहे।'

'बृंदाबन बिश्राम'

तीसरा उपदेश है 'वृन्दावनमें वास करना।' श्रीवृन्दावन श्रीराधाकृष्णका निजधाम होनेके नाते भक्तोंको अत्यन्त प्रिय है। पुष्कर, प्रयाग, काशी आदिकी 'तीर्थ' संज्ञा है; परन्तु श्रीवृन्दावन तो श्रीराधा-कृष्णका नित्यधाम अर्थात् लीला-निकेतन है। प्रकृतिमण्डलसे परे अक्षरब्रह्मके मध्य श्रीगोलोकधाम है, जो वेद-पुराणादिमें प्रसिद्ध है। उसको कितने ही व्यापिवैकुण्ठ भी कहते हैं। वही गोलोक श्रीवृन्दावनके नामसे इस भूमण्डलमें अवतीर्ण हुआ है। गङ्गाजीके आधिभौतिक जलप्रवाहके अंदर जैसे वे अपने मूर्तिमान् आधिदैविक रूपमें विराजती हैं—जिसे उनका कोई कृपापात्र भक्त ही, जिसकी उक्त दोनों स्वरूपोंमें भेदबुद्धि नहीं है, भक्तिकी आर्द्र दशामें दर्शन कर पाता है, उसी प्रकार अक्षरब्रह्मके अंदर श्रीवृन्दावनधाममें परब्रह्म श्रीराधाकृष्ण अपने लीसहचरोंके साथ नित्य विराजमान रहते हैं और अपने कृपापात्र रसिक भक्तजनोंको भक्तिकी आर्द्र दशामें अपने उस दिव्य स्वरूपका दर्शन कराते हैं। वह वृन्दावन समस्त लोकोंका आदि है, अनादि है, सनातन है, चिद्घन है। महारसनायक श्रीप्रियाप्रियतम नित्य किशोर द्विभुज गौरश्यामरूपमें वहाँ विहार करते हैं। वे सर्वोपरि हैं, आदि-अनादि हैं। विष्णु आदि सब अवतार उनकी फल-पुष्प-शाखाएँ हैं। उस वृन्दावनकी महिमामें गर्गसंहितामें निम्नलिखित कथा मिलती है—

भगवान् श्रीकृष्णने प्रयाग नामक तीर्थको, जहाँ गङ्गा-यमुनाका संगम होता है, सब तीर्थोंका राजा बनाकर तथा तीर्थराजकी पदवीसे विभूषित कर भूतलपर भेजा। भूमण्डलके सभी तीर्थ मूर्तिमान् होकर प्रयागराजको भेंट प्रदान करने आये, केवल व्रजमण्डल या वृन्दावन नहीं आया। इसपर प्रयागराज कुपित हुए और उन्होंने श्रीकृष्णके पास आकर वृन्दावनकी शिकायत की। तब भगवान्‌ने प्रयागराजको सान्त्वना देते हुए कहा कि 'हमने तुम्हें तीर्थोंका राजा बनाया है, कुछ अपने घरका राजा नहीं बनाया।' भगवान्‌के ये वचन सुनकर प्रयागराज बड़े प्रसन्न हुए और क्रोधरहित होकर अपने स्थानको चले गये।

श्रीवृन्दावनधामकी ऐसी अलौकिक महिमा है। इस समय भी भगवान् अपने कृपापात्र जनोंको इस महिमाका अनुभव कराते हैं। श्रीव्रजलालजी गोस्वामीने अपने सेवा विचार नामक ग्रन्थमें लिखा है—

आलीभिर्ललितादिभिः परिवृताश्रीराधिका स्वामिनं
यत्रानन्दयति प्रियैः स्वचरितैः शृङ्गारलीलामयैः।
सर्वर्तुप्रभवं सुखं च सततं वर्वर्ति यत्रालयं
तद्वृन्दाविपिनं विहाय मतिमानन्यत्र किं गच्छति॥

अर्थात् श्रीराधिका अपनी ललितादि सखियोंसे परिवेष्टित होकर जहाँ अपने शृङ्गारलीलामय प्रिय चरित्रोंके द्वारा अपने प्रियतमको आनन्दित करती रहती हैं, जहाँ सभी ऋतुओंका सुख प्रलयपर्यन्त सदा बना रहता है, उस वृन्दावनको छोड़कर कौन ऐसा बुद्धिमान् होगा जो किसी दूसरे स्थानमें जायगा?

* मकानके बाहरी द्वारके आगेका चबूतरा या छज्जा।

श्रीकृष्ण-ध्यान-११

श्रीकृष्ण-ध्यान-१२
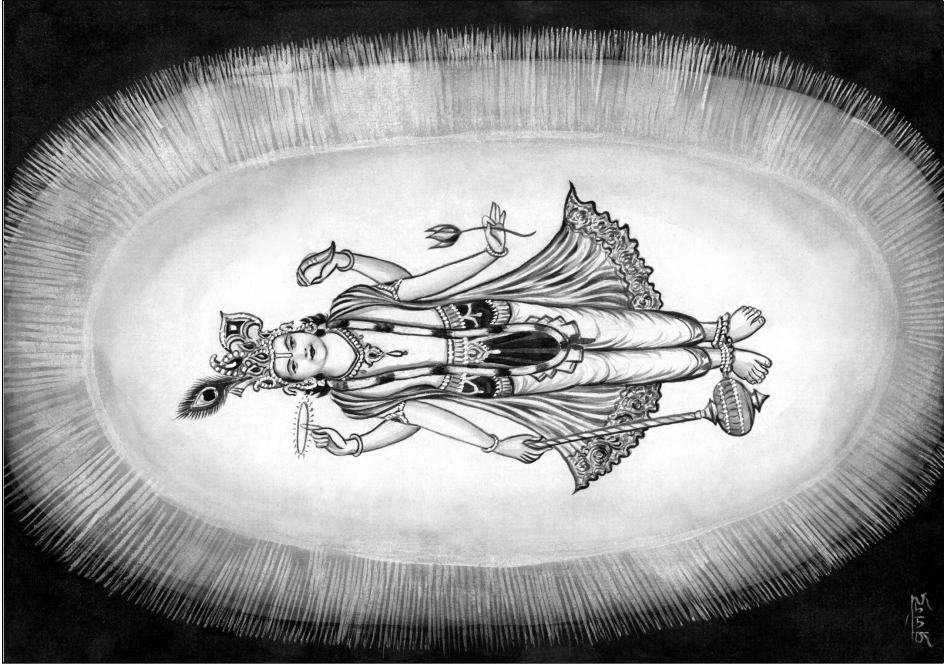
'हृदयध्यान'

अब श्रीराधावल्लभलालके ध्यानकी बात कहते हैं। इसके पहले श्रीराधावल्लभलाल क्या और कैसे हैं, यह समझ लेनेकी आवश्यकता है। संसारके समस्त पदार्थोंके बल और सत्ताको यदि एकत्र कर लिया जाय, तो वह एकत्रित बल और सत्ता भगवान् श्रीराधावल्लभलालके बल और सत्तारूपी अनन्त सागरके एक क्षुद्र-से-क्षुद्र कणके भी बराबर नहीं होते। वस्तुतः समस्त बल और सत्ताके स्रोत श्रीराधावल्लभलालजी ही हैं। वे भगवान् ही सब सुखोंके मूल हैं। वे ही सबके उपादान और निमित्त कारण हैं, अखिल ब्रह्माण्डके स्वामी हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड, पञ्च महाभूत, सूर्य, चन्द्र, तारागण, समस्त देवी-देवता और सब प्रकारकी ऋद्धि-सिद्धि उन्हींकी सत्ता-स्फूर्तिसे स्थित और उन्हींके अधीन हैं। इस प्रकार सबके नियन्ता एवं समस्त ऐश्वर्य, बल एवं सुखके पूर्णतम और अनन्त आकर होनेपर भी वे अत्यन्त दयालु और परम भक्तवत्सल हैं। वे भक्ताधीन हैं, दयाके निधान हैं। जो उन्हें प्रेमपूर्वक भजता है, बदलेमें वे भी उसे उसी प्रकार भजते हैं। श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि जिसपर प्रभु प्रसन्न होते हैं, उसे सारा संसार नमन करता है। वे सर्वशक्तिमान् हैं। वे 'कर्तुं-अकर्तुं-अन्यथाकर्तुं समर्थ' हैं। वे असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं। वे समस्त भूतोंके आत्मा, अन्तर्यामी एवं सर्वव्यापक हैं। वे ब्रह्मके भी अधिष्ठान अर्थात् मूल हैं। गीतामें भगवान् अपने श्रीमुखसे कहते हैं कि 'मैं ब्रह्मका, अव्यय मोक्षपदका, सनातन धर्मका और दुःखरहित सुखका आधार हूँ।'—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

प्रकृति श्रीहरिकी एक शक्ति है। सर्व जीव श्रीहरिके अंश हैं। श्रीहरि आनन्दके भंडार हैं, रसके समुद्र हैं, प्रेमकी खान हैं। वे माया, बुद्धि, मन इत्यादिके परे हैं। उनकी कलाको ब्रह्मा-विष्णु-महेशादि भी नहीं पहुँच सकते। वे सर्वोपरि हैं। वेद, स्मृति, पुराण तथा दर्शनादि शास्त्रोंसे भी प्रभुकी महिमा जानी नहीं जा सकती। वे विश्वात्मा, विश्ववन्द्य हैं। देवाधिदेव श्रीराधावल्लभलालकी लीलाका कौन वर्णन कर सकता है? संसारमें चर-अचररूप कोई ऐसा पदार्थ नहीं है, जो प्रभुसे शून्य हो। ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त जितने भी पदार्थ इस लोकमें अथवा अन्य लोकोंमें हैं, उन सबके रूपमें वे ही लीला कर रहे हैं। वे ही सृष्टिके कर्ता, भर्ता (पालनकर्ता) और संहर्ता (संहार करनेवाले) हैं। आदि, अन्त और मध्यमें श्रीहरि ही हैं। वे ही परम देवता हैं। वे ही परम पद हैं। वे ही परम मोक्ष हैं। उनकी महिमा अनन्त है। वे श्रीराधारमण हैं, श्रीराधाजीके अधीन हैं। मुरलीको धारण करते हैं। अष्ट सखियोंद्वारा परिसेवित हैं। नित्यकिशोर, निकुञ्जनायक, रसिकविहारी, नटनागर हैं। श्रीरंगीलालजी गोस्वामीने कहा है—

स्वीयानन्दप्रपूर्णं विमलरसमयं नित्यविज्ञानरूपं
सन्नम्यं सर्वरम्यं विबुधगणवरैः शङ्कराद्यैरगम्यम्।
वेदान्तस्वान्तगूढं निखिलभुवनसंसृष्टिरक्षान्तलक्ष्यं
श्रीराधावल्लभाख्यं मम मनसि परं ब्रह्म संस्फूर्तिमीयात्॥

'जो निजानन्द अर्थात् स्वरूपानन्दसे परिपूर्ण हैं, विशुद्ध रसमय हैं, नित्यविज्ञानरूप हैं, संतोंद्वारा वन्दनीय हैं तथा सबको आनन्द देनेवाले हैं, शंकरादि श्रेष्ठ देवगणोंकी भी जहाँ पहुँच नहीं है, जो वेदान्तके हृदयमें छिपे हुए हैं तथा अखिल विश्वकी उत्पत्ति, पालन और संहार करनेवाले हैं, वे श्रीराधावल्लभ नामसे विख्यात परब्रह्म परमात्मा मेरे चित्तमें प्रकाशित हों।'

अब उन श्रीराधावल्लभलालके ध्यानकी बात कही जाती है। भगवत्प्राप्तिके साधनोंमें ध्यानकी सर्वत्र आवश्यकता है। गीतादि ग्रन्थोंमें तथा योगशास्त्र एवं भक्तिशास्त्रमें भी ध्यानकी आवश्यकता बतलायी गयी है। परन्तु आजकल साधकोंमें ध्यान बहुत कम लोग करते हैं, यह बात विचारणीय है। ध्यानमें अभ्यासकी आवश्यकता है। ध्यान अभ्याससे ही होता है। मनको भगवान्के चरणोंमें एकाग्र करनेका अभ्यास करना चाहिये। दृढ़ निश्चयपूर्वक ध्यानका अभ्यास करनेसे उसमें अवश्य उत्तरोत्तर सफलता मिलती है। संसारका चित्र हृदयसे निकालने और उसके स्थानमें भगवान्की सगुण मूर्ति स्थापित करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। मनद्वारा भगवान्का स्वरूप स्थिर हो जानेपर मनको उसके अंदर इस प्रकार अविचलभावसे स्थिर कर देना चाहिये कि भगवान्के अतिरिक्त संसारका अथवा अपना बिलकुल भान न रहे। जबतक ध्यानकी ऐसी गाढ़ स्थिति न हो जाय, तबतक अभ्यास छोड़े नहीं। ध्यान लग जानेपर तो उसमें ऐसा आनन्द आने लगेगा कि फिर छोड़नेसे भी नहीं छूटेगा। ऐसी स्थिति हो जानेपर चित्तमें अपूर्व शान्तिका अनुभव होगा और हर्षका पार नहीं रहेगा। एक इष्टमूर्तिके

सिवा और सबका अभाव हो जाना चाहिये। यही सर्वोत्तम ध्यान है। इस प्रकारका ध्यान ही सब साधनोंका फल है। सेवा, भजन, कीर्तन आदि जो कुछ भी किया जाता है, ध्यानके लिये ही किया जाता है। भगवान् मेरे सेव्य हैं और मैं उनका सेवक हूँ—ऐसा भाव स्थिर कर अविच्छिन्नरूपसे संसार और अपनेको भुलाकर मनसे उनकी सेवा होती रहनी चाहिये। इसीको मानसिक सेवा अथवा सर्वोपरि ध्यान कहते हैं। इस प्रकार अटल भावसे प्रभुमें वृत्तियोंका स्थिर हो जाना ही सबसे बड़ा लाभ है। जिस भाग्यवान् पुरुषकी ऐसी स्थिति हो जाती है, उसकी अपनी मुक्तिकी तो बात ही क्या है, वह दूसरोंको भी मुक्त कर सकता है। भक्तिमार्गमें भी ध्यानकी ही प्रधानता है। भगवान्ने गीताजीमें जहाँ-जहाँ भक्तिकी महिमा कही है, वहाँ-वहाँ ध्यानका बड़ा महत्त्व दिखलाया है। भगवान् कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

'सब प्रकारके योगियोंमें जो मुझमें चित्तको निवेशित कर श्रद्धापूर्वक मेरा भजन करता है, वह सबसे अधिक युक्त है।'

'मुख नाम'

ऐहिक और पारलौकिक कल्याण चाहनेवाले सभी मनुष्योंको नित्य श्रीहरिका भजन करना चाहिये। परन्तु बड़े आश्चर्यका विषय है कि विद्वान् मनुष्य ऐसा जानते और समझते हुए भी प्रभुको नहीं भजते। नित्य निरन्तर प्रभुका अनन्य भजन होना ही शरणागतिका प्रधान लक्षण है। जो कोई किसी फलकी कामनासे भजन-स्परण करता है, उसका अधम भाव समझा जाता है। जो भजन भजनके लिये ही होता है, वही सर्वोत्तम है। जिस तरह जीवनधारणके लिये श्वास लेना अत्यावश्यक एवं स्वाभाविक है, उसी तरह भजन-कीर्तन भी हमारे लिये आवश्यक और स्वाभाविक बन जाना चाहिये। रसिकशिरोमणि श्रीसेवकजी कहते हैं—

यह जु पर्‌यो मोहि सहज सुभाव। श्रीहरिवंश नाम रस चाव॥

वेद भी कहता है—

'यो यदंशः स तं भजेत्'

अर्थात् जो जिसका अंश है, उसे उसका भजन करना चाहिये। जीव परमात्माका अंश है, इसलिये उसे परमेश्वरकी भक्ति करनी ही चाहिये। सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते—सब समय श्वास-प्रश्वासकी क्रियाके समान भजन-स्मरण होता ही रहना चाहिये। भजनमें एक क्षणका भी विराम उचित नहीं है। एक क्षणके लिये भी भगवन्नामका विस्मरण होनेपर साधकपर असुरका आवेश हो जाता है, ऐसा पण्डितजन कहते हैं। शास्त्रोंमें श्रीहरिनामका माहात्म्य इतना अधिक कहा गया है कि उसका अन्त नहीं है। कलियुगमें तो भगवान्का नाम ही कल्याणकारक है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

अर्थात् सत्ययुगमें भगवान् नारायणका ध्यान करनेसे, त्रेतामें यज्ञके द्वारा उनकी आराधना करनेसे और द्वापरमें उनकी सेवा-पूजा करनेसे जो फल मिलता है, कलियुगमें भगवान्के नाम-कीर्तनसे वही फल प्राप्त होता है।

भजनका अभ्यास ऐसा दृढ़ होना चाहिये कि यदि किसी कारणसे कभी नामका विस्मरण हो जाय, तो ऐसी व्याकुलता हो कि जिसके कारण हमारा दम घुटने लगे—'**तद्विस्मरणे परमव्याकुलता।**' (नारदभक्तिसूत्र)

भजनमें दूसरी आवश्यक बात है अनन्यता। अपने प्रभुके सिवा दूसरेके अस्तित्वकी कल्पना भी चित्तमें न आवे, इसीका नाम है अनन्य भजन। इस प्रकार अनन्य चित्तसे भजन करनेवालेके लिये, भगवान् कहते हैं कि मैं सुलभ हो जाता हूँ। गीताजीमें श्रीमुखका वचन है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

इस प्रकारके भक्त किसी भी लोभसे क्षणमात्रके लिये भी भजनका त्याग नहीं करते और अपने इष्टके सिवा दूसरेका भजन नहीं करते।

श्रीरामस्नेही-सम्प्रदायकी उपासना-पद्धति

(लेखक—दैवज्ञप्रवर स्वामी श्रीमनोरथरामजी रामस्नेही शास्त्री, साहित्यभूषण)

भक्तिके पथको सुगम और प्रशस्त करनेके लिये महाप्रभु स्वामी श्रीरामचरणजी महाराजने शाहपुरामें श्रीरामस्नेही-सम्प्रदायकी स्थापना की, साथ-ही-साथ भक्तियोगके प्रतिपादनार्थ स्वकीय अनुभवयुक्त वाणीद्वारा दोहा-चौपाइयोंमें 'शब्दप्रकाश' नामक ग्रन्थका निर्माण किया तथा उसपर ब्रह्म रामकी उपासना-विधि बतलायी, जिनके ध्यानमें शङ्कर तथा शेषजी सदा लीन रहते हैं तथा जिनके नामकी महिमा महर्षि अगस्त्यजीने अगस्त्यसंहितामें सुतीक्ष्णजीके प्रति इस प्रकार वर्णन की है—

सप्तकोटिमहामन्त्राश्चित्तविभ्रमकारकाः ।
एक एव परो मन्त्रो राम इत्यक्षरद्वयम्॥

अर्थात् महामन्त्र तो सात करोड़ हैं, परन्तु वे चित्तमें [यह मन्त्र श्रेष्ठ है या वह—इस प्रकारका] विभ्रम उत्पन्न करनेवाले हैं। 'राम' यह दो अक्षरोंका महामन्त्र ही सबसे श्रेष्ठ है। इसी प्रकार अथर्ववेदके रामरहस्योपनिषद्में भी कहा है—

एतेषु चैव सर्वेषु तत्त्वं च ब्रह्मतारकम्।
राम एव परं ब्रह्म राम एव परं तपः।
राम एव परं तत्त्वं श्रीरामो ब्रह्मतारकम्॥

अर्थात् समस्त धर्मग्रन्थोंका तत्त्व तारक ब्रह्म ही है। और वह तारक ब्रह्म राम है। राम ही परब्रह्म है, राम ही परम तप है और राम ही परम तत्त्व है।

इस प्रकार परब्रह्म रामकी महिमासे धर्मग्रन्थ भरे पड़े हैं। यहाँ अधिक वचनोंका उल्लेख करना सम्भव नहीं है। इसलिये अब हम परब्रह्म रामकी उपासना-पद्धतिरूप 'शब्दप्रकाश' नामक ग्रन्थके मूल वचनोंको ही उद्धृत कर लेख समाप्त करेंगे। उस ग्रन्थमें महाप्रभु स्वामी श्रीरामचरणजी महाराजने परब्रह्म रामकी उपासना-पद्धति इस प्रकार बतायी है—

रामनाम तारक मंत्र, सुमरै संकर सेस।
रामचरण साँचा गुरु देवै यह उपदेस॥ १॥
सतगुरु बकसै रामनाम, सिष धारें बिस्वास।
रामचरण निसिदिन रटै तो निस्चय होय प्रकास॥ २॥

अब सुनियो सब साधु सुजाना। रामभजनका करूँ बखाना॥
प्रथम नाम सतगुरु से पाया। श्रवणा सुनके नेह उपजाया॥ १॥
पुनि रसना की श्रद्धाजागी। राम रटन निसिबासर लागी॥
दूजी आसा सकल बुहारी। (तब) राम नाम मैं सुरत ठहारी॥ २॥
पद्मासन निस्चल मनकीया। नासा निरत धार घर लीया॥
स्वास उस्वासा ध्वनीलगाई। आरत करके बिरह जगाई॥ ३॥
रसना अग्र खुली इक सीरा। परथम वाको पय सो नीरा॥
रटताँ रटताँ भयो मिठास। हर्ष भयो आयो बिस्वास॥ ४॥
कई दिवस रसना रसगटक्यो। पीछे सब्द कंठमें अटक्यो॥
कंठ स्थान बहुत कठिनाई। मुख सूँ बचन न बोल्यो जाई॥ ५॥
खान पान पै रुचि रहै थोरी। मारग रुक्यो जाय कह बौरी॥
छीन सरीर त्वचा सकुचानी। नीली नस दीसै झलकानी॥ ६॥
पीरो बदन नेतराँ लाली। मुकुर ज्योति ज्यां दियै कपाली॥
चले कमकमी रूँ थर्रावै। छाती रुँधै स्वास नहिं आवै॥ ७॥
ऐसी बिधि बिरही की होई। बिरह जान कै सतगुरु सोई॥
एक दिवस ऐसी बन आई। सब्द सरक गयो हिरदय माईं॥ ८॥
परम सुक्ख हिरदै परकासा। ज्यूँ रबि कीन्हों तम को नासा॥
सहजै सुमिरन हिरदै होई। बाहिर भेद न जानै कोई॥ ९॥
सोवत जागत डोरी लागी। बन बस्ती की संका भागी॥
रसना जपा अजप्पा पाया। बाहिर साधन सकल बिलाया॥ १०॥
जाग्यो प्रेम नेम रह्यो नाहीं। पाई राम धाम घट माहीं॥
उर अस्थान पाय बिश्रामा। सब्द किया जाय नाभि मुकामा॥ ११॥
नाभि कमल में सब्द गुंजारै। नो सै नारी मंगल उचारै॥
रोम रोम झुणकार झुणक्कै। जैसे जंतर ताँत ठुणक्कै॥ १२॥
माया अच्छर इहाँ बिलाया। रंकार इक गगन सिधाया॥
पस्चिम दिसा मेरु की घाटी। बीसों गाँठ घोर सें फाटी॥ १३॥
त्रिकुटी संगम किया सनाना। जाय चढ़्या चौथे अस्थाना॥
जहाँ निरंजन तख्त बिराजै। ज्योति प्रकास अनंत रबि राजै॥ १४॥
अनहद नाद गिणत नहिंआवै। भाँति भाँति की राग उपावै॥
स्त्रवै सुषुम्ना नीर फुँहारा। सून्य सिखर का यह बिवहारा॥ १५॥
झरै पणंग मोती-सा ढलकै। जाकी ज्योति अरुन-सी भलकै॥
सागर जहाँ बिना घर भरिया। हंसा बास तास मध करिया॥ १६॥
सुखमण मोती करे अहारा। निज हंसा का यह ही चारा॥
सुन सायर हंसा का बासा। भवसागर सुख भया उदासा॥ १७॥
दरिया सुखको अंत न आवै। छीलर काल बाज झपटावै॥
सुखसागर मिल सुख पद पाया। सो सब्दाँ में कह समझाया॥ १८॥
बिन देख्याँ परतीत न आवै। तासूँ कैसे भेद बतावै॥

अर्ध उर्ध कमला जहाँ फूल्या । भँवर रूप होय हंसा झूल्या ॥ १९ ॥
भँवर गुँजार गगन गिरणाया । होय मस्त अलि तहाँ लुभाया ॥
ऐसो पद बिरला जन पावै । सो भवसागर नाहीं आवै ॥ २० ॥
राम रट्याँका यह परकासा । मिल्या ब्रह्मपद भव भया नासा ॥
रामचरण कोइ राम रटेगा । सो जन एही धाम लहेगा ॥ २१ ॥
रामनाम निसिबासर गासी । सो नर भवसागर तिर जासी ॥
रामनाम बिन आन उपाई । ज्यूँ दूल्याँ का खेल कराई ॥ २२ ॥
बालक बेळू मँदिर बणाया । तामें बस कूने सुख पाया ॥
रामभजन बिन खाली करणी । ज्यूँ बिन बीज सुधारी धरणी ॥ २३ ॥
राम बीज साधन हल हाँकै । तो रामचरण खेती फल पाकै ॥ २४ ॥

बरणि कह्यो संछेप से दरिया के सो पार।
निज परसी या धामकूँ (सो) लीज्यो संत बिचार ॥ १ ॥
रामचरण रट रामनाम पाया ब्रह्म बिलास।
ईं साधन कोइ लागसी (जाके) होसी सब्द प्रकास ॥ २ ॥

—इत्यादि। इन वचनोंका अर्थ भलीभाँति समझकर जो बुद्धिमान् पुरुष उपर्युक्त उपासना-पद्धतिके अनुसार परम पुनीत भक्तियोगकी साधना करेंगे, वे निश्चय ही मायाके समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर संसारसागरको गोपदकी तरह अनायास पार कर जायँगे और परब्रह्म श्रीरामरूप होकर उनकी सायुज्य-मुक्तिको प्राप्त करेंगे। फिर उनको श्रुतिके **'न च पुनरावर्तते, न च पुनरावर्तते'** इस वचनके अनुसार कभी भी संसार-चक्रमें फँसकर जन्म-मरणादिके कष्टोंका अनुभव नहीं करना पड़ेगा। यद्यपि 'शब्दप्रकाश' में ईश्वरोपासनाका विस्तार बहुत है और ग्रन्थका अर्थ समझाना भी आवश्यक था, परन्तु विस्तारभयसे इस लेखको यहीं समाप्त किया जाता है। श्रीरामस्नेही-सम्प्रदायकी उपासना-पद्धतिका संक्षिप्त स्वरूप यही है।

विजयकृष्ण-कुलदानन्दकी नाम-साधना

(लेखक—श्रीनरेश ब्रह्मचारी)

युगप्रवर्तक विजयकृष्ण-कुलदानन्दकी 'नाम-साधना' जगद्वासियोंकी एक अमूल्य सम्पद् है। यह नवीन नहीं, अति प्राचीन है। स्वयं श्रीभगवान् नारायण इस साधनाके प्रवर्तक हैं। श्रीभगवान् विष्णुके नाभि-कमलसे उत्पन्न होकर ब्रह्माजीने जो साधन किया था, 'तपस्तप' वाणी श्रवणकर उन्होंने जिस प्रकारसे तत्त्व जाननेके लिये चेष्टा की थी, यह वही साधना है। देवादिदेव महादेव, देवर्षि नारद, दत्तात्रेय, वसिष्ठ, ध्रुव, प्रह्लाद आदि महायोगीश्वर तथा ऋषि-मुनिगणोंने श्रीभगवान् नारायणद्वारा प्रवर्तित इस अपरूप 'नाम-साधन'-द्वारा ही 'उनको' प्राप्त किया था। यह साधन आदिवैदिक किन्तु गुरुमुखी है; 'श्रीमद्भागवत', 'श्रीमद्भगवद्गीता' आदि शास्त्र-ग्रन्थोंमें अति संक्षेपसे इसका उल्लेखमात्र है, पद्धति कहीं लिखी नहीं है। अनादि कालसे यह 'नाम-साधन' अति गोप्यरूपसे गुरुपरम्परया चला आ रहा है। चिरकालसे यह मुनि-ऋषियोंके अंदर हिमालयमें ही था। कलिपावनावतार भगवान् श्रीगौराङ्ग महाप्रभुने वङ्गदेश-नवद्वीपमें अवतीर्ण होकर कृपापूर्वक यह असाधारण शक्ति-समन्वित 'नाम-साधन' जीव-जगत्के परम कल्याणके हेतु अपने कतिपय अन्तरङ्ग शिष्योंको दान किया था। नानक, कबीर, तुलसीदास प्रभृति महापुरुषोंने इस 'नाम-साधन' प्रणालीका अवलम्बन करके सिद्धि लाभ की थी। उन्नीसवीं शताब्दीके मध्यभागमें जब धर्मकी ग्लानि उपस्थित हुई थी, स्वेच्छाचार और व्यभिचारसे देश म्लान हो पड़ा था, साम्प्रदायिकताकी सङ्कीर्णतामें पड़कर समग्र मानव-जातिके भीतर जब एक तुमुल द्वन्द्व आ उपस्थित हुआ था, तब एक शुभ क्षणमें नदिया-शान्तिपुरके गौराङ्गदेवको लानेवाले ठाकुर, महाविष्णुके अवतार, श्रीअद्वैतप्रभुके वंशमें आविर्भूत अतिमानव विजयकृष्णने हिमालय मानस-सरोवर (स्कन्दपुराणान्तर्गत मानस-सरोवर)-के वासी महायोगी परमहंस ब्रह्मानन्दजीसे गया-आकाशगङ्गा पहाड़में यह अप्राकृत शक्तियुक्त 'नाम-साधन' प्राप्त किया था एवं थोड़े ही समयके भीतर साधनामें सिद्धि-लाभ करके भारतमें सर्वत्र तथा दूर सागरपारके नाना जाति और सम्प्रदायोंके साधारण मानव-समुदायको ही नहीं, वरं महात्मा महापुरुषोंको भी इस 'नाम-साधना' का दान करके जीव-जगत्को कृतार्थ और धन्य किया था।

इस अजपा 'नाम-साधना' का वैशिष्ट्य

असामान्य शक्तिसम्पन्न महापुरुष गोस्वामी

विजयकृष्णजीने अपने अन्तरङ्ग, नित्यसङ्गी, प्रिय शिष्य, नैष्ठिक ब्रह्मचारी कुलदानन्दको अपनी विशेष शक्तिसे शक्तिमान् बनाकर यह अनुपम 'नाम-साधन' प्रार्थियोंको दान करनेका आदेश किया था। हिंदू, मुसलमान, किस्तान और विभिन्न धर्म-सम्प्रदायोंके अनेकानेक व्यक्तियोंने इस 'नाम-साधना' का आश्रय लेकर आत्माका परम कल्याण-साधन कर उन्नतिके सर्वोच्च शिखरपर आरोहण किया है। यह 'नाम-साधन' अजपा है, गुरुमुखसे ग्रहण करना पड़ता है। इस साधनाका विशेषत्व है 'श्वास-प्रश्वाससे नाम-जप'। साधन-कौशल गुरुसे सीखना ही विधि है, भाषामें लेखनीद्वारा समझाना असम्भव एवं निषिद्ध है। धर्म-पिपासुजनोंके अल्पाधिक ज्ञान और धारणाके लिये जहाँतक प्रकाश करना सम्भव है, उतना ही समझानेका प्रयास किया जा सकता है।

श्वास-प्रश्वाससे 'नाम-साधन' का वैज्ञानिक रहस्य

इस साधनके क्रिया-रहस्य बड़े ही चमत्कृतिजनक हैं और देह-तत्त्वसमन्वित तथा मनोविज्ञानसम्मत हैं। श्वास-प्रश्वास ही देहका प्राण है। प्राणके रहनेसे आत्माका निवास है। देहके साथ आत्मा विशेष सम्बन्धसे जड़ित है। आत्मामें ही मन है। श्वास-प्रश्वासके साथ मनका विशेष सम्बन्ध है। आत्मा परमात्माका अंश—परमात्मा है। कारण, भगवान्‌का अर्थ है—सर्वैश्वर्यशाली अर्थात् 'सम्पूर्ण'; और सम्पूर्णका अंश नहीं होता। महासमुद्रका जल भी जल है, एक बूँद जल भी जल ही है। एक बूँद जल जिन वस्तुओंकी समष्टि है, महासमुद्रके जलमें भी वे ही सब पदार्थ वर्तमान हैं। इस भावसे परमात्माका अंश आत्मा पूर्ण है—परमात्मा ही है। यह जो जीवात्मा है, वह संस्काराच्छन्न है। इस संस्काराच्छन्न आत्माके संस्कारोंका पिण्ड ही देह है। देहका प्रत्येक अणु-परमाणु—रस, रक्त, मांस, मेद आदि समस्त ही संस्कारानुयायी और संस्कारमय हैं। श्वास-प्रश्वास इस देहका शोधन करते हैं। श्वास जिसे हमलोग ग्रहण करते हैं, जो विशुद्ध वायु है, जिसमें 'आक्सीजन' (Oxygen) अधिक रहता है, फेफड़ों (Lungs)-में जाकर रक्तको 'आक्सीजिनेटेड (Oxygenated) करता है और साथ ही तुरंत शरीरकी एक-एक शिरामें जाकर ७२ हजार नाड़ियोंमें घूमकर रक्त-शोधनान्तर देहका जितना मल (Carbon-di-oxide) है, उसे लेकर प्रश्वासरूपसे बाहर चला आता है। यही श्वास-प्रश्वासका काम है। रक्तकी क्रिया स्थूलतः देहके ऊपर एवं सूक्ष्मतः मनके ऊपर होती है। रक्तके अनुसार शरीर और मन बनता है। रक्त गरम होनेसे मन भी विकृत हो जाता है। रक्त जितना ही शुद्ध होता है, मन भी उतना ही शुद्ध और पवित्र होता है। इस प्रकार देहके साथ मनका सम्बन्ध है। इस श्वास-प्रश्वासके साथ 'श्रीभगवान्‌के नाम' का योग करना पड़ता है। 'नाम' का श्वासके साथ परिचय कराकर उसे सङ्ग लगा देनेसे 'नाम' श्वासके साथ जाकर ७२ हजार नाड़ियोंमें पूर्वोक्त प्रणालीसे घूमकर, रक्तको पवित्र करके प्रश्वासके साथ लौट आता है। श्वास रक्तको शुद्ध करता और नाम उसे परम पवित्र करता है। इस शुद्ध पवित्र और नाममय रक्तकी क्रिया मनके ऊपर होकर मनको शुद्ध, सात्त्विक, पवित्र और 'नाममय' करती है। इस प्रकार अभ्यासद्वारा श्वास-प्रश्वासके साथ मनकी मित्रता हो जानेके कारण नाम-प्रेमी मन 'नाम' सहित क्रमशः स्वभावतः श्वास-प्रश्वासमें निविष्ट होता है। इस प्रकारसे श्वास-प्रश्वाससे युक्त होकर 'नाम' अपने-आप चलता रहता है। साधकको उस समय 'नाम' का जप नहीं करना पड़ता, 'नाम' का जप स्वभावतः आप ही होता रहता है। यही 'अजपा' साधन है। उपर्युक्त प्रणालीके अनुसार साधनद्वारा संस्कारमय देह और मन तथा संस्काराच्छन्न आत्मा क्रमशः श्रीभगवन्नाममय होकर 'अहं'-संस्कारसे मुक्त हो जाते हैं।

इस अजपा-साधनका लक्ष्य और ध्यान

इस साधनमें पृथक् ध्यान-विधि नहीं है। ध्यानकी कोई विशेष मूर्ति इस साधन-पद्धतिमें नहीं है। इस अजपा-साधनका लक्ष्य स्वयं श्रीभगवान् हैं। 'भग' का अर्थ है ऐश्वर्य। भगवान् षडैश्वर्यपूर्ण हैं अर्थात् जिनमें समस्त ऐश्वर्य पूर्णरूपसे स्थित है, वे ही श्रीभगवान् हैं। पराशान्ति लाभ ही जीवोंका उद्देश्य है। अभाव ही दुःख है—अशान्ति है। 'सम्पूर्ण' को पाये बिना अभाव नहीं मिट सकता। यह 'सम्पूर्ण' श्रीभगवच्चरण-प्राप्ति है, वही पूर्ण शान्ति या परा शान्ति है। उनका रूप ही है सर्वैश्वर्य। 'सर्व' के बाद फिर रूप और क्या बच रहा, परन्तु साधारण जीवकी अनुभूति जीवश्रेष्ठ मनुष्यतक ही है। अतः मानवरूपमें दर्शन न देनेसे उनका अनुमान या धारणा करना जीवके लिये असम्भव, साध्यातीत है। निर्गुण निराकारका भजन नहीं हो सकता। इसलिये रूपका आश्रय करना पड़ता है। वे अनन्त हैं, उनके रूप भी अनन्त हैं। उनका कोई एक रूप नहीं है। किस रूपका आश्रय करना होगा, यह स्थिर करना कठिन है।

वे किस रूपमें कब दर्शन देंगे, यह कौन कह सकता है? इस कारण इस साधनमें रूप या मूर्तिका ध्यान नहीं है। अतः 'नाम' का आश्रय करना ही सहज उपाय है। 'नाम' का आश्रय करनेसे 'नाम' में ही 'नामी' अर्थात् श्रीभगवान्‌का सन्धान मिलता है—रूप-दर्शन होता है। 'नाम' हीमें 'नामी' का रूप रहता है। 'नाम' ही 'नामी'-का रूप या मूर्ति है। 'नाम', 'नामी' एक हैं। 'नाम'-साधनकालमें श्रीभगवान् कृपापूर्वक अपनी अनन्त विभूतियों—अनन्त रूपोंमेंसे जिस रूपमें दर्शन दें, उसीका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक पूजन-प्रणमन करना होता है। आसक्त या आबद्ध नहीं होना चाहिये—धैर्यके साथ 'नाम'-साधन-पथ अवलम्बन करके अग्रसर होना चाहिये। 'नाम'-साधन करते रहना चाहिये। अन्यथा लक्ष्यपर पहुँचनेमें विलम्ब हो सकता है।

अजपा-साधक प्रथमतः श्वास-प्रश्वासमें 'नाम'-जपका अभ्यास करता है। साधनकी अवस्थामें साधकको कभी-कभी नाममें अरुचि पैदा हो जाती है, 'नाम' नीरस—शुष्क प्रतीत होता है। नाम-जप ही इस रोगकी ओषधि है। जैसे पित्त रोगकी ओषधि मिश्री है, पित्तदोषसे विकृत जीभको आरम्भमें मिश्री भी कड़वी ही लगती है, फिर भी मिश्री ही खानी पड़ती है, पीछे ज्यों-ज्यों पित्तदोषका नाश होता है त्यों-त्यों क्रमशः वह मीठी लगने लगती है; वैसे ही नाममें अरुचि होनेपर प्रयत्नपूर्वक 'नाम'-जप ही करते रहनेसे क्रमशः 'नाम' अच्छा लगने लगता है—'नाम' में रुचि होती है और 'नाम' सरस-मधुर प्रतीत होता है। इस प्रकार श्वास-प्रश्वासके साथ 'नाम'-जप करते-करते 'नाम' श्वास-प्रश्वासके साथ घुल-मिल जाता है। तब श्वास-प्रश्वास 'नाम' छोड़कर और काम कर ही नहीं सकते। 'नाम' के लिये भी श्वास-प्रश्वासका सङ्ग त्याग करना सम्भव नहीं होता। उस समय श्वास-प्रश्वास ही 'नाम' और 'नाम' ही श्वास-प्रश्वास हो जाता है। 'मैं 'नाम'-जप कर रहा हूँ', यह अनुभव या बोध भी नहीं रहता। श्वास-प्रश्वास चलनेसे 'नाम' चलता रहता है। इस प्रणालीके अनुसार 'नाम'-जपका अभ्यास करनेसे प्राणायामकी क्रिया अपने-आप होती रहती है। क्रमशः मनका चाञ्चल्य नष्ट हो जाता है, चित्तवृत्तिका निरोध होकर मन स्थिर हो जाता है। मन स्थिर होनेसे श्वास-प्रश्वास भी स्थिर होकर कुम्भक हो जाता है। क्रमशः 'नाम'-जप बंद होता है। फिर 'नाम' और नहीं चलता—'नाम'-जप नहीं होता। साधक उस समय 'नाम'-दर्शन करता है। इस तरह 'नाम-धारणा' 'नाम-ध्यान' में पर्यवसित होती है। यह कुम्भक स्थायी—पक्का होनेसे क्रमशः संस्कारमुक्त होकर अन्नमय आदि पञ्चकोषोंके भेदके बाद 'नाममय हम' और 'नाममय नामी' का भिन्न बोध रहनेतक सविकल्प और अभिन्न होनेपर 'नामी' अर्थात् श्रीभगवान्‌की सम्पूर्ण शरणागति होनेपर निर्विकल्प समाधि या पराशान्ति प्राप्त होती है। यही वैष्णवोंका श्रीभगवान्‌के श्रीचरणोंमें आत्मसमर्पण, योगियोंकी निर्विकल्प समाधि और बौद्धोंका निर्वाण है। किन्तु इन सबका मूल है श्रीभगवान्‌की कृपा। कातरभावसे उनकी ओर ताकते हुए उनके भुवन-मङ्गल जग-पावन 'नाम' को श्रद्धापूर्वक लेते रहनेका प्रयत्न करना चाहिये—उनसे प्रेम करना चाहिये।

इस अजपा 'नाम'-साधनाका अवलम्बन करके तपस्या करनेसे सर्वप्रथम आत्माका संस्कार-आवरण कभी-कभी भगवत्-कृपासे हट जाता है एवं महापुरुष और देव-देवियोंके दर्शन होते हैं। परन्तु इससे हृदयका कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। कुल-देवता अथवा साधक जिन देवतासे प्रेम करता है, उन्हींका पहले-पहल प्रकाश होता है। अनन्तर साधनके उत्कर्षके साथ-साथ वेद-पुराणादि समस्त शास्त्र कैसे बने हैं, सृष्टि किस तरहसे हुई है—इत्यादि रहस्य प्रकट होते हैं और धीरे-धीरे आत्मा माया या संस्कारसे मुक्त हो जाता है। समस्त 'नामी' मय 'ब्रह्म' मय हो जाता है। क्रमशः भगवल्लीलाके दर्शन होते हैं। साधक और सिद्धकी इन सब अवस्थाओंको भाषामें व्यक्त करना असम्भव है। आर्य ऋषिगण इसीको 'अवाङ्मनसगोचर' कह गये हैं। बुद्धदेवकी भाषामें यही 'अचिन्तेयानि' और 'अचिन्तितव्यानि' है अर्थात् जो चिन्ताका विषय नहीं है—जिसका चिन्तन किया नहीं जा सकता। श्रीभगवान् ही चरम लक्ष्य हैं।

इस 'नाम-योग' के साथ 'हठयोगादि' का सम्बन्ध-निर्णय

श्वास-प्रश्वासकी क्रिया फेफड़े, हृदय तथा समस्त रक्तवाहिनी नाड़ियोंके अंदर रक्तके ऊपर होती है और इससे शरीरके प्रत्येक अणु-परमाणुमें भी इसकी क्रिया होती है। गुरूपदिष्ट प्रणालीके अनुसार इस आशुफलप्रद श्वास-प्रश्वासप्रयुक्त 'नामयोग' के अभ्याससे क्रमशः

हठयोग तथा राजयोगादि सब प्रकारकी योगक्रियाएँ स्वभावत: होती हैं और क्रियाका फल भी देख पड़ता है। कुछ साधारण नियमोंका पालन करके प्रक्रियाके अनुसार यह नाम-साधन करनेसे ब्रह्मचर्य-साधनादि अति सहजमें सध जाते हैं। कठोर ब्रह्मचर्य-व्रतादि साधनका कोई प्रयोजन नहीं होता। किसी प्रकारकी हठयौगिक सहजोली-वज्रोली आदि मुद्राओंकी किञ्चिन्मात्र सहायता बिना ही इस 'नाम'-साधनके द्वारा सुषुम्नापथ अति अल्पायाससे परिष्कृत होकर साधक ऊर्ध्वरेता हो सकता है। सुप्त कुलकुण्डलिनी-शक्तिको जागरित करके, षट्चक्र भेदकर आज्ञाचक्रस्थ पुरुषके साथ योग करानेकी इसमें अमोघ शक्ति है। यह प्रकृति-पुरुषयोग होनेसे शक्तिमान् 'नाम' योगी उसी 'नाम' का आश्रय करके ही श्रीभगवान्‌के स्थान महाशून्यस्थित सहस्रारमें उनके श्रीचरणको प्राप्त करते हैं।

शरीर नीरोग तथा स्वस्थ रखनेके लिये एवं इस 'नाम'-साधनाके सहायकस्वरूप एक प्रकारके गुरुमुखी प्राणायाम और आसन, कुम्भक, त्राटक (पञ्चभूतमें दृष्टि-साधन) प्रभृति कई प्रकारकी योगक्रियाएँ साधककी अवस्था और प्रयोजनके अनुसार श्रीविजयकृष्ण-कुलदानन्द दान कर गये हैं।

नाम-साधकोंके प्रति अमूल्य उपदेश

गोस्वामी विजयकृष्णजीने वङ्गदेशान्तर्गत ढाका—गेंडारिया आश्रमस्थित अपने साधन-कुटीरकी दीवारपर 'नाम' साधनके समय 'नाम' में रुचि उत्पन्न करनेमें सहायक जो अनेक उपदेश लिख रखे थे, वे नीचे दिये जाते हैं*—

'ऐसा दिन नहीं रहेगा।'

(१) अपनी बड़ाई मत करो। (२) दूसरोंकी निन्दा मत करो। (३) अहिंसा परमो धर्मः (अहिंसा परम धर्म है)। (४) सब जीवोंपर दया करो। (५) शास्त्र और महापुरुषोंपर विश्वास करो। (६) शास्त्र और महापुरुषोंके आचारके साथ जिसका मेल न हो, उस कामको विषवत् त्याग दो। (७) नाहङ्कारात् परो रिपुः। (अहंकारसे बढ़कर शत्रु नहीं है।)

सत्यरक्षा और वीर्यधारणके विषयमें गोस्वामी विजयकृष्णजीने साधकोंको विशेषरूपसे सावधान किया है। वीर्यधारण शरीर-रक्षाके विषयमें जैसा सर्वप्रधान कारण है, सत्य भी आत्मरक्षाके लिये वैसे ही अत्यावश्यक है।

शम, सन्तोष, विचार और सत्सङ्गकी आवश्यकता

(१) मनकी साम्यावस्थाको ही 'शम' कहते हैं। (२) सर्वदा सर्व विषयमें सन्तुष्ट रहना ही 'सन्तोष' है। (३) सदा सब अवस्थाओंमें अच्छे-बुरे, सत्-असत्‌का विचार करना ही प्रकृत विचार है। श्रीभगवान्‌को लक्ष्य करके जो कुछ भी किया जाता है वही सत् है, उसके अतिरिक्त सब असत् है। (४) श्रीभगवान् ही सत् तथा श्रीभगवत्सङ्ग ही सत्सङ्ग है। भगवदाश्रित साधु-सज्जनोंका सङ्ग भी सत्सङ्ग है। सद्ग्रन्थ और शास्त्रादिका पाठ भी सत्सङ्ग है। इस तरहसे ऋषियोंका ही सङ्ग होता है।

इन नियमोंके साथ-साथ और भी चार नियम पालन करनेका उपदेश श्रीविजयकृष्ण-कुलदानन्द दे गये हैं—स्वाध्याय, तपस्या, शौच और दान।

(१) स्वाध्याय केवल अध्ययन नहीं, गुरुदत्त इष्ट मन्त्र या नामका श्वास-प्रश्वाससे जप करना—यही यथार्थ स्वाध्याय है। (२) सब अवस्थाओंमें धैर्यके साथ 'नाम'-साधनमें बार-बार चेष्टा करना ही तपस्या है। (३) शुचि अर्थात् सर्वावस्थामें बाह्य तथा अभ्यन्तर पवित्रता। शरीर और मनको निर्मल, पवित्र रखना ही शौच है। शरीर पवित्र न रहनेसे अन्तःशुद्धि नहीं होती। चित्त शुद्ध न होनेसे 'नाम' में यथार्थ रुचि—श्रीभगवान्‌में श्रद्धा-भक्ति कुछ नहीं होती (४) प्रतिदिन कुछ-न-कुछ दान करना चाहिये। दया-सहानुभूतिसे ही दान होता है। किसी तरहसे दूसरेके क्लेशोंको दूर करना ही दान है। प्रतिदिन कम-से-कम मीठी बातका ही दान करना चाहिये। ये सभी नियम 'नाम' में रुचि होनेके लिये हैं। 'नाम' में रुचि हो जानेसे और कुछ भी आवश्यक नहीं होता। श्वास-प्रश्वासमें 'नाम'-जप ही एकमात्र सहज तथा सर्वोत्कृष्ट उपाय है।

---

* श्रीमद् ब्रह्मचारी कुलदानन्दजीद्वारा विरचित श्रीश्रीसद्गुरुसङ्ग (पाँच खण्डमें सम्पूर्ण बँगला ग्रन्थ)-का हिन्दी-अनुवाद प्रथम खण्ड द्रष्टव्य। प्राप्तिस्थान—श्रीगौराङ्ग-सुन्दर ता २० नं० महर्षि देवेन्द्रनाथ रोड, कलकत्ता, या 'तारा प्रिंटिङ्ग वर्क्स' बनारस। श्रीव्योमकेशकुमार वि० प० लिखित बँगला ग्रन्थ 'सतगुरुसङ्गे कुलदानन्द' और 'Brahmachari Kuladananda', Vol. 1 in English by Benimadhav Barua, M. A., d. Litt. (London), Professor Calcutta University भी पढ़ सकते हैं। प्राप्तिस्थान वही।

इस साधनकी दीक्षा ग्रहण करनेवालोंको कुछ निषेधोंका वर्जन करना पड़ता है। मांस, अंडा, प्याज, उच्छिष्ट और मादक वस्तुका सम्पूर्णरूपसे त्याग करना आवश्यक है।

एक मासमें सिद्धि-लाभ करनेका उपाय-निर्देश

इस अजपा नामसाधनद्वारा एक मासमें सिद्धि पानेकी एक प्रणाली गोस्वामी विजयकृष्णजीने निर्देश की है। श्रीश्रीसद्गुरुसङ्ग (प्रथम खण्ड)-में लिखा है—वे कहते हैं कि 'एक मास काल-व्यवस्थानुरूप नियममें रहकर निर्दिष्ट प्रणालीके अनुसार कोई साधन करे तो अवश्य ही उसे सिद्धि प्राप्त हो जाय। यदि किसीको यह आशङ्का अथवा आक्षेप हो कि सिद्धि प्राप्त होनेके पहले ही शरीर छूट जायगा तो, उसकी इच्छा होनेसे, वह सहजमें ही एक महीनेतक नियमोंकी रक्षा करके इस प्रणालीसे साधन कर सकता है; सिद्धि अवश्य हो जायगी।'

नियम ये हैं—

(१) लोक-सङ्ग त्याग दे। विशेषरूपसे स्त्रियोंका दर्शन, स्पर्श, उनके सम्बन्धमें कुछ भी श्रवण और चिन्तन आदि सम्पूर्णरूपसे वर्जनीय है।

(२) एकान्तमें बहुत ही शुचि—शुद्धभावसे दिनमें एक बार ही अपने हाथसे रसोई बनाकर आतप (बिना उबले हुए चावलों)-का भात खाना चाहिये।

(३) शयन-त्याग। बहुत ही अवसाद होनेपर जरूरत हो तो हाथका ही तकिया लगाकर भूमिपर शयन करे।

इन बाहरी नियमोंका पालन करनेके साथ-साथ निर्दिष्ट रीतिसे मुद्रा-बन्ध करे और रात-दिन सिद्धासनसे बैठकर प्राणायाम तथा कुम्भकके साथ प्रणालीके अनुसार 'नाम'-साधन करे। कम-से-कम तीन दिन भी यदि कोई यह साधन कर लेगा तो ऐसी कोई विशिष्ट अवस्था प्राप्त हो जायगी जो औरोंको दुर्लभ है।

यह साधन असाम्प्रदायिक है

श्रीविजयकृष्ण-कुलदानन्दकी 'नाम-साधना' किसी दल या सम्प्रदायविशेषमें आबद्ध नहीं है। हिंदू, बौद्ध, जैन, मुसलमान, ईसाई, पारसी—सभी जाति, सभी धर्म एवं सभी सम्प्रदायके लोग अपनी-अपनी कुल-क्रमागत रीति-नीति, आचार-व्यवहार रखते हुए इस अजपा 'नाम'-साधन-पथका अवलम्बन करके अनायास अग्रसर हो सकते हैं, कोई बाधा नहीं। इसलिये किसी धर्म या सम्प्रदायके साथ इस साधन तथा इसके साधकका कोई विरोध नहीं है। सब हमारे ही भगवान्‌का नाम-साधन कर रहे हैं, यह जानकर सब सम्प्रदायों तथा धर्मोंके लोगोंका ही आदर करना चाहिये; इस साधनकी यही विधि है। श्रीविजयकृष्ण-कुलदानन्दकी 'नाम-साधना' परम औदार्यपूर्ण है।

श्रीविजयकृष्ण वैष्णव थे, परन्तु आधुनिक सम्प्रदायभुक्त वैष्णव नहीं। सनकादि ऋषि जो वैष्णव थे, विजयकृष्ण भी वही आदि सनातन वैष्णव थे। भगवान् श्रीगौराङ्ग महाप्रभु जो वैष्णव थे, विजयकृष्ण भी वही वैष्णव थे। श्रीगौराङ्गने जिस प्रकारसे ईश्वरपुरीजीसे दीक्षा ग्रहणकर तथा केशव भारतीजीसे संन्यास लेकर भी आदिवैष्णव-धर्मका पालन किया था, विजयकृष्णजीने भी वैसे ही मानससरोवरनिवासी परमहंस ब्रह्मानन्दजीसे साधन-दीक्षा ग्रहण करके स्वामी हरिहरानन्द सरस्वतीजीसे संन्यास लेकर सनातन वैष्णवधर्मका ही पालन तथा पुनः प्रवर्तन किया। उनके संन्यासाश्रमका नाम स्वामी अच्युतानन्द सरस्वती है, परन्तु जगत्‌में वे गोस्वामी विजयकृष्णके नामसे ही सुपरिचित हैं। मूलतः आदिवैष्णव-धर्म ही विश्वमें एकमात्र धर्म है। सब धर्म-सम्प्रदायोंके धर्म आदि-वैष्णव-धर्मके अन्तर्गत हैं। कुछ साधारण बाहरी नियमोंके भेदाभेदसे ही सम्प्रदायकी सृष्टि हुई है। मूल साधन, चरम साधन श्रीभगवन्नामका सर्वत्र सब सम्प्रदायोंमें एक है। केवल प्रकार और प्रणालीका पार्थक्य है। पृथिवीके सब साधनोंके लक्ष्य सर्वैश्वर्यमय सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान् हैं। श्रीविजयकृष्ण-कुलदानन्दके साधन—अजपा-साधनका विशेषत्व 'अप्राकृत शक्तियुक्त नाम' का श्वास-प्रश्वाससे जप करना है। इस साधनके साथ मुसलमान, क्रिस्तान, नानक, बुद्धदेवकी साधन-प्रणालीका अनेकांशमें सादृश्य देख पड़ता है। क्रिस्तानोंके साधनमें 'Breathe the Name of God'—यह उपदेश मिलता है। बौद्ध धर्म-शास्त्रके त्रिपिटक, विशुद्धिमार्ग आदि ग्रन्थोंमें 'कायगतासति' या देहतत्त्वका अवलम्बन कर साधनप्रणालीमें 'आनापानासति' या श्वास-प्रश्वासमें मनःसंयोग करके साधन करनेका प्रशस्त उल्लेख है। बुद्धदेवने इस साधन-सम्बन्धमें उपदेशके आरम्भमें और अन्तमें कहा है—**'एकायनो अयं भिक्खवे निव्वानस्स······सच्छि किरियाय, यदिदं चत्तारो सति पट्ठानो।'** इत्यादि, अर्थात् निर्वाणलाभके लिये यही एकमात्र पथ है। किन्तु पार्थक्य यह है कि विदर्शनभावनाकी जगह

विजयकृष्ण-कुलदानन्दके साधनमें प्रारम्भसे ही गुरुदत्त अप्राकृतशक्तियुक्त नाम-जप किया जाता है।

सिक्खोंके भक्ति-ग्रन्थ 'सुखमणि' में 'नानक सो सेवक श्वास-श्वास समारै।' अर्थात् नानक कहते हैं कि वही सेवक हैं, जो श्रीभगवान्‌को प्रति श्वास-प्रश्वासमें स्मरण करते हैं। 'श्वासि-ग्रासि हरिनाम समाल' अर्थात् प्रतिश्वास एवं प्रतिग्रासके साथ हरिनाम स्मरण रखना—इत्यादि वचनोंद्वारा श्वासके साथ नाम-जप करनेकी विधि नानक-पंथियोंमें भी देख पड़ती है। मुसलमान फकीरोंमें भी श्वासके साथ नाम-जप करना देखा गया है।

इस साधनामें गुरु-निष्ठा

'नाम'-दाताके प्रति विश्वास न होनेसे दाताकी दी हुई वस्तु—'नाम'—में श्रद्धा एवं निष्ठा होनी कठिन है। गुरुसे शिष्य जितना प्रेम करेगा, गुरुकी दी हुई वस्तु—'नाम' के प्रति उसका उतना ही प्रेम होगा। सद्‌गुरु ही भगवान्, भगवान् ही सद्‌गुरु हैं। यह सद्‌गुरु-शक्ति समस्त विश्वमें व्याप्त है, किन्तु सर्वत्र प्रकाशित नहीं है। जिसमें प्रकाश है, वही सद्‌गुरु है; जिसका जो गुरु है, उसका वही सद्‌गुरु है। गुरुनिष्ठा ही 'नाम' में निष्ठा या 'नामीमें' निष्ठा है।

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्‌गुरुं तं नमामि॥

गुरुदत्त 'नाम' का श्वास-प्रश्वाससे जप करना ही विजयकृष्ण-कुलदानन्दकी 'नाम-साधना' है।

उदासीन-सम्प्रदायका साधन-विधान

(लेखक—श्रीमत् परमहंसपरिव्राजकाचार्य उदासीनवर्य श्रीपण्डित स्वामी हरिनामदासजी महाराज)

ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन चात्मना।
परिपश्यत्युदासीनं प्रकृतिं च हतौजसम्॥

(श्रीमद्भा० ३।२५।१८)

'यह पुरुष ज्ञान, वैराग्य और भक्तिसे युक्त अन्त:करणके द्वारा अपनेको उदासीन देखता है और प्रकृतिकी शक्तिको क्षीण हुई देखता है।'

उदासीन-सम्प्रदायमें इसी लक्ष्यको सामने रखकर ध्यान-समाधि लगाते हैं। उदासीन-सम्प्रदायकी साधना तीन प्रकारकी है—वाचिक, मानसिक और कायिक।

वाचिक साधना वह है, जो वाणीसे की जाती है अर्थात् जनसाधारणके सामने की जाती है। इसका उपयोग जनताको ईश्वरके ध्यानमें लगाना है।

वाणीको मौन करके जो साधना मनके द्वारा की जाती है अर्थात् जिसके द्वारा जनताका ध्यान ईश्वरकी ओर आकर्षण किया जाता है, उसे मानसिक साधना कहते हैं।

स्वयं समाधि लगाकर और जनतासे लगवाकर जो साधना की जाती है, उसे कायिक साधना कहते हैं।

साधनाके और भी दो भेद हैं। एक साधना वह है जो अपने-आप करनेके लिये होती है और दूसरी वह जो जनसमुदायसे करानेके लिये होती है। जो साधना अपने लिये की जाती है, उसे स्वयं-साधना कहते हैं और जो जनसमुदायके लिये की जाती है, उसे परसाधना कहते हैं। दोनोंमें ईश्वर-चिन्तन होता है। अपने लिये साधना करनेमें अपने-आपको लाभ होता है और दूसरोंके लिये करनेमें दूसरोंका लाभ है। जो साधन उदासीनभावसे अकेले बैठकर किया जाता है, उसे सत्य-साधन कहते हैं और जिसे उदासीन सबके लिये मिलकर अथवा अकेले ही करे, उसे धर्म-साधन कहते हैं। अथवा सत्य वस्तुकी उपासना (भक्ति, ज्ञान, वैराग्य)-का नाम ही सत्य-साधन है और दृढ प्रतिज्ञापूर्वक धर्मका पालन करना ही धर्म-साधन है।

इनके अतिरिक्त साधनका एक प्रकार और है, जो शारीरिक कष्टके साथ किया जाता है। उसे तप-साधन कहते हैं। उक्त साधनाओंमेंसे किसी साधनामें निरन्तर लगे रहना भी तप है। इस साधनके द्वारा मनचाहा फल मिलता है।

साधनका लौकिक फल शारीरिक सुख है और पारमार्थिक फल ज्ञानकी प्राप्ति है। तभी नारदजीके पूछनेपर यमराजने कहा कि उदासीन नरकमें नहीं जाते—

ज्ञानवन्तो द्विजा ये च ये च विद्यां पराङ्गताः।
उदासीना न गच्छन्ति स्वाम्यर्थे च हता नराः॥

(वाराहपुराण, नाचिकेताख्यान अ० २०७)

अर्थात् ज्ञानवान् ब्राह्मण, विद्याके पार पहुँचे हुए लोग, उदासीन तथा स्वामीके निमित्त प्राणत्याग करनेवाले नरकमें नहीं जाते।

उपर्युक्त साधनोंका ज्ञान गुरुके उपदेश तथा सत्सङ्गसे प्राप्त होता है, तथा उदासीन संतोंकी सेवा करनेसे भी उसकी उपलब्धि होती है। तीर्थाटनसे अर्थात् तीर्थोंमें जो महात्मा रहते हैं, उनके सत्सङ्गसे भी महान् लाभ होता है और देश-कालका ज्ञान होकर अनुभव बढ़ता है। सत्सङ्गी पुरुषोंको सदाचारसे रहना पड़ता है—जिससे शरीर और मनकी शक्ति बढ़ती है, वीर्यकी स्थिरता होती है, ज्ञानके साथ-साथ प्रेमकी मात्रा भी बढ़ती है और साधक सांसारिक विषयोंसे उदासीन होकर आत्मज्ञानमें रत हो जाता है। यही मोक्षका साधन है अर्थात् उदासीन लोग इसी साधनसे मोक्षकी प्राप्ति मानते हैं। लौकिक और पारमार्थिक दोनों प्रकारकी उन्नति इस साधनसे हो सकती है। इस साधनके द्वारा मनुष्य दूसरोंको भी मोक्षके मार्गमें लगा सकता है। इन साधनोंसे कई उदासीन योगाभ्यासी हो जाते हैं, जिससे जीवितावस्थामें ही चित्तकी स्थिरता हो जाती है। प्राण रोकनेसे योगाभ्यासी सिद्ध हो जाता है—जिससे वह शारीरिक बल, धन, विद्या, बुद्धि आदिसे सम्पन्न होकर भी संसारमें जलमें कमलकी भाँति निर्लेप रहता है तथा औरोंको भी उपर्युक्त गुणोंसे सम्पन्न करता है और अन्तमें मोक्षको प्राप्तकर जन्म-मरणसे रहित हो जाता है।

इस प्रकार उदासीन-सम्प्रदायमें साधनाका विधान सृष्टिके आदिसे (जबसे उदासीन-सम्प्रदाय चला है) बराबर चला आ रहा है। उदासीन-सम्प्रदाय सनातनधर्मी होनेके कारण पञ्चदेवोपासक है; अतः किसी भी देवताकी उपासनासे उसका विरोध नहीं है। यही वेदानुकूल सनातनधर्मका पक्का सिद्धान्त है।

उदासीनोंमें हंस, परमहंस, कुटीचक और बहूदक—ये चार श्रेणियाँ होती है।

(१) हंस उसे कहते हैं, जो षट्शास्त्रोंका अभ्यास स्वयं करता है तथा दूसरोंको कराता है और उनके सिद्धान्तोंको समझकर भीतर ब्रह्मका अनुभव करनेकी चेष्टा करता है।

(२) परमहंस उसे कहते हैं, जो मरणपर्यन्त शास्त्रोंका चिन्तन और आत्माका अनुभव करनेमें लगा रहता है और धारणाकी परिपक्वतामें शरीर छोड़ता है।

(३) कुटीचक उसे कहते हैं जो व्यावहारिक एवं पारमार्थिक दोनों प्रकारका ज्ञान रखता है, नीतिशास्त्रमें कुशल होता है और स्थानधारी होता है।

(४) बहूदक उसे कहते हैं जो शास्त्रोंका पूर्ण ज्ञाता होकर प्रश्नोत्तरके द्वारा जनतामें धर्मका प्रचार करता है, शास्त्रार्थमें कुशल होता है और मण्डली लेकर या अकेले ही देश-देशान्तरमें भ्रमण करता हुआ धर्मकी सेवा करता है।

इनके अतिरिक्त उदासीनोंकी एक पाँचवीं श्रेणी भी होती है—जिन्हें 'आतुर' कहते हैं। जनताको दुःखी देखकर जो आत्मज्ञानका उपदेश देता है, वही आतुर उदासीन है।

उदासीनोंमें कायिक, वाचिक एवं मानसिक—तीनों प्रकारके दण्डको ग्रहण करनेवाला ही त्रिदण्डी कहलाता है तथा इनमेंसे किसी एक दण्डको स्वीकार करनेवाला एकदण्डी कहलाता है। उदासीन-सम्प्रदायमें काष्ठदण्ड धारण करनेका नियम नहीं है। कहा भी है—

वाग्दण्डः कायदण्डश्च मनोदण्डश्च ये त्रयः।
यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डी उदासिनाम्॥

(अनुभवसहानुभूति अ० २)

दूसरेके पुण्यको कौन ग्रहण करता है?

आक्रुश्यमानो नाक्रुश्येन्मन्युरेनं तितिक्षतः। आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति॥

किसी मनुष्यके निन्दा करनेपर भी जो उसकी निन्दा नहीं करता है और उसकी निन्दाको सह लेता है, वह पुरुष निन्दा करनेवाले पुरुषको भस्म कर डालता है और उसके पुण्यको अपने-आप ग्रहण कर लेता है।

(महा० शान्ति० २९९। १६)

वैष्णवोंकी द्वादशशुद्धि

भगवान्‌के मन्दिरकी यात्रा करनेसे, उनकी उत्सवमूर्तिका अनुगमन करनेसे तथा प्रेमपूर्वक प्रदक्षिणा करनेसे दोनों चरणोंकी शुद्धि होती है। भगवान्‌की पूजाके लिये पत्र, पुष्प, गन्ध आदिका संग्रह करना दोनों हाथोंकी सर्वश्रेष्ठ शुद्धि है। भगवान्‌के नाम और गुणोंका प्रेमपूर्वक कीर्तन करना वाणीकी शुद्धि है। भगवान्‌की लीला-कथा आदिका श्रवण दोनों कानोंकी शुद्धि है और उनके उत्सवका दर्शन नेत्रोंकी शुद्धि है। भगवान्‌के सामने झुकना तथा उनके चरणोदक, निर्माल्य आदिका धारण करना सिरकी शुद्धि है। भगवान्‌के प्रसादस्वरूप निर्माल्य, पुष्प, गन्ध आदिको सूँघना दोनों नाकोंकी शुद्धि है। भगवान्‌के प्रसादस्वरूप जो कुछ होता है, वह तीनों लोकोंको शुद्ध कर सकता है। ललाटमें गदा, सिरमें धनुष और बाण, हृदयमें नन्दक, दोनों हाथोंमें शङ्ख, चक्र चिह्नित करके जो निवास करता है वह कभी अशुद्ध नहीं होता, उसकी कभी दुर्गति नहीं होती। इस द्वादशशुद्धिको जानकर जो इसका अनुष्ठान करते हैं, उन्हें भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त होती है।

स्वरोदय-साधन

(लेखक—पं० श्रीतडित्कान्तजी वेदालङ्कार, साहित्यमनीषी)

हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियोंने मनुष्यमात्रके कल्याणार्थ जिन-जिन आश्चर्यजनक और चमत्कारपूर्ण नानाविध शास्त्रोंकी शोध की थी, उनमेंसे एक 'स्वरोदय-विज्ञान' भी है। यह ठीक है कि अन्य शास्त्रोंकी तरह यह भी आजकल लुप्तप्राय हो चुका है, तथापि खोज करनेपर कहीं-न-कहीं इसके विशेषज्ञ मिलते अवश्य हैं। इस शास्त्रके सर्वथा पूर्ण ज्ञाता तो मिलने कठिन हैं, ऐसा हमारा अनुमान है; तथापि जो कुछ उपलब्ध हुआ है, उसपरसे भी इस शास्त्रका बहुत कुछ पुनरुद्धार हो सकता है—ऐसी हमारी मान्यता है। सिर्फ कुछ लोग इस ओर अपना ध्यान आकर्षित करते हुए शोध करनेका प्रयत्न करें तो बहुत सम्भव है कि हम इस शास्त्रको फिर नये सिरेसे जीता-जागता देख सकें। हमें स्वयं इस सम्बन्धमें जो कुछ पता चला है, उसका सार यहाँपर रखनेका प्रयत्न किया है। यदि यह पाठकोंको रुचिकर और लाभप्रद हुआ तथा शोधकोंके लिये कुछ अंशोंमें मार्गदर्शक हुआ तो हम अपना-प्रयत्न सफल समझेंगे।

स्वरोदय-विज्ञान अर्थात् श्वासोच्छ्वासकी गतिका ज्ञान

स्वरोदय-विज्ञानका आधार प्रत्येक मनुष्यके नसकोरों (नथुनों)-से चलते हुए श्वास-प्रश्वासकी गतिपर ही है। यों तो यह बात बड़ी साधारण-सी प्रतीत होती है; परन्तु इस श्वास-प्रश्वासकी गति कितनी रहस्यपूर्ण और आश्चर्यजनक है—इस बातका पता उस समय चलता है, जब कि हम स्वरोदय-विज्ञानकी मददसे उस ओर लक्ष्य देना शुरू करते हैं। श्वासोच्छ्वासकी शक्ति और सामर्थ्य देखकर किसीको भी आश्चर्य हुए बिना नहीं रह सकता। हमारी प्रत्येक क्रिया तथा तज्जन्य सुख-दुःखादि द्वन्द्व, शारीरिक और मानसिक कष्ट, रोग-व्याधि आदि तमाम प्रकारकी आपत्तियाँ इनसे प्रभावित हैं। ये इनके आने-जानेका हर समय बिना विलम्बके निर्देश करते रहते हैं। इनकी मददसे दुःख दूर किये जा सकते हैं और मनचाहे सुख प्राप्त किये जा सकते हैं। संक्षेपमें मनुष्यके इस शरीररूपी रथके सञ्चालनके ये ही सूत्रधार हैं।

श्वास-प्रश्वाससे आयुका सम्बन्ध

साधारणतया मनुष्य प्रति मिनट १३से १५ श्वास-प्रश्वास करता है। इस प्रकार एक रात-दिनमें यानी पूरे २४ घण्टोंमें उनकी संख्या २१६०० तक पहुँचती है। यह संख्या प्रति मिनट जिस प्राणीकी जितनी कम होगी, उसकी उतनी ही आयु अपेक्षाकृत ज्यादा होगी। भिन्न-भिन्न प्राणियोंकी आयु तथा प्रति मिनट श्वासोच्छ्वासकी संख्याकी तुलना करनेसे यह बात स्वयमेव स्पष्ट हो जाती है। कहनेका अभिप्राय यह है कि श्वास-प्रश्वासकी संख्यापर काबू रखनेसे आयु बढ़ायी जा सकती है।

स्वर तथा उसका उदय

यह शायद बहुत थोड़ोंको पता होगा कि हमारे

शरीरमें रात-दिन अव्याहत गतिसे चलनेवाला श्वास-प्रश्वास एक ही साथ एक ही समयमें नासिकाके दोनों नसकोरोंसे नहीं चला करता। वह क्रमशः निश्चित समयानुसार अलग-अलग दोनों नसकोरोंसे चला करता है। एक नसकोरेका निश्चित समय पूरा हो जानेपर वह दूसरेमें जाता है। श्वास-प्रश्वासकी इस गतिका नाम स्वर है तथा उस गतिका एक नसकोरेसे दूसरेमें जाना उसका उदय कहलाता है।

हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियोंने स्वरोदयकी इस प्रक्रियाका निश्चित रूपसे पता लगाकर उससे किस तरह लाभ उठाये जा सकते हैं, तथा उससे लाभ उठानेके लिये कौन-कौन-से कार्य कब और कैसे करने चाहिये—इन सब विषयोंका निश्चय किया था। तदनुसार हम इस लेखमें खास तौरपर स्वरोंके चलनेके नियम, उन्हें जाननेकी विधि, उनके चलनेकी अवधि, उनके बदलनेकी रीति, उनसे सम्बन्धित पञ्चतत्त्व, कौन-कौनसे कार्य कब करने चाहिये, पुरुष और स्त्रीके स्वरोंमें कोई भेद है या नहीं तथा सुख-दुःख, रोग, आपत्तियाँ, कष्ट, प्रश्नोत्तरी एवं भविष्यज्ञान आदि विषयोंपर संक्षेपसे विचार करनेका प्रयत्न करेंगे।

(१) स्वर चलनेके नियम

साधारणतया स्वर चलनेका नियम यह है कि शुक्लपक्षकी १, २, ३; ७, ८, ९; १३, १४, १५—इन तिथियोंमें सूर्योदयसे लेकर अमुक निश्चित समयतक वाम नासिकासे, और इसी प्रकार ४, ५, ६; १०, ११, १२—इन ६ तिथियोंमें दक्षिण नासिकासे श्वास चलना चाहिये। और कृष्णपक्षकी १, २, ३; ७, ८, ९; १३, १४, १५—इन तिथियोंमें सूर्योदयसे लेकर अमुक निश्चित समयतक दक्षिण नासिकासे और इसी प्रकार ४, ५, ६; १०, ११, १२—इन ६ तिथियोंमें वाम नासिकासे श्वास चलना चाहिये।

(२) श्वास जाननेकी विधि

किस समय किस नासिकासे श्वास चल रहा है, यह जानना अत्यन्त सुगम है। उसे जाननेके लिये प्रथम किसी एक नसकोरेको बंद करके दूसरेसे साधारण जोरसे दो-चार बार श्वासोच्छ्वास करना चाहिये। फिर इसी तरह उसको बंद करके दूसरेसे करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे जिस नसकोरेसे श्वासोच्छ्वास करते हुए कुछ रुकावट-सी प्रतीत होती हो उसे बंद तथा दूसरेको खुला समझना चाहिये और उसीसे साँस चल रही है, ऐसा मानना चाहिये।

(३) प्रत्येक नासिकासे श्वासोच्छ्वास होनेकी अवधि

प्रत्येक नासिका-रन्ध्रमें स्वरोदय होनेके बाद वह साधारणतया २$\frac{1}{2}$ घड़ीतक विद्यमान रहता है। २$\frac{1}{2}$ घड़ी (घटिका)-का एक घंटा होता है। अर्थात् जब-जब श्वासोच्छ्वास बदलकर एक नसकोरेसे दूसरेमें जायगा तब वह उसमें लगातार १ घण्टेतक रहेगा और इतनी अवधितक उसीसे चलता रहेगा।

(४) श्वासोच्छ्वासको बदलनेकी रीति

जब कभी किसी विशेष प्रयोजनवश इच्छानुसार नासिकाका श्वासोच्छ्वास बदलना हो तो उसके लिये सबसे सरल विधि यह है कि कुछ देरके लिये जिस ओरके नसकोरेसे श्वास चल रहा हो, उस ओरकी करवटसे लेट जाओ। थोड़ी देरमें स्वयमेव श्वासोच्छ्वास बदल जायगा। अर्थात् वाम नासिकासे श्वास चलाना हो तो दक्षिण करवटसे लेटना चाहिये और दक्षिण नासिकासे श्वास चलाना हो तो बायें करवटसे लेटना चाहिये।

(५) पञ्चतत्त्व

स्वरोदयके ज्ञानके साथ-साथ पञ्चतत्त्वका ज्ञान होना अनिवार्य है। पञ्चतत्त्वके ज्ञानके बिना स्वरोदयकी बहुत-सी प्रक्रियाएँ पूर्णरूपसे न तो सिद्ध ही हो सकती हैं और न उनका पता ही चल सकता है। स्वरोदयके साथ-ही-साथ पञ्चतत्त्वोंका भी उदय हुआ करता है, यह बात खास ध्यान देने योग्य है। और इसीलिये पञ्चतत्त्वोंका स्वरोदयके साथ किस तरहसे उदय होता है और उन्हें कैसे जाना जाता है, इस विषयका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये यहाँ कुछ प्रक्रियाएँ दी जाती हैं।

पञ्चतत्त्वोंका परिचय तथा ध्यान करनेकी विधियाँ

योगियोंने ध्यानादि विशेष कार्यसाधनके लिये हमारे शरीरमें अनेक चक्रोंकी कल्पना की है। उन चक्रोंका विशेष उल्लेख पाठकोंको अन्यत्र मिल सकता है, अतः विस्तारभयसे हम यहाँ आवश्यक बातोंका ही संक्षेपसे उल्लेख करेंगे।

(१) *पृथिवीतत्त्व*—शरीरमें इस तत्त्वका निवास 'मूलाधारचक्र' (Pelvic Plexus)-में है। और यह चक्र शरीरमें योनि (गुदा)-के पास सीवनीमें सुषुम्णाके मुखसे लग्न है। सुषुम्णा यहीं प्रारम्भ होती है। प्रत्येक चक्रका

आकार कमलके फूलका-सा होता है। यह चक्र 'भूः' लोकका प्रतिनिधि है। पृथिवीतत्त्वका ध्यान इसी चक्रमें किया जाता है।

पृथिवीतत्त्वका रंग पीला और आकृति चतुष्कोण होती है। इसका गुण गन्ध है और तदर्थ ज्ञानेन्द्रिय नासिका तथा कर्मेन्द्रिय गुदा है। शरीरमें पाण्डु, कमला आदि रोग इसी तत्त्वके विकारसे पैदा होते हैं। भय आदि मानसिक विकारोंमें इसी तत्त्वकी प्रधानता होती है। पृथिवीतत्त्व-जन्य विकार मूलाधारचक्रमें ध्यान स्थिर करनेसे स्वयमेव शान्त हो जाते हैं।

ध्यान-विधि—एक प्रहर रात रह जानेपर शान्त स्थलमें पवित्र आसनपर दोनों पैरोंको पीछेकी ओर मोड़कर उनपर बैठ जाय। दोनों हाथ उलटे करके घुटनोंपर ऐसे रखे कि जिससे अँगुलियोंकी नोकें पेटकी ओर रहें। तब नासाग्रदृष्टि रखते हुए मूलाधारचक्रमें—

लं-बीजां धरणीं ध्यायेच्चतुरस्त्रां सुपीतभाम्।
सुगन्धस्वर्णवर्णत्वमारोग्यं देहलाघवम्॥

अर्थात् 'लं' बीजवाली, चौकोण, पीली पृथिवीका ध्यान करे। इस प्रकार करनेसे नासिका सुगन्धसे भर जायगी और शरीर स्वर्णके समान कान्तिवाला हो जायगा। ध्यान करते हुए पृथिवीके उपर्युक्त तमाम गुणोंको प्रत्यक्ष करनेका प्रयत्न करना चाहिये और 'लं' बीजका जाप करते रहना चाहिये।

(२) जलतत्त्व—यह तत्त्व शरीरस्थ स्वाधिष्ठानचक्र (Hypogastric Plexus)-में है। यह चक्र पेडू अर्थात् लिङ्ग (जननेन्द्रिय)-के मूलमें स्थित है। यह चक्र शरीरमें 'भुवः' लोकका प्रतिनिधि है और उसमें जलतत्त्वका निवास है।

जलतत्त्वका रङ्ग श्वेत और आकृति अर्धचन्द्राकार होती है। इसका गुण रस है और कटु, तिक्त, अम्ल, कषाय आदि तमाम रसास्वाद इसी तत्त्वकी वजहसे होते हैं। इसकी ज्ञानेन्द्रिय जीभ और कर्मेन्द्रिय लिङ्ग है। मोहादि विकार इसी तत्त्वके परिणाम हैं।

ध्यान-विधि—पृथिवी-तत्त्वकी ध्यान-विधिमें प्रदर्शित आसनमें बैठकर—

वं-बीजं वारुणं ध्यायेदर्धचन्द्रं शशिप्रभम्।
क्षुत्पिपासासहिष्णुत्वं जलमध्येषु मज्जनम्॥

अर्थात् 'वं' बीजवाले, अर्धचन्द्राकार चन्द्रमाकी तरह कान्तिवाले जलतत्त्वका उक्त चक्रमें ध्यान करे। इससे भूख-प्यास मिटकर सहनशक्ति पैदा होगी और जलमें अव्याहत गति हो जायगी।

(३) *तेज या अग्नितत्त्व*—शरीरमें इसका निवासस्थान 'मणिपूरचक्र' (Epigastric Plexus) है। यह चक्र नाभिमें स्थित है और 'स्वः' लोकका प्रतिनिधि है।

अग्नितत्त्वका रंग लाल तथा गुण 'रूप' है। इसकी आकृति त्रिकोण है। इसकी ज्ञानेन्द्रिय आँख और कर्मेन्द्रिय पैर हैं। क्रोधादि विकार तथा सूजन आदिमें इस तत्त्वकी प्रधानता होती है। इस तत्त्वकी सिद्धिसे अपचनादि पेटके विकार दूर हो जाते हैं और कुण्डलिनीका जागरण सरल हो जाता है।

ध्यान-विधि—उपर्युक्त आसनमें बैठकर—

रं-बीजं शिखिनं ध्यायेत् त्रिकोणमरुणप्रभम्।
बह्वन्नपानभोक्तृत्वमातपाग्निसहिष्णुता॥

'रं' बीजवाले, त्रिकोण और अग्निके समान लाल प्रभावाले अग्निका उक्त चक्रमें ध्यान करे। तत्त्व सिद्ध होनेपर अत्यन्त अन्न ग्रहण करनेकी शक्ति, अत्यन्त पीनेकी शक्ति तथा धूप और अग्निके सहन करनेकी शक्ति आ जाती है।

(४) *वायुतत्त्व*—यह तत्त्व 'अनाहतचक्र' (Cardiac Plexus)-में स्थित है। यह चक्र हृदयप्रदेशमें स्थित है और 'महः' लोकका प्रतिनिधि है।

वायुतत्त्वका रंग हरा और आकृति षट्कोण तथा गोल दोनों ही तरहकी मानी गयी है। इसका गुण स्पर्श है तथा ज्ञानेन्द्रिय त्वचा और कर्मेन्द्रिय हाथ हैं। वायु, दमा आदि रोग इसी तत्त्वके विकारसे पैदा होते हैं।

ध्यान-विधि—उसी पूर्वोक्त आसनमें स्थित होकर—

यं-बीजं पवनं ध्यायेद्वर्तुलं श्यामलप्रभम्।
आकाशगमनाद्यञ्च पक्षिवद्गमनं तथा॥

अर्थात् 'यं' बीजवाले, गोलाकार तथा हरी प्रभावाले वायुतत्त्वका उक्त चक्रमें ध्यान करे। इससे आकाशगमन तथा पक्षियोंकी तरह उड़ना आदि सिद्ध होता है।

(५) *आकाशतत्त्व*—यह तत्त्व 'विशुद्धचक्र' (Carotid Plexus)-में स्थित है। इसका स्थान कण्ठ (गला) है। यह चक्र 'जनः' लोकका प्रतिनिधि है।

आकाशतत्त्वका रंग नीला और आकृति अंडेकी तरह लम्ब-गोल है। कोई इसे निराकार भी मानते हैं। इसका गुण शब्द और ज्ञानेन्द्रिय कान तथा कर्मेन्द्रिय वाणी है।

ध्यान-विधि—उसी तरह आसनस्थ होकर—

हं-बीजं गगनं ध्यायेन्निराकारं बहुप्रभम्।
ज्ञानं त्रिकालविषयमैश्वर्यमणिमादिकम्॥

अर्थात् 'हं' बीजका जाप करते हुए निराकार चित्र-विचित्र रंगवाले आकाशका ध्यान करे। इससे तीनों कालोंका ज्ञान, ऐश्वर्य तथा अणिमादि अष्टसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

इस प्रकार इन उक्त तरीकोंसे सतत नित्यप्रति छः मासतक अभ्यास करते रहनेसे तत्त्व सिद्ध हो जाते हैं। फिर तत्त्वको पहचानना अत्यन्त आसान हो जाता है। इस ध्यानविधिके अतिरिक्त भी कुछ और तत्त्व पहचाननेके विशेष छः तरीके हैं, जिनका संक्षिप्त निर्देश आगे देते हैं।

कुछ विशेष प्रकार

तत्त्वोंके सम्बन्धमें एक विशेष बात जो कि सर्वदा स्मरण रहनी चाहिये, वह यह है कि स्वरके साथ तत्त्व भी कायम—विद्यमान रहते हैं। और जबतक स्वर एक नसकोरेमें चलता रहता है, तबतक पाँचों स्वर क्रमशः एक-एक बार उदय होकर अपनी-अपनी अवधितक विद्यमान रहनेके पश्चात् अस्त हो जाते हैं।

(१) *श्वासकी गति*—प्रत्येक तत्त्वके उदयमें नसकोरेसे चलते हुए श्वासकी गति बदलती रहती है और वह इस प्रकार है—

मध्ये पृथ्वी ह्यधश्चापश्चोर्ध्वं वहति चानलः।
तिर्यग्वायुप्रचारश्च नभो वहति संक्रमे॥

अर्थात् यदि नसकोरेके मध्यमें श्वास चल रहा हो तो पृथ्वीतत्त्वका, यदि नीचेकी ओरसे चल रहा हो तो जलतत्त्वका, यदि ऊपरकी ओरसे चल रहा हो तो अग्नितत्त्वका, यदि तिरछा अर्थात् एक ओर चल रहा हो तो वायुतत्त्वका, और यदि घूम-घूमकर भँवरकी तरह चल रहा हो तो आकाशतत्त्वका उदय समझना चाहिये।

(२) *आकार*—प्रत्येक तत्त्वकी अपनी-अपनी विशेष आकृतियाँ हैं, जिनसे कि वे आसानीसे पहचाने जा सकते हैं। यथा—

चतुरस्रं चार्द्धचन्द्रं त्रिकोणं वर्तुलं स्मृतम्।
बिन्दुभिस्तु नमो ज्ञेयमाकारैस्तत्त्वलक्षणम्॥

किसी एक निर्मल दर्पणको लेकर उसपर जोरसे श्वास छोड़नेपर यदि चौकोन आकृति बने तो पृथ्वीतत्त्वका, अर्धचन्द्राकार बने तो जलतत्त्वका, त्रिकोण बने तो अग्नि-तत्त्वका, लम्ब-गोल आकृति बने तो वायुतत्त्वका और बिन्दु-बिन्दु-से दिखायी दें तो आकाशतत्त्वका उदय हुआ समझना चाहिये।

(३) *स्थान*—जैसा कि ऊपर बता आये हैं, प्रत्येक तत्त्व शरीरमें विद्यमान भिन्न-भिन्न चक्रोंमें स्थित है। इन स्थानोंमें ध्यानपूर्वक देखनेसे उस समय जो तत्त्व उदय होकर विद्यमान होगा, उसका शरीरपर विशेष प्रभाव हुआ होगा।

(४) *रंग*—प्रत्येक तत्त्वका अपना-अपना खास रंग होता है। और जब-जब वह तत्त्व उदय होता है, तब-तब उस रंगका विशेष प्रभाव रहता है। तत्त्वोंके रंग तथा उसे देखनेकी रीति इस प्रकार है—

आपः श्वेताः क्षितिः पीता रक्तवर्णो हुताशनः।
मारुतो नीलजीमूत आकाशो भूरिवर्णकः॥

दोनों हाथोंके दोनों अँगूठोंसे दोनों कानोंके छिद्र, दोनों अनामिकाओंसे दोनों आँखें, दोनों मध्यमाओंसे दोनों नथुने तथा दोनों तर्जनियों एवं कनिष्ठाओंसे मुख बंद करके यदि पीला रंग नजर आये तो पृथ्वीतत्त्वकी, श्वेत रंग नजर आये तो जलतत्त्वकी, लाल रंग नजर आये तो अग्नितत्त्वकी, हरा या बादलका-सा काला रंग नजर आये तो वायुतत्त्वकी और रंग-बिरंगा रंग दिखायी दे तो आकाशतत्त्वकी उपस्थिति समझनी चाहिये।

(५) *प्रमाण (लंबाईका माप)*—प्रत्येक तत्त्वके उदय होनेपर जिस तरह श्वासकी गतिमें फरक पड़ जाता है, उसी तरह श्वासका प्रमाण भी बदल जाता है। तत्त्वोंके प्रमाण तथा उनको मापनेकी विधि इस प्रकार हैं—

अष्टाङ्गुलं वदेद्वायुरनलं चतुरङ्गुलम्।
द्वादशाङ्गुलमाहेयं षोडशाङ्गुलवारुणम्॥

बारीक पींजी हुई रूई अथवा किसी गत्तेपर अत्यन्त बारीक धूल लेकर उसे जिस नथुनेसे साँस चल रही हो, उसके पास धीरे-धीरे ले जाओ। जहाँपर पहले-पहले थोड़ी-थोड़ी रूई हिलने लगे या धूल उड़ने लगे वहाँ ठहर जाओ और उस दूरीको मापो। यदि वह

दूरी १२ अंगुल है तो पृथ्वीतत्त्वकी, १६ अंगुल है तो जलतत्त्वकी, ४ अंगुल है तो अग्नितत्त्वकी, ८ अंगुल है तो वायुतत्त्वकी और २० अंगुल है तो आकाशतत्त्वकी उपस्थिति समझनी चाहिये।

(६) *स्वाद*—प्रत्येक तत्त्वका अपना-अपना विशेष स्वाद होता है। यह स्वाद उस-उस तत्त्वकी उपस्थितिमें जीभद्वारा अनुभव किया जा सकता है। यथा—

माहेयं मधुरं स्वादु कषायं जलमेव च।
तिक्तं तेजो वायुरम्ल आकाशः कटुकस्तया॥

अर्थात् यदि मुखमें मीठा स्वाद जान पड़े तो पृथ्वीतत्त्वकी, कसैला स्वाद जान पड़े तो जलतत्त्वकी, कड़वा स्वाद जान पड़े तो अग्नितत्त्वकी, खट्टा स्वाद जान पड़े तो वायुतत्त्वकी और तीखा स्वाद जान पड़े तो आकाशतत्त्वकी उपस्थिति जाननी चाहिये।

(६) तत्त्वोंकी अवधि

प्रत्येक तत्त्व उदय होकर कितनी देरतक विद्यमान रहता है, इसकी अवधि इस प्रकार है—

उदय होकर विद्यमान रहनेकी अवधि—

तत्त्वका नाम	पल	मिनट
१. पृथ्वी	५०	२०
२. जल	४०	१६
३. तेज (अग्नि)	३०	१२
४. वायु	२०	८
५. आकाश	१०	४
सर्वयोग	१५० (२½ घड़ी)	६० (१ घंटा)

ऊपर दिये गये पल, मिनट आदिका पैमाना इस प्रकार है—

६ श्वासोच्छ्वास	= १ पल	=२४ सैकंड
६० पल	= १ घटिका (घड़ी)	= २४ मिनट
२½ घटिका	= १ घंटा	= ६० मिनट
६० घटिका	= १ रात-दिन (अहोरात्र)	= २४ घंटे

तत्त्वोंके सम्बन्धमें अबतक जो कुछ वर्णन किया गया है। उसका आसानीसे ख्याल आ सके, एतदर्थ हम नीचे तत्त्व-दर्शक तालिका देते हैं।

तत्त्व-दर्शक तालिका

तत्त्वका नाम	स्थान	आकृति	गुण	रंग	स्वाद	बीज	श्वासकी गति	श्वासका प्रमाण	समय पल	समय मिनट
१. पृथ्वी	मूलाधारचक्र	चतुष्कोण	गन्ध	पीला	मधुर	लं	नसकोरेके मध्य भागमें	१२अंगुल	५०	२०
२. जल	स्वाधिष्ठानचक्र	अर्धचन्द्राकार	रस	श्वेत	कसैला	वं	नसकोरेके निचले भागमें	१६ अंगुल	४०	१६
३. तेज	मणिपूरचक्र	त्रिकोण	रूप	लाल	तीखा	रं	नसकोरेके ऊपरके भागमें	४ अंगुल	३०	१२
४. वायु	अनाहतचक्र	षट्कोण और गोल	स्पर्श	हरा या मेघवर्ण	खट्टा	यं	नसकोरेके एक किनारे	८ अंगुल	२०	८
५. आकाश	विशुद्ध-चक्र	अण्डाकार गोल या बिन्दु-बिन्दु	शब्द	रंग-बिरंगा	कड़वा	हं	आवर्त	२० अंगुल	१०	४

स्वर तथा कार्य

हम जो कुछ आवश्यक कार्य करते हैं, उनमें प्राय: आजकल चाहिये उतनी सफलता प्राप्त नहीं होती। यदि वे कार्य अमुक निश्चित स्वरकी उपस्थितिमें किये जायँ तो पूर्णतया उनमें सफलता हासिल होती है। स्वरोदयशास्त्रका यह विभाग सर्वसाधारणके लिये बहुत ही उपयोगी है।

हमारा स्वर मुख्यतया वाम तथा दक्षिण नथुनोंसे ही चला करता है, पर कभी-कभी वह सुषुम्णासे भी चलता है। अत: हमारे तमाम कार्य इन तीन विभागोंमें बाँटे गये हैं। प्रत्येक स्वरके साथ तत्त्वोंका गाढ़ सम्बन्ध है, यह हम पहले देख आये हैं। अत: अमुक कार्यके लिये जहाँ अमुक स्वर चाहिये, वहाँ उस स्वरके साथ अमुक निश्चित तत्त्व भी होना चाहिये। अन्यथा कभी-कभी कार्यमें सफलता प्राप्त होनेके बदले उलटा ही परिणाम होता है। तथापि इस सम्बन्धमें साधारण नियम

यह है कि प्राय: तमाम स्थिर व अच्छे कार्य पृथ्वी और जलतत्त्वकी उपस्थितिमें ही करने चाहिये। अब हम आगे एक कोष्ठक देते हैं, जिससे पता चलेगा कि किन-किन कार्योंके लिये कौनसे स्वर, तत्त्व तथा वार होने चाहिये। विस्तारभयसे यहाँपर सिर्फ कार्योंके नाम ही गिनाये गये हैं।

कार्यका नाम	स्वरका नाम	तत्त्वका नाम	वार
१. शान्तिकर्म	वाम स्वर	पृथ्वी, जल या दोनों	सोम, बुध, गुरु या शुक्र
२. पौष्टिक कर्म	”	”	”
३. मैत्रीकरण	”	”	”
४. प्रभुदर्शन	”	”	”
५. योगाभ्यास	”	”	”
६. दिव्यौषधिसेवन	”	”	”
७. रसायनकर्म	”	”	”
८. आभूषण पहनना	”	”	”
९. नवीन वस्त्र पहनना	”	”	”
१०. विवाह	”	”	”
११. दान	”	”	”
१२. आश्रम-प्रवेश	”	”	”
१३. मकान बनवाना	”	”	”
१४. जलाशय	”	”	”
१५. बाग-बगीचा लगवाना	”	”	”
१६. यज्ञ	”	”	”
१७. बन्धु, बान्धव, मित्रादिसे मिलना	”	”	”
१८. ग्राम या शहर बसाना	”	”	”
१९. दूरगमन, यदि दक्षिण या पश्चिम दिशामें जाना हो तो	”	”	”
२०. पानी पीना, पेशाब जाना	”	”	”
२१. कठिन और क्रूर क्रिया	दक्षिण स्वर	”	मंगल, शनि या रवि
२२. शस्त्राभ्यास	”	”	”
२३. शास्त्राभ्यास, दीक्षा आदि	दक्षिण स्वर	पृथ्वी, जल या दोनों	मंगल, शनि या रवि
२४. संगीत	”	”	”
२५. सवारी	”	”	”
२६. व्यायाम	”	”	”
२७. नौकारोहण	”	”	”
२८. यन्त्र, तन्त्ररचना	”	”	”
२९. पहाड़ या किलेपर चढ़ना	”	”	”
३०. विषय-भोग	”	”	”
३१. युद्ध	”	”	”
३२. पशु-पक्षीका क्रय-विक्रय	”	”	”
३३. काटना-छाँटना	”	”	”
३४. कठोर यौगिक साधना	”	”	”
३५. राजदर्शन	”	”	”
३६. विवाद	”	”	”
३७. किसीके समीप जाना	”	”	”
३८. स्नान	”	”	”
३९. भोजन	”	”	”
४०. पत्रादि लेखनकार्य	”	”	”
४१. ध्यान-धारणा आदि परमात्म-चिन्तन-सम्बन्धी कार्य	सुषुम्णा	×	×

ऊपरकी तालिका अत्यन्त संक्षिप्त है। उसमें सिर्फ कार्योंके नामोंका ही निर्देश किया गया है, उनका विस्तार करने जायँ तो एक खासी पुस्तक तैयार हो जाती है। अत: इतनेसे ही आशा है पाठक सन्तोष मानकर क्षमा प्रदान करेंगे।

ऊपर जो-जो कार्य दक्षिण स्वर तथा पृथ्वी या जल-तत्त्वकी उपस्थितिमें करने योग्य बताये गये हैं, वे बजाय पृथ्वी या जलतत्त्वके अग्नि और वायुतत्त्वकी उपस्थितिमें भी किये जा सकते हैं—ऐसा भी एक पक्ष है। परन्तु सुषुम्णाकी उपस्थितिमें उपरिनिर्दिष्ट कार्य भूलकर भी नहीं करने चाहिये, अन्यथा विपरीत फल होगा।

कुछ कार्योंकी विशेष विधियाँ

हम नीचे दो-चार कार्योंकी विशेष विधियाँ देते

हैं। आशा है, उनसे सर्वसाधारण जनताको विशेष लाभ पहुँचेगा और स्वरोदयशास्त्रकी महत्ता ज्ञात हो सकेगी।

(१) कार्यसिद्धिकरण

जब कभी किसीसे कोई मनमाना कार्य करवाना हो या किसीको अपने पक्षमें मनवा लेना हो या कोई भी ऐसा अभीष्ट कार्य सिद्ध करना हो, तो जानेके समय जिस ओरकी साँस चल रही हो उसी ओरका पैर प्रथम उठाकर उससे प्रयाण शुरू करना चाहिये; परन्तु निकलनेके समय सिर्फ पृथ्वी या जलतत्त्व या दोनोंका सङ्गम ही होना चाहिये। फिर जहाँ जाना हो, वहाँ पहुँचकर जिससे काम लेना हो, उसे उस समय अपना जिस ओरका श्वास चल रहा हो, उस ओर रखकर बातचीत प्रारम्भ करनी चाहिये। आपको आश्चर्य होगा कि आपका यदि विरोधी भी हुआ अब भी आपके इच्छानुसार कार्य करेगा। यह विधि एक उत्तम वशीकरण है, इस विधिका निम्नलिखित कार्योंमें उपयोग करनेसे मनमानी सफलता हासिल होती है—

(१) नौकरीकी उम्मेदवारीके लिये जाना, (२) मुकदमेमें वादी, प्रतिवादी या साक्षीके तौरपर जाना, (३) अपने स्वामी, अफसर, हाकिम आदिके पास मुलाकात आदिके लिये जाना—इत्यादि।

(२) गर्भाधान

आगे कुछ संक्षिप्त विधियाँ देते हैं जिससे वन्ध्याको सन्तति होना, इच्छानुसार पुत्र-पुत्रीका उत्पन्न होना आदि कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं।

(क) *पुत्र उत्पन्न करना*—साधारणतया स्त्रीके ऋतुमती होनेके चौथे दिनसे लेकर १६ वें दिनतकका समय गर्भाधानके लिये उत्तम समझा जाता है। परन्तु इसमें भी गर्भाधानके लिये उत्तरोत्तर दिन उत्कृष्ट माने जाते हैं और प्रथम ३ रातें, अष्टमी, एकादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावास्या सर्वथा वर्ज्य हैं।

पुत्र तथा पुत्रीके गर्भाधानके लिये रात्रिके साथ-साथ स्वर और तत्त्व विशेषरूपसे मुख्य हैं। अतः पुत्रकी इच्छा रखनेवालेको नीचे दिये गये कोष्ठकोंमेंसे कोई-सी रात्रि पसंद करके जब पुरुषकी दक्षिण नासिका और स्त्रीकी वाम नासिका चल रही हो तथा पृथ्वीतत्त्व या पृथ्वी-जलका संयोग हो, तब गर्भाधान करना चाहिये। पुत्र उत्पन्न करनेकी रातें तथा उनका फल इस प्रकार है—

१.	ऋतुस्रावसे	लेकर	४थी	रात्रिमें	गर्भ	रहनेसे	अल्पायु तथा दरिद्री पुत्र	पैदा	होता है
२.	,,	,,	६ ठी	,,	,,	,,	साधारण आयुवाला पुत्र	,,	,,
३.	,,	,,	८वीं	,,	,,	,,	ऐश्वर्यशालीपुत्र	,,	,,
४.	,,	,,	१०वीं	,,	,,	,,	चतुर पुत्र	,,	,,
५.	,,	,,	१२वीं	,,	,,	,,	उत्तम पुत्र	,,	,,
६.	,,	,,	१४वीं	,,	,,	,,	उत्तम गुणसम्पन्न पुत्र	,,	,,
७.	,,	,,	१६वीं	,,	,,	,,	सर्वगुणसम्पन्न पुत्र	,,	,,

(ख) *पुत्री उत्पन्न करना*—पुत्री पैदा करनेके लिये नीचे दी गयी किसी रात्रिमें जब कि पुरुषकी वाम नासिका और स्त्रीकी दक्षिण नासिका चल रही हो तथा जलतत्त्व या पृथ्वी-जलका संयोग हो, तब गर्भाधान करनेसे कन्या उत्पन्न होती है। रातें तथा रातोंका फल इस प्रकार हैं—

१.	ऋतुस्रावसे	लेकर	५ वीं	रात्रिमें	गर्भ	रहनेसे	उत्पन्न	कन्या	पुत्रवती	होती है
२.	,,	,,	७ वीं	,,	,,	,,	,,	,,	वन्ध्या	,,
३.	,,	,,	९ वीं	,,	,,	,,	,,	,,	ऐश्वर्यवती	,,
४.	,,	,,	११ वीं	,,	,,	,,	,,	,,	दुश्चरित्रा	,,
५.	,,	,,	१३ वीं	,,	,,	,,	,,	,,	वर्णसङ्कर सन्तति उत्पन्न करनेवाली होती है	
६.	,,	,,	१५ वीं	,,	,,	,,	,,	,,	सौभाग्यवती, राजपत्नी होती है	

(३) वन्ध्याके सन्तति

चाहे दिन हो या रात, अगर सुषुम्णा नाडी चलने लगे अथवा सूर्यनाडी (दक्षिण स्वर) चल रही हो और अग्नितत्त्वका उदय हुआ हो तो गर्भाधान करनेसे वन्ध्या भी सन्तानवती हो जाती है।

(४) भाग्योदय

जिनको अपना भाग्योदय करनेकी अभिलाषा हो, उन्हें निम्नलिखित कुछ नियम पालन करने चाहिये। इन नियमोंके अनुसार चलनेसे बुरे दिन खुद-बखुद दूर भाग जाते हैं।

(क) रोज कम-से-कम आध घंटा सूर्योदयसे पूर्व उठना चाहिये।

(ख) सबेरे उठनेके समय बिस्तरेपर आँखें खुलते ही जिस ओरकी नाकसे साँस चल रही हो, उस ओरका हाथ मुखपर फेरकर बैठ जाय। तब खाटसे उतरते हुए उसी ओरका पैर पहले-पहल जमीनपर रखकर उतरे। इस प्रकार नित्यप्रति आचरण करनेवाला सर्वदा सुखी बना रहता है।

(५) आग बुझाना

पाठकोंको यह पढ़कर आश्चर्य होगा कि स्वरकी मददसे बड़ी-बड़ी आग भी आसानीसे बुझायी जा सकती है। स्वरकी मददसे आग बुझानेका तरीका इस प्रकार है—

कहींपर भी आग लगनेपर जिस ओर पवनकी गतिसे आग बढ़ रही हो, उस ओर पानीका पात्र लेकर खड़ा हो जाय; फिर जिस नथुनेसे साँस चल रही हो, उससे श्वास अंदर खींचते हुए उसी नथुनेसे थोड़ा-सा पानी पीये। तब उस जलपात्रमेंसे अञ्जलिमें ७ रत्ती पानी लेकर आगपर छिड़के। थोड़ी ही देरमें आग आगे न बढ़ती हुई वहीं बुझ जायगी।

मृत्यु, रोग तथा आपत्तिका पूर्वज्ञान तथा उपाय।

यह पहले बता आये हैं कि स्वरके चलनेका समय तथा दिन निश्चित हैं। परन्तु जब कभी कोई शुभ-अशुभ परिणाम होनेवाला होता है तो स्वरके समय तथा दिनमें परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन दो तरहसे होता है। (१) उलटा स्वर चलना अर्थात् जिस दिन वाम स्वर चलना चाहिये, उस दिन दक्षिण चले और जिस दिन दक्षिण चलना चाहिये, उस दिन वाम चले। (२) इसी प्रकार जितने समयतक वाम और दक्षिण स्वर चलने चाहिये, उतनी देरतक वे न चलकर निश्चित समयकी अपेक्षा कम या ज्यादा देरतक चलें।

उक्त परिवर्तनोंके शुभाशुभ फल

(क) दिनोंमें परिवर्तन—

(१) यदि शुक्लपक्षकी प्रतिपदाको वाम स्वर न चलकर दक्षिण चले तो पूर्णिमातक गर्मीसे कोई रोग होगा या कलह वा हानिकी सम्भावना होगी।

(२) इसी प्रकार यदि कृष्णपक्षकी प्रतिपदाको दक्षिण स्वर न चलकर वाम चले तो अमावास्यातक सरदीसे रोग या हानि आदि कष्टोंकी सम्भावना होगी।

(३) यदि इसी प्रकार लगातार दो पक्षतक उलटे स्वर चलते रहें तो अपनेपर विशेष आपत्ति आनेकी या प्रियजनकी भारी बीमारीकी अथवा उसकी मृत्युकी सम्भावना होगी।

(४) यदि तीन पक्ष लगातार ऐसा होता रहे तो अपनी मृत्युको निकट समझना चाहिये।

(५) यदि सिर्फ ३ दिन ऐसा हो तो कलह या रोगकी सम्भावना होगी।

(६) यदि लगातार एक मास वाम स्वर विपरीत चले तो महारोगकी सम्भावना होगी।

(ख) समयमें परिवर्तन—

यदि स्वरके समयमें परिवर्तन यानी घट-बढ़ हो तो उससे निम्नलिखित शुभाशुभ फल होते हैं। सदा शुभ फल वाम स्वरके परिवर्तनसे तथा अशुभ फल दोनों स्वरोंके परिवर्तनसे हुआ करते हैं, यह बात खास ध्यानमें रखने योग्य है।

शुभ फल

१. चन्द्रस्वर लगातार ४ घड़ी चले तो किसी अचिन्त्य वस्तुकी प्राप्ति होगी।
२. " " ८ " " सुखादिकी प्राप्ति होती है।
३. " " १४ " " प्रेम, मैत्री आदि प्राप्त होते हैं।
४. " " एक अहोरात्र चलता रहे तो ऐश्वर्य, वैभव आदिकी प्राप्ति होती है।

५. यदि २ दिनतक आधे-आधे प्रहर दोनों स्वर चलते रहें तो यश और सौभाग्यकी वृद्धि होती है।

६. यदि दिनमें चन्द्र और रातमें सूर्यस्वर कायम चलते रहें तो १२० वर्षकी आयु होती है।

७. यदि ४, ८, १२ या २० दिनतक रात-दिन चन्द्रस्वर चलता रहे तो बड़ी आयु तथा ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं।

अशुभ फल

वामस्वर—यदि वाम स्वर लगातार १० घड़ी चलता रहे तो शरीरमें कष्ट होता है।

" " " १२ घड़ी चलता रहे तो अनेक शत्रु पैदा होते हैं।

" " " ३, २ या १ दिन चलता रहे तो रोग होते हैं।

" " " ५ दिनतक चलता रहे तो उद्वेग पैदा होता है।

" " " १ मासतक चलता रहे तो धनका नाश होता है।

सूर्यस्वर—यदि दक्षिण स्वर लगातार ४ घड़ीतक चलता रहे तो कुछ बिगाड़ या वस्तुहानि होती है।

" " " " २ घड़ीतक चलता रहे तो सज्जनसे द्वेष होता है।

" " " " २१ घड़ीतक चलता रहे तो सज्जनका विनाश होता है।

" " " " रात-दिन चलता रहे तो आयु क्षीण होकर मृत्यु होती है।

मृत्युका ज्ञान

स्वरकी सहायतासे शेष आयु या मृत्युका समय जाननेके बहुत-से तरीके हैं, जिनका संक्षेपसे निर्देश इस प्रकार है—

१. यदि ८ प्रहरतक दक्षिण स्वर बिना बदले चलता रहे तो ३ वर्षके बाद मृत्यु होती है।

२. " १६ " २ वर्षके " " "

३. " ३ दिन ३ रात १ वर्षके " " "

४. " दिनमें सूर्यस्वर और रातमें चन्द्रस्वर एक मासतक लगातार चलते रहें तो ६ मासमें मृत्यु होती है।

५. " २० अहोरात्र सिर्फ दक्षिण स्वर चले तो ३ मासमें मृत्यु होती है।

६. "५ घड़ी सुषुम्णा चलकर न बदले तो उसी समय मृत्यु हो जाती है।

७. जो व्यक्ति अपनी नाक नहीं देख सकता, वह ३ दिनमें मर जाता है।

८. स्नानके बाद जिसके हृदय, पैर और कपाल सूख जाते हैं, वह ३ मासमें मर जाता है।

९. बिना कारणके मोटा आदमी पतला हो जाय या पतला मोटा हो जाय तो १ मासमें मृत्यु होती है।

इसी प्रकार अन्य भी बहुतसे तरीके हैं जिनसे मृत्युका पहलेसे पता चल जाता है परन्तु वे विस्तारभयसे यहाँपर नहीं दिये गये। इस विषयमें एक बात और भी ध्यानमें रखनी चाहिये कि उपर्युक्त सब-के-सब चिह्न हरेकमें प्रकट नहीं होते। इनमेंसे कोई किसीमें तो कोई किसीमें, इस प्रकार प्रकट होते हैं। परन्तु निम्नलिखित दो चिह्न तो हरेकमें प्रकट होते हैं—

(१) दाहिने हाथकी मुट्ठी बाँधकर नाकके ठीक सीधमें कपालपर रखकर नीचेकी ओर उसी हाथकी कोहनीतक देखनेसे हाथ बहुत ही पतला नजर आता है। अब इस प्रकार देखनेसे जिस रोज हाथकी कलाई नजर न आये और हाथसे मुट्ठी अलग प्रतीत होने लगे, उस दिनसे सिर्फ ६ मास आयु शेष रह गयी है—ऐसा नि:सन्देह समझना चाहिये।

(२) आँखें बंद करके अँगुलीसे आँखका एक किनारा दबानेसे आँखके भीतर चमकता हुआ तारा नजर आयगा। जिस दिन यह तारा दीखना बंद हो जाय, उस दिनसे सिर्फ १० दिनमें मृत्यु हो जाती है।

रोगका ज्ञान तथा प्रतीकार

नासिकाके स्वर निश्चित तिथि और समयके अनुसार न चलें तब शरीरमें रोग उत्पन्न होते हैं, इस सम्बन्धमें कुछ निश्चित बातें हम ऊपर दे आये हैं। उनके अनुसार जब शरीरमें गलतीसे रोग हो जायँ तो स्वरोंको ठीक-ठीक चलानेसे वे रोग दूर हो जाते हैं। इस सम्बन्धमें कुछ रोग तथा उनके निश्चित उपाय नीचे दिये जाते हैं—

(१) *बुखार*—जब शरीरमें हरारत प्रतीत हो, तब जो स्वर चल रहा हो, उसे जितने दिन शरीर पूर्णरूपसे स्वस्थ न प्रतीत हो, उतने दिन बंद रखना चाहिये। नथुनोंमें नरम रूई रख देनेसे अभीष्ट स्वर बंद किया जा सकता है।

(२) *सिरदर्द*—सिरदर्द मालूम होते ही सीधा लेटकर दोनों हाथोंको नीचेकी ओर लंबा फैला दे। फिर किसीसे दोनों हाथोंकी कोहनियोंको रस्सीसे जोरसे बँधवा ले। ऐसा करनेसे ५—७ मिनटमें तमाम दर्द काफूर हो जायगा। दर्द मिटनेपर रस्सी खोल दे।

यदि आधासीसी हो तो उस हालतमें जिस ओरका सिर दुखता हो, सिर्फ उसी ओरका हाथ बाँधना चाहिये। उस हालतमें दोनों हाथ बाँधनेकी जरूरत नहीं। यदि दूसरे दिन फिर आधासीसीका दर्द मालूम हो और पहले दिन जो स्वर चल रहा था, वही दूसरे रोज भी चलता हो तो हाथ बाँधनके साथ-साथ वह स्वर भी बंद कर देना चाहिये।

(३) *अजीर्ण या बदहज़मी*—जिन्हें कायम बदहज़मी रहती हो, उन्हें चाहिये कि वे सर्वदा दक्षिण स्वरकी उपस्थितिमें भोजन किया करें। इस प्रकार करनेसे धीरे-धीरे पहलेका अजीर्ण मिट जायगा तथा पाचनशक्ति बढ़नेसे खाया हुआ तमाम अन्न पूर्णरूपसे पचता रहेगा। भोजनके पश्चात् १५-२० मिनट बायीं करवट लेटते रहनेसे विशेष जल्दी लाभ हो सकता है।

पुराना अपचन मिटानेके लिये एक और भी उपाय है। वह यह है कि रोज १०-१५ मिनट पद्मासनसे बैठकर नाभिपर दृष्टि स्थिर करनेसे सिर्फ एक ही सप्ताहमें अपचनकी शिकायत दूर हो जाती है।

(४) *हिलते दाँत बंद करना*—जिनके दाँत हिलते रहते हों या दु:खते रहते हों, उन्हें चाहिये कि वे शौच तथा पेशाबके समय अपने दाँतोंको जोरसे दबाये रखें। ऐसा करनेसे दाँतोंकी शिकायत दूर हो जाती है।

(५) *अन्य दर्द*—छाती, पीठ, कमर, पेट आदि कहींपर भी एकदम दर्द उठनेपर जो स्वर चलता हो, उसे सहसा पूर्ण बंद कर देनेसे कैसा भी दर्द होगा फौरन शान्त हो जायगा।

(६) *दमा*—जब दमेका दौरा शुरू होने लगे, और साँस फूलने लगे तब जो स्वर चल रहा हो, उसे एकदम बंद कर दे। इससे १०-१५ मिनटमें ही आराम होता हुआ नजर आयेगा। इस रोगका जडसे नाश करनेके लिये लगातार एक मासतक चलते हुए स्वरको बंद करके दूसरा चलानेका अभ्यास नित्यप्रति जितना ज्यादा हो सके उतना करते रहनेसे दमा नष्ट हो जाता है। इस सम्बन्धमें जितना भी अधिक स्वर बदलनेका अभ्यास किया जायगा, उतना अधिक और शीघ्र लाभ हो सकेगा।

कुछ अन्य उपयोगी उपचार

(१) परिश्रमसे उत्पन्न थकावट दूर करनेके लिये या धूपकी गरमीसे शान्त होनेके लिये थोड़ी देरतक दाहिनी करवटसे लेटनेसे थकावट या गरमी दूर हो जाती है।

(२) रोज खाना खानेके बाद लकड़ीकी कंघीसे बाल सँवारनेसे सिरके रोग तथा वायुरोग मिटते हैं और बाल जल्दी नहीं पकते।

(३) रोज आध घंटा पद्मासनसे बैठकर दाँतोंकी जड़में जीभका अग्रभाग जमाये रखनेसे कोई भी रोग नहीं होता और स्वास्थ्य उत्तम बना रहता है।

(४) रोज आध घंटा सिद्धासनसे बैठकर नाभिपर दृष्टि जमानेसे स्वप्नदोष सर्वथा नष्ट हो जाता है। ६ मासतक लगातार इस तरह अभ्यास करनेसे भयङ्कर-से-भयङ्कर स्वप्नदोष भी सर्वथा दूर हो जाता है।

(५) सबेरे आँखें खुलते ही जिस ओरका स्वर चल रहा हो, उस ओरकी हथेली मुखपर रखकर उसी ओरका पैर प्रथम ज़मीनपर रखनेसे इच्छासिद्धि होती है।

(६) जिन्हें विशेष अजीर्ण रहता हो, वे सबेरे कुछ भी खानेसे पूर्व पानके पत्तेमें १० तक काली मिर्चें धीरे-धीरे चबाते हुए खायँ। १५-२० रोज इस प्रकार करनेसे अजीर्ण सर्वथा दूर हो जाता है।

(७) *खून साफ करनेकी विधि*—यदि किसी कारण खून बिगड़ गया हो और शरीरमें खूनके विकारसे फोड़ा-फुंसी निकल आये हों तो कुछ दिन नियमपूर्वक शीतली कुम्भक करनेसे रक्त साफ होकर चर्मरोग नष्ट हो जाते हैं।

(८) *जवानी टिकाये रखनेका उपाय*—इसके लिये इच्छानुसार स्वर बदलनेका अभ्यास करना चाहिये। दिनमें जब भी समय मिले, जो स्वर चल रहा हो उसे फौरन बदलनेका प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकार दिनमें कई बार स्वर बदलते रहनेसे चिरयौवन प्राप्त होता है। इस क्रियाके साथ-साथ यदि प्रात:-सायं विपरीतकरणी मुद्रा भी की जाय तो अकथनीय लाभ होता है।

(९) *दीर्घायु प्राप्त करनेका उपाय*—प्राय: साँसकी साधारण गतिका प्रमाण बाहर जाते हुए १२ अंगुल होता है तथा अंदर आते हुए १० अंगुल होता है। श्वासको एक बार अंदर जाकर बाहर आनेतक साधारण अवस्थामें कुल ४ सेकंड लगते हैं। इस समय तथा गतिके प्रमाणको कम करनेसे मनुष्य दीर्घायु हो सकता है। धातुदौर्बल्य आदि बीमारीवालेकी साँसकी गतिका प्रमाण अधिक तथा समय कम लगता है। मनुष्यकी भिन्न-भिन्न क्रियाओंमें उसकी साँसकी गतिका प्रमाण कितना हुआ करता है, वह नीचे दिया है—

१. गाते हुए श्वासकी गतिका प्रमाण	१६	अंगुल	होता है।
२. खाते हुए ,, ,, ,,	२०	,,	,,।
३. चलते हुए ,, ,, ,,	२४	,,	,,।
४. सोते हुए ,, ,, ,,	३०	,,	,,।
५. मैथुन करते हुए ,, ,,	३६	,,	,,।

६. व्यायामादि कठिन परिश्रम करते हुए श्वासकी गतिका प्रमाण इन सबसे ज्यादा बढ़ा हुआ होता है। जो मनुष्य श्वासकी उक्त स्वाभाविक गतिके प्रमाणको जितना-जितना घटा सकता है, वह उतना अपनी आयुको बढ़ाता जाता है। इस विषयकी विशेष तालिका नीचे देते हैं—

१.	श्वासकी	स्वाभाविक	गति	जो १२ अंगुलसे	घटाकर	११	तक लाता है,	उसके प्राण स्थिर हो जाते हैं।
२.	,,	,,	,,	,,	,,	१०	,, ,,	उसे महा आनन्द प्राप्त होता है।
३.	,,	,,	,,	,,	,,	९	,, ,,	उसमें कवित्वशक्ति आती है।
४.	,,	,,	,,	,,	,,	८	,, ,,	उसे वाक्‌सिद्धि होती है।
५.	,,	,,	,,	,,	,,	७	,, ,,	उसे दूरदृष्टि प्राप्त होती है।
६.	,,	,,	,,	,,	,,	६	,, ,,	वह आकाशमें उड़ सकता है।
७.	,,	,,	,,	,,	,,	५	,, ,,	उसमें प्रचण्ड वेग आता है।
८.	,,	,,	,,	,,	,,	४	,, ,,	उसे सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।
९.	,,	,,	,,	,,	,,	३	,, ,,	उसे नवनिधियाँ प्राप्त होती हैं।
१०.	,,	,,	,,	,,	,,	२	,, ,,	वह अनेक रूप धारण कर सकता है।
११.	,,	,,	,,	,,	,,	१	,, ,,	वह अदृश्य हो सकता है।
१२.	,,	,,	,,	,,	,,	प्राणकी गतिका प्रमाण सिर्फ नखाग्र-जितना रह जाता है, उसे यमराज भी नहीं खा सकता अर्थात् वह अमर बन जाता है।		

स्त्री और स्वरोदयशास्त्र

कुछ लोगोंके मनमें साधारणतया यह शंका पैदा हो सकती है कि स्वरोदय-विज्ञानके विधान स्त्री-पुरुष दोनोंके लिये समानरूपसे हैं या अलग-अलग। इस शङ्काके उठनेका मूल कारण यह है कि स्त्री पुरुषका वामाङ्ग समझी जाती है और उसमें वामाङ्ग प्रधान भी रहता है।

शरीरकी रचनाकी दृष्टिसे चाहे स्त्री पुरुषसे भिन्न हो, परन्तु स्वर-विज्ञानकी दृष्टिसे स्त्री-पुरुष दोनोंके लिये स्वर-सम्बन्धी तमाम नियम समानरूपसे ही लागू होते हैं। अर्थात् उपर्युक्त तमाम वर्णन स्त्री-पुरुषके लिये एक-सा ही समझना चाहिये। स्त्री-पुरुषका भेद स्वरकी दृष्टिसे नहीं है, अपितु अमुक शारीरिक रचनाकी वजहसे ही—ऐसा समझकर सब कार्य करने चाहिये।

इस सृष्टिमें परमात्माने पुरुषको सूर्यका प्रतिनिधि तथा स्त्रीको चन्द्रका प्रतिनिधि बनाया है। अत: पुरुषमें सूर्यप्रधान गुण रहते हैं तथा स्त्रीमें चन्द्रप्रधान। स्वरोदयविज्ञानकी दृष्टिसे इसे हम यों कह सकते हैं कि जब पुरुषकी चन्द्रनाडी चल रही होती है, तब उसमें सूर्यप्रधान गुणोंका प्राबल्य चन्द्रनाडीके प्रभावसे कुछ हलका (mild) हो जाता है। परन्तु जब सूर्यनाडी चलने लगती है, तब उन्हें पूर्ण बल प्राप्त होनेसे वे उग्र स्वरूप (aggressive form)-को प्राप्त करते हैं। ठीक इसी प्रकार स्त्रीकी नाडियोंका हाल है। जब स्त्रीकी चन्द्रनाडी चल रही हो, तब समझना चाहिये कि उसमें स्त्रीत्वके गुण पूर्ण अवस्थामें पहुँचे हुए हैं। और जब उसकी सूर्यनाडी चल रही हो, तब समझना चाहिये कि उसके स्त्री-सुलभ गुण कुछ-कुछ मन्द अवस्थामें हैं। स्वरज्ञोंने इन्हीं बातोंके आधारपर स्त्री-पुरुषके लिये करनेयोग्य बहुतसे कार्योंका निश्चय किया है—यथा पुत्र-पुत्रीका इच्छानुसार पैदा करना, गर्भधारण न करना इत्यादि। अस्तु, इस संक्षिप्त विवेचनका अभिप्राय पाठकोंके लक्ष्यमें आ गया होगा—ऐसी आशा है।

प्रश्नोत्तरी

स्वरकी मददसे प्रश्नोंके उत्तर देना बहुत कुछ अभ्यासपर निर्भर रहता है। प्रश्न बहुत प्रकारके हो सकते हैं, अतः उन सब तरहके प्रश्नोंका संग्रह करना कठिन है; तथापि साधारणतया प्रश्नोंके जवाब स्वरोदय-विज्ञानकी मददसे कैसे दिये जा सकते हैं, इस सम्बन्धमें थोड़ी-सी चर्चा करेंगे। प्रश्नोंके जवाब देते हुए स्वर तथा तत्त्वका ख्याल रखना नितान्त आवश्यक है। स्वर तथा तत्त्व ठीक-ठीक मालूम करके जवाब देनेसे उत्तर कभी भी गलत नहीं होंगे।

(१) कार्यके शुभाशुभ फलसम्बन्धी प्रश्न

अमुक कार्यका फल कैसा होगा, ऐसा प्रश्न किया जाय तो—

(क) प्रश्न करते समय यदि पृथ्वी और जलतत्त्वका संयोग या दोनोंमेंसे कोई हो और चन्द्रस्वर चल रहा हो तो उत्तर देने चाहिये कि जो कार्य प्रश्नकर्ता सोच रहा है, वह सफल होगा। परन्तु यदि अग्नि, वायु और आकाश-तत्त्वोंमेंसे कोई हो तो कार्य विफल होगा—ऐसा समझना चाहिये।

(ख) यदि प्रश्नकर्ता उत्तरदाताके दाहिनी ओर आकर बैठकर प्रश्न करे और उस समय उत्तर दाताका चन्द्रस्वर चल रहा हो तो कार्यसिद्धि नहीं होगी।

(ग) परन्तु यदि वामस्वर चल रहा हो और प्रश्नकर्ता भी उसी ओर बैठा हो तो कार्यसिद्धि होगी।

(घ) चन्द्रस्वर चल रहा हो और प्रश्नकर्ता ऊपरसे, सामनेसे या बाँयीं ओरसे प्रश्न करे तो कार्यसिद्धि होगी।

(ङ) प्रश्नकर्ता बायीं ओरसे आकर दाँयीं ओर बैठकर प्रश्न करे और बायाँ स्वर चल रहा हो तो कार्यविनाश समझना चाहिये।

ऊपर जो उत्तर दिये हैं, वे उत्तरदाताके वामस्वर चलते हुए किये जानेवाले प्रश्नोंके हैं। यदि उत्तरदाताका दक्षिण स्वर चल रहा हो तो प्रश्नोंके जवाब देते हुए जहाँ-जहाँ वाम है वहाँ दक्षिण समझकर तदनुसार वही-के-वही जवाब देने चाहिये। इस सम्बन्धमें निम्नलिखित नियम सर्वदा याद रखना चाहिये—

प्रश्नकर्ता जिस ओर आ रहा हो, उसी ओरका उत्तरदाताका स्वर चल रहा हो तो कार्यसिद्धि समझनी चाहिये; परन्तु पृथ्वी या जलतत्त्व होने आवश्यक हैं।

(२) रोगी-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर

(क) बायीं ओरसे रोगीके सम्बन्धमें प्रश्न करे और उत्तरदाताका सूर्यस्वर चल रहा हो तो रोगी नहीं बचेगा, ऐसा समझना चाहिये।

(ख) वाम स्वरमें बाँयीं ओरसे ही प्रश्न किया गया हो और पृथ्वीतत्त्व हो तो एक मासमें रोगी ठीक हो जायगा, ऐसा समझना चाहिये।

(ग) सुषुम्णामें स्वर हो तथा गुरुवार हो और वायु तत्त्व हो तो रोगी मरेगा नहीं। परन्तु शनिवार और आकाशतत्त्व हो तो उसी रोगसे मर जायगा।

(३) गर्भसम्बन्धी प्रश्न

(क) अमुक स्त्रीके गर्भ रहा है या नहीं, ऐसा प्रश्न बंद स्वरकी ओरसे किया जाय तो गर्भ है—ऐसा समझना चाहिये, अन्यथा नहीं।

(ख) गर्भमें लड़का है या लड़की, इस प्रश्नके जवाबमें प्रश्नकर्ताका यदि बायाँ स्वर चल रहा हो और अपना दक्षिण तो लड़का होकर मर जायगा—ऐसा कहे।

(ग) यदि दोनोंहीके दक्षिण स्वर हो तो लड़का होगा और आनन्द-मङ्गल होगा।

(घ) प्रश्नकर्ताका दक्षिण स्वर हो तथा उत्तरदाताका वाम, तो लड़की होकर मर जायगी।

(ङ) यदि दोनोंका बायाँ स्वर हो तो लड़की होकर जीयेगी।

(च) यदि सुषुम्णामें प्रश्न किया जाय तो गर्भपात होकर माताको कष्ट होगा।

(छ) यदि गर्भसम्बन्धी प्रश्नके समय आकाशतत्त्व होगा तो भी गर्भपात होगा।

(४) प्रवास या परदेशके सम्बन्धमें प्रश्न

(क)	प्रश्न	करते	समय	पृथ्वी-तत्त्व	हो तो	प्रवासमें कुशलता।
(ख)	,,	,,		जल	,,	रास्तेमें पानीमें बाढ़।
(ग)	,,	,,	,,	अग्नितत्त्व	हो तो	प्रवासमें कष्ट।
(घ)	,,	,,	,,	वायु	,,	प्रवासी आगे चला गया है, ऐसा समझे।
(ङ)	,,	,,	,,	आकाश	,,	,, रोगी हो गया है, ,, ,, ।

(च)	प्रश्न करते समय	सुषुम्णा और पृथ्वीतत्त्व तथा आकाशका संयोग हो तो प्रवासी मर जायगा।
(छ)	,, ,, ,,	पृथ्वीतत्त्व हो तो परदेशमें स्थिर है, ऐसा समझे।
(ज)	,, ,, ,,	जल ,, ,, ,, सुखी है ,, ,, ।
(झ)	,, ,, ,,	अग्नि ,, ,, ,, रोगादि कष्टोंसे मुक्त समझे।
(ञ)	,, ,, ,,	वायु ,, ,, ,, अपने स्थानपर न होता हुआ अन्यत्र गया हुआ है, ऐसा समझे।
(ट)	,, ,, ,,	आकाश ,, ,, ,, मृत्यु हो गयी है, ऐसा जाने।

(५) युद्धमें गये हुएके सम्बन्धमें प्रश्न

(क) यदि पूर्णस्वरसे आकर पूर्णमें पूछे अर्थात् प्रश्नकर्ता और उत्तरदाताके स्वर एक हों तो युद्धमें गये हुएकी कुशल जाने।

(ख)	यदि	पृथ्वीतत्त्व	हो	तो	पेटमें	घाव लगा	है,	ऐसा जाने।
(ग)	,,	जल	,,	,,	पैरमें	,,	,,	,, ।
(घ)	,,	अग्नि	,,	,,	छातीमें	,,	,,	,, ।
(ङ)	,,	वायु	,,	,,	जाँघमें	,,	,,	,, ।
(ग)	,,	आकाश	,,	,,	मस्तकमें	,,	,,	,, ।
(घ)	,,	सुषुम्णामें स्वर हो तो मृत्यु या कैद				,,	,,	,, ।

यहाँ ऊपर कुछ प्रश्न तथा उनके जवाब देनेके तरीके बताये गये हैं। इस सम्बन्धमें विज्ञ पाठक विस्तारसे स्वयमेव प्रयत्न करके जान सकते हैं। अनुभव उन्हें विशेष विज्ञ बना सकेगा। अस्तु,

स्वरोदय-विज्ञानके सम्बन्धमें बहुत ही संक्षेपसे उपर्युक्त विवरण तैयार किया गया है। इसका विस्तार तथा बहुत-सी अन्य बातें इस लेखमें दी नहीं जा सकती थीं, यह पाठक समझ सकते हैं। अतएव जिज्ञासु विज्ञ पाठक हमें हमारी इस विवशताके लिये क्षमा करेंगे।

सर्वोत्तम साधन—जनसेवा

(लेखक—पं० श्रीकिशोरीदासजी वाजपेयी)

भगवत्प्राप्तिके अनेक साधन हैं—कर्म, ज्ञान, भक्ति, प्रपत्ति आदि। परन्तु सर्वोत्तम साधन—जनसेवा है। दीन-दु:खियोंकी सेवा भगवत्प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन है। श्रीमद्भागवतमें स्थान-स्थानपर इसका उल्लेख है और श्रीनाभादासजीने 'भक्तमाल' में अनेक ऐसे भक्तोंके चरित्र दिये हैं, जो जनसेवामें ही लगे रहते थे, इसीको भगवत्प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन समझते थे और जो इसीके द्वारा कृतकृत्य हुए।

इसमें किसी प्रमाणकी जरूरत नहीं है। आपकी आत्मा ही गवाही देगी। जब आप किसी दु:खी जीवकी कुछ मदद करते हैं, तब आपकी आत्मा प्रसन्न होती है और ऐसा लगता है कि मेरे इस कामसे भगवान् प्रसन्न हो रहे हैं।

जनतामें जनार्दनका वास है। चलती-फिरती नारायणकी मूर्तियोंकी अर्चनाका महत्त्व बहुत बढ़कर है। निष्कामभावसे, भगवत्प्राप्तिका साधन मानकर यदि जनताकी सेवा की जाय—दीन-दु:खियोंके दु:ख-दर्दमें मदद की जाय—तो भगवान्की प्रसन्नताका यह सबसे बड़ा कारण होगा।

आजकल लोग जो जनसेवाका काम करते हैं, उसमें निष्काम मनोवृत्ति नहीं रहती। कुछ-न-कुछ स्वार्थ रहता है। राजनीतिक उत्कर्षकी भावना प्रधानतासे दिखायी देने लगी है। यह सब सकाम कर्म-प्रवृत्ति है। इसीको निष्कामभावसे किया जाय, तो यह सेवा निर्वाणप्राप्तिका प्रबलतम साधन है।

भारतीय संत-समाजका इस युगमें अभीतक इस साधनकी ओर कम ध्यान गया है। आशा है, इसपर विचार किया जायगा।

आरोग्य-साधन

(लेखक—राजज्योo पंo श्रीमुकुन्दवल्लभजी मिश्र ज्यौतिषाचार्य)

आरोग्यं भास्करादिच्छेत्……….। (श्रीमद्भागवत)

अन्तश्चरति रोचना ऽस्य प्राणादपानती।
व्यख्यन्महिषो दिवम्॥ (ऋ० १०।१८९।२)

इस ऊपरके वेदमन्त्रमें स्पष्ट कहा है कि भगवान् सूर्यकी रोचमाना दीप्ति अर्थात् सुन्दर प्रभा शरीरके मध्यमें मुख्य प्राणरूप होकर रहती है। इससे सिद्ध है कि शरीरका स्वस्थ, नीरोग, दीर्घजीवी होना भगवान् सूर्यकी कृपापर निर्भर है; क्योंकि सूर्यकिरणोंके द्वारा ही सारे जगत्में प्राणतत्त्वका सञ्चार होता है। प्रश्नोपनिषद्में लिखा है—

यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्त॥ (१।६)

अर्थात् जब आदित्य प्रकाशमान होता है, तब वह समस्त प्राणोंको अपनी किरणोंमें रखता है।

इसमें भी एक रहस्य है। वह यह कि प्रात:कालकी सूर्यकिरणोंमें अस्वस्थताका नाश करनेकी जो अद्भुत शक्ति है, वह मध्याह्न तथा सायाह्नकी सूर्य-रश्मियोंमें नहीं है।

उद्यन्नादित्यरश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशः। (अथर्व० ९।८)

वेदभगवान् कहते हैं कि प्रात:कालकी आदित्यकिरणोंसे अनेक व्याधियोंका नाश होता है। सूर्यरश्मियोंमें विष दूर करनेकी भी शक्ति है। **'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'**—स्वस्थ शरीरसे ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं। एतदर्थ आरोग्यके इच्छुक साधकोंको भगवान् सूर्यकी शरणमें रहना अत्यावश्यक है। सूर्यकी किरणोंमें व्याप्त प्राणोंको पोषण करनेवाली महती शक्तिका निम्नलिखित सहज साधनसे आकर्षण करके साधक स्वस्थ, नीरोग और दीर्घजीवी होकर अन्तमें दिव्य प्रकाशको प्राप्त करके परमपदको भी प्राप्त कर सकता है। आलस्य या अविश्वासके वश होकर इस साधनको न करना एक प्रकारसे आत्मोन्नतिसे विमुख रहना है।

साधन—प्रात:काल सन्ध्या-वन्दनादिसे निवृत्त होकर पहले प्रहरमें, जबतक सूर्यकी धूप विशेष तेज न हो, तबतक एकान्तमें केवल एक वस्त्र पहनकर और मस्तक, हृदय, उदर आदि प्राय: सभी अंग खुले रखकर पूर्वाभिमुख भगवान् सूर्यके प्रकाशमें खड़ा हो जाय। तदनन्तर हाथ जोड़, नेत्र बंद करके जगच्चक्षु भगवान् भास्करका ध्यान करे। तद्यथा—

पद्मासनः पद्मकरो द्विबाहुः
पद्मद्युतिः सप्ततुरङ्गवाहनः।
दिवाकरो लोकगुरुः किरीटी
मयि प्रसादं विदधातु देवः॥

यदि किसी साधकको नेत्रमान्द्यादि दोष हो तो वह ध्यानके बाद नेत्रोपनिषद्का पाठ भी कर लेवे। तदनन्तर वाल्मीकिरामायणोक्त आर्ष आदित्यहृदयका पाठ तथा **'ॐ ह्रीं हंसः'** इस बीजमन्त्रका कम-से-कम पाँच माला जप करके मनमें दृढ़ धारणा करे कि जो सूर्य-किरणें हमारे शरीरपर पड़ रही हैं और जो हमारे चारों ओर फैल रही हैं, उन सबमें रहनेवाली आरोग्यदा प्राणशक्ति मेरे शरीरके रोम-रोममें प्रवेश कर रही है। नित्य नियमपूर्वक दस मिनटसे बीस मिनटतक इस प्रकार करे। साथ ही घंटा-रण-रणत् स्वरसे ॐकारका उच्चारण ब्रह्मरन्ध्रतक पहुँचाना चाहिये। ऐसा करनेसे अनोखा आनन्द तथा दिव्य स्फूर्तियुक्त तेज मिलेगा। यदि किसी श्रद्धालु साधकको कष्टसाध्य अथवा असाध्य उरुक्षत, राजयक्ष्मा अथवा कुष्ठादि रोग अत्यन्त कष्ट दे रहे हों तो उन्हें चाहिये कि उपर्युक्त साधनके साथ-साथ निम्नलिखित काम्य रविव्रत भी करे। ऐसा करनेपर मेरा विश्वास है कि निश्चय ही इच्छानुसार लाभ होगा। यह व्रत गुरु-शुक्रास्तादि दोषसे रहित मार्गशीर्ष शुक्लपक्षसे प्रारम्भ करना चाहिये।

व्रती साधकको चाहिये कि रविवारको सूर्योदयसे ५ घड़ी पूर्व उठकर शौचशुद्धिके बाद ताजे या भिगोये हुए अपामार्ग (ओंगा-पुठकंडा)-की दाँतनसे मुखशुद्धि करे। तदनन्तर स्नानादि नित्यकर्मसे निवृत्त होकर उपर्युक्त साधन करके भगवान् सूर्यके सम्मुख (चान्द्रमानसे) मार्गशीर्ष हो तो पहले दिनके तोड़े हुए और भगवान्को समर्पण किये हुए केवल तुलसीके तीन पत्रमात्र, पौषमें ३ पल गोघृत, माघमें ३ मुट्ठी तिल, फाल्गुनमें ३ पल गौका दही, चैत्रमें ३ पल गौका दूध, वैशाखमें सवत्सा गौका बदरीफलप्रमाण (बेर-जितना) गोबर, ज्येष्ठमें ३ अञ्जलि गंगाजल (अभावमें

भगवान्का चरणामृत), आषाढ़में ३ दाने काली मिर्च, श्रावणमें ३ पल जौका सत्तू, भाद्रपदमें सवत्सा गौका ३ चुल्लू गोमूत्र, आश्विनमें ३ पलमात्र चीनी तथा कार्तिकमें ३ पल* हविष्य भक्षण करे।

ऊपर जो द्वादश मासोंके रविवारोंकी भक्ष्य वस्तुएँ लिखी हैं, उनके अतिरिक्त अन्य वस्तु उस दिन मुखमें न डाले। भक्ष्य पदार्थके भक्षण करनेके अनन्तर आचमन करके मुखशुद्धि अवश्य करे। जहाँ केवल जलमात्रका ही वचन है, वहाँ आचमनकी आवश्यकता नहीं है। व्रती साधक उस दिन मौनधारणपूर्वक मनमें उपर्युक्त बीजमन्त्रका स्मरण करता हुआ एकान्तसेवन करे और सुबह, दुपहर तथा सन्ध्याके समय रोली, पुष्प और चावलोंसे युक्त जलका अर्घ्य भी अवश्य दे। रात्रिको महामहिम श्रीमदमृतवाग्भवाचार्यकृत आत्म-विलासादि सच्छास्त्राध्ययनसे अपनी आत्माको पवित्र करके जमीनपर या काठके तख्ते अथवा चौकीपर पूर्वकी ओर सिर करके सोवे।

साधको! इस रविव्रतसे स्वास्थ्यमें जो वर्णनातीत लाभ होता देखा गया है, वह किसी भी मानवीय औषधसे शतांशमें भी नहीं होता—ऐसा मेरा अनुभव है। यदि कोई साधक इस व्रतको बारह सालतक विश्वासपूर्वक करे तो पूर्णकाम होकर ब्रह्मरूप हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं। यहाँ तो केवल दृढ़ श्रद्धा-भक्तिकी आवश्यकता है। कहाँतक लिखा जाय, कुछ समयतक विधिवत् इस साधनके करनेसे भगवान् भास्करकी कृपाका अद्भुत फल अपने-आप ही प्रत्यक्ष हो जायगा।

स्मरण रहे कि सूर्यके सामने मल-मूत्रका त्याग करना सभीके लिये, खास करके सूर्योपासकके लिये तो सर्वथा निषिद्ध है। रविवारको तैल, स्त्री-संसर्ग तथा नमकीन पदार्थका त्याग करना साधारण रविव्रत कहाता है।

साधनाका मथितार्थ—सेवा

(लेखक—पं० श्रीधर्मदेवजी शास्त्री, दर्शनकेसरी, दर्शनभूषण, सांख्य-योग-वेदान्त-न्याय-तीर्थ)

मनुष्यका परम लक्ष्य है भगवत्प्राप्ति अथवा भगवत्स्वरूपप्राप्ति। सब साधन—योग, तप, ध्यान आदि—उसी लक्ष्यतक पहुँचानेके लिये हैं। साधन स्वयं लक्ष्य नहीं होता, वह तो साध्यप्राप्तिका उपाय भर होता है। भगवान्का दर्शन करना कौन नहीं चाहता? भगवान्को प्राप्त करनेका अर्थ है पूर्णत्वकी प्राप्ति—उपनिषद्के शब्दोंमें 'भूमस्वरूपाधिगति।' विद्या, बल, ऐश्वर्य और आनन्द आदिमें निरपेक्ष स्थितितक पहुँचनेकी इच्छा मानवमात्रकी है। मनुष्यकी इच्छाओंको हम मुख्यतया तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—

१-'**मा न भूवं भूयासम्**'-अमर जीवन अर्थात् सत्ताकी पूर्णता।

२-मैं सबसे अधिक ज्ञानी बनूँ अर्थात् चितिकी पूर्णता।

३-दुःखके लेशसे भी असंस्पृष्ट सुखप्राप्ति अर्थात् आनन्दकी पूर्णता।

इस प्रकार मनुष्यकी इच्छा है कि वह सच्चिदानन्द बने। सभी मनुष्य, चाहे वे परमात्माको मानते हों अथवा नहीं, उक्त तीन पूर्णताओंको किसी-न-किसी रूपमें चाहते हैं। मनुष्यकी यह प्रकृति है, न चाहते हुए भी वह इससे प्रेरित हो रहा है। '**प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति**' (गीता)

इस प्रकार मनुष्य अपने चरम लक्ष्यको प्राप्त करनेके लिये ही सब कुछ कर रहा है। वह साधना मनुष्य एक ही जन्ममें पूरी नहीं कर पाता—'**अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।**' (गीता) अनेक जन्मोंकी सिद्धिके अनन्तर मनुष्य उसे प्राप्त करता है। यदि कोई मनुष्य शरीरको साधनाका साधन न समझकर अपने लक्ष्यको भूल जाय तो वह कोल्हूके बैलकी भाँति अनेक जन्मोंमें भी वहीं-का-वहीं रहेगा। इसलिये अनुभवी महात्माओंने साधकोंको साधनाके साधन और स्वरूप समझाये हैं, जिसमें उनपर आचरण करके कोई भी अपना लक्ष्य प्राप्त कर ले। अनुभवियोंके अनुभव-प्रयोगकी दशाएँ विविध हों, तब भी उनका परीक्षाप्रकार अथवा मथितार्थ एक ही है। और वह है नरके रूपमें नारायणकी सेवा। जिस प्रकार विविध श्रेणियोंमें विषय और पढ़ाईका भेद होता है अथवा एक

* एक पल=३ तोले ४ माशेका होता है।

भी श्रेणीके विद्यार्थियोंको भिन्न-भिन्न अध्यापक अपने ही ढंगसे पढ़ाता है, पर सब अध्ययन-अध्यापनका मथितार्थ एक है, और वह है अक्षरज्ञान अथवा व्यवहार-ज्ञान; इसी प्रकार साधनाके रूपमें भी अधिकारिभेद अथवा प्रयोग-भेदसे भेद हो सकता है, परन्तु सबका मथितार्थ है भेदमें अभेदका साक्षात्कार। यह साक्षात्कार भी मानसिक चेष्टाभर नहीं, अपितु मानव-जीवनका नया कायाकल्प है।

× × ×

तुम अपने प्राणस्वरूप भगवान्का साक्षात्कार करना चाहते हो? सचमुच तुम्हारी यह हार्दिक अभिलाषा है? यदि हाँ, तो आओ मेरे साथ चलो। देखो, मैं तुम्हें इस जनाक्रान्त स्थानसे दूर ले जाऊँगा। क्या पूछते हो, कहाँ ले जाओगे? तुम चले चलो मेरे पीछे-पीछे। लो, यहाँ बाज़ारके चौकमें बड़े-बड़े आलीशान भव्य प्रासाद हैं। पक्की सड़क है। प्रकृतिपर विजय पानेवाले मानवने यहाँ रात्रिको भी बिजलीके प्रकाशमें दिन बना दिया है। इधरसे उधर मोटरें, ट्राम और अन्य विविध यान धनी-मानी व्यक्तियोंको लेकर आ-जा रहे हैं। मैं यहाँ तुम्हें रोकना नहीं चाहता। यहाँ ब्रह्मका अविकृत रूप नहीं दीखेगा, यहाँ उसका मकान नहीं। उच्च अट्टालिकाओंमें वह नहीं मिलेगा। उसे आरामके लिये फुरसत कहाँ?

जहाँतक तुम्हारी आँखोंको चौंधिया देनेवाली वस्तुएँ दीखें, वहाँतक समझ लेना यहाँ तुम्हारा गन्तव्य नहीं मिलेगा। लो, अब शहरके उस हिस्सेमें आ पहुँचे, जहाँ मानवताकी उपेक्षाने मूर्तरूप धारण कर लिया है। यहाँ रोशनीका कोई इन्तज़ाम नहीं। एक छोटी-सी फूसकी झोंपड़ीमें, जिसमें मुश्किलसे दो चारपाइयाँ आ सकती हैं, छः बच्चोंकी माँ अपने पतिकी इन्तज़ारमें बच्चोंको सान्त्वना दे रही है। घर और उसके रहनेवाले मैले और दुर्गन्धिसे युक्त हैं। यहाँ तुम नाकपर कपड़ा न रखो।

तुम्हें तो भगवान्के दर्शन करने हैं न? तो ज़रा अंदर चलो, यहाँ प्रभु मिलेंगे। जहाँ मानवताको ठोकरें पड़ती हैं, जहाँ निर्धनता नग्न ताण्डव करती है, जहाँ भूख और नंगापन साम्राज्य बनाकर रहते हैं, वहाँ तुम्हारा प्रियतम रहता है और मिलता है—दरिद्र, भूखे, नंगे और असहायके शरीरमें लड़खड़ाता हुआ। तुम यदि भगवान्को कुछ खिलाना पसंद करते हो तो दरिद्रको नारायण समझकर खिलाओ। यदि तुम भगवान्पर वस्त्र चढ़ाना चाहते हो तो ग़रीबकी झोंपड़ीमें जाकर श्रद्धापूर्वक दरिद्रनारायणके चरणोंमें वस्त्रोंकी भेंट चढ़ाओ।

यदि तुमने साधना की है तो यहाँ उसकी परीक्षा होती है। यह परीक्षा-केन्द्र है। यह साधना-परीक्षा-मन्दिर है। यदि तुम इसमें शत प्रतिशत अंक प्राप्त करना चाहते हो तो दरिद्रोंमें, पतितोंमें, भूखों और नंगोंमें तन्मय होकर उनके सेवक बन जाओ। और तुम्हारी परीक्षा पूरी तब होगी जब उस पतितको, निर्धनको, गरीबको भगवान्के रूपमें स्वयं ही नहीं देखोगे, संसारको दिखा दोगे; जब वह पतित न रहेगा, निर्धन न रहेगा, भूखा और नंगा न रहेगा। यह है भगवान्के साक्षात्कारका प्रकार। इसीका नाम है सेवा। ऋग्वेदमें इसीको कहा है—

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा।

भगवान्का यह व्रत है कि उन्होंने अपना घर पतितोंको—जनताको बनाया है। इन्हींको नर-नारायण कहते हैं।

क्या कहते हो—यह कठिन है? नहीं, यह तो सबसे सरल मार्ग है। इसका आनन्द भुक्तभोगी ही जानते हैं। स्वयं दरिद्रताको अपनानेमें कितना आनन्द है? लाखों रुपये कमाकर दरिद्रनारायणके चरणोंमें भेंट चढ़ा देनेमें क्या अनिर्वचनीय आनन्द है—यह तो दूसरेके बतानेकी बात नहीं। 'गूँगे' की रसनाके सदृश अमीचंद बतावें किसे कि हमने क्या रस उड़ाया?—यह उक्ति उसके मुँहसे निकलेगी जो इस मार्गका पथिक होगा।

'अत्रा सखायः सख्यानि जानते।' (ऋग्वेद)

× × ×

कुछ दिन पहलेकी बात है, हमारे पड़ोसमें एक मोटर ड्राइवर रहता था। एक दिन सुबह ही मैंने देखा वह अपनी मोटरको साफ़ कर रहा है। मैंने सोचा मोटरमें कुछ ख़राबी आ गयी होगी। दोपहरको जब मैं उधरसे गुज़रा, तब भी सफ़ाई ही हो रही थी।

क्यों साहब, क्या कर रहे हो? 'साफ़ कर रहा हूँ।' शामको फिर वही सफ़ाई। 'आखिर, भाई, कर क्या रहे हो?' 'सफ़ाई।' उत्तर मिला।

लगातार कई दिनोंतक यह सफ़ाई होती रही। जब मैंने देखा कि इसकी तो कहीं समाप्ति नहीं, तब मैं यह कह ही बैठा 'आप मोटरको साफ़ ही करते रहते हैं। कि कभी चलाते भी हैं?'

यदि चलायेंगे तो मोटर खराब हो जायगी, साहब!' 'तो इसकी अच्छाईका कैसे पता चलेगा?'

'मैं तो चलानेके लिये सफ़ाई नहीं करता, सफ़ाई सफ़ाईके लिये करता हूँ।' वे बोले। 'तब तो फिर आपका स्थान भूलोकमें नहीं, या तो देवलोकमें अथवा आगरेमें या बरेलीमें।'

X　　X　　X

साधनाका भी उद्‌देश्य है नर-नारायणके साथ तन्मयताकी तैयारी इसीको 'आत्मदर्शन' कहते हैं।

जबतक कहीं भी पाप, अनाचार, भूख, नंगापन, दरिद्रता, निरक्षरता, अन्याय और विषमता है, तबतक साधककी साधना चलती ही रहती है, वह अपूर्ण ही है। जो नर-नारायणसे प्रेम नहीं करते, उनका अपमान करते हैं, वे साधनासे कोसों दूर हैं। भगवान्‌के शब्द हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। (गीता)

अर्थात् वे मनुष्य मूढ़ हैं, जो मनुष्यके शरीरमें दृष्टिगोचर होनेवाले (नर-नारायण) मेरा अपमान करते हैं। सेवा ही साधनाका मथितार्थ है और भगवत्प्राप्तिका सुपरीक्षित राजमार्ग है। कलिकालमें तो यह भगवत्प्राप्तिका अनुपम साधन है।

आजकी साधना

(लेखक—बाबा राघवदासजी)

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥'

(गीता)

मनुष्यका शरीर और आत्मा—ये दोनों अलग-अलग होते हुए भी जीवन-कालमें एक-दूसरेसे इतने अभिन्न रहते हैं कि इनको दो कहनेमें संकोच होता है। शरीरके स्थूल, सूक्ष्म, कारण या महाकारण—कितने भी भेद किये जायँ, तो भी अजर-अमर आत्मासे उनका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि साधारण मनुष्य अपने चर्म-चक्षुओंसे उनको आत्मासे अलग देखनेमें असमर्थ ही रहता है। आत्माके बारेमें हमारे उपनिषदों और स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने जो कुछ प्रतिपादन किया है, वह संसारके लिये एक अमूल्य देन है। उससे अधिक आत्माके विषयमें कोई क्या कह सकता है? परन्तु शरीरके सम्बन्धमें लोग नित्य नये-नये विचार करते रहते हैं। वर्तमान संसारमें तो शरीरको लेकर नाना प्रकारके विचार हो रहे हैं। आजकल हमलोग जितने 'वाद' या 'इज़्म' की बातें पढ़ते-सुनते हैं, वे सब शरीरके सम्बन्धमें किये गये विचार ही तो हैं। 'शरीर' शब्दसे जिस प्रकार आयुर्वेदशास्त्रकथित शरीरका बोध होता है, उसी प्रकार उससे राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक अथवा साहित्यिक शरीरका भी बोध होता है। चूँकि आजकल इस भौतिक संसारमें सर्वत्र राजनीतिका ही बोलबाला है, इसलिये हम यहाँ राजनैतिक दृष्टिकोणसे ही शरीर तथा साधनाका यत्किञ्चित् विचार करें तो अनुचित न होगा।

राजनीतिमें आजकल शरीरकी रक्षा तथा विनाशके लिये जितना विचार किया जाता है, उतना शायद ही किसी दूसरे शास्त्रमें किया जाता होगा। वर्तमान महायुद्ध इसका एक सुन्दर उदाहरण है। इन दिनों संसारके बड़े-बड़े आला-दिमाग इसी योजनाके अनुसन्धानमें लगे हुए हैं कि कम-से-कम समयमें लाखों आबाल-वृद्ध नर-नारियोंके शरीर किस प्रकार नष्ट किये जा सकते हैं। इसी तरह दूसरी ओर संसारके अच्छे-अच्छे मस्तिष्क छल-कपट और कूटनीतिके द्वारा अरबोंका व्यापार करके अपने-अपने देशके करोड़ों भाई-बहिनोंके शरीरको किस प्रकार पाला-पोसा जा सकता है, इसका उपाय सोचनेमें लगे हैं। इन परस्परविरोधी उद्योगोंमें मानव-शरीरकी विडम्बना भरी है या स्तुति, यही समझमें नहीं आता।

मनुष्य-शरीरकी जो यह दुर्गति या अन्धपूजा हो रही है, उसे देखकर मनमें यह भाव आता है कि यदि इन दोनोंके बीचका कोई रास्ता—मध्यम मार्ग निकल आता तो उससे जगत्‌का वास्तविक कल्याण होता। यहीं 'साधना' का प्रश्न उपस्थित होता है। संसारके सभी संतोंने—चाहे वे हिंदू हों अथवा बौद्ध, सिक्ख हों या ईसाई, पारसी हों या मुसलमान—एक स्वरसे साधनापर जो विशेष जोर दिया है, वह इसलिये नहीं कि वे इन बड़ी-बड़ी बातोंका प्रचार करके अपनेको पुजावें; बल्कि उनका उद्देश्य यह रहा है कि मानव-शरीरकी अवहेलना तथा उपासनाके कारण उसके वास्तविक स्वरूपका जो अपमान होता है, उससे उसकी रक्षा हो।

विचार करके देखा जाय तो मनुष्य-शरीरकी आवश्यकताएँ बहुत थोड़ी दिखायी देंगी। खानेके लिये थोड़ा-सा अन्न, पहननेके लिये कुछ वस्त्र और रहनेके लिये थोड़ा-सा स्थान—यही तो उसकी प्रधान आवश्यकताएँ हैं। मनुष्य चाहे राजा हो या रंक, स्थितिके भेदसे थोड़ा-बहुत अन्तर भले ही हो जाय; परन्तु इन वस्तुओंके परिमाणमें विशेष अन्तर नहीं होता। अत: आजका मानव-समाज यदि इस बातको समझ जाय और तदनुसार आचरण करे तो संसारकी शान्ति सर्वथा स्थायी बनी रह सकती है। परन्तु आजका मनुष्य इस बातको समझे कैसे, जब कि उसके भीतर साधना-शक्तिका अभाव है। हाँ, किसान, मजदूर आदि वर्गके लोग जो रोज परिश्रम कर अपने-अपने ढंगसे मानव-समाजकी सेवामें लगे रहते हैं, वे न केवल अधिक सुखी और सच्चे हैं, पर उन्हींके कारण यह संसार अब भी आकर्षणका केन्द्र बना हुआ है। परन्तु जो लोग शारीरिक परिश्रम न करके केवल अधिकार, धन और चातुर्यके बलपर अपना जीवन-निर्वाह करना चाहते हैं, उन्हींके कारण सारे संसारमें हाहाकार मचा हुआ है।

सच पूछिये तो संसारको इसी प्रतारणासे बचानेके लिये हमारे शास्त्रकारोंने—अन्तर्द्रष्टा ऋषि-महर्षियोंने ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—इन चार आश्रमोंकी सुन्दर व्यवस्था की थी। उनका यथाविधि पालन करनेपर आप-से-आप मनुष्यकी वृत्तियाँ संयमित हो जाती थीं, वह अपने पैरोंपर खड़ा रहता था और फलत: उसके द्वारा संसारमें अशान्तिकी सृष्टि नहीं होती थी। एक ब्रह्मचर्याश्रमको ही लीजिये। उस आश्रममें सुदामा-जैसे दीन-हीन ब्राह्मणको और श्रीकृष्ण-जैसे राजपुत्रको गुरुके यहाँ समान भावसे शारीरिक परिश्रमकी साधना करनी पड़ती थी। इसीलिये उन दोनोंमें राजा-रंकका भेद-भाव मिटकर इतना घनिष्ठ प्रेम हो गया था कि वह अनन्त कालतक संसारके लिये एक आदर्श बन गया। इसी प्रकार जब हम शतरूपा-जैसी महारानी और पार्वती-जैसी राजकन्याको तपकी साधना करते देखते हैं, तब हमें आश्रम-जीवनका महत्त्व सहज ही समझमें आ जाता है। रघु और भर्तृहरि-जैसे राजाओंको जब हम अपना सर्वस्व लुटाकर मिट्टीके बर्तनोंका व्यवहार करते देखते हैं तो हमारे हृदयमें उनके प्रति घृणा नहीं होती, बल्कि महान् आदरका भाव उत्पन्न होता है। क्योंकि उन्होंने शक्तिशाली सम्राट् होते हुए भी स्वावलम्बनका पाठ पढ़ा और उसे अपने जीवनमें उतारा।

इसीलिये आज राजनीतिकी यह गोहार है कि मनुष्य परिश्रमी बने, चाहे वह महान्-से-महान् पदपर आरूढ़ हो या साधारण नागरिक हो। केवल कुल, विद्वत्ता, अधिकार अथवा धनके कारण ही किसीको महान पदका अधिकारी न बनाया जाय; उसमें तपस्या, संयम और स्वावलम्बनकी मात्राका होना भी अत्यावश्यक है। प्राचीन कालमें राजाओंको जो तपस्या करनेकी आवश्यकता बतायी जाती थी, उसका उद्देश्य यही था। आजकल भी परीक्षा लेनेके बाद ही किसी पदपर नियुक्ति होती है; परन्तु उस परीक्षामें केवल बौद्धिक विकासकी ही जाँच होती है—बल्कि अधिकांश स्थलोंमें तो वह भी नहीं होता, क्योंकि यह सिफारिशका युग है। कम-से-कम भारतवर्षमें तो यही बात देखी जाती है। इस बातको लोग प्राय: भूल जाते हैं कि बौद्धिक विकासके साथ-साथ हृदय तथा शरीरका विकास होना भी अत्यावश्यक है। नहीं तो कोई कितना भी बुद्धिमान् क्यों न हो, वह रावण-जैसा राक्षस बन सकता है—यदि उसमें हृदय तथा शरीरका विकास न हो। इसीलिये प्राचीन कालमें पदाधिकारियोंका चुनाव करते समय उनके शरीर तथा हृदयके विकासका विशेष ध्यान रखा जाता था। यही कारण था कि ब्राह्मण तथा बौद्ध भिक्षु संसारके सुख-साधनोंका कम-से-कम उपभोग करते थे। उनका वास्तविक सुख तो उनके साधनासे तपे हुए शरीर और हृदयमें ओत-प्रोत रहता था। फलत: उन्हें बाहरी सुख-सामग्रियोंकी आवश्यकता नहीं पड़ती थी।

आज भी यदि हमें मानव-समाजको वास्तविक सुखका पथिक बनाना है तो उसके पदाधिकारियोंका चुनाव इसी कसौटीपर कसकर करना होगा। यह हमारा सौभाग्य है कि हमारे देशके ही नहीं, अपितु संसारके सर्वश्रेष्ठ महापुरुष विश्ववन्द्य महात्मा गाँधी इसीलिये वर्तमान राजनीतिमें परिवर्तन करना चाहते हैं। वे जो बार-बार सत्य, अहिंसा और चरखेका आश्रय लेनेके लिये उपदेश देते हैं, उसका तात्पर्य यही है। उनकी जोरदार माँग यही है कि मनुष्यके बौद्धिक विकासके साथ-साथ उसके शरीर और हृदयका भी विकास हो। आजके विपरीत वातावरणमें महात्मा गाँधीके इस पवित्र सङ्कल्पकी सिद्धि चाहे जल्दी न हो; परन्तु वह दिन दूर नहीं, जब संसारका मानव-समाज आजकलकी संहारकारिणी कूट-राजनीतिसे त्राण माँगकर उनके सिद्धान्तोंकी शरणमें जायगा।

हम तो अत्यन्त नम्रता और भावुकताके साथ भगवान्‌के चरणकमलोंमें यही प्रार्थना करते हैं कि वे कृपापूर्वक जल्दी-से-जल्दी वह दिन हमें दिखायें। अब मानव-समाज वर्तमान राजनीतिके राक्षसी कारनामोंसे विकल हो उठा है। उसकी आँखोंके सामने घोर अन्धकार छा गया है। क्या दयामय भगवान् संसारके करोड़ों व्यथितहृदय नर-नारियोंकी इस करुण पुकारको सुनेंगे?

लक्ष्मी-साधन

(लेखक—पं० श्रीदयाशङ्करजी दुबे, एम्० ए०, एल्-एल्०बी०)

संसारके प्राय: सभी लोग लक्ष्मीकी साधनामें लगे हुए हैं। जो गरीब हैं, जिनके ऊपर श्रीलक्ष्मीजीकी कृपा नहीं है, वे तो दिन-रात परिश्रम करके चार पैसा कमानेका प्रयत्न करते ही हैं; परन्तु धनवान् लोग भी, जो श्रीलक्ष्मीजीके विशेषरूपसे कृपापात्र हैं, और अधिक धनवान् होनेका प्रयत्न करते हैं। ऐसे संत-महात्मा भी, जिन्होंने परमार्थके लिये सांसारिक वस्तुओंको त्याग दिया है, लक्ष्मीजीकी आराधना करते हुए प्राय: देखे जाते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि लक्ष्मी अर्थात् धनसे आवश्यक वस्तुएँ आसानीसे प्राप्त हो जाती हैं। वस्तुओंके उपभोगसे सुखकी प्राप्ति होती है। सुखकी प्राप्तिके लिये प्रत्येक व्यक्तिका प्रयत्न करना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि लक्ष्मी सांसारिक सुखप्राप्तिका एक साधन है। परन्तु कुछ व्यक्ति लक्ष्मीको सुखप्राप्तिका साधन न मानकर, उसको प्राप्त करना ही अपना ध्येय बना लेते हैं। उनको दिन-रात अधिक धन प्राप्त करनेकी ही चिन्ता बनी रहती है चाहे वह धन किसी भी प्रकारसे—जायज़ तरीकेसे या नाजायज़ तरीकेसे, बेईमानीसे या ईमानदारीसे प्राप्त हो। ऐसे व्यक्ति अपने कार्योंद्वारा देश और समाजको तो हानि पहुँचाते ही हैं, अपने-आपको भी नुकसान पहुँचाते हैं। उनको धन तो प्राप्त हो जाता है, परन्तु सुख और शान्ति नहीं मिल पाती। लक्ष्मी-साधनका तरीका त्रुटिपूर्ण होनेके कारण श्रीलक्ष्मीजी उनकी दासी न बनकर उनको अपना वाहन बना लेती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि आँखें होते हुए भी इनको दिनमें नहीं दिखायी देता और ये अपना खर्च बिना सोचे-समझे करने लगते हैं।

इस लेखमें हम एक ऐसे तरीकेपर विचार करते हैं, जिसके अनुसार लक्ष्मी प्राप्त करनेसे व्यक्तिगत सुख और शान्ति मिलती है और साथ-ही-साथ देश और समाजको भी लाभ पहुँचता है—स्वार्थ-साधनके साथ-ही-साथ परमार्थ-साधन भी होता जाता है।

यह तरीका बहुत सरल है। सम्भव है 'कल्याण' के अधिकांश पाठक उसे पहलेसे ही जानते हों; परन्तु मुझे विश्वास है कि ऐसे व्यक्तियोंकी संख्या बहुत अधिक है, जो उसके अनुसार कार्य नहीं करते। वह तरीका यह है कि प्रत्येक व्यक्तिको लक्ष्मी या धन प्राप्त करते समय कभी भूलसे भी ऐसे किसी साधनका उपयोग न करना चाहिये, जो धर्मके विरुद्ध हो। अधर्मसे प्राप्त किया हुआ धन सुख नहीं दे सकता। अधर्म, बेईमानी, रिश्वतसे प्राप्त किया हुआ धन प्राय: विलासितामें या मादक वस्तुओंके सेवनमें नष्ट होता है। विलासिताकी वस्तुओंके उपयोगसे कुछ क्षणिक सुख तो मिलता है, परन्तु उनसे आवश्यकताओंकी वृद्धि तीव्र गतिसे होती है और उनको पूरा न कर सकनेके कारण ऐसे व्यक्तियोंमें अशान्तिकी वृद्धि होने लगती है। मादक वस्तुओंके सेवनसे तो स्वास्थ्य ही चौपट हो जाता है और धनवान् होनेपर भी अन्तमें ऐसे व्यक्ति सुख और शान्तिके लिये तरसते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं।

उपर्युक्त तरीकेमें 'धर्म' शब्दका उपयोग सङ्कुचित अर्थमें नहीं किया गया है। जिस कार्यसे व्यक्तिगत लाभके साथ-ही-साथ देश और समाजका कल्याण हो, वह कार्य धर्मके अनुसार समझना चाहिये। संसारके अधिकांश व्यक्ति धन प्राप्त करनेकी चिन्तामें इस बातको बिलकुल भूल जाते हैं कि उनके कार्योंसे दूसरोंको, समाजको या देशको क्या हानि-लाभ हो रहा है। जब एक दूकानदार घी या किसी खाद्य पदार्थमें अशुद्ध चीज मिलाकर बेचता है, तब वह इस बातका विचार नहीं करता कि उस खाद्य पदार्थके उपयोगसे खरीदारोंके स्वास्थ्यपर क्या असर पड़ेगा। वह अपने नफ़ा कमानेकी धुनमें यह भी विचार नहीं करता कि उसका यह कार्य धर्मके अनुसार उचित नहीं है। अधिकांश दूकानदार तो यह समझते हैं कि व्यापार-व्यवसायमें धर्मका कोई स्थान ही नहीं है। यह उनकी

भारी भूल है। धनके लिये हाय-हाय करते ऐसे व्यक्तियोंका सारा जीवन नष्ट हो जाता है और वे कभी सुख और शान्तिका अनुभव नहीं कर पाते। जब एक महाजन किसी गरीब व्यक्तिसे अत्यधिक सूद लेकर उसका खून चूसता है या एक जमींदार अपने किसी किसानसे अत्यधिक लगान वसूलकर उसे बरबाद करता है या एक पूँजीपति गरीब मजदूरको कठिन परिश्रम करनेपर भी इतनी मजदूरी नहीं देता, जिससे उसको रूखा-सूखा भरपेट भोजन मिल सके तो ये सब कार्य देश और समाजको बहुत हानि पहुँचाते हैं। मेरी समझमें इस प्रकारके सब कार्य धर्मके विरुद्ध हैं। राज्यकी तरफ़से ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये, जिससे इस प्रकारके कार्य करनेवालोंको उचित दण्ड दिया जाया करे। हमारे दुर्भाग्यसे भारतमें इस समय ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है। अधिकांश व्यक्ति धर्मकी परवा ही नहीं करते। हमलोग हिंदूधर्मके इस सिद्धान्तको भूल गये हैं कि जिस कार्यमें धर्म और अर्थका विरोध हो अर्थात् जिस कार्यके करनेमें धन तो प्राप्त होता हो, परन्तु वह धर्मके अनुसार न हो, जिस कार्यसे व्यक्तिगत लाभ तो होता हो परन्तु देश या समाजकी हानि होती हो तो उसे कदापि न करना चाहिये। यदि इस सुन्दर नियमका सब व्यक्ति पालन करने लगें तो संसारके सब आर्थिक झगड़े मिट जायँ और सर्वत्र सुख और शान्तिका अटल साम्राज्य स्थापित हो जाय।

'कल्याण' के पाठकोंसे मैं नम्रतापूर्वक निवेदन करता हूँ कि वे जिन तरीकोंसे धन प्राप्त कर रहे हों, उनमेंसे प्रत्येक की वे अच्छी तरहसे जाँच करें। वे गम्भीरतापूर्वक यह विचार करें कि जिस तरीकेसे वे धन प्राप्त कर रहे हैं उसका असर दूसरोंपर, समाजपर या देशपर कैसा पड़ रहा है। यदि दूसरोंपर उसका बुरा असर पड़ता है, यदि दूसरोंको आपके कार्यसे दु:ख होता है तो आप अपने ही सुख और शान्तिके लिये उस तरीकेको तुरंत छोड़ देनेकी कृपा कीजिये। दूसरोंको दु:खी करके आप कभी सुखी नहीं हो सकते और न शान्तिका अनुभव कर सकते हैं। सच्चा सुख तो दूसरोंको सुखी करनेमें ही है। आप ऐसे तरीकोंसे धन कमानेका प्रयत्न कीजिये जिनसे आपको लाभ हो, दूसरोंको लाभ हो, समाजको लाभ हो और देशको भी लाभ हो। यह सम्भव है कि इस प्रकारके कार्यसे आपकी आमदनी पहलेकी अपेक्षा कम हो जाय; परन्तु यह निश्चित है कि आपको वह सुख और शान्ति मिलेगी, जिसका अनुभव आपको पहले कभी न हुआ होगा। लक्ष्मी-साधनका सबसे उत्तम यही एक तरीका है, जिसके द्वारा स्वार्थ और परमार्थ दोनों सिद्ध होते हैं। श्रीलक्ष्मीजी ऐसे व्यक्तियोंकी दासी बनकर उनको सुख और शान्ति प्रदान करती हैं, उनको अपना वाहन नहीं बनातीं।

साधक और स्थिरता

(लेखक—श्रीभगवानदासजी केला)

मैं खूब मजेसे जिंदगी बिता रहा था, नौकरीसे अच्छी आमदनी थी, दस आदमियोंपर हुकूमत थी, सब जगह मान-प्रतिष्ठा थी। पर स्वराज्यप्राप्तिके लिये मैंने सब कुछ छोड़ दिया। मिलनेवालों तथा रिश्तेदारोंको नाराज़ करके भी अपने सुखका त्याग किया। नौकरीसे इस्तीफा दिया, निर्धनताका जीवन बिताया, बाल-बच्चोंका कष्ट देखा, मोटा-मोटा खद्दर धारण किया और गाँव-गाँवमें प्रचारार्थ घूमता फिरा। पीछे छ: मास कृष्ण-मन्दिर (जेल)-में भी व्यतीत किये। मैंने त्याग और कष्ट-सहनमें कुछ भी कमी न की; अच्छे-अच्छोंसे आगे रहा। पर मैं यह कबतक करता। महात्माजी (गाँधीजी)-ने तो सालभरमें स्वराज्य दिलानेकी बात कही थी। मैंने पूरे पंद्रह महीने स्वराज्यकी साधना की। पर जब इतनेपर भी स्वराज्य नहीं मिल रहा है, तो मैं क्या करूँ! कोई जन्मभर तपस्वीका-सा जीवन बितानेकी प्रतिज्ञा मैंने थोड़े ही कर रखी है। अब स्वराज्य मिले या न मिले, मुझे अपना काम-धंधा सँभालना है। पहलेकी नौकरी मिलना कठिन अवश्य है, पर मुझे तो नौकरी करनी ही है। अब ऐसी नौकरीकी खोजमें हूँ कि पहलेसे भी अधिक आमदनी हो। मेरे पास दो पैसे होंगे तो सब मेरा आदर-मान करेंगे; घरवाले भी खुश रहेंगे, और बाहरवाले भी। अगर सालभरमें स्वराज्य मिल गया होता तो मैंने भी पाँच सवारोंमें अपना नाम स्थापित करानेका पूरा प्रयत्न कर दिखाया था, पर वह बात नहीं हुई तो मैं स्वराज्य-साधनाके लिये कबतक घुल-घुलकर मरूँ?

× × ×

मुझे उस संस्थाका कार्य करते तीन वर्ष हो गये।

यों कहनेको तो मैं उसका मन्त्री हूँ; पर कार्यरूपमें मैं उसका पीर, बाबर्ची, भिस्ती, खर—सभी कुछ हूँ। जगह-जगह जाकर उसके सदस्य बनाना, समय-समयपर बाहरके नेताओंको आमन्त्रित कर उनके व्याख्यान दिलानेकी व्यवस्था करना, धनी-मानी लोगोंकी सेवामें उपस्थित होकर उनसे दलके लिये सहायता या चंदा देनेकी याचना करना—सभी कुछ मुझे करना पड़ता है। इस लोक-साधनामें मेरा घरका काम चौपट हुआ जाता है। तीन वर्षका समय कुछ कम नहीं होता। अब अधिक समय सहन नहीं किया जा सकता। मैंने कोई आजन्म लोक-सेवाका ठेका थोड़ा ही ले रखा है। जितनी कठिनाइयाँ मेरे सामने उपस्थित हैं, उनसे कोई भी व्यक्ति हताश हो सकता है। मैंने तो फिर भी इस तरह धीरे-धीरे करके तीन वर्ष बिता दिये—अब और अधिक समय लोक-साधना करना मुझसे नहीं हो सकता। बस, अब मेरा इस्तीफा दाखिल है।

साहित्य-सेवा करते-करते मेरे बाल पक आये, दाँत गिरने लगे, माथेमें झुर्रियाँ पड़ने लगीं, शरीर सूखकर काँटा हुआ जा रहा है। किन्तु उससे मुझे मिला क्या? मैंने अपनी गृहस्थीका खर्च बहुत कम कर रखा था, मोटा रहन-सहन था, थोड़ेमें ही काम चला लेता था; पर वह भी नसीब न हुआ। घरमें आटा है तो दाल नहीं, शाक है तो मसाला नहीं। तीज-त्योहारपर भी बच्चोंको नया कपड़ा मिलना दुश्वार रहा। कभी किसीसे दो पैसे उधार लेकर काम चलाया, कभी किसीसे। ऐसी साहित्य-साधना किस कामकी? हर रोज बड़ी उत्सुकतासे डाककी बाट देखा करता हूँ। दो-चार अखबार आ जाते हैं, कुछ सम्पादकोंके पत्र आ जाते हैं; वे अपने पत्र-पत्रिकाके लिये लेखका तकाजा करनेके वास्ते मेरे पिछले लेखकी तारीफमें कुछ पङ्क्तियाँ लिख देते हैं। मैं इस तारीफको क्या चाटूँ? उनसे यह नहीं होता कि मेरे लेखोंके पारिश्रमिक या पुरस्कारका मनीआर्डर भेज दें, जिससे मेरे घर-गृहस्थीका खर्च चले। सुना है, कुछ मित्रगण मुझसे सहानुभूति रखते हैं, और वे मेरे आँसू पोंछनेके लिये अगले वर्ष मुझे साहित्य-सभाका सभापति बनानेका आन्दोलन करनेवाले हैं। माना कि और कुछ न होनेसे यही गनीमत है। परन्तु विचारणीय विषय तो यह है कि ऐसी साहित्य-साधना कबतक की जाय, जिसके करते हुए सदैव लोन-तेल-लकड़ीकी फिक्र बनी रहे?

कुछ इस प्रकारके भाव होते हैं, जो अधिकांश साधकोंके मनमें थोड़े-बहुत समय बाद उठने लगते हैं। हम अपने इष्टकी साधनाके लिये नाना प्रकारके कष्ट उठानेका सङ्कल्प करते हैं और उन कष्टोंको आरम्भमें सहर्ष उठाते भी हैं। कुछ समयतक हमारा उत्साह खूब रहता है; किन्तु पीछे ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता है, हमारा जोश ठंडा होने लगता है। हम अपनी साधनाको स्वयं असफल कर देते हैं। अनेक बार तो ऐसा भी होता है कि जिस इष्टके साधनके लिये हमने जीवनभर तप किया, उसके प्रति भी अपनी जीवनसन्ध्या निकट आनेपर उदासीन हो बैठते हैं। अतः साधकके अन्यान्य गुणोंमें स्थिरता, गम्भीरता और दृढ़ताकी अत्यन्त आवश्यकता है। हमारी साधनामें कोई शर्त नहीं होनी चाहिये—यदि ऐसी बात होगी तो मैं इस अनुष्ठानमें लगा रहूँगा, यह विचार ठीक नहीं। हमें लोक-सेवा, राष्ट्र-सेवा आदि जो भी हमारा साध्य है, उसके प्रति स्थायी भावना रखनी चाहिये। दूसरे व्यक्ति हमारा साथ दें तो अच्छा है; न दें तो भी हमें तो अपनी यात्राको तय करना ही है। सच्चे साधकको कोई अवधि नियत नहीं करनी चाहिये कि एक वर्ष या दो वर्ष साधना की जायगी। धन्य हैं वे व्यक्ति, जो जीवनपर्यन्त किसी सुन्दर लोकोपयोगी साधनामें लगे रहकर अपना जीवन सफल कर जाते हैं!

सन्तोष ही परम धन है!

अन्तो नास्ति पिपासायास्तुष्टिस्तु परमं सुखम्। तस्मात् सन्तोषमेवेह धनं पश्यन्ति पण्डिताः॥

पिपासा (तृष्णा)-का अन्त नहीं है और सन्तोष परम सुखस्वरूप है, इसलिये इस संसारमें पण्डित सन्तोषको ही परमधन मानते हैं। (महा० शान्ति० ३३०।२१)

श्रीअरविन्दकी योगसाधनपद्धति और मानव-संस्कृतिका समन्वय

(लेखक—श्रीअम्बालाल पुराणी)

चार्ल्स डार्विन एक जगह कहता है कि फ्रेंच क्रान्तिके युगको उसके समकालीन विवेचक साक्षात् सत्ययुग, सुवर्णयुग या घोर कलियुग—ऐसे परस्पर विरोधी विशेषणोंसे विभूषित किया करते थे। शायद दोनों प्रकारके विवेचक ठीक ही कहते होंगे; क्योंकि जमाना स्वयं तो अच्छा-बुरा होता नहीं, उसमें रहनेवाले लोग जिस प्रकारके हों उन्हें जमाना भी उसी तरहका लगता है। फ्रेंच क्रान्तिके समय जहाँ स्वाधीनता, समानता और भ्रातृत्वके सुनहले स्वप्न देखनेवाले रहते थे वहीं इन सबको नरक-समान माननेवाले भी मौजूद थे। आदर्शों, मीमांसाओं और दृष्टिबिन्दुओंका परस्पर सङ्घर्ष ऐसे जमानोंका एक लक्षण ही हो जाता है। गत महायुद्धकी समाप्ति तो हो गयी, पर पूर्णाहुति नहीं; मानवजातिमें अभूतपूर्व उत्कण्ठा और गहरे मन्थनने जन्म लिया। आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय प्रश्नोंकी मौलिक विचारणा शुरू हुई और उन्हें भलीभाँति उलट-फेरकर आज उनकी परीक्षा की जा रही है। जीवनके लगभग सभी प्रश्नोंको एक नये सिरेसे जाँचा जा रहा है और परिणामस्वरूप कई बातें पूरे जोरके साथ अनुभव होने लगी हैं। मानवसमाजका एक बहुत बड़ा हिस्सा यह मानने लगा है कि मानवसमाजकी पुनर्घटनाका कार्य किसी नवीनतर दृष्टिसे करना आवश्यक हो गया है। बहुत-से मानने लगे हैं कि न सिर्फ इतना ही कि प्रचलित समाजव्यवस्था और आर्थिक रचनामें नयी-नयी कठिनाइयाँ पैदा होती जायँगी अपितु वही-की-वही पुरानी मुश्किलें भी बारंबार आती रहेंगी, अतः मानवके लिये सामाजिक विधानको जड़-मूलसे ही बदलनेकी जरूरत है। बहुतेरे ऐसे भी हैं जो आर्थिक प्रश्नोंको ही राष्ट्रीय, अन्तरराष्ट्रीय, ऐतिहासिक और धार्मिक प्रश्नों और गुत्थियोंका मूल मानते हैं। भौतिक शास्त्रोंकी नित-नयी खोजोंने दुनियाको बहुत छोटा कर दिया है और उसके आर्थिक व्यवहारकी अन्तरराष्ट्रीय पुनर्घटनाको आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य बना दिया है। दूसरी ओर प्रजासत्तात्मक राज्यपद्धतिकी उत्तमता भी अब सर्वमान्य नहीं रही। बहुत-से देशोंने अपने राज्यकी बागडोर एकमात्र सत्ताधारी डिक्टेटरोंके हाथमें सौंप दी है और यह भी नहीं कहा जा सकता कि इससे उन्हें कोई लाभ ही नहीं पहुँचा। इस महायुद्धने ऐसे विकट संयोग पैदा कर दिये हैं कि मानवजातिके एक बड़े भागका ध्यान उसकी ओर खिंचे बिना नहीं रह सकता।

हिन्दुस्तानमें तो अंग्रेजी शिक्षाके प्रारम्भसे लेकर भारत-भरमें राष्ट्रीय अस्मिता पैदा हो जानेतक—और उसके पीछे भी—भारतीय मानसमें पाश्चात्त्य और पौरस्त्य संस्कृतिके तत्त्वोंके बीच गज-ग्राहका-सा युद्ध चलता ही रहा है। इस शिक्षाद्वारा पले हुए तथाकथित शिक्षित लोग और सुधारक तो अपने नास्तिकपने और धर्मविरुद्ध व्यवहारका डंका बजानेमें ही गौरवका अनुभव करते थे। आखिर भारतकी अन्तरात्माने इसके खिलाफ विद्रोह किया और श्रीरामकृष्ण परमहंस, दयानन्द, विवेकानन्द, रामतीर्थ आदि अनेक महापुरुषोंके द्वारा भारतीय संस्कृतिके संशोधन और उसकी पुनः प्रतिष्ठा करनेके प्रयत्न किये। इन प्रयत्नोंने आर्य-संस्कृतिके बहुत-से तत्त्वोंको पुनरुज्जीवित किया और बहुतोंमें आवश्यक हेर-फेर किये और इस प्रकार एक बड़े अंशमें उसके बहुत-से तत्त्व भारतमें आत्मसात् हो गये। राजनैतिक क्षेत्रमें और भौतिक शास्त्रोंके प्रयोगात्मक क्षेत्रमें भी भारतवर्षने महात्मा गाँधी, तिलक, नेहरू, सी० वी० रामन्, प्रफुल्लचन्द्र राय, मेघनाद साहा आदिको जन्म दिया। जीवनके बहुत-से क्षेत्रोंमें नये प्राणका सञ्चार हो उठा और सब जगह कुछ-न-कुछ जिंदगी पैदा हो गयी। अभी यह मन्थन पूरा न हो पाया था कि हिंदमें राष्ट्रीय जागृतिकी लहर पैदा करनेवाली पश्चिमी संस्कृतिने १९१४ में जबर्दस्त पछाड़ खायी। पर हाँ, इस पछाड़में भी प्राणकी विपुलता थी, दारिद्र्य न था, सामर्थ्यका अतिरेक था, महत्त्वाकाङ्क्षाओंकी टक्कर थी। जडतत्त्वपर मानव बुद्धिकी विजयका डंका था और साथ-ही-साथ मानवताकी शर्म और संस्कृतिके दिवालियेपनका भय था।

आज हमें फिरसे सिंहावलोकन करनेकी जरूरत है। आज फिरसे पश्चिममें प्रचलित विचारधाराओं और सामाजिक मीमांसाओंका अन्धानुकरण करनेकी हवा चल उठी है। लेकिन हमलोगोंकी चौंधियायी हुई आँखोंमें आज सच्ची वस्तुस्थिति देखनेकी शक्ति आ गयी है;

इसलिये सम्भव है कि पश्चिमका अन्धानुकरण करनेकी वृत्ति, पश्चिमद्वारा अपनी समस्याओंके निकाले हुए हलको जिस-तिस प्रकारसे यहाँ आजमानेकी वृत्तिको छोड़नेमें हमें कुछ कम परिश्रम करना पड़े। सौभाग्यवश भारतीय समाजवादी भी वस्तुस्थितिको देखकर इस परिणामपर पहुँचे हैं कि अन्ततोगत्वा भारतवर्ष यदि समाजवादको ही अपनाये तो भी उसकी रीति-नीति और रंग-ढंग समाजवादके प्रचलित रूपोंसे काफी भिन्न और किन्हीं अंशोंमें तो एकदम जुदा होंगे। मेरे कहनेका आशय यह नहीं है कि जगत्पर सब प्रकारका आधिपत्य करनेवाली, ज्ञानके बहुत-से क्षेत्रोंमें मानवजातिका नेतृत्व करनेवाली पश्चिमी संस्कृतिने मानवविकासमें कोई उपयोगी या कीमती काम नहीं किया। इसने मानवको अपने जीवनकी महिमा दिखा दी है, जीवनको समृद्ध करनेकी आवश्यकता बतायी है और शक्तिकी उपासना करके मानवके लिये अमूल्य सिद्धियाँ प्राप्त की हैं। उसने मानव-जातिकी व्यवस्था, संगठन, स्वतन्त्रता और अनुशासनके पाठ पढ़ाये हैं और इनके द्वारा मानवजीवनको समृद्ध किया है। फिर भी यह बात तो बिलकुल स्पष्ट हो गयी है कि मानवसंस्कृतिके पुनर्निर्माणका कार्य चाहे किन्हीं सिद्धान्तोंके आधारपर क्यों न शुरू किया जाय फिर भी प्रेयस्-कामना और अहंताकी नींवपर खड़ी पश्चिमी संस्कृतिके हाथोंमें—जबतक कि उसके अंदर मौलिक परिवर्तन न हो जायँ—मानव-संस्कृति सुरक्षित नहीं है। सम्भव है कि इन मौलिक परिवर्तनोंके लिये जो उपयोगी तत्त्व आवश्यक हैं, उन्हें भारतीय संस्कृति ही जुटा सके। अब समय आ गया है कि मौलिक प्रश्नोंको हल करनेमें भारतवर्ष सक्रिय भाग ले। प्रजाके रूपमें भारतवर्षको अपना हिस्सा अदा करना है—यह बात जितनी जल्दी लोगोंकी समझमें आ सके उतना ही अच्छा है। राजनैतिक क्षेत्रमें धीरे-धीरे भारतकी शक्ति अपना असर जमाती जा रही है। पर यह प्रश्न केवल राष्ट्रीय तो है नहीं, यह तो अन्तरराष्ट्रीयतासे भी परे समस्त मानवजातिका प्रश्न है। सारी मानव-संस्कृतिके पुनर्निर्माणका यह प्रश्न आदर्श पूर्णताके प्रश्नके साथ अविभाज्य रीतिसे जुड़ा हुआ है, अत: हमें इस बातपर भी विचार करना चाहिये कि व्यक्ति और समाजकी आदर्श-पूर्णता क्या है?

आजकी वर्तमान स्थितिमें समूह या समाज व्यक्तिपर शासन करने और उसका पथप्रदर्शन करनेका दावा करते हैं। आज बहुत-से देशोंमें व्यक्तिसे यह माँग की जाती है कि वह समाज अथवा राज्यके पूरी तरहसे अधीन होकर रहे, उसीके लिये जिये और उसीके लिये मरे; इसीमें उसके जीवनकी उपयोगिता और सार्थकता है। कहा जाता है कि व्यक्ति राज्य और समाजके कारण ही जीवित रह सकता है, उसीकी सहायतासे वह संस्कृत बनता है और सहीसलामत रह पाता है; अत: उसका कर्तव्य है कि अपनी जान जोखिममें डालकर भी प्रत्येक नागरिक राज्य और राज्य करनेवाले पक्षको टिकाये रखनेकी कोशिश करे। समाजवादके हिमायती तो प्रत्येक व्यक्तिको सामाजिक जीवनरूपी छत्तेकी एक मधुमक्खीकी नाईं मानते हैं। उनका कहना है कि मनुष्य तो क्षणजीवी और नाशवान् है, केवल समूह चिरजीवी हो सकता है; मानवकी अमरता सङ्घकी अमरताके रूपमें ही सम्भव है, अत: समाजका जीवन व्यक्तिके जीवनकी अपेक्षा कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक व्यक्तिको अपना हित और स्वार्थ समाजके हित और स्वार्थकी दृष्टिसे ही देखना चाहिये और उसीके अनुसार आचरण करना चाहिये। इसी प्रकार चारों ओरसे व्यक्तिस्वातन्त्र्यको दबाया जा रहा है। सङ्घ, समाज, समूह, राज्य और सबसे बढ़कर मानवजाति आदि समष्टिके स्वरूप व्यक्तिकी स्वतन्त्रताको कुचलनेमें लगे हैं। पर देखना यह है कि क्या इन सब बातोंके होते हुए भी समष्टिने किसी रूपमें भी पूर्णता प्राप्त की है? यदि व्यक्तिमें काम करनेवाली अहंता, कामना आदि उसकी अपूर्णता और अज्ञानकी निशानियाँ हैं तो क्या प्रजानन या समाजकी अस्मिता कुछ कम अपूर्ण या अज्ञानमूलक है? बल्कि यहाँ तो यह सम्भावना कहीं ज्यादा है कि व्यक्तिकी स्वार्थवृत्ति, उसकी कामनाओं और उसके अज्ञानकी अपेक्षा समष्टिकी कामनाओं, स्वार्थवृत्तियों और अज्ञानके परिणाम बहुत अधिक भयङ्कर निकलें; इतिहास पुकार-पुकारकर इसकी साक्षी दे रहा है।

बहुत-से यूरोपीय तथा कुछ भारतीय विचारकोंने भी यह युक्ति पेश की है कि मानवका सनातन स्वरूप मानव-जाति ही है; क्योंकि संस्कार, प्रगति आदिका स्थायी लाभ उसीको मिलता है। इस आधारपर उन्होंने अन्तिम आध्यात्मिक वास्तविकताके रूपमें 'विश्वमानव' या 'सनातन मानव'-जैसी किसी सत्ताको स्वीकार किया है; पर शायद यह एक आंशिक सत्य ही है। यह स्वीकार करनेमें तो कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि मानवजाति परम सत्य, पूर्णपुरुषोत्तम भगवान्के आविर्भावका एक प्रकार है; पर यह नहीं माना जा सकता कि वह उस परम सत्यका समग्रस्वरूप है या वह अन्तिम और पूर्ण है। मानवजातिको यदि समग्र व्यक्तिके स्वरूपमें लिया

जाय, तो भी वह प्रभुकी दिव्यताको स्वल्पांशमें भी प्रकट करनेमें असमर्थ है। और इसीलिये जबतक मानवजातिकी सेवा करनेवाला व्यक्ति उसके अंदर अप्रकट शक्यताके रूपमें बसे हुए भगवान्‌को अपनी सेवा अर्पित नहीं करता, तबतक उसे सन्तोष हो सकनेकी सम्भावना नहीं है—

येन केन प्रकारेण यस्य कस्यापि देहिनः।
सन्तोषं जनयेद्राम तदेवेश्वरपूजनम्॥

यह नहीं कहा जा सकता कि समष्टिमें विलीन हो जाना ही व्यक्तित्वका अन्तिम रहस्य है अथवा यही उसकी चरम सिद्धि है। व्यक्तिका मूल और उसका अन्तिम रहस्य तो समष्टिसे परे किसी परात्पर सत्तामें है। हम देखते भी हैं कि समस्त समूहके दबाव, दुराग्रह, सामर्थ्य, धमकी और दमनके होते हुए भी, इन सबका मुकाबिला करते हुए भी व्यक्ति अपना 'अपनापन' कायम रखता है और यह इस बातका सूचक है कि समूह, समाज आदि समष्टिके स्वरूपोंसे भी परे कोई ऐसी सत्ता है, समष्टि और व्यक्ति दोनों ही जिसके आविर्भावके स्वरूप हैं।

लेकिन परात्परके अखण्ड पूर्णरूपमेंसे अपूर्ण खण्ड व्यक्तिकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है और क्या पूर्णस्वरूप पुरुषोत्तममें अपूर्ण विश्वकी सृष्टि सम्भव भी है—ये हैं वे प्रश्न जो बड़े-बड़े मीमांसकोंको आदिकालसे तंग करते आये हैं; पर यहाँपर इन प्रश्नोंपर विचार करना हमारा उद्देश्य नहीं है फिर भी यह तो कहा जा सकता है कि सकल विश्वमें हमें एक-सी अविद्या और एक-सा अज्ञान नहीं दिखायी देता, अविद्याकी चढ़ती-उतरती श्रेणियाँ स्पष्ट दिखायी देती हैं। इससे तो यही लगता है कि परात्परने विराट्‌में कोई ऐसी व्यवस्था अवश्य कर रखी है, जिससे अविद्यामेंसे विद्याकी ओर गति की जा सके। जीवनके आदि स्वरूपोंसे विकसित होती हुई चेतना जब मानवरूपमें प्रकट होती है, तो उसकी अपूर्ण अभिव्यक्तिमें भी क्रमशः पूर्णताके आविर्भाव होनेकी शक्यता बढ़ती जाती है। चेतना जडता—अचेतनाकी ओरसे क्रमशः ऊर्ध्व गति करती हुई पग-पगपर चेतनारूपी कमलकी पंखड़ियोंको खिलाती जाती है और ऊर्ध्व पद्मकी ओर विकास पाती हुई आगे बढ़ी जाती है। मनुष्यमें या मानवरूपमें प्रकट होनेसे पहले चेतना मानव-चेतनाकी अपेक्षा कम विकसित थी। मानवमें प्रकट होनेसे पहले चेतना पाशव थी और उससे भी पहले वह जडतामें समायी हुई लगभग अचेतन थी; परन्तु जड मालूम होनेवाले तत्त्वमें भी प्राण अप्रकटरूपमें विद्यमान रहता है और उसीमेंसे व्यक्त होता है और इसी तरह मनस्तत्त्व प्राणमें अप्रकट रहते हुए उसीमेंसे आविर्भूत होता है। इसे देखते हुए उत्क्रान्तिकी दृष्टिसे यह आवश्यक लगता है कि मनस्तत्त्वमेंसे भी उसमें अप्रकटरूपमें बसी हुई मानसातीत विज्ञानमय चेतना प्रकट हो। चेतना मानवतामें बँधे रहनेके लिये बाधित नहीं है, इसके स्वाभाविक विकासमें ही मानवतासे परे उठनेकी बात निहित है।

यदि इस प्रकार मानवतासे ऊर्ध्वारोहण करनेकी शक्यताको स्वीकार न किया जाय तो इसका मतलब होगा कि मानव शाश्वतकालतक अपूर्ण रहनेके लिये बाधित है। तब तो युग-युगान्तरसे पूर्णता और दिव्यताके जो स्वप्न देखे जा रहे हैं, वे शेखचिल्लीके मनसूबेमात्र रह जायँगे। मनोमय चेतनाकी शक्तिद्वारा जितना विकास साधा जा सकता है, उसे आज मानव पूरा कर चुका है। अतः अब उसके आगे कोल्हूके बैलकी तरह गोल-गोल चक्कर लगानेके सिवा और कोई चारा नहीं रह जायगा। वह अपनी प्राप्तिकी पुनरावृत्ति या बृहदावृत्ति ही करते रहनेके लिये विवश रहेगा और उसकी पहेलियाँ, उसकी गुत्थियाँ और उसकी समस्याएँ जैसी-की-तैसी बिना सुलझी पड़ी रहेंगी और बार-बार आती रहेंगी।

यहाँपर यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि उच्च करणकी अभिव्यक्तिका अर्थ निम्न करणका त्याग नहीं है। प्राण प्रकट होता है तो पदार्थतत्त्व-अन्न—लुप्त नहीं हो जाता, अपितु प्राण उसका संयमन करता है और उसका उपयोग करके उसकी सार्थकता साधता है; मनके जाग्रत् होनेपर प्राण विलीन नहीं हो जाता, बल्कि उसकी शक्तिमें वृद्धि ही होती है। इसी प्रकार मनसे ऊपरका तत्त्व जब प्रकट होगा तो वह मन, प्राण और शरीरका संयमन करेगा और उन्हें ज्ञानपूर्वक सञ्चालित करेगा। अभी तो इनमें आपसमें विसंवाद है, क्योंकि मन और उससे नीचेकी चेतनाके तत्त्व अविद्या-प्रकृतिके अज्ञानभरे कार्योंके वश हैं।

यह मानसातीत करण एकदम अपरिचित चीज भी नहीं है। अभी प्राणमेंसे मनका विकास शुरू नहीं हो पाया होता कि कहीं-कहीं मानसिक शक्तियों—प्रारम्भिक मानसिक शक्तियोंका विकास दीखने लगता है, मानो वह भविष्यमें होनेवाले विकासकी सूचना देने आया हो! इसी तरह मनोमय चेतनामें भी हजारों वर्षोंसे इस मानसातीत चेतनाका कुछ-न-कुछ परिचय मिलता आया है। पर हाँ, अभीतक उसका कार्य अनियमित, थोड़ा-थोड़ा और मानवसे स्वतन्त्ररूपमें ही दिखायी दिया है। मानवजातिके धर्म-प्रवर्तकों, ऋषियों, द्रष्टाओं, कवियों, कलाविधायकों तथा कर्मवीरोंमें यह अप्रस्फुटित

तत्त्व समय-समयपर किसी-न-किसी रूपमें कार्य करता दिखायी दे जाता है।

यहाँ हमें यह सोचना है कि ऊर्ध्व चेतनाकी ओर होती हुई गतिका हम अपने जीवनपर एक असर कायम करके ही सन्तोष कर लें या समग्र मानव-चेतनाके समूल परिवर्तनको ही आवश्यक समझें। अभीतक मानव-संस्कृतिकी उन्नतिके जितने प्रयत्न हुए हैं, उनमें कुछ खुला-मूँदीका-सा काम होता रहा है। मानवने नीति और सदाचारके नियम बना-बनाकर उनके अनुसार आचरण करनेकी कोशिशें की हैं, ऊर्ध्व चेतनाके थोड़े-बहुत प्रभावमें लाकर जीवनको नियमित करनेके प्रयत्न भी किये गये हैं; पर जबतक चेतनाकी नींव अविद्याकी भित्तिपर खड़ी है, तबतक वे प्रयत्न सफल नहीं हो सकते और इसीलिये मानव-प्रकृतिका आमूल परिवर्तन अत्यावश्यक प्रतीत होता है। यह परिवर्तन मनसे ऊँचे तत्त्वकी प्राप्तिसे ही हो सकता है; अतः उसकी प्राप्ति व्यावहारिक दृष्टिसे भी हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता ठहरती है।

व्यक्ति अपने अन्तरमें आदर्श अन्तिम स्थितिके लिये, पूर्णता और दिव्यताके लिये आतुर रहता है; किसी भाँति भी इस मौलिक सत्य और इस कठोर वास्तविकताको दबाया नहीं जा सकता, इसका गला नहीं घोटा जा सकता। सम्भव है कि यदि व्यक्ति अपने अन्तरकी इस आवाजका अनुसरण करे तो स्वयं उसे ही नहीं, बल्कि समाजको भी लाभ हो। जीवनमें समाजके प्रति अपने सामान्य कर्तव्य पूरे किये बिना ही अपनी पूर्णता प्राप्त करनेकी वृत्ति जिस-किसीमें दिखायी दे वह अवश्य प्रोत्साहन और संवर्धनकी अधिकारिणी है; क्योंकि इसमें सच्ची उन्नतिका बीज मौजूद है।

मानवने पूर्णता प्राप्त करने और आध्यात्मिक उन्नति साधनेके लिये अनेक विधियोंसे प्रयत्न किये हैं और इसी हेतुसे बहुत-से धर्मों और साधना-प्रणालियोंको जन्म दिया है। परन्तु सामान्यतः मानवका धार्मिक जीवन बाह्याचारद्वारा आन्तर प्रगति करनेका प्रयत्न करता है और आध्यात्मिक साधनामार्ग आन्तर उपायोंद्वारा चेतनाकी प्रगतिके लिये प्रयत्नशील होते हैं। बहुत-से देशोंमें धर्म या समाजकी ओरसे आन्तर जीवनके विकासके प्रयोगोंमें बाधाएँ डाली जाती रही हैं; परन्तु बाह्य जीवनको अनेक प्रकारसे जकड़नेवाले भारतवर्षमें इसके लिये हमेशा मैदान खुला रहा है और परिणामस्वरूप भारतने इस राहमें बहुत असाधारण उन्नति की है। आज यहाँ अनेक प्रकारकी साधना-प्रणालियाँ मौजूद हैं और आध्यात्मिक जीवनकी हर प्रकारकी शक्यताओंको आजमानेके प्रयोग हो रहे हैं। सचमुच भारतने इस दिशामें असाधारण प्रगति की है और उसके तत्त्व यहाँकी प्रजाके मज्जागत हो चुके हैं और यह सब उसी स्वतन्त्रताकी बदौलत है। प्रजा-जीवनमें इस दिशामें प्रगति और ठोस प्राप्ति हुई है तथा चिरंजीवी परिणाम भी आये हैं।

लेकिन एक ओर तो प्रणाली सिद्ध की हुई प्रगतिको स्थिर करती है, उसे सुरक्षित रखती है और यदि स्थिति-स्थापक और जीवित-जाग्रत् हो तो उसके आगे बढ़नेमें सहायक भी होती है; परन्तु सामान्यतः प्रणालियाँ जडताकी पोषक, प्राणहीन और शुष्क बन जाती हैं। बहुत बार ये मानवके भावी विकासको रोक देती हैं। प्रणाली बाह्याचारकी गति-विधिपर ज्यादा जोर देती है और आन्तर तत्त्वको गौण बना देती है; जहाँ आन्तर तत्त्वको रखती भी है, वहाँ भी उसे मर्यादित और रूढिबद्ध कर डालती है और इसमें एक ही अनुभूतिका पुनरावर्तन होता रह सकता है।

हमें भावी विकासमें और मानव-संस्कृतिके निर्माणमें साधनाकी सभी प्रणालियोंसे मिलनेवाला लाभ तो उठाना चाहिये; क्योंकि मानवमें स्वेच्छापूर्वक प्रगति करने और अपने क्रमविकासमें बुद्धिपूर्वक भाग लेनेकी शक्ति विद्यमान है।

हम यह कह सकते हैं कि योगसाधना इसी क्रमविकासमें प्रगति करनेकी पद्धतिका नाम है; पर इसमें हमें साधना-प्रणालियोंके बाह्य स्वरूपोंको छोड़नेके लिये—उनसे परे होनेके लिये तैयार रहना चाहिये। यह निर्विवाद है कि मानवकी उत्क्रान्तिमें ये साधना-प्रणालियाँ बहुत उपयोगी सिद्ध होंगी, पर उन्हींके साथ चिपके रहनेसे प्रगतिके रुक जानेका भय है। साधनाकी विविध प्रणालियोंद्वारा प्राप्त किये गये साक्षात्कार किसी देश या जातिविशेषकी चीज नहीं, बल्कि सर्वदेशीय और सर्वकालीन हैं। यह आवश्यक है कि जो सत्य एक बार केवल भारतीय चीज समझा जाता था और जो भारतीय धर्मोंके द्वारा प्रसारित हुआ था, वह समस्त मानव-जातिका बन जाय। ऐसा हो तभी तो वह मानव-संस्कृतिके लिये मार्गदर्शक ज्योतिका काम दे सकता है। इसीलिये इन प्रणालियोंको देश-कालकी उपाधियों, विधियों तथा रूढ़ियोंसे मुक्त करनेकी आवश्यकता है। इष्ट तो यह है कि साधनाके मौलिक तत्त्वोंका सर्वसामान्य मानसशास्त्र—चेतनशास्त्र—की दृष्टिसे निरूपण किया जाय।

श्रीरामकृष्ण परमहंसने हमारे समयमें ही प्रयोगद्वारा यह प्रतिपादित किया है कि सभी धर्मोंकी साधनाके

परिणामस्वरूप जिस दिव्य तत्त्वका साक्षात्कार होता है, वह एक ही है। थियोसोफिकल सोसायटीने भी विविध धर्मोंको एक-दूसरेके समीप लानेका उपयोगी प्रयत्न किया है। स्वामी विवेकानन्दने इसी कामको अपना जीवन समर्पित किया। शिकागोके सर्वधर्मसम्मेलनमें उन्होंने पश्चिमको जो सन्देश सुनाया था, उसीसे जगत्को भारतका सन्देश मिलनेका प्रारम्भ हुआ। यदि हमारी इच्छा हो कि आक्रमणशील आध्यात्मिकताकी पताका नित नयी विजय प्राप्त करते हुए मानव-जातिको आध्यात्मिक लाभ पहुँचाये तो हमें आध्यात्मिकताको प्राचीन प्रणालियोंके रूढ़ तथा प्रचलित रूपोंसे मुक्त करना होगा। हमारे नवीन समन्वयमें अन्य देशोंमें आध्यात्मिक उन्नतिके जो प्रयत्न हो रहे हैं, उनके सभी मौलिक तत्त्वोंका समावेश भी आवश्यक होगा।

श्रीअरविन्दकी योगसाधनामें समग्र मानव-प्रकृतिके रूपान्तरको उद्देश्यमें रखा गया है। यह तो पहले कहा जा चुका है कि इस रूपान्तरका एक मौलिक सिद्धान्त यह है कि आध्यात्मिक तत्त्वको समग्र जीवनके नियामकके रूपमें स्वीकार किया जाय। इस बातमें भी कोई सन्देह नहीं है कि वह समय आ पहुँचा है, जब कि मानव-संस्कृतिका यह समन्वय आवश्यक हो गया है और आध्यात्मिक तत्त्वोंको ही मानव-जीवनके नियमनका काम सौंपना होगा; क्योंकि जडवादके प्रतिध्वंसक परिणाम तो हमारे आगे स्पष्ट ही हैं। प्रकृतिका रूपान्तर करना ही जब उद्देश्य हो तो यह बात अध्याहारसे ही समझमें आ जाती है कि श्रीअरविन्दकी योगसाधनामें प्रकृतिको स्वीकार किया गया है। ऐसी बहुत-सी प्रणालियाँ प्रचलित हैं, जिनमें प्रकृतिको स्वीकार तो किया गया है, पर उसका त्याग ही निर्दिष्ट है—आवश्यक माना गया है। परन्तु श्रीअरविन्दके मार्गमें प्रगतिके परिणामस्वरूप जीवनको स्वीकार करना होगा; पर हाँ, वह जीवन आजके जीवनसे भिन्न होगा—वह आजकी अविद्या-प्रकृतिके रूपान्तरित होकर विद्या बन जानेके बादका दिव्य जीवन होगा। और यह रूपान्तर भगवती महाशक्तिकी ही कृपासे साधा जा सकता है।

परन्तु अविद्या-प्रकृतिके वशीभूत मानवका विद्याशक्ति अर्थात् परा शक्तिके आविर्भावमें रूपान्तरित होना कोई आसान काम नहीं है, जो थोड़ा-बहुत हेर-फेर कर लेनेसे ही पूरा हो जाय। यह काम केवल सर्वधर्मसहिष्णुता प्राप्त कर लेनेसे अथवा सभी धर्मोंमें प्रभुका साक्षात्कार कर लेनेसे भी नहीं चल सकता। इसके लिये तो मनोमय चेतनासे ऊर्ध्वतर और अधिक समर्थ नवीन करणको विकसित करना आवश्यक है, यह भी हम ऊपर कह चुके हैं। बर्नार्ड शाने ठीक ही कहा है—'Man as he is incapable of further progress.'—यदि मानवको मनोमय चेतनामें ही रहना है तो जितनी प्रगति वह कर चुका है, उसके आगे उसके लिये रास्ता बंद है।

श्रीअरविन्दकी साधनामें मनोमय चेतनासे परेकी चेतनाके कार्यको सम्भव बनानेके लिये मानसातीत विज्ञानमय करणको विकसित करना ही मुख्य है; पर यह तो स्पष्ट ही है कि इस मानसातीत करणके मानवमें व्यवस्थित होने और नियमितरूपसे कार्य करनेके लिये यह आवश्यक है कि वर्तमान मानस और चित्ततन्त्रमें मौलिक परिवर्तन किये जायँ। उदाहरणके लिये जैसे अभी मानव द्वैतभावप्रधान है, वहाँ द्वैतभाव हटकर उसे सारे समय अद्वैतकी अनुभूति होती रहेगी; अभी वह बहिर्मुख है, नवीन करणके होनेपर वह अन्तर्मुख होगा और अन्तरके केन्द्रमें पैठकर वहाँसे वह अपने सामान्य बाह्य जीवनका सञ्चालन करेगा; आज प्राणकी कामनाएँ और भावनाएँ, द्वन्द्वात्मक अनुभूतियाँ, बुद्धिके तर्क और मानसिक आदर्श मानव-जीवनका नियमन कर रहे हैं; परन्तु नवीन करणके होनेपर ऐसा न होगा, मानव इन चीजोंके अधीन न होगा। बुद्धिकी तर्कणा उसकी नियामक न रहेगी, अपितु स्वयं बुद्धि उसके वशमें आज्ञाकारी करणके रूपमें रहेगी। चेतनाकी इस पुनर्घटनाके परिणामस्वरूप मानवके कर्म करनेका हेतु कामनाओंको सन्तुष्ट करना न होगा।

हमने ऊपर कहा है कि इस ऊर्ध्वतर प्रस्थानमें मानवकी चेतना अपने अन्तरमें एकाग्र होकर रहेगी। आखिर इसका क्या मतलब? इसका भाव यही है कि वह अपनी आत्मामें केन्द्रीभूत होकर रहेगी, अपने-आपको पूर्णतया भगवान्के सुपुर्द कर देनेकी अभीप्सा रखेगी और प्रभु-प्राप्तिको ही अपने जीवनका मुख्य पुरुषार्थ मानेगी। प्रभुको प्राप्तकर उन्हींकी प्रेरणाद्वारा वह जीवनमें कार्य करेगी। जिनमें इस विज्ञानमय करणका विकास होगा, वे अपने आत्माको व्यक्तिरूपमें न देखकर विराट्रूपमें अनुभव करेंगे; वे विराट् चेतनामें जीवन धारण करेंगे (व्यक्तिकी तरह विराट् भी तो परात्पर पुरुषोत्तमकी अभिव्यक्तिका एक साधन है) और विराट्में होनेवाले दैवी और आसुरी प्रकृतियोंके संग्रामके रहस्यको जानकर विराट्से भी परे परात्परके हेतुकी सिद्धिके लिये 'कर्तव्य कर्म' करेंगे। वे देश, काल, धर्म, जाति, संस्कार वगैरहकी मर्यादाओंसे भी सर्वथा मुक्त होंगे।

यहाँपर इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि हमने इस नवीन करणकी जो भावात्मक और अभावात्मक

शक्यताएँ ऊपर गिनायी हैं, वह इन्हींमें समा नहीं जाता; यहाँ तो केवल एक मोटी रूप-रेखाके कुछ लक्षण दिखानेका ही प्रयत्न किया गया है। इन नवीन करणके आनेपर तो सारी मानवचेतना और उसकी सभी शक्तियोंका आमूल परिवर्तन हो जायगा, पर यहाँ हमें इस रूपान्तरका पूरा नकशा नहीं खींचना है।

इस दृष्टिसे देखें तो योगसाधना मानवका मनोमयतासे ऊर्ध्वारोहण करनेका एक सज्ञान प्रयत्न है और इससे यह भी मालूम होता है कि योगसाधनाके साथ सामान्यत: जो चमत्कारों, असाधारणताओं और अगम्यताओंके विचार जुड़े हुए हैं वे एकाङ्गी और अधूरे हैं।

हम ऊपर कह आये हैं कि आज एक बहुत बड़ा मत इस बातको स्वीकार करता है कि आज हमें समाज तथा जीवनकी पुनर्घटना करनेकी जरूरत है; यह नवीन करण हमारे इन प्रश्नोंको भी हल कर देता है। यह तो केवल ऊपरी दृष्टिसे देखनेमें ही ठीक लगता है; कि संघ-जीवन आर्थिक भित्तिके आधारपर खड़ा है; वास्तवमें तो सामाजिक जीवनका आधार भी आध्यात्मिक ही होना चाहिये। यह आवश्यक है कि संघ यानी समाजके सभी व्यक्तियोंमें एक ही सत्यका साक्षात्कार और आविर्भाव हो। अत: इतना ही काफी नहीं है कि जिस मानसातीत करणके आविर्भावकी हम बात कह रहे हैं, उसका विकास केवल व्यक्तिमें ही होकर रह जाय। यदि नवीन करणको मानवके लिये सुसाध्य बनाना है तो आवश्यक है कि समूह और संघमें भी इस करणको सङ्गठित किया जाय, क्योंकि विराट् और व्यक्ति दोनों एक ही परात्पर पुरुषके आविर्भावके तत्त्व हैं। विराट्‌के परे जो परात्पर पुरुषोत्तमकी सत्ता है, वह व्यक्ति और संघके रूपमें अभिव्यक्त होती है। यदि प्रभु-प्राप्तिके उद्देश्यसे प्रेरित होकर, अपने-आपको पूर्णतया प्रभुके अर्पण करके जीवनमें दिव्य हेतुको सिद्ध करनेके लिये और जीवनमें प्रभुकी ही विजय स्थापित करनेके लिये कुछ लोग सङ्गठित होकर और भगवान्‌के ही उपकरण बनकर काम करें तो संघमें भी ऊर्ध्व करणका आविर्भाव हो सकता है। इस प्रकार मानवजातिमें एक ऐसा समूह सङ्गठित हो जायगा, जिसमें यह नवीन करण अधिक सक्रियरूपसे प्रकट होगा और आध्यात्मिक उन्नति करनेवाले इस जीवित-जाग्रत् संघका एक अंग बनकर जब प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थवृत्तिसे सर्वथा मुक्त होकर अपनी-अपनी विशिष्ट शक्तियोंके द्वारा सामान्य हेतुकी सिद्धिके लिये अपना-अपना काम पूरा करेगा तो संघ-जीवन भी समृद्धि पायगा।

'वह संघ-जीवन'

लेकिन अब सवाल उठता है कि ऐसा संघ-जीवन किन तत्त्वोंका आविष्कार करेगा और उसका आधार किन मौलिक तत्त्वोंपर होगा? श्रीअरविन्द कहते हैं कि १-इसका आधार ऐक्यपर होगा, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति भगवान्‌की चेतनाके साथ एकताका अनुभव करेगा और परिणामत: उन्हें परस्पर ऐक्यका भी अनुभव होगा। २-आदान-प्रदान—प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी विशेष शक्तियोंका उपयोग अन्य सबोंके लिये करेगा और इस प्रकार जीवन समृद्ध, विशाल और सर्वग्राही बन जायगा और ३-एक ताल, एक स्वर—हर एकके काममें औरोंके कार्योंके साथ संवाद और समवाय होगा; क्योंकि सभीकी प्रेरणाका मूल एक ही ऊर्ध्व चेतनामें होगा। जैसे संगीतमें अनेक प्रकारके वाद्य और उनके विविध ताल-स्वर होते हुए भी एकवादिता और संवाद पैदा हो जाता है, उसी प्रकार इस नवजीवनमें भी सभी व्यक्तिगत प्रवृत्तियोंके परिणामस्वरूप संवाद पैदा होगा।

यदि यह नवीन करण ऐसे किसी संघमें अथवा संघोंमें सततरूपसे कार्य कर सके और उसके कार्यकी पूरी तरह स्थापना हो सके, तो यह सम्भव है कि मानवजातिपर भी वह अपना असर जमा सके और स्थायी तत्त्व बनकर अपना कदम जमा सके—इतना ही नहीं, बल्कि समस्त मानवजातिके विकासमें एक समर्थ और सक्रिय करणका काम करे।

यह ठीक है कि नव सृजनके इस कामको सफल बनानेके लिये अपार शक्तिकी जरूरत है, परन्तु जैसे-जैसे आवश्यकता पड़ती जायगी वैसे-वैसे दिव्य शक्ति भी अधिकाधिक मात्रामें प्रकट होती जायगी।

इस नव सृजनमें प्राणकी जो विपुल लीला होगी, मनोमय शक्तिके जो सृजन होंगे, जीवनकी जो समृद्धि होगी तथा स्थूल कार्योंकी जो सफलता सिद्ध होगी, वह सम्भवत: बहुतोंको चमत्कारिक लगे। बहुत-से कहेंगे कि यह सब तो किसी दिव्य शक्ति या किसी अद्भुत शक्तिके मिलनेपर ही सम्भव हो सकता है, लेकिन सत्ययुग इसे नहीं कहा जा सकता। सचमुच यदि यह शक्ति प्रकट हो, तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। केवल भौतिक शास्त्रविद्याकी खोजोंके परिणामस्वरूप अपनी बुद्धिद्वारा मनुष्य जड पदार्थमेंसे ऐसी-ऐसी चीजें बना रहा है, जिन्हें प्रकृति अभीतकके विकासमें नहीं बना पायी और शायद बना भी न सके, तो फिर भला आत्माकी आध्यात्मिक शक्तियोंकी अभिव्यक्तिको ही क्यों असम्भव माना जाय?

नवग्रहोंकी उपासना

हिंदूजातिमें प्राचीन कालसे जो अनेकों प्रकारकी धारणाएँ या प्रथाएँ प्रचलित हैं, उनमें नवग्रहोंकी उपासना भी है। यह केवल रूढिमात्र अथवा प्रथामात्र नहीं है, इसके मूलमें हमलोगोंके शरीरसे नवग्रहोंका सम्बन्ध और ज्यौतिषकी दृष्टिसे सुपुष्ट विचार भी है। यह उक्ति प्राय: सर्वत्र प्रसिद्ध है कि '**यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे**।' अर्थात् जो कुछ एक शरीरमें है, वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें है जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें है, वह एक शरीरमें भी है। हिंदू-शास्त्रोंके अनुसार यह सृष्टि केवल उतनी ही नहीं है, जितनी हमलोग देखते हैं। इन्द्रियोंसे जो कुछ देखा या सुना जाता है, वह तो बहुत ही स्थूल है। यन्त्रोंका तत्त्वविश्लेषण केवल जडतत्त्वोंतक ही सीमित है, वह कभी चेतनाका साक्षात्कार नहीं कर सकता। क्योंकि वे यन्त्र स्वयं जड हैं। प्रत्येक स्थूल वस्तुके एक-एक अधिष्ठातृदेवता हैं, यह बात युक्ति, अनुभव और शास्त्रसे सिद्ध है। जैसे स्थूल नेत्रगोलक, जिन्हें हम देखते हैं, नेत्रके अधिभूत रूप हैं। नेत्र-इन्द्रिय अध्यात्म है, जो कि इस स्थूल गोलकके द्वारा देखती है। इस दर्शनक्रियाका सहायक जो सूर्य है, वह नेत्रका अधिदैव रूप है। नेत्र-इन्द्रिय नेत्रगोलकके द्वारा स्थूल रूपको देखे, यह सूर्यकी शक्तिकी सहायता लिये बिना असम्भव है। इसलिये नेत्रके अधिष्ठातृदेवता सूर्य हैं। सूर्यके भी तीन रूप हैं। जिस सूर्यको हमलोग देखते हैं, वह सूर्यका स्थूल अथवा अधिभूत रूप है। दृश्यमान सूर्यमण्डलके अभिमानी देवताका नाम सूर्य देवता है। उन्हींका रथ सात घोड़ोंका है और अरुण सारथि हैं। शनैश्चर, यमराज आदि उनकी सन्तान हैं। और भी देवताके रूपमें सूर्यका जितना वर्णन आता है, वह सब इस दृश्यमान सूर्यमण्डलके अभिमानी देवताका ही है। सूर्यका अध्यात्म रूप है, समष्टिका नेत्र होना। इन तीन रूपोंको ध्यानमें रखनेसे ही शास्त्रोंमें जो सूर्यका वर्णन हुआ है, वह समझमें आ सकता है। यह बात सभी देवताओंके सम्बन्धमें समझ लेनी चाहिये।

अब यह बात सिद्धान्तरूपसे मान ली गयी है कि यह सम्पूर्ण स्थूल जगत् सूक्ष्म जगत्का ही प्रकाशमात्र है। समष्टिके मनमें जो दर्शनकी इच्छा है, वही सूर्यके रूपमें प्रकट हुई है। जीवके मनमें जो दर्शनकी इच्छा है, वह नेत्र-इन्द्रियके रूपमें प्रकट हुई है। इन दोनोंके अभिमानी देवता हैं सूर्य, इसलिये नेत्र-इन्द्रियका सीधा सम्बन्ध सूर्यसे है। सूर्यकी प्रत्येक स्थितिका प्रभाव इस पृथ्वीपर और इसपर रहनेवाले प्राणियोंपर पड़ता है। जैसे यह स्थूल शरीर ही जीव नहीं है, उससे भिन्न है, वैसे ही यह दृश्यमान पृथ्वी ही पृथ्वी देवता नहीं है, यह तो पृथ्वी देवताका शरीर है। इन सब स्थूलताओंका निर्माण सूक्ष्म जगत्की दृष्टिसे ही हुआ है। सूक्ष्म ही स्थूल बना है; इसलिये जो लोग सूक्ष्म जगत्पर विचार नहीं करते, केवल स्थूल जगत्में ही अपनी दृष्टिको आबद्ध रखते हैं, वे ठीक-ठीक इसका मर्म नहीं समझ पाते। जैसे पृथ्वी, समुद्र, चन्द्रमण्डल, विद्युत्, उष्णता आदिसे सूर्यका साक्षात् सम्बन्ध है, वैसे ही उन पदार्थोंसे बने हुए मानव-शरीरके साथ भी है। प्रत्येक शरीरकी उत्पत्तिके समय, चाहे वह गर्भाधानका हो या भूमिष्ठ होनेका हो, सूर्य और इतर ग्रहोंका पृथ्वीके साथ जैसा सम्बन्ध होता है और ग्रहचार-पद्धतिके अनुसार उस प्रदेशमें, उस प्रकृतिके शरीरपर उनका प्रभाव पड़ता है, वह जीवनभर किसी-न-किसी रूपमें चलता ही रहता है। ग्रहमण्डलकी स्थिति, देशविशेषपर उनका विशेष प्रभाव और देहगत उपादानोंकी विभिन्नताके कारण प्रत्येक शरीरका ग्रहोंके साथ भिन्न सम्बन्ध होता है और उसीके अनुसार फल भी होता है। प्रत्येक ग्रहके साथ पृथ्वीका और उसपर रहनेवाली वस्तुओंका जो महान् आकर्षण-विकर्षण चल रहा है, उसके प्रभावसे कोई बच नहीं सकता और जगत्के परिवर्तनोंमें, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंमें, सुख-दु:खके निमित्तोंमें यह महान् शक्ति भी एक कारण है—इस सत्यको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसीसे योग-सम्पन्न महर्षियोंने अपनी अन्तर्दृष्टिसे इस तत्त्वका साक्षात्कार करके जीवोंके हितार्थ इस ज्योतिर्विद्याको प्रकट किया है।

संसारमें जो घटनाएँ घटती हैं, उनके अनेकों कारण बतलाये जाते हैं—जीवका प्रारब्ध अथवा पुरुषार्थ, समष्टिकर्ता ईश्वरकी इच्छा अथवा प्रकृतिका नियमित प्रवाह। इन घटनाओंके साथ ग्रहोंके आकर्षण-विकर्षणका क्या सम्बन्ध है ? उपर्युक्त बलवान् कारणोंके रहते हुए जगत्के कार्योंमें वे क्या नवीनता ला सकते हैं ? यह प्रश्न उठानेके पहले उन सबके एकत्वका विचार कर लेना चाहिये।

समष्टिकर्ताकी इच्छा ही प्रकृतिका प्रवाह है। प्रकृतिके सात्त्विक, राजसिक और तामसिक प्रवाहोंके

अनुसार ही ग्रहोंकी निश्चित गति और जीवोंका प्रारब्ध है। इन गति और प्रारब्धोंके अनुसार ही पुरुषार्थ और फल होते हैं। शरीरकी उत्पत्ति प्रारब्धके अनुसार होती है; जिसका जैसा कर्म, उसका वैसा शरीर। जिस शरीरमें प्रारब्धके अनुसार जैसी कर्मवासनाएँ रहती हैं, उस जीवनमें जैसी घटनाएँ घटनेवाली होती हैं, उसीके अनुसार उस शरीरके जन्मके समय वैसी ही ग्रहस्थिति रहती है। यों भी कह सकते हैं कि वैसी ग्रहस्थितिमें ही उसका जन्म होता है अथवा ग्रहोंकी एक स्थितिमें रहनेपर भी भिन्न-भिन्न देश और शरीरके भेदसे उनका भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। इसीसे ज्यौतिष-शास्त्रमें कहा गया है कि ग्रह किसी नवीन फलका विधान नहीं करते, बल्कि प्रारब्धके अनुसार घटनेवाली घटनाको पहले ही सूचित कर देते हैं—'**ग्रहा वै कर्मसूचकाः।**' ग्रहोंकी स्थिति, गति, वक्रता, अतिचार आदिको जाननेवाला ज्यौतिषी किसी भी व्यक्तिके जन्म-समयको ठीक-ठीक जानकर बतला सकता है कि इसके भविष्य जीवनमें कौन-कौन-सी घटनाएँ घटित होनेवाली हैं। स्थूल कर्मचक्रके अनुसार केवल इतनी ही बात है, गणितकी सत्यताको इस रूपमें पाश्चात्त्य वैज्ञानिकोंने भी स्वीकार कर लिया है। पाश्चात्त्य देशोंमें ग्रहोंकी स्थितिका अध्ययन करके गणितके आधारपर फलित ज्यौतिष उसी प्रकार प्रतिष्ठित किया गया है, जैसे हिंदूशास्त्रोंमें। परन्तु यह बात इतनेसे ही समाप्त नहीं हो जाती, इसके आगे और भी कुछ है।

हिंदुओंका देवता-विज्ञान इन स्थूल कार्यकारण-परम्परा और सम्बन्धोंसे और भी ऊपर जाता है। मानस-शास्त्रके वेत्ताओंने एक स्वरसे यह बात स्वीकार की है कि शुद्ध, परिपुष्ट एवं बलिष्ठ मनके द्वारा स्थूल जगत्‌में अघटित घटना भी घटित की जा सकती है। यदि हम उन सूक्ष्मताओंके भी अन्तस्तलमें स्थित हो जायँ, जो स्थूल घटनाओंकी कारण हैं, तो हम न केवल स्थूल जगत्‌में, बल्कि सूक्ष्म जगत्‌में भी परिवर्तन कर सकते हैं। इस मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करनेपर यह सिद्ध होता है कि ग्रहोंके द्वारा भावी घटनाओंका ज्ञान हो जानेपर मानसिक साधनाके द्वारा उन्हें रोका भी जा सकता है। प्राचीन ऋषियों, योगियों और सिद्ध पुरुषोंके द्वारा ऐसा किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि मन ऐसी स्थितिमें भी जा सकता है, जहाँसे वह घटनाओंका विधान और अवरोध कर सकता है। परन्तु सर्वसाधारणके पक्षमें यह बात दुःसाध्य है। इसलिये उन्हें ग्रहमण्डलाधिष्ठातृदेवताकी शरण लेनी पड़ती है। जिसके शरीरपर सूर्यग्रहका दुष्प्रभाव पड़ रहा है या पड़नेवाला है, वह यदि सूर्यमण्डलके अभिमानी देवताका आश्रय ले और पूजा, पाठ, जप आदिके द्वारा यह अनुभव कर सके कि सूर्यदेवता मुझपर प्रसन्न हैं, मेरा कल्याण कर रहे हैं और मुझे जीवनदान दे रहे हैं, तो बहुत अंशमें उसका अरिष्ट शान्त हो जायगा और वह अपनेको सूर्यग्रहजन्य पीड़ासे बचा सकेगा। ग्रहशान्तिकी ये दोनों प्रणालियाँ शास्त्रीय हैं—पहलीका नाम अहंग्रह-उपासना और दूसरीका प्रतीक-उपासना है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यह सूर्यदेवता केवल उपासनाके लिये ही हैं। वास्तवमें समस्त देवताओंका अलग-अलग अस्तित्व है और सबके लोक, शक्ति, वाहन, क्रिया आदि अलग-अलग बँटे हुए हैं। जबतक विभिन्न शरीर, वस्तु, लोक और नक्षत्रमण्डल आदि पृथक्-पृथक् प्रतीत हो रहे हैं, इनके द्वारा पृथ्वीमण्डल प्रभावित हो रहा है, तबतक इनमें रहनेवाले देवताओंको अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

वर्तमानकालमें सम्पूर्ण संसार राष्ट्रविप्लव, पारस्परिक द्रोह, पारिवारिक वैमनस्य, ईर्ष्या-द्वेष, रोग-शोक और उद्वेग-अशान्तिसे सर्वथा उपद्रुत हो रहा है। इसके अनेक कारणोंमें देवताओंकी उपेक्षा और उनसे प्राप्त होनेवाली सहायताको अस्वीकार कर देना भी है। अन्तर्जगत्‌के नियमानुसार देवताओंको जागतिक पदार्थोंके उत्पादन, विनिमय और वितरणका अधिकार प्राप्त है। मनुष्य देवताओंको सन्तुष्ट करें और देवता मनुष्योंको समृद्धि एवं अभिवृद्धिसे सम्पन्न करें। परन्तु मनुष्योंने अपनी बुद्धि और पुरुषार्थका मिथ्या आश्रय लेकर स्वयं ही आत्मवञ्चना कर ली है, जिसका यह सब, जो दुःख-दारिद्र्यके रूपमें दीख रहा है, फल है। वेदोंने और तदनुयायी शास्त्रोंने एक स्वरसे ग्रहशान्तिकी आवश्यकता स्वीकार की है। अथर्ववेदमें सब देवताओंकी पूजाके साथ-साथ ग्रह-शान्तिका भी वर्णन आता है—

शन्नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्याश्च राहुणा।—इत्यादि।

प्राचीन आर्योंमें इस वैदिक मर्यादाका पूर्णरूपसे पालन होता था, इसीसे वे सुखी थे। आज भी जहाँ प्राचीन प्रथाओंका पालन होता है, वहाँ प्रत्येक शान्तिक और पौष्टिक कर्मोंमें पहले नवग्रहकी पूजा होती है। यह ध्यान रखना चाहिये कि इस पूजाका सम्बन्ध उन-उन मण्डलोंमें रहनेवाले देवताओंसे है। यहाँ संक्षेपसे नवग्रहोंके ध्यान और मन्त्रका उल्लेख कर दिया जाता है। पूजा-पद्धतिके अनुसार उनका अनुष्ठान करना चाहिये।

सूर्य

सूर्य ग्रहोंके राजा हैं। ये कश्यप गोत्रके क्षत्रिय एवं कलिङ्गदेशके स्वामी हैं। जपाकुसुमके समान इनका रक्त-वर्ण है। दोनों हाथोंमें कमल लिये हुए हैं, सिन्दूरके समान वस्त्र, आभूषण और माला धारण किये हुए हैं। जगमगाते हुए हीरे, चन्द्रमा और अग्निको प्रकाशित करनेवाला तेज, त्रिलोकीका अन्धकार दूर करनेवाला प्रकाश। सात घोड़ोंके एकचक्र रथपर आरूढ़ होकर सुमेरुकी प्रदक्षिणा करते हुए, प्रकाशके समुद्र भगवान् सूर्यका ध्यान करना चाहिये। इनके अधिदेवता शिव हैं और प्रत्यधिदेवता अग्नि। इस प्रकार ध्यान करके मानस पूजा और बाह्य पूजाके अनन्तर मन्त्रजप करना चाहिये। सूर्यके अनेक मन्त्रोंमेंसे एक मन्त्र है—**'ॐ ह्रीं ह्रीं सूर्याय नमः'**।

चन्द्रमा

भगवान् चन्द्रमा अत्रिगोत्र हैं। यामुन देशके स्वामी हैं। इनका शरीर अमृतमय है। दो हाथ हैं—एकमें वर-मुद्रा है, दूसरेमें गदा। दूधके समान श्वेत शरीरपर श्वेत वस्त्र-माला और अनुलेपन धारण किये हुए हैं। मोतीका हार है। अपनी सुधामयी किरणोंसे तीनों लोकोंको सींच रहे हैं। दस घोड़ोंके त्रिचक्र रथपर आरूढ़ होकर सुमेरुकी प्रदक्षिणा कर रहे हैं। इनके अधिदेवता हैं उमादेवी और प्रत्यधिदेवता जल हैं। इनका मन्त्र है—**'ॐ ऐं क्लीं सोमाय नमः।'**

मंगल

मंगल भरद्वाज गोत्रके क्षत्रिय हैं। ये अवन्तिके स्वामी हैं। इनका आकार अग्निके समान रक्तवर्ण है, इनका वाहन मेष है, रक्तवस्त्र और माला धारण किये हुए हैं। हाथोंमें शक्ति, वर अभय और गदा धारण किये हुए हैं। इनके अङ्ग-अङ्गसे कान्तिकी धारा छलक रही है। मेषके रथपर सुमेरुकी प्रदक्षिणा करते हुए अपने अधिदेवता स्कन्द और प्रत्यधिदेवता पृथ्वीके साथ सूर्यके अभिमुख जा रहे हैं। मंगलका मन्त्र है—**'ॐ हूं श्रीं मङ्गलाय नमः'**।

बुध

बुध अत्रिगोत्र एवं मगधदेशके स्वामी हैं। इनके शरीरका वर्ण पीला है। चार हाथोंमें ढाल, गदा, वर और खड्ग है। पीला वस्त्र धारण किये हुए हैं, बड़ी ही सौम्य-मूर्ति है, सिंहपर सवार हैं। इनके अधिदेवता हैं नारायण और प्रत्यधिदेवता हैं विष्णु। इनका मन्त्र है—**'ॐ ऐं स्त्रीं श्रीं बुधाय नमः'**।

बृहस्पति

बृहस्पति अङ्गिरा गोत्रके ब्राह्मण हैं। सिन्धुदेशके अधिपति हैं। इनका वर्ण पीत है, पीताम्बर धारण किये हुए हैं, कमलपर बैठे हैं। चार हाथोंमें रुद्राक्ष, वरमुद्रा, शिला और दण्ड धारण किये हुए हैं। इनके अधिदेवता ब्रह्मा हैं और प्रत्यधिदेवता इन्द्र। इनका मन्त्र है—**'ॐ ऐं क्लीं बृहस्पतये नमः'**।

शुक्र

शुक्र भृगु गोत्रके ब्राह्मण हैं। भोजकट देशके अधिपति हैं। कमलपर बैठे हुए हैं। श्वेत वर्ण है, चार हाथोंमें रुद्राक्ष, वरमुद्रा, शिला और दण्ड हैं। श्वेत वस्त्र धारण किये हुए हैं। इनके अधिदेवता इन्द्र हैं और प्रत्यधिदेवता चन्द्रमा हैं। इनका मन्त्र है—**'ॐ ह्रीं श्रीं शुक्राय नमः।'**

शनि

ये कश्यप गोत्रके शूद्र हैं। सौराष्ट्रप्रदेशके अधिपति हैं। इनका वर्ण कृष्ण है, कृष्ण वस्त्र धारण किये हुए हैं। चार हाथोंमें बाण, वर, शूल और धनुष हैं। इनका वाहन गीध है। इनके अधिदेवता यमराज और प्रत्यधिदेवता प्रजापति हैं। इनका मन्त्र है—**'ॐ ऐं ह्रीं श्रीं शनैश्चराय नमः'**।

राहु

राहु पैठीनस गोत्रके शूद्र हैं। मलय देशके अधिपति हैं। इनका वर्ण कृष्ण है और वस्त्र भी कृष्ण ही हैं। इनका वाहन है सिंह। चार हाथोंमें खड्ग, वर, शूल और ढाल लिये हुए हैं। इनके अधिदेवता काल हैं और प्रत्यधिदेवता सर्प हैं। इनका मन्त्र है—**'ॐ ऐं ह्रीं राहवे नमः'**।

केतु

ये जैमिनि गोत्रके शूद्र हैं। कुशद्वीपके अधिपति हैं। इनका वर्ण धुएँका-सा है और वैसा ही वस्त्र भी धारण किये हुए हैं। मुख विकृत है, गीध वाहन है। दो हाथोंमें वरमुद्रा तथा गदा हैं। इनके अधिदेवता हैं चित्रगुप्त तथा प्रत्यधिदेवता हैं ब्रह्मा। इनका मन्त्र है—**'ॐ ह्रीं केतवे नमः।'**

ये सब ग्रह अपनी-अपनी गतिसे सूर्यकी ओर बढ़ रहे हैं, सबका मुख सूर्यकी ओर है। पृथ्वीके साथ सबका सम्बन्ध है। प्रत्येक शान्ति और पुष्टिकर्ममें इनकी आराधना होती है। पृथक्-पृथक् अरिष्टके अनुसार भी इनकी पूजा की जाती है। इनमेंसे किसी

एकको प्रसन्न करके उनसे वाञ्छित फल भी प्राप्त किया जा सकता है। जिस ग्रहका जो वर्ण है, उसी रंगकी वस्तुएँ प्रायः पूजामें लगायी जाती हैं। मन्त्रका जितना जप होता है, उसका दशांश हवन होता है। हवनमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी समिधाएँ काममें लायी जाती हैं। सूर्यके लिये मदार, चन्द्रमाके लिये पलाश, मंगलके लिये खैर, बुधके लिये चिचिड़ा, बृहस्पतिके लिये पीपल, शुक्रके लिये गूलर, शनैश्चरके लिये शमी और राहुके लिये दूर्वा तथा केतुके लिये कुशका प्रयोग होता है। इस प्रकार पूजा करनेसे ये ग्रह सन्तुष्ट हो जाते हैं और किसी प्रकारका अनिष्ट न करके सब प्रकारसे इष्टसाधन करते हैं।

नवग्रहकी दोषशान्तिके लिये रत्न धारण किये जाते हैं—सूर्यके लिये माणिक्य, चन्द्रमाके लिये मोती, मंगलके लिये प्रवाल (मूँगा), बुधके लिये मरकतमणि, बृहस्पतिके लिये पुष्पराग, शुक्रके लिये हीरा, शनिके लिये नीलकान्तमणि, राहुके लिये गोमेद और केतुके लिये वैदूर्यमणि। इनके धारण करनेसे ग्रहोंके दोषकी शान्ति हो जाती है।*

ज्यौतिषके एक ग्रन्थमें मैंने पढ़ा था कि जो लोग पुराणोंकी कथा सुनते हैं, इष्टदेवकी आराधना करते हैं, भगवान्‌के नामका जप करते हैं, तीर्थोंमें स्नान करते हैं किसीको पीड़ा नहीं पहुँचाते, सबका भला करते हैं, सदाचारकी मर्यादाका उल्लङ्घन नहीं करते, शुद्ध हृदयसे अपना जीवन व्यतीत करते हैं, उनपर ग्रहोंका प्रभाव नहीं पड़ता। उनको पीड़ा न पहुँचाकर वे उन्हें सुखी करते हैं। उस श्लोकका अन्तिम चरण यह है—

नो कुर्वन्ति कदाचिदेव पुरुषस्यैवं ग्रहाः पीडनम्।

शरीर, वाणी और मनके दोषोंका त्याग करो

१—(१) किसीको पीड़ा पहुँचाना—मारपीट करना, (२) व्यभिचार करना, (३) किसीकी चीजको चुराना, (४) अकड़कर चलना और अपवित्र रहना और (५) व्यर्थ चेष्टा करना आदि शरीरके दोष हैं।

२—(१) असत्य बोलना, (२) किसीकी निन्दा या चुगली करना, (३) कड़वा बोलना, गाली देना, शाप देना आदि, (४) अपनी बड़ाई करना और (५) व्यर्थ बातें, परचर्चा आदि करना—वाणीके दोष हैं।

३—(१) विषाद करना, (२) निर्दय विचार करना, (३) व्यर्थ चिन्तन करना, (४) मनको वशमें न करके भटकने देना, (५) दूषित और अपवित्र विचारोंको रखना—ये मनके दोष हैं।

इनको छोड़ो और इनकी जगह—

१—शरीरसे—देवता, द्विज, गुरु और ज्ञानियोंकी सेवा करो, स्नानादिसे पवित्र रहो, शरीरको सरल रखो, ब्रह्मचर्यका पालन करो और अहिंसा-भाव धारण करो।

२—वाणीसे—ऐसे वचन बोलो जिनसे किसीको उद्वेग न हो, जो सुननेमें प्रिय लगें, हित करनेवाले हों और सच्चे हों। ऐसे वचनोंके सिवा अन्य समय शास्त्रोंका पाठ करो और भगवान्‌के नामका जप-कीर्तन करो।

३—मनको प्रसन्न, शान्त, मौन (भगवान्‌के मननमें परायण), अपने वशीभूत और पवित्र कल्याणकारी विचारों तथा भावोंसे भरा रखो।

—और शरीर, वाणी, मनके इन पवित्र कार्योंको लोगोंको दिखलानेके लिये, सत्कार-मान, पूजा-प्रतिष्ठा पानेके लिये न करके भगवत्पूजाके भावसे करो। फलस्वरूप तुम्हें भगवत्प्राप्ति हो जायगी।

* 'सुश्रुत' के अनुसार बालकोंपर आक्रमण करनेवाले नव बालग्रह और हैं। ये दिव्य देहविशिष्ट हैं—इनमेंसे कुछ पुरुष हैं और कुछ स्त्रियाँ हैं। इनके नाम है—स्कन्द, स्कन्दापस्मार, शकुनीग्रह, पूतनाग्रह, अन्धपूतनाग्रह, शीतपूतना, रेवतीग्रह, मुखमन्तिकग्रह और नैगमग्रह।

हनुमत्-उपासना

(लेखक—पं० श्रीहनूमानजी शर्मा)

अतुलितबलधामं हेमशैलाभदेहं
दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं
रघुपतिप्रियभक्तं वातजातं नमामि॥ १॥

(१) पुराणोंसे मालूम हो सकता है कि हनूमान्जी पवनके पुत्र और रुद्रके अवतार हैं। देव, दानव और मानव-सृष्टिमें इनका मान और महत्त्व सर्वोच्च है। जिस समय यह जन्मे, उस समय ब्रह्मा, विष्णु, महेश, यम, वरुण, कुबेर, अग्नि, वायु, इन्द्रादिने इनको अजरामर किया था और इन्हें अनेक प्रकारके वर दिये थे।

(२) जिस प्रकार ध्यान, धारणा और समाधिके प्रभावसे रुद्रादिका सर्वाधिक सम्मान है, उसी प्रकार हनूमान्जी अखण्ड ब्रह्मचर्यके पालनसे अधिक पूजित और प्रसिद्ध हुए हैं और इसी कारण इनकी उपासना सर्वत्र है।

(३) पुराणों और रामायणोंमें इनके अद्भुत चरित्रोंका अनेक स्थानोंमें वर्णन आया है। धर्मशास्त्रोंमें इनकी सेवा-पूजा और स्तोत्रपाठादिका महत्फल बतलाया है। और आराधनाके ग्रन्थोंमें इनकी उपासनाके लोकोत्तर फल देनेवाले विधान हैं। इनके सिवा कुछ ज्ञातव्य बातोंका उल्लेख यहाँ किया जाता है।

(४) उपासक लोग अपनी भावनाके अनुसार हनूमान्जीको वीर और दास दोनों रूपोंमें मानते हैं और आपद्विघ्नविनाशार्थ वीररूपकी तथा सुखलाभार्थ दासरूपकी आराधना करते हैं। शास्त्रोंमें दोनोंके ध्यान और विधान हैं और वीरके लिये राजस तथा दासके लिये सात्त्विक उपचारोंका उल्लेख है।

(५) वास्तवमें हनूमान्जीने समुद्रके लाँघने, सुरसा, लङ्किनी और अक्षयादिका क्षय करने, लंका जलाने, रावणादिका तिरस्कार करने और पातालमें प्रविष्ट हुए रामको लाने आदिमें सर्वोत्कृष्ट वीरत्व और स्वामीकी सेवा तथा भक्तोंकी अभीष्टसिद्धि आदिमें सर्वाधिक दासत्व दर्शाया था। ऐसे सर्वोत्तम देवकी उपासना अवश्य ही हितकारिणी होती है।

(६) अनुष्ठानप्रकाशादिमें हनूमान्जीकी उपासनाके अद्भुत और अनुभूत अनेकों अनुष्ठान हैं। उनसे यह शीघ्र प्रसन्न होते हैं। इसके सिवा मन्त्रमहोदधि, मन्त्रमहार्णव और मन्त्रसङ्ग्रहादिमें इनके प्रत्यक्ष होनेके उपाय भी हैं और 'हनुमत्-उपासना-कल्पद्रुम' तो इस विषयका सर्वोत्तम ग्रन्थ है ही। उपासकोंको चाहिये कि उनका अनुभव करें।

(७) हनुमान्जीकी उपासनामें पूजा-जप-पाठ और पताकादिका परिलेख मुख्य है और भक्ति, श्रद्धा, समर्पण तथा संलग्न होना आवश्यक है। इन सबके विधान उपर्युक्त ग्रन्थोंमें भलीभाँति लिखे हैं। अतः यहाँ उनकी पुनरावृत्ति आवश्यक नहीं, केवल ज्ञातव्य बातोंका उल्लेख ही आवश्यक है।

(८) पूजा—पञ्चोपचार, दशोपचार और षोडशोपचारादि उपचारोंका उपयोग कामनाके अनुसार किया जाता है। विशेषता यह है कि जो उपचार आरम्भमें हो, समाप्तितक उसीको रखना चाहिये। अधिकांश उपासक शीघ्रतामें पञ्चोपचार, अवकाशमें षोडशोपचार, अनुपलब्धिमें मानसोपचार और स्वार्थसिद्धिमें राजोपचारसे पूजा करते हैं। परन्तु ऐसा करनेमें लोभ-विलोम होना सम्भव है।

(९) आराधनाके ग्रन्थोंमें षोडशोपचार पूजा सबमें है। इसमें १ आवाहन, २ आसन, ३ पाद्य, ४ अर्घ्य, ५ आचमन, ६ स्नान, ७ वस्त्र (यज्ञोपवीत), ८ गन्ध, ९ अक्षत, १० पुष्प, ११ धूप, १२ दीप, १३ नैवेद्य, १४ पुनराचमन, १५ ताम्बूल और १६ दक्षिणा-प्रदक्षिणा या नीराजन किया जाता है। पूजापद्धतिमें इसके सब विधान हैं, उन्हींके अनुसार करना चाहिये। यह विशेष है कि—

(१०) स्नानमें कूपादिका शुद्ध, सद्य और गन्धादियुक्त जल लिया जाय; और पर्वोत्सवादिमें दूध, दही, घी, मधु और चीनीके 'पञ्चामृत' से स्नान कराके फिर शुद्धोदकसे स्नान कराया जाय। 'उद्वर्तन' की जगह तिलोंके तेलमें मिले हुए सिन्दूरका सर्वाङ्गमें लेपन किया जाय। इससे हनूमान्जी प्रसन्न होते हैं। कारण यह है कि लङ्काविजयके बाद रामचन्द्रजीने सुग्रीवादिको पारितोषिक दिया, उस समय सीताजीने हनूमान्जीको कई कोटिके मोतियोंकी माला दी थी; किन्तु उसमें राम-नाम न होनेसे वे उदासीन रहे। तब सीताजीने अपने सीमन्तका 'सिन्दूर' देकर कहा कि यह मेरा मुख्य सौभाग्य-चिह्न है और

इसको मैं धन-धाम और रत्नादिसे भी अधिक प्रिय मानती हूँ, अतः तुम इसको सहर्ष स्वीकार करो। तब हनूमान्‌जीने सिन्दूरको अङ्गीकार कर लिया। इसी हेतुसे उपासक लोग हनूमान्‌जीके अङ्गमें तैल-मिश्रित सिन्दूरका लेप करते हैं और मन्त्रशास्त्रोंके मतसे यह आकर्षक भी है। अस्तु,

(११) गन्धमें शुद्ध केसरके साथ घिसा हुआ मलयागिरिचन्दन चढ़ावे या लालचन्दन। पुष्पोंमें पुरुषवाची नामके लाल-पीले गम्भीर और दीर्घकाय पुष्प (यथा कमल, केवड़ा, हजारा और सूर्याभिमुख सूर्यमुखी आदि) अर्पण करे। यह विशेष है कि 'देवशयनी' (आषाढ़ शुक्लैकादशी)-से 'देवप्रबोधिनी' (कार्तिक शुक्लैकादशी)-तक (१२१ दिनमें) प्रतिदिन १०८ 'तुलसीपत्रों' पर कदम्बकी कलम और अष्टगन्धसे 'राम' नाम लिखकर गन्धादिसे पूजित करके, '**ॐ हनुमते नमः**' के उच्चारणसे एक-एक पत्र हनूमान्‌जीके शिरोधार्य करावे। इस प्रयोगसे अनेक अनिष्ट दूर होते हैं।

(१२) नैवेद्य—प्रातः पूजनमें गुड़, नारियलका गोला, मोदक, मध्याह्नमें गुड़, घी, और गेहूँका चूरमा या स्निग्ध रोट और रात्रिमें आम, अमरूद या केला आदि अर्पण करने चाहिये। चूरमा प्रतिदिन न हो सके तो मंगलवारको अवश्य बनावे और उसी प्रसादका भोजन करके एकभुक्त 'भौमव्रत' करे। यदि मौन रहकर वाम करसे भोजन किया जाय तो यह व्रत ऋणमोचनमें अधिक उपयोगी है।

(१३) नीराजन घीमें भीगी हुई एक या पाँच बत्तियोंसे करना चाहिये और पर्वोत्सव या महापूजामें ५, ११, ५० या १०८ से करना चाहिये। उस अवसरपर शङ्ख, रणसिंगा, विजयघंट और नगारा आदिकी ध्वनि हो तो और भी अच्छा है। प्रायः सभी देवमन्दिरोंमें 'चरणामृत' वितरण किया जाता है। सम्भवतः रुद्रावतार होनेसे हनूमान्‌जीके चरणामृतका प्रचार कम है। परन्तु उपासकके लिये उपास्यका चरणोदक त्याज्य नहीं।

(१४) पूजनके पश्चात् उपास्यदेवका जप किया जाता है। उसके तीन प्रकार हैं—वाचिक, उपांशु और मानसिक। इनमें जिसका उच्चारण दूसरेको सुनायी दे, वह 'वाचिक'; जिसमें होंठ और जीभ हिलते रहें किन्तु उच्चारण सुनायी न दे, वह 'उपांशु' और होंठ बंद रहें, जीभ चिपकी रहे और जप मनमें होता रहे वह 'मानस' है। इनमें मानस जपके साथ आराध्यदेवके स्वरूपका ध्यान करना आवश्यक है।

(१५) त्रिकालदर्शी तत्त्वज्ञ महर्षियोंने आराध्यदेवोंके विज्ञानमय ध्यान नियत किये हैं। उनके स्वरूपको हृदयङ्गम करना चाहिये। '**अथ स्वस्थाय०**' ईश्वरका ध्यान है, '**चिन्मयस्या०**' ब्रह्मका, '**वक्रतुण्डाय०**' गणेशका और '**शुक्लां ब्रह्मविचार०**' शारदाका है। इसी प्रकार और भी हैं। हनूमान्‌जीके अनेक ध्यान हैं। कारण यह है कि यह अजरामर हैं, ब्रह्मस्वरूप माने गये हैं, रुद्रावतार हैं, इन्होंने बड़े-बड़े अनेक काम किये हैं, समय-समयपर इनके अनेक स्वरूप हुए हैं। परन्तु सकाम उपासनामें कामनाके अनुकूल स्वरूपका तथा निष्काम उपासनामें व्यापक स्वरूपका ध्यान करना चाहिये। यहाँ—

(१६)

उद्यन्मार्तण्डकोटिप्रकटरुचियुतं चारुवीरासनस्थं
मौञ्जीयज्ञोपवीतारुणरुचिरशिखाशोभितं कुण्डलाङ्कम्।
भक्तानामिष्टदं तं प्रणतमुनिजनं वेदनादप्रमोदं
ध्यायेद्देवं विधेयं प्लवगकुलपतिं गोष्पदीभूतवार्द्धिम्॥ २॥

उदय होते हुए प्रकाशमान सूर्य-जैसे तेजस्वी, मनोरम वीरासनसे स्थित, मूँजकी मेखला तथा यज्ञोपवीत धारण करनेवाले, लालवर्णकी सुन्दर शिखावाले, कुण्डलोंसे शोभित, भक्तोंको अभीष्ट फल देनेवाले, मुनियोंसे वन्दित, वेदनादसे हर्षित, वानरकुलके स्वामी और समुद्रको गोपदके समान लाँघ जानेवाले स्वरूपका ध्यान व्यापक या सर्वानुकूल प्रतीत होता है।

(१७) दूसरा प्रकार यह है कि जहाँ कहीं जिस मूर्तिके देखनेसे चित्त आकर्षित हो, उसे अनेक बार देखकर ऐसा अभ्यास कर लेना चाहिये कि नेत्र बंद करनेपर भी वह स्वरूप यथावत् दीखता रहे। इस प्रकार बाह्य दर्शनोंको हृदयङ्गम करके जप करते समय अन्तर्दर्शन करते रहना चाहिये। और जपोंकी संख्या मणियोंकी माला या अँगुलियोंकी करमालाके बदले वर्णमालात्मक मानसिक मालासे करनी चाहिये। इस क्रियासे हाथसे फिरनेवाली माला, मुँहसे होनेवाले जप और अन्तस्तलमें रहनेवाला मन इधर-उधर भटकनेके बदले एकत्र रहेंगे।

(१८) इस प्रकार जप, ध्यान और संख्या—इस 'मानसकी त्रिवेणी' में उपस्थित होकर करनेसे तामस, राजस और सात्त्विक सभी साधनाएँ शीघ्र सफल होती हैं और यदि इस प्रकारके जप निष्काम किये जायँ तो फिर अकेले हनूमान्‌जी ही नहीं, वह और उनके स्वामी

दोनों प्रत्यक्ष होकर उपासकके समीप बैठे रहें और उससे बात करनेकी बाट देखते रहें।

(१९) मनका एकाग्र करना मनुष्यके लिये असाध्य नहीं है। अभ्याससे दूसरे काम करते हुए भी मनको अपने लक्ष्यपर आरूढ़ रख सकते हैं। (१) अधिकांश अश्वारोही सेनासमूहके एकाधिक आक्रमणोंसे आक्रान्त होकर भी वृक्षशाखामें अटके हुए साथीको हठात् निकाल ले जाते हैं। (२) पचास फुट ऊँचे बाँसके सिरेपर निराधार सीधे सोये हुए नट-बालक अपने सिरपर रखे हुए पाँच बर्तनोंको नीचे नहीं गिरने देते। (३) विशेषज्ञ न्यायाधीश कई अभियोगोंकी अलग-अलग अपील एक बारमें सुनते हुए भी अपना आज्ञापत्र निर्दोष लिख देते हैं। (४) भारतमार्तण्ड पण्डित गट्टूलालजी विभिन्न भाषाओंमें पूछे हुए अनेक प्रश्नोंका यथायोग्य उत्तर एक ही बारमें देते थे। और (५) सिरपर जलपूर्ण दो घड़े तथा हाथोंमें रस्सी और लोटा लिये हुए मुँहसे वार्तालाप तो अनेक ग्रामीण स्त्रियाँतक करती हैं। अतएव अभ्यास करनेपर जिस प्रकार ये सब काम होते हैं, उसी प्रकार उपासकोंका मन भी एकाग्र हो सकता है। अस्तु।

(२०) इष्टदेवको प्रसन्न करनेके लिये तदनुकूल आचरणोंकी भी आवश्यकता होती है। हनूमान्जी रामचन्द्रजीके चरित्रोंसे प्रसन्न होते हैं। अतएव वाल्मीकि-रामायण, तुलसीकृत रामायण, मूलरामायण और सुन्दरकाण्ड आदिके सादे, सार्थ या सम्पुटसहित पाठ करने चाहिये। इनके सिवा कथा-वार्ता, पुराण-पाठ या रामलीला आदि जो भी अनुकूल हों, करने चाहिये।

(२१) प्रयोगादिके प्रारम्भमें '**प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा उपविश्य**' में कई जगह स्थानविशेषके कारण पूर्वाभिमुख होनेमें असुविधा हो जाती है। ऐसे अवसरमें '**पूज्यपूजकयोर्मध्ये पूर्वाशां चिन्तयेत्सुधीः**' के अनुसार पूज्य (गो, गुरु, द्विज, देवादि)-के सम्मुख बैठना चाहिये और '**देवो भूत्वा देवं यजेत्**' देवके समान होकर देवताका यजन करना चाहिये। अर्थात् त्रिनयन, चतुर्भुज, षण्मुखादिके अर्चनमें अपनेमें तत्तुल्य विधान (न्यास, मुद्रा और उपचारादि) करने चाहिये। साथ ही '**यथा देहे तथा देवे**'—जिस प्रकार पूजा आदिमें अपने शरीरके गन्धादि लेपन या अङ्गन्यासादि करते हैं, उसी प्रकार देवताके होने चाहिये। '**वित्तशाठ्यं न कारयेत्**'-धर्माचरणादिमें वित्त (या सामर्थ्य)-की शठता नहीं करनी चाहिये। अर्थात् धन, मन और समय जितना लगाया जा सके, उसमें सङ्कोच नहीं होना चाहिये।

परिशिष्टमें सम्पुटित पाठके कुछ मन्त्र सूचित कर देना प्रसङ्गके अनुकूल प्रतीत होता है। (१) उपर्युक्त रामायणादिमें किसीके भी '**ॐ रामाय नमः**' का पुट लगानेसे हनूमान्जी प्रसन्न होते हैं। (२) '**ॐ हनुमते नमः**' से कार्यसिद्धि होती है।

(३) **अञ्जनीगर्भसम्भूत कपीन्द्र सचिवोत्तम।**
रामप्रिय नमस्तुभ्यं हनूमन् रक्ष सर्वदा॥

—से रक्षा और अभीष्टलाभ होता है।

(४) **मर्कटेश महोत्साह सर्वशोकविनाशन।**
शत्रून् संहर मां रक्ष श्रियं दापय मे प्रभो॥

—से शत्रुनिवारण, आत्मसंरक्षण और सम्पत्प्राप्ति होती है।

(५) **आपदामपहन्तारं दातारं सर्वसम्पदाम्।**
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम्॥

—से सर्वापत्तियोंका निवारण, सर्वसम्पत्तियोंका पुनरागमन और सर्वप्रकारके अभीष्टोंकी सिद्धि होती है।

(६) **जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः।**
राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः॥
दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
हनूमाञ्शत्रुसैन्यानां निहन्ता मारुतात्मजः॥
न रावणसहस्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत्।
शिलाभिश्च प्रहरतः पादपैश्च सहस्रशः॥

(वा० रा० सुन्दर० ४२।३३—३५)

—से राष्ट्रविप्लव, मारीभय, महाशत्रुके आक्रमण, अनेक प्रकारकी असह्य आपत्तियाँ और देशोपद्रवादि शान्त होते हैं।

(७) और—

स देवि नित्यं परितप्यमान-
स्त्वामेव सीतेत्यभिभाषमाणः।
घृतव्रतो राजसुतो महात्मा
तवैव लाभाय कृतप्रयत्नः॥

(वा० रा० सुन्दर० ३६।४६)

—से उद्वाह या स्त्रीप्राप्ति होती है। अस्तु, उक्त मन्त्र विशेष कर वाल्मीकि रामायण, 'सुन्दरकाण्ड' और 'मूलरामायण' के उपयोगी हैं। सम्पुटित पाठके प्रयोगमें 'पहले मन्त्र, पीछे मूल, फिर मन्त्र, पीछे मूल और फिर

मन्त्र' इस क्रमसे पाठ किया जाय। पाठारम्भके पहले हनूमान्‌जीका पूजन, प्रार्थना और ध्यानादि किये जायँ। इस प्रकार प्रीति, उदारता और शान्तिके साथ करनेसे सब प्रकारके अभीष्ट सिद्ध होते हैं। इति शुभम्।

साधन और इष्टप्राप्ति

(लेखक—यो० श्रीउमेशचन्द्रजी)

मनुष्यमात्र सत्य-तत्त्वकी शोधमें लगा हुआ है। सत्यतत्त्वकी शोध ही साधन है। परन्तु यथार्थ साधन वही हो सकता है, जिसके द्वारा साध्य वस्तुकी प्राप्ति थोड़े परिश्रमसे और थोड़े ही समयमें हो जाय। संसारमें तीन प्रकारके मनुष्य हैं—उत्तम बुद्धि (तीव्र बुद्धि), मध्यम बुद्धि और कनिष्ठ बुद्धि (मन्दबुद्धि)। उत्तम बुद्धिवाले मनुष्योंको अधिक समयतक विशेष परिश्रमके साथ साधन करनेकी आवश्यकता नहीं होती। इनमें सत्त्वगुणकी अधिकता होनेसे इन्हें सत्त्व-गुणप्रधान भी कह सकते हैं। ये अपना और साथ-साथ जगत्‌का भी भला कर सकते हैं। मध्यम बुद्धिवाले रजोगुण प्रधान होते हैं। विश्वासपूर्वक यथोचित ढंगसे सब काम करनेपर भी मायाके वशीभूत होनेसे ये लोग साध्य वस्तुको जल्दी प्राप्त नहीं कर पाते। तीसरी श्रेणीके लोग तमोगुण-प्रधान, अतएव मूढ़ एवं अस्थिरबुद्धि होते हैं; अतएव वे साध्यकी प्राप्तिसे वञ्चित ही रह जाते हैं।

वर्तमान कालमें लोग रेलगाड़ी, वायुयान, मोटरगाड़ी, रेडियो, टेलीफोन आदि बाह्य साधनोंके द्वारा सुख-शान्ति प्राप्त करनेकी आशा करते हैं। परन्तु उन सब साधनोंसे शान्तिके बदले अशान्ति ही बढ़ती हुई देखी जाती है। जिस जमानेमें ये सब साधन नहीं थे, उस समय मानव-समाज अल्प समयमें अल्प परिश्रम और अल्प साधनोंके द्वारा ही सुख-शान्ति प्राप्त कर लेता था। परन्तु आज तो हम अंग्रेजी शिक्षाके प्रभावसे स्थूल और सूक्ष्म देहको सुख पहुँचाना ही अपना प्रधान लक्ष्य मान बैठे हैं और फलतः आत्मसुखरूप यथार्थ सुखसे उलटा ही मार्ग ग्रहण कर रहे हैं। आत्मसुख ही वास्तविक सुख है, इसके कुछ साधन पाठकोंके लाभार्थ नीचे बतलाये जाते हैं।

स्थूल, सूक्ष्म, कारण—इन तीन शरीरों अथवा अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश—इन पाँच कोशोंके परे आत्मा है। उस आत्माको जाननेका जो साधन है, वही मुख्य साधन है; बाकी सब साधन उसकी अपेक्षा गौण हैं। यहाँ एक शंका उपस्थित हो सकती है। वह यह कि परमात्मा यदि सर्वान्तर्यामी हैं, तो वे सबको सद्‌बुद्धि देकर एक ही समयमें सबका उद्धार क्यों नहीं कर देते? इसका कारण आर्य ऋषि-मुनि और अद्वैततत्त्वशास्त्र यह बतलाते हैं कि सुख-दुःख, मान-अपमान और बन्ध-मोक्ष आदि सब कुछ अज्ञानावस्थामें ही भासते हैं। ज्ञानावस्थामें तो सब कुछ ब्रह्मरूप भासने लगता है। जैसे जलके साथ अधिक शीतका संयोग होनेसे वह बर्फके रूपमें परिणत हो जाता है और बर्फ ही कहलाता है, मध्यम उष्णताका संयोग रहनेसे वह द्रवरूपमें रहता है और जल कहलाता है तथा अधिक उष्णताके संसर्गसे वह बाष्परूपमें परिणत हो जाता है और लोग उसे बाष्प ही कहते हैं, उसी प्रकार अज्ञानावस्थामें भिन्न-भिन्न नाम और रूप रहते हैं; देश, काल और वस्तु ब्रह्ममें कल्पित हैं।

जो उत्तम अधिकारी हैं अर्थात् जिनके अन्तःकरणके मल और विक्षेपरूप दोष नष्ट हो गये हैं, केवल आवरणमात्र शेष है, उनके उस आवरणको दूर करनेके लिये वेदान्त शास्त्रके निचोड़रूप चार महावाक्य पाये जाते हैं—(१) **अहं ब्रह्मास्मि** (मैं ब्रह्म हूँ), (२) **अयमात्मा ब्रह्म** (यह आत्मा ब्रह्म ही है), (३) **तत्त्वमसि** (वह ब्रह्म ही तू है) और (४) **प्रज्ञानं ब्रह्म** (वह ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है)। किसी कविने कहा है—

पढ़-पढ़के पत्थर भया, लिख-लिख भया है चोर।
जो पढ़नेसे साहिब मिलें, वह पढ़ना कछु ओर॥

पञ्चदशीकारने भी कहा है—

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ब्रह्मकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

जो बात अनेकों ग्रन्थोंमें कही गयी है, वह आधे श्लोकमें कही जाती है—ब्रह्म सत्य है; जगत् मिथ्या है; जीव ब्रह्म ही है, दूसरा कुछ नहीं। किन्तु जो मध्यम अधिकारी हैं अर्थात् जो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष

और अभिनिवेश—इन पञ्चक्लेशोंके वशीभूत हैं, उनके लिये सारे शास्त्रकी और उनमें बतलाये हुए विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति, मुमुक्षुत्व एवं श्रवण-मनन-निदिध्यासन आदि विविध साधनोंकी आवश्यकता होती है। कनिष्ठ अधिकारियोंके लिये तो शास्त्रके साथ तर्क-वितर्क, युक्ति-प्रयुक्तिकी भी आवश्यकता होती है।

पातञ्जल-योगदर्शनमें भी उत्तम अधिकारियोंके लिये समाधिपाद, मध्यम अधिकारियोंके लिये साधनपाद और कनिष्ठ अधिकारियोंके लिये विभूतिपादकी रचना की गयी है। वर्तमान कालमें विभूतिपादको माननेवाले अर्थात् सिद्धि एवं चमत्कारके रूपमें आत्माका दर्शन पानेकी इच्छा रखनेवाले अधिक मिलेंगे। ऐसे व्यक्ति पुरुषार्थको गौण और प्रारब्धको मुख्य मानते हैं। किन्तु योगशास्त्रका कथन तो यह है कि पुरुषार्थको मुख्य मानो और प्रारब्धको गौण। पूर्वकालके बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानी तथा श्रीरामकृष्ण परमहंस, श्रीस्वामी रामतीर्थ आदि आधुनिक कालके महापुरुषोंने भी पुरुषार्थके द्वारा ही आत्मदर्शन प्राप्त किया। उनके जीवनपर दृष्टि डालनेसे पता लगता है कि उनका एक मिनट भी व्यर्थ नहीं जाता था।

मेरे विचारसे सर्वसाधारणके अनुकूल मार्ग तो यह है कि सबसे पहले शरीरको सुदृढ़ बनाया जाय। शास्त्रोंमें भी कहा है—

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।

'शरीरकी रक्षा ही धर्मका प्रथम साधन है।'

स्वास्थ्य ठीक रहनेसे मनकी स्थिरता भी रह सकती है। इसलिये अष्टाङ्गयोगमें बताये हुए अनुकूल आसन एवं प्राणायामका प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिये और पुरुषार्थको मुख्य समझकर अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्तव्यका श्रद्धापूर्वक पालन करते रहना चाहिये। तथा जलमें कमलकी भाँति निर्लेप रहकर जीवन बिताना चाहिये।

छः महीनेमें ब्रह्मप्राप्तिके साधन

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं कोष्ठे भाण्डमना इव। एकाग्रं चिन्तयेन्नित्यं योगान्नोद्वेजयेन्मनः॥
येनोपायेन शक्येत सन्नियन्तुं चलं मनः। तं च युक्तो निषेवेत न चैव विचलेत्ततः॥
शून्या गिरिगुहाश्चैव देवतायतनानि च। शून्यागाराणि चैकाग्रो निवासार्थमुपक्रमेत्॥
नाभिष्वजेत्परं वाचा कर्मणा मनसापि वा। उपेक्षको यताहारो लब्धालब्धे समो भवेत्॥
यश्चैनमभिनन्देत यश्चैनमपवादयेत्। समस्तयोश्चाप्युभयोर्नाभिध्यायेच्छुभाशुभम्॥
न प्रहृष्येत लाभेषु नालाभेषु न चिन्तयेत्। समः सर्वेषु भूतेषु सधर्मा मातरिश्वनः॥
एवं स्वस्थात्मनः साधोः सर्वत्र समदर्शिनः। षण्मासान्नित्ययुक्तस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥

(महा० शान्ति० २४०। २६—३२)

धनमें जिसका मन होता है। वह जैसे धनकी चिन्ता करता है, वैसे ही योगी इन्द्रियोंको नियममें रख एकाग्र हो आत्माका चिन्तन करे,योगसे मनको उद्विग्न न होने दे। जिन साधनोंसे चञ्चल मन वशमें हो सकता हो, उनका सेवन करे और उन साधनोंसे हटे नहीं। योगी मनको एकाग्र करके पर्वतोंकी निर्जन गुफाओंमें, देवताओंके मन्दिरोंमें अथवा शून्य गृहोंमें रहनेका उपक्रम करे। योगी मन, वाणी तथा कार्यसे किसीका भी संग न करे, क्योंकि वस्तुओंका संग्रह अथवा संग योगियोंको दुःखदायी हो जाता है। सबकी ओरसे उपेक्षा रखे, नियमित रीतिसे आहार करे, लाभसे प्रसन्न न हो, और हानिसे उदास भी न हो। निन्दा करनेवाले और प्रणाम करनेवालेपर समानदृष्टि रखे, किसीकी भलाई-बुराईका चिन्तन न करे, लाभ होनेपर हर्षित न हो और हानि होनेपर चिन्ता भी न करे। सब प्राणियोंपर समभाव रखे और वायुके समान कहीं आसक्त न हो। इस प्रकार मनको स्वस्थ रखनेवाला साधनामें लगा हुआ, सर्वत्र समदृष्टि रखनेवाला छः महीनेतक नित्य नियममें रहनेवाला पुरुष ओंकारस्वरूप ब्रह्मका दर्शन करके ब्रह्मरूप हो जाता है।

साधनकी साध

(लेखक—'श्रीजयराम')

आकाशमण्डलमें तारागण अपने मन्द-मन्द प्रकाशसे सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करनेका पूर्ण परिश्रम कर रहे हैं किन्तु निशानाथ श्रीचन्द्रदेवके बिना उनका श्रम सफल नहीं हो रहा है। अन्धकारमयी रजनीकी नीरवता सहसा सारमेय भङ्ग कर देते हैं। पहरेदारोंकी आवाजें इधर-उधरसे आकर वायुको चीरती हुई दूरतक निकल जाती हैं। ऐसी गम्भीर रात्रिमें श्रीयुत यादवेशजी अपनी मनोहर अट्टालिकापर शयन कर रहे हैं।

स्वप्नमें उन्होंने देखा—महासागरकी उत्तुङ्ग शैल-शिखरोंके समान भयंकर तरंगें उठ रही हैं और मैं उस भयंकर समुद्रमें डूब और उछल रहा हूँ। व्याकुल होकर चीखने-चिल्लाने लगे; परन्तु वहाँपर कोई भी पुकार सुननेवाला न था। अत्यन्त घबड़ाकर उन्होंने भगवान्का स्मरण किया। सहसा एक महात्मा उस महासागरके जलपर चलकर आते हुए नज़र आये। उन तेजोमय महात्माजीने अत्यन्त शीघ्रतासे आकर कहा—'यादवेश! तू जिस भयंकर सागरमें डूब और उछल रहा है, उसी सागरमें मैं आनन्दपूर्वक जलपर चल रहा हूँ। मुझे इस समुद्रसे जरा भी क्लेश नहीं। देख! मुझमें और तुझमें क्या फर्क है, इसका कारण तू जानता है?'

'नहीं, भगवन्! मैं नहीं जानता। मुझे तो बस, इस सागरसे निकाल दीजिये। मैं आपकी शरण हूँ, आप इस विपत्तिसे मुझे शीघ्र बचाइये।' भयसे व्याकुल होकर यादवेशने उत्तर दिया।

यादवेश फिर गोता खाना ही चाहते थे कि उन दयालु महात्माजीने हाथ पकड़कर उन्हें निकाल लिया। बस, आँखें खुल गयीं। प्रातःकाल उसी स्वप्नकी अद्भुत घटनापर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए बारंबार उद्विग्न होने लगे। स्नान करनेके लिये बैठे, परन्तु घंटोंतक स्नान समाप्त नहीं हुआ; क्योंकि उनका मन विचारधारामें स्नान कर रहा था।

मध्याह्नकालमें चिन्ताका कारण पूछती हुई पत्नीको कुछ भी उत्तर न देकर श्रीयादवेशजी अपने एक मित्रसे मिलने चल दिये। मार्गमें भी उनका चित्त विक्षिप्त था। विचारोंमें निमग्न होनेके कारण उन्होंने परिचित सज्जनोंको मार्गमें नमस्कार भी न किया।

सहसा उन्होंने सामने एक आश्चर्य देखा। वे ही महात्मा, जिनको स्वप्नमें सागरसे अपनेको निकालते हुए देखा था, मुस्कराते हुए आ रहे थे। वैसे ही वस्त्र थे, वैसा ही कमण्डलु था, वैसी ही मूर्ति थी। भलीभाँति पहचानकर यादवेशजीने दौड़कर महात्माजीके चरण पकड़ लिये।

महात्माजीने आशीर्वाद दिया। प्रेम प्रदर्शित करते हुए यादवेशजी महात्माजीको आग्रहपूर्वक अपने गृहमें लिवा लाये। नाना प्रकारसे पूजन करके फल आदि समर्पण किये। सत्कारसे तृप्त करके यादवेशजीने बातों-ही-बातोंमें सत्सङ्ग प्रारम्भ कर दिया।

'महाराज! मैं अनुभव कर रहा हूँ कि यह संसार-सागर महाभयङ्कर है। जन्म-मरणके भयावह दृश्य मेरे मस्तिष्कमें घूम रहे हैं। इस सम्पूर्ण जगत्को मैं मायामय देख रहा हूँ। थोड़ा-सा जीवन है; मैं चाहता हूँ कि एक-एक क्षण व्यर्थ न खोकर परमार्थ-साधनमें लगाऊँ। यों तो अनेक साधन हैं; परन्तु मोक्ष-प्राप्तिका सर्वश्रेष्ठ साधन क्या है? वह मुझे बतलाइये।' यादवेशजीने पूछा।

'वास्तवमें प्रश्न अद्भुत है। मोक्षप्राप्तिका सर्वश्रेष्ठ साधन क्या है, इस विषयमें विद्वान् भी मोहित हैं। लेकिन मेरा इस विषयमें एक अपूर्व अनुभव है। उस साधनका मैं वर्णन करूँगा; परन्तु किसीसे कहना नहीं। देखो!—'

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

'जो बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है अर्थात् वासुदेवके अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं—इस प्रकार मुझे भजता है, वह महात्मा अति दुर्लभ है।'

यही मेरे मतसे सर्वश्रेष्ठ साधन है। सर्वत्र भगवान् हैं, चारों ओर वही हैं; पशु-पक्षी, पेड़-पत्थर सब कुछ वही हैं—निरन्तर ऐसा ध्यान करनेसे तुम्हारी स्थिति एकदम बदल जायगी।' महात्माजीने उत्तर दिया।

यादवेशजी और कुछ प्रश्न करना ही चाहते थे कि महात्माजी उठे और 'फिर मिलेंगे' कहते हुए एक ओर

चल दिये। यादवेशजी मन्त्रमुग्धकी तरह प्रणाम करके रह गये।

महात्माजीका बताया हुआ साधन उनके हृदयमें चुभ गया। आगे-पीछे दायें-बायें सर्वत्र वे भगवद्दर्शन करने लगे। चारों ओर भगवान् ही भरे हैं, ऐसा उन्हें अनुभव होने लगा। आकाश, वायु, पृथ्वी, जल, अग्नि, तारागण, सूर्य, चन्द्र आदि सब कुछ भगवन्मय दिखलायी देने लगा। उनका मन निर्मल और शान्त हो गया। चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते यही एक अनुसन्धान था। बातचीत करनेमें उन्हें आनन्द नहीं था, भोजन करनेमें स्वाद नहीं था। सम्पूर्ण विकारोंसे उनका मन रहित हो गया।

सारा संसार ही परमात्माका रूप है—ऐसा देखनेवाला प्राणी किसपर क्रोध करे, किससे द्वेष करे, किससे कपट करे, किससे लोभ करे, किससे मोह करे, किसे छोटा माने, किसे बड़ा माने, किससे अभिमान करे और किसकी वासना करे? उसका मन गंगाजलकी तरह निर्मल हो जाता है। पापोंका नाश और परमात्माका प्रकाश हो जाता है। अज्ञान चूर हो जाता है, अन्धकार दूर हो जाता है।

श्रीयादवेशकी स्थितिमें भारी परिवर्तन हो गया। वे अपनेको अद्भुत स्थितिमें देखने लगे। उनकी बुद्धिमें सर्वात्मभाव भर गया। रोम-रोममें दिव्यता दर्शित होने लगी। तीन दिनोंतक उन्होंने अलौकिक भावमें रहकर चौथे दिन अपनी दिनचर्या निर्धारित की।

ब्राह्ममुहूर्तमें तीन बजे उठकर स्नान करके आसनपर बैठ जाते और दस बजेतक ध्यान करते। भोजनादिसे निवृत्त होकर ज़मीदारीका काम-काज देखते और चार बजे नदीतटपर चले जाते। वहाँपर एकान्तमें बैठकर गीतापाठ एवं अजपाजाप करते थे। रात्रिमें नौ बजे लौटकर गृहमें आते और भोजनादिके पश्चात् एक घंटे फिर ध्यान करके शयन करते थे।

इस प्रकार अखण्ड तैलधारावत् उनका साधन चलने लगा। उनकी साधनाने उन्हें दिव्य आनन्दसे भर दिया। निरन्तर एक अलौकिक स्फूर्ति-सी दर्शित होने लगी। जिस समय वे ध्यान करने बैठते थे, उस समय भृकुटिके मध्यमें उन्हें प्रकाशका दर्शन होता था। वह प्रकाश झिलमिलाता था, किन्तु स्थिर नहीं होता था।

साधनकी साध अखण्ड थी और साधनमें सिद्धि भी प्राप्त होनेवाली थी कि सहसा ब्रह्मादि देवशिरोमणियोंको नचानेवाली माया-नटीने एक फंदा फेंका। उनके हृदयमें एक वासना उत्पन्न हुई। वह वासना यद्यपि सात्त्विक थी, परन्तु उसका परिणाम हानिकर था। श्रीयादवेशजीने विचार किया कि इस नदीतटपर एकान्तमें एक भवन बनवा लूँ और बस, यहींपर निवास करूँ। गृहमें आने-जानेका झगड़ा ही न रहे। ऐसा विचार करके उन्होंने नदीतटपर लगे हुए वृक्षोंको कटवाकर भवन बनवाना प्रारम्भ कर दिया। नाना प्रकारकी चिन्ताओंने आकर हृदयपर बरबस अधिकार कर लिया।

मजदूरोंको काम बतलाना, ईंट, पत्थर, चूना आदि मँगवाना, मकान ऐसा नहीं ऐसा होना चाहिये—बस, इसी प्रकारकी घोर चिन्ता उन्हें निरन्तर फँसाने लगी। भजन भूल गये। जिस समय भजन-ध्यानमें बैठते, उस समय मकानकी दीवालें और मजदूरोंकी हलचल उनके दिमागमें घूमने लगतीं। सारा साधन चौपट हो गया। फँस गये चक्करमें। मकान बनते-बनते चार महीने हो गये। अभी आधा मकान बनना और बाकी है। इतने दिनोंमें उनकी दिव्य स्थिति, जो साधनोंसे उत्पन्न हुई थी, लुप्त हो गयी। भजन करनेमें उन्हें आलस्य आने लगा। बना-बनाया खेल बिगड़ गया।

एक दिन सन्ध्याके समय मजदूरोंकी मजदूरी बाँट रहे थे कि सहसा उन्होंने महात्माजीको आते देखा—वही महात्माजी, जिन्होंने उनका उद्धार किया था। देखते ही यादवेशजीने चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। महात्माजीने आशीर्वाद दिया और एकान्तमें ले जाकर बोले—'आपने बड़ी भारी भूल की। यदि आपका पूर्ववत् साधन चलता रहता तो अवश्य ही अबतक आपको सब कुछ प्राप्त हो गया होता। देखो! आपने भवन बनवानेमें चार महीने खर्च कर दिये और अभी कई महीने और लगेंगे, तब यह बनकर तैयार होगा। परन्तु अब आपकी आयुके केवल दो ही हफ्ते बाकी हैं। पंद्रहवें दिन आपका यह शरीर छूट जायगा। मायाने भ्रममें डालकर आपको व्यर्थके कार्यमें लगा दिया। इतने दिनमें आपकी भजन-शक्तिका ह्रास हो गया। अब पंद्रह दिनोंमें जो कुछ करना चाहो कर लो, वरना पछताओगे। छोड़ो इस इमारतके झंझटको।'

इतना कहकर वह महात्माजी शीघ्रतासे चले गये। श्रीयादवेशजी महात्माजीके मुखसे यह आश्चर्य सुनकर घबड़ा गये। उन्हें अपनी भूल स्पष्ट दिखायी देने लगी। पश्चात्तापसे उन्होंने रोना प्रारम्भ कर दिया। इमारत बनवाना बंद कर दिया और पूर्ववत् भजन-कार्यमें

संलग्न हो गये। क्षण-क्षणमें उन्हें अपनी भूलपर घोर दु:ख होने लगा। आँखें हर-वक्त डबडबायी रहने लगीं। पन्द्रह दिनोंतक उन्होंने भोजनादि अति सूक्ष्म करके अपना सारा समय केवल भजनमें ही व्यतीत किया। भगवान्‌का ध्यान करते और गुरुदेवका स्मरण करते हुए तथा सर्वत्र परमात्माकी भावना करते हुए श्रीयादवेशजीने अपनी यह लीला समाप्त की। उनका हृदय अन्त समयमें वासुदेवका निज निकेतन बन गया था।

भोजन-साधन

१—शुद्ध कमाईका अन्न खाओ; जो पैसा चोरीसे, छलसे, बेईमानीसे, दूसरेके हकको मारकर आया हुआ हो, उससे मिला हुआ अन्न बहुत दूषित होता है और बुद्धिको सहज ही बिगाड़ देता है।

२—हर किसीके साथ न खाओ। बुरे परमाणु तुम्हारे अंदर आ जायँगे।

३—जूठा कभी किसीका मत खाओ। रोग बढ़ेगा।

४—नियमित भोजन करो, भूखसे कुछ कम खाओ। अपनी प्रकृतिसे प्रतिकूल चीज मत खाओ।

५—स्वादकी दृष्टिसे मत खाओ—शरीररक्षाके लिये सात्त्विक आहार करो।

६—क्रोधी, कामी, वैरी, संक्रामक रोगोंसे आक्रान्त, हीन जाति और हीन कुलके लोगोंके साथ न खाओ।

७—ऐसी जगह मत खाओ, जहाँ कुदृष्टि पड़ती हो।

८—अतिथि, रोगी, गर्भिणी स्त्री, गुरु, ब्राह्मण, आश्रितजन और गौ, कुत्ते, चींटी, कौवे आदिको आदरसे खिलाकर पीछे खाओ।

९—रोज बलिवैश्वदेव करके खाओ।

१०—भगवान्‌को या अपने इष्टदेवको अर्पण करके खाओ। जो भगवान्‌को निवेदन न करके खाता है, वह गंदी चीज खाता है।

११—जूठन मत छोड़ो। बिना भूख लगे मत खाओ, जितना आसानीसे पचा सको उतना ही खाओ।

१२—तुम्हारा खाना जिसको भार मालूम होता हो, उसके घर न खाओ।

१३—भोजन करनेके पहले अन्नको प्रणाम करो, भोजनके समय ध्यान करो कि यह पवित्र भोजन मुझको पवित्र करेगा, बल देगा, ओज देगा और भगवान्‌की भक्ति देगा। और प्रत्येक ग्रास भगवान्‌का स्मरण करके मुँहमें लो।

१४—भोजनको अन्तर्यामी भगवान्‌की तृप्तिके लिये करो, यज्ञकी भावनासे करो—जीभके स्वाद या अपनी तृप्तिके लिये नहीं।

१५—बहुत मसाले, खट्टी, चटपटी, बहुत मिठाई आदि न खाओ।

१६—घरमें सबको बाँटकर खाओ, चुराकर न खाओ।

१७—पङ्क्तिमें भेद न करो, अपने लिये बढ़िया लेकर दूसरोंको घटिया चीज मत दो।

१८—रोज स्नान, सन्ध्या, तर्पण, श्राद्ध और बलिवैश्वादि करनेके बाद भोजन करो।

१९—भोजनके समय मौन रहो।

२०—ताँबेके बरतनमें दूध न पीओ, जूठे बरतनमें घी न खाओ और दूधके साथ कभी नमक न खाओ।

२१—भोजन चबाकर करो, बहुत जल्दी-जल्दी न खाओ।

२२—पूर्वकी ओर मुख करके भोजन करो, पश्चिम और दक्षिणकी ओर मुख करके भोजन करना भी बुरा नहीं है। जिसके माता-पिता जीवित हों, वह दक्षिणकी ओर मुख करके भोजन न करे। उत्तरकी ओर मुँह करके भोजन नहीं करना चाहिये।

२३—दोनों हाथ, दोनों पैर और मुँहको पहले खूब धोकर भोजन करो। भोजनके बाद हाथ-मुँह धोना, कुल्ले करके मुँह साफ करना, दाँतोंमें लगे हुए अन्नको निकालकर फिर मुँह धोना चाहिये। भोजनके बाद मुँह साफ करनेके लिये पान खाना बुरा नहीं है।

२४—एकादशी, अमावास्या, पूर्णिमा आदिके दिन उपवास करो।

हंस

(लेखक—श्रीआत्मारामजी देवकर)

(१)

वह कमलके नीचे खड़ी थी। कमलकी मृदुल-कलेवरा शुभ्र कलिका झुककर उसके सिरपर नाच रही थी। ऊपर अनन्त एवं असीम आकाश था, नीचे सुविशाल मानसरोवर लहरा रहा था। वह स्थान जनसमागमशून्य था। सुन्दर सुरम्य नैसर्गिक दृश्य चित्तको चञ्चल कर रहे थे। पर वे थे किसके लिये—कोई निश्चयपूर्वक कह सकता है?

(२)

हंसके एक जोड़ेने आकर पूछा—'तुम कौन हो और यहाँ क्या कर रही हो?' उसने मुस्करा कर उत्तर दिया—'तुम्हीं बतलाओ तुम कौन हो और यहाँ क्या कर रहे हो?'

हंसने उत्तर दिया—'हम यहीं उत्पन्न होते हैं और मोती चुगकर आनन्दसे अपना समय बिताते हैं। हमें लोग हंस कहते हैं।'

उसने कहा—'मैंने सुना है कि तुम क्षीर-नीरका पृथक्करण कर सकते हो। क्या यह बात सच है?' हंसने उत्तर दिया—'अवश्य ही'। उसने प्रशंसाके रूपमें कहा—'तब तुम्हीं सच्चे न्यायी हो। बतलाओ कमल मेरे शीशपर क्यों नृत्य करता है?'

हंसिनीको वहीं छोड़कर हंस उड़ गया।

(३)

हंसके चले जानेसे हंसिनीको बड़ा दुःख हुआ। दूसरे हंसके जोड़ोंको क्रीड़ा करते देख उसके हृदयमें विरहकी व्यथा उत्पन्न होती थी। पर वहाँ सुनने और देखनेवाला कोई न था, सब अपने-अपने सुखमें मग्न थे। वह उदास मुखसे सरोवरके किनारे बैठी रहती और उसकी हिलोरोंको निर्निमेष नेत्रोंसे देखा करती थी। एक दिन एक रमणीमूर्तिने उसे अधिक व्यथित देखकर प्रश्न किया—'तुम्हारे दुःखका क्या कारण है?' हंसिनीने अनिच्छासे कहा—'मुझे हंसके बिना अपना जीवन भारवत् प्रतीत होता है।' रमणीमूर्तिने व्यंग्यके रूपमें कहा—'नैयायिक स्वयं अपना न्याय नहीं कर सकता, यह बड़े आश्चर्यकी बात है।' हंसिनीने उत्तर दिया—'कमलका आश्रय छोड़कर यहाँ आओ, तब उसका मर्म जान सकोगी।' रमणीमूर्तिने निःस्पृहतासे कहा—'लो, अभी सही; प्रत्यक्षके लिये प्रमाणकी क्या आवश्यकता है?' इसके बाद वह मुस्कराती हुई हंसिनीके पास आ बैठी। कमलकी कली ज़ोरसे हिल उठी और मुरझाकर नीचे गिर पड़ी। यह देखकर रमणीमूर्तिके नेत्रोंसे अविराम अश्रुधारा बह निकली। उसने ठंडी साँस लेकर कहा—'यह बात थी कि मुझे इसका अनुभव नहीं था।'

हंसिनीने निरानन्द हास्यके साथ कहा—'भोगनेसे अनुभव होता है। बिना भोगे कोई किसी बातका मर्म कैसे जान सकता है?'

(४)

रमणीमूर्ति नेत्र फाड़-फाड़कर शून्याकाशकी ओर देखने लगी। वहाँ हंसकी अविनश्वर आत्मा मँडरा रही थी। उसने गम्भीर स्वरसे कहा—'अब देखो, मैं कौन हूँ?' रमणीमूर्तिने उत्तर दिया—'हंसकी आत्मा।' हंसकी आत्माने पूछा—'और तुम?' रमणीमूर्तिने उत्तर दिया—'एक दुःखिनी अबला'। आत्माने हँसकर कहा—'यही कलनात्मक ज्ञान सुख-दुःखका अनुभव कराता है। संसारवृक्षमें ही दो फल लगे हुए हैं, जो समस्त प्राणियोंको भ्रमाते और भटकाते हैं। मैं तुम्हें अपनेसे पृथक् समझता था, इसीसे प्रश्न किया था कि तुम कौन हो। तुमने वही प्रश्न मुझसे किया था, उसका उत्तर मैंने तुम्हींसे दिलवा दिया। केवल हंसकी आत्मा कह देनेसे वह सार्थक हो गया। यही क्षीर-नीरका पृथक्करण है।' इतना सुनकर हंसिनीने भी अपना शरीर त्याग दिया और उसकी आत्मा हंसकी आत्मामें लीन हो गयी!

मुक्ति कौन पाता है?

विशोको निर्ममः शान्तः प्रसन्नात्मा विमत्सरः। षड्भिर्लक्षणवानेतैः समग्रः पुनरेष्यति॥

संतोषी, ममतारहित, शान्त, प्रसन्न मनवाला और शोक तथा मत्सररहित—इन छः लक्षणोंवाला पुरुष ज्ञानसे तृप्त होकर मुक्तिको पाता है। (महा० शान्ति० २५१।१४)

वन्दे मातरम्

सुजलां सुफलां मलयजशीतलां शस्यश्यामलां मातरम्।

शुभ्रज्योत्स्नापुलकितयामिनीं फुल्लकुसुमितद्रुमदलशोभिनीम्।

सुहासिनीं सुमधुरभाषिणीं सुखदां वरदां मातरम्॥ वन्दे० ॥

त्रिंशकोटिकण्ठकलकलनिनादकराले, द्वित्रिंशकोटिभुजैर्धृतखरकरवाले,

के बले मा! तुमि अबले ?

बहुबलधारिणीं नमामि तारिणीं रिपुदलवारिणीं मातरम्॥ वन्दे० ॥

तुमि विद्या, तुमि धर्म, तुमि हृदि, तुमि मर्म, त्वं हि प्राणाः शरीरे।

बाहुते तुमि मा! शक्ति, हृदये तुमि मा! भक्ति।

तोमारई प्रतिमा गड़ि मन्दिरे-मन्दिरे—मातरम्॥ वन्दे० ॥

त्वं हि दुर्गा दशप्रहरणधारिणी, कमला कमलदलविहारिणी,

वाणी विद्यादायिनी, नमामि त्वाम्।

नमामि कमलां अमलां अतुलां सुजलां सुफलां मातरम्॥ वन्दे०॥

श्यामलां सरलां सुस्मितां भूषितां

धरणीं भरणीं मातरम्॥ वन्दे०॥

वन्दे मातरम्॥

प्रभु-प्राप्तिके साधन

(माता श्रीगायत्री देवी काक)

शास्त्रोंमें भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये अनेकों साधन बताये गये हैं। और वे सभी साधन अनुभवद्वारा सिद्ध किये हुए हैं। मनुष्य यदि अपनी रुचिके अनुसार उनमेंसे एक भी साधनका आश्रय श्रद्धा-विश्वासपूर्वक पकड़ ले, तो उसका कल्याण हो जाता है। अतएव सभी कल्याणेच्छु नर-नारियोंको साधनमें तत्पर रहना चाहिये। साधनहीन मनुष्य पशुके समान है। ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि जिससे जीवनका उत्तरोत्तर विकास हो, प्रकाश हो और हम अन्धतम शून्यतासे निकलकर ज्ञान-विज्ञानकी परमोज्ज्वल आभामें अपने-आपको स्थिर कर सकें।

जीवनकी शक्तियाँ दो प्रकारकी हैं—एक कलाप्रधान और दूसरी भावनाप्रधान। जीव कलाओंसे घिरा हुआ है और भगवान् पूर्ण कलामय हैं, अर्थात् उनमें सोलहों कलाएँ विद्यमान हैं। अतएव पूर्ण कलाओंकी प्राप्तिका साधन भी कलाओंके उत्तरोत्तर विकासद्वारा ही होता है।

भगवान् तो भावके ही भूखे हैं, वे भावनाको ही पसंद करते हैं। जीव संसारमें आकर दुर्भावनाओंसे घिर जाता है। जब जीवके हृदयमें सद्भावनाएँ उठने लगती हैं, तब उसके कल्याणका कार्य प्रारम्भ हो जाता है।

नाम, रूप, लीला, धाम—ये चारों भगवान्के साक्षात् विग्रह हैं। इनमेंसे किसी एकका भी दृढ़तापूर्वक आश्रय पकड़ लेनेसे जीवका कल्याण हो सकता है। वे मनुष्य तो बड़भागी हैं, जो इन चारों विग्रहोंका आश्रय ग्रहण कर लेते हैं। वाणीद्वारा भगवन्नामका कीर्तन करना, मनद्वारा प्रभुके सुन्दर स्वरूपोंका ध्यान करना, चित्तद्वारा भगवान्की मनोहर लीलाओंका चिन्तन करना और शरीरसे श्रद्धासहित भगवद्धाममें निवास करना—यही चारों कलिकालके जीवोंके लिये सर्वथा उपयुक्त और अनुकूल साधन हैं।

सन्निष्ठाके साथ सङ्कीर्तन, सेवा, सत्सङ्ग और समाश्रयका आश्रय पकड़नेमें ही जीवका सुनिश्चित कल्याण है—इसमें सन्देहकी कोई बात नहीं है।

नाम, रूप, लीला, धाम तथा संकीर्तन, सेवा, सत्संग, समाश्रयका पारस्परिक सम्बन्ध इस प्रकार है—नामका सङ्कीर्तन करो, रूपका सेवन करो, लीलाका सत्सङ्ग करो और धामका सम्यक् प्रकारसे आश्रय पकड़ो। श्रीचैतन्य महाप्रभुने अपने शिष्योंको यही साधन बताया था।

यह कलिकाल है, इसमें घोर अशान्ति और बर्बरताका साम्राज्य है; फलतः प्रायः समस्त जीवोंके अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहंकारमें अराजकता मची हुई है। ऐसे भयानक युगमें उपर्युक्त साधनोंमें सन्निविष्ट होनेसे ही कल्याण हो सकता है।

बोलीके बाण मत मारो

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति यैराहतः शोचति रात्र्यहानि।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति तान् पण्डितो नावसृजेत्परेषु॥
परश्चेदेनमतिवादबाणैर्भृशं विध्येच्छम एवेह कार्यः।
संरोष्यमाणः प्रतिहृष्यते यः स आदत्ते सुकृतं वै परस्य॥

मुखमेंसे बाणकी तरह तीखे वचन निकलते हैं और दूसरोंके मर्मस्थानोंपर चोट करते हैं, उनके प्रहारसे आहत मनुष्य रात-दिन शोक किया करता है, पण्डितोंको दूसरोंपर ऐसे मर्मवेधी वचनोंका प्रयोग न करना चाहिये। प्रतिपक्षी मनुष्य कुवाक्यरूपी बाण मार कर भली प्रकार बींध डाले, तब भी धीर पुरुषको शान्त रहना चाहिये। शत्रुके क्रोध दिलानेपर भी जो मनुष्य क्रोध न कर हर्षित ही होता है, वह धीर पुरुष शत्रुके पुण्यका भागी होता है।

(महा० शान्ति० २९९। ९-१०)

ध्यान-साधन

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

भेद और अभेद दोनों ही निष्ठाओंमें ध्यान सबसे आवश्यक और महत्त्वपूर्ण साधन है। श्रीभगवान्ने गीतामें ध्यानकी बड़ी महिमा गायी है। जहाँ कहीं उनका उच्चतम उपदेश है, वहीं उन्होंने मनको अपनेमें (भगवान्में) प्रवेश करा देनेके लिये अर्जुनके प्रति आज्ञा की है। योगशास्त्रमें तो ध्यानका स्थान बहुत ऊँचा है ही। ध्यानके प्रकार बहुतसे हैं। साधकको अपनी रुचि, भावना और अधिकारके अनुसार तथा अभ्यासकी सुगमता देखकर किसी भी एक प्रकारसे ध्यान करना चाहिये। यह स्मरण रखना चाहिये कि निर्गुण निराकार और सगुण साकार भगवान् वास्तवमें एक ही हैं। एक ही परमात्माके अनेक दिव्य प्रकाशमय स्वरूप हैं। हम उनमेंसे किसी भी एक स्वरूपको पकड़कर परमात्माको पा सकते हैं, क्योंकि वास्तवमें परमात्मा उससे अभिन्न ही है। भगवान्के परम भावको समझकर किसी भी प्रकारसे उनका ध्यान किया जाय, अन्तमें प्राप्ति उस एक ही भगवान्की होगी जो सर्वथा अचिन्त्यशक्ति, अचिन्त्यानन्तगुणसम्पन्न, अनन्त दयामय, अनन्तमहिम, सर्वव्यापी, सृष्टिकर्ता, सर्वरूप, स्वप्रकाश, सर्वात्मा, सर्वद्रष्टा, सर्वोपरि, सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वसुहृद्, अज, अविनाशी, अकर्ता, देशकालातीत, सर्वातीत, गुणातीत, रूपातीत, अचिन्त्यस्वरूप और नित्य स्वमहिमामें ही प्रतिष्ठित, सद्सद्विलक्षण एकमात्र परम और चरम सत्य हैं। अतएव साधकको इधर-उधर मन न भटकाकर अपने इष्टरूपमें महान् आदर-बुद्धि रखते हुए परम भावसे उसीके ध्यानका अभ्यास करना चाहिये।

श्रीमद्भगवद्गीताके छठे अध्यायके ग्यारहवेंसे तेरहवें श्लोकतकके वर्णनके अनुसार एकान्त, पवित्र और सात्त्विक स्थानमें सिद्ध, स्वस्तिक, पद्मासन या अन्य किसी सुख-साध्य आसनसे बैठकर, नींदका डर न हो तो आँखें मूँदकर, नहीं तो आँखोंको भगवान्की मूर्तिपर लगाकर अथवा आँखोंकी दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर जमाकर प्रतिदिन कम-से-कम तीन घंटे, दो घंटे या एक घंटे—जितना भी समय मिल सके—सावधानीके साथ लय, विक्षेप, कषाय, रसास्वाद, आलस्य, प्रमाद, दम्भ आदि दोषोंसे बचकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक तत्परताके साथ ध्यानका अभ्यास करना चाहिये। ध्यानके समय शरीर, मस्तक और गला सीधा रहे और रीढ़की हड्डी सीधी रहे तो बहुत उत्तम है। ध्यानके लिये समय और स्थान भी सुनिश्चित ही होना चाहिये।

(१)

ऊपर लिखे अनुसार एकान्तमें आसनपर बैठकर साधकको दृढ़ निश्चयके साथ नीचे लिखी धारणा करनी चाहिये—

'एक सत्य सनातन असीम अनन्त विज्ञानानन्दघन पूर्ण ब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण हैं। उनके सिवा न तो कुछ है, न हुआ और न होगा। उन परब्रह्मका ज्ञान भी उन परब्रह्मको ही है, क्योंकि वे ज्ञानस्वरूप ही हैं। उनके अतिरिक्त और जो कुछ भी प्रतीत होता है, सब कल्पनामात्र है। वस्तुतः वे ही वे हैं।'

इसके उपरान्त चित्तमें जिस वस्तुका भी स्फुरण हो, उसीको कल्पनारूप समझकर उसका त्याग (अभाव) कर दे। किसीकी भी सत्ता न रहने दे। ऐसा निश्चय करे कि जो कुछ प्रतीत होता है, वह वस्तुतः है नहीं। स्थूल शरीर, ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि कुछ भी नहीं है। यों अभाव करते-करते सबका अभाव हो जानेपर अन्तमें सर्वाभावरूपा एक सम और शुद्धा वृत्ति रह जाती है। परन्तु अभ्यासकी दृढ़तासे दृश्य-प्रपञ्चका सुनिश्चित अभाव होनेपर आगे चलकर वह भी अपने-आप ही शान्त हो जाती है। उस शुद्धा वृत्तिका त्याग करना नहीं पड़ता, अपने-आप ही हो जाता है। यहाँ त्याग, त्यागी और त्याज्यकी कल्पना सर्वथा नहीं रह जाती। इसीलिये वृत्तिका त्याग किया नहीं जाता, वह वैसे ही हो जाता है, जैसे ईंधनके अभावमें आगका। इसके अनन्तर जो कुछ बच रहता है वही विज्ञानानन्दघन परमात्मा है। वह असीम, अनन्त, नित्य बोधस्वरूप, सत्य और केवल है। वही **'सत्यं ज्ञानमनन्तं'** ब्रह्म है। वह परम आनन्दमय है। परिपूर्ण ज्ञानानन्दमय है; परन्तु वह आनन्दस्वरूप बुद्धिगम्य नहीं है, अचिन्त्य है—केवल अचिन्त्य है।

इस प्रकार विचारपूर्वक दृश्यप्रपञ्चका पूर्णतया अभाव करके अभाव करनेवाली वृत्तिको भी ब्रह्ममें लीन कर देना चाहिये।

(२)

सम्पूर्ण जगत् मायामय है। एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ब्रह्म ही सत्य तत्त्व हैं; उनके सिवा जो कुछ प्रतीत होता है, सब अनात्म है, अवस्तु है। उनके सिवा कोई वस्तु है ही नहीं। काल और देश भी उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। एकमात्र वही हैं और उनका वह ज्ञान भी उन्हींको है। वे नित्य ज्ञानस्वरूप, सनातन, निर्विकार, असीम, अपार, अनन्त, अकल और अनवद्य परमानन्दमय हैं। वे सदसद्विलक्षण अचिन्त्यानन्दस्वरूप हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण अनात्म वस्तुओंका अभाव करके उनके आनन्दमय स्वरूपमें वृत्तिको जमा दे। बार-बार आनन्दकी आवृत्ति करता हुआ साधक ऐसा दृढ़ निश्चय करे, कि वह असीम आनन्द है, घनानन्द है, अचलानन्द है, शान्तानन्द है, कूटस्थ आनन्द है, ध्रुवानन्द है, नित्यानन्द है, बोधस्वरूपानन्द है, ज्ञानस्वरूपानन्द है, परमानन्द है, महान् आनन्द है, अनन्त आनन्द है, अव्ययानन्द है, अनामयानन्द है, अकलानन्द है, अमलानन्द है, अजानन्द है, चिन्मयानन्द है, केवलानन्द है, एकमात्र आनन्द-ही-आनन्द—परिपूर्णानन्द है। आनन्दके सिवा और कुछ भी नहीं है।

इस प्रकार आनन्दमय ब्रह्मका चिन्तन करता हुआ साधक अपने मन-बुद्धिको नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्मामें विलीन कर दे।

(३)

जैसे कमरेमें रखे हुए घड़ेका आकाश (घड़ेके अंदरकी पोल) कमरेके आकाशसे भिन्न नहीं है और कमरेका आकाश—जिस महान् सुविस्तृत आकाशमें बहुत-से कमरोंवाला विशाल महल बना है, उससे भिन्न नहीं है। कमरे और घड़ेकी उपाधिसे ही घटाकाश-मठाकाशभेदसे छोटे-बड़े बहुत-से आकाश प्रतीत होते हैं, वस्तुतः सभीको अपने ही अंदर अवकाश देनेवाला, एक ही महान् आकाश सर्वत्र परिपूर्ण है। घड़ेका क्षुद्र-सा दिखलायी देनेवाला आकाश यदि अपनी घटाकार उपाधिरूप अल्प सीमाको त्याग कर एक महान् आकाशमें स्थित होकर,—जो उसका वास्तविक स्वरूप है—उसीकी महान् दृष्टिसे देखे तो उसको पता लगेगा कि सब कुछ उसीमें कल्पित है; सबके अंदर-बाहर केवल वही भरा है। अंदर-बाहर ही नहीं, घड़ेका निर्माण जिस उपादानकारणसे हुआ है, वह उपादानकारण भी मूलमें वस्तुतः वही है। उसके सिवा और कुछ है ही नहीं। वैसे ही एक ही चेतन आत्मा सर्वत्र परिपूर्ण है। उपाधिभेदसे ही वह विभिन्नता प्रतीत होती है। साधकको चाहिये कि इस प्रकार विचार करके वह व्यष्टिशरीरमेंसे आत्मरूप 'मैं' को निकालकर चिन्मय समष्टिरूप परमात्मामें स्थित हो जाय और फिर उसके समष्टिबुद्धिरूप नेत्रोंसे समस्त विश्वको अपने-शरीरसहित उसीमें कल्पित देखे और यह भी देखे कि इसमें जो कुछ भी क्रिया हो रही है, सब परमात्माके ही अंदर परमात्माके ही संकल्पसे हो रही है। सबका निमित्त और उपादानकारण केवल परमात्मा ही है। वही सर्वरूप है। और मैं उससे अभिन्न हूँ।

असलमें जड, परिणामी, शून्य, विकारी और सीमित अनित्य आकाशके साथ चेतन, सदा एकरस, सच्चिदानन्दघन, निर्विकार और असीम तथा नित्य परमात्माकी तुलना ही नहीं हो सकती। यह दृष्टान्त तो केवल आंशिकरूपसे समझनेके लिये ही है। उपर्युक्त ध्यान व्यवहारकालमें भी किया जा सकता है।

(४)

साधक मानसमूर्ति बनाकर इस प्रकार ध्यान करे—

अपने सामने जमीनसे कुछ ऊँचेपर सुन्दर तेजपूर्ण दिव्य आसनपर भगवान् विष्णु विराजमान हैं। नील मेघके समान नील श्याम और नील मणिके समान चमकदार मनोहर नील वर्ण है। भगवान्के सभी अङ्ग परम सुन्दर हैं और प्रत्येक अङ्ग अपनी मनोहरतासे चित्तको अपनी ओर खींच रहा है। भगवान्के चरणारविन्द बड़े ही मनोहर हैं, चरणनखोंकी सहस्रों चन्द्रमाओंकी-सी मधुर ज्योति नील चरणोंपर पड़कर अनन्त शोभा पा रही है। चरणोंमें रत्नजटित बजनेवाले नूपुर हैं। सुन्दर जानु और कदलीखम्भ-सी चिकनी-चमकीली जंघाएँ हैं। मेघश्याम नीलपद्मवर्ण शरीरपर सुवर्णवर्ण पीताम्बर सुशोभित है। कमरमें रत्नमण्डित करधनी है। सुन्दर चार लम्बी भुजाएँ हैं। दाहिने ऊपरके हाथमें अत्यन्त उज्ज्वल तीक्ष्ण किरणधारोंसे युक्त चक्र है और नीचेके हाथमें कौमोदकी गदा है। बायें ऊपरके हाथमें सुन्दर श्वेत, विशाल और विजयी पाञ्चजन्य शंख और नीचेके हाथमें सुन्दर रक्तवर्ण कमल सुशोभित है। भुजाओंमें यथास्थान रत्नोंके कड़े, बाजूबन्द शोभा पा रहे हैं। हाथोंकी अँगुलियोंमें विविध रत्नोंकी अँगूठियाँ हैं। भगवान्का वक्षःस्थल परम सुन्दर है। उसमें श्रीवत्स और भृगुलताका चिह्न सुशोभित है। गलेमें रत्नोंका हार, मुक्ताओंकी माला, हृदयपर कौस्तुभमणि, तुलसीयुक्त मनोहर सुगन्धपूर्ण

पुष्पमाला और वैजयन्तीमाला विभूषित हैं। भगवान्‌के ऊँचे विशाल कंधे हैं। नील कमलके समान सुन्दर भगवान्‌का गला अत्यन्त मनोहर है। मनोहर चिबुक है। लाल-लाल ओष्ठाधर हैं। अति सुन्दर चमकीली दन्त-पंक्ति है। भगवान् मन्द-मन्द मुस्करा रहे हैं। भगवान्‌की सुन्दर नुकीली नासिका है। दोनों कानोंमें अत्यन्त सुन्दर रत्नजटित मकराकृति कुण्डल झलमला रहे हैं। कमलके समान विशाल और प्रफुल्लित नेत्र हैं। उनसे स्वाभाविक ही दया, प्रेम, शान्ति, ज्ञान, आनन्द और समत्वकी ज्योतिधारा बह रही है। विशाल, उन्नत और प्रकाशमान ललाटपर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक सुशोभित है। काले घुँघराले मुनिमनहारी केश हैं। मस्तकपर देदीप्यमान रत्नजटित दिव्य किरीट शोभा पा रहा है। भगवान्‌के चारों ओर अनन्त सूर्योंका-सा परन्तु शीतल प्रकाश छा रहा है और उसमेंसे आनन्दका समुद्र उझल रहा है।

(५)

अनन्त क्षीरसमुद्रके अंदर अनन्तदेव श्रीशेषनागजी हैं, उनके एक हजार मस्तक हैं और उन सभीपर वे मुकुट धारण किये हुए हैं। उनके कमलनालके समान सफेद शरीरपर नीलवर्णका सुन्दर वस्त्र है। उनका कमनीय कलेवर हजार शिखरोंवाले कैलासपर्वतके समान है। उन शेषजीकी शय्या बनाकर भगवान् श्रीविष्णु सुखपूर्वक शयन कर रहे हैं। मेघके समान मनोहर नीलवर्ण है। रेशमी पीताम्बर धारण किये हुए हैं। उनके बड़े ही सुन्दर चरणकमल हैं, जो कोमल अँगुलियों और अंगूठोंसे शोभायमान हैं। चरणकमल ऊँचे सुन्दर गुल्फोंसे युक्त हैं और अरुणवर्ण नखोंकी ज्योतिसे झलमला रहे हैं। चरणोंमें मनोहर नूपुर हैं। उनका सुन्दर कटिप्रदेश है। कटिमें मनोहर करधनी है। दोनों सुन्दर जानु हैं और मनोहर जंघाएँ हैं। त्रिवलीयुक्त उदर अत्यन्त शोभायमान है। गम्भीर नाभि है। वक्षःस्थलमें श्रीलक्ष्मीजी विराजमान हैं। विशाल चार लंबी और स्थूल भुजाएँ हैं। भुजाओंमें कड़े और बाजूबन्द, हृदयपर हार सुशोभित हैं। सुन्दर गला है, मनोहर चिबुक है। मुख अति मनोहर और सुप्रसन्न है। मुसकानमयी चितवन चित्त हरे लेती है। भ्रकुटी और नासिका ऊँची और सुहावनी हैं। मनोहर कान, कपोल, ललाट और अरुण अधर सुशोभित हैं। कानोंमें रत्नजटित मकराकृति कृण्डल हैं। नेत्र कमलदलके समान विशाल और मधुर अरुणवर्ण हैं। मस्तकपर सुन्दर सुवर्णमुकुट शोभित है। अत्यन्त शान्तमूर्ति हैं। उनके अंग-अंगसे आनन्दकी ज्योति विकसित हो रही है।

(६)

मिथिलापुरीमें महाराज जनकके दरबारमें भगवान् श्रीरामजी अपने छोटे भाई श्रीलक्ष्मणजीके साथ पधारते हैं। भगवान् श्रीरामका नवनीलनीरद दूर्वाके अग्रभागके समान हरित-आभायुक्त सुन्दर श्यामवर्ण और श्रीलक्ष्मणजी स्वर्णाभ गौरवर्ण हैं। दोनों इतने सुन्दर हैं कि जगत्‌की सारी शोभा और सारा सौन्दर्य इनके सौन्दर्य समुद्रके सामने एक जलकण भी नहीं है। किशोर-अवस्था है। धनुष-बाण और तरकस धारण किये हुए हैं। कमरमें सुन्दर दिव्य पीताम्बर है। गलेमें मोतियोंकी, मणियोंकी और सुन्दर सुगन्धित तुलसीमिश्रित पुष्पोंकी मालाएँ हैं। विशाल और बलकी भण्डार सुन्दर भुजाएँ हैं, जो रत्नजटित कड़े और बाजूबन्दसे सुशोभित हैं। ऊँचे और पुष्ट कंधे हैं। अति सुन्दर चिबुक है। नुकीली नासिका है। कानोंमें झूमते हुए मकराकृति सुवर्ण-कुण्डल हैं। सुन्दर अरुणिमा युक्त कपोल हैं। लाल-लाल अधर हैं। उनके सुन्दर मुख शरत्पूर्णिमाके चन्द्रमाको भी नीचा दिखानेवाले हैं। कमलके समान बहुत ही प्यारे उनके विशाल नेत्र हैं। उनकी सुन्दर चितवन कामदेवके भी मनको हरनेवाली है। उनकी मधुर मुसकान चन्द्रमाकी किरणोंका तिरस्कार करती है। तिरछी भौंहें हैं। चौड़े और उन्नत ललाटपर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक सुशोभित हैं। काले, घुँघराले मनोहर बालोंको देखकर भौंरोंकी पंक्तियाँ भी लजा जाती हैं। मस्तकपर सुन्दर सुवर्णमुकुट सुशोभित हैं। कंधेपर यज्ञोपवीत शोभा पा रहे हैं। मत्त गजराजकी चालसे चल रहे हैं। इतनी सुन्दरता है कि करोड़ों कामदेवोंकी उपमा भी उनके लिये तुच्छ है।

(७)

महामनोहर चित्रकूट पर्वतपर वटवृक्षके नीचे भगवान् श्रीराम, भगवती श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी बड़ी सुन्दर रीतिसे विराजमान हैं। नीले और पीले कमलके समान कोमल और अत्यन्त तेजोमय उनके श्याम और गौर शरीर ऐसे लगते हैं, मानो चित्रकूटरूपी काम-सरोवरमें प्रेम, रूप और शोभामय कमल खिले हों। ये नखसे शिखतक परम सुन्दर, सर्वथा अनुपम और नित्य दर्शनीय हैं। भगवान् राम और लक्ष्मणके कमरमें मनोहर मुनिवस्त्र और सुन्दर तरकस बँधे हैं। श्रीसीताजी लाल वसनसे और नानाविध आभूषणोंसे

सुशोभित हैं। दोनों भाइयोंके वक्षःस्थल और कंधे विशाल हैं। कंधोंपर यज्ञोपवीत और वल्कलवस्त्र धारण किये हुए हैं। गलेमें सुन्दर पुष्पोंकी मालाएँ हैं। अति सुन्दर भुजाएँ हैं। करकमलोंमें सुन्दर-सुन्दर धनुष-बाण सुशोभित हैं। परम शान्त, परम प्रसन्न मनोहर मुखमण्डलकी शोभाने करोड़ों कामदेवोंको जीत लिया है। मनोहर मधुर मुस्कान है। कानोंमें पुष्प-कुण्डल शोभित हो रहे हैं। सुन्दर अरुण कपोल हैं। विशाल कमल-जैसे कमनीय और मधुर आनन्दकी ज्योतिधारा बहानेवाले अरुण नेत्र हैं। उन्नत ललाटपर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक हैं और सिरपर जटाओंके मुकुट बड़े मनोहर लगते हैं। प्रभुकी यह वैराग्यपूर्ण मूर्ति अत्यन्त सुन्दर है।

(८)

नन्दबाबाके आँगनमें नन्हें-से गोपाल थिरक-थिरककर नाच रहे हैं। नवीन मेघके समान श्याम आभासे युक्त नयन-मनहारी सुन्दर वर्ण है। श्याम शरीरपर माताके द्वारा पहनाया हुआ बहुत पतला रेशमी चमकदार पीला कुरता ऐसा जान पड़ता है, मानो श्याम घनघटामें इन्द्रधनुष सुशोभित हो। सुन्दर नन्हें-नन्हें लाल आभायुक्त मनोहर चरणकमल हैं। चरणनखोंकी ज्योति चरणकमलोंपर पड़कर अत्यन्त सुशोभित हो रही है। चरणोंमें नूपुरोंकी और कमरमें करधनीकी ध्वनि हो रही है, जो सुननेवालोंके हृदयमें आनन्द भर रही है। सुन्दर त्रिवलीयुक्त उदर है। गम्भीर नाभि है। हृदयपर गजमुक्ताओंकी, रत्नोंकी और सुन्दर सुगन्धित पुष्पोंकी तथा तुलसीजीकी मालाएँ सुशोभित हैं। गलेमें गुञ्जाहार है, कौस्तुभमणि है और चौड़े वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न है। अत्यन्त रमणीय और ज्ञानिजन-मनमोहन मनोहर मुखकमल है। बड़ी मीठी मुस्कान है। कानोंमें कुण्डल झलमला रहे हैं। लाल-लाल गोल कपोल कुण्डलोंके प्रकाशसे चमक रहे हैं। लाल-लाल होठ बड़े ही कोमल और मनोहर हैं। बाँके और विशाल कमल-सरीखे नेत्र हैं। उनमेंसे आनन्द, प्रेम और रसकी विद्युत्-धारा निकल-निकलकर सबको अपनी ओर खींच रही है। नेत्रोंकी मनोहरताने सबके हृदयोंको आनन्द और प्रेमसे भर दिया है। उन्नत ललाट है। मस्तकपर मोरकी पाँखोंका मुकुट पहिने हैं। विचित्र धातुओंसे और नवीन-नवीन कोमल पल्लवोंसे सारे शरीरको सजा रखा है। अंग-अंगसे करोड़ों कामदेवोंपर विजय प्राप्त करनेवाली सुन्दरता प्रवाहित हो रही है। उछलते, कूदते, हँसते, जोरसे मधुर आवाज लगाते हुए बीच-बीचमें मैया यशोदाकी ओर ताक रहे हैं। माता अतृप्त और निर्निमेष नेत्रोंसे भुवनमोहन लालकी मनोहर माधुरी छविको निरख-निरखकर निहाल हो रही हैं।

(९)

कुरुक्षेत्रमें दोनों सेनाओंके बीच अर्जुनका दिव्य रथ खड़ा है। सब ओर शान्ति-सी छायी हुई है। रथके अगले भागपर वीर-वेषमें कवच-कुण्डलधारी भगवान् श्रीकृष्ण विराजित हैं। नील श्याम वर्ण है। शरीरपर पीताम्बर सुशोभित है। जगत्की सारी सुन्दरता उनकी सुन्दरतापर न्योछावर हो रही है। परम सुन्दर मुखकमल प्रफुल्लित है, शान्त है और अपने तेजसे सबको प्रकाशित कर रहा है। कानोंमें मकराकृति कुण्डल हैं। रक्तकमलके समान विशाल नेत्रोंसे ज्ञानकी दिव्य ज्योति प्रस्फुटित हो रही है। उन्नत ललाटपर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक सुशोभित हैं। काले घुँघराले मनोहर केश हैं। सिरपर रत्नमण्डित स्वर्णमुकुट शोभा पा रहा है। एक हाथमें घोड़ोंकी लगाम है। चाबुक पास रखी है और दूसरा हाथ ज्ञानमुद्रासे सुशोभित है। अर्जुन रथके पिछले भागमें बैठे हुए अत्यन्त करुणभावसे शरणापन्न हुए भगवान्की ओर देख रहे हैं और श्रीभगवान् बड़ी ही शान्ति और धीरताके साथ आश्वासन देते हुए और अपनी मधुर मुस्कानसे अर्जुनके विषादको नष्ट करते हुए उन्हें गीताका महान् उपदेश दे रहे हैं।

इसी प्रकार भगवान् नृसिंह, शिव, शक्ति, सूर्य आदि अपने-अपने इष्टदेवोंका ध्यान करना चाहिये।

(१०)

सुन्दर कैलास पर्वतपर भगवान् श्रीशंकर विराजमान हैं। रक्ताभ सुन्दर गौरवर्ण है। रत्नसिंहासनपर मृगछाला बिछी है, उसीपर आप आसीन हैं। चार भुजाएँ हैं, दाहिने ऊपरका हाथ ज्ञानमुद्राका है, नीचेके हाथमें फरसा है, बायाँ ऊपरका हाथ मृगमुद्रासे सुशोभित है, नीचेका हाथ जानुपर रखे हुए हैं। गलेमें रुद्राक्षोंकी माला है, साँप लिपटे हुए हैं, कानोंमें कुण्डल सुशोभित हैं। ललाटपर त्रिपुण्ड्र शोभा पा रहा है, सुन्दर तीन नेत्र हैं, नेत्रोंकी दृष्टि नासिकापर लगी है, मस्तकपर अर्द्धचन्द्र है, सिरपर जटाजूट सुशोभित है। अत्यन्त प्रसन्नमुख है। देवता और ऋषि भगवान्की स्तुति कर रहे हैं। बड़ा ही सुन्दर विज्ञानानन्दमय स्वरूप है।

चार अनमोल उपदेश

(एक ब्रह्मचारीजीद्वारा)

पितामह भीष्मजीके चार बड़े ही उदार, अनमोल उपदेश हैं—(१) श्रीमद्भगवद्गीताका पाठ, (२) श्रीविष्णुसहस्रनामका पाठ, (३) श्रीगङ्गाजीका दर्शन-स्पर्श-स्नान आदि और (४) श्रीविष्णुचिन्तन। जो लोग इन चार उपदेशोंका पालन करते हैं, उनका सब प्रकारसे कल्याण होता है।

(१) श्रीमद्भगवद्गीता

सत्कुलमें जन्म शारीरिक पवित्रताका कारण है, वैदिक संस्कारोंसे शरीर और मन दोनों शुद्ध होते हैं तथा शास्त्रीय पाण्डित्यसे बौद्धिक शुद्धि होती है। परन्तु श्रीमद्भगवद्गीताके स्वाध्यायके बिना ये सब व्यर्थ हो जाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीताशास्त्र सब शास्त्रोंमें श्रेष्ठ है—सरल-से-सरल, गम्भीर-से-गम्भीर, अत्यन्त उदार और व्यापक है। यह स्वयं श्रीभगवान्‌के श्रीमुखसे विनिःसृत है। भगवान्‌के इस उपदेशामृतका पान करनेसे कराल कलिकालके समस्त तापोंसे शीघ्रातिशीघ्र मुक्ति मिल जाती है। भारतवर्षमें सर्वत्र इसकी शिक्षाका प्रचार होना अत्यावश्यक है।

(२) श्रीविष्णुसहस्रनाम

श्रीविष्णुसहस्रनामके पाठके अधिकारिभेदसे तीन प्रकार हैं—(१) कुछ लोग केवल वैखरी वाणीसे इसका पाठमात्र करते हैं और इतना जानते हैं कि ये भगवान्‌के नाम हैं; (२) कुछ अर्थानुसन्धानपूर्वक इसका पाठ करते हैं और वाणीके साथ अपने चित्तको भी भगवान्‌के रंगमें रँग देते हैं; और (३) कुछ उच्च स्वरसे अर्थात् सबको सुनाते हुए पाठ करते हैं। तीसरी श्रेणीके लोगोंको यह जानना चाहिये और जानकर ही उच्च स्वरसे पाठ करना चाहिये कि आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, आसपासमें—सर्वत्र भगवान् ही रम रहे हैं, भगवान् ही परिपूर्ण हो रहे हैं। भगवान् ऐसी ठोस वस्तु हैं कि प्रकृति अथवा प्राकृत पदार्थोंके लिये उनके अंदर अवकाश ही नहीं है। और सहस्रनामका जो पाठ हो, जो सहस्रनामस्मरण हो, वह हमारे श्वास-प्रश्वास, अन्तःकरण और शरीरके सर्वांगोंसे— यहाँतक कि हमारे आत्मातकसे होना चाहिये। इससे भगवान्‌की कृपा शीघ्र-से-शीघ्र प्राप्त होती है; शरीर, मन, प्राणमें सर्वत्र भगवान्‌की दिव्य ज्योति जगमगा उठती है। भगवान्‌का सिंहासन हमारे हृदयमें ही है और हृदयसे यदि हम उन्हें पुकारें तो वे अवश्य सुनते हैं। पर हमलोगोंने तो अपने हृदयोंमें महान् अनर्थकारी अनात्म वस्तुओंको भर रखा है, जिससे वे करुणानिधि नित्य सौन्दर्य-माधुर्य-लावण्य-महोदधि समीप रहकर भी हमसे दूर हो जाते हैं। इसलिये हमें चाहिये कि हम उनके नामोंका स्मरण अनुरागके साथ करें।

(३) श्रीगङ्गाजी

भारतकी आस्तिक प्रजा गङ्गास्नान करके अपनेको कृतार्थ मानती है, परन्तु स्नानमात्रसे शास्त्रीय विधान पूर्ण नहीं होता। स्नान भी किस तरह करना चाहिये, यह जानना आवश्यक है।

गङ्गास्नान-विधि

शौचादिसे निवृत्त हो, हाथ-पैर धोकर, दन्तधावनादि क्रिया करके तब गङ्गातटपर जाना चाहिये। तटकी बालूपर पेशाब करना या शौच जाना शास्त्रोंमें बड़ा पाप माना गया है। गङ्गाजलमें थूकना, खखार फेंकना, दाँतुन डालना, तेल, पाउडर या साबुन लगाकर नहाना, शरीरको मल-मलकर धोना—ये सब भी पापकर्म ही हैं। पुण्यके लिये जो लोग गङ्गा नहाने जाते हैं, उनसे यह प्रार्थना है कि वे इस तरह पुण्यके साथ पापोंका गट्ठर बाँधकर न ले आवें। इनके अलावे और भी बहुत-सी गंदी और भद्दी बातें जनतामें देखी जाती हैं। इन सबसे आस्तिक स्त्री-पुरुषोंको बचना चाहिये। तटपर जाकर पहले गङ्गाजीको प्रणाम करे। तब दोनों पैर घुटनोंतक और दोनों हाथ केहुनियोंतक धो ले और '**ॐ केशवाय नमः, ॐ नारायणाय नमः, ॐ माधवाय नमः**' कहते हुए तीन बार आचमन करे। फिर गङ्गा-जलमें उतरे और नाभि अथवा वक्षःस्थलपर्यन्त जलमें जाकर शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी भगवान्‌का चिन्तन करते हुए, श्रीगङ्गाजीको माता जानकर जिस ओरसे वे आ रही हों उस ओर मुख करके, माताका अङ्क भरकर स्तनपान करनेवाले बच्चेके समान, दोनों हाथ फैलाकर गङ्गाजलमें गोता लगाना चाहिये। स्नान करते हुए जिह्वासे भगवन्नामका उच्चारण करना चाहिये और मनसे श्रीभगवान् अथवा

गङ्गा माताके चतुर्भुज रूपका ध्यान करना चाहिये। गङ्गाजीमें कूदना, पैरना या गङ्गाजलको मथना अच्छा नहीं। गङ्गास्नान करके अपनेको निष्पाप जानना चाहिये, क्योंकि विधिपूर्वक स्नानसे सब पाप धुल जाते हैं। अधोवस्त्रको गङ्गाजीमें नहीं निचोड़ना चाहिये। स्नानके अनन्तर सन्ध्या-वन्दनके उपरान्त शास्त्रोक्त विधिके अनुसार श्रीगङ्गामाताका पञ्चोपचार या षोडशोपचारसे पूजन करना चाहिये। श्रीगङ्गाजीको मन्त्रद्वारा दुग्धादि शुद्ध पदार्थ भी चढ़ाने चाहिये।

गङ्गाजीकी उत्पत्तिके विषयमें अनेक कथाएँ हैं। एक कथा यह है कि श्रीविष्णुभगवान्‌का जब वामनावतार हुआ, तब भगवान्‌के पैरके अँगूठेके नखसे सप्तावरण प्रकृतिमण्डल विदीर्ण हुआ और उसमेंसे एक दिव्य जलधारा निकली—वही गङ्गाजी हैं। एक दूसरी कथा यह है कि श्रीवैकुण्ठधाममें श्रीवैकुण्ठाधिपतिके आगे श्रीशिवजी महाराजने ऐसा अद्भुत मनोहर ताण्डवनृत्य किया कि श्रीवैकुण्ठाधिपतिका दिव्य सौन्दर्य-माधुर्यविग्रह द्रवीभूत होकर जलरूपमें प्रवाहित हुआ—वही ये गङ्गाजी हैं। एक तीसरी कथा यह है कि श्रीवामनावतारमें श्रीब्रह्माजीने अपने कमण्डलुके जिस जलसे भगवान्‌के चरण धोये थे, वही भगवच्चरणतीर्थ भगवती गङ्गाके रूपमें प्रवाहित हो रहा है। यह बात तो पुराणप्रसिद्ध ही है कि भगवती गङ्गा श्रीशिवजीकी अर्द्धाङ्गिनी हैं। जो कुछ भी हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि गङ्गाजीके जलमें अति पावन अलौकिक शक्ति है। पाश्चात्त्य डाक्टरोंका यह कहना है कि संसारभरके सब जलोंमें कीटाणु रहते हैं, केवल एक गङ्गाजलमें नहीं होते। गङ्गाजल किसी पात्रमें भरकर कहीं भी बरसों रखा रहे, तो भी उसमें कीड़े नहीं पड़ेंगे, वह ज्यों-का-त्यों बना रहेगा, उसकी शुभ्र उज्ज्वल कान्ति और अमोघ दिव्य गुणमें कुछ भी कमी न होगी। यह जल अविकार्य है। इसलिये यह ब्रह्मरूप है, इसी भावसे हिंदू इसका पूजन करते हैं। इस जलकी रोगनाशक शक्ति अत्यन्त अद्भुत है।

इसकी अद्भुत रोगनाशक शक्तिके विषयमें मेरा अपना एक विशेष अनुभव है, जो यहाँ मैं लिख देना चाहता हूँ। १५ वर्ष पहले काशीमें एक छात्रको मेरे सामने हैजा हो गया था। लक्षण सब विपरीत ही दिखायी दिये, मालूम हुआ कि अब यह बच नहीं सकेगा; परन्तु छात्रको जाने क्या सूझी, उसने कहा—हमें गङ्गाजी ले चलो। हमलोग उसे गङ्गाजी ले गये; उसने कहा, हमें गङ्गाजलमें बैठा दो। गङ्गाजीमें नाभिपर्यन्त जलमें उसे बैठा दिया गया। मैं उसे पकड़े रहा। वह बेहोश हो चुका था। आध घंटा जलमें इसी तरह रहनेके बाद उसे होश हुआ और उसने कहा कि अब छोड़ दीजिये, अब कोई भय नहीं है, गङ्गामाईने मुझे बचा लिया है। ढाई घंटे वह इसी तरह गङ्गाजीमें रहा और बिल्कुल स्वस्थ होकर अपने पाँवों छात्रावासमें लौट आया। अतएव यह मानना पड़ेगा कि गङ्गाजलके अंदर कोई ऐसी शक्ति है जिससे हैजेके सब कीटाणु नष्ट हो गये और वह छात्र कालके मुँहमेंसे निकल आया। श्रीगङ्गाजीके गुणोंका यह एक बहुत छोटा-सा उदाहरण है। यथार्थमें गङ्गाजीका स्नान, आचमन, मार्जन,गङ्गातटपर निवास और गङ्गापूजन—ये सब समस्त शारीरिक रोगोंके नाशक और निष्काम भावसे किये जानेपर भवरोगके भी नाशक हैं। गङ्गा भुक्ति, मुक्ति दोनोंको देनेवाली हैं।

(४) श्रीविष्णु-चिन्तन

चिन्तन वाणीसे, शरीरसे और मनसे किया जाता है। भगवान्‌के स्वरूप, नाम गुण, लीला, धाम, प्रभाव ऐश्वर्य, तेज, बल, दया, शान्ति आदिका प्रेमसे वर्णन करना, दूसरोंसे वर्णन कराना और श्रद्धा-भक्तिसे उसका अनुमोदन करना, इस कार्यमें दूसरोंकी सहायता करना—यह सब वाणीसे श्रीविष्णुका चिन्तन करना है।

चराचरस्वरूप प्रभुके सामने नतमस्तक होना, नेत्रोंसे सर्वत्र प्रभुकी झाँकी करना, कानसे उन्हींकी लीला, यश, प्रभाव आदि सुनना, नाकसे उन्हींकी दिव्य सौरभको सूँघना, रसनासे उन्हींके लिये भोजन करना—जठरानलरूपसे उन्हींमें भोजनरूप आहुति देना ही शरीरसे श्रीविष्णुका चिन्तन करना है। इसी प्रकार हाथोंसे दरिद्रनारायणकी नि:स्वार्थ सेवा करना, दु:खियोंकी सहायता करना, रोगियोंकी शुश्रूषा करना, भगवान्‌के विग्रहोंकी, वृद्धोंकी और अतिथियोंकी पूजा करना, आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त सब जीवोंको श्रीविष्णुरूप जानकर सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना, यथायोग्य अन्न, वस्त्र, जल, औषध आदिसे सत्कार करना भी शरीरसे श्रीविष्णुका चिन्तन करना है। ऐसे ही पैरोंसे भगवान्‌के मन्दिरोंमें जाना और उनकी परिक्रमा करना, महात्माओंके आश्रमोंमें जाना, तीर्थोंमें जाना, सत्सङ्गमें जाना इत्यादि भी शरीरसे श्रीविष्णुका चिन्तन करना है।

मनसे श्रीविष्णुका चिन्तन करना उनके दिव्य स्वरूपका ध्यान करना है। पद्मासनसे बैठकर शरीरको

सीधा रखकर और बाह्य विषयोंको, अपने शरीरतकको भुलाकर अपने हृदयमें अङ्गुष्ठपरिमाण कमलाकार जो ग्रन्थि है, उसे ध्यानमें ले आना चाहिये। उसमेंसे ऊपर-नीचे, अगल-बगल बहुत-सी नाड़ियाँ निकली हैं। इसके आठ दल हैं। बीचमें केसर है। आरम्भमें मनको यहीं ठहराना चाहिये। कुछ काल यह अभ्यास करनेके बाद, मनकी दृढ भूमि होनेपर, इस केसरके ऊपर सूर्यमण्डलका ध्यान करना चाहिये। सूर्यमण्डलके ऊपर चन्द्रमण्डलका और चन्द्रमण्डलके ऊपर अग्निमण्डलका ध्यान करना चाहिये और फिर अग्निमण्डलके ऊपर ब्रह्मके बृहत् स्वरूपका ध्यान करना चाहिये। अग्निमण्डलका ध्यान करते समय साधकको देहका भान नहीं रहना चाहिये। अब इस ध्यानकी वह विधि नीचे दी जाती है, जिसे रसिक भक्त भी कर सकते हैं और इहलोक और परलोक दोनों लोकोंमें लाभ उठा सकते हैं।

अग्निकी ज्वालाओंके बीचमें साकार ब्रह्मस्वरूपका चरणारविन्दोंसे लेकर मुकुटपर्यन्त ध्यान करना चाहिये पहले भगवान्के चरणोंका ध्यान करे, जिनके तलवोंकी लालिमा अत्यन्त मनोहर है। तलवोंमें शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, धनुष, बाण, अंकुश, स्वस्तिघट, यव, पाश, वज्र आदि चिह्न मौजूद हैं। उनका ध्यान कर चरणोंकी उँगलियोंके नखाग्रभागकी उस छटाको देखे, जिसे देखनेसे ऐसा मालूम होता है मानो चन्द्रमा ही दस अवतार लेकर इन चरणोंकी सेवा कर रहा है। नखोंका पिछला भाग अधिक लाल होनेसे वैडूर्यमणिकी कान्तिको भी फीका कर रहा है। अब चरणोंके ऊपरी भागकी उस श्यामल कान्तिको देखे, जो नीलमणि और मयूरके कण्ठप्रदेशके सौवर्ण्यको मात कर रहा है। भगवान्का यह दिव्य मङ्गलमय नित्यविग्रह नीलाकाशके वर्णका है और उसमेंसे दिव्य छटा चारों ओर छिटक रही है। भगवान्के टखनोंमें गट्टोंके ऊपर तपे हुए लाल सुवर्णमें अनेक वर्णोंके दिव्य रत्न जड़े हुए हैं। भगवान्की दोनों पिंडलियों, दोनों घुटनों और दोनों जङ्घाओंपर पीताम्बर छिटक रहा है और नीलवर्णपर यह पीत वस्त्र मेघोंमें दमकनेवाली विद्युत्तरङ्गोंके तेजको हीनप्रभ कर रहा है। पीताम्बरके ऊपर कटिप्रदेशमें रंग-बिरंगी मणियोंसे जटित मेखला सुशोभित हो रही है और योगियोंके मनको भी आकर्षित कर रही है। उदरप्रदेश अतिशय कृश और त्रिवलीसे मण्डित है। नाभि अत्यन्त गंभीर, अथाह है। उसीमें सृष्टिकर्ता ब्रह्माका निवास और उनकी सारी सृष्टिका विकास है। छाती चौड़ी और उभरी हुई है। गलेसे पैरोंतक वनमाला, वैजयन्ती और बेला, चमेली, जूही आदि दिव्य पुष्पोंकी मालाएँ लटक रही हैं। अनेकानेक मणिमुक्ता-मालाएँ भी भगवान्के गलेमें पड़कर धन्य हो रही हैं। जिनके गलेमें बीचोबीच कौस्तुभमणि अपनी अनुपम उज्ज्वलताके साथ जगमगा रहा है। एक दुपट्टा लटक रहा है, जिसका तेज विद्युत्तेजको भी लज्जित कर रहा है। गलेमें तीन रेखाएँ हैं। भगवान्के चार भुजाएँ हैं; दो ऊपरकी ओर उठी हुई हैं, जिनमेंसे एक हाथमें शङ्ख है और दूसरेमें चक्र है; दो भुजाएँ नीचेकी ओर लटकी हुई हैं, जिनमेंसे दायें हाथमें गदा और बायेंमें कमल है। भगवान्की कालशक्ति ही यह चक्र है, ज्ञानशक्ति शङ्ख है, संहारशक्ति गदा है और आनन्दशक्ति कमल। भगवान्के हाथोंकी हथेलियोंकी लालिमा कितनी मनोहर है! हाथोंकी उँगलियोंके नखोंका अग्रभाग अपनी दिव्य प्रभासे चन्द्र-ज्योत्स्नाको भी हतप्रभ कर देता है। नखोंका पिछला भाग रक्तोत्पल-सा लाल है। उँगलियोंमें अनेक मणि-माणिक्यजटित अँगूठियाँ पड़ी हुई हैं। हाथोंकी भरी हुई कलाइयोंमें मणि-मुक्तादिकोंसे जटित सुवर्ण-कङ्कण विलक्षण शोभा पा रहे हैं। भगवान्के समस्त विग्रहकी उज्ज्वल नील कान्तिकी दिव्यताको नीलमणिकी क्या उपमा दी जाय! उस उज्ज्वल नील वपुके रोम-रोमसे आलोकरश्मियाँ निकल-निकलकर चारों ओर फैल रही हैं। उस नीलिमासे निकलनेवाली उज्ज्वल कान्ति पीताम्बर और पीतपटकी पीतिमासे मिलकर एक विलक्षण शोभा उत्पन्न करती है। गलेसे ऊपर चिबुक (ठोडी)-को निहारिये, कैसी विलक्षण शोभा है! लाल-लाल होठ और कुन्द-कुसुमकी कलियों-सी दन्त-पङ्क्ति सौन्दर्य और माधुर्यकी वर्षा कर रहे हैं। भगवान्के भरे कपोलोंकी नील अरुण छटाकी भी क्या उपमा हो सकती है? शुकनासिका-सी नुकीली दीर्घ और कुछ उठी हुई-सी नासिका अत्यन्त मनोहर है। श्वेतकमलसे शुभ्र नेत्र और उनके अंदरकी रक्तरेखाएँ और उनके बीचकी काली पुतली सारे जगत्को मोहनेवाली हैं। इन नेत्रोंसे ब्रह्मानन्दका वर्षण होता है। दोनों भ्रुकुटी कमान-सी चढ़ी हुई हैं। दोनों कानोंमें मकराकृत कुण्डल जगमगा रहे हैं और उनकी आभा गण्डस्थलकी उज्ज्वल नीलिमासे मिलकर एक बड़ी ही विलक्षण शोभा उत्पन्न करती है। मन उसकी शोभा क्या और कैसे बखाने? मनके वाणी नहीं

है, और वाणीको इसका कोई पता नहीं है। सिरपर भगवान्‌के घुँघराले बाल हैं, उनकी छोटी-छोटी पतली-सी लटें शोभाकी अनन्त राशि हैं। उनका विशाल शुभ्र ललाट शरत्पूर्णिमाके चन्द्रमाका कोई दिव्यातिदिव्य स्वरूप समझिये। उनकी लंबी शिखा वेणी-सी गुँथी है, उसमें अनेक प्रकारके नित्य दिव्य पुष्पोंकी मालाएँ भी गुँथी हुई हैं। वेणीके छोरमें श्वेत-रक्त पुष्पों और मणियोंका एक झुब्बा झूम रहा है। उनके चन्द्रोपम ललाटपर केसर, कस्तूरी, अगर आदिसे मिश्रित चन्दनका लेप हो रहा है। मस्तकपर दिव्य रत्नजटित सुवर्णमुकुट है, मुकुटपर तुर्रा है। मुकुट जगमगा रहा है और चन्द्रवदनसे दिव्य ज्योत्स्ना चारों ओर छिटक रही है। कन्धेपर सुवर्ण-यज्ञोपवीत है। गलेमें जो दिव्य मालाएँ हैं, उनपर दिव्य भ्रमरोंके झुण्ड आ-आकर गुञ्जार कर रहे हैं, मानो वेद ही भ्रमर बनकर भगवान्‌का यशोगान कर रहे हैं, अथवा भक्त, ज्ञानी, योगी इन मालाओंकी गन्ध पाकर मोहित हुए आपहीमें लीन होनेका यत्न कर रहे हैं, भगवान्‌के इस दिव्य मङ्गलमय विग्रहसे नित्य दिव्य रस, गन्ध, मोद, प्रमोद, आनन्द बरसते रहते हैं और उन्हींसे संसार सुखमय होता है। भगवान्‌के चरणारविन्द तुलसी, केवड़ा, चम्पा, चमेली, मोगरा, बेला आदि नित्य दिव्य पुष्पोंसे ढके हुए हैं। चरणारविन्दोंकी गन्ध और इन पुष्पोंकी गन्ध मिलकर भक्तोंको एक अपूर्व अलौकिक सौगन्धका आस्वादन कराती हैं। यह भगवान्‌का दिव्य मङ्गलमय विग्रह नित्य है; अङ्ग-प्रत्यङ्ग, आभूषण, आभरण, आयुध सब नित्य हैं। इसी मङ्गलमय विग्रहमें मनको बाँध रखना, मनमें इसीका ध्यान भरना भगवान्‌का यथार्थ चिन्तन है। सम्पूर्ण विग्रहका एक साथ चिन्तन न हो सके तो पहले केवल श्रीमुखारविन्द अथवा श्रीचरणारविन्दका ही ध्यान करता रहे और प्रार्थना करे कि 'भगवन्! अब मुझे अपनी शरणमें ले लो, अपना बना लो।' इस ध्यानका अभ्यास जहाँतक हो सके, एकान्त और निरुपद्रव स्थानमें प्रातःकाल सूर्योदय होनेके पूर्व अन्धकारके रहते ही करना अच्छा है। फिर दिनभर सब कामोंको करते हुए भी मन यथासम्भव इसी ध्यानमें रहे तो अत्युत्तम है। (प्रे०—भक्त रामशरणदासजी)

भक्ति-साधना

(लेखक—वैष्णवाचार्य महंत श्रीस्वामी श्रीरामदासजी महाराज)

भक्तिके बिना उपासनाकी पूर्ति नहीं हो सकती, क्योंकि इन दोनोंका परस्पर अटूट सम्बन्ध है। यदि एक शरीर है तो दूसरा प्राण है। जिस प्रकार प्राणके न रहनेपर शरीर लोष्टवत् हो जाता है, उसी प्रकार भक्तिरूपी प्राणसे रहित उपासना निराधार, निर्मूल और मृतप्राय है। अब इस बातपर विचार करना है कि उपासनाकी प्राणाधार वह भक्ति क्या वस्तु है? इस विषयमें भक्तिपथप्रदर्शक देवर्षि श्रीनारदजी अपने भक्तिसूत्रमें लिखते हैं—

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा॥ अमृतस्वरूपा च॥

परमेश्वरके प्रति प्रेम करनेको ही भक्ति कहते हैं, इसीसे जीवको नित्यानन्दकी प्राप्ति होती है।

स्थानभेदसे प्रेमके अनेक रूप और नाम हो जाते हैं। स्वाती नक्षत्रमें वर्षाकी बूँद यदि सर्पके मुखमें पड़ जाती है तो वह विष बन जाती है; वही बूँद यदि सीपमें गिरती है तो मोती बन जाती है और केलेके गर्भमें गिरनेसे कपूर बन जाती है। इसी प्रकार जो प्रेम बच्चोंके प्रति किया जाता है, उसकी 'स्नेह' संज्ञा होती है। बराबरवालोंके प्रति होनेसे वही 'मित्रता' कहलाता है; गुरु, आचार्य एवं माता-पिताके प्रति होनेसे वह 'श्रद्धा' कहलाता है और वही प्रेम जब जगदीश्वर प्रभुके प्रति किया जाता है तो उसकी 'भक्ति' संज्ञा होती है।

भक्ति दो प्रकारकी कही गयी है—गौणी और परा। साधन भक्तिको गौणी और सिद्ध भक्तिको परा कहते हैं। गौणी भक्तिके पुनः दो भेद हैं—वैधी और रागात्मिका। रागात्मिका भक्ति उस अवस्थाको कहते हैं, जिसमें साधकका हृदय अपने प्रियतमके प्रेममें सराबोर रहता है। उस भक्तिका वर्णन श्रीनारदजीने इस प्रकार किया है—

'प्रेमका स्वरूप कहनेमें नहीं आता। वह गूँगेके गुड़की भाँति केवल स्वादका विषय है। क्योंकि वह शान्तिस्वरूप और परमानन्दरूप है। वह गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षण बढ़नेवाला, अटूट, अत्यन्त सूक्ष्म और केवल अनुभवरूप है। उसे प्राप्त कर मनुष्य उसीको देखता है, उसीको सुनता है, उसीको कहता

है और उसीका चिन्तन करता है। वह ऐसी वस्तु है जिसे जानकर (अनुभव कर) मनुष्य मतवाला हो जाता है, निश्चेष्ट हो जाता है और आत्माराम (अपने स्वरूपमें रमण करनेवाला) बन जाता है।'

प्रेमी भक्त अपने प्रियतम प्रभुकी यादमें कभी रोते हैं, कभी हँसते हैं, कभी नाच उठते हैं, कभी गाने लगते हैं और कभी चुप होकर बैठ रहते हैं। इसी रागात्मिका भक्तिके आवेशमें व्रजकी गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्णके विरहमें व्याकुल होकर कभी यमुनातटपर और कभी कुञ्जोंके वनमें अपने प्रियतमकी मनोहर छविको देखनेके लिये भटकती फिरी थीं। उसे देखे बिना उन्हें चैन नहीं पड़ता था। श्रीमद्भागवतमें उन्होंने अपनी दशाका अपने ही मुखसे बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। वे भगवान् श्रीकृष्णसे कहती हैं—

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूला-
द्यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। ३४)

'हे प्रभो! आप हमें घर लौट जानेके लिये कहते हैं, सो हमसे यह भी होना कठिन है। क्योंकि जो हमारा चित्त अबतक सुखसे घरमें लगा हुआ था, उसे आपने हर लिया है। जो हमारे हाथ घरके काम-काजमें लगे हुए थे, वे हाथ भी अब बेकाम हो गये हैं। हमारे ये पैर अब आपके चरण मूलको छोड़कर एक कदम भी चलनेमें असमर्थ हैं। ऐसी दशामें अब आप ही बताइये हम व्रजको लौटकर कैसे जायँ और वहाँ जाकर करें भी क्या?' भगवान्के प्रेमी भक्तोंकी ऐसी ही दशा हो जाती है।

वैधी भक्ति वह है, जिसका साधन विधिद्वारा किया जाता है, इसके नौ अंग हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

भगवान्के गुणोंका श्रवण करना इस नवधा भक्तिका श्रवण नामक प्रथम अङ्ग है। इसके महत्त्वको गोस्वामी तुलसीदासजी इस तरह प्रकट करते हैं—

जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना।
कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे।
तिन्ह के हिय तुम्ह कहँ गृह रूरे॥

श्रवण-भक्तिके द्वारा महाराज परीक्षित्ने सात ही दिनोंमें उत्तम गति प्राप्त कर ली थी।

नवधा भक्तिका दूसरा अङ्ग कीर्तन है—जिसका अर्थ है भगवान्के नाम, गुण और लीलाओंका प्रेमपूर्वक गान करना। इसकी साधनासे जीवके अन्तःकरणमें प्रभु-मूर्तिका निरन्तर स्फुरण होने लगता है, जिसके प्रभावसे सारे व्यसन नष्ट होकर मन अनायास ही भगवान्की ओर लग जाता है। कीर्तनकी महिमा भगवान्ने स्वयं अपने श्रीमुखसे कही है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

'हे नारद! न तो मैं स्थायीरूपसे वैकुण्ठमें ही निवास करता हूँ और न योगियोंके हृदयमें ही स्थिर होकर रहता हूँ। किन्तु मेरे प्रिय भक्त जहाँ कहीं मेरा कीर्तन, गायन करते हैं मैं वहाँ अवश्य ही उपस्थित रहता हूँ।'

वनमें जब भगवान् श्रीराम वाल्मीकिजीसे रहनेके लिये स्थान पूछते हैं तो उत्तरमें महर्षि कीर्तनकी महिमाको बढ़ाते हुए इस प्रकार कहते हैं—

जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु।
मुकताहल गुन गन चुनइ राम बसहु हियँ तासु॥

'आपके यशरूपी निर्मल मानसरोवरमें जिसकी जीभ हंसिनी बनी हुई आपके गुणसमूहरूपी मोतियोंको चुगती रहती है, आप उसके हृदयमें बसिये।'

भक्तिके तृतीय अङ्गका नाम स्मरण है, जिसका अर्थ है भगवान्के नाम अथवा स्वरूपका नित्य-निरन्तर चिन्तन करना। इससे जीवके समस्त अमङ्गल नष्ट होकर शान्ति एवं वैराग्ययुक्त ज्ञानकी वृद्धि होती है। स्मरणकी महिमा भगवान् अपने श्रीमुखसे गीतामें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

अर्थात् 'अनन्यचित्त होकर जो मेरा नित्य-निरन्तर स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगीके लिये मैं अत्यन्त सुलभ हूँ।'

भक्तिके इस अङ्गकी साधनाके द्वारा ध्रुव आदि अनेक भक्तजनोंको भगवत्प्राप्ति हो चुकी है।

वैधी भक्तिके चौथे अङ्गका नाम पादसेवन है। सदा सप्रेम भगवान्के चरण-कमलोंकी सेवा करनेको पादसेवन कहते हैं। इसकी साधनासे साधकके मनका अज्ञानरूपी मैल धुलकर वह इस प्रकार शुद्ध एवं पवित्र हो जाता है, जैसे श्रीभागीरथी गङ्गामें स्नान करनेसे जीवके समस्त पाप धुल जाते हैं। शास्त्रोंमें भी कहा है—

यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विना-
मशेषजन्मोपचितं मलं धियः।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती
यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित्॥

अर्थात् 'जैसे भगवच्चरणोंसे निकली हुई गङ्गा समस्त पापोंको धो डालती है, उसी प्रकार प्रभुके चरण-कमलोंकी सेवामें प्रीति बढ़ जानेसे साधकके समस्त जन्मोंकी सञ्चित पापराशि क्षणभरमें नष्ट हो जाती है।'

भगवान्के चरणकमलोंके प्रेमका महत्त्व गोस्वामी तुलसीदासजीने निम्नलिखित शब्दोंमें प्रकट किया है—

सखा परम परमारथु एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू॥

वैधी भक्तिके पञ्चम अङ्गका नाम अर्चन है। अपने इष्टदेवके श्रीविग्रहकी बाह्य एवं मानसिक पूजाको अर्चन कहते हैं। साधक शुद्धचित्त होकर प्रेमसे भगवान्को जो कुछ भी निवेदित करता है, भगवान् उसे अवश्य ग्रहण करके भक्तके प्रेमको बढ़ाते हैं। भगवान्ने गीतामें कहा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

'पत्र, पुष्प, फल अथवा जल जो कोई भक्त मुझे प्रेमसे अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम-प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पदार्थ मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रेमसहित खाता हूँ।'

श्रीतुलसीकृत रामायणमें महर्षि वाल्मीकि प्रभु श्रीरामजीसे कहते हैं कि आपका निवास ऐसे जनोंके मनमें हो, जो—

तुम्हहि निबेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं॥

वैधी भक्तिके छठे अङ्गका नाम वन्दन है। अहङ्कार-रहित होकर अर्चा-विग्रहके आगे नतमस्तक होनेको वन्दन कहते हैं। इसके साधनसे जीवके मनमें अहङ्कारका लेशमात्र भी नहीं रह जाता और जीव समस्त शुभ कर्मोंका कर्ता ईश्वरको मानने लगता है, जिससे प्रभु उसपर सदा कृपा करते रहते हैं। इस साधनका वर्णन गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरितमानसमें इस प्रकार किया है—

सीस नवहिं सुर गुर द्विज देखी।
प्रीति सहित करि बिनय बिसेषी॥

भक्तिका सातवाँ अंग दास्य है। भगवान्को अपना स्वामी और अपनेको उनका दास मानकर प्रेमसे उनकी सेवा करनेका नाम दास्य है। दासभावकी कठिन साधनासे श्रीमहावीरजीने प्रभुको प्रसन्न किया था। यही कारण है कि अद्यावधि उनका यश अखिल भूमण्डलमें फैला हुआ है।

भक्तिका आठवाँ अङ्ग सख्य है। सख्यका अर्थ है भगवान्को सुहृद्भावसे स्मरण करना। इसकी साधनासे भक्तके हृदयमें भगवत्प्रेमका विकास होने लगता है और प्रभु भी उसे शीघ्र अपना लेते हैं, क्योंकि उनका विरद है—'**सुहृदं सर्वभूतानाम्**' अर्थात् मैं सारे भूतप्राणियोंका सुहृद् हूँ।

भक्तिके अन्तिम अङ्गका नाम आत्मनिवेदन है। इसकी साधना करनेवाला जीव अपने-आपको भगवान्के अर्पण कर देता है। उसके मनमें सिवा अपने प्रियतमसे मिलनेके और कोई इच्छा नहीं रहती। उसके चित्तमें प्रभुदर्शनकी एकमात्र लालसा सदा जाग्रत् रहती है। नेत्रोंमें उन्हींकी मनोहर छबि समायी रहती है। जिह्वापर सदा हरिनाम क्रीड़ा करता रहता है। हाथ उन्हींकी सेवामें लगे रहते हैं। इस प्रकार भगवान्में लीन होकर वह सदा भगवान्से प्रार्थना करता है—

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।

'हे प्रभो! हमारी वाणी नित्य-निरन्तर आपके विमल गुणोंका कीर्तन करती रहे और हमारे कान सदा आपकी परम पावनी कथा सुनते रहें। हमारे हाथ आपकी सेवा-पूजामें लगे रहें और मन आपके चरणकमलोंका प्रतिक्षण स्मरण करता रहे।'

ये हैं भक्तिके नौ अङ्ग। इनमेंसे अपनी रुचिके अनुसार किसी एक अङ्गकी भी अच्छी प्रकार मन, वचन, कर्मसे यदि साधना की जाय तो प्रभु साधकको इस संसाररूपी सागरसे बिना श्रम ही इस प्रकार पार कर देते हैं, जैसे नौकामें बैठकर मनुष्य नदीको सुगमतासे पार कर लेता है। साथ ही प्रभु ऐसे भक्तोंके इशारेपर नाचने लगते हैं, क्योंकि वे सदा भक्तोंके हितैषी और अधीन हैं। भगवान्ने स्वयं कहा है—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥*

---

* हे ब्राह्मण! मैं भक्तोंके वशमें हूँ, इसलिये तेरी रक्षा करनेके विषयमें अस्वतन्त्र-सा हूँ; निरपेक्ष भक्तोंने मेरे हृदयपर पूर्ण अधिकार कर लिया है, इसीलिये भक्तजन मुझे बहुत अधिक प्यारे हैं।

सरल नाम-साधन

सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम।

प्रश्न—वर्षोंसे चेष्टामें लगा हूँ, बहुतेरे साधु-महात्माओंके दर्शन किये, तीर्थोंमें घूमा, मन्त्रोंके अनुष्ठान किये और नाना प्रकारकी साधनाएँ कीं, पर मेरा यह दुष्ट मन किसी प्रकार भी वशमें नहीं होता। शास्त्र और संत कहते हैं कि मनके वशमें हुए बिना भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती और यह बात तो निर्विवाद ही है कि भगवान्‌की प्राप्ति हुए बिना जीवन व्यर्थ है। मैं हताश हो गया, मेरा मन वशमें नहीं होता। क्या मेरे लिये कोई उपाय नहीं है? क्या मैं चाहता हुआ भी भगवान्‌को नहीं पा सकूँगा? भगवान् क्या दया करके मुझ-सरीखे चञ्चल-चित्तको न अपना लेंगे?

उत्तर—बात यह है, सच्ची लगन हो और दृढ़तापूर्वक अभ्यास किया जाय तो मनका वशमें होना असम्भव नहीं है। मन वशमें करनेके बहुत-से उपाय हैं और उनके द्वारा मन अवश्य ही वशमें हो भी सकता है; परन्तु भैया! है यह कलियुग, जीवनमें कहीं शान्ति नहीं है। नाना प्रकारकी आधि-व्याधियोंसे मनुष्यका मन सदा घिरा रहता है। इसलिये मन वशमें करनेके साधनमें लगना है बड़ा कठिन, और साधनमें लगनेपर भी नाना प्रकारके विघ्नोंके कारण लगन—सच्ची लगन और दृढ़ अभ्यासका होना भी कठिन ही है।

प्रश्न—तो क्या फिर मनुष्य-जीवनकी सफलताका कोई उपाय नहीं है?

उत्तर—है क्यों नहीं? वही तो बतला रहा हूँ। वह ऐसा सुन्दर उपाय है जिसे ब्राह्मणसे चाण्डालतक, परम विद्वान्‌से वज्रमूर्खतक, स्त्री और पुरुष, सदाचारी और कदाचारी सभी सहज ही कर सकते हैं। वह उपाय है—वाणीके द्वारा भगवान्‌के नामका रटना। कोई किसी भी अवस्थामें हो, नाम-जप अपने स्वाभाविक गुणसे जपनेवालेका मनोरथ पूर्ण कर सकता है और उसे अन्तमें भगवान्‌की प्राप्ति करा देता है। और-और साधनोंमें मनके वशमें होने तथा भाव शुद्ध होनेकी आवश्यकता है। भाव (नीयत)-के अनुसार ही साधनका फल हुआ करता है। परन्तु नाममें यह बात नहीं है। किसी भी भावसे नाम लिया जाय वह तो कल्याणकारी ही है।

भाव कुभाव अनख आलसहू। नाम जपत मंगल दिसि दसहू॥

इसलिये मन वशमें हो चाहे न हो। कैसा भी भाव हो, तुम विश्वास करके, जैसे बने वैसे ही—भगवान्‌का नाम लिये जाओ और निश्चय करो कि भगवान्‌के नामसे तुम्हारा अन्तःकरण निर्मल हुआ जा रहा है और तुम भगवान्‌की ओर बढ़ रहे हो। नाम लेते रहे, ताँता न टूटा तो निश्चय ही इसीसे तुम अन्तमें भगवान्‌को पाकर कृतार्थ हो जाओगे।

कलिजुग सम जुग आन नहिं जो नर कर बिसवास।
गाइ राम गुनगन बिमल भव तरु बिनहि प्रयास॥
हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

देवता सदा किसपर प्रीति करते हैं?

यो नात्युक्तः प्राह रूक्षं प्रियं वा यो वा हतो न प्रतिहन्ति धैर्यात्।
पापं च यो नेच्छति तस्य हन्तुस्तस्येह देवाः स्पृहयन्ति नित्यम्॥

जो पुरुष निन्दा करनेपर भी निन्दा करनेवालेसे रूखे और अप्रिय वचन नहीं बोलता है और जो पुरुष प्रशंसा होनेपर प्रशंसा करनेवालेसे मीठी बातें नहीं बनाता है, वैसे ही पिटनेपर भी जो पीटनेवालेको नहीं पीटता है और पीटनेवालेका बुरा करना भी नहीं चाहता है, उससे देवता सदा प्रीति करते हैं।

(महा० शान्ति० २९९।१७)

त्याग-साधन

(सत्य घटना)

(१)

देशभरमें अकाल पड़ा है, चारों ओर त्राहि-त्राहि मची हुई है, पूर्वबङ्गालमें अकालका विशेष प्रकोप है। लोग भूखके मारे मरे जा रहे हैं। इसी समयकी घटना है। महेश मण्डल जातिका था नमःशूद्र—चाण्डाल। दिनभर मजदूरी करके कुछ पैसे लाता, उसीसे अपना और अपनी स्त्री तथा पुत्र-कन्या चारोंका पेट भरता। जर-जमीन कुछ भी नहीं था। महेश भगवती दुर्गाका भक्त था, दिन-रात 'दुर्गा' 'दुर्गा' रटा करता। माँ दुर्गापर बड़ा विश्वास था उसका। कितना ही दुःख आवे, कैसी ही विपत्ति पड़े, कुछ भी हो, 'दुर्गा' नाम महेश कभी नहीं भूलता था।

देशभरमें दुर्भिक्ष था ऐसे समय काम कहाँ मिलता? महेशका परिवार आधे पेट तो रहता ही था, किसी-किसी दिन सबको पूरा अनशन करना पड़ता। आज दो दिनका उपवास था, महेशने बड़ी मुश्किलसे छः आने पैसे कमाये। बाजारसे दो सेर चावल खरीदे और पार जानेके लिये नदीपर पहुँचे। नदीके घाटपर खेपू महाराज दिखायी दिये।

खेपू गाँवके ज्योतिषी थे। इधर-उधर घूम-फिरकर पञ्चाङ्गका फल बतलाते, किसीकी जन्मकुण्डली देख देते। दुर्गापूजाके समय मूर्ति आदि चित्रित कर देते। इसी तरह जो कुछ मिलता, वही काम करके दो-चार पैसे कमा लेते। न मजदूरी कर सकते, न कोई और बँधी आमदनी थी। देशमें अकालके मारे हाहाकार मचा था। ऐसे वक्तमें इस तरहके आदमीको कौन पैसा देता? खेपू उदास मुँह घाटपर खड़े थे। उसी समय महेशसे उनकी मुलाकात हुई। महेशने ब्राह्मणका चेहरा उतरा हुआ देखकर पूछा कि 'घरमें सब कुशल तो है?' खेपूने जवाब दिया—'क्या बताऊँ? माँ दुर्गाने मेरे नसीबमें कुछ लिखा ही नहीं। कहीं भीख नहीं मिली। तीन दिनसे घरमें किसीने कुछ नहीं खाया। आज घर जानेपर सभी लोग मरणासन्न ही मिलेंगे। इसी चिन्तामें डूब रहा हूँ।' महेशने कहा—'विपत्तिमें माँ दुर्गाके सिवा और कौन रक्षा करनेवाला है? वही खानेको देती है और वही नहीं देती। हमारा तो काम है बस, माँके आगे रोना। उनके आगे पुकारकर रोनेसे जरूर भीख मिलेगी।' खेपूने कहा—'भाई! अब यह विश्वास नहीं रहा। देखते हो—दुःखके सागरमें डूब-उतरा रहा हूँ। बस, प्राण निकलना ही चाहते हैं। बताओ! कैसे विश्वास करूँ?'

माँ दुर्गाकी निन्दा सुनकर महेशकी आँखोंमें पानी भर आया। महेशने कहा—'लो न, माँ दुर्गाने तुम्हारी भीख मेरे हाथ भेजी है। तुम रोओ मत।' चावल-दाल सब खेपूको देकर महेश हँसता हुआ घरकी ओर चला। खेपूको अन्न देकर महेश मानो अपनेको कृतार्थ मान रहा था। उसने सोचा—'आज एकादशी है। जीवनमें कभी एकादशीका व्रत नहीं किया। कल दशमी थी। कुछ खाया नहीं। आज उपवास हो गया, इससे व्रतका नियम पूरा सध गया। अब भगवान् देंगे तो कल द्वादशीका पारण हो ही जायगा। एक दिन न खानेसे मर थोड़े ही जायँगे।'

इस प्रकार सोचता-विचारता महेश घर पहुँचा। महेशको देखते ही स्त्रीने सामने आकर कहा—'जल्दी चावल दो तो भात बना दूँ। बच्चा शायद आज नहीं बचेगा। बड़ी देरसे भूखके मारे बेहोश पड़ा है। मुझे चावल दो, मैं चूल्हेपर चढ़ाऊँ और तुम जाकर बच्चेको सँभालो।' महेशने कहा—'माँ दुर्गाका नाम लेकर बच्चेके मुँहमें जल डाल दो। माँकी दयासे यह जल ही उसके लिये अमृत हो जायगा। खेपू महाराजके बच्चे तीन दिनके भूखे हैं। आज खानेको न मिलता तो मर ही जाते। मैं दो सेर चावल लाया था, सब उनको दे आया हूँ।' महेशकी स्त्रीने कहा—'आधा उसे देकर आधा ले आते तो बच्चोंको दो कौर भात दे देती। तीन वर्षका बच्चा दो दिनसे बिना खाये बेहोश पड़ा है। अब क्या होगा! माँ दुर्गा ही जाने।'

महेशने कहा—'यदि माँ काली बचायेगी तो कौन मारनेवाला है? अवश्य ही बच जायगा, और यदि समय पूरा ही हो गया है तो प्राणोंका वियोग होना ठीक ही है। खेपूका सारा परिवार तीन दिनसे भूखा है। पहले वह बचे। हमारे भाग्यमें जो कुछ बदा है, हो ही जायगा।'

इसीका नाम त्याग है। एक करोड़पति अपने करोड़ रुपयोंमेंसे नामके लिये लाख रुपये दान दे दे तो

इसमें कोई त्याग नहीं। न उसको देनेमें कोई कष्ट हुआ और न वह बदला पानेसे वञ्चित रहा। अखबारोंमें नाम छप गया, सरकारसे उपाधि मिल गयी और फर्मकी साख ज्यादा बढ़ गयी। त्याग तो वह है कि जिसमें कुछ कष्ट उठाना पड़ता है, इसीलिये उसका महत्त्व है। इसीलिये शास्त्रोंमें उस आधे ग्रासका महान् फल बतलाया है जो अपने एकमात्र मुँहके ग्रासमेंसे दिया जाता है। उसके सामने लाखों-करोड़ोंका दान कोई महत्त्व नहीं रखता। महेशका त्याग तो बहुत ही ऊँचा है। उसने अपने मुँहका आधा ग्रास ही नहीं दिया; सारा ही नहीं दिया उसने जो कुछ दिया वह बहुत ही बढ़कर दिया। अपना शिशु पुत्र दो दिनसे भूखा है—भूखके मारे बेहोश पड़ा है—उसके मुँहका दाना महेशने खेपूके उन बच्चोंकी जान बचानेके लिये दे दिया जो तीन दिनके भूखे हैं। महेशने सोचा—'मेरा बच्चा दो दिनका भूखा है, परन्तु वे तो तीन दिनके भूखे हैं, पहले उनको मिलना चाहिये।' अपने बच्चेके दु:खकी अपेक्षा महेश खेपूके बच्चोंके लिये अधिक दु:खी है। यह भी नहीं कि महेशने किसी दबावमें पड़कर अप्रसन्नता या विषादके साथ चावल दिये हों। उसने हँसते-चेहरेसे दिये, हँसता हुआ ही वह घर आया और अपने बच्चेको मौतके मुँहमें देखकर भी अपनी कृतिपर होनेवाली उसकी प्रसन्नता घटी नहीं। धन्य!

(२)

जिसका भगवान्पर विश्वास होता है। जो भगवान्के नामपर त्याग करना जानता है। जो दु:ख और विपत्तियोंमें भी उन्हें भगवान्का आशीर्वाद मानकर—अपने मङ्गलकी चीज मानकर भगवान्का कृतज्ञ होता है। जो भगवान्की दी हुई बुरी-से-बुरी और दु:खसे भरी दीखनेवाली स्थितिमें भी भगवान्के मङ्गलमुखकी हास्य-छटाको देखकर हँसता है। कोई भी दु:ख-भार भगवान्के विश्वासके मार्गसे जिसको नहीं डिगा सकता। जो हर हालतमें हँसता हुआ भगवान्की हरेक दैनपर सच्चे दिलसे खुशी मनाता हुआ भगवान्के नामको पुकारता रहता है। भगवान् उसके योगक्षेमका वहन स्वयं करते हैं। उसका सारा भार अपने सिर उठा लेते हैं। यह सत्य है—ध्रुव सत्य है। हम अभागे मनुष्य विश्वासकी कमीसे ही दु:ख-पर-दु:ख उठाते हैं और भगवान्की बरसती हुई कृपाधारासे वञ्चित रह जाते हैं। अस्तु।

महेशके पड़ोसमें गोपाल भौमिक नामक एक मध्यवित् गृहस्थ रहते थे। घरके बीचमें पक्की दीवाल थी नहीं। महेश और उसकी स्त्रीमें जो बातचीत हुई उसे सुनकर गोपाल और उनकी पत्नी दोनों चकित हो गये। गोपालने अपनी पत्नीसे कहा—'मालूम होता है यह तो साक्षात् महेश ही है। भला इतना त्याग कौन मनुष्य कर सकता है। जैसा महेश, ठीक वैसी उसकी स्त्री! मरणासन्न बच्चेको देखकर भी, न तो वह पतिपर नाराज ही हुई और न उसके मुँहसे एक कड़ा शब्द ही निकला। हमारे घर रसोई तैयार है। चलो, ले चलें और उन भक्त स्त्री-पुरुषकी सेवा करके अपने जीवनको धन्य बनावें।'

दाल, भात और तरकारीकी हाँडियोंको लेकर गोपालकी स्त्री उमा अपने पतिके साथ महेशकी झोंपड़ीमें पहुँची। गोपालके हाथमें दूधका कटोरा और तीन-चार दर्जन केले थे। इतनी चीजोंको लेकर जब वे महेशके सामने पहुँचे तो महेश उन्हें देखकर विस्मित हो गया और उसने आश्चर्यसे कहा—'यह क्यों? मैंने तो आपसे कुछ चाहा नहीं था। बिना ही कारण इस नराधमको आप इतनी चीजें क्यों देने आये हैं?'

गोपालने सजल नेत्रोंसे कहा—'नराधम कौन है? हमलोग तो परम श्रद्धाके साथ साक्षात् महेशको भोग लगाने आये हैं। हमें इस सेवाका जो सौभाग्य प्राप्त हुआ, इसमें भी आपका सङ्ग ही कारण है। मैं आपका पड़ोसी हूँ।'

महेश बोला—'यह भोजन किसी सत्पात्रको दीजिये, आपको पुण्य होगा।' गोपालने आँखोंमें आँसू भरकर कुछ जोशके साथ कहा—'माँ दुर्गा' का नाम लेकर मैं यह चीजें लाया हूँ। आप लौटा देंगे तो समझूँगा कि 'दुर्गा' के नामका कोई फल नहीं है, 'दुर्गा' नाम मिथ्या है।

दुर्गाके नामका मिथ्या होना महेशके लिये असह्य है। अब उससे नहीं रहा गया और वह बड़े जोरसे 'दुर्गा' 'दुर्गा' पुकारता हुआ अपने स्त्री-बच्चोंको साथ लेकर खाने बैठ गया। गोपाल और उनकी स्त्री सामने बैठकर बड़े आदरके साथ भोजन परोसने लगे। महेशने दुर्गा मैयाका प्रसाद पाते-पाते कहा—'आज बड़े भाग्यसे खेपू महाराज मिले थे। वे न मिलते तो सिर्फ चावल ही खाकर रहना पड़ता। आज तो स्वयं माँ अन्नपूर्णा यह प्रसाद लाकर खिला रही हैं। मुझे आज अन्नपूर्णाके दर्शन हो गये। माँ अन्नपूर्णा अपने हाथों मुझे इस प्रकार दूध-भात खिलाना चाहती थीं, इसीलिये तो उन्होंने मुझे ऐसी बुद्धि दी कि मैं खेपूको सब चावल दे आया।'

(३)

महेश भीख माँगकर जीवन-निर्वाह करता था और उसीसे अतिथियोंकी सेवा भी। महेशके सीधेपनसे लोग अनुचित लाभ उठाते। दिनभर काम करवाकर बहुत थोड़ी मजदूरी देते। महेश कुछ नहीं बोलता। कोई किसी भी समय किसी भी कामके लिये महेशको बुलाता तो महेश 'माँ दुर्गा' की सेवा समझकर तुरंत जाकर उसके कामको कर देता। 'दुर्गा' का नाम तो उसकी जीभसे कभी उतरता ही नहीं। माँ भी सदा उसकी सँभाल रखती और उसके निर्वाहयोग्य पैसे उसे मिल ही जाते।

वैशाखका अन्तिम दिन था। सन्ध्याके समय महेशकी नन्हीं-सी मढ़ैयापर एक ब्राह्मण गोस्वामी अतिथिके रूपमें पधारे। ब्राह्मणका रूप कच्चे सोने-सा सुन्दर था। उनकी देहसे ज्योति निकल रही थी। महेश उस समय घर नहीं था। महेशकी स्त्रीने पड़ोसी गोपाल भौमिकके घर कहलवाया। गाँवके बहुतसे लोग आ गये और उन्होंने अतिथि ब्राह्मणको गोपालके घर अथवा और कहीं टिकनेके लिये प्रार्थना की और कहा कि — 'महेश बड़ा गरीब है। इसके घर जगह नहीं है। यहाँ आपको कच्चे आँगनमें सोना पड़ेगा, कष्ट होगा, इससे कृपा करके हमारे साथ चलिये।'

ब्राह्मणदेवताने कहा—'मैं तो यहीं आया हूँ। घरके मालिक जो दे सकेंगे वही ले लूँगा, पर किसी धनीके घर नहीं जाऊँगा।'

ब्राह्मणको किसी तरह राज़ी न होते देखकर लोग तरह-तरहकी बातें कहने लगे। किसीने कहा कि 'यह ब्राह्मण नहीं है।' कोई बोला—'चाण्डालोंका ब्राह्मण होगा।' किसीने कहा—'ब्राह्मणों और कायस्थोंके घर छोड़कर यह चाण्डालके घर ठहरा है, इसीसे इसकी प्रवृत्तिका पता लग जाता है।' सब लोग यों कोसते हुए चले गये।

इसी समय महेश आ पहुँचा, उसने भक्ति-भावसे अतिथिका आदर किया, उन्हें प्रणाम किया। महेशके घर तो कुछ था ही नहीं। वह अतिथिकी सेवाके लिये पड़ोसियोंके यहाँ कुछ माँगने गया। पड़ोसी तो पहलेसे ही तने बैठे थे। किसीने कुछ नहीं दिया, कहा कि 'उन्हें यहाँ लाओ तो देंगे।' बेचारा महेश उपाय न देखकर मधुखालि नामक गाँवमें गया। वहाँ चन्द्रनाथ साहा नामक एक बड़ा दूकानदार महेशका भक्त था। महेशके मुँहसे अतिथिके आनेकी बात सुनकर उसने लगभग बीस आदमियोंके सिरोंपर लादकर महेशके साथ खानेका बहुत-सा सामान भेज दिया और खुद भी वह उसके साथ चल दिया।

गोस्वामी महोदय श्रीमद्भागवतकी व्याख्या करने लगे। व्याख्या बड़ी सुन्दर थी। पाण्डित्य तो था ही, उसमेंसे भगवान्के प्रेमरसकी धारा बह रही थी। यह देखकर, जिन लोगोंने पहले गालियाँ दी थीं ' वे ही आ-आकर चरणोंमें पड़ने और क्षमा चाहने लगे। कथा-समाप्तिके बाद रातके दूसरे पहर भगवान्को भोग लगाकर गोस्वामीने स्वयं भोजन किया और सबको प्रसाद दिया। इसी आनन्दमें सबेरा हो चला। इतनेमें देखते हैं कि गोस्वामी महाराजका कहीं पता नहीं है। लोगोंने उन्हें बहुत खोजा पर वे कहीं नहीं मिले। तब यह निश्चय हो गया कि महेशपर कृपा करके स्वयं भगवान् ही गोस्वामीके रूपमें पधारे थे।

माघी पूर्णिमाका दिन था। गोपालके घर कीर्तन हो रहा था। इसी बीच महेश वहाँ पहुँचा और आनन्दके आँसू बहाता हुआ वहाँ लोट-लोटकर बड़े जोरोंसे भगवान्के नामका कीर्तन करने लगा। उसका सारा शरीर पुलकित हो रहा था। चन्द्रनाथ साहा धन्य-धन्य करने लगा। तीन वेश्याओंने आकर महेशकी चरणधूलि सिर चढ़ायी!

महेश कहने लगा—'देखो न, ये निमाई-निताई दोनों भाई कीर्तनके आँगनमें खड़े हैं! ये रहे राधा-कृष्ण। ये शिव-दुर्गा खड़े हैं! बस, आज ही तो मरने लायक सुदिन है।' महेशने अपनी स्त्रीसे कहा—'कुदाल लाकर गड़हा खोदो और उसमें जल छिड़क दो।' स्त्रीने यही किया। महेशने गड़हेमें सोकर कहा—'जय दुर्गा नाम सुनाओ!' चारों ओर शोर मच गया। लोग इकट्ठे हो गये। लोगोंने देखा महेशकी आँखोंमें आँसू हैं, शरीरपर रोमाञ्च हैं, मुँहसे 'दुर्गा' नामकी ध्वनि हो रही है और वह मन्द-मन्द मुसकुरा रहा है। सब लोग उसे घेरकर कीर्तन करने लगे। यों नाम सुनते-सुनते महेशने महाप्रस्थान किया। कलिकालमें भी दुर्लभ इच्छा-मृत्यु हुई (यह सच्ची घटना है। एक प्रत्यक्षदर्शी सज्जनने कलकत्तेके 'भारताजिर' में कुछ दिनों पहले इसे प्रकाशित करवाया था)।

कामके पत्र

गोपीभावका साधन

एक सज्जनने गोपीभावके साधन और युगलसरकारकी प्राप्तिके साधन पूछे हैं, उनके सन्तोषके लिये यह उत्तर लिखा गया है। सन्तोष होगा या नहीं, यह तो भगवान् जानें, उनकी जिज्ञासाके कारण इतना समय भगवच्चिन्तनमें बीता, इसके लिये तो मैं उनका कृतज्ञ हूँ ही।

गोपीभावमें प्रधान बातें पाँच हैं—

१-श्रीभगवान्‌के स्वरूपका पूर्ण ज्ञान, २-श्रीभगवान्‌में प्रियतमभाव, ३-श्रीभगवान्‌के प्रति सर्वस्व अर्पण, ४-निज सुखकी इच्छाका पूर्ण त्याग, ५-भगवत्प्रीत्यर्थ जीवनधारण।

आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविता, श्रीकृष्णप्रेमरसभावित-मति, श्रीकृष्णगतप्राणा, श्रीकृष्णसुखपरायणा व्रजगोपियोंमें ये पाँचों बातें पूर्णरूपसे थीं।

जिनका मन विषयोंमें फँसा है, जिन्हें भौतिक सौन्दर्य अपनी ओर खींचता है, जिनकी भोग्यपदार्थोंमें आसक्ति है, शरीर और शरीरसम्बन्धी वस्तुओंपर जिनकी ममता है, जो शरीरके आराम और विषयभोगकी चाह रखते हैं और जिनका जीवन-प्रवाह निरन्तर भगवान्‌की ओर नहीं बहने लगा है, वे लोग गोपीभावकी साधनाके अधिकारी नहीं हैं। ऐसे लोग भगवान्‌के अप्राकृत प्रेमतत्त्वको—सर्वोच्च दिव्य-मधुर-रसको स्थूल कामतत्त्व या लौकिक आदिरस ही समझेंगे और भगवान् तथा श्रीगोपीजनोंका अनुकरण करने जाकर भयानक नरककुण्डमें गिर पड़ेंगे!

जिनके हृदयमें भोगोंसे सच्चा वैराग्य है, जिनका चित्त कामसुखसे हट गया है और जिनकी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होकर चिन्मय भगवद्रसका आस्वादन करनेके लिये आतुर हैं—वे ही महाभाग पुरुष गोपी-भावका अनुसरण कर सकते हैं।

श्रीभगवान्‌की तीन स्वरूपा शक्तियाँ हैं—संवित्, सन्धिनी और ह्लादिनी। भगवान्‌का मधुर अवतार ह्लादिनी-नामक आनन्दमयी प्रेमशक्तिके निमित्तसे ही हुआ करता है। वे ह्लादिनी शक्ति साक्षात् श्रीराधिकाजी ही हैं। समस्त गोपीजन उन ह्लादिनी शक्तिकी ही अनन्त विभिन्न प्रतिमूर्तियाँ हैं। उनका जीवन स्वाभाविक ही भगवदर्पित है। उनकी प्रत्येक क्रिया स्वाभाविक ही भगवत्सेवारूप होती है। उनकी कोई भी चेष्टा ऐसी नहीं होती—जिसमें भगवत्प्रीतिसम्पादनके सिवा, श्रीकृष्ण-राधिकाके मिलनसुखकी साधनाके सिवा अन्य कोई उद्देश्य हो। उनके बुद्धि, मन, इन्द्रिय, शरीर आत्माके सहित सदा श्रीकृष्णके ही अर्पण हैं। उनके द्वारा निरन्तर श्रीकृष्णकी ही सेवा बनती है। कभी भूलकर भी उनका चित्त दूसरी ओर नहीं जाता, दूसरे विषयको ग्रहण नहीं करता, वे श्रीकृष्णमें ही सुखी रहती हैं, उनको सुखी देखकर ही परमसुखका अनुभव करती हैं। उनका निज सुख श्रीकृष्णसुखमें ही समाया रहता है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः।
तद्‌गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः॥

(१०।३०।४३)

उनके चित्त भगवान्‌के चित्त हो गये थे अर्थात् उनके चित्तोंमें भगवद्भावके सिवा अन्य किसी सङ्कल्पका उदय ही नहीं होता था। वे उन्हींकी चर्चा करती थीं, उन्हींके लिये उनकी सारी चेष्टाएँ होती थीं, इस प्रकार वे भगवन्मयी हो गयी थीं और भगवान्‌का गुण-गान करते हुए उन्हें अपने घरोंकी भी सुधि नहीं रही थी। वे जब घरोंका काम करतीं, तब भी वे अपने मनमें, अपनी वाणीमें और अपनी आँखोंमें निरन्तर श्रीभगवान्‌का ही स्पर्श पाती थीं, उन्हींके दर्शन करती थीं। उनके लिये कहा गया है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

(श्रीमद्भा० १०।४४।१५)

उन व्रजगोपियोंको धन्य है जिनका चित्त निरन्तर श्रीकृष्णमें ही लगा रहता है और जो गाय दुहते, धान आदि कूटते, दही बिलोते, आँगन लीपते, बच्चोंको झूला झुलाते, रोते हुए बच्चोंको पुचकारकर चुप कराते और नहलाते-धुलाते तथा घरोंको झाड़ते-बुहारते—सभी कामोंके करते समय श्रीकृष्णमें ही तन्मय रहकर सजल नेत्रोंसे और गद्‌गद-कण्ठसे निरन्तर उन्हींके गुण गाया करती हैं।

इसीलिये भगवान्‌के अत्यन्त प्रिय भक्त उद्धवजीने गोपी-प्रेमकी महान् महिमासे प्रभावित होकर व्रजमें लता-गुल्म बननेकी अभिलाषा करते हुए गोपियोंके चरणरजकी वन्दना की है—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥
या वै श्रियार्चितमजादिभिराप्तकामै
र्योगेश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम्।
कृष्णस्य तद्भगवतश्चरणारविन्दं
न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम्॥
वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥

(श्रीमद्भा० १०।४७।६१—६३)

'अहो! कैसा सौभाग्य हो मेरा, यदि मैं वृन्दावनमें कोई बेल, वनस्पति या झाड़ियोंमेंसे कोई हो जाऊँ जिनपर इन व्रज-बालाओंके चरणकी धूलि पड़े। धन्य हैं ये व्रज-गोपियाँ! जिन्होंने बड़ी कठिनतासे छोड़नेयोग्य बन्धुओंको और सनातन (मर्यादा) धर्मको त्याग कर उस मुकुन्द-पदवीका अनुसरण किया है, जो श्रुतियोंद्वारा खोजी जाती हैं (परन्तु जिसकी प्राप्ति नहीं होती)। अहो! साक्षात् लक्ष्मीजी जिनकी पूजा करती हैं, तथा ब्रह्मा आदि आप्तकाम योगेश्वरगण भी जिनका अपने चित्तमें ही चिन्तन करते हैं (परन्तु पाते नहीं), भगवान् श्रीकृष्णके उन चरणकमलोंको रास-साधनाके समय जिन्होंने अपने वक्षःस्थलपर रखकर अपने विरह-तापको बुझाया। जिनका हरिकथामय गान तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाला है, नन्दव्रजकी उन गोपरमणियोंकी चरण-धूलिको मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ।'

गोपियोंका हृदय प्रतिक्षण यही पुकारा करता है, 'कैसे हमारे प्रियतम श्रीकृष्णकी इच्छा पूर्ण हो! ये धन-धाम, ये मन-प्राण, ये देह-गेह कैसे प्यारे कन्हैयाको सुख पहुँचानेवाले हों। अरे, ये तो उन्हींके हैं—उन्हींकी सामग्री हैं फिर यह चाहा भी कैसे जाय कि इनको लेकर, इन्हें अपनी सेवामें लगाकर तुम सुखी हो जाओ। दी तो जाती है वह वस्तु, जो अपनी होती है। यहाँ तो सब कुछ उन्हींका है, अहा! मुझपर भी तो उन्हींका एकाधिकार है। फिर मैं कैसे कहूँ, तुम मुझे ले लो, मुझे अपनी सेवामें लगा लो। क्या मुझपर मेरा अधिकार है? बहुत ठीक, अब कुछ नहीं कहना है, तुम यन्त्री हो—मैं यन्त्र हूँ; तुम नचानेवाले हो, मैं कठपुतली हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो, वही करो—बस वही करो।'

कैसी ऊँची स्थिति है। इन्हें किसी भी वस्तु, किसी भी स्थितिकी जरा भी परवा नहीं है। शास्त्रोंमें आठ फाँसियाँ बतलायी गयी हैं, जिनमें बँधा हुआ मनुष्य निरन्तर कष्ट भोगता रहता है और प्रेममय, आनन्दमय भगवान्‌की ओर अग्रसर नहीं हो सकता—

घृणा शङ्का भयं लज्जा जुगुप्सा चेति पञ्चमी।
कुलं शीलं च मानं च अष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः॥

'घृणा, शङ्का, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, शील और मान—ये आठ जीवके पाश हैं।' अब गोपियोंमें देखिये—इनमेंसे कहीं एक भी उनमें ढूँढ़े नहीं मिलता। वे इन आठों मजबूत फाँसियोंको तोड़कर स्वतन्त्र हो चुकी हैं। इसीसे वे सर्वस्व त्यागकर अपने जीवनकी गतिको सब ओरसे फिराकर भगवान् श्रीकृष्णमें लगा चुकी हैं। मनुष्य भगवत्कृपासे प्राप्त अनुकूल साधना और तत्परताके फलस्वरूप जब इस अवस्थापर पहुँच जाता है, तब वह गोपीभावसे सम्पन्न होकर तुरन्त ही भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये अभिसार करता है। फिर वह कुल-शील, लज्जा-भय, मानापमान, धर्माधर्म और लोक-परलोककी चिन्ता छोड़कर पागलकी तरह 'हा प्रियतम, हा प्राणप्यारे, हा मेरे मनमोहन, तुम्हारी मधुर छविको देखे बिना अब एक पल भी मुझसे रहा नहीं जाता, मेरा एक-एक निमेष अब युगके समान बीत रहा है' पुकारता हुआ दौड़ पड़ता है अपने जीवनकी सारी चेष्टाओंको लेकर श्रीकृष्णकी ओर। जो ऐसा कर पाता है, वह बड़ा ही भाग्यवान् है। उसीका जीवन धन्य है!

संसारमें पाँच भाव हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। सारे जीव इन पाँच भावोंके अधीन हैं। जो भाग्यवान् पुरुष इन भावोंको इस अनित्य और दुःखपूर्ण संसारसे हटाकर भगवान्‌में लगा देता है, वही सच्चा साधक है। ऐसा करना ही वस्तुतः परम पुरुषार्थ है। इन पाँच भावोंमें सबसे उत्तम 'मधुर' भाव है। 'मधुर' भावमें शान्त, दास्य, सख्य, और वात्सल्य चारोंका ही समावेश है। मधुर-भावापन्न पत्नीके लिये कहा गया है—

कार्येषु मन्त्री करणेषु दासी
धर्मेषु पत्नी क्षमया च धात्री।

भोज्येषु माता शयनेषु रम्भा
रङ्गे सखी लक्ष्मण सा प्रिया मे॥

पति-पत्नीके मधुरभावकी अपेक्षा भी भावकी दृष्टिसे 'परकीया' का भाव और भी ऊँचा है। वह सर्वस्वका त्याग कर अपने प्रियतमको भजती है। यह भाव जब लौकिक कामजन्य होता है, तब वह महान् दूषित और घोर यन्त्रणामय भयानक नरकोंकी प्राप्ति करानेवाला होता है और यही भाव जब रसराज रसेन्द्रशिरोमणि रसस्वरूप आनन्दकन्द व्रजेन्द्रनन्दनमें होता है, तब वह सर्वथा निर्दोष, परम उत्कृष्ट, अति उच्च साधनसाम्राज्यका उच्चतम स्तर होता है। इस भावका उदय भगवत्कृपासे ही होता है और उन्हीं महानुभावोंमें होता है, जो इस लोक और परलोकके देवदुर्लभ भोगोंकी और कैवल्य-मोक्षकी भी अभिलाषाको छोड़कर संयम-नियमपूर्वक श्रद्धा-विश्वासके साथ पूरी तत्परतासे साक्षात् भगवत्-स्वरूपा श्रीराधिकाजीका या उन्हींकी घनीभूत मूर्ति तत्त्वतः अभिन्नस्वरूपा किसी गोपीजनकी आराधना करता है। इस रसका पूर्ण अनुभव करनेवाली श्रीकृष्णप्रेमरसभावितमति श्रीगोपियाँ हैं। उन्हींमें इसका पूर्ण प्रकाश है—वे कहती हैं—

तौक पहिरावो, पाँव बेड़ी लै भरावो, गाढ़े
बंधन बँधावो, और खिंचावो काची खाल सों।
विष लै पिलावो, तापै मूठ भी चलावो,
माँझधारमें डुबाओ बाँधि पाथर कमाल सों॥
बिच्छू लै बिछावो तापै मोहि लै सुलावो, फेरि
आग भी लगावो, बाँध कापड़ दुसाल सों।
गिरितें गिरावो, काले नागसे डसावो, हा! हा!
प्रीति ना छुड़ावो प्यारे मोहन नँदलाल सों॥
कोऊ कहो कुलटा कुलीन अकुलीन कहो,
कोऊ कहो रंकिनी कलंकिनी कुनारी हौं।
कैसो नरलोक वरलोक लोक लोकनमें
लीन्ही मैं अलीक लोक लीकनितें न्यारी हौं॥
तन जाहु, मन जाहु, देव गुरुजन जाहु,
जीव किन जाहु टेक टरत न टारी हौं।
बृन्दावनवारी बनवारीकी मुकुटवारी
पीत पटवारी वाहि मूरति पै वारी हौं॥
नँदलाल सों मेरो मन मान्यो कहा करैगो कोय री।
हौं तो चरनकमल लपटानी जो भावै सो होय री॥
गृहपति मातुपिता मोहि त्रासत हँसत बटाऊ लोग री।
अब तो ऐसी ही बनि आई विधना रच्यो है संयोग री॥
जो मेरो यह लोक जायगो अरु परलोक नसाय री।
नंदनँदनको तऊ न छाँडू मिलूँगी निसान बजाय री॥
यह तन फिरि बहुरो नहिं पैये बल्लभ बेश मुरार री।
परमानंद स्वामीके ऊपर सरबस डारौं वार री॥

अवश्य ही ये कवियोंकी उक्तियाँ हैं, परन्तु इनमें गोपीभावनाकी बाहरी रूप-रेखाका स्पष्ट दिग्दर्शन है। गोपीभावका यथार्थ रहस्य तो गोपीभावापन्न प्रेमी पुरुष ही जानते हैं, उसका वर्णन कोई कर नहीं सकता। यह तो उसका अति बाह्य स्थूल आंशिक प्रकाशमात्र है। न यही समझना चाहिये कि परकीया भाव ही गोपीप्रेमका यथार्थ उदाहरण है। वह प्रेम तो इतना अनिर्वचनीय और अनुपम है कि न तो वह कहा जा सकता है और न उसकी किसीके साथ तुलना ही हो सकती है।

गोपीभावकी प्राप्तिके लिये संक्षेपतः निम्नलिखित दस साधन करने आवश्यक हैं।

१-किसी ऐसे सद्गुरुका आश्रय जो काम-क्रोध-लोभादिसे सर्वथा रहित हों, अन्तर-बाहरसे पवित्र और सदाचार परायण हों, शान्त, निर्मत्सर और प्रेमी हों, श्रीकृष्णरसके तत्त्वज्ञ हों, कृष्णमन्त्रके ज्ञाता हों, कृष्णानुग्रहको ही श्रीकृष्ण-प्राप्तिका एकमात्र उपाय जानते हों, दयालु और परम वैराग्यवान् हों और श्रीकृष्णलीला-गुणोंके श्रवण-कीर्तनमें जीवन बिताते हों। ऐसे गुरु न मिलें, तो जगद्गुरु श्रीकृष्णको ही परम गुरुरूपमें वरण करना चाहिये।

२-श्रीगुरुदेवमें जो गुण बतलाये गये हैं, इन्हीं गुणोंको अपने अंदर बढ़ानेका पूरा प्रयत्न करना चाहिये।

३-भगवान् श्रीकृष्ण ही पूर्ण परमेश्वर, सर्वोपरि, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वमय, सर्वातीत, अचिन्त्या-नन्तगुणसम्पन्न, अखिलरसामृतसिन्धु, भक्तवाञ्छाकल्पतरु, नित्यविहारी, अज, अविनाशी, परमब्रह्म, सर्वदेवपूज्य, सर्वदेव-स्वरूप, परब्रह्मके भी परम आश्रय, नित्य, निर्गुण, निराकार, निर्विकार, निरञ्जन, अप्रमेय, अनवद्य, अकल, अचल, अनामय, सच्चिदानन्दघन और अचिन्त्य-चिन्मय विग्रह हैं ऐसा मानकर उन्हींको अपना परम आराध्य इष्टदेव बनाना चाहिये।

४-इस लोक और परलोकके तमाम भोगोंको

भगवत्-प्राप्तिके मार्गमें सर्वथा बाधक समझकर उनसे चित्तकी आसक्तिको बिलकुल हटा लेना चाहिये। और आवश्यकतानुकूल भोगोंका व्यवहार भगवत्प्रीत्यर्थ—उन्हें भगवत्पूजनकी सामग्री बनाकर ही करना चाहिये। किसी भी भोग्य वस्तुमें आसक्ति, ममता और कामना जरा भी नहीं रहनी चाहिये।

५-भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर व्रजलीलाको प्राकृत स्त्री-पुरुषोंकी कामक्रीड़ा कभी नहीं मानना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णकी भगवत्तामें और उनकी प्रत्येक लीलाकी अप्राकृत सच्चिदानन्दमयतामें नित्य पूर्ण विश्वास होना चाहिये।

६-किसी भी प्राणीका जरा भी अहित न करके वैष्णवोचित सत्य, अहिंसा, प्रेम, विनम्रता, ब्रह्मचर्य, सेवा आदि सद्गुण और सत्कर्मोंका तथा श्रीतुलसीजी, गङ्गाजी, यमुनाजी, श्रीविग्रह, भक्त-संत आदिका भगवत्प्रीत्यर्थ श्रद्धापूर्वक यथायोग्य सेवन करना चाहिये।

७-श्रीयुगलमन्त्रका जाप विधिपूर्वक यथासमय अवश्य करना चाहिये, और श्रीभगवन्नामका जप-कीर्तन निरन्तर करते रहना चाहिये।

८-श्रीराधिकाजी अथवा श्रीललिताजी आदिका भक्तिपूर्वक सेवन करना चाहिये।

९-नित्य निरन्तर अपनेको सर्वतोभावसे भगवान्के चरणोंमें समर्पण करते रहना और उनसे सेवाधिकार-दानके लिये करुण प्रार्थना करते रहना चाहिये।

१०-कामविकारके नाशके लिये विशेष प्रयत्नवान् होना चाहिये, क्योंकि जबतक जरा भी कामविकार रहता है तबतक गोपीभावकी साधनाका अधिकार किसी तरह भी नहीं मिल सकता।

पद्मपुराणमें भगवान् श्रीशंकरने देवर्षि नारदजीसे श्रीराधाकृष्णकी उपासना, उनके स्वरूप और मन्त्रादिके विषयमें बहुत रहस्यकी बातें बतलायी हैं—उनमेंसे पाठकोंके लाभार्थ कुछ यहाँ उद्धृत की जाती हैं। भगवान् शिवजी कहते हैं—

श्रीकृष्णके मन्त्रचिन्तामणि नामक दो अत्युत्तम मन्त्र हैं—एक षोडशाक्षर है और दूसरा दशाक्षर!

मन्त्र

षोडशाक्षर मन्त्र है—

'गोपीजनवल्लभचरणान् शरणं प्रपद्ये।'

और दशाक्षर है—

'नमो गोपीजनवल्लभाभ्याम्'

इन मन्त्रोंके अधिकारी सभी वर्णोंके, सभी आश्रमोंके और सभी जातिके वे स्त्री-पुरुष हैं जिनकी सर्वेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णमें भक्ति है (—**'भक्तिर्भवेदेषां कृष्णे सर्वेश्वरेश्वरे।'**) श्रीकृष्णभक्तिसे रहित याज्ञिक, दानशील, तान्त्रिक, सत्यवादी, वेदवेदाङ्गपारग, कुलीन, तपस्वी, व्रती और ब्रह्मनिष्ठ कोई भी इनके अधिकारी नहीं हैं। इसलिये ये मन्त्र श्रीकृष्णके अभक्त, कृतघ्न, दुरभिमानी और श्रद्धारहित मनुष्योंको नहीं बतलाने चाहिये।

दम्भ, लोभ, काम और क्रोधादिसे रहित, श्रीकृष्णके अनन्य भक्तको ही ये मन्त्र देने चाहिये। इनका यथाविधि न्यास करके श्रीकृष्णकी पूजा करनी चाहिये। फिर उनका इस प्रकार ध्यान करना चाहिये—

ध्यान

सुन्दर वृन्दावनमें कल्पवृक्षके नीचे सुरम्य रत्नसिंहासन-पर भगवान् श्रीकृष्ण श्रीप्रियाजीके साथ विराजमान हैं। श्रीकृष्णका वर्ण नवजलधरके समान नील-श्याम है, पीताम्बर धारण किये हुए हैं, द्विभुज हैं, विविध रत्नोंकी और पुष्पोंकी मालाओंसे विभूषित हैं, मुखमण्डल करोड़ों चन्द्रमाओंसे भी सुन्दर है। तिरछे नेत्र हैं, ललाटपर मण्डलाकृति तिलक हैं, जो चारों ओर चन्दनसे और बीचमें कुंकुमबिन्दुसे बनाये हुए हैं। कानोंमें सुन्दर कुण्डल शोभायमान हैं, उन्नत नासिकाके अग्रभागमें मोती लटक रहा है। पके बिम्बफलके समान अरुणवर्ण अधर हैं, जो दाँतोंकी प्रभासे चमक रहे हैं। भुजाओंमें रत्नमय कड़े और बाजूबन्द हैं और अङ्गुलियोंमें रत्नोंकी अँगूठियाँ शोभा पा रही हैं। बायें हाथमें मुरली और दाहिनेमें कमल लिये हुए हैं। कमरमें मनोहर रत्नमयी करधनी है, चरणोंमें नूपुर सुशोभित है। बड़ी ही मनोहर अलकावली है, मस्तकपर मयूरपिच्छ शोभा पा रहा है। सिरमें कनेरके पुष्पोंके आभूषण हैं। भगवान्की देहकान्ति नवोदित कोटि-कोटि दिवाकरोंके सदृश स्निग्ध ज्योतिर्मय है, उनके दर्पणोपम कपोल स्वेदकणोंसे सुशोभित हैं, चञ्चल नेत्र श्रीराधिकाजीकी ओर लगे हुए हैं। वामभागमें श्रीराधिकाजी विराजिता हैं, तपे हुए सोनेके समान उनकी देहप्रभा है, नील वस्त्र धारण किये हैं, मन्द-मन्द मुस्करा रही हैं। चञ्चल नेत्रयुगल स्वामीके मुखचन्द्रकी ओर लगे हुए हैं और चकोरीकी भाँति उनके द्वारा वे श्याम मुख-चन्द्र-सुधाका पान कर रही हैं। अङ्गुष्ठ और तर्जनी अंगुलियोंके द्वारा वे प्रियतमके मुख-कमलमें पान दे रही हैं। उनके गलेमें दिव्य रत्नों और मुक्ताओंके हार हैं। क्षीण कटि करधनीसे सुशोभित

है। चरणोंमें नूपुर, कड़े और चरणाङ्गुलियोंमें अंगुरीय आदि शोभा पा रहे हैं। उनके प्रत्येक अंग-प्रत्यंगसे लावण्य छिटक रहा है। उनके चारों ओर तथा आगे-पीछे यथास्थान खड़ी हुई सखियाँ विविध प्रकारसे सेवा कर रही हैं।

श्रीराधिकाजी कृष्णमयी हैं, वे श्रीकृष्णकी आनन्दरूपिणी ह्लादिनी शक्ति हैं। त्रिगुणमयी दुर्गा आदि शक्तियाँ उनकी करोड़वीं कलाके करोड़वें अंशके समान हैं। सब कुछ वस्तुतः श्रीराधाकृष्णसे ही भरा है। उनके सिवा और कुछ भी नहीं है। यह जडचेतन अखिल जगत् श्रीराधाकृष्णमय है—

चिदचिल्लक्षणं सर्वं राधाकृष्णमयं जगत्।

परन्तु वे इतने ही नहीं हैं। अनन्त अखिल ब्रह्माण्डसे परे हैं, सबसे परे हैं, सबके अधिष्ठान हैं, सबमें हैं और सबसे सर्वथा विलक्षण हैं। यह श्रीकृष्णका किञ्चित् ऐश्वर्य है।

साधन

बहुत दिनोंसे विदेश गये हुए पतिकी पतिपरायणा पत्नी जैसे एकमात्र अपने पतिमें ही अनुरागिणी होकर एकमात्र पतिका ही संग चाहती हुई जैसे दीनभावसे सदा-सर्वदा स्वामीके गुणोंका चिन्तन, गान और श्रवण किया करती है, वैसे ही श्रीकृष्णमें आसक्तचित्त होकर साधकको श्रीकृष्णके गुण-लीलादिके चिन्तन, गायन और श्रवण करते हुए ही समय बिताना चाहिये। और बहुत लंबे समयके बाद पतिके घर आनेपर जैसे पतिव्रता स्त्री अनन्य प्रेमके साथ तद्गतचित्त होकर पतिकी सेवा, उसका आलिङ्गन आदि तथा नयनोंके द्वारा उसके रूपसुधामृतका पान करती है वैसे ही साधकको उपासनाके समय शरीर, मन, वाणीसे परमानन्दके साथ श्रीहरिकी सेवा करनी चाहिये।

एकमात्र श्रीकृष्णके ही शरणापन्न होना चाहिये और वह भी श्रीकृष्णके लिये ही; दूसरा कोई भी प्रयोजन न रहे। अनन्य मनसे श्रीकृष्णकी सेवा करनी चाहिये। श्रीकृष्णके सिवा न किसीकी पूजा करनी चाहिये और न किसीकी निन्दा। किसीका जूँठा नहीं खाना चाहिये और न किसीका पहना हुआ वस्त्र ही पहनना चाहिये। भगवान्‌की निन्दा करनेवालोंसे न तो बातचीत करनी चाहिये और न भगवान् और भक्तोंकी निन्दा सुननी ही चाहिये।

जीवनभर चातकीवृत्तिसे अर्थ समझते हुए युगलमन्त्रकी उपासना करनी चाहिये। चातक जैसे सरोवर, नदी और समुद्र आदि सहज ही मिले हुए जलाशयोंको छोड़कर एकमात्र मेघजलकी आशासे प्याससे तड़पता हुआ जीवन बिताता है; प्राण चाहे चले जायँ पर मेघके सिवा किसी दूसरेसे जलकी प्रार्थना नहीं करता। इसी प्रकार साधकको एकाग्र मनसे एकमात्र श्रीकृष्णगतचित्त होकर साधना करनी चाहिये।

परम विश्वासके साथ श्रीयुगलसरकारसे निम्नलिखित प्रार्थना करनी चाहिये—

संसारसागरान्नाथौ पुत्रमित्रगृहाकुलात्।
गोप्तारौ मे युवामेव प्रपन्नभयभञ्जनौ॥
योऽहं ममास्ति यत्किञ्चिदिहलोके परत्र च।
तत्सर्वं भवतोरद्य चरणेषु समर्पितम्॥
अहमस्म्यपराधानामालयस्त्यक्तसाधनः।
अगतिश्च ततो नाथौ भवन्तावेव मे गतिः॥
तवास्मि राधिकाकान्त कर्मणा मनसा गिरा।
कृष्णकान्ते तवैवास्मि युवामेव गतिर्मम॥
शरणं वां प्रपन्नोऽस्मि करुणानिकराकरौ।
प्रसादं कुरुतं दास्यं मयि दुष्टेऽपराधिनि॥

(पद्मपुराण पातालखण्ड)

'हे नाथ! पुत्र, मित्र और घरसे भरे हुए इस संसार-सागरसे आप ही दोनों मुझको बचानेवाले हैं, आप ही शरणागतके भयका नाश करते हैं। मैं जो कुछ भी हूँ और इस लोक तथा परलोकमें मेरा जो कुछ भी है वह सभी आज मैं आप दोनोंके चरणकमलोंमें समर्पण कर रहा हूँ। मैं अपराधोंका भण्डार हूँ। मेरे अपराधोंका पार नहीं है। मैं सर्वथा साधनहीन हूँ, गतिहीन हूँ। इसलिये हे नाथ! एकमात्र आप ही दोनों प्रिया-प्रियतम मेरे गति हैं। हे श्रीराधिकाकान्त श्रीकृष्ण! और हे श्रीकृष्णकान्ते राधिके! मैं तन-मन-वचनसे आपका ही हूँ और आप ही मेरे एकमात्र गति हैं। मैं आपके शरण हूँ। आपके चरणोंपर पड़ा हूँ। आप अखिल कृपाकी खान हैं। कृपापूर्वक मुझपर दया कीजिये और मुझ दुष्ट अपराधीको अपना दास बना लीजिये।'

जो भगवान् श्रीराधाकृष्णकी सेवाका अधिकार बहुत शीघ्र प्राप्त करना चाहते हैं उन साधकोंको भगवान्‌के चरणकमलोंमें स्थित होकर इस प्रार्थनामय मन्त्रका नित्य जप करना चाहिये।

भगवान् शंकरने फिर कहा कि—

'हे देवर्षि! मैं भगवान्‌के मन्त्रका जप और उनका ध्यान करता हुआ बहुत दिनोंतक कैलाशपर रहा, तब भगवान्‌ने प्रकट होकर मुझे दर्शन दिये और वर माँगनेके

लिये कहा। मैंने बारंबार प्रणाम करके उनसे प्रार्थना की—'हे कृपासिन्धो! आपका जो सर्वानन्ददायी समस्त आनन्दोंका आधार नित्य मूर्तिमान् रूप है, जिसे विद्वान् लोग निर्गुण, निष्क्रिय शान्तब्रह्म कहते हैं। हे परमेश्वर! मैं उसी रूपको अपनी इन आँखोंसे देखना चाहता हूँ।'

भगवान्ने कहा—'आप श्रीयमुनाजीके पश्चिम तटपर मेरे वृन्दावनमें जाइये, वहाँ आपको मेरे स्वरूपके दर्शन होंगे।' इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। मैंने उसी क्षण मनोहर यमुनातटपर जाकर देखा समस्त देवताओंके ईश्वरोंके ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण मनोहर गोपवेष धारण किये हुए हैं। उनकी सुन्दर किशोर अवस्था है। श्रीराधाजीके कन्धेपर अपना अति मनोहर बायाँ हाथ रखे वे सुन्दर त्रिभंगी-से खड़े मुस्करा रहे हैं। आपके चारों ओर गोपियोंका मण्डल है। शरीरकी कान्ति सजल जलदके सदृश स्निग्ध श्यामवर्ण है। आप अखिल कल्याणके एकमात्र आधार हैं।

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने अमृतोपम मधुर वाणीमें मुझसे कहा—

यदद्य मे त्वया दृष्टमिदं रूपमलौकिकम्।
घनीभूतामलप्रेमसच्चिदानन्दविग्रहम् ॥
नीरूपं निर्गुणं व्यापि क्रियाहीनं परात्परम्।
वदन्त्युपनिषत्सङ्घा इदमेव ममानघ॥
प्रकृत्युत्थगुणाभावादनन्तत्वात्तथेश्वर ।
असिद्धत्वान्मद्‌गुणानां निर्गुणं मां वदन्ति हि॥
अदृश्यत्वान्ममैतस्य रूपस्य चर्मचक्षुषा।
अरूपं मां वदन्त्येते वेदाः सर्वे महेश्वर॥
व्यापकत्वाश्चिदंशेन ब्रह्मेति च विदुर्बुधाः।
अकर्तृत्वात्प्रपञ्चस्य निष्क्रियं मां वदन्ति हि॥
मायागुणैर्यतो मेंऽशाः कुर्वन्ति सर्जनादिकम्।
न करोमि स्वयं किञ्चित् सृष्ट्यादिकमहं शिव॥

(पद्मपुराण पातालखण्ड)

'हे शंकर! आपने आज मेरा यह परम अलौकिक रूप देखा है। सारे उपनिषद् मेरे इस घनीभूत निर्मल प्रेममय सच्चिदानन्दघन रूपको ही निराकार, निर्गुण, सर्वव्यापी, निष्क्रिय और परात्पर ब्रह्म कहते हैं। मुझमें प्रकृतिसे उत्पन्न कोई गुण नहीं है और मेरे गुण अनन्त हैं—उनका वर्णन नहीं हो सकता। और मेरे वे गुण प्राकृतदृष्टिसे सिद्ध नहीं होते, इसलिये सब मुझको 'निर्गुण' कहते हैं। हे महेश्वर! मेरे इस रूपको चर्मचक्षुओंके द्वारा कोई देख नहीं सकता, इसलिये वेद इसको अरूप या 'निराकार' कहते हैं। मैं अपने चैतन्यांशके द्वारा सर्वव्यापी हूँ, इसलिये विद्वान् लोग मुझको 'ब्रह्म' कहते हैं। और मैं इस विश्वप्रपञ्चका रचयिता नहीं हूँ, इसलिये पण्डितगण मुझको 'निष्क्रिय' बतलाते हैं। हे शिव! वस्तुतः सृष्टि आदि कोई भी कार्य मैं स्वयं नहीं करता। मेरे अंश ही (ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र) माया-गुणोंके द्वारा सृष्टि-संहारादि कार्य किया करते हैं।'

हे देवर्षि! भगवान्के इस प्रकार कहने और कुछ अन्य उपदेश करनेपर मैंने उनसे पूछा—'हे नाथ! आपके इस युगल स्वरूपकी प्राप्ति किस उपायसे हो सकती है, इसे कृपा करके बतलाइये।' भगवान्ने कहा—'हम दोनोंके शरणापन्न होकर जो गोपीभावसे हमारी उपासना करते हैं, उसीको हमारी प्राप्ति होती है, अन्य किसीको नहीं।'

गोपीभावेन देवेश स मामेति न चेतरः।

'एक सत्य बात और है—वह यह है कि पूरे प्रयत्नोंके साथ इस भावकी प्राप्तिके लिये श्रीराधिकाकी उपासना करनी चाहिये। हे रुद्र! यदि आप मुझे वशमें करना चाहते हैं, तो मेरी प्रिया श्रीराधिकाजीकी शरण ग्रहण कीजिये—

आश्रित्य मत्प्रियां रुद्र मां वशीकर्तुमर्हसि।'

इस वर्णनसे पता लगा होगा कि भगवान् श्रीराधाकृष्णकी प्राप्ति और उनकी सेवा ही गोपीभावकी साधनाका लक्ष्य है और इसकी प्राप्तिके लिये उपर्युक्त प्रकारसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक तत्पर होकर साधना करनी चाहिये और भगवान् श्रीकृष्णके परम मनोहर मुनिजनमोहन सौन्दर्य सुधामय स्वरूपका अतृप्त और निर्निमेष मानस नेत्रोंसे अपने हृदयमें ध्यान करना चाहिये। ध्यान करते-करते जब उनकी कृपासे आपको उनके मधुर रूप-माधुर्यके प्रत्यक्ष दर्शन होंगे तब तो आप निहाल ही हो जाइयेगा। फिर तो आप भी यही चाहियेगा—

माथे पै मुकुट देखि, चन्द्रिका-चटक देखि,
छबिकी लटक देखि रूपरस पीजिये।
लोचन बिसाल देखि, गरे गुंजमाल देखि,
अधर रसाल देखि, चित्त चाव कीजिये॥
कुंडल हलनि देखि, अलक बलनि देखि,
पलक चलनि देखि सरबस ही दीजिये।
पीताम्बरकी छोर देखि, मुरलीकी घोर देखि,
साँवरेकी ओर देखि देखिबोई कीजिये॥

शरण-साधन

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

'जो एक बार भी शरण होकर कह देता है कि मैं आपका हूँ, उसे मैं सब भूतोंसे अभय कर देता हूँ। यह मेरा व्रत है।'

ये शब्द मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके हैं। श्रीरामचन्द्रजीकी प्रतिज्ञा प्रसिद्ध है 'राम एक बार जो कह देते हैं, बस वही करते हैं, दूसरी बार उसे बदलते नहीं—**रामो द्विर्नाभिभाषते**।'

उपर्युक्त भगवद्वाक्यके अनुसार एक बार भी जो भगवान्‌की शरण हो जाता है उसीको भगवान् अपना लेते हैं और अभय कर देते हैं।

शरण होनेवाले साधकके लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह अन्य साधनोंके द्वारा पहले निष्पाप हो ले और फिर भगवान्‌की शरणमें जाय। न यही जरूरी है कि वह उत्तम वर्ण, उत्तम कुल, उत्तम गुण और उत्तम आचारोंसे सम्पन्न हो। कोई भी, कैसा भी क्यों न हो, भगवान् सभीको अपनी कल्याणमयी गोदमें आश्रय देनेको सदा तैयार हैं। बस, दो ही बात होनी चाहिये—एक तो भगवान्‌में और उनकी शरणागत-वत्सलतामें पूरा विश्वास, और दूसरी अपनेको सब ओरसे असहाय—सारे सहारोंसे रहित दीन-हीन मानकर, किसी भी दूसरी ओर न ताककर निर्भरताके साथ उनके श्रीचरणोंमें डाल देनेकी सच्ची लालसा।

भगवान्‌की कृपा और शरणागत-वत्सलतापर विश्वास जबतक न होगा, तबतक एकमात्र उनके चरणोंका आश्रय पकड़नेमें हिचक रहेगी। जहाँ सन्देह है, वहाँ निर्भरता नहीं हो सकती। इसलिये पहली बात है—विश्वास, और दूसरी बात है अन्य सारे अवलम्बनोंके प्रति अनास्था; फिर पाप तो भगवान्‌की शरणमें आते ही वैसे ही नष्ट हो जायँगे जैसे सूर्योदयकी सूचनासे ही अन्धकारका नाश हो जाता है। जैसे सूर्यके सामने कभी अन्धकार आ ही नहीं सकता, वैसे ही शरणागतके समीप पाप नहीं आ सकते। रही ताप या दु:खोंकी बात—सो जब परम आनन्दमय प्रभुकी शरण प्राप्त हो जाती है, तब वहाँ ताप रह ही कैसे सकते हैं? ताप तो विषयोंको आश्रय करके ही रहते हैं और विषयोंके आश्रयी नर-नारियोंको सदा जलाया करते हैं। जिन्होंने भगवान्‌का आश्रय ले लिया है, वे तो उस परम शान्ति और अचल शीतलताके साम्राज्यमें जा पहुँचते हैं, जहाँ दु:ख-तापके लिये प्रवेशका अधिकार ही नहीं है।

नीच महापापी हो चाहे, चाहे हो अति हीन मलीन।
भीषण नरक-कुंडका कीड़ा पड़ा सड़ रहा हो अति दीन॥
जो शरण्य स्वामीको अपना एकमात्र रक्षक पहचान।
जा पड़ता सत्वर चरणोंमें सच्चे मनसे अपने जान॥
नहीं देखते जातिपाँतिको नहीं देखते पापाचार।
शील-मान-कुल नहीं देखते, नहीं देखते कुव्यवहार॥
केवल मनके भाव और नीयतपर देते हैं प्रभु ध्यान।
रख लेते तुरंत निज आश्रय उसको अपना निज-जन जान॥
अपने हाथों बड़े स्नेहसे पाप-ताप-मल धोते आप।
अपने हाथों गले लगाकर हर लेते सारा संताप॥
मिल जाती फिर पूर्ण विमल मति परा शान्ति अति परमानन्द।
करुणावरुणालय नित निज-सेवामें रखते आनँदकन्द॥

शरणागत भक्तके न शोक रह सकता है न विषाद, न दु:ख न ताप, न चिन्ता न भय। उसे कुछ करना भी नहीं पड़ता। सब काम भगवत्कृपाकी शक्तिसे अपने-आप हो जाते हैं। शरणागतिमें कोई शर्त नहीं, कोई कैद नहीं। बस, एक ही शर्त है—एकमात्र भगवान्‌को ही परम आश्रय जानकर उनकी शरण हो जाना—पुकारकर कह देना—'नाथ! मैं तुम्हारा हूँ, तुम्हारे चरणोंपर आ पड़ा हूँ। दीन-हीन हूँ, पापी-अपराधी हूँ, साधनहीन मलिनमति हूँ, पर तुम्हारा हूँ; एकमात्र तुम्हारी ही कृपापर निर्भर हूँ, फिर तो भगवान् उसे निहाल कर देते हैं—अपनी सेवामें नियुक्त कर लेते हैं। भगवत्कृपासे वह उस आनन्दको अनायास ही पा जाता है जो अनिर्वचनीय है। भगवान् स्वयं घोषणा करके कहते हैं—'

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

'सब धर्मोंको छोड़कर तुम एकमात्र मेरी शरणमें आ जाओ। मैं तुम्हें सब पापोंसे छुड़ा दूँगा। तुम चिन्ता न करो।'

शिवतत्त्व और शैव-साधना

तावत्प्रसीद कुरु नः करुणाममन्दमाक्रन्दमिन्दुधर! मर्षय मा विहासीः।
ब्रूहि त्वमेव भगवन्! करुणार्णवेन त्यक्तास्त्वया कमपरं शरणं व्रजामः॥

(स्तुतिकुसुमाञ्जलि)

भगवान् एक ही हैं, लीलाभेदसे उन्हींके अनेकों दिव्य नामरूप हैं। साधक अपनी-अपनी प्रकृति और रुचिके अनुसार किसी भी नाम-रूपकी उपासना करके भगवान्को प्राप्त कर सकता है। भारतवर्षके ऋषि-मुनियोंने जैसे भगवान् विष्णुकी आराधना की है, वैसे ही भगवान् शिवकी की है। और यह सिद्ध कर दिया है कि एक ही परम तत्त्व इन दो रूपोंमें प्रकाशित है। जिस प्रकार भगवान् विष्णु परमब्रह्म, सर्वव्यापी, सृष्टिकर्ता, साकार सगुण भगवान् हैं, वैसे ही भगवान् शिव हैं। कल्पभेदसे कभी विष्णुस्वरूपकी प्रधानता होती है—कभी शिवस्वरूपकी। वे आप ही एक स्वरूपसे स्रष्टा बनते हैं, दूसरेसे सृष्टि, एक स्वरूपसे उपासक बनते हैं, दूसरेसे उपास्य! आप पूजते हैं और आप ही पुजवाते हैं। यह सारी लीला उनकी महान् रहस्यमयी है।

यजुर्वेदकी माध्यन्दिनीय शाखाके १६ वें अध्यायमें शिवजीके निराकार-साकार स्वरूपका स्पष्ट वर्णन है। कैवल्योपनिषद्में कहा है—

तमादिमध्यान्तविहीनमेकं
विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम्।
उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं
त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्॥

'वे आदि, मध्य, अन्तहीन हैं, निराकार हैं, एक हैं, विभु हैं, चिदानन्द हैं, अद्भुत हैं, स्वामी हैं, उमाके साथ रहनेवाले हैं, त्रिनेत्र और नीलकण्ठ हैं, परम शान्त हैं।' इस मन्त्रमें भी भगवान् शिवके निर्गुण-सगुण दोनों स्वरूपोंका वर्णन है।

श्वेताश्वतरमें कहा है—

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ता-
द्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥

(६।७)

'वे ईश्वरोंके भी परम महेश्वर, देवताओंके भी परम देवता, पतियोंके भी परम पति, परात्पर, परम पूज्य और भुवनेश्वर हैं।'

शिवपुराणमें कहा गया है—

सत्यं ज्ञानमनन्तञ्च चिदानन्द उदाहृतः।
निर्गुणो निरुपाधिश्च निरञ्जनोऽव्ययस्तथा॥
यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
तदेव प्रथमं प्रोक्तं ब्रह्मैव शिवसंज्ञितम्॥

(ज्ञान० अ० ७६)

'वे सत्य, ज्ञान और अनन्त हैं, चिदानन्दस्वरूप हैं, निर्गुण, निरुपाधि, निरञ्जन और अविनाशी हैं। मनके सहित वाणी जिनको न पाकर लौट आती है, अर्थात् जो मन-वाणीकी सीमासे परे हैं, वही ब्रह्म शिव नामसे पहले कहे गये हैं।'

यही शिव—

रुद्रो नाम स विज्ञातो लोकानुग्रहकारकः।
ध्यानार्थं चैव सर्वेषामरूपो रूपवानभूत्॥
स एव च शिवः साक्षाद् भक्तवात्सल्यकारकः॥

(शिव० ज्ञान० अ० ७७)

—'संसारपर अनुग्रह करनेके लिये रुद्र नामसे जाने जाते हैं। सबके ध्यानमें आनेके लिये इन्होंने अरूप होनेपर भी दिव्यरूप धारण किया। ये भक्तवत्सलरूपधारी (साकार) रुद्र साक्षात् शिव ही हैं।'

इन्हींकी शक्ति माया प्रकृति हैं और ये मायाके अधिपति मायी महेश्वर हैं। इनकी मायाशक्तिके द्वारा इन्हींके अवयवभूत जीवोंसे यह अखिल जगत् व्याप्त हो रहा है।

इन महेश्वर और इनकी मायासे ही ये अखिल विश्व हैं, ये ही उसके परम आधार, स्रष्टा और अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हैं। इन्हीं परमपुरुष भगवान्का नाम सृष्ट्युन्मुखी होनेपर 'अनादि लिङ्ग' है और इन परम आधेयको आधार देनेवाली इन्हींकी अनादि शक्ति देवीका नाम 'योनि' है। ये ही दोनों अखिल ब्रह्माण्ड चराचरके परम कारण हैं।

इनके साकार रूप लीलाभेदसे अनेकों प्रकारके हैं और सभी अधिकारिभेदसे पूज्य और उपास्य हैं। इनका

पञ्चमुख स्वरूप प्रसिद्ध है। पाँच मुख हैं—ईशान, घोर, तत्पुरुष, वामदेव और सद्योजात। इसी प्रकार अनेकों रूप हैं। यहाँ तीन स्वरूपोंके ध्यान और उपासनाके मन्त्र लिखे जाते हैं। अच्छी तरह विधि जानकर विधिपूर्वक ही इनका अनुष्ठान करना उचित है। परन्तु एक मन्त्र ऐसा है जिसका अनुष्ठान सब लोग सब अवस्थाओंमें कर सकते हैं और वह मन्त्र बड़ा ही कल्याणकारी है। वह है—'**नमः शिवाय**'।

(१)

बालार्कायुततेजसं धृतजटाजूटेन्दुखण्डोज्ज्वलं
नागेन्द्रैः कृतशेखरं जपवटीं शूलं कपालं करैः।
खट्वाङ्गं दधतं त्रिनेत्रविलसत्पञ्चाननं सुन्दरं
व्याघ्रत्वक्परिवानमब्जनिलयं श्रीनीलकण्ठं भजे॥

'भगवान् श्रीनीलकण्ठ दस हजार बालसूर्योंके समान तेजस्वी हैं, सिरपर जटाजूट, ललाटपर अर्धचन्द्र और मस्तकपर साँपोंका मुकुट धारण किये हैं, चारों हाथोंमें जपमाला, शूल, नरकपाल और खट्वाङ्ग मुद्रा है। तीन नेत्र हैं, पाँच मुख हैं; अति सुन्दर विग्रह है, बाघम्बर पहने हुए हैं और सुन्दर पद्मपर विराजित हैं। इन श्रीनीलकण्ठदेवका भजन करना चाहिये।'

इनका मन्त्र है—'**प्रों त्रीं ठः**'।

(२)

नीलप्रवालरुचिरं विलसत्त्रिनेत्रं
पाशारुणोत्पलकपालकशूलहस्तम्।
अर्धाम्बिकेशमनिशं प्रविभक्तभूषं
बालेन्दुबद्धमुकुटं प्रणमामि रूपम्॥

'श्रीशंकरजीका शरीर नील मणि और प्रवालके समान सुन्दर (नील लोहित) है, तीन नेत्र हैं, चारों हाथोंमें पाश, लाल कमल, कपाल और शूल हैं, आधे अंगमें अम्बिकाजी और आधेमें महादेवजी हैं। दोनों अलग-अलग शृङ्गारोंसे सज्जित हैं, ललाटपर अर्धचन्द्र है और मस्तकपर मुकुट सुशोभित है। ऐसे स्वरूपको नमस्कार है।'

इनका मन्त्र है—

'**रं क्षं मं यं औं ॐ**।'

(३)

स्वच्छं स्वच्छारविन्दस्थितमुभयकरे संस्थितौ पूर्णकुम्भौ
द्वाभ्यामेणाक्षमाले निजकरकमले द्वौ घटौ नित्यपूर्णौ।
द्वाभ्यां तौ च स्रवन्तौ शिरसि शशिकलां चामृतैः प्लावयन्तं
देहं देवो दधानः प्रदिशतु विशदाकल्पजालः श्रियं वः॥

'त्र्यम्बक भगवान्का शरीर अत्यन्त निर्मल है, वे सुन्दर स्वच्छ कमलपर विराजित हैं। आठ हाथ हैं। दो हाथोंमें दो अमृतके घड़े हैं, दो हाथोंमें क्रमशः मृगमुद्रा और अक्षमाला है, दो हाथोंमें दो अमृतसे भरे घड़े और हैं और दो हाथोंसे उन घड़ोंके अमृतको अपने सिरमें स्थित चन्द्रकलापर उँडेल रहे हैं। ऐसे निर्मल वेशसे सुसज्जित भगवान् त्र्यम्बकदेव तुमलोगोंका मङ्गल करें।'

इनका मन्त्र है—

'**हौं ॐ जूं सः ॐ भूर्भुवः स्वः ॐ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। ऊर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् हौं ॐ जूं सः ॐ भूर्भुवः स्वः**।'

किस देशमें रहे और किसको छोड़ दे?

यत्र संलोडिता लुब्धैः प्रायशो धर्मसेतवः। प्रदीप्तमिव चेलान्तं कस्तं देशं न सन्त्यजेत्॥
यत्र धर्ममनाशङ्काश्चरेयुर्वीतमत्सराः। भवेत्तत्र वसेच्चैव पुण्यशीलेषु साधुषु॥
धर्ममर्थनिमित्तं च चरेयुर्यत्र मानवाः। नताननुवसेज्जातु ते हि पापकृतो जनाः॥
कर्मणा यत्र पापेन वर्तन्ते जीवितेप्सवः। व्यवधावेत्ततस्तूर्णं ससर्पाच्छरणादिव॥

जिस देशमें लोभी मनुष्य अधिकांश धर्म-मर्यादाको छिन्न-भिन्न कर देते हैं ऐसा देश, जिसका एक कोना जल रहा हो उस वस्त्रके समान छोड़ देनेयोग्य है। जिस देशके मनुष्य मत्सर तथा शंकासे रहित होकर धर्माचरण करते हैं, ऐसे पवित्र शीलवाले साधु पुरुषोंके देशमें ज्ञानीको बसना चाहिये। परन्तु जिस देशके मनुष्य धनके और तात्कालिक लाभके लिये धर्माचरण करते हों, ऐसे मनुष्योंके साथ कभी भी न बसे, क्योंकि धनके लिये धर्माचरण करनेवाले मनुष्य पापी होते हैं। वैसे ही जहाँके मनुष्य जीवित रहनेकी इच्छासे अधर्माचरण करते हों, उस प्रदेशको सर्पवाले घरके समान समझकर तुरन्त ही छोड़ देना चाहिये। (महा० शान्ति० २८७। ४४—४७)

शक्तितत्त्व और शक्तिसाधन

या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेष्वलक्ष्मीः पापात्मनां कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः।
श्रद्धा सतां कुलजनप्रभवस्य लज्जा तां त्वां नताः स्म परिपालय देवि विश्वम्॥

जिस प्रकार विष्णु और शिव एक हैं, उसी प्रकार शक्ति भी उनसे अभिन्न है। एक ही परम तत्त्वके विभिन्न नाम हैं। शास्त्रमें कहा है—

यथा शिवस्तथा दुर्गा या दुर्गा विष्णुरेव सः।
अत्र यः कुरुते भेदं स नरो मूढदुर्मतिः॥
देवीविष्णुशिवादीनामेकत्वं परिचिन्तयेत्।
भेदकृन्नरकं याति रौरवं नात्र संशयः॥

(मुण्डमालातन्त्र)

'जैसे शिव हैं, वैसे ही दुर्गा हैं, और जो दुर्गा हैं, वही विष्णु हैं। इनमें जो भेद मानता है वह दुर्बुद्धि मनुष्य मूर्ख है। देवी, विष्णु और शिव आदिमें एकत्व ही देखना चाहिये। जो इनमें भेद करता है, वह निःसन्देह रौरवनरकमें जाता है।'

जिस प्रकार शिव और विष्णुको विभिन्न शास्त्रोंमें परब्रह्म, परमात्मा, सृष्टिकर्ता, सर्वव्यापी बतलाया है, इसी प्रकारसे शक्तिको भी बतलाया है। देवताओंने एक बार जाकर भगवतीसे पूछा—

'**कासि त्वं महादेवि!**'

'हे महादेवि! आप कौन हैं?' भगवतीने उत्तर दिया—

'**अहं ब्रह्मरूपिणी, मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगदुत्पन्नम्।**'

(श्रुति)

'मैं ब्रह्मरूपिणी हूँ, प्रकृति-पुरुषात्मक जगत् मुझसे ही उत्पन्न हुआ है।'

श्रीदेवीभागवतमें कहा है—

सदैकत्वं न भेदोऽस्ति सर्वदैव ममास्य च।
योऽसौ साहमहं यासौ भेदोऽस्ति मतिविभ्रमात्॥

'मैं और ब्रह्म दोनोंमें सदा एकत्व है, भेद कभी नहीं है, जो वह है सो मैं हूँ, और जो मैं हूँ सो वह है। भेद भ्रान्तिसे कल्पित है, वस्तुतः नहीं है।'

इसी प्रकार असंख्य प्रमाण हैं जिनसे भगवतीका निर्गुण परब्रह्मस्वरूप और उनका सगुण निराकार सृष्टिकर्ता स्वरूप सिद्ध है। ये ही भगवती विभिन्न साकाररूपोंमें लीला करती हैं। भगवतीके असंख्य रूप हैं। इनमें नौ दुर्गा, दश महाविद्या आदि प्रसिद्ध हैं।

नौ दुर्गा हैं—शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कूष्माण्डा, स्कन्दमाता, कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी और सिद्धिदात्री।

दश महाविद्या हैं—काली, तारा, षोडशी (त्रिपुर-सुन्दरी), भुवनेश्वरी (राजराजेश्वरी, श्रीविद्या, ललिता), छिन्नमस्ता, भैरवी (त्रिपुरभैरवी), धूमावती (अलक्ष्मी), बगला (बल्गामुखी), मातङ्गी और कमला (लक्ष्मी)। इनमें कालीके शिव हैं महाकाल, ताराके अक्षोभ्य, षोडशीके पञ्चवक्त्र, भुवनेश्वरीके त्र्यम्बक, छिन्नमस्ताके कबन्ध, भैरवीके दक्षिणामूर्ति, बगलाके एकमुख महारुद्र, मातङ्गीके मतङ्ग और कमलाके सदाशिव श्रीविष्णु। धूमावती विधवा मानी गयी हैं।

इन सबके अलग-अलग ध्यान, मन्त्र, यन्त्र, कवच आदि हैं।

तीन प्रधान महादेवियाँ हैं—

महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती।

इनके ध्यान क्रमशः इस प्रकार हैं—

महाकाली—

खड्गं चक्रगदेषुचापपरिघाञ्छूलं भुशुण्डीं शिरः
शङ्खं संदधतीं करैस्त्रिनयनां सर्वाङ्गभूषावृताम्।
नीलाश्मद्युतिमास्यपाददशकां सेवे महाकालिकां
यामस्तौत्स्वपिते हरौ कमलजो हन्तुं मधुं कैटभम्॥

'विष्णुभगवान्‌की योगनिद्राकी स्थितिमें ब्रह्माजीने जिनकी स्तुति की थी, उन खड्ग, चक्र, गदा, धनुष, बाण, परिघ, शूल, भुशुण्डी, कपाल और शङ्खको धारण करनेवाली, सम्पूर्ण आभूषणोंसे विभूषित, नीलमणिके समान कान्तियुक्त दश मुख और दश चरणवाली महाकालीका मैं ध्यान करता हूँ।'

महालक्ष्मी—

अक्षस्रक्परशू गदेषुकुलिशं पद्मं धनुः कुण्डिकां
दण्डं शक्तिमसिं च चर्म जलजं घण्टां सुधाभाजनम्।
शूलं पाशसुदर्शने च दधतीं हस्तैः प्रसन्नाननां
सेवे सैरिभमर्दिनीमिह महालक्ष्मीं सरोजस्थिताम्॥

'अपने करकमलोंमें अक्षमाला, परशु, गदा, बाण,

वज्र, कमल, धनुष, कुण्डिका, शक्ति, खड्ग, चर्म (ढाल), शङ्ख, घंटा, सुधापात्र, शूल, पाश और सुदर्शन-चक्र धारण करनेवाली कमलपर स्थित महिषासुरमर्दिनी प्रसन्नवदना श्रीमहालक्ष्मीका हम ध्यान करते हैं।'

महासरस्वती—

घण्टाशूलहलानि शङ्खमुसले चक्रं धनुः सायकं
हस्ताब्जैर्दधतीं घनान्तविलसच्छीतांशुतुल्यप्रभाम्।
गौरीदेहसमुद्भवां त्रिनयनामाधारभूतां महा-
पूर्वामत्र सरस्वतीमनुभजे शुम्भादिदैत्यार्दिनीम्॥

'अपने करारविन्दोंमें घण्टा, त्रिशूल, हल, शङ्ख, मूसल, चक्र, धनुष और बाण धारण करनेवाली, गौरीदेहसे उत्पन्न त्रिनेत्रा, शरत्कालके अत्यन्त प्रकाशमान चन्द्रमाके समान प्रभावाली, संसारकी आधारभूता शुम्भादि दैत्योंका दलन करनेवाली महासरस्वतीको हम नमस्कार करते हैं।'

इनका मन्त्र है—**ॐ ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे।**' यही प्रसिद्ध नवार्णमन्त्र है। मार्कण्डेयपुराणके तेरह अध्यायमें श्रीदुर्गासप्तशती है। इसमें भगवती शक्तिके स्वरूप, चरित्र, उपासना और साधनाओंका बड़ा सुन्दर वर्णन है। विधिपूर्वक दुर्गासप्तशतीका पाठ, नवार्णमन्त्रका जाप, पञ्चाङ्गपुरश्चरणसहित करनेसे सारे मनोरथ सिद्ध होते हैं। श्रीभगवतीकी कृपासे अचला भक्ति और परमा शान्तिकी प्राप्ति होती है।

भगवतीकी आराधना किसी अनुभवी पुरुषसे जानकर करनी चाहिये।

नाम-साधन

(लेखक—श्रीभार्गव वासुदेव खांबेटे)

नामकी महिमा अगाध है। इसकी अलौकिक सामर्थ्यका वर्णन अशेषतः कोई भी नहीं कर सकता। संतलोग इसकी कुछ महिमा स्वानुभवसे गाते हैं और वही हमलोगोंके लिये आधार हो जाता है।

श्रीज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं—'प्रजापति जो सृष्टि रचते हैं वे नामकी आवृत्ति किया करते हैं और तब सृष्टि रचनेमें समर्थ होते हैं। जिन भगवान्से ब्रह्मा उत्पन्न हुए उन्होंने उन भगवान्को नहीं पहचाना और सृष्टि रचने चले। पर सृष्टि रच नहीं सके तब उन्होंने नाम लिया और नाम लेनेसे सृष्टि रचनेमें समर्थ हुए।' (ज्ञानेश्वरी अ० १७। ३३५, ३३७)

यह नाम कहाँसे उत्पन्न हुआ, इसका आश्रय क्या है, इसके विषयमें श्रीज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं—'आकाशको जैसे आकाशका ही आश्रय है, वैसे ही इस नामको नामीका अभेद आश्रय है। आकाशमें उदय होनेवाले सूर्य ही जैसे सूर्यको प्रकाशित करते हैं, वैसे ही भगवान् ही अपना नाम व्यक्त करते हैं।' (ज्ञानेश्वरी अ० १७। ४०३, ४०४)

इस नामका आश्रय करके जो भजन-कीर्त्तन या स्मरण किया जाता है उसके विषयमें महाराज कहते हैं—'नाम-कीर्त्तनसे पापोंके प्रायश्चित्त बतलानेका व्यवसाय ही नष्ट हो जाता है, क्योंकि नाम-संकीर्त्तन लेशमात्र भी पाप रहने नहीं देता। यम-दमादि इसके सामने फीके पड़ जाते हैं, तीर्थ अपने स्थान छोड़ जाते हैं, यमलोकका रास्ता ही बंद हो जाता है। यम कहते हैं—हम किसको यातना दें; दम कहते हैं—हम किसका दमन करें; तीर्थ कहते हैं—हम क्या भक्षण करें, यहाँ तो दवाके लिये भी पाप-ताप नहीं रह गया! भगवन्नामका संकीर्तन इस प्रकार संसारके दुःखोंको नष्ट कर देता है, सारा विश्व आनन्दसे ओतप्रोत हो जाता है। नाम-संकीर्तन करनेवाले भगवद्भक्त पौ फटनेके पहले ही प्रकाश कर देते हैं, अमृतके बिना ही जिला देते हैं, योगके बिना ही नेत्रोंके सामने भगवान्को प्रत्यक्ष करा देते हैं। पर वे राजा-रंकमें भेद नहीं मानते, छोटे-बड़ेका विचार नहीं करते; सारे जगत्के लिये ही आनन्दधाम बन जाते हैं। वैकुण्ठलोकमें तो विरला ही कोई जा सकता है, पर इस नामसंकीर्तनसे इन भगवद्भक्तोंने सारे विश्वको ही वैकुण्ठ बना डाला है। सहस्रों जन्म कोई तपस्या करे तब वह भगवान्का नाम लेनेमें समर्थ होता है। जिसके नामकी यह महिमा है, वे भगवान् बतलाते हैं कि—'

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

कारण भगवद्भक्त भगवान्के गुणोंसे इतने तृप्त होते हैं कि वे देशकालको भूलकर भगवन्नाम-संकीर्तनमें ही

मगन रहते हैं। कृष्ण-विष्णु-हरि-गोविन्द नामके ही छन्द गाया करते हैं।' (ज्ञानेश्वरी अ० ९। १९७—२१०)

इसलिये श्रीतुकाराम महाराज कहते हैं—'उठते-बैठते भगवन्नाम लेनेसे संसारके दुःख छूट जाते हैं। इस लाभको कोई न छोड़े, इससे भगवान्के चरण मिलते हैं। नामसे बढ़कर कोई भी साधन नहीं है। और तुम जो चाहो करो, पर नाम लेते रहो, इसमें भूल न हो, यही मेरा सबसे पुकार-पुकारकर कहना है। कण्ठसे नाम उचारो। तो सामने भगवान् खड़े हैं। इसी रीतिसे उनका ध्यान करो, मनसे उनका चिन्तन करो। नाम-कीर्त्तनमें यही बड़ी सुविधा है कि भगवान् आ जाते हैं, जो ब्रह्मादिकोंके भी ध्यानमें सहसा नहीं आते। सार वस्तुको ग्रहण करो, मनसे हरिरूपको देखो। चारों वेद जिसके लिये हैं, उसका नाम कण्ठमें धारण कर लो। क्यों व्यर्थके लिये इतने कष्ट उठा रहे हो? अन्य किसी साधनकी कोई जरूरत नहीं। अठारहों पुराणोंमें नामके सिवा और कोई बात नहीं है। गीताका जिसने उपदेश किया वही इस ईंटपर पधारे हैं। हरिनाम लेते रहो, बस, यही सार है। वेदोंकी वाणी अनन्त है, पर सार इतना ही है कि श्रीविट्ठलकी शरण लो और निष्ठाके साथ नाम जपते रहो।'

इस प्रकार नामकी महिमा श्रीज्ञानेश्वर महाराज और श्रीतुकाराम महाराजने अपने ग्रन्थोंमें स्थान-स्थानपर गायी है और यही बतलाया है कि नामसे भगवान् मिलते हैं। नामोच्चारके द्वारा, श्रीज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि 'अखिल संसारको हम सुखमय करेंगे, तीनों लोक आनन्दसे भर देंगे।'

जो लोग अपने जीवनको सुखमय बनाना चाहते हों, वे वेदों और संत-वचनोंपर पूर्ण विश्वास कर अखण्ड नामस्मरण करना आरम्भ कर दें। भगवान् सबको ऐसी ही बुद्धि दें, यही उनके चरणोंमें मेरी प्रार्थना है।

विभिन्न देवताओंके मन्त्र

एक ही भगवान्की विभिन्न रूपोंमें पूजा होती है। जहाँ जिस रूपमें विश्वास करके जो साधक जैसी साधना करता है, उसी रूपमें श्रद्धा स्थापित करके भगवान् उसकी साधनाके अनुरूप फल प्रदान करते हैं। यहाँ भगवान्के कुछ रूपोंकी साधनाके मन्त्रादि दिये जाते हैं—

देवता	मन्त्र	जप-संख्या	फल
श्रीदक्षिणामूर्ति	ॐ ह्रीं दक्षिणामूर्त्तये तुभ्यं वटमूलनिवासिने। ध्यानैक-निरताङ्गाय नमो रुद्राय शम्भवे ॐ ह्रीं॥	३,२०,०००	सर्वकामनापूर्ति
श्रीपञ्चमुख महादेव	ॐ ह्रौं	५ लाख	,, ,, ,,
श्रीमहाकाली श्रीमहालक्ष्मी महासरस्वती	ॐ ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे।	९ लाख	,, ,, ,,
श्रीलक्ष्मी देवी	ॐ ऐं श्रीं ह्रीं क्लीं।	१२ लाख	चतुर्वर्गप्राप्ति
श्रीसरस्वती देवी	ॐ ह्रीं ह्सौं सरस्वत्यै नमः	१२ लाख	विद्याप्राप्ति
श्रीगायत्री देवी	ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।	२४ ,,	सर्वकामनापूर्ति
श्रीकाली	ॐ क्लीं ह्रीं ह्रीं दक्षिणे कालिके स्वाहा।	२ लाख	,, ,, ,,
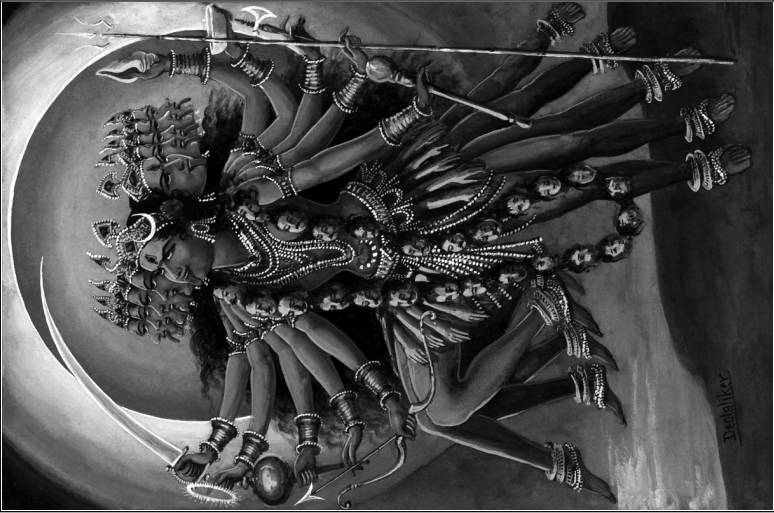
श्रीमहाकाली

श्रीमहालक्ष्मी

श्रीमहासरस्वती

देवता	मन्त्र	जप-संख्या	फल
श्रीमहागणेश	ॐ ह्रीं गं ह्रीं महागणपतये स्वाहा।	१ लाख	सर्वकामनापूर्ति
श्रीसूर्यनारायण	ॐ नमो नारायणाय	१६ लाख	,, ,, ,,
श्रीविष्णु (लक्ष्मी भूमिसहित)	ॐ नमो नारायणाय	१६ लाख	,, ,, ,,
श्रीराम	ॐ रां रामाय नमः	६ लाख	ज्ञान और ऐश्वर्यकी प्राप्ति
श्रीकृष्ण	ॐ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा	१० ,,	भक्ति, ज्ञान और ऐश्वर्य-प्राप्ति
श्रीबालगोपाल	ॐ क्लीं कृष्णाय नमः	१ ,,	,, ,, ,,
श्रीराधाजी	ॐ ह्रीं श्रीं राधिकायै नमः	१६ ,,	,, ,, ,,
श्रीराधाकृष्ण	ॐ नमो गोपीजनवल्लभाभ्याम्	१० ,,	,, ,, ,,
श्रीकृष्ण	ॐ क्लीं गोपीजनवल्लभाय स्वाहा अथवा ॐ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा	१॥ ,,	बृहस्पतिके समान त्रिकालज्ञताप्राप्ति
,,	,,	१ ,,	शत्रुभय आदि विपत्तियोंसे रक्षा
,,	,,	१ लाख	सर्वकार्यसिद्धि
,,	,,	१ ,,	सारसागरसे सद्योमुक्ति
,,	,,	१ ,,	किन्नरोंके साथ गायन
,,	,,	१ ,,	विज्ञता ज्वर-अपस्मार
,,	,,	१०८	आदि रोगोंका नाश
,,	,,	१ लाख	वेदार्थ-पारदर्शिता और ज्ञान
,,	,,	१ ,,	शत्रु-पराजय
,,	,,	१ ,,	ऐश्वर्य और पशुलाभ
,,	,,	२४०००० (एक मासतक ८ हजार प्रतिदिन)	सर्वगुणसम्पन्न कन्यासे विवाह
,,	,,	१ लाख	मेधाशक्ति और कवित्वकी प्राप्ति
श्रीनृसिंहदेव	ॐ आं ह्रीं क्षौं क्रों हुं फट्	६ लाख	सर्वकामनापूर्ति

इसके अतिरिक्त और बहुतसे मन्त्र तथा ध्यान हैं। कामनाओंके अनुसार उनके प्रयोग होते हैं। इन मन्त्रोंके प्रयोगमें भी इनकी पूजा-पद्धति, न्यास तथा हवन आदिके जो पृथक्-पृथक् विधान हैं, उन्हें जान लेना चाहिये। विधि, श्रद्धा और एकाग्रताके साथ करनेपर सभी मन्त्र शास्त्रोक्त फल देते हैं। यदि इन्हीं मन्त्रोंका अनुष्ठान निष्कामभावसे किया जाय, तो अन्तःकरणकी शुद्धि होकर परमात्माकी प्राप्ति होती है। स्थानाभावके कारण यहाँ उनके विशेष विधि-विधान नहीं लिखे गये। मन्त्रानुष्ठान-प्रेमियोंको मन्त्र जाननेवाले विद्वानोंसे जान लेना चाहिये।

साधक और साधना

(लेखक—श्रीमदनमोहनजी विद्याधर)

साधक, साध्य, सिद्धि, साधना, सिद्ध तथा साधन— इन शब्दोंको प्राय: सभीने सुना होगा। एक व्यक्ति एक सरकारी दफ्तरमें काम करने लगता है। उसे वहाँकी परिभाषाएँ समझा दी जाती हैं। उसके कार्यके अनुसार उसका नाम रख दिया जाता है। यह परिपाटी ऐसी है कि जिसके बिना कार्य नहीं चलता।

यह संसार भी एक उत्तम कार्यालय है। 'प्रभु' इसके 'कार्याध्यक्ष' हैं। हमको इसमें कार्य करना है। इसमें कार्य करनेका नाम 'भक्तिमार्ग या साधनामार्ग' है। आइये, हम भी इस दफ्तरकी परिभाषाओंको समझ लें।

(१) साधक

राजा भर्तृहरि शानसे चले जा रहे थे। रातका समय था। मार्गमें एक 'पौण्ड' चमक रहा था। लालचने हाथसे कहा—भाई! उठा लो। हाथ आगे बढ़ा। ·····पर यह क्या? अरे यह तो किसीके पानकी पीक थी। मन क्षुब्ध हो गया। संसारसे चित्त हट गया और 'तत्त्व' रूप भगवान्‌की तरफ चला। इस प्रकारके व्यक्तिको 'साधक' नामसे पुकारा जाता है। जो व्यक्ति अपने 'आत्मा' का चिरसम्बन्ध 'परम आत्मा' से जोड़नेपर तुल जाते हैं और उसके लिये सर्वस्व त्याग करनेतकमें भी पीछे कदम नहीं हटाते, उन्हें 'सच्चे साधक' कहते हैं। जिनकी दृष्टि 'संसार' से ऊपर उठ जाती है और किसी अन्य 'शक्ति' से मिलनेके लिये आतुर हो उठती है; वे साधक हैं। एक दूसरे साधक भी हैं; जो 'सदाचार' 'सत्य ज्ञान'-की साधनामें रत हैं, जैसे बुद्ध भगवान्। वे किसी असीम शक्तिके विषयमें तो कुछ नहीं कहते, पर सदाचारपर सदा दृढ़ रहते हैं।

(२) साध्य

साधक जिस वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छा करता है, वह उसका 'साध्य' है, जैसे मनुष्य परमेश्वरकी पूजा चाहता है, उससे अन्तर्मिलन चाहता है। मनुष्यके लिये यह परमेश्वर साध्य है। मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य अन्तिम ध्येय या साधन क्या है? एक भगवान्।

(३) सिद्धि

'साध्य' की प्राप्तिका नाम 'सिद्धि' है—'उद्देश्यपूर्ति'। परमेश्वर साध्य है। जब उसकी प्राप्ति हो जाती है तो मनुष्य समझता है कि 'सिद्धि' प्राप्त हो गयी।

(४) साधना

'साध्य' की सिद्धिके लिये जो चेष्टा या क्रिया की जाती है, वह साधना कहलाती है। सिद्धि अर्थात् फल-प्राप्तिके निमित्त जो काम किया जाता है, वह साधना है। साधक भक्तजन जो रात-दिन 'किसी' की उपासनामें रत रहते हैं, यह क्रियाविशेष 'साधना' कहलाती है।

(५) सिद्ध

जो साधक अपने 'साध्य'के साधनरूप उत्तम 'साधना' से अपनी 'सिद्धि' को प्राप्त कर लेता है उसे 'सिद्ध' कहते हैं। सरल भाषामें इसीको 'पहुँचा हुआ संत' कहते हैं। 'सिद्ध पुरुष' भी इसी भावका द्योतक है।

(६) साधन

जिस उपायसे साधना की जाती है उसका नाम 'साधन' है। यम-नियमादि जो योगदर्शनमें प्रतिपादित हैं; वे सब 'साधन' हैं। षोडश संस्कार, पञ्चकर्मादि सब मनुष्यजीवनकी उन्नतिके 'साधन' भूत हैं।

जब मनुष्य किसी कामको करना चाहे तो उसके लिये उसे पूरा तैयार होना चाहिये; उसका उद्देश्य भी अच्छा होना चाहिये; उसकी प्राप्तिके उपाय सुदृढ़ तथा सत्य होने चाहिये। ऐसा होनेपर ही उसे सफलताकी सम्भावना हो सकती है। एक मनुष्य एक दफ्तरमें नौकरी करने जाता है। पहली वस्तु उसके लिये जरूरी है कि उसमें उस कामको करनेकी योग्यता भी है या नहीं। फिर जिसके साथ या जिसके नीचे काम करना है, वह कैसा है, इसका भी उसे पता होना चाहिये। उसकी अध्यक्षतामें काम करके वह उन्नति कर सकता है या नहीं, इसे भी जानना चाहिये। दफ्तरमें आवश्यक सुविधाएँ हैं या नहीं, इसका भी पता लगा रखना चाहिये। जब उसको इनका भली प्रकार ज्ञान हो जाता है, उस समय वह आसानीसे अपना कार्य प्रारम्भ कर सकता है। उस समय उसे 'स्थायित्व' प्राप्त हो जाता है। वह निर्भय निश्चिन्त होकर रहता है।

साधकको चाहिये पहले वह भी 'अभ्यास'

वैराग्यके द्वारा अपने मनको 'शिवसंकल्प' वाला बना ले। 'यम-नियमादि' द्वारा अपने जीवनमें सदाचारका संग्रह कर ले। यदि उसने इतना कर लिया तो उसकी सफलता निश्चित है। यदि उसने इतनी 'पूँजी' बना ली तो वह अपने 'साधना' रूपी व्यापारमें आसानीसे चल सकता है। 'धर्म' पर चढ़कर शिवकी प्राप्तिमें क्या सन्देह? धर्म या सदाचार ही तो जीवको 'शिव' बनाता है।

उत्तम साधनाके लिये कुछ बातें नियत हैं, जिनका ज्ञान भी नितान्त आवश्यक है। मैं एक-एक करके अति संक्षेपसे उनका दिग्दर्शन कराता हूँ।

१-मनुष्यका उद्देश्य 'सत्य ज्ञान' की प्राप्ति है। प्रभु सत्य ज्ञानमय है। इसलिये 'प्रभु-पदाभिलाषी' जन 'सत्य' की निरन्तर खोजमें लगे रहते हैं।

मनुष्य इस भवसागरमें फँसा है। वह कमजोर है, वह इसके पार जाना चाहता है। उसके लिये उसे किसी मल्लाहकी आवश्यकता है। यही 'मल्लाह' गुरु है। इसलिये सबसे पहले साधकको किसी 'सद्गुरु' की आवश्यकता है। किस सीमातक? उसीतक जहाँतककी ज्ञान देनेका सम्बन्ध है, रास्ता दिखानेका भार है। परन्तु स्वयं यदि गुरु अपनेको 'प्रभु' या 'कृष्ण' कहने लगे तो यह सत्य न होकर धोखा हो जायगा। गुरुका कार्य है संसारी जीवोंको परमधामका मार्ग बतलाकर उसपर सदा सुखपूर्वक चलनेका उपाय सुझा देना और उसके मार्ग चलनेमें यथासाध्य सहायता करना। कहनेका अभिप्राय यह है कि 'गुरु' मार्गदर्शक है—प्रभु नहीं।

दफ्तरमें एक व्यक्ति कार्यालयाध्यक्षसे मिलने आया। वहाँका जानकार कर्मचारी उसको मार्ग बताने लगा। दो कदम चलकर वह कहने लगा—'मैं ही कार्यालयाध्यक्ष हूँ।' इसमें जितनी सचाई है, जितनी उचितता, उतनी ही सचाई या उचितता गुरुके प्रभु बननेमें है।

गुरुके लक्षण ये हैं—'जो स्वयं ज्ञानवान्, आचारवान्, स्वार्थशून्य, 'सत्य' की खोजमें निरन्तर सन्नद्ध, काम, क्रोध, लोभ, मोहादि चार शत्रुओंका दमन करनेवाला हो, वह गुरु है।' केवल अपने पैरोंका पानी प्रसादरूपसे देनेवाला, स्त्रियोंको गोपिकाएँ कह उनके साथ 'रासलीला' रचाकर 'सद्गृहस्थियाँ' बिगाड़नेवाला दुराचारी कदापि गुरु नहीं है। 'जनता' को ऐसोंसे विशेष सावधान रहना चाहिये।

२-'यथार्थानुभवः प्रमा' सच्चा अनुभव ही ज्ञान है। इसके लिये जो वस्तु जैसी है, उसे वैसा देखना ही सच्चे ज्ञानका द्योतन है। इसके लिये 'बुद्धिपरिपाक' की आवश्यकता है। मनुष्य सद्गुरुद्वारा, सत्सङ्गद्वारा, स्वाध्यायद्वारा इस सत्य ज्ञानको प्राप्त कर सकता है। सत्य ज्ञानकी कसौटी यह नहीं है कि अमुक व्यक्तिने ऐसा कहा है। क्योंकि यदि एकने ऐसा कहा है तो दूसरेने उससे विपरीत भी कहा है। श्रीशङ्कराचार्य 'अद्वैत' पर सन्तुष्ट हैं; 'मध्व' को द्वैत पसंद है। इनमें कौन ठीक और कौन बेठीक—इसको मनुष्य स्वयं विचारे, विधिपूर्वक 'श्रवण-मनन-निदिध्यासन' करे और तब धर्माधर्मका निर्णय कर ले; यही सत्यज्ञानका एकमात्र उपाय है।

'स्वयं विचार' को कई लोग 'अहंकार' कहते हैं। 'मैं ही सत्य जानता हूँ' ऐसे 'अभिमानयुक्त' वाक्य बनानेवाले मनुष्य अवश्य अहंकारी हो सकते हैं। परन्तु सत्यज्ञानमें निरन्तर व्यस्त मनुष्य बिना स्वयं विचारे सत्यको जान ही कैसे सकता है?

शास्त्रोंको पढ़ो, खूब पढ़ो, सोचो, उनकी सङ्गति लगाओ, फिर उनमेंसे जो उचित मार्ग दिखायी पड़ता हो, उसपर चलने लगो। इसमें शास्त्रोंका अपमान नहीं, शास्त्र-मर्यादाका पालन है। सब ग्रन्थोंको पढ़ो, सुनो, विचारो; फिर उत्तम मार्गका अवलम्बन करो। मनु महाराजने ठीक कहा है—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

वेदमें कहा है कि 'वेनस्तत् पश्यन्' ज्ञानी ही उसे जानते हैं। ज्ञानी उसे नहीं कहते जो वेदको घोटता है; जो वेदोंको पढ़कर समझता है उसे ज्ञानी कहते हैं। यहींतक नहीं, तदनुकूल आचरण भी आवश्यक है।

३-तीसरी आवश्यक वस्तु अभ्यास है। इसका अर्थ है—'किसी एक कार्यको करनेके लिये उसमें दृढ़तापूर्वक लग जाना तथा उसके लिये दृढ़संकल्प रखना।' मनुष्यका मन चञ्चल है, इन्द्रियाँ इधर-उधर भागती हैं। उनको निरन्तर दबाना, काबू करना अभ्यास है। कई मनुष्य इतने अधिक चञ्चल प्रकृतिके होते हैं कि उनके लिये किसी एक काममें आध घण्टे बैठना भी कठिन है। परन्तु साधकोंको अभ्यासकी बड़ी भारी आवश्यकता है।

४-वैराग्य—रागका अर्थ है—संसारमें फँस जाना। उससे हटाकर अपने मनको परमेश्वरमें लगाना, 'इस भावका नाम वैराग्य है'। वैराग्यका अर्थ संसारसे दुःखपूर्ण निराशाजनक उदासीनता नहीं; जैसी कि मृत्युके समय प्रायः मनुष्यके हृदयमें उठती है। वैराग्यका अर्थ है—अपने मनको संसारसे परे करके परमेश्वरपरक करना। इसमें सुख-सन्तोष-आशाके भावोंका विकास होता है। विषादसे 'सिरपर हाथ रखकर' या 'घुटनोंमें मस्तक डालकर' बैठनेवाले मनुष्य वैराग्यको नहीं समझते। प्रसन्नतापूर्वक समझते-बूझते जब मनुष्य संसारसे पराङ्मुख हो जाता है, उसकी इन्द्रियाँ बहिर्मुख यात्राको बंद करके अन्तर्मुख दौड़ने लगती हैं, जब उसका आत्मा बाह्य संसारसे निवृत्त हो प्रभुकी तरफ प्रवृत्त हो जाता है; बाहरके निरीक्षणके स्थानपर आत्मनिरीक्षणमें लग जाता है, उस स्थितिका नाम वैराग्य है। 'प्रभुकी ओर जाना और तद्विरोधीका सर्वथा परित्याग कर देना' यह वैराग्यके लिये आवश्यक है।

५-सदाचारके दो अभिप्राय हैं। एक तो '**महाजनो येन गतः स पन्थाः**' ऐसा समझना। मनुष्य-जीवनकी उन्नतिमें महापुरुषोंके 'सच्चरित्र' बड़े भारी सहायक हैं। लाखों उपदेशोंसे एक क्रियात्मक सदाचारमय जीवन करोड़ों दर्जे बेहतर है। दूसरा अर्थ है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

आदि दशरूपक धर्मका पालन। साधकके लिये 'सदाचारी' होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिये ब्रह्मचर्य सबसे आवश्यक है। प्रबल 'कामभाव' का उपशमन हुए बिना 'साधना' हो नहीं सकती। 'सज्ज्ञान' अर्थात् जैसेको तैसा समझना। सद्व्यवहार अर्थात् जो जिस बर्तावके उपयुक्त हो, उससे वैसा व्यवहार करना इत्यादि बहुत-सी बातें सदाचारके घेरेमें आ जाती हैं।

एक व्यक्ति अपने व्यवहारमें सच्चा है। सदा मीठा बोलता है। व्यभिचार नहीं करता। किसीको कष्ट नहीं देता। इस प्रकार निरन्तर २४ घण्टे 'सत्' के लिये क्रियात्मकरूपमें देता है। वह तिलक नहीं लगाता, बाहरी वेश नहीं बनाता। आदि-आदि जो 'धर्म' के बाह्य चिह्न हैं, उन्हें (मानने न माननेका प्रश्न नहीं) नहीं करता। (उनका विरोध या खण्डन भी नहीं करता) इसे भी मुक्ति मिलेगी क्योंकि इसका मन पवित्र है। 'आर्य वैदिकधर्म' में 'सदाचार' की प्रधानता है। उसमें '**न लिङ्गं धर्मकारणम्**'।

'ईशसाधना' में तत्पर साधकोंके लिये कुछ आवश्यक बातोंका यहाँ अति संक्षेपमें उल्लेख किया गया है। आशा है जो पाठक साधनाका प्रारम्भ कर रहे हैं, उन्हें कुछ लाभ होगा। जो 'अद्वैत' में प्रतिष्ठित हैं, उनके लिये साधना-असाधना क्या? जो द्वैतमें भी प्रभु-आनन्द उठा चुके हैं, उनके लिये भी क्या? 'राज्य' के अतिथिको 'भिखारी' का अन्न क्यों अच्छा लगे? पहुँचे हुओंके लिये इस लेखमें कुछ भी नहीं है। प्रारम्भ करनेवालोंको शायद कुछ मिल सके। भिक्षुककी यही भेंट सही!

परलोक और पुनर्जन्म

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

परलोक और पुनर्जन्मका सिद्धान्त हिंदूधर्मकी खास सम्पत्ति है। जैन और बौद्धमत भी, जो एक प्रकारसे हिंदू-धर्मकी ही शाखाएँ मानी जा सकती हैं और इस प्रकार हिंदूधर्मके अन्तर्गत ही हैं, इस सिद्धान्तको मानते हैं। मुसलमान और ईसाईमत इस सिद्धान्तको नहीं मानते; परन्तु थियॉसफी सम्प्रदायके उद्योगों तथा प्रेतविद्या (Spiritualism) के चमत्कारोंने (जिसका इधर कुछ वर्षोंमें पाश्चात्त्य जगत्में काफी प्रचार हुआ है) इस ओर लोगोंका काफी ध्यान आकृष्ट किया है और अब तो हजारों-लाखोंकी संख्यामें योरोप और अमेरिकाके लोग भी ईसाई होते हुए भी परलोकमें विश्वास करने लगे हैं। हमारे भारतवर्षका तो बच्चा-बच्चा इस सिद्धान्तको मानता और उसपर अमल करता है। यही नहीं, यह सिद्धान्त हमारे जीवनके प्रत्येक अङ्गके साथ सम्बद्ध हो गया है; हमारा कोई धार्मिक कृत्य ऐसा नहीं है, जिसका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूपसे परलोकसे सम्बन्ध न हो और हमारा कोई धार्मिक ग्रन्थ ऐसा नहीं है, जो

प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूपसे परलोक एवं पुनर्जन्मका समर्थन न करता हो। इधर तो कई स्थानोंमें ऐसी घटनाएँ भी प्रकाशमें आयी हैं जिनमें अबोध बालक-बालिकाओंने अपने पूर्वजन्मकी बातें कही हैं, जो जाँच-पड़ताल करनेपर सोलहों आने सच निकली हैं।

आत्माकी उन्नति तथा जगत्‌में धार्मिक भाव, सुख-शान्ति तथा प्रेमके विस्तारके लिये तथा पाप-तापसे बचनेके लिये परलोक एवं पुनर्जन्मको मानना आवश्यक भी है। आज संसारमें, विशेषकर पाश्चात्त्य देशोंमें आत्महत्याओंकी संख्या जो दिनोंदिन बढ़ रही है—आये दिन लोगोंके जीवनसे निराश होकर अथवा असफलतासे दुखी होकर, अपमान एवं अपकीर्तिसे बचनेके लिये अथवा इच्छाकी पूर्ति न होनेके दुःखसे डूबकर, फाँसी खाकर, जलकर, विषपान करके अथवा गोली खाकर प्राणत्याग करनेकी बातें पढ़ी-सुनी और देखी जाती हैं—उसका एकमात्र कारण आत्माकी अमरतामें तथा परलोकमें अविश्वास है। यदि हमें यह निश्चय हो जाय कि हमारा जीवन इस शरीरतक ही सीमित नहीं है, इसके पहले भी हम थे और इसके बाद भी हम रहेंगे, इस शरीरका अन्त कर देनेसे हमारे कष्टोंका अन्त नहीं हो जायगा, बल्कि इस शरीरके भोगोंको भोगे बिना ही प्राणत्याग कर देनेसे तथा आत्महत्यारूप नया घोर पाप करनेसे हमारा भविष्य जीवन और भी अधिक कष्टमय होगा, तो हम कभी आत्महत्या करनेका साहस न करें। अत्यन्त खेदका विषय है कि पाश्चात्त्य जडवादी सभ्यताके सम्पर्कमें आनेसे यह पाप हमारे आधुनिक शिक्षा-प्राप्त नवयुवकोंमें भी घर कर रहा है और आजकल ऐसी बातें हमारे देशमें भी देखी-सुनी जाने लगी हैं। हमारे शास्त्रोंने आत्महत्याको बहुत बड़ा पाप माना है और उसका फल सूकर, कूकर आदि अन्धकारमय योनियोंकी प्राप्ति बतलाया है। श्रुति कहती है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

(ईशावास्योपनिषद् ३)

अर्थात् वे असुर-सम्बन्धी लोक [अथवा आसुरी योनियाँ] आत्माके अदर्शनरूप अज्ञानसे आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्माका हनन करनेवाले लोग हैं, वे मरनेके अनन्तर उन्हींमें जाते हैं।

संसारमें जो पापोंकी वृद्धि हो रही है—झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, व्यभिचार एवं अनाचार बढ़ रहे हैं, व्यक्तियोंकी भाँति राष्ट्रोंमें भी परस्पर द्वेष और कलहकी वृद्धि हो रही है, बलवान् दुर्बलोंको सता रहे हैं, लोग नीति और धर्मके मार्गको छोड़कर अनीति और अधर्मके मार्गपर आरूढ़ हो रहे हैं, लौकिक उन्नति और भौतिक सुखको ही लोगोंने अपना ध्येय बना लिया है और उसीकी प्राप्तिके लिये सब लोग यत्नवान् हैं, विलासिता और इन्द्रियलोलुपता बढ़ती जा रही है, भक्ष्याभक्ष्यका विचार उठता जा रहा है, जीभके स्वाद और शरीरके आरामके लिये दूसरोंके कष्टकी तनिक भी परवा नहीं की जाती, मादक द्रव्योंका प्रचार बढ़ रहा है, बेईमानी और घूसखोरी उन्नतिपर है, एक दूसरेके प्रति लोगोंका विश्वास कम होता जा रहा है, मुकदमेबाजी बढ़ रही है, अपराधोंकी संख्या बढ़ती जा रही है, दम्भ और पाखण्डकी वृद्धि हो रही है—इन सबका कारण यही है कि लोगोंने वर्तमान जीवनको ही अपना जीवन मान रखा है; इसके आगे भी कोई जीवन है, इसमें उनका विश्वास नहीं है। इसीलिये वे वर्तमान जीवनको ही सुखी बनानेके प्रयत्नमें लगे हुए हैं। 'जबतक जियो, सुखसे जियो; कर्जा लेकर भी अच्छे-अच्छे पदार्थोंका उपभोग करो। मरनेके बाद क्या होगा, किसने देख रखा है।'* इसी सर्वनाशकारी मान्यताकी ओर आज प्रायः सारा संसार जा रहा है। यही कारण है कि वह सुखके बदले अधिकाधिक दुःखमें ही फँसता जा रहा है। परलोक और पुनर्जन्मको न माननेका यह अवश्यम्भावी फल है। आज हम इसी परलोक और पुनर्जन्मके सिद्धान्तकी कुछ चर्चा करते हैं और इस सिद्धान्तको माननेवालोंका क्या कर्तव्य है—इसपर भी विचार कर रहे हैं।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, परलोक और पुनर्जन्मके सिद्धान्तका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूपसे हमारे सभी शास्त्रोंने समर्थन किया है। वेदोंसे लेकर आधुनिक दार्शनिक ग्रन्थोंतक सभीने एक स्वरसे इस सिद्धान्तकी पुष्टि की है। स्मृतियों, पुराणों तथा महाभारतादि

* यावज्जीवं सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥ (चार्वाक)

इतिहास-ग्रन्थोंमें तो इस विषयके इतने प्रमाण भरे हैं कि उन सबको यदि संगृहीत किया जाय तो एक बहुत बड़ी पुस्तक तैयार हो सकती है। इसके लिये न तो अवकाश है और न इसकी उतनी आवश्यकता ही प्रतीत होती है। प्रस्तुत निबन्धमें उपनिषद्, गीता, मनुस्मृति, योगसूत्र आदि कुछ थोड़े-से चुने हुए प्रामाणिक ग्रन्थोंमेंसे ही कुछ प्रमाण लेकर इस सिद्धान्तकी पुष्टि की जायगी और युक्तियोंके द्वारा भी इसे सिद्ध करनेकी चेष्टा की जायगी।

कठोपनिषद्का नाचिकेतोपाख्यान इस सिद्धान्तका जीता-जागता प्रमाण है। उपनिषद्का पहला श्लोक ही परलोकके अस्तित्वको सूचित करता है। नचिकेताने जब देखा कि उसके पिता वाजश्रवस ऋत्विजोंको बुड्ढी और निकम्मी गायें दानमें दे रहे हैं तो उससे न रहा गया। वह सोचने लगा कि ऐसी गायें देनेवालेको तो आनन्दरहित लोकोंकी प्राप्ति होती है—

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत्॥[1]

(१।१।३)

अतएव उसने पिताको उस कामसे रोकनेका प्रयत्न किया पर इसमें वह सफल न हो सका। इसके बाद उसके पिताने कुपित होकर जब उसे मृत्युको सौंप देनेकी बात कही तो वह प्रसन्नतापूर्वक पिताकी आज्ञाको शिरोधार्य कर यमलोकमें चला गया। इसके बाद उसके और यमराजके बीचमें जो संवाद हुआ है, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यमराजने उसे तीन वर देनेको कहे। उनमेंसे तीसरा वर माँगता हुआ नचिकेता यमराजसे यह प्रश्न करता है—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः॥

(१।१।२०)

अर्थात् मरे हुए मनुष्यके विषयमें जो यह शङ्का है कि कोई तो कहते हैं मरनेके अनन्तर 'आत्मा रहता है' और कोई कहते हैं 'नहीं रहता'—इस सम्बन्धमें मैं आपसे उपदेश चाहता हूँ, जिससे मैं इस विषयका ज्ञान प्राप्त कर सकूँ। मेरे माँगे हुए वरोंमें यह तीसरा वर है।

यमराजने इस विषयको टालना चाहा और नचिकेतासे कहा कि तू कोई दूसरा वर माँग ले, क्योंकि यह विषय अत्यन्त गूढ़ है और देवताओंको भी इस विषयमें शङ्का हो जाया करती है। नचिकेता कोई सामान्य जिज्ञासु नहीं था! अतः विषयकी गूढ़ताको सुनकर उसका उत्साह कम नहीं हुआ, बल्कि उसकी जिज्ञासा और भी प्रबल हो उठी। वह बोला कि इसीलिये तो इस विषयको मैं आपसे जानना चाहता हूँ, क्योंकि इस विषयका उपदेश करनेवाला आपके समान और कौन मिलेगा। इसपर यमराजने पुत्र-पौत्र, हाथी-घोड़े, सुवर्ण, विशाल भूमण्डल, दीर्घजीवन, इच्छानुकूल भोग, अनुपम रूप-लावण्यवाली स्त्रियाँ तथा और भी बहुत-से भोग जो मनुष्यलोकमें दुर्लभ हैं, उसे देने चाहे; परन्तु नचिकेता अपने निश्चयसे नहीं टला। यह बोला—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥

(१।१।२६)

'हे यमराज! ये भोग 'कल रहेंगे या नहीं'—इस प्रकारके सन्देहसे युक्त हैं अर्थात् अस्थिर हैं और सम्पूर्ण इन्द्रियोंके तेजको जीर्ण कर देते हैं। यह सारा जीवन भी स्वल्प ही है। अतः आपके वाहन (हाथी-घोड़े) और नाच-गान आपहीके पास रहें, मुझे उनकी आवश्यकता नहीं है।'

नचिकेताके इस आदर्श निष्कामभाव और दृढ़ निश्चयको देखकर यमराज बहुत ही प्रसन्न हुए और उसकी प्रशंसा करते हुए बोले—

'हे नचिकेता! तूने प्रिय अर्थात् पुत्र, धन आदि इष्ट पदार्थोंको और प्रियरूप—अप्सरा आदि लुभानेवाले भोगोंको असार समझकर त्याग दिया और जिसमें अधिकांश मनुष्य डूब (फँस) जाते हैं, उस धनियोंकी निन्दित गतिको तूने स्वीकार नहीं किया। धन्य है तेरी निष्ठा!'[2]

'जो मूर्ख धनके मोहसे अन्धे होकर प्रमादमें लगे रहते हैं, उन्हें परलोकका साधन नहीं सूझता। यही लोक है, परलोक नहीं है—ऐसा माननेवाला पुरुष बारम्बार मेरे चंगुलमें फँसता है (जन्मता और मरता है)।'[3]

'हे प्रियतम! सम्यक् ज्ञानके लिये कोरा तर्क

१-जो जल पी चुकी हैं, जिनका घास खाना समाप्त हो चुका है, जिनका दूध भी दुह लिया गया है और जिनमें बछ्ड़ा देनेकी शक्ति भी नहीं रह गयी है, उन गौओंका दान करनेसे वह दाता आनन्दशून्य लोकोंको जाता है।

२-स त्वं प्रियान् प्रियरूपाꣳश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।
नैताꣳसृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः॥ (१।२।३)

३-न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥ (१।२।६)

करनेवालोंसे भिन्न किसी शास्त्रज्ञ आचार्यद्वारा कही हुई यह बुद्धि, जिसको तुमने पाया है, तर्कद्वारा प्राप्त नहीं होती। अहा! तेरी धारणा बड़ी सच्ची है। हे नचिकेता! हमें तेरे समान जिज्ञासु सदा प्राप्त हों।'[१]

'हे नचिकेता! तूने बुद्धिमान् होकर भोगोंकी परम अवधि, जगत्‌की प्रतिष्ठा, यज्ञका अनन्त फल, अभयकी पराकाष्ठा, स्तुत्य और महती गति तथा प्रतिष्ठाको देखकर भी उसे धैर्यपूर्वक त्याग दिया। शाबाश!'[२]

उपर्युक्त वचनोंसे इस विषयकी महत्ता तथा उसे जाननेके लिये कितने ऊँचे अधिकारकी आवश्यकता है, यह बात द्योतित होती है।

इस प्रकार नचिकेताकी कठिन परीक्षा लेकर और उसे उसमें उत्तीर्ण पाकर यमराज उसे आत्माके स्वरूपके सम्बन्धमें उपदेश देते हैं। वे कहते हैं—

'यह नित्य चिन्मय आत्मा न जन्मता है न मरता है; यह न तो किसी वस्तुसे उत्पन्न हुआ है और न स्वयं ही कुछ बना है (अर्थात् न तो यह किसीका कार्य है न कारण है, न विकार है न विकारी है)। यह अजन्मा, नित्य (सदासे वर्तमान, अनादि), शाश्वत (सदा रहनेवाला, अनन्त) और पुरातन है तथा शरीरके विनाश किये जानेपर भी नष्ट नहीं होता।[३]'

उपर्युक्त वर्णनसे आत्माकी अमरता सिद्ध होती है। वे फिर कहते हैं—

'यदि मारनेवाला आत्माको मारनेका विचार करता है और मारा जानेवाला उसे मरा हुआ समझता है, तो वे दोनों ही उसे नहीं जानते; क्योंकि यह न तो मारता है और न मारा जाता है।'[४]

आगे चलकर यमराज उन मनुष्योंकी गति बतलाते हैं, जो आत्माको बिना जाने हुए ही मृत्युको प्राप्त हो जाते हैं। वे कहते हैं—

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥
(२। २। ७)

'अपने कर्म और ज्ञानके अनुसार कितने ही देहधारी तो शरीर धारण करनेके लिये किसी देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनिको प्राप्त होते हैं और कितने ही स्थावरभाव (वृक्षादि योनि)-को प्राप्त होते हैं।'

ऊपरके मन्त्रसे भी पुनर्जन्मकी सिद्धि होती है।

गीतामें भी परलोक तथा पुनर्जन्मका प्रतिपादन करनेवाले अनेक वचन मिलते हैं। उनमेंसे कुछ यहाँ उद्‌धृत किये जाते हैं। गीताके दूसरे अध्यायमें भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥
(२। १२)

'न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे। और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।'

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥
(२। १३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।'

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
(२। २२)

१-नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ। यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा॥ (१। २। ९)

२-कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम्। स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः॥ (१। २। ११)

३-न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ (१। २। १८)

यही मन्त्र कुछ हेरफेरसे गीतामें भी आया है (देखिये २। २०)।

४-हन्ता चेन्मन्यते हन्तुꣳहतश्चेन्मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायꣳहन्ति न हन्यते॥ (१। २। १९)

यह मन्त्र भी कुछ शब्दोंके हेरफेरसे गीतामें पाया जाता है (देखिये २। १९)।

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है।'

गीतामें भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥

(४।५)

'हे परंतप अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं। उन सबको तू नहीं जानता, किन्तु मैं जानता हूँ।'

गीतामें स्वर्गादि लोकोंका भी कई जगह उल्लेख आता है; पुनर्जन्म, परलोक, आवृत्ति-अनावृत्ति, गतागत (गमनागमन) आदि शब्द भी कई जगह आये हैं। छठे अध्यायके ४१-४२वें श्लोकोंमें योगभ्रष्ट पुरुषके दीर्घकालतक स्वर्गादि लोकोंमें निवास कर शुद्ध आचरणवाले श्रीमान् पुरुषोंके घरमें अथवा ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म लेनेकी बात आयी है तथा ४५वें श्लोकमें अनेक जन्मोंकी बात भी आयी है। इसी प्रकार १३वें अध्यायके २१वें श्लोकमें पुरुषके सत्-असत् योनियोंमें जन्म लेनेकी बात कही गयी है, १४वें अध्यायके १४-१५ तथा १८ वें श्लोकोंमें गुणोंके अनुसार मनुष्यके उच्च, मध्य तथा अधोगतिको प्राप्त होनेकी बात आयी है तथा १५वें अध्यायके श्लोक ७-८ में एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जानेका स्पष्ट रूपमें उल्लेख हुआ है। १६ वें अध्यायके श्लोक १६, १९ और २०में भगवान्ने आसुरी सम्पदावालोंको बारम्बार तिर्यक् योनियों और नरकमें गिरानेकी बात कही है। इन सब प्रसङ्गोंसे भी पुनर्जन्म तथा परलोककी पुष्टि होती है।

योगसूत्रके साधनपादमें भी पुनर्जन्मका विषय आया है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः॥

(साधन०१२)

अर्थात् 'क्लेश[१]' जिनकी जड़ हैं, वे कर्माशय (कर्मोंकी वासनाएँ) वर्तमान अथवा आगेके जन्मोंमें भोगे जा सकते हैं।'

उन वासनाओंका फल किस रूपमें मिलता है, इसके विषयमें महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः॥

(साधन० १३)

अर्थात् 'क्लेशरूपी कारणके रहते हुए उन वासनाओंका फल जाति (योनि), आयु (जीवनकी अवधि) और भोग (सुख-दुःख) होते हैं।'

मनुस्मृतिमें भी पुनर्जन्मके प्रतिपादक अनेक वचन मिलते हैं। उनमेंसे कुछ चुने हुए वचन नीचे उद्धृत किये जाते हैं। किन-किन कर्मोंसे जीव किन-किन योनियोंको प्राप्त होते हैं, इस विषयमें भगवान् मनु कहते हैं—

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः॥

(१२।४०)

अर्थात् 'सत्त्वगुणी लोग देवयोनिको, रजोगुणी मनुष्य-योनिको और तमोगुणी तिर्यक् योनिको प्राप्त होते हैं। जीवोंकी सदा यही तीन प्रकारकी गति होती है।'

'जो लोग इन्द्रियोंको तृप्त करनेमें ही लगे रहते हैं तथा धर्माचरणसे विमुख रहते हैं, उनके विषयमें भगवान् मनु कहते हैं कि वे मूर्ख और नीच मनुष्य मरनेपर निन्दित गतिको पाते हैं।'[२]

इसके आगे भगवान् मनु ब्रह्महत्या, सुरापान, गुरुपत्नीगमन आदि कुछ महापातकोंका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि इन पापोंको करनेवाले अनेक वर्षतक नरक भोगकर फिर नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं। उदाहरणतः ब्रह्महत्या करनेवाला कुत्ते, सुअर, गदहे, चाण्डाल आदि योनियोंको प्राप्त होता है; ब्राह्मण होकर मदिरा पान करनेवाला कृमि-कीट-पतङ्गादि तथा हिंसक योनियोंमें जन्म लेता है; गुरुपत्नीगामी तृण, गुल्म, लता आदि स्थावर योनियोंमें सैकड़ों बार जन्म ग्रहण करता है तथा अभक्ष्य भक्षण करनेवाला कृमि होता है।[३]

इस प्रकार परलोक एवं पुनर्जन्मके प्रतिपादक अनेकों प्रमाण शास्त्रोंमें भरे पड़े हैं। स्थानाभावके कारण उनका विस्तार नहीं किया जाता। अब हम युक्तियोंसे भी परलोक एवं पुनर्जन्मको सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं—

(१) शरीरकी तरह आत्माका परिवर्तन नहीं होता। शरीरमें तो हम सभीके अवस्थानुसार परिवर्तन होता देखा जाता है। आज जो हमारा शरीर है कुछ वर्ष बाद वह बिल्कुल बदल जायगा, उसके स्थानमें दूसरा ही शरीर बन जायगा—जैसे नख और केश पहलेके कटते जाते हैं और नये आते रहते हैं। बाल्यावस्थामें हमारे सभी अङ्ग कोमल और छोटे होते हैं, कद छोटा होता है, स्वर मीठा होता है, वजन भी कम होता है तथा मुखपर रोएँ नहीं होते। जवान होनेपर हमारे अङ्ग पहलेसे कठोर और बड़े हो जाते

१- योगशास्त्रमें अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (मृत्युभय)—इनको 'क्लेश' नामसे कहा गया है।

२- इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्मस्यासेवनेन च। पापान् संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः॥ (१२।५२)

३- देखिये मनुस्मृति १२।५४—५६, ५८-५९।

हैं, आवाज भारी हो जाती है, कद लंबा हो जाता है, वजन बढ़ जाता है तथा दाढ़ी-मूँछ आ जाती है। इसी प्रकार बुढ़ापेमें हमारे अंग शिथिल हो जाते हैं, शरीरकी सुन्दरता नष्ट हो जाती है, चमड़ा ढीला पड़ जाता है, बाल पक जाते हैं, दाँत ढीले हो जाते हैं तथा गिर जाते हैं एवं शरीर तथा इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण हो जाती है। यही कारण है कि बालकपनमें देखे हुए किसी व्यक्तिको उसके युवा हो जानेपर हम सहसा नहीं पहचान पाते। परन्तु शरीर बदल जानेपर भी हमारा आत्मा नहीं बदलता। दस वर्ष पहले जो हमारा आत्मा था, वही आत्मा इस समय भी है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। यदि होता तो आजसे दस वर्ष अथवा बीस वर्ष पहले हमारे जीवनमें घटी हुई घटनाका हमें स्मरण नहीं होता। दूसरेके द्वारा अनुभव किये हुए सुख-दु:खका जिस प्रकार हमें स्मरण नहीं होता, उसी प्रकार यदि हमारा आत्मा बदल गया होता तो हमें अपने जीवनकी बातोंका भी कालान्तरमें स्मरण नहीं रहता। परन्तु आजकी घटनाका हमें दस वर्ष बाद अथवा बीस वर्ष बाद भी स्मरण होता है, इससे मालूम होता है कि अनुभव करनेवाला और स्मरण करनेवाला दो व्यक्ति नहीं बल्कि एक ही व्यक्ति है। जिस प्रकार वर्तमान शरीरमें इतना परिवर्तन होनेपर भी आत्मा नहीं बदला, उसी प्रकार मरनेके बाद दूसरा शरीर मिलनेपर भी यह नहीं बदलनेका। इससे आत्माकी नित्यता सिद्ध होती है।

(२) मनुष्य अपना अभाव कभी नहीं देखता; वह यह कभी नहीं सोचता कि एक दिन मैं नहीं रहूँगा अथवा मैं पहले नहीं था। अपने अभावके बारेमें आत्माकी ओरसे उसे कभी गवाही नहीं मिलती। वह यही सोचता है कि मैं सदासे हूँ और सदा रहूँगा। इससे भी आत्माकी नित्यता सिद्ध होती है।

(३) बालक जन्मते ही रोने लगता है और जन्मनेके बाद कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी सोता है; जब माता उसके मुखमें स्तन देती है, तो वह उसमेंसे दूध खींचने लगता है और धमकाने आदिपर भयसे काँपता हुआ भी देखा जाता है। बालकके ये सब आचरण पूर्वजन्मका लक्ष्य कराते हैं। क्योंकि इस जन्ममें तो उसने ये सब बातें सीखीं नहीं। पूर्वजन्मके अभ्याससे ही ये सब बातें उसके अंदर स्वाभाविक ही होने लगती हैं। पूर्वजन्ममें अनुभव किये हुए सुख-दु:खका स्मरण करके ही वह हँसता और रोता है, पूर्वमें अनुभव किये हुए मृत्युभयके कारण ही वह काँपने लगता है तथा पूर्वजन्ममें किये हुए स्तनपानके अभ्याससे ही वह माताके स्तनका दूध खींचने लगता है।

(४) जीवोंमें जो सुख-दु:खका भेद, प्रकृति अर्थात् स्वभाव और गुण-कर्मका भेद—काम-क्रोध, राग-द्वेष आदिकी न्यूनाधिकता—तथा क्रियाका भेद एवं बुद्धिका भेद दृष्टिगोचर होता है, उससे भी पूर्वजन्मकी सिद्धि होती है। एक ही माता-पितासे उत्पन्न हुई सन्तान—यहाँतक कि एक ही साथ पैदा हुए बच्चे भी इन सब बातोंमें एक दूसरेसे विलक्षण पाये जाते हैं। पूर्वजन्मके संस्कारोंके अतिरिक्त इस विचित्रतामें कोई हेतु नहीं हो सकता। जिस प्रकार ग्रामोफोनकी चूड़ीपर उतरे हुए किसी गानेको सुनकर हम यह अनुमान करते हैं कि इसी प्रकार किसी मनुष्यने इस गानेको कहीं अन्यत्र गाया होगा, तभी उसकी प्रतिध्वनिको आज हम इस रूपमें सुन पाते हैं, उसी प्रकार आज हम किसीको सुखी अथवा दु:खी देखते हैं अथवा अच्छे-बुरे स्वभाव और बुद्धिवाला पाते हैं तो उससे यही अनुमान होता है कि उसने पूर्वजन्ममें वैसे ही कर्म किये होंगे, जिनके संस्कार उसके अन्त:करणमें संगृहीत हैं, जिन्हें वह अपने साथ लेता आया है। यदि किसीको वर्तमान जीवनमें हम सुखी पाते हैं, तो इसका मतलब यही है कि उसने पूर्वजन्ममें अच्छे कर्म किये होंगे और दु:खी पाते हैं तो इसका मतलब यह होता है कि उसने पूर्वजन्ममें अशुभ कर्म किये होंगे। यही बात स्वभाव, गुण और बुद्धि आदिके सम्बन्धमें समझनी चाहिये।

यदि कोई कहे कि संस्कारोंके भेदके लिये पूर्वजन्मको माननेकी क्या आवश्यकता है, ईश्वरकी इच्छाको ही इसमें हेतु क्यों न मान लिया जाय, तो इसका उत्तर यह है कि इस वैचित्र्यका कारण ईश्वरको माननेसे उनमें वैषम्य एवं नैर्घृण्य (निर्दयता)-का दोष आवेगा। वैषम्यका दोष तो इस बातको लेकर आवेगा कि उन्होंने अपने मनसे किसीको सुखी और किसीको दु:खी बनाया। और निर्दयताका दोष इसलिये आवेगा कि उन्होंने कुछ जीवोंको बेमतलब ही दु:खी बना दिया। ईश्वरमें कोई दोष घट नहीं सकता, इसलिये पूर्वकृत कर्मोंको ही लोगोंके स्वभावके भेद तथा भोगके वैषम्यमें हेतु मानना पड़ेगा।

इन सब युक्तियोंसे यह सिद्ध होता है कि प्राणियोंका पुनर्जन्म होता है। अब जब यह सिद्ध हो गया कि पुनर्जन्म होता है, तब दूसरा प्रश्न यह होता है कि ऐसी स्थितिमें मनुष्यको क्या करना चाहिये। विचार करनेपर मालूम होता है कि शाश्वत एवं निरतिशय सुखकी प्राप्ति तथा दु:खोंसे

सदाके लिये छुटकारा पा जाना ही जीवमात्रका ध्येय है और उसीके लिये मनुष्यको यत्नवान् होना चाहिये। शास्त्रोंमें पुनर्जन्मको ही दु:खका घर बताया है। और परमात्माकी प्राप्ति ही इस दु:खसे छूटनेका एकमात्र उपाय है। भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दु:खालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥

(८। १५)

'परम सिद्धिको प्राप्त महात्माजन मुझको प्राप्त होकर दु:खोंके घर एवं क्षणभङ्गुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि परमात्माकी प्राप्ति ही दु:खोंसे सदाके लिये छूटनेका एकमात्र उपाय है और यह मनुष्य-जन्ममें ही सम्भव है। अत: जो इस जन्मको पाकर परमात्माको प्राप्त कर लेते हैं, वे ही संसारमें धन्य हैं और वे ही बुद्धिमान् एवं चतुर हैं। मनुष्य-जन्मको पाकर जो इसे विषय-भोगमें ही गँवा देते हैं, वे अत्यन्त जडमति हैं और शास्त्रोंने उनको कृतघ्न एवं आत्महत्यारा बताया है। श्रीमद्भागवतमें भगवान् उद्धवसे कहते हैं—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

(श्रीमद्भा० ११। २०। १७)

'यह मनुष्यशरीर समस्त शुभ फलोंकी प्राप्तिका आदि-कारण तथा अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी ईश्वरकी कृपासे हमारे लिये सुलभ हो गया है; वह इस संसाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिये सुदृढ़ नौका है, जिसे गुरुरूप नाविक चलाता है और मैं (श्रीकृष्ण) वायुरूप होकर उसे आगे बढ़ानेमें सहायता देता हूँ। ऐसी सुन्दर नौकाको पाकर भी जो मनुष्य इस भवसागरको नहीं तरता, वह निश्चय ही आत्माका हनन करनेवाला अर्थात् पतन करनेवाला है।'

गोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं—

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

(रामचरित० उत्तर० ४४)

यहाँ यह प्रश्न होता है कि इसके लिये हमें क्या करना चाहिये। इसका उत्तर हमें स्वयं भगवान्के शब्दोंमें इस प्रकार मिलता है। वे कहते हैं—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।

(गीता ६। ५)

'मनुष्यको चाहिये कि वह अपने द्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले।'

उद्धारका अर्थ है उत्तम गुणों एवं उत्तम भावोंका संग्रह एवं उत्तम आचरणोंका अनुष्ठान और पतनका अर्थ है दुर्गुण एवं दुराचारोंका ग्रहण। क्योंकि इन्हींसे क्रमशः मनुष्यकी उत्तम एवं अधम गति होती है। इन्हींको भगवान्ने क्रमशः दैवी सम्पत्ति एवं आसुरी सम्पत्तिके नामसे गीताके सोलहवें अध्यायमें वर्णन किया है और यह भी बतलाया है कि दैवी सम्पत्ति मोक्षकी ओर ले जानेवाली है—'दैवी सम्पद्विमोक्षाय' और आसुरी सम्पत्ति बाँधनेवाली अर्थात् बार-बार संसार-चक्रमें गिरानेवाली है—'निबन्धायासुरी मता।' यही नहीं, आसुरी सम्पदावालोंके आचरणोंका वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि 'उन अशुभ आचरणवाले द्वेषी, क्रूर (निर्दय) एवं मनुष्योंमें अधम पुरुषोंको मैं संसारमें बार-बार पशु-पक्षी आदि तिर्यक् योनियोंमें गिराता हूँ और जन्म-जन्ममें उन योनियोंको प्राप्त हुए वे मूढ़ पुरुष मुझे न पाकर उससे भी अधम गति (घोर नरकों)-को प्राप्त होते हैं।'* इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तम गुण, भाव और आचरण ही ग्रहण करनेयोग्य हैं और दुर्गुण, दुर्भाव तथा दुराचार त्यागनेयोग्य हैं। गीताके १३ वें अध्यायके ७ से ११ श्लोकोंमें भगवान्ने इन्हींका ज्ञान और अज्ञानके नामसे वर्णन किया है। ज्ञानके नामसे वहाँ जिन गुणोंका वर्णन किया गया है, वे आत्माका उद्धार करनेवाले—ऊपर उठानेवाले हैं और इससे विपरीत जो अज्ञान है—'अज्ञानं यदतोऽन्यथा', वह गिरानेवाला—पतन करनेवाला है।

सद्गुण और सदाचार कौन हैं तथा दुर्गुण एवं दुराचार कौन-से हैं, ग्रहण करने योग्य आचरण कौन हैं तथा त्यागने योग्य कौन-से हैं—इसका निर्णय हम शास्त्रोंद्वारा ही कर सकते हैं। शास्त्र ही इस विषयमें प्रमाण हैं। भगवान्ने भी गीतामें कहा है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(१६। २४)

---

* तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि। मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(१६। १९-२०)

'इससे तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर तू शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करने योग्य है।'

यदि नाना प्रकारके शास्त्रोंको देखनेसे तथा उनमें कहीं-कहीं आये हुए परस्परविरोधी वाक्योंको पढ़नेसे बुद्धि भ्रमित हो जाय और शास्त्रके यथार्थ तात्पर्यका निर्णय न कर सकें तो पूर्वकालमें हमारी दृष्टिमें शास्त्रके मर्मको जाननेवाले जो भी महापुरुष हो गये हों, उनके बताये हुए मार्गका अनुसरण करना चाहिये। शास्त्रोंकी भी यही आज्ञा है। महाभारतकार कहते हैं—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

(वन० ३१३। ११७)

अर्थात् 'तर्क कहीं ठहरता नहीं, उससे किसी बातका निर्णय नहीं होता; वेद अलग-अलग बात कहते हैं; ऋषि एक भी ऐसा नहीं है जिसका मत दूसरेसे भिन्न न हो। सभी अपनी-अपनी बात कहते हैं; धर्मका रहस्य बुद्धिरूपी कन्दरामें छिपा हुआ है। इसलिये मार्ग वही है, जिसपर प्राचीन कालके श्रेष्ठ सदाचारी पुरुष चले हों।' उन्हींके आचरणको अपना आदर्श बना लेना चाहिये और उसीके अनुसार चलनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

यदि किसीको ऐसे महापुरुषोंके मार्गमें भी संशय हो तो फिर उसे यही उचित है कि वह वर्तमानकालके किसी जीवित सदाचारी महात्मा पुरुषको—जिसमें भी उसकी श्रद्धा हो और जिसे वह श्रेष्ठ महापुरुष समझता हो—अपना आदर्श बना ले और उनके बताये हुए मार्गको ग्रहण करे, उनके आदेशके अनुसार चले। और यदि किसीपर भी विश्वास न हो तो अपने अन्तरात्मा, अपनी बुद्धिको ही पथप्रदर्शक बना ले—एकान्तमें बैठकर विवेक-वैराग्ययुक्त बुद्धिसे शान्ति एवं धीरजके साथ स्वार्थत्यागपूर्वक निष्पक्षभावसे विचार करे कि मेरा ध्येय क्या है, मुझे क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। इस प्रकार अपने हिताहितका विचार करके संसारमें कौन-सी वस्तु मेरे लिये ग्राह्य है और कौन-सी अग्राह्य है, इसका निर्णय कर ले और फिर दृढ़तापूर्वक उस निश्चयपर स्थित हो जाय। जो मार्ग उसे ठीक मालूम हो, उसपर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ हो जाय और जो आचरण उसे निषिद्ध जँचें उन्हें छोड़नेकी प्राणपणसे चेष्टा करे, भूलकर भी उस ओर न जाय। इस प्रकार निष्पक्षभावसे विचार करनेपर, अन्तरात्मासे पूछनेपर भी उसे भीतरसे यही उत्तर मिलेगा कि अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य और परोपकार ही श्रेष्ठ हैं; हिंसा, असत्य, व्यभिचार और दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये उसका अन्तरात्मा उसे कभी न कहेगा। नास्तिक-से-नास्तिकको भी भीतरसे यही आवाज सुनायी देगी। इस प्रकार अपना लक्ष्य स्थिर कर लेनेके बाद फिर कभी उसके विपरीत आचरण न करे। अच्छी प्रकार निर्धारित किये हुए अपने ध्येयके अनुसार चलना ही आत्माका उत्थान करना है और उस निश्चयके अनुसार न चलकर उसके विपरीत मार्गपर चलना ही उसका पतन है। जो आचरण अपनी दृष्टिमें तथा दूसरोंकी दृष्टिमें भी हेय है, उसे जान-बूझकर करना मानो अपने-आप ही फाँसी लगाकर मरना, अपने ही पैरोंपर कुल्हाड़ी मारना, अपने हाथों अपना अहित करना है। इसीलिये भगवान् कहते हैं—'नात्मानमवसादयेत्', जान-बूझकर अपने-आप अपना पतन न करे।

हमारे शास्त्रोंमें मन, वाणी और शरीरसे होनेवाले कुछ दोष गिनाये हैं और साथ ही मन, वाणी और शरीरके पाँच-पाँच तप भी बताये हैं। आत्माका उद्धार चाहनेवाले मनुष्यको चाहिये कि वह उपर्युक्त मन, वाणी और शरीरके दोषोंका त्याग करे और शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक—तीनों प्रकारके तपका आचरण करे। शरीरसे होनेवाले दोष तीन हैं—बिना दिया हुआ धन लेना, विधिरहित हिंसा और परस्त्रीगमन।[१] वाचिक पाप चार हैं—कठोर वचन कहना, झूठ बोलना, चुगली करना और बेसिर-पैरकी ऊलजलूल बातें करना।[२] मानसिक पाप तीन हैं—दूसरेका माल मारनेका दाँव सोचना, मनसे दूसरेका अनिष्टचिन्तन करना और मैं शरीर हूँ—इस प्रकारका झूठा अभिमान करना।[३]

इन त्रिविध पापोंका नाश करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने

१-अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः। परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्॥ (मनु० १२।७)

२-पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः। असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्॥ (मनु० १२।६)

३-परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्। वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्॥ (मनु० १२।५)

गीतामें तीन प्रकारके तप बतलाये हैं—शारीरिक तप, वाचिक तप और मानस तप। उक्त तीन प्रकारके तपका स्वरूप भगवान्ने इस प्रकार बतलाया है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

(१७। १४)

'देवता, ब्राह्मण, गुरु (माता-पिता एवं आचार्य आदि) और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

(१७। १५)

'जो उद्वेगको न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठन एवं परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास है—वही वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥

(१७। १६)

'मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणकी पवित्रता—इस प्रकार यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

प्रत्येक कल्याणकामी पुरुषको चाहिये कि वह उपर्युक्त तीनों प्रकारके तपका सात्त्विक* भावसे अभ्यास करे।

अन्तमें हम एक बात और कहकर इस लेखको समाप्त करते हैं। दुःखरूप संसारसे छूटनेका एक सर्वोत्तम उपाय है परमात्माकी शरण लेकर विवेक और वैराग्ययुक्त बुद्धिसे दुःख, शोक, भय और चिन्ताका त्याग। इसपर यदि कोई कहे कि दुःख-सुख तो प्रारब्धके अनुसार भोगने ही पड़ते हैं, तो इसका उत्तर यह है दुःख-सुखके निमित्तोंका प्राप्त होना और हट जाना ही प्रारब्धका फल है; उन निमित्तोंको लेकर हमें जो चिन्ता, शोक, भय एवं विषाद होता है वह हमारी मूर्खतासे होता है, अज्ञानसे होता है। उनके होनेमें प्रारब्ध हेतु नहीं है। पुत्रका वियोग हो जाना, धनका अपहरण हो जाना, व्यापारमें घाटा लग जाना, इज्जत-आबरूका चला जाना, बीमारी और अपकीर्तिका होना—ये सब घटनाएँ प्रारब्धके कारण होती हैं; परन्तु इनसे जो हमें विषाद होता है, उसमें हमारा अज्ञान हेतु है, प्रारब्ध नहीं। यदि हम स्वयं इन घटनाओंसे दुखी न हों, तो इन घटनाओंकी ताकत नहीं कि वे हमें दुखी कर सकें। यदि इन घटनाओंमें दुखी करनेकी शक्ति होती तो उनसे ज्ञानियोंको भी दुःख होता; परन्तु ज्ञानी जीवन्मुक्त महापुरुषोंके लिये शास्त्र डंकेकी चोट यह कहते हैं कि उन्हें अप्रिय-से-अप्रिय घटनाको लेकर भी दुःख नहीं होता, वे सुख-दुःखसे परे हो जाते हैं। उनकी दृष्टिमें प्रिय-अप्रिय कुछ रह ही नहीं जाता। उनके विषयमें श्रुति कहती है—'तरति शोकमात्मवित्।' आत्माको जान लेनेवाला शोकसे तर जाता है। 'हर्षशोकौ जहाति'—ज्ञानी पुरुष हर्ष और शोकका त्याग कर देता है, दोनों ही स्थितियोंको लाँघ जाता है। 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'—सर्वत्र एक परमात्माको ही देखनेवाले आत्मदर्शी पुरुषके लिये शोक और मोहका कोई कारण नहीं रह जाता। भगवान् भी गीतामें अर्जुनसे अपने उपदेशके प्रारम्भमें ही कहते हैं—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥

(२। ११)

'हे अर्जुन! तू न शोक करनेयोग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचनोंको कहता है; परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते।'

इससे यह सिद्ध होता है कि शोक न करना हमारे हाथमें है। यदि ऐसी बात न होती और इसका सम्बन्ध प्रारब्धसे होता, तो ज्ञानोत्तर कालमें ज्ञानीको भी शोक होता और भगवान् भी शोक छोड़नेके लिये अर्जुनको कभी न कहते। शरीरोंका उत्पत्ति-विनाश और क्षय-वृद्धि तथा सांसारिक पदार्थोंका संयोग-वियोग ही प्रारब्धसे सम्बन्ध रखता है; उनके विषयमें जो चिन्ता, भय और शोक होता है वह अज्ञानके कारण ही होता है। सांसारिक विपत्तिके आनेपर भी जो शोक नहीं करते—रोते नहीं, उनकी उससे कोई हानि नहीं होती। अतः परमात्माकी शरण ग्रहण करके शोक-मोह, विषाद, चिन्ता एवं भयका त्याग कर हमें परमात्माके स्वरूपमें अचल भावसे स्थित हो जाना चाहिये।

---

* श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः। अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥ (१७। १७)
'फलको न चाहनेवाले योगी पुरुषोंद्वारा परम श्रद्धासे किये हुए उस पूर्वोक्त तीन प्रकारके तपको सात्त्विक कहते हैं।'

रागानुगा भक्तिका परिचय

(लेखक—श्रीनृसिंहवल्लभजी गोस्वामी)

कृष्णरूपं परित्यज्य कलौ गौरो बभूव यः।
तं वन्दे परमानन्दं श्रीचैतन्यमहाप्रभुम्॥

निखिलरसामृतमूर्ति अनन्त-लीला-रस-रसिक-चूडामणि करुणामय श्रीभगवान्‌की प्राप्तिके साधनोंमें भक्तिकी सर्वोत्कृष्टता स्वयं भगवान्‌ने अपने ही श्रीमुखसे निर्देश की है—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।

अर्थात् हे पार्थ! परम पुरुषकी (मेरी) प्राप्ति अनन्य-भक्तिसे होती है! यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इस अनन्य-भक्तिका स्वरूप क्या है? श्रीधरस्वामिपादका कथन है कि—

'अनन्यया न विद्यतेऽन्यः शरणत्वेन यस्यास्तया एकान्तभक्त्येन लभ्यो नान्यथा'

अर्थात् अन्यशरणरहित जो एकान्त भक्ति है, श्रीपुरुषोत्तम उसीसे प्राप्त हो सकते हैं; और किसी उपायसे नहीं। एकान्तभक्तिसे सर्वोपाधिविनिर्मुक्त निर्मल एकमात्र भगवन्निठ भक्तिका ही निर्देश है। परमपूज्य श्रीरूपगोस्वामिपादने उक्त भक्तिका लक्षण इस प्रकार किया है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

अर्थात् श्रीकृष्णके निमित्त आनुकूल्यविशिष्ट अनुशीलन ही भक्ति है। यह भक्तिका स्वरूपलक्षण है।

आनुकूल्यविशिष्ट अनुशीलनका अर्थ है श्रीकृष्णके रुचिकर कार्योंका अनुशीलन। जिस कार्यसे श्रीकृष्णको सुख मिले उसीका काय, मन, वाक्यसे अनुष्ठान। यद्यपि कंसादिमें भी श्रीकृष्णसम्बन्धी अनुशीलन विद्यमान है, तथापि आनुकूल्यका अभाव रहनेके कारण वह भक्ति नहीं कहा जा सकता। भक्तिको विषयादि अनुशीलनसे व्यावृत्त करनेके लिये उक्त लक्षणमें 'कृष्ण' शब्दका प्रयोग किया गया है। यहाँ श्रीकृष्ण शब्द भगवत्स्वरूपमात्रका ग्राहक है। फिर भी स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके निमित्त अनुशीलनरूप भक्ति ही मुख्य है। भक्तिमें दो उपाधियाँ हैं—(१) अन्याभिलाषिता, (२) ज्ञानकर्मादिमिश्रण। इन दोनों उपाधियोंमेंसे एकके रहनेपर भी शुद्धा भक्ति या एकान्तभक्तिका अनुष्ठान नहीं हो सकता। उत्तमा भक्तिका स्वभाव है कि उसमें अन्याभिलाष नहीं रह सकता। श्रीनागपत्नियोंने कहा है—

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं
न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः॥

अर्थात् जिनकी चरणरजकी शरणमें पड़े हुए एकान्त-भक्तगण स्वर्गीय सुख, भूमिका आधिपत्य, परमेष्ठीपदका सुख, रसातलका आधिपत्य, अष्टादश योगसिद्धि यहाँतक कि अपुनर्भव अर्थात् (मोक्षसुख) भी नहीं चाहते।

'ज्ञानकर्माद्यनावृतम्' इस वाक्यके ज्ञान शब्दसे जीव-ब्रह्मका ऐक्यानुसन्धानात्मक ज्ञान ग्राह्य है न कि भजनानुसन्धानात्मक ज्ञान; क्योंकि भजनीय श्रीकृष्णकी अनुशीलन-रूपा भक्तिका अनुसन्धानात्मक ज्ञान तो भक्तिके लिये अत्यन्त आवश्यकीय होनेके कारण उसीका एक मुख्य अङ्ग है। 'कर्म' शब्दसे स्मार्तकर्मोंका उल्लेख है, जिस कर्मका श्रीकृष्णके लिये अनुष्ठान किया जाता है, उसका नहीं; क्योंकि श्रीहरिके उद्देश्यसे जिस कर्मका अनुष्ठान होता है, उसको तो भक्ति ही कहा गया है। यथा—

देवर्षे विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिश्य या क्रिया।
सैव भक्तिरिति प्रोक्ता तया भक्तिः परा भवेत्॥

(श्रीनारदपाञ्चरात्र)

अर्थात् हे देवर्षे! शास्त्रमें श्रीहरिको उद्देश्य करके जिस क्रियाका विधान है, उसको भक्ति कहते हैं, क्योंकि उससे भक्ति 'परा' होती है। किन्तु यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि एकान्तभक्तिमें स्मार्तकर्मोंका निषेध क्यों किया गया? श्रीभगवान्‌का भी तो आदेश है कि—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते।
आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥

अर्थात् श्रुति-स्मृति मेरी ही आज्ञाएँ हैं; जो इन दोनोंमेंसे किसीका भी उल्लंघन करता है वह आज्ञाच्छेदी एवं मेरा द्वेषी है, अतः भक्त होनेपर भी वह वैष्णव नहीं है। श्रीभगवान्‌का ऐसा आदेश रहनेपर भी स्मार्तकर्मोंके निषेधसे भक्तिका उदय किस प्रकार हो सकता है? इस आशङ्काका समाधान स्वयं श्रीभगवान्‌ने इस प्रकार किया है—

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

(श्रीमद्भा० ११। २०। ९)

अर्थात् ज्ञानियोंको तो तबतक कर्म करना चाहिये जबतक ऐहिक एवं पारलौकिक सुख-भोगमें वैराग्य न हो एवं भक्तोंको तबतक करना चाहिये जबतक कि मेरे कथा-श्रवणादिमें दृढ़ विश्वासरूप श्रद्धाका उदय न हो। जिस प्रकार 'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे'—श्रुति-स्मृति भगवान्‌की आज्ञाएँ हैं, उसी प्रकार 'तावत्कर्माणि कुर्वीत' 'तबतक कर्म करो' यह भी उन्हींका आदेश है। अतः जिनकी भगवत्-कथादिमें श्रद्धा उत्पन्न हुई है, उनके लिये कर्मानुष्ठान करना श्रीभगवान्‌की आज्ञा भङ्ग करना है। इसलिये श्रीकृष्णके परितोषको छोड़कर अन्य कर्मोंकी स्थिति एकान्तभक्तिमें अत्यन्त असम्भव है। 'ज्ञानकर्मादि'— यहाँ आदि शब्दसे आत्मानात्मविचाररूप सांख्य एवं पतञ्जलिके अष्टाङ्गयोगादि समझने चाहिये, क्योंकि भक्तिसे व्यक्त होनेवाला जड-चेतनविवेक उसका विरोधी नहीं हो सकता। उक्त श्लोकके—

'अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्'।

—ये अंश भक्तिके तटस्थ लक्षण हैं।

यह उत्तमा भक्ति दो प्रकारकी है—साधनरूपा एवं साध्यरूपा। इन्द्रियसमूहकी प्रेरणासे साधनीय श्रवण-कीर्तनादिको साधनभक्ति कहते हैं। यह साधनभक्ति भी दो प्रकारकी है—वैधी एवं रागानुगा। इनमें रुचिके विरुद्ध केवल शास्त्रके शासनसे नरकादिसे डरकर शास्त्रोक्त विधिके अनुसार जिसका अनुष्ठान किया जाता है, उसको वैधी भक्ति कहते हैं; जैसे कि श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्॥

अर्थात् हे भारत! अभयेच्छु जनोंको उचित है कि वे सर्वात्मा भगवान् श्रीहरिका श्रवण, कीर्तन एवं स्मरण करें।

रागानुगा भक्तिके विवेकके लिये पहले रागात्मिका भक्तिके स्वरूप-विवेचनकी आवश्यकता है। विषयके संसर्गके लिये विषयीके स्वाभाविक इच्छामय प्रेमको ही 'राग' कहते हैं। जिस प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियोंकी सौन्दर्यादि ग्रहण करनेमें स्वाभाविक उत्कण्ठा है, उसी प्रकार भक्तकी भगवान्‌में स्वाभाविक उत्कण्ठाको ही राग कहते हैं। 'श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु' में रागका लक्षण इस प्रकार है—

इष्टे स्वारसिको रागः परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोच्यते॥

अर्थात् इष्टवस्तुके विषयमें स्वाभाविकी अत्यन्त आविष्टताको राग कहते हैं, उस रागसे प्रेरित होकर जो भक्ति की जाती है, उसीको रागात्मिका भक्ति कहते हैं। इष्टवस्तु श्रीभगवान्‌में ऐसी रागात्मिका भक्ति व्रजवासी जनोंमें ही पायी जाती है। गोपोंने स्पष्ट शब्दोंमें श्रीनन्दजीसे पूछा है—

दुस्त्यजश्चानुरागोऽस्मिन् सर्वेषां नो व्रजौकसाम्।
नन्द ते तनयेऽस्मासु तस्याप्यौत्पत्तिकः कथम्॥

अर्थात् हे नन्द! आपके पुत्रके प्रति हम सब व्रजवासियोंका दुस्त्यज अनुराग एवं उनका भी हम सबपर स्वाभाविक स्नेह क्यों है?

श्लोकका 'औत्पत्तिक' शब्द 'स्वाभाविक' अर्थका वाचक है, दुस्त्यज शब्द भी इसी अर्थका पोषक है। इससे यह स्पष्ट है कि श्रीकृष्णके साथ व्रजवासी जनोंका एवं व्रजवासियोंके साथ श्रीकृष्णका स्वाभाविक अनुराग है। तभी तो श्रीब्रह्माजीने कहा है—

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

अर्थात् जिनके मित्र परमानन्दस्वरूप सनातन पूर्णब्रह्म हैं, ऐसे श्रीनन्द एवं व्रजवासीजनोंके भाग्यका क्या कहना है।

इससे भी व्रजवासियोंका श्रीकृष्णमें एवं श्रीकृष्णका व्रजवासियोंमें स्वाभाविक प्रेम स्पष्ट ध्वनित होता है। यह राग विशेषणभेदसे शान्त, दास्य, सख्य आदि अनेक प्रकारका है; जैसे किसीके श्रीकृष्ण प्रिय हैं, जिस प्रकार प्रेयसी गोपियोंके; किसीके आप सखा हैं, जैसे श्रीदामादिके और किसीके आप पुत्र हैं, जैसे श्रीनन्दादिके। इस प्रकार एक ही भगवान् विभिन्न सम्बन्धयुक्त प्रियजनोंके निकट उन-उन सम्बन्धोंके अनुकूल स्वरूपोंसे प्रकटित होते हैं। अतः रागका वैशिष्ट्य रहनेपर भी, अपने-अपने रागसे प्रेरित होकर उनके द्वारा होनेवाले श्रवणकीर्तनादिको ही रागात्मिका भक्ति कहते हैं। यह रागसाध्या भक्ति है। अतः यहाँपर यह सन्देह हो सकता है कि श्रवण-कीर्तन तो साधनभक्तिके अङ्ग हैं, साध्यभक्तिरूप रागमें उनका सन्निवेश किस प्रकार हो सकता है? भक्तिशास्त्रमें इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि यह श्रवण-कीर्तनादि साध्यरूपा रागलक्षणा भक्ति गङ्गामें तरङ्गके सदृश प्रकाश पानेसे साध्य ही है। जिस प्रकार गङ्गाकी

तरङ्ग गङ्गासे भिन्न नहीं होती, उसी प्रकार रागभक्ति साध्यभक्ति होनेसे उसके अङ्गभूत श्रवणकीर्तनादि भी साधनभक्ति नहीं, किन्तु साध्यभक्ति ही हैं।

उपर्युक्त किसी रागविशेषमें रुचि उत्पन्न होनेपर उस रागका उदय होनेसे पहले उसी प्रकारके रागविशिष्ट किसी व्रजपरिकरकी अनुगतिमें अपने सब तरहके सुख-को त्यागकर सब प्रकारकी वासनागन्धसे मुक्त होकर एकमात्र श्रीकृष्णके ही सुखसाधनमें तत्पर हो मन, वचन और शरीरसे श्रीकृणका ही भजन करना रागानुगा भक्ति है। इस भक्तिकी प्रवृत्ति रुचिमात्रसे होनेके कारण इसका कोई भी अंश विधिप्रेरित नहीं होता। शास्त्रोक्त विधिनिषेधके अनुरोधसे या पापजनित दुःखके भय अथवा पुण्यजनित सुखकी आशासे यह रुचि उत्पन्न नहीं होती है। श्रीकृष्णके प्रियजनोंकी भावपरिपाटी सुनकर यदि चित्तवृत्ति स्वभावसे ही उनके सजातीय भावको पानेके लिये उत्कण्ठित हो तभी रुचि या लोभकी उत्पत्ति हो सकती है। व्रजलीलाके परिकरोंमें विद्यमान शृङ्गारादि भावसमूहोंका माधुर्य कर्णगोचर होनेपर 'मुझमें भी इस प्रकारका भाव उत्पन्न हो' ऐसी इच्छा होनेके समय शास्त्र या युक्तिकी अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि कोई भी शास्त्रदृष्टिसे लोभ नहीं करता, लोभ तो लोभनीय वस्तुको सुनते ही अथवा देखते ही स्वयं उत्पन्न होता है। पूज्यचरण श्रीरूपगोस्वामिपादका कथन है कि—'**कृष्णतद्भक्तकारुण्यमात्रलोभैकहैतुका**' अर्थात् यह लोभ एकमात्र श्रीकृष्ण एवं उनके भक्तोंकी कृपासे ही उत्पन्न होता है। अतः जो भक्ति उससे प्रेरित होकर की जाती है, उसीको रागानुगा भक्ति कहते हैं। यह लोभ भगवत्कृपा एवं अनुरागी भक्तजनोंकी कृपासे होनेके कारण दो प्रकारका है। इनमेंसे भी भगवद्भक्तकृपाजनित लोभ प्राक्तन एवं आधुनिक भेदसे दो प्रकारका है। जन्मान्तरमें भगवद्भक्तकी कृपासे उत्पन्न हुए लोभको 'प्राक्तन' कहते हैं, एवं वर्तमान जीवनमें वैसे भक्तकी कृपासे होनेवाले लोभको 'आधुनिक' कहा जाता है। लोभ उत्पन्न होनेपर जिस समय भक्त श्रीकृष्णके नित्य-परिकरका भाव पानेके लिये उत्सुक होता है उस समय शास्त्र एवं तदनुकूल युक्तिकी अपेक्षा होती है, क्योंकि उक्त प्रकारके लोभनीय भावकी प्राप्तिका उपाय शास्त्र और युक्तिद्वारा ही बतलाया गया है, अन्य किसी प्रकारसे नहीं। मान लीजिये किसीको दूध पीनेका लोभ है तो उसे दूध मिलनेका उपाय जाननेके लिये इस विषयके विशेषज्ञके उपदेशकी ही अपेक्षा होगी, ठीक वैसे ही भावलिप्सु जनोंको भावप्राप्तिके लिये शास्त्रोक्त उपदेशकी अपेक्षा होती है। जिस प्रकार दुग्धेच्छु जनोंको आप्तजनोंके उपदेशानुसार गौ लाकर उसे तृणादि देकर गोदोहनादि विविध विषयोंकी शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है। अभिज्ञ पुरुषोंके उपदेश बिना स्वतः उसका ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार शास्त्रोपदेशके बिना लोभनीय वस्तु पानेका उपाय स्वयं नहीं जाना जा सकता। श्रीमद्भागवतके अष्टम स्कन्धमें कहा है—

यथाग्निमेधस्यमृतं च गोषु
भुव्यन्नमम्बूद्यमने च वृत्तिम्।
योगैर्मनुष्या अधियन्ति हि त्वां
गुणेषु बुद्ध्या कवयो वदन्ति॥

अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य उपायपरम्परासे काठमेंसे अग्नि, गौमेंसे दूध, पृथिवीसे अन्न एवं जल तथा वाणिज्यादिसे अपनी जीविका प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार बुद्धिसे सत्त्वादि गुणोंमें आपकी प्राप्ति होती है—ऐसा विशेषज्ञोंका कथन है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सांसारिक लोभनीय वस्तुकी प्राप्तिके उपाय शास्त्रोंमें बताये गये हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्णसम्बन्धी तत्तत्प्रकारके भावोंकी प्राप्तिके उपाय भी शास्त्रोंमें ही वर्णित हैं। इस प्रकार यद्यपि लोभोत्पत्तिके प्रति शास्त्रादिकी अपेक्षा नहीं है, तथापि अपने अभीष्ट भावकी प्राप्तिके लिये तो शास्त्रोपदेशकी अपेक्षा है ही। किन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि जो शास्त्रविधिके अनुगत नहीं हैं, उनको भक्ति हो ही नहीं सकती, क्योंकि श्रीमद्भागवतके द्वितीय स्कन्धमें कहा है—

प्रायेण मुनयो राजन् निवृत्ता विधिसेधतः।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः॥

अर्थात् विधिनिषेधसे अतीत मुनिगण प्रायः निर्गुण स्वरूपमें अवस्थित हो श्रीहरिके गुणानुकथनमें रमण करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि रागानुगा भक्ति अन्य किसीकी अपेक्षा न कर स्वतन्त्ररूपसे प्रवृत्त होती है। जो दूसरेकी अपेक्षा करता है उसे दुर्बल और जो अन्यकी अपेक्षा नहीं करता उसे सबल कहते हैं। वैधी भक्ति विधिकी अपेक्षा करनेके कारण दुर्बल है, किन्तु रागानुगा भक्ति स्वतन्त्रभावसे प्रवृत्त होनेके कारण सबल है—यह भी इससे ध्वनित है। रागानुगा भक्तिके सम्बन्धमें एक संशय उठ सकता है कि इस भक्तिमें रागी भक्तका अनुगत होकर उसकी भावपरिपाटीका अनुगमन क्यों किया जाता है? इसकी विशेष आलोचना न करके केवल श्रीनारायणव्यूहस्तवके निम्न श्लोकके विवेचनसे ही इसकी उपयोगिता एवं आवश्यकताका पता चल जाता है—

पतिपुत्रसुहृद्भ्रातृपितृवन्मित्रवद्धरिम् ।
ये ध्यायन्ति सदोद्युक्तास्तेभ्योऽपीह नमो नमः॥

'जो पति, पुत्र, सुहृद्, भ्राता, पिता एवं मित्रकी तरह उत्कण्ठित चित्तसे श्रीहरिका ध्यान करते हैं उनको भी प्रणाम है।' यहाँ 'पितृवत्' एवं 'मित्रवत्' शब्दमें सादृश्यार्थमें 'वति' प्रत्यय होनेसे श्रीहरिके प्रसिद्ध मित्रादि जनोंके साथ अभेद भावना स्वीकार नहीं की गयी है, किन्तु उनके अनुगत भावको ही माना गया है। अर्थात् यहाँ ऐसी भावनाका निषेध है कि श्रीहरिके भ्राता, पिता, मित्रादि जो शास्त्रमें प्रसिद्ध हैं, अपने भावके अनुसार मैं उन्हींमेंसे अमुक हूँ, किन्तु मैं उनमेंसे अमुकका अनुगत हूँ, इस प्रकारकी भावनाका ही 'वति' प्रत्ययसे निर्देश किया गया है। साथ ही एक बात और भी है, जिस प्रकार 'मैं श्रीकृष्ण या श्रीराम हूँ' ऐसी भावना 'अहंग्रहउपासना' होनेके कारण दोषयुक्त है, उसी प्रकार श्रीभगवान्के नित्य-सिद्ध पार्षदोंके साथ अभेद-भावना भी दोषावह है। श्लोकके 'अपि' शब्दसे भी नित्यसिद्ध भगवत्परिकरसे भक्तोंके भेदका ही निर्देश किया गया है। यहाँपर यह भी उल्लेखनीय है कि 'ध्यायन्ति' इस क्रियासे रुचिप्रधान रागानुगा भक्तिमें 'मन'का प्राधान्य स्वीकार किया गया है। इसलिये उक्त भक्तिके अधिकारी जनोंके कर्तव्यके विषयमें यह कहा गया है—

कृष्णं स्मरन् जनं चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितम्।
तत्तत्कथारतश्चासौ कुर्याद्वासं व्रजे सदा॥

अर्थात् अपने भावके अनुसार श्रीकृष्ण और उनके परिकरका तथा उस कृष्णपरिकरके प्रेम एवं सेवापरिपाटी आदि आचरणका चिन्तन करते हुए इस भक्तको उनके रूप-गुण-लीला-चरित-कथा-कीर्तनादिमें सर्वदा निरत रहकर व्रजमें वास करना चाहिये। इसीका नाम रागानुगा भक्ति है। इसके सम्बन्धादि और अनेकों भेद हैं, किन्तु विस्तार-भयसे यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया जाता।

एक साधककी चाह

हे भगवन्! तू मुझे सुखी मत रखना, क्योंकि सुख मनुष्यके विकासका शत्रु है। दुःख मनुष्यको उत्कर्षकी ओर ले जाता है और सुख पतनकी ओर। सुखमें मनुष्यकी प्रवृत्तियाँ बहिर्मुखी हो जाती हैं और दुःखमें अन्तर्मुखी। सुखमें मनुष्य अपनी सम्पत्तिपर गर्व करता है, दुःखमें अपनी सुकृतियोंपर। सुखमें हम दूसरोंके उत्कर्षसे ईर्ष्या करते हैं, दुःखमें श्रद्धा। सुखमें हमारे विचार ऐश्वर्यकी साधनाकी ओर रहते हैं, दुःखमें शीलकी ओर। सुखके दिन हमारी मस्तीके होते हैं और दुःखके प्रयत्नके। सुखमें हम केवल अपनी सुनते हैं और दुःखमें दूसरोंकी। सुख हमारी दृष्टिपर परदा डाल देता है, दुःख उसे और उज्ज्वल कर देता है। सुखमें हम भविष्यके स्वर्गकी कल्पना करते हैं, दुःखमें हम अपने पापोंका प्रायश्चित्त करते हैं। सुख हमारे वैभवके स्मारक हैं और दुःख हमारी दीनताके। सुख हमें अपने मोह-मन्त्रमें डाल देता है और दुःख हमें मुक्ति-मार्गकी ओर ले जाता है। सुखमें हमारी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, दुःखमें निर्मल। सुख हमें अपने बोझसे दबा देता है, दुःख हमें ऊपर उठनेके लिये हलका बना देता है। सुखसे हमारा हृदय कलुषित हो जाता है, दुःखसे उदार। सुखमें हमें अपने अधिकारोंका स्मरण होता है, दुःखमें अपनी आत्मशक्तिका। सुखमें हमारी इच्छाएँ बलवती हो उठती हैं, दुःखमें हमें वैराग्य होता है। सुख हमारे बन्धनका कारण है, दुःख मोक्षका। सुख हमारे जीवनस्रोतका अवरोधक है और दुःख सहायक।

संकटने ईसाको अमर बनाया, राम-कृष्ण तथा बुद्धको आदर्श बनाया एवं गाँधीको महात्मा बनाया। वैभवने दशाननको मदान्ध किया, कंसको अन्यायी बनाया तथा दुर्योधनको अनाचारी बनाया।

—एक साधक

दो मन

(लेखक—श्रीयुत नारायणप्रसादजी)

(पृथ्वीके अधिपति राजाके और प्रवृत्तियोंसे मुक्त महात्माके मनकी बातचीत)

राजाके मनने महात्माके मनसे अभिमानभरे शब्दोंमें कहा—'तुम्हें सदा दुःखमें ही दिन बिताने पड़े, देखो, मैं कैसा सुखी हूँ! राजाकी धन-दौलत, स्त्री-पुत्र, दास-दासियाँ सभी मेरे अधीन हैं। यहाँतक कि राजाका शरीर भी मेरे अधिकारमें है—जिसे जिस प्रकार चाहता हूँ, नचाता हूँ। तुम मेरी जातिके हो, इसलिये मैं तुम्हारा आवाहन करता हूँ कि तुम भी मेरे राज्यमें आकर वास करो और मेरे ही सदृश सुखी होओ।'

महात्माका मन—'मैं तुम्हारे देखनेमें दुःखी हूँ, पर मेरी दृष्टिमें तुम दुःखी हो।'

राजाके मनने व्यंगसे हँसते हुए कहा—'तुम अपने दुःखको छिपानेके लिये व्यर्थ क्यों चेष्टा करते हो? राजाके महलोंमें रहनेवाला, सारे संसारके पार्थिव पदार्थोंको स्वतन्त्रतापूर्वक भोग करनेवाला मैं—दुःखी हूँ; और घोर जंगलमें टूटी-फूटी झोपड़ीमें दिन काटनेवाले; तुम—सुखी हो?' यह सुनकर महात्माका मन जोरसे हँस पड़ा।'

राजाके मनको साधुके मनका हँसना बहुत बुरा लगा और उसने उत्तेजित होते हुए कहा—

'क्या तुम्हें मेरी बातोंपर विश्वास नहीं होता? तुम हँसे क्यों?'

'तुम्हारी मूर्खतापर! तुम्हारे अधिकारमें सारा बाह्य जगत् है और मेरे अधीन सारा अन्तर्जगत् है।'

'कहाँ? मैं तो देख नहीं पाता।'

'तुम्हें वह दिखायी नहीं पड़ सकता! वहाँके दरवाजे तुम्हारे लिये बन्द हैं।'

'समझ गया, वहाँ तुम्हें भी बन्द ही रहना पड़ता होगा, इसीलिये तुम्हें शायद बाहरी दुनियाके ऐश्वर्योंका अनुभव नहीं है। और जो पराधीन है, जिसपर दूसरेका कड़ा शासन है, उसे स्वतन्त्रताके सुखका अनुभव कहाँ?'

'तुम जानते ही नहीं स्वतन्त्रता किसे कहते हैं? वासना और अहंकारके जटिल बन्धनोंमें जकड़े हुए, निम्न प्रकृतिके प्रवाहमें असहायकी तरह बहते हुए—तुम, अपनेको स्वाधीन मानते हो? सबसे बढ़कर आश्चर्य तो इस बातका है कि तुम परवश हो, पराधीन हो, पर तुम्हें अपनी इस हीन दशाका ही पता नहीं है! जिस दयनीय अवस्थामें पड़े हो उसीमें अपनेको सुखी समझ रहे हो और इसीसे उससे निकलनेकी चेष्टातक नहीं करते। यदि मुझे देखकर तुम्हें तरस आता है तो तुम्हारी अवस्थाको देखकर मुझे सौ गुना तरस आना चाहिये।'

राजाके मनके अभिमानको कुछ ठेस-सी लगी, कुछ देर चुप रहकर फिर वह बोला—

'संसारमें जितने प्रकारके पदार्थ हैं, उन सबका मैं भोक्ता हूँ—उनका उपभोग कर मैं सुखी होता हूँ। जिसे आँखें न हों, वही मुझे दुःखी कह सकता है।'

'तुम एक क्षणके लिये भी स्थिर नहीं रह सकते। जो अशान्त है उसे सुख कहाँ? तुम एक क्षण इस चीजपर तो दूसरे क्षण दूसरी चीजपर सुखकी खोजमें दौड़ा करते हो, पर तुम्हें ऐसी कोई चीज प्राप्त ही नहीं होती, जो तुम्हारे सुखकी तृष्णाको सदाके लिये मिटा सके। जो स्वयं अपूर्ण है, उसके द्वारा पूर्णताकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? इसके सिवा, दुःख तो सदा छायाकी भाँति तुम्हारे पीछे लगा रहता है! पर मैं इस महात्माके हृदयमें सब अभावोंसे शून्य होकर, सदा एकरस आनन्दमें निवास करता हूँ। संसारके सुख-दुःख, शोक-ताप, मान-अपमान मुझे छू नहीं सकते। जबसे मैंने अध्यात्म-रसका आस्वादन किया है और मैं अपनेको स्वाधीन बना सका हूँ, तबसे मेरी प्रवृत्ति सदा आत्माके अनुकूल रहती है और मैं अपने-आपमें मस्त रहता हूँ। आज मैं संसारमें निर्भय—निर्द्वन्द्व हूँ। मृत्यु भी

मेरी निर्भयताको डिगा नहीं सकती।'

'मृत्यु! मृत्युसे भी नहीं डरते?' राजाके मनने आश्चर्यभरे शब्दोंमें कहा—

'हाँ-हाँ, मैं मृत्युसे नहीं डरता। मृत्यु मेरा स्पर्श नहीं कर सकती। मैं अमृतका पुत्र हूँ।'

'मेरा तो मृत्युके नामसे ही भयके मारे सारा शरीर काँप उठता है, मित्र! मैं तुम्हारी स्वजातिका हूँ, क्या मुझे भी बता सकते हो—मृत्युसे किस प्रकार त्राण पाया जा सकता है?'—नम्रतापूर्वक राजाके मनने कहा।

'मित्र! मैं भी तुम्हारी ही तरह सुखरहित संसारमें सुख-भोग खोजता फिरता था, पर जबसे इस महात्माने मुझे बच्चेकी भाँति शनैः-शनैः समझा-बुझाकर बाहरसे मुँह मोड़कर भीतरकी ओर घुसनेका चसका लगाया तबसे मुझे अपनी शक्तिका अनुभव होने लगा और आज मैं पहलेकी अपेक्षा अपनेको हजारों गुना अधिक शान्त, प्रसन्न और शक्तिशाली पा रहा हूँ।'

'तुम्हारी बातें मुझे असम्भव-सी जान पड़ती हैं। एक जगह रुकनेसे तो मेरा दम घुटने लगता है। फिर हृद्‌गुहामें पैठना किस तरह सम्भव है?'

'मित्र! मैं भी पहले तुम्हारी ही तरह निराश और बड़ा हठी था और महात्माके चेष्टा करनेपर भी अपनी पुरानी चाल छोड़ना नहीं चाहता था, पर जबसे मैंने अपने हृद्-रत्नाकरमें गोता लगाना सीखा है, मैं निहाल हो गया हूँ।'

राजाका मन सोचने लगा—'साधुका मन कैसे जीवन और उत्साहसे भरा है और मैं—'

'महात्माके मनने कहा—'क्यों? क्या सोच रहे हो?'

'तुम जो कुछ कह रहे हो, इसपर विश्वास नहीं होता।'

'देखो भाई! हममें प्रत्येकको भगवान्‌ने बड़ी अद्भुत शक्ति दी है, पर हम अपनी चञ्चलताके कारण अपनी शक्ति व्यर्थमें खो देते हैं। जिस प्रकार जलकी भाप खुली छोड़ देनेसे वह कोई कार्य नहीं कर सकती, उसी प्रकार चञ्चल मन कोई कार्य करनेमें समर्थ नहीं हो सकता, परन्तु जैसे वही भाप यदि किसी यन्त्रमें बन्द कर रख दी जाय तो अति आश्चर्यजनक कार्य कर दिखाती है। उसी प्रकार यदि हम एकाग्र होना सीख लें तो हमारी शक्तिको देखकर दूसरे चकित हो जायँगे।'

'तुम्हारी बातें सुननेमें बहुत अच्छी लगती हैं पर मुझसे यह सब नहीं हो सकेगा। मुझमें इतनी शक्ति नहीं है। अच्छा अब मैं जाता हूँ, मेरा दम घुट रहा है।'

'शक्ति नहीं है, ऐसा मत कहो; कहो, इच्छा नहीं है।'

'शक्तिशाली बननेकी इच्छा किसे नहीं होती, पर नित्य नवीन पुष्पोंका पराग छोड़कर संयमका सांकल पहनने जाय कौन?'

शिक्षा

मानहु प्यारे, मोर सिखावन।
बूँदै-बूँद तलाव भरत है, का भादों का सावन॥
तैसहि नाद-बिन्दुको धारण अन्तःसुख सरसावन।
ध्वनि गूँजै जब युगलरन्ध्रसे परसै त्रिकुटी पावन॥
हियकी तीव्र भावना थिर करु पड़ै दूधमें जावन।
'केशी' सुरति न टूटन पावै दिव्य छटा दरसावन॥

—भगवती मञ्जुकेशी देवी

आत्म-सम्बोधन तथा अभ्यास और वैराग्य

(लेखक—पण्डितप्रवर श्रीकाशीनाथशर्मा द्विवेदी, सुधीसुधानिधि)

ऐ जीव! तू मायासे विक्षिप्तचित्त होकर जिन आपात-रमणीय विषयभोगोंमें रम रहा है, उनकी क्या स्थिति है? इसपर भी कभी विचार किया है? अरे! अत्यन्त सरस रसाल-फलके समान मधुर मानकर जिनपर तू लट्टू हो रहा है, वे विषय-समुदाय विकराल कालाग्निका एक अत्यन्त तुच्छ ग्रास हैं, क्षणभरमें ही मिट जानेवाले हैं। परमार्थ-दृष्टिसे इनका अस्तित्व ही नहीं है, ये सभी कल्पना-प्रसूत हैं—मनोराज्यकी विभूतियाँ हैं, बिना हुए ही इनकी प्रतीति हो रही है।

और जरा अपनी ओर तो देख, तू अनन्त है, महान् है, नित्य स्थिर है। तुझमें राग-द्वेष कहाँ? तू तो नित्य शुद्ध-बुद्ध सच्चिदानन्दघन अद्वितीय पूर्ण परब्रह्म है। परस्परविरुद्ध प्रतीत होनेवाले नाना धर्मोंका तू ही एकमात्र अद्भुत निकेतन है। तेरा स्वरूप—तेरी महिमा अनिर्वचनीय है!

फिर भी आज तू रागी बना हुआ है। अनित्य, अशुद्ध, अबुद्ध, आनन्दहीन और अपूर्णके समान तेरे सभी व्यवहार हो रहे हैं। तुझे इनके फलस्वरूप दुःख-सुखका सदा शिकार होना पड़ रहा है। यह आत्मविस्मृति! यह प्रवञ्चना! यह सत्यका अपलाप क्यों? अरे! इस व्यामोहकी नींदमें तू कबतक सोया पड़ा रहेगा? उठ जाग, महात्माओंकी शरणमें जाकर औपनिषद् ज्ञानके द्वारा इस जीवत्वाभिमानको त्याग दे और अपने सर्वात्मभावको पहचान। क्या तुझे भगवती श्रुतिकी यह टेर नहीं सुनायी देती?—

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।'

इस समय तू मायाके चंगुलमें फँसकर अपने स्वरूपसे भ्रष्ट हो चुका है, अपने राज्यसे दूर निकल आया है; अब उस खोये हुए स्वराज्यको—भूले हुए स्वधामको प्राप्त करनेके लिये तुझे बड़े कठिन मार्गसे गुजरना है, सत्यकी खोजके लिये दुर्गम पथपर पाँव बढ़ाना है, तलवारकी तीखी धारपर चलना है। श्रुति भी कहती है—

'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।'

किन्तु भयभीत होनेका कोई कारण नहीं, नासमझोंके ही लिये सारी कठिनाइयाँ हैं, समझदारोंके लिये सब कुछ सरल हो जाता है, सारा मुश्किल हल हो जाता है। पहले अपना साध्य और फिर उसका साधन समझ लेना आवश्यक है। हम सबका चरम लक्ष्य है परमानन्दमय आत्मतत्त्वका बोध, जो अपना सहज स्वरूप है। पर यह अनादि अविद्यासे आवृत है। आवश्यकता है, इस अविद्याको निवृत्त करनेकी। इसका सरल साधन है विवेक और तितिक्षा। इन्द्रिय और विषयोंके सम्बन्ध ही शीत-उष्ण (अनुकूल-प्रतिकूल) रूपसे प्रतीत होकर सुख-दुःखके कारण बनते हैं। मात्रास्पर्शोंके वेगको सहना होगा। अनुकूल विषयकी प्राप्ति होनेपर लोग आनन्दसे फूले नहीं समाते और प्रतिकूल विषयोंसे सम्पर्क होनेपर बड़ा उद्वेग होता है। ये दोनों ही अवस्थाएँ भयानक बन्धन हैं। इन्द्रियविषयसम्बन्धजन्य आनन्द और उद्वेग दोनों ही विकार हैं। दोनोंको ही समान भावसे देखना और सहना होगा। यह तितिक्षा हठसे नहीं, विवेकसे करनी होगी। ये मात्रास्पर्श (इन्द्रिय-विषय-सम्बन्ध) सदा रहनेवाले नहीं, उत्पत्ति विनाशशाली हैं। जब ये स्वयं स्थिर नहीं, तो इनसे उत्पन्न सुख-दुःखमें स्थिरता कैसे होगी? और अस्थिर सुखसे राग या अस्थिर दुःखसे द्वेष ही क्यों होगा? अतः सुख-दुःखमें अनुकूल-प्रतिकूल भावनाका त्याग कर देना चाहिये। धीरे-धीरे ऐसा अभ्यास हो जानेपर दुःख-सुख नामकी कोई वस्तु नहीं रह जायगी। दोनोंकी प्राप्तिमें मनकी समान स्थिति होगी। जिसमें यह भाव, यह धीरता हो जाय वह पुरुष जीवन्मुक्ति—अमृतत्वका अधिकारी बन जाता है—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

यहाँ 'अनित्याः' पदका अर्थ योगसिद्धान्तके अनुसार परिणामादि दुःखोंको देनेवाला समझना चाहिये और वेदान्तदर्शनके अनुसार 'अनित्याः' का अर्थ 'असन्तः' है। तात्पर्य यह कि इन्द्रिय, विषय एवं उनके सम्बन्धकी वास्तविक सत्ता ही नहीं है, ये न तो आदिमें थे और न अन्तमें रहेंगे, केवल बीचमें सत्‌की भाँति प्रतीत हो रहे हैं। यह प्रतीति स्वप्नोपलब्ध पदार्थोंकी भाँति सर्वथा मिथ्या है। जिस वस्तुका भूत और भविष्यमें अभाव देखा जाय उसका वर्तमानमें भी अभाव ही सिद्ध होता है—

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः॥

मिथ्यात्वका निश्चय हो जानेपर उसके सम्पर्कसे सुख-दुःख होनेकी सम्भावना ही नहीं रहती। मिथ्या वस्तुकी प्राप्तिके लिये कौन प्रयत्न करेगा? उसका तो त्याग ही श्रेयस्कर है।

आत्मा सत्य है, उसका बोध होनेपर ही बन्धन अथवा दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। वेदान्त-दर्शनके अनुसार त्रिकालाबाधित परमार्थ सद्वस्तु आत्मस्वरूपमें सहज भावसे स्थित रहना ही मुक्ति है। यदि आत्माकी एकता-अनेकताके विरोधको हटा दें तो मुक्तिके विषयमें सांख्य और योगका भी यही सिद्धान्त है।

'कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेः।'

जगत्में प्रतीत होनेवाले सारे व्यवहार कल्पित और मिथ्या हैं। एकमात्र आत्मा ही परमार्थ सत्य है। उसके सिवा और कोई वस्तु ही नहीं, फिर किसका जन्म और किसका मरण? कौन बद्ध है और कौन साधक? तथा कौन मुक्त होना चाहता है और कौन मुक्त है? आत्मा नित्य मुक्त है, वह कभी बन्धनमें आता ही नहीं। अतः उत्पत्ति, निरोध, बन्धन, साधना, मुमुक्षा और मुक्ति—कुछ भी परमार्थ नहीं है—ऐसा बोध ही परमार्थ सत्य है—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

जिस प्रकार रज्जुको साँप समझकर कोई मनुष्य उससे दूर भागने लगे, उसी प्रकार तू मायाकी आवरण-शक्तिसे आवृत होनेके कारण अपने स्वरूपको ही भूल गया है और उस मायाकी ही विक्षेप-शक्तिसे 'स्व' (आत्मा) को ही चित्त, इन्द्रिय और विषयादिके रूपमें ग्रहणकर भ्रान्त-सा भटकता और निरन्तर दुःख-पर-दुःख उठाता है। इस भूलको पहचानकर छोड़ दे, समत्वभाव धारण कर; इससे अन्तःकरणके राग-द्वेषादि मल धुल जायँगे, फिर विशुद्ध अन्तःकरणरूपी निरावृत आकाशमें बोधमय विवस्वान्‌का आलोक उद्भासित हो उठेगा। उस समय यह आत्मा स्वयं ही तेरा वरण करेगा, तेरी सारी अनात्मभावनाएँ इस आत्मतत्त्वमें लीन हो जायँगी। आत्माद्वारा वरणका यह सौभाग्य केवल बड़े-बड़े व्याख्यान देने, बुद्धिके करिश्मे दिखाने और अधिक शास्त्र सुन लेनेमात्रसे ही नहीं प्राप्त होता।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳस्वाम्॥

इस प्रकार आत्मलाभ होनेपर ही भौतिक जगत्के दुःखोंसे छुटकारा पाना सम्भव है। इन दुःखोंके साथ ही यहाँके सुखोंसे भी हाथ धोना पड़ेगा, पर उनके लिये चिन्तित होनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि वैषयिक सुखोंका परिणाम दुःख ही है, अतः वे भी दुःखरूप ही हैं। जिसे हम वैषयिक सुख मानते हैं, वह है विषयोंकी अनुकूलताका ज्ञान। परन्तु जो विषय इस समय अनुकूल प्रतीत होते हैं, वे ही कालान्तरमें प्रतिकूल जान पड़ते हैं और दुःखके कारण बनते हैं, अतः उनसे सुखकी आशा व्यर्थ है।

सुखानुभवकालमें सुखके प्रति राग अर्थात् सुखकी स्थिरताका स्वाभाविक सङ्कल्प धर्माधर्मरूपमें परिणत हो जन्म-मरणादि दुःखपरम्पराका कारण होता है। इसी प्रकार सुखनाश और सुखविरोधी दुःखके प्रति जो विद्वेष होता है, वह और उक्त राग-द्वेषका कारणभूत मोह भी सुखानुभव कालमें विद्यमान ही रहते हैं, जो स्वयं दुःखरूप होते हुए सङ्कल्पद्वारा धर्माधर्मरूपमें परिणत हो जन्मादि दुःखके कारण होते हैं। सुखकी प्राप्ति होनेपर तद्विषयिणी इच्छा बढ़ती ही जाती है और सुखके नष्ट हो जानेपर तथा नूतन सुख प्राप्त न होनेपर दुःखात्मिका तमोवृत्ति रहती ही है। सुख प्राप्त होनेपर भी उसके विनाशके भयसे उत्पन्न सन्ताप बना ही रहता है, जो दुःखका कारण या स्वयं दुःखरूप ही है। ये सुख-दुःखानुभव संस्कारका, और वे संस्कार पुनः सुख-दुःखका आरम्भ कराते हैं। इस अविच्छिन्न परम्पराके कारण कभी संसारका उच्छेद नहीं हो पाता। बुद्धि या चित्तत्त्व अपने उपादानकारण प्रकृतिकी ही भाँति त्रिगुणात्मक (सत्त्वरजस्तमोमय) ही है; अतः सुखानुभवकालमें सत्त्ववृत्तिकी तरह दुःखात्मिका रजोगुण एवं तमोगुणकी वृत्तियाँ अनिवार्यरूपसे रहती ही हैं। ऐसी दशामें इस प्राकृत जगत्के भीतर दुःखरहित सुखकी सम्भावना ही कहाँ है? सब कुछ दुःख ही तो है!

'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।'

अतः इस अपूर्ण दुःखमय एवं मिथ्या सुखकी कामनाको त्याग दे और अपने स्वरूपभूत अखण्डैकरस

ब्रह्मानन्दमें निमग्न रह। तू अपनेको छोड़कर और कहाँ नित्य सुखकी खोज कर रहा है? सत्य, ज्ञान और आनन्द तो तेरा स्वरूप ही है—

'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।'

इन तुच्छ क्षणिक विषयोंमें सुख कहाँ है? अल्पमें सुख नहीं होता, सुखकी उपलब्धि तो उस परम महान् अनन्त सद्वस्तुमें ही होती है—

'यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति।'

निर्वातनिष्कम्प इव प्रदीप:—वायुशून्य स्थानमें अकम्पित दीपशिखाकी भाँति तू ब्रह्मानन्दमें अविचल भावसे स्थित रह। यह आनन्द आस्वादनका विषय नहीं है। समाधिके आरम्भकालमें जिस प्रकार सुखका अनुभव—रसका आस्वादन होता है, बोध होनेपर वैसा नहीं होता। यदि उस समय भी रसका अनुभव होता रहे तो अनुभवनीय विषय, अनुभवक्रिया और अनुभवकर्ताका भेद होनेसे आनन्दाद्वैतस्थिति कहाँ रही? आत्मबोधमें तो आनन्द और अनानन्द—दोनों ही नहीं हैं। बोधकालमें समस्त भावों और अभावोंके एकमात्र अधिष्ठान अपने आत्माके सिवा दूसरी कोई सद्वस्तु रहती ही नहीं। अत: परमार्थबोधमें बोध या अनुभवकी वृत्ति नहीं रहती, ज्ञानी वास्तवमें बोधरूप ही होता है। इसलिये जो ऐसा मानते हैं कि मुझे ब्रह्मानन्दका ज्ञान या अनुभव हुआ या हो रहा है, वे वास्तवमें तत्त्वबोधसे दूर हैं—

नास्वादयेद्रसं तत्र नि:सङ्ग: प्रज्ञया भवेत्।
यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद स:।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।

अहङ्कारसंवलित ज्ञान इन्द्रियजन्य होते हैं, नित्य-विज्ञानानन्दस्वरूप ब्रह्म इन्द्रियोंका—प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय नहीं है—

'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीम:।'

अनुमानादि अन्य प्रमाण भी प्रत्यक्षमूलक ही होते हैं, अत: अपौरुषेय शब्दप्रमाण (वेद) के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रमाणसे ब्रह्म संवेद्य नहीं है। वैदिक श्रुतियाँ भी जब **'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** इत्यादि प्रकारसे ब्रह्मका स्वरूप-निरूपण करते समय शब्दोंद्वारा सम्यग् वर्णन नहीं कर पातीं तो थककर निषेधात्मक वाक्योंसे अनात्मवस्तुओंका बाध कर तटस्थ लक्षणद्वारा ब्रह्मकी ओर संकेतमात्र करके रह जाती हैं। अत: सर्वविध प्रमाणोंसे अतीत स्वानुभवैकगम्य सच्चिदानन्दघन ब्रह्म 'स्व' का स्वयं ही प्रमाण है।

जिसके लिये ही सभी सांसारिक सामग्रियोंकी आवश्यकता होती है और जिसकी आवश्यकता किसी अन्यके लिये नहीं होती, उसे ही तो सुख कहते हैं। अपने ही लिये तो तुझे सांसारिक वस्तुओंकी आवश्यकता होती है, फिर सच्चिदानन्दरूप तुझमें और सुखमें भेद ही क्या है?

'न वै सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।'

जगत्में जो अनन्त वस्तुएँ दीख पड़ती हैं, इन सबका संग्रह किसी एकके लिये असम्भव है, तत्तद्वस्तुरूपसे ये असंख्य हैं, मिथ्या हैं और अपनेसे पृथक् हैं; पर आत्मरूपसे सभी एक हैं, सत् हैं और अपना ही स्वरूप हैं, इसलिये तत्तद्वस्तुरूपसे इन सबका त्याग कर आत्माभेदरूपसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डका भी संग्रह हो जाता है—यही है अद्वैतवेदान्तकी विशेष्यता।

भगवत्प्राप्ति या आत्मबोधके सभी तान्त्रिक-वैदिकादि साधनोंमें योग अनुस्यूत है। योगका वास्तविक अर्थ है, सम्मेलन (क्योंकि योग शब्द 'युजिर् योगे' धातुसे बना है)। योगियोंके मतसे पुरुषार्थरहित प्रकृतिके संयोगसे आत्माकी स्वरूपप्रतिष्ठा ही योग है। वेदान्त-सिद्धान्तानुसार मायासे आवृत होनेके कारण भेद-भावनासे युक्त जो जीवात्मा है, उसकी उस मिथ्या आवरणके नाशसे जो अद्वैतरूपसे स्थिति होती है, उसे योग कहते हैं। किन्तु यह योग साध्य है, साधन नहीं; इस कारण **'युज्यते अनेन'** इस करणव्युत्पत्तिके द्वारा स्वरूपप्रतिष्ठाके साधनभूत चित्तवृत्तियोंके निरोधको ही योग कहते हैं— **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:'**।

यह योग पूर्वोक्त योगका साधन होनेपर भी अन्य साधनोंद्वारा स्वयं भी साध्य है, इसका साधन अभ्यास और वैराग्यसे किया जाता है। जैसे नदीका प्रवाह कभी सागरकी ओर तो कभी विपरीत दिशामें भी प्रवाहित होता है, उसी भाँति चित्तकी वृत्तियाँ भी कभी विषयाभिमुख और कभी आत्माभिमुख प्रवाहित होती हैं। यह चित्तका स्वभाव है। जब विषयोंकी अनित्यता असारता आदिकी विवेचनासे मनमें वैराग्य उत्पन्न होता है और उससे विषयाभिमुख वृत्तियाँ क्रमशः क्षीण होकर

आत्मसाक्षात्कारके अभ्याससे आत्माभिमुख प्रवाहित होने लगती हैं, उस समय चित्तमें जो एकाग्रवृत्तिधारारूप स्थिति उत्पन्न होती है, उसे हम 'चित्तवृत्तिनिरोध' कहते हैं। इस प्रकार वैराग्य और अभ्यास—दोनोंके ही अनुशीलनसे 'चित्तवृत्तिनिरोध' रूप योगका साधन होता है—

'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'

उपर्युक्त स्थितिको प्राप्त करनेके लिये ध्यान अथवा सबीज समाधिपर्यन्त श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा एवं यम-नियमादि साधनोंका निरन्तर अनुष्ठान ही अभ्यास है। सबीज समाधिमें अन्ततः चित्तकी आत्माभिमुख वृत्तियाँ होती ही हैं। सबीज समाधिके असकृत् अनुष्ठानसे जब सभी आलम्बनों अथवा आधारोंका परित्याग कर देते हैं तब निरालम्बनीभूत वृत्तियाँ चित्तमें ही विलीन हो जाती हैं। उस समय चित्तका भी अभाव-सा ही हो जाता है। यही है वृत्तियोंका परिपूर्ण निरोध, जिसे 'असम्प्रज्ञात समाधि' कहते हैं तथा जो कैवल्यका सबसे अन्तरङ्ग साधन है।

'तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य।'

सुदीर्घ कालतक निरन्तर तप, ब्रह्मचर्य, विद्या, श्रद्धा एवं सत्कारपूर्वक अनुशीलित होनेपर यह अभ्यास स्वरूपस्थिति सम्पादन करनेमें समर्थ होता है, अन्यथा अनादि कालसे जो विषयाभिमुख वृत्ति-प्रवाहरूप व्युत्थानके जनक विरोधी संस्कार हैं, उनसे बाधित होनेके कारण असमर्थ ही रहता है।

इस अभ्यासका ही पूर्व अङ्ग है वैराग्य, जो पर-अपर भेदसे दो प्रकारका होता है। यहाँ वैराग्यका अर्थ रागाभावमात्र नहीं है, क्योंकि रोगादिके कारण अरुचि हो जानेसे जो भोजनमें रागका अभाव होता है, उससे चित्तवृत्तियोंका निरोध नहीं होता। केवल विषय-द्रोष-दर्शनसे उत्पन्न रागाभाव भी वैराग्य नहीं है; क्योंकि विषयोंके दोष देखनेके पश्चात् भी यदि विषयोंका सन्निधान प्राप्त होता है, तो उससे भी चित्तमें क्षोभ होता ही है। इसीसे लोग कहते हैं कि सौभरि आदिका योग भी अपरिपक्व ही था, पर यह धारणा मान्य नहीं है, जैसा कि इस लेखके उपसंहारमें स्पष्ट हो जायगा।

तो फिर वास्तविक वैराग्य क्या है? यह बताया जाता है। विषय दो प्रकारके हैं—दृष्ट और आनुश्रविक। स्त्री, पुत्र, धन-धान्य, ऐश्वर्य आदि इहलौकिक भोग दृष्ट विषय हैं। अनुश्रव कहते हैं वेदको, उसमें प्रतिपादित भोग आनुश्रविक हैं। इस व्युत्पत्तिके अनुसार स्वर्गीय भोग, वैदेह्य अर्थात् स्थूलशरीरसे रहित होनेपर भी लिङ्गशरीरमात्रसे सङ्कल्पोपनत विषयोंका उपभोग करनेवाला देवत्व आदि आनुश्रविक विषय हैं। इन सभी विषयोंके प्रति तृष्णा-रहित चित्तका वशीकार ही अपर वैराग्य है। इस अवस्थामें सभी विषयोंके प्रति अलंबुद्धि हो जाती है, अर्थात् उनकी तनिक भी चाह नहीं रहती। मन विषयोंकी हेयोपादेयतासे शून्य हो जाता है, उसमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव होता है। यद्यपि वैराग्यका अर्थ रागाभाव ही है, तथापि योग और वेदान्तके सिद्धान्तानुसार अभाव अपने अधिष्ठानके अवस्था-विशेषके अतिरिक्त पदार्थान्तर नहीं होता; अतः यहाँ भी यह रागाभाव चित्तकी अलबुद्ध्यात्मक सत्त्वोद्रेकरूप अवस्थाविशेष ही है।

इस अपर वैराग्यकी चार भूमिकाएँ होती हैं—यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा और वशीकारसंज्ञा। विषयोंके सन्निधानमें भी दोषोंका कोई आवरक न होनेसे प्रथम विषयगत दोषोंका ज्ञान होता है, तदनन्तर दूषित विषयोंके प्रति अलंबुद्धि होती है, जिससे हम विषयोंसे इन्द्रियोंकी विमुखताका प्रयत्न करते हैं, इसी प्रयत्नकी प्रयोजिका अलंबुद्धिको 'यतमानसंज्ञा' वैराग्य कहते हैं। जब कुछ इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त हो जाती है तब 'अमुक इन्द्रिय तो वशमें हो गयी, अब अमुकको वशमें करना चाहिये' इस प्रकार जिताजित इन्द्रियोंके पृथक्करणकी योग्यता उत्पन्न होती है, जिससे हम अजित इन्द्रियोंको जीतनेका प्रयास करते हैं। इस पृथक्करण (व्यतिरेक) की योग्यताके समकालिक अलंबुद्धिको 'व्यतिरेकसंज्ञा' वैराग्य कहते हैं। जब सम्पूर्ण इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय रूपादिके प्रति रागादिशून्य हो जाती हैं और केवल मनोगत राग-द्वेषादि अवशिष्ट रहते हैं, तब मनमें छिपे हुए इन रागादिकोंका परिज्ञान करके इन्हें नष्ट करनेका प्रयत्न किया जाता है। इसी मनोगत रागादिज्ञानके समकालिक अलंबुद्धिको 'एकेन्द्रियसंज्ञा' वैराग्य कहते हैं। इसके बाद निरन्तर प्रयत्नसे जब मनोगत राग-द्वेषादि सर्वथा क्षीण हो जाते हैं, तब चित्त समस्त विषयोंके प्रति हेयोपादेय-भावनासे शून्य एवं विशुद्ध रूपसे अवस्थित होता है, इसी स्थितिका नाम है 'वशीकारसंज्ञा' वैराग्य। उपर्युक्त अभिप्रायका ही प्रतिपादन महर्षि पतञ्जलिके निम्नाङ्कित सूत्रसे हुआ है—

'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।'

अपर वैराग्य-कालमें अविद्याकी निवृत्ति नहीं हुई रहती है। अपर वैराग्यद्वारा धीरे-धीरे चित्त पूर्णतया शुद्ध होनेपर जब अविद्या भी निवृत्त हो जाती है और आत्मसाक्षात्कारसे नित्यतृप्तिका बोध होता है, उस समय स्वेतर समस्त प्रतीयमान पदार्थोंके प्रति सहज उपेक्षा हो जाती है। यह उपेक्षा ही परवैराग्य है। चित्तसत्त्व स्वतः विशुद्धज्ञानस्वभाव होकर भी रजोगुण-तमोगुणके सम्पर्कसे मलिनताका अनुभव करता है। पूर्वोक्त वैराग्यद्वारा तमोगुण और रजोगुणकी वृत्तियोंके क्षीण हो जानेपर वह निर्विषय एवं सुप्रसन्न ज्ञानरूपसे अवस्थित होता है। उस समय यह अनुभव होता है कि प्राप्तव्य कैवल्य प्राप्त हो गया; क्योंकि उसके प्रतिबन्धक अविद्यादि पाँच क्लेश निवृत्त हो चुके हैं। इस प्रकार आत्मा और प्रकृतिके भेद, मायाका मिथ्यात्व एवं आत्माकी अद्वितीयता आदि ज्ञानके प्रति भी अलंबुद्धि हो जाना ही परवैराग्यकी पूर्णता है। यह धर्ममेघसमाधिका ही एक भेद है और इसकी प्राप्तिसे जीवन्मुक्त-अवस्था प्राप्त होती है—

'जीवन्नेव विद्वान् मुक्तो भवति।'

वेदान्तके साधनचतुष्टयोंमें भी शम-दमादिमें योगके यम-नियमादिका, नित्यानित्य वस्तु-विवेकमें विवेकख्यातिका, इहामुत्रफलभोगविरागमें वैराग्यका और मुमुक्षुत्वमें श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा, अभ्यास एवं चित्तवृत्तिनिरोधादिका अन्तर्भाव समझना चाहिये। अथवा वेदान्तके सभी साधनोंमें योगके सभी साधनोंका अन्तर्भाव है—इस विषयमें फिर कभी प्रकाश डाला जा सकता है।

इसलिये ऐ जीव! उपर्युक्त बातोंका विचार कर तू भी इन समस्त अनित्य भोगोंसे पूर्ण विरक्त हो जा। और—

'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।'

इस श्रुति-अनुशासनके अनुसार यह समझ कर कि ये श्रवण, मनन आदि हमारे अभीष्टके साधन हैं, शास्त्रों एवं गुरुजनोंके मुखसे मायाके मिथ्यात्व तथा एकमेवाद्वितीय आत्माकी सच्चिदानन्दरूपताका श्रवण कर; फिर सुने हुएका तर्कोंसे मनन और निदिध्यासनके द्वारा उसका पूर्ण निश्चय कर। इस अभ्याससे जब चित्तवृत्तियाँ आत्माकार हो जायँगी उस समय समस्त ज्ञान-अज्ञानके प्रति अलंबुद्धि उत्पन्न होगी; और उसी समय 'द्रष्टव्यः' इस शास्त्रविधिकी पूर्णता हो जायगी। फिर तो तू जीते-जी मृत्युके शासनसे बाहर—'जीवन्मुक्त' हो जायगा।

इस जगत्में जीवन्मुक्त महात्माओंके शरीरोंसे नाना प्रकारके व्यवहार होते दीखते हैं, अथवा जो उनकी विभिन्न प्रकारकी स्थितियाँ दीख पड़ती हैं, ये सब लोक-दृष्टिमें ही हैं, इनसे उस महान् आत्माका कोई भी सम्पर्क नहीं रहता। जीवन्मुक्त महात्माओंमेंसे कुछ शुकादिकी तरह सर्वसङ्गपरित्यागी होते हैं। कुछ महात्मा—'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' का अनुशीलन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण आदिकी भाँति लीलार्थ कर्म करते हैं। कुछ संत सौभरि मुनिकी भाँति भोगसे प्रारब्धको क्षीण करनेमें लगे होते हैं। कुछ लोग '**व्यवहारे भाट्टनयः**' के अनुसार व्यवहारपरायण तथा कुछ महात्मा महर्षि वात्स्यायनके '**परस्परानुरोधेन त्रिवर्गं सेवेत**' इस वचनके अनुसार त्रिवर्गसेवी देखे जाते हैं। तथा कुछ ऐसे भी हैं जो महाकवि कालिदासके '**असक्तः सुखमन्वभूत्**' इस कथनानुसार अनासक्तभावसे सुखका अनुभव करते रहते हैं। ये सभी कर्म और अवस्थाएँ उन महापुरुषोंके परमार्थस्वरूपको छू भी नहीं सकतीं। कोई भी कामना और राग न होनेके कारण पापकर्मोंमें तो उनकी कभी प्रवृत्ति होती ही नहीं। यदि परप्रेरणासे विवश होकर उनके शरीरद्वारा कोई पापकर्म बन गया तो उनपर उसका कोई संस्कार नहीं पड़ता—

'तद्यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते।'

अन्ततः प्रारब्धभोगी शरीरका परित्याग करके वे परममुक्त हो—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

—के अनुसार पूर्णतम स्थितिको प्राप्त करते हैं।

परब्रह्मको कौन प्राप्त होता है ?

परित्यजति यो दुःखं सुखं वाप्युभयं नरः। अभ्येति ब्रह्म सोऽत्यन्तं न तं शोचन्ति पण्डिताः॥

जो मनुष्य सुख और दुःख इन दोनोंको त्याग देता है, वह परब्रह्मको प्राप्त होता है और ज्ञानीपुरुष उसको शोचनीय नहीं मानते। (महा० शान्ति० ३३०। ७)

कृष्ण-कृष्णके उच्चारणसे कृष्णप्राप्ति

'कहीं इस तरह भी जप किया जाता है? धीर-गम्भीर भावसे अर्थका अनुसन्धान करते हुए अन्तस्तलसे एक-एक अक्षरका उच्चारण करो। उसके साथ एक हो जाओ। क्या तुम बेगार भरनेके लिये संख्या पूरी करते हो?' एक सुरसे वे इतना बोल गये और मेरा सिर पकड़कर हिला दिया। मैंने चौंककर देखा तो एक लंबे तगड़े गौर वर्णके तेजस्वी महात्मा मेरी आँखोंके सामने खड़े हैं। मैंने माला वहीं छोड़ दी, सिरसे उनके चरणोंका स्पर्श किया और जिस चौकीपर मैं बैठकर जप कर रहा था, उसपर उन्हें बैठा दिया, और मैं स्वयं उनके चरणोंके पास जमीनपर ही बैठ गया।

ये महात्मा मेरे अपरिचित नहीं थे। मैंने इन्हें तब देखा था, जब मेरी अवस्था आठ वर्षकी भी नहीं रही होगी। ये कभी-कभी मेरे बाबाके पास आया करते थे। इनके दिये हुए नारियलके प्रसाद मुझे भूले नहीं थे। उनके भरे हुए मुखमण्डलपर एक ऐसी आकर्षक ज्योति जगमगाती रहती थी, जिसे एक बार देख लेनेपर दिलमें गहरी छाप पड़ जाती थी। गठा हुआ नैपाली शरीर, लोगोंसे कम मिलना-जुलना और अपनी कुटीमें रहकर एकान्त साधन करना—यही उनके जीवनकी विशेषताएँ थीं। वे चौमासेमें प्राय: नैपाल चले जाते थे और बाकी महीनोंमें मेरे गाँवसे दो मीलकी दूरीपर एक विशाल वटवृक्षकी छायामें बनी हुई छोटी-सी कुटियामें रहते थे। मैं न जाने कितनी बार इनसे मिला था। परन्तु आजकी तरह नहीं। आज तो चार बजे रातको जब मैं अपनी जपसंख्या पूरी करनेके लिये जल्दी-जल्दी माला फेर रहा था, तब अचानक इनके दर्शन हुए और उपर्युक्त बात कहकर ये उस छोटी-सी चौकीपर बैठ गये। वे मौन थे, उनके चरणोंकी ओर देखता हुआ मैं भी मौन था। इस प्रकार पंद्रह-बीस मिनट तो बीत ही गये होंगे।

उन्होंने अपना मौन भङ्ग करते हुए कहा—'मुझे इस समय यहाँ देखकर आश्चर्यचकित होनेकी कोई बात नहीं। मैंने सुना कि अब तुम उपनिषदादि पढ़कर लौट आये हो और परमात्माकी ओर तुम्हारी कुछ प्रवृत्ति है, तो मनमें आया-चलें, जरा देख आवें क्या हाल-चाल है। इतना सबेरे आनेका कारण यह था कि मनुष्योंकी प्रवृत्ति जाननेके लिये यही समय उपयुक्त है। किसी मनुष्यकी आन्तरिक प्रवृत्ति जाननी हो तो यह देखना चाहिये कि वह क्या करता हुआ सोता है और क्या करता हुआ जागता है। ये दोनों ही अवस्थाएँ मनुष्यको उसकी रुचि और प्रवृत्तिके समीप रखती हैं। तुम्हें जप करते देखकर मुझे बड़ा सुख हुआ। तुम्हारी शुभेच्छा और तत्परता प्रशंसनीय हैं, परन्तु इसमें कुछ संशोधनकी आवश्यकता है।' मैंने जानना चाहा कि क्या-क्या संशोधन होने चाहिये, परन्तु उन्होंने उस समय मेरे प्रश्नको टालते हुए कहा—'चलो, अभी तो गङ्गाजी चलें। शुद्ध प्रभाती वायुके सेवनसे शरीरमें एक नवीन स्फूर्तिका प्रवाह होने लगता है, मन प्रसन्न हो जाता है और शारीरिक व्यायाम भी हो जाता है। इसलिये चलो गङ्गाजी; गङ्गास्नान तो होगा ही, प्रात:कालीन भ्रमण भी हो जायगा। वे आगे-आगे चले और मैंने उनका अनुसरण किया।'

गङ्गाजीके प्रति मेरा सहज आकर्षण है। गङ्गाजीका पुलिन, उनके तटके वृक्ष, उनकी अठखेलियाँ करती हुई तरङ्गें, मेरे मनको बरबस हर लेती हैं। मेरे मनमें एक नहीं, अनेक बार ऐसी इच्छा होती है कि मैं गङ्गातटपर रहूँ, केवल गङ्गाजल पीऊँ और स्वर्ण-सी चमकती हुई नवनीत-सी कोमल बालुकाओंपर मनभर लोटूँ, लोटता ही रहूँ। जब मैं परमहंसजीके पीछे-पीछे चला तब मेरे मनमें केवल यही कल्पना थी कि आज परमहंसजीके साथ गङ्गाजीमें खूब स्नान करूँगा, उनसे जप और ध्यानकी विधि सीखूँगा। रास्तेमें न वे बोले न मैं। दोनों मौन रहे, परन्तु गङ्गाजीकी दूरी ही कितनी थी? बस, एक मीलसे कुछ अधिक। बात-की-बातमें हम वहाँ पहुँच गये। शौच, स्नान, सन्ध्या, तर्पण आदि नित्यकृत्योंसे निवृत्त होकर वहीं मनोहर वटवृक्षके नीचे हमलोग बैठ गये। परमहंसजीका रुख देखकर मैंने उनसे पूछा—'भगवन्, जपमें यदि संख्यापूर्त्तिका ध्यान न रखें तो कैसे काम चले? क्या जल्दी-से-जल्दी अधिक-से-अधिक नामजप कर लें, यह उत्तम नहीं है? उन्होंने कहा—'उत्तम क्यों नहीं है? भगवान्‌का नाम चाहे जैसे लिया जाय, उत्तम ही है। परन्तु नाम-जपके साथ यदि भावका संयोग हो, प्राणोंका संयोग हो और रस लेते हुए नाम-जप किया जाय तो इसका फल पग-पगपर मिलता जाता है। एक-एक नामका उच्चारण अपरिमित आनन्दका दान करनेवाला होता है। केवल नामोच्चारण सफल तो होता है, परन्तु कुछ विलम्बसे।'

'देखो, तुम्हें मैं स्पष्ट बतलाता हूँ।' इस प्रकार परमहंसजी बोलने लगे—'साधारणत: नाम-जप वाक्-इन्द्रियका काम है। वाक्-इन्द्रिय एक कर्मेन्द्रिय है, इसका सञ्चालन प्राणशक्तिके द्वारा होता है। वाक्-इन्द्रियसे जप करनेका अर्थ है प्राणोंके साथ उसको एक कर देना। यदि जप स्वरसे होता है, जिह्वाकी एक नियमित गति रहती है, तो प्राणोंकी गति भी नियमित रूप धारण कर लेती है। बेसुरे ढंगसे एक साँसमें पाँच-सात बार राम-राम कह जानेकी अपेक्षा एक बार स्वरसे कहना उत्तम है। गम्भीरताके साथ 'रा·····म, रा······म' इस प्रकार जप करनेमें प्राणायामकी अलग आवश्यकता नहीं होती। क्रियाशक्तिपर नियन्त्रण होनेके कारण आसन स्वयं सिद्ध हो जाता है। यहाँतक तो स्थूल क्रियाकी बात हुई। जप केवल कर्मेन्द्रियसे ही नहीं होता। और इन्द्रियोंकी अपेक्षा वाक्-इन्द्रियकी एक विशेषता है; वह यह है कि वाक्-इन्द्रियके साथ एक ज्ञान-इन्द्रिय, जिसको रसना कहते हैं, रहती है। अधिकांश तो वाक्-इन्द्रियसे ही जप करते हैं, उसमें रसनेन्द्रियका उपयोग नहीं करते। उपयोग करनेकी तो बात ही क्या, उसका स्वरूप ही नहीं जानते। रसनाका काम है रस लेना। वाक्-इन्द्रियसे नामका उच्चारण हो और रसना उसका रस ले, प्रत्येक नामकी मधुरताका आस्वादन करे—यह परिणाममें ही नहीं, वर्तमानमें भी सुखद है। इस प्रकार रसकी धारणा करनेसे प्रत्याहारकी अलग आवश्यकता नहीं होती, ज्ञानेन्द्रिय और मनका एकत्व हो जाता है। नियमित गतिसे वाक्-इन्द्रिय प्राणमें लय हो जाती है और रस लेनेसे ज्ञानेन्द्रिय मनमें लय हो जाती है। इस समय यदि मन्त्रार्थका चिन्तन रहा, तो यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस चिन्तनमें प्राण और मन दोनों एक हो जायँगे। प्राण और मनका एकत्व ही सुषुम्णाका सञ्चार है और यही पहले ध्यानकी एवं पीछे समाधिकी अवस्था है। कहनेका तात्पर्य यह है कि यदि जपमें तीन बातें रहें—मन्त्रका उच्चारण गम्भीरतापूर्वक नियमित गतिसे हो, मन्त्रकी मधुरताका आस्वादन हो और मन्त्रके अर्थका चिन्तन हो, तो किसी भी हठयोग या लययोगकी आवश्यकता नहीं है, केवल जपसे ही पूर्णता प्राप्त हो जाती है। एक बात और। मन्त्रार्थचिन्तनका यह तात्पर्य नहीं है कि उसके शब्दोंका अलग-अलग अर्थ जान लिया जाय। मन्त्रके एकमात्र अर्थ हैं अपने इष्टदेवता। उनका जो स्वरूप अपने चित्तमें हो, उसका चिन्तन ही मन्त्रार्थचिन्तन है।'

'यदि तुम इस बातको समझकर इसके अनुसार जप कर सकोगे तो तुम्हें अवश्य सफलता मिलेगी।' इतना कहकर उन्होंने अपने उपदेशका उपसंहार किया। मैं अभी कुछ और सुनना चाहता था। मुझे परमहंसजीके उपदेशानुसार जप करनेमें बड़ी कठिनाइयाँ मालूम होती थीं। परन्तु मैंने अब इस समय कुछ पूछना उचित न समझा, धूप हो रही थी, यह मालूम नहीं था कि ये अपनी कुटीपर जायँगे या मेरे घर। इसलिये मैं चुप हो रहा और मेरा भाव समझकर उन्होंने वहाँसे यात्रा कर दी, मैं भी उनके पीछे-पीछे चल पड़ा।

परमहंसजीकी कुटिया बड़े सुन्दर स्थानपर थी। जलका बड़ा भारी ताल, बड़े सुन्दर-सुन्दर घने वृक्ष देखने योग्य थे। परमहंसजी तो कभी-कभी उन वृक्षोंसे ही घंटों बात करते रह जाते थे। आस-पासके गाँवोंमें वे सिद्धके रूपमें प्रख्यात थे, इसलिये उनकी इच्छाके विपरीत वहाँ कोई नहीं आता था। जब हमलोग वहाँ पहुँचे तो सर्वथा एकान्त था। मुझे बाहर छोड़कर परमहंसजी अपनी एकान्त कुटियामें ध्यानस्थ हो गये और मैं बाहर बैठकर साधनकी कठिनाइयोंपर विचार करने लगा। मैं सोच रहा था—साधन तो सुगम-से-सुगम होना चाहिये। जन्म-जन्मसे कठिनाइयोंके चक्रमें पिसता हुआ जीव यदि भगवान्‌की ओर चलनेमें भी कठिनाइयोंके अंदर ही रहे तो फिर साधना और साधारण स्थितिमें अन्तर ही क्या रहा! अपनी असमर्थता, दुर्बलता और चञ्चलताको देखकर निराश हो गया। मैंने सच्चे हृदयसे प्रार्थना की—'हे प्रभो, मुझे मालूम नहीं कि तुम कैसे हो, कहाँ रहते हो और तुम्हारे पास पहुँचनेका क्या साधन है? मैं यह सब जान सकूँ, इसका भी मेरे पास कोई उपाय नहीं है। मुझ आश्रयहीनके तुम्हीं आश्रय हो। मुझ दीनके तुम्हीं दयालु हो, मुझ भिखारीके तुम्हीं दाता हो। मैं तुम्हारी शरणमें हूँ। मुझे तुम्हीं अपना मार्ग दिखाओ, अपना स्वरूप लखाओ और अपनी प्राप्तिका साधन बतलाओ।' मैं प्रार्थना करते-करते तन्मय हो गया, यह पता नहीं रहा कि कितना समय बीत गया।

दो बजे परमहंसजी कुटियासे बाहर आये। प्रसाद पानेके अनन्तर उन्होंने स्वयं कहा—'साधनामें कोई कठिनाई नहीं है; यह मार्ग तभीतक बीहड़ मालूम होता है, जबतक इसपर पैर नहीं रखा जाता। इसपर चल दो, फिर तो तुम्हारी सब कठिनाइयाँ अपने-आप हल हो जायँगी। संसारी पुरुष जिसे कठिनाई समझते हैं, वह तो साधकोंके लिये वरदान

है। कठिनाईमें ही उनकी आत्मशक्ति और आत्मविश्वासका विकास होता है। जिसने यह निश्चय कर लिया है कि मैं अपने साध्यको प्राप्त करके ही रहूँगा, भला, ऐसी कौन-सी कठिनाई है, जो उसे अपने मार्गसे विचलित कर सके? कठिनाई भी एक साधना है, जो साधकोंको नीचेसे ऊपरकी ओर ले जाती है। जिसके जीवनमें कठिनाई नहीं आयी, वह जीवनके मार्गमें कुछ आगे भी बढ़ा है, इसका क्या सबूत है?'

और भी बहुत-सी बातें हुईं, उनका मेरे चित्तपर बड़ा प्रभाव पड़ा। मैंने निश्चय किया कि अब चाहे कुछ भी हो जाय, कठिनाइयोंकी परवा किये बिना मैं आजहीसे साधनामें लग जाऊँगा। मुझे ऐसा मालूम हुआ, मानो परमहंसजीके शरीरसे, उनके नेत्रोंसे एक दिव्य शक्ति निकलकर मेरे अंदर प्रवेश कर रही है और मुझमें एक अद्भुत उत्साहकी स्फूर्ति हो रही है। मैं उनके सामने बैठा-बैठा ही एकाग्र हो गया। मेरे चित्तमें स्थिरता और शान्तिका उदय हुआ। मैं जान सका कि अब मेरी साधनामें कोई विघ्न नहीं पड़ेगा।

घर लौटनेपर मैंने परमहंसजीके उपदेशानुसार जप करना प्रारम्भ किया। मैं स्थिर आसनसे बैठकर अपनी पूरी शक्ति लगाकर नामका उच्चारण करता, परन्तु ओठ मेरे हिलते न थे। मैं जप करता कृ······ष्ण! कृ······ष्ण! परन्तु यह क्रिया प्राणोंकी शक्तिसे ही सम्पन्न होती। पूरा मन जपमें ही लगा रहता। रसनेन्द्रिय स्वाद भी लेती। पहले कुछ दिनोंतक तो यदि कभी मन असावधान हो जाता, तो जप ऊपर-ही-ऊपर होने लगता। परन्तु कुछ ही क्षणोंमें यह मालूम हो जाता कि बिना शक्ति लगाये जो जप हो रहा है, उसका मेरे शरीर और अन्त:करणपर कोई दृश्य प्रभाव नहीं पड़ रहा है। मैं तुरंत सजग हो जाता और फिर बलपूर्वक नामका उच्चारण करने लगता। मुझे प्राणोंकी ओर ध्यान नहीं रखना पड़ता था, मैं तो केवल बलकी ओर ही ध्यान रखता था; परन्तु प्राणोंकी गति स्वयं ही नियमित और नामानुवर्तिनी हो जाती थी। नामके उच्चारणके समय 'क्'का कम्पन कण्ठमें और 'ऋ, ष्, ण' का मूर्धामें होता था, इससे अपने-आप ही प्राणोंकी गति मूर्धाकी ओर हो गयी। अब तो जप करते समय मुझे इसका भी स्मरण नहीं रहता था कि प्राणवायु चल रहा है अथवा नहीं। मेरा मन सहज-रूपसे एकाग्र होने लगा।

जब मेरा मन एकाग्र हो जाता अर्थात् और किसी तरफ जाना छोड़कर जपमें ही पूरी तरहसे लग जाता, तब ऐसा मालूम होता कि मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर-जितना बड़ा ही एक ज्योति:पुञ्ज हूँ। केवल घन प्रकाश, जिसकी आकृति मेरे शरीर-जैसे ही थी, मेरे मनके सामने रहता था। यदि कभी उससे बाहर दृष्टि जाती तो यह प्रकाश-शरीर भी एक हल्के प्रकाशसे घिरा हुआ दीखता। तात्पर्य यह कि मेरा मन किसी पार्थिव अथवा जलीय पदार्थको देखता ही न था, केवल तेजका अनुभव करता था। इस तेजोमय शरीरके अंदर कृ······ष्ण! कृ······ष्ण! का उच्चारण होता रहता और ऐसा मालूम होता कि ज्योतिकी धारा ऊर्ध्वगामिनी हो रही है। यह मेरी भावना न थी, क्योंकि मैं इस प्रकारकी भावनाओंको भूलकर केवल जप करना चाहता था। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह मन्त्रवर्णोंके सङ्घर्षका ही फल था।

यह प्रकाशकी धारा ऊर्ध्वमुख प्रवाहित होकर मस्तकमें केन्द्रित होने लगी। अवश्य ही कई महीनोंके अभ्यासके बाद ऐसा मालूम होने लगा था। कभी-कभी तो ऐसा मालूम होता कि यदि सहस्र-सहस्र सूर्य इकट्ठे कर दिये जायँ, तो भी इस मस्तकस्थित प्रकाशकी तुलनामें नहीं आ सकते; परन्तु उस प्रकाशके केन्द्रमें भी कुछ क्रिया होती-सी दिखायी पड़ती और पूरी शक्तिसे कृष्ण-कृष्णका पूर्ववत् जप होता रहता। अब यह इच्छा नहीं होती थी कि जगत्के किसी आवश्यक कार्यके लिये भी मैं अपनी आँखें खोलूँ। परन्तु जब कभी मैं आँख खोलता था, तो बाहर भी मुझे प्रकाश-ही-प्रकाश दीखता था। कुछ क्षणोंके बाद बाहरकी विभिन्नताएँ दीख भी पड़ती थीं, तो रह-रहकर उनके अंदर प्रकाशकी एक रेखा चमक जाती थी। प्राय: उस समय भी बिना किसी चेष्टाके मेरे अंदर जप होता रहता था और कभी-कभी तो बाहरकी वस्तुओंमें भी जप होता हुआ दीखता था, मानो पृथ्वीका एक-एक कण कृष्ण-कृष्ण कह रहा हो।

थोड़े ही दिनोंके अभ्याससे ऐसा मालूम होने लगा कि मस्तकमें दीख पड़नेवाला प्रकाश मानो चैतन्य हो गया है। सूर्यके समान उस प्रकाशमें, जो कि चन्द्रमासे भी शीतल था, एक नीलोज्ज्वल ज्योति आती और चमककर छिप जाती। कभी मुकुट दीख जाता, कभी पीताम्बर, कभी चरण-कमलोंकी नखज्योति इस प्रकार चमक जाती कि वह महान् प्रकाश भी निष्प्रभ हो जाता, मानो घने अन्धकारमें बिजली चमक गयी हो। अब मेरा ध्यान प्रकाशकी ओर नहीं जाता,

वह तो रूखा मालूम होता। मैं सम्पूर्ण अन्तःकरणसे केवल उस नीलोज्ज्वल प्रकाशकी ही बाट देखता रहता। मेरा सम्पूर्ण अन्तःकरण उसके दर्शनके लिये उत्सुक, व्याकुल और आतुर रहा करता था। एक क्षण भी युग-सा मालूम पड़ता। परन्तु जिस समय वेदना असह्य हो जाती, उस समय वह ज्योति अवश्य ही एक बार नाच जाती थी। इस अनुभूतिके समय भी कृष्ण-कृष्णकी धारा कभी बंद नहीं होती थी।

अब मेरे ध्यानका दूसरा ही रूप हो गया था। जब मैं एकाग्र हो जाता तो इस शरीरकी तो स्मृति नहीं रहती थी; परन्तु एक दूसरा शरीर, जिसकी आकृति इससे मिलती-जुलती थी परन्तु इन पाञ्चभौतिक तत्त्वोंसे जिसकी सङ्घटना नहीं हुई थी, जो ज्योतिर्मय और दिव्य था, प्रकट हो जाता। यह प्रकट हुआ है, यह स्मृति भी नहीं रहती; बल्कि मैं यही हूँ, ऐसा अनुभव होता। उस शरीरसे भी कृष्ण-कृष्णका जप होता रहता। मेरे उस हृदयमें भी श्रीकृष्णके लिये छटपटी थी। मेरी आँखें तरसती रहती थीं उन्हें देखनेके लिये। मेरी बाँहें फैली ही रहती थीं उनके आलिङ्गनके लिये। यदि मेरे रोम-रोमका कोई विश्लेषण कर पाता तो देखता कि वे श्रीकृष्णके संस्पर्शकी अभिलाषासे ही गठित हुए हैं। मेरे रग-रगमें एक ही बिजली दौड़ती रहती कि मैं श्रीकृष्णके चरण-कमलोंकी अमृतधारासे सराबोर हो जाऊँ।

यह बात नहीं कि उस समय मुझे श्रीकृष्णके दर्शन होते ही न हों, होते थे और बार-बार होते थे। कभी-कभी तो प्रत्येक क्षणके बाद होते थे, परन्तु मुझे उससे सन्तोष नहीं था। वह एक क्षणका विलम्ब मेरे लिये तो कल्पसे भी बड़ा था। वे आते, मैं उन्हें भर आँख देख भी नहीं पाता; वे चले जाते। मैं उनको पहनानेके लिये हाथोंमें माला लेकर खड़ा होता और वे लापता। परन्तु यह बात बहुत दिनोंतक न रही। वे आते हँसते हुए, बाँसुरी बजाते हुए, ठुमुक-ठुमुक कर चलते हुए। आकर कभी मेरे सिरपर हाथ रख देते और कभी प्रेमसे मुझे चपत लगा देते, मेरा रोम-रोम खिल उठता। आनन्दके आँसू मुझे तर कर देते। मैं उनके चरणोंका स्पर्श करता, उन्हें माला पहनाता, अपने हाथोंसे उन्हें सुन्दर-सुन्दर फल खिलाता, उनके काले-काले घुँघराले बालोंमें फूल गूँथ देता और हाथमें आरती लेकर उनके सामने नाचते-नाचते मस्त हो जाता, तन-बदनकी सुधि नहीं रहती। जब मैं गिर जाता तो अपनेको उनकी गोदमें पाता। वे मुझे जगाते, दुलारते, पुचकारते, प्रेमकी बातें करते और क्या नहीं करते? मैं उनका था, वे मेरे थे। परन्तु उस समय भी जब मेरी चेतना शरीरोन्मुख होती, तो मैं देखता कि मेरे रोम-रोममें कृष्ण-कृष्णकी ध्वनि गूँज रही है। सम्पूर्ण वायुमण्डल और आकाशका कोना-कोना उस पवित्र गुंजारसे प्रतिध्वनित हो रहा है। एक अनिर्वचनीय रस प्रत्येक वस्तुके अन्तरालसे अबाध गतिसे झर रहा है।

स्थूल दृष्टिसे यह सब मेरे ध्यानकी स्थिति थी। परन्तु उस समय मेरे लिये इसके अतिरिक्त दूसरी कोई स्थूलता रहती ही न थी। स्थूल था तो वही, सूक्ष्म था तो वही। कम-से-कम मेरे चित्तमें ऐसी ही बात थी। भगवान्‌का अमृतमय संस्पर्श प्राप्त होता रहे, तो स्थूल और सूक्ष्मका प्रश्न ही कहाँसे उठे? जो हृदयमें भगवान्‌के हृदयका रस नहीं प्राप्त कर सकते, वे ही प्रायः शरीरसे मिलनके लिये जबानी व्याकुलता प्रकट किया करते हैं। जो हृदयमें उस रसकी अनुभूतिसे निहाल होते रहते हैं वे उसको छोड़कर बाहर आवेंगे ही क्यों, जिससे कि उन्हें बाहरकी चिन्ता करनी पड़े। मैं उस समय अपनी उस स्थितिमें रसका अनुभव करता था, उसीमें रहना चाहता था। जिस स्थिति या जिस स्थूलशरीरमें आनेपर मैं उससे वञ्चित हो जाता, उसमें आनेकी मैं इच्छा ही क्यों करता? लोगोंकी प्रेरणासे यदि मैं स्थूल व्यवहारमें आता तो क्षण-क्षण अन्तर्जगत्‌का आकर्षण मुझे वहीं जानेके लिये खींचता रहता। बाहरका काम समाप्त होते ही मैं वहाँ पहुँच जाता।

एक दिन मैं गङ्गास्नान करके लौटा रहा था, रास्तेमें पलाशके विशाल जंगलको देखकर इच्छा हुई कि यहीं बैठ जायँ। मैं एक छोटे-से वृक्षकी मनोहर छायामें बैठ गया। जाड़ेका दिन था। उतने सबेरे वहाँ कौन आता? एकान्त इतना था कि वायुमण्डलकी झन-झन आवाज़ आ रही थी। मैंने स्वस्तिकासनसे बैठकर हाथोंको गोदमें रखा और आँखें बंद करके कृष्ण-कृष्णकी ध्वनिपर तनिक जोर लगाया। परन्तु यह क्या? पलकें बंद रहना नहीं चाहतीं। एक शक्तिमान् प्रकाश पलकोंकी दीवार लाँघकर आँखोंके तारोंमें घुसा जा रहा था और मैं बल लगानेपर भी आँखोंको बंद करनेमें असमर्थ था। आँखें खुलीं तो देखा न वहाँ जंगल है, न वह वृक्ष है, जिसके नीचे मैं बैठा था और जिसकी स्मृति अभी ताज़ी थी। चारों ओर एक घना प्रकाश फैला हुआ था और उसके बीचमें मैं ज्यों-का-त्यों स्वस्तिकासनसे बैठा

हुआ था। मैंने सोचा—शायद यह मेरे मनकी ही लीला हो; मैंने फिर आँखें बंद करनेका प्रयत्न किया, परन्तु मेरी पलकें टस-से-मस नहीं हुईं। विवश होकर मैंने सामने देखा—पृथ्वीसे करीब एक हाथ ऊपर एक त्रिभुवनसुन्दर बालक मुस्करा रहा है। शरीर गौरवर्ण था, फूलोंकी ही कछौटी थी, फूलोंका ही मुकुट, हाथों और चरणोंमें भी फूलोंका ही दिव्य आभूषण था, साथ ही मुकुटपर मयूरपिच्छ था और दोनों हाथोंमें बाँसुरी थी, जो अधरोंसे लगी हुई थी और जिसकी सुरीली आवाज़ मेरे प्राणोंमें प्रवेश कर रही थी। देखकर मैं चकित हो गया। बाँसुरी और मयूरपिच्छसे स्पष्ट हो रहा था कि ये श्रीकृष्ण हैं। मनने कहा—वे तो श्यामसुन्दर हैं, ये गौरसुन्दर कहाँसे? मैंने उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग लोट जाना चाहा, परन्तु मेरा शरीर जड हो गया था, वह हिलतक नहीं सका। मैंने बोलकर अपने मनका भाव उनपर प्रकट करना चाहा, परन्तु मुँह खुला ही नहीं। मैंने हाथ जोड़नेकी चेष्टा की; परन्तु हाथ अपने स्थानसे उठे नहीं। हृदय आनन्दित था, शरीर रोमाञ्चित था, आँखोंमें आँसू थे। मैं केवल देख रहा था उनको और वे मुस्कराते हुए, बाँसुरी बजाते हुए, ठुमुक-ठुमुक कर नाचते हुए, ऊपर-ही-ऊपर कभी दायें, कभी बायें और कभी सामने आकर ठिठक जाते थे। मैं केवल देख रहा था। इस प्रकार न जाने कितना समय बीत गया।

उन्होंने अपना मौन तोड़ा, मेरे कानोंमें मानो अमृतकी धारा प्रवाहित होने लगी। वे बोले—'मैं गौर भी हूँ, श्याम भी हूँ। मैं अपनी लाड़िलीका ध्यान करता रहता हूँ न? तुम मुझे स्पर्श करना चाहते हो, मुझसे बोलना चाहते हो, केवल इस समय, केवल इस रूपके साथ। यह सम्पूर्ण जगत्, जिसमें तुम हो, जिसे तुम देखते हो, यह मेरी लीलाभूमि है। इसके एक-एक कणमें मेरी रासलीला हो रही है और यह सब मेरा और मेरी प्रियाका ही रूप है। तुम इन्हें स्थूल, सूक्ष्म अथवा कारणके रूपमें देखते हो, यह तुम्हारा दृष्टि-दोष है। तुम पूर्वको पश्चिम क्यों समझ रहे हो? तुम मुझको जगत् क्यों समझ रहे हो? यह सब मेरे युगलरूपकी क्रीड़ा है। जिसे जगत्के लोग उत्कृष्ट अथवा निकृष्टरूपमें देखते हैं, उसके भीतर, उसके गुह्यतम प्रदेशमें, जहाँ उनकी आँखें नहीं पहुँच पातीं, वहाँ मेरी अनादि और अनन्त रसमयी, मधुमयी, लास्यमयी, एकरस रासलीला हो रही है।' भगवान् चुप हो गये। मेरी आँखें जिधर जाती थीं, युगल सरकार और उनको घेरकर नाचती हुई सखियाँ ही दीखती थीं। अपना शरीर, जगत्, एक-एक सङ्कल्प और सम्पूर्ण वृत्तियाँ उसी लीलासे परिपूर्ण हो रही थीं। न जाने कितनी देरतक यही लीला देखता रहा। अन्तमें मैंने देखा युगल सरकार मेरे सामने खड़े हैं और सखियाँ उनकी सेवा कर रही हैं। जब मैं उनके चरणोंका स्पर्श करनेके लिये झुका तो स्पर्श करते-न-करते देखा कि वे वहाँ नहीं हैं और मैं उसी जंगलमें उसी वृक्षके नीचे बैठा हूँ और मेरे रोम-रोमसे कृष्ण-कृष्णकी गम्भीर ध्वनि निकल रही है। जब मेरी आँखोंने चकित होकर कुछ दूरतक देखा तो सामनेसे गेरुए वस्त्रसे अपना शरीर ढके हुए, हाथमें कमण्डलु लिये परमहंसजी आ रहे थे!

क्या लिख गया, कौन लिख गया—इसकी तलाश छोड़ दीजिये और आप भी पूरी शक्तिसे कृष्ण-कृष्णका उच्चारण कीजिये और तबतक करते ही रहिये, जबतक आपका अस्तित्व रहे।

चकोरकी अद्भुत साधना

अब न फिरौंगो बन भटकता तेरे काज, लाज हू बिहाय जाय चाव सों रहौंगो मैं।
हौंगो न अधीर भीरु त्यागौंगो सकल पीर, जोगी न बनौंगो न वियोगी हू दिखौंगो मैं॥
हौं तो जो चकोर चित्त मेरे आज याही पन, होत भोर सोर ''प्रेम'' नैकु न करौंगो मैं।
चाबौंगो अँगारे तन भसम करौंगो फिर, चढ़ि ईस सीस जाय पिय सौं मिलौंगो मैं॥

—प्रेमनारायण त्रिपाठी ''प्रेम''

पञ्चकोश-विवेचन

(लेखक—शास्त्राचार्य श्रीधर्मेन्द्रनाथजी शास्त्री, विद्यावाचस्पति, काव्यतीर्थ, साहित्यवेदान्तशास्त्री)

शास्त्रोंमें शरीर तीन प्रकारके माने गये हैं—कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर। यह स्मरण रखना चाहिये कि जिस समय हमारा सम्बन्ध स्थूल शरीरसे होता है, उस समय सूक्ष्म और कारण शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हो जाता। क्योंकि स्थूल शरीरके भीतर सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्मके अंदर कारण शरीर विद्यमान रहता है।

इन्हीं शरीरोंका भिन्न प्रकारसे भी वर्णन किया गया है जिनको 'कोश' कहते हैं। कोश पाँच माने गये हैं। इन्हींमें कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल शरीरोंको विभक्त किया गया है। इन पाँचों कोशोंका तैत्तिरीय उपनिषद्में नामक्रम एवं वर्णन निम्न प्रकारसे मिलता है:—

(१) अन्नमय कोश

(२) प्राणमय कोश

(३) मनोमय कोश

(४) विज्ञानमय कोश और

(५) आनन्दमय कोश

अन्नमय कोश

'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा।' (तै० उ० २। १। १)

यह पुरुष अन्नरसमय है अर्थात् अन्न और रसका विकार है। पुरुषके आकारकी वासनासे युक्त तथा उसके सम्पूर्ण अङ्गोंसे उत्पन्न हुआ तेजोरूप शुक्र उसका बीज है। पुरुषके शुक्रसे जो उत्पन्न होता है वह भी उसके समान आकारवाला होता है। प्रायः सर्वत्र ही यह नियम देखा जाता है कि पुत्र पिताके समान आकारवाला ही होता है। इस अन्नमय पुरुषका यह प्रसिद्ध सिर[1] ही सिर है। पूर्वाभिमुख व्यक्तिका यह दक्षिण (दक्षिण दिशाकी ओरका) बाहु दक्षिणपक्ष है तथा यह वाम बाहु उत्तरपक्ष है और यह देहका मध्यभाग अङ्गोंका आत्मा है। नाभिसे नीचे अङ्ग प्रतिष्ठा है, क्योंकि इसीके द्वारा यह शरीर स्थित होता है।

यह अन्नमय कोश सभी कोशोंमें प्रधान है, इसीलिये सर्वप्रथम इसीका वर्णन किया गया है। इसके अस्तित्वपर ही अन्य चारों कोशोंका अस्तित्व बहुत कुछ अंशोंमें निर्भर करता है, अर्थात् अन्नमय आत्मा ही इतर कोशोंकी आधारभित्ति है।

प्राणमय कोश

'तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरः पक्षः। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा।'

(तै० उ० २। २। १)

उस पूर्वोक्त अन्नमय पिण्डसे पृथक् और उसके भीतर रहनेवाला आत्मा, जो अन्नमय पिण्डके समान मिथ्या ही आत्मारूपसे कल्पना किया हुआ प्राणमय कोश है। इसमें प्राण (वायु) की प्रधानता रहती है, इसीलिये यह प्राणमय कोश कहलाता है। जिस प्रकार वायुसे धोंकनी भरी रहती है, उसी प्रकार उस प्राणमयसे यह अन्नरसमय शरीर भरा हुआ है। यह प्राणमय आत्मा सिर और पक्षादिके कारण पुरुषाकार ही है। उस अन्नरसमयकी पुरुषाकारताके अनुसार साँचेमें ढली हुई प्रतिमाके समान यह प्राणमय कोश भी पुरुषाकार है। क्योंकि उस प्राणमयका प्राण ही सिर है। वायुके विकार रूप प्राणमय कोशका मुख और नासिकामें वर्तमान प्राण श्रुतिवचनके अनुसार सिररूपसे कल्पना किया जाता है। इसी प्रकार ज्ञान आदिकी कल्पना की गयी है। व्यान नामकी वृत्ति दक्षिणपक्ष है, अपान उत्तर पक्ष है, आकाश[2] आत्मा है। पृथिवी पुच्छ—प्रतिष्ठा है। यहाँपर (पृथिवी) शब्दसे पृथिवीकी अधिष्ठात्री देवी समझनी चाहिये, क्योंकि स्थितिकी

---

१. प्राणमय आदि सिररहित कोशोंमें भी शिरस्त्व देखा जानेके कारण यहाँ भी वही बात न समझी जाय, अर्थात् इस अन्नमय कोशको भी वस्तुतः सिररहित न समझा जाय इसलिये 'यह प्रसिद्ध सिर ही उसका सिर है' ऐसा यहाँपर कहा गया है।

२. यहाँपर इस प्रकरणमें प्राणवृत्तिका अधिकार होनेके कारण (आकाशशब्दसे) आकाशमें स्थित जो समानसंज्ञक प्राणवृत्ति है, वही आत्मा है। अपने आसपासकी अन्य स्ववृत्तियोंकी अपेक्षा मध्यवर्तिनी होनेके कारण वह आत्मा है।

हेतुभूत होनेसे वही आध्यात्मिक प्राणको भी धारण करनेवाली है। 'सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्य' यह श्रुति भी इसी बातका अनुमोदन करती है। अन्यथा प्राणकी उदान वृत्तिसे या तो शरीर ऊपरको उड़ जाता या गुरुतावश गिर पड़ता। अतः पृथिवी देवता ही प्राणमय शरीरकी पुच्छ—प्रतिष्ठा है।

मनोमय कोश

'तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋग्दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा।'

(तै० उ० २। ३। १)

इस प्राणमय कोशसे पृथक् मनोमय कोश है। प्राणमय कोश मनोमय कोशसे परिपूर्ण है। यह मनोमय कोश पुरुषके ही समान है और यह मनोमय पुरुष वैसा ही है जैसा कि प्राणमय पुरुष। उसका यजुः* ही सिर है। ऋग् दक्षिण पक्ष है और साम उत्तर पक्ष। आदेश आत्मा है।

संकल्प-विकल्पात्मक अन्तःकरणका नाम मन है, जो तद्रूप हो उसे मनोमय कहते हैं। जैसे पहले अन्नरूप होनेके कारण अन्नमय कहा गया है। वह इस प्राणमयका अन्तर्वर्ती आत्मा है। जिनमें अक्षरोंका कोई नियम नहीं है ऐसे पादोंमें समाप्त होनेवाले मन्त्रविशेषोंका नाम 'यजुः' है। उसे प्रधानताके कारण यहाँ शिर कहा गया है, क्योंकि यागादिमें यजुर्मन्त्रोंकी ही प्रधानता है। स्वाहा आदिके द्वारा यजुर्मन्त्रोंसे ही हवि दी जाती है। इसी प्रकार ऋक् और साम भी विशेष अर्थमें ही यहाँ प्रयुक्त हुए हैं।

विज्ञानमय कोश

'तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः। सत्यमुत्तरः पक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा।'

(तै० उ० २। ४। १)

इस मनोमय कोशसे पृथक् विज्ञानमय कोश है। मनोमय कोश विज्ञानमय कोशसे परिपूर्ण है। यह विज्ञानमय कोश पुरुषके ही समान है और यह विज्ञानमय पुरुष वैसा ही है जैसा कि मनोमय पुरुष। श्रद्धा ही इसका सिर है। ऋत दक्षिण पक्ष है और सत्य उत्तर पक्ष। योग आत्मा (मध्यभाग) है और महत्तत्त्व पुच्छ—प्रतिष्ठा है।

ऊपर मनोमय कोश वेदरूप बतलाया गया है। वेदोंके अर्थके विषयमें जो निश्चयात्मिका बुद्धि है उसीका नाम विज्ञान है और वह अन्तःकरणका अध्यवसायरूप धर्म है। तन्मय अर्थात् प्रमाणस्वरूप निश्चय विज्ञानसे (निश्चयात्मिका बुद्धिसे) निष्पन्न होनेवाला आत्मा विज्ञानमय है, क्योंकि प्रमाणके विज्ञानपूर्वक ही यज्ञादिका विस्तार किया जाता है। निश्चयात्मिका बुद्धिसम्पन्न पुरुषको सबसे प्रथम कर्तव्य-कर्ममें श्रद्धा ही उत्पन्न होती है। अतः सम्पूर्ण कर्मोंमें प्रथम होनेके कारण वह सिरके समान उस विज्ञानमयका सिर है। योग अर्थात् समाधान ही आत्माके समान उसका आत्मा है। साधनसम्पन्न युक्त आत्मवान् पुरुषको ही अङ्गादिके समान श्रद्धा आदि साधन यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिमें समर्थ होते हैं। अतः समाधान अथवा योगको ही विज्ञानमय कोशका आत्मा बतलाया गया है। 'महः' यह महत्तत्त्वका नाम है। वही विज्ञानमयका कारण होनेसे उसकी प्रतिष्ठा है, क्योंकि कारण ही कार्यवर्गकी प्रतिष्ठा (आश्रय) हुआ करता है, जैसे कि वृक्षादिकी प्रतिष्ठा पृथिवी है। वैसे ही महत्तत्त्व ही बुद्धिके सम्पूर्ण विज्ञानोंका कारण है, इसलिये वह विज्ञानमय आत्माकी प्रतिष्ठा है।

---

* 'यजुः' आदि शब्दोंसे यजुर्वेद आदि ही समझे जाते हैं, परन्तु यहाँ जो उन्हें मनोमय कोशके सिर आदि रूपसे बतलाया गया है उसमें स्वभावतः यह शङ्का हो जाती है कि उनका उससे ऐसा क्या सम्बन्ध है जो वे उसके अङ्गरूपसे बतलाये गये हैं? इस वचनकी व्याख्या करते हुए भगवान् शङ्कराचार्यने इसे स्पष्ट किया है। उसका तात्पर्य यही है कि यजुः, साम या ऋक् आदि मन्त्रोंके उच्चारणमें सर्वप्रथम अन्यान्य शब्दोंके उच्चारणके समान मनका ही व्यापार होता है। प्रथम कण्ठ अथवा तालु आदि स्थानोंसे जठराग्निद्वारा प्रेरित वायुका आघात होता है, उससे अस्फुट नादकी उत्पत्ति होती है, फिर क्रमशः स्वर और अकारादि वर्ण अभिव्यक्त होते हैं। वर्णोंके संयोगसे पद और पदसमूहसे वाक्यकी रचना होती है। इस प्रकार मानसिक संकल्प और भावसे ही यजुः आदि मन्त्र अभिव्यक्त होकर श्रोत्रेन्द्रियसे ग्रहण किये जाते हैं। अतः मनोवृत्तिसे उत्पन्न होनेके कारण ही यहाँ यजुर्विषयक मनोवृत्तिको 'यजुः', ऋग्विषयक मनोवृत्तिको 'ऋक्' और सामविषयक वृत्तिको 'साम' कहा गया है तथा इस प्रकारकी यजुर्वृत्ति ही मनोमय कोशका शीर्षस्थानीय है।

आनन्दमय कोश

'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुष-विधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा।'

(तै० उ० २। ५। १)

इस विज्ञानमय कोशसे दूसरा इसका अन्तर्वर्ती कोश आनन्दमय है। विज्ञानमय कोश आनन्दमय कोशसे परिपूर्ण है। यह आनन्दमय कोश पुरुषके ही समान है। आनन्दमय पुरुष वैसा ही है जैसा कि विज्ञानमय पुरुष है। इसका प्रिय ही सिर है। मोद एवं प्रमोद दक्षिण तथा उत्तर पक्ष हैं। आनन्द आत्मा है और ब्रह्म आश्रय।

तात्पर्य यह है कि 'आनन्द' उपासना और कर्मका फल है। उसका विकार ही आनन्दमय कहलाता है। वह श्रुतिद्वारा भी यज्ञादिके कारणभूत विज्ञानमयकी अपेक्षा भीतर कहा गया है। उपासना और कर्मका फल भोक्ताके ही लिये है, इसलिये सब कोशोंकी अपेक्षा आनन्दमय कोशको आन्तरतम बतलाया गया है; क्योंकि विद्या और कर्म भी प्रधानतया अभिवाञ्छित प्रियकी प्राप्तिके लिये ही होते हैं। उसकी प्राप्तिके उद्देश्यसे ही उपासना और यज्ञादि कर्मका अनुष्ठान किया जाता है। अत: उनके फलरूप प्रियादिकी आत्मासे समीपता होनेके कारण विज्ञानमय कोशकी अपेक्षा भी इस आनन्दमय कोशका आन्तरतम होना उचित ही है। प्रियादिकी वासनासे निष्पन्न हुआ आनन्दमय कोश स्वप्नावस्थामें विज्ञानमयके अधीन ही उपलब्ध होता है। उस आनन्दमय आत्माका पुत्र-पत्नी आदि इष्ट पदार्थोंके दर्शनसे जन्य प्रिय ही प्रधानताके कारण सिर कहा गया है। प्रिय पदार्थकी प्राप्तिके जन्य हर्ष 'मोद' कहा जाता है और वही हर्ष प्रकृष्ट होनेपर 'प्रमोद' कहलाता है। 'आनन्द' सामान्यत: सुखका नाम है और वह सुखके अवयवभूत प्रियादिका आत्मा है। 'आनन्द' शब्द परब्रह्मका ही वाचक है। वही शुभ कर्मोंद्वारा अन्त:करणसे तमोगुणके आवरणके कुछ हट जानेके कारण कभी-कभी अभिव्यक्त होता है। उसीको लोग विषय-सुख कहा करते हैं। परन्तु यह सुख क्षणिक होता है, क्योंकि इसका कारण कर्म स्वयं अस्थिर है। परन्तु जिस समय अन्त:करण तमोगुणको नष्ट करनेवाले तप, उपासना, ब्रह्मचर्य एवं श्रद्धाके द्वारा जितना निर्मल होता जाता है उतने ही स्वच्छ और प्रसन्न अन्त:करणमें विशेष आनन्दका उत्कर्ष होता है। यही बात—

'रसो वै सः।' रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। .... एष ह्येवानन्दयाति।

(तै० उ० २। ७। १)

'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।'

(बृहदारण्यक ४। ३। ३२)

इन श्रुतियोंसे सिद्ध होता है कि वह (ब्रह्म) रस है। इस रसको पाकर ही पुरुष आनन्दित होता है। यह रस ही सबको आनन्दित करता है। इस आनन्दके अंशमात्रके आश्रयसे ही सब प्राणी जीवित रहते हैं।

इस प्रकार परमार्थ ब्रह्मके विज्ञानकी अपेक्षासे क्रमश: उत्कर्षको प्राप्त होनेवाले आनन्दमय आत्माकी अपेक्षा ब्रह्मपर ही है। जो ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्तरूप है। जिसकी प्राप्तिके लिये अन्नमय आदि पाँच कोशोंका उपन्यास किया गया है, जो उन सबकी अपेक्षा आभ्यन्तर है और जिसके द्वारा वे सब आत्मवान् हैं—वह ब्रह्म ही उस आनन्दमयकी पुच्छ—प्रतिष्ठा (आश्रय) है, क्योंकि आनन्दमयका पर्यवसान भी एक तत्त्वमें ही होता है। इसलिये अविद्या-परिकल्पित द्वैत भावका अवसानभूत उस एक और अद्वितीय ब्रह्मको ही उसकी प्रतिष्ठा अर्थात् आश्रय बताया गया है।

ऊपर बतलाये हुए कोशोंके विषयमें यह बात विशेषरूपसे स्मरण रखने योग्य है कि कोई भी कोश किसी दूसरे कोशसे सर्वथा भिन्न नहीं है, अपितु एक कोश दूसरे कोशसे परिपूर्ण है अर्थात् अन्नमय कोशमें प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोश भी सम्मिलित हैं। इसी प्रकार प्राणमय कोशमें अन्य तीन मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोश सम्मिलित हैं और मनोमय कोशमें अन्य दो विज्ञानमय और आनन्दमय कोश तथा विज्ञानमय कोशमें एक आनन्दमय कोश सम्मिलित है। ये पाँचों कोश एक दूसरेसे पृथक् होते हुए भी एक दूसरेके सदृश ही हैं तथा एक कोश दूसरे कोशका अनुसरण करता है।

इन तीन प्रकारके शरीरों, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओं एवं पाँचों कोशोंका परस्पर सम्बन्ध निम्नाङ्कित तालिकासे इस प्रकार समझा जा सकता है:—

अवस्था	शरीर	कोश
१ जाग्रत्	१ स्थूलशरीर	१ अन्नमय कोश
२ स्वप्न	२ सूक्ष्मशरीर	२ प्राणमय कोश ३ मनोमय कोश ४ विज्ञानमय कोश
३ सुषुप्ति	३ कारणशरीर	५ आनन्दमय कोश

यहाँपर (द्वितीय) सूक्ष्मशरीरके तीन कोश बतलाये गये हैं, परन्तु ये अति सूक्ष्मशरीरके तीन भाग किस प्रकार हैं, यह नि:सन्दिग्धरूपसे बतलाना अति कठिन है, क्योंकि इस प्रकारकी कोई प्रसङ्गोपयोगिनी उपमा स्थूल जगत्‌में नहीं मिलती, जिससे कि इन कोशोंका परस्पर सम्बन्ध सम्यक् प्रकारसे समझाया जा सके।

पञ्चदशीके तृतीय प्रकरणमें विद्यारण्यस्वामीने इन पाँचों कोशोंका इस प्रकार वर्णन किया है—

गुहाहितं ब्रह्म यत्तत्पञ्चकोशविवेकतः।
बोद्धुं शक्यं ततः कोशपञ्चकं प्रविविच्यते॥

(३।१)

अर्थात् ब्रह्म गुहा* निहित है, किन्तु पाँचों कोशोंके विवेकसे वह जाना जा सकता है, अत: पाँचों कोशोंका विचार किया गया है।

देहादभ्यन्तरः प्राणः प्राणादभ्यन्तरं मनः।
ततः कर्ता ततो भोक्ता गुहा सेयं परम्परा॥

(३।२)

देहके भीतर प्राण, प्राणके भीतर मन, मनके भीतर कर्ता और कर्ताके भीतर भोक्ता—यह परम्परा है, अर्थात् अन्नमय कोश (देह) से प्राणमय कोश, प्राणमय कोशसे मनोमय कोश, मनोमयसे (कर्ता) विज्ञानमय और विज्ञानमयसे भोक्ता आनन्दमय कोश भीतर है। अन्नमय कोशसे आनन्दमय कोशपर्यन्त यही परम्परा यहाँपर 'गुहा' शब्दसे बतलायी गयी है।

(१) पितृभुक्तान्नजाद्वीर्याज्जातोऽन्नेनैव वर्धते।
देहः सोऽन्नमयो नात्मा प्राक् चोर्ध्वं तदभावतः॥
(२) पूर्णो देहे बलं यच्छन्नक्षाणां यः प्रवर्तकः।
वायुः प्राणमयो नासावात्मा चैतन्यवर्जनात्॥
(३) अहन्तां ममतां देहे गेहादौ च करोति यः।
कामाद्यवस्थया भ्रान्तो नासावात्मा मनोमयः॥
(४) लीना सुप्तौ वपुर्बोधे व्याप्नुयादानखाग्रगा।
चिच्छायोपेतधीर्नात्मा विज्ञानमयशब्दभाक्॥
(५) काचिदन्तर्मुखी वृत्तिरानन्दप्रतिबिम्बभाक्।
पुण्यभोगे भोगशान्तौ निद्रारूपेण लीयते॥

(पञ्चदशी ३। ३, ५,६,७,९)

(१) अर्थात् पिताके खाये हुए अन्नसे उत्पन्न वीर्यसे बनी हुई और अन्नसे ही बढ़नेवाली देह अन्नमय कोश है। परन्तु यह देह जन्मसे प्रथम और मरणके अनन्तर न रहनेके कारण स्वयं आत्मा नहीं है। चेतन आत्मा देहसे भिन्न पदार्थ है। (२) देहमें पूर्ण, बल देनेवाला, इन्द्रियोंका प्रेरक वायु प्राणमय कोश है, किन्तु यह भी देहकी तरह ही स्वयं चेतन न होनेके कारण आत्मासे भिन्न है। (३) जो शरीरमें 'मैं हूँ' इत्यादिरूपसे अहन्ताका भाव रखता है और सांसारिक वस्तुओंमें ममता दिखलाता है एवं अनेक कामनाओंकी पूर्तिके लिये इधर-उधर भटकता है वह मनोमय कोश है। (४) जो सुषुप्तिमें विलीन हो जाय और जागनेपर नखोंके अग्रभागपर्यन्त समस्त शरीरमें व्यापक रहे इस प्रकारकी चिदाभासयुक्त बुद्धिको विज्ञानमय कोश कहते हैं। (५) पुण्यकर्मके फलानुभवकालमें कोई बुद्धिवृत्ति भीतरकी ओर मुख करके आत्मस्वरूप आनन्दके प्रतिबिम्बको प्राप्त करती है और वही वृत्ति पुण्यकर्म-फलभोगकी समाप्ति होनेपर निद्रारूपमें लय हो जाती है। इस वृत्तिको ही आनन्दमय कोश कहते हैं।

स्थूलशरीरको अन्नमय कोश कहा है और उसका जाग्रत्-अवस्थाके साथ सम्बन्ध बतलाया गया है, किन्तु स्थूलशरीरका जितना व्यापार है वह सूक्ष्मशरीरके बिना सम्पन्न नहीं हो सकता। जाग्रत्-अवस्थामें हम ज्ञान प्राप्त करते हैं और अनेक प्रकारके भावोंसे युक्त होते हुए सुख-दु:खका अनुभव करते हैं, परन्तु यह सब व्यापार केवल अन्नमय कोशका ही नहीं कहा जा सकता। अन्नमय कोशको धारण करनेके लिये जिन-जिन व्यापारोंकी आवश्यकता होती है वे भी सूक्ष्मशरीरद्वारा ही होते हैं। इसी तरह स्वप्न अथवा सुषुप्ति-अवस्थामें अन्नमय कोशसे हमारा सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हो जाता।

* 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' यहाँपर ब्रह्मको गुहानिहित ही बतलाया गया है।

रात्रिके भोजनके उपरान्त सुखमय नींदमें सो जानेके बाद प्रात:काल उठनेपर यह अनुभव होता है कि भोजन पच गया। यदि उस समय स्थूलशरीरका व्यापार सर्वथा बंद हो जाता तो हमारा रात्रिभोजन कदापि न पच सकता। अत: कहना होगा कि दूसरे कोश भी तत्तदवस्थाओंमें कार्य करते रहते हैं; इसीलिये उपनिषद्‌में ऊपरके कोशोंको भीतरके कोशोंसे परिपूर्ण कहा है।

पहले कहा जा चुका है कि स्थूल देहका नाम ही अन्नमय कोश है। इसी प्रकार प्राणमय कोश प्रेरणात्मक या क्रियात्मक विभाग है। सम्पूर्ण क्रियाएँ इसी कोशसे आरम्भ होती हैं। इसको इच्छाशक्तिका केन्द्र कह सकते हैं। यहाँपर 'प्राण' शब्दका अर्थ श्वास-प्रश्वास या वायु नहीं है, किन्तु प्राण वह शक्ति-विशेष है जिससे श्वास-प्रश्वास ही नहीं, अपितु निमेष-उन्मेष आदि शरीरकी अन्य समस्त क्रियाएँ होती हैं। इसीलिये प्राणमय कोशकी दुर्बलतासे शरीरमें सुस्ती आती है और प्रबलतासे उत्साह और एक विशेष प्रकारकी स्फूर्ति रहती है।

मनोमय कोशके द्वारा आत्माके अनेक भाव—शोक, भय, हर्ष, विषाद, प्रीति आदि उठा करते हैं। इन्हीं भावोंसे प्रेरणाएँ उत्पन्न होती हैं। बहुत-से ऐसे सूक्ष्म भाव हैं, जिनके लिये यह निर्णय करना अति कठिन है कि वे मनोमय कोशसे सम्बन्ध रखते हैं या प्राणमय कोशसे। तथापि क्रियाके सूक्ष्म-भेदसे इनका भेद भी किया जा सकता है; और इस दिशामें कुछ मनोविज्ञानशास्त्रियोंने सन्तोषजनक कार्य किया भी है। इस कार्यमें जर्मनीके प्रसिद्ध मनोविज्ञानशास्त्री डॉ० फ्रायडको विशेष सफलता मिली है।

विज्ञानमय कोशको विज्ञानसम्बन्धी क्रियाओंका विभाग मानना चाहिये। मस्तिष्क बाहरसे संस्कार ले जाता है, किन्तु इन संस्कारोंको ज्ञानरूपमें विज्ञानमय कोश परिवर्तित करता है। संस्कार स्थूलशरीरपर जब पड़ते हैं तो बाहर ही रह जाते हैं। विज्ञानमय कोश उन संस्कारोंसे ज्ञान ले लेता है और वह ज्ञान स्मृतिरूपमें बाह्य संस्कारोंके बिना भी रह सकता है। विज्ञानमय कोशके व्यापारोंको हम स्मृति तथा स्वप्नकी अवस्थामें स्पष्ट ही अनुभव कर सकते हैं। इसी प्रकार अन्य ज्ञानसम्बन्धी व्यापारोंमें इसका संकेत मिलता है।

आनन्दमय कोश सब कोशोंकी अपेक्षा भीतरी कोश है। इसको कारणशरीर ही कहना चाहिये और यह कोश सब जीवोंका समान है। जाग्रत् एवं स्वप्नावस्थामें प्राणियोंकी दशा भिन्न-भिन्न होते हुए भी सुषुति-अवस्थामें कोई अन्तर नहीं होता। शरीर अथवा परिस्थितियाँ जो कि एक-दूसरे प्राणीके बीचमें भेद डालती हैं वे सब इस कालमें दूर रहती हैं। मनोमय कोशमें सुख-दु:ख दोनों होते हैं परन्तु आनन्दमयमें न सुख होता है और न दु:ख, किन्तु इन दोनोंसे भिन्न एक अनिर्वचनीय अवस्था होती है जिसको उपनिषदोंमें 'आनन्द' शब्दसे पुकारा गया है। इस अवस्थाका हम सबको प्रतिदिन सुषुतिमें अनुभव होता है, किन्तु जब हम सुषुति-अवस्थासे जाग्रत्-अवस्थामें आ जाते हैं तो हमारे पास उसको पुन: वापिस बुलाने या उसकी व्याख्या करके बतलानेकी सामग्री विद्यमान नहीं होती।

मेरी साधना!

खेल खेलता ही रहा शिशु बनकर जहाँ,
प्रेम-पाठ सीखा, ऐसी गोदका दुलारा हूँ।
भावका अभाव नेक रहा भी न होवे जहाँ,
ऐसे भावमण्डलका सदाहीसे प्यारा हूँ॥
आगे बढ़ रहा आज लेके निज कर्म-कोष,
निश्चय किया है, नाथ! हिम्मत न हारा हूँ।
तन-धन वार दिया तेरे चरणों पैं मैंने,
काया-मन-वचनसे अब तो तुम्हारा हूँ॥ १॥

—प्रेमनारायण त्रिपाठी ''प्रेम''

भक्तिरसकी पाँच धाराएँ

(लेखक—पण्डित श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

भक्ति साधारणत: दो प्रकारकी मानी गयी है—एक साधन-भक्ति और दूसरी साध्य-भक्ति। पहलीका स्वरूप है भगवान्‌के भजनकी साधना, अर्थात् भजन होने लगे—इसके लिये प्रयत्न। दूसरीका स्वरूप है, भगवान्‌का साक्षात् भजन, सेवन, उनकी सन्निधि और उनसे एकत्व। पहलीको वैधी भक्ति कहते हैं और दूसरीको रागानुगा, प्रेमलक्षणा, अथवा परा भक्ति। भगवान् स्वयं रसस्वरूप हैं; इसलिये जब जीवका, अथवा जीवकी वृत्तियोंका भगवान्‌से संयोग होता है, तब एक अनिर्वचनीय रसकी अनुभूति होती है। यदि दूसरी शैलीसे कहें तो इस प्रकार कह सकते हैं कि जब चित्त द्रवित होकर भगवदाकार हो जाता है, तब वास्तविक रसकी निष्पत्ति होती है। चित्त तो विषयोंके लिये भी द्रवित होता है और उसके साथ तदाकार भी हो जाता है। परन्तु इस तदाकारतामें स्थायित्व नहीं होता। क्योंकि वे विषय ही अस्थायी हैं, जिनके आकारमें चित्त परिणत हुआ है। इसलिये चित्त वहाँ अभावका अनुभव करके फिर दूसरे विषयके लिये द्रवित होता है और फिर तीसरेके लिये। इसीका नाम संसार-चक्र है, जिसकी गति-परम्परा तबतक शान्त नहीं हो सकती जबतक चित्तको इनसे सर्वथा मुक्त न कर दिया जाय। परन्तु जब एक बार चित्त भगवदाकार हो जाता है, तब वहाँ किसी प्रकारके अभावका अनुभव न करनेके कारण पुन: किसी दूसरे आकारमें परिणत होनेकी आवश्यकता नहीं होती। चित्त सर्वदाके लिये उसी रसमें डूब जाता है, उसी रससे एक हो जाता है। इस रसकी उपलब्धिके लिये प्रयत्न साधन-भक्ति है और इस रसकी अनुभूति साध्य-भक्ति है।

वैसे तो भगवान्‌के साथ जिस सम्बन्धको लेकर चित्त द्रवित हो जाय—गङ्गाकी धारा जिस प्रकार अखण्ड रूपसे समुद्रमें गिरती रहती है, वैसे ही जब चित्त एकमात्र भगवान्‌की ओर ही प्रवाहित होने लगे, तब कोई भी भाव, कोई भी सम्बन्ध रस ही है; क्योंकि चित्तकी द्रवावस्था ही रस है। यदि वह संसारके लिये है तो विषयकी क्षणिकताके कारण 'रसाभास' है और यदि भगवान्‌के लिये है तो उनकी रसरूपताके कारण वह वास्तविक 'रस' है। इसीको रसिक भक्तोंके सम्प्रदायमें भक्ति-रस कहा गया है। इस भक्ति-रसके पाँच प्रकार अथवा पाँच अवान्तरभेद स्वीकार किये गये हैं। वे एक दृष्टिसे तो सब-के-सब परिपूर्ण ही हैं, परन्तु दूसरी दृष्टिसे एककी गाढ़ अवस्था दूसरेके रूपमें परिणत हो जाती है। शान्तका दास्यके रूपमें, दास्यका सख्यके रूपमें, सख्यका वात्सल्यके रूपमें, वात्सल्यका माधुर्य-रसके रूपमें परिणाम होता है। इस मतमें मधुर रस ही रसका चरम उत्कर्ष है। कोई-कोई सहृदय पुरुष शान्तमें सबका परिणाम मानते हैं और कोई-कोई दास्य-रसमें। ऐसे भी आचार्य हैं जो इनको भाव, आसक्ति अथवा स्थायी रति मानते हैं और इनके द्वारा एक महान् भक्ति-रसकी परिपुष्टि मानते हैं। दृष्टिभेदसे यह सभी मत सत्य हैं। सच्ची बात तो यह है कि जिस भावका भगवान्‌के साथ सम्बन्ध है उसका स्वरूप चाहे जो भी हो, वह पूर्ण रस है। यहाँ इन पाँचोंका संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

शान्त-रस

जैसा कि रसोंके प्रसङ्गमें वर्णन आता है, रसकी अनुभूतिकी एक प्रक्रिया है। आलम्बन और उद्दीपन विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव, सञ्चारी एवं व्यभिचारी भावोंके द्वारा व्यक्त होनेवाला स्थायिभाव ही रस होता है। जिसको शान्त-रस कहा जाता है, उसके अनुभवकी भी यही प्रणाली है। इसका स्थायिभाव शान्ति-रति है। इस भावमें भगवान्‌के संयोग-सुखका आस्वादन होता है। यद्यपि परमात्माके निर्गुण स्वरूपमें स्थिति भी शान्त-रसका ही एक स्वरूप मानी जाती है, तथापि यहाँ भक्तिका प्रसङ्ग होनेके कारण सगुण भगवान्‌की अनुभूतिको ही शान्त-रसके रूपमें समझना चाहिये। निर्गुण स्थितिमें किसी प्रकारका आस्वादन न होनेके कारण और सगुण-भक्तिके आस्वादनात्मक होनेके कारण दोनोंकी विलक्षणता स्पष्ट है। इस शान्त भक्ति-रसके आलम्बन सगुण परमात्मा हैं। उनका स्वरूप ही—वह चाहे निराकार हो या साकार, चतुर्भुज हो या द्विभुज—इस रसका आलम्बन-विभाव है। इसमें दास्य आदि भावोंके समान लीलाकी विशेषता नहीं है। भगवान्‌का स्वरूप सच्चिदानन्दघन है, वे सर्वदा अपने आपमें ही स्थित रहते हैं। वे समस्त शक्तियोंके एकमात्र केन्द्र हैं, तब पवित्रताओंके एकमात्र उद्गम

हैं, जगत्‌की निखिल वस्तुओंके एकमात्र नियामक हैं। वे सबके कर्त्ता, भर्ता, संहर्त्ता हैं। सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं। ये व्यापक प्रभु ही चाहे साकाररूपमें अथवा निराकाररूपमें, अपने इष्टदेवरूपसे हृदयमें स्फुरित हुआ करते हैं। निखिल जीव और जगद्रूपी तरङ्गोंके समुद्र ये भगवान् जिस जीवके भावनेत्रोंके सामने प्रकट हो जाते हैं, उसका मन सांसारिक विषयोंकी तो बात ही क्या, मोक्षसुखका भी परित्याग करके इनके चरणोंमें आ समाता है।

शान्तरसके उपासक प्राय: दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे आत्माराम पुरुष जो भगवान् या उनके प्रिय भक्तोंकी करुणा-दृष्टिसे भगवान्‌की ओर आकर्षित हुए हैं। दूसरे वे साधक जिनका ऐसा विश्वास है कि भगवान्‌की भक्तिसे ही परम कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है। आत्माराम भक्तोंमें सनक-सनन्दनादिका नाम सबसे पहले उल्लेखनीय है। ये पाँच वर्षकी अवस्थाके गौर वर्ण नग्न और प्राय: साथ ही रहनेवाले चारों अत्यन्त तेजस्वी हैं। श्रीमद्भागवतमें ऐसा वर्णन है कि जब वे वैकुण्ठधाममें गये तो भगवान्‌के चरण-कमलोंकी सुगन्धिसे इनका वह चित्त जो अक्षरब्रह्ममें स्थित था, खिंच आया। इनका चित्त द्रवित हो गया और शरीरमें सात्त्विक भावके चिह्न प्रकट हो गये। श्रीरूपगोस्वामीने इनके भावोंका इन्हींके शब्दोंमें वर्णन किया है—

समस्तगुणवर्जिते करणतः प्रतीचीनतां
गते किमपि वस्तुनि स्वयमदीपि तावत् सुखम्।
न यावदियमद्भुता नवतमालनीलद्युते-
र्मुकुन्द सुखचिद्घना तव बभूव साक्षात्कृतिः॥

'हे प्रभो! तुम्हारे निर्गुण और इन्द्रियोंके अगोचर स्वरूपमें तभीतक अनिर्वचनीय सुखका अनुभव होता था, जबतक तुम्हारी इस अद्भुत मूर्तिका जो नवीन तमालके समान नीलकान्तिवाली है, सच्चिदानन्दमय साक्षात्कार नहीं हुआ था।' तात्पर्य यह कि भगवान्‌की आनन्दघन रूपराशिपर मुग्ध होकर ये आत्मसुखका परित्याग करके, भगवान्‌की रूप-माधुरीका पान कर रहे हैं। इसी प्रकार परम तत्त्वज्ञानी राजा जनक भगवान् रामके सौन्दर्यपर मुग्ध होकर उसीमें रम जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीके शब्दोंमें—

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥
सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥

जिन साधकोंका यह निश्चय है कि भगवान्‌की भक्तिसे ही मुक्ति मिलती है, जो विरक्त होकर प्राणपणसे साधनामें संलग्न हैं, जिनकी मुमुक्षा अभी शान्त नहीं हुई है, वे शान्तरसके तपस्वी उपासक हैं। आत्माराम भक्तोंकी कृपा और प्रेरणासे ही इनके हृदयमें शान्तरसका अनुभव हुआ करता है। एक साधक कितनी सुन्दर अभिलाषा करता है—

कदा शैलद्रोण्यां पृथुलविटपिक्रोडवसति-
र्वसानः कौपीनं रचितफलकन्दाशनरुचिः।
हृदि ध्यायं ध्यायं मुहुरिह मुकुन्दाभिधमहं
चिदानन्दं ज्योतिःक्षणमिव विनेष्यामि रजनीः॥

'पर्वतकी कन्दरामें, अथवा विशाल वृक्षकी छायामें निवास करता हुआ मैं केवल कौपीन पहने हुए, फलमूलका भोजन करते हुए और हृदयमें बार-बार चिदानन्दमय श्यामज्योति भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करते हुए अपने जीवनकी बहुत-सी रात्रियोंको एक क्षणके समान कब व्यतीत कर दूँगा? मेरे जीवनमें ऐसा शुभ अवसर कब आवेगा?' ऐसे जीवनकी अभिलाषा ही इस प्रकारके जीवनकी जननी है, जिसमें शान्तरसकी भक्ति पूर्ण होती है।

शान्तरसके उद्दीपन विभाव जिनसे शान्तरसकी पुष्टि होती है, दो प्रकारके होते हैं—एक तो असाधारण और दूसरे साधारण। असाधारण विभाव निम्न लिखित हैं—

(१) उपनिषद्, दर्शन और पुराणोंका तथा उन ग्रन्थोंका श्रवण, कीर्तन, मनन, स्वाध्याय जिनमें भगवान्‌के तत्त्व, स्वरूप, गुण, रहस्य और महिमाका वर्णन है।

(२) उस पवित्र एकान्त स्थानका सेवन जिसमें चित्त एकाग्र होता है।

(३) शुद्ध सत्त्वमय चित्तमें निरन्तर भगवान्‌की स्फूर्ति।

(४) भगवान्, जीव और जगत्‌के स्वरूपोंका पृथक्-पृथक् विवेचन और उनके सम्बन्धोंका निर्णय।

(५) भगवान्‌में ज्ञान-शक्तिकी प्रधानताका अङ्गीकर और अपने जीवनकी प्रगति भी ज्ञानानुसारिणी।

(६) सम्पूर्ण विश्वको भगवान्‌का व्यक्तरूप समझना और व्यवहारमें उसके दर्शनकी चेष्टा करना।

(७) ज्ञानप्रधान भक्तोंका सत्सङ्ग करना और अपने ही समान रुचि रखनेवाले साधकोंके साथ भगवान् और उनकी भक्तिके सम्बन्धमें चर्चा करना।

इनके अतिरिक्त साधारण उद्दीपन भी बहुत-से होते हैं। यथा—

(१) भगवान्‌की पूजाके पुष्प, तुलसी, नैवेद्य आदि प्राप्त करके मुग्ध होना।

(२) भगवान्‌की पूजाके शङ्ख, घण्टा, आरती, स्तुति आदिके पाठकी ध्वनि सुनना।

(३) पवित्र पर्वत, सुन्दर जङ्गल, सिद्ध क्षेत्र और गङ्गा आदि नदियोंका सेवन।

(४) संसारके भोगोंकी क्षणभङ्गुरताका विचार।

(५) संसारकी समस्त वस्तुएँ, अपना जीवन भी—मृत्यु-ग्रस्त हैं यह विचार इत्यादि।

हृदयमें शान्तरसका उन्मेष होनेपर बहुत प्रकारके साधारण और असाधारण चिह्न उदय हो जाते हैं, उनको अनुभाव कहते हैं। यथा—

(१) आँखोंका बंद रहना, नासाग्रपर, भ्रूमध्यपर अथवा निरालम्ब ही स्थिर रहना।

(२) व्यवहारका विशेष ध्यान नहीं रहना।

(३) चलते समय बहुत इधर-उधर नहीं देखना, सामने चार हाथतक देखना।

(४) स्थिर, धीर, गम्भीर भावसे बैठे रहना, ज्ञानमुद्राका अवलम्बन।

(५) भगवान्‌के प्रति द्वेषभाव रखनेवालेसे भी द्वेष न करना तथा प्रेमभाव रखनेवालेसे भी अत्यन्त प्रेम न करना।

(६) सिद्ध-अवस्था अथवा जीवन्मुक्तिके प्रति आदर भाव।

(७) किसीकी अपेक्षा नहीं रखना, किसीसे ममता नहीं करना और कभी अहङ्कारका भाव नहीं आना।

(८) संसार और व्यवहारके सम्बन्धमें स्फुरणाका न होना और बहुत कम वार्तालाप करना। इत्यादि

इनके अतिरिक्त साधारण अनुभाव भी प्रकट होते हैं। यथा—

(१) बार-बार भगवान्‌को नमस्कार करते रहना।

(२) सत्सङ्गियोंको भगवद्भक्तिका उपदेश करना।

(३) भक्तोंके साथ भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना आदि करना।

(४) भावोदय होनेपर जमुहाई आना, शरीर तोड़ना आदि।

शान्तरसके उदय होनेपर सात्त्विक भावोंका भी प्रकाश होता है। परन्तु इस रसके उपासक प्रायः शरीरसे ऊपर उठे रहते हैं और बड़ी सावधानीके साथ शरीरभावसे अपनी रक्षा करते हैं। इसलिये इनके हृदयमें तो समस्त सात्त्विक भाव प्रकट होते हैं। परन्तु शरीरमें रोमाञ्च, स्वेद, कम्प आदि कुछ थोड़ेसे ही प्रकट होते हैं। प्रलय, उन्माद और मृत्यु आदि सात्त्विक भाव प्रायः इनके शरीरमें नहीं देखे जाते। संसारके प्रति निर्वेद (वैराग्य), विपत्ति आनेपर धैर्य, भगवद्भक्तके मिलनसे हर्ष, विस्मरणसे विषाद और भी बहुत-से सञ्चारी भाव शान्तरसके पोषक हैं। शान्तरसका स्थायिभाव शान्तिरति है, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। यह दो प्रकारकी होती है—एक समा और दूसरी सान्द्रा। जब मन वृत्तिशून्य होकर ब्रह्मरूपसे स्थित हो जाता है, असम्प्रज्ञात समाधि लग जाती है, तब कहीं यदि उस समाधिमें भगवान् प्रकट हो जायँ और उनको देखकर योगीका चित्त प्रेममुग्ध हो जाय, तो इसको शान्तरसकी समरति कहेंगे। समस्त अज्ञानके ध्वंस हो जानेपर निर्विकल्प समाधिमें जो एकरस निर्विशेष अनन्तके रूपमें अनुभव होता है, वही तो उस अनन्त आनन्दको भी अनन्तगुना बनाकर नन्दनन्दन श्यामसुन्दरके रूपमें प्रकट हुआ है। इस प्रकारकी अनुभूति सान्द्र शान्तिरतिके नामसे प्रसिद्ध है। भगवान्‌के साक्षात्कारके लिये उत्सुकता और साक्षात्कार दोनों स्थितियाँ इस रसके अन्तर्गत हैं।

शान्तरस साहित्यिकोंके मतमें भी सर्ववादिसम्मत रस है। नाट्यशास्त्रके आचार्योंने शान्तको इसलिये रस नहीं माना है कि शान्तिरति निर्विकार है। रंगमञ्चपर किसी भावभङ्गीके द्वारा उसका प्रदर्शन सम्भव नहीं है। परन्तु काव्य एवं भक्ति-साहित्यमें इसका साक्षात्कार होनेके कारण इसकी रसता निर्विवाद सिद्ध है। भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें शमकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'मुझमें परिनिष्ठित बुद्धिका नाम शम है।' यदि शान्तिको रतिके रूपमें स्वीकार नहीं किया जाय, तो इस निष्ठाकी उपपत्ति कैसे हो सकती है? श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराणमें शान्तरसका लक्षण इस प्रकार किया गया है।

नास्ति यत्र सुखं दुःखं न द्वेषो न च मत्सरः।
समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः॥

'जिसमें न सुख है और न तो दुःख, न द्वेष है और

न तो मात्सर्य, जो समस्त प्राणियोंमें सम भाव है, वही शान्तरसके नामसे प्रसिद्ध है।' इस शान्तरसमें और सम्पूर्ण रसोंका अन्तर्भाव हो सकता है। वीर, करुण, शृङ्गार आदि रस परिणत होते हुए, जब अहङ्कारसे नितान्त रहित हो जाते हैं, तो शान्तरसमें उनका पर्यवसान हो जाता है। इस रसका स्थायिभाव शान्तिरति है, इसमें पूर्वाचार्योंका मतभेद है। किसी-किसीके मतमें शान्तरसका स्थायिभाव धृति है। व्यवहारमें चाहे जैसी भी घटना घट जाय, किन्तु धृति अविचलित रहे, यही शान्तरसका पूर्वरूप स्थायिभाव है। कोई-कोई कहते हैं—शान्तरसका स्थायिभाव निर्वेद है। निर्वेद दो प्रकारका होता है। एक तो अभीष्ट वस्तुकी अप्राप्तिसे और अनिष्ट वस्तुके संयोगसे होता है। यह स्थायिभाव नहीं हो सकता, यह व्यभिचारी भाव है। परन्तु तत्त्वज्ञानके उदयसे जो जागतिक विषयोंके प्रति सहज निर्वेद है, वह शान्तरसका स्थायिभाव हो सकता है। शान्तरसका स्थायिभाव चाहे शान्तिरति हो, धृति हो अथवा निर्वेद हो इनमेंसे किसीके द्वारा साधकके चित्तमें शान्तरसका उद्रेक होना चाहिये। शान्तरसका उन्मेष होनेपर भगवत्तत्त्वका अनुभव होने लगता है और इससे बढ़कर जीवके लिये सौभाग्यकी और कौन-सी बात हो सकती है? जहाँतक शान्तरसकी गति और स्थिति है, वहाँतक पहुँचनेपर ही जाना जा सकता है कि इसके बाद भी कोई स्थिति है या नहीं। इसलिये सम्पूर्ण शक्तिसे इस शान्तरसका ही अनुभव करना चाहिये।

दास्यरस

दास्यरसका स्थायिभाव प्रीति है। यही जब आलम्बन, उद्दीपन, विभाव, सात्त्विक भाव आदिसे सुपुष्ट और व्यक्त होता है, तब दास्यरसके नामसे कहा जाता है। कुछ लोग इसको प्रीतिभक्तिरस कहते हैं। कई आचार्योंने इसे शान्तरसके अन्तर्गत ही माना है। परन्तु उसकी अपेक्षा इसमें कुछ विशेषता अवश्य है। शान्तरसमें स्वरूप-चिन्तनकी प्रधानता है, दास्यरसमें ऐश्वर्यचिन्तनकी। दास्यरसके दो भेद माने गये हैं—एक तो सम्भ्रमजनित दास्य और दूसरा गौरवजनित दास्य। सम्भ्रमजनित दास्य वह है, जिसमें साधक भगवान्‌के अनन्त ऐश्वर्य, प्रभाव, महत्त्व, शक्ति, प्रतिष्ठा, गुणोंका आधिक्य और चरित्रकी अलौकिकता आदि देखकर, जानकर अपने सेव्यके रूपमें प्रभुका वरण कर लेता है और उनकी सेवाके रसमें ही अपनेको डुबा देता है। गौरव-प्रीतिरस वह है जिसमें भगवान्‌के साथ कोई गौरवका सम्बन्ध रहता है। जैसे भगवान्‌के पुत्र प्रद्युम्न, साम्ब आदि गुरुबुद्धिसे भगवान्‌की सेवा किया करते थे। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि दास्यरसके आलम्बन भगवान् सगुण ही होते हैं। यद्यपि निराकार भगवान्‌के आज्ञापालनके रूपमें वेदोक्त सदाचारका अनुष्ठान और विश्व-सेवाकार्यके द्वारा भी दास्यरसका अनुभव किया जा सकता है। इस व्यक्त जगत्‌को भगवान्‌का रूप समझकर इसकी सेवा करना भी दास्यरसके अन्तर्गत हो सकता है, तथापि रसिक भक्तोंने सगुण साकार अनन्त ऐश्वर्योंके निधि द्विभुज, चतुर्भुज आदि आकार विशिष्ट भगवद्विग्रहको ही दास्यरसका आलम्बन स्वीकार किया है।

भगवान्‌का ऐश्वर्य अनन्त है। उनके एक-एक रोमकूपमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंका निवासस्थान है। इतने ऐश्वर्यवान् होनेपर भी वे करुणाके तो समुद्र ही हैं। उनकी शक्ति अचिन्त्य है। समस्त सिद्धियाँ उनकी सेवामें तत्पर रहती हैं। संसारमें जितने भी देवी-देवता हैं, उन्हींके अंशविशेष हैं और जितने भी अवतार होते हैं, उनके वे ही बीजस्वरूप हैं। उनकी सर्वज्ञता, क्षमाशीलता, शरणागत-वत्सलता और अनुकूलता, सत्यता, सर्वप्राणिहितैषिता आदि सद्गुण आत्माराम पुरुषोंके चित्तको भी अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। उनके प्रतापसे ही संसारकी गति नियमित है, उनकी धारणा-शक्तिसे ही धर्म सुरक्षित है। वे सब शास्त्रोंकी मर्यादाके स्थापक और पालक हैं। बड़े उदार हैं, महान् तेजस्वी हैं। एक बार भूलसे भी उनका कोई स्मरण करके भूल जाय, तब भी वे कभी नहीं भूलते। वे कृतज्ञताकी मूर्ति हैं, सबके अकारण हितू हैं। जो प्रेम करे उसीके वशमें हो जाते हैं। इस प्रकारके परम उदार, परम ऐश्वर्यशाली भगवान् ही दास्यरसके आलम्बन हैं।

भगवान्‌के दास उनके आश्रित होते हैं। भगवान्‌पर उनका अखण्ड विश्वास होता है, वे सर्वात्मना भगवान्‌की आज्ञाका पालन करते हैं और भगवान्‌के अप्रतिहत ऐश्वर्यके ज्ञानसे उनका अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग सम्पूर्ण जीवन भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित एवं नमित रहता है। इनके चार प्रकार होते हैं—अधिकृत, आश्रित, पार्षद और अनुगामी। अधिकृत भक्तोंकी श्रेणीमें शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, सूर्य आदि देवतागण हैं। ये भगवान्‌की किस प्रकारकी सेवा करते हैं? इसका एक उदाहरण देखिये—

का पर्येत्यम्बिकेयं हरिमवकलयन् कम्पते कः शिवोऽसौ
तं कः स्तौत्येष धाता प्रणमति विलुठन् कः क्षितौ वासवोऽयम्।
कः स्तब्धो हस्यतेऽद्धा दनुजभिदनुजैः पूर्वजोऽयं ममेत्थं
कालिन्दी जाम्बवत्यां त्रिदशपरिचयं जालरन्ध्राद् व्यतानीत्॥

'कोठेपर खिड़कीके पास खड़ी होकर जाम्बवतीके पूछनेपर कालिन्दी देवताओंका परिचय करा रही हैं—यह प्रदक्षिणा कौन कर रही हैं? यह अम्बिका देवी हैं। भगवान्‌का दर्शन करके यह काँप कौन रहे हैं? ये शिव हैं। ये स्तुति कौन कर रहे हैं? ये ब्रह्मा हैं। ये जमीनमें लोटकर नमस्कार कौन कर रहे हैं? ये इन्द्र हैं। ये स्तब्ध कौन खड़े हैं, देवतालोग जिनकी हँसी उड़ा रहे हैं? ये मेरे बड़े भाई यमराज हैं।' इससे स्पष्ट होता है कि सभी देवता द्वारकामें आ-आकर भगवान्‌का दास्य करते हैं। यह कोई नयी बात नहीं है, व्रज और वैकुण्ठकी ऐसी बहुत-सी कथाएँ मिलती हैं। देवताओंके सहज वर्णनमें भी यह बात आती है कि वे सदा-सर्वदा भगवान्‌की दास्य-भक्तिमें ही तन्मय रहते हैं।

आश्रित भक्तोंकी तीन श्रेणियाँ हैं—शरणागत, ज्ञानी और सेवानिष्ठ। जरासन्धके द्वारा कैद किये हुए राजा लोग, भगवान्‌का अनुग्रहपात्र होनेपर कालियनाग—ये सब शरणागतश्रेणीके आश्रित हैं। जिन्होंने मुमुक्षा और जिज्ञासाका भी परित्याग कर दिया है और मोक्ष एवं ज्ञानका परित्याग करके भगवान्‌का ही आश्रयण किया है, वे ज्ञानी आश्रित हैं। इस श्रेणीमें शौनक आदि ऋषिगण आते हैं। इस श्रेणीके एक भक्त कहते हैं—

ध्यानातीतं किमपि परमं ये तु जानन्ति तत्त्वं
तेषामास्तां हृदयकुहरे शुद्धचिन्मात्र आत्मा।
अस्माकं तु प्रकृतिमधुरः स्मेरवक्त्रारविन्दो
मेघश्यामः कनकपरिधिः पङ्कजाक्षोऽयमात्मा॥

'जो ध्यानातीत किसी एक परम तत्त्वको जानते हैं, उनके हृदयमें वह विशुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा रहे, हमारे तो जो स्वभावसुन्दर, परम मधुर हैं जिनके मुख-कमलपर मन्द-मन्द मुस्कान है, वर्षाकालीन मेघके समान जिनकी कान्ति है, जो पीताम्बरधारी एवं कमलनयन हैं, वे श्रीकृष्ण ही आत्मा हैं।' वे ही प्राणप्रिय हैं, वे ही सेव्य हैं। हमें और किसी दूसरे आत्मासे और कोई काम नहीं।

जो सच्चे हृदयसे भगवान्‌के भजनमें ही आसक्त हैं, वे सेवानिष्ठ आश्रितोंकी श्रेणीमें हैं। इसमें चन्द्रध्वज, हर्यश्व, इक्ष्वाकु, श्रुतदेव आदिका नाम लिया जा सकता है। इस श्रेणीके भक्तका हृद्गत भाव इस प्रकार होता है—हे प्रभो! जो सर्वदा आत्मामें ही रमण करनेवाले हैं, वे तुम्हारे गुणोंका श्रवण करनेके लिये उस सभामें सम्मिलित होने लगते हैं, जिसमें तुम्हारे गुणोंका गायन होता है। जो एकान्त जंगलमें रहकर घोर तपस्यामें अपना जीवन व्यतीत करते हैं, वे तुम्हारे उदार चरित्र सुननेके लिये प्रेमी भक्तोंके सामने भिक्षुकके रूपमें उपस्थित होते हैं। इसलिये मैं न तो स्वरूप-स्थिति चाहता हूँ और न तो निर्विकल्प समाधि। मैं तुम्हारी सेवामें रहूँ, तुम्हारी आज्ञाका पालन करूँ, तुम्हारी सन्निधिमें रहकर निरन्तर तुम्हारी प्रसन्नता अनुभव किया करूँ—यही मेरे जीवनकी एकमात्र अभिलाषा है।

भगवान्‌की नित्य लीलामें और समय-समयपर प्रकट होनेवाली लीलामें भी उनके नित्य पार्षद रहते हैं। वैकुण्ठमें विष्वक्सेन आदि, द्वारकाकी लीलामें उद्धव, दारुक आदि और हस्तिनापुरकी लीलामें भीष्म, विदुर आदि भगवान्‌के पार्षद श्रेणीके भक्त हैं। यद्यपि ये विभिन्न कार्योंमें नियुक्त रहते हैं, कोई मन्त्रीका काम करता है तो कोई सारथीका, तथापि ये अवसर पानेपर भगवान्‌की शरीरतः सेवा करते हैं और उससे अपनेको कृतकृत्य मानते हैं। अनुगामी भक्त भगवान्‌की सेवामें सर्वदा संलग्न रहते हैं। भगवान्‌के चरणोंमें इनकी दृढ़ आसक्ति होती है। द्वारकामें सुचन्द्र, मण्डल आदि अनुग भक्त छत्र-चमर आदि धारण करते हैं और व्रजमें रक्तक, पत्रक आदि दासगण भगवान्‌के वस्त्र आदिके परिष्कार आदिकी सेवा करते हैं। जैसे द्वारकाके भक्तोंमें उद्धव श्रेष्ठ हैं, वैसे ही व्रजके भक्तोंमें रक्तक श्रेष्ठ है। इनके तीन भेद होते हैं यथा—धूर्य, धीर और वीर। धूर्य वे हैं जो महल और दरबार दोनोंमें एक-सी सेवा करते हैं। धीर श्रेणीके सेवक भगवान्‌के प्रेयसी-वर्गका आश्रय लेकर विशेष सेवा न करनेपर भी अपना मुख्य स्थान रखते हैं। वीर सेवक भगवान्‌के आश्रयसे निर्भीक रहता है और किसीकी अपेक्षा नहीं रखता। भगवान्‌के चरणोंमें इसका अतुलनीय प्रेम होता है। यह कभी-कभी अपनी प्रौढ़तावश कह बैठता है कि मुझे न बलरामसे काम है और न प्रद्युम्नसे कुछ लेना है। भगवान्‌की कृपासे मैं इस प्रकार बलवान् हो गया हूँ कि मैं सत्यभामाको भी कुछ नहीं गिनता। अबतक जितने प्रकारके दासोंकी गिनती की गयी है, वे सभी तीन श्रेणियोंमें बाँटे जा सकते हैं—एक तो नित्यसिद्ध, दूसरे साधनासिद्ध

और तीसरे जो अभी साधना कर रहे हैं। इन सभीके चित्तमें अनुदिन दास्य-रतिकी अभिवृद्धि हुआ करती है।

दास्यरसमें साधारण और असाधारण अनेकों प्रकारके उद्दीपन-विभाव होते हैं, यथा—

(१) पद-पदपर भगवान्‌की कृपाका अनुभव।

(२) उनके चरणोंकी धूलिकी प्राप्ति।

(३) भगवान्‌के प्रसादका सेवन।

(४) भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंका सङ्ग।

(५) भगवान्‌की वंशी, शृङ्ग आदिकी ध्वनिका श्रवण।

(६) भगवान्‌की मन्द-मन्द मुस्कान और प्रेमभरी चितवन।

(७) भगवान्‌के गुण, प्रभाव, महत्त्व आदिका श्रवण।

(८) कमल, पदचिह्न, मेघ, अङ्गसौरभ आदि।

जिनके हृदयमें दास्यरसका उदय हो गया है, उनके जीवनमें बहुत-से अनुभाव प्रकट हो जाते हैं, यथा—

(१) भगवान् जिस कर्ममें नियुक्त कर दें, उसीको सर्वश्रेष्ठ समझकर स्वीकार करना।

(२) किसीके प्रति ईर्ष्याका लेश भी नहीं होना।

(३) जो अपनेसे अधिक सेवा करता है, उससे प्रसन्नता और भगवद्भक्तोंसे मित्रता।

(४) भगवान्‌की सेवामें ही रति, उसीमें प्रीति और उसीकी निष्ठा। दास्यके अवसरकी प्राप्तिसे और उनकी अप्राप्तिसे भी स्तम्भ आदि सात्त्विक भावोंका उद्रेक होता है। हर्ष, गर्व आदि भाव भी समय-समयपर स्फुरित हुआ करते हैं। भगवान्‌के ऐश्वर्य और सामर्थ्यके ज्ञानसे जो आदरपूर्वक सम्भ्रम होता है, उसके साथ मिलकर प्रीति ही सम्भ्रम प्रीतिका नाम धारण करती है। दास्यरसमें यही स्थायिभाव है। यह सम्भ्रम प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती हुई प्रेम, स्नेह और रागका रूप धारण करती है। अकस्मात् भगवान्‌के मिलनसे जो आदरभावपूर्वक ससम्भ्रम प्रेम है, वह सम्भ्रम प्रीति है। यही भाव जब इतना दृढ़ हो जाता है कि ह्रासकी कोई आशङ्का नहीं रहती, तब इसे ही प्रेम कहते हैं। इस अवस्थामें प्रेम इतना स्वाभाविक हो जाता है कि भगवान् चाहे सौख्यके महान् समुद्रमें डाल दें, अथवा घोर दुःखमय नरकमें, कहीं भी चित्तमें विकार नहीं होता। भगवान्‌के चरणोंका पूरा विश्वास बना रहता है। यही प्रेम जब और घना होकर चित्तको अत्यन्त द्रवित कर देता है, तब इसका नाम स्नेह होता है। इसमें एक क्षणका वियोग भी सहन नहीं होता। यदि कहीं एक क्षणके लिये कृत्रिम वियोग हो जाय तो भी प्राणान्तकी नौबत आ जाती है। यही स्नेह जब इतना गाढ़ हो जाता है कि दुःख भी सुख मालूम होने लगता है, तब उसका नाम राग होता है। इस अवस्थामें अपने प्राणोंका नाश करके भी भगवान्‌की सेवा करनेका प्रयत्न होता है। इस अवस्थामें थोड़ा-बहुत सख्यका भी उदय हो जाता है। यदि भगवान् इस श्रेणीके किसी सेवकको कभी अपने हृदयसे लगा लेते हैं, तो वह लग तो लेता है, किन्तु उसके चित्तमें कुछ सङ्कोच रहता है।

सेवककी दो अवस्थाएँ होती हैं—एक तो भगवान्‌के साथ योगकी और दूसरी अयोगकी। भगवान्‌के साथ न रहकर सेवासे वञ्चित रहना, यह अयोग-अवस्था है। इसमें मन भगवान्‌में ही रहता है, प्रायः भगवान्‌के गुणोंका अनुसन्धान और उनके मिलनके उपायका चिन्तन हुआ करता है। इसके दो भेद हैं—उत्कण्ठा और वियोग। भगवान्‌के जबतक एक बार भी दर्शन नहीं हुए रहते, परन्तु उनके दर्शनकी बड़ी इच्छा रहती है, तबतककी अवस्थाका नाम उत्कण्ठा है। इस अवस्थामें कृष्णसार मृगका नाम सुनकर कृष्णकी स्मृति हो आती है। श्याम मेघको देखकर घनश्यामको पानेकी उत्कण्ठा तीव्र हो आती है। इस अवस्थामें विरहके सभी भावोंका उदय होता है। भगवान्‌के पानेकी उत्सुकता, अपनी दीनता, संसारसे निर्वेद, आशा-निराशा, जड़ता, उन्माद—सभी एक-एक करके आते रहते हैं। भगवान्‌के दर्शन बिना एक-एक क्षण कल्पके समान मालूम होने लगता है। निरन्तर हृदयसे सच्ची प्रार्थनाकी धारा प्रवाहित होने लगती है। आगे चलकर तो ऐसी स्थिति हो जाती है कि व्यवहारका ध्यान नहीं रहता, आँखें निर्निमेष दर्शनकी प्रतीक्षा करने लगती हैं। भक्त प्रेमोन्मादमें मस्त होकर कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी निःसङ्कोच नाचने लगता है, कभी तन्मय होकर भगवान्‌की लीलाओंका ही अनुकरण करने लगता है, कभी मूर्च्छा हो जाती है तो कभी मृत्युकी-सी भी दशा हो जाती है। इसी अवस्थामें जाकर प्रेमपरवश भगवान्‌को दर्शन देनेके लिये बाध्य होना पड़ता है।

एक बार या अनेक बार भगवान्‌का दर्शन प्राप्त

होनेके पश्चात् जो भगवान्का विरह होता है, उसको वियोग-अवस्था कहते हैं। भगवान्के मिलनका सुख ही ऐसा है कि जिसे एक क्षणके लिये भी प्राप्त हो जाता है, वह उसके विरहमें बड़ी कठिनाईसे जीवन धारण करता है। परन्तु संसारकी अपेक्षा उसकी यह कठिनाई भी परम रसमय है। भगवान्के विरहमें हृदयमें इतना ताप होता है कि सम्पूर्ण अग्नि और सूर्य भी वैसी जलन नहीं पैदा कर सकते। शरीर दुर्बल हो जाता है, चेहरा पीला पड़ जाता है, नींद नहीं आती, उनके सिवा चित्त कहीं स्थिर नहीं होता, धैर्यका बाँध टूट जाता है, पीड़ासे शरीर जर्जर, शिथिल और अविचल हो जाता है, श्वासकी गति बढ़ जाती है, मानसिक व्याधि, उन्माद, मूर्च्छा और मृत्यु, पुनः जीवन और फिर वही अवस्थाएँ—उसकी ये ही अवस्थाएँ हुआ करती हैं। यह ध्यान रखना चाहिये कि भगवत्प्रेमीके शरीरमें जो व्याधि, उन्माद, मूर्च्छा आदि होते हैं, ये लौकिक नहीं, लोकोत्तर होते हैं। भगवान्के प्रेमराज्यमें मृत्युका तो प्रवेश ही नहीं है। वहाँ जो ये अवस्थाएँ आती हैं, सो सब संयोग-सुखकी अभिवृद्धिके लिये। इसलिये प्रेमीकी यह मृत्यु भी जीवनसे बढ़कर है; क्योंकि रसस्वरूप भगवान्की सन्निधिमें यह पहुँचा देती है। यह वियोग संयोगका पोषक होनेके कारण रसस्वरूप है।

योग-अवस्थाके तीन भेद हैं—सिद्धि, तुष्टि और स्थिति। उत्कण्ठित अवस्थामें भगवान्की जो प्राप्ति होती है, उसको सिद्धि कहते हैं। श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें अक्रूरकी उत्कण्ठा और उनकी भगवत्प्राप्तिका वर्णन है, यह सिद्धि-अवस्था है। भगवान्का वियोग होनेके पश्चात् जो मिलन होता है उसको तुष्टि कहते हैं। ऐसा वर्णन आता है कि द्वारकाके द्वारपर दारुकने जब भगवान्को देखा तब उसको इतना आनन्द हुआ कि अञ्जलि बाँधकर भगवान्को प्रणाम भी नहीं कर सका। उसकी दशा चित्रलिखित-सी हो गयी। इसीका नाम तुष्टि है। स्थिति-अवस्था उसे कहते हैं—जिसमें भगवान्से कभी वियोग नहीं होता। इस स्थिति-अवस्थामें भक्त प्रत्येक क्षण बड़ी सावधानीसे भगवान्की सेवामें ही व्यतीत करता है। भगवान्के दास्य-रसके भक्तोंके लिये इससे बढ़कर वाञ्छनीय कोई अवस्था नहीं हो सकती। वे परमानन्दके महान् समुद्रमें स्थित रहकर भगवान्की अवसरोचित सेवा किया करते हैं। कहाँ बैठना, कहाँ खड़े रहना, कैसे बोलना, कैसी चेष्टा करना—सब उनके नियमित रहते हैं। सख्यमिश्रित दास्यमें कभी-कभी कुछ प्रगल्भता भी आ जाती है, परन्तु वह कभी-कभी ही होती है।

गौरवप्रीतिजनित दास्यमें पिता, बड़े भाई, गुरु आदिके रूपमें भगवान्की सेवा की जाती है। सर्वश्रेष्ठ कीर्तिमान्, परम ज्ञानसम्पन्न, परम शक्तिमान् एकमात्र रक्षक, दुलार करनेवाले पिता आदिके रूपमें भगवान् श्रीकृष्ण आलम्बन हैं। उनके प्रेम या दुलारके पात्र सारण, गद, सुभद्र आदि छोटे भाई, प्रद्युम्न, साम्ब आदि पुत्र भी आलम्बन हैं। ये भगवान्से नीचे आसनपर बैठकर उनसे उपदेश ग्रहण करते हैं। साथ भोजन करते हैं। भगवान् इनका सिर सूँघते हुए आलिङ्गन करते हैं। ये उनका स्नेह देख मुग्ध होते रहते हैं। सम्भ्रमजनित दास्यमें भगवान्के ऐश्वर्यका ज्ञान प्रधान रहता है। परन्तु भगवान्के प्यारे इन सम्बन्धियोंमें तो सम्बन्धकी ही स्फूर्ति प्रधान रहती है। व्रजमें किसी प्रकारके ऐश्वर्यकी धारणा न होनेपर ही व्रजराजकुमार होनेके कारण कुछ-कुछ ऐश्वर्यका लेश भी रहता ही है। भगवान्के वात्सल्यका स्मरण उनकी प्रसन्नतासूचक मुस्कान और प्रेमभरी चितवनका स्मरण आदि इस रसके उद्दीपन हैं। भगवान्के सामने नीचे आसनपर बैठना, उनकी आज्ञाका पालन, उनके कार्य-भारका ग्रहण, उच्छृङ्खलताका त्याग—ये सब अनुभाव इस रसमें प्रकट होते हैं। सात्त्विक और सञ्चारीभाव भी यथावसर प्रकट हुआ करते हैं।

गौरवप्रीति क्रमशः विकसित होकर प्रेम, स्नेह और रागका रूप धारण कर लेती है। इनका वर्णन सम्भ्रमप्रीतिमें जैसा हुआ है, वैसा ही समझना चाहिये। योग और अयोग अवस्थाओंके भेद-विभेद भी उतने ही और वैसे ही हैं। गौरवप्रीति और सम्भ्रमप्रीति दोनों ही दास्यरसके स्थायिभाव हैं। जिन्हें भगवान्के इस प्रेममयी, रसमयी अवस्थाका अनुभव नहीं है, वे इसे रस नहीं मानते। परन्तु श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थोंमें इस अवस्थाकी रसमयताका सुन्दर वर्णन हुआ है। जीवके लिये इससे बढ़कर और कौन-सी सरस और आनन्दमयी अवस्था होगी, जब वह अपने प्रियतम प्रभुकी सन्निधिमें रहकर उनके कृपा-प्रसादका अनुभव करता हुआ उन्हींकी सेवामें संलग्न रहे। **'भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः'** कहकर भागवतकारने इसके परमानन्दस्वरूपकी ओर निर्देश किया है।

सख्य-रस

इस रसमें सख्यरति ही स्थायी होकर रसका रूप ग्रहण करती है। कुमार, पौगण्ड और किशोर अवस्थाके श्रीकृष्ण एवं उनके सखा इसके आलम्बन हैं। व्रजमें मरकतमणिके समान श्यामसुन्दर शरीर, कुन्दके समान निर्मल हास्य, चमकता हुआ पीताम्बर, वनमाला, जादूभरी वंशी—ये सब-के-सब सख्य-रसकी धारा प्रवाहित करते रहते हैं। द्वारकामें और हस्तिनापुरमें भी श्रीकृष्णके समवयस्क अर्जुन आदि सखा हैं और वे सख्य-रसके अनुसार श्रीकृष्णसे व्यवहार करते हैं। सखाके रूपमें श्रीकृष्ण अपने सब सखाओंसे बलवान् हैं, सबसे अधिक भाषाके ज्ञाता, वक्ता और विद्वान्, प्रतिभा, दक्षता, करुणा, वीरता, विदग्धता, बुद्धिमत्ता, क्षमा और प्रसन्नतामें अतुलनीय। सखा भी रूप, वेष, गुण आदिमें उनके समान ही होते हैं। दासोंके समान नियन्त्रणमें नहीं रहते। अपने सखा श्रीकृष्णपर सम्पूर्ण रूपसे निर्भर रहते हैं। अर्जुन, भीमसेन, द्रौपदी, सुदामा—ये सब द्वारकाके सखा हैं। व्रजके सखा सर्वदा श्रीकृष्णके साथ क्रीड़ा किया करते हैं। उनके जीवन ही श्रीकृष्ण हैं। एक क्षण भी अपने सखा श्रीकृष्णका दर्शन न पाकर वे दीन हो जाते हैं। इनके प्रेम और सौभाग्यकी तुलनामें और किसीका भी नाम नहीं लिया जा सकता। बलराम, श्रीदामा, सुबल आदि यहाँके प्रसिद्ध सखा हैं। कितना प्रेम है—इनका श्रीकृष्णके प्रति, वर्णन नहीं किया जा सकता। श्रीकृष्ण अपने ऐश्वर्यमय रूपसे, अपने बायें हाथकी कानी अँगुलीपर गोवर्द्धन पर्वत उठाये हुए हैं। परन्तु ग्वालबालोंके लिये तो वे अपने सखा ही हैं, उन्हें उनके ऐश्वर्यका ध्यान कहाँ? वे जाकर उनसे कहने लगे—

उन्निद्रस्य ययुस्तवात्र विरतिं सप्त क्षपास्तिष्ठतो
हन्त श्रान्त इवासि निक्षिप सखे श्रीदामपाणौ गिरिम्।
आधिर्विध्यति नस्त्वमर्पय करे किंवा क्षणं दक्षिणे
दोष्णस्ते करवाम काममधुना सव्यस्य संवाहनम्॥

'सखे! तुम नींद छोड़कर सात दिनसे खड़े हो, बड़े कष्टकी बात है। अब तुम बहुत थके-से जान पड़ते हो, अब परिश्रम करनेकी आवश्यकता नहीं। श्रीदामाके हाथपर पर्वत रख दो अथवा हमारे हाथमें ही दे दो। तुम्हें इस प्रकार देखकर हमारे हृदयमें बड़ा दुःख हो रहा है। यदि ऐसा करनेकी इच्छा नहीं हो, तो थोड़ी देरके लिये उसे दाहिने हाथमें ले लो, हम तुम्हारे बायें हाथका थोड़ा संवाहन तो कर लें। उसे हाथसे दबाकर उसकी पीड़ा तो कम कर दें।'

इनकी चार श्रेणियाँ होती हैं—सुहृद्, सखा, प्रियसखा और प्रियनर्मसखा। सुहृदोंकी अवस्था कुछ बड़ी होती है, उनमें वात्सल्यमिश्रित सख्य रहता है। वे अपने सखा श्रीकृष्णकी रक्षा करनेके लिये सर्वदा तैयार रहते हैं। इस श्रेणीमें सुभद्र, मण्डलीभद्र, बलभद्र आदि सखा हैं। ये भरसक श्रीकृष्णको अकेले नहीं छोड़ते। अपने बिना उनको अरक्षित समझते हैं। इनके चित्तमें अनिष्टकी आशङ्का बार-बार आया करती है और ये सर्वदा सजग रहते हैं। सखा-श्रेणीके ग्वाल-बाल अवस्थामें कुछ छोटे रहनेपर भी समान ही रहते हैं। इनमें दास्यमिश्रित सख्य होता है। विषाद, ओजस्वी, देवप्रस्थ आदि इस श्रेणीमें हैं। ये वनमें, गोष्ठमें और जलमें सर्वदा श्रीकृष्णकी सेवामें संलग्न रहते हैं। खेलमें इनका सख्य प्रकाशमें आ जाता है। प्रिय सखाओंकी श्रेणीमें श्रीदामा, सुदामा आदि हैं। इनकी अवस्था श्रीकृष्णके समान है और इनमें केवल विशुद्ध सख्य है। ये श्रीकृष्णके साथ कुश्ती लड़ते, लाठी चलाते, तरह-तरहके खेल खेलते हैं। कोई श्रीकृष्णसे विनोद करता है, कोई पुलकित शरीरसे उनका आलिङ्गन करता है। श्रीकृष्णका क्षणिक वियोग भी इनके लिये असह्य है। प्रियनर्मसखाओंकी श्रेणी प्रिय-सखाओंकी अपेक्षा और भी अन्तरङ्ग है। ये अत्यन्त रहस्यमें भी सम्मिलित रहते हैं और गोपियोंके सन्देश-पत्र आदि श्रीकृष्णके पास ले आते हैं और उनके पास पहुँचाते भी हैं। इस श्रेणीमें सुबल, उज्ज्वल आदि हैं। ये चारों श्रेणियाँ व्रजके सखाओंमें ही होती हैं। इनमेंसे कोई बड़े-बड़े विद्वान् भी हैं। कोई सरल हैं तो कोई चतुर, कोई चपल हैं तो कोई गम्भीर, कोई बहुत बोलनेवाले हैं तो कोई चुप रहनेवाले। इनकी सभी चेष्टाएँ श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये होती हैं। प्रकृति भिन्न-भिन्न होनेपर भी ये बड़े ही मधुर हैं। इनकी पवित्र मित्रता और विचित्रता श्रीकृष्णको भी मोहित कर लेती है।

सख्य-रसके उद्दीपनोंमें बहुत-सी वस्तुएँ हैं यथा—

(१) श्रीकृष्णकी कुमार, पौगण्ड और किशोर अवस्थाएँ।

(२) श्रीकृष्णकी मुनिजन-मनोमोहिनी लोकोत्तर सुन्दरता।

(३) श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि, शृङ्गध्वनि आदि।

(४) श्रीकृष्णकी विनोदप्रियता, मधुर भाषण।

(५) श्रीकृष्णकी लीलाप्रियता, उछलना, कूदना, नाचना, गाना आदि।

(६) श्रीकृष्णके प्रियजनोंके आनन्द और सौभाग्यका स्मरण।

(७) श्रीकृष्णके द्वारा राजा, देवता, अवतार, हंस आदिका अनुकरण।

(८) श्रीकृष्णका अपने सखाओंके साथ अत्यन्त प्रेमपूर्ण और समान व्यवहार।

इन बातोंके श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चिन्तनसे हृदयमें सख्य-रस प्रकट होता है। सख्य-रसके प्रकट होनेपर निम्नलिखित अनुभाव स्वयं ही स्फुरित होने लगते हैं—

(१) श्रीकृष्णके साथ गेंद खेलना, कुश्ती लड़ना, एक-दूसरेपर सवारी गाँठना आदि।

(२) आपसमें खेल-कूदकर श्रीकृष्ण जैसे प्रसन्न हों वैसी चेष्टा करना।

(३) उनके साथ पलङ्गपर बैठना, झूलेपर झूलना, साथ सोना इत्यादि।

(४) श्रीकृष्णके साथ सुन्दर-सुन्दर अद्भुत विनोद।

(५) श्रीकृष्णके साथ जल-विहार।

(६) श्रीकृष्णके साथ नाचना, गाना, बजाना।

(७) उनके साथ गाय दुहना, चराना, कलेऊ करना, आँखमिचौनी आदि खेलना, दूर हो जानेपर आपसमें होड़ लगाकर उन्हें छूना इत्यादि।

ये अनुभाव सख्य-रसका अनुभव करनेवालेके हृदय और परिपक्क होनेपर शरीरमें भी प्रकट हुआ करते हैं।

श्रीकृष्णके प्रेममें पगे रहना, उनकी कोई अद्भुत लीला देखकर स्तम्भित हो जाना, शरीर पसीज जाना, रोमाञ्चित हो जाना, काँपना, विवर्ण हो जाना आदि सात्त्विकभाव स्पष्टरूपसे प्रकाशित हुआ करते हैं। आनन्दके आँसू, हर्षकी गाढ़ता आदि स्वाभाविक ही रहते हैं। सख्य-रतिमें ऐश्वर्यका भान नहीं रहता। इसमें अपने सखाके प्रेमपर पूरा विश्वास रहता है। सख्य-रसका यही स्थायिभाव है। यही परिपुष्ट होकर रसका रूप धारण करता है। यही सख्यरति क्रमशः विकसित होकर प्रणय, प्रेम, स्नेह और रागका रूप धारण करती है। सख्य-रतिमें मिलनकी इच्छा प्रबल रहती है। प्रणयमें ऐश्वर्यका प्रकाश होनेपर भी सखापर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। एक ओर ब्रह्मा और शिव श्रीकृष्णकी स्तुति कर रहे हैं, तो दूसरी ओर एक सखा उनके बालोंपर पड़ी हुई धूल झाड़ रहा है। प्रेममें दुःख भी उसको बढ़ानेवाला ही होता है। स्नेहमें एक क्षणके लिये भी अपने सखाकी विस्मृति नहीं होती। हृदय सर्वदा स्नेहसे भरा रहता है। आँखोंमें आँसू और कण्ठ गद्गद, प्रियतमका गुणगान हुआ करता है। रागमें दुःखके निमित्त भी सुखके रूपमें अनुभव होते हैं। अश्वत्थामा श्रीकृष्णपर अत्यन्त तीखे बाण चलाता है, परन्तु अर्जुन उन्हें श्रीकृष्णको न लगने देकर अपने वक्षःस्थलपर ले लेते हैं। उन्हें मालूम होता है—मानो कोई पुष्पोंकी वर्षा कर रहा है। वे आनन्दमग्न हो रहे हैं।

दास्यरसकी भाँति ही सख्यरसमें भी अयोगके दोनों भेद होते हैं—जबतक भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती, तबतक उत्कण्ठित-अवस्था और मिलनके पश्चात् जब विरह होता है, तब वियोग-अवस्था। श्रीकृष्णसे मिलन होनेसे पहले पाण्डवोंकी, विशेष करके अर्जुनकी, उत्कण्ठित-अवस्था प्रसिद्ध है। मिलनके पश्चात्‌का वियोग भी पाण्डवोंके जीवनमें बहुत ही सुस्पष्टरूपसे वर्णित हुआ है। भागवतके प्रथम स्कन्धमें अर्जुनने भगवान्‌का विछोह होनेपर जो विलाप किया है, वह बड़ा ही हृदय-द्रावक एवं मर्मस्पर्शी है। भगवान्‌के मथुरागमनके पश्चात् व्रजके ग्वाल-बालोंको जो वियोग हुआ है, वह वाक्‌पथातीत है। उनके जीवनमें जितने भी दुःखके अवसर आये हैं—दावानलमें जलना, कालीदहका विषैला जल पीना और अघासुरके मुखमें जाना आदि, सबसे बड़ा दुःख श्रीकृष्णके विरहका ही हुआ है। उनके अन्तस्तलमें विरहकी ज्वाला इस प्रकार प्रज्वलित होती रहती है कि भाण्डीर वटकी शीतल छाया, यमुनाकी बरफके समान ठण्डी धारा भी उसे शान्त न करके और भी धधका देती है। शरीर दुर्बल हो जाते हैं। आँखोंमें आँसू भरे रहनेके कारण नींद नहीं आती, उनका चित्त आलम्बनशून्य होकर धैर्यहीन, विचारशून्य एवं जडप्राय हो जाता है। उनके शरीरकी एक-एक गाँठ टूटती रहती है। जगत्‌के व्यवहार भूलकर कहीं लोटते हैं, कहीं दौड़ते हैं, कहीं खिलखिलाकर हँसने लगते हैं। अपने-आप न जाने क्या-क्या बका करते हैं और कभी-कभी मूर्च्छित हो जाते हैं। श्रीकृष्णके विरहमें ग्वाल-बालोंकी दशा भी गोपियोंके समान ही हो जाती है। श्रीरूपगोस्वामीके शब्दोंमें —

कंसारे विरहज्वरोर्मिजनितज्वालावलीजर्जरा
गोपाः शैलतटे तथा शिथिलितश्वासाङ्कुराः शेरते।
वारं वारमखर्वलोचनजलैराप्लाव्य तान्निश्चलान्
शोचन्त्यद्य यथा चिरं परिचयस्निग्धाः कुरङ्गा अपि॥

'हे श्रीकृष्ण! तुम्हारे विरहकी तरङ्गोंसे उत्पन्न ज्वालाएँ ग्वाल-बालोंको जर्जरित बना रही हैं। उनके श्वासका अङ्कुर भी अब क्षीण हो चला है। वे पर्वतकी तराइयोंमें निश्चेष्ट पड़े हुए हैं। इतने निश्चल हो रहे हैं वे कि उनके चिर-परिचित स्नेही हरिन बार-बार अपने आँसुओंकी अजस्र धारासे भिगोकर भी जब उन्हें नहीं उठा पाते, तब बहुत देरतक उनके लिये शोक करते रहते हैं।' भगवान्‌के विरहकी ऐसी अवस्था जिनके जीवनमें प्रकट हुई है, उन भाग्यवान् ग्वाल-बालोंके सम्बन्धमें और क्या कहा जा सकता है?

ग्वाल-बालोंकी यह विरहावस्था व्यक्त लीलाके अनुसार है। इनके जीवनसे यह शिक्षा प्राप्त होता है कि सख्यरसके उपासकोंमें भगवान्‌के विरहकी कितनी ऊँची अवस्थाका प्रकाश होना चाहिये। अन्तर्लीलामें तो श्रीकृष्णके साथ इनका वियोग कभी होता ही नहीं। दास्यरसके समान ही इसमें भी संयोगकी सिद्धि, तुष्टि और स्थिति नामकी तीनों अवस्थाएँ होती हैं। पहले-पहल भगवान्‌का दर्शन जैसे पाण्डवोंको हुआ था, दुबारा-तिबारा दर्शन जैसे कुरुक्षेत्रमें सूर्यग्रहणके समय ग्वाल-बालोंको हुआ था और सर्वदा एक साथ रहना जैसा कि व्रजके ग्वाल-बालोंका अन्तर्लीलामें रहता है—ये सब सख्यरसकी ही उपर्युक्त अवस्थाएँ हैं। उनके सौभाग्यका भला कौन वर्णन कर सकता है, जो संतोंके परमानन्दस्वरूप आत्मा, भक्तोंके परमाराध्यदेव भगवान् और प्रेमियोंके परम प्रियतम श्रीकृष्णके साथ-जिनके चरणोंकी धूलि बड़े-बड़े योगियोंको कोटि-कोटि कल्पकी तीव्र तपस्यासे भी दुर्लभ है—इस प्रकार खेलते हैं मानो कोई अपना ही समवयस्क, अपने ही-जैसा साधारण बालक हो। यही भगवान्‌के प्रति सख्यरतिका फल, सख्यरस है। शान्त और दास्यरसकी अपेक्षा इसका वैलक्षण्य बहुत ही सुस्पष्ट है और सहृदयोंके अनुभवगोचर इस रसकी रसरूपता भी निर्विवाद है। श्रीजीवगोस्वामीने दास्यरसको प्रीतिरसके नामसे और सख्यरसको प्रेयोरसके नामसे वर्णन किया है।

वत्सलरस

भगवान्‌के प्रति वात्सल्यरति ही विभाव, अनुभाव आदिके द्वारा व्यक्त होकर वत्सलरसका रूप ग्रहण करती है। इसके आलम्बन हैं—बालक भगवान् और उनके गुरुजन। अयोध्यामें शिशुरूप भगवान् राम और व्रजमें शिशुरूप श्रीकृष्ण—ये दोनों ही वात्सल्य-भाजन हैं। सुकुमार शैशवसे लेकर कमनीय कैशोरतक वात्सल्यरतिकी अवस्था है। यौवनका प्रारम्भ होनेपर भी गुरुजनोंकी दृष्टिमें किशोर अवस्था ही रहती है। नवीन नील कमलके समान साँवला शरीर, शिरीष कुसुम-सा कोमल अङ्ग, मरकतमणिके समान सुचिक्कण कपोलोंपर घुँघराली अलकें, प्रभाव और ऐश्वर्यसे सर्वथा रहित नन्हे-से शिशुके रूपमें शैशवोचित चापल्य और व्याघ्रनख आदि भूषणोंसे विभूषित भगवान् अनुग्राहकके रूपमें नहीं, अनुग्रहपात्रके रूपमें इस वात्सल्यके लोकोत्तर आलम्बन हैं। तोतली बोली—मानो मूर्तिमान् मिठास, सरलताकी सीमा नहीं, गुरुजनोंके प्यारसे बार-बार उल्लसित एवं प्रफुल्लित होनेवाले, गुरुजनोंको बार-बार प्रणाम करनेवाले और बात-बातमें उनके सामने सकुचा जानेवाले, अपनी नन्ही-नन्ही हथेलियोंसे किसीको माखन और किसीको धन, रत्न लुटानेवाले बालरूप भगवान् गुरुजनोंके सम्पूर्ण स्नेहको अपनी ओर आकर्षित करते रहते हैं। वेद, उपनिषद्, दर्शन और भक्त जिनकी महिमा गाते-गाते अघाते नहीं, वे ही भगवान् वात्सल्यरतिके वश होकर ऊखलमें बाँधे जाते हैं, डाँट-फटकार सुनते और माँकी साँटीसे डरकर रोने लगते हैं। क्या अलौकिक माधुर्य है! अवश्य ही यह वात्सल्यरतिकी महिमा और श्रीकृष्णकी प्रेमपरवशता है।

श्रीकृष्णके गुरुजन—जैसे नन्द, यशोदा और वे गोपियाँ जिनके बच्चोंको ब्रह्माने चुरा लिया था—इस रसके आलम्बन विभाव हैं। वे अपनेको श्रीकृष्णसे अधिक माता-पिता आदिके रूपमें मानते हैं, वे उनको दुलारते हैं, पुचकारते हैं और अपराध करनेपर दण्ड भी देते हैं। देवकी, कुन्ती, सान्दीपनि मुनि—ये सब भी गुरुजनोंकी ही श्रेणीमें हैं। यशोदा अपने प्यारे शिशुको माखन खिलानेके लिये अपने हाथसे ही—बहुत-सी दासियोंके होनेपर भी—दही मथती हैं। वे श्रीकृष्णकी रक्षाके लिये गद्‌गद कण्ठ और अश्रुपूर्ण नयनोंसे श्रीकृष्णके शरीरमें मन्त्रों और देवताओंका न्यास करती हैं, उनके सिरपर रक्षातिलक करती हैं और भगवान्‌से, देवी-देवताओंसे प्रार्थना करती रहती हैं। अभी पूरा प्रातःकाल भी नहीं हुआ होता, श्रीकृष्ण सोकर उठे भी नहीं रहते, इनके स्तनोंसे दूधके रूपमें वात्सल्यरसकी धारा फूट पड़ती है। यदि कोई वात्सल्यरसका मूर्तिमान् दर्शन करना चाहता हो तो माँ यशोदाका दर्शन कर ले। ये वत्सलरसकी अभिव्यक्ति नहीं, उसकी जननी हैं। नन्दबाबाके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है। जब श्रीकृष्ण उनके हाथकी अँगुली पकड़कर लड़खड़ाते हुए आँगनमें चलते हैं, तब नन्दबाबाका स्नेह उमड़ पड़ता है, उनकी आँखोंसे आनन्दके आँसू झर-झर

झरने लगते हैं, पुलकित शरीरसे श्रीकृष्णको उठाकर वे अपने हृदयसे लगा लेते हैं और सिर सूँघकर बार-बार चूमते हैं। उनके सुख-सौभाग्यकी कल्पना भी मनकी सीमासे परे है; उसका वर्णन तो किया ही कैसे जा सकता है।

वात्सल्यसरके उद्दीपन विभावोंकी संख्या अपरिमेय है। श्रीकृष्णकी कुमार आदि अवस्थाएँ, उन अवस्थाओंमें प्रस्फुटित सहज सौन्दर्य और उसके अनुकूल वेष-भूषा एवं चपलताएँ, बोलना, हँसना, खेलना, रोना, सोना, जगना, रूठना—यहाँतक कि बालोचित सभी क्रियाएँ उद्दीपन विभावके अन्तर्गत हैं। कुमार अवस्थाके तीन भाग होते हैं— आदि, मध्य और शेष। आदि अवस्थामें मध्यभाग और ऊरु कुछ स्थूल होते हैं। आँखके कोने श्वेत और बहुत थोड़ेसे दाँत। अङ्ग-अङ्गमें मृदुलताका साम्राज्य होता है। इस अवस्थामें बार-बार पैर उछालना, एक क्षणमें रोना तो दूसरे ही क्षणमें हँस देना, अपने पैरका अँगूठा चूसना और उतान पड़े रहना—यही चेष्टा होती है। गलेमें बघनहाँ, ललाटपर रक्षातिलक, आँखोंमें अञ्जन, कमरमें करधनी और हाथमें सूत—यही आभूषण होते हैं। नन्दरानी और नन्दबाबा इस शोभाको देख-देखकर कभी तृप्त नहीं होते, यही चाहते रहते हैं कि निर्निमेष नयनोंसे इन्हें निहारते रहें। मध्य अवस्थामें आँखोंके कोनोंमें कुछ केसरिया रंग आ जाता है। कभी कपड़ा पहनते हैं और कभी नग्न रहते हैं। कान छिदे हुए होते हैं। तोतली बोली बोलते हैं। आँगनमें घुटनोंके बल चलते हैं। नाकमें मोती, हाथमें माखन, कमरमें घुघुरू—यही आभूषण होते हैं। इनकी मन्द-मन्द मुस्कान और बालोचित चेष्टाओंको देखकर गुरुजन आनन्दित होते रहते हैं। शेष अवस्थामें कमर कुछ पतली और वक्ष:स्थल कुछ ऊँचा हो जाता है। मस्तकपर घुँघराले बाल लहराते रहते हैं। इस अवस्थामें कंधेपर पीताम्बरकी चादर, जङ्गली पुष्पोंके आभूषण और छोटा-सा बेंतका डंडा आदि धारण करते हैं। ग्वाल-बालोंके साथ खेलते हैं। गाँवके आप-पास उनके साथ बछड़ोंको चरा लाते हैं। छोटी-सी बाँसुरी और छोटी-सी सींग अपने पास रखते हैं और कभी-कभी पत्तोंके बाजे बनाकर बजाते हैं। जो इनकी लीलाओंको देख-देखकर मुग्ध होते रहते हैं, वे ही वास्तवमें बड़भागी हैं।

पौगण्ड अवस्थाका वर्णन सख्यरसके प्रसङ्गमें प्राय: आ ही गया है। आँखोंमें धवलिमा, सिरपर पगड़ी, बदनमें कञ्चुक, चरणोंमें मन्द-मन्द ध्वनि करनेवाले मनोहर नूपुर, पीताम्बर धारण किये हुए श्रीकृष्ण इस अवस्थामें गौओंको चराने लगते हैं। ग्वाल-बालोंके साथ यमुनातटपर भी जाते हैं। किशोर अवस्थामें दोनों आँखोंके कोनोंमें किञ्चित् लालिमा आ जाती है। वक्ष:स्थल ऊँचा होता है, सुन्दर हार धारण करते हैं। इसी समय नवयौवनका उन्मेष होता है, परन्तु वात्सल्य प्रेमवालोंको ये शिशु ही मालूम पड़ते हैं। दास्यरसवालोंको ये पौगण्ड अवस्थामें भी किशोरके समान ही मालूम पड़ते हैं। बचपनमें ये कहीं दूधकी कमोरी फोड़ देते हैं, तो कहीं आँगनमें दही बिखेर देते हैं। कहीं मथानीका डंडा तोड़ देते हैं, तो कहीं माखन आगमें डाल देते हैं, वानरोंको खिला देते हैं या ग्वाल-बालोंको बाँट देते हैं। गोपियोंकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये इसी समय माखनचोरी भी करते हैं। एक गोपी कह रही है 'बहिन, तनिक अनजानकी तरह चुप होकर यह दृश्य देख तो लो—लताओंकी आड़मेंसे धीरे-धीरे पैर रखता हुआ कन्हैया सशङ्कभावसे इधर-उधर देखता हुआ माखन-चोरी करनेके लिये कितनी चालाकी और मधुरताके साथ आ रहा है। ठहरो! तनिक मुझे देख लेने दो—भयभीत आँखें किस प्रकार इधर-उधर घूम रही हैं, ओठ सूखा जा रहा है। इस छलियाकी छलना भी कितनी मधुर है! तनिक देखो तो सही।'

इस रसके अनुभाव भी औरोंकी अपेक्षा विलक्षण ही हैं, यथा—

(१) गोदमें लेकर या हृदयसे लगाते हुए सिर सूँघना।

(२) अपने हाथसे शरीरमें लगी हुई धूल झाड़ना, उबटन, तेल, फुलेल लगाना।

(३) देवताओंसे रक्षाकी प्रार्थना करना, कवच बाँधना, न्यास करना, आशीर्वाद देना।

(४) अमुक वस्तु ले आओ, अमुक वस्तु रख आओ—इत्यादि आज्ञा करना।

(५) दुलारना-पुचकारना।

(६) पशुओंसे, काँटेसे, नदीसे और भयके अन्य निमित्तोंसे रक्षा करना।

(७) तुम्हें इस प्रकार रहना चाहिये, ऐसे नहीं रहना चाहिये—इत्यादि उपदेश करना।

(८) चूमना, हृदयसे लगाना, नाम लेकर पुकारना, उलाहना देना, डाँटना इत्यादि।

नन्दरानी यशोदाके स्तनोंसे स्नेहाधिक्यके कारण दूध तो प्राय: निकलता ही रहता है। कभी-कभी श्रीकृष्णके

खेलोंको देखकर वे चकित रह जाती हैं। उस दिन जब उन्होंने अपने लाड़लेको गोवर्धन उठाये हुए देखा, तो इनका शरीर स्तम्भित हो गया। ये उनका आलिङ्गन भी नहीं कर सकीं। आँखोंमें इतने आँसू आ गये कि देख भी नहीं सकीं। और तो क्या—गला रुँध गया, ये उन्हें समझा भी न सकीं कि तुम ऐसा साहस क्यों कर रहे हो। अन्तमें इन्होंने यही निश्चय किया कि मैं प्रतिदिन भगवान्‌की आराधना करती हूँ, प्रतिदिन अपने पुत्रकी रक्षाके लिये उनसे प्रार्थना करती हूँ—उसीका यह फल है। नहीं तो मेरा कुसुम-सा सुकुमार लल्ला इतना बड़ा पहाड़ भला कैसे उठा सकता है। इन सात्त्विक भावोंके अतिरिक्त हर्ष-निर्वेदादि भी पूर्वोक्त रसोंके समान ही होते हैं।

यह पहले कहा जा चुका है कि वत्सलरसमें ऐश्वर्यका लेश भी—चाहे वह गौरवकी दृष्टिसे हो, या सम्भ्रमकी दृष्टिसे-बिल्कुल नहीं होता। अपने स्नेहपात्रके प्रति स्नेह करनेवालेकी जो विशुद्ध रति है, उसीका नाम वात्सल्य भाव है; यही वत्सलरसका स्थायि भाव है। यशोदामें यह वात्सल्यरति स्वभावसे ही परिपूर्ण रहती है। औरोंमें यह कभी प्रेमके रूपमें, कभी स्नेहके रूपमें और कभी रागके रूपमें प्रकट होती है। श्रीकृष्णके दर्शनकी व्याकुलता, मुनिजनोंके द्वारा पूजित होते समय भी उन्हें गोदमें बैठा लेना, हृदयका उनके स्नेहसे सर्वदा द्रवित रहना, उनके लिये, उनकी प्रसन्नताके लिये और उनकी सन्निधिके लिये, दु:खको भी सुखके रूपमें अनुभव करना—ये सब उसके लक्षण हैं।

इस रसमें भी पहले-पहल मिलनेके पूर्व उत्कण्ठा, एक बार मिलनेके पश्चात् विरह पूर्ववत् ही होते हैं। देवकी और कुन्तीकी उत्कण्ठा, श्रीकृष्णके मथुरा चले जानेपर यशोदाका विरह कौन नहीं जानता। यशोदाका ऐसा वर्णन आता है कि उन्हें अपने बालोंकी सुधि नहीं रहती, व्यथित होकर इस प्रकार जमीनमें लोटतीं कि चोट लगनेकी भी परवा नहीं रहती। 'हा पुत्र! हा पुत्र!' कहती हुई अपनी छाती पीटतीं। वत्सलरसमें वियोगकी इतनी अवस्थाएँ हो सकती हैं, होती हैं कि उनका वर्णन असम्भव है। विशेष करके चिन्ता, विषाद, निर्वेद, जडता, दीनता, चपलता, उन्माद और मोह—ये तो अत्यन्त अभिवृद्ध हो जाते हैं। थोड़े ही समयके लिये जब श्रीकृष्ण वनमें गौएँ चरानेके लिये जाते हैं, तो नन्दरानीकी चाल धीमी पड़ जाती है। मन कुछ स्तब्ध रहता है। आँखें कई बार स्थिर हो जाती हैं। श्वास गरम आने लगती है। अपने पुत्रकी अनिष्ट-शङ्कासे वे क्षुब्ध हो उठती हैं। श्रीकृष्णके मथुरा और वहाँसे द्वारका चले जानेपर तो उनके विषादकी सीमा न रही। वे कभी सोचती हैं कि हाय! मैं कितनी अभागिनी हूँ कि अपने पुत्रकी मनोहर जवानी नहीं देख सकी। उसके विवाहका सुख देखना मेरे भाग्यमें नहीं बदा था। मेरे जीवनको धिक्कार है, मैं उसे अब अपनी गोदमें नहीं बैठा पाती। इन गौओंसे अब मेरा कौन काम है, जिनका दही और माखन चुराकर लुटानेवाला ही दूर चला गया। कभी वे घरमें जाती हैं, श्रीकृष्णकी बाँसुरी अथवा छड़ीपर आँख चली जाती है, तो वे घंटोंतक छड़ीकी तरह ही खड़ी रह जाती हैं, शरीर हिलता-डोलतातक नहीं। जडता दूर होनेपर वे बड़ी दीनतासे प्रार्थना करने लगती हैं—हे प्रभो, एक क्षणके लिये मेरे कन्हैयाको मेरी आँखोंके सामने ला दो; मैं जन्म-जन्म तुम्हारी ऋनियाँ रहूँगी। वे कभी-कभी विरहकी ज्वालासे चञ्चल हो उठती हैं और नन्दबाबाको उलाहना देने लगती हैं कि 'तुमने मेरे हृदयको, जीवनसर्वस्वको, आँखोंके तारेको मथुरामें क्यों छोड़ दिया। मेरे बच्चेको माखन-मिश्री मिलती होगी कि नहीं, क्या पता। तुम यहाँ गोष्ठमें बैठकर आराम कर रहे हो।' वे कभी-कभी उन्मत्त होकर वृक्षोंसे, हरिनोंसे पूछने लगतीं कि क्या तुमने कहीं मेरे श्यामसुन्दरको देखा है। वे इतनी मोहित हो जाती हैं कि जब बहुत देरतक आँखें नहीं खुलतीं, तब नन्दबाबा अनेकों प्रकारके यत्न करके उन्हें जगानेकी चेष्टा करते हैं।

भगवान्‌का संयोग इस रसमें भी तीन प्रकारका ही माना गया है—सिद्धि, तुष्टि और स्थिति। जब श्रीकृष्ण पहले-पहल मथुरामें गये तो वहाँकी वे स्त्रियाँ, जिनका उनमें पुत्रभाव था, स्नेहकी रसधारासे आप्लावित हो गयीं। उनके स्तनोंसे दूधकी धारा प्रवाहित होकर वस्त्रोंको भिगोने लगी। कुरुक्षेत्रमें जब यशोदा और श्रीकृष्णका मिलन हुआ, तो माँके हृदयमें कितनी तुष्टि और कितने रसका सञ्चार हुआ—वर्णन नहीं किया जा सकता। लोगोंने देखा—यशोदाके नयनों और स्तनोंसे रसकी निर्झरिणी प्रवाहित हो रही है और श्रीकृष्णका दिव्य अभिषेक सम्पन्न हो रहा है। श्रीकृष्णका नित्य संयोग जो कि अन्तर्लीलामें सर्वदा एकरस रहता है, उसकी रसरूपताका, उसके आनन्दका वर्णन करना ही उसे नीचे उतारना है। प्रेम अन्तर्जगत्‌की वस्तु है। उसका कुछ बाह्यरूप है तो

केवल सेवा। दास्यकी सेवामें और वात्सल्यकी सेवामें बड़ा अन्तर है। यह तो सख्यसे भी विलक्षण है। जिसके शुद्ध और भगवत्कृपापात्र हृदयमें इस भावका उदय और परिपोष हुआ है, वे ही इसका अनुभव कर सकते हैं।

बहुत-से काव्य-रसिकों और नाट्याचार्योंने भी वात्सल्यभावके रसत्वको स्वीकार किया है। इस रसकी चमत्कारकारिता निर्विवाद है। दास्यरसमें यदि भगवत्प्रेमका स्फुरण न होता रहे, तो ऐसा समझना चाहिये कि दास्यरस अभी परिपुष्ट नहीं हुआ है। प्रेमकी स्फूर्ति बिना सख्य-रसकी तो कोई स्थिति ही नहीं है। परन्तु यह वात्सल्यरस उनकी अपेक्षा यह महान् विलक्षणता रखता है कि प्रेमकी प्रतीति हो या न हो, यह ज्यों-का-त्यों अक्षुण्ण रहता है। जिस समय माता अपने शिशुकी ताड़ना करती है, उसकी चञ्चलताओंसे घबराकर उसे डाँटती है—यहाँतक कि बाँध देती है और पीटती भी है—इन अवस्थाओंमें भी वात्सल्यभाव ज्यों-का-त्यों एकरस बना रहता है। यही इसकी अनन्यसाधारण विशेषता है। कभी-कभी यह दास्य और वात्सल्यसे मिश्रित ही होता है। किसीका सख्यप्रधान वात्सल्य, किसीका दास्य-प्रधान वात्सल्य और किसीका उभयप्रधान वात्सल्य। वात्सल्य-प्रधान संख्य और दास्य भी होते हैं। ये सब भेद और इनके उदाहरण श्रीरूपगोस्वामीके ग्रन्थोंमें द्रष्टव्य हैं।

मधुररस

सत्पुरुषोंके हृदयमें भगवान्‌के प्रति जो मधुर रति होती है, वही विभाव, अनुभाव आदिके द्वारा परिपुष्ट होकर मधुर रसका रूप ग्रहण करती है। इस रसका इतना अधिक विस्तार है कि यदि इसकी अवस्थाओंके केवल नाम ही गिनाये जायँ, तो एक बड़ा-सा ग्रन्थ बन सकता है। इसलिये यहाँ संक्षेपसे उसकी कुछ थोड़ी-सी बातें ही लिखी जायँगी। इसके आलम्बन हैं भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी वल्लभाएँ। भगवान् श्रीकृष्णके सौन्दर्यकी त्रिभुवनमें किसीसे समता भी नहीं की जा सकती, उससे परेकी तो बात ही क्या। उनकी लीलाका माधुर्य लोकोत्तर है। अत्यन्त रमणीय, अत्यन्त मधुर, समस्त शुभ लक्षणोंसे युक्त, अत्यन्त बलवान्, नित्य-नूतन, नवयुवा और प्रेमपरवश, मदनमोहन श्यामसुन्दर। लहराते हुए बाल और फहराता हुआ पीताम्बर। जिसकी आँखें एक बार क्षणभरके लिये उन्हें देख लें, वह सर्वदाके लिये उन्हींपर निछावर हो जाता है। प्रेम करनेवालोंके अनुकूल, कृतज्ञ और रहस्यको गुप्त रखनेवाले यह मूर्तिमान् शृङ्गार हैं अथवा प्रेम। अङ्ग-अङ्गसे उन्मादकारी रस, मधुमय आनन्द छलक रहा है। धीर, वीर और गम्भीर, ललित और उदात्तचरित्र। ये मोहन भला, किसका मन नहीं मोह लेते! व्रजदेवियाँ तो इनपर निछावर हैं।

श्रीकृष्णकी वल्लभाएँ—द्वारकाकी, वृन्दावनकी—अत्यन्त प्रेममय, सहृदय और श्रीकृष्णको ही अपना जीवन-सर्वस्व माननेवाली, नित्य नवकिशोरावस्था। प्रतिक्षण माधुरीकी धारा प्रवाहित होती रहती है। हृदय प्रेम और आह्लादकी तरङ्गोंसे उच्छ्वलित। इनमें व्रजकी गोपियाँ प्रधान हैं, गोपियोंमें राधा। राधाके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है। वे भगवान्‌की स्वरूपभूता आह्लादिनी शक्ति हैं। श्रीकृष्ण उनके अपने और वे श्रीकृष्णकी अपनी, श्रीकृष्ण राधा और राधा श्रीकृष्ण। भेद-भावकी माया छायामात्र भी नहीं। ऐसी स्थितिमें राधा-कृष्णके पारस्परिक भावको कहा जाय तो कैसे, सोचा जाय तो कैसे। एकहीके दो रूप, दोके अनेक रूप, यही लीलाका स्वरूप है। सभी गोपियाँ राधाकी ही अंश-विशेष, शक्तिविशेष हैं। उनमें स्वकीया और परकीयाका भेद लीलामात्र है, सो भी लीला-रसकी परिपुष्टिके लिये। एक गोपी कहती है कि नन्दरानी मुझसे बड़ा स्नेह करती हैं, सखियाँ मुझे प्राणोंसे भी प्रिय समझती हैं और वृन्दावन वैकुण्ठसे भी उत्तम है। परन्तु यदि कात्यायनीकी आराधनाके फलस्वरूप मयूरपिच्छधारी, गुञ्जाकी माला पहने हुए, मदनमोहन श्रीकृष्ण प्राणप्रियके रूपमें न मिलें तो इन सबसे मुझे क्या लाभ। गोपियोंकी महिमा अनन्तकोटि मुखसे भी नहीं कही जा सकती। उनके प्रेमका उल्लास आर्यमर्यादाकी सीमा पार कर गया है। फिर भी सतीशिरोमणि अरुन्धती आदि श्रद्धापूर्ण हृदयसे उनके चरित्र और सौभाग्यकी महिमा गाकर अपनेको कृतकृत्य समझती हैं। वे वनमें रहनेवाली गोपबालाएँ इतनी मधुर हैं, इतनी रसाप्लावित हैं कि लक्ष्मीका प्रेम-सौन्दर्य इनके सामने धूमिल पड़ जाता है। गोपियोंकी अपेक्षा भी श्रीकिशोरीजीकी विशेषता दिखलानेके लिये उज्ज्वलनीलमणिमें एक कथाका उल्लेख हुआ है।

रासके समय भगवान् गोपियोंके प्रेमकी और भी अभिवृद्धि करनेके लिये एक कुञ्जमें जाकर छिप गये। गोपियोंको उनके बिना चैन कैसे पड़ती। वे ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उसी कुञ्जमें पहुँच गयीं, जिसमें श्रीकृष्ण छिपे हुए थे। अब पकड़े गये, तब पकड़े गये। नटवर श्रीकृष्णने वहीं एक लीला रच दी—द्विभुजसे चतुर्भुज हो गये। गोपियाँ

देखकर सकुचा गयीं। उन्हें इस ऐश्वर्यमय चतुर्भुज रूपसे क्या काम। ये तो भक्तिनम्र हृदयसे दण्डवत् प्रणाम करने योग्य हैं! वे उनके चरणोंमें नमस्कार करके लौट गयीं। जब यह बात राधाके कानोंतक पहुँची, तब उन्होंने कहा—'चलो तनिक मैं भी तो देखूँ, यहाँ ईश्वर अथवा विष्णुका क्या काम। हो-न-हो हमारे नटवर श्यामसुन्दरकी ही कोई लीला होगी।' श्रीकिशोरीजीके वहाँ पहुँचते ही श्रीकृष्णको यह बात भूल गयी कि मैं चतुर्भुज रूप धारण किये हुए हूँ। अपनी प्राणप्रियाके दर्शनमात्रसे उनके कृत्रिम ऐश्वर्यका लोप एवं सहज माधुर्यका उदय हो गया। यहीं गोपियों और श्रीराधाका अन्तर परिस्फुट हो जाता है। गोपियाँ ऐश्वर्य सहन नहीं कर सकतीं, उन्हें केवल माधुर्य चाहिये और श्रीजीके सामने ऐश्वर्य ठहर नहीं सकता, मधुररूपमें रहनेके लिये ही श्रीकृष्ण विवश हैं। राधाका श्रीकृष्णके प्रति जितना अधिक प्रेम है, उससे भी अधिक श्रीकृष्णका राधाके प्रति है। यहाँ न्यूनाधिक्यका तो कोई प्रश्न ही नहीं है, दोनों प्रेम-स्वरूप हैं।

मधुररसके उद्दीपनोंकी संख्या इतनी अधिक है कि उनकी संख्या बतलाना भी कठिन है। यहाँ अत्यन्त संक्षेपमें बहुत थोड़े-से लिखे जाते हैं—

(१) थोड़ी सेवासे रीझना, असह्य अपराध हो जानेपर भी मुस्करा देना, दूसरेके लवमात्र दुःखसे भी कातर हो जाना इत्यादि भगवान्‌के स्वभावसिद्ध गुण।

(२) इतनी रसमयी, मधुमयी और अश्रुतपूर्व प्रेमपूर्ण वाणी जो प्राणोंमें और हृदयमें अमृतका सिञ्चन करती है।

(३) भगवान्‌की किशोर, यौवन आदि अवस्थाएँ, उनका रूप-लावण्य, सौन्दर्य, अभिरूपता, माधुर्य और मृदुलता आदि शारीरिक विशेषताएँ।

(४) वंशीवादन, नृत्य, सुन्दर खेल, गोदोहन, गोवर्द्धन-उद्धार गवाह्वान और मत्तगतिसे गमन इत्यादि लीलाएँ।

(५) वस्त्र, आभूषण, माला, अनुलेपन आदि शारीरिक अलङ्कार।

(६) वंशी और शृङ्गीकी ध्वनि, मधुर गायन, शरीरकी दिव्य सुगन्ध, आभूषणोंकी झनकार, चरणचिह्न, उनका शिल्पकौशल आदि।

(७) श्रीकृष्णका प्रसाद, मयूरपिच्छ, गुञ्जा, धातुएँ, सखाओंका दीख जाना, गोधूलि, गोवर्द्धन, यमुना, कदम्ब, रासस्थली, वृन्दावन, भौंरे, हरिन, कुञ्ज, लताएँ आदि।

(८) मेघ, विद्युत्, वसन्त, चाँदनी, शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु, सुन्दर-सुन्दर पक्षी आदि।

अनुभाव तीन प्रकारके होते हैं—अलङ्कार, उद्भास्वर और वाचिक। भाव, हाव, हेला—ये तीन शारीरिक; शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य—ये सात बेप्रयास ही होनेवाले तथा लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम आदि दस स्वाभाविक—ये बीस अलङ्कार कहे जाते हैं। शरीरपरसे वस्त्रका गिर जाना, बाल खुल जाना, अङ्ग टूटना, लंबी साँस चलना—ये सब उद्भास्वर अनुभावके अन्तर्गत हैं। आलाप, विलाप, संलाप, प्रलाप आदि बारह प्रकारके वाचिक अनुभाव होते हैं। इनके अतिरिक्त मौग्ध्य और चकित नामके दो अनुभाव और भी होते हैं। अपने प्रियतमसे जानी हुई वस्तुको भी अज्ञानीके समान पूछना, यह मौग्ध्य है और भयका स्थान न होनेपर भी भयका बहाना करके प्रियतमके पास पहुँच जाना—जैसे भौंरेसे डरकर श्रीकृष्णसे लिपट जाना, यह चकित अनुभाव है। इस रसमें सभी प्रकारके सात्त्विक भाव उदय होते हैं—

(१) स्तम्भ—हर्षसे, भयसे, आश्चर्यसे अथवा अमर्षसे स्तम्भित हो जाना।

(२) स्वेद—भगवान्‌के संस्पर्श, दर्शन आदिजनित आनन्दसे, भयसे अथवा क्रोधसे शरीरका पसीजने लगना।

(३) रोमाञ्च—आश्चर्यसे, हर्षसे अथवा भयसे शरीरका रोमाञ्चित हो जाना।

(४) स्वरभङ्ग—विषादसे, विस्मयसे, अमर्षसे, भयसे अथवा हर्षसे कण्ठका रुद्ध हो जाना, वाणीका स्वाभाविक ढंगसे नहीं निकलना।

(५) कम्प—त्राससे, हर्षसे और अमर्षसे शरीरका काँपने लगना।

(६) विवर्णता—विषादसे, रोषसे अथवा भयसे शरीरका विवर्ण हो जाना। (चेहरा फक हो जाना।)

(७) अश्रुपात—हर्षसे, रोषसे, विषादसे आँसू गिरना।

(८) प्रलय—सुखसे या दुःखसे शरीर और मनका अविचल हो जाना।

ये अपनी अभिव्यक्तिके तारतम्यसे धूमायित, ज्वलित, दीप्त, उद्दीप्त और सूद्दीप्त भेदसे पाँच प्रकारके होते हैं। यों तो सभी रसोंमें इन सात्त्विक भावोंका उदय होता है, परन्तु उनकी पूर्णता मधुररसमें ही होती है। निर्वेद आदि तीसों भाव उग्रता और आलस्यको छोड़कर पूर्णरूपसे इस मधुररसमें ही अभिव्यक्त होते हैं। यदि विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव—सबके लक्षण और उदाहरणकी चर्चा की

जाय तो विशाल ग्रन्थ तैयार हो सकता है। एक-एकके अनेक-अनेक भेद होते हैं। जैसे निर्वेद ही अनेक कारणोंसे होता है। वियोगके कारण होनेवाले निर्वेदसे श्रीकिशोरीजी ललिता सखीसे कह रही हैं।

न क्षोदीयानपि सखि मम प्रेमगन्धो मुकुन्दे
क्रन्दन्तीं मां निजसुभगताख्यापनाय प्रतीहि।
खेलद्वंशीवलयिनमनालोक्य तं वक्त्रबिम्बं
ध्वस्तालम्बा यदहमहह प्राणकीटं बिभर्मि॥

'हे सखी! मुझमें श्रीकृष्णके प्रति तनिक भी प्रेम नहीं है, तुम विश्वास करो; मेरा श्रीकृष्णमें बड़ा प्रेम था और मैं उनकी सर्वश्रेष्ठ प्रेमपात्र थी, अपने इस सौभाग्यकी ख्यातिके लिये ही मैं रो रही हूँ। सखि! प्रेमकी यह कैसी विडम्बना है कि राग, स्वर, ताल और मूर्च्छनाके साथ बाँसुरीमें स्वरलहरी भरते हुए श्यामसुन्दरके मुखचन्द्रको देखे बिना ही, जीवनका सहारा टूट जानेपर भी मैं अपने प्राणरूपी कीड़ोंको, जो मुझे निरन्तर डस रहे हैं, धारण कर रही हूँ और इतना ही नहीं, उनका पालन कर रही हूँ।' श्रीजीके इन वचनोंमें कितना निर्वेद है, इसका अनुभव कोई सहृदय ही कर सकता है। इसी प्रकार सभी भाव श्रीजीके और गोपियोंके जीवनमें व्यक्त हुए हैं।

इस रसमें मधुर रति ही स्थायिभाव है। उसके आविर्भावके सात कारण बतलाये गये हैं। यथा—

(१) अभियोग—अपनी चेष्टाओंसे हृद्गत भावोंका प्रकाश, वह चाहे प्रियतमके सम्मुख ही हो अथवा दूसरा कोई जाकर उससे कहे।

(२) विषय—शब्द-स्पर्शादि पाँच विषयोंमेंसे किसी एकका या सबका आकर्षण—जैसे भगवान्‌की मधुर वाणी, वंशीध्वनि, अकस्मात् स्पर्श, सुन्दररूपका दीख जाना इत्यादि।

(३) सम्बन्ध—उनके कुल, रूप आदि सामग्रीके गौरवसे उनके साथ सम्बन्ध-स्थापन।

(४) अभिमान—संसारमें यदि बहुत-सी उत्तम और रमणीय वस्तुएँ हैं तो वे रहें, मुझे तो यही चाहिये—इस प्रकारका दृढ़ निश्चय।

(५) श्रीकृष्णकी विशेषताएँ—श्रीकृष्णके पदचिन्ह, गोष्ठ और प्रियजन जो उनसे प्रेम करते हैं, उनका दर्शन, मिलन, वार्तालाप।

(६) उपमा—उनके समान कोई-सी भी वस्तु देखकर उनकी स्मृतिमें तल्लीन हो जाना। जैसे बादल देखकर घनश्यामकी स्फूर्ति, कमल देखकर कमलके समान नयनोंकी स्फूर्ति—इत्यादि।

(७) स्वभाव-यह दो प्रकारका होता है, एक निसर्ग और दूसरा स्वरूप। दृढ़ अभ्यास करते-करते जो संस्कार बन गये हैं, गुण, रूप और नामके किञ्चित् श्रवणमात्रसे उनका उद्बोधन निसर्गके नामसे कहा जाता है—जैसे रुक्मिणीका। स्वरूप वह है जिसमें किसी निमित्तकी आवश्यकता नहीं होती, स्वत:सिद्ध प्रेमभाव होता है—जैसे व्रजदेवियोंका।

मधुर रति ही क्रमशः विकसित होकर प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और भावके रूपमें परिणत होती है। उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थमें कहा गया है कि जैसे ईखका नन्हा-सा अङ्कुर क्रमशः ईख, रस, गुड़, खण्ड, चीनी, मिश्री और ओलेका रूप धारण करता है, वैसे ही यह रति भी भावके रूपमें परिणत होकर पूर्णताको प्राप्त होती है। रतिसे भावपर्यन्त सभी प्रेम शब्दके द्वारा कहे जाते हैं। प्रेमी और प्रियतमके उस भावसम्बन्धको, जो नाशका कारण उपस्थित होनेपर भी नष्ट नहीं होता, प्रेम कहते हैं। इसके प्रौढ़, मध्य और मन्द—तीन भेद होते हैं। वियोगकी असहिष्णुता, दु:खपूर्वक सहिष्णुता और यदा-कदा किञ्चित् विस्मृति—क्रमशः यही तीनोंके स्वरूप हैं। यही प्रेम जब और भी उद्दीप्त होकर हृदयको अतिशय द्रवित कर देता है, जिससे दर्शन-स्पर्शमें कभी भी तृप्ति नहीं होती, तब उसे स्नेह कहते हैं। इसके तीन भेद होते हैं—अङ्गसङ्गमें अतृप्ति, दर्शनमें अतृप्ति और नाम-गुणके श्रवण आदिमें अतृप्ति। ये क्रमशः उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। स्नेह दो प्रकारका होता है। घृतस्नेह और मधुस्नेह। पहलेमें कुछ आदरभाव रहता है और दूसरेमें केवल अतिशय ममता। घृतस्नेहमें थोड़ा उन्माद और अपनापन भी रहता है। घृतस्नेहमें मैं उनका हूँ, यह भाव रहता है और मधुस्नेहमें वे मेरे हैं, यह भाव रहता है। स्नेह ही उत्कर्षको प्राप्त होकर नवीन माधुर्यके साथ मानके रूपमें प्रकट होता है। इसके दो भेद हैं—उदात्त और ललित। उदात्त मानमें घृतस्नेहकी विशेषता रहती है—अनुकूलता अधिक और प्रतिकूलता कम। ललित मानमें मधुस्नेहकी प्रधानता रहती है—प्रतिकूलता अधिक और अनुकूलता कम। यही मान जब सम्भ्रमरहित होकर अत्यन्त विश्वासके साथ परिपक्व अवस्थाको प्राप्त होता है, तब प्रणय नाम धारण करता है। प्रणय दो प्रकारका होता है—मैत्र और

सख्य। विनयमुक्त विश्वास मैत्र है और प्रियतमको अपने वशमें रखनेवाला उन्मुक्त विश्वास सख्य है। यह प्रणय ही आगे चलकर रागके रूपमें अनुभवका विषय होता है।

जिसमें अधिक-से-अधिक दुःख भी सुखके रूपमें ही अनुभव होने लगता है, प्रणयकी उस उत्कृष्ट अवस्थाको ही राग कहते हैं। यही गुप्त रहनेपर नीलीराग और प्रकट होनेपर श्यामरागके नामसे कहा जाता है। और भी इसके अनेकों भेद हैं। यह राग प्रतिक्षण वर्द्धमान और नवनवायमान होकर अनुरागके रूपमें प्रकट होता है। यह प्रतिक्षण अनुभूयमान प्रियसमागमको और प्रियतमको भी नित्य नूतन बनाता रहता है। इस अवस्थामें ऐसा मालूम होता है—अभी मिलन हुआ है, अभी मैंने पहले-पहल देखा है। इसमें प्रेमी और प्रियतम एक दूसरेके अधीन रहते हैं। प्रियतमके सम्मुख रहनेपर भी वियोगकी आशङ्कासे मृत्युके समान दुःखका अनुभव होने लगता है और इस अवस्थाको देखकर स्वयं प्रियतम श्रीकृष्ण भी चकित—स्तम्भित रह जाते हैं। इसीका नाम प्रेमवैचित्त्य है। अनुरागकी इस स्थितिमें संयोग होनेपर भी अतृप्तिकी सीमा नहीं रहती। ऐसी लालसा होती है—यदि मैं बाँस बन जाती तो बाँसुरीके रूपमें नित्य-निरन्तर प्रियतमके अधरोंकी सुधा-मधुरिमाका आस्वादन करती रहती। यदि कहीं इस अवस्थामें प्रियतमका बिछोह हुआ तो जहाँ दृष्टि जाती है, वहीं उनके दर्शन होते हैं। इसी अवस्थाके सम्बन्धमें कहा गया है कि संयोगसे वियोग ही उत्तम है; क्योंकि संयोगमें अपने प्राणनाथ अकेले रहते हैं और वियोगमें सारा संसार ही उनका रूप हो जाता है।

यद्यपि प्रेमकी सभी अवस्थाएँ स्वसंवेद्य एवं अनिर्वचनीय हैं, तथापि अबतक जिनका वर्णन हुआ है, वे रसिकोंके द्वारा अनुमेय तथा ज्ञेय हैं। भगवान्‌की द्वारकास्थित नित्य सहचरियोंमें भी इनका प्रकाश होता है और व्रजदेवियोंमें तो ये सहज स्वभावसिद्ध रूपसे ही रहती हैं। यह अनुराग ही जब परसंवेद्यतासे ऊपर उठकर स्वसंवेद्यरूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है, जब प्रेमी अनुरागीके रूपमें न रहकर अनुरागस्वरूप हो जाता है, श्रीकृष्णकी अनुभूतिका सुख, प्रेमकी अनुभूतिका सुख और सुखकी ऐसी अनुभूति होती है जिसे अनुभूति कहना भी नहीं बनता, तब उस अनुरागकी ही भाव संज्ञा होती है। द्वारकाकी श्रीकृष्णपत्नियोंके लिये भी यह अत्यन्त दुर्लभ है। व्रजकी देवियोंमें इसीका नाम महाभाव है। दूसरे किसीको भी इसकी उपलब्धि नहीं होती। यह अमृतस्वरूप श्रेष्ठ रस है, इसे आनन्दकी सीमा कहते हैं। इसमें दिव्य प्रेमी दिव्यतास्वरूप ही होता है। इसके दो भेद हैं— रूढ़ महाभाव और अधिरूढ महाभाव। जिस महाभावमें सात्त्विक भाव उद्दीप्त रहते हैं, उसे रूढ महाभाव कहते हैं। इसमें प्रियतमके दर्शनसुखमें बाधक होनेके कारण पलकोंका गिरना भी असह्य हो जाता है—'**यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति।**' इस स्थितिके प्रेमीको—व्रजदेवियोंको—देखनेवाले प्रेमसमुद्रमें डूबने-उतराने लगते हैं। स्वयं लक्ष्मी भी चकित—स्तम्भित हो जाती हैं। इस परम रसमें कल्पान्तपर्यन्त मग्न रहनेपर भी एक क्षण-जितना भी मालूम नहीं होता। प्रियतमको सुख मिलनेपर भी कहीं उन्हें कष्ट न पहुँच जाय, इस आशङ्कासे खेद होने लगता है। गोपियाँ अपने वक्षःस्थलपर श्रीकृष्णके चरणकमल रखते समय डरने लगती हैं कि कहीं इसकी कर्कशता उनके दुःखका कारण न हो जाय—'**भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।**' प्रेमकी इस सर्वोत्कृष्ट भूमिकामें, जहाँ मोह आदि प्राकृत भावोंका प्रवेश कदापि सम्भव नहीं है, अपनेको, परायेको, सबको भूल जाना और श्रीकृष्णके बिना एक क्षणका भी कल्पसे भी अधिक मालूम होना इस रूढ महाभावकी असाधारण विशेषता है—'**त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।**'

रूढ महाभावमें जो अनुभाव होते हैं, उनकी अपेक्षा और भी विशिष्ट—जिनका निर्वचन नहीं किया जा सकता—अधिरूढ महाभावमें प्रकट होते हैं। यदि समस्त मोक्षसुख अथवा ब्रह्मसुखको और त्रैकालिक संसारसुखको एक स्थानपर एकत्रित कर दिया जाय और संसारके समस्त त्रैकालिक दुःखोंको दूसरे स्थानपर एकत्रित कर दिया जाय तो ये दोनों ही इस अधिरूढ महाभावके सुख-दुःखरूपी महासागरकी एक बूँदके समान भी नहीं हो सकते। यह स्मरण रखना चाहिये कि यहाँका दुःख जागतिक दुःख-जैसी कोई वस्तु नहीं है। यह भी दिव्य रसका ही एक रूप है। इस दुःखके लेशमात्रकी समतामें संसारके समस्त सुख तुच्छ हैं। इसीसे यह दुःख भी परम पुरुषार्थ प्रेमका अत्यन्त उत्कृष्ट स्वरूप है। अधिरूढ महाभावके दो प्रकार हैं—मोदन और मादन। जिसमें सात्त्विक भाव प्रेमी और प्रियतम दोनोंमें ही सूद्दीप्तरूपसे प्रकट रहते हैं, दोनों ही स्तम्भित-कम्पित रहते हैं, उसको मोदन कहते हैं। दोनोंको इस अवस्थामें देखकर प्रेमी भी विक्षुब्ध हो जाते हैं। दोनोंके प्रेमकी सम्पत्ति समस्त

चराचरकी प्रेमसम्पत्तिसे बढ़ जाती है। यह मोदन ही विरहकी अवस्थामें मोहन कहा जाता है। इसमें भी विरहकी विवशतासे प्रिया-प्रियतम दोनोंमें ही सात्त्विक भाव सूद्दीप्त रहते हैं। इसके अनुभाव भी औरोंकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण हैं। इस मोहनदशामें द्वारकास्थित अन्य पत्नियोंके द्वारा आलिङ्गित होनेपर भी राधाका स्मरण करके श्रीकृष्ण मूर्च्छित हो जाते हैं और ऐसा अनुभव करते हैं कि मैं वृन्दावनमें यमुनातटवर्त्ती निकुञ्जमें श्रीजीके साथ रास-विलास कर रहा हूँ। असह्य दुःख स्वीकार करके भी जिस प्रकार अपने प्रियतम सुखी हों, वही चेष्टा इसमें की जाती है। इस सम्बन्धमें गोपियोंका कितना सुन्दर भाव है, यह उन्हींके शब्दोंमें सुनने योग्य है—

स्यान्नः सौख्यं यदपि बलवद्गोष्टमासे मुकुन्दे
यद्यल्पापि क्षतिरुदयते तस्य मागात्कदापि।
अप्राप्तेऽस्मिन् यदपि नगरादार्तिरुग्रा भवेन्नः
सौख्यं तस्य स्फुरति हृदि चेत्तत्र वासं करोतु॥

'यदि श्रीकृष्ण वृन्दावन आ जायँ तो हमें बड़ा सुख होगा, इसमें सन्देह नहीं! परन्तु यदि यहाँ आनेसे उनकी तनिक भी क्षति होती हो, तो वे यहाँ कभी न आवें। यद्यपि उनके यहाँ न आनेसे हमें महान् दुःख होगा, तथापि यदि उन्हें वहाँ रहनेमें ही सुख होता है तो वे सुखपूर्वक वहीं निवास करें।' कहना न होगा कि गोपियोंका यह भाव प्रेमकी अत्यन्त ऊँची स्थितिका उद्गार है। इस स्थितिके प्रेमीका जीवन, उसका श्वास-प्रश्वास निखिल ब्रह्माण्डमें प्रेमका सञ्चार कर देता है। इस अवस्थाका प्रेमी जब तारस्वरसे रुदन करने लगता है, तब पशु-पक्षी भी— यहाँतक कि लता-वृक्ष भी उसके साथ रोने लगते हैं। प्रेमी अपनी मृत्युकी आशङ्कासे इस जन्ममें प्रियतमका मिलना असम्भव देखकर यह अभिलाषा करने लगता है कि मेरे शरीरके पञ्चभूत मृत्युके पश्चात् भी प्रियतमकी सन्निधिमें रहकर उनकी सेवामें लगें—

पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटं
धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम्।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गन-
व्योम्नि व्योम तदीय वर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः॥

'शरीरकी मृत्यु हो जाय, पाँचों भूत अपने-अपने मूल कारणमें विलीन हो जायँ—इसमें मुझे तनिक भी आपत्ति नहीं है। परन्तु उनके सम्बन्धमें परमात्माको प्रणाम करके मैं एक वरदानकी प्रार्थना करता हूँ। जिस बावलीका वे जल पीते हैं उसमें मेरे शरीरका जलांश, जिस दर्पणमें वे अपना मुख देखते हैं उसमें मेरे शरीरकी ज्योति, उनके आँगनके आकाशमें मेरे शरीरका आकाश, उनके मार्गमें मेरे शरीरकी मिट्टी और उनके पंखेमें मेरे शरीरकी हवा मिल जाय।' प्रेमकी कितनी सुन्दर अभिव्यक्ति है! यही मोहनदशा आगे चलकर दिव्योन्मादका रूप धारण करती है। इसमें प्रेमी प्रियतमके लिये उनके न होनेपर भी शय्या सज्जित करता है, अपना शृङ्गार करता है और विरहोद्भ्रान्त होकर नाना प्रकारकी चेष्टा करता है। प्रियतमके सुहृदोंको देखकर अनेकों प्रकारके प्रलाप करने लगता है। जल्प, प्रजल्प आदिके भेदसे वे दस प्रकारके होते हैं, जो श्रीमद्भागवतके दशम-स्कन्धान्तर्गत भ्रमरगीतमें सुस्पष्टरूपसे प्रकट हुए हैं। प्रायः ये भाव श्रीराधामें ही पूर्णरूपसे प्रकाश पाते हैं।

रतिसे लेकर महाभावपर्यन्त जितने भी भाव हैं वे सब जब उल्लसित हो जाते हैं, तब संयोग अवस्थामें आह्लादिनीका सार एवं सर्वश्रेष्ठ मादन नामका परात्पर भाव उदय होता है। इसका उदय राधाके अतिरिक्त किसीमें नहीं होता। इसकी स्थिति विचित्र ही होती है। भगवान्‌का सर्वदा संयोग रहनेपर भी उनके वक्षःस्थलपर नित्य विराजमान वनमालाके साथ इस अवस्थामें ईर्ष्या होने लगती है और ऐसे भाव उठने लगते हैं कि 'री वनमाले! तू हमारा तिरस्कार करके नित्य-निरन्तर प्रियतमके वक्षःस्थलपर विहार करती रहती है। यह तो हमलोगोंके प्रति तुम्हारा विद्वेष है।' यहाँ यह नहीं भूलना चाहिये कि इस अवस्थाके ईर्ष्यादि भाव भी दिव्य ही होते हैं। इस मादनकी अनेकों दशाएँ हैं और अनिर्वचनीय गतियाँ हैं। संयोगलीलाके अधिकांश भेद इसीके अन्तर्गत हैं। लीलाभेदसे जो भावभेद होते हैं, उनकी कल्पना भी साधारण चित्तमें नहीं आ सकती। मधुररसमें यही सब लोकोत्तर चमत्कारी भाव, जो कि रसरूप हैं, विकास और पूर्णताको प्राप्त होते हैं। श्रीराधाजी महाभावस्वरूपिणी हैं। श्रीचैतन्यचरितामृतमें समस्त भावोंकी अपेक्षा इस महाभावकी उत्कृष्टताका वर्णन करके कहा गया है—

ह्लादिनीर सार अंश तार प्रेम नाम।
आनन्द चिन्मय रस प्रेमेर आख्यान॥
प्रेमेर परम सार महाभाव जानि।
सेइ महाभावरूपा राधा ठाकुरानि॥
प्रेमेर स्वरूप देह प्रेमे विभावित।
कृष्णेर प्रेयसी श्रेष्ठा जगते विदित॥
सेइ महाभाव हय चिन्तामणि-सार।
कृष्ण-वाञ्छा पूर्ण करे एइ कार्य यार॥
महाभाव-चिन्तामणि राधार स्वरूप।
ललितादि सखी यार कायव्यूहरूप॥

यह मधुर महाभावरूपा परिपुष्ट मधुर रति ही मधुररस, उज्ज्वलरस अथवा दिव्य शृङ्गार रसके नामसे कही जाती है। यद्यपि इस अवस्थामें प्रिया-प्रियतमका वियोग किसी भी प्रकारसे सम्भव नहीं है, तथापि संयोगकी परिपुष्टिके लिये वह भी होता है। इसलिये इस रसके दो भेद हो जाते हैं—एक तो संयोग और दूसरा वियोग। वियोगकी चार अवस्थाएँ होती हैं—पूर्वराग, मान, प्रेमवैचित्त्य और प्रवास। श्रीकृष्णके साक्षात् दर्शनसे, स्वप्न-दर्शनसे अथवा चित्र-दर्शनसे इसकी उत्पत्ति होती है। वन्दीजन, दूती, सखी और किसी गायकके मुखसे श्रीकृष्णके सद्गुण, सौन्दर्य आदिका श्रवण करनेसे भी पूर्वरागका सञ्चार होता है। मधुर रतिके उदयके प्रसङ्गमें जो अभियोग आदि हेतु बतलाये गये हैं, वे सब इसमें भी कारण हैं। यह प्रौढ़, समञ्जस और साधारण भेदसे तीन प्रकारका होता है। इसमें व्याधि, शङ्का, असूया आदि सभी सञ्चारी भावोंका उदय होता है। प्रियतमकी प्राप्तिके लिये लालायित रहना, चित्तका उद्विग्न होना, नींद न आना, शरीरका दुबलापन, जड हो जाना, चित्तका व्यग्र होना, शारीरिक व्याधि, उन्माद, बेहोशी और मृत्युपर्यन्ततककी अवस्थाएँ पूर्वरागमें भी प्राप्त होती हैं। प्रियतमका स्मरण, उनकी प्राप्तिके उपायकी चिन्ता, उनके गुण, नाम, लीला आदिका कीर्त्तन, पत्र-प्रेषण, मालार्पण आदि इसके विशेष चिह्न हैं। मानका प्रसङ्ग बहुत ही प्रसिद्ध है और भावोंके प्रसङ्गमें प्रेमवैचित्त्यका उल्लेख किया जा चुका है। इसलिये उनका पिष्टपेषण उचित नहीं जान पड़ता।

मिलनके पश्चात् प्रिया-प्रियतमके समागममें जो व्यवधान होता है, उसे प्रवास कहते हैं। यह दो प्रकारका होता है— एक तो जान-बूझकर और दूसरा विवशतासे, अनजानमें। थोड़ी दूर और थोड़ी देरका प्रवास एवं बहुत दूर और बहुत दिनोंका प्रवास; इसी प्रकार भूत, भविष्य और वर्तमानका प्रवास; दैवी कारणोंसे अथवा लौकिक कारणोंसे प्रवास। इन सभी प्रवासोंमें श्रीकृष्णकी ही चिन्ता, जागते रहनेके कारण स्वप्न भी नहीं आना, हृदयमें आग जलती रहना, शरीरका सूख जाना, मैला-कुचैला रहना, प्रलाप करना और हृदयमें अत्यन्त सन्ताप रहना—यही सब दशाएँ होती हैं। श्रीराधा ललितासे अपनी व्याधिका वर्णन कर रही हैं।

उत्तापी पुटपाकतोऽपि गरलग्रामादपि क्षोभणो
दम्भोलेरपि दुःसहः कटुरलं हृन्मग्नशल्यादपि।
तीव्रः प्रौढविषूचिकानिचयतोऽप्युच्चैर्ममायं बली
मर्माण्यद्य भिनत्ति गोकुलपतेर्विश्लेषजन्मा ज्वरः॥

'जो स्वर्णके जलते हुए द्रवसे भी अधिक तापकारी है, कालकूट विषसे भी अधिक क्षुब्ध करनेवाला है, वज्रसे भी अधिक दुस्सह है, हृदयमें बिधे हुए शल्यसे भी अधिक तीखा है और उग्र विषूचिकाओंके समूहसे भी अधिक तीव्र है, वही यह श्रीकृष्णके वियोगका तीव्र ज्वर मेरे मर्मस्थानोंको बेध रहा है।'

श्रीकृष्णके वियोगमें कभी हँसना, कभी रोना, निष्प्रयोजन भटकना, पशु-पक्षियों और लता-वृक्षोंसे भी प्रियतमका पता पूछना और जमीनमें लोटना आदि उन्मादके बहुत-से लक्षण प्रकट हो जाते हैं। दुःखकी अधिकतासे कर्त्तव्याकर्त्तव्य-ज्ञान-शून्य हो जाना, मूर्छित हो जाना, मर जाना और मरकर फिर जीना और फिर वही अवस्था। इस प्रकार एक क्षणके लिये भी विरहके पंजेसे छुटकारा नहीं मिलता। प्रेमकी सभी अवस्थाओंमें वियोगकी मर्मवेधिनी पीड़ा होती है और उनके अनुभाव भी प्रकट होते हैं। अधिरूढ महाभावमें मोहन दशाका वर्णन करते हुए जो कुछ कहा गया है, उसे यहाँ स्मरण कर लेना चाहिये और ऐसा समझना चाहिये कि वह तो बहुत कम है। विरहीकी वेदना कोई विरही ही जान सकता है, सो भी यदि उसी श्रेणीका हो। प्रकट लीलाके अनुसार विरहकी परिपूर्णता व्रजदेवियोंमें ही देखी जाती है। अन्तर्लीलामें तो उनका एकरस विहार सदा-सर्वदा चलता ही रहता है।

भगवान्का संयोग-सुख अवर्णनीय है। वास्तवमें मधुररसकी यही चरम परिणति है। प्रणय-परिणयकी

यही मधुयामिनी है। रतिका नाम यहीं आकर सार्थक होता है। वैसे तो सभी रस हैं। परन्तु यह रसराजकी भी सरस अवस्था है। यह दिव्य उज्ज्वल शृङ्गार श्रीमद्भागवतके रास-प्रसङ्गमें जैसा अभिव्यक्त हुआ है, वैसा और कहीं नहीं। यह स्वप्न और जाग्रत्के भेदसे दो प्रकारका होता है। स्वप्नका संयोग अत्यन्त गौण है। फिर भी भगवान्के साथ मानस संयोग होनेके कारण उसकी रसरूपतामें कोई बाधा नहीं पड़ती। जागरणमें जितने प्रकारके संयोग और उसकी लीलाएँ हो सकती हैं, उनसे भी अधिक स्वप्नमें सम्भव हैं। प्रेमियोंका स्वप्न साधारण स्वप्न नहीं है। मूढ़ पुरुषोंके जागरण और योगियोंकी समाधिसे भी उसका ऊँचा स्थान है। प्रेमियोंका दिव्य मन समस्त प्रकृति और प्राकृत जगत्से ऊपर उठा हुआ, दिव्य होता है। अन्त:करणके साधारण विकार स्वप्नका उस प्रेमराज्यमें प्रवेश नहीं है। इसलिये प्रेमियोंका भगवत्संयोगरूप दिव्य स्वप्न भी अलौकिक ही होता है।

जाग्रत् अवस्थामें चार प्रकारके संयोग होते हैं—संक्षिप्त, सङ्कीर्ण, सम्पन्न और समृद्धिमान्। व्रजदेवियोंके जीवनमें ये सभी अपने अवान्तर भेदोंसहित अनुभवके विषय होते हैं। उनका वर्णन लेखविस्तारभयसे नहीं किया जाता। संयोगकी लीलामें प्रियतमका दर्शन, उनके साथ वार्तालाप, उनका स्पर्श, उनके साथ वृन्दावनके निकुञ्जोंमें रहस्यक्रीडा, जल-विहार, रासलीला, नौकालीला, वेषपरिवर्त्तन, कपटशयन, वंशीचौर्य्य, मार्गरोधन आदि अनेकों लीलाएँ होती हैं—जिनका अनुभव कोई गोपीभावापन्न सरसहृदय प्रेमी ही कर सकता है। भगवान्के लीलाप्रतिपादक ग्रन्थोंमें इन लीलाओंका अत्यन्त हृदयस्पर्शी भाषामें वर्णन हुआ है। मधुररसके रसिकोंको वहींसे उनका आस्वादन करना चाहिये।

यहाँतक हमने भक्तिरसकी जिन पाँच धाराओंमें अवगाहन किया है और जिनमें डूब-डूबकर सम्पूर्ण प्राणसे और उन्मुक्त हृदयसे रसास्वादन किया है, वे सब-के-सब स्वर्गीय सुधा और मोक्ष-सुखको भी तिरस्कृत करनेवाले परमामृतस्वरूप दिव्य रस हैं—इसमें सन्देह नहीं। इनमें उत्कृष्ट और निकृष्टका भेद करनेका हमें कोई अधिकार नहीं। जिस प्रेमीको जिस रसकी अनुभूति हुई है, उस रसके रूपमें उसे भगवान्की ही अनुभूति हुई है; क्योंकि भगवान् ही रसस्वरूप हैं। उनकी अनुभूति ही वास्तविक रसानुभूति है। इसलिये हम नम्र हृदयसे प्रेमपरिप्लुत होकर उनके प्रेमको ही युगल सरकारके उस लोकोत्तर महाभावस्वरूपको ही प्रणाम करें—

आसृष्टेरक्षयिष्णुं हृदयविधुमणिद्रावणं वक्रिमाणं
पूर्णत्वेऽप्युद्वहन्तं निजरुचिघटया साध्वसं ध्वंसयन्तम्।
तन्वानं शं प्रदोषे धृतनवनवतासम्पदं मादनत्वा-
दद्वैदं नौति राधादनुजविजयिनोरद्भुतं भावचन्द्रम्॥

महाव्रत श्रीमन्थविद्या

(लेखक—श्रीदत्तचरण ज्योतिर्विद् पं० शिवलाल शास्त्री मेहता ज्योतिर्धुरीण, विद्यार्णव, राज्यशास्त्री)

श्रीमन्थविद्याका उल्लेख ब्राह्मणग्रन्थोंमें हुआ है। इसका वैदिक नाम श्रीमन्थाख्य कर्म भी है। यह कर्म गायत्रीमन्त्रका सिद्ध विधान है। इसका कौषीतकि ब्राह्मण अध्याय ३२, शाङ्खायन ब्राह्मण अध्याय ३१ और ऐतरेय आरण्यक अध्याय ९ में 'महाव्रत' नामसे तथा ऐतरेय ब्राह्मण पञ्चम पञ्चिका और बृहदारण्यकोपनिषद्में 'उपसद्व्रत' नामसे वर्णन किया गया है। इस प्रकार इस श्रीमन्थाख्य कर्मका कौषीतकि ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण, ऐतरेय आरण्यक, शाङ्खायनसंहिता, शाकल्य-संहिता, शाङ्खायन ब्राह्मण, शाङ्खायन आरण्यक, बृहदारण्यक उपनिषद् और छान्दोग्य उपनिषद् आदि कई ग्रन्थोंमें बड़े विस्तारसे प्रतिपादन हुआ है। छान्दोग्य उपनिषद्, अध्याय ५, खण्ड ५ में इसका प्राणदर्शन या प्राणविद्या नामसे वर्णन किया गया है।

उक्त सब ग्रन्थोंमें बृहदारण्यक उपनिषद्के सिवा अन्य सब स्थानोंमें इसका एक समान विधान पाया जाता है, केवल बृहदारण्यकमें ही थोड़ा अन्तर है। वहाँ '**ॐ तत् सवितुर्वरेण्यम्**' इस ब्रह्मगायत्रीसे यह कर्म करनेको कहा है, किन्तु अन्यत्र इसे '**ॐ तत्सवितुर्वृणीमहे**' इत्यादि अनुष्टुप् गायत्रीसे करनेका विधान है। नीचे हम दोनों प्रकारके विधानोंका संक्षेपमें विवरण देते हैं—

बृहदारण्योक्त श्रीमन्थकर्म

बृहदारण्यकके छठे अध्यायके तृतीय ब्राह्मणमें इस विद्याका निरूपण किया गया है। वहाँ प्रथम मन्त्रसे ही यह बताया गया है कि जिसकी इच्छा महत्ता प्राप्त करनेकी हो, उसे यह कर्म करना चाहिये। किसी शुभ मासके शुक्ल पक्षमें पुंनक्षत्रवाले दिनसे आरम्भ करके बारह दिनतक इसका अनुष्ठान किया जाता है। सूर्यके उत्तरायण होनेपर अमावास्याको इसकी दीक्षा ग्रहण करनी चाहिये। इसे आरम्भ करनेपर पहले दिन एक गौके एक थनका, दूसरे दिन दो थनका, तीसरे दिन तीन थनका, चौथे दिन चार थनका और फिर पाँचवें दिन तीन, छठे दिन दो और सातवें दिन एक थनका—इस प्रकार बढ़ते-घटते क्रमसे दूध लेना चाहिये। बारहवें दिन पूर्णिमाकी रात्रिके समय सर्वौषधि अर्थात् व्रीहि, यव, तिल, माष, प्रियंगु, गोधूम एवं मसूर आदि धान्यौषधियोंका आटा पीसकर उसे काँसेके पात्रमें दही और मधुके साथ मथना चाहिये। इसमें चमस-पात्र काँसे या उदुम्बर (गूलर) की लकड़ीका हो सकता है; किन्तु स्रुव, इध्म, समिध और मन्थन-दण्ड उदुम्बरके ही होने चाहिये। फिर अग्नि प्रज्वलित करके उसमें नीचे लिखे मन्त्रोंसे आहुति देनी चाहिये—

यावन्तो देवास्त्वयि जातवेदस्तिर्यञ्चो घ्नन्ति पुरुषस्य कामान्। तेभ्योऽहं भागधेयं जुहोमि ते मा तृप्ताः सर्वैः कामैस्तर्पयन्तु स्वाहा॥[१] (६। ३। १)

या तिरश्ची निपद्यतेऽहं विधरणी इति। तां त्वा घृतस्य धारया यजे सꣳ राधनीमहꣳ स्वाहा॥[२] (६। ३। १)

इस प्रकार कर्मकी निर्विघ्न समाप्तिके लिये पहली दो आहुतियाँ देकर फिर नीचे लिखे मन्त्रोंसे श्रीमन्थकर्म आरम्भ करना चाहिये। इसमें पहली छः आहुतियाँ दो-दो मन्त्रोंसे दी जाती हैं और फिर चौदह आहुतियाँ एक-एक मन्त्रकी हैं। प्रत्येक आहुतिके पश्चात् स्रुवमें लगे हुए अवशिष्ट घृतकी धारा मन्थपात्रमें डालते रहना चाहिये।

ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहा॥ (६। ३। २)
प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहा॥ ''
वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहा॥ ''
चक्षुषे स्वाहा सम्पदे स्वाहा॥ ''
श्रोत्राय स्वाहा आयतनाय स्वाहा॥ ''
मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहा॥ ''
रेतसे स्वाहा॥ ''
अग्नये स्वाहा॥ (६। ३। ३)
सोमाय स्वाहा॥ ''
भूः स्वाहा॥ ''
भुवः स्वाहा॥ ''
स्वः स्वाहा॥ ''
भूर्भुवः स्वः स्वाहा॥ ''
ब्रह्मणे स्वाहा॥ ''
क्षत्राय स्वाहा॥ (६। ३। ३)
भूताय स्वाहा॥ ''
भविष्यते स्वाहा॥ ''
विश्वाय स्वाहा॥ ''
सर्वाय स्वाहा॥ ''
प्रजापतये स्वाहा॥ ''

इसके पश्चात् नीचे लिखे मन्त्रसे मन्थपात्रको स्पर्श करना चाहिये—

भ्रमदसि ज्वलदसि पूर्णमसि प्रस्तब्धमस्येकसभमसि हिङ्कृतमसि हिङ्क्रियमाणमस्युद्गीथमसि उद्गीयमानमसि श्रावितमसि प्रत्याश्रावितमस्यार्द्रे सन्दीप्तमसि विभूरसि प्रभूरस्यन्नमसि ज्योतिरसि निधनमसि संवर्गोऽसीति॥[३] (६। ३। ४)

---

१. हे जातवेदस्! जो दुष्ट मनवाले देव तुम्हारी आज्ञामें रहकर पुरुषकी कामनाओंका नाश करते हैं, उन्हें यज्ञका भागरूप यह आहुति देता हूँ। इससे तृप्त होकर वे मेरी सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करें—स्वाहा।

२. जो सबकी आश्रयभूता कुटिल स्वभाववाली देवी तुम्हें आश्रय करके स्थित है, उसीको स्वाहा अर्थात् यह हवि मैं अर्पण करता हूँ। सब प्रकारके साधनोंको पूरा करनेवाले देवका मैं घृतकी धारासे यजन करता हूँ।

३. तू प्राणरूप होनेसे चलायमान है, अग्निरूप होनेसे प्रकाशमान है, ब्रह्मरूप होनेसे पूर्ण है और आकाशरूप होनेसे निष्क्रिय है। तू जगद्रूपसे व्यापक है, हिंकाररूप है, हिंक्रियमाण है, उद्गीथरूप है, उद्गीयमानरूप है, श्रावितरूप है, प्रत्याश्रावितरूप है, मेघके मध्यमें प्रकाशरूप है, विभु है, प्रभु है, अन्न है, ज्योति है, निधन (लयस्थान) है, तथा संवर्ग अर्थात् वागादिको नियममें रखनेवाला एकतारूप है।

फिर नीचे लिखे मन्त्रसे द्रव्यसहित यज्ञपात्रको उठावे—

आमꣳस्यामꣳ हि ते महि सहि राजेशानोऽधिपतिः स माꣳ राजेशानोऽधिपतिं करोत्विति[१]॥ (६। ३। ५)

इसके पश्चात् निम्नलिखित मन्त्रसे मन्थपात्रमेंसे एक ग्रास ग्रहण करे—

तत्सवितुर्वरेण्यम्। मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। भूः स्वाहा॥[२] (६। ३। ६)

इस प्रकार गायत्रीके प्रथम पादसे आरम्भकर प्रथम व्याहृति '**भूः**' के उच्चारणपूर्वक पहला ग्रास भक्षण करना चाहिये। इसके पश्चात् द्वितीय पादसे आरम्भकर द्वितीय व्याहृति '**भुवः**' का उच्चारण करते हुए उसमेंसे दूसरा ग्रास ग्रहण करे—

भर्गो देवस्य धीमहि। मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳ रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता। भुवः स्वाहा॥[३] (६। ३। ६)

फिर गायत्रीके तृतीय पाद और तृतीय व्याहृति '**स्वः**' के उच्चारणपूर्वक नीचे लिखे मन्त्रसे तीसरा ग्रास ग्रहण करे—

धियो यो नः प्रचोदयात्। मधुमान्नो वनस्पतिर्मधु माꣳ३ अस्तु सूर्यः माध्वीर्गावो भवन्तु नः। स्वः स्वाहा॥[४] (६। ३। ६)

इसके पश्चात् मन्थपात्रको पोंछकर उसके अवशिष्ट द्रव्यको सम्पूर्ण गायत्री और 'भूर्भुवः स्वः' इन तीनों व्याहृतियोंको बोलकर भक्षण करना चाहिये तथा अन्तमें यह मन्त्र बोलना चाहिये—

सर्वाश्च मधुमतीरहमेवेदꣳ सर्वं भूयासं भूर्भुवः स्वः स्वाहा॥[५] (६। ३। ६)

ऐसा कह आचमन कर हाथ-पैर धो अग्निके पश्चिम ओर पूर्व दिशामें सिर रखकर सो जाय। प्रातःकाल उठनेपर इस मन्त्रसे सूर्यभगवान्‌की प्रार्थना करे—

दिशामेकपुण्डरीकमस्यहं मनुष्याणामेकपुण्डरीकं भूयासम्॥[६] (६। ३। ६)

इसके पश्चात् सातवेंसे बारहवें मन्त्रतक इस विद्याकी वंशपरम्परा कही गयी है। उसका पाठ करना चाहिये। यह बृहदारण्यकोक्त मन्थविद्याका वर्णन हुआ। अब आगे छान्दोग्य उपनिषद्‌के अनुसार इसका वर्णन किया जाता है।

छान्दोग्योक्त मन्थविद्या

बृहदारण्यक उपनिषद् शुक्लयजुर्वेदकी है और छान्दोग्य सामवेदकी। इन दोनों उपनिषदोंमें आयी हुई मन्थविद्याके आहुतिमन्त्र और आचमनमन्त्रोंमें कुछ अन्तर है। बृहदारण्यकमें गायत्रीमन्त्रसहित मधुसूक्तसे आचमन करनेकी विधि है और छान्दोग्यमें अनुष्टुप् सावित्रीमन्त्रसे इसका विधान किया गया है। यह विधान ऋग्वेदीय शाङ्खायन आरण्यकके समान है। छान्दोग्यमें मन्थविद्याको प्राणविद्या या प्राणदर्शन कहा है। यह प्राणविद्या सत्यकाम जाबालने वैयाघ्रपाद गोश्रुतिसे कही थी। इसका उपदेश करनेके पूर्व वे कहते हैं—

यद्यप्येतच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्जायेरन्नेवास्मिञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति॥[७] (५। २। ३)

१.तुम सब वस्तुओंको जानते हो, हम तुम्हारी महत्ताका ध्यान करते हैं। तुम राजा, ईश और अधिपतिरूप हो। वह राजा और ईशरूप तुम मुझे अधिपति बनाओ।

२. उत्पत्तिके हेतुभूत सविता देवताके उस वन्दनीय तेजका हम ध्यान करते हैं। सुखप्रद वायु चले, नदी या समुद्र रसमय (सुखप्रद) होकर बहें। ओषधियाँ हमारे लिये सुखमयी हों। पृथिवीलोकको स्वाहा।

३. [सविता देवताके उस वन्दनीय] तेजका हम ध्यान करते हैं। रात्रि और दिन हमारे लिये सुखकारी हों। [मातृभूता] पृथिवीकी रज हमें सुखकर हो। हमारा पितृस्थानीय द्युलोक हमें सुख प्रदान करे। अन्तरिक्षलोकको स्वाहा।

४. [सविता देव] हमारी बुद्धियोंको शुभकी ओर प्रेरित करें। वनस्पतियाँ हमारे लिये रसमयी अर्थात् सुखकर हों। सूर्य हमारे लिये सुखप्रद हो। उसकी रश्मियाँ हमारे लिये सुखमयी हों। स्वर्गलोकको स्वाहा।

५. हमारे लिये सुखप्रद हों। मैं ही यह सब हो जाऊँ। भूर्भुवः स्वः स्वाहा।

६. तुम जिस प्रकार दिशाओंके एक पुण्डरीक (कमल) हो, उसी प्रकार मैं मनुष्योंका एक पुण्डरीक हो जाऊँ।

७. इसी आशयका शाङ्खायन आरण्यकमें यह मन्त्र है—

'शुष्कस्य स्थाणोः प्रब्रूयाज्जायेरन्नस्य शाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति वनस्पते शतवल्शो विरोहेति।' (९। ७)

'यदि कोई प्राणवेत्ता इस विद्याका शुष्क स्थाणुको (रूखे ठूठको) उपदेश करे तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायँगी और पत्ते निकल आवेंगे।' फिर यदि जीवित पुरुषसे यह विद्या कही जाय तो उसके विषयमें कहना ही क्या है। छान्दोग्यमें इस विद्याका विधान प्राणदर्शनके ज्ञाताके लिये है। इसका आरम्भ इस प्रकार होता है—

अथ यदि महज्जिगमिषेदमावास्यायां दीक्षित्वा पौर्णमास्याः रात्रौ सर्वौषधस्य मन्थं दधिमधुनोरुपमथ्य ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत्। (५। २। ४)

तात्पर्य यह है कि इस कर्मका विधान महत्त्वप्राप्तिकी इच्छावालेके लिये है। महत्त्व प्राप्त होनेसे धनकी भी प्राप्ति होती है और धनसे कर्मानुष्ठान हो सकता है। कर्मनिष्ठको ही देवयान या पितृयान मार्गकी प्राप्ति होती है। यह कर्म विषयप्रवण पुरुषोंके लिये नहीं है, अपितु उन्हींके लिये है जो पारमार्थिक भावसे महत्त्वप्राप्तिके इच्छुक हैं।

यहाँ बताया गया है कि अमावास्याको इस कर्मकी दीक्षा लेनी चाहिये। बृहदारण्यकमें इस प्रसङ्गमें कहा है—'उपसद्व्रती भूत्वा' (६। ३। १), उपसद्व्रती अर्थात् पयोव्रती होकर। अतः अमावास्यासे उपर्युक्त क्रमसे पयोव्रती होकर पूर्णिमाकी रात्रिको सर्वौषधिका आटा पीसकर दही और मधुमें मिलाकर काँसे या उदुम्बरके पात्रमें मन्थन करे। फिर नीचे लिखे मन्त्रोंसे अग्निमें छः घृताहुति दे और आहुतिका अवशिष्ट घृत मन्थपात्रमें डाल दे।

ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा। (५। २। ४)
वसिष्ठाय स्वाहा। (५। २। ५)
प्रतिष्ठायै स्वाहा। "
सम्पदे स्वाहा। "
आयतनाय स्वाहा। "

इसके पश्चात् अग्निसे थोड़ी दूर बैठकर निम्न मन्त्र बोलते हुए दोनों हाथोंसे मन्थपात्र उठावे—

अमो नामास्यमा हि ते सर्वमिदꣳ स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाधिपतिः स मा ज्यैष्ठ्यꣳ श्रैष्ठ्यꣳ राज्यमाधिपत्यं गमयत्वहमेवेदꣳ सर्वमसानीति॥[१] (५। २। ६)

इस प्रकार मन्थकी स्तुति कर फिर '**तत्सवितुर्वृणीमहे**' इस मन्त्रसे उसमेंसे एक ग्रास आचमन (भक्षण) करे, '**वयं देवस्य भोजनम्**' इस मन्त्रसे दूसरा ग्रास ग्रहण करे, '**श्रेष्ठं सर्वधातमम्**' इस मन्त्रसे तीसरा ग्रास ग्रहण करे तथा '**तुरं भगस्य धीमहि**' इस मन्त्रसे मन्थपात्रको धोकर शेष सारा पदार्थ पी जाय। इसके पश्चात् आचमन कर अग्निके पश्चिम ओर पूर्व दिशामें सिर रखकर मृगचर्मपर मौन होकर संयत चित्तसे सो जाय। इस अवस्थामें यदि उसे स्वप्नमें स्त्री दिखायी दे तो यह निश्चय करना चाहिये कि उसका कर्म सफल हुआ और उसे उसका अभीष्ट फल प्राप्त हो जायगा।

मन्थविद्याका रहस्य

इस विद्याका रहस्य इस प्रकार है—ब्रह्म-मधु स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूपसे मूलाधारमें स्थित है। यह मधु भगवान् सवितामेंसे प्रसृत होनेवाला एक चैतन्य रस है। यह रस अग्नीषोमात्मक है। इसके स्वरूपका वर्णन श्रुतियोंने अनुष्टुप् सावित्रीमें किया है। यह मन्त्र मनन करने योग्य है—

तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम्।
श्रेष्ठꣳ सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि॥[२]

इस मन्त्रका प्रत्येक शब्द गम्भीर मर्मसे भरा है। इसीसे मन्थन और सम्पात कर्म करनेकी विधि है। प्राणवेत्ता या प्राणोपासक इस कर्मको ही प्राणविद्या कहते हैं। '**आदित्यो ह वै प्राणः**' (प्र० उ० १। ५) इत्यादि श्रुतियोंमें प्राण और आदित्यको एक ही माना है। अतः '**तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम्**' इस पादका अर्थ है—'सविता देवता या प्राणके उस भोजनकी हम प्रार्थना करते हैं।' किस भोजनकी?— जिसका उपभोग करनेपर हम सवितृरूप हो जायँगे। वह सविताका भोजन कैसा है—'**श्रेष्ठं सर्वधातमम्**' श्रेष्ठ—सम्पूर्ण अन्नोंसे प्रशस्यतम और सर्वधातम—सबकी अपेक्षा धारण करनेवाला अर्थात् सम्पूर्ण जगत्का विधाता-उत्पत्तिकर्ता।

---

१. हे मन्थ, तुम 'अम' नामवाले हो। यह सम्पूर्ण जगत् अपने अम अर्थात् प्राणभूत युक्त है। वह तुम ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो तथा दीप्तिमान् और सबके अधिपति (पालनकर्ता) हो; ऐसे तुम मुझे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ बनाओ तथा राज्य और आधिपत्यकी प्राप्ति कराओ। मैं ही प्राणके समान यह सर्व जगद्रूप हो जाऊँ।

२. यह मन्त्र वेदोंमें कई जगह आया है; यथा-छा० ५। २। ७; शाकल्य-सं० ४। ४। २५; शाङ्खा० आ० ९। १, २। १९; आरण्योपनि० १। ११। ३; तैत्तिरीयारण्यक और ऋ० सं० ५। ८२। १

'**अन्नाद् भवन्ति भूतानि**' इस श्रुतिके अनुसार अन्न समस्त प्राणियोंका उत्पत्तिस्थान है ही। यह अन्न भगनामक सूर्यदेवके चतुर्थपादमें स्थित है, अतः 'तुरं भगस्य धीमहि—हम शीघ्र ही सवितृदेवका ध्यान करते हैं। तात्पर्य यह है कि उस मन्थरूप विशिष्ट अन्नसे संस्कारयुक्त और शुद्धचित्त होकर हम उस सवितृदेवके स्वरूपका ध्यान करते हैं। अथवा यों कहो कि 'भग' अर्थात् श्रीके कारणभूत महत्त्वकी प्राप्तिके लिये मन्थकर्म करनेवाले हम उस देवका ध्यान—चिन्तन करते हैं।

तात्पर्य यह है कि परब्रह्म परमात्मा सूर्यमण्डलमें हिरण्यगर्भ—नारायणरूपसे स्थित है। उसका आनन्दमय और रसस्वरूप स्वभाव होनेसे शास्त्रोंमें उसे 'भगवान्' कहा है। वह सूर्यमण्डलस्थ भगवान् सत्, चित् और आनन्दस्वरूप है। सूर्यके किरणजालके द्वारा उसके सत्स्वभावका शक्ति और तेजरूपसे, चित्स्वभावका ज्ञान और बलरूपसे तथा आनन्दस्वभावका ऐश्वर्य और वीर्यरूपसे प्रसार हो रहा है। सूर्यमण्डलमें प्रकाशित उस षड्गुणसम्पन्न परब्रह्मका ही नारायणरूपसे स्तवन किया जाता है। भक्त उपासकगण सौषुम्ण रश्मियोंद्वारा श्रीनारायणके उस षड्गुणविशिष्ट ऐश्वर्यको प्राप्त करते हैं। यह ऐश्वर्यकी प्राप्ति उक्त गायत्रीमन्त्रसे सूचित होती है और इसके चतुर्थ पाद 'तुरं भगस्य धीमहि' के 'भग' शब्दसे इसका स्पष्ट आभास मिलता है। यह महत्त्वरूप कामनाकी प्राप्ति ही मन्थकर्मका फल है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि महत्त्वप्राप्तिके लिये उपासनादि साधनोंका आश्रय क्यों लिया जाय, वह तो लौकिक साधनोंसे भी प्राप्त हो सकता है। इसका कारण यह समझना चाहिये कि मनुष्यकी महत्त्वाकाङ्क्षा ज्ञान और कर्मके फलस्वरूप मोक्ष और स्वर्गादि निरतिशय ऐश्वर्यकी प्राप्ति होनेपर ही पूर्ण होती है। इनमें ज्ञान तो स्वतन्त्र है, उसे किसी भी बाह्य साधनकी अपेक्षा नहीं है; किन्तु कर्म मानुषवित्तसाध्य है— उसके लिये द्रव्य और कर्मोपयोगी सामग्रीकी आवश्यकता होती है। वह मानुषवित्त लौकिक साधनोंसे भी प्राप्त हो सकता है, परन्तु उन साधनोंमें न्यूनाधिक परिणाममें दोषका संसर्ग भी रहता ही है। किन्तु मन्थकर्म सर्वथा निर्दोष है; अतः कल्याणकामीको अभ्युदयकी सिद्धिके लिये भी लौकिक साधनोंका आश्रय न लेकर ऐसे निर्दोष साधनका ही प्रयोग करना चाहिये।

बृहदारण्यकमें इस कर्मके पहले उपसद्व्रती होनेका विधान है। उपसद्व्रत ज्योतिष्टोम कर्मका ही एक अङ्ग है। सोमपानमें विशेषरूपसे आवश्यक मुख्य अग्निको 'उपसदग्नि' कहते हैं। उप-समीपमें, सद्—नष्ट करना—काटना। यह व्रत जीवको परमात्माके समीप ले जाकर उसकी अविद्याको नष्ट करता है, इसलिये इसे उपसद्व्रत कहते हैं।

इसके पश्चात् अग्निमें घृताहुति देकर जो मन्थका भक्षण किया जाता है, वह भी एक प्रकारसे कोष्ठस्थ अग्निमें हवन करना ही है। इनमेंसे पहली आहुति दक्षिणाग्निमें, दूसरी गार्हपत्याग्निमें और तीसरी आहवनीयाग्निमें दी जाती है। ये क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म और कारणभूत अग्निके पीठ है। फिर अवशिष्ट अंशका आचमन कराते हैं। आहुतियाँ अग्निमें भस्म हो जाती हैं। अवशिष्ट दधि-मधुका आचमन अमृतरूपसे अग्नीषोमात्मक होम बनकर 'तुरं भगस्य'—भग देवताके चतुर्थ पीठमें गति करके साधकके शरीरमें स्थित होता है और उसे महत्त्वकी प्राप्ति कराता है।

छान्दोग्य और बृहदारण्यक दोनोंहीमें इस विद्याका ऐसा महत्त्व बताया है कि यदि इसका सूखे ठूँठको भी उपदेश किया जाय तो उसमें शाखा निकल आवेगी और पत्ते फूट आवेंगे। यह अर्थवाद गुणवाद नहीं बल्कि यथाभूतार्थवाद है। इससे निश्चय होता है कि मनुष्यको उपदेश करनेपर इससे उसकी अर्थसिद्धि होनेमें तो कोई सन्देह ही नहीं हो सकता।

विद्याकी परम्परा

बृहदारण्यकके मन्त्र ७ से १२ तक इस विद्याकी सम्प्रदायपरम्पराका इस प्रकार वर्णन किया गया है। सबसे पहले अरुणके पुत्र उद्दालकने अपने शिष्य वाजसनेय याज्ञवल्क्यको इस विद्याका उपदेश किया था। उन्होंने पैङ्ग्य मधुकको, पैङ्ग्य मधुकने भागवित्ति चूलको, चूल भागवित्तिने जानकि आयस्थूणको, जानकि आयस्थूणने सत्यकाम जाबालको और सत्यकाम जाबालने अपने शिष्य वैयाघ्रपाद गोश्रुतिको इसका उपदेश किया तथा प्रत्येक आचार्यने अपने शिष्यको इसका वही महत्त्व बताया, जो उपर्युक्त अर्थवादमें कहा गया है। अन्तमें श्रुति कहती है कि जो पुत्र या शिष्य न हो, उसे इसका उपदेश नहीं करना चाहिये। इससे सिद्ध होता है कि यह विद्या बड़ी महत्त्वशील और गोपनीय है।

स्वाध्याय-साधनकी महिमा

(लेखक—श्रीरामचन्द्रजी)

हमारे आर्ष तथा लौकिक ग्रन्थोंमें स्वाध्यायकी बड़ी महिमा लिखी मिलती है। इस महिमाको अनेक स्थानोंमें विभिन्न वचनोंद्वारा प्रकट किया गया है। विस्तार-भयसे यहाँ सब तो नहीं, किन्तु कतिपय प्रमाण पाठकोंके समाधानके लिये हम उद्‌धृत करते हैं। यहाँ हम केवल स्वाध्यायकी महिमा ही नहीं, बल्कि यह भी दिखलानेकी चेष्टा करेंगे कि शास्त्रोंमें स्वाध्यायपर इतना जोर क्यों दिया गया है। स्वाध्यायकी परिभाषा और उसकी विधिपर भी कुछ प्रकाश डाला जायगा।

स्वाध्यायकी महिमा

१-तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः॥

(योग० २। १)

इस योगसूत्रमें स्वाध्यायको क्रियायोगका एक अङ्ग बतलाया गया है।

२-स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

(योग० १। २८—व्यासभाष्य)

'स्वाध्यायसे योगकी उपासना करे और योगसे स्वाध्यायका अभ्यास; योग और स्वाध्यायकी सम्पत्तिसे परमात्माका साक्षात्कार होता है।'

३-अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

(गीता १७। १५)

यहाँ स्वाध्यायको वाङ्मय (वाक्-इन्द्रियसे सम्बन्ध रखनेवाला) तप कहा गया है।

४-ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत्॥

(मनु० ४। २१)

यहाँ ऋषियज्ञके नामसे स्वाध्यायको पञ्चमहायज्ञोंमें प्रथम स्थान देकर इसे नित्य करनेका विधान किया गया है।

५-स्वाध्यायान्मा प्रमदः। (तैत्तिरीयोपनिषद्)

'स्वाध्यायसे कभी प्रमाद न करना।'

६-त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति।

(छान्दोग्य० २। २३। १)

धर्मके तीन स्कन्ध हैं—यज्ञ, स्वाध्याय और दान।

परन्तु सबसे प्रबल प्रमाण शतपथब्राह्मणका है—

यान्ति वा आपः। एत्यादित्यः। एति चन्द्रमाः। यान्ति नक्षत्राणि। यथा ह वा एता देवता नेयुर्न कर्म कुर्युरेव ँ वा तदहरब्राह्मणो भवति यदहः स्वाध्यायं नाधीते। तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः तस्मादप्यृचं वा यजुर्वा साम वा गाथां वा कुव्यां वाभिव्याहरेद् व्रतस्याव्यवच्छेदाय। ये ह वै के च श्रमा ह मे द्यावापृथिवी अन्तरेण। स्वाध्यायो ह वै तेषां परमा काष्ठा।

यावन्त ँ ह वा इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददल्लोकं जयति त्रिस्तावन्तं जयति भूया ँ सं वाक्षय्यं य एवं विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते। (शत० ११। ५। ७; १। २। ३)

'पानी चलता है अर्थात् उसका धर्म बहना है। सूर्य चलता है। चन्द्रमा चलता है। नक्षत्र चलते हैं अर्थात् ये सब अपने-अपने स्वाभाविक कृत्योंको करते रहते हैं। यदि एक दिन भी कर्म न करें तो न चले। इसी प्रकार ब्राह्मण उसी दिन अब्राह्मण हो जाता है, जिस दिन वह स्वाध्याय नहीं करता। अतः प्रतिदिन स्वाध्याय करना चाहिये। इसलिये स्वाध्यायव्रतके पालनके लिये ऋक्, यजुः, साम अथवा गाथा आदिका नित्य पाठ करे।

'इस द्युलोक और पृथ्वीके बीच जो कुछ भी श्रम है, स्वाध्याय उसकी परमा काष्ठा है अर्थात् स्वाध्याय सब प्रकारके श्रमोंमें श्रेष्ठ है।

जो इस सारी धन-धान्यसे पूर्ण पृथ्वीको दान देकर पुण्य कमाता है, उससे तिगुना पुण्य अथवा और भी अधिक अक्षय पुण्य उस पुरुषको मिलता है, जो प्रतिदिन स्वाध्याय करता है।'

अब यह विचार करना चाहिये कि हमारे पूर्वजोंने स्वाध्यायपर इतना जोर क्यों दिया है? मेरी बुद्धिमें तो यही आता है कि उनका यह कथन बिल्कुल ही सत्य और युक्तियुक्त है। क्योंकि मानव-जीवन उनके सामने निरुद्देश्य नहीं था। वे इसके लक्ष्य, उद्देश्यको समझते थे। उनकी दृष्टिमें मनुष्य-जीवनमें स्वाध्यायका वही स्थान था जो स्थान पतवार चलानेवालेका जहाजमें होता है, जो प्रतिक्षण यह देखता

रहता है कि जहाज अपने गन्तव्य स्थानकी रेखासे तनिक भी इधर-उधर न हो। क्योंकि वह जानता है कि गन्तव्य स्थानके रास्तेको छोड़कर जरा-सा भी इधर-उधर हो जायगा तो अपने गन्तव्य स्थानसे हजारों मील दूर चला जायगा और उसे चिरकालतक भटकना पड़ेगा। इसीलिये वह प्रतिक्षण ध्रुवदर्शक यन्त्रके द्वारा देखता रहता है कि जहाज ठीक लाइनपर चल रहा है या नहीं। यही काम स्वाध्यायका है। मनुष्य-जीवन और पशु-जीवन दोनों—जहाँतक आहार, निद्रा, भय और मैथुनका सम्बन्ध है वहाँतक—समान हैं; परन्तु मनुष्य-जीवनमें विशेषता यह है कि वह स्वभावतः अमरत्वको समझनेकी योग्यता रखता है और उसको प्राप्त करना चाहता है। अमरत्व ही मानव-जीवनका लक्ष्य है। क्योंकि यह देखनेमें आता है कि जिस वस्तुकी हमें इच्छा होती है, वह वस्तु कहीं-न-कहीं विद्यमान होती है। सैकड़ों वर्ष पूर्व मनुष्यमें पक्षियोंकी भाँति उड़नेकी इच्छा हुई। आज उन्हें हम पक्षियोंसे भी अधिक द्रुतगतिसे उड़ते देखते हैं। अतः निश्चय हुआ कि अमरत्वको प्राप्त करना मनुष्य-जीवनका उद्देश्य है। आप कह सकते हैं कि सहस्रों मनुष्य हैं, जिन्हें इस लक्ष्यका स्वप्नमें भी भान नहीं होता। वे जानते ही नहीं कि 'खाओ, पियो और मौज करो' के सिवा भी मनुष्यका कोई जीवन-लक्ष्य है। यह ठीक है; परन्तु वस्तुतः वे मनुष्य नहीं हैं, क्योंकि उनमें पाशविक भावकी प्रबलता है। यथार्थतः मनुष्य वही है, जिसके मनमें अमरत्व-प्राप्तिकी भावना जाग्रत् है। यह जागृति ही मनुष्यत्व है।

किसी कविने कहा है—

बस कि मुश्किल है हर कामका आसां होना।
आदमीको भी मयस्सर नहीं इन्सां होना॥

तथा—

अगर बरबाद पीर मनसे बाशी।
वगर दर आवे रवि माहिए बाशी।
दिलरा बदस्त आर ता कि कसे बाशी॥

'यदि तू बम-वर्षा करके प्राणियोंका खून बहाता है तो यह कोई बड़ा काम नहीं, क्योंकि एक बड़ा मच्छर भी इस कामको करता है। यदि तू पनडुब्बियोंमें बैठकर पानीके भीतर दौड़ लगाता है तो इसमें तेरी प्रशंसा नहीं, क्योंकि ऐसा तो मच्छ भी करते हैं। अरे, अपने दिलको काबूमें कर, जिससे तू मनुष्य बन सके।'

श्रीशङ्कराचार्यजीने कहा है—

दुर्लभं त्रयमेवैतद् देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥

तीन वस्तुएँ बड़ी कठिनतासे प्राप्त होती हैं—मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व और महापुरुषोंका सङ्ग।

अतएव मनुष्य-जीवन निरुद्देश्य नहीं; इसका एक लक्ष्य है, जिसे प्राप्त करना ही मनुष्य-जीवनका फल है। परन्तु मनुष्य-जीवनरूपी जहाजको खेना आसान नहीं है, इसके मार्गमें पद-पदपर कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। कभी हम शारीरिक रोगसे पीड़ित होते हैं तो कभी मानसिक चिन्तासे ग्रस्त। आज सरदी सताती है तो कल गरमी। कभी पुत्रजन्मोत्सवका आनन्द आता है तो कभी किसी प्रियजनकी मृत्युका दुःसह दुःख। आज व्यवसायवृद्धिकी खुशी है तो कल घाटेका ग़म। आज किसी पड़ोसीसे राग है तो कल उसीसे द्वेष। कभी बालबच्चोंसे मोह होता है तो कभी उन्हींसे घृणा। कभी गरीबीका दुःख है तो कभी अमीरीकी बदमस्ती। आज यौवनका हर्षजनक उल्लास है तो कल बुढ़ापेका भीषण त्रास। सारांश यह है कि जीवनमें पद-पदपर अड़चनें और कठिनाइयाँ हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार, पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा आदि अनेक मनोवृत्तियाँ जीवनके जहाजको निरन्तर डाँवाँडोल करती रहती हैं। और आजकलकी व्यवस्था तो और भी खराब हो गयी है। हमारा जीवन इतना विकृत हो गया है कि साधारण आवश्यकताओंको पूर्ण करना भी कठिन है। आजकल मनुष्यका जो आधा जीवन स्कूल और कालेजोंमें व्यतीत होता है, वह आवश्यकताओंको बढ़ानेमें लगता है; और बाकी आधा जो नौकरी, व्यवसाय आदिमें व्यय होता है वह उन आवश्यकताओंके पूर्ण करनेमें ही लग जाता है। जीवनका क्या लक्ष्य है, इसके विचारनेके लिये हमारी दिनचर्याके प्रोग्राममें कोई स्थान ही नहीं है। श्रीशङ्कराचार्यने सच ही कहा है—

बालस्तावत् क्रीडासक्तस्तरुणस्तावत् तरुणीरक्तः।
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः परमे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः॥

इस प्रकार जिनका जीवन अंधाधुंधमें बीत रहा है, उनको कभी-न-कभी पछताते हुए दुःखमें सिर

धुन-धुनकर यह कहना पड़ेगा कि—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता-
स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव याता-
स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥

इसी कारण श्रुति चेतावनी देती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

इस मनुष्य-जीवनमें, जो चौरासी लाख योनियोंको भोगनेके बाद हमें प्राप्त हुआ है, यदि हम नहीं चेतते तो इससे बढ़कर हानि क्या हो सकती है? अतएव स्वाध्याय ही हमें चेतावनी देनेवाला, हमारे जीवन-पथको दिखलानेवाला तथा हमें ठीक रास्तेपर चलानेवाला है।

अब यह विचार करना है कि स्वाध्याय क्या वस्तु है। स्वाध्याय शब्दके दो अर्थ होते हैं। स्वयमध्ययनम्—किसी अन्यकी सहायताके बिना स्वयं ही अध्ययन करना, या अध्ययन किये हुएका मनन और निदिध्यासन करना। दूसरा अर्थ है—स्वस्यात्मनोऽध्ययनम्, अपने आपका अध्ययन करना और यह देखभाल करते रहना कि अपना जीवन उन्नत हो रहा है या नहीं। जैसा कि कहा है—

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत जनश्चरितमात्मनः।
किन्नु मे पशुभिस्तुल्यं किन्नु सत्पुरुषैरिव॥

प्रतिक्षण हमको यह देखते रहना चाहिये कि हमारा जीवन पशुओंके समान है या सत्पुरुषोंके समान। इस क्रियाका नाम अन्तःप्रेक्षण (Introspection) है। इसीके अभ्याससे आत्मोन्नति करके बहुत-से पुरुष महात्मा—महापुरुष हो गये हैं। साधारणतः स्वाध्यायका अभिप्राय लोग यही समझते हैं कि किसी धर्मपुस्तकका नित्य कुछ पाठ कर लेना, और बस। परन्तु इतनेहीसे काम नहीं चल सकता। यद्यपि उच्चारणमात्रसे भी कुछ लाभ अवश्य होता है—क्योंकि शब्दोंके उच्चारणसे भी भावोंका स्पन्दन तरङ्गित होता है और उसका जीवनपर प्रभाव पड़ता है—परन्तु हम पूरा लाभ तभी उठा सकेंगे, जब पाठ करते समय इन चार नियमोंका भी पालन करें—

१-एकाग्रता—जब हम स्वाध्याय (पाठ) कर रहे हों तो हमारा ध्यान चारों ओरसे हटकर पुस्तकके शब्दों और अर्थोंकी ओर ही होना चाहिये। इसके लिये आवश्यक है कि जो कुछ मुँहसे हम पाठ करें, उसे अपने कानोंसे भी ध्यानपूर्वक सुनते जायँ। जिह्वा और श्रोत्र—दो इन्द्रियोंके एक साथ काम करनेसे मन अवश्य एकाग्र हो जाता है। अच्छा हो यदि पाठ करते समय प्रत्येक पंक्तिको ठहर-ठहरकर दो बार पढ़ा जाय।

२- नैरन्तर्य—स्वाध्यायमें जहाँतक हो सके, अन्तर (नागा) नहीं होना चाहिये। थोड़ा-बहुत स्वाध्याय नित्य नियमपूर्वक करना ही चाहिये।

३- सांसारिक पदार्थों और इन्द्रियजन्य सुखोंसे उपरामता—हमें थियेटरके ऐक्टरकी तरह व्यवहार करते जाना चाहिये और साथ ही यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि हमारा उद्देश्य सांसारिक जीवनसे ऊपर उठना है।

४- प्रकाश ग्रहण करनेकी उत्कण्ठा—स्वाध्याय (पाठ) करते समय मनमें यह दृढ़ विश्वास होना चाहिये कि पाठके द्वारा हमारी अन्तःस्थ आत्मा हमें प्रकाश प्रदान कर रही है। यदि हम इन चार नियमोंके साथ स्वाध्याय करते रहेंगे तो हमें अवश्य ही पूर्ण लाभ होगा।

अब यह विचार करना है कि स्वाध्याय किस प्रकार, किस समय और कितना करना चाहिये। स्वाध्यायके लिये ठीक समय प्रातःकाल सन्ध्योपासनके उपरान्त होता है। परन्तु यदि किसीको यह समय उपयुक्त न हो तो जो भी समय उसे अनुकूल हो, उसीमें स्वाध्याय हो सकता है। परन्तु स्वाध्यायका जो समय नियत किया जाय, उसे कुछ समयतक नियमित बनाना पड़ेगा। अन्यथा मनको टालमटोलका अवसर मिल जायगा और सायं-प्रातः, दोपहरपर टालनेसे स्वाध्यायमें अन्तर (नागा) पड़ जायगा। और यह अन्तर स्वाध्याय-साधनका प्रधान विघ्न है तथा साधन-शक्तिके सञ्चयमें बाधक है। यह अनुभवसिद्ध बात है; अतः जो समय नियत किया जाय, उसे बदलनेका अवसर नहीं लाना चाहिये।

कम-से-कम आधा घंटा स्वाध्यायमें अवश्य लगाना चाहिये। परन्तु नागा करनेकी अपेक्षा १५-२० मिनट भी इसके लिये लगाना ठीक होता है।

स्वाध्यायका स्थान पवित्र, शुद्ध वायुयुक्त तथा शुद्ध वातावरणसे सम्पन्न, धूपादि सुगन्धित वस्तुओंसे रमणीक तथा महात्माओं और देवताओंके चित्रोंसे सुशोभित हो

तो बहुत अच्छा होगा। क्योंकि इन वस्तुओंसे मनकी एकाग्रतामें सहायता मिलती है। इनसे हमारी आन्तर चितिशक्तिमें एक विशेष प्रकारकी स्फूर्ति या जागृति उत्पन्न होती है, जो स्वाध्यायसम्बन्धी विचारोंको झट ग्रहण कर लेती है। स्वाध्यायके द्वारा जो विचार मनमें उठें, उनको दिनमें एक-दो बार चिन्तन करना चाहिये और यह भी विचारना चाहिये कि किन-किन विचारोंका प्राबल्य उस दिन जीवनमें रहा है—कहाँ-कहाँ सङ्कुचित वासनाओंने आक्रमण किया है और कहाँ-कहाँ प्रलोभनों, दुर्व्यसनों और दुःस्वभावोंका सामना करना पड़ा है। यदि सालभर निरन्तर यह अभ्यास किया जाय तो उसका परिपाक हो जायगा और फिर कदाचित् इस साधनमें कष्टके स्थानमें आनन्दका अनुभव होने लगेगा। यह याद रखना चाहिये कि जीवन एक महासङ्ग्राम है—यह एक-दो दिनका काम नहीं। उम्रभर भी यदि कमर कसकर युद्ध करनेसे काम बन गया तो अपनेको धन्य समझना चाहिये। महात्मा कबीरदासजीने क्या ही अच्छा कहा है—

साधक खेल अति बिकट बैंडा।
मति सति और सूरकी चाल आगे॥
सूर संग्राम पलक दो-चारका,
सती संग्राम पल एक लागे॥
साधक संग्राम है रैन-दिन जूझना,
देह पर्यन्तका काम भाई॥
कहैं कबीर टुक बाग ढीली पड़े,
तुर्त मन गगन सों जिमीं भाई॥

स्वाध्यायके लिये कौन-सी पुस्तक उत्तम है, यह भी विचारणीय है। सभी धर्म-ग्रन्थ स्वाध्यायके लिये अच्छे हो सकते हैं; परन्तु यह साधकोंकी रुचि, उनकी योग्यता आदिपर बहुत कुछ निर्भर करता है। परन्तु सामान्यतः जो पुस्तकें हमारे गृहस्थ-जीवनका सुधार तथा हमारी आत्मिक स्थितिका उद्धार करनेवाली हैं—तथा जिनमें साधककी श्रद्धा हो, वे ही पुस्तकें स्वाध्यायके उपयुक्त होती हैं।

रामायण, महाभारत, भागवत, विष्णुपुराण, मनुस्मृति, गीता, दर्शन, उपनिषद्, वेद—इनमेंसे साधकको पूर्णतः समझमें आनेयोग्य कोई भी पुस्तक स्वाध्यायके लिये चुन लेनी चाहिये। यदि ये ग्रन्थ समझमें न आ सकें तो आधुनिक महात्माओंकी लिखी हुई पुस्तकोंका अध्ययन करना चाहिये। परन्तु साथ ही यह नियम रखना चाहिये कि जो पढ़ा जाय, उसको व्यवहारमें लाया जाय। व्यवहारमें लाये बिना स्वाध्याय भारमात्र हो जाता है। यह हो सकता है कि निरन्तर सभी ग्रन्थोंका पाठ करता रहे और व्यवहारके लिये दो-एक बातोंको चुन ले। यदि आप गीताका पाठ करते हैं और उसकी सारी बातोंपर आरूढ़ नहीं हो सकते, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि केवल उन्हीं बातोंका स्वाध्याय नित्य करते रहें जिनको व्यवहारमें लाना है; किन्तु ज्ञानके लिये सारी गीताका पाठ करें, और अपनी स्थितिके अनुकूल आचरणमें लानेके लिये दो-चार बातोंको छाँट लें।

हिंदू-जातिके अधःपतनका कारण बहुत-कुछ स्वाध्यायशीलताका अभाव ही है। हमारी शिक्षाप्रणाली धर्मशून्य है, घरोंमें धर्मके भावोंका अभाव हो रहा है, धर्मविहीन जातिका अधःपतन होना निश्चित है। अतः यदि आपके मनमें जातिके सुधारकी चाह हो, तो भी स्वाध्यायशीलता परम आवश्यक है। हम पाठकोंसे प्रार्थना करते हैं कि वे इस लेखको पढ़नेके पश्चात् स्वाध्यायकी प्रतिज्ञा लें, इसे जीवनका व्रत बनायें। फिर तो जीवन स्वयं ही मधुर, रसमय, सुन्दर, सुखद और रमणीय हो जायगा। नहीं तो अन्तमें पछताना पड़ेगा कि—

वाये नादानी कि वक्ते मर्ग यह साबित हुआ।
ख्वाब था, जो कुछ कि देखा; जो सुना, अफसाना था॥

इस दुःखमयी अवस्थासे बचनेका उपाय है स्वाध्यायका अभ्यास। बिना अभ्यासके कुछ हाथ न आयगा। उपनिषद् कहते हैं—

यथाग्निर्दारुमध्यस्थो नोत्तिष्ठेन्मन्थनं विना।
विना चाभ्यासयोगेन ज्ञानदीपस्तथा नहि॥

(योगशिखोपनिषद् ६। ७६)

जैसे लकड़ीमें स्थित अग्नि मन्थनके बिना प्रकट नहीं होती उसी प्रकार ज्ञानदीपक, जो हमारे भीतर प्रज्वलित है, स्वाध्यायके अभ्यासके बिना प्रकाशित नहीं हो सकता।

मीराकी प्रेम-साधना

(रचयिता—पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

(१)

मुक्ति लोटती है यहाँ भव्य भाव-बन्धनोंमें
कान्त-कामनामें मिला ब्रह्मानन्द घन है।
हारमें विजय हाहाकारमें मधुर मोद
गायन सुखद यहाँ करुण रुदन है॥
मीठी एक पीड़ा-सी छिपी है उर अन्तरमें
एक साधना है एक अमिट लगन है।
एक सपने पै अपनेको है मिटाया गया
पाकर छटाक भी लुटाया गया मन है॥

(२)

राह देखती हैं मूक आह भर आँखें सदा
अनिश बरसती करुण रस-धारा है।
प्राण चातकोंने है लगायी रट पीकी सदा
फीकी हुई जिन्दगी न दीखता सहारा है॥
पुलक-कदम्ब ये कदम्ब-से खिले हैं अंग
सुधिमयी पावसका प्रबल पसारा है।
गाढ़ प्रेम-बाढ़में निमग्न बहा जाता मन
हा हा कहाँ नाविक सुजान प्रानप्यारा है॥

(३)

पीती रसनासे रस नामका निरन्तर थी
अन्तर थी प्रीतिराशि अमित उपजती।
प्यारे नन्दनन्दनके सुखद सँयोग हेतु
भोग-राग त्याग उन्हें सानुराग भजती॥
प्रणय-कलिन्दजासे सींचे उर-वृन्दा-बीच
श्याम अभिराम सुषमा थी घनी सजती।
सोहन सरस मनमोहन स्वरोंमें जहाँ
मोहनकी मुरली मधुर रही बजती॥

(४)

बाधा सहके भी राधावरसे निभाती नेह
जाँची परखी थी प्रीति-रीति नहीं काँची थी।
भीति लोकलाज या समाजकी न राखी रंच
सन्त बीच बैठ दिव्य प्रेमकथा बाँची थी॥
रूठी दुनिया हो भले झूठी बतलाये उसे
दृष्टिमें गुबिन्दकी सदा ही वह साँची थी।
प्रीतम प्रवीन दीनबन्धुको रिझाने हेतु
मीरा मञ्जु घूँघुरू पगोंमें बाँध नाची थी॥

(५)

प्रेमयोगिनीको प्रेम-पथसे हटाने हेतु
रंच भी न रानाकी समर्थ हुई रिस भी।
हिय-अरविन्दमें विराजते गुबिन्द रहे
विफल हुआ था जहाँ इन्द्रका कुलिश भी॥
लगन लगाये प्रानधनमें मगन रही
ध्यान भूलती थी नहीं एक हू निमिष भी।
प्रेमवश मीराके भुजङ्ग भगवान् हुआ
चारु चरणामृत समान हुआ विष भी॥

रससिद्धि

(लेखक—पं० श्रीनारायण दामोदर शास्त्री)

जो मनुष्य पूर्ण आरोग्ययुक्त, बलवान् तथा दीर्घायु होता है, वही दीर्घकालतक योगाभ्यास या उपासना करनेमें समर्थ होकर उसके द्वारा ईश्वरके सत्य स्वरूपका ज्ञान और उसकी प्राप्तिसे अखण्ड आनन्द तथा परम शान्तिका अनुभव प्राप्त कर सकता है— जिस आनन्दकी तुलनामें चक्रवर्ती सम्राट्के वैभवका सुख भी तुच्छ है। यही इस दुर्लभ एवं अमूल्य मनुष्य-जीवनकी सच्ची सफलता है—इसी उद्देश्यसे पूर्वकालके साधक प्रथम गुरुकृपासे ऐसा एक रस सिद्धकर उसका सेवन करते थे, जिससे वे पूर्णतया व्याधिरहित, बलवान् तथा दीर्घायु होकर निर्विघ्नतासे उस आनन्दको प्राप्त करनेके साधनका अनुष्ठान करते थे।

इसलिये साधकको सबसे प्रथम गुरु तथा ईश्वरकी कृपासे 'रससिद्धि' का ज्ञान प्राप्त कर उस रसके सेवनसे अपने शरीरको पूर्ण स्वस्थ और बलवान् बनाकर दीर्घायुष्य सम्पादन करनेका प्रयत्न करना चाहिये। कारण, जो मनुष्य निर्बल, व्याधिग्रस्त तथा अल्पायु है, वह पारमार्थिक तो क्या, ऐहिक कार्यमें भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

इस रसविद्याके आद्यप्रवर्तक महेश्वर भगवान् हैं। श्रीमदाद्यशङ्कराचार्यके गुरु गोविन्दाचार्य रससिद्ध थे। उनका कथन था कि ब्रह्मप्राप्तिके लिये साधकको पहले हरगौरी-रसका सेवन कर अपने देहको सिद्ध कर लेना चाहिये।

वैसे ही प्राचीन कालमें माहेश्वरमतके अनुयायी अनेक रससिद्ध हो गये हैं—जैसे श्रीदत्तात्रेय, गोरक्षनाथ आदि नवनाथ, नागार्जुन, सिद्धनाथ, मन्थानभैरव, सिद्धबुद्ध, कंथडी, कोरंडक, सुरानन्द, सिद्धपाद, कणेरी, नित्यनाथ, निरञ्जन, कपाली, बिन्दुनाथ, काकचण्डीश्वर, गज, अल्लभ, प्रभुदेव, टिंटिनी, भालुकी, नागदेव, खंडी, कापालिक आदि।

वेद जैसे अनादि है, वैसे ही यह रसविद्या भी अनादि है। सृष्टिके आरम्भकालके वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, भरद्वाज आदि सप्तर्षि, मनु आदि प्रजापति, याज्ञवल्क्य आदि ब्रह्मविद्वर, अठारह पुराण तथा महाभारतके प्रणेता महर्षि व्यास आदि अनेक ऋषि, मुनि एवं योगीजन तथा राजर्षि इस विद्याको जाननेवाले थे। देवगुरु बृहस्पति तथा असुरगुरु शुक्राचार्य इस विद्यामें पारङ्गत थे। और इनसे अनेक देवों तथा असुरोंको इस दैवी विद्याकी दीक्षा प्राप्त हुई थी। प्राचीन कालमें भारतवर्षकी अनन्त लक्ष्मी, अनन्त ऐश्वर्य तथा सामर्थ्यका इस विद्याका ज्ञान ही मुख्य कारण था। लेकिन कालके प्रभावसे उस गुरुपरम्पराका तथा उसीके साथ इस विद्याका ज्ञान भी लुप्तप्राय हो गया है। इसी कारणसे आज इस विद्याके अधिकारी तथा सच्चे रहस्यको जाननेवाले क्वचित् ही देखनेमें आते हैं। और जो कोई हैं, वे एकान्तमें रहते हैं या लोकसमुदायमें अज्ञानी-जैसे होकर फिरते हैं। इसीसे इस विद्याका वर्णन आलङ्कारिक, अतिशयोक्तिपूर्ण तथा असम्भव कल्पनामात्र समझा जाने लगा है। इसलिये यहाँ इस विषयके प्राचीन इतिहासको सत्य माननेका आग्रह नहीं किया जाता। किन्तु पाठक यदि शुद्ध प्रयत्न तथा ईश्वरके अनुग्रहसे इस विद्याके रहस्यको जाननेके अधिकारी हुए तो इस विद्याकी सत्यता उन्हें स्वयं अनुभवसे ज्ञात हो जायगी। केवल वाद-विवाद या युक्ति और प्रमाणोंसे उसकी सत्यताके विषयमें विश्वास करा देना असम्भव है।

यद्यपि संस्कृत तथा अन्य भाषाओंमें 'रसविद्या'-के अनेक ग्रन्थ हैं, तथापि उनकी साङ्केतिक परिभाषा, अलङ्कार तथा रूपकके गूढ़ रहस्यको समझकर इस विद्यासे लाभ उठाना बड़े-बड़े बुद्धिमान् एवं धुरन्धर विद्वानोंके लिये भी कठिन है। तथापि जो भाग्यवान् लोग शुद्धाचरणपूर्वक दृढ़ प्रयत्नसे ईश्वरके अनुग्रहपात्र होते हैं, उनको इस विद्याका रहस्य मालूम होना बहुत सरल है। जो लोग सांसारिक विषयोंके मोहजालमें फँसे हुए हैं, उन विषयासक्त, दुराचारी पामरजनोंको अनन्त जन्मोंमें भी इस विद्याके रहस्यका ज्ञान होना सम्भव नहीं है। हमारे हृदयमें अन्तरात्माके रूपसे रहनेवाले परमात्मा सर्वज्ञ हैं। इसलिये जो विषय हमारी समझमें न आवे, उसे जाननेके लिये अन्तरमें गहरे उतरकर तथा परमात्माके अभिमुख होकर उसकी अनन्यभावसे प्रार्थना करनेसे तथा हमारे सदाचार, शुद्ध निष्ठा, आग्रहयुक्त प्रयत्न तथा ईश्वरकी कृपासे हमारे हृदयमें इस विद्याका ज्ञान अवश्य प्रकाशित हो सकता है।

रस ईश्वरका स्वरूप है। प्रत्येक जड-चेतन पदार्थमें वह न्यूनाधिक प्रमाणमें है। किं बहुना, पदार्थोंका अस्तित्व

इसी रसपर निर्भर है। बाल्यावस्थामें मनुष्यके शरीरमें यह रस अधिक शुद्धरूपमें रहता है, इससे बालकोंके शरीर अधिक सुन्दर, तेजस्वी तथा कोमल रहते हैं। और उनके शरीरोंमें मलका पृथक्करण उत्तम प्रकारसे होता है, जिससे उनके रस, रक्त आदि धातुएँ अधिक शुद्ध होती हैं। लेकिन उम्र बढ़नेसे उनके शरीरोंमें रस न्यून होकर मल अधिक बढ़ जाता है और इससे मनुष्य उत्तरोत्तर वृद्ध होता जाकर अन्तमें मृत्युके वश होता है।

'रससिद्धि' की कलासे सिद्ध किया हुआ रस एक रत्तीमात्र भी जब मनुष्य ग्रहण करता है, तब तत्काल उसके शरीरमें उत्तम प्रकारका रूपान्तर होने लगता है। रससिद्धिके एक प्राचीन ग्रन्थमें लिखा है कि यह सिद्ध किया हुआ रस शरीरके हड्डीतकके गहरे-से-गहरे भागमें बिना किसी प्रतिबन्धके प्रवेश करता है और शरीरके प्रत्येक सूक्ष्म भागमें जहाँ-जहाँ मल हो, वहाँ-वहाँसे उसको बाहर निकालता है। शरीरके एक अणुको भी वह शुद्ध किये बिना नहीं रहता। यह होते हुए भी वह शरीरमें किसी प्रकारका विकार न करके सब जगह शान्ति फैलाता है। सारांश, मलमात्रको शरीरमेंसे निकालकर वह शरीरको अत्यन्त शुद्ध, स्वच्छ और सुवर्णके समान कान्तिमान् बना देता है और असाध्य-से-असाध्य रोगोंको दूर कर देता है।

यह रस जैसे प्राणियोंके शरीरमें प्रवेशकर उसके मलको नाश करता है, वैसे ही हल्की धातुओंमें भी वह प्रवेशकर तथा उनके मलको दूरकर तत्काल उनका श्रेष्ठ रूपान्तर कर देता है। रससिद्धिशास्त्रमें कुशल पुरुष स्वानुभवसे कहते हैं कि प्रत्येक खनिज पदार्थको सुवर्णके रूपमें रूपान्तर करनेका प्रकृतिका स्वाभाविक धर्म है। लेकिन वैसा न होनेका कारण उन पदार्थोंमें रही हुई अशुद्धि या मल ही है। उनका मल दूर होते ही तत्काल उनका सुवर्णके रूपमें परिवर्तन हो जाता है। सारांश, पदार्थोंका उत्कृष्ट रूपान्तर या परिवर्तन करनेमें प्रकृतिको जो हजारों वर्ष लगते हैं, उसको यह रस क्षणमात्रमें सिद्ध कर देता है।

इस प्रकार यह रस धातुओंके मलको जब दूर कर देता है, तब वह स्पर्शमणिके नामसे जाना या पहचाना जाता है। शास्त्रोंमें जो स्पर्शमणिका वर्णन पाया जाता है, वह केवल कपोलकल्पित नहीं है। कोई उसे भले ही ऋषि-मुनियोंकी कल्पनाके हवाई किले कहें, लेकिन पूर्वकालके ऋषि-मुनियोंने स्पर्शमणि निर्माण किया है, इससे वह केवल कल्पनामात्र नहीं है, हमारे नित्यके उपयोगमें आनेवाले पदार्थों-जैसा एक सत्य पदार्थ है। संसारभरके सब चमत्कारोंमें वह एक सर्वश्रेष्ठ चमत्कार है। किंबहुना वह ईश्वरका सगुण रूप है और मृत्युलोककी दिव्य अमृत-सञ्जीवनी वल्ली है। रससिद्धिका ज्ञान होनेपर हमें स्पष्ट मालूम होगा कि पाश्चात्त्य तत्त्वज्ञोंकी आविष्कार की हुई सब विद्याएँ और कलाएँ इसके आगे अत्यन्त तुच्छ हैं। और आजतक अस्तित्वमें आयी हुई सब कलाओंमें यह सर्वोपरि कला है।

मनुष्यका आत्मा ईश्वरका ही अंश होनेसे उसमें ईश्वरके समान ही अपार सामर्थ्य है। लेकिन वह बीजरूपसे है। मनुष्य यदि पूर्ण स्वतन्त्र न हो तो उसके उस सामर्थ्यका पूर्णरूपसे विकास होने नहीं पाता, वह कुण्ठित हो जाता है। तात्पर्य, मनुष्यको अपनी उन्नतिके लिये अर्थात् अपनेमें बीजरूपसे रहनेवाले ईश्वरीय सामर्थ्यका विकास करनेके लिये पूर्ण स्वतन्त्रताकी आवश्यकता है। लेकिन उसके विकासके मार्गमें कोई प्रतिबन्ध आ जाय, तो उसको दूर करनेमें ही उसका सब बल नष्ट हो जाता है।

मनुष्यकी उन्नतिके मार्गमें व्याधि और निर्धनता—ये दो बड़े प्रतिबन्ध रहते हैं। इनको दूर करनेके उद्योगमें ही उसको अपने आयुष्यका अधिक समय व्यतीत करना पड़ता है। और उस उद्योगमें उसके बलका इतना क्षय हो जाता है कि अपनेमें रहनेवाले ईश्वरीय सामर्थ्यको विकसित करनेका उत्साह उसमें बिलकुल नहीं रहता। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मनुष्यको अपनेमें रहनेवाली दैवी शक्तिका विकास करनेके लिये पूर्ण नीरोग होना चाहिये और द्रव्य-सम्पादन करनेकी चिन्तासे मुक्त होना चाहिये। रसविद्याकी सिद्धि पूर्ण आरोग्य तथा यथेष्ट धनको देनेवाली है। इससे मनुष्यको अपनी दैवी शक्तियोंका विकास करनेमें पूर्ण अवकाश और स्वतन्त्रता मिलती है। इसलिये शरीर, मन और आत्माकी उन्नति चाहनेवाले विवेकी पुरुषोंके लिये रसविद्याका ज्ञान बहुत ही उपकारक है।

रसविद्याका फल संक्षेपमें नीचे लिखे अनुसार है। इस विद्यासे सिद्ध होनेवाला रस जिसको प्राप्त होता है, उसको इस जगत्‌में किसी भी व्यावहारिक सुखकी कमी नहीं रहती। सम्पूर्ण विश्वकी ऋद्धि-सिद्धि उसके पैरोंमें आकर लोटती हैं। महान् राज्य प्राप्त करने-जितना द्रव्य उत्पन्न करनेका सामर्थ्य उसमें होते हुए भी वह अपना

जीवन बहुत सादगीसे व्यतीत करता है। वह यदि संसारभरके प्राणियोंका निर्वाह करना चाहे तो भी उसको द्रव्यका अभाव नहीं रहता।

दूसरे, उसको प्राप्त हुआ रस एक ऐसा दिव्य औषध है कि जिसके सेवनसे ऐसा एक भी असाध्य या कष्टसाध्य रोग नहीं है जो दूर न हो सके। यह रस एक दिन सेवन करनेसे एक महीनेका रोग, बारह दिन सेवन करनेसे एक सालके रोग और एक महीना सेवन करनेसे चाहे जितनी मुद्दतके पुराने रोग भी दूर हो जाते हैं।

इस रसकी प्राप्तिसे विश्वकी जिस नियमसे रचना हुई है, उसका अनुभवसिद्ध ज्ञान होता है। और उस नियमके ज्ञानसे मनुष्य ईश्वररूप हो जाता है। ऐसे अद्भुत फलको देनेवाले इस रसका ज्ञान चाहे जिसको नहीं होता। किन्तु ईश्वर यह गुप्त ज्ञान अपने अनुग्रहपात्र सत्पुरुषोंको ही देते हैं।

यह ज्ञान मनुष्यको दो प्रकारसे होता है। प्रथम तो साक्षात् ईश्वरसे उसका अन्त:करणमें स्फुरण होता है; दूसरे, इस विद्याके अनुभवी किसी सद्गुरुद्वारा। शब्दोंसे वह कभी सीखनेमें नहीं आता। किन्तु जिसका चित्त अत्यन्त शुद्ध होता है, ऐसे योग्य अधिकारी शिष्यके हृदयमें सद्गुरु अपने विचारोंके आन्दोलनोंद्वारा उस ज्ञानको प्रकाशित करते हैं।

इस विद्याकी शीघ्र सिद्धिके लिये सर्वव्यापक, अनन्त शक्तिमान् परम दयालु एक भगवान्की ही आराधना करनी चाहिये, सच्चे दिलसे और निष्काम शुद्ध प्रेमसे उसकी भक्ति करनी चाहिये और उसीके अनन्य शरण होना चाहिये।

प्रयोगके विषयमें कुछ आवश्यक विवरण

यह रस जिस पदार्थसे सिद्ध होता है, उसे जान लेना ही कठिन है। पदार्थका ज्ञान होनेपर उसको सिद्ध करना बच्चेके खेलके समान बहुत सरल है। कुछ रससिद्धोंका कहना है कि यह रस एक पदार्थसे सिद्ध होता है, और कुछका कहना है कि दो या तीन पदार्थोंसे वह बनता है। इन दो पदार्थोंमेंसे एकको गन्धक और दूसरेको पारद कहते हैं। कोई गन्धकको पुरुष और पारेको स्त्री कहते हैं। कोई गन्धकको सिंह और पारदको कन्या कहते हैं। कोई पुरुषतत्त्वको रक्तमृत्तिका और स्त्रीतत्त्वको जल कहते हैं। कोई गन्धकको सुवर्ण, लाल मिट्टी, नंदी, सूर्य, अज, शङ्कर आदि कहते हैं। और पारेको चन्द्र, पार्वती आदि कहते हैं। यह गन्धक और पारा बाजारमें अत्तारोंके यहाँ मिलनेवाला पारा, गन्धक होगा—यह भूलसे भी नहीं समझना चाहिये। इन दो पदार्थोंसे रस कभी सिद्ध नहीं होता। जो लोग रस सिद्ध करनेमें इस गन्धक और पारेका उपयोग करते हैं, वे अपने द्रव्य और आयुष्यका व्यर्थ अपव्यय करते हैं।

उपर्युक्त रक्तमृत्तिका जिस स्थितिमें मिलती है, वह मृतवत् होती है। और उसकी भगिनी जिसको रससिद्ध पारा कहते हैं, उसीसे उसमें जीवन उत्पन्न होता है। लाल मिट्टीकी अपेक्षा उसकी बहिन बिलकुल सामान्य वस्तु है, तो भी उसको जानने या प्राप्त करनेमें विशेष कठिनता मालूम होगी। ऐसा होते हुए भी ये पदार्थ बहुत मूल्यवान् होंगे या उनको प्राप्त करना बहुत कठिन होगा—यह समझकर निराश नहीं होना चाहिये। यथार्थमें रस जिस पदार्थका बनता है, वह एक ही और बहुत तुच्छ है। वह सब जगह मिल सकता है। रस सिद्ध करनेमें जिन तत्त्वोंकी आवश्यकता है, वे सब उसमें रहते हैं। उस पदार्थकी उत्पत्ति रेतीमें होती है। चन्द्रमेंसे झरते हुए जल और सूर्यके प्रकाशका संयोग होकर घनीभावको प्राप्त वह पदार्थ है। इस पदार्थका वर्णन करते हुए एक रससिद्धने कहा है कि हमारे पारेको सब मनुष्य नित्य देखते हैं, परन्तु कोई विरला ही उसको पहचानता है। उसका बाह्य स्वरूप मलिन है, यह देख उसे तुच्छ नहीं समझना चाहिये। उसका दर्शन बिना अधिकारीके दूसरे किसी भी भाग्यशालीको नहीं होता। यदि उसका बाह्य मलिन स्वरूप हम बदल सकें तो वह बहुत ही तेजस्वी होगा। हमारा जल बहुत ही विशुद्ध कुमारिका है। यह पारा एक प्रकारका तीक्ष्ण जल है। सूर्य उसका पिता है। और चन्द्र उसकी माता है। यह पृथ्वीपर मैदानोंमें, समुद्रके किनारे, पर्वतोंपर—सब जगह मिलता है। यदि ईश्वरकृपासे किसीको इसका ज्ञान हो जाय तो भूलकर भी किसीके आगे प्रकट नहीं करना चाहिये; अन्यथा लाभके बदले महान् अनर्थ हो जायगा।

जिसको पारद या जलका ज्ञान हो गया, मानो रससिद्धिके प्रयोगकी पूरी कुंजी उसके हाथमें आ गयी। यथार्थ पारदके ज्ञान बिना दूसरा कितना भी ज्ञान इस विषयमें व्यर्थ है। यह पदार्थ जल-अग्निका सम्बन्ध होते ही सहजमें जल्दीसे उड़ जानेवाला है। पृथ्वीका जल करना और जलका पृथ्वी करना जिसको आ गया, मानो उसने रससिद्धिके मन्दिरमें प्रवेश कर लिया।

सब धातुएँ और खनिज पदार्थ पृथ्वी और जल या

पारा और गन्धकसे बनी हुई हैं। रस जिस एक पदार्थका बनता है, वह सब जगह होते हुए भी भगवान्‌के अनुग्रह बिना किसीको मिलता नहीं। मैंने पारा, गन्धक आदि अनेक पदार्थोंपर प्रयोग करके देखा; लेकिन सच मानिये कि मेरे सब प्रयत्न और परिश्रम व्यर्थ गये। इन पदार्थोंसे रस सिद्ध नहीं होता, इसलिये सचेत रहना चाहिये। अस्तु,

रससिद्ध जिस पात्रमें रस तैयार करते हैं, वह काँचका गोल और लंबी नलीवाला होता है। वह इतना दृढ़ होना चाहिये कि चाहे जितनी बढ़ती हुई अग्निकी उष्णताको सहन कर सके। वैसे ही रससिद्धोंका अग्नि दो प्रकारका होता है—एक पदार्थके गर्भमें रहनेवाला और दूसरा बाह्य अग्नि; ऐसे दो प्रकारके अग्निसे रस परिपक्व और सिद्ध होता है।

प्रयोग

प्रमाणके विषयमें कोई रससिद्ध लाल मिट्टीके चार भाग और जलके नौ भाग या मिट्टीसे जल दोगुना लेनेको कहते हैं।

लाल सिंह और कन्याको पात्रमें यथाविधि रखनेके बाद उन दोनोंका तुमुल युद्ध शुरू होता है। कन्या सिंहका जबड़ा तोड़ डालती है और उसके शरीरमें बड़ी-बड़ी दरारें कर देती है। लेकिन अन्तमें सिंह ही कन्यापर विजय पाता है। गन्धकपर पारेके जो प्रहार होते हैं, वे इन्द्रके वज्रके प्रहारसे भी अधिक तीव्र होते हैं।

एक रससिद्ध महापुरुष कहते हैं कि राजा जब जलाशयके समीप आता है, तब वह अपने सुवर्णमय वस्त्र निकाल डालता है। और उन्हें शनिको देकर बाद वह अकेला ही जलाशयमें प्रवेश करता है। जब वह बाहर निकलता है, तब शनि उसको काला रेशमी जामा देता है।

राजाको सुवर्णमय वस्त्र उतारकर काला रेशमी जामा धारण करते कितना समय लगता है, इसका उपर्युक्त महापुरुषने खुलासा नहीं किया है। लेकिन वह अल्प ही समय होगा, ऐसा अनुमान नहीं करना चाहिये। जल और पृथ्वीका युद्ध शान्त होनेपर दोनोंका समाधान होता है। इस युद्धके समयमें रसके पदार्थको कई पुरुषोंने 'द्वन्द्व' नाम दिया है। और वह यथार्थ भी है! कारण, प्रयोगकी प्रथम भूमिका पूर्ण होनेतक दोनोंका सच्चा संयोग नहीं होता। आरम्भमें तो वे दोनों एक दूसरेपर लेशमात्र भी असर नहीं करते। लेकिन समय जानेपर पृथ्वी जलका कितना ही भाग चूस लेती है। और ऐसा होनेपर परस्परमें—एकमें दूसरेके गुण-धर्म आते हैं। और जलका कुछ ही भाग शुद्ध होता है। बाकी मृत्तिकाके छिद्रोंमें धीरे-धीरे प्रवेश करता है। और उसको अधिकाधिक नरम करता है। इससे मृत्तिका या सुवर्णका आत्मा उससे धीरे-धीरे बाहर निकलता है। इस आत्माका और शुद्ध जलका संयोग होनेपर काला रंग दिखायी देता है। और यह परिणाम होनेमें चालीससे पचास दिनतक लगते हैं।

अग्निसे दोनों पदार्थोंमें क्रिया शुरू होनेपर जो काला रंग दिखायी न दे, तो प्रयोगमें कुछ भूल जरूर हुई है—ऐसा समझना चाहिये। इसलिये प्रयोग फिरसे आरम्भ करना आवश्यक है। क्योंकि यह भूल ऐसी है कि इसमें कभी सुधार नहीं हो सकता। कुछ लाल या नारंगी रङ्ग दिखायी दे तो प्रयोग करनेवालेको सचेत होना चाहिये। कारण आरम्भमें ही रससिद्धोंके पात्रमें पूर्वोक्त रंग दिखायी दे तो ऐसा समझना चाहिये कि प्रयोग करनेवालेने अग्निसे रसके तत्त्वको जला डाला है। कुछ आसमानी और कुछ पीला रंग यह दिखाते हैं कि मृत्तिकाका पचन और उसका रस अभी ठीक हुआ नहीं है। काला रंग ही मिट्टीके पूर्णरूपसे जल होनेका यथार्थ चिह्न है। काला रंग होनेसे मिट्टीका सूर्यकी किरणोंमें उड़ते हुए अणुओंसे भी अधिक सूक्ष्म चूर्ण होता है। और इस चूर्णका फिर जलमें रूपान्तर होता है।

पात्रमें डाले हुए पदार्थोंका यथार्थ संयोग होकर काला रंग होना—इसको रससिद्ध शनिका राज्य आरम्भ हुआ, ऐसा कहते हैं। जब सिंह मर जाता है, तब वहाँ कौएका जन्म होता है। पात्रमेंका पदार्थ अब काजलके माफिक एक-सा काले रंगका हो जाता है। उसमें जीवनका कुछ भी चिह्न मालूम नहीं होता। सब मृत्युके समान शून्यरूप दिखायी देता है। ऐसा होते देखकर प्रयोगकर्ताका हृदय हर्षसे भर जाता है। कभी-कभी लेईके माफिक उसमें पतली-पतली पपड़ियाँ उठती हुई दिखायी दें तो उन्हें देखकर उसे प्रसन्न होना चाहिये। क्योंकि वह मृत पदार्थोंमें जीवनकी स्फूर्ति होनेका चिह्न है। इस समय अग्निको योग्य प्रमाणमें रखना बहुत ही आवश्यक है। यदि अग्नि आवश्यकतासे अधिक हो, तो सब प्रयोग धूलमें मिल जाता है। इसलिये चालीस दिनतक सन्तोषसे बैठे रहो और अग्नि मन्द रखो। जल्दी मत करो। अपने सुकोमल पदार्थको पात्रके तलेमें ही पड़ा रहने दो। भविष्यमें प्रकट होनेवाले यशस्वी शरीरका यह गर्भकाल है।

शनिके राज्यकी जब समाप्ति होती है, तब गुरुके राज्यका आरम्भ होता है। पात्रमें डाले हुए मिश्रणमें पचनक्रिया आरम्भ होनेपर उसके रंगमें परिवर्तन होने लगता है। और उसमेंसे भाफ ऊपर चढ़ने लगती है। गुरुका राज्य सिर्फ तीन हफ्तेतक रहता है। इस अवधिमें मिश्रणमें सब प्रकारके रंग दिखायी देते हैं। तथा आकाशमेंसे वृष्टि होती रहती है। गुरुके राज्यके आखिरी समयमें वृष्टिका वेग बढ़ता जाता है और पात्रकी बगलोंमें जब बर्फके समान श्वेत रेखाएँ जमी हुई दिखायी दें, तब प्रयोगकर्ता समझता है कि अब गुरुके राज्यका अमल पूरा हुआ है। जब यह चिह्न देखो, तब प्रसन्न होओ। क्योंकि गुरुका राज्य यशस्वी प्रकारसे पूर्ण होनेका यह लक्षण है। इस प्रयोगमें खास करके इस बातकी सावधानता रखनी चाहिये कि अपने खुदके घरमेंसे निकले हुए कौएके बच्चे पीछे घरमें घुस न जायँ। और रक्तमृत्तिका प्रमाणसे अधिक सूख न जाय, या जलसे अधिक तर न हो जाय—इसपर लक्ष्य रखना चाहिये। इसलिये गर्मी चाहिये उतनी ही देते रहो, अधिक नहीं।

चतुर्थ मासके अन्तमें गुरुका राज्य समाप्त होता है और चन्द्रके राज्यका आरम्भ होता है। आरम्भमें पात्रकी बगलमें ही द्वितीयाके चन्द्रका उदय हुआ दीख पड़ता है। लेकिन ज्यों-ज्यों चन्द्रकी कला बढ़ती जायगी, त्यों-त्यों तुम्हें स्पष्ट मालूम होगा कि गुरुके राज्यका सब समय प्रकृतितत्त्वको शुद्ध करनेमें ही गया था। शुद्ध करनेवाला पुरुषतत्त्व अत्यन्त शुद्ध और प्रकाशित होता है। लेकिन जिस प्रकृतितत्त्वको शुद्ध करना होता है, वह बहुत काला रहता है। परन्तु वह तत्त्वका लेपन छोड़कर जब श्वेत होता जाता है, तब उसमें भिन्न-भिन्न प्रकारके अनेक रंग दिखायी देते हैं। लेकिन बादमें उसकी श्वेतता इतनी बढ़ जाती है कि आँखोंको चकाचौंध कर डालती है। और वह मिश्रण अत्यन्त तेजस्वी प्रवाही पारेके समान दिखने लगता है। यह चन्द्रका राज्य भी तीन हफ्तेतक ही रहता है। उस समय पात्रमेंका पदार्थ भिन्न-भिन्न प्रकारके अनेक रूप धारण करता है। वह क्षणमें प्रवाही हो जाता है और क्षणमें गाढ़ा होकर जम जाता है। इस प्रकार वह दिनमें सैकड़ों बार अपना रूप बदलता है। कभी-कभी उसका स्वरूप मच्छकी आँखें-जैसा मालूम देता है, और कभी पेड़की शाखाओं तथा पत्तोंके आकारका दिखायी देता है। जब-जब उसको देखा जायगा, तब-तब हमें आश्चर्य हुए बिना नहीं रहेगा। लेकिन मुख्य करके जब उस मिश्रणके सूर्यकी किरणोंके समान अत्यन्त शोभावाले बहुत सूक्ष्म कण दीख पड़ते हैं, तब आनन्द और आश्चर्यका पार नहीं रहता। ये सूक्ष्म कण और कुछ नहीं हैं, किन्तु रससिद्ध जिसको श्वेत अमृत कहते हैं, वही हैं। उसका दर्शन दुर्लभ है। कोई भाग्यवान् ही उसको देख सकते हैं और उसके दर्शनसे अपूर्व आनन्दका अनुभव करते हैं। लेकिन वह 'श्वेत अमृतरस' इसके बाद जिस उच्च दशाको प्राप्त होता है, उसकी तुलनामें वह कुछ गिनतीमें नहीं है।

रससिद्धोंको कहना है कि चन्द्रके राज्यके बाद शुक्रके राज्यका आरम्भ होता है। यदि श्वेत अमृतरसको उसी पात्रमें रहने दिया जाय, तो वह फिर हवामें उड़ जाता है। और उसके अपनी भूमिकामें पूर्ण होनेपर उसमें दूसरे प्रकारका उच्च अन्तर पड़ने लगता है। लेकिन यदि उसको पात्रमेंसे बाहर निकाल लिया जाय और ठंडा होनेपर फिरसे दूसरे पात्रमें डाला जाय तो उसमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं होगा। वह जिस दशामें होता है, उसी दशामें रहता है। शुक्रके राज्यमें अग्निपर खास ध्यान रखना होता है। कारण, पूर्ण स्थितिको पहुँचता हुआ अमृतरस पिघल जाता है। इसलिये यदि उसको प्रमाणसे अधिक गर्मी दी जाय, तो वह काँचके समान हो जाता है। फिर उसमें किसी तरहका परिवर्तन किया नहीं जा सकता। चन्द्रके राज्यके मध्यकालसे लगाकर शुक्रके राज्यके सन्धिकालमें चाहे जिस समय ऐसा होना सम्भव रहता है। इसलिये प्रयोगकर्त्ताको सावधान रहना चाहिये और मिश्रणका बहुत धीरे-धीरे पचन हो एवं ऊर्ध्वगामी जीवनतत्त्वका उसमें प्रवेश हो—ऐसी मध्यम प्रकारकी गर्मी देते रहना चाहिये। पात्रमें जीवनतत्त्व जब ऊपर चढ़ता है, तब रस भी उसके साथ ऊँचे चढ़ने लगता है। उस समय वह अनेक प्रकारके नये-नये रंग धारण करता है। उसमें कुछ लाली लिये हुए नीलवर्ण मुख्य होता है। यह रंग बीस दिनतक रहता है। बादमें वह नीले रंगका हो जाता है। उसके बाद उसका रंग सीसे-जैसा आसमानी और कुछ काला हो जाता है। और शुक्रके राज्यकी समाप्तिके समयमें वह फीका जामुनी रंग धारण करता है। जब उसका नीलवर्ण दिखायी दे, तब निश्चय जानना चाहिये कि अब मिश्रणमें सबसे श्रेष्ठ जीवनतत्त्वका बीज है। इसलिये प्रमाणसे अधिक गर्मी

देकर नीले रंगका काला रंग नहीं कर डालना चाहिये। शुक्रके राज्यकी मर्यादा चालीस दिनकी होती है।

शुक्रके बाद मङ्गलका राज्य प्रारम्भ होता है। जब मिश्रणका रंग कुछ पीला या बादामी दीख पड़े, तब मङ्गलका राज्य चल रहा है—ऐसा समझना चाहिये। लेकिन यह रंग दीर्घकालतक नहीं रहता। अन्तमें मिश्रणमें इन्द्रधनुष या मयूरपिच्छके सभी क्षण-स्थायी रंग देखनेमें आते हैं। अब मिश्रण कुछ शुष्क होता हुआ मालूम देता है। और प्राय: उसपर सुनहरी झलक दीख पड़ती है।

रससिद्ध कहते हैं कि इस समय माता उसके बालकके उदरमें ढकी हुई रहती है। तब वह फूलती है और शुद्ध होती है। अब मिश्रण अधिक शुद्ध होनेसे उसमें किसी प्रकारका मल नहीं दिखायी देता। समयपर कोई पहचान न सके, ऐसे रंग उसपर तैरते हुए दीख पड़ते हैं। कितने ही मध्यस्थ रंग तो घड़ीभरमें दिखायी देते हैं और घड़ीभरमें अदृश्य हो जाते हैं। अपनी पृथ्वीमें अब आखिरी शुद्धीकरणकी क्रिया चालू होती है। और उस क्रियाद्वारा पृथ्वी सूर्यके फलको ग्रहण करने एवं उसको परिपक्व करने योग्य होती है। इसलिये इस समय अग्निका प्रमाण पहलेकी अपेक्षा कुछ अधिक, लेकिन मध्यम ही रखना चाहिये और ऐसा होनेपर मङ्गलके राज्यके लगभग तीसवें दिन मिश्रणमें नारंगी रंग दिखायी देता है और दो हफ्ते पूरे नहीं हो पाते कि पात्रका सब मिश्रण पूरे नारंगी रंगका हो जाता है। मङ्गलका राज्य समाप्त होनेपर सूर्यका राज्य आरम्भ होता है और सूर्यका राज्य समाप्त होनेपर प्रयोगकी मर्यादा पूर्ण होती है। सूर्यका राज्य आरम्भ होनेपर मिश्रणका रंग सुनहरा होने लगता है और मिश्रणको पीनेके लिये जो कुमारिकाका दूध दिया जाता है, वह गहरे नारंगी रंगका हो जाता है। इस समय अधीरता या उतावलापन नहीं आवे, इसलिये ईश्वरकी प्रार्थना करनी चाहिये। आज सात महीने प्रयोगमें व्यतीत हो गये तो अब थोड़े समयके लिये जल्दी कर किनारेपर आयी हुई नावको डुबा देना और हाथोंमें आयी हुई चिन्तामणिको गँवा देना मूर्खता है। इसलिये जैसे-जैसे रस पूर्णकलाको प्राप्त होता जाय, वैस-वैसे अधिक सावधान तथा धैर्यशील होते जाना चाहिये। थोड़ी देरके बाद प्रथम नारंगी रंगका जल मिश्रणके ऊपर फूट निकला हुआ दीख पड़ेगा। उसके बाद उसमेंसे नारंगी रंगकी भाप निकलती हुई दीखेगी। फिर अल्प समयमें मिश्रणके नीचेका भाग नील-लोहित रंगका होता हुआ मालूम देगा। पंद्रह दिनके बाद वह मिश्रण बहुत अंशमें गीला और भारी हुआ मालूम देगा। ऐसा होनेपर अभी वायु उसको अपने गर्भमें धारण किये हुए है, ऐसा समझना चाहिये। सूर्यका राज्य आरम्भ होनेसे छब्बीसवें दिन मिश्रण दिनभरमें सैकड़ों बार घड़ीभरमें प्रवाही और घड़ीभरमें शुष्करूप धारण करता है। बाद वह दानेदार होता है और फिर वह एकत्र बँधकर प्राय: एक पक्षतक अनेक प्रकारके रूप धारण करता है। अन्तमें उसमेंसे एक दिव्य प्रभा अकस्मात् वेगसे निकल आती है और उसके बाद फिर प्रयोग पूर्ण होनेकी सिर्फ तीन दिनकी अवधि रह जाती है। इन तीन दिनोंमें सुवर्णके अत्यन्त तेजस्वी कणोंके समान उसके कण हो जाते हैं और उसका गहरा लाल रंग हो जाता है। यह रंग इतना गहरा होता है कि जमे हुए शुद्ध रक्तके समान उसका काला रंग दिखायी देता है। इस दशाको प्राप्त हुआ मिश्रण ही रससिद्धोंका 'रक्त अमृतरस' कहाता है। संसारभरके सब आश्चर्यकारक चमत्कारोंमें यह रस बड़े-से-बड़ा चमत्कार है। इसकी तुलना जगत्‌में कोई भी चमत्कार नहीं कर सकता।

कितने ही रससिद्धोंका कहना है कि यह रस तीन मस्तकवाले नागसे रक्षित है। इस नागका एक सिर जलमेंसे, दूसरा पृथ्वीमेंसे और तीसरा हवामेंसे निकलता है। प्रयोगकर्ताको इन तीन सिरोंको मिलाकर एक सिर करना चाहिये। ऐसा होनेपर दूसरे सब नागोंको भक्षण करनेमें वह समर्थ होगा।

सिद्धोंद्वारा कहे हुए इस रूपकका खुलासा मालूम होनेके लिये परमेश्वरकी सच्ची भक्तिपूर्वक प्रार्थना करनी चाहिये और वह दयामय प्रभु कृपाकर यह रस किसीको दे तो उसकी महिमाका जगत्‌में विस्तार करने और अपना तथा अपने मानव बन्धुओंका कल्याण करनेमें उसका सदुपयोग करना चाहिये।

पञ्चदशकलात्मक पञ्चदशतिथिरूपी नित्याओं तथा षोडशी अथवा अमृतकलाका विचार

(लेखक—पं० श्रीकृष्णजी काशीनाथ शास्त्री)

एक एव प्रकाशाख्यः परः कोऽपि महेश्वरः।
तस्य शक्तिर्विमर्शाख्या सा नित्या गीयते बुधैः॥

जैसे परशिव नित्य हैं, उसी प्रकार उनकी परशिवाभिन्ना शक्ति भी त्रिकालाबाधित है, नित्य है; वही कामेश्वराङ्कनिलया है। इस महानित्याके सब धर्म परशिवके धर्मोंके सदृश हैं। परशिव प्रकाशरूप हैं, महानित्या विमर्शरूप है।

इस महानित्याके पञ्चदश किरण, पंद्रह नित्या शक्ति हैं। विमर्शाख्य महानित्या पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश—इन पञ्च महाभूतरूपसे प्रकट हुई। आकाशका एक गुण—शब्द; वायुके दो गुण—शब्द और स्पर्श; तेजके तीन गुण—शब्द, स्पर्श और रूप; जलके चार गुण—शब्द, स्पर्श, रूप और रस; पृथ्वीके पाँच गुण—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध; इनकी संहति १५ हुई।

विमर्शाख्या तु नित्या सा पाञ्चविधं समागता।
आकाशानिलसप्तार्चिःसलिलावनिभेदतः ।
एकैकगुणवृद्ध्या तु तिथिसंख्यात्वमागता॥

(नित्याषोडशिकार्णव)

इनके १५ अधिष्ठातृ-देवता हैं। ये ही १५ तिथिरूप चन्द्रकी १५ कलाएँ हैं, जो शुक्लप्रतिपदासे आरम्भ होकर पूर्णिमातक वृद्धिको प्राप्त होती हैं और जिनका कृष्णपक्षमें क्रमशः क्षय होता है। सोलहवीं कला परशिवाभिन्ना महानित्या सच्चिदानन्दरूपिणी है।

दर्शाद्याः पूर्णिमान्ताश्च कलाः पञ्चदशैव तु।
षोडशी तु कला ज्ञेया सच्चिदानन्दरूपिणी॥

(सुभगोदय)

इस षोडशी महाकलाकी न वृद्धि होती है न क्षय होता है। यह अमृतकला है। इसको भगवान् महादेवने अपने मस्तकपर धारण किया है।

महादेवोऽपि चन्द्रार्द्धं स्वरूपं परमात्मनः।
जग्राह देवैर्विधिना शिरसा मुदितो भृशम्॥

चन्द्रकी १५ कलाओंकी वृद्धि और क्षय इसी अमृतकलापर निर्भर हैं। चन्द्रमें ज्योत्स्ना, तेज और अमृत हैं। कृष्णपक्षमें अमावास्यातक चन्द्रकी कलाओंका क्षय होता है। तब उसका तेज सूर्यबिम्बमें जाता है, उसकी ज्योत्स्ना चन्द्रशेखरके मस्तकपर जो अक्षयकला है, उसमें जाती है और अमृत देवताओंको पीनेको मिलता है। शुक्लपक्षमें इसके विपरीत उतनी ही कलाका तेज चन्द्रको फिर प्राप्त होता है। कृष्णपक्षकी जिस तिथिको जो कला-भाग चन्द्रमेंसे चला जाता है, फिर उतनी ही कलाका तेज शुक्लपक्षमें उसको पुनः मिलता है। कृष्णपक्षभर चन्द्रकलाओंसे जो अमृत निकल कर जाता है, वह देवताओंको मिलता है।

चन्द्रकी ज्योत्स्ना जिस तिथिको जितनी शङ्करके मस्तककी अक्षयकलामें जाती है, शुक्लपक्षकी उसी तिथिको पुनः चन्द्रको मिल जाती है। अमावास्याके अपराह्ण-कालमें चन्द्रका अमृत भाग पितरोंको मिलता है, जिससे उनकी तृप्ति होती है।

यथा दिने दिने भागाः क्षयं यान्ति तथा विधोः।
वृद्धिं गच्छन्त्यनुदिनं शुक्लपक्षेऽन्वहं सुराः॥
तेजोभागः सूर्यबिम्बात् पुनरेव समेष्यति।
प्रयास्यति कृष्णपक्षे यथाभागक्रमं तथा॥
ज्योत्स्ना हरशिरश्चन्द्रात् प्रत्यहं पुनरेष्यति।
तेजोभागः सूर्यबिम्बादमृतं वर्षति स्वयम्॥
एवं वृद्धिः शुक्लपक्षे सुधांशोः सम्भविष्यति।
पक्षयोः शुक्लकृष्णत्वं चन्द्रवृद्धिक्षयाद् भवेत्॥
अमावास्यां पराह्णे तु पितृभी रोहिणीगृहे।
तस्यैवास्वादनात् कव्यं वृद्धिं यास्यति चान्वहम्।
तेन कव्येन पितरस्तृप्तिं यास्यन्ति वै पराम्॥

(कालिकापुराण, अध्याय २१)

चन्द्रकी कलाओंसे जो अमृतस्राव होता है, वह ओषधियोंको मिलता है। यही अमृत भोजनद्वारा हमारे शरीरमें प्रविष्ट होता है और हमको जीवन देता है। ओषधियोंसे यज्ञ होते हैं। यज्ञोंसे देवताओंको हविर्भाग मिलता है और पितरोंको कव्यभाग मिलता है।

इसलिये अमृतका कारण, यज्ञोंका कारण और सम्पूर्ण जगत्‌को पोषण करनेका कारण चन्द्रमा है।

हव्यं कव्यं च चन्द्रेण विना न सम्भविष्यति।
तस्मात्तयोः प्रवृद्ध्यर्थं चन्द्रं रक्षन्तु देवताः॥

चन्द्रकी पञ्चदशतिथिरूप १५ कलाएँ हैं, उनको पञ्चदश नित्या कहते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—

तत्रादौ प्रथमा नित्या महात्रिपुरसुन्दरी।
ततः कामेश्वरी नित्या नित्या च भगमालिनी॥
नित्यक्लिन्नाभिधा नित्या भेरुण्डा वह्निवासिनी।
महावज्रेश्वरी दूती त्वरिता कुलसुन्दरी॥
नित्या नीलपताका च विजया सर्वमङ्गला।
ज्वालामालिनीका चित्रेत्येवं नित्यास्तु षोडश॥

नित्याओंके नाम—

(१) कामेश्वरी	(९) कुलसुन्दरी
(२) भगमालिनी	(१०) नित्या
(३) नित्यक्लिन्ना	(११) नीलपताका
(४) भेरुण्डा	(१२) विजया
(५) वह्निवासिनी	(१३) सर्वमङ्गला
(६) महावज्रेश्वरी	(१४) ज्वालामालिनी
(७) (शिव)-दूती	(१५) चित्रा
(८) त्वरिता	(१६) महात्रिपुरसुन्दरी

इन पञ्चदश नित्याओंका पूजन त्रिकोणपर वामावर्तसे किया जाता है। महात्रिपुरसुन्दरी—षोडशी नित्याका पूजन त्रिकोणके अन्तर्गत मध्यबिन्दु-स्थानपर होता है।

विभाव्य च महात्र्यस्त्रं पूर्वदक्षोत्तरं क्रमात्।
रेखासु विलिखेत् तत्र पञ्च पञ्च क्रमेण हि॥
अकाराद्या उवर्णान्ता दक्षिणस्यां विचिन्तयेत्।
ततश्च पूर्वरेखायां शक्त्यादीन् विलिखेत्ततः॥
अनुस्वारान्तमन्त्रस्तु विसर्गे षोडशीं यजेत्।
वामावर्तेन देवेशि नित्याः षोडश कीर्तिताः॥
प्रतिपत्तिथिमारभ्य पौर्णमास्यान्तमद्रिजे।
एकैकान् पूजयेन्नित्यान् महासौभाग्यमाप्नुयात्॥

(ज्ञानार्णव, पटल १६)

पश्चिमके त्रिकोणाग्रसे आग्नेयतक अं, आं, इं, ईं, उं बीजसहित प्रथम पाँच नित्याओंका पूजन प्रथम रेखापर करे। दक्षिणसे ईशानतक द्वितीय रेखापर ऊं, ऋं, ॠं, ऌं, ॡं, बीजसहित द्वितीय नित्यापञ्चकका पूजन करे। ईशानसे पश्चिमतक त्रिकोणकी तृतीय रेखापर एं, ऐं, ओं, औं, अं बीजसहित नित्याके तृतीय पञ्चककी पूजा करे। मध्यबिन्दुस्थानपर अः बीजसहित महात्रिपुरसुन्दरीका पूजन करे। कृष्णपक्षमें चित्रासे कामेश्वरीतक विलोम-क्रमसे पूजन करे।

स सौभाग्यं महादेवि प्राप्नोति गुरुशासनात्।

इस प्रकार पूजन करनेवालेको सौभाग्य प्राप्त होता है।

पूर्व
ॡं नित्या
ऌं कुलसुन्दरी
ॠं त्वरिता
ऋं (शिव)-दूती
ऊं महावज्रेश्वरी
ईशान
आग्नेय
१० ९ ८ ७ ६
एं नीलपताका ११
१६
अः
महात्रिपुरसुन्दरी
५ उं वह्निवासिनी
ऐं विजया १२
४ ईं भेरुण्डा
ओं सर्वमङ्गला १३
उत्तर
दक्षिण
औं ज्वालामालिनी १४
३ इं नित्यक्लिन्ना
अं चित्रा १५
२ आं भगमालिनी
१
अं कामेश्वरी
पश्चिम

गीतामें योग

(लेखक—श्रीयुत एस्० एन्० ताड़पत्रीकर, एम्० ए०)

गीताको सामान्यतः लोग योगशास्त्रका ग्रन्थ मानते हैं, जो ब्रह्मविद्याका एक अङ्ग है। गीताके छपे हुए संस्करणोंमें अध्यायके अन्तमें 'इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' इत्यादि शब्द मिलते हैं, जिनसे इस मतकी पुष्टि होती है। परन्तु गीताकी तथा महाभारतके भीष्मपर्वकी, जिसका गीता एक अङ्ग है, प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोंके देखनेसे यह बात प्रमाणित नहीं होती। क्योंकि प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ अबतक जितनी देखनेमें आयी हैं, प्रायः उन सबमें अध्यायकी समाप्तिमें 'इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु.............. अध्यायः'— केवल इतने ही शब्द मिलते हैं, 'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' ये शब्द नहीं मिलते—और न सांख्ययोग, विभूतियोग आदि अध्यायोंके नाम ही सब हस्तलिखित प्रतियोंमें एक-से मिलते हैं; परन्तु यह तो दूसरी बात है।

अवश्य ही इससे न तो गीताका योगशास्त्र होना ही सिद्ध होता है और न इसके विरुद्ध मतकी ही पुष्टि होती है। परन्तु अध्यायके अन्तमें जो शब्द मिलते हैं, उनके आधारपर अवश्य ही लोगोंने इस मतको सिद्ध करना चाहा है, इसलिये प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोंमें पुष्पिकाका जो पाठ मिलता है, उससे कम-से-कम यह बात तो सिद्ध होती ही है कि यह सिद्धान्त प्राचीन नहीं है।

X X X X

अब बाहरी परीक्षाको छोड़कर गीताके भीतर प्रवेश करनेसे मालूम होता है कि 'योग' शब्दका लक्षण गीतामें दो जगह कहा गया है—

'समत्वं योग उच्यते' (२। ४८)

और—

'योगः कर्मसु कौशलम्' (२।५०)

आगे चलकर तीसरे अध्यायमें दो निष्ठाओंकी बात कही गयी है—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

(गीता ३। ३)

यह द्विविध निष्ठा गीताका प्रधान प्रतिपाद्य मालूम होती है। गीताका ध्येय है इन दोनों निष्ठाओंका समन्वय करना, यह दिखलानेकी चेष्टा करना कि दोनों वास्तवमें भिन्न नहीं अपितु एक ही हैं और एक ही स्थानको ले जानेवाली होनेके कारण उनका पृथक्करण अथवा विभाजन उचित नहीं है। निम्नलिखित वाक्योंसे यह बात प्रमाणित होती है—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

(गीता ५। ४-५)

यहाँ यह बात देखनी आवश्यक है कि उपर्युक्त श्लोक किस प्रसङ्गमें आये हैं। इससे कई बातें मालूम हो सकती हैं। तीसरे और चौथे अध्यायमें अर्जुनको क्रमशः ज्ञान (सांख्य अथवा संन्यास) तथा कर्म अथवा योगका महत्त्व पृथक्-पृथक् बतलाया गया है, जिससे शिष्यरूप अर्जुन चक्करमें पड़ जाते हैं और यह निर्णय नहीं कर पाते कि दोनोंमें श्रेष्ठ कौन है। अतः वे सीधे ही यह पूछ बैठते हैं—

यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥

उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्ण आरम्भमें यह कहते हैं कि संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है; किन्तु आगेके श्लोकोंमें यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे उक्त दोनों मार्गोंका समन्वय करनेकी चेष्टा करते हैं। यह कहकर कि ये दोनों मार्ग एक ही स्थानको पहुँचानेवाले होनेके कारण भिन्न नहीं अपितु एक ही हैं, वे पुनः दोनों मार्गोंको शामिल करनेकी आवश्यकता बतलाते हैं और इसके लिये यह युक्ति पेश करते हैं कि 'योगकी सहायताके बिना संन्यासकी प्राप्ति कठिन है' ('संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।' ५। ६) यहाँ यह बात जान लेनेकी है कि भगवान् शङ्कराचार्य अपने गीताभाष्यमें 'संन्यास' और 'ब्रह्म' शब्दोंके प्रचलित अर्थको नहीं स्वीकार करते और महानारायणोपनिषद्के एक वचनके आधारपर दोनोंका एक ही अर्थ करते हैं।

आगे चलकर छठे अध्यायमें संन्यास और योगको एक ही बतलाया गया है—'यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।' (६। २) इससे भी हमारे सिद्धान्तकी पुष्टि होती है। अन्तिम (अठारहवें) अध्यायमें अर्जुनके प्रश्नके उत्तरमें काम्य (सकाम) कर्मोंके त्यागका नाम ही

संन्यास कहा गया है। अवश्य ही इसका उपर्युक्त प्रश्नसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

योग और संन्यास अथवा प्रवृत्ति और निवृत्ति—अति प्राचीन कालसे यही दो मार्ग चले आये हैं, जिनको लेकर दार्शनिकोंमें बड़ा वाद-विवाद हुआ है; उन्होंने एक मार्गका समर्थन और प्रशंसा की है और दूसरेको निम्नकोटिका बतलाया है। और जो कोई चाहेगा, उसे हमारे प्राचीन दार्शनिक साहित्यमें दोनों ही पक्षके उदाहरण भी आसानीसे मिल सकेंगे। गीतामें उक्त दोनों मार्गोंको बराबरीका स्थान देकर तथा एकको दूसरेके समुचित अनुसरणके लिये अनिवार्य बतलाकर दोनोंके विरोधका परिहार करनेकी चेष्टा की गयी प्रतीत होती है। किन्तु प्रस्थानत्रयीके अन्तर्गत होनेके कारण गीतापर भिन्न-भिन्न दार्शनिक सम्प्रदायोंके आचार्योंने भाष्य लिखे; यही कारण है कि गीताके तात्पर्यको लेकर भी गीताका अनुशीलन करनेवालोंमें अनेक मतभेद हो गये।

पिछली शताब्दियोंमें ७०० श्लोकोंकी इस छोटी-सी पुस्तकपर विशाल साहित्यकी रचना हो गयी है और वर्तमान युगमें तो गीताका प्रचार संसारके कोने-कोनेमें हो गया है और उसकी लोकप्रियता सार्वभौम हो गयी है। किन्तु इतना समय बीत जानेपर भी तथा गीताका अधिकाधिक अनुशीलन होनेपर भी सच्चे-से-सच्चे जिज्ञासुओंमें भी उसके तात्पर्यके विषयमें मतभेद अब भी बना ही हुआ है।

इन पङ्क्तियोंका लेखक इस बातको अच्छी तरहसे जानता है कि ऊपर जो बात कही गयी है, वह गीताके विस्तृत क्षेत्रको देखते हुए समुद्रमें एक बूँदके समान है। परन्तु यदि इस विचारका गीताका अनुशीलन करनेवालोंमें और लोग भी समर्थन करेंगे तो यह विचार और भी स्पष्टरूपमें प्रकट किया जा सकता है और इससे हम आशा करते हैं कि इस महान् ग्रन्थका यथार्थ भाव समझनेके लिये जिज्ञासुओंको ठीक मार्ग प्राप्त करनेमें सहायता मिलेगी।

हरि-गुण

आओ, मिलकर हरि-गुण गायें;
मानव-जीवन सफल बनायें!
नन्द-यशोदा-अजिर-विहारी ,
श्रीमधुसूदन, श्रीबनवारी,
गोपीवल्लभ, श्याम, मुरारी,
भव-भय-हारी, जन-हित-कारी—
मदन-मनोहर श्याम रिझायें;
आओ, मिलकर हरि-गुण गायें॥ १॥

प्रेम-सुधा बरसानेवाला,
परम पुनीत बनानेवाला,
मल-मन-मुकुर नसानेवाला,
प्रभु-प्रतिबिम्ब दिखानेवाला—
नाम-सुधा-रस जल बरसायें;
आओ, मिलकर हरि-गुण गायें॥ २॥

अमल विमल मुख निशिपति लाजै,
मधुर मुरलिका अधर विराजै,
मोर-मुकुट कटि काछिनि छाजै,
चरण-कमल मृदु नूपुर बाजै—
झनन-झनन झन-झन झनकायें;
आओ, मिलकर हरि-गुण गायें॥ ३॥

पूर्णकाम, सुखसदन, सनातन,
जनके जीवन, धर्म, परमधन,
एकमात्र अवलम्ब, प्रेमघन,
चरण-कमलपर आत्म-समरपन—
अमृतमय सुख-दुख हो जायें;
आओ, मिलकर हरि-गुण गायें॥ ४॥

प्रेम-नगरकी रीति निराली,
सूखा पड़ै, उगै हरियाली,
बसता है घर होकर खाली,
विरह-मिलनकी अद्भुत ताली—
नैन मूँद लो, पट खुल जायें;
आओ, मिलकर हरि-गुण गायें॥ ५॥

रोम-रोम राधाके मोहन,
मोहनकी राधा जीवन-धन,
बेकल राधा, बेकल मोहन,
राधा-मोहन-रूप निरञ्जन—
युगल-छटापर बलि-बलि जायें;
आओ, मिलकर हरि-गुण गायें॥ ६॥

—श्रीकेदारनाथ 'बेकल'

सन्धिप्रकाश-साधन

(लेखक—ह० भ० प० श्रीप्र० सी० सुबन्ध)

जिस सुखके लिये मनुष्य सारा प्रयत्न कर रहा है वह सुख स्वयंसिद्ध है, उसे कहींसे लाना नहीं पड़ता; वह तो मनुष्यका अपना स्वरूप ही है। परन्तु मनके अधीन होनेके कारण मनुष्य अपने सुखस्वरूपसे च्युत हो गया है और उस सुखको ढूँढ़ रहा है उन बाह्य पदार्थोंमें जिनमें वह है नहीं। ऐसी अवस्थामें क्या करना चाहिये, जिससे हम अपने वास्तविक सुखस्वरूपको प्राप्त हों? करनेकी दो ही बातें हैं—(१) अध्यात्मविद्यासे यह जानना कि हम वास्तवमें कौन हैं और फिर (२) उसीका अभ्यास करना। अभ्यासकी कई प्रक्रियाएँ संतों और शास्त्रोंने बतायी हैं, जिनमेंसे एकाध प्रक्रियाकी कुछ खास बातें यहाँ दी जाती हैं।

चञ्चल मनको आत्मस्वरूपमें स्थिर करना, यही तो काम है। इसके लिये—

(१) मनको वहीं स्थिर करना चाहिये, जहाँसे वृत्तियाँ उठती हों।

नदीको यदि हम उसके उद्गमस्थानमें ही स्थिर कर दें तो वही छोटा-सा झरना उसी जगह क्या समुद्र नहीं बन जायगा? इसी प्रकार यदि हम वृत्तिको उसके उद्गमस्थानमें ही स्थिर कर दें, उसे विषयाकार या दृश्याकार न होने दें, द्रष्टारूपमें ही निरुद्ध कर दें तो उसी स्थानमें स्वानन्दसिन्धुकी अनुभूति कैसे न होगी?

(२) वृत्ति केवल एक आभास है, उसके यथार्थ स्वरूपको न जाननेसे हमने उसे सत्य मान लिया है।

संत कहते हैं कि 'मन' संज्ञा ही व्यर्थ है, कल्पनाने ही यह एक रूप खड़ा किया है और आत्मस्वरूप इसके सङ्गसे जीव बन बैठा है। मनके सङ्गसे हम जीव हुए और हमारे सङ्गसे हमारा सत्यत्व ग्रहण कर मनने अखिल विश्वका निर्माण कर डाला। मधुमक्खी जिस तरह फूलोंसे रस ले-लेकर अपना छत्ता तैयार करती है, उसी तरह मनरूप मधुमक्खीने हमारे आनन्दस्रोतके जलबिन्दु एकत्र कर विश्वरूप छत्ता निर्माण किया है। छत्ता तो केवल नाम है, यथार्थमें वह सब मधु-ही-मधु है। उसी प्रकार विश्व केवल नाम है, यथार्थमें है एक ही अखण्ड आनन्दसत्ता। 'स्फूर्ति जहाँसे स्फुरित होती है, वहाँ वह स्वयं अस्फूर्त ही है। उसे देखनेके साथ ही स्फूर्तिका लय हो जाता है।

(३) वृत्तिके पीछे-पीछे न चलकर उसे द्रष्टारूपसे देखे, इससे दृश्याकार वृत्तिका लोप होता और द्रष्टा ही रह जाता है। सूर्यका उदय होते ही चन्द्रमासहित सब तारे लुप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार द्रष्टाका प्रकाश पानेके साथ ही दृश्य जगत्का लोप होता और आत्मसूर्य ही रह जाता है। 'वृत्तिके पीछे-पीछे न चलकर साक्षीरूपसे उसे देखें तो इससे आत्मस्वरूप प्रकट होता है। इस प्रकार गुणसमुच्चयका द्रष्टा होनेमें ही सच्चा आनन्द है। .... इसीमें अपना साम्राज्य है।'

(४) साक्षित्वकी सिद्धिके लिये वृत्तियोंका सन्धिभाव जानना चाहिये। किन्हीं दो वृत्तियोंके बीचकी जो सन्धि है, उसीमें आत्मा स्थित है। रासलीलामें दो-दो गोपियोंके बीचमें जिस प्रकार श्रीकृष्ण प्रकट होते हैं अथवा मालाके दो मनियोंके बीच जिस प्रकार सूत्र देख पड़ता है, उसी प्रकार वृत्तियोंकी सन्धिमें आत्मदर्शन होता है। एक वृत्ति उठी और अभी दूसरी नहीं उठी है, इस बीचकी सन्धिमें आत्मदर्शनका अभ्यासी निश्चय ही मुक्त हो जाता है।

अनन्त विश्वविलासमें सूत्ररूपसे आत्मवस्तु ही विलस रही है। द्वैतमें अद्वैत देखनेकी बुद्धि ही सद्बुद्धि और परमार्थकी अवधि है और अद्वैतमें द्वैत देखना ही असद्बुद्धि और अपरमार्थकी अवधि है। अद्वैत स्थितिकी सहज अवस्थाको प्राप्त होनेका मार्ग अध्यात्मविद्याको जानना और उसीका अभ्यास करना है। सन्धिप्रकाशका साधन इस अभ्यासकी सुलभ प्रक्रिया है। आत्मजिज्ञासुजन इसे करके देखें।

प्रकृति-पुरुष-योग

(कुण्डलिनी-उत्थापनद्वारा आत्मज्ञान-लाभ)

(लेखक—श्रीमद् गोपालचैतन्यदेवजी महाराज)

भवपाशविनाशाय ज्ञानदृष्टिविधायिने।
नमः सद्गुरवे तुभ्यं भुक्तिमुक्तिप्रदायिने॥

जिनकी अहैतुकी कृपासे भवपाशका विनाश होकर ज्ञानदृष्टि प्राप्त होती है और जो अपनी अहैतुकी अनुकम्पासे अनायास ही भुक्ति-मुक्ति प्रदान करते हैं, ऐसे सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीश्रीसद्गुरु महाराजके चरणोंमें बारंबार साष्टाङ्ग प्रणाम करता हुआ मैं कुछ लिखना चाहता हूँ।

प्रकृति-पुरुष क्या हैं?

मेरे हृदयेश्वर श्रीश्रीसद्गुरु महाराज प्रकृति-पुरुषके सम्बन्धमें कहते हैं*—

अनादि अनन्त अद्वितीय परमात्मा ही प्रकृति और पुरुषके भेदसे द्विधाभावापन्न हुए हैं। ब्रह्मने स्वप्रकाश होते हुए भी ब्रह्मानन्द-रसके उपभोगके लिये स्वयं ही एक एवं अद्वितीयसे बहु होनेकी इच्छा की।

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।
तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय॥

(छान्दोग्योपनिषद्)

आरुणि कहते हैं कि 'हे श्वेतकेतो! सृष्टिकी उत्पत्तिसे पूर्व केवल एक अद्वितीय सत् ही विद्यमान था, उस एक और अद्वितीय सत्ने इच्छा की कि मैं प्रजारूपमें बहुत हो जाऊँ।' ब्रह्मने एकसे बहु होनेकी इच्छा की। वे बहु किस प्रकार होते हैं, इसके सम्बन्धमें निर्वाणतन्त्रमें कहा है—

'सत्यलोकमें आकाररहित महाज्योति:स्वरूप परब्रह्म अपनी ज्योति:स्वरूपिणी मायाके द्वारा छिलकेसे चनेकी तरह अपनेको ढककर विराजित हैं। उस मायारूप छिलके (आच्छादन)-को भेदकर वे ही शिव-शक्तिके रूपमें सृष्टिमें प्रकट हुए हैं।'

ब्रह्मकी यह इच्छा होनेपर कि मैं बहुत हो जाऊँ, वह प्रकट चैतन्य अर्थात् पुरुष-संज्ञाको प्राप्त हुआ और यह वासना मूलातीता मूल-प्रकृति हुई। ब्रह्मवैवर्तपुराण, प्रकृतिखण्डके प्रथमाध्यायमें आता है—

'परमात्मा भगवान्ने सृष्टिके लिये योगका अवलम्बन करके अपनेको दो भागोंमें विभक्त किया। उनका दक्षिण भाग पुरुष और वाम भाग प्रकृति हुआ। यह प्रकृति ब्रह्मस्वरूपा, मायामयी, नित्या और सनातनी है। अग्निमें दाहिका शक्तिकी भाँति जहाँ आत्मा (पुरुष) होता है, वहाँ प्रकृति भी अवश्य ही रहती है। श्वेताश्वतरोपनिषद्में कहा है—'

'परमात्माकी मायाको ही प्रकृति कहते हैं और मायाके स्वामी महेश्वरको मायी। उसी मायाविशिष्ट परमेश्वरके अवयवरूप भूतसमूहसे यह सारा जगत् व्याप्त है।'

प्रकृति और पुरुषरूप उभयात्मक ब्रह्म जगत्-रूपमें प्रकाशित है। इसीलिये शास्त्रोंमें 'हरगौर्यात्मकं जगत्' कहा है। अतएव प्रकृति और पुरुषके योगसे विश्वकी सृष्टि होनेके कारण ही एकमात्र परमात्मामें ही यह द्वैतका आरोप है। वस्तुत: परमात्मासे भिन्न कुछ है ही नहीं। शक्ति और शक्तिमान् एक ही हैं, उनमें कभी कोई भेद नहीं है।

शक्तिशक्तिमतोश्चापि न विभेदः कथञ्चन।

वायुपुराणमें कहा है—

'जिस प्रकार चन्द्रमासे उसकी चाँदनी अलग नहीं हो सकती, उसी प्रकार शिवसे शक्तिकी पृथक् सत्ता नहीं है। इसीलिये जहाँ शिव है, वहाँ शक्ति है और जहाँ शक्ति है, वहाँ शिव है।' योगिवर गोरखनाथजी गोरक्षसंहितामें कहते हैं—

'जिस प्रकार कटुता, शीतलता और मृदुता जलसे पृथक् नहीं हो सकती, उसी प्रकार आत्मा और प्रकृति मुझको अभिन्न दीखती हैं। जिस प्रकार जल और उसके गुण दोनों भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं, उसी प्रकार आत्मा और प्रकृति भी भिन्न होते हुए ही अभिन्न हैं।'

---

* इस लेखमें अपने अनुभवकी बातें भी रहेंगी, तथापि श्रीश्रीसद्गुरु महाराज परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमत्स्वामी निगमानन्द-सरस्वतीदेवरचित 'ज्ञानी गुरु' और 'योगी गुरु'—इन दो ग्रन्थोंसे ही विशेष सहायता ली जायगी। इन दोनों पुस्तकोंके अध्ययनसे साधकगण विशेष लाभ उठा सकते हैं।

प्रकृति और पुरुषके बारेमें संक्षेपमें यहाँ जो कुछ कहा गया है, उसीसे सुधी साधक समझ गये होंगे कि पुरुष और प्रकृति सर्वथा अभिन्न होनेपर भी कार्य-कारणवश भिन्न प्रतीत होते हैं। जगत्की सृष्टिके पश्चात् मायाके संयोगसे जैसे ये दोनों जगत्में भिन्न प्रतीत होते हैं, वैसे ही जीव-देहमें भी दोनों भिन्न-भिन्न स्थानोंमें विराजमान रहकर भौतिक देहके सब कार्योंको सुसम्पन्न कर रहे हैं। सद्गुरुकी कृपासे शास्त्रोक्त कठिन साधनाओंके द्वारा दोनोंका संयोग करानेपर ही आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, परामुक्ति अथवा पराभक्तिका अधिकारी बना जा सकता है। सम्प्रदायभेदसे इसीके भिन्न-भिन्न नाम होते हैं। योगियोंके मतसे यह परमात्माके साथ आत्माका संयोग अथवा शिवके साथ शक्तिका मिलन है। और वैष्णव-मतानुसार यही श्रीकृष्ण-राधाका सम्मिलन है। इसी आत्मज्ञान-लाभकी साधनाके बारेमें इस प्रबन्धमें संक्षेपसे कुछ आलोचना की जाती है।

इस लेखमें योग-साधनाके सर्वश्रेष्ठ विषय कुण्डलिनी-जागरणके द्वारा समाधिकी विधि लिखनेका विचार है। इसे 'प्रकृति-पुरुष-योग' या 'शिव-शक्ति-योग' भी कहा जा सकता है।

योगकी साधना करनी हो तो साधकको योगके आठों अङ्गोंको भलीभाँति जान लेना चाहिये। योगके आठ अङ्ग ये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। जो लोग योग-साधनाके द्वारा पूर्ण मानवताको प्राप्त होकर स्वरूप-ज्ञान लाभ करना चाहते हों, उन्हें इस 'अष्टाङ्ग योग' की साधना अवश्य करनी पड़ेगी।

अष्टाङ्ग योगमें सर्वप्रथम हैं—'यम' और 'नियम'।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

(पातञ्जल०, साधनपाद, ३०)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन्हें 'यम' कहते हैं।

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥

(पातञ्जल०, साधनपाद, ३२)

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—इन्हें 'नियम' कहते हैं।

यम और नियमकी साधन-प्रणाली देखनेमें बहुत ही सरल मालूम होती है, परन्तु इसका अभ्यास अत्यन्त कठिन है। साधक दूसरी किसी भी साधनाको चाहे न कर सके, यदि यम-नियमकी साधना पूर्णरूपेण सध जायगी तो इसीके प्रतापसे उसे यमराजके अतिथि बननेका कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा और वह सत्यस्वरूप सच्चिदानन्दको प्राप्त होकर सदाके लिये आवागमनसे मुक्त हो जायगा। यम-नियमके पूरे दसों साधनोंका तो कहना ही क्या है, यदि कोई इनमेंसे केवल एक 'सत्य' की ही साधना सदा-सर्वदा सर्वावस्थामें पूर्णरूपसे कर सके तो बारह वर्षके अंदर ही वह सत्यस्वरूप सच्चिदानन्दका दर्शन करके स्वयं सत्यलोकका अधिकारी बन सकता है।

यम-नियमकी साधना किये बिना साधन-मार्गमें उन्नति करना और पराभक्ति या मुक्तिका अधिकारी बनना असम्भव-सा है। अतएव यम-नियमकी साधना सबको सबसे पहले शुरू कर देनी चाहिये। इसीके साथ-साथ योगमार्गमें आगे बढ़ने तथा शरीरको साधनके योग्य बनानेके लिये—

आसन

—का अभ्यास भी शुरू करना चाहिये। योगकी किसी भी प्रकारकी उच्च साधनामें आप क्यों न लगे हों, जबतक आसनद्वारा शरीरको साधनाके योग्य न बना लेंगे एवं जबतक आसनमें सिद्धि-लाभ नहीं होगा, तबतक आप वस्तुतः उच्च साधनाके अधिकारी ही नहीं हैं। क्योंकि जबतक साधक एक स्थिर आसनसे दीर्घ समयतक नहीं बैठ सकेगा, तबतक न तो उसका मन ही स्थिर होगा और न उससे साधना ही बनेगी। अतएव यम-नियमके साथ ही सर्वप्रथम आसनका अभ्यास भी परम आवश्यक है।

जितने प्रकारके जीव हैं, उतने ही प्रकारके आसन भी होते हैं। उनमेंसे योगशास्त्रमें चौरासी प्रकारके आसनोंकी बात लिखी है। इन चौरासी आसनोंमें योगसाधनाके लिये—

सिद्धासन

—को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इसकी साधना भी दूसरे आसनोंकी अपेक्षा सरल तथा सहजसाध्य है। इसके सम्बन्धमें गोरक्षसंहितामें कहा गया है—

'बायें पैरके मूल देशसे योनिस्थानको दबाकर और एक पैरको जननेन्द्रियपर रखकर ठुड्डीको हृदयमें जमा ले, और देहको सीधा रखकर दोनों भौंहोंके बीचमें दृष्टि स्थापन करके यानी शिवनेत्र होकर निश्चल भावसे बैठे। इसे सिद्धासन कहते हैं।'

सद्गुरु महाराज अपने 'योगी गुरु' ग्रन्थमें सिद्धासनके बारेमें लिखते हैं—

'सिद्धि-लाभके लिये 'सिद्धासन' सहज और सरल आसन है। सिद्धासनका अभ्यास करनेसे बहुत शीघ्र योगकी सिद्धि होती है। इसका कारण यही है कि लिङ्गमूलमें जीव और कुण्डलिनी शक्ति विराजमान हैं। सिद्धासनके द्वारा वायुका पथ सरल और सहजगम्य हो जाता है। इससे स्नायुके विकास और समस्त शरीरकी बिजलीके लिये चलने-फिरनेका सुभीता हो जाता है। योगशास्त्रमें कहा है कि सिद्धासन मुक्तिद्वारके किवाड़ खोल देता है एवं सिद्धासनसे आनन्दकारी उन्मनी-दशा प्राप्त होती है।'

आप कोई-सी भी साधना क्यों न करें, सिद्धासन सभी साधनाओंके लिये परम उपयोगी है। परन्तु जो सज्जन कठोर ब्रह्मचर्यकी रक्षामें असमर्थ हैं, उनके लिये सिद्धासन उतना ठीक नहीं है। क्योंकि कभी-कभी केवल सिद्धासनसे ही किसी-किसी साधककी कुण्डलिनी-शक्ति जग जाती है। उस समय मन, वचन, शरीरसे पूर्ण ब्रह्मचर्यकी रक्षा न करके जो पुरुष रतिक्रियामें लिप्त रहता है, उसे हानिके अतिरिक्त लाभकी सम्भावना बहुत कम रहती है। दूसरी ओर, ब्रह्मचर्यकी पूरी रक्षा करता हुआ यदि कोई रोग-शोक या अन्य किसी भी कारणसे पीड़ित व्यक्ति नित्य नियमित रूपसे सिर्फ सिद्धासनका अभ्यास करता है तो उसकी व्याधि दूर होकर वह स्वस्थ-शरीर हो जाता है एवं दिनोंदिन उसके शरीरका लावण्य बढ़कर वह परम ज्योतिमान् होता जाता है। सिद्धासन वस्तुतः संसारविमुख साधकोंके लिये सर्वश्रेष्ठ है। जिनमें सिद्धासन करनेकी शक्ति न हो या किसी अन्य कारणवश जिन्हें सिद्धासनकी इच्छा न हो वे—

पद्मासन

—का अभ्यास कर सकते हैं। पद्मासनसे भी स्थिति तो वही प्राप्त होती है, परन्तु कुछ देर हो जाती है। एक बात यह भी है कि पद्मासनका अभ्यास संसारविमुख साधक ही नहीं, सांसारिक सुख-शान्तिकी इच्छा रखनेवाले व्यक्ति भी कर सकते हैं। इससे किसी हानिकी सम्भावना नहीं है। पद्मासनके लिये गोरक्षसंहितामें कहा है—

'बायीं जाँघपर दाहिना पैर एवं दाहिनी जाँघपर बायाँ पैर रखकर दोनों हाथोंको पीठकी ओर घुमाकर बायें हाथसे बायें पैरका अँगूठा एवं दाहिने हाथसे दाहिने पैरका अँगूठा पकड़ लेना चाहिये और ठुड्डीको छातीमें टिकाकर दृष्टिको नाककी नोकपर जमा देना चाहिये। इसीका नाम पद्मासन है।'

पद्मासन लगानेसे निद्रा, आलस्य, जडता प्रभृति देहकी ग्लानियाँ दूर हो जाती हैं। पद्मासनके प्रभावसे कुण्डलिनी चैतन्य हो जाती है एवं दिव्य ज्ञानकी प्राप्ति होती है। पद्मासनसे बैठकर दाँतोंकी जड़में जीभकी नोकको जमा दिया जाय तो बहुत-सी बीमारियाँ छूट जाती हैं।

पद्मासन दो प्रकारका होता है—'मुक्त' और 'बद्ध'। उपर्युक्त नियमसे बैठनेको 'बद्ध पद्मासन' कहते हैं एवं हाथोंसे पैरोंके अँगूठोंको न पकड़कर दोनों हाथोंको दोनों जाँघोंपर चित रखकर बैठनेका नाम 'मुक्त पद्मासन' है।

जिनका शरीर साधनसम्पन्न न हो किन्तु जिन्हें साधना करनेकी इच्छा हो अथवा अत्याचार, अनाचार, व्यभिचार आदि किसी भी कारणसे जिनका शरीर रोगग्रस्त हो गया हो उनके लिये पहले 'बद्ध पद्मासन' का अभ्यास करना उत्तम है। बद्ध पद्मासन कुछ कठिन अवश्य है, परन्तु उससे शरीरकी सारी इन्द्रियाँ तथा समस्त नाड़ियाँ जडताको त्यागकर चेतन हो जाती हैं एवं नस-नसमें रक्तका प्रवाह जोरसे हो जानेके कारण शीघ्र ही शरीर रोगमुक्त होकर लावण्यमय हो जाता है। आयुर्वेदके अनुसार जिसे स्नायविक दौर्बल्य कहते हैं, वह रोग भी इस आसनके अभ्याससे जल्दी ही मिट जाता है। कोई भी पुरुष कुछ कष्ट उठाकर प्रतिदिन नियमितरूपसे सिर्फ आध-आध घंटे इसका अभ्यास दिनमें चार बार—कम-से-कम दो बार भी करे तो इस बातकी सत्यताका वह स्वयं ही अनुभव कर सकता है।

'बद्ध पद्मासन' के फलस्वरूप जठराग्निका संशोधन होकर पाचनशक्ति बढ़ जाती है एवं यकृत् या प्लीहा रोगसे पीड़ित व्यक्ति आसानीसे इन रोगोंसे छुटकारा पा जाता है।

बद्ध पद्मासनसे शरीर स्वस्थ होनेके बाद मुक्त पद्मासन या सिद्धासनका अभ्यास कर सकते हैं। बद्ध पद्मासनसे शङ्करोक्त 'नाड़ीशोधन' तथा प्राणायाम नहीं बन सकता; क्योंकि दोनों हाथोंसे दोनों पैरोंके अँगूठोंको पकड़ लेनेपर प्राणायामके लिये अँगुलियोंसे नथुनोंको दबानेकी सुविधा नहीं रहती। अतएव बद्ध पद्मासनमें बैठकर शरीरको स्वस्थ और ध्यानका अभ्यास किया जा सकता है, प्राणायाम और पूजन नहीं किया जा सकता।

युक्तप्रदेश आदि प्रान्तोंमें अनेकों सज्जन 'शीर्षासन'

किया करते हैं और उसकी विशेष प्रशंसा करते हैं। कसरतके लिये या शरीरकी स्वस्थताके लिये कोई सज्जन शीर्षासन करें तो कोई हर्ज नहीं है; किन्तु उच्चाङ्गकी कोई भी साधना इस आसनसे नहीं बन सकती। यहाँतक कि शीर्षासन करनेवाले अनेकों सज्जनोंने मुझसे कहा है कि उनका न तो ध्यान ही जमता है और न मन ही स्थिर होता है। शीर्षासनसे रक्तका स्रोत मस्तिष्ककी ओर जोरसे प्रवाहित होने लगता है, इससे किसी-किसीके मस्तिष्ककी शक्ति अवश्य ही बढ़ सकती है। परन्तु आयुर्वेदकी दृष्टिसे अन्तमें उसके मस्तिष्कमें रोग उत्पन्न होनेकी सम्भावना है तथा High Blood-Pressure का शिकार बनना भी सम्भव है। अत: मेरी रायसे हर किसी सज्जनको शीर्षासन नहीं करना चाहिये। उसके बदले 'बद्ध पद्मासन' करके शीर्षासनका लाभ उठाना चाहिये। शीर्षासनसे बीमारी पैदा होनेकी जितनी सम्भावना रहती है, बद्ध पद्मासनसे वे बीमारियाँ तो होती ही नहीं, वरं दूसरी कोई बीमारी पहले रहती है तो वह भी मिट जाती है। अत: प्रत्येक सज्जनको चाहिये कि वे शीर्षासनकी ओरसे ध्यान हटाकर अपनी-अपनी सुविधाके अनुसार मुक्त पद्मासनका या सिद्धासनका अभ्यास करें।

आसन करते समय एक बातपर ध्यान रखनेकी विशेष आवश्यकता है। वह यह कि आसनसे बैठकर मेरुदण्ड (रीढ़की हड्डी)-को ठीक सीधा रखकर बैठे। आसन किया, परन्तु मेरुदण्डको सीधा न रखा तो सारा परिश्रम मिट्टीमें मिल जायगा—कोई लाभ न होगा। वरं ऐसी हालतमें रोगोंके उत्पन्न होनेकी सम्भावना रहती है। अतएव मेरुदण्डको सीधा रखकर आसन लगाना चाहिये। मेरुदण्ड सीधा न रहा और कदाचित् किसी भी कारणसे किसीकी कुण्डलिनी-शक्ति चैतन्य हो गयी तो मेरुदण्डको भेदकर वह निकल जायगी, और उससे तुरंत ही शरीर छूट जायगा। अन्यथा कुब्जता आदि रोगोंकी भी सम्भावना रहती है। इसलिये मेरुदण्डको सीधा रखना आसनका सर्वप्रधान उद्देश्य है। फिर, जो सज्जन प्राणायामादि आभ्यन्तरिक क्रिया करते हैं, उन्हें तो मेरुदण्डको निश्चय ही सीधा रखना चाहिये, नहीं तो अवश्य ही हानि होगी।

इस बातको सदा स्मरण रखना चाहिये कि आसनके समय शरीर न हिले-डुले, न दुखे और न चित्तमें किसी प्रकारका उद्वेग ही हो। ऐसी अवस्थामें सुखसे बैठनेको आसन कहते हैं। ऐसे ही आसनके अभ्याससे सर्व प्रकारके द्वन्द्व छूट जाते हैं। अर्थात् सरदी-गरमी, भूख-प्यास, राग-द्वेष आदि किसी प्रकारके द्वन्द्व योग-साधनमें या दूसरी किसी भी प्रकारकी साधनामें बाधा नहीं डाल सकते।

आसनोंके बारेमें सिद्ध योगियोंका कथन है कि विभिन्न साधनाओंमें विभिन्न आसनोंसे शरीर और मनका विशेष सम्बन्ध है। फिर योग-साधन करते समय दीर्घकालतक एक ही ढंगसे बैठे रहना योग-साधनाका एक प्रधान अङ्ग है। योगाभ्यासके समय योगीके देहमें नयी-नयी क्रिया उत्पन्न होती है एवं स्नायु-प्रवाह भी नये मार्गमें चलता रहता है और यह सब कुछ मेरुदण्डके बीचमेंसे ही होता है; अत: मेरुदण्डको जिस ढंगसे एवं जिस अवस्थामें रखनेसे यह क्रिया उत्तम रूपसे सम्पन्न हो, वही सब बातें ठीक-ठीक आसनप्रणालीमें विद्यमान हैं। मेरुदण्ड, छाती, गला, मस्तक और पञ्जरास्थि—इन सबको जिस तरह रखनेसे साधना ठीक बन पड़ती है, वही आसनका प्रधान लक्ष्य है। अतएव आसनोंको भी किसी अनुभवी गुरुके पास सीखना चाहिये। नहीं तो यथार्थ लाभ नहीं होगा। आसन लगाकर बैठनेसे जब शरीरमें दर्द या किसी प्रकारके कष्टका अनुभव न होकर एक प्रकारके आनन्दका उदय हो, तभी समझना चाहिये कि आसनमें सिद्धि मिली है।

नित्य नियमितरूपसे चार बारमें प्रति बार कम-से-कम आधे घंटेतक आसनका अभ्यास करनेसे ६ महीनेमें आसन-सिद्धि हो सकती है। जो साधक एक आसनमें प्रति बार ३ घंटेतक स्थिर भावसे बैठ सकते हैं, उनके लिये योग साधना बहुत सहज है।

आसनमें सिद्धि प्राप्त करनेके बाद योगके चतुर्थ अङ्ग—

प्राणायाम

—का अभ्यास करना चाहिये। एककी साधनामें सिद्धि लाभ न हो तो दूसरी साधना बन नहीं सकती। परन्तु वर्तमान समयमें चञ्चलमति मनुष्य इस बातपर जरा भी ख्याल नहीं रखते।

तात्पर्य यह है कि बालकको पहली पुस्तक पढ़नेमें जैसे कई महीने निकल जाते हैं, वैसे ही साधकको यम-नियमके साथ ही दीर्घकालतक आसनका अभ्यास करना चाहिये। आसनके उत्तम रूपसे जम जानेपर अन्तमें जब आसन-सिद्धि प्राप्त होगी, तब एक प्रकारसे अनिर्वचनीय आनन्दसे चित्त भर जायगा। चित्त-कमल

प्रस्फुटित होकर न जाने कितनी तरहकी सुगन्धियोंसे मतवाला हो जायगा। तभी समझना चाहिये कि आसन-सिद्धि हुई है, एवं शरीर दूसरे प्रकारकी अगली साधनाके उपयुक्त बन गया है। तभी आगेकी साधना शुरू करनी चाहिये। आगेकी साधना प्राणायाम है; परन्तु प्राणायाम करनेसे पहले नाड़ियोंका तत्त्व जान लेना चाहिये, क्योंकि प्राणायामकी क्रिया नाड़ीके भीतरसे ही होती है। इसलिये यहाँ संक्षेपमें नाड़ियोंकी बात लिखी जाती है—

नाड़ियाँ

भौतिक देहको कार्यक्षम बनानेके लिये मूलाधारसे साढ़े तीन लाख नाड़ियाँ उत्पन्न होकर खड़े हुए पीपल या कमलके पत्तेपर जैसे नसें दीख पड़ती हैं, वैसे ही ये नाड़ियाँ अस्थिमय शरीरके ऊपर ओतप्रोत रूपसे व्याप्त होकर अङ्ग-प्रत्यङ्गका सब काम सम्पन्न कर रही हैं। इन साढ़े तीन लाख नाड़ियोंमें चौदह नाड़ियाँ प्रधान हैं।

'इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, कुहू, सरस्वती, पूषा, शङ्खिनी, पयस्विनी, वारुणी, अलम्बुषा, विश्वोदरी और यशस्विनी—इन चौदह नाड़ियोंमें भी इडा, पिङ्गला और सुषुम्णा ये तीन ही प्रधान हैं (शिवसंहिता)। यहाँपर सब नाड़ियोंकी बातें न लिखकर सिर्फ उपर्युक्त तीन नाड़ियोंके सम्बन्धमें ही आलोचना की जाती है, क्योंकि इन तीन नाड़ियोंके जान लेनेपर साधक साधनामें संलग्न हो सकता है।'

उपर्युक्त तीन नाड़ियोंमें 'सुषुम्णा' नाड़ी मूलाधारसे उत्पन्न होकर नाभि-मण्डलमें जो अण्डाकार नाड़ीचक्र (मणिपूर) है, उसके बीचमें होती हुई ब्रह्मरन्ध्रतक चली गयी है। सुषुम्णाकी बायीं ओरसे इडा एवं दाहिनी ओरसे पिङ्गला उत्थित होकर स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत और विशुद्ध चक्रोंको धनुषाकारसे घेरती हुई आज्ञाचक्रके ऊपर जाकर सुषुम्णामें मिल गयी है। इसी स्थानका नाम त्रिकूट या त्रिवेणी है। योगी अपने साधनबलसे इसी त्रिवेणीमें स्नान करके जन्म-जन्मार्जित पाप-पुण्यसे छुटकारा पाकर मुक्तिके अधिकारी बन जाते हैं। उपर्युक्त स्थानपर तीनों नाड़ियाँ मिलकर इडा बायें नथुनेतक, पिङ्गला दाहिने नथुनेतक एवं सुषुम्णा ब्रह्मरन्ध्रतक चली गयी है।

मेरुदण्डके छेदके अंदरसे होकर सुषुम्णा, एवं मेरुदण्डके बाहरी ओरसे होकर इडा और पिङ्गला दोनों नाड़ियाँ चली गयी हैं। इडा चन्द्रस्वरूपा है, पिङ्गला सूर्यस्वरूपा है एवं सुषुम्णा चन्द्र, सूर्य और अग्निस्वरूपा है। तथा वह सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंसे युक्त अति शुभ्र श्वेतवर्णा है।

इडा, पिङ्गला और सुषुम्णा—ये तीनों ही नाड़ियाँ प्रधान हैं। इनमें भी सुषुम्णा सर्वप्रधान है। प्राणायामकी सहायतासे इडा और पिङ्गला नाड़ीको संयुक्त करके सुषुम्णा नाड़ीके अंदर पहुँचाकर उस सुषुम्णा नाड़ीसे योगके उच्चाङ्गकी साधना करनी पड़ती है। परन्तु अकेली सुषुम्णासे साधनाका पूरा कार्य सम्पन्न नहीं होता। सुषुम्णाके भीतर—

वज्रिणी

—नामकी एक नाड़ी है। यह नाड़ी शिश्नदेशसे निकलकर शिर:स्थानतक छायी हुई है। इस वज्रिणी नाड़ीके बीचमेंसे आद्यान्त प्रणवयुक्ता अर्थात् चन्द्र, सूर्य और अग्निस्वरूपा, ब्रह्मा, विष्णु एवं शिवसे आदि एवं अन्तमें मिली हुई मकड़ीके जालेकी तरह बहुत पतली एक—

चित्रिणी

—नामकी नाड़ी और है। उस चित्रिणी नाड़ीमें सब पद्म या चक्र गुँथे हुए हैं। चित्रिणी नाड़ीके बीचमें दूसरी ओर एक विद्युत्-वर्णा, ज्योतिविशिष्टा नाड़ी है। उसे—

ब्रह्मनाड़ी

—कहते हैं। ब्रह्मनाड़ी मूलाधार पद्मस्थित महादेवके मुखसे उत्थित होकर शिर:स्थित सहस्त्रदलतक फैली हुई है।

योगियोंको ध्यान, धारणा, प्राणायाम तथा कुण्डलिनी-उत्थापन आदि क्रियाएँ इस ब्रह्मनाड़ीसे ही करनी पड़ती हैं। योग-साधनका चरम फल इस ब्रह्मनाड़ीसे सम्पन्न होता है। इस ब्रह्मनाड़ीके अंदरसे प्राण, अपान आदि दसों वायुओंको कुण्डलिनीके साथ प्रवेश कराके धीरे-धीरे चक्रोंका भेद करते हुए ब्रह्मरन्ध्रमें पहुँचनेसे आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है। तब योगके उद्देश्यकी सिद्धि होकर मुक्तिलाभ होता है। इसी साधनाकी कुछ प्रत्यक्ष क्रिया इस प्रबन्धमें संक्षेपमें लिखनेकी चेष्टा की जाती है।

उपर्युक्त विवेचनसे नाड़ीकी बातें कुछ समझमें आयी होंगी। प्राणायामके लिये जैसे नाड़ीकी बात जाननेकी आवश्यकता पड़ती है, वैसे ही वायुके सम्बन्धमें भी जानकारी प्राप्त कर लेना उचित है। वायु क्या है, वह कितने प्रकारका है, एवं कहाँ किस वायुने विद्यमान रहकर शरीरको कार्यक्षम बना रखा है—

जबतक यह मालूम नहीं होगा, तबतक प्राणायाममें सिद्धि मिलना भी असम्भव-सा है। अब संक्षेपमें वायुके सम्बन्धमें सुनिये—

वायुका ज्ञान

देहमें जितने प्रकारके शारीरिक कार्य होते हैं, सभी वायुकी सहायतासे होते रहते हैं। चैतन्यकी सहायतासे इस जड देहमें वायु ही जीवरूपमें सब दैहिक कार्योंको सम्पन्न कर रहा है। देह यन्त्रमात्र है, एवं वायु उसके चलानेका उपकरण है। इसलिये वायुको वश करके उसे स्वाधीनभावसे चलाना ही योग-साधनका प्रधान कार्य है। वायुके वश हो जानेपर मन स्वत: ही वशमें हो जाता है और मनके वशमें हो जानेपर इन्द्रिय-जय तो अनायास ही हो सकता है। एकादश इन्द्रियोंके जीत लेनेपर शरीरमें अनुपम शक्तिकी उत्पत्ति होकर शीघ्र ही सिद्धि मिल जाती है।

मानव-देहके अंदर हृद्देशमें अनाहत नामक चक्रके बीचमें त्रिकोणपीठपर वायुबीज 'यं' विद्यमान है। वायुबीज या वायुयन्त्रको प्राण कहा जाता है। प्राणवायु ही शरीरके नाना स्थानोंमें स्थित रहकर दैहिक कार्योंके भेदसे दस नामोंसे पुकारा जाता है।

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय—ये दस वायुओंके नाम हैं (गोरक्षसंहिता)। इन दसों वायुओंमें प्राणादि पञ्चवायु अन्त:स्थ एवं नागादि पञ्चवायु बहि:स्थ हैं। अन्त:स्थ पाँचों प्राणोंके पृथक्-पृथक् स्थान शरीरमें निर्दिष्ट हैं।

'प्रधान पञ्चवायुओंमें प्राणवायु हृदयमें, अपान गुह्यदेशमें, समान नाभिमण्डलमें, उदान कण्ठमें और व्यान सारे शरीरमें व्याप्त होकर स्थित है।' (गोरक्षसंहिता) यद्यपि ये अलग-अलग नामोंमें विभक्त हैं, तथापि इनमें मूल और प्रधान एक प्राणवायु ही है।

प्राणस्य वृत्तिभेदेन नामानि विविधानि च।

(शिवसंहिता)

'प्राणवायुके ही वृत्तिभेदसे विविध नाम हुए हैं।'

अब इन दसों वायुओंके गुण जान लेना आवश्यक है। प्राणादि अन्त:स्थ पञ्चवायु और नागादि बहि:स्थ पञ्चवायु अपने-अपने स्थानमें रहकर शारीरिक समस्त कार्योंको सम्पन्न कर रहे हैं। योगियाज्ञवल्क्यने कहा है—

'नाकसे श्वास-प्रश्वास लेना, पेटमें पहुँचे हुए अन्न-जलको पचाना और पृथक् करना तथा नाभिस्थलमें अन्नको विष्ठारूपमें, जलको स्वेद और मूत्ररूपमें एवं रसादिको वीर्यरूपमें परिवर्तित करना प्राणवायुका कार्य है। पेटमें अन्नादिके पचानेके लिये अग्निको प्रज्वलित करना, गुह्यमेंसे मल निकालना, उपस्थमेंसे मूत्र निकालना, अण्डकोषमें वीर्य डालना, एवं शिश्न, ऊरु, जानु, कमर और जङ्घाओंके कार्य सम्पन्न करना अपानवायुका काम है। पक्व रसादिको बहत्तर हजार नाड़ियोंमें पहुँचाना, देहको पुष्ट करना और स्वेद निकालना समानवायुका काम है। अङ्ग-प्रत्यङ्गके सन्धिस्थान एवं अन्नका उन्नयन करना उदानवायुका काम है। कान, नेत्र, ग्रीवा, गुल्फ, कण्ठदेश एवं कमरके नीचेके भागकी क्रियाओंको सम्पन्न करना व्यानवायुका काम है। उद्गारादि नागवायुका, संकोचनादि कूर्मवायुका, क्षुधा-तृषादि कृकलवायुका, निद्रा-तन्द्रादि देवदत्तवायुका और शोषणादि धनञ्जयवायुका कार्य है।

वायुके इन सब गुणोंको जानकर वायुपर विजय प्राप्त करनेसे साधक अपने शरीरपर इच्छानुरूप आधिपत्य स्थापन कर सकता है एवं शरीरको स्वस्थ, नीरोग और पुष्टि-कान्ति-विशिष्ट बना सकता है।

शरीरमें जबतक वायु विद्यमान है, तभीतक मनुष्य जीवित है। वायु देहसे निकलकर जब पुन: अंदर नहीं पहुँचता, तब मृत्यु हो जाती है। प्राणवायु नथुनेके छेदसे आकर्षित होकर नाभिग्रन्थितक और अपानवायु योनिस्थानसे नाभिस्थानतक नीचेके भागमें गमनागमन करता है। जिस समय नासारन्ध्रद्वारा प्राणवायु आकर्षित होकर नाभिमण्डलके ऊर्ध्वभागको विकसित करता रहता है, उसी समय अपानवायु योनिदेशसे आकर्षित होकर नाभिमण्डलके अधोभागको विकसित करता है। इसी प्रकार नासारन्ध्र और योनिस्थान—इन दोनों स्थानोंसे प्राण और अपान—ये दोनों वायु ही पूरक-कालमें नाभि-ग्रन्थिमें आकृष्ट होते हैं एवं रेचक-कालमें दोनों तरफ अपने-अपने स्थानोंमें चले जाते हैं।

फिर जब ये दोनों वायु नाभि-ग्रन्थिको तोड़कर एक साथ मिलकर चलते हैं, तभी ये देहका त्याग करते हैं।

पृथ्वीकी भाषामें तभी जीवकी मृत्यु हो जाती है। मृत्यु-समयके ऐसे भावको 'नाभिका श्वास' कहते हैं।

प्राणायामके दो मुख्य विषयों (नाड़ी तथा वायु)-पर संक्षेपमें आलोचना की गयी। अब तीसरा विषय है—

नाड़ी-शोधन

भौतिक देहमें रहनेवाली जो साढ़े तीन लाख नाड़ियाँ हैं, वे सभी नाना प्रकारके मलादिसे गंदी रहती हैं। उन सब नाड़ियोंको साफ न करनेसे वायुको रोका (कुम्भक) नहीं जा सकता, अत: प्राणायाम भी नहीं बन पड़ता। इसलिये प्राणायामका अभ्यास शुरू करनेके पहले नाड़ीका शोधन कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। हठयोगी षट्कर्मद्वारा नाड़ीका शोधन कर लेते हैं। उसकी प्रणाली भी शास्त्रमें विद्यमान है। गोरक्षसंहिताके अनुसार 'षट्कर्म' ये हैं—धौति, वस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक और कपालभाति। इन सब क्रियाओंसे नाड़ी-शोधन करनेकी शक्ति तथा समय वर्तमानकालके स्वल्पायु मानवके पास बहुत ही कम है। क्योंकि विधिवत् 'षट्कर्म' करनेके लिये लगातार कई वर्षोंतक अभ्यास करनेकी आवश्यकता है। फिर, उसमें यदि साधारण-सी भूल हो जाय तो जीवन बहुत खतरेकी हालतपर पहुँच सकता है। यह मेरी मनगढन्त बात नहीं है। हठयोग करनेवाले ऐसे अनेकों सज्जनोंसे मेरा परिचय है जो हठयोग-साधनामें भूलसे नाना प्रकारकी कठिन बीमारियोंके, विशेषकर दमाके शिकार हो रहे हैं।

अत: हठयोगकी इन छ: क्रियाओंके अतिरिक्त कलियुगके स्वल्पायु मानवके लिये भगवान् शङ्कराचार्यदेवने नाड़ी-शोधनका एक बहुत ही सरल उपाय बतलाया है। मैं स्वयं इस सरल और सुलभ विधिसे क्रिया करके लाभ उठा चुका हूँ। हठयोगकी विधिसे नाड़ी-शोधन करनेमें जीवनका अधिकांश समय उन छ: क्रियाओंमें ही बीत जाता है, और यदि साधक रोगग्रस्त नहीं भी होता तो ऐसा करते-करते उसका अन्तिम समय तो प्राय: समीप आ ही जाता है। ऐसी अवस्थामें अगली साधनाओंके लिये जीवनमें अवकाश ही नहीं रह जाता। दूसरी बात यह है कि हठयोगकी षट्क्रियाओंमें जैसे कठोर नियम-संयमकी आवश्यकता है, शङ्करोक्त नाड़ी-शोधनमें उतने नियम-संयमकी जरूरत नहीं है। एक खास बात और है कि हठयोगकी षट्क्रियासे नाड़ी-शोधन करनेमें जितना लंबा समय बीतनेके बाद कहीं सिद्धि मिलती है, शङ्करोक्त विधिसे नाड़ी-शोधनमें उसके शतांश समयमें ही उतनी सिद्धि मिल जाती है। अत: मेरी रायमें इतने खतरनाक रास्तेपर न चलकर भगवान् शङ्करकी बतलायी हुई विधिका अनुसरण करना ही उत्तम है। इस विधिसे केवल तीन ही महीनेके भीतर नाड़ी-शोधनमें सिद्धि मिल जाती है। वह विधि इस प्रकार है—

नाड़ी-शोधनकी सरल विधि

सिद्धासन या पद्मासनमें स्थिर भावसे बैठ जाय। और दाहिने हाथके अँगूठेसे दाहिने नथुनेको कुछ दबाकर बायें नथुनेसे जहाँतक हो सके, वायुको खूब धीरे-धीरे खींचे एवं जरा-सी देर भी न ठहरकर अनामिका और कनिष्ठिका अँगुलियोंसे बायें नथुनेको बंदकर दाहिने नथुनेसे वायुका रेचन कर दे यानी वायुको बाहर निकाल दे। फिर उसी तरह दाहिने नथुनेसे वायुको खूब धीरे-धीरे खींचकर यथाशक्ति पूर्वोक्त रीतिसे बायें नथुनेसे निकाल दे। परन्तु स्मरण रहे कि खींचनेका काम पूरा होते ही उसी वक्त वायुको निकाल देना चाहिये, जरा देर भी रोकना ठीक नहीं। पहले अभ्यास करते समय उपर्युक्त क्रिया तीन बार करनी चाहिये। तीन बार अच्छी तरहसे अभ्यास हो जानेपर फिर पाँच बार, फिर सात बार, इसी प्रकार क्रमश: बढ़ाना चाहिये।

दिन-रातके बीचमें इसी तरह एक बार ब्राह्ममुहूर्तमें, एक बार दोपहरके समय, एक बार सन्ध्याको और एक बार रात्रिके समय अभ्यास करना चाहिये। प्रतिदिन नियमपूर्वक चार बार यत्नके साथ यह साधन करना उचित है। इस प्रकार अभ्यास करनेसे दो-तीन महीनेके अंदर ही सिद्धि मिलेगी। पूरक और रेचक जितना लंबा हो, उतना ही लाभदायक है।

नाड़ी-शोधनमें सिद्धि-लाभ हो जानेसे शरीर खूब हलका मालूम पड़ेगा। आलस्य, ढीलापन प्रभृति दोष सब दूर हो जायँगे। कभी आनन्दसे मन प्रफुल्लित हो उठेगा एवं समय-समयपर सुगन्धसे नाक भर जायगी।

ये सब लक्षण प्रकट होनेपर समझना चाहिये कि नाड़ी-शोधनमें सिद्धि मिल गयी है।

नाड़ी-शोधनके बाद योगका चतुर्थ अङ्ग प्राणायाम करनेका अधिकार प्राप्त होता है। जबतक नाड़ी-शोधन न हो जाय, तबतक किसीको भी प्राणायामका अभ्यास नहीं करना चाहिये। क्योंकि प्राणायामसे जैसे लाभ होता है, वैसे ही अनियमित होनेसे विशेष हानि भी सम्भव है। सिद्धियोगमें कहा गया है—

'प्राणायामकी साधनामें सिद्धिलाभ होनेसे समस्त व्याधियोंका नाश होता है; किन्तु अयुक्त अभ्याससे समस्त व्याधियोंकी उत्पत्ति हो जाती है। हिचकी, श्वास (दमा), खाँसी, सिरदर्द, नेत्रपीड़ा, कान-नाकके रोग प्रभृति नाना प्रकारकी व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।' अतएव बड़ी धीरताके साथ विधिपूर्वक प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये। अब प्राणायाम किसे कहते हैं, इसपर विचार कीजिये—

प्राणायाम

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः॥

(पातञ्जल० साधनपाद ४९)

'श्वास-प्रश्वासकी स्वाभाविक गतिका विच्छेद करके उन्हें शास्त्रोक्त नियमसे चलानेका नाम प्राणायाम है।' इसके सिवा प्राण और अपान वायुके संयोगको भी प्राणायाम कहते हैं। (योगियाज्ञवल्क्य)

'प्राणायाम' शब्दसे हम साधारणतः रेचक, पूरक और कुम्भक—इन्हीं तीन प्रकारकी क्रियाओंको समझते हैं। बाहरकी वायुका आकर्षण करके भीतर भरनेको 'पूरक' तथा जलसे पूर्ण घड़ेकी तरह भीतर ही वायुके धारण करनेको 'कुम्भक' और उसी धृत वायुके बाहर निकालनेको रेचक कहते हैं।

गोरक्षसंहितामें आठ प्रकारके प्राणायाम बतलाये गये हैं—

'सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और केवली—ये आठ प्रकारके कुम्भक होते हैं।' इनमेंसे—

शीतली प्राणायाम

—नित्य नियमित रूपसे प्रत्येक योगसाधकको करना चाहिये। इसकी साधनासे योगियोंका देह सर्वावस्थामें स्वस्थ, सबल और साधनसम्पन्न रहता है एवं किसी भी कारणवश रोग होनेकी सम्भावना नहीं रहती। इसके करनेसे अजीर्ण एवं कफ-पित्तादि रोगोंकी उत्पत्ति कभी नहीं होती। (गोरक्षसंहिता)

शीतली कुम्भककी साधनासे गुल्म, प्लीहा, ज्वर, शुक्रक्षय, क्षुधा, तृष्णा प्रभृति साधकके सर्वरोगोंका नाश होता है। (घेरण्डसंहिता)

राजयक्ष्मा (क्षय—T. B.), दमा, शूल आदि अति कठिन रोग भी इस प्राणायामके अभ्याससे समूल नष्ट हो जाते हैं। यह बात मुझे भलीभाँति मालूम है। मैंने स्वयं भी कई कठिन रोगोंके चंगुलसे इस प्राणायामके द्वारा ही छुटकारा पाया है। शीतली प्राणायामकी विधि 'गोरक्षसंहिता' के अनुसार निम्न प्रकार है—

'जीभसे वायुका आकर्षण करना यानी दोनों होठोंको सिकोड़ (सूक्ष्म) कर बाहरकी वायुको धीरे-धीरे अंदर खींचना चाहिये। इस प्रकार अपनी शक्तिके अनुसार वायुको अंदर खींचकर मुँहको बंद रखना और घूँट लेकर वायुको पेटमें पहुँचाना चाहिये। पश्चात् यथाशक्ति पूरक वायुको कुम्भकके द्वारा धारण करके दोनों नथुनोंसे वायुको बाहर निकाल देना चाहिये।' इस नियमसे बार-बार वायुके खींचनेपर कुछ दिनों बाद रक्त साफ होकर शरीरस्थ रक्त-विकार नाश हो जायगा एवं शरीर कामदेव-जैसा चमकीला बनता जायगा। प्रतिदिन दिन-रातमें कम-से-कम ४-५ बार प्रति बार ५-७ मिनटतक यह क्रिया करनी चाहिये। पहले बतलाये हुए किसी भी आसनसे स्थिरभावसे बैठकर मनको स्थिर करके यह क्रिया करनी चाहिये। अवश्य ही जो जितनी ही अधिक यह क्रिया कर सकेंगे, वे उतना ही शीघ्र सुफल-लाभ कर सकेंगे।

मैले-कुचैले, गंदे और जहाँकी हवा बिगड़ी हुई है ऐसे स्थानमें, वृक्षके नीचे, अथवा किरासीन तेलकी बत्ती जल रही हो ऐसे घरमें, भोजनके बाद खायी हुई चीजोंके हज़म न होनेकी हालतमें यह क्रिया नहीं करनी चाहिये। वायु निकालनेके बाद हाँफना भी नहीं चाहिये। इस बातपर विशेष ख्याल रखना उचित है।

इस क्रियासे कठिन शूल एवं छाती, पेट आदिका

कोई भी भीतरी दर्द अवश्य ही मिट जायगा।

(योगी, गुरु, ४ अंश)

शरीरको स्वस्थ रखनेके लिये शीतली प्राणायाम उत्तम होनेपर भी, जो साधक उच्चाङ्गकी साधना करना चाहते हैं, उनके लिये सहित प्राणायाम करना विशेष आवश्यक है। क्योंकि कुण्डलिनीका उत्थापन आदि क्रियाएँ इस 'सहित प्राणायाम' की सहायतासे ही करनी पड़ती हैं। घेरण्डसंहितामें जिसे 'उड्डाख्य प्राणायाम' कहते हैं, वह यही 'सहित प्राणायाम' है। इसकी साधनविधि इस प्रकार है—

सहित प्राणायामकी विधि

पहले हाथके दाहिने अँगूठेसे दाहिने नथुनेको बंद करके वायुको रोककर प्रणव (ॐ) अथवा अपने इष्टमन्त्रका सोलह बार जप करते हुए बायें नथुनेसे वायुको पूर्ण करके (पूरकके द्वारा वायुको भीतर खींचकर) कनिष्ठिका और अनामिका अँगुलियोंसे बायें नथुनेको बंद करके वायुको रोकते (कुम्भक करते) हुए 'ॐ' या मूलमन्त्रका चौंसठ बार जप करते-करते कुम्भक करे। इसके बाद दाहिने नथुनेसे अँगूठेको उठाकर 'ॐ' या मूलमन्त्रका बत्तीस बार जप करते-करते दाहिने नथुनेसे वायुको बाहर निकाल दे। इसी प्रकार ठीक उलटे तौरपर अर्थात् श्वास छोड़नेके बाद उसी दाहिने नथुनेसे ही ॐ या मूलमन्त्रका जप करते हुए 'पूरक' एवं दोनों नथुनोंको बंद करके 'कुम्भक' करके फिर बायें नथुनेसे 'रेचक' करे। इसी प्रकार ठीक पहलेकी भाँति फिर नथुनोंको बंद करते और खोलते हुए उपर्युक्त रीतिके अनुसार पूरक, कुम्भक और रेचक करे, और बायें हाथकी अँगुलियोंके पोरोंसे उसकी संख्या गिनता रहे।

आरम्भमें ही पूर्वोक्त संख्यामें प्राणायाम करनेमें कष्ट प्रतीत हो तो ८। ३२। १६ या ४। १६। ८ बार जप करते हुए प्राणायाम करे। हिंदूधर्मके अतिरिक्त दूसरे धर्मवाले लोगोंको अथवा जिनको मन्त्र-जप करनेकी सुविधा नहीं है उनको एक, दो, तीन आदि संख्यासे ही प्राणायाम करना चाहिये, नहीं तो सफलता मिलनेकी सम्भावना नहीं रहेगी। क्योंकि ताल-तालपर श्वास-प्रश्वासकी क्रिया सम्पन्न करनी पड़ती है। परन्तु इस बातका सदा ध्यान रहे कि रेचक या पूरक—वायुका बाहर निकालना और अंदर भरना जोरसे न होने पावे। रेचकके समय विशेष सावधान रहना चाहिये। श्वासको इतना धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिये कि हथेली-पर रखा हुआ सत्तूका चूर्ण भी श्वासके वेगसे उड़ न सके। प्राणायामके समय पूर्वोक्त आसनसे बैठकर मेरुदण्ड, गर्दन और मस्तकको सीधा और दृष्टिको भौंहोंके बीचमें स्थिर रखना चाहिये।

'सहित प्राणायाम' या उड्डाख्य प्राणायाम दो प्रकारके होते हैं—(१) सगर्भ और (२) निर्गर्भ। जो प्राणायाम बीजमन्त्रके साथ किया जाता है, वह सगर्भ एवं जो बीजमन्त्रका परित्याग करके किया जाता है, वह निर्गर्भ है। इस 'सहित प्राणायाम' की साधनासे विविध रोगोंका नाश होता है—

'इस प्राणायामके सिद्ध होनेपर साधकके श्लेष्मजनित सर्व प्रकारके रोग—जलोदर एवं धातुगण्डादि रोग विनष्ट हो जाते हैं एवं उसकी जठराग्निकी दीप्ति होती है।'

(घेरण्डसंहिता)

शिवसंहितामें प्राणायामसिद्धिके लक्षणोंका वर्णन इस प्रकार है—

योगीको अल्प निद्रा, अल्प मूत्र और अल्प पुरीष (मल) होता है। उसके शारीरिक तथा मानसिक कोई रोग नहीं रहता, कोई दीनता नहीं रहती, वह सदा सन्तुष्ट रहता है। उसके शरीरमें पसीना, कृमि, कफ, लार आदि पैदा नहीं होते। उसे अनाहार, अल्पाहार या बहुभोजनमें भी क्लेश नहीं होता। इस साधनासे साधकको भूचरी-सिद्धि प्राप्त होती है। यानी उसे गम्य-अगम्य सभी स्थानोंपर गमनागमन करनेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है। और उसको वाक्सिद्धि प्राप्त हो जाती है, अर्थात् उसके मुँहसे जो कुछ निकलता है वही सत्य हो जाता है; वह स्वेच्छाविहार कर सकता है, दूरके शब्दोंको सुन सकता है, बहुत सूक्ष्म परमाणुओंको भी देख सकता है और दूसरेके शरीरमें प्रवेश कर सकता है। उसके विण्मूत्रके लेपनसे सोना अदृश्य हो जाता है, एवं उसे अन्तर्धान होनेकी भी शक्ति प्राप्त हो जाती है। योगके प्रभावसे ये सब शक्तियाँ मिल जाती हैं, एवं वह अविरोध शून्यमार्गमें गमनागमन कर सकता है।

परन्तु इतनी शक्ति साधकको तभी प्राप्त होती है जब कि वह एक कुम्भकमें साढ़े सात दण्ड या पूरे

तीन घंटेतक वायुको धारण करनेकी शक्ति प्राप्त कर लेता है। शिवसंहितामें कहा है—

'जब अभ्यासके द्वारा पूरे एक प्रहरतक वायुको रोकनेकी शक्ति आ जायगी तब सिर्फ एक ही बारके कुम्भकसे काम चल जायगा। योगीके शरीरमें यदि एक प्रहरतक वायु निश्चल हो जाय तो वह अपनी सामर्थ्यसे पागलकी भाँति अँगूठेपर भार रखकर खड़ा रह सकता है।'

इतना अभ्यास हो जानेके बाद साधकको—

परिचयावस्था

प्राप्त होती है। जब इडा-पिङ्गलाको त्यागकर वायु निश्चल हो जाता है एवं प्राणवायु केवल सुषुम्णा नाड़ीके मध्यस्थित रन्ध्रसे ही सञ्चरित होता है, तभी उसे 'परिचयावस्था' कहते हैं।

'यह वायु क्रियाशक्ति (कुण्डलिनी)-को ग्रहणकर सब चक्रोंका भेद करके जब अभ्यासयोगसे सुनिश्चित परिचयावस्थाको प्राप्त होता है, तब साधकको निश्चितकर्मका त्रिकूट दर्शन होता है (शिवसंहिता)'। अर्थात् उसे कर्मके लिये आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक— इन त्रिविध तापोंका अनुभव होता है एवं उनका स्वरूपदर्शन करनेपर उनकी प्रकृतिका ज्ञान होता है। उस समय 'प्राणायामपरायण साधक अल्पकालमें ही ज्ञानी (आत्मतत्त्वज्ञ) हो सकता है। इसी कारण योगियों तथा मुनियोंको प्राणसंरोधका अभ्यास करना चाहिये।'(गोरक्षसंहिता)

साधकमें यदि तीन घंटेतक कुम्भक करनेकी शक्ति न उत्पन्न हो, तो भी उसे खेद नहीं मानना चाहिये। क्योंकि षोडश-प्राणायामसे भी साधकको विशेष लाभ होता है।

'षोडश-प्राणायामके द्वारा साधक पूर्व जन्मके और इस जन्मके जान और अनजानमें किये हुए विविध पाप-पुण्योंको नष्ट कर सकता है (शिवसंहिता)।' पुण्योंके नष्ट करनेका कारण यह है कि पुण्य भी वस्तुतः बन्धन ही करता है। बन्धनवाली जंजीर चाहे लोहेकी हो या सोनेकी, वह तो टूटनी ही चाहिये।

'प्राणायामके द्वारा साधकके पूर्वजन्मके तथा इस जन्मके सभी कर्मोंका नाश हो जाता है।' (शिवसंहिता)

'प्राणायाम सिद्ध होनेपर मोहावरणका क्षय होकर दिव्य ज्ञानका प्रकाश हो जाता है।' (पातञ्जल० साधन०)

प्राणायाम वृत्तिभेदसे तीन प्रकारका होता है— बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति तथा स्तम्भवृत्ति! रेचकका नाम है 'बाह्यवृत्ति' अर्थात् श्वासका त्याग करके उसे ग्रहण न करना; पूरकका नाम है 'आभ्यन्तरवृत्ति' अर्थात् श्वास ग्रहण करके फिर उसका त्याग न करना और कुम्भकका नाम है 'स्तम्भवृत्ति' यानी भरी हुई वायुको रोककर रखना। उक्त प्राणायाम फिर दीर्घ तथा सूक्ष्म भी होता है। दीर्घ और सूक्ष्मके पहचाननेके उपाय हैं— 'स्थान', 'काल' और 'संख्या'। पूरक करते समय यदि देहके भीतर पैरसे लेकर सिरतक चिन-चिन करे तो समझना चाहिये कि प्राणायाम दीर्घ है, अन्यथा वह सूक्ष्म है। इस प्रकार जाननेका नाम 'स्थान' है। कितने समयतक कुम्भक किया गया है, इससे भी प्राणायामकी दीर्घ-सूक्ष्मता मालूम पड़ती है। यदि दीर्घ समयतक कुम्भक हो तो जानना कि वह दीर्घ है, नहीं तो सूक्ष्म है। ऐसा जाननेका नाम 'काल' है। संख्याद्वारा अर्थात् १६। ६४। ३२ आदि संख्याओंके मन्त्रजपद्वारा जाननेका नाम 'संख्या' है। संख्याकी वृद्धि कर सकनेसे 'दीर्घ' और संख्याका ह्रास होनेसे 'सूक्ष्म' है।

प्राणायाम उत्तम, मध्यम तथा अधम—तीन प्रकारका होता है।

'प्राणायामके समय शरीरसे पसीना निकलनेसे वह 'अधम', कम्प होनेसे 'मध्यम' और शून्यमें उत्थान होनेसे 'उत्तम' समझना चाहिये (योगियाज्ञवल्क्य)।' यदि प्राणायामके समय पसीना निकले तो नीचे लिखे अनुसार करना चाहिये। शिवसंहितामें कहा है—

'प्राणायामकी साधनामें पहले-पहल साधकके शरीरमें पसीना आता है। यदि पसीना हो तो उसको सारे शरीरपर मल लेना चाहिये। ऐसा न करनेसे सारे शरीरका धातु नष्ट हो सकता है।'

प्राणायामकी द्वितीयावस्थामें शरीरमें कम्प होता है। तृतीयावस्थामें मेढककी-सी गति होती है। बद्ध-पद्मासनमें स्थित योगीको अवरुद्ध प्राणवायु प्लुत-गतिकी भाँति चलाता है। तदनन्तर अधिक कालतक वायुके रोक सकनेपर साधक भूमिका परित्याग कर

शून्यमें स्थित रह सकता है।

अब विज्ञ साधकगण समझे होंगे कि सर्वसाधारणमें जो प्राणायाम प्रचलित है, उसमें तथा शास्त्रोक्त यौगिक प्राणायाममें कितना अन्तर है। इन सब कठिन क्रियाओंको अत्यन्त धीर, स्थिर और अचञ्चल चित्तसे सुदीर्घ समयतक करना चाहिये। स्थिर विश्वास, अविचलित उद्यम, नियमित साधना तथा भोजनपर विशेष दृष्टि रखकर इस मार्गमें प्रवेश करना उचित है। 'श्रीश्रीसद्गुरु महाराजकी असीम कृपासे मैं अवश्य सिद्धिलाभ करूँगा' ऐसा दृढ़ विश्वास ही इस साधनाकी मूल भित्ति है।

जबतक प्राणायामका अभ्यास भलीभाँति नहीं हो जायगा, तबतक आगेकी साधना नहीं हो सकती। इसीलिये प्राणायामके सम्बन्धमें इतना अधिक लिखनेको विवश होना पड़ा है।

प्राणायामका सुचारुरूपसे अभ्यास होनेके बाद साधक योगसाधनाके पञ्चम अङ्ग—

प्रत्याहार

—की साधना शुरू करें। प्राणायामसे प्रत्याहारकी साधना और भी कठिन है। यथा—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः॥ (पातञ्जल० साधनपाद ५४)

अपने-अपने ग्राह्य विषयोंका त्याग करके इन्द्रियोंका अविकृत अवस्थामें चित्तके वश हो जाना प्रत्याहार है। इन्द्रियाँ स्वभावत: ही विषयोंकी ओर दौड़ा करती हैं, इन्द्रियोंको उन विषयोंसे निवृत्त कर लेना प्रत्याहार कहलाता है।

प्रत्याहारकी साधनासे इन्द्रियाँ वशमें होती हैं। प्रत्याहारका साधन करनेवाले योगी प्रकृतिको वशमें करके परम स्थिरताकी प्राप्ति करते हैं, जिससे बाहरकी तमाम प्रकृति वशमें आ जाती है।

प्रत्याहारका साधन अत्यन्त कठिन होनेपर भी, सद्गुरुकी कृपासे जो साधक तीन घंटेतक प्राणायाम कर सकते हैं, अथवा साधनबलसे जिनकी कुण्डलिनी-शक्ति मूलाधारचक्रको त्याग कर स्वाधिष्ठान और मणिपूरचक्रका भेदन करती हुई अनाहतचक्रतक पहुँच जाती है, उनके लिये प्रत्याहारकी साधना बहुत ही सहज—बालकके खेल-जैसी हो जाती है। क्योंकि भूः, भुवः तथा स्वः—इन तीनों लोकोंके सारे कार्य मूलाधार, स्वाधिष्ठान तथा मणिपूरतक होते हैं। इस त्रिलोकीमें ही तमाम कामना-वासना आदिका जंजाल है—इन्द्रियोंका काम है। कुण्डलिनी-शक्ति जब इन तीन चक्रोंको भेदकर अनाहतमें पहुँच जाती है, तब ये सारे जंजाल अपने-आप ही जाने कहाँ लय हो जाते हैं।

प्रत्याहारके बाद योगके छठे अङ्ग—

धारणा

—का साधन करना होता है।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा॥ (पातञ्जल० विभूतिपाद १)

'चित्तको देशविशेषमें बाँध (किसी खास स्थानपर रोक) रखनेका नाम धारणा है।' अर्थात् पूर्वोक्त षोडश प्राणायामके द्वारा किसी देव-देवीकी प्रतिमूर्ति या किसी खास वस्तुमें चित्तको लगाये रखना धारणा कहलाता है।

धारणाके अभ्याससे चित्त एकमुखी हो जाता है, इसलिये योग-साधकके अतिरिक्त दूसरे प्रकारके साधक भी धारणाकी साधना किया करते हैं। मन सदा चञ्चल है। प्राणायामकी सहायतासे वायुके वश हो जानेपर मन अपने-आप ही चञ्चलता छोड़कर स्थिर हो जाता है। मनको स्थिर करनेका एक दूसरा उपाय आगे चलकर बतलाया जायगा, उससे भी मन आसानीसे स्थिर हो जाता है और धारणाकी साधनामें विशेष सहायता मिलती है। धारणा स्थिर होनेपर वही धारणा क्रमशः—

ध्यान

—नामक योगके सातवें अङ्गके रूपमें परिणत हो जाती है।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्॥ (पातञ्जल० विभूतिपाद २)

'धारणाके द्वारा धारणीय पदार्थमें चित्तकी जो एकाग्र स्थिति हो जाती है, उसीका नाम ध्यान है।'

चित्तके द्वारा आत्मस्वरूपके चिन्तन करनेको ध्यान कहते हैं। सगुण और निर्गुण भेदसे ध्यान दो प्रकारका होता है।

परब्रह्म या सहस्रारमें स्थित परमात्माके ध्यान करनेका नाम निर्गुण ध्यान है।

सूर्य, गणपति, विष्णु, शिव, आद्याप्रकृति या षट्चक्रमें स्थित विभिन्न देवताओं आदिके ध्यानका नाम सगुण ध्यान है।

सगुण और निर्गुण ध्यानके सिवा बहुत-से लोग ज्योतिका ध्यान भी किया करते हैं। ध्यानकी पूर्ण परिपक्व अवस्थाको ही—

समाधि

—कहते हैं।

ध्यानके बहुत गाढ़ हो जानेपर अपनेमें और ध्येय वस्तुमें भेदज्ञान नहीं रहता। उस समय चित्त ध्येय वस्तुमें ही तदाकार हो जाता है अथवा यों कहना चाहिये कि चित्त उसीमें लीन हो जाता है। इस लयावस्थाको ही 'समाधि' कहते हैं। समाधिके बारेमें आगे चलकर लिखा जायगा।

यहाँतक की हुई आलोचना अष्टाङ्गयोग या प्रकृति-पुरुष-योगका अङ्ग होनेपर भी साधनकल्प नहीं है। अतएव अब कुछ साधन-विधि लिखी जाती है।

साधन-विधि

साधनाके लिये एकान्त स्थानमें बैठना उचित है। साधनगृह स्वच्छ, पवित्र और गोबरसे लिपा-पुता होना चाहिये। जो साधक पर्वत-कन्दराओंमें निवास करके साधना करना चाहते हैं, उनकी तो बात ही निराली है। परन्तु उनको भी यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि पर्वत-कन्दरा भी सदा पवित्र रहे। साधनगृहमें किसीको भी, चाहे वह साधु-ब्राह्मण ही क्यों न हो, प्रवेश न करके दिया जाय तो अति उत्तम है। क्योंकि नित्य-नियमितरूपसे जिस स्थानमें साधना की जाती है, कुछ दिनों बाद वह स्थान दिव्य शक्तिसे पूर्ण हो जाता है। किसी कारणवश यदि साधकका मन कदाचित् चञ्चल भी हो जाय, तो उस स्थानपर पहुँचते ही वहाँके वातावरणके प्रभावसे वह चञ्चलता तुरंत नष्ट हो जाती है और हृदय दिव्य भावसे पूर्ण हो जाता है। हाँ, साधनगृहको अपनी साधनाके और रुचिके अनुकूल देवी-देवताओंके, सिद्ध जीवन्मुक्त महापुरुषोंके एवं सद्गुरु महाराजके सुन्दर-सुन्दर चित्रोंसे सुशोभित रखना बहुत उत्तम है। साधनगृहमें किसीको न जाने देनेका मुख्य कारण यही है कि रजोगुणी या तमोगुणी प्रकृतिके मनुष्योंके तथा विरोधी साधनाके करनेवाले पुरुषोंके वहाँ जानेसे साधनगृहका सात्त्विक वातावरण बहुत अंशोंमें नष्ट हो सकता है तथा वातावरणकी एकरसतामें भी विघ्न होते हैं। अतएव इस ओर विशेष ध्यान रखना चाहिये। साधनगृहको अपने ही हाथोंसे झाड़ना-बुहारना और गोबर आदिसे लीपकर साफ रखना चाहिये।

साधनाके लिये आसनकी भी जरूरत होती है। नये अभ्यास करनेवाले साधकके लिये कृष्णसार हरिणका चर्म उत्तम है, फिर धीरे-धीरे व्याघ्रचर्म भी काममें लिया जा सकता है। कदाचित् मरे हुए जानवरका चर्म न मिले अथवा अन्यान्य कारणोंसे चर्मासन न बरता जाय, तो कम्बल या कुशासनपर बैठकर साधना कर सकते हैं। परन्तु इतना खयाल रहे कि अपनी साधनाके आसनको किसी भी कारणसे दूसरा कोई भी स्पर्श न करने पावे।

आसन इतना लंबा-चौड़ा अवश्य होना चाहिये कि जिसमें साधनाके समय साधकके शरीरका जरा भी अंश जमीनपर न लगे। क्योंकि साधनाके समय शरीरमें जो विद्युत-शक्ति उत्पन्न होती है, शरीरका अंश पृथ्वीपर लगनेसे उस अङ्गकी विद्युत-शक्ति मिट्टीमें चली जायगी, साधकको लाभ नहीं होगा; बल्कि धीरे-धीरे शक्तिहीन होते-होते साधकमें शिथिलता आ जायगी। अतएव इस ओर भी ध्यान रखना आवश्यक है।

किसी भी साधनाके समय शरीरसे पसीना निकले तो साधनाके बाद उसे मलकर शरीरमें ही खपा देना चाहिये। कपड़े आदिसे पोंछना नहीं चाहिये। पोंछनेसे शरीर निर्बल, इन्द्रियादि निस्तेज और मानसिक शक्ति धीरे-धीरे घटती जाती है।

निर्वाण-मुक्तिकी इच्छावाले साधकको उत्तर ओर मुख करके बैठना चाहिये। विज्ञानकी दृष्टिसे ऐसा माना जाता है कि उत्तर दिशामें चुम्बकका पहाड़ होनेके कारण मनके स्थिर करनेमें विशेष सहायता मिलती है। निर्वाणकी आशासे जिस प्रकार उत्तर दिशामें मुख रखकर साधना करनी चाहिये, उसी प्रकार सांसारिक उन्नति चाहनेवाले साधकको पूर्व दिशाकी ओर मुख करके साधनाका आरम्भ करना चाहिये।

नित्य नियमितरूपसे दिनमें चार बार साधन करना उचित है। पहले ब्राह्म मुहूर्तमें अर्थात् सूर्योदयके चार दण्ड (एक घंटे, छप्पन मिनट) पहले, दूसरी बार दोपहरके समय, तीसरी बार सूर्यास्तके बाद एवं चौथी बार रातको १२ बजेके बाद। रातको १२ बजेके बाद महानिशामें सांसारिक पुरुष मोहाच्छन्न रहते हैं, उस समय सारा संसार निस्तब्ध-सा हो जाता है। इसलिये उस समय साधक बड़ी आसानीके साथ मनको स्थिर करके साधनामें तल्लीन हो सकते हैं। किसी भी काममें मनके एकाग्र हुए बिना सिद्धि नहीं मिलती। महानिशाके समय बहुत आसानीके साथ मन स्थिर किया जा सकता है। दूसरी मुख्य बात यह भी है कि उस समय योगी-ऋषि, देवी-देवता, गन्धर्व-किन्नर, सिद्ध-महापुरुषगण एवं सद्गुरु तथा जगद्गुरु साधककी सहायताके लिये विशेष तत्पर रहते हैं। उत्कण्ठाके साथ एकाग्र चित्तसे साधन

करनेवाले पुरुषोंका मनोरथ साधनाके समय उन लोगोंकी अहैतुकी कृपा प्राप्त हो जानेसे थोड़े ही परिश्रमसे पूर्ण हो जाता है। अतएव कोई भी साधक यदि रातको बारह बजेसे लेकर सूर्योदयतक एक आसनसे बैठकर एकाग्र चित्तसे साधनामें लीन रहें, तो उन्हें अति शीघ्र जगद्गुरुकी अनुकम्पा प्राप्त हो सकती है और उसके प्रभावसे वे अनायास ही कृतार्थ हो सकते हैं।

आसनपर बैठकर साधकको सबसे पहले सहस्रारमें शतदल कमलके ऊपर—

जगद्गुरु भगवान्

—श्रीश्रीमहादेवका ध्यान और उन्हें प्रणाम तथा प्रार्थना करनी चाहिये। पहले वर्ष तो साधकको केवल आसनोंकी ही साधना करना उचित है। एक आसनसे प्रति बार तीन घंटेतक बैठना साधकके लिये विशेष उपकारक हो सकता है। परन्तु मन ऐसा चञ्चल है कि साधनामें बैठनेपर भी वह इधर-उधर दौड़ता रहता है। अतएव उसे स्थिर करनेके लिये आसन लगाकर मणिपूरचक्रमें दृष्टि रखकर सिर्फ मणिपूरचक्रको ही टकटकी लगाकर देखते रहना चाहिये। उस समय थोड़ी देरके लिये भी किसी दूसरी बातपर विचार करना उचित नहीं है। पाँच-सात मिनट ऐसा करनेसे ही मन स्थिर हो जायगा। मनके स्थिर होते ही आँखें बंद करके श्रीगुरुदेवका ध्यान करना चाहिये। जगद्गुरुका ध्यान योगीलोग इस प्रकार करते हैं—

जगद्गुरुका ध्यान

मध्याह्नके समय भगवान् सूर्यदेवकी जैसी अति महान् ज्योति होती है, उससे भी करोड़ों गुनी अधिक ज्योतिका समुद्र हमारे मस्तकके भीतर है। छोटे बच्चोंका ब्रह्मरन्ध्र नरम रहता है, वह श्वास-प्रश्वासके समय ऊँचा-नीचा होता रहता है। उसी स्थानकी हड्डीके नीचे समुद्रके समान गम्भीर और विस्तृत उपर्युक्त अनन्त ज्योतिका ध्यान करना चाहिये। ऐसी दृढ़ भावना करनी चाहिये कि महान् तेजःपुञ्ज ज्योतिका समुद्र होनेपर भी वह सूर्यदेवकी ज्योतिके समान ऐसा तीक्ष्ण नहीं है, जिसकी ओर देखा ही न जा सके। वह करोड़ों चन्द्रमाओंके समान अत्यन्त सुशीतल और सुमधुर है। ज्योतिकी इस सुशीतलताका चिन्तन न करनेसे सिर गरम होकर अनेकों व्याधियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। पाँच-दस मिनट इस प्रकार ध्यान करनेके बाद सोचे कि सरोवरमें जैसे कमल प्रस्फुटित रहता है, वैसे ही एक अति शुभ्र कमल उस ज्योतिःस्वरूप समुद्रमें प्रकट हुआ है। उस अति शुभ्र कमलकी किरणें उससे भी अधिक शुभ्र और सुप्रकाशित हैं। पाँच-दस मिनटतक ऐसे स्निग्ध-शुभ्र कमलका ध्यान करनेके बाद फिर ऐसी भावना करनी चाहिये कि जैसे साधारण कमलमें बीजकोष रहता है, वैसे ही उस ज्योतिर्मय कमलमें भी बीजकोष है। वह भी अति शुभ्र है। कुछ देरतक ऐसा ध्यान करनेके बाद फिर देखे कि उस कमलके आसनपर जगद्गुरु भगवान् शिवजी आनन्दपूर्ण चित्तसे विराजमान हैं। शिवजीकी मूर्ति लिङ्गरूप नहीं है किन्तु अति सुन्दर, अति कमनीय, अपार करुणामय मानव-मूर्ति-जैसी है। उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग अति शुभ्र हैं एवं उन सभी अङ्गोंसे अति शुभ्र सुमधुर स्निग्ध प्रकाश निकल रहा है। जगद्गुरु भगवान् शिव इतने करुणामय, वात्सल्यमय, प्रेममय, स्नेहमय और आनन्दमय हैं कि चौदहों भुवनोंके किसी भी निवासीके साथ उनकी तुलना नहीं हो सकती। वे अतुलनीय हैं। इस प्रकार ध्यानके बाद यह भावना करनी चाहिये कि 'मैं उनके श्रीचरण-सरोजमें पहुँच गया हूँ और उनके श्रीचरण-कमलोंको पकड़कर साष्टाङ्ग प्रणाम कर रहा हूँ। वे अपने प्यारे नन्हे-से बच्चेकी भाँति मुझको अपनी गोदमें उठाकर आशिष दे रहे हैं—बड़े प्यारसे मेरे सारे शरीरपर हाथ फेर रहे हैं और बड़ी ही स्नेहपूर्ण कृपादृष्टिसे मेरी ओर देख रहे हैं। बालक जैसे अपने पितासे नाना वस्तुओंके लिये प्रार्थना करता है, जोर-जबरदस्ती करता है, वैसे ही मैं भी उनसे सिर्फ निर्वाण-मुक्तिकी प्रार्थना कर रहा हूँ।'

भगवान् शिव भक्तवाञ्छाकल्पतरु हैं, वे साधककी प्रार्थनाको अवश्य पूर्ण करेंगे। अतएव साधकको चाहिये कि वह अन्यान्य विविध विषयोंके लिये प्रार्थना न करके केवल एक 'निर्वाण-मुक्ति' के लिये ही प्रार्थना करे। एक-मुखी प्रार्थना होनेसे वह अवश्य और शीघ्र पूर्ण होती है। प्रार्थना ऐसी हार्दिक होनी चाहिये कि प्रार्थना करते समय साधककी आँखोंसे अपने-ही-आप आँसू टपकने लगें।

जबतक आसनमें सिद्धिलाभ न हो, तबतक यदि इस प्रकारके ध्यानसे ही आसनका समय निकाल दिया जाय तो आसनके लिये कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा। एवं मन भी सहज ही सहस्रारमें स्थिर रहकर तथा उसमें प्रेमभावका उदय होकर हृदय अनिर्वचनीय आनन्दसे पूर्ण हो जायगा। किसी-किसी भाग्यवान् साधकको इतनेमें ही अनाहत

ध्वनिका श्रवण आरम्भ हो जाता है। इसी प्रकार किसी-किसी साधकका चित्त अपने-आप ही सहस्रारमें लय हो जाता है और थोड़े समयके लिये उसमें समाधिका भाव उदय हो जाता है। ऐसे सौभाग्यवान् साधक संसारमें बहुत ही थोड़े हैं।

आसन-सिद्धिके बाद स्थिरचित्त साधक नाड़ी-शोधनका अभ्यास करें। शङ्करोक्त विधानसे नाड़ी-शोधन-कार्य विशेष सरल तथा विपत्तिशून्य है। अतएव हठयोगकी क्रियाएँ न करके शङ्करोक्त विधिसे ही नाड़ी-शोधन करना चाहिये। विधि पहले ही लिखी जा चुकी है। नाड़ी-शोधनमें सिद्धिलाभ होनेपर शरीर फूल-जैसा हल्का, मन सदा ही आनन्दसे युक्त और देह व्याधिमुक्त हो जाता है एवं कभी-कभी नाना प्रकारके सुगन्धोंसे हृदयमें अपार आनन्दका स्रोत प्रवाहित होने लगता है। विधिवत् अभ्यास करनेपर लगभग तीन महीनेमें ही साधक नाड़ी-शोधनमें सिद्धिलाभ कर सकता है।

नाड़ी-शोधनके बाद साधक पहले शीतली प्राणायामका अभ्यास करें। यह प्राणायाम अति सरल है। दो ही महीनेमें इसका उत्तम रूपसे अभ्यास हो सकता है।

तदनन्तर सहित प्राणायाम जो सर्वसाधारणमें प्रचलित है, उसका विधिवत् अभ्यास करें। इस प्राणायामकी विधि भी पहले ही लिखी जा चुकी है। यह प्राणायाम न तो बहुत कठिन है और न विशेष सहजसाध्य ही है। परन्तु इसके लिये चिन्ता नहीं करनी चाहिये, बड़ी धीरताके साथ शनैः-शनैः अभ्यास करते रहना चाहिये। 'सहित प्राणायाम' में कुम्भक करना पड़ता है। कुम्भककी मात्रा जितनी ही लंबी हो (अवश्य ही विधिवत् धीरे-धीरे लंबा करना चाहिये), उतना ही वह अधिक लाभदायक होता है। प्राणायामसे शरीरकी सारी व्याधियाँ नाश होकर शरीर कन्दर्प-जैसा सुन्दर, ज्योतिष्मान् हो जाता है।

प्राणायामके बाद यद्यपि प्रत्याहारकी साधना करना उचित है, तथापि प्रत्याहारकी साधना न करके अश्विनीमुद्राके द्वारा कुण्डलिनी शक्तिके जगानेकी चेष्टा की जा सकती है। कुण्डलिनी शक्ति जगकर जब एक चक्रके चक्रान्तरमें जाती हुई अनाहतचक्रमें पहुँच जाती है, तब प्रत्याहारकी साधना अपने-आप ही बन जाती है। अतएव प्राणायामके द्वारा अश्विनीमुद्राकी सहायतासे कुण्डलिनी शक्तिको चैतन्य करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

भौतिक देहमें सहस्रारमें जगद्गुरु शिवरूपी पुरुष तथा मूलाधारमें जगन्मातारूपी शक्ति ही कुण्डलिनी हैं। इन्हींको प्रकृति-पुरुष कहते हैं। पहले बतलाये हुए कारणोंसे प्रकृति मायाच्छन्न होकर मूलाधारमें कुण्डलिनी शक्तिके रूपमें विराजिता हैं। इन दोनोंका संयोग यानी मिलन ही प्रकृति-पुरुष-योग या आत्मा-परमात्माका योग है। इस कुण्डलिनी शक्तिके बारेमें अनेकों प्रकारकी शास्त्रोक्तियोंके रहनेपर भी, साधकके लिये इसके सम्बन्धमें जितनी बातें जाननेकी जरूरत है—संक्षेपमें यहाँ उनका कुछ विवरण दिया जाता है।

कुल-कुण्डलिनी-तत्त्व

मूलाधार पद्म (इसका विवरण आगे लिखा जायगा)-के बीचमें पूर्वोक्त ब्रह्मनाड़ीके मुखमें स्वयम्भू-लिङ्ग विराजमान है। उसके शरीरमें दक्षिणावर्त्तसे साढ़े तीन घेरे लगाकर कुण्डलिनी शक्ति विराजती है। यथा शिवसंहितामें कहा है—

'गुह्य और लिङ्ग—इन दोनोंके बीचमें पश्चिमाभिमुखी योनिमण्डल है, उस योनिमण्डलको कन्द भी कहते हैं। योनिमण्डलके बीचमें कुण्डलिनी शक्ति सब नाड़ियोंको लपेटकर (सार्धत्रिकुटिलाकार—साढ़े तीन टेढ़े लपेटे लगाकर) साँपकी भाँति अपनी पूँछको मुँहमें डालकर सुषुम्णा-विवरको रोके हुए अवस्थान कर रही है।'

यह कुण्डलिनी ही नित्य आनन्दस्वरूपा परमा प्रकृति है। इसके दो मुँह हैं, एवं यह विद्युल्लताकार (बिजलीके समान) तथा अति सूक्ष्म है, जो देखनेमें आधे ॐकारकी-सी प्रतिकृति मालूम होती है। मर-अमर-असुरादि सभी प्राणियोंके शरीरमें कुण्डलिनी विराज रही है। इस कुण्डलिनीके आभ्यन्तरमें केलेके कोष-जैसे कोमल मूलाधारमें चित्-शक्ति विराजिता है। उसकी गति अति दुर्लक्ष्य है।

कुण्डलिनी शक्ति प्रचण्ड स्वर्णवर्णा, तेजःस्वरूपा, दीप्तिमती और सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणोंको पैदा करनेवाली ब्रह्मशक्ति है। यह कुण्डलिनी-शक्ति ही 'इच्छा', 'क्रिया' और 'ज्ञान'—इन तीनों नामोंमें विभक्त होकर समस्त शरीरके चक्रोंमें भ्रमण करती है। यही शक्ति हमारी जीवन-शक्ति है। इस शक्तिको अपने वशमें करना ही योग-साधनाका उद्देश्य है। योगशिखोपनिषद्में बतलाया है—

'मूलाधारस्थिता कुण्डलिनी शक्ति विन्दुरूपिणी है। वही स्व यानी आत्माकी आधारभूता (जीवात्मा इसीका आश्रय लेकर अवस्थान करता) है। सूक्ष्म बीजसे अङ्कुरकी

भाँति इस कुण्डलिनीरूपा प्राणशक्तिसे ही नादकी उत्पत्ति होती है। योगिगण इसीके द्वारा 'विश्व' अवस्थाका दर्शन करते हैं। इसी कारण नादकी इस अवस्थाको 'पश्यन्ती' कहते हैं। उसके बाद नाद हृद्देशमें पहुँचनेसे मेघगर्जनकी भाँति 'गुर-गुर' शब्द प्रकट होता है। उसके बाद वही नाद जब प्राणवायुके संयोग (कण्ठ) -से 'स्वर' (आवाज-शब्द) नाम धारण करके निकलता है, तब उसे 'वैखरी' (प्रखर यानी सुस्पष्ट शब्द) कहा जाता है। फिर यह वैखरी शब्द ही कण्ठ, तालु, मूर्द्धादि स्थानोंको चोट पहुँचाकर शाखा-पल्लवरूपमें 'अ'कारसे 'क्ष' कारतक अक्षररूपमें अभिव्यक्त होता है। अक्षरोंके समन्वयसे पद एवं पदोंके समन्वयसे वाक्य प्रकाशित होता है। सारे मन्त्र, समग्र वेद, शास्त्र, पुराण तथा काव्यादि और भिन्न-भिन्न भाषा, सप्तस्वर-समन्वित गानादि—सभी इस नादसे ही उत्पन्न होते हैं। अतएव सरस्वती यानी वाग्देवी मूलतः सर्वभूतोंके मूलाधाररूप चक्रका आश्रय करके विराज रही हैं।'

साधनभूमि भारतवर्षके सनातनधर्मावलम्बी प्रायः सभी मानव जिस गायत्रीदेवीकी इतनी उपासना करते हैं, वह गायत्री भी इसी कुण्डलिनीसे उत्पन्न हैं। इसीसे कुण्डलिनीको उसकी माता भी कहा जा सकता है। यथा—

कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी॥
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित्।

(योगचूडामण्युपनिषद् ३५-३६)

'कुण्डलिनी ही प्राणशक्तिमयी गायत्रीका उत्पत्तिस्थान है। यह गायत्री ही प्राणविद्यारूपा महाविद्या है। जो व्यक्ति इस विद्याको जानते हैं, वे ही वेदवित् हैं।'

आत्माकी जैसे चार अवस्थाएँ—जाग्रत् (स्थूल), स्वप्न (सूक्ष्म), सुषुप्ति (कारण) तथा तुरीय है, वैसे ही कुण्डलिनीसे समुद्भूत नादकी भी चार अवस्थाएँ हैं—'परा', 'पश्यन्ती', 'मध्यमा' तथा 'वैखरी'। मूलाधारस्थिता सर्वशक्तिमयी ज्योतिर्विन्दुरूपिणी परा शक्ति कुण्डलिनी ही 'परा' नामसे विख्यात है, यह 'परा' ही नादकी तुरीयावस्था है। बादमें वही नाद स्वाधिष्ठानचक्रमें उपस्थित होनेसे उसीको 'पश्यन्ती' कहते हैं। यह नादकी सुषुप्ति यानी कारणावस्था है। फिर उस नादके हृदयमें आनेसे उसे 'मध्यमा' कहते हैं। मध्यमावस्थाका नाद अनाहत नाद कहा जाता है। यह अनाहत नादकी सूक्ष्म या स्वप्नावस्था है। अन्तमें वह नाद जब कण्ठसे स्पष्टतया उच्चरित होता है, तब उसे 'वैखरी' कहते हैं। यह नादकी जाग्रत् या स्थूलावस्था है। नादकी 'परा' तथा 'पश्यन्ती' अवस्था सिद्ध योगियोंके अनुभवगम्य है। 'मध्यमा' अवस्थाका योगसाधनरत उन्नतिशील साधकोंको अनुभव होता है तथा 'वैखरी' अवस्थाका सर्वसाधारणसे सम्बन्ध है। परन्तु यह नाद कुण्डलिनीके साथ ब्रह्मनाड़ीके चक्रसे चक्रान्तरमें प्रवेश करते-करते जब सहस्रारमें जा पहुँचता है, तब इस नादका भी वहाँ लय हो जाता है। अस्तु,

अन्तर्मुख तथा बहिर्मुख भेदसे कुण्डलिनीके दो मुख हैं।

द्विमुखविशिष्टा सार्द्धत्रिवलयाकृति कुण्डलिनी एक मुखको ब्रह्मविवर (सुषुम्णास्थ ब्रह्मनाड़ी)-में रखकर ब्रह्म-द्वारको रोककर सो रही है और दूसरे मुखसे दण्डाहता भुजङ्गिनीकी भाँति श्वास-प्रश्वास ले रही है। यही जगज्जीवका श्वास-प्रश्वास है। इस मुखसे वह सदा जाग्रत् रहनेके कारण जगज्जीवका बाह्य चेतन यानी बाहरी ज्ञान विद्यमान है। इसी कारण जीवका ज्ञान भिन्न-भिन्न प्रकारका है, 'एकत्व'-ज्ञान नहीं है। अन्तर्मुख सुप्त या बंद रहनेके कारण ही जीवको अन्तर्ज्ञान यानी आत्मज्ञान नहीं है।

जिस रास्तेसे चलकर साधक ब्रह्मस्थान सहस्रारपर पहुँचकर ब्रह्मज्ञानको प्राप्त करता है, ब्रह्मनाडीस्थ उस ब्रह्मद्वारको रोककर परमेश्वरी कुण्डलिनी सो रही है (हठयोग-प्रदीपिका)। इसी मार्गको 'अन्तर्मुख' कहते हैं। पश्चिम मार्ग यानी अन्तर्मुखके पथको प्रसिद्ध किये बिना (खोले बिना) मोक्षमार्गपर गति नहीं होती। प्राणायामके द्वारा प्राणापानादि वायुको वशीभूत तथा एकत्र करके कुण्डलिनीका बहिर्मुख बंद कर देनेसे उसका अन्तर्मुख अपने-आप ही खुल जाता है; क्योंकि वायुकी इस ओरकी गति रुक जानेसे वह दूसरी ओर अपने-आप ही गति कर लेता है, साथ ही अश्विनीमुद्राके द्वारा कुण्डलिनीको बारम्बार आघात करनेसे कुण्डलिनीका अन्तर्मुख जल्दी खुल जाता है एवं कुण्डलिनी जाग्रत् होकर गतिशीला हो जाती है। इसी प्रक्रियाको कुण्डलिनीका जगाना कहते हैं। अब कुण्डलिनीको चैतन्य करनेकी दूसरी विधि सुनिये—

कुण्डलिनी-चैतन्यकी विधि

पहले बताये हुए आसन, नाड़ीशोधन तथा सद्गुरु महाराजका ध्यान करते हुए प्राणायामकी विधिसे कुण्डलिनीको जगानेके लिये निम्नलिखित क्रिया करे।

बायें पैरकी एँड़ीसे योनिदेशको मजबूतीसे दबाकर

दाहिने पैरको बिल्कुल सीधा और सरल भावसे सामने रखकर बैठे। उसके बाद दाहिने पैरको दोनों हाथोंसे जोरसे दबाये रखे एवं कण्ठमें ठुड्डी लगाकर कुम्भकसे वायुको रोके। पीछे प्राणायामकी चालसे धीरे-धीरे उस वायुको निकाल दे। दण्डाहत साँप जैसे सरल भाव धारण करता है, वैसे ही इस क्रियाके करनेपर कुण्डलिनी शक्ति सीधा आकार धारण कर लेती है।

बित्तेके बराबर लंबे चार अंगुल चौड़े कोमल श्वेतवर्ण सूक्ष्म कपड़ेसे नाभिदेश (तोंदीकी जगह)-को लपेटकर कमरमें डोरेसे बाँध दे। फिर एकान्त स्थानमें बैठकर दोनों नथुनोंसे प्राणवायुका आकर्षण करके उसे बलपूर्वक अपानवायुमें मिलावे एवं जबतक सुषुम्णा-विवरमें वायु प्रवेश कर प्रकाश न पावे, तबतक अश्विनीमुद्रासे धीरे-धीरे गुह्यदेशको सिकोड़ता और फैलाता रहे। इस प्रकार श्वास रोककर कुम्भकयोगसे वायुरोध करनेपर कुण्डलिनी शक्ति जगकर सुषुम्णापथसे ऊपरकी ओर चलने लगती है।

दूसरी एक विधि इस प्रकार है—सिद्धासनसे बैठकर ठुड्डीको हृदयपर मजबूतीके साथ रखे, फिर दोनों हाथोंसे मुट्ठी बाँधकर दोनों हाथोंकी कुहनी हृदयपर दृढ़रूपसे रखकर नाभिदेशमें वायु धारण करे एवं गुह्यदेशको अश्विनीमुद्रासे सिकोड़ता-फैलाता रहे। नित्य ऐसा अभ्यास करनेसे भी कुण्डलिनी शक्ति शीघ्र ही चैतन्य होगी। यह कुण्डलिनी-चैतन्यका कौशल है; किन्तु एक चक्रसे दूसरे चक्रमें उठानेकी विधि दूसरी है, उसे यथासमय लिखा जायगा।

'मूलाधारस्थिता कुण्डलिनी शक्ति जबतक न जागे, तबतक मन्त्रजप और यन्त्रादिसे पूजार्चना करना सब विफल है। यदि पुण्यके प्रभावसे यह शक्ति देवी जग उठे, तो मन्त्रजपादिकी सब क्रियाएँ सिद्ध हो सकती हैं।'

(गौतमीय तन्त्र)

योगके अनुष्ठानद्वारा कुण्डलिनीका चैतन्य सम्पादन करनेमें ही मानव-जीवनका पूर्णत्व है। भक्तिपूर्ण चित्तसे प्रतिदिन कुण्डलिनी-शक्तिका ध्यान-पाठ करनेपर साधकको इस शक्तिके सम्बन्धमें ज्ञान प्राप्त होता है एवं यह शक्ति धीरे-धीरे जाग्रत् होती है। ध्यान इस प्रकार है—

ध्यायेत् कुण्डलिनीं सूक्ष्मां मूलाधारनिवासिनीम्।
तामिष्टदेवतारूपां सार्द्धत्रिवलयान्विताम्॥
कोटिसौदामनीभासां स्वयम्भूलिङ्गवेष्टिताम्॥

जो योग-साधना करना चाहते हों, उनके लिये नव चक्र आदिकी बातें भी जाननेकी विशेष जरूरत है; क्योंकि किस चक्रमें कुण्डलिनी किस रूपमें प्रकाश पाती है, एवं किस चक्रमें कुण्डलिनीकी क्या-क्या शक्तियाँ हैं—इत्यादि बातोंको जाने बिना साधन नहीं बन सकता। इसलिये कुण्डलिनीचैतन्यके प्रसङ्गमें ही एक-एक चक्रके विषयमें भी विचार किया जायगा। सर्वसाधारणमें प्रायः षट्चक्रकी ही बात प्रचलित है, परन्तु वास्तवमें भौतिक शरीरमें नव चक्र विद्यमान हैं। सुकृतिमान् उत्तम साधक ही नव चक्रोंकी बात जानते हैं। नव चक्रोंकी बात मनगढंत नहीं है।

प्राणतोषिणी तन्त्रके वचन हैं—

मूलाधारं चतुष्पत्रं गुदोर्द्ध्वे वर्तते महत्।
लिङ्गमूले तु पीताभं स्वाधिष्ठानं तु षड्दलम्॥
तृतीयं नाभिदेशे तु दिग्दलं परमाद्भुतम्।
अनाहतमिष्टपीठं चतुर्थकमलं हृदि॥
कलापत्रं पञ्चमं तु विशुद्धं कण्ठदेशतः।
आज्ञायां षष्ठकं चक्रं भ्रुवोर्मध्ये द्विपत्रकम्॥
चतुःषष्टिदलं तालुमध्ये चक्रं तु मध्यमम्।
ब्रह्मरन्ध्रेऽष्टमं चक्रं शतपत्रं महाप्रभम्॥
नवमं तु महाशून्यं चक्रं तु तत्परात्परम्।
तन्मध्ये वर्तते पद्मं सहस्रदलमद्भुतम्॥

इनमें प्रथम चक्र है—

मूलाधारचक्र

मानव-देहके गुह्यदेशसे दो अंगुल ऊपर और लिङ्ग-मूलसे दो अंगुल नीचे चार अंगुल विस्तृत जो योनिमण्डल विद्यमान है, उसीके ऊपर मूलाधार है। यह स्वल्प रक्तवर्ण और चतुर्दलविशिष्ट है। इसके दल व, श, ष, स—इन चार वर्णोंसे सजे हुए हैं। इन चार वर्णोंका रंग सोनेके-जैसा है। इस पद्मकी कर्णिकाके बीचमें अष्टशूलसे सुशोभित चतुष्कोण पृथ्वीमण्डल है। उसकी एक बगलमें पृथ्वीबीज 'लं' है। उसके बीचमें पृथ्वीबीजके प्रतिपाद्य इन्द्रदेव विराजित हैं। इन्द्रदेवके चार हाथ हैं, उनका पीतवर्ण है, तथा वे श्वेत हस्तीपर बैठे हुए हैं। इन्द्रदेवकी गोदमें शैशवावस्थामें चतुर्भुज ब्रह्मा विराजित हैं। ब्रह्माजीकी गोदमें रक्तवर्णा, चतुर्भुजा और सालङ्कृता डाकिनी नाम्नी उनकी शक्ति विराजिता हैं।

'लं' बीजके दक्षिण भागमें कामकलारूप रक्तवर्ण, त्रिकोण-मण्डल है। उसके बीचमें तेजोमय, रक्तवर्ण,

'क्लीं' बीजरूप कन्दर्प नामक रक्तवर्ण स्थिरतर वायुका निवास है। उसीके बीचमें ठीक ब्रह्मनाड़ीके मुखपर स्वयम्भूलिङ्ग है। यह लिङ्ग रक्तवर्ण और कोटिसूर्यकी भाँति तेजोमय है। इसके शरीरमें साढ़े तीन घेरे लगी हुई कुण्डलिनी शक्ति है। इस कुण्डलिनी शक्तिके अभ्यन्तरमें चित्शक्ति विराज रही है। यह कुण्डलिनीशक्ति सबके लिये इष्टदेवीस्वरूपिणी है एवं मूलाधारचक्र मानव-देहका आधारस्वरूप है, इसीलिये इसका नाम आधारपद्म भी है। साधन-भजनका मूल इसी स्थानमें है। इसीसे इसको मूलाधारपद्म कहते हैं। (योगीगुरु)

नित्य-नियमित रूपसे इस मूलाधारपद्मका ध्यान करनेसे गद्य-पद्यादि वाक्सिद्धि और आरोग्यादि प्राप्त होते हैं।

धैर्यशील साधक पूर्वोक्त साधनादिमें अभ्यस्त होनेके बाद, जब प्राणायामका अभ्यास उत्तम रूपसे हो जाय, तब कुण्डलिनी-उत्थापनकी चेष्टा करें।

साधक योग-साधनोपयोगी निर्जन स्थानमें कम्बल, मृगचर्म आदि किसी भी आसनपर उत्तर या पूर्वकी ओर मुख करके आसन लगाकर बैठ जायँ। पहले बतायी हुई विधिसे मनको स्थिर कर श्रीश्रीगुरुदेवका ध्यान, प्रार्थना, प्रणाम करके निम्नोक्त क्रिया करें।

कुण्डलिनी-उत्थापन

पहले पञ्चप्राण, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, मन और बुद्धि—इन सतरह तत्त्वोंके आधारस्वरूप जीवात्माको मूलाधारचक्रस्थित कुण्डलिनीके साथ एकीभूत करके (मिलाकर) चिन्तन करें। मूलाधारपद्म और कुण्डलिनी शक्तिका मानस नेत्रद्वारा दर्शन तथा 'हूं' इस कूर्च्चबीजका उच्चारण करते हुए दोनों नथुनोंसे धीरे-धीरे वायुका आकर्षण (पूरक) करके प्राण-अपान वायुओंको संयुक्त कर मूलाधारमें चालित करते-करते ऐसी भावना करें कि मूलाधारस्थित शक्तिमण्डलान्तर्गत कुण्डलिनीके चारों ओर कामाग्नि प्रज्वलित हो रही है और उस अग्निके समुद्दीपित होनेसे कुण्डलिनी जग उठी है। फिर 'हंस' उच्चारणपूर्वक अश्विनीमुद्रायोगसे गुह्यदेशको सिकोड़कर कुम्भकके द्वारा वायुका रोध करनेसे कुण्डलिनी ऊर्ध्वमुखी हो जायगी। तब साधक यह भावना करे कि यह कुण्डलिनी शक्ति महान् तेजोमयी है। उस समय कुण्डलिनी अपने पूर्व मुखको स्वाधिष्ठानचक्रपर चढ़ा लेती है एवं दूसरे मुखद्वारा मूलाधारस्थित ब्रह्मा और डाकिनी शक्ति एवं उस पद्मके चतुष्पत्रस्थ वं, शं, षं, सं—इन चार मातृकावर्णोंको, समस्त देव-देवियोंको तथा उनकी वृत्तियोंको ग्रास कर लेती है। यानी ये सभी कुण्डलिनी शक्तिमें लय हो जाते हैं। एवं पृथ्वीमण्डल भी लय होकर उसका बीज 'लं' कुण्डलिनीके मुँहमें स्थिर हो जाता है। तब दूसरे मुखको भी स्वयं ही स्वाधिष्ठानमें चढ़ा लेगी। दूसरे मुखके चढ़ाते ही मूलाधारपद्म मुँद जायगा और वह म्लान हो जायगा।

विज्ञ साधकोंको एक विशेष जरूरी बात स्मरण रखनी चाहिये कि भौतिक शरीरमें स्थित सहस्रारको छोड़कर शेष सभी चक्र (पद्म) स्वभावत: ही निम्नाभिमुखी (नीचेकी ओर मुँह किये रहते) हैं। ध्यानके समय उन्हें ऊर्ध्वमुख, प्रस्फुटित (खुले हुए) देखना चाहिये। फिर कुण्डलिनी जब जिस चक्रपर अवस्थान करेगी, उस समय वह पद्म आप-ही-आप ऊर्ध्वमुख तथा प्रस्फुटित हो जायगा। वह जब जिस पद्मका त्याग कर देती है, वह पद्म भी उसीके साथ मुद्रित तथा म्लान (मलिन) होकर निम्नाभिमुख हो जाता है। उस समय उस पद्मकी सारी शक्तियाँ, सारी वृत्तियाँ अपने-आप ही कुण्डलिनीमें लय हो जाती हैं।

मूलाधारपद्म भूर्लोक है। सांसारिक जीवमें जितनी वृत्तियाँ विद्यमान रहती हैं, वे सब मूलाधारमें कुण्डलिनीके अचेतन रहनेके कारण ही होती हैं। इसी कारण जगत्के जीव इतनी मायामें फँसे रहते हैं। कुण्डलिनीके चैतन्य होनेसे कदाचित् वह चक्रान्तरमें प्रवेश न भी करे, तो भी चैतन्य कुण्डलिनीके कारण मानवका मन ऊर्ध्वाभिमुखी तो हो ही जाता है—मानव स्वभावत: ही सच्चे दिलसे धर्म-कर्ममें लग जाता है और साधन-भजनमें काल व्यतीत करनेको ही उत्तम मानने लगता है। अब द्वितीय चक्र—

स्वाधिष्ठान

—की बात सुनिये। लिङ्गके मूलमें रहनेवाले पद्मका नाम स्वाधिष्ठान है। यह खूब चमकीला अरुणवर्ण और षड्दलविशिष्ट है—'बं' 'भं' 'मं' 'यं' 'रं' 'लं'—छ: मातृका-वर्णात्मक है। प्रत्येक दलमें अवज्ञा, मूर्च्छा, प्रश्रय, अविश्वास, सर्वनाश और क्रूरता—ये छ: वृत्तियाँ भरी हैं। इसकी कर्णिकामें श्वेतवर्ण अर्द्धचन्द्राकार 'वरुणमण्डल' है। इसके बीचमें श्वेतवर्ण वरुणबीज 'वं' है, उसके बीचमें वरुणबीजके प्रतिपाद्य श्वेतवर्ण द्विभुज वरुण देवता मकरपर अधिष्ठित हैं। उनकी गोदमें जगत्का पालन करनेवाले नव-यौवनसम्पन्न हरि विराज रहे हैं। उनके चार भुजाएँ हैं,

जिनमें वे शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुए हैं। वक्ष:स्थलमें श्रीवत्स-कौस्तुभ सुशोभित हैं एवं पीताम्बर पहने हुए हैं। इनकी गोदमें दिव्यवस्त्र और आभरणोंसे भूषिता चतुर्भुजा गौरवर्णा राकिनी नाम्नी इनकी शक्ति विराज रही है।

इस पद्मका ध्यान करनेसे भक्ति, आरोग्य और प्रभुत्वादिकी सिद्धि मिलती है।

पूर्वोक्त क्रियासे मूलाधारपद्मको त्यागकर कुण्डलिनीके स्वाधिष्ठानपद्ममें पहुँचते ही वह अपना पूर्वमुख मणिपूरचक्रमें चढ़ा लेती है। और पश्चिम मुखसे स्वाधिष्ठानपद्मस्थित हरि और राकिनी शक्ति, पद्मपत्रस्थित देवता, बं, भं, मं, यं, रं, लं—ये छ: मातृकावर्ण एवं प्रश्रय, अविश्वास, अवज्ञा, मूर्च्छा, सर्वनाश और क्रूरता—इन छहों वृत्तियोंका ग्रास कर लेती है। पूर्वोक्त पृथ्वीबीज 'लं' जलमें लय हो जाता है। और जल भी 'वं' बीजमें लीन होकर कुण्डलिनीके मुखमें अवस्थान करने लगता है। फिर वह अपने पश्चिममुखको भी मणिपूरचक्रमें चढ़ा लेती है। इन सब प्रणालियोंका भावनाद्वारा अभ्यास होनेपर जब कुण्डलिनी उठने लगेगी, तब साधक इनका स्पष्टतया अनुभव कर सकेंगे एवं प्रत्यक्ष (मानस-नेत्रसे) भी कर सकेंगे। क्योंकि कुण्डलिनी जहाँतक पहुँचेगी, वहाँतक मेरुदण्डके अंदर चींटी चढ़नेकी भाँति 'सर्र सर्र' होने लगेगा, शरीरपर रोमाञ्च होगा एवं साधक अपने मनमें अपार आनन्द प्राप्त करेंगे।

स्वाधिष्ठानपद्म भुवर्लोक है। मृत्युके बाद जीव स्थूल शरीरको त्यागकर कर्म-फलानुसार निर्दिष्ट समयके लिये इस भुवर्लोकमें अवस्थान करता है। कुण्डलिनीके स्वाधिष्ठानचक्रमें चढ़नेपर स्वाधिष्ठानकमलके प्रस्फुटित होनेके साथ ही साधक भुवर्लोकका ज्ञाता हो जाता है, फिर वह भुवर्लोकके साथ ही बहुत ही आसानीसे अशरीरी जीवोंके दर्शन तथा उनके साथ बातचीत भी कर सकता है।

जलौका (जोंक) जैसे एक तृणसे दूसरे तृणपर जाते समय एक मुखसे अगले तृणको पकड़कर फिर दूसरे मुखको वहाँ पहुँचा देती है, वैसे ही कुण्डलिनी शक्ति एक चक्रसे दूसरे चक्रमें पहुँचते समय पूर्वमुखको उठाकर ऊपरके चक्रको पकड़ लेती है एवं पश्चिममुखसे उस चक्रके सारे तत्त्वोंको ग्रहण करके उस तत्त्वके प्रतिपाद्य मन्त्रको मुँहमें लेकर फिर पश्चिममुखको उठाकर ऊपरके चक्रपर पहुँच जाती है। अब तृतीय चक्र—

मणिपूर

—की बात सुनिये। नाभिदेशमें तृतीय पद्म मणिपूर अवस्थित है। यह मेघवर्ण दश दलयुक्त है। दस दल—ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ—दशमातृका-वर्णात्मक हैं। इसके दसों वर्ण नीले हैं। प्रत्येक दलमें लज्जा, पिशुनता, ईर्ष्या, सुषुप्ति, विषाद, कषाय, तृष्णा, मोह, घृणा और भय—ये दस वृत्तियाँ हैं। मणिपूरपद्मकी कर्णिकाके बीच रक्तवर्ण त्रिकोण वह्निमण्डल है। उसके बीचमें वह्निबीज 'रं' है। यह भी रक्तवर्ण है। इस वह्निबीजके बीचमें उसके प्रतिपाद्य चार हाथवाले रक्तवर्ण अग्निदेव मेघारोहण कर अधिष्ठित हैं। उनकी गोदमें जगत्का नाश करनेवाले भस्म-भूषित सिन्दूरवर्ण रुद्र व्याघ्रचर्मके आसनपर बैठे हैं। उनके दो हाथ हैं। इन दोनों हाथोंमें वर और अभयमुद्रा शोभा पा रही हैं। उनके तीन आँखें हैं और वे व्याघ्रवर्ण चर्म पहने हुए हैं। उनकी गोदमें पीतवसनपरिधाना, नानालङ्कारभूषिता चतुर्भुजा, सिन्दूरवर्णा, 'लाकिनी' नाम्नी उनकी शक्ति विराज रही है।

इस पद्मका ध्यान करनेसे आरोग्य-ऐश्वर्यादि मिलते हैं एवं जगत्के नाशादि करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है।

पूर्वोक्त क्रियासे स्वाधिष्ठानपद्मको त्यागकर कुण्डलिनीके मणिपूरपद्मपर पहुँचते ही वह अपना पूर्वमुख अनाहतचक्रमें चढ़ा लेती है और पश्चिममुखसे मणिपूरचक्रस्थित रुद्र और लाकिनी शक्ति, पद्मपत्रस्थित देवतागण, डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं, नं, पं, फं—दस मातृकावर्ण एवं लज्जा, पिशुनता, ईर्ष्या, सुषुप्ति, विषाद, कषाय, तृष्णा, मोह, घृणा और भय—इन दसों वृत्तियोंको ग्रास कर लेती है। पूर्वोक्त 'वं' बीज अग्निमण्डलमें लय हो जाता है एवं अग्नि भी 'रं' बीजमें परिणत होकर कुण्डलिनीके मुँहपर अवस्थान करती है। फिर वह पश्चिममुखको भी क्रमश: जलौकाकी भाँति अनाहत-चक्रमें उठा लेती है। मणिपूरचक्रको 'ब्रह्मग्रन्थि' कहते हैं। इस ब्रह्मग्रन्थिके भेदके समय साधकके मेरुदण्डके भीतर 'चिन्-चिन्'-जैसे विषम दर्दका अनुभव होता है। इस समय साधकको उदर-रोग हो सकता है एवं उसका शरीर अति कृश और दुर्बल हो जाता है।

मणिपूरचक्र स्वर्लोक है। स्व: यानी स्वर्ग देवताओंका निवासस्थान है। मणिपूरचक्रमें कुण्डलिनीके चढ़ जानेसे मणिपूर-कमलके प्रस्फुटित होनेके साथ ही साधक स्वर्ग-

लोकका ज्ञाता हो जाता है। और वह बड़ी आसानीसे स्वर्गलोकस्थित देव-देवियोंके दर्शन तथा उनके साथ वार्तालाप कर सकता है।

स्वर्गलोकतक यानी मणिपूरचक्रतक कुण्डलिनीके चढ़ जानेपर भी यदि साधकका शरीर किसी भी कारणवश छूट जाय, तो उसको फिर मर्त्यलोक—मातृगर्भमें प्रवेश करना पड़ता है, माध्याकर्षणसे खिंचे हुएकी भाँति उसको फिर पृथ्वीतलपर आना ही पड़ता है। क्योंकि मणिपूर कमलतक आवागमनका स्थान है। मणिपूरतक योगीके योगभ्रष्ट होनेकी सम्भावना रहती है। परन्तु योगभ्रष्ट होनेपर भी साधारण जीवकी भाँति उसे कोई चिन्ता करनेकी जरूरत नहीं है। क्योंकि भगवान् स्वयं अपने श्रीमुखसे कहते हैं—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥

(गीता ६। ४०—४३)

अतएव योगभ्रष्ट साधकको किसी भी कारणसे चिन्ता नहीं करनी चाहिये।

स्वर्गलोक देव-देवियोंका निवासस्थान होनेपर भी वहाँके लोग मुक्त नहीं हैं। मुक्ति-लाभके लिये उन्हें भी फिर मानव-जीवन ग्रहण करके साधना करनी पड़ती है। इसलिये कुण्डलिनीके अनाहतचक्रतक न पहुँचनेसे पूर्व साधकको आवागमनके हाथसे छुटकारा नहीं मिलता। अनाहतचक्रतक पहुँचनेके बाद यदि साधकका शरीर-त्याग हो जाय, तो उसको फिर मातृगर्भमें प्रवेश नहीं करना पड़ता। वह क्रमोन्नतिके मार्गसे स्वभावत: ही ऊर्ध्वगमन करता है। उसे माध्याकर्षणके बाहर समझना चाहिये। वर्तमान समयके विज्ञानविद् लोग मङ्गलादि ग्रहमें प्रवेश करनेके लिये नाना प्रकारकी चेष्टा कर रहे हैं; इस कारण वे किसी ऐसे यन्त्रका आविष्कार करनेमें लगे हैं, जिससे माध्याकर्षण-शक्तिके बाहर पहुँचते ही मङ्गल ग्रहादिके आकर्षणसे वहाँ पहुँचकर उसका तत्त्व जान सकें। यह सम्भव होनेपर भी उन्हें और भी गम्भीरभावसे इस बातपर विचार करना चाहिये कि कदाचित् वे मङ्गल ग्रहादिमें यन्त्रकी सहायतासे पहुँच भी जायँ, तो वहाँका तत्त्वज्ञान प्राप्त करके वे पृथ्वीपर फिर कैसे लौट सकेंगे। ठीक इसी प्रकार आवागमनके हाथसे छुटकारा मिलनेपर यानी अनाहतचक्रतक पहुँच जानेपर साधकका शरीर छूटनेसे मङ्गल ग्रहादिके आकर्षणकी भाँति श्रीश्रीसद्गुरु तथा जगद्गुरुके विशेष आकर्षणसे साधक क्रमोन्नतिके पथपर क्रमशः उन्नति करता रहता है। फिर उसके पतनकी सम्भावना नहीं रहती। परन्तु इसमें सुदीर्घ समयकी अपेक्षा है, क्योंकि एक-एक लोकमें उसे कितने ही वर्षोंतक निवास करना पड़ता है। दूसरी ओर साधकका शरीरत्याग न हो, तो वह (जिसकी कुण्डलिनी अनाहततक पहुँच गयी है) आसानीसे इसी जन्ममें परामुक्ति या पराभक्तिका अधिकारी बन सकता है। अस्तु! अब—

अनाहत-चक्र

—का वर्णन पढ़िये। हृदयमें कुन्दके पुष्पसदृश वर्ण-विशिष्ट द्वादशदलयुक्त (बारह पंखुड़ियोंवाला) चतुर्थ पद्म अनाहत है। द्वादश दल—कं, खं, गं, घं, ङं, चं, छं, जं, झं, ञं, टं, ठं—द्वादशमातृका-वर्णात्मक हैं। इन वर्णोंका रंग सिन्दूरका-सा है। प्रत्येक दलमें आशा, चिन्ता, चेष्टा, ममता (मेरापन), दम्भ, विकलता, विवेक, अहङ्कार, लोलुपता, कपट, वितर्क और अनुताप—ये बारह वृत्तियाँ हैं। इस पद्मकी कर्णिकाके भीतर अरुणवर्ण सूर्यमण्डल एवं धूम्रवर्ण षट्कोण वायुमण्डल है। इसके एक बगलमें धूम्रवर्ण वायुबीज 'यं' है। इस वायुबीजके बीचमें उसके प्रतिपाद्य धूम्रवर्ण, चतुर्भुज वायुदेव कृष्णसार (काले हरिण)-पर अधिरोहण कर अधिष्ठित हैं। इनकी गोदमें वराभयलसिता, त्रिनेता, सर्वालङ्कारभूषिता, मुण्डमालाधरा, पीतवर्णा राकिनी नाम्नी उनकी शक्ति विराजिता हैं। इस अनाहतपद्मके बीचमें बाणलिङ्ग शिव और जीवात्मा विराजित हैं।

इस पद्मके त्रिकोण पीठपर वायुबीज 'यं' विराजित है। इस वायुमण्डलके बीचमें कामकलारूप तेजोमय और रक्तवर्ण पीठपर कोटि विद्युत्सदृश भास्कर सुवर्णवर्ण बाणलिङ्ग शिव विराजित हैं। इनके मस्तकपर श्वेतवर्ण तेजोमय अतिसूक्ष्म एक मणि है; उसमें निर्वात दीपकलिकाकी भाँति (वायुरहित स्थानमें स्थित स्थिर दीपककी भाँति) हंस-बीजप्रतिपाद्य विशेष ज्योति है। यह ज्योति ही जीवात्मा है। 'अहं' भावका

आश्रय करके यही जीवात्मा मानवदेहमें अवस्थान कर रहा है। हम जो मायासे मोहित और शोकसे कातर होते हैं, एवं सब तरहसे सुख-दु:खादि फल भोगते हैं, यह सब वस्तुत: हमारा, सबका हृदयस्थ वह जीवात्मा ही भोग करता है। अनाहतपद्ममें जीवात्मा रात-दिन साधन या योग अथवा ईश्वरचिन्तन करता रहता है। यथा—

सोऽहं हंसः पदेनैव जीवो जपति सर्वदा।

'हंस:'के उल्टे 'सोऽहं'का जाप जीव सर्वदा करता रहता है। श्वास-प्रश्वासमें 'हंस:' उच्चारित होता है। श्वास-वायुको छोड़ते समय 'हं' एवं ग्रहण करते समय 'स:'—ये ही शब्द उच्चारित होते हैं। 'हं' शिवस्वरूप और 'स:' शक्तिस्वरूपा है। यथा—

हंकारो निर्गमे प्रोक्तः सकारस्तु प्रवेशने।
हंकारः शिवरूपेण सकारः शक्तिरुच्यते॥

(स्वरोदयशास्त्र ११। ७)

अन्यत्र भूतशुद्धिपर शास्त्रमें भी लिखा है कि 'हंस इति जीवात्मानम्।' अर्थात् हंस ही जीवात्मा है।

इस अनाहतपद्मका ध्यान करनेसे अणिमा-लघिमा आदि अष्ट सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है।

इस अनाहतचक्रके विषयमें इससे पहले मणिपूरचक्रके प्रसङ्गमें संक्षेपसे कुछ कहा जा चुका है। साधक-सम्प्रदाय इस अनाहतचक्र अर्थात् हृत्-चक्रपर अपने इष्टदेवताकी प्रतिष्ठा करके उसका पूजन-ध्यान किया करते हैं। नादानुसन्धान करनेवाले साधक इस अनाहत-कमलमें ही अनाहत ध्वनिका श्रवण कर अपार्थिव आनन्दका उपभोग करते हैं। शास्त्रमें कहा है—'हृत्पङ्कजस्थ अनाहत-कमलमें यह नाद स्वत: ही ध्वनित हो रहा है।' यह ध्वनि अन्+आहत अर्थात् बिना आघात (चोट)-के होती है, इसीलिये हृदयस्थ जीवाधार पद्मका नाम अनाहत पड़ा है।

पूर्वोक्त क्रियासे कुण्डलिनी अनाहतचक्रमें पहुँचकर अपने पूर्वमुखको विशुद्धचक्रमें चढ़ा देती है एवं दूसरे मुखसे अनाहतचक्रस्थित देव-देवी, कं, खं, गं, घं, ङं; चं, छं, जं, झं, ञं, टं, ठं—द्वादश मातृकावर्ण एवं आशा, चिन्ता, चेष्टा, ममता, दम्भ, विकलता, विवेक, अहङ्कार, लोलुपता, कपट, वितर्क और अनुताप—इन द्वादश वृत्तियोंको ग्रास कर लेती है। पूर्वोक्त 'रं' बीज वायुमण्डलमें लीन हो जाता है एवं वायु भी 'यं' बीजमें परिणत होकर कुण्डलिनीके मुखमें अवस्थान करती है। तब वह इस मुखको भी विशुद्धचक्रमें चढ़ा लेती है। इस चक्रको विष्णुग्रन्थि कहते हैं; कुण्डलिनीके इस चक्रका त्याग करनेसे विष्णुग्रन्थिका भेद हो जाता है।

अनाहतचक्र 'मह:' लोक है। इस चक्रमें कुण्डलिनीके विराजते समय साधकको 'महर्लोक' का सर्वज्ञान अपने-आप ही हो जाता है। यहाँ आवागमनसे छुटकारा मिल जाता है, अतएव इस अवस्थामें साधकका शरीरत्याग होनेसे वह सूक्ष्मशरीरसे क्रमोन्नतिके पथपर गमन करता है। अब पञ्चम—

विशुद्ध-चक्र

—की बात सुनिये। कण्ठदेशमें धूम्रवर्ण षोडशदलविशिष्ट विशुद्ध-चक्र अवस्थित है। षोडश दल अं, आं, इं, ईं, उं, ऊं, ऋं, ॠं, लृं, लॄं, एं, ऐं, ओं, औं, अं, अ:—षोडशमातृका-वर्णात्मक हैं। इन वर्णोंका रंग तीसीके पुष्प-जैसा नीला होता है। प्रत्येक दलमें षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, धैवत, पञ्चम और निषाद—ये सप्त स्वर और 'हुम्', 'फट्', 'वौषट्', 'वषट्', 'स्वधा', 'स्वाहा', 'नम:', 'विष' और 'अमृत' प्रभृति विद्यमान हैं। इस पद्मकी कर्णिकामें श्वेतवर्ण चन्द्रमण्डलके बीच स्फटिकके समान वर्णवाला 'हं' बीज है। उसके बीच 'हं' बीजके प्रतिपाद्य आकाश-देवता श्वेत हाथीपर सवार हैं। उनके चार हाथ हैं; चारों हाथोंमें पाश, अङ्कुश, वर और अभय शोभा पा रहे हैं। उस आकाशदेवताकी गोदमें त्रिलोचनान्वित (तीन आँखोंवाले), पञ्चमुखलसित (पाँच मुँहवाले), दशभुज, सदसत् कर्म-नियोजक (भले-बुरे काममें लगानेवाले), व्याघ्रचर्मके पहननेवाले सदाशिव विराजमान हैं। उनकी गोदमें शर, चाप, पाश और शूलयुक्ता, चतुर्भुजा, पीतवसना, रक्तवर्णा शाकिनी नाम्नी उनकी शक्ति अर्द्धाङ्गिनीरूपमें विराजती हैं। इन अर्द्धनारीश्वर शिवके पास सभीके बीजमन्त्र या मूलमन्त्र विद्यमान हैं।

इस विशुद्ध-पद्मका ध्यान करनेपर साधक जरा और मृत्युके पाशसे मुक्त होकर सब भोगादिको प्राप्त करता है।

पूर्वोक्त क्रियासे कुण्डलिनी विशुद्धपद्ममें पहुँचकर अपने पूर्वमुखको आज्ञापद्म नामक चक्रमें चढ़ा लेती है और दूसरे मुखसे विशुद्धपद्मस्थित अर्द्धनारीश्वर शिव, शाकिनीशक्ति, पद्मपत्रस्थित समस्त देव-देवी, अं, आं, इं, ईं, उं, ऊं, ऋं, ॠं, लृं, लॄं, एं, ऐं, ओं, औं, अं, अ:—

ये षोडश मातृकावर्ण एवं षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद—ये सप्त स्वर तथा हुम्, फट्, वौषट्, वषट्, स्वधा, स्वाहा, नमः, विष, अमृत प्रभृतिको ग्रास कर लेती है। पूर्वोक्त वायुबीज 'यं' आकाशमण्डलमें लीन हो जाता है और आकाश भी 'हं' बीजमें परिणत होकर कुण्डलिनीके मुखमें अवस्थान करता है, फिर क्रमशः वह इस मुखको भी ललना-चक्रमें चढ़ा लेती है।

विशुद्ध-चक्र 'जन' लोक है। कुण्डलिनी-शक्तिके इस चक्रपर विराजते समय साधक जनलोकके सम्बन्धमें सम्यक् रूपसे ज्ञान-लाभ कर लेता है। अब छठे—

आज्ञा-चक्र

—की बात सुनिये। दोनों भौंहोंके बीच श्वेतवर्ण द्विदल-विशिष्ट आज्ञा-पद्म विद्यमान है। वे दो दल 'हं' और 'क्षं' हैं। इस पद्मकी कर्णिकाके भीतर शरत्कालीन चन्द्रमाके सदृश निर्मल श्वेतवर्ण त्रिकोणमण्डल है। त्रिकोणके तीनों कोणोंमें सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण एवं तीनों गुणोंवाले ब्रह्मा, विष्णु और शिव—ये तीन देवता विराज रहे हैं। त्रिकोणमण्डलके बीचमें शुक्लवर्ण चन्द्रबीज 'हं' दीप्तिमान् है। त्रिकोणमण्डलके एक बगलमें श्वेतवर्ण बिन्दु है। उसके बगलमें चन्द्रबीजके प्रतिपाद्य वर और अभयसे सुशोभित द्विभुज देवविशेषकी गोदमें जगन्निधानस्वरूप श्वेतवर्ण, द्विभुज, त्रिनेत्र ज्ञानदाता शिव विराजित हैं। उनकी गोदमें चन्द्रमाकी भाँति श्वेतवर्णा, षड्वदना (छः मुँहवाली), विद्या, मुद्रा, कपाल, डमरू, जपमालिका, वर, अभय, शर, चाप, अङ्कुश, पाश, पङ्कजसे विभूषित द्वादशभुजा हाकिनी नाम्नी तत्-शक्ति विराजती हैं।

आज्ञा-चक्रके ऊपर इडा, पिङ्गला और सुषुम्णा—इन तीनों नाड़ियोंके मिलनेका स्थान है। इस स्थानका नाम त्रिकूट या त्रिवेणी है। इस त्रिवेणीके ऊपर सुषुम्णाके मुँहसे नीचे अर्द्धचन्द्राकार मण्डल विद्यमान है। अर्द्धचन्द्रके ऊपर तेजःपुञ्जस्वरूप एक बिन्दु है। इस बिन्दुके ऊपर उच्च-नीच भावसे दण्डाकार नाद विद्यमान है। यह नाद देखनेमें ठीक एक तेजोरेखाके समान है। इसके ऊपर श्वेतवर्ण एक त्रिकोणमण्डल है। उसके बीचमें शक्तिरूप शिवाकार हकारार्द्ध है। इस स्थानमें वायुक्रियाका अन्त हो गया है। इसकी चर्चा आगे चलकर की जायगी। इस स्थानका नाम निरालम्बपुरी है।

इस आज्ञापद्मका एक दूसरा नाम ज्ञान-पद्म है। इसके परमात्मा अधिष्ठाता हैं एवं इच्छा उनकी शक्ति हैं। यहाँ प्रदीप्त शिखारूपिणी आत्मज्योति सुन्दर पीले स्वर्णरेणुकी भाँति विराजमान है। इस स्थानमें जो ज्योतिका दर्शन होता है, वही साधकका आत्मप्रतिबिम्ब है।

इस पद्मके ध्यानद्वारा दिव्यज्योतिके दर्शन पानेपर योगका चरम फल अर्थात् निर्वाण प्राप्त हो जाता है।

उसके बाद कुण्डलिनी आज्ञापद्ममें पहुँचकर आज्ञापद्मस्थ शिव, शक्ति और हं, क्षं, ये दो मातृकावर्ण, सत्त्व, रज और तम—तीनों गुण तथा ब्रह्मा, विष्णु, शिव प्रभृतिके साथ सबका ग्रास कर लेती है। पूर्वोक्त आकाशबीज 'हं' के मनश्चक्रमें लय होनेपर मन तथा मनश्चक्रस्थ शिव भी कुण्डलिनीके शरीरमें लीन हो जाते हैं। इस पद्मका नाम रुद्र-ग्रन्थि है। इस ग्रन्थिका भेद होनेसे साधक हृष्टपुष्ट, बलिष्ठ तथा तेजःपुञ्ज हो जाता है। शरीर भी रोगशून्य हो जाता है।

इसके बाद सप्तम चक्र, जो प्रायः जनसाधारणको अज्ञात है, वह—

ललना-चक्र

—तालुके मूलमें स्थित है। वह रक्तवर्ण चौंसठ दलवाला है। इस चक्रमें अहंतत्त्वका स्थान है। यहाँ श्रद्धा, सन्तोष, स्नेह, दम, मान, अपराध, शोक, खेद, अरति, सम्भ्रम, ऊर्मि और शुद्धता—ये बारह वृत्तियाँ एवं अमृतस्थाली विद्यमान हैं।

इस पद्मका ध्यान करनेसे उन्माद (पागलपन), ज्वर, पित्तादिजनित दाह, शूलादि वेदना, शिरःपीडा और शरीरकी जडता मिट जाती है।

कुण्डलिनीके विशुद्ध-चक्रमें विराजते समय वह अपना एक मुख ललना-चक्रमें चढ़ा देती है एवं दूसरे मुखसे विशुद्ध-चक्रका सब कुछ ग्रासकर उस मुखको भी ललनाचक्रमें उठा लेती है। इस समय कुण्डलिनी सर्पाकार न रहकर प्रखर ज्योतिसे पूर्ण बन जाती है। इसके बाद वह ज्योतिरूपसे ही ऊर्ध्वगमन करती है।

जिस निरालम्बपुरीकी बात अभी कही जा चुकी है, उसका पूरा वर्णन इस प्रकार है—

निरालम्बपुरी

—भौतिक शरीरमें शब्द-ब्रह्मरूप तथा वर्णब्रह्मरूप दो

ओङ्कार विद्यमान हैं। अनाहतकमलस्थ 'सोऽहं' यानी हंस ही शब्दब्रह्मरूप ओङ्कार है एवं आज्ञाचक्रके ऊपर ललनाचक्रके बाद निरालम्बपुरीमें वर्णब्रह्मरूप ओङ्कार विराजमान है। जहाँ सुषुम्णा-नाडीका अन्त होकर शङ्खिनी-नाडीका आरम्भ होता है, उसी स्थानको निरालम्बपुरी कहते हैं। वही तेजोमय तारकब्रह्मका स्थान है। इसी स्थानमें ब्रह्म-नाडीके आश्रित तारक-बीज (प्रणव) ओङ्कार वर्तमान है। यही प्रणव वेदका प्रतिपाद्य ब्रह्मरूप एवं शिव-शक्ति-योगसे प्रणवरूप है। शिव-शब्दमें हकार और उसका आकार गजकुम्भ-जैसा (अर्थात् ओकार) है। ओकार-रूप पलँगपर नादरूपिणी देवी हैं; उनके ऊपर बिन्दुरूप परमशिव विद्यमान हैं। ऐसा होनेसे ही (ॐ) ओङ्कार हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि शिव-शक्ति या प्रकृति-पुरुषके संयोगसे ही ओङ्कार बना है।

साधक यथाविधि योगानुष्ठानद्वारा षट्चक्र भेदकर ब्रह्मनाडीकी सहायतासे इस निरालम्बपुरीमें पहुँचनेपर महाज्योतिरूप ब्रह्म ओङ्कारका अथवा अपने इष्टदेवताका दर्शन कर सकता है तथा प्रकृत निर्वाणपदको प्राप्त होता है। समस्त देव-देवियोंके बीजस्वरूप वेदप्रतिपाद्य ब्रह्मरूप प्रणवतत्त्वको जानकर साधन करनेसे साधक इस तारक-ब्रह्मके स्थानपर ज्योतिर्मय देव-देवियोंका साक्षात् लाभ कर सकता है।

ओङ्कार केवल प्रणवका दूसरा नाममात्र है। ओङ्कारके तीन रूप हैं—श्वेत, पीत और रक्त। अ, उ, म् के मिलनसे प्रणव बनता है एवं ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर इस प्रणवमें प्रतिष्ठित हैं। अकार ब्रह्मा, उकार विष्णु और मकार महेश्वर हैं। अतएव प्रणवमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर—ये तीनों देवता; इच्छा, क्रिया और ज्ञान—ये तीनों शक्तियाँ एवं सत्त्व, रज और तम—तीनों गुण प्रतिष्ठित हैं। इसीलिये इसको त्रयी कहते हैं। शास्त्रमें लिखा है कि त्रयी—अकार, उकार और मकारविशिष्ट शब्द, प्रणवधर्म सदा फल देता है—'त्रयीधर्मः सदाफलः'। जो तीन प्रणवयुक्त गायत्रीका जप करता है, वह परमपदको प्राप्त होता है। इष्टमन्त्रके आदि और अन्तमें प्रणवद्वारा सेतुबन्धन कर जप न करनेसे इष्टमन्त्रका जप निष्फल हो जाता है। प्रणवका यही अकार नादरूप, उकार बिन्दुरूप, मकार कलारूप और ओङ्कार ज्योतिरूप है। साधकगण साधनाके समय पहले नादको सुनकर नादलुब्ध, फिर बिन्दुलुब्ध, तदनन्तर कलालुब्ध होकर अन्तमें ज्योतिर्दर्शन करते हैं। अस्तु—

तितिक्षा-शक्ति-सम्पन्न, कठोर संयमी साधक विधिवत् साधनाओंके द्वारा स्वयं ही कुण्डलिनीको चैतन्य करके आज्ञाचक्रतक पहुँच सकता है। किन्तु आज्ञाचक्रके ऊपर ललनाचक्रमें जब कुण्डलिनी ज्योतिरूपा हो जाती है, एवं वहाँ निरालम्बपुरी होनेके कारण साधक पुरुषार्थके बलसे उसके आगे बढ़ नहीं सकता, उस समय गुरु-कृपाकी विशेष आवश्यकता होती है। यों तो गुरुके बिना किसी भी साधकको निरापद तथा यथार्थ मार्ग नहीं मिलता, तथापि 'अहम्' भावापन्न नास्तिक मनुष्य भी कदाचित् पुरुषार्थकी सहायता लेकर साधना शुरू कर सकता है और विधिवत् साधना करके आज्ञाचक्रतक पहुँच भी जा सकता है। परन्तु इसके आगे तो गुरु-कृपाके बिना पुरुषार्थ सर्वथा असमर्थ हो जाता है। अब—

गुरु-चक्र

—का वर्णन सुनिये। ब्रह्मरन्ध्रमें श्वेतवर्ण शतदलवाला अष्टमपद्म गुरु-चक्र अवस्थित है। इस पद्मकी कर्णिकामें त्रिकोण-मण्डल विद्यमान है। इस त्रिकोण-मण्डलके तीनों कोणोंमें यथाक्रम ह, ल, क्ष—ये तीन वर्ण हैं। इसके सिवा तीनों ओर समस्त मातृकावर्ण विद्यमान हैं। इसी त्रिकोण-मण्डलको योनिपीठ और शक्तिमण्डल भी कहते हैं। इस शक्तिमण्डलके बीचमें तेजोमय कामकला-मूर्त्ति विद्यमान है। मस्तकमें एक तेजोमय बिन्दु है। उसके ऊपर दण्डाकार तेजोमय नाद विद्यमान है।

इस नादके ऊपर निर्धूम अग्नि-शिखाकी भाँति तेजका पुञ्ज विद्यमान है। उसके ऊपर हंस-पक्षीकी पाँखों-जैसा तेजोमय पीठ है। उसके ऊपर एक श्वेत हंस विराजमान है। इस हंसका शरीर ज्ञानमय है और उसके दोनों पक्ष (बाहु) आगम और निगम हैं। उसके दोनों चरण शिवशक्तिमय, चोंच प्रणवस्वरूप एवं आँख और कण्ठ कामकलारूप हैं। यह हंस ही गुरुदेवके पादपीठस्वरूप है।

इस हंसके ऊपर श्वेतवर्ण वाग्भव बीज (गुरु-बीज) 'ऐं' विद्यमान है। उसके बगलमें अपने बीज-प्रतिपाद्य गुरुदेव विराज रहे हैं। उनका वर्ण श्वेत एवं कोटिसूर्यकी भाँति तेजःपुञ्जस्वरूप है। उनके दो हाथ हैं—एक हाथमें वर और दूसरे हाथमें अभयमुद्रा शोभा पा रही है। वे श्वेतमाला और श्वेतगन्ध (चन्दन) धारण किये हुए हैं एवं श्वेतवस्त्र पहनकर हास्ययुक्त मुखसे अपनी करुण-दृष्टिके द्वारा कृपाका अमृत बरसा

रहे हैं। उनकी बायीं ओरकी गोदमें रक्तवर्ण वस्त्र धारण किये सर्व-भूषण-भूषिता, तरुण-अरुण-सदृशा, रक्तवर्णा गुरुपत्नी विराज रही हैं। उनके बायें हाथमें एक कमल है, एवं दाहिने हाथसे श्रीगुरुदेवके शरीरको लपेटकर बैठी हैं। श्रीगुरु और गुरुपत्नीके मस्तकके ऊपर सहस्रदल-पद्म छत्रीकी भाँति शोभा पा रहा है।

इस सहस्रदल-पद्ममें हंसपीठके ऊपर गुरुपादुका एवं सभीके गुरु विराजमान हैं। यही अखण्डमण्डलाकार चराचरमें व्याप्त हैं। इसी पद्ममें ऊपर लिखे प्रकारसे सपत्नीक गुरुदेवका ध्यान करना पड़ता है।

इस सहस्रदल-पद्मका ध्यान करनेसे समस्त सिद्धियाँ और दिव्यज्ञानका प्रकाश प्राप्त होता है।

इसके बाद कुण्डलिनी ललनाचक्र तथा सोमचक्र (गुप्तचक्र)-के भीतरसे ऊपर चढ़ जायगी एवं सुषुम्णाके मुखके नीचे द्वारस्वरूप अर्द्धचन्द्राकार मण्डलका भेद करके जितना ही ऊपरकी ओर गमन करेगी, उतना ही क्रमशः नाद, बिन्दु, हकारार्द्ध, निरालम्बपुटी प्रभृतिका ग्रास कर डालेगी अर्थात् ये सब कुण्डलिनीके अंदर लय हो जायँगे। इस अर्द्धचन्द्राकार द्वार (कपाट)-का भेद होते ही कुण्डलिनी स्वयं उत्थित होकर सहस्रदलकमलमें पहुँचकर परमपुरुषके साथ संयुक्त हो जायगी। यहींपर—

सहस्रदल

—कमलका वर्णन करना चाहिये। सहस्रदलकमल इस प्रकार है—

ब्रह्मरन्ध्रके ऊपर महाशून्यमें रक्तकिञ्जल्क (केसररेणु) श्वेतवर्ण सहस्रदलविशिष्ट नवम चक्र सहस्रार अवस्थित है। सहस्रदलकमलके चारों ओर पचास दल हैं एवं लगातार एक दूसरेपर बीस स्तरोंमें सजे हैं। प्रत्येक स्तरके पचास दलोंमें पचास मातृकावर्ण विद्यमान हैं।

सहस्रदलकमलकी कर्णिकाके भीतर त्रिकोण चन्द्रमण्डल विद्यमान है। उसीका दूसरा नाम शक्तिमण्डल है। इस शक्तिमण्डलके तीनों कोणोंपर यथाक्रमसे 'हं', 'लं', 'क्षं'—ये तीन वर्ण एवं तीनों ओर सब स्वर तथा व्यञ्जन वर्ण सन्निविष्ट हैं।

इस शक्तिमण्डलके बीचमें तेजोमय विसर्गके आकारसे मण्डल-विशेष है। उसके ऊपर मध्याह्नके कोटि-सूर्यस्वरूप तेजःपुञ्ज एक बिन्दु है। वह विशुद्ध स्फटिककी भाँति श्वेतवर्ण है। यह बिन्दु ही परमशिव नामक जगत्के उत्पादक, पालक और नाशकारक परमेश्वर हैं। यही अज्ञानके अन्धकारको नाश करनेवाले सूर्यस्वरूप परमात्मा हैं। इन्हींका भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंने भिन्न-भिन्न नामोंसे निर्देश किया है। साधनके बलसे इस बिन्दुको प्रत्यक्ष करनेका नाम ही ब्रह्म-साक्षात्कार है।

परमशिवस्वरूप यही बिन्दु सर्वदा द्रवित सुधाके समान है। इसके बीचमें सारी सुधाकी आधार गोमूत्र-वर्ण अमा नामकी कला है। यही आनन्द-भैरवी है। इसमें अर्द्ध-चन्द्राकार निर्वाणकामकला है। यह निर्वाणकामकला ही सबकी इष्टदेवता है। उसके बीचमें तेजोरूप परम निर्वाण शक्ति शोभित है—इसके आगे नि-रा-का-र-म-हा-शू-न्य है।

इस सहस्रदलकमलमें कल्पवृक्ष है। उसकी जड़में चार दरवाजेवाला ज्योतिर्मन्दिर है, उसके बीचमें पञ्चदश अक्षरात्मिका वेदिका है। उसके ऊपर रत्नके सिंहासनमें चणकाकार (चनेके आकारवाले) महाकाली और महारुद्र विराजित हैं। वे महाज्योतिर्मय हैं। इन्हींको 'चिन्तामणिके घरमें मायासे आच्छादित परमात्मा' कहते हैं।

इस सहस्रदलकमलका ध्यान करनेसे जगदीश्वरत्व प्राप्त होता है।

कुछ ही पहले यह कहा गया है कि कुण्डलिनी सहस्रारमें पहुँचकर परमपुरुषके साथ संयुक्त हो जाती है। आद्याशक्ति कुण्डलिनी इस प्रकार स्थूल भूतसे प्रकृतितक चौबीस तत्त्वोंका ग्रास कर शिरःस्थित सहस्रारमें चढ़कर परमपुरुषके साथ संयुक्त और एकीभूत होती है। उस समय प्रकृति-पुरुषके सामरस्यसम्भूत अमृत-धाराद्वारा क्षुद्र ब्रह्माण्डरूप शरीर प्लावित होता रहता है। उस समय साधक समस्त जगत्को भूलकर बाह्यज्ञानशून्य होकर एक अनिर्वचनीय अभूतपूर्व अपार आनन्दमें निमग्न हो जाता है। उस आनन्दको लेखनीकी सहायतासे प्रकट करना असम्भव है। वह आनन्द अनुभवके बिना वाणीसे कभी समझा-समझाया नहीं जा सकता। इस अव्यक्त अपूर्व भावको व्यक्त करनेके लिये भाषा है ही नहीं। यह अनिर्देश्य आनन्द अनिर्वचनीय, अवर्णनीय अलेखनीय है।

सहस्रदल-पद्ममें कुण्डलिनीको महान् तेजोमयी अमृता-नन्द-मूर्त्ति देखना चाहिये। उसके बाद सुधा-समुद्रमें निमज्जित और रसाप्लुत होकर कुण्डलिनीको परमशिवके साथ सामरस्य

सम्भोग कराकर फिर उसे यथास्थान लाना पड़ेगा। इस समय उसको अमृत-धारासे प्लावित महान् अमृतरूप आनन्दमयीके रूपमें देखना पड़ेगा।

सहस्रार-कमलके वर्णनमें बतलाया गया है कि शक्ति-मण्डलके बीच जो तेज:पुञ्ज एक बिन्दु विद्यमान है, वही परमशिव यानी पुरुष है। तथा मूलाधारस्थ कुण्डलिनीशक्ति सर्वचक्रोंको भेदकर ज्योतिरूपसे आकर इस परमशिवरूपी बिन्दुमें संयुक्त होकर लीन हो जाती है। कुण्डलिनी प्रकृति है। परमशिवके साथ परा-प्रकृतिका मिलन यानी पुरुष-प्रकृतिका मिलन ही इस प्रबन्धका लक्ष्य था। अब दोनों मिल गये हैं, अत: लेख भी यद्यपि समाप्त हो गया है, तथापि जब योगके पूर्णांगकी बातें मुझे लिखनी है, तब आगे भी और कुछ बतलाना आवश्यक है। स्मरण रहे कि ये दोनों मिलकर एक ही बिन्दुमें परिणत हो जाते हैं, तब इन दोनोंके विभिन्न नाम न रहकर ये केवल एक परमात्माके नामसे ही पुकारे जाते हैं। सृष्टिके पहले केवल ये ही विद्यमान थे। फिर जब उनकी इच्छा होती है कि मैं लीला करनेके लिये प्रजारूपमें बहु होऊँगा, तब फिर सृष्टिका आरम्भ होता है।

चातककी प्रेम-साधना

जौं घन बरषै समय सिर जौं भरि जनम उदास।
तुलसी या चित चातकहि तऊ तिहारी आस॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि हे रामरूपी मेघ! चाहे तुम ठीक समयपर बरसो (कृपाकी वृष्टि करो), चाहे जन्मभर उदासीन रहो—कभी न बरसो; परन्तु इस चित्तरूपी चातकको तो तुम्हारी ही आशा है।

चातक तुलसी के मतें स्वातिहुँ पिऐ न पानि।
प्रेम तृषा बाढ़ति भली घटें घटैगी आनि॥

हे चातक! तुलसीदासके मतसे तो तू स्वातिनक्षत्रमें बरसा हुआ जल भी न पीना; क्योंकि प्रेमकी प्यासका बढ़ते रहना ही अच्छा है, घटनेसे तो प्रेमकी प्रतिष्ठा ही घट जायगी।

रटत रटत रसना लटी तृषा सूखि गे अंग।
तुलसी चातक प्रेम को नित नूतन रुचि रंग॥

अपने प्यारे मेघका नाम रटते-रटते चातककी जीभ लट गयी और प्यासके मारे सब अंग सूख गये। तुलसीदासजी कहते हैं कि तो भी चातकके प्रेमका रंग तो नित्य नया और सुन्दर ही होता जाता है।

चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष।
तुलसी प्रेम पयोधि की ताते नाप न जोख॥

चातकके चित्तमें अपने प्रियतम मेघके दोष कभी आते ही नहीं। तुलसीदासजी कहते हैं—इसीलिये प्रेमके अथाह समुद्रका कोई माप-तोल नहीं हो सकता (उसकी थाह नहीं लगायी जा सकती)।

बरषि परुष पाहन पयद पंख करौ टुक टूक।
तुलसी परी न चाहिऐ चतुर चातकहि चूक॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि बादल कठोर ओले बरसाकर भले ही चातककी पाँखोंके टुकड़े-टुकड़े कर दे, पर प्रेमके प्रणमें चतुर चातकको अपने प्रेमका प्रण निबाहनेमें कभी भूल नहीं करनी चाहिये।

उपल बरषि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥

मेघ कड़क-कड़ककर गरजता हुआ ओले बरसाता है और कठोर बिजली भी गिरा देता है; इतनेपर भी प्रेमी पपीहा मेघको छोड़कर क्या कभी दूसरी ओर ताकता है?

पबि पाहन दामिनि गरज झरि झकोर खरि खीझि।
रोष न प्रीतम दोष लखि तुलसी रागहि रीझि॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि मेघ बिजली गिराकर, ओले बरसाकर, बिजली चमकाकर, कड़क-कड़ककर, वर्षाकी झड़ी लगाकर और आँधीके झकोरे देकर अपना बड़ा भारी रोष प्रकट करता है; परन्तु चातकको अपने प्रियतमका दोष देखकर क्रोध नहीं होता (उसे दोष दीखता ही नहीं), बल्कि इसमें भी वह अपने प्रति मेघका अनुराग देखकर उसपर रीझ जाता है।

मान राखिबो माँगिबो पिय सों नित नव नेहु।
तुलसी तीनिउ तब फबैं जौ चातक मत लेहु॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि आत्मसम्मानकी रक्षा करना, माँगना और फिर भी प्रियतमसे प्रेमका नित्य नवीन होना (बढ़ना)—ये तीनों बातें तभी शोभा देती हैं, जब चातकके मतका अनुसरण किया जाय।

तुलसी चातक ही फबै मान राखिबो प्रेम।
बक्र बुंद लखि स्वातिहू निदरि निबाहत नेम॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि प्रेमके मानकी रक्षा करना और प्रेमको भी निबाहना चातकको ही शोभा देता है। स्वातीनक्षत्रमें भी यदि बूँद [मेघकी ओर निहारते हुए उसके मुखमें सीधी न पड़कर] टेढ़ी पड़ती है तो वह उसका निरादर करके प्रेमके नियमको निबाहता है। (चोंचको टेढ़ी करनेमें दूसरी ओर ताकना हो जायगा और इससे उसके प्रेममें व्यभिचार होगा, इसलिये वह प्यासा रह जाता है, परन्तु मुँह टेढ़ा नहीं करता। दूसरी बात यह है कि वह टेढ़ी चोंच करके पीता है तो उसका मान घटता है। वह मँगता नहीं है, प्रेमी है; देना हो तो सीधे दो, नहीं तो न सही)।

तुलसी चातक माँगनो एक एक घन दानि।
देत जो भू भाजन भरत लेत जो घूँटक पानि॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि चातक एक ही (अद्वितीय) माँगनेवाला है और बादल भी एक ही (अद्वितीय) दानी है। बादल इतना देता है कि पृथ्वीके सब बर्तन (झील, तालाब आदि) भर जाते हैं, परन्तु चातक केवल एक घूँट ही पानी लेता है।

तीनि लोक तिहुँ काल जस चातक ही कें माथ।
तुलसी जासु न दीनता सुनी दूसरे नाथ॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि तीनों लोकोंमें और तीनों कालोंमें कीर्ति तो केवल अनन्यप्रेमी चातकके ही भाग्यमें है, जिसकी दीनता संसारमें किसी भी दूसरे स्वामीने नहीं सुन पायी।

प्रीति पपीहा पयद की प्रगट नई पहिचानि।
जाचक जगत कनाउड़ो कियो कनौड़ा दानि॥

पपीहा और मेघके प्रेमका परिचय प्रत्यक्ष ही नये ही ढंगका है; याचक (मँगता) तो संसारभरका ऋणी होता है, परन्तु इस प्रेमी पपीहेने दानी मेघको अपना ऋणी बना डाला।

नहिं जाचत नहिं संग्रही सीस नाइ नहिं लेइ।
ऐसे मानी मागनेहि को बारिद बिन देइ॥

पपीहा न तो मुँहसे माँगता है न जलका संग्रह करता है, और न सिर झुकाकर लेता ही है (ऊँचा सिर किये ही 'पिउ' 'पिउ'की टेर लगाया करता है)। ऐसे मानी माँगनेवाले चातकको मेघके अतिरिक्त और कौन दे सकता है?

को को न ज्यायो जगत में जीवन दायक दानि।
भयो कनौड़ो जाचकहि पयद प्रेम पहिचानि॥

जगत्‌में इस जीवनदाता दानी मेघने किस-किसको नहीं जिलाया? परन्तु अपने प्रेमी याचक चातकके प्रेमको पहचानकर तो यह मेघ उल्टा स्वयं उसीका ऋणी हो गया।

साधन साँसति सब सहत सबहि सुखद फल लाहु।
तुलसी चातक जलद की रीझि बूझि बुध काहु॥

साधनमें सभी कष्ट सहते हैं और फलकी प्राप्ति सभीके लिये सुखदायिनी होती है; परन्तु तुलसीदासजी कहते हैं कि चातककी-सी रीझ (प्रेम) और मेघकी-सी बुद्धि किसी विरले ही बुद्धिमान्‌की होती है। (चातक मेघपर इतना रीझा रहता है कि कष्ट सहनेपर भी उससे प्रेम बढ़ाता ही है और मेघकी ऐसी बुद्धि—गुणज्ञता है कि वह दाता होकर भी ऋणी बन जाता है।)

चातक जीवन दायकहि जीवन समयँ सुरीति।
तुलसी अलख न लखि परै चातक प्रीति प्रतीति॥

चातकके जीवनदाता मेघके प्रेमकी सुन्दर रीति तो उसके जीवनकालमें ही देखनेमें आती है; परन्तु [अनन्य प्रेमी] चातकका प्रेम एवं विश्वास तो अलख (अज्ञेय) है। तुलसीदासजी कहते हैं कि वह तो किसीके लखनेमें ही नहीं आता (अर्थात् उसका प्रेम तो मरते समय भी बना रहता है)।

जीव चराचर जहँ लगें है सब को हित मेह।
तुलसी चातक मन बस्यो घन सों सहज सनेह॥

संसारमें जितने चर-अचर जीव हैं, मेघ उन सभीका हितकारी है; परन्तु तुलसीदासजी कहते हैं कि उस मेघके प्रति स्वाभाविक स्नेह तो एक चातकके ही चित्तमें बसा हुआ है।

डोलत बिपुल बिहंग बन पिअत पोखरिन बारि।
सुजस धवल चातक नवल तुही भुवन दस चारि॥

वनमें बहुत-से पक्षी डोलते हैं और वे पोखरियोंका जल पिया करते हैं; परन्तु हे नित्य नवीन प्रेमी चातक! चौदहों लोकोंको अपने निर्मल यशसे उज्ज्वल तो एक तू ही करता है।

मुख मीठे मानस मलिन कोकिल मोर चकोर।
सुजस धवल चातक नवल रह्यो भुवन भरि तोर॥

कोयल, मोर और चकोर मुँहके तो मीठे होते हैं, परन्तु मनके बड़े मैले होते हैं (बोली तो बड़ी मीठी बोलते हैं, पर कीट-सर्पादि जीवोंको खा जाते हैं)। परन्तु हे नवल चातक! विश्वभरमें उज्ज्वल यश तो तेरा ही छाया हुआ है।

बास बेस बोलनि चलनि मानस मंजु मराल।
तुलसी चातक प्रेम की कीरति बिसद बिसाल॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि हंसका निवासस्थान (मानसरोवर), वेष (रंग-रूप), बोली, चाल और [नीर-क्षीरका विवेक रखनेवाला तथा मोती चुगनेकी टेकवाला] मन—सभी सुन्दर हैं; परन्तु प्रेमकी कीर्ति तो सबसे बढ़कर विस्तृत और निर्मल चातककी ही है।

प्रेम न परखिअ परुषपन पयद सिखावन एह।
जग कह चातक पातकी ऊसर बरसै मेह॥

संसारके लोग (विषयीजन) कहते हैं कि चातक पापी है, क्योंकि मेघ ऊसर तकमें बरसता है [परन्तु चातकके मुँहमें नहीं बरसता]; पर मेघ इससे यह शिक्षा देता है कि प्रेमकी परीक्षा कठोरतासे नहीं करनी चाहिये (अर्थात् कठोरतामें प्रेम नहीं है, ऐसा नहीं मानना चाहिये; कहीं-कहीं कठोरतामें भी प्रेमका प्रकाश होता है। चातक पापी नहीं है, महान् प्रेमी है; उसके प्रेमका यश मेघकी कठोरतासे बढ़ता है।)

होइ न चातक पातकी जीवन दानि न मूढ़।
तुलसी गति प्रहलाद की समुझि प्रेम पथ गूढ़॥

न तो चातक ही पापी है और न जीवनदाता मेघ ही मूर्ख है। तुलसीदासजी कहते हैं कि प्रह्लादकी दशापर विचार करके समझो कि प्रेमका मार्ग कितना गूढ़ (सूक्ष्म) है। (प्रह्लादको पद-पदपर कष्ट मिलता है और भगवान् उसके कष्टको जानते हुए भी बहुत विलम्बसे प्रकट होते हैं। यह उनकी प्रेमलीला ही है।)

गरज आपनी सबन को गरज करत उर आनि।
तुलसी चातक चतुर भो जाचक जानि सुदानि॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि अपनी-अपनी गरज सभीको होती है और उसी गरजको (कामनाको) हृदयमें रखकर लोग जहाँ-तहाँ गरज करते (सबसे विनती करते) फिरते हैं। परन्तु चतुर (अनन्य प्रेमी) चातक तो एक मेघको ही सर्वोत्तम दानी समझकर केवल उसीका याचक बना।

चरग चंगु गत चातकहि नेम प्रेम की पीर।
तुलसी परबस हाड़ पर परिहैं पुहुमी नीर॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि बाजके पंजेमें फँसनेपर चातकको अपने प्रेमके नियमकी पीड़ा (चिन्ता) होती है। [उसे यह चिन्ता नहीं होती कि मैं मर जाऊँगा, पर इस बातकी बड़ी पीड़ा होती है कि बाजके द्वारा मारे जानेपर] मेरी हड्डियाँ और पाँख [स्वातीनक्षत्रके मेघजलमें न पड़कर] पृथ्वीके साधारण जलमें पड़ेंगे।

बध्यो बधिक पर्‍यो पुन्य जल उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेमपट मरतहुँ लगी न खोंच॥

किसी बहेलियेने चातकको मार दिया, वह पुण्यसलिला गङ्गाजीमें गिर पड़ा; (परन्तु गिरते ही उस अनन्यप्रेमी) चातकने चोंचको उलटकर ऊपर उठा लिया। तुलसीदासजी कहते हैं कि चातक-प्रेमरूपी वस्त्रपर मरते दमतक कोई खोंच नहीं लगी (वह कहींसे फटा नहीं)।

अंड फोरि कियो चेटुवा तुष पर्‍यो नीर निहारि।
गहि चंगुल चातक चतुर डार्‍यो बाहिर बारि॥

किसी चातकने अंडेको फोड़कर उसमेंसे बच्चा निकाला, परन्तु अंडेके छिलकेको पानीमें पड़ा हुआ देखकर उस [प्रेम-राज्यके] चतुर चातकने तुरंत उसे पंजेसे पकड़कर जलके बाहर फेंक दिया।

तुलसी चातक देत सिख सुतहि बारहीं बार।
तात न तर्पन कीजिए बिना बारिधर धार॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि चातक अपने पुत्रको बारंबार यही सीख देता है कि हे तात! [मेरे मरनेपर] प्यारे मेघकी धाराको छोड़कर अन्य किसी जलसे मेरा तर्पण न करना।

जिअत न नाई नारि चातक घन तजि दूसरहि।
सुरसरिहू को बारि मरत न माँगेउ अरध जल॥

जीते-जी तो चातकने [प्यारे] मेघको छोड़कर दूसरेके सामने गर्दन नहीं झुकायी (याचना नहीं की) और मरते समय भी गङ्गाजलमें अर्धजली तक न माँगी (मुक्तिका भी निरादर कर दिया)।

सुनु रे तुलसीदास प्यास पपीहहि प्रेम की।
परिहरि चारिउ मास जो अँचवै जल स्वाति को॥

रे तुलसीदास! सुन, पपीहेको तो केवल प्रेमकी ही प्यास है [जलकी नहीं]; इसीलिये वह बरसातके चारों महीनोंके जलको छोड़कर केवल स्वातीनक्षत्रका ही जल पीता है।

जाचै बारह मास पिऐ पपीहा स्वाति जल।
जान्यो तुलसीदास जोगवत नेही मेह मन॥

चातक बारहों महीने मेघसे (उसे देखते ही पिउ-पिउकी पुकार मचाकर) जल माँगा करता है, परन्तु पीता है केवल स्वातीनक्षत्रका ही जल। तुलसीदासजी

कहते हैं कि मैंने इससे यह समझा है कि चातक ऐसा करके अपने स्नेही मेघका मन रखता है। (जिससे मेघको यह कहनेका मौका न मिले कि तू तो स्वार्थी है; जब प्यास लगती है तभी मुझे पुकारता है, फिर सालभर मेरा नाम भी नहीं लेता।)

तुलसीं के मत चातकहि केवल प्रेम पिआस।
पिअत स्वाति जल जान जग जाँचत बारह मास॥

तुलसीदासके मतसे तो चातकको केवल प्रेमकी ही प्यास है [जलकी नहीं]। क्योंकि सारा जगत् इस बातको जानता है कि चातक पीता तो है केवल स्वाती-नक्षत्रका जल, परन्तु याचक बना रहता है बारहों महीने।

आलबाल मुकुताहलनि हिय सनेह तरु मूल।
होइ हेतु चित चातकहि स्वाति सलिलु अनुकूल॥

चातकके हृदयरूपी मोतियोंकी (बहुमूल्य) क्यारीमें प्रेमरूपी वृक्षकी जड़ लगी है। ईश्वर करे स्वाती-नक्षत्रका जल चातकके चित्तमें रहनेवाले प्रेमके लिये अनुकूल हो जाय। (अर्थात् स्वातीनक्षत्रके जलसे हृदयमें लगी हुई प्रेमवृक्षकी जड़ भली भाँति सींची जाय, जिससे प्रेमवृक्ष फूल-फलकर लहलहा उठे!)

उष्न काल अरु देह खिन मग पंथी तन ऊख।
चातक बतियाँ ना रुचीं अन जल सींचे रूख॥

गर्मियोंके दिन थे; चातक शरीरसे खिन्न था (थका हुआ था), रास्ते चल रहा था; उसका शरीर बहुत गरम हो रहा था। [इतनेमें उसे कुछ पेड़ दीख पड़े, मनमें आया कि जरा विश्राम कर लूँ;] परन्तु अनन्य प्रेमी चातकको मनकी यह बात अच्छी नहीं लगी, क्योंकि वे वृक्ष [स्वातिनक्षत्रके जलसे सिंचे हुए न होकर] दूसरे ही जलसे सींचे हुए थे।

अन जल सींचे रूख की छाया तें बरु घाम।
तुलसी चातक बहुत हैं यह प्रबीन को काम॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि यों तो चातक (चातकप्रेमका दम भरनेवाले) बहुत हैं, परन्तु 'स्वातीके जलके अतिरिक्त अन्य जलसे सींचे हुए वृक्षकी छायासे तो धूप ही अच्छी' ऐसा मानना तो किसी [प्रेम-प्रणको निबाहनेमें] चतुर चातक (सच्चे प्रेमी)-का ही काम है।

एक अंग जो सनेहता निसि दिन चातक नेह।
तुलसी जासों हित लगै वहि अहार वहि देह॥

चातकका जो रात-दिनका (नित्य चौबीसों घंटेका) प्रेम है, वही एकाङ्गी प्रेम है। तुलसीदासजी कहते हैं—ऐसा एकाङ्गी प्रेम जिसके साथ लग जाता है, वही उसका आहार है (वह खाना-पीना सब भूलकर उसीकी स्मृतिसे जीता रहता है) और वही उसका शरीर है (वह अपने शरीरकी सुधि भुलाकर उसीके शरीरमें तन्मय हुआ रहता है)। —'दोहावली' से

सन्ध्या-गायत्रीका महत्त्व

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

सन्ध्योपासन तथा गायत्री-जपका हमारे शास्त्रोंमें बहुत बड़ा महत्त्व कहा गया है। द्विजातिमात्रके लिये इन दोनों कर्मोंको अवश्य कर्तव्य बताया गया है। श्रुति भगवती कहती है—'अहरहः सन्ध्यामुपासीत', प्रतिदिन बिना नागा सन्ध्योपासन अवश्य करना चाहिये। शास्त्रोंमें तीन प्रकारके कर्मोंका उल्लेख मिलता है—नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य। नित्यकर्म उसे कहते हैं, जिसे नित्य नियमपूर्वक—बिना नागा—कर्तव्य-बुद्धिसे एवं बिना किसी फलेच्छाके करनेके लिये शास्त्रोंकी आज्ञा है। नैमित्तिक कर्म वे कहलाते हैं, जो किसी विशेष निमित्तको लेकर खास-खास अवसरोंपर आवश्यकरूपसे किये जाते हैं—जैसे पितृपक्ष (आश्विन कृष्णपक्ष)-में पितरोंके लिये श्राद्ध किया जाता है। नैमित्तिक कर्मोंको भी शास्त्रोंमें अवश्यकर्तव्य बताया गया है और उन्हें भी कर्तव्यरूपसे बिना किसी फलाभिसन्धिके करनेकी आज्ञा दी गयी है; परन्तु उन्हें नित्य करनेकी आज्ञा नहीं है। यही नित्य और नैमित्तिक कर्मोंमें भेद है। अवश्य ही नित्य एवं नैमित्तिक दोनों प्रकारके कर्मोंके न करनेमें दोष बताया गया है। तीसरे—काम्यकर्म वे हैं, जो किसी कामनासे—किसी फलाभिसन्धिसे किये जाते हैं और जिनके न करनेमें कोई दोष नहीं लगता। उनका करना, न करना सर्वथा कर्ताकी इच्छापर निर्भर है। जैसे पुत्रकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें पुत्रेष्टि-यज्ञका विधान पाया जाता है।

जिसे पुत्रकी कामना हो, वह चाहे तो पुत्रेष्टि-यज्ञ कर सकता है; किन्तु जिसे पुत्र प्राप्त है अथवा जिसे पुत्रकी इच्छा नहीं है या जिसने विवाह ही नहीं किया

है अथवा विवाह करके गृहस्थाश्रमका त्याग कर दिया है, उसे पुत्रेष्टियज्ञ करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है और इस यज्ञके न करनेसे कोई दोष लगता हो, यह बात भी नहीं है, परन्तु नित्य कर्मोंको तो प्रतिदिन करनेकी आज्ञा है, उसमें एक दिनकी नागा भी क्षम्य नहीं है और प्रत्येक द्विजातिको जिसने शिखा-सूत्रका त्याग नहीं किया है, अर्थात् चतुर्थ आश्रम (संन्यास)-को छोड़कर पहले तीनों आश्रमोंमें नित्य कर्मोंका अनुष्ठान करना ही चाहिये। नित्यकर्म ये हैं—सन्ध्या, तर्पण, बलिवैश्वदेव, स्वाध्याय, जप, होम आदि। इन सबमें सन्ध्या और गायत्री-जप मुख्य हैं; क्योंकि यह ईश्वरकी उपासना है और बाकी कर्म देवताओं, ऋषियों तथा पितरों आदिके उद्देश्यसे किये जाते हैं, यद्यपि इन सबको भी परमेश्वरकी प्रीतिके लिये ही करना चाहिये। इसलिये सन्ध्याका इतना महत्त्व शास्त्रोंमें बतलाया गया है।

सन्ध्या न करनेवालोंको बड़ा दोषका भागी बताया गया है। देवीभागवतमें लिखा है—

सन्ध्या येन न विज्ञाता सन्ध्या येनानुपासिता।
जीवमानो भवेच्छूद्रो मृतः श्वा चैव जायते॥

(११।१६।७)

'जो द्विज सन्ध्या नहीं जानता और सन्ध्योपासन नहीं करता, वह जीता हुआ ही शूद्र हो जाता है और मरनेपर कुत्तेकी योनिको प्राप्त होता है।' दक्षस्मृतिका वचन है—

सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु।
यदन्यत् कुरुते कर्म न तस्य फलभाग्भवेत्॥

(२।२२)

'सन्ध्याहीन द्विज नित्य ही अपवित्र है और सम्पूर्ण धर्मकार्य करनेमें अयोग्य है। वह जो कुछ अन्य कर्म करता है उसका फल उसे नहीं मिलता।'

भगवान् मनु कहते हैं—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥

(मनु० २।१०३)

'जो द्विज प्रात:काल और सायङ्कालकी सन्ध्या नहीं करता, उसे शूद्रकी भाँति द्विजातियोंके करने योग्य सभी कर्मोंसे अलग कर देना चाहिये।'

महर्षि याज्ञवल्क्य भी कहते हैं—

अनार्तश्चोत्सृजेद्यस्तु स विप्रः शूद्रसम्मितः।
प्रायश्चित्ती भवेच्चैव लोके भवति निन्दितः॥

'जो ब्राह्मण स्वस्थ होकर भी सन्ध्योपासनका त्याग कर देता है, वह शूद्रके समान है। यह प्रायश्चित्तका भागी होता है और लोकमें भी उसकी निन्दा होती है।'

अत्रिस्मृतिका वचन है—

यः सन्ध्यां कालतः प्राप्तामालस्यादतिवर्तते।
सूर्यहत्यामवाप्नोति ह्युलूकत्वमियात्स च॥

'जो मनुष्य सन्ध्याका समय उपस्थित होनेपर भी आलस्यवश उसका लोप कर देता है, उसे सूर्यहत्याका पाप लगता है, जिसके फलस्वरूप उसे मरनेपर उल्लूकी योनि प्राप्त होती है।'

बात भी बिल्कुल ठीक है। यह मनुष्य-जन्म हमें ईश्वरोपासनाके लिये ही मिला है। संसारके भोग तो हम अन्य योनियोंमें भी भोग सकते हैं, परन्तु ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करने तथा उनकी आराधना करनेका अधिकार तो हमें मनुष्ययोनिमें ही मिलता है। मनुष्योंमें भी जिनका द्विजाति-संस्कार हो चुका है अर्थात् जिन्हें वेदाध्ययन यानी ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करनेका अधिकार प्राप्त हो चुका है, वे लोग भी यदि नित्य नियमित रूपसे ईश्वरोपासना न करें, तो वे अपने अधिकारका दुरुपयोग करते हैं, उन्हें द्विजाति कहलानेका क्या अधिकार है? जो मनुष्य-जन्म पाकर भी भगवदुपासनासे विमुख रहते हैं, वे मरनेके बाद मनुष्ययोनिसे नीचे गिरा दिये जाते हैं और इस प्रकार भगवान्‌की दयासे जन्म-मरणके चक्करसे छूटनेका जो सुलभ साधन उन्हें प्राप्त हुआ था उसे अपनी मूर्खतासे खो बैठते हैं। मनुष्योंमें भी जिन्होंने म्लेच्छ, चाण्डाल, शूद्र आदि योनियोंसे ऊपर उठकर द्विज-शरीर प्राप्त किया है, वे भी यदि ईश्वरकी आराधना नहीं करते, वेदरूपी ईश्वरीय आज्ञाका उल्लङ्घन करते हैं, उन्हें यदि मरनेपर कुत्ते आदिकी योनि मिले तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? अत: प्रत्येक द्विज कहलानेवालेको चाहिये कि वह नित्य नियमपूर्वक दोनों समय (अर्थात् प्रात:काल एवं सायङ्काल) वैदिक विधिसे अर्थात् वेदोक्त मन्त्रोंसे सन्ध्योपासन करे। यों तो शास्त्रोंमें सायं, प्रात: एवं मध्याह्नकालमें—तीनों समय ही सन्ध्या करनेका विधान है; परन्तु जिन लोगोंको मध्याह्नके समय जीविकोपार्जनके कार्यसे अवकाश न मिले अथवा जो और किसी अड़चनके कारण मध्याह्नकालकी सन्ध्याको बराबर न निभा सकें, उन्हें चाहिये कि वे दिनमें कम-से-कम दो बार अर्थात् प्रात:काल और

सायङ्काल तो नियमित रूपसे सन्ध्या अवश्य ही करें।

सन्ध्यामें क्रियाकी प्रधानता तो है ही; परन्तु जिस-जिस मन्त्रका जिस-जिस क्रियामें विनियोग है, उस-उस क्रियाको विधिपूर्वक करते हुए उस मन्त्रका शुद्ध उच्चारण भी करना चाहिये और साथ-साथ उस मन्त्रके अर्थकी ओर लक्ष्य रखते हुए उसी भावमें भावित होनेकी चेष्टा करनी चाहिये। उदाहरणत: 'सूर्यश्च मा०' इस मन्त्रका शुद्ध उच्चारण करके आचमन करना चाहिये और साथ ही इस मन्त्रके अर्थकी ओर लक्ष्य रखते हुए यह भावना करनी चाहिये कि जिस प्रकार यह अभिमन्त्रित जल मेरे मुँहमें जा रहा है उसी प्रकार मन, वचन, कर्मसे मैंने व्यतीत रात्रिमें जो-जो पाप किये हों वे सब रात्रिके अभिमानी देवताके द्वारा नष्ट किये जा रहे हैं और इस समय जो भी पाप मेरे अंदर हों वे सब भगवान् सूर्यकी ज्योतिमें विलीन हो रहे हैं, भस्म हो रहे हैं; भगवान्‌के तेजके सामने पापोंकी ताकत ही क्या है कि जो वे ठहर सकें।

आजकल कुछ लोग कहते हैं कि सन्ध्याका अर्थ है ईश्वरोपासना। ईश्वरकी दृष्टिमें सभी भाषाएँ समान हैं और सभी भाषाओंमें की हुई प्रार्थना एवं स्तुति उनके पास पहुँच सकती है; क्योंकि सभी भाषाएँ उन्हींकी रची हुई हैं और ऐसी कोई भाषा नहीं है, जिसे वे न समझते हों फिर क्यों न हमलोग अपनी मातृभाषामें ही उनकी स्तुति एवं प्रार्थना करें? संस्कृत अथवा वैदिक भाषाकी अपेक्षा अपनी निजकी भाषामें हम अपने भावोंको अधिक स्पष्टरूपमें व्यक्त कर सकते हैं। जिस समय देशमें वैदिक अथवा संस्कृत भाषा बोली जाती रही हो, उस समय लोगोंका वैदिक मन्त्रोंके द्वारा सन्ध्या करना ठीक रहा; परन्तु वर्तमान युगमें जब कि संस्कृतके जाननेवाले लोग बहुत कम रह गये हैं—यहाँतक कि वैदिक मन्त्रोंके उच्चारणमें ही लोगोंको कठिनाईका अनुभव होता है, उनका अर्थ जानना और उनके भावमें भावित होना तो दूर रहा—इस लकीरको पीटनेसे क्या लाभ, बल्कि ईश्वर तो घट-घटमें व्यापक हैं, वे तो हमारे हृदयकी सूक्ष्मतम बातोंको भी जानते हैं। उनके लिये तो भाषाके आडम्बरकी आवश्यकता ही नहीं है। उनके सामने तो हृदयकी मूक प्रार्थना ही पर्याप्त है। बल्कि सच्ची प्रार्थना तो हृदयकी ही होती है। बिना हृदयके केवल तोतेकी भाँति रटे हुए कुछ शब्दोंके उच्चारणमात्रसे क्या होता है।

यह शङ्का सर्वथा निर्मूल नहीं है। ईश्वरकी दृष्टिमें अवश्य ही भाषाका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। उनकी दृष्टिमें सभी भाषाएँ समान हैं और सभी भाषाओंमें की हुई प्रार्थनाको वे सुनते और उत्तर चाहनेपर उसी भाषामें वे उसका उत्तर भी देते हैं। यह भी ठीक है कि प्रार्थनामें भावकी प्रधानता है, उसका सम्बन्ध हृदयसे है और अपने भावोंको जितने स्पष्ट रूपमें हम अपनी मातृभाषामें रख सकते हैं, उतना स्पष्ट हम और किसी भाषामें नहीं रख सकते। यह भी निर्विवाद है कि हृदयकी मूक प्रार्थना जितना काम कर सकती है, केवल कुछ चुने हुए शब्दोंके उच्चारणमात्रसे वह कार्य नहीं बन सकता। इन सब बातोंको स्वीकार करते हुए भी हम सन्ध्याको उसी रूपमें करनेके पक्षपाती हैं, जिस रूपमें उसके करनेका शास्त्रोंमें विधान है और जिस रूपमें लाखों-करोड़ों वर्षोंसे बल्कि अनादि कालसे हमारे पूर्वज उसे करते आये हैं।

सन्ध्यामें ईश्वरकी स्तुति, ध्यान और प्रार्थना तो है ही, और उसके उतने अंशकी पूर्ति अपनी मातृभाषामें, अपने ही शब्दोंमें की हुई प्रार्थनासे भी अथवा हृदयकी मूक प्रार्थनासे भी हो सकती है। जो लोग इस रूपमें प्रार्थना करना चाहते हैं अथवा करते हैं, वे अवश्य ऐसा करें। उनका हम विरोध नहीं करते, बल्कि हृदयसे समर्थन ही करते हैं, क्योंकि वैदिक मन्त्रोंके उच्चारणका सबको अधिकार नहीं है और न सबका उनमें विश्वास ही है। अन्यान्य मतों एवं मजहबोंकी भाँति सनातन वैदिक धर्मकी मान्यता यह नहीं है कि अन्य मतावलम्बियोंको ईश्वरकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती, उनके लिये ईश्वरका द्वार बंद है। जो लोग वैदिक मन्त्रोंका उच्चारण नहीं कर सकते अथवा जिनका वैदिक धर्ममें विश्वास नहीं है, वे लोग अपने-अपने ढंगकी प्रार्थनाके द्वारा ईश्वरकी प्रसन्नता प्राप्त कर सकते हैं और जिन्हें वैदिक सन्ध्या करनेका अधिकार प्राप्त है, वे लोग भी इस रूपमें प्रार्थना कर सकते हैं। परन्तु उन्हें सन्ध्याका परित्याग नहीं करना चाहिये। सन्ध्याके साथ-साथ वे ईश्वरको रिझानेके लिये चाहे जितने और साधन भी कर सकते हैं। ये सभी साधन एक दूसरेके सहायक ही हैं, विरोधी नहीं। सबका अपना-अपना अलग महत्त्व है, कोई किसीसे छोटा अथवा बड़ा नहीं कहा जा सकता।

यह ठीक है कि ईश्वरकी दृष्टिमें भाषाका कोई विशेष महत्त्व नहीं है और वैदिक भाषा भी अन्य भाषाओंकी भाँति अपने हार्दिक अभिप्रायको व्यक्त करनेका एक साधनमात्र है। परन्तु वैदिक धर्मावलम्बियोंकी धारणा इस सम्बन्धमें कुछ दूसरी ही है। उनकी दृष्टिमें

वेद अपौरुषेय हैं, वे किसी मनुष्यके बनाये हुए नहीं हैं। वे साक्षात् ईश्वरके निःश्वास हैं, ईश्वरकी वाणी हैं 'यस्य निःश्वसितं वेदाः।' ऋषिलोग उनके द्रष्टामात्र हैं—'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः।' अनुभव करनेवाले हैं, रचयिता नहीं। सृष्टिके आदिमें भगवान् नारायण पहले-पहल ब्रह्माको उत्पन्न करते हैं और फिर उन्हें वेदोंका उपदेश देते हैं—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ····

(श्रुति)

इसीलिये हम वैदिक धर्मावलम्बियोंके लिये वेद बड़े महत्त्वकी वस्तु हैं। वेद ही ईश्वरीय ज्ञानके अनादि स्रोत हैं। उन्हींसे सारा ज्ञान निकला है। धर्मका आधार भी वेद ही है। हमारे कर्तव्य-अकर्तव्यके निर्णायक वेद ही हैं। सारे शास्त्र वेदके ही आधारको लेकर चलते हैं। स्मृति-आगम-पुराणादि शास्त्रोंकी प्रमाणता वेदमूलक ही है। जहाँ श्रुति और स्मृतिका परस्पर विरोध दृष्टिगोचर हो, वहाँ श्रुतिको ही बलवान् माना जाता है। तात्पर्य यह है कि वेद हमारे सर्वस्व हैं, वेद हमारे प्राण हैं, वेदोंपर ही हमारा जीवन अवलम्बित है, वेद ही हमारे आधार-स्तम्भ हैं। वेदोंकी जितनी भी महिमा गायी जाय, थोड़ी है।

जिन वेदोंकी हमारे शास्त्रोंमें इतनी महिमा है, उन वेदोंके अङ्गभूत मन्त्रोंकी अन्य किसी भाषा अथवा अन्य किसी वाक्य-रचनाके साथ तुलना नहीं की जा सकती। भावोंको व्यक्त करनेके लिये भाषाकी सहायता आवश्यक होती ही है। भाषा और भावका परस्पर अविच्छेद्य सम्बन्ध है। हमारे शास्त्रोंने तो शब्दको भी अनादि, नित्य एवं ब्रह्मरूप ही माना है तथा वाच्य एवं वाचकका अभेद स्वीकार किया है। इसी प्रकार वैदिक मन्त्रोंका भी अपना एक विशेष महत्त्व है। उनमें एक विशेष शक्ति निहित है, जो उनके उच्चारणमात्रसे प्रकट हो जाती है, अर्थकी ओर लक्ष्य रखते हुए उच्चारण करनेपर तो वह और भी जल्दी आविर्भूत होती है। इसके अतिरिक्त अनादिकालसे इतने असंख्य लोगोंने उनकी आवृत्ति एवं अनुष्ठान करके उन्हें जगाया है कि उन सबकी शक्ति भी उनके अंदर संक्रान्त हो गयी है। ऐसी दशामें तोतेकी भाँति बिना समझे हुए भी उनका स्वरसहित शुद्ध उच्चारण करनेका कम महत्त्व नहीं है; फिर अर्थको समझते हुए उनके भावमें भावित होकर श्रद्धापूर्वक उनके उच्चारणका तो इतना अधिक महत्त्व है कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता। वह तो सोनेमें सुगन्धका काम करता है। यही नहीं, वैदिक मन्त्रोंके उच्चारणका तो एक अलग शास्त्र ही है, उसकी तो एक-एक मात्रा और एक-एक स्वरका इतना महत्त्व है कि उसके उच्चारणमें जरा-सी भी त्रुटि हो जानेसे अभिप्रेत अर्थसे विपरीत अर्थका बोध हो सकता है। कहा भी है—

एकः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।

यही कारण है कि लाखों-करोड़ों वर्षोंसे वैदिक लोग परम्परासे पद, क्रम, घन और जटासहित वैदिक मन्त्रोंको सस्वर कण्ठस्थ करते आये हैं और इस प्रकार उन्होंने वैदिक परम्परा और वैदिक साहित्यको जीवित रखा है। इसलिये वैदिक मन्त्रोंकी उपयोगिताके विषयमें शङ्का न करके द्विजातिमात्रको उपनयन-संस्कारके बाद सन्ध्याको अर्थसहित सीख लेना चाहिये और फिर कम-से-कम सायङ्काल और प्रातःकाल दोनों सन्धियोंके समय श्रद्धा प्रेम और विधिपूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये। ऐसा करनेसे उन्हें बहुत जल्दी लाभ प्रतीत होगा और फिर वे इसे कभी छोड़ना न चाहेंगे।

इसके अतिरिक्त द्विजातिमात्रको नित्य नियमपूर्वक सन्ध्या करनेके लिये वेदोंकी स्पष्ट आज्ञा है, जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं। उस आज्ञाका पालन करनेके लिये भी हमें सन्ध्योपासन नित्य करना चाहिये। क्योंकि वेद ईश्वरकी वाणी होनेके कारण हमारे लिये परम मान्य हैं, और उनकी आज्ञाकी अवहेलना करना हमारे लिये अत्यन्त हानिकर है। इस दृष्टिसे भी सन्ध्योपासन करना परमावश्यक है। पुराने जमानेमें तो लोग पूरा वेद कम-से-कम अपनी शाखा पूरी कण्ठ किया करते थे और इसके लिये वेदोंकी स्पष्ट आज्ञा भी है—'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' वेदोंका अध्ययन अवश्य करना चाहिये। यदि हमलोग पूरा वेद अथवा पूरी शाखा कण्ठ नहीं कर सकते तो कम-से-कम सन्ध्यामात्र तो अवश्य कण्ठ कर लेनी चाहिये और उसका प्रतिदिन अनुष्ठान करना चाहिये, जिससे वैदिक संस्कृतिका लोप न हो और हमलोग अपने स्वरूप और धर्मकी रक्षा कर सकें। नियमपालन और संगठनकी दृष्टिसे भी इसकी बड़ी आवश्यकता है। नहीं तो एक दिन हमलोग विजातीय

संस्कारोंके प्रवाहमें बहकर अपना सब कुछ गँवा बैठेंगे और अन्य प्राचीन जातियोंकी भाँति हमारा भी नाममात्र शेष रह जायगा। वह दिन जल्दी न आवे, इसके लिये हमें सतर्क हो जाना चाहिये और यदि हम संसारमें जीवित रहना चाहते हैं तो हमें अपनी प्राचीन संस्कृतिकी रक्षाके लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये। भगवान् तो हमारे और हमारी संस्कृतिके सहायक हैं ही; अन्यथा इसपर ऐसे-ऐसे प्रबल आक्रमण हुए कि उनके आघातसे वह कभीकी नष्ट हो गयी होती।

सन्ध्याकी हमारे शास्त्रोंने बड़ी महिमा गायी है।

वेदोंमें कहा है—

'उद्यन्तमस्तं यन्तमादित्यमभिध्यायन् कुर्वन् ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते।' (तै० आ० प्र० २ अ० २)

अर्थात् 'उदय और अस्त होते हुए सूर्यकी उपासना करनेवाला विद्वान् ब्राह्मण सब प्रकारके कल्याणको प्राप्त करता है।'

महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं—

दिवा वा यदि वा रात्रौ यदज्ञानकृतं भवेत्।
त्रिकालसन्ध्याकरणात्तत्सर्वं च प्रणश्यति॥

'दिनमें या रात्रिके समय अनजानमें जो पाप बन जाता है, वह सारा ही तीनों कालकी सन्ध्या करनेसे नष्ट हो जाता है।'

यस्तु तां केवलां सन्ध्यामुपासीत स पुण्यभाक्।
तां परित्यज्य कर्माणि कुर्वन् प्राप्नोति किल्बिषम्॥

'जो अन्य किसी कर्मका अनुष्ठान न करके केवल सन्ध्योपासन कर लेता है, वह पुण्यका भागी होता है। परन्तु अन्य सत्कर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ भी जो सन्ध्यावन्दन नहीं करता, वह पापका भागी होता है।'

यमस्मृतिका वचन है—

सन्ध्यामुपासते ये तु नियतं संशितव्रताः।
विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकमनामयम्॥

'जो लोग दृढप्रतिज्ञ होकर प्रतिदिन नियमपूर्वक सन्ध्या करते हैं, वे पापरहित होकर अनामय ब्रह्मपदको प्राप्त होते हैं।'

महर्षि कात्यायनका वचन है—

सन्ध्यालोपस्य चाकर्ता स्नानशीलश्च यः सदा।
तं दोषा नोपसर्पन्ति गरुत्मन्तमिवोरगाः॥

'जो प्रतिदिन स्नान करता है तथा कभी सन्ध्या-कर्मका लोप नहीं करता, दोष उसके पास भी नहीं फटकते—जैसे गरुड़जीके पास सर्प नहीं जाते।'

समयकी गति सूर्यके द्वारा नियमित होती है। सूर्यभगवान् जब उदय होते हैं, तब दिनका प्रारम्भ तथा रात्रिका शेष होता है; इसको प्रातःकाल भी कहते हैं। जब वे आकाशके शिखरपर आरूढ़ होते हैं, उस समयको दिनका मध्य अथवा मध्याह्न कहते हैं और जब वे अस्ताचलको जाते हैं, तब दिनका शेष एवं रात्रिका प्रारम्भ होता है। इसे सायङ्काल भी कहते हैं। ये तीन काल उपासनाके मुख्य काल माने गये हैं। यों तो जीवनका प्रत्येक क्षण उपासनामय होना चाहिये, परन्तु इन तीन कालोंमें तो भगवान्की उपासना नितान्त आवश्यक बतायी गयी है। इन तीनों समयकी उपासनाका नाम ही क्रमशः प्रातःसन्ध्या, मध्याह्नसन्ध्या और सायंसन्ध्या है। प्रत्येक वस्तुकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—उत्पत्ति, पूर्ण विकास और विनाश। जीवनकी भी तीन ही दशाएँ होती हैं—जन्म, पूर्ण युवावस्था और मृत्यु। हमें इन अवस्थाओंका स्मरण दिलानेके लिये तथा इस प्रकार हमारे अंदर संसारके प्रति वैराग्यकी भावना जाग्रत् करनेके लिये ही मानो सूर्यभगवान् प्रतिदिन उदय होने, उन्नतिके शिखरपर आरूढ़ होने और फिर अस्त होनेकी लीला करते हैं। भगवान्की इस त्रिविध लीलाके साथ ही हमारे शास्त्रोंने तीन कालकी उपासना जोड़ दी है।

भगवान् सूर्य परमात्मा नारायणके साक्षात् प्रतीक हैं, इसीलिये वे सूर्यनारायण कहलाते हैं। यही नहीं, सर्गके आदिमें भगवान् नारायण ही सूर्यरूपमें प्रकट होते हैं; इसीलिये पञ्चदेवोंमें सूर्यकी भी गणना है। यों भी वे भगवान्की प्रत्यक्ष विभूतियोंमें सर्वश्रेष्ठ, हमारे इस ब्रह्माण्डके केन्द्र, स्थूल कालके नियामक, तेजके महान् आकर, विश्वके पोषक एवं प्राणदाता तथा समस्त चराचर प्राणियोंके आधार हैं। इसीलिये सन्ध्यामें सूर्यरूपसे ही भगवान्की उपासना की जाती है। उनकी उपासनासे हमारे तेज, बल, आयु एवं नेत्रोंकी ज्योतिकी वृद्धि होती है और मरनेके समय वे हमें अपने लोकमेंसे होकर भगवान्के परमधाममें ले जाते हैं। क्योंकि भगवान्के परमधामका रास्ता सूर्यलोकमेंसे होकर ही गया है। शास्त्रोंमें लिखा है कि योगी लोग तथा युद्धमें शत्रुके सम्मुख लड़ते हुए प्राण देनेवाले क्षत्रिय वीर सूर्यमण्डलको

भेदकर भगवान्‌के धामको चले जाते हैं। हमारी आराधनासे प्रसन्न होकर भगवान् सूर्य यदि हमें भी उस लक्ष्यतक पहुँचा दें तो इसमें उनके लिये कौन बड़ी बात है। भगवान् अपने भक्तोंपर सदा ही अनुग्रह करते आये हैं। हम यदि जीवनभर नियमपूर्वक श्रद्धा एवं भक्तिके साथ निष्कामभावसे उनकी आराधना करेंगे, तो क्या वे मरते समय हमारी इतनी भी मदद नहीं करेंगे? अवश्य करेंगे। भक्तोंकी रक्षा करना तो भगवान्‌का विरद ही ठहरा। अतः जो लोग आदरपूर्वक तथा नियमसे बिना नागा तीनों समय अथवा कम-से-कम दो समय (प्रातःकाल एवं सायंकाल) ही भगवान् सूर्यकी आराधना करते हैं, उन्हें विश्वास करना चाहिये कि उनका कल्याण निश्चित है और वे मरते समय भगवान् सूर्यकी कृपासे अवश्य परम गतिको प्राप्त होंगे।

इस प्रकार युक्तिसे भी भगवान् सूर्यकी उपासना हमारे लिये अत्यन्त कल्याणकारक, थोड़े परिश्रमके बदलेमें महान् फल देनेवाली अतएव अवश्यकर्तव्य है। अतः द्विजातिमात्रको चाहिये कि वे लोग नियमपूर्वक त्रिकालसन्ध्याके रूपमें भगवान् सूर्यकी उपासना किया करें और इस प्रकार लौकिक एवं पारमार्थिक दोनों प्रकारके लाभ उठावें। आशा है, सभी लोग इस सस्ते सौदेको सहर्ष स्वीकार करेंगे; इसमें खर्च एक पैसेका भी नहीं है और समय भी बहुत कम लगता है, परन्तु इसका फल अत्यन्त महान् है। इसलिये सब लोगोंको श्रद्धा एवं लगनके साथ इस कर्मके अनुष्ठानमें लग जाना चाहिये। फिर सब प्रकारसे मङ्गल-ही-मङ्गल है।

जब कोई हमारे पूज्य महापुरुष हमारे नगरमें आते हैं और उसकी सूचना हमें पहलेसे मिली हुई रहती है तो हम उनका स्वागत करनेके लिये अर्घ्य, चन्दन, फूल, माला आदि पूजाकी सामग्री लेकर पहलेसे ही स्टेशनपर पहुँच जाते हैं, उत्सुकतापूर्वक उनकी बाट जोहते हैं और आते ही उनका बड़ी आवभगत एवं प्रेमके साथ स्वागत करते हैं। हमारे इस व्यवहारसे उन आगन्तुक महापुरुषको बड़ी प्रसन्नता होती है और यदि हम निष्कामभावसे अपना कर्तव्य समझकर उनका स्वागत करते हैं तो वे हमारे इस प्रेमके आभारी बन जाते हैं और चाहते हैं कि किस प्रकार बदलेमें वे भी हमारी कोई सेवा करें। हम यह भी देखते हैं कि कुछ लोग अपने पूज्य पुरुषके आगमनकी सूचना होनेपर भी उनके स्वागतके लिये समयपर स्टेशन नहीं पहुँच पाते और जब वे गाड़ीसे उतरकर प्लेटफार्मपर पहुँच जाते हैं तब दौड़े हुए आते हैं और देरके लिये क्षमा-याचना करते हुए उनकी पूजा करते हैं। और कुछ इतने आलसी होते हैं कि जब हमारे पूज्य पुरुष अपने डेरेपर पहुँच जाते हैं और अपने कार्यमें लग जाते हैं, तब वे धीरे-धीरे फुरसतसे अपना और सब काम निपटाकर आते हैं और उन आगन्तुक महानुभावकी पूजा करते हैं। वे महानुभाव तो तीनों प्रकारके स्वागत करनेवालोंकी पूजासे प्रसन्न होते हैं और उनका उपकार मानते हैं, पूजा न करनेवालोंकी अपेक्षा देर-सबेर करनेवाले भी अच्छे हैं; किन्तु दर्जेका फरक तो रहता ही है। जो जितनी तत्परता, लगन, प्रेम एवं आदरबुद्धिसे पूजा करते हैं उनकी पूजा उतनी ही महत्त्वकी और मूल्यवान् होती है और पूजा ग्रहण करनेवालेको उससे उतनी ही प्रसन्नता होती है।

ऊपर जो बात आगन्तुक महापुरुषकी पूजाके सम्बन्धमें कही गयी है, वही बात सन्ध्याके सम्बन्धमें भी समझनी चाहिये। भगवान् सूर्यनारायण प्रतिदिन सबेरे हमारे इस भूमण्डलपर आगन्तुककी भाँति पधारते हैं; उनसे बढ़कर हमारा पूजापात्र और कौन होगा। अतः हमें चाहिये कि हम ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर शौच-स्नानादिसे निवृत्त होकर शुद्ध वस्त्र पहनकर उनका स्वागत करनेके लिये उनके आगमनसे पूर्व ही तैयार हो जायँ और आते ही बड़े प्रेमसे चन्दन, पुष्प आदिसे युक्त शुद्ध ताजे जलसे उन्हें अर्घ्य प्रदान करें, उनकी स्तुति करें, जप करें। भगवान् सूर्यको तीन बार गायत्रीमन्त्रका उच्चारण करते हुए अर्घ्य प्रदान करना, गायत्रीमन्त्रका (जिसमें उन्हींकी परमात्मभावसे स्तुति की गयी है और उनसे बुद्धिको परमात्ममुखी करनेके लिये प्रार्थना की गयी है) जप करना और खड़े होकर उनका उपस्थान करना, स्तुति करना—यही सन्ध्योपासनके मुख्य अङ्ग हैं; शेष कर्म इन्हीं तीनके अङ्गभूत एवं सहायक हैं। जो लोग सूर्योदयके समय सन्ध्या करने बैठते हैं, वे एक प्रकारसे अतिथिके स्टेशनपर पहुँच जाने और गाड़ीसे उतर जानेपर उनकी पूजा करने दौड़ते हैं और जो लोग सूर्योदय हो जानेके बाद फुरसतसे अन्य आवश्यक कार्योंसे निवृत्त होकर सन्ध्या करने बैठते हैं,

वे मानो अतिथिके अपने डेरेपर पहुँच जानेपर धीरे-धीरे उनका स्वागत करने पहुँचते हैं।

जो लोग सन्ध्योपासन करते ही नहीं, उनकी अपेक्षा तो वे भी अच्छे हैं जो देर-सबेर, कुछ भी खानेके पूर्व सन्ध्या कर लेते हैं। उनके द्वारा कर्मका अनुष्ठान तो हो ही जाता है और इस प्रकार शास्त्रकी आज्ञाका निर्वाह हो जाता है। वे कर्मलोपके प्रायश्चित्तके भागी नहीं होते। उनकी अपेक्षा वे अच्छे हैं, जो प्रात:कालमें तारोंके लुप्त हो जानेपर सन्ध्या प्रारम्भ करते हैं। और उनसे भी श्रेष्ठ वे हैं, जो उषाकालमें ही तारे रहते सन्ध्या करने बैठ जाते हैं, सूर्योदय होनेतक खड़े होकर गायत्री-मन्त्रका जप करते हैं और इस प्रकार अपने पूज्य आगन्तुककी प्रतीक्षामें, उन्हींके चिन्तनमें उतना समय व्यतीत करते हैं* और उनका पदार्पण—उनका दर्शन होते ही जप बंदकर उनकी स्तुति—उनका उपस्थान करते हैं। इसी बातको लक्ष्यमें रखकर सन्ध्याके उत्तम, मध्यम और अधम—तीन भेद किये गये हैं। भगवान् मनुका वचन है—

उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका।
अधमा सूर्यसहिता प्रातः सन्ध्या त्रिधा स्मृता॥

प्रात:सन्ध्याके लिये जो बात कही गयी है, सायं-सन्ध्याके लिये उससे विपरीत बात समझनी चाहिये। अर्थात् सायंसन्ध्या उत्तम वह कहलाती है, जो सूर्यके रहते की जाय; मध्यम वह है, जो सूर्यास्त होनेपर की जाय और अधम वह है जो तारोंके दिखायी देनेपर की जाय—

उत्तमा सूर्यसहिता मध्यमा लुप्तभास्करा।
अधमा तारकोपेता सायं सन्ध्या त्रिधा स्मृता॥

(मनुस्मृति)

कारण यह है कि अपने पूज्य पुरुषके विदा होते समय पहलेहीसे सब काम छोड़कर जो उनके साथ-साथ स्टेशन पहुँचता है, उन्हें आरामसे गाड़ीपर बिठानेकी व्यवस्था कर देता है और गाड़ीके छूटनेपर हाथ जोड़े हुए प्लेटफार्मपर खड़ा-खड़ा प्रेमसे उनकी ओर ताकता रहता है और गाड़ीके आँखोंसे ओझल हो जानेपर ही स्टेशनसे लौटता है, वही मनुष्य उनका सबसे अधिक सम्मान करता है और प्रेमपात्र बनता है। जो मनुष्य ठीक गाड़ीके छूटनेके समय हाँफता हुआ स्टेशनपर पहुँचता है और चलते-चलते दूरसे अतिथिके दर्शन कर पाता है वह निश्चय ही अतिथिकी दृष्टिमें उतना प्रेमी नहीं ठहरता, यद्यपि उसके प्रेमसे भी महानुभाव अतिथि प्रसन्न ही होते हैं और उसके ऊपर प्रेमभरी दृष्टि रखते हैं। उससे भी नीचे दर्जेका प्रेमी वह समझा जाता है, जो अतिथिके चले जानेपर पीछेसे स्टेशन पहुँचता है और फिर पत्रद्वारा अपने देरीसे पहुँचनेकी सूचना देता है और क्षमा-याचना करता है। महानुभाव अतिथि उसके भी आतिथ्यको मान लेते हैं और उसपर प्रसन्न ही होते हैं।

यहाँ यह नहीं मानना चाहिये कि भगवान् भी साधारण मनुष्योंकी भाँति राग-द्वेषसे युक्त हैं, वे पूजा करनेवालेपर प्रसन्न होते हैं और न करनेवालोंपर नाराज होते हैं या उनका अहित करते हैं। भगवान्‌की सामान्य कृपा तो सबपर समानरूपसे रहती है। सूर्यनारायण अपनी उपासना न करनेवालोंको भी उतना ही ताप एवं प्रकाश देते हैं, जितना वे उपासना करनेवालोंको देते हैं। उसमें न्यूनाधिकता नहीं होती। हाँ, जो लोग उनसे विशेष लाभ उठाना चाहते हैं, जीवन-मरणके चक्रसे छूटना चाहते हैं, उनके लिये तो उनकी उपासनाकी आवश्यकता है ही और उसमें आदर और प्रेमकी दृष्टिसे तारतम्य भी होता ही है। भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(९।२९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है न प्रिय है; परन्तु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सन्ध्याके सम्बन्धमें पहली बात तो यह है कि उसे नित्य नियमपूर्वक किया जाय, कालका लोप हो जाय तो कोई बात नहीं किन्तु कर्मका लोप न हो। इस प्रकार सन्ध्या करनेवाला भी न करनेवालेसे श्रेष्ठ है। दूसरी बात यह है कि जहाँतक सम्भव हो, तीनों कालकी सन्ध्या ठीक समयपर की जाय अर्थात् प्रात:सन्ध्या सूर्योदयसे पूर्व

---

* पूर्वां सन्ध्यां सनक्षत्रामुपक्रम्य यथाविधि। गायत्रीमभ्यसेत्तावद्यावदादित्यदर्शनम् ॥

और सायंसन्ध्या सूर्यास्तसे पूर्व की जाय और मध्याह्नसन्ध्या ठीक दोपहरके समय की जाय। समयकी पाबंदी रखनेसे नियमकी पाबंदी तो अपने-आप हो जायगी। इसलिये इस प्रकार ठीक समयपर सन्ध्या करनेवाला पूर्वोक्तकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। तीसरी बात यह है कि तीनों कालकी अथवा दो कालकी सन्ध्या नियमपूर्वक और समयसे तो हो ही, उसे प्रेमपूर्वक एवं आदरभावसे किया जाय तो और भी उत्तम है। किसी कार्यमें प्रेम और आदरबुद्धि होनेसे वह अपने-आप ठीक समयपर और नियमपूर्वक होने लगेगा। जो लोग इस प्रकार इन तीनों बातोंका ध्यान रखते हुए श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान् सूर्यनारायणकी जीवनभर उपासना करेंगे, उनकी मुक्ति निश्चित है।

महाभारतके आदिपर्वमें जरत्कारु ऋषिकी कथा आती है। वे बड़े भारी तपस्वी और मनस्वी थे। उन्होंने सर्पराज वासुकिकी बहिन अपने ही नामकी नागकन्यासे विवाह किया। विवाहके समय उन्होंने उस कन्यासे यह शर्त की थी कि यदि तुम मेरा कोई भी अप्रिय कार्य करोगी तो मैं उसी क्षण तुम्हारा परित्याग कर दूँगा। एक बारकी बात है, ऋषि अपनी धर्मपत्नीकी गोदमें सिर रखे हुए लेटे हुए थे कि उनकी आँख लग गयी। देखते-देखते सूर्यास्तका समय हो आया। किन्तु ऋषि जागे नहीं, वे निद्रामें थे। ऋषिपत्नीने सोचा कि ऋषिकी सायंसन्ध्याका समय हो गया; यदि इन्हें जगाती हूँ तो ये नाराज होकर मेरा परित्याग कर देंगे और यदि नहीं जगाती हूँ तो सन्ध्याकी वेला टल जाती है और ऋषिके धर्मका लोप होता है। धर्मप्राणा ऋषिपत्नीने अन्तमें यही निर्णय किया कि पतिदेव मेरा परित्याग चाहे भले ही कर दें, परन्तु उनके धर्मकी रक्षा मुझे अवश्य करनी चाहिये। यही सोचकर उसने पतिको जगा दिया। ऋषिने अपनी इच्छाके विरुद्ध जगाये जानेपर रोष प्रकट किया और अपनी पूर्व प्रतिज्ञाका स्मरण दिलाकर पत्नीको छोड़ देनेपर उतारू हो गये। जगानेका कारण बतानेपर ऋषिने कहा कि 'हे मुग्धे! तुमने इतने दिन मेरे साथ रहकर भी मेरे प्रभावको नहीं जाना। मैंने आजतक कभी सन्ध्याकी वेलाका अतिक्रमण नहीं किया। फिर क्या आज सूर्यभगवान् मेरा अर्घ्य लिये बिना ही अस्त हो सकते थे? कभी नहीं।

शक्तिरस्ति न वामोरु मयि सुप्ते विभावसोः॥
अस्तं गन्तुं यथाकालमिति मे हृदि वर्तते।[१]

(महा० आदि० ४७। २५-२६)

सच है, जिस भक्तकी उपासनामें इतनी दृढ़ निष्ठा होती है, सूर्यभगवान् उसकी इच्छाके विरुद्ध कोई कार्य कर नहीं सकते। हठीले भक्तोंके लिये भगवान्‌को अपने नियमोंको भी तोड़ना पड़ता है।

अन्तमें हम गायत्रीके सम्बन्धमें कुछ निवेदन कर अपने लेखको समाप्त करते हैं। सन्ध्याका प्रधान अङ्ग गायत्री-जप ही है। गायत्रीको हमारे शास्त्रोंमें वेदमाता कहा गया है। गायत्रीकी महिमा चारों ही वेद गाते हैं। जो फल चारों वेदोंके अध्ययनसे होता है, वह एकमात्र व्याहृतिपूर्वक गायत्रीमन्त्रके जपसे हो सकता है।[२] इसीलिये गायत्री-जपकी शास्त्रोंमें बड़ी महिमा गायी गयी है। योगी याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—'प्रतिदिन सात बार जप करनेसे गायत्रीदेवी शरीरको पवित्र करती हैं, दस बारके जपसे स्वर्गलोककी प्राप्ति कराती हैं, बीस बार जप करनेसे शिवलोकमें पहुँचा देती हैं और एक सौ आठ बारके जपसे तो जन्म-मृत्युरूपी संसारसमुद्रसे तार देती हैं। गायत्री दस बारके जपसे वर्तमान जन्मका, सौ बारके जपसे पूर्वजन्मका तथा एक हजार जप करनेसे तीन जन्मोंका पाप नष्ट कर देती हैं। यदि अङ्गोंसहित चारों वेद और सभी शास्त्र पढ़ लिये गये, तो भी जो गायत्रीको तत्त्वतः नहीं जानता उसका सारा परिश्रम व्यर्थ है।'[३] बृहद्यमस्मृतिका वचन है कि

१- हे सुन्दरि! सूर्यमें इतनी शक्ति नहीं है कि मैं सोता रहूँ और वे नियत समयपर [मुझसे अर्घ्य लिये बिना ही] अस्त हो जायँ। मेरे हृदयमें ऐसा दृढ़ विश्वास है।

२- एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्। सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥

(मनुस्मृति २। ७८)

३- सप्तभिः पावयेद्देहं दशभिः प्रापयेद्दिवम्। विंशत्यावर्तिता देवी नयते चेश्वरालयम्॥
अष्टोत्तरशतं जप्ता तारयेज्जन्मसागरात्।
दशभिर्जन्मजनितं शतेन तु पुराकृतम्। त्रिजन्मजं सहस्रेण गायत्री हन्ति किल्बिषम्॥
वेदाः साङ्गास्तु चत्वारोऽधीताः सर्वेऽथ वाङ्मयाः। गायत्रीं यो न जानाति वृथा तस्य परिश्रमः॥

(योगियाज्ञवल्क्यस्मृति)

'द्विज केवल वेदोंके अध्ययनसे उस प्रकार अपने पापोंको दग्ध नहीं कर सकता, जिस प्रकार गायत्री-मन्त्रके जपसे वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।'[1] भगवान् मनु कहते हैं कि 'जो पुरुष प्रतिदिन आलस्यका त्याग करके तीन वर्षतक गायत्रीका जप करता है, वह मृत्युके बाद वायुरूप होता है और उसके बाद आकाशकी तरह व्यापक होकर परब्रह्मको प्राप्त करता है।'[2]

जप तीन प्रकारका कहा गया है—(१) वाचिक, (२) उपांशु एवं (३) मानसिक। एककी अपेक्षा दूसरेको उत्तरोत्तर अधिक लाभदायक माना गया है। अर्थात् वाचिककी अपेक्षा उपांशु और उपांशुकी अपेक्षा मानसिक जप अधिक लाभदायक है।[3] वाचिक जप उसे कहते हैं, जो जिह्वाके द्वारा शब्दोंका स्पष्ट उच्चारण करते हुए किया जाय। उपांशु वह है, जो केवल होठ हिलाकर इतने धीमे स्वरसे किया जाय कि दूसरा पास बैठा हुआ भी उसे सुन न सके। और मानस जप वह कहलाता है जो केवल मनसे किया जाय, जिसमें वाणीका बिल्कुल उपयोग न हो। इन सबमें मानस जप श्रेष्ठ है। जप जितना अधिक हो, उतना ही विशेष लाभदायक होता है। ब्रह्मचारी और गृहस्थोंको प्रति समय कम-से-कम १०८ बार जप करना चाहिये तथा वानप्रस्थ एवं संन्यासियोंको दो हजारसे भी अधिक गायत्री-जप करना चाहिये।[4] जपके समय गायत्रीके आदि और अन्तमें भी प्रणव लगाना चाहिये। योगी याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—

ओङ्कारं पूर्वमुच्चार्य भूर्भुवः स्वस्ततः परम्।
गायत्रीं प्रणवं चान्ते जप्यं ह्येवमुदाहृतम्॥

अर्थात् 'पहले ओङ्कारका उच्चारण करना चाहिये, फिर भूर्भुवः स्वः—इन तीन व्याहृतियोंका। तत्पश्चात् गायत्री-मन्त्रका उच्चारण करके अन्तमें भी प्रणव लगाना चाहिये। गायत्री-मन्त्रका जप ऐसा ही बताया गया है।'

महाभारत, शान्तिपर्व (मोक्षधर्मपर्व)-के १९९वें तथा २००वें अध्यायोंमें गायत्रीकी महिमाका एक बड़ा सुन्दर उपाख्यान मिलता है। कौशिक गोत्रमें उत्पन्न हुआ पिप्पलादका पुत्र एक बड़ा तपस्वी धर्मनिष्ठा ब्राह्मण था। वह गायत्रीका जप किया करता था। लगातार एक हजार वर्षतक गायत्रीका जप कर चुकनेपर सावित्रीदेवीने उसको साक्षात् दर्शन देकर कहा कि मैं तुझपर प्रसन्न हूँ। परन्तु उस समय पिप्पलादका पुत्र जप कर रहा था। वह चुपचाप जप करनेमें लगा रहा और सावित्रीदेवीको कुछ भी उत्तर नहीं दिया। वेदमाता सावित्रीदेवी उसकी इस जपनिष्ठापर और भी अधिक प्रसन्न हुईं और उसके जपकी प्रशंसा करती वहीं खड़ी रहीं। जिनकी साधनमें ऐसी दृढ़ निष्ठा होती है कि साध्य चाहे भले ही छूट जाय परन्तु साधन नहीं छूटना चाहिये, उनसे साधन तो छूटता ही नहीं, साध्य भी उनके पीछे-पीछे श्रद्धा और प्रेमके कारण उनके इशारेपर नाचता रहता है। साधननिष्ठाकी ऐसी महिमा है। जपकी संख्या पूरी होनेपर वह धर्मात्मा ब्राह्मण खड़ा हुआ और देवीके चरणोंमें गिरकर उनसे यह प्रार्थना करने लगा कि 'यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो कृपा करके मुझे यह वरदान दीजिये कि मेरा मन निरन्तर जपमें लगा रहे और जप करनेकी मेरी इच्छा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे।' भगवती उस ब्राह्मणके निष्कामभावको देखकर बड़ी प्रसन्न हुईं और तथास्तु कहकर अन्तर्द्धान हो गयीं।

ब्राह्मणने फिर जप प्रारम्भ कर दिया। देवताओंके सौ वर्ष और बीत गये। पुरश्चरणके समाप्त हो जानेपर साक्षात् धर्मने प्रसन्न होकर उस ब्राह्मणको दर्शन दिये और स्वर्गादि लोकोंको माँगनेको कहा। परन्तु ब्राह्मणने धर्मको भी यही उत्तर दिया कि 'मुझे सनातन लोकोंसे क्या प्रयोजन है, मैं तो गायत्रीका जप करके आनन्द करूँगा।' इतनेमें ही काल (आयुका परिणाम करनेवाला देवता), मृत्यु (प्राणोंका वियोग करनेवाला देवता) और यम (पुण्य-पापका फल देनेवाला देवता) भी उसकी तपस्याके प्रभावसे वहाँ आ पहुँचे। यम और कालने भी उसकी तपस्याकी बड़ी प्रशंसा की। उसी समय तीर्थयात्राके निमित्त निकले हुए राजा इक्ष्वाकु भी वहाँ

१- न तथा वेदजपतः पापं निर्दहति द्विजः। यथा सावित्रीजपतः सर्वपापैः प्रमुच्यते।

२- योऽधीतेऽहन्यहन्येतां स्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः। स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥ (२।८२)

३- त्रिविधो जपयज्ञः स्यात्तस्य भेदं निबोधत। वाचिकश्च उपांशुश्च मानसस्त्रिविधः स्मृतः॥
त्रयाणां जपयज्ञानां श्रेयान् स्यादुत्तरोत्तरः॥ (नृसिंहपुराण)

४- ब्रह्मचारी गृहस्थश्च शतमष्टोत्तरं जपेत्। वानप्रस्थश्च संन्यस्तो द्विसहस्राधिकं जपेत्॥ (मनुस्मृति)

आ पहुँचे। राजाने उस तपस्वी ब्राह्मणको बहुत-सा धन देना चाहा; परन्तु ब्राह्मणने कहा कि 'मैंने तो प्रवृत्तिधर्मको त्यागकर निवृत्ति-धर्म अङ्गीकार किया है, अतः मुझे धनकी कोई आवश्यकता नहीं है। तुम्हीं कुछ चाहो तो मुझसे माँग सकते हो। मैं अपनी तपस्याके द्वारा तुम्हारा कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ?' राजाने उस तपस्वी मुनिसे उसके जपका फल माँग लिया। तपस्वी ब्राह्मण अपने जपका पूरा फल राजाको देनेके लिये तैयार हो गया, किन्तु राजा उसे स्वीकार करनेमें हिचकिचाने लगे। बड़ी देरतक दोनोंमें वाद-विवाद चलता रहा। ब्राह्मण सत्यकी दुहाई देकर राजाको माँगी हुई वस्तु स्वीकार करनेके लिये आग्रह करता था और राजा क्षत्रियत्वकी दुहाई देकर उसे लेनेमें धर्मकी हानि बतलाते थे। अन्तमें दोनोंमें यह समझौता हुआ कि ब्राह्मणके जपके फलको राजा ग्रहण कर लें और बदलेमें राजाके पुण्य-फलको ब्राह्मण स्वीकार कर ले। उनके इस निश्चयको जानकर विष्णु आदि देवता वहाँ उपस्थित हुए और दोनोंके कार्यकी सराहना करने लगे, आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा होने लगी। अन्तमें ब्राह्मण और राजा दोनों योगके द्वारा समाधिमें स्थित हो गये। उस समय ब्राह्मणके ब्रह्मरन्ध्रमेंसे एक बड़ा-सा तेजका पुञ्ज निकला और सबके देखते-देखते स्वर्गकी ओर चला गया और वहाँसे ब्रह्मलोकमें प्रवेश कर गया। ब्रह्माने उस तेजका स्वागत किया और कहा कि अहा! जो फल योगियोंको मिलता है, वही जप करनेवालोंको भी मिलता है। इसके बाद ब्रह्माने उस तेजको नित्य आत्मा और ब्रह्मकी एकताका उपदेश दिया, तब उस तेजने ब्रह्माके मुखमें प्रवेश किया। और राजाने भी ब्राह्मणकी भाँति ब्रह्माके शरीरमें प्रवेश किया। इस प्रकार शास्त्रोंमें गायत्री-जपका महान् फल बताया गया है। अतः कल्याणकामियोंको चाहिये कि वे सन्ध्या और गायत्रीरूपी इस स्वल्प आयाससे साध्य होनेवाले साधनके द्वारा शीघ्र-से शीघ्र मुक्ति लाभ करें।

प्रेममार्गद्वारा भगवत्साधना

(लेखक—प्रो० श्रीजगन्नाथप्रसादजी मिश्र एम्० ए०, बी० एल्०)

भगवत्-साधनाके तीन मार्ग—कर्म, दान एवं भक्ति बहुत प्राचीन कालसे हमारे देशमें प्रचलित हैं। इन तीन मार्गोंमें परस्पर विरोध नहीं है। साधककी जैसी प्रवृत्ति होती है, उसके अनुसार वह इन तीन मार्गोंमेंसे किसी भी मार्गका अवलम्बन करके अपने चरम लक्ष्यकी प्राप्ति कर सकता है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें इन तीन धाराओंका ही पुण्य-सङ्गम साधन करके त्रिवेणीकी रचना की है। जिसमें अवगाहन करके जीव ब्रह्म-सायुज्य लाभ कर सकता है।

जीव किस प्रकार ब्रह्म हो सकता है? साधनाद्वारा। और वह साधना क्या है? भगवान् सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। उनमें सत्, चित् और आनन्दका जो भाव है वही भाव जीवमें भी है; क्योंकि भगवान्ने गीतामें कहा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

किन्तु भगवान्में सत्, चित् और आनन्दके भाव जहाँ व्यक्त हैं वहाँ जीवमें अव्यक्त हैं; एकमें प्रकट हैं, दूसरेमें प्रच्छन्न हैं; एकमें विकसित अवस्थामें हैं, दूसरेमें बीजावस्थामें हैं। इसलिये इन तीनों भावोंको सुव्यक्त करनेपर ही जीव ब्रह्ममय हो सकता है। सत्, चित् और आनन्द-भावके एक साथ ही पूर्ण विकसित होनेपर जीव अपनेको 'चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्' कह सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रह्म-सायुज्यलाभके लिये कर्म, ज्ञान एवं भक्ति—इन तीनोंमेंसे केवल एक कोई-सा मार्ग यथेष्ट नहीं है। भगवान् जिस प्रकार प्रतापघन एवं प्रज्ञाघन हैं, उसी प्रकार वे प्रेमघन भी हैं। अर्थात् वे एक साथ ही Power, Wisdom, Bliss—प्रताप, प्रज्ञा एवं प्रेमके उच्छल प्रस्रवण हैं।

भगवान्को प्रेममय समझकर प्रेममार्गद्वारा उनकी साधना सभी देशोंके प्रेमिक भक्तों एवं साधकोंमें देखी जाती है। महात्मा ईसाके उपदेशोंका सार मर्म है—'God is Love.' अमेरिकाके ऋषि एमर्सनने लिखा है—'The essence of God is Love.' आजसे हजारों वर्ष पूर्व भारतवर्षके ऋषियोंके कण्ठसे यह वाणी उद्घोषित हुई थी—

रसो वै सः। रस१ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति ....।'

'स एव रसानां रसतमः।'

अर्थात् भगवान् आनन्द एवं माधुर्यकी पराकाष्ठा हैं—Supremest Delight और Sweetest Love हैं। उपनिषद्में भगवान्को 'मधु ब्रह्म' कहा गया है।

'मधु क्षरति तद्ब्रह्म'

ऋग्वेदका 'मधु वाता ऋतायते, मधु क्षरन्ति सिन्धवः'—इत्यादि मन्त्र भी अखिल विश्वके मधुमय रूपकी ही घोषणा करता है। अपने इस मधुमय रूपमें भगवान् जीवके लिये सबसे बढ़कर प्रिय—पुत्र, धन, आत्मीय स्वजन सबसे बढ़कर प्रेय हैं—'प्रेयः अन्यस्मात् सर्वस्मात्'। भगवान् प्रियतम हैं— परम प्रेमास्पद हैं—

'अयमात्मा परमानन्दः परमप्रेमास्पदम् यतः।'

'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा'॥ (नारद०)

मुसलमान सूफी भक्तोंने भी भगवान्‌को इस प्रेममय रूपमें हृदयङ्गम किया है और उन्हें माशूक (Beloved) और जीवको आशिक (Lover) कहकर सम्बोधन किया है। प्रेमलीलामें भगवान् रमण और भक्त रमणी बन जाते हैं। भक्तोंकी दृष्टिमें भगवान् माधुर्यसघन प्रतीत होते हैं—'अधरं मधुरं वदनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्'। मौलाना जलालुद्दीन रूमी एक बड़े भारी सूफी भक्त हो गये हैं। उन्होंने कहा है—'When the love of God arises in thy heart, without doubt God also feels for thee.' अर्थात् भगवान्‌के लिये तुम्हारे हृदयमें जब प्रेमभाव उदित होगा, तो निःसन्देह भगवान्‌को भी तुम्हारे लिये चिन्ता होगी। मौलाना रूमीकी कुछ कविताओंका भावार्थ इस प्रकार है—

मधुरातिमधुर गीतोंमें रूमी यही गा रहा है कि समस्त प्रकृति भगवान्‌के दिव्य प्रेममें सराबोर है। यहाँतक कि ये प्यारी-प्यारी कोमल-कोमल लता-वल्लरियाँ भी उसी परम प्रियतमका प्रेमास्वादन करती हुई झूम रही हैं।

संसारके यावत् पदार्थोंमें भगवान्‌की शक्ति और कान्ति छलक रही है। जहाँ भी, जो कुछ भी सुन्दर एवं मधुर है, उसमें भगवान्‌का सौन्दर्य उमड़ रहा है।

इस प्रेम-मन्दिरमें जो प्रेम-पुजारी हैं वे प्रियतमकी रूप शिखापर अपने प्राणोंको न्योछावर कर चुके हैं—ठीक जैसे दीपशिखापर शलभ।

सूफी भगवान्‌का संगम नहीं, विरह चाहते हैं—'सङ्गमविरहविकल्पे वरमिह विरहः········।' उन्हें विरहकी अविराम गतिमें ही आनन्द मिलता है—

'May I seek and ever seek. but may I never find!'

'The Sufis do not desire to be united to the Beloved. Why? Because they believe such a consummation would rob them of the ecstasy of endeavour and of constant questing'.

अर्थात् सूफी अपने प्रियतम भगवान्‌से मिलना नहीं चाहते। क्यों? इसलिये कि मिलनमें उन्हें वह आनन्द प्राप्त नहीं होगा जो आनन्द उन्हें मिलनके प्रयत्नमें और निरन्तर सन्धानमें प्राप्त होता है।

ईसाई संतोंने भी आनन्दमय, मधुमय एवं प्रेममय रूपमें भगवान्‌की साधना की है। ईसाई रहस्यवादियोंकी भाषामें भगवान् 'Dolee Amori or Sweetest Love' अर्थात् रसघन आनन्दरूप हैं। 'Where pleasure is, there is God'—Browning.

ईसाई रहस्यवादियोंका कथन है—

'Love raises the spirit above reverence into one of laughter and dalliance. Lovers of God have a borror of solemnity. They are not afraid with any amazement—they are at home.'

भगवान्‌के जो प्रेमिक होते हैं, उनका भगवान्‌के प्रति विस्मययुक्त श्रद्धाका भाव नहीं बल्कि हास्य-कौतुक एवं लीला-विभ्रमका भाव होता है। सखाभावसे वे भगवान्‌की आराधना करते हैं—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।

'All mystical thinkers agree in declaring that there is a mutual attraction between the spark of the soul, the free divine germ in man and the fount from which it came forth. We long for the Absolute only in so far as in us the Absolute also longs.'

अर्थात् रहस्यवादियोंकी दृष्टिमें जीवात्मा एवं परमात्माके बीच निरन्तर आकर्षणका भाव बना रहता है। यह आकर्षण पारस्परिक होता है। हममें परमात्माका जो अंश है वह जिस सीमातक परमात्मासे मिलनेके लिये लालायित रहता है, उसी सीमातक हम भी परमात्मासे मिलनेके लिये लालायित रहते हैं।'

'Surrender is its secret—a personal surrender, not only of finite to infinite but of bride to Bridegroom, heart to Heart.'

अर्थात् प्रेमिक एवं प्रेमिकाके बीच हृदय-हृदयका सम्पूर्ण मिलन—पूर्ण आत्मसमर्पण ही इसकी कुंजी है। रहस्यवादियोंकी भाषामें इसे ही कहते हैं परमात्माके साथ जीवात्माका रहस्यपूर्ण विवाह—'The mystic marriage of the soul with God.' दूसरे शब्दोंमें 'It is a passive and joyous yielding up of the virgin soul to its Bridegroom, a silent marriage vow.' 'Orisan brings to gether the two lovers—God and the Soul—into a joyful room where they speak much of love.'

इस प्रकार प्रेमिक भक्तकी आत्माका उत्थान आराधनासे आरम्भ होता है और उसका अन्त आध्यात्मिक विवाह-सम्बन्धमें होता है। यूरोपमें सेंट टेरेसा नामकी एक प्रसिद्ध साधिका हो गयी हैं। उन्होंने अपनी आत्मविरह-अवस्थाका वर्णन इस प्रकार किया है—

The pain grows to such a degree of intensity that in spite of oneself one cries aloud. Moreover, the intense and painful concentration upon the Divine Absence, which takes place in this 'dark rapture' induces all the psycho-physical marks of ecstasy. Although this ecstasy lasts but a short time, the bones of the body seem to be disjointed by it. The pulse is as feeble as if one were at the point of death........ She is no longer the mistress of her reasons........ She burns with a consuming thirst and cannot drink at the well which she desires.'

अर्थात् इस विरहावस्थामें विरहवेदनाकी तीव्र अनुभूति होने लगती है। रभस (ecstasy)-के कुल लक्षण प्रकट होने लगते हैं। नाडीकी गति इतनी मन्द हो जाती है मानो मृत्यु सन्निकट हो····अब वह चेतनावस्थामें नहीं रह जाती। उसकी पिपासा तीव्र हो उठती है, किन्तु वह उस उत्ससे अपनी पिपासा शान्त करनेमें असमर्थ होती है।

रहस्यवादियोंकी भाषामें इसे 'dark night of the soul' कहते हैं। 'In the dark night of the soul comes Krishna to Radha.'—Vaswani. विरहावस्थामें ही राधाके साथ कृष्णका चिरमिलन होता है। विरहावस्थामें कामज प्रेमका लवलेश भी नहीं रह जाता और भगवान्के प्रति विशुद्ध प्रेमकी स्थापना होती है।

'In the midst of a psychic storm (विरह) mercenary love is forever dis-established and the new state of pure love is abruptly established in its place. With mystics, the dark night is all directed towards the essential mystic act of utter self-surrender.'

'विरह-वेदनाकी तीव्र अनुभूतिकी दशामें स्वार्थजन्य प्रेमका सदाके लिये अन्त हो जाता है और उसके स्थानपर विशुद्ध प्रेमकी स्थापना होती है। रहस्यवादियोंके लिये यह विरहावस्था भगवान्के प्रति सम्पूर्ण आत्मसमर्पणकी अवस्था है।' भगवान् अपने भक्तोंको इस परीक्षाग्निमें तपा-तपाकर उनके प्रेमको विशुद्ध बना डालते हैं।

'In order to raise the soul from imperfection', said the voice of God to St. Catherine, 'I withdraw myself from her sentiments—which I do in order to humiliate her, and to cause her to seek Me in truth.

इस प्रकार विरहकी आँचमें तपकर जब प्रेम सम्पूर्ण विशुद्ध बन जाता है, तब जीव और ब्रह्मका महामिलन होता है और भूमानन्दकी प्राप्ति होती है। उस समय 'The soul swims in the sea of joy'— जीवात्मा सच्चिदानन्दसिन्धुका बिन्दु बनकर उसमें विलीन हो जाता है। 'God and the soul are made one thing in the Unitive state.' 'He and I become one I.'

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।

इस महामिलनके बाद फिर विरहकी अनुभूति नहीं होती। यह अच्छेद्य एवं अश्लेष्य होता है। भगवान्का विरह भक्तोंके लिये इस प्रकार ही चमत्कारपूर्ण होता है!

मातृकान्यासविवेक

(लेखक—पं० श्रीललिताप्रसादजी डबराल)

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

मातृकान्यास-पदमें मातृका और न्यास—दो शब्द हैं; इनमें मातृकापदसे स्थूलरूपमें अकारादि क्षकारान्त स्वर और व्यञ्जनरूपसे प्रचलित वर्णमालाका बोध होता है। इनका सूक्ष्म रूप आद्य विमर्श-शक्ति (स्फुरणामात्र परावाक्) है, जो इस पिण्डाण्ड (मनुष्यदेह)-में मूलाधारस्थ कुण्डलिनी नामसे प्रसिद्ध है। शारदातन्त्रमें चैतन्यात्मक शब्दब्रह्मका उपक्रम करके कहा गया है कि वह चैतन्यात्मक शब्दब्रह्म प्राणियोंके मध्यमें कुण्डलिनीस्वरूपको प्राप्त कर गद्य-पद्य आदि भेदवाले अक्षरोंके रूपमें बाहर प्रकट होता है[१]।

इसका संक्षेपमें वर्णन आगे चलकर मातृकाओंके स्वरूप-परिचयके अवसरपर किया जायगा। स्वरूप-परिचयके साथ-साथ यह भी स्पष्ट होगा कि मातृका ही देवता तथा मन्त्रस्वरूप भी हैं। और दूसरे—न्यासपदका अर्थ है इन मातृका-मन्त्रोंका न्यास करना अर्थात् पिण्डाण्डमें या यन्त्रादि पीठमें पञ्चभूत—अङ्ग तथा देवताओंकी मन्त्रोंके द्वारा स्थापना करना[२]।

परमार्थमें न्यासका सूक्ष्म रूप तो साधकके लिये पूजा—'साधना' के अनुकूल देहकी कल्पना करना है[३]।

यद्यपि—

कदाचिल्लभ्यते जन्म मानुष्यं पुण्यसञ्चयात्।

—के अनुसार ऐहिक या पारलौकिक कृत्योंके साधनयोग्य मनुष्यदेह साधकको प्राप्त ही है, इसकी मातृका (-मन्त्रों)-के द्वारा कल्पना करना निष्प्रयोजन-सा प्रतीत होता है, तथापि अपने उपास्यदेवकी साधना करनेमें अधिकारी बननेके लिये न्यासोंकी परम आवश्यकता है। इसका संक्षेपमें स्पष्ट तात्पर्य यह है कि दुर्लभ मनुष्यदेह पानेपर भी—

लोको मोहसुरां पीत्वा न वेत्ति हितमात्मनः।

—मोहमयी मदिराके पानसे उन्मत्त होकर मनुष्य अपने हिताहितका परिज्ञान नहीं कर पाता, जिससे अपने वास्तविक स्वरूपपरिचयके विपरीत ***'आये थे हरिभजनको ओटन लगें कपास'*** को चरितार्थ करता हुआ तेरी-मेरीके फेरमें पकड़कर दुःखमय संसारसागरके—

जायन्ते च म्रियन्ते च संसारे दुःखसागरे।

—जन्म-मरणमय भँवरोंमें घूमते रहना पड़ता है। इसलिये 'सतां सङ्गो हि भेषजम्' तथा—

भवार्णवतरिः शान्तो गुरुरेव परा गतिः।

—इत्यादि आगमवचनोंके अनुसार परमकृपालु गुरु श्रद्धालु उपासकको साधनामार्गमें प्रवृत्त करता है—जिसमें न्यास, जप, पूजा, होम, तर्पण आदि विधि इतिकर्तव्यताके स्वरूप हैं। इनमें न्यासोंके पूर्वाङ्गभूत प्राणप्रतिष्ठा, भूतशुद्धि, प्राणायाम आदि करनेके अनन्तर न्यासोंके द्वारा अपने देहकी शुद्ध देवतास्वरूप भावना करनेसे[४] 'देवो भूत्वा देवं यजेत्'—दिव्य देहकी प्राप्ति आवश्यक है। आगमका वचन भी है कि

१-चैतन्यं सर्वभूतानां शब्दब्रह्मेति मे मतिः। तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम्॥
वर्णात्मनाऽऽविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः॥

२-'पञ्चभूताङ्गदेवानां न्यसनान्न्यास उच्यते।'

३-'न्यासस्तु देवतात्मत्वात्स्वात्मनो देहकल्पना।'

४-तन्त्रोंमें कहा गया है कि न्यासोंके बिना जप अभीष्टप्रद न होकर आसुरी सम्पत्ति देता है। इसलिये न्यासोंके द्वारा देवमय होकर जप-ध्यान करना चाहिये।

'मन्त्राक्षराणि विन्यसेद् देवताभावसिद्धये।'

तथा—

न्यासं विना जपं प्राहुरासुरं विफलं बुधाः। न्यासात्तदात्मको भूत्वा देवो भूत्वा तु तं यजेत्॥

यहाँतक कहा गया है कि जो स्वयं शिवस्वरूप नहीं है, उसका शिवसे कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

नाशिवः शिवमभ्यस्येन्नाशिवः शिवमर्चयेत्। नाशिवस्तु शिवं ध्यायेन्नाशिवः शिवमाप्नुयात्॥

इसी सिद्धान्तके पाश्चात्त्य विद्वानोंने भी सिद्धान्तरूपसे कहा है कि यदि तुम सचाई चाहते हो तो सच्चे बनो—If you want truth, be true—इत्यादि।

भूतशुद्धि[1], प्राणायाम[2] तथा न्यासोंके किये बिना उपासक पूजा (उपासना, जप) करनेका अधिकारी नहीं हो सकता[3]।

एवं अज्ञानवश प्राप्त अहङ्कार या ममत्वके कारण आवृत हुए वास्तविक निजस्वरूपका[4] परिचय करना भी प्रयोजन है।

प्रदर्शित भूतशुद्धि-विज्ञानको प्रकृतिविज्ञान[5] कहते हैं, जो कि तत्त्वसाक्षात्कारका परम साधन[6] है। इस रीतिसे साधकके दिव्य देहकी उत्पत्ति करना तथा तत्त्वका बोध करना मातृकान्यासका प्रयोजन सिद्ध होता है। यह सब कुछ भौतिक मनुष्यदेहके द्वारा ही साध्य है, इसलिये मनुष्यदेहको मोक्षकी सीढ़ी माना गया है—

'सोपानभूतं मोक्षस्य मानुष्यं जन्म दुर्लभम्।'

मातृकाओंका निर्दिष्ट प्रयोजनसे सम्बन्ध जनानेके लिये संक्षेपमें उनके सूक्ष्मस्वरूपका दिग्दर्शन कराया जाता है।

मातृकापद मातृपदसे स्वार्थमें क प्रत्यय करनेसे

१-भूतशुद्धिका विस्तृत प्रकार देना विषयान्तर हो जाता है। संक्षेपमें इतना ही कहना है कि साधकके शरीराकारको प्राप्त हुए स्थूल-सूक्ष्म भूतोंके संहार, सृष्टि, स्थितिके द्वारा अनैश्वर्य-गुणमय पापका विनाश कर शुद्ध संविन्मय निष्पाप शरीरकी सृष्टि और स्थितिके द्वारा भूतोंकी शुद्धि करना अर्थात् अनात्मभूत भूतोंमें आत्माभिमानिता (अहङ्कार)-का त्याग कर अपनेको ब्रह्म (देवता)-मय समझना भूतशुद्धि पदार्थ है।

शरीराकारभूतानां भूतानां यद्विशोधनम्। अव्ययब्रह्मसम्पर्काद् भूतशुद्धिरियं मता॥

दूसरे वचन भी ऐसे ही मिलते हैं—पञ्चभूतोंका उपक्रम करके—

देहाभिमानिता चैव दोषाश्च समुदाहृता:। तेषामात्मपरिज्ञानाद् विज्ञाय स्वस्य ब्रह्मताम्॥
अहङ्कारपरित्याग: शुद्धिरित्यवगम्यताम्॥

२-प्राणा: शरीरपवना आयामो दैर्घ्यमुच्यते। प्राणायाम इति प्रोक्तो मुनिभि: पापनाशन:॥

अनामिका और कनिष्ठिकासे नासापुटको धारणकर शरीरवायुका पूरक, कुम्भक, रेचक रीतिसे विस्तार करना प्राणायाम कहलाता है। यह शरीरके मलोंका नाशक है।

३-प्राणायाममकृत्वा तु भूतशुद्धिमथापि वा। अकृत्वा विधिवन्न्यासान् नार्चायामधिकारवान्॥

४-जैसे चिटककर इधर-इधर चारों ओर फैलनेवाली चिनगारियाँ अग्निसे पृथक् दूसरी वस्तु नहीं हैं, या समुद्रकी तरङ्गें समुद्रसे भिन्न नहीं हैं, ऐसे ही परब्रह्म परमात्माके अंशभूत जीव भी निर्गुण सच्चिदानन्दकन्दसे अतिरिक्त नहीं हैं—

निर्गुण: सच्चिदानन्दस्तदंशा जीवसंज्ञका:। अनाद्यविद्योपहता यथाग्नौ विस्फुलिङ्गका:॥

५-परब्रह्म परमात्माकी सिसृक्षाकालमें स्फुरणात्मक आदि विमर्श-शक्ति परम प्रकृति कही जाती है, और उसके परिणामस्वरूप महदादि भूपर्यन्त सूक्ष्म-स्थूल तत्त्व, ब्रह्मादिमूर्ति अथवा निवृत्त्यादि कला तथा ब्रह्मलोकादि चतुर्दश भुवनात्मक अर्थसृष्टि और वर्णपद तथा मन्त्रात्मक शब्दसृष्टि परापर प्रकृति कहलाती है। अर्थात् परब्रह्म परमात्मासे पृथग्भूत परिदृश्यमान समस्त वस्तुजातको प्रकृति कहा जा सकता है। शारदातन्त्रमें स्पष्ट ही कहा गया है—

'निर्गुण: प्रकृतेरन्य: सगुण: सकल: स्मृत:।'

ऐसा ही अन्यत्र भी कहा गया है—

तच्छक्तिभूत: सर्वेशो भिन्नो ब्रह्मादिमूर्तिभि:। कर्ता भोक्ता च संहर्ता सकल: स जगन्मय:॥

६-निर्गुण निरञ्जन निर्विशेष परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार करना, अप्रमेय या अविषय होना कथमपि सम्भव नहीं है। इसलिये उसकी अभिव्यक्ति प्रकृतिके ही द्वारा हो सकती है। जैसे स्वयंप्रकाशस्वरूप सूर्यका आतप भी जडात्मक गृह-वृक्षादिके (आध्यासिक भी) संसर्गके बिना प्रकाशविषय नहीं होता, वैसे ही स्वभावत: अविषय आत्मा भी प्रकृतिसंसर्गके बिना विषय नहीं हो सकता। इसलिये आत्मतत्त्वविज्ञानके लिये प्रकृतिविज्ञान मुख्य साधन माना गया है। तन्त्रोंमें कहा गया है—

एकमेव परं ब्रह्म रसरूपी सनातन:। प्रकृत्या क्रियते व्यक्तस्तथाव्यक्तस्तया पुन:।
तस्मात् प्रकृतियोगेन क्षिप्रं प्रत्यक्षमाप्नुयात्॥

अद्वैत-वेदान्तियोंका भी ऐसा ही सिद्धान्त है—

निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वरा:। ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणै:॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात्। तदेवाविर्भवेत्साक्षादपेतोपाधिकल्पनम्॥

यद्यपि प्रकृति नाना है, तथापि घटत्व-पटत्वादि विषयके नाना होनेपर भी विषयिज्ञान जैसे नाना नहीं होता, वैसे ही प्रकृतिके नानात्वसे ब्रह्ममें नानात्व नहीं आ सकता।

इतराद्भिद्यमानोऽपि न भेदमुपगच्छति। पुरुषे नैव भेदोऽस्ति विना शक्तिं कथञ्चन॥

इसका पूर्णतया रहस्योद्घाटन तन्त्रोंमें दीक्षाप्रकरणमें किया गया है, यहाँपर विस्तार हो जानेके भयसे नहीं किया जाता।

बना है, जिसका माता अर्थ होता है। यह किसी एक व्यक्ति या समुदायविशेषकी माता नहीं, किन्तु विश्वमात्रकी जननी है। इसलिये इसको जगदम्बिका कहा जाता है। इसीलिये इसको विश्वमयी भी कहा गया है—

सर्वरूपमयी देवी सर्वं देवीमयं जगत्।
अतोऽहं विश्वरूपां तां नमामि परमेश्वरीम्॥

कालवश अथवा उपभोगवश प्राणियोंके कर्म क्षीण होनेसे परब्रह्म परमात्मा इस विश्वजननी आदिशक्तिको अपनेमें लीन कर लेते हैं, तब यह शक्ति सब बाह्य प्रपञ्चज्ञानको अपनेमें लीनकर चिद्-घन परमात्मामें एकरस होकर सोयी हुई-सी विश्राम करती है। इस दशाको प्रलय या सुषुप्ति कहते हैं। अनन्तर कालवश अथच सृज्यमान प्राणियोंके परिपाकोन्मुख कर्मोंके कारण परमात्मामें सिसृक्षाका उदय (परमात्मामें प्रलीन आदिशक्तिका बहिरुन्मुखीभाव) होता है। यहींसे सृष्टिका प्रारम्भ है। उस आदिशक्तिके विश्राम त्यागकर बाहर-सा आकर परमात्माके सम्मुख होनेसे परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्बभावात्मक शिव-शक्तिसम्पुटरूप 'अहम्' का प्रादुर्भाव होता है। इस दशातक पहुँचनेमें मध्यमें क्रमशः अनेक सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिणाम हो जाते हैं, जिनका विवेचन अति गहन होनेसे गुरूपदेशद्वारा साधनागम्य ही है; केवल साधारण शब्दोंमें इतना ही कहा जा सकता है कि जैसे समुचित कालमें बोया गया बीज कालशक्तिसे प्रेरित होकर सर्वप्रथम कुछ फूल जाता है, तदनन्तर जमीनके भीतर जड़ोंका प्रसार और बाहर अङ्कुरादिक्रमसे तना-शाखा-टहनियों और पत्तियोंका प्रसार करता है, उसी प्रकार परमात्मा भी सिसृक्षासे घनभावको प्राप्त होकर बाह्याभ्यन्तर शब्दार्थमयी ज्ञान-क्रियात्मक जड-चेतनात्मक-सृष्टिका प्रसार उस महेच्छारूप आद्यस्फुरणात्मक शक्तिके द्वारा करता है। यह महेच्छाशक्ति सामरस्य पदके बीज-स्थानीय है। इसलिये इसको विश्वजननी कहनेमें कोई बाधा नहीं। यही मातृकाओंका परमसूक्ष्म रूप है। यह मूल महाविन्दु कहलाता है। इसमें शुद्ध चिद्रूप शिव और चिदचित्के सङ्घातरूप पुरुष एवं अचिद्रूप प्रकृति—तीनोंका क्रमशः विन्दु, नाद और बीजरूपसे समावेश है। कालशक्तिकी प्रेरणासे शिव-प्रकृतिके उन्मुख होते ही शब्द-अर्थ किसी भी प्रकारके भेद-व्यवहार तथा अभिलापसे शून्य केवल निरावृत चिन्मय परात्मक रवकी उत्पत्ति होती है; तदनन्तर इस पराशक्तिके द्वारा कालशक्तिकी प्रेरणासे पश्यन्ती आदि शब्दसृष्टि और महदादि* तत्त्वरूप अर्थसृष्टिका आविर्भाव हुआ। इस प्रकार वर्ण, पद, मन्त्र और कलाभुवन-तत्त्वरूप शब्दार्थमयी सकल सृष्टिकी जननी पराशक्ति ही मातृका है। स्वतन्त्रानन्दनाथ भी लिखते हैं—

---

* महदादि भूपर्यन्त तत्त्वसृष्टिका भी तन्त्रोंमें प्रायः सांख्य-सम्मत ही क्रम माना गया है। चेतनवर्गमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश परमात्माके अंशभूत हैं और महत्तत्त्व मूलप्रकृति पराशक्तिका परिणाम है। उत्तरोत्तर परिणामसे अहमादि भूपर्यन्त तत्त्वों तथा चक्षुरादि दस इन्द्रियगण एवं भूतगणोंकी उत्पत्ति मानी गयी है। तन्त्रोंमें इस प्रकार कहा है—

सा तत्त्वसंज्ञा चिन्मात्रा ज्योतिषः सन्निधेस्तदा। विचिकीर्षुर्घनीभूता क्वचिदभ्येति विन्दुताम्॥
कालेन भिद्यमानस्तु स विन्दुर्भवति त्रिधा। स विन्दुनादबीजत्वभेदेन च निगद्यते॥
विन्दोस्तस्माद्भिद्यमानाद्रवोऽव्यक्तात्मकोऽभवत्। स रवः श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति गीयते॥
अव्यक्तादत्ररुदितत्रिभेदगहनात्मकम्। महन्नाम भवेत्तत्त्वं महतोऽहङ्कृतिस्तथा॥—इत्यादि

यह परा नामक मूल-प्रकृतिरूप विन्दु इच्छा-ज्ञान-क्रिया, सृष्टि-स्थिति-संहार, ब्रह्मा-विष्णु-महेश, आदि-मध्य-अवसान, जागर-स्वप्न-सुषुप्ति, पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी, ज्येष्ठा-वामा-रौद्री, चन्द्र-सूर्य-अग्नि आदि त्रिपुटीमय त्रिरेखात्मक त्रिकोणभावको प्राप्त होता है। उक्त शब्दतत्त्वकी पिण्डाण्डमें अभिव्यक्तिका प्रकार प्रसङ्गवश संक्षेपमें लिखते हैं। काल-कर्मवश जब शुक्रद्वारा पुरुष गर्भाशयमें प्रविष्ट होता है, तब वहीं उसके सब अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी रचना होती है; साथ ही उसके मूलाधारमें कुण्डलिनीरूपसे पराख्य शब्दतत्त्वका भी आधान हो जाता है। वह कुण्डलिनीरूप पराख्य अव्यक्त तत्त्व कालक्रमसे शक्ति, ध्वनि, नाद, निरोधिका, अर्द्धचन्द्र तथा विन्दुरूप अवस्थामें परिणत होकर कुछ भेदोन्मुख होता हुआ भी शब्दार्थभेदशून्य केवल ज्ञानदशामात्र नाभिप्रदेशमें आता हुआ पश्यन्ती नामको प्राप्त करता है, तदनन्तर ऊपर उठकर हृदयपर्यन्त आकर शब्दार्थभेदसे परिपूर्ण होकर मध्यमा और कण्ठदेशसे होकर मुखसे बाहर निकलकर दूसरेके कानतक पहुँचने योग्य अवस्थाको प्राप्तकर वैखरी संज्ञाको पाता है। इस रीतिसे हृद्गत भावोंको प्रकट करनेके लिये कुण्डलिनीरूपमें विद्यमान सूक्ष्म चेतनात्मक शब्दब्रह्म पश्यन्ती आदि क्रमसे गद्य-पद्यात्मक वर्णरूपमें अभिव्यक्त होता है। जैसा कि प्रपञ्चसार तन्त्रमें कहा है—

स्पर्शस्वरोल्लिखितजागरसुप्त्यवस्था-
मन्तःस्थ सूचितसुषुप्त्युदितप्रबोधाम्।
ऊष्मोक्तजागरदशोदितसुप्त्यवस्थां
मन्त्रोत्करस्य जननीं मनसा विशामः॥

सम्पूर्ण मन्त्रोंकी जननी मातृका केवल पिण्डाण्डरूप जीव दशामात्र नहीं है, किन्तु विराट्रूप भी है। जैसा कि प्रपञ्चसार तन्त्रमें कहा गया है—

अ-क-च-ट-त-प-याद्यैः सप्तभिर्वर्णवर्गै-
र्विरचितमुखवाहापादमध्याख्यहृत्का ।
सकलजगदधीशा शाश्वता विश्वयोनि-
र्वितरतु परिशुद्धिं चेतसः शारदा नः॥

अर्थात् शारदा (मातृका)-रूप परब्रह्म परमात्माका विराट् देह वर्णोंसे ही बना है। अवर्ग (सोलह स्वर)-से मुख, कवर्गसे हाथ, चवर्गसे पैर, टवर्गसे मध्यभाग, तवर्गसे त्वक्, अस्थि, मांस, मज्जा आदि धातु, पवर्गसे हृदय अर्थात् ज्ञानक्रियात्मक प्राण अथ च प्राणोंकी मूलभूत मायाशक्ति और यवर्ग (य र ल व श ष स ह)-से पुरुष आनन्दकन्द आत्मभूत परमात्मा बना है।

विद्यामातृविवेचने पुरभिदः प्रज्ञापि संमुह्यति।

—के अनुसार महाशक्तिस्वरूप मातृकाका पूर्ण विवेचन करना सर्वथा दुःसाध्य ही नहीं, असम्भव भी है। इस संक्षेप विवेचनसे ही विदित है कि मातृकाओंका निरुक्त स्वरूप मातृकान्यासके द्वारा कथित प्रयोजनकी सिद्धिके सर्वथा उपयुक्त है*।

अब संक्षेपमें सर्वविध मातृकान्यासोपयोगी सामान्य विषय दर्शाते हैं। साधारणतया इनके तीन भेद माने गये हैं—सृष्टिन्यास, स्थितिन्यास और संहारन्यास। इनमें साधनाके अनुकूल शरीरकी उत्पत्तिके लिये प्रथम न्यास किया जाता है, दूसरा न्यास उत्पन्न शरीरमें देवताके तादात्म्यकी स्थितिके लिये और तीसरे प्रकारमें साधनाविरोधी मलावृत भौतिक शरीरके विलयनकी भावना की जाती है, अथवा अनैश्वर्य आदि पशुगुणोंके विनाशार्थ संहारन्यास और

मूलाधारात्प्रथममुदितो यस्तु भावः पराख्यः। पश्चात्पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियुङ् मध्यमाख्यः॥
वक्त्रे वैखर्यथ रुरुदिषोरस्य जन्तोः सुषुम्णा। बद्धस्तस्माद्भवति पवनप्रेरितो वर्णसङ्घः॥

इस प्रकार परातत्त्व प्रथमोत्पन्न जन्तुके रोदनरूपमें आविर्भूत होता है। पुनः क्रमशः अ, क, च आदि वर्णाभिव्यक्ति-दशामें पहुँच जाता है।

* संक्षेपमें प्रघट्टकका प्रकृतोपयोगी तात्पर्य यह है कि ज्ञानशक्ति ही हृदयगत अर्थके आकारको ही अपना आकार प्रकट करती हुई सद्योजात जन्तुके रोदनादि अव्यक्तरूपमें अथच क्रमशः विकसित होनेपर वर्ण-पदादिरूपमें वैखरी-विमर्शसे प्रसार करती है। 'अकारो वै सर्वा वाक्' इस श्रुतिके अनुसार अकार सर्वप्रथम है। तन्त्रोंका ही नहीं, व्यावहारिक सिद्धान्त भी यही है कि अद्वैत तो द्वैतके बिना भी सम्भव है, परन्तु द्वैत एकके बिना सम्भव नहीं। इसलिये ज्ञान-क्रिया, भेद-अभेद इत्यादि द्वैतका एक सामरस्य-पद अवश्य है, जिसमें दोनोंका समावेश हो। और जैसे बीजसे मूल और अङ्कुर दोनों शाखाएँ क्रमशः नीचे-ऊपरको आती हैं, ऐसे ही सामरस्यपदसे दोनों विन्दु-विसर्गरूपी शाखाएँ निकलती हैं—इसलिये यह अकार विन्दु, विसर्ग (शिव-शक्ति, भेद-अभेद)-का सामरस्यपद है। प्रत्येकको व्याप्तिमें विन्दु विसर्गरूपको प्राप्त करता है। इन दोनोंकी सर्वत्र व्याप्ति है, इसलिये वर्तमान प्रसिद्ध आनुपूर्वीमें इनका सबसे अन्तमें पाठ है और व्यञ्जनोंका स्वरोंके बिना उच्चारण नहीं हो सकता, इसलिये व्यञ्जनोंसे भी पूर्व स्वरोंका पाठ रखा है। पुनः विमर्शवश सामरस्यपदसे यथावसर विन्दु या विसर्गकी व्याप्तिसे इच्छा (आदि)-ज्ञान (मध्य)-क्रिया (अवसान), प्रमेय-प्रमाण-प्रमातृ आदि अनेक त्रिपुटीमय कक्षाओंके ईक्षणादि न्यायसे प्रादुर्भावस्वरूप षोडश स्वरों तथा सम्पूर्ण मातृकाकी अभिव्यक्ति हुई एवं सम्पूर्ण मातृकामन्त्र सोम, सूर्य और अग्निरूप, प्रमेय-प्रमाण-प्रमातृ तथा स्वर्ग-भू-पाताल आदि अनेक त्रिपुटीमय हैं। अकारादि विसर्गान्त षोडश स्वर सौम्य और प्रमेय-कक्षाके हैं। कादि मान्त पचीस स्पर्श वर्ण सौर तथा प्रमाण-कक्षाके हैं एवं यादि हान्त आठ व्यापक वर्ण प्रमातृ-कक्षाके हैं। इसलिये मातृकाको 'त्रिधाम-जननी' कहा है। जैसे सामरस्यपद सर्वत्र व्याप्त है, वैसे ही प्रत्येक पदमें भी प्रत्येक पद यामल-सिद्धान्तसे नित्य अनुवर्तमान है। केवल विन्दु या विसर्गकी व्याप्तिके प्राधान्याप्राधान्यसे भेद रहता है। इस सिद्धान्तसे मातृकामन्त्रका प्रत्येक खण्ड भी तीनों पदोंसे व्याप्त है। स्वर-खण्डको ही देखिये—ह्रस्व-दीर्घ असे ऊतक तो विन्दु-विसर्ग दोनोंके प्रमेय हैं, ह्रस्व विन्दुके और दीर्घ विसर्गके। ऋ, ॠ, ऌ, ॡ ,ए, ऐ, ओ, औ सन्ध्यक्षर प्रमातृ-प्रमेयके सम्मिश्रणात्मक भेदाभेदके प्रमाणपद हैं और विन्दु-विसर्ग भेदाभेदके प्रमातृपद हैं। वर्तमान अनुलोम क्रम विसर्ग-व्याप्ति और इसका प्रतिलोम क्रम विन्दु-व्याप्तिको सूचित करता है। ह्रस्व (विन्दु) शिवस्वरूप होनेसे पुरुषसंज्ञक और दीर्घ (विसर्ग) शक्तिरूप होनेसे स्त्रीसंज्ञक है। बलप्रधान पुरुष दक्ष अङ्ग कहाता है, इसलिये ह्रस्वोंका न्यास दक्ष अङ्गोंमें होता है और दुर्बल वाम अङ्गोंमें स्त्रीसंज्ञक दीर्घोंका न्यास होता है। ऋ, ॠ ऌ, ॡ—इन चारोंमें दोनोंका समप्रधान भाव होनेसे इनकी नपुंसक संज्ञा है।

ऐश्वर्य आदि शिवगुणोंकी उत्पत्तिके लिये सर्गन्यास है।

पुनः सुविधाकी परिस्थितिके अनुसार भी न्यासोंका विधान है। पूर्ण सावधान दशामें पूरे विधानके सहित[1] स्वर वा व्यञ्जन तथा लिपि-पारायणक्रमसे न्यास करना सौस्थानिक न्यास कहाता है। कार्यान्तरमें व्यग्र रहने या उचित देश-कालकी परिस्थिति न रहनेसे औत्थानिक-न्यास किये जाते हैं। इस क्रममें अ, क, च, ट, त, प, य—इन सात वर्गोंसे क्रमशः मुख, दो हाथ, दो पाँव, नाभि और हृदय—इन सात अङ्गोंमें व्यापक रीतिसे न्यास किया जाता है। स्नानकालमें अ, क, च आदि वर्गोंसे मुख—मध्यभाग और अधोभाग (पाद) में व्यापक रीतिसे न्यास करना होता है, और भोजनकालमें समस्त मातृकाके द्वारा सम्पूर्ण अङ्गों—मस्तकादि पादान्तमें व्यापक रीतिसे न्यास करना होता है। पुण्यस्थलकी प्राप्तिमें तो औत्थानिककी प्राप्तिमें भी सम्पूर्ण ही न्यास करना है।

पुनः अन्तर्मातृकान्यास और बहिर्मातृका-न्यासके दो प्रकार[2] होते हैं। इन न्यासोंके पूर्व पूर्वाङ्गभूत ऋष्यादिन्यास करने होते हैं; ऋषि[3], छन्द[4],

---

१- मन्त्रपारायण स्वर-व्यञ्जन भेदसे दो प्रकारका है। स्वरपारायण—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः—इन सोलह स्वरोंके ब्रह्मादि षोडश देवता हैं; जिस देवताका जप-ध्यान-न्यास करना हो, उसका अक्षर प्रधान माना जायगा। जप-ध्यान या न्यासमें एक षोडशदल कमलकी कल्पना करनी होती है; उसके मध्यभाग कर्णिकामें, जैसे नीचे चित्रमें दिखाया गया है, प्रधान अक्षर प्रधान देवताका न्यासादि किया जाता है और सोलह दलोंमें अकारादि षोडश स्वरोंका, प्रधान देवता तथा अक्षरका आदिमें प्रणव लगाकर सम्पुटित करते हुए न्यासादि किया जाता है—जैसे अकारके षोडशदल कमलकी कर्णिकामें ॐ अं नमः। प्रधान अक्षरका न्यासादि कर दलोंमें पूर्वादि क्रमसे विद्याभेदसे वामावर्त या दक्षिणावर्त, जैसा सम्प्रदाय हो, ॐ अं अं नमः प्रथम दलमें। ॐ अं आं नमः द्वितीय दलमें। ॐ अं इं नमः तृतीय दलमें। ॐ अं ईं नमः चतुर्थ दलमें। इत्यादि रीतिसे प्रधान मातृकाको प्रणव और एक-एक अकारादि स्वरसे सम्पुटित कर रखता जाय। इसी रीतिसे आकारादि पंद्रह स्वरोंका आकारादि षोडशदल पद्मोंकी पृथक्-पृथक् कल्पना करके ॐ आं नमः, ॐ इं नमः, ॐ ईं नमः—इत्यादि रीतिसे कर्णिका-भागमें न्यासादि करके दलोंमें ॐ आं अं नमः। ॐ आं आं नमः। ॐ आं इं नमः। तथा ॐ इं अं नमः। ॐ इं आं नमः। ॐ इं इं नमः। एवं ॐ ईं अं नमः। ॐ ईं आं नमः। ॐ ईं इं नमः। ॐ ईं ईं नमः। इत्यादि रीतिसे प्रत्येक षोडशदल कमलके सोलहों दलोंमें न्यासादि करे।

व्यञ्जनपारायण-क्रममें भी 'विना स्वरैस्तु नान्येषां जायते व्यक्तिरञ्जसा'—स्वरोंकी सहायताके बिना व्यञ्जनका उच्चारण सम्भव नहीं। अतः स्वरोंको प्रधान तथा व्यञ्जनोंको स्वरोंका परिवार मानना होगा। 'इसलिये व्यञ्जनोंकी संख्याके अनुसार षोडशदल कमलोंकी भावना कर प्रत्येककी कर्णिकामें ब्रह्मादि षोडशमूर्तिके पारायण-क्रमसे' 'ॐ अं नमः' इत्यादि अकारादि वर्णोंका न्यासादि करके दलोंमें प्रत्येक व्यञ्जनके साथ स्वरमातृका जोड़कर 'ॐ अं कं नमः'। ॐ अं कां नमः। ॐ अं किं नमः।' इत्यादि रीतिसे अकार-परिवारके रूपमें कादि क्षान्त वर्णोंका न्यासादि करना होगा। इसमें इतना ध्यान रखना होगा कि व्यञ्जनपारायणमें अकार, एक विशेष प्रकारका द्वितीय लकार एवं क्षकार—ये तीन अक्षर अधिक जोड़कर पचीस कादि मान्त स्पर्श वर्ण, यादि वान्त चार अन्तःस्थ और चार शादि हान्त ऊष्म—सब मिलकर ३६ व्यञ्जन माने गये हैं। इसलिये व्यञ्जनपारायण षोडशविध होगा। एवं आकारपरिवारके रूपमें तथा इकारादिपरिवारके रूपमें भी कर्णिकास्थानमें आकारादिपरिवारी प्रधान वर्णके साथ व्यञ्जन माना गया अकार आयेगा। इन पारायणोंके ब्रह्म-ब्रह्मपारायण, ब्रह्म-विष्णुपारायण, ब्रह्म-रुद्रपारायण इत्यादि मन्त्र-देवतादि नाम होते हैं।

उक्त क्रम अक्षरोंसे बननेवाले मन्त्रपारायणका है। विद्या तथा मन्त्रभेदसे पारायणके भी अनन्त प्रकार होंगे।

२- ऋष्यादि-न्यासका करना तन्त्रोंमें आवश्यक कहा गया है—

ऋषिच्छन्दोदेवतानां विन्यासेन विना यदा।
जप्यते साधितोऽप्येष तस्य तुच्छं फलं भवेत्॥

३-ऋषि शब्द गत्यर्थक ऋ धातु तथा 'षिङ् प्रापणे' से बना है। अर्थात् जो मन्त्रगतिसे परमात्माके स्वरूपको प्राप्त करता है, वह परमात्मा ही ऋषि है। यद्यपि साधारणतया ऐसी प्रसिद्धि है कि मन्त्र-द्रष्टा ऋषि कहलाते हैं, शिष्य नहीं; और शिष्य मन्त्रगतिसे परमात्माके स्वरूपको प्राप्त कर सकता है ऐसी शङ्का हो सकती है; तथापि साधक मन्त्र पाकर परमात्मरूप हो—सिद्धावस्थापन्न हो गुरुभावको पा सकता है— इस रीतिकी भावनासे शिष्य, गुरु और देवताका अभेद उपपन्न हो जाता है। इस दशामें यद्यपि परमात्माका रूप सर्वाङ्गमें व्याप्त है, तथापि मन्त्र-ऋषिका न्यास सिरमें ही किया जाता है; कारण कि ऋषि गुरुरूप है। गुरु सर्वश्रेष्ठ होता है, इसलिये शरीरके सर्वोत्कृष्ट प्रधान अङ्ग-सिरमें ही ऋषिका न्यास करना चाहिये।

४-छन्दमें छ और द—दो शब्द है। इनमें छ इच्छापदका एक देश, इच्छाका वाचक है और द दानार्थक दा धातुसे बना है। इच्छा अर्थात् अभीष्टको देनेवाला मन्त्र ही छन्द है; क्योंकि गुरु-मुखसे मन्त्र पानेपर ही शिष्यकी आत्मज्योति मूलाधारसे उठकर द्वादशार हृत्पुण्डरीकमें परमात्मस्वरूप गुरुको प्राप्त होती है। तदनन्तर तादृश चिदादित्यरूप गुरुके पाससे वह मन्त्रमय अमृतकी प्राप्ति करता है। मूलाधार या हृदयकमलमें बहनेवाली अमृतधारासे सम्पूर्ण शरीर आप्लावित हो जाता है और सब पापका विध्वंस होकर अभीष्टसिद्धि प्राप्त होती है। एतादृश मन्त्रमय छन्दका न्यास मुखमें होता है। अक्षरोंका स्थान मुख ही है।

देवता[१] आदिका जैसा भी उल्लेख विनियोगमें किया गया हो उसके अनुसार न्यासोंके मन्त्र तथा देवता-भेदसे अनन्त भेद हैं। साधारणतया सर्वप्रसिद्ध अन्तर्मातृका तथा बहिर्मातृकान्यासके प्रयोगका दिग्दर्शनमात्र कराया जा रहा है—

ॐ अस्य श्रीमातृकामन्त्रस्य ब्रह्म ऋषिर्गायत्रीच्छन्दो मातृकासरस्वती देवता व्यञ्जनानि बीजानि स्वराः शक्तयः अव्यक्तं कीलकम् (लिपि) न्यासे विनियोगः[२]**। ॐ ब्रह्मणे ऋषये नमः शिरसि। ॐ गायत्र्यै छन्दसे नमो मुखे। ॐ मातृकायै सरस्वतीदेवतायै नमो हृदि। ॐ हल्भ्यो बीजेभ्यो नमो गुह्ये। ॐ स्वरेभ्यः शक्तिभ्यो नमः पादयोः। ॐ अव्यक्ताय कीलकाय नमः सर्वाङ्गे।** अनन्तर करन्यास करना होता है।

ॐ अं कं खं गं घं ङं आं अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ॐ इं चं छं जं झं ञं ईं तर्जनीभ्यां स्वाहा। ॐ उं टं ठं डं ढं णं ऊं मध्यमाभ्यां वषट्। ॐ एं तं थं दं धं नं ऐं अनामिकाभ्यां हुम्।[३] **ॐ ओं पं फं बं भं मं औं**[४] **कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्। ॐ अं यं रं लं वं शं षं सं हं ळं क्षं करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्।**

अनन्तर हृदयादि अङ्गन्यास किया जाता है। इस हृदयादि अङ्गन्यासमें मन्त्र पूर्ववत् करन्यासके ही रहते हैं। केवल अङ्गुष्ठाभ्यां नमः इत्यादिके परिवर्तनमें **हृदयाय नमः""। शिरसे स्वाहा""। शिखायै वषट्"""। कवचाय हुम्""। नेत्रत्रयाय वौषट्। ""अस्त्राय फट्।** इस प्रकार चतुर्थ्यन्त हृदयादि अङ्गोंका नाम निर्देश करके नमः[५] आदिका निर्देश किया जाता है।

१- देवता शब्द देवनाद्यर्थक दिवु धातुसे बने हुए देव शब्दसे भावार्थक तल् प्रत्यय अथवा विस्तारार्थक तनु धातुसे बने त शब्दसे बना है—जिसका अर्थ साधकको, मानुष तथा आसुरादि इतर योनि-विलक्षण भाव अथवा सर्वात्मना देवभाव प्रदान करना होता है। कथित देवभावका अनुसन्धान बुद्धिके द्वारा ही हो सकता है। अतः मन्त्र-देवताका न्यास भी हृदयमें ही करना उचित है।

२- 'विनियोगः समाख्यातो भुक्तिमुक्तिप्रसाधने।'

३- ऋ, ॠ, लृ, लॄ, की नपुंसक संज्ञा है। इनका ग्रहण इसमें नहीं है। ज्ञानार्णवमें इसका प्रकार लिखा है—

अं-आं-मध्ये कवर्गं च इं-ईं-मध्ये चवर्गकम्।
उं-ऊं-मध्ये टवर्गं च एं-ऐं-मध्ये तवर्गकम्॥
ओं-औं-मध्ये पवर्गं च क्रमेण परमेश्वरि।
अनुस्वारविसर्गान्ते यशवर्गौ सलक्षकौ॥

इनमें सर्वत्र विन्दुनिर्देश किया गया है और श्रीतत्त्वचिन्तामणितन्त्रमें भी कराङ्गन्यासका क्रम दिखाते हुए 'पञ्चवर्गं सविन्दुकम्'—पाँचों वर्गोंको विन्दुसहित रखनेका विधान है।

४- ज्ञानार्णवमें 'यशवर्गौ सलक्षकौ' लिखा है। इसलिये न्यासविधानमें यवर्ग और शवर्गके ८ वर्णोंके अतिरिक्त इनमें एक विशेष प्रकारका ल और क्ष दो वर्ण अधिक माने गये हैं। इस विशेष प्रकारके ल और क्ष का मातृका-चक्र-विवेकमें इस प्रकार वर्णन मिलता है—

ज्ञानं द्वयाद्वयमयं लसकाररूपं
तादृक् च कर्म कषकारमयं विदुस्तत्।
श्लिष्टं पुरः स्फुरितसद्वयकोटिलक्ष-
रूपं परस्परगतं च समं च कूटम्॥

ल और स दोनोंमें भेदात्मक ल का प्राधान्यमें दोनोंका भेदेन अवस्थान रहता है, और जब अभेदात्मक स का प्राधान्य होता है, तो अभेदके एकरसस्वभाव होनेसे दोनोंका मिलकर एक विशिष्ट ळ का रूप हो जाता है। यही दशा क्षकारकी भी है।

५- ज्ञानार्णवका वचन है—

हृदयं च शिरो देवि शिखां च कवचं ततः।
नेत्रमस्त्रं न्यसेन् ङेऽन्तं नमः स्वाहा क्रमेण तु॥
वषट् हुं वौषडन्तं च फडन्तं योजयेत्प्रिये।
षडङ्गोऽयं मातृकायाः सर्वपापहरः स्मृतः॥

यद्यपि इन वचनोंमें हृदयादि अङ्गन्यासोंमें ही नमः आदि पदोंका निर्देश करना पाया जाता है, तथापि श्रीतत्त्वचिन्तामणिमें 'पूर्ववद् विन्यसेन्मन्त्री मातृकायाः षडङ्गकम्'—करन्यास और हृदयादि न्यासादिके समान विधानका उल्लेख होनेसे करन्यासमें भी नमः आदि उल्लेख करना उचित है। हृदयादि अङ्गोंमें नमः आदिके उल्लेख, रहस्य, तात्पर्य प्रपञ्चसारमें दर्शाये हैं—हृदय-स्थित, बुद्धिके द्वारा भावनागम्य (भावनासे तादात्म्यापन्न) देवता (जो अहंभावसे गृहीत होता है)-के सम्मुख सर्वात्मना विनम्र होना (अर्थात् अनात्म पदार्थोंसे अपनेको विवेकद्वारा विविक्त समझ देवतास्वरूप होना समझ लेना) नमः पद देनेका तात्पर्य है। पूर्वोक्त हृदयमन्त्रसे विविक्त आत्माको उत्तुङ्गतम स्थानमें आसीन समझ अपना सर्वस्व उसके समर्पण कर देना स्वाहापदार्थ है। इन दोनों नमः-स्वाहासे इदन्ताको सर्वात्मना त्यागकर अहन्तामात्रका अनुभावन करना अपवादन्यायसे कहा गया है। नेत्र-मन्त्रमें आत्मामें अनात्मभूत देहके अध्यारोपका प्रदर्शन है।

अनन्तर निम्नलिखित ध्यान करना चाहिये—

शर(सार)त्पूर्णेन्दुशुभ्रां सकललिपिमयीं लोलरक्तत्रिनेत्रां शुक्लालङ्कारभासां शशिमुकुटजटाभारहारप्रदीप्ताम्। विद्यास्त्रक्पूर्णकुम्भान् वरमपि दधतीं शुद्धपट्टाम्बराढ्यां वाग्देवीं पद्मवक्त्रां कुचभरनमितां चिन्तयेत् साधकेन्द्रः॥

ध्यान पढ़कर पुष्पाञ्जलि दान करके अन्तर्मातृकाका न्यास करे। इसका प्रयोगक्रम निम्नरीतिसे है—

ॐ अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं लॄं एं ऐं ओं औं अं अः नमः षोडशपत्रे विशुद्धे कण्ठे। ॐ कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं नमः इति द्वादशारे अनाहते हृदि। ॐ डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं नमः इति दशारे मणिपूरे नाभौ। ॐ बं भं मं यं रं लं नमः षडस्त्रे स्वाधिष्ठाने लिङ्गमध्ये। ॐ वं शं षं सं नमः चतुरस्त्रे स्वाधिष्ठाने (कुण्डलिन्यधिष्ठिते) गुदमध्ये। ॐ हं क्षं नमः द्विदले आज्ञाचक्रे भ्रूमध्ये।[1]

इस प्रकार अन्तर्मातृकान्यास करके बहिर्मातृकान्यास करना चाहिये। किसी-किसी प्रयोगमें इसमें भी ऋष्यादिन्यासके ध्यानान्त प्रयोग अन्तर्मातृकान्यासके तुल्य लिखा हुआ मिलता है, किसीमें नहीं। इसमें कोई विशेषता नहीं, सम्प्रदायके अनुसार मान लेना चाहिये। इसका निम्नरीतिसे प्रयोग है—

मातृका अक्षरके पूर्व ॐकार, मध्यमें मूलमातृका और अन्तमें नमः अथवा ॐकार लगाकर अङ्गमें टिप्पणी दिखाये गये अङ्गुलिके क्रमसे न्यास करना होता है। मातृकाको बिन्दुसहित रखना ही सम्प्रदाय है, यद्यपि विधानमें विकल्प भी मिलता है। तन्त्रोंमें कहा है—

ओमाद्यन्तो नमोऽन्तो वा सविन्दुर्विन्दुवर्जितः।
तत्पश्चादक्षरन्यासः क्रमेणैव विधीयते॥

ॐ अं नमः शिरसि[2]**। ॐ आं नमो ललाटे। ॐ इं नमो दक्षनेत्रे। ॐ ईं नमो वामनेत्रे। ॐ उं नमो दक्षकर्णे। ॐ ऊं नमो वामकर्णे। ॐ ऋं नमो दक्षनासापुटे। ॐ ॠं नमो वामनासापुटे।**

शिखापदसे देवताके केश, किरीट आदि उपाङ्गोंका ग्रहण होता है, अथवा शिखा शरीरका तेजःस्वरूप मानी गयी है। उसको वषट् (अङ्ग) मानना वषट् पदार्थ है (अर्थात् अध्यारोपन्यायसे आत्माके तेजोमय शरीरका अनुभावन करना चाहिये)। यद्यपि समर्पणको वषट् कहते हैं, किन्तु (अपवाद करनेसे) देहके बिना समर्पण नहीं बन सकता—इसलिये प्रकृतमें वषट्से अङ्गका ही अध्यारोप समझना उचित है। तात्पर्य यह है कि स्वरूपभूत दिव्यज्योतिमें भी शरीर-भावना करना भेद-प्रत्यय हो जाता है, इस रीतिसे शिखामन्त्रने आत्मामें अनात्माका आरोप किया। कवचाय हुम्—इस कवच-मन्त्रसे सर्वात्मना देहको आच्छादित कर देनेवालेको कवच कहते हैं। न्यासादिका विधान मुक्त तथा जीवन्मुक्तोंके लिये नहीं, बद्ध अथवा आधिकारिक ब्रह्मादिके लिये मुक्ति-साधन न्यासादिकी आवश्यकता है, जब कि नेत्र-मन्त्रद्वारा तेजोमयस्वरूपभूत आत्मामें देहका आरोप होता है तो उसी कारण उस देहमें अहंताका उदय हो जाता है अर्थात् अनात्मभूत अध्यारोपित जड देहमें भी आत्माका आरोप हो जाता है, जिस अहंभावके कारण देहद्वारा दूसरोंके ऊपर विजय प्राप्त करनेकी भावना आ जाती है। इस प्रकार दूसरोंको भी भयदायक और अपने अभीष्ट रक्षाकारक तेजकी भावना कवच-मन्त्रका अभिप्राय है। 'नेत्रत्रयाय वौषट्' इस नेत्र-मन्त्रका शब्दार्थ है कि दृष्टिमें साधक अपने देहको उपभोग्य तथा रक्ष्यरूपसे समर्पण करता है। तात्पर्य यह है कि ऐसी ज्ञानात्मदृष्टिकी भावना चाहिये, जिसमें सम्पूर्ण अध्यारोप (अध्यास) विलीन होकर आत्मतत्त्वके याथात्म्यज्ञानके उदयसे तादात्म्यका अनुभावन हो जाय। अपवादसे तो वस्तुस्थिति दर्शायी जाती है, परन्तु नेत्र-मन्त्रभावनाकी परिपुष्टिके लिये भावनात्म शाब्दज्ञान कराया जाता है, जो वस्तुस्थितिके अधीन नहीं होता। (अस्त्राय फट्) अस्त्र मन्त्रसे ज्ञानीको संसारकी निवृत्ति दर्शायी गयी है। अस्त्रपद अस् और त्रस् धातुसे बना है, जिनका फेंकना और चलाना अर्थ है। इस उक्त मन्त्रका शब्दार्थ है—आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक—त्रिविध तापको दूर फेंक ज्ञानाग्निमें चालन करके भस्म कर देना।

१- आधारे लिङ्गनाभौ हृदयसरसिजे तालुमूले ललाटे द्वे पत्रे षोडशारे द्विदशदलयुते द्वादशार्द्धे चतुष्के।
वासान्ते बालमध्ये डफकठसहिते कण्ठदेशे स्वराणां हं क्षं तत्त्वार्थयुक्तं सकलदलगतं वर्णरूपं नमामि॥

इस प्रकार अन्तर्मातृकान्यासका स्वरूप तन्त्रोंमें दिखाया गया है।

२- श्रीप्रपञ्चसारमें न्यासके स्थान-अङ्गोंका इस प्रकार निर्देश है—

काऽऽननवृत्तद्वयक्षिश्रुतिनो गण्डौष्ठदन्तमूर्धास्ये। दोःपत्सन्ध्यग्रकेषु च पार्श्वद्वयपृष्ठनाभिजठरेषु॥

ॐ लृं नमो दक्षगण्डे। ॐ लॄं नमो वामगण्डे। ॐ एं नमः ऊर्ध्वोष्ठे। ॐ ऐं नमः अधरोष्ठे। ॐ ओं नमः ऊर्द्ध्वदन्तपङ्क्तौ। ॐ औं नमः अधोदन्तपङ्क्तौ। ॐ अं नमो मूर्ध्नि। किसी प्रयोगमें '**ॐ अं नमो ललाटे**' है और '**ॐ अः नमो मुखवृत्ते**' है। उस प्रयोगमें '**ॐ अं नमः शिरसि**', '**ॐ अः नमः जिह्वायाम्**' (आस्ये)—यह साम्प्रदायिक क्रम भी है। **ॐ कं नमः दक्षहस्तमूले। ॐ खं नमः दक्षकूर्परे। ॐ गं नमः दक्षमणिबन्धे। ॐ घं नमः दक्षहस्ताङ्गुलिमूले। ॐ ङं नमः दक्षहस्ताङ्गुल्यग्रे। ॐ चं नमः वामहस्तमूले। ॐ छं नमः वामहस्तकूर्परे। ॐ जं नमः वामहस्तमणिबन्धे। ॐ झं नमः वामहस्ताङ्गुलिमूले। ॐ ञं नमः वामहस्ताङ्गुल्यग्रे। ॐ टं नमः दक्षपादमूले। ॐ ठं नमः दक्षजानुनि। ॐ डं नमः दक्षगुल्फे। ॐ ढं नमः दक्षपादाङ्गुलिमूले। ॐ णं नमः दक्षपादाङ्गुल्यग्रे। ॐ तं नमः वामपादमूले। ॐ थं नमः वामजानुनि। ॐ दं नमः वामगुल्फे। ॐ धं नमः वामपादाङ्गुलिमूले। ॐ नं नमः वामपादाङ्गुल्यग्रे। ॐ पं नमः दक्षपार्श्वे। ॐ फं नमः वामपार्श्वे। ॐ बं नमः पृष्ठे। ॐ भं नमः नाभौ। ॐ मं नमः कुक्षौ (उदरे)। ॐ यं* त्वगात्मने नमः हृदये। ॐ रं असृगात्मने नमः दक्षस्कन्धे। ॐ लं मांसात्मने नमः ककुदि (गलपृष्ठभागे)। ॐ वं मेदआत्मने नमः वामस्कन्धे। ॐ शं अस्थ्यात्मने नमः हृदयादिदक्षहस्तान्ते। ॐ षं मज्जात्मने नमः हृदयादिवामहस्तान्ते। ॐ सं शुक्रात्मने नमः हृदयादिदक्षपादरन्ते। ॐ हं प्राणात्मने नमः हृदयादिवामपादान्ते। ॐ लं जीवात्मने नमः हृदयादिकुक्षौ। ॐ क्षं परमात्मने नमः हृदयादिमुखे।**

यह लिपिन्यासका क्रम है—'**पञ्चाशल्लिपिभिर्विभक्त-मुखदोर्हृत्पद्मवक्षःस्थलाम्—**' इत्यादि ध्यानोंमें पचास लिपिका क्रम ऐसा है—सोलह स्वर, पचीस कादि मान्त स्पर्श, आठ यादि हान्त व्यापक वर्ग और क्ष मिलकर पचास लिपि होती हैं, परन्तु तन्त्रोंमें अक्षरोंमें ल का भेद अधिक माना है, इसलिये पञ्चाशत्को एकपञ्चाशत्का उपलक्षण मानते हैं।

षोढान्यास, सृष्टिन्यास, स्थितिन्यास, संहारन्यास इत्यादि आवश्यक न्यासोंका भी संक्षेपमें भी विधान लिखनेसे लेखका अति विस्तार हो रहा है। इनकी क्रमबद्ध लेखमालासे ही कुछ प्रकाश हो सकता है। इनका अधिक विस्तार देखना हो तो शारदातन्त्र और विशेषतया श्रीतत्त्वचिन्तामणितन्त्रमें एवं ज्ञानार्णवमें देखना चाहिये।

हृद्दोर्मूलापरगलकक्षेषु हृदादिपाणिपादयुगे। जठरानलयोर्व्यापकसंज्ञान्यस्येदथो वर्णान् क्रमशः॥

पृथक्-पृथक् अंगोंमें न्यास करनेके लिये अङ्गुलिक्रम इस प्रकार लिखा है—सिरमें मध्यमासे, ललाटमें मध्यमा और अनामिका दोनोंसे। मुखवृत्तमें मध्यमा, अनामिका तथा तर्जनीसे। नेत्रोंमें अनामिका-अङ्गुष्ठसे। कानोंमें मध्यमासे। नाकमें कनिष्ठिका और अङ्गुष्ठसे। गण्डस्थलमें तर्जनी, अनामिका और मध्यमासे। दोनों ओष्ठोंमें मध्यमासे। दन्तमें अनामिकासे। हस्त और पादमें मध्यकी अङ्गुलियोंसे। हस्त तथा पादकी सन्धि एवं अग्रभागमें कनिष्ठिका, अनामिका तथा मध्यमासे। दोनों पार्श्व, पृष्ठ तथा नाभिमें मध्यमा, अनामिका, कनिष्ठिका तथा अङ्गुष्ठसे। कुक्षिमें सम्पूर्ण अङ्गुलियोंसे। हृदयमें हस्ततलसे। दोनों स्कन्ध, ककुद् (गलपृष्ठभाग)-में सम्पूर्ण अङ्गुलियोंसे तथा हृदयादि हस्तपर्यन्त, हृदयादि पादपर्यन्त, हृदयादि कुक्षिपर्यन्त तथा हृदयादि मुखपर्यन्तमें हस्तके तलभागसे न्यास करना चाहिये। इस प्रकार अङ्गुलिक्रमके सम्भावना न होनेकी दशामें मनसे अथवा पुष्पद्वारा भी न्यासका विधान है।

* यकारादि आठ और ल, क्ष—इन दस वर्णोंको तन्त्रोंमें त्वगादि धातुमय और प्राणजीवपरमात्मस्वरूप माना गया है—

....यादीन् सधातुकानपि।
त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः। प्राणात्मा चैव जीवात्मा परमात्मेति विन्यसेत्॥

ज्ञान-साधना

(लेखक—पं० श्रीगोपालचन्द्रजी चक्रवर्ती वेदान्तशास्त्री)

निष्काम कर्मकी साधना, भक्तिकी साधना और योगकी साधनाकी तरह ज्ञानकी भी साधना है। साधनाका भावार्थ है तल्लीन हो जाना। ज्ञानकी साधनाका उपाय श्रुति बतलाती है—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च। (बृहदारण्यक० ४। ५। ६)

आत्माका दर्शन करना चाहिये। दर्शन करनेका उपाय श्रुति ही बतलाती है कि पहले श्रवण करना चाहिये, उसके बाद मनन करना चाहिये, तदनन्तर निदिध्यासन करना चाहिये। शास्त्र और गुरुमुखसे श्रवण होता है, श्रुत विषयके मनमें बार-बार चिन्तनको मनन कहते हैं और निदिध्यासनमें उस विषयमें तल्लीन हो जाना होता है। निदिध्यासनको ध्यान भी कहते हैं, एकाकारवृत्ति-प्रवाह भी इसीको कहते हैं। आत्माका प्रत्यक्ष अनुभव या ज्ञान ही आत्मदर्शन कहाता है।

जिस श्रवणसे मनन और निदिध्यासन अपने-आप हों, उसीको यथार्थमें श्रवण कहते हैं; क्योंकि श्रवणका फल ही मनन और निदिध्यासन है। लौकिक जगत्‌में भी जिस श्रवणका फल नहीं होता, उसे श्रवण नहीं कहते। जैसे किसीको एक गिलास जल लानेको कहा जाय और वह आदमी सुनकर भी जल न देकर दूसरे कामसे चला जाय, तो यही कहा जाता है कि 'उसने मेरी बात नहीं सुनी।' क्योंकि सुननेका फल 'जल देना' उससे नहीं हुआ। भोजनका फल है क्षुधाकी निवृत्ति। यदि कोई मनुष्य भोजन करनेके लिये बैठे और केवल थोड़ा-सा भात खाकर उठ जाय तो लोग कहेंगे कि उसने आज भोजन नहीं किया है। खानेकी वस्तु मुँहमें चबाकर पेटमें निगल जानेका नाम भोजन है। वह तो थोड़ा भात खानेसे भी हो गया। परन्तु उससे भोजनका फल क्षुधानिवृत्ति न होनेसे उसे भोजन नहीं कहा जाता। भोजन तभी सिद्ध होगा, जब उसका फल क्षुधाकी निवृत्ति होगी। लौकिक कार्यके विषयका श्रवण तभी सिद्ध होगा, जब उसके अनुसार कार्य होगा। इसी प्रकार आत्माके विषयका श्रवण तभी सिद्ध होगा, जब उसके अनुसार मनन और निदिध्यासन अपने-आप होता रहेगा। एक दूसरे दृष्टान्तसे इस विषयको और भी स्पष्ट किया जाता है। किसी सच्चरित्र युवकको एक प्रतिष्ठित पुरुषने बहुत-से आदमियोंके सामने झूठमूठ कह दिया कि 'तुम उस दिन एक कुलटा स्त्रीसे एकान्तमें क्यों बातें करते थे?' युवकने इस बातका प्रतिवाद किया। पर उसकी कौन सुनता है। उन प्रतिष्ठित पुरुषका कहना ही सब लोगोंने मान लिया और उसका तिरस्कार किया। निदान युवक वहाँसे लौटा। वह मनमें सोचने लगा कि उन्होंने मुझे इस प्रकार क्यों बदनाम किया, मैंने तो ऐसा काम कभी नहीं किया। जब वह घर आया तो भी वही चिन्ता बार-बार मनमें उठने लगती है। पुस्तक उठाकर पढ़नेकी चेष्टा करने लगता है, तो भी वही चिन्ता! झुँझलाकर वह उस बातको भूलनेकी चेष्टा करता है, तो भी थोड़ी देरमें वही बात मनमें उठने लगती है—'उन्होंने मेरी ऐसी बदनामी क्यों की?' खाने, नहाने, चलने, फिरनेमें केवल वही चिन्ता! उस पुरुषने इस युवकको ऐसा श्रवण करा दिया है कि उसका फल मनन अपने-आप होने लगा, भूलनेकी चेष्टा करनेपर भी मनन बंद नहीं हुआ। ठीक इसी प्रकार संसारके दुःखोंसे तापित व्यक्ति मुक्तिकी इच्छासे आत्मस्वरूप जाननेके लिये जब गुरुके पास जाता है, तब गुरु उसे आत्मस्वरूपका उपदेश देते हैं। वह उपदेश उसके हृदयमें बद्धमूल हो जाता है और उसके अनन्तर उस आत्मस्वरूपके श्रवणके अवश्यम्भावी परिणामरूप मनन अपने-आप होने लगता है। वह मुमुक्षु पुरुष उसमें लवलीन हो जाता है। किसी भी विक्षेपसे उसकी वह आत्मचिन्ता नहीं छूटती। इसी अवस्थाके एकाकार वृत्ति-प्रवाहको ही निदिध्यासन कहते हैं। इसीका अव्यवहित परिणाम आत्मदर्शन है। यही ज्ञानका साधन है।

अब देखना चाहिये कि आत्मतत्त्वके श्रवण करनेके पश्चात् मनुष्य मनन अपने-आप क्यों करता है, उसे छोड़ क्यों नहीं देता? इसलिये कि संसारकी सारी वस्तुओंसे आत्मा सभीके लिये प्रियतम है। पुत्र, स्त्री, वित्त आदि प्रिय हैं; अपना शरीर, इन्द्रिय आदि उनसे प्रियतर हैं; परन्तु आत्मा प्रियतम है।

बृहदारण्यकोपनिषद्‌में महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयीसे कहते हैं—

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।

'अरे मैत्रेयी! पतिके लिये कोई स्त्री पतिको प्रिय नहीं

समझती, अपने सुखके लिये पतिको प्रिय समझती है।'

इसी प्रकार और भी कहा है कि स्त्रीके लिये, पुत्रके लिये, देवताके लिये, वित्तके लिये या सारे संसारके लिये कोई स्त्री, पुत्र, देवता, धन या सारे संसारको प्रिय नहीं समझता, बल्कि अपने सुखके लिये ही इनको प्रिय समझता है। इस कारण आत्मा सबसे अधिक प्रिय अर्थात् प्रियतम है। वेदान्तपञ्चदशीमें लिखा भी है—

अयमात्मा परानन्दः परप्रेमास्पदं यतः।
मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमात्मनीक्ष्यते॥

'परम प्रेमका विषय होनेके कारण आत्मा परमानन्दस्वरूप है। क्योंकि मेरा अभाव कभी न हो, मेरा अस्तित्व सदा बना रहे—इस प्रकार अपने ऊपर प्रेम सभी जीवमें दिखायी पड़ता है।'

एक दृष्टान्तसे यह विषय और भी स्पष्ट हो जायगा। एक बड़े आदमीके घरमें आग लग गयी। सब लोग भाग निकले; परन्तु खोजनेपर एक छोटा बालक नहीं मिला, वह भीतर ही रह गया था। पिताने सब लोगोंसे कहा—'जो मेरे पुत्रको निकाल लावेगा, उसे मैं एक लाख रुपया दूँगा।' एक पड़ोसीने सुनकर कहा—'आप खुद ही जाकर लाइये न, क्यों एक लाख रुपया खोते हैं?' परन्तु एक लाख रुपये या पुत्रसे भी अपना शरीर प्रिय है; इसलिये पिता आगके भीतर नहीं जाता। इसी प्रकार यदि उसके हाथ, पैर, नाक, कान आदि अङ्ग काट भी डाले जायँ तो भी वह जीना चाहता है; ऐसे ही यदि उसकी आँखें फूट जायँ, वह अंधा हो जाय, वह बहरा हो जाय, उसकी नाकमें सूँघनेकी या जिह्वामें स्वाद लेनेकी शक्ति न रहे, कोढ़ होकर शरीरमें स्पर्श ग्रहण करनेकी शक्ति भी लुप्त हो जाय यानी सारी इन्द्रियाँ नष्ट हो जायँ, मन विक्षिप्त और बुद्धि क्षिप्त (पागल) हो जाय तो भी वह अपनी आत्माको लेकर जीना चाहता है। इससे क्या यह सिद्ध नहीं होता कि आत्मासे बढ़कर प्रिय वस्तु संसारमें कोई नहीं है? उस आत्माका स्वरूप जाननेके लिये जब मुमुक्षुके भीतर तीव्र इच्छा होती है और सद्गुरु उसे आत्मतत्त्वका उपदेश देते हैं, तब साधक उस अपने स्वरूपको कभी नहीं भूल सकता। वह विवश होकर उसका मनन करेगा, फिर निरन्तर उस आत्मस्वरूपका ध्यान करते-करते आत्मसाक्षात्कार लाभ करेगा। इसी आत्मज्ञानका फल मुक्ति है। श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं—

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ (४। ३९)

'ज्ञान लाभ करके मनुष्य थोड़े ही समयके पश्चात् परम शान्ति अर्थात् मुक्ति प्राप्त कर लेता है।'

अब विचारना चाहिये कि आत्माका स्वरूप क्या है। आश्चर्यकी बात यह है कि हम संसारकी सारी वस्तुओंको तथा सारी विद्याओंको जाननेकी चेष्टा करते हैं; परन्तु जो आत्मा हमारा परम प्रिय है, जो हमारा अन्तरतम पुरुष है और जो हमारा अपना स्वरूप है उसे जाननेकी एक बार भी चेष्टा नहीं करते।

पहले प्रतिपादित किया गया है कि शरीर, इन्द्रिय, मन या बुद्धिके विकृत हो जानेपर भी मनुष्य अपनी आत्माको जीवित रखना चाहता है। इससे स्पष्ट हुआ कि आत्मा शरीर, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धिसे परे या पृथक् है।

लोग कहते हैं 'मेरा शरीर'। 'मैं शरीर हूँ' ऐसा कोई नहीं कहता। मेरा वस्त्र, मेरा मकान, मेरा राज्य—कहनेसे जिस प्रकार दोनोंमें भेद प्रतीत होता है, ठीक उसी प्रकार मेरा शरीर, मेरी इन्द्रियाँ, मेरा मन, मेरे प्राण, मेरी बुद्धि कहनेसे भी 'मैं' शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धिसे पृथक् हुआ। मैं शुद्ध चेतन आत्मा हूँ। परन्तु लोग 'मेरी आत्मा' भी तो कहते हैं। अतः मुझको आत्मासे भी भिन्न होना चाहिये? नहीं, यदि 'मैं' आत्मासे भी भिन्न होऊँ, तो मेरा वास्तविक स्वरूप क्या होगा? शरीरमें जितने प्रकारके पदार्थ या अङ्ग हैं, सबसे भिन्न और सबके भीतर आत्मा है। आत्माके भीतर और कोई वस्तु नहीं है। इसलिये आत्मा ही मेरा वास्तविक स्वरूप है। अतः 'मेरी आत्मा कहना भूल है।'

शरीरमें चेतन तत्त्व ही आत्मा है। देह, इन्द्रिय, मन, और बुद्धि अचेतन हैं। मन और बुद्धि चेतन आत्माकी छायामात्र पाकर चेतनकी तरह क्रिया करती हैं। जिस प्रकार आतिशी काँचके भीतरसे सूर्य-किरण आनेसे उसकी दूसरी ओरके कागज या पतली लकड़ीमें आग लग जाती है, ठीक उसी प्रकार स्वच्छ अन्तःकरणमें आत्माका प्रतिबिम्ब पड़नेसे उसमें ज्ञानशक्तिका आविर्भाव हो जाता है और उसके सम्बन्धसे शरीर भी चेतनकी तरह क्रिया करने लगता है।

प्रत्येक जीव 'मैं हूँ' इस प्रकार अपने स्वरूपका सामान्य-रूपसे अनुभव करता है। आत्माके चेतन होनेमें यही सबसे प्रबल प्रमाण है। शरीरके परिणामसे 'मैं बालक हूँ', 'मैं युवक हूँ', 'मैं वृद्ध हूँ', 'मैं रोगी हूँ', 'मैं बलवान् हूँ'—आदि भिन्न-भिन्न प्रकारका अनुभव औपाधिक है। परन्तु सब जीवोंमें सब अवस्थाओंमें 'मैं हूँ' यह अनुभव एक-सा है।

आत्मा सूक्ष्म तथा व्यापक है। परमाणु और आकाश दोनों सूक्ष्म हैं। आत्मा आकाशकी तरह सूक्ष्म और व्यापक है। किसीका कहना है कि आत्मा अणु-परिमाण है, क्योंकि दो इन्द्रियोंका ज्ञान एक साथ नहीं होता। देखते समय दृश्यके ऊपर ध्यान रहनेसे कानसे सुनायी नहीं पड़ता; ऐसे ही ध्यान दूसरी ओर रहनेसे सामनेकी कोई भी वस्तु दिखायी नहीं पड़ती। आत्मा शरीरमें भी व्यापक होनेसे एक साथ दो, तीन, चार इन्द्रियोंका ज्ञान हो सकता था। बात ऐसी नहीं है। विषयका ज्ञान मनमें होता है, आत्मामें नहीं। मन अणु-परिमाण है, इस कारण दो इन्द्रियोंका ज्ञान एक साथ नहीं होता।

आत्मा केवल शरीरमें ही व्याप्त नहीं है, बल्कि शरीरके बाहर ब्रह्माण्डमें व्याप्त है; जड़-चेतन सभी पदार्थोंमें एक ही आत्मा व्याप्त है। सब जीवोंकी आत्मा एक ही है। इस विषयमें किसीका कहना है कि यदि सब जीवोंमें एक ही आत्मा है, तो एक शरीरमें दुःख होनेसे दूसरे शरीरमें उसकी उपलब्धि क्यों नहीं होती? एकको भूख लगनेसे दूसरेको भूख क्यों नहीं लगती? इसका भी उत्तर वही है। सुख, दुःख, भूख, प्यास आदिकी उपलब्धि मनमें होती है। मन प्रति शरीरमें भिन्न-भिन्न है, इसलिये एक शरीरके सुख-दुःखादि दूसरे शरीरमें उपलब्ध नहीं होते। आत्मा सुख-दुःखादिसे परे है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः। (२।१८)

अर्थात् नित्य शरीरी आत्माके देहसमूह नाशवान् हैं। यहाँ आत्माको एकवचनमें तथा शरीरोंको बहुवचनमें बतलाया गया है। मतलब यह है कि आत्मा एक है और उसके शरीर अनेक हैं।

कठोपनिषद् (२।२।९) में कहा है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

'जिस प्रकार एक अग्नि सारे संसारमें प्रविष्ट है और नाना रूपोंमें प्रकट होती है, उसी प्रकार सब प्राणियोंकी अन्तरात्मा एक है; वह नाना प्रकारके जीवोंके शरीरोंमें प्रकट होती है तथा शरीरके बाहर भी है।' शरीरके बाहर आत्माको सीमाबद्ध करनेके लिये कोई वस्तु समर्थ नहीं है। इसलिये शरीरके बाहर आत्मा दस दिशाओंमें अनन्त है। गीतामें लिखा भी है—

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ (२।२४)

'आत्मा नित्य है, सर्वगत यानी ब्रह्माण्डमें सर्वत्र व्यापक है, स्थिर, अपरिणामी तथा अनादि है।'

आत्मा नित्य है, त्रिकालमें भी इसका नाश नहीं है। जो छोटा यानी सीमाबद्ध होता है, वही नाशवान् है—जैसे घट, शरीर, वृक्ष आदि। घट, शरीर, वृक्ष आदि सीमाबद्ध हैं, इनका नाश भी लोगोंने प्रत्यक्ष किया है। इसी प्रकार आत्मा भी यदि शरीरमें सीमाबद्ध हो तो उसका भी नाश अवश्यम्भावी हो जाता है। इसी कारण भगवान्‌ने आत्माको 'नित्य' और 'सर्वगत' एक ही साथ कहा है।

निष्कर्ष यह हुआ कि आत्मा चेतन, सूक्ष्म, व्यापक, नित्य तथा सुख-दुःखादिसे परे है। सांसारिक विषयोंकी तथा सुख, दुःख, भूख, प्यास आदिकी उपलब्धि मनमें होती है। मन आत्माको देख नहीं सकता। आत्मा 'अवाङ्मनसगोचर' है यानी वाणी और मनसे अतीत है। श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप साधनके द्वारा मन आत्माका दर्शन करनेकी चेष्टा करता है; परन्तु दीपक जैसे सूर्यको प्रकाशित नहीं कर सकता, बल्कि सूर्यके सामने निष्प्रभ हो जाता है, उसी प्रकार मन भी आत्माको प्रकाशित नहीं कर सकता, बल्कि अन्तर्मुखी होकर आत्माके सामने जाते ही वह लुप्त हो जाता है। आत्मा स्वयंप्रकाश है, मनके लुप्त होनेपर आत्मा स्वयं ही प्रकाशित होता है। योगदर्शन (१। ३)-में महर्षि पतञ्जलिने लिखा है—

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।'

अर्थात् समाधिमें द्रष्टा आत्मा अपने स्वरूपमें स्थिर रहता है। श्रुतिने इसीको आत्मदर्शन कहा है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन इसके साधन हैं—यह पहले ही बतलाया जा चुका है।

श्रुतिने जो 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' कहा है, वह रोचक वाक्यमात्र है। मनुष्यके मनको आत्माकी ओर अभिमुखी करना ही उसका उद्देश्य है। वास्तवमें आत्मा चक्षु या मनका विषय नहीं हो सकता। क्योंकि जो इन्द्रिय या मनका विषय है, वह अनित्य है। संसारके सभी पदार्थ किसी-न-किसी इन्द्रियके अथवा मनके विषय हैं और वे अनित्य भी हैं। आत्मा भी यदि इन्द्रिय या मनका विषय है, तो वह सांसारिक पदार्थोंकी तरह अनित्य हो जायगा। परन्तु आत्माको सभी श्रुतियों, स्मृतियों तथा भगवद्गीतामें नित्य माना है। वास्तवमें जो सूक्ष्म, निरवयव

और सर्वव्यापक है वह नित्य ही है—जैसे काल और दिक्। कोई स्थान संसारमें ऐसा नहीं है, जहाँ काल न हो और समय भी ऐसा नहीं था या न होगा जब काल न था या न रहेगा। इसलिये काल सर्वव्यापक और नित्य है। ऐसे ही दिक् या दिशा भी सर्वत्र व्याप्त और नित्य है।

अब यहाँ प्रश्न यह हो सकता है कि यदि मेरा आत्मा मेरे शरीरसे बाहर भी है, तो बाहर मुझको उसकी कुछ भी उपलब्धि क्यों नहीं होती। इसका उत्तर वही है, जो पहले सुख-दुःखादिके विषयमें दिया गया है। हमारे भीतर उपलब्धि होती है मनके द्वारा। मन शरीरके बाहर जा नहीं सकता। इस कारण बाहर हमें आत्मोपलब्धि नहीं होती।

लोग कहते हैं कि मन बड़ा चञ्चल है, वायुसे भी उसकी गति प्रबल है, क्षणभरमें वह दिल्ली, कलकत्ता, बंबई घूम आता है। अतः मन शरीरसे बाहर भी जाता है। नहीं, मन शरीरसे बाहर नहीं जाता। मनमें दिल्ली, कलकत्ता, बंबई आदि स्थानों तथा घटनाओंका स्मरणमात्र होता है, अनुभूत वस्तु या विषयका ही स्मरण होता है। शास्त्रोंमें कहा भी है—

'**स्मृतिरनुभवपूर्विका**' इति

अर्थात् अनुभवके अनन्तर स्मृति होती है। अनुभवके द्वारा मनमें जिसका संस्कार पड़ जाता है कालान्तरमें किसी कारणसे जब वही संस्कार मनमें उठता है, तब जिस प्रकारका अनुभव पहले हुआ था वैसा ही ज्ञान होता है। इसीको स्मरण कहते हैं। अतः मन शरीरके भीतर ही रहकर दिल्ली, कलकत्ता, बंबई आदिका स्मरण करता है। जहाँ मनुष्य गया है, जिस स्थानको उसने देखा है, उसीका वह स्मरण कर सकता है, अन्य स्थानका नहीं। मनमें यदि बाहर जानेकी शक्ति होती तो जहाँ मनुष्य नहीं गया है, ऐसे स्थानकी बात क्यों नहीं बतलाता? जो दिल्ली या लंदन गया है वह उन दोनों स्थानोंको स्मरणकर उनकी बातें ही बतला सकता है, परन्तु उनके आसपासके स्थान—जैसे मेरठ, एडिनबर्ग आदिकी बातें नहीं बतला सकता। इससे सिद्ध हुआ कि मन बाहर नहीं जाता, भीतर रहकर ही अनुभूत स्थान और विषयका स्मरणमात्र करता है। स्वप्नमें भी मन बाहर नहीं जाता। क्योंकि स्वप्न भी एक प्रकारकी स्मृति ही है। स्वप्नका लक्षण दर्शनशास्त्रोंमें इस प्रकार बतलाया गया है—

जागरितसंस्कारजप्रत्ययसविषयः स्वप्नः।

अर्थात् जाग्रत् अवस्थाके अनुभूत विषयके संस्कारसे निद्रावस्थामें उत्पन्न ज्ञान ही स्वप्न है। जाग्रत् अवस्थाके अनुभवजनित संस्कारसे यदि जाग्रत् अवस्थामें ही ज्ञान उत्पन्न हो, तो उसे स्मृति और यदि निद्रावस्थामें उस प्रकारका ज्ञान उत्पन्न हो, तो उसे स्वप्न कहते हैं। अतः स्वप्नावस्थामें भी मन भीतर रहकर भी पूर्वानुभूत विषयका स्मरण करता रहता है।

विषयेन्द्रिय-संयोगके दृष्टान्तसे भी यह बात समझमें आ सकती है। चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वचा—यही हमारी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनके साथ विषयोंका जब संयोग होता है तभी मन भीतरसे रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्शकी उपलब्धि करता है। चमड़ेके साथ वस्तुका संयोग होनेसे ही मन भीतरसे समझ लेता है कि वह वस्तु कठिन है या कोमल। वस्तु चमड़ेसे थोड़ा भी अलग रहे तो उसके कठिन या कोमल स्पर्शकी उपलब्धि नहीं होती। मन त्वगिन्द्रियके बाहर आकर उपलब्धि नहीं कर सकता। जिह्वासे स्पर्श होनेपर ही मनमें उपलब्धि होती है कि वस्तु मीठी है या खट्टी। जिह्वासे जरा भी अलग रहे तो उसके रसकी उपलब्धि नहीं होती। सुगन्धित फूलके नाकके पास आनेसे उसके परागके कण नाकके भीतर पहुँच जाते हैं। उनके साथ घ्राणेन्द्रियका स्पर्श होनेपर मन फूलकी सुगन्धकी उपलब्धि करता है। फूल दूर रहे तो उसके परागकी रेणु नाकतक आकर नहीं पहुँचती, इस कारण उसकी गन्ध मालूम भी नहीं होती। यदि मनमें बाहर जाकर उपलब्धि करनेकी शक्ति होती तो दूरके फूलतक भी मन पहुँच जाता और उसकी गन्ध सूँघकर लौट आता। इससे पासके फूलकी तरह दूरके फूलकी गन्ध भी मालूम होती। शब्दकी लहर वायुके भीतरसे आकर कानके पर्देपर धक्का देती है। इसीसे शब्दकी उपलब्धि होती है। बहुत दूर शब्द होनेसे उसकी लहर बहुत धीमी होकर आकर कानके पर्देपर बहुत हल्का धक्का देती है। इससे शब्द भी धीमा मालूम होता है। और भी दूरपर शब्द होनेपर उसकी लहर कानतक आती ही नहीं। इसलिये उसकी उपलब्धि ही नहीं होती । यदि मनमें बाहर जानेकी शक्ति होती तो बाहर आनेपर मनकी गतिको कोई रोक नहीं सकता; अतः जितनी ही दूरपर शब्द क्यों न हो, मन वहीं जाकर उस शब्दको स्पष्टरूपसे सुन आता। आकाशमें बिजली चमकनेसे प्रायः थोड़ी देरके बाद ही आवाज सुनायी पड़ती है। बिजलीका प्रकाश उसी क्षण आकर आँखोंपर पड़ता है और शब्दके आनेमें कुछ क्षणोंका विलम्ब लगता है। यदि मन बाहर जा सकता तो आँखके भीतरसे

जितनी देरमें मेघमें पहुँचकर बिजलीके प्रकाशको देखता, उतनी ही देरमें कानके भीतरसे भी जाकर मेघसे शब्द सुन लेता। वास्तवमें ऐसा नहीं होता। प्रकाशकी गति बहुत तेज है, क्षणभरमें वह सहस्त्रों कोस दूर पहुँच जाता है। इस कारण वह मेघसे उसी क्षण आकर आँखोंपर प्रतिफलित होता है। परन्तु शब्दकी लहर वायुके स्तरोंमें धक्का खाते-खाते अग्रसर होती है। इस कारण उसके कानोंतक पहुँचनेमें दो चार क्षणका समय लग जाता है। नदीके उस पार धोबी जब घाटकर कपड़ा पटकता है, तब भी यह विषय स्पष्ट अनुभवमें आता है। धोबी जब कपड़ा पटकता है, तब वह तो उसी समय दिखायी पड़ता है; परन्तु उस पटकनेका शब्द तब सुनायी देता है, जब कि वह दुबारा पटकनेके लिये उस कपड़ेको फिरसे सिरपर उठाता है।

एक आदमी मकानके भीतर बैठकर बहुत ध्यानसे हिसाब कर रहा है अथवा गाना सुन रहा है। उस समय किसीने बाहरसे आवाज दी। वह उसे सुनायी पड़ी। क्यों? इसलिये कि उसके शब्दने वायुमण्डलमें तैरते हुए भीतरके आदमीके कानोंमें आकर धक्का दिया और उसे शब्द सुनायी पड़ा। इसीसे उसका ध्यान उधर खिंच गया। यदि बाहरके आदमीके मुँहमें जाकर मनको शब्द सुनना पड़ता तो शब्द होते ही सुनायी पड़नेका कोई नियम ही न रहता; क्योंकि जब मनुष्य अपनी इच्छासे मनको बाहर भेजता तभी उसे शब्द सुनायी पड़ता, अन्यथा नहीं। बाहर हजार शब्द हुआ करें जबतक भीतरके मनुष्यका मन बाहर नहीं जायगा तबतक कोई शब्द सुनायी न पड़ेगा। हिसाबमें या गाना सुननेमें जिसका मन लगा हुआ है, वह बिना किसी खास कारणके अपने मनको क्यों बाहर भेजने लगा। वास्तवमें ऐसा नहीं होता। जोरका शब्द होते ही सुनायी पड़ता है। इसीसे प्रमाणित होता है कि शब्द ही आकर कानोंमें धक्का देता है, तब वह सुनायी पड़ता है।

रातको सब लोग सोये हुए हैं। मेघ बड़े जोरसे गरजा। इससे हजारों आदमियोंकी नींद एक ही साथ खुल गयी। इसका भी वही कारण है, नहीं तो सोये हुए आदमीके मनमें यह इच्छा ही नहीं उठ सकती कि मनको जरा मेघके पास भेजकर देखें कि कोई शब्द हो रहा है या नहीं। दूसरी बात हजारों आदमियोंको एक ही साथ ऐसी इच्छा होनी भी सम्भव नहीं। वास्तवमें वस्तुस्थिति यही है कि मेघके शब्दने ही आकर बड़े जोरसे हजारों आदमियोंके कानोंमें धक्का दिया, जिससे सब लोग एक ही साथ जाग उठे और शब्द भी एक ही साथ सबको सुनायी पड़ा। अतः सिद्ध हुआ कि मन बाहर जाकर शब्द नहीं सुनता।

अब रही आँखसे वस्तुके रूप देखनेकी बात। वस्तुका रूप आँखोंपर आकर प्रतिफलित होता है। वहींसे मन उसकी उपलब्धि करता है। फोटोग्राफ यन्त्रका आविष्कार इसको देखकर ही किया गया था। जब शुभ्र स्फटिकमें लाल फूलकी छाया पड़ती है, जल और शीशेमें भी वस्तुकी छाया पड़ती है, तब इन सबोंसे स्वच्छ आँखकर सामनेकी वस्तुका छायापात होना स्वाभाविक है। किसी मनुष्यके सामने यदि कोई खड़ा होकर उसकी आँखोंको ध्यानसे देखे तो उनमें अपनी छाया स्पष्ट देख भी सकता है। इसीको देखकर वेदान्तदर्शनमें भगवान् वेदव्यासजीने अक्षिपुरुषका ध्यान करनेकी बात लिखी है।

अंधेकी आँखोंमें वस्तुकी छाया ग्रहण करनेकी शक्ति नष्ट हो जाती है। इस कारण उसका मन किसी वस्तुका रूप नहीं देख सकता। मनमें यदि बाहर जानेकी शक्ति होती तो वह अंधेकी आँखोंमेंसे भी बाहर जाकर रूप देख लेता। अतः सिद्ध हुआ कि मन बाहर नहीं जाता, शरीरके भीतर रहकर ही सारे विषयोंकी उपलब्धि करता रहता है। इसी कारण शरीरके बाहर आत्माके विद्यमान रहनेपर भी मन उसके अस्तित्वकी उपलब्धि नहीं कर सकता और यही कारण है कि दूसरे शरीरके सुख-दु:खादिकी उपलब्धि अपने शरीरमें नहीं होती।

मन ही सांसारिक विषयोंसे सम्बन्ध करके सुख-दु:ख-शोक-मोहादिको प्राप्त होता है। अतः मन ही जीवके बन्धनका कारण है। फिर यही मन जब विषयोंको छोड़कर विरक्त हो जाता है, और आत्मस्वरूपको उपलब्ध करनेके लिये अन्तर्मुख होता है तब वह मुक्तिका भी कारण बन जाता है। योगवासिष्ठमें महर्षि वसिष्ठ श्रीरामचन्द्रजीसे कहते हैं—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥

इस मनको निर्विषय करनेके लिये ही साधनकी आवश्यकता है। क्योंकि आत्मा साधन-निरपेक्ष है तथा त्रिकालमें मुक्त है। ऋषियोंने निष्कामकर्म-साधन, योग-साधन और भक्ति-साधन आदि अनेक प्रकारके साधनोंका निर्देश शास्त्रोंमें किया है। परन्तु श्रुतिप्रतिपादित श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप साधन—जिसका वर्णन इस निबन्धके आरम्भमें किया गया है, सबसे सुगम तथा उत्तम है; इसके द्वारा आत्मा सुख-दु:खादिसे रहित है—यह प्रत्यक्ष होनेपर मनुष्य इस जीवनमें ही जीवन्मुक्तिका आनन्द प्राप्त कर सकता है।

कृष्ण-कल्पतरुका सेवन

(लेखक—श्रीहित रणछोड़लालजी गोस्वामी)

श्रीहितहरिवंशाचार्य महाप्रभुजीका एक दोहा है—

तनहि राखि सत्संग में, मनहि प्रेमरस भेव।
सुख चाहत हरिबंस हित कृष्ण-कल्पतरु सेव॥

इसका पहला पद है—

'तनहि'

तन अर्थात् यह देह पञ्चभूतोंसे बना है। इसमें वात, पित्त, कफ, मांस, मज्जा इत्यादि भरे हुए हैं। इस प्रकारके गंदे देहपर चमड़ी मढ़कर इसे सुन्दर बना दिया गया है। यह देह क्या है और उसका विषयोंके साथ क्या सम्बन्ध है, इन सब बातोंका विचार करनेसे इसमेंसे अहंता और ममताकी निवृत्ति हो जाती है—ऐसा शास्त्र कहते हैं। स्त्री और पुरुषके संयोगसे और उनके रज-वीर्यके सम्मेलनसे जीव अपने कर्मवश गर्भमें प्रवेश करके देह धारण करता है। फिर नौ मासतक मल-मूत्र, वात-पित्त-कफादिसे पूर्ण माताकी महामलिन कूखमें पड़ा-पड़ा जठरानलसे जला करता है और महान् कष्टका अनुभव करता है। अब जब प्रसवकाल होता है, उस समय दैवयोगसे यदि बालक गर्भके अंदर टेढ़ा-तिरछा हो जाता है तो अस्त्र-शस्त्रसे देहको काटकर उसे बाहर निकाला जाता है। अथवा यदि प्रसव ठीक हुआ तो प्रसूति-वायुसे प्रेरित होकर वह सङ्कुचित योनि-छिद्रमेंसे बाहर निकलता है, उस समय उसे अवर्णनीय कष्ट होता है। जन्म होनेके बाद नाना प्रकारकी आधि-व्याधि, सगे-सम्बन्धियोंके वियोग, विपत्ति, कलह एवं दरिद्रता आदिसे जो दु:ख उसे उठाना पड़ता है वह भी अकथनीय ही है। नाना प्रकारके कर्मबन्धनोंसे बँधा हुआ यह जीव मनुष्य, पशु, पक्षी आदि नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकता हुआ अनेक प्रकारके क्लेश भोगता है। इन सब योनियोंमें मनुष्ययोनि सबसे श्रेष्ठ एवं दुर्लभ है। मनुष्ययोनिमें भी उच्चकुलमें जन्म तथा शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करके भी जिसने हरिभक्ति, भगवान्‌की सेवा, अच्छे-बुरेका विवेक तथा देहकी नश्वरताका ज्ञान नहीं प्राप्त किया वह चाहे कितना ही धनवान्, बुद्धिमान् अथवा प्रतिष्ठित क्यों न हो, उसका जन्म वृथा है, भाररूप है और उसकी आयु व्यर्थ नष्ट होती है। एक-एक क्षण जो हमारा व्यतीत हो रहा है, उसे हम हजारों रुपये खर्च करके भी लौटा नहीं सकते। ऐसे अमूल्य समयको हमलोग व्यर्थ खो रहे हैं, इससे बढ़कर हमारी हानि क्या हो सकती है। और इससे बढ़कर आश्चर्यकी बात भी क्या हो सकती है। पशु, पक्षी आदि तिर्यक् योनियोंमें तो अच्छी प्रकारसे अपनी देहका भी ज्ञान नहीं रहता, भजन-सेवनकी तो बात ही क्या है। ऐसी दशामें भूख-प्यास, श्रम, रोग आदिसे पीड़ित होकर ये निरन्तर भार उठानेमें व्यस्त रहते हैं अथवा पिंजरे आदिमें बंद रहकर चलने-फिरनेकी स्वतन्त्रता भी खो बैठते हैं और रात-दिन दुखी रहते हैं। यही नहीं, ऊपरसे उन्हें मार भी पड़ती है तथा गालियोंकी बौछार भी सहनी पड़ती है। इस प्रकार उनके कष्टोंका वर्णन नहीं हो सकता।

इधर हमारे शरीरका यह हाल है कि नाकसे, मुँहसे, गुदासे तथा मूत्रेन्द्रियसे कफ, मल, मूत्र आदिके रूपमें तथा रोमकूपोंमेंसे पसीनेके रूपमें गंदगी सदा निकलती रहती है, जिसे देखकर स्वयं हमको घृणा होती है—यद्यपि यह मल अपना ही होता है, अपने ही शरीरसे निकलता है तथा शरीरमें सदा भरा रहता है। इस प्रकार ऊपरसे नीचेतक यह देह दुर्गन्धसे भरी है, इसका कोई भी भाग दुर्गन्धसे शून्य नहीं है। ऐसे दुर्गन्धयुक्त शरीरपर हम इत्र, फुलेल आदि मलकर, चन्दन आदि लगाकर तथा उसे फूलोंसे सजाकर उसके दोषोंको ढकनेकी चेष्टा करते हैं और उसे अच्छा मानते हैं। पुन: इस शरीरमें फोड़े-फुन्सी आदि हो जाते हैं तथा समयपर कीड़े भी पड़ जाते हैं। ऐसी दशामें वही शरीर, जिसपर हमारा इतना मोह था, अब अपनी ही घृणाका पात्र बन जाता है। ऐसे शरीरपर मोह रखना कितने आश्चर्य और मूर्खताकी बात है!

जो शरीर देखनेमें इतना सुन्दर मालूम होता था, मलाईकी तरह सफेद और कोमल शय्यापर सोता था, मखमलके गुदगुदे गद्दोंपर बैठता था और जिसे बड़े जतन और आरामसे रखा जाता था, आयु शेष हो जानेपर उसी शरीरको मूँजसे कसा जाता है, कठोर बाँसोंपर रखकर बाँधा जाता है और कँटीली-खुरदरी चितापर रखकर भस्म कर दिया जाता है। कल जो शरीर गद्दे-तकियोंपर बैठकर हुक्म चलाता था और जिसे देखकर सगे-सम्बन्धी, नौकर-चाकर, स्त्री-पुत्र आदि हर्षित होते थे, वही आज देखते-देखते जलकर राखकी ढेरीमें बदल जाता है। कल उसे देखकर जो लोग हर्षसे फूले न समाते थे, वही आज उसे स्मरणकर आठ आँसू रो रहे हैं। ऐसी यह क्षणभङ्गुर और मलिन देह

प्रभुकी सत्तासे ही चल रही है। मनुष्यका किया कुछ नहीं होता। ऐसे दीनदयालु प्रभु श्रीराधावल्लभलालको भूलकर मनुष्य इस अनित्य एवं महामलिन देहमें अभिमान करता है, यह इसकी कितनी बड़ी भूल है! किन्तु फिर भी वह इसपर विचार नहीं करता। अत: महाप्रभुजी कहते हैं कि इसे सत्सङ्गमें रखो—

'राखि सत्संग में'

भक्तिमार्गमें असत्सङ्ग (दु:सङ्ग) बड़ा बाधक है, अत: वह सर्वथा त्याज्य है। सत्सङ्गका अर्थ है—जिसका मन प्रभुकी ओर फिर गया हो, उसीका सङ्ग करना। जिसका मन निरन्तर प्रभुमें ही रहता है, उसे तो किसी दूसरे सत्सङ्गकी आवश्यकता ही नहीं है; उसे तो सबसे बड़ा सत्सङ्ग प्राप्त है। क्योंकि 'सत्' नाम परमात्माका है और उनके चिन्तनसे बढ़कर और कोई सत्सङ्ग हो नहीं सकता। परन्तु जिसका मन अभी प्रभुमें नहीं रमता, उसे सत्सङ्गकी बड़ी आवश्यकता है। सत्सङ्गकी महिमा अपार है। सच्चे संतोंका एक क्षणका सत्सङ्ग भी महान् लाभदायक होता है। सभी शास्त्रोंने, अनुभवी पुरुषोंने तथा स्वयं भगवान्ने सत्सङ्गकी बड़ी महिमा गायी है—जो अक्षरश: सत्य है। सत्सङ्गके बिना भगवान्का महत्त्व जाननेमें नहीं आता तथा उन्हें प्राप्त करनेकी वास्तविक कुंजी नहीं मिलती। भगवान्का महत्त्व जाने बिना उनकी शरणमें नहीं जाया जाता और बिना भगवान्के शरण हुए जीवका उद्धार सहजमें नहीं होता। परमार्थसाधनमें तो श्रद्धाके बाद सत्सङ्गका ही नंबर आता है, परन्तु सच्ची श्रद्धा सत्सङ्गसे ही होती है। सत्सङ्गमें तीन बातोंपर विशेष ध्यान देनेकी आवश्यकता है—

(१) जिसका हम सङ्ग करें, वह पुरुष सच्चा होना चाहिये।

(२) तदनुकूल आचरण करनेके उद्देश्यसे सच्ची जिज्ञासाके साथ निष्कपटभावसे श्रद्धापूर्वक उनका सङ्ग किया जाय। और—

(३) जिस मार्गमें अपनी निष्ठा हो, उसी मार्गपर चलनेवालेका सङ्ग किया जाय।

इन तीन बातोंमेंसे एकका भी अभाव होनेसे शीघ्र यथार्थ लाभ नहीं होता। शीघ्र लाभ न होनेसे मन चलायमान हो जाता है। और वास्तविक लाभ तभी होता है, जब निष्कपट हृदयसे, लाभकी सच्ची इच्छासे सत्सङ्ग किया जाय और तदनुकूल आचरण किया जाय। जैसे बरसातका पानी खेतोंमें रखनेके लिये किसान मेंड़ बनाता है, उसी प्रकार सत्सङ्ग करनेवालेको चाहिये कि वह संत-वचनोंका शुद्ध हृदयरूपी खेतमें संग्रह करे। भावशून्य, विकारयुक्त और विश्वासरहित हृदयसे किया हुआ सत्सङ्ग सत्सङ्ग नहीं कहलाता। शक्तिसम्पन्न गुरु शिष्यके अंदर शक्तिसञ्चार करना चाहते हैं, परन्तु शिष्यका हृदय कठोर भावनासे युक्त होनेके कारण उसे ग्रहण नहीं कर पाता, जिससे वह शक्ति बार-बार लौट जाती है। आधारकी योग्यता होनेपर ही उसके द्वारा शक्तिका ग्रहण होता है। इसीलिये गुरुके प्रति श्रद्धा रखने तथा उनकी शुश्रूषाका विधान है। जो लोग परीक्षा अथवा मनोरञ्जनके लिये सत्सङ्ग करते हैं, उन्हें बहुत कम लाभ होता है। जिसका हृदय शुद्ध है, उसके लिये कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है। संसारमें सभी पदार्थ मौजूद हैं, उन्हें प्राप्त करनेके लिये योग्य पात्रकी आवश्यकता होती है। सत्सङ्गकी महिमापर शास्त्रोंमें अनेक वचन मिलते हैं। सत्सङ्गसे सब प्रकारकी सिद्धियाँ सुलभ हो जाती हैं। श्रीव्रजलाल गोस्वामिचरणने सेवा-विचारमें लिखा है—

सत्सङ्गेन लभेत भक्तिपदवीं श्रीराधिकास्वामिन:
सत्सङ्गेन वसेत्सदैव शुचिमान् वृन्दावने पावने।
सत्सङ्गेन च नन्दनन्दनधिया श्रीमद्गुरुं स्वं भजन्
सत्सङ्गेन च तापपापनिचयं मर्त्यो जहाति ध्रुवम्॥

'सत्सङ्गसे श्रीराधावल्लभलालकी भक्तिका रास्ता मिलता है, सत्सङ्गसे मनुष्य पवित्र वृन्दावनधाममें पवित्रताके साथ निरन्तर रहने लगता है और सत्सङ्गसे अपने गुरुको नन्द-नन्दनबुद्धिसे भजता हुआ प्राणी निश्चय ही पाप-तापके समूहसे छूट जाता है।'

जैसा अपना मार्ग हो, जैसा भाव हो और जैसी मनकी वृत्ति हो उसीके अनुकूल सत्सङ्ग मिलनेसे बात ठीक बैठती है, नहीं तो फल उलटा होता है। उदाहरणके लिये हम चाहते तो हैं योगी बनना और सङ्ग मिला हमें किसी भक्तका, अथवा चाहते हैं हम रामानुज-सम्प्रदायकी साधना करना और सङ्ग मिला हमें शाङ्करमतानुयायीका। ऐसी हालतमें हमें अभीष्टकी प्राप्ति नहीं होनेकी। महात्मा ध्रुवदासजीने कहा है—

इष्ट मिलै अरु मन मिलै, मिलै भजन रस रीति।
मिलिये तहाँ निसंक ह्वै, कीजै तिनसों प्रीति॥
खान पान नित कीजिये रसिक मंडली माहिं।
जिनके और उपासना तहाँ उचित ध्रुव नाहिं॥

और भाव जिनके नहीं, जुगल बिहार उपास।
सुन ध्रुव मन बच कर्म करि ह्वै रहु तिनको दास॥

यह सत्सङ्गकी अनन्यता है।

'मनहि'

मन ही मनुष्यके बन्धन और मोक्षका कारण है। मन ही मनुष्यको संसारसे बाँधता है और मन ही उसे संसारके बन्धनसे छुड़ाता है। जहाँ मन नहीं, वहाँ बन्धन भी नहीं। अहंता और ममता मनहीसे होती है। अहंता-ममतावाला मन ही बन्धनका कारण होता है और अहंता-ममतारहित मन मोक्षका कारण होता है। मन अज्ञान और अविवेकको लेकर मिथ्या स्थितिको सत्य मान लेता है, इसीसे वह सब कर्मोंका कर्ता बन जाता है। आत्माके साथ एकता करके स्वयं जीवात्मा बन बैठता है और इसीसे सुख-दु:खका भोक्ता बन जाता है। मन ही जीवात्माको विषयोंमें ले जाता है, इसीसे वह जन्म-मरणवाला भासता है। यह अति चञ्चल और महा बलवान् है। भगवान्ने भी गीताजीमें कहा है—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।

महात्मा ध्रुवदासजी कहते हैं—

मन तौ चंचल सबनि ते कीजै कौन उपाय।
साधन को हरि भजन है, कै सतसंग सहाय॥

जगत्में रचे-पचे मनके लिये यही रास्ता है कि मनुष्य प्रभु-भजन करता जाय, सत्सङ्ग करता जाय और संसारसे वैराग्यको बढ़ाता जाय। गीतामें भगवान्ने मनको निगृहीत करनेका उपाय अभ्यास और वैराग्य ही बताया है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

'प्रेमरस भेव'

प्रभु आनन्द, प्रेम, स्नेहके भंडार हैं। अत: जो कोई उन्हें आनन्द, प्रेम या स्नेहसे भजते हैं उन्हें वे अवश्य मिलते हैं। ज्यों-ज्यों मनुष्य भगवान्से प्रेम करता है, त्यों-ही-त्यों वह उनके अधिक समीप पहुँचता है। अपरिमित प्रेमस्वरूप भगवान्के साथ जब एकताका अनुभव होने लगता है, तब मनुष्यके अंदर दिव्य प्रेमका स्फुरण होता है—जिससे उसका जीवन सघन होकर परमानन्दका अनुभव करता है। देवर्षि नारदने प्रेमका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

गुणरहितं कामनावर्जितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्॥

अर्थात् प्रेम गुणरहित, कामनावर्जित, प्रतिक्षण बढ़नेवाला, अविच्छिन्न, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और केवल अनुभवरूप होता है।

प्रेममें इतनी शक्ति है कि वह दु:खी जगत्के दु:खको दूर कर उसे सुखी कर सकता है। प्रेमका सम्बन्ध अन्तरके भावसे होनेके कारण प्रेममार्गमें बाह्य क्रियाकी प्रधानता नहीं है। केवल प्रेमपूर्वक भगवान्को भजनेसे तथा श्रीविहारीजीकी नित्य सेवा करनेसे ही प्रभुकी प्राप्ति हो जाती है। कहा भी है—

प्रेम एव परो धर्मः प्रेम एव परं तपः।
प्रेम एव परं ज्ञानं प्रेम एव परा गतिः॥

'प्रेम ही परम धर्म है, प्रेम ही परम तप है, प्रेम ही परम ज्ञान है और प्रेम ही परम गति है।'

ऊपर कहा जा चुका है कि प्रेम भावका विषय है, उसे शब्दोंद्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। प्रेमकी भाषा अन्त:करणके द्वारा ही समझी जा सकती है। वह गूँगेका गुड़ है। इसलिये प्रेमसहित प्रभुकी सेवा और भजन करनेकी आवश्यकता है। प्रभु सबके अन्त:करणमें विराजते हैं। अत: वे प्रेमको समझने, देखने और अनुभव करनेमें सब प्रकारसे समर्थ हैं। गृहस्थाश्रममें रहकर पूजा-श्रवणादिके द्वारा श्रीप्रिया-प्रियतमको भजनेसे हृदयमें भक्तिका अङ्कुर जमता है। लौकिक व्यवहार करते हुए भी भगवान्के गुण-श्रवणादिमें निरन्तर चित्तको लगाये रखनेसे भगवान्में प्रेम अथवा आसक्ति उत्पन्न होती है। इसके बाद जीवको भगवान्का ही व्यसन हो जाता है। प्रपञ्चको भुलाकर भगवान्में आसक्ति करनेसे ही भगवान्का व्यसन होता है अर्थात् जीवकी ऐसी स्थिति हो जाती है कि फिर उससे भगवान्के सेवा-भजनादिके बिना रहा नहीं जाता। ऐसी स्थिति हो जानेपर ही भक्तिका अङ्कुर दृढ़ हुआ समझना चाहिये। इस प्रकारका भाव उत्पन्न हो जानेपर फिर कालके प्रभावसे उसका नाश नहीं होता। भगवान्में प्रेम हो जानेपर अन्य वस्तुओंमें अनुराग अपने-आप हट जाता है। तब संसारके पदार्थ भक्तिमें बाधक और अनात्मरूप भासने लगते हैं। प्रिया-प्रियतमका व्यसन हो जानेपर ही जीवको कृतार्थ हुआ जानना चाहिये।

'सुख चाहत'

सच्चा सुख उसीका नाम है, जिसके पीछे दु:खका

लेशमात्र भी न हो। जगत्‌के जितने भी सुख हैं वे सभी मायिक एवं कल्पित हैं, क्षणिक हैं, सारहीन हैं, अनेक उपाधियोंसे युक्त हैं तथा परिणाममें दुःखरूप ही हैं। देह स्वयं नश्वर है, तब देहके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले सुख स्थायी कैसे हो सकते हैं? देहात्मवादी शरीरको ही आत्मा मानकर उसीके सुखको वास्तविक सुख मानते हैं, उन्हें आत्मसुखका पता ही नहीं होता। इसीलिये वे परिणाममें दुखी होते हैं। परन्तु बुद्धिमान् पुरुष देहसुखको त्याग कर आत्मसुखमें ही प्रसन्न होते हैं। वे मनका सम्बन्ध आत्माके साथ करके आत्मसुखानुभव करते हैं। श्रुति कहती है—'आनन्दं ब्रह्म'—आनन्द ही ब्रह्मका रूप है। जीव प्रभुका अंश है, अतः जीवका भी आनन्द ही गुण है। इस आनन्दरूप गुणकी उपलब्धि कर लेनेपर जीव सदाके लिये दुःखोंसे छूटकर सुखरूप हो जाता है। इस सुखकी उपलब्धिका साधन क्या है? प्रभु-भजन और सेवन। श्रीकृष्ण-नामका प्रेमपूर्वक भजन करनेसे मनुष्य अनन्त सुखका भागी बन जाता है। यद्यपि प्रारम्भमें मोहवश भजन करनेवाले मनुष्यको दुःखकी प्रतीति होती है, परन्तु परिणाममें उसे अविचल सुखकी प्राप्ति होती है। गणेशगीतामें लिखा है—

विषवद्भासते पूर्वं दुःखस्यान्तकरं च यत्।
इष्यमानं तथावृत्त्या यदन्तेऽमृतवद्भवेत्॥

'यह भजनरूपी सुख पहले विषके समान दुःखदायी प्रतीत होता है, परन्तु है यह दुःखका अन्त करनेवाला। इसकी बार-बार इच्छा करनेसे और पुनः-पुनः अभ्यास करनेसे यह परिणाममें अमृततुल्य हो जाता है।'

श्रीमद्भगवद्गीता (१८।३७)-में भी कहा है—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥

'जो प्रारम्भमें विषतुल्य प्रतीत होता है किन्तु परिणाममें अमृतके समान है तथा जो मन और बुद्धिकी प्रसन्नतासे उत्पन्न होता है वह सात्त्विक सुख कहलाता है।'

'हरिबंस हित'

'बानी' ग्रन्थोंमें लिखा है कि श्रीकृष्णचन्द्रके हृदयमें श्रीराधिकाजी विराजती हैं और श्रीराधिकाजीके हृदयमें श्रीकृष्ण विराजते हैं। दोनोंका निकुञ्जमें संयोग रहता है। अत्यन्त प्रेमसंयोगके समय श्रीलालजीने जाना कि मैं प्रियाजू हूँ और प्रियाजीने जाना कि मैं लालजी हूँ। इसी प्रकार अत्यन्त प्रेमावस्थामें दोनों हितमय अर्थात् प्रेममय बन गये। इससे दोनोंके हृदयमेंसे प्रेमका प्रकाश हुआ। तब प्रभुने दोनों प्रेमका संयोग किया, जिससे तीसरा स्वरूप प्रकट हुआ। वही श्रीहितहरिवंश महाप्रभुजी हैं। आचार्यश्रीके चार स्वरूप हैं—(१) श्रीलालजीके कर-कमलमें रहनेवाली तथा अहर्निश उनके अधर-रसका पान करनेवाली वंशी; (२) हित-सखी, जो निकुञ्जमें श्रीप्रिया-प्रियतमजूकी सन्निधिमें रहकर अहर्निश युगल स्वरूपकी सेवा-टहल किया करती हैं; (३) हितरूप, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है; तथा (४) आचार्यस्वरूप जिससे उन्होंने व्यास मिश्रजीके घर श्रीतारा रानीकी कोखसे प्रकट होकर श्रीराधावल्लभीय सम्प्रदाय चलाया और अनेक जीवोंको शरणमें लेकर जन्म-मरणके बन्धनसे छुड़ाया।

भक्तमालमें नाभाजीने आचार्यश्रीके सम्बन्धमें निम्न-लिखित छप्पय लिखा है—

(श्री) राधाचरन प्रधान हृदय अति सुदृढ उपासी।
कुंज केलि दंपती तहाँकी करत खवासी॥
सर्बस महाप्रसाद सिद्ध ताके अधिकारी।
बिधि निषेध नहिं दास अनन्योत्कट ब्रतधारी॥
(श्री) ब्यास सुवन पथ अनुसरे, सोइ भले पहिचानिये।
(श्री) हरिवंश गुसाईं भजनकी रीति सुकृत सोइ जानिये॥

निकुञ्जमें रासके समय श्रीललिता सखीकी प्रार्थनासे श्रीप्रियाजीने श्रीलालजीके हस्तकमलमेंसे वंशी लेकर कहा कि यह वंशी कलियुगमें अवतार ले जीवोंका उद्धार करेगी और निकुञ्जकी गुप्त लीलाओंको भक्तजनोंके समक्ष प्रकाशित करेगी।

एतदर्थ आचार्यश्रीने कठिन मार्गका त्याग कर सरल एवं सुसाध्य प्रेम-भक्तिके राजमार्गका प्रचार किया और इस प्रकार अपने अपूर्व बुद्धि-कौशलका परिचय दिया। उन्होंने बताया कि ज्ञान और कर्म कलियुगमें साध्य नहीं हैं, अतएव उन्होंने प्रेमाभक्तिके उत्तम एवं सरल मार्गको प्रकट किया। वे सदा प्रभुके विचारमें ही मग्न रहा करते थे। उनके लौकिक-अलौकिक सभी व्यापार प्रभुके लिये ही होते थे और प्रभुसे सम्बन्धित रहते थे। उनकी भगवान्‌में अचल श्रद्धा और प्रेम था; वे अपरिमित आत्मबल एवं अलौकिक सामर्थ्यसे सम्पन्न थे; वे तत्त्ववेत्ताओंमें श्रेष्ठ, वेद-वेदान्तके मर्मको जाननेवाले, उत्तम उपदेशक, सबकी शङ्काओंका समाधान करनेवाले, परम सन्तोषी, त्यागवृत्तिसे रहनेवाले, लौकिक

विषयोंके आकर्षणसे सर्वथा मुक्त, स्वार्थरहित, संसारमें रहते हुए भी संसारसे निर्लेप तथा विवेक, धैर्य, प्रेम, सेवा आदि अनेक कल्याणमय गुणोंसे विभूषित थे। ऐसे आचार्यशिरोमणिके उपदेशका आश्रय लेकर भगवान् श्रीकृष्णकी चरणसेवा करना ही उत्तम सुखका उपाय है। यही बात दोहेके अन्तिम चरणमें कही गयी है—

'कृष्ण कल्पतरु सेव'

प्रात:काल उठते ही भगवान्का स्मरण कर शौच-स्नानादिसे देहशुद्धि कर प्रभु-सेवामें संलग्न हो जाना चाहिये। सेवा करते समय प्रभुके चरणोंमें ही चित्तको लगाये रखना चाहिये और इसके बाद लौकिक कार्य करने चाहिये। प्रभु हमारे सब कार्य स्वयं करेंगे, ऐसा समझकर उनपर दृढ़ विश्वास करके उनका भजन करना चाहिये। प्रभुकी सेवामें सभी देवताओंकी सेवा आ जाती है, इसलिये सब ओरसे चित्तको हटाकर उन्हींमें जोड़ देना चाहिये। तथा उनकी प्रीतिके लिये ही उनका भजन करना चाहिये, उनसे किसी वस्तुकी याचना नहीं करनी चाहिये। प्रभुमें ही सब इन्द्रियोंके व्यापारको केन्द्रित कर रखना तथा उन्हींमें चित्तको पिरोये रखना ही उनकी सेवा है। जो मनुष्य अपने लौकिक और अलौकिक कार्य प्रभुमें चित्तको निवेशितकर करते हैं, वही वास्तवमें भाग्यशाली हैं। अम्बरीष, जनक प्रभृति राजा लोग राजवैभव भोगते हुए भी निरन्तर प्रभुमें ही निवास करते थे। सभी मनुष्योंको ऐसे महानुभावोंका अनुकरण करना चाहिये।

कितने ही महानुभावोंका मत है कि सेवाके बिना जीवन व्यर्थ है। श्रीरंगीलालजी गोस्वामी कहते हैं—

सेवां विना जीवनमप्यपार्थं
सेवां विनान्यत् सुकृतं किमर्थम्।
सेवैव यज्ञश्च तपश्च तीर्थं
तस्मान्न सेवां त्यज भोः कदाचित्॥

(मन:प्रबोध)

'सेवाके बिना जीवन ही निरर्थक है, सेवाके बिना और सत्कर्म किस कामके। सेवा ही यज्ञ है, सेवा ही तप है, सेवा ही तीर्थ है; अत: हे मन! तू कभी सेवाका परित्याग न करना।'

सेवासे ही सब दु:खोंकी निवृत्ति होती है और बीचमें ब्रह्मका भी ज्ञान हो जाता है। इससे प्रिया-प्रियतमकी सेवा सदा करनी चाहिये।

सेवा तीन प्रकारकी कही गयी है—(१) तनुजा (जो शरीरसे की जाती है), (२) धनजा (जो धनसे अर्थात् नाना प्रकारकी सामग्रियोंसे की जाती है) और (३) मानसिकी (जो मनसे की जाती है)। इन तीनोंमें मानसिकी सेवा सर्वोत्तम है। जो सेवा अन्तरमें तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे होती रहती है, वही मानसिकी सेवा है। मानसी सेवाकी सिद्धिके लिये ही तनुजा और वित्तजा सेवाका विधान है। सेवकको चाहिये कि वह सब कुछ भगवान्को अर्पण करके ही अपने उपयोगमें ले। जो लौकिक विषयोंकी प्राप्ति चाहते हैं, उन्हें त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश)-मेंसे किसी एककी उपासना करनी चाहिये। और जो विषयोंकी इच्छा न करके केवल परमानन्दकी इच्छा रखते हैं, उन्हें श्रीप्रिया-प्रियतम युगलकिशोर नित्यविहारीकी सेवा करनी चाहिये। सेवा ही प्रभुप्राप्तिका साधन है। प्रेमसहित प्रभुको निरन्तर भजनेसे ही उनकी प्राप्ति होती है, दूसरे किसी उपायसे नहीं। और जो भगवान्के अनन्य दास हैं, वे प्रभुकी सेवाके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं माँगते। उनकी दृष्टिमें और सभी पदार्थ तुच्छ हैं, हेय हैं। जो मनुष्य बड़प्पनके अभिमानका त्याग कर प्रभुकी दासता स्वीकार करता है, प्रभु उसीसे प्रसन्न रहते हैं। जो सेवक स्वामीकी इच्छाके अनुसार चलता है, उसीपर स्वामीकी कृपा होती है। अत: भगवान्की प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये उनकी रुचि और आज्ञाका निरन्तर विचार और उसीके अनुसार आचरण करनेकी आवश्यकता है और भगवान्में मनको पिरोया हुआ रखनेसे ही उनकी रुचि, आज्ञा अथवा प्रसन्नताका पता लग सकता है, अन्यथा नहीं। जीवनयात्रा सुखपूर्वक कैसे चले, इसका ज्ञान भी सेवासे ही प्राप्त होता है; क्योंकि हमारी बुद्धिके प्रेरक भी श्रीभगवान् ही हैं। अपरिमित बल, अपरिमित स्नेह, अपरिमित सत्ता और अपरिमित गुणोंके स्वामीके साथ एकता सेवासे ही सम्भव है। अत: जिसे अपरिमित सुख प्राप्त करनेकी इच्छा हो, उसे अपरिमित सत्तावालेकी ही सेवा करनी चाहिये—यही निश्चित सिद्धान्त है। वे अपरिमित सत्तावाले श्रीभगवान् ही हैं, अत: उन्हींकी सेवा करनी चाहिये।

विविदिषा एवं विद्वद्भेदसे संन्यासका भेदनिर्णय

(लेखक—श्रीछविनाथ त्रिपाठी शास्त्री, साहित्यरत्न)

संसार एवं परमार्थको दृष्टिमें रखते हुए भारतीय शास्त्रोंके प्रणेता ऋषि-मुनियोंने मनुष्यके इहलौकिक एवं पारलौकिक प्रेय और श्रेय-सुखकी कामनासे उसके जीवनको चार (आश्रमरूप) विभागोंमें विभक्त किया है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास। इनमेंसे प्रथम तीन आश्रमोंके विषयमें इस समय कुछ वक्तव्य नहीं है। केवल चतुर्थ आश्रमके विषयमें ही इस छोटे-से लेखमें अति संक्षेपरूपसे विचार किया जायगा।

'संन्यास' शब्द चतुर्थ आश्रमका ही वाचक है। संसारकी समस्त सामाजिक एवं पारिवारिक चिन्ताओंसे मुक्त होकर आत्मचिन्तनमें रत रहते हुए उस परब्रह्मभावको प्राप्त करना—संक्षेपमें इसका यही अभिप्राय है। संन्यास तीन प्रकारसे ग्रहण किया जा सकता है। (१) ब्रह्मचर्य, गृहस्थ एवं वानप्रस्थ तीनों आश्रमोंको यथाक्रम तथा यथाविधि पूरा करके फिर अन्तमें संन्यास ग्रहण करना चाहिये। श्रुतिमें भी ऐसा ही क्रम है—

ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। (जाबालोपनिषद्)

अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रमको पूर्ण करके गृहस्थ बने, गृहस्थके बाद वानप्रस्थ और इसके बाद संन्यासी। इस प्रकारके संन्यासको ही क्रमसंन्यास कहते हैं।

(२) ब्रह्मचर्य, गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ—किसी भी आश्रममें रहते हुए जब कभी पूर्ण वैराग्य हो जाय, तो सब लोकमाया-जाल छोड़कर संन्यास ले लेना चाहिये—यह द्वितीय प्रकार है। इसीलिये उपनिषद्में कहा है—

यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेद् वनाद्वा गृहाद्वा।

अर्थात् जिस दिन मनुष्यको पूर्ण वैराग्य हो जाय, उसी दिन गृहस्थ या वानप्रस्थ—कोई भी आश्रम हो—छोड़कर संन्यास ले लेना चाहिये।

(३) तीसरा प्रकार यह है कि यदि ब्रह्मचर्यमें ही पूर्ण वैराग्य हो जाय और गृहस्थ आदि आश्रमोंमें सर्वथा ही प्रवेश करनेकी कोई अभिलाषा न हो, तो ब्रह्मचर्य-आश्रमसे ही संन्यास ले लेना चाहिये—

ब्रह्मचर्यादेव वा प्रव्रजेत्। (जाबालोपनिषद्)

अर्थात् संन्यास ग्रहण करनेके लिये किसी समयविशेषका बन्धन नहीं है, अपि तु केवल पूर्ण वैराग्य ही उसके लिये अपेक्षित है। जिस पुरुषको वास्तविक पूर्ण वैराग्य हो गया है, उसे फिर सांसारिक प्रलोभन तथा बन्धन अपने पाशोंमें नहीं जकड़ सकते। उसके लिये तो शान्तिका एकमात्र उपाय आत्मज्ञान है और इसके लिये आवश्यकता है एकान्तजीवनकी। मनुष्यके लिये एकान्तजीवन बिताना तभी सम्भव है, जब कि वह सांसारिक चिन्ताओंसे मुक्त होकर संन्यास ग्रहण करके गृहपरित्याग कर दे।

नात्यक्त्वा सुखमाप्नोति नात्यक्त्वा विन्दते परम्।
नात्यक्त्वा निर्भयः शेते सर्वं त्यक्त्वा सुखी भवेत्॥

अर्थात् बिना त्यागके कोई सुख प्राप्त नहीं कर सकता और न बिना त्यागके उस परब्रह्मकी ही प्राप्ति सम्भव है, और न बिना त्यागके कोई परम शान्ति ही पा सकता है। इसलिये मनुष्य सर्वस्व त्याग करके ही सुखी हो सकता है। और यदि किसीको पूर्वजन्मके तपोबलके द्वारा इस जन्ममें आश्रमान्तरोंमें रहते हुए भी तत्त्वज्ञान हो जाय, तो वह वहाँ भी यथासौकर्य अपनी साधना कर सकता है। इसी बातको 'संक्षेपशारीरक' के प्रणेता सर्वज्ञात्ममुनिने भी स्वीकार किया है—

जन्मान्तरेषु यदि साधनजातमासीत्
संन्यासपूर्वकमिदं श्रवणादिरूपम्।
विद्यामवाप्स्यति ततः सकलोऽपि यत्र
तत्राश्रमादिषु वसन्न निवारयामः॥

(संक्षेपशारीरक, तृतीयाध्याय)

अर्थात् यदि किसीने पूर्वजन्मोंमें संन्यासके द्वारा श्रवण, मनन एवं निदिध्यासनरूप साधनोंको प्राप्त कर लिया है, तो इस जन्ममें वह आश्रमान्तरोंमें रहता हुआ भी तत्त्वसाक्षात्कार कर सकता है।

संन्यास दो प्रकारका होता है—'विविदिषा-संन्यास' और 'विद्वत्संन्यास'। इन दोनों प्रकारके यतियोंका भेद हम आगे चलकर स्पष्ट करेंगे। अभी हम इनके स्वरूपका ही पाठकोंको दिग्दर्शन करा देना आवश्यक समझते हैं। हम आरम्भमें ही बतला चुके हैं कि संन्यासके लिये पूर्ण वैराग्यकी आवश्यकता है। यह वैराग्य

दो प्रकारका होता है—एक तीव्र और दूसरा तीव्रतर। प्रथम वैराग्यमें 'कुटीचक' और 'बहूदक' नामक संन्यासका अन्तर्भाव कर सकते हैं। ये दोनों ही संन्यासकी विशेष अवस्थाओंके नाम हैं। द्वितीय वैराग्यकी भी दो अवस्थाएँ होती हैं—'हंस' तथा 'परमहंस'। योगीकी 'परमहंस' अवस्थाके भी 'जिज्ञासु' और 'ज्ञानवान्'—दो भेद हो जाते हैं। परमहंस-अवस्थाके ये ही दोनों भेद 'विविदिषा-संन्यास' और 'विद्वत्संन्यास' के आधार हैं।

विविदिषा-संन्यास

ऊपर परमहंसकी दो अवस्थाएँ बतायी गयी हैं—जिज्ञासु और ज्ञानवान्। इनमें प्रथम विविदिषा-संन्यासका आधार है और द्वितीय विद्वत्का। 'जिज्ञासु' शब्दका वाच्यार्थ भी 'जाननेकी इच्छावाला' होता है। जिज्ञासा और विविदिषा दोनों एक ही चीज हैं। इसलिये जिज्ञासु-अवस्थाका नाम ही विविदिषा है। इसीलिये बृहदारण्यकोपनिषद्के चौथे अध्यायमें—

एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति।

अर्थात् त्यागी पुरुष इसी लोक (आत्मा)-की इच्छा करते हुए संन्यास ग्रहण करते हैं।

लोक दो प्रकारके होते हैं—आत्मलोक तथा अनात्मलोक। अनात्मलोक तीन प्रकारके हैं—मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक। मनुष्य पुत्रादि सन्तानके द्वारा मनुष्यलोकको, कर्मके द्वारा पितृलोकको और आत्मविद्याके द्वारा देवलोकको जीत सकता है—

अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति। सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोक इति।

(बृहदारण्यक० १।५।१६)

किन्तु योगीके लिये केवल आत्मलोककी उपासना अर्थात् आत्माराधनका ही विधान किया गया है—

आत्मानमेव लोकमुपासीत स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते।

(बृहदारण्यक० १।४।१५)

यहाँपर 'कर्म' शब्दसे मोक्षरूप फलवाले कर्मका ग्रहण किया गया है। अतः आत्माके जिज्ञासुको आत्मलोककी उपासना अर्थात् आत्मज्ञानप्राप्तिके लिये ही प्रयत्नशील होना चाहिये। यह ज्ञान ही एकमात्र ऐसा साधन है, जिसके द्वारा संसारबन्धनसे छूटकर निःश्रेयस अर्थात् मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। इसीलिये ज्ञानी पुरुष संसारबन्धनके हेतुभूत अनित्य काम्य कर्मोंको छोड़कर विद्यासे परमपदकी कामना करता है—

'किमर्थं वयं यक्ष्यामहे किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोकः।' 'ये प्रजामीशिरे ते श्मशानानि भेजिरे, ये प्रजां नेशिरे तेऽमृतत्वं भेजिरे।'

(बृहदारण्यक०)

अर्थात् हम आत्माको छोड़कर यज्ञ और प्रजा (सन्तान)-से क्या करेंगे? जिन्होंने प्रजाकी कामना की, उन्हें उपहारमें मिली मौत; और जिन्होंने इन सबको तिलाञ्जलि दी, उन्हें मिली निरतिशय—शाश्वत आनन्ददायिनी मुक्ति। इसलिये जिज्ञासु योगीका यह परम कर्तव्य हो जाता है कि बन्धनके कारण सांसारिक कर्मोंको छोड़कर शान्त्यादि साधनोंसे ब्रह्मसाक्षात्कारके लिये निरन्तर उद्योगशील रहे। इसीलिये स्मृतिने कहा है—

ब्रह्मविज्ञानलाभाय परहंससमाह्वयः।
शान्तिदान्त्यादिभिः सर्वैः साधनैः सहितो भवेत्॥

अर्थात् ब्रह्मज्ञानप्राप्तिके लिये ही परमहंस योगीको शम-दमादि साधनोंसे युक्त होना चाहिये। उसके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि सर्वदा इसके लिये वह यत्नशील रहे। क्योंकि यह पथ कण्टकाकीर्ण है। इसपर यत्नपूर्वक चलते हुए सिद्धिको प्राप्त कर लेना कुछ आसान कार्य नहीं है। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने भी—

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

—कहा है और आगे चलकर आसक्तिरहित—निष्काम कर्मका उपदेश दिया है—

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥

(गीता)

'त्याग एव हि सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम्।
त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परं पदम्॥'

(सुरेश्वराचार्य)

इन सब वचनोंका भाव यही है कि त्याग ही मोक्ष-प्राप्तिका उत्तम साधन है। इसलिये योगीको निष्कामभावसे

ही कर्म करने चाहिये। तभी वह अपनी साधनाको पूर्ण कर सकता है, अन्यथा नहीं।

विद्वत्संन्यास

परमहंसके द्वितीय भेद 'ज्ञानवान्' का ही नाम विद्वत्संन्यास है। विद्वत्संन्यास विविदिषा-संन्यासके बाद ग्रहण किया जाता है। यह संन्यासकी अन्तिम कोटि है। यदि विविदिषाको 'साधन' कहें, तो इसे 'साध्य' कहना उचित होगा। यदि प्रथम एक सीढ़ी है, तो द्वितीय एक प्राप्तव्य उच्च शिखर। अर्थात् आत्मज्ञान प्राप्त करनेके लिये ही विविदिषा-संन्यास है और यह उसके बादकी अवस्था है।

इस प्रकारके विद्वत्संन्यासको धारण करनेवाले विद्वच्छिरोमणि महर्षि याज्ञवल्क्य हुए हैं। जब उन्हें आत्मसाक्षात्कार हो गया, तो उन्होंने अपनी पत्नी—मैत्रेयीसे कहा कि 'अब मैं संन्यास लेता हूँ'—

'अथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद् वृत्तमुपाकरिष्यन्। मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः प्रव्रजिष्यन् वा अरेऽहमस्मात् स्थानादस्मि।'

'एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार' (बृहदारण्यक०)

अर्थात् 'यही मोक्षप्राप्तिका साधन है' कहकर याज्ञवल्क्यने सब छोड़कर संन्यास ग्रहण किया।

इसी प्रकार 'कहोलब्राह्मण' में भी विद्वत्संन्यासका वर्णन मिलता है—

एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति। इति—

अर्थात् इस अपरोक्ष आत्माका साक्षात्कार करके ब्रह्मवेत्ता पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणाको त्याग कर भिक्षाटन करते हैं। इसीको विद्वत्संन्यास कहते हैं।

दोनोंमें भेदनिर्णय

यद्यपि विविदिषा और विद्वत् दोनों ही परमहंस-अवस्थाके भेद हैं, तथापि इन दोनोंमें भी परस्पर भेद है—जैसा कि ऊपरकी पंक्तियोंमें दिखाया गया है। प्रथम संन्यास ज्ञानप्राप्तिकी कामनासे लिया जाता है, जैसा कि स्मृतिमें भी विधान है—

संसारमेव निःसारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया।
प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहाः परं वैराग्यमाश्रिताः॥
प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञानं संन्यासलक्षणम्।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान्॥

अर्थात् संसारको सारहीन अनुभव करके, साररूप परब्रह्मकी दर्शनेच्छासे गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेसे प्रथम ही परम वैराग्यवान् संन्यास धारण करते हैं। क्योंकि कर्मयोग प्रवृत्तिरूप है और ज्ञानका साधन संन्यास है। अतएव ज्ञानप्राप्तिको ही मुख्य समझते हुए बुद्धिमान् पुरुषको संन्यास धारण करना चाहिये।

इस वाक्यसे विविदिषा-संन्यासका विधान किया गया है, क्योंकि आत्मज्ञानप्राप्तिके निमित्त ही तो वह ग्रहण किया जाता है।

और—

यदा तु विदितं तत्त्वं परं ब्रह्म सनातनम्।
तदैकदण्डं संगृह्य सोपवीतां शिखां त्यजेत्॥
ज्ञात्वा सम्यक् परं ब्रह्म सर्वं त्यक्त्वा परिव्रजेत्।

अर्थात् जब ब्रह्मतत्त्व विदित हो जाय, तब एक दण्डको ग्रहणकर यज्ञोपवीतसहित शिखाको त्याग दे और जब पूर्णरूपसे ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाय, तो सर्वस्व परित्याग करके संन्यासी बन जाय।

इस वाक्यसे विद्वत्संन्यासका विधान किया गया है, क्योंकि इस अवस्थाके बाद उसके लिये कुछ कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। इस प्रकार सांसारिक चिन्ताओंसे रहित होकर विचरता हुआ पुरुष जीवन्मुक्त हो जाता है और देहपातके बाद वह इस भवसागरमें नहीं आता—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

(मुण्डकोपनिषद् २। २। ८)

'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥'

अर्थात् परब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर हृदयकी ग्रन्थि खुल जाती है, समस्त संशय दूर हो जाते हैं, कर्म नष्ट हो जाते हैं। 'उसको ही जानकर मनुष्य मृत्युको पार करता है, उसके लिये ज्ञानके सिवा दूसरा मार्ग नहीं है।'

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।
'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'

ज्ञानरूपी अग्नि सारे कर्मोंको भस्म कर डालती है और ब्रह्मवित् पुरुष साक्षात्कारके अनन्तर स्वयं ब्रह्मभावको प्राप्त कर लेता है और फिर उसे इस जीवन-मरणके बन्धनमें नहीं आना पड़ता।

शिशु-साधना

भगवान् सबके हैं। हम सभी भगवान्के हैं। सभी उन्हें पा सकते हैं। बालकोंपर तो भगवान्की विशेष दया होती है। वे बालकोंको प्यार करते हैं, उनके साथ खेलते हैं। कभी गाते हैं, कभी नाचते हैं। कभी छिपते हैं, कभी सामने आ जाते हैं। कभी रूठते हैं, कभी मनाते हैं। कभी दाँव देते हैं, कभी दाँव लेते हैं। तरह-तरहके खेल खेलते हैं, अजब-अजब तमाशे करते हैं। बड़े-बड़े ज्ञानियोंको वे नहीं मिलते। बड़े-बड़े योगी-यति उन्हें ढूँढ़ते-ढूँढ़ते थक जाते हैं। बड़े-बड़े तपस्वी खोजते-खोजते निराश हो जाते हैं। भगवान् उन्हें नहीं मिलते, नहीं मिलते।

परन्तु एक सरल शिशुको वे तुरंत मिल जाते हैं। क्यों? क्योंकि भगवान्को सरलता प्यारी है। भगवान् ज्ञान नहीं ढूँढ़ते। भगवान् योग और तपकी ओर नहीं देखते। भगवान् खोजते हैं सरल हृदय। जिसका हृदय जितना सरल है, भगवान् उसके उतने ही पास हैं। जप-तप, पूजा-पाठ, मन्त्र-तन्त्र—इन सबसे बढ़कर है सरलता। सरलता भगवान्का ही एक गुण है। इसीलिये बड़े-बड़े साधु-महात्मा अत्यन्त सरल होते हैं—शिशुके समान सरल।

कहावत है—जैसा सङ्ग, वैसा रंग। अच्छा सङ्ग होगा, अच्छे बनोगे; बुरा सङ्ग होगा, बुरे बनोगे। बराबर भलेका सङ्ग करना चाहिये। गंदी बातोंसे बचना चाहिये। गंदी बात न मुँहसे बोलो, न कानसे सुनो। गंदी बातें जहाँ हो रही हों, वहाँ जाओ ही मत। गंदे आदमियोंकी सोहबतसे बचो। गंदगी एक छूतकी बीमारी है, बहुत जल्दी पकड़ लेती है। एक गंदा आदमी सारे वातावरणको गंदा कर देता है। एक मछली सारे तालाबको गंदा कर देती है।

साफ-सुथरे रहो—बाहरसे भी, भीतरसे भी। कपड़े-लत्ते साफ रखो। शरीर साफ रखो। खूब अच्छी तरह नहाओ। ध्यान रखो दाँत साफ रहें, नाखून साफ रहें, नाक और कान साफ रहें। सफाईमें शौकीनीसे बचो। सफाई और चीज है, शौकीनी और। सफाई अच्छी चीज है, शौकीनी बुरी। हर बातमें सादगीका खयाल रखो। सादगीको ही सरलता कहते हैं। 'सादा जीवन, उच्च विचार'—यह होना चाहिये तुम्हारा आदर्श। खर्चीली आदतोंसे बचो। खर्चीले लोगोंसे बचो। खर्चकी आदत डालना आसान है, उससे छूटना बहुत कठिन। जीभकी गुलामीसे बचो। चटोरपन एक बहुत ही गंदी आदत है। इससे तरह-तरहकी बीमारियाँ होती हैं।

परन्तु एक और तरहकी भी सफाई होती है। वह है भीतरकी सफाई। इसपर और अधिक ध्यान देना चाहिये। बाहरका मैल नहाने-धोनेसे धुल जाती है। भीतरका मैल धोनेके लिये भीतरका स्नान करना होता है। यह स्नान है राम-नाम। राम-नामकी धुन लगते ही भीतरकी सारी गंदगी छँट जाती है। हृदय निर्मल हो जाता है, मन पवित्र हो जाता है। भगवान्का शीतल प्रकाश जगमगा उठता है।

अँधेरे कमरेमें रोशनी करते ही उजाला हो जाता है। खिड़कियाँ खोलते ही हवा आने लगती है। अगरबत्ती जलाते ही सुगन्धि फैल जाती है। इसी प्रकार राम-नामकी धुन लगानेपर हृदयमें रोशनी फैल जाती है। सुगन्धि आने लगती है। आनन्द छा जाता है। सुख बरसने लगता है। मन खिले हुए फूलकी तरह झूम उठता है।

भगवान्ने तुम्हें आँखें दी हैं—पवित्र वस्तुओंको देखनेके लिये। फूलोंको देखो। किस आनन्दमें वे खिल रहे हैं, कितनी मस्तीमें झूम रहे हैं! भगवान्ने तुम्हें कान दिये हैं, पवित्र बातें सुननेके लिये। जहाँ भजन हो रहा हो, कीर्तन हो रहा हो, वहाँ जाते ही कितना सुख मिलता है! कान इसीलिये हैं। जीभको

राम-नामका रस दो, वह सुख पायेगी। प्रातःकाल बहुत सबेरे जागकर ऊपर आकाशकी ओर देखो। तुम निहाल हो जाओगे।

सबेरे उठनेकी आदत डालो। उठकर भगवान्‌का स्मरण करो। फिर माता-पिताके चरणोंमें प्रणाम करो। नहा-धोकर साफ धुले हुए कपड़े पहन लो। थोड़ी देर खुली हवामें बैठकर, उगते हुए सूर्यनारायणकी ओर देखते हुए राम-नाम लो। पाँच-सात मिनटके बाद ही तुम्हें आनन्द आने लगेगा। तुम अपने भीतर पवित्र प्रकाश पाओगे। दिनभर आनन्दमें बीतेगा। मस्तीमें बीतेगा। रातको सोते समय भगवान्‌का नाम लेते हुए सो जाओ। बड़ी मीठी नींद आयगी, बड़े सुन्दर सपने आयँगे। इस प्रकार तुम्हारा जीवन मधुर हो जायगा, आनन्दमय हो जायगा। आओ, हम मिलकर गायें—

जय गोविन्द, जय हरि गोविन्द।

प्रेम-साधन

(लेखक—पं० श्रीनरहरिशास्त्री खरशीकर)

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक त्रिभुवनसुन्दर श्रीभगवान्‌की प्राप्ति ही मनुष्य-जन्मका इतिकर्तव्य है, यही सब शास्त्र और लोग बतलाते हैं। परन्तु भगवान्‌की प्राप्ति कोई हँसी-खेल नहीं है। अनेक जन्मोंके अनेक साधनोंसे भी भगवान्‌का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। जप, तप, उपासना, यज्ञ-याग, नित्य नैमित्तिक कर्म, अष्टाङ्गयोग, तीर्थयात्रा, दानधर्म इत्यादि नानाविध साधनोंको निष्कामभावसे करते चलो, कभी-न-कभी तो भगवान् मिलेंगे ही—इसी प्रकारका आशावाद प्रायः देख पड़ता है। इन सब साधनोंको करके भी यदि अनेक जन्मोंके बाद भी भगवान् न मिले, तो अपने सञ्चितको कारण जानकर आगे प्रयत्न करते रहो—यही तो बतलाया जाता है। परन्तु यह साधन-क्रम बतलानेवाले लोग यह भी तो जानते ही हैं कि ब्रह्म पूर्ण है—'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।' चराचर जगत्‌में उस ब्रह्मके सिवा और कुछ भी नहीं है। इस प्रकार जब सर्वत्र भगवान् ही हैं, तब साधनोंके द्वारा उन्हें प्राप्त करना भी तो एक बड़ा विकट प्रश्न है। इस प्रश्नका ही उत्तर इस छोटे-से लेखमें देनेका यत्न किया जायगा।

'**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।**' (नारदभक्तिसूत्र) प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है। यह प्रेम ही भगवान् है और यह दृश्य जगत् उन्हीं अव्यक्त भगवान्‌का व्यक्त रूप है। प्रेम सब प्राणियोंमें सहजभावसे है। पशु-पक्षियोंमें ही क्यों, वृक्षादि योनियोंमें भी जो सहज प्रेम है, उसे अनुभव किया जा सकता है। फिर मनुष्यों और देवताओंकी तो बात ही क्या है।

गेहूँका एक दाना जमीनमें बोया जाता है। वर्षाके होते ही वह स्वयं गायब हो जाता है—गायब हो जाता है यानी अङ्कुरित होकर हजारों दानोंके रूपमें प्रकट होता है। ऐसे ही अव्यक्त परमात्मा अपनी आत्यन्तिक रुचिसे प्रियत्वमें आते हैं। उस आनन्दसागरमें आनन्दके ही कल्लोल उठते हैं, उन्हींको प्रेम कहते हैं। ये अनेक कल्लोल अनेक देख पड़नेपर भी परमात्मसिन्धुरूपसे एक ही, अखण्ड और पूर्ण हैं। ये अनेक कल्लोल ही अनेक जीव हैं। सोनेके गहने बनते हैं। गहने बननेपर भी सोनेका सोनापन नष्ट नहीं होता, बल्कि सोना सोना रहकर ही गहने बनता है। वैसे ही परमात्मा परमात्मा रहते हुए स्वयं ही नाम-रूपात्मक जगत् बनते हैं, पर इससे उनके परमात्मत्वमें कुछ न्यूनता नहीं आती। परमात्मा और जगत् शब्द दो हैं, पर वस्तु एक ही है। यही श्रीज्ञानेश्वरादि सब संतोंने कहा है और अन्य सिद्धान्ती भी इसे स्वीकार करते हैं।

अब प्रश्न यह है कि यदि परमात्मा ही चराचर विश्व हैं, तो किसकी प्राप्तिके लिये किसको साधन करना है।

देवदत्त नामके एक मनुष्यको यह भ्रम हो गया कि 'मैं खो गया हूँ।' इस खो जानेपर वह बहुत रोया, चिल्लाया और खोये हुए अपने आपको जहाँ-तहाँ जिस-तिससे पूछता हुआ भटका किया। पर इस तरह इसे देवदत्त कितने जन्मोंमें मिलता? वास्तवमें जो खोया ही नहीं, वह किसी साधनसे मिल भी कैसे सकता है? 'मैं खो गया हूँ' इस भ्रममें भी देवदत्त खोया नहीं था। वैसे ही भगवान्‌की सत्ताका भान न होनेमें भी उनकी भगवत्ता खो नहीं जाती, पूर्ण ही होती है। तब इस पूर्णकी प्राप्तिका साधन पूर्ण क्यों करे? साधन

भगवान्से नहीं मिलाते, दूर ही ले जाते हैं—यही श्रीज्ञानेश्वर महाराजने अपने अनुभवसे कह रखा है—

तपस्विनो दानपरा यशस्विनो
मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः।
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥

(श्रीमद्भा० २। ४। १७)

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥

(गीता ११। ४८)

अर्थात् इन तपादि अथवा वेदाध्ययनादि साधनोंसे भगवान् नहीं मिलते, प्रत्युत भगवत्कृपासे ही मिलते हैं—'मुख्यतस्तु भगवत्कृपयैव।' सर्वत्र श्रीहरि ही प्रेमकल्लोल कर रहे हैं, वे ही रम रहे हैं—यह भावना जब गुरुकृपासे उदय हो जाती है, तब किसी साधनकी आवश्यकता नहीं रहती।

माता अपनी सन्तानके कारण माता कहाती है। सन्तान अपनी माँको जब माँ कहकर पुकारती है, तब उसे अपने माता होनेकी प्रतीति होती है। सन्तानके कारण ही उसका मनोगत अव्यक्त वात्सल्य व्यक्त होता है और इसका सुख भी उसे ही मिलता है। सन्तानसे माताका मातृत्व पूर्ण है, अन्यथा वह अपूर्ण है। सन्तान माताका जो स्तनपान करती है, उससे माताको ही अत्यन्त सुख होता है। बच्चा जब भूखसे रोता है, तब माताका हृदय स्तनको भेदकर दूधके रूपसे बाहर निकलता है और बच्चेको तृप्त करनेके नाते माताको वह सन्तोष होता है, जिसकी कोई उपमा नहीं। यह सही है कि बच्चेके रोनेसे माताके दूध निकल पड़ता है। पर रोना कहाँसे आता है? माताके हृदयमें अपने बच्चेको अपना सार-सर्वस्वरूप दूध पिलाकर परम सुखी होनेकी जो लालसा रहती है, उसीका जो संस्कार बच्चेके मनपर होता है, वही रुदनरूपसे प्रकट होता है। अर्थात् बच्चेकी इस क्रियाका उद्गमस्थान माताका ही हृदय है। माताके हृदयकी इस लालसाके कारण ही माता और सन्तान दोनों परम सुखी होते हैं। माता ही सन्तानरूप प्रेमको प्राप्त हुई और सन्तानके कारण ही अपने प्रेमको अनुभव कर सकी। सन्तान न होती तो उसे प्रेमसुखका मिलना कदापि सम्भव न था। प्रेमसुखकी अनुभूतिके लिये ही माता सन्तान हुई, इसके लिये माताने कितने-कितने कष्ट उठाये! सन्तान जनन-मरणके कष्ट भोगनेके लिये माँकी कोखमें नहीं आयी, बल्कि इसलिये आयी कि माताको वात्सल्य-सुख प्राप्त हो।

बात जब ऐसी है, तब माता अपनी सन्तानसे क्या कभी यह कह सकती है कि मैं अपने जीवनका सार निकालकर तुझे पिलाती हूँ, इसलिये तू भी इसकी कुछ कीमत दे, इसके लिये कुछ साधन कर? कोई माता ऐसा नहीं कह सकती। यदि कहे, तो बच्चा भी उसे यह उत्तर दे सकता है कि 'तूने मुझे जन्म दिया, यही तो मेरे अनन्त साधनोंका फल है। अब यदि बिना साधन कराये तू मुझे दूध नहीं पिलाना चाहती, तो रहने दे तेरा दूध तेरे ही पास। इससे मेरा जो होना होगा, होगा। मैं मर जाऊँगा तेरे दूधके बिना, पर इससे क्या तुझे सुख होगा? तब यह दूध तू किसे देगी? तेरी देहमें यह जमकर तुझे ऐसी पीड़ा देगा जो तुझसे नहीं सही जायगी और मुझे न देखकर तेरी क्या अवस्था होगी? मेरे बिना तू कैसे जीयेगी? तेरे दूधका अधिकारी तो मैं हूँ।' बच्चेके ये शब्द सुनकर माँकी आँखोंसे आँसू छलक-छलक कर गिरने लगेंगे! माँ-बेटेका सम्बन्ध साधनपर नहीं निर्भर करता। माँ ही तो सन्तान बनकर वात्सल्यको अनुभव कर रही है।

आनन्दको आनन्दका स्वानुभव न होनेसे उसने द्विधा होनेकी इच्छा की, 'एकोऽहं बहु स्याम्'। इस द्विधा होनेको ही प्रेमविकास कहते हैं। इस प्रेमरूपका ही नाम जीव है। यह जीव मूल आनन्दसे कभी पृथक् नहीं रहता। जीवके नेत्रेन्द्रियमें सारा विश्व समाया रहता है। उसके मस्तिष्कमें अखिल ब्रह्माण्डकी कल्पनाएँ भरी रहती हैं। ब्रह्माण्ड उसकी इन्द्रियोंमें लीन होता है। ये इन्द्रियाँ ज्ञानमें, ज्ञान आनन्दमें, आनन्द जीवत्वमें और जीवत्व प्रियत्वमें मिल जाता है। अर्थात् प्रियत्व ही अखिल विश्वका कर्त्ता, स्वामी है। यह प्रिय कल्लोल परमात्मसिन्धुके मिलनके लिये तब कौन-सा साधन करे? तरङ्ग किस साधनसे जलको पाले? अलङ्कार किस साधनको करके सुवर्ण बने? सूर्य-किरण किस साधनाके द्वारा सूर्यको प्राप्त हो? परमात्ममय जीव भी उसी प्रकार परमात्माको पानेके लिये किस साधनका आश्रय ग्रहण करे?

कर्मदृष्टिसे देखें तो भगवान् और भक्त भिन्न हैं, गुरु और शिष्य भिन्न हैं; पर प्रभुके प्रिय प्रकाशमें दोनों अभिन्न हैं।

इस प्रकार प्रियत्वरूप प्रभुके कल्लोल-तरङ्गरूप

जीवके लिये परमात्माकी प्राप्तिके अर्थ किसी साधनके करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु इस प्रकारकी धारणाका होना श्रीसद्गुरु-कृपाके बिना असम्भव है। जबतक ऐसी धारणा न हो ले, तबतक त्रिविध कर्म, तीन अवस्था, त्रिगुण—इन सबकी प्रतीति होती ही है। सूर्यके प्रकाशसे मृगजल भासता है; सूर्यास्तके होनेपर मृगजलको भगानेका कोई यत्न नहीं करना पड़ता, सूर्यास्तके साथ वह आप ही हट जाता है। पर सूर्यके रहते भी जो मृगजल देख पड़ता है, वह भी सूर्यप्रकाश ही होता है, मृगजल नहीं। इसी प्रकार जीवके कर्म, अविद्या, अज्ञान आदिको मान लें, तो उनसे भी पूर्णता अपगत नहीं होती और इन अवस्थाओंसे निकलनेके लिये यदि साधन किये जायँ और उसी प्रकारकी विपरीत धारणा न हो, तो वे साधन भी साधन नहीं बल्कि भगवत्प्रेमके दिव्य रूप ही प्रतीत होंगे।

जीवकी प्रत्येक सत्तामें, उसकी नस-नसमें भगवान्‌की ही सत्ता है। ऐसा होते हुए भी जीव उसे भूलकर भगवान्‌को साधनोंके द्वारा प्राप्त करनेका प्रयास करता है! परन्तु परमात्मा प्रयाससाध्य नहीं हैं। परमात्मा तो सर्वत्र परिपूर्ण हैं; फिर भी वह नहीं हैं—यह जो धारणा हो जाती है, इसीको हटाना है। इसे भगवान् ही हटा सकते हैं, इसलिये हम उन्हींसे प्रार्थना करें कि भगवन्! आप सर्वत्र होते हुए भी क्यों अपने आपको विस्मृतिका परदा डालकर छिपाये हुए हैं? आप हैं तो यहाँ-वहाँ सर्वत्र, सब अवस्थाओंमें, सब प्रकारसे; तब जैसे भी आप हैं, मुझे दर्शन दीजिये। प्रार्थनासे अनुकम्पित होकर भगवान् सर्वाङ्गमें उदय होने लगते हैं। उनके उदय होनेका लक्षण यही है कि सारा तन-मन-प्राण उन्हींके प्रेममें डूब जाता है, शरीरपर अष्ट सात्त्विक भाव उदय होते हैं, नेत्रोंसे अश्रु गिरने लगते हैं और मुखसे 'राम' या 'राम कृष्ण हरि' अथवा 'माँ, माँ' की पुकार होने लगती है। अव्यक्त परमात्माके व्यक्त होने अथवा दर्शन-साक्षात्कार होनेके लिये ही भगवत्कृपासे ऐसी अवस्था हुआ करती है। इससे भक्त और भगवान् दोनों ही प्रसन्न होते हैं और दोनोंका द्वयभाव नष्ट होकर केवल प्रेम ही रह जाता है।

माता ही सन्तान बनकर यह प्रेमसुख लाभ करती है, भगवान् ही भक्त होकर अपने प्रेमका आनन्द उठाते हैं। सन्तानसे ही मातृत्वकी सिद्धि होती है और भक्तसे ही भगवान्‌की भगवत्ता प्रकट होती है। भगवान् भक्तकी अवस्थामें यदि न आयें, तो वे अपनी भगवत्ताको नहीं अनुभव कर सकते।

बालकके लिये माँको 'माँ' पुकारनेके अतिरिक्त और किसी साधनकी जरूरत नहीं। माँ बच्चेकी पुकार सुनकर आप ही दौड़ आती है। भक्त भी भगवान्‌को माता समझकर 'माँ' कहकर पुकारे तो सही, फिर देखिये करुणामय भगवान् अपने मङ्गलमय स्वरूपसे कैसे भक्तके समीप चले आते हैं। माहुरवासी, देवी रेणुकाके परम भक्त, भगवतीके गलेके हार श्रीविष्णुदास महाराज कहते हैं कि 'किसी साधन-धनका काम नहीं, स्तवन-गानका कुछ दाम नहीं; सच्ची पुकार 'माँ' की है, तो बेड़ा पार है।' भगवान्‌को 'माँ' कहकर सभी संतोंने पुकारा है। माताकी अपने हृदयगत स्तन्य-अमृतका पान करानेकी इच्छा ही बच्चेको रुलाती है और जब माता इस अमृतका पान कराती है, तब माता और बच्चा दोनों ही एक दूसरेकी ओर अनिर्वचनीय प्रेमभरी दृष्टिसे देखते हुए परम सुखी होते हैं। यही भक्त और भगवान्‌की बात है।

विस्मरणका कारण

पैठणके परम भगवद्भक्त श्रीएकनाथ महाराज सब भूतोंमें भगवान्‌को देखा करते थे। परन्तु इनके घर श्रीखण्डिया नामका जो ब्राह्मण पानी भरा करता था, उसमें इन्हें कभी भगवद्बुद्धि नहीं हुई। पर किसी अन्य भक्तको यह स्वप्न हुआ कि पैठणमें जाओ, वहाँ श्रीएकनाथ महाराजके यहाँ श्रीखण्डियाको देखनेसे तुम्हें भगवत्साक्षात्कार होगा। वह भक्त पैठण पहुँचा, श्रीएकनाथ महाराजके घर आया, श्रीखण्डियाके उसने भक्तिभावसे दर्शन किये और श्रीकृष्ण उसके सामने प्रकट हुए। पर उसी क्षण श्रीखण्डियाका रूप अन्तर्धान हो गया। एकनाथ महाराजको तब यह ध्यान हुआ कि श्रीखण्डिया मेरा नौकर नहीं, उसके रूपमें मेरे नाथ श्रीकृष्ण ही थे। मुझसे उन्होंने यह कपट क्यों किया? एकनाथ महाराजको इस बातका बड़ा अनुताप हुआ कि मैं उन्हें क्यों न पहचान सका! भगवान्‌से उन्होंने बड़ी करुण प्रार्थना की। भगवान् प्रकट हुए और उन्होंने कहा—'नाथ! मैं संत-सङ्गके अपार सुखको लूटना चाहता था; संतकी सेवाका जो आनन्द है, उसमें मैं अपने आपको भुलाना चाहता था। इसीलिये मैंने ही तुम्हारी स्मृतिपर जान-बूझकर परदा डाल रखा था। यदि ऐसा विस्मरण तुम्हें न कराया जाता, तो मुझे तुम्हारे सङ्ग और सेवाका लाभ कैसे मिलता? तुम्हें विस्मरण तो हुआ, पर उस विस्मरणमें मैं ही तो था।' एकनाथ महाराजने देखा, 'स्मरण ज्ञान है और विस्मरण प्रेम है।'

असीमकी सुखप्रतीतिके लिये असीमको सीमित होना पड़ता है और सीमित होनेपर उसके मनका सहज भाव स्मरण-विस्मरणात्मक होता है और ऐसा होता है, इसीलिये तो अपरिच्छिन्नका प्रेमानन्द परिच्छिन्न जीवके लिये प्राप्त करना सम्भव होता है।

तात्पर्य विस्मरणमें भी भगवान् परिपूर्ण हैं—यह भावना जब दृढ़ हो जाती है, तब सब साधन समाप्त हो जाते हैं। मातृरूपसे भगवान्को सहज भावसे पुकार उठना ही इस अवस्थाकी पहचान है। 'माँ', 'माँ' कहकर भक्तका भगवान्को पुकारना भगवान्की वात्सल्य-रतिके लिये आवश्यक होता है। उससे भक्तको वात्सल्यामृत पान करानेके लिये माताके समान ही भगवान् दौड़ पड़ते हैं और भक्तके उस सुधापानसे भक्त और भगवान् परमानन्दमें निमग्न हो जाते हैं। यह सामर्थ्य केवल माताकी कृपामें है और किसी साधनमें नहीं। यह मातृकृपा माताको पुकारनेकी सहज वृत्तिसे अनुकम्पित होकर ही प्रकट होती है, यही संतोंका बोध और प्रेमभोग है। इस प्रकारका बोध सब जीवोंको प्राप्त हो, यही श्रीजगन्मातासे प्रार्थना करके इस लेखको समाप्त करता हूँ।

दो मोदक

(लेखक—श्रीप्रेमी शर्मा काव्यतीर्थ, साहित्यशास्त्री)

ये 'साधनाङ्क' सर्वसुखद मिष्टान्न हैं। इनके गुण, स्वाद और रूपका उल्लेख नहीं किया जा सकता। स्वयंके अनुभव या अभ्याससे आभासित हो सकते हैं। एकका नाम है—मानस-त्रिवेणी और दूसरेका—'शाश्वती साधना'। इनकी अनुभूतिका उपाय नीचे लिखा जा रहा है—

प्रथमके लिये

आसन लगाकर बैठ जाइये। भय, चिन्ता और उद्वेगको बाहर निकाल दीजिये, नेत्रोंको बंद कर लीजिये। भगवान्के किसी भी स्वरूपको जो आपको अच्छा लगे, आँखोंके अंदर लीजिये। जिस प्रकार आप प्रत्यक्षमें दर्शन करते हैं, उसी प्रकार अन्तरात्मामें कीजिये। दर्शन करते समय अभीष्ट मन्त्र अथवा 'हरे राम०' मन्त्रका जप कीजिये। सत्य ही मनमें एक, दो, तीन—जपकी संख्या भी करते जाइये। इस प्रकार ध्यान, जप और संख्या—तीनों एक साथ होंगे, सो भी उच्चारणमें नहीं, मनहीमें किये जायँगे। जीभ, होठ और दाँत हिलेंगे नहीं। इस प्रकार आप एक, पाँच या दस मिनटकी उत्तरोत्तर वृद्धिसे जितना अभ्यास बढ़ा सकें, बढ़ाइये। इससे आपको प्रथम मोदककी रस-माधुरी ज्ञात हो जायगी और उसके अभ्यासी बन जायँगे।

दूसरेके लिये

आसन लगाने, आँख मूँदने, अन्तर्दर्शन करनेकी आवश्यकता नहीं। चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते, काम करते हुए हर समय इष्टदेवके अभीष्ट मन्त्र अथवा उपर्युक्त—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—या 'सोऽहम्' मन्त्रका मानसिक जप प्रतिक्षण करते रहिये। सावधानी केवल इस बातकी रखिये कि काम चाहे जो कुछ भी हो—हर एक श्वासमें मानस जप होता रहे। एक श्वास भी खाली न जाय और प्रत्येक श्वासमें पूरा जप हो। मन जपमें लगा रहे। इस प्रकार करनेसे आपकी 'शाश्वती साधना' सिद्ध हो जायगी और संसारमें रहते हुए आपको संसारकी स्मृतितक नहीं होगी।

क्षमा-याचना

चर्चा हो रही थी श्रीमद्भागवतांक प्रकाशित करनेकी, परन्तु विधाताका विधान था साधनांकके लिये; अतएव वही निकल रहा है। मनुष्य प्रयास करता है—निमित्त बनता है; होता तो है वही, जो भगवान्ने रच रखा है। मनुष्यका प्रयास भी भगवान्के विधानके अनुसार ही होता है। व्यर्थ ही अहंकारविमूढ मानव अपना पुरुषार्थ मान बैठता है।

साधनांक आपके सामने है। आप देखेंगे—सूचीमें जितने विषय थे, उनसे बहुत कम विषयोंपर आलोचना हुई है। बात ऐसी ही है। सब विषयोंपर न तो लेख ही प्राप्त हुए और न स्थान ही बचा। बड़े खेदकी बात है कि विद्वान् महानुभावोंसे प्रार्थना करके मँगवाये हुए बहुत-से लेख भी इस अंकमें नहीं छप सके। कई लेख तो बहुत बड़े होनेके कारण कम्पोज हो जानेके बाद भी रखने पड़े! बहुत-से उपयोगी लेख रह गये, जिनमेंसे कुछ अगले अंकोंमें आ सकते हैं। कागज बहुत महँगा हो गया। आर्टपेपर तो मिलना ही कठिन हो गया। स्याही-शीशा, सभी तेज हो गये। ब्लाकोंकी बनवाईमें भी बड़ा खर्च बढ़ गया। इसलिये इस बार साधनांकको 'संत-अंक' जितना बड़ा करनेका विचार था; परन्तु लेख इतने अधिक आये कि लगभग तीन चौथाई लेख रखनेपर भी 'साधनांक' संत-अंकसे कहीं बड़ा हो गया। बहुरंगे चित्र भी उससे अधिक ही हैं।

साधनांक हमलोग जैसा चाहते थे, वैसा नहीं बन पाया। बहुत-सी आवश्यक चीजें नहीं आ पायीं। इसके कई कारण हैं। कारण बतलाकर सफाई देनेकी आवश्यकता नहीं। हमें तो सबसे अधिक संकोच इस बातका है कि सब विषयोंपर लेख नहीं आ सके, और बहुत अधिक लेख छपनेसे रह गये। यद्यपि उनमेंसे अधिक लेख उन विषयोंपर ही हैं, जिनकी चर्चा साधनांकके अन्यान्य लेखोंमें आ चुकी है, तथापि जिन महानुभावोंने लेख भेजे, उन्होंने तो छपनेके लिये ही लिखकर भेजे थे। एक जैनधर्मपर ही इतने लेख आये हैं कि वे सब छापे जाते तो उन्हींका एक विशेषांक हो जाता। ऐसी स्थितिमें विवश होकर लेखोंको रखना पड़ा मैं बड़ी नम्रताके साथ हाथ जोड़कर लेखक-महोदयोंमें क्षमा-प्रार्थना करता हूँ। स्थिति देखकर वे मुझे अवश्य ही क्षमा करेंगे।

इस साधनांकके सम्पादन और सामग्री-सङ्ग्रहमें इस बार भी बहुत-से सम्मान्य सज्जनोंसे बहुमूल्य सहायता मिली है और उसके लिये हम हृदयसे सब सज्जनोंके कृतज्ञ हैं। नाम प्रकाशित करनेमें कई महानुभावोंको बड़ा संकोच होता है और वे उलाहना लिखते हैं, इसीलिये नाम नहीं लिखे गये हैं। हम उनका अत्यन्त उपकार मानते हैं।

इस साधनांकमें अनेकों धर्मों और सम्प्रदायोंके साधनोंका वर्णन है। पाठकोंको केवल पढ़कर ही किसी साधनमें प्रवृत्त नहीं हो जाना चाहिये। अपनी गुरुपरम्परासे जो साधन प्राप्त हो उसीको करना चाहिये। साथ ही यह भी जान रखना चाहिये कि इसमें प्रकाशित साधन विभिन्न मतोंके हैं वे सभी कल्याण-सम्पादकको और गीताप्रेसके संचालकोंको मान्य नहीं हैं।

साधनांकके सम्पादकमण्डलमें सम्मान्य पं० श्रीलक्ष्मण नारायणजी गर्दे, पं० श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी एम० ए०, शास्त्री, पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी, पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र, 'माधव' एम० ए०, श्रीमुनिलालजी और पं० श्रीदेवधरजी शर्मा रहे हैं। इन्हीं महानुभावोंकी विद्वत्ता, अनुभव, अध्यवसाय, परिश्रम और लगनका यह फल है। मेरा तो नाम मात्र है। अवश्य ही इसमें जो कुछ त्रुटियाँ रही हैं, उनका जिम्मेवार तो मैं ही हूँ और उनके लिये मैं सबसे हाथ जोड़कर क्षमा चाहता हूँ।*

विनीत दास,

हनुमानप्रसाद पोद्दार

---

* प्रस्तुत पुनर्मुद्रणमें परिशिष्टाङ्कोंकी सामग्री भी यथास्थान जोड़ दी गयी है। —प्रकाशक

‘गीताप्रेस’ गोरखपुरकी निजी दूकानें तथा स्टेशन-स्टाल

डाकद्वारा एवं विदेशोंमें पुस्तकें भेजनेकी व्यवस्था केवल गोरखपुरमें है।

इन्दौर-४५२००१ जी० ५, श्रीवर्धन, ४ आर. एन. टी. मार्ग ✆ (०७३१) २५२६५१६, २५११९७७

ऋषिकेश-२४९३०४ गीताभवन, पो० स्वर्गाश्रम ✆ (०१३५) २४३०१२२, २४३२७९२

कटक-७५३००९ भरतिया टावर्स, बादाम बाड़ी ✆ (०६७१) २३३५४८१

कानपुर-२०८००१ २४/५५, बिरहाना रोड ✆ /फैक्स (०५१२) २३५२३५१

कोयम्बटूर-६४१०१८ गीताप्रेस मेंशन, ८/१ एम, रेसकोर्स ✆ (०४२२) ३२०२५२१

कोलकाता-७००००७ गोबिन्दभवन-कार्यालय; १५१, महात्मा गाँधी रोड ✆ (०३३) २२६८६८९४, फैक्स २२६८०२५१

गोरखपुर-२७३००५ गीताप्रेस—पो० गीताप्रेस ✆ (०५५१) २३३४७२१, २३३१२५०

website:www.gitapress.org / e-mail: booksales@gitapress.org फैक्स २३३६९९७

जलगाँव-४२५००१ ७, भीमसिंह मार्केट, रेलवे स्टेशनके पास ✆ (०२५७) २२२६३९३, फैक्स २२२०३२०

दिल्ली-११०००६ २६०९, नयी सड़क ✆ (०११) २३२६९६७८; फैक्स २३२५९१४०

नागपुर-४४०००२ श्रीजी कृपा कॉम्प्लेक्स, ८५१, न्यू इतवारी रोड ✆ (०७१२) २७३४३५४

पटना-८००००४ अशोकराजपथ, महिला अस्पतालके सामने ✆ (०६१२) २३००३२५

बेंगलोर-५६००२७ १५, फोर्थ इ-क्रास, के० एस० गार्डेन, लालबाग रोड ✆ (०८०) ३२४०८१२४, २२९५५१९०

भीलवाड़ा-३११००१ जी ७, आकार टावर, सी ब्लाक, हर्ष पैलेसके सामने, गान्धीनगर ✆ (०१४८२) २४८३३०

मुम्बई-४००००२ २८२, सामलदास गाँधी मार्ग (प्रिन्सेस स्ट्रीट) मरीन लाईन्स स्टेशनके पास ✆ (०२२) २२०३०७१७

राँची-८३४००१ कार्ट सराय रोड, अपर बाजार, बिड़ला गद्दीके प्रथम तलपर ✆ (०६५१) २२१०६८५

रायपुर-४९२००९ मित्तल कॉम्प्लेक्स, गंजपारा, तेलघानी चौक (छत्तीसगढ़) ✆ (०७७१) ४०३४४३०

वाराणसी-२२१००१ ५९/९, नीचीबाग ✆ (०५४२) २४१३५५१

सूरत-३९५००१ २०१६ वैभव एपार्टमेन्ट, भटार रोड ✆ (०२६१) २२३७३६२, २२३८०६५

हरिद्वार-२४९४०१ सब्जीमण्डी, मोतीबाजार ✆ (०१३३४) २२२६५७

हैदराबाद-५०००९५ ४१, ४-४-१, दिलशाद प्लाजा, सुल्तान बाजार ✆ (०४०) २४७५८३११, ६६७५८३११

स्टेशन-स्टाल— **दिल्ली** (प्लेटफार्म नं० ५-६); **नयी दिल्ली** (नं० १६); **हजरत निजामुद्दीन** [दिल्ली] (नं० ४-५); **कोटा** [राजस्थान] (नं० १); **बीकानेर** (नं० १); **गोरखपुर** (नं० १); **कानपुर** (नं० १); **लखनऊ** [एन० ई० रेलवे]; **वाराणसी** (नं० ४-५); **मुगलसराय** (नं० ३-४); **हरिद्वार** (नं० १); **पटना** (मुख्य प्रवेशद्वार); **राँची** (नं० १); **धनबाद** (नं० २-३); **मुजफ्फरपुर** (नं० १); **समस्तीपुर** (नं० २); **छपरा** (नं० १); **हावड़ा** (नं० ५ तथा १८ दोनोंपर); **कोलकाता** (नं० १); **सियालदा मेन** (नं० ८); **आसनसोल** (नं० ५); **कटक** (नं० १); **भुवनेश्वर** (नं० १); **अहमदाबाद** (नं० २-३); **राजकोट** (नं० १); **जामनगर** (नं० १); **भरूच** (नं० ४-५); **वडोदरा** (नं० ४-५); **इन्दौर** (नं० ५); **औरंगाबाद** [महाराष्ट्र] (नं० १); **सिकन्दराबाद** [आं० प्र०] (नं० १); **विजयवाड़ा** (नं० ६); **गुवाहाटी** (नं० १); **खड़गपुर** (नं० १-२); **रायपुर** [छत्तीसगढ़] (नं० १); **बेंगलोर** (नं० १); **यशवन्तपुर** (नं० ६); **हुबली** (नं० १-२); **श्री सत्यसाईं प्रशान्ति निलयम्** [दक्षिण-मध्य रेलवे] (नं० १)।

फुटकर पुस्तक-दूकानें— **चूरू**-ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम, पुरानी सड़क, **ऋषिकेश**-मुनिकी रेती; **तिरुपति**-शॉप नं० ५६, टी० टी० डी० मिनी शॉपिंग कॉम्प्लेक्स, **बेरहामपुर**-म्युनिसिपल मार्केट काम्प्लेक्स, ब्लाक-बी, शॉप नं० ५७—६०, प्रथम तल, **नडीयाड**-सन्तराम मन्दिर।